प्रकाशकीय निवेदन

सुज्ञ सज्जनवर्यो !!!

विक्रमनी अढारमी सदीमां विद्यमान न्यायविशारद न्यायाचार्य अपूर्व बोधथी अतीत श्रुतकेवलि भगवंतोनु स्मरण करावनार महामहोपाध्याय **श्रीमद्यशोविजयजी गणि महाराजनो** रचेलो ते आ **अष्टसहस्री तात्पर्य विवरण** नामनो ग्रन्थ छे. के जे आ ग्रंथनी मात्र एकज प्रति पुना डेक्कन कोलेजना भाडारकर प्राच्यविद्यासंग्रहमा छे, तेम अमारा सांभळवामां आवतां तेनी कोपी करावी लेवा अमारी इच्छा थइ अने ते इच्छाथी महापरिश्रमे ते प्रत उपरथी प्रेसने लायक मेटर (प्रेस कोपी) तैयार कराव्युं.

जैनेतर विद्वानोए पण आ ग्रन्थने जोयो, जोइने जैनेतर विद्वानो पण कहेवा लाग्या के आवो अपूर्व तर्कवादथी भरपुर अने नवीन न्याय श्रेणिथी लखाएल अलभ्य प्राय ग्रन्थ विद्वज्जनोनी समक्ष जो प्रसिद्धिमां आवे तो प्रजानु महद्भाग्य गणाय, वली न्यायादि दर्शन शास्त्र वेत्ताओमां मूर्धन्य गणाता जैनेतर पंडित वर्यो पण आ ग्रन्थनी मुक्तकंठे प्रशंसा करवा पूर्वक खुल्ला हृदयथी कहेवा लाग्या के आ एकज ग्रंथनो यथार्थ अभ्यासी दर्शनशास्त्रोनो एक समर्थ वेत्ता बनी शके छे. आवा विचारो सांभळीने आ महान् ग्रन्थने जगदुपकारार्थे प्रसिद्धिमां लाववा अमारी शुभभावना थइ मुद्रणकला कालना वखतमां मुद्रण सिवाय जैन-जैनेतर प्रजामा आ महान् उपकारक ग्रन्थने प्रकाशमा लाववु अशक्य जणाणु जेथी ते छपाववा अमारी इच्छा थइ । शासनाधिष्ठायकोनी कृपाथी अमारी ते इच्छा आज परिपूर्ण थइ छे. आ ग्रन्थ छपाववामा जावाल श्री संघना ज्ञानखातामांथी प्राथमिक केटलीक मदद मळी छे, तेथी अमो **जावाल श्रीसंघनो** हार्दिक उपकार मानीए छीए.

शिरोही स्टेटमा आवेला शिरोही निकटवर्ती शिखरबंध चार अने घुमटीबंध एक एम पांच भव्य जिन प्रासादो अनेक

उपाश्रय धर्मशाळाओ धार्मिक पाठशाला विगेरे धर्मस्थानोथी विभूषित श्री **जावाल नगर** छे. जे जावाल नगरमा प्रायः प्रतिवर्ष पूज्य मुनिमहाराजाओ चातुर्मास वीराजमान होय छे तेमज ज्या वीतराग धर्ममा दृढ श्रद्धावत उदार प्रकृति श्री जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक तपागच्छीय श्रावकोना लगभग पोणा वसो घर छे. जावालनी उदारता माटे एकज दृष्टांत लइए के जावालनी बहारनी वाडीमां गूढमंडप–रंगमंडप विगेरे अंगोपांग समेत लगभग दोढ लाख रुपीआना खर्चथी त्यांना श्री संघे श्री ऋषभदेव भगवाननो शिखरबंध प्रासाद बंधाव्यो छे. जेनी त्रण वर्ष पहेलां तेओए प्रतिष्ठा करावी छे. आ समय व्यापारीओ माटे कटोकटीनो होवा छतां पण प्रतिष्ठामहोत्सवमां लगभग पोणा बे लाख रुपीआनी उछामणीमां उपज थइ हती. आवी रीते जावालना अनेक भव्य-जीवोए उदारतापूर्वक शासनप्रभावना करनारा भव्य जीवोने सम्यग् दर्शनना साधनभूत श्री तीर्थयात्रासंघ श्री जिनचैत्य जीर्णोद्धार, नवीन जिनप्रासाद बंधाववा, धार्मिक पाठशाला तथा दुष्कालना विकट समये पशुओने बचाववा विगेरे धार्मिक कृत्यो कर्या छे अने करे छे. वळी जावालना श्रीसंघे **तीर्थाधिराज श्री सिद्धगिरिजी भगवंतनी** छायामा आवेला **पालीताणा** शहेरमां **शेठश्री आनन्दजी कल्याणजीना** तावाना वंडामां एक विशाल धर्मशाळा पण बंधावी छे. आवा अनेक धार्मिक स्थान अने धार्मिक कृत्यो करनार धर्मनिष्ठ पुरुषोथी सुशोभित श्री जावाल शहेरमा केटलाक समय अगाउ शासन सम्राट् तीर्थोद्धारक सूरिचक्रचक्रवर्ति सर्वतंत्र स्वतंत्र जगद्गुरु श्रीतपागच्छाधिपति भट्टारक आचार्य महाराजाधिराज **श्रीमद् विजयनेमिसूरीश्वरना** पट्टधर अनेक गुणगणालंकृत न्यायवाचस्पति शास्त्रविशारद आचार्य महाराजश्री **विजयदर्शनसूरिजी महाराज** चातुर्मास बिराजमान हता ते वखते तेओश्रीए व्याख्यानमां सर्वानुयोगमय श्री**भगवती सूत्र** वांच्युं हतुं ते वखते श्रावकोए उदारताथी उल्लास-

पूर्वक श्री **गौतम** नामनुं पूजन कर्युं हतुं. ते पूजनमां आवेला द्रव्यमांथी त्यां ज्ञान खाते वपरात। बाकी रहेली रकम कोइ पण प्राचीन ग्रंथ छपाववा माटे जावाल श्री सघे अत्रे मोकली हती. ते रकम जोके आ ग्रन्थ छपाववामां जे खर्च थयो छे ते अपेक्षाए पूरती नथी तो पण प्राथमिक तेओनी मदद होवाथी फरीथी पण अमो जावाल श्री संघनो हार्दिक उपकार मानीए छीए. उपाध्याயजी महाराजनी एकली टीकाज मात्र आ ग्रन्थ छपाववाथी मूल ग्रन्थ सिवाय वांचनारने जोइए तेटलो उपकारक नहि थाय तेम विचारी सर्वांग (श्री समन्तभद्राचार्य विरचित आप्तमीमांसा मूल—श्रीमदकलंकदेव प्रणीत भाष्य सवलित श्रीमद्विद्यानंदिसूरि विरचित वृत्ति) समेत आ ग्रन्थ भावनगरना महोदय प्रिन्टींग प्रेसमां निर्णय सागरीय टाइपो अने सारा टकाउ ड्रोइंग पेपरोमां छपाव्यो छे. आ ग्रन्थनुं प्रमाण लगभग ७० फारम अने १८००० श्लोक सख्या थशे.

आ स्थळे अमारे जणाववुं जोइए के स्याद्वादना गहन विषयनो तर्क प्रधान नवीन न्यायश्रेणिथी एक समर्थ विद्वानना हाथथी लखाएल ग्रन्थनुं शोधन करवानुं कार्य छपाती वखते बीजी सामी प्रत अथवा भांडारकर इन्स्टयुटनी ते मूल प्रति सिवाय अमने दुर्घट लाग्युं पण अमारे सखेद जणाववुं जोइए के ते बन्नेमांथी एक पण मेळववा प्रयत्नना साफल्य माटे अमो भाग्यशाली बन्या नथी छता पण घणा विद्वानोनी प्रेरणाथी जे मल्युं छे ते उपरथी पण छपाववा निर्णय कर्यो. अमोने घणा विद्वानो तरफथी कहेवामा आव्युं तेमज अमारुं पण चोक्कस मानवुं थयुं के आवी रीते आ एकज कोपी उपरथी बनी शके तेटलुं सुधारवानुं कार्य करवाने लायक शासनसम्राट् सूरिचक्रचक्रवर्ति अनेकतीर्थोद्धारक सर्वतंत्र स्वतंत्र जगद्गुरु तपागच्छाधिपति भट्टारक आचार्य महाराजाधिराज श्रीमद् विजयनेमि सूरीश्वरजीना पट्टधर सिद्धान्त वाचस्पति न्यायविशारद प्रसिद्ध विद्वान् आचार्य महाराज श्रीविजयोदयसूरिजी महाराज करी शकशे.

तेथी घणा विद्वानोए तथा अमोए पूज्य **श्रीउदयसूरिजी** महाराजने सुधारी आपवा विनन्ति करी. तेओश्रीने घणाज कार्यो होवाथी वखत न मळवाथी तेमज एकप्रति उपरथी करेल प्रेस कोपी होवाथी सुधारवानी ना पाडी छतां अमोए विनन्ति करी के जेटलुं आपश्रीथी बनी शके तेटलु सुधारी आपो अने अमारी आ विनन्ति जरुर आप ध्यानमा ल्यो. तेवी प्रवल विनन्ति थवाथी तेओश्रीए हा पाडी अने तेथी अथाग परिश्रम लइने आ ग्रन्थ तेओश्रीए सुधारी आप्यो छे, ते खाते अमो तेओश्रीना ऋणी छीए अने तेओश्रीनो हार्दिक उपकार अमो कदी भूलवाना नथी. अमो तो त्यासुधी कहीए छीए के आ उपकार केवल अमारा उपरज मात्र नथी परतु विद्वत्प्रजा उपर पण छे. पूज्य **श्रीउदयसूरिजी** महाराजना दर्शन, ज्ञान तथा चरित्रनुं स्वरूप समग्र जैन प्रजामा प्रसिद्ध ज छे. जेथी तेनुं वर्णन करवु ते मोरना पींछाने चितरवा जेवुं छे. आ ग्रन्थनी विषयानुक्रमणिका पण तेओश्रीए करी आपेल छे ते आ साथे दाखल करी छे. आ ग्रन्थ छेवटना भागमा किंचित् अपूर्ण छे जे ग्रन्थना अन्तमां आपेल टिप्पणीथी जणाशे. आ ग्रन्थमा जे कइ मुद्रादोपथी, प्रेसदोपथी अगर सुधारता रहेल दृष्टि दोपथी भूल रही होय ते बावत क्षमा मांगी तेओने ते सुधारी वांचवा साथे अमोने जणाववा प्रार्थना करीए छीए के जेथी बीजी आवृत्ति समये ते लक्ष्यमां रहे.

आ ग्रन्थ विद्वानोना हाथमां मूकवा आज अमो भाग्यशाली बनीए छीए ते शासनाधिष्ठायकोनी ज कृपा छे.

आ ग्रन्थ प्रायः भेटमा आपवानो नथी. तेनी कींमतमां आवेला पैसामाथी खर्च बाद करतां जो रकम वधशे तो बीजा जैन शासनना ग्रंथोना प्रकाशनमां ज ते उपयोगमा लेवाशे ए ज प्रार्थना.

निवेदिका श्रीसघचरणकमलोपासिका

—श्री जैन ग्रन्थप्रकाशक सभा, अमदावाद.

अष्टसहस्र्या विषयसूचीपत्रम् ॥

ॐ परमात्मने नमः

॥ सवृत्तिकाष्टसहस्त्रीद्वितीयादिपरिच्छेदस्य विषयसूचीपत्रम् ॥

इति द्वितीयपरिच्छेद ॥

॥ अथ तृतीयपरिच्छेदः ॥

इति तृतीयपरिच्छेदः ॥



अथ कार्यकारणादिभेदाभेदस्याद्वादसाधनात्मा चतुर्थपरिच्छेदः

॥ इति षष्ठ परिच्छेद ॥

॥ अथ सप्तमः परिच्छेदः ॥

॥ इति अष्टम परिच्छेद ॥

॥ अथ नवमः परिच्छेदः ॥

॥ इति नवमः परिच्छेदः ॥

॥ इति सवृत्तिकाष्टसहस्रीविषयानुक्रमणिका समाप्ता ॥

अष्टसहस्त्याः शुद्धिपत्रम्.



अशुद्धम्	शुद्धम्	प्र०	पृ०	प०
त्वेन	पेन	२	प्र	४
द्वौ	द्वो	११	प्र	६
हावि	हवि	१२	प्र	३
स्पर्श	स्पार्श	१२	प्र	१०
न चै	नवै	१३	प्र	४
श्रोतव्यो	श्रोतव्यो मन्तव्यो	१५	द्वि	८
ध्या	ध्यत	२४	प्र	१२
च प्रा	चन प्रा	२५	द्वि	११
श्रिते	श्रिते	२७	द्वि	१८
न त्व	नन्व	२८	प्र	९
भावे	भावो	२८	प्र	१०
कन्या	कान्य	२८	प्र	१४

अशुद्धम्	शुद्धम्	प्र०	पृ०	प०
कन्या	कान्य	२९	प्र	१-३
शेवे	शेपे	३०	प्र	११
प्युक्तम्	प्ययुक्तम्	३०	द्वि	५
श्रिद	श्रिद्	३०	द्वि	१४
न्मत	न्मत' ॥१॥"	३१	प्र	४
घेय	घेय	३१	द्वि	१०
अगौणत्वात्	गौणत्वात	३६	प्र	२
[इति टीकासम्मतः पाठ]				
एक	एके	३६	द्वि	६
स्या	स्य	३६	द्वि	१२
वाधा स्थितस्य	स्थितस्य	३८	प्र	१२
स्व	तस्व	३९	द्वि	८

अशुद्धम्	शुद्धम्	प्र०	पृ०	प०
पर स्व	परस्त्र	४०	प्र	८
गमा	गममात्रा	४०	द्वि	१०
	[इति टीकासम्मत]			
प्रत्यक्षम्	प्रत्यक्ष सम्भवति	४३	द्वि	२
ज नित्य	जमनित्य	४४	प्र	१४
न गृ	न च गृ	४४	द्वि	२
ना	न च	४४	द्वि	१३
लिङ्गा	लिङ्गा	४४	द्वि	८
लिङ्गा	लिङ्गा	५०	प्र	११
नादे	नादि	५०	द्वि	५
पत्ता	पा	५२	प्र	११
नत्व	नन्व	५६	प्र	१०

अशुद्धम्	शुद्धम्	प्र०	पृ०	पं०	अशुद्धम्	शुद्धम्	प्र०	पृ०	पं०	अशुद्धम्	शुद्धम्	प्र०	पृ०	पं०
प्रभा	प्रत्ता	५६	प्र	११	य मू	यविषयकमू	७८	द्वि	८	नानामि	नानमि	९२	द्वि	९
त्येय	त्येव	५७	प्र	८	टादि	टत्वादि	८०	द्वि	१	द्धयपत	द्धतुत्पा	९४	द्वि	३
रे	रेऽ	६१	प्र	३	त्तियो	त्युपयोगवृत्तिप्रत्तियो	८१	प्र	१०	कांनवतारेण	कांवतारे ना	९८	प्र०	६
णवि	णावि	६६	द्वि	१४	निश्रया	निश्रेया	८२	प्र	१३	घटाद्य	घटत्वाद्य	९८	द्वि	१
शेष्ये	शेपे	६८	प्र	५	वैक	वक	८२	द्वि	७	दिनेति	देरिति	९८	द्वि	८
द्धव्य	द्धाव्य	६८	प्र	६	[भवता]	[भवेता]	८२	द्वि	९	येऽर्थानु	येऽर्थेऽनु	९८	द्वि	११
कमिति	क प्रसङ्ग इति	६९	द्वि	१२	भवतो	भवेतो	८२	द्वि	१०	तस्येव	तस्यैव	९९	प्र	५
परं	परै	७०	द्वि	७	संक	सकः	८३	द्वि	११	अन्त	अनन्त	९९	द्वि	७
कभा	कामा	७०	द्वि	८	णेनापि	णमूनापि	८४	द्वि	१३	रमत्वे	रमत्वेन	९९	द्वि	१०
यत्ते	यन्ते	७१	प्र	१२	तस्येति	तत्रेत्ति	८५	प्र	९	तद्ज	तदज	९९	द्वि	१४
सिद्ध	सिद्धत	७१	द्वि	१	न्य वा	न्य वा	८५	प्र	१०	विशेष्य	विशिष्य	१००	प्र	१
व्याप्य	व्याप्त्य	७१	द्वि	७	च्यन्त	च्यत	८६	प्र	११	त्वानि	त्वनि	१००	प्र	१३
यादि	वादि	७३	प्र	१	श्रापे	श्राक्षापे	८८	प्र	१२	नेन न	नेन	१००	द्वि	१
र्चि	चि	७४	प्र	९	बुद्धसिद्धान्त	बुद्धतत्त्व	९०	प्र	११	रस्व	रत्व	१०२	द्वि	४
पण	येण	७४	प्र	१०		[टीकासम्मत.]				देव	देव	१०६	द्वि	१३
कम	कमप्र	७७	प्र	१२	कर्पस्त	कर्पस्त	९१	द्वि	१	चैव	चैव	१०७	द्वि	१

अशुद्धम्	शुद्धम्	प्र०	पृ०	पं०
धाऽक	धाक	१०७	द्वि	१०
ध्या	ध्य	१०९	द्वि	६
मेत्त	मेत	१०९	द्वि	१४
यन्ते	यन्त वा	१११	प्र	५
नच चा	नचा	१११	प्र	६
प्राप्या	पाण्या	१११	प्र	६
मारि	मादि	१११	द्वि	९
चित्य	चैतन्य	१११	द्वि	१२
नेवा	नैव	११२	प्र	१३
प्राद	ध्यादि	११३	प्र	८
योग	योगजं	११३	द्वि	३
चित्तात्मन'	विनात्मन'	११३	द्वि	१३
स्यैव	स्येव	११४	प्र	१२
ष्टै	ष्टे	११४	द्वि	१४
शेष्य	शेष	११५	प्र	९
स्नेव	स्नैव	११६	प्र	६

अशुद्धम्	शुद्धम्	प्र०	पृ०	पं०
माण प्र	माणं प्र	११६	प्र	१४
च	चा	११६	द्वि	५
राप्रवृत्ते	रावृत्ते	११९	द्वि	४
	[टीकासम्मत]			
साधर्म्य मेववा	साधर्म्य मेवं वैधर्म्य मेववा	१२०	द्वि	१८
धर्मत्व व	धर्मव	१२०	द्वि	१८
	[टीका सम्मत]			
सुस्थिताया	सुस्थितौ	१२१	प्र	२
ध्याने	यने	१२४	द्वि	१
शेष्य	शेषे	१२६	द्वि	४
द्द	द	१२७	प्र	९
प्रामाण्य	प्रमाण	१२७	प्र	१४
कत्व	कत्वा	१३१	प्र	३
त्वाद् व्य	त्वादव्य	१३३	प्र	५
विदू	विद्व	१३४	प्र	१

अशुद्धम्	शुद्धम्	प्र०	पृ०	पं०
यित्वमिं	यनादि	१३४	प्र	४
रिणा	रिणो	१३४	द्वि	३
वरंभा	वदभा	१३५	द्वि	८
रमेदे मेदे	रमेदे	१३५	द्वि	१३
पक्षा	पत्रा	१३६	प्र	७
लब्धि'	लब्धे	१३६	द्वि	१
परतः	पर	१३६	द्वि	६
सोपि	सोपि हि	१३७	प्र	१
कारभांनि	काकारनि	१३८	प्र	७
हस्याल	हस्नल	१३८	प्र	१३
पक्षे	पत्रे	१३८	प्र	१४
तया	ताया	१३८	द्वि	१
वटप	वटव	१३९	प्र	१
तद्विप	तदाविप	१३९	प्र	५
त्वे	त्वे	१३९	प्र	११
के धर्मंध	क धर्म घ	१४०	द्वि	२

अशुद्धम्	शुद्धम्	प्र०	पृ०	प०	अशुद्धम्	शुद्धम्	प्र०	पृ०	पं०	अशुद्धम्	शुद्धम्	प्र०	पृ०	पं०
धिका	धिका	१४१	द्वि	७	त्रेद्वि	त्रेन्द्रि	१७८	प्र	६	शेष्ययो	शेपयो	२४३	प्र	१२
त्क नि	त्कत्वनि	१४२	द्वि	१३	वांशा	वांशो	१८०	द्वि	५	रक्तो	रक्ते	२४३	द्वि	४
भावात्	भानात्	१४३	प्र	८	निष्ये	नित्ये	१८५	द्वि	९	स्यस्म	स्यास्म	२४३	द्वि	५
नत्व	नमत्व	१४९	प्र	११	शर्वं	सर्वं	१८५	द्वि	१०	स्य	स्य समुदायत्व-			
मना	त्मना	१५०	प्र	४	नतो	नसो	१८९	प्र	११		निपन्धनस्य च	२४५	द्वि	२
त्सद	सद	१५१	प्र	२	त्मर्क	त्मक	१९४	प्र	८	समुदायत्व	निवन्धनस्य च	२४६	प्र	२
गिकत्व	गित्व	१५२	द्वि	६	त्त्मा	त्वामा	१९७	प्र	३	भेदाभेदा	भेदाभेदौ	२५२	द्वि	९
त्रभा	त्राभा	१५४	प्र	१०	चिचि	चिधि	२००	प्र	१	न्तका	न्तप्रका	२५७	प्र	१३
राम	रमा	१६०	प्र	७	वास	चास	२०५	द्वि	८	त्रैव	त्रेव	२६५	द्वि	३
रिति	रति	१६१	प्र	१०	यणे	यणेति	२०५	द्वि	१०	ज्ञानु	ज्ञादनु	२६६	द्वि	१३
तया	नया	१६२	प्र	५	शस	श स	२०६	प्र०	१३	रुद्ध	रुद्धं	२६८	द्वि	१२
कारण	करण	१६७	प्र	१३	ममम	मगम	२२०	प्र०	२	त्या	त्वा	२७०	द्वि	१
कायप	कार्या	१६७	प्र	१३	स्यैवे	स्येवे	२२०	द्वि	१	धान्तता	धान्मता	२७१	द्वि	७
त्रेलक्षण्या	त्रिलक्षणा	१६८	प्र	१४	दुंव	दुंवं	२२८	प्र०	३	तत्तद्धतस्य	तत्तद्भतस्य	२८१	द्वि	१२
काभा	कभा	१७०	द्वि	५	वृत्ति	वृत्ति'	२४२	द्वि	१	वृत्तिविवि	वृत्तिवि	२८६	द्वि	१४
माणा	णामा	१७४	द्वि	८	त्यासा	त्वसा	२४२	द्वि	४	नसभि	नभिस	२९१	प्र	१०

अशुद्धम्	शुद्धम्	प्र०	पृ०	पं०
तत्त्व	तत्व	२९१	द्वि	१३
भङ्गी	मङ्गी	२९२	प्र	१
स्तुत्य	स्तुल्य	३०५	प्र	७
सदृशो	सदृशो	३०५	प्र	१३
होद	होदे	३०५	द्वि	७
मनै	मन्त्रै	३०८	प्र	१२
भति	भत्ति	३०९	द्वि	४
त्वप्र	त्वाप्र	३१०	द्वि	५
नानन्त	नान्त	३११	द्वि	२
मादुः	मादु	३१६	प्र	१३
सरव्या	सत्त्या	३१७	द्वि	१२
द्रार्यो	द्राचार्यो	३२७	प्र	८
दु.खस्य चो	दु खस्य सुखस्य चो	३२८	प्र	९
माणा	माण	३२८	द्वि	२
लावि	लाविद्याचि	३३४	द्वि	२
तद्भावेऽभावा	तद्भावेभावा	३३७	प्र	११
नार्थं	नर्थं	३३७	द्वि	६

अशुद्धम्	शुद्धम्	प्र०	पृ०	प०
त्वा	त्व	३३९	द्वि	८
व्यस्थि	व्यवस्थि	३३९	द्वि	१२
तमी	तत्त्रमी	३४१	प्र	५
स्वना	रचना	३४१	प्र	७
तथोपहताक्षादेरपि सख्यादि चिसवा- देऽपिचन्द्रर्कादिषु देशप्रत्यासत्त्याद्य- भूताकारावभासनात्		३४४	प्र	१२
प्रमाण	प्रमाणे	३४५	द्वि	१
तत्तत्त्व	तत्त्व	३४५	द्वि	३
माध्य	साय	३४९	प्र	३
गात्	गाभावात्	३४९	प्र	६
व्यत	व्यते त	३५३	प्र	१
यानतु	यातु	३५३	प्र	७
ननु	ततु	३५३	प्र	८
रेऽप्य	रोऽप्य	३५४	प्र	८
त्व न स्या	त्व रया	३५४	प्र	८

अशुद्धम्	शुद्धम्	प्र०	पृ०	प०
सविभक्तिक पदयो स्तात्पर्यस्यापि तस्यै व वा समभिव्या- हारा भावात्		३५४	प्र	९
नप्पा	नत्ता	३५५	द्वि	११
तस्माद् व्य	तस्माद्व्य	३५७	द्वि	६
स्ताद्वि	स्तदवि	३५९	द्वि	२
न०भाचरस्य	स०न्मात्रस्य	३६०	द्वि	३
शुध्प्ता	शद्धया	३६०	द्वि	१३
भांनु	मांनु	३६५	द्वि	१०
नन्दवन	नन्दन घन	३६५	द्वि	१०

इति शुद्धिपत्र समाप्तम् ॥

मुद्रणावसरे पङ्क्तिपरावर्त्तादिना पृष्ठस्थिरीकरणादिषु जात यदङ्कपरावर्तनादिरिद्धण सीमकाक्षरयोजकादिना च पदमिश्रणतात्चिरा- मचिह्नादिमर्षेज च वाचकेन स्वयमवधाय माज्यंमित्यभ्यर्थ्यते ।

सकलतीर्थसार्वभौमतीर्थाधिराजश्रीपुण्डरीकगिरिमण्डनश्रीऋषभजिनस्तवनम् ॥

आदिजिनं वन्दे गुणसदनं, सदनन्तामलबोधं रे; बोधकतागुणविस्तृतकीर्तिं, कीर्तितपथमविरोधं रे—आदि०॥१॥
रोधरहितविस्फुरदुपयोगं, योगं दधतमभङ्गं रे; भङ्गनयव्रजपेशलवाचं, वाचंयमसुखसङ्गं रे—आदि० ॥ २ ॥
सङ्गतपदशुचिवचनतरङ्गं, रङ्गं जगति ददानं रे; दानसुरद्रुममञ्जुलहृदयं, हृदयङ्गमगुणभानं रे—आदि० ॥ ३ ॥
भानन्दितसुरवरपुन्नागं, नागरमानसहंसं रे; हंसगतिं पञ्चमगतिवासं, वासवविहिताशंसं रे—आदि० ॥ ४ ॥
शंसन्तं नयवचनमनवमं, नवमङ्गलदातारं रे; तारस्वरमघघनपवमानं, मानसुभटजेतारं रे—आदि० ॥ ५ ॥

[वसन्ततिलका छद.]

इत्थं स्तुतः प्रथमतीर्थपतिः प्रमोदा-च्छ्रीमद्यशोविजयवाचकपुङ्गवेन ॥
श्रीपुण्डरीकगिरिराजविराजमानो, मानोन्नतानि वितनोतु सतां सुखानि ॥ ६ ॥

॥६२॥

॥ ॐ अर्हम् नमः ॥

न्यायविशारद्–न्यायाचार्य–महामहोपाध्याय–वाचकाग्रणी–श्रीयशोविजयगणिप्रणीतम्—



॥ अष्टसहस्री–विवरणम् ॥



ऐन्द्रमहः प्रणिधाय न्यायविशारद्यतिर्यशोविजयः।
विषमामष्टसहस्री–मष्टसहस्र्या विवेचयति ॥ १ ॥

सिताम्बरशिरोमणिर्विदितचारुचिन्तामणि–र्विधाय हृदि रुच्यतामिह समानतन्त्रे नये।
अनर्गलसमुच्छलद्बहलतर्कवर्णोदक–च्छटाभिरयमुत्सवं वितनुते विपश्चित्कुले ॥ २ ॥

स्याद्वादार्थः क्वापि कस्यापि शास्त्रे यः स्यात्कश्चिद् दृष्टिवादार्णवोत्थः।
तद्व्याख्याने भारती सस्पृहा मे भक्तिव्यक्तेर्नाग्रहोऽणौ पृथौ वा ॥ ३ ॥

अम्भोराशेः प्रवेशो प्रविततसरितां सन्ति मार्गा इवोच्चैः
स्याद्वादस्यानुयोगे कति कति न पृथक् सम्प्रदाया बुधानाम् ।
शक्यः स्वोत्प्रेक्षितार्थैररुचिविषयतां तत्र नैकोऽपि नेतुं
जेतुं दुर्वादिवृन्दं जिनसमयविदः किं न सर्वे सहायाः ॥ ४ ॥

समन्तभद्रोऽत्र हि कारिकाणां कर्त्ताऽनुवक्ता त्वकलङ्कदेवः ।
व्याख्याति भाष्यानुगमेन विद्या–नन्दोऽप्यमन्दोद्यमतः स्फुटं ताः ॥ ५ ॥

॥ श्रीविद्यानन्दविरचिताऽष्टसहस्री ॥

श्रीवर्द्धमानमभिवन्द्य समन्तभद्रमुद्भूतबोधमहिमानमनिन्द्यवाचम् ।
शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितं कृतिरलङ्क्रियते मयास्य ॥ १ ॥

श्रेयः श्रीवर्द्धमानस्य परमजिनेश्वरसमुदयस्य समन्तभद्रस्य तदमलवाचश्च संस्तवनमाप्तमीमांसितस्या-

लङ्करणे, तदाश्रयत्वादन्यतमासम्भवे तदघटनात्। तद्वृत्तिकारैरपि तत एवोद्दीपीकृतेत्यादिना तत्संस्तवनविधानात्। (भाष्यम्–देवागमेत्यादिमङ्गलपुरस्सरस्तवविषयपरमाप्तगुणातिशयपरीक्षामुपक्षिपतैव स्वयं श्रद्धागुणज्ञतालक्षणं प्रयोजनमाक्षिप्तं लक्ष्यते। तदन्यतरापायेऽर्थस्यानुपपत्तेः। शास्त्रन्यायानुसारितया तथैवोपन्यासात्)॥ अकलङ्कदेवीयं भाष्यम्॥ इत्यनेन ग्रन्थकारस्य श्रद्धागुणज्ञतालक्षणे प्रयोजने शास्त्रारम्भस्तवविषयाप्तगुणातिशयपरिक्षोपक्षेपस्य साधनत्वसमर्थनात्। शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितमिदं शास्त्रं देवागमाभिधानमिति निर्णयः। मङ्गलपुरस्सरस्तवो हि शास्त्रावताररचितस्तुतिरुच्यते। मङ्गलं पुरस्सरमस्येति मङ्गलपुरस्सरः शास्त्रावतारकालस्तत्र रचितः स्तवो मङ्गलपुरस्सरस्तवः इति व्याख्यानात्। तद्विषयो यः परमाप्तस्तद्गुणातिशयपरीक्षा तद्विषयाप्तमीमांसितमेवोक्तम्। तदेवं निःश्रेयसशास्त्रस्यादौ तन्निबन्धनतया मङ्गलार्थतया च मुनिभिः संस्तुतेन निरतिशयगुणेन भगवताप्तेन श्रेयोमार्गमात्महितमिच्छतां सम्यग्मिथ्योपदेशार्थविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाप्तमीमांसां विदधानाः, श्रद्धागुणज्ञताभ्यां

---

* अकलङ्कदेवीयभाष्यगतं मङ्गल–उद्दीपीकृतधर्मतीर्थमचलज्ज्योतिर्ज्वलत्केवला–लोकालोकितलोकलोकमखिलैरिन्द्रादिभिर्वन्दितम्॥ वन्दित्वा परमार्हतां समुदयं गां सप्तभङ्गीविधिं, स्याद्वादामृतगर्भिणीं प्रतिहतैकान्तान्धकारोदयाम्॥ १॥ तीर्थं सर्वपदार्थतत्त्वविषयस्याद्वादपुण्योदधे–र्भव्यानामकलङ्कभावकृतये प्राभाविकाले कलौ॥ येनाचार्यसमन्तभद्रयतिना तस्मै नमः सन्ततं, कृत्वा विव्रियते स्तवो भगवता देवागमस्तत्कृतिः॥ २॥

प्रर्युक्तमनसः, कस्माद् देवागमादिविभूतितोऽहं महान्नाभिष्टुत इति स्फुटं पृष्टा इव स्वामिसमन्तभद्राचार्याः प्राहुः ॥

अथ श्री समन्तभद्राचार्यविरचिता आप्तमिमांसा ॥

देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः । मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥ १ ॥ इति

देवागमादीनामादिशब्देन प्रत्येकमभिसम्बन्धनाद्देवागमादयो नभोयानादयश्चामरादयश्च विभूतयः परिगृह्यन्ते, ताश्च भगवतीव मायाविष्वपि मष्करिप्रभृतिषु दृश्यन्ते इति तद्वत्तया भगवन्नोऽस्माकं परीक्षाप्रधानानां महान्न स्तुत्योसि ॥ (भाष्यम्–आज्ञाप्रधाना हि त्रिदशादिकं परमेष्ठिनः परमात्मचिन्हं प्रतिपद्येरन् नास्मदादयस्तादृशो मायाविष्वपि भावादित्यागमाश्रयः ॥ १ ॥) अयं स्तवः । श्रेयोमार्गस्य प्रणेता भगवान् स्तुत्यो महान् देवागमनभोयानचामरादिविभूतिमत्त्वाद्यन्यथानुपपत्तेरिति हेतोरप्यागमाश्रयत्वात् । तस्य च प्रतिवादिनः प्रमाणत्वेनासिद्धेः, तदागमप्रामाण्यवादिनामपि विपक्षवृत्तितया गमकत्वायोगात् । तदागमादेव हेतोर्विपक्षवृत्तित्वप्रसिद्धेः । परमार्थपथप्रस्थायियथोदितविभूतिमत्त्वस्य[11] हेतोर्मायोपदर्शिततद्विभूतिमद्भिर्मायाविभिर्न व्यभिचारः, सत्यधूमवत्त्वादेः पावकादौ साध्ये स्वप्नोपलब्धधूमादिमता देशादिनानैकान्तिकत्वप्रसङ्गात् सर्वानुमानोच्छेदात् इति चेत् । तर्हि मा भूदस्य हेतोर्व्यभिचारः, पारमार्थिक्यः पुरन्दरभेरीनिनादादिकृतप्रतिघातागोचरचारिण्यो यथोदितविभूतयस्तीर्थकरे भगवति त्वयि तादृश्यो मायाविष्वपि नेत्यतस्त्वं महानस्माकमसीति व्याख्यानाद्ग्रन्थविरोधाभावादिति कश्चित्,[12] सोपि[13] कुतः प्रमाणात्प्रकृतहेतुं[14]

विपक्षासम्भविनं प्रतीयात् ? न तावत्प्रत्यक्षादनुमानाद्वा, तस्य तदविषयत्वात्। नाप्यागमादसिद्धप्रामाण्यात्तत्प्रतिपत्तिरतिप्रसङ्गात्। प्रमाणतः सिद्धप्रामाण्यादागमात्तत्प्रतिपत्तौ ततः साध्यप्रतिपत्तिरेवास्तु परम्परापरिश्रमपरिहारश्चैवं प्रतिपत्तुः स्यात्। ततः सूक्तं सर्वथा नातो हेतोस्त्वमसि नो महांस्तस्यागमाश्रयत्वादिति ॥ १ ॥ तर्ह्यन्तरङ्गबहिरङ्गविग्रहादिमहोदयेनान्यजनातिशायिना सत्येन स्तोतव्योऽहं महानिति भगवत्पर्यनुयोगे सतीव प्राहुः।—

(अथ अष्टसहस्री विवरणम्)

श्रेयं इति अलङ्करणे इत्यत्रान्वयि, श्रीवर्द्धमानस्येति अत्र श्रियाऽऽर्हन्त्यलक्षणया वर्द्धमानस्येतिव्युत्पत्त्या श्रीवर्द्धमानपदेन तीर्थकरसामान्योपस्थितिसम्भवेऽपि 'योगाद्रूढिर्बलवतीति' न्यायाद् व्यक्तिविशेष एव विश्रामे निश्चयनयेनैकभक्तौ सकलभक्तिसिद्धावपि व्यवहारनयमते विषयबहुत्व एव तदतिशयसिद्धेस्तत्र तत्र व्यवस्थापितत्वात् सकलजिनस्तुतेरेवात्र तात्पर्यविषयत्वात् तात्पर्यविषयान्वयानुपपत्त्याऽस्य पदस्य तीर्थकरसमुदाये लक्षणेत्यभिप्रेत्य विवृणोति—

परम[3]जिनेश्वरसमुदयस्येति, तेन समुदयस्य पदार्थतया वाक्यार्थतया वा कथं लाभ इत्याशङ्काया नावकाशः। शाब्दबोधे लक्ष्यस्य भानं च लक्ष्यतावच्छेदकरूपेण शक्यतावच्छेदकरूपेण वेति पुनरन्यदेतत्, जिनेश्वरसमुदयसमन्तभद्रयोः स्तुत्यस्तोत्रोः स्तवनमावृत्त्या विशेषणविशेष्यभावकामचारेण, तदमलवाचश्च तद्विशेषणतयेति बोध्यम्। स्वातन्त्र्येण तदभिवन्दनविवक्षायां तु, अनिन्द्यवाचमित्यत्रानिन्द्या चासौ वाक् चानिन्द्यवाक् तामिति कर्मधारयः,

समन्तेत्यादि, समन्ततो भद्रं यस्यां तादृशी या मुत्तद्भूतस्तत्स्वरूपो यो बोधस्तस्य महिमा यस्याः सकाशात् सा

तथा तामिति तद्विशेषणम्, अनुच्छिद्यमानानन्दमयनिरुपप्लवज्ञानधारास्वभावपरमब्रह्मप्रापिकामित्यर्थः ।

श्रीवर्द्धमानमिति च श्रिया भक्तिसमृद्ध्या वर्द्धमानं यथा स्यात्तथेति क्रियाविशेषणमिति व्याख्येयम्, नन्वलङ्कार्यालङ्करणयोर्व्याख्येयव्याख्यानरूपतयैकानुबन्धचतुष्टयवत्त्वेन प्रकृतालङ्करणग्रन्थस्यालङ्कार्यवदनुबन्धसिद्धिसम्पादनद्वारा स्तुत्यस्तोतृस्तुतिनिमित्तकत्वेऽपि तत्समाप्तिहेतोः श्रेयसस्तत्त्रयापेक्षायां किं प्रयोजकमत आह—**तदाश्रयत्वादिति**, तस्येति शेषः । तस्य श्रेयसः संस्तवनस्योक्तत्रयविषयकसमूहालम्बनरूपत्वादित्यर्थः । तदेकतरविषयकमेव श्रेयः किं नाद्रियतेऽत आह—

'**तदन्यतमेत्यादि**' प्रचितस्यास्यैव बलवत्तरविघ्नवारणेऽपि कारणत्वादित्यभिधानाद्बलवत्तरविघ्नवारणाय प्रचितश्रेयस एवात्र चिकीर्षितत्वात् तस्य चान्यतरापायेऽसम्भवात् श्रेयसः प्रचितत्वसिद्ध्यर्थमुक्तत्रयविषयत्वाश्रयणमावश्यकमिति भावः । ननु ग्रन्थादौ ग्रन्थसमाप्त्यर्थं मङ्गलमाचरन्ति प्रेक्षावन्तः, प्रकृते सम्पूर्णो ग्रन्थ एव स्तुतिरूपत्वान्मङ्गलमिति किं मङ्गलान्तरोपादानेन ? अन्यथा तत्रापि मङ्गलान्तरोपादानेऽनवस्थाप्रसङ्गादिति चेत्, अत्र वदन्ति, अन्योऽपि ग्रन्थः स्वाध्यायरूपत्वान्मङ्गलमेव मङ्गलबुद्धिपरिग्रहार्थं च पृथग्मङ्गलोपादानम्, अतादृशधीविषयस्य साध्वादेर्मङ्गलस्याप्यमङ्गलत्वादिति, इत्थं चाश्रयतया समाप्तौ स्वैकवाक्यत्वबुद्धिविषयतासम्बन्धेन मङ्गलस्य हेतुत्वमित्युक्तं भवति, तच्च प्रकृते व्याख्याने पृथग्मङ्गलस्य व्याख्येये चादिवाक्यस्यैवेति न काचिदनुपपत्तिः, मङ्गलेऽमङ्गलत्वबुद्धिस्तु स्वसमानाधिकरणदुरितजननी न तु स्वसमाप्तिप्रतिबन्धकदुरितजननीति विचारणीयं सूक्ष्मदृशा, उक्तहेतुहेतुमद्भाव एव च व्यधिकरणसमाप्तिप्रसङ्गवारणं कृतं भवति, समाप्तावन्वयव्यतिरेकाभ्यां मङ्गलस्य व्यभिचारस्तु स्वान्यूनसङ्ख्यविघ्नस्थलीयसमाप्तित्वादेः कार्यतावच्छेदकस्योक्त्या

निरसनीय इति दिक्। श्रद्धागुणज्ञताभ्यामिति, श्रद्धागुणज्ञते नयस्याद्वादपरीक्षाजन्यज्ञानविशेषौ दर्शनशब्दवाच्यौ। तदुक्तं सम्मतौ—"एवं जिणपन्नत्ते, सद्दहमाणस्स भावओ भावे। पुरिसस्साभिणिबोहे, दंसणसद्दो हवइ जुत्तो ॥ १ ॥" त्ति, प्रयोजनत्वं च तयोर्मुख्यप्रयोजनाङ्गतया गौणमित्यभिप्रेत्याह—

ताभ्यां प्रयुक्तमनस इति महांन्न स्तुत्योऽसीति, प्रश्नानुरूपत्वादुत्तरस्य न महत्त्वप्रकारकस्तुतिविषयोऽसीत्यर्थः। तथा च सूत्रे महत्पदं महत्त्वेन स्तुत्येऽर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यम्, वस्तुतो महत्पदं स्तुत्यार्थकमेव, अतिशयप्रतीतिः प्रयोजनमित्युक्तविभूत्या निश्चयरूपातिशयेन न स्तुत्यः, व्यवहारतस्तु स्तुत्यत्वे न विरोध इत्यर्थः सम्मुखीन आभाति,

भाष्ये [10]तादृंश इति तादृशस्य देवागमादेरित्यर्थः। [11]परमार्थेत्यादिः [12]कश्चिदित्यन्तः पूर्वपक्षः, [13]सोऽपीत्यारभ्य ग्रन्थकृतः सिद्धान्तः, [14]प्रकृतहेतुमिति पारमार्थिकविभूतिमत्त्वहेतुमित्यर्थः। यद्यप्यसत्यहेतुना साध्यस्य न व्यभिचारोऽज्ञानजनितविलक्षणधूमादेरनभ्युपगमादन्यथा प्रतिनियतकार्यकारणभावाद्युच्छेदेन सर्वत्रानाश्वासप्रसङ्गात्, हेतुज्ञानासत्यत्वं च न व्यभिचारे प्रयोजकं, किन्तु कदाचित्साध्यज्ञानासत्यत्वइति न ततोऽनुमितिप्रतिबन्धः, तथापि व्यभिचारवारकविशेषणविशिष्टत्वरूपं सत्यत्वमभिप्रेत्याक्षुद्रदेवागमादिहेतुमुपन्यस्येदं खण्डनमिति मन्तव्यम् ॥ १ ॥ आगमाश्रयेणापि हेतुना हेतुवादरसिकानामनुमानात् साध्यसिद्धौ परितोपः किं न स्यादित्याशयवान् शङ्कते—

अध्यात्मं बहिरप्येष विग्रहादिमहोदयः। दिव्यः सत्यो दिवौकस्स्वप्यस्ति रागादिमत्सु सः ॥ २ ॥

---

१ एव जिनप्रज्ञप्तान्, श्रद्दधानस्य भावतो भावान्। पुरुषस्याभिनिबोधे, दर्शनशब्दो भवति युक्त. ॥ १ ॥

आत्मानमधिश्रित्य वर्त्तमानोऽध्यात्ममन्तरङ्गो विग्रहादिमहोदयः शश्वन्निःस्वेदत्वादिः परानपेक्षत्वात्। ततो बहिर्गन्धोदकवृष्ट्यादिर्बहिरङ्गो देवोपनीतत्वात्। स च सत्यो मायाविष्वसत्त्वात्। दिव्यश्च मनुजेन्द्राणामप्यभावात्। स एष (भाष्यम्—बहिरन्तःशरीरादिमहोदयोपि पूरणादिष्वसम्भवी व्यभिचारी स्वर्गिषु भावादक्षीणकषायेषु। ततोपि न भवान् परमात्मेति स्तूयते ॥ २ ॥) अथ यादृशो घातिक्षयजः स भगवति न तादृशो देवेषु येनानैकान्तिकः स्यात्, दिवौकस्स्वप्यस्ति रागादिमत्सु स नैवास्तीति व्याख्यानादभिधीयते तथाप्यागमाश्रयत्वादहेतुः पूर्ववत्। ननु प्रमाणसंप्लववादिनां प्रमाणप्रसिद्धप्रामाण्यादागमात्साध्यसिद्धावपि तत्प्रसिद्धसाधनजनितानुमानात्पुनस्तत्प्रतिपत्तिरविरुद्धैवेति चेन्न, उपयोगविशेषस्याभावे प्रमाणसंप्लवस्यानभ्युपगमात्। सति हि प्रतिपत्तुरुपयोगविशेषे देशादिविशेषसमवधानादागमात्प्रतिपन्नमपि हिरण्यरेतसं स पुनरनुमानात्प्रतिपित्सते, तत्प्रतिबद्धधूमादिसाक्षात्करणात्प्रतिपत्तिविशेषघटनात् पुनस्तमेव प्रत्यक्षतो बुभुत्सते, तत्करणसम्बन्धात्तद्विशेषप्रतिभाससिद्धेः, न चैवमागममात्रगम्ये साध्ये साधने च तत्प्रतिपत्तिविशेषोस्तीति किमकारणमत्र प्रमाणसंप्लवोभ्युपगम्यते, प्रत्यक्षनिश्चितेऽग्नौ धूमे च तदभ्युपगमप्रसङ्गात्। सर्वथा विशेषाभावात्। ततो देवागमनभोयानचामरादिविभूतिभिरिवान्तरङ्गबहिरङ्गविग्रहादिमहोदयेनापि न स्तोत्रं भगवान् परमात्मार्हतीति ॥ २ ॥ तर्हि तीर्थकृत्सम्प्रदायेन स्तुत्योहं महानिति भगवदाक्षेपप्रवृत्ताविव साक्षादाहुः—

[1]नन्विति प्रमाणसंप्लववादिनामिति[2] प्रमाणसम्प्लव एकत्रार्थे प्रवृत्तिरनेकप्रमाणस्य, प्रत्यक्षनिश्चितेऽग्नाविति[3], प्राचीनप्रणयानुरोधिप्रसङ्गमात्रमेतत्, प्रत्यक्षनिश्चितेऽग्नौ[3] धूमेऽपि च पर्वते वह्न्यनुमित्सायां तदनुमितेरप्यभ्युपगमाच्छब्दा-दवगतस्य च वह्नेः पर्वते तत्प्रतिबद्धधूमसाक्षात्कारादनुमितेस्त्वयाऽपि स्वीकारात् सिद्धिमात्रस्य प्रतिबन्धकत्वानिष्टेः, यत्क-रणकं हेतुज्ञानं तत्करणसाध्यनिश्चयत्वेनानुमितिप्रतिबन्धकत्वेऽप्रामाणिकमहागौरवप्रसङ्गात्, सिद्धिप्रतिबन्धकतायां सिसाधयि-षाया उत्तेजकत्वमात्रस्यैव युक्तत्वात्, अत एव सिसाधयिषातदभावाभ्यां शतशः "प्रत्यक्षपरिकलितमप्यर्थमनुमिमीपन्त्यनुमान-रसिकाः" "नहि करिणि दृष्टे चीत्कारेण तमनुमिमतेऽनुमातार इति" वाचस्पतिवचनयोरविरोधमुपपादयन्ति नैयायिकाः, वदन्ति च सिसाधयिषाविरहविशिष्टसिद्ध्यभावं पक्षताया लक्षणम्, नहि सिसाधयिषामात्रं पक्षता, विनाऽपि सिसाधयिषां घनगर्जितेन मेघानुमानात्, नापि साध्यसन्देहो, विनापि सन्देहं घनगर्जितेन मेघानुमानादिति यथोक्तं युक्तम्, यत्र सिद्धि-र्नास्ति तत्र सिसाधयिषायां सत्यामसत्यामपि यत्र च सिसाधयिषाऽस्ति तत्र सिद्धौ सत्यामसत्यामपि पक्षताया यत्र च सिद्धि-रस्ति सिसाधयिषा च नास्ति तत्र पक्षताभावस्येत्थमुपपत्तेः, यद्यपि सिसाधयिषासिद्धिपरामर्शानां नैककाले सम्भवो, योग्य-विभुविशेषगुणानां यौगपद्यनिषेधात्, परामर्शानन्तरं सिद्धौ ततः सिसाधयिषायां च सिसाधयिषाकाले परामर्शनाशादेव नानु-मितिः, सिद्धिपरामर्शसिसाधयिषाणां क्रमेण भावे च सिसाधयिषाकाले सिद्धिनाशात्प्रतिबन्धकाभावादेवानुमितिरिरिति सिसा-धयिषाविरहविशिष्टत्वं सिद्धेर्विशेषणं न युज्यते, तथापि यत्र परामर्शः सिद्धिश्चोभयं युगपदेव वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतो वह्नि-मांश्चेति ततः सिसाधयिषा ततोऽनुमितिस्तत्र पक्षतासम्पत्तये तद्विशेषणावश्यकत्वमिति, वयं तु ब्रूमः—तदाकारानुमितौ तदा-

कारानुमानोपयोगस्यैव साध्यसन्देहसिसाधयिषाकालानुगतस्य हेतुत्वं तदाकारत्वं चानुमानोपयोगे तदाकारानुमितिजनकता-वच्छेदको जातिविशेषः, पटजनकतावच्छेदक इव तन्तौ, अत एव पटाकारपरिणततन्तुत्वेन पटोपादानत्वं नतु तन्तुत्वमात्रेणेति स्फुटीभविष्यत्युपरिष्टात्, इत्थं चोक्तोपयोगहेतुतयैवानतिप्रसङ्गे नोक्तपक्षतात्वेन हेतुत्वं, सिद्धिसिसाधयिषाविरहयोर्विशेषण-विशेष्यभावे विनिगमनाविरहेण गुरुतरानन्तकार्यकारणभावप्रसङ्गात्, सत्यां सिसाधयिषायां त्रिचतुरक्षणव्यवधानेन सिद्धिपरा-मर्शसद्भावेऽनुमित्यनुदयप्रसङ्गाच्च, तदा सिसाधयिषाविरहविशिष्टसिद्धिसत्त्वादुपयोगस्य तु दीर्घकालिकस्यानुगतस्याभ्युपग-मान्नानुभूयमानानुमित्यपलाप इति ।

एतेन सिद्धिपरामर्शसत्त्वे यत्किञ्चिज्ज्ञानं जायतामितीच्छायामप्यनुमितेः प्रत्यक्षातिरिक्तज्ञानं जायतामितीच्छायां चानुमितेः सिसाधयिषाविशेषविरहनिवेशक्लेशोऽपि निरस्तः । यथाकार्यदर्शनं विलक्षणोपयोगस्य कल्पनेनानतिप्रसङ्गात्, तल्लिङ्गकानुमितौ तल्लिङ्गकोपयोगस्य विशिष्य हेतुत्वाच्च न धूमपरामर्शसत्त्वे आलोकेन वह्निमनुमिनुयामितीच्छायामप्यनु-मितिः । अथ पर्वतो वह्निमानित्यनुमितौ सत्यां पर्वते वह्न्यनुमानोपयोगस्याभावात् तत्र सिद्धेः प्रतिबन्धकत्वापेक्षयानु-मितावेव तत्कल्पनं न्याय्यमिति चेत्, न, साध्यसन्देहसिसाधयिषाऽन्यतरानुगतस्यैवानुमानोपयोगस्य कल्पनात्, घनगर्जितेन मेघानुमानस्थलेऽप्यव्यक्तसाध्यसंशयकल्पनात्, अस्तु वा गर्जितेन मेघज्ञानं प्रातिभमेव, अप्रातिभस्य किं गर्जतीति संशयस्यैवोदयात्, अन्यथानुपपत्तिग्रहापेक्षत्वे तु तस्य तत्स्थलीयस्य केवलान्यथानुपपत्तिग्रहस्यैवानुमानोप-योगत्वम्, क्वचित् सिसाधयिषाविघटकत्वेऽपि सिद्धेरनुमानोपयोगप्रतिबन्धकत्वे तु मानाभावः । तेन पर्वतस्तेजस्वी पाषा-

णमयो वह्निमानिति ज्ञानसत्त्वेऽप्यनुमितेर्न विरोधः, अतदाकारसिद्ध्याऽतदाकारसिसाधयिषाया अविघटनात्, यत्रायं पुरुषो नवेति संशयानन्तरं पुरुषत्वव्याप्यकरादिमानिति ज्ञानं तत्र विनानुमित्सां प्रत्यक्षमेवोत्पद्यते नानुमितिरित्यनुमितावनुमित्साविरहविशिष्टसमानविषयकप्रत्यक्षसामग्र्याः कामिनीजिज्ञासावत् स्वातन्त्र्येण प्रतिबन्धकत्वं कल्प्यत इत्यप्ययुक्तम्, करादिमत्त्वादनेन पुरुषेण भाव्यमितीहात्मकप्रत्यक्षोपयोगसत्त्वेऽनुमितेरापत्त्ययोगात्, भ्रमसंशयोत्तरप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रति विशेषदर्शनस्य कारणत्वकल्पनापेक्षया प्रत्यक्षत्वावच्छिन्ने ईहात्वेन हेतुतायामेव लाघवमित्यस्यार्थस्यास्माभि ' ज्ञानबिन्द्वादौ ' विवेचितत्वात्। यत्र च करादिमत्त्वावच्छेदेनोहात्मकप्रमाणेन पुरुषत्वव्याप्तिग्रहस्तत्रानुमानोपयोगेन करादिमत्त्वान्यथानुपपत्त्या पुरुषत्वानुमितेरेवाभ्युपगमात्, एतेन भिन्नविषयकप्रत्यक्षेऽनुमितिसामग्रीप्रतिबन्धकत्वकल्पनमप्यपास्तम्, परामर्शानन्तरं पक्षादिप्रत्यक्षस्यावग्रहाद्यात्मकप्रत्यक्षोपयोगाभावादेवानापत्तेः, तत्तदुपयोगव्यक्तौ च तत्तददृष्टोद्बोधादिकं हेतुरिति न किञ्चिदनुपपन्नम्, " वादक्रीडाविसामग्री—क्रीडां त्यजत पण्डिताः। सामग्रीवादमादाय, न्यायकेलिर्विधीयताम् ॥१॥" अथ केन रूपेणानुमितिप्रत्यक्षसामग्र्योः प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावः? न तावदनुमितित्वावच्छिन्ने लौकिकप्रत्यक्षसामग्रीत्वेन प्रतिबन्धकता, भिन्नविषयेऽनुमितेरेवोत्पत्त्या व्यभिचारात्, न च समानविषयकानुमितित्वावच्छिन्ने समानविषयकलौकिकप्रत्यक्षसामग्रीत्वेन प्रतिबन्धकता, समानविषयत्वस्य निर्वक्तुमशक्यत्वादिति चेत्, अत्र रघुदेवभट्टाचार्यप्रभृतयः पर्वतोद्देश्यकवह्निविधेयकसंयोगसंसर्गकानुमितिं प्रति पर्वतविशेष्यकवह्निप्रकारकसंयोगसंसर्गकलौकिकप्रत्यक्षसामग्रीत्वादिना विशिष्यप्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावो वाच्यः, वह्निमान् पर्वतो घटवानित्यनुमितौ व्यभिचारवारणाय प्रतिबध्यतावच्छेदककोटौ

प्रकारकत्वं विहाय विधेयकत्वनिवेशः, प्रत्यक्षसामग्र्याः प्रतिबन्धकतायां भिन्नविषयकानुमितिसामग्र्यभावविशेषणनिवेशे तु विधेयता न निवेश्या, प्रयोजनाभावात्, उक्तस्थले विशेषणाभावेनैवादोषात्, न च पर्वतो वह्निमानिति लौकिकचाक्षुषसामग्रीसत्त्वेऽपि पर्वतो वह्निमानित्यनुमित्यापत्तिः सामग्र्याः कारणसमूहात्मकतया तदानीमतीतानागतचक्षुस्त्वक्संयोगाद्यसत्त्वेनोक्तलौकिकचाक्षुषसामग्र्यभावादिति वाच्यम्, स्वाश्रयसंयुक्तवृत्तित्वसम्बन्धेन पर्वतवृत्तिचक्षुःसंयोगविशिष्टवह्निवृत्तिचक्षुःसंयोगादेरेव प्रकृते पर्वतो वह्निमानिति लौकिकप्रत्यक्षसामग्रीपदार्थत्वात्, न च पर्वते वह्निसंयोगानवच्छेदकावच्छेदेन वह्नौ च पर्वतसंयोगानवच्छेदकावयवावच्छेदेन चक्षुःसंयोगे पर्वतो वह्निमानित्यनुमित्यनुत्पादापत्तिः, स्वावच्छेदकावच्छिन्नसंयोगाश्रयवह्निवृत्तिपर्वतसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नत्वसम्बन्धेन पर्वतचक्षुःसंयोगविशिष्टवह्निचक्षुःसंयोगत्वादिनैव प्रतिबन्धकत्वात्, न च भिन्नभिन्नपुरुषीयपर्वतचक्षुःसंयोगविशिष्टवह्निचक्षुःसंयोगकालेऽनुमित्यनुत्पादापत्तिः, स्वाश्रयवृत्तित्वरूपसामानाधिकरण्योपदर्शितसम्बन्धाभ्यां वैशिष्ट्यनिवेशात्, स्वाश्रयत्वं वृत्तित्वं च स्वाश्रयीभूतचक्षुःसंयुक्तमनःप्रतियोगिकविजातीयसंयोगसम्बन्धेन ग्राह्यम्, तेन पुरुषान्तरीयवह्निचक्षुःसंयोगे पुरुषान्तरीयपर्वतचक्षुःसंयोगवैशिष्ट्यविरहान्नानुपपत्तिः, प्रतिबध्यतावच्छेदकः सम्बन्धः समवायः, प्रतिबन्धकतावच्छेदकः स्वाश्रयसंयुक्तमनःप्रतियोगिकविजातीयसंयोगः, निरुक्तसंयोगविशिष्टात्ममनःसंयोगस्यैव प्रकृतसामग्रीत्वे समवाय एव वा, न तु प्रतिबध्यतावच्छेदकः सम्बन्धो विधेयता प्रतिबन्धकतावच्छेदकश्च समवायः, तथासत्येकपुरुषस्य तथाविधलौकिकप्रत्यक्षसामग्रीसत्त्वे पुरुषान्तरस्य तथाविधानुमित्युत्पादानापत्तिवारणाय तत्पुरुषीयत्वं निवेश्य कार्यकारणभावकल्पने गौरवप्रसङ्गात्, अथ पर्वतो वह्निमानिति लौकिकप्रत्यक्षसामग्री-

सत्त्वे पर्वते घटानुमितेर्वह्न्यनुमितेश्च सामग्रीसत्त्वे पर्वतो वह्निमानित्यनुमित्यनुत्पत्त्यापत्तिः, न चेष्टापत्तिः, भिन्नविषयेऽनुमितिसामग्र्या बलवत्त्वात्तदा वह्निघटोभयसमूहालम्बनानुमित्युत्पत्तौ बाधकाभावेनेष्टापत्तेः कर्तुमशक्यत्वात्, न च पर्वतो वह्निमानित्यनुमितिं प्रति भिन्नविषयकानुमितिसामग्र्यभावविशिष्टायाः पर्वतो वह्निमानिति लौकिकप्रत्यक्षसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वान्नोक्तानुपपत्तिः, एवं सति वह्न्यादिप्रत्यक्षे घटाद्यनुमितिसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वाद् घटादिलौकिकप्रत्यक्षसामग्रीकाले वह्निप्रत्यक्षनिर्वाहाय भिन्नविषयकानुमितिसामग्रीप्रतिबन्धकतायामपि समानविषयकलौकिकप्रत्यक्षसामग्र्या उत्तेजकत्वावश्यकत्वात्, यदा घटलौकिकप्रत्यक्षसामग्री तदनुमितिसामग्री च वह्निलौकिकप्रत्यक्षसामग्री तदनुमितिसामग्री च तदा भिन्नविषयकानुमितिसामग्र्यभावविशिष्टवह्निलौकिकप्रत्यक्षसामग्र्यभावसत्त्वात् पर्वतो वह्निमानित्यनुमितेः समानविषयकलौकिकप्रत्यक्षसामग्र्यभावविशिष्टघटानुमितिसामग्र्यभावसत्त्वात् पर्वतो वह्निमानिति प्रत्यक्षस्य चापत्तेरिति चेत्, मैवम्, सामग्रीचतुष्टयमेलनदशायां ज्ञानद्वययौगपद्यापत्तिभिया पर्वतो वह्निमानिति लौकिकप्रत्यक्षसामग्रीप्रतिबन्धकतावच्छेदककोटिनिविष्टाभावप्रतियोगिभिन्नविषयकानुमितिसामग्र्यां समानविषयकप्रत्यक्षसामग्र्यभावस्यापि विशेषणस्य निवेशात्, न चैवं समानविषयकप्रत्यक्षसामग्र्यामपि भिन्नविषयकानुमितिसामग्र्यभावनिवेशेऽनवस्था, तन्निवेशे प्रयोजनाभावेन तत्रैव विश्रान्तेरनवस्थापत्त्ययोगात्, वस्तुतः पर्वतो वह्निमानिति लौकिकप्रत्यक्षसामग्रीकालीनघटाद्यनुमितिकाले वह्न्यनुमित्यनभ्युपगमात्कामपि सामग्रीमनुत्तेजकीकृत्य वह्निलौकिकप्रत्यक्षसामग्रीत्वेनैव वह्न्यनुमितौ प्रतिबन्धकत्वकल्पनान्न दोषः। अथ वह्न्यादिविषयकलौकिकप्रत्यक्षसामग्रीकाले वह्न्यनुमित्सासत्त्वे वह्न्यनुमित्युत्पत्तेस्तत्प्रतिबन्धकतावच्छेदककोटौ वह्न्यनुमित्साया उत्तेजकत्वं स्वीकार्यम्, तच्च केन रूपेण, न तावदनुमित्सात्वेन,

वह्निलौकिकप्रत्यक्षसामग्रीसत्त्वे घटानुमित्यया अपि वह्न्यनुमित्युत्पादापत्तेः, नापि पर्वतोद्देश्यकवह्निविधेयकानुमितिविषयकेच्छा-त्वेन, घटानुमित्याया अपि पर्वतोद्देश्यकवह्निघटोभयविधेयकसमूहालम्बनानुमितिविषयकत्वेनोक्तदोषानुद्धारात्, नापि पर्वतोद्दे-श्यकत्वप्रकारतानिरूपितवह्निविधेयकत्वप्रकारतानिरूपितवह्निविधेयकत्वत्वावच्छिन्नप्रकारताभिन्नयत्किञ्चिद्विधेयकत्वप्रकारत्वानिरूपितानुमितिनिष्ठविशेष्यताशा-लीच्छात्वेन, तथापि पर्वतोद्देश्यकघटप्रकारकानुमितिर्जायतामितीच्छासत्त्वे वह्निप्रत्यक्षसामग्रीसत्त्वे वह्न्यनुमित्यापत्तेः, तादृशे-च्छाया उक्तधर्माक्रान्तत्वादिति चेत्, उच्यते–पर्वतोद्देश्यकवह्निविधेयकानुमितिं प्रति पर्वतत्वावच्छिन्नोद्देश्यकत्वप्रकारतानिरूपि-तवह्निविधेयकत्वप्रकारताभिन्नयत्किञ्चिद्विधेयकत्वप्रकारत्वानिरूपितत्वे सति या पर्वतनिशेष्यकत्वप्रकारतानिरूपितवह्निप्रकारक-त्वप्रकारताभिन्नयत्किञ्चित्प्रकारकत्वप्रकारत्वानिरूपिताऽनुमितिनिष्ठविशेष्यता तच्छालीच्छाभावविशिष्टवह्निलौकिकप्रत्यक्षसामग्री-त्वेन प्रतिबन्धकत्वकल्पनान्न दोषः। एवमिच्छान्तरसङ्ग्रहायेच्छीयानुमितिनिष्ठविशेष्यतायां विशेषणान्तरमपि विचिन्त्य सुधीभि-र्देयम्, ज्ञानं जायतामितीच्छावारणायानुमितिनिष्ठविशेष्यतायां प्रत्यक्षावृत्तिधर्मनिष्ठप्रकारतानिरूपितत्वं निवेश्यम्, न त्वनुमि-तिमात्रवृत्तिधर्मनिष्ठप्रकारतानिरूपितत्वम्, प्रत्यक्षान्यज्ञानं जायतामितीच्छासत्त्वेऽनुमित्यनुत्पादापत्तेरित्याहुः, तत्र ब्रूमः, एवम-नन्तानुमित्साविरहविशिष्टतत्तल्लौकिकप्रत्यक्षसामग्रीणामनन्ताभावानामनुमितिहेतुत्वे गौरवात्तावदन्यतमत्वावच्छिन्नाभावस्याख-ण्डस्य हेतुत्वे वाच्ये तत्स्थानाभिषिक्ताखण्डानुमानोपयोगस्यैवानुमितिहेतुत्वौचित्यात्, तदभावादेव न पर्वते वह्निलौकिकप्रत्यक्ष-सामग्रीकाले वह्न्यनुमितिः, किञ्च पर्वतचक्षुःसंयोगविशिष्टवह्निचक्षुःसंयोगस्य नोक्तसामग्रीत्वं प्रतिबन्धकतावच्छेदकसम्बन्धगौ-रवादिति तद्विशिष्टात्ममनःसंयोगस्यैव त्वया तत्त्वं वाच्यम्, तदपेक्षयापि लाघवाद्विशिष्टात्मन एव तत्त्वमुचितं, स च प्रत्यक्षोपयोग

एव, उपयोगात्मनोऽप्यदृष्टस्वात्मसु पारमर्षे प्रतिपादनात्, स चानुमानोपयोगप्रतिबन्धको द्रव्यार्थिकनयमते, पर्यायार्थिकनयमते च सुषुप्तौ ज्ञानानुत्पादनिर्वाहार्थमुपयोगसिद्धेर्यत्सामान्ययोरित्यादिन्यायात्प्रत्यक्षहेतुत्वेन सिद्ध आत्मधर्मे उपयोगविशेषः, तथा प्रत्यक्षोपयोगेनात्मस्थानुमानोपयोगोत्पादानुकूलशक्तिविघटनात् तस्य तत्त्ववृत्त्या तत्प्रतिबन्धकत्वोपपत्तेः; इति न तदानुमितिः; अनुमित्साया अपि तदुपयोगनिवृत्तिकाल एवाभ्युपगमादिति किमधिकेनाकाण्डताण्डवेन। किञ्च न्यायनयेऽप्यनुमितौ प्रत्यक्ष-सामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वं न कल्प्यते, किन्तु कार्यकालवृत्तितया प्रत्यक्षाभावस्य हेतुत्वमित्यस्मिन्नेव पक्षे लाघवम्, निर्णयत्वेन सिद्धेः प्रतिबन्धकत्वाकल्पनात्, पर्वतो वह्निव्याप्यवान् वह्निव्याप्यव्याप्यवानित्यादिपरामर्शादनुमितिधारावारणायानुमितावनुमितित्वे-नैव परं तत्कल्पनात्, प्रत्यक्षसामग्र्यभावस्यानुमितौ हेतुत्वे तु विनश्यदवस्थप्रत्यक्षसामग्रीजन्यप्रत्यक्षोत्तरमनुमित्यापत्तिवारणा-यानुमितौ प्रत्यक्षसाधारणतथाविधनिर्णयत्वेनैव प्रतिबन्धकत्वं कल्पनीयं स्यात्, अन्यथाऽनिर्वाहात्, न चैवं भाविवह्निप्रत्यक्षमप्रमे-त्यप्रामाण्यग्रहकालीनविनश्यदवस्थवह्निप्रत्यक्षसामग्र्युत्पादितवह्निप्रत्यक्षाद्वितीयादिक्षणेऽनुमितिसामग्रीतोऽनुमित्यनुत्पादप्रसङ्गः अप्रामाण्यग्रहाभावविशिष्टवह्निप्रत्यक्षत्वेन प्रतिबन्धकत्वकल्पनात्, न चैवं सत्युपदर्शितस्थले प्रत्यक्षोत्पादकाले वह्न्यनुमित्या-पत्तेर्दुर्वारत्वम्, तत्रानायत्या तत्क्षणविशिष्टाप्रामाण्यग्रहस्यैवोत्तेजकत्वस्वीकारात्, उक्तोपदर्शितस्थलेऽनुमित्यनुत्पत्ताविष्टा-पत्तेर्वा, न चोपदर्शितसामग्रीचतुष्टयमेलनदशायां परस्परप्रतिबन्धकवशात् कस्यापि फलस्यानुदयेन तदा प्रत्यक्षाभावकारणब-लादनुमित्यापत्तिवारणं समानविषये प्रत्यक्षसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वकल्पनं विना दुष्करमितिवाच्यम्, तदानीं परमते चक्षुर्म-नोयोगादिविगमकल्पनेनास्मन्मते चान्यतरोपयोगविगमकल्पनेन सामग्रीचतुष्टयमेलनस्यैवासिद्धेः, अन्यथा स्वाभ्युपगममात्रे-

णोक्तानवस्थोद्धारायोगाद्विपर्ययस्यापि कल्पयितुं शक्यत्वात्, एतेन समानविषयेऽनुमितिसामग्रीकाले प्रत्यक्षसामग्रीसत्त्वे पर्वते वह्न्यनुमित्सायां वह्निप्रत्यक्षेच्छायां च सत्यां पर्वतो वह्निमानित्यनुमित्यापत्तिः, न चेष्टापत्तिः, स्वभावतो बलवती यस्य सामग्री तद्विषयेच्छासत्त्वे तस्यैवोत्पत्त्यभ्युपगमादिति पर्वतोद्देश्यकवह्निविधेयकानुमितौ तथाविधप्रत्यक्षान्यज्ञानत्वावच्छिन्ने वा तथाविधप्रत्यक्षेच्छाविशिष्टायाः पर्वतो वह्निमानिति प्रत्यक्षसामग्र्या अपि प्रतिबन्धकत्वान्तरं कल्पनीयम्, न चानुमित्सायां प्रत्यक्षेच्छाया उत्तेजकत्वस्वीकारेणैव निर्वाहः, प्रत्यक्षेच्छाभावानुमित्सयोर्विशेषणविशेष्यभावे विनिगमकाभावेनानन्तप्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावकल्पनाबाहुल्यात्, प्रतिबन्धकतावच्छेदकगौरवाच्च, एवं प्रत्यक्षेच्छाभावकालेऽनुमित्सादशायामनुमितिसामग्रीसत्त्वे प्रत्यक्षसामग्रीबलात् प्रत्यक्षापत्तिवारणाय समानविषयकप्रत्यक्षं प्रति समानविषयकप्रत्यक्षेच्छाभावविशिष्टसमानविषयकानुमित्साविशिष्टानुमितिसामग्र्या अपि स्वातन्त्र्येण प्रतिबन्धकत्वं कल्पनीयमित्याद्यपास्तम्, प्रत्यक्षानुमितीच्छयोर्भिन्नोपयोगरूपयोरेकदाऽजायमानत्वेनोक्तकल्पनाया निर्मूलत्वात्, एतेनैव भिन्नविषयान्तर्भावेणानुमितिसामग्रीप्रतिबन्धकत्वकल्पनाजालमपास्तम्। एवं हि तद्भिन्नविषये प्रत्यक्षानुमितिसामग्रीद्वयदशायामनुमितिरेवोत्पद्यते न प्रत्यक्षम्, तदुत्तरमनुमिनोमीत्यनुव्यवसायादिति तत्र प्रत्यक्षं प्रत्यनुमितिसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वं कल्पनीयम्, पक्षपरामर्शादिप्रत्यक्षानुत्पत्तेरन्यथानुपपत्तेश्च। तत्र च न सामान्यतः प्रत्यक्षत्वावच्छिन्नेऽनुमितिसामग्रीत्वेन प्रतिबन्धकता, समानविषयेऽनुमितिसामग्रीकाले प्रत्यक्षानुत्पत्तिप्रसंगात्, नापि वह्निभिन्नप्रत्यक्षं प्रति वह्न्यनुमितिसामग्रीत्वेन प्रतिबन्धकता, अवच्छेदककोटौ प्रत्यक्षेच्छाया उत्तेजकत्वावश्यकत्वेन घटपटादिप्रत्यक्षेच्छाभावकूटस्यैकत्र निवेशे पटप्रत्यक्षसामग्र्यभावदशायां पटप्रत्यक्षेच्छाबलाद्विरोधिसामग्रीकाले घटादिप्रत्य-

क्षापत्तेः, किन्तु घटप्रत्यक्षं प्रति घटप्रत्यक्षेच्छाभावविशिष्टवह्न्यनुमितिसामग्रीत्वादिना विशिष्य प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावः स्वीकर्त्तव्यः, न च तथापि घटस्पार्शनेच्छादिबलाद् घटचाक्षुषाद्यापत्तिः, घटत्वप्रकारतानिरूपितघटविशेष्यताशालिचाक्षुषादौ तादृशचाक्षुषादिविषयकेच्छाभावविशिष्टवह्न्यनुमितिसामग्रीत्वादिना प्रतिबन्धकत्वान्तरस्यापि कल्पनात्, न चैवं वह्न्यनुमितिसामग्रीसत्त्वे यत्किञ्चिज्ज्ञानं जायतामितीच्छाकाले घटादिचाक्षुषापत्तिः, घटत्वप्रकारकत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपिता या घटविशेष्यकत्वप्रकारता तद्भिन्नयत्किञ्चिद्विशेष्यकत्वनिष्ठप्रकारत्वानिरूपितत्वे सति घटत्वप्रकारकत्वावच्छिन्नघटविशेष्यकत्वप्रकारतानिरूपिता या चाक्षुषविशेष्यता तच्छालीच्छात्वेनोत्तेजकत्वस्वीकारात्, उपदर्शितेच्छायास्तथाविधविषयत्वाभावेन दोषाभावात्, न च वह्न्यनुमितिसामग्रीकाले चाक्षुषं जायतामितीच्छासत्त्वेऽपि घटचाक्षुषानुपपत्तिस्तादृशेच्छायास्तथाविधविषयत्वाभावेन तादृशविषयताशालीच्छाविरहविशिष्टवह्न्यनुमितिसामग्रीसत्त्वादिति वाच्यम्, तादृशेच्छायामप्यनुमित्यवृत्तिधर्मनिष्ठप्रकारतानिरूपिता सती या यत्किञ्चिद्विशेष्यकत्वनिष्ठप्रकारत्वानिरूपिता चाक्षुषविशेष्यता तच्छालीच्छात्वेन स्वातन्त्र्येणोत्तेजकत्वाभ्युपगमात्, वह्निभिन्नविषयकानुमित्यन्यज्ञानत्वावच्छिन्न एव वह्न्यनुमित्साविशिष्टवह्न्यनुमितिसामग्र्या अपि स्वातन्त्र्येण प्रतिबन्धकत्वाच्च न वह्न्यनुमित्साविशिष्टवह्न्यनुमितिसामग्रीकाले घटादिचाक्षुषेच्छासत्त्वे घटादिचाक्षुषापत्तिः, घटादिचाक्षुषेच्छायां वह्न्यनुमित्साया उत्तेजकत्वं तु न वाच्यम्, विशेषणविशेष्यभावे विनिगमकाभावेन महागौरवात्, वह्निभिन्नविषयकत्वं च वह्नित्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितपर्वतत्वावच्छिन्नविशेष्यताभिन्नमुख्यविशेष्यताकत्वम्, तेन पर्वतो वह्निमानिति प्रत्यक्षस्यापि वह्निभिन्नवह्नित्वादिविषयकत्वेन न व्यभिचारः, मुख्यविशेष्यतात्वं च प्रकारताभिन्नविषयतात्वम्, अतो न घटघटत्वादिनिर्वि-

कल्पकासङ्ग्रहः, अनुमित्साविशिष्टानुमितिसामग्रीकाले वह्निवह्नित्वादिनिर्विकल्पकानङ्गीकारे च नानुपपत्तिः, न च तथाऽप्यनुमित्साविशिष्टानुमितिसामग्रीकाले पर्वतो वह्निमानित्युपनीतभानापत्तिः, वह्निनिष्ठलौकिकविषयतानिरूपितपर्वतविशेष्यताभिन्नमुख्यविशेष्यतानिवेशे च पर्वतो वह्निमानिति शाब्दे व्यभिचारो दुर्वार इति वाच्यम्, तथाविधोपनीतभानं प्रत्यप्यनुमित्साविशिष्टानुमितिसामग्र्याः स्वातन्त्र्येण प्रतिबन्धकत्वान्तरकल्पनात् । केचित्तु पर्वतो वह्निमानिति लौकिकप्रत्यक्षे व्यभिचारवारणायानुमित्साविशिष्टानुमितिसामग्रीप्रतिबध्यतावच्छेदकं पर्वतत्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितवह्नित्वावच्छिन्नप्रकारताशून्यज्ञानत्वमेव वाच्यम्, इत्थमनुमित्यन्यत्वाप्रवेशे पूर्वमतापेक्षया लाघवाद्वह्न्यनुमित्साविशिष्टवह्न्यनुमितिसामग्रीकाले घटानुमितिसामग्रीसत्त्वे वह्निघटोभयसमूहालम्बनानुमित्युदयाभ्युपगमेन तत्र व्यभिचाराभावात्, तथाविधानुमितिसामग्रीकाले वह्निप्रत्यक्षेच्छाविशिष्टवह्निप्रत्यक्षसामग्र्यां घटप्रत्यक्षसामग्र्यां च सत्यां पर्वतो वह्निमान् घटवांश्चेति समूहालम्बनप्रत्यक्षस्य च तदानुमित्यनुदयेन ज्ञानायौगपद्यार्थमभ्युपगमादित्याहुः, तन्न, अनुमित्साविशिष्टानुमितिसामग्र्यभावदशायां पर्वतो वह्निमान् घटवांश्चेति समूहालम्बनात्मकप्रत्यक्षसामग्रीकाले विरोधिसामग्र्यभावरूपकारणबलात् पर्वतत्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितवह्नित्वावच्छिन्नप्रकारताशून्यज्ञानत्वावच्छिन्नापत्तेर्दुर्वारत्वात् वह्निप्रत्यक्षसामग्र्यादेस्तत्र प्रतिबन्धकत्वकल्पने च गौरवात्, पर्वतत्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितवह्नित्वावच्छिन्नविधेयताभिन्नविधेयताया एवानुमित्साविशिष्टानुमितिसामग्रीप्रतिबध्यतावच्छेदकत्वम्, विधेयत्वं चोद्देश्यतावच्छेदकविधेयतावच्छेदकव्यावृत्तविलक्षणविषयत्वमित्यपरे, तदपि न, प्रत्यक्षादिसाधारणविधेयत्वाख्यविलक्षणविषयतायां प्रमाणाभावात, एवं वह्न्यनुमितिसामग्रीकाले घटादिप्रत्यक्षेच्छाविशिष्टघटादिप्रत्यक्षसामग्रीदशायामनुमित्यनुदयेन

तादृशानुमितौ तथाविधानुमित्साविरहविशिष्टघटादिप्रत्यक्षेच्छाविशिष्टघटादिप्रत्यक्षसामग्र्या अपि प्रतिबन्धकत्वान्तरं कल्पनीयम्, एवं भिन्ने विषये शाब्दबोधसामग्रीसत्त्वे प्रत्यक्षसामग्रीसत्त्वे च प्रत्यक्षानुत्पादाद्भिन्नविषयकप्रत्यक्षं प्रति तथाविधप्रत्यक्षेच्छाभावविशिष्टशाब्दसामग्र्या अपि प्रतिबन्धकत्वं कल्पनीयमेवमन्यदप्यूह्यमिति, अत्र ब्रूमः, परामर्शादेः स्वसंविदितत्वादेव नानुमितिसामग्रीकाले प्रत्यक्षापत्तिः, ज्ञानमानसे मानसान्यज्ञानसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्त्वाकल्पनलाघवेनैव ज्ञानस्वसंविदितत्वस्य लतायामस्माभिः समर्थितत्वात्। पक्षादिप्रत्यक्षस्य च तथोपयोगाभावादेव नापत्तिः तत्सत्त्वे पर्वतप्रत्यक्षोत्तरमाशुभाविनानुमानोपयोगेन वह्न्यनुमित्युत्पत्त्या क्रमिकफलद्वयेनैव पर्वतं पश्यामि वह्निं चानुमिनोमीति व्यवहारोपपत्तेः, व्यवहारतोऽपि प्रत्यक्षत्वपरोक्षत्वयोर्विषयताविशेषेणानेकान्ते चानुपपत्तिलेशस्याप्यभावात्, उपयोगासाङ्कर्यस्य गौणमुख्यभावेनैव प्रतिनियमादिति किं भिन्नविषयेऽनुमितिसामग्रीप्रतिबन्धकत्वेन, यथाक्षयोपशमं प्रतिनियतोपयोगप्रवृत्त्यैव सर्वसामञ्जस्यात्, अन्यथा वह्न्यनुमित्साविशिष्टवह्न्यनुमितिसामग्रीकालेवह्निप्रत्यक्षेच्छाविशिष्टवह्निप्रत्यक्षसामग्रीबलात्पर्वतो वह्निमानिति प्रत्यक्षं जायते न तु पर्वतवह्निसंयोगा इति समूहालम्बनं वह्निवह्नित्वादिनिर्विकल्पकं वेत्यर्द्धजरतीयाश्रयणस्याशक्यत्वेनोक्तवह्निभिन्नविषयत्वस्याव्यवस्थितेः, वह्न्यनुमित्साविशिष्टवह्न्यनुमितिसामग्रीकालीनवह्निप्रत्यक्षेच्छाविशिष्टवह्निप्रत्यक्षसामग्रीकाले घटप्रत्यक्षसामग्रीदशायां पर्वतो वह्निमान् घटवांश्चेति प्रत्यक्षस्य दुरपलापत्वेन तत्र व्यभिचाराच्चोक्तवह्निभिन्नविषयकानुमितौ निरुक्तसामग्रीत्वेन प्रतिबन्धकताया दुर्वचत्वाच्चोक्तसामग्र्या घटप्रत्यक्षप्रतिबन्धकत्वकल्पने तु महागौरवम्, केवलं बहुबहुविधादिसूत्रमध्यपठितनिश्रितप्रत्यक्षहेतुक्षयोपशमवतां समानेऽपि विषये प्रथममनुमितेरेवोत्पत्तेः प्रत्यक्षसामग्र्यपेक्षयानुमितिसामग्र्या बलवत्त्वं न्याय्यम्, श्रुतेनैव लिङ्गेन

निश्रितत्वस्य स्वजनितप्रमाहितक्षयोपशमसाचिव्येन सिद्धेः, अत एव नैयायिकैकदेशिनोऽपि तत्र साक्षात्कारित्वग्रहे क्षणविलम्बं कल्पयन्ति, तादृशसामग्रीद्वितीयक्षणेऽनुमित्युत्पत्त्याऽनन्तरं सिद्धिप्रतिबन्धादनुमित्यन्तरानुत्पादेन तृतीयक्षणे प्रत्यक्षोत्पादात् तत्र साक्षात्कारित्वग्रहोपपत्तेः। एवं हि भिन्नविषयस्थलीयप्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावेनैव निर्वाहेऽनुमितौ प्रत्यक्षसामग्र्या अतिरिक्तप्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावाकल्पनलाघवम्, सम्प्रदायविदा हि भिन्ने विषये वह्न्यनुमित्साविशिष्टवह्न्यनुमितिसामग्रीसत्त्वे घटप्रत्यक्षेच्छाविशिष्टघटप्रत्यक्षसामग्रीसत्त्वे च वह्न्यनुमितेरेवोत्पत्त्या तत्र घटप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रति भिन्नविषयकानुमित्यन्यज्ञानत्वावच्छिन्नं प्रति वा वह्न्यनुमित्साविशिष्टवह्न्यनुमितिसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वं समाने च विषये वह्निप्रत्यक्षेच्छाविशिष्टवह्निप्रत्यक्षसामग्रीकाले वह्न्यनुमित्साविशिष्टवह्न्यनुमितिसामग्रीदशायां वह्न्यनुमित्यापत्तिवारणाय वह्न्यनुमितिं प्रति वह्निप्रत्यक्षेच्छाविशिष्टवह्निप्रत्यक्षसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वं कल्पनीयम्, अस्माकं तु प्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रत्यनुमित्यन्यज्ञानत्वावच्छिन्नं प्रति वाऽनुमित्साविशिष्टानुमितिसामग्र्या एकमेव प्रतिबन्धकत्वमिति भिन्नविषयत्वानिवेशद्वितीयप्रतिबन्धकत्वाकल्पनाभ्यां लाघवस्य स्फुटत्वात्। न च वह्न्यनुमितिसामग्रीप्रतिबध्यतावच्छेदककोटौ वह्निभिन्नविषयकत्वानिवेशे समानविषये स्वस्वेच्छाविशिष्टवह्न्यनुमितिशाब्दसामग्रीद्वयसमाजे वह्निशाब्दस्यैवोत्पत्तेरनुमित्यन्यज्ञानेऽनुमितिसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वे व्यभिचार इति शङ्कनीयम्, तत्रानुमितिसामग्र्यपेक्षया प्रत्यक्षसामग्र्या इव शाब्दसामग्र्या अपि दुर्बलत्वस्वीकारात्, तथाऽपि द्वितीयप्रतिबन्धकत्वाकल्पनप्रयुक्तं लाघवमयुक्तम्, समाने विषये शाब्दसामग्र्यपेक्षया प्रत्यक्षसामग्र्या बलवत्त्वात्, पर्वतो वह्निमानिति शाब्दबुद्धौ वह्निप्रत्यक्षेच्छाविशिष्टवह्निप्रत्यक्षसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वे कल्पनीये तत्रैवानुमित्यादिसाधारणप्रत्यक्षान्यवह्निज्ञानत्वस्य प्रतिबध्य-

तावच्छेदकत्वेन निर्वाहे तस्याः स्वातन्त्र्येण प्रतिबन्धकत्वानङ्गीकारादिति चेत्, न, प्रत्यक्षान्यत्वज्ञानत्वयोर्विशेषणविशेष्यभावे विनिगमनाविरहेण गुरुतरानन्तप्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावप्रसङ्गात् पर्वतो वह्निमानिति शाब्दत्वस्यैव लाघवेन प्रतिबध्यतावच्छेदकत्वौचित्यात्, द्वितीयगौरवस्य सम्प्रदायिमते दुष्परिहरत्वात्। वस्तुतः समाने विषये प्रत्यक्षसामग्र्यपेक्षयानुमितिसामग्र्या बलवत्त्वस्वीकर्त्तारः शाब्दबोधसामग्र्या अपि तथात्वं स्वीकुर्वत इति नोपदर्शितकल्पनया निर्वाहः। एतेन पर्वतविशेष्यकवह्निप्रकारकपरोक्षत्वस्यैव तादृशसामग्रीप्रतिबध्यतावच्छेदकत्वे सम्प्रदायिमते न गौरवम्, परोक्षत्वं चैतत्सामग्रीप्रतिबध्यतावच्छेदककोटिप्रविष्टतया पर्वतो न वह्निमानित्यादिबाधप्रतिबध्यतावच्छेदककोटिप्रविष्टतया च सिद्धौ जातिविशेष इत्युक्तावपि न क्षतिः। उक्तदिशा तादृशजात्यन्तर्भावेन शाब्दबोधप्रतिबन्धकताया एवायोगादिति। अथ तथापि भिन्ने विषये घटादिप्रत्यक्षेच्छाविशिष्टतत्सामग्रीदशायां पर्वतविशेष्यकवह्निप्रकारकज्ञानं जायतामित्यनुमितिविषयकेच्छाकालीनानुमितिसामग्रीकाले तदुत्तरं घटादिप्रत्यक्षानुत्पत्तये वह्निभिन्नविषयकप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रति तथाविधानुमित्यन्यज्ञानत्वावच्छिन्नं प्रति वा वह्न्यनुमितिविषयकेच्छाविशिष्टवह्न्यनुमितिसामग्रीत्वेन प्रतिबन्धकत्वकल्पनमावश्यकम्। न च भिन्नविषयकत्वनिवेशे प्रयोजनाभावः, तदनिवेशे पर्वतो वह्निमानिति प्रत्यक्षेच्छाविशिष्टप्रत्यक्षसामग्रीकाले पर्वते वह्निज्ञानं जायतामित्यनुमितिविषयकेच्छाविशिष्टतदनुमितिसामग्रीदशायां पर्वतो वह्निमानिति प्रत्यक्षानुत्पत्त्यापत्तेः, यस्य सामग्रीमपेक्ष्य स्वभावतो बलवती यस्य सामग्री तद्वृत्तिधर्मप्रकारकतद्विषयकेच्छासत्त्वे तस्यैवोत्पादनियमेन तत्र तादृशेच्छाकालेऽनुमितेरनुत्पत्त्या प्रत्यक्षस्यैवोत्पादसम्भवेन पर्वतो वह्निमानिति प्रत्यक्षानुत्पत्ताविष्टापत्तेः कर्त्तुमशक्यत्वात्। एवं वह्निप्रत्यक्षेच्छाविशिष्टतत्प्रत्यक्षसामग्रीकालेऽनुमितित्वप्रकारकवह्न्य-

नुमित्साविशिष्टवह्न्यनुमितिसामग्रीदशायां तदुत्तरं तत्प्रत्यक्षापत्तिवारणाय वह्निप्रत्यक्षं प्रत्यनुमितित्वप्रकारकतदनुमित्साविशिष्टतदनुमितिसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वमेकदेशिभिरपि स्वीकर्त्तव्यमिति सम्प्रदायमतापेक्षया क लाघवावकाश इति चेत्, न, तथापि सम्प्रदायमते वह्न्याद्यनुमित्साविशिष्टवह्न्याद्यनुमितिसामग्रीकाले वह्न्यादिप्रत्यक्षापत्तिवारणाय पर्वतो वह्निमानिति प्रत्यक्षे तादृशानुमित्साविशिष्टवह्न्यादिप्रत्यक्षेच्छाविरहविशिष्टवह्न्याद्यनुमितिसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वे कल्पनीयेऽनुमित्साप्रत्यक्षेच्छाभावयोरेकत्र निवेशप्रयुक्तप्रतिबन्धकतावच्छेदकशरीरगौरवात्, एकदेशिमते प्रत्यक्षं प्रति प्रत्यक्षेच्छाभावानुमित्सावैशिष्ट्यान्तर्भावेनानुमितिसामग्र्याः पृथक् प्रतिबन्धकताद्वयसाम्येऽपि तदभावात्। अथ तन्मतेऽपि वह्न्यादिप्रत्यक्षेच्छाविशिष्टवह्न्यादिप्रत्यक्षसामग्रीकाले वह्न्याद्यनुमितिवारणाय वह्न्याद्यनुमितिं प्रति वह्न्याद्यनुमित्साविरहविशिष्टवह्न्यादिप्रत्यक्षेच्छाविशिष्टवह्न्यादिप्रत्यक्षसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वे कल्पनीयेऽनुमित्साभावप्रत्यक्षेच्छयोरेकत्र निवेशप्रयुक्तशरीरगौरवाधिक्यं तुल्यमेवेति चेत्, न, प्रत्यक्षसामग्र्यपेक्षयाऽनुमितिसामग्र्या बाधाभावतदभावव्याप्यवत्तानिर्णयाभावादिघटिततया गुरुत्वेन प्रत्यक्षेच्छाभावानुमित्सोभयविशिष्टायास्तस्याः प्रतिबन्धकतावच्छेदकशरीरस्यानुमित्साभावप्रत्यक्षेच्छोभयविशिष्टप्रत्यक्षसामग्रीप्रतिबन्धकतावच्छेदकशरीरापेक्षया तुल्यत्वाभावात्। न च लौकिकप्रत्यक्षं प्रत्यपि तदिन्द्रियजन्यबाधबुद्धेः प्रतिबन्धकत्वात्प्रत्यक्षसामग्र्या अपि बाधाभावघटितत्वेन लाघवानवकाशः, बाधधीकालीनलौकिकप्रत्यक्षसामग्रीकाले तया प्रतिबन्धादनुमितेरप्यनुदयेन व्यभिचाराभावात्सर्वत्रानुमितौ प्रत्यक्षसामग्रीप्रतिबन्धकतावच्छेदककोटौ बाधाभावस्य निवेशे प्रयोजनाभावात्, तथाऽप्येकदेशिमते समानविषये वह्न्यादिप्रत्यक्षं प्रति वह्न्यादिप्रत्यक्षेच्छाविरहविशिष्टवह्न्याद्यनुमितिसामग्र्या अननुगतेच्छाभावकूटानुग-

तेच्छाभावविशिष्टसिद्ध्यभावघटितायाः प्रतिबन्धकत्वमावश्यकम्, अन्यथा सिद्धिकाले परामर्शादीतरानुमितिकारणसमूहसत्त्वे वह्निप्रत्यक्षानुत्पत्त्यापत्तेः, तथा चाननुगतेच्छाभावकूटादीनां विशेषणविशेष्यभावाननुगमप्रयुक्तं गौरवं दुरुद्धरम्। सम्प्रदायमते तु नैतत्, प्रत्यक्षेच्छाविरहाविशिष्टानुमित्साविशिष्टानुमितिसामग्रीप्रतिबन्धकतावच्छेदककोटौ सिद्ध्यभावनिवेशे प्रयोजनाभावात्, उक्तसामग्रीदशायां सिद्धिकालेऽनुमितेरेवोत्पत्त्या प्रत्यक्षानुदयेन व्यभिचाराभावादिति चेत्, न, यादृशयादृशप्रत्यक्षेच्छासत्त्वे यादृशयादृशसिद्धिसत्त्वे च न तथाविधानुमितिस्तावदन्यतमत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्याभावस्याखण्डस्यैव निवेशादेकैकपरामर्शादनुमितिद्वयाभ्युपगमेन सिद्धेरप्रतिबन्धकत्वाद्वा, अस्माकं तु तदानुमानोपयोगाविरामादेव न प्रत्यक्षम्, उपयोगक्रमे तु देशकालादिनियन्त्रितक्षयोपशमक्रम एव नियामक इति किमाम्रेडितेन। एतेन समाने विषये भिन्ने विषये वा स्पार्शनसामग्रीदशायां चाक्षुपसामग्रीसत्त्वे चाक्षुपस्यैवोत्पत्तेः स्पार्शनत्वावच्छिन्नं प्रति स्पार्शनेच्छाविरहविशिष्टचाक्षुपसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वं कल्पनीयम्, तत्र न सामान्यतस्तत्त्वेन प्रतिबन्धकत्वम्, घटचाक्षुपसामग्रीकाले घटस्पार्शनेच्छासत्त्वे तत्सामग्र्यां घटस्पार्शनेच्छायां चासत्यां घटस्पार्शनापत्तेः, नापि घटादिस्पार्शनं प्रति घटादिस्पर्शनविषयकेच्छाविरहविशिष्टचाक्षुपसामग्रीत्वेन प्रतिबन्धकत्वम्, घटचाक्षुपसामग्रीकाले घटस्पार्शनसामग्रीदशायां घटज्ञानं जायतामितीच्छासत्त्वे घटस्पार्शनापत्तेः, न चेष्टापत्तिः, स्वभावतो बलवती यस्य सामग्री तद्विषयकेच्छासत्त्वे तस्यैवोत्पादनियमात्, नापि तथाविधस्पार्शनं प्रति तथाविधस्पार्शनत्वप्रकारकेच्छाविरहविशिष्टचाक्षुपसामग्रीत्वेन, पटचाक्षुपसामग्रीकाले घटस्पार्शनसामग्रीसत्त्वे घटज्ञानं जायतामितीच्छायां घटस्पार्शनानुपपत्तेः, किन्तु घटादिस्पार्शनं प्रति घटादिस्पार्शनत्वप्रकारकेच्छाविरहविशिष्टघटादिचाक्षुपसामग्रीत्वेन

घटादिस्पार्शनविषयकेच्छाविरहविशिष्टपटादिचाक्षुषसामग्रीत्वेन च प्रतिबन्धकत्वं कल्पनीयम्, चाक्षुषसामग्री तूद्भूतरूपादि-
विशिष्टविजातीयसंयोगरूपा, वैशिष्ट्यं च स्वाश्रयसमवेतत्वेन, चाक्षुषसामग्र्यां स्वसमवायिसमवेतविजातीयसंयोगवन्मनः-
संयुक्तचक्षुर्वृत्तित्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य स्पार्शनेच्छाभावस्य च वैशिष्ट्यं विशेषणताविशेषेण ग्राह्यमतो नानुपपत्तिः,
यद्वा सामान्यतः स्पार्शनत्वावच्छिन्नं प्रति स्वीयस्पार्शननिष्ठविशेष्यतानिरूपितविषयितासम्बन्धावच्छिन्नप्रकारताश्रयसमवेत-
तत्त्वरूपपरम्परासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्पार्शनत्वप्रकारकेच्छाविरहविशिष्टचाक्षुषसामग्रीत्वेनैकम्, अपरं च स्पार्शनं
प्रति चाक्षुषसामग्रीविशिष्टोपदर्शितपरम्परासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्पार्शनविषयकेच्छाभावत्वेन प्रतिबन्धकत्वं कल्प-
नीयम्, अतो न विषयभेदेन प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावबाहुल्यम्। एवं चाक्षुषेच्छाविशिष्टचाक्षुषसामग्रीकाले स्पार्शनेच्छादशायां
स्पार्शनवारणाय घटादिस्पार्शनं प्रति घटादिचाक्षुषत्वप्रकारकेच्छाविशिष्टचाक्षुषसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वमेकम्, अपरं च घटादि-
स्पार्शनं प्रति घटादिचाक्षुषविषयकेच्छाविशिष्टचाक्षुषसामग्रीत्वेन कल्पनीयम्, अथवा तत्रापि विषयमनिवेश्य स्पार्शनत्वाव-
च्छिन्नं प्रति स्वीयचाक्षुषनिष्ठविशेष्यतानिरूपितविषयतासम्बन्धावच्छिन्नप्रकारताश्रयसमवेतत्वस्वसमवायिनिरूपितोपदर्शित-
स्वाश्रयीभूतचक्षुस्संयुक्तत्वादिघटितपरम्परासम्बन्धावच्छिन्नवृत्तित्वोभयसम्बन्धेन चाक्षुषत्वप्रकारकेच्छाविशिष्टचाक्षुषसामग्री
प्रतिबन्धिका, प्रतिबध्यतावच्छेदकः सम्बन्धः समवायः, प्रतिबन्धकतावच्छेदकः स्वाश्रयीभूतचक्षुःसंयुक्तमनःप्रतियोगिकवि-
जातीयसंयोगवत्त्वम्, नातो विषयपुरुषभेदेन प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावबाहुल्यम्। एवं स्पार्शनत्वावच्छिन्नं प्रति चाक्षुषविषयकेच्छा-
विशिष्टचाक्षुषसामग्र्या अपि प्रतिबन्धकता बोध्या, नातो भिन्नविषये चाक्षुषविषयकेच्छाविशिष्टचाक्षुषसामग्रीकाले स्पार्शनेच्छा-

दशायां स्पार्शनापत्तिः, अत्र चाक्षुषसामग्र्यां चाक्षुषेच्छावैशिष्ट्यं च स्वीयचाक्षुषनिष्ठविशेष्यतानिरूपितविषयतासम्बन्धावच्छिन्नप्रकारताश्रयीभूतत्वक्संयोगाद्यभाववत्समवेतत्वस्वसमवायिनिरूपितोपदर्शितपरम्परासम्बन्धावच्छिन्नवृत्तित्वोभयसम्बन्धेन निवेशनीयम्, नातः समानविषये घटज्ञानं जायतां घटस्पार्शनं च जायतामितीच्छासत्त्वे घटचाक्षुषसामग्रीकाले तत्स्पार्शनानुपपत्तिः, न चैकपुरुषस्य चाक्षुषेच्छासत्त्वे पुरुषान्तरस्य चाक्षुषसामग्रीकाले स्पार्शनेच्छाविशिष्टस्पार्शनसामग्रीदशायां स्पार्शनानुपपत्तिः, अत्रापि प्रतिबन्धकतावच्छेदकः सम्बन्ध उपदर्शितपरम्परारूपः, प्रतिबध्यतावच्छेदकश्च समवायः, नातः पुरुषभेदेन प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाववृद्धिः। एवं घटादिस्पार्शनेच्छाविशिष्टघटादिस्पार्शनसामग्रीकाले घटादिचाक्षुषेच्छाभावदशायां घटादिचाक्षुषवारणाय घटादिचाक्षुषं प्रति घटादिचाक्षुषेच्छाविरहविशिष्टस्पार्शनेच्छाविशिष्टस्पार्शनसामग्र्या अपि प्रतिबन्धकत्वं बोध्यम्, अत्रापि समानभिन्नविषयभेदेन विषयनिवेशानिवेशाभ्यां द्वौ द्वौ प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावौ कल्पनीयावित्यादि निरस्तम्, क्षयोपशमानुसारेणाशुवाहिन्युपयोगद्वयनियतचाक्षुषसामग्र्यादिबलवत्त्वकल्पनाया अयोगाद् भावप्रत्यासत्तिरूपेच्छाभेदैरिव द्रव्यक्षेत्रकालप्रत्यासत्तिभेदैरपि क्वचित्कदाचित्कस्यचित्प्रधानोपसर्जनभावसम्भवात् तावद्विशेषणानां चासर्वज्ञैर्दुर्ज्ञेयत्वेन यथास्थितबलवत्त्वापरिज्ञानादुभयसमाजाभिमतस्थले च पश्यामीत्यस्येव स्पृशामीत्यस्याप्यनुभवस्य सर्वसिद्धत्वात्, अत एव चाक्षुषस्पार्शनसामग्रीद्वयस्थले स्पार्शनमेव जायते, न चाक्षुषं, चाक्षुषसामग्र्या आलोकसंयोगादिघटिताया गुरुत्वाल्लघुभूतायास्त्वक्संयोगादिघटितस्पार्शनसामग्र्या एव प्रतिबन्धकत्वौचित्यादिति नैयायिकैकदेशिनः। न चैवं चाक्षुषेच्छाविशिष्टचाक्षुषसामग्रीकाले स्पार्शनेच्छाभावदशायां स्पार्शनापत्तिवारणाय स्पार्शनेच्छाविरहविशिष्टचाक्षुषेच्छाविशिष्टचाक्षुषसामग्र्याः

प्रतिबन्धकत्वकल्पने स्पार्शनेच्छाभावचाक्षुपेच्छयोर्विशेषणविशेष्यभावे विनिगमनाविरहेण प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावद्वयं प्रतिबध्यतावच्छेदकशरीरगौरवं चेति दूषणप्रसङ्गः, सम्प्रदायिमते स्पार्शनेच्छाभावचाक्षुपेच्छयोर्विभिन्नप्रतिबन्धकतावच्छेदककोटौ निवेशेनैकत्र निवेशप्रयुक्तशरीरगौरवाधिक्याभावादिति शङ्कनीयम्, सम्प्रदायिमतेऽपि स्पार्शनेच्छाविशिष्टस्पार्शनसामग्रीकाले चाक्षुपेच्छाभावदशायां चाक्षुपापत्तिवारणायावश्यं चाक्षुपं प्रति चाक्षुपेच्छाविरहविशिष्टस्पार्शनेच्छाविशिष्टस्पार्शनसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वं कल्पनीयमिति प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावद्वयस्य प्रतिबन्धकतावच्छेदकशरीरगौरवस्य च तौल्यात्। न च तथापि चाक्षुपसामग्र्या आलोकसंयोगादिघटितत्वेन स्पार्शनसामग्रीमपेक्ष्य गुरुत्वादेकदेशिमते प्रतिबन्धकतावच्छेदकशरीरगौरवम्, नव्यमते आलोकासंयुक्तादिव्यावृत्तविजातीयचक्षुःसंयोगस्यैव, अस्मन्मते तु योग्यताविशेपस्यैव चाक्षुपसामग्रीत्वात्तत्रालोकसंयोगानिवेशनेनोक्तगौरवाभावात्, स्वविशिष्टचाक्षुपेच्छाविशिष्टचाक्षुपसामग्रीसम्बन्धेन स्पार्शनेछाभावस्य प्रतिबन्धकत्वे दोषाभावः, सम्बन्धगौरवस्यादोषत्वादित्यपरे। यत्तु त्वङ्मनोयोगस्य जन्यज्ञानत्वावच्छिन्नं प्रति हेतुत्वाच्चाक्षुपसामग्रीदशायां स्पार्शनसामग्र्यास्तन्मात्रापगमेन विघटयितुमशक्यत्वादवश्यं स्पार्शनं प्रति चाक्षुपसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वं कल्पनीयमिति, तन्न, सुषुप्तौ ज्ञानाभावस्य विजातीयमनःसंयोगस्थानीयोपयोगाभावेनैवोपपत्तौ जन्यज्ञानसामान्ये त्वङ्मनोयोगस्य हेतुत्वे मानाभावात्, अन्यथा स्पार्शनं प्रति चाक्षुपरासनादिनानासामग्रीप्रतिबन्धकत्वकल्पने गौरवापातात्, समवायेन जन्यज्ञानत्वावच्छिन्नं प्रति त्वङ्मनोयोगस्य स्वाश्रयीभूतमनःप्रतियोगिकविजातीयसंयोगवत्त्वरूपपरम्परासम्बन्धेन कारणत्वकल्पनापेक्षया समवायसम्बन्धेनोपयोगहेतुत्व एव लाघवाच्च, एतेन द्रव्यस्पार्शनेऽवच्छेदकतासम्बन्धेन त्वङ्मनोयोगस्य हेतुत्वात्

सामग्रीद्वयसमाजेऽतीन्द्रियत्वेन फलबलकल्प्यस्य तस्यावच्छेदकतासम्बन्धेन विषयेऽनभ्युपगमादेवोपपत्तौ न स्पार्शने चाक्षुषसामग्रीप्रतिबन्धकत्वमित्यप्यपास्तम्, विषयतासम्बन्धेन प्रत्यक्षं प्रत्यवच्छेदकतासम्बधेनेन्द्रियमनोयोगस्य हेतुत्वे प्रत्यक्षं प्रति विषयेन्द्रियसन्निकर्षस्य हेतुत्वोच्छेदापत्तेर्विषयसन्निकर्षविरहदशायां विषयेऽवच्छेदकतयेन्द्रियमनोयोगाभावाभ्युपगमेनैवोपपत्तेः, तस्मात् सामान्यतोविशेषतश्चोपयोगहेतुतयैव सर्वसामञ्जस्यमिति मन्तव्यम् । अत्र श्लोकाः—

" भिन्नप्रमाणावरणाः, क्षयोपशमसम्भवाः । उपयोगाः फलं कुर्यु—भिन्नमेव प्रमातृषु ॥ १ ॥
ईहापोहादिरूपाणां, तेषां भिन्नतया फले । न सामग्रीद्वयावेशा—देकैकप्रतिबन्धनम् ॥ २ ॥
तद्देशकालावच्छिन्न—कार्येऽन्यापादनं तु न । तथा भव्यतयाऽऽक्षेपात्, कारणानां नियोगतः ॥ ३ ॥
कल्प्ये फलबलादेवो—पयोगस्योचिते बले । भिन्नेऽर्थे चासमावेशे, न दोषः कश्चिदीक्ष्यते ॥ ४ ॥ " इति ॥

तीर्थकृत्समयानां च परस्परविरोधतः । सर्वेषामाप्तता नास्ति कश्चिदेव भवेद्गुरुः ॥ ३ ॥

इति, भगवतो महत्त्वे साध्ये तीर्थकरत्वं साधनं कुतः प्रमाणात् सिद्धम्? न तावदध्यक्षात्, तस्य तदविषयत्वात्साध्यवत्। नाप्यनुमानात्, तदविनाभाविलिङ्गाभावात्। समयात्सिद्धमिति चेत्, पूर्ववदागमाश्रयत्वादगमकत्वमस्य, व्यभिचारश्च, न हि तीर्थकरत्वमाप्ततां साधयति—शक्रादिष्वसम्भवि, सुगतादौ दर्शनात्। यथैव हि भगवति तीर्थकरत्वसमयोस्ति तथा सुगतादिष्वपि। सुगतस्तीर्थकरः, कपिलस्तीर्थकर इत्यादिसमयाः सन्तीति सर्वे महान्तः स्तुत्याः स्युः। न च सर्वे सर्वदर्शिनः परस्परविरुद्धसमयाभिधायिनः।

तदुक्तम् ।–"सुगतो यदि सर्वज्ञो कपिलो नेति का प्रमा । तावुभौ यदि सर्वज्ञौ मतभेदः कथं तयो" रिति । ततोऽनैकान्तिको हेतुस्तीर्थकरत्वाख्यो न कस्यचिन्महत्त्वं साधयतीति कश्चिदेव गुरुर्महान् भवेत्? नैव भवेदित्यायातम् । अत एव न कश्चित्पुरुषः सर्वज्ञः स्तुत्यः श्रेयोर्थिनां श्रुतेरेव श्रेयःसाधनोपदेशप्रसिद्धेरित्यपरः । तं प्रत्यपीयमेव कारिका योज्या । तीर्थं कृन्तन्तीति तीर्थकृतो मीमांसकाः सर्वज्ञागमनिराकरणवादित्वात् । तेषां समयास्तीर्थकृत्समयास्तीर्थच्छेदसम्प्रदाया भावनादिवाक्यार्थप्रवादा इत्यर्थः । तेषां च परस्परविरोधादाप्तता संवादकता नास्तीति कश्चिदेव सम्प्रदायो भवेद्गुरुः संवादको नैव भवेदिति व्याख्यानात् । तदेवं वक्तव्यम् । "भावना यदि वाक्यार्थो, नियोगो नेति का प्रमा । तावुभौ यदि वाक्यार्थौ, हतौ भट्टप्रभाकरौ ॥१॥" इति । "कार्येऽर्थे चोदनाज्ञानं, स्वरूपे किन्न तत्प्रमा । द्वयोश्चेद्धन्त तौ नष्टौ, भट्टवेदान्तवादिनौ॥१॥" इति । ननु च भावना वाक्यार्थ इति सम्प्रदायः श्रेयान्, नियोगे बाधकसद्भावात्। नियुक्तोऽहमनेनाग्निष्टोमादिवाक्येनेति निरवशेषो योगो हि नियोगस्तत्र मनागप्ययोगस्य सम्भवाभावात्, स चानेकविधः, प्रवक्तृमतभेदात् । केषाञ्चिल्लिङादिप्रत्ययार्थः शुद्धोऽन्यनिरपेक्षः कार्यरूपो नियोगः (१) ॥ "प्रत्ययार्थो नियोगश्च, यतः शुद्धः प्रतीयते । कार्यरूपश्च तेनात्र, शुद्धं कार्यमसौ मतः ॥१॥ विशेषणं तु यत्तस्य, किञ्चिदन्यत् प्रतीयते । प्रत्ययार्थो न तद्युक्तं, धात्वर्थः स्वर्गकामवत् ॥२॥ प्रेरकत्वं तु यत्तस्य, विशेषणमिहेष्यते । तस्याप्रत्ययवाच्यत्वा–च्छुद्धे कार्ये नियोगता ॥३॥" इति वचनात् । परेषां शुद्धा प्रेरणा नियोग इत्याशयः (२) ॥ प्रेरणैव नियोगोऽत्र, शुद्धा

सर्वत्र गम्यते। नाप्रेरितो यतः कश्चि-न्नियुक्तः स्वं प्रबुध्यते ॥ २ ॥ प्रेरणासहितं कार्यं नियोग इति केचिन्मन्यन्ते (३) ॥ ममेदं कार्यमित्येवं, ज्ञातं पूर्वं यदा भवेत् । स्वसिद्धौ प्रेरकं तत्स्या-दन्यथा तन्न सिद्ध्यति ॥ ३ ॥ कार्यसहिता प्रेरणा नियोग इत्यपरे (४)। प्रेर्यते पुरुषो नैव, कार्येणेह विना क्वचित् । ततश्च प्रेरणा प्रोक्ता, नियोगः कार्यसङ्गता ॥ ४ ॥ कार्यस्यैवोपचारतः प्रवर्त्तकत्वं नियोग इत्यन्ये (५) ॥ प्रेरणाविषयः कार्यं, न तु तत्प्रेरकं स्वतः। व्यापारस्तु प्रमाणस्य, प्रमेय उपचर्यते ॥५॥ कार्यप्रेरणयोः सम्बन्धो नियोग इत्यपरे (६) ॥ प्रेरणा हि विना कार्यं, प्रेरिका नैव कस्यचित् । कार्यं वा प्रेरणायोगो, नियोगस्तेन सम्मतः ॥ ६ ॥ तत्समुदायो नियोग इति चापरे (७) ॥ परस्पराविनाभूतं, द्वयमेतत्प्रतीयते । नियोगः समुदायोऽस्मात्, कार्यप्रेरणयोर्मतः ॥७॥ तदुभयस्वभावविनिर्मुक्तो नियोग इति चान्ये (८) ॥ सिद्धमेकं यतो ब्रह्म-गतमाम्नायतः सदा। सिद्धत्वेन न तत्कार्यं, प्रेरकं कुत एव तत् ॥८॥ यन्त्रारूढो नियोग इति कश्चित् (९)॥ कामी यत्रैव यः कश्चि-न्नियोगे सति तत्र सः। विषयारूढमात्मानं, मन्यमानः प्रवर्त्तते ॥९॥ भोग्यरूपो नियोग इत्यपरः (१०) ॥ ममेदं भोग्यमित्येवं, भोग्यरूपं प्रतीयते। ममत्वेन च विज्ञानं, भोक्तर्यैव व्यवस्थितम् ॥१०॥ स्वामित्वेनाभिमानो हि, भोक्तुर्यत्र भवेदयम् । भोग्यं तदेव विज्ञेयं, तदेवं स्वं निरूच्यते ॥११॥ साध्यरूपतया येन, ममेदमिति गम्यते। तत्प्रसाध्येन रूपेण, भोग्यं स्वं व्यपदिश्यते ॥१२॥ सिद्धरूपं हि यद्भोग्यं, न नियोगः स तावता। साध्यत्वेनेह भोग्यस्य प्रेरकत्वान्नियोगता ॥१३॥ पुरुष एव नियोग इत्यन्यः (११)॥ ममेदं कार्यमित्येवं

मन्यते पुरुषः सदा। पुंसः कार्यविशिष्टत्वं, नियोगोऽस्य च वाच्यना ॥१४॥ कार्यस्य सिद्धौ जातायां, तद्युक्तः पुरुषस्तदा। भवेत्साधित इत्येवं, पुमान् वाक्यार्थ उच्यते।१५। सोऽयमेकादशप्रकारोऽपि नियोगो विचार्यमाणो बाध्यते, प्रमाणाद्यष्टविकल्पानतिक्रमात्। तदुक्तम्।—प्रमाणं किं नियोगः स्यात्, प्रमेयमथवा पुनः। उभयेन विहीनो वा, द्वयरूपोऽथवा पुनः ॥१॥ शब्दव्यापाररूपो वा, व्यापारः पुरुषस्य वा। द्वयव्यापाररूपो वा, द्वयाव्यापार एव वा ॥२॥ तत्रैकादशभेदोऽपि नियोगो यदि प्रमाणं तदा विधिरेव वाक्यार्थ इति वेदान्तवादप्रवेशः प्रभाकरस्य स्यात्, प्रमाणस्य चिदात्मकत्वात्, चिदात्मनः प्रतिभासमात्रत्वात्, तस्य च परब्रह्मत्वात्। प्रतिभासमात्राद्धि पृथग्विधिः कार्यरूपतया न प्रतीयते घटादिवत्। प्रेरकतया वा नानुभूयते वचनादिवत्। कर्मकरणसाधनतया हि तत्प्रतीतौ कार्यप्रेरकताप्रत्ययो युक्तो नान्यथा। किं तर्हि द्रष्टव्योऽयमात्मा श्रोतव्यो निदिध्यासितव्य इत्यादिशब्दश्रवणादवस्थान्तरविलक्षणेन प्रेरितोऽहमिति जाताकूतेनाहङ्कारेण स्वयमात्मैव प्रतिभाति स एव विधिरिति वेदान्तवादिभिरभिधानात् (१)॥ प्रमेयत्वं तर्हि नियोगस्यास्तु प्रमाणत्वे दोषाभिधानादित्यप्यसत्—प्रमाणाभावात्। प्रमेयत्वे हि तस्य प्रमाणमन्यद्वाच्यम्—तदभावे प्रमेयत्वायोगात्। श्रुतिवाक्यं प्रमाणमिति चेन्न—तस्याचिदात्मकत्वे प्रमाणत्वाघटनादन्यत्रोपचारात्। संविदात्मकत्वे श्रुतिवाक्यस्य पुरुष एव श्रुतिवाक्यमिति स एव प्रमाणम्। तत्संवेदनविवर्त्तस्तु नियुक्तोऽहमित्यभिमानरूपो नियोगः प्रमेयत्वमिति नायं पुरुषादन्यः प्रतीयते, यतो वेदान्तवादिमतप्रवेशोऽस्मिन्नपि पक्षे न

भवेत् (२)॥ तर्हि प्रमाणप्रमेयरूपो नियोगो भवत्वित्यप्ययुक्तम्—संविद्विवर्त्तत्वापत्तेः, अन्यथा प्रमाणप्रमेयरूपतानुपपत्तेः। तथा च स एव चिदात्मोभयस्वभावतयात्मानमादर्शयन्नियोग इति सिद्धो ब्रह्मवादः (३)॥ अनुभयस्वभावो नियोग इति चेत्, तर्हि संवेदनमात्रमेव पारमार्थिकं तस्य कदाचिदप्यहेयत्वादनुभयस्वभावत्वसम्भवात्। प्रमाणप्रमेयत्वव्यवस्थाभेदविकलस्य सन्मात्रदेहतया तस्य वेदान्तवादिभिर्निरूपितत्वात्तन्मतप्रवेश एव (४)॥ यदि पुनः शब्दव्यापारो नियोग इति मतं, तदा भट्टमतानुसरणमस्य दुर्निवारम्—शब्दव्यापारस्य शब्दभावनारूपत्वात् (५)॥ अथ पुरुषव्यापारो नियोगस्तदापि परमतानुसरणम्—पुरुषव्यापारस्यापि भावनास्वभावत्वात्, शब्दात्मव्यापारभेदेन भावनायाः परेण द्वैविध्याभिधानात् (६)॥ तदुभयरूपो नियोग इति चेत्, तर्हि पर्यायेण युगपद्वा? यदि पर्यायेण, स एव दोषः—कचित्कदाचिच्छब्दव्यापारस्य पुरुषव्यापारस्य च भावनास्वभावस्य नियोग इति नामकरणात्। युगपदुभयस्वभावत्वं पुनरेकत्र विरुद्धं न शक्यं व्यवस्थापयितुम् (७)॥ तर्हि तदनुभयव्यापाररूपो नियोगोऽङ्गीकर्त्तव्य इति चेत्, सोऽपि विषयस्वभावो वा स्यात् फलस्वभावो वा स्यान्निःस्वभावो वा? गत्यन्तराभावात्। विषयस्वभाव इति चेत्। कः पुनरसौ विषयः? अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम इत्यादिवाक्यस्यार्थो यागादिर्विषय इति चेत्, स तद्वाक्यकाले स्वयमविद्यमानो विद्यमानो वा? यद्यविद्यमानस्तदा तत्स्वभावो नियोगोऽप्यविद्यमान एवेति कथमसौ वाक्यार्थः खपुष्पवत्। बुद्ध्यारूढस्य भाविनस्तस्य वाक्यार्थत्वे सौगत-

मतानुसरणप्रसङ्गः । अथ तद्वाक्यकाले विद्यमानोऽसौ, तर्हि न नियोगो वाक्यस्यार्थः तस्य यागादिनिष्पादनार्थत्वात्–निष्पन्नस्य च यागादेः पुनर्निष्पादनायोगात्, पुरुषादिवत् । अथ तस्य किञ्चिदनिष्पन्नं रूपं तदा तन्निष्पादनार्थो नियोग इति मतम्, तर्हि तत्स्वभावो नियोगोऽप्यनिष्पन्न इति कथं वाक्यार्थः ? स्वयमसन्निहितस्य कल्पनारूढस्य वाक्यार्थत्वे स एव सौगतमतप्रवेशः (८) ॥ फलस्वभावो नियोग इत्ययमपि पक्षो न कक्षीकर्तव्यः–तस्य नियोगत्वाघटनात् । न हि स्वर्गादिफलं नियोगः—फलान्तरपरिकल्पनप्रसङ्गात्—निष्फलस्य नियोगस्यायोगात् । फलान्तरस्य च फलस्वभावनियोगवादिनां नियोगत्वापत्तौ तदन्यफलपरिकल्पनेऽनवस्थाप्रसङ्गः । फलस्य वाक्यकाले स्वयमसन्निहितत्वाच्च तत्स्वभावो नियोगोऽप्यसन्निहित एवेति कथं वाक्यार्थः ? तस्य वाक्यार्थत्वे निरालम्बनशब्दवादाश्रयणात् कुतः प्रभाकरमतसिद्धिः ? स्वभावो नियोग इत्ययमपि पक्षोऽनेनैव प्रतिक्षिप्तः (९) ॥ किञ्च सन्नेव वा नियोगः स्यादसन्नेव वोभयरूपो वानुभयरूपो वा ? प्रथमपक्षे विधिवाद एव । द्वितीयपक्षे निरालम्बनवादः । तृतीयपक्षे तूभयदोषानुषङ्गः । चतुर्थपक्षे व्याघातः—सत्त्वासत्त्वयोः परस्परव्यवच्छेदरूपयोरेकतरस्य निषेधेऽन्यतरस्य विधानप्रसक्तेः—सकृदेकत्र प्रतिषेधायोगात् । सर्वथा सदसत्त्वयोः प्रतिषेधेऽपि कथञ्चित्सदसत्त्वाविरोधाददोष इति चेत्, स्याद्वादाश्रयणप्रसङ्गः प्रभाकरस्य । किञ्च नियोगः सकलोऽपि प्रवर्त्तकस्वभावो वा स्यादप्रवर्त्तकस्वभावो वा ? प्रवर्त्तकस्वभावश्चेत्, प्राभाकराणामिव ताथागतादीनामपि प्रवर्त्तकः स्यात्—

तस्य सर्वथा प्रवर्त्तकत्वात्। तेषां विपर्यासादप्रवर्त्तक इति चेत्, परेषामपि विपर्यासादप्रवर्त्तकोऽस्तु। शक्यं हि वक्तुं, प्राभाकरा विपर्यस्तत्वाच्छब्दनियोगात्प्रवर्त्तन्ते नेतरे—तेषामविपर्यस्तत्वादिति। सौगतादयो विपर्यस्तास्तन्मतस्य प्रमाणबाधितत्वात्, न पुनः प्राभाकरा इत्यपि पक्षपातमात्रम्—तन्मतस्यापि प्रमाणबाधितत्वाविशेषात्। यथैव हि प्रतिक्षणविनश्वरसकलार्थकथनं प्रत्यक्षादिविरुद्धं तथा नियोक्तृनियोगतद्विषयादिभेदपरिकल्पनमपि, सर्वप्रमाणानां विधिविषयताव्यवस्थापनेन तद्बाधकत्वोपपत्तेः। यदि पुनरप्रवर्त्तकस्वभावः शब्दनियोगस्तदा सिद्ध एव तस्य प्रवृत्तिहेतुत्वायोगः, स च वाक्यार्थत्वाभावं साधयति। किञ्च नियोगः फलरहितो वा फलसहितो वा? फलरहितश्चेत्, न ततः प्रेक्षावतां प्रवृत्तिः अप्रेक्षावत्त्वप्रसङ्गात्, प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्त्तत इति प्रसिद्धेश्च। प्रसिद्धचण्डनरपतिवचननियोगादफलादपि प्रवर्त्तनदर्शनाददोष इति चेन्न, तस्यापायपरिरक्षणफलत्वात्। तन्नियोगादप्रवर्त्तने तदाज्ञोल्लङ्घनकृतामपायोऽवश्यं सम्भवतीति। तर्हि वेदवचनादपि नियुक्तः प्रत्यवायपरिहाराय प्रवर्त्ततताम्—"नित्यनैमित्तिके कुर्यात्प्रत्यवायजिहासये" ति वचनात्। कथमिदानीं स्वर्गकाम इति वचनमवतिष्ठते—जुहुयाज्जुहोतु होतव्यमिति लिङ्लोट्तव्यप्रत्ययान्तनिर्देशमात्रादेव नियोगमात्रस्य सिद्धेस्तत एव च प्रवृत्तिसम्भवात्। यदि पुनः फलसहितो नियोग इति पक्षस्तदा फलार्थितैव प्रवर्त्तिका न नियोगः—तमन्तरेणापि फलार्थिनां प्रवृत्तिदर्शनात्। पुरुषवचनान्नियोगेऽयमुपालम्भो नापौरुषेयादग्निहोत्रादिवाक्यात्—तस्यानुपालम्भत्वादिति चेत्, "सर्वे वै

खल्विदं ब्रह्मे " त्यादिवचनमपि विधिमात्रप्रतिपादकमनुपालभ्यमस्तु नत एव । तथा च वेदान्तवादसिद्धिः । तस्मान्न नियोगो वाक्यार्थः कस्यचित्प्रवृत्तिहेतुत्वाभावाद्विधिवत् । सर्वेषु च पक्षेषु नियोगस्य प्रत्येकं विचार्यमाणस्यायोगान्न वाक्यार्थत्वमवतिष्ठते । तथा हि ।—न तावत्कार्यं शुद्धं नियोग इति पक्षो घटते, प्रेरणानियोज्यवर्जितस्य नियोगस्यासम्भवात् । तस्मिन्नियोगसंज्ञाकरणे स्वकम्बलस्य कूर्दालिकेति नामान्तरकरणमात्रं स्यात् । न च तावता स्वेष्टसिद्धिः । शुद्धा प्रेरणा नियोग इत्यप्यनेनापास्तं नियोज्यफलरहितायाः प्रेरणायाः प्रलापमात्रत्वान्नियोगरूपतानुपपत्तेः । प्रेरणासहितं कार्यं नियोग इत्यप्यसम्भाव्यम्—नियोज्यविरहे नियोगविरोधात् । कार्यसहिता प्रेरणा नियोग इत्यप्यनेन निरस्तम् । कार्यस्यैवोपचारतः प्रवर्त्तकत्वं नियोग इत्यप्यसारम्—नियोज्यादिनिरपेक्षस्य कार्यस्य प्रवर्त्तकत्वोपचारायोगात् । कदाचित्कचित्परमार्थतस्तस्य तथानुपलम्भाच्च । कार्यप्रेरणयोः सम्बन्धो नियोग इति वचनमसङ्गतम्—ततो भिन्नस्य सम्बन्धस्य सम्बन्धिनिरपेक्षस्य नियोगत्वाघटनात् । सम्बन्ध्यात्मनः सम्बन्धस्य नियोगत्वमित्यपि दुरन्वयम्—प्रेर्यमाणपुरुषनिरपेक्षयोः सम्बन्ध्यात्मनोरपि कार्यप्रेरणयोर्नियोगत्वानुपपत्तेः । तत्समुदायनियोगवादोऽप्यनेन प्रत्याख्यातः । कार्यप्रेरणाविनिर्मुक्तस्तु नियोगो न विधिवादमतिशेते । यत्पुनः स्वर्गकामः पुरुषोऽग्निहोत्रादिवाक्यनियोगे सति यागलक्षणं विषयमारूढमात्मानं मन्यमानः प्रवर्त्तत इति यन्त्रारूढनियोगवचनं, तदपि न परमात्मवादप्रतिकूलम्—पुरुषाभिमानमात्रस्य नियोगत्ववचनात्, तस्य चाविद्यो-

दयनिबन्धनत्वात्। भोग्यरूपो नियोग इति चायुक्तम्-नियोक्तृप्रेरणाशून्यस्य भोग्यस्य तद्भावानुपपत्तेः (१०)॥ पुरुषस्वभावो हि न नियोगो घटते, तस्य शाश्वतिकत्वेन नियोगस्य शाश्वतिकत्वप्रसङ्गात्। पुरुषमात्रविधेरेव तथाभिधाने वेदान्तवादपरिसमाप्तेः कुतो नियोगवादो नाम (११)॥ नन्वेवं नियोगनिराकरणेऽपि विधेर्वाक्यार्थत्वघटनान्न भावना वाक्यार्थः सिद्धो भट्टस्येति न चेतसि विधेयम्-विधेरपि विचार्यमाणस्य बाध्यमानत्वात्। सोऽपि हि प्रमाणरूपो वा स्यात् प्रमेयरूपो वा तदुभयरूपो वा अनुभयरूपो वा पुरुषव्यापाररूपो वा शब्दव्यापाररूपो वा द्वयव्यापाररूपो वाऽद्वयव्यापाररूपो वेत्यष्टौ विकल्पान्नातिक्रामति। तथाहि।-प्रमाणं विधिरिति कल्पनायां प्रमेयं किमपरं स्यात्? तत्स्वरूपमेवेति चेन्न-सर्वथा निरंशस्य सन्मात्रदेहस्य विधेः प्रमाणप्रमेयरूपद्वयविरोधात्। कल्पितत्वात्तद्रूपद्वयस्य तत्राविरोध इति चेत्, कथमिदानीमन्यापोहः शब्दार्थः प्रतिषिध्यते-संविन्मात्रस्याप्रमाणत्वव्यावृत्त्या प्रमाणत्वमप्रमेयत्वव्यावृत्त्या च प्रमेयत्वमिति परैरभिधातुं शक्यत्वात्। वस्तुस्वभावाभिधायकत्वाभावे शब्दस्यान्यापोहाभिधायकत्वेऽपि क्वचित्प्रवर्त्तकत्वायोगान्नान्यापोहः शब्दार्थ इति चेत्, तर्हि वस्तुस्वरूपाभिधायिनोऽपि शब्दस्यान्यापोहानभिधायित्वेऽन्यपरिहारेण क्वचित्प्रवृत्तिनिबन्धनतापायाद्विधिरपि शब्दार्थो मा भूत्। परमपुरुषस्यैव विधेयत्वात्तदन्यस्यासम्भवान्नान्यपरिहारेण प्रवृत्तिरिति चेत्, कथमिदानीं "द्रष्टव्यो रेऽयमात्मे" त्यादिवाक्यान्नैरात्म्यादिपरिहारेणात्मनि प्रवृत्तिः, नैरात्म्यादिदर्शनादीनामपि प्रसङ्गात्। नैरात्म्यादेरनाद्यविद्योपकल्पितत्वान्न तद्दर्श-

नादौ प्रवृत्तिरिति चेत्, कथमन्यपरिहारेण प्रवृत्तिर्न भवेत्? परमब्रह्मणो विधिरेवान्यस्यानाद्यविद्योपकल्पितस्य नैरात्म्यादेः परिहार इति चेत्, कथमेवमन्यापोहवादिनोऽपि परापोहनमेव स्वरूपविधिर्न भवेत्? तस्यान्यापोहवादविरोधान्नैवमिति चेत्, विधिवादिनोऽपि तथा विधिवादविरोधादन्यापोहाभ्युपगमो मा भूत्। परमार्थतोऽन्यापोहो विधिवादिना नैवाभ्युपगम्यते तस्य प्रतिभाससमानाधिकरणत्वेन प्रतिभासान्तःप्रविष्टत्वसिद्धेः परमपुरुषत्वात्, प्रतिभासस्वरूपवत्। तस्याप्रतिभासमानत्वे व्यवस्थानुपपत्तेरन्यथाऽतिप्रसङ्गात्। शब्दज्ञानेऽस्यानुमानज्ञाने चान्यापोहस्य प्रतिभासनेऽपि तत्समानाधिकरणतया प्रतिभासनान्न ततोऽन्यत्वम्। तस्य च शब्दानुमानज्ञानस्य प्रतिभासमात्रात्मकत्वान्नार्थान्तरत्वमिति चेत्, कथमिदानीमुपनिषद्वाक्यं प्रतिभासमात्रादन्यल्लिङ्गं वा यतस्तत्प्रतिपत्तिः प्रेक्षावतः स्यात्। तस्य परमब्रह्मविवर्त्तत्वाद्विवर्त्तस्य च विवर्त्तिनोऽभेदेन परिकल्पनात्ततस्तत्प्रतिपत्तिरिति चेत्, कथं तत्परिकल्पिताद्वाक्याल्लिङ्गाद्वा परमार्थपथावतारिणः परमब्रह्मणः प्रतिपत्तिः—परिकल्पिताद्धूमादेः पारमार्थिकपावकादिप्रतिपत्तिप्रसङ्गात्। पारमार्थिकमेवोपनिषद्वाक्यं लिङ्गं च परमब्रह्मत्वेनेति चेत्, तर्हि यथा तत्पारमार्थिकं तथा साध्यसमं कथं पुरुषाद्वैतं व्यवस्थापयेत्? यथा च प्रतिपाद्यजनस्य प्रसिद्धं न तथा पारमार्थिकं—द्वैतप्रसङ्गात्। इति कुतः परमार्थसिद्धिः। ततस्तामभ्युपगच्छता पारमार्थिकमुपनिषद्वाक्यं लिङ्गं च प्रतिपत्तव्यम्। तच्चाचित्स्वभावं, चित्स्वभावत्वे परसंवेद्यत्वविरोधात् प्रतिपादकचित्स्वभावत्वात्, तत्सुखादिवत्। प्रतिपाद्य-

चित्स्वभावत्वे वा न प्रतिपादकसंवेद्यत्वं प्रतिपाद्यसुखादिवत्। तस्य तदुभयचित्स्वभावत्वे प्राश्निकादिसंवेद्यत्वविरोधस्तदुभयसुखादिवत्। सकलजनचित्स्वभावत्वे प्रतिपादकादिभावानुपपत्तिः, अविशेषात्। प्रतिपादकादीनामविद्योपकल्पितत्वाददोष इति चेत्, यैव प्रतिपादकस्याविद्या प्रतिपादकत्वोपकल्पिका सैव प्रतिपाद्यस्य प्राश्निकादेश्चाविशिष्टा प्रतिपादकत्वमुपकल्पयेत्, प्रतिपाद्यस्य चाविद्या प्रतिपाद्यत्वोपकल्पनपरा प्रतिपादकादेरविशिष्टा प्रतिपाद्यत्वं परिकल्पयेत्, प्रतिपादकादीनामभेदात्तदविद्यानामभेदप्रसङ्गात्, भेदे वा प्रतिपादकादीनां भेदसिद्धिः, बिरुद्धधर्माध्यासात्। अनाद्यऽविद्योपकल्पित एव तदविद्यानां भेदो न पारमार्थिक इति चेत्, परमार्थतस्तर्ह्यभिन्नास्तदविद्या इति स एव प्रतिपादकादीनां सङ्करप्रसङ्गः। यदि पुनरविद्यापि प्रतिपादकादीनामविद्योपकल्पितत्वादेव न भेदाभेदविकल्पसहा नीरूपत्वादिति मतं, तदा परमार्थपथावतारिणः प्रतिपादकादय इति बलादायातम्, तदविद्यानामविद्योपकल्पितत्वे विद्यात्वविधेरवश्यम्भावित्वात्। तथा च प्रतिपादकादिभ्यो भिन्नमुपनिषद्वाक्यं सकृत्तत्संवेद्यत्वान्यथानुपपत्तेः इत्यचित्स्वभावं सिद्धं बहिर्वस्तु, तद्वद्घटादिवस्तुसिद्धिरिति न प्रतिभासाद्वैतव्यवस्था, प्रतिभास्यस्यापि सुप्रसिद्धत्वात्। प्रतिभाससमानाधिकरणता पुनः प्रतिभास्यस्य कथञ्चिद्भेदेऽपि न विरुद्ध्यते, घटः प्रतिभासत इति प्रतिभासविषयो भवतीत्युच्यते विषयविषयिणोरभेदोपचारात्, प्रस्थप्रमितं धान्यं प्रस्थ इति यथा। ततः सामानाधिकरण्यादुपचरितान्नानुपचरितैकत्वसिद्धिः। मुख्यं सामानाधिकरण्यं क्व सिद्धमिति

चेत्, संवेदनं प्रतिभासते भाति चकास्तीत्यादिव्यवहारे मुख्यम् । ततो वैयधिकरण्यव्यवहारस्तु गौणस्तत्र संवेदनस्य प्रतिभासनमिति, पटस्य प्रतिभासनमित्यत्र तस्य मुख्यत्वप्रसिद्धेः। कथञ्चिद्भेदमन्तरेण सामानाधिकरण्यानुपपत्तेश्च तत एव कथञ्चिद्भेदसिद्धिः। शुक्लः पट इत्यत्र सर्वथा शुक्लपटयोरैक्ये हि न समानाधिकरणता पटः पट इति यथा। नापि सर्वथा भेदे, हिमवन्मकराकरवत्। तथान्यापोहस्य प्रतिभासमानस्य प्रतिभाससमानाधिकरणत्वेऽपि प्रतिभासाद्भेदव्यवस्थितेस्तद्विषयः शब्दः कथं विधिविषय एव समवतिष्ठते, तथाभ्युपगमे च कथमन्यपरिहारेण कचित्प्रवर्त्तकः शब्दो यतो विधिविषयः स्यादिति सूक्तं विधेः प्रमाणत्वे तस्यैव प्रमेयत्वकल्पनायामन्यापोहानुप्रवेशोऽन्यथाऽन्यत्प्रमेयं वाच्यमिति, प्रमेयरूपो विधिरिति कल्पनायामपि प्रमाणमन्यद्वाच्यमिति तस्यैवोभयस्वभावत्वविरोधात्, कल्पनावशाद्विधेः प्रमाणरूपत्वेऽन्यापोहवादानुषङ्गस्याविशेषात्। प्रमाणप्रमेयरूपो विधिरिति कल्पनाप्यनेन निरस्ता। तदनुभयरूपो विधिरिति कल्पनायां तु खरशृङ्गादिवदवस्तुतापत्तिः, प्रमाणप्रमेयस्वभावरहितस्य विधेः स्वभावान्तरेण व्यवस्थानायोगात् प्रमात्रादेरपि प्रमेयत्वोपपत्तेः। अन्यथा तत्र प्रमाणवृत्तेरभावात् सर्वथा वस्तुत्वहानिः। शब्दव्यापाररूपो विधिरिति चेत, सा शब्दभावनैव। पुरुषव्यापारः स इति चेत्, साऽर्थभावना स्यात्। एतेनोभयव्यापाररूपो विधिरिति प्रत्याख्यातम्। तदनुभयव्यापाररूपस्तु विधिर्विषयस्वभावश्चेत्, तस्य वाक्यकालेऽसन्निधानान्निरालम्बनशब्दवादप्रवेशः। फलस्वभावश्चेत्, स एव दोषः, तस्यापि तदाऽसन्निधानात्, अन्यथा विधेरनवतारात्। निस्स्व-

भावो विधिरिति कल्पनायां तु विधिर्वाक्यार्थ इति न किञ्चिद्वाक्यार्थ इत्युक्तं स्यात्। किञ्च यदि विधिः सन्नेव तदा न कस्यचिद्विधेयः पुरुषस्वरूपवत्। अथासन्नेव तथापि न विधेयः खरविषाणवत्। अथ पुरुषरूपतया सन् दर्शनादिरूपतया त्वसन्निति विधेयः स्यात्, तदोभयरूपतापत्तिः। न सन्नाप्यसन् विधिरिति चेत, तदिदं व्याहतम्, सर्वथा सत्त्वप्रतिषेधे सर्वथैवासत्त्वविधिप्रसङ्गात्, तन्निषेधे वा सर्वथा सत्त्वविध्यनुषङ्गात्। सकृदुभयप्रतिषेधे तु कथञ्चित्सदसत्त्वविधानान्मतान्तरानुषङ्गात् कुतो विधिरेव वाक्यार्थः। किञ्च विधिः प्रवर्त्तकस्वभावो वा स्यादप्रवर्त्तकस्वभावो वा?। प्रवर्त्तकस्वभावश्चेत्, वेदान्तवादिनामिव ताथागतादीनामपि प्रवर्त्तकः स्यात्। तेषां विपर्यासान्न प्रवर्त्तक इति चेत्, तत एव वेदान्तवादिनामप्रवर्त्तक इत्यपि शक्येत। सौगतादीनामेव विपर्यासोऽप्रवर्त्तमानानां, न पुनः प्रवर्त्तमानानां विधिवादिनामित्यप्रामाणिकमेवेष्टम्, उभयेषां समानाक्षेपसमाधानत्वात्। यदि पुनरप्रवर्त्तकस्वभाव एव विधिः, तदा कथं वाक्यार्थः स्यान्नियोगवत्। किञ्च विधिः फलरहितो वा स्यात् फलसहितो वा?। फलरहितश्चेत्, न प्रवर्त्तको नियोगवदेव। पुरुषाद्वैते न कश्चित्कुतश्चित्प्रवर्त्तक इति चेत्, कथमप्रवर्त्तको विधिः सर्वथा वाक्यार्थः कथ्यते, तथा नियोगस्यापि वाक्यार्थत्वप्रसङ्गात्। तथा द्रष्टव्यो रेऽयमात्मेत्यादिवाक्यादात्मनि दर्शनश्रवणानुमननध्यानविधाने प्रतिपत्तुरप्रवृत्तौ किमर्थस्तद्वाक्याभ्यासः। फलसहितो विधिरिति कल्पनायां फलार्थितयैव लोकस्य प्रवृत्तिसिद्धेर्वृत्त्या(था)विधिकथनं नियोगकथनवत्। तथापि विधेर्वाक्यार्थत्वे नियोगस्यापि वाक्यार्थत्वं कुतो न

भवेत्। पटादिवत् पदार्थान्तरत्वेनाप्रतिभासनान्नियोज्यमानविषयनियोक्तृधर्मत्वेन चानवस्थानान्न नियोगो वाक्यार्थ इति चेत्, तदितरत्रापि समानम्, विधेरपि घटादिवत् पदार्थान्तरत्वेनाप्रतिभासनात्, विधाप्यमानविषयविधायकधर्मत्वेनाव्यवस्थितेश्च, यथैव हि नियोज्यस्य पुंसो धर्मे नियोगेऽननुष्ठेयता, नियोगस्य सिद्धत्वात् अन्यथा तदनुष्ठानोपरमाभावानुपङ्गात्, कस्यचिद्रूपस्यासिद्धस्याभावात्, असिद्धरूपतायां वाऽनियोज्यत्वम्, विरोधाद्वन्ध्यास्तनन्धयादिवत्, सिद्धरूपेण नियोज्यत्वे तस्यैवार्थरूपेण वा नियोज्यतायामेकस्य पुरुषस्य सिद्धासिद्धरूपसङ्कराग्नियोज्येतरत्वविभागासिद्धिः, तद्रूपाऽसङ्करे वा भेदप्रसङ्गादात्मनः सिद्धासिद्धरूपतयोः सम्बन्धाभावोऽनुपकारात्, उपकारकल्पनायामात्मनस्तदुपकार्यत्वे नित्यत्वहानिः, तयोरात्मोपकार्यत्वे सिद्धरूपस्य सर्वथोपकार्यत्वव्याघातः, असिद्धरूपस्याप्युपकार्यत्वे गगनकुसुमादेरुपकार्यतानुषङ्गः, सिद्धासिद्धरूपयोरपि कथञ्चिदसिद्धरूपोपगमे प्रकृतपर्यनुयोगानिवृत्तेरनवस्थानुषङ्गादित्युपालम्भः, तथा विधाप्यमानस्य पुरुषस्य धर्मे विधावपि सिद्धस्य पुंसो दर्शनश्रवणानुमननध्यानविधानविरोधः, तद्विधाने वा सर्वदा तदनुपरतिप्रसक्तिः, दर्शनादिरूपेण तस्यासिद्धौ विधानव्याघातः कूर्मरोमादिवत्, सिद्धरूपेण विधाप्यमानस्य विधाने तस्यैवासिद्धरूपेण चाविधाने सिद्धासिद्धरूपसङ्कराद्विधाप्येतरत्वविभागासिद्धिः, तद्रूपासङ्करे वा भेदप्रसङ्गादात्मनः सिद्धासिद्धरूपयोस्तत्सम्बन्धाभावादिदोषासञ्जनस्याविशेषः। तथा विषयस्य योगलक्षणस्य धर्मे नियोगे तस्याऽपरिनिष्पन्नत्वात् स्वरूपाभावाद्वाक्येन प्रत्येतुमशक्यत्वस्य

विधावपि विपयधर्मे समानत्वात्कुतो विषयधर्मो विधिः। पुरुषस्यैव विषयतयावभासमानस्य विषयत्वात्तस्य च परिनिष्पन्नत्वान्न तद्धर्मस्य विधेरसम्भव इति चेत्, तर्हि यजनाश्रयस्य द्रव्यादेः सिद्धत्वात्तस्य च विषयत्वात्कथं तद्धर्मो नियोगोऽपि न सिद्ध्येत्? येन रूपेण विषयो विद्यते तेन तद्धर्मो नियोगोऽपीति, तदनुष्ठानाभावे विधिविपयो येन रूपेणास्ति तेन तद्धर्मस्य विधेः कथमनुष्ठानम्?, येनांशेन नास्ति तेनानुष्ठानमिति चेत्, तन्नियोगेऽपि समानम्। कथमसन्नियोगोऽनुष्ठीयते अप्रतीयमानत्वात् खरविषाणवदिति चेत्, तत एव विधिरपि नानुष्ठेयः। प्रतीयमानत्वादनुष्ठेयतया चासिद्धत्वादनुष्ठेयो विधिरिति चेत्, नियोगोऽपि तथास्तु। नन्वनुष्ठेयतयैव नियोगोऽवतिष्ठते, न प्रतीयमानतया, तस्याः सकलवस्तुसाधारणत्वात्, अनुष्ठेयता च यदि प्रतिभाता कोऽन्यो नियोगो यस्यानुष्ठितिरिति चेत्, तर्हि विधिरपि न प्रतीयमानतया प्रतिष्ठामनुभवति, किन्तु विधीयमानतया, सा चेदनुभूता कोन्यो विधिर्नाम यस्य विधानमुपनिषद्वाक्यादनुकर्ण्यते। ननु द्रष्टव्यादिवाक्येनात्मदर्शनादिकं विहितं ममेति प्रतीतेरप्रतिक्षयार्हो विधिः कथमपाक्रियते, किमिदानीमग्निहोत्रादिवाक्येन यागादिविषये नियुक्तोऽहमिति प्रतीतिर्न विद्यते येन नियोगः प्रतिक्षिप्यते, सा प्रतीतिरप्रमाणमिति चेत्, विधिप्रतीतिः कथमप्रमाणं न स्यात्, विधिप्रतीतेः पुरुषदोषरहितवेदवचनेन जनितत्वादिति चेत्, तत एव नियोगप्रतीतिरप्यप्रमाणं मा भूत्, सर्वथाप्यविशेषात्। तथापि नियोगस्य विषयधर्मस्यासम्भवे विधेरपि तद्धर्मस्य न सम्भवः। शब्दस्य विधायकस्य धर्मो विधिरित्यपि न निश्चेतुं शक्यम्, नियोगस्यापि नियो-

कृशब्दधर्मत्वप्रतिघाताभावानुषक्तेः। शब्दस्य सिद्धरूपत्वात्तद्धर्मो नियोगः कथमसिद्धो येनासौ सम्पाद्यते। कस्यचिदित्यपि न मन्तव्यम्, विधिसम्पादनविरोधात्, तस्यापि सिद्धोपनिषद्वाक्यधर्मत्वाविशेषात् । प्रसिद्धस्यापि सम्पादने पुनःपुनस्तत्सम्पादनप्रवृत्त्यनुपरमात् कथमुपनिषद्वाक्यस्य प्रमाणता, तदपूर्वार्थ-ताविरहात्स्मृतिवत्, तस्य वा प्रमाणत्वे नियोगवाक्यं प्रमाणमस्तु, विशेषाभावात्। किञ्च तद्विधिविषयं वाक्यं गुणभावेन प्रधानभावेन वा विधौ प्रमाणं स्यात्? यदि गुणभावेन, तदाऽग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम इत्यादिरपि तदस्तु, गुणभावेन विधिविषयत्वस्य भावात्, तत्र भट्टमतानुसारिभिर्भावना(याः)प्राधान्येनो-पगमात्, प्राभाकरैश्च नियोगगोचरत्वस्य प्रधानत्वाङ्गीकरणात् । तौ च भावनानियोगौ नासद्विषयौ प्रवर्त्तेते प्रतियेते वा, सर्वथाप्यसतोः प्रतीतौ वा शशविषाणादेरपि तदनुपक्तेः, सद्रूपतया च तयोर्विधिना-न्तरीयकत्वसिद्धेः सिद्धं गुणभावेन विधिविषयत्वं वाक्यस्य, इति नाप्रमाणतापत्तिर्येन कर्मकाण्ड-स्य पारमार्थिकता न भवेत्। प्रधानभावेन विधिविषयं चोदनावाक्यं प्रमाणमिति चायुक्तम्, विधेः सत्यत्वे द्वैतावतारात्। तदसत्यत्वे प्राधान्याऽयोगात्। तथा हि यो योऽसत्यः स स न प्रधानभावम-नुभवति, यथा तदविद्याविलासः, तथा चासत्यो विधिरिति न प्रधानभावेन तद्विषयत्वोपपत्तिः । स्यान्मतम्, न सम्यगवधारितं विधेः स्वरूपं भवता, तस्यैव यतो व्यवस्थितत्वात्, प्रतिभासमात्राद्धि पृथग् विधिः कार्यतया न प्रतीयते घटादिवत्, प्रेरकतया च नाध्यवसीयते वचनादिवत्, कर्मकरणसाधनतया

हि तत्प्रतीतौ कार्यताप्रेरकताप्रत्ययो युक्तो नान्यथा । किंतर्हि ! द्रष्टव्यो रेऽयमात्मा श्रोतव्योऽनुमन्तव्यो निदिध्यासितव्य इत्यादिशब्दश्रवणादवस्थान्तरविलक्षणेन प्रेरितोऽहमिति जाताकूतेनाकारेण स्वयमात्मैव प्रतिभाति, स एव विधिरित्युच्यते, तस्य च ज्ञानं विषयतया सम्बन्धमधितिष्ठतीति प्रधानभावविभावना विधेर्न विहन्यते, तथाविधवेदवाक्यादात्मन एव विधायकतया प्रतिभासनात्, तद्दर्शनश्रवणानुमननध्यानरूपस्य विधीयमानतयाऽनुभवात्, तथा च स्वयमाऽऽत्मानं द्रष्टुं श्रोतुमनुमन्तुं ध्यातुं वा प्रवर्त्तते, तथा प्रवृत्त्यसम्भवे ह्यात्मनः प्रेरितोऽहमित्यवगतिरप्रामाणिकी स्यात्, ततो नासत्यो विधिर्येन प्रधानता तस्य विरुद्ध्यते नापि सत्यत्वे द्वैतसिद्धिः, आत्मस्वरूपव्यतिरेकेण तदभावात्, तस्यैकस्यैव तथाप्रतिभासनादिति । तदप्यसत्यम्, नियोगादिवाक्यार्थस्यापि निश्चयात्मकतया प्रतीयमानत्वात्, तथा हि नियोगस्तावदग्निहोत्रादिवाक्यादिव द्रष्टव्योऽरेऽयमात्मेत्यादिवचनादपि प्रतीयत एव, नियुक्तोऽहमनेन वाक्येनेति निरवशेषो योगः प्रतिभाति, मनागप्ययोगाशङ्कानवतारादवश्यकर्त्तव्यतासम्प्रत्ययात्, कथमन्यथा तद्वाक्यश्रवणादस्य प्रवृत्तिरुपपद्यते, मेघध्वन्यादेरपि प्रवृत्तिप्रसङ्गात् । किञ्च शब्दाद् द्रष्टव्योऽरेऽयमात्मेत्यादेरात्मद्रष्टव्यतादिविधिस्तदऽद्रष्टव्यतादिव्यवच्छेदरहितो यदीष्यते तदा न कस्यचित्प्रवृत्तिहेतुः, प्रतिनियतविषयविधिनान्तरीयकत्वात्प्रेक्षावत्प्रवृत्तेः, तस्य चातद्विषयपरिहाराविनाभावित्वात्, कटः कर्त्तव्य इति यथा, न हि कटे कर्त्तव्यताविधिरतद्व्यवच्छेदमन्तरेण व्यवहारमार्गमवतारयितुं शक्यः ।

परपरिहारसहितो विधिः शब्दार्थ इति चेत्, तर्हि विधिप्रतिषेधात्मकः शब्दार्थ इति कुतो विध्येकान्तवादस्य प्रतिष्ठा, प्रतिषेधैकान्तवादवत् । स्यान्मतम्, परपरिहारस्य गुणीभूतत्वाद्विधिरेव प्राधान्याद्विधिः शब्दार्थ इति। कथमिदानीं शुद्धकार्यादिरूपनियोगव्यवस्थितिर्न स्यात्? कार्यस्यैव शुद्धस्य प्रवृत्त्यङ्गतया प्रधानत्वोपपत्तेः, नियोज्यादेस्तत्रापि गुणीभावात्। तद्वत्प्रेरणादिस्वभावनियोगवादिनां प्रेरणादौ प्रधानताभिप्रायात् तदितरस्य सतोपि गुणभावाध्यवसायाद्युक्तो नियोगः शब्दार्थः। शुद्धकार्यप्रेरणादिषु स्वाभिप्रायात् कस्यचित्प्रधानभावेपि पराभिप्रायात्प्रधानत्वाभावात् तदन्यतरस्यापि स्वभावस्याव्यवस्थितेर्नैकस्यापि शब्दार्थत्वमिति चेत्, तर्हि पुरुषाद्वैतवाद्याशयवशाद्विधेः प्रधानत्वेऽपि ताथागतमताश्रयणादप्रधानताघटनात् सोऽपि न प्रतिष्ठामापद्येत, विप्रतिपत्तिसद्भावाविशेषात्। स्यान्मतिरेषा ते, विधेरेव सर्वत्र प्रधानता, प्रवृत्त्यङ्गत्वोपपत्तेः, न पुनः प्रतिषेधस्य, प्रवृत्त्यङ्गतानुपपत्तेः, क्वचित्प्रवर्त्तितुकामो हि सर्वस्तद्विधिमन्वेषते, तत्र पररूपप्रतिषेधान्वेषणे परिनिष्ठानुपपत्तेः, पररूपाणामानन्त्यात् क्वचित्प्रतिषेद्धुमशक्तेश्च, तद्धि पररूपं न तावत्स्वयमप्रतिपद्य क्रमशः प्रतिषेद्धुं शक्यम्, प्रतिषेधस्य निर्विषयत्वप्रसङ्गात्, नापि प्रतिपद्य, तत्प्रतिपत्तेरपि पररूपप्रतिषेधापेक्षत्वात्, तस्यापि च प्रतिपन्नस्यैव प्रतिषेधेऽनवस्थानुषङ्गात्, युगपत्सकलपररूपप्रतिषेधे परस्पराश्रयानुषङ्गात्, सिद्धे सकलपररूपप्रतिषेधे प्रतिपित्सितविधिसिद्धिस्तत्सिद्धौ च तत्परिहारेण तत्प्रतिपत्तिपूर्वकसकलपररूपप्रतिषेधसिद्धिरिति ।

तदेतदनालोचिताभिधानं मण्डनमिश्रस्य, सर्वथा विधेरपि प्रवृत्त्यङ्गतानुपपत्तेः, सर्वो हीष्टे वस्तुनि प्रवर्त्तितुमना जनोऽनिष्टपरिहारं तत्रान्वेषते, अन्यथानिष्टेऽपि प्रवृत्तौ समीहितव्याघातप्रसक्तेः, अनिष्टप्रतिषेधश्च प्रत्यक्षादिवत् कुतश्चिद्वाक्यादपि शक्यः प्रतिपत्तुम्, केवलविधिप्रतिपत्तेरेवान्यप्रतिषेधप्रतिपत्तिरूपत्वात् केवलभूतलप्रतिपत्तेरेव घटाभावप्रतिपत्तिसिद्धेः, न ह्ययं प्रतिपत्ता किञ्चिदुपलभमानः पररूपैः सङ्कीर्णमुपलभते, यतः प्रमाणान्तरात्तत्प्रतिषेधः साध्यते, न च सर्वथा तैरसङ्कीर्णमेव, सदाद्यात्मनापि तदसङ्करे तस्यासत्त्वप्रसङ्गात्, परस्मात्कथञ्चिद्व्यावृत्त्यऽव्यावृत्त्यात्मकं च कुतश्चित्प्रमाणादुपलभमानोऽर्थी परव्यावृत्तिद्वारेण वा प्रवर्त्तते विधिद्वारेण वेति विधेरिवान्यापोहस्यापि प्रवृत्त्यङ्गत्वोपपत्तेर्न विधेरेव प्राधान्यम्, विधात्रेव प्रत्यक्षमुपनिषद्वाक्यं चेति नियमस्यासम्भवात्, अन्यथा ततो विद्यावदविद्याविधानानुषङ्गात्। सोऽयमविद्याविवेकसन्मात्रं कुतश्चित्प्रतीयन्नेव न निषेद्धृ प्रत्यक्षमन्यदेवेति ब्रुवाणः कथं स्वस्थः ? कथं वा प्रत्यक्षादेर्निषेद्धृत्वाभावं प्रतीयात् ? यतस्तत्प्रतिपत्तिः तस्यैवाभावविषयत्वसिद्धेः। प्रत्यक्षादेर्विधातृत्वप्रतिपत्तिरेव निषेद्धृत्वाभावप्रतिपत्तिरिति चेत्, तर्हि सिद्धं भावाभावविषयत्वं तस्येति न परोदितो विधिर्वाक्यार्थः सिद्ध्यति, नियोगस्यैव वाक्यार्थत्वोपपत्तेः प्रभाकरमतसिद्धिः। स एव वाक्यार्थोऽस्त्वित्ययुक्तम्, धात्वर्थवन्नियोगस्य परोपवर्णितस्वरूपस्य वाक्यार्थतया प्रतीत्यभावात्, सर्वत्र भावनाया एव वाक्यार्थत्वप्रतीतेः। सा हि द्विधा; शब्दभावनाऽर्थभा-

वना च–"शब्दात्मभावनामाहुरन्यामेव लिङादयः। इयं त्वन्यैव सर्वार्था सर्वाख्यातेषु विद्यते॥ १॥" इति वचनात्। तत्र शब्दभावना शब्दव्यापारः, शब्देन हि पुरुषव्यापारो भाव्यते, पुरुषव्यापारेण धात्वर्थो, धात्वर्थेन फलमिति । न चैवं पुरुषव्यापारे शब्दव्यापारवद्धात्वर्थे च पुरुषव्यापारवत् फले धात्वर्थो भावनाऽनुप्रसज्यते, तस्य शुद्धस्य सन्मात्ररूपतया विधिरूपत्वप्रसङ्गात्। तदुक्तम्।–"सन्मात्रं भावलिङ्गं स्यादसंपृक्तं तु कारकैः। धात्वर्थः केवलः शुद्धो भाव इत्यभिधीयते ॥ १॥ तां प्रातिपदिकार्थं च धात्वर्थं च प्रचक्षते। सा सत्ता सा महानात्मा यामाहुस्त्वतलादयः॥ २॥" इति च, प्रतिक्षिप्तश्चैवंविधो विधिवादो नियोगवादिनैवेति नास्माकमत्रातितरामादरः। अथ ततोऽन्यो धात्वर्थः, सोऽपि न प्रत्ययार्थशून्यः कुतश्चिद्वाक्यात्प्रतीयते, तदुपाधेरेव तस्य ततः सम्प्रत्ययात्। प्रत्ययार्थस्तत्र प्रतिभासमानोऽपि न प्रधानं, कर्मादिवदन्यत्रापि भावादिति चेत्, तर्हि धात्वर्थो यजनादिः प्रधानं मा भूत् प्रत्ययान्तरेपि भावात् प्रकृतप्रत्ययापायेपीति समानं पश्यामः। यदि पुनः क्रिया सकलव्यापिनी धात्वर्थः सर्वधातुषु भावात्, तदा सैव भावना किं नेष्यते, सर्वार्थेषु सद्भावात्। यथैव हि जुहुयाज्जुहोतु होतव्यमिति लिङादयः क्रियां हवनावच्छिन्नां प्रतिपादयन्ति, तथा सर्वाख्यातप्रत्यया अपि, पचति पपाच पक्ष्यतीति पचनावच्छिन्नायाः क्रियाया एव प्रतिपत्तेः, पाकं करोति चकार करिष्यतीति, तथा च लिङादिप्रत्ययप्रत्याय्यः करोत्यर्थ एव वाक्यार्थ इत्यायातम्, स च भावनास्वभाव एवेति न धात्वर्थ एव वाक्यार्थतया प्रतीयते । नापि कार्यादिरूपो

नियोगः। ननु शब्दव्यापाररूपो नियोगः प्रतीयत एव, शब्दो हि स्वव्यापारस्य पुरुषव्यापारकरणलक्षणस्य प्रतिपादको, न पुनः कारकः, शब्दादुच्चरितान्नियुक्तोऽहमनेनेति प्रतिपत्तॄणां प्रतिपत्तेरन्यथानुपपत्तेरिति चेत्, तर्हि भावनैव नियोग इति शब्दान्तरेणोक्ता स्यात्। तदुक्तम्, "शब्दादुच्चरितादात्मा नियुक्तो गम्यते नरैः। भावनातः परः को वा नियोगः परिकल्प्यताम्॥१॥" इति। स्यान्मतम्। यदि शब्दव्यापारो भावना कथमगृहीतसङ्केतो नैव गच्छति नियुक्तोऽहमनेनेति, स्वभावतस्तस्य नियोजकत्वात्, सङ्केतग्रहणस्यानुपयोगित्वादिति, तदसमीचीनमेव, सङ्केतस्य तथाऽवगतौ सहकारित्वात्, सामग्री जनिका नैकं कारणमिति प्रसिद्धेः। ननु च सङ्केतसामग्री न प्रेरणे भावनायां वा व्याप्रियते, अर्थवेदने तस्याः प्रवृत्तेः, अर्थप्रतीतौ पुरुषस्य स्वयमेव तत्र तदर्थितया प्रवृत्तेः, इदं कुर्विति प्रेषणाध्येषणयोरेव हि प्रतीतिः, तदप्रतीतौ नियुक्तत्वाप्रतिपत्तेः, नियुक्तत्वं च नाम कार्ये व्यापारितत्वम्, कार्ये व्यापृततामवस्थां प्रतिपद्य नियोजको नियुङ्क्ते, सा च तस्य भाविन्यवस्था न स्वरूपेण साक्षात्कर्त्तुं शक्या, स्वरूपसाक्षात्करणे हि सर्वं तदैव सिद्धमिति न नियोगः स्यात्सफलः, ततः प्रयोजको बाध्यमानप्रतीतिक एव। तदुक्तम्, "यथा प्रयोजकस्तत्र बाध्यमानप्रतीतिकः। प्रयोज्योऽपि तथैव स्याच्छब्दो बुद्ध्यार्थवाचकः ॥ १ ॥" यथैव हि प्रयोजकस्य शब्दस्य प्रयोज्येन पुरुषेण स्वव्यापारशून्यमात्मानं प्रतीयता प्रयोजकत्वप्रतीतिर्बाध्यमाना निरालम्बना तथा प्रयोज्यत्वप्रतीतिरपि तेनैव स्वव्यापाराविष्टमात्मानमप्रतीयता बाध्यते।

शब्दात् सा प्रतीतिरिति च न युक्तम्, तस्य बुद्ध्यर्थख्यापनत्वात्, सोऽपि हि शब्दो बुद्ध्यर्थमेवख्यापयति, एवं मया प्रतिपादितमेवं मया प्रतिपन्नमिति द्वयोरपि प्रतिपादकप्रतिपाद्ययोरध्यवसायात्। पौरुषेयवचनाद्धि मयैवं तावत्प्रतिपन्नमस्य तु वक्तुरयमभिप्रायो भवतु मा वाभूदिति प्रतिपत्ताऽध्यवस्यति। अपौरुषेयादपि शब्दादेवमयमर्थो मया प्रतिपन्नोऽस्य भवतु मा वा भूदिति वक्तृव्यापारविषयो योऽर्थः पौरुषेयशब्दस्य यो वा बुद्धौ प्रकाशतेऽर्थः अपौरुषेयत्वाभिमतशब्दस्य तत्र प्रामाण्यं न पुनर्बाह्यार्थतत्त्वनिबन्धनम्। तदुक्तम्, "वक्तृव्यापारविषयो योऽर्थो बुद्धौ प्रकाशते। प्रामाण्यं तत्र शब्दस्य नार्थतत्त्वनिबन्धनम्॥१॥" इति वचनात्। ततो विवक्षारूढ एवार्थो वाक्यस्य, न पुनर्भावनेति प्रज्ञाकरः। सोपि न परीक्षकः, प्रत्यक्षादिव शब्दाद्बहिरर्थप्रतीतिसिद्धेः। यथैव हि प्रत्यक्षात्प्रतिपत्तृप्रणिधानसामग्रीसव्यपेक्षात्प्रत्यक्षार्थप्रतिपत्तिस्तथा सङ्केतसामग्रीसापेक्षादेव शब्दाच्छब्दार्थप्रतिपत्तिः सकलजनप्रसिद्धा, अन्यथा ततो बहिरर्थे प्रतिपत्तिप्रवृत्तिप्राप्त्ययोगात्। न चार्थवेदनादेवार्थे पुरुषस्यार्थिनः स्वयमेव प्रवृत्तेः शब्दोऽप्रवर्त्तक इत्येव वक्तुं युक्तम्, प्रत्यक्षादेरप्येवमप्रवर्त्तकत्वप्रसङ्गात्, तदर्थेऽपि सर्वस्याभिलापादेव प्रवृत्तेः। परम्परया प्रत्यक्षादि प्रवर्त्तकमिति चेत्, तथा वचनमपि प्रवर्त्तकमस्तु, विशेषाभावात्। यथा च प्रत्यक्षस्य सलिलादिरर्थः, तस्य तत्र प्रतीतेः, तथा वाक्यस्यभावना प्रेरणा वा, तस्यैव तत्र प्रतीतेरबाध्यमानत्वात्। नन्विदं कुर्विति वचनात्कार्ये व्यापारितत्वं पुरुषस्य नियुक्तत्वम्, न च कार्ये व्यापृततावस्था भाविनी तेन साक्षात्कर्त्तुं शक्या, तत्सा-

क्षात्करणे नियोगस्याफलत्वप्रसङ्गात् । ततो बाध्यमानैव तत्प्रतीतिरिति । तदेतदसमञ्जसमालक्ष्यते, अन्य-
त्रापि समानत्वात् । प्रत्यक्षस्य हि प्रवर्त्तकत्वं प्रवृत्तिविषयोपदर्शकत्वमुच्यते । प्रवृत्तिविषयश्चार्थक्रियाकारी
सलिलादिः । सा च तस्यार्थक्रियाकारिता भाविनी न साधनावभासिना वेदनेन साक्षात्कर्त्तुं शक्या
तत्साक्षात्करणे प्रवृत्तिवैफल्यात् । ततोऽध्यक्षस्य प्रवर्त्तकत्वं बाध्यमानप्रतीतिकं कथमेवेति न शक्यं वक्तुम् ।
यदि पुनरर्थक्रियाकारिताऽनागतापि साधनावभासिनि वेदने प्रतिभातैव-एकत्वाध्यवसायात् तदा शब्दा-
दपि पुरुषस्य कार्यव्यापृतता तत एव प्रतिभातैवेति किं नानुमन्यते । तथा सति बुद्ध्यारूढोर्थः शब्दस्य
स्यादिति चेत्तथापि प्रत्यक्षस्य बुद्ध्यध्यवसितोर्थः किन्न भवति । ततो निरालम्बनमेव प्रत्यक्षं न
स्यात् । परमार्थतः प्रत्यक्षमपि न प्रवर्त्तकम्, स्वरूपस्य स्वतो गतेः संवेदनाद्वैतस्य वा सिद्धिरिति
चेत् पुरुषाद्वैतस्य कुतो न सिद्धिः ? तस्य नित्यसर्वगतस्यैकस्य संवित्त्यऽभावादिति चेत्, क्षणिक-
निरंशस्यैकस्य संवित्तिः किं कस्यचित्कदाचिदस्ति ? यतस्तात्सिद्धिरेव स्यात् । ततः पुरुषाद्वैतवत्सं-
वेदनाद्वैतस्य सर्वथा व्यवस्थापयितुमशक्तेर्भेदवादे च प्रत्यक्षस्य प्रवर्त्तकत्वायोगाद्भिन्नाभिन्नात्मकं
वस्तु प्रातीतिकमभ्युपगन्तव्यम्, विरोधादेश्चित्रज्ञानेनोत्सारितत्वात् । भेदस्याभेदस्य वा सांवृतत्वे
सर्वथार्थक्रियाविरोधात् । तथा च शब्दात्कार्यव्यापृततताया व्यक्तिरूपेण भाविन्या अपि शक्ति-
रूपेण पुरुषस्य सतः कथञ्चिदभिन्नायाः शब्दज्ञाने तदैव प्रतिभासनेपि न नियोगो निष्फलः

५

स्यात् प्रत्यक्षतः सलिलादौ प्रवृत्तिवत् । तत्र हि सलिलादेरर्थक्रियायोग्यताप्रतिभासनेपि व्यक्त्यर्थक्रियानुभवाभावात्तदर्थप्रवर्त्तनं प्रतिपत्तुः सफलतामियर्त्ति नान्यथा । एवं शब्दात्मनः कार्यव्यापृतनायोग्यताप्रतिपत्तावपि व्यक्तकार्यव्यापृततानुभवाभावात् पुरुषस्य नियोगः सफलतामियात् तथा प्रतीतेरेव चाध्यक्षत्वसिद्धेः । ततो न विवक्षारूढ एव शब्दस्यार्थः प्रमाणबलादवलम्बितुं युक्तः सन्मात्रविधिवत् । यदप्युक्तम्, नियोगो यदि शब्दभावनारूपो वाक्यार्थस्तथा सति देवदत्तः पचेदिति कर्त्तुरनभिधानात् 'कर्तृकरणयोस्तृतीये' ति तृतीया प्राप्नोति । कर्त्तुरभिधाने त्वनभिहिताधिकारात्तिङैव चोक्तत्वान्न भवतीति । तदप्ययुक्तं, भावनाविशेषणत्वेन कर्तुः प्रतिपादनात् । भावना हि करोत्यर्थः । स च देवदत्तकर्तृकः प्रतिभाति । पचेद्देवदत्तः पाकं कुर्यादिति पाकावच्छिन्नायाः करणक्रियाया देवदत्तकर्तृकायाः प्रतीतेः, सकृदेव विशेषणविशेष्ययोः प्रतिभासाविरोधात् । नीलोत्पलादिवत् । ततो नेदं प्रज्ञाकरवचश्चारु । "क्रमप्रतीतेरेवं स्यात् प्रथमं भावनागतिः । तत्सामर्थ्यात्पुनः पश्चाद्यतः कर्ता प्रतीयते" इति । यदभ्यधायि द्विवचनबहुवचने च प्राप्नुतः एकत्वाद्व्यापारस्य । अथ कारकभेदात् स्वव्यापारभेदो भविष्यति क्रियते कटो देवदत्तयज्ञदत्ताभ्यामिति महदसमञ्जसं स्यात् । तथा हि, "एकत्वात्कर्मणः प्राप्तं क्रियैकत्वं तथाभिदः । कर्तृभेदादितीत्थं च किं कर्त्तव्यं विचक्षणै" रिति । तदप्यसत्यम्, प्रतीतिविरोधात् । प्रतीयते हि धात्वर्थस्य भेदादेकवचनं देवदत्तयज्ञदत्ताभ्यामास्यते । स च धात्वर्थो न नियोगः, नियोगस्य

प्रत्ययार्थत्वात्। स च धात्वर्थातिरिक्तः कर्तृसाध्यः। तस्य कर्तृभेदाद्भेद इति। ततः कटं कुरुत इति द्विवचनम्। धात्वर्थस्तु शुद्धो न कारकभेदाद्भेदी। स्यादाकूतम्। "सम्बन्धाद्यदि तद्भेदो धात्वर्थस्याप्यसौ भवेत्। सोपि निर्वर्त्य एवेति तद्भेदेनैव भिद्यताम्"॥ अस्माकं तु, "विवक्षापरतन्त्रत्वाद्भेदाभेदव्यवस्थितेः। लाभिधानात्कारकस्य सर्वमेतत्समञ्जसम्॥ क्रिया कर्त्तुः कर्मणश्च भेदेन हि विवक्ष्यते"॥ सा यदा लकारेणाभिधीयते न कर्त्ता, तदा कर्त्तरि तृतीया भवति। यदा कर्त्ताभिधीयते तदा प्रथमार्थत्वात्प्रथमा भवति। क्रियते महात्मना, करोति महात्मेति। तदेतदपि पक्षपातमात्रम्। सौगतस्य भेदाभेदयोर्वस्तुरूपयोः प्रतीतिसिद्धत्वेन तद्विवक्षावशात् तथा व्यवहारस्य पारमार्थिकत्वोपपत्तेः ततो युक्ता शब्दव्यापाररूपा शब्दभावना, पुरुषव्यापाररूपाऽर्थभावना च। तत्र हि कर्त्तुर्व्यापारस्तिङा प्रतिपाद्यते। स एव च भावना। तथा चाह, भावार्थाः कर्मशब्दाः। भावनं भावो ण्यन्ताद्घञ्प्रत्ययः। तथा च सति भावनैवासौ। भावना च कर्तृव्यापारः स चोदितः स्वव्यापारे प्रवर्त्तते इति। नियोगस्य च तच्छेषत्वादप्रधानत्वादवाक्यार्थत्वम्। नियोगविशिष्टत्वाच्च भावनायास्तथा प्रतिपादने नियमेन प्रवर्त्तते। कथं चासौ कर्त्ता स्वव्यापारं प्रतीयन्नेव प्रवर्त्तते अन्यथा स्वव्यापारे एव न चोदितो भवेत्। स्यान्मतम्, "व्यापार एष मम किमवश्यमिति मन्यते। फलं विनैव नैवं चेत् सफलाधिगमः कुत" इति। तदप्यसमीक्षिताभिधानम्, अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम इत्यादिवेदवाक्यसामर्थ्यादेव पुरुषेण तदा मम एष व्यापार इति प्रत्येतुं शक्यत्वात्। ममेदं कर्त्तव्यमिति

फलमपश्यन् कथं प्रत्येतीति चेत् प्रत्यक्षतः कथं प्रत्येति, फलयोग्यतायाः प्रतीतेरिति चेद्वाक्यादपि तत एव तथा प्रत्येतु। फलस्यातीन्द्रियत्वात्कथं तद्योग्यता स्वव्यापारस्य कर्त्रा प्रतीयते इति चेत् प्रत्यक्षविषयस्य कथम्? प्रतिपत्तुरभ्याससामर्थ्यात्प्रत्यक्षस्य विषये फलयोग्यतानिश्चय इति चेत् तत एव च कर्त्तुः स्वव्यापारे तद्योग्यतानिश्चयोस्तु, सर्वथा विशेषाभावात्। यदप्यवादि प्रज्ञाकरेण "यजते पचतीत्यत्र भावना न प्रतीयते। यज्याद्यर्थातिरेकेण तस्या वाक्यार्थता कुतः?॥ पाकं करोति यागं च यदि भेदः प्रतीयते। एवं सत्यऽनवस्था स्यादसमञ्जसताकरी"॥ करोति यागं स्वव्यापारं निष्पादयति यागनिष्पत्तिं निर्वर्त्तयति व्यपदेशा एते यथाकथञ्चिद्भेदपरिकल्पनपुरस्सराः। नैतेभ्योस्ति पदार्थतत्त्वव्यवस्थेति। शिलापुत्रकस्य शरीरमिति भेदव्यवहारो भेदमन्तरेणापि दृश्यते। "यथा द्विजस्य व्यापारो याग इत्यभिधीयते। ततः परा पुनर्दृष्टा करोतीति न हि क्रिया॥ यदि क्रिया च द्रव्यस्य विशेषादपरा न हि। सामानाधिकरण्येन देवदत्ततया गतेः॥" इति तदपि न परीक्षाक्षमम्। "यजते पचतीत्यत्र भावनायाः प्रतीतितः। यजाद्यर्थातिरेकेण युक्ता वाक्यार्थता ततः॥ पाकं करोति यागं चेत्येवं भेदेऽवभासिते। काऽनवस्था भवेत्तत्र तत्प्रतीत्यनुसारिणाम्"॥ यजते पाकं करोतीति हि यथा प्रतिपत्तिस्तथा स्वव्यापारं निष्पादयतीत्यपि सैव प्रतिपत्तिः स्वव्यापारशब्देन यागस्याभिधानात्, निष्पादयतीत्यनेन तु करोतीति प्रतीतेः। यागं करोति स्वव्यापारं निष्पादयतीति नार्थभेदः यागनिष्पत्तिं निर्वर्त्तयतीत्यत्रापि याग-

निष्पत्तिर्याग एव। निर्वर्त्तनं करणमेव। ततो यागं करोतीति प्रतीतं स्यात्। ततो नैते व्यपदेशा यथाकथञ्चिद्भेदपरिकल्पनपुरस्सराः, प्रतीयमानकरोत्यर्थविषयत्वात्। यागं करोति विदधात्येवमादिव्यपदेशवत्। ततो युक्तैवैतेभ्यः पदार्थतत्त्वव्यवस्था, अनवस्थानवतारात्। अथ यजते यागं करोति यागक्रियां करोतीत्येवमनवस्थोच्यते तर्हि स्वरूपं संवेदयते स्वरूपसंवेदनं संवेदयते इत्यप्यनवस्था स्यात्। अथ स्वरूपं वेदयते इत्यनेनैव स्वरूपसंवेदनप्रतिपत्तेः स्वरूपसंवेदनं संवेदयते इत्यादि निरर्थकत्वादयुक्तं, तर्हि यागं करोतीत्यनेनैव यागावच्छिन्नक्रियाप्रतिपत्तेर्यागक्रियां करोतीत्यादिवचनमनर्थकमेव व्यवच्छेद्याभावात्। यजते इत्यनेनैव यागावच्छिन्नक्रियाप्रतीतेर्यागं करोतीत्यपि वचनमनर्थकमिति चेत्सत्यं यदि तद्वचनादेव तथा प्रत्येति। यस्तु न प्रत्येति। तं प्रति विशेषणविशेष्यभेदकथनपरत्वात् तथाभिधानस्य नानर्थक्यम्। शिलापुत्रकस्य शरीरं राहोः शिर इत्यादिभेदव्यवहारा अपि न कथञ्चिद्भेदमन्तरेण प्रवर्त्तन्ते, गौणत्वप्रसङ्गात्। शिलापुत्रकस्य, राहोरित्युच्यमाने हि किमिह सन्देहः। तद्व्यवच्छित्तये शरीरं, शिरइत्यभिधानमन्यस्य कार्यादेर्व्यवच्छेदकमुपपन्नम्। तस्मिंश्च सति कस्येति संशयः स्यात्। तद्व्यपोहनाय शिलापुत्रकस्य राहोरित्यभिधानं श्रेयः, अवस्थातद्वतोः कथञ्चिद्भेदात्। शरीरं हि शिलापुत्रकस्यावस्था अवयवोपचयलक्षणावस्थान्तरव्यावृत्ता। शिलापुत्रकः पुनरवस्थाता, खण्डाद्यवस्थान्तरेष्वपि प्रतीतेः। एतेन राहुरवस्थाता शिरोवस्थायाः ख्यातः। सांवृतोऽवस्थाता, अवस्थाव्यतिरेकेणानुपलब्धेरिति चेन्न, उभयासत्त्वात्।

अवस्थातुरसत्त्वे सांवृतत्वे वावस्थायाः सत्त्वाऽसांवृतत्वविरोधात् खपुष्पसौरभवत् कृत्रिमफणिस्फटादिवच्च । ततो वस्तुस्वभावाश्रय एव यागं करोतीति व्यपदेशः, सत्यप्रतीतिकत्वात् । संविदमनुभवतीत्यादि व्यपदेशवत् । " तथा द्विजस्य व्यापारो याग इत्यभिधीयते । ततः परा च निर्बाधा करोतीति क्रियेष्यते ॥ यदि क्रियापि भावस्याऽविशेपादपरैव हि । सामानाधिकरण्येन देवदत्ततया गतेः " ॥ द्विजो हि व्यापृतेतरावस्थानुयायी स एवायमित्येकत्वप्रत्यवमर्षवशान्निश्चितात्मा परमार्थात्सन्नेकः । यागस्तु तद्व्यापारः प्रागऽभूत्वा भवन् पुनरपगच्छन्नऽनित्यतामात्मसात्कुर्वन् भेदप्रत्ययविषयस्ततोऽपर एव, कथञ्चिद्विरुद्धधर्माध्यासात् । तथा यागेतरव्यापारव्यापिनी करोतीति क्रियानुस्यूतप्रत्ययवेद्या तद्विपरीतात्मनो यागादर्थान्तरभूता सर्वथाप्यप्रतिक्षेपार्हानुभूयते, यजते यागं करोति देवदत्त इति समानाधिकरणतया देवदत्तेन सहावगतेः । सर्वथा तदैक्ये तद्विरोधात् पटतत्स्वात्मवत् । किं करोति देवदत्तः ? यजति पचतीति प्रश्नोत्तरदर्शनात् करोतीति निश्चितेपि यज्यादिषु सन्देहाच्च । तथा हि, यस्मिन्निश्चीयमानेपि यन्न निश्चीयते तत्ततः कथञ्चिदन्यत् । यथान्यदेहे निश्चीयमानेप्यनिश्चीयमाना बुद्धिः । करोतीति निश्चीयमानेप्यनिश्चीयमानश्च यज्यादिरिति । स्यान्मतम्, " करोत्यर्थयज्याद्यर्थौ विभिन्नौ यदि तत्त्वतः । अन्यत्सन्दिग्धमन्यस्य कथने दुर्घटः क्रमः " ॥ न हि करोतीति क्रियातो विभिन्नायां यज्यादिक्रियायां सन्देहे ततोन्यत्र करोत्यर्थे निश्चिते प्रश्नः श्रेयान्, अनिश्चिते एव प्रश्नस्य साधीयस्त्वात् । ततः करोत्यर्थयज्याद्यर्थयोस्तादात्म्यमेषितव्यम्,

तत्रैवप्रश्नोत्तरदर्शनादिति । तदेतदनुपपन्नम्, करोत्यर्थस्य सामान्यरूपत्वात्, तद्विशेषरूपत्वाच्च यज्यादेः । सामान्यविशेषयोश्च कथञ्चिदभेदोपगमात् । सन्दिग्धस्यैव कथनात् । प्रश्नोत्तरक्रमस्य दुर्घटत्वाघटनात् । तदभेदैकान्ते एव तस्य दुर्घटत्वात् । स्यादाकूतं ते, । " न सामान्यं विशेषेण विना किञ्चित्प्रतीयते । सामान्याक्षिप्यमाणस्य न हि नामाऽप्रतीतता " ॥ केवलसामान्यप्रतीतौ हि विशेषांशे सन्देह इत्ययुक्तम्, तस्याऽप्रतीतत्वात् । घटप्रतीतौ हिमवदादिवत् । अथ सामान्येन विशेष आक्षिप्यते । तथा सति सोपि प्रतीत एवेति कथं संशयः ? न हि प्रतीतत्वादपर आक्षेपः । अथ प्रतीत एवासौ सामान्येन न तु विशेषेण, तस्य सामान्यरूपेणाक्षेपात् । ननु तदेव सामान्यमाक्षेपकं तदेवाक्षेप्यमिति कथमेतत् ? न च सामान्यादपरं सामान्यमाक्षेप्यम् । तथा सति ततोप्यपरं ततोप्यपरमित्यनवस्था । ननु सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषाऽप्रत्यक्षाद्विशेषस्मृतेश्च संशयो युक्त एव, न त्वनुपलम्भादभाव एव युक्तः सामान्येनानुपलम्भप्रमाणवादिनः । अथोपलब्धिलक्षणप्राप्तानुपलम्भादभावे नानुपलब्धिमात्रात् तथानुपलब्धेरेव संशयः व्यर्थमेतत्सामान्यप्रत्यक्षादिति । यदि सामान्यप्रत्यक्षतायामप्युपलब्धिलक्षणप्राप्तानुपलब्धिर्न स्यात् । स्यात्संशयः । अथोपलब्धिलक्षणप्राप्तानुपलब्धिरेव न सम्भवति सामान्यप्रत्यक्षतायाम् । एवं तर्हि सैवानुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धिः संशयहेतुरिति प्राप्तं; विशेषस्मृतेरिति च व्यर्थम् । न हि विशेषस्मृतिव्यतिरेकेणापरः संशयः, उभयांशावलम्बिस्मृतिरूपत्वात्संशयस्य । दृश्यते च कन्याकुब्जादिषु सामान्यप्रत्यक्षतामन्त-

रेणापि प्रथमतरमेव स्मरणात् संशयः। तस्मात्करोतीति तदेव यज्यादिकमनियमेन प्रतीयमानं सामान्यतो दृष्टानुमानात्सामान्यम् । तदेतदपि प्रज्ञापराधविजृम्भितं प्रज्ञाकरस्य, करोत्यर्थसामान्यस्यानध्यवसाये यज्याद्यर्थविशेषानवगतावेव तत्संशयोपगमात्। न च सामान्येध्यवसिते ततोन्यत्र, विशेषेनध्यवसिते संशीतावतिप्रसङ्गः, सामान्यविशेषयोः कथञ्चिदभेदात्, । हिमवद्घटादीनां तु परस्परमत्यन्तभेदात् । एकत्र निश्चयेपि नानवगततदन्यतमे संशीतिर्यतोतिप्रसङ्गः स्यात् । नापि सामान्येनाक्षिप्ते तद्विशेषसंशयोपगमोस्ति यतस्तदाक्षेपपक्षनिक्षिप्तदोषोपक्षेपः। न चैवमनभिमततद्विशेषेष्वविशेषेण संशयोनुषङ्गी, स्मरणविषये एव विशेषेऽनेकत्र संशयप्रतीतेः । सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषाप्रत्यक्षाद्विशेषस्मृतेश्च संशय इति वचनात्। सामान्ये ह्युपलभ्यमाने तदविनाभाविनो विशेषस्यानुपलम्भेपि नाभावः सिद्ध्यति, तदभावे तस्याप्यभावप्रसङ्गात्। तदुक्तम्, “ निर्विशेषं हि सामान्यं भवेच्छशविषाणवत् । सामान्यरहितत्वाच्च विशेषस्तद्वदेव हि ” ॥ न चैवं विशेषेऽदृश्यानुपलब्धेरेव संशयः, स्मृतिनिरपेक्षत्वप्रसङ्गात्। विशेषस्मृतिरेव संशय इति चेन्न, सा व्यसाधनव्याप्तिस्मृतेरपि संशयत्वप्रसङ्गात्। सर्वसाधनानां संशयितसाध्यव्याप्तिकत्वापत्तेस्तत्स्मृतेरचलितत्वान्न संशयत्वमिति चेत्तर्हि चलिता प्रतीतिः संशयः। सा चोभयविशेषस्मृत्युत्तरकालभाविनी, तदन्वयव्यतिरेकानुविधानात्। न पुनर्विशेषस्मृतिरेव सामान्योपलब्धिवत्। तदुभयांशावलम्बिनी स्मृतिः संशीतिरित्यपि फल्गुप्रायम्, तदविचलनेपि संशीतिप्रसङ्गात्। सामान्याप्रत्यक्ष-

तायामपि कन्याकुब्जादिषु प्रथमतरमेव स्मरणात् संशयदर्शनान्न सामान्योपलम्भः संशयहेतुरिति चेन्न, असिद्धत्वात्। तत्रापि हि प्रासादादिसन्निवेशविशेषविषयः संशयः कन्याकुब्जनगरसामान्योपलम्भनपुरस्सरएव, सर्वथानुपलम्भे संशयविरोधात् सर्वथोपलम्भवत्। योपि तद्भावाभावविषयः संशयः सोपि नगरादिसामान्योपलम्भपूर्वक एव। नगरादिकं सामान्यतस्तावत्प्रसिद्धम्। कन्याकुब्जादिनामकं तु तदस्ति किं वा नास्तीत्युभयांशावलम्बिनः प्रत्ययस्योत्पत्तेर्न च नगरत्वं नाम न किञ्चिदिति वक्तुं शक्यम्, प्रत्यासत्तिविशेषस्य प्रासादादिसमूहस्य नगरत्वोपवर्णनात्। तत्रानुस्यूतप्रत्ययहेतोर्नगरत्वसामान्यस्य सिद्धेस्तदुपलम्भपूर्वकस्तद्विशेषे संशयो न विरुध्यत एव। ततः करोत्यर्थसामान्योपलम्भात्तद्विशेषयज्याद्यर्थस्यानुपलब्धेरनेकविशेषस्मरणाच्च युक्तस्तत्र सन्देहः। न हि तदेव यज्यादिकमनियमेन करोतीत्युपलब्धुं शक्यम्। करोत्यर्थसामान्यासम्भवे सत्त्वसामान्यासम्भवे घटादिकमिवास्तीत्यनियमेन पराऽपरसामान्येषु पुनः सामान्यमित्यनियमेनोपलम्भो गौण एव, सामान्येषु सामान्यान्तरासम्भवात्। तत्सम्भवे वानवस्थाप्रसङ्गात्। न चैवं सर्वत्र सामान्यमन्तरेणैवानियतप्रत्ययो गौण इति वक्तुं शक्यम्, मुख्याभावे गौणस्यानुपपत्तेः। विकल्पबुद्धौ प्रतिभासमानः सामान्याकारो मुख्यः स्वलक्षणेषु पुनरारोप्यमाणो गौण इति चेन्न, विशेषाकारस्यापि तत्र गौणत्वप्रसङ्गात्। शक्यं हि वक्तुम्, प्रत्यक्षबुद्धौ प्रतिभासमानो विशेषाकारो मुख्यो, बहिः स्वलक्षणेषु स एवाध्यारोप्यमाणो गौण इति। नन्वेवमपि

ज्ञानविशेषाः परमार्थतः सन्तःसिद्धाः ? बहिरर्थविशेषास्तु न वास्तवा इति विज्ञानवादिमतमायातं तर्हि, विज्ञानसामान्यं वस्तुभूतं न बहिरर्थसामान्यमिति सामान्यविशेषात्मकं विज्ञानं परमार्थसदायातं न क्षणिकविज्ञानस्वलक्षणवादिमतम्। विकल्पविज्ञानेपि न वास्तवः सामान्याकारः, तस्याऽनाद्यऽविद्योपपादितत्वात्। संवेदनस्वरूपस्यैवासाधारणस्य परमार्थसत्त्वादिति चेन्न, विपर्ययस्यापि कल्पयितुं शक्यत्वात्। संवेदनेपि नासाधारणाकारः पारमार्थिकः, तस्यानाद्यविद्योदयनियन्धनत्वात् संवेदनसामान्यस्यैव वास्तवत्वादिति वदतोऽन्यस्यापि निवारयितुमशक्यत्वात्। न वस्तुभूतं संवित्सामान्यम्, वृत्तिविकल्पानवस्थादिदोषानुषङ्गात्। बहिरर्थसामान्यवत्। इति चेत्तर्हि न संविद्विशेषः परमार्थः सन्, विचार्यमाणायोगाद्बहिरर्थविशेषवदित्यप्यन्यो ब्रूयात्। तथा च सत्याऽऽश्रयासिद्धो हेतुरित्युभयत्र समानं दूषणम्। साधनविकलं निदर्शनमित्यपि न चोद्यम्, समानत्वात्। संवित्स्वलक्षणाद्वैतोपगमात् सिद्धसाधनमिति चेत्, संवित्सामान्याद्वैतोपगमात्परस्यापि सिद्धसाधनं कुतो न भवेत्? संवित्सामान्याद्वैतं प्रतीतिविरुद्धम्, विशेषसंविदभावे जातुचिदसंवेदनादिति चेत् संवित्स्वलक्षणाद्वैतमपि तर्हि प्रतीतिविरुद्धमेव, संवित्सामान्यसंवेदनाभावे तद्विशेषसंवेदनस्य सकृदप्यभावात्। सर्वाक्षेपसमाधीनां समानत्वात्। ततो निर्बाधप्रतीतिबलाद्भेदव्यवस्थायां सामान्यव्यवस्थाऽस्तु सुघटैव। अन्तःसंवेदनेषु तद्वद्बहिरर्थेषु च सामान्यविशेषव्यवस्थोररीकर्त्तुं युक्ता, निर्बाधप्रतीतिसिद्धत्वाविशेषात्। एतेनैतदपि प्रत्याख्यातं

यदुक्तं धर्मकीर्त्तिना, " अतद्रूपपरावृत्तवस्तुमात्रप्रवेदनात्। सामान्यविषयं प्रोक्तं लिङ्गं भेदाप्रतिष्ठिते–" रिति। तद्रूपानुवृत्तस्य वस्तुमात्रस्य निर्बाधबोधाधिरूढस्य सिद्धेर्भेदमात्रस्याप्रतिष्ठितत्वात्, सर्वदा बहिरन्तश्च भेदाभेदात्मनो वस्तुनः प्रतिभासनात्। न चैतौ भेदाभेदौ विवक्षामात्रवशवर्त्तिनौ सर्वत्र तत्सङ्करप्रसङ्गात्, येनात्मना भेदव्यवस्था तेनैवाभेदव्यवस्थितिः स्यात्, तद्विवक्षाया निरङ्कुशत्वात्। पूर्ववासनाप्रतिनियमाद्विवक्षायाः प्रतिनियमसिद्धेर्न तद्वशाद्भेदाभेदव्यवस्थितौ सङ्करप्रसङ्ग इति चेत्, कुतस्तद्वासनाप्रतिनियमः? प्रबोधकप्रत्ययप्रतिनियमादिति चेन्न–तदनियमे तदनियमप्रसङ्गात्। पूर्वस्ववासनाप्रतिनियमात्प्रकृतवासनाप्रतिनियम इति चेन्न, तस्याः संविदव्यभिचारे वस्तुस्वभावतापत्तेः। कदाचित्तद्व्यभिचारे भेदाभेदव्यवस्थितेरपि व्यभिचारप्रसक्तेः कुतो न तत्सङ्करप्रसक्तिः? सुदूरमपि गत्वा वस्तुस्वभावावलम्बनादेव तत्परिहारमिच्छता वस्तुस्वभावावेव भेदाभेदौ परेणाभ्युपगन्तव्यौ। ततो यदभिन्नं साधारणं वस्तुस्वरूपं तदेव सामान्यं सिद्धम्। न पुनरन्यापोहमात्रं विकल्पबुद्धिपरिनिष्ठितम्, यतः करोति, सामान्यं यज्यादिविशेषव्यापि वास्तवं न भवेत्। तदुपलम्भेपि च विशेषे सन्देहोनुपलभ्यमानेपि स्मृतिविषये न स्यात्। ननु च स्थाणुपुरुषविविक्तमपरमूर्द्धतासामान्यं यज्यादिविशेषव्यतिरिक्तं च करोतिसामान्यं न वास्तवमस्ति, बुध्द्यऽभेदात्। न हि बुद्धिभेदमन्तरेण पदार्थभेदव्यवस्थितिः, अतिप्रसङ्गात्। तदुक्तम्, " न भेदाद्भिन्नमस्त्यन्यत्सामान्यं बुद्ध्यभेदतः। बुध्द्याकारस्य भेदेन पदार्थस्य

विभिन्नते " ति । तदेतदसदेव, सामान्यभेदयोर्बुद्धिभेदस्य सिद्धत्वात् । सामान्यबुद्धिर्हि तावदनुगताकारा विशेषबुद्धिः पुनर्व्यावृत्ताकारानुभूयते, दूराद्दूर्द्धतासामान्यमेव च प्रतिभाति न स्थाणुपुरुषविशेषौ, तत्र सन्देहात् । तद्विशेषपरिहारेण प्रतिभासनमेव सामान्यस्य ततो व्यतिरेकावभासनम्, एतावन्मात्रलक्षणत्वात्तद्व्यतिरेकस्य । यदप्युक्तम्, " ताभ्यां तद्व्यतिरेकश्चेत् किन्नदूरेवभासनम् । दूरेवभासमानस्य सन्निधानेतिभासन " मित्येनदप्युक्तम्, विशेषेपि समानत्वात् । सोपि हि यदि सामान्याद्व्यतिरिक्तस्तदा दूरे वस्तुनः स्वरूपे सामान्ये प्रतिभासमाने किन्न प्रतिभासते ? न हीन्द्रधनुपि नीले रूपे प्रतिचकासति पीतादिरूपं दूरान्न प्रतिचकास्ति । अथ निकटदेशसामग्रीविशेषप्रतिभासस्य जनिका न दूरदेशवर्त्तिनां प्रतिपत्तॄणामिति न विशेषप्रतिभासनं, तर्हि सामान्यप्रतिभासस्य जनिका दूरदेशसामग्री काचिन्निकटदेशवर्त्तिनां नास्ति । ततो न निकटे तत्प्रतिभासनमिति समः समाधिः । अस्ति च निकटे सामान्यस्य प्रतिभासनं स्पष्टं विशेषप्रतिभासनवत् । यादृशं तु दूरे तस्याऽस्पष्टं प्रतिभासनं तादृशं न निकटे विशेषप्रतिभासनवदेव । विशेषो हि यथा दूरादस्पष्टः प्रतिभाति न तथा सन्निधाने, स्वसामग्र्यभावात् । अत एव च न सामान्यस्य प्रतिभासने विशेषेष्वप्रतिभासमानेष्वऽस्पष्टप्रतिभासव्यवहारः, प्रतिभासमानरूपे एव सामान्ये विशेषे वा अस्पष्टव्यवहारदर्शनात् । न ह्यप्रतिभासितान्यप्रतिभासिता वा कस्यचिदस्पष्टप्रतिभासिता । किं तर्हि ? कुतश्चिद्दृष्टादृष्टकारणकलापादस्पष्ट-

ज्ञानस्योत्पत्तिरर्थेष्वस्पष्टता, विषयिधर्मस्य विषयेषूपचारात्। संवेदनस्यैव ह्यस्पष्टता धर्मः स्पष्टतावत्। तस्या विषयधर्मत्वे सर्वदा तथाप्रतिभासप्रसङ्गात् कुतः प्रतिभासपरावृत्तिः स्यात्? न चास्पष्टं संवेदनं निर्विषयमेव, संवादकत्वात्, स्पष्टसंवेदनवत्। क्वचिद्विसंवाददर्शनात्, सर्वत्र विसंवादे, स्पष्टसंवेदनेऽपि तत्प्रसङ्गात्। ततो नैतत्साधु, बुद्धिरेवातदाकारा तत उत्पद्यते यदा तदाऽस्पष्टप्रतीभासव्यवहारो जगन्मत इति, चन्द्रद्वयादिप्रतिभासे तद्व्यवहारप्रसक्तेः। न च मीमांसकानां सामान्यं विशेषेभ्यो भिन्नमेव वाऽभिन्नमेव वा, तस्य कथञ्चित्ततो भिन्नाभिन्नात्मनः प्रतीतेः। प्रमाणसिद्धे च सामान्यविशेषात्मनि जात्यन्तरे वस्तुनि तद्ग्राहिणो ज्ञानस्य सामान्यविशेषात्मकत्वोपपत्तेर्न काचिद्बुद्धिरविशेषाकारा सर्वथास्ति, नाप्यसामान्याकारा सर्वदोभयाकारायास्तस्याः प्रतीतेः। न चार्थाकारा बुद्धिः, तस्या निराकारत्वात् तत्र प्रतिभासमानस्याकारस्यार्थधर्मत्वात्। न च निराकारत्वे संवेदनस्य प्रतिकर्मव्यवस्था ततो विरुध्यते, प्रतिनियतसामग्रीवशात् प्रतिनियतार्थव्यवच्छेदकतया तस्योत्पत्तेः प्रतिकर्मव्यवस्थानसिद्धेः साकारज्ञानवादिनामपि तथाभ्युपगमस्यावश्यम्भावित्वात्। अन्यथा सकलसमानाकारव्यवस्थापकत्वानापत्तेःसंवेदनस्य तदसिद्धेः। ततोऽसामान्याकारा बुद्धिः सामान्यावभासिनी कुतश्चिदस्पष्टा कस्मिँश्चिद्वस्तुन्यविशेषाकारा च विशेषावभासिनीति दूरे सामान्यस्य प्रतिभासोऽस्पष्टः स्याद्विशेषस्य च कस्यचित्, सकलविशेषरहितस्य सामान्यस्य प्रतिभासासंभवात्। न चोर्द्धतासामान्ये विशेषे च प्रतिनियतदेशत्वादौ

प्रतिभासमाने स्थाणुपुरुषविशेषयोः सन्देहानुपपत्तिः, तयोरप्रतिभासनात्। तत्प्रतिभासनसामग्र्यभावा-
दनुस्मरणे सति सन्देहघटनात्। तद्वत्पचति यजतीत्यादिक्रियाविशेषाप्रतिभासने करोतीतिक्रियासामा-
न्यस्य प्रतिनियतदेशादिरूपस्य प्रतिभासने युक्तः सन्देहः किं करोतीति। तथा प्रश्ने च पचति यजते
इत्यादि प्रतिवचनं न दुर्घटम्, कथञ्चित्पृष्टस्यैव प्रतिपादनात्। एवं यजनादिक्रियाविशेषाणां साधारणरूपा
करोतीति क्रिया कथञ्चित्ततो व्यतिरेकेणोपलभ्यमाना कर्तृव्यापाररूपार्थभावना विभाव्यते एव, शब्द-
व्यापाररूपशब्दभावनावत् सकलबाधकरहितत्वनिर्णयात्। सैव च वाक्यार्थो न पुनर्नियोगोऽन्यापोहादि-
वत्। इति भट्टसम्प्रदाय एव संवादकः सिद्धः। कार्ये चार्थे चोदनायाः प्रामाण्यं तत एव न स्वरूपे, तत्र
बाधकसद्भावात्। सर्ववेदान्तवादनिराकरणान्न भट्टस्य कश्चिदपि प्रतिघात इति कश्चित्। अत्र प्रतिवि-
धीयते। यत्तावदुक्तं, शब्दव्यापारः शब्दभावनेति। तत्र शब्दात्तद्व्यापारोनर्थान्तरभूतोर्थान्तरभूतो वा
स्यात्? यद्यनर्थान्तरभूतस्तदा कथमभिधेय? शब्दस्य स्वात्मवत्। नह्येकस्यानंशस्य प्रतिपाद्यप्रतिपादक-
भावो युक्तः संवेद्यसंवेदकभाववत्। स्वेष्टविपर्यासेन तद्भावापत्तेः, प्रतिनियमहेत्वभावात्। तद्भेदपरिकल्प-
नया प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावे तस्य सांवृतत्वप्रसङ्गात्। स्वरूपमपि शब्दः श्रोत्रेण गमयति बहिरर्थवत्
स्वव्यापारेण। ततस्तस्य प्रतिपादक इति चेत्, न, रूपादीनामपि स्वरूपप्रतिपादकत्वप्रसङ्गात्। तेपि हि
स्वं स्वं स्वभावं चक्षुरादिभिर्गमयन्ति, चक्षुरादीनां स्वातन्त्र्येण तत्र प्रवर्तनात् तत्प्रयोज्यत्वात् तेषां

न्न रूपादीनां निमित्तभावेन प्रयोजकत्वात् स्वयमधीयानानां कारीषाग्न्यादिवत्। अथ रूपादयः प्रकाश्या एव ततोर्थान्तरभूतानां चक्षुरादीनां प्रकाशकादीनां सद्भावादिति मतम्। तथैव शब्दस्वरूपं प्रकाश्यमस्तु, ततोन्यस्य श्रोत्रस्य प्रकाशकस्य भावात्। सत्यमेतत्, इन्द्रियबुद्धेर्विषयभावमनुभवन् प्रकाश्य एव शब्दो रूपादिवत्। प्रतिपादकस्तु स्वरूपे शाब्दीं बुद्धिमुपजनयन्नभिधीयते इति चेत्, न, तत्र वाच्यवाचकभावसम्बन्धाभावात्। तस्य द्विष्ठत्वेनैकत्रानवस्थितेः। यदि पुनरर्थान्तरभूत एव शब्दात्तद्व्यापार इति मतं तदा स शब्देन प्रतिपाद्यमानो व्यापारान्तरेण प्रतिपाद्यते चेत्तर्हि तद्वाच्यः स्यात्। तद्व्यापारान्तरं तु भावनानुषज्यते। तदपि यदि शब्दादर्थान्तरं तदा तद्वाच्यं व्यापारान्तरेण स्यात्। तत्तु भावनेत्यपरापरभाव्यभावनापरिकल्पनायामनवस्थाप्रसङ्गः। अथ वाक्यात्तद्व्यापारः कथञ्चिदनर्थान्तरम् विष्वग्भावेनानुपलभ्यमानत्वात् कुण्डादेर्बदरादिवत्। कथञ्चिदर्थान्तरं च विरुद्धधर्माध्यासात्, तदनुत्पादेऽप्युत्पादात्तदविनाशेऽपि च विनाशादाकाशादन्धकारवदिति मतम्। तदाप्युभयदोषानुषङ्गः। स्यान्मतम्, अग्निष्टोमादिवाक्यमुपलभ्यमानं पुरुषव्यापारस्य साधकमिदमित्यनुभवाद्वाक्यस्थ एव तद्व्यापारो भावना वाक्यस्य विषयतां समश्नुति, तथा प्रतीतेः। अन्यथा सर्वत्र विषयविषयिभावसंभावनाविरोधात्। संवेदनमपि हि भवतां स्वव्यापारं विषयीकुर्वन् तदनर्थान्तरभूतमर्थान्तरभूतं कथञ्चिदुभयस्वभावं वा संवेदयेत्, गत्यन्तराभावात्। प्रथमपक्षे न संवेद्यसंवेदकभावः, संवेदनतद्व्यापारयोः सर्वथानर्थान्तरत्वाद्वाक्यतद्व्यापारयोः

प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाववत्। द्वितीयपक्षेऽपि न तयोस्तद्भावः अनवस्थानुषङ्गात्तद्वत्। तृतीयपक्षे तु तदुभयदोषप्रसक्तेस्तद्वदेव कुतः संवेद्यसंवेदकभावः सिध्येत् अथ स्वार्थसंवेदनव्यापारविशिष्टं संवेदनमबाधमनुभूयमानं विकल्पशतेनाप्यशक्यनिराकरणं संवेद्यसंवेदकभावं साधयतीत्यभिधाने परस्यापि शब्दः स्वव्यापारविशिष्टः पुरुषव्यापारं भावयतीत्यबाधप्रतीतिसद्भावाद्वाक्यव्यापारो भावना वाक्यस्य विषयो व्यवतिष्ठते एवेति। तदनुपपन्नम्, वैषम्यात्। संवेदनेन हि संवेद्यमानः स्वात्माऽर्थो वा तस्य विषयो न पुनः संवेदकः स्वात्मा तत्संवेद्यत्वेऽन्यस्य संवेदनस्यात्मनः संवेदकत्वोपपत्तेराकाङ्क्षापरिक्षयादनवस्थानवतारात्। वाक्येन तु भाव्यमानः पुरुषव्यापारो न तस्य विषयः। स्वव्यापारस्तु भावकत्वलक्षणो भावनाख्यो विषयोभ्युपगम्यते इति मनागपि न साम्यम्, तथाप्रतीत्यभावाच्च। न हि कश्चिद्वाक्यश्रवणादेवं प्रत्येति स्वव्यापारोनेन वाक्येन मम प्रतिपादित इति। किं तर्हि ? जात्यादिविशिष्टोर्थः क्रियाख्योनेन प्रकाशित इति प्रतीतिः, सर्वेण वाक्येन क्रियाया एव कर्मादिविशेषणविशिष्टायाः प्रकाशनात्। देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेनेत्यादिवत्। सैवाभ्याजनादिव्यवच्छिन्ना क्रिया भावना, अभ्याज अभ्याजनं कुर्विति प्रतीतिरिति चेन्न, तस्याः पुरुषस्थत्वेन सम्प्रत्ययाच्छब्दात्मभावनारूपत्वायोगात्। तथा च कथमिदमवतिष्ठते, "शब्दात्मभावनामाहु–रन्यामेव लिङादय" इति। यदप्युक्तम्, अर्थभावना पुरुषव्यापारलक्षणा वाक्यार्थ इति तदप्ययुक्तम्, नियोगस्य वाक्यार्थत्वप्रसङ्गात्। नियुक्तोऽहमनेन वाक्येन यागादाविति

प्रतिपत्तुः प्रतीतेः । इष्टस्तादृशो नियोगो भावनास्वभावः शुद्धकार्यादिरूपस्यैव नियोगस्य निराकरणादिति चेत्, न, तस्यापि प्रधानभावार्पितस्य करोत्यर्थादिविशेषणस्य वाक्यार्थत्वोपपत्तेः । निरपेक्षस्य तु करोत्यर्थस्यापि वाक्यार्थत्वानुपपत्तेः । न च करोत्यर्थ एव वाक्यार्थ इति युक्तम्, यज्याद्यर्थस्यापि वाक्यार्थतयानुभवात् । करोतिसामान्यस्य सकलयज्यादिक्रियाविशेषव्यापिनो नित्यत्वाच्छब्दार्थत्वम्, "नित्याः शब्दार्थसम्बन्धा" इति वचनात्। न पुनर्यज्यादिक्रियाविशेषास्तेषामनित्यत्वाच्छब्दार्थत्वाऽवेदनात्। इति चेत्, न, यज्यादिक्रियासामान्यस्य सकलयज्यादिक्रियाविशेषव्यापिनो नित्यत्वाच्छब्दार्थत्वाविरोधात्, सर्वक्रियाव्यापित्वात्करोतिसामान्यं शब्दार्थ इति चेत्, तर्हि सत्तासामान्यं शब्दार्थोस्तु, करोतावपि तस्य सद्भावात्। महाक्रियासामान्यव्यवस्थितिरूपत्वात्। यथैव हि पचति पाकं करोति, यजते यागं करोतीति प्रतीतिस्तथा पचति पाचको भवति, यजते याजको भवति, करोतीति कारको भवतीत्यपि प्रत्ययोस्ति । ततः करोतीतरार्थव्यापित्वाद्भवत्यर्थस्यैव शब्दार्थत्वं युक्तमुत्पश्यामः। स्यान्मतं "निर्व्यापारेपि वस्तुनि भवत्यर्थस्य प्रतीतेर्न क्रियास्वभावत्वं, निष्क्रियेषु गुणादिषु भवनाऽभावप्रसङ्गात्" इति चेत्, न, करोत्यर्थेपि समानत्वात् । परिस्पन्दात्मकव्यापाररहितेपि करोत्यर्थस्य भावात्, तिष्ठति स्थानं करोतीति प्रतीतेः, गुणादिषु च करोत्यर्थाभावे सर्वथा कारकत्वायोगादवस्तुत्वप्रसक्तेः । तत एव करोत्यर्थो व्यापकः, सति सर्वत्र भावात्। अन्यथा तस्याऽकारकत्वेनावस्तुत्त्वात् सत्त्वविरोधात्। भवनक्रियेत्या-

दिव्यवहारदर्शनाच्च सत्ता करोत्यर्थविशेषणमेव। करोत्यर्थस्यैव सर्वत्र प्राधान्याद्वाक्यार्थत्वम्। इति चेत्, न, तस्य नित्यस्यैकस्यानंशस्य सर्वगतस्य सर्वथा विचार्यमाणस्यासम्भवात्। नित्यं करोत्यर्थसामान्यं प्रत्यभिज्ञायमानत्वाच्छब्दवदिति चेत्, न, हेतोर्विरुद्धत्वात्, कथञ्चिन्नित्यस्येष्टविरुद्धस्य साधनात्, सर्वथा नित्यस्य प्रत्यभिज्ञानायोगात्, तदेवेदमिति पूर्वोत्तरपर्यायव्यापिन्येकत्र प्रत्ययस्योत्पत्तेः, पौर्वापर्यरहितस्य पूर्वापरप्रत्ययविषयत्वासम्भवात्। धर्मावेव पूर्वापरभूतौ, न धर्मसामान्यमिति चेत्, कथं तदेवेदमित्यभेदप्रतीतिः ? पूर्वापरस्वरूपयोरतीतवर्त्तमानयोस्तदित्यतीतपरामर्शिना स्मरणेनेदमिति वर्त्तमानोल्लेखिना प्रत्यक्षेण च विषयीक्रियमाणयोः परस्परं भेदात्। करोतिसामान्यादेकस्मात्तयोः कथञ्चिद्भेदाभेदप्रतीतिरिति चेत्, सिद्धं तस्य कथञ्चिदनित्यत्वम्, अनित्यस्वधर्माव्यतिरेकात्। न ह्यनित्यादभिन्नं नित्यमेव युक्तमनित्यस्वात्मवत्, सर्वथा नित्यस्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधाच्च। तदनित्यं सामान्यं, विशेषादेशाच्छब्दवत्। तत एवानेकं तद्वत्। करोतीति स्वप्रत्ययाविशेषादेकं करोतिसामान्यं सदिति स्वप्रत्ययाविशेषादेकसत्तासामान्यवदिति चेन्न, सर्वथा स्वप्रत्ययाविशेषस्यासिद्धत्वात्। प्रतिकरोत्यर्थव्यक्तिकरोतीति प्रत्ययस्य विशेषात् प्रतिसद्व्यक्ति सदितिप्रत्ययवत्। तद्व्यक्तिविषयो विशेषप्रत्यय इति चेत्, तर्हि ता व्यक्तयः सामान्यात्सर्वथा यदि भिन्नाः प्रतिपाद्यन्ते तदा यौगमतप्रवेशो मीमांसकस्य। अथ कथञ्चिदभिन्नास्तदा सिद्धं सामान्यस्य विशेषप्रत्ययविषयत्वं विशेषप्रत्ययविषयेभ्यो विशेषेभ्यः कथञ्चिदभि-

न्नस्य सामान्यस्य विशेषप्रत्ययविषयत्वोपपत्तेर्विशेषस्वात्मवत्। ततोऽनेकमेव करोतिसामान्यं सत्तासामान्यवत्। नाप्यनंशं, कथञ्चित्सांशत्वप्रतीतेः, सांशेभ्यो विशेषेभ्योनर्थान्तरभूतस्य सांशत्वोपपत्तेस्तत्स्वात्मवत्। तथा न सर्वगतं तत्सामान्यं, व्यक्त्यन्तरालेऽनुपलभ्यमानत्वात्। तत्रानभिव्यक्तत्वात्तस्यानुपलम्भ इति चेत्, तत एव व्यक्तिस्वात्मनोपि तत्रानुपलम्भोस्तु। तस्य तत्र सद्भावावेदकप्रमाणाभावादसत्त्वादेवानुपलम्भ इति चेत्, सामान्यस्यापि विशेषाभावादसत्त्वादेवानुपलम्भोस्तु, व्यक्त्यन्तराले तस्यापि सद्भावावेदकप्रमाणाभावात् प्रत्यक्षतस्तथाननुभवात् खरविषाणादिवत्। व्यक्त्यन्तरालेऽस्ति सामान्यं, युगपद्भिन्नदेशस्वाधारवृत्तित्वे सत्येकत्वाद्वंशादिवदित्यनुमानात्तत्र तत्सद्भावसिद्धिरिति चेत्, न, हेतोः प्रतिवाद्यसिद्धत्वात्। न हि भिन्नदेशासु व्यक्तिषु सामान्यमेकं यथा स्थूणादिषु वंशादिरिति प्रतीयते, यतो युगपद्भिन्नदेशस्वाधारवृत्तित्वे सत्येकत्वं तस्य सिध्यत् स्वाधारान्तरालेऽस्तित्वं साधयेत्, प्रतिव्यक्ति सदृशपरिणामलक्षणस्य सामान्यस्य भेदाद्विसदृशपरिणामलक्षणविशेषवत्। यथैव हि काचिद्व्यक्तिरुपलभ्यमाना व्यक्त्यन्तराद्विशिष्टा विसदृशपरिणामदर्शनादवतिष्ठते तथा सदृशपरिणामदर्शनात्किञ्चित्केनचित्समानमवसीयते इति निर्बाधमेव, तेनायं समानः सोऽनेन समान इति समानप्रत्ययात्। ननु पूर्वमननुभूतव्यक्त्यन्तरस्यैकव्यक्तिदर्शने समानप्रत्ययः कस्मान्न भवति?, तत्र सदृशपरिणामस्य भावादिति चेत्, तवापि विशिष्टप्रतीतिः कस्मान्न भवति? वैसादृश्यस्य भावात्। परापेक्षत्वाद्विशिष्टप्रतीतेरिति चेत्, तत एव तत्र समान-

प्रत्ययोपि मा भूत्। न हि स परापेक्षो न भवति, परापेक्षामन्तरेण क्वचित्कदाचिदप्यभावाद् द्वित्वादिप्रत्ययवद्दूरत्वादिप्रत्ययवद्वा। द्विविधो हि वस्तुधर्मः परापेक्षः परानपेक्षश्च वर्णादिवत् स्थौल्यादिवच्च। ननु च सादृश्ये सामान्ये स एवायं गौरिति प्रत्ययः कथं शवलं दृष्ट्वा धवलं पश्यतो घटेतेति चेत्, एकत्वोपचारादिति ब्रूमः। द्विविधं ह्येकत्वं मुख्यमुपचरितं चेति। मुख्यमात्मादिद्रव्ये। सादृश्ये तूपचरितमिति। मुख्ये तु तत्रैकत्वे तेन समानोयमिति प्रत्ययः कथमुपपद्येत? तयोरेकसामान्ययोगादिति चेत्, न, सामान्यवन्तावेताविति प्रत्ययप्रसङ्गात्। अभेदोपचारे तु सामान्यतद्वतोः सामान्यमिति प्रत्ययः स्यात्। न तेन समानोयमिति। यष्टिसहचरितः पुरुषो यष्टिरिति यथा, यष्टिपुरुषयोरभेदोपचारात्। मृन्मये गवि सत्यगवयसदृशे गोसादृश्यस्य सामान्यस्य भावाद्गोत्वजातिप्रसङ्ग इति चेत्, न, सत्यगवयव्यवहारहेतोः सादृश्यस्य तत्राभावात् तद्भावे तस्य सत्यत्वप्रसङ्गात्। भावगवादिभिः स्थापनागवादेः सादृश्यमात्रं तु गवादिमात्रव्यवहारकारणं तदेकजातित्वनिबन्धनमनुरुध्यते एव सत्त्वादिसादृश्यवत्। ततो न मीमांसकाभ्युपगतस्वभावं करोतिसामान्यमुपपद्यते यत्सकलयज्यादिक्रियाविशेषव्यापिकर्तृव्यापाररूपभावनाख्यां प्रतिपद्यमानं वाक्येन विषयीक्रियेत। प्रतिनियतक्रियागतस्य तु करोतिसामान्यस्य शब्दविषयत्वे यज्यादिसामान्यस्य कथं तद्विनिवार्येत; येन तदपि वाक्यार्थो न स्यात्। तदेवं भावना वाक्यार्थसम्प्रदायो न श्रेयान्, बाधकसद्भावान्नियोगादिवाक्यार्थसम्प्रदायवत्। इति श्रुतिसम्प्रदायावलम्बिनां मतेऽत एव न

कश्चित्सर्वज्ञ इत्ययुक्तं, श्रुतेरविशेषादप्रमाणतापत्तेः। इति सूक्तं " यथैव हि सुगतादयः परस्परविरुद्धक्षणिकनित्याद्येकान्तसमयाभिधायिनः सर्वे न सर्वदर्शिन इति न कश्चित्सर्वज्ञस्तथा श्रुतयोपि परस्परविरुद्धकार्यार्थस्वरूपाद्यर्थाभिधायिन्यः सर्वा न प्रमाणभूताः " इति न काचिदपि श्रुतिः प्रमाणं स्यात्। न हि कार्येऽर्थे श्रुतिरपौरुषेयी, न पुनः स्वरूपे, येनापौरुषेयत्वात्तदन्यतरश्रुतिजनितमेव ज्ञानं प्रमाणं दोषवर्जितैः कारणैर्जनितत्वादुपपद्येत। बाधवर्जितत्वं तु नैकत्राप्यस्ति हिंसाद्यभिधायिनः " श्वेतमजमालभेत भूतिकामः " इत्यादेः " सधनं हन्यात् " इत्यादेरिव धर्मे प्रमाणत्वानुपपत्तेः, पुरुषाद्वैताभिधायिनश्च " सर्वं खल्विदं ब्रह्म " इत्यादेः " सर्वं प्रधानमेव " इत्यादेरिव स्वविषये प्रमाणत्वायोगात्। अपूर्वार्थत्वं पुनः सर्वस्याः श्रुतेरविशिष्टं, प्रमाणान्तराप्रतिपन्ने धर्मादौ परब्रह्मादौ च प्रवृत्तेः। न च काचिच्छ्रुतिः स्वयं स्वार्थं प्रतिपादयत्यन्यव्यवच्छेदेन कार्ये एवार्थे अहं प्रमाणं न स्वरूपे; स्वरूपे एव वा न कार्येऽर्थे सर्वथेत्यविशेषः सिद्धः। ननु च " पदानि तावल्लोके येष्वर्थेषु प्रसिद्धानि तेष्वेव वेदे, तेषामध्याहारादिभिरर्थस्यापरिकल्पनीयत्वादपरिभाषितव्यत्वाच्च। सति सम्भवे लौकिकपदार्थज्ञश्च विद्वानश्रुतपूर्वं काव्यादिवाक्यार्थमवबुध्यमानो दृष्टः। तद्वच्छ्रुतिवाक्यार्थमपि कश्चित्स्वयमेवाश्रुतपूर्वमवबोद्धुमर्हतीति युक्तं श्रुतेः स्वयमेवान्यव्यवच्छेदेन स्वार्थप्रतिपादनम् " इति कश्चित्, सोपि न परीक्षाचतुरः, सर्वस्याः श्रुतेस्तथाभावाविशेषात्। न च भावनैव नियोग एव वा लौकिकवाक्यस्यार्थः शक्यः प्रतिष्ठापयितुं, येन वैदिकवाक्यस्यापि स एवार्थः

स्यात्। नापि सन्मात्रविधिरेव कस्यचिद् वाक्यस्यार्थः शक्यप्रतिष्ठो, येन श्रुतिवाक्यस्यापि स एवार्थोऽन्ययोगव्यवच्छेदेन स्यात्, तत्रानेकबाधकोपन्यासात्। ततः सुगतादिवच्छ्रुतयोपि न प्रमाणमित्यायातम्। तथेष्टत्वाददोष इत्येकेषामप्रमाणिकैवेष्टिः। न कश्चित्तीर्थंकरः प्रमाणं, नापि समयो वेदोऽन्यो वा तर्कः, परस्परविरोधात्। "तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्। धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः॥१॥" इति वचनात्। कश्चिद् देवतारूपो गुरुर्बृहस्पतिर्भवेत् संवादकः, प्रत्यक्षसिद्धपृथिव्यादितत्त्वोपदेशात्। इति प्रत्यक्षमेकमिच्छन्ति ये, तेषां लौकायतिकानामिष्टिरप्रमाणिकैव, प्रत्यक्षतस्तद्व्यवस्थापनासम्भवात्। न खलु प्रत्यक्षं सर्वज्ञप्रमाणान्तराभावविषयम्, अतिप्रसङ्गात्। सर्वज्ञस्य हि मुनेः प्रमाणान्तरस्य च वेदाद्यागमस्यानुमानस्य च तर्काख्यस्याभावं यदि किञ्चिद्व्यवस्थापयेत्, तत्राप्रवर्त्तमानत्वात्, तदा पुरुषान्तरादिप्रत्यक्षान्तराणामप्यभावं तदेव गमयेत् तद्विषयाणां च क्ष्मादीनाम्। इत्यतिप्रसङ्गः स्वयमिष्टस्य बृहस्पत्यादिप्रत्यक्षस्यापि, विषयस्याभावसिद्धेः। अथ प्रत्यक्षान्तरं स्वयमात्मानं व्यवस्थापयति पृथिव्यादिस्वविषयं च, तत्र प्रवर्त्तनात्। अतो न तदभावप्रसङ्ग इति मतं तर्हि सर्वज्ञोपि स्वसंवेदनादात्मानं स्वर्गापूर्वादिविषयं च व्यवस्थापयतीति कथं तदभावसिद्धिः? प्रमाणान्तरस्य च तद्वचनस्य हेतुवादरूपस्याहेतुवादरूपस्य च स एव व्यवस्थापकः स्यादिति कुतस्तदभावसिद्धिः? सर्वज्ञः स्वपरव्यवस्थापकोस्तीत्यत्र किं प्रमाणमिति चेत्, स्वप्रत्यक्षैकप्रमाणवादिनः प्रत्यक्षान्तरं स्वपरविषयमस्तीत्यत्र

किं प्रमाणम् ? तथा प्रसिद्धिरन्यत्रापीति न प्रत्यक्षं तदभावावेदकम्, अतिप्रसङ्गस्य दुष्परिहारत्वात्। नानुमानम्, असिद्धेः। प्रत्यक्षमेकमेव प्रमाणम्, अगौणत्वात्प्रमाणस्य अनुमानादर्थनिश्चयो दुर्लभः, सामान्ये सिद्धसाधनाद् विशेषेऽनुगमाभावात् सर्वत्र विरुद्धाव्यभिचारिणः संभवात्। इति स्वयमनुमानं निराकुर्वन्ननुमानादेव सर्वज्ञप्रमाणान्तराभावं व्यवस्थापयतीति कथमनुन्मत्तः ? प्रतिपत्तुः प्रसिद्धं हि प्रमाणं स्वप्रमेयस्य निश्चायकं, नाप्रसिद्धम्, अतिप्रसङ्गादेव। परप्रसिद्धमनुमानं सर्वज्ञप्रमाणान्तराभावग्राहकमिति चेत्, तत् परस्य प्रमाणतः सिद्धं प्रमाणमन्तरेण वा ? यदि प्रमाणतः सिद्धं नाऽनात्मसिद्धं नाम, परस्येवात्मनोपि वादिनः सिद्धत्वात् प्रमाणसिद्धस्य सर्वेषामविप्रतिपत्तिविषयत्वाद्, अन्यथातिप्रसङ्गात्, प्रत्यक्षस्यापि प्रमाणसिद्धस्य विप्रतिपत्तिविषयत्वापत्तेरनात्मसिद्धत्वप्रसङ्गात्। ततो यत्परस्य प्रमाणतः सिद्धं तच्चार्वाकस्यात्मसिद्धम्। यथा प्रत्यक्षम्। प्रमाणसिद्धं च परस्यानुमानम्। तस्मान्नानात्मसिद्धम्। अन्यथा परस्यापि न सिद्ध्येत्, अतिप्रसङ्गादेव। तथा हि, यत् प्रमाणमन्तरेण सिद्धं तत्परस्यापि न सिद्धम्। यथा तदनभिमततत्त्वम्। प्रमाणमन्तरेण सिद्धं च परस्यानुमानम्। तन्न सिद्धं स्वयमनभिमततत्त्वसिद्धिप्रसङ्गात्। तदिमे स्वयमेकेन प्रमाणेन सर्वं सर्वज्ञरहितं पुरुषसमूहं संविदन्त एवात्मानं निरस्यन्तीति व्याहतमेतत्, अतिप्रसङ्गादेव। स्वयमनिष्टं ह्यतीन्द्रियप्रत्यक्षमेषां स्यात्, इन्द्रियप्रत्यक्षेण सर्वज्ञरहितस्य पुरुषसमूहस्य संवेदनानुपपत्तेः प्रमाणान्तराभावस्यैव प्रमाणान्तरमन्तरेण। इति

सर्वत्र सर्वदा सर्वस्य सर्वज्ञत्वाभावं प्रत्यक्षतः संविदन् स्वयं सर्वज्ञः स्यात्। तथा सति व्याहतमेतत् सर्वज्ञप्रमाणान्तराभाववचनं चार्वाकस्य। प्रत्यक्षैकप्रमाणैपणं वा व्याहतमस्य देशकालनरान्तरप्रत्यक्षाणां स्वयं प्रत्यक्षतः प्रामाण्यस्य साधने सर्वसाक्षात्कारित्वप्रसङ्गात्, संवादकत्वादिलिङ्गजनितानुमानात्तत्साधने अनुमानप्रामाण्यसिद्धिप्रसक्तेः परस्य प्रसिद्धेनानुमानेन तत्प्रमाणताव्यवस्थापने स्वस्यापि तत्सिद्धेरनिवार्यत्वात्। अन्यथा परस्यापि तदप्रसिद्धेः कुतः प्रत्यक्षमेकमेव प्रमाणं न पुनरन्यदिति व्यवस्था स्यात्?॥

तथेष्टत्वाददोप इत्येकेषामप्रमाणिकैवेष्टिः। एक हि तत्त्वोपप्लववादिनः सर्व प्रत्यक्षादिप्रमाणतत्त्वं प्रमेयतत्त्वं चोपप्लुतमेवेच्छन्ति। तेपां प्रमाणरहितैव तथेष्टिः सर्वमनुपप्लुतमेवेतीष्टेर्न विशिष्यते। न खलु प्रत्यक्षं सर्वज्ञप्रमाणान्तराभावविपयम्, अतिप्रसङ्गात्। नानुमानम्, असिद्धेः। सर्व हि प्रत्यक्षमनुमेयमत्यन्तपरोक्षं च वस्तु जानन्तीति सर्वज्ञानि प्रमाणान्तराणि प्रत्यक्षानुमानागमप्रमाणविशेपाः। तेपामभावं स्वयमसिद्धं प्रत्यक्षमनुमानं वा कथं व्यवस्थापयेद्यतस्तद्विपयं स्यात्? तथा सति सर्व प्रमाणं सर्वस्य स्वेष्टतत्त्वविपयं भवेदिति कुतस्तत्त्वोपप्लवः? परस्य सिद्धं प्रमाणं तदभावविपयमिति चेत्, तत् परस्य प्रमाणतः सिद्धं प्रमाणमन्तरेण वा?, यदि प्रमाणतः सिद्धं नानात्मसिद्धं नाम, प्रमाणसिद्धस्यानानात्मनां वादिप्रतिवादिनां सिद्धत्वाविशेपात्। अन्यथा परस्यापि न सिद्ध्येत्, प्रमाणमन्तरेण सिद्धस्यासिद्धत्वाविशेपात्। तदिमे तत्त्वोपप्लववादिनः स्वयमेकेन केनचिदपि प्रमाणेन स्वप्रसिद्धेन वा सकल-

तत्त्वपरिच्छेदकप्रमाणविशेषरहितं सर्वं पुरुषसमूहं संविदन्त एवात्मानं निरस्यन्तीति व्याहतमेतत्, तथा तत्त्वोपप्लववादित्वव्याघातात्। ननु चानुपप्लुततत्त्ववादिनोपि प्रमाणतत्त्वं प्रमेयतत्त्वं च प्रमाणतः सिद्ध्येत् प्रमाणमन्तरेण वा ? प्रमाणतश्चेत्तदपि प्रमाणान्तरतः सिद्ध्येदित्यनवस्थानात्कुतः प्रमाणतत्त्वव्यवस्था ? यदि पुनः प्रथमं प्रमाणं द्वितीयस्य व्यवस्थापकं द्वितीयं तु प्रथमस्येष्यते तदेतरेतराश्रयणान्नैकस्यापि व्यवस्था। स्वतः प्रमाणस्य प्रामाण्यव्यवस्थितेरयमदोष इति चेत्, न, सर्वप्रवादिनां तत्र विप्रतिपत्त्यभावप्रसङ्गात्। कुतश्चित्प्रमाणात्तद्विप्रतिपत्तिनिराकरणे तत्रापि प्रमाणान्तराद् विप्रतिपत्तिनिराकरणेन भाव्यमित्यनवस्थानमप्रतिहतप्रसरमेव। परस्परं विप्रतिपत्तिनिराकरणे चान्योन्यसंश्रयणं दुरुत्तरम्। प्रमाणमन्तरेण तु प्रमाणादितत्त्वं यदि सिद्ध्येत्तदा तदुपप्लवव्यवस्थापि तथा दुःशक्या निराकर्त्तुम्। स्यान्मतम्। "विचारोत्तरकालं प्रमाणादितत्त्वव्यवस्थितिः। विचारस्तु यथाकथञ्चित्क्रियमाणो नोपालम्भार्हः, सर्वथा वचनाभावप्रसङ्गात्" इति। एवं तर्हि तत्त्वोपप्लववादिनामपि विचारादुत्तरकालं तत्त्वोपप्लवव्यवस्था तथैवास्तु सर्वथा विशेषाभावात्। एवं च तत्र प्रमाणतत्त्वमेव तावद्विचार्यते, कथं प्रमाणस्य प्रामाण्यम् ? किमदुष्टकारकसन्दोहोत्पाद्यत्वेन, बाधारहितत्त्वेन, प्रवृत्तिसामर्थ्येनान्यथा वा ? यद्यदुष्टकारकसन्दोहोत्पाद्यत्वेन तदा सैव कारकाणामदुष्टता कुतोवसीयते ? न तावत्प्रत्यक्षान्नयनकुशलादेः संवेदनकारणस्यातीन्द्रियस्यादुष्टतायाः प्रत्यक्षीकर्त्तुमशक्तेः। नानुमानात्, तदविनाभाविलिङ्गाभावात्। विज्ञानं तत्कार्यं

लिङ्गमिति चेत्, न, विज्ञानसामान्यस्य तदव्यभिचारित्वाभावात्। प्रमाणभूतं विज्ञानं तल्लिङ्गमिति चेत् कुतस्तस्य प्रमाणभूततावसायः ? तददुष्टकारणारब्धत्वादिति चेत्, सोयमन्योन्याश्रयः। सिद्धे विज्ञानस्य प्रमाणभूतत्वे निर्दोषकारणारब्धत्वसिद्धिस्तत्सिद्धौ च प्रमाणभूतत्वसिद्धिरिति। किञ्च चक्षुरादिकारणानां गुणदोषाश्रयत्वे तदुपजनितसंवेदने दोषाशङ्कानिवृत्तिर्न स्यात् गुणदोषाश्रयपुरुषवचनजनितवेदनवत्। गुणाश्रयतयैव तन्निश्चये तदुत्थविज्ञाने दोषाशङ्कानिवृत्तौ पुंसोपि कस्यचिद्गुणाश्रयत्वेनैव निर्णये तद्वचनजनितवेदने दोषाशङ्कानिवृत्तेः किमपौरुषेयशब्दसमर्थनायासेन ? अथ पुरुषस्य गुणाधिकरणत्वमेवाशक्यनिश्चयं, परचेतोवृत्तीनां दुरन्वयत्वात् तद्व्यापारादेः साङ्कर्यदर्शनात्, निर्गुणस्यापि गुणवत इव व्यापारादिसंभवादुपवर्ण्यते तर्हि चक्षुरादीनामप्यतीन्द्रियत्वात्तत्कार्यसाङ्कर्योपलब्धेः कुतो गुणाश्रयत्वनियमनिश्चयः शक्यः कर्त्तुम् ? कस्यचिदपौरुषेयस्यापि च ग्रहोपरागादेः शुक्लवस्त्रादौ पीतज्ञानहेतोरुपलक्षणाद्वेदस्यापौरुषेयस्यापि मिथ्याज्ञानहेतुत्वसंभावनायां कथमिव निःशङ्कं याज्ञिकानां तज्जनितवेदने प्रामाण्यनिश्चयः ? ततो नादुष्टकारकजन्यत्वेन कस्यचित्प्रमाणता। नापि बाधानुत्पत्त्या, मिथ्याज्ञानेपि स्वकारणवैकल्याद्बाधकस्यानुत्पत्तिसंभवात् प्रमाणत्वप्रसक्तेः। अथ यथार्थग्रहणनिबन्धना बाधानुत्पत्तिरप्रमाणाऽसंभविनी प्रमाणत्वसाधिनीति मतं, कुतस्तस्याः सत्यार्थग्रहणनिबन्धनत्वनिश्चयः ? संविदः प्रमाणत्वनिश्चयादिति चेत् परस्पराश्रयः। सति प्रमाणत्वनिश्चये संवेदनस्य यथार्थग्रहणनिबन्धनबाधानुत्पत्तिनिर्णयस्तस्मिँश्च

सति प्रमाणत्वनिश्चय इति । अन्यतः प्रमाणत्वनिश्चये किमेतया बाधानुत्पत्त्या ? न च बाधानुत्पत्तेर्यथार्थग्रहणनिबन्धनत्वं स्वत एव निश्चीयते सन्देहाभावप्रसङ्गात् । दृश्यते च सन्देहः, किं यथार्थग्रहणान्नोत्र बाधानुत्पत्तिराहोस्वित्स्वकारणवैकल्यादित्युभयसंस्पर्शिप्रत्ययोत्पत्तेः क्वचिद्दूरे मरीचिकायां जलज्ञाने स्वकारणवैकल्याद्बाधकप्रत्ययानुत्पत्तिप्रसिद्धेरभ्यासदेशे तत्कारणसाकल्याद्बाधकज्ञानोत्पादात् । किञ्चार्थसंवेदनानन्तरमेव बाधानुत्पत्तिस्तत्प्रामाण्यं व्यवस्थापयेत् सर्वदा वा ? न तावत्प्रथमविकल्पः संभवति, मिथ्याज्ञानेपि क्वचिदनन्तरं बाधानुत्पत्तिदर्शनात् । सर्वदा बाधानुत्पत्तेः संविदि प्रामाण्यनिश्चयश्चेत्, न, तस्याः प्रत्येतुमशक्यत्वात्, संवत्सरादिविकल्पेनापि बाधोत्पत्तिदर्शनात् । चिरतरकालं बाधस्यानुत्पत्तावपि स्वकारणवैकल्यात् कालान्तरेप्यसौ नोत्पत्स्यते इति कुतो निश्चयनीयः ? क्वचित्तु मिथ्याज्ञाने तज्जन्मन्यपि बाधा नोपजायते, स्वहेतुवैकल्यात् । न चैतावता तत्प्रामाण्यम् । किञ्च क्वचिद्देशे स्थितस्य बाधानुत्पत्तिः प्रतिपत्तुः सर्वत्र वार्थसंविदि प्रामाण्यहेतुः ? न तावत्प्रथमः पक्षः, कस्यचिन्मिथ्यावबोधस्यापि प्रमाणत्वापत्तेः । नापि द्वितीयः, कस्यचिद्दूरे स्थितस्य बाधानुत्पत्तावपि समीपे बाधोत्पत्तिप्रतीतेः सर्वत्र बाधास्थितस्य बाधानुत्पत्तिसन्देहात् । समीपे बाधानुत्पतावपि दूरे बाधोत्पत्तिसंभावनाच्च । किञ्च कस्यचिद्बाधानुत्पत्तिः सर्वस्य वा ? न तावत् कस्यचिद्बाधानुत्पत्तिः संविदि प्रामाण्यहेतुः, विपर्ययेपि भावात् । मरीचिकादौ तोयज्ञाने देशान्तरगमनादिना बाधानुत्पत्तावपि प्रमाणत्वाभावात् । सर्वस्य बाधानुत्पत्ति-

र्थसंवेदने प्रामाण्यकारणमिति चेत्, न, तस्याः किञ्चिज्ज्ञैर्ज्ञातुमशक्तेः, शक्तौ वा तस्य सर्वज्ञत्वापत्तेरसर्वज्ञव्यवहाराभावप्रसङ्गात् सर्वदेशकालपुरुषापेक्षया बाधकाभावनिर्णयस्यान्यथानुपपत्तेः। इति न बाधारहितत्वेन संवेदनस्य प्रामाण्यम्। नापि प्रवृत्तिसामर्थ्येन, अनवस्थाप्रसक्तेः। प्रवृत्तिसामर्थ्यं हि फलेनाभिसम्बन्धः सजातीयज्ञानोत्पत्तिर्वा? यदि फलेनाभिसम्बन्धः सोवगतोनवगतो वा संविदः प्रामाण्यं गमयेत्? न तावदनवगतः, अतिप्रसङ्गात्। सोवगतश्चेत् तत एव प्रमाणादन्यतो वा? न तावत्तत एव, परस्पराश्रयानुषङ्गात्। सति फलेनाभिसम्बन्धस्यावगमे तस्य प्रमाणत्वनिश्चयात् तस्मिँश्च सति तेन तदवगमात्। अन्यतः प्रमाणात्सोवगत इति चेत्तदन्यत्प्रमाणं कुतः प्रामाण्यव्यवस्थामास्तिघ्नुते? प्रवृत्तिसामर्थ्यादिति चेत् तदपि प्रवृत्तिसामर्थ्यं यदि फलेनाभिसम्बन्धस्तदावगतोऽनवगतो वा संविदः प्रामाण्यं गमयेदित्यादि पुनरावर्त्तत इति चक्रकप्रसङ्गः। एतेन सजातीयज्ञानोत्पत्तिः प्रवृत्तिसामर्थ्यं संवित्प्रामाण्यस्यागमकं प्रतिपादितं, सजातीयज्ञानस्य प्रथमज्ञानात्प्रामाण्यनिश्चये परस्पराश्रयस्याविशेषात्, प्रमाणान्तरात्तत्प्रामाण्यनिर्णयेनवस्थानुषङ्गात्। प्रवृत्तिश्च प्रतिपत्तुः प्रमेयदेशोपसर्पणं प्रमेयस्य प्रतिपत्तौ स्यादप्रतिपत्तौ वा? न तावदप्रतिपत्तौ, सर्वत्र सर्वस्य प्रवृत्तिप्रसङ्गात्। तत्प्रतिपत्तौ चेत्, निश्चितप्रामाण्यात् संवेदनात्तत्प्रतिपत्तिरनिश्चितप्रामाण्याद्वा? प्रथमपक्षे परस्पराश्रयणमेव, सति प्रवर्त्तकस्य संवेदनस्य प्रामाण्यनिश्चये ततः प्रमेयप्रतिपत्तिः, सत्यां च प्रमेयप्रतिपत्तौ प्रवृत्तेः सामर्थ्यात्तत्प्रामाण्यनिश्चयात्। प्रमाणान्तरात्तत्प्रतिपत्तौ

प्रथमसंवेदनस्य वैयर्थ्यं, स एव च पर्यनुयोगोनवस्थापत्तिकरः। द्वितीयपक्षे तु प्रामाण्यनिश्चयानर्थक्यं, स्वयमनिश्चितप्रामाण्यादेव संवेदनात्प्रमेयप्रतिपत्तिप्रवृत्तिसिद्धेः। संशयात्प्रवृत्तिदर्शनाददोष इति चेत् किमर्थमिदानीं प्रमाणपरीक्षणम्? लोकवृत्तानुवादार्थमिति चेत्, तर्हि लोकवृत्तं कुतो निर्विवादं प्रसिद्धं यस्यानुवादार्थं प्रमाणशास्त्रप्रणयनम्? न तावत्स्वत एव, प्रमाणतोर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत्प्रमाणमिति परतः प्रामाण्यानुवादविरोधात्। स्वतः प्रसिद्धं हि प्रमाणप्रमेयरूपं लोकवृत्तं तथैवानुवदितुं युक्तं नान्यथा, अतिप्रसङ्गात्। यथानूद्यतेस्माभिस्तथैव लोकवृत्तं प्रसिद्धं स्वत इति चेत्, न, स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमित्यन्यैर्लोकवृत्तस्यानुवादात् तथैव प्रसिद्धिप्रसङ्गात्। स मिथ्यानुवाद इति चेत्, तवापि मिथ्यानुवादः कुतो न भवेत्? तथा लोकवृत्तस्य प्रसिद्धत्वादिति चेत्, परोप्येवं ब्रूयात्। तथैव लोकवृत्तस्य प्रसिद्धत्वे तथानुवादस्य सत्यत्वं तत्सत्यत्वाच्च तथैव लोकवृत्तस्य प्रसिद्धत्वमितीतरेतराश्रयत्वमप्युभयोः समानम्। तथा लोकवृत्तान्तरात्तस्य प्रसिद्धौ पुनरनवस्था दुर्निवारैव। इति न प्रवृत्तिसामर्थ्यात्संविदः प्रामाण्यनिश्चयानुवादो युक्तः। ततो न प्रवृत्तिसामर्थ्येन प्रामाण्यं व्यवतिष्ठते। नाप्यविसंवादित्वेन, तदविसंवादस्यार्थक्रियास्थितिलक्षणस्यानवगतस्य प्रामाण्यव्यवस्थाहेतुत्वायोगात्। तस्यावगतस्य तद्धेतुत्वे कुतस्तदवगमस्य प्रामाण्यम्? संवादान्तरादिति चेत्, न, तदवगमस्यापि संवादान्तरात्प्रामाण्यनिर्णयेनवस्थाप्रसङ्गात्। अथार्थक्रियास्थितिलक्षणाऽविसंवादज्ञानस्याभ्यासदशायां स्वतः प्रामाण्यसिद्धेरदोषः।

कोयमभ्यासो नाम ? भूयः संवेदने संवादानुभवनमिति चेत् तज्जातीयेऽतज्जातीये वा ? तत्रातज्जातीये न तावदेकत्र संवेदने भूयः संवादानुभवनं संभवति क्षणिकवादिनः। वस्तुत्वे वा तस्यापि क्षणिकत्वसिद्धेः कुतस्तदपेक्षया सोऽभ्यासः ? संतानस्यावस्तुत्वादपेक्षानुपपत्तेः। संतानापेक्षया संभवतीति चेत्, न, सन्तानस्याक्षणिकत्वे वा यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकमिति न सिद्ध्येत्। तज्जातीये भूयः संवादानुभवनमिति चेत्, न, जातिनिराकरणवादिनः क्वचित्तज्जातीयत्वानुपपत्तेः। अन्यापोहलक्षणया जात्या क्वचित्तज्जातीयत्वमुपपन्नमेवेति चेत्, न, अन्यापोहस्यावस्तुरूपत्वात्, तस्य वस्तुरूपत्वे वा जातित्वविरोधात् स्वलक्षणस्यासाधारणस्य वस्तुत्वोपगमात्। तदेवं सामान्यतः प्रमाणलक्षणानुपपत्तौ विशेषेणापि प्रत्यक्षादिप्रमाणानुपपत्तेर्न प्रमाणत्वं विचार्यमाणं व्यवतिष्ठते। तदव्यवस्थितौ कुतः प्रमेयतत्त्वव्यवस्थेति विचारात्तत्त्वोपप्लवव्यवस्थितिः। इत्येतदपि सर्वमसारं, तत्त्वोपप्लवस्यापि विचार्यमाणस्यैवमव्यवस्थितेरनुपप्लुततत्त्वसिद्धिनिराकरणायोगात्। अथ "तत्त्वोपप्लवः सर्वथा न विचार्यः, तस्योपप्लुतत्वादेव विचारासहत्वादन्यथानुपप्लुततत्त्वसिद्धिप्रसङ्गात्। केवलं तत्त्ववादिभिरभ्युपगतस्य प्रमाणप्रमेयतत्त्वस्य विचाराक्षमत्वात्तत्त्वोपप्लवसिद्धिः" इति मतं, तदपि फल्गुप्रायं, यथातत्त्वमविचारितत्वात्। न ह्यदुष्टकारकसन्दोहोत्पाद्यत्वेन संवेदनस्य प्रमाणत्वं स्याद्वादिभिर्व्यवस्थाप्यते, बाधारहितत्वमात्रेण वा। नापि प्रवृत्तिसामर्थ्येनान्यथा वा, प्रतिपादितदोषोपनिपातात्। किं तर्हि ? सुनिश्चितासम्भवद्बाधकत्वेन।

न चेदं स्वार्थव्यवसायात्मनो ज्ञानस्य दुरवबोधम्। सकलदेशकालपुरुषापेक्षया सुष्ठु निश्चितमसम्भवद्बाधकत्वं हि प्रमाणस्याभ्यस्तविषये स्वत एवावसीयते, स्वरूपवत्। अनभ्यस्तविषये तु परत इति नानवस्थेतरेतराश्रयदोषोपनिपातः। स्वार्थव्यवसायात्मकत्वमेव हि सुनिश्चितासम्भवद्बाधकत्वम्। तच्चाभ्यासदशायां न परतः प्रमाणात्साध्यते, येनानवस्था स्यात्, परस्पराश्रयो वा, तस्य स्वत एव सिद्धत्वात्। तथानभ्यासदशायामपि परतः स्वयंसिद्धप्रामाण्याद्वेदनात् पूर्वस्य तथाभावसिद्धेः कुतोनवस्थादिदोषावकाशः?, क्वचिदभ्यासानभ्यासौ तु प्रतिपत्तुरदृष्टविशेषवशाद्देशकालादिविशेषवशाच्च भवन्तौ सम्प्रतीतावेव, यथावरणक्षयोपशममात्मनः सकृदसकृद्वा स्वार्थसंवेदनेऽभ्यासोपपत्तेः। स्वार्थव्यवसायावरणोदये वाऽसंवेदने सकृत्संवेदने वा संवेदनपौनःपुन्येपि वाऽनभ्यासघटनात्। पूर्वापरं स्वभावत्यागोपादानान्वितस्वभावस्थितिलक्षणत्वेनात्मनः परिणामिनोभ्यासानभ्यासाविरोधात्। सर्वथा क्षणिकस्य नित्यस्य वा प्रतिपत्तुस्तदनुपपत्तेरभीष्टत्वात्। नन्विदं सुनिश्चितासम्भवद्बाधकत्वं संवेदनस्य कथमसर्वज्ञो ज्ञातुं समर्थ इति चेत्, सर्वत्र सर्वदा सर्वस्य सर्व संवेदनमसुनिश्चितासम्भवद्बाधकमित्यप्यसकलज्ञः कथं जानीयात्? तत एव संशयोस्त्विति चेत्, सोपि तथाभावेतरविषयः सर्वस्य सर्वदा सर्वत्रेति कथमसर्वज्ञः शक्तोवबोद्धुम्? स्वसंवेदने तथावबोधात्सर्वत्र तथावबोध इति चेत्, तर्ह्यनुमानमायातं विवादाध्यासितं संवेदनं सुनिश्चितासम्भवद्बाधकत्वेतराभ्यां सन्दिग्धं, संवेदनत्वादस्मत्संवेदनवदिति। तच्च यदि सुनिश्चितासंभवद्बाधकं सिद्धं

तदा तेनैव साधनस्य व्यभिचारः। अथ न तथा सिद्धं, कथं साध्यसिद्धिनिबन्धनम्? अतिप्रसङ्गात्। स्वसंवेदनं च प्रतिपत्तुः किञ्चित् क्वचित् कदाचित् सुनिश्चितासम्भवद्बाधकं किञ्चित्तद्विपरीतं प्रसिद्धं न वा? यदि न प्रसिद्धं, कथं सन्देहः? क्वचिदप्रसिद्धोभयविशेषस्य तत्सामान्यदर्शनेनैव तत्परामर्शिप्रत्ययस्य सन्देहस्यासम्भवाद्भुवनसंवर्द्धितोत्थितमात्रस्य तादृशः स्थाणुपुरुषविषयसन्देहवत्। यदि पुनस्तदुभयं प्रसिद्धं तदा स्वतः परतो वा? अभ्यासदशायां स्वतोनभ्यासदशायां परत एवेति चेत् सिद्धमकलङ्कशासनं, सर्वस्य संवेदनस्य स्यात्स्वतः स्यात्परतः प्रामाण्याप्रामाण्ययोर्व्यवस्थानात्, अन्यथा क्वचिद्व्यवस्थातुमशक्तेः। एतेन तत्त्वोपप्लववादिनः किमदुष्टकारकसन्दोहोत्पाद्यत्वेन बाधकानुत्पत्त्या प्रवृत्तिसामर्थ्येनान्यथा वेत्यादिविकल्पसन्दोहहेतुकप्रश्नानुपपत्तिः प्रकाशिता, स्वयमन्यत्रान्यदा कथञ्चिदप्रतिपन्नतद्विकल्पस्य पुनः क्वचित्तत्परामर्शिसंशयप्रत्ययायोगात। क्वचित्कदाचिददुष्टकारकसन्दोहोत्पाद्यत्वादिविशेषप्रतिपत्तौ तु कुतस्तत्त्वोपप्लवसिद्धिः? पराभ्युपगमात्तत्प्रतिपत्तेरदोष इति चेत्, स तर्हि पराभ्युपगमो यदि प्रमाणात्प्रतिपन्नः स्वयं तदा कथं प्रमाणप्रमेयतत्त्वोपप्लवः? पराभ्युयगमान्तरात्तत्प्रतिपत्तौ तदपि पराभ्युपगमान्तरमन्यस्मात् पराभ्युपगमान्तरात्प्रतिपत्तव्यमित्यनवस्था। पराभ्युपगमं च स्वयं प्रतीयन्नेव न प्रत्येमीति ब्रुवाणः कथं स्वस्थः? स्वयमप्रतीयंस्तु पराभ्युपगमं ततः किञ्चित्प्रत्येतीति दुरवबोधं, सोयं किञ्चिदपि स्वयं निर्णीतमनाश्रयन् क्वचिद्विचारणायां व्याप्रियत इति न बुध्यामहे, किञ्चिन्निर्णीतमाश्रित्य

विचारस्यानिर्णीतेऽर्थे प्रवृत्तेः । सर्वविप्रतिपत्तौ तु क्वचिद्विचारणानवतारात् । तदुक्तं "किञ्चिन्निर्णीतमाश्रित्य विचारोन्यत्र वर्त्तते । सर्वविप्रतिपत्तौ तु क्वचिन्नास्ति विचारणा" ॥१॥ इति । ततः सूक्तं, तत्त्वोपप्लववादिनः स्वयमेकेन प्रमाणेन स्वप्रसिद्धेन परप्रसिद्धेन वा विचारोत्तरकालमपि प्रमाणतत्वं प्रमेयतत्त्वं चोपप्लुतं संविदन्त एवात्मानं निरस्यन्तीति व्याहतिः ।

तदेवं कारिकाव्याख्यानमनवद्यमवतिष्ठते । तीर्थच्छेदसम्प्रदायानां तथा सर्वमवगतमिच्छतामाप्तता नास्ति, परस्परविरुद्धाभिधानात्, एकानेकप्रमाणवादिनां स्वप्रमाव्यावृत्तेरिति । एकप्रमाणवादिनो हि संवेदनाद्वैतावलम्बिनश्चित्राद्वैताश्रयिणः परब्रह्मशब्दाद्वैतभाषिणश्च सुगतादयो यथा तीर्थच्छेदसम्प्रदायास्तथा प्रत्यक्षमेकमेव प्रमाणमिति वदन्तोपि चार्वाकाः, परमागमनिराकरणसमयत्वात् । यथा च कपिलादयोनेकप्रमाणवादिनस्तीर्थच्छेदसम्प्रदायास्तथा तत्त्वोपप्लववादिनोपि, तैरेकस्यापि प्रमाणस्यानभिधानात्, नैकप्रमाणवादिनोऽनेकप्रमाणवादिन इति व्याख्यानात् । तथा सर्वमाप्तागमपदार्थजातमवगतमिच्छन्तोप्यनेकप्रमाणवादिनो वैनयिकास्तीर्थच्छेदसम्प्रदायाः । तेषामशेषाणामाप्तता नास्ति, परस्परविरुद्धयोरर्थयोरभिधानात् ।

तत्र संवेदनाद्वैतानुसारिणः स्वपक्षसाधनस्य परपक्षदूषणस्य वा संविदद्वैतविरुद्धस्याभिधानं, तथा द्वैतप्रसिद्धेः । संवृत्त्या तदुपगमे न परमार्थतः संविदद्वैतसिद्धिः, अतिप्रसङ्गात् । एतेन चित्राद्वैतपर-

ब्रह्माद्यवलम्बिनां परस्परविरुद्धाभिधानं प्रतिवर्णितम् । प्रत्यक्षमेकमेव प्रमाणमिति वदतां प्रमाणेतरसामान्यव्यवस्थापनस्य संवादेतरस्वभावलिङ्गजानुमाननिबन्धस्य परचित्तावबोधस्य च व्यापारादिकार्यलिङ्गोत्थानुमाननिमित्तस्य परलोकादिप्रतिषेधस्य चानुपलब्धिलिङ्गोद्भूतानुमानहेतुकस्य प्रत्यक्षैकप्रमाणविरुद्धस्याभिधानं प्रतिपत्तव्यं, तथा प्रमाणान्तरसिद्धेः । परोपगमात्तत्स्वीकरणे स्वयं प्रमाणेतरसामान्यादिव्यवस्थानुपपत्तेः कुतः प्रत्यक्षैकप्रमाणवादः, अतिप्रसङ्गात् । तथानेकप्रमाणवादिनां कपिलकणभक्षाक्षपादजैमिनिमतानुसारिणां स्वोपगतप्रमाणसंख्यानियमविरुद्धस्य सामस्त्येन साध्यसाधनसम्बन्धज्ञानस्याभिधानं बोद्धव्यं, प्रमाणान्तरस्योहस्य सिद्धेः । यावान्कश्चिद्धूमः स सर्वोऽप्यग्निजन्माऽनग्निजन्मा वा न भवतीति प्रतिपत्तौ न प्रत्यक्षस्य सामर्थ्यं, तस्य सन्निहितविषयप्रतिपत्तिफलत्वात् । नाप्यनुमानस्य, अनवस्थानात्, तद्व्याप्तेरप्यपरानुमानगम्यत्वात् । इति वैशेषिकस्योहः प्रमाणान्तरमनिच्छतोप्यायातम् । एतेन सौगतस्य प्रमाणान्तरमापादितम् । तथागमस्यापि व्याप्तिग्रहणेऽनधिकारात्कापिलस्योहः प्रमाणं नैयायिकस्य च तत्रोपमानस्याप्यसमर्थत्वात् प्राभाकरस्य चार्थापत्तेरप्यनुमानवत्तत्राव्यापाराद्भट्टमतानुसारिणश्चाभावस्यापि तत्रानधिकृतत्वात् । तथैकमपि प्रमाणमनभ्युपगच्छतां तत्त्वोपप्लवावलम्बिनामनेकप्रमाणवादिनां तत्त्वोपप्लवोपगमस्य प्रमाणसिद्ध्यविनाभाविनः सकलतत्त्वोपप्लवविरुद्धस्याभिधानमवगन्तव्यम् । वैनयिकानां तु सर्वमवगतमिच्छतां परस्परविरुद्धाभिधानं विरुद्धसंवेदनं प्रसिद्धमेव, सुगतमतोपगमे कपिलादिमतस्य

विरोधात् । ततः सिद्धो हेतुः परस्परविरोधत इति तीर्थकृत्समयानां सर्वेषामाप्तत्वाऽभावं साधयति । यदि पुनः संविदद्वैतादीनां स्वतः प्रमितिसिद्धेः प्रमाणान्तरतः स्वपरपक्षसाधनदूषणवचनाभावान्न परस्परविरुद्धाभिधानं स्वसंवेदनैकप्रमाणवादिनां, नापीन्द्रियजप्रत्यक्षैकप्रमाणवादिनां, प्रत्यक्षप्रामाण्यस्य प्रत्यक्षत एव सिद्धेः, अनुमानादिप्रामाण्याभावस्यापि तत एव प्रसिद्धेः प्रमाणान्तराप्रसङ्गात्, तथानेकप्रमाणवादिनामपि स्वोपगतप्रमाणसंख्यानियमस्य स्वत एव सिद्धेः प्रमाणान्तरस्योहस्याप्रसङ्गान्न विरुद्धाभिधानं संभवतीति मतं तदापि न तेषामाप्ततास्ति, स्वप्रमाव्यावृत्तेरन्यथानैकान्तिकत्वात् । न हि संविदद्वैतेऽन्यत्र वा स्वस्य स्वेनैव प्रमा संभवति, निरंशत्वात्प्रमाणप्रमेयस्वभावव्यावृत्तौ प्रमाया व्यावृत्तेस्तदव्यावृत्तौ प्रमात्रादिस्वभावाव्यावृत्तेरैकान्तिकत्वाभावात् प्रमात्राद्यनेकस्वभावस्यैकसंवेदनस्यानेकान्तात्मनोनुमननात्, संवित् स्वयं स्वेन स्वं संवेदयत इति प्रतीतेः । नापीन्द्रियजप्रत्यक्षे स्वप्रमा घटते, भूतवादिभिस्तस्यास्वसंविदितत्त्वोपगमात् । इति सिद्धा तत्र स्वप्रमाया व्यावृत्तिः ततो न प्रत्यक्षत एव प्रमाणेतरसामान्यस्थित्यादिः । तदव्यावृत्तौ वा स्वार्थव्यवसायात्मकत्वसिद्धेः स्याद्वादाश्रयणादैकान्तिकत्वाभावादनैकान्तिकत्वम् । एतेनानेकप्रमाणवादिनामनेकस्मिन् प्रमाणे स्वप्रमाव्यावृत्तिर्व्याख्याता । तदव्यावृत्तौ वानैकान्तिकत्वप्रसक्तिः, अनेकशक्त्यात्मकस्वार्थव्यवसायात्मकानेकप्रमाणसिद्धेः । तत्त्वोपप्लववादिनां तु तत्त्वोपप्लवे स्वप्रमाया व्यावृत्तिः सिद्धैव । तदव्यावृत्तौ तत्त्वोपप्लवैकान्तिकत्वाभावप्रसक्तिश्च । ततो नैनेषामाप्तता । किञ्च सर्वप्रमाण-

विनिवृत्तेरितरथा संप्रतिपत्तेः । ये तावदेकं नित्यं प्रमाणं स्वभावभेदाभावाद्वदन्ति तेषां सर्वप्रमाणविनिवृत्तिः येप्यनेकमनित्यं प्रतिक्षणं स्वभावभेदादाचक्षते तेषामपि प्रत्यक्षादिप्रमाणानां नित्यैकान्ताच्चेतरेणैव प्रकारेण कथञ्चिन्नित्यानित्यात्मकत्वेन संप्रतिपत्तेः । ततो नैतेषां नित्यानित्यैकान्तप्रमाणवादिनां तीर्थकृत्समयानामाप्तता । किञ्च वागक्षबुद्धीच्छापुरुषत्वादिकं क्वचिदनाविलज्ञानं निराकरोति न पुनस्तत्प्रतिषेधवादिषु तथेति परमगहनमेतत् । तथा हि । तीर्थच्छेदसम्प्रदायास्तथैकान्तवादिनो नाऽनाविलज्ञाना अविशिष्टवागक्षबुद्धीच्छादिमत्त्वादविशिष्टपुरुषत्वादेर्वा रथ्यापुरुषवत् । इति नैतेषामाप्तता । तत्प्रतिषेधवादिनां पुनः स्याद्वादिनां नातः कश्चिदविशिष्टवागादिमानविशिष्टपुरुषो वा, तस्य युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वेनाभ्युपगतत्वात्, करणक्रमव्यवधानाद्यतिवर्त्तिबुद्धित्वात्, इच्छारहितत्वाद्विशुद्धपुरुषातिशयत्वादिति । यथा वागादिकं निर्दोषज्ञाननिराकरणसमर्थं न तथा स्याद्वादन्यायवेदिभिरभिष्टूयमाने भगवतीति परमगहनमेतत्, अयुक्तिशास्त्रविदामगोचरत्वादकलङ्कधिषणाधिगम्यत्वात् । इत्थं सिद्धं सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वम् । तेन कः परमात्मा चिदेव लब्ध्युपयोगसंस्काराणामावरणनिबन्धनानामत्यये भवभृतां प्रभुः । सकलस्याद्वादन्यायविद्विषामाप्तप्रतिक्षेपप्रकारेण हि स्याद्वादिन एवाप्तस्याप्रतिक्षेपार्हत्वेन सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वं सिद्ध्यति । तेनैवं कारिकायास्तुरीयपादो व्याख्यायते । कः परमात्मा, पराऽत्यन्तिकी मा लक्ष्मीर्यस्येति विग्रहात् । चिदेव ज्ञ एव न पुनः कथञ्चिदप्यज्ञः, चिदिति शब्दस्य मुख्यवृत्त्या-

श्रयणात् कथञ्चिदचित्यपि चिच्छब्दस्य प्रवृत्तौ गौणत्वप्रसङ्गात्। ननु च 'परमात्मा साक्षाद्वस्तु जानन्निन्द्रियसंस्कारानुरोधत एव जानीयान्नान्यथा तद्वेदनस्य प्रत्यक्षत्वविरोधात्। न चेन्द्रियसंस्काराः सकृत्सर्वार्थेषु ज्ञानमुपजनयितुमलं, सम्बद्धवर्त्तमानार्थविषयत्वात् "सम्बद्धं वर्त्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिभिः" इति वचनात्। ततो न ज्ञ एव, भाव्यतीतासम्बद्धार्थज्ञानाभावादज्ञत्वस्यापि भावात्' इति न मन्तव्यं, "लब्ध्युपयोगसंस्काराणामत्यये" इति वचनात्। लब्ध्युपयोगौ हीन्द्रियं, "लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्" इति वचनात्। तयोः संस्काराः स्वार्थधारणाः। तेषामत्यये सति ज्ञ एव स्यात्। 'कुतः पुनर्भावेन्द्रियसंस्काराणामत्यये सति ज्ञ एव स्यान्न तु द्रव्येन्द्रियाणामत्यये, अतीन्द्रियप्रत्यक्षतोऽशेषार्थसाक्षात्कारित्वोपगमात्' इत्यपि न शङ्कनीयं, भावेन्द्रियाणामावरणनिबन्धनत्वात्। कार्त्स्न्यतो ज्ञानावरणसंक्षये हि भगवानतीन्द्रियप्रत्यक्षभाक् सिद्धः। न च सकलावरणसंक्षये भावेन्द्रियाणामावरणनिबन्धनानां संभवः—कारणाभावे कार्यानुपपत्तेः। ननु चावरणक्षयोपशमनिबन्धनत्वाद्भावेन्द्रियाणां कथमावरणनिबन्धनत्वमिति चेद् देशघातिज्ञानावरणस्पर्द्धकोदये सति सर्वघातिज्ञानावरणस्पर्द्धकानामुदयाभावे सदवस्थायां च तेषां भावादावरणनिबन्धनत्वसिद्धेरचोद्यमेतत्। न कश्चिद्भवभृदतीन्द्रियप्रत्यक्षभागुपलब्धो यतो भगवांस्तथा संभाव्यते इत्यपि न शङ्का श्रेयसी, तस्य भवभृतां प्रभुत्वात्। न हि भवभृत्साम्ये दृष्टो धर्मः सकलभवभृत्प्रभौ सम्भावयितुं शक्यः, तस्य संसारिजनप्रकृतिमभ्यतीतत्वात्। ननु च सुनिर्णीतासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वा-

त्तथाविधो भवभृतां प्रभुः साध्यते । तच्चासिद्धं, सुनिश्चितासंभवत्साधकप्रमाणत्वस्य तद्बाधकस्य सद्भा-
वात् । न हि तत्साधकं प्रत्यक्षम् । नाप्यनुमानं, तदेकदेशस्य लिङ्गस्यादर्शनात् । तदुक्तं " सर्वज्ञो दृश्यते
तावन्नेदानीमस्मदादिभिः । दृष्टो न चैकदेशोस्ति लिङ्गं वा योनुमापयेत् " ॥ १ ॥ इति । आगमोपि न ताव-
न्नित्यः सर्वज्ञस्य प्रतिपादकोस्ति, तस्य कार्ये एवार्थे प्रामाण्यात् स्वरूपेपि प्रामाण्येतिप्रसङ्गात् । स सर्ववित्
स लोकविदित्यादेर्हिरण्यगर्भः सर्वज्ञ इत्यादेश्चागमस्य नित्यस्य कर्मार्थवादप्रधानत्वात् तात्पर्यासंभवा-
दन्यार्थप्रधानैर्वचनैरन्यस्य सर्वज्ञस्य विधानासंभवात् । पूर्वं कुतश्चिदप्रसिद्धस्य तैरनुवादायोगात् । अनादे-
रागमस्यादिमत्सर्वज्ञप्रतिपादनविरोधाच्च । नाप्यनित्यस्तत्प्रणीत एवागमस्तस्य प्रकाशको युक्तः, परस्परा-
श्रयप्रसङ्गात् । नरान्तरप्रणीतस्तु न प्रमाणभूतः सिद्धो यतः सर्वज्ञप्रतिपत्तिः स्यात् । असर्वज्ञप्रणीताच्च
वचनान्मूलवर्जितात् सर्वज्ञप्रतिपत्तौ स्ववचनात्किन्न तत्प्रतिपत्तिरविशेषात् । तदुक्तं " न चागमविधिः
कश्चिन्नित्यः सर्वज्ञबोधनः । न च मन्त्रार्थवादानां तात्पर्यमवकल्प्यते ॥ १ ॥ न चान्यार्थप्रधानैस्तैस्तदस्तित्वं
विधीयते । न चानुवदितुं शक्यः पूर्वमन्यैरबोधितः ॥ २ ॥ अनादेरागमस्यार्थो न च सर्वज्ञ आदिमान् ।
कृत्रिमेण त्वसत्येन स कथं प्रतिपाद्यते ॥ ३ ॥ अथ तद्वचनेनैव सर्वज्ञोऽज्ञैः प्रतीयते । प्रकल्प्येत कथं सिद्धि-
रन्योन्याश्रययोस्तयोः ॥ ४ ॥ सर्वज्ञोक्ततया वाक्यं सत्यं तेन तदस्तिता । कथं तदुभयं सिद्ध्येत् सिद्धमूला-
न्तराहृते ॥ ५ ॥ असर्वज्ञप्रणीतात्तु वचनान्मूलवर्जितात् । सर्वज्ञमवगच्छन्तः स्ववाक्यात्किं न जानते ॥ ६ ॥ "

इति। नोपमानमपि सर्वज्ञस्य साधकं, तत्सदृशस्य जगति कस्यचिदप्यभावात्। तथोक्तं, " सर्वज्ञसदृशं कश्चिद्यदि पश्येम सम्प्रति। उपमानेन सर्वज्ञं जानीयाम ततो वयम् " ॥ १ ॥ इति। नार्थापत्तिरपि सर्वज्ञस्य साधिका, तदुत्थापकस्यार्थस्यान्यथानुपपद्यमानस्याभावात्। धर्माद्युपदेशस्य बहुजनपरिगृहीतस्यान्यथाभावात्। तथा चोक्तम् " उपदेशो हि बुद्धादेर्धर्माधर्मादिगोचरः। अन्यथाप्युपपद्येत सर्वज्ञो यदि नाभवत् ॥ १ ॥ बुद्धादयो ह्यवेदज्ञास्तेषां वेदादसम्भवः। उपदेशः कृतोतस्तैर्व्यामोहादेव केवलात् ॥ २ ॥ ये तु मन्वादयः सिद्धाः प्राधान्येन त्रयीविदाम्। त्रयीविदाश्रितग्रन्थास्ते वेदप्रभवोक्तयः ॥ ३ ॥ " इति। न च प्रमाणान्तरं सदुपलम्भकं सर्वज्ञस्य साधकमस्ति। मा भूदत्रत्येदानीन्तनानामस्मदादिजनानां सर्वज्ञस्य साधकं प्रत्यक्षाद्यन्यतमं देशान्तरकालान्तरवर्त्तिनां केषाञ्चिद्भविष्यतीति चायुक्तं " यज्जातीयैः प्रमाणैस्तु यज्जातीयार्थदर्शनम्। दृष्टं सम्प्रति लोकस्य तथा कालान्तरेप्यभूत् " ॥ १ ॥ इति वचनात्। तथा हि। विवादाध्यासिते देशे काले च प्रत्यक्षादिप्रमाणमत्रत्येदानीन्तनप्रत्यक्षादिग्राह्यसजातीयार्थग्राहकं भवति तद्विजातीयसर्वज्ञाद्यर्थग्राहकं वा न भवति, प्रत्यक्षादिप्रमाणत्वादत्रत्येदानीन्तनप्रत्यक्षादिप्रमाणवत्। ननु च यथाभूतमिन्द्रियादिजं नित्यं प्रत्यक्षादि सर्वज्ञाद्यर्थासाधकं दृष्टं तथाभूतमेव देशान्तरे कालान्तरे च तादृशं साध्यतेऽन्यथाभूतं वा ?, तथाभूतं चेत् सिद्धसाधनम्। अन्यथाभूतं चेदप्रयोजको हि हेतुः जगतो बुद्धिमत्कारणकत्वे साध्ये सन्निवेशविशिष्टत्ववत्। इति चेत्तदसत्, तथाभूतस्यैव तथा साधनात् सिद्धसा-

धनस्याप्यभावात्, अन्यादृशप्रत्यक्षाद्यभावात् । तथा हि । विवादापन्नं प्रत्यक्षादिप्रमाणमिन्द्रियादिसामग्रीविशेषानपेक्षं न भवति, प्रत्यक्षादिप्रमाणत्वात् प्रसिद्धप्रत्यक्षादिप्रमाणवत् । न गृद्ध्रवराहपिपीलिकादिप्रत्यक्षेण सन्निहितदेशविशेषानपेक्षिणा नक्तञ्चरप्रत्यक्षेण वालोकानपेक्षिणानेकान्तः, कात्यायनाद्यनुमानातिशयेन जैमिन्याद्यागमाद्यतिशयेन वा तस्यापीन्द्रियादिप्रणिधानसामग्रीविशेषमन्तरेणासंभवात् स्वार्थातिलङ्घनाभावादतीन्द्रियाननुमेयाद्यर्थाविषयत्वाच्च । तथा चोक्तं "यत्राप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलङ्घनात् । दूरसूक्ष्मादिदृष्टौ स्यान्न रूपे श्रोत्रवृत्तिता ॥ १ ॥ येपि सातिशया दृष्टाः प्रज्ञामेधादिभिर्नराः । स्तोकस्तोकान्तरत्वेन न त्वतीन्द्रियदर्शनात् ॥ २ ॥ प्राज्ञोपि हि नरः सूक्ष्मानर्थान् द्रष्टुं क्षमोपि सन् । स्वजातीरनतिक्रामन्नतिशेते परान्नरान् ॥ ३ ॥ एकशास्त्रविचारेषु दृश्यतेतिशयो महान् । न तु शास्त्रान्तरज्ञानं तन्मात्रेणैव लभ्यते ॥ ४ ॥ ज्ञात्वा व्याकरणं दूरं बुद्धिः शब्दापशब्दयोः । प्रकृष्यते न नक्षत्रतिथिग्रहणनिर्णये ॥ ५ ॥ ज्योतिर्विच्च प्रकृष्टोपि चन्द्रार्कग्रहणादिषु । न भवत्यादिशब्दानां साधुत्वं ज्ञातुमर्हति ॥ ६ ॥ तथा वेदेतिहासादिज्ञानातिशयवानपि । न स्वर्गदेवताऽपूर्वप्रत्यक्षीकरणे क्षमः ॥ ७ ॥ दशहस्तान्तरं व्योम्नि यो नामोत्प्लुत्य गच्छति । न योजनमसौ गन्तुं शक्तोभ्यासशतैरपि ॥ ८ ॥" इति । न दृष्टप्रत्यक्षादिविजातीयातीन्द्रियप्रत्यक्षादिसंभावना यतः संभाव्यव्यभिचारिता साधनस्य स्यात् । पुरुषविशेषस्य तत्सम्भावनायां संभाव्य-

व्यभिचारित्वमेवेति चेत्, न, तस्यासिद्धत्वात्, साधकाभावात्सर्वपुरुषाणां त्रिविप्रकृष्टार्थसाक्षात्कारित्वानुपपत्तेरिति । तदेतत्सर्वमपरीक्षिताभिधानं मीमांसकस्य। न हि सर्वज्ञस्य निराकृतेः प्राक् सुनिश्चितासंभवत्साधकप्रमाणत्वं सिद्धं येन परः प्रत्यवतिष्ठेत । नापि बाधकासंभवात्परं प्रत्यक्षादेरपि विश्वासनिबन्धनमस्ति। तत्प्रकृतेपि सिद्धं यदि तत्सत्तां न साधयेत् सर्वत्राप्यविशेषात्तदभावे दर्शनं नादर्शनमतिशेतेऽनाश्वासाद्विभ्रमवत् । स्यान्मतं " मा सिधत्सर्वज्ञस्य निराकरणात्पूर्वं सुनिश्चितासंभवत्साधकप्रमाणत्वं, स्वप्रत्यक्षस्य सर्वज्ञान्तरप्रत्यक्षस्य च तत्साधकस्य संभवात्, परोपदेशलिङ्गाक्षानपेक्षाऽवितथाऽशेषसूक्ष्माद्यर्थप्रतिपादकतद्वचनविशेषात्मकलिङ्गजनितानुमानस्य च तत्साधकस्य सद्भावादनादिप्रवचनविशेषस्य च तदुद्द्योतितस्य तत्साधकत्वेन सिद्धेः। निराकरणादुत्तरकालं तु सिद्धमेव " इति। तदपि स्वमनोरथमात्रं, सर्वज्ञनिराकृतेरयोगात् सर्वथा बाधकाभावात्। सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकनिवृत्तिलक्षणं ज्ञापकानुपलम्भनं सर्वज्ञस्य बाधकमिति चेत्, न, तस्य स्वसम्बन्धिनः परचेतोवृत्तिविशेषादिना व्यभिचारात्, सर्वसम्बन्धिनोऽसिद्धत्वात्। तदुक्तं तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिके । " स्वसम्बन्धि यदीदं स्याद्व्यभिचारि पयोनिधेः। अम्भःकुम्भादिसंख्यानैः सद्भिरज्ञायमानकैः ॥ १ ॥ सर्वसम्बन्धि तद्बोद्धुं किञ्चिद्बोधैर्न शक्यते। सर्वबोधोस्ति चेत्कश्चित्तद्बोद्धा किं निषिध्यते ॥ २ ॥ सर्वसम्बन्धि सर्वज्ञज्ञापकानुपलम्भनम् । न चक्षुरादिभिर्वेद्यमत्यक्षत्वाददृष्टवत् ॥ ३ ॥ नानुमानादलिङ्गत्वात् कार्थापत्त्युपमागतिः। सर्वज्ञस्यान्यथा-

भावसाद्व्यानुपपत्तितः ॥ ४ ॥ सर्वप्रमातृसम्बन्धिप्रत्यक्षादिनिवारणात्। केवलागमगम्यं च कथं मीमांसकस्य तत् ॥ ५ ॥ कार्येऽर्थे चोदनाज्ञानं प्रमाणं यस्य सम्मतम्। तस्य स्वरूपसत्तायां तन्नैवानिप्रसञ्जनः ॥ ६ ॥ तज्ज्ञापकोपलम्भस्याभावोऽभावप्रमाणतः। साध्यते चेत्, न, तस्यापि सर्वत्राप्यप्रवृत्तितः ॥ ७ ॥ गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा तत्प्रतियोगिनम्। मानसं नास्तिताज्ञानं येषामक्षानपेक्षया ॥ ८ ॥ तेषामशेषनृज्ञाने स्मृते तज्ज्ञापके क्षणे। जायेत नास्तिताज्ञानं मानसं तत्र नान्यथा ॥ ९ ॥ न चाशेषनरज्ञानं सकृत्साक्षादुपेयते। न क्रमादन्यसन्तानप्रत्यक्षत्वानभीष्टितः ॥ १० ॥ यदा च क्वचिदेकत्र भवेत्तन्नास्तितागतिः। नैवान्यत्र तदा सास्ति कैवं सर्वत्र नास्तिता ॥ ११ ॥ प्रमाणान्तरतोऽप्येषां न सर्वपुरुषग्रहः। तल्लिङ्गादेरसिद्धत्वात् सहोदीरितदूषणात् ॥ १२ ॥ तज्ज्ञापकोपलम्भोऽपि सिद्धः पूर्वं न जातुचित्। यस्य स्मृतौ प्रजायेत नास्तिताज्ञानमाञ्जसम् ॥ १३ ॥ परोपगमतः सिद्धः स चेत्, नास्तीति साध्यते। व्याघातस्तत्प्रमाणत्वेऽन्योन्यं सिद्धो न सोऽन्यथा ॥ १४ ॥ नन्वेवं सर्वथैकान्तः परोपगमतः कथम्। सिद्धो निषिध्यते जैनैरिति चोद्यं न धीमताम् ॥ १५ ॥ प्रतीतेऽनन्तधर्मात्मन्यर्थे स्वयमबाधिते। को दोषः सुनयैस्तत्रैकान्तोपप्लवसाधने ॥ १६ ॥ अनेकान्ते हि विज्ञानमेकान्तानुपलम्भनम्। तद्विधिस्तन्निषेधश्च मतो नैवान्यथा गतिः ॥ १७ ॥ नैवं सर्वत्र सर्वज्ञज्ञापकानुपदर्शनम्। सिद्धं तद्दर्शनारोपो येन तत्र निषिध्यते ॥ १८ ॥" इति। तदेवमसिद्धं ज्ञापकानुपलम्भनं सर्वज्ञस्य न बाधकमिति सिद्धं सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वमेव साधकम्।

तथा हि। अस्ति सर्वज्ञः सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वात्प्रत्यक्षादिवत्। प्रत्यक्षादेस्तावद्विश्वासनिबन्धनं बाधकासंभव एव सुनिश्चितः। न ततोऽपरं संवादकत्वं प्रवृत्तिसामर्थ्यमदुष्टकारणजन्यत्वं वा, तस्य तत्रावश्यंभावादिति। प्रत्यक्षादिप्रमाणमुदाहरणं, वादिप्रतिवादिनोः प्रसिद्धत्वात् साध्यसाधनधर्माविकलत्वात्। सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणश्च स्यादविद्यमानश्चेति सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकमिदं साधनं न मन्तव्यं, विपक्षे बाधकसद्भावात्। तथा हि। यदसत्तन्न सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणम्। यथा मरीचिकायां तोयं सम्भवद्बाधकप्रमाणं, मेरुमूर्द्धनि मोदकादिकं च सन्दिग्धासंभवद्बाधकम्। सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणश्च सर्वज्ञः। इति प्रकृते सर्वज्ञे सिद्धमपि साधनं यदि सत्तां न साधयेत्तदा दर्शनं नादर्शनमतिशयीत, अनाश्वासात् स्वप्नादिविभ्रमवत्, तस्य सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वस्याभावे सर्वत्र दर्शने दर्शनाभासे च विशेषाभावात्। "साधकबाधकप्रमाणभावात्सर्वज्ञे संशयोऽस्त्वित्ययुक्तं, यस्मात्साधकबाधकप्रमाणयोर्निर्णयात् भावाभावयोरविप्रतिपत्तिरनिर्णयादारेका स्यात्। साधकनिर्णयात्तत्सत्तायामविप्रतिपत्तिर्बाधकनिर्णयात्त्वसत्तायाम्। उभयनिर्णयस्तु न संभवत्येव क्वचित्, व्याघातात् साधकबाधकाभावनिर्णयवत्। साधकानिर्णयात्पुनः सत्तायामारेका स्याद्बाधकानिर्णयादसत्तायामिति विपश्चितामभिमतो न्यायः। ततो भवभृतां प्रभौ सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वं सत्तायाः साधकं सिद्ध्यत् सुनिश्चितासंभवत्साधकप्रमाणत्वं व्यावर्त्तयत्येव, विरोधात्। नैवमेतत्तत्र सिध्यति येन सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वस्य व्यावर्त्तकं स्यात्। ततः

सिद्धो भवभृतां प्रभुः सर्वज्ञ एव। न खलु ज्ञस्वभावस्य कश्चिदगोचरोस्ति यन्न क्रमेत, तत्स्वभावान्तरप्रतिषेधात्। कुतः पुनस्तस्याज्ञत्वलक्षणस्वभावान्तरप्रतिषेधः सिद्धो यतोसौ ज्ञस्वभाव एव स्यात्? सर्वश्चार्थस्तस्य विषयःस्यात्? ततस्तं क्रमेतैव? इति चेत्, चोदनाबलाद्भूताद्यशेषार्थज्ञानान्यथानुपपत्तेः। सोयं चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं विप्रकृष्टमित्येवंजातीयकमर्थमवगमयितुमलं पुरुषविशेषानिति स्वयं प्रतीयन् सकलार्थज्ञानस्वभावतामात्मनो न प्रत्येतीति कथं स्वस्थः? तच्च न ज्ञानमात्मनो भिन्नमेव मीमांसकस्य कथञ्चिद् भेदोपगमादन्यथा मतान्तरप्रसङ्गात्। ततो नाज्ञस्वभावः पुरुषः क्वचिदपि विषये, सर्वविषये, चोदनाज्ञानोत्पत्तेर्विकल्पज्ञानोत्पत्तेर्वा सर्वत्र तदनुपपत्तौ विधिप्रतिषेधविचाराघटनात्। कथमेवं कस्यचित्क्वचिदज्ञानं स्यादिति चेत्, उच्यते। चेतनस्य सतः सम्बन्ध्यन्तरं मोहोदयकारणकं मदिरादिवत्। तत्कुतः सिद्धम्? विवादाध्यासितो जीवस्य मोहोदयः सम्बन्ध्यन्तरकारणको मोहोदयत्वान्मदिराकारणकमोहोदयवदित्यनुमानात्। यत्तत्सम्बन्ध्यन्तरं तदात्मनो ज्ञानावरणादि कर्मेति। तदभावे साकल्येन विरतव्यामोहः सर्वमतीतानागतवर्तमानं पश्यति प्रत्यासत्तिविप्रकर्षयोरकिञ्चित्करत्वात्। कथं पुनर्ज्ञानावरणादिसम्बन्ध्यन्तरस्याभावे साकल्येन विरतव्यामोहः स्याद्यतः सर्वमतीतानागतवर्त्तमानानन्तार्थव्यञ्जनपर्यायात्मकं जीवादितत्त्वं साक्षात्कुर्वीतेति चेत्, इमे ब्रूमहे। यद्यस्मिन् सत्येव भवति तत्तदभावे न भवत्येव। यथाग्नेरभावे धूमः। सम्बन्ध्यन्तरे सत्येव भवति चात्मनो व्यामोहस्तस्मात्तदभावे स न भवतीति निश्चीयते। देशकालतः

प्रत्यासन्नमेव पश्येद्विरतव्यामोहोपि सर्वात्मना, न पुनर्विप्रकृष्टमित्ययुक्तं, प्रत्यासत्तेर्ज्ञानाकारणत्वाद्विप्रकर्षस्य चाज्ञानानिबन्धनत्वात्, तद्भावेपि ज्ञानाज्ञानयोरभावान्नयनतारकाञ्जनवचन्द्रार्कादिवच्च। योग्यतासद्भावेतराभ्यां क्वचिद्भावे योग्यतैव ज्ञानकारणं, प्रत्यासत्तिविप्रकर्षयोरकिञ्चित्करत्वात्। सा पुनर्योग्यता देशतः कात्स्न्र्यतो वा व्यामोहविगमस्तत्प्रतिबन्धिकर्मक्षयोपशमक्षयलक्षणः। इति साकल्येन विरतव्यामोहः सर्वं पश्यत्येव। तदुक्तं "ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबन्धने। दाह्येऽग्निर्दाहको न स्यादसति प्रतिबन्धने ॥ १ ॥" इति। अत एवाक्षानपेक्षाऽञ्जनादिसंस्कृतचक्षुषो यथालोकाऽनपेक्षा। अत एव। कुत एव? साकल्येन विरतव्यामोहत्वादेव सर्वदर्शनादेव वा। यो हि देशतो विरतव्यामोहः किञ्चिदेवास्फुटं पश्यति वा तस्यैवाक्षापेक्षा लक्ष्यते न पुनस्तद्विलक्षणस्य प्रक्षीणसकलव्यामोहस्य सर्वदर्शिनः, सर्वज्ञत्वविरोधात्। न हि सर्वार्थैः सकृदक्षसम्बन्धः संभवति साक्षात्परम्परया वा। ननु चावधिमनःपर्ययज्ञानिनोर्देशतो विरतव्यामोहयोरसर्वदर्शनयोः कथमक्षानपेक्षा संलक्षणीया? तदावरणक्षयोपशमातिशयवशात्स्वविषये परिस्फुटत्वादिति ब्रूमः। न चैवं साकल्येन विरतव्यामोहत्वस्य सर्वदर्शनस्य वानैकान्तिकत्वं शङ्कनीयं, विपक्षेक्षापेक्षे मतिश्रुतज्ञाने तदसंभवात्। अवधिमनःपर्ययज्ञाने तदसंभवात् पक्षाव्यापकत्वादहेतुत्वमिति चेत्, न, सकलप्रत्यक्षस्यैव पक्षत्ववचनात्, तत्र चास्य हेतोः सद्भावात्, विकलप्रत्यक्षस्यावधिमनःपर्ययाख्यस्यापक्षीकरणात्। न चास्मदादिप्रत्यक्षेक्षापेक्षोपलक्षणात्सकलवि-

त्प्रत्यक्षेपि सास्त्यवेति वक्तुं शक्यम् अञ्जनादिभिरसंस्कृतचक्षुषोऽस्मदादेरालोकापेक्षोपलक्षणात् तत्संस्कृतचक्षुषोपि कस्यचिदालोकापेक्षाप्रसङ्गात्। नक्तञ्चराणामालोकापायेपि स्पष्टरूपावलोकनप्रसिद्धेर्नालोको नियतं कारणं प्रत्यक्षस्येति चेत्, तर्हि सत्यस्वप्नज्ञानस्येक्षणिकादिज्ञानस्य च स्पष्टस्य चक्षुराद्यनपेक्षस्य प्रसिद्धेरक्षमपि नियतं प्रत्यक्षकारणं मा भूत्। ततो यथाञ्जनादिसंस्कृतचक्षुषामालोकानपेक्षा स्फुटं रूपेक्षणे तथा साकल्येन विरतव्यामोहस्य सर्वसाक्षात्करणेऽक्षानपेक्षा। इति करणक्रमव्यवधानातिवर्त्तिसकलप्रत्यक्षो भवभृतां गुरुः प्रसिद्ध्यत्येव।

यतश्चासौ न देवागमादिविभूतिमत्त्वादध्यात्मं बहिरपि दिव्यसत्यविग्रहादिमहोदयाश्रयत्वाद्वा महान्, नापि तीर्थकृत्त्वमात्रात्, यतश्च तीर्थच्छेदसम्प्रदायोपि वैदिको नियोगभावनादिसम्प्रदायो न संवादकः प्रत्यक्षैकप्रमाणवादिसम्प्रदायस्तत्त्वोपप्लववादिसम्प्रदायो वा सर्वाप्तवादो वा न प्रमाणभूतो व्यवतिष्ठते, ततः सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणो भगवन् भवानेव भवभृतां प्रभुरात्यन्तिकदोषावरणहान्या साक्षात्प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थत्वेन च मुनिभिः सूत्रकारादिभिरभिष्टूयते। इति समन्तभद्राचार्यैर्निरूपिते सति कुतस्तावदात्यन्तिकी दोषावरणहानिर्भवति विनिश्चितेति भगवता पर्यनुयुक्ता इवाचार्याः प्राहुः।—

*परस्परविरुद्धसमयाभिधायिन इति भाष्ये हेतुगर्भं विशेषणं, परस्परविरुद्धसमयाभिधायित्वान्न सर्वे सर्वदर्शिन

* पत्र १४ पृष्ठ १ पंक्ति १४।

इत्यर्थः । न *कस्यचिदिति सुगताद्येकं पक्षीकृत्य महत्त्वे साध्ये तीर्थकरत्वहेतोः कपिलादिना व्यभिचारादित्यर्थः । †नैव भवेदित्यायातमिति काक्वेति शेषः । ‡अत एवेत्यादि, लब्धावकाशस्य मीमांसकस्य शङ्केयं §श्रुतेरेवेति, अपौरुषेयत्वेन तस्याः प्रमाजनकत्वनिश्चयात् पौरुषेयत्वे भ्रमादिसम्भवादप्रामाण्यशङ्काया अनिरासादिति भावः, $इत्यपर इति मीमांसकः शङ्कत इत्यर्थः । तस्यापि निराकरणमावृत्त्याऽनयैव कारिकयेत्याशयवानाह–' तं प्रत्यपीयमेवेत्यादि, ¶भावना यदीति, +वाक्यार्थो विधिवाक्यार्थः, अत्र भावना वाक्यार्थो भाट्टानां, नियोगः प्राभाकराणां, ×कार्येऽर्थे इति, –चोदनाज्ञानं विधिप्रत्ययघटितवाक्यार्थज्ञानम्, ☩स्वरूपे कार्यतानुपरक्ते । अत्र हि कार्यान्वितशक्तिवादिनः प्रवृत्तौ कार्यत्वविशिष्टज्ञानस्य हेतुत्वावधारणात् प्रयोजकवृद्धवाक्यश्रवणानन्तरं प्रयोज्यवृद्धप्रवृत्तौ हेत्वाकांक्षायामुपस्थितत्वाच्छब्दमेव तथाऽवधारयंस्तटस्थस्तन्निर्वाहिकां कार्यत्वान्विते शब्दत्वावच्छेदेन शक्तिं कल्पयति, तदनु चावापोद्वापाभ्यां घटादिपदे शक्तिं गृह्णन्नाद्यकल्पनानुरोधात्कार्यान्वितघटादावेव तां कल्पयति नतु केवलघटादावेव, आद्यव्युत्पत्तिविरोधादिति, कार्यतावाचकपदसमभिव्याहाराभावे सर्वं वाक्यं मूकमेव, व्यवहारस्त्वसंसर्गाग्रहात्, न च सर्वस्य पदस्य कार्यान्विते शक्तेस्तद्वाचकपदासमभिव्याहारो दुर्वचः, शक्तिर्द्विविधाऽनुभाविका स्मारिका च, आद्या कार्यत्वान्विते, द्वितीया च जाताविति व्यवस्थितेः, तथा च घटादिपदात्कार्यत्वानुपस्थितेर्न तदन्वयबोधः, कार्यत्वान्वयबोधे तदुपस्थितेरपि हेतुत्वादिति

* पत्र १४ पृ. २ पं. २ । † पत्र १४ पृ. २ पं. २ । ‡ प. १४ पृ. २ पं. ३ । § पत्र १४ पृ. २ पं. ३ । $ पत्र १४ पृ. २ पं. ३ । ¶ पत्र १४ पृ. २ पं ७ । + पत्र १४ पृ. २ पं. ७ । × पत्र १४ पृ. २ पं. ८ । – पत्र १४ पृ. २ पं. ८ । ☩ पत्र १४ पृ. २ पं. ८ ।

नार्थवादस्य प्रामाण्यमित्याहुः, तन्न, आवापोद्वापाभ्यां लाघवाद् घटादिमात्र एव घटादिपदशक्तिग्रहात् कार्यत्वान्वयस्यचान्यलभ्यत्वात् प्रथमं शब्दत्वावच्छेदेन कार्यत्वान्वितशक्तिग्रहेऽपि यदा कार्यत्वस्यान्यलभ्यत्त्वोपस्थितिस्तदा तदंशत्यागेन शुद्धघटादौ घटादिपदशक्तिग्रहौचित्यात् प्रथमप्रवृत्तकल्पनायाश्चरमप्रवृत्तकल्पनया लाघवतर्कसध्रीचीनया बाधात्। अत एव स्वरूपपरकाव्यादिभ्योऽनुभवसिद्धोऽन्वयानुभव उपपद्यते तत्रासंसर्गाग्रहमात्रेण व्यवहारस्वीकारेऽन्यत्रापि तथोपपत्तौ शब्दप्रामाण्यप्रत्याशाया अप्यभावापत्तेरिति नैयायिकादयः। '*द्वयोश्चेदिति' अत्र कार्यान्वितव्युत्पन्नीयबोधे कार्यविषयकत्वेन स्वरूपव्युत्पन्नीयबोधे च स्वरूपविषयकत्वेन वाक्यस्य प्रामाण्यमिति स्याद्वादाश्रयणे एकान्तपक्षद्वयनिरासो द्रष्टव्यः। कुब्जशक्तिवादस्तु सर्वस्य सर्वार्थत्वे व्युत्पत्तिकुब्जत्व एव सङ्गच्छते, अन्यथार्थवादेऽपि शक्तिग्रहाधीनकार्यत्वोपस्थितेः शाब्दबोधे तत्प्रवेशध्रौव्यप्रसङ्गात्, नयविशेषाधीने तु प्रामाण्याप्रामाण्ये तत्र तत्रापेक्षिकत्वादेवाविरुद्धे इति दिक्। †लिङादिप्रत्ययार्थ इति, आदिना लोट्तव्यग्रहणम्। अन्यनिरपेक्षो नियोजकत्वादिनाऽविशिष्टस्तस्यान्यलभ्यत्वेन तदन्तर्भावेन विधिशक्यत्वाप्रतिपादनात्। अत्रेयं प्राभाकराणां मूलप्रक्रिया–' स्वर्गकामो यजेतेत्यत्र स्वर्गकामस्येष्टसाधनं याग इति तावन्नार्थः, प्रकृते इष्टस्य स्वर्गस्य साधनताया यागे विधिना बोधयितुमशक्यत्वात्, आशुविनाशिनो यागस्य कालान्तरभाविस्वर्गं प्रति साक्षात् साधनताया बाधितत्वात्, परम्परया तत्साधनत्वस्य च परम्पराघटकापूर्वानुपस्थित्यैवानुपस्थितेः, कार्यत्वमपि नात्र विधिना बोधयितुं शक्यम्। योग्यताभावात्, शाब्दे च योग्यताज्ञानस्य हेतुत्वात्, प्रकृते हि कामिकार्यत्वान्वये इष्टसाधनत्वमन्वयप्रयोजकं रूपं

* पत्र १४ पृ २ प. ८। † पत्र १४ पृ. २ पं. ११।

योग्यता, तच्च दुर्ग्रहमिति, तस्मात्कार्यमपूर्वमेव विध्यर्थस्तस्मिन् यागस्य विषयतयाऽन्वयः, कार्यत्वेन कार्यसामान्य एव शक्तिग्रहेऽपि च योग्यताबलादपूर्वव्यक्तेर्लाभः, नहि यागविषयकमन्यत् कार्यं सम्भवति, स्वज्ञानादिकं सम्भवतीति चेत्, न। तत्र स्वर्गकामस्यान्वयासम्भवात्, स हि नियोज्यनियोजकभावलक्षणस्तत्र स्वर्गकामो नियोज्यः, कार्यं च नियोजकं नियोजकत्वं च तत्कामिकार्यतया प्रतीयमानत्वम्, तत्र चान्वयप्रयोजकं काम्यसाधनत्वम्, न च काम्यस्वर्गसाधनत्वं यागविषयकज्ञानादौ सम्भवतीति योग्यताबलाद् यागविषयकं कार्यं स्वर्गकामीयं स्वर्गकामो यागविषयककार्यवानित्येव वानुभवो भवन् योग्यतयाऽपूर्वमालम्बते। एवं च काम्ये क्लृप्तशक्तिर्लिङ् नित्यनिषेधविधिस्थलेऽप्यपूर्वमाह—

'लोके च पचेदि' त्यादावपूर्वे तात्पर्याभावात् कार्यत्वे लक्षणेति, शुद्धप्रेरणादयो नियोगा एकदेशिनां भ्रान्तानां वा मते, तत्र शुद्धा प्रेरणा नियोग इति पक्षे प्रेरणाया नियोज्यतारूपत्वात् यागनिरूपितनियोज्यतावान् स्वर्गकाम इत्ययमाद्यो बोधः, ततो नियोज्येन नियोजकाक्षेपात् यागविषयकं स्वर्गकामीयं नियोजकमित्यौपादानिकोऽपूर्वविषयो द्वितीय इत्यादि बोध्यम्। प्रेरणासहितं कार्यं नियोग इति पक्षे प्रेरणा नियोजकत्वं तद्विशिष्टे कार्ये लिङः शक्तिः, तत्र कार्ये यागस्य विषयतया नियोजकत्वे चैकदेशेऽपि स्वर्गकामस्य निरूपकतया व्युत्पत्तिविशेषादन्वय इति द्रष्टव्यम्। तुर्यः पक्षोऽप्यनयैव दिशा व्याख्येयः। परं प्रेरणाविशेष्यकानुभवानुरोधाद्भेदः ४, *कार्यस्यैवापूर्वस्य सम्बन्धितया तत्त्ववृत्त्या शब्दप्रमाणनिष्ठमप्यु†पचारत आरोप्यमाणं ज्ञानगतप्रत्यक्षत्वमिव विषयनिष्ठतया ‡प्रवर्त्तकत्वं नियोग इति पञ्चमः, सम्बन्धमुख्यवि-

* पत्र १५ पृ १ पं ४। † पत्र १५ पृ. १ प. ४। ‡ पत्र १५ पृ. १ प. ४।

शेष्यकनियोगानुभवानुरोधेन कार्यप्रेरणयोः *सम्बन्धो नियोगः कल्प्यत इति षष्ठः, विशेषणविशेष्यभावे विनिगमकाभावात् स्वातन्त्र्ययोगानुभूयमानत्वाच्च तेषां कार्यप्रेरणासम्बन्धानां †समुदायो नियोगः खण्डशस्त्रिषु शक्तिकल्पनादिति सप्तमः, ‡तदुभयस्वभावविनिर्मुक्तो घटादिवदकार्यत्वाद्वचनादिवदप्रेरकत्वाच्च कार्यप्रेरणोभयस्वभावरहितो ब्रह्मात्मैव नियोगस्तद्विवर्त्तस्यैवावस्थाविशेषस्य वेदवाक्यात् प्रतीतेरखण्डमेव हि वाक्यमखण्ड एव च वाक्यार्थ इति सिद्धान्तादित्यष्टमः §यन्त्रारूढो दृष्टान्ततया यत्र स यंत्रारूढो विषयारूढत्वाभिमानो नियोग इत्यर्थः। अत्र चाऽऽरूढत्वेऽभिमाने च लिङः शक्तिः, आरूढत्वे निरूपितत्वेन विषयस्य, तस्य च स्वरूपसम्बन्धेनाभिमाने, तस्य च समवायेन कामिन्यन्वय इति यजेत स्वर्गकाम इत्यतो यागारूढत्वाभिमानवान् स्वर्गकाम इति बोधइति नवमः, $भोग्यरूपो नियोगइति दशमः। अत्र लिङो भोग्ये शक्तिस्तस्य भोगसम्बन्धेन स्वर्गकामान्वितस्य तादात्म्येन यागेऽन्वय इति स्वर्गकामभोग्यो याग इति बोधः, यद्यपि भोग्यत्वं फलनिष्ठं तथापि विषयनिष्ठतया तज्ज्ञानं प्रवर्त्तकमित्येतत्प्रकारानुसरणम् १०। ¶पुरुष एव नियोग इत्येकादशः, अत्र कार्यत्वेन कार्ये कार्यविशिष्टत्वेन कार्यविशिष्टे वा शक्तेः स्वर्गकामो यागकार्यो यागकार्यविशिष्ट इति वा बोधः। +किञ्च नियोगः सकलोऽपीत्यादि निश्चिताप्रामाण्यकत्वाविशेषितनियोगाश्रयणेयं दोषः, अन्यथा नियोगातिरिक्तविधिवाक्यार्थवादेऽप्येतत्पक्षद्वयकृतदोषानतिवृत्तेर्माध्यमिकमताश्रयणेन चैतद्दोषाभिधानमिति द्रष्टव्यम्। अभ्रान्तप्रवृत्तौ नियोगहेतुत्वे न दोष इत्याशयवान्

* पत्र १५ पृ. १ प. ५। † पत्र १५ पृ. १ पं. ७। ‡ पत्र १५ पृ. १ प ८। § पत्र १५ पृ. १ प. ९।, $ पत्र १५ पृ. १ प. १०। ¶ पत्र १५ पृ १ प. १४। + पत्र १६ पृ. २ प. १३।

शङ्कते—'तेषामित्यादि,' तेषां ताथागतादीनाम्, अभ्रान्तत्वस्य प्रवृत्तिविशेषणत्वे नियोगप्रामाण्यस्य सर्वप्रवृत्त्यविशेषे तस्या अभ्रान्तत्वं सर्वं प्रत्यविशिष्टं बलादापततीति पुरुषविशेषणत्वं वाच्यम्, तत्र च नोक्तदोषोद्धारः, परस्परापेक्षया द्वयोरपि भ्रान्तत्वादित्याशयवानुत्तरयति—*'परेषामपीत्यादि' न च वेदप्रामाण्यांशमात्रेऽभ्रान्तत्वोपादानाददोषो गुरूणामिव वेदान्तिनां नियोगस्य प्रवर्त्तकत्वप्रसङ्गात्, यत्किञ्चिद्यावद्वेदप्रामाण्यविकल्पकृतदोषस्य दुरुद्धरत्वाच्च, तदा फलार्थितैव प्रवर्त्तिका न नियोगइति। यद्यपि फलार्थितामात्रान्न प्रवृत्तिः, किन्तु फलार्थितया स्वर्गादेरिष्टत्वसम्पत्तौ तत्साधनताज्ञानाद् यागादौ चिकीर्षाद्वाराप्रवृत्तिस्तत्साधनता च साक्षाद्बाधिता सती परम्परयैव सुग्रहेति तद्घटकापूर्वोपस्थित्यर्थं शुद्धकार्यरूप-नियोगे लिङः शक्तिकल्पनान्नियोगस्य प्रवर्तकत्वमावश्यकम्, तथाऽपि लिङः शक्तिर्न कार्यत्वविशिष्टे गौरवात्, किन्तु कार्यत्व एव लाघवात्, एवं हि लिङ्पदत्वेनैव कार्यत्वानुभावकता नतु लौकिकलिङ्पदत्वेनेति, न च यागेऽन्वय-प्रयोजकेष्टसाधनत्वरूपयोग्यताज्ञानासम्भवात् स्वर्गकामकार्यत्वान्वयबोधासम्भवः, अन्वयप्रयोजकरूपवत्त्वस्य मेकानन्व-यितोयेऽपि सत्त्वेन योग्यतात्वनिरासादेकपदार्थेऽपरपदार्थसंसर्गवत्त्वस्यैव योग्यतात्वव्यवस्थापनात्, तस्य च ज्ञानं संशयनिश्चयसाधारणं हेतुरिति यागे स्वर्गकामकार्यत्वसंशयसम्भवात् कथं न योग्यताज्ञानम्। न चेष्टसाधनत्वमपि लिङा बोधयितुमशक्यं, रूपवांश्चैत्र इत्यत्र रूपपदेन नीलत्वादीन्युदस्य रूपसामान्यस्येव साक्षात्परम्परात्वमुदस्य साधनतासामा-न्यस्य लिङा बोधने बाधकाभावात्, न चैकविशेषबाधे शाब्दसामान्यज्ञानस्य तदितरविशेषप्रकारतानियतत्वात् घटेन जल-

* पत्र. १७ पृ. १ पं. १।

माहरेत्यत्र च्छिद्रबाधे छिद्रेतरत्वेन घटज्ञानवत् प्रकृते साक्षात्त्वबाधे परम्परात्वप्रकारकं ज्ञानमाश्रणीयं तच्च न सम्भवति द्वारानुपस्थितेरित्यपि शङ्कनीयम्, घटेन जलमाहरेत्यत्र योग्यतया वस्तुतश्छिद्रेतरघटान्वयेऽपि छिद्रेतरत्वेनानन्वयात्तथोपस्था-पकपदाभावात्, मानाभावेन लक्षणानाश्रयणात्, अस्तु वा प्रकृतेऽपि साक्षादन्यसाधनत्वप्रकारेणान्वयो नीलबाधे रूपवान् घट इत्यत्र रूपस्येव नीलेतरत्वेन। नह्येवमपि काचिदनुपपत्तिर्येनापूर्वोपस्थितये नियोग आश्रीयेतेति नियोगदूषणं बोध्यम्। *विधिवदिति अलौकिकब्रह्मस्वरूपविधिवदित्यर्थः। तदज्ञानादेव प्राभाकराभिमतनियोगाज्ञानाल्लोकानां प्रवृत्तेस्तस्य वाक्यार्थत्वायोगात्, प्रवर्त्तकविधेस्तु वाक्यार्थत्वं काममनुमन्यामह एव, यतस्तत्र व्यवस्थित एव प्रेरणानियोज्यवर्जितनियोगासम्भवादिना प्रत्येकनियोगपक्षदूषणानि घटन्ते। तत्र यस्य बुद्धिः प्रवृत्तिजननीमिच्छां सूते सोऽभिधेयविधिः, तज्ज्ञापकश्चाभिधायकविधिः, तदुक्तमुदयनाचार्यैः "प्रवृत्तिः कृतिरेवात्र, सा चेच्छातो यतश्च सा। तज्ज्ञानं विषयस्तस्य विधिस्तज्ज्ञापकोऽथवा ॥१॥" इति, प्रवृत्तिजननी चेच्छा कृतिसाध्यत्वप्रकारिका, तज्जननी च तादृशी धीः, न तु कृत्यसाध्यत्वप्रकारकज्ञानाभावस्तद्धेतुः, गौरवात् सर्वदा चिकीर्षोत्पत्त्यापत्तेश्च, ततः कृतिसाध्यत्वमेव विध्यर्थः, न च कृतिसाध्यताज्ञानस्यैव प्रवर्त्तकत्वे मधुविषसम्पृक्तान्नभोजने मण्डलीकरणे प्रवृत्त्यापत्तिः, स्वविशेषणवत्ताप्रतिसन्धानजन्यकार्यताज्ञानस्य प्रवर्त्तकत्वात्, "काम्ये हि यागपाकादौ कामना स्वविशेषणम्" ततश्च बलवदनिष्टाननुबंधिकाम्यसाधनताज्ञानात् कार्यताज्ञानं प्रवर्त्तकम्, न च तदुक्तस्थले, तृप्तश्च भोजने न प्रवर्त्तते तदानीं कामनायाः पुरुषविशेषणत्वाभावात्, नित्ये च शौचादिकं पुरुषविशेषणम्, तेन

* पत्र. १७ पृ. २ प २।

शौचादिज्ञानाधीनकृतिसाध्यताज्ञानात् तत्र प्रवृत्तिसम्भवः, यद्वा नित्ये शौचादिमत्त्वप्रतिसन्धानजन्यमन्यत्रेष्टसाधनताज्ञानजन्यमिष्टसाधनताज्ञानकालीन वा कार्यताज्ञानं प्रवृत्तिहेतुः, प्रवृत्तिसामान्ये च कार्यताज्ञानमिति न दोषः, न चैवं लाघवाद् बलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनताविषयककार्यताज्ञानमेव हेतुरस्त्विति वाच्यम्, नित्ये तदभावात्, साध्यत्वसाधनत्वयोर्विरोधेनेष्टसाधनत्वकृतिसाध्यत्वयोर्युगपद् ज्ञातुमशक्यत्वाच्च, साध्यत्वं ह्यसिद्धस्य धर्मः साधनत्वं च सिद्धस्येति कालभेदादेवोभयग्रहसम्भवादिति प्राभाकरमतानुसारिणः। जरन्नैयायिकास्तु बलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनताविषयकं कृतिसाध्यताज्ञानमेव लाघवात् प्रवर्त्तकं नत्विष्टसाधनताज्ञानजन्यकार्यताज्ञानादि, गौरवात्। न च फलाभावान्नित्ये इष्टसाधनताज्ञानासम्भवः, नित्येऽपि बहुशः फलश्रुतेर्यत्रापि न फलश्रुतिस्तत्रापि विश्वजिन्न्यायात् स्वर्गस्य प्रत्यवायपरिहारस्य वा फलस्य कल्पनात्, न चैवं कामनाधीनकर्त्तव्यत्वेन नित्ये नित्यत्वहानिः, यदकरणे प्रत्यवायस्तस्यैव नित्यत्वात्, न चैवं कामनाया अधिकारविशेषणत्वात् तदभावेऽशुचेरिवानधिकारिणो नित्येऽप्रवृत्तौ प्रत्यवायानापत्तिः, कामनेतरयावदधिकारवतामकरणस्यैव प्रत्यवायहेतुत्वकल्पनात्, न च साध्यत्वसाधनत्वयोर्विरोधः, एकस्मिन् पाके ओदनसाधनत्वकृतिसाध्यत्वयोः सर्वसिद्धत्वेन तयोरविरोधात्, अन्यथा परस्येष्टसाधनताज्ञानकालीनकार्यताज्ञानस्य प्रवर्त्तकत्वाभ्युपगमानुपपत्तेः, विध्यर्थोऽपि बलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनत्वे सति कृतिसाध्यत्वमेव, कलञ्जभक्षणे इष्टसाधनत्वकृतिसाध्यत्वसत्त्वेऽपि बलवदनिष्टाननुबन्धित्वाभावात् 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इति विध्यर्थनिषेधोपपत्तिरित्याहुः। नव्यास्तु विशेषणविशेष्यभावे विनिगमकाभावाद्बलवदनिष्टाननुबन्धित्वादित्रये पृथगेव शक्तिः, कारणतापि प्रत्येकज्ञानत्वेनैव, वस्तुतः कृतिसाध्यताधीत्वेनैव चिकीर्षां प्रति हेतुत्वम्, इष्टाजन-

केऽपि सुखादौ चिकीर्षोत्पत्तेरिष्टत्वात्, मण्डलीकरणादौ चोपायेच्छासामान्यसामग्र्यभावेनैव तदभावात्, का पुनः सेति चेत्, इष्टसाधनताज्ञानं बलवदनिष्टाननुबन्धित्वज्ञानं चेत्याहुः। केचित्त्विष्टसाधनत्वमेव विध्यर्थः। न तु कृतिसाध्यत्वमपि, यागादौ सर्वत्र लोकत एव तस्यावगम्यमानत्वेनान्यलभ्यत्वात्, अत एव प्रवृत्तिकारणमिष्टसाधनताज्ञानमेव न तु कृतिसाध्यताज्ञानमपि, बलवदनिष्टाननुबन्धित्वज्ञानं च न हेतुः। प्रवृत्तौ कार्यसहभावेन द्वेषस्य प्रतिबन्धकत्वेन तदभावेनान्यथासिद्धत्वात्, आस्तिककामुकस्यागम्यागमनादौ नरकसाधनताज्ञानदशायामप्युत्कटेच्छया द्वेषाभावकालीनप्रवृत्तौ व्यभिचाराच्च, न चोत्कटरागेण नरकासाधनत्वज्ञानमेव कामुकस्य जन्यत इति शक्यं वक्तुम्, आस्तिकत्वव्याघातात् तस्य समानविषयतया द्वेषप्रतिबन्धकत्वकल्पन एव लाघवाच्च। तदुक्तं मण्डनमिश्रैः–"पुंसां नेष्टाभ्युपायत्वात् क्रियास्वन्यः प्रवर्त्तकः। प्रवृत्तिहेतुं धर्मं च प्रवदन्ति प्रवर्त्तनाम् ॥१॥" इतीत्याहुः, परे तु ममेदं कृतिसाध्यमिति ज्ञानं न प्रवर्त्तकम्, अनागतस्य तस्य ज्ञातुमशक्यत्वात्, किन्तु यादृशस्य पुंसः कृतिसाध्यं यद् दृष्टं तादृशत्वं स्वस्य प्रतिसन्धाय तत्र प्रवर्त्तते प्रेक्षावान्, तथा चौदनकामस्य तत्साधनताज्ञानवतस्तदुपकरणवतः पाकः कृतिसाध्यस्तादृशश्चाहमिति प्रतिसन्धाय पाके प्रवर्त्तत इत्याहुः, तन्न, स्वकल्पितलिप्यादिप्रवृत्तौ यौवने कामोद्भेदादिना सम्भोगादिप्रवृत्तौ च तदभावात्, इदं तु बोध्यम्, इदानीमिष्टसाधनतादिज्ञानं प्रवर्त्तकम्, तेन भावियौवराज्ये बालस्य न प्रवृत्तिः, तदानीं कृतिसाध्यत्वाभावात्, तृप्तस्य च भोजने न प्रवृत्तिः, तदानीमिष्टसाधनत्वाभावादिति। उदयनाचार्यास्तु आप्ताभिप्रायो विध्यर्थः, पाकं कुर्यादित्यादावाज्ञादिरूपेच्छावाचित्ववल्लिङ्मात्रस्येच्छावाचित्वे लाघवात्, एवं स्वर्गकामो यजेतेत्यादौ यागः स्वर्गकामकृतिसाध्यतयाप्तेष्ट इत्यर्थः, ततश्चाप्तेष्टत्वेन स्वेष्टसा-

धनत्वाद्यनुमाय तत्र प्रवर्त्तते प्रेक्षावान्, कलञ्जभक्षणादौ तदभावान्न प्रवर्त्तते। यस्तु वेदे पौरुषेयत्वं नाभ्युपैति तं प्रति विधिरेव तावद् गर्भ इव कुमार्याः पुंयोगे मानमित्याहुः। वयं तु ब्रूमः—कार्यादिरूपनियोगस्येष्टसाधनत्वादेर्वा लिङर्थत्वमित्यत्र नास्माकमेकान्तः, शब्दशक्तेर्विचित्रत्वात्, यथाव्युत्पत्ति जायमानस्य विचित्रबोधस्य च लाघवमात्रेणानपवदनीयत्वात्, प्रवृत्तिहेतुता तत्तदर्थज्ञानानां तद्विषयकवीर्यान्तरायकर्मक्षयोपशमजनकत्वेनैव अभिजनकत्वेनेव घटं प्रति दण्डस्यान्यं प्रतीत्याद्यन्यथासिद्धौ फलाननुगुणत्वरूपान्यविशेषणप्रक्षेपध्रौव्येण प्रकृते तदभावात्, इत्थं चेष्टोत्पत्तिनान्तरीयकदुःखाधिकदुःखाजनकेप्यलसस्या प्रवृत्त्युपपत्तिः, विध्यर्थज्ञानेऽपि तत्रालस्यदोषप्रतिबन्धेन वीर्यान्तरायकर्मक्षयोपशमानिष्पत्तेः, इत्थमेव चाविरतसम्यग्दृष्ट्यादेः शक्यविरत्यादौ प्रवृत्त्यभावोपपत्तिः, तत्र तस्य बलवदनिष्टहेतुताज्ञानेबलवद्द्वेषे वाऽभ्युपगम्यमाने सम्यक्त्वक्षतिरेव, विपर्ययस्य मिथ्यात्वलक्षणत्वात्, अत एव श्रद्धालोः शक्यविरत्याद्यभावोपपत्तये चारित्रमोहनीयं कर्म कल्प्यत इत्यन्यत्र विस्तरः। *नन्वेवं नियोगनिराकरणेऽपीत्यादिना नियोगस्य वाक्यार्थत्वं निराकृत्य भावनायास्तत्त्वसाधनायोद्यतं भाट्टं प्रति तर्हि विधिरेव वाक्यार्थोऽस्तु न भावनेत्यन्तरा वल्गतो वेदान्तिनो मतं सौगतनयाश्रयणेन दूषयति। †परब्रह्मणो विधिरेवेत्यादि, अधिकरणस्वरूपत्वाभावस्येत्यर्थः, तस्य चेति स्वरूपविधेरित्यर्थः, सामान्यैकप्राणत्वादस्यान्यापोहवादे न विरोध इति भावः। ‡विधिवादिनोऽपीति, तत्रापि सदद्वैतेनातद्व्यावृत्तेरभावात्मिकाया अस्पर्शादित्यर्थः, §प्रतिभाससमानाधिकरणत्वेनेति, भातीतिक्रियासमानाधिकरणत्वेनेत्यर्थः, तथा चायं प्रयोगः, अन्यापोहः प्रतिभासान्तः प्रविष्टः भातीतिक्रियासमा-

* पत्र १८ पृ. १ प ३। † पत्र १८ पृ. २ पं. १। ‡ पत्र १८ पृ २ प. ३। § पत्र १८ पृ. २ प. ४।

नाधिकरणत्वात् भानस्वरूपवदिति, §परमब्रह्मत्वेनेति तथा चोपनिषद्वाक्यादेर्ब्रह्मत्वेन प्रतिभासादभेदो वाक्यत्वादिना च भेद इति रूपभेदान्न विरोध इत्यर्थः । *सकृत्तत्संवेद्यतान्यथानुपपत्तेरिति, प्रतिपादकादिभ्यो भिन्नत्व एव ह्युपनिषद्वाक्यस्य सकृदेकदा तेषां श्रोत्रसम्बन्धेन तदाकारवृत्त्या संवेद्यता स्यात्, अन्यथा तु साक्षिभास्यत्वेन साधारण्येन प्रतिभासो न स्यादित्यर्थः । †प्रतिभास्यस्यापि सुप्रसिद्धत्वादिति, ननु प्रतिभास्यस्य सुप्रसिद्धतया न प्रतिभासाद्वैतबाधा प्रतिभास्यस्य प्रतिभासकर्मतयैव स्वाप्निकपदार्थवन्मिथ्यात्वेन प्रतिभासमात्रस्यैव सत्यत्वसिद्धेः, नहि मिथ्याहिः सुप्रसिद्धोऽपि सत्यरज्जुरूपाधिष्ठानं बाधत इति, दृश्यप्रतिभासोऽपि च यावदविद्यमेव, यदा च विधिवदधीतवेदान्तस्यासम्भावनाविपरीतभावनाख्यचित्तदोषरहितस्याध्यारोपापवादन्यायेनाचार्योपदेशसमनन्तरमेव तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्याऽहं शुद्धं ब्रह्माऽस्मीत्यखण्डाकारा साक्षात्काररूपान्तःकरणवृत्तिरुदेति, शब्दजन्यज्ञानस्यापि विषयापरोक्षत्वेनापरोक्षत्वसम्भवात्, दशमस्त्वमसीत्यादिवाक्यजन्यज्ञानवत्, ज्ञानस्य परोक्षापरोक्षत्वयोः करणभेदस्यानियामकत्वात्, एकस्मादेव मनसः सुखादिविषयापरोक्षज्ञानस्यातीतार्थस्मृतेः परोक्षायाश्चोत्पादात्, तदा सा वृत्तिः प्रत्यक्चैतन्यव्याप्ता मूलाज्ञानं बाधित्वा दग्धेन्धनानलवत् स्वयमुपशाम्यति, तदैव तत्प्रतिबिम्बितं चैतन्यमपि, केवलब्रह्ममात्रमवशिष्यते, दर्पणाभावे मुखस्येवोपाधिविलये उपहितस्य स्वरूपमात्रावस्थानस्वभावत्वादिति सिद्धं प्रतिभासाद्वैतेन व्यवहारदशायामनिर्वचनीयप्रतिभास्यदृष्टावपि परमार्थदशायां तददृष्टेरिति चेत्, न, बाह्यार्थस्यापारमार्थिकत्वे तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यज्ञानविषयताया अपि ब्रह्मण्यसत्त्वेन तद्गताज्ञाननिवृत्त्ययोगात्, ज्ञानाज्ञानयोः समानाश्रय-

§ पत्र १८ पृ. २ पं ११ । * पत्र १९ पृ १ पं. १० । † पत्र १९ पृ. १ पं ११ ।

विपयकत्वेन नाश्यनाशकभावात्, किं चानिर्वचनीयानां घटादिपदार्थानामभ्युपगमापेक्षया सत्यतदुभ्युपगम एव श्रेयान्, अन्यथा जाग्रत्स्वप्नयोर्विशेपार्थमनिर्वचनीयविशेपस्यापि कल्पनापत्तेः प्रतिनियतकार्यकारणभावोच्छेदप्रसङ्गात्, किञ्च प्रतिभासाद्वैते बन्ध-मोक्षव्यवस्थैव दुर्घटा, निर्बीजकल्पनामूलानामज्ञानतत्कार्याणामसत्त्वात्, सत्त्वे वा तन्निवृत्तेः कर्त्तुमशक्यत्वात्, तन्निवृत्तेरसत्त्वे मुक्तेः खरविपाणप्रख्यत्वापत्तेः, सत्यत्वे द्वितीयसत्त्वेनाद्वैतव्याघातापत्तेः, अनिर्वचनीयत्वे प्रपञ्चानुगमापत्तेः, सत्यासत्या-निर्वचनीयातिरिक्तप्रकाराश्रयणे च तस्य जात्यन्तरत्वे स्याद्वादाश्रयणापत्तेः, तेनैव च सर्वनिर्वाहेऽद्वैतकुसृष्टिकष्टस्यानादरणी-यत्वात्, न च ब्रह्माधिकरणस्वरूपत्वादज्ञाननिवृत्तेरदोपः, तस्य शाश्वतत्वेन संसारदशायां मुक्त्यापत्तेः, न तत्कालोपलक्षिता-त्मनोऽपि परिणामित्वं विना मुक्तत्वं युक्तम्, उपलक्ष्यताया अपि कूटस्थेऽसम्भवादिति यत्किञ्चिदेतत्, तदिदमभिप्रेत्याहुः—सर्वतन्त्रसिद्धं मुक्तिस्वरूपमनूद्य श्रीहरिभद्राचार्याः—

"परिणामिन्यात्मनि सति, तत्तद्ध्वनिवाच्यमेतदखिलं स्यात्। अर्थान्तरे च तत्त्वेऽविद्यादौ वस्तु सत्येव ॥ १ ॥
पुरुषाद्वैतं तु यदा, भवति विशिष्टमथ बोधमात्रं वा। भवभवविगमविभेद–स्तदा कथं युज्यते मुख्यः ॥ २ ॥
अग्निजलभूमयो यत्, परितापकरा भवेऽनुभवसिद्धाः। रागादयश्च रौद्रा असत्प्रवृत्त्यास्पदं लोके ॥ ३ ॥
परिकल्पिता यदि ततो, न सन्ति तत्त्वेन कथममी स्युरिति। परिकल्पिते च तत्त्वे, भवभवविगमौ कथं युक्तौ ॥ ४ ॥
परिकल्पनापि चैपा, हन्त विकल्पात्मिका न सम्भवति। तन्मात्र एव तत्त्वे यदि वा भावो न जात्वस्याः ॥५॥" इति

* पत्र २३ पृ. १ पं. ७।

अधिकं मत्कृतानेकान्तव्यवस्थायाम्, ' 'परव्यावृत्तिद्वारेण चेत्यादि,' ननु पुरोवर्त्तिनीष्टतावच्छेदकप्रकारकज्ञानत्वेनैव लाघवात् प्रवर्त्तकता नत्वनिष्टतावच्छेदकाभावप्रकारकज्ञानत्वेन गौरवादिति विधेः प्राधान्ये विनिगमकमस्तीति चेत्, न, अतद्व्यावृत्तिप्रकारकज्ञानादपि बहूनां प्रवृत्तेरतद्व्यावृत्तिविध्यन्यतरनिष्ठप्रकारताविशेषस्यैव प्रवर्त्तकतावच्छेदकत्वौचित्यात्, अस्तु वा द्रव्याद्याकारताविलक्षणरजताद्याकारताशालिज्ञानत्वेन रजताद्याकारप्रवृत्तौ हेतुत्वम्, रजताद्याकारतैव चारजतभिन्नाद्याकारता, तत्तदाकारतात्वभेदाच्च व्यवहारभेदः, वस्तुतो विधिज्ञानस्य प्रवर्त्तकत्वेऽपि निष्कम्पप्रवृत्त्यर्थमतद्व्यावृत्तिविषयत्वध्रौव्यम्, तत्संसर्गतयैव निश्चयत्वसम्पत्तेरिति नैकतरपक्षपातो युक्त इति दिक् । *विधात्रेवेति, एतेन "आहुर्विधातृ प्रत्यक्षं, न निषेद्धृ विपश्चितः । नैकत्वे आगमस्तेन, प्रत्यक्षेण प्रबाध्यते ॥१॥" इति मण्डनमिश्रोक्तमपास्तम्, वस्तुनो विधिनिषेधोभयांशसंवलितत्वेन विध्यंश इव निषेधांशेऽपि प्रत्यक्षव्यापारानुपरमात् । अथ निर्विकल्पकरूपमेव प्रत्यक्षप्रमाणं स्वीक्रियते न सविकल्पकम्, तस्य जात्यादियोजनात्मकत्वेन स्मृतिप्रायत्वात्, तच्च भावस्यैव भवति नाभावस्य, तस्य सविकल्पकैकवेद्यत्वस्वीकारादिति विधात्रेव प्रत्यक्षमिति वचनं नाचतुरस्रमिति चेत्, न, अभावः सविकल्पकैकवेद्य इति सिद्धान्तस्य निर्युक्तिकत्वात्, इन्द्रियसन्निकर्षबलाद्भावस्येवाभावस्यापि निर्विकल्पकसिद्धेः, इन्द्रियसम्बद्धविशेषणतायाः प्रतियोगिविशेषिताभावप्रत्यक्षत्वमेव कार्यतावच्छेदकमित्यत्र मानाभावात्, अन्यथा सप्रकारकप्रत्यक्षत्वावच्छिन्न एव लौकिकप्रत्यासत्तिसम्बन्धेनेन्द्रियत्वेन हेतुताया युक्तत्वाद्-भावानिर्विकल्पकस्याप्युच्छेदापत्तेः, नेत्याकारकप्रत्यक्षवारणाय प्रथमहेतुताया एव युक्तत्वमिति चेत्, न, न नेत्या-

' पत्र २३ पृ १ प ८ ।

कारकप्रत्यक्षवारणाय द्वितीयहेतुताया एव युक्तत्वात्, किञ्चिदस्तीति प्रयोगान्न नेतीष्टमेवेति चेत्, शून्यमिदं दृश्यत इति प्रयोगान्नेत्यपि किं नेष्टम्? भावत्वेनाखण्डोपाधिना भावस्येवाभावत्वेनाखण्डोपाधिनाऽभावस्यापि प्रत्यक्षोपगमे बाधकाभावात्, नञुल्लेखस्य तु प्रतियोगिवाचकपदनियतत्वेनासार्वत्रिकत्वात्, अभावज्ञानस्य प्रतियोगिधीसापेक्षत्वात् घटत्वाद्यवच्छिन्नप्रकारत्वान्यप्रकारत्वानिरूपिताभावविषयताकप्रत्यक्षे घटादिधियो हेतुत्वान्नाभावांशे निर्विकल्पकमभाव इत्याकारकप्रत्यक्षं च जायते ईदृशप्रत्यक्षस्य निखिलप्रतियोगिज्ञानकार्यतावच्छेदकाक्रान्तत्वात्तस्य चासम्भवादिति चेत्, न, तथाप्यभावत्वनिर्विकल्पकापत्तेः, लाघवाय घटपटोभयाभावप्रत्यक्षनिर्वाहाय च घटादिधियो घटत्वाद्यवच्छिन्नप्रकारत्वनिरूपिताभावविषयताकप्रत्यक्ष एव हेतुत्वौचित्येन केवलाभावनिर्विकल्पकस्य वारयितुमशक्यत्वाच्च, यदि चाभावलौकिकप्रत्यक्षस्य घटत्वाद्यन्यतमविशिष्टविषयकत्वनियमाद्विशेषसामग्रीं विना सामान्यसामग्रीमात्रात् कार्यानुत्पत्तेर्नाभावनिर्विकल्पकं नेत्याकारकप्रत्यक्षं वा विशेषणज्ञानादिरूपविशेषसामग्र्यभावादिति विभाव्यते, तदा द्रव्यलौकिकप्रत्यक्षस्यापि किञ्चिद्धर्म्मावच्छिन्नपर्यायविशिष्टविषयकत्वनियमाद्वस्तुमात्रस्य सविकल्पकैकवेद्यत्वमस्तु, यदि च शुद्धब्रह्मणि निर्विकल्पकविषयत्वमेव तत्त्वमसीत्यादिवाक्यादपि जहदजहल्लक्षणयाऽखण्डब्रह्मण्येव पदवृत्तिग्रहेण निर्विकल्पकशाब्दबोधोपपत्तिरिति विभाव्यते तदा द्रव्यार्थादेशात् सर्वत्र विशेषविनिर्मोकेण निर्विकल्पकपदशक्तिग्रहसम्भवात् सर्वस्यैव निर्विकल्पकैकवेद्यत्वमस्त्विति निर्विकल्पसविकल्पकतयाऽपि पदार्थानामनेकान्त एव श्रेयान्। तदुक्तं पुरुषद्रव्यमाश्रित्य सम्मतौ—"सवियप्पणिव्विअप्पं, इय पुरिसं जो भणेज्ज अवियप्पं। सविअप्पमेव वा णिच्छएण ण स णिच्छिओ समए ॥ १ ॥" त्ति तथा च सर्वप्रमाणानां निर्विकल्पकादेशाद्विधातृत्वं सविकल्पकादेशाच्च निषेद्धृत्वमिति

तुल्यौ विधिनिषेधाविति मन्तव्यम्, अधिकमेतत्तत्त्वं नयामृततरङ्गिण्यां प्रतिपादितमस्माभिरिति तत एवाधिगन्तव्यम्। *नियोगस्यैवेत्याद्यारभ्य भावनावाक्यार्थत्वसाधनोपक्रमो भाट्टस्य, †शब्दात्मेति, शब्दात्मभावनां शब्दनिष्ठप्रवर्त्तनालक्षणाम्, †अन्याम् आख्यातसामान्यार्थभिन्नाम्, †इयं तु पचतीत्यादौ दृश्यमाना भावना तु, †अन्यैव ततः, †सर्वार्था आख्यातसामान्यशक्या, अत एव †सर्वाख्यातेषु वर्त्तते वाचकत्वेन, ‡शब्देन हीनि, तथा च फलान्वितधात्वर्थान्वितार्थभावनाजनकत्वं शब्दभावनात्वमित्यर्थः, §सन्मात्रमिति, अत्र स्थाने, अन्यत्र "सम्बन्धिभेदात् सत्तैव, भिद्यमाना गवादिषु। जातिरित्युच्यते तस्यां, सर्वे शब्दा व्यवस्थिताः॥१॥" इति कारिकाऽस्ति, तदर्थो गवादिशब्दानां ब्रह्मसत्तावाचित्वम्, गोत्वादेस्तु प्रयोगोपाधितया लाभ इति। एवं च सर्वशब्दाविशेष इति प्रकृतकारिकया कारकासम्पृक्तस्य शुद्धस्य भावस्य धात्वर्थत्वं प्रतिज्ञायते, §तामिति, तां सत्ताम्, ¶महानात्मा शुद्धं ब्रह्म, ¶यां त्वतलादयो भावप्रत्यया आहुरिति, तेषां खलु सत्तासामान्यमर्थः, घटपदाद्युत्तरत्वादीनां च प्रकृतिजन्यबोधप्रकारो धर्मो घटत्वादिः, न चैवं घटत्वत्वस्यापि वाच्यत्वापत्तौ गौरवम्, तत्तद्व्यक्तिविशिष्टब्रह्मसत्ताया एव घटत्वघटत्वत्वादिरूपत्वेनात्र लघुगुरुविचारानवकाशात्, अत एव वार्त्तिककारैस्तस्य भावस्त्वतलाविति सूत्रे यस्य गुणस्य भावाद् द्रव्ये शब्दनिवेशस्तदभिधाने त्वतलावित्युक्तम्, यस्य गुणस्य विशेषणस्य भावादाश्रयत्वाद् द्रव्ये विशेषे शब्दनिवेशः शब्दप्रवृत्तिस्तस्मिन् वाच्ये त्वतलाविति तदर्थः, तथा च रूपादिशब्देभ्यो जातौ

* पत्र २३ पृ. १ प. १२। † पत्र २३ पृ. २ प. १। ‡ पत्र २३ पृ. २ प २। § पत्र २३ पृ २ पं. ४। § पत्र २३ पृ २ पं. ५। ¶ पत्र २३ पृ २ पं. ६।

प्रत्ययः, रूपादिशब्दानां जातिप्रकारकबोधजनकत्वात्, पक्त्रादिशब्दानां क्रियाप्रकारकबोधजनकत्वेन तेभ्यः क्रियायाः सम्प्रत्ययः, संसर्गप्रकारकबोधजनकत्वमते च संसर्ग इत्यादिव्यवस्था सूपपादा, यद्वा " सर्वे भावाः स्वेनार्थेन भवन्ति स तेषां भाव " इति वार्त्तिके पक्षान्तरोक्तेः भवन्ति वाचकत्वेन प्रवर्त्तन्त इति भावाः स्वेन स्वरूपेणार्थेन भवन्ति प्रवर्त्तन्तेऽतः स तेषामर्थानां भावः प्रवृत्तिनिमित्तमिति तदर्थाच्छब्दोऽपि त्वप्रत्ययार्थः, अर्थवच्छब्दस्यापि द्रव्ये प्रकारत्वात्, अदृष्टार्थकदशरथादिपदेषु तत्तच्छब्दवाच्यत्वेनैव बोधस्य सर्वसिद्धत्वात्, दशरथत्वादिना शाब्दबोधस्योपपादयितुमशक्यत्वात्, अदृष्टदशरथादीनां दशरथत्वादिप्रकारकबोधाभावेन विशेषणग्रहाभावाद् दशरथत्वविशिष्टादौ शक्तिग्रहासम्भवेन पदजन्यदशरथत्वादिविशिष्टपदार्थोपस्थितेरभावात्, प्रमेयवानित्यनुभवजन्ये संस्कारे प्रमेयत्वांशे मोपवशाद्दशरथत्वमात्रप्रकारकस्मृतिजनकोद्बोधकवशाद्दशरथत्वप्रकारकस्मरणस्यापि तदंशेऽन्याप्रकारकतत्प्रकारकस्मरणे तादृशसंस्कारहेतुत्वावश्यकत्वेन वक्तुमशक्यत्वात्, अन्यथा जातित्वेन घटत्वप्रकारकसंस्कारादपि जातित्वांशे मोपदशायां घट इति स्मरणापत्तेः, न च प्रमेयाभाववदित्याकारकज्ञानात् संसर्गविधया शुद्धदशरथत्वादिस्वरूपप्रतियोगित्वलक्षणसम्बन्धविषयकाद् ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्तेः शुद्धदशरथत्वादिप्रकारको मानसानुभवः सुलभ इत्यपि वक्तुं शक्यम्, सांसर्गिकज्ञानस्य सार्वज्ञ्यापत्तिभयेनोपनायकत्वानभ्युपगमात्, एतेन यत्र दशरथत्वादिसम्बन्धेन घटादिभ्रमो जातः तत्र तथाविधशक्तिग्रहोपपादनं सुकरमिति रघुदेवोक्तमप्यपास्तम्, तस्मादर्थवच्छब्दस्यापि शक्यतावच्छेदकत्वं युक्तम्, घटादिपदेष्वपि घटत्वादिकं घटादिपदं चेत्युभयं शक्यतावच्छेदकम्, तत्र जातिप्रकारकः शक्तिग्रहो विशिष्यापेक्षितः, पदप्रकारकस्त्विदं पदं क्वचिच्छक्तमिति सामान्यत एवेति विशिष्यागृहीतशक्तिकेभ्यः किञ्चि-

दाकारेणैव शाब्दबोध इति दिक् । **किं नेष्यत इति,** (२३. २. ११) आख्यातार्थतयेति शेषः, **तथा च लिङादीति,** अत्र क्रियामात्रमर्थभावना, लिङादिनिष्ठा प्रवर्त्तना तु किं कथं केनेत्यंशत्रयवती शब्दभावनेति विशेषः । तदुक्तम्, " लिङोऽभिधा सैव तु शब्दभावना, भाव्यं तु तस्याः पुरुषप्रवृत्तिः । सम्बन्धबोधः करणं तदीयं, प्ररोचना चाङ्गतयोपयुज्यते "॥१॥ इति । **ननु चेत्याद्यारभ्य प्रज्ञाकर इत्यन्तो** (२४. १. ७) बुद्ध्याकार एव नियोगो भावना वा लिङाद्यर्थो न तु बाह्य इति सौगतस्य पूर्वपक्षः, **सोऽपि न परीक्षक इत्यादिना** प्रत्यक्षवच्छब्दस्य मुख्यमर्थग्राहित्वं प्रवर्त्तकत्वं च, अन्यथा तस्यापि तन्न स्याद्विकल्पेनान्यथासिद्धेः, भावीष्टसाधनताया दुर्ग्रहत्वस्य चोभयत्र तुल्यत्वादित्यादिप्रतिबन्ध्या तन्निरासः । **भावनाविशेषणत्वेनेति,** (२४. २. ७) तथा च भावनान्वययोग्ये कर्मत्वाद्यनवरुद्धप्रथमान्तपदोपस्थाप्ये लिङर्थसंख्यान्वय इति कर्तृगतसङ्ख्याभिधानानभिधानाभ्यामेवाभिहितानभिहिताधिकारीयव्यवस्थेति नानुपपत्तिरिति भावः । भावनैक्याद्विवचनबहुवचनाप्राप्तेर्वक्ष्यमाणदोषस्याप्येतदेव समाधानं द्रष्टव्यम्, भावनान्वयिनो द्वित्वादिना द्विवचनाद्युपपत्तेः । **तस्य कर्तृभेदाद् भेद इति,** (२५. २. ७) तस्य प्रत्ययार्थस्य स्वान्वययोग्यभेदाद् भिन्नसंख्यान्वितत‌दन्वयित्वमित्यर्थः । **न कारकभेदाद् भेदीति,** (२६. १. १) न संख्याभेदाश्रयकारकान्वयित्वेन भिन्नस्वरूप इत्यर्थः । आख्यातार्थसंख्यान्वयिकारकस्याख्यातेनैव समं साकाङ्क्षत्वादिति भावः । तथा च चैत्रमैत्राभ्यामास्यत इत्यत्राख्यातार्थसङ्ख्यायाः कारकानन्वितत्वाच्छाब्दन्यायेनौत्सर्गिकमेकवचनम्, धात्वर्थे त्वव्युत्पत्तेरेव न तदन्वयः, आर्थन्यायेन कथञ्चित्तत्र तदन्वयस्वीकारेऽपि सम्प्रदायविरुद्धत्वादेव न द्वित्वादिविवक्षया द्विवचनादिकमिति मन्तव्यम्, कारकद्वयसम्बन्धादिरूपमेव द्वित्वादिकमाख्यातद्वि-

वचनादिना नियोगे प्रतिपाद्यत इत्यत्र प्रत्यवतिष्ठते सौगतः स्यादाकूतं सम्बन्धाद् यदीत्यादिना, (२६. १. २) सम्बन्धाद् भिन्नकारकसम्बन्धात्, तद्भेदः क्रियाभेदः, धात्वर्थस्यापीति, (२६. १. २) चैत्रमैत्राभ्यामास्यत इत्यत्र कर्तृद्वयसम्बन्धेन धात्वर्थेऽपि द्वित्वाद् द्विवचनापत्तिरिति भावः, स्वमते उपपत्तिमाह सौगतः, अस्माकं त्विति, (२६. १. २) भेदेन हि विवक्ष्यत इति, (२६. १. २) कर्तृभिन्नत्वेन विवक्षिता सती कर्माभिन्नत्वेन विवक्षामाटीकते कर्मभिन्नत्वेन विवक्षिता च कर्त्रभिन्नत्वेन विवक्षामिति कर्मकर्त्रभिधानानभिधाननियम इति भावः । पारमार्थिकत्वोपपत्तेरिति, (२६. १. ३) तथा च भावनान्वयिनि सङ्ख्यान्वयात्तदभिधानानभिधानव्यवस्था पारमार्थिक्येव युक्ता, अन्यथोभयविवक्षानिमित्तस्य युगपदेकत्रासम्भवेनौदनः पच्यते स्वयमेवेत्यादिकर्मकर्तृप्रयोगोच्छेदापत्तेः, असत्कर्माद्यभेदविवक्षया व्यवस्थोपपादने सकर्मकाकर्मकप्रयोगादेरपि याद‍ृच्छिकत्वापत्तेश्च । पारमार्थिके तु शबलस्वरूपेऽप्यर्थे नेच्छाधीनोऽर्थः, किन्त्वर्थप्रयोजनाद्यधीनेच्छेति न व्यवस्थाक्षतिरित्यादि द्रष्टव्यम् । स्यादाकूतं ते (२८. १. ३) इत्याद्यारभ्य प्रज्ञाकरमतम्, ननुसामान्यप्रत्यक्षादित्यादि (२८. १. ८) संशयकारणोपपादनं भाट्टस्य तदसहमानस्य, न त्वनुपलम्भाद् (२८. १. ९) इत्यादिरुक्तिः प्राभाकरस्य, अभाव एवेति, (२८. १. ९) अभावप्रमाणजन्या प्रमैवेत्यर्थः, सामान्येनेति, (२८. १. ९) योग्यायोग्यानुपलम्भविकल्पद्वयौदासीन्येनानुपलम्भमात्रं प्रमाणमिति वादिन इत्यर्थः । तथानुपलब्धेरेव, (२८. १. १०) अनुपलब्धिलक्षणप्राप्तानुपलब्धेरेव, पिशाचादीनामिव संशयो भवत्वित्यर्थः, न स्यादिति अभावनिश्चयकारिणीति शेषः, स्यात् संशय इति (२८. १. १०) निश्चयसामग्र्यभावेन सम्भृतसामग्रीकत्वादित्यर्थः, सामान्यप्रत्यक्षतायामिति

(२८. १. १२) तदभिन्नतया विशेषस्यापि प्रत्यक्षसिद्धत्वादितिभावः । 'युक्तस्तत्र सन्देह इति' (२९. १. ८) उक्तनीत्या सामान्यप्रत्यक्षाद् विशेषाप्रत्यक्षादनेकविशेषस्मरणाच्च संशय इति प्रागुक्तार्थस्य निर्व्यूढत्वादिति भावः । अत्र सामान्यप्रत्यक्षं धर्मिज्ञानविधया विशेषाप्रत्यक्षं विशेषादर्शनविधयाऽनेकविशेषस्मरणं च कोटिद्वयोपस्थितिविधया संशयकारणमिति मन्तव्यम् । ननु कोट्योर्विरोधज्ञानमपि संशयकारणमस्ति तत्कुतो नोत्कीर्तितमिति चेत्, सत्यम्, संशये तदधिकरणावृत्तित्वरूपो विरोधो न प्रकारस्तथा सति तस्य तदभावव्याप्तिपर्यवसायित्वेन तदभावव्याप्यवत्तानिश्चयरूपसंशयप्रतिबन्धकसत्त्वात्तदभावस्य च कार्यसहभावेन हेतुत्वात् संशयमात्रस्य दुर्लभत्वापत्तेः, न च तदभावव्याप्यवत्तानिश्चयत्वं तदभावाऽप्रकारकत्वघटितम्, गौरवात्, अन्यथा वह्न्यभावव्याप्यव्याप्यवान् वह्निव्याप्यवान् पर्वत इति परामर्शात् पर्वतो वह्निमान् तदभावव्याप्यवांश्चेति संशयरूपाया अनुमितेर्दुर्वारत्वापत्तेः, किन्तूक्तविरोधः संशये संसर्गतया भासते, तस्य च पूर्वमुपस्थितिर्नापेक्षितेति विरोधज्ञानस्य संशयहेतुत्वोत्कीर्तनायोगात् । किञ्च विरोधाविषयकैकधर्मिकस्थाणुत्वतदभावप्रकारकज्ञानेऽपि संशयव्यवहारात्, अन्यथा तस्य संशयान्यत्वे ततो निश्चयकार्यापत्तेः, संशये न विरोधविषयकत्वस्पर्शोऽपीत्यलं तत्र तज्ज्ञानहेतुत्वशङ्कया । एतेन तद्वत्ताग्रहप्रतिबन्धकग्रहविषयत्वरूपस्य विरोधस्यापि प्रकारतया संसर्गतया च संशये भानमपास्तम् । अपास्तं च तद्वत्ताबुद्धिं प्रति तदभावव्याप्यवत्ताज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वमेकं तदभावव्याप्तिप्रकारतानिरूपिततद्धर्मावच्छिन्नविशेष्यताशालिनिर्णयविशिष्टतद्धर्मावच्छिन्नप्रकारताशालिनिर्णयत्वेन. पुरुषत्वव्याप्यं करादि करादिमांश्चायमिति ज्ञानद्वयादपि पुरुषत्वसन्देहनिवृत्तेः, अपरं च तदभावव्याप्त्यतिरिक्तनिष्ठप्रकारत्वानिरूपितप्रकारताशालिनिर्णयत्वेन,

पुरुषत्वव्याप्यवानयमिति ज्ञानादपि पुरुषत्वसन्देहनिवृत्तेः, एवं च संशये कोट्यंशे विरुद्धत्वकोटितावच्छेदकयोरेकत्र द्वयमिति रीत्या भानोपगमात्तस्योपदर्शितप्रतिबन्धकतावच्छेदकद्वयान्यतरानाक्रान्तत्वेनानुपपत्तेरभाव इति रघुदेवोक्तमपि, तदभावव्याप्यतिरिक्तनिष्ठप्रकारत्वानिरूपितत्वापेक्षया तदभावव्याप्तिनिष्ठप्रकारतानिरूपितत्वनिवेश एव लाघवाच्च, अन्यथैकत्र द्वयमिति रीत्या तदभावव्याप्तिकरत्वाद्यवगाहिनो विशेषदर्शनस्य तद्वत्ताज्ञानप्रतिबन्धकत्वानुपपत्तेरिति दिक्। अयं स्थाणुर्वा पुरुषो वा ? इत्यत्रापि स्थाणुत्वतदभावपुरुषत्वतदभावरूपकोटिचतुष्टयशाल्येव संशयः स्वीक्रियते, तादृशवाक्यादिदंपदाद्धर्मिणः स्थाणुपुरुषपदाभ्यां स्थाणुत्वपुरुषत्वयोर्वाकारद्वयेन चाभावद्वयस्योपस्थितेः, केवलं स नव्यमते शाब्दः, जीर्णनैयायिकमते चोपनयसहकारेण मानस इति विशेष इति नानुपपत्तिः, अन्ये त्वेकधर्मिणि विरुद्धनानाधर्मप्रकारकज्ञानं संशय इति संशयलक्षणं ब्रुवते, तन्मते स्थाणुर्वा पुरुषो वेत्ययं द्विकोटिक एव संशयः, विरोधज्ञानं च तन्मते संशयकारणमिति मन्तव्यम्, तल्लक्षणार्थश्चैकधर्मितावच्छेदकविशिष्टविशेष्यकत्वावच्छेदेन विरुद्धत्वेन नानाधर्मप्रकारकत्वम्, तेन ह्रदपर्वतौ वह्नितदभाववन्तावित्यादेः शुक्ताविदं रजतमेतद्रूपवच्चेत्यादेर्घटो द्रव्यं पृथिवी चेत्यादेश्च निरासः, एकधर्मिकविरुद्धनानाप्रकारकज्ञानत्वरूपं कोटिद्वयविरोधभानसामग्रीसमाजाधीनं संशयत्वं नीलघटत्ववन्न कार्यतावच्छेदकम्, एवं संशयत्वशून्यज्ञानत्वरूपनिश्चयत्वमपि नीलत्वशून्यघटत्ववत्तथेति दीधितिकृतः, न चैवं धर्मिज्ञानमन्तरेण निश्चयवत् संशयोऽपि स्यादिति वाच्यम्, सति धर्मीन्द्रियसन्निकर्षे इष्टत्वात्, क्वचिद्धर्मिज्ञानस्य धर्मीन्द्रियसन्निकर्षविधयैवोपयोगात्, कोट्युपस्थितेरपि विशेषणज्ञानमुद्रया विशिष्टबुद्धित्वावच्छिन्न एवापेक्षा, विशेषणज्ञानाहेतुत्वे तु तत्कोटीन्द्रियसन्निकर्ष एवापेक्षितो, नतु

सर्वत्र तज्ज्ञानमपि, संशयोत्पत्तिसमये निश्चयापत्तिरपि निश्चयत्वस्य कार्यतानवच्छेदकत्वेन तदवच्छिन्नोत्पत्तेरापादयितुमशक्यत्वादेव न भवतीति तदाशयः, अस्मत्सिद्धान्ते तु तादृशमपि संशयत्व निश्चयत्वं च विजातीयविजातीयक्षयोपशमजन्यतावच्छेदकमवश्यं स्वीकर्त्तव्यम्, बहुविधादिसूत्रे निश्चितानिश्चितयोरपि पाठात्, बह्वादिभेदानां च कारणभेदप्रतिनियतानामेव परिगणनात्, अन्यथाऽसंख्यभेदापत्तेः, अर्थसमाजग्रस्तस्य च धर्मस्य कार्यतानवच्छेदकत्वे प्रमाणाभाव एव बीजं परैरपि स्वीक्रियते, अन्यथा स्वसामानाधिकरण्यकालिकविशेषणतोभयसम्बन्धावच्छिन्नदुरितनिष्ठप्रतियोगितावच्छेदकताकभेदवद्दुरितध्वंसत्वमपि तत्त्वज्ञानकार्यतावच्छेदकं न स्यात्, तच्च तत्र तथाविधकार्यकारणभावग्राहकस्य तमेवेत्यादिवेदराशेरिवात्र बह्वादिसूत्रस्य प्रमाणस्य सत्त्वान्नास्त्येवेति तादृशस्यापि संशयत्वादेः कार्यतावच्छेदकत्वं निराबाधमिति। यदि च निश्चयसंशययोरवधारणत्वानवधारणत्वे विषयते अनुभवसिद्धे तदा तयोरेव कार्यतावच्छेदकत्वमिति युक्तमुत्पश्यामः। 'समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशय' इति गौतमीयं सूत्रम्, समानोऽनेकेषां तत्कोटितदभावकोटिमतां यो धर्मस्तदुपपत्तेर्द्धर्मिणि तद्वत्ताज्ञानात्, विप्रतिपत्तेर्विरुद्धकोटिद्वयप्रतिपादकाच्छब्दो नित्यो नवेत्यादिवाक्यात्, उपलब्धिरनुपलब्धिश्च लक्षणया तद्विषयौ भावाभावौ तयोरव्यवस्थाऽनिश्चायकं सपक्षविपक्षव्यावृत्तधर्मवत्ताज्ञानं ततोऽसाधारणधर्मवद्धर्मिज्ञानादिति यावत्, विशिष्यते व्यावर्त्तते विशेषदर्शनविषयो यस्मात् स विशेषो विशेषादर्शनं तत्सापेक्ष इति, एतावता कारणमुक्तं, लक्षणमाह—' विमर्श इति ' एकधर्मिकविरुद्धोभयप्रकारकं ज्ञानमिति तदर्थः, भाष्यकारस्तु समानः कोटिद्वयसहचरितो धर्मः, अनेकधर्मोऽसाधारणधर्मः, उपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्था तत्कोटिकज्ञानस्य तदभावकोटिक-

ज्ञानस्य च सद्विषयकत्वानवधारणं प्रामाण्यसंशय इति यावदित्याह, तदिह करोत्यर्थभावनारूपधर्मिज्ञानाद्विशेषादर्शनात् यज्यर्थतदितरकोटिद्वयोपस्थितेश्च विशेषसंशयाद् युक्तो विशेषप्रश्न इति बोध्यम्। तत्र स्वलक्षणेषु, विज्ञानवादिमतमायातमिति, (२९. २. १) तावतापि सौगतपक्षो न क्षीयत इति भावः। परमार्थसदायातमिति, (२९. २. २) अनिच्छतोऽपि योगाचारस्येति शेषः, विकल्पबुद्धौ प्रतिभासमानस्य सामान्याकारस्य मुख्यतायाः स्वयमेवाभ्युपगमात्तस्य च ज्ञानसामग्रीमात्रप्रभवस्य निर्विकल्पकेऽपि युक्तत्वाद्विशेषरूपताया अपि च बहिरर्थे गौणत्वे च ज्ञानमात्र एव तत्त्वतो विश्रान्तत्वादिति हृदयम्। विपर्ययस्यापीति, (२९. २. ४) अनुभूयमानेऽनुगतव्यावृत्ताकारद्वयेऽन्यतरासत्यत्वे विनिगमकाभावादिति निष्कर्षः। विचार्यमाणायोगादिति (२९. २. ७) किं स्यात् सा चित्रतैकस्यामित्यादियुक्तेरिति भावः। एतेन बाह्यान्तरार्थानां सर्वेषां सामान्यविशेषात्मकतासाधनेन, भेदाप्रतिष्ठितेः विशेषागोचरत्वात्। भेदमात्रस्येति, (२९. २. १४) अनुवृत्तरूपावगाहिनि ज्ञानेऽन्ततस्तदाश्रयतयैव भेदावगाहनादिति भावः। सामान्यग्रहण एवानुमानव्यापारो व्यक्तिस्त्वाक्षेपतो लभ्यतइति तु न वक्तुं युक्तम्, आक्षेपस्याप्यनुमानत्वात्, अनुमितौ सामान्यविषयताप्रवादस्तु व्यापकतानवच्छेदकतत्तद्व्यक्तित्वरूपेण व्यापकानवगाहित्वात् प्रत्यक्षवृत्तिस्पष्टताख्यविषयिताभावाद्वा समर्थनीयः। ताभ्यामिति, (३०. २. ४) ताभ्यां स्थाणुपुरुषाभ्यां विशेषाभ्यां, तस्योर्द्ध्वतासामान्यस्य, व्यतिरेको भेदश्चेत्, किं न दूरे व्यक्तिभानप्रतिबन्धकदूरत्ववति देशेऽवभासनं स्यादेव, विशेषात् सामान्यस्य भेदे एकभासकससामग्र्यभावेऽपरतदभावस्य नियन्तुमशक्यत्वादिति भावः। इष्टापत्तावाह—दूरेऽवभासमानस्यास्पष्टाकारस्य सामान्यस्य सन्निधानेऽतिशयेन भासनं स्यात्। यद्दूरेऽस्पष्टमनुभूयते तत्समीपेऽत्यस्पष्टं

भायात्, अस्पष्टे विशेषस्यात्यस्पष्टताया एव सम्भवादिति भावः। निरवच्छिन्नाम्रत्वादिप्रकारताशाल्याम्रादिप्रत्यक्षे निकटदेशवृत्तित्वादेर्हेतुत्वं दूरदेशवृत्तित्वादेर्वा प्रतिबन्धकत्वं कल्प्यते, अस्तु वा सामान्यविशेषसाधारण्येनास्पष्टताख्यविषयताविशेषसम्बन्धेन साक्षात्कारत्वावच्छिन्ने दूरत्वस्य स्पष्टाख्यविषयताविशेषसम्बन्धेन तदवच्छिन्ने च सन्निधानस्य हेतुत्वम्, तत्तद्देशवृत्तित्वविशिष्टविषयस्य तादूप्येणैव वा तत्त्वमिति नोक्तदोषस्पर्श इत्यभिप्रायवान् समाधत्ते–एतदप्ययुक्तं विशेषेऽपि समानत्वादित्यादिना (३०. २. ५)। कुतश्चिद्दृष्टेत्यादि, (३०. २. १४) दृष्टं कारणं दूरत्वादि अदृष्टमस्पष्टक्षयोपशमः न चैवं व्यभिचारः, दूरत्वादिदोषस्थलेऽप्यस्पष्टक्षयोपशमस्यैवाभ्युपगमात्, तत्त्वावच्छिन्ने च तत्तद्द्रव्यक्षेत्रकालभावानामेकशक्तिमत्त्वेन हेतुत्वे दोषाभावादिति दिक्। संवादकत्वादिति (३१. १. ३) संवादकत्वस्य च सद्विषयकत्वेन व्याप्तत्वादिति भावः। 'तथा च कथमिदमवतिष्ठत इत्यादि (३२. २. १२) यदि च विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाध्येषणाचतुष्टयसाधारणी प्रवर्त्तनैव शब्दभावना, विधिः प्रेरणं भृत्यस्य निकृष्टादेः, निमन्त्रणमावश्यकप्रेरणा, आमन्त्रणं कामचारानुज्ञा, अध्येषणा सत्कारपूर्वो व्यापारः, एतच्चतुष्टयानुगतप्रवर्त्तनात्वस्य शक्यतावच्छेदकत्वे लाघवात्, आह च "अस्ति प्रवर्त्तनारूप–मनुस्यूतं चतुर्ष्वपि। तत्रैव लिङ् विधातव्यः, किं भेदस्य विवक्षया ॥१॥ न्यायव्युत्पादनार्थं वा, प्रपञ्चार्थमथापि वा ॥ विध्यादीनामुपादानं, चतुर्णामादितः कृतम् ॥ २ ॥" इति, प्रवर्त्तना च प्रवृत्तिजनकज्ञानविषयतावच्छेदको धर्मः, स चेष्टसाधनत्वादिरिति विभाव्यते–तदा नामान्तरेण शिष्यध्यान्ध्योत्पादनादृते न कश्चिदन्यो नैयायिकमताद्विशेष इति मन्तव्यम्। परापेक्षामन्तरेण क्वचित् कदाचिदप्यभावादिति, (३४. २. १) अत्र तस्येति योजनीयम्। तस्य

समानप्रत्ययस्येत्यर्थः। नन्विदमयुक्तम्, घटोऽयमित्यादौ घटत्वादिसमानपरिणामप्रत्यक्षस्य परापेक्षामन्तरेणैव सर्वानुभवसिद्धत्वात्, न च सामान्यप्रकारकप्रत्यक्षे परापेक्षत्वनियमोऽपि वक्तुं युक्तः, घटत्वं सामान्यमिति प्रतीतेरतथात्वादिति चेत्, सत्यम्, सामान्यीयविशेषणतासम्बन्धेन सामान्यप्रकारकप्रत्यक्षे तथा नियमे दोषाभावात्, घटत्वं सामान्यमित्यत्र तु सामान्यस्य तादात्म्येनैव प्रकारत्वात्, वैसदृश्येऽपीत्थमेव परापेक्षत्वनियमोपपत्तेः, परापेक्षस्यापि कथञ्चित्तदनपेक्षत्वं तु न दूषणम्, किन्तु स्याद्वादसाधकत्वाद् भूषणमेव, एतेन सामान्यबोधो न परापेक्षो न वा वैसदृश्यबोधः, किन्तु तद् व्यवहार इत्ययमपि नयोऽनुगृहीतो भवतीत्यादि विभावनीयं सुधीभिः।

कथं शबलं दृष्ट्वेत्यादि, (३४. २. ३) शबलेन समानो धवल इति प्रत्यये सामान्यपदार्थस्य तद्भिन्नत्वे सति तद्वृत्तिधर्मस्वरूपत्वेन भेदगर्भत्वात् भेदप्रत्ययस्य चाभेदज्ञानविरोधित्वादिति भावः। एकत्वोपचारादिति, उपचरितमेकत्वं तज्जातीयाभेदरूपमाश्रित्येत्यर्थः। तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नभेदवत्ताबुद्धिर्हि तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नभेदाभाववत्ताबुद्धिं विरुणद्धि न तु तज्जात्यवच्छिन्नभेदाभाववत्ताबुद्धिमित्येवं न विरोध इत्यर्थः। न चैवं यां कांचिज्जातिमादायातिप्रसङ्गो, विशेष्यवाचकपदवाच्यतावच्छेदकजात्यवच्छिन्नभेदाभावाश्रयणेनानतिप्रसङ्गात्, यद्वैकत्वस्य शबलधवलवृत्तिसमानपरिणामगताभेदस्योपचारं धर्मिण्यध्यारोपमाश्रित्येत्यर्थः। न चैवमत्रापि सादृश्यान्तरमादायातिप्रसङ्गः, 'आरोपे सती'त्यादिन्यायेन सादृश्यान्तरेणाभेदाध्यारोपायोगादिति मन्तव्यम्। मुख्यमात्मादिद्रव्य इति, (३४. २. ४) मुख्यं स्कन्धपरिणामकृतमेकत्वमात्मादिषु द्रव्येष्वित्यर्थः। सादृश्ये तूपचरितमिति (३४. २. ४) प्रथमपक्षे सादृश्यइत्यस्य सादृश्यानिमित्तमित्यर्थः। द्वितीयपक्षे

सादृश्यवृत्तीत्यर्थः। कथमुपपद्येतेति, (३४. २. ५) मुख्यैकत्वस्य परानपेक्षत्वात् स एवायं गौरित्यत्र तदाश्रयणे शवलेन समानो धवल इति प्रत्ययो नोपपद्येतैवेत्यर्थः। तयोरेकसामान्ययोगादिति, (३४. २. ५) एतदनन्तर तेन समानोऽयमिति प्रत्यय उपपद्येतैवेत्यनुषञ्जनीयम्, तयोः शवलधवलयोर्गोत्वरूपैकसामान्यसम्बन्धे धवले शबलभिन्नत्वशबलवृत्तिगोत्वसामान्यरूपवत्त्वग्रहे उक्तविशिष्टबुद्धेर्नानुपपत्तिरित्यर्थः। इत्थं तटस्थेनाक्षेपसमाधाने कृते बाधकप्रसङ्गमाह–इति चेदित्यादिना, (३४. २. ५) सामान्यवन्ताविति (३४. २. ५) मुख्यैकत्वद्वये द्वित्वत्वेनाभिव्यञ्जकापेक्षाधीसत्त्वे समूहालम्बनस्यैव सम्भृतसामग्रीकत्वादित्यर्थः। न चैवं घटवद्भूतलमित्यत्रापि संयुक्ते घटभूतले इत्यस्यापत्तिरिति वाच्यम्, तत्रापि घटवत्त्वसादृश्यकृतैकत्वानाश्रयतो तदापत्तेरिष्टत्वात्, तदाश्रयणे तु धर्मिगतसङ्ख्यापुरस्कारेणैव तदन्वयविवक्षाधीनबोधोपपत्तेरिति ध्येयम्। ननूपचरितैकत्वाश्रयणेऽपि स एवायं गौरिति धीकाले तेन समानोऽयमिति कथं न स्यात्, तत्राह अभेदोपचारे त्विति (३४. २. ६) सामान्यमिति सम्प्रत्ययः स्यादिति (३४. २. ६) सामान्यान्तर्निगिरणं कृत्वा तदेकत्वप्रत्ययः स्यादित्यर्थः। न तेन समानोऽयमिति (३४. २. ६) तत्समानत्वबुद्धेस्तदेकत्वबुद्धिजनन एवोपक्षीणत्वादिति भावः। सत्यगवयेत्यादि, (३४. २. ८) तथा च भावस्थापनादिगोव्यवहारहेतुसादृश्यरूपाणां गोत्वानां भिन्नत्वाभ्युपगमान्न दोषः। एकत्वव्यवहारश्च तेषु गोत्वत्वेनानुगमय्यैवोपपादनीयः। अत एव मृत्त्वस्वर्णत्वादिना सांकर्यात् कुम्भकारस्वर्णकारदण्डवर्तुलादिजन्यतावच्छेदकतया घटत्वमपि नानैवैकत्वव्यवहारश्च तत्र कथञ्चित्सौसादृश्यादिनेति परेऽपि स्वीकुर्वते। नदेकजातित्वनिबन्धनमिति (३४. २. १०) तेन भावगवादिनैका जातिर्यस्य स्थापनागवादेस्त-

त्वप्रयोजकमित्यर्थः । तथा च गोपदशक्यतावच्छेदकं निक्षेपचतुष्टयानुगतगोत्वमेकं तद्व्याप्यानि च भावगोत्वादीनि नानेति निष्कर्षः। इदं तु बोध्यम्, एकानेकत्वेनानुभूयमाने वस्तुनि य एवांश एकत्वावच्छेदकः स एव द्रव्यं य एव चानेकत्वावच्छेदकः स एव पर्यायइति द्रव्यार्थिकनयेनोर्ध्वतासामान्यस्येव, तिर्यक्सामान्यस्याप्येकत्वस्याविशेषेण ग्रहणात् कथं वाचो युक्तिरात्मादिद्रव्ये मुख्यमेकत्वं सामान्ये तूपचरितमिति, विपर्ययस्यापि वक्तुं शक्यत्वात्, आत्मादिद्रव्यस्याप्येकग्रहणगृहीतासंख्येयप्रदेशाद्यात्मकत्वस्य सिद्धान्तसिद्धत्वात्, सामान्यस्य व्यञ्जनपर्यायरूपत्वान्न मुख्यमेकत्वमिति चेत्, एवं सति सर्वत्र शब्दानुगम एव स्यान्नार्थानुगमः, तथा चानुभूयमानार्थानुगताकारानुपपत्तिः । किञ्चैवमृजुसूत्रनयेनात्मादिरपि प्रतिक्षणभङ्गुरार्थपर्यायात्मा कथं मुख्यैकतामश्नुवीत, नयान्तरेण तु मुख्यमेकत्वमुभयत्राविशिष्टम्, अस्खलितप्रतीतेरेव तत्र मानत्वात्, अनुगतप्रतीतिविषयो हि सामान्यं व्यावृत्तिप्रत्ययविषयश्च विशेष इति, अनुगतप्रत्ययोऽपि चोर्ध्वतासामान्यानालम्बनस्तिर्यक्सामान्यमेवालम्बते, विषयेणैव धियां विशेषइति न्यायात्, अन्यथा साकारवादापातात्, स्वरूपास्तित्वमन्यदेशस्पर्शं न सहत इति चेत्, अन्यकालस्पर्शमपि कथं सहतामिति स्मरन्तु देवानुप्रियाः, सौत्रान्तिकादिसिद्धान्तपद्धतेः स्वतो व्यावृत्तिमतां पदार्थानां कथञ्चिदनुगतधीजननैकशक्तिर्ज्वरहरणैकशक्तिरिव गुडूच्यादीनां सामान्यमिति मते तु तुल्यन्यायेन विशेषस्यापि व्यावृत्तिधीजननशक्तिरूपत्वेन तदुभयाप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गः, तदतिरिक्तद्रव्याभावेन द्रव्यार्थतया प्रत्यक्षत्वस्यापि वक्तुमशक्यत्वात्। तस्मादेकत्वमनेकत्वं च सामान्यविशेषयोर्द्रव्यपर्यायावच्छिन्नं स्वस्वग्राहकनयापेक्षया मुख्यमेवेति दिक्। **येन तदपि वाक्यार्थो न स्यादिति**, (३४. २.१२) ननु यज्यादिसामान्यस्य शब्दार्थतां वयं न वारयामः, किन्तु धात्वर्थत्वेनान्यलभ्यतया लिङर्थतामेव, अत एव धर्मिकल्पनात इति न्यायाद-

पूर्वकल्पनापेक्षया यागादेः फलकालपर्यन्तं स्थायित्वमेव युक्तं, यागोत्तरकाले इदानीं न यजेयमिति प्रतीतेर्व्यापारकालावच्छिन्न-समवेतत्वस्यैव यागादिप्रत्यक्षहेतुत्वकल्पनेनोपपत्तेरित्युक्तिरपि प्रत्युक्ता, यज्याद्यर्थस्य लिङर्थव्यापारेऽन्वितस्यैवानुभवादार्थ्या भावनाया अप्रतिक्षेपात्। न च सर्वत्र व्यापाररूपा भावना नाख्यातस्यार्थः, किन्तु धातोरेवेति वैयाकरणमतमेव युक्तं, प्राधान्येन प्रतीयमानव्यापारस्य धात्वर्थतायाः प्रकृतिप्रत्यययोः प्रत्ययार्थप्राधान्यमिति न्यायविरुद्धत्वादिति चेत्, "अत्राहुरुद्धाहुतयोच्छलन्तो, नवीनवैयाकरणाः स्वयुक्तीः। शब्दार्थशुद्धौ वयमेव दक्षा इत्यान्तरं दर्पमिवोद्गिरन्तः ॥ १ ॥" यत्तावदुक्तं 'प्रकृतिप्रत्ययो' रित्यादिन्यायाद् व्यापारो न धात्वर्थ इति तदयुक्तं, तस्य न्यायस्य प्रकृत्यर्थप्रकारकबोधे तदुत्तरप्रत्ययजन्योपस्थितिः कारणमिति कार्यकारणभावमूलत्वात्, स एव च न सम्भवति, पक्ववानित्यत्र पाकं कृतवानिति विवरणात्, पाकस्य कर्मकारकस्य क्तवतुप्रत्ययार्थे कर्तृकारकेऽनन्वयात्। न च "सम्बन्धमात्रमुक्तं च श्रुत्वा धात्वर्थभावयोः। तदेकांशनिवेशे तु व्यापारोऽस्या न विद्यत ॥१॥" इति भट्टपादोक्तरीत्या सम्बन्धसामान्येन कारकाणामन्वयो वक्तुं शक्यः, क्रियात्वस्यैव कारकान्वयितावच्छेदकत्वेनान्वयप्रयोजकरूपवत्त्वलक्षणयोग्यताविरहात्, तस्मात् क्रियारूपा भावना धात्वर्थ एव, 'भूवादयो धातव' इति सूत्रे प्रभृतिप्रकारवाचकादिशब्दद्वयेन द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिणा भूप्रभृतयो वाम्दशा धातव इत्यर्थलाभात्, क्रियावाचकत्वे सति भ्वादिगणपठितत्वस्यैव धातुलक्षणत्वपर्यवसानात्, अत्र क्रियावाचके हिरुक्पृथग्नानेत्यादावतिव्याप्ति-वारणाय विशेष्यं, वा इत्यादावव्ययेऽतिव्याप्तिवारणाय विशेषणं, वा इत्यस्य यादृशस्याव्ययमध्ये पाठस्तादृशस्यैव भ्वादिगणेऽपि पाठात्, न "च गतिगन्धनाद्यर्थनिर्देशो नियामकस्तस्यार्थानादेशनादिति" भाष्यपर्यालोचनया धातूनामनेकार्थत्वेन नियमस्या-

धुनिकत्वलाभात्, क्रियात्वं च व्यापारत्वं, न तु धात्वर्थत्वम्, अन्योन्याश्रयात्, न चान्यतमत्वं धातुत्वं, भूवादय इति सूत्रवैयर्थ्यापत्तेः, न च सत्तादीन् फलांशानन्यतमत्वेनादाय तद्वाचकत्वे सति गणपठितत्वमेव लक्षणमुच्यतामिति वाच्यम्, तदन्यतममध्ये विकल्पस्यापि विकल्पयतीति प्रयोगानुसारेण प्रवेशध्रौव्यात् तदर्थकचकारे'तिव्याप्तेरिति वोध्यम्, क्रियावाचकत्व एव हि धातोः कार्यमग्निष्टोमयाजीत्यादौ कर्मणि करणोपपदे कर्त्तरि च ण्यत् णिनिप्रत्ययोपपत्तिः, विना क्रियां कारकत्वासम्भवेन तद्वाचकप्रत्ययस्याप्यसम्भवात्। न च गम्यमानक्रियामादाय कारकयोगइति भट्टरीतिर्युक्ता, आख्यातस्थलेऽपि तदापत्तौ भावनायास्तदर्थत्वप्रवादस्य दत्तजलाञ्जलित्वप्रसङ्गात्, एतेन प्रकृते लिङ्गसंख्यान्वयानुरोधात् कर्त्तुर्वाच्यत्वध्रौव्यात् तेनाक्षेपाद्भावनाप्रत्ययः सुघट इत्यपास्तम्। एवं सत्याख्यातेऽपि संख्यान्वयानुरोधेन कर्त्तुर्वाच्यत्वप्रसङ्गात्, किञ्चैवं नखैर्भिन्नो नखभिन्नो हरिणा त्रातो हरित्रात इत्यादौ "कर्तृकरणे कृता बहुलमिति" समासो न स्यात्, पुरुषो राज्ञो, भार्या देवदत्तस्येत्यादाविवासामर्थ्यात्, न च दध्योदनो गुडधाना इत्यादाविवात्राध्याहृतक्रियाद्वारा सामर्थ्यं वाच्यम्, तत्र विध्यानर्थक्यादगत्या तथा स्वीकारेऽपि नखभिन्न इत्यादौ साक्षाद्धात्वर्थान्वये बाधकाभावात्। किञ्च भावनायास्तिङर्थत्वे भावयति घटमिति वद्भवति घटमित्यपि स्यात् धात्वर्थफलाश्रयत्वरूपकर्मत्वसत्त्वात्, न चाख्यातार्थव्यापाराश्रयत्वेन कर्तृत्वात्तत्संज्ञया कर्मसंज्ञाया बाधान्न द्वितीयेति वाच्यम्, आख्यातार्थव्यापाराश्रयत्वस्य कर्तृत्वरूपत्वे पाचयति देवदत्तो विष्णुमित्रेणेत्यत्र विष्णुमित्रस्याकर्तृतापत्तौ तृतीयानापत्तेर्ग्रामं गमयति देवदत्तो विष्णुमित्रमित्यत्र विष्णुमित्रस्याकर्तृतापत्तौ ग्रामस्य गमिकर्मतानापत्तेश्च। तथा च ग्रामाय गमयति देवदत्तो विष्णुमित्रमित्यपि न स्यात्, "गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यौ चेष्टायामनध्वनीति," गत्यर्थकर्मण्येव चतुर्थीवि-

धानात्, अपि च फलमात्रस्य धात्वर्थत्वे ग्रामो गमनवानिति प्रतीत्यापत्तिः संयोगाश्रयत्वात्, फलानुत्पाददशायां व्यापार-सत्त्वे पाको भवतीत्यनापत्तिर्व्यापारविगमे पाको विद्यत इत्यापत्तिश्च, न च भावप्रत्ययस्य घञादेरनुकूलव्यापारवाचकत्वानानुपपत्तिः कर्तरि कृदित्यत एव तल्लाभे विशेषानुशासनवैयर्थ्यापत्तेः। अथ कथं फलव्यापारयोर्द्वयोरपि धातुतो लाभ इति चेत्, फले व्यापारे च खण्डशः शक्तिद्वयकल्पनात्, पचतीत्यादौ फलं विक्लित्त्यादि, व्यापारो भावनाभिधासाध्यत्वेनाभिधीयमाना क्रिया, यद्वाक्यपदीयं "यावत्सिद्धमसिद्धं वा साध्यत्वेनाभिधीयते। आश्रितक्रमरूपत्वात् सा क्रियेत्यभिधीयते" ॥१॥ इति। न च साध्यत्वेनाभिधाने मानाभावः, पचति पाकः करोति कृतिरित्यादौ क्रियान्तराकाङ्क्षानाकाङ्क्षयोर्दर्शनस्यैव मानत्वात्। क्रियान्तराकाङ्क्षानुत्थापकतावच्छेदकरूपस्य साध्यत्वस्यासत्त्वाख्यस्य धातुप्रतिपाद्यत्वकल्पनात्, तदिदमभिप्रेत्योक्तं वाक्यपदीये " असत्त्वभूतो भावश्च तिङ्पदैरभिधीयते " इति, न चैवं घञन्तेऽपि धातुना तद्भानापत्तिः, इष्टत्वात्, तत्र प्रकृतिप्रत्ययभागाभ्यां पश्य मृगो धावतीत्यादौ तिङन्ताभ्यामिव साध्यसाधनावस्थयोरभिधानात्, तत्र साध्यत्वं क्रियान्तराकाङ्क्षानुत्थापकतावच्छेदकरूपवत्त्वं, साधनत्वं च कारकत्वेनान्वयित्वमिति, न च घञन्ते धातुना साध्यत्वेनाभिधाने मानाभावः। ओदनस्य पाक इति कर्मषष्ठ्या मानत्वात्। न च भवतीत्यध्याहृतक्रियान्वयात् षष्ठी, कर्तृकर्मणोः कृतीति कृदन्तेन योग एव तद्विधानात्, नलोकाव्ययेत्यादिना लादेशयोगे निषेधाच्च। अथ कारकाणां भावनायामेवान्वय इति नियमे ओदनस्य पाक इत्यत्र कर्मषष्ठी भावनाया धातुवाच्यत्वं साधयेत् तत्रैव तु किं मानमिति चेत्, विशेष्यतया कारकादिप्रकारकबोधं प्रति धातुजन्यभावनोपस्थितिर्हेतुरिति कार्यकारणभाव एवेत्यवेहि, तदुक्तं " सम्बोधनान्तं कृत्वोर्थः, कारकं प्रथमो यतिः। धातुसम्बन्धाधिकार-निष्पन्नम-

समस्तनञ् ॥ १ ॥ तथा यस्य च भावेन, षष्ठी चेत्युदितं द्वयम् । साधुत्वमष्टकस्यास्य, क्रिययैवावधार्यताम् ॥२॥ ” इति, एतत्कारिकाद्वयार्थो यथा सम्बोधनान्तस्य क्रियायामन्वयः, त्वं ब्रूहि देवदत्तेत्यादौ निघातानुरोधात्, “ समानवाक्ये निघातयुष्मदस्मदादेशा ” इत्यनेन समानवाक्य एव तन्नियमात्, पचति भवतीत्यादौ सूत्रभाष्यादिरीत्यैकवाक्यतासत्त्वादेव निघातस्वीकारात् ॥ १ ॥ कृत्वोऽर्थः, क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुजितिविहितः, क्रियायामन्वेति, क्रियाया अभ्यावृत्तिः पुनःपुनर्जन्म तस्मिन् द्योत्य इति तदर्थात् क्रियायोगे तत्साधुतोक्तेः ॥ २ ॥ तथा कारकं करोति कर्तृकर्मादिव्यपदेशानिति व्युत्पत्तेः कारकशब्दस्य क्रियापरत्वात्, ॥ ३ ॥ प्रथमो वतिः तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिरिति विहितः, तत्र यत्तुल्यं सा क्रिया चेदित्युक्तत्वात् ॥ ४ ॥ धातुसम्बन्धाधिकारनिष्पन्नं “ धातुसम्बन्धे प्रत्यया ” इत्यधिकृत्य तेषां विधानात् ॥ ५ ॥ असमस्तः समासायोग्यो नञ् प्रसज्यप्रतिषेधीय इत्यर्थः । न च तस्य क्रियान्वये मानाभावः न त्वं पचसि न युवां पचथ इत्यादौ क्रियाया एव निषेधप्रतीतेः, घटो नास्तीत्यत्राप्यस्तित्वाभावस्यैव बोधात्, भूतले न घट इत्यत्राप्यस्तीत्यध्याहारेणैव तथा बोधकल्पनात्, प्रकारतासम्बन्धेन नञर्थविशेष्यकबोधे धातुजन्यभावनोपस्थितेर्हेतुताया एव युक्तत्वात्, ॥ ६ ॥ ‘ यस्य च भावेन भावलक्षणं ’ ‘ षष्ठी चानादर ’ इति सूत्रद्वयेन विहितमपि क्रियायामेवान्वेति, पूर्वत्र भावशब्देन तद्योगे साधुत्वाख्यानादुत्तरत्र च यद्भावेनेत्यस्यार्थतो लाभादिति ॥ ७–८ ॥ स च भावनाख्यो व्यापारः पचतीत्यादौ फूत्कारत्वाधःसन्तापनत्वयत्नत्वादितत्तद्रूपेण वाच्यः, ततस्तत्तत्प्रकारकबोधस्यानुभवसिद्धत्वात्, न च नानार्थतापत्तिः, तदादिन्यायेन बुद्धिविशेषादेः शक्यतावच्छेदकानुगमकस्य सत्त्वात्, आख्याते क्रियैकत्वस्यापि तेनैव व्यवस्थितेः, यद्वाक्य-

पदीयं "गुणीभूतैरवयवैः, समूहः क्रमजन्मनाम्। बुद्ध्या प्रकल्पिताभेदः क्रियेति व्यपदिश्यत"॥१॥ इति, आख्यातस्य च फलाश्रये व्यापाराश्रये च शक्तिः, तत्र फलाश्रयः कर्म, व्यापाराश्रयः कर्त्ता, शक्यतावच्छेदकं चाश्रयत्वं, शक्तिविशेषरूपं, न तु फलादिगर्भं, फलादेर्धातुलभ्यत्वात्। मानञ्च तत्र 'लः कर्मणि भावे चाकर्मकेभ्य' इति सूत्रमेव, अत्र हि चकारात् कर्त्तरि कृदिति सूत्रोक्तं कर्त्तरीत्यनुकृष्य बोधकतारूपां तिबादिशक्तिं तत्स्थानिभूते लकारे प्रकल्प्य तस्य कर्मकर्तृविषयविधानात्, न च दर्शनान्तरीयरीत्या व्यापारस्य धात्वर्थत्वाभावात्तत्र लकारविधिः स्यादिति शङ्कनीयम्। तद्वदेव कृतामपि कर्तृकर्मवाचकत्वापत्तेः कर्त्तरि कृदित्यस्य लः कर्मणीत्यनेन तुल्ययोगक्षेमत्वात्, अपि च मीमांसकानां कृतामिवाख्यातानामपि कर्तृवाचकत्वमस्तु भावनायाश्चाक्षेपत एव लाभः, घटमानयेत्यादावाक्षेपितव्यक्तेरिव तस्याः प्राधान्योपपत्तेः। पचतीत्यादौ भावनाया विवरणदर्शनाद् वाच्यत्वमिति चेत्, न, पाकानुकूलव्यापारवतः कर्त्तुरपि विवरणविषयत्वाविशेषात्, न च कर्त्तुर्विवरणं तात्पर्यार्थविषयं पाकं करोतीत्यत्राशब्दार्थकर्मत्वविवरणवदितरेतरद्वन्द्वे समुच्चयांशविवरणवद्वेति न तदर्थनिर्णायकमिति वाच्यम्। भावनायां तुल्यत्वात्, किं च पचति देवदत्त इत्यत्राभेदान्वयदर्शनात् कर्त्तुर्वाच्यत्वमावश्यकं पक्ता देवदत्त इत्यत्रेव, नचाभेदबोधे समानविभक्तिमत्त्वं नियामकं तदभावान्नात्र स इति वाच्यम्। सोमेन यजेत स्तोकं पचति राजपुरुष इत्यादावप्यभेदबोधानापत्तेः। न च कर्त्तरि लक्षणया सामानाधिकरण्यं, पिङ्गाक्ष्यादियौगिकानामपि द्रव्यवाचित्वानापत्तेररुणाधिकरणोच्छेदापत्तेरिति दिक्। अत्र फले व्यापारः प्रधानं, तिङर्थाः कर्तृकर्मसङ्ख्याकाला विशेषणानि, तत्रापि कर्तृकर्मणी व्यापारफलयोर्विशेषणे, संख्या कर्तृप्रत्यये कर्त्तरि, कर्मप्रत्यये कर्मणि, समानप्रत्ययोपात्तत्वात्। तथा

चाख्यातार्थसंख्याप्रकारकबोधं प्रत्याख्यातजन्यकर्तृकर्मोपस्थितिर्हेतुरिति फलितं, नैयायिकादीनामाख्यातार्थसंख्यायाः प्रथमार्थ एवान्वयादाख्यातार्थसंख्याप्रकारकबोधे प्रथमान्तपदजन्योपस्थितेर्हेतुहेतुमद्भावो वाच्यः, सोऽपि चन्द्र इव मुखं दृश्यते देवदत्तो भुक्त्वा व्रजतीत्यादौ चन्द्रेवार्थयोराख्यातार्थानन्वयादितरविशेषणत्वतात्पर्याविषयत्वघटितो वाच्य इत्यतिगौरवमिति मन्तव्यम् । कालस्तु व्यापारे विशेषणं, न तु संख्यावत् कर्तृकर्मणोस्तदन्वयः शक्यः, अतीतभावनाके कर्त्तरि पचतीत्यापत्तेः अपाक्षीदित्यनापत्तेश्च, नापि फले तदन्वयः, फलानुत्पाददशायां व्यापारसत्त्वे पचतीत्यनापत्तेः पक्ष्यतीत्यापत्तेश्च, न चाश्ववातजडीकृतकलेवरस्योत्थानानुकूलयत्नसत्त्वादुत्तिष्ठतीति प्रयोगापत्तिः, परयत्नस्याज्ञानादप्रयोगात्, किञ्चिच्चेष्टादिनाऽवगतौ चायमुत्तिष्ठत्ति नतु शक्नोत्युत्थातुमिति लोकप्रतीतेरिष्टत्वात्, इत्थं च तिङर्थो विशेषणमेव प्रधानं तु भावनैवेति स्थितम् । यदि चाख्यातार्थप्राधान्यं स्यात् तदा देवदत्तादिभिः सममभेदान्वयात् प्रथमान्तार्थस्य प्राधान्यापत्तिस्तथा च पश्य मृगो धावतीत्यत्र भाष्यसिद्धैकवाक्यता न स्यात्, प्रथमान्तार्थमृगस्य धावनक्रियाविशेष्यस्य दृशिक्रियायां कर्मत्वापत्तौ द्वितीयापत्तेः, न चैवमप्रथमासामानाधिकरण्याच्छतृप्रसङ्गः, तथापि द्वितीयाया दुर्वारत्वेनोक्तवाक्यस्यैवासम्भवापत्तेः, न च पश्येत्यत्र तमिति कर्माध्याहार्यम्, वाक्यभेदप्रसङ्गात् । एवं च भावनाप्रकारकबोधे प्रथमान्तपदजन्यपदार्थोपस्थितिः कारणमिति नैयायिकोक्तमयुक्तम् । किं त्वाख्यार्थकर्तृप्रकारकबोधे धातुजन्योपस्थितिर्भावनात्वावच्छिन्नविषयतया हेतुः, भावनाप्रकारकबोधं प्रति तु धात्वर्थभावनोपस्थितिरेव हेतुः, पश्य मृगो धावति पचति भवतीत्याद्यनुरोधादिति कल्पनीयम् । इत्थं च पचतीत्यत्रैकाश्रयिका पाकानुकूला भावना, पच्यत इत्यत्रैकाश्रयिका या

विक्लित्तिस्तदनुकूला भावनेति बोधः । देवदत्तादिपदप्रयोगे त्वाख्यातार्थकर्त्रादिभिस्तदर्थस्याभेदान्वयः । घटो नश्यतीत्यत्रापि घटाभिन्नाश्रयको नाशानुकूलो व्यापार इति बोधः, स च व्यापारः प्रतियोगित्वविशिष्टनाशसामग्रीसमवधानम्, अत एव तस्यां सत्यां नश्यति तदत्यये नष्टः तद्भावित्वे नंक्ष्यतीति प्रयोगः । देवदत्तो जानातीच्छतीत्यादौ च देवदत्ताभिन्नाश्रयको ज्ञानेच्छाद्यनुकूलो वर्त्तमानो व्यापार इति बोधः, स चान्तत आश्रयतैवेत्यादिरीत्योह्यम् ।" अत्र ब्रूमो न्यायमार्गानुरोधा–दुदयद्बोधध्वस्तदुर्वादियोधाः । येनान्येषां दूषणे भूषणे वा सर्वत्रैव प्रोत्सहन्ते नया नः" ॥१॥ तत्र पचतीत्यत्रैकाश्रयिका पाकानुकूला भावनेति बोध इति यदुक्तं तत्कथं युक्तम्, पच्यर्थानां बुद्धिविशेषानुगताधःसन्तापनत्वादिना भानस्वीकारेण कस्यापि व्यापारस्य भावनात्वेन भानायोगात्, धातुसामान्यार्थभावनायां धातुविशेषार्थतत्तद्व्यापाराणां व्युत्पत्तिवैचित्र्येणान्वयभानस्वीकारे तु पचतीत्यत्रैकाश्रयकाधःसन्तापनाद्यभिन्नव्यापारत्वेन बोधः स्यात्, स चानिष्टः, नचाधःसन्तापनादीनां देवदत्ताश्रयकत्वं सम्भवति, यत्नघटितपरम्परासम्बन्धेन तेषां तत्त्वसम्भवोक्तौ च लाघवाद् यत्नस्यैव भावनात्वेनान्वयो युक्तः, अन्यथा फलस्यापि तद्वत्तथान्वये व्यापारत्वप्रसङ्गात्, चरमव्यापार फलस्थाने धृत्वा तदितरेषां तदनुकूलानां भावनात्वेन भानस्वीकारोऽपि न्याय्यः गुणीभूतैरित्यादिना समूहस्य तुल्यवद्भानोक्तिविरोधप्रसङ्गः, न चाधःसन्तापनत्वादीनां साध्यत्वेनाभिधीयमानत्वरूपव्यापारत्वेन भावनात्वेन भानमित्यपि शक्यं वक्तुम्, अधःसन्तापनत्वादिशुद्धरूपेणैव पूर्वं भानाभ्युपगमात्, एकत्र द्वयमिति न्यायेनोभयरूपेण भानस्वीकारे चान्यलभ्याभिधीयमानत्वविनिर्मोकेणाधःसन्तापनत्वादिसाध्यत्वयोरेकत्र भानाय प्रत्येकं शक्यतावच्छेदकत्वस्य व्यासज्यवृत्तित्वकल्पने महागौरवात्, साध्यत्वस्य वर्तमानभावना-

कत्वानतिरेकेणातिरिक्तभावनान्वेषणप्रसङ्गाच्च, घटो नश्यतीत्यत्रापि घटाभिन्नाश्रयको नाशानुकूलो व्यापार इति बोधस्वीकारे कपाले घटो नश्यतीति प्रयोगानुपपत्तिः, प्रतियोगित्वविशिष्टनाशसामग्रीसमवधानात्मन उक्तव्यापारस्य कपालावृत्तित्वात् । न च कपालवृत्तित्वस्य घटेऽन्वयः, तव मते क्रियात्वस्यैव कारकान्वयितावच्छेदकत्वात्, घटपटौ नश्यत इति प्रयोगानुपपत्तिश्च, उभयाभिन्नाश्रयकस्य प्रतियोगित्वविशिष्टनाशसामग्रीसमवधानस्याभावात् । द्वित्ववदाश्रयकतादृशव्यापारग्रहे चैकत्र नश्यति द्वौ नश्यत इति प्रयोगप्रसङ्गः,उभयव्यापारविवक्षायां क्रियाभेदाद् वाक्यभेदापत्तिः, प्रतियोगित्वविशिष्टेत्यत्र विशेषणविशेष्यभावे विनिगमनाविरहश्च, भिन्नतया भासमानयोरपि क्रिययोः कल्पनयाऽभेदस्वीकारे च क्रियाभेदोच्छेदापत्तिः, कर्त्रैक्यमात्रेण क्रियैक्याश्रयणे च जीवति म्रियते इत्यादेरपि प्रसंगात्, जानातीच्छतीत्यादावन्तत आश्रयतैव ज्ञानेच्छाद्यनुकूलो व्यापार इत्यपि स्ववासनामात्रम्, एवं सत्याख्यातार्थस्य धात्वर्थमध्ये प्रवेशनेन तत्त्वत आख्यातार्थस्यैव निरासप्रसंगात्, तस्मात्पचतीत्यादौ पाकानुकूलयत्नवान् नश्यतीत्यादौ नाशप्रतियोगी जानातीच्छतीत्यादौ ज्ञानाश्रय इच्छाश्रयो देवदत्त इत्याद्याकारकः प्रथमान्तपदार्थविशेष्यक एव बोधः श्रद्धेयः, नश्यति नष्टो नंक्ष्यतीत्यादौ नश्धातोरर्थो नाश उत्पत्तिश्चेत्युत्पत्तौ कालत्रयान्वयस्यापि सम्भवात्, आख्यातजन्यसंख्याभावनाप्रकारकबोधे च प्रथमान्तपदजन्यपदार्थोपस्थितेरितरविशेषणत्वतात्पर्याविषयत्वावच्छिन्नविशेष्यतया हेतुत्वान्न गौरवम्, सम्बन्धगौरवस्यादोषत्वात्, केवलं भावनाप्रकारकबोधं प्रति धात्वर्थभावनोपस्थितेः पृथग्घेतुत्वे तवैव गौरवम् । पश्य मृगो धावतीत्यत्र तमिति कर्माध्याहार्यमेव, अन्यथात्रैकवाक्यत्वाय साकांक्षैककर्तृकक्रिययोर्यथाकथञ्चिदन्वयस्वीकारे " स्विद्यति कूणति वेल्लति, निमिषति

तिर्यग् विलोकयति सद्यः । अन्तर्नन्दति चुम्बितुमिच्छति नवपरिणया वधूः शयने ॥१॥ " इत्यादावेककर्तृकनिराकांक्षानेकक्रियाणां प्रत्येकं प्राधान्ये बहुवाक्यभेदापत्तावजां निष्कासयतः क्रमेलकागमन्यायपातात् । न चात्र नवपरिणयवध्वभिन्नकर्तृकस्वेदनाद्यनुकूल एको व्यापारोऽस्त्यनुभूयते वा, एकत्रानेकक्रियासम्बन्धघटितदीपकोदाहरणतयैवास्याभिहितत्वात्, न चात्रोत्थाप्याकाङ्क्षया तत एककर्तृकत्वसम्बन्धेन क्रियाणां परस्परमन्वयः, स्वाभाविकक्रियान्तराकाङ्क्षाविषयतानवच्छेदकरूपवत्त्वाच्च न क्रियात्वभङ्ग इत्युद्भावनेऽपि वाक्यभेददोष उद्धर्त्तुं शक्यः, विनिगमनाविरहेण प्रत्येकं क्रियाप्राधान्यापत्तेस्तदवस्थत्वात्, सर्वक्रियाणामाख्यातार्थद्वारैकत्र द्वयमिति न्यायेनैकस्मिन् कर्त्तर्यन्वयवाद एव हि तस्योद्धर्त्तुं शक्यत्वात् । यत्त्वत्रापि निघातानुरोधादेकक्रियाया एव प्राधान्यम्, अन्यासां साधनत्वाच्चैकवाक्यत्वं " तिङतिङः " इति सूत्रयता तिङन्तानामप्येकवाक्यत्वस्वीकारात्, "एकतिङ्वाक्यम्" इत्यस्य वार्तिकस्य चैकतिङ्विशेष्यकं वाक्यमित्यभिप्रायादिति, तन्न, निघातकृतं प्राधान्यमपि कुत्रेति विनिगन्तुमशक्यत्वात्, चरमपठितत्वस्यापि पश्य मृगो धावतीत्यत्रैव व्यभिचारादस्यार्थस्य स्वगृहपरिभाषामात्रत्वाच्च, अन्यथा निघाते क्रियाप्राधान्यं तत्सत्त्वे च स इत्यन्योन्याश्रयस्य दुर्द्धरत्वात्, किञ्च साध्यसाधनवर्तितया क्रिययोः परस्परमन्वयस्वीकारे पाकेन भूयत इत्यर्थे पचति भूयत इत्यादेरपि प्रसङ्गः, पठन् गच्छतीत्यर्थे पठति गच्छतीत्यादेरपि च, मम त्वाख्यातस्य स्वार्थविधेयकशाब्दबोध एव हेतुत्वान्नायं प्रसङ्गः । किञ्च धात्वर्थप्राधान्याभ्युपगमे धात्वर्थमुख्यविशेष्यकशाब्दबोधजनकसामग्र्या धात्वर्थ एव संख्याबोधकत्वस्वाभाव्यस्य भावस्थले दृष्टत्वात् कर्तृकर्मोक्त्योर्नामार्थे संख्यानन्वयप्रसङ्ग इति न किञ्चिदेतत्–" शब्दसाधनिकयैव वल्गतां, द्राग् जयो भवतु शब्दवेदिनाम् । अर्थसाधिमसमर्थने पुन–र्योग

एव निपुणं प्रगल्भते ॥ १ ॥ सर्वज्ञोपज्ञमनेकान्तवादमवलम्बमानैः पुनरस्माभिः सर्वमेवोपपादयितुं शक्यम्, व्यवहारनयानुसारिणां नैयायिकानां नामार्थविशेष्यकस्येव शब्दनयानुसारिणां शाब्दिकानां भावप्रधानमाख्यातमिति वदतां धात्वर्थविशेष्यकस्यापि बोधस्य जायमानस्य वाङ्मात्रेण निराकर्तुमशक्यत्वात्, नयव्युत्पत्तिवैचित्र्याधीनस्य फलीभूतशाब्दबोधवैचित्र्यस्य दृष्टेष्टाविरुद्धत्वात्, अत एवानुलोमप्रतिलोमक्रमेण तत्तत्प्रकारवैचित्र्यभानमपि व्याख्यातम्। हन्तैवं तण्डुलं पचति चैत्र इत्यतश्चैत्रकर्तृकक्रियाफलाश्रयत्वेन तण्डुलमुख्यविशेष्यकोऽपि बोधः स्यादिति चेत्, तथा व्युत्पन्नस्य स्यादेव, अत्र चानुशासनमूलशब्दनयव्युत्पत्त्यधीनो बोध उद्देश्य इति नायं प्रसङ्गः। पचतीत्यत्र विक्लित्यनुकूलव्यापारस्याधःसन्तापनादेः प्रातिस्विकरूपेणाखण्डेन च भावनात्वेन नयव्युत्पत्तिवैचित्र्याद् द्विधा भानम्, साध्यत्वस्य च व्यापारे फलस्यानुकूलतारूपसंसर्गावच्छेदकतयैव भानं, साध्यत्वावच्छिन्नानुकूलताया एव संसर्गत्वोपगमात्, तस्य च साध्यत्वस्य क्रियमाणं कृतमिति नये सिद्धत्वावरुद्धसाध्यत्वत्वेनान्यनये च शुद्धसाध्यत्वत्वेन भानमित्यन्यदेतत्। घटो नश्यतीत्यत्रापि द्रव्यार्थत्वनियासकसम्बन्धेन घटाभिन्नाश्रयकस्य सङ्घातभेदादिरूपनाशानुकूलव्यापारस्य भानं, घटं जानातीत्यत्राप्यनेनैव सम्बन्धेन घटवृत्त्युत्पत्तिकज्ञेयाकाररूपव्यापारभानम्, यत्तु, भूषणसारकृतोक्तं जानातीत्यत्रावरणभङ्गावच्छिन्नबोधव्यापार एवार्थोऽतीतानागतस्थलेऽपि ज्ञानजन्यस्यावरणभङ्गस्यावश्यकत्वादतीतो घटो ज्ञायत इत्यादावतीतघटादेस्तदाश्रयता च विषयताया इव नैयायिकानां सत्कार्यसिद्धान्ताद्वेति, तदापातरमणीयं, नैयायिकसाङ्ख्यमतयोः परस्परपरामर्दोपहतत्वात्, भेदाभेदसदसत्कार्याभ्युपगन्तृस्याद्वादवादिमार्गाश्रयणं विना च अबोधप्रवृत्तेः, अत एव शब्दानां निष्पत्तिं ज्ञप्तिं चाधिकृत्य 'सिद्धिः स्याद्वादादि'ति

सूत्रं श्रीसिद्धहेमचन्द्राभिधानशब्दानुशासने आदावुपन्यस्तं प्रसुप्तिः, इत्थमेवास्तीत्यत्रापि स्वपर्यायोत्पत्त्यनुकूलस्व-
द्रव्यपरिणतिरूपभावनाप्रतीतिः सङ्गच्छते, स्वार्थफलव्यधिकरणव्यापाराबोधकत्वाच्च धातोर्न सकर्मकत्वं, स्पष्टभावनानवबोधे
च फलसामानाधिकरण्यमेव दोषः, यत्तु स ततो गतो नवेति प्रश्ने महता यत्नेन तिष्ठतीति प्रयोगात् सत्तारूपफलानुकूला
भावनाऽत्र प्रतीयत इति भूषणसारकृतोक्तं, तदसत्, आकाशोऽस्तीत्यादावगतेः, तत्र तत्तदवकाशदानादिना विशिष्टो-
त्पादानुकूलध्रौव्यरूपसत्तास्वीकारे चास्मन्मताश्रयणापत्तेः, त्रैलक्षण्यसत्पदार्थस्यास्माभिरेव स्वीकारात्। तदुवाच वाचक-
चक्रवर्त्ती–'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' इति, आत्मानं जानातीत्यादावेकस्यैवात्मनो ज्ञेयाकारप्रतियोगित्वानुयोगित्वादिना
कर्मत्वं कर्तृत्वं च, विवक्षातः कारकाणि भवन्तीति न्यायस्य सर्वशाब्दिकानुमतत्वात्, स्वार्थफलाधिकरणभिन्नाधिकरण-
वृत्तिव्यापारवाचित्वं सकर्मकत्वमित्यत्र च भेदस्य वैवक्षिकस्यैव निवेशात्। यत्त्वत्र द्वावात्मानौ शरीरात्माऽन्तरात्मा च,
तत्रान्तरात्मा तत् कर्म करोति येन शरीरात्मा सुखदुःखेऽनुभवतीति भूषणसारवचनं, तद्दुर्वचनम्, एकस्यात्मपदस्य धातोश्च
विशेषपरत्वापत्तेः, परमात्मात्मानं जानातीत्यत्रागतेश्च, हन्तैवमस्तीत्यादावपि द्रव्यपर्याययोर्व्यापारफलाधारयोर्भेदविवक्षया
सकर्मकप्रयोगापत्तिरिति चेत्, सिद्धान्तानभिज्ञोऽसि 'किं हन्तेति' पूत्कारेण, अस्तीत्यादौ भेदवचनस्य सम्प्रदायविरुद्धत्वेनानि-
ष्टसाधनत्वज्ञानात्तद्विवक्षाया अयोगात्, इत्थं च "आत्मानमात्मना बिभ्र-दस्तीति व्यपदिश्यते। अन्तर्भावाच्च तेनासौ कर्मणा
न सकर्मकः ॥१॥" इति, बिभ्रदित्यनेन स्वधारणानुकूलो व्यापारोऽत्रापि गम्यत एव, तेन कर्मणा सकर्मकत्वं तु न, अन्त-
र्भावात् फलांशेन वैयधिकरण्याविवक्षणादिति व्याख्येयम्। न चात्र साध्यत्वाख्यविषयतामादाय गौणं सकर्मकत्वं यत्नार्थक-

धातोर्नामार्थान्वितसाध्यत्वाख्यविषयतारूपविभक्त्यर्थान्वयित्वेनैव गौणसकर्मकत्वव्यवस्थितेः, यत्यर्थे तु नामार्थान्वितचतुर्थ्यर्थोद्देश्यत्वस्यैवान्वयान्न यतेः सकर्मकत्वमिति भट्टाचार्योक्तं समाधानं रमणीयम्, यतेश्चतुर्थ्यैव साकाङ्क्षत्वमिति नियमस्वीकार एव तथा वक्तुं शक्यत्वात्, न च तत्र प्रमाणमस्ति, धर्मे यतेत इत्यादिप्रयोगस्याप्यविगानं दर्शनात्, न चैतदुभयान्यतरसाकाङ्क्षत्वेन तत्र यत्नार्थकधातौ साध्यत्वाख्याविषयितान्वयित्वेन सकर्मकत्वव्यवस्थयैव च निस्तारः, सप्तम्या विषयित्वमात्रोपस्थितावपि साध्यत्वाख्यविषयितात्वावच्छिन्नानुपस्थितेरित्यपि शक्यं वक्तुम्, विशेषानुशासनं विना शब्दासाधुत्वस्य भोजनं यतत इत्यादावर्थाबाधेनार्थासाधुत्वस्य चानुपपत्तेरिति दिक्, यतत इत्यादौ यत्नानुकूलो व्यापारो योगाख्य एव भावना, यदि यत्नश्चेष्टा यदि च करणवीर्यमसौ तदा लब्धिवीर्यमेव सा, फलव्यापारयोर्द्धर्मिभेदाभावाच्चाकर्मकत्वं, व्याप्रियत इत्यादावपि शक्तिव्यक्तिभेदेनान्ततः फलसंसृष्टव्यापारमादाय धात्वर्थविशेष्यकबोधः स्वीकर्त्तव्यः, जानातीच्छतीत्यादौ व्यापारद्वयादौ भेदाग्रहादेकरूपावच्छेदेन कारकफलान्वयः सङ्ग्रहादेशात् व्यापारे फलान्वये समानपदोपात्तत्वस्य भेदाग्रहगर्भस्यैव नियामकत्वात् ' अत एव चैत्रमैत्रौ घटं पश्यत इत्यत्राप्यगृहीतभेदे दर्शनद्वये उभयाश्रयकत्वान्वयः, कर्तृभेदोत्थापितव्यापारभेदस्यापि सङ्ग्रहनयादेशप्रतिबन्धेन ग्रहीतुमशक्यत्वादिति मन्तव्यम्, पाक इत्यत्रैकस्य साध्यसाधनावस्थाभिधानमपि स्याद्वादाश्रयणेनैवाविरुद्धं, रूपभेदेन तदुपपत्तेः, क्रियमाणं कृतमिति नयेन पचतीत्यादौ सिद्धत्वनियतसाध्यत्वस्य क्रियाकालनिष्ठाकालाभेदकृतस्य सर्वत्र भावेऽपि घञन्तस्थले कारकक्रियान्वयकृतसाधनसाध्यावस्थयोः स्वातन्त्र्येण भानान्न विविक्तशाब्दिकव्यवहारोच्छेद इत्यादिकमुपपादितम्, ' नयरहस्ये 'ऽस्माभिरिति तत एवावगन्तव्यम् । " नियोगादिप्रवादानां, परस्परविरोधिनाम् । तत्त्व-

मेतन्मयाख्यातं स्याद्वादेनाविरोधभाक् ॥१॥ जले जलतरङ्गवन्ननु निमज्जनोन्मज्जने, सृजन्ति निजपर्यवाः प्रतिकलं पदार्थे पृथक् । विमुच्य भजनाविधिं, क इव तद्विवेके प्रभुः, स एव हि विजृम्भते विशदकेवलज्ञानवत् ॥२॥" सधनं हन्यादित्यादेरिवेति (३५. १. ६) तृष्णामूलकहिंसाविषयकत्वेनोभयोरविशेषादित्यर्थः, धर्मे इति धर्मे वाच्ये बलवदनिष्टाननुबन्धित्वांशे वेत्यर्थः, प्रमाणत्वानुपपत्तेरिति (३५. १. ६) "न हिंस्यात् सर्वभूतानीति" सामान्यवचनविरोधादित्यर्थः । न च सामान्यशास्त्रतो विशेषशास्त्रस्य बलवत्त्वान्न हिंस्यादित्यतः पूर्वं हिंसात्वसामानाधिकरण्येन पापजनकत्वग्रहेऽनन्तरं विशेषशास्त्रपर्यालोचनायां तत्तदितरहिंसात्वेन तत्कल्प्यत इति न विरोध इति वाच्यम् । सर्वपदसमभिव्याहारेण हिंसात्वावच्छेदेनैव सामान्यवचनतः पापजनकत्वलाभात्, कार्यान्तरार्थमाश्रितेऽपि विशेषविधावुत्सर्गनिषेधोक्तदोषापरिहाराद्वैद्यकोक्त इव दाहविधौ, तस्मात्तृष्णामूलकहिंसात्वावच्छेदेनैव सामान्यनिषेधपर्यवसानाद्भूत्याद्युद्देशेन यागादिविधयस्तद्विरोधित्वादप्रमाणमेव, तदेकवाक्यत्वाच्च निखिलोऽपि वेद इति मन्तव्यम् । यत्तु प्रतिपदोक्तफलत्यागेन विविदिषार्थतया कर्मकाण्डस्यापि प्रामाण्यमिति वेदान्तिपशुभिरुद्घुष्यते, तदज्ञानविलसितं, भिन्नाधिकारविहिते कर्मणि तत्त्यागापरप्रवेशाभ्यां विविदिषार्थताया असिद्धेः, अन्यथाऽभिचारोद्देशेन वेदविहितं श्येनयागमपि विविदिषार्थतया किमिति नाद्रियेरन् । तदवदाम "वेदोक्तत्वान्मनःशुद्ध्या, कर्मयज्ञोऽपि योगिनः । ब्रह्मयज्ञ इतीच्छन्तः, श्येनयागं त्यजन्ति किम् ॥ १ ॥ भिन्नोद्देशेन विहितं, कर्म कर्मक्षयाक्षमम् ॥ क्लृप्तभिन्नाधिकारं च, पुत्रेष्ट्यादिवदिष्यताम् ॥२॥" इति, अत्यधिकमेतत्तत्त्वं लतायां स्फुटीकृतमस्माभिरिति, विशेषार्थिना तत एवावधार्यम् । अपूर्वार्थत्वं पुनरिति (३५, १. ७) लोकप्रमाणविपर्यार्थत्वं पुनरित्यर्थः, तेनापूर्वप्रति-

पादकत्वेन मीमांसैव प्रमाणं नोपनिषदिति रिक्तं वचः, उपनिषदोऽप्यपूर्वपरमब्रह्मप्रतिपादकत्वेनाविशेषात्, ऐच्छिकविशेषग्रहस्य च पक्षपातमात्रत्वादित्युक्तं भवति, **स एवार्थः स्यादिति** (३५. १. १४) लोके वेदे च शब्दव्युत्पत्तेस्तुल्यत्वादिति भावः। ये तु **प्राभाकरा** वेदस्यापौरुषेयतया वक्तृज्ञानानुमानानवकाशात् संसर्गे शब्दस्यैव स्वातन्त्र्येण प्रामाण्यमास्थिषत, लोके त्वनुमानत एव वक्तृज्ञानोपसर्जनतया संसर्गस्य सिद्धेरनुवादकतामात्रं वाक्यस्येति निर्णीतवन्तः, तेषां लोकवेदसाधारणव्युत्पत्तिबलेनान्विताभिधानं प्रसाधयतां तद्बलायातप्रतिपादकत्वस्य लोकेऽप्यविशेषादर्द्धजरतीयन्यायापातः, तदुक्तं "निर्णीतशक्तेर्वाक्याद्धि, प्रागेवार्थस्य निर्णये। व्याप्तिस्मृतिविलम्बेन, लिङ्गस्यैवानुवादिता ॥१॥" इति, यावती हि वेदे सामग्री तावत्येव लोके भवन्ती कथमिव नार्थमवगमयेत्, लिङ्गं तु परिपूर्णमप्यवगतमपेक्षणीयव्याप्तिस्मृतिविलम्बात् किं निर्णेतुं प्रगल्भताम्, अन्वयस्य प्रागेव प्रतीतेरनुवादकपङ्क्तिप्रवेशात्। न च लोके वक्तुराप्तत्वनिश्चयोऽपेक्षणीय इति तद्विलम्बादर्थप्रत्ययविलम्बः, लोकेऽप्याप्तोक्तत्वानिश्चयेऽप्यर्थप्रतीतेस्तस्य तदहेतुत्वात्, कथमन्यथा वेदानुकारेण पठ्यमानेषु मन्वादिवाक्येष्वपौरुषेयत्वाभिमानिनो **गौडमीमांसक**स्यार्थप्रत्ययः, न चासौ भ्रमः, पौरुषेयत्वनिश्चयेऽपि तदबाधात्। न चानाप्तोक्तत्वशंकानिरासद्वारैव तदुपयोगः स च क्वचिदपौरुषेयत्वनिश्चयात् क्वचिदाप्तोक्तत्वावधारणादिति न दोष इति वाच्यम्, एवं ह्यपौरुषेयत्वस्याप्रतीतौ संदेहे वा वेदो न किञ्चिदभिधत्त इत्याप्तोक्तत्वनिश्चयोत्तरकालं लोक इव वेदेऽप्यपौरुषेयत्वनिश्चयोत्तरकालमनुमानप्रवृत्तावनुवादकत्वाविशेषापत्तेर्दुरुद्धरत्वात्। **तदुक्तमुदयनाचार्यैः कुसुमाञ्जलौ** "व्यस्तपुंदूषणाशङ्कैः, स्मारितत्वात्पदैरमी। अन्विता इति निर्णीते, वेदस्यापि न तत् कुतः ॥१॥" इति, अमी पदार्थाः, तदनुवादकत्वम्,

तस्मादिदं प्राभाकरवृद्धकल्पनाऽज्ञानमूलैवेति मन्तव्यम् । ततः सुगतादिवदिति (३५–२–२) यथा सुगतादयः परस्परवि-रुद्धभाषित्वेन न प्रमाणं तथा श्रुतयोऽपि नानावादिविप्रतिपत्तिकवलितार्थाभिधायित्वान्न प्रमाणमित्यर्थः । प्रामाण्यं चात्र प्रमाऽयोगव्यवच्छेदरूप वाच्यम्, अन्यथा प्रमातृत्वाभिमते सुगतादौ तन्निषेधेऽप्रसक्तप्रतिषेधापत्तेरिति स्मर्त्तव्यम् । चार्वाक-मतमुत्थापयितुमाह भाष्यकृत् तथेष्टत्वादित्यादि (३५–२–३) तद् व्याचष्टे वृत्तिकृत् नापि समय (३५–२–३) इत्यादि. अदेवतारूप इति (३५–२–५) चार्वाकमताद्यप्रवर्त्तकमनुष्यरूप इत्यर्थः । प्रत्यक्षमेकमिच्छन्ति य इति (३५–२–६) तथा च भाष्ये एकेषामित्यत्र एकं प्रमाणमिच्छन्तीत्येकेपश्चार्वाकास्तेषामिति व्याख्येयमित्यर्थः। इष्टिः प्रतिज्ञा, अभावसिद्धेरिति (३५–२–१०) अभावप्रसङ्गादित्यर्थः। प्रमाणान्तरस्येति (३५–२–१२) प्रत्यक्षातिरिक्तप्रमाणस्येत्यर्थः। तद्वचनस्य (३५-२-१२)सर्वज्ञवचनस्य, हेतुवादरूपस्य(३५-२-१३)हेतुग्राह्यार्थविषयस्य, अहेतुवादरूपस्य (३५-२-१३) आज्ञाग्राह्यार्थ-विषयस्य, स एव सर्वज्ञ एव, अतिप्रसङ्गस्य दुष्परिहरत्वादिति, (३६–१–१) तथा च प्रतियोगितद्व्याप्येतरयावत्-प्रतियोग्युपलम्भकसमवधानरूपायास्तर्कितप्रतियोगिसत्त्वप्रसञ्जितप्रतियोगिकत्वरूपाया वा योग्यताया अभावात् योग्यानुप-लब्ध्यसम्पत्त्या न प्रत्यक्षं तदभावग्राहकं, तत्सहकृतस्यैव तस्य तदभावग्राहकत्वनियमादिति फलितम्, न चासत एव सर्वज्ञादेः प्रमाणान्तरस्य वाऽऽभाससिद्धस्याभावः शशशृङ्गस्येव प्रत्यक्षतः सुज्ञान इति वक्तुं शक्यम्, अनुपलम्भकाले आभासोपलम्भ-कसामग्र्या अभावात्, तत्काले चानुपलम्भाभावात् तस्याशक्यनिषेधत्वात्। तदुक्तं " दुष्टोपलम्भसामग्री, शशशृङ्गादियोग्यता। न तस्यां नोपलम्भोऽस्ति, नास्ति सानुपलम्भने ॥१॥" इति, शशशृङ्गं नास्तीत्यस्य च शशे शृङ्गाभावोऽस्तीत्येवार्थ इति बोध्यम्,

भाष्ये–असिद्धेरिति प्रमाणत्वेन बाधासिद्धेरित्यर्थः। तामेव प्रदर्शयन् वादिनो विरुद्धभाषित्वमुद्भावयति **प्रत्यक्षमित्यादिना** (३६–१–२) **गौणत्वात् प्रमाणस्येति** (३६–१–२) प्रमाणस्य अनुमानप्रमाणस्य, गौणत्वाल्लौकिकप्रामाण्यव्यवहारविषयत्वेनोपचरितत्वादित्यर्थः। **दुर्लभ इति** (३६–१–२) उपचरितस्य मुख्यकार्याकारित्वादित्यर्थः, नहि गंगात्वेनोपचरितं तीरं स्नानावगाहनादिकार्यं साधयति, **सामान्य इत्यादि** (३६–१–३) धूमेन वह्निसामान्ये साध्ये सिद्धसाधनं वह्निमात्रस्य सिद्धत्वात्, पर्वतीयवह्नेरुद्देश्यस्यासिद्धेः विशेष्ये पर्वतीयवह्नौ साध्येऽनुगमाभावो व्याप्त्यभावो, यत्र धूमस्तत्र पर्वतीयवह्निरित्येवमुदाहर्त्तुमशक्यत्वात्, सर्वत्र सामान्ये विशेषे वा साध्ये विरुद्धव्यभिचारित्वम्, पक्षे साध्याभाववद्वृत्तित्वसंशयेन तत्संशयात्तर्कस्य चाप्रतिष्ठत्वात्तस्माद् व्याप्तेरगमकत्वान्नानुमानं प्रमाणमित्याशयः। न च व्याप्त्या सामान्यसिद्धिः पक्षधर्मतया च विशेषसिद्धिरिति न दोष इत्यपि वक्तुं शक्यम्, पित्रोर्ब्राह्मणत्वेन पुत्रब्राह्मणतानुमानात् पक्षधर्मताया अनङ्गत्वादिति भावः। **संवादकत्वादीति** (३६–२–३) यद्यपि देशकालनरान्तरप्रत्यक्षाणि प्रमाणानि संवादकत्वात् मत्प्रत्यक्षवदित्यनुमानं कर्त्तुमशक्यम्, सार्वज्ञ्यापत्त्या पक्षप्रसिद्धेरसम्भवात्, तथापि स्वप्रत्यक्षदृष्टान्तेन संवादकत्वलिङ्गेन प्रत्यक्षत्वावच्छेदेन प्रामाण्यसाधने तात्पर्यं द्रष्टव्यम्, ननु संवादकत्वादिलिङ्गेन प्रामाण्यानुमितावपि नानुमानप्रामाण्यसिद्धिस्तस्याः पक्षागृहीतासंसर्गकार्थस्मृतिरूपाया उत्कटकोटिकसंशयरूपाया वा सम्भावनाया अनतिरिक्तत्वात्, क्वचिन्निर्विकल्पकपृष्ठभाविसविकल्पकस्य व्यवहारहेतुत्वेऽप्यन्यत्र बहुशः सम्भावनाया एव तथात्वात्, तयैव सर्वोपपत्तेः, अनुमानेऽपि च संवादाभिमानात् प्रामाण्यसम्भावनायां न दोषः, अनादिवासनामूलकशशविषाणादिविकल्पव्युदासायाध्यक्षमूलकत्वं

विकल्पविशेषणम्, विकल्पाघटित एव वा संवादो ग्राह्यः, अध्यक्षमूलकस्याध्यक्षान्तरस्य सविकल्पकस्य च सम्भवात्, तथा च परप्रत्यक्षादेः संवादकत्वेन प्रामाण्यसम्भावना सुकरैव, स्वाध्यक्षस्यापि निर्विकल्पकस्य सन्मात्रावगाहित्वस्वविषयत्वप्रामाण्यावगाहित्वानां स्वरूपतः स्वग्राह्यतैव, तत्तद्रूपेण तु सम्भावनाविषयतैव, असद्विषयत्वाभावव्याप्येन सद्विषयत्वेन सन्मात्रावलम्बनत्वस्य स्वप्रकाशत्वव्याप्येन प्रकाशत्वेन स्वविषयत्वस्यानवस्थापादकपरग्राह्यत्वशून्यत्वे सति ग्राह्यत्वेन प्रामाण्यस्यापि स्वग्राह्यत्वस्य तथा तथा सम्भावनाविषयत्वात्, न चैवं तेषां रूपाणामसत्त्वापत्तिः, स्वरूपातिरिक्तत्वे इष्टत्वात्, नहि निर्विकल्पकं सन्मात्रावलम्बनमित्यादिबुद्धेस्तन्मते प्रमात्वम्, अयं घट इत्यादिधियामपि प्रमात्वापत्तेः, इत्येवं तत्त्वतः प्रत्यक्षमेव प्रमाणं, सम्भावनारूपव्यवहारात्त्वनुमानादिकमपीति चार्वाकमतमुपपत्स्यत इति चेत्, न, स्वरूपतो निर्विकल्पकग्राह्यत्वस्य तत्तद्रूपेण सम्भावनाग्राह्यत्वस्य च भेदाभेदात्मकवस्त्वभ्युपगमं विनानुपपत्तेः, व्यक्तेरिव जात्यादेरपि परमार्थसत्त्वेन सविकल्पकस्यापि सन्मात्रावलम्बनत्वाद्, अनुमिनोमीति विलक्षणप्रतीतिसिद्धप्रमान्तरजनकत्वेनानुमानस्यापि प्रमाणान्तरतायाश्चान्यत्र व्यवस्थापितत्वादिति दिक् । शून्यवादिमतमुत्थाप्य दूषयति भाष्यकृत्–तथेष्टत्वादित्यादिना (३६–२–६) तथेष्टत्वात् प्रत्यक्षादिप्रमाणं प्रमेयं च सर्वमुपप्लुतमेवेतीष्टत्वान्न दोषः, इति, इयम्, एकेषां प्रत्यक्षाद्युच्छेद इत्येकं शून्यमिच्छन्ति ये तेषाम्, अप्रमाणिकैवाप्रमाणसिद्धैव, इष्टिः प्रतिज्ञा, सर्वमुपप्लुतमिति वचनमात्रात्तत्त्वोपप्लवसिद्धौ सर्वमनुपप्लुतमिति वचनात् तदनुपप्लवस्यापि सिद्ध्यापत्तेरिति तदर्थः, वृत्तौ न विशिष्यत (३६-२-७) इत्यनन्तरं वाङ्मात्रेणेति शेषः, स्वयमसिद्धमिति (३६–२–१) शून्यवादस्य निरस्तत्वादिति भावः । तथासतीति (३६–२–१०) यदृच्छयेन्द्रियप्रत्यक्षादेः प्रमाणान्तराभाव-

ग्राहकत्वे सतीत्यर्थः, स्वेष्टतत्त्वविषयं भवेदिति (३६-२-११) अन्याभिमततत्त्वाभावे स्वप्रत्यक्षानुमानयोरिव प्रवृत्तेरित्यर्थः, माध्यमिक एव शङ्कते ननु चेत्यादि (३७-१-२) ज्ञानप्रामाण्यस्य दुर्ग्रहत्वादगृहीतप्रामाण्यकं ज्ञानं नानुपप्लुततत्त्वं साधयेदिति प्रघट्टकार्थः, स्वतः प्रमाणस्येति (३७-१-५) स्वप्रकाशमहिम्ना स्वेन स्वात्मेव प्रामाण्यमपि गृह्यत इति गुरुमतमाश्रित्यायं पूर्वपक्षः। सर्वप्रवादिनामिति (३७-१-५) स्वस्वज्ञानस्य स्वतः प्रामाण्यग्रहे सर्वे प्रवादाः सत्याः स्युरिति भावः। अपि च ज्ञानेन स्वतः स्वप्रामाण्यग्रहे ज्ञानप्रामाण्यसंशय एवोच्छिद्येत, ज्ञानग्रहे प्रामाण्यनिश्चयान्निश्चिते च संशयायोगात्तदग्रहे धर्मिज्ञानाभावात्, समानधर्मवत्तया धर्मिज्ञानस्य चान्वयव्यतिरेकाभ्यां संशयहेतुत्वावधारणादित्यपि द्रष्टव्यम्। ननु प्रवृत्तिमात्रे न ज्ञानप्रामाण्यनिश्चयो हेतुः, अनभ्यासदशायां प्रामाण्यसन्देहादपि प्रवृत्तिदर्शनात्, प्रामाण्यज्ञानत्वेनैव प्रवृत्तिहेतुत्वात्, प्रवर्त्तकज्ञानेऽगृहीताप्रामाण्यकत्वनिवेशध्रौव्ये तदहेतुत्वाद्वा, प्रामाण्यनिश्चयस्याभ्यासहेतुसंशयापगमार्थमेवोपयोगात्। न च संशयात् प्रवृत्तौ प्रेक्षावत्त्वहानिः, इष्टत्वात्, प्रेक्षावरणक्षयोपशमस्य सर्वदा सर्वेषामभावेन विना सर्वज्ञं क्वचित्कदाचित्कस्यचिदेव प्रेक्षावत्त्वव्यवहारात्। तदुक्तं—"प्रेक्षावत्ता पुनर्ज्ञेया, कदाचित् कस्यचित् क्वचित्। अप्रेक्षाकारिताऽप्येवमन्यत्राशेषवेदिनः॥ १॥" इति, यत्तु सकम्पत्वनिष्कम्पत्वे प्रवृत्तिगतजाती प्रामाण्यसंशयनिश्चयजन्यतावच्छेदिके इति, तत् न, अंशे प्रामाण्यसंशयनिश्चयात्मकज्ञानजन्यप्रवृत्तौ तयोरांशिकत्वेन जातित्वासिद्धेः, अव्यवहितोत्तरत्वसम्बन्धेन संशयनिश्चयविशिष्टत्वयोरेव सकम्पनिष्कम्पपदार्थत्वात्, तदिह प्रामाण्यसंशयादेव विचारे प्रवृत्तिर्भवतु तदुत्तरं परीक्षया प्रामाण्यनिश्चयादनुपप्लुततत्त्वसिद्धिः स्यादित्याशयवान् शङ्कते स्यान्मतं विचारोत्तरकालमित्यादि (३७-१-८) एवं

संशयाद्विचारोत्तरं साधकाप्रामाण्यसम्भावनया तत्त्वोपप्लवोऽपि शक्यसाधन इत्याशयवांस्तत्त्वोपप्लववादी स्वमतं समाधत्ते एवं तर्हीत्यादि (३७-१-१०) **विचार्यत** (३७-१-११) इति, तदधीनप्रमेयतत्त्वखण्डनाय विचारासहत्वेनोन्नीयत इत्यर्थः। **नयनकुशलादेरिति,** (३७-१-१३) इन्द्रियावरणक्षयोपशमादेरित्यर्थः। **तदविनाभाविलिङ्गाभावात्,** (३७-१-१४) उक्तादुष्टत्वाविनाभाविलिङ्गाभावात्, **तत्कार्य** (३७-१-१४) नयनकुशलादिकार्यम्, लिङ्गमित्यत्रादुष्टताया इत्यनुषञ्जनीयम्, उपधायकतासम्बन्धो व्याप्यतावच्छेदको विशेषणताविशेषश्च व्यापकतावच्छेदक इति बोध्यम्। **तदव्यभिचारित्वाभावादिति** (३७-२-१) ज्ञानमात्रस्योपधायकतासम्बन्धेन दुष्टकारणचक्रेऽपि सत्त्वाद् व्यभिचारादित्यर्थः, प्रमात्वावच्छेदेनादुष्टकारणारब्धत्वव्याप्तिस्वीकारे गुणवत्कारणारब्धत्वव्याप्तिरपि स्यात्, तथा च वेदे गुणवत्पुरुषप्रणीतत्वस्य बलादापत्तेः, तत्रापौरुषेयत्वमनोरथोऽपि तव न पूर्येतेति मीमांसकं प्रत्याह तत्त्वोपप्लववादी किञ्चेत्यादिना (३७-२-३) **नापि बाधानुत्पत्त्येति** (३७-२-११) **प्रामाण्यं गृह्यत** इत्यनेन योगः, **नापि प्रवृत्तिसामर्थ्येनेति** (३८-२-३) अत्रापि प्रामाण्यं गृह्यत इति योजनीयम्। **फलेन** जलप्राप्त्यादिलक्षणेन, **अभिसम्बन्ध** उपधेयोपधायकभावः, तस्याः संविदः, तस्मिंश्च संविदः प्रमाणत्वनिश्चये च सति, **तदवगमात्** फलाभिसम्बन्धावगमात्, **पुनरावर्त्तत इति चक्रकमिति** (३८-२-९) अन्यतः प्रमाणात् फलाभिसम्बन्धावगमे तत्प्रामाण्यस्य पूर्वज्ञानेन सिद्धावन्योन्याश्रयः फलाभिसम्बन्धान्तरोपजीविप्रमाणान्तराश्रयणे च पुनः पुनर्दोषावृत्तिरित्येवात्र चक्रकं बोध्यम्, ननु तृतीयापेक्षामात्रम्, यद्वा प्रवर्त्तकज्ञानप्रामाण्यनिश्चयात् प्रवृत्तिः प्रवृत्तेरर्थक्रियानिश्चयस्ततश्च प्रवर्त्तकज्ञानप्रामाण्यनिश्चय इत्येवं चक्रकं योजनीयम्। पुनरावृत्त्य-

भिधानं चैतद्दार्ढ्याय। अदोष इति (३९-१-२) अनवस्थादोषो नेत्यर्थः। किमर्थमिति (३९-१-३) प्रामाण्यपरीक्षणं विनाऽपि प्रवृत्तेर्जातत्वादित्यर्थः। लोकवृत्तानुवादार्थमिति (३९-१-३) प्रेक्षावल्लोकाचारानुरोधार्थमित्यर्थः, तथा च प्रेक्षावत्प्रवृत्तौ प्रामाण्यनिश्चयस्य हेतुत्वात् तदादरध्रौव्यमिति लभ्यते, तर्त्तर्हि लोकवृत्तमित्यादि (३९-१-३) तथा च प्रामाण्यपरीक्षणं मदिष्टसाधनं प्रेक्षावदाचारविषयत्वादित्यादौ प्रेक्षावत्पदार्थाभ्रान्तत्वघटकप्रामाण्यज्ञापकान्वेषणे प्रागुक्तदोषजालोपनिपातो दुर्निवार इति प्रघट्टकार्थः। नाप्यविसंवादित्वेनेति (३९-१-११) एतेनान्यथा वेति पक्षो व्याख्यातः, एतच्च सौगताभिमतं प्रामाण्यं तत्त्वोपप्लववादिना दूष्यत इति बोध्यम्। तदव्यवस्थितौ (३९-२-८) प्रमाणतत्त्वाव्यवस्थितौ, कुत इति (३९-२-८) प्रमाणतत्त्वव्यवस्थाधीनत्वात् प्रमेयतत्त्वव्यवस्थितेरिति भावः। विचारादित्यतः (३९-२-९) पूर्वं तस्मादित्यध्याहार्यम्। तस्मात्प्रमाणतत्त्वप्रमेयतत्त्वाव्यवस्थानाद्विचारोत्तरं तत्त्वोपप्लवः सिद्ध्यतीत्यर्थः, एवं निर्गलिते तत्त्वोपप्लववादिपूर्वपक्षे सिद्धान्तमाह स्याद्वादी इत्येतदपि सर्वमसारमित्यादि (३९-२-९) किं तर्हि सुनिश्चितासम्भवद्बाधकत्वेनेति (३९-२-१४) ननु किमिदं प्रामाण्यज्ञापकाभिधानम् उत स्वरूपाभिधानं, नाद्यो ज्ञापकत्वस्येवादुष्टकारकसन्दोहोत्पाद्यत्वादेरपि त्यागायोगात्, ज्ञानधर्मत्वेनाभ्यासानभ्यासकाले ज्ञाप्यज्ञापकभावस्य व्यवहारान्तर्भावानन्तर्भावाभ्यां तद्व्यवस्थायाश्च सर्वत्र वक्तुं शक्यत्वात्, स्ववृत्तितयाऽभ्यस्तज्ञानगृहीतेन तेन तज्जातीयत्वलिङ्गावतारद्वारा पूर्वज्ञानप्रामाण्यग्रहसाम्ये एकतरपक्षपातायोगाच्च, अत एव न द्वितीयोऽपि, स्वप्रकाशमहिम्ना स्वस्येवोक्तस्य सर्वस्य प्रामाण्यस्यापि स्वधर्मत्वेन ग्रहणाविशेषात्, स्वधर्मोऽपि योग्य एव ग्राह्यो नायोग्यः, अन्यथा स्वर्गप्रापणशक्तेरपि ग्रहणप्रस-

ज्ञादित्यतीन्द्रियादुष्टतादिघटितादुष्टकारकसन्देहोत्पाद्यत्वादेस्त्याग इति चेत्, तर्ह्यसन्निकृष्टसर्वदेशकालगर्भमसम्भवद्बाधकत्वमपि प्रामाण्यं त्यज्यताम्, तस्य स्वप्रकाशमहिम्ना स्वाश्रयाग्राह्यत्वादिति चेत्, अत्रायमस्माकमाकरग्रन्थः, "ज्ञानस्य प्रमेयाव्यभिचारित्वं प्रामाण्यम्, तदितरत्त्वप्रामाण्यमिति " प्रमाजनकत्वं प्रामाण्यं भ्रमजनकत्वमप्रामाण्यमित्येतदर्थः । अर्थाव्यभिचारित्वोक्तावनुत्पादिताग्निज्ञाने धूमपरामर्शेऽव्याप्तेर्वारणायार्थपदस्थाने प्रमेयपदमभिषिञ्चतामाचार्याणामत्रैव स्वारस्यात्, धूमस्याग्न्यव्यभिचारित्वेऽपि प्रमेयाग्निव्यभिचारित्वस्याग्निप्रमाव्यभिचारेणैवोक्तिसम्भवात्, अव्यभिचारित्वपदेन नियतत्वस्य साक्षादुक्तावनन्यथा सिद्धत्वपूर्ववर्त्तित्वयोराक्षेपतो लाभाच्च, जनकत्वं च योग्यव्यक्तावन्वयव्यतिरेकसहचारज्ञानादिसध्रीचीनप्रत्यक्षगम्यं परैरप्युपगम्यत एवेति, प्रमाजनकत्वरूपप्रामाण्यस्याप्रमाजनकत्वरूपाप्रामाण्यस्य चाभ्यासे स्वाश्रयग्राह्यत्वम्, अनभ्यासे च परतो ग्राह्यत्वमविरुद्धं, प्रामाण्यग्राहकं च परं स्वाश्रयातिरिक्तं संवादकज्ञानमेव, कारणगुणबाधकभावज्ञानयोरप्येतन्मुखप्रेक्षित्वात् । न चात्र समानजातीयभिन्नजातीयैकसन्तानभिन्नसन्तानविकल्पकृतदोषोपनिपातः, उभयस्वीकारात्, देवदत्तघटज्ञाने समानजातीयस्य यज्ञदत्तघटज्ञानस्य, प्रथमप्रवृत्तजलज्ञाने भिन्नजातीयस्योत्तरकालभाविस्नानपानावगाहनाद्यर्थक्रियाज्ञानस्यैकसन्तानगतेऽन्धकारकलुषितालोकप्रभवकुम्भज्ञाने निस्तिमिरालोकप्रभवकुम्भज्ञानस्य भिन्नसन्ताने च समानजातीयकुम्भज्ञानस्योक्तस्य संवादकत्वस्वीकारात्, एकसन्तानेऽभिन्नविषये संवाद्यसंवादकभावाविशेषस्य च मन्दप्रबलसामग्रीसमुत्पाद्यतयैव निरासात्, तथा च संवाद्यत्वनियामकसम्बन्धविशेषेण संवादकज्ञानं यत्र वर्त्तते तत्र प्रामाण्यनिश्चयोत्पत्तिरित्येवं नियमान्न तज्जातीयत्वपरामर्शादिकल्पनाक्लेशः, संवादकत्वव्याप्तिज्ञानाद्यपेक्षानपेक्षाविचारस्यापि तत्र क्षयोपशममुखप्रेक्षित्वात्,

एवं च प्रकृतग्रन्थेऽपि सुनिश्चितासम्भवद्बाधकत्वं सुनिश्चितो बाधकाभावस्तेन संवादकज्ञानवत्तोपलक्ष्यत इति तेनैव यथोक्तप्रामाण्यग्रह इत्यत्र तात्पर्यम्। **क्वचिदभ्यासानभ्यासौ त्विति** (४०-१-६) तथा चाभ्यासानभ्यासावदृष्टविशेषप्रयोज्यौ जातिविशेषावेव ज्ञानगतौ, विषयगतत्वं तु तयोरुपचारादिति मन्तव्यम्, तदिदमाह—"दृष्टादृष्टनिमित्तानां, वैचित्र्यादिह देहिनाम्। जायते क्वचिदभ्यासोऽनभ्यासो वा कथंचन ॥ १ ॥" इति, ननु कूटस्थनित्यस्यात्मनोऽभ्यासानभ्यासस्वभावत्वं कथं घटेतेति साङ्ख्याशंकायामाह **पूर्वापरेत्यादि** (४०-१-८) परिणामित्वादात्मन उभयस्वभावत्वं न दुर्घटम्, कूटस्थनित्यश्रुतेर्नयविशेषविषयत्वादात्मान्यद्रव्यत्वस्य परिणामित्वव्याप्यत्वकल्पनापेक्षया द्रव्यत्वस्यैव तत्कल्पने लाघवात्, अहं बालो भूत्वा युवा जात इत्याद्यनुभवस्य सार्वजनीनस्य तत्साधकस्य जागरूकत्वाच्चेति भावः। **सर्वस्य संवेदनस्य स्यात् स्वतः स्यात्परत** (४०-२-६) इति, अत्र पद्ये "कतिपयकणानुप्त्वा नीरावसिक्तमृदि श्रमाद्, धुरि सुमहतो बीजाबीजे विदन्ति कृषीबलाः। तदनु कलितात् साधर्म्यात्तद्विधामनुमिन्वते, तदुपरि परिस्पष्टाभ्यासाद् विनाप्यनुमाश्रयम् ॥१॥ तथाभ्यासे स्वतो ज्ञेयं, प्रामाण्यमितरत्तथा। अनभ्यासे तु परतो, ज्ञप्तौ यत्नो यथोचितः" इति ॥ २ ॥ ये तु नैयायिकमीमांसका विशेष्यावृत्त्यप्रकारकत्वादिकं नानाविधं प्रवृत्त्यनौपयिकं प्रामाण्यमवगणय्य व्यवहारोपयोगिनस्तद्वति तत्प्रकारकत्वस्यैव ज्ञानगतप्रामाण्यस्य स्वतस्त्वपरतस्त्वयोर्विविधं विप्रतिपद्यन्ते, तेषामियं विप्रतिपत्तिः, ज्ञानप्रामाण्यं तदप्रामाण्याग्राहकयावद्ज्ञानग्राहकसामग्रीग्राह्यं नवेति, अत्र सकलानुगतस्यैकस्य प्रामाण्यस्याभावाद् घटज्ञानप्रामाण्यस्य पटज्ञानग्राहकेणाग्रहाच्च घटत्ववति घटत्वप्रकारकत्वादिकं तदप्रामाण्याग्राहकस्वाश्रयग्रहत्वव्यापकविषयताकं नवेति तदर्थः। प्रमेयत्वादिना व्यापकताया अतिप्रसञ्जकत्वात्

घटत्ववति घटत्वप्रकारकत्वादिविषयतात्वेन व्यापकत्वस्य च सिद्धासिद्धिभ्यां व्याघातादन्यथाश्रुतानुपपत्तेश्च घटत्ववति घटत्वप्रकारकत्वविषयतात्वं निरुक्तव्यापकतावच्छेदकं नवेत्यत्रास्यापि तात्पर्यं द्रष्टव्यम् । विधिकोटिर्मीमांसकानां, निषेधकोटिर्नैयायिकानाम्, तत्र मीमांसकास्त्रयः प्राभाकरभट्टमुरारिभेदात्, प्राभाकरमते स्वाश्रयग्राहकेण यावता स्वेनैव प्रामाण्यं गृह्यते, भट्टमते ज्ञाततालिङ्गकानुमित्या, मुरारिमिश्रमतेऽनुव्यवसायेनेति, त्रितयसाधारण्येनायं विप्रतिपत्त्युल्लेखः, स्वतस्त्वसाधकं चैषां परतोऽग्राह्यत्वे सति ग्राह्यत्वमेव । नैयायिकास्तु ज्ञानस्य चक्षुराद्ययोग्यत्वाच्चाक्षुषादिज्ञाने तस्याविषयत्वात् स्वप्रकाशत्वमेव नास्तीति कुतः स्वेन स्वप्रामाण्यग्रह इति गुरुमतमयुक्तम्, भट्टमतेऽपि ज्ञाततया ज्ञानानुमितिर्जायमाना कथं तत्प्रामाण्यं विषयीकुरुताम्, तस्या ज्ञानमात्रेण समं व्याप्तिग्रहात्ततो ज्ञानमात्रस्यैव सिद्धेः, प्रमात्वावच्छिन्नेन च समं व्याप्त्यग्रहात्तद्रूपावच्छिन्नासिद्धेः, व्यापकतावच्छेदकरूपेणैवानुमितौ साध्यभानस्वीकारात्, अन्यथा धूमाद्द्रव्यत्वदीपत्वादिनाऽपि दहनसिद्ध्यापत्तेः, मुरारिमिश्रनये तु यद्यपि प्रामाण्यं प्रथमानुव्यवसायेनैव सुग्रहं, घटघटत्वयोर्व्यवसायोपनीतयोर्विशेष्यितायाः प्रकारितायाश्च ज्ञाने मनसैव ग्रहसम्भवादुपनयसहकारेण मनसो बहिरर्थेऽपि प्रकाशसामर्थ्यात्, अन्यथा कविकाव्यमूलज्ञानानुपपत्तेः, तथापि नैतावदेव प्रामाण्यं, घटत्ववत्त्वे सति घटवत्त्वेन तद्व्यवहारात्, किन्तु तद्वद्विशेष्यकत्वविशिष्टं तत्प्रकारकत्वम्, न च तद्वद्विशेष्यकत्ववैशिष्ट्यमनुव्यवसायो ग्रहीतुमर्हति, तद्वद्विशेष्यकत्वस्य पूर्वमनुपस्थितेः संसर्गतयैव विशेष्यताप्रकारताभानात्, स्वरूपतो वा नृसिंहाकारमर्यादया तत्र तद्भानात्, किञ्चैतदपि न प्रामाण्यं, वह्निगुञ्जयोर्गुञ्जावह्नी इति भ्रमेऽतिव्याप्तेः, अस्ति हि तत्र वह्निविशेष्यकत्वं वह्नित्वप्रकारकत्वं च, किन्तु तद्वद्विशेष्यकत्वावच्छेदेन तत्प्रकारकत्वम्, न

चावच्छेद्यावच्छेदकभावः प्रथमं ग्रहीतुं शक्यः, तद्वद्विशेष्यकत्वस्य पूर्वमनुपस्थितेः, द्वितीयानुव्यवसायेन तु प्रामाण्यग्रहो घटत एव, विशेष्यताप्रकारतयोः प्रथमानुव्यवसाये मनःसंयुक्तसमवेतविशेषणतया भातत्वात्तद्वद्विशेष्यकत्वतत्प्रकारत्वयोर्ज्ञाने मानसम्भवात्। न चैवं प्रामाण्यसंशयानुपपत्तिः, दोषवशाद् यत्र प्रामाण्यं न गृहीतमनुव्यवसायेन तत्र तत्संशयसम्भवात्, अन्यथा पुरुषत्वस्य चक्षुर्वेद्यत्वात्तत्संशयोऽपि न स्यात्, न चैवं मिश्रमते स्वतो ग्राह्यत्वमागतम्, असति प्रतिबन्धके यावत्स्वाश्रयानुव्यवसायग्राह्यत्वस्य स्वतस्त्वस्य प्रथमानुव्यवसायेन प्रामाण्याग्रहनयेऽसंस्पर्शात्, एवं च साध्यप्रसिद्धावनुमानमपि तद्ग्राहकम्, इदं पुरुषज्ञानं प्रमा करादिमति पुरुषज्ञानत्वात्, सम्प्रतिपन्नवदिति संगच्छते। चिन्तामणिकृतस्तु प्रथममप्रामाण्याभाव एव प्रामाण्यं व्यतिरेकिणा साध्यते, न च साध्याप्रसिद्धिः व्यतिरेकिणि साध्यहेत्वोर्व्याप्तिग्रहानपेक्षणात्, किन्तु साध्याभावहेत्वभावयोरेव तदपेक्षणात् साध्याप्रसिद्धेरकिञ्चित्करत्वात्। न च साध्याप्रसिद्धौ तदभावाप्रसिद्धिः, प्रतियोगिज्ञानसाध्यत्वादभावज्ञानस्येति वाच्यम्, तस्य प्रतियोगिरूपत्वात्, प्रतियोगिज्ञाने चाभावज्ञानस्याकारणत्वात्, एवं च यद्धर्म्मावच्छिन्नव्यापकतया यद्धर्म्मावच्छिन्नयद्धेत्वभावो गृहीतस्तद्धर्म्मावच्छिन्नेन तेन तद्धर्म्मावच्छिन्नाभावः सिद्ध्यतीति प्रकृतज्ञाने करादिमद्विशेष्यकत्वावच्छिन्नपुरुषत्वप्रकारकज्ञानत्वेनाप्रामाण्याभावसिद्धिः। न च साध्याज्ञाने कथं तद्विशिष्टज्ञानरूपाऽनुमितिरिति वाच्यम्, अप्रामाण्याभावविशेष्यिकाया एवानुमितेरभ्युपगमादित्याहुः। तेषां मते उक्तहेतुतावच्छेदकावच्छिन्नहेतुग्रहः केन वाच्यः।

अनुव्यवसायेनेति चेत्, तर्हि ततः पुरुषत्ववति पुरुषत्वग्रहः केन वार्यतां, यत्तमपहायैष कुसृष्ट्यादर इति चिन्त्यम्, अत्र मीमांसकमतदूषणे नैयायिकानामेव भारः, नैयायिकमतेऽप्युक्तप्रामाण्यस्य द्वितीयानुव्यवसायादेवावगतौ सकृत्संवेदन

एवाभ्यासप्रसङ्गः, सिद्धिप्रतिबन्धकसत्त्वादनन्तरं सर्वानुभूयमानानुमितेरुच्छेदप्रसङ्गश्च । न च द्वितीयानुव्यवसायादिना ज्ञानावच्छेदकतयोक्तप्रामाण्यग्रहेऽपि स्वातन्त्र्येण तदग्रहात् स्वातन्त्र्येण तद्ग्रहायानुमानाश्रयणमावश्यकमिति वाच्यम्, अनुव्यवसाये स्वातन्त्र्येण प्रामाण्याग्राहकतायाः स्वातन्त्र्येण प्रामाण्यग्रहेऽनुव्यवसायसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वकल्पनयैवोपपत्तेः तदपेक्षयाऽभ्यस्तज्ञानप्रामाण्यग्रहे क्षयोपशमविशेषहेतुत्वे लाघवमित्यस्मन्मतमेव युक्तम् । किञ्च तद्वद्विशेष्यकत्वावच्छिन्न-तत्प्रकारकत्वमात्रमपि न प्रामाण्यं, संशयव्यावृत्त्यर्थं तदभावाप्रकारकत्वस्याप्यधिकस्य देयत्वात्, अन्यथेदंतांशे प्रमाणत्वेन भ्रमस्याप्यव्यावर्त्तनीयत्वप्रसङ्गात् तद्घटितस्य च प्रामाण्यस्य ज्ञप्तौ स्वतस्त्वपरतस्त्वयोरप्रामाण्यतुल्यकक्षत्वं युक्तिमत्, अपि च प्रामाण्यज्ञानं निश्चिताख्यो मतिज्ञानविशेषः, स च प्रामाण्यघटकयावत्पदार्थेहोपयोगादभ्यासाख्यामास्कन्दति ज्ञाने स्वत एव, अन्यत्र तु परतोऽनुमानादिनेत्यदुष्टकारकसन्दोहोत्पाद्यत्वादेरपि प्रामाण्यस्य ज्ञप्तिस्तदीहाशालिनां नानुपपन्ना, अस्तु वा सर्वत्र सर्वदा बाधकाभावपर्यालोचनवतां प्रामाण्यांशे ऊहात्मकमेव ज्ञानम्, एकत्रापि ज्ञाने तत्तद्विषयत्वावच्छेदेन ज्ञानजन्यत्वज्ञाना-जन्यत्वाभ्यां परोक्षत्वप्रत्यक्षत्वयोरविरोधात्, बाह्यविषयापेक्षयैव प्रमितिभेदस्य तत्र तत्रोपपादितत्वादीहादिज्ञानजन्येऽपाये च बाह्यविषये एकोपयोगत्वपर्याप्तिमद्भिन्नज्ञानाजन्यत्वेनैव प्रत्यक्षत्वव्यवस्थितेरित्यधिकं मत्कृत-न्यायबिन्द्वादेरवसेयम् । कुतस्तत्त्वोपप्लवसिद्धिरिति (४०-२-१०) एकत्र प्रमितस्यैवान्यत्रारोपसम्भवादिति भावः । पराभ्युपगममात्रा-दिति (४०-२-१०) परोपगतप्रमाणाजनितविकल्पादित्यर्थः, सर्वमवगतमिच्छतामिति (४१-१-५) वैनयिकानामि-त्यर्थः, सर्वमिच्छन्तीति सर्वेपस्तेषामिति व्युत्पत्तिस्वारस्यादेतदर्थलाभः, नैकप्रमाणवादिन इत्यादि (४१-१-१०)

नैकमपि प्रमाणं वदन्तीत्येवंशीला अनेकप्रमाणवादिन इत्यसूर्यं पश्या इति वदसमर्थसमासोऽयं, तेनास्मात्तत्त्वोपप्लवयादिलाभः सङ्गत इति द्रष्टव्यम्। तथाद्वैतप्रसिद्धेरिति (४१–१–१३) स्वपक्षसाधने परपक्षदूषणे सति द्वैतप्रसिद्धेर्बलादापातादित्यर्थः। संवृत्त्येति (४१–१–१४) संवृत्तिरविद्या तयेत्यर्थः। न परमार्थत इति (४१-१-१४) आविद्यकप्रमाणस्य पारमार्थिकाद्वैतसाधनाक्षमत्वादित्यर्थः। परब्रह्मादीति, आदिना (४१–१–१४) शब्दब्रह्मपरिग्रहः, प्रमाणेतरेत्यादिना (४१–२–१) स्वभावलिङ्गककार्यलिङ्गकानुपलब्धिलिङ्गकानुमानत्रयविषयस्य चार्वाकाभिमतस्य प्रत्यक्षैकप्रमाणाभ्युपगमविरुद्धस्योत्कीर्त्तनम्, तथोक्तवदभ्युपगमे प्रमाणान्तरस्यानुमानरूपस्य सिद्धेः प्रसङ्गात्, स्वयमिति (४१–२–४) परोपगमस्य स्वं प्रत्यप्रमाणत्वादिति भावः। अतिप्रसङ्गादिति (४१–२–५) अनुमानत्रयाभ्युपगन्तुरपि चार्वाकस्यैकप्रमाणवादित्वोक्तौ वैशेषिकादीनामपि तथात्वप्रसङ्गादित्यर्थः। यावान् कश्चिदिति (४१–२–७) अग्निजन्मेत्यनन्तरं भवतीत्युत्तरस्थं केवलमनुपङ्क्तनीयम्, अनग्निजन्मेत्यनन्तरं न भवतीति योजनीयम्, वाकारो भिन्नक्रमस्तदुत्तरं योजनीयस्तेनान्वयव्यतिरेकव्याप्तिप्रतिपत्त्याकारद्वयमुपदर्शितं भवति, यथा श्रुते त्वग्निजन्मानग्निजन्मान्यतरतादात्म्याश्रयत्वनिषेधप्रतीतिरनुद्देश्या प्रसज्येतेति द्रष्टव्यम्। नन्वत्र व्याप्तिप्रतिपत्तेरेव प्रत्यक्षाद्यकरणकप्रमितित्वेन वैलक्षण्यं साधनीयं तत्करणत्वेनोहस्य प्रमाणान्तरत्वसिद्धेः, तत्प्रदर्शनं च यावान् कश्चिद्धूमः स सर्वो वह्नौ सत्येव भवति तस्मिन्नसति न भवतीत्येतावन्मात्रेणैव भवतीति व्यर्थं जन्मपदमिति चेत्, न, धूमोऽस्तु वह्निर्मास्त्वित्यप्रयोजकत्वशङ्कानिरासद्वारा धूमो यदि वह्निव्याप्यो न स्याद् वह्निजन्यो न स्यादिति विचारपरिणतस्यैवोहस्य व्याप्तिप्रमापकत्वसम्भवात् तादृशविचारोन्नयनार्थं जन्मपदोपादानात्, एतेन प्रथमं धूमस्यानुपलम्भ एकस्तदनन्तरमग्नेरुप-

लम्भस्ततो धूमस्येत्युपलम्भद्वयं पश्चादग्नेरनुपलम्भोऽनन्तरं धूमस्याप्यनुपलम्भ इति द्वावनुपलम्भाविति प्रत्यक्षानुपलम्भपञ्चकेन धूमेऽग्निकार्यत्वावगतौ तदविनाभावनिश्चयोऽन्यथा नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा तस्य स्यात्, तदुक्तं "धूमाधीर्वह्निविज्ञानं, धूमज्ञानमधीस्तयोः । प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यामिति पञ्चभिरन्वयः ॥१॥" इति, स्वभावहेतौ तु तत्प्रतीतिर्विपक्षे बाधकानुमानात्, अनुपलब्धिस्तु स्वभावहेतावेवान्तर्भवतीति न व्याप्तिग्रहार्थमूहाख्यप्रमाणापेक्षेति मायासूनवीयमतं निरस्तम्, कार्ये हेतौ प्रत्यक्षानुपलम्भपञ्चकाद् व्याप्तिप्रतिपत्तेरयोगाद्, उपलम्भानुपलम्भस्वभावस्य द्विविधस्यापि प्रत्यक्षस्य सन्निहितमात्रविषयतया सर्वोपसंहारेण व्याप्त्यग्राहकत्वात्, अविचारकतया विपक्षबाधकान्वेषणेऽप्यक्षमत्वात्, ततः स्वभावहेतावपि तदयोगात्, प्रत्यक्षपृष्ठभाविनो विकल्पस्यापि प्रत्यक्षगृहीतमात्राध्यवसायित्वादधिकाध्यवसायित्वे प्रमाणान्तरस्य दुर्निवारत्वात्, विपक्षे बाधकानुमानेऽप्यविनाभावग्रहार्थमनुमानान्तराद्यपेक्षायामनवस्थानादिति । यदपि व्यभिचारादर्शनभूयस्सहचारदर्शनसहकृतं प्रत्यक्षमेव व्याप्तिग्रहे क्षममिति किं तदर्थं प्रमाणान्तरकल्पनेनेति नैयायिकैरुद्घुष्यते, तदपि तुच्छं, व्याप्तेः प्रत्यक्षाविषयत्वे सहकारिसहस्रसमवहितेनापि तेन तद्ग्रहायोगात्, प्रत्यक्षविषयत्वे च प्रथमत एव तद्ग्रहप्रसङ्गात्, धूमव्यापकवह्निसामानाधिकरण्यविशिष्टधूमत्वादिरूपायास्तस्याः स्वरूपतः सहचारदर्शनादिव्यङ्ग्यताया अपि वक्तुमशक्यत्वात्, व्याप्तित्वेन तत्त्वोपगमस्याप्यतिरिक्ततदनभ्युपगमे तथात्वात्, अतिरिक्तव्याप्तित्वकल्पने च किमपराद्धमतिरिक्तव्याप्त्या यत्प्रमितिवैलक्षण्येनोहः प्रमाणान्तरं न सिद्ध्येत्, न च धूमत्वादिरूपाया अपि व्याप्तेर्व्यापकसामानाधिकरण्यविशिष्टत्वेन ग्रहे सहचारदर्शनाद्यपेक्षेत्यपि वक्तुं युक्तम्, एव सति दण्डविशिष्टत्वादिना पुरुषग्रहेऽपि दण्डादेर्हेतुतापत्तेः, न च विशिष्टज्ञाने विशेषणज्ञानहेतुत्वमर्यादयेष्टापत्तिः, विशेषस्य चिन्त्यमानत्वात्,

किं चैवं सन्निहितव्यक्तिविषयव्याप्तेर्यथाकथञ्चित्प्रतीतावपि समस्तवह्निव्यक्तिनिरूपितसमस्तधूमव्यक्तिनिष्ठव्याप्तेः कथं भानं, न कथञ्चित् प्रतियोग्यसमानाधिकरणयद्रूपविशिष्टसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगितानवच्छेदको यो धर्मस्तद्धर्मावच्छिन्नेन येन केनापि समं सामानाधिकरण्यं तद्रूपविशिष्टस्य तद्धर्म्मावच्छिन्नयावन्निरूपिता व्याप्तिरित्येव दीधितिकृता निष्कर्षकरणादिति चेत्, तत्किं व्याप्तिज्ञानानुमितिस्मरणादिकार्यकारणभावे रूपविशेषो निविशते न तु धर्मिविशेषोऽपीति महानसीयवह्निनिरूपितव्याप्याश्रयत्वेन ज्ञातादपि धूमाद्वह्नित्वेन पर्वते वह्न्यनुमितेरेकत्र व्यक्तौ धूमत्वेन व्याप्तिग्रहेऽप्यपरत्र तथा स्मरणस्य च नानुपपत्तिः, तद्रूपावच्छिन्नेन तेन सामानाधिकरण्यं तद्रूपावच्छिन्नतन्निरूपिता व्याप्तिरित्यभिधाने त्वनन्तहेतुहेतुमद्भावापत्तिः, गन्धत्वादिनैकगन्धादिसामानाधिकरण्यस्य पृथिवीत्वादौ ज्ञानात्तेन रूपेणापरगन्धाद्यनुमितेरनापत्तिश्चेति वाभिप्रायः, ओमिति चेत्, सोऽयं दुरभिप्रायः, रूपविशेषस्येव धर्मिविशेषस्या निवेशे सर्वत्र नियमतो यावद्धर्मिविषयकत्वापत्तेः, सामान्यरूपेणैव व्याप्तिग्रहे क्वचिदपि विशेषव्याप्तिग्रहानापत्तेः, विशेषव्याप्तीनामेवावश्याभ्युपेयानां वह्निव्याप्तित्वेनानुगतीकृतानां सामान्यव्याप्तित्वाभ्युपगमौचित्यात् एकविशेषव्याप्तिज्ञानाद्विना हेतुविशेषणं सामान्यरूपेणाप्यन्यविशेषविषयानुमितेरनभ्युपगमात्, तस्मात् सर्वोपसंहारेण व्याप्तिग्रहार्थमवश्यमूहः स्वीकर्त्तव्यः। अथ सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्त्या सकलवह्निधूमव्यक्त्युपस्थितौ सर्वोपसंहारेण व्याप्तिग्रहो विनाप्यूहं न दुर्घट इति चेत्, न। करितुरगरथपदातिविशेषप्रत्ययानन्तरं सेनाख्यसामान्यप्रत्ययस्येव सामान्यप्रत्ययानन्तरं तदाश्रययावद्विशेषप्रत्यक्षस्याप्यूहैकसाध्यत्वेन सामान्यलक्षणप्रत्यासत्तौ मानाभावात्। अत्रावसरे तर्करसिकजनमनःप्रसत्तये सामान्यलक्षणप्रत्यासत्तिमेव मनाग् मीमांसामहे, तत्र सामन्यधर्मज्ञानानन्तरं यावत्सामान्याश्रयप्रत्यक्षो-

दयात् सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्तेः प्रत्यक्षहेतुतां कल्पयन्ति नैयायिकाः, सा च ज्ञायमानं सामान्यं, सामान्यज्ञानं वा, ज्ञानं च तदिन्द्रियजन्यं ग्राह्यं, स्मरणरूपस्य भिन्नेन्द्रियादिजन्यस्य च ज्ञानस्योत्तरकाले यावत्सामान्याश्रयप्रत्यक्षानुदयात्, तथा च घटत्वादिप्रकारतानिरूपितलौकिकान्यघटादिमुख्यविशेष्यताशालिचाक्षुपत्वावच्छिन्नं प्रति चाक्षुषप्रकारीभूतघटत्ववत्वादिना घटत्वप्रकारकचाक्षुषत्वादिना वा हेतुता कल्प्यते, द्रव्यत्वादिसामान्यलक्षणाजन्यज्ञाने व्यभिचारवारणाय घटत्वादिप्रकारता-निरूपितत्वं विशेष्यतायां निवेशितम्, ज्ञानांशे घटत्वप्रकारकत्वनिवेशे तु घटत्वनिर्विकल्पकोत्तरोत्पन्ने सन्निकृष्टघटांशे घटत्वप्र-कारके द्रव्यत्वसामान्यलक्षणप्रत्यासत्तिजन्ये यावद्द्रव्यप्रत्यक्षे व्यभिचार इत्यतस्तत्त्यक्तम्, न च तत्रासन्निकृष्टघटांशेऽपि घटत्वभाने बाधकाभावात्तदंशे लौकिकान्यमुख्यविशेष्यतासत्त्वाद् यथोक्तेनाप्यनिर्वाह इति शङ्कनीयम्। घटत्वसामान्यलक्षणा-कारणविरहादेव तत्रासन्निकृष्टघटे घटत्वभानासम्भवात्, तत्तद्घटांशे विशेषणज्ञानादिमात्रेण घटत्वप्रकारकबुद्धेर्जनयितुमश-क्यत्वात्, घटत्वसामान्यलक्षणातत्तद्घटज्ञानात्मकज्ञानलक्षणातत्तद्घटलौकिकसन्निकर्षान्यतमविशेषसामग्रीसहकृतविशेषण-ज्ञानादीनामेव तत्र तज्जनकत्वात्, यथोक्तस्थले तादृशविशेषसामग्रीविरहेणोक्तापादनासम्भवात्, जातित्वादिना घटत्व-विशेष्यकस्मरणानन्तरं यत्र द्रव्यत्वप्रकारकघटविशेष्यकचाक्षुषं तदुत्तरोत्पन्नयावद्द्रव्यप्रत्यक्षे घटत्वस्य प्रकारतया भानं नेष्यत एवेति नानुपपत्तिः, एवमिह घटे घटत्वमिति चाक्षुषानन्तरोत्पन्नद्रव्यत्वप्रकारकचाक्षुषोत्तरद्रव्यत्वसामान्यप्रत्यासत्तिजन्य-ज्ञानस्थलेऽपि द्रष्टव्यम्। लौकिकान्यत्वस्य विशेष्यतायां निवेशान्निर्विकल्पाद्युत्तरोत्पन्नलौकिकप्रत्यक्षे न व्यभिचारः, न च यावद् घटविशेष्यत्वस्य कार्यतावच्छेदककोटिनिवेशध्रौव्यात् किं लौकिकान्यत्वनिवेशेनेति वाच्यम्, तदनिवेशेऽपि

बाधकविरहेणैव यावद्घटभानोपपत्तौ तन्निवेशे प्रयोजनविरहात्, व्यभिचारवारणाय घटत्वव्यापकविशेष्यताकत्वरूपयावद्घटविशेष्यकत्वापेक्षया लघोर्लौकिकान्यत्वस्यैव निवेशौचित्यात्, तत्तद्घटादिरूपसामान्यलक्षणस्थले यावत्तदाश्रयविषयकलौकिकस्यापि सम्भवेन तन्निवेशध्रौव्याच्च, मुख्यत्वनिवेशाद् घटत्वादिप्रकारकस्मरणादिजन्यघटोपनीतभानादौ न व्यभिचारः, बहिरिन्द्रियजन्ये उपनीतभाने उपनीतस्य विशेषणतयैव भानान्मुख्यत्वस्य च प्रकारतान्यत्वात्मकत्वात्, घटत्वादिविषयकनिर्विकल्पकानन्तरं यावद्घटप्रत्यक्षानुदयात् कारणतावच्छेदककोटौ प्रकारत्वनिवेशः, एकसम्बन्धेन सामान्यप्रकारकज्ञानादन्यसम्बन्धेन सामान्याश्रयप्रत्यक्षापत्तिवारणाय तत्सम्बन्धेन सामान्याश्रयप्रत्यक्षहेतुतायां तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रकारता निवेशनीया । अत्र प्रथमकल्पे कारणतावच्छेदकप्रत्यासत्तिः समवायादिः, कार्यतावच्छेदकप्रत्यासत्तिश्च विषयता, घटादिवृत्तिविषयतात्वेन सम्बन्धत्वाभ्युपगमाच्च न समूहालम्बने व्यभिचारः । एकपुरुषीयसामान्यज्ञानादन्यपुरुषीयसामान्याश्रयप्रत्यक्षवारणाय ज्ञानांशे तत्पुरुषीयत्वं निवेश्यम्, इत्थं च पुरुषभेदेनापि कारणताभेदः, द्वितीयकल्पे कार्यस्य कारणस्य च समवाय एव प्रत्यासत्तिरतो नैकपुरुषीयसामान्यज्ञानादन्यस्य सामान्याश्रयप्रत्यक्षप्रसङ्गः । अत एवैतत्कल्पे पुरुषभेदेन कारणताभेदाभावात्पूर्वकल्पापेक्षया लाघवं, न चात्र सामान्यानां विशिष्य निवेशनीयतया गौरवं मत्पक्षे तु लौकिकान्यमुख्यविशेष्यतासम्बन्धेन चाक्षुषत्वाद्यवच्छिन्नं प्रति प्रकारतासम्बन्धेन चाक्षुषादिमत्त्वेनैकहेतुताकल्पनयैवोपपत्तौ न सामान्यभेदेन कारणताभेद इति लाघवम्, पुरुषापेक्षया च विषयाणां बहुतरतया सामान्यभेदेन कारणताभेदकल्पनस्यैव पुरुषभेदेन कारणताभेदकल्पनापेक्षया गुरुत्वादिति वाच्यम्, सामान्यधर्माणां विशिष्यानिवेशे द्रव्यत्वप्रकारक-

चाक्षुषादिकाले घटत्वादिनिर्विकल्पकसत्त्वे तदुत्तरद्रव्यत्वभानप्रतिबन्धकीभूतदोषादिसत्त्वे घटत्वादिना यावद्घटभानापत्तेः, प्रकारतासम्बन्धेन चाक्षुषादिमतो द्रव्यत्वादेरेव यावद्घटेषु सत्त्वात्, न चेष्टापत्तिः, सामान्यप्रकारकज्ञानस्यैव सामान्यलक्षणया जननेन द्रव्यत्वाप्रकारकज्ञानस्य द्रव्यत्वसामान्यलक्षणयाऽजननात् । अथ ज्ञायमानसामान्यप्रत्यासत्तिमतेऽपि स्वप्रकारकचाक्षुषादिसमवायित्वरूपात्मनिष्ठप्रत्यासत्त्यैव सामान्यस्य हेतुता कल्पनीयेति न पुरुषभेदेन कारणताबाहुल्यगौरवमिति चेत्, न, तथापि घटत्वत्वादिरूपेण सामान्यस्य हेतुताया वाच्यतया घटेतरावृत्तित्वविशिष्टयावद्घटवृत्तित्वरूपघटत्वत्वादिनिवेशप्रयुक्तगौरवस्याशक्यपरिहारत्वात्, मन्मते तु स्वरूपत एव घटत्वनिवेशात्, न च घटत्वादीनामाधेयतया घटवत्त्वादिनैव हेतुता नतु घटत्वत्वादिनेति वाच्यम् तथा सति द्रव्यत्वादीनामपि तादृशकारणतावच्छेदकाक्रान्ततया तद्भानप्रतिबन्धकदशायां तत्प्रकारकचाक्षुषाद्घटत्वप्रकारकचाक्षुषापत्तेः, न च घटादिसामान्यलक्षणास्थले सामान्यहेतुताया बाधकाभावस्तत्र स्वरूपतो घटत्वादीनामेव कारणतावच्छेदकत्वे गौरवाभावादिति वाच्यम्, घटनाशादिदशायामपि तदाश्रयप्रत्यक्षोदयात्तत्रापि परम्परासम्बन्धेन घटत्वादीनामेव प्रत्यासत्तितायास्त्वया वाच्यत्वात्, परम्परासम्बन्धेन घटत्वप्रकारकज्ञानविरहदशायामपि साक्षात्सम्बन्धेन घटप्रकारकज्ञानात्तदाश्रयज्ञानोदये तत्रानायत्या घटादेरेव प्रकारतया भानोपगमे तु तस्यातीतत्वदशोत्पन्नतादृशज्ञाने व्यभिचारात्, सामान्यज्ञानस्य प्रत्यासत्तित्वमागतम्, एतन्मत एव लौकिकान्यमुख्यविशेष्यतानिरूपितप्रकारतासम्बन्धेन चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति प्रकारतासम्बन्धेन चाक्षुषत्वादिना हेतुताकल्पनेन सामान्यभेदे न हेतुताभेदोऽपि, मतान्तरे उक्तसम्बन्धेन चाक्षुषं प्रति तादात्म्येन चाक्षुषत्वेन हेतुत्वेऽनन्तचाक्षुषाणां कारणतावच्छेदकत्वे गौरवम्, अत्र च चाक्षुषत्वजा-

तेरेव तथात्वे लाघवमिति द्रष्टव्यम्, न चोक्तसम्बन्धेन चाक्षुषाधिकरणे तदव्यवहितप्राक्कालावच्छेदेन प्रकारतासम्बन्धेन चाक्षुषरूपकारणाभावात्कथं तत्र तदुत्पत्तिस्तत्कालस्यातीतनिष्ठप्रकारतासम्बन्धावच्छिन्नज्ञानरूपकारणाधिकरणतानवच्छेदकत्वादिति वाच्यम्, विषयतासम्बन्धावच्छिन्नाधिकरणताया अधिकरणासम्बद्धकालस्याप्यवच्छेदकत्वाभ्युपगमात्, अन्यथा ज्ञानेच्छादीनां विषयनिष्ठप्रत्यासत्त्या कार्यकारणभावविलयप्रसङ्गात्, अथवा प्रकृतस्थलेऽवच्छेदकत्वमनन्तर्भाव्य यत्र प्रदेशे यत्क्षणाव्यवहितपूर्वक्षणवृत्तिचाक्षुषादिरूपं कारणं प्रकारतासम्बन्धेन वर्त्तते तत्र तत्क्षणवृत्तिचाक्षुषादिरूपं कार्यं प्रकारतासम्बन्धेनोत्पद्यत इत्येव सामग्रीव्याप्तिरभ्युपगम्यत इति नानुपपत्तिः। अथ विनश्यदवस्थसन्निकर्षजन्यसामान्यप्रकारकचाक्षुषाद्यनन्तरं सामान्यप्रत्यासत्तिजन्यचाक्षुषाद्यापत्तिः, स्वाश्रयविशेष्यतानिरूपितसामान्यप्रकारकत्वसम्बन्धेन चक्षुःसंयोगविशिष्टचाक्षुषत्वादिनात्मनिष्ठप्रत्यासत्त्या स्वाश्रयविशेष्यतानिरूपितत्वसम्बन्धेन चक्षुःसंयोगविशिष्टप्रकारतात्मकविषयनिष्ठप्रत्यासत्त्या चाक्षुषत्वादिना च हेतुत्वेऽपि यत्र धूलीपटलादिविशेष्यकधूमत्वादिप्रकारकभ्रमो दोषनाशश्च युगपत्तत्र तदुत्तरयावद्धूमप्रत्यक्षापत्तिः तत्तत्सामान्याश्रयीभूतस्वाश्रयविशेष्यतानिरूपिततत्तत्सामान्यप्रकारताकत्वसम्बन्धेन चक्षुःसंयोगादिविशिष्टचाक्षुषत्वादिना समानाधिकरणवृत्तित्वस्वाश्रयविशेष्यतानिरूपितत्वोभयसम्बन्धेन चक्षुःसंयोगादिविशिष्टप्रकारतासम्बन्धेन चाक्षुषवत्त्वादिना वा हेतुत्वकल्पने तु धूलीपटलादिविशेष्यकधूमत्वादिभ्रमाद्दोषादिसत्त्वकालेऽपि यावद्धूमत्वाश्रयप्रत्यक्षानुदयप्रसङ्गः दोषादिवैशिष्ट्यं निवेश्य हेतुत्वान्तरकल्पने तु व्यभिचारवारणमशक्यमिति चेत्, न, सामान्यप्रत्यासत्त्या सामान्यप्रकरतानिरूपितलौकिकविशेष्यताशून्यचाक्षुषादीनां कुत्राप्यजननात् तादृशविशेष्यताशालिचाक्षुषसामग्रीसहकारेणैव सामान्य-

प्रत्यासत्तेः फलजनकत्वाभ्युपगमेनोपदर्शितापत्त्यसम्भवात्, मानसस्थले च सामान्यप्रकारकज्ञानत्वेनैव हेतुता, स्मरणादितोपि मानसप्रत्यक्षोदयात्, कार्यतावच्छेदकं च तादृशज्ञानाव्यवहितोत्तरमानसत्वम्, अव्यवहितोत्तरत्वनिवेशेन यत्र घटत्वादिविशेष्यकात् सम्बन्धान्तरेण तत्प्रकारकाद्वा ज्ञानात् घट इत्याकारकोपनीतभानं तत्र न व्यभिचारः, मानसे उपनीतस्य मुख्यविशेष्यतयापि भानात्मुख्यविशेष्यतानिवेशेन व्यभिचारवारणं तु कर्त्तुमशक्यम्, मानसस्थले च सामान्यप्रकारकलौकिकप्रत्यक्षसामग्री नापेक्षिता, घटत्वादिप्रकारकलौकिकप्रत्यक्षसामग्रीकाले मानसस्यैवानुदयादिति "सामान्यलक्षणामेवं, गौतमीया असाधयन् । तत्रोच्चैः प्रतिजानीते यतिर्न्यायविशारदः ॥ १ ॥ सामान्यलक्षणा युक्तिरियं–शुक्तिरिवोज्ज्वला । ऊहमुक्तामणिव्यक्तिरिमां भित्त्वा विधीयते" ॥ २ ॥ इति, तत्र तत्तत्सम्बन्धेनैकत्र घटे घटत्वस्यैकघटवृत्तिघटत्वस्य च ज्ञानात् घटत्ववत्तया यावद्घटानां यावद्घटवृत्तितया घटत्वस्य च प्रतिपत्तिदर्शनात् तत्तत्सम्बन्धावच्छिन्नघटत्वविषयतानिरूपितघटविषयताकज्ञानत्वावच्छिन्नं प्रति तत्तत्सम्बन्धावच्छिन्नघटत्वविषयताकोहत्वेन कारणता कल्प्यते ऊहत्वं च विशेषग्राहकस्य सामान्यव्यापकविषयताकग्रहपर्यवसायकविचारत्वं प्रमाणानुग्राहकस्योहस्य प्रमाणफलेनैव फलवत्वाच्च न पृथक् तत्फलानुधावनं, न तु प्रागुक्तनैयायिकेष्टरूपेण कारणत्वं, घटत्वादिविशेष्यकज्ञानासंग्रहात्, कार्यतावच्छेदके लौकिकान्यत्वादानेनेन्द्रियभेदेन कारणताभेदाभावेन च लाघवात्, तत्तत्सम्बन्धादिविचारसध्रीचीन एव हि स स धर्मो यावत्स्वाश्रयं ग्राहयति, अत एवास्त्यादिपदात्कालाद्यभेदेनाशेषधर्मक्रोडीकृतद्रव्यग्रहः स्वसमयसिद्धः सङ्गच्छते, किञ्च तत्तत्सम्बन्धेन तत्तद्धर्मस्य तत्तत्सामान्यत्वापरामर्शे न सामान्यप्रकारकज्ञानादपि तेन सम्बन्धेन यावत्स्वाश्रयग्रहः, प्रकृतसम्बन्धेन घटत्वं न

घटसामान्यमिति ग्रहकाले ततस्तदभावात्तत्त्वग्रहश्च विचाराधीन इति विचारकशीलत्वात् सामान्यप्रत्यासत्तेरुहत्वमागतं, वस्तुतस्तस्या यावदाश्रयज्ञाने द्वित्वादावपेक्षाबुद्धेरिव वैजात्येनैव हेतुत्वमुचितमिति तस्या एवोहाख्यत्वं प्रमाणान्तरत्वं च युक्तिमत्, एतेन, स्मरणादिसाधारणसामान्यविषयकज्ञानत्वेनैव हेतुता सामान्यप्रकारकप्रत्यक्षत्वेन कार्यता, स्मरणादिकालेऽपि सामान्याश्रयप्रत्यक्षमिष्टमेव, सामान्यप्रत्यासत्तिजन्यचाक्षुषादौ सामान्यप्रकारकलौकिकचाक्षुषसामग्र्या आवश्यकत्वाद् द्वितीयक्षणे सामान्यप्रकारकचाक्षुषोत्पत्त्या तृतीयक्षणे यावत्सामान्याश्रयप्रत्यक्षस्य भवतोऽप्यावश्यकत्वात् सामान्यप्रकारकत्वेन कारणत्वमनादृत्य द्वितीयक्षणे तदुत्पादाभ्युपगमे क्षतिविरहात्, एवं निर्विकल्पोत्तरमपि यावत्सामान्याश्रयप्रत्यक्षमिष्टमेव । द्वितीयक्षणे विशिष्टबुद्ध्युत्पत्त्या तृतीयक्षणे तदुत्पादाभ्युपगमस्य भवतोऽप्यावश्यकत्वात्, न च सामान्यविषयकज्ञानत्वेन हेतुत्वे विषयतात्वेन प्रकारताविशेष्यतादीनामवच्छेदकत्वापेक्षया प्रकारतात्वेन प्रकारतामात्रस्यैव तथात्वमुचितमिति वाच्यम्, सामान्यप्रकारकज्ञानत्वेन हेतुत्वे लौकिके उपनीतभाने च व्यभिचारवारणाय लौकिकान्यमुख्यविशेष्यतायाः कार्यतावच्छेदककोटौ दाने गौरवात्, तदपेक्षया कारणतावच्छेदककोटौ विषयतात्वेन निवेशस्यैवोचितत्वादित्यादि नवीनोक्तमप्यपास्तम्, निर्विकल्पकस्याविचारकत्वेनाप्रत्यासत्तित्वात् सामान्यविषयकज्ञानत्वेन हेतुत्वायोगात्, एकसम्बन्धेन सामान्यविषयकज्ञानात् सम्बन्धान्तरेण सामान्याश्रयप्रत्यक्षाभ्युपगमस्यानुभवविरुद्धत्वेन तद्वारणाय सम्बन्धविशेषावच्छिन्नविषयतानिवेशध्रौव्ये निर्विकल्पकग्रहायोगाच्च, किञ्च निर्विकल्पकस्य प्रत्यासत्तित्वे घटत्वप्रत्यक्षकाले द्रव्यत्वसत्त्वादीनामपि प्रत्यक्षस्यावर्जनीयत्वात्, घटत्वनिर्विकल्पकद्वितीयक्षणे यावद्घटप्रत्यक्षवत् यावद्द्रव्यप्रत्यक्षस्य यावत्सत्प्रत्यक्षस्य चापत्तिः, सा चानिष्टेति, यस्य यावत्सामा-

न्यत्वं द्रव्यार्थादेशेनोच्यते तद्ज्ञानात्तावद्व्यक्तिप्रतिपत्तिरूहात्मिका प्रतिपत्तव्या, न चेत् एवं तदा ज्ञायमानात् सामान्याद् यावत्तदाश्रयस्येव ज्ञायमानविशेषात् यावत्तदाश्रितस्यापि प्रत्यक्षोदयाभ्युपगमेन सामान्यलक्षणावद्विशेषलक्षणापि बलात्प्रत्यासत्तिपदवीमासादयेत्, न च तत्र विशेषस्य सामान्यनाममात्रकरणेनापि निस्तारः. पर्यवनयन्त्युत्क्रान्तानामर्थानां यथोत्तरं शुक्तिबाधेन स्वलक्षणमात्रविश्रान्तप्रतीतौ प्रत्यासत्त्यन्तरकल्पनापत्तेः। एवं घटाद्यर्थेऽपि भेदाभेदादिविचारे निर्विकल्पपर्यवसाने द्रष्टव्यम्। ऊहव्यापारोपगमे तु न कुत्रापीदृशस्थले विचारणीयमस्ति। अत्र फलीभूतबोधापलापे तु सामान्यप्रत्यासत्तिजबोधोऽपीपत्करापह्नव इति ध्येयम्। इदमप्यत्र वदन्ति, निर्विकल्पकमाधारणसामान्यज्ञानस्य प्रत्यासत्तित्वमते ज्ञानप्रत्यासत्तेर्हेतुत्वे मानाभावः। घटो नास्ति सुरभि चन्दनमित्यादौ घटसौरभादीनां घटत्वसौरभत्वसामान्यलक्षणप्रत्यासत्तिबलादेव भानोपपत्तेः। न च सामान्यप्रत्यासत्त्या फलजनने किञ्चिदंशे सामान्यप्रकारकज्ञानसामग्र्यन्तरस्यापेक्षितत्वादुपदर्शितस्थले च घटांशे घटत्वप्रकारकज्ञानसामग्र्यन्तरविरहेण कथं घटत्वादिसामान्यलक्षणया घटादिज्ञानं जननीयमिति वाच्यम्, तत्र सामान्यज्ञानविधया घटादिप्रकारकप्रत्यक्षजनकघटादिज्ञानघटितोपनीतभानसामग्र्या एव सत्त्वात्। ज्ञानलक्षणायाः पृथग्घेतुत्व एव विवादात् घटसामान्यलक्षणाया अपि च प्रकृतघटत्वादिसामान्यलक्षणातिरिक्ततया सामग्र्यन्तरत्वोपपत्तेः, घटत्वसौरभत्वादिसामान्यलक्षणाप्रत्यासत्तेर्जन्यतावच्छेदककोटावपि घटत्वसौरभत्वादिविषयता निविशते ननु तदाश्रयविषयतेति तद्वृत्तिधर्मज्ञानाभावेन तया तद्भानानिर्वाहान्न तदर्थमपि ज्ञानलक्षणा कल्प्यते, न च रजतत्वादिना शुक्त्याद्युपनीतभानानुरोधेन ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्तेः पृथक्कारणत्वकल्पनमावश्यकं, तत्र शुक्तिवृत्तिधर्मज्ञानाभावेन सामान्यलक्षणातस्तद-

निर्वाहादिति वाच्यम्, रजतत्वसामान्यलक्षणाया रजतत्वाश्रयप्रत्यक्षं प्रत्येव हेतुत्वेऽपि शुक्तेरपि वैज्ञानिकसम्बन्धेन रजतत्वाश्रयत्वात् तद्बलादेव तद्भानोपपत्तेः, वस्तुतो दोषादिरूपकारणबलादेव तत्र शुक्तिभानमिति न तदनुरोधेन ज्ञानप्रत्यासत्तिहेतुताकल्पन, न चैवं रजतत्वज्ञाने शुक्तेरज्ञानेऽपि दोषादिबलात्तादृशोऽपनीतभानापत्तिः, दोषस्य फलबलकल्प्यतया फलाभावेन तत्र दोषाकल्पनात् । न च ज्ञानलक्षणायाः पृथगहेतुत्वे घटत्वविशेष्यकज्ञानदशायां घटज्ञानाद्यसत्त्वेऽपि घटत्वादिना घटादिमुख्यविशेष्यकमानसोपनीतभानापत्तिः, घटत्वादिसामान्यलक्षणायाः किञ्चिदंशे घटत्वादिप्रकारकज्ञानसामग्र्यन्तरसहकृताया एव फलहेतुत्वेन तत्र तज्जन्यज्ञानमादायेष्टापत्तेः कर्तुमशक्यत्वादिति वाच्यम् । एवमपि लौकिकान्यतद्विषयताशालिज्ञानत्वावच्छिन्नम्प्रति तद्विषयकज्ञानत्वेनैकहेतुताकल्पनेनैवोपपत्तौ ज्ञानप्रत्यासत्तिसामान्यप्रत्यासत्त्योः पृथक्कारणत्वे मानाभावात्, न च सामान्यप्रत्यासत्तिजन्याज्ञातसामान्याश्रयप्रत्यक्षे व्यभिचारः, अव्यवहितोत्तरत्वस्य कार्यतावच्छेदककोटौ निवेशे तदभावात्, न च घटत्वाद्यंशे लौकिकयावद्घटभानस्य लौकिकान्यघटत्वविषयताशून्यत्वेन तत्र घटत्वादिज्ञानस्य पृथग्घेतुत्वकल्पनमावश्यकम् एककारणतया निर्वाहाभावादिति वाच्यम् । तत्र घटत्वांशे द्विविधविषयतास्वीकारे दोषाभावात् अव्यवहितोत्तरत्वनिवेशेनैव लौकिकज्ञाने व्यभिचाराभावेन लौकिकान्यत्वानिवेशाद्वा, न चाज्ञातव्यक्तिभानाय सामान्याश्रयविषयतामन्तर्भाव्य सामान्यज्ञानस्य हेतुत्वान्तरमावश्यकमिति शङ्क्यम्, सामान्यज्ञानजन्यतावच्छेदककोटौ सामान्याश्रयविषयताया अनिवेशेऽपि तत्तद्विषयकप्रत्यक्षेच्छाविरहविशिष्टविरोधिसामग्र्यभावजन्यतावच्छेदककोटौ तत्तत्सामान्याश्रयविषयतानिवेशात् तद्बलादेव सामान्यप्रत्यासत्तिजन्यज्ञानस्य निखिलसामान्याश्रयविषयकत्वोपपत्तेः, न च सामान्यज्ञानशून्यकालेऽपि तादृशकारणबला-

त्तदापत्तिः, तज्जन्यफलस्य सामान्यज्ञानजन्यतावच्छेदकाक्रान्ततया सामान्यज्ञानं विना तदापत्त्यसम्भवादिति, अत्राप्ययमस्माकं मनीषोन्मेषः, यावत्सामान्याश्रयज्ञाने बाधाभावसामान्यज्ञानयोर्नियमतः सहकारित्वे कल्पनीये सर्वत्र प्रमाणे बाधाभावमुखप्रेक्षिणि तदपेक्षा स्यात्, न चैवमभ्युपगमः, किन्तु सर्वप्रमाणानां सामान्यविषयत्वमुत्सर्गतः स्वसामग्रीबलायातमित्येवाभ्युपगम इति । तस्माम् सामान्यज्ञानं यद्येकव्यक्तिविषयं स्याद्बाधाभावेन यावद्व्यक्तिविषयं स्यादित्यूहात्मकमेव यावत्सामान्याश्रयज्ञानमङ्गीकर्तुं युक्तम्, तेनैव व्याप्तिशक्तियोग्यताकाङ्क्षादिज्ञानानां सामान्यविषयत्वादनुमितिशाब्दादीनां सामान्यविषयत्वसङ्गतेर्व्याप्तिज्ञानादीनां तर्कानुग्राह्यत्वकल्पनापेक्षया तर्कत्वकल्पनायामेव लाघवात्, एवं सामान्याश्रयप्रत्यक्षत्वं न परमतेऽपि सामान्यज्ञानजन्यतावच्छेदकं, तैरीश्वरप्रत्यक्षोपगमेन तत्र व्यभिचारात्, किन्तु सामान्याश्रयजन्यप्रत्यक्षत्वमिति, तदपेक्षया सामान्याश्रयतर्कत्वमेव तथा लाघवादित्यस्मन्मतमेव ज्याय इति बोध्यम्, तत्तत्सामान्याश्रयमूहं विना बाधाभावमात्रेण तद्विषयकभानोपगमे तु नियमेन सर्वत्रानन्तपर्यायभानापत्तिः, एतेनानुमितौ पक्षतावच्छेदकावच्छिन्नत्वं पक्षतावच्छेदकव्याप्तविषयताकत्वं बाधाभावमात्रादित्यपि निरस्तम्, ऊहव्यापारानुसारेणैव तत्र नियतविषयभानादन्यथातिप्रसङ्गात्परामर्शेऽपि तद्भाने कारणस्य मृग्यत्वादिति दिग् । एतेन यदि च तत्तत्प्रत्यक्षविषयतायाः कारणतावच्छेदकसम्बन्धेन सन्निकर्षाश्रयत्वनियतत्वं प्रामाणिकं तदा ज्ञानप्रत्यासत्तिसामान्यप्रत्यासत्त्योः पृथक्कार्यकारणभावकल्पनमावश्यकं, तथाहि–एतन्मते सामान्यलक्षणायाः स्वविषयीभूततत्तत्सामान्यवत्त्वप्रत्यासत्त्या ज्ञानत्वेन तत्तत्सामान्याश्रयवृत्तिविषयतया प्रत्यक्षत्वावच्छिन्ने हेतुता कल्प्या, तथा च घटो नास्ति सुरभि चन्दनमित्यादौ घटत्वसौरभत्ववृत्तिधर्मज्ञानाभावेन सामान्यलक्षणया तद्भानानुपपत्तेर्लौकिकान्यविषयतया

प्रत्यक्षत्वावच्छिन्ने विषयतया ज्ञानत्वेन ज्ञानप्रत्यासत्तेर्हेतुत्वकल्पनमावश्यकम्, न च निर्विकल्पकसाधारणप्रत्यासत्तिमते सामान्यलक्षणाया हेतुत्वे तत्पुरुषीयत्वं न निवेश्यते, विशेषणज्ञानविरहेणैवाऽन्यदीयघटज्ञानाद् घटत्वेन घटप्रत्यक्षवारणसम्भवात्, इत्थं च घटो नास्तीत्यादावन्तत ईश्वरीयघटत्वादिवृत्तिधर्मज्ञानादेवोपपत्तौ किं ज्ञानप्रत्यासत्तिकल्पनया, सामान्यज्ञानहेतुतायां तत्पुरुषीयत्वादिनिवेशे व्यभिचारविरहेण सामान्यप्रकारकत्वस्य जन्यतावच्छेदककुक्षावप्रवेशात्, सामान्यप्रत्यासत्तिजन्ये घटत्वाद्यंशे घटत्वादिवृत्तिसामान्यधर्माप्रकारकत्वेऽपि दोषाभावादिति वाच्यम्, सामान्यलक्षणायाः फलजनने तत्तत्सामान्यप्रकारकप्रत्यक्षजनकसामग्र्यन्तरस्य सहकारित्वाभ्युपगमादुपदर्शितस्थले घटत्वादिवृत्तिसामान्यप्रकारकप्रत्यक्षजनकसामग्रीविरहेण घटत्वादिभानस्य सामान्यलक्षणयाऽनुपपत्तेर्ज्ञानलक्षणायाः पृथक्कारणत्वावश्यकत्वात्, इत्थमेव घटोपस्थितिशून्यकाले घटत्वविशेष्यकज्ञानान्न घटत्वेन घटमुख्यविशेष्यकं मानसमित्युपपद्यते, यत्तु उपदर्शितनियमानुरोधेन विषयतया प्रत्यक्षत्वावच्छिन्ने स्वविषयधर्मवत्त्वसम्बन्धेन विषयतासम्बन्धेन वा ईश्वरज्ञानसाधारणेन ज्ञानत्वेनैकमेव हेतुत्वं, न चैवं घटत्वज्ञानदशायां तदनाश्रयप्रत्यक्षापत्तिः, घटत्वेन तज्ज्ञानस्य दोषविरहेणानापत्तेः, सति दोषे चेष्टत्वात्, तदनाश्रयवृत्तिधर्मप्रकारकज्ञानस्य च तादृशविशेषज्ञानसाध्यस्य तद्विरहेणैवायोगादिति, तन्न, उपदर्शितैकहेतुहेतुमद्भावे घटत्वाद्यात्मकयत्किञ्चिद्विशेषणज्ञानसहकृतस्यैव सामान्यज्ञानस्य फलव्याप्यत्वेन यत्किञ्चित्सामान्यज्ञानदशायां प्रमेयमात्रे विषयतया प्रत्यक्षापत्तेर्दुर्वारत्वात्, सामान्यभेदेन विशिष्य हेतुत्वे च तत्सामान्यज्ञानात्तदनाश्रयप्रत्यक्षानापत्तेः, ईश्वरीयप्रमेयत्वादिसामान्यज्ञानात्तद्ज्ञानशून्यस्य च यत्किञ्चिद्व्यतिरेकिसामान्यज्ञानवतो विश्वविषयकप्रत्यक्षापत्तेश्च, प्रमेयत्वादिसामान्यलक्षणायाः

फलजनने प्रमेयत्वादिरूपविशेषणज्ञानस्यैव सहकारित्वेन निरसनीयत्वादिति, घटत्वादिना यत्किञ्चिद्धर्मिभासकलौकिकसन्निकर्षादिशून्यकाले घटत्वादिसामान्यलक्षणाजन्यप्रत्यक्षानुदयात्तत्तत्सामान्यधर्मप्रकारेण यत्किञ्चिद्धर्मिविषयकप्रत्यक्षजनकसामग्र्यन्तरस्य सामान्यलक्षणासहकारित्वं स्वीकरणीयम्, तच्च लौकिकप्रत्यक्षसामग्री उपनीतभानसामग्री च, तयोश्च प्रत्येकं सहकारिता बोध्या, सा च तज्जन्यतावच्छेदकसमानाधिकरणजन्यतावच्छेदकत्वरूपा, न चैवं क्वचिदापत्तिः सम्भवति, यतः तद्धर्मावच्छिन्नयत्किञ्चिद्व्यक्तिनिष्ठकार्यतानिरूपितकारणतावच्छेदकीभूता यावन्तो धर्माः प्रत्येकं तदवच्छिन्नस्तोमात्मकसामग्र्यास्तद्धर्मावच्छिन्नापादकत्वात्, घटत्वाश्रयस्य यस्य कस्यचिल्लौकिकसामग्र्युपनीतभानसामग्र्योरसत्योश्च तादृशसामग्र्येव नास्ति, घटत्वप्रकारकप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नस्य घटत्वादिप्रकारतानिरूपितलौकिकविषयताशालितया घटत्वादिनोपनीतयत्किञ्चिद्धर्मिविषयतया च द्विविधत्वात्, यत्किञ्चिदित्यनेन प्रथमोपादाने तन्निष्ठकार्यतानिरूपितकारणतावच्छेदकावच्छिन्नस्तोमात्मकलौकिकसन्निकर्षादेरन्त्यस्य चोपादाने तन्निष्ठकार्यतानिरूपितकारणतावच्छेदकावच्छिन्नोपनायकज्ञानादेरभावेन तत्र तद्घटिततादृशस्तोमाभाव इति न काचिदनुपपत्तिः। अथ घटो नास्ति सुरभि चन्दनमित्यादौ यावद्घटसौरभादिभानापत्तिः, यावद्घटादिविषयकप्रत्यक्षत्वस्य सामान्यज्ञानजन्यतानवच्छेदकत्वेन तदवच्छिन्नापत्तेः कर्तुमशक्यत्वेऽपि सामान्यप्रत्यासत्तिबलादर्थतो यावद्घटविषयकप्रत्यक्षापत्तेर्दुर्वारत्वात्, घटत्वेन यत्किञ्चिद्विषयकलौकिकप्रत्यक्षसामग्रीदशायां यावन्तो घटा भासन्ते न तु घटो नास्तीत्यादावित्यत्र नियामकस्यावश्यवक्तव्यत्वाच्चेति चेत्, न। घटत्वादिप्रकारतानिरूपितमुख्यविशेष्यताशालिप्रत्यक्षत्वस्य घटत्वादिसामान्यलक्षणाजन्यतावच्छेदकत्वे दोषाभावात्, तदवच्छिन्नफलस्य बहिरिन्द्रियजस्य मानसस्य वा द्विविधस्यापि घट इत्या-

कारकस्यैवोपगमात्, यत्तु घटत्वप्रकारतानिरूपितलौकिकविषयताया घटत्वज्ञानजन्यतावच्छेदककोटौ निवेशाद् घटो नास्तीत्यादौ घटाद्यंशे लौकिकसन्निकर्षघटितसामग्र्यभावाभोक्तापत्तिः, ज्ञातघटादिज्ञानं च ज्ञानलक्षणात एवेति, तदसत्, घटत्वादिप्रकारतानिरूपितलौकिकविषयताया जन्यतावच्छेदककोटौ निवेशने सामान्यलक्षणाजन्यघटादिमानसासङ्ग्रहात्, अथ सामान्यघटितसामग्रीव्याप्तौ घटत्वादिप्रकारकलौकिकप्रत्यक्षसामग्र्यादेस्तादृशसामग्रीत्वेन घटचक्षुःसंयोगत्वादिना वा न निवेशः, तादृशधर्माणां कारणतानवच्छेदकत्वात्, कारणतानवच्छेदकधर्मावच्छिन्नस्य सामग्रीव्याप्तिमध्ये निवेशनेनातिप्रसङ्गवारणे सर्वमतसिद्धबहुतरकार्यकारणभावविलयप्रसङ्गात्, तथा चालोकसंयोगावच्छिन्नचक्षुःसंयोगत्वादिनैव लौकिकप्रत्यक्षादिहेतवः सामग्रीव्याप्तिमध्ये निवेशनीया इति तादृशचक्षुःसंयोगादिसमवहितं घटत्वादिज्ञानं यदा यत्र कारणतावच्छेदकप्रत्यासत्त्या तदव्यवहितोत्तरक्षणे तत्र कार्यमित्येतादृशी सामग्रीव्याप्तिः स्वीकार्या, तत्र चक्षुःसंयोगादिसमवहितत्वमेकक्षणवृत्तित्वसम्बन्धेन, नत्वेकदेशवृत्तित्वसम्बन्धेन, स्वविषयीभूतसामान्याश्रयत्वप्रत्यासत्त्या सामान्यज्ञानहेतुतामते तादृशसम्बन्धेन घटत्वज्ञानादीनां घटचक्षुःसंयोगादिसमानदेशतासम्भवेऽपि पटादौ घटत्वादिभ्रमजनकदोषकाले घटत्वादिज्ञानेन यावद्घटादिचाक्षुषजननादेकदेशवृत्तित्वनिवेशासम्भवात्, एवं च दोषाभावेऽपि पटादिचक्षुःसंयोगमादाय चक्षुःसंयोगादिकालवृत्तित्वविशिष्टसामान्यज्ञानमहिम्ना घटत्वादिज्ञानकार्यापत्तिः, घटचक्षुःसंयोगदशायां व्यभिचारेण सामग्रीव्याप्तौ दोषनिवेशस्याप्यसम्भवादिति चेत्, न। बाधाभावादिघटितसामग्रीव्याप्तावप्यस्य दोषस्य तुल्यत्वात्, तत्रापि घटाभावादिप्रकारकचाक्षुषनिश्चयाभावादिघटितसामग्रीव्याप्तौ सन्निकर्षादीनां घटचक्षुःसंयोगत्वादिना निवेशासम्भवाच्चक्षुःसंयोगत्वादिनैव तेषां निवेशनीयतया पटा-

दिचक्षुःसंयोगादिकाले विनैव घटचक्षुःसंयोगादिकं तज्जन्यतावच्छेदकीभूतघटादिप्रकारकचाक्षुषत्वाद्यवच्छिन्नापत्तेः । अथ तत्तद्घटादिवृत्तिविषयतासम्बन्धेन ज्ञानत्वावच्छिन्नं प्रति तादृशसम्बन्धेनेश्वरज्ञानसाधारणज्ञानत्वेन हेतुता कल्प्यते, तथा च घटवृत्तिविषयत्वसमवायादिरूपकार्यतावच्छेदकप्रत्यासत्तिघटितसामानाधिकरण्यसम्बन्धेन तादृशज्ञानविशिष्टचक्षुःसंयोगाद्यात्मकविषयवृत्तिसामग्रीसमवहितघटाभावचाक्षुषाद्यभावस्यैव घटचाक्षुषत्वादिरूपकार्यतावच्छेदकावच्छिन्नव्याप्यत्वमभ्युपेयते, पटचक्षुःसंयोगादीनां च घटवृत्तिविषयतासम्बन्धेन ज्ञानाधिकरणेऽवृत्तेर्न तत्समवहितबाधाभावादिबलाद् घटचाक्षुषाद्यापत्तिरिति चेत्, तुल्यं प्रकृतेऽपि, न च पटे घटत्वभ्रमजनकदोषसध्रीचीनपटचक्षुःसंयोगकाले घटत्वसामान्यलक्षणाजन्यचाक्षुषोदयात् पटादिवृत्तिविषयतासमवायघटितसामानाधिकरण्यसम्बन्धेन ज्ञानविशिष्टचक्षुःसंयोगाद्यात्मकसामग्रीसमवहितघटत्वज्ञानस्यापि फलव्याप्यत्वोपगमध्रौव्याद्दोषादिविरहकालेऽपि ततो घटत्वसामान्यलक्षणाजन्यज्ञानापत्तिः, तादृशस्थले दोषस्यापि निवेशात्, न चैवं घटत्वाद्येकैकसामान्यलक्षणप्रत्यासत्तिघटितसामग्रीव्याप्तेरेव घटपटादिभेदेनानन्त्याद् गौरवमिति वाच्यं, तादृशगौरवस्य गत्यन्तराभावेनाकिञ्चित्करत्वात्, यद्वा, स्ववृत्तिप्रतियोगिकत्वसम्बन्धेन कृतिविशिष्टघटत्वप्रकारतानिरूपितलौकिकविषयताशालिप्रत्यक्षप्रागभावत्वेन घटत्वादिप्रकारतानिरूपितमुख्यविशेष्यताशालिमानसान्यप्रत्यक्षं प्रति हेतुतात्मनिष्ठप्रत्यासत्त्या कल्प्यते, घटो नास्तीत्यादिप्रत्यक्षे व्यभिचारवारणाय मुख्यविशेष्यताया घट इत्याकारकमानसे च तद्वारणाय मानसान्यत्वस्य निवेशः । तादृशसम्बन्धेन कृतिविशिष्टश्चोक्तप्रागभावः प्रतियोग्यव्यवहितप्राक्क्षण एव वर्त्तत इति नातिप्रसङ्गः, इत्थं चैकात्मवृत्तित्वसम्बन्धेन तादृशप्रागभावविशिष्टघटत्वज्ञानत्वाद्यवच्छेदेन फलनिरूपितैकैकव्याप्तिरेवाभ्युपेयत इति न गौरवमित्यादि

निरस्तम्, तत्तत्प्रत्यक्षविषयतायाः कारणतावच्छेदकसम्बन्धेन सन्निकर्षाश्रयत्वनियमस्य चक्षुरप्राप्यकारितावादिभिरस्माभिरनभ्युपगमात्, तदनुरोधेन सामान्यप्रत्यासत्तेः पृथक्कारणत्वे मानाभावात्, घटत्वादिप्रकारतानिरूपितमुख्यविशेष्यताशालिप्रत्यक्षत्वस्य घटत्वादिसामान्यलक्षणाजन्यतावच्छेदकत्वे यो धूमवान् सोऽग्निमानित्यत्र तादात्म्येन व्याप्तिग्रहोच्छेदापत्तेः, धूमत्वसामान्यलक्षणया धूमवदुपसर्जनीभूतसकलधूमग्रहायोगाद्धूमव्यक्तीनां च पृथगननुगतत्वेन ज्ञायमानधूमसामान्यवत्तया सकलधूमवदुपस्थित्ययोगात्, परम्परासम्बन्धेन धूमत्वसामान्यभानस्वीकारे च यो धूमत्ववानिति प्रयोगापत्तेः, न च प्रत्यक्षत्वं सामान्यप्रत्यासत्तिजन्यतावच्छेदकं कार्याकार्यवृत्तित्वादित्याम्रेडितमेव, तस्मात् सामान्यावच्छिन्नविशेषविषयकप्रत्यक्षादौ सामान्यावच्छिन्नविशेषालम्बनस्य विशेषावच्छिन्नसामान्यविषयकप्रत्यक्षादौ विशेषावच्छिन्नसामान्यालम्बनस्योहस्य हेतुत्वमवश्यमेष्टव्यमिति, तत एव कार्यसिद्धेः किं सामान्यघटितसामग्रीव्याप्तौ घटत्वप्रकारतानिरूपितलौकिकप्रत्यक्षसामग्र्यादेर्दोषविशेषादेरुपनीतभानसामग्र्यादेश्च निवेशेनाप्रामाणिकगौरवकारिणा, स्ववृत्तिप्रतियोगिकत्वसम्बन्धेनेत्यादिकल्पे तु लाघवात् घटत्वप्रकारकज्ञानत्वावच्छिन्नं प्रति स्ववृत्तियोगिताकत्वसम्बन्धेन कृतिविशिष्टप्रागभावस्य स्वप्रतियोग्युपयोगसम्बन्धेनैव हेतुत्वमुचितमलं मानसान्यत्वादेः कार्यतावच्छेदककोटौ निवेशेन, सामान्याश्रयलौकिकप्रत्यक्षसामग्र्यभावेऽपि सामान्येनोत्सर्गतो यावद्विशेषाश्रयेण भवितव्यमित्यूहकाले यावत्सामान्याश्रयज्ञानस्य सर्वसिद्धत्वात्, वस्तुत ऊह इत्यादिप्रतीतिसिद्धवैजात्यशालिज्ञाने स्वप्रयोज्यविजातीयोपयोगसम्बन्धेन सामान्यप्रत्यासत्त्यादिस्थानीयतत्तद्विचाराणां हेतुत्वान्न काचिदनुपपत्तिः, घटादौ चरमसंयोगस्येव ज्ञाने विजातीयोपयोगस्य चरमकारणत्वाद्वा, अन्यहेतूनां तद्द्वारकतयैव हेतुत्वोपगमादिति, इत्थं चैतदवश्यं तत्तद्विचार-

फलीभूतमूहवैचित्र्यमभ्युपगन्तव्यम्, यतः सर्वोपसंहारेण व्याप्त्यादिग्रहः, नो चेत्, सामान्यप्रत्यासत्त्या यावदाश्रयोपस्थित्यभ्युपगमेऽपि यावत्त्वेनोपस्थितिः कुतः, नहि धूमत्वमेव धूमनिष्ठं यावत्त्वं, धूमवान् यावद्धूमवानित्यनयोरविशेषप्रसङ्गात्, तथा च यावान् धूमस्तावान् वह्निजन्मेत्यर्थप्रतिपत्तये ऊहप्रमाणमेव शरणं, सामान्यव्यभिचारानुपस्थितिसहकारेण विशेषसहचारज्ञानस्य यावद्धेतौ यावत्साध्यव्याप्तिनिश्चायकत्वमपि तत्त्वेन ग्रहं विनाऽसम्भवदुक्तिकं, तद्ग्रहे चोहप्रमाणं विना नान्यस्य व्यापार इत्याद्यन्यदपि विभावनीयमवहितमानसैः, " सामान्यलक्षणप्रत्यासत्तिप्रत्यर्थिनिर्जयात् । एवमूहप्रमाणस्य राज्यं निष्कण्टकं स्थितम् " ॥ १ ॥ अथ प्रकृतम्, एवं तीर्थकृत्समयानां परस्परविरोधेन भ्रमजनकतयाप्तत्वाभावं प्रसाध्य स्वस्ववासनयाऽविरोधाभ्युपगमेऽपि प्रमाजनकत्वाभावेन तं प्रसाधयितुमाह–' यदि पुनरित्यादिना ' (४२–१–१) **संविदद्वैतादीनामिति** (४२–१–२) अत्रादिपदेन चित्राद्वैतपरब्रह्माद्वैतशब्दब्रह्माद्वैतपरिग्रहः, **अन्यत्र वेति** (४२–१–६) चित्राद्वैतादिपक्षे चेत्यर्थः, ' **निरंशत्वादिति** ' (४२–१–७) अंशरहितस्यैकस्य ग्राह्यग्राहकभावाभावेन न स्वेनैव स्वप्रमेत्यर्थः । स्वप्रकाशत्वात्तत्र प्रमात्वं सेत्स्यतीत्यत आह–' **प्रमाणेत्यादि** ' (४२–१–७) तथा च प्रमात्वव्यापकप्रमाणप्रमेयस्वभावाभावे तत्र प्रमात्वाभाव इति भावः । व्याप्याभावाभावे व्यापकाभावादनेकान्तसिद्धौ परमतभङ्गप्रसङ्ग इत्याह–' **तदव्यावृत्ताविति** ' (४२–१–७) तस्याः प्रमाया अव्यावृत्तावनिषेधे, **ऐकान्तिकत्वाभावादिति** (४२–१–८) अनेकान्तप्रसङ्गादित्यर्थः, तथा च " नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्याऽस्ति, तस्या नानुभवोऽपरः । ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात्, स्वयं सैवावतिष्ठते " ॥ १ ॥ इति धर्मकीर्त्युक्तं विप्लवेतेति भावः । परं प्रति प्रसञ्जितमैकान्तिकत्वाभावं स्वातन्त्र्येणापि साधयि-

तुमाह—'प्रमात्रादीति' (४२-१-८) तथा च प्रमात्राद्यनेकस्वभावत्वेनानेकान्तात्मनोऽनेकान्तात्मकबाह्याभ्यन्तरार्थग्राहकत्वेनानुभूयमानस्य प्रमाणस्य बलात् संविदद्वैताद्येकान्ताभावसिद्धिरिति भावः । 'भूतवादिभिरिति' (४२-१-९) भूतवादिभिश्चार्वाकैस्तस्याः स्वप्रमायाः स्वसंविदितत्वोपगमात्, तत्पक्षे च निरंशत्वेन स्वेनैव स्वप्रमायोगात्, प्रमाणप्रमेयस्वभावव्यावृत्तौ च प्रमाया व्यावृत्तेरित्यर्थः। तदाह—इति सिद्धा तत्र स्वप्रमाया व्यावृत्तिरिति (४२-१-१०) कश्चित्तु तस्येन्द्रियजप्रत्यक्षस्यास्वसंविदितत्वोपगमादिति व्याचष्टे, हेतुं च तत्र भूतचतुष्टयोत्पन्नत्वादिति पूरयति, तदनेकग्रन्थविरुद्धं, चार्वाकमते उत्पत्तिपक्षेऽभिव्यक्तिपक्षे वा ज्ञानस्य स्वसंविदितताया एवानेकग्रन्थसिद्धत्वात्, 'कारणगुणा ही' त्यादिन्यायस्तु भूतचैतन्यमेवोच्छिन्देत्, न तु तस्यास्वसंविदितत्वं साधयेदिति तदभ्युपगमानुकूल एव, न च मदिरादिदृष्टान्तेन संयोगजज्ञानवादेऽस्य न्यायस्यावकाशोऽपीति यत्किञ्चिदेतत्, एतेन (४२-१-११) चार्वाकमतनिराकरणे स्याद्वादाश्रयणपर्यवसानेन, तेषां सर्वप्रमाणविनिवृत्तिरिति, करणफलभावेनाप्यन्ततः स्वभावभेदध्रौव्यादित्यर्थः । तेपामपीत्यनन्तरं सर्वप्रमाणविनिवृत्तिरित्यनुषज्यते । एकोपयोगरूपेणानन्वये कारणफलभावस्यैवाभावादिति भावः; सर्वेपामेकान्तवादिनां प्रमाणलक्षणानुपपत्तौ साधारणमेकं हेतुमाह—'प्रत्यक्षादीत्यादि' (४२-२-२) 'वागक्षेत्यादि' भाष्यं—वागक्षबुद्धीच्छापुरुषत्वादिकं (४२-२-४) कर्तृ, क्वचित् एकान्तवादिभिरभिमते, सर्वज्ञे वादिबाहुल्येऽप्यपकर्षद्योतकमेकवचनम्, अनाविलज्ञानं (४२-२-४) निरावरणज्ञानं, निराकरोति, अनुमितिनिश्चयाभावप्रतियोगि करोति, तत्र तदभावमनुमापयतीत्यर्थः, अविशिष्टवागादेरेव तदभिमतवृत्तित्वात्तस्य च निरावरणज्ञानाभावव्याप्यत्वादिति भावः । न पुनस्तत्प्रतिषेधवादिषु (४२-२-४)

एकान्तनिराकरणवादिषु जैनाभिमतेषु सर्वज्ञेषु वाधेकत्वेऽप्युत्कर्षद्योतकं बहुवचनं, तथा वागादिकमनाविलज्ञानं निराकरोति, विशिष्टस्यैव तस्य जैनाभिमतसर्वज्ञवृत्तित्वात्, तस्य चानाविलज्ञानव्याप्यत्वादिति भावः । इति एतत्, परमगहनं (४२-२-५) दुर्बोधम्, अतात्पर्यज्ञानामिति शेषः । तात्पर्यज्ञास्तु 'वागक्षेत्यादि' धर्मिभेदेन विशिष्टाविशिष्टपरतया योजयन्त आवृत्तावप्युद्देश्यार्थैक्येनैकवाक्यतां च समर्थयन्तो न गहनमनुप्रविशन्तीति ध्येयम् । अत्र चैकान्तवादित्वावच्छेदेनाविशिष्टवागादिनाऽनाविलज्ञानाभावः साध्यमानस्तदभिमते सर्वज्ञेऽपि सिद्ध्यत्यनेकान्तवादित्वसामानाधिकरण्येन च विशिष्टवागादिना साध्यमानमनाविलज्ञानं जैनाभिमतसर्वज्ञे सिद्ध्यति शृङ्गग्राहिकया सर्वज्ञप्रसिद्धेर्दुष्करत्वादित्यभिप्रायवान् विवृणोति-'तथाहीत्यादि' (४२-२-५) भाष्ये कः परमात्मेति (४२-२-११) तात्पर्यविवरणम्, आत्मत्वस्यैवैकपदशक्यतावच्छेदकत्वात् । चिदेवेति (४२-२-११) घटो नील एवेत्यत्रेव सर्वावच्छेदेन विशेषणसम्बन्धस्यैवकारार्थत्वात्, सर्वविषयावच्छिन्नज्ञानवानित्यर्थः । लब्ध्युपयोगेत्यादि (४२-२-११) तत्त्वे नियामकाभिधानं भवभृतां (भवतां) प्रभुरिति (४२-२-११) भवं यन्तीति क्विपि भवतो भवभृतस्तेषां गुरुः प्रभुरिति कारिकावयवव्युत्पत्तिस्वारस्यादुक्तं वृत्तौ चिदेव ज्ञ एवेति (४२-२-१४) एतावताऽज्ञत्वव्यवच्छेद एव लभ्यते, न तु सर्वावच्छेदेन ज्ञत्वमिति तल्लाभार्थिना मदुक्तव्याख्यैवानुसरणीया । चिदिति शब्दस्ये (४२-२-१४) त्याद्यभिधानं तु प्रौढ्यैवेति मन्तव्यम्, चिच्छब्दस्य केवलज्ञाने मुख्यवृत्तेर्नयविशेषोपग्रहं विनाऽग्रहात्, फलितार्थलाभे प्रकारस्य चोक्तत्वात्, इन्द्रियसंस्कारानुरोधत एवेति (४३-१-२) इन्द्रियव्यापारानुसारेणैवेत्यर्थः । इन्द्रियव्यापारश्च शब्दे रूपे रसगन्धस्पर्शेषु च स्पृष्टताऽस्पृष्टतावद्धस्पृष्टतारूपो द्रष्टव्यः । अन्यथा

विषयाप्रतिपत्तेरस्पृष्टता चाभिमुख्योपलक्षणमिति नातिप्रसङ्गः, **तयोः संस्कारा** (४३-१-६) लब्ध्युपयोगयोः संस्काराः, जन्यजनकभावसम्बन्धे षष्ठी, संस्कारशब्दार्थो न स्वरूपार्थग्रहणोन्मुखता, तस्या उपयोगरूपत्वेन तदजन्यत्वादित्यतो व्याचष्टे, **स्वार्थधारणा इति** (४३-१-६) लब्ध्युपयोगजन्यस्मृतिजनकधारणारूपा इत्यर्थः। **तेषां** लब्ध्युपयोगसंस्काराणाम्, **अत्यये** अभावे सति **ज्ञ एव स्यादिति** (४३-१-६) किञ्चिद्ज्ञत्वनियामकलब्ध्युपयोगसंस्काराभावे सत्यर्थत एव सर्वज्ञः स्यात्, तज्ज्ञाने इन्द्रियाजन्ये प्रत्यक्षत्वं चातीन्द्रियत्वादेवाविरुद्धम्, व्यवहारप्रत्यक्षत्वे इन्द्रियजन्यत्ववन्निश्चयप्रत्यक्षत्वे इन्द्रियाद्यजन्यत्वस्यापि प्रयोजकत्वादिति भावः। न च प्रत्यक्षत्वमेवेन्द्रियजन्यतावच्छेदकं लाघवादितीन्द्रियसंस्काराभावेऽतीन्द्रियप्रत्यक्षानुपपत्तिरिति शङ्कनीयम्, परेणापीश्वरप्रत्यक्षव्यावृत्त्यर्थं प्रत्यक्षनिष्ठवैजात्यस्यैवेन्द्रियजन्यतावच्छेदकत्वोपगमादस्माकं तत्र केवलज्ञानव्यावृत्तत्वोपगमे दोषाभावात्। अत एव न मतिज्ञानाद्यावरणक्षये क्षायिकमतिज्ञानाद्यापत्तिः, भावेन्द्रियसंस्काररूपकेवलेतरप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नसामग्र्यभावात् सामान्यसामग्रीसहकृताया एव विशेषसामग्र्याः फलोपधायकत्वात्, तदिदमाह–'**कुतःपुनरित्यादि**' (४३-१-६) **न च सकलावरणसंक्षय** (४३-१-९) इति, तथा च सकलावरणसंक्षयाविनाभूतो भावेन्द्रियाभाव एवार्थवशसिद्धमतीन्द्रियं सर्वविषयकं प्रत्यक्षमनुमापयतीति भावः। '**देशघातीत्यादि**' (४३-१-१०) इहायं सम्प्रदायः–देशघातिनीनां मतिज्ञानावरणादिप्रकृतीनां द्विविधानि रसस्पर्द्धकानि भवन्ति सर्वघातीनि देशघातीनि च, कानि तानीति चेत्, यानि चतुःस्थानकानि त्रिस्थानकानि च, तानि सर्वाणि सर्वघातीन्येव, यानि पुनर्द्विस्थानकानि तानि मिश्राणि कानिचित्सर्वघातीनि कानिचिच्च देशघातीनीत्यर्थः। यान्येकस्थानकानि तानि तु देशघातीन्येव, तदुक्तं–" चउतिट्ठाणरसाइं,

सव्वघाईणि हुंति फड्डाइं । दुट्ठाणियाणि मीसाणि, देसघाईणि सेसाणि ॥ १ ॥ " त्ति, तत्र सर्वघातिरसस्पर्द्धकेषु परिणामविशेषेण देशघातितया परिणमितेषु क्षायोपशमिका अवध्यादिगुणाः प्रादुःषन्ति, तदाह–णिहएसु सव्वघाईरसेसु फड्डेसु देसघाईणं । जीवस्स गुणा जायंति ओहिगुमणचक्खुमाईआ ॥ १ ॥ " एवं चात्रौदयिकभावानुविद्धः क्षायोपशमिकभावः प्राप्तः, अनन्तानुबन्ध्यादिसर्वघातिमोहप्रकृतीनां रसस्तु सर्वोऽपि सर्वघातिप्रकृतिस्वाभाव्यात्तत्रांशेनापि देशघातितया परिणमनमशक्यमिति तास्वौदयिकभावाननुविद्ध एव विपाकोदयविष्कम्भकरणात्मा क्षायोपशमिको भावो भवति, केवलज्ञानकेवलदर्शनावरणीययोस्तु विपाकोदयविष्कम्भेऽप्ययोग्यत्वमनन्यगत्या कल्प्यते, अन्यथा तयोः क्षयोपशमप्रसङ्गात्, अधिकं मत्कृतज्ञानबिन्दौ । तदेवं भावेन्द्रियेष्वौदयिकभावानुविद्धस्य क्षयोपशमस्य हेतुत्वात्तेषामावरणनिबन्धनत्वसिद्धिरावरणक्षयोपशमत्वेन क्षीणोपशान्तावरणत्वेन वा हेतुत्वमित्यत्र विनिगमनाविरहस्याप्येतदर्थसाक्षित्वात्, यदि चैवमौपशमिकक्षायिकादिभावस्थलेऽतिप्रसङ्ग इति, तदाऽस्तु लाघवात् क्षयोपशमघटकं क्षयभागं परित्यज्यावरणविपाकविपाकोदयविष्कम्भस्यैव स्वसंवलितोदयसम्बन्धेन हेतुता, उपशमात् क्षयोपशमविशेषस्य प्रदेशानुभवेनैवाभिधानात्तेन दाहे नष्टमणित्वेनेव भावेन्द्रिये क्षीणोपशान्तावरणत्वेन न हेतुत्वमित्युक्तावपि न क्षतिरिति मन्तव्यम्, मीमांसक प्रत्यवतिष्ठते–' ननु चेत्यादि ' (४३–१–१४) नहि तत् साधकं प्रत्यक्षं सम्भवतीति (४३–२–१) प्रत्यक्षस्य तावत्प्रतिनियतासन्नरूपादिगोचरचारित्वेन परसन्तानवर्त्तिसंवेदनवेदनमात्रेऽपि न शक्तिः, किं पुनरतीतानागतवर्त्तमानसूक्ष्मान्तरितादिस्वभावसकलपदार्थसाक्षात्कारिसंवेदनशालिपुरुषविशेषपरिच्छेदे, विशेषाग्रहणे विशिष्टाग्रहणादिति भावः । ' तदेकदेशस्येति ' (४३–२–२) स एकदेश आश्रयो यस्य तस्येत्यर्थः, यद्वा तस्य धर्मिणः

सर्वज्ञस्यैकदेशो धर्मस्तद्रूपस्येत्यर्थः, अस्मिन् पक्षे ‘ दृष्टो न चैकदेशोऽस्ति लिङ्गं वेति ’ वक्ष्यमाणसामानाधिकरण्योपपत्तिरिति ध्येयम् । तत्र गम्यगमकसमुदायमध्याल्लिङ्गमेकदेशो ग्राह्य इति त्वाकरे स्पष्टम् । अनिश्चितपक्षधर्मत्वस्य हेतोरगमकत्वादनिश्चिते च धर्मिणि हेतोः पक्षधर्मत्वनिश्चयस्य कर्त्तुमशक्यत्वान्न केनापि लिङ्गेन सर्वज्ञानुमानं भवतीत्यर्थः । ‘ अतिप्रसङ्गादिति ’ (४३–२–४) अलाबूनि निमज्जन्तीत्यादेरपि प्रामाण्यप्रसङ्गादित्यर्थः । कर्मार्थवादप्रधानत्वादिति हिरण्यगर्भं प्रकृत्य स सर्वविदित्याद्यभिधानस्य कर्मकाण्डफलीभूतहिरण्यगर्भस्तुतिमात्रपरत्वादित्यर्थः, तात्पर्यासम्भवादित्यनन्तरं (४३–२–५) यथाश्रुत इति शेषः । ‘ आदिमदित्यादि ’ (४३–२–७) अनादिनित्यागमो यदि सर्वज्ञमादिमन्तं प्रतिपादयति तदा स किमभूद् भवति भविष्यति वा कल्पत्रयेऽपि विरोध एवेति भावः । न च मन्त्रार्थवादानामिति (४३–२–१०) वेदो द्विविधो मन्त्रब्राह्मणभेदात्, तत्र ये वेदभागाः प्रयोगसमवेतमर्थं प्रकाशयन्तः स्वोच्चारणमात्रेण साध्यकर्मणि विनियुज्यन्तेऽभियुक्तयाज्ञिकैश्च मन्त्रत्वेन समाख्यायन्ते ते मन्त्रास्ते च ऋग्यजुःसामभेदेन त्रिप्रकाराः, अवशिष्टो भागो ब्राह्मणं, तच्च विध्यर्थवादभेदाद् द्विधा, तत्र विधिर्लिङादिगर्भो वाक्यसन्दर्भः, अर्थवादः स्तुतिनिन्दाभेदाद् द्विविधः, चोदनाशेषत्वं तत्सामान्यलक्षणं, स पुनरर्थवादो द्विविधोऽपि त्रिविधः, तदुक्तं–“ विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते । भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादस्त्रिधा मतः ” ॥१॥ इति, तदिह मन्त्रार्थवादानां यथाश्रुते तात्पर्यं नावकल्प्यते, किन्तु न्यायप्राप्त एवेति नोक्तार्थवादात् सर्वज्ञसिद्धिरिति व्यक्तोऽर्थः । स्यादाशङ्का धर्माद्युपदेशकरणान्यथानुपपत्त्या सर्वज्ञसिद्धिर्भविष्यति, तत्र विकल्पद्वयमुपतिष्ठते, को नामात्र धर्माद्युपदेशोऽन्यथानुपपद्यमानो वाच्यः, सौगतादिसम्बन्धी त्रयीवित्सम्बन्धी वा, नाद्यः, व्यामोहादेव बौद्धादीनां

धर्माद्युपदेशोपपत्तेरिति गम्यम्। अन्त्ये त्वाह–'धर्माद्युपदेशस्येति' (४४–१–३) त्रयीवित्सम्बन्धी धर्माद्युपदेशोऽन्यथाऽपि सार्वज्ञ्याभावेऽपि महाजनपरिग्रहेणैवोपपद्यत इति भावः। 'उपदेशो ही' त्यादि (४४–१–४) कारिका पूर्वपक्षपरा, बुद्धादयो ही (४४–१–५) त्यादिकारिकाद्वयं विकल्पद्वयसमाधानपरम्, तत्र ये त्विति (४४–१–५) अस्या अयमर्थः। ये तु मन्वादयस्त्रयीविदां मध्ये प्राधान्येन सिद्धाः, कीदृशा इत्याह–त्रयीविद्भिराश्रितो ग्रन्थः स्मृत्यादिरूपो येषां कर्तॄणां ते तथा ते मन्वादयो वेदप्रभवोक्तयः (४४–१–६) साङ्गमीमांसाध्ययनसमासादितव्युत्पत्तिविशेषसध्रीचीनवेदार्थानुसन्धानप्रभवशुद्धधर्माद्युपदेशा इत्यर्थः, तथा च तदुपदेशस्य वेदार्थविवेकेनान्यथोपपद्यमानत्वान्न सर्वज्ञगमकत्वमित्यर्थः, 'न च गृध्रेत्यादि' (४४–२–२) गृध्राणां चक्षुःप्रत्यक्षेण वराहाणां श्रोत्रप्रत्यक्षेण पिपीलिकानां च घ्राणप्रत्यक्षेणेत्यर्थः, नक्तंचरप्रत्यक्षेण (४४–२–३) घूकविडालमूपकतस्करादिप्रत्यक्षेणेत्यर्थः, प्रत्यक्षादीत्यादिनाऽनुमानादेरपि साध्ये सङ्ग्रहात् तत्र व्यभिचारसम्भवप्रदर्शनायाह 'कात्यायनादीति' (४४–२–३) तस्यापीति (४४–२–४) उक्तप्रत्यक्षादेरपीत्यर्थः। एवं चेन्द्रियाद्यघटितसामग्रीजन्यत्वनिषेधस्य साध्यत्वादवान्तरविशेषेणापि सामान्यसामग्र्यनुल्लङ्घनान्न व्यभिचार इति भावः। ननु सर्वमिदं प्रत्यक्षमात्रस्येन्द्रियजन्यत्वसिद्धावुपपद्यते तदेव नास्ति ऐंद्रियकप्रत्यक्ष एवेन्द्रियस्य हेतुत्वादत आह–'न च दृष्टेत्यादि' (४४–२–१३) प्रत्यक्षत्वावच्छिन्न एव लाघवेनेन्द्रियस्य हेतुत्वादिन्द्रियजन्यतावच्छेदकजात्यन्तरकल्पने गौरवान्नातीन्द्रियप्रत्यक्षसम्भावनेत्यर्थः। 'त्रिविप्रकृष्टेति' (४५–१–१) त्रिः स्वभावदेशकालैर्विप्रकृष्टा इत्यर्थविशेषणेनापि, बाधकासम्भवादिति (४५–१–३) यद्यप्येवं साधकप्रामाण्यग्राहकत्वं बाधकासम्भवस्य व्यवतिष्ठते न तु स्वातंत्र्येण साधकत्वं, तथापि व्यवहारादेः साधकस्य शङ्का-

शुकेन शिथिलायमानस्यानेन प्रामाण्यनिश्चये दृढं साधकत्वमित्यत्र तात्पर्यम् । तद्बाधकासम्भवाख्यं विश्वासनिबन्धनम्, **प्रकृतेऽपि** (४५–१–४) सर्वज्ञेऽपि, **तदभावे** (४५–१–४) बाधकासम्भवाभावे, **मासिद्ध्यत्** मा प्रापत्, **तज्ज्ञापकोपलम्भस्येति** (४५–२–३) अभावप्रमाणवादिभट्टमतमुपन्यस्य दूषयिष्यन्निदमाह–न तु प्राभाकरं प्रत्ययं सङ्गरः, तस्याभावप्रमाणानभ्युपगन्तृत्वादिति द्रष्टव्यम् । अयं सर्वज्ञग्राहकप्रमाणाभावः स्वसम्बन्धी सर्वसम्बन्धी वा तदभावसाधक उपेयः । आद्य आह–**सर्वत्राप्यप्रवृत्तित** (४५–२–३) इति, स्वसम्बन्धिनस्तस्य स्वमात्रविश्रान्तत्वान्न सर्वत्र सर्वज्ञाभावसाधकत्वमिति भावः । अन्त्ये त्वाह–**'गृहीत्वेत्यादि'** (४५–२–३) तथा च सर्वसम्बन्धिनः सर्वज्ञग्राहकप्रमाणाभावस्य दुर्ज्ञानत्वान्न प्रकृताभावसाधकत्वमिति भावः । **परोपगमत** (४५–२–९) इति, स **सर्वज्ञः** (४५–२–१०) **परोपगमतः** (४५–२–१०) परसिद्धान्तेन सिद्धो नास्तीति यदि साध्यते मीमांसकेन, तदा स परोपगमः प्रमाणमप्रमाणं वेति विकल्पद्वयमुपतिष्ठते, आद्य आह–**'तस्येति'** तस्य परोपगमस्य प्रमाणत्वे व्याघातस्तदभावग्राहकस्य प्रमाणसिद्धस्यार्थस्य निषेद्धुमशक्यत्वादिति भावः । अन्त्ये आह–**'अन्यथेति' अन्यथा** (४५–२–१०) परोपगमस्याप्रमाणत्वे, स सर्वज्ञः, अन्योन्यवादिप्रतिवादिनोः सिद्धो न वादिन एवासिद्धत्वात्, तथा च तस्य नास्तित्वमनुमानेन साधयितुमशक्यम्, धर्मिहेतुदृष्टान्ता उभयवादिसिद्धा वक्तव्या इति समयबन्धादिति भावः । अत्राह मीमांसकः–**'नन्वेवमिति'** (४५–२–१०) एवं परप्रमाणमात्रसिद्धस्यानिषेध्यत्वे, **सर्वथैकान्तः परोपगमसिद्धः** (४५–२–१०) कथं जैनैर्निषिध्यते ? अत्रोत्तरम्, **इति धीमतां न चोद्यं** (४५–२–१०) न प्रष्टव्यम्, यतोऽनन्तधर्मात्मन्यर्थे प्रमाणाबाधिते सिद्धे तत्रैकान्ताभावसाधने न दोषः, अनेकान्तात्मज्ञानस्यैवैकान्तानुपलम्भ-

त्वेनानेकान्तात्मतांशे विधिरूपत्वादेकान्तात्मतांशे च निषेधरूपत्वात्, अत एव गवादौ शृङ्गादिज्ञानस्यैव शशशृङ्गानुपलम्भरूपत्वे शशशृङ्गाभावप्रसिद्धिः सङ्गच्छतेऽनुयोगित्वप्रतियोगित्वादेर्वैज्ञानिकस्य वस्त्वसाधकत्वात्, इष्यते च विशिष्टानतिरेकेऽपि विशिष्टधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिता परैरपि, तद्वदिहापि शशीयत्वशृङ्गत्वोभयपर्याप्तावच्छेदकताकप्रतियोगिताकाभावाभ्युपगमे न काचिदनुपपत्तिः, वैज्ञानिकसम्बन्धेन शशीयत्वस्यापि प्रतियोगिवृत्तित्वाद्विशिष्टनिषेधव्यवहारे परं विशिष्टप्रतियोगिप्रतिपत्तये विकल्परूपा खण्डशः प्रसिद्धिरुपेयते, एतेन भाववदभावो न सप्रतियोगिकः, किन्तु तद्व्यवहार इत्ययमपि नयपक्षोऽनुगृहीतो भवति, सर्वत्र सर्वज्ञज्ञापकानुपलम्भे च नेयं गतिः, सर्वत्र किञ्चिज्ज्ञानस्यैव तद्रूपत्वात्, तस्य चात्यन्तमसम्भवादिति सर्वं सुस्थम्। साधकानिर्णयादिति (४६–१–११) साधकत्वप्रकारकनिश्चयाभावात् सत्तायां बाधकत्वप्रकारकनिश्चयाभावाच्चासत्तायामनुत्कटकोटिकेतरांशे चोत्कटकोटिकारेका स्यादित्यर्थः। न साधकानिश्चयान्न वा बाधकानिश्चयात् संशयः, किन्तु ज्ञानप्रामाण्यसंशयादित्यन्ये, प्रकृतज्ञानेऽगृहीताप्रामाण्यकत्वस्यावश्यदेयत्वाद् गृहीताप्रामाण्यकस्य संशयकल्पत्वं, न तु प्रामाण्यसंशयादर्थसंशय इत्यपरे। ननु भवभृतां प्रभुः सर्वज्ञ एवेति कोऽयं विधिः शब्दब्रह्मपरमब्रह्माद्यभीष्टकतिपयार्थज्ञत्वेनैव भवभृत्प्रभुत्वसिद्धेरनभिमतकीटसंख्यादिपरिज्ञानस्याकिञ्चित्करत्वादित्याशंकायामाह भाष्यकृत् 'न खल्विति' (४६–२–१) तथा च ज्ञानस्य सर्वविषयकत्वमात्मनश्च सर्वविषयकज्ञानवत्त्वं स्वभाव एवेत्याविर्भूतशुद्धस्वभावे भवेत्प्रभौ सर्वज्ञत्वमर्थसिद्धतयैवावर्जनीयमिति भावः। यं न क्रमेत (४६–२–१) यं नावगाहेत। तत्स्वभावान्तरनिषेधात् (४६–२–१) अज्ञत्वस्वभावनिषेधात्, नन्वज्ञत्वमप्यात्मनः स्वभाव एव, ज्ञानाज्ञानोभयरूपस्यैवात्मनो भट्टैः स्वीकारात्, सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषमिति परामर्शा-

नुरोधेनात्मन एव बोधांशस्य प्रकाशस्य द्रव्यांशस्य चाशेषविज्ञानाभावरूपस्याप्रकाशस्य सुषुप्तौ जाग्रदवस्थायामपि मामहं न जानामीत्यात्मनि कर्त्तरि भासमाने तदज्ञानानुभवेन द्विरूपताया अनपह्नवनीयत्वादित्याशयवान् शङ्कते–' कुतः पुनरित्यादि' (४६–२–२) यतोऽसावित्यादि क्रमेतैवेत्यन्तं (४६–२–२) अज्ञत्वस्वभावप्रतिषेधफलप्रदर्शनम्, अज्ञानस्वभावाभ्युपगमे तद्विषयानाक्रमणसम्भवात् तं सर्वमर्थं क्रमेतैवेत्यस्यानुपपत्तेः। स एव च प्रतिषेधः कुतः स्वभावद्वयेऽपि साधकस्याभिहितत्वादिति प्रश्नार्थः। चोदनाज्ञान एव त्वयाऽशेषविषयत्वोपगमात् तद्दृष्टान्तेनात्मनः सर्वज्ञत्वस्वभावसिद्धौ तद्विप्रतिषेधान्नाज्ञस्वभावत्वं कल्पनीयम्, मां न जानामीत्यस्य विशेषज्ञानाभावपरत्वेनाप्युपपत्तेः, रूपिद्रव्येऽरूपस्येव चिद्द्रव्येऽप्रकाशस्य द्रव्यांशस्याभ्युपगन्तुमशक्यत्वात्, एतेन वेदान्तिनां भावरूपाज्ञानवादोऽपि निरस्तः, तादृशस्यापि तस्य ज्ञानविरुद्धत्वात्, समवायतदितरप्रत्यासत्तिभ्यां ज्ञानाज्ञानयोर्विरोधनिराकरणे च कर्मण एवाज्ञाननामपर्यवसानात्, कर्मकृतेन चाज्ञानेन चिद्विवर्त्तेन त्रैकालिकस्यात्मनो ज्ञस्वाभाव्यस्याप्रतिघातादित्युत्तरग्रन्थार्थः। ' कथमेवमिति ' (४६–२–७) सर्वज्ञस्वभावत्वे ह्यात्मनः कदाचिदप्यज्ञानोदयो दुर्घट इत्ययं प्रश्नः। मिथ्यात्वमोहनीयकर्मोदयसध्रीचीनकेवलज्ञानावरणप्रतिबद्धाशेषज्ञस्वभावत्वप्रतिबन्धकज्ञानावरणकर्मोदयमहिम्ना तत्सिद्धिरित्याशयेनोत्तरमाह–उच्यन्त इत्यादिना, सम्बन्ध्यन्तरं (४६–२–८) क्षीरनीरन्यायेन स्वभिन्नं स्वसम्बन्धि, मोहोदयकारणकं (४६–२–८) मोहोदयकारणं, कप्रत्ययः स्वार्थे, बहुव्रीहौ पृष्टाज्ञानकारणाप्राप्तावुत्तरवैफल्यापत्तेः, वक्ष्यमाणानुमानविरोधाच्चेति द्रष्टव्यम्। 'अनन्तार्थव्यञ्जनपर्यायात्मकमिति' (४६-२-१२) अत्रार्थव्यञ्जनपर्यायलक्षणविवेकार्थमयं श्लोकः " स्थूलो व्यञ्जनपर्यायो, वा गम्यो नश्वरः स्थिरः। सूक्ष्मः प्रतिक्षणध्वंसी,

पर्यायश्चार्थसंज्ञकः ॥१॥" इति, तारकाञ्जनवदिति (४७-१-२) तारका अञ्जनं च तारकाञ्जने ते इव तद्वदिति समासः । ' सा पुनर्योग्यतेति ' (४७-१-३) नन्वेवं द्रव्यचाक्षुषादौ तत्प्रतिबन्धककर्मक्षयोपशमत्वादिना हेतुता वाच्या, तद्धेतुता च चक्षुः-सन्निकर्षादेरेवेति तद्धेतोरित्यादिन्यायेन प्रत्यक्षे इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य हेतुत्वं युक्तमिति चेत्, न । तत्रापि तद्धेतोरित्यादि-न्यायस्य सुलभत्वेनान्तरङ्गप्रत्यासत्तेः क्षयोपशमहेतुतायामेव विनिगमकत्वात्, एतेन स्थैर्यपक्षे विषयनिष्ठाया योग्यताया अप-रावृत्तेर्नयनसन्निकर्षस्याहेतुत्वे भित्त्याद्यावृतस्य चाक्षुषापत्तिरित्यादिकमपास्तम्, आवृतचाक्षुषजनकक्षयोपशमवतां तदापत्तेरिष्ट-त्वात्, अनावृतचाक्षुषे चावरणेनैव क्षयोपशमप्रतिबन्धात्, अपरेषां तु दिव्याञ्जनादिसंस्कृतचक्षुषामनुभूयमानभित्त्याद्यावृतचाक्षु-षानुपपत्तिः, तत्र चाक्षुषत्वापलापे च घटादिज्ञानेऽपि तदपलापप्रसङ्गो विकल्पज्ञानस्य सर्वस्य समानसत्ताया एव युक्तत्वात्, किञ्च प्रत्यासत्तिहेतुतावादिना नेत्राञ्जनसूक्ष्मतारकाद्यप्रत्यक्षत्वायात्यासत्त्यतिदूरत्वयोर्दोषत्वं वाच्यम्, आदर्शसाम्मुख्याञ्जना-दिसन्निधाने च तत्प्रत्यक्षत्वाय तत्तद्विषये तदभावविशिष्टतत्तदासत्त्यतिदूरत्वाभावस्य चाक्षुषहेतुत्वं वाच्यमित्यतिगौरवं, मम तु क्षयोपशमे विशिष्य हेतुता, चाक्षुषादौ तु विलक्षणक्षयोपशमत्वेनैव समानविषयत्वप्रत्यासत्त्येति लाघवं, किञ्चेन्द्रियप्रत्यासत्तेरपि क्षयोपशमाधायकतयैव प्रत्यक्षहेतुता वाच्या, असंख्येयसमयप्रविष्टानामेव पुद्गलानां ग्रहणयोग्यतायाः पारमर्षेऽभिधानात्, सकृत्सम्बन्धे बोधाननुभवेन तस्य च यौक्तिकत्वादसङ्ख्येयैश्च समयैः क्षयोपशमपुष्टेरेव सिद्धेः, तथा च योग्येन्द्रियविषयसम्ब-न्धानकामेनापि क्षयोपशमहेतुत्वेनानुगमय्य प्रत्यक्षहेतुतां वदता विलक्षणक्षयोपशमत्वेनैव हेतुतायां किं लाघवं नोद्वीक्ष्यते, एतेन तुरगादौ वेगेन गच्छतो युगपदनेकवृक्षसन्निकर्षेऽपि क्वचिदेव प्रतिनियतधर्मप्रकारकग्रहो नान्यत्रेति नियमाय चक्षुःसन्निकर्ष-

विषयमाहात्म्यादीनां विशेष्यग्रहसामग्रीत्वेनानुगतानां हेतुत्वमित्यपि व्याख्यातम्। तत्रौपधायकतासम्बन्धेन विलक्षणक्षयोपशमवत्त्वस्यैव सामग्रीपदार्थत्वात्, तस्या यावत्कारणरूपत्वेऽतीतानागतकतिपयचक्षुःसन्निकर्षाभावे चाक्षुषानुपपत्तेः, एतेनैव तद्व्यक्तिविषयकचाक्षुषे तद्व्यक्तिचक्षुःसंयोगत्वेनैव व्यासज्यवृत्तिधर्मप्रत्यक्षानुरोधेन कारणता कल्प्यते तत एव तद्व्यक्तिवृत्तिगुणकर्माभावचाक्षुषनिर्वाहाच्चक्षुःसंयुक्तसमवायादिप्रत्यासत्त्यकल्पनलाघवादिति नवीननैयायिकोक्तमप्यपास्तं, सामान्यलक्षणादिप्रत्यासत्त्याऽसन्निकृष्टतद्व्यक्तिविषयकप्रत्यक्षवारणाय तद्व्यक्तिनिष्ठलौकिकविषयताशालित्वस्य कार्यतावच्छेदककोटावश्यनिवेशनीयतया तद्व्यक्तिनिष्ठायास्तद्गतगुणकर्माभावादिनिष्ठायाश्च लौकिकविषयताया नियमाय तव प्रत्यासत्तिविशेषस्य मम तत्स्थाने क्षयोपशमविशेषस्य च हेतुताया आवश्यकत्वात्। किञ्च व्यासज्यवृत्तिधर्मस्य घटाकाशसंयोगादेर्गुरुत्वादिवदयोग्यत्वादेव न प्रत्यक्षं, चक्षुःसंयुक्ततदसंयुक्तघटपटसंयोगाप्रत्यक्षत्वस्य तु नोक्तकार्यकारणभावादपि निर्वाहः, संयोगादिप्रत्यक्षस्य यावदाश्रयविषयकत्वनियमोक्तावपि परस्परानवच्छेदकावच्छेदेन घटचक्षुःसंयोगपटचक्षुःसंयोगोभयसत्त्वे घटपटसंयोगादिप्रत्यक्षापत्तेर्दुर्वारत्वात्, स्वावच्छेदकावच्छिन्नघटवृत्तिपटसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नत्वसम्बन्धेन घटचक्षुःसंयोगविशिष्टपटचक्षुःसंयोगत्वादिना तद्धेतुत्वे तु विनिगमनाविरहादनन्तकार्यकारणभावापत्तेश्च महागौरवं, तस्माद्द्रव्यसमवेताव्याप्यवृत्तिप्रत्यक्षे व्याप्यवृत्तेरप्यवच्छेदकस्वीकारे वा द्रव्यसमवेतप्रत्यक्षत्वावच्छिन्न एव चक्षुःसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नसमवायसम्बन्धावच्छिन्नाधारतानिरूपकत्वस्य प्रत्यासत्तित्वं परस्य वक्तुमुचितमिति यत्किञ्चिदेतत्, वस्तुतो द्रव्यविषयकचाक्षुषस्य सामग्र्यैव न तद्वृत्तिगुणकर्माभावप्रत्यक्षनिर्वाहो, द्रव्याविषयकस्यापि परमाणुवाय्वोर्महत्त्वरूपाभावचाक्षुषस्य परैरभ्युपगमा-

तद्वत्तादृशरूपादिचाक्षुपस्यापि तैरभ्युपगन्तुं शक्यत्वादिति, द्रव्यार्थतश्चाक्षुपादेः सार्वत्रिकत्वेऽपि पर्यायार्थतस्तत्तच्चाक्षुपविशेपे क्षयोपशमविशेपस्य हेतुत्वमवश्यं वाच्यम्, अन्यथा नियतधर्मोल्लेखानुपपत्तेः, तथा च प्रत्यासत्तीनां विशिष्य हेतुत्वमनतिप्रयो-जनं, चाक्षुपत्वावच्छिन्ने चक्षुराभिमुख्यस्यैकस्यैव प्रत्यासत्तिस्थानेऽभिपेकौचित्यादित्यस्मत्सम्प्रदायानुगतो नवीनः पन्थाः। एतेन घटाकाशसंयोगादेर्विशिष्यायोग्यत्वकल्पनपरिहाराय व्यासज्यवृत्तिधर्मप्रत्यक्षे यावदाश्रयप्रत्यक्षस्य हेतुत्वं कल्पनीयम्, तत्र कारणतावच्छेदकं कार्यतावच्छेदकं पर्याप्तिमत्त्वमेव, कारणतावच्छेदकतावच्छेदकः सम्बन्धः स्वावच्छिन्नाधारतावच्चा-क्षुपत्वं, कारणतावच्छेदकः स्वविपयवृत्तिता, कार्यतावच्छेदकतावच्छेदकः स्वावच्छिन्नाधेयतावच्चाक्षुपत्वं, कार्यतावच्छेदकः सम्बन्धो विशेष्यतेति नाननुगमइत्यादि नवीनतरोक्तमप्यपास्तं, सति क्षयोपशमविशेपे यावदाश्रयप्रत्यक्षोत्पत्तिकाल एव द्वित्वसंयोगादिप्रत्यक्षोपगमेन तस्य तद्धेतुत्वे मानाभावाद् द्रव्यजात्यन्यचाक्षुपे चाक्षुपान्यसमवेतत्वस्य प्रतिबन्धकत्वेनैव घटाकाशसंयोगाद्यप्रत्यक्षत्वोपपत्तेः, इत्थमेव क्रमिकद्वित्रपदार्थगतद्वित्वत्रित्वादिप्रत्यक्षस्यैकत्वद्वयप्रत्यक्षोत्पत्तिकाले द्वित्वा-दिप्रत्यक्षस्य चोपपत्तिः। किञ्च संयोगत्वादिना पर्याप्तिमत्प्रत्यक्षे न यावदाश्रयप्रत्यक्षं हेतुः, किन्तु घटादिप्रकारकसंयोगादि-प्रत्यक्षे, तत्र च विशेपणतावच्छेदकप्रकारकज्ञानमुद्रयैव घटादिज्ञानस्य हेतुत्वान्न यावदाश्रयप्रत्यक्षत्वेन हेतुत्वम्, अन्यथा घटपटोभयाभावप्रत्यक्षादौ यावत्प्रतियोगिज्ञानत्वेनापि हेतुतापत्तेरिति विना क्षयोपशमानुसरणं न कुत्राप्युपपत्तिरिति दृढतरमनु-सन्धेयम्, अधिकमस्मत्कृतस्याद्वादरहस्य-स्याद्वादकल्पलतादौ, तत्सिद्धमेतत् प्रतिबन्धककर्मक्षयोपशमक्षयलक्षणैव प्रत्यक्ष-जननयोग्यतेति। **साकल्येन विरतव्यामोहः सर्वं पश्यत्येवेति,** ज्ञो ज्ञेय (४७–१–५) इति संवादकारिकाया अय-

मर्थः । यथा सर्वदाह्यदाहकत्वं वह्नेः स्वभावो मणिसम्बद्धकरतलादावदाहस्तु ततः प्रतिबन्धककृतस्तथा सर्वज्ञेयावभासित्वं चिदात्मनः स्वभाव एव, छद्मस्थे तत्प्रतिबन्धस्तु प्रतिबन्ध कृत इति, सकलतदपगमेऽर्थसिद्धमेव भगवतः सर्वज्ञत्वमिति । अत एवाक्षानपेक्षेति (४७-१-९) भाष्यप्रतीके भवभूत्प्रभोरिति योजनीयम्, तदावरणेति (४७-१-१०) अक्षापेक्षा हि ज्ञाने विषयस्पष्टत्वार्थं तच्चावधिमनःपर्याययोः क्षयोपशमातिशयादेवेति तयोस्तदनपेक्षत्वेऽपि न क्षतिरिति भावः । स्वविषये परिस्फुटत्वादिति ब्रूम इति (४७-१-११) तथा च प्रत्यक्षत्वे स्पष्टतैव प्रयोजिका, सा च द्विविधा, सकलस्पष्टता देशस्पष्टता च, आद्यायामावरणक्षयः प्रयोजकः, द्वितीयायां च क्वचिदिन्द्रियं क्वचिद्गुणविशेषः, मतिश्रुतयोः परोक्षत्वनये तु गुणविशेष एवेति मन्तव्यम्॥

एवं सति प्रकृतेऽप्रयोजकत्वं स्यादक्षापेक्षत्वेऽपि गुणविशेषादतिस्पष्टत्वसम्भवादित्याशङ्क्य समाधत्ते–न चैवं साकल्येनेत्यादिना (४७-१-११) एवमवधिज्ञानमनःपर्यायज्ञानयोरक्षानपेक्षत्वे तत्साधर्म्येण केवलज्ञानस्य तथात्वप्राप्तौ भगवत्प्रत्यक्षमक्षानपेक्षं साकल्येन विरतव्यामोहत्वात् सर्वदर्शनत्वाद्वा यन्नैवं तन्नैवं यथाऽस्मदादिप्रत्यक्षमिति व्यतिरेकिणि हेतोरनैकान्तिकत्वमप्रयोजकत्वं न शङ्कनीयम्, कुत इत्याह–'विपक्षइति' (४७-१-१२) अवधीति च, उभाभ्यामक्षापेक्षत्वस्य स्पष्टताप्रयोजकत्वं खण्डितं भवति, तथा चाक्षापेक्षत्वं देशस्पष्टत्वेऽपि न प्रयोजकं किं पुनः सर्वस्पष्टत्वइति, हेतुसत्त्वे साध्यासत्त्वे प्रकृते सर्वस्पष्टत्वानुपपत्तिर्बाधकस्तर्क इति नाप्रयोजकत्वमिति भावः । न चापेक्षत्वेऽपि गुणविशेषात् सर्वस्पष्टत्वोपपत्तिः केवलज्ञानोत्पादकगुणस्यैव लाघवादिन्द्रियसंस्कारनाशकत्वेन तस्य तद्विरुद्धत्वादिति द्रष्टव्यम्, विकलप्रत्यक्षस्येति (४७-१-१४) पारमार्थिकप्रत्यक्षमात्रस्य पक्षीकरणे तु भागासिद्धतयाऽस्याहेतुत्वं स्यादेवेत्यर्थः । तर्हि सत्यस्वप्न (४७-२-३) इति, नन्वेवं स्वाप्नज्ञान-

विशेषे चक्षुराद्यनपेक्षायां चाक्षुषादौ तदपेक्षानियमभङ्गः, कथमिति चेत्, सत्यं पश्यामीत्यनुभवानुरोधेन स्वाप्नविशेषेऽपि चाक्षुषत्वसिद्धेस्तत्र च चक्षुराद्यपेक्षाव्यतिरेकस्य स्पष्टत्वादित्यवेहि, पश्यामीत्यभिलापे विषयताविशेष एव प्रयोजको ननु चाक्षुषत्वं जातिः, स च चक्षुःसन्निकर्षप्रयोज्यो दोषविशेषप्रयोज्यश्चेति न दोष इति चेत्, न, सत्यत्वस्य स्वप्नविशेषणस्याभिधानेन दोषविशेषप्रयोज्यव्यावृत्तेः तादृशविषयताविशेषावच्छिन्नेऽनुगतक्षयोपशमविशेषस्यैव हेतुत्वेनालोकवच्चक्षुषस्तत्रानियतहेतुताया एव युक्तत्वात् द्रव्यचक्षुर्व्यापाराभावेऽपि भावचाक्षुषस्य 'पंचिंदिओव्व बउलो' इत्यादिदृष्टान्तसिद्धत्वेनापसिद्धान्तायोगादितिदिक् ।

दोषावरणयोर्हानिर्निश्शेषास्त्यतिशायनात् । क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ॥ ४ ॥

दोषावरणसामान्ययोर्हानेः प्रसिद्धत्वाद्धर्मित्व न विरुध्यते । तत्प्रसिद्धिः पुनरस्मदादिषु देशतो निर्दोषत्वस्य ज्ञानादेश्च कार्यस्य निश्चयाद्भवत्येव, अन्यथा तदनुपपत्ते. । सा क्वचिन्निश्शेषास्तीति साध्यते, वादिप्रतिवादिनोरत्र विप्रतिपत्ते. । अतिशायनादिति हेतुः । क्वचित्कनकपाषाणादौ किट्टकालिकादिबहिरन्तर्मलक्षयो यथेति दृष्टान्तः, प्रसिद्धत्वात् । स हि कनकपाषाणादौ प्रकृष्यमाणो दृष्टो निश्शेषः । तद्वद्दोषावरणहानिरपि प्रकृष्यमाणाऽस्मदादिषु प्रतीता सती क्वचिन्निश्शेषाऽस्तीति सिद्ध्यति । कः पुनर्दोषो नामावरणाद्भिन्नस्वभाव इति चेत्, उच्यते । वचनसामर्थ्यादज्ञानादिर्दोषः स्वपरपरिणामहेतुः । न हि दोष एवावरणमिति प्रतिपादने कारिकाया दोषावरणयोरिति द्विवचनं समर्थम्, ततस्तत्सामर्थ्यादावरणात्पौद्गलिकज्ञानावरणादिकर्मणो भिन्नस्वभाव एवाज्ञानादिर्दोषोऽभ्यूह्यते । तद्धेतुः पुनरावरण कर्म जीवस्य पूर्वस्वपरिणामश्च । स्वपरिणामहेतुक एवाज्ञानादिरित्ययुक्तं, तस्य कादाचित्कत्वविरोधाज्जीवत्वादिवत्, परपरिणामहेतुक एवेत्यपि न व्यवतिष्ठते, मुक्तात्मनोपि तत्प्रसङ्गात्, सर्वस्य कार्यस्योपादानसहकारिसामग्रीजन्यतयोपगमात्तथा प्रतीतेश्च । तथा च दोषो

जीवस्य स्वपरपरिणामहेतुकः, कार्यत्वान्माषपाकवत्। नन्वेवं निश्शेषावरणहानौ दोषहानेः सामर्थ्यसिद्धत्वाद्दोषहानौ वावरणहानेरन्यतरहानिरेव निश्शेषतः साध्येति चेत्, न, दोषावरणयोर्जीवपुद्गलपरिणामयोरन्योन्यकार्यकारणभावज्ञापनार्थत्वादुभयहानेर्निश्शेषत्वसाधनस्य। दोषो हि तावदज्ञानं ज्ञानावरणस्योदये जीवस्य स्यात्, अदर्शनं दर्शनावरणस्य, मिथ्यात्वं दर्शनमोहस्य, विविधमचारित्रमनेकप्रकारचारित्रमोहस्य, अदानशीलत्वादिर्दानाद्यन्तरायस्येति, तथा ज्ञानदर्शनावरणे तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायाऽऽसादनोपघातेभ्यो जीवमास्रवत', केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादाद्दर्शनमोहः, कषायोदयतीव्रपरिणामाच्चारित्रमोह, विघ्नकरणादन्तराय इति तत्त्वार्थे प्ररूपणात्। समर्थयिष्यते चायं कार्यकारणभावो दोषावरणयोः "कामादिप्रभवश्चित्रः कर्मबन्धानुरूपतः" इत्यत्र। अथ दोष एवाविद्यातृष्णालक्षणश्चेतसोऽनादितद्वासनोद्भूतः संसारहेतुर्नावरणं पौद्गलिकं, तेन मूर्तिमता चित्तस्यामूर्तस्यावरणायोगादिति वदतो बौद्धान्निराकर्तुमावरणग्रहणं, मूर्तिमतापि मदिरादिना चित्तस्यामूर्तस्यावरणदर्शनात्, तत्सम्बन्धाद्विभ्रमसंवेदनादन्यथा तदनुपपत्तेः। मदिरादिनेन्द्रियाण्येवाव्रियन्ते इति चेत्, न, तेषामचेतनत्वे तदावरणासंभवात् स्थाल्यादिवद्विभ्रमायोगात्। चेतनत्वे तेषाममूर्तत्वेपि मूर्तिमताऽऽवरणमायातमिति प्रायेणान्यत्र चिन्तितम्। ततो दोषहानिवदावरणहानिरपि निश्शेषा कचित्साध्या, तदावरणस्य दोषादन्यस्य मूर्तिमतः प्रसिद्धेः। अत एव लोष्टादौ निश्शेषदोषावरणनिवृत्तेः सिद्धसाध्यतेत्यसमीक्षिताभिधानं, साध्यापरिज्ञानात्। प्रध्वंसाभावो हि दोषावरणयोः साध्यो न पुनरत्यन्ताभावः, तस्यानिष्टत्वात्, सदात्मनो मुक्तिप्रसङ्गात्। नापीतरेतराभावः, तस्य प्रसिद्धत्वात्, दोषावरणयोरनात्मत्वादात्मनश्चादोषावरणस्वभावत्वात्। प्रागभावोऽपि न साध्यस्तत एव, प्रागविद्यमानस्य दोषावरणस्य स्वकारणादात्मनि प्रादुर्भावाभ्युपगमात्। न च लोष्टादौ दोषावरणयोः प्रध्वंसाभाव. संभवति, तस्य भूत्वाऽभवनलक्षणत्वात् तयोस्तत्रात्यन्तमभावात्। तत्, न, सिद्धसाध्यता। नन्वेवं,

दोषावरणयोर्हानेरतिशायनान्निश्शेषतायां साध्याया बुद्धेरपि किन्न परिक्षयः स्याद्विशेषाभावादतोऽनैकान्तिको हेतुरित्यशिक्षितलक्षितं, चेतनादिगुणव्यावृत्तेः सर्वात्मना पृथिव्यादेरभिमतत्वात् । ननु च पृथिव्यादौ सर्वात्मना चेतनादिगुणप्रध्वंसाभावस्याभावाद् बुद्धिहान्यानैकान्तिकमेवातिशायनमित्यप्यनवबोधविजृम्भितं, पृथिव्यादौ पुद्गले पृथिवीकायिकादिभिरात्मभिः शरीरत्वेन गृहीते स्वायुपःक्षयात्त्यक्ते चेतनादिगुणस्य व्यावृत्तेः सर्वात्मना प्रध्वंसाभावरूपत्वेन स्याद्वादिभिरभिमतत्वात्, " न हि स कश्चित्पुद्गलोस्ति यो न जीवैरसकृद्भुक्तोज्झितः " इति वचनात् । प्रसिद्धश्च पृथिव्यादौ चेतनादिगुणस्याभावः, अनुपलम्भान्यथानुपपत्तेः । अदृश्यानुपलम्भादभावासिद्धिरित्ययुक्तं, परचैतन्यनिवृत्तावारेकापत्तेः, संस्कर्तॄणां पातकित्वप्रसङ्गाद्, बहुलमप्रत्यक्षस्यापि रोगादेर्विनिवृत्तिनिर्णयात् । स्यान्मतं ते, व्यापारव्याहाराकारविशेषव्यावृत्तिसमयवशात्तादृश लोको विवेचयति—नास्त्यत्र मृतशरीरे चैतन्य ' व्यापारव्याहाराकारविशेषानुपलब्धेः, कार्यविशेषानुपलम्भस्य कारणविशेषाभावाविनाभावित्वात्, चान्दनादिधूमानुपलम्भस्य तत्समर्थचान्दनादिपावकाभावाविनाभावित्ववत् । तथा नास्त्यस्य रोगो ज्वरादिः, स्पर्शादिविशेषानुपलब्धेः, भूतग्रहादिर्वा, चेष्टाविशेषानुपलब्धेः । सम्यग्वैद्यशास्त्रभूततन्त्रादिसमयवशादत्यन्ताभ्यस्तचैतन्यरोगादिकार्यविशेषाणा लोकानां तद्विवेकोपपत्तिः ' इति, तदेतत्पृथिव्यादौ सर्वात्मना चेतनादिगुणव्यावृत्तावपि समानम् । नास्त्यत्र भस्मादिपृथिव्यादौ पृथिवीचेतनादिगुणः, व्यापारव्याहाराकारविशेषव्यावृत्तेरिति समयवशात्तत्सिद्धान्तविल्लोको विवेचयति । स्यादाकूतं ते, 'व्यापारादिविशेषस्यानुपलब्धेस्तज्जननसमर्थचेतनादिगुणव्यावृत्तिसिद्धावपि तज्जननासमर्थचेतनादिव्यावृत्त्यसिद्धेर्न सर्वात्मना तद्व्यावृत्तिसिद्धिः' इति, तदसमञ्जसं, व्यापाराद्यशेषकार्यजननासमर्थस्य शरीरिणां चेतनादेरसम्भवात्, सम्भवे वा शरीरित्वविरोधात् । ततः कार्यविशेषानुपलब्धेः सर्वात्मना चेतनादिगुणव्यावृत्तिः पृथिव्यादेः सिध्यत्येव,

मृतशरीरादेः परचैतन्यरोगादिनिवृत्तिवत् । यदि पुनरयं निर्वन्धः सर्वत्र विप्रकर्षिणामभावासिद्धेस्तदा कृतकत्वधूमादेर्विनाशानलाभ्यां व्याप्तेरसिद्धेर्न कश्चिद्धेतुः । तत शौद्धोदनिशिष्यकाणामनात्मनीनमेतत्, अनुमानोच्छेदप्रसङ्गात् । न हि जैमिनीयमतानुसारिणो विप्रकर्षिणामर्थानामभावासिद्धिमनुमन्यन्ते, वेदे कर्त्रेऽभावासिद्धिप्रसङ्गात् सर्वज्ञाद्यभावसाधनविरोधाच्च । ते तामनुमन्यमाना वा शौद्धोदनिशिष्यका एव । न चैषामेतदात्मनीनं, अनुमानोच्छेदस्य दुर्निवारत्वात्, साध्यसाधनयोर्व्याप्त्यसिद्धेः । परोपगमाद्व्याप्तिसिद्धेर्नानुमानोच्छेद इति चेत्, न, तस्यापि परोपगमान्तरात्सिद्धावनवस्थाप्रसङ्गात् तस्यानुमानात्सिद्धौ परस्पराश्रयप्रसङ्गात्। प्रसिद्धेऽनुमाने ततः परोपगमस्य सिद्धिस्तत्सिद्धौ च ततो व्याप्तिसिद्धेरनुमानप्रसिद्धिरिति । ततो न श्रेयानयं निर्वन्धः सर्वात्मना चेतनादिगुणव्यावृत्तिः पृथिव्यादेर्न सिद्ध्यत्येवेति । तत्प्रसिद्धौ च न बुद्धिहान्या हेतोर्व्यभिचारः, तस्याः सपक्षत्वात् । तथा हि । यस्य हानिरतिशयवती तस्य कुतश्चित्सर्वात्मना व्यावृत्तिः, यथा बुद्ध्यादिगुणस्याश्मनः । तथा च दोषादेर्हानिरतिशयवती कुतश्चिन्निवर्त्तयितुमर्हति सकलं कलङ्कमिति कथमकलङ्कसिद्धिर्न भवेत् ? ननु च यदि प्रध्वंसाभावो हानिस्तदा सा पौद्गलिकस्य ज्ञानावरणादेः कर्मद्रव्यस्य न सम्भवत्येव, नित्यत्वात्, तत्पर्यायस्य तु हानावपि कुतश्चित् पुनः प्रादुर्भावान्न निश्शेषा हानिः स्यात् । निश्शेषकर्मपर्यायहानौ वा कर्मद्रव्यस्यापि हानिप्रसङ्गः, तस्य तदविनाभावात् । तथा च निरन्वयविनाशसिद्धेरात्मादिद्रव्याभावप्रसङ्ग इति कश्चित्, सोप्यनवबुद्धसिद्धान्त एव । यस्मात, मणेर्मलादेर्व्यावृत्तिः क्षयः, सतोत्यन्तविनाशानुपपत्तेः । तादृगात्मनोपि कर्मणो निवृत्तौ परिशुद्धिः । प्रध्वंसाभावो हि क्षयो हानिरिहाभिप्रेता । सा च व्यावृत्तिरेव, मणेः कनकपापाणाद्वा मलस्य किट्टादेर्वा । न पुनरत्यन्तविनाशः । स हि द्रव्यस्य वा स्यात्पर्यायस्य वा ? न तावद्द्रव्यस्य, नित्यत्वात् । नापि पर्यायस्य, द्रव्यरूपेण ध्रौव्यात् । तथा हि । विवादापन्नं मण्यादौ मलादि पर्यायार्थतया नश्वरमपि द्रव्यार्थतया ध्रुवं, सत्त्वान्यथानु-

पपत्तेः । शब्देन व्यभिचार इति चेत्, न, तस्य द्रव्यतया ध्रौव्याभ्युपगमात् । विद्युत्प्रदीपादिभिरनेकान्त इत्ययुक्तं, तेषामपि द्रव्यत्वतो ध्रुवत्वात्, क्षणिकैकान्ते सर्वथार्थक्रियाविरोधस्याभिधानात् । ततो यादृशी मणेर्मलादेर्व्यावृत्तिर्हानिः परिशुद्धिस्तादृशी जीवस्य कर्मणा निवृत्तिर्हानिः । तस्या च सत्यामात्यन्तिकी शुद्धिः सम्भाव्यते, सकलकर्मपर्यायविनाशेपि कर्मद्रव्यस्याविनाशात्, तस्याकर्मपर्यायाक्रान्ततया परिणमनाद्, मलद्रव्यस्य मलात्मकपर्यायतया निवृत्तावप्यमलात्मकपर्यायाविष्टतया परिणमनवत् । तदेतेन तुच्छः प्रध्वंसाभाव सर्वत्र प्रत्याख्यातः, कार्योत्पादस्यैव पूर्वाकारक्षयरूपत्वप्रतीतेः । समर्थयिष्यते चैतत् " कार्योत्पादः क्षयो हेतोर्नियमात् " इत्यत्र । तेन मणेः कैवल्यमेव मलादेर्वैकल्यम् । कर्मणोपि वैकल्यमात्मकैवल्यमस्त्येव ततो नातिप्रसज्यते । द्रव्यार्थतया बुद्धेरात्मन्यप्यविनाशात्सर्वात्मना परिक्षयाप्रसङ्गात्, पर्यायार्थतया परिक्षयेपि सिद्धान्ताविरोधात् । ननु च यथा कर्मद्रव्यस्य कर्मस्वभावपर्यायनिवृत्तावप्यकर्मात्मकपर्याय-रूपतयावस्थानं तथात्मनो बुद्धिपर्यायतया निवृत्तावप्यबुद्धिरूपपर्यायतयावस्थानात् सिद्धान्तविरोध एवेत्यतिप्रसज्यते इति चेत, न, वैषम्यात् । कर्मद्रव्यं हि पुद्गलद्रव्यम्, तस्यात्मनि पारतन्त्र्यं कुर्वतः कर्मत्वपरिणामस्तदकुर्वतोऽकर्मत्वपरिणामेनावस्थानं, रूपादिमत्त्वसामान्यल-क्षणत्वात्पुद्गलद्रव्यस्य कर्मत्वलक्षणत्वाभावादविरुद्धमभिधीयते । बुद्धिद्रव्यं तु जीवः । तस्य बुद्धिः पर्यायः । तत् सामान्यं लक्षणम्, "उपयोगो लक्षणम्" इति वचनात् । न च लक्षणाभावे लक्ष्यमवतिष्ठते, तस्य तदलक्षणत्वप्रसक्तेर्येनाबुद्धिपर्यायात्मकतयावस्थानं जीवस्य निःशेषतो बुद्धिपरिक्षयेप्यविरुद्धं स्यात् । नन्वेवमज्ञानादेर्दोषस्य पर्यायार्थतया हानिर्निःशेषा सिद्ध्येदावरणवन्न पुनर्द्रव्यार्थतया बुद्धि-वत् । ततो दोषसामान्यस्यात्मन्यवस्थानान्न निर्दोषत्वसिद्धिरित्यपरः, सोप्यतत्त्वज्ञ एव, यतः प्रतिपक्ष एवात्मनामागन्तुको मल· परिक्षयी स्वनिर्ह्रासनिमित्तविवर्द्धनवशात् द्विविधो ह्यात्मन परिणामः स्वाभाविक आगन्तुकश्च । तत्र स्वाभाविकोऽनन्तज्ञानादिरात्मस्वरूपत्वात्,

मलः पुनरज्ञानादिरागन्तुकः, कर्मोदयनिमित्तकत्वात् । स चात्मनः प्रतिपक्ष एव । ततः परिक्षयी । तथा हि । यो यत्रागन्तुकः स तत्र स्वनिर्ह्रासनिमित्तविवर्द्धनवशात्परिक्षयी । यथा जात्यहेम्नि ताम्रादिमिश्रणकृतः कालिकादिः । आगन्तुकश्चात्मन्यज्ञानादिर्मलः, इति स्वभावहेतुः । न तावदयमसिद्धः । कथम् ? यो यत्र कादाचित्कः स तत्रागन्तुकः । यथा स्फटिकाश्मनि लोहिताद्याकारः । कादाचित्कश्चात्मनि दोष इति । न चेदं कादाचित्कत्वमसिद्धं, सम्यग्ज्ञानादिगुणाविर्भावदशायामात्मनि दोषानुपपत्तेः । ततः प्राक्तत्सद्भावाद्गुणाविर्भूतिदशायामपि तिरोहितदोषस्य सद्भावान्न कादाचित्कत्वं, सातत्यसिद्धेरिति चेत्, न, गुणस्याप्येवं सातत्यप्रसङ्गात् । तथा च हिरण्यगर्भादेर्वेदार्थज्ञानकालेऽपि वेदार्थाज्ञानप्रसङ्गः । ज्ञानाज्ञानयोः परस्परविरुद्धत्वादेकत्रैकदा न प्रसङ्ग इति चेत्, तत एव सकलगुणदोषयोरेकत्रैकदा प्रसङ्गो मा भूत् । पुनर्दोषस्याविर्भावदर्शनाद्गुणकालेऽपि सत्तामात्रसिद्धिरिति चेत्, तर्हि गुणस्यापि पुनराविर्भूतिदर्शनाद्दोषकालेऽपि सत्तामात्रसिद्धिः, सर्वथा विशेषाभावात् । तथा चात्मनो दोषस्वभावत्वसिद्धिवद्गुणस्वभावत्वसिद्धिः कुतो निवार्येत ? । विरोधादिति चेत्, दोषस्वभावत्वसिद्धिरेव निवार्यतां, तस्य गुणस्वभावत्वसिद्धेः । कुतः सेति ? चेत्, दोषस्वभावत्वसिद्धिः, कुतः ?, संसारित्वान्यथानुपपत्तेरिति चेत्, तत्संसारित्वं सर्वस्यात्मनो यद्यनाद्यनन्तं, तदा प्रतिवादिनोऽसिद्धं, प्रमाणतो मुक्तिसिद्धेः। कुत इति चेत्, इमे प्रवदामः। क्वचिदात्मनि संसारोऽत्यन्तं निवर्तते तत्कारणात्यन्तनिवृत्त्यन्यथानुपपत्तेः । संसारकारणं हि मिथ्यादर्शनादिकमुभयप्रसिद्धं क्वचिदत्यन्तनिवृत्तिमत्, तद्विरोधिसम्यग्दर्शनादिपरमप्रकर्षसद्भावात् । यत्र यद्विरोधिपरमप्रकर्षसद्भावस्तत्र तदत्यन्तनिवृत्तिमद्भवति, यथा चक्षुषि तिमिरादि । नेदमुदाहरणं साध्यसाधनधर्मविकलं, कस्यचिच्चक्षुषि तिमिरादेरत्यन्तनिवृत्तिमत्त्वप्रसिद्धेस्तद्विरोधिविशिष्टाञ्जनादिपरमप्रकर्षसद्भावसिद्धेश्च निर्विवादकत्वात् । कथं मिथ्यादर्शनादिविरोधि सम्यग्दर्शनादि निश्चीयते इति चेत्, तत्प्रकर्षे तदपकर्षदर्शनात् । यद्धि प्रकृष्यमाणं

ननु निरस्तोपद्रवः सन्नात्मा कथमकलङ्कोपि विप्रकर्षिणमर्थं प्रत्यक्षीकुर्यात्। नहि नयन निरस्तोपद्रवं विगलिततिमिरादिकलङ्कपटलमपि देशकालस्वभावविप्रकर्षभाजमर्थं प्रत्यक्षीकुर्वत् प्रतीतं, स्वयोग्यस्यैवार्थस्य तेन प्रत्यक्षीकरणदर्शनात्। निरस्तग्रहोपरागाद्युपद्रवोपि दिवसकरः प्रतिहतघनपटलकलङ्कश्च स्वयोग्यानेव वर्त्तमानार्थान् प्रकाशयन्नुपलब्धो, नातीतानागतानर्थानयोग्यानिति जीवोपि निरस्तरागादिभावकर्मोपद्रवः सन् विगलितज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मात्मककलङ्कोपि च कथं विप्रकृष्टमर्थमशेषं प्रत्यक्षीकर्तुं प्रभुः ? मुक्तात्मा भवन्नपि न चोदनाप्रामाण्यप्रतिबन्धविधायी, धर्मादौ तस्या एव प्रामाण्यप्रसिध्धेः, मुक्तामनस्तत्राप्रमाणत्वात्, तस्यानन्दादिस्वभावपरिणामेपि धर्मज्ञत्वाभावादप्रतिषेध्यत्वात्, तदुक्त, " धर्मज्ञत्वनिषेधस्तु केवलोऽऽत्रोपयुज्यते। सर्वमन्यद्विजानँस्तु पुरुषः केन वार्यते ॥ १ ॥ " इति वदन्तमिव स्तोतुः प्रज्ञातिशयचिकीर्षया भगवन्तं प्रत्याहुः।—

'दोषावरणयोरिति' (८८–२–६) दोषावरणयोर्हानिः क्वचिदात्मनि निःशेषा भवति। अतिशयवतीत्वात्, या हानिरतिशायिनी सा क्वचिन्निःशेषा भवति यथा कनकपाषाणादौ किट्टकालिकादिबहिरन्तर्मलहानिरिति प्रयोगोऽत्र द्रष्टव्यः। अत्रातिशायिनीत्वमाश्रयभेदव्यापारप्रयुक्ताल्पाल्पतरबहुबहुतरप्रतियोगिकत्वं, निःशेषत्वं च स्वसमानाधिकरणस्वप्रतियोगिजातीयप्रागभावकालीनभिन्नत्वम्, अतो न जातिरूपातिशयपरमुक्तिसंक्रमाद्यसम्भवप्रयुक्तदोषावकाशः। यदि चैवमपि साध्यहेत्वोर्व्यधिकरणत्वमुत्प्रेक्षते, तदा दोषावरणहानित्वं पक्षीकृत्य तत्र निरूक्तातिशयितवृत्तित्वेन निःशेषवृत्तित्वसाधने तात्पर्यं द्रष्टव्यम्। देशतो निर्दोषत्वस्येति (८८–२–७) यद्यपि देशतो दोषहानेर्देशतो निर्दोषत्वं न कार्यम्, अभेदे कार्यकारणभावविरोधात्, तथापि तदुपलक्षिता देशतः शुद्धिः स्वानुभवसाक्षिका कार्यत्वेन द्रष्टव्या। 'स्वपरिणामहेतुक एवेत्यादि' (८८–२–१३) अत्राज्ञानादिः

स्वपरिणाममात्रहेतुको न भवति कादाचित्कत्वात्, व्यतिरेके जीवत्ववत्, परपरिणाममात्रहेतुको न भवति जीवधर्मत्वात्, व्यतिरेकेऽजीवत्ववत्, स्वपरपरिणामहेतुको भवति कार्यत्वात् घटपटादिवदित्यनुमानत्रयं द्रष्टव्यम्। प्रथमे कादाचित्कत्वं न कालकृत्स्नभावप्रतियोगित्वं, स्वपरिणाममात्रहेतुके भव्यत्वे तत्त्वेन व्यतिरेकव्याप्तौ व्यभिचारात्, किन्त्वभूत्वा भावित्वं, तच्च भावत्वान्तर्भावावच्छिन्नकार्यत्वं वा तत्, व्यतिरेके दृष्टान्तीभूतस्य जीवत्वस्य न च अनपायित्वया स्वरूपतो हेतुकत्वेऽपि शुद्धशुद्धाभिन्नतार्थपर्यायाभेदनिरूपितं स्वपरिणाममात्रहेतुकत्वं, तत्र कार्यतावच्छेदकतावच्छिन्नत्वेनोपस्थित एव निवेश्यत इति नार्थसंयोगान्तरेऽतिप्रसङ्गः। द्वितीयेऽप्यनयैव रीत्या परपरिणाममात्रहेतुकत्वं परमिष्टः पारिणामिकभावादिति मुक्तात्मतत्त्वान्तरगतो विपर्यये बाधक उक्तो ग्रन्थकृता। तृतीये कार्यत्वस्योद्भूतकार्यत्वादित्यर्थः, तेन जीवत्वादौ न व्यभिचारो नित्यत्वेनाधिते तत्रानित्याभेदारोपप्रयुक्तकार्यत्वादित्यस्यानुक्तत्वादिति ध्येयम्। 'साध्यापरिज्ञानादिति' (८९-१-११) उद्देश्यानुमितिविषयापरिज्ञानादित्यर्थः, साध्यः उद्देश्यानुमितिविषयः तस्य दोषावरणात्यन्ताभावस्य अनिष्टत्वान्मुक्तित्वेनानाभिमतत्वात्, तस्य मुक्तित्वे सदात्मनो मुक्तिप्रसङ्गात् (८९-१-१२) त्रैकालिकात्मतादात्म्यपरिणामनिवृत्तेरत्यन्ताभावत्वाद्दोषावरणयोस्तादात्म्यपरिणामस्य चात्मनि नित्यनिवृत्तत्वादिति भावः। यद्यप्यावरणतादात्म्यमात्मनो नित्यनिवृत्तमभ्युपगन्तुं शक्यम्, भिन्नद्रव्यत्वात्, दोषतादात्म्यन्तु न तत्कालावच्छिन्नतत्तादात्म्यस्यात्मन्यन्वयवर्तनीयत्वात्, तथाप्येकत्रकेऽप्युभयाभावाभ्युपगमेनावरणोदयपरिणतिरूपदोषाभिप्रायेण चेदमभिधानमिति मन्तव्यम्। ननु एवं प्रागिदत्यादेव, तदेव स्पष्टीकर्तुमाह प्रागविगमानस्येत्यादि (८९-१-१३) प्रध्वंसाभावे साध्ये न सिद्धसाध्यतेत्युपदर्शयति नच लोष्टादावित्यादिना (८९-१-१४

शरीरत्वेन गृहीत इति (८९-२-३) अण्णुण्णाणुगयाणं' इत्यादि **सम्मत्युक्तरीत्या** शरीरात्मनोः कथञ्चिदेकत्वेन तथैव लोकलोकोत्तरानुभवसिद्धत्वेन चात्मगृहीतमुक्ते पृथिव्यादिशरीरे बुद्ध्यादिनिःशेषध्वंसस्य युक्तियुक्तत्वादिति भावः। नहि प्रतियोगिसमवायिदेश एव ध्वंसप्रागभावौ स्त इति नैयायिकवचनं श्रद्धातुमर्हं, समवायिकारणनाशजन्यद्रव्यनाशस्य निरधिकरणत्वापत्तेः, न च समवायिकारणसमवायिकारणमेव तत्राधिकरणं, तन्नाशस्थलेऽप्यधिकरणचिन्तायां परमाणुविश्रामापत्तेः, तद्गतस्य च तस्य यथा प्रतीतिसम्बन्धविशेषेण स्थूलावयवनिष्ठताभ्युपगमे किमपराद्धमधिकरणान्तरेण, येन तत्र तद्वृत्ताप्रतीतिसिद्धावप्यपलप्येतेति दिक्। आवरणहानिर्न साध्या द्रव्यार्थपर्यायार्थविकल्पानुपपत्तेरित्याशयवानाह पूर्वपक्षे **'ननु च यदीत्यादि'** (९०-१-९) स्वसमानाधिकरणस्वप्रतियोगिजातीयप्रागभावासमानकालीनत्वविशेषणादावरणत्वावच्छिन्नध्वंसस्य वा साध्यत्वान्न दोषइत्यभिप्रायवान् सिद्धान्तयति **सोऽप्यनवबुद्धतत्त्व** (९०-१-११) इत्यादिना, सकलकर्मपर्यायनाशस्य कर्मत्वविशिष्टद्रव्यनाशनियतत्वेऽपि तदुपलक्षितद्रव्यनाशानियतत्वान्न निरन्वयनाशापत्तिरित्याह-**' सकलकर्मेत्यादि '** (९०-२-३) ननु कर्मपर्यायत्वावच्छिन्ने कर्मद्रव्यत्वेनाकर्मपर्यायत्वावच्छिन्ने चाकर्मद्रव्यत्वेन हेतुत्वात् कथं मुक्तौ कर्मद्रव्यस्याकर्मपर्यायाक्रान्ततया परिणमनमिति चेत्, न। पुद्गलद्रव्यस्यैवावस्थाविशेषेण कर्माकर्मात्मकतया परिणमनादन्योन्याभावस्याव्याप्यवृत्तित्वादुभयरूपतोपपत्तेः, नन्वेवं जीवद्रव्यमपि निःशेषितजीवपर्यायमजीवपर्यायानाददानमजीवद्रव्यं स्यात्, तद्द्रव्यस्य तदन्यद्रव्यपर्यायपरिणमनाभावव्याप्यत्वोपगमे च कर्मद्रव्यमप्यकर्मपर्यायपरिणामि न स्यादिति चेत्, न जीवाजीनपरिणामयोः प्रदेशविरोधस्य कर्माकर्मपरिणामयोश्च कालविरोधस्य सिद्धान्तसिद्धत्वेनोक्तप्रतिबन्ध्ययोगात् द्रव्यत्वसाक्षाद्-

व्याप्यजात्यवच्छेदेन नियतपर्यायारम्भवादो, न तु तदवान्तरजात्यवच्छेदेनेति परमार्थः। युक्तं चैतत्, परेषां जन्यपृथिवीत्वाद्यवच्छिन्ने पृथिवीत्वादिना हेतुत्वे गौरवादित्यादि विपश्चितमन्यत्र। एतेनोत्तरपर्यायस्यैव पूर्वपर्यायध्वंसत्वेन, तुच्छः षट्पदार्थीभिन्नत्वेनाभिमतः, ततो नातिप्रसज्यत (९०-२-६) इति कर्मवैकल्येऽप्यात्मकैवल्यवद्बुद्धिवैकल्येऽप्यात्मकैवल्यं स्यादित्यतिप्रसङ्गो नापद्यते, स्वलक्षणीभूतनिःशेषपर्यायवैकल्यस्यासाध्यत्वादसत्त्वाच्चेति भावः। न च लक्षणाभाव (९०-२-११) इत्यादि, तथा च बुद्धिपर्यायः स्वाश्रयद्रव्ये निःशेषतो हीयते पर्यायत्वादित्यत्र स्वलक्षणतावच्छेदकानवच्छित्वस्योपाधेः सत्त्वादगमकत्वमिति भावः। यद्यपि कर्मपर्यायत्वमपि कर्मद्रव्यलक्षणतावच्छेदकमेव, तथापि द्रव्यविभाजकोपाध्यवच्छिन्नलक्ष्यतानिरूपितलक्षणतावच्छेदकानवच्छिन्नत्वमुपाधिरित्यत्र तात्पर्यम्। 'न पुनर्द्रव्यार्थतयेति' (९०-२-१२) द्रव्यार्थतया हानेरतद्द्रव्यस्वरूपत्वादिति भावः। कादाचित्कश्चात्मनि दोष (९१-१-४) इति, तथा च कादाचित्कत्वादज्ञानादेर्दोषस्य द्रव्यार्थतया हानिरविरुद्धेति, सा चास्मदुक्तविशेषणमुद्रयैव भावनीया। कादाचित्कत्वं च यद्यपि बुद्ध्यादेरप्यस्ति, तथाप्यधिकृतपर्यायतावच्छेदकावच्छेदेन तच्चं द्रव्यार्थतया निःशेषहानिव्याप्यं, न च बुद्धिपर्यायत्वावच्छेदेन तत्त्वमस्ति स्वलक्षणत्वव्याघातात्, वस्तुतः शुद्धद्रव्यार्थतया हानिरप्रसिद्धैव, आदिष्टद्रव्यार्थतया त्वज्ञानस्येव बुद्ध्यादेरपि हानेः पर्यायार्थतापर्यवसन्नत्वान्न दोषावहत्वं, केवलज्ञानस्यापि 'जे संघयणाईआ इत्यादिग्रन्थेन भवस्थकेवलिपर्यायतया हानेः सम्मत्यादिसिद्धत्वेनापसिद्धान्तगन्धस्याप्यभावात्, केवलं प्रवाहतः पर्यायार्थतयाऽज्ञानादेर्हानिर्न तु बुद्ध्यादेः, तत्र च प्रतीत्यसमुत्पादापेक्षया द्रव्यार्थत्वमुच्यतइत्येतावान् स्वसमयसिद्धो विवेकः तिरोभावादिना गुणवद्दोषस्य सातत्यं त्वनुपदमेव निराकरिष्यत

इति सर्वमवदातम् । जीवत्वान्यथानुपपत्तेरिति (९१-२-११) जीवस्य सतोऽभव्यादेरप्यावरणवत्त्वादावरणेन च सतामेव ज्ञानादिगुणानामभिभवस्य कर्त्तुं शक्यत्वादभव्यादेरपि ज्ञानादिगुणस्वभावत्वमेवेत्यर्थः । यद्यप्यभव्यादावात्मनि गुणदोषोभयस्वभावत्वमविरुद्धं, परेषामवयविगुणेऽवयवगुणस्येवास्माकं विभावगुणपर्याये स्वभावगुणपर्यायस्य हेतुत्वसम्भवात्, शुद्धात्मत्वावृतत्वावच्छेदकभेदेन चोभयसमावेशस्याप्यविरोधादात्माष्टकनिर्देशकपारमर्षस्याप्येतदर्थानुकूलत्वात् तथापि प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्तीति न्यायानुसारिणीयमुक्तिरिति ध्येयम् ।

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा । अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः ॥ ५ ॥

सूक्ष्माः स्वभावविप्रकर्षिणोर्थाः परमाण्वादयः, अन्तरिताः कालविप्रकर्षिणो रामादयो, दूरास्तु देशविप्रकर्षिणो हिमवदादयस्ते कस्यचित्प्रत्यक्षा, अनुमेयत्वाद्यथाऽग्न्यादिरित्येवं सर्वज्ञस्य सम्यक् स्थितिः स्यात् । अथ मतमेतत् "सूक्ष्मादयोऽर्था यथाभूताः कस्यचित्प्रत्यक्षा दृष्टास्तथाभूता एव तथानुमेयत्वेन साध्यन्तेऽन्यथाभूता वा ? तथाभूताश्चेत्सिद्धसाध्यता, सूक्ष्माणां सहस्रधा भिन्नकेशाग्रादीनामन्तरितानां च प्रपितामहादीनां दूरार्थानां च हिमवदादीना कस्यचित्प्रत्यक्षत्वप्रसिद्धेः । अन्यथाभूतानां तु कस्यचित्प्रत्यक्षत्वसाधनेऽनुमेयत्वादित्यप्रयोजको हेतुः, क्ष्माधरादीनां बुद्धिमत्कारणत्वे साध्ये सन्निवेशविशिष्टत्वादिवत् । धर्म्यसिद्धिश्च, परमाण्वादीनामप्रसिद्धत्वात्" इति तदयुक्तं, विवादाध्यासितानां सूक्ष्माद्यर्थानां कस्यचित्प्रत्यक्षत्वेन साध्यत्वादप्रसिद्धं साध्यमिति वचनात् । धर्म्मादयो हि कस्यचित्प्रत्यक्षत्वेन वादिप्रतिवादिनोर्विवादापन्नास्ते एव कस्यचित्प्रत्यक्षा इति साधयितुं युक्ता न पुनरन्ये । न चैवं धर्म्यसिद्धि, धर्म्मादीनामसर्वज्ञवादिनोपि याज्ञिकस्य सिद्धत्वात् । नन्वेवं भूधरादीनां धीमद्धेतुकतया विवादापन्नानां तथा साध्यत्वे कथमप्रयोजको

हेतुः सन्निवेशविशिष्टत्वादिरिति चेत्, स्वभावभेदात्। यादृशमभिनवभवनादिषु सन्निवेशविशिष्टत्वमक्रियादर्शिनोपि कृतबुद्ध्युत्पादकं धीमद्धेतुकत्वेन व्याप्तं प्रतिपन्नं तादृशमेव जीर्णप्रासादादिषूपलभ्यमानं धीमद्धेतुकत्वस्य प्रयोजकं स्यात्, नान्यादृशं भूधरादिषु प्रतीयमानमकृतबुद्ध्युपत्तदकमिति स्वयं मीमांसकैरभिधानात्। नैवमनुमेयत्वं, तस्य स्वभावभेदाभावात्। न हि साध्याविनाभावनियमनिश्चयैकलक्षणलिङ्गजनितज्ञानविषयत्वमनुमेयत्वमग्न्यादौ धर्मादौ च लिङ्गिनि भिद्यते, येन किञ्चित्प्रयोजकमपरमप्रयोजकमिति विभागोऽवतरेत्। स्वभावकालदेशविप्रकर्षिणामनुमेयत्वमसिद्धमित्यनुमानमुत्सारयति यावान् कश्चिद्भावः स सर्वः क्षणिक इत्यादिव्याप्तेरसिद्धौ प्रकृतोपसंहारायोगादविप्रकर्षिणामनुमितेरानर्थक्यात् सत्त्वादेरनित्यत्वादिना व्याप्तिमिच्छतां सिद्धमनुमेयत्वमनवयवेनेति न किञ्चिद्व्याहतं पश्यामः। स्यान्मतं "केचिदर्थाः प्रत्यक्षा, यथा घटादयः, केचिदनुमेया ये कदाचित्क्वचित् प्रत्यक्षप्रतिपन्नाविनाभाविलिङ्गाः, केचिदागममात्रगम्याः सर्वदा स्वभावादिविप्रकर्षिणो धर्मादयः, तेषां सर्वप्रमातृसम्बन्धिप्रत्यक्षादिगोचरत्वायोगात्। तदुक्तं "सर्वप्रमातृसम्बन्धिप्रत्यक्षादिनिवारणात्। केवलागमगम्यत्वं लप्स्यते पुण्यपापयोः" ॥१॥ इति। "ततो धर्मादीनामनुमेयत्वमसिद्धमुद्भावयन्नपि नानुमानमुत्सारयति, तस्यानुमेयेऽर्थे व्यवस्थानात्" इति, तदसत्, धर्मादीनामप्यनित्यत्वादिस्वभावतयाऽनुमेयत्वोपपत्तेः। तथा हि। यावान्कश्चिद्भावः पर्यायाख्यः स सर्वोऽनेकक्षणस्थायितयाऽ क्षणिको यथा घटस्तथा च धर्मादिरिति मीमांसकैरपि कुतश्चित् पर्यायत्वादेरनित्यत्वेन व्याप्तिः साधनीया, तदसिद्धौ प्रकृतेपि धर्मादौ पर्यायश्च धर्मादिरित्युपसंहारायोगात्। कथं चायं स्वभावादिविप्रकर्षिणामनुमेयत्वमसिद्धमभिदधानः सुखादीनामविप्रकर्षिणामनुमितेरानर्थक्यं परिहरेत्? शश्वदविप्रकर्षिणामनुमितेरनिष्टेरदोष इति चेत्, क पुनरियमनुमितिः स्यात्? कदाचिदविप्रकर्षिणामन्यदा देशादिविप्रकृष्टानां प्रतिपन्नाविनाभाविलिङ्गानामनुमितिरितिचेत्, कथमेवं शश्वदप्रत्य-

क्षाया बुद्धेरनुमानं, यत इदं शोभेत ? "ज्ञाते त्वर्थेऽनुमानादवगच्छति बुद्धिम्" इति। अर्थापत्तेर्बुद्धिप्रतिपत्तेरदोप इति चेद्, धर्मादिप्रतिपत्तिरपि तत एवास्तु । यथैव हि बहिरर्थपरिच्छित्त्यन्यथानुपपत्तेर्बुद्धिप्रतिपत्तिस्तथा श्रेयःप्रत्यवायाद्यन्यथानुपपत्त्या धर्माधर्मादिप्रतिपत्तिरपि युक्ता भवितुम्। श्रेय प्रत्यवायादेरन्यथाप्युपपत्तेः क्षीणाऽर्थापत्तिरिति चेत्, न, तदुत्पत्तौ दृष्टकारणव्यभिचाराददृष्टकारणप्रतिपत्तेः, रूपादिज्ञानादिन्द्रियशक्तिप्रतिपत्तिवत् । न चार्थापत्तिरनुमानादन्यैव, अनुमानस्यैवार्थापत्तिरिति नामकरणात् । ततो बुद्ध्यादेः शश्वद्धिप्रकर्षिणोऽनुमेयत्वसिद्धौ धर्मादेरपि तत्सिद्धिः । ये तु ताथागतादयः सत्त्वकृतकत्वादेरनित्यत्वादिना व्याप्तिमिच्छन्ति तेषां सिद्धमनुमेयत्वमनवयवेनेति न किञ्चिद्व्याहतमसर्वज्ञवादिनां सर्वज्ञवादिनां च, स्वभावादिविप्रकृष्टेष्वर्थेष्वनुमेयत्वव्यवस्थितेः । एतेनात्यन्तपरोक्षेष्वर्थेष्वनुमेयत्वाभावाद्भागासिद्धमनुमेयत्वमित्येतदपि प्रत्याख्यातं, तेषामपि कथञ्चिदनेकान्तात्मकत्वादिस्वभावतयानुमेयत्वसिद्धेः । अथवानुमेयत्वं श्रुतज्ञानाधिगम्यत्वं हेतुः, मतेरनु पश्चान्मीयमानत्वाद्, अनुमेयाः सूक्ष्मादयोर्था इति व्याख्यानान्मतिपूर्वज्ञानस्य श्रुतत्वात्, "श्रुतं मतिपूर्वम्" इति वचनात्, न चैतदसिद्धं, प्रतिवादिनोपि, सर्वस्य श्रुतज्ञानाधिगम्यत्वोपगमात् । चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवंजातीयकमर्थमवगमयितुमलमिति स्वयमभिधानात् । तदुक्तं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके "सूक्ष्माद्यर्थोपि चाध्यक्षः कस्यचित्सकलः स्फुटम् । श्रुतज्ञानाधिगम्यत्वान्नदीद्वीपादिदेशवत् ॥ १ ॥ न हेतोः सर्वथैकान्तैरनेकान्तः कथञ्चन । श्रुतज्ञानाभिगम्यत्वात्तेषां दृष्टेष्टबाधनात् ॥२॥ स्थानत्रयाविसंवादि श्रुतज्ञानं हि वक्ष्यते। तेनाधिगम्यमानत्वं सिद्धं सर्वत्र वस्तुनि ॥ ३ ॥" इति। ततोऽनुमेयाः सूक्ष्माद्यर्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षाः सिद्धा एव । तेऽनुमेया, न कस्यचित्प्रत्यक्षाश्च स्युः, किं व्याहन्यते ? इति समानमग्न्यादीनाम् । अग्न्यादयोनुमेयाः स्युः कस्यचित्प्रत्यक्षाश्च न स्युरिति । तथा चानुमानोच्छेदः स्यात्, सर्वानुमानेपूपालम्भस्य समानत्वात्।

शक्यं हि वक्तुं धूमश्च कचित्स्यादग्निश्च न स्यादिति । तदभ्युपगमेऽस्वसंवेद्यविज्ञानव्यक्तिभिरध्यक्षं किं लक्षयेत् प्रमाणतया परमप्रमाणतयेति न किञ्चिदेतत्, तया नैतत्तया वा अयमभ्युपगन्तुमर्हति । प्रत्यक्षं प्रमाणमविसंवादित्वादनुमानादिकमप्रमाणं, विसंवादित्वादिति लक्षयतोऽनुमानस्य बलाद्व्यवस्थितेर्न प्रत्यक्षमेकमेव प्रमाणमिति व्यवतिष्ठते । ततोनुमानमिच्छता याज्ञिकेनेव लौकायतिकेनापि प्रसिद्धाविनाभावनियमनिश्चयलक्षणादनुमेयत्वहेतोः सूक्ष्माद्यर्थानां कस्यचित्प्रत्यक्षत्वसिद्धिरेपितव्या । स्यान्मतं, बाधितविषयोऽयं हेतुरनुमानेन पक्षस्य बाधनात् । तथा हि । न कश्चित् सूक्ष्माद्यर्थसाक्षात्कारी, प्रमेयत्वात्सत्त्वाद्वस्तुत्वादस्मदादिवत् । न चेदं साधनमसिद्धं व्यभिचारि वा, प्रत्यक्षाद्यविसंवादित्वात् । तदुक्तं " प्रत्यक्षाद्यविसंवादि प्रमेयत्वादि यस्य तु । सद्भाववारणे शक्तं को नु तं कल्पयिष्यति "॥ १ ॥ इति । तदप्यसम्यक्, तत एव कस्यचित्सूक्ष्माद्यर्थसाक्षात्कारित्वसिद्धेः । सूक्ष्माद्यर्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षाः प्रमेयत्वात्सत्त्वाद्वस्तुत्वाद्वा स्फटिकादिवत् । अनुमेयेनात्यन्तपरोक्षेण चार्थेन व्यभिचार इति चेत्, न, तस्य पक्षीकरणात् । तदेवं प्रमेयत्वसत्त्वादिर्यत्र हेतुलक्षणं पुष्णाति तं कथं चेतनः प्रतिपद्धुमर्हति सशयितुं वा, सूक्ष्माद्यर्थसाक्षात्कारिणस्तस्यैव सुनिश्चितासभवद्बाधकत्वादस्तित्वसिद्धेरबाधितविषयत्वस्यापि परोपगतहेतुलक्षणस्य प्रकृतहेतोः पोपणात् । ननु च सर्वज्ञस्यास्तित्वे साध्ये सुनिश्चितासभवद्बाधकप्रमाणत्वं हेतुः सर्वज्ञभावधर्मश्चेदसिद्धः । को हि नाम सर्वज्ञभावधर्मं हेतुमिच्छन् सर्वज्ञमेव नेच्छेत् । सर्वज्ञाभावधर्मश्चेद्विरुद्धः, ततः सर्वज्ञनास्तित्वस्यैव सिद्धेः । सर्वज्ञभावाभावधर्मश्चेद्व्यभिचारी, सपक्षविपक्षयोर्वृत्तेः ? तदुक्तम् " असिद्धो भावधर्मश्चेद्व्यभिचार्युभयाश्रयः । विरुद्धो धर्मोऽभावस्य स सत्तां साधयेत् कथम् " ॥१॥ इति । धर्मिण्यसिद्धसत्ताके भावाभावोभयधर्माणामसिद्धविरुद्धानैकान्तिकत्वात्कथं सकलविदि सत्त्वसिद्धिरिति ब्रुवन्नपि देवानां प्रियस्तद्धर्मिस्वभावं न लक्षयति । स हि तावदेवं सौगतमतमाश्रित्य ब्रुवाणः प्रष्टव्य ।

शब्दानित्यत्वसाधनेऽपि कृतकत्वादावयं विकल्पः किं न स्यादिति । शक्यं हि वक्तुं, कृतकत्वादिहेतुर्यद्यनित्यशब्दधर्मस्तदाऽसिद्धः । को नामानित्यशब्दधर्मं हेतुमिच्छन्ननित्यशब्दमेव नेच्छेत् ? अथ नित्यशब्दधर्मस्तदा विरुद्ध, साध्यविरुद्धसाधनात् । अथोभयधर्मस्तदा व्यभिचारी, सपक्षेतरयोर्वर्तमानत्वात् । इति सर्वानुमानोच्छेदः, क्वचित्पावकादौ साध्ये धूमवत्त्वादावपि विकल्पस्यास्य समानत्वात् । विमत्यधिकरणभावापन्नविनाशधर्मिधर्मत्वे कार्यत्वादेरसभवद्बाधकत्वादेरपि सन्दिग्धसद्भावधर्मिधर्मत्वं सिद्धं बोद्धव्यम् । ननु च शब्दादेर्धर्मिणः शब्दत्वादिना प्रसिद्धसत्ताकस्य सन्दिग्धानित्यत्वादिसाध्यधर्मकस्य धर्मो हेतुः कृतकत्वादिरिति युक्तं, सर्वथाप्यसिद्धसत्ताकस्य तु सर्वज्ञस्य कथं विवादापन्नसद्भावधर्मकस्य धर्मो हेतुरसभवद्बाधकत्वादिर्युज्यते, प्रसिद्धो धर्मी अप्रसिद्धधर्मविशेषणविशिष्टतया स्वयं साध्यत्वेनेप्सितः पक्ष इति वचनात्, कथञ्चिदप्यप्रसिद्धस्य धर्मित्वायोगात् । इति कश्चित्, सोपि यदि सकलदेशकालवर्तिनं शब्द धर्मिणमाचक्षीत तदा कथं प्रसिद्धो धर्मीति ब्रूयात् ? तस्याप्रसिद्धत्वात् । परोपगमात्सकलः शब्दः प्रसिद्धो धर्मीति चेत्, स्वाभ्युपगमात्सर्वज्ञः प्रसिद्धो धर्मी किन्न भवेद्धेतुधर्मवत् । पर प्रति समर्थित एव हेतुधर्मः साध्यसाधन इति चेत्, धर्म्यपि पर प्रति समर्थित एवास्तु, विशेषाभावात् ? किञ्च सर्वथा प्रसिद्धसत्ताको धर्मी कथञ्चिद्वा ? सर्वथा चेत्, शब्दादिरपि धर्मी न स्यात्, तस्याप्रसिद्धसाध्यधर्मोपाधिसत्ताकत्वात् । कथञ्चित्प्रसिद्धसत्ताकः शब्दादिर्धर्मीति चेत् । सर्वज्ञः कथं धर्मी न स्यात् ? प्रसिद्धात्मत्वादिविशेषणसत्ताकस्याप्रसिद्धसर्वज्ञत्वोपाधिसत्ताकस्य च धर्मिणोऽभ्युपगमे सर्वथा नाप्रसिद्धसत्ताकत्वं, कथञ्चित्प्रसिद्धसत्ताकत्वात् । स्याद्वादिनो हि कश्चिदात्मा सर्वज्ञोऽस्तीति पक्षप्रयोगमाचक्षते, नान्यथा । ततोयऽमुपालभमानो धर्मिस्वभावं न लक्षयत्येव, प्रकृतानुमाने सर्वज्ञस्य धर्मित्वावचनाच्च । सूक्ष्माद्यर्था एव ह्यत्र धर्मिणः प्रसिद्धा युक्तास्तावत्प्रसिद्धसत्ताका एव, परमाण्वादीनामपि

प्रमाणसिद्धत्वेन वक्ष्यमाणत्वात् । ननु सूक्ष्मादयोऽर्थाः किमिन्द्रियप्रत्यक्षेण कस्यचित्प्रत्यक्षाः साध्या उतातीन्द्रियप्रत्यक्षेण ? प्रथमविकल्पेऽनुमानविरुद्धः पक्षः 'सूक्ष्माद्यर्था न कस्यचिदिन्द्रियज्ञानविषयाः, सर्वथेन्द्रियसम्बन्धरहितत्वात् । ये तु कस्यचिदिन्द्रियज्ञानविषयास्ते न सर्वथेन्द्रियसम्बन्धरहिता दृष्टाः । यथा घटादयः । सर्वथेन्द्रियसम्बन्धरहिताश्च सूक्ष्माद्यर्थास्तस्मान्न कस्यचिदिन्द्रियज्ञानविषयाः' इति केवलव्यतिरेकिणाऽनुमानेन बाध्यमानत्वात् । न च सर्वथेन्द्रियसम्बन्धरहितत्वमसिद्धं, साक्षात्परमाणुधर्मादीनामिन्द्रियसम्बन्धाभावात् । तथा हि । न कस्यचिदिन्द्रियं साक्षात्परमाण्वादिभिः सम्बध्यते, इन्द्रियत्वादस्मदादीन्द्रियवत् । योगजधर्मानुगृहीतमिन्द्रियं योगिनस्तैः साक्षात्सम्बध्यते इति चेत्, कोऽयमिन्द्रियस्य योगजधर्मानुग्रहो नाम ? स्वविषये प्रवर्तमानस्यातिशयाधानमिति चेत्, तदसम्भव एव, परमाण्वादौ स्वयमिन्द्रियस्य प्रवर्तनाभावात्, प्रवर्तने वा योगजधर्मानुग्रहस्य वैयर्थ्यात् । तत एवेन्द्रियस्य परमाण्वादिषु प्रवृत्तौ परस्पराश्रयप्रसङ्गः । सतीन्द्रियस्य योगजधर्मानुग्रहे परमाण्वादिषु प्रवृत्तिः सत्यां च तस्यां योगजधर्मानुग्रह इति । परमाण्वादिष्विन्द्रियस्य प्रवृत्तौ सहकारित्वं योगजधर्मानुग्रह इति चेत्, न, स्वविषयातिक्रमेण तस्य तत्र तदनुग्रहायोगात्, अन्यथा कस्यचिदेकस्येन्द्रियस्य सकलरसादिषु प्रवृत्तौ तदनुग्रहप्रसङ्गात् । दृष्टविरोधान्नैवमिति चेत् । समानमन्यत्र । यथैव हि चक्षुरादीनि प्रतिनियतरूपादिविषयाणि दृष्टानि नाप्रतिनियतसकलरूपादिविषयाणि, तथोपलब्धिलक्षणप्राप्तानि महत्त्वोपेतानि पृथिव्यादिद्रव्याणि तत्समवेतरूपादीनि चक्षुरादीन्द्रियगोचरतया प्रसिद्धानि, न पुनः परमाण्वादीनि । समाधिविशेषोत्थधर्ममाहात्म्याद् दृष्टातिक्रमेण परमाण्वादिषु चक्षुरादीनि प्रवर्तन्ते न पुना रसादिष्वेकमिन्द्रियम्, इति न किञ्चिद्विशेषव्यवस्थानिबन्धनमन्यत्र जाड्यात् । एतेन परम्परया परमाणुरूपादिष्विन्द्रियसम्बन्धः प्रतिध्वस्तः, सयोगाभावे संयुक्तसमवायादीनामसंभवात्, श्रोत्रे सकलशब्दसमवायासंभवे शब्दत्वेन समवेतसमवायासंभववत् ।

यदि पुनरेकमेवान्तःकरण योगजधर्मानुगृहीतं युगपत्सकलसूक्ष्माद्यर्थविषयमिष्यते तदापि दृष्टातिक्रम एव, मनसो युगपदनेकत्र विषये प्रवृत्त्यदर्शनात् । तत्र दृष्टातिक्रमेष्टौ वा स्वयमात्मैव समाधिविशेषोत्थधर्मविशेषवशादन्तःकरणनिरपेक्षः साक्षात् सूक्ष्माद्यर्थान् पश्यतु किमिन्द्रियेणेवान्तःकरणेन ? तथा च नेन्द्रियज्ञानेन कस्यचित्प्रत्यक्षाः सूक्ष्माद्यर्थाः संभाव्यन्ते । अतीन्द्रियप्रत्यक्षेण कस्यचित्प्रत्यक्षाः साध्यन्ते इति चेदप्रसिद्धविशेषणः पक्षः, क्वचिदतीन्द्रियज्ञानप्रत्यक्षत्वस्याप्रसिद्धेः सांख्यं प्रति विनाशी शब्द इत्यादिवत् । साध्यशून्यश्च दृष्टान्त. स्यादग्न्यादेरतीन्द्रियप्रत्यक्षविषयत्वाभावात् । इति केचित्तेपि न सम्यग्वादिनः, सूक्ष्माद्यर्थानामिन्द्रियजप्रत्यक्षेण कस्यचित्प्रत्यक्षत्वासाधनात्तत्पक्षनिक्षिप्तदोषानवतारात् । तथा साधयता स्याद्वादिभिरपि तद्दोपसमर्थनात् । नाप्यतीन्द्रियप्रत्यक्षेण कस्यचित्प्रत्यक्षत्वं साध्यते येनाप्रसिद्धविशेषणः पक्षः साध्यशून्यश्च दृष्टान्तः स्यात्, प्रत्यक्षसामान्येन कस्यचित्सूक्ष्माद्यर्थप्रत्यक्षत्वसाधनात् । प्रसिद्धे च सूक्ष्माद्यर्थानां सामान्यतः कस्यचित्प्रत्यक्षत्वे सर्वज्ञत्वस्य सम्यक्स्थित्युपपत्तेस्तत्प्रत्यक्षस्येन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षत्वं सिध्यत्येव । तथा हि । योगिप्रत्यक्षमिन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षं, सूक्ष्माद्यर्थविषयत्वात् । यन्नेन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षं तन्न सूक्ष्माद्यर्थविषयं दृष्टं, यथास्मदादिप्रत्यक्षम् । सूक्ष्माद्यर्थविषयं च योगिनः प्रत्यक्षं सिद्धं, तस्मादिन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षम् । नावधिमनःपर्ययप्रत्यक्षाभ्यां हेतुर्व्यभिचारी, तयोरपीन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षत्वसिद्धेः । ननु च कस्येदं सूक्ष्माद्यर्थप्रत्यक्षत्वं साध्यते ? अर्हतोनर्हतः सामान्यात्मनो वा ? यदि विप्रकृष्टार्थप्रत्यक्षत्वमर्हतः साध्यते पक्षदोपोऽप्रसिद्धविशेषणत्वम् । तत एव व्याप्तिर्न सिध्येत् । अनर्हतश्चेदनिष्टानुषङ्गोपि । कः पुनः सामान्यात्मा तदुभयव्यतिरेकेण यस्य विवक्षितार्थप्रत्यक्षत्वम् । इत्येतद्विकल्पजालं शब्दनित्यत्वेपि समानं, न केवल सूक्ष्मादिसाक्षात्करणस्य प्रतिषेधने सशीतौ वा । तदयमनुमानमुद्रां भिनत्ति । न कश्चित्सूक्ष्मादिसाक्षात्कारी, पुरुषत्वादेः, रथ्यापुरुषवत् । विवादापन्नः पुरुषः

सूक्ष्मादिसाक्षात्कारित्वेन संशयित एव विप्रकृष्टस्वभावत्वात् पिशाचादिवत्। इति सूक्ष्मादिसाक्षात्करणस्य प्रतिषेधने संशीतौ वा तावदिदं विकल्पजालं समानं सिद्धमेव। स हि तत्र प्रतिषेधं संशयं वा साधयन् किमर्हतः साधयेदनर्हतः सामान्यात्मनो वा? अर्हतश्चेदप्रसिद्धविशेषणः पक्षो व्याप्तिश्च न सिध्येद्, दृष्टान्तस्य साध्यशून्यतानुषङ्गात्। अनर्हतश्चेत्स एव दोषो बुद्धादेः परस्यासिद्धेरनिष्टानुषङ्गश्च, अर्हतस्तत्प्रत्यक्षत्वविधाननिश्चयात्। कः पुनः सामान्यात्मा तदुभयव्यतिरेकेण यस्य विवक्षितार्थप्रत्यक्षत्वप्रतिषेधसंशयौ साध्येते? इति। तद्वच्छब्दनित्यत्वसाधनेपि समानमेतद्विकल्पजालम्। तथा हि। अयं शब्दानां नित्यत्वं साधयन् सर्वगतानां साधयेदसर्वगतानां वा सामान्यात्मना वा? वर्णानां नित्यत्वमकृतकत्वादिना सर्वगतानां यदि साधयति स्यादप्रसिद्धविशेषणः पक्ष इतरथानिष्टानुषङ्गः। कीदृक् पुनः सामान्यं नाम यदुभयदोषप्रसङ्गपरिहाराय कल्प्येत? सर्वगतत्वसाधनेपि समानम्। तद्धि वर्णानाममूर्तानां साधयेन्मूर्तानां तदुभयसामान्यात्मनां वा? यद्यमूर्तानां सर्वगतत्वं साधयेत्तदाऽप्रसिद्धविशेषणता पक्षस्य। अथ मूर्तानामनिष्टानुषङ्गः कीदृक् पुनः सामान्य नाम यदुभयदोषप्रसङ्गपरिहाराय कल्प्येत? सर्वगतेतरसामान्यात्मन इव मूर्त्तेतरसामान्यात्मनोऽसम्भवाद्वर्णेषु। तदयमनुमानमुद्रां सर्वत्र भिनत्तीति नानुमानविचारणायामधिकृतः स्यात्। अविवक्षितविशेषस्य पक्षीकरणे समः समाधिरित्यलमप्रतिष्ठितमिथ्याविकल्पौघैः। यथैव हि शब्दस्याविवक्षितसर्वगतत्वासर्वगतत्वविशेषस्याकृतकत्वादिहेतुना नित्यत्वे साध्ये न कश्चिद्दोषः स्यात्, नाप्यविवक्षितामूर्त्तेतरविशेषस्य सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वादिना सर्वगतत्वे, तथैवाविवक्षितार्हदनर्हद्विशेषस्य कस्यचित्पुरुषस्य विप्रकृष्टार्थसाक्षात्करणेपि साध्येनुमेयत्वादिहेतुना न कश्चिद्दोषं पश्यामोन्यत्राप्रतिष्ठितमिथ्याविकल्पौघेभ्य प्रकृतसाधनाप्रतिबन्धिभ्यः, तेषामप्रतिष्ठितत्वात्, साधनाभासे इव सम्यक्साधनेपि स्वाविषयेवतारात्। ततो निरवद्यमिदं साधनं कस्यचित्सूक्ष्मादिसाक्षात्कारित्वं साधयति।

नन्वस्तु नामैवं कस्यचित्कर्मभूभृद्भेदित्वमिव विश्वतत्त्वसाक्षात्कारित्वं, प्रमाणसद्भावात् । स तु परमात्मार्हन्नेवेति कथं निश्चयो यतोऽहमेव महानभिवन्द्यो भवतामिति व्यवसिताभ्यनुज्ञानपुरस्सर भगवतो विशेषसर्वज्ञत्वपर्यनुयोगे सतीवाचार्याः प्राहुः ॥ ५ ॥

यथाऽग्न्यादिरिति (९४-१-८) तथा च कारिकायाम् 'अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिः' इत्यत्राग्न्यादिरित्यतः प्राग् यथेत्यध्याहृत्य योजनीयम्, अन्यथा शाब्दबोधानुपपत्तेरिति ध्येयम्, तस्य स्वभावभेदाभावादिति (९४-२-३) यद्यपि स्वभावभेदाभावेऽप्यनुकूलतर्कानवतारेऽप्रयोजकत्वशङ्काहितव्यभिचारसंशयोऽनुमितिं प्रतिबध्नीयात्, स्वभावभेदेऽपि च क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वादित्यत्र कार्यत्वावच्छिन्नं प्रति कर्तृत्वेन कारणत्वनिश्चयाल्लाघवतर्कानवतारेणाप्रयोजकत्वमिति नैयायिकैरिष्यते तथा च प्रकृतेऽनुकूलतर्काभावादप्रयोजकत्वं स्यादिति शक्यं शङ्कितुम्, तथापि प्रकृते निरुपाधिसहचारस्यैवानुकूलतर्कस्य सत्त्वान्नाप्रयोजकत्वमित्यत्र तात्पर्यं द्रष्टव्यम् । ईश्वरसाधकानुमानखण्डनं तु मीमांसकेन कार्यत्वावच्छिन्ने कर्तृत्वेन हेतुतारूपानुकूलतर्कखण्डनेनैव विधेयम्, घटादौ कुलालादेर्विशिष्यहेतुत्वावश्यकत्वे सामान्यतः कार्यत्वावच्छिन्ने कर्तृत्वेन हेतुत्वे मानाभावात्, 'यद्विशेषयोः' इत्यादिन्यायस्य निर्युक्तिकत्वादन्यथा करणस्याप्येकस्य सिद्ध्यापत्तेः, यत्तु घटत्वावच्छिन्नेऽपि न कुलालत्वादिना कुलालादिकृतित्वादिना वा हेतुत्वं खण्डघटाद्युत्पत्तिकाले कुलालादिकृतेरसत्त्वात् किन्तु कर्तृत्वेन कृतित्वेन वेतीश्वरसिद्धिरिति दीधितिकृतोक्तंतदयुक्तं,कुलालादिकृतेः स्वप्रयोज्यविजातीयसंयोगसम्बन्धेन तत्कालेऽपि सत्त्वात्,वैशेषिकनये श्यामघटादिनाशोत्तरं रक्तघटाद्युत्पत्तिकाले प्राक्तनपरमाणुद्वयसंयोगद्व्यणुकादिनाशेऽपि पूर्वसंयोगादिध्वंसानामुत्तरसंयोगादौ कालोपाधितयाऽपि जनकत्वात्, तत्कालेऽपि कुलालादिकृतेः स्वप्रयोज्यविजातीयसंयोगेन विद्यमानत्वाविरोधादन्यथा दण्डादिहेतुताया अपि

दुर्घटत्वात्, घटाद्यवच्छिन्ने विजातीयकृतित्वेन तद्वत्त्वेन वा हेतुत्वे सम्भवति व्यापकधर्मेण कृतित्वेन कृतिमत्त्वेन वा हेतुत्वायोगाच्चेति दिक्। हेत्वसिद्धिंपरिहर्तुमाह भाष्यकृत्–'स्वभावेत्यादि' इत्यनुमानमुत्सारयतीति (९४–२–५) इति वदन्ननुमानमात्रमुच्छेदयतीत्यर्थः, अत्रानुमानोत्सारकत्वम् अनुमानदूषणत्वं तच्च यद्यपि हेत्वसिद्धेर्नत्वसिद्धस्य हेतोस्तथापि 'सविशेषणे हि' इतिन्यायानुसरणाददोषः, यावानिति तथा च मीमांसकस्यापि पर्यायत्वादिना धर्मादेरनेकक्षणास्थायित्वरूपक्षणिकत्वानुमितौ सर्वोपसंहारेण व्याप्तिग्राहकस्यावश्यानुसरणीयत्वात्तस्य चानुमानरूपत्वाद्विप्रकर्षिणामननुमेयत्वे सामान्यव्याप्तिमूलकानुमित्यनुपपत्तिरित्यर्थः। अविप्रकर्षिणामिति' आनर्थक्यादिति प्रत्यक्षादिना सिद्धौ सत्यां तत्प्रतिबन्धेनानुमितेरलब्धास्पदत्वादित्यर्थः। तथा चाप्रत्यक्षीभूतसाध्यहेतुव्यक्तिकव्याप्तिमूलानुमितेरप्यनुपपत्तिरित्यनुमानमात्रोच्छेदो व्यक्त एव तद्भयेन विप्रकर्षिणामप्यवश्यमनुमेयत्वमभ्युपगन्तव्यमिति नासिद्धता हेतोरित्याह–' सत्त्वादिनेति' इतः पूर्वं तथा चेति शेषः। हेतुद्वयस्यानिष्टप्रसङ्गे योजितत्वेनेष्टसिद्धिहेतोरित्थमेव लाभादन्यथा हेत्वाकाङ्क्षानुपरमापत्तेरिति ध्येयम्। अनवयवेनेति (९४–२–६) कार्त्स्न्येनेत्यर्थः। वृत्तौ ततो धर्मादीनामिति (९४–२–९) आगमैकगम्यानां धर्मादिपदार्थानामनुमेयत्वासिद्धयुद्भावयितुर्नानुमानमात्रोच्छेदकत्वं पृथगवस्थितेऽनुमेयेऽर्थानुमानप्रवृत्तेरस्खलितत्वादित्यर्थः। तदाह, तस्यानुमेयेऽर्थे व्यवस्थानादिति (९४–२–१०) तस्यानुमानस्य, व्यवस्थानाल्लब्धास्पदत्वात्। 'एतेनेत्यादि' एतेन विप्रकर्षिणामनुमेयत्वव्यवस्थापनेन, भागासिद्धमिति (९५–१–७) यद्यपि विप्रकर्षिणामेवार्थानां पक्षत्वे भागासिद्धत्वमप्रसक्तमिति तन्निषेधोऽयुक्तः। 'प्रसक्तमेव प्रतिषिध्यत' इति न्यायात्तथापि पदार्थत्वावच्छेदेन प्रत्यक्षत्वसाधने-

ऽयमाक्षेपपरिहारश्चतुरस्र इति मन्तव्यम् । अनुमेयत्वहेतोरर्थान्तरेणाप्युभयवादिसिद्धतां प्रदर्शयन्नज्ञानासिद्धिं परिजिहीर्षुराह 'अथवाऽनुमेयत्व' (९५-१-८) मित्यादि, न हेतोरिति (९५-१-११) सर्वथैकान्तेषु श्रुतज्ञानाधिगम्यत्वमस्ति प्रत्यक्षत्वं च नास्तीति हेतोर्व्यभिचारित्वं नोद्भावनीयम् । यतस्तेषां दृष्टेष्टबाधितत्वमस्ति अबाधितश्रुतज्ञानविषयत्वं च हेतुर्विवक्षितः स च श्रुताज्ञानविषये नास्तीति, एतेन 'अत्यन्तासत्यपि' इतिन्यायेन शाब्दबोधविषये शशशृङ्गादावपि न व्यभिचार इत्युक्तं भवति, स्थानत्रयाविसंवादि (१२) सूक्ष्मान्तरितदूरस्थलत्रयेऽपि विसंवादरहितम्, अप्रयोजकत्वशङ्कानिरासपरस्तेऽनुमेया इत्यादिर्भाष्यवृत्तिग्रन्थस्तत्र बीजं निरुपाधिसहचार एव ज्ञानं क्वचिदाश्रितं गुणत्वादित्याद्यनुमानसहस्रे तस्यैव तर्कस्य सम्भवाल्लाघवादिरपि तस्यैवोपजीव्यत्वादिति ध्येयम् । यत्र (९५-२-८) सर्वज्ञे साध्ये, तं सर्वज्ञम्, कथमिति न कथञ्चिदित्यर्थः । न चोक्तदिशा सत्प्रतिपक्षावतारादत्र हेत्वाभासत्वमित्यपि शङ्कनीयम् । एकत्र साध्यतदभावसाधकहेतुद्वयोपनिपात एव तदभिधानात्, सूक्ष्माद्यर्थानां प्रत्यक्षत्वे साध्ये तदभावसाधकहेत्वनुत्थानात् सूक्ष्माद्यर्थसाक्षात्कारिणोऽसिद्धौ तन्नास्तित्वसाधकस्य चाश्रयाऽसिद्धत्वादिति भावः । दिग्नागमतमालम्ब्य शङ्कते । 'ननु च सर्वज्ञस्येत्यादि (९५-२-१०)' अनुमानमात्रोच्छेदकत्वादयं विकल्पो नाश्रयणीय इत्याशयवानुत्तरयति स हि तावदेवमित्यादिना न सम्बध्यत (९५-२-१४) इति न साक्षात्कारजनकप्रत्यासत्त्याश्रयो भवतीत्यर्थः । तेन यं कञ्चित् सम्बन्धमादाय न बाधः प्रवर्त्तनाभावाद्द्रव्यचाक्षुषादिजनकविलक्षणचक्षुःसंयोगादिरूपव्यापारजननाभावादित्यर्थः । 'किमिन्द्रियेणैवान्तःकरणेनेति' (९७-२-३) साक्षात्कारत्वावच्छिन्नं प्रतीन्द्रियत्वेनेव जन्यज्ञानत्वावच्छिन्नं प्रति मनस्त्वेनापि हेतुत्वाभावात्

योगजधर्मानुगृहीतात्मन एव साक्षात् सूक्ष्मार्थदर्शित्वौचित्यादिति भावः । न च श्रवणादिजन्यतावच्छेदिका मोक्षजनकतावच्छेदिका च तत्त्वज्ञाननिष्ठामानसत्वव्याप्या जातिः कल्प्यत इति योगिज्ञानं मानसमेवेत्यपि वक्तुं युक्तम् । मानससामग्र्याः सर्वापेक्षया दुर्बलत्वेन चाक्षुषादिसामग्रीकाले तदनुत्पत्त्यापत्तेर्भोगेतरत्ववत्तत्त्वज्ञानेतरत्वस्यापि चाक्षुषसामग्र्यादि प्रतिबध्यतावच्छेदककोटौ दाने च महागौरवात्, किञ्चैवं योगजधर्मानुग्रहस्य योगिन आत्मनि सदा सत्त्वेन तत्त्वज्ञानेतरज्ञानस्य कदाप्यनुत्पत्तिप्रसङ्गस्तथा चापसिद्धान्तः परेषां ध्यानस्तैमित्यदशायामेव तैस्तत्त्वज्ञानस्यान्यदा च योगिनां चाक्षुषादिज्ञानस्याभ्युपगमात्, एतेन भोगान्यज्ञानप्रतिबन्धकतावच्छेदकतया समानीतजातिविशेषवतां सुखदुःखानामिव तत्त्वज्ञानेतरज्ञानप्रतिबन्धकतावच्छेदकतया समानीतजातिविशेषवतः समाधिविशेषस्योत्तेजकत्वकल्पोऽपि निरस्तः; अन्तचाक्षुषादिसामग्रीप्रतिबन्धकतायां तदुत्तेजकत्वकल्पनापेक्षया तस्यैन्द्रियकज्ञानमात्रप्रतिबन्धकत्वकल्पन एव लाघवात्, एवं च योगजधर्मानुगृहीतात्मन एव साक्षात् सूक्ष्माद्यर्थदर्शित्वमिति जैनाभ्युपगम एव श्रेयान् सकलकलङ्कराहित्यव्यवस्थितेः । एवं हि तत्तदात्मसाक्षात्कारे तत्तदात्मत्वे स्वाव्यवहितोत्तरज्ञाने च समाधिविशेषत्वेन हेतुत्वेन गौरवं सर्वविषयकत्वस्य केवलज्ञाने स्वभावमहिम्नैव सिद्धेस्तस्य कस्यचिदपि कार्यतानवच्छेदकत्वात् निखिलजात्यंशे निरवच्छिन्नप्रकारताकज्ञानत्वं तु न समाधिविशेषजन्यतावच्छेदकम्, अभावादिविषयासङ्ग्रहात्, निरवच्छिन्ननिखिलविशेषविषयताकज्ञानत्वस्य कार्यतावच्छेदकत्वे विनिगमकाभावाच्चेति दिक् 'प्रत्यक्षसामान्येनेति' (९७-१-७) न चैवं सामान्यलक्षणप्रत्यासत्तिजन्यप्रत्यक्षविषयतया सूक्ष्माद्यर्थानां सिद्धसाधनम्, तदनभ्युपगमात्, तदजन्यत्वं वा प्रत्यक्षविशेषणं देयमिति न दोष इत्यभिप्रायात् । यदि च प्रकृतानुमाने द्रव्यार्थतया

प्रत्यक्षत्वेन सिद्धसाधनमुद्देश्यासिद्धिर्वा विशेष्यप्रत्यक्षत्वे तु साध्ये व्याप्त्यग्रहः । अनुमितमात्रनष्टेऽर्थे विशिष्यप्रत्यक्षत्वस्यासिद्धेरप्रयोजकत्वं चेति विभाव्यते तदा प्रत्यक्षत्वं सर्वांशनिरावरणवृत्ति किञ्चिदंशनिरावरणवृत्तित्वादालोकत्ववद् व्यतिरेके घटत्वादिवदित्यादिना सर्वविषयकज्ञानवत्पुरुषधौरेयसिद्धिरित्यत्र तात्पर्यमिति दिक् ॥ ५ ॥

स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् । अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥ ६ ॥

दोषास्तावदज्ञानरागद्वेषादय उक्ताः । निष्क्रान्तो दोषेभ्यो निर्दोषः । प्रमाणबलात्सिद्धः सर्वज्ञो वीतरागश्च सामान्यतो यः स त्वमेवार्हन्, युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वात् । यो यत्र युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् स तत्र निर्दोषो दृष्टो, यथा क्वचिद्व्याध्युपशमे भिषग्वरः । युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् च भगवान् मुक्तिसंसारतत्कारणेषु, तस्मान्निर्दोष इति निश्चयः । युक्तिशास्त्राभ्यामविरोधः कुतो मद्वाचः सिद्धोऽनवयवेनेति चेद्यस्मादिष्टं मोक्षादिकं ते प्रसिद्धेन प्रमाणेन न बाध्यते । तथा हि । यत्र यस्याभिमतं तत्त्वं प्रमाणेन न बाध्यते स तत्र युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् । यथा रोगस्वास्थ्यतत्कारणतत्त्वे भिषग्वरः । न बाध्यते च प्रमाणेन भगवतोऽभिमतं मोक्षसंसारतत्कारणतत्त्वम् तस्मात्तत्र त्वं युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् । इति विषयस्य युक्तिशास्त्राविरोधित्वसिद्धेर्विषयिण्या भगवद्वाचो युक्तिशास्त्राविरोधित्वसाधनम् । कथमत्र कारिकायामनुपात्तो भिषग्वरो दृष्टान्तः कथ्यते इति चेत्, स्वयं ग्रन्थकारेणान्यत्राभिधानात्, "त्वं सम्भवः संभवतर्षरोगैः सन्तप्यमानस्य जनस्य लोके । आसीरिहाकस्मिक एव वैद्यो वैद्यो यथा नाथ रुजां प्रशान्त्यै" ॥ १ ॥ इति स्तोत्रप्रसिद्धेः । इह दृष्टान्तावचनं तु सक्षेपोपन्यासान्न विरुध्यते, अन्यथानुपपन्नत्वानियमैकलक्षणप्राधान्यप्रदर्शनार्थं वा । तत्र भगवतोऽभिमतं मोक्षतत्त्वं तावन्न प्रमाणेन बाध्यते, प्रत्यक्षस्य तद्बाधकत्वायोगात् । नास्ति कस्यचिन्मोक्षः, सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकाविषयत्वात् कूर्मरोमादिव-

दित्यनुमानेन न बाध्यते इति चेत्, न, मोक्षस्यानुमानादागमाच्च प्रसिद्धप्रामाण्यादरितत्वव्यवस्थापनात्, क्वचिद्दोषावरणक्षयस्यैवानन्तज्ञानादिस्वरूपलाभफलस्यानुमानागमप्रसिद्धस्य मोक्षत्वात्, "बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः" इति वचनात्। तत एव नागमेनापि मोक्षतत्त्वं बाध्यते, तस्य तत्सद्भावावेदकत्वव्यवस्थितेः। तथा मोक्षकारणतत्त्वमपि न प्रमाणेन विरुध्यते प्रत्यक्षतोऽकारणकमोक्षप्रतिपत्तेरभावात्तेन तद्बाधनायोगात्। नानुमानेनापि तद्बाधनं ततो मोक्षस्य कारणवत्त्वसिद्धेः। सकारणको मोक्ष, प्रतिनियतकालादित्वात् पटादिवत्। तस्याकारणकत्वे सर्वदा सर्वत्र सर्वस्य सद्भावानुषङ्ग., परापेक्षारहितत्वादिति, नागमेनापि मोक्षकारणतत्त्वं बाध्यते, तस्य तत्साधकत्वात् "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" इति वचनात्। तथा ससारतत्त्वमपि न प्रसिद्धेन बाध्यते, प्रत्यक्षत' संसाराभावासिद्धेस्तस्य तद्बाधकत्वाघटनात्। स्वोपात्तकर्मवशादात्मनो भवान्तरावाप्तिः ससार'। स न प्रत्यक्षविषयो येन प्रत्यक्ष तं बाधेत। अनुमानं तद्बाधकमिति चेत्, न, तदभावप्रतिबद्धलिङ्गाभावाद्। गर्भादिमरणपर्यन्तचैतन्यविशिष्टकायात्मनः पुरुषस्य जन्मन' पूर्वं मरणाच्चोत्तर नास्ति भवान्तरम्, अनुपलब्धेः खपुष्पवत्, इत्यनुपलम्भः ससाराभावग्राहकः ससारतत्त्वबाधक इति चेत्, न, तस्यासिद्धेः। प्राणिनामाद्यं चैतन्यं चैतन्योपादानकारणकं, चिद्विवर्तत्वान्मध्यचैतन्यविवर्तवत्। तथाऽन्त्यचैतन्यपरिणामश्चैतन्यकार्यः, तत एव तद्वत्। इत्यनुमानेन पूर्वोत्तरभावोपलम्भाद्यथोक्तससारतत्त्वसिद्धेः। गोमयादेरचेतनाच्चेतनस्य वृश्चिकादेरुत्पत्तिदर्शनात्तेन व्यभिचारी हेतुरिति चेत्, न, तस्यापि पक्षीकरणात्। वृश्चिकादिशरीरस्याचेतनस्यैव गोमयादेः सम्मूर्च्छनं, न पुनर्वृश्चिकादिचैतन्यविवर्तस्य, तस्य पूर्वचैतन्यविवर्तादेवोत्पत्तिप्रतिज्ञानात्। खड्गिचरमचित्तेन चित्तान्तरानुपादानेन व्यभिचारः साधनस्येत्यपि मनोरथमात्रं, तस्य प्रमाणतोऽप्रसिद्धत्वात्,

१ दोषावरणयोर्हानिरित्याद्युक्तानुमानादिना.

निरन्वयक्षणक्षयस्य प्रतिक्षेपात् । ननु च यथाद्यः पथिकाग्निररणिनिर्मथनोत्थोनग्निपूर्वको दृष्ट परस्त्वग्निपूर्वक एव, तथाद्यं चैतन्यं कायाकारादिपरिणतभूतेभ्यो भविष्यति, परं तु चैतन्यपूर्वकं, विरोधाभावात् । इति कस्यचित्प्रत्यवस्थितिः स्वपक्षघातिनी जातिरेव, चिद्विवर्तत्वस्य हेतोः साध्येन व्याप्तेरखण्डनात् । प्रथमपथिकाग्नेरनग्न्युपादानत्वे जलादीनामप्यजलाद्युपादानत्वोपपत्तेः पृथिव्यादिभूत-चतुष्टयस्य तत्त्वान्तरभावविरोधः । तथा हि । येषां परस्परमुपादानोपादेयभावस्तेषां न तत्त्वान्तरत्वम् । यथा क्षितिविवर्त्तानाम् । परस्परमुपादानोपादेयभावश्च पृथिव्यादीनाम् । इत्येकमेव पुद्गलतत्त्वं पृथिव्यादिविवर्त्तमवतिष्ठेत । अथ क्षित्यादीनां न परस्परमुपादा-नोपादेयभावः, सहकारिभावोपगमात् । कथमपावकोपादानः प्रथमः पथिकपावकः प्रसिद्ध्येद्यतस्तद्वदचेतनपूर्वकं प्रथमचैतन्यं प्रसज्येत ? यथैव हि प्रथमाविर्भूतपावकादेस्तिरोहितपावकान्तरादिपूर्वकत्वं तथा गर्भचैतन्यस्याविर्भूतस्वभावस्य तिरोहितचैतन्यपूर्वकत्वमिति किन्न व्यवस्था स्यात् ? स्यान्मतं, सहकारिमात्रादेव प्रथमपथिकाग्नेरुपजननोपगमात्तिरोहिताग्न्यन्तरोपादानत्वमसिद्धमिति, तदसत्, अनुपा-दानस्य कस्यचिदुपजननादर्शनात् । शब्दविद्युदादेरुपादानादर्शनाददोष इति चेत्, न, शब्दादिः सोपादान एव, कार्यत्वाद्, घटादिवदित्यनु-मानात्तस्यादृश्योपादानस्यापि सोपादानत्वस्य साधनात् । नन्वस्तु सर्वोऽग्निरग्न्यन्तरोपादान एव सर्वस्य सजातीयोपादानत्वव्यवस्थितेः । चेतनस्य तु चेतनान्तरोपादानत्वनियमो न युक्तः, तस्य भूतोपादानत्वघटनात्, भूतचेतनयोः सजातीयत्वात्तत्त्वान्तरत्वासिद्धेरिति चेत्, न, तयोर्भिन्नलक्षणत्वात्तत्त्वान्तरत्वोपपत्तेः, तोयपावकयोरपि तत एव परैस्तत्त्वान्तरत्वसाधनात् । तथा हि । तत्त्वान्तरं भूताच्चैतन्यं, तद्भि-न्नलक्षणत्वान्यथानुपपत्तेः । न तावदसिद्धो हेतुः क्षित्यादिभूतेभ्यो रूपादिसामान्यलक्षणेभ्यः स्वसंवेदनलक्षणस्य चैतन्यस्य तद्भिन्नल-क्षणत्वसिद्धेः । न हि भूतानि स्वसंवेदनलक्षणानि, अस्मदाद्यनेकप्रतिपत्तृप्रत्यक्षत्वात् । यत्पुनः स्वसंवेदनलक्षणं तन्न तथा प्रतीतं, यथा

ज्ञानम् । तथा च भूतानि, तस्मान्न स्वसंवेदनलक्षणानि । अनेकयोगिप्रत्यक्षेण सुखादिसंवेदनेन व्यभिचारी हेतुरिति न शङ्कनीयम्, अस्मदादिग्रहणात् । ज्ञानस्य स्वसवेदनलक्षणत्वमसिद्धमिति चेत्, न, वहिरर्थपरिच्छेदकत्वान्यथानुपपत्त्या तस्य स्वसवेदनलक्षणत्वसिद्धेः । यो ह्यस्वसवेदनलक्षणः स न वहिरर्थस्य परिच्छेदको दृष्टो, यथा घटादिरिति विपक्षे बाधकप्रमाणसद्भावात्सिद्धा हेतोरन्यथानुपपत्तिः । प्रदीपादिनानेकान्त इति चेत्, न, तस्य जडत्वेन वहिरर्थपरिच्छेदकत्वासम्भवात्, वहिरर्थपरिच्छेदकज्ञानोत्पत्तिकारणत्वात्तु प्रदीपादेर्वहिश्चक्षुरादेरिव परिच्छेदकत्वोपचारात् । न चोपचरितेनार्थपरिच्छेदकेन प्रदीपादिना मुख्यस्यार्थपरिच्छेदकत्वस्य हेतोर्व्यभिचारचोदनं विचारचतुरचेतसां कर्तुमुचितम्, अतिप्रसङ्गात् । स्वरूपमात्रपरिच्छेदनव्यापृते सुखादिज्ञाने वहिरर्थपरिच्छेदकत्वाभावात्पक्षाव्यापको हेतुरिति चेत्, न, तस्यापि स्वतो वहिर्भूतसुखादिपरिच्छेदकत्वाद्बहिरर्थपरिच्छेदकत्वसिद्धेः कुम्भादिवेदनस्यापि सर्वथा स्ववहिर्भूतार्थपरिच्छेदकत्वानुपपत्तेः सदाद्यात्मना कुम्भादेः सवेदनादभेदप्रतीतेः, अन्यथा तदसत्त्वप्रसङ्गात् । कथञ्चित्स्ववहिर्भूतत्वं तु सुखादिसवेदनात्सुखादेरपि प्रतीयत एव, सुखादितत्सवेदनयो कारणादिभेदाद्भेदव्यवस्थितेः । तर्हि घटादिज्ञानवत् सुखादिज्ञानस्यापि स्ववहिर्भूतार्थपरिच्छेदकत्वात्ततोन्यस्य विज्ञानस्यासम्भवात्किं स्वस्य सवेदकं ज्ञानं स्यादिति चेत्, न, तस्यैव घटादिसुखादिज्ञानस्य स्वरूपसवेदकस्य सतः परसवेदकत्वोपगमात् स्वसवेदनसिद्धेः, स्वपरव्यवसायात्मकत्वात् सर्वसंवेदनस्य । स्वात्मनि क्रियाविरोधान्न स्वरूपसवेदकं ज्ञानमिति चेत् का पुनः क्रिया स्वात्मनि विरुध्यते ? न तावद्धात्वर्थलक्षणा, भवनादिक्रियायाः क्षित्यादिष्वभावप्रसङ्गात् । परिस्पन्दात्मिका क्रिया स्वात्मनि विरुद्धेति चेत्, कः पुनः क्रियायाः स्वात्मा ? क्रियात्मैवेति चेत्, कथं तस्यास्तत्र विरोधः ? स्वरूपस्य विरोधकत्वायोगात् । अन्यथा सर्वभावाना स्वरूपविरोधान्निस्स्वरूपतानुषङ्गात् । विरोधस्य द्विष्ठत्वाच्च न क्रियायाः स्वात्मनि

विरोध. । क्रियावदात्मा क्रियायाः स्वात्मेति चेत्कथं तत्र विरोधः, ? क्रियावत्येव सर्वस्याः क्रियायाः प्रतीतेरविरोधसिद्धेः । अथ क्रिया, करणं निष्पादनं स्वात्मनि विरुद्धमित्यभिमतं तर्हि न ज्ञानं स्वरूपं निष्पादयतीत्युच्यते येन विरोधः स्यात् । इत्यसिद्धः स्वात्मनि क्रियाविरोधः, स्वकारणविशेषान्निष्पद्यमानस्य ज्ञानस्य स्वपरप्रकाशनरूपत्वात् प्रदीपस्य स्वपरोद्द्योतनरूपत्ववत् । यथैव हि रूपज्ञानोत्पत्तौ प्रदीपः सहकारित्वाच्चक्षुषो रूपस्योद्द्योतकः कथ्यते तथा स्वरूपज्ञानोत्पत्तौ तस्य सहकारित्वात्स्वरूपोद्द्योतकोपि । ततो ज्ञानं स्वपररूपयोः परिच्छेदकम्, तत्राज्ञाननिवृत्तिहेतुत्वान्यथानुपपत्तेः । इत्यविरुद्धं पश्यामः स्वसंवेदनमन्तस्तत्त्वस्य लक्षणं भूतासम्भवीति भिन्नलक्षणत्वं तयोः सिद्ध्यत्येव । तच्च सिध्यत्तत्त्वान्तरत्व साधयति, तथाऽसजातीयत्वम् । तदप्युपादानोपादेयभावाभावं तयोस्तत्प्रयोजकत्वात् । तदेवं भूतचैतन्ययोर्नास्त्युपादानोपादेयभावो, विभिन्नलक्षणत्वात् । इति व्यापकविरुद्धव्याप्तोपलब्धिः, उपादानोपादेयभावव्यापकस्य सजातीयत्वविशेषस्य विरुद्धेन तत्त्वान्तरभावेन व्याप्ताद्भिन्नलक्षणत्वात्प्रतिषेध्याभावसाधनात् । नह्यत्र सजातीयत्वविशेषस्योपादानोपादेयभावव्यापकत्वमसिद्धम्, विजातीयत्वाभिमतयोः पयःपावकयोः सत्त्वादिना सजातीययोरपि तदनुपगमात् कथञ्चिद्विजातीययोरपि मृत्पिण्डघटाकारयोः पार्थिवत्वादिना विशिष्टसामान्येन सजातीययोरुपादानोपादेयभावसिद्धेः । कथं तर्हि सजातीयत्वविशेषस्य तत्त्वान्तरभावेनविरोध इति चेत्तत्त्वान्तरभूतयोस्तदनुपलम्भात्, पूर्वाकारापरित्यागाऽजहद्वृत्तोत्तराकारान्वयप्रत्ययविषयस्योपादानत्वप्रतीतेः, परित्यक्तपूर्वाकारेण द्रव्येणात्मसात्क्रियमाणोत्तराकारस्योपादेयत्वनिर्ज्ञानादन्यथातिप्रसङ्गात् । कथं तत्त्वान्तरभावेन भिन्नलक्षणत्वं व्याप्तमिति चेत्, तदभावेनुपपद्यमानत्वात् । किण्वादिमदिरादिपरिणामयोरतत्त्वान्तरभावेपि भिन्नलक्षणत्वस्य दर्शनात्तस्य तेनाव्याप्तिरिति चेत्, न, तयोर्भिन्नलक्षणत्वासिद्धेः, किण्वादेरपि मदजननशक्तिसद्भावान्मदिरादिपरिणामवत् । सर्वथा

मदजननशक्तिविकलत्वे हि किण्वादेर्मदिरादिपरिणामदशायामपि तद्वैकल्यप्रसङ्गः । नन्वेवं भूतान्तस्तत्त्वयोरपि भिन्नलक्षणत्वं मा भूत्,
कायाकारपरिणतभूतविशेषावस्थातः प्रागपि क्षित्यादिभूतानां चैतन्यशक्तिसद्भावादन्यथा तदवस्थायामपि चैतन्योद्भूतिविरोधादिति न
प्रत्यवस्थेयम्, चेतनस्यानाद्यनन्तत्वप्रसिद्धेरात्मवादिनामिष्टप्रतिष्ठानात् । न चैवं चैतन्यं भूतविवर्त्तः, क्षित्यादितत्त्वस्यापि तद्विवर्त्तत्वप्र-
सङ्गात्, अनाद्यनन्तत्वाविशेषात् । ततो भिन्नलक्षणत्वं तत्त्वान्तरत्वेन व्याप्तं भूतचैतन्ययोस्तत्त्वान्तरत्वं साधयत्येव । इति चैतन्यप-
रिणामोपादान एवाद्यचैतन्यपरिणामः प्राणिनामन्त्यचैतन्योपादेयश्च जन्मान्तराद्यचैतन्यपरिणामः सिद्ध । पूर्वभवपरित्यागेन भवान्तर-
परिग्रह एव च संसारः । इति प्रसिद्धेन प्रमाणेन संसारतत्त्वं न बाध्यते, नानुमानेन, नाप्यागमेन, तस्य तत्प्रतिपादकतया श्रुतेः "ससा-
रिणत्रसस्थावराः" इति वचनात् । तथा ससारोपायतत्त्वमपि न प्रसिद्धेन बाध्यते, प्रत्यक्षस्य तदबाधकत्वात् । निर्हेतुकः ससारोऽना-
द्यनन्तत्वादाकाशवदित्यनुमानेन तद्बाध्यते इति चेत्, न, पर्यायार्थादेशात्ससारस्यानाद्यनन्तत्वासिद्धेः. दृष्टान्तस्यापि साध्यसाधनविकल-
त्वाद्, द्रव्यार्थादेशात्तु तस्य तथासाधने सिद्धसाध्यतानुपक्तेः । सुखदुःखादिभावविवर्त्तनलक्षणस्य ससारस्य द्रव्यक्षेत्रकालभावभवविशे-
षहेतुकत्वप्रतीतेश्च नाहेतुकसंसारसाधनानुमानमनवद्यम् । इति न किञ्चिदनुमानं ससारोपायतत्त्वस्य बाधकम् । नाप्यागमः, तस्य
तत्साधकत्वात् " मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः" इति वचनात्, बन्धहेतूनामेव संसारहेतुत्वात् । तदेव मोक्षसंसा-
रतत्कारणतत्त्वं भगवतोभिमतं प्रसिद्धेन प्रमाणेन युक्तिशास्त्राख्येनाबाध्यं सिध्यत्तद्वाचो युक्तिशास्त्राविरोधित्वं साधयति, तच्च निर्दोष-
त्वम् । इति त्वमेव स सर्वज्ञो वीतरागश्च स्तोतुं युक्तो नान्य इत्युच्यते । विप्रकर्ष्यपि भिन्नलक्षणसम्बन्धित्वादिना कस्यचित्प्रत्यक्षं
सोऽत्र भवानर्हन्नेव । दृश्यलक्षणाद्भिन्नलक्षणमदृश्यस्वभावस्तत्सम्बन्धित्वेन विप्रकर्षि परमाण्वादिकम् । तथा वर्त्तमानात्कालाद्भिन्नः कालो-

तीतोनागतश्च, तत्सम्बन्धित्वेन रावणशङ्खादिः । तथा दर्शनयोग्याद्देशाद्भिन्नदेशोऽनुपलब्धियोग्यस्तत्सम्बन्धित्वेन मकराकरादि । तद्भि-
न्नलक्षणसम्बन्धित्वादिना स्वभावकालदेशविप्रकर्ष्यपि कस्यचित्प्रत्यक्षं साधितम् । सोत्र भगवानर्हन्नेव, न पुनः कपिलादय इति ।
एतत्कुतो निश्चितमिति चेत्, अन्येषां न्यायागमविरुद्धभाषित्वात् । ये न्यायागमविरुद्धभाषिणस्ते न निर्दोषा यथा दुर्वैद्यादयः, तथा
चान्ये कपिलादय इत्यनुमानान्न्यायागमाविरुद्धभाषिण एव भगवतोर्हतो निर्दोषत्वमवसीयते । न चात्र न्यायागमविरुद्धभाषित्वं कपिला-
दीनामसिद्धं, तदभिमतस्य मोक्षससारतत्कारणतत्त्वस्य प्रसिद्धेन प्रमाणेन बाधनात्। तत्र कपिलस्य तावत् "स्वरूपे चैतन्यमात्रेऽवस्थान-
मात्मनो मोक्ष" इत्यभिमतं तत्प्रमाणेन बाध्यते, चैतन्यविशेषेऽनन्तज्ञानादौ स्वरूपेऽवस्थानस्य मोक्षत्वसाधनात् । न ह्यनन्तज्ञानादिकमात्म-
नोऽस्वरूपं, सर्वज्ञत्वादिविरोधात्। प्रधानस्य सर्वज्ञत्वादि स्वरूपं, नात्मन इति चेत्, न, तस्याचेतनत्वादाकाशवत् । ज्ञानादेरप्यचेतनत्वा-
दचेतनप्रधानस्वभावत्व युक्तमेवेति चेत्, कुतस्तदचेतनत्वसिद्धिः ? अचेतना ज्ञानादय उत्पत्तिमत्त्वाद् घटादिवदित्यनुमानादिति चेत्, न,
हेतोरनुभवेन व्यभिचारात्, तस्य चेतनत्वेप्युत्पत्तिमत्त्वात् । कथमुत्पत्तिमाननुभव इति चेत्, परापेक्षत्वाद् बुद्ध्यादिवत् । परापेक्षोसौ
बुद्ध्यध्यवसायापेक्षत्वात् " बुद्ध्यध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयते " इति वचनात् । बुद्ध्यध्यवसितार्थानपेक्षत्वेऽनुभवस्य सर्वत्र सर्वदा सर्वस्य
पुंसोऽनुभवप्रसङ्गात् । सर्वस्य सर्वदर्शित्वापत्तेस्तदुपायानुष्ठानवैयर्थ्यमेव स्यात् । यदि पुनरनुभवसामान्यमात्मनो नित्यमनुत्पत्तिमदेवेति
मत तदा ज्ञानादिसामान्यमपि नित्यत्वादनुत्पत्तिमद्भवेदित्यसिद्धो हेतुः । ज्ञानादिविशेषाणामुत्पत्तिमत्त्वान्नासिद्ध इति चेन, तर्ह्यनुभवविशे-
पाणामप्युत्पत्तिमत्त्वादनैकान्तिकोसौ कथं न स्यात् ? नानुभवस्य विशेषाः सन्तीति चायुक्तं, वस्तुत्वविरोधात् । तथा हि । नानुभवो
वस्तु, सकलविशेषरहितत्वात् खरविषाणवत् । नात्मनानेकान्तः, तस्यापि सामान्यविशेषात्मकत्वादन्यथा तद्वदवस्तुत्वापत्तेः । कालात्य-
१८

यापदिष्टश्चायं हेतुः, ज्ञानादीनां स्वसंवेदनप्रत्यक्षत्वाच्चेतनत्वप्रसिद्धेरध्यक्षबाधितपक्षानन्तरं प्रयुक्तत्वात् । अथ चेतनसंसर्गादचेतनस्यापि ज्ञानादेश्चेतनत्वप्रतीतिः प्रत्यक्षतो भ्रान्तैव । तदुक्त "तस्मात्तत्ससर्गादचेतन चेतनवदिह लिङ्गम्" इति । तदप्यचर्चिताभिधानं, शरीरादेरपि चेतनत्वप्रतीतिप्रसङ्गाच्चेतनससर्गाविशेषात् । शरीराद्यसंभवी बुद्ध्यादेरात्मना संसर्गविशेषोस्तीति चेत्, स कोऽन्योऽन्यत्र कथंचित्तादात्म्यात्, तददृष्टकृतकत्वादिविशेषस्य शरीरादावपि भावात् । ततो नाचेतना ज्ञानादयः, स्वसंविदितत्वात् अनुभववत् । स्वसंविदितास्ते, परसंवेदनान्यथानुपपत्तेः, इति प्रतिपादितप्रायम् । तथा चात्मस्वभावा ज्ञानादयः, चेतनत्वात्, अनुभववदेव । इति न चैतन्यमात्रेवस्थानं मोक्षः, अनन्तज्ञानादिचैतन्यविशेषेवस्थानस्य मोक्षत्वप्रतीतेः । "एतेन बुद्ध्यादिविशेषगुणोच्छेदादात्मत्वमात्रेवस्थानं मुक्तिः" इति कणभक्षाक्षपादमतं प्रमाणेन बाधितमुपदर्शितं, पुंसोनन्तज्ञानादिस्वरूपत्वसाधनात्, स्वरूपोपलब्धेरेव मुक्तित्वसिद्धेः । स्यान्मतं "न बुद्ध्यादयः पुंसः स्वरूपं, ततो भिन्नत्वात्, अर्थान्तरवत् । ततो भिन्नास्ते तद्विरुद्धधर्माधिकरणत्वाद्घटादिवत् । तद्विरुद्धधर्माधिकरणत्वं पुनस्तेषामुत्पादविनाशधर्मकत्वादात्मनोऽनुत्पादाविनाशधर्मकत्वात्प्रसिद्धम्" इति तदयुक्तं, विरुद्धधर्माधिकरणत्वेपि सर्वथा भेदासिद्धेर्मेचकज्ञानतदाकारवत् । एकं हि मेचकज्ञानमनेकश्च तदाकारो नीलादिप्रतिभासविशेष इत्येकत्वानेकत्वविरुद्धधर्माधिकरणत्वेपि मेचकज्ञानतत्प्रतिभासविशेषयोर्न भेदोऽभ्युपगम्यते, मेचकज्ञानत्वविरोधात् । यदि पुनर्युगपदनेकार्थग्राहि मेचकज्ञानमेकमेव, न तत्रानेकप्रतिभासविशेषसम्भवो यतो विरुद्धधर्माधिकरणत्वमभेदेपि स्यादिति मतं तदापि तत्किमनेकया शक्त्यानेकमर्थं युगपद् गृह्णाति किं वैकया ? यद्यनेकया तदेकमनेकशक्त्यात्मकमिति स एव विरुद्धधर्माध्यासः । ततोऽनेकशक्तेरनेकत्वधर्माधारभूतायाः पृथक्त्वात् तस्य त्वेकत्वधर्माधारत्वान्नैकत्र विरुद्धधर्माध्यास इति चेत्, कथमनेका शक्तिस्तस्येति व्यपदिश्यते ? ततो भेदादर्थान्तरवत् । सम्बन्धादिति चेत्, तर्हि तदनेकया शक्त्या संबध्यमा-

नमनेकेन रूपेण कथमनेकरूपं न स्यात् ? तस्याप्यनेकरूपस्य ततोऽन्यत्वात्तदेकमेवेति चेत्, कथ तत्तस्येति व्यपदेष्टव्यम् ? सम्बन्धादिति चेत्, स एव दोषोऽनिवृत्तश्च पर्यनुयोगोऽनवस्थानात्। यदि पुनरेकेनैव रूपेणानेकया शक्त्या संबध्यते तदानेकविशेषणत्वविरोधः। पीतग्रहणशक्त्या हि येन स्वभावेन सबध्यते तेनैव नीलादिग्रहणशक्त्या चेत्, पीतग्राहित्वविशेषणमेव मेचकज्ञानं स्यान्न नीलादिग्राहित्वविशेषणमिति पीतज्ञानमेव स्यान्न तु मेचकज्ञानम् । अथैकया शक्त्यानेकमर्थं तद्गृह्णातीति द्वितीयविकल्पः समाश्रीयते तदापि सर्वार्थग्रहणप्रसङ्गः। पीतग्रहणशक्त्या ह्येकया यथा नीलादिग्रहणं तथातीतानागतवर्त्तमानाशेषपदार्थग्रहणमपि केन निवार्येत ? अथ न पीतग्रहणशक्त्या नीलग्रहणशक्त्या वा पीतनीलाद्यनेकार्थग्राहि मेचकज्ञानमिष्यते । कि तर्हि ? नीलपीतादिप्रतिनियतानेकार्थग्रहणशक्त्यैकयेति मतं तदा न कार्यभेदः कारणशक्तिभेदव्यवस्थाहेतुः स्यादित्येकहेतुकं विश्वस्य वैश्वरूप्य प्रसज्येत। तथा चानेककारणप्रतिवर्णनं सर्वकार्योत्पत्तौ विरुध्यते । तदभ्युपगच्छता मेचकज्ञानमनेकार्थग्राहि नानाशक्त्यात्मकमुररीकर्त्तव्यम् । तेन च विरुद्धधर्माधिकरणेनैकेन प्रकृतहेतोरनैकान्तिकत्वान्न ज्ञानादीनामात्मनो भेदैकान्तसिद्धिर्येनात्मानन्तज्ञानादिरूपो न भवेत्। निराकरिष्यमाणत्वाच्चाग्रतो गुणगुणिनोरन्यत्वैकान्तस्य, न ज्ञानादयो गुणाः सर्वथात्मनो भिन्नाः शक्याः प्रतिपादयितु यतोऽशेषविशेषगुणनिवृत्तिर्मुक्तिर्व्यवतिष्ठेत । ननु च धर्माधर्मयोस्तावन्निवृत्तिरात्यन्तिकी मुक्तौ प्रतिपत्तव्या, अन्यथा तदनुपपत्तेः । तन्निवृत्तौ च तत्फलबुद्ध्यादिनिवृत्तिरवश्यंभाविनी निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यनुपपत्तेः । मुक्तस्यात्मनोऽन्तःकरणसयोगाभावे वा न तत्कार्यस्य बुद्ध्यादेरुत्पत्तिः। इत्यशेषविशेषगुणनिवृत्तिर्मुक्तौ सिद्ध्यत्येवेति केचित् तेप्यदृष्टहेतुकानां बुद्ध्यादीनामात्मान्तःकरणसंयोगजाना च मुक्तौ निवृत्तिं ब्रुवाणा न निवार्यन्ते । कर्मक्षयहेतुकयोस्तु प्रशमसुखानन्तज्ञानयोर्निवृत्तिमाचक्षाणास्ते न स्वस्थाः प्रमाणविरोधात् । ततः कथञ्चिद्बुद्ध्यादिविशेषगुणाना निवृत्तिः कथञ्चिदनिवृत्तिर्मुक्तौ व्यवति-

ष्टते । न चैवं सिद्धान्तविरोधः " बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः " इत्यनुवर्तमाने " औपशमिकादिभव्यत्वाना चान्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः" इति सूत्रसद्भावात् । तत्रौपशमिकक्षायोपशमिकौदयिकपारिणामिकभावानां दर्शनज्ञानगत्यादीना भव्यत्वस्य च विप्रमोक्षो मोक्ष इत्यभिसम्बन्धान्मुक्तौ विशेषगुणनिवृत्तिरिष्टा, "अन्यत्र केवलज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्य" इति वचनादनन्तज्ञानदर्शनसिद्धत्वसम्यक्त्वानामनिवृत्तिश्चेति युक्त तथा वचनम्। कथमेवमनन्तसुखसद्भावो मुक्तौ सिद्ध्येदिति चेत्, सिद्धत्ववचनात्। सकलदुःखनिवृत्तिरात्यन्तिकी हि भगवत सिद्धत्वम् । सैव चानन्तप्रशमसुखम् । इति सासारिकसुखनिवृत्तिरपि मुक्तौ न विरुध्यते । अनन्तसुखमेव मुक्तस्य, न ज्ञानादिकमिति " आनन्दैकस्वभावाभिव्यक्तिर्मोक्ष " इत्यपरः सोपि युक्त्यागमाभ्या बाध्यते । तदनन्तं सुखं मुक्तौ पुंसः सवेद्यस्वभावमसवेद्यस्वभावं वा ? सवेद्यं चेत्, तत्सवेदनस्यानन्तस्य सिद्धिः, अन्यथानन्तस्य सुखस्य स्वय सवेद्यत्वविरोधात्। यदि पुनरसवेद्यमेव तत्, तदा कथ सुखं नाम ? सातसवेदनस्य सुखत्वप्रतीतेः। स्यान्मतं ते, अभ्युपगम्यते एवानन्तसुखसंवेदनं परमात्मनः। केवल बाह्यार्थाना ज्ञान नोपेयते तस्येति, तदप्येवं सम्प्रधार्यम्, किं बाह्यार्थाभावाद्बाह्यार्थसंवेदनाभावो मुक्तस्येन्द्रियापायाद्वा ? प्रथमपक्षे सुखस्यापि सवेदनं मुक्तस्य न स्यात्, तस्यापि बाह्यार्थवदभावात्। पुरुषाद्वैतवादे हि बाह्यार्थाभावो यथाभ्युपगन्तव्यस्तथा सुखाभावोपि, अन्यथा द्वैतप्रसङ्गात् । अथ द्वैतवादावलम्बिना सतोपि बाह्यार्थस्येन्द्रियापायादसवेदनं मुक्तस्येति मत तदप्यसगतं, तत एव सुखसंवेदनाभावप्रसङ्गात् । अथान्तःकरणाभावेपि मुक्तस्यातीन्द्रियसवेदनेन सुखसंवेदनमिष्यते तर्हि बाह्यार्थसंवेदनमस्तु तस्यातीन्द्रियज्ञानेनैवेति मन्यता, सर्वथा विशेषाभावात् । येऽपि "निरास्रवचित्तसन्तानोत्पत्तिर्मोक्ष" इत्याचक्षते तेषामपि मोक्षतत्त्वं युक्त्याभ्युपायेन च बाध्यते प्रदीपनिर्वाणोपमशान्तनिर्वाणवत् चित्ताना तत्त्वतोऽन्वितत्वसाधनात् सन्तानोच्छेदानुपपत्तेश्च निरन्वयक्षणक्षयैकान्ताभ्यु-

पायेन च मोक्षाभ्युपगमबाधनस्य वक्ष्यमाणत्वात् । तथा मोक्षकारणतत्त्वमपि कपिलादिभिर्भाषितं न्यायागमविरुद्धम् । तद्विज्ञानमात्रं न परनिःश्रेयसकारणं, प्रकर्षपर्यन्तावस्थायामप्यात्मनि शरीरेण सहावस्थानान्मिथ्याज्ञानवत् । न तावदिहासिद्धो हेतुः, सर्वज्ञानामपि कपिलादीनां स्वयं प्रकर्षपर्यन्तावस्थाप्राप्तस्यापि ज्ञानस्य शरीरेण सहावस्थानोपगमात् । साक्षात्सकलार्थज्ञानोत्पत्त्यनन्तर शरीराभावे कुतोयमाप्तस्योपदेश· प्रवर्तते ? अशरीरस्याप्तस्योपदेशकरणविरोधादाकाशवत् । तस्यानुत्पन्ननिखिलार्थज्ञानस्योपदेश इति चेत्, न, तस्याप्रमाणत्वशङ्काऽनिवृत्तेरन्याऽज्ञान(रथ्या)पुरुपोपदेशवत्। यदि पुनः शरीरान्तरानुत्पत्तिर्निःश्रेयस न गृहीतशरीरनिवृत्तिः । तस्य साक्षात्सकलतत्त्वज्ञान कारणं, न तु गृहीतशरीरनिवृत्तेः, फलोपभोगात्तदुपगमात् । तत. पूर्वोपात्तशरीरेण सदावतिष्ठमानात्तत्त्वज्ञानादाप्तस्योपदेशो युक्त इति मतं तदा हेतुः सिद्धोभ्युपगतस्तावत् । स च परनिःश्रेयसाऽकारणत्वं तत्त्वज्ञानस्य साधयत्येव, भाविशरीरस्येवोपात्तशरीरस्यापि निवृत्तेः परनिःश्रेयसत्वात्, तस्य च तद्भावेप्यभावात् । फलोपभोगकृतोपात्तकर्मक्षयापेक्षं तत्त्वज्ञानं परनिःश्रेयसकारणमित्यप्यनालोचिताभिधानं, फलोपभोगस्यौपक्रमिकानौपक्रमिकविकल्पानतिक्रमात् । तस्यौपक्रमिकत्वे क्षुतस्तदुपक्रमोन्यत्र तपोतिशयात् । इति तत्त्वज्ञानतपोतिशयहेतुकं परनिःश्रेयसमायातम् । समाधिविशेषादुपात्ताशेपकर्मफलोपभोगोपगमाददोप इति चेत्, कः पुनरसौ समाधिविशेषः ? स्थिरीभूतं ज्ञानमेव स इति चेत्, तदुत्पत्तौ परनि.श्रेयसस्य भावे स एवाप्तस्योपदेशाभावः । सकलतत्त्वज्ञानस्यास्थैर्यावस्थायामसमाधिरूपस्योपजनने युक्तोयं योगिनस्तत्त्वोपदेश इति चेत्, न, सकलतत्त्वज्ञानस्यास्थैर्यविरोधात्तस्य कदाचिच्चलनानुपपत्तेः, अक्रमत्वाद्विपयान्तरसंचरणाभावात्, अन्यथा सकलतत्त्वज्ञानत्वासंभवादस्मदादिज्ञानवत् । अथ तत्त्वोपदेशदशाया योगिनोपि ज्ञानं विनेयजनप्रतिवोधाय व्याप्रियमाणमस्थिरमसमाधिरूपं पश्चान्निवृत्तसकलव्यापार स्थिरं समाधिव्यपदेशमास्कन्दतीत्युच्यते तर्हि

समाधिश्चारित्रमिति नाममात्रं भिद्यते, नार्थः, तत्त्वज्ञानादशेषाज्ञाननिवृत्तिफलादन्यस्य परमोपेक्षालक्षणस्वभावस्य समुच्छिन्नक्रियाऽप्रतिपातिपरमशुक्लध्यानस्य तपोतिशयस्य समाधिव्यपदेशकरणात्। तथा चारित्रसहितं तत्त्वज्ञानमन्तर्भूततत्त्वार्थश्रद्धानं परनिःश्रेयसमनिच्छतामपि कपिलादीनामग्रे व्यवस्थितम्। ततो न्यायविरुद्धं सर्वथैकान्तवादिना ज्ञानमेव मोक्षकारणतत्त्वम्। न्यागमविरुद्धं च, सर्वेषामागमे प्रव्रज्याद्यनुष्ठानस्य सकलदोषोपरमस्य च बाह्यस्याभ्यन्तरस्य च चारित्रस्य मोक्षकारणत्वश्रवणात्। तथा समारतत्त्वं चान्येषा न्यायागमविरुद्धम्। तथा हि। नास्ति नित्यत्वाद्येकान्ते कस्यचित्संसारः, विक्रियानुपलब्धेः। इति न्यायविरोधः। समर्थयिष्यते तदागमविरोधश्च, स्वयं पुरुषस्य संसाराभावचनाद्, गुणानां संसारोपपत्तेः परेषा संवृत्त्या संसारव्यवस्थितेः। तथा संसारकारणतत्त्व चान्येषां न्यायागमविरुद्धम्। तद्धि मिथ्याज्ञानमात्रं तैरुररीकृतम्। न च तत्कारणः संसारः, तन्निवृत्तावपि संसारानिवृत्तेः। यन्निवृत्तावपि यन्न निवर्त्तते न तत्तन्मात्रकारणम्। यथा तक्षादिनिवृत्तावप्यनिवर्तमानं देवगृहादि न तन्मात्रकारणम्। मिथ्याज्ञाननिवृत्तावप्यनिवर्त्तमानश्च संसारः। तस्मान्न मिथ्याज्ञानमात्रकारणक इति। अत्र न हेतुरसिद्धः, सम्यग्ज्ञानोत्पत्तौ मिथ्याज्ञाननिवृत्तावपि दोषानिवृत्तौ संसारानिवृत्ते स्वयमभिधानात्। दोषाणा संसारकारणत्वावेदकागमस्वीकरणाच्च तन्मात्रं संसारकारणतत्त्वं न्यायागमविरुद्धं सिद्धम्। तदेवमन्येषां न्यायागमविरुद्धभाषित्वादर्हन्नेव युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् सर्वज्ञो वीतरागश्च निश्चीयते। ततः स एव सकलशास्त्रादौ प्रेक्षावता संस्तुत्य। ये त्वाहुः 'सतोपि यथार्थदर्शिनो वीतरागस्येदन्तया निश्चेतुमशक्तेस्तत्कार्यस्य व्यापारादेस्तद्व्यभिचारादवीतरागेऽपि दर्शनात्, सरागाणामपि वीतरागवच्चेष्टमानानामनिवारणान्न कस्यचित् स त्वमेवाप्त इति निर्णयः संभवति' इति तेषामपि, विचित्राभिसंबन्धतया व्यापारव्याहारादिसाङ्कर्येण कचिदप्यतिशयानिर्णये कैमर्थक्याद्विशेषेष्टिः, ज्ञानवतोपि

विसंवादात्, क पुनराश्वासं लभेमहि ? न हि ज्ञानवतो वीतरागात्पुरुषाद्विसंवादः क्वचित्संभवति सुगतादावप्यनाश्वासप्रसङ्गात् तस्य कपिलादिभ्यो विशेषेष्टेरानर्थक्यप्रसङ्गात्। न च व्यापारव्याहाराकारविशेषाणां तत्र साङ्कर्यं सिद्ध्यति, विचित्राभिसन्धितानुपपत्तेः, तस्याः पृथग्जने रागादिमत्यज्ञे प्रसिद्धेः प्रक्षीणदोषे भगवति निवृत्तेः, अस्य यथार्थप्रतिपादनाभिप्रायतानिश्चयात्। कुतश्चायं सर्वस्य विचित्राभिप्रायतामदृश्यां व्यापारादिसाङ्कर्यहेतुं निश्चिनुयात् ? शरीरित्वादेर्हेतोः स्वात्मनीवेति चेत्, तत एव सुगतस्यासर्वज्ञत्वनिश्चयोस्तु। तत्रास्य हेतोः सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वान्न तन्निश्चयः। शरीरी च स्यात्सर्वज्ञश्च, विरोधाभावात्, विज्ञानप्रकर्षे शरीराद्यपकर्षादर्शनादिति चेत्, तत एव सर्वज्ञस्य विचित्राभिप्रायतानिश्चयोपि मा भूत्, तत्रापि प्रोक्तहेतोः सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वाविशेषात्। सोयं विचित्रव्यापारादिकार्यदर्शनात्सर्वस्य विचित्राभिसन्धिता निश्चिनोति, न पुनः कस्यचिद्वचनादिकार्यातिशयनिश्चयात् सर्वज्ञत्वाद्यतिशयमिति कथमनुन्मत्तः ? कैमर्थक्याच्चास्य सन्तानान्तरस्वसन्तानक्षणक्षयस्वर्गप्रापणशक्त्यादेर्विशेषस्येष्टिः ? विप्रकृष्टस्वभावत्वाविशेषात्, वेद्यवेदकाकाररहितस्य वेदनाद्वैतस्य वा विशेषस्य प्रमाणभूतस्य जगद्धितैषिणः शास्तुस्तायिनः शोभनं गतस्य सम्पूर्णं वा गतस्य पुनरनावृत्त्या सुष्ठु वा गतस्य विशेषस्येष्टिः ? सर्वत्रानाश्वासाविशेषात्। न चैवं वादिनः किञ्चिदनुमान नाम, निरभिसन्धीनामपि वहुलं कार्यस्वभावानियमोपलम्भात्, सति काष्ठादिसामग्रीविशेषे क्वचिदुपलब्धस्य तदभावे प्रायसोनुपलब्धस्य मण्यादिकारणकलापेपि संभवात्। यज्जातीयो यतः संप्रेक्षितस्तज्जातीयात्तादृगिति दुर्लभनियमतायां धूमधूमकेत्वादीनामपि व्याप्यव्यापकभावः कथमिव निर्णीयेत ?, वृक्ष. शिंशपात्वादिति लताचूतादेरपि क्वचिदेव दर्शनात् प्रेक्षावतां किमिव निःशङ्कं चेतः स्यात् ? तदेतददृष्टसंशयैकान्तवादिनां विदग्धमर्कटानामिव स्वलाङ्गुलभक्षणम्। ननु च 'काष्ठादिसामग्रीजन्योऽग्निर्यादृशो दृष्टो न तादृशो मण्यादिसामग्रीप्रभव इति यज्जातीयो यतो दृष्टः स तादृ-

शादेव न पुनरन्यादृशादपि, यतो धूमपावकयोर्व्याप्यव्यापकभावो न निर्णीयते, तथा यादृशं चूतत्वं वृक्षत्वेन व्याप्तं तादृशं न लतात्वेन, यतः शिंशपात्ववृक्षत्वयोरपि व्याप्यव्यापकभावनियमो दुर्लभः स्यात्' इति कश्चित्सोपि प्रतीतेरपलापकः, कार्यस्य तादृशतया प्रतीयमानस्यापि कारणविशेषातिवृत्तिदर्शनात्। यत्नतः परीक्षितं कार्यं कारणं नातिवर्तते इति चेत्, स्तुतं प्रस्तुत, व्यापारादिविशेषस्यापि किञ्चिज्ज्ञरागादिमदसंभविनो यत्नतः परीक्षितस्य भगवति ज्ञानाद्यतिशयानतिवृत्तिसिद्धेः। एतेन यत्नतः परीक्षितं व्याप्यं व्यापकं नातिवर्तते इति ब्रुवतापि स्तुतं प्रस्तुतमित्युक्त वेदितव्यं, पुरुषविशेषत्वादेः स्वभावस्य व्याप्यस्य सर्वज्ञत्वव्यापकस्वभावानतिक्रमसिद्धेस्तद्वद्विशेषात्। ततोयं प्रतिपत्तुरपराधो नानुमानस्येत्यनुकूलमाचरति। मन्दतरधियां धूमादिकमपि परीक्षितुमक्षमाणा ततो धूमध्वजादिबुद्धेरपि व्यभिचारदर्शनात्। प्रज्ञातिशयवतां तु सर्वत्र परीक्षाक्षमाणां यथा धूमादि पावकादिकं न व्यभिचरति तथा व्यापारव्याहाराकारविशेषः कचिद्विज्ञानाद्यतिशयमपीत्यनुकूलाचरणम्। एवं युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वं, भगवतोर्हत एव सर्वज्ञत्वं साधयतीत्यभिधाय तदेवं तत् सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वमर्हत्येव सकलज्ञत्वं साधयति नान्यत्रेत्यविरोध इत्यादिना स्पष्टयति, स्वामीति शेषः, यद्यस्मादविरोधः सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वं त्वय्येव तस्मात्त्वमेव स इत्यभिधानसंबन्धात्। स एवाविरोधः कुतः सिद्ध इत्यारेकाया यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते इत्यभिधानात्। तत्रेष्टं मतं शासनमुपचर्यते, निराकृतवाचोपि कचिदविप्रतिषेधात्। न पुनरिच्छाविषयीकृतमिष्टं, प्रक्षीणमोहे भगवति मोहपर्यायात्मिकायास्तदिच्छायाः सम्भवाभावात्। तथा हि। नेच्छा सर्वविदः शासनप्रकाशननिमित्तं, प्रणष्टमोहत्वात्। यस्येच्छा शासनप्रकाशननिमित्तं, न स प्रणष्टमोहो यथा किञ्चिज्ज्ञः। प्रणष्टमोहश्च सर्ववित्प्रमाणतः साधितस्तस्मान्न तस्येच्छा शासनप्रकाशननिमित्तम्। इति केवलव्यतिरेकी हेतुर्निराकृतवाचं साधयति, अव्यभिचारात्। न सर्वविदिच्छामन्तरेण वक्ति,वक्तृत्वात्,अस्मदादिवत्, इत्यनेन

निराकृतवाचो विप्रतिपेध इति चेत्, नायं नियमोऽस्ति। तदभ्युपगमे को दोष इति चेत्, नियमाभ्युपगमे सुषुप्त्यादावपि निरभिप्रायप्रवृत्तिर्न स्यात्। न हि सुषुप्तौ गोत्रस्खलनादौ वाग्व्याहारादिहेतुरिच्छास्ति। प्रतिसंविदिताकारेच्छा तदा संभवन्ती पुनः स्मर्येत वाञ्छान्तरवत्। न ह्यप्रतिसंविदिताकारेच्छा संभवति या पश्चान्न स्मर्यते। पूर्वकालभाविनीच्छा तदा वागादिप्रवृत्तिहेतुरप्रतिसंविदिताकाराऽनुमेया सम्भवत्येवेति चेत्, किं पुनस्तदनुमानम्? विवादाध्यासिता वागादिप्रवृत्तिरिच्छापूर्विका, वागादिप्रवृत्तित्वात्, प्रसिद्धेच्छापूर्वकवागादिप्रवृत्तिवदिति चेत्, न, हेतोरप्रयोजकत्वात्। यथाभूतस्य हि जाग्रतोऽनन्यमनसो वा वागादिप्रवृत्तिरिच्छापूर्विकाप्रतिपन्ना देशान्तरे कालान्तरे च तथाभूतस्यैव तत्प्रवृत्तिरिच्छापूर्विका साधयितुं शक्या, न पुनरन्यादृशा, अतिप्रसङ्गात्। न च सुषुप्तस्यान्यमनस्कस्य वा तत्प्रवृत्तिरिच्छापूर्वकत्वेन व्याप्तावगता, तदवगतेरसंभवात्। सा हि स्वसन्ताने तावन्न संभवति, सुषुप्त्यादिविरोधात्। सुषुप्तोऽन्यमनस्कश्च प्रवृत्तिमिच्छापूर्विकामवगच्छति (स्वपिति) चेति व्याहतमेतत्। पश्चादुत्थितोऽवगच्छतीति चेत्, इदमपि तादृगेव। स्वयमसुषुप्तोऽनन्यमनाश्च सुषुप्ताऽन्यमनस्कप्रवृत्तिमिच्छापूर्वकत्वेन व्याप्तामवगच्छतीति ब्रुवाणः कथमप्रतिहतवचनपथः स्वस्थैरास्थीयते? तदानुमानात्तदवगतेरदोष इति चेत्, न, अनवस्थाप्रसङ्गात्, तदनुमानस्यापि व्याप्तिप्रतिपत्तिपुरस्सरत्वात् तद्व्याप्तेरप्यनुमानान्तरापेक्षत्वात्, सुदूरमपि गत्वा प्रत्यक्षतस्तद्व्याप्तिप्रतिपत्तेरघटनात्। एतेन सन्तानान्तरे तद्व्याप्तेरवगतिरपास्ता, अनुमानात्तदवगतावनवस्थानाविशेषात्, प्रत्यक्षतस्तदवगतेरसंभवाच्च। इति नानुमेया सुषुप्त्यादाविच्छास्ति तत्काला पूर्वकाला वा, तदनुमानस्यानुदयात्। तथा च सर्वज्ञप्रवृत्तेरिच्छापूर्वकत्वे साध्ये वक्तृत्वादेर्हेतोः सुषुप्त्यादिना व्यभिचारात्तदनियम एव। ततश्चैतन्यकरणपाटवयोरेव साधकतमत्वम्। ननु च सत्यपि चैतन्ये करणपाटवे च वचनप्रवृत्तेरदर्शनाद्विवक्षापि तत्सहकारिकारणमपेक्ष्यत एवेति चेत्, सहकारिकारणान्तरं न वै नियतमपेक्षणीयं, नक्तञ्चरादेः संस्कृतचक्षुषो

वाऽनपेक्षितालोकसन्निधेः रूपोपलम्भात् । न चैव संवित्करणपाटवयोरप्यभावे विवक्षामात्रात्कस्यचिद्वचनप्रवृत्तिः प्रसज्यते, संवित्करणवैकल्ये यथाविवक्षं वाग्वृत्तेरभावात् । न हि शब्दतोऽर्थतश्च शास्त्रपरिज्ञानाभावे तद्व्याख्यानविवक्षायां सत्यामपि तद्वचनप्रवृत्तिर्दृश्यते, करणपाटवस्य चाभावे स्पष्टशब्दोच्चारणं, बालमूकादेरपि तत्प्रसङ्गात् । ततश्चैतन्य करणपाटवं च वाचो हेतुरेव नियमतो, न विवक्षा, विवक्षामन्तरेणापि सुषुप्त्यादौ तद्दर्शनात् । न च दोषजातिस्तद्धेतुर्यतस्तां वाणीं नातिवर्तेत, तत्प्रकर्षापकर्षानुविधानाभावाद्बुद्ध्यादिवत् । न हि यथा बुद्धेः शक्तेश्च प्रकर्षे वाण्याः प्रकर्षोऽपकर्षे वाऽपकर्षः प्रतीयते, तथा दोषजातेरपि, तत्प्रकर्षे वाचोपकर्षात् तदपकर्षे एव तत्प्रकर्षात्, यतो वक्तुर्दोषजातिरनुमीयेत । सत्यपि च रागादिदोषे कस्यचिद्बुद्धेर्यथार्थव्यवसायित्वादिगुणस्य सद्भावात्, सत्यवाक्प्रवृत्तेरुपलम्भात्, कस्यचित्तु वीतरागद्वेषस्यापि बुद्धेरयथार्थाव्यवसायित्वादिदोषस्य भावे वितथवचनस्य दर्शनाद्विज्ञानगुणदोषाभ्यामेव वाग्वृत्तेर्गुणदोषवत्ता व्यवतिष्ठते, न पुनर्विवक्षातो दोषजातेर्वा । तदुक्तं "विज्ञानगुणदोषाभ्यां वाग्वृत्तेर्गुणदोषता । वाञ्छन्तो वा न वक्तारः शास्त्राणां मन्दबुद्धयः ॥ १ ॥" इति । ततः साधूपादेशि 'तत्रेष्टं मतं शासनमुपचर्यते' इति । तत्प्रसिद्धेन न बाध्यते । प्रमाणतः सिद्धं प्रसिद्धम् । तदेव कस्यचिद्बाधनं युक्तम् । विशेषणमेतत्परमतापेक्षम्, अप्रसिद्धेनाप्यनित्यत्वाद्येकान्तधर्मेण बाधाऽकल्पनात् । नन्वनेकान्तशासनस्य प्रत्यक्षतः सिद्धोऽस्त्यनित्यत्वधर्मो बाधकः, सर्वथा नित्यत्वादिधर्मवत् । अनुमानात्सिद्धो बाधक इति चेत्, नर्ते प्रमाणात्प्रतिबन्धसिद्धेरभ्युपगमात् । न खलु परेषां प्रत्यक्षमग्निधूमयोः क्षणभङ्गसद्भावयोर्वा साकल्येन व्याप्तिं प्रति समर्थम्, अविचारकत्वात्सन्निहितविषयत्वाच्च । अस्मदादिप्रत्यक्षं हि साध्यसाधनयोर्व्याप्तिग्राहि परैरभ्युपगन्तव्यं, न योगिप्रत्यक्षम्, अनुमानवैयर्थ्यप्रसङ्गात्, योगिप्रत्यक्षेण देशतः कार्त्स्न्यतो वा निःशेषसाध्यसाधनव्यक्तिसाक्षात्करणे समारोपस्याप्यभावात् तद्व्यवच्छेदनार्थमप्यनुमानोपयोगायोगात् । तच्च निर्विकल्पकमिव

सविकल्पकमपि न विचारकं, पूर्वापरपरामर्शशून्यत्वादभिलापसंसर्गरहितत्वात् । सन्निहितविषयं च, देशकालस्वभावविप्रकृष्टार्थागोचरत्वात् । तन्न साकल्येन व्याप्तिग्रहणसमर्थम् । न चानुमानम्, अनवस्थानुषङ्गात् । व्याप्तिग्राहिणोनुमानस्यापि व्याप्तिग्रहणपुरस्सरत्वात्तद्व्याप्तेरप्यनुमानान्तरापेक्षत्वात् । क्वचिदप्यवस्थानाभावात् । एवमप्रसिद्धव्याप्तिकं च कथमनुमानमेकान्तवादिनामनित्यत्वाद्येकान्तधर्मस्य साधकं येन प्रमाणसिद्धः सर्वथैकान्तोऽनेकान्तशासनस्य बाधकः स्यात् ? स्याद्वादिनां तु, परोक्षान्तर्भाविना नस्तर्केण सम्बन्धो व्यवतिष्ठेत । तस्य विचारकत्वात्, प्रत्यक्षानुपलम्भसहकारिणो मतिज्ञानविशेषपरोक्षतर्कज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशेषादुपजायमानस्य यावान्कश्चिद्धूमः स सर्वोप्यग्निजन्माऽनग्निजन्मा वा न भवतीति शब्दयोजनासहितपरामर्शात्मकत्वात्कालत्रयवर्तिसाध्यसाधनव्यक्तिविषयत्वाच्च व्याप्तिं प्रति समर्थत्वात्, प्रत्यक्षवद्व्याप्तिग्रहणपूर्वकत्वाभावादनुमानोहान्तरानपेक्षत्वादनवस्थाननुषङ्गात्, संवादकत्वेन समारोपव्यवच्छेदकत्वेन च प्रमाणत्वात् । तदप्रमाणत्वे न लैङ्गिकं प्रमाणमिति शेषः, समारोपव्यवच्छेदाविशेषात् तर्कतः संबन्धस्याधिगमे समारोपविरोधात् । न हि निर्विकल्पकोधिगमोस्ति यतस्तत्र समारोपोपि स्यात् । किं तर्हि ? अधिगमोपि व्यवसायात्मैव, तदनुत्पत्तौ सतोपि दर्शनस्य साधनान्तरापेक्षया सन्निधानाऽभेदात् सुषुप्तचैतन्यवत् । सन्निधानं हीन्द्रियार्थसन्निकर्षः । तत्त्वयमप्रमाणमाख्यत् तथागतः, साधनान्तरापेक्षित्वात् तस्यार्थपरिच्छित्तौ । तत एव दर्शनस्याप्रमाणत्वं, सुषुप्तचैतन्यवत् स्वयं संशयविपर्यासानध्यवसायाव्यवच्छेदकत्वात् । तद्व्यवच्छेदिनो निश्चयस्य जननात्प्रमाणं दर्शनमिति चेत्, तत एव सन्निकर्षः प्रमाणमस्तु । तस्यासाधकतमत्वान्न प्रमाणत्वमिति चेत्, कुतस्तस्यासाधकतमत्वम् ? अचेतनत्वाद्घटादिवदिति चेत्, दर्शनस्याप्यसाधकतमत्वं चेतनत्वात्सुषुप्तचैतन्यवत्किं न स्यात् ? यस्य भावेर्थः परिच्छिन्नो व्यवह्रियतेऽभावे चाऽपरिच्छिन्नस्तद्दर्शनं साधकतममिति चेत्, सन्निकर्षः साधकतमोस्तु, भावाभावयोस्तद्वत्ता साधकतमत्वमिति वचनात् ।

न हि सन्निकर्षस्य भावे भाववत्त्वमभावेऽभाववत्त्वमर्थपरिच्छित्तेरप्रतीतम्। नाप्यर्थस्यान्यत् परिच्छिन्नत्वं,तत्परिच्छित्त्युत्पत्तेः। परिच्छित्तिरुत्पन्ना चेत् परिच्छिन्नोर्थ उच्यते। अथ निर्विकल्पकदृष्टौ सत्यामर्थस्य परिच्छित्तिर्निश्चयात्मकार्थपरिच्छेदव्यवहारहेतुरुत्पद्यते नासत्याम्। अतस्तस्याः साधकतमत्वमिति तवाकूतं तदपि न समीचीनं, सन्निकर्षादेव तदुत्पत्त्यविरोधात्। कथमचेतनात्सन्निकर्षाच्चेतनस्यार्थनिश्चयस्योत्पत्तिर्न विरुध्यते इति चेत्, तवापि कथमचेतनादिन्द्रियादेरविकल्पदर्शनस्य चेतनस्योत्पत्तिरविरुद्धा? चेतनान्मनस्कारादिन्द्रियादिसहकारिणो दर्शनस्योत्पत्तिरिति चेत्, तर्हि चेतनादात्मनः सन्निकर्षसहकारिणोऽर्थनिश्चयोत्पत्तिरपि कथं विरुध्यते? यतः स्वार्थव्यवसायात्मकोधिगमो न भवेत्। स च साकल्येन साध्यसाधनसम्बन्धस्तर्कादेवेति प्रमाणं तर्कः, स्वार्थाधिगमफलत्वात् समारोपव्यवच्छेदकत्वात्संवादकत्वाच्चानुमानादिवत्। ततः स्याद्वादिनां व्याप्तिसिद्धेरस्त्यनुमानं, न पुनरेकान्तवादिना, यतोनुमानसिद्धेन सर्वथैकान्तेनानेकान्तस्य बाधाकल्पना स्यात्। इत्यप्रमाणसिद्धेनापि बाधा कल्पनीयैव परैः, अन्यथा स्वमतनियमाघटनात्। तथा सति सूक्तं "परमतापेक्षं विशेषणं प्रसिद्धेन न बाध्यते" ॥ इति। एतेन यदुक्तं भट्टेन "नरः कोप्यस्ति सर्वज्ञः स तु सर्वज्ञ इत्यपि। साधनं यत्प्रयुज्येत प्रतिज्ञामात्रमेव तत् ॥ १ ॥ सिसाधयिषितो योर्थः सोनया नाभिधीयते। यस्तूच्यते न तत्सिद्धौ किञ्चिदस्ति प्रयोजनम् ॥ २ ॥ यदीयागमसत्यत्वसिद्धौ सर्वज्ञतोच्यते। न सा सर्वज्ञसामान्यसिद्धिमात्रेण लभ्यते ॥ ३ ॥ यावद्बुद्धो न सर्वज्ञस्तावत्तद्वचनं मृषा। यत्र क्वचन सर्वज्ञे सिद्धे तत्सत्यता कुतः ॥ ४ ॥ अन्यस्मिन्न हि सर्वज्ञे वचसोन्यस्य सत्यता। सामानाधिकरण्ये हि तयोरङ्गाङ्गिता भवेत् ॥ ५ ॥" इति तन्निरस्तं, भगवतोर्हत एव युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वेन सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वेन च सर्वज्ञत्ववीतरागत्वसाधनात् ततस्त्वमेव महान् मोक्षमार्गस्य प्रणेता नान्यः कपिलादिः। यस्मात्—

इह दृष्टान्तावचनं त्विति (१००-१-१३) हेतुर्यद्यपि हेतुगर्भविशेषणमहिम्नैव हेतुहेतुमद्भावलाभात् तथापि दृष्टान्तलाभे शाब्दसामग्री न व्याप्रियत इत्याक्षेपात् तल्लाभः शब्दाध्याहाराच्च शाब्दबोधे प्रवेश इति संक्षेपान्न विरुध्यत इत्यनेनोच्यत इति विभावनीयं सुधीभिः । 'अन्यथानुपपन्नत्वेत्यादि' (१००-१-१३) पक्षधर्मत्वादिपञ्चरूपोपपन्न एव हेतुरिति नैयायिकाः त्रिरूपोपपन्न इति सौगताः । अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणो हेतुरिति जैना इति विभागात् स्वाभीष्टचरमपक्षप्राधान्यं स्फोटयितुमित्यर्थः, चिद्विवर्त्तत्वात् (१००-२-१०) चित्त्वव्याप्यकार्यत्वादिच्छादीनामपि चिदनुस्यूतत्वेन चैतन्योपादानकारणकत्वस्याभीष्टत्वादित्यर्थः । पूर्वचिद्व्याप्तक्षणोपमर्द्देनोत्तरचिद्व्याप्तक्षणोत्पत्तेः, परस्परं तेषामुपादानोपादेयभावस्य चार्वाकेणाभ्युपगमात्, न चैवंभूतोपादेयचैतन्यवादे भूतानामपि चिद्विवर्त्तत्वादाद्यचैतन्यस्य भूतात्मकचैतन्योपादेयत्वेनार्थान्तरत्वम्, अवशिष्टभूते घटादौ चैतन्यादर्शनेन चिद्विवर्त्तत्वेन भूतव्यावृत्तेनैव प्रकृतोपादनसम्भवात्, तत्त्वं च तस्य विषयालोकमनस्कारादीनां परस्परसहभावनैयत्येऽपि नियतोपादानत्वाभ्युपगमवन्न दुष्कराभ्युपगममिति दिक् । जातिरेव (१०१-१-२) असदुत्तरमेव, अर्थान्तरत्वेन निग्रहस्थानमेव वा प्रकृतानुमानप्रतिकूलानभिधानेन परस्यैव पराजयादिति भावः । तत्त्वान्तरभावविरोध इति (१०१-१-४) अत्र तत्त्वान्तरत्वं भिन्नपदार्थविभाजकोपाध्यवच्छिन्नत्वम्, पृथिव्यादिविवर्त्तमिति (१०१-१-५) पृथिव्यादिः पृथिवीत्वाद्यवच्छिन्नो विवर्त्तः पर्यायो यस्य तत्तथा, 'अनुपादानस्येति' (१०१-१-८) तथा च जन्यपृथिवीत्वाद्यवच्छिन्ने पृथिवीत्वादिना समवायिकारणत्वं नैयायिकाद्यभ्युपगतमकामेनापि चार्वाकेणावश्यमाश्रयणीयमित्यर्थः । स्याद्वादिना तु तादात्म्येन पृथिवीत्वाद्यवच्छिन्ने स्वध्वंसत्वसम्बन्धेन पृथिवीत्वादीना हेतुत्वं वाच्यम्, विभागजातोत्पत्तिस्थलेऽपि द्व्यणुका-

दिध्वंसरूपाया एव परमाणूत्पत्तेः स्वीकारादिति युक्तं पश्यामः। 'शब्दादिरिति' (१०१-१-९) अनेनानुमानेन शब्दस्य भाषावर्गणोपादानत्वं विद्युदादेश्चाग्न्याद्युपादानत्वं साधनीयमिति भावः। **तयोर्भिन्नलक्षणत्वादिति** (१०१-१-१२) भिन्नं लक्षणं तयोर्बहिरन्तर्मुखतया च प्रतीयमानत्वमेवेति द्रष्टव्यम्। तत एव भिन्नलक्षणत्वादेव तदाह-अयमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा यद्विरुद्धधर्माध्यासः कारणभेदश्चेति **अस्मदादिप्रत्यक्षत्वादिति** अस्मदाद्यनेकप्रतिपत्तृप्रत्यक्षत्वादित्यर्थः। तेन ज्ञाने न व्यभिचारः, **घटादिवदिति** न चैवं घटादावेव पक्षतावच्छेदकसाध्यसामानाधिकरण्यसिद्धेरनुमानवैफल्यमिति शङ्कनीयम्। पृथिवीतरेभ्यो भिद्यत इत्यत्रेव प्रकृते पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन साध्यासिद्धेरुद्देश्यत्वेन तदवैफल्यमित्यभिप्रायात्, **न चोपचरितेनेति** (१०१-२-५) अन्यथोपचरितधूमेन बाष्पादिना वह्न्यादेरपि व्यभिचारडिण्डिमोद्घोषः सकर्णकर्णारुन्तुदः स्यादिति भावः। **स्वतो बहिर्भूतेति** तथा च प्रकृते बहिरर्थपदं स्वभिन्नपरमेवेति भावः। स्वभिन्नत्वमपि न स्वप्रतियोगिकभेदवत्त्वमात्रं यत्किञ्चिद् यावद्विकल्पयोः, आद्ये स्वस्मिन्नेव स्वभेदप्रसङ्गात्, अन्त्ये च कुत्रापि तदप्रसिद्धेः सत्त्वादिना भेदस्य कुम्भादावप्यभावात्, किन्तु स्वनिष्ठज्ञानत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवत्त्वम्, तच्च सुखादिसंवेदनापेक्षया सुखादावपि सिद्धम्, इति न तत्र बहिरर्थपरिच्छेदकत्वासिद्धिरित्याशयेनाह **'कुम्भादिवेदनस्यापीति** (१०१-२-७) **सुखादीति'** सुखादेः कारणं सातवेदनीयकर्मोदयादिः, तत्संवेदनस्य कारणं च ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमादिः, इत्येवं कारणभेदादप्यनयोर्भेदो न केवलमाल्हादनपरिच्छेदाकाररूपलक्षणभेदादिति भावः। **'तस्यैवेति'** (१०१-२-१०) विषयनिर्मुक्तज्ञानानुभवाभावात्तदुपरक्तस्यैव तस्य स्वांशे स्वसंवेदकत्वं विषयांशे च परसंवेदकत्वमविरुद्धमिति भावः। **अविरुद्धं पश्याम** (१०२-१-५) इति ननु कथमेतदविरुद्धं

प्रत्यक्षविषयताया इन्द्रियसन्निकर्षप्रयोज्यत्वेन ज्ञाने सन्निकृष्टबाह्यार्थविषयत्वोपपत्तावपि स्वविषयतानुपपत्तेः स्वविषयतायाः प्रत्यक्षत्वनियताया अभ्युपगमात्तादृश्याश्च तस्याः प्रयोजकाभावादिति चेत्, न। प्रत्यक्षविषयतामात्रस्येन्द्रियसन्निकर्षप्रयोज्यत्वे मानाभावादसन्निकृष्टे बहुलं प्रत्यक्षविषयतायास्तत्र तत्रोपपादितत्वाच्छुक्तिसन्निकर्षेऽपि रजतविषयकप्रत्यक्षस्य सार्वजनीनत्वाच्चेन्द्रियसन्निकर्षवद्दोपादेरपि प्रत्यक्षविषयताप्रयोजकत्वाभ्युपगमे च तादात्म्येन ज्ञानस्यापि तत्त्वं किमिति न रोचयेः। ज्ञानस्य ज्ञानान्तरवेद्यत्वेऽनवस्थानाद् ज्ञानमानसादौ चाक्षुषादिसामग्र्यादेः प्रतिबन्धकत्वाकल्पनलाघवाच्च स्वसंवेद्यताया एव युक्तत्वादिति दिक्। 'विजातीयत्वाभिमतयोरिति' (१०२-१-९) सत्त्वादिना सजातीययोरपि जलानलयोर्जलत्वानलत्वाभ्यां विजातीययोर्यथा नोपादानोपादेयभावश्चार्वाकैरभ्युपगम्यते, तथाऽस्माभिर्भूतचैतन्ययोरिति साजात्यविशेषस्योपादानोपादेयभावप्रयोजकत्वं नाप्रामाणिकमिति भावः। 'पार्थिवत्वादिनेति' (१०२-१-१०) नन्वेवं घटत्वपटत्वाद्यवच्छिन्ने कपालत्वतन्तुत्वादिना हेतुत्वं न स्यादिति चेत्, न। तथाहेतुत्वेऽपि ययोरुपादानोपादेयभावस्तयोः पदार्थविभाजकोपाधिना साजात्यमिति नियमस्याभङ्गात्। साजात्यविशेषेण नियतारम्भस्य सुव्यवस्थितत्वात्, केचित्तु नास्त्येव पटत्वाद्यवच्छिन्ने तन्तुत्वादिना हेतुत्वमत एव क्वचिद्द्वितन्तुकपटादेस्तन्त्वन्तरसंयोगे पटाद्युत्पत्तिर्घटते, एकैकतन्तुसंयोगे द्वितन्तुकादेर्नाशे त्रितन्तुकाद्युत्पत्तिः, पुनरेकैकतन्तुवियोगे त्रितन्तुकादिनाशे द्वितन्तुकाद्युत्पत्तिरिति कल्पनाया गौरवग्रासादित्याहुः—'असदेतत्, अनन्यथासिद्धान्वयव्यतिरेकानुविधानात् तथाहेतुत्वसिद्धेः त्रितन्तुकपटादेरपि तन्तावेवोत्पत्तिस्वीकारात् युगपत्तन्तुत्रयादिसंयोगे तन्तोरेव तदुत्पत्तेर्दर्शनात्, द्वितन्तुकादिक्रमेणोत्पन्नचतुरादितन्तुकपटस्य द्वितन्तुकासमवायिकारणसंयोगनाशाद् द्वितन्तुकादिनाशक्रमेण नाशोऽन्तरा पुन-

द्वितन्तुकादिक्रमेणोत्पत्तिरिति तवापि कल्पनागौरवसाम्ये तन्तौ पट इति प्रतीतेर्भ्रमत्वायोगाच्च, नहि पटे पट इति कश्चित् प्रत्येति, अत एव तन्त्वाकाशसंयोगत्वेन पटाकाशादिविजातीयसंयोगत्वेन हेतुहेतुमद्भावाद्युपपत्तिरित्यन्ये। एतेन तन्तुभ्यां तदारब्धद्वितन्तुकपटेन च तन्त्वन्तरयोगे त्रितन्तुकोत्पत्तिरेवं चतुरणुकादेरपीत्यारभ्यारम्भवादो युक्त इत्यप्यपास्तम्। अपरे तु क्रियमाणं कृतमिति नयानुसारिणस्तन्तुसंयोगत्वेनैव पटोत्पत्तिव्याप्यत्वमिच्छन्त आद्यतन्तुद्वयसंयोगकालादेवानवरतमवान्तरनानापटोत्पत्तिश्चरमतन्तुसंयोगकाले च महापटोत्पत्तिरिति तन्तुत्वेन पटहेतुत्वेऽपि द्वितन्तुकादिपटवत्तन्तुद्वयादावेव तन्त्वन्तरादियोगात्त्रितन्तुकपटाद्युत्पत्तिं स्वीकुर्वते, न च द्रव्यवति द्रव्योत्पत्तिस्वीकारे उत्पन्नद्वितन्तुकपटस्य पुनरुत्पत्तिः स्यादिति वाच्यम्, तत्प्रागभावस्य नष्टत्वात् तयोः संयोगान्तराद्भावी द्वितन्तुकपटस्तु तदा नोत्पद्यते तत्संयोगान्तरविरहात्। अन्यथा प्रथमं तवापि कथं नाग्रिमद्वितन्तुकोत्पत्तिः, एवं च दशतन्तुकादेश्चरमतन्तुसंयोगवियोगक्रमेण नाशे नवतन्तुकाद्युपलब्धिर्निराबाधा, प्रथमतन्तुसंयोगक्रमेण नाशे वास्तु तवेव दशतन्तुकनाशानन्तरं नवतन्तुकोत्पत्तिर्दशतन्तुकोत्पत्तिकाल एव वा चरमतन्तुपर्यन्ते द्वितीयमादाय नवतन्तुकोत्पत्तिः, न चैवं प्रतिलोमक्रमेणानन्तपटकल्पनापत्तिर्द्वितीयमादाय नवतन्तुकस्येव तृतीयमादायाष्टतन्तुकस्यापि सम्भवादिति वाच्यम्। यस्त्वयाग्रे स्वीक्रियते तस्यैव मया प्रथमतः स्वीकारान्नवतन्तुकादौ दशतन्तुकादिध्वंसस्य हेतुत्वे मानाभावादन्यत्र प्रागभावाभावेनैव तद्विरहोपपत्तेः, न च व्यक्तिस्थानीयापत्तिविरहाद्द्रव्यत्वावच्छिन्नाभावस्य कारणत्वेनानतिप्रसङ्गे किमनन्तकार्यकारणभावकल्पनेनेति वाच्यम्, दशाद्यवच्छेदेन तत्सत्त्वेन पटादिमत्यपि तदुत्पत्त्यापत्तेर्दीर्घतन्त्वादौ वस्त्रयुग्माद्यनुत्पत्त्यापत्तेश्च। अस्तु वा द्रव्यत्वावच्छिन्नाभावस्य जन्यद्रव्यत्वावच्छिन्ने हेतुत्वं कर्मणः संयोग इव तथापि स्वाश्रयैकदेशवृत्तितद्-

लाद्वितन्तुकादिमति त्रितन्तुकाद्युत्पत्तिर्निराबाधैव स्वोत्पत्तिव्याप्यद्रव्यत्वावच्छिन्नाभावस्य हेतुत्वोपगमे तु द्वितन्तुकादिमति तन्त्वन्तरादियोगादेकतन्तुकोत्पत्तेर्दुर्वारत्वापत्तेरित्याहुः॥ क्षमाश्रमणपूज्यपादानुसारिणस्तु चरमतन्तुसंयोगकाल एव क्रियमाणं कृतमिति नयेन पटोत्पत्तिं स्वीकुर्वते, तत्प्राक्कालीनकार्यकोटिषु पटधीस्तु पटगताभिलापोत्कर्षदोषात्तदुक्तं घटमाश्रित्य महाभाष्ये-" पइसमयकज्जकोडीणिरवेक्खो घडगयाहिलासो सि। पइसमयकज्जकोडिं थूलमइ घडंमि लाएसि ॥१॥" त्ति, एवं चैकः पट इत्यादेर्बोधस्य लोके शास्त्रे च व्यवहारस्य चोपपत्तिः, नहि नाना पटाः प्रतीयन्ते व्यवह्रियन्ते न च चाङ्गुलीभूतलसंयोगाद्यवच्छेदेन प्राप्याद्यनन्तसंयोगानुपलब्ध्यादिवत्, सादृश्यादिवशान्नानापटानुपलब्ध्युपपत्तिः, उभयत्रैकयुक्त्यभावात्, महापटकाले द्वितन्तुकादेः स्वीकारे तन्त्वाकाशसंयोगादितोऽनन्तद्वितन्तुकाकाशसंयोगादेर्द्वितन्तुकत्रितन्तुकादेः परस्परकर्मजसंयोगद्वित्वत्रित्वादेर्वाप्याद्यनन्तसंयोगादेश्च कल्पनामपेक्ष्य तेषां नाशस्य क्वचिदन्येषां कल्पनस्यैव च लाघवेनौचित्यात्, जन्यद्रव्ये द्रव्याभावस्य तु निरवच्छिन्नविशेषणतया हेतुत्वाद्दशाद्यवच्छेदेन पटाद्यभावसत्त्वेऽपि न दोषः। वस्त्रयुगादिव्यवहारस्त्वेकस्मिन् हस्तयुग्मादिव्यवहारवदुपपादनीयः। एकतन्तुकाद्युत्पत्त्यनापत्तिस्तु निर्द्रव्यद्रव्यस्य विजातीयसंयोगेन जन्यद्रव्यहेतुत्वादित्याहुः॥ 'सर्वेऽप्येते नयवादा वस्तुत 'एगसमयंमि एगदवियस्स व हुआ वि हुंति उप्पाया' इत्यादिपर्यालोचनया संयोगविभागजानन्तोत्पादतावन्नाशकिर्म्मीरितध्रौव्यैकस्वभाववस्त्वभ्युपगमादापेक्षिकानापेक्षिकनानापटपरिणामात्मकतन्तूत्पादाभ्युपगमादस्माकं न काप्यनुपपत्तिः, एकस्मिन् पटे हस्तादिभेदेन नानापटव्यवहारस्यापि स्कन्धदेशप्रदेशकरूपद्रव्यविभागेनैवोपपत्तेरुपादानता तु तत्र व्यवहारतस्तन्तुत्वादिना निश्चयतस्तुशक्तिविशेषेणेति तन्तोरिव द्वितन्त्वादेरपि न पटानुत्पत्तिः इत्थं च

पार्थिवत्वादिनाप्युपादानोपादेयभावो नियतारम्भनयेऽन्यथा तु शक्तिविशेषेण जलादिपरमाणोरपि पार्थिवारम्भस्य बहुलमुपलम्भात्, पुद्गलपर्यायत्वावच्छिन्ने पुद्गलद्रव्यत्वेनोपादानोपादेयभावस्तु कल्पनीयोऽन्यथाऽसमानजातीयद्रव्यपर्यायेमनुष्यादौ पुद्गलान्त्यविशेषाद्युपलम्भापत्तेः, इत्थमपि च चिदचितोर्भिन्नोपादानोपादेयत्वमव्याहतमव्यासज्यवृत्तिधर्मत्वादिति दिक्। 'पूर्वाकारेति' (१०२-१-११) द्रव्यार्थिकनयेनात्र देवादिपर्यायध्वंसविशिष्टात्मत्वेन तदव्यवहितोत्तरपर्यायत्वेनोपादानोपादेयभावः, पर्यायार्थिकनयेन तु स्वध्वंसत्वसम्बन्धेन देवादिपर्यायस्य मनुष्यादिपर्यायत्वावच्छिन्ने तादात्म्येनेति विशेषो द्रष्टव्यः। तस्य तेनाव्याप्तिरिति भिन्नलक्षणत्वस्य तत्त्वान्तरभावेन सह व्याप्यव्यापकभावाभावइत्यर्थः। 'मदजननशक्तिसद्भावादिति' (१०२-१-१४) तथा च साजात्यविशेषेण भिन्नलक्षणत्वविरोधादित्यर्थः। 'इष्टप्रतिष्ठानादिति' (१०२-२-३) चैतन्यशक्त्यन्वयिन आत्मद्रव्यस्यैव सिद्धेर्वीतरागजन्मादर्शनन्यायात्तस्य भूतनामकरणेऽपि वस्त्वव्याघातादित्यर्थः। तद्विवर्त्तत्वप्रसङ्गादिति (१०२-२-३) साजात्यविशेषस्य विनिगमकस्यानभ्युपगमारित्यर्थः। कादाचित्कत्वाच्चितो न विवर्त्तवरं भविष्यतीत्यत आह–'अनाद्यनन्तत्वाविशेषादिति' भूतचैतन्ययोरित्यर्थः। तथा चेच्छामात्रेणोपादानोपादेयभावाभ्युपगमेऽतिप्रसङ्गो दुर्वार इति भावः। 'चैतन्यविशेष इति' (१०३-१-६) अनावृतसर्वविषयकचैतन्य इत्यर्थः। न च कूटस्थनित्यात्मश्रुतिश्चैतन्यविशेषावस्थानाभ्युपगमविरोधिनी निर्द्धर्मकत्वस्य कूटस्थपदार्थत्वे चित्त्यधर्मस्याप्युच्छेदापत्तेस्तस्याश्रयाभिन्नातद्व्याप्त्यात्मकत्वेऽनन्तविशेषाणामपि तथात्वसम्भवात् सामान्यप्रतिज्ञाव्याघातान्नित्यत्वस्यापि च कथंचिन्नयविशेषेणैवोपपत्तेरिति, अनुभवेन (१०३-१-९) बुद्धिनिष्ठप्रतिबिम्बहेतुबिम्बचैतन्यलक्षणेनेत्यर्थः।

बुद्ध्यध्यवसितं (१०३-१-१०) बुद्धिप्रतिबिम्बितम्, चेतयते (१०३-१-१०) निश्चिनोति, तदुपायानुष्ठानवैयर्थ्यमेव स्यादिति (१०३-१-११) सर्वज्ञत्वोपायानां ध्यानमौनाचरणादीनां निरर्थकतैव स्यादित्यर्थः। 'स कोऽन्य इति' (१०३-२-३) एतेन दर्पणे मुखप्रतिबिम्बस्थानीयो बुद्धावहमिति पुरुषोपरागो मुखरक्ततासंसर्गस्थानीयो घट इत्यादिर्विषयोपरागो बिम्बचलनावेशस्थानीयः करोमीति व्यापारावेश इत्यंशत्रयकल्पनमपास्तम्। सम्बन्धसामान्यस्यातिप्रसञ्जकत्वात् सम्बन्धविशेषस्य च तादात्म्यातिरिक्तस्य युक्तिरिक्तत्वादमूर्त्तस्यात्मनः प्रतिबिम्बादिकल्पनाया बालक्रीडाप्रायत्वादिति द्रष्टव्यम्। न निवार्यन्त इति (१०४-१-१४) न च ज्ञानत्वाद्यवच्छिन्न एवादृष्टान्तःकरणादिहेतुत्वान्मुक्तौ तदजन्यज्ञानाद्यनुपपत्तिरिति वक्तुं युक्तम्, परैरपीश्वरज्ञानादिव्यावृत्तये जन्यत्वस्य कार्यतावच्छेदककोटौ दानात् तस्य च ध्वंसप्रतियोगित्वरूपत्वात्, ध्वंसाप्रतियोगिज्ञानादीनां मुक्तावनुपपत्त्यभावात्, न च जन्यत्वेन ज्ञानादीनां मुक्तावपि ध्वंस आवश्यक इति वाच्यम्। जन्यत्वेन ध्वंसहेतुत्वे मानाभावात् प्रतियोगिनो विशिष्य हेतुत्वेऽपि मुक्तज्ञानादीनां ध्वंसाहेतुत्वकल्पन एव लाघवात्, नचोपयोगस्य संसारदशायामन्तर्मुहूर्त्तादिकालनाश्यत्वदर्शनान्मुक्तावपि कालान्नाशप्रसङ्ग इति वाच्यम्। केवलज्ञानादीनां कालानाश्यत्वस्य तदुपयोगक्षणिकत्वे च प्रवाहतस्तदानन्त्यस्य सिद्धान्तसिद्धत्वादित्याद्यधिकमस्मत्कृतन्यायालोकादौ, अन्यत्र केवलेत्यादि (१०४-२-२) विशेषनिषेधस्य शेषाभ्यनुज्ञाफलकत्वादौपशमिकादिभावमध्यपतितस्य चारित्रादेः क्षायिकभावस्यापि सिद्धिसमये नाश इत्यस्माद्वचनाल्लभ्यते यो यः क्षायिको भावः स स नाशाप्रतियोगीतिनियमस्यानेनैवानिरासात्, केवलसम्यक्त्वाद्यन्यभावमात्रनाशेऽयोगिगुणस्थानचरमसमयस्य हेतुत्वात् क्षायिको भावः साद्यनन्त एवेति तु मतान्तरम्, तदाश्रयणे तु सिद्धा-

नामपि चारित्रं भवत्येव परं तन्मते सिद्धो नो चरित्री नो अचरित्री चारित्रालब्धिकानां मनःपर्यायवर्जानि चत्वारि ज्ञानानि भजनयेत्यादिसिद्धान्तवचनानुपष्टम्भ इत्येतन्महता प्रबन्धेनोपपादितमस्माभिरध्यात्ममतपरीक्षायामिति तत एवावगन्तव्यम् । तथा वचनं (१०४-२-६) कथञ्चिद्विशेषगुणनिवृत्त्यनिवृत्तिवचनम्, कथमेवमिति, अनन्तसुखस्य कण्ठतोऽनभिधानादयं प्रश्नः । 'सिद्धत्ववचनादिति' तथा च सिद्धत्वेनाक्षेपात्तल्लाभ इति भावः । 'सैव चेति' (१०४-२-६) आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिरेव चेत्यर्थः अभावस्य भावान्तरस्वरूपत्वादिति भावः । यद्यप्येवं दुःखनिवृत्त्युत्तरपरिणाममात्रेतिप्रसङ्गः तथाप्युपस्थितदुःखकारणनिवृत्त्यादेः सुखहेतुत्वस्य लोकशास्त्रसिद्धत्वात्तदत्यन्तनिवृत्त्यादिजन्यमनन्तसुखं मोक्षे सिद्ध्यतीत्यत्र तात्पर्यम् । तदाहुः श्रीहरिभद्राचार्याः ॥ " ❀जं सवसत्तु तह सवत्राहि सवत्थसवमिच्छाणं । खयविगमजोगपत्तीहिं होइ तत्तो अणंतगु(मि)णं ॥१॥ ति, वाचकचक्रवर्त्तिनोऽप्याहुः ॥ " देहमनोवृत्तिभ्यां भवतः शारीरमानसे दुःखे । तदभावात्तदभावे, सिद्धं सिद्धस्य सिद्धिसुखम् ॥१॥ इति । अथान्यत्र शत्रुक्षयादिज्ञानादेव सुखोत्पाददर्शनात् स्वरूपसत्या अत्यन्तदुःखनिवृत्तेरनन्तसुखहेतुत्वमयुक्त

❀ सिद्धसुखविंशिकायाम् ॥ रागाइया सत्तू कम्मुदया वाहिणो इहं नेया । लद्धीओ परमत्था इच्छाणिच्छेच्छमो य तहा ॥२॥ अणुहवसिद्धं एयं नारुग्गसुहं व रोगिणो नवर । गम्मइ इयरेण तहा सम्ममिणं चिंतियव्वं तु ॥३॥ एते अपि तत्रैव । ण य सव्वण्णू वि इम, उवमाभावा चएति परिकहिउ । ण य तिहुयणे वि सरिस, सिद्धसुहस्सावरं अत्थि ॥ १ ॥ इति धर्मसग्रहणौ ॥ जह नाम कोइ मिच्छो नगरगुणे वहुगुणे वियाणंतो । न चएइ परिकहेउं उवमाए तहिं असतीए ॥ १ ॥ जह सव्वकामगुणियं पुरिसोभोत्तूण भोयणं कोइ । तण्हाछुहाविमुक्को अच्छिज्ज जहा अमियतित्तो ॥ २ ॥ इत्याद्यप्यन्यत्र ॥

मिति चेत्, न। मूर्च्छाद्यवस्थाव्यावृत्तज्ञायमानदुःखनिवृत्तेरेव सुखहेतुत्वात्तस्याश्च मुक्तावप्यव्याहतत्वात्, तथापि सिद्धत्वमष्टकर्मक्षयजनितः साद्यनन्तः पारिणामिको भावः, सिद्धिसुखं च वेदनीयकर्मक्षयजनितम्, इति केयं वाचो युक्तिः सिद्धत्वमेवानन्तसुखमिति. समनियतत्वेन चैक्याश्रयणे सिद्धगुणाष्टकोपदर्शकव्याघात इति सिद्धत्वग्रहणेऽप्यनन्तसुखाग्रहणान्न्यूनत्वदोषः सूत्रस्यापरिहृत एवेति चेन्मैवम्, सिद्धत्वेनानन्तं सुखमुपलक्ष्यत इति न न्यूनत्वमित्यत्र तात्पर्यात्, अन्यत्रोपलक्षणत्वेनाविवक्षायां च सूत्रकर्त्तुः स्वतन्त्रेच्छत्वस्यैव शरणत्वात्, अत एवोचुः कंठरवेण विहितसहृदयाल्हादाः क्षमाश्रमणपादाः, "तस्सोदइआईआ भवत्तं च विणिवत्तए समयं। सम्मत्तनाणदंसणसुहसिद्धत्ताइ मोत्तूणं ॥१॥" इति, इत्यपर इति (१०४–२–७) तौताततित इत्यर्थः। तदाहुरुदयनाचार्याः "नित्यनिरतिशयसुखाभिव्यक्तिर्मुक्तिः" इति तौतातितिना इति, सोऽपीति, युक्त्यागमबाधश्च तौतातितस्य, सुखमात्रस्यादृष्टादजन्यत्वेन नित्यसुखे मानाभावादात्मरूपस्यैव सुखस्योपगमे तन्नित्यतया सुखनित्यत्वे संसारदशायामप्यात्माभिन्नतदभिव्यक्तौ मुक्तिप्रसंगाद्दुःखात्यन्तनिवृत्तेरेव नित्यसुखत्वप्रकारकाभिव्यक्तिहेतुत्वे विशेषणासिद्ध्या तस्याश्रमजनकत्वापत्तेरस्यार्थस्य निष्कर्षे नित्यस्य सुखस्याभिव्यक्तिर्नित्या वा सुखाभिव्यक्तिर्मोक्ष इत्यनुच्छिद्यमानसुखज्ञानधारात्मकमोक्षवादिदीधितिकृन्मतस्यैव पर्यायार्थादेशपेशलमतिप्रपञ्चितस्य साम्राज्यापत्तेः, द्रव्यार्थादेशे तु साद्यनन्तं सुखं तादृशी तदभिव्यक्तिश्चेत्युभयमपि मुक्तौ प्रामाणिकम्, तदाह, 'तदनन्तं सुखमित्यादि' (१०४–२–७) सातसंवेदनस्येति (१०४–२–९) सुखमात्रस्य स्वसंवेदनव्याप्यसत्ताकत्वनियमेनासंवेद्यमानस्य सुखत्वविरोधादित्यर्थः। ते वेदान्तिनः, परस्मात्मन इति (१०४–२–९) तस्यैव सच्चिदानन्दरूपत्वेन श्रुत्युक्तत्वादित्यर्थः। एवं सम्प्रधार्यम् (१०४–२–१०) एवं विचार-

णीयम्। 'अन्यथा द्वैतप्रसङ्गादिति' (१०४–२–१२) सुखं ब्रह्म चेत्युभयस्य जागरूकत्वादित्यर्थः। अथासुखव्यावृत्तिरेव सुखं ब्रह्मेति न द्वैतप्रसङ्ग इति यदि विभाव्यते, तदाऽतद्व्यावृत्त्याऽनन्तगुणात्मस्वभावावस्थितिरूपमुक्तिवादेऽपि न द्वैतप्रसङ्गो भविष्यतीति सन्तोष्टव्यम्, मन्यतामिति (१०४–२–१४) योगधर्ममहिम्ना जातस्य सर्वविषयकज्ञानस्य नाशकाभावेनाकालमनुवृत्तेरित्यर्थः। न च तपोविशेषफलं सार्वज्ञ्यं शापानुग्रहादिसामर्थ्यवत् कस्यचिदेव, मुक्तिस्तु सर्वस्य नित्यसत्यचिदानन्दस्वरूपैवेत्यपि वक्तुं युक्तम्। सार्वज्ञस्यात्मस्वभावताया व्यवस्थापितत्वात्तत्प्रतिबंधककर्मक्षयस्य सर्वमुक्तसाधारणत्वात्तपोविशेषस्यापि ब्रह्मप्राप्त्यर्थिना सार्वज्ञ्यसिद्धये क्रियमाणत्वाच्चेति दिक्। सौगतमतमुपन्यस्य दूषयति येऽपीत्यादिना (१०४–२–१४) 'प्रदीपेत्यादि' (१०५–१–१) प्रदीपनिर्वाणोपमं शान्तस्य निर्वाणमित्येतन्मतं यथा युक्त्याभ्युपायेन च बाध्यते पूर्वावस्थात उत्कृष्टजात्यप्राप्तेस्तदर्थिप्रवृत्त्यौपयिकयुक्तिबाधान्नाशस्य निर्हेतुकत्वाभ्युपगमेन कारणबाधाच्च तथा "निराश्रवचित्तसन्तानोत्पत्तिर्मुक्तिः" इति मतमपि आश्रवानाश्रवचित्तानां बन्धमोक्षसामानाधिकरण्यानुरोधार्थमेकद्रव्यान्वयाश्रयणावश्यकत्वे केवलपर्यायोद्देश्यकप्रवृत्त्यनुकूलयुक्तिबाधादाश्रवचित्तध्वंसरूपायास्तस्या निर्हेतुकत्वेनाभ्युपायबाधाच्च, तथा च मोक्षः पुरुषार्थो न स्यात् अनाश्रवचित्तक्षणेष्वेकां जातिमङ्गीकृत्य तदवच्छिन्ने चरमाश्रवचित्तक्षणस्य हेतुत्वे त्वेकैकक्षणस्य कार्यकारणकोटिमध्यप्रवेशे विनिगमकाभावस्तत्तत्क्षणस्य कुर्वद्रूपत्वानिश्चये प्रवृत्त्यभावश्च तात्त्विकोऽयं कार्यकारणभावो व्यावहारिकस्त्वन्य एवेति न मोक्षार्थं मायासूनवीयशास्त्रसिद्धदीक्षादिग्रहणानुपपत्तिरिति चेत्, न। चित्तात्मनः परिणामित्वमविद्यादिशब्दवाच्यमर्थान्तरं योगसामर्थ्यनाश्यं तन्मुक्तियोग्यतां च व्यवहारतो मोक्षार्थिप्रवृत्तेः कथमप्यघटनात्तन्नितयोपगमे च स्याद्वादिमतस्यैव साम्रा-

ज्यादित्यधिकं समर्थितमनेकान्तव्यवस्थायामस्माभिः । '**शरीरेणेति**' (१०५-१-३) शरीरनिवृत्तिरूपे मोक्षे शरीरसहावस्थिततत्त्वज्ञानस्य हेतुत्वायोगादित्यर्थः । **साक्षादिति** (१०५-१-४) साक्षात्काररूपम् अपरोक्षमिथ्याज्ञानेऽपरोक्षतत्त्वज्ञानस्यैव नाशकत्वाद्दिग्मोहादौ तथा दर्शनादिति भावः । **शरीराभावे** (१०५-१-५) इति साक्षात्तत्त्वज्ञानस्य शरीरनिवृत्तिरूपमोक्षहेतुत्वे तदुत्पत्त्यनन्तरं तदभावस्य बलादापत्तेरिति भावः । ननु तत्त्वज्ञानस्य मिथ्याज्ञानादिनिवृत्तिद्वाराशरीरान्तरानुत्पत्तौ कारणता । तथा च न्यायसूत्रं द्वितीयं "दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्ग" इति । एवं चोत्पन्नतत्त्वज्ञानस्य यावच्छरीरस्थिति नोपदेशविरोध इत्याशङ्क्य दूषयितुमाह, **यदि पुनरित्यादिना** (१०५-१-६) **उपात्तशरीरस्यापीति** (१०५-१-९) एकविंशतिभेदभिन्नदुःखनिवृत्तेरेव नैयायिकसाम्प्रदायिकैर्मोक्षत्वाभिधानादुक्तसूत्रस्य चार्थसिद्धक्रमाभिधानपरत्वादिति भावः । वस्तुतो "मुख्यदुःखध्वंसविशेषो मुक्तिः, इत्यर्वाक्तनमतमप्ययुक्तम्, उत्पन्नानुत्पन्नदुःखविकल्पग्रासेन तस्या अपुरुषार्थत्वादुत्पन्नस्य स्वत एव नाशादनुत्पन्नस्य च नाशयितुमशक्यत्वात्, न च चरमदुःखमुत्पाद्यतत्त्वज्ञानं तन्नाशयतीति न मुक्तेरपुरुषार्थत्वमित्यपि युक्तम्, दुःखे प्रवृत्तेः कथमपि कस्याप्ययोगाच्चरमत्वस्यार्थसमाजसिद्धत्वेन कार्यतानवच्छेदकत्वात् सुखान्तमुक्तेरसम्भवप्रसङ्गाच्चेति दिक् । **तथा चारित्रसहितमिति** (१०५-२-३) ननु केवलज्ञानस्यैव यथाख्यातचारित्रस्य परनिःश्रेयसरूपफलजनने विलम्बस्तुल्य एव परमशुक्लध्यानरूपसमाधेरविलम्बेन तदुत्पत्त्युपगमे च तस्यैव परनिःश्रेयसहेतुत्वमुच्यतां किं ज्ञानचारित्रयोस्तत्कल्पनयेति चेत् न, अन्वयव्यतिरेकाभ्यामागमाच्च ज्ञानचारित्रयोः परनिःश्रेयसहेतुत्वसिद्धावुक्तसमाधेर्द्वारत्वकल्पनेनाविरोधात्, न च मिथ्याज्ञानवासनायाः संसार-

हेतुत्वात्तद्विरोधितत्त्वज्ञानस्यैवोक्तसमाधिद्वारामुक्तिहेतुत्वमिति वाच्यम् । उक्तसमाधिरपि मुक्तिवत्कालान्तरभावित्वेन तत्रापि कर्मनिर्जराद्वारा ज्ञानस्य हेतुत्वे कल्पनीये मुक्तावेव ज्ञानकर्मणोस्तुल्यवत् समुच्चयबोधकागमेन ज्ञानवत्तथा चारित्रस्यापि हेतुताया अवर्जनीयत्वात् । न च "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन" इति वचनात् सञ्चितकर्मनाशे ज्ञानमेव कारणं प्रारब्धनाशस्तु भोगादेव, क्रियमाणं तु योगिकर्ममिथ्याज्ञानवासनाभावान्नादृष्टोत्पादकमिति न क्वापि चारित्रोपयोग इति शङ्कनीयम्, ज्ञानाग्निरित्यादेर्ज्ञानस्तुतिमात्रपरत्वात्, सङ्कोचावश्यकत्वे ज्ञानचारित्रयोः स्वस्वजन्यकर्मनाशे पृथग्घेतुत्वावश्यकत्वाद्विना चारित्रव्यापारमौपक्रमिकफलोपभोगस्य कथमप्यनुपपत्तेः, सम्मतश्चायमर्थः, "तण्डुलस्य यथा चर्म यथा ताम्रस्य कालिका। नश्यति क्रियया पुंसः पुरुषस्य तथा मलम्" ॥१॥ इत्यादि वाशिष्टग्रन्थादिनापि, नयवादास्तु तपःसंयमज्ञानानां मुक्तिहेतुत्वे भिन्नरुचिरूपतयैव व्यवतिष्ठन्ते, तथा च पारमर्षम् । "तवसंजमो अणुमओ णिग्गंथं पवयणं च ववहारे । सद्दुज्जुसुआणं पुण णिव्वाणं संजमो चेवत्ति" ॥१॥ अलमतिविस्तरेण, गुणानां (१०५–२–७) महदादिपरिणामानाम्, संसारोपपत्तेः (१०५–२–७) संसारसम्भवदर्शनात्, परेषां (१०५–२–८) सांख्यानाम् संवृत्या (१०५–२–८) उपचारमात्रेण, तत्कारणः (१०५–२–८) तन्मात्रकारणकः, तेन नोपक्रमोपसंहारविरोधः, कारणं चात्रोपादानरूपं ग्राह्यं तेन न वक्ष्यमाणव्याप्त्यनुपपत्तिः, सिद्धान्ते मिथ्याज्ञानाविरत्यादिनानासंसारोपादानाभ्युपगमेऽपि तद्विशिष्टात्मनः कारणस्यैकत्वान्न काप्याशङ्का, पर्यायार्थतया नानोपादानत्वस्य द्रव्यार्थतयैकोपादानत्वस्य चाविरोधादिति द्रष्टव्यम् । भाष्ये कैमर्थक्येति (१०६–१–२) मत्वर्थीयाचा किमर्थेत्यर्थः । विशेषैर्विशेषणमेतद्द्रष्टव्यम् । तत्र सुगतादौ, साङ्कर्यम् (१०६–१–४) अन्यत्र परिदृष्टजातीयत्वम्, विचित्राभिसन्धितानु-

पपत्तेरिति (१०६–१–२) तथा च विचित्राभिसन्धित्वाभावाद् व्यापारादिसांकर्याभावस्तद्विशेषाच्चातिशयः सर्वज्ञे सिद्ध्यत्येवेति भावः। नन्वसिद्धमेतद्विपरीतव्याप्तेरत आह, '**कुतश्चायमिति**' (१०६–१–३) तत्र (१०६–१–५) सुगतेऽस्य शरीरित्वादेः, **सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वात्** (१०६–१–५) अप्रयोजकत्वाहितव्यभिचारसंशयास्कन्दिततत्वादित्यर्थः। अप्रयोजकत्व–बीजविपक्षबाधकतर्काभावप्रचिकटयिषयाऽऽह, **विज्ञानप्रकर्ष इति** (१०६–१–५) प्रतिबन्द्या समाधत्ते, '**तत एवेत्यादि**' (१०६–१–६) तत एवाप्रयोजकत्वाहितव्यभिचारसंशयादेव, दुर्बलबलवदनुमानयोरविशेषापन्नं प्रतिवादिनमाक्षिपति– '**सोऽयमित्यादि**' (१०६–१–७) **कथमनुन्मत्त इति** (१०६–१–८) उन्मत्त एवेत्यर्थः। आक्षेपान्तरमाह, '**कैमर्थक्याच्चेत्यादि**' **कैमर्थक्याच्च** किमर्थाच्च, **सन्तानान्तरे** (१०६–१–८) स्वभिन्नयज्ञदत्तादिसन्ताने, तथा स्वसन्ताने क्षणक्षयस्य स्वर्गप्रापणशक्त्यादेश्च दानादिक्षणभिन्नतया, विशेषस्येष्टिः प्रतिज्ञा, सर्वज्ञत्वाद्यतिशय इव तत्र विप्रकृष्टस्वभाववत्त्वस्याविशेषात्, तत्रापि संशयसम्भवात् तत एव चित्रज्ञानस्य ज्ञानाद्वैतस्य वा विशेष्यस्य कथमिष्टिः कथं वा प्रमाणभूतत्वादिना सुगतगतस्य विशेषस्येति स्वाभ्युपगमविरुद्धमेतदखिलमिति भावः, **प्रमाणभूतस्येत्यादिना** (१०६–१–९) 'प्रमाणभूताय जगद्धितैषिणे प्रणम्य शास्त्रे सुगताय तायिने' इति सुगतस्तोत्रप्रतीकोत्कीर्त्तनं कृतं वृत्तिकृता, क्वचित् सामान्ये विशेषव्यभिचारदर्शनात् विशेषहेतावपि तद् दृष्टान्तोपष्टम्भेन व्यभिचारसंशयोद्भावनेऽनुमानमात्रोच्छेदप्रसङ्ग इत्याह, '**न चैवं वादिन इति**' (१०६–१–१०) निरभिसन्धीनामित्यनन्तरम् अनुमानानामिति विपरिणतस्यानुषङ्गः, निर्गतोऽभिसन्धिर्विशेषाभिप्रायो येभ्यस्तेषामनुमानानां वह्निचूतत्वादीनां ज्ञायमानलिङ्गानामपि, बहुलं भूम्ना, कार्यस्व भावानियमस्य

(१०६–१–१०) कार्यस्य नावप्रतिबद्धव्याप्यभावस्योपलम्भादन्यत्र तादृगनुमानसहस्रेऽप्यनाश्वासप्रसङ्गादित्यर्थः। दुर्लभविनियमतायां विशिष्टनिश्चयदौर्लभ्येऽकाष्टजातीयादपि वह्निजातीयदर्शनादित्यर्थः, कथमिव निर्णीयेतेति (१०६–१–१२) अवह्निजातीयादपि धूमजातीयसम्भावनादित्यर्थः, वृक्षः शिंशपात्वादिति इत्यपि कथमिव निर्णयेतेति योजनीयम्। लतेति (१०६–१–१३) चूतादेर्वृक्षत्वव्यभिचारित्वेन तज्जातीयतया शिंशपायामपि वृक्षत्वव्यभिचारसंशयसम्भवादित्यर्थः 'अदृष्टेति' अदृष्टे वस्तुन्येकान्ततः संशयवादिनां सौगतानामित्यर्थः। सोऽपि प्रतितेरपलापकः (१०६–२–२) सोऽपि सौगतः प्रतीयमानापह्नवकारी, कार्यस्येति कार्यस्य वह्न्यादेः, तादृशतया वह्नित्वादिनैकजातीयतया, प्रतीयमानस्यापि ज्ञायमानस्यापि, कारणविशेषस्य काष्ठादेः, अतिवृत्तेरतिक्रमस्य, दर्शनात्, ननु काष्ठादिजन्यतावच्छेदकतया वह्नौ वैजात्यं कल्पयिष्यते तदवच्छिन्नादेव कारणविशेषोऽनुमास्यत इत्येवं न प्रतीत्यपलापो विशेषापरिज्ञानं तु पुरुषदोषो न तु वस्तुदोष इति नानुपपत्तिरिति मनसि कृत्याह भाष्यकृत् यत्नत इत्यादि, यत्नतः परीक्षितं (१०६–२–३) सूक्ष्मेक्षिकया विशेषे पर्यवसायितम्, कार्यं कारणं नातिवर्त्तते (१०६–२–३) कारणव्यभिचारशङ्कास्पदं न भवतीत्यर्थः। स्तुतं प्रस्तुतमिति (१०६–२–३) अस्माभिः प्रकृतं त्वयाऽभीष्टत्वेन स्तुतिविषयीकृतमित्यर्थः। अनतिवृत्तिरव्यभिचारः, (१०६–२–४) उपचर्यत इति (१०६–२–११) अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनिमहिम्नेत्यर्थः। अनिर्वचनीयप्रभावास्पदत्वं व्यङ्ग्यम्, क्वचिदविप्रतिषेधादिति सुषुप्त्यादौ निराकृतवाचोऽविगानेनोपलम्भादित्यर्थः। पुनः स्मर्येतेति (१०७–१–२) इच्छानुभवस्येच्छास्मृतौ हेतुत्वादित्यर्थः। न च स्मर्यते सुप्तोत्थितेन तस्मात्सुषुप्तावनाकृतवचनहेतुः प्रतिसंविदिताकारेच्छा नास्तीति भावः। तर्ह्यज्ञातनष्टा सा तदा भविष्यतीत्याशङ्कते–

‘अप्रतिसंविदिताकारेत्यादि’ (१०७–१–३) इच्छायाः स्वसमानाधिकरणज्ञानविषयत्वनियमेनाज्ञाततदसम्भव इत्यर्थः। तदनियम एवेति (१०७–१–१३) वागादिप्रवृत्तेरिच्छापूर्वकत्वानियम एवेत्यर्थः। ननु वचनमात्रे विवक्षाया हेतुत्वात्तन्नियमो भविष्यतीत्यत आह, ‘ततश्चैतन्येत्यादि’ (१०७–१–१३) चैतन्यकरणपाटवे तावद्वचनं प्रतिनियतो हेतुः, विवक्षा तु कण्ठाद्यभिघातजनकप्रवृत्तिजनकेच्छाजनकेष्टसाधनताज्ञानविषयस्येष्टतासम्पादनार्थं क्वचिदुपयुज्यमाना न नियतहेतुर्वचनहेतोः कण्ठाद्यभिघातस्य विनापीच्छां गोत्रसङ्खलनादावदृष्टविशेषादुपपत्तेस्तद्वदेव वीतरागस्याप्यनाकूतवाचस्तीर्थकरनामकर्मोदयसामर्थ्यादुपपत्तेरिति निगर्वः। ननु सुपुप्तावनाकूतवाचो दोषमहिम्नैव दर्शनाद्दोषजातेर्वाग्घेतुत्वं स्यात्तथा च न निर्दोषस्य सर्वस्य तदुपपत्तिरित्याशङ्क्याह भाष्यकृत्, ‘नचेत्यादि’ (१०७–२–४) वाक्प्रकर्षापकर्षयोर्दोषजातिप्रकर्षापकर्षाननुविधायित्वान्न तस्यास्तद्धेतुत्वमिति भावः। वाञ्छन्तो वेति (१०७–२–८) वा शब्दोऽप्यर्थः, वक्तुमित्यध्याहार्यम्। तथा च वक्तुं वाञ्छन्तोऽपि मन्दबुद्धयः शास्त्राणां वक्तारो न भवन्तीति विवक्षावचनेन नियतहेतुरिति निर्व्यूढं भाष्ये, बाधनमिति (१०७–२–१०) करणे नद् बाधकमित्यर्थः। परमतापेक्षमिति (१०७–२–१०) परमतत्वस्य वस्तुतः प्रसिद्धत्वाभावादित्यर्थः। परमतप्रसिद्धेनैकान्तानित्यत्वादिना त्वदिष्टमनेकान्ततत्त्वं न बाध्यते तत्प्रसिद्धेरप्रामाण्यशङ्काकलङ्कितत्वात्, त्वदिष्टतत्त्वे च विपर्यये व्याघातदण्डभयेनैव विरोधिशङ्कानुत्थानादिति निर्गलितोऽर्थः, ‘तद्व्यवच्छेदनार्थमपीति’ (१०७–२–१४) अध्यक्षं हि स्वलक्षणविषयत्वेन प्रमाणम्, अनुमानं तु समारोपव्यवच्छेदकत्वेन च योगिप्रत्यक्षस्यानुमानमूलव्याप्तिग्राहकत्वाभ्युपगमे तत एव समारोपनिवृत्तौ क्वचिदनुमानप्रमाणप्रवर्त्तैतेत्यपेरर्थः, पूर्वापरेति (१०८–१–१) पूर्वं कारणमपरं कार्यं तयोः परामर्शस्तद्ज्ञान-

पूर्वकान्वयव्यतिरेकादिज्ञानं तच्छून्यत्वात्तदेकोपयोगापरिणतत्वात्, अभिलापसंसर्गरहितत्वाच्छब्दाविषयत्वात्, विचारस्य च प्रातिस्विकजात्यपरिचये शब्दावच्छेदेनैव पर्यवसानादिति भावः। प्रत्यक्षानुपलम्भसहकारिण (१०८–१–५) इति प्रत्यक्षं यत्र धूमस्तत्राग्निरित्यन्वयसहचारज्ञानम्, अनुपलम्भो यत्राग्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्तीति व्यतिरेकसहचारज्ञानं तौ सहकारिणौ यस्य स तथा तस्येत्यर्थः। 'यतस्तत्रेति' (१०८–१–९) तत्प्रकारकज्ञानस्यैव तदभावप्रकारकज्ञानविरोधित्वेन निर्विकल्पकस्य च तथात्वेन समारोपाविरोधित्वादित्यर्थः। सन्निधानाभेदात् (१०८–१–१०) सन्निधानतुल्यत्वात्, भावाभावयोरिति (१०८–१–१४) यद्भावे यद्भावः यदभावे च यदभावस्तं प्रति तस्य साधकतमत्वमित्यर्थः ॥६॥ संवेदनाद्वैतवाद्याह—

त्वन्मतामृतबाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम् । आप्ताभिमानदग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते ॥७॥

त्वन्मतमनेकान्तात्मकं वस्तु तज्ज्ञानं च । तदेवामृतम्, अमृतस्य मोक्षस्य कारणत्वात् सर्वथा निर्बाधत्वेन परितोषकारित्वाच्च । ततो बाह्याः सर्वथैकान्तास्तदभिनिवेशिनश्च वादिनः । ते चाप्ताभिमानदग्धा एव विसंवादकत्वेन तत्त्वतोऽनाप्तत्वाद्वयमाप्ता इत्यभिमानेन स्वरूपात्प्रच्यावितत्वाद्दग्धा इव दग्धा इति समाधिवचनत्वात्, तेषां स्वेष्टस्य सदाद्येकान्तस्य दृष्टबाधनात् । अनेकान्तात्मकवस्तुसाक्षात्करणं बहिरन्तश्च सकलजगत्साक्षीभूत विपक्षे प्रत्यक्षविरोधलक्षणमनेन दक्षयति । सदाद्येकान्तविरोधस्यानेकान्तात्मकवस्तुसाक्षात्करणलक्षणत्वाद्, बहिरिवान्तरपि तत्त्वस्यानेकान्तात्मकतया सकलदेशकालवर्तिप्राणिभिरनुभवनात् सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वसिद्धेः । न हि किञ्चिद्रूपान्तरविकलं सदसन्नित्यानित्याद्येकान्तरूपं संवेदनमन्यद्वा सपश्यामो यथात्र प्रतिज्ञायते, चित्रज्ञानवत्कथञ्चिदसङ्कीर्णविशेषैकात्मनः सुखादिचैतन्यस्य वर्णसंस्थानाद्यात्मनः स्कन्धस्य च प्रेक्षणात् । स्यान्मतं " सुखादिचैतन्यमसंकीर्णविशेषात्मक-

मेव न पुनरेकात्मकं, सुखचैतन्यादाह्लादनाकारान्मेयबोधनाकारस्य विज्ञानस्यान्यत्वाद्, विरुद्धधर्माध्यासस्यान्यत्वसाधनत्वाद्, अन्यथा विश्वस्यैकत्वप्रसङ्गात्" इति तदसत्, चित्रज्ञानस्याप्येकात्मकत्वाभावप्रसङ्गात् पीताकारसवेदनस्य नीलाद्याकारसवेदनादन्यत्वात्, तद्वद्विरुद्धधर्माध्यासात्। यदि पुनरशक्यविवेचनत्वात्पीताद्याकारसवेदनमेकात्मकमुररीक्रियते तदा सुखादिसंवेदनेन कोऽपराधः कृतः? तस्याप्यशक्यविवेचनत्वादेवैकात्मकत्वोपपत्तेः, पीताद्याकाराणामिव सुखाद्याकाराणां चैतन्यान्तरं नेतुमशक्यविवेचनत्वसद्भावात्। तर्ह्येकात्मकमेव सुखादिचैतन्यं न पुनरसंकीर्णविशेषात्मकमित्यपि न मन्तव्यं, चित्रज्ञानस्याप्यसंकीर्णविशेषात्मकत्वाभावप्रसङ्गात्। तथा च सति न तच्चित्रमेकज्ञानवत्। चित्रज्ञाने पीताद्याकारप्रतिभासस्याविद्योपकल्पितत्वादेकात्मकत्वमेव वास्तवमिति चेत्, कथमेकानेकाकारयोः प्रतिभासाविशेषेपि वास्तवेतरत्वप्रविवेकः? एकाकारस्यानेकाकारेण विरोधात्तस्यावास्तवत्वे कथमेकाकारस्यैवावास्तवत्वं न स्यात्? स्वप्नज्ञानेऽनेकाकारस्यावास्तवस्य प्रसिद्धेश्चित्रज्ञानेपि तस्यावास्तवत्वं युक्तं कल्पयितुमिति चेत्, केशादावेकाकारस्याप्यवास्तवत्वसिद्धेस्तत्रावास्तवत्वं कथमयुक्तम्? पीताद्याकारस्य संवेदनादभेदेनैकत्वविरोधाद्भेदे प्रतिभासासम्भवात्, प्रतिभासे वा संवेदनान्तरत्वापत्तेरवास्तवत्वमेवेति चेत्, तत एवैकाकारस्यावास्तवत्वमस्तु, तस्यापि पीताद्याकारप्रतिभासेभ्योनर्थान्तरतायामेकत्वविरोधादर्थान्तरतायां सवित्त्यभावात्, संवित्तौ वा ज्ञानान्तरत्वप्रसक्तेर्विशेषाभावात्। ततो न चित्रज्ञानेऽनेकाकारप्रतिभासस्यैव प्रेक्षावद्भिरवास्तवत्वं शक्यं कल्पयितुम्, येनेदमेवाभिधीयमानं शोभेत "किं स्यात्सा चित्रतैकस्या न स्यात्तस्यां मतावपि। यदीदं स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम्" ॥१॥ इति। पुनरिदमपि, "किं नु स्यादेकता न स्यात्तस्यां चित्रमतावपि। यदीदं रोचते बुद्ध्यै चित्रायै तत्र के वयम्" ॥२॥ इति। ननु चैकस्या मतौ चित्रतापायेपि सवेदनमात्रस्य भावान्न स्वरूपस्य स्वतो गतिर्विरुद्ध्यते। संवेदनमात्रस्य त्वपाये सा विरुद्ध्येतेति चेत्, न,

तदभावेपि नानापीतादिप्रतिभाससद्भावात्तदविरोधात् । नन्वेवं 'नीलवेदनस्यापि प्रतिपरमाणु भेदान्नीलाणुसंवेदनैः परस्परं भिन्नैर्भवितव्यम् । तत्रैकनीलपरमाणुसंवेदनस्याप्येवं वेद्यवेदकसंविदाकारभेदात्त्रितयेन भवितव्यम् । वेद्याकारादिसंवेदनत्रयस्यापि प्रत्येकमपरस्ववेद्याकारादिसंवेदनत्रयेण इति परापरवेदनत्रयकल्पनादनवस्थानान्न क्वचिदेकवेदनसिद्धिः संविदद्वैतविद्विषाम् । क्वचिदप्येकात्मकत्वानभ्युपगमे च कुतो नानात्मव्यवस्था ? वस्तुन्येकत्रापरैकवस्त्वपेक्षयानेकत्वव्यवस्थोपपत्तेः । क्वचिदैक्योपगमे वा कथं चित्रमतौ नैक्यमविरुद्धं ? चित्राकारापायेपि तस्य सम्भवात् ।' इति कश्चित्, सोऽप्यप्रेक्षापूर्ववादी, तथा सति चित्रज्ञाने संविदाकारवदेकस्य पीताकारस्य नीलाकारस्य च सद्भावसिद्धौ परस्परापेक्षयानेकत्वसिद्धेरनेकचैतन्यव्याप्तस्यानेकाकारस्य चित्रज्ञानस्यान्तरेकानेकात्मकत्वसाधने निदर्शनत्वोपपत्तेः । स्यान्मतं, सुखादीनां चैतन्यं व्यापकं भवत् किमेकेन स्वभावेन भवत्यनेकेन स्वभावेन वा ? यद्येकेन तदा तेषामेकस्वरूपत्वापत्तिः । अथानेकेन तदा सोऽप्यनेकस्वभावः परेणानेकेन स्वभावेन व्यापनीय इत्यनवस्था । अथैकादृशेन स्वभावेन सुखादयश्चैतन्येन व्याप्यन्ते तदानेकेन स्वभावेन सजातीयेनेत्युक्तं स्यात् । तत्र च सैवानवस्था । न च गत्यन्तरमस्ति येन सुखादिव्याप्यैकं चैतन्यं सिद्ध्येदिति । तदेतच्चित्रज्ञानेपि समानम् । तस्य पीताद्याकारव्यापिनः स्वयं संवेदनान्न दोष इति चेत्, सुखादिव्यापिनश्चैतन्यस्य सह क्रमेण च स्वयं संवेदनात्कथमुपालम्भः स्यात् ? न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम । न च सुखादीना चैतन्यव्याप्तत्वसंवेदनं भ्रान्तम्, अचेतनत्वग्राहिप्रमाणाभावात् । अचेतनाः सुखादयः, उत्पत्तिमत्त्वाद्, घटादिवदित्यनुमानं सुखाद्यचेतनत्वग्राहीति चेत्, न, तस्य प्रत्यक्षबाधितविषयत्वात्, चित्समन्वितानामेव सुखादीनां स्वसंवेदनप्रत्यक्षे सर्वदाप्रतिभासनात् । अनुमानविरुद्धश्च पक्षः । तथा हि । चेतना सुखादयः, स्वसंवेद्यत्वात् पुरुषवत् । पुरुषसंसर्गात्तेषां स्वसंवेद्यत्वात्स्वतः संवेद्यत्वमसिद्धमिति चेत्, न,

जातुचिदस्वसंवेद्यत्वाऽप्रतीतेस्तथा वक्तुमशक्तेः, अन्यथा पुरुषस्य स्वसंवेद्यसुखादिसबन्धात्स्वसंवेद्यत्वं, न स्वत इति वदतो निवारयितुमशक्यत्वात्, चैतन्यविशेषेण हेतोर्व्यभिचारप्रतिपादनाच्च, न ततोऽचेतनत्वसिद्धि', सुखादीनाम् । न चैषां चेतनत्वसाधनेऽपसिद्धान्तः स्याद्वादिनां प्रसज्येत, चैतन्यजीवद्रव्यार्थादेशाच्चेतनत्वप्रसिद्धेः, सकलौपशमिकादिभावानां सुखज्ञानादिप्रतिनियतपर्यायार्थादेशादेव सुखादीनां ज्ञानदर्शनाभ्यामन्यत्ववचनात् । तथापि ज्ञानात्मकाः सुखादयो, ज्ञानाभिन्नहेतुजत्वाद्विज्ञानान्तरवदिति चेत्, न, सर्वथा विज्ञानाभिन्नहेतुजत्वासिद्धत्वात्, सुखादीनां सद्वेद्योदयादिनिमित्तत्वाद्विज्ञानस्य ज्ञानावरणान्तरायक्षयोपशमादिनिबन्धनत्वात् । कथञ्चिद्विज्ञानाभिन्नहेतुजत्व तु रूपालोकादिनानैकान्तिकं, यथैव हि ततो विज्ञानस्योत्पत्तिस्तथा रूपालोकादिक्षणान्तरोत्पत्तिरपीति परैः स्वयमभिधानात् । तदेतेन यदभ्यधायि "तदतद्रूपिणो भावास्तदतद्रूपहेतुजाः । तत्सुखादिकिमज्ञानं विज्ञानाभिन्नहेतुजम्" ॥१॥ इति तदपास्तं, सुखादीना विज्ञानरूपत्वासिद्धेः । " सुखमाह्लादनाकारं विज्ञानं मेयबोधनम् । शक्तिः क्रियानुमेया स्याद्यूनः कान्तासमागमे" ॥१॥ इति वचनादतद्रूपाः सुखादय इति । अतद्रूपाणां तद्रूपोपादानत्वे सर्वस्य सर्वोपादानत्वप्रसक्तिः । न च सुखादयो विज्ञानाभिन्नोपादानाः स्युः । विज्ञानाभिन्नसहकारित्वं तु यथा सुखादीनां तथा रूपादीनामपि । इति ततस्तेषां विज्ञानात्मकत्वसाधने रूपादीनामपि तथात्वसाधनं स्यात् । तदुक्तं "तदतद्रूपिणो भावास्तदतद्रूपहेतुजाः । तद्रूपादि किमज्ञानं विज्ञानाभिन्नहेतुजम्" ॥१॥ इति । यदि पुनरिन्द्रियहेतुजत्वं विज्ञानाभिन्नहेतुजत्वमित्यभिधीयते, तदपि न सुखादीनां ज्ञानत्वं साधयति, द्रव्येन्द्रियानिन्द्रियैर्व्यभिचारात् । इति नैकान्ततो ज्ञानात्मकाः सुखादयो, द्रव्यार्थत एव तेषां चेतनत्वोपपत्तेः, चेतनद्रव्यादात्मनोऽनर्थान्तरभूतानामचेतनत्वविरोधात् । एतेन ज्ञानादर्थान्तरभूतत्वात्सुखादीनामचेतनत्वमेवेति वदन्तोऽपाकृताः प्रत्येतव्याः, चेतनादात्मनोऽनर्थान्तरत्वेन कथञ्चिच्चेतनत्वसिद्धेः । आत्मनश्चेतनत्वम-

सिद्धमिति चेत्, न, तस्य प्रत्यक्षप्रसिद्धत्वात्। तथात्मा चेतनः, प्रमातृत्वाद्, यस्त्वचेतनः स न प्रमाता, यथा घटादिः, प्रमाता चात्मा, तस्माच्चेतन इत्यनुमानाच्च तत्सिद्धम्। प्रमितिस्वभावचेतनासमवायादात्मनि चेतनत्वसाधने सिद्धसाध्यतेति चेत्, न, स्वयं सामान्यतश्चेतनत्वसाधनात्, तदभावे चेतनाविशेषप्रमितिसमवायायोगात्पटादिवत्, कथञ्चित्तादात्म्यस्यैव समवायस्य साधनात्। चेतनादप्यात्मनः कथमभिन्नाः सुखादयो, भिन्नप्रतिभासविरोधादिति चेत्, न, तत्र सर्वथा भिन्नप्रतिभासस्यासिद्धत्वात्, कथञ्चिद्भिन्नप्रतिभासस्य कथञ्चिदभेदाविरोधात्, चित्रज्ञानवदेव सुखाद्यात्मनः पुरुषस्यैकस्य घटनात्, सर्वेषामेकानेकात्मनश्चित्रज्ञानस्येष्टत्वात्। तत्सिद्धं चित्रज्ञानवत्कथञ्चिदसङ्कीर्णविशेषैकात्मनः सुखादिचैतन्यस्य प्रेक्षणं तथा वर्णसंस्थानाद्यात्मन. स्कन्धस्य च। न हि वर्णादीनामेव प्रेक्षणं प्रत्यक्षबुद्धौ, न पुनः स्कन्धस्यैकस्येति कल्पनमुपपन्न, सर्वाग्रहणप्रसङ्गात्, स्कन्धव्यतिरेकेण वर्णादीनामनुपलम्भात् स्कन्धस्येवासत्त्वात्। अथ 'प्रत्यासन्नासंसृष्टा रूपादिपरमाणवः प्रत्यक्षाः, तेषां स्वकारणसामग्रीवशात्प्रत्यक्षसंविज्जननसमर्थानामेवोत्पत्ते., स्कन्धस्यापि तत एव परेषां प्रत्यक्षतोपपत्तेरन्यथा सर्वस्कन्धाना प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्, स्कन्धत्वाविशेषात्। तदविशेषेपि केषाञ्चित्प्रत्यक्षत्वे परेषामप्रत्यक्षस्वभावत्वे पिशाचशरीरादीना तथा स्वकारणादुत्पत्तेः परमाणूनामपि केषाञ्चित्प्रत्यक्षत्वमन्येषामप्रत्यक्षत्वं तत एवास्तु, किमवयविपरिकल्पनया? तस्याऽमूल्यदानक्रयित्वात्। स हि प्रत्यक्षे स्वात्मानं न समर्पयति प्रत्यक्षता च स्वीकर्तुमिच्छतीत्यमूल्यदानक्रयी, विकल्पबुद्धावेव तस्य प्रतिभासनाद्विचार्यमाणस्य सर्वथानुपपन्नत्वात्' इति मतं तदप्यसंगतमेव, प्रत्यासन्नासंसृष्टपरमाणूनां तथात्वेन कस्यचित्कदाचिन्निश्चयासत्त्वात् प्रत्यक्षतानुपपत्तेः, स्कन्धस्यैव स्फुटमध्यक्षेऽवभासनात् तथा निश्चयनाच्च प्रत्यक्षत्वघटनात्। न च परमाणुवत्सर्वे स्कन्धाः समपरिमाणा एव, येन केषाचित्प्रत्यक्षत्वे सर्वेषा प्रत्यक्षस्वभावता स्यात्, अणुमहत्त्वादिपरिमाणभेदेन तेषामदृश्येतरस्वभावभेदाद्भेदसिद्धेः। न

चायममूल्यदानक्रयी, प्रत्यक्षे स्वसमर्पणेन प्रत्यक्षतास्वीकरणात्, सर्वथा विचार्यमाणस्यापि घटनात् । विचारयिष्यते चैतत्पुरस्तात् ।

अपरः प्राह, स्कन्ध एव, न वर्णादयस्ततोऽन्ये सन्ति, तस्यैव चक्षुरादिकरणभेदाद्वर्णादिभेदप्रतिभासनात्, किञ्चिदङ्गुलिपिहितनयनभेदादीपकलिकाभेदप्रतिभासनवदिति, तदप्यसम्यक्, सत्ताद्यद्वैतप्रसङ्गात्। शक्यं हि वक्तुं सत्तैवैका, न द्रव्यादयस्ततोऽर्थान्तरभूताः सन्ति, कल्पनाभेदात्तद्भेदप्रतिभासनादिति । न चैतद्युक्तमिति निवेदयिष्यते । ततश्चित्रज्ञानवन्न केवलं सुखाद्यात्मनश्चैतन्यस्य प्रेक्षणं सिद्धम् । किं तर्हि ? वर्णसंस्थानाद्यात्मनः स्कन्धस्यापि । ततः सूक्तं न हि किञ्चिद्रूपान्तरविकलं सदेकान्तरूपमसदेकान्तरूपं वा, नित्यैकान्तरूपमनित्यैकान्तरूपं वा, अद्वैतैकान्तरूपं द्वैताद्येकान्तरूपं वा, संवेदनमन्तस्तत्त्वमन्यद्बहिस्तत्त्वं संपश्यामो, यथा प्रतिज्ञायते सर्वथैकान्तवादिभिरिति । सामान्यविशेषैकात्मनः संवित्तिरेकान्तस्यानुपलब्धिर्वा सर्वतः सिद्धा चक्षुरादिमतामनार्हतकल्पनामस्तङ्गमयतीति किं नः प्रमाणान्तरेण । न तावत्सामान्यैकान्तस्योपलब्धिर्विशेषस्याप्युपलब्धेः । नापि विशेषैकान्तस्य, सामान्यस्यापीक्षणात् । न सामान्यविशेषैकान्तयोरेव परस्परनिरपेक्षयोः, एकात्मनोप्युपलक्षणात्। न चैकात्मन एव सामान्यविशेषैकात्मनः, ततो जात्यन्तरस्य संवित्तेः। सर्वं हि वस्तु सामान्यं विशेषापेक्षया विशेषः सामान्यापेक्षया वाऽपोद्धारकल्पनायां, स्वरूपेण तु सामान्यविशेषात्मकमेकम्। तस्य संवित्तिश्चक्षुरादिमतामनार्हतकल्पनामस्तङ्गमयति, चक्षुरादिविकलानामेव तत्संभवात् । एकान्तस्यानुपलब्धिर्वा तामस्तङ्गमयतितत एव । तथा हि । नास्ति सर्वथैकान्तः, सर्वदानेकान्तोपलब्धेरिति स्वभावविरुद्धोपलब्धिः, नास्ति सर्वथैकान्तोऽनुपलब्धेरिति स्वभावानुपलब्धिर्वा सर्वतश्चक्षुरादेः संवेदनात्सिद्धाऽध्यवसीयते । ननु च 'सर्वथैकान्तस्य क्वचित्कदाचिदुपलब्धौ न सर्वत्र सर्वदा प्रतिषेधः सिद्ध्येत्। तस्यानुपलब्धौ नानेकान्तेन विरोधः, सत एव कथञ्चित्केनचिद्विरोधप्रतीतेः। प्रतिषेधश्च न स्यात्, तत एव ।' इति कश्चि

तदसत्, सर्वथैकान्तस्याध्यारोप्यमाणस्य प्रतिषेधसाधनात् तद्विरुद्धोपलब्धिसिद्धेस्तत्स्वभावानुपलब्धिसिद्धेश्च, स्वयमन्यथा कस्यचिदनिष्टतत्त्वप्रतिषेधायोगादिष्टतत्त्वनियमानुपपत्तेः अथवा प्रत्यक्षमेव सामान्यविशेषात्मकमेकं वस्तु विदधत्सर्वथैकान्तप्रतीतिं प्रतिषेधयतीति किं नः प्रमाणान्तरेणानुमानेनानुपलब्धिलिङ्गेन समर्थनापेक्षेण ? प्रयासमन्तरेणेष्टानिष्टतत्त्वविधिप्रतिषेधसिद्धेः। न हि दृष्टाज्ज्येष्ठं गरिष्ठमिष्टं, तदभावे प्रमाणान्तराप्रवृत्तेः समारोपविच्छेदविशेषाच्च। ननु च दृष्टं प्रत्यक्षमिष्टं पुनरनुमानादि प्रमाणम्। तत्र यथा दृष्टं ज्येष्ठम्, अनुमानादेरग्रेसरत्वात्, तथानुमानाद्यपि प्रत्यक्षात्, तस्यापि तदग्रेसरत्वात्, क्वचिदनुमानाद्युत्तरकालं प्रत्यक्षस्य प्रवृत्त्युपलक्षणत्वात्। यथा च "दृष्टमविसंवादकत्वाद्गरिष्ठमिष्टात् तथेष्टमपि दृष्टात्," तदविशेषात्। ततः कथं दृष्टमिष्टाज्ज्येष्ठं गरिष्ठं च व्यवतिष्ठते, न पुनरिष्टं दृष्टादिति न चोद्यमनवद्यं, दृष्टस्य लिङ्गादिविषयस्याभावेऽनुमानादे. प्रमाणान्तरस्याप्रवृत्तेः, अनुमानान्तराल्लिङ्गादिप्रतिपत्तावनवस्थाप्रसङ्गात् प्रत्यक्षस्यैव नियतसकलप्रमाणपुरस्सरत्वप्रसिद्धेर्ज्येष्ठत्वोपपत्तेः प्रत्यक्षस्यानुमानादिना विनैव प्रवृत्तेरनुमानादेर्दृष्टात्पुरस्सरत्वाभावात्, ततो ज्येष्ठत्वायोगाद्, दृष्टस्यैव चेष्टाद्गरिष्ठत्वात् समारोपविच्छेदविशेषात्। न हि यादृशो दृष्टात्समारोपविच्छेदो विशेषविषये प्रतिनिवृत्ताकाङ्क्षोऽक्षूणतया लक्ष्यते तादृशोनुमानादेः, तेन सामान्यतः समारोपस्य व्यवच्छेदनात्, दृष्टस्यान्वयव्यतिरेकयोः स्वभावभेदप्रदर्शनार्थत्वाच्च गरिष्ठत्वसिद्धेः। प्रत्यक्षमेव हि स्वविषये सामान्यविशेषात्मकत्वान्वयस्य विधिलक्षणस्य सर्वथैकान्तव्यतिरेकस्य च प्रतिषेधलक्षणस्य स्वभावभेदप्रदर्शनप्रयोजनमुपलक्ष्यते साक्षात्, न पुनरनुमानादि तस्य सामान्यतस्तत्प्रदर्शनप्रयोजकत्वात्। किमर्थं पुनरार्हतस्येष्टस्य प्रसिद्धेनाबाधनं भगवतोर्हत· परमात्मकत्वं चाभिधाय सर्वथैकान्तस्य दृष्टेन बाधनं स्वयमसम्मतस्य, कपिलादीनां परमात्मत्वाभावं च सामर्थ्यलभ्यमपि ब्रवीति ग्रन्थकार इति चेत्, अनेकान्तैकान्तयोरुपलम्भानुपलम्भयोरेकत्वप्रदर्शनार्थं तावदुभयमाह मतान्तरप्रतिक्षेपार्थं वा,

यदाह धर्मकीर्तिः, साधर्म्यवैधर्म्ययोरन्यतरेणार्थगतावुभयप्रतिपादनं पक्षादिवचनं वा निग्रहस्थानमिति । न तद्युक्तम् । कुत इति चेत्, साधनसामर्थ्येन विपक्षव्यावृत्तिलक्षणेन पक्षं प्रसाधयतः केवल वचनाधिक्योपालम्भच्छलेन पराजयाधिकरणप्राप्तिः स्वयं निराकृतपक्षेण प्रतिपक्षिणा लक्षणीयेति वचनात् । यथोक्तेन हि साधनसामर्थ्येन स्वपक्षं साधयतः सद्वादिनः सभ्यसमक्षं जय एवेति युक्तं, न केवलं वचनाधिक्योपालम्भव्याजेन पराजयाधिकरणप्राप्तिः साधीयसी, स्वसाध्यं प्रसाध्य नृत्यतोऽपि दोषाभावाल्लोकवत् । सा च स्वयं निराकृतपक्षेण प्रतिवादिना लक्षणीयेत्यपि न युक्तं, परेण निराकृतपक्षस्यैव पराजयप्राप्तियोग्यत्वनिश्चयाल्लोकवदेव । यदि पुनः स्वपक्षमसाधयतो वादिनो वचनाधिक्येन प्रतिवादी पराजयप्राप्ति लक्षयेत् तदा स्वपक्षं साधयन्नसाधयन्वा ?, प्रथमपक्षे स्वपक्षसिद्धयैव परस्य पराजितत्वाद्वचनाधिक्योद्भावनमनर्थकं, तस्मिन् सत्यपि पक्षसिद्धिमन्तरेण जयायोगात् । द्वितीयपक्षे तु युगपद्वादिप्रतिवादिनोः पराजयप्रसङ्गो जयप्रसङ्गो वा, स्वपक्षसिद्धेरभावाविशेषात् । स्यान्मतं ' न स्वपक्षसिद्ध्यसिद्धिनिबन्धनौ जयपराजयौ, तयोर्ज्ञानाज्ञाननिबन्धनत्वात् । तत्र साधर्म्यवचने वैधर्म्यवचनेपि वार्थस्य प्रतिपत्तौ तदुभयवचनात्साधनवचनसामर्थ्याज्ञानं वादिनः स्यादेव । प्रतिवादिनस्तु तदुद्भावयतस्तज्ज्ञानम् । अतस्तद्धेतुकौ तयोर्जयपराजयौ कथमयुक्तौ स्याताम् ? ' इति, तदपि न परीक्षाक्षमं वादिप्रतिवादिनोः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहवैयर्थ्यप्रसङ्गात् कचिदेकत्रापि पक्षे ज्ञानाज्ञानयोः सम्भवात् । न हि शब्दादौ नित्यत्वस्यानित्यत्वस्य वा ज्ञानाज्ञानपरीक्षायामेकस्य तद्विज्ञानमपरस्य तदविज्ञानं जयस्य पराजयस्य वा निबन्धनं न सम्भवति साधनसामर्थ्यज्ञानाज्ञानवत् । युगपत्साधनसामर्थ्यज्ञाने च वादिप्रतिवादिनोः कस्य जयः पराजयो वा स्यात् ? तदविशेषात् । न कस्यचिदिति चेत्, तर्हि साधनवादिनो वचनाधिक्यकारिणो यथा साधनसामर्थ्याज्ञानं तथा प्रतिवादिनोपि वचनाधिक्यदोषोद्भावनात् तस्य तद्दोषमात्रे ज्ञानसिद्धे. । न हि यो यद्दोषं

वेत्ति स तद्गुणमपि, कुतश्चिन्मारणशक्तौ विदितायामपि विषद्रव्यस्य कुष्टापनयनादिशक्तौ वेदनानुदयात्। ततो न जयः पराजयो वा स्यात्। स्यान्मतं 'साधनवादिना साधु साधनं वक्तव्यं दूषणवादिना च तद्दूषणम्। तत्र वादिनः प्रतिवादिना सभायामसाधनाङ्गवचनस्योद्भावने साधु साधनाभिधानाज्ञानसिद्धेः पराजयः प्रतिवादिनस्तु तद्दूषणज्ञाननिर्णयाज्जयः स्यात्' इति, तदप्यपेशलं, विकल्पानुपपत्तेः। स हि प्रतिवादी निर्दोषसाधनवादिनो वचनाधिक्यमुद्भावयेत्साधनाभासवादिनो वा ? प्रथमविकल्पे वादिनः कथं साधनस्वरूपाज्ञानम् ? तद्वचने इयत्ताज्ञानस्यैवाभावात्। द्वितीयविकल्पे तु न प्रतिवादिनो दूषणज्ञानमवतिष्ठते, साधनाभासस्यानुद्भावनात्तद्विज्ञानासिद्धेः। तद्वचनाधिक्यदोषस्य ज्ञानाद्दूषणज्ञोऽसाविति चेत्, साधनाभासाज्ञानाददूषणज्ञोपीति नैकान्ततो वादिन जयेत्, तद्दोषोद्भावनलक्षणस्य पराजयस्यापि निवारयितुमशक्तेः। अथ वचनाधिक्यदोषोद्भावनादेव प्रतिवादिनो जयसिद्धौ साधनाभासोद्भावनमनर्थकमिति मन्यसे, नन्वेवं साधनाभासानुद्भावनात्तस्य पराजयसिद्धौ वचनाधिक्योद्भावनं कथं जयाय प्रकल्प्येत ? यदि पुनः साधनाभासं वचनाधिक्यं चोद्भावयन्प्रतिवादी जयतीति मतं तदास्य महती द्विष्टकामिता, साधर्म्यवचनादेवार्थगतौ वैधर्म्यवचनमनर्थकत्वाद्द्विष्टा साधनाभासोद्भावनादेव परस्य न्यक्कारसिद्धौ तद्वचनाधिक्योद्भावनस्यानर्थकस्यापि कामितत्वात्। अथ न वचनाधिक्यमात्रं द्विष्यते, अर्थादापन्नस्य स्वशब्देनाभिधानस्य द्विष्टत्वादिति मतं तदपि न सङ्गतं, निगमनवचनदोषस्य प्रतिज्ञावचनदोषोद्भावनाद्गतस्यानुद्भावनप्रसङ्गात्। प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं हि निगमनम्। तच्च प्रतिज्ञावचनस्य दुष्टत्वप्रतिपत्तौ दुष्टं सामर्थ्यात्प्रतीयते एव। अथार्थादापन्नस्यापि निगमनवचनदुष्टत्वस्योद्भावनमदोषोद्भावनभयादभिमन्यते तर्हि साधर्म्यवचनाद्वैधर्म्यस्यार्थायातस्याप्यसाधनाङ्गवचनभयादभिधानं मन्यतां, विशेषाभावात्। न हि साधर्म्यमेव वा साधनस्याङ्गं, पक्षधर्मत्ववत्तदुभयस्यापि साधनाङ्गत्वात, साधनस्य त्रिरूपत्वप्रतिज्ञानात्।

ततो न ज्ञानाज्ञानमात्रनिबन्धनौ जयपराजयौ शक्यव्यवस्थौ, यथोदितदोपोपनिपातात् । स्वपक्षसिद्ध्यसिद्धिनिबन्धनौ तु तौ निरवद्यौ, पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहवैयर्थ्याभावात् कस्यचित्कुतश्चित्स्वपक्षसिद्धौ सुस्थितायां परस्य पक्षसिद्धेरसंभवात् सकृत्तज्जयपराजययोरप्रसक्तेः । न हि वादिना साध्याविनाभावनियमलक्षणेन हेतुना स्वपक्षसिद्धौ विधातुं शक्यायामपि प्रतिज्ञोदाहरणादिवचनमनर्थकमपजयाय प्रकल्प्यते, तद्विघाताहेतुत्वात्ततः प्रतिपक्षासिद्धेः, प्रतिपाद्याशयानुरोधस्तत्प्रयोगात्तत्प्रतिपत्तिविशेपस्य प्रयोजनस्य सद्भावात् । नापि हेतोर्विरुद्धतोद्भावनादेव प्रतिवादिनः स्वपक्षसिद्धौ सत्यामपि दोपान्तरानुद्भावनं तस्य पराजयाय प्रकल्प्यते, तत एव । एतेन स्वपक्षसिद्धौ कृतायामपि परपक्षनिराकरणं, तस्मिन्वा स्वपक्षसाधनाभिधानं न वादिप्रतिवादिनोर्जयप्राप्तिप्रतिबन्धकमिति प्रतिपादितं बोद्धव्यम् । तदेवं साधर्म्यवैधर्म्ययोरन्यतरेणार्थगतौ तदुभयवचनं वादिनो निग्रहाधिकरणमित्ययुक्तं च व्यवस्थितम् । प्रतिज्ञादिवचनं निग्रहस्थानमित्येतत्कथमयुक्तमिति चेत्, उच्यते । प्रतिज्ञानुपयोगे शास्त्रादिष्वपि नाभिधीयेत, विशेषाभावात् । न हि शास्त्रे प्रतिज्ञा नाभिधीयते एव अनियतकथायां वा, अग्निरत्र धूमात्, वृक्षोयं शिंशपात्वादित्यादिवचनानां शास्त्रे दर्शनात्, विरुद्धोऽयं हेतुरसिद्धोऽयमित्यादिप्रतिज्ञावचनानामनियतकथायां प्रयोगात् । परानुग्रहप्रवृत्तानां शास्त्रकाराणां प्रतिपाद्यावबोधनाधीनधियां शास्त्रादौ प्रतिज्ञाप्रयोगो युक्तिमानेव, उपयोगित्वात्तस्येति चेत्, वादेपि सोस्तु, तत्रापि तेषां तादृशत्वात्, वादेऽपि विजिगीषुप्रतिपादनायाचार्याणां प्रवृत्तेः । नियतकथाया प्रतिज्ञाया न प्रयोगो युक्तः, तद्विपयस्यार्थाद्गम्यमानत्वान्निगमनादिवदिति चेत्, तत एव शास्त्रादिष्वपि । न हि तत्र जिगीषवो न प्रतिपाद्याः प्रतिज्ञादिविषयो वा सामर्थ्यान्न गम्यते । शास्त्रादावजिगीषूणामपि प्रतिपाद्यत्वात् प्रतिज्ञादेरप्रयोगे केपाञ्चिन्मन्दधिया प्रकृतार्थाप्रतिपत्तेर्गम्यमानस्य विपयस्यापि प्रयोग., तत्प्रतिपत्त्यर्थत्वादिति चेत्, जिगीषवः किमु मन्दमतयो न सन्ति ? येन तथा तेषामप्रतिपद्यमानाना प्रतिपत्तये

प्रतिज्ञादिप्रयोगो न स्यात् इति विशेषाभावादेव शास्त्रे वादे च प्रतिज्ञादेरभिधानमनभिधानं वाभ्युपगन्तव्यमविशेषेणैव । ननु च प्रतिज्ञायाः प्रयोगेऽपि हेत्वादिवचनमन्तरेण साध्याप्रसिद्धेर्व्यर्था प्रतिज्ञा हेत्वादिवचनादेव च साध्यप्रसिद्धेर्निगमनादिकमकिञ्चित्करमेवेति कश्चित्, सोऽपि यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकं, यथा घटः, सञ्च शब्द इति धर्मिणं हेतुमभिधाय यदि समर्थयते, कथमिव सन्तानमिदेते ?, स्वहेतुसमर्थनमन्तरेण तदभिधानेऽपि तदर्थाप्रतिपत्तेः । तावतार्थप्रतिपत्तौ समर्थनं वा निगमनादिकं कथमतिशयीत ?, अकिञ्चित्करत्वाविशेषात्, यतः पराजयो न भवेत्, तथागतस्य हेत्वाद्यभिधाने तत्समर्थनाभिधाने वा । हेत्वाद्यनभिधाने कस्य समर्थनमिति चेत्, तथा सन्धाया अप्यनभिधाने क हेत्वादि प्रवर्तताम् ? गम्यमाने प्रतिज्ञाविषये एवेति चेत्, गम्यमानस्य हेत्वादेः समर्थनमस्तु । गम्यमानस्यापि हेत्वादेर्मन्दप्रतिपत्त्यर्थं वचनमिति चेत्, तथा सन्धावचने कोऽपरितोषः ?, स्यान्मतं, समर्थनं नाम हेतोः साध्येन व्याप्तिं प्रसाध्य धर्मिणि भावसाधनम् । यथा यत्सत् कृतकं वा तत्सर्वमनित्यं यथा घटादिः, सन् कृतको वा शब्द इति । सन् कृतको वा शब्दः, यश्चैवं स सर्वो नश्वरो यथा घटादिरिति वा, प्रयोगक्रमनियमाभावादिष्टार्थसिद्धेरुभयत्राविशेषात्, प्राक् सत्त्वं धर्मिणि प्रसाध्य सामर्थ्यस्य पश्चादपि साध्येन व्याप्तिप्रसाधनस्याविरोधात् । व्याप्तिप्रसाधनं पुनर्विपर्यये बाधकप्रमाणोपदर्शनम् । यदि पुनः सर्वं सत्कृतकं वा प्रतिक्षणविनाशि न स्यान्नित्ये क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात् । अर्थक्रियासामर्थ्यं सत्त्वलक्षणमतो व्यावृत्तमित्यसदेव तत्स्यात् । सर्वसामर्थ्योपाख्याविरहलक्षणं हि निरुपाख्यमिति । एवं साधनस्य साध्यविपर्यये बाधकप्रमाणानुपदर्शने विरोधाभावादस्य विपक्षे नित्ये वृत्तेरदर्शनेऽपि सन् कृतको वा स्यान्नित्यश्चेत्यनिवृत्तिरेव शङ्कायाः । ततो व्यतिरेकस्य सन्देहादनैकान्तिको हेत्वाभासः स्यात् । न ह्यदर्शनमात्राद् व्यावृत्तिः, विप्रकृष्टेष्वर्थेष्वसर्वदर्शिनोऽदर्शनस्याभावासाधनात्, अर्वाग्दर्शनेन सतामपि केषाञ्चिदर्थानामदर्शनात् । बाधकं पुनः

प्रमाणम् । यस्य क्रमयौगपद्याभ्यां न योगो, न तस्य कचित्सामर्थ्यम् । अस्ति चाक्षणिके सः । इति प्रवर्तमानमसामर्थ्यमसल्लक्षणमाकर्षति । तेन यत्सत्कृतकं वा तदनित्यमेवेति सिध्यति । तावता च साधनधर्ममात्रान्वयः साध्यधर्मस्य स्वभावहेतुलक्षणं सिद्धं भवति । अत्राप्यदर्शनमप्रमाणं यतः क्रमयौगपद्याऽयोगस्यैवासामर्थ्येन व्याप्त्यसिद्धेः पूर्वस्यापि हेतोः सत्त्वादेर्न व्याप्तिसिद्धिः । पुनरिहापि साधनोपगमेऽनवस्थाप्रसङ्ग इति न चोद्यम्, इष्टस्याभावसाधनस्यादर्शनस्य प्रमाणत्वाप्रतिषेधात् । यददर्शनं विपर्ययं साधयति हेतोः साध्यविपर्यये तदपि विरुद्धप्रत्युपस्थानाद्बाधकं प्रमाणमुच्यते । एवं हि स हेतुः साध्याभावेऽसन् सिध्येद्यदि तत्र प्रमाणवता स्वविरुद्धेन बाध्येत । अन्यथा तत्रास्य बाधकासिद्धौ संशयो दुर्निवारः । न च सर्वानुपलब्धिर्भावस्य बाधिका, दृश्यानुपलब्धेरेव तद्बाधकत्वात् । तत्र सामर्थ्यं क्रमाक्रमयोगेन व्याप्तं सिद्ध, प्रकारान्तरासंभवात् । तेन व्यापकधर्मानुपलब्धिरक्षणिके सामर्थ्यं बाधत इति क्रमयौगपद्यायोगस्य सामर्थ्याभावेन व्याप्तिसिद्धेर्नानवस्थाप्रसङ्ग इति स्वभावहेतोः समर्थनम् । कार्यहेतोरपि, यत्कार्यं लिङ्गं कारणसाधनायोपादीयते तस्य तेन कार्यकारणभावप्रदर्शनं प्रमाणाभ्याम् । यथेदमस्मिन् सति भवति सत्स्वपि तदन्येषु समर्थेषु तद्धेतुषु, तदभावे न भवतीति । एवं ह्यस्यासन्दिग्धं तत्कार्यत्वं समर्थितं भवति । अन्यथा केवलं तदभावे न भवतीत्युपदर्शनेऽन्यस्यापि तत्राभावे सन्दिग्धमस्य सामर्थ्यं स्यात्, अन्यत्तत्र समर्थं, तदभावे तन्न भूतमिति शङ्कायाः प्रतिनिवृत्त्यभावात् । एतन्निवृत्तौ पुनर्निवृत्तौ यदृच्छासंवादो मातृविवाहोचितदेशजन्मनः पिण्डखर्जूरस्य देशान्तरेषु मातृविवाहाभावेऽभाववत् एवं समर्थितं तस्य कार्यं सिद्ध्यति । सिद्धं स्वसंभवेन तत्संभवं साधयति, कार्यस्य कारणाव्यभिचारात् । अव्यभिचारे च स्वकारणैः सर्वकार्याणां सदृशो न्याय इति । अनुपलब्धेरपि समर्थनं, प्रतिपत्तुरुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धिसाधनं, तादृशस्यैवानुपलब्धेरसद्व्यवहारसिद्धेः, अनुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य प्रतिपत्तुः प्रत्यक्षोप-

लब्धिनिवृत्तावप्यभावासिद्धेः । तत्रोपलब्धिलक्षणप्राप्तिः स्वभावविशेषः कारणान्तरसाकल्यं च स्वभावविशेषः । यत्र त्रिविधेन विप्रकर्षेण विप्रकृष्टं यदनात्मरूपप्रतिभासविवेकेन प्रतिपत्तृप्रत्यक्षप्रतिभासिरूपं स तादृशः सत्स्वन्येषूपलम्भकारणेषु तथानुपलभ्योऽसद्व्यवहारविषयः । ततोन्यथा सति लिङ्गे संशयः । अत्रापि सर्वमेवंविधमसद्व्यवहारविषयः । इति व्याप्तिः, कस्यचित्तदभ्युपगमेऽन्यस्य तल्लक्षणाविशेषात् । न ह्येवंविधस्यासत्त्वानभ्युपगमेऽन्यत्र तस्य योगः । न चैवंविधस्य सतः सत्स्वन्येषूपलम्भकारणेष्वनुपलब्धिः । अनुपलभ्यमानं त्वीदृशं नास्तीत्येतावन्मात्रनिमित्तोऽयमसद्व्यवहारः, अन्यस्य तन्निमित्तस्याभावादिति । तदेवं त्रिविधस्य हेतोः समर्थनं न रूपान्तरं, विपक्षव्यावृत्तिरूपत्वात्, तृतीयस्यैव रूपस्यासपक्षासत्त्वलक्षणस्यैवं प्रतिपादनात् । तदवचने साधनाङ्गस्य त्रिरूपलिङ्गस्यावचनादसाधनाङ्गवचनं निग्रहाधिकरणं प्रसज्येत । निगमनादेस्तु हेतुरूपातिरिक्तत्वादभिधानमनर्थकं, त्रिरूपहेतुना साध्यार्थप्रतिपत्तेर्विहितत्वात् । ततो निगमनादीनतिशेते एव समर्थनमिति । तदेतदपि स्वदर्शनानुरागमात्रं सौगतस्य निगमनादेरपि साधनावयवत्वात्, प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवा इति परैरभिधानात्, निगमनस्योपनयस्य वा सगरस्येवावचने न्यूनाख्यस्य निग्रहस्थानस्य प्रसक्तेः, हीनमन्यतमेनापि न्यूनमिति वचनात् । यदि पुनः साधनावयवत्वेपि निगमनादेर्वचनमयुक्तं, हेत्वादिनैवार्थप्रत्यायनादिति मतं तदा समर्थनस्य हेतुरूपत्वेऽपि निर्दोषहेतुप्रयोगादेव साध्यप्रसिद्धेस्तदभिधानमनर्थकं कथं न भवेत ? यतः समर्थनं निगमनादीनतिशयीत । हेतोर्विपक्षव्यावृत्तिसाधनलक्षणस्य समर्थनस्यावचने रूपान्तरसत्त्वेऽपि गमकत्वासम्भवान्निगमनाद्यवचनेऽपि गमकत्वोपपत्तेः समर्थनं निगमनादीनतिशयीतेति चेत्, हन्त हतोसि, पक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्वयोर्हेतुरूपत्वापायापत्तेः, अन्यथानुपपन्नत्वस्यैव तथाहेतुलक्षणत्वसिद्धेः, तस्यैव समर्थनरूपत्वात्, तद्भावे एव हेतोः प्रयोजकत्वदर्शनात्, पक्षधर्मत्वादिप्रयोगे वादिनोऽसाधनाङ्गवचनस्य निग्रहस्थान-

त्वप्रसक्तेः। प्रतिपाद्यानुरोधतः पक्षधर्मत्वादिवचनान्न निग्रहप्राप्तिरिति चेत्, तथा निगमनादिवचनादपि सा मा भूत्, सर्वथातिशयासत्त्वात्। यदि पुनरय निर्बन्धः प्रतिपाद्यानुरोधतोप्यतिरिक्तवचनमसाधनाङ्गवचनं निग्रहस्थानमिति तदा सत्त्वमात्रेण नश्वरत्वसिद्धावुत्पत्तिमत्त्वकृतकत्वादिवचनमतिरिक्तविशेषणोपादानात् कृतकत्वप्रयत्नानन्तरीयकत्वादिषु च कप्रत्ययातिरेकादसाधनाङ्गवचनं पराजयाय प्रभवेत्। क्वचित्पक्षधर्मत्वप्रदर्शनं, संश्च शब्द इत्यविगानात्। यस्य निरुपाधि सत्त्वं प्रसिद्धं तं प्रति शुद्धः स्वभावहेतुः प्रयुज्यते, नश्वरः शब्दः सत्त्वादिति। यस्य त्वनर्थान्तरभूतविशेषणं सत्त्वं प्रसिद्धं तं प्रति सोऽनर्थान्तरभूतविशेषण एवोत्पत्तिमत्त्वादिति। यस्य पुनरर्थान्तरभूतविशेषणं सत्त्वं संप्रसिद्धं तं प्रत्यर्थान्तरभूतविशेषण एव कृतकत्वादिति, "अपेक्षितपरव्यापारो हि भावः कृतक" इति वचनात्। तथा कृतकत्वात्प्रयत्नानन्तरीयकत्वादित्यादिषु च स्वार्थिकस्य कप्रत्ययस्याभिधानमपि तादृशशब्दप्रसिद्ध्यनुसारिणं प्रति नातिरिक्तमुच्यते, अन्यथाप्रयोगे तदपरितोषात्। तथा च यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकं यथा घट इतीयता शब्देऽप्यविगानेन सत्त्वप्रतिपत्तावपि संश्च शब्द इति पक्षधर्मप्रदर्शनं नातिरिक्तवचनं, तदन्तरेण तत्प्रतिपत्तुमशक्तं प्रति तथावचनाच्छक्तं प्रति तदवचनात्, "विदुषां वाच्यो हेतुरेव हि केवलः" इति वचनान्न पराजयाय कस्यचित्प्रभवेत्, इति वदन्तः सौगताः प्रतिपाद्यानुरोधतः साधर्म्यवचनेपि वैधर्म्यवचनं तद्वचनेपि च साधर्म्यवचनं पक्षादिवचनं वा नेच्छन्तीति किमपि महाद्भुतम्। तथा तदिष्टौ वा तद्वचनं निग्रहाधिकरणमित्ययुक्तमेव व्यवतिष्ठते। किञ्च क्वचित्पक्षधर्मत्वप्रदर्शनं संश्च शब्द इत्यविगानात्, त्रिलक्षणवचनसमर्थनं च असाधनाङ्गवचनमपजयप्राप्तिरिति व्याहतं, संश्च शब्द इति वचनमन्तरेणापि शब्दे सत्त्वप्रतीतेस्तस्य निग्रहस्थानत्वप्रसङ्गात्। प्रतिज्ञावचनवदसाधनाङ्गत्वात्तस्यानिग्रहस्थानत्वे वा सगरवचनादेरप्यपजयप्राप्तिविरोधात्पक्षधर्मप्रदर्शनमसाधनाङ्गवचनादपजयप्राप्त्या व्याहतमेव। त्रिलक्षणवचनस-

मर्थनं च, तदन्तरेणापि त्रिलक्षणवचनस्य साधनाङ्गत्वसिद्धौ प्रतिज्ञादिवचनस्य साधनाङ्गत्वसिद्धेरन्यथा तस्य प्रतिज्ञादिवचनवदपजयप्राप्तिनिबन्धनत्वप्रसक्तेः । ततस्तद्व्याहर्तिं परिजिहीर्षता गम्यमानस्यापि वचनं नासाधनाङ्गवचनं वादिनो निग्रहाधिकरणमिति प्रतिपत्तव्यम्। नन्वेवमप्रस्तुतस्यापि नाटकादिघोषणस्य द्वादशलक्षणप्ररूपणस्य वा निग्रहाधिकरणत्वं न स्यादिति चेत्, एवमेतत्। तथान्यस्यापि प्रस्तुतेतरस्य वादिनोक्तावितरस्य स्वपक्षमसाधयतो विजयासंभवान्निग्रहस्थानमयुक्तम् । स्वपक्षं साधयतस्तु तत्सिद्ध्यैव विजयसंभवादितरस्य पराजयप्राप्तेर्नाप्रस्तुतादिवचनं निग्रहस्थानम् । साधनाङ्गस्यावचनं वादिनो निग्रहस्थानं, स्वेष्टसाधनवचनमभ्युपगम्याऽप्रतिभयातूष्णींभावादित्यप्यनेन प्रत्युक्तम् । प्रतिवादिनोप्यदोषोद्भावनं दोषस्यानुद्भासन वानेन प्रत्युक्तम्, न्यायस्य समानत्वात् । किमेवं वादिना कर्तव्यमिति चेत्, विजिगीषुणोभय कर्तव्यं स्वपरपक्षसाधनदूषणम् । ततः किमिति चेत्, अतोन्यतरेणासिद्धानैकान्तिकवचनेऽपि जल्पापरिसमाप्तिः, कस्यचित्स्वपक्षसिद्धेरभावात् । कथ तर्हि वादपरिसमाप्तिर्वादिप्रतिवादिनोरिति चेत्, निराकृतावस्थापितविपक्षस्वपक्षयोरेव जयेतरव्यवस्था, नान्यथा । तदुक्तम् । " स्वपक्षसिद्धिरेकस्य निग्रहोऽन्यस्य वादिन । नासाधनाङ्गवचनं नादोषोद्भावन द्वयोः ॥ १ ॥ " इति । तथा तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकेऽप्युक्तम् " स्वपक्षसिद्धिपर्यन्ता शास्त्रीयार्थविचारणा । वस्त्वाश्रयत्वतो यद्वल्लौकिकार्थविचारणा ॥ १ ॥ " इति । इति दर्शयन्नुभयमाह ग्रन्थकारः श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्यः । " स त्वमेवासि निर्दोषः " इति, " त्वन्मतामृतबाह्यानाम् ", इत्यादि च, गम्यमानस्यापि वचने दोषाभावात् ॥ ७ ॥ ननु च सर्वथैकान्तवादिनामपि कुशलाकुशलस्य कर्मणः परलोकस्य च प्रसिद्धेराप्तत्वोपपत्तेर्महत्त्वं किं नः स्तुतमित्याशङ्कायामिदमाहुः—

चित्रज्ञान इत्यादि (११७–१–६) किं स्यादिति (११७–१–१२) साऽनुभूयमाना चित्रता नीलपीताद्याकार-

भेदेनैकस्यां व्यक्तौ किं स्यात् । फलितमाह, न स्यात् तस्यां मतावपि (११७-१-१२) किं पुनरर्थ इत्यपेरर्थः । यदीदं नानाकारभ्रमजनकत्वं स्वयमनाद्यविद्योपकल्पितेभ्योऽर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयं विचारका भवामः । न केचनाविद्याविलासनिवृत्तो विचारस्याक्षमत्वादिति भावः । 'किञ्चिदिति' तस्यां चित्रमतावपि (११७-१-१३) नु इति वितर्के एकता किं स्यात्, फलितमाह, न स्यादनेकाकारविरोधादिति भावः । यदीदमनेकाकारविरुद्धैकत्वभ्रमजनकत्वं चित्रायै बुद्ध्यै रोचते तत्र के वयं विचारका न केचन पर्यायार्थविरोधिद्रव्यार्थादेशैकान्तस्य संवृत्त्युपकल्पितस्य विचारापरावर्त्तनीयत्वादिति भावः । क्वचिदेकवेदनेति (११७-२-३) नानैकत्वविषयकापेक्षाबुद्ध्यैवानेकत्वस्योत्पत्तेरभिव्यक्तेर्वा एतत्पक्षद्वयविचारोऽस्मत्कृतनयामृततरङ्गिणीतोऽवसेयः । 'तथा सतीति' (११७-२-५) अनेकत्वप्रयोजकापेक्षाबुद्धिहेतुत्वे नैकत्वसाधने संविदाकारवत् पीताद्याकारे प्रत्येकमेकत्वसिद्धौ तत्समूहाश्रयानेकचैतन्यदृष्टान्तेनैकत्राप्यनेकाकारसिद्धेरित्यर्थः । अन्तरिति (११७-२-६) पञ्चम्यन्तमव्ययं अन्तस्तत्त्वस्येत्यर्थः । नन्वनेकचैतन्यव्यासानेकाकारस्य चित्रज्ञानस्य दृष्टान्तत्वोक्तिरसङ्गतानेकाकाराणां स्वाश्रयाश्रितत्वरूपसंवलना(लिता)या एव चित्रत्वव्यवहारप्रयोजकत्वादिति चेत्, न, अत्र व्यवहारस्यासाध्यत्वात्कथञ्चिदेकानेकात्मकत्वस्यैव तत्त्वात्, हेतोश्च तत्र तथाबुद्धेरेवोपन्यासात्, सा च ययापेक्षया तया साध्यमपीत्यदोषात्, नानाश्रयेषु नानाकारकृतश्चित्रत्वव्यवहारोऽपि सामान्यविवक्षयोपपद्यत एवेत्थमेव पृथिव्यादौ नानारूपवत्त्वस्य धान्यराशौ च नानाधान्यत्वस्य व्यवहारो नानुपपन्न इति दिग् । चित्राद्वैतवादी संवेदनाद्वैतवादिनं प्रत्याह–'स्यान्मतमिति' (११७–२–७) 'तदानेकेनेति'(११७–२–९) एकदेशवचनादेवानेकसजातीयत्वस्य च सिद्धेरित्यर्थः । चित्रज्ञानप्रतिबन्द्यैवैतत् समाधत्ते, तदेतदित्यादि (११७-२-१०) अव-

च्छिन्नपीताद्यनेकाकारस्वभावमिवानवच्छिन्नसुखाकारस्वभावं ज्ञानमनुभूयमानं तत्तदाकाराणां व्याप्यवृत्तित्वमव्याप्यवृत्तित्वं च गृह्णन्न केनापि निषेद्धुं शक्यमिति भावः। अस्वसंवेद्यत्वाप्रतीतेरिति (११८-१-१) सुखादीनामिति सम्बन्धः। 'चैतन्यविशेषेणेति' (११८-१-२) अनुभवेनेत्यर्थः। तस्योत्पत्तिमत्त्वाच्चैतन्यलक्षणत्वाच्च, चैतन्यजीवद्रव्यार्थादेशा-दिति (११८-१-३) चैतन्याभिन्नजीवद्रव्याभिन्नत्वेनार्पणादित्यर्थः। न चैवं ज्ञानमात्मैवात्मा तु ज्ञानद्वारा ज्ञानमन्यद्वारा त्वन्य दिति वचनात्, ज्ञानभिन्नसुखाद्यभिन्नजीवद्रव्याभिन्नत्वेनार्पणाद् ज्ञानमप्यज्ञानं स्यादिति शङ्कनीयम्। ज्ञानभिन्नत्वेनार्पितस्य परम्परयापि ज्ञानेऽभेदार्पणानौचित्यात् परमभावग्राहकनयेन ज्ञानाभिन्नत्वस्यैवात्मनि प्रसिद्धेश्च, अतद्रूपाणा-(११८-१-९) मित्याद्यभिधानं सुखादीनां विज्ञानाभिन्नहेतुजत्वं यदुच्यते सौगतेन तत्किमुपादानापेक्षयोत सहकार्यपेक्षयेति विकल्पद्वयं मनसि कृत्येति मन्तव्यम्। पूर्वं सर्वथा कथञ्चित्पक्षाभ्यां यद्दूषणमभ्यधायि तस्यैवेदं विवरणमिति न पौनरुक्त्यम्, व्यभिचारादिति (११८-१-१२) द्रव्येन्द्रियानिन्द्रियोपादेयपरिणाम एवेत्यर्थः। प्रत्येतव्या इति (११८-१-१४) नैयायिकादय इति शेषः। अनुमानं च तेषां सुखादयोऽचेतना ज्ञानभिन्नत्वात् घटवदिति द्रष्टव्यम्। अत्राचेतनत्वं यदि ज्ञानभिन्नत्वं तदा हेतुसाध्ययोर-विशेषः। यदि च चैतन्यात् प्रविभक्तप्रदेशत्वरूपं तदा कालात्ययापदिष्टो हेतुरिति सुखस्य ज्ञानादन्यत्वरूपो भेदः प्रविभक्तप्रदेश-त्वरूपभेदाभावश्चेत्यनेकान्त एव श्रेयान्। अथ सुखस्य ज्ञानविशेषत्व एव चन्दनादिविषयकत्वं युक्तं सुखोत्पत्त्यनन्तरं चन्द-नादिज्ञानं कल्पयित्वा तदुपनीतभानात्मकसुखानुभवाभ्युपगमस्य मानससामग्रीविच्छेदेन निर्युक्तिकत्वात्। न च चन्दनसुख मनुभवामीत्यत्र चन्दनादिजन्यतावच्छेदको जातिविशेष एव सुखस्योपरि भासते। न तु चन्दनमिति वाच्यम्। तस्य घुसृणा-

दिजन्यतावच्छेदकया तदुभयजन्ये साङ्कर्यादुभयजन्यतावच्छेदकजात्यन्तराभ्युपगमे च तदवच्छिन्नोत्पत्तिकाले प्रत्येकजन्यकार्यप्रसङ्गात् तत्कार्ये तदितरसन्निधानस्य प्रतिबन्धकत्वादिकल्पने च महागौरवादिति चेत्, न, एवं सति सुखस्य सविषयकत्वसिद्धावपीच्छाद्वेषयोरिव ज्ञानाभिन्नत्वे मानाभावात्, न च सुखस्य सविषयकत्वे विषयता द्विविधा प्रतिपत्त्यनुबन्धिनी व्यापारानुबन्धिनी च, प्रतिपत्तित्वनिरूपकत्वं प्रतिपत्त्यनुबन्धिनीत्वम्, स्वजन्यप्रतिपत्तिनिरूपितत्वं व्यापारानुबन्धिनीत्वम्, आद्या ज्ञाने द्वितीया च शब्दादाविति विभागव्याघातप्रसङ्ग इति वाच्यम्, प्राचीनैरेवेत्थं निर्युक्तिकविभागस्याभ्युपगमान्नवीनैरिच्छाद्वेषादेरपि सविषयकत्वस्वीकारेण तथानभ्युपगमात्, युक्तं चैतत् विशिष्टबुद्धौ विषयितया विशेषणवत्त्वेन विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धौ च विशेषणतावच्छेदकाभावाप्रकारकत्वे सति प्रकारितया विशेषणतावच्छेदकवत्त्वेन हेतुत्वौचित्यात्, न चैवं संशयेऽप्यनुद्बुद्धसंस्काराद्विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्ध्यापत्तिः संस्कारजन्यतत्तद्विशिष्टवैशिष्ट्यप्रत्यक्षे उद्बोधकस्य हेतुत्वात्, न चैवमपि सामान्यकार्यापत्तिः संस्काराजन्यतत्तद्विशिष्टवैशिष्ट्यबोधेऽपि तत्तद्विशेषणज्ञानादीनां विशिष्यहेतुत्वात्, न चैवं सामान्यहेतुत्वं विफलम्, यत्रात्मनि शरीरे वा तादृशानुद्बुद्धसंस्कारस्तत्र तत्साफल्यात्, एतेन दण्डो रक्तो नवेति संशयाद्दण्डो रक्तो भवत्वितीच्छास्वीकारे रक्तदण्डवान् चैत्र इत्यादेरापत्तिरित्यप्यपास्तम् । क्वचिद्विशिष्यकारणतायाः कल्पनात् सामान्यहेतुतायाश्चोक्तरीत्यैव साफल्यात् एवं च चन्दनादिविषयकसुखादेव तद्ज्ञाने चन्दनादिभानं सुघटम्, वैषयिकं च सुखं विषयावच्छिन्नाल्हादनत्वाख्यविषयताकं विषयातीतं च निरवच्छिन्नाल्हादनत्वाख्यविषयताकमित्यनयोः परिमितापरिमितत्वाभ्यां भेदः । अथ सुखस्य भिन्नज्ञानग्राह्यत्वकल्पने गौरवात् स्वप्रकाशत्वमेव युक्तम्, तथा च ज्ञानत्वमेवापन्नमिति चेत्, न । स्वप्रकाशत्वं विनापि तस्य

साक्षिभास्यतयैव यावत्सत्त्वं प्रकाशोपपत्तेः, तत्त्वं च वेदान्तिनां साक्षिण्यध्यस्तत्वम् अस्माकं च चेतनद्रव्याभिन्नत्वम् । न चैवमात्मवृत्त्ययोग्यधर्मेऽपि प्रत्यक्षत्वापत्तिः, द्रव्यार्थतयेष्टत्वात्पर्यायार्थतया त्वात्मविषयकमानसे तत्तदात्मविषयकमानसे वा विजातीयात्ममनःसंयोगस्य तत्तदात्ममनःसंयोगस्य वा विषयतया सुखादिप्रत्यक्षे च तादात्म्येन सुखादीनां हेतुत्वाददोष इति दिग् । असंकीर्णविशेषैकात्मनः (११८–२–६) प्रतिस्वभिन्नसुखदुःखहर्षविषादाद्यनेकगुणाभिन्नैकद्रव्यस्य स्कन्धस्य चेति, अत्र प्रेक्षणं सिद्धिमित्यनेन सम्बध्येत, तत एव (८) स्वसामग्रीवशात् प्रत्यक्षसंविज्जननसमर्थस्योत्पत्तेरेव, परेषां (९) स्याद्वादिनां, तस्या (११) अवयविनः, तथात्वेन (१२) परमाणुत्वेन, अणुमहत्त्वादीति, (१४) तथा च महत्त्वमेव स्कन्धस्य योग्यता तदभावादेव परमाणूनामयोग्यतेति भावः । अतिशयिताणूत्पत्त्यैव योग्यत्वस्वीकारे तु परमाण्ववच्छेदेनेन्द्रियसन्निकर्षेऽपि घटादिप्रत्यक्षापत्तिरिति बोध्यम् । संयोगविशेषेणावयव्यन्यथासिद्धिं च पुरस्तान्निर्लोठयिष्यामः । अस्तु नाम स्कन्धानामणुमहत्त्वादिना दृश्येतरस्वभावता तथापि तेषां विकल्पबुद्धावेवभासनादवस्तुत्वमित्याशङ्कायामाह. 'न चायमिति, प्रत्यक्षतास्वीकरणादिति' (११९-१-१) "यत्रैव जनयेदेनां तत्रैवास्य प्रमाणतेति" वचनान्नीलाद्यंश इव स्कन्धांशेऽपि विकल्पधीजननात्तत्र दर्शनप्रामाण्यस्य प्रसह्य स्वीकारणादिति भावः । 'चक्षुरादीति' (२) चक्षुरादिजन्यग्रहविषयत्वादिनैव रूपादिभेदव्यवहारसम्भवादिति भावः । 'सत्तादीति' (३) सत्ताद्वैतवद्द्रव्याद्वैतमप्रामाणिकमनुभूयमानपर्यायापलापे सर्वशून्यतापत्तेरिति भावः । 'न तावदिति' (८) द्वावाद्यौ निषेधौ पदार्थत्वावच्छेदेन तृतीयः पदार्थत्वसामानाधिकरण्येन, चतुर्थः पदार्थत्वावच्छेदेन, जात्यन्तरस्येति (९) जात्यन्तरत्वं च नृसिंहन्यायेन गुडशुंठीन्यायेन

वोभयात्मकतयोभयदोषापहारितया वा भावनीयम् । तत्त्वमत्रत्यमस्मत्कृतनयरहस्ये, अध्यारोप्यमाणस्येति; (११९-२-१) नन्वप्रसिद्धस्याध्यारोपोऽप्ययुक्तः क्वचित् प्रसिद्धस्यैव क्वचिदारोपादिति चेत्, न । सर्वथात्वेनैकान्तस्य प्रसिद्धस्यैवारोपात्तथा निषेधस्य युक्तिसिद्धत्वात्, व्युत्पादयिष्यते च व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकादिरभाव उपरिष्टादिति मा त्वरिष्ठाः, अतिरिक्ताभावमनङ्गीकृत्याह, अथवेति (२) प्रयासमन्तरेणेति (३) अनेकान्तविधिनैव प्रत्यक्षसिद्धेन सर्वथैकान्तनिषेधव्यवहारसिद्धेर्नाप्रसिद्धनिषेधोपपादनार्थं कश्चिदस्माकं प्रयास इति भावः । एवं चोक्तविधिनिषेधव्यवहारजनकत्वेन वस्तुन एव भावाभावोभयरूपत्वादभावव्यवहारस्यैव सप्रतियोगिकत्वादभावप्रतियोगित्वस्याप्रसिद्धस्थले वक्तुमशक्यत्वेऽपि न कोऽपि दोष इति मन्तव्यम् । ननु प्रत्यक्षादनुमानादेर्बलवत्त्वात्तदपेक्षा भविष्यतीत्यत आह भाष्यकृत्, 'नहीति' (११९-२-३) इष्टमनुमानादिप्रमाणम्, दृष्टात् प्रत्यक्षात्, ज्येष्ठमुपजीव्यत्वेनोत्तमं, गरिष्टं च समारोपविशेषव्यवच्छेदकत्वेन बलवत्, तदभावे (४) प्रत्यक्षाभावे, प्रमाणान्तरस्यानुमानादेरवृत्तेरप्रवृत्तेः, समारोपविच्छेदस्य च विशेषादपुनरुत्थानरूपविशेषदर्शनात् । क्वचिदनुमानाद्युत्तरकालमिति (११९-२-५) पर्वतो वह्निमानित्यनुमित्यनन्तरं पर्वतवह्न्योश्चक्षुःसन्निधाने तथा प्रत्यक्षस्याप्युत्पत्तेस्तत्र च विशेषणज्ञानतयोक्तानुमितेरुपयोगादिति भावः । 'प्रत्यक्षस्येत्यादि' (८) तथा चानुमानत्वाद्यवच्छेदेन प्रत्यक्षोपजीवकत्वादनुमानादेः सकाशात् प्रत्यक्षस्य ज्येष्ठत्वम्, प्रत्यक्षत्वावच्छेदेन चानुमानाद्यनुपजीवकत्वादनुमानादेः प्रत्यक्षात् कनिष्ठत्वमिति भावः । नन्वनुमानत्वाद्यवच्छेदेनापि न प्रत्यक्षोपजीवकत्वमस्ति स्मरणानुमानादिना व्याप्तिस्मृतिलिङ्गज्ञानादौ प्रत्यक्षव्यापारादर्शनादिति चेत्, न, । तत्रापि परम्परयाऽनुभवपदज्ञानाद्यपेक्षायां प्रत्यक्षानुसरणावश्यकत्वात्, ज्ञानकरणकप्रत्य-

क्षमात्रे स्वांशप्रत्यक्षोपजीवकत्वाव्यभिचाराच्च, न चादृष्टार्थप्रवृत्तिजनकानुमानस्यादृष्टद्वारा प्रत्यक्षमात्रे हेतुत्वादविशेषोऽदृष्टाद्वारकत्वविशेषणनिवेशेनैव तद्दोपनिरासादिति चोध्यम् । 'नहि यादृश इति' (११९–२–९) अनुमानादेः सामान्यविषयत्वाचतः सामान्यविषयकसमारोपनिवृत्तावपि पुनस्ताणीताणीदिविशेषविषयः स भवन्न निरोद्धुं शक्यते, प्रत्यक्षस्य तु विशेषविषयत्वान्न ततस्तादृशोऽपि संशय इत्येवं समारोपविच्छेदविशेष्यहेतुत्वेन प्रत्यक्षस्येतरप्रमाणेभ्यो गरिष्ठत्वं भावनीयम् । स्वरूपतः समारोपविच्छेदविशेषेण दृष्टस्य गरिष्ठत्वं भावयित्वा व्यवहारतस्तेन तद्दर्शयितुमाह, 'दृष्टस्येत्यादि' (११९-२-१०) तद्विवृणोति, प्रत्यक्षमेव हीत्यादि (११), 'स्वभावेति' (१२) स्वभावभेदप्रदर्शनमेव प्रयोजनं यस्य तत्तथा, न चानेकान्तावगाहिनः प्रत्यक्षस्यैव प्रतिनियतविधिनिषेधव्यवहारजनकत्वे तत्र सर्ववादिनामविप्रतिपत्तेर्विचारानुपपत्तिस्तथा च हेतुवादेन तत्साधनमार्हतानां नोपपद्येतेत्यपि कुचोद्यमाशङ्कनीयम्, अनेकान्तविषयप्रत्यक्षप्रामाण्य एव विप्रतिपन्नान् प्रति हेतुवादरसिकान् प्रत्येव वा हेतुवादेन तत्साधनस्य तत्र तत्रोपपादितत्वादिति दिग्, 'दोषाभावादिति (१२०–१–४) न चैवमधिकोच्छेद एव स्यादिति शङ्कनीयम्, स्वसाध्यसिद्धिप्रतिकूलस्वसाध्यसाधकातिरिक्तवचनस्यैवाधिकलक्षणत्वात्, 'परेणेति' (५) प्रतिवादिकृतस्वपक्षनिराकरणस्य परपराजयाप्रयोजकत्वात्परपक्षमात्रनिराकरणे चाधिक्यस्यापक्षपातित्वादुभयपक्षनिराकरणे च तुल्यवदुभयोः पराजयप्रसङ्गादित्यर्थः । एतदेवाह–' यदि पुनरित्यादिना (६) । साधनवचनसामर्थ्याज्ञानमिति (९) अन्यतरवचनसामर्थ्यज्ञाने उभयप्रयोगानुसरणासम्भवादर्थान्तरज्ञानसिद्धेरित्यर्थः । तदुद्भावयतो वादिनः (१०) साधनवचनासामर्थ्यज्ञानं प्रकटयतः, तज्ज्ञानं (१०) वादिनिष्ठाज्ञानावच्छेदकोक्तसामर्थ्यज्ञानम्,

एकस्येति (१२०–१–१२) तथा च साध्यविषयविशिष्टज्ञानाज्ञानाभ्यामेव जयपराजयसिद्धेः किं साधनसामर्थ्यज्ञानाज्ञानाभ्याम्, नह्ययं समीचीनसाध्यज्ञानवानयं चासम्यग्ज्ञानवानित्येतावत्सभ्योद्घोषणेन शृङ्गग्राहिकया जयपराजयव्यक्तिर्न भवतीति, न च क्वचित्तत् क्वचिदेतज्जयपराजयप्रयोजकम्, अननुगतस्याहेतुत्वात्, पक्षसिद्ध्यसिद्ध्योरनुगतयोरेव तत्त्वौचित्यादिति भावः। तद्दोषमात्रे ज्ञानसिद्धेरिति (१४) जयः पराजयो वा स्यादित्यनेन योगः, वादिनः पक्षसिद्ध्या जयो वचनाधिक्यप्रयुक्तसाधनसामर्थ्याज्ञानात्पराजयः, प्रतिवादिनश्च दोषज्ञानाज्जयो गुणाज्ञानाच्च पराजयः स्यादित्यर्थः। न जयः पराजयो वा स्यादिति (१२०–२–१) परस्परविप्रतिषेधादित्यर्थः। समयबन्धविघटकत्वादधिकं पराजयाधिकरणमित्याशङ्कते स्यान्मतमित्यादिना (२), समयबन्धेऽपि साधनतद्दूषणाभिधाने एवोपक्रान्ते न त्वधिकानधिकोद्भावने इति नायं पन्थाः प्रामाणिक इत्याशयवान् समाधत्ते तदप्यपेशलमित्यादिना (३), साधयेदिति साधनस्वरूपाज्ञानमिति (च) शेषः। तद्वचन (५) इति, वचनाधिक्यं वचनेयत्ताव्याप्यमिति तज्ज्ञानात्सैव सिद्ध्यतु न तु साधनस्वरूपाज्ञानं तस्य तद्व्याप्यत्वादिति भावः। द्विष्टमित्यनन्तरं यतस्त्वयाभ्युपगतं तत इति शेषः। अनर्थकस्यापीति (१०) अनिष्टसाधकत्वेन द्वेषविषयस्यापीत्यर्थः, वचनाधिक्यमात्रमिति (१०) मात्रपदेनोद्भावननिरासः, द्विष्यत इति (१०) तथा च द्विष्टोद्भावनेन पराजयः साध्यत इत्यर्थः। अदोषोद्भावनमिति (१३) एकसाधनस्य साधनान्तरादूषकत्वादिति भावः। भवान् सौगतः, पक्षधर्मत्ववदिति (१४) भावप्रधाननिर्देशात्पक्षधर्मत्ववदित्यर्थः। तदुभयस्यापीति (१४), सपक्षसत्त्वविपक्षव्यावृत्तिरूपसाधर्म्यवैधर्म्योभयस्यापीत्यर्थः। त्रिरूपत्वप्रतिज्ञानादिति (१४) अबाधितविषयत्वासत्प्रतिपक्षत्वयोः प्रामाण्यमात्रसाधारणत्वेन हेतुरूपत्वा-

नभ्युपगमादित्यर्थः । 'सुस्थितावितिं' (१२१-१-२) बहुव्रीहिणा सुस्थितायामित्यर्थः । प्रसक्तेरिति (२) वाद्युक्तहेतौ विरुद्धत्वाद्युद्भावन एव कृतार्थत्वाभिमाने ततो जयः स्वपरिगृहीतपक्षासिद्ध्या च पराजय इत्येवमुभयं स्यादित्यर्थः । प्रतिपत्तिविशेषप्रयोजनभेदात् पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहावैयर्थ्यं व्यतिरेकेण द्रढयितुमाह 'नहीत्यादि(३)' तद्विघाताहेतुत्वात् (४) स्वपक्षसिद्धिप्रतिपक्षसिद्ध्यननुकूलत्वात् 'प्रतिपाद्येत्यादि' (४) व्याप्त्यभिधानमात्राद् यस्य न साध्यसिद्धिस्तं प्रति प्रतिज्ञादिवचनमप्यदुष्टं पुरुषविशेषं प्रत्यसिद्धस्यैव ततः सिद्धेरित्थमेव प्रतिपाद्याशयानुरुद्धप्रतिपत्तिविशेषसिद्धये पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहः कथायामदुष्ट इति भावः । अत एव पञ्चावयवप्रयोगेऽपि यस्य न कण्टकोद्धारं विना साध्यप्रतिपत्तिस्तं प्रति दशावयवप्रयोगोऽपि जीर्णनैयायिकैः स्वीक्रियत इति मन्तव्यम् । तत्रापि (११) वादेऽपि, तेषां शास्त्रकाराणाम्, तादृशत्वात् प्रतिपाद्यावबोधनार्थव्यापृतत्वात्, तत्र (१२) शास्त्रादौ, जिगीषवो न हि न प्रतिपाद्या (१२) न बोधनीयाः किन्तु प्रतिपाद्या एव, चालनारूपव्याख्यानभेदे तत्र शिष्याणां विजिगीषुताया अपि सम्भवात्, यथा यथा वामं वामेन वर्त्ते तथा तथा सूत्रमर्थं तदुभयं वा लभे इत्यादेः केशिप्रदेशिसम्बन्धे प्रसिद्धत्वादिति भावः । जिगीषुमात्रप्रतिपाद्यत्वे प्रतिज्ञाया अप्रयोगः स्यादित्यत्राह, 'शास्त्रादावित्यादि' (१३) न स्यादिति (१२१-२-१) इत्यनन्तरं विभाव्यते तदेतिशेषः, कथमिवेति (३) किंवृत्तौ, इवशब्दप्रयोगः शब्दालङ्करणहेतुर्यथा "आवर्जिता किञ्चिदिव स्तनाभ्याम्" इत्यत्र, कथं सन्धामतिशेते (२), न युक्तमेतदित्यर्थः । तावतार्थप्रतिपत्तावित्यादि(४), यथाऽस्माकं प्रतिज्ञानिगमनादिवचनमधिकवचनत्वान्निग्रहस्थानं त्वया प्रतिपाद्यते तथा तवापि हेतोः समर्थनमधिकवचनत्वान्निग्रहस्थानमायाति, साध्यसिद्धेर्विपक्षव्यावृत्तिलक्षणहेतोरेव भावादित्यर्थः । गम्यमान

इति (६) हेत्वन्वयित्वेन तात्पर्यविषयो गम्यमानः प्रतिज्ञार्थ एव हेत्वर्थेनान्वयीभविष्यतीति किं प्रतिज्ञाशब्दोपन्यासेनेत्यर्थः। तथासन्धावचन इति (७) शाब्दी हीतिन्यायादित्यर्थः। 'समर्थनं नामेत्यादि (७)' ततो निगमनादीनतिशेत एव समर्थनमिति दूरेणान्वयः। 'साध्येनेत्यादि(७)' साध्येन सह व्याप्तिमत्तया प्रदर्शितस्यहेतोः, धर्मिणी भावसाधनं (८) धर्मिणि साधितस्य हेतोः साध्येन सह व्याप्तिमत्ताप्रदर्शनमित्यत्र विना पौर्वापर्यं न कश्चिद्विशेषः, सः (९) क्रमयौगपद्याभावः, तावता (१२२-१-२) विपर्यये बाधकप्रमाणोपदर्शनेन, साधनधर्ममात्रान्वयः (२) यावत्साधनाश्रयाश्रितत्वं, अदर्शनमप्रमाणम् (३), अदर्शनमात्रं क्षणिकत्वाभावस्य न साधकमित्यर्थः। अस्यैवायोगस्यैव, तेनेति (७) तेन कारणेन, अर्थस्य क्रमयौगपद्यलक्षणव्यापकधर्मानुपलम्भो नित्ये सत्त्वं बाधत इति सत्त्वाभावेन क्रमयौगपद्याभावस्य व्याप्तिः सिद्ध्यति बाधकप्रमाणेन च स्वाभ्युपगमबाधादिना न विपर्ययशङ्केति नानुमानान्तरापेक्षयानवस्थेति भावः। प्रमाणाभ्यां (९) प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्याम्, तद्धेतुष्विति (९)। ननु प्रकृतहेतुत्वग्रहे स्वहेतुत्वग्राहकापेक्षायामात्माश्रयोऽन्यहेतुत्वग्राहकापेक्षायामन्योन्याश्रयादिकमिति। तद्धेतुष्वित्ययुक्तमभिधानमिति चेत्, न। समूहान्वयव्यतिरेकाभ्यां समूहे कारणत्वग्रहे तदितरगृहीततत्कार्यकारणताकसमूहसत्त्वे यद्व्यतिरेकेऽवश्यं कार्यव्यतिरेकस्तावत्समूहसत्त्वे तत्सत्त्वे चावश्यं तत्कार्यसत्त्वमित्यन्वयव्यतिरेकयोर्ग्रहस्य विशिष्य तत्कारणत्वग्राहकत्वे दोषाभावात्। यत्तु, स्वस्वव्याप्याभिन्नासु यावतीषु व्यक्तिषु सतीषु सव्यापारयदवच्छिन्नाधिकरणक्षणोत्तरक्षणे यदवच्छिन्नाधिकरणत्वं तावतीषु व्यक्तिषु सतीष्वेव सव्यापारयदवच्छिन्नानधिकरणक्षणोत्तरक्षणे यदवच्छिन्नानधिकरणत्वं तदवच्छिन्नं प्रति तदेव जनकत्वम्, आकाशाभावकाले रासभादेर्घटादावुभयसत्त्वात् सतीष्वेवेत्य-

न्तम्, इत्थं च यावतां सत्त्वे रासभाधिकरणक्षणोत्तरक्षणे घटमत्त्वं तावतां सत्त्वे तं विना घटासत्त्वं नास्तीति नातिप्रसङ्गः, घटसत्त्वकालीनयावद्व्यक्तिनिविष्टदण्डादिसत्त्वकालेऽसत्त्वस्यासम्भवाद् भिन्नास्वित्यन्तम्, यत्तु मङ्गलाभावरूपविघ्नहेतुमतिमङ्गलतद्व्याप्येतरयावद्विघ्नहेतुसमवधानकाले मङ्गलसत्त्वस्यासम्भवात् स्वाभावभिन्नास्वित्यपि विशेषणीयमिति, तन्न, स्वस्वव्याप्येतरयावद्व्यक्तिसत्त्वे मङ्गलसत्त्वे विघ्नप्रागभावस्तावत्सत्त्वे मङ्गलासत्त्वे विघ्नप्रागभावाभावस्य सत्त्वेन तद्विशेषणानौचित्यात्, न ह्यत्र स्वस्वव्याप्येतरयावद्विघ्नहेतुत्वेन निवेश इति, तन्न, यावतां सत्त्वे दण्डसत्त्वे घटसत्त्वं तावतां सत्त्वे दण्डासत्त्वे घटासत्त्वस्यासम्भवात्, घटप्राक्कालोत्पत्तिकानामुदासीनानन्तसंयोगविभागतत्तदङ्कुरादीनामन्यदाभावात्, यावत्पदस्येच्छोपगृहीतयावत्परत्वे रासभाद्यतिप्रसङ्गात्, चक्रादियावत्सत्त्वे रासभसत्त्वे दण्डसमवधाने घटसत्त्वात्तदसमवधाने घटासत्त्वाच्च, तस्माद् यादृशसमूहसत्त्वे सव्यापारयत्सत्त्वेऽग्रिमक्षणेऽवश्यं कार्यं तादृशसमूहसत्त्वे सव्यापारयद्व्यतिरेके चावश्यं कार्यव्यतिरेकस्तत्तस्य साधनमित्येवं योगक्षेमसाधारण्याः कारणताया लक्षणं वाच्यम्, भवति हि चक्रादिसमूहसत्त्वे सव्यापारदण्डसत्त्वेऽग्रिमक्षणे घटसत्त्वं सव्यापारदण्डव्यतिरेके घटव्यतिरेकस्तथा मङ्गलाभावेतरविघ्नहेतुसमूहसत्त्वे मङ्गलसत्त्वे विघ्नप्रागभावस्तदभावे तदभावः। तत्पापवृत्तिलाभयोग्यसमयादिसमूहसत्त्वे सव्यापारप्रायश्चित्तसत्त्वेऽग्रिमक्षणे दुःखप्रागभावसत्त्वं सव्यापारप्रायश्चित्ताभावे दुःखप्रागभावाभाव इति, इत्थं च समूहान्वयव्यतिरेकग्रहानन्तरं प्रत्येकान्वयव्यतिरेकग्रहस्य प्रत्येककारणताग्राहकत्वं नाप्रामाणिकमिति निर्व्यूढम्। एतन्निवृत्तौ (११) प्रकृतकारणनिवृत्तौ, यदृच्छासंवादः साहचर्यमात्रं न तु नियमः, कारणतालक्षणे च नियमः प्रविष्ट इति नातिप्रसङ्ग इति भावः। त्रिविधेनेति (१२२–२–१) देशकालस्वभावभेदभिन्नेनेत्यर्थः। अनात्मरूपप्रतिभास-

विवेकेनेति(१२२-२-२)नास्त्यात्मरूपं प्रतिभासो यत्र तद्विवेकेनेति व्युत्पत्त्याऽयोग्यभेदेनेत्यर्थः। तेन प्रतियोगिप्रतियोगिन्याप्येतरयावत्प्रतियोग्युपलम्भकसमवधानरूपकारणान्तरसाकल्यरूपायां योग्यतायां प्राचीनाभिमतायामपरितुष्यन्नवीनसौगतः प्रतियोगिनः स्वरूपयोग्यतामविसंगृह्णन् योग्यताया अननुगतत्वमाह, चकारस्यापि व्यवस्थार्थत्वसम्भवात्, तथा चात्र विचारयन्ति नैयायिकाः। केयं योग्यानुपलब्धिरिन्द्रियसम्बद्धविशेषणताया अभावग्रहे सहकारिणी, न तावद् योग्यस्य प्रतियोगिनोऽनुपलब्धिर्जलपरमाणौ पृथिवीत्वाभावग्रहापत्तेः स्तम्भे पिशाचभेदग्रहानापत्तेश्च, नापि योग्येऽधिकरणे प्रतियोगिनोऽनुपलब्धिः सा, भूतले पिशाचात्यन्ताभावग्रहापत्तेः, परमाणौ महत्त्वाभावग्रहानापत्तेश्च, न चात्यन्ताभावग्रहे योग्यप्रतियोग्यनुपलब्धिरन्योन्याभावग्रहे च योग्येऽधिकरणे प्रतियोगितादात्म्यानुपलब्धिः सहकारिणीत्यपि साम्प्रतम्, जलपरमाणौ पृथिवीत्वात्यन्ताभावग्रहापत्तेः, परमाणौ महत्त्ववद्भेदग्रहस्य वायावुद्भूतरूपवद्भेदग्रहस्यानापत्तेश्चेष्टापत्तेश्चानुभवविरोधेन कर्तुमशक्यत्वादिति चेत्, योग्यसहकारिसम्पन्नानुपलब्धिः कारणम्, अत एवान्धकारे न घटाभावग्रहश्चक्षुषः तत्रालोकाधिकरणसन्निकर्षस्य हेतुत्वात्, न वा जलपरमाणौ पृथिवीत्वाभावग्रहः योग्यसन्निकर्षाभावात्, इन्द्रियसन्निकृष्टमहत्त्वोद्भूतरूपवद्विशेषणताया एव पृथिवीत्वाभावग्रहे योग्यसन्निकर्षत्वात्, उद्भूतरूपाभावग्रहे त्विन्द्रियसन्निकृष्टमहत्त्ववद्विशेषणता योग्यः सन्निकर्षोऽतो मनसि न तद्ग्रहो भवति, भवति च महति वायौ, एवमन्यत्रापि सन्निकर्षयोग्यता कार्यवशादुन्नेया, पिशाचात्यन्ताभावस्त्वयोग्यत्वादेव न गृह्यते, का पुनरत्यन्ताभावस्य योग्यता योग्यमात्रप्रतियोगिके योग्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वम्, एवं च घटत्वाभावो न घटत्वत्वेन न वा जातित्वादीना प्रत्यक्षो घटत्वत्वजातित्वादेरतीन्द्रियघटितत्वादिति सर्वथैवाप्रत्यक्ष इति दीधितिकृतः। तत्तद्व्यक्तित्वेन घटत्वाद्य-

भावो नाप्रत्यक्षस्तच्चातिरिक्तं घटत्वादितादात्म्यरूपं वेत्यन्ये, ब्राह्मण्याद्यभावप्रत्यक्षे तु विशुद्धमातापितृजन्यत्वाभावनिश्चयोऽपि हेतुरित्याद्यूह्यम्। एवमनया दिशा सौगतेनापि विचित्रा योग्यताऽवश्यमाश्रणीयेत्यभिप्रायः। ततोऽन्यथेति (३) उक्तान्यप्रकारेण योग्यताभावे लिङ्गे(३)ऽनुपलब्धिलक्षणे सति संशयोऽसद्व्यवहारविषयत्वस्य भवति। अभावप्रत्यक्षजनकत्वेनाभिमताया योग्यानुपलब्धेरेवासद्व्यवहारविषयत्वनिश्चायकत्वादिति भावः। एवंविधस्य (४)उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य, सतोऽनुपलभ्यमानस्य, अन्यत्र(४) उक्तातिरिक्तस्थले, तस्य (४) असद्व्यवहारविषयत्वस्य, असपक्षासत्त्वलक्षणस्य (६) विपक्षव्यावृत्तिलक्षणस्य, तदवचने (६) समर्थनावचने, सङ्गरस्यैव (९) प्रतिज्ञाया इव, हेतुरूपत्वापायापत्तेरिति (१३) यद्व्यतिरेकेऽनुमितिजनकतावच्छेदकावच्छिन्नहेतुज्ञानव्यतिरेकस्तस्यैव हेतुरूपत्वेन विपक्षव्यावृत्ततया हेत्वभिधानरूपसमर्थनस्यैव हेतुरूपत्वासिद्धेरित्यर्थः। तदाह, अन्यथानुपपन्नत्वस्यैवेत्यादि(१३)प्रतिपाद्यानुरोधत इति (१२३-१-१)प्रतिपाद्याशयाननुरोध्यसाधनाङ्गवचनस्यैवाधिकनिग्रहस्थानत्वेन गणनादित्याशयः। प्रतिपाद्यानुरोधतोऽपीति (२) गौरवेणोक्तविशेषणदानमनिच्छन्त इति भावः। किमपि महाद्भुतमिति (११)शब्दप्रसिद्धिपरितोषप्रतिपाद्याशयानुरोधादिप्रयोजनवशात् कृतकत्वादित्यादौ कप्रत्ययोच्चारे सत्त्वमात्रेण नश्वरत्वसिद्धावप्युत्पत्तिमत्त्वकृतकत्वादिहेत्वादरे चाधिकनिग्रहस्थानममन्यमानाः अन्यतरेण सिद्धौ दृष्टान्तान्तरपक्षादिवचने च, तदिच्छन्तो भवन्त्येव हि परीक्षकाणामाश्चर्यकल्पतरव इति भावः। एतेन पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वादिति हेतुप्रयोगो न विधेयः। किन्तु धूमादित्येवेति नव्यचातुर्यमपास्तम्। यथाशब्दपरितोषमुभयोपपत्तेर्भावप्रत्ययार्थसम्बन्धपक्षे हेत्वन्तरभावाच्च, न च हेत्वन्तरयोगेऽर्थाधिक्यमपीत्युपपादितमधस्तात्, नापि नीलधूमादित्यत्र व्यर्थविशेषणत्ववद्धूमादित्यस्य स्थाने धूमप्रागभावादिति

प्रयोगे व्यर्थविशेष्यत्वमपि दूषणमभ्युपयन्ति तान्त्रिका इति दिग्। तदिष्टौ (११) समर्थनाभ्युपगमे, तद्वचनं निगमनादि वचनम्, एवं (१२३-२-३) असाधनाङ्गवचनस्य निग्रहाधिकरणत्वाभावे, द्वादशलक्षणप्ररूपणस्य (३) इन्द्रियपञ्चकविषयपञ्चकमानसधर्मायतनरूपद्वादशायतनोपन्यासस्य, तत्सिद्ध्यैव (४) स्वपक्षसिद्ध्यैव, अनेन स्वपक्षसिद्ध्यसिद्ध्योरेव जयपराजयप्रयोजकत्वस्थापनेन, साधनासाधनाङ्गोक्त्यनुक्त्योः स्वातन्त्र्येण निग्रहस्थानत्वासिद्धेरित्यर्थः। स्वपक्षपरपक्षसाधनदूषणमिति (७) स्वपक्षसाधनं परपक्षदूषणं चेत्यर्थः। अन्यतरेण (७) वादिना प्रतिवादिना वा, कस्यचिदिति (८) यस्यैव न पक्षसिद्धिस्तं प्रत्येव जल्पव्यापारानुपरमादित्यर्थः ॥ ७ ॥

कुशलाकुशलं कर्म परलोकश्च न क्वचित्। एकान्तग्रहरक्तेषु नाथ स्वपरवैरिषु ॥ ८ ॥

कायवाङ्मनःक्रिया कर्म, त्रिविधो योग आस्रवः। तद् द्विविधं कुशलाकुशलभेदात्, "कायवाङ्मनःकर्म योगः," "स आस्रवः," "शुभः पुण्यस्याऽशुभः पापस्य" (तत्त्वार्थ अ० ६) इति वचनात्। प्रेत्यभावः परलोकः। तद्धेतुर्वा धर्मोऽधर्मश्च, कारणे कार्योपचारात्। चशब्दान्नि.श्रेयसादिपरिग्रहः। एतत्सर्वमेकान्तग्रहरक्तेष्वनित्यैकान्ताद्यभिनिवेशपरवशीकृतेषु मध्ये न क्वचित्सम्भवति, तेषां स्ववैरित्वात् तत्त्वोपप्लववादिवत्। स्ववैरिणस्ते, परवैरित्वात्तद्वत्। किं पुनः स्वं को वा परः? पुण्यं पापं च कर्म तत्फलं कुशलमकुशलं च स्वम् तत्सम्बन्धः परलोकादिश्च, तस्य स्वयमेकान्तवादिभिरिष्टत्वात्। परः पुनरनेकान्तः, तस्य तैरनिष्टत्वात्। तद्वैरित्वं तु तेषाम्। तत्प्रतिषेधाभिधानात्। तत्स्ववैरित्वं साधयति, यस्मात् कर्मफलसंबन्धपरलोकादिकमेकान्तवादिनां प्रायेणेष्ट तदनेकान्तप्रतिषेधेन बाध्यते। ननु च शून्यवादिभिरद्वैतावलम्बिभिश्च तस्यानिष्टत्वात्कथं सर्वेषामेकान्तवादिनां तदिष्टमिति चेत्, न. तैरपि संवृत्या प्रायेणेष्टत्वात्। कथं पुनरनेकान्तप्रति-

पेधेन तद्बाध्यते इति चेत्, क्रमाक्रमयोः प्रतिपेधात्, तयोरनेकान्तेन व्याप्तत्वात् तत्प्रतिपेधेन तत्प्रतिपेधसिद्धेः। क्रमाक्रमप्रतिपेधे चार्थक्रियाप्रतिपेधः, तस्यास्ताभ्यां व्याप्तत्वात् अर्थक्रियाप्रतिपेधे च कर्मादिकं विरुध्यते, तस्य तया व्याप्तत्वात् यदि वानेकान्तप्रतिपेधेन क्षणिकाद्येकान्तविरोधः, तदेकान्तस्यानेकान्ताविनाभावित्वात् । तस्यापि स्वरूपेण सत्त्वेऽनेकान्तरूपेण चासत्त्वव्यवस्थायामनेकान्तस्य दुर्निवारत्वात्तदविनाभावित्वं सिद्धमेव, अन्यथा तद्व्यवस्थानुपपत्ते । इति परवैरित्वात्स्ववैरित्वम् । तथा च कथं कर्मादिकमनाश्रयं न विरुध्यते ? ततोनुष्ठानमभिमतव्याघातकृत्, सदसन्नित्यानित्याद्येकान्तेपु कस्यचित्कुतश्चित्कदाचित्कचित्प्रादुर्भावासंभवात्। ननु च 'कस्यचित्कर्मणः पुण्यपापाख्यस्य कुतश्चिदनुष्ठानात्कायादिव्यापारलक्षणात्कचिदात्मनि कदाचित्संसारिदशाया जन्म मा भूत् सर्वथा सतस्तद्घटनात्, कर्मफलस्य वा शुभाशुभपरलोकलक्षणस्य कर्मविशेपात् तत्त्वज्ञानादेर्वा निश्श्रेयसस्य सर्वथा सद्भावाविशेपात् । तस्यासतस्तु, ततो जन्मास्तु, प्रागसतः पश्चात्प्रादुर्भावदर्शनात्, इति चेत्, न, उभयत्र तद्विरोधाविशेपात् । न हि सर्वात्मना सर्वस्य भूतावेव जन्म विरुद्धमपि तु सर्वथाऽभावेपि, व्यलीकप्रतिभासानामनुपरमप्रसङ्गात् । ननु च शून्यवादिनः स्वप्नदशायामिवान्यदापि व्यलीकप्रतिभासाना कर्मादीना कथमनुपरमप्रसङ्गो यत संवृत्या कर्मादिजन्माविरुद्ध न भवेदिति चेत्, न, साध्यसमत्वादुदाहरणस्य। यथैव ह्यस्वप्नदशाया व्यलीकप्रतिभासानामहेतुकत्वादनुपरमप्रसङ्गः शून्यवादिना तथा स्वप्नावस्थायामपि, तदविशेपात् । तेपामविद्यावासनाहेतुकत्वादहेतुकत्वमसिद्धमिति चेत्, न, अनाद्यऽविद्यावासनाया अप्यसत्त्वे वितथप्रतिभासहेतुत्वविरोधात् खपुष्पवत्, सत्त्वे वा सर्वथा शून्यवादानवतारात्। संवृतिसत्त्वात्तस्याः शून्यवादावतार इति चेत्, तर्हि परमार्थतोऽसत्यऽविद्या कथं वितथप्रतिभासहेतुः स्यात् ? स्वरूपेण सदेव हि किञ्चिद्वितथप्रतिभासानपि जनयद्दृष्टं, यथा चक्षुपि तिमिरादिकं, न

पुनरसत्खरविषाणम् । इति सर्वशून्यवादिनो व्यलीकप्रतिभासानुपरमप्रसङ्ग एव, अहेतुकत्वात्। ततो नाभावैकान्ते कस्यचित्कुतश्चित्कदाचित्क्वचिज्जन्म संभवति, सदसदनेकान्तप्रतिषेधाद्भावैकान्तवत् । न केवलं स्वभावनैरात्म्ये एवायं दोषः, किं त्वन्तरुभयत्र वा निरन्वयसत्त्वेपि कार्यस्य निर्हेतुकत्वविशेषाज्जन्मविरोधसिद्धेः, जन्मनि वा तस्यानुपरतिप्रसङ्गात्। नन्वन्तस्तत्त्ववादिनो योगाचारस्य पूर्वविज्ञानादुत्तरविज्ञानस्योत्पत्तेः, सौत्रान्तिकस्य चान्तर्बहिस्तत्त्वोभयवादिनः पूर्वार्थक्षणादुत्तरार्थक्षणस्य प्रादुर्भावात्कुतो निष्कारणत्वं कार्यस्येति चेत्, न, कार्यकालमप्राप्नुवत कारणत्वानुपपत्तेश्चिरतरातीतवत् कार्यकालं प्राप्नुवतोऽपि कारणत्वादर्शनादन्यथा सर्वस्य समानक्षणवर्तिनस्तत्कारणत्वप्रसङ्गात्। यस्य भावाभावयोः कार्यस्य भावाभावौ तदेव कारणमिति कल्पनाया, सत्यऽभवतः स्वयमेव नियमेन पश्चाद्भवतस्तत्कार्यत्व विरुद्धम्, तत्र तदकारणत्वसाधनादन्यकार्यवत्, तस्य वा तदकार्यत्वसिद्धेस्तद्वत् । कार्यमेव तदनन्तर सम्भवतीति चेत्, कालान्तरेऽपि किं न स्यात् ? तदभावाविशेषात् समनन्तरवत् कालान्तरेपि किञ्चिद्भवत्येव मूपिकाऽलर्कविषविकारवद्भाविराज्यादिनिमित्तकरतलरेखादिवच्चेति चेत्, समर्थे सत्यऽभवतः पुनः कालान्तरे भाविनस्तत्प्रभवाभ्युपगमे कथमक्षणिकेऽर्थक्रियानुपपत्तिः, तत्सत्त्वासत्त्वयोरविशेपात् । स्वसत्ताक्षणात्पूर्वं पश्चाच्चासति समर्थे कारणे स्वकालनियताऽर्थक्रियोपपद्यते, न पुनः शश्वत्सतीति कुतो नियमः ? कारणसामर्थ्यापेक्षिण. फलस्य कालनियमकल्पनायामचलपक्षेपि समानः परिहारः । यथैव हि, क्षणिकं कारणं यद्यदा यत्र यथोत्पित्सु कार्यं तत्तदा तत्र तथोत्पादयति, तस्यैवंविधसामर्थ्यसद्भावात् तत्सामर्थ्यापेक्षिणः कार्यस्य स्वकालनियमः सिध्यतीति कल्प्यते तथा नित्यमपि कारणं यद्यदा यत्र यथा फलमुत्पित्सु तत्तदा तत्र तथोपजनयति, तस्य तादृगसामर्थ्ययोगात् तत्सामर्थ्यापेक्षिणः फलस्य कालनियमः किन्न कल्पयितुं शक्यः ? शाश्वतिकस्य प्रतिकार्यं सामर्थ्यभेदादनित्यत्वप्रसंग इति चेत्, न, क्षणिकस्याप्येकस्य युगपदनेककार्यकारिणः प्रतिकार्यं

सामर्थ्यभेदादनेकत्वप्रसङ्गात् । क्षणवर्तिन एकस्मात्कारणस्वभावमभेदयता विचित्रकर्मणामुत्पत्तौ कूटस्थेपि किं न स्यात् क्रमशः कार्योत्पत्तिः ? तस्यापि तथाविवेकस्वभावत्वात् । कथमत्रोत्पत्तिर्नाम ? तत्र समानः पर्यनुयोगः, सदसतोरनुत्पत्तेर्निष्पन्नखपुष्पवत् । नित्यं कथमुत्पद्यते सत्त्वान्निष्पन्नवदिति पर्यनुयुज्यते, न पुनः क्षणिकं कथं प्रादुर्भवेत् ? असत्त्वात्खपुष्पवदिति पर्यनुयोगार्हमिति पक्षपातमात्रम् । सतः पुनर्गुणान्तराधानमनेकं क्रमशोप्यनुभवतः किं विरुध्येत, ? । नन्वेकत्वं विरुध्यते । स हि गुणान्तराधानमनेकं क्रमशोनुभवन् यद्येकेन स्वभावेनानुभवेत्तदा तस्यैकस्वभावतापत्तिः, अन्यथा निर्हेतुकत्वप्रसङ्गात्, तदनुभवनस्य नियमायोगात् । अथानेकेन स्वभावेन तदनुभवेत्तदा कथमेकस्वभावता तस्य । अनेकस्वभावस्य ततो भेदात्तस्यैकरूपत्वे कुतोयमस्यानेकस्वभावः ? संबन्धात्तस्य स इति कल्पनायां स सवन्धः स्वस्वभावैर्गुणान्तराधानानुभवनहेतुः किमेकेन स्वभावेन स्यादनेकेन वेति स एव पर्यनुयोगोऽनवस्था च । इति कश्चित् । सोपि दूषणाभासवादी, स्वयमिष्टस्यैकस्य ज्ञानस्य ग्राह्यग्राहकाकारवैश्वरूप्यविरोधप्रसङ्गात्, प्रकृतपर्यनुयोगस्याविशेषात् । क्षणस्थायिनः कस्यचिदेव ग्राह्यग्राहकाकारवैश्वरूप्यानभ्युपगमेपि सविदितज्ञानस्य ग्राह्यग्राहकाकारविवेकं परोक्षविश्राणस्य सामर्थ्यप्राप्तेः, सवेदनस्यैकस्य प्रत्यक्षपरोक्षाकारतया वैश्वरूप्यसिद्धेः । सन्विद्रूपतया सवेदनस्य प्रत्यक्षतैव ग्राह्यग्राहकाकारविविक्ततयापि प्रत्यक्षता, न पुनः परोक्षता यतो वैश्वरूप्यं प्रकृतपर्यनुयोगयोग्यं भवेदिति चेत्, न, तथा सकृदप्यप्रतिभासनाद्ब्रह्माद्वैतवत्, ग्राह्यग्राहकाकाराक्रान्तस्यैव सर्वदा वेदनस्यानुभवात् । ततः सवेदनमेकमनेकं प्रत्यक्षपरोक्षाकारौ विश्राणं सामर्थ्यप्राप्तमेव, अन्यथा शून्यसविदोर्विप्रतिपेधात् । ग्राह्यग्राहकाकारशून्यतया हि शून्यम् । सवेदनमात्रमुप(वर्ण)यतस्तत्सविदुपपद्यते, न पुनः सविन्मात्रमप्यसदुपवर्णयतो, विप्रतिपेधात्स्वेष्टासिद्धेः प्रलापमात्रप्रसक्तेः । तदयं योगाचारः सौत्रान्तिको वा सर्वथा शून्यं संविदद्वैतं वानिच्छन्, क्षण-

स्थायि कारणं स्वसत्ताया कार्यं कुर्वदभ्युपगच्छन् क्रमोत्पत्तिमुपरुणद्धि सकलजगदेकक्षणवृत्तिप्रसङ्गात् । कालान्तरे कार्यं कुर्वत्कारणं क्षणिकमभ्युपगच्छतां नाय दोष इति चेत्, न, तेषामपि कारणस्य कार्यकालप्राप्तौ क्षणभङ्गभङ्गानुषङ्गात्, तदप्राप्तुवतस्तत्कृतौ व्यलीककल्पनाविशेषेण कूटस्थानतिशायनात् । यथैव हि कूटस्थमपरिणामित्वात् क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियासमर्थमपि व्यलीककल्पनया क्रमाक्रमसमाक्रान्तकार्यपरम्परां कुर्वदभ्युपगम्यते नित्यैकान्तवादिभिः साङ्ख्यादिभिस्तथा क्षणिकमपि स्वसत्ताक्षणात्पूर्वं पश्चाच्चात्यन्तमसत्सर्वथार्थक्रियायामसामर्थ्यं प्रथयदपि संवृत्या क्रमाक्रमवृत्तिकार्यमाला निर्वर्त्तयदुररीक्रियते क्षणिकवादिभिः इति कूटस्थादनतिशायनं क्षणिकस्य सिद्धमेव । ततः सुभापित समन्तभद्रस्वामिभिः कुशलाद्यसंभूतिरेकान्तग्रहरक्तेष्विति, परस्परनिरपेक्षसदसदुभयैकान्तनित्यानित्योभयैकान्तवादिनोपि तदसभवादद्वैतैकान्तादिवादिवत् । तदेवं सर्वथैकान्तवादिना दृष्टेष्टविरुद्धभापित्वादज्ञानादिदोषाश्रयत्वसिद्धेराप्तत्वानुपपत्तेस्त्वमेव भगवन्नर्हन् सर्वज्ञो वीतरागश्च युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वेन निर्दोषतया निश्चितो महामुनिभिस्तत्त्वार्थशासनारम्भेभिष्टुतः, तत्सिद्धिनिबन्धनत्वादिति तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालङ्कारे व्यासतः समर्थितं प्रतिपत्तव्यम् ॥८॥ ननु च भाव एव पदार्थानामिति निश्चये दृष्टेष्टविरोधाभावात्तद्वादिनो निर्दोषत्वसिद्धेराप्तत्वोपपत्तेः स्तुत्यताऽस्त्विति भगवत्पर्यनुयोगे सतीवाहुः—

'संवृत्येति' (१३०-१-१४) अविद्ययेत्यर्थः । सा च व्यवहारवादिनां वेदान्तिनां मतेऽनिर्वचनीयं कर्मोपपादयति, सौगतानां तु वैज्ञानिकमेव, दृष्टिसृष्टिवादे तु वेदान्तिनां माध्यमिकानां च न कश्चिद्विशेषो दण्डघटादेर्यागस्वर्गादेश्च कार्यकारणभावस्य स्वामिककार्यकारणभावतुल्यत्वात् केवलमेके वाङ्मात्रेण वेदप्रामाण्यं स्वीकुर्वते भ्रमाधिष्ठानसत्यत्वं च, अन्ये तु न तदपीत्येतावानेव विशेष इति बोध्यं सुधीभिः । युक्त्या बाधं दर्शयित्वाऽनुभवेन बाधं प्रदर्शयति, यदि चेत्यादि, (१३०-२-२)

तस्यापि स्वरूपेणेति (३) स्वरूपेण सत्त्वे पररूपेण चाऽसत्त्वेऽनुभव एव साक्षीति भावः। न च प्रसिद्धेन पररूपेणासत्त्वमनुभूयतां न तु शशशृङ्गादिवदप्रसिद्धेनेति न क्षणिकाद्येकान्तस्य स्वरूपेण सत्त्वे पररूपेणानेकान्तेनासत्त्वानुरोधादनेकान्ताभ्युपगमापत्तिरिति शङ्कनीयम्। स्थिरपक्षे स एवायमित्यादौ क्षणिकपक्षेऽपि चित्रज्ञानादौ भेदाभेदाद्यनेकान्तस्यानुभवसिद्धत्वेनासत्त्वारोपविषयतयाऽपि तद्दुर्निवारतेत्यत्र तात्पर्यात्, एतेनासत्ख्यातिसिद्धेनानेकान्तरूपेण व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिकत्वादिना चाऽसत्त्वेऽपि न वस्तुसिद्धिरित्यपास्तम्। अनाश्रयं (५) एकान्ताश्रयनिरासात्, तत (५) एकान्तनिरासात्, अनुष्ठानं तपश्चरणादि, एकान्तवादिनामिति शेषः। अभिमतव्याघातकृत् स्वर्गापवर्गफलनिराकरिष्णुः स्यात्, सदेकान्ते दोषं दर्शयन्नसदेकान्तस्य न्याय्यतामाशङ्कते पूर्वपक्षी ननु चेत्यादिना(६), कर्मण इत्यादि पष्ठ्यन्तत्रयस्य माभूत् (७) इत्यनेनान्वयः, सर्वथा सतस्तदघटनादिति (७) हेतुः। तदघटनाज्जन्माघटनात्, सर्वथासत्त्वं ह्याकाशादावुत्पत्त्यभावव्याप्यत्वेन दृष्टम्, ततस्तथात्वे उत्पत्तिर्न घटत इति भावः, कर्मविशेषात् (७) अयत्याश्रमविहिततपश्चरणादिकर्मणः, तत्त्वज्ञानादेः (७) आत्मसाक्षात्कारादेः, आदिनामिथ्याज्ञानध्वंसपरिग्रहः, तत्त्वज्ञानमेवादिः कारणं तस्मादिति वा, चाकारो मतद्वयाभिव्यक्त्यर्थः, केचित् खलु कर्मण एव मुक्तिमिच्छन्ति, अपरे च तत्त्वज्ञानादेवेति। तस्य (८) कर्मादेः, ततः (८) कायादिव्यापारादेः, प्रागसत (८) इति, कारणसामग्र्याः कार्योत्पत्तिव्याप्यत्वादुत्पत्तेराद्यक्षणसम्बन्धरूपत्वादसदेकान्ते कार्यजन्माविरोधादिति भावः, समाधत्ते–'उभयत्रे-त्यादि (८)। उभयत्र सदसत्कार्यपक्षयोः। व्यलीकप्रतिभासानुपरमप्रसङ्गादिति, (९), असतो निरवधित्वेन यथास्वभावं सततोत्पत्त्यनुत्पत्त्यन्यतरध्रौव्यादिति भावः। तेषां (१२) व्यलीकप्रतिभासानाम्, अभावैकान्ते (१३१-१-१) माध्यमिकमते

दुक्तं दूषणं योगाचारसौत्रान्तिकमतयोरप्यतिदिशति भाष्यकृत्—न केवलमित्यादि । न केवलं स्वभावनैरात्म्ये तत्त्वोपप्लववादिमाध्यमिकमते (२) स्वभावशून्यत्व एवायमनन्तरोक्तो दोषः । किन्त्वन्तस्तत्त्ववादिनो योगाचारस्यान्तर्वहिस्तत्त्ववादिनः सौत्रान्तिकस्य च मते, निरन्वयसत्त्वेऽपि क्षणस्थितिमात्रनिरन्वयसत्त्वाङ्गीकारेऽप्ययं दोषस्तदवस्थ एवेत्यक्षरार्थः । 'कार्यकालमिति' (५) कारणस्य कार्यसहभावव्याप्यतायाः सामग्र्याश्च स्वकाले कार्योत्पत्तिव्याप्यतायाः न्याय्यत्वाद् व्यवहितोत्तरक्षणप्रवेशे गौरवादिति भावः । प्रसङ्गादिति (६) न चेष्टापत्तिः, सव्येतरगोविषाणयोः कार्यकारणभावस्य सर्वैरनभ्युपगमादिति भावः । तदकारणत्वसाधनात्तत्र (७) कार्येऽकारणत्वसाधनात्, अन्यकार्यवदन्यकार्य इव, तस्य वा प्रकृतकार्यस्य, तदकार्यत्वसिद्धेः प्रकृतकारणाकार्यत्वसिद्धेः। तद्वत्( ) अन्यकार्यस्येव, तदनन्तरं सामग्रीप्रविष्टतदव्यवहितोत्तरक्षणे, सम्भवति समीचीनतया घटते, एककारणस्य कार्योत्पत्त्यव्याप्यत्वादितिद्रष्टव्यम् । अत्राप्यव्यवहितत्वमनतिप्रयोजनमित्यभिप्रेत्याह भाष्यकृत्, 'कालान्तरेऽपीति' (८) त्यज्यतां तर्ह्यव्यवहितत्वभागः पूर्वभावित्वपश्चाद्भावित्वे तु कारणकार्यशरीरघटकेऽवश्यं वाच्ये, अन्यथा समानक्षणवर्त्तिनां सर्वेषां कार्यकारणत्वप्रसङ्गादित्याशयवानाह, 'कालान्तरेऽपीति (८),' इदमुपलक्षणं स्वप्नज्ञानस्यापि कालान्तरीयजाग्रद्ज्ञाने हेतुतायाः प्रज्ञाकरेणाभ्युपगमादितिद्रष्टव्यम्। एवमभ्युपगमे क्षणिकत्वसाधकयुक्तिर्विरुध्यत इति दूषणमाह, समर्थे सत्यभवत इत्यादि (९),कालनियमकल्पनायामिति(११)यत्काले यज्जननसमर्थं यत्तत्काले ततस्तदुत्पत्तिरिति स्वभावकल्पनायां बौद्धेन क्रियमाणायामित्यर्थः । समानः परिहार इति (११) स्थिरपक्षेऽपि कारणान्तरसाहित्येनैव कार्योपधायकत्वस्वभावस्य कारणे कल्पनेन समर्थासमर्थत्वाभ्यां भेदाभावादित्यर्थः । न

च कारणान्तरसाहित्यगर्भकार्योपधायकत्वस्वभावस्य कल्पने सदा गलेपादिकया कारणं कारणान्तरमप्युपनयेदिति परेण वक्तुं शक्यम्। कालान्तरे कार्यजनकत्वस्वभावाभ्युपगमे गलेपादिकया कालान्तरमप्युपनयेदित्यस्याचलत्वादिभिरपि वक्तुं शक्यत्वान्मूषिकालर्कविषविकारादेः कालान्तरे कार्योत्पादकत्वेष्टिव्याघातात् तत्तद्घटकस्य स्वभावपरिचायकत्वोक्तेरप्युभयत्र तौल्यादिति द्रष्टव्यम्। एवदेवाह वृत्तिकृत्, यथैव हीत्यादि(११), तस्यापि तथाविधैकस्वभावत्वादिति(१३१–२–२)यथा क्षणिकस्याक्रमिकनानाकार्यकरणैकस्वभावत्वं तथा शाश्वतिकस्यापि क्रमिकनानाकार्यकरणैकस्वभावत्वमविरुद्धमिति भावः। अत्र नित्ये, कथमुत्पत्तिर्वेति सोऽयं पर्यनुयोगः, तत्र क्षणिकपक्षे, समानः एकान्तग्रहे दोषस्यानेकान्तग्रहे च परिहारस्योभयत्राविशेषात्, सदेकान्ते कथञ्चित् कार्योत्पत्तिसम्भवमाह भाष्यकृत्, अत्रैकत्वविरोधमुद्भाव्य संवेदनप्रतिबन्द्या प्रघट्टेन परिहरति वृत्तिकृत् नन्वेकत्वं विरुध्यत इत्यादिना (४) प्रकृतपर्यनुयोगस्याविशेषादिति दूषणं सांख्यं प्रति सौगतेन दत्तं तत्सौगतस्याप्यायाति यतस्तन्मते संवेदनं ग्राह्यग्राहकाकारवैश्वरूप्यमनुभवेदेकेन स्वभावेनानुभवेदनेकेन वा, आद्ये ग्राह्यग्राहकाकारयोरेकत्वापत्तिः, अन्त्येऽनेकस्वभाववतः कथमेकस्वभावत्वं संवेदनादाकारद्वयभिन्नतोपगमे चास्य तदिति व्यपदेशः कुतः, सम्बन्धाच्चेत्, स सम्बन्धस्तद्धेतुरेकेन स्वभावेनानेकेन वा, अत्राप्युत्तरं पूर्ववदिति दुरुत्तरानवस्थातरङ्गिणीति शून्यसंवित्पक्षेऽप्येकत्वस्यानेकत्वेनाविरोधबलादापादयति भाष्यकृत्, क्षणस्थायिन इत्यादि (९) कस्यचित् शून्यसंविन्मात्रस्य, अनभ्युपगमेऽपीत्यनन्तरं तत्त्वत इति शेषः। विवेकम् (९)अभावम्, परोक्षम् अनुमानविषयम्, बिभ्राणस्य(१०)स्वरूपसम्बन्धेन क्रोडीकुर्वतः, सामर्थ्यप्राप्तेर्युक्तिसिद्धत्वात्, संवेदनैकस्य क्षणिकज्ञानाद्वैतस्य, ननु ग्राह्यग्राहकाकारविविक्ततयापि संवेद-

नस्य प्रत्यक्षतैवाभावस्याधिकरणरूपत्वादित्याशङ्कते संविद्रूपतयेति(१०),उत्तरयति 'तथेत्यादि'(११), तथा ग्राह्यग्राहकाकारविविक्तक्षणिकज्ञानत्वेन, सकृदप्येकवारमपि, अप्रतिभासनात् ब्रह्माद्वैतवत् वेदान्त्यभिमतसकलप्रपञ्चविनिर्मुक्तपरब्रह्मवत्, तेऽपि हि प्रपञ्चरहितब्रह्मविषयं विचारसाध्यं महावाक्यजन्यं प्रत्यक्षं स्वीकुर्वत एव तद्वद्बौद्धबुद्धिपरमकाष्ठाप्राप्तं शून्यप्रत्यक्षमिति भावः। ब्रह्माद्वैतप्रत्यक्षं मिथ्या क्षणिकज्ञानाद्वैतप्रत्यक्षं सत्यमिति तु स्ववासनामात्रम्, कूटस्थानतिशायित्वमिति(१३२-१-३) य एव नित्यैकान्तपक्षे दोषास्त एव क्षणिकपक्षेऽपीति भावः। किञ्च करणाकरणयोस्तज्जातीयस्य सतः सहकारिलाभालाभौ तन्त्रमित्यभ्युपगमे क्षणिकत्वं सिध्येत्, स चैकव्यक्तावप्यविरुद्धस्ततश्च तावनादृत्य कारणगतवैजात्यकल्पनमप्रामाणिकमन्यथा कारणवत्कार्येऽपि किञ्चिद्वैजात्यं स्यात्, यद्वतः कारणापेक्षा स्यान्नतु दृष्टजातीयस्येति शङ्कया न नियतप्रवृत्तिसिद्धिरेवं चावह्नेरपि धूमसम्भावनया गतं कार्यलिङ्गकेन सङ्कीर्यते च कारणगता कुर्वद्रूपत्वाख्या विधिरूपा व्यावृत्तिरूपा वा जातिर्दण्डत्वादिना परस्परपरिहारवत्योश्च समावेशे गोत्वाश्वत्वयोरपि तथाभावप्रसङ्ग इति गतमनुपलब्धिलिङ्गकेनापि क्वचिदपि विरोधासिद्धेस्ततो विपक्षे बाधकाभावात् स्वभावहेतुरप्यपास्तः। अथास्ति तत्तथा हि वृक्षजनकपत्रकाण्डाद्यन्तर्भूता शिंशपासामग्री सा वृक्षत्वमतिपत्य भवन्ती स्वकारणमेवातिपतेदिति चेत्, तर्हि शिंशपासामग्र्यन्तर्भूता चलदलादिसामग्री तामतिपत्य चलरूपता भवन्ती स्वकारणमेवातिपतेदिति तुल्यम्, नोदनाद्यागन्तुकनिबन्धनं चलत्वं न तद्विशेषमात्राधीनमिति चेत्, यदि नोदनादयः स्वभावभूतास्तदा तद्विशेषा एव, अथास्वभावभूतास्ततः सहकारिण एव, तथा च तास्तानासाद्य निर्विशेषैव शिंशपाचलस्वभावत्वमारभत इति कुतः क्षणिकत्वसिद्धिः, स्वभावभूता एवागन्तुकसहकार्यनुप्रवेशाद्भवन्तीति चेत्, तर्हि वृक्षसामग्र्यामागन्तुकसह-

कार्यनुप्रवेशादेव शिंशपापि जायत इति न कश्चिद्विशेषः । एवमेतत्, किन्तु शिंशपाजनकास्तरुसामग्रीमुपादायैव चलनजनकास्तु न तामेव किन्तु मूर्त्तमात्रं तथादर्शनादिति चेत्, तर्हि शिंशपाया वृक्षविशेषत्वाविशेषे कौतस्कुतोयं फलं प्रत्येकान्तानेकान्तविशेषः । तत्तत्सहकारिभावाभावकृतः स इति चेत्, तद्वासादितसहकारिणोऽसदृशरूपा अपि केचिदुपकारिणाऽनीदृशास्तु न तथेति तद्वा तादृग्वेति न कश्चिद्विशेष इति स्यादिति कुतः क्षणिकत्वं वैजात्याभ्युपगमे च कुतोऽनुमानवार्त्ता माभूदनुमानमिति चेत्, तर्हि तेन विना कुतस्तत्सिद्ध्येत्, न हि क्षणिकत्वे प्रत्यक्षमस्ति तथानिश्चयाभावात्, गृहीतनिश्चित एवार्थे तस्य प्रामाण्यात्, अन्यथातिप्रसङ्गादिति हता बौद्धबुद्धिस्तदाहुरुदयनाचार्याः—“ न वैजात्यं विना तत्स्यान्न तस्मिन्ननुमा भवेत् ॥ न विना तेन तत्सिद्धिर्नाध्यक्षं निश्चयं विनेति ॥ १ ॥ ” ॥ ८ ॥

भावैकान्ते पदार्थानामभावानामपह्नवात् । सर्वात्मकमनाद्यन्तमस्वरूपमतावकम् ॥ ९ ॥

पदार्थाः प्रकृत्यादीनि पञ्चविंशतितत्त्वानि । “मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त । षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥१॥” इति वचनात् । तेषामस्तित्वमेवेति निश्चयो भावैकान्तः । तस्मिन्नभ्युपगम्यमाने सर्वेषामितरेतराभावादीनामभावानामपह्नवः स्यात् । ततः सर्वात्मकत्वादिप्रसङ्गः । तत्र व्यक्ताव्यक्तयोस्तावदितरेतराभावस्यापह्नवे व्यक्तस्याव्यक्तात्मकत्वे सर्वात्मकत्वम् । तथा च । “हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् । सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥१॥” इति व्यक्ताव्यक्तलक्षणभेदकथनविरोधः । प्रकृतिपुरुषयोरत्यन्ताभावनिह्नवे प्रकृतेः पुरुषात्मकत्वे सर्वात्मकत्वमेव । तथा च “त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि । व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्॥१॥” इति तल्लक्षणभेदकथनव्याघातः । प्रागभावस्यापह्नवे महदहङ्कारादे-

विंकारस्यानादित्वप्रसङ्गः । तथा च "प्रकृतेर्महांस्ततोहङ्कारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः । तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ॥१॥" इति सृष्टिक्रमकथनं विप्रतिपिध्यते । प्रध्वंसाभावस्यापह्नवे तस्यानन्तत्वप्रसङ्गात्, पृथिव्यादीनि पञ्च महाभूतानि पञ्चसु तन्मात्रेषु लीयन्ते— पृथिव्या गन्धरूपरसस्पर्शशब्दतन्मात्रेषु प्रवेशात्, सलिलस्य रसादिषु, तेजसो रूपादिषु, वायो. स्पर्शशब्दतन्मात्रयोः, आकाशस्य शब्दतन्मात्रेऽनुप्रवेशात्, तन्मात्राणा च पञ्चाना बुद्धीन्द्रियाणां कर्मेन्द्रियाणां च मनसा सह षोडशकस्य गणस्याहङ्कारेऽन्तर्भावस्तस्य च महति महतः प्रकृताविति संहारनिवेदनमतिव्याकुल स्यात् । ततः सर्वमस्वरूप, स्वेनासाधारणेन रूपेण कस्यचित्तत्त्वस्य व्यवस्थानाघटनात् । तच्च "सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनिराकृतेः । चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति ॥१॥" इति दूषणास्पदमतावकं मतम्, न तव भगवतोऽर्हतः, कथञ्चिदभावापह्नवाभावात् । ननु च व्यक्ताव्यक्तयोरितरेतराभावस्य तत्स्वभावस्य प्रकृतिपुरुषयोरत्यन्ताभावस्य च तद्रूपस्य महदहङ्कारादीना प्रागभावस्य च स्वकारणस्वभावस्य महाभूतादीना प्रध्वंसाभावस्य च स्वान्तर्भावाश्रयस्वरूपस्य सांख्यैरभ्युपगमादभावापह्नवासिद्धेः कथं सर्वात्मकत्वादिर्दोष इति चेत्, न, तथा भावैकान्तविरोधात् सर्वस्य भावाभावात्मकत्वप्रसक्तेः । न हि वयमपि भावादर्थान्तरमेवाभावं संगिरामहे, तस्य नीरूपत्वप्रसङ्गात्, नास्तीतिप्रत्ययजनकत्वरूपसद्भावादभावस्य नीरूपत्वाभावोपगमे तस्य भावस्वभावत्वसिद्धेः प्रत्ययाभिधानविषयस्यार्थक्रियाकारिणः पदार्थस्य भावस्वभावत्वप्रतिज्ञानात्, नास्तित्वस्य वस्तुधर्मत्वादस्तित्ववत् । वस्तुनोऽस्तीतिप्रत्ययविषयो हि पर्यायोऽस्तित्वं, नास्तीतिप्रत्ययविषयस्तु नास्तित्वम् । निष्पर्यायद्रव्यैकान्तपक्षे सर्वात्मकत्वादिदोषानुषङ्गः कथं परिहर्तुं शक्यः ?, सर्वविवर्तात्मकस्यैकस्यानाद्यनन्तस्य प्रधानस्येष्टत्वात् तद्व्यतिरेकेण सकलविशेषाणां तत्त्वतोऽसम्भवात्सिद्धसाधनमिति चेत्, न, प्रकृतिपुरुषयोरपि विशेषाभावानुषङ्गात्, सत्ताव्यतिरेकेण तयोरप्रतिभासनात्सत्ताद्वैतप्रसङ्गात् । तदेवास्तु, चेतनेतरविशेषाणाम-

विद्योपकल्पितत्वादिति चेत्, कुत: पुनर्विशेषानपह्नुवीत ? न तावत्प्रत्यक्षात्, तस्य विधायकत्वनियमात्, विशेषप्रतिषेधे प्रवृत्त्ययोगात्। नाप्यनुमानादागमाद्वा, तस्यापि प्रतिषेधकत्वानिष्टेः, अन्यथा प्रत्यक्षस्यापि प्रतिषेधकत्वप्रसङ्गात् स्वयं न कुतश्चित्प्रमाणादयं विशेषानपह्नुते। किं तर्हि ? तत्साधनव्यभिचारात्। वस्तुविशेषसाधनवादिना हि न कारणभेदस्तत्साधनं प्रयोक्तव्यम्, तस्याभेदवादिनं प्रत्यसिद्धत्वात्। नापि विरुद्धधर्माध्यासः, तत एव। किं तर्हि ? संविन्निर्भासभेदाद्भावस्वभावभेदः प्रकल्प्येत। स पुनरभेदेप्यात्मनः खण्डशः प्रतिभासनात् व्यभिचारी। ननु ज्ञानात्मनः खण्डशः प्रतिभासनस्य विभ्रान्तत्वात्तत्त्वतस्तस्यैकत्वान्न तेन व्यभिचारः। तदुक्तम्, "अविभागोपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः। ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते ॥१॥" इति चेत्, तदन्यत्रापि विभ्रमाभावे कोशपानं विधेयम्। शक्यं हि वक्तुम्, संविन्निर्भासभेदः कुतश्चित्प्रतिपत्तुर्विभ्रम एव, तत्त्वतः संविन्मात्रस्याद्वयस्य व्यवस्थितेः। "यथा विशुद्धमाकाशं तिमिरोपप्लुतो नरः। सङ्कीर्णमिव मात्राभिर्भिन्नाभिरभिमन्यते ॥१॥ तथेदममलं ब्रह्म निर्विकल्पमविद्यया। कलुषत्वमिवापन्नं भेदरूपं प्रपश्यति ॥२॥" इति वचनात्। तथा चासिद्धं विशेषसाधनं न साध्यसाधनायालम्। तदेकं चक्षुरादिज्ञानप्रतिभासभेदवशाद्रूपादिव्यपदेशभाग् ग्राह्यग्राहकसंवित्तिवत्। चक्षुरादिज्ञानप्रतिभासभेदोऽप्यसिद्ध एवाभेदवादिन इति चेत्, ग्राह्यग्राहकसंवित्तिप्रतिभासभेदोपि भेदवादिन. किमेकत्र ज्ञानात्मनि सिद्धः ?, संवृत्या सिद्ध इति चेत्, समः समाधिः। योपीतरेतराभावप्रत्ययाद्भावस्वभावभेदं साधयेत्तस्य इतरेतराभावविकल्पोपि कथमयथार्थो न स्याद्वर्णादिविकल्पवत्। वर्णादिप्रत्ययो भावस्वभावभेदं स्वसाध्यमर्थमन्तरेणैव भावाद् व्यभिचारित्वादयथार्थो, न पुनरितरेतराभावप्रत्यय इत्यशक्यव्यवस्थम्, तस्य भावाभावयोरभेदे भेदेपीतरेतराभावप्रत्ययेन व्यभिचारात्। न हि वस्तुव्यतिरिक्तमसन्नाम, प्रमाणस्यार्थविषयत्वात्। प्रत्यक्षमभावविषयं भवत्येव, तस्येन्द्रियैः संयुक्तविशेषणसंबन्धसद्भावाद्, घटाभावविशिष्टं भूतलं

गृह्णामीति प्रत्ययादिति चेत्, न, तस्य भूतलादिभावविषयत्वात्। अभावदृष्टौ हि तदवसानकारणाभावाद्भावदर्शनमनवसरं प्राप्नोति, क्रमतोऽनन्तपररूपाभावप्रतिपत्तावेवोपक्षीणशक्तिकत्वप्रसङ्गात्। प्रत्यक्षस्य क्वचित्प्रतिपक्षा स्मर्यमाणस्य घटस्याभावप्रतिपत्तौ तदपररूपस्यानन्तस्यास्मर्यमाणत्वं भावदर्शनावसरकारणमिति चेत्, न, प्रत्यक्षस्य स्मरणानपेक्षत्वात्, तस्य स्मृत्यपेक्षायामपूर्वार्थसाक्षात्कारित्वविरोधात्। भावप्रत्यक्षं किञ्चित्तु स्मरणनिरपेक्षं योगिप्रत्यक्षवत्। किञ्चित्तु स्मरणापेक्षं सुखादिसाधनार्थव्यवसायवत्। क्वचिद्भावप्रत्यक्षं स्मरणनिरपेक्षं, योगिनोऽभावप्रत्यक्षं यथा। क्वचिदभावप्रत्यक्षं पुनः प्रतिषेध्यस्मरणापेक्षमेव, तथाप्रतीतेः इति चेत्, न, स्मरणापेक्षस्य विकल्पज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वविरोधादनुमानादिवत्। प्रत्यक्षस्य सकलकल्पनाविषयत्वात्स्मृत्यपेक्षायामनवस्थाप्रसङ्गात्, स्मृतेः पूर्वानुभवापेक्षत्वात्पूर्वानुभवस्याप्यपरस्मृत्यपेक्षत्वात्, सुदूरमपि गत्वा कस्यचिदनुभवस्य स्मृतिनिरपेक्षत्वे प्रकृतानुभवस्यापि स्मृतिसापेक्षत्वकल्पनावैयर्थ्यात्। न च स्मृतिः पूर्वानुभूतार्थविषया कथञ्चिदप्यपूर्वार्थे ज्ञानमुपजनयितुमलम्, तस्यास्तत्प्रत्यभिज्ञानमात्रजननसामर्थ्यप्रतीतेर्दृष्टे सजातीयार्थेपि स्मृतेः सादृश्यप्रत्यभिज्ञानजनकत्वसिद्धेः। पूर्वानुभूते घटे स्मृतिस्ततो विजातीयेऽर्थान्तरे तदभावे विज्ञानमुपजनयतीति शिलाप्लवं क श्रद्दधीतान्यत्र जडात्मनः। ततः स्मृतिनिरपेक्षमेव सर्वं प्रत्यक्षम्। तच्च यद्यभावविषयं स्यात्तदा भावदर्शनमनवसरमेव, तत्करणाभावात्। "प्रतिपत्तुर्भावदिदृक्षा भावदर्शनकारणम्" इत्यपि न सम्यक्, पुरुषेच्छानपेक्षत्वात्प्रत्यक्षस्य, सत्यामपि घटदिदृक्षायां तद्विकले प्रदेशे दर्शनाभावादसत्यामपि सति घटे दर्शनसद्भावात्। इति न प्रत्यक्षमभावं प्रत्येति, तस्य सन्मात्रविषयत्वात्तत्रैव प्रमाणत्वोपपत्तेरव्यभिचारात्। सकलशक्तिविरहलक्षणस्य निरुपाख्यस्य स्वभावकार्यादेरभावात्कुतस्तत्प्रमितिः स्यादानुमानिकी ? न हि निरुपाख्यस्य स्वभावः कश्चित्संभवति, भावस्वभावत्वप्रसङ्गात्। नापि कार्यं, तत एव। इति कुतः स्वभावात्कार्याद्वा हेतोस्तत्प्रमितिः ? अनुप-

लब्धि. पुनस्तस्यासिद्धिमेव व्यवस्थापयेत्, इति ततोपि न तत्प्रमितिः। भावानामनुपलब्धेस्तत्प्रमितिरित्यपि न सम्यक्, ततो भावान्तरस्वभावस्यैवाभावस्यावभासनात्। एतेन विरोधिलिङ्गान्निरुपाख्यस्याभावस्य प्रमितिरपास्ता। सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकनिवृत्तेस्तत्प्रमितिरित्यपि मिथ्या, तस्या अपि निरुपाख्यत्वे क्वचित्प्रमितिजननासंभवात्, आत्मनः सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकरूपत्वेनापरिणामस्य प्रसज्यप्रतिषेधरूपस्य प्रमाणत्वविरोधात्। यदि पुनरन्यवस्तुविज्ञानरूपा तन्निवृत्तिस्तदा न ततो निरुपाख्यस्य प्रमितिः, वस्त्वन्तररूपस्यैवाभावस्य सिद्धेः। न च प्रकारान्तरमस्ति किञ्चित्। इति कुतस्तत्प्रमितिः ?, मा भून्निरुपाख्यस्याभावस्य प्रत्यक्षतोऽन्यतो वा प्रमाणात्प्रतिपत्तिस्तथापि न सत्ताद्वैतस्य सिद्धिः, वस्तुनानात्वस्यैव ततः परिच्छित्तेरित्यपरतः तस्यापि वस्तुनो नानात्व बुद्ध्यादिकार्यनानात्वात्प्रतीयेत, नान्यथा, अतिप्रसङ्गात्। तदपि व्यभिचार्येव, विपक्षेपि भावात्। तथा हि स्वभावाभेदेपि विविधकर्मता दृष्टा युगपदेकार्थोपनिबद्धदृष्टिविषयक्षणवत्। न ह्येकत्र नर्तक्यादिक्षणे युगपदुपनिबद्धदृष्टीनां प्रेक्षकजनानां विविधं कर्म बुद्धिव्यपदेशसुखादिकार्यमसिद्धम्, येन तस्य स्वभावाभेदेपि विविधकर्मता न भवेत्। शक्तिनानात्वं प्रसवविशेषात्। स चेद् व्यभिचारी, कुतस्तद्गतिः ? तस्यापि शक्तिनानात्वोपगमान्न बुद्ध्यादिः प्रसवविशेषो व्यभिचारीति चेत्, न, अनवस्थाप्रसङ्गात्, नर्तक्यादिक्षणैकशक्तावपि बुद्ध्यादिकार्यनानात्वाच्छक्तिनानात्वप्रसङ्गात् तथा तच्छक्तावपि। इति सुदूरमपि गत्वा बुद्ध्यादिप्रसवविशेषसद्भावेपि शक्तिनानात्वाभावे कथं नासौ व्यभिचारी स्यात् ? इति कुतो वस्तुनानात्वगतिः ? केवलमविद्या स्वभावदेशकालावस्थाभेदानाऽऽत्मनि परत्र वा सत' स्वयमसती मिथ्याव्यवहारपदवीमुपनयति, यतः क्षणभङ्गिनो भिन्नसततयः स्कन्धा विकल्पेरन्नन्यथा वा इति सत्ताद्वैतवादी विशेषानपह्नुवीत तद्रूपादिस्कन्धानां द्रव्यादिपदार्थाना वा निरुपाख्याभावानामिव, परमार्थतः क्षणिकत्वाक्षणिकत्वतदुभयानुभयरूपत्वादिविशेषसाधनेपि

साधनव्यभिचारात्, सोपि प्रतिभासकार्याद्यभेदेपि कस्यचिदेकत्वं साधयतीति साध्यसाधनयोरभेदे किं केन कृतं स्यात् ?, पक्षविपक्षादेरभावात्। कस्यचिद्धि सन्मात्रदेहस्य परब्रह्मणस्तद्वादी एकत्वं प्रतिभासनात्तत्कार्यात्तत्स्वभावाद्वा साधयेदन्यतो वा ?, तच्च साधन साध्यादभिन्नमेव, अन्यथा द्वैतप्रसङ्गात्। साध्यसाधनयोरभेदे च किमेकत्व केन प्रतिभासकादिना निर्णीतं स्यात्, पक्षस्य विपक्षस्य सपक्षस्य चाभावात्। साध्यधर्माधारतया हि प्रसिद्धो धर्मी पक्षः। स च सर्वेपामर्थानां धर्मिणामप्रसिद्धौ ततोन्यत्वेन साध्यधर्मस्य चैकत्वस्यासभवे कथ प्रसिध्येन्नाम ? विपक्षश्च तद्विरुद्धस्ततोन्यो वा नाद्वैतवादिनोऽस्ति। तथा सपक्षश्च साध्यधर्माविनाभूतसाधनप्रदर्शनफलस्तस्य दूरोत्सारित एव। तत्सिद्धौ वा भेदवादप्रसिद्धिः। पराभ्युपगमात्पक्षादिसिद्धेरदोप इति चेत्, न, स्वपरविभागासिद्धौ पराभ्युपगमस्याप्यसिद्धेः। एतेन यदुक्त, सर्वेऽर्था प्रतिभासान्त'प्रविष्टाः प्रतिभाससमानाधिकरणतयाऽवभासमानत्वात् प्रतिभासस्वात्मवदिति ब्रह्माद्वैतस्य साधनं तदपि प्रत्याख्यातम्। आम्नायात्तत्सिद्धिरित्यप्यसम्भाव्यम्, तस्यापि साध्यादभेदे साधनत्वायोगात्। ततः साध्यसाधनयोरभेदे किं सत्ताद्वैतं केनानुमानेनागमेन प्रत्यक्षेण वा प्रमाणेन साधितं स्यात्, पक्षसपक्षविपक्षाणामाम्नायस्येन्द्रियादेश्चानुमानागमप्रत्यक्षज्ञानात्मकप्रमाणकारणस्याभावान्नैवं तत्कृतं स्यात्। न क्वचिदसाधना साध्यसिद्धिः, अतिप्रसङ्गात्। साधनं हि प्रमाणं साध्यते निश्चीयतेऽनेनेति। तद्रहिता न साध्यस्य प्रमेयस्य सिद्धिः, शून्यतादिसिद्धिप्रसङ्गात्। स्वरूपस्य स्वतो गतिरिति तु सविदद्वैतवादिनोपि समानम्। कि वहुना, सर्वस्य स्वेष्टतत्त्व प्रत्यक्षादिप्रमाणाभावेपि व्यवतिष्ठेत, स्वरूपस्य स्वतो गतेः। इत्यतिप्रसङ्ग एव, पुरुषाद्वैतवदनेकान्तवादस्यापि सिद्धेः, सविदद्वैतवदनेकसंवेदनस्यापि सिद्धेः। इति न सत्ताद्वैतं निष्पर्यायं शक्यमभ्युपगन्तुम्। विचारयिष्यते चैतत् प्रपञ्चतोऽग्रे। तदलमतिप्रसङ्गेन। ततो भावा एव नानात्मादय इति भावैकान्तोऽभ्युपगम्यताम्। तत्र

च सर्वात्मकत्वादिदोषानुषङ्गः परिहर्तुमशक्यः ॥ ९ ॥

भावैकान्त इति' (१३४–२–९) भावैकान्तेऽस्तित्वमेवेत्यभ्युपगमे, अभावानाम्, (१०) अन्योन्याभावात्यन्ताभावप्रागभावप्रध्वंसाभावानाम्, प्रकृतेः पुरुषात्मकत्व इति (१३) प्रकृतौ पुरुषत्वात्यन्ताभावानभ्युपगमे पुरुषत्वस्य बलादापातादित्यर्थः। तथा भावैकान्तविरोधात् (१३५–१–९) तथाभ्युपगमे भावैकान्तप्रतिज्ञाया विरोधापत्तेरित्यर्थः। नीरूपत्वप्रसङ्गात् (१०) निःस्वभावत्वप्रसङ्गात्, नास्तित्वस्य च वस्तुधर्मत्वादिति (११) धर्मश्च धर्म्यभिन्न एवेति नाभावोऽतिरिक्त इति भावः। भेदाभेदवादाद्याभेदाश्रयणे तत्त्वेन भेदाश्रयणे च तद्वृत्तित्वेन प्रतीतेरविरोधोऽन्यथा भावधर्मोऽप्यतिरिच्येत, एतेन भूतलस्य घटाभावत्वे भूतले घटाभाव इति प्रतीतिर्न स्यात्, स्याद्वा भूतले भूतलमिति धीरित्यपास्तम्। अभेदेऽपि घटाभावत्वेनाधेयताया भूतलत्वेन चाधारताया एव यथाप्रतीतिस्वीकारात्, न चाभावस्याधिकरणात्मकत्वे दुःखध्वंसस्यात्मरूपत्वेनासाध्यतापत्तिरित्यपि दूषणमस्मान् प्रतिशोभते आत्मनोऽपि परिणामित्वेन कथञ्चित् साध्यताया इष्टत्वादिति दिग्, सर्वविवर्तात्मकस्य (१३) निखिलसांवृतभावाधिष्ठानस्य, तत्त्वत इति (१३) संवृत्या परं तत्त्वं न निषिध्यत इति भावः। 'अन्यथेति' (१३५–२–२) अनुमानमागमप्रमाणं वा न प्रतिषेधकं प्रमाणत्वान्निर्विकल्पकप्रत्यक्षवदित्यनुमानादिति भावः। तस्य (३) कारणभेदस्य, असिद्धत्वात् (४) स्वप्नज्ञानवदिति भावः। तत एव (४) अभेदवादिनं प्रत्यसिद्धत्वादेव, स संविन्निर्भासभेदः, खण्डशः प्रतिभासनात् (४) इत्यत्राविद्या तज्जनितान्तःकरणादिभेदो हेतुर्द्रष्टव्यः संवेदनाद्वैतवादी शङ्कते, नन्विति (५) तद्वैतवाद्याह, तदन्यत्रापीति (६) तर्त्तर्हि, अन्यत्रापि ब्रह्माद्वैतेऽपि, विभ्रमाभावे (६) विभ्रमो नास्तीत्यभ्युपगमे, विशेषसा-

धनं (९) संविन्निर्भासभेदरूपं, साधनाय भेदसाधनाय, तदेकं ब्रह्माऽज्ञानसत्तायां प्रमाणभावाच्चक्षुरादिज्ञानप्रतिभासस्य यो भेदस्तद्वशात्तद्धेतोः, रूपादिव्यपदेशभाग् भवति, यथा भेदवादिन एकमेव ज्ञानं ग्राह्यग्राहकारंभनियामकश्चात्र तत्तत्कालादिसध्रीचीनोऽविद्याविलास इत्यर्थः। 'योऽपीत्यादि' (११) एकमेव ब्रह्माऽभ्युपगच्छतोऽद्वैतवादिनो यथा वर्णादिविकल्पोऽसत्यस्तथेतरेतराभावप्रत्ययोऽपीति न ततो भावस्वभावभेदसिद्धिरित्यर्थः। अभेदेऽपि (१३) अभेदस्य प्रामाणिकत्वेऽपि, भूतलादिभावविषयत्वाच्छुद्धभूतलादिभावविषयत्वादित्यर्थः। कीदृशं शुद्धं भूतलमिति चेत्, यादृशं तव घटाभावाधिकरणम्, उभयमपि पृच्छाम इति चेत्, पृच्छन्तु तावदेतत्तत्त्वमनुभवं भवन्तः। भूतलस्वरूपत्वे घटाभावस्य घटागमनकालेऽपि तदपरावृत्तेस्तदुपलम्भप्रसङ्ग इति चेत्, न। तदा तव कालघटितस्येव मम देशघटितस्याभावसम्बन्धस्यापगमकल्पने दोषाभावात्, एवं सति कालविशेषघटितसम्बन्धेन मृदादेरेव घटादिव्यवहारोपपत्तौ गतं घटादिनाऽपीति चेत्, मैवं द्रव्यार्थे इष्टत्वात्, पर्यायार्थनये च घटादेरभावादेश्चातिरेकाभ्युपगमस्य दोषानावहत्वादिति। क्रमतोऽनन्तरूपाभावप्रतिपत्तावेवेति (१३६–१–१) क्रमेणानन्तसंख्यघटपटाद्यभावग्रहण एवेत्यर्थः। यद्यप्यनन्तानामभावानां प्रत्यासत्त्यविशेषादेकदैव ग्रहणोपपत्तेः क्रमत इत्ययुक्तम्, तथाऽप्यभावग्रहसामग्र्यविच्छेदाद्धारावाहिकतद्ग्रहसौलभ्यापेक्षयेत्थमुक्तिरिति सर्त्तव्यम्। ननु केवलाभावप्रत्यक्षाभ्युपगमे स्यादयं दोषः सावकाशः, स एव चास्माकं नास्ति, अभावज्ञाने प्रतियोगिज्ञानस्य हेतुत्वस्वीकारात्तत्कादाचित्कत्वे न चाभावग्रहकादाचित्कत्वमिति, यदैव न प्रतियोगिज्ञानं तदाऽभावग्रहान्तर्भावग्रहस्यालब्धावसरत्वमित्याशंक्याभावग्रहे प्रतियोगिग्रहहेतुतां खण्डयन्नाह क्वचित्प्रतिपक्षेत्यादिना (२), ततः स्मृतिनिरपेक्षमेव सर्वं प्रत्यक्षमिति, (१३६–१–१०)

न च स्मृतित्वेन स्मृतिजन्यत्वस्य प्रत्यक्षत्वाभावव्याप्यत्वेऽपि विशेषणज्ञानत्वेन तज्जन्यतया अतथात्वान्नायं दोष इति शङ्कनीयम् । विशिष्टज्ञानत्वावच्छिन्नं प्रति विशिष्टप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रति वा विशेषणज्ञानत्वेन हेतुत्वे मानाभावात्तद्विशेषणेन्द्रियसन्निकर्षतदसंसर्गाग्रहादिनैव तद्विशिष्टप्रत्यक्षोपपत्तेः सुरभिचन्दनमित्यादेश्चाकरे प्रत्यभिज्ञानतयैवोपपादितत्वादितिदिग् । तच्च यत्र भावविषयं स्यादिति (१०) घटत्वाद्यवच्छिन्नप्रकारतानिरूपिताभावविषयताकप्रत्यक्षे घटादिज्ञानस्य प्रतियोगिज्ञानविधया विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञानविधया वा हेतुत्वेऽपि शुद्धाभावदर्शनस्य सदा सम्भृतसामग्रीकत्वादिति भावः । न चाभावदर्शनस्याप्यधिकरणादिभावविषयकत्वात्कथमभावदर्शने सति भावदर्शनस्यानवसरप्राप्तत्वमिति वाच्यम् । अधिकरणमिश्रिताभावज्ञानस्य सङ्कलनात्मकत्वेन प्रथममभावावग्रहादिघटिताभावोपयोगेनाभावग्रहस्यैवाविच्युतौ सत्यां भावसंयोजनानुपपत्तिरित्यत्र तात्पर्यात्, " अभावबुद्धौ प्रतियोगिबुद्धेः, प्राञ्चोऽत्र यत्कारणतां वदन्ति ॥ तन्नव्यसिद्धान्तविमर्दपूर्वं स्वतंत्रयुक्त्या परिभावयामः ॥१॥ न्यायाम्बुधिर्दीधितिकारयुक्ति—कल्लोलकोलाहलदुर्विगाहः ॥ तस्यापि पातुं न पयः समर्थः । किंनाम धीमत्प्रतिभाम्बुवाहः ॥२॥ " अत्र प्रतियोगिज्ञानशून्यकालेनेत्याद्याकारकप्रतियोग्यमिश्रिताभावप्रत्यक्षवारणाय तत्र प्रतियोगिज्ञानस्य हेतुत्वमङ्गीकुर्वन्ति जीर्णाः; तन्मतेनाभावज्ञानत्वं तत्प्रत्यक्षत्वं वा प्रतियोगिज्ञानकार्यतावच्छेदकम्, प्रमेयत्वादिनाऽभावग्रहेऽभावत्वसामान्यलक्षणाधीनाभावप्रत्यक्षे च व्यभिचारात्, नापि सामान्यतोऽभावलौकिकप्रत्यक्षत्वं प्रतियोगिज्ञानकार्यतावच्छेदकम्, घटज्ञानकाले पटाभावादिलौकिकप्रत्यक्षोत्पत्तिप्रसङ्गात्, नापि घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावादिलौकिकप्रत्यक्षत्वं घटज्ञानादिकार्यतावच्छेदकम्, द्रव्यत्वादिना घटादिज्ञानोत्तरमपि तादृशाऽभावलौ-

किकप्रत्यक्षापत्तेर्दुर्वारत्वात्, न च घटत्वविषयकघटज्ञानत्वेन तादृशहेतुत्वान्नानुपपत्तिः, घटपटत्वनिर्विकल्पकोत्तरं तत्समूहालम्बनोत्तरं च तथाविधाभावलौकिकप्रत्यक्षापत्तेर्दुर्वारत्वात्, किन्तु घटत्वावच्छिन्नविषयताशालिज्ञानत्वं कारणतावच्छेदकम्, घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावलौकिकप्रत्यक्षत्वं कार्यतावच्छेदकमिति बोध्यम्। नन्वेवमपि घटत्वेन पटभ्रमदशायां घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावलौकिकप्रत्यक्षापत्तिर्दुर्वारा, न चेष्टापत्तिः, तथाविधाभावप्रत्यक्षस्य प्रतियोग्यंशे घटत्ववैशिष्ट्यभ्रमजनकीभूतदोषस्य तदाऽसत्त्वेन घटत्वेन पटाविषयकतया घटत्वेन घटज्ञानासत्त्वेन तद्विषयकतया च नेत्याकारकप्रत्यक्षपर्यवसन्नत्वेनेष्टापत्तेरसम्भवात्। न च तथाविधप्रत्यक्षं प्रति घटत्वावच्छिन्नघटविषयताशालिज्ञानत्वेन हेतुत्वान्नोक्तापत्तिः, तथाविधदोषदशायां घटत्वेन पटज्ञानसत्त्वे तादृशाभावांशे घटत्वेन पटावगाहिनो भ्रमात्मकप्रत्यक्षस्यानुपपत्तेः, न च तादृशफलोपपत्तये घटत्वेन पटज्ञानस्यापि पृथग्घेतुत्वं कल्पनीयम्, तादृशज्ञानेन फलजनने तथाविधदोषस्य सहकारित्वकल्पनाच्च न पूर्वप्रदर्शितापत्तिरिति वाच्यम्, अनन्तकार्यकारणभावकल्पनापत्तिदोषानुद्धारादिति चेत्, न। प्रामाणिकगौरवस्यादोषत्वात्। यत्तु घटत्वेन पटादिज्ञानकाले घटाभावांशे घटत्वेन पटभानजनकीभूतदोषस्य तत्तत्क्षणसम्बन्धरूपस्य नियमतः सत्त्वान्न तादृशज्ञानदशायां नेत्याकारकप्रत्यक्षापत्तिरिति तन्नानन्ततत्तत्क्षणसम्बन्धादीनां दोषत्वे प्रमाणाभावात्तत्कल्पने गौरवाच्च, अथ तथापि तद्धर्म्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावलौकिकप्रत्यक्षं प्रति तद्धर्मावच्छिन्नविषयताशालिज्ञानत्वेन न हेतुहेतुमद्भावः, समनियतसंख्यापरिमाणाद्यभावानामैक्येन संख्यादिज्ञानोत्तरोत्पन्नसंख्यात्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावलौकिकप्रत्यक्षस्य परिमाणत्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावविषयतया परिमाणत्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावलौकिकप्रत्यक्षे परिमाणत्वाद्यवच्छिन्नवि-

पयताशालिज्ञानहेतुतायां व्यभिचारात्, परिमाणत्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगितासम्बन्धावच्छिन्नपरिमाणनिष्ठविषयतानिरूपिताभावविषयताकलौकिकप्रत्यक्ष एव तद्धेतुत्वकल्पने तु दीधितिकृदुक्तरीत्याऽभावबुद्धेर्विशिष्टवैशिष्ट्यमर्यादयैव गतार्थत्वेन प्रतियोगिज्ञानस्य स्वातंत्र्येण हेतुत्वभङ्गप्रसङ्गादिति चेत्, न। समनियताभावानां भिन्नत्वाभ्युपगमे दोषाभावात्परिमाणत्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगितावच्छेदकयत्किञ्चिदवच्छिन्नज्ञानत्वेन हेतुत्वान्न दोषः, अत एव प्राचां घटात्यन्ताभावादेर्घटादितत्प्रागभावतत्प्रध्वंसप्रतियोगिकत्वेऽप्येकग्रहे प्रत्यक्षत्वमित्यपरे, वस्तुतो घटत्वेन पटवटज्ञानयोर्दोपान्तर्भावानन्तर्भावाभ्यां पृथक्कारणत्वस्य प्रागुक्तत्वात्कार्यतावच्छेदककोटावव्यवहितोत्तरत्वदानावश्यकत्वात्समनियताभावप्रत्यक्षस्थले न व्यभिचारः। इत्थमेव लघुधर्मेऽभावस्य प्रतियोगितावच्छेदकत्वसम्भवे गुरौ तदभावेन कम्बुग्रीवादिमत्त्वावच्छिन्नविषयताशालिज्ञानोत्तरं घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगितासम्बन्धेन कम्बुग्रीवादिमत्त्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपिताभावविषयताशालिनः कम्बुग्रीवादिमान्नास्तीत्याकारकस्य प्रत्यक्षस्योपपत्तिः, घटत्वावच्छिन्नाभावप्रत्यक्षे घटत्वावच्छिन्नविषयताशालिन इव कम्बुग्रीवादिमत्त्वावच्छिन्नविषयताशालिनोऽपि ज्ञानस्य हेतुत्वात्कार्ये स्वाव्यवहितोत्तरत्वस्यैव च व्यभिचारवारकत्वात्, कम्बुग्रीवादिमन्निष्ठकम्बुग्रीवादिमत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगितावगाहनेन च तत्र प्रामाण्याप्रामाण्योभयव्यवस्था श्रद्धेया, अन्ये तु कम्बुग्रीवादिमत्त्वावच्छिन्नविषयताशालिज्ञानकाले कम्बुत्वावच्छिन्नविषयताशालिज्ञानस्यावश्यकतया तदुत्तरं कम्बुत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावलौकिकप्रत्यक्षाभ्युपगमेन तदभावांशेन तेन सम्बन्धेन कम्बुग्रीवादिमदवगाहत्वात् कम्बुग्रीवादिमान्नास्तीति भ्रमस्वीकारान्नानुपपत्तिरित्याहुः। न च तथापि तेजस्त्वप्रकारकज्ञानं विना जायमाने इदन्त्वादिना तेजःसामान्याभावरूपतमःप्रत्यक्षे तथाविधाभावलौकिकप्रत्यक्षं प्रति तेज-

स्त्वावच्छिन्नप्रकारताशालिज्ञानहेतुतायां व्यभिचार इति वाच्यम्, तेजस्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावनिष्ठाभावत्वावच्छिन्नलौकिकविषयताशालिप्रत्यक्षत्वस्य तेजस्त्वप्रकारकज्ञानकार्यतावच्छेदकत्वोपगमात्, अथायं कार्यकारणभावप्रपञ्चः प्रतियोगिज्ञानशून्यकाले नेत्याकारकप्रतियोग्यमिश्रिताभावप्रत्यक्षापत्तिवारणाय, सैव च कुतस्तादृशाभावप्रत्यक्षाप्रसिद्ध्या तदापत्तेरयोगादिति चेत्, न, इन्द्रियसम्बद्धविशेषणताबलात्प्रतियोगिज्ञानशून्यकाले घटाभावादावभावलौकिकप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नापत्तौ क्रियमाणायां फलतः प्रतियोग्यमिश्रितनेत्याकारकाभावलौकिकप्रत्यक्षापत्तिसम्भवात्। अथ तद्धर्म्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावलौकिकप्रत्यक्षे तादृशज्ञानत्वेन प्रतियोगिज्ञानहेतुत्वकल्पनेऽपि प्रतियोगितासम्बन्धेनाभावो न घटीय इत्याकारकबाधबुद्धिदशायां घटज्ञानकाले घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावलौकिकप्रत्यक्षत्वावच्छिन्ने आपाद्यमाने फलतो नेत्याकारकापत्तिसम्भवः, तदा प्रतियोगितासंसर्गेण घटभानप्रतिबन्धकस्य तथाविधबाधज्ञानस्य सत्त्वेनाभावांशे तत्संसर्गकघटादिविषयकप्रत्यक्षोत्पत्त्यसम्भवादिति, तन्न, तदानीमप्येकत्र द्वयमिति रीत्या घटाभावत्वोभयमभावांशे विषयीकुर्वाणस्य घटो नास्तीति प्रत्यक्षस्य सम्भवेन प्रतियोग्यमिश्रिताभावप्रत्यक्षापत्त्यसम्भवात्। यदि चावृत्तित्वज्ञानकाले निर्धर्मितावच्छेदकज्ञानस्याप्यनुत्पत्त्या प्रतियोगितासम्बन्धेन घटो नाभाववृत्तिरित्यवृत्तित्वज्ञानकाले घटादिरूपप्रतियोगिज्ञानबलात्तत्कार्यतावच्छेदकावच्छिन्नस्यापत्तौ क्रियमाणायां फलतो नेत्याकारकापत्तिः सम्भवतीति मन्यते, तदा दोषबलात् घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगितया वृत्त्यनिरूपकसम्बन्धेन घटविशिष्टाभावप्रत्यक्षाभ्युपगमान्नानुपपत्तिः। यत्त्वभावो न घटीय इति बाधबुद्धेरेवासम्भवोऽस्याभावे प्रतियोगितया घटवैशिष्ट्यावगाहित्वेन प्रतिबध्यतावच्छेदकाक्रान्तत्वादिति, तन्न, प्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नाधारतासंसर्गकबुद्धेरेव प्रतिबध्य-

त्वात् प्रतियोगितया घटवद्बुद्धेः साम्राज्यात्, न हि संयोगसम्बन्धावच्छिन्नाधारतया गगनाद्यभाववत्तानिर्णयेऽपि संयोगमात्रेण गगनादिमत्ताबुद्ध्यनुदय इति। यदपि एके धर्मधर्मितावच्छेदकीकृत्य विरुद्धभावोभयप्रकारकनिर्णयानभ्युपगमात् शुद्धप्रतियोगितासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकघटाभाववत्तारूपबाधस्यैव प्रकृते शरणीकरणीयत्वेन संयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगितासम्बन्धावच्छिन्नतत्प्रतियोगिनिष्ठप्रतियोगिताकाभावनिर्णयेऽपि शुद्धप्रतियोगितासम्बन्धेनाभावांशे घटविषयकस्य घटो नास्तीत्याकारकस्याभावप्रत्यक्षस्योत्पत्तौ बाधकाभावेन प्रतियोग्यमिश्रिताभावलौकिकप्रत्यक्षापत्त्यसम्भवः, तदुक्तं—'पदार्थमालायां' तद्दशायामपि सामान्यतः प्रतियोगिवैशिष्ट्यधीसम्भवादिति, सामान्यत इत्यस्य शुद्धप्रतियोगितासम्बन्धेनेत्यर्थ इति, तदपि न क्षोदक्षमम्, तादृशनिर्णयासम्भवेऽपि प्रतियोगितासम्बन्धेन घटोऽवृत्तिरिति ज्ञानस्य प्रतिबन्धकस्य जागरूकतया तथाविधज्ञानकाले नेत्याकारकघटाभावलौकिकप्रत्यक्षापत्तेर्विनोपदर्शितप्रकारं ब्रह्मणोऽपि दुर्वारत्वादिति ध्येयम्। अथ भूतलादौ संयोगसंसर्गकघटप्रकारकनिर्द्धर्मितावच्छेदकज्ञानदशायां तत्र संयोगसमवायादियावत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकघटाभावलौकिकप्रत्यक्षापत्तिवारणाय समानविशेष्यतया तत्सम्बन्धावच्छिन्नतदभावलौकिकप्रत्यक्षं प्रति तेन सम्बन्धेन प्रतियोग्यारोपस्य हेतुत्व कल्प्यत इति तत एव प्रतियोग्यमिश्रिताभावलौकिकप्रत्यक्षवारणात् किं तत्र प्रतियोगिज्ञानहेतुनेति चेत्, न, तत्सम्बन्धेन तदारोपनियामकादेवाभावबुद्धौ सम्बन्धनियमोपपत्तावारोपहेतुतायां मानाभावात्, अस्तु वा तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावप्रत्यक्षे तत्सम्बन्धवत्ताज्ञानं हेतुः, न तु तेन सम्बन्धेन तदारोपोऽपि, गौरवात्, तथा च प्रतियोग्यमिश्रिताभावलौकिकप्रत्यक्षापत्तिवारणाय प्रतियोगिज्ञानहेतुताऽऽवश्यकीति। अस्तु वाऽभावप्रत्यक्षे प्रतियोग्यारोपहेतुता, तथापि तत्र

कारणतावच्छेदककोटौ प्रतियोगितावच्छेदकविषयतानिवेशे मानाभावाद्द्रव्यत्वेन घटस्य संयोगेनारोपस्थले घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावांशे द्रव्यत्वेन घटप्रतियोगिकत्वभ्रमजनकदोषाभावे नेत्याकारकप्रत्यक्षापत्तिवारणाय प्रतियोगितावच्छेदकप्रकारकज्ञानस्य पृथग्घेतुत्वमावश्यकम्, प्रतियोग्यारोपजनकतावच्छेदककोटौ प्रतियोगितावच्छेदकविषयतानिवेशे सम्बन्धभेदेनानन्तकारणतावच्छेदकगौरवप्रसंगात्, दीधितिकृतस्तु प्रतियोग्यंशे विशिष्टवैशिष्ट्यविषयताशून्यस्य विशेष्ये विशेषणं तत्र च विशेषणान्तरमिति विषयताशालिनोऽभावप्रत्ययस्यानभ्युपगमेनेन्द्रियसम्बन्धविशेषणतायाः फलजनने घटत्वादिविशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धिं प्रति हेतुत्वेन क्लृप्तस्य घटत्वादिप्रकारकज्ञानस्य सहकारित्वस्वीकारेणैव नेत्याकारकप्रत्यक्षवारणस्य शक्यतयाऽभावबुद्धिं प्रति प्रतियोगिज्ञानस्य हेतुत्वकल्पनं निरर्थकमेवेत्याहुः ॥ तत्रेदं चिन्त्यते ॥ अभावप्रत्यक्षे जननीये इन्द्रियसम्बद्धविशेषणताया घटत्वप्रकारकज्ञानस्येव पटत्वप्रकारकज्ञानस्यापि सहकारित्वं स्वीकरणीयम्, अन्यथेन्द्रियसम्बद्धविशेषणताबलात्पटत्वावच्छिन्नाभावप्रत्यक्षस्य पटत्वप्रकारकज्ञानशून्यकालेऽप्युत्पत्त्यापत्तेः, तथा च पटत्वप्रकारज्ञानसत्त्वे इन्द्रियसम्बद्धविशेषणतारूपकारणबलाद् घटाभावप्रत्यक्षापत्तिः, न चेष्टापत्तिः, तदा घटाभावांशे पटभ्रमजनकदोषाभावेन पटस्य घटज्ञानासत्त्वे च घटस्याभावेन नेत्याकारकप्रत्यक्षपर्यवसानात्, न च घटाभावादिनिष्ठेन्द्रियसम्बद्धविशेषणताया घटत्वाद्यवच्छिन्नविषयतानिरूपिताऽभावनिष्ठलौकिकविषयतासम्बन्धेन प्रत्यक्षहेतुत्वे तस्यां घटत्वप्रकारकज्ञानस्य सहकारित्वान्नोपदर्शितापत्तिः, न च पटत्वप्रकारकपटज्ञानकाले घटाभावांशे तज्ज्ञानजनकीभूतदोषसत्त्वे घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावप्रत्यक्षानुपपत्तिर्घटाभावनिष्ठविशेषणतायाः फलजनने पटत्वप्रकारकज्ञानतथाविधदोषादीनामपि सहकारित्वादिति वाच्यम्, विषयभेदेनेन्द्रियसम्बद्धविशेष-

णतायाः कारणताधिक्यप्रसङ्गात् । न च प्रतियोगिज्ञानहेतुतामतेऽपि विषयभेदेनेन्द्रियसम्बद्धविशेषणतायाः कारणताबाहुल्यं विना न निस्तारः, पूर्वोपदर्शितापत्तेस्तन्मतेऽपि सम्भवादिति वाच्यम् । तन्मते लौकिकविषयतासम्बन्धेनाभावप्रत्यक्षं प्रति स्वप्रकारीभूतधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वसम्बन्धेन ज्ञानत्वेन हेतुत्वकल्पनेनानुपपत्तेरभावात् उक्तसम्बन्धघटितसामानाधिकरण्येन ज्ञानविशिष्टाया एकस्या अपरस्याश्च तत्तद्दोषविशिष्टाया इन्द्रियसम्बद्धविशेषणताया अभावलौकिकप्रत्यक्षनियामकत्वे घटत्वप्रकारकज्ञानसत्त्वे घटाभावसन्निकर्षे आद्यायाः । पटत्वप्रकारकज्ञानसत्त्वे घटाभावांशे पटभ्रमजनकदोषसत्त्वे च द्वितीयायाः सम्पत्त्या अभावलौकिकप्रत्यक्षोत्पत्तेस्तदसत्त्वे च तदनुत्पत्तेरिति । स्यादेतत्, नव्यमतेऽपि विषयभेदेनेन्द्रियसम्बद्धविशेषणताया न कारणताधिक्यं तद्धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावसन्निकर्षे तदन्यधर्मप्रकारकज्ञानस्यैव तदभावांशे तत्प्रकारकभ्रमजनकदोषत्वाभ्युपगमेन घटत्वप्रकारकज्ञानकाले इन्द्रियसम्बद्धविशेषणतारूपकारणबलादभावप्रत्यक्षस्य घटाभावे आपत्तेरिष्टापत्तिपरिहरणीयत्वात्, तदा दोषध्रौव्येण घटाभावांशे पटभ्रमात्मकस्यैव तस्य स्वीकारादिति, मैवम्, तथापि नव्यैरिन्द्रियसम्बद्धविशेषणतायाः सहकारिताघटत्वप्रकारकज्ञानत्वादिना नानाविधा स्वीकार्या, प्राचीनैस्तूपदर्शितसम्बन्धेन ज्ञानत्वेनैवेति प्राचीनमत एव लाघवात्, एवं चाभावलौकिकप्रत्यक्षजनकसामग्रीव्याप्ताविन्द्रियसम्बद्धविशेषणतायामेककालीनत्वोपदर्शितसम्बन्धघटितस्वसामानाधिकरण्योभयसम्बन्धेन ज्ञानत्वेनैव घटत्वप्रकारकज्ञानादीनां निवेशः कर्त्तव्यो न तु प्रातिस्विकरूपेणेत्यपि प्राचीनमते लाघवं द्रष्टव्यम् । यत्तु नव्यमते विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञानस्यात्मनिष्ठसमवायप्रत्यासत्त्येन्द्रियसम्बद्धविशेषणतायाश्च विषयनिष्ठप्रतियोगितासम्बन्धेन हेतुत्वं कल्प्यत इति तयोः कारणतावच्छेदकसम्बन्धयोर्वैयधिकरण्येनैकपुरुषस्य घटत्वप्रकारकज्ञानकाले

पुरुषान्तरीयेन्द्रियसम्बद्धविशेषणतासत्त्वे पुरुषान्तरीयाभावलौकिकप्रत्यक्षापत्तिरिति, तन्न, एतदात्मसमवेतज्ञानादिव्यक्तेरात्मान्तरे आपत्तिवारणाय तदात्मसमवेतत्वावच्छिन्नं प्रति तदात्मत्वेन तादात्म्येन हेतुत्वकल्पनात्तादात्म्यसमवायघटितसामानाधिकरण्येन एतदात्मविशिष्टं यद् घटत्वप्रकारकज्ञानम्, एककालीनत्वसम्बन्धेन तद्विशिष्टा यैतत्पुरुषीयेन्द्रियसम्बद्धविशेषणता सैवैतत्पुरुषीयाभावलौकिकप्रत्यक्षनियामिकेति सामग्रीव्याप्त्यभ्युपगमे दोषाभावात् । इदन्तु स्यात्, नव्यमते घटत्वप्रकारकज्ञानकाले पटाभावेन्द्रियसम्बद्धविशेषणतासत्त्वे भिन्नविषयकानुमितिसामग्रीविरहबलादात्मनि घटत्वावच्छिन्नविषयतानिरूपिताभावविषयताशालिप्रत्यक्षापत्तिर्दुर्वारा घटाभावलौकिकसन्निकर्षशून्यकाले तथाविधसामग्र्यभावरूपकारणबलात्तादृशप्रत्यक्षोत्पत्तिवारणाय तादृशसामग्र्यभावेन फले जननीये तथाविधसन्निकर्षस्य सहकारित्वकल्पनात्तदानीमेककालीनत्वसम्बन्धेन तादृशसन्निकर्षादिविशिष्टविरोधिसामग्र्यभावरूपायाः सामग्र्या अक्षतत्वात्, तथा च घटाभाववृत्तिविषयतासम्बन्धेन प्रत्यक्षं प्रति तादात्म्येन घटाभावहेतुतामनायत्या कल्पयित्वा तादात्म्यप्रतियोगिताघटितसामानाधिकरण्यसम्बन्धेन घटाभावविशिष्टा येन्द्रियसम्बद्धविशेषणता तद्विशिष्टतथाविधविरोधिसामग्र्यभावरूपायाः सामग्र्या एवात्मनि घटाभावप्रत्यक्षोत्पत्तौ नियामकत्वमभ्युपगन्तव्यमिति महागौरवम् । प्रतियोगिज्ञानहेतुतामते तु लौकिकविषयतयाऽभावप्रत्यक्षे स्वप्रकारीभूतधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वसम्बन्धेन ज्ञानत्वेनैव हेतुत्वादुक्तसम्बन्धप्रतियोगिताघटितसामानाधिकरण्येन ज्ञानविशिष्टेन्द्रियसम्बद्धविशेषणताभावादेवोक्तस्थले नाभावप्रत्यक्षं पटाभावे, तथा च विषयतासम्बन्धेनाभावप्रत्यक्षोत्पादकसामग्रीसहकारेणैव समवायेन तदुत्पादकसामग्र्याः कार्योत्पत्तिव्याप्यत्वान्नोक्तापत्तिरिति घटाभावादिप्रत्यक्षोत्पादकसामग्र्यामिन्द्रियसम्बद्धविशेषणतायां विशिष्यानन्त-

विषयवैशिष्ट्यानिवेशाल्लाघवमिति। अत्र ब्रूमः। एवं सति घटत्वेन पटज्ञानात्पटाभावसन्निकर्षे घटत्वेन पटाभावज्ञानं न स्यादिति घटत्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपिताभावविषयताशालिप्रत्यक्षमेव घटज्ञानकार्यतावच्छेदकं वाच्यमिति तदज्ञानात्केवलाभावप्रत्यक्षापत्तिर्दुर्निवारैव, न च घटत्वाद्यवच्छिन्नप्रकारत्वान्यप्रकारत्वानिरूपिताभावविषयताकप्रत्यक्षे घटादिधियो हेतुत्वान्नाभावांशे निर्विकल्पकमभाव इत्याकारकप्रत्यक्षं च जायते निखिलप्रतियोगिज्ञानकार्यतावच्छेदकाक्रान्तस्येदृशप्रत्यक्षस्य यत्किञ्चित्प्रतियोगिज्ञानेऽसम्भवात्, यावत्प्रतियोगिज्ञानस्य चासम्भवादभावत्वांशे निर्विकल्पकं त्वभावांशे यत्किञ्चित्प्रतियोगिवैशिष्ट्यविषयकत्वात् यत्किञ्चित्प्रतियोगिधीसाध्यमेवेति नानुपपत्तिः, इदंत्वेन तमः प्रत्यक्षं त्वनुपपन्नमभावांशे निर्विकल्पकवद् यावत्प्रतियोगिधीकार्यतावच्छेदकाक्रान्तत्वादिति वाच्यम्। केवलाभावत्वनिर्विकल्पकापत्तेर्लाघवादभावांशेऽपि निर्विकल्पकस्याभाव इत्याकारकप्रत्यक्षस्य चोच्छेदापत्तेः, निखिलविशेषणज्ञानकार्यतावच्छेदकाक्रान्तस्य यत्किञ्चिद्विशेषणज्ञानेऽसम्भवात्। किञ्चैवं घटपटोभयाभावप्रत्यक्षे गतिरिति लाघवाद् घटादिधियो घटत्वाद्यवच्छिन्नप्रकारत्वनिरूपिताभावविषयत्वस्यैव कार्यतावच्छेदकत्वात्केवलस्य भावप्रत्यक्षस्येवाभावप्रत्यक्षस्य नानुपपत्तिः। एतेनाभावलौकिकप्रत्यक्षस्य घटत्वाद्यन्यतमविशिष्टविषयकत्वनियमाद्विशेषसामग्री विना सामान्यसामग्रीमात्रात्कार्यानुत्पत्तेर्नाभावनिर्विकल्पकं नेत्याकारकप्रत्यक्षं वेत्यप्यपास्तम्। भावलौकिकप्रत्यक्षेऽपि तथा नियमापत्तेः, केवलभावप्रत्ययानुभवाद्भावप्रत्यक्षे तथा नियमानाश्रयणे च केवलाभावप्रत्ययानुभवादभावप्रत्यक्षेऽपि तथा नियमो न श्रद्धेयः। सत्तासत्तयोः केवलसप्रतियोगिकं नियमानुरोधेन सविकल्पकनिर्विकल्पकवेद्यत्वानेकान्तस्य व्यापकत्वं तु व्युत्पादितमधस्तादिति नैकतरपक्षपातो युक्तः॥ यत्त्वभावलौकिकप्रत्यक्षं प्रति प्रतियो-

गिज्ञानस्य हेतुत्वाकल्पने इन्द्रियसम्बद्धविशेषणतया फले जननीये घटत्वप्रकारकज्ञानस्य सहकारित्वमसम्भवि, ययोः कार्यतावच्छेदकयोः परस्परं व्याप्यव्यापकभावस्तयोरेव परस्परं सहकारित्वस्वीकारात्, अभावलौकिकप्रत्यक्षं प्रति प्रतियोगिज्ञानस्य हेतुत्वकल्पनपक्षे तु घटादिनिष्ठप्रतियोगितासम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपिताभावनिष्ठाभावत्वावच्छिन्नविषयताशालिप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रति घटमात्रनिष्ठधर्मावच्छिन्नप्रकारताशालिज्ञानत्वेन हेतुत्वं कल्प्यते तथा च घटत्वादिप्रकारकज्ञानेन्द्रियसम्बद्धविशेषणतयोः कार्यतावच्छेदकयोः परस्परव्याप्यव्यापकभावेन ताभ्यां फले जननीये परस्परसहकारित्वस्य यौक्तिकत्वादिति, तदसत्, ययोः कार्यतावच्छेदकयोः परस्परं व्याप्यव्यापकभावस्तयोरेकेन फलेन जननीयेऽन्यस्य सहकारित्वं कल्प्यत इत्यत्र मानाभावात्, ययोः कार्यतावच्छेदकयोः सामानाधिकरण्यं तयोरेकेन फले जननीयेऽन्यस्य सहकारित्वमित्यस्यैव स्वीकारादुक्तयुक्त्या प्रतियोगिज्ञानहेतुत्वासिद्धेः, सत्ताया असत्तायाश्च केवलाया धर्मिभासकसामग्र्यैव भावात्, घटाद्युपरक्ततद्व्यवहार एव घटादिज्ञानस्य हेतुत्वेन व्यवहारस्यैव सप्रतियोगिकत्वसिद्धिरिति दिग्। "**प्रदर्शितोऽयं प्रतियोग्यभावधीहेतुकार्यत्वविचारभूमा॥ अस्मिन्ननेकान्तमतिप्रवेशात् क्लेशावहः क्वापि न पक्षपातः ॥१॥ अथ प्रकृतम्**, अभावं भावभिन्नमनुपारमम्। अनुपलब्धेः (१३६-१-१४) अभावानुपलब्धेः, व्यवस्थापयेत् (१३६-२-१) प्रतिपत्तेति शेषः। अवभासनादिति (२) शुद्धं भूतलमेव घटाभाव इत्येवं सार्वजनीनानुभवाद्धर्मिकल्पनात इत्यादिन्यायाच्चेति भावः। 'वस्त्वन्तररूपस्यैवेति' (४) अन्यवस्तुविज्ञानस्यान्यवस्तुविषयत्वादिति भावः। नन्वेवं घटवदन्यभूतलं घटाभाव इति प्राप्तं तथा चान्यत्वान्योन्याभावस्य चिन्तायामतिरिक्ताभावसिद्धिरिति चेत्, न, कालभेदेन वस्तुतो घटवदन्यस्य भूतलस्य तत्कालावच्छिन्नतादा-

न्त्यसम्बन्धेन घटाभावव्यवहारहेतुत्वाभ्युपगमे तदसिद्धेः, अस्तु वा भावत्ववदभावत्वमखण्डोपाधिर्घटादिनिरूपिताभावत्वेन भूतलादेर्ज्ञाने च योग्यानुपलब्धिसहकृतचक्षुरादिप्रतियोगिज्ञानादि च हेतुः, तथाज्ञानाच्च तथाव्यवहारः, इत्थं च विशेषणतादिप्रत्यासत्त्यकल्पनाल्लाघवमपीत्यस्मदेकपरिशीलितः पन्थाः। ततः (१३७-२-६) प्रत्यक्षतोऽन्यतो वा प्रमाणात्, अपरः (७) सत्ताद्वैतवादी, व्यभिचार्येव (७) सन्दिग्धव्यभिचार्येव, विपक्षेऽपि (७) वस्तुनः एकत्वेऽपि, भावाद्बुद्ध्यादिकार्यनानात्वस्येति योगः। विविधकर्मतेति (८) बहुव्रीह्युत्तरस्तल्, विविधकार्यकारितेत्यर्थः। भाष्ये शक्तिनानात्वं (९) एकस्यापि नर्त्तक्यादिक्षणस्य शक्तिभेदोऽस्ति, कुतः, प्रसवविशेषात् (१०) नानाबुद्ध्यादिकार्यदर्शनात्, तत्र सत्ताद्वैतवाद्याह—स (१०) प्रसवविशेषो वस्तुनानात्वेन व्यभिचारी चेत् (१०), कुतस्तद्गतिः (१०) शक्तिनानात्वसिद्धिस्ततो यत्किञ्चिदेतदित्यर्थः। वृत्तौ, तस्यापि(११)एकनर्त्तकीक्षणस्यापि, प्रसवविशेषो (१०) बुद्ध्यादिकार्यविशेषोऽव्यभिचारीत्यकारप्रश्लेषेण व्याख्येयम्। 'नर्त्तक्यादीति' (११) कार्यभेदनियतकारणताभेदस्य शक्तिभेदप्रयुक्तत्वाभ्युपगमे समनियतशक्तीनां प्रत्येकमपि बुद्ध्यादिनानाकार्यकारित्वस्य बलादापातादेकैकशक्तावपि शक्त्यन्तरापत्तौ तत्रापि तत्स्वीकारे दुस्तरानवस्थानदीति भावः। वस्तुनानात्वाभावे कुतस्तद्व्यवहार इत्यत्राहसत्ताद्वैतवादी 'केवलमिति' (१२) सत्ताद्वैतवादेऽप्यविद्याकल्पितैर्देशादिभेदैर्वस्तुनानात्वं व्यवह्रियताम्, न तु वास्तवं तत्, अत एव सौगतसाङ्ख्यादिकल्पितस्कन्धपञ्चकपञ्चविंशतितत्त्वादिविकल्पा अपि तत्तत्प्रवचनवासनाजनकाविद्यामूला नाद्वैततत्त्वं बाधन्त इति हृदयम्। साधनव्यभिचाराद् (१३७-१-१) बुद्धिविशेषादेर्वस्तुनः कूटस्थत्वेऽप्यविद्यामहिम्ना सम्भवात् सर्वविशेषसाधनानां सन्दिग्धव्यभिचारित्वादिति भावः। सत्ताद्वैत-

वादिनं दूषयति भाष्यकृत्–'सोऽपि हीत्यादि' (१३७–१–१) एतद्विवृणोति वृत्तिकृत् कस्यचिद्धीत्यादि, (२) अद्वैते साध्यसाधनयोरविशेषान्न कुतश्चित् किञ्चित् सिध्येद् व्यवहाराद्भेदमुपगम्य खण्डप्रतिभासनादिना ब्रह्मैकत्वसाधने च व्यावहारिकमेवैकत्वं सिद्ध्येत्, न तु तात्त्विकं तत्प्रतिबद्धलिङ्गाभावात्, अपेक्षाकल्पितत्वस्य च भेदवदभेदेऽपि व्यावहारिकत्वपर्यवसायकत्वादिति तात्पर्यार्थः। एतेन यदुच्यते ब्रह्मेन्द्रेणानुभूयमानस्य प्रतिभासस्य प्रागभावप्रध्वंसनानात्वादिकल्पने गौरवाल्लाधवान्नित्यसत्यैकब्रह्मसिद्धिरिति तन्निरस्तम्। प्रमाणं विना लाघवमात्रेणार्थासिद्धेः अन्यथा सच्चिदानन्दब्रह्मणोऽपि कल्पने गौरवाच्छून्यज्ञानकल्पने लाघवदृष्टिं ददन् माध्यमिक एव विजयेत, अनुभवश्च प्रतिभासस्य वैलक्षण्य एव साक्षी चित्रज्ञानदृष्टान्तेन नानात्वे चेति नानैकान्तं विहायाद्वैतपक्षः श्रेयान्। नन्वेकत्वे तत्त्वमसीत्यादिवेदवाक्यस्य प्रमाणराजस्य सत्त्वात्तत्र लाघवतर्कः सहायो भविष्यतीत्याशङ्कायामाह–' आम्नायादित्यादि ' (८) आम्नायात् वेदात्, नैवं तत्कृतं स्यात् (१०) ब्रह्मण एकत्वं निर्णीतं न स्यात्। प्रत्यक्षादिप्रमाणबाधिते ब्रह्मैकत्वे वेदोऽपि न पदमाधत्ते इत्यर्थवादरूपतां कक्षीकुर्वन्लवौ माध्यस्थमेवालम्बत इत्यर्थः। एतेन तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्योऽनुभवः शुद्धमखण्डं ब्रह्माऽहमस्मीति प्रत्यक्षस्य क्षणिकत्वेऽपि प्रमाणतापत्तेरितिदिग्। तदेवं वेदान्तिनोऽद्वैतपक्षदूषणेन नानाभावैकान्तं स्वीकारयित्वा तत्रोक्तं दूषणगणमुपसंहरति, ततो भावा एवेत्यादि ' (१३७–१–१४) ॥ ९ ॥

सम्प्रति घटादेः शब्दादेश्च प्रागभावप्रध्वंसाभावनिह्नववादिनं प्रति दूषणमुपदर्शयन्तः कारिकामाहुः।—

कार्यद्रव्यमनादि स्यात् प्रागभावस्य निह्नवे। प्रध्वंसस्य च धर्मस्य प्रच्यवेऽनन्ततां व्रजेत् ॥ १० ॥

कार्यस्यात्मलाभात्प्रागऽभवनं प्रागभावः । स च तस्य प्रागनन्तरपरिणाम एवेत्येके तेषां तत्पूर्वानादिपरिणामसन्ततौ कार्यसद्भावप्रसङ्गः । तत्रेतरेतराभावरूपस्य तदभावस्योपगमान्नायं दोष इति चेत्, तदनन्तरपरिणामेपि तत एव कार्यस्याभावसिद्धेः किमर्थः प्रागभावः परिकल्प्यते ?, कार्यस्य प्रागभावाभावस्वभावत्वसिद्ध्यर्थमिति चेत्, कथमेवं कार्यात्पूर्वपर्यायेण रहितेषु तत्पूर्वोत्तराखिलपरिणामेषु कार्यस्वभावत्व न प्रसज्येत ? प्रागभावाभावस्वभावत्वाविशेषेपि कश्चिदेवेष्टः पर्यायः कार्यं, न पुनरितरे परिणामा इत्यभिनिवेशमात्रम् । स्यादाकूतं 'कार्यात्प्रागनन्तरपर्यायस्तस्य प्रागभावः । तस्यैव प्रध्वंसः कार्यं घटादि । न पुनरितरेतराभावो, येन तत्पूर्वोत्तरसकलपर्यायाणा घटत्वं प्रसज्येत । न च तेषा प्रागभावप्रध्वंसरूपतास्ति, तदितरेतराभावरूपतोपगमात्' इति, तदेतदपि सुगतमतानुसरणम् स्याद्वादवादिनामायातम्, स्वमतविरोधात् । प्रागभावो ह्यनादिरिति तन्मतम् । तच्च घटस्य पूर्वानन्तरपर्यायमात्रप्रागभावस्योपगमे विरुध्यते । द्रव्यार्थादेशादनादिः प्रागभावोभिमत इति चेत्, किमिदानी मृदादिद्रव्यं प्रागभावः ?, तथोपगमे कथं प्रागभावाभावस्वभावता घटस्य घटेत ?, द्रव्यस्याभावासंभवात् । तत एव न जातुचिद् घटस्योत्पत्तिः स्यात् । यदि पुन' पूर्वपर्यायाः सर्वेप्यनादिसन्ततयो घटस्य प्रागभावोऽनादिरिति मतम्, तदापि प्रागनन्तरपर्यायनिवृत्ताविव तत्पूर्वपर्यायनिवृत्तावपि घटस्योत्पत्तिप्रसङ्गः । तथा सति घटस्यानादित्वं पूर्वपर्यायनिवृत्तिसन्ततेरप्यनादित्वात् । ननु च न प्रागनन्तरपर्यायः प्रागभावो घटस्य, नापि मृदादिद्रव्यमात्रम्, न च तत्पूर्वसकलपर्यायसन्ततिः । किं तर्हि ? द्रव्यपर्यायात्मा प्रागभावः । स च स्यादनादिः स्यात्सादिरिति स्याद्वादिदर्शनं निराकुलमेवेति चेत्, न, एवमप्युभयपक्षोपक्षिप्तदोपानुषङ्गात् । द्रव्यरूपतया तावदनादित्वे प्रागभावस्यानन्तत्वप्रसक्तेः सर्वदा कार्यानुत्पत्तिः स्यात् । पर्यायरूपतया च सादित्वे प्रागभावात्पूर्वमप्युत्पत्तिः पश्चादिव कथं निवार्येत ?, न च गत्यन्तरमस्ति । ततो न भावस्वभावः प्रागभावः, तस्य

भावविलक्षणत्वात्पदार्थविशेषणत्वसिद्धेः' इत्यन्ये। तेपि न समीचीनवाचः, सर्वथा भावविलक्षणस्याभावस्य ग्राहकप्रमाणाभावात्। 'स्वोत्पत्तेः प्राग्नासीद् घट इति प्रत्ययोऽसद्विषयः, सत्प्रत्ययविलक्षणत्वात्। यस्तु सद्विषयः, स न सत्प्रत्ययविलक्षणो, यथा सद्द्रव्यमित्यादिप्रत्ययः, सत्प्रत्ययविलक्षणश्चायं, तस्मादसद्विषयः' इत्यनुमानं प्रागभावस्य ग्राहकमिति चेत्, न, प्रागभावादौ नास्ति प्रध्वंसाभावादिरितिप्रत्ययेन व्यभिचारात्। तस्याप्यसद्विषयत्वान्न दोष इति चेत्, न, अभावानवस्थाप्रसङ्गात्। स्यान्मतम्, भावे भूभागादौ नास्ति कुम्भादिरिति प्रत्ययो मुख्याभावविषयः, प्रागभावादौ नास्ति प्रध्वंसादिरित्युपचरिताभावविषयः। ततो नाभावानवस्थेति, तदप्ययुक्तम्, परमार्थत. प्रागभावादीना साङ्कर्यप्रसङ्गात्। न ह्युपचरितेनाभावेन परस्परमभावानां व्यतिरेकः सिध्येत्, सर्वत्र मुख्याभावपरिकल्पनानर्थक्यप्रसङ्गात्। यदप्युक्तम्, न भावस्वभावः प्रागभावादिः, सर्वदा भावविशेषणत्वादिति, तदपि न सम्यगनुमानम्, हेतोः पक्षाव्यापकत्वात्, न प्रागभावः प्रध्वंसादावित्यादेरभावविशेषणस्याप्यभावस्य प्रसिद्धेः, गुणादिना व्यभिचाराच्च, तस्य सर्वदा भावविशेषणत्वेपि भावस्वभावत्वात्। रूपं पश्यामीत्यादिव्यवहारेण गुणस्य स्वतन्त्रस्यापि प्रतीतेर्न सर्वदा भावविशेषणत्वमस्येति चेत्, तर्ह्यभावस्तत्त्वमित्यभावस्यापि स्वतन्त्रत्वप्रतीतेः शश्वद्भावविशेषणत्वं मा सिधत्। सामर्थ्यात्तद्विशेष्यस्य द्रव्यादे संप्रत्ययात्सदा भावविशेषणमेवाभाव इति चेत्, तथैव गुणादिः सन्ततं भावविशेषणमस्तु, तद्विशेष्यस्य द्रव्यस्य सामर्थ्याद्गम्यमानत्वात्। किञ्च प्रागभावः सादिः सान्तः परिकल्प्यते सादिरनन्तो वानादिरनन्तो वाऽनादिः सान्तो वा ?, प्रथमे विकल्पे प्रागभावात्पूर्वं घटस्योपलब्धिप्रसङ्गः, तद्विरोधिनः प्रागभावस्याभावात्। द्वितीये प्रागभावकाले घटस्यानुपलब्धिप्रसक्तिः, तस्यानन्तत्वात्। तृतीये तु सदानुपलब्धिः। चतुर्थे पुनर्घटोत्पत्तौ प्रागभावस्याभावे घटोपलब्धिवदशेषकार्योपलब्धिः स्यात्, सर्वकार्याणामुत्पत्स्यमानानां प्रागभावस्यैकत्वात्। यावन्ति कार्याणि तावन्तस्तत्प्रागभावाः। तत्रैकस्य प्राग-

भावस्य विनाशेपि शेषोत्पत्स्यमानकार्यप्रागभावानामविनाशान्न घटोपलब्धौ सर्वकार्योपलब्धिरिति चेत्, तर्ह्यनन्ताः प्रागभावास्ते स्वतन्त्रा भावतन्त्रा वा ?, स्वतन्त्राश्चेत्कथं न भावस्वभावाः कालादिवत्, भावतन्त्राश्चेत्किमुत्पन्नभावतन्त्रा उत्पत्स्यमानभावतन्त्रा वा ?, न तावदादिविकल्पः, समुत्पन्नभावकाले तत्प्रागभावविनाशात्। द्वितीयविकल्पोपि न श्रेयान्, प्रागभावकाले स्वयमसतामुत्पत्स्यमानभावानां तदाश्रयत्वायोगात्, अन्यथा प्रध्वंसाभावस्यापि प्रध्वस्तपदार्थाश्रयत्वापत्तेः। न चानुत्पन्नः प्रध्वस्तो वार्थः कस्यचिदाश्रयो नाम, अतिप्रसङ्गात्। यदि पुनरेक एव प्रागभावो विशेषणभेदाद्भिन्न उपचर्यते घटस्य प्रागभावः पटादेर्वेति। तथोत्पन्नपदार्थविशेषणतया तस्य विनाशेप्युत्पत्स्यमानार्थविशेषणत्वेनाविनाशान्नित्यत्वमपीति मतम्, तदा प्रागभावादिचतुष्टयकल्पनापि मा भूत्, सर्वत्रैकस्यैवाभावस्य विशेषणभेदात्तथाभेदव्यवहारोपपत्तेः। कार्यस्यैव पूर्वेण कालेन विशिष्टोर्थे प्रागभावः, परेण विशिष्टः प्रध्वंसाभावः, नानार्थविशिष्टः स एव चेतरेतराभावः, कालत्रयेप्यत्यन्तनानास्वभावभावविशेषणोत्यन्ताभावः स्यात्, प्रत्ययभेदस्यापि तथोपपत्तेः। सत्तैकत्वेपि द्रव्यादिविशेषणभेदाद्भेदव्यवहारवत्। यथैव हि सत्प्रत्ययाविशेषाद्विशेषलिङ्गाभावादेकत्वं सत्तायामिष्टं भवद्भिस्तथैवासत्प्रत्ययाविशेषाद्विशेषलिङ्गाभावादसत्तायामप्येकत्वमस्तु। अथ प्रागासीदित्यादिप्रत्ययविशेषादसत्ता चतुर्भेदेष्यते, तर्हि प्रागासीत्पश्चाद्भविष्यति सम्प्रत्यस्तीति कालभेदेन, पाटलीपुत्रेस्ति चित्रकूटेऽस्तीति देशभेदेन, घटोस्ति पटोस्तीति द्रव्यभेदेन, रूपमस्ति रसोस्तीति गुणभेदेन, प्रसारणमस्ति गमनमस्तीति कर्मभेदेन च प्रत्ययविशेषसद्भावात् प्राक्सत्तादयः सत्ताभेदाः किमु नेष्यन्ते ?। अथ प्रत्ययविशेषात्तद्विशेषणान्येव भिद्यन्ते, तस्य तन्निमित्तकत्वात्, न तु सत्ता। ततः सैकैवेति मतम्, तर्हि तत एवाभावभेदोपि मा भूत्, सर्वथा विशेषाभावात्। न चैकोप्यभाव. क्षित्यादिविवर्तघटशब्दादिव्यतिरेकेण प्रत्यक्षतः प्रतिभासते। केवलं गतानुगतिकतया लोकः पृथिव्यादिभूतचतुष्टयविषयमेव प्रागभावा-

दिविकल्पमात्रवशात्प्रागभावादिव्यवहारं प्रवर्तयति द्रव्यादिविकल्पमात्राद् द्रव्यादिव्यवहारवत्, प्रमाणादिप्रकृत्यादिरूपस्कन्धादिविकल्पमात्राद्व्यवहारवच्च । ततो न प्रागभावः कश्चिदिह प्रतीयते प्रध्वंसाभावादिवत् । इति प्रागभावादिनिह्नवं कृत्वा पृथिव्यादिकार्यद्रव्यमभ्युपगच्छँश्चार्वाकोऽनेनोपालभ्यते, न पुनः सांख्योन्यो वा, तस्य कार्यद्रव्यानभ्युपगमात्, तिरोभावाविर्भाववत्परिणामोपगमेपि भावस्वभावप्रागभावाद्यभ्युपगमस्यापि सद्भावात् । तत्र प्रागभावस्य प्रसिद्धस्याप्यपलपनं निह्नवः । तस्मिन्क्रियमाणे कार्यद्रव्यं पृथिव्यादिकमनादि स्यात् । प्रध्वंसस्य च धर्मस्य स्वभावस्य प्रच्यवोऽपलापः । तस्मिन्विधीयमाने तदनन्ततां व्रजेत् । न चानाद्यनन्तं पृथिव्यादिकं प्रागभावाद्यपह्नववादिनाभ्युपगन्तुं शक्यते, स्वमतविरोधाल्लौकायतिकत्वहानिप्रसङ्गात् । कथं पुनः प्रागभावः प्रसिद्धः, तस्योक्तदूषणविषयतया व्यवस्थितत्वाभावादिति चेत्, न, स्याद्वादिभिरभीष्टे प्रागभावे यथोक्तदूषणानवकाशात्, नैयायिकादिभिरभिमतस्य तु तस्य तैरपि निराकरणात् । ऋजुसूत्रनयार्पणाद्धि प्रागभावस्तावत्कार्यस्योपादानपरिणाम एव पूर्वोनन्तरात्मा । न च तस्मिन् पूर्वानादिपरिणामसन्ततौ कार्यसद्भावप्रसङ्गः, प्रागभावविनाशस्य कार्यरूपत्वोपगमात्, "कार्योत्पादः क्षयो हेतोः" इति वक्ष्यमाणत्वात् । प्रागभावतत्प्रागभावादेस्तु पूर्वपूर्वपरिणामस्य सन्तत्यानादेर्विवक्षितकार्यरूपत्वाभावात् । न च तत्रास्येतरेतराभावः परिकल्प्यते, येन तत्पक्षोपक्षिप्तदूषणावतारः स्यात् । नाप्येवं प्रागभावस्यानादित्वविरोधः, प्रागभावतत्प्रागभावादेः प्रागभावसन्तानस्यानादित्वोपगमात् । न चात्र सन्तानिभ्यस्तत्त्वान्यत्वपक्षयोः सन्तानो दूषणार्हः, पूर्वपूर्वप्रागभावात्मकभावक्षणानामेवापरामृष्टभेदानां सन्तानत्वाभिप्रायात् । सन्तानिक्षणापेक्षया तु प्रागभावस्यानादित्वाभावेपि न दोषः, तथा ऋजुसूत्रनयस्येष्टत्वात् । तथास्मिन्पक्षे पूर्वपर्यायाः सर्वेप्यनादिसततयो घटस्य प्रागभाव इति वचनेपि न प्रागनन्तरपर्यायनिवृत्ताविव तत्पूर्वपर्यायनिवृत्तावपि घटस्योत्पत्तिप्रसङ्गः, येन तस्यानादित्वं पूर्वपर्यायनिवृत्तिसततेरप्यनादित्वादापाद्यते, घटात्पू-

र्वक्षणानामशेषाणामपि तत्प्रागभावरूपाणामभावे घटोत्पत्त्यभ्युपगमात्, प्रागनन्तरक्षणानिवृत्तौ तदन्यतमक्षणानिवृत्ताविव सकलतत्प्रागभावनिवृत्त्यसिद्धेर्घटोत्पत्तिप्रसङ्गासंभवात्। व्यवहारनयार्पणात्तु मृदादिद्रव्यं घटादेः प्रागभाव इति वचनेपि प्रागभावाभावस्वभावता घटस्य न दुर्घटा, यतो द्रव्यस्याभावासंभवान्न जातुचिदुत्पत्तिर्घटस्य स्यात्, कार्यरहितस्य पूर्वकालविशिष्टस्य मृदादिद्रव्यस्य घटादिप्रागभावरूपतोपगमात्, तस्य च कार्योत्पत्तौ विनाशसिद्धेः, कार्यरहितताविनाशमन्तरेण कार्यसहिततयोत्पत्त्ययोगात्, कार्योत्पत्तेरेवोपादानात्मकप्रागभावक्षयस्य वक्ष्यमाणत्वात्। तथा प्रमाणार्पणाद्द्रव्यपर्यायात्मा प्रागभाव इत्यभिधानेपि नोभयपक्षोपक्षिप्तदोषानुषङ्गः, प्रागभावस्य द्रव्यरूपतयेव पर्यायरूपतयाप्यनादित्वनिरूपणात्। न चानादेरनन्ततैकान्तः सिध्यति, भव्यजीवसंसारस्यानादित्वेपि सान्तत्वप्रसिद्धेः, अन्यथा कस्यचिन्मुक्त्ययोगात्। नापि सान्तस्य सादित्वैकान्तः, कस्यचित्संसारस्य सान्तत्वेप्यनादित्वप्रसिद्धेः। ततो न सर्वदा कार्यानुत्पत्तिः पूर्वमप्युत्पत्तिर्वा घटस्य दुर्निवारा स्यात्। ततो भावस्वभाव एव प्रागभावः। स चैकानेकस्वभावो भाववदेवेति न तदेकत्वानेकत्वैकान्तपक्षभावी दोषोऽवकाशं लभते। न च भावस्वभावे प्रागभावे प्रागासीत्कार्यमिति नास्तित्वप्रत्ययो विरुध्यते, तदभावस्य भावान्तररूपत्वात् तत्र च नास्तित्वप्रत्ययाविरोधात्, घटविविक्तभूभागे घटनास्तित्वप्रत्ययवत्। तदेवं प्रसिद्धस्यैव प्रागभावस्यापलपनं निह्नवः। परस्य प्रध्वंसाभावः कथं प्रसिद्ध इति चेत्, नयप्रमाणार्पणादिति ब्रूमः। तत्र ऋजुसूत्रनयार्पणात्तावदुपादेयक्षण एवोपादानस्य प्रध्वंसः। न चैवं तदुत्तरक्षणेषु प्रध्वंसस्याभावात्पुनरुज्जीवनं घटादेः प्रसज्येत, कारणस्य कार्योपमर्दनात्मकत्वाभावात्, उपादानोपमर्दनस्यैव कार्योत्पत्त्यात्मकत्वात्, प्रागभावप्रध्वंसयोरुपादानोपादेयरूपतोपगमात्प्रागभावोपमर्दनेन प्रध्वंसस्यात्मलाभात्। कथमभावयोरुपादानोपादेयभाव इति चेत्, भावयोः कथम्?, यद्भावे एव यस्यात्मलाभस्तदुपादानमितरदुपादेयमिति चेत्, तर्हि प्रागभावे कार-

णात्मनि पूर्वक्षणवर्त्तिनि सति प्रध्वंसस्य कार्यात्मनः स्वरूपलाभोपपत्तेस्तयोरुपादानोपादेयभावोस्तु, तुच्छयोरेवाभावयोस्तद्भावविरोधात्। तथा व्यवहारनयादेशान्मृदादिद्रव्यं घटोत्तरकालवर्त्ति घटाकारविकलं घटप्रध्वंसः। स चानन्तः समवतिष्ठते। तेन घटात् पूर्वकालवर्ति मृदादिद्रव्य घटस्य प्रागभाव एव, न पुनः प्रध्वसः, तथा घटाकारमपि तत्तस्य प्रध्वंसो मा भूत्, घटाकारविकलमिति विशेषणात्। नन्वेवं घटोत्तरकालवर्त्तिघटाकारविकलसन्तानान्तरमृदादिकमपि तद्धटप्रध्वंस. स्यादिति चेत्, न, द्रव्यग्रहणात्। वर्त्तमानपर्यायाश्रयरूपमेव हि मृदादिकं तद्द्रव्यमन्वयीष्यते, न पुनः सन्तानान्तर, तस्य स्वपर्यायमेवातीतमनागतं वा प्रत्यन्वयिनस्तद्द्रव्यत्वविरहात्। तदेवं प्रसिद्धः प्रध्वंसो वस्तुधर्मः। तस्य प्रच्यवोऽपह्नव एव चार्वाकस्य। तस्मिंश्च कार्यद्रव्यं पृथिव्यादिकमनन्ततां व्रजेदिति समन्तभद्रस्वामिनामभिप्रायः। वृत्तिकारास्त्वकलङ्कदेवा एवमाचक्षते, कपिलमतानुसारिणा प्रागभावानभ्युपगमे घटादेरनादित्वप्रसङ्गात् पुरुषव्यापारानर्थक्यं स्यात्। न च पुरुषव्यापारमन्तरेण घटादि भवदुपलभ्यते जातुचित्, इति कार्यद्रव्यं तदापादनीयम्। तच्च प्रागभावस्य निह्नवेऽनादि स्यादिति सूक्तं दूषणम्, आपाद्यस्याप्युद्भाव्यवद्दूषणत्वोपपत्तेः। एतेन मीमांसकानां शब्दस्य प्रागभावानभ्युपगमेऽनादित्वप्रसङ्गात् पुरुषव्यापारानर्थक्यं स्यादित्युक्तं प्रतिपत्तव्यम्। शब्दस्याभिव्यक्तौ पुरुषव्यापारस्योपयोगान्नानर्थक्यमिति चेत्, न, तत प्राक् तदावेदकमाणाभावादभिव्यक्तिकल्पनानुपपत्तेः। कलशादेर्हि समन्धकारावृततनोः प्रदीपव्यापारात्पूर्वं सद्भावावेदकप्रमाणस्य स्पर्शनप्रत्यक्षादेः सभवादुपपन्ना प्रदीपेनाभिव्यक्तिकल्पना, न पुनः शब्दस्य, तदभावात्। प्रत्यभिज्ञानादेस्तद्भावावेदकस्य प्रमाणस्य भावाददोप इति चेत्, न, तस्य विरुद्धत्वात्, शब्दस्याभिव्यक्तेः पूर्वं सर्वथा सत्त्वात्साध्याद्विपरीतेन कथञ्चित्सत्त्वेन व्याप्तत्वादन्यथा प्रत्यभिज्ञायमानत्वाद्यनुपपत्तेः। ततोभिव्यङ्ग्यविलक्षणत्वान्न शब्दस्याभिव्यक्तिकल्पना युक्ता। एतेन कुम्भकारादिव्यापाराद् घटाद्यभिव्यक्तिकल्पना प्रत्युक्ता। कल्पयित्वापि तदभिव्यक्तिं तस्याः प्रागभावोङ्गी

कर्तव्यः । तथा हि । सतः शब्दस्य ताल्वादिभिरभिव्यक्तिः प्रागसती क्रियते, न पुनः शब्द एवेति स्वरुचिविरचितदर्शनप्रदर्शनमात्रम् । ननु च मीमासकैः शब्दस्यापौरुषेयत्वप्रदर्शनान्नासौ प्रागसन् क्रियते । तदभिव्यक्तिस्तु पौरुषेयी । सा प्रागसती क्रियते इति कथं स्वरुचिविरचितस्य दर्शनस्य प्रदर्शनमात्रम्, प्रमाणशक्तिविरचितस्य तथादर्शनस्य प्रदर्शनादिति चेत्, न, शब्दादभिन्नायास्तदभिव्यक्तेरप्यपौरुषेयत्वात् । तस्याः पौरुषेयत्वात्प्रागसत्त्वे तदभिन्नस्य शब्दस्यापि तत एव प्रागसत्त्वमनुमन्यताम्, विशेषाभावात् । शब्दाद्भिन्नैवाभिव्यक्तिरिति चेत्, सा यदि श्रवणज्ञानोत्पत्तिः, सैव कथं प्राक्सती यत्नतः कर्तव्या ? तस्याः प्रागसत्त्वे शब्दस्याश्रावणत्वापत्तेर्नित्यत्वविरोधः, प्रागश्रावणत्वस्वभावत्यागेनोत्तरश्रावणत्वस्वभावोत्पत्तेः कथञ्चिदनित्यत्वमन्तरेणानुपपत्तेः । अथ श्रवणज्ञानोत्पत्तेरभावेपि पूर्वं शब्दस्य श्रावणत्वमेवेष्टम्, किमनया श्रवणज्ञानोत्पत्त्याभिव्यक्त्या ?, स्यान्मतम्, न शब्दधर्मः श्रवणज्ञानोत्पत्तिः, तस्याः कर्मस्थक्रियात्वाभावात् । किं तर्हि ? पुरुषस्वभावः, कर्तृस्थक्रियात्वादिति, तदप्ययुक्तम्, कर्तृवत्तस्याः प्राक्सत्त्वापत्तेरविशेषात्तद्व्यापारानर्थक्यात् । श्रवणज्ञानोत्पत्तियोग्यता शब्दस्याभिव्यक्तिरिति चेत्, तर्हि योग्यताया समानश्चर्चः । योग्यतापि हि यदि शब्दधर्मत्वाच्छब्दादभिन्ना, तदा कथं तद्वत्सती पुरुषप्रयत्नेन क्रियेत ? अथ शब्दाद्भिन्ना, श्रोत्रस्वभावत्वात्तस्या इति मतिः, तथापि न सा प्रागसती श्रोत्रस्य नभोदेशलक्षणस्य सर्वदा सत्त्वात् तत्स्वभावभूताया योग्यतायाः प्रागपि सत्त्वात् । एतेनात्मधर्मो योग्यता शब्दाद्भिन्नेति निरस्तम्, नित्यत्वादात्मनः प्रागसत्त्वासम्भवात् । अथ भिन्नाभिन्ना श्रवणज्ञानोत्पत्तिस्तद्योग्यता चाभिव्यक्तिः शब्दादिति मतम्, तदप्यसत्यम्, पक्षद्वयोक्तदोषानुषङ्गात्, सर्वथा तस्याः प्रागभावायोगात्, तद्योगे वा शब्दवदेव श्रोत्रप्रमात्रोरपि प्रागसतोः प्रयत्नेन करणप्रसङ्गात्, अन्यथा स्वरुचिविरचितदर्शनप्रदर्शनमात्रप्रसक्तेः । आवरणविगमोभिव्यक्तिरिति चेत्, तदावरणविगमः प्राक्किमभूत् ?, भूतो वा किं यत्नेन ?, विशेषस्याधानमभिव्यक्तिरिति चेत्, ननु विशेषाधानमपि तादृगेव, कर्मक-

तृकरणानां प्रागभावाभावात्। आवरणविगमविशेपाधानयोर्हि शब्दपुरुपश्रोत्राणां स्वरूपत्वे तेषां याज्ञिकैरपि नित्यत्वोपगमात्कथं प्रागभावः सभवेत् ?, सभवे वा प्रयत्नकार्यत्वप्रसङ्गः अभिव्यक्तिवत्। पुरुपप्रयत्नेन अभिव्यक्तिः प्रागसती क्रियते, न पुनस्तत्स्वरूपः शब्दः पुरुषः श्रोत्रं चेति स्वरुचिविरचितदर्शनप्रदर्शनमात्रम् । एवं हि कपिलमतानुसारिणां घटादेरभिव्यक्तिः प्रागसती चक्रदण्डादिभिः क्रियते न पुनर्घटादिरित्यपि शक्य प्रदर्शयितुम्। यतोत्र न कश्चिद्विशेषहेतुस्ताल्वादयो व्यञ्जकाः, न पुनश्चक्रादयोपीति, ते वा घटादेः कारकाः, न पुनः शब्दस्य ताल्वादयोपीति । न हि व्यञ्जकव्यापृतिर्नियमेन व्यङ्ग्य सन्निधापयति । सन्निधापयति च ताल्वादिव्यापृतिर्नियमेन शब्दम्। ततो नासौ ताल्वादीनां व्यङ्ग्यश्चक्रादीनां घटादिवत्। नायं दोपः, सर्वगतत्वाद्वर्णानाम्, इत्यपि वार्तम्, प्रमाणवलायातत्वाभावात्, अन्यत्रापि तथाभावानुपङ्गात्। शक्य हि वक्तुम्, वटादीनां सर्वगतत्वाच्चक्रादिव्यापारान्नियमेनोपलब्धिरिति। इष्टत्वाददोषोयं कापिलानामिति चेत्, न, कारणव्यापारेष्वपि चोद्यानिवृत्तेः, चक्रादीन्यपि कारणानि स्वव्यापाराणां नियमेन सन्निधापकान्यभिव्यञ्जकानि भवन्तु, तेपा सर्वगतत्वादेवेति चोद्यस्य निवर्तयितुमशक्यत्वात्। एतेनावस्था प्रत्युक्ता। स्वव्यापारोत्पादने हि कारणानां व्यापारान्तराणि कल्पनीयानि तथा तदुत्पादनेपीत्यनवस्था स्यात्, न पुन. स्वव्यापाराभिव्यक्तौ, तत्सन्निधिमात्रादेव तत्सिद्धेः अन्यथा व्यञ्जककारकयोरविशेपप्रसङ्गात्। कारणव्यापाराणां च कारणेभ्यो भेदैकान्तो वा स्यादभेदैकान्तो वा ?, तद्भेदैकान्ते तद्वतोनुपयोगः, तावतेतिकर्तव्यतास्थानात्। व्यवहारिणामभिमतकार्यसपादनमेव हीतिकर्तव्यता। तस्याः स्थानं यदि व्यापारेभ्य एवैकान्ततो भिन्नेभ्यो भावाद्भवेत्तदा किं व्यापारवतान्यत्साध्यम्, यतस्तस्योपयोगः कचिदुपपद्यते ?, तद्वतो व्यापाराणामभेदैकान्तेभिव्यक्तिवत्प्रसङ्गस्तद्वत इव व्यापाराणां सर्वदा सद्भावः। तेषां प्रागभावे वा व्यापाराः प्रागसन्तः क्रियन्ते, न पुनस्तदव्यतिरेकिणोपि तद्वन्त इति स्वरुचि-

विरचितदर्शनप्रदर्शनमात्रम्। एतेनावस्था प्रत्युक्ता। तद्विशेषैकान्ते तद्वतोनुपयोगः, तावतेतिकर्तव्यतास्थानात्। अभेदैकान्ते पूर्वत्रप्रसङ्गः। परिणामेप्येष पर्यनुयोगः। परिणामिनो व्याचानकस्य परिणामा घटादयोत्यन्तभिन्ना वा स्युरभिन्ना वा ?, कथञ्चिद्भेदाश्रयणे स्याद्वादानुसरणप्रसङ्गात्। तत्र परिणामाना तदभिन्नानां क्रमशो वृत्तिर्मा भूत्, परिणामिनोऽक्रमत्वात्। ततो भिन्नानां व्यपदेशोपि मा भूत्, प्रधानस्यैते परिणामा इति सम्बन्धासिद्धेरनुपकारकत्वात्। न हि नित्यं प्रधानं परिणामानामुपकारकम्, तस्य क्रमयौगपद्याभ्यामुपकारकत्वायोगात्। नापि परिणामेभ्यस्तस्योपकारः, तस्य तत्कार्यत्वेनानित्यत्वापत्तेः। तैस्तस्योपकारेपि सर्वं समानमनवस्था च। यावन्तो हि परिणामास्तावन्तस्तस्योपकारास्तत्कृतास्ततो यदि भिन्नास्तदा तस्येति व्यपदेशोपि मा भूत्, सम्बन्धासिद्धेरनुपकारकत्वात्। तद्वतस्तैरुपकारैरुपकारान्तरेपि स एव पर्यनुयोग इत्यनवस्था। ततस्ते यद्यभिन्नास्तदा तावद्वा प्रधानं भिद्येत, ते वा प्रधानैकरूपतां प्रतिपद्येरन्। इति प्रधानस्योपकाराणां चावस्थानासंभवादनवस्था। तस्या भोग्याभावे पुंसो भोक्तृत्वाभावादभावः स्यात्, तस्य तल्लक्षणत्वात्। ततः प्रकृतिपुरुषतत्त्वयोरवस्थानाभावादनवस्था। इति न कपिलमतानुसरणेनापि प्रधानात्मनामशेषतो घटादीनामपि शब्दवदभिव्यङ्ग्यत्वं युक्तं कल्पयितुम्, सर्वदा प्रागभावापह्नवे तदभिव्यक्तेरप्यनादित्वप्रसङ्गात्कार्यद्रव्यवत्। ननु कार्यद्रव्यमसिद्धं कापिलानाम्, कथमनादि ग्रन्थकारेणापाद्यते इति चेत्, प्रमाणबलात्कार्यत्वं द्रव्यस्यापाद्य तथाभिधानाददोषः। कथं कार्यत्वमापाद्यते प्रागभावानभ्युपगमवादिनं प्रतीति चेत्, कार्यं घटादिकम्, अपेक्षितपरव्यापारत्वात्, यत्तु नकार्यं तन्न तथा दृष्टम्, यथा गगनम्, तथा च घटादिकम्, तस्मात्कार्यमित्यनुमानात्। नात्रासिद्धं साधनम्, कादाचित्कत्वात्, तस्यानपेक्षितपरव्यापारत्वे कादाचित्कत्वविरोधादाकाशवत्। तदाविर्भावस्य कादाचित्कत्वादपेक्षितपरव्यापारत्वं, न तु घटादेरिति चेत्, कोयमाविर्भावो नाम ? प्रागनुपलब्धस्य व्यञ्जक-

व्यापारादुपलम्भ इति चेत्, स तर्हि प्रागसन् कारणैः क्रियते, न पुनर्घटादिरिति स्वरुचिवचनमात्रम् । अथ तस्यापि प्राक्तिरोहितस्य सत एव कारणैराविर्भावान्तरमिष्यते, तर्हि तस्याप्यन्यत्तस्याप्यन्यदाविर्भावनमित्यनवस्थानान्न कदाचिद् घटादेराविर्भावः स्यात् । अथाविर्भावस्योपलम्भरूपस्य तद्रूपाविर्भावान्तरानपेक्षत्वात् प्रकाशस्य प्रकाशान्तरानपेक्षत्ववन्नानवस्थेति चेत्, तर्हि तस्य कारणादात्मलाभोऽभ्युपगन्तव्यः, ततः कार्यमाविर्भाव इति । तद्वद्घटादिकमपि, अपेक्षितपरव्यापारत्वाविशेषादात्मलाभे । न ह्यलब्धात्मलाभस्योपलम्भः शक्यः कर्तुम्, सर्वथातिप्रसङ्गात् । तदेवं प्रधानपरिणामतयापीष्टं घटादिकं कार्यद्रव्यमापाद्यते । तस्य च प्रागभावापह्नवेऽनादित्वप्रसङ्गात्कारणव्यापारानर्थक्यं स्यादिति सूक्त दूषणम् । प्राक्तिरोभावस्योपगमे वा स एव प्रागभावः सिद्धः, तस्य तिरोभाव इति नामान्तरकरणे दोषाभावादुत्पादस्याविर्भाव इति नामान्तरकरणवत् । ततो न मीमांसकस्य सांख्यमतानुसरणं युक्तम्, सर्वथा शब्दस्य प्रागभावानभ्युपगमेऽनादित्वप्रसङ्गात् पुरुषव्यापारानर्थक्यस्य समर्थनात् । तथा विनाशानभ्युपगमे तस्य किंकृतमश्रवणम् ? स्वावरणकृतमिति चेत्, नैतत्सारम्, तदात्मानमखण्डयतः कस्यचिदावरणत्वायोगात् । तिरोधायकस्य कस्यचिद्वायुविशेषस्य शब्दात्मानं खण्डयत एवावरणत्वे स्वभावभेदप्रसङ्गः, आवृतानावृतस्वभावयोरभेदानुपपत्तेः । तयोरभेदे वा शब्दस्य श्रुतिरश्रुतिर्वेत्येकान्तः प्रसज्येत, पुरुषव्यापारात्पूर्वमश्रुतिस्तदनन्तर श्रुतिरितिविभागानुपपत्तेः । स्यान्मतम्, यथा घटादेरात्मानखण्डयत्तमस्तस्यावरणं तथा शब्दस्यापीति, तदसत्, तस्यापि तेनात्मखण्डनोपगमात्, दृश्यस्वभावस्य खण्डनात्तमसस्तदावरणत्वसिद्धेः, सर्वस्य परिणामित्वसाधनात् । तमसापि घटादेरखण्डने पूर्ववदुपलब्धिः किन्न भवितुमर्हति, तस्य तेनोपलभ्यतयाप्यखण्डनात् । ननु च पुरुषव्यापारात्प्राक् पश्चाच्च शब्दस्याखण्डितस्वभावत्वेपि नैकान्ततः श्रुति, सहकारिकारणापेक्षत्वात्, स्वविज्ञानोत्पादने तदश्रुतेरपि तद्वैकल्ये सभवादिति चेत्, तर्हि किमयं शब्दः स्वविषयसवि-

त्तिकरणे समर्थोऽसमर्थो वा ?, स्वसंवित्त्युत्पत्तौ कारणान्तरापेक्षा मा भून् तत्करणसमर्थत्व। अन्यथा स्वगमनसमर्थत्व सहकारीन्द्रियमनोभिव्यञ्जकव्यापारलक्षण किमन्यासामर्थ्ये खण्डयत्याहोस्विन्नेति पक्षद्वितयम् । तदसामर्थ्यमखण्डयदकिञ्चित्कर किं सहकारिकारणं स्यात् ? तत्खण्डने वा स्वभावहानिरव्यतिरेकात् व्यतिरेके व्यपदेशानुपपत्तिः । इति पूर्ववत्सर्वम्, शब्दासामर्थ्ययोः परस्परमनुपकारकत्वाविशेषात । शब्दस्य हि तदसामर्थ्येनोपकारः क्रियमाणस्तस्मादभिन्नश्चेन, स एव कृतः स्यादिति तन्नित्यत्वहानिः । भिन्नश्चेत्सम्बन्धासिद्धिः, अनुपकारात् । तदुपकारान्तरे वा स एव पर्यनुयोग इत्यनवस्था प्रधानतत्परिणामव्यतिरेकपक्षवत । किञ्च वर्णाः सर्वे नित्यसर्वगतास्तद्विपरीता वा ?, न तावद्द्वितीयः पक्षः, अनभ्युपगमात् । प्रथमपक्षे तु वर्णाना व्यापित्वान्नित्यत्वाच्च क्रमश्रुतिरनुपपन्नैव, देशकालकृतक्रमासम्भवात् । तदभिव्यक्तिप्रतिनियमात्तेषां क्रमश्रुतिरिति चेन, न, अस्मिन्नपि पक्षे समानकरणाना तादृशामभिव्यक्तिनियमायोगात् सर्वत्र सर्वदा सर्वेषां सकुला श्रुतिः स्यात । समानं हि करणं वर्णाना श्रुतौ श्रोत्रं, नीलपीतादीनां रूपविशेषाणां दृष्टौ चक्षुर्वत् । ततस्तेषामेकव्यञ्जकव्यापारेऽपि समानदेशकालाना कथमभिव्यक्तिनियमो नीलादिवत ? क्वचिदेकत्रैकदापि च सर्ववर्णाभिव्यक्तौ सर्वत्र सर्वदाभिव्यक्तिस्तेषां स्वरूपेणाभिव्यक्तत्वात् तत्स्वरूपस्य च व्यापिनित्यत्वात। खण्डशस्तदभिव्यक्तौ वर्णानां व्यक्तेतराकारभेदाद्भेदप्रसक्तेः प्रत्येकमनेकत्वापत्तिरेकानेकात्मकत्वप्रसङ्गो वा । सर्वात्मनाभिव्यक्तौ सर्वदेशकालवर्तिप्राणिनः प्रति तेषामभिव्यक्तत्वात् कथं सर्वत्र सर्वदा सर्वेषां सङ्कुला श्रुतिर्न स्यादतः कलकलमात्रं न भवेत् । ननु समानोपादानकारणानामभिन्नदेशकालानां समानकारणानामुत्पत्तावपि तद्देशकालवर्तिसकलपुरुषाणामविकलसहकारिणां कथं न सकुला श्रुतिः स्यात, क्रमश्रुतिर्वा न विरुध्येत ? इति चेन्, अत्रोच्यते, वक्तृश्रोतृविज्ञानयोस्तत्कारणकार्ययोः क्रमवृत्तिमपेक्ष्य परिणामिनां क्रमोत्पत्तिप्रतिपत्त्योर्न किञ्चिद्विरुद्धं पश्यामः । समानेऽपि हि

शब्दानामारम्भकपुद्गले तद्देशकालवर्तिन्युपादाने सहकारिणि च बहिरङ्गे ताल्वादिकरणे वक्तृविज्ञानस्य वर्णोत्पत्तौ सहकारिकारणस्याऽन्तरस्य क्रममपेक्ष्य क्रमोत्पत्तौ परिणामिना न किञ्चिद्विरुद्धं पश्यामः, कारणक्रमानुविधायित्वात्सर्वत्र कार्यक्रमस्य, शश्वदपरिणामिनामेव तथाविरोधदर्शनात्। नापि श्रोतृविज्ञानस्य शब्दकार्यस्य क्रममपेक्ष्य वर्णक्रमप्रतिपत्तौ किञ्चिद्विरुद्धं पश्यामः, प्रमाणक्रमानुविधायित्वात्तत्फलभूतप्रमितिक्रमस्य सततमपरिणामिनामेवात्मना तद्विरोधनिर्णयात्। तत्र सकुला श्रुतिः स्याद्वादिनां प्रसज्येत। सर्वगतानामेष क्रमो दुष्करः स्यात्। ततः क्रमोत्पत्तिप्रतिपत्त्योरन्यथानुपपत्त्या न सर्वगता वर्णाः, नापि नित्याः प्रत्येतव्याः। ननु च नित्या वर्णाः, प्रत्यभिज्ञानादात्मादिवदिति चेत्, क्षणिकेष्वेव करणाङ्गहारादिषु प्रत्यभिज्ञानाद्विरुद्धो हेतुः। एतेन बुद्धिभिर्व्यभिचारी च हेतुरुक्तः, बुद्धिकर्मभ्यां व्यभिचार इत्यभिधानात्। ननु बुद्धिकर्मणोरपि नित्यत्वोपगमान्नायं दोषः, ते अपि नित्ये इति वचनात्, तथोपगमे विरोधाभावादिति चेत्, तत्क्रियैकत्वेपि किमिदानीमनेकं स्यात्? तथा बुद्ध्येकत्वेपि न किञ्चिदनेकं स्यादित्यपि प्रतिपत्तव्यम्, सर्ववर्णैकत्वप्रसङ्गात्। शक्यं हि वक्तुम्, अभिव्यञ्जकभेदाद्वैश्वरूप्यं जलचन्द्रवत्, क्वचित्प्रत्यक्षविरोधे तदन्यत्राप्यविरोधः कुतः?, यथैव हि नानादेशजलप्रतिबिम्बितस्य चन्द्रस्यानेकत्वप्रतीतावपि परमार्थतश्चन्द्रैकत्वं तथैव नानादेशव्यञ्जकभेदादकारादिवर्णनानात्वप्रतीतावपि वर्णैकत्वमिति वदतः कः प्रतिघातः? प्रत्यक्षविरोधो वर्णैकत्ववचने स्यान्न पुनः क्रियाद्येकत्ववचने याज्ञिकस्येति कुतो विभागः सिध्येत्?, ततो वर्णाद्वैतमनिच्छता न करणाङ्गहारादिक्रियैका वक्तव्या, येन शब्दस्य नित्यत्वसाधने प्रत्यभिज्ञानं विरुद्धं न स्यात्। तदयं ताल्वादिव्यापारजनितश्रावणस्वभावं परित्यज्य विपरीतस्वभावमासादयन्नपि नित्यश्चेत्, न किञ्चिदनित्यम्। तदेवमकारादिवर्णस्त्रिजगत्यामेक एवेत्यपि निरस्तम्, युगपद्भिन्नदेशस्वभावोपलब्धेर्घटादिवत्। भानुनानेकान्त इति चेत्, न, तस्य सकृद्भिन्नदेशतयोप-

लब्धावपि भिन्नस्वभावतयोपलम्भाभावात् प्रत्यासन्नेतरदेशप्रतिपत्तृजनानां स्पष्टेतराभिर्भिन्नस्वभावतयोपलभ्यमानेनैकपादपेन व्यभिचार इति चेत्, न, तस्य भिन्नदेशतयानुपलब्धेः। नयनावरणविशेषवशात्तु क्वचिद्देशान्तरभावतयोपलभ्यमानेन चन्द्रद्वयेन व्यभिचार इति चेत्, न, भ्रान्तोपलम्भेनाभ्रान्तोपलम्भस्य व्यभिचारायोगादन्यथा सर्वहेतूनामव्यभिचारानवकाशात्। न च शब्दस्यापि न क्वचिद्देशान्तरभावतयोपलम्भो भ्रान्तः, सर्वदा बाधकाभावात्। युगपत्प्रतिनियतदेशमन्द्रतारश्रुतेः कल्पनिर्दिष्टत्वे न कश्चिदेकत्वसिद्धिः। स एवायमकार इति प्रत्यवमर्शादकारादेरेकत्वे गमनादिक्रियाविशेषस्याप्येकत्वमस्तु स एवायं गमनादिरिति प्रत्यवमर्शात्। तथा सर्वेन्द्रियार्थविशेषस्यापि। न हि कथञ्चित्प्रत्यवमर्शो न स्याद्दर्शनेन। तत्प्रतिविशेषबुद्धेरभिन्नैकहेतुत्वप्रसङ्गो सर्वं समञ्जसं प्रेक्षामहे, सर्वस्याकारादेरपि देशादिविशेषबुद्धेरभिन्नैकहेतुत्वप्रसक्तेः कर्तुं मुशकत्वात्। तद्देशेन पुद्गलानां करणसन्निपातोपनिपाते श्रावणस्वभावः शब्दः पूर्वापरकोट्योरसन् प्रयत्नानन्तरीयको घटादिवदिति प्रतिपत्तव्यम्, न पुनः प्राक् पश्चाच्च सन्नेवापौरुषेय इति। तस्य प्रागभावप्रध्वंसस्यापि न प्रच्यवः श्रेयान्। ननु शब्दस्य पुद्गलपर्यायत्वे चक्षुषोपलम्भप्रसङ्गः, " स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः " इति वचनात्, अन्यथा सिद्धान्तविरोधादिति चेत्, न, गन्धपरमाणुभिर्व्यभिचारात्। पुद्गलपर्यायत्वस्य गन्धपरमाणूनामप्यस्त्यात्र दर्शनमिति चेन, शब्दपुद्गला-

भिरपि घ्राणपूरणप्रसङ्गात् स्कन्धपरिणामाविशेषात्, नन्वेकश्रोत्रप्रवेशाद्योग्यदेशस्थितैरपि श्रोत्रऽन्तरैः शब्दस्याश्रवणप्रसङ्ग इति चेत्, न, एकघ्राणप्रवेशात्प्रतिपत्रन्तराणां योग्यदेशस्थानामपि गन्धस्याप्यघ्राणप्रसङ्गात्। गन्धपरमाणूनां सदृशपरिणामभाजां समन्ततः प्रसर्पणाददोष इति चेत्, तर्हि शब्दपरमाणूनामपि समानपरिणामभृतां नानादिक्तया विसर्पणात्स दोषो मा भूत्। शब्दस्यागमनादीनामदृष्टानामपि कल्पना-प्रसङ्ग इतिचेत्, गन्धपरमाणूनामपि।अथैषां प्रतिपत्तिविशेषान्यथानुपपत्त्या निश्चयनान्नागमनादीनामदृष्टपरिकल्पनेतिचेत्, शब्दपुद्गलानामपि यथा यत्र यदा यावतां प्रतिपत्तॄणामुपलब्धिस्तथा तत्र तदा तावतामुपलब्धियोग्यपरिणामविशेषोपगमात्। तदेवं शब्दस्य पुद्गलस्वभावत्वे दर्शनविस्तारविक्षेपप्रतिघातकर्णपूरणैकश्रोत्रप्रवेशाद्युपालम्भो गन्धपरमाणुकृतप्रतिविधानतयोपेक्षामर्हति। ननु च न पुद्गलस्वभावः शब्दः, अस्पर्शत्वात्, सुखादिवत्, इति बाधकसद्भावान्न पुद्गलस्वभावत्वं शब्दस्येति चेत्, न, हेतोरसिद्धत्वात्, यतः कर्णशष्कुल्यां कटकटायमानस्य प्रायशः प्रतिघातहेतोर्भवनाद्युपघातिनः शब्दस्य प्रसिद्धिरस्पर्शत्वकल्पनामस्तङ्गमयति। ननु च न पुद्गलस्वभावः शब्दः, निश्छिद्रभव-नाभ्यन्तरतो निर्गमनात्, तत्र बाह्यतः प्रवेशाद्व्यवधायकावेदनादेश्च दर्शनात्, यस्तु पुद्गलस्वभावो, न तस्यैवंदर्शनं, यथा लोष्टादेः, तथादर्शनं च शब्दस्य, ततो न पुद्गलस्वभावत्वमिति चेत्, न, पुद्गलस्वभावत्वेपि तदविरोधात्। तस्य हि निश्छिद्रनिर्गमनादयः सूक्ष्मस्वभावत्वात् स्नेहादिस्पर्शादिवन्न विरुध्येरन्। कथमन्यथा पिहितताम्रकलशाभ्यन्तरात्तैलजलादेर्बहिर्निर्गमनं स्निग्धतादिविशेषदर्श-नादनुमीयेत ? कथं वा पिहितनिश्छिद्रमृद्घटादेः सलिलाभ्यन्तरनिहितस्यान्तःशीतस्पर्शोपलम्भात्सलिलप्रवेशोनुमीयेत ? तदभेदनादिकं वा तस्य निश्छिद्रतयेक्षणात्कथमुत्प्रेक्षेत ?, ततो निश्छिद्रनिर्गमनादिः स्नेहादिस्पर्शादिभिर्व्यभिचारी, न सम्यग्घेतुर्यतः शब्दस्य पुद्गलस्व-भावत्वं प्रतिक्षिपेत्, तस्य पुद्गलस्वभावत्वनिर्णयात्सर्वथाप्यविरोधात्। अतो यत्नजनितवर्णाद्यात्मा श्रावणमध्यस्वभावः प्राक् पश्चादपि

पुद्गलानां नास्तीति तावानेव ध्वनिपरिणामः सर्वैरभ्युपगन्तव्यः, तस्य सकलकालकलाव्यापित्वे मध्यवत्प्राक् पश्चाच्च श्रावणस्वभावत्वप्रसङ्गात् प्रयत्नजनितवर्णपदवाक्यात्मकत्वायोगात् । तत्प्राक्प्रध्वंसाभावप्रतिक्षेपे कौटस्थ्य क्रमयौगपद्याभ्यां स्वाकारज्ञानाद्यर्थक्रिया व्यावर्तयतीति निरुपाख्यमित्यभिप्राय' "श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्याणाम्" प्राक्प्रध्वंसाभावप्रतिक्षेपस्य कौटस्थ्येन व्याप्तत्वात्, तस्य च क्रमयौगपद्याभावेन, तत्र तद्विरोधात्। तस्यापि स्वाकारज्ञानाद्यर्थक्रियाव्यावर्तनेन, तस्य च निरुपाख्यत्वेन, सर्वथानर्थक्रियाकारिण सकलवाग्विकल्पेभ्यो निष्क्रान्तत्वात्। स्यादाकूतम्, वर्णानामानुपूर्व्यपौरुषेयीष्यते, तस्या एव प्राक्प्रध्वंसाभावानभ्युपगमात्। ततो नोपालम्भः श्रेयानिति, तदप्ययुक्तं, वर्णव्यतिरेकानुपूर्व्यसंभवात्। कथञ्चित्क्रियमाणामपि तदानुपूर्वीकल्पना विस्तरेण प्रतिक्षेप्स्यामः, "वक्तर्यऽनाप्ते" इत्यत्र तत्प्रतिक्षेपविस्तारवचनात्। तदिह पर्याप्तम्, तत्प्रबन्धेन सर्वथा प्राक्प्रध्वंसाभावनिह्नवे यथानिगदितदूषणगणप्रसङ्गस्य परिहरणासभवात् ॥ १० ॥

कार्यसद्भावप्रसङ्ग इति (१४४–२–१) कार्यध्वंसतत्प्रागभावानाधारकालस्य कार्यवत्त्वव्याप्यत्वादिति भावः । **तत्र** (२) **अनन्तरपूर्वक्षणेषु, इतरेतराभावरूपस्य** (२) **कार्यभेदरूपस्य, नायं दोष इति**(२)इदानीमेतत्क्षण इतिप्रतीत्या तत्तत्क्षणस्येव तदभिन्नकार्याणां **सौगतनये** तादात्म्येनैव कालवृत्तित्वोपगमात् कार्यभिन्नक्षणे कार्यत्वस्यापादयितुमशक्यत्वादिति भावः । **किमर्थमि[इ]ति** (२) अभावव्यवहारस्य भेदत एव सिद्धेरिति भावः। **कार्यादिति** (३) कार्याव्यवहितपूर्वक्षणभिन्नेष्वित्यर्थः । कार्यप्रागभावाभावत्वमात्रं न कार्यस्वभावत्वव्याप्यं किन्तु प्रागभावध्वंसत्वं ध्वंसोऽपि चाव्यवहितोत्तरक्षण एवाग्रिमक्षणेषु घटादिव्यवहारश्च सदृशकार्योत्पत्तिदोषादिति न कोऽपि दोष इत्याशयवान् शङ्कते, '**स्यादाकूतमिति**' (५)

अस्मिन्नभ्युपगमे जैन्याः प्रक्रियाया विरोधः स्यादिति दूषणमाह, 'तदेतदपीत्यादि' (६) 'द्रव्यार्थादेशादिति' (८) सौगतैश्च पर्यायार्थमात्रादेशः स्वीक्रियत इति न तत्प्रक्रियानुसरणेनोभयनयवादिनो जैनस्य सिद्धान्तव्याकोप इति भावः। प्रागभावाभावस्वभावता (८) घटप्रागभावध्वंसरूपता, तद्द्रव्यस्य (९) मृद्द्रव्यस्य, अभावासम्भवात् (९) घटोत्पत्तिकाले ध्वंसासम्भवात्, तत एव (९) घटस्य मृद्द्रव्यरूपघटप्रागभावध्वंसत्वाभावादेव, न जातुचिदिति (९) घटोत्पत्तेर्घटप्रागभावध्वंसोत्पत्तिनियतत्वादिति भावः। यदि पुनरिति (९) क्लृप्तेषु पूर्वपर्यायेषु घटप्रागभावत्वमात्रकल्पने लाघवात्तद्व्यक्तित्वादिना तेषां सादित्वेऽपि घटप्रागभावत्वेनानादित्वेऽपि विरोधाभावाच्चेति भावः। 'तदापीति' (१०) न च घटप्रागभावत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकध्वंसस्य घटोत्पत्तिव्याप्यत्वान्नायं दोष इति शङ्कनीयम्। ध्वंसस्य सामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वे मानाभावात्, एकघटवति घटान्तरप्रागभावसत्त्वेन तदसम्भवाच्च, एतेन यावद्घटप्रागभावध्वंसवत्त्वं घटोत्पत्तिव्याप्यमित्यपि निरस्तम्, असम्भवात्। न च यावत्तद्घटप्रागभावध्वंसवत्त्वं तद्घटोत्पत्तिव्याप्यमित्यपि वक्तुं युक्तम्, गौरवात्, क्षणविशेषे व्याप्तिविश्रामाच्च॥ द्रव्यपर्यायात्मेति (१२) प्राक्तनपर्यायेषु मृद्द्रव्ये च घटप्रागभावत्वं व्यासज्यवृत्तीत्यर्थः, प्रत्येकावृत्तेः समुदायावृत्तित्वनियमात् प्रागभावत्वस्य प्रत्येकवृत्तित्वध्रौव्ये तदादाय दूषणमाह 'नैवमप्युभयेत्यादि' (१३)॥ न च पर्याप्तिसम्बन्धावच्छिन्नावच्छेदकताकतद्घटप्रागभावत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकतद्घटप्रागभावाभावस्य तद्घटोत्पत्तिव्याप्यत्वान्नायं दोष इति वाच्यम्। एवं सति घटप्रागभावत्ववत् घटत्वघटध्वंसत्वादेरपि द्रव्यपर्यायोभयपर्याप्तत्वापत्तेरतीन्द्रियवृत्तित्वेनाप्रत्यक्षत्वापत्तेश्च, एतेन विशिष्टद्रव्यप्रागभाववादोऽपि निरस्तः।

विशेषणाननुगमेनानुगतव्यवहारासम्भवाच्च। तदिदमाह न च गत्यन्तरमस्तीति (१४) ॥ उपसंहरति 'ततो नेति' (१४) ततो द्रव्यपर्यायात्मत्वाभावान्न भावस्वभावः प्रागभावः (१४)॥ ' हेत्वन्तरमाह–भावविलक्षणत्वादिति भाववैधर्म्यादित्यर्थः, तत्र हेतुमाह–भाव(पदार्थ)विशेषणत्वसिद्धेरिति नियमतो भावविशेषणतया प्रतीयमानत्वादित्यर्थः। अन्ये नैयायिका एवं ब्रुवते, तान् दूषयति–तेऽपीति ' (१४५-१-१) प्राग् नासीद् घट इति (२) प्रागभावप्रतियोगित्वप्रकारकघटविशेष्यकप्रत्यक्षमित्यर्थः। एतेन प्रागभावप्रतियोगिनोऽनागतस्य भानार्थं सामान्यलक्षणप्रत्यासत्तिकल्पनं प्राचां नैयायिकानामपास्तम्। घटविशेष्यकप्रागभावप्रतियोगिकत्वप्रकारकप्रत्यक्षोपगमे दोषाभावात्, विद्युदादाविवात्र विनश्यदवस्थविषयकप्रत्यक्षस्य सविकल्पकस्य निर्विकल्पकक्रमेण सामग्रीविशेषादेवमेव वा स्वीकर्तुं शक्यत्वात्। प्रतियोगित्वस्यापि प्रतियोगिस्वरूपस्य योग्यत्वादुत्पत्तिक्षणस्य तथाभिव्यञ्जकत्वेनानतिप्रसङ्गाच्च, यैरपि चरमकारणसामग्रीव्यङ्ग्यत्वं प्रागभावस्य प्रतिपाद्यते, तैरपि यादृशकारणकलापानन्तरं कार्योत्पादो दृष्टस्तादृशबुद्धेरेव व्यञ्जकत्वमुपेयमुक्तसामग्र्याः स्वरूपसत्याः स्वरूपेण ज्ञाताया वा व्यञ्जकत्वेऽतिप्रसङ्गाद्, व्याप्यत्वेन ज्ञातायास्तत्त्वोक्तौ प्रागभावानुमितेरेवोपपत्तेः, तत्प्रत्यक्षानवकाशात्, तद्वरमुत्पत्तिक्षणस्यैव प्रागभावप्रतियोगित्वेन घटप्रत्यक्षजनकत्वं कल्पनीयमिति, विषयसन्निकर्षादेः कार्यसहभावेन हेतुत्वे चरमसामग्रीकाल एव प्रागभावप्रत्यक्षोपगमे तु प्राग् नासीद् घट इति कथमप्युपपादयितुमशक्यम्। तदा घटप्रागभाव आसीदित्यर्थस्याप्यनुपपत्तेः, तदा भविष्यतीत्याकारप्रत्यक्षं च शिरोमणिनैव दूषितम्, "भविष्यत्वं हि न वर्त्तमानप्रागभावप्रतियोगित्वम्, श्वो भाविन्यद्य भविष्यतीतिप्रत्ययप्रसङ्गात्। किन्तूत्पत्स्यते भविष्यतीत्यादेः समानार्थकत्वात् वर्त्तमानप्रागभावप्रतियो-

ग्युत्पत्तिकत्वं वर्त्तमानकालोत्तरकालोत्पत्तिकत्वं वा, न चेदमध्यक्षमुत्पत्तेरतीन्द्रियत्वादित्यादिना," इत्यनुमानमिति। (३) यद्यपि प्रागभावग्राहकं प्राग् नासीद् घट इति प्रत्यक्षमेव पक्षीकृतमुपपद्यते तथापि तस्य भावाभावविषयत्वसंशये उक्तानुमानाश्रयणमिति तात्पर्यम्। चरमसामग्र्या हेतुना प्रागभावोऽनुमीयत एवेति केचित्, तदसत्, अनुयोगिताविशेषरूपप्रागभावत्वादेः क्वचिदप्रतीतौ ताद्रूप्येणानुमानासम्भवादिति दीधितिकारः, प्राग् नासीदिति प्रत्यक्षमुत्पद्यमानघटाकारपरिणतमृद्द्रव्यविषयमेव, प्रागभावादेरभावस्याधिकरणस्वरूपस्यैव स्वीकारान्नास्तीतिप्रत्ययबलेनातिरिक्ताभावस्वीकारेऽभावेऽप्यभावान्तरापत्तावनिष्टप्रसङ्गादित्याशयवानाहेति चेत्, नेत्यादि। उपचरिताभावविषय (५) इत्यभावप्रतियोगिकाभावाधिकरणकाभावस्याधिकरणानतिरेकादित्यर्थः। नह्युपचरितेनाभावेनेत्यादि (६) त्वन्मत इति शेषः। अस्मन्मते त्वधिकरणात्मकाभावेनैव सर्वत्रोपपत्तेर्नानाधिकरणस्वरूपत्वेऽपि गौरवाभावादतिरिक्ताभावकल्पनानर्थक्यमिष्टमेव, त्वया नानाधिकरणेष्वभावस्य तादात्म्यातिरिक्तः सम्बन्धः कल्पनीयः, मया तु तादात्म्यमिति तवैव गौरवात्। हेत्वन्तरबीजमुपन्यस्य दूषयति–यदप्युक्तमित्यादिना (६)॥ सामर्थ्यादिति (१०) अभिलापाभावेऽपि विशिष्टज्ञानसामग्रीबललभ्यत्वादित्यर्थः। एतद् गुणादावपि तुल्यमित्याह–'तद्विशेष्यस्येति' (१०) सविकल्पकनिर्विकल्पकत्वानेकान्तस्तु भावित एव प्राक्। अतिरिक्तोऽपि प्रागभावो लाघवादेक एव कल्पनीयः प्रतियोगिभेदेनाभावभेदे मानाभावादिति पक्षं परिगृह्य तस्यानादिसान्तत्वं दूषयितुमुपक्रमते–किञ्च प्रागभाव (११) इत्यादिना, अनन्ताः प्रागभावा इति पक्षमुपन्यस्य दूषयति–'यावन्तीत्यादि' (१४) स्वतन्त्रा (१४५–२–१) अन्यानाश्रिताः, भावतन्त्रा (२) भावाश्रिताः, कालादिवदिति कालाकाशदिगादीनां हि स्वतन्त्राणां भावत्वं

तद्वत् स्वतन्त्रत्वे प्रागभावस्य भावत्वं स्यादिति भावः। न चानुत्पन्न इत्यादि (४)॥ अत्रेदं चिन्त्यम्, अनुत्पन्नः प्रध्वस्तो वा प्रागभावस्य ध्वंसस्य च नाश्रयोऽभ्युपगम्यते, किन्तु प्रतियोग्येवेत्यनभ्युपगतोपालम्भोऽयम्, प्रतियोगित्वं च तयोः स्वरूपसम्बन्धविशेषरूपं ज्ञानविषयतावदेवोपपद्यत इति। 'यदि पुनरेक एवेति' (५) देशकालयोर्विशेष्यहेतुत्वेनानतिप्रसङ्गात् तत्कार्यनियमाय तत्तत्प्रागभावो न कल्पनीयः, किन्तु व्यवहारार्थम्, स चैकत्वेऽपि विशेषणभेदाद्भिन्नत्वोपचारेण निर्वहतीत्यर्थः। कार्यस्यैवेति (७) पूर्वकालावच्छिन्नप्रतियोगितया घटविशिष्टोऽभावो घटप्रागभावः १। उत्तरकालावच्छिन्नप्रतियोगितया तादृशः स घटध्वंसः २। तादात्म्यावच्छिन्नप्रतियोगितया तादृशः स इतरेतराभावः ३। तादात्म्येतरसंसर्गावच्छिन्नप्रतियोगितया तादृशः सोऽत्यन्ताभाव इत्यर्थः ४। प्रत्ययभेदस्यापि तथोपपत्तेरिति (८) न चैवं स्नेहप्रतियोगिकाभावस्यैव गन्धप्रतियोगिकत्वात् पृथिव्यां न स्नेह इति वत्र गन्ध इति व्यवहारापत्तिरिति वाच्यम्। विशिष्टाधारताभेदस्वीकारेणोपपत्तेः, तत्र स्नेहप्रतियोगिकत्वविशिष्टाभावत्वावच्छिन्नाधारतासत्त्वेऽपि गन्धप्रतियोगिकत्वविशिष्टाभावत्वावच्छिन्नाधारताभावात्, समवायैकत्ववादेऽपि रूपवन्नीरूपत्वादिविविक्तव्यवहारस्येत्थमेवोपपत्तेः, सत्तैकत्वप्रतिबन्द्याऽभावैकत्वं सिद्ध्यतीति दृष्टान्तद्वारेणाह—सत्तैकत्वेऽपीत्यादिना (८)॥ न तु सत्तेति (१३) विशेषणभेदेन विशिष्टसत्ताभेदात्तदाधारताभेदाद्वा प्रतिनियतभेद व्यवहारोपपत्तेरित्यर्थः। इयमेव रीतिरभावेऽप्यनुसर्त्तव्येत्याह तर्हि तत एवेति (१३) अस्त्वेवमेक एवाभावस्तत्राह—न चैकोऽप्यभाव इत्यादि(१३)॥ द्रव्यादीत्यादि (१४६–१–१) यथा वैशेषिको लोको द्रव्यादिषट्पदार्थविकल्पमात्राद्रव्यादिव्यवहार प्रवर्त्तयति, यथा वा प्रमाणादिषोडशपदार्थवादी नैयायिकः, प्रकृतिमहदादिपञ्चविंशतिपदार्थवादी साङ्ख्यः,

रूपादिस्कन्धपञ्चकवादी सौगतश्च तत्तद्विकल्पात्तत्तद्व्यवहारं प्रवर्त्तयति-तथा गतानुगतिको लोको विषयनिरपेक्षमेव विकल्पमात्रात् प्रागभावादिव्यवहारमित्यर्थः। ततो नेत्यादि (१४६-१-२) प्रमाणेन न प्रतीयत इत्यर्थः। असत्ख्यात्या प्रतीयमानस्त्वयं शशविषाणवान्ध्येयसौभ्रात्रपात्रतामनुभवतीति हृदयम्। न पुनः साङ्ख्योऽन्यो वेति (३) साङ्ख्यः कापिलो, यौगादिरन्यः, साङ्ख्यस्यानुपालम्भपात्रत्वे हेतुमाह-तस्येति, उपचरितकार्यद्रव्याभ्युपगममधिकृत्याह-' तिरोभावेत्यादि (३) भावस्वभावेत्यादि' (३) तथा च न, साङ्ख्यस्य सर्वथा प्रागभावापह्नवोऽसत्ख्यातिविषयतोपगमस्यैव तदर्थत्वादिति भावः। अन्यस्य यौगादेरनुपालम्भपात्रत्वे तु व्यक्त्या प्रागभावस्वीकार एव हेतुर्द्रष्टव्यः, तैरपीति (७) स्याद्वादिभिरपीत्यर्थः। अपिना नैयायिकैकदेशिभिरपि तन्निराकरणं सूच्यते, तथा च दीधितिकृन्मतानुसारिणः, ननु प्रागभावे किं मानं? न तावत् प्रत्यक्षम्, असिद्धेः। घटो भविष्यतीत्यादिप्रत्ययस्य वर्त्तमानकालानन्तरकालोत्पत्तिकत्वविषयत्वात्, नाप्यनुमानम्, अप्रयोजकत्वात्, न च घटादिकार्यधारावारणाय प्रागभावसिद्धिः, कार्यद्रव्यत्वावच्छिन्ने समवायेन द्रव्यत्वावच्छिन्नाभावस्य हेतुत्वेनैव तद्वारणात्, न चाव्याप्यवृत्तेः कार्यस्य द्वितीयक्षणे उत्पत्त्यापत्तिः, समानावच्छेदकतया तत्र भावस्य हेतुत्वात्, न च संयोगादेः प्रदेशनियमः स्वभावाधीनात्तत्प्रागभावप्रादेशिकत्वादिति प्रागभावसिद्धिः, तत्तद्देशादिहेतुत्वेनैव तन्नियमात्, न च तथापि निर्विकल्पकस्य चतुर्थक्षणे उत्पत्तिवारणाय तत्रोत्तरज्ञानाभावस्य कारणत्वं वक्तव्यम्, तथा च लाघवात्प्रागभावस्य तत्त्वमुचितमिति वाच्यम्, तन्निर्विकल्पककालोत्पत्तिकध्वंसव्यक्त्यादेरेव तत्र प्रतिबन्धकत्वादखण्डतदभावस्य च तद्धेतुत्वाद्वस्तुतो निर्विकल्पकत्वस्य कार्यतानवच्छेदकत्वात्तादृशप्रत्यक्षसामग्रीसत्त्वे तादृशप्रत्यक्षोत्पादनियमान्निर्विकल्पकापत्तिरेव

दुर्घटा, सामग्र्याः कार्यतावच्छेदकावच्छिन्नव्याप्यताया एव स्वीकारात् । अथ तथापि शततन्तुषु भाविनः पटस्य द्विचतुरादितन्तुषु संयुक्तेषूत्पत्तिः स्यात्, सामग्रीसत्त्वात्, न च प्रागभावस्यापि सत्त्वात्तत्रापि तदनुत्पत्तिर्दुर्घटा, तत्प्रागभावव्याप्ययावत्संयोगत्वेन हेतुत्वादिति चेत्, न, कतिपयसंयोगेष्वतीतेष्वनागतेषु वा तत्पटानुत्पत्तिप्रसङ्गात्तत्पटव्याप्ययावत्संयोगत्वेनैव हेतुत्वसम्भवाच्च, वस्तुतः सामग्र्याः कार्यतावच्छेदकावच्छिन्नोत्पत्तिव्याप्यताया एवोपगमात्तदा द्विचतुरादितन्तुकपटस्यैवोत्पत्तेः शततन्तुकपटस्यापादकाभावो व्यक्तिस्थानीयापत्तिविरहात्, तर्हि तत्पटत्वावच्छिन्ने किं नियामकम्, सामान्यतः क्लृप्तकारणताकतत्तत्तन्तुतत्तत्संयोगादितादृशनियामकत्वमेव हेतुत्वमिति चेत्, तर्हि प्रागभावस्वीकारेऽपि तत्त्वं दुर्वारम्, तद्रूपेण तदान्यथासिद्धत्वमिति चेत्, तदेति विफलम्, तर्हि जन्यसत्त्वेन सत्त्वेन हेतुहेतुमद्भावेनैव निर्वाहोऽस्त्विति चेत्, न । तन्तुत्वादिना कारणत्वबुद्धिव्यपदेशयोरप्रामाण्यापत्तेश्च, किमाकस्मिकत्वं तदवच्छिन्नसामग्र्यनिश्चये एतावत्सत्त्वेऽवश्यं पटोत्पत्तिरित्यनिश्चयः, इत्थं च प्रवृत्तिरपि दुर्घटा । तादृशनिश्चय एव कृतिसाध्यताधीसम्भवात्, तत्पटत्वावच्छिन्नस्याकस्मिकत्वं त्विष्टम्, तद्धर्मावच्छिन्नसामग्रीसत्त्वेऽपि तथानिश्चयायोगात् तद्धर्मावच्छिन्ने प्रवृत्त्यभावाच्च, किञ्च विशेषान्वयव्यतिरेकाभ्यां सामान्यव्यभिचारानिर्णयानुगतागुरुविशेषान्तरानुपस्थितिलाघवादिप्रतिसन्धानवशात् सामान्यत एव हेतुहेतुमद्भावग्रहात् ग्राहकाभावादेव न विशेषकार्यकारणभावसिद्धिः । व्यक्तिस्थानीयापत्तिसत्त्वेऽपि च तदा शततन्तुकानुत्पत्तिर्विशिष्टचरमसंयोगहेतुत्वादेवोपपद्यते । अथास्तु कालनियमश्चरमसंयोगहेतुत्वात्तथापि देशनियमाय प्रागभावसिद्धिः, शतस्य तन्तूनां तत्तत्सयोगानां च विशिष्य तद्धेतुत्वे गौरवाद् व्यभिचाराच्च तत्प्रागभावस्यैव लाघवात्तत्पटहेतुत्वात्, किञ्च यत्र शत-

तन्तुकपटस्य मध्येऽवयवसंयोगनाशात्पश्चाशत्तन्तुकपटद्वयोत्पत्तिस्तत्र तयोः कालनियमस्य शततन्तुकनाशहेतुत्वेनैव सिद्धौ देशनियमाय प्रागभावसिद्धिरिति चेत्, न। तत्र चरमसंयोगशततन्तुकनाशयोः स्वसमानाधिकरणान्यतमत्वविशेषसंसर्गेण हेतुत्वादेव देशनियमस्यापि सम्भवात्। न च यत्र युगपदुत्पन्नैः शततन्तुसंयोगैः पट आरभ्यते तत्र चरमसंयोगानामपि तत्त्वतत्त्वेन हेतुत्वे गौरवात् प्रागभावसिद्धिः, तत्रापि तावत्संयोगमात्रवृत्तिजात्या द्रव्यारम्भकतावच्छेदकजात्यैव वा तत्कालावच्छिन्नान्यतमत्वसंसर्गेण हेतुत्वात् । न च बुद्धिविशेषेण विनिगमकाभावः, तस्य प्रत्यक्षशब्दादिरूपतया निर्णयाभावान्निश्चिताव्यभिचारकस्य संयोगस्यैव हेतुत्वात् । स्यादेतद्, व्यक्तिस्थानीयापत्तिसत्त्वे बहूनां तन्तूनां युगपदुत्पन्नानन्तसंयोगादुत्पन्नपटस्य नानासंयोगनाशान्नश्यतः पुनस्तेषामेव तन्तूनां संयोगान्तरात्पटान्तरोत्पत्तिकाले उत्पत्तिवारणाय प्रागभावसिद्धिः, उत्तरपटस्तु प्राग् नोत्पद्यते पूर्वपटध्वंसस्यापि तद्धेतुत्वात् । न च प्राक्तनपटे बहुत्वविशेषस्य हेतुत्वान्न दोषो नव्यनये तद्बहुत्वस्याग्रेऽपि सत्त्वादीदृशानन्तप्राक्तनपटोत्पत्तिवारणाय कार्यत्वावच्छिन्ने प्रागभावत्वेन हेतुत्वस्यैकस्यैवोचितत्वात्, आकाशाद्युदासीनमादाय बहुत्वस्य हेतुतापत्तेश्चेति चेत्, न, ईश्वरीयोपादानप्रत्यक्षादेस्तत्कालावच्छिन्नतद्घटावच्छिन्नविशेष्यतया हेतुत्वेऽनुपपत्त्यभावात् ॥ वस्तुतस्तत्कालावच्छिन्नतत्तत्पटहेतुतत्तत्संयोगाभावकूटात्यन्ताभाव एक एव कालदेशनियामक इति नूतनः पन्था इति दिग् ॥ अत्र तत्कालावच्छिन्नतद्देशस्वरूपायास्तथाभव्यताया एव तत्कार्यदेशकालनियामकत्वम्, न च विनिगमकाभावः, सामानाधिकरण्यप्रत्यासत्तेर्विनिगमकत्वादित्यस्मदीयाः ॥ प्रागभावतत्प्रागभावादेस्त्वति (९) घटस्य प्रागभावः कुशूलं तस्य कोशस्तस्य स्थासस्तस्यापि मृत्पिण्ड एवं परमाणौ विश्रान्तिः, तत्परम्परानाधारघटप्रध्वंसप-

रम्परानाधारकालत्वस्य घटव्याप्यत्वाच्च, न घटरहितकाले घटवत्त्वम्, घटप्रागभावध्वंसवत्त्वमेव घटवत्त्वमिति तु विसभागसन्तत्यनुगतत्वान्नाद्रियत इति ऋजुसूत्रोपजीवीव्यवहारानुसृतः पन्थाः ॥ तत्र (१०) पूर्वपूर्वपरिणामसन्ततौ, **अस्य** (१०) प्रागभावस्य, **दूषणावतारः** (१०) पूर्वोत्तरपर्यायाणां घटात्मकत्वप्रसङ्गरूपः, **सन्तानत्वाभिप्रायादिति** (१२) अगृहीतभेदपूर्वपूर्वक्षणैरेवैकत्वानादित्वादिव्यवहारोपपत्तेरित्यर्थः । नन्वेवं सन्तानस्य साम्वृतत्वात् साम्वृतमेव प्रागभावैकत्वानादित्वादि स्यादित्यत्रेष्टापत्तिमाह–**सन्तानिक्षणापेक्षया त्विति** (१२) पूर्वपूर्वक्षणानां घटप्रागभावत्वेऽपि यावत्तन्निवृत्तेर्घटोत्पत्तिव्याप्यत्वान्न दोष इत्याह–**तथाऽस्मिन् पक्ष** (१३) इत्यादि, **पूर्वकालविशिष्टस्येति** न च पूर्वपदार्थस्य प्रागभावगर्भत्वे आत्माश्रयः, घटतद्ध्वंसानाधारार्थत्वे च ध्वंसलक्षणेऽप्युत्तरकालपदार्थस्य प्रागभावगर्भत्वेऽन्योन्याश्रय इति वाच्यम् । कालविशेषावच्छिन्नस्वरूपसम्बन्धेन मृद्द्रव्यादेव प्रागभावव्यवहारोपपत्तेः, सम्बन्धस्य च प्रागनुपस्थितस्यैव संसर्गतया सर्वैरुपगमात्, हन्तैवं कालविशेषघटितसम्बन्धेन मृदादिद्रव्यादेव घटादिव्यवहारोपपत्तौ घटादिद्रव्यमपि नातिरिच्येत, न चेत्थमिष्टापत्तिः कर्तुं युज्यते, व्यवहारनयवादिनोऽतिसूक्ष्मेक्षिकायां परमाणुविश्रान्तौ तस्यापि सत्यासत्यत्वचिन्तायां सदद्वैतसिद्धौ सङ्ग्रहनयसाम्राज्यापत्तेरिति चेत्, न, मृदादिद्रव्याद् घटादिद्रव्यस्य प्रत्यभिज्ञानादिना किञ्चित्कालस्थायित्वेन सिद्धस्य पृथगनुभूयमानत्वेन तन्मात्रत्वाकल्पनात्, प्रागभावादेस्तु तथा पृथगननुभूयमानत्वेनाधारमात्रस्वरूपत्वकल्पनात्, इत्थमेव व्यवहारनयप्रवृत्तेः, घटादिद्रव्ये आधारभिन्नत्वमुद्भूतमभावपर्याये तु तदभिन्नत्वं तथेति विवेकः ॥ **'तस्य चेति'** (१४६–२–४) कालविशेषविशिष्टमृदादिद्रव्यरूपत्वे घटादिप्रागभावस्य कार्योत्पत्तौ विशिष्टध्वंसो द्रष्टव्यः । कालविशेषघटितसम्बन्धेन मृदा-

दिद्रव्यरूपत्वे च सम्बन्धविशेषावच्छिन्नप्रतियोगिताकः स इति तत्त्वम् । **पर्यायरूपतयापीति** (६) नानाक्षणानुगतस्य प्रागभावपर्यायस्यैकस्यापि कल्पनादित्यर्थः । यद्यप्यनुगतगुणपर्यायाधारतया प्रत्यभिज्ञानविषयतया च न तदेकत्वं सिद्ध्यति, तथापि घटादौ घटप्रागभावादेरेकस्यैव हेतुत्वे लाघवात्तस्यैकत्वसिद्धिरिति परमार्थः । अनेकत्वेऽपि कथञ्चिदेकत्वं स्याद्वाददृष्ट्याविरुद्धमेव शरीरादिदृष्टान्तेन तद्वक्ष्यति, **स चैकानेकस्वभाव इत्यादि** (८) ॥ **कारणस्येति** (१२) नहि कपालमालारूपघटकार्यनाशे घटकारणं जायते, विपरीतव्याप्तेरभावात्, न च तदभावे घटोत्पत्तिरापादयितुं शक्यत इत्यर्थः । **मृदादिद्रव्यमिति** (१४७–१–२) घटप्रध्वंसे व्यवहारहेतुता तु न घटोत्तरकालवृत्तिघटाकारविकलघटद्रव्यत्वेन, उत्तरत्वस्य ध्वंसगर्भतयात्माश्रयादिदोषापत्तेः, किन्तु स्वोत्तरकालवृत्तित्वस्वाकारविकलत्वस्वद्रव्यत्वैतत्त्रितयसम्बन्धेन घटविशिष्टत्वेन स्वोत्तरकालावच्छिन्नत्वपरिचायितस्वद्रव्यत्वसम्बन्धेन तद्घटविशिष्टमृदादित्वेन वेति बोध्यम् । प्रमाणार्पणया तु प्रध्वंसो द्रव्यपर्यायात्मैकानेकस्वभावश्चेति प्राग्वदेव द्रष्टव्यम् । **कार्यद्रव्यं तदापादनीयमिति** (८) पुरुषव्यापारनान्तरीयकत्वेन घटादेः कार्यद्रव्यत्वं साधनीयमित्यर्थः । ततश्च प्रागभावाप्रतियोगित्वेन तस्यानादित्वमापादनीयम् । घटादिकार्यद्रव्यं यदि प्रागभावाप्रतियोगि स्यादनादि स्यादित्येवमिति बोध्यम् । तदाह–' **तच्चेत्यादि** ' कार्यत्वानादित्वयोरुभयोरापादने तु प्रागभावनिह्नवस्य न कथमपि सामर्थ्यमित्येवं व्याख्यातम् । ' **आपाद्यस्यापीति** ' (९) स्वतन्त्रानुमानवत् प्रसङ्गापादनस्यापि प्रतिवादिदूषकत्वसामर्थ्यादिति बोध्यम् । **अतिदिशति एतेनेति** (९) ॥ **तस्य विरुद्धत्वादिति** (१२) शब्दोऽभिव्यक्तेः प्राक् सन् स एवायमिति प्रत्यभिज्ञायमानत्वादित्यत्र सर्वथा प्राक् सत्ताया एव साध्यत्वा-

तद्विपरीतेन कथञ्चित् सत्त्वेन च हेतोर्व्याप्तत्वात् सर्वथाऽसतोऽपरिणामित्वे पूर्वोत्तरकालकोटिपर्यायस्पर्शासम्भवादित्यर्थः। **सांख्यमतेऽप्येतदतिदिशति। 'एतेनेति'** (१४) अभिव्यक्तिप्रागभावाङ्गीकारे शब्दप्रागभावस्त्यागानर्ह इत्याह– **'कल्पयित्वाऽपीति (१४)'** ऐतिह्यकृतविशेषमाह– **'ननु चेत्यादि'** (१४७–२–१) अभिव्यक्तेः शब्दपुरुषश्रोत्रभेदाभेदविकल्पासहत्वात्तं दूषयति **शब्दादभिन्नाया इत्यादिना** (२) **स्वरुचिविरचितदर्शनमात्रमित्यन्तेन** (१४८–१–३) ग्रन्थेन ॥ इच्छामात्रेण कार्यस्यापिशब्दस्याभिव्यङ्ग्यत्वाभ्युपगमे घटादावपि तत्प्रसक्त्या सांख्य एव विजयेतेत्याह **एवं हीति** (३) नन्वस्तु सर्वत्र व्यङ्ग्यत्वपक्ष एव साङ्ख्यानां शब्दे च मीमांसकानां, न च व्यङ्ग्यत्वपक्षे घटप्रत्यक्षत्वं कप्रत्यक्षत्वं च दण्डादेर्विजातीयनिमित्तपवनसंयोगादेश्च जन्यतावच्छेदकं वाच्यम्, कार्यत्वपक्षे च घटत्वं कत्वं चेति तत्र लाघवमिति वाच्यम्। व्यङ्ग्यत्वपक्षेऽपि घटत्वकत्वादेर्लौकिकविषयितया जन्यतावच्छेदकत्वे लाघवानपायात्। न च द्रव्यत्वशब्दत्वादिप्रकारकप्रत्यक्षे व्यभिचारः। स्वाश्रयविषयितायाः कार्यतावच्छेदकतावच्छेदकसम्बन्धत्वे दोषाभावादित्याशङ्कायामाह भाष्यकृत्–**न हि व्यञ्जकव्यापृतिर्नियमेन व्यङ्ग्यं सन्निधापयतीति** (५) तथा च ताल्वादिव्यापारान्नियमेन शब्दसन्निधानान्न स तद्व्यङ्ग्यः, किन्तु तत्कार्य इत्यर्थः। व्यङ्ग्यत्वेऽपि ताल्वादिव्यापारेण सन्निधानं शब्दस्य सर्वगतत्वाद्भविष्यतीति मीमांसक आशङ्कते–**नायं दोष इत्यादि** (६) ॥ घटादावतिप्रसङ्गेन तद्दूषयति **अन्यत्रापीति** (७) कपिलमते इष्टापत्तौ कारणव्यापारसन्निधानेन सदा कार्याविर्भावप्रसङ्गदूषणमाह–**इष्टत्वादित्यादिना** (७) व्यापारस्य व्यापारिणो भेदाभेदयोर्यो दोषस्तमवस्थाया अप्यवस्थावतस्तयोरतिदिशति। **एतेनावस्था प्रत्युक्तेत्यादि,** (१४८–२–१) परिणामेऽप्येनमतिदेशमाह–**परि-**

णामेऽप्येष पर्यनुयोगस्तुल्य इति (१४८–२–२) अवस्था कालकृतो विशेषः, परिणामस्तु सत एव प्रदेशपरिणामादिनान्यथाभाव इति विशेषः। तस्य (५) प्रधानस्य, तत्कार्यत्वेन (५) उपकारकार्यत्वेन, उपकार्यत्वस्य कार्यत्वविशेषत्वादित्यर्थः। भाष्ये 'सर्वसमानमिति' (५) परिणामभेदाभेदपक्षदूषणमित्यर्थः, तदाह वृत्तिकृत्। 'यावन्तो हीत्यादि' (६)॥ तस्यामिति ( ) तस्यां (८) प्रधानस्योपकाराणां वाऽनवस्थायाम्, भोग्यस्य प्रकृतिमहदादेरभावे, पुंसो भोक्तृत्वाभावादभावः स्यात् (८)। तस्य (९) भोक्तृत्वस्य, तल्लक्षणत्वात् (९) भोग्यसद्भावनियतत्वात्, अवस्थानाभावात् (९) स्वरूपासिद्धेः। तर्हि तस्य कारणादात्मलाभोऽभ्युपगन्तव्य इति (१४९–१–३), तस्याविर्भावस्य, न चेदेवं तदाविर्भावस्य नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा स्यादित्यर्थः। आत्मलाभे (४) उत्पत्तौ, तदेवं सांख्यमतस्यायुक्तत्वात् शब्दव्यङ्ग्यत्वसमर्थनाय तदनुसरणं मीमांसकस्य न न्याय्यमित्युपसंहरति 'ततो नेत्यादि' (७)॥ किं कृतमश्रवणमिति (८) शब्दत स्सन्निकर्षादेःश्रावणकारणस्याखण्डस्य सत्त्वादित्यर्थः। 'तिरोधायकस्येत्यादि (९)' प्रौढिवादोऽयम्॥ वस्तुतः शब्दश्रावणप्रतिबन्धकवायुविशेषकल्पनागौरवमेव दूषणं बोध्यम्। किञ्चैवं कत्वखत्वादिप्रकारकप्रत्यक्षप्रतिबन्धकतावच्छेदिका अपि जातयो वायुसंयोगेषु कल्पनीयास्ताश्च परस्परं कोलाहलस्थलीयवायुसंयोगे संकीर्यन्ते, तदा कत्वाद्येकतरप्रकारकप्रत्यक्षस्याप्यभावादिति जातिरूपो विशेषो दुर्वचः, तत्तद्वायूनामन्यतमत्वादिना प्रतिबन्धकत्वे चोदासीनप्रवेशाप्रवेशाभ्यां विनिगमनाविरह इति न किञ्चिदेतत्। ननु कोलाहले कत्वादिग्रहवारणाय दोषाभावानां कत्वादिप्रत्यक्षे हेतुत्वमपेक्ष्य विजातीयनिमित्तपवनसंयोगहेतुत्वमेव ज्यायः। तथा च विनाशानभ्युपगमेऽपि शब्दस्य विजातीयनिमित्तपवनसंयोगाभावकृतमश्रवणं भविष्यतीति नानुपपत्तिः, प्रत्युत शब्दप्रागभावध्वं-

साकल्पनलाघवेनोपपत्तिरेवेत्याशंक्याह–' ननु चेत्यादि ' (१३) तदश्रुतिरपीत्यत्र नैकान्तत इति योजनीयम् । तद्विकले सम्भवादिति ( ) सहकारिकारणविकलेऽश्रुतेः सम्भवादित्यर्थः । तर्हि किमयमित्यादि (१४) ॥ योग्यशब्दसत्त्वे इन्द्रियमनोव्यापारसाद्गुण्ये तत् प्रत्यक्षं स्यादेव निमित्तपवनसंयोगस्य घ्राणसन्निधानमात्रेण गन्ध इव शब्दे कर्णसन्निधानमात्रेणोपकारित्वात् विशिष्य शब्दप्रत्यक्षहेतुत्वे मानाभावादित्यर्थः । अत एवात्र नैयायिको मीमांसकं पर्यनुयुङ्क्ते, त्वया चैत्रादेः स्वीयमैत्रशुकादिककारादेः प्रत्यक्षे चैत्रादिकर्णावच्छिन्नानां विजातीयसंयोगानां कारणत्वं वाच्यमित्यतिगौरवं मम त्ववच्छेदकतया चैत्रादिककारादौ विजातीयवायुसंयोगो हेतुस्तत्पुरुषीयनिखिलशब्दप्रत्यक्षे च तत्पुरुषीयकर्णावच्छिन्नसमवाय इति कथं न लाघवमिति, अस्मन्मते तु बाह्यो वायुः प्रापको ननु कारको व्यञ्जको वेति तदुपनीतशब्दस्य श्रोत्रेण संयोगप्रत्यासत्त्यैव ग्रहणाच्छब्दविषयकश्रावणे श्रोत्रसंयोगत्वेनैकहेतुतयैव सकलोपपत्तावतिलाघवमिति श्रद्धेयम् । असामर्थ्यखण्डनेऽसामर्थ्यस्य व्यतिरेकाव्यतिरेकचर्चस्तु परिणामचर्चवत्प्राग्वदेव प्राचीनप्रणयानुरोधिभिरनुसन्धेयः । वर्णानां नित्यत्वसर्वगतत्वाभ्युपगमे सङ्कुला श्रुतिः स्यात् क्रमश्रुतिश्च विरुद्ध्येत । कार्यत्वे तु वक्तृश्रोतृविज्ञानयोः क्रमवृत्त्यपेक्षया क्रमोत्पत्तिप्रतिपत्त्योरविरोध इत्याह–किञ्च वर्णा इत्यादिना (१४९–२–५) ततः क्रमोत्पत्तिप्रतिपत्त्योरन्यथानुपपत्त्या न सर्वगता वर्णा नापि नित्या इत्यन्तेन ॥ (१५०–१–५) ननु चैत्रादिककारादिप्रत्यक्षे विजातीयनिमित्तपवनसंयोगहेतुत्वान्नानुपपत्तिरिति चेत्, न, उक्तोत्तरत्वात्, किञ्च शब्दस्याकार्यत्वपक्षे तत्र चैत्रीयत्वादेरेवासिद्धिः, चैत्रजन्यत्वमेव हि चैत्रीयत्वं स्वाश्रयजन्यताविशेषसम्बन्धेन चैत्रत्वमेव वा, एवं च शब्दविशेषाद्वक्तृविशेषानुमानोच्छेदप्रसङ्गः । न च चैत्रवृत्त्यभिव्यक्तिविषयत्वमेव चैत्रीयत्वं,

मैत्रशब्दस्यापि चैत्रकर्णागतस्य चैत्रेणाभिव्यक्तेः। न च चैत्रीयताल्वादिव्यापारजन्याभिव्यक्तिविषयत्वं तत्, शब्दत्वादावतिप्रसङ्गात्, नापि शब्दत्वे सतीतिविशेषणादनतिप्रसङ्गः, एतावदप्रतिसन्धानेऽपि चैत्रीयोऽयं शब्द इत्यनुभवात्, न चैवं चैत्रीयत्वं जातिरेव न तु चैत्रजन्यत्वादिकमपीति तद्विषयोऽनुभवो न शब्दकार्यत्वपक्षपातीति वाच्यम्। तादृशजातेरपि चैत्रजन्यतावच्छेदकतयैव सिद्धौ तस्य तथात्वादिति दिग्। नन्वनुमानाद्वर्णनित्यत्वं सेत्स्यतीत्याशङ्कते 'ननु चेत्यादि' (५) तद्दूषयति भाष्यकृत् 'क्षणिकेष्वेवेति (६)' नर्त्तक्याः कर्णाङ्गहारादिषु क्षणभङ्गुरेष्वेव तदेवेदं करणं स एवायमङ्गहार इति प्रत्यभिज्ञानदर्शनान्नित्यत्वविरुद्धक्षणिकत्वेन व्याप्तं प्रत्यभिज्ञानं नित्यत्वे साध्ये विरुद्धं सादृश्यदोषादनेकत्रैवैकत्वविषयकत्वेन तत् प्रवृत्तिनियमादित्यर्थः। ऋजुसूत्रनयमाश्रित्य चेदं मीमांसकं प्रति दूषणमिति स्याद्वादिनो नापसिद्धान्तो, नानानयमये भगवत्प्रवचने क्वचित् कस्यचिदाश्रयणे दोषाभावादिति मन्तव्यम्। दोषस्थलान्तरमाह-' एतेनेति ' (६) क्षणिकाभिबुद्धिभिर्हेतोर्व्यभिचार इत्यर्थः, इत्यभिधानादिति (७) शास्त्रान्तर इति शेषः। विरुद्धत्वेऽपि व्यभिचाराभिधानं च दोषसाङ्कर्यसम्भवादविरुद्धम्, बुद्धिकर्मणोरप्येकत्वान्न विरुद्धत्वमित्याशङ्कते–'नन्विति' (७)॥ अतिप्रसङ्गान्नेदमुक्तं युक्तमिति परिहरति क्रियैकत्वेऽपीत्यादि (८)॥ शब्दानित्यत्वमुपसंहरति, तदयमिति (१३)॥ सर्ववर्णैकत्वनिरासादकारादिवर्णस्यैकत्वमपि नास्तीत्याह–'तदेवमिति (१३)॥' देशभेदः शुकसारिकाद्याश्रयभेदात्, स्वभावभेदश्च तारमन्दादिभेदाद्द्रष्टव्यः। 'युगपत्प्रतिनियतेति' (१५०-२-४) ननु तारत्वादयो वायुगता एवाकारादावारोप्यन्त इति न तेऽकारादिभेदकाः स्युरिति चेन्मैवं, एवं सत्यत्वादेरपि वायुधर्मत्वापत्तौ शब्दस्यैक्यप्रसङ्गात्तद्वदेव शब्दस्यापि वायुधर्मत्वापत्तौ शब्दमात्रस्य दत्तजलाञ्जलित्वप्रस-

ङ्गाच। अस्तु तर्हि तारमन्दशुकसारिकाचैत्रादिप्रभवभेदेनैव शब्दनानात्वं तारादिस्त्वकार एक एवेति चेत्तत्राह–स एवायमकार इतीत्यादि, (४)॥ 'नहीति' (६) नहि कथञ्चित्केनचित्मादृश्येन क्वचित्पर्याये प्रत्यवमर्शे एकत्वप्रत्ययो न स्यात्, किन्तु स्यादेव, तथा च सर्वस्यैकत्वं स्याद्वर्णवदित्यर्थः। वर्णैकत्वे विशेषबुद्धेः प्रकारः कः स्यात्तत्राह–'तच्छेषेत्यादि' (६) तच्छेषविशेषा वर्णसम्बन्धिनोऽप्रधाना विशेषाः कल्पिता अकारादयस्तद्बुद्धेस्तद्वासनायाः, तदिदमङ्गहाराद्येकत्वेऽपि तुल्यमित्याह–'सर्वस्याङ्गहारादेरपीत्यादि' (६)॥ प्रयत्नानन्तरीयको प्रयत्नजन्यः, शब्दस्य कार्यत्वे पुद्गलपर्यायत्वेनानिष्टापत्तिमाशङ्कते 'ननु शब्दस्येत्यादि' (९) ॥ आपाद्यापादकयोर्व्याप्यभावान्नेयमित्युत्तरयति नेत्यादिना (१०) उभयत्र दर्शनाभावप्रयोजकतौल्यमुपदर्शयति–गन्धपरमाणूनामित्यादिना (१०)॥ जात्याऽदृश्यत्वमनियतमिति पुनराशङ्क्य प्रतिबन्द्योत्तरयितुमाह–अथ मतमेतदित्यादिना (११) ॥ प्रतिबन्दिरनुत्तरमिति। महत्त्वसमानाधिकरणोद्भूतरूपाभावमदृश्यत्वप्रयोजकमुभयत्र तुल्यवदुपदर्शयति–अथ तस्येत्यादिना, ( ) प्रसङ्गान्तरमपि गन्धद्रव्यदृष्टान्तेनैव निराकरोति–शब्दपरमाणूनामित्यादिना (१५१–१–३), शब्दपरमाणुप्रतिघातोऽपीति (१४), कुड्यादिनास्त्येवेति पूर्वेण योजनीयम् । 'गन्धपरमाणूनामपीति' (१३) अत्राप्यागमनादीनामदृष्टानां परिकल्पनाप्रसङ्ग इति सम्बन्धनीयम्। शब्दपुद्गलानामपि (४) इत्यत्रापि प्रतिपत्तिविशेषान्यथानुपपत्त्येत्यादि प्राक्तनं योजनीयम्। नन्वेवं पुद्गलपर्यायत्वेन पौरुषेयत्वेन च वर्णस्य नित्यत्वं माभूत्तदानुपूर्वी त्वपौरुषेयी नित्या भविष्यतीत्याद्याशङ्कते–'स्यादाकूतमिति' (१५१–२–४)॥ आनुपूर्व्या वर्णाव्यतिरिक्तत्वात्तस्या अपि न नित्यत्वमित्यभिप्रायवानाह–तदप्ययुक्तमिति (६)॥ एतेन वैयाकर-

णानां नित्यस्फोटवादोऽपि निरस्तः । आनुपूर्वीनिरासेन निष्कृष्टतद्रूपवाक्यस्फोटस्यापि निरासात्, अन्येषां तदभियुक्तैरप्यनादृतत्वात्, तथाहि–" स्फोटवादमपवादवर्जितं, सत्वरं प्रकटयिष्यता मया । शाब्दिकप्रणयकर्मकार्मणं, प्रक्रिया पटुधिया प्रदर्श्यते ॥१॥ वर्ण १ पद २ वाक्य ३ स्फोटाः, पदवाक्यगावखण्डौ ५ तौ । जातिस्फोटत्रयमित्यष्टौ स्फोटाः ८ स्मृतास्तदृज्ञैः ॥२॥ तत्र १ वर्णस्फोटः, पचति राम इत्यादि प्रयुज्यमाने साधुशब्देऽन्तर्गतानां तिब्विसर्गादीनां वाचकत्वादिना सिद्ध्यति, ये त्वाहुः प्रयोगान्तर्गतास्तिबादयो न वाचकास्तेषां बहुत्वेन शक्त्यानन्त्यापत्तेः, एधांचक्रे अह्लेत्यादावादेशभूतलुगादेरभावरूपस्य बोधकत्वासम्भवाच्च । किन्तु तैः स्मृता लकारादयः स्वादयश्च वाचकाः, लत्वस्य जातिरूपतया शक्यतावच्छेदकत्वौचित्यादव्यभिचाराच्च, आदेशानां तु भिन्नतया परस्परव्यभिचारित्वात्, लः कर्मणीत्याद्यनुशासनानुगुण्याच्च, न ह्यादेशेष्वर्थबोधकमनुशासनमुपलभामह इति, तान् प्रत्युच्यते व्यवस्थातः प्रयोगान्तर्गता वाचका न तु स्मृताः, पचतीत्यादौ लकारमविदुषां बोधात्, न च तेषां तिङ्विषये शक्तिभ्रमाद्बोधः, तस्य भ्रमत्वे मानाभावात्, आदेशिनामपि तत्तद्वैयाकरणैः स्वेच्छानुरोधेन भिन्नभिन्नानामभ्युपगमात्, कः शक्तः को नेति व्यवस्थानापत्तेश्च, सर्वेषां शक्तत्वे गौरवव्यभिचारौ दुरुद्धरौ । आदेशानां प्रयोगान्तर्गततया नियतत्वात् युक्तं तेषां शक्तत्वं तथा चादेशिस्मरणकल्पना नेति लाघवं, व्यवहृतेरपि, व्यवहारस्तावच्छक्तिग्राहकेषु मुख्यः । स च श्रूयमाणतिङादिष्वेवेति त एव वाचका इत्यर्थः । तद्धेतुन्यायतोऽपि लकारस्य बोधकत्वे मूल इत्यतोऽपि बोधः स्यात्, तादृशबोधे पचतीति समभिव्याहारोऽपि कारणमिति चेत्, तर्ह्यावश्यकत्वादस्तु तादृशसमभिव्याहारस्यैव वाचकत्वशक्तिः, अन्यथा लकारस्य वाचकत्वं समभिव्याहारस्य

कारणत्वं चेत्युभयं कल्प्यमिति गौरवं स्यात् । तथा च तादृशवर्णसमभिव्याहारस्तादृशसमभिव्याहृता वर्णा वेत्यत्र विनिगमकाभावात् प्रयोगान्तर्गता वर्णा वाचकाः सिद्ध्यन्ति, कृत्तिङोः कर्तृभावनावाचकत्वव्यवस्थातोऽपि तेषां तत्त्वसिद्धिः, आदेशानां वाचकत्व एव हि तिङ्त्वेन भावनायामानत्वादिना कर्त्तरि शक्तिरित्युपपद्यते विभागः, न च शानजादौ कृतिर्लकारार्थः, आश्रयः शानजर्थ इत्यस्तु " कर्त्तरि कृत् " इत्यनुशासनादिति शङ्क्यम् । स्थान्यर्थेन निराकांक्षतया शानजादौ कर्त्तरीत्यस्याप्रवृत्तेः, अन्यथा घञादावपि तत्प्रवर्त्तेत, न च देवदत्तः पचमान इति सामानाधिकरण्यानुरोधाच्छानचः कर्त्ता वाच्यः स्यादिति वाच्यम्, पचतितरां मैत्रः पचतिकल्पं मैत्र इत्यादिष्वपि तद्दर्शनादिति दिग् १ ॥ एवं वर्णस्फोटे सिद्धे पदस्फोटोऽपि २ सिद्ध एव, समभिव्याहृतवर्णानां वाचकत्वे सिद्धे तादृशवर्णसमभिव्याहाररूपपदस्य वाचकतायाः सिद्धिध्रौव्यात्, प्रतिवर्णमर्थस्मरणस्यानुभवविरुद्धत्वात्, प्रत्येकवर्णानामर्थवत्त्वेन प्रातिपदिकत्वापत्तौ " नलोपः प्रातिपदिकांतस्य " इत्यादिभिर्धनं वनमित्यादौ नलोपापत्तेश्च, एतच्चरमवर्ण एव वाचकत्वं शक्तिकल्पनौचित्यात्, तस्या व्यासज्यवृत्तित्वे मानाभावात्, पूर्वपूर्ववर्णानुभवजन्यसंस्काराश्चरमेणार्थधीजनने सहकारिण इति न तन्मात्रोच्चारणादर्थधीः, " सुप्तिङन्तं पदम् " इति पक्षेऽपि घटेनेत्यादौ प्रकृतिप्रत्ययविभागस्य वस्नसादिसमुदायादेश इव दुर्ज्ञानत्वात्पदस्फोटः स्वीकार्यः २ ॥ एवं हरेव विष्णो वेत्यादौ प्रत्येकपदज्ञानेऽपि समुदायशक्तिज्ञानाच्छाब्दबोधोदयाद्वाक्यस्फोटोऽपि ३ सिद्ध एव । वस्तुतः पदैः पदार्थावबोधो वाक्येन वाक्यार्थावबोध इति पदार्थशक्तिः पदेष्विव वाक्यार्थशक्तिर्वाक्येऽभ्युपेयेति पदस्फोटवाक्यस्फोटौ व्यवस्थितौ । अन्यथा घटः कर्मत्वमानयनं कृतिरित्यादौ विपरीतव्युत्पत्तिरहितस्यापि बोधप्रसङ्गात्, तत्रैव घटकर्मकमानयनमिति बोधे घटार्थकप्रातिपदिकोत्तरकर्मत्ववाचकविभ-

क्तेस्तत आनयनार्थकधातोस्तत आख्यातस्य समभिव्याहारः कारणमिति कार्यकारणभावज्ञानमपि हेतुरिति चेत्, तर्हि सिद्धो वाक्यस्फोटः ३, घटादिपदार्थबोधे बोधकतारूपपदशक्तिज्ञानस्येव विशिष्टवाक्यार्थबोधे पदसमभिव्याहाररूपवाक्यनिष्ठबोधकतारूपवाक्यशक्तिज्ञानस्यापि हेतुत्वकल्पनात्, अर्थोपस्थापकज्ञानविषयशब्दवृत्तिज्ञानकारणत्वस्यैव शक्तित्वात् । वाक्यार्थस्यापूर्वत्वात् कथं तत्र शक्तिग्रह इति चेत्, अन्विताभिधानवादे पदेऽपि कथम्, अन्वयस्यापूर्वत्वात् । यदि च पदशक्तिः पदार्थांशे ज्ञाताऽन्वयांशे चाज्ञातोपयुज्यत इति कुब्जशक्तिवादः, तदा ममापि वाक्यशक्तिरज्ञातैवोपयुज्यत इति वादाभ्युपगमस्तुल्यः, अन्विते पदशक्तिग्रहो वृद्धव्यवहारदर्शनसहकृतेन मनसा चेत्, वाक्येऽपि तुल्यमेतत्, अत एव सर्वत्र वाक्यार्थो लक्ष्य इति भाव्यः । वस्तुतः समुदितार्थे विशिष्टवाक्यस्यैव प्रथमं शक्तिग्रहस्तदनन्तरामवापोद्वापाभ्यां प्रत्येकं तद्ग्रह इत्युपजीव्यत्वाद्वाक्यस्फोट आश्रयणीयः। न च पदत्वं वाक्यत्वं वा दुर्ग्रहम्, चरमवर्णप्रत्यक्षसमयेऽव्यवहितोत्तरत्वसम्बन्धेनोपस्थितपूर्ववर्णवत्त्वरूपस्य तस्य सुग्रहत्वात्, वाक्यं पदं चाखण्डमेव, न तु वर्णसमूहोऽनन्तवर्णकल्पने मानाभावात्तत्तद्वर्णोत्पादकत्वाभिमतवायुसंयोगनिष्ठं वैजात्यमादायैव ककारो गकार इत्यादिप्रतीतिवैलक्षण्यसम्भवात्, उक्तं हि देवताधिकरणे भामत्यां, तारत्वादि वायुनिष्ठं वर्णेष्वारोप्यत इति। न चैवं वाचकोऽपि वायुसंयोग एव स्यात्, प्रत्यक्षोपलभ्यककारादेरेव तत्त्वस्यानुभविकत्वात् । तथा च तदेवेदं पदं तदेवेदं वाक्यमित्यादिधियाऽखण्डस्फोटः सिद्ध्यति । एतेन गौरित्यादौ गकारौकारविसर्गादिव्यतिरेकेण स्फोटाननुभवात् श्रूयमाणवर्णानामेव वाचकत्वमित्यपास्तम् । तेषां स्फोटातिरिक्तत्वाभावात्, उक्तवायुसंयोगानां मध्ये केषांचिद् गत्वेन केषांचिदौत्वेन केषांचिद्विसर्गत्वेनाभिव्यञ्जकत्वान्नानुपपत्तिः, अव्यवहितोत्तरत्वसम्बन्धेन घवत्त्वस्य टकारे ग्रहादेतादृशपदज्ञानकारणताया

अविवादात्, परं त्वव्यवहितोत्तरत्वं स्वज्ञानाधिकरणक्षणोत्पत्तिकज्ञानविषयत्वं वाच्यम्, अत एव वज्ञानानन्तरज्ञानविषयत्वरूपा टस्यानुपूर्वीत्यादिर्नैयायिकवृद्धानां प्रवादः, एतेन पर्यायस्थलेष्वेक एव स्फोटो नाना वा ? नाद्यो घटपदे गृहीतशक्तिकस्य कलशपदाद् बोधप्रसङ्गात्, न च तत्पर्यायाभिव्यक्तशक्तिग्रहस्तत्पर्यायश्रवणेऽर्थधीहेतुरिति वाच्यम्। एवं प्रतिपर्यायं शक्तिग्रहध्रौव्येण तत्तत्पर्यायशक्तिग्रहहेतुताया उचितत्वात् तथा सति शक्तिग्रहत्वेनैव हेतुत्वे लाघवात्। अन्यथा तत्पर्यायाभिव्यक्तशक्तिग्रहत्वेन हेतुत्वे गौरवात्। न द्वितीयोऽनन्तपदार्थानां तेषां शक्तिं चापेक्ष्य क्लृप्तवर्णेष्वेव शक्तिकल्पनाया लघुत्वादिति परिमलोक्तमपास्तम्। पर्यायेष्वनेकशक्तिस्वीकारस्य सर्वसिद्धत्वात् तदवच्छेदकानुपूर्व्याश्चोपपादितत्वात्, शब्दकौस्तुभे तु वर्णमालायां पदमिति प्रतीतेर्वर्णातिरिक्त एव स्फोटोऽन्यथा कपालातिरिक्तघटासिद्धिप्रसङ्गादिस्युक्तम्, नन्वेवं पदस्याखण्डत्वे शास्त्राप्रामाण्यप्रसङ्गस्तस्य प्रकृतिप्रत्ययाभ्यां पदव्युत्पादनमात्रार्थत्वादिति चेत्, न। वास्तवब्रह्मबोधनाय वेदान्ते कोशपञ्चकव्युत्पादनवद्वास्तवस्फोटबोधनाय व्याकरणे प्रकृतिप्रत्ययादिव्युत्पादनोपपत्तेः। न च प्रत्यक्षस्य स्फोटस्य ग्रहे किं शास्त्रोपायापेक्षयापीति वाच्यम्। उपायस्योपायान्तरादूषकत्वात्, तथा च व्याकरणाभ्यासजन्यज्ञाने वैजात्यं कल्प्यते, मन्त्रजन्यमिवार्थस्मरणे, वेदान्तजन्यमिव ब्रह्मज्ञाने, तस्य च ज्ञानस्य यज्ञादीनामन्तःकरणशुद्धाविव शरीरादिशुद्धावुपयोगः, साक्षात्परम्परया वा स्वर्गमोक्षादिहेतुत्वं च। तदुक्तं वाक्यपदीये–"तद् द्वारमपवर्गस्य, वाङ्मलानां चिकित्सितं। पवित्रं सर्वविद्याना–मधिविद्यं प्रकाशते ॥ १ ॥ इदमाद्यं पदस्थानं, सिद्धिसोपानपर्वणाम्। इयमामोक्षमाणाना–मजिह्मा राजपद्धतिः ॥२॥" इति। न चालीकया प्रकृतिप्रत्ययकल्पनया कथं वास्तवस्फोटबोध इति वाच्यं, रेखागवयन्यायाश्रयणात्। अथ स्फोटस्य वर्णानां च नित्यतया ककारोत्पत्त्यादिप्रत्ययः कथमिति चेत्,

उदात्तत्वादेरिव कत्वादेरुपाधेः कल्पितस्याश्रयणात्, वस्तुतः स एवायमिति प्रत्यभिज्ञाने गादेर्नित्यत्वात्, न च गत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदाभावस्तद्विषयो, व्यक्त्यंशाभेदस्यापि भासमानस्य विना बाधकं त्यागायोगात्। न चोत्पत्तिप्रतीतिर्बाधिका, प्रागसत्त्वे सति सत्त्वरूपाया उत्पत्तेर्वर्णेष्वनुभवविरुद्धत्वात्, अत एव वर्णमुच्चारयतीति प्रत्ययो, न तूत्पादयतीति, उच्चरितत्वं च ताल्वोष्ठसंयोगादिजन्याभिव्यक्तिविशिष्टत्वम्, किञ्च व्यञ्जकध्वनिनिष्ठोत्पत्त्यादेः परम्परया वर्णनिष्ठत्वविषयत्वेनाप्युपपत्तेर्न साऽतिरिक्तवर्णसाधिका, न च वर्णस्थले नियमतो ध्वनिसत्त्वे मानाभावस्तदुत्पादकशंखाद्यभावेन तदसम्भवश्चेति वाच्यम्। ककाराद्युच्चारणस्थले तत्तत्स्थानस्य जिह्वयेपदन्तरपाते वर्णानुत्पत्तेर्ध्वन्युत्पत्तेश्च दर्शनात्, जिह्वाभिघातजवायुकण्ठसंयोगादेर्ध्वनिजनकत्वकल्पनात्तस्य च वर्णोत्पत्तिस्थलेऽपि सत्त्वात्तत्रैवाप्रामाणिकप्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावकल्पने गौरवादिति सिद्धावखण्डपदवाक्यस्फोटौ ४–६। जातिस्फोटा यथा–वर्णास्तावदावश्यकाः, तदनादरेण स्फोटाभ्युपगमे सोऽयं गकारो यः पूर्वं श्रुतइत्यपि स्यात्, न स्याच्च गकारोऽयं न हकार इति, स्फोटस्यैकत्वात्। किञ्च स्फोटे गत्वाद्यभ्युपेयं न वा? आद्ये तदेव गकारोऽस्तु, वर्णनित्यतावादिभिरितिरिक्तगत्वानङ्गीकारात्, तथाचातिरिक्तस्फोटकल्पन एव गौरवम्। अन्त्ये गकारादिप्रतीतिविरोधः, गत्वारोपे मानाभावादिति कृतं स्फोटेन, तस्मात् सन्त्येव वर्णाः। परन्तु न वाचकाः, आकृत्यधिकरणन्यायेन जातेरेव वाच्यत्ववद्वाचकत्वस्यापि युक्तत्वाच्च। इदं हरिपदमित्यनुगतप्रतीत्या हर्युपस्थितित्वावच्छिन्ने हरिपदज्ञानत्वेन हेतुत्वात्तदवच्छेदकतया च जातिविशेषस्यावश्यकल्प्यत्वात्। न च वर्णानुपूर्व्यैव प्रतीत्यवच्छेदकत्वयोर्निर्वाहः, घटत्वादेरपि संयोगविशेषविशिष्टमृदाकारादिभिश्चान्यथासिद्ध्यापत्तेः, तस्मात् सा जातिरेव वाचिका, तादात्म्येन तदवच्छेदिका च, न च जातेः प्रत्येकं

वर्णेष्वपि सत्त्वात् प्रत्येकतोऽर्थबोधापत्तिः । अनेकव्यक्त्यभिव्यङ्ग्यजातेरेव स्फोटत्वेनाभिधानात्, वर्णस्फोटपक्षे कथितदोपसत्त्वेऽपि पदवाक्यपक्षयोर्नायम्, तस्या व्यासज्यवृत्तित्वस्य धर्मिग्राहकमानसिद्धत्वादिति निष्कर्षः । ननु का सा जातिरिति चेत्, अत्राहुः—" सत्यासत्यौ तु यौ भागौ प्रतिभावं व्यवस्थितौ ॥ सत्यं यत्तत्र सा जातिरसत्या व्यक्तयो मताः ॥ १ ॥ " इति । अत्र ब्रूमः ॥ अष्टसु स्फोटेषु तावन्निष्कृष्टो जातिरूपवाक्यस्फोट एव ज्यायस्तया वैयाकरणैरिष्यते, स चानेकव्यक्त्यभिव्यङ्ग्या जातिः, तत्त्वं चानेकव्यक्तिज्ञानजन्यज्ञानविषयत्वम्, तथा चानेकव्यक्तिज्ञानैरेवार्थबुद्ध्युपपत्तौ किमन्तर्गडुना जातिस्फोटेन, किञ्च यथाकथञ्चिदनुगमार्थं जातिकल्पनेऽखण्डोपाध्यादेरुच्छेदापत्तिरिति वर्णानुपूर्व्येव प्रतीत्यवच्छेदकत्वयोर्निर्वाह उचितः । तथैवान्वयव्यतिरेकदर्शनात् । सा च वर्णानतिरिक्तेति को वातिरिक्तः स्फोटः । न च वर्णात्मनापि नित्यत्वं युक्तम्, तदुत्पत्त्यादिप्रतीतेः सार्वजनीनत्वात्, वर्णमुच्चारयति न तूत्पादयतीति च पटं वयति न तूत्पादयतीत्यनेन तुल्यम्, अभिव्यक्तिविषयत्वमप्युत्पत्तेर्द्रव्यार्थनयेन सर्वत्रातिप्रसञ्जकम्, पर्यायार्थिकनये चाभिव्यक्त्यंशस्य गौरवेण त्यागाच्छुद्धोत्पत्तिग्रहोऽपि सर्वत्र तुल्यः, ज्ञायमानस्य हेतोर्लाघवेनैकस्य स्फोटत्वे च धूमपरामर्शादिस्थलेऽप्येकः स्फोटः स्यादिति न किञ्चिदेतत् । वर्णमालायां पदमिति प्रतीत्या वर्णातिरिक्तस्फोटं साधयन् दीक्षितस्त्वशिक्षितालापकृदेव, एवं सत्यधिष्ठानस्य सत्यतया वर्णमालायाः सत्यत्वस्य तत्राध्यस्तस्य स्फोटस्य घटवदेवासत्त्वस्य चापत्तेः । न च वर्णाश्रितत्वेऽपि स्फोटस्य गोत्वादिवज्जातिरूपत्वेन नित्यत्वात् सत्यत्वमिति वाच्यम् । ब्रह्मदर्शने गोत्वादिजातेरप्यसत्त्वादनित्यत्वम्, आत्मैवेदं सर्वमिति श्रुतिवचनादिति कैयटग्रन्थपर्यालोचनतया गोत्वादिवज्जातिरूपस्यापि स्फोटस्याश्रितत्वेनानित्यत्वादसत्यत्वापत्तेः, तत्तद्व्यक्तिविशिष्टं ब्रह्मैव जातिस्फोट

इति स्वीकारे च घटादावपि सत्यभागस्य जातेः स्फोट इति नाम कुतो न स्वीक्रियते, उपाधिरूपविशेषणाभावे सर्वत्र शुद्धब्रह्मपर्यवसानाविशेषात्, पर्यायार्थनयव्युत्क्रान्तार्थग्राहिणो द्रव्यार्थिकस्यापश्चिमविकल्पनिर्वचनत्वेन तत्र शब्दब्रह्मत्वमर्थब्रह्मत्वं वेति पक्षपातस्य निर्मूलत्वात् सप्तभङ्गीनये कथञ्चिदनिर्वाच्यत्वस्य विचारजन्यनिर्विकल्पकज्ञानमादायैवाविरोधात्, एतेन "इत्थं निष्कृष्यमाणं यत्, शब्दतत्त्वं निरञ्जनम्। ब्रह्मैवेत्यक्षरं प्राहु–स्तस्मै पूर्णात्मने नमः ॥१॥" इति व्याख्यातम्, अर्थविनिर्मुक्तस्य ज्ञानस्येवाक्षरस्याप्यभावात्, अनन्तधर्मकत्वेऽप्यक्षरत्वस्याद्वयत्वस्य चातद्व्यावृत्त्या नयविशेषेणोपपत्तेः। प्रमाणतयाश्रयणेऽपि मनोमयत्ववच्छब्दमयत्वस्य ब्रह्मण्यसिद्धेः, आत्मभावसमवस्थानरूपस्य परब्रह्मण एवानेकान्तसिद्धान्तनीत्या सकलकलङ्करहितस्य विपश्चिताश्रयणीयत्वादिति शिवम्। "त्रयो व्यक्तिस्फोटा अविचलितपर्यायविषया, अखण्डौ द्वौ स्फोटौ तदनुगतसद्द्रव्यविषयौ ॥ न तिर्यक्सामान्यात्त्रयमिह विभिन्नं च तदयं, नयानां कल्लोलः कलयति चमत्कारमभितः ॥ १ ॥ अमूदृग्भङ्गानां निबिडतरजालं नयकृतं, प्रयाति च्छित्त्वैव प्रथितभजनास्त्रेण सुकृती। पतत्युच्चैर्वैयाकरणहरिणस्तत्र विवशो, न सिद्धिः स्याद्वादादिति य इह सूत्रं विमृशति ॥ २ ॥" स्फोटवादः सम्पूर्णः ॥ १० ॥ अन्यत्रेति [इत्यत्रेति] (१५१–२–७) विवृणोति।

अथेतरेतराभावात्यन्ताभावानभ्युपगमवादिनां दूषणमुद्भावयिषवः प्राहुराचार्याः।—

सर्वात्मकं तदेकं स्यादन्यापोहव्यतिक्रमे। अन्यत्र समवाये न व्यपदिश्येत सर्वथा ॥ ११ ॥

तदित्यनेन सर्वप्रवादिनामिष्टं तत्त्वं परामृश्यते। तदेकं सर्वात्मकं स्यात्, अनिष्टात्मनापि भावादन्यापोहस्य व्यतिक्रमे। स्व-

समवायिनः समवाय्यन्तरे समवायोऽन्यत्र समवायः, अत्यन्ताभावव्यतिक्रमः । तस्मिन् सर्वस्येष्टं तत्त्वं सर्वथा न व्यपदिश्येत, स्वेष्टात्मना व्यपदेशेऽनिष्टात्मनोपि व्यपदेशप्रसङ्गात्, तेनाव्यपदेशे स्वेष्टात्मनाप्यव्यपदेशापत्तेः स्वयमिष्टानिष्टात्मनो कालत्रयेपि विशेषानुपगमात् । कः पुनरन्यापोहो नाम ? स्वभावान्तरात्स्वभावव्यावृत्तिरन्यापोहः । स्वभावान्तरादिति वचनान्न स्वस्वभावाद्व्यावृत्तिरन्यापोहः, तस्याः स्वापोहत्वप्रसङ्गात् । अथापि प्रागभावप्रध्वंसाभावयोरन्यापोहत्वप्रसक्तिरिति चेत्, न, कार्यद्रव्यात्पूर्वोत्तरपरिणामयोः स्वभावान्तरत्वेपि तस्य तद्व्यावृत्तेर्विशिष्टत्वात् । यदभावे हि नियमतः कार्यस्योत्पत्तिः स प्रागभावः, यद्भावे च कार्यस्य नियता विपत्तिः स प्रध्वंसः । न चेतरेतराभावस्याभावे भावे च कार्यस्योत्पत्तिर्विपत्तिर्वा, जलस्याभावेप्यनलस्यानुत्पत्तेः क्वचित्तद्भावे च तस्याऽविपत्तेः । क्वचिदन्धकारस्याभावे रूपज्ञानोत्पत्तेः स प्रागभावस्तस्य स्यादिति न मन्तव्यम्, नियमग्रहणात् केषाञ्चिदन्धकारेपि रूपज्ञानोत्पत्तेः । तत एव नान्धकार रूपज्ञानस्य प्रध्वंसः, तद्भावे नियमतस्तद्विपत्त्यप्रतीतेः । ततः सूक्तमन्यापोहलक्षणं स्वभावान्तरात्स्वभावव्यावृत्तिरन्यापोह इति, तस्य कालत्रयापेक्षेऽत्यन्ताभावेप्यभावादतिव्याप्त्ययोगात् । न हि घटपटयोरितरेतराभावः कालत्रयापेक्षः, कदाचित्पटस्यापि घटत्वपरिणामसंभवात्, तथा परिणामकारणसाकल्ये तदविरोधात्, पुद्गलपरिणामानियमदर्शनात् । न चैवं चेतनाचेतनयोः कदाचित्तादात्म्यपरिणामः, तत्त्वविरोधात् । नन्वितरेतराभावस्य व्यतिक्रमे चार्वाकस्य पृथिवीतत्त्वं सकलजलाद्यात्मकमनुपज्यता, साङ्ख्यस्य च महदादिपरिणामात्मकमशेषतस्तदस्तु । सौगताना तु विज्ञानमात्रमुपयता किं किमात्मकं स्यादिति कश्चित्सोपि न विपश्चित् । सौगतानामपि हि संविदो ग्राह्याकारात्कथञ्चिद्व्यावृत्तावनेकान्तसिद्धिरन्यथा संबन्धासिद्धिः, सर्वथा व्यावृत्तौ संविद्ग्राह्याकारयोरुपकार्योपकारकभावानभ्युपगमात्संबन्धान्तराभावात् । अव्यावृत्तावन्यतरस्वभावहानेर्न किञ्चित्स्यात् । संविदो ग्राह्या-

कारेऽनुप्रवेशे ग्राह्याकार एव स्यान्न संविदाकारः । तथा च तस्याप्यभाव', सविदभावे ग्राह्याकारायोगात् । ग्राह्याकारस्य वा सविद्यऽनुप्रवेशे सविदेव, न ग्राह्याकारः स्यात्, कस्यचित्सवेदनमात्रस्य विपयाकारविकलस्यानुपलब्धे' । ननु च ' नान्योनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति तस्या नानुभवोऽपरः । ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात्स्वयं सैव प्रकाशते ॥१॥ ' इति चेन्, न, एवमपि संवित्तेः स्वलक्षणप्रत्यक्षवृत्तावपि संवेद्याकारविवेकस्वभावान्तरानुपलब्धेः स्वभावव्यावृत्तिः स्वभावान्तरात्सिद्धेति कथं तल्लक्षणान्यापोहव्यतिक्रमः सौगतस्य शक्यः कर्तुम् ? चित्रैकज्ञानवादिन. पुनः शवलविषयनिर्भासेपि लोहितादीनां परस्परव्यावृत्तिरभ्युपगमनीया, अन्यथा चित्रप्रतिभासासभवात्तदन्यतमवत्, तदालम्बनस्यापि नीलादेरभेदस्वभावत्वापत्तेर्नीलाद्यन्यतमवत् । प्रतिभासभेदाभावेपि नीलादेर्भेदव्यवस्थितौ न किञ्चिदभिन्नमेकं स्यात्, निरंशस्वलक्षणस्याप्यनेकत्वप्रसक्तेः । ततः पीतादिविषयस्वरूपभेदमन्विच्छता तत्प्रतिभासभेदोऽनेकविज्ञानवदेकचित्रज्ञानेप्येष्टव्यः । तदिष्टौ च स्वभावान्तरात्स्वभावव्यावृत्तिः पारमार्थिकी सिध्यतीति सिद्धस्तल्लक्षणोन्यापोहः । तथा चित्रज्ञानस्य स्वनिर्भासेभ्यो लोहितादिभ्यो विषयस्य च चित्रपटादेः स्वाकारेभ्यो नीलादिभ्यो व्यावृत्तिः सिद्धा । कुतः प्रमाणादिति चेत्, तद्वतस्तेभ्यो व्यावृत्तिः, एकानेकस्वभावत्वाद् घटरूपादिवदित्यनुमानात् । न हि लोहितादिनिर्भासा एव नीलाद्याकारा एव वानेकस्वभावा, न पुनरेकस्वभावं तद्वद्वेदनं वहिर्द्रव्यं चेति शक्यं वक्तुं, यतोऽसिद्धो हेतुः स्यात्, तस्याप्यवाधितप्रतीतिसिद्धत्वात् । अन्यथा द्रव्यमेव स्यान्न रूपादयः । एतेन चित्रज्ञानमेव स्यान्न तल्लोहितादिनिर्भासा इत्युपदर्शितम् । शक्यं हि वक्तुं, स्वभावैकत्वेपि निर्भासवैलक्षण्यं करणसामग्रीभेदमनुविदध्याद्, दूरासन्नेकार्थोपनिबद्धनानादर्शननिर्भासवत् । यथैव हि चित्रपटादिद्रव्यमेकस्वभावमपि चक्षुरादिकरणसामग्रीभेदाद्रूपादि विलक्षणाकारं, तदनुविधानात्, तथा चित्रज्ञानमपि नानान्तःकरणवासनासामग्रीभेदाद्विलक्षणलोहितादिनिर्भासम् । तथानभ्युपगमे प्रतिपुरुषं विषयस्वभावभेदो

वा सामग्रीसंवन्धभेदात् । कचिदेकत्रार्थे दूरस्थपुरुषस्यान्यो हि दूरे देशसामग्रीसम्बन्धोन्यश्चासन्नदेशसामग्रीसंबन्धः । इति दूरासन्नानामेकत्र वस्तुन्युपनिवद्धनानादर्शनाना पुरुषाणा निर्भासभेदात्तद्विषयस्य वस्तुनोपि स्वभावभेदोस्तु, विशेषाभावात्, करणसामग्रीभेदवदूरादिदेशसामग्रीसवन्धभेदस्यापि विपयस्वभावभेदमन्तरेणानुपपत्ते । ततोन्तर्बहिश्च स्वभावभेदैकान्तसिद्धेन कचिदेकत्वव्यवस्था । अन्यथा निर्भासभेदेपि कस्यचिदेकरूपतोपगमे न केवलं रूपादेरभेदः, किं तर्हि ? कस्यचित्क्रमशः सम्बन्ध्यन्तरोपनिपातोपि स्वभावं न भेदयेत्, ततः क्रमवन्त्यपि कार्याणि तत्स्वभावभेदं नानुमापयेयुः, क्रमशः सुखादिकार्यभेदस्य साधनधर्मस्य कचिदेकत्र समानसम्बन्धोपनीतनिर्भासभेदेन व्यभिचारात् । न चैवं शक्यमभ्युपगन्तुम् । ततो यावन्ति सवन्ध्यन्तराणि तावन्तः प्रत्येक भावस्वभावभेदाः परस्परव्यावृत्ताः सह क्रमेण च प्रतिपत्तव्याः।ननु च सर्वथा सम्बन्धासंभवाद्भावाना पारतन्त्र्यानुपपत्ते " पारतन्त्र्यं हि सम्बन्धः सिद्धे का परतन्त्रता । तस्मात् सर्वस्य भावस्य संबन्धो नास्ति तत्त्वतः ॥१॥ "इत्यादिवचनान्न कस्यचित्संबन्ध्यन्तराणि स्वभावभेदनिबन्धनानि सन्तीति चेत्, न, द्रव्यक्षेत्रकालभावप्रत्यासत्तिलक्षणस्य संबन्धस्य निराकर्तुमशक्तेः । न हि कस्यचित्केनचित्साक्षात्परम्परया वा संबन्धो नास्तीति, निरुपाख्यत्वप्रसङ्गात् । गुणगुणिनोः पर्यायतद्वतोश्च साक्षादविष्वग्भावाख्यसमवायासत्त्वे स्वतन्त्रस्य गुणस्य पर्यायस्य वाऽसत्त्वप्रसङ्गात् सकलगुणपर्यायरहितस्य द्रव्यस्याप्यसत्त्वापत्तिरिति तयोर्निरुपाख्यत्वम् । गुणानां पर्यायाणा च परस्परं स्वाश्रयैकद्रव्यसमवायसंबन्धाभावेप्यनेन निरुपाख्यत्वं प्रतिपादितम् । चक्षूरूपयोः परम्परया क्षेत्रप्रत्यासत्तेरसत्त्वे योग्यदेशेप्ययोग्यदेशवद्रूपे चक्षुर्ज्ञानं न जनयेत् । ततस्तद्वाह्यकानुमानासत्त्वादसत्त्वप्रसङ्गो, रूपस्यापि चेन्द्रियप्रत्यक्षासत्त्वप्रसक्तिः । इत्युभयोर्निरुपाख्यत्वम् । तथा कारणकार्यपरिणामयोः कालप्रत्यासत्तेरसत्त्वेऽनभिमतकालयोरिवाभिमतकालयोरपि कार्यकारणभावासत्त्वाद्-

भयोर्निरुपाख्यतापत्तिः । तथा व्याप्तिव्यवहारकालवर्त्तिनोर्धूमादिलिङ्गाग्न्यादिलिङ्गिनोर्भावप्रत्यासत्त्यसत्त्वे कचित्पावकादिलिङ्गिनि ततोनुमानायोगादनुमानानुमेययोरसत्त्वप्रसङ्गान्निरुपाख्यत्वप्रसङ्गः । किं वहुना, संवेदनस्य कस्यचित्केनचिद्वेद्याद्याकारेण प्रत्यासत्तेरसत्त्वे तदुभयोरसत्त्वान्निरुपाख्यत्वम् । तत्प्रत्यासत्तिसद्भावे वा सिद्धश्चतुर्धोपि संवन्धः, सवित्तदाकारयोर्द्रव्यादिप्रत्यासत्तिचतुष्टयस्यापि भावात्परस्परं पारतन्त्र्यसिद्धेः । सिद्धस्य संविदाकारस्य संवित्परतन्त्रतानिष्टौ संविदभावेपि भावप्रसङ्गात्, संविदो वा स्वाकारपरतन्त्रतानुपगमे निराकारसविदनुपङ्गात्, तथोपगमेपि संविदो वेद्याकारविवेकपरतन्त्रतानभिमनने वेद्याकारात्मताप्रसङ्गात्, सर्वथा संबन्धाभावस्य च भावपरतन्त्रत्वानङ्गीकरणे स्वतन्त्रस्याभावरूपत्वविरोधात् कुतस्तद्व्यवस्था ? तदयं कस्यचित्सिद्धस्यासिद्धस्य वा परतन्त्रतामुपलभ्य सर्वत्र सिद्धेऽसिद्धे वा का परतन्त्रतेति ब्रुवाणः कथं न परतन्त्रः ? कस्यचिदसिद्धस्यापि कार्यात्मनः कारणपरतन्त्रतोपपत्तेरन्यथा कारणाभावेपि कार्योत्पत्तेर्निवारणायोगात्, कुतश्चित्कस्यचिदनुत्पत्तौ शश्वत्सत्त्वप्रसङ्गात्, "सदकारणवन्नित्यम्" इति वचनात्, संवृत्या पारतन्त्र्योपगमेपि तद्दोपानतिवृत्तेः संवृतेर्मृपारूपत्वात् । तत्त्वतोपि कचित्पारतन्त्र्येष्टौ सिद्धस्तात्त्विकः संबन्धः । इति न तत्प्रतिक्षेपः श्रेयान्, यतः संवन्ध्यन्तरापेक्षया सकृदसकृच्च सन्तानान्तरभावस्वभावभेदाः परस्परं व्यावृत्ता न भवेयुः । तदेवं प्रतिक्षणमनन्तपर्यायाः प्रत्येकमर्थसार्थाः, न पुनरेकस्वभावा एव भावाः क्षणमात्रस्थितयः, अन्वयस्यानारतमविच्छेदात् । क्रमशोपि विच्छेदेऽर्थक्रियानुपपत्तेः स्वयमसतस्तत्त्वतः क्वचिदुपकारितानुपपत्तेः कुतः कस्यात्मलाभः स्यात् ? कथञ्चिदविच्छेदे पुनः स सुघट एव कारणस्य स्वकार्यात्मना भवतः प्रतिक्षेपायोगात् स्वभावान्तरानपेक्षणवत्, स्वयमुत्पित्सोरपि स्वभावान्तरापेक्षणे विनश्वरस्यापि तदपेक्षणप्रसङ्गात्, एतेन स्थास्नोः स्वभावान्तरानपेक्षणमुक्तं, विश्रसापरिणामिनः कारणान्तरानपेक्षोत्पादादि-

नयव्यवस्थानात्तद्विशेष एव हेतुव्यापारोपगमात् । यतश्चैव पर्यायार्थिकनयादेशात्प्रतिक्षणमनन्तपर्यायः क्रमेणाविच्छिन्नान्वयसंततिरर्थः प्रतीयते तस्मादयमुत्पित्सुरेव विनश्यति जीवादिः, पूर्वेदु ग्वादिपर्यायविनाशाऽजहद्वृत्तित्वात्तदुत्तरसुखादिपर्यायोत्पादस्य । नश्वर एव तिष्ठति, कथञ्चिदस्थास्नोर्नाशानुपपत्तेरश्वविषाणवत् । सद्द्रव्यचेतनत्वादिना स्थास्नुरेवोत्पद्यते, सर्वथाप्यस्थास्नोः कदाचिदुत्पादायोगात्तद्वत् । ततः प्रतिक्षणं त्रिलक्षणं सर्वम् "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" इति वचनात् । नन्वेवं स्थित्यादयो जीवादेर्वस्तुनो यद्यभिन्नास्तदा स्थितिरेवोत्पत्तिविनाशौ, विनाश एव स्थित्युत्पत्ती, उत्पत्तिरेव विनाशावस्थाने इति प्राप्तम्, एकस्मादभिन्नानां स्थित्यादीनां भेदविरोधात् । तथा च कथं त्रिलक्षणता स्यात् ? अथ भिन्नास्तर्हि प्रत्येकं स्थित्यादीनां त्रिलक्षणत्वप्रसङ्गः, सत्त्वात्, अन्यथा तदसत्त्वापत्तेः । तथा चानवस्थानान्न समीहितसिद्धिरिति कश्चित्, सोऽप्यनालोचितपदार्थस्वभावः, पक्षद्वयस्यापि कथञ्चिदिष्टत्वात् । तत्र तद्वतः कथञ्चिदभेदोपगमे स्थित्यादीनां स्थितिरेवोत्पद्यते सामर्थ्याद्विनश्यति च, विनाश एव तिष्ठति सामर्थ्यादुत्पद्यते च, उत्पत्तिरेव नश्यति सामर्थ्यात्तिष्ठतीति च ज्ञायते, त्रिलक्षणाज्जीवादिपदार्थादभिन्नानां स्थित्यादीनां त्रिलक्षणत्वसिद्धेः । एतेनैव ततस्तेषां भेदोपगमेपि प्रत्येकं त्रिलक्षणत्वसिद्धिरुक्ता । न चैवमनवस्था, सर्वथा भेदपक्षे तत्प्रसक्तेः, स्याद्वादपक्षे तु तदसंभवात् । येन हि स्वभावेन त्रिलक्षणात्तत्त्वादभिन्नाः स्थित्यादयस्तेन प्रत्येकं त्रिलक्षणाः, पर्यायार्पणात्परस्परं तद्वतश्च भिन्ना अपीष्यन्ते, तथा प्रतीतेर्बाधकासंभवात् । ततो निरवद्यमिदं प्रतिक्षणं त्रिलक्षणं सर्वमिति । एतेन कालत्रयापेक्षयापि त्रिलक्षणमुपदर्शितं, तस्यान्वितेन रूपेण कालत्रयव्यापित्वादन्यथा शुद्धदेकान्ते सर्वथार्थक्रियाविरोधात् कूटस्थैकान्तवत् । ततो द्रव्यपर्यायात्मकं जीवादि वस्तु, क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियान्यथानुपपत्तेरिति प्रमाणोपपन्नम् । तथा च स्थितिरेव स्थास्यत्युत्पत्स्यते विनङ्क्ष्यति सामर्थ्यात्स्थितोत्पन्ना विनष्टेति गम्यते । विनाश एव स्थास्यत्युत्पत्स्यते विनङ्क्ष्यति स्थित

उत्पन्नो विनष्ट इति च गम्यते । उत्पत्तिरेवोत्पत्स्यते विनङ्क्ष्यति स्थास्यतीति न कुतश्चिदुपरमति । सोत्पन्ना विनष्टा स्थितेति गम्यते। स्थित्याद्याश्रयस्य वस्तुनोऽनाद्यनन्तत्वादनुपरमसिद्धेः स्थित्यादिपर्यायाणां कालत्रयापेक्षिणामनुपरमसिद्धिः, अन्यथा तस्यातल्लक्षणत्वप्रसङ्गात्सत्त्वविरोधात् । एतेन जीवादि वस्तु तिष्ठति स्थितं स्थास्यति, विनश्यति विनष्टं विनङ्क्ष्यति, उत्पद्यते उत्पन्नमुत्पत्स्यते चेति प्रदर्शितं, कथञ्चित्तदभिन्नस्थित्यादीनामन्यथा स्थास्यत्यादिव्यवस्थानुपपत्तेः । तथा चैतेषां नवानामपि विकल्पानां प्रत्येकं नवविकल्पतोपपत्तेरेकाशीतिविकल्पं वस्तूह्यं, तदभिन्नस्थित्यादिपर्यायाणामपि तावद्धाविकल्पादनुपरमसिद्धेः । यथा जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशकालविकल्पमशुद्धद्रव्यमनन्तपर्यायं सह क्रमाच्च चिन्तित तथा सन्मात्रं शुद्धद्रव्यमपि प्रतिपत्तव्यं, तस्यैव द्रव्यत्वविशेषणस्य द्रव्यव्यवहारविषयत्वसिद्धेः । तथा हि । भाव एव द्रवति द्रोष्यत्यदुद्रुवदिति द्रव्यं, तथा क्षीयन्ते क्षेष्यन्ते क्षिताश्चास्मिन् पदार्था इति क्षेत्रं, कल्यन्ते कलयिष्यन्ते कलिताश्चास्मादिति कालः, भवति भविष्यत्यभूदिति भावः पर्याय इति सत्तैव विशेष्यते द्रव्यक्षेत्रकालभावात्मना, तस्या एव तथा व्यवहारविषयत्वघटनात् । ततः परस्परव्यावृत्तस्वभावानऽनन्तगुणपर्यायान्प्रतिक्षणमासादयन्ती सत्तैव तिष्ठतीत्यादि योज्यं, तस्या अप्येकाशीतिविकल्पत्वोपपत्तेः । तथा भेदानेव सद्रवन्तीत्यादि प्रतिपत्तव्य क्षितान् कुर्वन्ती कलयन्ती भवन्ती च सत्तैव तिष्ठतीत्यादियोजनायाः सभवात् । तथा चोक्त "सत्ता सकलपदार्था सविश्वरूपा त्वनन्तपर्याया। स्थितिभङ्गोत्पादार्था सप्रतिपक्षा भवत्येका" ॥ १ ॥ इति । तदेव पर्यायार्थिकनयप्राधान्याद्द्रव्यार्थिकनयगुणभावात्सर्वस्य स्वभावान्तरव्यावृत्तिः प्रसिद्धाऽन्यापोहव्यतिक्रममपाकरोतीति किं न प्रयासेन । तथा केषाञ्चित्तत्त्वतोत्यन्ताभावापाकृतौ न कचित्किञ्चित्कथञ्चिन्न वर्तेत । वर्ततामिति चेत्, तथा सर्वं सर्वत्र सर्वथोपलभ्येत । न च ज्ञानादिकं घटादावुपलभ्यते, नापि रूपादिकमात्मादौ । न च किञ्चित्स्वात्मनेव परात्मनाप्युपलभ्येत, ततः

किञ्चित्स्वेष्टं तत्त्व कचिदनिष्टेर्थे सत्यात्मनानुपलभ्यमानः तत्त्वेपि तत्र तथा नास्तीति प्रतिपत्तौ नोपि निरोधस्याभावः । कथं पुनरभावप्रतिपत्तिः ? कथं च न स्यात् ? सर्वथा भावविलक्षणस्याभावस्य ग्राहकस्य प्रमाणस्याभावात्, प्रत्यक्षस्य रूपादिस्वलक्षण-विषयत्वादभावे प्रवृत्त्ययोगात् तस्य तत्कारणत्वविरोधात्, तत्कारणत्वे वस्तुत्वापत्तेः, अकारणस्याविषयत्वव्यवस्थितेः, प्रमाणान्त-रस्यापि स्वकारणविषयत्वात् । तस्य कार्यानुमानत्वे नाभावस्य कारणत्वप्रसक्तिः । न चासौ युक्तिमती । स्वभावानुमानत्वेपि भावस्वभावता-पत्तिः, अभावस्य स्वभावासंभवात् । अभावोनुपलब्धेः पर्युदासवृत्त्या वस्तुनि नियतत्वात् सर्वथाभावासिद्धिः । तद्विषयोपि भावान्तर-भाव एवाभावः । कस्यचिदेकस्य कैवल्यमितरस्य वैकल्यमिति ब्रुवन्नपि द्वैतानामिनो दुर्निरूपत्वात् ... भावाभावप्रतिपत्तेर-भावाभ्युपगमात् । सोयं स्वयम् "अनादिवासनोद्भूतविकल्पपरिनिष्ठितः । शब्दार्थस्त्रिविधो धर्मो भावाभावोभयाश्रितः ॥१॥" इति पर-मार्थतो भावस्याभावस्योभयस्य च प्रतिपत्तेरभावं प्रतिपद्यमानः कथमभावप्रतिपत्तौ पर्यनुयोगं कुर्यात् ? न चैकान्तस्य, परमार्थतः, स्वपररूपादिभावाभावलक्षणत्वात्सर्वस्य निःश्रेणीपदबन्धाभ्यामिव भावाभावस्वभावाभ्यां प्रतिबन्धात्, स्वरूपादिभिरिव पररूपादिभिरपी-ष्टस्य संविद्द्वयस्य भावे भेदरूपत्वप्रसङ्गात् पररूपादिभिरिव स्वरूपादिभिरपि तदभावे स्वयं प्रकाशनविरोधात् । न किञ्चित्प्रमाणं सर्वात्मना भावमभावं वा ग्रहीतुमर्हति, अनियमप्रसङ्गात् । नाथागताना हि भाव एव प्रमाणविषय इति भावैकान्तवादिनाम-भावप्रतिपत्तिरयुक्तिः । अतो न भावनियमप्रतिपत्तिः, कस्यचित्केनचित् कथञ्चिदसत्त्वासिद्धेः स्वस्वभावव्यवस्थितेरयोगात् । तेन तत्प्रमेयतो-पसंख्यानं प्रमाणद्वयनियमं विघटयति । भावनैरात्म्यस्य प्रमाणाकारणत्वात्प्रतिबन्धनियमो मा भूत्, प्रमाणनैरात्म्ययोस्तादात्म्यानिष्टे-स्तदुत्पत्तिप्रतिबन्धस्य विरोधात्, नैरात्म्यात्प्रमाणस्योत्पत्तौ तस्य भावस्वभावताप्रसक्तेः, तयोः प्रतिबन्धान्तरोपगमे लिङ्गस्य त्रिविध-

त्वविरोधात्। तदप्रतिबन्धे प्रमाणान्तरसिद्धेः कथ प्रमाणद्वयनियमविघटनं न घटेत, तदुत्पत्त्यभावे प्रत्यक्षस्यानुमानस्य चानुदयात्, 'अर्थस्यासंभवेऽभावात् प्रत्यक्षेपि प्रमाणता। प्रतिबद्धस्वभावस्य तद्धेतुत्वे सम द्वयम् ॥१॥' इति वचनात्। मानसस्य तु नास्तिताज्ञानस्य स्वकारणसामग्रीवशादुत्पन्नस्याभावपरिच्छेदकत्वे तदेवं प्रमाणान्तर, प्रतिबन्धनियमाभावात्। इति यथोदितदोषं परिजिहीर्षुणा वस्तुधर्मस्यैवाभावस्य प्रतिपत्तिरभ्युपगन्तव्या, तस्याः प्रतिक्षेपापायात्। ततो न भावैकान्ते समीहितसिद्धिः ॥ ११ ॥

स्वसमवायिन (१६२-१-१४) इति स्वमात्मा समवायि यस्येति विग्रहात् स्वसमवायिन आत्मसमवेतज्ञानादेः, **समवाय्यन्तरे** (२-१) व्योमादौ, **समवायोऽन्यत्र समवाय उच्यते, अत्यन्ताभावव्यतिक्रमः स एव, तस्मिन्निति तस्मिन्नभ्युपगम्यमाने, सर्वस्य प्रवादिनः, इष्टं तत्त्वं सर्वथा तस्यैवेत्याकारेण, न व्यपदिश्येत। तस्य** (५) कार्यस्य, **तद्व्यावृत्तेः** पूर्वोत्तरपरिणामरूपव्यावृत्तेः, **विशिष्टत्वाद्विलक्षणत्वाद्**, ध्वंसत्वप्रागभावत्वाभ्यामिति शेषः। तथा चोपधेयसांकर्येऽप्युपाधीनामसांकर्यान्न दोषस्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नभेदेऽपि तद्द्रव्यत्वावच्छिन्नभेदाभावाश्रयणाद्वेति बोध्यम्। उपाध्यसाङ्कर्यमेव प्रदर्शयति-'**यदभावे हीत्यादि**' (५) ॥ **नियमग्रहणादिति** (७), **न चैवं** सिद्ध्यभावे नियमतोऽनुमित्युत्पत्तेः सिद्धेरनुमितिप्रागभावत्व प्रसङ्ग इति वाच्यम्। पूर्वपरिणामान्तर्भावेनेष्टत्वात्, अनुमितेरपि सिद्धित्वेन सिद्ध्यभावत्वेनानुमितिनिरूपितस्य कालिकव्याप्तिघटितनियमस्याभावाच्च। **न हि घटपटयो** (९) रित्यादि, नन्वेवं जीवेऽजीवभेदे कालत्रयापेक्षेऽत्यन्ताभावलक्षणातिव्याप्तिः, न च सोऽत्यन्ताभाव एव, प्रतीतिवैलक्षण्यात्, नञाऽत्यन्ताभावबोधनेऽनुयोगिवाचकपदे सप्तम्या अन्योन्याभावबोधने च प्रतियोग्यनुयोगिवाचकपदयोः समानविभक्तिकत्वस्य तन्त्रत्वाच्चात्यन्ताभावत्वादिना बोधने तथाव्युत्पत्तेराश्र-

यणेऽपि तथालक्षणस्यावश्यमृग्यत्वाच्चेति चेत्, सत्यम्, "त्रैकालिकी तादात्म्यपरिणामनिवृत्तिरत्यन्ताभाव" इत्यत्र परिणामपदमहिम्ना धर्मत्वनियामकसम्बन्धबोधात्तृतीयातत्पुरुषाश्रयणाच्च संसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वमत्यन्ताभावत्वमिति तात्पर्यात्। इत्थं चान्योन्याभावलक्षणस्य तादात्म्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वस्यैव लाभान्न दोषः। तत्त्वं क्लृप्ताधिकरणेऽतिरिक्तपदार्थे चेति पुनरन्यदेतत्, संयोगितादात्म्यस्यैव संयोगत्वे च "तादात्म्यत्वावच्छिन्नावच्छेदकताकप्रतियोगिताकाभावत्वमन्योन्याभावत्वम्," "तदितराभावत्वं संसर्गाभावत्वम्" इति वदन्ति। तादात्म्यत्वस्यातिरिक्तस्य कल्पनायां गौरवाद्भेदत्वात्यन्ताभावत्वाद्यखण्डोपाधिरिति तु नव्याः। युक्तमेतत्, तत्तत्स्वरूपे तत्तद्भेदत्वादेर्यथा प्रतीतिकल्पनाद् भावसंकरस्येवाभावसंकरस्याप्यदुष्टत्वात्, अभिलापभेदस्य च विवक्षावैचित्र्याद्यधीनत्वादिति दिग्॥ अन्यापोहव्यतिक्रमे भेदवादिनां दोषः स्यान्नाभेदवादिनः सौगतस्येत्याशङ्कते नन्वित्यादिना (१६२-२-११)॥ उत्तरयति-सौगतानामपि हीत्यादिना (१३), क्षणिकत्वेन व्यक्तिभेदे तेषामविवाद एव, ग्राह्यग्राहकत्वाभ्यामांशिकस्वरूपभेदकथनार्थं पुनरयमुपक्रमः, ग्राह्यग्राहकाकारविवेकान्यथानुपपत्त्या ज्ञानमात्रमपि कथञ्चिद्भेदशालि स्वीकार्यमेवेति निष्कर्षः। ननु मतापरिज्ञानविजृम्भितमेतत् ज्ञानमात्रस्य माध्यमिकेनाभ्युपगमात्, तन्मते च ग्राह्याकारस्यालीकत्वादलीकभेदस्य च वास्तवान्यापोहव्यतिक्रमाविरोधित्वादित्याशङ्कते 'ननु चेत्यादिना' (१६३-१-२)। एवमपि स्वलक्षणप्रत्यक्षे संवेद्याकारमिथ्यात्वावगाहिज्ञानवैलक्षण्यध्रौव्यात्तान्यापोहव्यतिक्रमः सौगतस्य युक्त इत्याशयेन समाधत्ते नैवमपीत्यादिना (३)। तादृशज्ञानस्यालीकत्वे च दत्तो माध्यमिकमताय जलाञ्जलिः। विचारजन्यं शून्यज्ञानमेव प्रमाणं नान्यत् स्वलक्षणप्रत्यक्षमप्यप्रामाण्यशङ्काकलङ्कितत्वादिति चेत्, तर्हि तत्रापि

संस्कारविरोधितावच्छेदकं वैजात्यं वक्तव्यमिति ध्रुवोऽन्यापोहः, विचारस्य सत्यत्वे नियमभङ्गोऽसत्यत्वे च सत्यज्ञानजनकशक्तिविरहात् सत्यज्ञानोच्छेद इति यत्किञ्चिदेतत्। चित्राद्वैतवादेऽपि योगाचारस्य चित्रज्ञाने नीलादिमात्रविषयकज्ञानत्वावच्छिन्नभेदरूपो नीलाद्याकारभेदरूपश्चान्यापोहोऽवश्यमादरणीय इत्याह चित्रैकज्ञानवादिनः पुनरित्यादिना (१६३–१–४)॥ तद्वतइति (९) तद्वतो लोहितादिनिर्भासवतश्चित्रज्ञानस्य, तेभ्यो लोहितादिनिर्भासेभ्यो व्यावृत्तिरस्तीति साध्यम्। एकानेकस्वभावत्वादिति हेतुः, यथा घटस्य रूपरसादिभ्य इति दृष्टान्तः, एकमिदमनुमानम्, द्वितीयं च तद्वतो नीलाद्याकारवतश्चित्रपटादेस्तेभ्यो नीलाद्याकारेभ्य इत्यभिलापेन द्रष्टव्यम्। 'न पुनरिति' (१०) अनेकस्वभावमिति विपरिणतानुषङ्गेनान्वयः, तद्वल्लोहितादिनिर्भासवन्नीलाद्याकारवच्च। हेतुः (११) एकानेकस्वभावत्वरूपः, यदि च रूपादय एव लोकप्रतीतत्वात् सन्ति न द्रव्यमिति परेणोच्यते तदाह भाष्यकृत्, मम सामान्याभिप्रायेण द्रव्यमेवास्ति न (वस्यान्न) रूपादय इति, तुल्यः पक्ष इत्यर्थः। ज्ञानमधिकृत्याह वृत्तिकृत्, एतेनेति, चित्रज्ञानैकत्वे निर्भासभेदप्रकारमुपदर्शयति शक्यं हि वक्तुमित्यादिना (१२), प्रसङ्गापादनमात्रमेतदिति, विपर्ययपर्यवसानमाह तथानभ्युपगम इत्यादि (१४)॥ भाष्ये वाकारो (२–१) व्यवस्थार्थः। निर्भासभेदेऽप्येकत्वोपगमे बाधकमाह भाष्यकृत् अन्यथेति (४), क्रमश (५) इति। एवं हि क्रमिकनानाकार्यकरणैकस्वभावोऽनुगृहीतो भवति वस्तुन एवं नानैकस्वभावशबलतैव सिद्ध्यति, अन्यथैकस्वभाववपुषि नानाकार्यकरणानुप्रवेशे एककार्यकारणवेलायाङ्गलेपादिकया नानाकायपनयनप्रसङ्गादित्यालोच्याह न चैवं शक्यमभ्युपगन्तुमित्यादिना (६)। बौद्धः शङ्कते–'ननु चेति' (७) भावानां पारतन्त्र्यानुपपत्तेः क्षणिकत्वेन परापेक्षाया अघटनात् सर्वथाऽसम्व-

न्धेन स्वभावभेदस्यासम्भवान्न कस्यचित्सम्बन्ध्यन्तराणि स्वभावभेदनिबन्धनानि सन्ति, अतः स्वभावभेदस्य कर्तुमशक्यत्वादित्यन्वयः। प्रामाणिकत्वाद्द्रव्यादिकृतसम्बन्धः पराकर्तुमशक्य इत्याशङ्क्य समाधत्ते न द्रव्येत्यादिना (१६३–२–९) स्वयंप्रमाणेन सम्बन्धसिद्धिमङ्गीकृत्य परमुखेन तमभ्युपगमयति 'किं बहुनेति (१६४–१–२)' तथा च साकारज्ञानवादे विषयविषयिभावसम्बन्धस्य निराकारज्ञानवादेऽपि तन्निराकरणाकारसम्बन्धस्यावश्याभ्युपगम्यत्वे सिद्धमन्यत्रापि द्रव्यादिसम्बन्धेनेति भावः। सर्वथा सम्बन्धाभावस्य चेति (६) तथा च परमाणूनां निरन्तरोत्पत्तिरेव द्रव्यादिप्रत्यासत्तिर्ज्ञानस्य चानीलाद्याकारव्यावृत्ततयोत्पत्तिरिति निरस्तम्, पारतन्त्र्यभिया सम्बन्धं निराकुर्वतोऽसम्बन्धाभावमाद्रियमाणस्याभावस्य भावपरतन्त्रतया तदनिवृत्तेर्वक्रकल्पनादोषस्य परमार्थिकत्वात्, तदयं कस्यचिदिति (६) कचित्परतन्त्रतानुपलम्भे सर्वत्र परतन्त्रतानिषेधस्य कर्तुमशक्यत्वादभावज्ञाने प्रतियोगिज्ञानस्य हेतुत्वादिति भावः। परतन्त्रः (७) परवशः, कस्यचिदसिद्धस्यापीति (७) तथा च यथा कार्यस्य कारणपरतन्त्रत्वं, तथा सर्वस्य वस्तुनः सम्बन्धमुखेन सम्बन्ध्यन्तरपरतन्त्रत्वमविरुद्धमिति भावः। ननु कार्यं न कारणपारतन्त्र्यं, तस्य स्वरसत एवोत्पत्तिशीलत्वात्, किन्तु कार्यत्वव्यवहार इति सांवृतमेव तदित्याशङ्कायामाह—'संवृत्येति' (९) तद्दोषानतिवृत्तेर्वस्तुनः कारणानपेक्षत्वे कार्यस्य नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वेति प्रसङ्गस्य दुर्वारत्वादिति भावः। 'तत्त्वतोऽपीति' (९) एकत्र मृषा रूपस्यान्यत्र सत्यत्वनियमादित्यर्थः, वस्तुतोऽबाधितया नियततररूपं कारणपारतन्त्र्यं कार्ये सर्वमिदमेवाकस्माद्भावनिरासस्येत्थमेवोपपादनात्, स्वभाववादे पूर्वोत्तरक्षणानामेव हेतुहेतुमद्भावेन कारणान्तरनिरासेऽपि तेषां मिथोऽवध्यवधिमद्भावेन नैयत्याक्षतेस्तुच्छदेकान्ते स्वभावशब्दार्थस्यैवानुपपत्तिरिति पुनरन्यदेतत्। सन्तानान्तरभाव-

स्वभावभेदा इति (१०) सन्तानान्तरभावस्य घटपटादिरूपस्य स्वभावभेदाः, क्षणिकनित्यापेक्षया नित्यानित्यादिरूपाः, स सुघट एवेति (१६४-१-१३) सुवर्णं कुण्डलीभूतं मृद् घटीभूतेत्यादिप्रत्ययादविच्छिन्नद्रव्यस्यैव कार्यीभावसिद्धेः, अन्यथा च्विप्रत्ययार्थस्यैवाघटनादिति भावः। ननु कारणस्य प्राक्कालवृत्तितयैवापेक्षणात् कथमविच्छिन्नस्य कार्यीभाव इत्याशङ्कायां दृष्टान्तमाह-स्वभावान्तरानपेक्षणवदिति (१२),येन नयेन स्वभावान्तरानपेक्षणं तेन नयेनाविच्छिन्नस्य कारणस्य कार्यतां स्वीकुर्वतः परित्यागायोग इत्यर्थः। स को वा नय इति चेत्, इमे ब्रूमहे, नाशस्येवोत्पादस्य निर्हेतुकत्ववादी शुद्धपर्यायार्थिक एव, तदाह-उत्पित्सोरपीति (१३) हेतुं विनेव वस्तुनो विनाशशीलत्वे हेतुं विनैवोत्पादशीलत्वं न्याय्यम्, तत्र सौगतानामर्द्धजरतीयाश्रयणस्यायुक्तत्वादिति भावः। स्थितावप्येनं न्यायमतिदिशति-'एतेनेति' (१४) वस्तुन उत्पादविनाशयोः कारणानपेक्षत्वे व्यवस्थिते स्थितेरपि तत्त्वेन स्वाभाविकत्वं युक्तम्,क्वाचित्कत्वस्येव कादाचित्कत्वस्य स्वभावनियतत्वादिति भावः। नन्वेवमुत्पादादित्रयस्य कारणानपेक्षत्वे घटोत्पादाद्यर्थं दण्डग्रहणादौ प्रवृत्तिर्न स्यादित्याशङ्कायामाह-'तद्विशेष एवेति' (१६४-२-१) इत्थं चोत्पादस्य प्रायोगिकवैश्रसिकभेदेन द्विविधत्वाद् द्वितीये हेत्वनपेक्षायामपि प्रथमे तदपेक्षाध्रौव्यान्न प्रवृत्त्युच्छेद इति भावः। एतच्चोत्पादद्वैविध्यं 'उप्पाओ दुविअप्पो पओगजणिओ अ वीससा च' इत्यादिग्रन्थेन भगवता सम्मतिकारेणापि भणितमिति नास्मत्सम्प्रदायप्रतिकूलेयं कल्पनेति बोध्यम्, एवं सति कालादिहेतुपञ्चकसामग्र्याः कार्योत्पत्तिमात्रनियतत्वभङ्गनापसिद्धान्तभीस्तु गौणमुख्यभावेन तदभङ्गाद्धारणीयोक्तद्वैविध्यस्य प्रयोगविश्रसाप्राधान्येनैव व्यवस्थितेरिति दिग्। तत्र (७) तयोः पक्षयोर्मध्ये,तद्वतः स्थित्यादिमतः सकाशात्,सामर्थ्यात् (८)उत्पद्यमानादिद्रव्याभेदसामर्थ्यात्,त्रैलक्षण्यादिति

(९) स्थित्यादौ स्वाभिन्नद्रव्यगतोत्पत्त्यादेरव्यभिचारे दोषाभावादित्यर्थः। एतेनैव (९) स्थित्यादौ द्रव्यार्थतयोत्पत्त्यादिव्युत्पादनेनैव, स्याद्वादपक्षे तु तत्र भेदेऽप्यभेदाविरोधादित्यर्थः, 'येन हीति' (१०) द्रव्यार्थतयाऽभिन्नाः स्थित्यादयस्त्रैलक्षण्यं स्वीकुर्वन्त्येव, पर्यायार्थतया तु लक्षणमात्रेण भिद्यत एवेति भावः। 'प्रतिक्षणमिति' (११) एकत्रापि क्षणे एकत्र वस्तुनि रूपभेदेन त्रयाविरोधाद्वैश्रसिकानां चोत्पादादीनां प्रतिक्षणमनुपरमादिति भावः। कालभेदेन तु शुद्धैकपर्यायावच्छेदेनापि तदुपपद्यत इत्याह एतेनेति, 'तस्यान्वितेनेति' (१२) तस्य जीवादेरन्वितेन रूपेण किञ्चित्कालानुगतपर्यायेण, अन्यथा क्षणिकपक्षे, त्रुट्यदेकान्ते (१२) विगच्छत एकान्ते, न कुतश्चिदुपरमतीति (१६५-१-१) न कुतोऽपि भङ्गान्निवर्त्तत इत्यर्थः। तिष्ठति स्थितमित्यादि (३) स्थित्यादित्रयस्य सहवर्तिनः कालत्रयस्पर्शिद्रव्याभेदोपचारेण नव भङ्गाः प्रत्येकं स्थूलकालकृतवर्त्तमानत्वादिशालिस्थित्यादौ सूक्ष्मकालकृतावस्थाभेदेन नवेत्येकाशीतिर्भङ्गा भावनीयाः, यच्चाद्यक्रियाप्रागभावं चरमक्रियाध्वंसं चादाय भविष्यत्वमतीतत्वं च वाच्यमिति न वर्त्तमानक्रियाकाले कालत्रयवाचिप्रत्ययप्रयोगसम्भव इति नैयायिकादीनां मतम्, तत्स्थूलव्यवहारैकान्ताभिनिवेशविजृम्भितम्, नयविशेषेणैकदा त्रैकाल्यस्पर्शस्य सर्वसम्मतत्वात्, अन्यथोत्पत्तिकाले उत्पन्नत्वप्रत्ययस्य भ्रान्तत्वापत्तेः, सामुदयिकोत्पादे स्थूलकालभाविनि ऐकत्विकोत्पादानां सूक्ष्मकालस्पर्शिनां त्रैकाल्यस्पर्शे तु न काचिदनुपपत्तिः। न चोत्पत्तिकाले उत्पन्नत्वमस्ति प्राक्काले च पक्वत्वं नास्तीत्यत्र विशेषकारणं पश्यामः। प्रत्युतैवं किञ्चित्पक्वं किञ्चित्पच्यत इति निर्द्धारणानुपपत्तिः, सिद्धासिद्धसाधारणक्रमाश्रयणपरित्यागेन क्रियाविवेकस्य क्रियावत्त्रैकाल्यस्पर्शपक्षपातित्वात्, तस्माद्वर्त्तमानक्रियाकाले कालस्य स्थूलत्वसूक्ष्मत्वाभ्यां त्रैकाल्यं नयविशेषेण यौक्तिकमेवेति

सिद्धा यथोक्तभङ्गाः । सैद्धान्तिकास्तु क्रियाकालनिष्ठाकालयोरभेदात्सभागसन्ततिपतिततया निष्ठाभविष्यत्तयोः समावेशाच्चैकक्षणेऽपि कालत्रयवाचिप्रत्ययार्थाविरोधमादिशन्ति ॥ जीवादिपदार्थेषूक्तभङ्गान् सत्तायामपि योजयति, **तथा सन्मात्र**मित्यादिना (१६५–१–६) ॥ **तस्यैवेति** (६), सत्तायाः स्वरूपेण स्थाष्णुत्वे द्रव्यत्वादिविशेषितत्वेनोत्पत्त्यादिशालित्वात्तदाश्रिताः सर्वेऽपि भङ्गा अविरुद्धा इति भावः । न च विशेषणभेदेन पदार्थभेदे मानाभावादेतदनुपपत्तिः, विशिष्टाधारताभेदकल्पनापेक्षया विशिष्टभेदकल्पनस्यैव युक्तत्वात्, भेदाभेदवादे चानन्तपदार्थकल्पनागौरवाद्यनवकाशात् ॥ '**सत्तेति**' (११) **सत्ता** महासामान्यरूपा, **सकलपदार्था** सकलाः पदार्था विद्यन्ते आश्रयत्वेन यस्याः सा तथा, **विश्वरूपै**र्नानाप्रकारैः सहिता, तुर्विशेषणे, किं विशिनष्टीत्याकाङ्क्षायामाह, **अनन्तपर्याया** (११) द्रव्यत्वाद्यनन्तविशेषणविशिष्टानन्तपर्यायैर्विशेषणभूतैर्विश्वरूपत्वं विशेष्यत इत्यर्थः । अत एव **स्थितिभङ्गोत्पादार्था** (११) स्थितिभङ्गोत्पादा अर्था लक्षणानि यस्याः सा तथा, स्वरूपेणैका **सप्रतिपक्षा** (११) च पररूपेण नास्तित्वसमावेशाद्भवतीति संवादकारिकार्थः । केवलाभावप्रतिपत्तौ बौद्धोक्तामनुपपत्तिमुपन्यस्य जात्यन्तरे वस्तुनि तदेकांशत्वान्नेयमिति तं प्रत्यनुशासितुमाह **कथं पुनरित्यादिना** (१६५–२–१) ॥ **तस्य** अभावस्य, **तत्कारणत्वविरोधात्** प्रवृत्तिकारणत्वविरोधात्, तत्कारणत्वे स्वलक्षणतापत्तेरिति अर्थक्रियाकारित्वस्यैव स्वलक्षणलक्षणत्वादिति भावः । **प्रमाणान्तरस्यापि** (३) कार्यानुमानस्यापि, अस्तु तर्हि स्वभावलिङ्गकानुमानविषयत्वमनुपलब्धिलिङ्गकानुमानविषयत्वं वाऽभावस्येत्यत्राह–'**स्वभावानुमानत्वेऽपीत्यादि**' (४) **स्वभावासम्भवादिति**, (५) तथा च स्वभावहेतोरभावप्रतिबन्धासम्भवान्न तस्य तद्विषयत्वमिति भावः । '**पर्युदासवृत्त्येति**' (५) अनुप-

लब्धेर्वस्त्वन्तरोपलब्धिरूपत्वान्न तल्लिङ्गकानुमानविषयत्वमप्यभावस्येत्यर्थः । 'सर्वथाऽपीत्यादि' (५)॥ तद्विषयोऽपि (५) प्रमाणविषयोऽपि, भावस्वभावो (६) धिकरणात्माऽभावः, कस्यचिदेकस्य (६) भूतलादेः, कैवल्यमितरस्य घटादेः, वैकल्यमिति स्याद्वादिमतं नावधारयतीति, इतेरावृत्त्योभयत्र सम्बन्धादन्वयः। सर्वथाऽप्यभावस्य प्रमाणविषयत्वसिद्धिरिति ब्रुवन्नपि देवानांप्रियो दुर्विदग्धबौद्धः, (६)। अस्य वादिनः स्वप्रतिज्ञाविरोधं दोषमाह–सोऽयमित्यादिना (७)॥ वस्तुस्थितिमाह–'परमार्थत इति (७)॥' 'निःश्रेणीपदबन्धाभ्यामिवेति (९)' निःश्रेणीस्थानीयो भावस्वभाव आश्रयत्वात्, पदबन्धस्थानीयश्चाभावस्वभाव आश्रितत्वादिति भावः । आरोहाधिकरणत्वतत्कारणत्वाभ्यां तौल्यं भावनीयम् । भावधर्मभूताभावानभ्युपगमे भावा एव प्रमेयमित्यवधारणं न स्यात्, एवकारार्थानिरुक्तेः अवस्तुभूतस्याप्यभावस्य ग्रहार्थं प्रमाणान्तरापत्तेर्द्वे एव प्रमाणे इत्यस्य व्याघातश्चेत्याह–ताथागतानां हीत्यादि (११)॥ अर्थस्येति (१६६–१–२) अर्थस्य विषयस्य, असम्भवेऽभावात् प्रत्यक्षेऽपि प्रमाणता (२) सिद्धा, प्रतिबद्धस्वभावस्य धूमादिव्याप्तिनिरूपकस्वभावस्य वह्न्यादेः, तद्धेतुत्वे (२) अनुमानज्ञानहेतुत्वे, समं तुल्यम्, द्वयं प्रमाणद्वयम्, विषयसत्त्वव्याप्यत्वमेव प्रमाणत्वे प्रयोजकमिति निष्कर्षः । ननु तदुत्पत्त्यभावात् प्रत्यक्षमनुमानं वाऽभावग्राहक माभूत्, मानसं नास्तिताज्ञानं तु तथा भवत्केन वार्यते इत्यत्राह–'मानसस्य त्विति (२)' प्रतिबन्धनियमाभावादिति (३) अयमनुमानभिन्नत्वे हेतुः, अक्षानपेक्षत्वाच्च प्रत्यक्षभिन्नत्वं ध्रुवमिति तृतीयप्रमाणापत्तिरिति भावः । तस्माद्वस्तुधर्मत्वेनाभावस्य विषयत्वमेष्टव्यमित्युपसंहरति इति यथोदितदोषमित्यादिना (१६६–१–३)॥ ११ ॥

अभावैकान्तपक्षेपि भावापह्नववादिनाम् । बोधवाक्यं प्रमाणं न केन साधनदूषणम् ॥ १२ ॥

"भावा येन निरूप्यन्ते तद्रूपं नास्ति तत्त्वतः । यस्मादेकमनेकं च रूपं तेषां न विद्यते ॥१॥" इति सर्वनैरात्म्यप्रतिज्ञानमभावैकान्तपक्षः । तस्मिन्नपि बोधस्य स्वार्थसाधनदूषणरूपस्य, वाक्यस्य च परार्थसाधनदूषणात्मनोऽसंभवात्तत्, न प्रमाणम् । ततः केन साधनं नैरात्म्यस्य, स्वार्थं परार्थं वा ? केन दूषणं बहिरन्तश्च भावस्वभावानाम् ? इति सविस्मयं वचनम् । स्वपरपक्षसाधनदूषणोपगमे तु सत्सिद्धिरविप्रतिषिद्धा । तथा हि । बहिरन्तश्च परमार्थसत्, तदन्यतरापायेपि साधनदूषणप्रयोगानुपपत्तेः । इति प्रकृतार्थपरिसमाप्तौ किं त्रिलक्षणपरिकल्पनया ? सपक्षसत्त्वाभावेपि साध्याभावासंभूष्णुतानियमनिर्णयैकलक्षणमात्रादेव साधनस्य साध्यसिद्धौ समर्थनत्वोपपत्तेः, सपक्षसत्त्वस्याभावेपि सर्वानित्यत्वे साध्ये सत्त्वादेः साधनस्योपगमात्, स्वयमसिद्धधर्मिधर्मस्यापक्षधर्मत्वेपि प्रमाणास्तित्वे चेष्टसाधनस्य हेतोः समर्थनात्, कचित्तदभावेपि चान्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयवैकल्ये हेतुत्वाघटनात् । स्यादाकूतं ते—' न परमार्थतः साधनदूषणप्रयोगो नैरात्म्यवादिनः सिद्धो यतो बहिरन्तश्च परमार्थतः सद्वस्तु साध्यते । न चासिद्धाद्धेतोः साध्यसिद्धिः, अतिप्रसङ्गात् ' इति तदपि प्रलापमात्रं, तत्त्वतो नैरात्म्यस्य साध्यत्वायोगादनैरात्म्यस्य दूष्यत्वायोगवत् । न हि संवृत्त्या साध्यसाधनव्यवस्था युक्तिमती, परमार्थतोपगमे नैरात्म्यस्य तत्सिद्धेरपि सांवृतत्वप्रसङ्गात्, सांवृतात्साधनाद्वास्तवसिद्ध्यसंभवात् । शून्यसिद्धेरपरमार्थत्वे पुनरनिराकृतसद्भावस्य सर्वस्याशून्यतानुषङ्गात् तत्साधनं विरुद्ध(ता)मापद्येत । स्वरूपस्य वेद्यवेदकभावादिशून्यस्य स्वतोगतेः साधनोपन्यासेन तत्र समारोपव्यवच्छेदेपि समानं, कुतश्चित्तत्त्वतः समारोपव्यवच्छेदे संवृत्त्या साध्यसाधनव्यवस्थितेरयोगात्, तत्समारोपव्यवच्छेदस्याप्यपरमार्थत्वे पुनरव्यवच्छिन्नसमारोपस्य बाध्यबाधकभावादिशून्यस्य संविन्मात्रस्य स्वतोपि गत्यनुपपत्तेस्तदशून्यत्वप्रसङ्गात् ।

ततो हेयोपादेयोपायरहितमयमह्रीकः केवलं विक्रोशति तत्त्वोपप्लववादिवत् । अथ संवृत्त्या हेयस्य सद्वादस्योपादेयस्य च शून्यस्य तन्निषेधविधानोपायस्य चाभ्युपगमान्न शून्यवादिनो निर्लज्जता नापि विक्रोशमात्रमिति मतिः, तर्हि यदि संवृत्त्यास्तीति स्वरूपेणेत्ययमर्थस्तदा कृतमनुकूलं, केवलं वक्तात्मनो वैयात्य सूचयति, न्यायबलान्न्यकृतस्यापि स्वार्थसिद्धिविकलं प्रलपतो वाच्यमात्रप्रसिद्धेः, स्वरूपेणास्तित्वस्य संवेदनवत्सर्वभावाना स्याद्वादिभिरभीष्टत्वात् तेन तदनुकूलकरणात्संप्रतिपत्तेः । अथ पररूपेण नास्ति इत्ययमर्थस्तथैव स्याद्वादिना, नाम्नि विवादात् एतदपि तादृगेव, पररूपेण ग्राह्यग्राहकाभावादिविकलसंवेदनवत्सर्वपदार्थानां नास्तित्वे विवादाभावात् । तदेतेनोभयानुभयविकल्पः प्रत्युक्तः । यदि हि सवृत्त्यास्तीति स्वपररूपाभ्यामस्ति नास्ति चेत्ययमर्थस्तदा न कश्चिद्विवादः । अथानुभयरूपेणानुभयमित्यर्थस्तदापि न कश्चिद्विवादः, तथाग्रे समर्थयिष्यमाणत्वात् । अथ तदस्ति मृपात्मनेति समानश्चर्चः, मृपात्मनास्तित्वस्य स्वपरोभयानुभयरूपास्तित्वविकल्पचतुष्टयेऽयुक्तदोपानुपङ्गात् । सवृतिर्विचारानुपपत्तिरित्ययुक्तं, तदभावात् । न हि विचारस्याभावे कस्यचिद्विचारेणानुपपत्तिः शक्या वक्तुम् । नापि शून्यवादिनः किञ्चिन्निर्णीतमस्ति, यदाश्रित्य कचिदन्यत्रानिर्णीतेर्थे विचारः प्रवर्तते, तस्य सर्वत्र विप्रतिपत्तेः । तथा चोक्तं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके " किञ्चिन्निर्णीतमाश्रित्य विचारोन्यत्र वर्तते । सर्वविप्रतिपत्तौ तु कचिन्नास्ति विचारणा ॥ १ । " इति । सोयं सौगतस्तदभावात्तत्परप्रतिपादनार्थं शास्त्रमुपदेष्टार वा वर्णयन् सर्वं प्रतिक्षिपतीति कथमनुन्मत्तः ? स्वयमुपदिष्ट विचारप्रतिपादनार्थं शास्त्रादिक प्रतिक्षिपन्नुन्मत्त एव स्यात् । अथ मायोपमाः स्वप्नोपमाश्च सर्वे भावा इति सुगतदेशनासद्भावान्न सर्वं प्रतिक्षिपन्नुन्मत्तः स्यादिति मत, तर्हि शौद्धोदनेरेव तावत्प्रज्ञापराधोयं लोकातिक्रान्तः कथं बभूवेत्यतिविस्मयमास्महे । तन्मन्ये पुनरद्यापि कीर्तयन्तीति कि वत परमन्यत्र मोहनीयप्रकृतेः ? स्वप्नादिविभ्रमवत्सर्वस्य विभ्रमाददोप इति चेत्, तर्हि

विभ्रमे किमविभ्रमो विभ्रमो वा ? तत्राविभ्रमे कथं सर्वविभ्रमः ? विभ्रमेपि कुतोसौ ? विभ्रमेपि विभ्रमे सर्वत्राविभ्रमप्रसङ्गात्। विभ्रमविभ्रमेपि विभ्रमोपगमे स एव पर्यनुयोगोनवस्था चेति दुरन्तं तमः । तदुक्तं न्यायविनिश्चये " तत्र शौद्धोदनेरेव कथं प्रज्ञापराधिनी । बभूवेति वयं तावद्बहु विस्मयमास्महे ॥ १ ॥ तत्राद्यापि जडासक्तास्तमसो नापर परम् । विभ्रमे विभ्रमे तेषां विभ्रमोपि न सिद्ध्यति ॥ २ ॥ " इति । ततो नाभावैकान्तः श्रेयान्, स्वेष्टस्य दृष्टबाधनाद्भावैकान्तवत् ॥ १२ ॥

बोधवाक्यमिति (१७०-१-१) [मूले] समाहाराश्रयणाद्बोधो वाक्यं च न प्रमाणम्, तर्हि केन साधनं दूषणं च स्यादिति, साधनदूषणप्रयोगान्यथानुपपत्त्याऽभावैकान्तो निरसनीय इति कारिकोत्तरार्द्धार्थः । भावा येनेत्यादि (२) कारिका धर्मकीर्त्तेः, किं त्रिलक्षणकल्पनयेति (८) एकलक्षणादेवोक्तानुमानादर्थसिद्धेरित्यर्थः । एकलक्षणस्यैव प्रयोगस्य समर्थनत्वं परदृष्या साधयति सपक्षसत्त्वाभावेऽपीत्यादिना (६) ॥ सर्वं क्षणिकं सत्त्वादित्यत्र दृष्टान्ताभावेन सपक्षसत्त्वाभावः, प्रमाणास्तित्वमस्ति, इष्टसाधनादित्यत्र पक्षधर्मत्वाभावः परैरपीष्यत इति विपक्षव्यावृत्तिरेकमेव लक्षणं हेतोरवशिष्टं, तत्रैवास्माकमन्यथानुपपत्तिशब्देनाग्रह इति तत्त्वम् । अत्र हेत्वसिद्ध्युद्भावने—नैरात्म्यमपि तत्त्वतो माध्यमिकस्य न सिद्ध्येदित्याह—स्यादाकूतं ते इत्यादिना (८) तत्साधनं विरुद्धतामापद्येतेत्यन्तेन, (१२) ॥ स्वसंवेदनज्ञानमहिम्नैव नैरात्म्यं सेत्स्यति समारोपव्यवच्छेदार्थं पुनः साधनादर इत्यत्राह भाष्यकृत्, तत्र समारोपव्यवच्छेदेऽपि समानमिति (१३) समानं साधनविरोधदूषणं प्रागुक्तमिति बोध्यम् । उक्तमेव विवृणोति वृत्तिकृत् 'कुतश्चिदिति' (१७०-१-१३) समारोपव्यवच्छेदः परमार्थतः कल्पनया वा, आद्ये प्रमाणान्तरेण तत्सिद्धौ काल्पनिकसाधनप्रयोगो धीविडम्बनामात्रम्, अन्त्ये तत्त्वतः समारोपाव्यवच्छेदाद-

शून्यतेति भावः । संवृतेः स्वरूपपररूपाभ्यामस्तित्वनास्तित्वपर्यवसानेन स्वसमयार्थसिद्धिमुद्घोपयति यदीत्यादिना (१७०–२–२) प्रत्येकपक्षपर्यवसितमुभयानुभयपक्षयोरपि पर्यवस्यतीत्याशयवानाह भाष्यकृत् 'तदेतेनेति '(५)॥ न कश्चिद्विवाद इति (६) क्रमार्पितोभयविपयस्य तृतीयभङ्गस्यास्मदभिमतत्वादेवेत्यर्थः, 'तथात्र इति ' (७) प्रत्येकरूपेणोभयभिन्नभेदस्योभयत्रैव पर्यवसानादिति भावस्याग्रे स्फुटीकरिष्यमाणत्वादित्यर्थः, तदस्तीति (७) तदस्ति नास्ति उभयमनुभयं चेत्यर्थः । उक्तदोषानुषङ्गादिति (८) मृषैकान्तस्याप्यघटमानत्वेनानेकान्तसत्यत्वे पर्यवसानादित्यर्थः । नहि विचारस्येत्यादि (८)॥ विप्रतिपत्तिनिरासानुकूलो विमर्शो विचारः शून्यवादिनश्च क्वचिदप्यनिर्णयेन विचाराभावे तदनुरूपा संवृतिर्दूरोत्सारितैव, विशेषणाभावे विशिष्टाभावादिति भावः । किं वत परमन्यत्र मोहनीयप्रकृतेरिति (१४) महामोहदोषान्न किञ्चिदधिकं विभ्रमकारणं येन बहुवादिसम्मतमपि पदार्थसद्भावं निरस्य नैरात्म्यं शिक्षयति भिक्षून् शौद्धोदनिरित्यर्थः ॥१२॥

परस्परनिरपेक्षभावाभावैकान्तपक्षोपि न क्षेमङ्करः, तत एवेत्यावेदयन्ति स्वामिनः ॥

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ।

भावाभावयोरेकतरप्रतिक्षेपैकान्तपक्षोपक्षिप्तदोषपरिजिहीर्षया सदसदात्मकं सर्वमभ्युपगच्छतोपि वाणी विप्रतिपिध्येत, तयोः परस्परपरिहारस्थितिलक्षणत्वात् । न हि सर्वात्मना कञ्चिदर्थं सन्त तथैवासन्तमाचक्षाणः स्वस्थः, स्वाभ्युपेतेतरनिरासविधानकरणाच्छून्यावबोधवत् । यथैव हि सर्वथा शून्यमवबुध्यमान स्वसवेदनादन्यतो वा स्वाभ्युपेत शून्यतैकान्तं निरस्यति, अनभ्युपेतं प्रमाणादिसद्भाव विधत्ते, तथैव भावाभावयोस्तादात्म्यैकान्तं ब्रुवन् स्वाभ्युपेतं सदसदात्मकं निरस्यति, स्वयमनभ्युपगत तु भावैकान्तम-

भावैकान्तं वा विधत्ते, अभावस्य भावेऽनुप्रवेशाद्भावस्य वा सर्वथाऽभावे, अन्यथा भावाभावयोर्भेदप्रसङ्गात्। ततो नोभयोरैकात्म्यं श्रयः स्याद्वाद विद्विषां, सदसतोः परस्परपरिहारस्थितिलक्षणविरोधात् जात्यन्तरस्यैव दर्शनेन सर्वथोभयैकात्म्यस्य बाधनात्तद्वत्। तथा साख्यस्यैवमुभयैकात्म्यं ब्रुवतस्त्रैलोक्यं व्यक्तेरपैति, नित्यत्वप्रतिपेधात्, अपेतमप्यस्ति विनाशप्रतिपेधादिति वा, तदन्यथापेतमन्यथास्तीति स्याद्वादावलम्बनमन्धसर्पबिलप्रवेशन्यायमनुसरति, त्रैलोक्यस्य व्यक्तात्मनाऽपेतत्त्वसिद्धेः अव्यक्तात्मनास्तित्वव्यवस्थितेः "हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्। सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥१॥" इति वचनात्। परमार्थतो व्यक्ताव्यक्तयोरेकत्वान्न स्याद्वादावलम्बनं कापिलस्येति चेत्, न, तथा विरोधस्य तदवस्थानात्। प्रधानाद्वैतोपगमे तु नोभयैकात्म्यमभ्युपगतं स्यात्। तथा स्वयमनभ्युपगच्छतोपि कथञ्चिदुभयात्मकतत्त्ववादप्रवेशे कथमन्धसर्पबिलप्रवेशन्यायानुसरणं न स्यात्? यदृच्छया तदवलम्बनात्। ततो नैवमप्युभयैकान्तः सिध्यति, विरोधात् ॥

'जात्यन्तरस्यैवेति' (१७२-१-२) प्रत्येकद्वयरूपोभयाभ्युपगमकृतदोपस्य जात्यन्तरवादेनैव गुडशुण्ठीन्यायेन निरासशुकरत्वादिति भावः। तदाहुः श्रीहेमसूरिपादाः॥ "गुडोऽपि कफहेतुः स्यान्नागरं पित्तकारणम्। द्वयात्मनि न दोपोऽस्ति गुडनागरभेषजे ॥१॥" इति, तत्त्वं चावच्छेदकभेदेनोभयवृत्त्याऽवच्छेदकभेदगर्भितोभयात्मकैकस्वभावेन वा, आद्येऽवच्छेदकद्वयोरपि प्रतीतिबलेन व्याप्यवृत्तित्वादुभयोर्व्याप्यवृत्तित्वम्, अन्त्ये च स्यातपदोपसन्दानेन भावाभावपदयोर्विशेपपरतेति निरूपितं नयरहस्येऽस्माभिः। तद्वत् (२) शून्यावबोधवत्। एवं (३) उपाधिभेदराहित्येन परस्परनिरपेक्षतया, त्रैलोक्यं (२) प्रधानं, व्यक्तेः (३) महदादेः, नित्यत्वप्रतिषेधादपैति नश्यति। अपेतं ध्वस्तम्, अप्यस्ति प्रकृतेर्विनाशप्रतिपेधात् तत् त्रै-

लोक्यम्, अन्यथा (१७२-१-३) महदादिरूपेणापेतम्, अन्यथा (४) प्रकृतिरूपेणास्तीत्यकामेनापि साङ्ख्येन स्याद्वादे प्रवेष्टव्यमित्यर्थः ॥

अवाच्यतैकान्तेप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥ १३ ॥

योपि पक्षत्रयोपक्षिप्तदोपजिहासया सर्वथाऽवक्तव्यं तत्त्वमवलम्वेत, सोपि कथमवक्तव्य ब्रूयात्, येनावाच्यतैकान्तेप्यवाच्यमित्युक्तिर्युज्यते । तदयुक्तौ कथं परमवबोधयेत् ? स्वसंविदा परावबोधनायोगात्। तदनवबोधने कथ परीक्षितास्य स्यात् ? तस्यापरीक्षकत्वे च कुतोन्यस्माद्विशेषः सिध्येत् ? अपरीक्षिततत्त्वाभ्युपगमस्य सर्वेपा निरङ्कुशत्वात् । नैप दोषः स्वलक्षणमनिर्देश्यं प्रत्यक्ष कल्पनापोढमित्यादिवत्सर्वमवाच्य तत्त्वमिति वचनेपि विरोधाभावात् परप्रतिपादनस्यान्यथानुपपत्तेः, इति कस्यचिद्वचन, तदप्यसत्, यदसतः समुदाहृतम् । सिद्धसाध्यव्यवस्था हि कथामार्गः । न च स्वलक्षणस्य सर्वथाप्यनिर्देश्यत्वोपगमे ' स्वलक्षणमनिर्देश्यम् ' इति वचनेन तस्य निर्देश्यत्वमविरुद्धम् । अथ स्वलक्षणं नैतद्वचनेनापि निर्देश्यं स्वलक्षणसामान्यस्यैव तेन निर्देश्यत्वात् स्वलक्षणे निर्देशासभवात्, न ह्यर्थे शब्दाः सन्ति तदात्मानो वा येन तस्मिन् प्रतिभासमाने तेपि प्रतिभासेरन्निति वचनात् । कल्पनारोपित तु स्वलक्षणं तद्धर्मो वा निर्देश्यत्वशब्देन निर्दिश्यते, विरोधाभावादिति मतं, तर्हि स्वलक्षणमज्ञेयमपि स्यात् । यथैवाक्षविषयेऽभिधानं नास्ति तथाक्षज्ञाने विपयोपि नैवास्ति । ततस्तत्र प्रतिभासमानेपि न प्रतिभासेत । शक्यं हि वक्तुं ' यो यत्राधेयतया नास्ति तदात्मा वा न भवति स तस्मिन् प्रतिभासमानेपि न प्रतिभासते यथाक्षविपये स्वलक्षणे शब्दः । नास्ति चाक्षज्ञाने तथाक्षविषयस्तदात्मा वा न भवति, इति । यदि पुनर्विपयसामर्थ्यादक्षज्ञानस्योत्पादात्तत्र प्रतिभासमाने स प्रतिभासत एवेति मतं, तदप्यसम्यक्, करणशक्तेरपि प्रतिभासप्रसङ्गात् ।

तथा हि । न केवल विषयबलाद्दृष्टेरुत्पत्तिः, अपि तु चक्षुरादिशक्तेश्च । विषयाकारानुकरणाद्दर्शनस्य तत्र विषयः प्रतिभासते, न पुनः करण, तदाकाराननुकरणादिति चेत्, तर्हि तदर्थवत्करणमनुकर्त्तुमर्हति, न चार्थं, विशेषाभावात् । दर्शनस्य कारणान्तरसद्भावेपि विषयाकारानुकारित्वमेव सुतस्येव पित्राकारानुकरणमित्यपि वार्त, स्वोपादानमात्रानुकरणप्रसङ्गात् । विषयस्यालम्बनप्रत्ययतया स्वोपादानस्य च समनन्तरप्रत्ययतया प्रत्यासत्तिविशेषाद्दर्शनस्य उभयाकारानुकरणेप्यनुज्ञायमाने रूपादिवदुपादानस्यापि विषयतापत्तिः, अतिशयाभावात्, वर्णादेर्वा तद्वदविषयत्वप्रसङ्गात् । दर्शनस्य तज्जन्मरूपाविशेषेपि तदध्यवसायनियमाद्बहिरर्थविषयत्वमित्यसारं, वर्णादाविवोपादानेप्यध्यवसायप्रसङ्गात्, अन्यथोभयत्राध्यवसायायोगात् । न हि रूपादावध्यवसायः संभवति, तस्य दर्शनविषयत्वोपगमात्, दर्शनस्यानध्यवसायात्मकत्वात्, तस्याध्यवसायात्मकत्वे स्वलक्षणविषयत्वविरोधात् । अदोषोऽयं, प्रत्यक्षस्याध्यवसायहेतुत्वादित्यनिरूपिताभिधान सौगतस्य, तत्राभिलापाभावात् । यथैव हि वर्णादावभिलापाभावस्तथा प्रत्यक्षेपि तस्याभिलापकल्पनातोऽपोढत्वादनभिलापात्मकार्थसामर्थ्येनोत्पत्तेः । प्रत्यक्षस्य तदभावेप्यध्यवसायकल्पनायां प्रत्यक्षं किं नाध्यवस्येत् ? स्वलक्षणं, स्वयमभिलापशून्यमपि प्रत्यक्षमध्यवसायस्य हेतुर्न पुना रूपादिरिति कथं सुनिरूपिताभिधानम् ? यदि पुनरविकल्पकादपि प्रत्यक्षाद्विकल्पात्मनोऽध्यवसायस्योत्पत्तिः, प्रदीपादेः कज्जलादिवद्विजातीयादपि कारणात्कार्यस्योत्पत्तिदर्शनादिति मतं, तदा तादृशोऽर्थाद्विकल्पात्मनः प्रत्यक्षस्योत्पत्तिरस्तु, तत एव तद्वत् । जातिद्रव्यगुणक्रियापरिभाषाकल्पनारहितादर्थात्कथं जात्यादिकल्पनात्मक प्रत्यक्षं स्यादिति चेत्, प्रत्यक्षात्तद्रहिताद्विकल्पः कथ जात्यादिकल्पनात्मकः स्यादिति समान पर्यनुयोगः । विकल्पस्य जात्यादिविषयत्वाददोष इति चेत्, न, प्रत्यक्षवत्तस्य जात्यादिविषयत्वविरोधात् । यथैव हि प्रत्यक्षस्याभिलापससर्गयोग्यता नास्ति तथा तत्समन्तरभाविनोपि विकल्पस्य, तस्याप्यभिलपनेनाभिलप्यमानेन

च जात्यादिना ससर्गासंभवात्, स्वोपादानसजातीयत्वात्। कथमिदानी विकल्पो जात्यादिव्यवसायीति चेत्, न कथमपि। तथा हि। किञ्चित्केनचिद्विशिष्टं गृह्यमाणं कचिद्विशेषणविशेष्यतत्सवन्धव्यवस्थाग्रहणमपेक्षते दण्डिवत्, "विशेषणं विशेष्यं च सवन्धं लौकिकीं स्थितिम्। गृहीत्वा सकलस्यैतत्तथा प्रत्येति नान्यथा ॥१॥" इति वचनात्। न चायमियतो व्यापारान् कर्तुं समर्थः, प्रत्यक्षवलोत्पत्तेरविचारकत्वात् प्रत्यक्षवत्। कश्चिदाह 'नैतदेवं दूषणं, प्रत्यक्षादेवाध्यवसायोत्पत्त्यनभ्युपगमात्, शब्दार्थविकल्पवासनाप्रभवत्वान्मनोविकल्पस्य, तद्वासनाविकल्पस्यापि पूर्वतद्वासनाप्रभवत्वादित्यनादित्वाद्वासनाविकल्पसन्तानस्य प्रत्यक्षसतानादन्यत्वात्, विजातीयाद्विजातीयस्योदयानिष्टेः, तदिष्टौ यथोदितदूषणप्रसङ्गात्' इति, तस्याप्येवंवादिनः शब्दार्थविकल्पवासनाप्रभवात्ततस्तर्हि कथमक्षबुद्धेः रूपादिविपयत्वनियमः सिद्ध्येत् ? मनोराज्यादिविकल्पादपि तत्सिद्धिप्रसङ्गात्। अथाक्षबुद्धिसहकारिणो वासनाविशेषादुत्पन्नाद्रूपादिविकल्पादक्षबुद्धे रूपादिविपयत्वनियमः कथ्यते। तत एवाक्षबुद्धिविपयत्वनियमोप्यभिधीयताम्। अन्यथा रूपादिविपयत्वनियमोपि मा भूदविशेषात्। रूपाद्युल्लेखित्वाद्विकल्पस्य तद्वलात् तदभ्युपगमे वा प्रत्यक्षबुद्धेरभिलापससर्गोपि तद्वदनुमीयेत, तद्विकल्पस्याभिलापेनाभिलप्यमानजात्याद्युल्लेखितयोत्पत्त्यन्यथानुपपत्तेः, तदनुमिताच्चाक्षबुद्ध्यभिलापससर्गाद्रूपाद्यभिलापससर्गोनुमीयेत ॥ इति शब्दाद्वैतवादिमतसिद्धिः ॥ न च सौगतो दर्शनस्याभिलापससर्गमुपैति। तस्मादयं किञ्चित्पश्यन् तत्सदृशं पूर्वं दृष्टं न स्मर्तुमर्हति तन्नामविशेपास्मरणात्। तदस्मरन्नैव तदभिधानं प्रतिपद्यते। तदप्रतिपत्तौ तेन तत्र योजयति। तदयोजयन्नाध्यवस्यतीति न क्वचिद्विकल्पः शब्दो चेत्यविकल्पाभिधानं जगत्स्यात्। ननु च नामसश्रयस्य विकल्पस्य प्रत्यात्मवेद्यत्वात् सर्वेपामभिधानस्य च श्रोत्रबुद्धौ प्रतिभासनात्कथमविकल्पाभिधानं जगदापद्येतेति चेत्, न, तत्राप्यध्यवसायासभवात्, न च स्वसंवेदनेनेन्द्रियप्रत्यक्षेण वा निर्विकल्पकेन विकल्पोभिधानं वा गृहीतं नाम,

अतिप्रसङ्गात् । तथा हि । बहिरन्तर्वा गृहीतमप्यगृहीतकल्पं क्षणक्षयस्वलक्षणसंवेदनादिवत् । तथा चायातमचेतनत्वं जगतः । ननु च नास्मन्मते कश्चित्किञ्चिन्नीलादिकं सुखादिकं वा संविदन्पूर्वसंविदितं तत्सदृशं तन्नामविशेषं च क्रमशः स्मरति, पूर्वसंविदितसंवेद्यमाननामविशेषयोः सहैव स्मरणात्, तत्संस्कारयोर्दृश्यदर्शनादेव सहप्रबोधात् । ततोयं किञ्चित्पश्यन्नेव तत्सदृशं पूर्वदृष्टं स्मर्त्तुमर्हति, तदैव तन्नामविशेषस्मरणात्, ततस्तस्येदं नामेत्यभिधानप्रतिपत्तेः, ततस्तस्य दृश्यस्याभिधानेन योजनाद्व्यवसायघटनान्न किञ्चिद्दूषणमित्यपरः, तस्यापि दृश्यमाननाम्नः पूर्वदृष्टस्य च तत्सदृशस्य सहस्मृतिरयुक्तैव, स्वमतविरोधात्, सकृत्स्मृतिद्वयानभ्युपगमात् कल्पनयोर्बाध्यबाधकभावात् । कथमन्यथाऽश्वं विकल्पयतोपि गोदर्शने कल्पनाविरहसिद्धिः । नाममात्रेपि सहस्मृतिरयुक्तैव, तन्नामाक्षरमात्राणामपि क्रमशोध्यवसानात्, अध्यवसानाभावे स्मृतेरयोगात् क्षणक्षयादिवत् । न च युगपत्तदध्यवसायः संभवति, विरोधात् । अन्यथा संकुला प्रतिपत्तिः स्यात्, नीलमिति नाम्नि नकारादीनां परस्परविविक्तानामप्रतिपत्तेः । किञ्चाभिलापस्य पदलक्षणस्य तदंशानां च वर्णाना नामविशेषस्य स्मृतावसत्या व्यवसायः स्यात् सत्यां वा ? नाम्नो नामान्तरेण विनापि स्मृतौ केवलार्थव्यवसायः किं न स्यात् ? स्वाभिधानविशेषापेक्षा एवार्था निश्चयैर्व्यवसीयन्ते इत्येकान्तस्य त्यागात्, नाम्नः स्वलक्षणस्यापि स्वाभिधानविशेषानपेक्षस्यैव व्यवसायवचनात् । तदवचने वा न क्वचिद्व्यवसायः स्यात्, नामतदंशानामव्यवसाये नामार्थव्यवसायायोगात् । दर्शनेनाव्यवसायात्मना दृष्टस्याप्यदृष्टकल्पत्वात् सकलप्रमाणाभावः, प्रत्यक्षस्याभावेऽनुमानोत्थानाभावात् । तत एव सकलप्रमेयापायः, प्रमाणापाये प्रमेयव्यवस्थानुपपत्तेः । इत्यप्रमाणप्रमेयत्वमशेषस्यावश्यमनुपज्येत । तदुक्तं न्यायविनिश्चये " अभिलापतदंशानामभिलापविवेकतः । अप्रमाणप्रमेयत्वमवश्यमनुपज्यते ॥ १ ॥ " इति, अभिलापविवेकत इत्यभिलापरहितत्वादिति व्याख्यानात् । प्रथमपक्षोपक्षिप्तदोषपरि-

जिहीर्षया तन्नामान्तरपरिकल्पनायामनवस्था । नामतदंशानामपि नामान्तरस्मृतौ हि व्यवसाये नामान्तरतदंशानामपि व्यवसायः स्वनामान्तरस्मृतौ सत्यामित्यनवस्था स्यात् । तथा च तदेवाप्रमाणप्रमेयत्वमवश्यमनुपज्येत । अत्रापीयमेव कारिका योज्या, ' अभिलापविवेकतः ' इत्यभिलापनिश्चयत इति व्याख्यानात् । प्रतिपादितदोषभयात्तदयमशब्दं सामान्यं व्यवस्यन् स्वलक्षणमपि व्यवस्येत्, सामान्यलक्षणस्वलक्षणयोर्हि भेदाभावात् । नन्वर्थक्रियाकारिणः परमार्थसतः स्वलक्षणत्वात्, ततोन्यस्यानर्थक्रियाकारिणः संवृतिसतः सामान्यलक्षणत्वात्तयोः कथमभेदः स्यात्? "यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसत् । अन्यत्संवृतिसत् प्रोक्ते ते स्वसामान्यलक्षणे ॥१॥" इति वचनात्, तयोरभेदे सांवृतेतरस्वभावविरोधात् । इति कश्चित्, सोपि स्वदर्शनानुरागी न परीक्षक, स्वेनासाधारणेन रूपेण लक्ष्यमाणस्य सामान्यस्यापि स्वलक्षणत्वघटनाद्विशेषवत् । यथैव हि विशेष स्वेनासाधारणेन रूपेण सामान्यासंभविना विसदृशपरिणामात्मना लक्ष्यते तथा सामान्यमपि स्वेनासाधारणेन रूपेण सदृशपरिणामात्मना विशेपासभविना लक्ष्यते इति कथं स्वलक्षणत्वेन विशेषाद्भिद्यते? यथा च विशेष. स्वामर्थक्रिया कुर्वन् व्यावृत्तिज्ञानलक्षणामर्थक्रियाकारी तथा सामान्यमपि स्वामर्थक्रियामन्वयज्ञानलक्षणा कुर्वत् कथमर्थक्रियाकारि न स्यात्? तद्ग्राह्या पुनर्वाहदोहाद्यर्थक्रिया यथा न सामान्य कर्तुमुत्सहते तथा विशेषोपि केवलः, सामान्यविशेषात्मनो वस्तुनो गवादेस्तत्रोपयोगात् । इत्यर्थक्रियाकारित्वेनापि तयोरभेद. सिद्धः । एकस्माद्द्रव्यात्कथञ्चिदभिन्नत्वसाधनाच्च सामान्यविशेषपरिणामयोरभेदोभ्युपगन्तव्यः । तथा च सामान्य व्यवस्यन्नपि कथञ्चित्तदभिन्नस्वलक्षणं न व्यवस्यतीति कथमुपपत्तिमत्? अथ न द्रव्य नापि तत्परिणामः सामान्य विशेषो वा स्वलक्षणम् । किं तर्हि? ततोन्यदेव किञ्चित् सर्वथा निर्देष्टुमशक्यं प्रत्यक्षबुद्धौ प्रतिभासमानं तदनुमन्यते । एवमपि जात्यन्तर सामान्यविशेषात्मकं वस्तु स्वलक्षणमित्यायात, तस्यैव परस्परनि-

रपेक्षमामान्यविशेषतद्वद्द्रव्येभ्योन्यस्य प्रत्यक्षसंविदि प्रतिभासनात्, निरन्वयक्षणक्षयिनिरंशपरमाणुलक्षणस्य सुष्ठुप्रत्यक्षेणालक्षणात्। तत्र च व्यवसायोक्षजन्मा स्वाभिधानविशेषनिरपेक्ष' किन्न स्यात् ? यतोयं स्वलक्षणमशब्दं न व्यवस्येत्। ततः सामान्यवत्स्वलक्षणमध्यवस्यन्नाभिलापेन योजयेत्। ततो न किञ्चित्प्रमेयमनभिलाप्यं नाम श्रुतज्ञानपरिच्छेद्यं, शब्दयोजितस्य श्रुतविषयत्वोपपत्तेः। प्रत्यक्षस्यानभिलाप्यत्वे स्मार्त्तं शब्दानुयोजनं दृष्टसामान्यव्यवसायो यद्यपेक्षेत सोर्थो व्यवहितो भवेत् तदिन्द्रियज्ञानात्सामान्यव्यवसायो न स्यात्। यथैव हि शब्दसंसृष्टार्थग्राहिसविकल्पकप्रत्यक्षवादिनामर्थोपयोगे सत्यपि स्मार्त्तशब्दानुयोजनापेक्षेऽक्षज्ञाने तदर्थो व्यवहितः स्यात् स्मार्तेन शब्दानुयोजनेन इति तदर्थादक्षज्ञानं सविकल्पकं न स्यात्, तदभावेपि भावात्तद्भावेपि चाभावादिति दूषणम्॥ 'अर्थोपयोगेपि पुनः स्मार्त्तं शब्दानुयोजनम्। अक्षधीर्यद्यपेक्षेत सोर्थो व्यवहितो भवेत्॥१॥' इति वचनात् समुद्भाव्यते, तथैव शब्दानुयोजनासहितार्थग्राहिविकल्पवादिनामपि सौगतानामिन्द्रियज्ञानमुपयोगे सत्यपि विकल्पोत्पत्तौ स्मार्त्तं शब्दानुयोजनं विकल्पो यद्यपेक्षेत तदा तदिन्द्रियज्ञानं स्वविषयनामविशेषस्मरणेन तद्योजनेन च व्यवहितं स्यात्। तथा च नेन्द्रियज्ञानाद्व्यवसायः स्यात् तदभावे भावात्तद्भावेपि चाभावादिति दूषणमुद्भावनीयं, 'ज्ञानोपयोगेपि पुनः स्मार्त्तं शब्दानुयोजनं। विकल्पो यद्यपेक्षेताध्यक्षं व्यवहित भवेत्' ॥१॥ इति वक्तुं शक्यत्वात्, अर्थशब्देन प्रत्यक्षस्याभिधानाद्वा, क्वचिद्विषयेण विषयिणो वचनाद्धर्मकीर्तिकारिकाया एव तन्मतदूषणपरत्वेन व्याख्यातु शक्यत्वात्। यथा च प्रागजनको योर्थोभिलापसंसृष्टार्थेन्द्रियबुद्धेः स पश्चादपि स्मार्तशब्दानुयोजनेपि तस्योपयोगाविशेषादजनक एव तेनार्थापायेपि नेत्रधीः शब्दाद्वैतवादिनः स्यादिति धर्मकीर्तिदूषणम्, 'यः प्रागजनको बुद्धेरुपयोगाविशेषतः। स पश्चादपि तेन स्यादर्थापायेपि नेत्रधी' ॥१॥' इति वचनात्। तथा यदिन्द्रियज्ञानं स्मार्तशब्दयोजनात्प्रागजनकं सामान्यव्यवसा-

यस्य तत् पश्चादप्युपयोगाविशेषात्, तेनेन्द्रियज्ञानव्यपायेपि सामान्यव्यवसायः स्यात्, तस्य प्रागिवाजनकत्वात्, तदन्तरेणापि दर्शनमयं गौरिति निर्णय स्यात्, 'यः प्रागजनको बुद्धेरुपयोगाविशेषतः। स पश्चादपि तेनाक्षत्रोवापायेपि कल्पना'॥१॥ इति प्रतिपादनात्। तदेवं न दर्शनादध्यवसायः सभवति येन दर्शनस्य स्वालम्बनसमनन्तरप्रत्ययजन्मतत्मारूप्याविशेषेपि स्वविषयप्रतिनियम सिध्येत्। किञ्च सौगतानामनभिलाप्यस्य विशेषस्यानुभवे कथमभिलाप्यस्य स्मृतिः ? अत्यन्तभेदात् स्वलक्षणात्मामान्यस्य, सह्यविन्ध्यवत्। न हि सह्यस्यानुभवे विन्ध्यस्य स्मृतिर्युक्ता। विशेषसामान्ययोरेकत्वाध्यवसायाद्विशेषस्यानुभवे सामान्ये स्मृतिर्युक्तैवेति चेत्, कुतस्तयोरेकत्वाध्यवसायः ? न तावत्प्रत्यक्षात्, तस्य सामान्याविषयत्वात्, नापि तत्पृष्ठभाविनो विकल्पादनुमानाद्वा, तस्य विशेषाविषयत्वात्, तदुभयविषयस्य च कस्यचित्प्रमाणस्यानभ्युपगमात। तदन्यतरविषयेण तयोरेकत्वाध्यवसायेऽतिप्रसङ्गात्, त्रिविप्रकृष्टेतरयोरप्येकत्वाध्यवसायोक्षज्ञानात्प्रसज्येत। किं च शब्दार्थयोः सबन्धस्यास्वाभाविकत्वे कथमर्थमात्रं पश्यन् शब्दमनुस्मरेत् शब्दं शृण्वन् तदर्थं वा ? यतोयं व्यवसायः सौगतस्य सिध्येत। न हि सह्यमात्र पश्यन विन्ध्यस्य स्मरेत्। स्यान्मत शब्दस्य विकल्पेन तदुत्पत्तिलक्षणसबन्धोपगमात् तस्य च दृश्येनैकत्वाध्यवसायाद्विशेषस्यानुभवेपि शब्दं तदर्थं वा विकल्पं स्मर्तुमीष्टे व्यवहारी, प्रवृत्तिदर्शनात्, इति, तदप्यसम्यक्, कुतश्चिदपि दृश्यविकल्पयोरेकत्वाध्यवसायासभवस्योक्तत्वात्। ततः स्वत एव व्यवसायात्मकत्वमभ्युपगन्तव्य प्रत्यक्षस्य, न पुनरभिधानजात्यादियोजनापेक्षया। चक्षुरादिज्ञानस्य कथञ्चिद्व्यवसायात्मकत्वाभावे दृष्टसजातीयस्मृतिर्न स्यात्, दानहिंसाविरतिचेतसः स्वर्गादिफलजननसामर्थ्यसवेदनवत् क्षणक्षयानुभवनवद्वा। व्यवसायात्मनो मानसप्रत्यक्षाद्दृष्टसजातीयस्मृतिरिति चेत्, न, अव्यवसायात्मनोऽक्षज्ञानात् समनन्तरप्रत्ययाद्व्यवसायात्मनो मनोविज्ञानस्योत्पत्तिविरोधाद्विकल्पवत्, निर्विकल्पात्म-

कत्वान्मानसप्रत्यक्षस्याभिलापसंसर्गयोग्यताप्रतिभासाभावात्। अव्यवसायात्मनोऽप्यक्षज्ञानाददृष्टविशेषसहकारिणः स्यादुत्पत्तिरिति चेत्, किमेवमक्षज्ञानस्य स्वयं व्यवसायात्मन एवादृष्टविशेषादुत्पत्तिर्नेष्यते ? तेन नीलादेर्व्यवसाये तत्क्षणक्षयस्वर्गप्रापणशक्त्यादेरपि व्यवसायप्रसङ्गान्नाक्षज्ञानं व्यवसायात्मकमिष्टमिति चेत्, तत एव मानसप्रत्यक्षमपि व्यवसायात्मकं मा भूत्। तस्य क्षणक्षयाद्यविषयत्वान्न तद्व्यवसायित्वमिति चेत्, तत एवाक्षज्ञानस्यापि तन्माभूत्। तथा सति नीलादेः क्षणक्षयादिरन्यः स्यात्, तद्व्यवसायेऽप्यव्यवसायात् कूटादिपिशाचादिवदिति चेत्, तर्हि मानसप्रत्यक्षेणापि नीलादिव्यवसायेऽपि क्षणक्षयादेरव्यवसायात्ततो भेदोऽस्तु तद्वदेव, सर्वथा विशेषाभावात्। कथञ्चिदक्षज्ञानस्य व्यवसायात्मकत्वे तु मानसप्रत्यक्षकल्पनापि न स्यात्, प्रयोजनाभावात्, तत्प्रयोजनस्याक्षज्ञानादेव सिद्धेः। एतेनाव्यवसायात्मकमपि मानसप्रत्यक्षं कल्पयन् प्रतिक्षिप्तः। ननु 'निर्विकल्पकादप्यक्षज्ञानादभ्यासप्रकरणबुद्धिपाटवार्थित्ववशाद्दृष्टसजातीये स्मृतिर्युक्ता, सविकल्पकप्रत्यक्षादपि तदभावे तदनुपपत्तेः, प्रतिवाद्युपन्यस्तसकलवर्णपदादिवत् स्वोच्छ्वासादिसंख्यावद्वा। न हि सविकल्पकप्रत्यक्षेण तद्व्यवसायेऽपि कस्यचिदभ्यासाद्यभावे पुनस्तत्स्मृतिर्नियमतः सिद्धा, यतः सविकल्पकत्वप्रकल्पनं प्रत्यक्षस्य फलवत्।' इति कश्चित्, सोऽप्यप्रज्ञाकर एव, सर्वथैकस्वभावस्य प्रत्यक्षस्य क्वचिदभ्यासादीनामितरेषां च सकृदयोगात्। तदन्यव्यावृत्त्या तत्र तद्योग इति चेत्, न, स्वयमतत्स्वभावस्य तदन्यव्यावृत्तिसंभवे पावकस्याशीतत्वादिव्यावृत्तिप्रसङ्गात्, तत्स्वभावस्य तदन्यव्यावृत्तिकल्पने फलाभावात्, प्रतिनियततत्स्वभावस्यैवान्यव्यावृत्तिरूपत्वात्। सविकल्पकप्रत्यक्षज्ञानवादिना त्वेषामवग्रहेहावायज्ञानादनभ्यासात्मकादन्यदेवाभ्यासात्मकं धारणाज्ञानं प्रत्यक्षम्। तेषां तदभावे परोपन्यस्तसकलवर्णपदादिष्ववग्रहादित्रयसद्भावेऽपि न स्मृतिः। तत्सद्भावे तु स्यादेव, सर्वत्र यथासंस्कारं स्मृत्यभ्युपगमात् क्वचिदभिलापसंस्कारादभिलापस्मृतिवत्।

प्रत्यक्षेभिलापसंस्कारविच्छेदे कुतस्तद्विकल्पाभिलापसंयोजनं यतः सामान्यमभिलाप्यं स्यात् । प्रत्यक्षगृहीतमेव हि स्वलक्षणमन्यव्यावृत्तं साधारणाकारतया प्रतिभासमानं सामान्यं विकल्पाभिलापयोजनेनाभिलाप्यमिष्यते । न च ग्राहकप्रत्यक्षस्मृतिप्रतिभासभेदाद्विषयस्वभावाभेदाभावः, सकृदेकार्थोपनिबद्धदर्शनप्रत्यासन्नेतरपुरुषज्ञानविषयवत् । यथा हि सकृदेकस्मिन्नर्थे पादपादावुपनिबद्धदर्शनयोः प्रत्यासन्नविप्रकृष्टपुरुषयोर्ज्ञानाभ्यां विषयीकृते स्पष्टास्पष्टप्रतिभासभेदान्न स्वभावभेदः पादपस्य, तस्यैकत्वाव्यतिक्रमात्, तथैव ग्राहकयो प्रत्यक्षस्मृतिप्रतिभासयोर्भेदेपि स्पष्टमन्दतया न तद्विषयस्य भेदः, स्वलक्षणस्यैकस्वभावत्वाभ्युपगमात् । तथा च मन्दप्रतिभासिनि स्वलक्षणे घटादौ शब्दविकल्पविषये तत्संकेतव्यवहारनियमकल्पनायामपि कथञ्चिदभिधेयत्वं वस्तुनः सिद्धम् । इत्यलं प्रसङ्गेन, रूपादिस्वलक्षणे शब्दाभावादवाच्यमेव तदिति ब्रुवाणस्य प्रत्यक्षेर्थस्याभावात्तस्याज्ञेयत्वप्रसक्तेः समर्थनात्, रूपाद्यर्थस्य कथञ्चिज्ज्ञेयत्वेभिलाप्यत्वस्यापि साधनात् प्रकृतार्थपरिसमाप्तौ प्रसङ्गस्य निष्प्रयोजनत्वात् पर्याप्तं प्रसङ्गेन । तस्मादवाच्यतैकान्ते यदवाच्यमित्यभिधानं तदसमञ्जसं, स्वलक्षणमनिर्देश्यमित्यादिवत्स्ववचनविरोधात् तदप्यसद्, यदसतः समुदाहृतमिति प्रतिपादनात् । यथैव हि स्वलक्षणमनिर्देश्यमित्यवाच्यतैकान्ते वक्तुमशक्यं तथा प्रत्यक्षं कल्पनापोढमित्यपि, प्रत्यक्षेभिलापसंसर्गाभावे विकल्पानुत्पत्तिप्रसङ्गस्य निवेदितत्वात्, तत्सद्भावे सविकल्पकत्वसिद्धेः ।

अवाच्यतैकान्तं दूषयति–अवाच्यतैकान्त इत्यादिना (१७२–२–३) [मूले], अवाच्यशब्देनाप्यवाच्यतापत्तेः सर्वथाऽवाच्यत्वं नास्तीत्यर्थः । स्वलक्षणानिर्देश्यत्वादिप्रतिपादकवचनवत् सर्वमवाच्यं तत्त्वमित्यस्य नानुपपत्तिरित्याशङ्कते–स्वलक्षणमित्यादिना (६) ॥ एवमसिद्धेनासिद्धं साधयतो महातार्किकत्वापत्तिरित्याह भाष्यकृत्–तदप्यसदित्यादिना, (७)

यदसतः (१७२–२–७) अप्रसिद्धस्य, समुदाहृतं (८) भावे क्तप्रत्ययात् समुदाहरणं निदर्शनमिति यावत्, तदप्यसद् अयुक्तम्, सिद्धेन साध्यव्यवस्थापनस्यैवोदाहरणप्रयोजनत्वादिति भावः। तदाह वृत्तिकृत् 'सिद्धेत्यादि' (८) अनिर्देश्य-शब्देनापि कल्पितं सामान्यरूपं स्वलक्षणं निर्दिश्यते, न तु तात्त्विकम्, अर्थस्य शब्दाविषयत्वात्, सामान्य एव तत्संकेत-प्रवृत्तेरित्यादि शङ्कते–अथेत्यादि, (९) एवमर्थस्यावाच्यत्वेऽज्ञेयत्वमपि स्यादित्याह 'तर्हीति' (११) ॥ यदि पुनरिति (१४) स्वलक्षणरूपविषयसामर्थ्यादुत्पन्नत्वान्निर्विकल्पकदर्शने प्रतिभासमाने स्वलक्षणरूपोऽर्थः प्रतिभासत इति युक्तं मत-मित्यर्थः। नैवम्, ज्ञानजनकत्वेन ज्ञानभास्यत्वनियमे मानाभावादित्याह तदप्यसम्यगित्यादिना (१४)॥ करणशक्ते-रपि (१४) इन्द्रियनिष्ठज्ञानजननशक्तेरपि, ज्ञाने तज्जन्यत्वं न तद्भासकत्वनियतं किन्तु तदाकारानुकारित्वमित्याशङ्कते 'विष-याकारेत्यादि' (१७३–१–१) तत्रापि तज्जन्यत्वमेव नियामकमित्यतिप्रसङ्ग एवेत्याह भाष्ये 'तर्हीति' (२) तज्ज-न्यताविशेषस्तदाकारानुकरणनियामकोऽस्त्वित्यत्र शङ्कते 'तद्दर्शनस्येति' (२) एवं सति तदुपादेयतारूप एव विशेष आश्रीयतां स्वविषयविषयकत्वरूपसंवादार्थसमनन्तरप्रत्ययजन्यताया एवाभ्यर्हितत्वात्, तथा चार्थविषयतोच्छेद इत्यभि-प्रायवानाह 'स्वोपादानेति' (३) विषयोपादानोभयप्रत्ययत्वेऽप्याकारानुकरणस्य ज्ञाने नियमत उपादानविषयत्वापत्ति-रित्याह–'विषयस्येत्यादि' (३) ॥ वर्णादेः (५) रूपादेः, तद्वदुपादानवत्, प्रत्यक्षस्य (७) नीलादिदर्शनस्य, अध्य-वसायहेतुत्वात् (७) नामजातियोजनात्मकप्रत्यक्षहेतुत्वात्, यद्यप्येवं नीलाध्यवसायहेतुत्वेन दर्शनस्य नीलविषयत्वं तत्त्वेन च नीलाध्यवसायहेतुत्वमित्यन्योन्याश्रयः स्फुट एवोपढौकते, तथाप्यभिलापशून्यत्वेन नाध्यवसायहेतुता रूपादिवदिति स्फुटतरं

दूषणमाह–तत्राभिलापाभावादित्यादिना (८)॥ विकल्पजननशक्तेरविकल्पकेऽपि दर्शने स्वीकारात्तथैव तद्धेतुत्वे दोषाभाव इत्यभिप्रायवानाह–यदि पुनरिति (१०) तस्याः शक्ते रूपाद्यर्थसाधारण्यादविकल्पकोच्छेदापत्तिरत्र दूषणमित्याह–'तदेत्यादि' (११) तादृशो विकल्परहितात्, तद्वत्प्रदीपादेः कज्जलोत्पत्तिवत्, विकल्पस्येति(१२) नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नामेत्यर्थः। दृष्टेऽपि कारणबाधाद्बाधः स्यादित्याह-प्रत्यक्षवदित्यादि (१३) प्रत्यक्षवद्दर्शनवत्, तस्य सविकल्पकस्य, स्वोपादानसजातीयत्वादिति (१७३-२-१) प्रत्यक्षलक्षणस्वकीयोपादानसदृशत्वाद्विकल्पस्येत्यर्थः। सुहृद्भावेन पृच्छति–कथमिदानीमिति(१)॥ सुहृद्भावेनैवोत्तरयति-'न कथमपीति' क्षणिकवादिदर्शने जात्यादियोजनं विकल्पे न कथमप्युपपद्यते दीर्घकालिकत्वात्तदुपयोगस्येत्यर्थः। एतदेव प्रपञ्चयति–तथाहीत्यादिना (१)॥ ततो (६) विकल्पात्, मनोराज्यादीति (७) वासनाविशेषप्रभवविकल्पसमानविषयत्वे निर्विकल्पस्याभ्युपगम्यमाने मनोराज्यादिविकल्पसमानविषयस्यापि दर्शनस्य प्रसङ्गादित्यर्थः, तत एव (८) तदुत्पन्नत्वहेतोरेव, 'अभिधीयतामिति' रूपादिविषय(यो)स्त्वोत्पन्नत्वेन रूपादिशब्दविषयत्ववद्विकल्पस्य समनन्तरप्रत्ययोत्पन्नत्वेन तद्विषयत्वस्य न्यायप्राप्तत्वादिति भावः। व्यतिरेके प्रतिवन्दिमाह अन्यथेति (८), तद्बलात् (९) विकल्पबलात्, प्रत्यक्षबुद्धेः(९) निर्विकल्पकदर्शनस्यापि, अभिलापसंसर्गोऽपि नामविषयकत्वमपि, तद्वद्रूपादिविकल्पवत्, तद्विकल्पस्य (९) निर्विकल्पकत्वाभिमतज्ञानस्थलीयशब्दार्थविकल्पस्य, 'अनुमीयेतेति (१०)' रूपादिकमभिलापसंसर्गवत् शब्दाविषयकज्ञानाविषयत्वादक्षबुद्धिविकल्पादिवदिति प्रयोगस्य सुकरत्वादिति भावः। किञ्चाविकल्पाध्यक्षाभ्युपगमे स्मरणानुपपत्तिरपि सौगतस्येत्याह-न च सौगत इत्यादि (११)॥ तत्सदृशमिति सदृशार्थदर्शनेन संस्कारोद्बोधसौलभ्यार्थमुक्तम्, तन्नामविशे-

षास्मरणात् (११) पूर्वप्रतिपन्ननामास्मरणात्, न च नामविनिर्मुक्तमेव स्मरणं भविष्यतीति शङ्कनीयम्, तस्याप्रसिद्धेरित्यर्थः, 'नैवेति' (१७३–२–११) इदमस्य नामेति न प्रतिपद्यत इत्यर्थः। तदप्रतिपत्तौ तेन नाम्ना न तद्वाच्यं योजयति इदमेतत्पदवाच्यमिति, ततो नाध्यवस्यति (१२) तदेतदिति शब्देन नाभिलापं शक्नोतीत्यर्थः, तदादिबुद्धिस्थत्वादिनाऽनुगतस्य तद्घटत्वादेरिव तद्घटादिनाम्नोऽपि शक्यतावच्छेदकत्वात्, एवं च न क्वचिद्विकल्पः शाब्दज्ञानं वाच्यतासम्बन्धेन नामविषयमध्यक्षपृष्ठभाविज्ञानं वा शब्दो वा तज्जन्यजनकान्यतमः सम्भवेदित्यविकल्पाभिधानस्य जगत आपत्तिः। ननु नामग्रहणं तावत् पटुकरणस्य श्रोत्रेन्द्रियादेव सम्पद्यते, ततोऽर्थज्ञानं च व्युत्पन्नस्य वक्त्रभिप्रायावच्छेदकत्वेनानुमितिरूपमेवेति नोक्तापत्तिरित्याशङ्कते–'ननु चेति' नामसंश्रयस्येत्यत्र (१३) नाम संश्रयः कारणमस्येति बहुव्रीहिः, दूषयति–तत्रापीत्यादिना (१४) ॥ तत्रापि विकल्पश्रोत्रबुद्ध्योरपि, अध्यवसायासम्भवात् (१४) तत्त्वेन निश्चयासम्भवादित्यर्थः। तदेतन्नाम्नोः सह स्मृतिपक्षे योजनासम्भवमाशङ्कते–ननु चेत्यादिना, (१७४–१–१) दूषयति–'तस्यापीति' ॥ नन्वश्वविकल्पकाले गोविकल्प इदन्त्वावच्छिन्ने तादात्म्येनाश्वज्ञानस्य तादात्म्येन गोज्ञानप्रतिबन्धकत्वादेव माभूत्, दृश्यमानदृष्टनाम्नोः स्मृतिस्तु समूहालम्बनरूपा बाधाभावाद्भवन्ती केन वार्यतामित्यस्वरसादाह–'नाममात्रेऽपीत्यादि' (६) नकारादीनां नकारैकारलकारानुस्वाराणामानुपूर्वीग्रहोपायश्च निर्विकल्पकक्षणिकज्ञानपक्षे न शोभते, तत्पृष्ठभाविसविकल्पकज्ञानं च नामयोजनापेक्षमिति नामग्रहे तदपेक्षायामन्योन्याश्रयादिदोषा दुर्निवारा इति द्रष्टव्यम्। सविकल्पकनिश्चयमात्रस्य नामयोजनापेक्षत्वे दोषान्तरमाह किञ्चेत्यादिना, (८) ॥ तदयमशब्दमिति, (१७४–२–३) अशब्दं शब्दयोजनारहितं, व्यवस्यन्निश्चिन्वन्, व्यवस्येन्निश्चिनुयात्,

सामान्येऽपि स्वलक्षणशब्दप्रवृत्त्यविरोधमुपपादयति–' स्वेनेत्यादि ' (६) सामान्यविशेषात्मन (११) इति केवलस्य विशेषस्य गवादित्वेनानुपलक्षणात्तत्र प्रवृत्त्ययोगादिति भावः । तदुक्तं वाक्यपदीये "गौः स्वरूपेण न गौर्नाप्यगौर्गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गौरिति," गोत्वसामान्यक्रोडीकृता व्यक्तिर्गोव्यवहारहेतुरित्येतदर्थः, सामान्यविशेषशबलाकारस्य गोः स्वरूपेण तथात्वमिति तु ज्यायः, अभेदस्तुल्यत्वम्, (१२)॥ एकस्मादित्यादिना (११) चापृथक्त्वमभिहितमिति विशेषः, तदभिन्नं (१२) सामान्याभिन्नम्, इतीत्यनन्तरं सौगतवचनमिति शेषः, कथमुपपत्तिमत् (१३) कथं प्रमाणोपपन्नम्, जात्यन्तरं (१४) पानकरसन्यायेन सङ्कलनात्मकं, न व्यवस्येत् (१७५–१–२) नार्थविग्रहरूपतया गृह्णीयात्, नाभिलापेन योजयेत् (३) ईहिताभिलापवैशिष्ट्येन नावयात्, श्रुतज्ञानेति (३) श्रुतज्ञानजनितसंस्कारमात्रोपनीतशब्दप्रकारकग्रहविषयस्य श्रुतनिश्रितमतिज्ञानविषयत्वोपपत्तेरित्यर्थः । "अर्थाभिधानप्रत्ययास्तुल्यनामधेया" इति नयाश्रयणाद् घटत्वेनैव घटतन्नाम्नोर्मतिज्ञानेऽभेदभानं नाम्नः सविकल्पकसामग्रीग्राह्यतया प्रातिस्विकरूपेण वा तद्व्यक्तौ तद्व्यक्तिस्वरूपतत्ताया इव नामतदवयवेष्वपि नामतदवयवानामेव स्वरूपतः तत्र प्रकारत्वसम्भवात्, घटोऽयमित्यपायधारणोत्तर घटनामकत्वेन घटपदवाच्यत्वेन श्रुतज्ञानोदयध्रौव्यमते तु यथाश्रुत एवार्थः, एतत् स्वसमयरहस्यमस्मत्कृतज्ञानबिन्द्वादितोऽवसेयम् । स्मार्त्तशब्दानुयोजनापेक्षत्वे शब्दाद्वैतवादिनं प्रति यत्सौगतेन दूषणं दत्तं, तत्तं प्रत्यावर्त्तेतेति वक्तुमुपक्रमते–'प्रत्यक्ष(ज्ञान)स्येत्यादि' (४) स (४) प्रत्यक्षज्ञानगृहीतोऽर्थः, व्यवहितो भवेत् (४) स्मार्त्तेन शब्दानुयोजनेनान्तरितः स्यात्, तथा च स्मृतिसामग्र्या बलवत्त्वात्तत्सामान्यप्रत्यक्षं न स्यादेव, तदाह–'तदिन्द्रियेति' (४) कारिकाया अपरावृत्तावप्यर्थशब्दस्य प्रत्यक्षपरत्वे नानुपपत्तिरि-

त्याह–'अर्थशब्देनेति' (११) यदपि प्रागजनकस्यार्थस्य स्मार्त्तशब्दानुयोजनानन्तरं साभिलापबुद्धावप्यजनकत्वमेवेत्यादि दूषणान्तरं शब्दाद्वैतवादिनं प्रति धर्मकीर्त्तिना दत्तं तदपि तं प्रत्यावर्त्तत एवेत्याह–यथा चैत्यादिना (१७५–१–१२)॥ अध्यवसायः सम्भवति, (१७५–२–३) निश्चयकार्यं सिद्ध्यति, स्वालम्बनेत्यादि (३) अध्यक्षमूलकाध्यक्षे योजनीयम् । स्वविषयप्रतिनियमः सिद्ध्येत्, (३) न तु विकल्पवद्भिन्नविषयत्वं स्यादित्यर्थः। अपि च विशेषसामान्ययोर्दर्शन स्मृतिविषयत्वनियमे स्मृत्यनुभवयोः समानविषयत्वनियमभङ्गप्रसङ्गः स्यादित्याह 'किञ्चेत्यादिना' (४)॥ विशेषसामान्ययोरिति ' (५) तथा च घटत्वेन सह गृहीताभेदघटविषयकज्ञानत्वेन घटत्वप्रकारकघटविशेष्यकस्मृतौ हेतुत्वान्न दोष इति भावः। त्रिविप्रकृष्टेतरयोरिति (७) स्वभावदेशकालान्यतरविप्रकृष्टतदविप्रकृष्टयोरित्यर्थः। अस्वाभाविकत्व (८) इति, शशविषाणवत्तुच्छत्व इत्यर्थः। 'कथमिति' (८) अपरसम्बन्धिस्मारकैकसम्बन्धिज्ञानासिद्धेरित्यर्थः, 'विकल्प्येनेति ' (९) विकल्पोत्पत्तौ तदुपहितस्याप्युत्पत्तिरिति मते सिद्धो विकल्प्येन सामान्यादिना शब्दस्य सम्बन्ध इति भावः। अभिधानजात्यादियोजनापेक्षया (१२) अभिधानजात्याद्युपस्थितिकल्पनामपेक्ष्य, कथञ्चिद् व्यवसायात्मकत्वाभावेऽपायधारणात्मना घटत्वादिप्रकारकपरिणामाभावे, ' दानेति ' (१३) निश्चयत्वेन स्मृत्यहेतुत्वे दानाद्यनुभवे वस्तुतस्तदात्मकस्वर्गप्रापणशक्तिक्षणक्षयानुभवात्तत्स्मृतिः स्यात्, सा च न जायते ततो निर्विकल्पकघटादिदर्शनस्वीकारे तज्जातीयस्मृतिर्न स्यादिति भाष्याक्षरार्थः। 'उत्पत्तिविरोधादिति' (१४) अव्यवसायस्य व्यवसायोपादानत्वायोगादित्यर्थः, कारणबाधामुक्त्वा स्वरूपबाधामाह–'निर्विकल्प(ल्पात्मक)कत्वादिति' (१४) मानसप्रत्यक्षेणापि हि निर्विकल्पकेनैव भाव्यम्, अन्यत्र प्रत्यक्षयोग्य-

ताभावात्तत्र चाभिलापसंसर्गयोग्यतायाः शब्दवाच्यतायाः प्रतिभासाभावात्कथं निश्चयत्वं नाम जात्यादियोजनात्मकस्यैव तत्त्वादिति भावः। सहकारिशक्तिविशेषेणैव प्रतिनियमो भविष्यतीत्याशङ्कते-अव्यवसायात्मनोऽपीत्यादि, (१७६-१-१) एवं सति सङ्ग्राहकत्वलाघवात् सप्रकारकप्रत्यक्षत्वमेवादृष्टविशेषजन्यतावच्छेदकमस्तु अनन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनो दर्शनेऽपि तदनन्तरापाये क्वचित्कश्चिदेव प्रकार इति नियमार्थं तत्तत्प्रकारकप्रत्यक्षत्वं तत्तददृष्टजन्यतावच्छेदकमित्येव वा कल्प्यताम्, इत्थं हि सप्रकारकमानसत्वस्यैवादृष्टविशेषजन्यतावच्छेदकत्वपक्षे घटादिचाक्षुषाद् घटादिव्यवहारेऽन्तरा नियमतो घटत्वादिप्रकारकमानसकल्पनाप्रयुक्तं यद् गौरवं तत्परिहृतं भवति। न च यत्र स्थाने त्वया सविकल्पकं चाक्षुषादि कल्पनीयम्, तत्र मया मानसमेवेति क्व गौरवम्, प्रत्युत सविकल्पके चाक्षुषत्वाद्यकल्पनाल्लाघवमेवेति वाच्यम्, तथापि घटत्वादिना घटं पश्यामीत्यादौ चाक्षुषत्वादिना मानसावगाहित्वांशे भ्रमकल्पनायां गौरवात् सविकल्पके चाक्षुषत्वाद्यभावकल्पनापेक्षया चाक्षुषत्वादिकल्पनाया एव युक्तत्वादित्यभिप्रायवान् शङ्कितारमाक्षिपति-'किमेवमिति' (१७६-१-२) ॥ तेनेति (२) तेन स्वयं व्यवसायात्मलक्षणेनाक्षज्ञानेन, नीलादेर्व्यवसाये (२) निश्चये, 'तत्क्षणक्षयेति' (२) तत्र यः क्षणक्षयस्वर्गप्रापणशक्त्यादिर्धर्मस्तस्य। निर्विकल्पकादपि दृष्टसजातीयस्मृत्युत्पत्तौ प्रकारान्तरमाशङ्कते-ननु निर्विकल्पकादपीत्यादि, (७)॥ तदभावे (८) अभ्यासाद्यभावे, तदनु(पप)त्पत्तेः (८) सजातीयस्मृत्यनुत्पत्तेः, प्रतिवा(द्या)द्युपन्यस्तेत्यादि, आद्येऽनभ्यासोऽस्मृतौ हेतुः, द्वितीयेऽर्थित्वाभावादिरिति बोध्यम्, सोऽप्यप्रज्ञाकर एवेति, (१०) उक्तवादिनः प्रज्ञाकरस्योपहासोयम्, सर्वथैकस्वभावस्य (१०) क्षणिकदर्शनैकस्वभावस्य, इतरेषां च (१०) प्रकरणादीनाम्, सकृदयोगात् (११) एकदाऽसम्भ-

वात्, क्रमिकावग्रहादिचतुष्टयपरिणामवदेकोपयोगवादे त्ववग्रहादिदशायामनभ्यस्तत्वादिनाऽस्मारकत्वं धारणादशायां त्वभ्यस्तत्वप्रकरणप्राप्तत्वपटुत्वेष्टत्वयोगात् स्मारकत्वमुपपद्यत इत्यर्थाल्लिभ्यते, भूयस्त्वेनाभ्यासत्वं त्वप्रयोजकम्, शतमप्यन्धानां न पश्यतीति न्यायेन भूयसोऽपि दर्शनस्य निश्चयकार्यकारित्वायोगादिति द्रष्टव्यम्, तदन्यव्यावृत्त्या (१७६-१-११) अनभ्यासादिव्यावृत्त्या, तत्र (११) प्रकृते, तद्योगोऽभ्यासादिसम्बन्धः, 'स्वयमिति' अतत्स्वभावस्य तदन्यव्यावृत्तिकल्पने पावकस्य (११) शीतस्वभावरहितस्याशीतव्यावृत्तिः स्यान्न चैवमस्ति ततस्तदन्यव्यावृत्त्यवच्छेदकस्तत्स्वभावोऽवश्यमभ्युपगन्तव्य इति किन्तुच्छान्यव्यावृत्तिकल्पनेनेति भावः। सविकल्पकेत्यादि, (१२) ये धारणाज्ञानमभ्यासात्मकमवग्रहादिभ्यः पृथगिच्छन्ति तेषां जैनानां धारणाभावादेव प्रतिवाद्युपन्यस्तवर्णादावस्मृत्युपपत्तिरिति भावः। यथा संस्कारमिति (१४) न हि यावद्धारितं तावत्स्मर्यते, ननु कथमेतदुपपद्यते, धारणाजन्यतावद्विषयकसंस्कारसत्त्वे यथाधारणामेव स्मृत्युत्पत्तेः सम्भवात्, न च यावदंशे उद्बोधकसम्पत्तिस्तावदंश एव संस्कारेण स्मृतिजननादुक्तोपपत्तिः, उद्बोधकस्य सामान्यत एव हेतुत्वाद्विशिष्य तस्य स्मृतिहेतुत्वे तत एवानतिप्रसङ्गादनुभवादेरपि स्मृतिहेतुत्वानापत्तेरिति चेत्, सत्यम्, परिणामवादे आंशिकोद्बोधकसमवधानतदभावाभ्यामखण्डसंस्कारध्वंसे खण्डसंस्कारोत्पत्तावनुगतसंस्कारसामान्यसत्त्वे चानुपपत्तेरभावात्, तत्रापि संस्कारसामान्यस्यानुभवव्यापारस्यावश्यकत्वात्, इत्थमेव 'चउदसपुव्वी मणुओ देवत्ते तं न संभरइ सव्वं। देसंमि होइ भयणा' इत्यादि प्रवचनोक्तं सङ्गच्छते, देवजन्मप्रत्ययकर्मणा द्वादशाङ्गार्थविषयसमूहालम्बनसंस्कारस्य देशे सङ्कुचितस्यैवोत्पादनादित्यादिकं प्रतिपादितमात्मख्यातावस्माभिः। इत्थमेव रोगकालादिनाप्यांशिकसंस्कारनाशोपपत्तिः, तत्र खण्डसंस्कारो-

त्पादस्यैवाखण्डसंस्कारनाशत्वेन तस्यार्थसिद्धत्वात्, एतच्च संस्कारसविपयकत्वपक्ष एव युज्यते, तत्तद्रोगादीनां तत्तत्पुरुषीयसंस्कारन्यूनविपयसंस्कारहेतुत्वेनैव तद्व्यवस्थापनात् । न च तत्र भूयः संस्कारमध्ये कतिपयनाशोपगमादुपपत्तिः, पदवाक्यशास्त्रतदर्थज्ञानस्थले पदतदंशादिनानासंस्कारकल्पने गौरवात्, विशकलितसंस्कारेभ्यो विशिष्टस्मृत्यनुपपत्तेश्च, यत्तु संस्कारस्य निर्विपयकत्वे घटांशे उपेक्षात्मकाद्भूतलं घटवत्पटवच्चेतिनिश्चयाद्घटांशेऽपि स्मृतिप्रसङ्गः, स्वजन्यभावनायाः पटांशस्मृत्यनुरोधेन स्वीकारात्, सर्वांशापेक्षाजन्यानन्तसंस्कारकल्पनाभयेनोपेक्षान्यत्वेन संस्कारत्वावच्छिन्न एव हेतुत्वादिति, तदसत्, आंशिकोपेक्षाभेदानां स्मृतिहेतुतावच्छेदके सर्वांशोपेक्षाभेदानां च भावनाहेतुतावच्छेदके प्रवेशेनैव सामञ्जस्यात्, न चास्मिन् मते द्विधोपेक्षाभेदप्रवेशे गौरवम् । यतो भावनात्वावच्छिन्ने सर्वांशे उपेक्षामात्रभेदविशिष्टप्रकारकज्ञानत्वेन स्मृतित्वावच्छिन्नं प्रति च भावनात्वेनैक एव हेतुहेतुमद्भावः, तदंशे आंशिकोपेक्षाभेदविशिष्टतद्विशेष्यकतत्प्रकारकनिश्चयत्वेन तादृशस्मृतित्वेन स्मृतावेव चान्ये हेतुहेतुमद्भावाः, अन्यमते त्वनुभवसंस्कारयोः स्मृतिसंस्कारयोश्च नानाहेतुहेतुमद्भावाः कल्पनीया इति तत्रैव गौरवात्, घटत्वादिप्रकारतानिरूपितघटादिविशेष्यतास्थानाभिषिक्तघटाद्याकारतायाः "सागारे नाणे हवइ" इत्याद्यागमस्वारस्येनाखण्डायाः स्वीकारे आकारतासम्बन्धेन स्मृतित्वावच्छिन्ने संस्कारत्वावच्छिन्ने चैकैक एव धारणात्वेन हेतुहेतुमद्भावोंशे चोपेक्षारूपं धारणाज्ञानं न स्वीक्रियत एवासमाप्तोपयोगस्यैवोपेक्षात्वात्, संशयेऽपि न धारणात्वम्, धारयामीत्यनुभवेन संशयव्यावृत्तस्यैव तस्य सिद्धत्वादित्युपेक्षान्यत्वसंशयान्यत्वयोः कारणतावच्छेदके प्रवेशप्रयुक्तं तयोर्विशेषणविशेष्यभावे विनिगमनाविरहादनन्तकार्यकारणभावकल्पनाप्रयुक्तं च गौरवं परिहृतं भवति, अनुमित्यादिस्थले च मानस्यैव

धारणया स्मृतिस्तज्जनकतावच्छेदकस्य धारणात्वस्य चक्षुराद्यवगृहीते त्वगादिना धारिते पूर्वदृष्टत्वाद्युपलक्षितविलक्षणतत्ताविषयकस्मृत्यनुत्पत्तये चाक्षुषत्वादिना साङ्कर्यवारणाय चाक्षुषत्वादिव्याप्यषड्विधजातिरूपस्य प्रत्यक्षतुरीयभेदवृत्तिताया एवाभियुक्तैरुक्तत्वात्, यदि चाक्षुषाद्युपयोगस्थलेऽपि समनन्तरोत्पदिष्णुमानसोपयोगगतधारणयैव स्मृतिरिष्यते, तदाऽस्तु सर्वत्र मानसत्वव्याप्यमेकमेव धारणात्वम्, अवग्रहत्वादिवद्विषयताविशेषरूपत्वे तु तस्याक्षजन्यधारणाया एव प्रत्यक्षतुरीयभेदत्वाश्रयणादनुमित्यादिवृत्तित्वमपि तस्य न दोषावहमित्यस्मदेकपरिशीलितः पन्थाः। केचित्तु समानाकारफलस्य भावनानाशकत्वाद्भावनायाः सविषयकत्वसिद्धिः, न च फलं स्वस्य वाच्यम्, तथा च तत्तद्व्यक्तित्वेन भावनानाशकत्वं युक्तमिति तद्भावनाजन्यचरमफलस्यैव तद्भावनानाशकत्वमस्त्विति वाच्यम्, जनकतया तद्विशेष्यकतत्प्रकारकस्मृतेः प्रतियोगितया तादृशभावनानाशे हेतुत्वस्यानुगतत्वात्, न च तत्पुरुषीयभावनासामान्यनाशं प्रत्येव तत्पुरुषीयचरमस्मृतिव्यक्तेस्तत्त्वेन चरमस्मृतिमात्रस्य वैजात्येन हेतुत्वमस्त्विति वाच्यम्। एवं सति जनितोपेक्षात्मकचरमस्मृतिकानामपि भावनानां सत्त्वोपगमे तेभ्यः स्मृत्युत्पत्तेः प्रसङ्गादित्याहुः। यत्तु तत्तद्विषयकोपेक्षाज्ञानस्य तत्तत्संशयस्य च तत्तद्विषयकभावनाप्रतिबन्धकत्वाद्भावनायाः सविषयकत्वमिति भट्टाचार्यैरुक्तं तच्चिन्त्यम्, उपेक्षात्मकचाक्षुषज्ञानोत्तरानुपेक्षात्मकस्पार्शनज्ञानस्थले संशयकालीनसाध्यानुमितिस्थले च संस्कारानुत्पत्तिप्रसङ्गात्, तत्रानुपेक्षात्मकतादृशज्ञानस्योत्तेजकत्वकल्पने च गौरवात्, नैयायिकैकदेशिनस्तु विशिष्टवैशिष्ट्यविषयित्वावच्छिन्नं प्रति विशेषणतावच्छेदकप्रकारकत्वेनैव हेतुत्वाद्विशिष्टवैशिष्ट्यस्मृत्यर्थं विशेषणतावच्छेदकप्रकारकभावनासिद्धिः, न च तादृशप्रत्यक्षं प्रति तथाहेतुता, प्रत्यक्षत्वस्य नित्यवृत्तित्वाज्जन्यप्रत्यक्षत्वनिवेशे गौरवात्, रक्ते-

तरदण्डाभाववान् पुरुष इति ज्ञानसचिवाद्दण्डव्याप्यवान् पुरुष इति परामर्शाद्दण्डो रक्तो न वेति संशयकालेऽपि रक्तदण्डवान् पुरुष इत्यनुमित्यापत्तेश्च, तत्तदुद्बोधकाभावविशिष्टभावनात्वाभावविशेषणनिवेशाच्च न दण्डो रक्त इत्यनुद्बुद्धभावनातो निरुक्तानुमित्युपनीतभानाद्यापत्तिः, न चैवं गौरवम्, इयतैव भावनायाः स्मृतिहेतुत्वनिर्वाहात्, उद्बोधकानां विशिष्य स्मृतिहेतुत्वाकल्पनेन चातिलाघवात्, तत्तदुद्बोधकाभावविशिष्टभावनात्वाभावविशिष्टीयस्वरूपसम्बन्धेन घटत्वप्रकारकत्वस्य कारणतावच्छेदकत्वे तु न गौरवदूषणवार्त्ताऽपि, सम्बन्धगौरवस्यादोषत्वादित्याहुः। अविच्युतिस्मृतिवासनासाधारणधारणात्वावच्छिन्ने समानविषयकत्वेनापायहेतुत्वात् संस्कारसमविषयकत्वसिद्धिरित्यादिकमपि ज्ञानबिन्द्वादौ विवेचितमस्माभिरिति विस्तरार्थिना तत एवावधार्यम्। क्वचिदिति (१७६-१-१४) गृहीतशक्तिकेन शब्देनोद्बोधितार्थसंस्कारेणार्थस्मृतिवत्तादृशार्थग्रहोद्बुद्धाभिलापसंस्कारस्थलेऽभिलापस्मृतेरपि सम्भवादित्यर्थः, कुत इति (१७६-२-१) प्रत्यक्षादभिलापसंस्कारानुद्बोधे स्मृतिरूपतद्योजनानुपपत्तेः सामान्यमभिलाप्यं न स्यादेवेत्यर्थः, विशेषात् सामान्यस्य नात्यन्तमतिरिक्तत्वं, किन्तु तत्प्रतिभासात् तत्प्रतिभासस्येति स्पष्टप्रतिभासवेलायां स्वलक्षणस्य शाब्दात्मकमन्दप्रतिभासाविषयकत्वेऽपि तद्योग्यतया कथञ्चिदभिधेयत्वं तस्याबाधितमेवेति, निष्कृष्टार्थमाह-तत्र [न च] ग्राहकेत्यादि (२) व्याख्यानग्रन्थेन॥ तस्मादवाच्यतैकान्त इति (८) वेदान्त्यभिमतप्रपञ्चावाच्यत्वपक्षखण्डनमिदम्, स्वलक्षणानिर्देश्यत्ववचनादिविरोधोपदर्शनं तु दृष्टान्तपरम्, बौद्धैः सदेकान्तस्यैव स्वलक्षणेऽभ्युपगमात्, अनिर्वाच्यत्ववचनमात्रेण परेषां ब्रह्मणीव तेषां तत्र सदेकान्तपक्षानिवृत्तेः। अथ वेदान्तिमते प्रपञ्चानिर्वाच्यत्वैकान्तः कथं वारणीयोऽवाच्यैकान्तेऽवाच्यशब्देनापि वाच्यत्वं न स्यादिति दूषणस्य यौगिकपक्ष एव लब्धावसर-

त्वम्, ब्रह्मशशविषाणरूपसदसद्विलक्षणरूढानिर्वाच्यपदार्थोपगमे त्वस्यादूषणत्वात्, रज्जुसर्पादावनिर्वचनीयसत्त्वस्येवानिर्वचनीयावाच्यत्वस्याप्यन्ततः प्रपञ्चे वक्तुं शक्यत्वादिति चेत्, न, अवाच्यत्वेऽनिर्वचनीयत्वस्वीकारे तन्मिथ्यात्वेन वाच्यत्वस्यैव सत्यस्य प्रसङ्गात्, तस्य च कथञ्चिद्भावे कथञ्चिद्वाच्यत्वानुप्रवेशेनानैकान्तस्यैव साम्राज्यात्, निरुक्त्यसहत्वस्यापि कथञ्चिदेव भावेन सर्वथा सत्यत्वविरोधित्वाभावात्, अन्यथा "यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्यमनसा सहेति" श्रुत्या ब्रह्मणोऽप्यवाच्यत्वामननीयत्वाभ्यामसत्यत्वप्रसङ्गात्, वाग्मनोजन्यवृत्तिव्याप्यत्वेऽपि तत्प्रयुक्तफलाव्याप्यत्वाद् ब्रह्मणो वाच्यत्वावाच्यत्वे मननीयत्वामननीयत्वे चोपपत्स्येते, 'तदेवेदं मनसानुद्रष्टव्यम् यन्मनसा न मनुते' इत्यादिश्रुतिस्वारस्यादिति चेत्, आयातोऽसि मार्गेण। एवं हि कथञ्चिदवाच्यत्वामननीयत्वयोरेव ब्रह्मणि सिद्धेः। तद्वदेव ताभ्यां प्रपञ्चेऽपि सर्वथा सत्यत्वप्रतिक्षेपस्य कर्त्तुमशक्यत्वात्। अथ प्रमाणराज एव प्रपञ्चस्य सर्वथाऽनिर्वचनीयत्वं ब्रह्मणश्च सर्वथा सत्यत्वमाज्ञपयतीति न वयं तदाज्ञातिक्रमे प्रभविष्णव इति चेत्, न। तस्य स्वानुपयुक्तसत्ताप्रतिक्षेपिशुद्धर्जुसूत्रानुगृहीतशुद्धात्मद्रव्यसत्ताग्राहिसङ्ग्रहनयस्वरूपत्वात्तत्तात्पर्यावबोधे दोपलवस्याप्यभावात्, ईदृशतात्पर्यमपुरस्कृत्य प्रवृत्तो वेदान्तदुर्णयो वसन्तराज एव न प्रमाणराज इति वयं जानीमः ॥१३॥

तदेव स्वामिसमन्तभद्रभानवः स्फुटतरविलसदकलङ्कन्यायगभस्तिभिरपहस्तितसमस्तभावैकान्तादिपरमतध्वान्तसन्ततयोपि परात्मपक्षनिराकरणसमर्थनायत्तं जयमादिशता भगवताप्तेन किं पुनर्मे शासनं प्रसिद्धेन न बाध्यते इति स्पष्टं पृष्टा इवाहुः ।—

कथञ्चित्ते सदेवेष्टं कथञ्चिदसदेव तत्। तथोभयमवाच्यं च नययोगान्न सर्वथा ॥ १४ ॥

चशब्दात्सदवाच्यमेव कथञ्चिदसदवाच्यमेव तदुभयावाच्यमेवेष्ट ते शासनमिति समुच्चीयते, 'प्रश्नवशादेकत्र वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभङ्गी,' इति वचनात्। नययोगादिति वचनान्नयवाक्यानि सप्तैवेति दर्शयन्ति, ततोन्यस्य भङ्गस्यासंभवात्। तत्संयोगजभङ्गस्यापि कस्यचित्तत्रैवान्तर्भावात्, कस्यचित्तु पुनरुक्तत्वात्। विधिकल्पनाया एव सत्यत्वात् तथैकमेव वाक्यमिति न मन्तव्य, प्रतिषेधकल्पनायाः सत्यत्वव्यवस्थापनात्। विध्येकान्तस्य निराकरणात्। प्रतिषेधकल्पनेव सत्येत्यपि न सम्यक्, अभावैकान्तस्य निराकरणात्। तदपेक्षयापि नैकमेव वाक्यं युक्तम्। सदर्थप्रतिपादनाय विधिवाक्यमसदर्थकथनार्थं तु प्रतिषेधवाक्यमिति वाक्यद्वयमेव, सदसद्वर्गास्तत्त्वमिति वचनात्, प्रमेयान्तरस्य शब्दविषयस्यासंभवादिति च न चेतसि विधेय, प्रधानभावार्पितसदसदात्मनो वस्तुनः प्रधानभूतैकैकधर्मात्मकादर्थादर्थान्तरत्वसिद्धेः, सत्त्ववचनेनैवासत्त्ववचनेनैव वा सदसत्त्वयो क्रमार्पितयो प्रतिपादयितुमशक्तेः। सदसदुभयविषयं वाक्यत्रयमेवेति चायुक्तं, सहोभयवाक्यस्यावक्तव्यत्वविषयस्य व्यवस्थितेः। तथापि वाक्यचतुष्टयमेवेति चायुक्त, सदसदुभयावक्तव्यत्वविषयस्य वाक्यान्तरत्रयस्यापि भावात्—विधिकल्पना (१). प्रतिषेधकल्पना (२), क्रमतो विधिप्रतिषेधकल्पना (३), सहविधिप्रतिषेधकल्पना च (४), विधिकल्पना सहविधिप्रतिषेधकल्पना च (५), प्रतिषेधकल्पना सहविधिप्रतिषेधकल्पना च (६), क्रमाक्रमाभ्यां विधिप्रतिषेधकल्पना (७) च सप्तभङ्गीति व्याख्यानात्। न चैवं प्रत्यक्षादिविरुद्धविधिप्रतिषेधकल्पनापि सप्तभङ्गी स्यादिति शक्य वक्तुम्, अविरोधेनेति वचनात्। नानावस्त्वाश्रयविधिप्रतिषेधकल्पनासप्तभङ्ग्यपि प्रसज्यते इति च न चिन्त्यम्, एकत्र वस्तुनीति वचनात्। नन्वेकत्रापि जीवादिवस्तुनि विधीयमाननिषिध्यमानानन्तधर्मसद्भावात्तत्कल्पनानन्तभङ्गी स्यादिति चेत्, न, अनन्तानामपि सप्तभङ्गीनामिष्टत्वात्, तत्रैकत्वानेकत्वादिकल्पनयापि सप्तानामेव भङ्गानामुपपत्तेः, प्रतिपाद्यप्रश्नाना

तावतामेव संभवात्, प्रश्नवशादेव सप्तभङ्गीति नियमवचनात् । सप्तविध एव तत्र प्रश्नः कुत इति चेत्, सप्तविधजिज्ञासाघटनात् । सापि सप्तविधा कुत इति चेत्, सप्तधा संशयोत्पत्तेः । सप्तधैव संशयः कथमिति चेत्, तद्विषयवस्तुधर्मसप्तविधत्वात् । तत्र सत्त्वं वस्तुधर्मः, तदनुपगमे वस्तुनो वस्तुत्वायोगात् खरविषाणादिवत् । तथा कथञ्चिदसत्त्वं, स्वरूपादिभिरिव पररूपादिभिरपि वस्तुनोऽसत्त्वानिष्टौ प्रतिनियतस्वरूपाभावाद्वस्तुप्रतिनियमविरोधात् । एतेन क्रमार्पितोभयत्वादीना वस्तुधर्मत्व प्रतिपादितं, तदभावे क्रमेण सदसत्त्वविकल्पशब्दव्यवहारस्य विरोधात्, सहावक्तव्यतदुत्तरधर्मत्रयविकल्पशब्दव्यवहारस्य चासत्त्वप्रसङ्गात् । न चामी व्यवहारा निर्विषया एव, वस्तुप्रतिपत्तिप्रवृत्तिप्राप्तिनिश्चयात् तथाविधरूपादिव्यवहारवत् । तस्यापि निर्विषयत्वे सकलप्रत्यक्षादिव्यवहारापह्नवान्न कस्यचिदिष्टतत्त्वव्यवस्था स्यात् । ननु च प्रथमद्वितीयधर्मवत् प्रथमतृतीयादिधर्माणा क्रमेतरार्पिताना धर्मान्तरत्वसिद्धेर्न सप्तविधधर्मनियमः सिध्येदिति चेत्, न, क्रमार्पितयोः प्रथमतृतीयधर्मयोर्धर्मान्तरत्वेनाप्रतीतेः, सत्त्वद्वयस्यासंभवात्, विवक्षितस्वरूपादिना सत्त्वस्यैकत्वात् । तदन्यस्वरूपादिना सत्त्वस्य द्वितीयस्य सभवेपि विशेषादेशात्तत्प्रतिपक्षभूतासत्त्वस्यापि परस्य भावादपरधर्मसप्तकसिद्धेः सप्तभङ्गयन्तरसिद्धेः कथमुपालम्भः ? एतेन द्वितीयतृतीयधर्मयोः क्रमार्पितयोर्धर्मान्तरत्वमप्रातीतिक व्याख्यातम् । प्रथमचतुर्थयोर्द्वितीयचतुर्थयोस्तृतीयचतुर्थयोश्च सहितयोः कथ धर्मान्तरत्वमेव स्यादिति चेत्, चतुर्थेऽवक्तव्यत्वधर्मे सत्त्वासत्त्वयोरपरामर्शात् । न हि सहार्पितयोस्तयोरवक्तव्यशब्देनाभिधानम । कि तर्हि ? तथार्पितयोस्तयोः सर्वथा वक्तुमशक्तेरवक्तव्यत्वस्य धर्मान्तरस्य तेन प्रतिपादनमिष्यते । न च तेन सहितस्य सत्त्वस्यासत्त्वस्योभयस्य वाऽप्रतीतिर्धर्मान्तरत्वासिद्धिर्वा, प्रथमे भङ्गे सत्त्वस्य प्रधानभावेन प्रतीतेः, द्वितीये पुनरसत्त्वस्य, तृतीये क्रमार्पितयोः सत्त्वासत्त्वयोः, चतुर्थेऽवक्तव्यत्वस्य, पञ्चमे सत्त्वसहितस्य, षष्ठे पुनरसत्त्वोपेतस्य, सप्तमे क्रमवत्तदुभययुक्त-

स्य, तत्र शेषधर्मगुणभावाध्यवसायात्। स्यान्मतम् ' अवक्तव्यत्वस्य धर्मान्तरत्वे वस्तुनि वक्तव्यत्वस्यापि धर्मान्तरस्य भावादष्टमस्य कथं सप्तविध एव धर्मः सप्तभङ्गीविषयः स्यात् ' इति, तदप्ययुक्तं, सत्त्वादिभिरभिधीयमानस्य वक्तव्यत्वस्य प्रसिद्धेः, सामान्येन वक्तव्यत्वस्यापि विशेषेण वक्तव्यतायामनवस्थानात्। भवतु वा वक्तव्यत्वावक्तव्यत्वयोर्धर्मयोः सिद्धिः। तथापि ताभ्यां विधिप्रतिषेधकल्पनाविषयाभ्यां सत्त्वासत्त्वाभ्यामिव सप्तभङ्ग्यन्तरस्य प्रवृत्तेर्न तद्विषयसप्तविधधर्मनियमविघातोस्ति, यतस्तद्विषयसंशयः सप्तधैव न स्यात्तद्धेतुर्जिज्ञासा वा तन्निमित्तः प्रश्नो वा वस्तुन्येकत्र सप्तविधवाक्यनियमहेतुः। इति सूक्ता सत्त्वादिधर्मविषया गीः सप्तभङ्गी। सा च स्याद्वादामृतगर्भिणी, स्याद्वचनार्थस्य कथञ्चिच्छब्देन प्रतिपादनात्, तेनानेकान्तस्य द्योतकेन वाचकेन वा तस्याः प्रतिहतैकान्तान्धकारोदयत्वात्। न चैवं स्याच्छब्दवत्कथञ्चिच्छब्देनैवानेकान्तस्य प्रतिपादनात्सदादिवचनमनर्थकमाशङ्कनीयं, ततः सामान्यतोनेकान्तस्य प्रतिपत्तावपि विशेषार्थिना विशेषस्यानुप्रयोगात्, सामान्यतो(न्येनो)पक्रमेपि विशेषार्थिना विशेषोनुप्रयोक्तव्यो, वृक्षो न्यग्रोध इति यथेति वचनात्। द्योतकपक्षे तु न्यायप्राप्तं सदादिवचनं, तेनोक्तस्य कथञ्चिच्छब्देन द्योतनात्, तेनानुद्द्योतने सर्वथैकान्तशङ्काव्यवच्छेदेनाऽनेकान्तप्रतिपत्तेरयोगात्, एवकारावचने विवक्षितार्थाप्रतिपत्तिवत्। नन्वनुक्तोपि कथञ्चिच्छब्दः सामर्थ्यात्प्रतीयते, सर्वत्रैवकारवदिति चेत्, न, प्रयोजकस्य स्याद्वादन्यायाकौशले प्रतिपाद्यानां तदप्रतीतेस्तद्वचनस्य क्वचिदवश्यं भावात्। तत्कौशले वा तदप्रयोगोभीष्ट एव, सर्वस्यानेकान्तात्मनो वस्तुनः प्रमाणात् साधने सर्वं सदित्यादिवचनेपि स्यात्सर्वं सदेवेत्यादिसंप्रत्ययोत्पत्तेः। इति प्रपञ्चतोन्यत्र प्ररूपितमवगन्तव्यम्। ननु च जीवादिद्रव्यं सदेव कथञ्चिदित्यसिद्धं, दर्शनावग्रहादिविशेषव्यतिरेकेण तस्यानुपलम्भात्, अश्वविषाणवदिति चेत्, न, अवग्रहेहादेरन्योन्यं स्वलक्षणविवेकैकान्ते जीवान्तरवत्स्वात्मन्यपि सन्तानभेदप्रसङ्गात्। तथा च यदेव मया विषयविषयिसन्निपातदशायां

किञ्चिदित्यालोकितं तदेव वर्णसस्थानादिसामान्याकारेणावगृहीतं पुनः प्रतिनियतविशेषाकारेणेहितं तदेवाकाङ्क्षितविशेषाकारेणावेतं, पुनः कालान्तरस्मृतिहेतुतयावधारितं, तदेव कालान्तरे तदित्याकारेण स्मृत, पुनस्तदेवेदमित्याकारेण प्रत्यभिज्ञात, ततो यदित्थ कार्यकृत्तदित्थ सर्वत्र सर्वदेति तर्कितं, ततस्तत्कार्यावबोधनादभिनिबुद्धं, तदेव च शब्दयोजनया विकल्पनिरूपणया वा परार्थं स्वार्थं वा श्रुतमित्यनुसन्धानप्रत्ययवदहमेक एव द्रष्टाऽवगृहीतेहितेत्याद्यनुसन्धानबुद्धिरपि न क्वचिदास्पदं बध्नीयात्। तथाविधवासनाप्रबोधादनुसधानावबोधप्रसिद्धिरिति चेन्, साऽनुसधानवासना यद्यनुसन्धीयमानदर्शनादिभ्यो भिन्ना, तदा सतानान्तरे दर्शनावग्रहादिष्विव स्वसतानेपि नानुसंधानबोधमुपजनयेत्, अविशेषात्। तदभिन्ना चेत्, तावद्धा भिद्येत, न हि भिन्नादभिन्नमभिन्न नामेति स्वयमभिधानात्। तथा च तत्प्रबोधात्कथं दर्शनावग्रहादिष्वेकमनुसन्धानज्ञानमुत्पद्येत? यदि पुनस्तेभ्यः कथञ्चिदभिन्ना वासनानुमन्यते तद्धेतुस्तदा अहमहमिकयात्मा विवर्तानतुभवन्ननादिनिधनः स्वलक्षणप्रत्यक्षः सर्वलोकाना क्वचिच्चित्रवित्तिक्षणे नीलादिविशेषनिर्भासवदात्मभूतान् परस्परतो विविक्तान्सहक्रमभाविनो गुणपर्यायानात्मसात्कुर्वन् सन्नेव सिद्धः, तस्यैव वासनेति नामान्तरकरणात्। तदेकत्वाभावे नीलादिविशेषनियतदर्शननानासतानसवेदनक्षणवच्चित्रसवेदनं न स्यात्। क्रमवृत्तिसुखादीनामिव दर्शनावग्रहादीनामेकसतानिपतितत्वादनुसधानमनननिबन्धनत्वमनुमतमिति चेत्, तर्हि सततिरात्मैव। तथा क्रमवृत्तीना सुखादीनां मतिश्रुतादीनां वा तादात्म्यविगमैकान्ते सततिरनेकपुरुषवन्न स्यात्। सुखादिमत्यादीना नैरन्तर्यादव्यभिचारिकार्यकारणभावाद्वास्यवासकभावाच्चापरामृष्टभेदानामेका सतति', न पुनरनेकपुरुषे, तदभावादिति चेत्, तर्हि नैरन्तर्यादेरविशेषात्सतानव्यतिकरोपि किन्न स्यात्? न हि नियामकः कश्चिद्विशेष', अन्यत्राभेदपरिणामात्। सतानिनां भेदपरिणाम एव नाभेदपरिणामः, सकरप्रसङ्गादिति चेत्, न, येनात्मना तेषामभेदस्तेन सद्द्रव्यचेतनत्वा-

दिना संकरस्येष्टत्वात्, तेनाप्यसकरे हर्षविषादादिचित्रप्रतिपत्तेरयोगात्। अस्ति च सैकत्रापि विषये यत्र मे हर्षः प्रागभूत्तत्रैव विषादो द्वेषो भयादिर्वा वर्तते, अहमेव च हर्षवानास, सम्प्रति विषादादिमान् वर्ते नान्य इति क्रमतश्चित्रप्रतिपत्तिरबाधा। ततो जीवः सन्नेव। एवं च यथैकत्र समनन्तरावग्रहादिसदादिस्वभावसकरपरिणामस्तथैव सर्वत्र चेतनाचेतनेषु, संप्रत्यतीतानागतेषु, तत्स्वभावाविच्छित्तेः। अतः कथञ्चित्सदेवेष्ट जीवादि तत्त्व, सकलबाधकाभावात्। तर्हि सदेव सर्वं जीवादिवस्तु, न पुनरसदिति चेत्, न, सर्वपदार्थानां परस्परसंकरप्रतिपत्तेरसत्त्वस्यापि सिद्धेः, जीवाजीवप्रभेदाना स्वस्वभावव्यवस्थितेरन्यथानुपपत्तेः। न केवल जीवाजीवप्रभेदाः सजातीयविजातीयव्यावृत्तिलक्षणाः, किंतु बुद्धिक्षणेपि क्वचिद्ग्राह्यग्राहकयोः सितादिनिर्भासांशपरमाणुसवित्तयोपि, परस्परपरिहारस्थितिलक्षणत्वादन्यथा स्थुलशवलावलोकनाभावात्तदेकाशवत् सर्वथा परस्परमव्यावृत्ताना ग्राह्यग्राहकसितादिनिर्भासावयवपरमाणुसवित्तीनामेकपरमाणुस्वरूपतापत्तेः। न चैकपरमाणुः स्थुलतया शबलतया वावलोकयितु शक्यः, भ्रमप्रसङ्गात्। तथा च सकलचेतनेतरक्षणपरिणामलवविशेषा परस्परविविक्तात्मानः सिद्धाः, स्वस्वभावस्य स्वभावान्तरेण मिश्रणाभावात्। तदन्योन्याभावमात्रं जगत्। अन्यथा सर्वथैकत्वप्रसङ्गात्, तत्रान्वयस्य विशेषापेक्षणादभावो वा, स्वतन्त्रस्य तस्य जातुचिदप्रतिभासनात्। तदिष्टमसदेव कथञ्चित्। सर्वथा भावाऽभावोभयात्मकमेव जगदस्तु, तत्र भावस्याभावस्य च प्रमाणसिद्धत्वात् प्रतिक्षेप्तुमशक्यत्वादित्यपरः, सोपि न तत्त्ववित्, सुयुक्त्यतिलङ्घनात्। न हि भावाभावैकान्तयोर्निष्पर्यायमङ्गीकरणं युक्त, यथैवास्ति तथैव नास्तीति विप्रतिषेधात्। ततः कथञ्चित्सदसदात्मकं द्रव्यपर्यायनयापेक्षया। द्रव्यनयापेक्षयैव सर्वं सत् पर्यायनयापेक्षयैव च सर्वमसदात्मक, विपर्यये तथैवासभवात्। न हि द्रव्यनयापेक्षया सर्वमसत् सभवति, नापि पर्यायनयापेक्षया सर्वं सत्, प्रतीतिविरोधात्। भावाभावस्वभावरहितं

तद्विलक्षणमेव वस्तु युक्तमित्यपि न सार, सर्वथा जात्यन्तरकल्पनायां वा तदंशनिवन्धनविशेषप्रतिपत्तेरत्यन्ताभावप्रसङ्गात् । न चासावस्ति, सदसदुभयात्मके वस्तुनि स्वरूपादिभिः सत्त्वस्य पररूपादिभिरसत्त्वस्य च तदंशस्य विशेषप्रतिपत्तिनिबन्धनस्य सुनयप्रतीतिनिश्चितस्य प्रसिद्धेः, दधिगुडचातुर्जातकादिद्रव्योद्भवे पानके तदशदध्यादिविशेषप्रतिपत्तिवत् । न चैवं जात्यन्तरमेवोभयात्मकमिति युक्तं वक्तु, सर्वथोभयरूपत्वे वा जात्यन्तरप्रतिपत्तेरयोगात् पानकवदेव । न हि तत्र दध्यादय एव न पुनर्जात्यन्तर पानकमित्यभिधातुमुचितं, पानकमिद सुस्वादु सुरभीति सप्रत्ययात् । तद्वद्वस्तुनि न सदाद्यंश एव प्रतीतिविषय., तदंशिनो जात्यन्तरस्य प्रतीत्यभावापत्तेः । तथा चानवस्थादिदोषानुषङ्गः । येनात्मना सत्त्वं तेनासत्त्वस्याभ्युपगमे येन चासत्त्वं तेन कथञ्चित्सत्त्वानुमनने पुनः प्रत्येकमुभयरूपोपगमादनवस्था स्यात् । तथानभ्युपगमे नोभयस्वभावमशेषमिति ते प्रतिज्ञाविरोधः । येनात्मना सत्त्वं तेनैवासत्त्वे विरोधो वैयधिकरण्यं वा शीतोष्णस्पर्शविशेषवत् । संकरव्यतिकरौ च, युगपदेकत्र सत्त्वासत्त्वयोः प्रसक्तेः । परस्परविषयगमनाच्च सशयश्च, कथं सत्त्वं कथं चासत्त्वं वस्तुनीति निश्चयानुत्पत्तेः । अत एवाप्रतिप्रत्तिरभावश्चानुपज्यते । ततः प्रतिपादितदोषान् परिजिहीर्षुभिः सर्वं वस्तु तदिष्टं स्यादुभय, न पुनः सर्वथा, स्यात्कारेण जात्यन्तरत्वस्यापि स्वीकरणात् । तद्ध्यस्तीति न भणामि, नास्तीति च न भणामि, यदपि च भणामि तदपि न भणामीति दर्शनमस्त्विति कश्चित्, सोपि पापीयान् । तथाहि । सद्भावेतराभ्यामनभिलापे वस्तुनः, केवल मूकत्वं जगतः स्यात्, विधिप्रतिषेधव्यवहारायोगात् । न हि सर्वात्मनानभिलाप्यस्वभाव बुद्धिरध्यवस्यति । न चानध्यवसेय प्रमितं नाम, गृहीतस्यापि तादृशस्यागृहीतकल्पत्वात् । मूर्च्छाचैतन्यवदिति । न हि निर्विकल्पकदर्शनप्रतिभासि वस्तु व्यवतिष्ठेत येनानभिलपन्नपि तत् पश्येत् । "न सोस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते । अनुविद्ध-

मिवाभाति सर्वं शब्दे प्रतिष्ठितम् ॥ १ ॥ वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती। न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी ॥ २ ॥"
इति दर्शनान्तरमप्यनालोचिततत्त्व, सर्वात्मनाभिधेयत्वेपि प्रत्यक्षेतराविशेषप्रसङ्गात्। चक्षुरादिशब्दादिनानधीभेदात्प्रत्यक्षेतरयोर्विशेष
इति चेत्, न, प्रत्यक्षादिव शब्दादेरपि वस्तुविशेषप्रतिपत्तेरविशेषसिद्धेः, प्रत्यक्षगोचरविषयस्य शब्दगोचरत्वेऽनभिधेयत्वापत्तेः।
प्रत्यक्षात्मकशब्दगोचरत्वात्तस्याप्यभिधेयत्वमेवेति चेत, तथैवानुमानागमज्ञानात्मकशब्दविषयत्वमस्तु। ततश्च प्रत्यक्षेतरयोः स्पष्टविशेष-
प्रतिभासित्वसिद्धेरविशेषप्रसङ्गः। तयोर्विशेषे तदात्मकशब्दयोर्भेदप्रसङ्गात्कुतः शब्दाद्वैतसिद्धिः? स्यान्मतम् "अद्वय एव शब्दः,
केवल प्रत्यक्षोपाधि स्पष्टविशेषप्रतिभासात्मकः, शब्दानुपाधिः पुनरस्पष्टसामान्यावभासात्मकः, पीतेतरोपाधेः स्फटिकस्य पीतेतर-
प्रतिभासित्ववत्" इति तदसत्, प्रत्यक्षेतरोपाधीनामपि शब्दात्मकत्वे भेदासिद्धेः, तदनात्मकत्वे शब्दाद्वैतव्याघातात्, तेषामवस्तुत्वे
स्पष्टेतरप्रतिभासभेदनिबन्धनत्वविरोधात्। तत्प्रतिभासस्याप्यभेदे, स एव प्रत्यक्षेतराविशेषप्रसङ्गः। तथानभिधेयत्वेपि सत्येतरयोरभेदः
स्यात् यत्सत्तत्सर्वमक्षणिकं, क्षणिके क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधादित्यादेरिव वाक्यस्य यत्सत्तत् क्षणिकमेव, नित्ये क्रमाक्रमा-
भ्यामर्थक्रियानुपपत्तेरित्यादेरपि वाक्यस्यासत्यत्वप्रसङ्गाद्विपर्ययानुषङ्गाद्वा, सर्वथार्थासंस्पर्शित्वाविशेषात्, कस्यचिदनुमानवाक्यस्य
कथञ्चिदर्थसंस्पर्शित्वे सर्वथानभिधेयत्वविरोधात्। सोयं सौगतः स्वपक्षविपक्षयोस्तत्त्वातत्त्वप्रदर्शनाय यत्किंचित्प्रणयन् वस्तु सर्वथा-
नभिधेयं प्रतिजानातीति किमप्येतन्महाद्भुतं, सर्वथाभिधेयरहितेनानुमानवाक्येन सत्यत्वासत्यत्वप्रदर्शनस्य प्रणेतुमशक्तेः "साध्या-
भिधानात्पक्षोक्तिः पारम्पर्येण नाप्यलम्। शक्तस्य सूचकं हेतुवचोऽशक्तमपि स्वयम् ॥१॥" इति वचनात्। स्वयं तत्कृता वस्तुसिद्धिमुप-
जीवति, न तद्वाच्यता चेति स्वदृष्टिरागमात्रमनवस्थानुषङ्गात्, वस्तुनोनुमानवाक्यवाच्यतानुपजीवने तत्कृतायाः सिद्धेरुपजीवनासंभ-

वात्, अनभिमतप्रतिवादिवचनादपि तत्सिद्धिप्रसङ्गात्, स्वाभिधेयरहितादपि स्ववचनात्तत्त्वसिद्धिरुपजीव्यते, न पुनः परवचनादिति कथमप्यवस्थानासम्भवात्। मद्वचन वस्तुदर्शनवंशप्रभव, न पुन परवचनमिति स्वदर्शनानुरागमात्रं, न तु परीक्षाप्रधान 'सर्वस्य वचसो विवक्षाविषयत्वाविशेषात्। ततो न सर्वथाभिधेय वस्तुतत्त्वं, नाप्यनभिधेय, वाचकसद्भावात्। किं तर्हि? कथञ्चिदवाच्यमेव तवेष्टं, कथञ्चित्सदेव, कथञ्चिदसदेव, कथञ्चिदुभयमेवेति। तथा च शब्दात्कथञ्चित्सदवाच्यमेव, सर्वथाप्यसतोनभिधेयत्वधर्माव्यवस्थितेः कथञ्चिदसदवाच्यमेव, सर्वथापि सतोनभिलाप्यत्वस्वभावासम्भवात् तदभिलाप्यत्वस्यापि सद्भावात्, कथञ्चित्सदसदवाच्यमेव, स्वरूपपररूपाभ्यां सदसदात्मन एवावाच्यत्वधर्मप्रसिद्धेरित्यपि भङ्गत्रयं समुच्चितमाचार्यैः, 'अवक्तव्योत्तराः शेषास्त्रयो भङ्गाः स्वहेतुत' इत्यग्रे स्वयं समर्थनात्, इह तत्प्रतिज्ञातस्य सिद्धेरप्रतिज्ञातस्य समर्थनाघटनात् कस्यचित्प्रतिज्ञातस्य सामर्थ्याद्गम्यमानस्यापि प्रतिज्ञातत्वोपपत्तेः। इति साधीयसी सप्तभङ्गीप्रतिज्ञा, तथा नैगमादिनययोगात् ॥ १४ ॥ तत्रप्रथमद्वितीयभङ्गयोस्तावन्नययोगमुपदर्शयन्ति स्वामिनः।

इत्येतैर्नयदूषणैर्मतभिदामत्तेभघण्टारण–त्कारैस्त्रस्तसमस्तवादितुरगैः किं कर्णकोलाहलैः॥ यत्तु प्रस्तुतवस्तुबोधनविधौ धत्ते निराकाङ्क्षतां, ब्रूमो मानमनन्तबोधगदितं तत्सप्तभङ्ग्यात्मकम् ॥१॥ 'प्रश्नवशादिति' (१८२-२-१) एकत्र वस्तुनि सत्त्वासत्त्वादिसप्तधर्मप्रकारकशाब्दबोधजनकतापर्याप्त्यधिकरणं वाक्यं सप्तभङ्गीति लक्षणतात्पर्यम्, विरोधस्फूर्तौ वाक्यस्याबोधकत्वेनैवाविरोधेनेत्यस्य गतार्थत्वात्, प्रश्नस्य च क्वाचित्कत्वाच्छिष्यजिज्ञासयेव क्वचिद्गुरोर्जिज्ञापयिषयैव सप्तभङ्गीप्रयोगसङ्गतेः प्रश्नवशादित्यस्यापि लक्षणेऽप्रवेशात्, नानावस्तुनि सत्त्वासत्त्वादिबोधकवाक्येऽतिप्रसङ्गवारणायैकत्र वस्तुनीति, एकत्र रूपरसादिधर्मसप्तकबोधकेऽतिप्रसङ्गवारणाय सत्त्वासत्त्वादीति, खण्डवाक्ये तद्वारणाय पर्याप्तिः, प्रमाण-

सप्तभङ्गीवन्नयसप्तभङ्ग्या अपि लक्ष्यत्वान्न तत्रातिव्याप्तिः, नययोगादिति (१८२-२-२) सूत्रकृद्वचनात् प्रमाणनयसप्तभङ्ग्योः पृथक् पृथक् लक्ष्यत्वे तु सकलादेशत्वविकलादेशत्वे विशेषणे देये, एकत्र वस्तुन्येकपर्यायनिरूपितविधिनिषेधकल्पनामूलसप्तधर्मप्रकारकोद्देश्यशाब्दबोधजनकतापर्याप्त्यधिकरणं वाक्यं सप्तभङ्गी, धर्मिणो देशसर्वभेदेनैकद्विबहुवचनान्ततया चरमपदोन्नीत्या बहुभेदसम्भवेऽपि फलीभूतबोधे सप्तधर्मप्रकारकोद्देश्यताया अक्षतत्वान्नाव्याप्तिरित्यपि केचित्। 'एतेनेत्यादि' (१८३-१-४) एतेन सत्त्वासत्त्वयोर्वस्तुधर्मत्वप्रतिपादनेन, क्रमार्पितोभयत्वादीनां (४) क्रमार्पितसदसदुभयत्वसहार्पितावक्तव्यत्वयोस्तदुत्तरधर्मत्रयस्य चेत्यर्थः। अथ सदसत्पदाभ्यां, सत्त्वासत्त्वयोश्चकाराच्चोभयस्योपस्थितेः सदसदुभयत्वं तृतीयभङ्गविषयः केवलसत्त्वासत्त्वयोरतिरिक्तं प्रातीतिकमस्तु, न ह्येकविशिष्टापरत्वमेवोभयत्वम्, अविशिष्टयोरपि गोत्वाश्वत्वयोरुभयत्वप्रत्ययात्, उभयत्वभेदे च कथञ्चिदुभयभेदोऽप्यवर्जनीय एवेति, क्रमार्पितत्वं त्वत्र क्वोपयुज्यते, क्रमिकशाब्दबोधद्वयेच्छाविषयविषयत्वरूपस्य तस्य पदादनुपस्थितेर्वस्तुधर्माघटकत्वाच्चेति चेत्, न, एकत्वेन गृहीते उभयत्वप्रत्ययस्य भाक्तोभयत्वावगाहित्वात्। तत्र च क्रमार्पितत्वस्यावच्छेदकत्वात्तत्प्रत्ययस्य च द्योतकेन वाचकेन वा स्यात्पदेन सम्भवादनुपपत्त्यभावात्, अनुभूयते च स्यात् सन् स्यादसंश्च घटइति शब्दात् क्रमार्पितसत्त्वासत्त्वोभयधर्मवन्तममुं घटं जानामीति। एतेन सहावक्तव्यत्वादयोऽपि व्याख्याताः। तद्व्यवहारविषयतया सिद्धानां तेषां धर्माणां दूरपह्नवत्वात्, न च सहार्पितत्वं नावक्तव्यत्वावच्छेदकमेकदैकपदादुभयबोधो जायतामित्याकारकेच्छाविषयत्वरूपस्य तस्य बाधिते इच्छानुदयेनाप्रसिद्धत्वादिति वाच्यम्। पुत्रनाशेऽपि पुत्रादिदृक्षाया आनुभविकत्वेन क्वचिद्बाधितेऽपीच्छोदयात्, न चैवं भ्रमविषयस्यापि सिद्ध्यापत्तिः, तन्निष्ठरजताकारप्रति-

योगित्वेन कथञ्चित्तद्विषयभेदस्येष्टत्वात्, संवृतस्वाकारसमुपात्तरजताकारायाः शुक्तेरेव भ्रमालम्बनत्वस्याकरसिद्धत्वात्, भ्रम-
बाधस्य च दुष्टकारणप्रभवत्वादिनैव सिद्धेः, सदुपरागेणासद्भानस्य च भ्रमे न्यायटीकाकृतोऽप्यभिमतत्वात्, तावन्मात्रेणा-
सत्ख्यातेरभावादित्यादिकं व्युत्पादितं लतायामस्माभिः ॥ वस्तुतो जिज्ञासा भङ्गप्रयोजिका, न तु क्वचिदपि भङ्गे विषयाव-
च्छेदिका, स्वद्रव्यादीनामेव तत्त्वस्याभियुक्तैरुक्तत्वात्, तथा च चालनीयन्यायेन स्वद्रव्यपरद्रव्यचतुष्टयाभ्यां तृतीयः, समु-
दितन्यायेन च ताभ्यां तुरीयः, विरुद्धघटत्वपटत्वाभ्यां किमपि न वाच्यमिति वत्, इत्थमेव घटत्वपटत्वाभ्यां घटपटौ स्त
इति वाक्यस्य तात्पर्यभेदेन प्रामाण्यमप्रामाण्यं च सङ्गच्छते । शेषा भङ्गास्तूक्तयोजनात्मका एवेति न किञ्चिदनुपपन्नम् ।
वस्त्विति (१८३-१-६) वस्तुनः क्रमार्पितोभयाद्यैः प्रतिपत्तिर्ज्ञानं. प्रवृत्तिरभिलापादिव्यवहारः, प्राप्तिरुपलम्भोपहिता
क्रिया, तासां निश्चयादविसंवादात्. द्वितीयस्येति (९) न हि द्रव्यादिसत्त्वादतिरिक्तं सत्त्वमेकं नाम नैयायिकादिमत-
सिद्धं सामान्यमस्त्विति सिद्धान्तेऽस्ति. लोकैर्वा प्रतीयते. तस्य चानर्पितस्यैकत्वेऽपि विशिष्यार्पितस्य द्वितीयस्याप्यविरोध एवेति
भावः. तत्र च प्रतिपक्षासत्त्वेन सप्तभङ्ग्यन्तरसम्भवात् प्रकृतसप्तभङ्ग्यामानवृत्तीयसंयोगेन भङ्गान्तरापत्तिरिति विशदयति-
‘ विशेषादेशादिति ’ (९) ॥ प्रथमचतुर्थयोरिति (१०) तत्रापि सत्त्वादिप्रत्ययाप्रतीतेरित्यर्थः. सहार्पिताभ्यां सत्त्वासत्त्वा-
भ्यामवक्तव्यतायाः धर्मान्तरस्यैवारम्भकत्वेन सह सत्त्वादिसंयोगेऽपि नानुपपत्तिः संयोगजविपर्यासङ्करादित्याह-‘ चतुर्थे ’
(११) इत्यादि ॥ विशेषेणेति (१८३-२-२) [illegible] निर्दिश्य [illegible] विभान्तत्वाच्छब्दानुगममात्रस्या-
पयोजकत्वात्. सत्त्वादिना [illegible] निरूप्य भङ्गान्तरानारम्भकत्वात्. अन्यथाऽऽसन्नि-

न्त्वादिनापि भङ्गान्तरापत्तेरिति भावः। ननु स्याच्छब्दलाञ्छितैर्नयैः सप्तभङ्गीप्रयोगो युक्त इति तत्र तत्र श्रूयते स च सूत्रे नोक्त इति कथं न न्यूनत्वमत आह–' सा चेति ' (१८३–२–५) सा चोक्तसप्तभङ्गी, स्याद्वाद एव यदमृतं तद्गर्भिणी, अमृतपदेन निःशेषसंशयविपर्यनिरासकत्वं, गर्भिणीत्यत्र गर्भपदेन च स्याच्छब्दस्य गम्यागम्यसाधारणत्वमभिव्यज्यते–' स्याच्छब्दस्येति ' [स्याद्वचनार्थस्येति] (६) तथा च सूत्रे कथञ्चिच्छब्देनैव स्याच्छब्दस्य गतार्थत्वान्न न्यूनत्वमिति भावः। ' न चैवमित्यादि ' (६) एवं कथञ्चिच्छब्दस्यानेकान्तवाचकत्वे, अनेकान्तस्य (७) नित्यानित्याद्यनेकधर्मशबलवस्तुनः, अनर्थकमिति (७) सत्त्वासत्त्वादिधर्मसप्तकशबलत्वस्याप्यनेकान्तशब्दार्थकुक्षिप्रविष्टत्वादनेकान्तपदादेव तद्बोधोपपत्तेरिति भावः। ततः सामान्यतोऽनेकान्तस्येत्यादि (७) स्यात्पदादनेकान्तपदाद्वा एकान्तबुद्धिविलक्षणबुद्धिविशेषविषयतावच्छेदकत्वेनैवानन्तधर्मघटितसप्तभङ्गीबोधेऽपि प्रातिस्विकरूपेण तद्बोधनार्थं विशेषप्रयोगोऽवश्यमाश्रयणीयो, यथा वृक्ष इत्युक्ते वृक्षत्वेन न्यग्रोधबोधेऽपि न्यग्रोधत्वेन तद्बोधार्थं विशेषप्रयोग आश्रीयत इति। तेनोक्तस्य (९) सदादिशब्देनोक्तस्य, स्वरूपचतुष्टयादिना सत्त्वादिविशिष्टवस्तुनः। कथञ्चिच्छब्देन द्योननात् (९) तात्पर्यस्फोरणात्। तेन कथञ्चिच्छब्देनानुद्योतने विशिष्टविषयत्वे तात्पर्यास्फोरणे सर्वथैकान्तशङ्काया अवच्छेदकास्फुरणादव्यवच्छेदेनानेकान्तप्रतिपत्तेरधिकृताया अयोगात्, एवकारावचने विवक्षितार्थस्य सदाद्ययोगव्यवच्छेदादिरूपस्याप्रतिपत्तिवत्। अथ स्याच्छब्दो द्योतको वाचको वेत्यत्र कः पक्षः श्रेयानिति चेत्, अत्र वैयाकरणाः, प्रादयो द्योतकाश्चादयो वाचका इति नैयायिकमतमयुक्तम्, वैषम्ये बीजाभावात्, येन हेतुना प्रादीनां द्योतकत्वं तेनैव निपातानामपि तत्त्वसिद्धेः, तथाहि अनुभवतीत्यादावनुभवनादि प्रतीयमानो न धात्वर्थः,

भवतीत्यत्रापि तदवगमापत्तेः, नोपसर्गार्थः, तथा सत्यप्रकृत्यर्थतया तत्राख्यातार्थानन्वयप्रसङ्गात्, प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वव्युत्पत्तेः, अनुगच्छतीत्यादावनुभवादिप्रतीत्यापत्तेश्च, नापि विशिष्टाऽर्थो, गौरवादिति, धातोरेव विद्यमानत्वादिवाचकस्यास्त्वनुभवनादौ लक्षणोपसर्गस्य च तत्र तात्पर्यग्राहकत्वं, तदेव हि द्योतकत्वमुच्यते, तच्चादिष्वपि तुल्यम्, चैत्रमिव पश्यतीत्यादौ (चैत्र) सादृश्यविशिष्टं चैत्रपदलक्ष्यम्, इवशब्दस्तात्पर्यग्राहक इत्यस्य सुवचत्वात्, किञ्चोपास्येते हरिहरावित्यत्रोपासनाया उपसर्गार्थत्वे आस्धातोरुपासनारूपफलवाचकत्वाभावात् स्वार्थफलव्यधिकरणव्यापारवाचकत्वरूपं सकर्मकत्वं न स्यादिति ततः कर्मलकारानापत्तिः, विशिष्टार्थत्वे तु गौरवमिति धात्वर्थत्वपर्यवसाने तत्तात्पर्यग्राहकत्वेन यथोपसर्गस्य द्योतकत्वं सिद्धं तथा साक्षात्क्रियतेऽलङ्क्रियते उरीक्रियते शिव इत्यादावपि धातोस्तत्तदर्थे कर्मणि लकारसिद्ध्यर्थं तत्तदर्थवाचकत्वं वाच्यमिति तत्तात्पर्यग्राहकतया निपातानां सिद्धं प्रादितुल्यतया द्योतकत्वम्। अथ साक्षात्कारादिर्निपातार्थोऽस्तु, "साक्षात्प्रत्यक्षतुल्ययोः" इति कोशस्वरसात्, तदनुकूलो व्यापार एव धात्वर्थोऽस्तु, सकर्मकत्वमपि स्वस्वयुक्तनिपातान्यतरार्थफलव्यधिकरणव्यापारवाचित्वमिति नैकं साधकमस्तीति चेत्, न। नामार्थधात्वर्थयोर्भेदेन साक्षादन्वयासम्भवान्निपातार्थधात्वर्थयोरन्वयस्यैवायोगात्, अन्यथा तण्डुलः पचतीत्यत्रापि कर्मतया तण्डुलानां धात्वर्थेऽन्वयापत्तेरिति बोध्यम्। किञ्च प्रादीनां वाचकत्वे भूयान् प्रकर्षः कीदृशो निश्चय इति वद् भूयान् प्र कीदृशो निरिति स्यादिति यथापाद्यते तथा निपातानां वाचकत्वेऽपि शोभनः समुच्चयो द्रष्टव्य इति वत् शोभनश्च द्रष्टव्य इति स्यादित्युभयेषां द्योतकत्वे युक्तिस्तुल्या, किञ्च "निपातानां वाचकत्वे काव्यादावन्वयो न स्यात्। "शरैरुस्रैरिवोदीच्यानुद्धरिष्यन् रसानिव ॥१॥" इत्यत्र हि उस्रसदृशैः शरै रससदृशानुदीच्या-

नुद्धरिष्यन्नित्यर्थः। स चोस्रादिशब्दानां तत्सदृशपरत्वे इवशब्दस्य च द्योतकत्वे सङ्गच्छते, अन्यथा प्रत्ययानामप्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वविरोधे इवशब्दस्य चासत्त्वार्थकतया तदुत्तरं तृतीयाया असम्भवात्, सम्भवे वा श्रवणप्रसङ्गादुस्रपदोत्तरतृतीयानन्वयप्रसङ्गाच्च। एवं "वागर्थाविव सम्पृक्तौ पार्वतीपरमेश्वरौ वन्दे" इत्यत्र वागर्थयोर्वेदिकर्मत्वाभावात्तदुत्तरद्वितीयानन्वयप्रसङ्गः, इवार्थे कर्मत्वबोधकायोगश्च। अथ निपातस्यावाचकत्वेऽब्राह्मण इत्यादौ पूर्वपदस्यानर्थकत्वेन तत्पुरुषलक्षणोत्तरपदार्थप्राधान्यानापत्तिरिति चेत्, न। तत्र द्योत्यमर्थमादायैवार्थवत्त्वेन निपातस्य प्रातिपदिकत्वात्, अस्तु वा निपातस्यानर्थकस्येति वार्त्तिकात्तत्र तत्त्वं कृत्तद्धितसमासाश्चेत्यनुक्तसमुच्चयार्थकचकारेण निपातसङ्ग्रहाद्वेति युक्तं निपातानां द्योतकत्वम्, "उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते। प्रहाराहारसंहारविहारपरिहारवत्" ॥१॥ इति वृद्धोक्तावुपसर्गपदं निपातस्य धातुपदं च पदान्तरस्योपलक्षणमिति बोध्यम्। यद्वा बोधकतारूपशक्तेरबाधान्निपातानां तत्तदर्थवाचकत्वमेवास्तु। अन्यथा पचतीत्यादौ धातोरेव कर्तृविशिष्टभावनायां लक्षणास्वीकारे तत्तात्पर्यग्राहकतया तिङादेरपि द्योतकत्वोपगमापत्तेः, एवं च धात्वर्थप्रातिपदिकार्थयोर्भेदेनान्वयबोधोऽव्युत्पन्न इति समानाधिकरणप्रातिपदिकार्थयोरभेदेनान्वयबोध इत्यपि च निपातातिरिक्तविषयं कल्पनीयम्। न तु नैयायिकोक्तरीत्या प्रादिचादिवैषम्यम्, निपातस्यानर्थकस्येति विधिवैयर्थ्योद्धाराय केषांचिद् द्योतकत्वे केषाञ्चिद्वाचकत्वे स्वीकार्ये, चादयो द्योतकाः प्रादयो वाचका इति वक्तुरपि वदनस्य पिधातुमशक्यत्वात्, सर्वथानर्थकानां पादपूरणमात्रार्थमुपात्तानां सङ्ग्रहाय वार्त्तिकारम्भस्य कैयटादौ स्पष्टत्वाच्च। किञ्च केवलवृक्षशब्दात् समुच्चयाबोधाच्चकारश्रवणे च तद्बोधाच्चकार एव समुच्चयस्य वाचको न द्योतकः, अपि च द्योतकत्वे पदान्तराणां

तत्र २ शक्तिः कल्प्या, चकारादेश्च द्योतकत्व इत्यतिगौरवं स्यादिति समुच्चयाधिकरणे स्थितम्, तदयमकस्मात् पीतामृतानामिव निपातानां द्योतकत्ववाचकत्वयोरनेकान्तोद्गारः। अस्माकं तु सदापीतानेकान्तामृतानाम् "अनेकमेकात्मकमेव वाच्यं द्वयात्मकं वाचकमप्यवश्यम्" इत्यादिवादिनां पदमात्रमेव वाक्यार्थे द्योतकं वाक्यमेव च वाचकमिति निपाते क इव विशेषोऽन्यत्र संज्ञाकरणात्। न च वाक्यार्थस्यैव प्रवृत्त्यङ्गत्वे वाक्यस्यैव च बोधकत्वे पदशक्तिग्रहानुपयोगः, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां वाक्यशक्तिग्रह एव तदुपयोगात्, पदसमुदायात्मकस्य वाक्यस्य बोधकताविधया तु पदानां तत्त्वमयत्नसिद्धमेव, स्वातन्त्र्येण तु नेति सङ्गिरामहे। यत्तु पदानि स्वार्थप्रतिपादनमात्रेण निवृत्तव्यापाराणि न वाक्यार्थबोधक्षमाणि, आकाङ्क्षासन्निधियोग्यतावच्छिन्नानां पदार्थानामन्वयव्यतिरेकाभ्यां वाक्यार्थवेदकत्वप्रतिपत्तेः, तथाहि श्वेतरूपं पश्यतो हेषाशब्दं खुरशब्दं च शृण्वतः श्वेतोऽश्वो धावतीति बुद्धिर्भवति, इयं च नाध्यक्षानुमित्यादिरूपेति शाब्द्येव, करणं च तत्र तत्तत्पदार्थस्मरणमेव, तदुक्तं "पश्यतः श्वेतमारूपं हेषाशब्दं च शृण्वतः॥ खुरविक्षेपशब्दं च श्वेतोऽश्वो धावतीति धीः ॥१॥" इति, सिद्धं पदार्थानां शब्दप्रमाणान्तर्गतत्वम्, तदुक्तं "प्रत्यक्षादिपरिच्छिन्नपदार्थप्रत्ययोद्भवः॥ वाक्यार्थप्रत्ययः सोऽपि, शब्दान्नैव भिभिद्यते ॥ १ ॥" इति। अपि च कविकाव्यमूलज्ञानं न मानसं, मनसो बहिरस्वातन्त्र्यात्, नाप्यनुमितिः, व्याप्त्याद्यप्रतिसन्धानं विना जायमानत्वात्। किन्तु शाब्दबुद्धिः, तत्र कारणं च न पदज्ञानम्, असत्त्वात्, किन्तु चिन्तोद्बुद्धसंस्कारजन्यं तत्तत्स्मरणमिति, सिद्धं (द्धः) पदार्थः प्रमाणतया, यत्र चापचारान्मानसाच्छृण्वन्नपि पदानि पदार्थान्नावधारयति, तत्र न भवति वाक्यार्थप्रत्यय इति व्यतिरेकबलादपि पदार्था एव वाक्यार्थवेदका इति निर्व्यूढमिति भाट्टैकदेशिमतम्, तदसत्,

प्रथमव्यवहाराद्वाक्याभिन्नानां पदानामेव शक्तिकल्पनात्, पदार्थे पृथक्शक्तिकल्पने मानाभावात्, काव्यमूलज्ञानस्य च चन्द्रमुखसादृश्यादिस्मृत्युपनीतस्य मानसत्वात्, ईदृशि स्थले मनसो बहिःस्वातन्त्र्यस्याप्यभ्युपगमात्. श्वेतोऽश्वो धावतीतिधियश्च दृश्यमानः श्वेतोऽयं धावदश्वः हेषाखुरविक्षेपकर्तृत्वादित्यनुमितिरूपायाः संशयोत्तरप्रत्यक्षरूपाया वा सम्भवात्, अतीतत्वादिना पदार्थानां स्मृतौ शाब्दबुद्धौ वाऽहेतुत्वात् पदार्थस्मृतेश्चाव्यापारत्वान्न प्रमाणत्वमिति नैयायिकः, यत्तु पदार्थस्मृतिमात्रस्य शाब्दबुद्धिहेतुत्वे घटः कर्मत्वमानयनं कृतिरित्यादिपदजन्यपदार्थोपस्थितावतिप्रसङ्गः, निराकाङ्क्षपदाजन्यस्मृतेस्तथात्वे तु गौरवमिति साकाङ्क्षपदज्ञानमेव करणं पदार्थस्मृतिस्तु व्यापार इति नैयायिकैरुक्तम्, तदयुक्तम्, साकाङ्क्षपदार्थस्मृतेरेव फलायोगव्यवच्छिन्नत्वेन करणत्वौचित्यात्, यत्र चापचारादित्यादि च यदुक्तम्, तद्विचारासहम्, मानसादपचारात्पदार्थानवगमेन वाक्यार्थप्रतीत्यभावासिद्धेरुपहतमनसो विशिष्टपदसमुदायरूपवाक्यस्यैवानवगमान्निश्चयरूपस्य तदवगमस्यान्त्यपदप्रतिपत्तिकाले स्वार्थविशिष्टपूर्वपूर्वपदपरामर्शस्याविलम्बेन वाक्यार्थप्रतिपत्तिजनकत्वात्, इतरथोपेक्षारूपस्य तादृशपदार्थोपस्थितिवदनादरणीयत्वात्, तदुक्तं—'सम्मतिवृत्तौ' पूर्वपदानुविद्धं चान्त्यपदं यदा वाक्यं पूर्वपदानि च स्वाभिधेयविशिष्टतयाऽन्त्यपदप्रतिपत्तिकाले परामृश्यमानानि वाक्यार्थप्रतिपत्तिजनकानि, तदा पदार्थानवगमे वाक्यस्यैव स्वार्थाभिसम्बद्धतयाऽनवगमात् कथं ततो वाक्यार्थप्रतीतिर्भवेदिति, अयमिह निष्कृष्टार्थः, यावती व्युत्पत्तिः शाब्दबोधे हेतुस्तावद्व्युत्पत्तिसम्बन्धेन स्वार्थविशिष्टवाक्यज्ञानं धारणारूपमेकोपयोगप्रविष्टपदकदम्बविषयं तत्त्वादेवानुपूर्वीपर्यायेण सर्वत्र प्रत्यक्षं तात्पर्यवशाद्विशेष्ये विशेषणमिति रीत्या विशिष्टे वैशिष्ट्यमिति रीत्या वा कथञ्चिदेकानेकात्मकवाक्यार्थधियं जनयति, पदार्थोपस्थितिद्वारत्वे

कथमप्यनुपपत्तेः, घटमानयतीत्यादौ घटादिपदज्ञानाधीनघटादिस्मृतेरमादिपदज्ञानाधीनकर्मत्वादिस्मृतिकाले नाशात् । घटादिस्मृतेरेवामादिपदविषयत्वे त्वव्यवधानेन कर्मत्वादिस्मृतेः घटीयं कर्मत्वमिति बोधसम्भवेऽपि तत्काले घटादिस्मृतिनाशादानयनादिबोधासम्भवात्, सर्वेषां पदानां समूहालम्बनस्मृतौ तथैवार्थस्मृत्या खले कपोतन्यायेन सर्वत्र विशेष्ये विशेषणमिति रीत्यैव शाब्दबोध इत्युपाध्यायमतस्य तु मिश्रैरेव दूषितत्वात्, यत्र विशेषाणां न परस्परमन्वयसम्भवस्तत्रैव चैत्रः स्थाल्यां गेहे काष्ठेनौदनं पचति गच्छति जानाति चेष्टते चेत्यादौ समूहालम्बनस्मृत्यपेक्षाऽन्यत्र त्ववान्तरवाक्यार्थबोधपूर्वक एव महावाक्यार्थबोधः, यथा वाक्यार्थकर्मके कुलकादौ, नहि कुलकादावित्युवाचेत्यादावित्यादिपदोपस्थाप्यवाक्यार्थानुपस्थितावन्वयबोधः, न च तदुपस्थितिरवान्तरवाक्यार्थबोधं विना, न चेदेवं कथं पञ्चाध्याय्यात्मकमहावाक्यार्थबोधस्याप्युपपत्तिः, न ह्यध्ययनेन तावदेकदा ज्ञायते, किन्तु दिने दिने किञ्चित्, अत एव सम्यगवधानासमर्थः स्वल्पं स्वल्पमुच्चार्य योजनया बोध्यते, घटमानयेत्यादौ त्वनियमः सामग्रीद्वयस्यापि पृथक् पृथक् क्लृप्तत्वादिति मिश्रमतस्याप्यनिर्द्धारणेनैव हतत्वात्, अवान्तरवाक्यार्थबोधासाधारण्येन पदजन्यपदार्थोपस्थितित्वेन नियतद्वारत्वाभावात्, अनियतोपस्थितेस्तु पदार्थज्ञानोद्बुद्धसंस्कारप्रभवपदोपस्थितावतिप्रसक्तत्वात्, यथातात्पर्यं गृहीतव्युत्पत्तिकवाक्यज्ञानादेव नियतैकानेकात्मकवाक्यार्थप्रतीतेः सार्वजनीनायाः स्वीकर्त्तुमुचितत्वात्, "वाक्यार्थे द्योतकं ह्येवं पदमात्रं व्यवस्थितम् ॥ निपाते स्फुटता तस्य केवलस्याप्रयोगतः ॥१॥" इति भावनीयं सुधीभिः । वाचकत्वद्योतकत्वयोरनेकान्तस्तु सर्वत्र 'सिद्धिः स्याद्वादात्' इति हैमसूत्रसिद्ध एव, प्रकृते च "स वाचको विशेषाणां स च तद्द्योतकोऽथवा" इति वाक्यपदीयमपि साक्षीति किमतिविस्तरेण ।

प्रपञ्चतोऽन्यत्रेति, (१८३-२-१२) एवकारप्रयोगे घटो नील एवेत्यत्र सर्वावयवावच्छिन्ननीलवत् सन्नेवेत्यतः सर्वधर्मावच्छिन्नसत्त्वप्रतीतौ तदपवादाय नियतावच्छेदकस्फोरणार्थं स्यात्पदप्रयोगध्रौव्ये सावधारणः प्रयोगो युक्तोऽन्यथा तु घटः सन्निति निरवधारणप्रयोगोपि व्युत्पन्नस्य स्वद्रव्यादिचतुष्टयावच्छिन्नस्वरूपसत्त्वप्रकारकबोधान्नानुपपत्तिरित्यत्राप्यनेकान्त एव श्रेयानित्यादिकमित्यर्थः। निरूपितं चैतत्तत्त्वमनेकान्तप्रवेशेऽस्माभिरिति तत एवावगन्तव्यम्। अभिनिबुद्धम्, (१८४-१-३) अनुमितम्, शब्दयोजनया (२) परार्थशब्दप्रयोगेण, विकल्पनिरूपणया (३) स्ववृत्तिशब्दवृत्तिजन्योपस्थित्या, वाकारो वक्तृश्रोतृस्थश्रुतानुसन्धानभेदाभिप्रायेण, इत्यनुसन्धानप्रत्ययभेदवदिति (४) यथोक्तानुसन्धानविषय एकोऽर्थस्तथाऽहमेक एव द्रष्टेत्याद्यनुसन्धानविषय आत्मापि, अन्यथोपदर्शितप्रत्ययनिर्विषयत्वापत्तेरित्यर्थः, 'तावद्धेति' (६) तावत्प्रकारैः। तदेकत्वाभावे (९) चित्रवृत्तिक्षणेऽप्यनुभूयमानैकत्वापलापे, 'नीलादीति' (१०) नीलादिविशेषेषु नियमतो निश्चयतो दर्शनं स्वप्रकाशो येषां ते तथा, नानासंवेदनचित्तक्षणाः नीलादिमात्रविषयकनानाज्ञानानीति यावत्, तद्वत् तेष्विव, चित्रसंवेदनं चित्रत्वज्ञानं नानारूपसमुदायज्ञाने न स्यात्, विषयितासम्बन्धेन स्वाश्रये तेन वृत्तित्वरूपसामानाधिकरण्येन नीलेतरविशिष्टनीलवत्त्वादिनैव ज्ञाने चित्रत्वव्यवहारादित्यर्थः। अनुसन्धानमनननिबन्धनत्वमिति (११) अनुसन्धानमेकत्वप्रत्यय एव, मननं ज्ञानं तन्निबन्धनत्वं तत्कारणत्वमित्यर्थः। तादात्म्यविगमैकान्ते (११) भेदैकान्ते, अपरामृष्टभेदानाम् (१२) अगृहीतभेदानाम्, सन्तानव्यतिरेकोऽपि (१३) भिन्नसन्तानवर्तित्वमपि, चित्रप्रतिपत्तेरयोगादिति (१८४-२-१) भेदसंलुलिताभेदस्यैव तद्विषयत्वादित्यर्थः। व्याप्यवृत्तिव्याप्यवृत्तिस्वभावं दर्शयित्वाऽव्याप्यवृत्तिं तं दर्शयति 'किन्त्विति (६) सिता-

दीति ' (१८४-२-६) सितादयो ये निर्भासा ज्ञानाकारास्तथांशपरमाणूनामवयवाणूनां संवित्तयस्ता अपि परस्परव्यावृत्तिलक्षणा इति व्याख्येयम्। परस्परविविक्ता[त्मा]त्मन इति (९) अध्याहृतस्य वस्तुनो विशेषणमिदम्,तत्र(१०) जगति, अन्वयस्य (१०) सर्वथैकत्वस्य, विशेषापेक्ष(णा)त्वा (१०) तत्त्वतो व्यावृत्तिनिरूपणाधीननिश्चयविषयत्वात्, निष्पर्यायम् (१२) अवच्छेदकभेदरहितम्, 'तदंशेति' (१८५-१-१) तदंशौ सत्त्वासत्त्वे, चातुर्जातकम् (३) एलालवंगनागकेसरतमालपत्राणि, पानकवज्जात्यन्तरत्वमेव सर्वथोभयरूपत्वादिकमुदस्यतीत्याह ' सर्वथेत्यादि ' (४) प्रत्येकमिति (७) सत्त्वोपाधावपि केनचिद्धर्मेणोभयात्मकतायास्तत्रापि धर्मान्तरेण तत्तायाः स्वीकारेऽनवस्थेत्यर्थः। तथाऽनभ्युपगमे (७) धर्मान्तरे उभयरूपताननुसरणे, तत्रैव व्यभिचारात्, नोभयस्वभावमशेषं सिद्धमिति ते (७) उभयस्वभावमेवाशेषमिति प्रतिज्ञाया विरोध इत्यर्थः। स्यात्कारेणेति ' (१०) स्यादुभयमित्यत्र स्यात्कारेण सत्त्वासत्त्वावच्छेदकधर्मयोरेव परामर्शाज्जात्यन्तरत्वस्यार्थसिद्धत्वादिति भावः। अर्थसिद्धत्वं च तस्यौत्तरकालिकमानसबोधात् द्योत्यतावच्छेदककुक्षिप्रविष्टत्वाद्वेत्यन्यदेतत्। अनध्यवसेयम् (१३) अभिलापोपरक्तनिश्चयाविषयः, मूर्च्छाचैतन्यवदिति (१३) मूर्च्छाचैतन्यगृहितवदित्यर्थः। यथा मूर्च्छाचैतन्यगृहीतमप्यगृहीतकल्पं तथाऽभिलापानुपरागेण गृहीतमप्यगृहीतकल्पमित्यर्थः। न सोऽस्तीत्यादिनोक्तं (१४) वक्तव्यैकान्तमपि प्रतिक्षिपति ' सर्वात्मनेत्यादि ' (१८५-२-२) सामान्यरूपेणेव विशेषरूपेणापीति सर्वात्मनेतयस्यार्थः। शब्दागोचरत्वेऽनभिधेयत्वापत्तेरिति (३) शब्दगोचरत्वेऽभ्युपगम्यमाने बाधापत्तेस्तदऽभ्युपगमस्यायुक्तत्वादित्यर्थः, बाधश्चाध्यक्षविषयो न शब्दविषय इति स्फुट एव, प्रत्यक्षविषये प्रत्यक्षशब्दवाच्यत्वमादायाबाधमाशङ्कते 'प्रत्यक्षात्मके-

त्यादि' (४) तथा सत्यनुमानादिशब्दवाच्यत्वात्तत्र स्पष्टत्वास्पष्टत्वसङ्करे ज्ञानसङ्करः स्यादित्याह 'तथैवेत्यादि' (४) विषयविशेषकृतो न प्रत्यक्षेतरविशेषः, किन्तु स्वकारणभेदकृत इत्यत्राह 'तयोरिति' (५) तयोः प्रत्यक्षेतरयोः, विशेषे कुतश्चित्कारणाद्भेदे, तदात्मकयोः (५) प्रत्यक्षेतरशब्दयोर्भेदात्, शब्दाद्वैतसिद्धिः कुतो (५) न कुतश्चिदिति प्रतिज्ञाहानिर्वादिनः। उपाधिभेदान्नायं दोष इत्याशङ्कते स्यान्मतमित्यादिना, (५) एतद् दूषयति–तदसदित्यादिना, (७) प्रत्यक्षेतरोपाधीनामित्यत्र प्रत्यक्षं चेतरच्चोपाधिश्चेति द्वन्द्वः कार्यः, तेन बहुवचनोपपत्तिरिति द्रष्टव्यम्। वक्तव्यैकान्तपक्षोक्तं दूषणमवक्तव्यैकान्तपक्षेऽपि सममित्युपदर्शयति तथानभिधेयत्वेऽपीत्यादिना, (८) 'साध्याभिधानादित्यादि' (१२) साध्याभिधानात्, पक्षोक्तिः, (१३) साध्यविशिष्टधर्मिण उक्तिः, पारम्पर्येणापि नालं (१३) नानुमितिजननसमर्था, पक्षज्ञानमात्रस्य तदहेतुत्वात्, हेतुवचस्तु स्वयमनुमितिजननेऽशक्तमपि शक्तस्यानुमितिजननसमर्थस्य हेतोः सूचकम्, इत्थं च पारम्पर्येण हेतुवचनस्यानुमापकत्वमनुज्ञातम्, अत्र हि सूचकता ज्ञानजनकता, ज्ञानं च बाधाभावात् प्रमारूपमित्यनिच्छताऽपि शब्दस्य प्रमापकत्वं तन्निर्वाहाय वाचकत्वं च बौद्धेनाश्रयणीयमित्युक्तं भवति, सूचकत्वं तु ज्ञानावच्छेदकार्थानुमापकत्वविधया स्वातन्त्र्येण वेत्यन्यदेतत्, अवाचकशब्दव्यावृत्त्यर्थं प्रामाण्यपरीक्षायां वाचकत्वस्यावश्यंभावाद्वक्त्रभिप्रायसम्भावनाजनकत्वमेव शब्दस्यार्थसूचकं (कत्वं) सैव च बहुशो व्यवहारकरीत्याश्रयणे च प्रसिद्धानुमानकार्यस्यापि सम्भावनयैवोपपत्तेः प्रत्यक्षातिरिक्तप्रमाणमात्रप्रत्याख्यानाच्चार्वाकमतप्रवेशो महापापावहः स्यादिति द्रष्टव्यम् ॥१४॥

तत्र प्रथमद्वितीयभङ्गयोस्तावन्नययोगमुपदर्शयन्ति स्वामिनः।—

सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात् । असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥ १५ ॥

सर्वं चेतनमचेतनं वा द्रव्यं पर्यायादि वा भ्रान्तमभ्रान्तं वा स्वयमिष्टमनिष्टं वा, सदेव स्वरूपादिचतुष्टयात् को नेच्छेत् ? असदेव पररूपादिचतुष्टयात् तद्विपर्ययात्को नेच्छेत् ? अपि तु लौकिकः परीक्षको वा स्याद्वादी सर्वथैकान्तवादी वा सचेतनस्तथेच्छेदेव, प्रतीतेरपह्नोतुमशक्तेः । अथ स्वयमेवं प्रतीयन्नपि कश्चित्कुनयविपर्यासितमतिर्नेच्छेत् स न क्वचिदिष्टे तत्त्वे व्यवतिष्ठेत, स्वपररूपोपादानापोहनव्यवस्थापाद्यत्वाद्वस्तुनि वस्तुत्वस्य, स्वरूपादिव पररूपादपि सत्त्वे चेतनादेरचेतनादित्वप्रसङ्गात् तत्स्वात्मवत्, पररूपादिव स्वरूपादप्यसत्त्वे सर्वथा शून्यतापत्तेः, स्वद्रव्यादिव परद्रव्यादपि सत्त्वे द्रव्यप्रतिनियमविरोधात् । सयोगविभागादेरनेकद्रव्याश्रयत्वेपि तद्द्रव्यप्रतिनियमो न विरुध्यते एवेति चेत्, न, तस्यानेकद्रव्यगुणत्वेनानेकद्रव्यस्यैव स्वद्रव्यत्वात्, स्वानाश्रयद्रव्यान्तरस्य परद्रव्यत्वात्ततोपि सत्त्वे स्वाश्रयद्रव्यप्रतिनियमव्याघातस्य तदवस्थत्वात् । तथा परद्रव्यादिव स्वद्रव्यादपि कस्यचिदसत्त्वे सकलद्रव्यानाश्रयत्वप्रसङ्गादिष्टद्रव्याश्रयत्वविरोधात् । तथा स्वक्षेत्रादिव परक्षेत्रादपि सत्त्वे कस्यचित्प्रतिनियतक्षेत्रत्वाव्यवस्थितेः । परक्षेत्रादिव स्वक्षेत्रादपि चासत्त्वे निःक्षेत्रतापत्तेः । तथा स्वकालादिव परकालादपि सत्त्वे प्रतिनियतकालत्वाव्यवस्थानात् । परकालादिव स्वकालादप्यसत्त्वे सकलकालासंभवित्वप्रसङ्गात् क्व किं व्यवतिष्ठेत ? यतः स्वेष्टानिष्टतत्त्वव्यवस्था । नन्वेवं स्वरूपादीनां स्वरूपाद्यन्तरस्याभावात्कथं व्यवस्था स्यात्, भावे वानवस्थाप्रसङ्गात् । सुदूरमपि गत्वा स्वरूपाद्यन्तराभावेपि कस्यचिद्व्यवस्थायां किमनया प्रक्रियया स्वगृहमान्यया यथाप्रतीति वस्तुव्यवस्थोपपत्तेरिति कश्चित्, सोपि वस्तुस्वरूपपरीक्षानभिमुखो, वस्तुप्रतीतेरेव तथा प्ररूपयितुमुपक्रान्तत्वात् । अन्यथा नानानिरङ्कुशविप्रतिपत्तीनां निवारयितुमशक्यत्वात् । वस्तुनो हि यथैवाबाधिता प्रतीतिस्तथैव स्वरूपं, न च तत्ततोन्यदेव

प्रतीयते येन स्वरूपान्तरमपेक्षेत । तथा प्रतीतौ वा तदुपगमेपि नानवस्था, यत्राप्रतिपत्तिस्तत्र व्यवस्थोपपत्तेः । तत्र जीवस्य तावत्सामान्येनोपयोगः स्वरूपं, तस्य तल्लक्षणत्वात्, "उपयोगो लक्षणम्," इति वचनात् । ततोन्योऽनुपयोगः पररूपम् । ताभ्यां सदसत्त्वे प्रतीयेते । तदुपयोगस्यापि विशेषतो ज्ञानस्य स्वार्थाकारव्यवसायः स्वरूपम् । दर्शनस्यानाकारग्रहण स्वरूपम् । ज्ञानस्यापि परोक्षस्यावैशद्य स्वरूपम् । प्रत्यक्षस्य वैशद्य स्वरूपम् । दर्शनस्यापि चक्षुरचक्षुर्निमित्तस्य चक्षुराद्यालोचनं स्वरूपम् । अवधिदर्शनस्यावध्यालोचन स्वरूपम् । परोक्षस्यापि मतिज्ञानस्येन्द्रियानिन्द्रियनिमित्त स्वार्थाकारग्रहणं स्वरूपम् । अनिन्द्रियमात्रनिमित्तं श्रुतस्य स्वरूपम् । प्रत्यक्षस्यापि विकलस्यावधिमनःपर्ययलक्षणस्य मनोक्षानपेक्षं स्पष्टात्मार्थग्रहणं स्वरूपम् । सकलप्रत्यक्षस्य सर्वद्रव्यपर्यायसाक्षात्करणं स्वरूपम् । ततोन्यत् सर्वं तु पररूपम् । ताभ्यां सदसत्त्वे प्रतिपत्तव्ये । एवमुत्तरोत्तरविशेषाणामपि स्वपररूपे तद्विद्भिरभ्यूह्ये, तद्विशेषप्रतिविशेषाणामनन्तत्वात् । द्रव्यक्षेत्रकालभावविशेषाणामनेनैव प्रतिद्रव्यपर्यायं स्वपररूपे प्रतिपादिते । ननु च जीवादिद्रव्याणा षण्णामपि किं स्वद्रव्यं किं वा परद्रव्यम् ? यतः सदसत्त्वे व्यवतिष्ठेते, द्रव्यान्तरस्यासंभवादिति चेन्न, तेषामपि शुद्धं सद्द्रव्यमपेक्ष्य सत्त्वस्य तत्प्रतिपक्षमसद्भावमपेक्ष्यासत्त्वस्य च प्रतिष्ठोपपत्तेः । शुद्धद्रव्यस्य स्वपरद्रव्यव्यवस्था कथम् ? तस्य सकलद्रव्यक्षेत्रकालभावात्मकत्वात्, तद्व्यतिरेकेणान्यद्रव्याद्यभावादिति चेन्न, सकलद्रव्यक्षेत्रकालभावानपेक्ष्य सत्त्वस्य, तदभावमपेक्ष्यासत्त्वस्य च व्यवस्थितेः 'सत्ता सप्रतिपक्षा' इति वचनात् । एतेन सकलक्षेत्रस्य नभसोनाद्यनन्ताखिलकालस्य च सकलक्षेत्रकालात्मनः प्रतिनियतक्षेत्रकालात्मनश्च स्वपररूपत्वं निश्चितम् । अतः सदसत्त्वव्यवस्था । स्वरूपादिचतुष्टयादिति "ल्यखे कर्मण्युपसख्यानात्" का० । स्वरूपादिचतुष्टयमपेक्ष्य को नेच्छेत्सदेव सर्वमित्यर्थः । एतेन विपर्यासादिति व्याख्यातम् । ननु स्वस्वसत्त्वस्यैव परासत्त्वस्य प्रतीतेर्न वस्तुनि

स्वपररूपादिसत्त्वासत्त्वयोर्भेदो, यतः प्रथमद्वितीयभङ्गौ घटेते, तदन्यतरेण गतार्थत्वात्, तदघटने च तृतीयादिभङ्गाभावात्कुतः सप्तभङ्गीति चेत्, न, स्वपररूपादिचतुष्टयापेक्षया स्वरूपभेदात्सत्त्वासत्त्वयोरेकवस्तुनि भेदोपपत्तेः, तयोरभेदे स्वरूपादिचतुष्टयापेक्षयेव पररूपादिचतुष्टयापेक्षयापि सत्त्वप्रसङ्गात्, तदपेक्षयेव स्वरूपाद्यपेक्षयापि वाऽसत्त्वप्रसक्तेः । न चापेक्षाभेदात् क्वचिद्धर्मभेदप्रतीतिर्बाध्यते, वदरापेक्षया बिल्वे स्थूलत्वस्य मातुलिङ्गापेक्षया सूक्ष्मत्वस्य च प्रतीतेर्बाधकाभावात्। सर्वस्यापेक्षिकस्यावास्तवत्वे नीलनीलतरादेः सुखसुखतरादेश्चावास्तवत्वापत्तेर्विशदविशदतरादिप्रत्यक्षस्यापि कुतस्तात्त्विकत्वं यतो न संविदद्वैतप्रवेशः ? स चायुक्त एव, तद्व्यवस्थापकाभावात् ।

ततः स्यात्सदसदात्मकाः पदार्थाः, सर्वस्य सर्वाकरणात्। न हि पटादयो घटादिवत्क्षीराद्याहरणलक्षणामर्थक्रिया कुर्वन्ति घटादिज्ञानं वा । तदुभयात्मनि दृष्टान्तः सुलभः । सर्वप्रवादिनां स्वेष्टतत्त्वस्य स्वरूपेण सत्त्वेऽनिष्टरूपेणासत्त्वे च विवादाभावात् तस्यैव च दृष्टान्ततोपपत्तेः । ननु चैकत्र वस्तुनि सत्त्वमसत्त्व च युक्तिविरुद्धम्, परस्परविरुद्धयोर्धर्मयोरेकाधिकरणत्वायोगात्, शीतोष्णस्पर्शवद्भिन्नाधिकरणत्वप्रतीतेरिति चेत्, न, तयोः कथञ्चिदर्पितयोर्विरुद्धत्वासिद्धेस्तथा प्रतिपत्तिसद्भावाच्च । शाब्देतरप्रत्यययोरेकवस्तुविषययोरेकात्मसमवेतयोः कारणविशेषवशात्परिवृत्तात्मनोः स्वभावभेदेपि कथञ्चिदेकत्वमस्त्येव, विच्छेदानुपलब्धेः । न हि शाब्दप्रत्यक्षवेदनयोरस्पष्टेतरप्रतिभासनस्वभावभेदोऽसिद्धः, प्रतीत्यपह्नवप्रसङ्गात्। नापि तयोरेकवस्तुविषयत्वमेकद्रव्याश्रयत्वं चाऽसिद्धम्, तत्रानुसन्धानप्रत्ययसद्भावात्, यदेव मया श्रुतं तदेव दृश्यते, य एवाहमश्रौषं स एव पश्यामीति प्रतीतेर्बाधकाभावात् । तयोर्द्रव्यात्मनैकत्वमस्त्येव, विच्छेदस्यानुपलक्षणात् । ननूपादानोपादेयक्षणयोस्तद्भावादेवानुसंधानसिद्धेर्विच्छेदानुपलम्भेपि नैकत्वसिद्धिः, एकसन्तानत्वस्यैव सिद्धेः, आत्मद्रव्यस्याभावादिति चेत्, न, तदभावे तयोरुपादानोपादेयतानुपपत्तेः । उपादानस्य कार्यकालमात्मान कथंचिदनयतश्चिरतरनिवृत्ताविवाविशे-

पात्कार्योत्पत्तावपि व्यपदेशानुपपत्तेस्तादृशां स्वरूपैकत्वमस्त्येव। न च सव्येतरविषाणवत्सर्वथा समानकालतोपादानोपादेययोर्यतस्तद्भावो विरुध्येत, द्रव्यसामान्यापेक्षया तयोरेकत्वमिति मननात्। विशेषापेक्षया तु नास्त्येव तादृशामेकत्वम्। न हि पौरस्त्य पाश्चात्यः स्वभावः, पाश्चात्यो वा पौरस्त्यः। नन्वेवमेकत्वं मा भूत् पूर्वापरपरिणामानाम्, क्रमस्यैवावस्थानादक्रमस्य तद्विरुद्धत्वादिति न मन्तव्यम्, यस्मान्निरपेक्षस्तत्र क्रमोपि प्रतिभासविशेषवशात्प्रकल्प्येत तदेकत्वादक्रमः किन्न स्यात्? प्रतिभासैकत्वेपि तदक्रमानुपगमे प्रतिभासविशेषवशात्क्रमः कथमभ्युपगमार्हः स्यात्? सर्वस्य यथाप्रतिभास वस्तुनः प्रतिष्ठानात्, प्रतिभासमानयोः क्रमाक्रमयोर्विरोधानवतरणाद्विरोधस्य सहा(स्या)नुपलम्भलक्षणत्वात्। न च स्वरूपादिना वस्तुनः सत्त्वे तदैव पररूपादिभिरसत्त्वस्यानुपलम्भोस्ति, येन सहानवस्थानलक्षणो विरोधः शीतोष्णस्पर्शविशेषवत्स्यात्, परस्परपरिहारस्थितिलक्षणस्तु विरोधः सहैकत्राम्रफलादौ रूपरसयोरिव सभवतोरेव सदसत्त्वयोः स्यात्, न पुनरसभवतोः, सभवदसभवतोर्वा। एतेन वध्यघातकभावोपि विरोध फणिनकुलयोरिव बलवदबलवतोः प्रतीत सत्त्वासत्त्वयोरशङ्कनीयः कथितः, तयोः समानबलत्वादित्येतदग्रे प्रपञ्चयिष्यते। तदेकानेकाकारमक्रमक्रमात्मकमन्वयव्यतिरेकरूपं सामान्यविशेषात्मक सदसत्परिणामं स्थित्युत्पत्तिविनाशात्मकं स्वप्रदेशनियतं स्वशरीरव्यापिन त्रिकालगोचरमात्मानं परं वा कथञ्चित्साक्षात्करोति, परोक्षयति वा, केशादिविवेकव्यामुग्धबुद्धिवत्, तादृशैकचैतन्यं सुखादिभेदं वस्तु स्वतोऽन्यतः सजातीयविजातीयाद्विविक्तलक्षणं बिभर्ति। अन्यथानवस्थानात् कचित्कथचिदनियमः स्यात्। सर्वो हि लौकिकः परीक्षकश्च तावदेकमक्रमात्मकमन्वयरूप सामान्यात्मक सत्परिणामं स्थित्यात्मकमात्मान पर वा बहिरर्थसतानान्तराख्य द्रव्यापेक्षया साक्षात्करोति, लिङ्गशब्दादिना परोक्षयति वा, भावापेक्षया पुनरनेकाकारं क्रमात्मकं व्यतिरेकरूपं विशेषात्मकमसत्परिणाममुत्पत्तिविनाशात्मकं,

क्षेत्रापेक्षया स्वप्रदेशनियतं निश्चयनयतः, स्वशरीरव्यापिनं व्यवहारनयतः, कालापेक्षया त्रिकालगोचरम् । कथं पुनरीदृशमात्मानं पर वा साक्षात्करोति कथं वा परोक्षयति द्रव्याद्यपेक्षयेति चेत्, उच्यते । साक्षात्करणयोग्यद्रव्याद्यात्मना मुख्यतो व्यवहारतो वा विशदज्ञानेन साक्षात्करोति, परोक्षज्ञानयोग्यद्रव्याद्यात्मना अनुमानादिप्रमाणेनाविशदेन परोक्षयति, 'प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं मुख्यसव्यवहारतः । परोक्षं शेषविज्ञानं प्रमाणे इति सग्रहः' ॥१॥ इति सक्षेपतः प्रत्यक्षपरोक्षयोरेव वस्तुपरिच्छित्तौ व्यापारवचनात् । कथं तर्हि केशादिविवेकव्यामुग्धबुद्धिः पुरुषो दृष्टान्तः समः स्यादिति चेत्, केशमशकमक्षिकादिप्रतिभासात्मना सत्त्वपरिणामं साक्षात्कुर्वन् विवेकाद्यात्मना च कुतश्चिदनुमिन्वन्नुपशृण्वन्वा परोक्षयन्, अविवेकादिव्यामोहप्रतिभासात्मना चासत्त्वपरिणामं कथञ्चित्तु साक्षात्कुर्वन् परोक्षयंश्च सम एव स दृष्टान्तः, तथा वैषम्याभावात् । ननु च तद्वस्तु चैतन्यमेवैकमक्रमादिरूप बिभर्ति, न पुनः सुखादिभेदमनेकाकारं क्रमाद्यात्मकं, सजातीयाच्चेतनवस्तुनो विजातीयाच्चाचेतनवस्तुनो विविक्तस्वरूपम्, तमेव वा बिभर्ति तादृशं, न पुनश्चैतन्यं तत्त्वतः, इत्यभ्युपगमयोरेकतरानवस्थानेऽन्यतरस्याप्यनवस्थानादुभयानवस्थितिप्रसङ्गात्, क्वचिदभ्युपगते रूपे कथंचित्प्रत्यक्षादिप्रकारेण स्वाभ्युपगमादिप्रकारेण च नियमासभवात् । सूक्तम् "ईदृशं न चेत्, न व्यवतिष्ठते" इति । ॥ १५ ॥

अथ स्वयमेवं प्रतीयन्नपीति (१९२–१–४) सत्त्वासत्त्वोभयधर्मशबलैकवस्त्विति शेषः । अत्र स्वरूपं स्वभावः पररूपं परभाव इति, शिष्टमादिपदग्राह्यं द्रव्यादित्रयमेव स्थितमिति तदाश्रित्याह 'स्वद्रव्यादिवेत्यादि' (६) ॥ तदवस्थत्वादिति (८) संयोगस्य स्वद्रव्यापेक्षास्तित्वाभावेऽयं संयोगोऽनयोरेव द्रव्ययोर्नान्ययोरिति प्रतिनियमो व्याहन्यत एवेति दोषस्य प्रागुक्तानतिशायित्वादित्यर्थः, इयोस्तु विशेषोऽव्यासज्यवृत्तिधर्माणामस्तित्वे स्वसमवायिद्रव्यमात्रापेक्षा, व्यासज्यवृत्ति-

धर्माणां तु स्वपर्याप्तिमद्द्रव्यापेक्षेति । अत एव तत्प्रमात्वमपि स्वपर्याप्तिमद्विशेष्यकत्वघटितमिति नैको द्वावित्यादेः प्रमात्वम्, तादृशबुद्धिकाले धर्मद्वयावच्छेदेन द्वित्वबुद्धेः प्रमात्वं तु स्याद्वादापेक्षया लोकोत्तरमिति न दोषः, लौकिकप्रमाप्रकारस्यैव प्राग् लक्षितत्वादिति दिग् । स्वरूपादौ स्वरूपाद्यन्तराभावात्कथं सत्त्वं, तद्भावे वा कथं नानवस्थेति नैयायिकादिः शङ्कते '**नन्वेवमित्यादिना**' (१९२-१-११) ॥ स्वरूपादीनां धर्मिसत्त्वादिनियामकानां स्वसत्त्वादिनियामकत्वस्य धर्मिग्राहकमानेन स्वत एव सिद्धत्वान्नयविशेषेण स्वरूपान्तरादिग्रहस्यापि जिज्ञासाधीनत्वाद् यत्रैव न सा तत्रैव विश्रान्तेर्नानवस्थेति समाधत्ते–**सोऽपीत्यादिना** (१३) ॥ **वस्तुनो हीति**' (१४) तथा च स्वरूपादिघटितमूर्त्तेरेव सत्त्वादेः प्रतीतेर्भेदनयेऽपि च यथा जिज्ञासं व्यवस्थानान्नानवस्थेति फलितम्, एतेन सत्त्वं नावच्छिन्नम्, अनवच्छिन्नस्यैव सत्तामहासामान्यस्य सर्वैः प्रतीयमानत्वात्, तत्र स्वरूपादेरवच्छेदकस्य कल्पने च तस्यापि सप्तभङ्गीनयेनानवस्थिततद्व्यवस्थार्थमप्यवच्छेदकान्तरमपेक्षणीयम् तत्राप्यन्यदित्येवं ज्ञप्तिप्रतिपन्थिन्यनवस्था दुरुद्धरेति न कथमपि सप्तभङ्गीक्रमेण शाब्दबोधोपपत्तिरिति पशुपालप्रलपितमपास्तम् । अनर्पितदृष्ट्याऽनवच्छिन्नेऽप्यर्पितदृष्ट्याऽवच्छिन्नत्वप्रतीतेः सार्वजनीनत्वात्, केनचिन्नयेन स्वरूपादेः स्वरूपतोऽवच्छेदकत्वं निर्णीयैवास्तित्वादिप्रवृत्तेरनवस्थाया अभावात्, अन्यथा शाखावच्छेदेन कपिसंयोगप्रत्ययोऽपि दुरुपपादः स्यात्, सम्पूर्णा परमाण्वाद्यवच्छिन्ना वा शाखाऽनवच्छेदिकेति ग्रहे शाखात्वावच्छेदेनावच्छेदकत्वग्रहासम्भवात्, प्रतिनियतावयवावच्छिन्नशाखात्वेन तदवच्छेकत्वस्य च दुर्ग्रहत्वादित्यादिकमुपपादितं गोपालमतप्रमाथिन्यामनेकान्तव्यवस्थायामस्माभिरिति तत एवावधार्यम् । स्वद्रव्यपरद्रव्यादेः सर्वत्र सदसत्त्वव्यवस्थापकत्वनियमभङ्गमाशङ्कते–**नन्नु चेत्यादिना** (१९२-२-८) ॥ षण्णा-

मपि (१९२-२-९) इति द्रव्यत्वमुद्देश्यतावच्छेदकमाह-द्रव्यत्वावच्छेदेन सत्त्वासत्त्वादिसप्तभङ्गीसाधने किं स्वद्रव्यं किं वा परम्, तदवच्छिन्नभेदाप्रसिद्ध्या परत्वस्य तदभावे स्वत्वस्य दुर्वचत्वान्न किञ्चिदित्यर्थः, तत्रापि शुद्धं द्रव्यं स्वं सत्त्वावच्छेदकम्, अशुद्धं च परमसत्त्वावच्छेदकम्, अशुद्धशुद्धत्वे च भेदाभेदप्रधानव्यवहारनिश्चयनयसाक्षिकावखण्डोपाधिविशेषौ, प्रतिभासविशेषादपि तत्सिद्धेस्तत्तेदंतादौ दर्शनादिति नानुपपत्तिरित्यभिप्रायवानाह-'न, तेषामपीत्यादि' (९)॥ तथापि शुद्धद्रव्यत्वावच्छिन्नधर्मिताकसप्तभङ्गीस्थले का गतिरित्याशङ्कते शुद्धद्रव्यस्येत्यादि (११)॥ तत्रापि स्वद्रव्यपरद्रव्यशब्दाभ्यां व्यापकत्वाव्यापकत्वोपलक्षणात्तदवच्छिन्नास्तित्वनास्तित्वादिघटितायाः सप्तभङ्ग्या नानुपपत्तिरित्याह-'सकलेत्यादि' (११)॥ उक्तप्रकारं शुद्धक्षेत्रकालयोरतिदिशति-'एतेनेति' (१२)॥ शुद्धभावस्तु शुद्धद्रव्येण गतार्थ एव, स्वरूपादिचतुष्टयादित्यत्र "ल्यब्लोपे पञ्चमी" इत्यभिप्रायमाविष्करोति-'स्वरूपादीत्यादि' (१३)॥ व्याख्यातमिति (१४)॥ विपर्यासादित्यत्रापि विपर्यासमपेक्ष्येत्येवार्थ इति भावः। आपेक्षिकस्य तुच्छत्वे बाधकमाह-'सर्वस्येत्यादि' (१९३-१-४)॥ तथा च भावानां परस्परमुत्कर्षापकर्षाभ्यामन्ततः षड्गुणहानिवृद्धिशालित्वेन भावाभावयोश्च परस्परवैलक्षण्येनापेक्षिकतया तुच्छत्वात्तत्त्वोपप्लवे मध्यमसंविन्मात्रे विश्रान्तिः स्यात्, सा च बहुधा दूषितेति व्यवहारतः केचिदर्था निरपेक्षाः केचिच्च सापेक्षा अनुभवबलेनैव श्रद्धेयाः, तथैव पदार्थवैचित्र्यस्य व्यवस्थितत्वात्, तदवदाम भाषारहस्यप्रकरणे "ते[1] होंति परावेक्खा वंजयमुहदंसिणोत्ति ण य तुच्छा। दिट्ठमिणं वेचित्तं सरावकप्पूरगंधाणं ॥१॥" इति, तत्त्वतस्तु सामान्यदृष्ट्या सर्वे निरपेक्षा विशेषदृष्ट्या च सर्वे सापेक्षा

१ ते भवन्ति परापेक्षा व्यञ्जकमुखदर्शिन इति न च तुच्छाः। दृष्टमिद वैचित्र्य शरावकर्पूरगन्धयोः ॥ १ ॥

इति व्यापकोऽनेकान्त एव विजयते, व्यञ्जनपर्यायैः सदृशानामप्यर्थपर्यायैर्वैसदृश्यस्य शास्त्रसिद्धत्वात्, तदाह—प्रवचनोपनिषद्वेदी महावादी सिद्धसेनः—"परपज्जवेहिं असरिसगमेहिं णियमेण णिच्चमवि णत्थि। सरिसेहिं पि वंजणओ अत्थि ण पुणत्थंपज्जाए॥१॥" इति, कथञ्चिदर्पितयोः (१९३-१-९) स्वपररूपाभ्यां विवक्षितयोः, तथाप्रतिपत्तिसद्भावाच्च (९) तादृशयोस्तयोरेकाधिकरणत्वधीसद्भावाच्च, न च दृष्टेऽनुपपन्नं नाम, भिन्नस्वभावयोरप्येकत्वं दृष्टान्तेन प्रसिद्धेनोपदर्शयति—शाब्देतरेत्यादि (१०) स्पष्टास्पष्टविषयतया भिन्नस्वभावत्वेन सिद्धयोः प्रत्यक्षशाब्दबोधयोर्यथैकविषयत्वमेकद्रव्याश्रयत्वं चाविरुद्धं तथा सत्त्वासत्त्वयोरेकाश्रयत्वमपीति तात्पर्यार्थः। न चाध्यक्षशाब्दविषयत्वविरोधः कालभेदेन परिहरणीयः, एककालेऽपि चित्रसंवित्तौ नीलतदितरविषयत्वविरोधपरिहारस्य प्रतीत्येकशरणत्वादिति प्रतिपत्तव्यम्। भावाभावयोर्विरोधस्यापि तत्तत्प्रतियोगिगर्भत्वेन विशिष्य विश्रान्तत्वाज्जात्यन्तरे वस्तुनि तदेकदेशयोः सत्त्वासत्त्वयोरविरोधकल्पन एव लाघवमिति पुनरस्मदीयो मनीषोन्मेषो नयरहस्यादौ। विच्छेदानुपलम्भेऽपीति (१९३-१३) अत्र सादृश्यदोषादिति हेतुरुह्यः। तदभावे (१४) आत्मद्रव्याभावे, तयोः (१४) शाब्देतरप्रत्यययोः, कथञ्चिदुपादानोपादेयानुगतधर्मेण, तेन दध्युत्पत्तिकाले दुग्धत्वरूपेण दुग्धानन्वयात्तयोर्नोपादानोपादेयभावानुपपत्तिः। यद्द्रव्यं यद्द्रव्यध्वंसजन्यं तत्तदुपादानोपादेयमित्यपेक्षया च तत्तदुपादेयमिति व्याप्तिरेव लघीयसी। इयान् परं विशेषः, परेषां समवायसम्बन्धावच्छिन्नकार्यतानिरूपिततादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नकारणताशालित्वमुपादानकारणत्वम्, अस्माकं च तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नकार्यतानिरूपितस्वध्वंसत्वसम्बन्धावच्छिन्नकारणताशालित्वं तदिति॥ व्यपदे-

१ परपर्यवैरसदृशगमैर्नियमेन नित्यमपि नास्ति। सदृशैरपि व्यञ्जनतः अस्ति न पुनरर्थपर्यायैः॥ १॥

शानुपपत्तेः (१९३-२-१) अस्येदमिति परिणामपरिणामिभावसम्बन्धव्यवहारानुपपत्तेरित्यर्थः। तादृशाम्, (१) उपादानोपादेयभूतानाम्, स्वरूपैकत्वम्, (१) एकद्रव्यतयाऽभेदः। अभेदे उपादानोपादेयभावविरोधमाशङ्क्य परिहरति–न चे (१) त्यादिना मननात्, (१९३-२-२) इत्यन्तेन, तदेव द्रढयति–भाष्ये विशेषापेक्षया तु (२) इत्यादिना, विरोधस्य सहानुपलम्भलक्षणत्वादिति (६) एकज्ञानप्रतिबन्धकज्ञानविषयत्वमपरस्य विरोधो, न च क्रमाक्रमयोरयमस्ति, एकत्र पर्यायरूपेण क्रमज्ञानकाल एव द्रव्यरूपेणाक्रमस्य ज्ञायमानत्वादित्यर्थः। इत्थमेव सत्त्वासत्त्वयोरपि न विरोध इत्याह–न चेत्यादिना (६) ॥ सम्भवतोरेवेति (७) नियमागर्भभिन्नाधिकरणत्वं परस्परपरिहारस्थितिपदार्थ इत्यभिप्रायेणेदम्, भावाभावरूपत्वमेव परस्परपरिहारत्वमित्यर्थे तु तद्विरोधस्य विशिष्य विश्रान्तत्वादवच्छेदकभेदाश्रयणाद्वा परिहारः कार्य इति भावनीयम्। ननु तैस्तैः पर्यायैरात्मद्रव्यस्य साक्षात्करणे परोक्षीकरणे वा केशादिविवेकव्यामुग्धबुद्धिः पुरुषो दृष्टान्ततया भाष्यकृतोक्तः कथं सङ्गच्छते, भ्रमज्ञाने साध्य एव व्यामुग्धबुद्धेर्दृष्टान्तत्वसम्भवादित्याशङ्कते–कथं तर्हीति, (१९४-१-४) केशमशकाद्यनुगतसामान्येन सत्त्वं साक्षात्कुर्वन् भेदरूपविवेकात्मना च परोक्षयन् तद्भिन्नरूपेण चासत्त्वं साक्षात्कुर्वन् परोक्षयन् वा पुरुषो दृष्टान्ततयोक्त इति न वैषम्यमित्याशयवान् समाधत्ते–केशेत्यादि (५) ॥ तथा च केशादौ विवेके चार्थात्तदीये व्यामुग्धा परावर्त्तमाना सामान्य विशेषाकारतया विविच्यानिष्ठिता बुद्धिर्यस्य तद्वादित्यक्षरार्थो वाच्यः। ननु चेति (७) निश्चये, न तु पूर्वपक्षे, तद्व्रस्त्वित्यादिना (७) वस्तुस्थितेरेव वक्ष्यमाणत्वात्, क्रमाक्रमोभयनियमसाधनान्यतरनियमखण्डनाभ्यां वस्तुव्यवस्थयैव। न चेत्, न, व्यवतिष्ठत (१९४-१-१०) इत्यस्य सूक्तताया: समर्थयिष्यमाणत्वादिति बोध्यम् ॥ १५ ॥

तदेवं प्रथमद्वितीयभङ्गौ निर्दिश्य तृतीयादिभङ्गान्निर्दिशन्ति भगवन्तः ॥

क्रमार्पितद्वयाद् द्वैतं, सहावाच्यमशक्तितः । अवक्तव्योत्तराः शेषास्त्रयो भङ्गाः स्वहेतुतः ॥ १६ ॥

क्रमार्पितात्स्वपररूपादिचतुष्टयद्वयात्कथंचिदुभयमिति द्वैतं वस्तु, द्वाभ्या सदसत्त्वाभ्यामितस्यैव द्वैतत्वात्, स्वार्थिकस्याणो विधानाद्द्वैतशब्दस्य सिद्धेः । स्वपररूपादिचतुष्टयापेक्षया सह वक्तुमशक्तेरवाच्यं, तथाविधस्य पदस्य वाक्यस्य वा कस्यचिदभिधायकस्यासभवात् । सदसदुभयभङ्गास्त्ववक्तव्योत्तराः शेषाः पञ्चमपष्ठसप्तमाः, चतुर्भ्योऽन्यत्वात् । ते च स्वहेतुवशान्निर्देष्टव्याः । तद्यथा कथञ्चित्सदवक्तव्यमेव, स्वरूपादिचतुष्टयापेक्षत्वे सति सहवक्तुमशक्तेः । कथंचिदसदवक्तव्यमेव, पररूपादिचतुष्टयापेक्षत्वे सति सह वक्तुमशक्तेः । कथंचित्सदसदवक्तव्यमेव, स्वपररूपादिचतुष्टयापेक्षत्वे सति सह वक्तुमशक्तेः, सदसदुभयत्वधर्मेष्वन्यतमापाये वस्तुन्यवक्तव्यत्वधर्मानुपपत्तेः । तेषां तत्र सतामग्यविवक्षाया केवलस्यावक्तव्यत्वस्य भङ्गस्य वचनाद्विरोधानवकाशः । ननु च क्रमार्पितद्वयात्तावद्द्वैतं वस्तु, तत्तु स्वरूपादित एव सत्, पररूपादित एवासत्, न पुनस्तद्विपर्ययादिति कुतोऽवसितमिति चेत्, उच्यते, स्वपररूपाद्यपेक्षं सदसदात्मक वस्तु, न विपर्यासेन, तथादर्शनात् । सकलजनसाक्षिक हि स्वरूपादिचतुष्टयापेक्षया सत्त्वस्य पररूपादिचतुष्टयापेक्षया चासत्त्वस्य दर्शनं,तद्विपरीतप्रकारेण चादर्शन वस्तुनीति तत्प्रमाणयता तथैव वस्तु प्रतिपत्तव्यम्,अन्यथा प्रमाणप्रमेयव्यवस्थानुपपत्तेः। कल्पयित्वापि तज्जन्मरूपाध्यवसायान् स्वानुपलम्भव्यावृत्तिलक्षण दर्शन प्रमाणयितव्यम् । तथा हि । बुद्धिरियं यया प्रत्यासत्त्या कस्यचिदेवाकारमनुकरोति तया तमेवार्थं नियमेनोपलभेत, नान्यथा, पारम्पर्यपरिश्रम परिहरेत् । ननु तज्जन्मतद्रूपतदध्यवसायेषु सत्सु नीलादौ दर्शनं प्रमाणमुपलभते, तदन्यतमापाये तस्य प्रमाणत्वाप्रतीतेरिति चेत्, न, तदभावेपि स्वानुपलम्भव्यावृत्तिसद्भावादेव प्रमाणत्वप्रसिद्धेः, तज्जन्मनश्च-

क्षुरादिभिर्व्यभिचारात्, तद्रूपस्य सन्तानान्तरसमानार्थविज्ञानेनानेकान्तात्, तद्द्वयलक्षणस्य समानार्थसमनन्तरप्रत्ययेनानैकान्तिकत्वात्, त्रिलक्षणस्यापि विभ्रमहेतुफलविज्ञानैर्व्यभिचारात्, कामलाद्युपहतचक्षुषः शुक्ले शङ्खे पीताकारज्ञानादुत्पन्नस्य तद्रूपस्य तदाकाराध्यवसायिनोपि ज्ञानस्य स्वसमनन्तरप्रत्यये प्रमाणत्वभावात्। तदनभ्युपगमे स्वाभ्युपगमासिद्धेः किंसाधनः परमुपालभेत, यतोऽवश्य दर्शनं नियतस्वविषयानुपलम्भव्यावृत्तिलक्षणं पर विषयानुपलम्भात्मकं न प्रमाणयेत्। न हि स्वयं प्रमाणानभ्युपगमे स्वार्थप्रतिपत्तिः। न चाप्रतिपन्नमर्थं परस्मै प्रतिपादयितुमीशः, परमुपालब्धु वा, पराभ्युपगतस्यापि प्रमाणस्य प्रतिपत्तेरयोगात्, पराभ्युपगमान्तरात्तत्प्रतिपत्तावनवस्थाप्रसङ्गात्। तदेकोपलम्भनियमः स्वपरलक्षणाभ्यां भावाभावात्मानं प्रसाधयति, तदभावे न प्रवर्तेत, नापि निवर्तेत, प्रमाणान्तरवत्। स्वस्यार्थस्य चैकस्यैवोपलम्भो हीतरस्यानुपलम्भ, तस्य विधायक एवान्यस्य निषेधकः, तत्र प्रवर्तक एव वा परत्र निवर्तकः, इति तदेकोपलम्भनियमात्कस्यचित् प्रवृत्तिनिवृत्ती सिध्यतः। तदभावे सन्तानान्तरप्रमाणादिवत् प्रवर्तकान्न कश्चित्प्रवर्तेत, निवर्तकाच्च न निवर्तेत, अप्रमाणात्प्रवृत्तौ निवृत्तौ वा प्रमाणान्वेषणस्य वैयर्थ्यादतिप्रसङ्गाच्च। तत॰ प्रमाणं प्रत्यक्षमन्यद्वा स्वार्थोपलम्भात्मना परार्थानुपलम्भात्मना च क्रमार्पितेन सदसदात्मकं सिद्धम्। तद्वत्प्रमेयमपि। इति सर्वं वस्तु क्रमार्पितद्वयाद्वैतं को नेच्छेत्? सर्वस्य विप्रतिपत्तुमशक्तेरनिच्छतोपि तथा संप्रत्ययात्। कथमवक्तव्य सर्वमिति चेत्, उच्यते, निष्पर्यायं भावाभावावभिधानं नाञ्जसैव विषयीकरोति, शब्दशक्तिस्वाभाव्यात्, सर्वस्य पदस्यैकपदार्थविषयत्वप्रसिद्धेः, सदिति पदस्यासदविषयत्वात्, असदिति पदस्य च सदविषयत्वात्, अन्यथा तदन्यतरपदप्रयोगसंशयात्, गौरिति पदस्यापि दिगाद्यनेकार्थविषयतया प्रसिद्धस्य तत्त्वतोऽनेकत्वात्सादृश्योपचारादेव तस्यैकत्वेन व्यवहरणात्, अन्यथा सर्वस्यैकशब्दवाच्यत्वापत्तेः, प्रत्येकमप्यनेकशब्दप्रयोग-

वैफल्यात्। यथैव हि शब्दभेदाद्ध्रुवोऽर्थभेदस्तथार्थभेदादपि शब्दभेदः सिद्ध एव, अन्यथा वाच्यवाचकनियमव्यवहारविलोपात्। एतेनैकस्य वाक्यस्य युगपदनेकार्थविषयत्वं प्रत्याख्यातम्, स्यात्सदसदेव सर्वं स्वपररूपादिचतुष्टयाभ्यामिति वाक्यस्यापि क्रमार्पितोभयधर्मविषयतयोररीकृतस्योपचारादेवैकत्वाभिधानात्। तत्रोभयप्राधान्यस्य क्रमशो विवक्षितस्य सदसच्छब्दाभ्या द्वन्द्ववृत्तौ तद्वाक्ये वा स्वपदार्थप्रधानाभ्याममभिधानाद्वा न दोषः, सर्वस्य वाक्यस्यैकक्रियाप्रधानतयैकार्थविषयत्वप्रसिद्धेः। सिद्धमेकार्थनिवेदनशक्तिस्वभावत्वं शब्दस्य, वचनसूचनसामर्थ्यविशेषानतिलङ्घनात्। सदिति शब्दस्य हि सत्त्वमात्रवचने सामर्थ्यविशेषो, नासत्त्वाद्यनेकधर्मवचने, स्यादिति शब्दस्य च वाचकस्यानेकान्तमात्रवचने सामर्थ्यविशेषो, न पुनरेकान्तवचने, तस्यैव द्योतकस्याविवक्षिताशेषधर्मसूचने सामर्थ्यविशेषो, न पुनर्विवक्षितार्थवचने, तद्वाचकशब्दप्रयोगवैयर्थ्यप्रसक्तेः। न चैवं विधिवचनसूचनसामर्थ्यविशेषमतिक्रम्य प्रवर्तमानः शब्द प्रसिद्धवृद्धव्यवहारेपूपलभ्यते, यतो निष्पर्यायं भावाभावावभिदधीत। स्यान्मत ‘ यथासङ्केतं शब्दस्य प्रवृत्तिदर्शनात्सह सदसत्त्वधर्मयोः सकेतितः शब्दस्तद्वाचको न विरुध्यते सञ्ज्ञाशब्दवत्, इति, तदयुक्तं, सङ्केतानुविधानेपि कर्तृकर्मणोः शक्त्यशक्त्योरन्यतरव्यपदेशार्हत्वादयोदारुवज्रलेखनवत्। न हि यथायसो दारुलेखने कर्तुः शक्तिस्तथा वज्रलेखनेऽस्ति, यथा वज्रलेखने तस्याशक्तिस्तथा दारुलेखनेपीति शक्य वक्तुम्। नापि यथा दारुण' कर्मणोऽयसा लेख्यत्वे शक्तिस्तथा वज्रस्यास्ति, यथा वा वज्रस्य तत्राशक्तिस्तथा दारुणोपीति निश्चयः, कचित्कस्यचित्कर्तृकर्मणोः शक्त्योरशक्त्योश्च प्रतिनियततया व्यवस्थितत्वात्। तथा शब्दस्यापि सकृदेकस्मिन्नेवार्थे प्रतिपादनशक्तिर्न पुनरनेकस्मिन्, सङ्केतस्य तच्छक्तिव्यपेक्षया तत्र प्रवृत्तेः। सेनावनादिशब्दस्यापि नानेकत्रार्थे प्रवृत्तिः, करितुरगरथपदातिप्रत्यासत्तिविशेषस्यैकस्य सेनाशब्देनाभिधानात्, वनयूथपङ्क्तिमालापानकग्रामादिशब्दानामप्येतेनैवानेका-

र्थप्रतिपादनपरत्व प्रत्याख्यातम्। कथमेवं वृक्षाविति पद द्व्यर्थं वृक्षा इति च बह्वर्थमुपपद्यते इति चेत्, केषाञ्चिदेकशेषारम्भात्, परेषां स्वाभाविकत्वादभिधानस्येति सगिरामहे। तत्रैकशेषपक्षे द्वाभ्यामेव वृक्षशब्दाभ्यां वृक्षद्वयस्य, बहुभिरेव च वृक्षशब्दैर्बहूना वृक्षाणामभिधानान्नैकस्य शब्दस्य सकृदनेकार्थविषयत्वम्, शिष्टलुप्तशब्दयोः सारूप्यादभिधेयसाम्याच्चेकत्वोपचारादेकशब्दप्रयोगोपपत्तेः। स्वाभाविकत्वे त्वभिधानस्य, वृक्षशब्दो द्विबहुवचनान्तः स्वभावत एव स्वाभिधेयमर्थं द्वित्वबहुत्वविशिष्टमाचष्टे, तथा सामर्थ्यात्, अन्यथा शब्दव्यवहारानुपपत्तेः। ननु च वृक्षा इति प्रत्ययवती प्रकृतिः पदम्, तस्य वाच्यमनेकमेकं च स्याद्वादिभिरिष्यते, न पुनरेकमेव। तथा चोक्तम् "अनेकमेकं च पदस्य वाच्य वृक्षा इति प्रत्ययवत्प्रकृत्या" इति कश्चित्, सोप्येवं प्रष्टव्यः, किमेकमनेकं च सकृत्प्रधानभावेन पदस्य वाच्यमाहोस्विद्गुणप्रधानभावेन ? इति। न तावत्प्रथमः पक्षः। तथा प्रतीत्यभावात्। वृक्षद्रव्यं हि वृक्षत्वजातिद्वारेण वृक्षशब्दः प्रकाशयति, ततो लिङ्गं सख्यां चेति शाब्दी प्रतीतिः क्रमत एव। तदुक्तं "स्वार्थमभिधाय शब्दो निरपेक्षो द्रव्यमाह समवेतम्। समवेतस्य तु वचने लिङ्गं सख्यां विभक्तीश्च॥१॥" इति। प्रधानभावेन च वृक्षार्थः प्रतीयते, बहुत्वसंख्या तु गुणभावेनेति न कस्यचिद्विरोधः, प्रधानगुणभावपक्षस्यैवाभिमतत्वात्, स्यादिति निपातेनानेकस्य धर्मस्याकाङ्क्षणेनैकस्यैव प्रधानस्य गुणानपेक्षस्यापवदनात्,—सर्वस्य वाचकतत्त्वस्य गुणप्रधानार्थत्वात्, वाच्यतत्त्वस्य च तथाभूतत्वात्। तदुक्तम् " आकाङ्क्षिणः स्यादिति वै निपातो गुणानपेक्षे नियमेऽपवादः। गुणप्रधानार्थमिदं हि वाक्य जिनस्य ते तद्द्विपतामपथ्यम्॥ १॥" इति। नन्वेवं प्रधानभावेनाशेषधर्मात्मकस्य वस्तुन. प्रकाशकं प्रमाणवाक्यं कथमुपपद्येत, येन सकलादेशः प्रमाणाधीनः स्यादिति चेत्, कालादिभिरभेदेनाभेदोपचारेण च द्रव्यपर्यायनयार्पितेन सकलस्य वस्तुनः कथनादिति ब्रूमः। द्रव्यार्थिकनयात्तावदेकस्यैव द्रव्यस्यानन्तपर्यायात्मकस्यादेशः प्रमाणवाक्यं नानेकार्थम्, पर्यायनयाच्च सकल-

पर्यायाणा कालादिभिरभिन्नानामभेदोपचारादुपचरितमेकमेव वस्तु प्रमाणवाक्यस्य विषय इति न किंचिद्वाक्यं पदवदनेकार्थं सकृत् प्रधानभावेन विभाव्यते, सकेतसहस्रेणापि वाचकवाच्ययोः कर्तृकर्मणोः शक्त्यशक्त्योरनतिलङ्घनार्हत्वात्कारणकार्यवदित्यनवद्यम् । अन्यथाऽचाक्षुषत्वादयः शब्दादिधर्मा न भवेयुः । शक्यं हि वक्तुं, रूपवच्चक्षुर्ज्ञानजननशक्तियुक्तः शब्दश्चाक्षुष एव, रसवच्च रसनज्ञानजननसमर्थो रासनो, गन्धादिवच्च घ्राणादिज्ञानजननपटुर्घ्राणीयादि' इति न तस्याचाक्षुषत्वारासनत्वाघ्राणीयत्वादयो धर्मा स्युः, अश्रावणत्वादयश्च रसादिधर्मा न भवेयुः । अतो यावन्ति पररूपाणि तावन्त्येव प्रत्यात्म स्वभावान्तराणि, तथा परिणामात्, शब्दादीनामन्यथा स्वरूपायोगात् । यदि पुनश्चक्षुरादिविज्ञानोत्पादनाऽशक्त्यतिक्रमस्य सर्वदाप्यसभवादचाक्षुषत्वादयः शब्दादिधर्मा एव, श्रावणादिज्ञानजननशक्त्यनतिक्रमाच्छ्रावणत्वादिवदिति मतं, तदा सदादिपदस्य सत्त्वाद्येकधर्मप्रतिपादनशक्त्यनतिक्रमात् प्रधानभावार्पितानेकधर्माभिधानाशक्त्यनतिलङ्घनाच्च नानेकोर्थः सकृत्सभवतीत्यनुमन्यताम् । स्यादवक्तव्यमेव सर्वं, युगपद्वक्तुमशक्तेरिति भङ्गचतुष्टयमुपपन्नम् । द्रव्यपर्यायौ व्यस्तसमस्तौ समाश्रित्य चरमभङ्गत्रयव्यवस्थानम् । व्यस्त द्रव्य द्रव्यपर्यायौ समस्तौ सहार्पितौ समाश्रित्य स्यात्सदवक्तव्यमेव सर्वमिति वाक्यस्य प्रवृत्तिः, द्रव्याश्रयणे सदंशस्य सहद्रव्यपर्यायाश्रयणे वक्तुमशक्तेरवक्तव्यत्वस्य विवक्षितत्वात् । तथा व्यस्तं पर्याय ममस्तौ द्रव्यपर्यायौ चाश्रित्य स्यादसदवक्तव्यमेव सर्वमिति वचनव्यवहारः । व्यस्तौ क्रमार्पितौ समस्तौ सहार्पितौ द्रव्यपर्यायौ समाश्रित्य स्यात्सदसदवक्तव्यमेव सर्वमिति शब्दप्रवृत्तिः, स्याद्वादाश्रयणव्याख्यानादेवमेव चरमभङ्गत्रयस्य व्यवस्थानात् । परमतापेक्षया तु सत्सामान्यमन्वयि द्रव्यमाश्रित्य सदवक्तव्यमेव, स्वलक्षणलक्षण विशेषं पर्यायमाश्रित्यान्यापोहसामान्यमसदवक्तव्यमेव, सामान्यविशेषौ परस्परमत्यन्तभिन्नौ द्रव्यपर्यायौ समुदितौ समाश्रित्य सदसदवक्तव्यमेवेति व्याख्यानमक-

लङ्कदेवैर्व्यधायि। तत्र वस्तु सत्सामान्य कथं सदप्यवक्तव्यमिति चेत्, तस्य पराभ्युपगमात् सतोपि वचनानुपपत्तेः। न खलु सर्वात्मना सामान्य वाच्यं, तत्प्रतिपत्तेरर्थक्रियां प्रत्यनुपयोगात्। न हि गोत्व वाहदोहादावुपयुज्यते, स्वविषयज्ञानमात्रेपि तस्याऽसामर्थ्यात्। व्यक्तिसहितस्य सामान्यस्य तत्र सामर्थ्येपि न प्रतिपन्नसकलव्यक्तिसहितस्य सामर्थ्यम, असर्वज्ञस्य सकलव्यक्तिप्रतिपत्तेः सकृदसभवात्। अप्रतिपन्नाखिलव्यक्तिभिः सहितस्य सामर्थ्ये पुनरेकव्यक्तेरप्यग्रहणे सामान्यज्ञानप्रसङ्गः। कतिपयव्यक्तिसहितस्य सामर्थ्ये तस्य ताभिरुपकारानुपकारविकल्पद्वयानतिक्रमः। प्रथमविकल्पे सामान्यस्य व्यक्तिकार्यत्वप्रसङ्गः, तदभिन्नस्योपकारस्य करणात्। ततो भिन्नस्य करणे व्यपदेशासिद्धिः। तत्कृतोपकारेणापि तस्योपकारान्तरकरणेऽनवस्थानम्। द्वितीयविकल्पे व्यक्तिसहभाववैयर्थ्यम्, अकिञ्चित्करसहकारिविरहात्। सामान्येन सहैकज्ञाने व्यापाराद्व्यक्तीनां तत्सहकारित्वेपि किमालम्बनभावेन तत्र तासां व्यापारोऽधिपतित्वेन वा ? प्राच्यकल्पनायामेकानेकाकारं सामान्यविशेषज्ञानं स्यान्न पुनरेकसामान्यज्ञानं, स्वालम्बनानुरूपत्वात्सकलविज्ञानस्य। द्वितीयकल्पनायां तु व्यक्तीनामनधिगमेपि सामान्यज्ञानप्रसङ्गः। न हि रूपज्ञाने चक्षुषोधिगतस्याधिपतित्वेन व्यापारोस्त्यपूर्वस्य वा। सर्वथा नित्यस्य सामान्यस्य क्रमाक्रमाभ्यामर्थक्रियाविरोधाच्च न तस्य कस्याञ्चिदर्थक्रियायामुपयोगो, यतस्तत्प्रतिपादनाय शब्दप्रयोगः स्यात्। ततो नार्थे कस्यचित्प्रवृत्तिरुपपद्येत। लक्षितलक्षणया वृत्तिः कथंचिदतादात्म्ये न भवेत्, सबन्धान्तरासिद्धेः, कार्मुकादिवत्। न हि यथा कार्मुकपुरुषयोः संयोगः सबन्धः सिद्धस्तथा सामान्यविशेषयोरपि। न च समवायः पदार्थान्तरभूतः, तत्प्रतीत्यभावात्। प्रतीयमानस्तु समवाय. कथंचित्तादात्म्यमेव, अविष्वग्भावलक्षणत्वात्तस्य। इति शब्देन लक्षितं सामान्यं विशेषान् लक्षयति। ततस्तत्रार्थक्रियार्थिनः प्रवृत्तिरसबन्धान्नोपपद्येत, संयोगसमवायव्यतिरिक्तस्य सबन्धान्त-

रस्यासिद्धेः। विशेषणविशेष्यभावः संवन्धान्तरमिति चेत्, न, तस्यापि स्वसंवन्धिव्यतिरेकैकान्ते संवन्धान्तरापेक्षणस्यावश्यंभावादनवस्थाप्रसङ्गात्, तस्य कथंचित्स्वसवन्धितादात्म्ये स्वसिद्धान्तविरोधात्। एतेनाविनाभावः सवन्धस्तयोः प्रत्युक्तः। सामान्यविशेषयोः सामान्यविशेषभाव एव सवन्ध इत्यपि मिथ्या, कथञ्चिदतादात्म्ये तदनुपपत्तेः, सह्यविन्ध्यवत्। तत्र नित्यसर्वगतामूर्तैकरूपं सामान्यं सर्वथा व्यक्तिभ्यो भिन्नमन्यद्वा वाच्यम्, अर्थक्रियायां साक्षात्परम्परया वानुपयोगात्। तादृशोनुपलम्भात्सकेतोपि न सिध्येत्। न चासकेतितमपि सामान्यं वाच्यं नाम, अतिप्रसङ्गात्। सतापि तादृशान्यव्यावृत्त्यात्मना भवितव्यम्। अन्यथा विशेषवत्स्वभावहानिप्रसङ्गात्, विशेषाणा वा तद्वत्ततो व्यावृत्तेः, परापरसामान्ययोः परस्परं स्वाश्रयाच्च कथंचिद्व्यावृत्तौ स्वरूपसकरात्प्रतिनियतस्वभावहानेरवश्यभावाद्विशेषवत्, तद्वतोर्थस्याप्यभाव इति सर्वाभावः प्रसज्येत। सामान्यवादिनां तदभ्युपगममात्रात्सदव्यवक्तव्यमेव सामान्यम्। तथा स्वलक्षणैकान्तवादिनां न स्वलक्षणं वाच्य, तस्यानन्त्यात्सकेताविषयत्वादनन्वयाच्छब्दव्यवहारायोग्यत्वात्। न चान्यापोहः सर्वथार्थः शब्दस्य विकल्पस्य वा, स्वविषयविधिनिरपेक्षस्य गुणभावेनाप्यन्यापोहस्य शब्देन वक्तुमशक्तेर्विकल्पेन च निश्चयनायोगात्। साधनवचनमेव त्रिरूपलिङ्गप्रकाशकं, न ततोन्यद्वचनं, तस्य विवक्षामात्रेपि सभावनाया एवोपगमादिति चेत्, न, तस्याप्यन्यापोहमात्रार्थत्वात् 'अपोह शब्दलिङ्गाभ्या न वस्तु विधिनोच्यते' इति वचनात्, सत्यपि च साधनवचनेन नित्यत्वसमारोपव्यवच्छेदे स्वलक्षणस्यानित्यत्वासिद्धौ साधनवचनानर्थक्यात्। न शब्दस्य परार्थानुमानरूपस्य विकल्पस्य वा स्वार्थानुमानज्ञानरूपस्य सर्वथान्यापोहोऽर्थः श्रेयान्। यत्सत्तत्सर्वमनित्यं नित्ये क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधादिति साधनवचनेन नित्यत्वसमारोपव्यवच्छेद एव स्वलक्षणस्यानित्यत्वसिद्धिः, अतो न तस्यानर्थक्यमिति चेत्, कथमित्थ सर्वथान्यापोहोर्थः समर्थ्यते, स्वलक्षणक्षण-

क्षयस्य विधानात्। दृश्यविकल्प्ययोः स्वलक्षणसामान्ययोरेकत्वाध्यवसायात् तत्क्षणक्षयस्य विधिः, न पुनर्वस्तुनः, सर्वथा विकल्पाभिधानयोर्वस्तुसस्पर्शाभावादिति चेत्, न, स्वलक्षणसामान्ययोरेकत्वाध्यवसायिना विकल्पेन स्वलक्षणस्याग्रहणात्, अगृहीतेन सह सामान्यस्यैकत्वाध्यवसायासंभवात्, अन्यथातिप्रसङ्गात्। प्रत्यक्षतः प्रमितेन स्वलक्षणेन तस्यैकत्वाध्यवसानमिति चेत्, नन्वेव विकल्पाभिधानयोर्वस्तुसस्पर्शाभावे स्वलक्षणदर्शनस्याकृतनिर्णयस्य वस्तुसन्निधेरविशेषात्किं केन प्रमितं स्यात्? न हि मिथ्याध्यवसायेन तत्त्वव्यवस्थापनम्, संशयविपर्यासकारिणापि दर्शनेन स्वलक्षणस्य प्रमितत्वप्रसङ्गात्। वस्तुसस्पर्शाभावाविशेषेऽपि निर्णयस्य जनकं दर्शनं स्वलक्षणस्य प्रमाण, न पुनः संशयादेरिति वदन्नात्मनोऽनात्मज्ञतामावेदयति। ननु च निर्णयेन दर्शनविषयसमारोपस्य व्यवच्छेदात्तज्जनकं दर्शनं प्रमाणं, न तु संशयादेर्जनकं, तेन तदव्यवच्छेदात्, असमारोपितांशे दर्शनस्य प्रामाण्यात् "क्वचिद्दृष्टेपि यज्ज्ञानं सामान्यार्थं विकल्पकम्। असमारोपितान्यांशे तन्मात्रापोहगोचरम् ॥१॥" इति वचनान्नोक्तोपालम्भ इति चेत्, न, समारोपव्यवच्छेदविकल्पस्य स्वसंवेदनव्यवस्थानेपि विकल्पान्तरापेक्षत्वप्रसङ्गान्नीलादिस्वलक्षणदर्शनवन्निर्विकल्पकत्वाविशेषात्। वस्तुदर्शनसमारोपव्यवच्छेदयोरन्यतरस्यापि स्वतस्तत्त्वापरिनिष्ठितावितरेतराश्रयदोषः। समारोपो हि येन व्यवच्छिद्यते स निश्चयः स्वरूपमनिश्चिन्वन्नपि यदि स्वतः परिनिष्ठापयेत्तदा वस्तुदर्शनमपि, विशेषाभावात्। तथा च किं निश्चयापेक्षया? वस्तुदर्शनस्य निश्चयापेक्षायां वा निश्चयस्वरूपसंवेदनस्यापि निश्चयान्तरापेक्षणादनवस्था स्यात्। निश्चयाद्वस्तुदर्शनस्य परिनिष्ठितौ वस्तुदर्शनाच्च निश्चयस्वरूपस्य परस्पराश्रयदोषः स्यात्। ततो न विकल्पवच्छब्दस्य सर्वथान्यापोहोर्थः। एतेनातत्कार्यकारणव्यावृत्तिरेकप्रत्यवमर्शादिज्ञानादेकार्थसाधने हेतुरत्यन्तभेदेपीन्द्रियादिवत्समुदितेतरगुडूच्यादिवच्च ज्वरोपशमनादाविति वदन्निराकृतः, सर्वथा ततो वस्तुनि प्रवृत्त्ययोगात्। समयादर्शिनोपि क्वचिदन्वयबुद्ध्यभिधान-

व्यवहारोऽतत्कार्यकारणव्यतिरेकव्यवस्थाया गुडूच्याद्युदाहरणप्रक्लृप्तिं विपर्यासयति, तस्य वस्तुभूतार्थसादृश्यपरिणामसाधनत्वात्। न हि गुडूच्यादयो ज्वरोपशमनशक्तिसमानपरिणामाभावे ज्वरोपशमहेतवो न पुनर्दधित्रपुपादयोपीति शक्यव्यवस्थम्, चक्षुरादयो वा रूपज्ञानहेतवस्तज्जननशक्तिसमानपरिणामविरहिणोपि न पुना रसा(सना)दय इति निर्निबन्धना व्यवस्थिति । अतत्कार्यकारणव्यावृत्तिर्निबन्धना सेति चेत्, कथं तत्कारणकार्यजन्यजनकशक्तिसमानपरिणामाभावेपि केपाञ्चिदतत्कारणकार्यव्यावृत्तिः सिध्येदिति प्रकृतमुदाहरण कर्कादिव्यक्तीनामश्वत्वादिप्रत्ययं तथासमानपरिणामहेतुकं साधयति ? इति विपर्याससाधनमन्यापोहवादिनाम् । ततोमीषामन्यापोहसामान्यमसदवक्तव्यमेव । एतेन स्वलक्षणान्यापोहद्वयं सदसदवक्तव्यमेव सौगतानामापादितमुन्नेयम्, स्वलक्षणस्य सतोप्यन्यापोहस्य चासतोपि वक्तुमशक्यत्वात्। इति परमतापेक्षया चरमभङ्गत्रयमुदाहृतम् ॥ १६ ॥

भाष्ये 'त्रिलक्षणस्यापीति' (१९६–२–१३) तदुत्पत्तितदाकारतदवधारणत्वरूपलक्षणत्रयस्यापीत्यर्थः। विभ्रमहेतुफलज्ञानैरिति विभ्रमा हेतवो येषां तादृशानि यानि फलीभूतानि विज्ञानानि तैरित्यर्थः। वृत्तौ स्वसमनन्तरप्रत्यय इति, (१४) शंखे पीताकारज्ञान इत्यर्थः। यद्यपि तत्र तस्य ज्ञानाकारांशे प्रमाणत्वमव्याहतमेव, इतरांशे तु तज्जन्माभावादेवाप्रामाण्यम्, तथापि तज्जन्मतद्रूपतदध्यवसायानां प्रामाण्यप्रयोजकत्वे गौरवात्तदध्यवसायित्वस्यैव लाघवात् प्रामाण्यप्रयोजकत्वं युक्तम्, इत्थं च दर्शनमात्रं न प्रमाणम्, किन्तु स्वपररूपानुगमव्यावृत्त्यध्यवसायि ज्ञानमेवेति तदनुरोधेन वस्तूभयात्मकं स्वीकर्त्तव्यमित्यत्र तात्पर्यम्। तदनभ्युपगमे (१४) समनन्तरप्रत्ययप्रामाण्यानभ्युपगमे, किं साधनः किंप्रमाणकः। तदेकोपलम्भनियमः (१९७–१–३) तस्य दर्शनस्यैकोपलम्भे स्वलक्षणपरिच्छेदे संसर्गतया प्रकारतया वा

परलक्षणव्यावृत्तिधीध्रौव्यम् । अवक्तव्यत्वभङ्गमुपदर्शयितुमुपक्रमते—कथमवक्तव्यमित्यादिना (८), भाष्ये—निष्पर्यायं (१९७–१–८) क्रमरहितम्, अभिधानं वचनं, भावाभावौ, अञ्जसैव परमार्थेनैव, न विषयीकरोति (९) शब्द-शक्तिस्वाभाव्यात् (९) एकं पदमेकया वृत्त्यैकमेवार्थं बोधयतीति स्वभावकल्पनादिति योजनार्थः, तदाह वृत्तिकृत्—सर्वस्ये त्यादि (९)॥ पदस्वभावं वाक्येऽप्यतिदिशति—'एतेनेति' (१२)॥ उपचारादेवैकत्वाभि(धाना)मननादिति (१४) क्रमार्पितो-भयविषयत्वं तत्र पदद्वयस्यैकत्वं तु सामूहिकबुद्धिविषयतयेति न पदस्वभावभङ्ग इत्यर्थः। नन्वेवं तृतीयभङ्गो विलुप्येत, द्वाभ्यामेव तदर्थसिद्धेः, न च द्वयोर्भङ्गयोर्नैकवाक्यत्वं तृतीयस्य तु तदस्तीति विशेषः, अर्थैकत्वं विनैकवाक्यत्वस्यैवाभावात्। "अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकाङ्क्षं चेद्विभागे स्यात्" इत्यनादिमीमांसाप्रसिद्धेः, न च वाक्यस्य तदर्थस्य वोपचारादेवैकत्वाभिमननादत्र विशेषो वक्तुं शक्यः, उपचारबीजस्यैव विचारणीयत्वादित्यस्वरसादाह—'तदु(त्रो)भयप्राधान्यस्येति' द्वन्द्ववृत्तौ (१४) तद्वाक्याद्वे (क्ये वे)ति (१४) वाशब्दस्येवार्थत्वाद्द्वन्द्ववृत्ताविव तृतीयभङ्गवाक्यादित्यर्थः, इत्थं च द्वन्द्ववृत्तौ यथा पदानां प्रधानैकस्वार्थबोधकत्वं पदविधया वृत्तिविधया तु साहित्यसमाहारादिरूपैकोभयपदार्थप्राधान्यबोधकत्वं तथात्रापि पदवाक्यविधया नैकार्थत्वभङ्ग इति प्रत्येकद्वयातिरिक्तोभयप्राधान्यरूपार्थभेदात्तृतीयभङ्गोऽतिरिच्यत एवेति सिद्धम्, उभयप्राधान्यं चोभयकर्तृकैकक्रिया-प्राधान्यादित्याह—'सर्वस्येति' (१९७-२-१) अत्र च न हि क्रियारहितं वाक्यमस्ति, "क्रियाप्रधानमाख्यातम्" इति वैयाकरण-नये स्यात् सत्स्यादसदेव च सर्वमस्तीत्यतोऽस्तित्वानुकूला भावना कथञ्चित् सदसदुभयसर्वाश्रयकाऽभिन्नेति धात्वर्थविशेष्यकः शाब्दो बोधो, न्यायनयेन च नामार्थविशेष्यक एव, क्रियारहितस्यापि वाक्यस्याश्रयणादिति विशेषः। इदं तु ध्येयम्। सम्भूयोच्चारणं

तावच्छाब्दबोधकारणं मणिकृदादिभिरपीष्यत एव, तच्च पदानां परस्परसहकारेणैकमुख्यविशेष्यताकान्वयबोधतात्पर्यज्ञानमेकमुख्यविशेष्यताकान्वयबोधजनकत्वज्ञानं वा, एतज्ज्ञानस्य हेतुत्वेऽन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वस्यैव मानत्वात्, गङ्गायां घोष इत्यादौ सम्भूयैकार्थबोधकत्वज्ञानानुरोधादेव लक्षणास्वीकारात्, अन्यथा गङ्गायां जलं तीरे घोष इति पदद्वयाध्याहारादेवोपपत्तौ लक्षणाया अनतिप्रयोजनत्वापत्तेः, अत एव च दण्डी चैत्रो द्रव्यं नीलं घटमानयेत्यादौ चैत्रो न दण्डी घटो न नील इत्यादिबाधधीकाले चैत्रो द्रव्यं घटमानयेत्यादिशाब्दबोधानुदयः, सम्भूयोच्चारितत्वेन गृहीतानामेकं विनाऽन्यस्याबोधकत्वात्, तत्तदानुपूर्वीज्ञानस्य तादृशतादृशविषयकशाब्दत्वावच्छिन्नं प्रत्येव जनकत्वात्, तथा च तत्तत्पदार्थसंसर्गविशिष्टभावनाया एकत्वादेकक्रियाप्रधानार्थत्वं कर्तृद्वयस्य तुल्यवदेकक्रियान्वयित्वाच्च तदुभयप्राधान्यस्य क्रमशो विवक्षितस्याभिधानं शाब्दिकनयाश्रयिणामस्माकं मते सङ्गच्छते, क्रमशो विवक्षितत्वं ह्युभयपदोपस्थाप्योभयकर्तृकभावनान्वयबोधेच्छाविषयत्वम्, न तु क्रमिकशाब्दबोधद्वयेच्छाविषयत्वमिति बोधविशेषोद्देशात्तृतीयभङ्गस्य सार्थक्यमिति । वचनसूचनेति (१९७–२–२) वचनं वाचकत्वम्, सूचनं द्योतकत्वम् । ननु सङ्केताधीनं शाब्दज्ञानमिति सह सदसत्त्वयोः कस्यचिच्छब्दस्य सङ्केतकरणात् कुतो न ततस्तद्बोधसम्भवाद्व्यक्तव्यत्वं स्यादित्याशङ्कते–स्यान्मतमित्यादिना (५)॥ संज्ञाशब्दवदिति (६) यथा जैनेन्द्रव्याकरणे सदिति संज्ञाशब्दः सङ्केतविशेषवशात् शतृशानचयोस्तथा कश्चित्सह सदसत्त्वयोः कथं प्रतिपादको न स्यादित्यर्थः । तत्रापि प्रत्ययद्वयोत्पत्तेः क्रमेणैव सम्भवाद् बोधकतारूपशक्तेर्बोध्यबोधकभेदेन भिन्नत्वान्नानार्थशब्दस्थल इव बोध्यभेदे शब्दभेदकल्पनादुपचारेण तदेकत्वाभिमानान्न प्रागुक्तसिद्धिरित्याह–तदयुक्तमित्यादि (६)॥ अन्यतरव्यपदेशार्हत्वादिति (७) उपचारादुभयशक्तत्वाभ्युपगमेऽपि

तत्त्वजिज्ञासायामेकतरत्वस्यैव तत्र वक्तुमुचितत्वादित्यर्थः, 'सङ्केतस्येति' (१९७-२-१०) सङ्केतस्य तत्रार्थप्रतिपादने तच्छक्तिव्यपेक्षायास्तच्छक्तिसमाश्रयणाद्धेतोः प्रवृत्तेस्तस्याश्चैकार्थनियतत्वात् स्वातन्त्र्येण सङ्केतस्याहेतुत्वान्नैकदैकस्मादुभयप्रतिपत्तिरित्यर्थः। सेनावनादिस्थले व्यभिचारमाशङ्क्य निराकरोति–सेनेत्यादिना (१०), अत्र यद्यपि प्रत्यासत्तिविशेषस्य सेनादिपदार्थत्वे तदाश्रयालाभः, आक्षेपात् तल्लाभोपगमे जातिशक्तिवादापत्तिः, सेनादिपदेन प्रत्यासत्त्याऽऽश्रयस्यापि बोधोपगमे च एकं पदमेकमेवार्थं बोधयतीति नियमभङ्गात् सकृदुच्चरितमित्यादिन्यायाप्रामाण्यापत्तिः, तथापि सेनादिपदानां प्रत्यासत्तिविशेषस्य शक्यतावच्छेदकत्वात् सकृदुच्चरितमित्यत्र सकृद्विवरणस्यैकमेवेत्यस्यैकधर्मावच्छिन्नमेवेत्यर्थान्न कश्चिद्दोष इति भावनीयम्। अपरे तु सकृदुच्चरितमित्यत्र सकृदित्यस्यैकं वृत्तिविषयमेवेत्यर्थः। सेनादिपदार्थोऽपि प्रत्यासत्तिविशेषाश्रय एक एव सेनादिपदेन बोध्यते, तदन्यबोधने त्वावृत्तिरेवाश्रयणीया, अत एव नानार्थे श्लिष्टेऽनेककारकान्वितैकक्रियापदे घटं पटं वाऽऽनयेत्यादौ मुख्यलक्ष्योभयपरे च गङ्गायां घोषमत्स्यौ स्त इत्यादौ गङ्गादिपदे सकृदुच्चरिते एकदाऽनेकार्थतात्पर्यग्रहेऽपि नैकदोभयोर्बोधः, किं त्वावृत्त्यैवेति तत्र वाक्यभेदव्यवहारः, एकानुसन्धानादेवोभयार्थबोधे तद्विरोधस्य सर्वैकवाक्यतासिद्धत्वादित्याहुः॥ एतन्मते नराः पचन्तीत्यादावुभयत्रैव सरूपैकशेषः। ततश्च पृथगुच्चरितनानापदानामनुसन्धानान्नानार्थबोधः, अक्षेणाक्षं पश्यतीत्यादौ तु पदभेदान्न दोष इति मन्तव्यम्। चिन्तामणिकृतस्तु नात्रावृत्तिः, किं त्वेकदैवार्थबोधः, एकपदस्यैकानुसन्धाने उभयार्थतात्पर्यग्रहस्य यौगपद्येन वा तद्ग्रहस्यावृत्त्या निर्वाहासम्भवात्, सामान्यत उभयतात्पर्यग्रहे प्रथममस्यैव बोधो नान्यस्येति नियन्तुमशक्यत्वाच्च, गङ्गां पश्येत्यादावपि गङ्गापदस्य लक्ष्ये तात्पर्यग्रहे तस्यैव धीरित्यस्य निर्वाहाय नानार्थोपस्थितिकालीनैकार्थबोधे

तदितरार्थतात्पर्यज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वकल्पनायां तु तदर्थतात्पर्यज्ञानस्योत्तेजकत्वं वाच्यम् । न चैवं गौरवम्, प्रामाणिकस्य तस्यादोषत्वात्, वाक्यभेदस्त्वर्थभेदात्, तदुक्तम्, "अर्थैक्यादेकं वाक्यम्" इति, न चैकानुसन्धाने यौगपद्यान्तर्भावेन वा न वक्तुस्तात्पर्यम्, सकृदुच्चरित इत्यादिनियमेन बाधावतारादिति वाच्यम् । बाधितेऽपि क्वचिदिच्छोदयाद्विशेषदर्शनस्यासार्वत्रिकत्वात् सकृदित्यस्य क्रियाविशेषणत्वेन विशेषदर्शनस्यैवायोगाच्चेत्याहुः, एतन्मते तु प्रधानैकार्थमादायैवोक्तपदवाक्यस्वभावः समर्थनीयः । निष्कृष्टनयमनालोच्यापाततः शङ्कते—कथमेवमिति (१९७-२-१२) निष्कृष्टनये तु वृक्षपदार्थे वृक्षत्वावच्छिन्ने द्विवचनाद् द्वित्वस्य बहुवचनाच्च बहुत्वस्यान्वयादनुपपत्तिरेव नास्तीति मन्तव्यम् । केषांचिदिति (१२) यैरेकशेषः स्वीक्रियते तन्मत इत्यर्थः, स चैकशेषः केषांचिद् द्वन्द्वापवादः, न च द्वन्द्वः क्वचित् पदार्थभेदे क्वचिच्च पदार्थतावच्छेदकभेद इत्यत्र तद्विपयासम्भवो, न च प्रतिपाद्यभेद एवानुगतो द्वन्द्वनियामकः, एकघटाभिप्रायकघटपदद्वयेऽपि द्वन्द्वापत्तेः, प्रतिपाद्यघटघटत्वयोर्भेदादिति शङ्कनीयम् । एकपदप्रतिपाद्यत्वसामानाधिकरण्येनापरपदप्रतिपाद्यत्वावच्छिन्नभेदे एकपदजन्यप्रतिपत्तिविषयितात्वसामानाधिकरण्येनापरपदजन्यप्रतिपत्तिविषयितात्वावच्छिन्नभेदे वा द्वन्द्वप्रवृत्तेर्नियतत्वात्, घटावित्यादावेकपदप्रतिपाद्येऽपरपदप्रतिपाद्यत्वावच्छिन्नभेदाद्विशेष्यताभेदेन विषयिताभेदाद्वा तदुपपत्तेः, पदार्थतावच्छेदकाभेदेऽपि विषयिताभेदादेव समवायेन गुणत्ववतो विषयितया गुणत्ववतश्च बोधकयोर्मेयवदभिधेयवद्बोधकयोश्च तदादिपदयोर्द्वन्द्वो निरपवादः । गगनाकाशादिपदयोश्च शब्दरूपपदार्थतावच्छेदकस्याननुगतत्वात्तद्भेदेऽपि न द्वन्द्वो विषयित्वाभेदादिति मन्तव्यम् । अन्येषां तु मते तद्धितादिवद्वृत्त्यन्तरमेव सः, न तु द्वन्द्वभेदः, समासान्तरं वा, करौ पन्थानावित्यत्र नपुंसकत्वस्यादन्ततायाश्चापत्तेरिति

बोध्यम् । **परेषामिति** (१२) ये नैकशेषमिच्छन्ति तन्मतेनेत्यर्थः, तदनिष्टिश्च द्वन्द्वनियामकनिर्वचने विषयितास्थाने प्रकारितायाा एव निवेशादेकार्थे तदसम्भवात्, वृक्षावित्यादौ प्रत्ययार्थद्वित्वान्वयस्य वृक्षपदार्थे एकत्वानवच्छेदेनैव सम्भवात्, सरूपैकशेषस्वीकारे तु तत्रैकत्वावच्छिन्ने द्वित्वबुद्धेः प्रमात्वायोगाद् वृक्षत्वादेर्द्वित्वानवच्छेदकत्वे त्वेकत्रापि वृक्षत्वेन द्वित्वधियः प्रमात्वापत्तेः, अत एवेदृशसमभिव्याहारस्येदृशशाब्दबोधजनकत्वे स्वभावशरणानुधावनम् । इत्थमेव हरी इत्यादावगृहीतभेदपदद्वयादेवार्थद्वयबोधाच्छाब्देन द्वित्वेन निर्वाह इति बोध्यम् । **अनेकनयमये भगवत्प्रवचने** न्यायनयोपग्रहस्यापि क्वचिददुष्टत्वे तु **मणिकृन्मतमेवात्रादेयम्**, तत्र च नापातत एकार्थत्वे निर्भरः, किन्तु प्रधानैकार्थत्व इति सर्वं समञ्जसम् । एवं व्याख्याने ग्रन्थकारः स्याद्वादिसमयविरोधमाशङ्कते—**ननु च वृक्षा इतीत्यादिना** (१९८-१-२) एकानेकात्मकस्य प्रत्ययवत्प्रकृतिरूपपदवाच्यत्वेऽपि सकृदुच्चरितमित्यत्र बोधयतीत्यस्य प्रधानभावेन बोधयतीत्यर्थान्नानुपपत्तिरित्याशयेन समाधत्ते **सोऽप्येवं प्रष्टव्य इत्यादिना** (३) ॥ **स्वार्थमभिधायेति** (५) **शब्दो** वृक्षादिशब्दः, **स्वार्थं** वृक्षत्वादिकम्, **अभिधाय निरपेक्षो** विभक्त्यपेक्षारहितः, **समवेतं** समवायेन सम्बद्धम्, **द्रव्यं** वृक्षादिकम्, **आह** आक्षिपति, निराश्रयस्य वृक्षत्वस्यानुपपत्तेरित्यर्थः । **समवेतस्य तु** (६) **द्रव्यस्य वचने** (६) समवेतद्रव्यकथनानन्तरमित्यर्थः, **विभक्तीर्लिङ्गं सङ्ख्यां चाह**—अयमर्थोपस्थितिक्रमः पदोपस्थितिक्रमानुरोधी, स्वमते तु दीर्घकालिकशाब्दवाक्यार्थोपयोगघटक एवायं बोध्यः । क्रमिकावग्रहाद्यात्मनः प्रत्यक्षोपयोगस्येव क्रमिकसाकाङ्क्षपदार्थज्ञानात्मन एव शाब्दस्य वाक्यार्थोपयोगस्यैकस्याभ्युपगमात्, तदुक्तं **सम्मतिवृत्तौ**—गौर्गच्छतीति वाक्यप्रयोगे गोशब्दात् सामान्यविशेषात्मकं गवार्थं गच्छत्याद्यन्यतमक्रियासापेक्षं प्राक् प्रतिपाद्यते, गच्छतीत्येतस्माच्च तं

प्रतिनियतगमिक्रियावच्छिन्नमवगच्छति–ततः क्रियाद्यवच्छिन्नः सामान्यविशेषात्मको वाक्यार्थो व्यवतिष्ठते, पदसमुदायात्मकाद्वाक्यात्पदार्थात्मकस्यैव तस्य प्रतीतेरिति, तदिह वृक्षौ वृक्षा इत्यतः प्रत्ययवत्या प्रकृत्या वृक्षत्वतदाश्रयलिङ्गसङ्ख्यादिविषयक्रमिकोपस्थितिपरिणत एवाकाङ्क्षादिसाचिव्येन लिङ्गसङ्ख्यादिप्रकारको वृक्षविशेष्यकः शाब्दबोधो जन्य इति तत्र विशेष्यतया वृक्षस्य प्राधान्यं द्वित्वबहुत्वादिसङ्ख्यायास्तु विशेषणतया गौणत्वमिति प्राधान्येनैकार्थवाचकत्वमेवैकपदस्य निर्व्यूढमित्याह–'प्रधानभावेन चेत्यादि' (१९८-१-६) प्रधानगुणभावस्यैवाभिमतत्वादित्यनन्तरं द्वितीयपक्षस्त्विष्ट एवेति पूरणीयम्, नन्वेवं सर्वशब्दस्य प्रधानैकार्थत्वे विशेषणवाचकशब्दोच्छेदापत्तिरित्याशङ्कायामवयवधीदशायामायततो विशेषणविशेष्ये कामचारादिष्टप्राधान्यमविरुद्धम्, वस्तुतः स्याच्छब्दोत्थापिताकाङ्क्षगुणापेक्षत्वमेवैकप्रधानार्थत्वम्, तच्च स्वाभिन्नानन्तधर्मात्मकत्वसंसर्गेण स्वाश्रयविशेष्यकैकधर्मप्रकारकबोधतात्पर्यकत्वं पदे वाक्ये चाविरुद्धमिति व्युत्पादयन्नाह–**स्यादिति निपातेनेत्यादिना** (७)॥ **गुणानपेक्षस्य** (७) सदेवेत्यादिना गुणाकाङ्क्षारहितस्य, **अपवदनान्निराकरणात्**, **तथाभूतत्वाद्** (८) गुणप्रधानभूतत्वात्, उक्तेऽर्थेऽभियुक्तसम्मतिमाह **तदुक्तमित्यादिना** (८) **गुणानपेक्षे नियमे** सन्नेव घट इत्यादिप्रयोगे, **स्यादिति निपातो वै** (८) निश्चितम्, **अपवादः** (९) नयरूपस्योत्सर्गस्य स्याद्वादेन बाधनात्, नयात् प्रकृतैकधर्मात्मकत्वस्यैव वस्तुनः सिद्धेः, स्याद्वादात्तु प्रकृतेतरयावद्धर्मात्मकत्वद्योतकस्याच्छब्दमहिम्नाऽनन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनः सिद्धिसौधाध्यारोहात्, तदाह–**इदं हि** (९) **प्रकृतं**, **जिनस्य** रागादिशत्रुजेतुः, **ते** तव, **वाक्यं गुणप्रधानार्थं** प्रधानभावेन प्रकृतधर्मात्मकताया गुणभावेन च तदितरसकलधर्मात्मकताया बोधपरम्, तत एव रागादिरोगग्रस्तानामेकान्ताभिनिवेशसन्निपातेन यथा तथा प्रला-

पकारिणां तव द्विषतां (९) परतीर्थिकानाम्, अपथ्यम् (९) अरुचिविषयत्वादिति स्तुतिवृत्तार्थः। ननु गुणप्रधानार्थमेव सर्वं वाक्यमित्यभ्युपगमे प्रधानभावेनाशेषधर्मात्मकवस्तुप्रतिपादकसकलादेश उच्छिद्येतेत्याशङ्कते–'नन्वेवमिति (१९८-१-९)' प्रमाणवाक्यानां सर्वैः पदैर्मिलित्वा प्राधान्येनानन्तधर्मात्मकवस्तुबोधन एव तात्पर्यम्, वेदान्तवाक्यानामिवाखण्डब्रह्मबोधने, तथा च स्यादस्त्येव द्रव्यमित्यतः स्वेतरसकलधर्मात्मकत्वसम्बन्धेनास्तित्ववदेव द्रव्यमिति प्राथमिकबोधानन्तरं तस्मादनन्तधर्मात्मकमेव सर्वं वस्त्वित्यौपादानिकबोधः सकलादेशजन्यः स्वीक्रियते, स च द्रव्यार्थिकार्पणयाऽनुपचरितैकविशेष्यताकः पर्यायार्थिकार्पणया चोपचरितैकविशेष्यताक इति तात्पर्यार्थमादाय तत्र न प्रधानैकार्थत्वव्याघातः, सकलादेशान्यार्थ एव गुणप्रधानभावेन बोधकत्वनियमस्य चरितार्थत्वात्, अत एव सकलादेशेऽनन्तत्वान्यधर्मानवच्छिन्नानन्तधर्मप्रकारतानिरूपितसकलवस्तुविषयताशालित्वेन केवलज्ञानतुल्यत्वोक्तिः सङ्गच्छत इत्याशयवान् समाधत्ते–कालादिभिरित्यादि (१०)॥ अनुमन्यतामिति, (१९८-२-५) ननु कथमेतदनुमन्तव्यम्, "एकं द्विकं त्रिकं वापि चतुष्कं पञ्चकं तथा॥ नामार्थ इति सर्वेऽमी पक्षाः शास्त्रे निरूपिताः॥ १॥" इत्यादिनाऽनेकार्थवाचकतायाः पदानां शास्त्रसिद्धत्वात्, अत्रैकं जातिर्व्यक्तिर्विशिष्टं वा, द्विकं जातिव्यक्ती, त्रिकं लिङ्गसहिते ते, लिङ्गस्य शब्दधर्मस्यापि व्युत्पत्तिविशेषादुपचारेणार्थेऽन्वयः, चतुष्कं संख्यासहितानि तानि, पञ्चकं कारकसहितानि तानि, न चान्वयव्यतिरेकाभ्यां लिङ्गादेः प्रत्ययवाच्यत्वमेव युक्तम्, तत एव तदुपस्थितौ प्रकृतिवाच्यत्वे मानाभावादिति शङ्कनीयम्। प्रत्ययवर्जिते दधि पश्येत्यादौ प्रत्ययमजानतोऽपि लिङ्गादिबोधात् प्रकृतेरेव तद्वाचकत्वकल्पनात्, तथा लिङ्गानुशासनदर्शनाच्चेति चेत्, मैवम्, अव्यवस्थितत्वेनैतेषु पक्षेषु निर्बन्धस्य कर्तुमशक्यत्वात्, लिङ्गादेः

प्रत्ययवाच्यत्वस्यापि शास्त्रसिद्धत्वात्, इत्थमेव "द्योतिका वाचिका वा स्युर्द्वित्वादीनां विभक्तयः" इति पक्षद्वयव्युत्पादकवाक्यपदीयोपपत्तेः, इत्थं चैतदर्थपञ्चकमध्ये प्राधान्यमेकदैकस्यैवेति पदानां प्रधानैकार्थतानियमाव्याहतेरिति दिग्। ननु तथापि यथा पुष्पदन्तपदेन चन्द्रसूर्ययोः प्राधान्येनोपस्थितिस्तथा केनचित्पदेन सदसतोरपि स्यादित्यवक्तव्यत्वं नानुमंस्यत इति चेत्, मैवम्, "पुष्पदन्तौ पुष्पवन्तावेकोक्त्या शशिभास्करौ" इति कोशस्वरसादेकोच्चारणान्तर्भावेन गृहीतनानार्थशक्तिकपुष्पदन्तादिपदे व्युत्पत्तिवैचित्र्यात्, अत्र पुष्पदन्तादिपदं चन्द्रे सूर्ये च शक्तमित्याकारकः शक्तिग्रहः, तत्कार्यतावच्छेदकं च चन्द्रत्वप्रकारकत्वे सति सूर्यत्वप्रकारकस्मृतित्वम्, तादृशशाब्दत्वं च, चन्द्रसूर्योभयनिष्ठाया एकस्याः शक्तेश्चन्द्रत्वसूर्यत्वयोर्व्यासज्यवृत्त्यवच्छेदकतास्वीकारात्, अत एवैकत्रायोग्यताज्ञाने शक्त्या न बोधः, किन्तु लक्षणयेति नैयायिकसम्प्रदायः। वस्तुतः पुष्पदन्तादिपदज्ञानाधीननानार्थानुभवे एकमात्रानुभवे वा तत्पदज्ञाने नानार्थानुभवजननियमनिश्चयः कारणं प्रतिबन्धकं वा, अत एव तादृशनिश्चयविरहिणः कदाचिच्छक्त्याप्येकमात्रबोधः, उभयधर्मावच्छेदेन शक्तिग्रहेऽप्युद्बोधकवशादेकधर्मावच्छिन्नमात्रस्मृतिसम्भवात् उभयधर्मावच्छिन्नस्मृतावपि योग्यतादिवशादेकधर्मावच्छिन्नस्य शाब्दबोधसम्भवाच्चेति, न चायुक्तं चैतत्, इत्थं शक्यतावच्छेदकताया व्यासज्यवृत्तित्वानुपगमात्, तदुपगमे शक्तेरपि तत्त्वापत्तेः, न वा शक्त्यैक्यम्, सैन्धवादिपदेऽपि तदापत्तेः, सैन्धवादिपदमश्वे लवणे च शक्तमित्याकारशक्तिग्रहस्याविशेषात्, अश्वत्वेनाश्वः शक्यो न लवणमित्यस्यापि चन्द्रत्वेन चन्द्रः शक्यो न सूर्य इत्यनेन तुल्यत्वात्, एकत्रैकतरधर्मावच्छिन्नस्यापि बोधोऽन्यत्र युगपदुभयधर्मावच्छिन्नस्यैवेत्यस्य चोक्तरीत्यैवोपपत्तेरधिककल्पनायां मानाभावादित्येके। चन्द्रसूर्यौ पुष्पवन्तपदजन्यैकबोधविषयौ भव-

तामित्याकारिकैव शक्तिः "एकयोक्त्या पुष्पवन्तौ" इत्यादिकोशाल्लाघवाच्च, अत एव न चन्द्रसूर्यपर्यायता, नानार्थे गणनं वा, शक्तितदवच्छेदकतयोर्व्यासज्यवृत्तितया च चन्द्रत्वेन चन्द्रः शक्यः सूर्यत्वेन च सूर्य इत्यादिर्न धीः, किन्तु चन्द्रत्वेन सूर्यत्वेन च चन्द्रसूर्यौ शक्यावित्येवेति सम्प्रदायमतमेव युक्तमित्यपरे। एकोच्चारणान्तर्भावेन नानार्थशक्तिस्थलेऽपि न सर्वत्र व्यासज्यवृत्तिधर्मावच्छिन्नप्रकारताक एव बोधः, पुष्पदन्तादिपदात्तथा बोधेऽपि तृतीयादेः करणत्वैकत्वादेः प्रातिस्विकरूपावच्छिन्नस्यैव नानार्थस्य बोधात्, तदुक्तं मिश्रैः, पुष्पदन्तादिपदे करणत्वैकत्वादिशक्ततृतीयादिपदे चैकोच्चारणेन तु नानार्थानुभवजननव्युत्पत्तिनिश्चयादेकदैव नानार्थानुभवो नावृत्तिरिति, युक्तं चैतत्, तृतीयायास्तृतीयात्वेन करणत्वे एकवचनत्वेन चैकत्वे शक्तेः सारकशक्त्यैक्यसम्भवादिति वदन्ति। अतिरिक्तशक्तिपक्षे शक्यशक्ततावच्छेदकभेदात्तृतीयादौ शक्तिः, पुष्पदन्तादिपदे तु व्यासज्यवृत्तिरेकैवेति युक्तम्। तदिह पुष्पदन्ततृतीयादिपदवत् सहार्पितसत्त्वासत्त्वोभयाश्रयबोधकं न किञ्चित्पदं व्युत्पादितमस्ति, प्रत्युत तथाजिज्ञासाया बाधितत्वज्ञाने तथाज्ञानस्य विपरीतव्युत्पत्त्या जायमानस्याप्यनिष्टत्वप्रतिसन्धानान्न तदर्थं कश्चित् प्रामाणिकः पदप्रयोग इति तदाऽवक्तव्यत्वेन ज्ञानस्यैवेष्टत्वात्, तदर्थं तुरीयभङ्गाभिधानं साधु सङ्गच्छते। अत एवैकक्षणे बोधद्वयं जायतामित्यादिस्थलेऽप्यवक्तव्यत्वाभिधानसाम्राज्यम्, बाधितेच्छाविषयत्वावच्छेदेनावक्तव्यत्वव्यवस्थापनात्, न चैवं तुरीयभङ्गेऽनुगतावच्छेदकानुपलम्भः, अननुगतानामपि तेषामुपलम्भे स्यात्कारस्यैव कल्पवृक्षत्वात्, वस्तुत एकत्वावच्छिन्ने सहार्पितधर्मद्वयद्वारकद्वित्वान्वयस्य निराकाङ्क्षत्वादेवावक्तव्यत्वप्रयोगसङ्गतिः "नाणदंसणट्ठयाए दुवे अहं" इत्यादिवत्, सत्त्वासत्त्वादिनोपचरितं द्वित्वमादाय प्रवृत्तायां सप्तभङ्ग्यामपि निरवच्छिन्ने सत्त्वासत्त्वे एव तदवच्छेदके, न तु

सहार्पितत्वविशिष्टे इति, प्रकृते तादृशतदवच्छेदेनान्तर्निगीर्णद्वित्वाश्रयबोधनाशक्तेः स्यादवक्तव्यत्वपक्षसाम्राज्यात्। एतेनैक-पदजन्यसत्त्वासत्त्वोभयप्रकारकशाब्दबोधविषयत्वं न स्यादवक्तव्यत्वशब्दार्थः, प्रतियोग्यप्रसिद्ध्या तदभावाप्रसिद्धेरित्यपास्तम्, सहार्पितसत्त्वासत्त्वोभयावच्छेदेन तृतीयभङ्गजन्यशाब्दबोधविषयत्वाभावस्यैव स्यादवक्तव्यपदार्थत्वात्, तद्यादिपदेन पुष्पदन्ता-दिपदप्रतिपाद्यस्येव सहार्पितसत्त्वासत्त्वोभयाश्रयस्य बुद्धिविषयतावच्छेदकावच्छिन्ने गृहीतशक्तिकेनापि तत्तद्धर्मांशे तद्बुद्ध सं-स्कारमहिम्नोपस्थितौ शाब्दबोधविषयत्वात्, अव्याप्तिवारणाय शाब्दबोधे तृतीयभङ्गजन्यत्वोक्तिः। प्रातिस्विकधर्मावच्छिन्न-प्रकारताद्वयनिरूपितमुख्यविशेष्यताशालित्वं तदर्थः, विपरीतसङ्केतजन्यशाब्दभ्रमे तूक्तोभयधर्मपर्याप्तावच्छेदकताकैकप्रकारता-निरूपितविशेष्यताशालित्वेन दोषाभावादिति नव्यतर्कपरिष्कृतः पन्थाः। एतेनैव गङ्गायां मत्स्यघोषावित्यत्रेव क्वचिदेकदा वृत्तिद्वयस्याप्यविरोधात् सदादिपदेनैव शक्त्या सत्त्वादेर्लक्षणया वा सत्त्वादेरुपस्थितिसम्भवात् सहार्पितसत्त्वासत्त्वोभयप्रका-रकशाब्दबोधसम्भवे गतमवक्तव्यत्वेनेति निरस्तम्। तृतीयभङ्गजन्यपदमहिम्नैव शक्त्येत्यस्याप्याक्षेपादिति दिग्। शेषं भङ्गत्रयं व्यस्तसमस्तद्रव्यपर्यायार्पणाहेतुकं सुबोधम्। 'स्याद्वादाश्रयणे' (१९८–२–९) उक्तार्पणाभेदस्य स्याद्वादतात्पर्यत्वं प्रत्येव सम्भवादित्यर्थः। परमतापेक्षया त्विति (१०) पक्षत्रयमत्र नैयायिकसौगतमताश्रितं व्याख्येयम्। पर्यैत्केवलं सदुच्यते यच्चासत् यच्च सदसत् तत्सर्वमवक्तव्यमित्युद्देश्यविधेयभावे तात्पर्यम्, भङ्गत्रयेप्युद्देश्यस्य प्रसिद्धिः परमतात्, विधेयस्य जैना-गमात्, योगादिभिः सदादिव्यवहारविषयीकृतमस्माभिरवक्तव्यत्वव्यवहारसौधमध्यास्यत इत्यकलङ्कदेवाशयः। भाष्ये 'न खलु सर्वात्मनेति' (१२) अत्र सर्वात्मनेत्यस्य व्यक्त्यनवच्छेदकत्वरूपस्वातन्त्र्येणेत्यर्थः। किमालम्बनभावेनेति

(१९९–१–६) किंविषयविधयेत्यर्थः। अयं च वितर्को यतो व्यक्तिसामान्योभयविषयजनितेन ज्ञानेन नियमत उभयविषयतया भाव्यम्, ततः सामान्यज्ञाने विषयतयाव्यक्तीनामपि हेतुत्वौचित्यमित्याशयात्, तत्र (१९९–१–६) सामान्येन सहैकज्ञाने, तासां व्यक्तीनाम्, व्यापारः (७) कार्यजननाभिमुख्यम्, अधिपतित्वेन वेति आलम्बनभिन्नकारणत्वेन वेत्यर्थः। अनधिगमेऽपीति (८) न चेष्टापत्तिः, महत्त्वोद्भूतयोरप्रवेशलाघवेन द्रव्यान्यद्रव्यसमवेतचाक्षुषे चक्षुःसंयुक्तचाक्षुषसमवायत्वेन परेषां हेतुत्वेन जातिचाक्षुषपूर्वं नियमतो व्यक्तिचाक्षुषकल्पनेन तस्याः कर्तुमशक्यत्वात्, नहि रूपज्ञान इति, (८) यद्यप्यालम्बनत्वेन हेतुतापि नाधिगतत्वं प्रयोजयति, किन्तु सह ज्ञेयत्वमेव, तथापि ज्ञायमानं ज्ञातमिति नयाश्रयणाददोषः। भाष्ये तल्लक्षण (लक्षितलक्षण) चेति (१०) तेन सामान्येन लक्षणाऽऽक्षेपोऽर्थाद्विशेषस्य, तया वृत्तिः प्रवृत्तिर्विशेषे, कथंचित्तादात्म्येन कृत्वा भवेत्, कार्मुकादिवत् (११) कार्मुकादेरिवेति व्यतिरेके दृष्टान्तः, सम्बन्धान्तरा(रस्या)सिद्धेः (१३) तादात्म्यातिरिक्तसम्बन्धासिद्धेरित्यक्षरार्थः। वृत्तौ कथञ्चित्ता(दता)दात्म्ये तदनुपपत्तेरिति (१९९–२–२) यद्यपि कार्यकारणभावदैशिककालिकाधाराधेयभावादीनामतादात्म्येऽपि तत्तत्सम्बद्धव्यवहारकारित्वं दृश्यते, तथापि तत्रापि तत्तद्व्यवहारप्रयोजकशक्त्यात्मना कथञ्चित्तादात्म्याभ्युपगमाददोषः, केवलं सामान्यविशेषादिसम्बन्धविचारे बहुलमभेदव्यवहारात्तेषामुद्भूतं तादात्म्यमनुद्भूतो भेदः, पृथक्सम्बन्धिस्थले तु वैपरीत्यमिति विशेषो बोध्यः। तादृशसर्वथाव्यक्तिव्यतिरिक्तत्वेनाभ्युपगतस्य सामान्यस्य, सतापीत्यादि, (४) तादृशा व्यक्तिव्यतिरिक्तेन पराभ्युपगतेन सामान्येन, सतापि परदृष्ट्या विद्यमानेनापि, अन्यव्यावृत्त्यात्मना (४) स्वातिरिक्तसामान्यव्यावृत्तेन, भावि-

तव्यं (४) भाष्यम्, अन्यथेत्थमनभ्युपगमे, विशेषवत् (५) अन्त्यविशेषस्येव सामान्यस्य, स्वभावहानिप्रसङ्गात् (१९९-२-५) यथा विशेषो विशेषान्तराद्व्यावर्त्तमानः स्वभावं जह्यात् तथा सामान्यमपि सामान्यान्तरादित्यर्थः। विशेषाणां वा तद्वत् सामान्यवत्, ततः सामान्याद्व्यावृत्तेः (५) प्रसङ्गादिति योजनीयम्, भाष्यप्रतीके वृत्तौ 'परापरेत्यादि' (६) सामान्ययोर्मिथोऽव्यावृत्तौ तत् सङ्करादसंकीर्णसामान्यवतो विशेषस्येव तद्वतोऽर्थमात्रस्याभावात् सर्वाभावोऽतिरिक्तसामान्यवादिनां स्यादित्यर्थः। कल्प्यतां तर्हि सामान्यं सामान्यान्तराद् व्यावृत्तं विशेष इव विशेषान्तरात् स्वभावत एवेति चेत्, तर्हि द्रव्यत्वादेः स्वाश्रयं प्रत्येव स्वं प्रत्यनुगमकव्यावर्त्तकतया सामान्यविशेषता स्यात्, तथा च किमपराद्धं वस्तुना, येनातिरिक्तपदार्थद्वयानपेक्षतया तस्यैव तत्ता नेष्यते, द्रव्यत्वादिकमपि हि जातित्वादिनानुगतं स्वरूपेण च व्यावृत्तमिष्यते, तद्वदाश्रय एव किं तथा न स्यात्। जातिषु जातिस्वीकारे कल्प्यमानान्तर्भावेन तास्वाश्रयीभूतास्वन्यान्यजातिस्वीकारेऽनवस्थापत्तेस्तासु जातित्वमुपाधिरेवानुगमको वाच्यः, द्रव्यादित्रये तु बाधाभावेन सामान्यपदार्थ एव तथेत्यनुभवादेवोपलभामह इति चेत्, तर्ह्यनुभवं पृच्छन्तु भवन्तो जात्यादयोऽभावान्ता अनन्ताः पदार्थाः स्वभावादनुगच्छन्ति द्रव्यादयस्तु कतिपयेऽतिरिक्तसामान्येनेत्यर्द्धजरतीयं त्वयाऽकस्मादेव कथमुपलब्धम्, अनवस्थायाश्च मूलमतिरिक्तजातिकल्पनैव, तदुपर्येवान्यान्यजातिकल्पनावतारादुक्ताश्रयस्वभावकल्पनाकुठारेण च तदेव कुतो नोच्छिद्यते येनानवस्थावल्ली न वर्द्धेतेति दिग्। तस्यानन्त्यादित्यादि, (७) अत्र यथोत्तर हेतुहेतुमद्भावः, आनन्त्यात् सङ्केतकरणाशक्तेः सङ्केताविषयत्वम्, ततः सर्वोपसंहारेण शक्तिग्रहायोगादनन्वयः; ततश्च शाब्दबोधादिरूपशब्दव्यवहारायोग इति। स्वविषयविधिनिर-

पेक्षस्येति (८) स्वस्य शब्दस्य विषयो यो विधिर्गोत्वादिस्तन्निरपेक्षस्य तदसंसर्गीभूतस्येत्यर्थः, तत्सापेक्षो ह्यन्यापोहस्तद्विशिष्टबुद्धौ संसर्गतया भासमानो गुणीभावमवलम्बेतापि, नीलमिदमिति प्रतीतावनीलव्यावृत्तेस्तथानुभवात्, प्राधान्येन तु प्रतियोगिनां दुर्ज्ञानत्वात्तद्ग्रहायोग इति भावः; तदाह—विकल्पेन चेति, (१९९-२-९) न च संसर्गांशे गुणतयाऽपि निश्चयो दुर्घटः, प्रकारांश इव संसर्गांशे विपरीतसमारोपव्यवच्छेदकस्य निश्चयत्वव्यवस्थितेरिति बोध्यम्। साधनवचनमेवाभिधायकम्, तच्च विधिरूपं लिङ्गमेवाभिधत्ते, स्वपरत्वेन बुद्धिप्रतिबिम्बपरत्वेन वा तथोपपत्तेः, अन्यच्च वचनं सम्भावनामात्रकरमेवेत्यन्यापोहशक्त्या न कुतोऽपि शब्दान्निर्णय इति शङ्कते—साधनेत्यादिना (९) एवं सति तवापसिद्धान्तः स्यादित्याह न तस्यापीत्यादिना, (१०) एवं च स्वसिद्धान्तादेव परस्यान्यापोहार्थत्वं ध्रुवमित्युक्तं भवति, वस्तुतोऽसौ परसिद्धान्त एवायुक्तः, एवं सति शब्दाद्विपरीतसमारोपव्यवच्छेदसिद्धावप्युद्देश्यविधिरूपार्थासिद्धेस्तदानर्थक्यादर्थतस्तत्सिद्धौ चैकमात्रार्थताव्याघातादित्याह—सत्यपि चेत्यादिना, (१४) दृश्यविकल्प्यैकत्वग्रहाधीन एव विधिप्रत्यय इति न तस्य शब्दवाच्यत्वमित्याशङ्क्य तदेकत्वग्राहकमेव खण्डयितुमुपक्रमते—दृश्यविकल्प्ययोरित्यादिना (१४)। किं केन प्रमितमिति (२००-१-३) विकल्पाभिधानयोर्वस्त्वविषयत्वादेव तदप्रमापकत्वाद्दर्शनस्य चानिश्चयरूपत्वेन तत्त्वादिति भावः। नन्वेकसन्तत्यवच्छिन्नस्वाव्यवहितपूर्ववर्त्तित्वसम्बन्धेन घटत्वावगाहिनिश्चयविशिष्टघटदर्शनत्वेन प्रामाण्यमङ्गीकरिष्यते तत्राह—न हीति (२) घटत्वावगाहित्वमात्रेण निश्चयो न समनन्तरघटदर्शनप्रामाण्याङ्गम्, संशयविपर्ययसाधारण्यादित्यर्थः, वस्तुतोऽर्थक्रियाकारित्वरूपं न तथा, अर्थक्रियाऽव्यवहितप्राक्काले दर्शनस्य प्रागूनष्टस्याभावाद्विकल्पविशिष्टदर्शनत्वेन दर्शनविशिष्टविकल्पत्वेन वार्थक्रियाहेतुत्वमित्यत्र विनि-

गमकाभावात्सूक्ष्मेक्षिकायां सन्निहितत्वस्य विकल्पहेतुताया एव विनिगमकत्वात्। वस्तुतो रजतार्थिप्रवृत्तौ रजतविशेष्यक-ज्ञानस्य समानप्रकारकत्वेन हेतुत्वम्, न तु रजतत्वज्ञानविशिष्टरजतज्ञानत्वेन, रजताग्रहीतासंसर्गकरजतत्वज्ञानत्वादिना वा गौरवादित्यन्यथाख्यातिसाधने मीमांसकं प्रति या युक्तिरुच्यते साऽत्राप्यनुसर्तव्या इति रजतविशेष्यकरजतत्वप्रकारकविकल्पस्यैव प्रामाण्यादलं तज्जनकदर्शनप्रामाण्यप्रत्याशयेति भावनीयम्। वस्तुसंस्पर्शाभावे(चाविशेषे) (२००-१-४)ऽपीति, एतदुत्तर निर्णयसंशययोरिति शेषः। ननु निर्णयस्य वस्त्वस्पर्शित्वात्तद्विषयाविषयकत्वरूपं प्रामाण्यं दर्शनस्य मा सेत्सीत् तस्य दर्शनविषयसमारोपव्यवच्छेदकत्वे तु न विवाद इति तद्व्यवच्छिन्नसमारोपप्रतियोगिविषयकत्वेन दर्शनस्य प्रामाण्यं सेत्स्य-तीत्याशङ्कते ' ननु चेति ' (५) अर्थग्रह इव समारोपव्यवच्छेदेऽपि ज्ञानस्य न स्वातिरिक्तविकल्पापेक्षा, अन्यथा स्ववि-षयकत्वेऽपि तत्प्रसङ्गात्तथा चानवस्थादिदोषसहस्रोपनिपातस्य दुर्निवारत्वादित्याशयवान् समाधत्ते-समारोपेत्यादिना (७) ' एतेन (१२) वस्तुदर्शनस्य स्वतः स्वरूपपरिनिष्ठितत्वव्यवस्थापनेन, अतत्कार्यकारणव्यावृत्तिः (१२) अगो-व्यावृत्तिः, एकप्रत्यवमर्शादिज्ञानात् गौर्गौरित्याद्यनुगतानुसन्धानात्, एकार्थसाधने (१२) एकव्यवहारसम्पादने, अत्यन्तभेदेऽपीति तस्याः कल्पितत्वेनार्थादभेदासहिष्णुभेदेऽपीत्यर्थः। इन्द्रियादिवत् (१२) रूपादिज्ञाने चक्षुरादिवत्, ज्वरोपशमनादौ (१३) समुदिता इतरे शुण्ठ्यादय औषधविशेषा यत्र तादृशा ये गुडूच्यादयस्तद्वचेति योजनीयम्। अन्वयव्यतिरेकानुविधानं हि हेतुहेतुमद्भावे प्रयोजकं न त्वभेदोऽपीति भावः। समयादर्शिनोऽपि (१३) अतत्कार्य-करणव्यावृत्तौ सङ्केतादर्शिनोऽपि, दर्शनपदं ज्ञानमात्रोपलक्षणम्, अन्वयबुद्ध्यभिधानव्यवहारः (१४) अयं गौरयं

गौरित्याद्यभिलापात्मा व्यवहारः, अतत्कार्यकारणव्यतिरेकव्यवस्थायाम् (१४) अतत्कार्यकरणव्यावृत्तेरेकार्थसाधनहेतुत्वनियमे, विपर्यासयति (१४) वैधर्म्यापादनेन विघटयतीति भाष्याक्षरार्थः। वृत्तौ तस्येति, (१४) तथा च गुडूच्यादेर्ज्वरोपशमनादौ वस्तुभूतशक्तिसमानपरिणामेन हेतुत्वम्, अन्यापोहस्य तु कल्पनामात्रनिर्वृत्तत्वेन तदभावान्न तथेति व्यक्तो विपर्यास इत्युक्तं भवति, कर्कादिव्यक्तीनां (२००–२–४) कर्कादिविशेषाणाम्, अश्वादिप्रत्ययम् अश्वाद्यनुगतप्रत्ययम्, तथा समानपरिणामहेतुकं (४) प्रतिनियतसमानपरिणामजन्यम्, साधयति (४) तथाविधव्याप्त्युपस्थापनात्। कर्कादिष्वश्वाद्यनुगतप्रत्ययः प्रतिनियतसमानपरिणामहेतुकः अनुगतकार्यत्वात् गुडूच्यादिप्रयुक्तज्वरनाशवदिति प्रयोगसम्भवादिति भावः। 'विपर्याससाधनमिति' (४) अतद्व्यावृत्तिहेतुकत्वसाधनायोपन्यस्तेन प्रकृतोदाहरणेन तद्विपरीतसमानपरिणामहेतुकत्वसाधनादिति भावः। ननु गुडूच्यादिषु शक्तिरूपः समानपरिणामः कारणतावच्छेदक इष्यते प्रकृते त्वनुगतप्रत्ययहेतुत्वं समानपरिणामे साध्यमित्यस्ति तत्रापि साधनवैषम्यमिति चेत्, न। शक्तिशक्तिमतोरभेदनये शक्तिमतो हेतुत्वे शक्तेरपि तथात्वेन तदभावात्, यद्वा कारणत्वावच्छेदकसाधारणं प्रयोजकत्वमादाय समानपरिणामप्रयोज्यत्वे साध्ये न कोऽपि दोष इति भावनीयम्। अमीषामन्यापोहवादिनां (४) बौद्धानाम्, अन्यापोहसामान्यमसत् (५), अभावत्वेनाभिमतम्, अवक्तव्यमेव विचाराक्षमत्वात्, एवं प्रत्येकमवक्तव्यत्वघटिते भङ्गद्वये समर्थिते क्रमार्पिताभ्यां तृतीयभङ्गः सुघट एवेत्याह–'एतेनेत्यादि' (५)। सौगतानामिति (५) तन्मते स्वलक्षणान्यापोहयोः सदसत्त्वेनाभिमतयोर्विवाददशायामवक्तव्यस्यापादयितुं शक्यत्वादित्यर्थः। तदाह–स्वलक्षणस्येत्यादि, अत्रेदं चिन्त्यम्। एवं पराभिमतं सत्त्वमसत्त्वं तदुभयं चोद्देश्यतावच्छेदकीकृत्यावक्तव्यत्वविधा-

नेन चरमभङ्गत्रयमसमर्थने वेदान्त्यभिमतमवक्तव्यत्वमुद्देश्यतावच्छेदकीकृत्य तद्विचारासहत्वविवित्सयाऽष्टमोऽपि भङ्गः कुतो न भवेत्, शब्दसाम्येऽप्यर्थभेदेन भङ्गान्तरस्य दुर्वारत्वात्, धर्मवक्तव्यत्ववदवक्तव्यावक्तव्यत्वं न भेदकमिति चेत्, न। परमतस्वमताभ्यामुद्देश्यविधेयभावस्यैव भेदकत्वात्, अन्यथा सदवक्तव्यत्वादिकमपि केवलावक्तव्यत्वभङ्गकुक्षौ प्रविश्य न भङ्गान्तरमुत्थापयेत्, किं चैनमाद्यभङ्गचतुष्टयं शुद्धघटत्वावच्छिन्नोद्देश्यताकमन्त्यभङ्गत्रयं च कल्पितसत्त्वाद्यवच्छिन्नघटनिष्ठोद्देश्यताकमिति प्रकृतसप्तभङ्ग्येकवाक्यताभङ्गप्रसङ्गः, प्रकारभेदेनैव तद्भेदस्याभियुक्तैरुक्तत्वात्, प्रकारश्च विधेयधर्मो वोद्देश्यतावच्छेदकधर्मो वेति न कश्चिद्विशेषः, इत्थमेव शुद्धघटादिधर्मिकसप्तभङ्गीतो नीलघटादिधर्मिकायास्तस्या अविगानेन भेद इति, यदि च सत्त्वमसत्त्वं तदुभयं च मतकल्पितमुद्दिश्य पृथगेवावक्तव्यत्वं चरमभङ्गत्रयेणाभिधीयत इति मतं तदा तादृशं नित्यत्वानित्यत्वतदुभयादिकमादाय बहवोऽपि भङ्गाः प्रकृतपर्यायविधिनिषेधकल्पनामूलत्वाभावेनैकवाक्यत्वाभावश्च स्फुट एवेति परमतापेक्षया चरमभङ्गत्रयं व्यवतिष्ठत इत्यकलङ्कदेवोक्तिर्वार्त्तामात्रम्, किं त्वाद्यभङ्गद्वयघटकनिजपररूपयोः शृङ्गग्राहिकया व्यवस्थापन एव नयभेदो मतभेदो वोपयुज्यते, तृतीयभङ्गस्त्ववक्तव्यत्वलक्षणस्ताभ्यां युगपदादिष्टाभ्यां तद्भेदादनेकभेद इत्येते त्रयो निरवयवद्रव्यविषयत्वात् सकलादेशरूपाः, सदसत्त्वमदवक्तव्यत्वादयश्चत्वारस्तु चरमाः सावयवद्रव्यविषयत्वाद्विकलादेशरूपाः, देशभेदं विनैकत्र तु क्रमेणापि सदसत्त्वविवक्षा सम्प्रदायविरुद्धत्वान्नोदेतीति न निरवयवद्रव्यविषयत्वमेषामित्यस्मदभिमतोक्तमेव युक्तमिति मन्तव्यम्। तदेतद्रहस्यं स्वसमयव्युत्पत्तिरसिकमनोविनोदाय सम्मतिगाथाभिरेव व्युत्पादयामः—"अत्थंतरभूएहिं णियएहि य दोहिं समयमाईहिं। वयणविसेसाईयं दव्वमवत्तव्वयं पडइ ॥ १ ॥ अर्थान्तरभूतः

पटादिर्निजो घटादिः, ताभ्यां द्वाभ्यां सदसत्त्वं घटवस्तुनः प्रथमद्वितीयभङ्गनिमित्तं प्रधानगुणभावेन भवतीति सोपस्कारं व्याख्येयम् । " समयमाईहिं इत्यनन्तरं तुर्गम्यः, द्वाभ्यामिति चानुवर्त्तते, समकमादिरादानं ययोस्ताभ्यां सहार्पिताभ्यां तु द्वाभ्यामित्यर्थः । वचनविशेषातीतं वचनस्य विशेषः शक्तिस्तमतीतमतिक्रान्तं सत् तथाविधवाचकाविषयीभूतमिति यावत्, द्रव्यं घटादि, अवक्तव्यम्, पतति अशक्तिभाराद्वक्तव्यताशिखरे स्थातुं न शक्नोतीत्यर्थः । अवक्तव्यतां वा पततीति व्याख्येयम्, तथाहि द्वयोर्धर्मयोः प्राधान्येन गुणभावेन वा प्रतिपादने न किञ्चिद्वचः समर्थं, वृत्तौ द्वन्द्वस्यैवोभयपदप्रधानत्वात्, तस्य च द्रव्यवृत्तेः प्रकृतेऽनुक्तिसम्भवाद्, गुणवृत्तेरपि गुणानां परार्थत्वेन प्राधान्याघटनात्, प्रत्येकभङ्गस्थले एकधर्मस्यैकधर्म्युपचारेण प्राधान्यसम्भवेऽपि विरुद्धत्वेन प्रतीयमानयोर्धर्मयोरेकधर्म्युपचारायोगात्, वाक्यस्यापि वृत्त्यभिन्नार्थत्वेन तदनतिशायित्वात्, न च केवलं पदं वाक्यं वा लोकप्रसिद्धं तथा, तस्यापि परस्परापेक्षद्रव्यादिविषयतया तथाभूतार्थप्रतिपादकत्वायोगात्, न च तौ सदिति शतृशानचोरिव सङ्केतितैकशब्दवाच्यत्वम्, विकल्पप्रभवशब्दवाच्यत्वप्रसङ्गात्, विकल्पानां च युगपद्प्रवृत्तेर्नैकदा तयोस्तद्वाच्यतासम्भव इति । एतेन तदादिपदप्रतिबन्ध्यपि निरस्ता । तत्रापि तत्तद्विकल्पप्रभवेन तच्छब्देन क्रमेणैवानेकार्थाभिधानात्, एकवचनान्तस्याप्येकशेषस्य "जहा एगो पुरिसो तहा बहवे पुरिसा" इत्याद्यागमसिद्धत्वात्, न च निजार्थान्तरैकताभ्युपगमेऽप्यर्थस्य वाच्यता, तथाभूतस्यात्यन्तासत्त्वेनावाच्यत्वात्, न च घटत्वे घटशब्दप्रवृत्तिनिमित्ते सिद्धेऽसम्बद्ध एव तत्र पटाद्यर्थप्रतिषेध इति द्वितीयभङ्गानवकाशात् तृतीयोऽपि दूरापास्त इति शङ्कनीयम् । पटादेस्तत्राभावाभावे घटशब्दप्रवृत्तिनिमित्तस्य घटत्वस्यैवासिद्धेः, प्रथमभङ्गोत्थापिताकाङ्क्षया द्वितीयभङ्गस्यावश्यप्रयोज्यत्वात्, तदुभयविषयसहार्प-

णया तृतीयस्याप्यवर्जनीयत्वात्, अथवा सर्वं सर्वात्मकमिति सांख्यमतव्यवच्छेदार्थं तत्प्रतिषेधो विधीयते, तत्र तत्र प्रतीत्यभावात् ॥१॥ यद्वा नाम-स्थापना-द्रव्य-भावभिन्नेषु विवक्षिताविवक्षितप्रकारेण प्रथमद्वितीयौ, ताभ्यां युगपदवाच्यम्, तथाभिधेयपरिणामाभावाद्, व्यतिरेके प्रतिनियतव्यवहारोच्छेदो बाधकस्तर्कः, एवमग्रेऽपि. ॥२॥ अथवा स्वीकृतप्रतिनियतप्रकारे तत्रैव नामादिके यः संस्थानादिस्तत्स्वरूपेण घटः, इतरेण चाघट इति प्रथमद्वितीयौ, ताभ्यां युगपदभिधातुमशक्तेरवाच्यः ॥३ ॥ यद्वा स्वीकृतप्रतिनियतसंस्थानादौ मध्यावस्था निजं रूपं कुशूलकपालादिलक्षणे पूर्वोत्तरावस्थे अर्थान्तररूपं ताभ्यां सत्त्वासत्त्वयोराद्यद्वितीयौ, युगपत्ताभ्यामभिधातुमसामर्थ्यादवाच्यत्वलक्षणस्तृतीयः ॥४॥ अथवा तस्मिन्नेव मध्यावस्थारूपे वर्त्तमानावर्त्तमानक्षणरूपतया सत्त्वासत्त्वाभ्यां प्रथमद्वितीयौ, ताभ्यां युगपदनभिधेयत्वादवक्तव्यत्वाख्यस्तृतीयः ॥५॥ यद्वा क्षणपरिणतिरूपे लोचनजप्रतिपत्तिविषयत्वाविषयत्वाभ्यां निजार्थान्तरभूताभ्यां सत्त्वासत्त्वाभ्यामाद्यद्वितीयौ, ताभ्यां युगपदादिष्टोऽवाच्यः ॥६॥ अथवा लोचनजप्रतिपत्तिविषये तस्मिन्नेव घटे घटशब्दवाच्यता निजं रूपं कुटशब्दाभिधेयत्वमर्थान्तररूपं ताभ्यामाद्यद्वितीयौ, सहार्पणया तृतीयः ॥७॥ अथवा घटशब्दाभिधेये तत्रैव घटे हेयोपादेयान्तरङ्गबहिरङ्गोपयोगानुपयोगरूपतया सत्त्वादाद्यद्वितीयौ, ताभ्यां युगपदादिष्टोऽवाच्यः ॥८॥ अथवा तत्रैवोपयोगेऽभिमतार्थावबोधकत्वानभिमतार्थानवबोधकत्वतः सत्त्वासत्त्वाभ्यामाद्यद्वितीयौ, सहार्पणयाऽवाच्यः ॥९॥ अथवा सत्त्वमसत्त्वं चार्थान्तरभूतम्, निजं घटत्वम्, ताभ्यामाद्यद्वितीयौ, अभेदेन ताभ्यां निर्दिष्टो घटोऽवक्तव्यो भवति, सत्त्वमनूद्य घटत्वविधाने सत्त्वस्य घटत्वेन व्याप्ततया घटस्य सर्वगतत्वापत्त्या तथाभ्युपगमे प्रतिभासव्यवहारविलोपात्, असत्त्वमनूद्य घटत्वविधानेऽप्यभावमात्रस्य घटत्वप्रसङ्गो, घटत्वमनूद्य सदसत्त्ववि-

धानेऽपि घटमात्रस्य सदसत्त्वे, पटादीनां प्रागभावादीनां चाभावप्रसक्तिरिति विशेषणविशेष्यभावलोपात् सन्नसन्नित्येवं घटोऽवाच्य एव, अनेकान्तपक्षे तु कथञ्चिदवाच्यत्वान्न दोषः। न चानया रीत्या नीलोत्पलमित्यादावपि विशेषणविशेष्यभावखण्डनादवाच्यत्वप्रसङ्ग इति दूषणं देयम्। तत्रापि स्यात्पदमध्याहृत्यैव तत्कृतप्रतिनियमेन विशेषणविशेष्यभावव्यवस्थितेः, एकान्तपक्षे त्ववाच्यत्वस्वीकारादेव न च नीलोत्पलमित्यादेः सम्भवाभिप्रायेणैव प्रयोगाददोषः, तथापि नियमाभिप्रायेण स्यादवाच्यत्वाक्षतेः सम्भवनियमाभ्यां प्रथमद्वितीययोरेव भङ्गयोरारम्भे तूभाभ्यामवाच्यत्वाक्षतेरिति दिग् ॥१०॥ यद्वा व्यञ्जनपर्यायोऽर्थान्तरभूतस्तदतद्विषयत्वात्तस्य, घटार्थपर्यायस्त्वन्यव्यावृत्तेर्निजः, ताभ्यामाद्यद्वितीयौ, अभेदेन ताभ्यां निर्देशेऽवक्तव्यः, अन्यतरमनूद्यान्यतरविधाने व्यवस्थितरूपविपर्यासेन व्यवहारविलोपप्रसङ्गात्, अनेकान्तपक्षे तु युगपदभिधातुमशक्यत्वात् कथञ्चिदवक्तव्यः ॥११॥ यद्वा सत्त्वमर्थान्तरभूतम्, अन्त्यविशेषो निजः, तदुभयं प्रवृत्तिनिवृत्त्यविषयत्वादनन्वयाच्चावाच्यम्, प्रत्येकावक्तव्याभ्यां ताभ्यामादिष्टो घटोऽवक्तव्यः, अनेकान्तपक्षे तु कथञ्चिदवक्तव्यः ॥१२॥ अथवा संद्भुतरूपाः सत्त्वादयो घट इत्यत्र दर्शनेऽर्थान्तरभूता रूपादयः, निजं सन्द्भुतरूपम्, ताभ्यामादिष्टो घटोऽवक्तव्यः, अरूपादिव्यावृत्त्या रूपादिव्यवस्थायामरूपाद्यात्मकघटताया रूपादीनामवाच्यत्वात्, अरूपादिरूपत्वे च रूपादीनां तत्स्वरूपस्यैवाभावे के सन्द्भुतरूपतया विशेष्या ये घटरूपतामास्कन्देयुरित्येवमप्यवाच्यः। अनेकान्तवादे च कथञ्चिदवाच्यः ॥१३॥ इयमेव रीतिरसन्द्भुतरूपा रूपादयो घट इति पक्षेऽपि भावनीया। तत्र रूपादीनामर्थान्तरभूतत्वादसन्द्भुतरूपत्वस्य च निजत्वात्ताभ्यामादिष्टस्यावक्तव्यतायाश्च प्राग्वद्विशेष्यलोपादेव सिद्धेः। कथञ्चित्पक्षस्य च जैनानां सर्वत्राप्यदुष्टत्वात्। पूर्वपक्षे रूपादिषु घटत्वं पर्याप्तमत्र

तु रूपादिप्रत्येकवृत्ति नाना तत्, कथञ्चित्सौ (स) सादृश्याच्चैकत्वव्यवहार इत्येतावान् विशेष इति सम्भावयामः ॥१४॥ यदि वा रूपादयोऽर्थान्तरभूता मतुवर्थो निजस्ताभ्यामादिष्टो घटोऽवक्तव्यः, विना कल्पनाशिल्पं भिन्नप्रतीतिविषये विशेषण-विशेष्यभावाभावात्, अनेकान्ते तु कथञ्चिद्वाच्यः ॥१५॥ अथवा बाह्योऽर्थान्तरभूत उपयोगस्तु निजस्ताभ्यामादिष्टोऽवक्तव्यः । य उपयोगः स घट इत्युक्तौ उपयोगमात्रस्य घटत्वप्रसक्तेः, यो घटः स उपयोग इत्युक्तावुपयोगस्यार्थत्वप्रसक्तेर्घटस्यावाच्यत्वात्, अनेकान्ते तु कथञ्चिद्वाच्यत्वे दोषाभावादिति दिग् ॥ १६ ॥ "भङ्गाः षोडश योगतर्कवदिमे भूयो विचारक्षमाः, साकल्येन च तैर्नियम्यत इदं भङ्गत्रयं वस्तुनि ॥ तेनैतान् सुधियो वदन्ति सकलादेशान् विवक्षावशा–देशस्थांश्चतुरः परांस्तु विकलादेशान्निदेशाद् गुरोः ॥ १ ॥ एतदन्यतरेणैव सप्तभङ्गैक्यमिष्यते ॥ शब्दसाम्येन नैकत्वं तत्त्वतः षोडशैव ताः ॥ २ ॥ इहार्थे कोटिशो भङ्गा निर्दिष्टा मल्लवादिना ॥ मूलसम्मतिटीकायामिदं दिग्मात्रदर्शनम् ॥ ३ ॥" एत एव सप्तभङ्गाः स्यात्पदलाञ्छनविरहिणोऽवधारणैकस्वभावा विषयाभावाद्दुर्नया भवन्ति । धर्मान्तरोपादानप्रतिषेधाकरणात्, स्वार्थमात्रप्रतिपादनपराः स्यात्पदमहिम्ना विवक्षितैकधर्मावधारणपरा वा सुनया इति विभागः । एवं निरवयववाक्यात्मकं भङ्गत्रयं प्रतिपाद्य सावयववाक्यरूपं चतुर्थं भङ्गं प्रतिपादयितुमाह—" अह देसो सब्भावे देसोऽसब्भावपज्जवे णियउ । तं दवियमत्थिणत्थिय आएसविसेसियं जह्मा ॥२॥" अथेति यदा देशो वस्तुनोऽवयवो धर्मो वा, सद्भावेऽस्तित्वे, नियतो विवक्षितः, देशश्चापरोऽसद्भावे नास्तित्वे, तदा तद्द्रव्यमस्ति च नास्ति चेति देशभेदद्वारेण वाच्यम् । अक्षिपाणिगतकाणकुंटत्वयोगात् काणकुंट इव देवदत्तः, तदाह–यस्माद्द्रव्यमादेशविशेषितम्

उभयप्रधानावयवाभेदेनार्पितं स्वाश्रयसमवायित्वरूपपरम्परासम्बन्धावच्छिन्नधर्मद्वयप्रकारतानिरूपितैकविशेष्यताकौपादानिकबोधेच्छाविषयीकृतमिति यावत्, यथाश्रुते घटपदस्य देशपरस्यावृत्त्या प्रकारताद्वयनिरूपितविशेष्यताद्वयशालिन एव बोधस्य जननादौपादानिकबोधपर्यन्तमनुधावनम्, एवमग्रेऽपि बोध्यम् ॥ उक्तन्यायेन पंचमभङ्गप्रदर्शनायाह–'सब्भावे आइट्ठो देसो, देसो य उभयहा जस्स। तं अत्थि अवत्तवं च होइ दवियं विअप्पवसा ॥३॥" सद्भावेऽस्तित्वे यस्य घटादेर्द्धर्मिणो देश आदिष्टो देशश्चापर उभयथाऽस्तित्वनास्तित्वप्रकाराभ्यामेकदैव विवक्षितः तद्द्रव्यमस्ति चावक्तव्यं च भवति, विकल्पवशादुक्तोभयधर्माक्रान्तदेशद्वारेण धर्मिणो विवक्षावशात्, तेन प्रथमतृतीयभङ्गसंयोगेनान्यथासिद्धिव्युदासः, केवलधर्मविवक्षाया देशाविशेषितद्रव्य एव सम्भवात्, देशद्वारा द्रव्ये उभयधर्मविवक्षाया एव युक्तत्वादिति बोध्यम् ॥ षष्ठं भङ्गं दर्शयितुमाह–'आइट्ठोसब्भावे देसो, देसो य उभयहा जस्स। तं णत्थि अवत्तवं च होइ दवियं विअप्पवसा ॥४॥' यस्य वस्तुनो देश एकोऽसत्त्वे नियतोऽपरश्च सत्त्वासत्त्वाभ्यां युगपदादिष्टस्तद्द्रव्यं तथा विकल्पवशान्नास्ति चावक्तव्यं च भवति, केवलद्वितीयतृतीयभङ्गव्युदासः प्राग्वद्भाव्यः॥ सप्तमं प्रदर्शयति–"सब्भावासब्भावे देसो, देसो य उभयहा जस्स। तं अत्थि णत्थि अवत्तव्वं च दवियं विअप्पवसा ॥ ५ ॥' यस्य देश एकः सद्भावेऽपरोऽसद्भावेऽन्यश्चोभयथा नियतस्तद्द्रव्यं तथा विकल्पवशादस्ति नास्त्यवक्तव्यं च भवति, विशिष्टविवक्षया केवलभङ्गत्रयव्युदासः ॥ न चात्राष्टमवचनविकल्पपरिकल्पनापि सम्भवदवतारा, तन्निमित्ताभावात्, सावयवात्मकस्य निरवयवात्मकस्य तन्निमित्तस्य चतुर्थादिषु प्रथमादिषु चान्तर्भावात्, गत्यन्तरस्य चासत्त्वात्, न चावक्तव्यत्ववद्वक्तव्यत्वेनाष्टमेन भवितव्यम्, सम्प्रति पक्षमौलभङ्गजिज्ञासामूलजिज्ञासाविषयत्वेनावक्तव्यत्वाश्रयणेऽपि तद्विपर्ययेण वक्तव्यत्वाना-

श्रयणात्, अत एवावक्तव्यत्वसप्तभङ्ग्यामपि मौलभङ्गद्वयोत्थापिताकाङ्क्षाविषयस्यावक्तव्यत्वस्यान्यस्यैव तृतीयभङ्गे प्रवेशान्न न्यूनत्वमिति वदन्ति, तेन व्यवस्थितः सप्तविधो वचनमार्गः॥ अत्र नयविभागप्रदर्शनार्थमाह–' एवं सत्तविअप्पो वयणपहो होइ अत्थपज्जाए। वंजणपज्जाए पुण सविअप्पो णिव्विअप्पो य ॥६॥' एवमुक्तप्रकारेण सप्तविकल्पः सप्तभेदो वचनपथः अर्थपर्यायेऽर्थनये सङ्ग्रहव्यवहारर्जुसूत्रलक्षणे भवति, तत्र प्रथमः सङ्ग्रहे सामान्यग्राहिणि, द्वितीयो व्यवहारे विशेषग्राहिणि, तृतीयपक्ष ऋजुसूत्रे सूक्ष्मवर्तमानक्षणग्राहिणि, एकदोभयार्पणाया वर्त्तमानक्षणनियतत्वात्, चतुर्थः सङ्ग्रहव्यवहारयोः, पञ्चमः सङ्ग्रहर्जुसूत्रयोः, षष्ठो व्यवहारर्जुसूत्रयोः, सप्तमः सङ्ग्रहव्यवहारर्जुसूत्रेषु ॥ व्यञ्जनपर्याये विषयिलक्षणया शब्दनये सविकल्पः साम्प्रताख्यभेदे, पर्यायशब्दवाच्यताविकल्पसद्भावात्, निर्विकल्पः समभिरूढैवंभूतयोः, तयोः पर्यायक्रियाभेदभिन्नार्थत्वात्, तथा च स्यादस्ति स्यान्नास्तीत्यत्र घटपदेन यावद्घटवाचकपदवाच्यत्वावच्छिन्नो धर्म्युपादेयः, तस्य फलतः प्रथमशब्दभेदे सत्त्वम्, द्वितीयतृतीययोश्चासत्त्वमिति भेदद्वयं सिद्ध्यति ' सविअप्पणिव्वियप्पं ' इत्यादि सिद्धसविकल्पकत्वनिर्विकल्पकत्वभङ्गद्वयोपादाने प्रकृतसप्तभङ्गीमुपक्रम्य धर्मान्तरसप्तभङ्गीसाधनेऽर्थान्तररूपनिग्रहस्थानप्रसङ्गादित्यस्माकमनेकान्तव्यवस्थादौ मनीषोन्मेषः। न च यथोक्तव्याख्यानेऽपि धर्मितावच्छेदकभेदात् सप्तभङ्गीभेदप्रसङ्ग आवश्यकः, एकत्र धर्मिणीत्यस्यैकधर्मितावच्छेदकावच्छिन्न इत्येवार्थादिति शङ्कनीयम्, तद्धर्मितावच्छेदकसमनियतधर्मावच्छिन्नविशेष्यतास्थले सप्तभङ्गीभेदाभावात्, अन्यथा कम्बुग्रीवादिमान् स्यादस्तीत्यादावपि घटविशेष्यकसप्तभङ्गीभेदापत्तेरिति विभावनीयं सूरिभिः। साम्प्रतसमभिरूढैवंभूतान्यतमविषययोर्युगपत् जिज्ञासायां तृतीयः, प्रथमद्वितीयसंयोगे चतुर्थः, प्रथमद्वितीय-

चतुर्थेष्वनभिधेयसंयोजनया पञ्चमषष्ठसप्तमाः । यद्वा अस्या गाथाया भिन्नस्तात्पर्यार्थो वृत्तिकृद्भिरुद्भावितः, तथाहि— अर्थनय एव सप्तभङ्गाः, शब्दादिषु तु त्रिषु नयेषु प्रथमद्वितीयावेव भङ्गौ, वक्त्रभिप्रायो हि सङ्ग्रहादिरर्थप्रधानोऽर्थनयः, परार्थशब्दश्रवणोद्गतः शब्दादिश्रोत्रभिप्रायश्च शब्दप्रधानार्थोपसर्जनत्वात् शब्दनयः। तत्र शब्दसमभिरूढापेक्षया सविकल्पको वचनपथः, संज्ञाक्रियाभेदेनाभिन्नार्थप्रतिपादकत्वेऽपि भेदजिज्ञासारूपविकल्पसाहित्यात्, एवंभूतस्तु क्रियाभेदाद्भिन्नमेवार्थं तत्क्षणे स्थापयतीति निर्विकल्पकः, तदुत्तरं भेदजिज्ञासारूपविकल्पविरहादिति भङ्गद्वयमेवावतिष्ठते, अवक्तव्यत्वभङ्गस्तु व्यञ्जननये न सम्भवत्येव, तस्यार्थप्रतिपत्तुः शब्दश्रवणोद्गताभिप्रायविशेषत्वात्, अवक्तव्यत्वस्य तु शब्दाभावविषयत्वादिति। अत्र यद्यपि शब्दानुपलब्धिगम्यस्याप्यवक्तव्यत्वस्यानुमानादिगम्यार्थस्येव प्रमाणसम्प्लववादिनां शब्दप्रमाणविषयत्वं नायुक्तिमत्, व्यञ्जनपर्याये सप्तभङ्ग्यभावे च तस्या व्यापकत्वप्रवादस्याप्रामाणिकत्वापत्तिः, तथापि वक्तव्यत्वरूपे व्यञ्जनपर्याये प्रतिपक्षेणावक्तव्यत्वेन सह भङ्गद्वयमेव भवति, अवक्तव्यत्वोपाधीनां बुद्धिविशेषानुगतानां यावतामेव स्यात्पदेनोपस्थितिसम्भवे तृतीयभङ्गस्यानतिप्रयोजनत्वात्, सप्तभङ्ग्या व्यापकत्वप्रवादस्यार्थपर्यायमादायैवोपपत्तेः, एवमवक्तव्यत्वसप्तभङ्ग्यामपि तृतीयभङ्गस्य प्रथमभङ्गे प्रवेशाद् भङ्गद्वयपरिशेषो व्याख्येयः, तस्यापि व्यञ्जनपर्यायत्वात्, व्यञ्जनपर्यायशब्देन व्यञ्जनपर्यायनिष्ठप्रतियोग्यनुयोगिभावसम्बन्धाश्रयस्यैव ग्रहणात्, न च भङ्गद्वये स्याद्वादहानिः, सप्तभङ्ग्या एव स्याद्वादत्वादिति शङ्कनीयम्, को जीव इत्यादिप्रश्ने स्यादौपशमिकादिभावयुक्तो जीव इत्याद्येकभङ्गोत्तरेऽपि स्यात्कारलाञ्छनतया स्याद्वादत्वस्य मलयगिरिप्रभृतिभिरभियुक्तैः समर्थितत्वात्, उत्थाप्याकाङ्क्षया यथाकथञ्चित्सप्तभङ्ग्यवतारस्य सुलभतायाश्चस्माभिर्नयोपदेशादौ प्रद-

शितत्वादिति युक्तं पश्यामः। एतेन—"इच्छइ विसेसियतरं पच्चुप्पण्णं णओ सद्दो" इतिनिर्युक्तिप्रतीके ऋजुसूत्राद्विशेषिततरत्वं शब्दस्य सप्तभङ्ग्याक्रान्ततया यन्महाभाष्यादावुपदर्शितं तदविरुद्धमित्युक्तं भवति, वक्तव्यत्वातिरिक्तस्थले तत्सावकाशताया न्याय्यत्वाच्छब्दावच्छिन्नार्थग्राहित्वेन च शब्दनयस्यार्थनयत्वानापत्तेरिति भावनीयम् ॥१॥ यद्वा व्यञ्जनपर्याये व्यञ्जनपर्यायग्राहिणि शुद्धशब्दनये एवंभूताख्ये देशप्रदेशकल्पनारहिताखण्डवस्त्वभ्युपगमपरे देशाश्रितोत्तरभङ्गचतुष्टयायोगादाद्येषु त्रिष्ववस्थितेषु एकसम्बन्धिज्ञानेऽपरसम्बन्धिस्मरणमिति न्यायेन पदज्ञानोपस्थितानामर्थानामिवार्थज्ञानोपस्थितानां पदानामपि शाब्दबोधप्रवेशध्रौव्येऽवक्तव्यत्वभङ्गस्य मूलत एव लोपात् सविकल्पो व्यतिरेकसहितो निर्विकल्पश्च तद्रहितो वचनमार्ग इत्येवमाद्यभङ्गद्वयमेवावशिष्यत इति व्याख्येयम् ॥२॥ यद्वा व्यञ्जनपर्याये विशेषापेक्षया स्थूलव्यञ्जनपर्यायग्राहिणि व्यवहारकृतभेदसङ्कोचपरे सङ्ग्रहनये सविकल्पो निर्विकल्पश्चेत्याद्यभङ्गद्वयात्मक एव वचनमार्गः, यैरुपाधिभिरवक्तव्यं तैरसत्त्वस्यैवाश्रयणात्, इत्थमेव विरुद्धघटत्वपटत्वाभ्यामभावस्य केवलान्वयित्वप्रवादोपपत्तेः, तथा जिज्ञापयिषया गुरोरपि शिष्यं प्रति तृतीयभङ्गस्थाने द्वितीयभङ्गस्यैव प्रयोगार्हत्वात्, आद्यभङ्गे सामान्यबुबोधयिषारूपतया भङ्गद्वय एव वाक्यपर्याप्तौ च संजिघृक्षारूपतया वक्त्रभिप्रायात्मकसङ्ग्रहव्यापारद्वैविध्योपपत्तेर्महावाक्यावान्तरवाक्यरूपनिमित्तभेदात्, देशाश्रिता भङ्गा अपि चात्र देशिनिष्ठतया संग्राह्याः, अन्यथैकवचनबहुवचनादिनाऽऽधिक्यापत्तेरिति सर्वमनवद्यम् ॥ ३ ॥ "मतद्वयेऽपि व्याख्यातां, सप्तभङ्गीमिमां मया। बुधाः! सुधावदास्वाद्य, सन्तु सौहित्यशालिनः ॥ १ ॥ अमुष्मिन्नेतावत्यखिलनयसम्मर्दगहने, महातर्के कस्य प्रभवति परिच्छेदधिषणा ॥ तथाप्यन्तः श्रीमन्नयविजयविज्ञांह्रिभजने, न भग्ना

भक्तिश्चेत्कथय किमसाध्यं मम सखे ! ॥ २ ॥” ॥ सप्तभङ्गीविमर्शः पूर्णः ॥

नन्वस्तित्वमेव वस्तुनः स्वरूप, न पुनर्नास्तित्वं, तस्य पररूपाश्रयत्वादन्यथातिप्रसङ्गादिति वदन्तं वादिन प्रत्याहुराचार्याः ।

अस्तित्वं प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि । विशेषणत्वात्साधर्म्यं यथा भेदविवक्षया ॥ १७ ॥

एको धर्मी जीवादिः । तत्रास्तित्वं नास्तित्वेन प्रतिषेध्येनाविनाभावि, न पुनर्भिन्नाधिकरणम्, विशेषणत्वात् । यथा हेतौ साधर्म्यं वैधर्म्येण भेदविवक्षया सर्वेषां हेतुवादिनां कचिदनुमानप्रयोगे प्रसिद्धम् । सर्वस्य नित्यत्वानित्यत्वादिसाधने हेतौ साधर्म्यस्य व्यतिरेकाविनाभाविनोऽसंभवादयुक्तमुदाहरणमिति चेत्, न, तत्रापि तदुभयसद्भावात् । तथा हि । सर्वमित्थमनित्थं वेति प्रतिज्ञायाऽभिप्रेत्य वा प्रमेयत्वादिहेतूपादानेपि व्यतिरेकोस्त्येव, प्रमेयत्वस्य वस्तुधर्मत्वात् । परिणामी जीवः शब्दादिर्वा नापरिणामीति वा, सर्वं चेतनमचेतनं वा, विवादापन्नमित्थमनित्थं वा प्रतिज्ञाप्रयोगवादी प्रतिपाद्यनुरोधतः प्रतिज्ञाय, सौगतप्रतिपाद्याशयतोभिप्रेत्य वा प्रमेयत्वात् सत्त्वाद्वस्तुत्वादर्थक्रियाकारित्वादित्यादिहेतूनामुपादानेपि वादिप्रतिवादिप्रसिद्धेऽर्थेऽन्वयवत्खपुष्पादौ साध्यधर्मनिवृत्तौ साधनधर्मनिवृत्तिलक्षणो व्यतिरेकोस्त्येव । खपुष्पादयोपि तत्र व्यवहारमिच्छता प्रमेयाः प्रतिपत्तव्या इति न किञ्चित्प्रमाणम्, प्रमेयाभावस्यापि तथाभावानुषङ्गेणाव्यवस्थाप्रसङ्गात् । न चैतद्विरुद्धम्, स्वलक्षणमनिर्देश्यमित्यादिवत् । न हि स्वलक्षणस्यानिर्देश्यस्याप्यनिर्देश्यशब्देन निर्देशो विरोधोस्ति । नापि प्रत्यक्षं कल्पनापोढमपि कल्पनापोढत्वेन कल्पयतः किञ्चिद्विरुध्यते, सर्वथा तद्व्यवहारापह्नवप्रसङ्गात् । तथैव खपुष्पादयोऽप्रमेया इति व्यवहरतोपि न तेषामप्रमेयत्वं विरुध्यते, सत्यमितौ प्रमाणाभावात्प्रमेयाभाववत् । तदभावेपि खपुष्पादीनां प्रमेयत्वे प्रमेयाभावस्यापि प्रमेयत्वप्रसङ्गः । तथा च प्रमेयाप्रमेयव्यवस्था कथमास्थीयेत ? एतेन खपुष्पादयः प्रमेयाः शब्दविकल्पविषयत्वा-

द्घटादिवदित्यनुमानं प्रत्युक्तम्, हेतोः प्रमेयाभावेन व्यभिचारात्। प्रत्यक्षानुमानाभ्यां प्रमीयमाणत्वात्प्रमेयाः खपुष्पादय इति चेत्, न, असिद्धत्वात्साधनस्य। तथा हि। ते न प्रत्यक्षेण प्रमीयमाणाः, तत्र स्वाकारानर्पकत्वात्। नाप्यनुमानेन, स्वभावकार्यप्रतिबन्धाभावात्। स्वभावेन केनचित्तेषां प्रतिबन्धे निस्स्वभावत्वविरोधात्, कार्येण च प्रतिबन्धेऽनर्थक्रियाकारित्वव्याघातात् सन्तः खपुष्पादयो व्यवह्रियेरन्। दर्शने स्वाकारमनर्पयता स्वभावकार्यप्रतिबन्धाभावे प्रमेयत्व प्रमाणान्तरमवश्यमाकर्षति। ततो विप्रतिपिद्धमेतत् खपुष्पादीनां प्रमेयत्वम्, प्रमाणद्वयनियमविरोधात्। न च प्रमाणान्तरेणापि प्रमीयमाणास्ते, प्रमाणविपयत्वधर्मस्यानाश्रयत्वात्। अन्यथा वस्तुत्वापत्तेः सदसद्व्यवस्थानुपपत्तेस्तद्व्यवहाराभावः। न च स्वलक्षणमेवान्यापोहः, सर्वथा विधिनियमयोरेकतानत्वासंभवात्। पुष्परहितं खमेव खे पुष्पाभावः, शशादय एव च विपाणरहिताः शशादिपु विपाणाभाव इत्येकविषयौ खशशादितत्पुष्पविषाणविधिनियमौ सम्भवत एवेति चेत्, न, गगनशशादीनां भावाभावस्वभावभेदाद्विधिनियमोपलब्धेश्च, अन्यथानुभवाभावात्। शब्दविकल्पविशेषात्संकेतविशेषापेक्षादेकत्र विपये विधिनियमयोः संभव इति चेत्, न, संकेतविशेषस्य वस्तुस्वभावविशेषनिबन्धनत्वात्। तत्स्वभावभेदाभावे च संकेतविशेषानुपपत्तेरभिधानप्रत्ययविशेषोपि मा भूत्तदन्यतरवत्। नन्वनिन्द्रभावेपि पदार्थे व्यवहर्तृसंकेतविशेषादिन्द्राभिधानप्रत्ययविशेषदर्शनान्न वस्तुस्वभावभेदनिबन्धनः संकेतविशेषः सिद्धो, यतो वस्तुस्वभावभेदाभावे संकेतविशेषानुपपत्तिः, ततोभिधानप्रत्ययविशेषश्च न स्यात्, खमस्ति, तत्पुष्पं नास्तीति, तस्यानादिवासनोद्भूतविकल्पपरिनिष्ठितत्वात्, इति कश्चित्, सोप्यननुभूतवस्तुस्वभावः, शब्दस्य सर्वार्थप्रतिपादनशक्तिवैचित्र्यसिद्धेः, पदार्थस्य च सर्वस्य सर्वशब्दवाच्यत्वशक्तिनानात्वात् प्रधानगुणभावादभिधानव्यवहारप्रसिद्धेः। क्वचित्पदार्थेऽनिन्द्रस्वभावेपीन्द्रशब्दवाच्यत्वशक्तिसद्भावाद्व्यवहर्तृसंकेतविशेषादिन्द्राभिधानप्रत्ययविशेषसिद्धेर्वस्तुस्वभावभेदनिबन्धन एव संकेत-

विशेष इति न तद्भावे भवितुमुत्सहते, यतः प्रत्ययविशेषः स्यात् । कथमन्यथा खपुष्पवत्खेपि नास्तीति प्रत्ययो न भवेत् ? खवद्वा खपुष्पेप्यस्तीति प्रत्यय॰ कुतो न स्यात् ? तयोरन्यतरत्रोभावपि प्रत्ययौ कुतो न स्याताम् ? सकेतविशेषस्य सर्वथा वस्तुस्वभावभेदानपेक्षस्य सभवात् । प्रतिनियतश्च विधिनियमप्रत्ययविशेषः सकलबाधकविकलः सलक्ष्यते । ततो यावन्ति पररूपाणि प्रत्येकं तावन्तस्ततः परावृत्तिलक्षणाः स्वभावभेदाः प्रतिक्षणं प्रत्येतव्याः, स्वलक्षणमेवान्यापोह इति व्यवस्थापयितुमशक्तेः, तस्य सबन्ध्यन्तरापेक्षत्वात् । न च संबन्ध्यन्तराणि स्वलक्षणस्य स्वरूपभूतान्येव, तेषा पररूपत्वात्, अन्यथा तत परावृत्तेरनुपपत्तेः । पररूपाण्यपि यदि सबन्ध्यन्तराणि भावस्वभावभेदकानि न स्युस्तदा नित्यत्वेपि कस्यचित्सबन्ध्यन्तरेषु कादाचित्केषु क्रमशोर्थक्रिया न वै विप्रतिपिध्येत । शक्यं हि वक्तुम्, क्रमवर्तीनि कारणानि तत्तन्निर्वर्तनात्मकानीति नित्यं स्वभावं न वै जहाति क्षणिकसामग्रीसन्निपतितैकतमवत् । तदेतत्तदा तत्तत्कर्तुं समर्थमेक स्वभावमविचलित बिभ्राण सहकारिकारणानि स्वभावस्याभेदकानि नानाकार्यनिबन्धनानि कादाचित्कानि प्रतीक्षन्ते इति । न चैवंवचने विषममुदाहरणम्, क्षित्युदकबीजातपादिसामग्र्यामन्त्यक्षणप्राप्ताया सन्निपतितस्यैकतमस्य कारणस्य शेषेषु कारणेषु यवाङ्कुरादिकार्यनिर्वर्तनात्मकेषु सत्स्वपि स्वभावभेदस्य क्षणिकवादिनः सिद्धत्वात् । तदिमेऽर्थां विधिप्रतिषेधाभ्यां सप्रतिबद्धा न प्रतिबन्धमतिवर्तन्ते वस्तुत एव । ततो न सवृतिस्तद्व्यवहाराय भेदमावृत्त्य तिष्ठतीति युक्तम्, विधिप्रतिषेधसबन्धशून्यस्य भेदस्य स्वलक्षणलक्षणस्य साक्षादध्यक्षतोनुपलक्षणात्, तथानुमानादप्यप्रतिपत्तेर्विधेः प्रतिषेधस्य चापह्नवे व्यवहाराघटनात्, सवृतेस्तमावृत्त्य स्थितिविरोधात्, परमार्थत एव भावस्यानेकस्वभावस्य प्रतीतेः । तदनेकस्वभावाभावे विनिर्भासा(स)संभवादात्मनि परत्र चासंभविनमाकारमादर्शयतीति मुग्धायते सर्वत्रासहायरूपानुपलब्धेः । जातुचिन्निरंशरूपोपलब्धौ हि नानारूपोपलब्धिः सवृतिरात्मनि

परस्मिंश्चाविद्यमानमाकारं दर्शयतीति युक्तं वक्तुम्, नान्यथा, अतिप्रसङ्गात्। यदि पुनरनाद्यविद्योदयादखिलजनस्यासहायरूपानुपलब्धिजनिततैमिरिकस्यैकचन्द्रानुपलब्धिवदिति मतम्, तदा "गुणानां सुमहद्रूपं न दृष्टिपथमृच्छति। यत्तु (च) दृष्टिपथप्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम् ॥१॥ सर्वं पुरुष एवेदं नेह नानास्ति किञ्चन। आरामं तस्य पश्यन्ति न तं कश्चन पश्यति ॥ २ ॥" इत्यपि किन्न स्यात्? सर्वथाप्यविशेषात्। तदियं संवृतिः सामान्यसामानाधिकरण्यविशेषणविशेष्यभावादिव्यवहारनिर्भासान्विभ्रती स्वयमनेकरूपतां प्रतिक्षिपन्तं व्यवस्थापयति, तामन्तरेण सामान्यादिव्यवहारनिर्भाससंवृत्त्यनुपपत्ते, तद्वद्भावान्तराणामनेकान्तात्मकत्वे वास्तवी साधर्म्यवैधर्म्यादिस्थितिरविशेषेण विकल्पबुद्धेर्मिथ्यात्वं प्रतिजानन्तं प्रतिक्षिपत्येव, संवृतेः स्वरूपेऽनेकान्तात्मकत्वं, न तु ततोन्येषां भावानामिति विभावयितुमशक्तेः। ततो न स्वलक्षणमेवान्यापोहः संभवति येन खपुष्पादयः प्रमेयाः स्यु। यत्पुनरेतदन्यतो व्यावृत्तिरनात्मिकैवेति, तन्न, चक्षुरादिज्ञानस्य निर्व्यवसायात्मकस्य स्वयमभूताविशेषात्, निर्णयस्य भावस्वभावासस्पर्शिनः सर्वथा वस्तुतत्त्वापरिच्छेदादिदमित्थमेवेति स्वयमेकान्तानुपपत्तेः। सोयं चक्षुरादिज्ञानाद्वस्तुतत्त्वमध्यवस्यन्सकलविकल्पाध्यवसेयामन्यव्यावृत्तिं सर्वथानात्मिकामाचक्षाणः कथमिदमेव वस्तुतत्त्वमित्थमेवेति वा स्वयं प्रतिपद्येतान्यं वा प्रतिपादयेदिति सविस्मयं नश्चेत.। अतोय भावः स्वभावभेदान्विधिप्रतिषेधविषयान्विभ्राणः प्रत्यक्षेतरप्रमाणसमधिगतलक्षणः प्रतीयेत प्रमेयः, खपुष्पादयस्त्वप्रमेया इति प्रमेयत्वादिहेतावपि व्यतिरेको विद्यते एव। सर्वस्य परिणामित्वादौ साध्ये सपक्षेऽन्वयो न सभवत्येवेति चेत्, न, अन्तर्व्याप्तिलक्षणस्य तथोपपत्तिरूपस्यान्वयस्य सद्भावादन्यथानुपपत्तिरूपव्यतिरेकवत्। न हि दृष्टान्तधर्मिण्येव साधर्म्यं वैधर्म्यं वा हेतोः प्रतिपत्तव्यमिति नियमो युक्तः, सर्वस्य क्षणिकत्वादिसाधने सत्त्वादेरहेतुत्वप्रसङ्गात्। यतश्चैव सर्वत्र हेतौ साधर्म्यं वैधर्म्येणाविनाभावि प्रसिद्धमुदाहरणं तस्माद्यद्विशेषणं तत्प्रतिषेध्याविनाभावि

क्वचिद्धर्मिणि, यथा साधर्म्यं भेदविवक्षया कृतकत्वादौ, विशेषणं चास्तित्वं, ततः प्रतिषेध्यधर्मप्रतिबन्धि इत्यनुमानमनवद्यमवतिष्ठते, हेतोरसिद्धताद्यनुपपत्तेः, साध्यसाधनधर्मवैकल्याभावाच्च निदर्शनस्य, प्रत्यक्षादिविरोधाभावाच्च पक्षस्येति प्रतिपत्तव्यम् ॥ १७ ॥

अथ प्रकृतं–'अस्तित्वमिति' (२१३-१-३) अस्तित्वं प्रतिषेध्येन नास्तित्वेन, एकधर्मिण्यविनाभावीति साध्यम्, एककालेऽविनाभावेन सिद्धसाधनवारणार्थमेकधर्मिणीति, विशेषणत्वादिति (३) हेतुः। अस्तित्वनास्तित्वोभयघटितधर्मिविशेषणत्वादित्यर्थः। अन्यथा नीलादावुत्पलादिविशेषणे चैतन्ये च जीवविशेषणेऽनीलाचैतन्याविनाभावस्य धर्मिण्यप्रसिद्ध्या लोकदृष्ट्या व्यभिचारस्य स्पष्टत्वात्पररूपेण तदविनाभावस्य च साध्यसमत्वादिति द्रष्टव्यम्। यत् स्वस्वेतरयदुभयघटितयद्धर्मिविशेषणं तत्तत्र तेनाविनाभावि, यथान्वयव्यतिरेकव्याप्तिद्वयघटितव्याप्यविशेषणमन्वयव्याप्तिरूपं साधर्म्यं व्यतिरेकव्याप्तिरूपवैधर्म्येणाविनाभावीति, दृष्टान्तप्रदर्शनम्, भेदविवक्षयेति साधर्म्योपन्यासनियमार्थम्, बहिर्व्याप्तिरूपभेदविवक्षया हि साधर्म्यमुपन्यस्यते, अन्तर्व्याप्तिरूपाभेदविवक्षया तु वैधर्म्यमिति, भाष्ये व्यतिरेकोऽस्त्येवेति (२१३–१–७) तथा चैतन्नये केवलान्वयी नास्त्येवेति भावः। 'तथैवेति' (१२) अप्रमेयत्वव्यवहारस्य प्रमाणजन्यज्ञानविषयत्वरूपप्रमेयत्वासाधकत्वादेवेत्यर्थः, न च व्यवहारेण ज्ञेयत्वसिद्धौ प्रमेयत्वसिद्धिर्ध्रौव्यम्, एतन्नये ज्ञेयत्वस्य प्रमेयत्वाव्याप्यत्वात्। अनादिविपरीतवासनाजन्यविकल्पविषये व्यभिचारादिति, सन्तः खपुष्पादयो व्यवह्रियेरन्निति (२१३–२–३) खपुष्पादिषु सत्त्वव्यवहारः प्रसज्येतेति भावः। विप्रतिषिद्धमेतदिति (४) भाष्यप्रतीके किमित्याकाङ्क्षायामाह वृत्तिकृत् खपुष्पादीनां प्रमेयत्वमिति(४) खपुष्पं प्रमेयं चेति वचनं परस्परविरुद्धमित्यर्थः। कस्मादित्याह–प्रमाणद्वयनियमविरोधादिति (५) तर्हि प्रमाणान्तरेण तेषु प्रमेयत्वं

सेत्स्यतीत्याशङ्कायामाह–'न चेत्यादि' (५) न चात्यन्तासत्यपीत्यादिश्रीहर्षोक्तरीत्या खपुष्पादावसत्त्वादिना शाब्दप्रमाविषयत्वाविरोधः, अवस्तुनि तत्सम्बन्धायोगात्, खपुष्पममदित्यादेर्वाक्याद्वैज्ञानिकसम्बन्धेन कथञ्चिद्विशिष्टे वैशिष्ट्यमिति रीत्या बोधोपपत्तावपि तस्याश्रयाश्रयिभावसम्बन्धेन भ्रमत्वध्रौव्यात्, भ्रमस्य च वस्त्वसाधकत्वात्, वस्तुतः खवृत्तित्वाभाववत् पुष्पमित्येव तत्तात्पर्यादिति भावः। आकाशाद्यात्मकस्वलक्षणं खपुष्पाद्यभाव इति न प्रतियोगिनः प्रमेयत्वव्याघात इति सौगतमतमाशङ्कते–'न च स्वलक्षणमेवेत्यादि' (२१३–२–६)॥ एकतानत्वासम्भवादेकाश्रयत्वासम्भवात्, तथा चास्य विकल्पस्य पारम्पर्येणापि स्वलक्षणाविषयत्वान्न प्रामाण्यं प्रमाञ्च न वस्तुसिद्धिरित्युक्तं भवति, विधिनियमौ भावाभावौ, खमस्ति तत्पुष्पं च नास्तीति (१२) निषेध्यप्रत्ययविशेषाकारप्रदर्शनम् 'तस्यानादीत्यादि' (१२) अनेन वस्तुस्वभावभेदनिबन्धनत्वनिषेधो दृढीकृतः। प्रधानगुणभावादिति (२१३–२–३) इन्द्रशब्दस्येन्द्रे प्रधानभावेन प्रवृत्तिरनिन्द्रे च गुणभावेनेत्यर्थः। न चैवं सर्वत्र नानार्थत्वापत्तिः, इष्टत्वाद्, व्यवहारविशेषस्य च कोशादिनियन्त्रितत्वेनानतिप्रसङ्गात्, अत एव न लक्षणोच्छेदः, कोशादिनियन्त्रितशक्त्यभावे तदवकाशस्याविरुद्धत्वादिति द्रष्टव्यम्॥ पररूपाणीति (२१४–१–३) परत्वापादकानीत्यर्थः। तेन पररूपावच्छिन्नाभाववद्व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावा अपि सङ्गृहीता भवन्ति। स्वभावभेदा (४) इति भाववदभावस्य स्वभावत्वात्तस्य च प्रतियोगितावच्छेदकरूपसम्बन्धादिभेदेन भिन्नत्वादित्यर्थः, यत्तु पररूपावच्छिन्नाभावो व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नाभावेनैव गतार्थ इति भवदेवमतम्, तद्गतार्थमेव, विनिगमकाभावात्प्रतीतिशरणप्रथमकल्पनाया उभयत्र तौल्यात्, भूतले घटत्वेन पटो नास्ति न तु घट इत्यस्यायोग्यतापत्तेश्च, घटवत्यपि घटत्वसम्बन्धेन तदभावाक्षतेरि-

त्यधिकं लतायाम् । अधिकरणस्वरूपाभावैकान्तवादं सौगतस्य निरस्यति–'स्वलक्षणमेवेत्यादि' (४) तस्यान्यापोहस्य, सम्बन्ध्यन्तरापेक्षत्वात् (४) सम्बन्ध्यन्तरनिरूपणाधीननिरूपणत्वात्, तथा च सापेक्षनिरपेक्षत्वाभ्यां भेद आवश्यक इति भावः । सम्बन्ध्यन्तराणां वस्तुस्वभावाभेदकत्वे क्षणिकत्वसाधकमूलयुक्तिविरोध इत्याह–यदीत्यादिना (५) कारणानि (७) सहकारिकारणानि, तत्तन्निवर्त्तनात्मकानि (७) तत्तत्कार्योत्पादनस्वभावानि, इष्टापत्तिमाशङ्क्याह–'न चैवमिति' (९) अविषममित्यकारप्रश्लेपेण व्याख्येयम् 'स्वभावभेदस्येति' (१०) कुशूलनिहितबीजादंकुरोन्मुखबीजस्य क्षणिकत्वादिना भेदाभ्युपगमादित्यर्थः। प्रतिबन्धमविनाभावं, वस्तुतः (११) परमार्थतः, भेदं (११) स्वलक्षणं निरंशम्, तं (२१४-१-१३) स्वलक्षणाख्यं भेदम्, तदनेकस्वभावाभावे (१३) तस्य वस्तुनोऽनेकस्वभावानभ्युपगमे, विनिर्भाससम्भवात् (१३) सम्भवद्विनिर्भासबलात्, आत्मनि परत्र च (१३) विधौ प्रतिषेधे च, आदर्शयति (१४) संवृतिरिति शेषः। मुग्धायते (१४) इन्द्रजालायते, 'गुणानामिति' (२१४-२-२) गुणानां सत्त्वरजस्तमसाम्, सुमहद्व्यापकं साम्यावस्थाख्यम्, रूपं न दृष्टिपथमृच्छति, (२) न दर्शनकर्मी भवति, तद्व्याप्तचक्षुर्वृत्त्ययोगात्, यच्च दृष्टिपथप्राप्तं (२) ग्रामारामादि, तद्विकारित्वान्मायेवेन्द्रजालमिव, सुतुच्छकं बाढं मिथ्येति सांख्यमते व्याख्यानम्, वेदान्तिमते तु गुणानां नामरूपाख्यानाम्, सुमहत् सर्वाधिष्ठानत्वेन महत्तरम्, रूपमस्तित्वभासमानत्वप्रियत्वोपलक्षितमखण्डं ब्रह्म, न दृश्यतामायाति, वृत्तिव्याप्यत्वेऽपि तस्य फलाव्याप्यत्वादिति व्याख्येयं पूर्वार्द्धम्, उत्तरार्द्धं प्राग्वत् । आरामं (२१४-२-३) भेदप्रपञ्चम्, तम् (३) अखण्डं पुरुषम्, व्यवहारनिर्भासान् (४) व्यवहारनियामकान् भेदान्, व्यवस्थापयति (५) विरुद्धत्वेनावस्थापयति निराकरोतीत्यर्थः,

तामन्तरेण (५) अनेकरूपतां विना, सामान्यादिव्यवहारनिर्भासभृतः संवृतेरनुपपत्तेरिति योजनीयम् । संवृतेश्चानेकात्मकत्वेऽभ्युपगते तद्दृष्टान्तेन भावानां तदनिवारितमेवेत्याह-तद्वदिति (५)॥ अशक्तेरिति, (७) अर्थक्रियाकारित्वे संवृतेर्मिथ्यात्वेनानेकस्वभावापर्यनुयोज्यताया दुर्वचत्वादिति भावः। प्रमेयाः स्युः (७) इत्यनन्तरमभावत्वेनेति शेषः। एतदन्यतः (७) एतस्मादन्यतः, निर्व्यवसायात्मकस्येति (८) अतद्व्यावृत्त्यनवगाहितयाऽव्यवसायात्मन इत्यर्थः। निर्णयस्य (८) दर्शनोत्तरभाविनो विकल्पस्य ॥१७॥

भवतु तावदस्तित्वं जीवादौ नास्तित्वेनाविनाभावि । नास्तित्व तु कथमस्तित्वाविनाभावि, खपुष्पादौ कथंचिदप्यस्तित्वासंभवादिति मन्यमानान्प्रत्याहुः ।

नास्तित्वं प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि । विशेषणत्वाद्वैधर्म्यं यथाऽभेदविवक्षया ॥ १८ ॥

कृतकत्वादौ हेतौ शब्दानित्यत्वादौ साधने सधर्मणा साधर्म्येणाविनाभाविविशेषणं निपक्षे वैधर्म्यमुदाहरणं प्रसिद्धं तावत्तज्जीवादावेकधर्मिणि पररूपादिभिर्नास्तित्वं स्वरूपादिभिरस्तित्वेनाविनाभावि साधयत्येव, विशेषणत्वसाधनस्यानवद्यत्वात्, पक्षीकृते नास्तित्वे विशेषणत्वस्य भावादस्तित्ववत्, विपक्षे च स्वप्रतिषेध्याविनाभावरहिते क्वचिदप्यभावात्, तथा तस्य विशेषणत्वानुपपत्तेरित्यसिद्धविरुद्धानैकान्तिकत्वदोपाभावात्, दृष्टान्तस्य च साध्यसाधनवैकल्यादिदोपासंभवात्, साधर्म्यस्येव हेतौ भेदविवक्षया, वैधर्म्यस्याभेदविवक्षयाऽविनाभावित्वनिश्चयात्, तत्र भेदविवक्षावदभेदविवक्षायाः परमार्थसद्वस्तुनिबन्धनत्वात् । भेदाभेदविवक्षयोरवस्तुनिबन्धनत्वे विपर्यासोपि किं न स्यात् ? शब्दानित्यत्वसाधने कृतकत्वादिहेतौ घटादिभिर्भेदविवक्षा गगनादिभिरभेदविवक्षा हि विपर्यासः। स च

परैर्नेष्यते एव । तदिष्टौ शब्दनित्यत्वसाधनाद्धेतोर्विपर्यासः स्यात्, विरुद्धत्वोपपत्तेः । सोय कृतकत्वादेः साधनस्याविरुद्धत्वमुपयँस्तत्र भेदाभेदविवक्षयोर्विपक्षेतरापेक्षयोर्वस्तुनिबन्धनत्वमुपगन्तुमर्हति । ततः समञ्जसमेतत्, यत्किञ्चिद्विशेषण तत्सर्वमेकत्र प्रतिपक्षधर्माविनाभावि, यथा वैधर्म्यमभेदविवक्षया हेतौ, तथा च नास्तित्वं विशेषणमित्यनुमानम्, साध्यसद्भावे एव साधनस्य सद्भावनिश्चयात्, अन्यथा व्यवहारसकरप्रसङ्गात्, करभत्वस्य करभवद्दध्न्यपि सद्भावानुषङ्गात्, दधित्वस्य च दध्नीव करभेपि प्रसक्तेः । दधि खादेति चोदितः करभमभिधावेत्, करभवद्वा दध्न्यपि नाभिधावेत्, अदधित्वस्याकरभत्वस्य च कचिदप्यभावात्। इति प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणो व्यवहारः सकीर्येत, सर्वस्य सर्वथा सद्भावात्। यदि पुनर्दधनि स्वरूपेण दधित्व, न करभरूपेण, करभे च स्वरूपेण करभत्वं, न दधिरूपेण, यतः प्रवृत्त्यादिव्यवहारसकरः प्रसज्येतेति मतम्, तदा सिद्धं दधित्वमदधित्वेन प्रतिषेध्येनाविनाभावि, करभत्वं चाकरभत्वाविनाभावि, तद्वत्तत्सर्वं विशेषणं स्वप्रतिषेध्येनाविनाभावि इति सिद्धान्यथानुपपत्तिः, विपक्षे बाधकसद्भावात् । न हि स्वेच्छाप्रकल्पतधर्मधर्मिव्यवस्थायां परमार्थावतारः स्यात्, यतः सर्व एवायमनुमानानुमेयव्यवहारो बुद्ध्यारूढेन धर्मधर्मिन्यायेन बहि. सदसत्त्वमपेक्षते इति युक्तं भवेत् । तदसमीक्षिततत्त्वार्थैर्लोकप्रतीतिवशाद्भेदाभेदव्यवस्थितिस्तत्त्वप्रतिपत्तये समाश्रीयते इति बालाभिलापकल्पम्, भावस्वभावोपरोधात्सर्वत्र भेदाभेदव्यवस्थितेः, अन्यथा ततस्तत्त्वप्रतिपत्तेरयोगात् ।

नास्तित्वमित्यादिकारिका (२१६-२-८) प्राग्वद्व्याख्येया, **अभेदविवक्षया** (८) अन्वयविवक्षया, व्यतिरेकव्याप्तिर्यथैकत्रान्वयव्याप्त्यविनाभाविनी तथा नास्तित्वमस्तित्वेनेत्यर्थः । **विपक्षेतरापेक्षयो** (२१७-१-२) र्वस्तुसद्भेदाभेदापेक्षयोरित्यर्थः। **हेताविति** (३) साधर्म्येणाविनाभावीति शेषः । तथा च नास्तित्वं विशेषणमित्यस्तित्वेनाविनाभावीत्यर्थः, स्वरूपेणास्ति-

त्वस्य पररूपेण नास्तित्वाविनाभावव्यतिरेके बाधकमाह अन्यथेत्यादि (२१७-१-३) 'तदा सिद्धमिति' (७) ननु कथमेतत्, यावता प्रवृत्तिविषयेऽनिष्टतावच्छेदकरूपवैशिष्ट्यज्ञानस्य प्रवृत्तिप्रतिबन्धकत्वात्करभत्वाभावो दध्नि प्रवृत्त्यङ्गतयोपयुज्यताम्, न तु करभरूपेण दधित्वाभाव इति चेत्, न, अनिष्टतावच्छेदकरूपसांकर्यज्ञानस्यापि प्रवृत्तिप्रतिबन्धकत्वेन करभरूपेणादधित्वस्यापि दध्नि प्रवृत्त्यङ्गताया न्यायप्राप्तत्वात्, ननु च हेतोरन्यथानुपपत्तिसिद्धावपि धर्मधर्मिव्यवस्थायाः कल्पितत्वादनुमानस्यापि कल्पितत्वेन कथं सामञ्जस्यं स्यादित्याशङ्कायामाह 'स्याद्वादसिद्धान्तीभाष्ये, न हि स्वेच्छेत्यादि' (८) तथा च सर्वसिद्धत्वाद्धर्मधर्मिभावो नाप्रामाणिक इति भावः। तदाह—यत इत्यादि (९), बुद्ध्यारूढेन (९) कल्पितेन, बहिः सदसत्त्वं (९) स्वलक्षणान्यव्यावृत्तिरूपम्, तदेवं परेषां भेदाभेदादितिरस्करणं बालोक्तितुल्यमित्याह भाष्यकृत् तदसमीक्षितेत्यादि (१०)॥ १८ ॥

ननु चास्तित्व नास्तित्वं च विशेषणमेव, न तु विशेष्यम्। ततो न साध्यसाधनधर्मयोः परमार्थसतोरधिकरणम्, येन प्रकृतमनुमानद्वितयं वास्तवं धर्मधर्मिन्यायेन स्यादित्येके। न तत्सर्वथाभिलाप्यम्, वस्तुरूपस्यानभिलाप्यत्वादिति चान्ये। जीवादेर्वस्तुनोत्यन्तमर्थान्तरमेव तत्, प्रतिभासभेदाद्घटपटवत्। न पुनरस्तित्वनास्तित्वात्मकं वस्तु, धर्मधर्मिसंकरप्रसङ्गादिति चापरे। तान्प्रत्याचार्याः प्राहुः।

विधेयप्रतिषेध्यात्मा विशेष्यः शब्दगोचरः। साध्यधर्मो यथा हेतुरहेतुश्चाप्यपेक्षया ॥ १९ ॥

विधेयमस्तित्वम्। प्रतिषेध्यं नास्तित्वम्। विधेयं च प्रतिषेध्यं च विधेयप्रतिषेध्ये। ते आत्मानौ स्वभावौ यस्य स विधेयप्रतिषेध्यात्मा, अर्थः सर्वो जीवादिरिति पक्षः। विशेष्यत्वादिति हेतुः, विशेष्य इति हेतुनिर्देशात्, गुरवो राजमाषा न भक्षणीया इति यथा।

साध्यो धर्मी, साध्यधर्माधारतया तस्य साध्यव्यपदेशात्, तथोपचारस्य दृष्टान्तधर्मिव्यवच्छेदार्थत्वात्। तस्य धर्मो विवर्त उत्पत्तिमत्त्वादिः। स यथा हेतुरनित्यत्वसाध्यापेक्षया, नित्यत्वसाध्यापेक्षयाऽहेतुश्च, गमकत्वागमकत्वयोगात्, तथा साध्याविनाभावेतरसद्भावादिति दृष्टान्तः। इत्यनुमानात्सत्त्वेतरात्मकः कथञ्चिज्जीवाद्यर्थः सिद्ध्यत्येव। हेतोर्विशेष्यत्वस्यासिद्धिरिति चेत् न, विशेष्योसौ, शब्दगोचरत्वात् तद्वदित्यनुमानात्तस्य विशेष्यत्वहेतोः साधनात्। शब्दगोचरत्वमसिद्धमर्थस्येति चेत्, न, शब्दगोचरो जीवादि., विशेष्यत्वात्तद्वदित्यनुमानात्तस्य साधनात्। न चैवमितरेतराश्रयदोषः, सर्वथानभिलाप्यवस्तुवादिनः प्रति शब्दगोचरत्वे साध्ये विशेष्यत्वस्य हेतुत्ववचनात्, सर्वथा वाऽविशेष्यत्ववादिनः प्रति शब्दगोचरत्वस्य साधनत्वाभिधानात्, तदुभयासत्त्ववादिनस्तु प्रति वस्तुत्वस्योभयप्रसिद्धस्य हेतोः सामर्थ्यतः प्रयोगात्। विधेयप्रतिषेध्यात्मकत्वस्यापि तान्प्रति तत एव सिद्धिः। इति समासतः कारिकार्थः समवतिष्ठते। ननु च प्रत्यक्षबुद्धौ वस्तु स्वलक्षणमेव प्रतिभाति, न पुनरस्तित्वादिविशेषणम्, तस्य सकलविकल्पविकलत्वात्, विकल्पबुद्धौ तद्व्यवहारप्रसिद्धेरिति चेत्, न, वस्तुनोस्तित्वाद्यनेकविकल्पात्मकस्य सांशस्यैव प्रतीतेः। किञ्चित्केनचिद्विशिष्टं गृह्यमाणं विशेषणविशेष्यतत्सबन्धलोकस्थितिसकलनेन गृह्येत नान्यथेत्यभिनिवेशेपि वस्तुनो विधिप्रतिषेधस्वभावयोः प्रत्येकं दर्शनमवश्यंभावि, वस्तुन एव दर्शनं, न तद्विधिप्रतिषेधस्वभावयोर्विशेषणयोरिति वक्तुमशक्तेः, सदसत्स्वभावशून्यस्य स्वलक्षणस्य दर्शने तत्पृष्ठभाविविकल्पेनापि सदसत्त्वयोरध्यवसायायोगात्, पीतदर्शनपृष्ठभाविना विकल्पेन नीलत्वाध्यवसायायोगवत्। ततो विधिप्रतिषेधावात्मानौ विशेषस्य सविकल्पकत्वं साधयतः, सर्वथा तस्य भेदाभावे सदिदमसदिदमिति प्रत्येकं दर्शनाभावानुषङ्गात्, इदमुपलभे नेदमिति विकल्पोत्पत्तिविरोधात्। ततः सामान्यविशेषात्मकं वस्तु स्वलक्षणं, न पुनः सकलविकल्पातीतं विशेषमात्रं सामान्यमात्रं वा परस्परनिरपेक्षं, तदुभयं वा स्वलक्षणं,

तस्य तेन रूपेणाऽव्यवस्थितत्वात्, सामान्यविशेषात्मन एव जात्यन्तरस्य वस्तुस्वरूपत्वात्, तेनैव लक्ष्यमाणस्य स्वलक्षणत्वप्रसिद्धे, सकलबाधकवैधुर्यात्। कः पुनर्विधेयप्रतिषेध्ययोर्धर्मी स्यादाश्रयभूत, कश्च तयोस्तेन संवन्धो, येन विशेषणविशेष्यभावः स्यादिति चेत्, उच्यते । अस्तित्वनास्तित्वयोर्धर्मि सामान्यम् । तत्र तादात्म्यलक्षणः सवन्धः, सवन्धान्तरकल्पनायामनवस्थाप्रसङ्गात् । तन्नैतत्सार, जात्यादिमतामेतन्न संभवत्येवेति, तदभावे एवासंभवात् विशेषणविशिष्टवस्तुग्रहणस्य, विशेषणं सत्त्वादिसामान्य पूर्वं गृहीत्वा तदनन्तर विशेष्यं गृह्णाति, ततस्तत्सवन्धं समवायं लोकस्थितिं च विशेषणविशेष्यव्यवहारनिवन्धनां, ततस्तत्सकलनेन सदिद वस्तु इति प्रतीतिक्रमस्यैव दुर्घटत्वात्, विशेषणविशेष्यात्मकस्य सामान्यविशेषरूपस्य वस्तुनो जात्यन्तरस्य यथाक्षयोपशमं प्रत्यक्षे परोक्षे च विज्ञाने निर्बाधमनुभवात्तद्विपरीतस्य जातुचिदप्रतीतेः । तथा सति नैकान्तेन दर्शनविकल्पाभिधानाना विषयभेदोस्ति कथचित्प्रतिभासभेदेपि प्रत्यासन्नेतरपुरुषदर्शनवत्, प्रतिभासभेदाद्विषयभेदे योगीतरप्रत्यक्षयोरेकविषययोरपि विभिन्नविषयत्वप्रसङ्गात् । एतेन धूमादिकृतकत्वादिसाध्यधर्मिधर्मस्य साध्येतरापेक्षया हेतुत्वाहेतुत्वविशेषणात्मकस्य निदर्शनतयोपन्यस्तस्य प्रत्यक्षविषयत्व निवेदितम् । तथा हि । धूमादयः कृतकत्वाद्यो वा कचिदग्निसलिलयोर्विनाशेतरयोर्वा साधनेतरस्वभावाभ्या साक्षात्क्रियेरन्, इतरथा विशेष्यप्रतिपत्तेरयोगात् । न हि धूमादीनामग्न्यादौ साध्ये साधनत्वं सलिलादावसाधनत्वं च विशेषणमप्रतिपद्यमानो विशेष्यान्धूमादीन् प्रतिपद्यते नाम, नापि कृतकत्वादीनां विनश्वरत्वे साध्ये साधनत्वमविनश्वरत्वे चासाधनत्वं विशेषणमप्रतीयन् कृतकत्वादिहेतून्विशेष्यान्प्रत्येतुमीशो यतोग्न्यादिविनश्वरशब्दादीन् साध्यानपि विशेष्यान्प्रतिपद्येत, प्रत्येति च तान्, ततोवश्यं साक्षात्कुर्वीत तद्धेतून्, साध्येतरापेक्षाया सत्या साधनेतरस्वभावाभ्या तत्साक्षात्करणे विरोधाभावात् । अनपेक्षायां तु विरोधः, क्वचिदेकत्र साध्ये हेतूनां

साधनत्वेतरयोरनुपलम्भात् । यतश्चैवं प्रसिद्धमुदाहरणं, वादिप्रतिवादिनोर्बुद्धिसाम्यात्, तस्माद्यदभिधेयं तद्विशेष्यम्, यथोत्पत्त्यादिरपेक्षया हेतुरहेतुश्च साध्येतरयोः, तथा च विमत्यधिकरण सत्त्वाभिधेयत्वादि, तस्मात्साध्यसाधनधर्मविशेषणापेक्षया विशेष्यम् । इत्यनुमानादेकस्य विशेषणविशेष्यात्मकत्वविरोधनिरासः । यद्वा विशेष्य तदभिलाप्यं, यथोत्पत्त्यादि, विशेष्यं चास्तित्वादिवस्तुरूप, तस्मादभिलाप्यम्, इति वस्तुस्वरूपस्यानभिलाप्यत्वव्युदासः । यद्वा वस्तु तत्सर्वं विधेयप्रतिषेध्यात्मकं, यथोत्पत्त्यादिरपेक्षया हेतुरहेतुश्च साध्येतरयोः, तथा च विमत्यधिकरण सत्त्वाभिधेयत्वादि । इत्यन्तदीपकं सर्वत्र योज्यं साधन, वस्तु च जीवादि, तस्माद्विधेयप्रतिषेध्यात्मकम । इति क्रमार्पितसदसत्त्वोभयात्मकत्वसाधनम् ॥ १९ ॥

साध्यसाधनधर्मयोः (२१७-२-९) प्रतिषेध्याविनाभावित्वविशेषणत्वयोः, **प्रकृतं** (९) पूर्वकारिकाद्वयप्रोक्तम्, द्वितीये तत् (१०) विशेष्यं, तृतीये तत् (११) अस्तित्वं नास्तित्वं च । हेतुनिर्देशादिति, (१४) हेतुगर्भविशेषणनिर्देशादित्यर्थः । तत्र दृष्टान्तमाह—गुरव (१४) इत्यादि, तत्रापि हि गुरव इति हेतुगर्भविशेषणमहिम्नैव गुरुत्वाद्राजमाषा न भक्षणीया इति लभ्यते, तद्वत्प्रकृते विशेष्य इति हेतुगर्भो विशेषणनिर्देशो द्रष्टव्य इत्यर्थः । साध्यस्याग्न्यादेर्धर्मत्वं हेतोर्धूमादेर्दुर्घटमिति प्रसिद्धार्थबाधाद्विशेषपरतया व्याचष्टे **साध्यो धर्मीत्यादिना**, (२१८-१-१) धर्मी पक्षः पर्वतादिर्जीवादिर्वा । गमकत्वागमकत्वयोगादिति, (२) यथाऽनित्यत्वसाध्यापेक्षयोत्पत्तिमत्त्वं गमकत्वाद्धेतुर्नित्यत्वसाध्यापेक्षया चागमकत्वादहेतुस्तथा जीवादेर्दृष्टान्तीभूतस्यापेक्षया सत्त्वेतरात्मकत्वं सिद्ध्यतीति समुदायार्थः । अथ किमगमकत्वमहेतोः, न पक्षे साध्यप्रत्ययाजनकत्वम्, अहेतुनापि हेतुत्वेन ज्ञानदशायां पक्षे साध्यभ्रमजननात्, अव्याप्यापक्षधर्मादिना व्याप्यपक्षधर्मत्वादिना ज्ञातेन वस्तुतः साध्यवत्पक्षावगाहितया क्वचित्

साध्यप्रमाया अपि जननाच्च, कदाचित्तदजनकत्वस्य सद्धेतावपि सत्त्वात्, न चैतत्काले साध्यविशिष्टपक्षज्ञानाजनकत्वं तत्, न हि दूषणत्वज्ञानकाले पक्षे भ्रमरूपाप्यनुमितिरिति वाच्यम्, सत्प्रतिपक्षत्वज्ञानकाले पक्षे साध्यविशिष्टप्रत्ययाजनकत्वमस्तीत्यनन्तरमसत्प्रतिपक्षतादशायामपि हेतोरगमकत्वप्रसङ्गात्, दूषणत्वस्यागमकत्वतुल्ययोगक्षेमत्वाच्च, नाप्येतत्कालीनैतत्पक्षीयत्वावच्छिन्नप्रतियोगिकैतत्साध्यप्रमाकरणत्वाभावस्तत्, एतत्कालीनत्वैतत्पक्षीयत्वयोर्व्यधिकरणयोरेव प्रतियोगितावच्छेदकत्वाच्च न विशिष्टप्रतियोग्यप्रसिद्धिरिति वाच्यम्, सद्धेतोरेव कदाचित्तादृशप्रमाकरणत्वाभावेनागमकत्वापत्तेः, नाप्यनुमितिहेतुभूताभावप्रतियोगिज्ञानविषयत्वं तत्, सद्धेतावपि कदाचिद् व्यभिचारित्वादिज्ञानस्यानुमितिप्रतिबन्धकस्य सद्भावात्, नाप्यनुमितिप्रतिबन्धकप्रमाविषयत्वं तत्, सद्धेतौ च व्यभिचारादिभ्रमस्य प्रतिबन्धकत्वान्नातिव्याप्तिरिति वाच्यम्, सत्प्रतिपक्षयोर्विरुद्धयोर्वास्तवतुल्यबलवत्त्वाभावेन तद् भ्रमस्याप्रतिबन्धकत्वात्, नापि समीचीनसाध्यपक्षविषयानुमित्यजनकत्वं तत्, बाधविरुद्धासिद्धेषु साध्यानधिकरणे पक्षे सत्यसाध्यप्रतीत्यसिद्धेः, वह्निमति बाष्पे धूमभ्रमाद्वह्न्यनुमितेः सत्यत्वाच्च, न चान्य एव वह्निस्तत्र भासते, मानाभावात्, तद्वह्नेरेव प्रत्यभिज्ञानात्, एकव्यक्तिके तदभावाच्च, न च साऽनुमितिर्लिङ्गविषयत्वेन भ्रमः, अनुमितौ नियमतो लिङ्गभाने मानाभावात्, अथ यथा कूटलिङ्गे वह्निव्याप्याभेदः प्रतीयते तथा वह्नौ कूटलिङ्गव्यापकाभेदोऽपीति सानुमितिरसत्येति चेत्, न, कूटलिङ्गस्यानुमितौ साध्याप्रकारकत्वेन तदभेदस्यासंसर्गत्वात्, वह्निव्याप्यालोके धूमारोपाद्यत्रानुमितिस्तत्रासिद्धभेदेऽसत्यत्वाभावापत्तेश्च, आलोकव्यापके धूमव्यापकाभेदसाम्राज्यात्, एतेन परामृश्यमानलिङ्गव्यापकाभिन्नीयत्वविशिष्टसंसर्गेण साध्यस्यानुमितौ भानाभ्युपगमेऽपि न क्षतिः। लिङ्गोपहितलैङ्गिकभानवादेऽपि च दैवात्तत्र धूमसत्त्वे कथं तदंशेऽप्यसत्यता, अत एवार्द्रेन्धन-

प्रभववह्नेरेव धूमव्यापकत्वात्तद्रूपेण वह्नेरनुमितौ भानाभ्युपगमेऽपि न कूटलिङ्गजानुमितेरसत्यत्वम्, दैवाचत्र धूमसत्त्वेन सत्यत्वादिति चेत्, अत्र वदन्ति, स्वज्ञानदशायां पक्षे साध्यप्रत्ययाजनकत्वमगमकत्वम्, भवति हि विरुद्धत्वादिज्ञानकालीनं लिङ्गं पक्षे साध्यप्रत्ययाजनकम्, विरुद्धत्वादीति पक्षविशेषणमहिम्ना तद्दशायां पक्षे साध्यप्रत्ययाजनकत्वसिद्धिः, साध्यप्रत्ययाजनकत्वं साध्यप्रत्ययजनकतावच्छेदकरूपविरहः, स च कदाचित् सत्प्रतिपक्षोत्तीर्णेऽपीति स्वज्ञानकालीनत्वं विशेषणम्, स च न तादृशोऽन्यदा तज्ज्ञानरूपविशेषणाभावेन विशिष्टाभावात्, स्वज्ञानकालस्य पक्षतावच्छेदकत्वेन साध्यमध्येऽप्रवेशाद्विरुद्धत्वादेः स्वज्ञानविरहकाले विशिष्टाभावान्न व्यभिचारित्वम्, न च कदाचिदजनकत्वादेः केवलान्वयित्वमादाय व्यर्थविशेषणता, विवक्षितसाध्यस्यासार्वत्रिकत्वात्, न च सर्वो वह्निव्याप्यवान् वह्निमान् तत्त्वादित्यनुमानेन स तदभाववान् मेयत्वादित्यादिना सत्प्रतिपक्षेण सर्वस्यैव सत्प्रतिपक्षितत्वात्तस्य सार्वत्रिकत्वमेवेति वाच्यम्। सर्वत्र सर्वस्यैवमवताराभावात्। यद्वाऽनुमितिप्रतिबन्धकतावच्छेदकरूपवत्त्वं तत्, तद्वत्त्वं च तद्वर्त्तमानत्वमतो न सत्प्रतिपक्षोत्तीर्णेऽतिप्रसङ्गः, तस्यासार्वत्रिकत्वाच्च न विरुद्धत्वादौ व्यर्थविशेषणता, तच्च रूपं ज्ञाने विषयतयाऽनैकान्तिकत्वादिकमेवेत्यनुमितिप्रतिबन्धकज्ञानविषयतावच्छेदकरूपवत्त्वमगमकत्वमिति पर्यवसितोऽर्थः, न च साध्याप्रसिद्धावव्यापकमिदमिति शङ्कनीयम्, स्वज्ञानदशायामिति वचनादेव तदसंग्राह्यत्वलाभात्, तस्याः शुद्धापार्थकमध्ये परिगणनेन हेत्वाभासेभ्यः पृथक्करणात्, नायं पन्थाः, एवं सति हेत्वाभासत्वमेवागमकत्वमित्यस्य प्राप्तेः, सोपाधिकत्वादिना ज्ञातेऽगमकत्वव्यवहारानापत्तेः, किन्तु सर्वानुगतमखण्डमेव तत्, तच्चानैकान्तिकत्वादिनानुमीयते, सत्प्रतिपक्षविषये तदुत्तीर्णे च गमकागमकत्वस्वभावभेदाविरोधः स्याद्वादाश्रयणादेव निरसनीयः, अस्तु वा सत्प्रतिप-

क्षोत्तीर्णेऽगमकत्वस्य कालविशेषघटितस्वरूपसम्बन्धाभाव एव, घटानयनदशायां भूतले घटाभावस्यैवेति युक्तम् ॥ अत्र चाहेतोरगमकतागमकत्वेन सदुत्तरत्वं, जात्यादीनां च स्वासाधकतासाधारण्येन परामाधकतासाधकतया स्वव्याघातकत्वादसदुत्तरत्वमिति विभागं वदन्ति तार्किकाः। न च विरुद्धत्वादिज्ञानादेव स्वानुमितेरिव परानुमितेरपि प्रतिबन्धे किमसाधकतानुमानेन, यद्वचसि वाद्युक्तदूषणावगतिः स निगृहीत इति समयबन्धेन कथाप्रवृत्तौ हि दूषणमात्रमुद्भाव्यं, न त्वन्यत् साधनीयमर्थान्तरापत्तेरिति वाच्यम्, परेण यामनुमितिमुद्दिश्य प्रयोगः कृतस्तत्प्रतिबन्धेन स्थापनायामसाधकतासाधनेन च द्विधा दूषणत्वव्यवस्थितेः, आद्यस्य दूषणमात्रज्ञानादुपपत्तावपि द्वितीयस्यालिङ्गत्वज्ञापनं विनाऽसम्भवात्, यद्यप्यसाधकतानुमितिरनावश्यकी, तदभावेऽपि स्वपक्षसिद्धेस्तद्व्याघातकतया च परानुमितेः प्रतिबन्धकोपन्यास एवावश्यकः, तथापि दूषणत्वप्रकारान्तरापेक्षायां काचित्कस्तदुपन्यासः सामयिक इति निगर्वः। अथागमकतासाधने नियमतः पञ्चावयवप्रयोगापेक्षा स्यात्, अन्यथान्यूनत्वापत्तिरिति चेत्, न। दूषणस्यासाधकताव्याप्यत्वमङ्गीकृत्य कथेति तत्पक्षधर्मतामात्रस्यैवोद्भाव्यत्वात्, अन्यथाऽऽकांक्षिताधिकाभिधानेनार्थान्तरापत्तेः। अथासाधकत्वव्याप्तिप्रतिसन्धानमगमकत्वेन तन्त्रम्, अनुमितिप्रतिबन्धकतावच्छेदकत्वरूपदूषणत्वविषयस्यैव तत्र तन्त्रत्वात्, न चानुमितिप्रतिबन्धकतावच्छेदकमनुमित्यभावनियतं यज्ज्ञानं तद्वत्त्वम्, तथा च यत्र विरुद्धत्वादिज्ञानं तत्रानुमित्यभाव इति व्याप्तिज्ञानध्रौव्यमिति वाच्यम्, अनुमित्यभावस्यासाधकतारूपत्वाभावात्, अनुमित्यभावप्रयोजकज्ञानविषयतावच्छेदकरूपस्यैव तत्त्वात्तद्व्याप्तेश्चाप्रतिसंहितत्वादिति चेत्, न। तद्रूपस्य विरुद्धत्वादिना सहचारधीध्रौव्येण व्याप्तिग्रहावश्यकत्वमित्यत्र तात्पर्यात्। अत एव साध्यनिश्चये सत्यनुमितसाधीनया पक्षतया तदनुमितिरिति ग्रान्थिकाः।

हन्तैवं कृतकत्वेनानित्यत्वानुमानेऽपि व्याप्तिर्नाभिधेया, तस्या उभयसिद्धत्वादिति चेत्, न। कथादशायां समयविषयतया दूषणेष्वगमकताव्याप्त्युपस्थितिध्रौव्यात्, कृतकत्वेनानित्यत्वानुमाने तु तथानियमाभावात्तद्व्याप्तिमनङ्गीकृत्यापि कथासम्भवात्। यस्तु कथारम्भे बाधकस्यासाधकत्वव्याप्तिं नाङ्गीकरोति, तं प्रति तद्दूषणत्वं प्रसाध्य पञ्चावयवप्रयोगः कर्त्तव्य एव। तद्व्याप्त्युपगमनियतसमयबन्धे तु न पञ्चावयवप्रयोगश्चारुतामञ्चतीति। वयं तु ब्रूमः, साधकत्वेऽसाधकत्वेऽन्यत्र वाङ्मयेऽवयवप्रयोगः प्रतिपाद्यानुसारेणैव विधेयः, अत एवैकावयवाद्या दशावयवान्ता जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदभिन्ना कथा प्रसिद्धा, तथा चास्माकसाकरग्रन्थः। "लिङ्गं केवलमेव यत्र कथयन्त्येषा जघन्या कथा, द्व्यादीन् यत्र निवेदयन्त्यवयवानेषा भवेन्मध्यमा॥ उत्कृष्टा दशभिर्भवेदवयवैः सा जल्पितैवेत्यमी, जैनैरेव विलोकिताः कृतधियां वादे त्रयः सत्पथाः॥ १॥" इति। यदा हि प्रतिपाद्यः क्षयोपशमविशेषान्निर्णीतपक्षो गृहीतव्याप्तिकश्च भवति, तदा तं प्रति हेतुप्रतिपादनमेव कार्यं, धूमोऽत्र दृश्यत इति, यदा त्वस्य नाद्यापि पक्षनिर्णयस्तदा तं प्रति पक्षोऽपि प्रयुज्यतेऽग्निरत्र धूमान्यथानुपपत्तेरिति, यः प्रतिबन्धग्राहिप्रमाणस्य न स्मरति तं प्रति दृष्टान्तोऽप्युपदिश्यतेऽग्निरत्र धूमाद्, यत्र धूमस्तत्राग्निर्यथा महानस इति, दार्ष्टान्तिके हेतुं योजयितुमजानानं प्रत्युपनयः, एवमपि साकाङ्क्षं प्रति निगमनं, पक्षादिस्वरूपविप्रतिपन्नं प्रति पक्षशुद्ध्यादयश्चेति, तत्केयं प्रक्रियाऽसाधकतानुमाने यथा विप्रतिपत्त्यवयवप्रयोगोऽन्यत्र तु पञ्चावयवप्रयोग एवेति, प्रतिपाद्यानुरोधेनैकादिप्रयोगस्यापि सम्भवात्, अवयवान्तरैकवाक्यत्वादेस्तत्रार्थिकस्यैव सम्भवात्, पञ्चावयवैकवाक्यताया अपि यथाकथञ्चिदेव दीधित्यादावुक्तत्वात्, अवयवप्रयोगे स्याद्वादस्यैवाश्रयणीयत्वात्, तदिदमाहुः—'अन्यथानुपपत्त्येक–लक्षणं लिङ्ग-

मिष्यते। प्रयोगपरिपाटी तु, प्रतिपाद्यानुसारतः ॥ १ ॥" इति, समयबन्धोऽपि प्रसिद्ध्यप्रसिद्धी एवानुरुणद्धीति शिवम् ॥ तदेवमपेक्षया गमकागमकस्यैकस्य हेतुत्वाहेतुत्ववज्जीवादेरपेक्षया सत्त्वेतरात्मकत्वं निर्व्यूढम्। प्रकृतं प्रस्तुमः—तद्वदिति (२१८-१-५) हेतुवदित्यर्थः, वस्तुत्वस्योभयप्रसिद्धस्येति (६) विशेषणविशेष्यभावविपर्यासादुभयप्रसिद्धस्य वस्तुत्वस्य हेतोरित्यर्थः। **सामर्थ्यतः** (७) पक्षदृष्टान्तवचनप्रयुक्ताक्षेपात्, **तान् प्रति** (७) तदुभयासत्त्ववादिनः प्रति, तत एव (७) जीवाद्यर्थो विधेयप्रतिषेध्यात्मा वस्तुत्वादित्यनुमानादेवेत्यर्थः। **विकल्पबुद्धौ** (८) सविकल्पकज्ञाने, **तद्व्यवहारप्रसिद्धेः** (८) व्यवहारौपयिकतदाकारोपलम्भात्, **सांशस्य** (९) विधिनिषेधविशेषणविशिष्टस्य, **सविकल्पकत्वं साधयत इति** (१२) ज्ञानमात्रस्य विधिनिषेधान्यतमविशिष्टविषयकत्वनियमादित्यर्थः, तस्य (१३) स्वलक्षणस्य, **भेदाभावे** (१३) विशेषणोपरागाभावे, **सामान्यम्** (२१८-२-३) ऊर्ध्वतासामान्यं विशेषादेशे घटादिद्रव्यम्, एतत् (४) प्रत्यक्षेण ग्रहणम्, **असम्भवादित्यस्य** (४) ग्रहणस्येत्यनेनान्वयः। **इति प्रतीतिक्रमस्यैवेति** (६) सौगताद्युक्तस्येति गम्यम्, **निर्बाधम्** (७) इत्यनन्तरमादित एवेति शेषः। **तद्विपरीतस्य** (७) विशेषणविशेष्यभावादिशून्यस्य, **जातुचिदप्रतीतेरिति** (७) निर्विकल्पकस्य निरासादित्यर्थः, येन च तत् स्वीक्रियते तस्य सविकल्पकोत्पत्तिकाले तदापत्तिर्दुर्निवारा, न च निर्विकल्पकत्वस्य कार्यतानवच्छेदकत्वान्नैवम्, तथाऽप्यर्थवशात् तदापत्तेः, निर्विकल्पके घटत्ववद् द्रव्यत्वपृथिवीत्वसत्त्वादीनामपि सम्भृतसामग्रीकतया भानाभ्युपगमे घटसविकल्पके नियमात्तावद्धर्मभानापत्तेश्च, तत्तन्नियतप्रकारकप्रत्यक्ष एव क्षयोपशमविशेषहेतुताकल्पने तु विशेषहेत्वभावादेव न निर्विकल्पकमिति दिग्। **प्रत्यासन्नेतरपुरुषदर्शनवदिति**, (८) अत्रैकपादप इति शेषः। **एतेन** (८) सामान्यविशेषात्मकवस्तुनः प्रत्यक्षत्व-

प्रतिपादनेन, साध्यधर्मिधर्मस्य (२१८-२-९) पक्षस्य, तस्मादिति (२१९-१-१) यदभिधेयं तद्विशेष्यमित्यनया व्याप्त्या यथा जीवादेर्द्धर्मित्वं तथाऽस्तित्वादिविशेषणस्यापि तदापादितं बोध्यम्। अन्तदीपकं (५) अन्तस्थं सर्वत्रान्वयं प्रकाशयतीति हेतोः, सर्वत्र योज्यं साधनमिति (५) धर्मिणं विविच्येत्यर्थः, तथाहि-यदभिधेयं तद्विशेष्यमित्यत्रास्तित्वं धर्मि, यद्वा विशेष्यं तदभिलाप्यमित्यत्राभिधेयं धर्मि, यद्वा वस्तु तत्सर्वं विधेयप्रतिषेध्यात्मकमित्यत्र त्रिमत्याधिकरणसत्त्वाभिधेयत्वादिशब्देन लब्धं जीवादीति, तेषु धर्मिष्वभिधेयत्वविशेष्यत्ववस्तुत्वहेतवो योजनीयाः। निगमयति वस्तु चेति (५) ॥ १९ ॥

शेषभङ्गाः कथ नेतव्याः सूरिभिरित्याहुः।—

शेषभङ्गाश्च नेतव्या यथोक्तनययोगतः। न च कश्चिद्विरोधोस्ति मुनीन्द्र! तव शासने ॥ २० ॥

स्यादस्ति स्यान्नास्तीति भङ्गद्वयमुपयुक्तम्। तदपेक्षया शेषत्वं भङ्गत्रयापेक्षं वा। विधेयप्रतिषेध्यात्मेत्यनेन तृतीयभङ्गस्य स्वप्रतिषेध्येनाविनाभाविनोऽसाधने साधने चापेक्ष्यमाणे इत्यर्थः। यथोक्तनययोगत इति विशेषणत्वादीनाक्षिपति। तदनभिलाप्यादयोपि कचिद्धर्मिणि प्रत्यनीकस्वभावाविनाभाविनः प्रतीयन्ते, विशेषणत्वादिभ्यः। पूर्वोक्तमुदाहरणम्। यथैव हि वस्तुनोस्तित्वं नास्तित्वं तदुभयं च प्रतिषेध्येन स्वप्रत्यनीकेनाविनाभावि विशेषणत्वाद्विशेष्यत्वाच्छब्दगोचरत्वाद्वस्तुत्वाच्च साधर्म्यवद्वैधर्म्यवत्कचिद्धेतौ हेतुत्वेतरत्ववच्च साध्यते, तथैव चाऽवक्तव्यत्वं वक्तव्यत्वेन प्राच्यभङ्गत्रयरूपेण, सदवक्तव्यत्वमसदवक्तव्यत्वेनासदवक्तव्यत्वमपि सदवक्तव्यत्वेन, सदसदवक्तव्यत्वमपि पञ्चमषष्ठभङ्गात्मनानुभयावक्तव्यत्वेनाविनाभावि साधनीयम्, यथोक्तानां हेतूदाहरणरूपनयानां घटनात्। न चैवं सति किञ्चिद्विप्रतिषिद्धम्, अन्यथैव विरोधात्। अवक्तव्यत्वादेः स्वप्रत्यनीकस्वभावाविनाभावाभावप्रकारेणैव हि प्रत्यक्षादिविरोध. समनुभू-

यते, तथा सकृदप्यनुपलम्भात्। तदनेन "न च कश्चिद्विरोधोस्ति मुनीन्द्र तव शासने," अन्यशासनेष्वेव विरोधसाधनादिति व्याख्यात प्रतिपत्तव्यम् ॥२०॥

असाधने साधने चापेक्ष्यमाण इत्यर्थ इति (२२२-१-९) विधेयप्रतिषेध्यात्मकत्वसाधनानपेक्षायां तृतीयादिभङ्गस्तोमस्य तदपेक्षायां च तुर्यादिभङ्गस्तोमस्य शेषत्वं विवक्षणीयमित्यर्थः। **पूर्वोक्तमुदाहरणमिति** (१०) साधर्म्यं यथा वैधर्म्येण वैधर्म्यं च साधर्म्येणाविनाभावीत्यर्थः, **अनुभयावक्तव्यत्वेनेति** (१३) उभयावक्तव्यत्वरूपसप्तमभङ्गार्थपर्युदासशालिनेत्यर्थः। **हेतूदाहरणरूपनयानां** (१३) हेतूदाहरणस्वरूपविमर्शानाम् ॥ २० ॥

साम्प्रतमव्यवस्थितानेकान्तात्मकं वस्तु सप्तभङ्गीविधिभागऽर्थक्रियाकारि, न पुनरन्यथेति स्वपरपक्षसाधनदूषणवचनमुपसहरन्तः प्राहुः।—

एवं विधिनिषेधाभ्यामनवस्थितमर्थकृत्। नेति चेन्न यथा कार्यं वहिरन्तरुपाधिभिः ॥ २१ ॥

एव प्रतिपादितनीत्या सप्तभङ्गीविधौ विधिनिषेधाभ्यामनवस्थितं जीवादि वस्तु सदेवासदेव वेत्य(व्य)वस्थितमर्थकृत् कार्यकारि प्रतिपत्तव्यम्। नेति चेदेवं वस्तु परैरभ्युपगम्यते तर्हि "यथाभ्युपगतं कार्यं वहिरन्तरुपाधिभिः" सहकार्युपादानकारणैर्निर्वर्त्त्यं तथा न स्यात्, भावाद्येकान्ते सर्वथा कार्यप्रतिक्षेपात्। तत एवैवव्याख्यानान्तरमुपलक्ष्यते। एवं प्रतिपक्षप्रतिक्षेपप्रकारेण विधिनिषेधाभ्यामनवस्थितं कथंचिद्विधिप्रतिषेधावस्थितमेवार्थकृत् नेति चेन्न, यथा कार्यं (च) वहिरन्तः स्यादुपाधिभिरनन्तविशेषणैर्विशिष्टम्, सर्वथा निरंशवस्तुनि सकलविशेषणाव्यवस्थितेः। सत्त्वाद्यन्यतममात्रे एव भङ्गे समवस्थित कुतो नार्थकृदिति चेत्, उच्यते, सप्तभङ्गीविधौ स्याद्वादे

विधिप्रतिषेधाभ्या समारूढ वस्तु सदसदात्मकमर्थक्रियाकारि, कथंचित्सत एव सामग्रीसन्निपातिनः स्वभावातिशयोत्पत्ते', सुवर्णस्येव केयूरादिसस्थानम् । सुवर्णं हि सुवर्णत्वादिद्रव्यार्थादेशात् सदेव केयूरादिसंस्थानपर्यायार्थादेशात्त्वासदिति तथापरिणमनशक्तिलक्षणायाः प्रतिविशिष्टान्तःसामग्र्याः सुवर्णकारकव्यापारादिलक्षणायाश्च बहिःसामग्र्याः सन्निपाते केयूरादिसस्थानात्मनोत्पद्यते ततः सदसदात्मकमेवार्थकृत् । तद्वज्जीवादिवस्तु प्रत्येयम् । नेति चेदित्यादिनैकान्तेऽर्थक्रिया प्रतिक्षिपति । न तावत्सतः पुनरुत्पत्तिरस्ति, तत्कारणापेक्षानुपरमप्रसङ्गात् । न चानुत्पन्नस्य स्थितिविपत्ती, सर्वथाप्यसत्त्वात्खपुष्पवत् । नाप्यसतः सर्वथोत्पत्त्यादयस्तद्वत् । तस्मान्न सदेकान्तेऽसदेकान्ते चार्थक्रिया संभवति । यदि पुनः सामग्र्याः प्रागविद्यमानस्य जन्म स्यात् को दोषः स्यात् ? तन्निरन्वयविनाशेतरपक्षयोस्तदैकान्ताभावः प्रसज्येत । तस्या निरन्वयविनाशे निष्कारणस्य तथैवोत्पत्तिर्न स्यात् । न हि निराधारोत्पत्तिर्विपत्तिर्वा, क्रियारूपत्वात्स्थितिवत् । नैतन्मन्तव्य ' नोत्पत्त्यादिः क्रिया, क्षणिकस्य तदसंभवात् । ततोऽसिद्धो हेतुः ' इति, प्रत्यक्षादिविरोधात् । प्रत्यक्षादिविरोधस्तावत् प्रादुर्भावादिमतश्चक्षुरादिबुद्धौ प्रतिभासनात् तद्धुरूशा प्रादुर्भावविनाशावस्थानक्रियारहितसत्तामात्रोपगमस्य बाधनात् । अन्यथा तद्विशिष्टविकल्पोपि मा भूत् । न हि दण्डपुरुषसंबन्धादर्शने दण्डीति विकल्पः स्यात् । तथाविधपूर्वतद्वासनावशात्प्रादुर्भावाद्यदर्शनेपि तद्विशिष्टविकल्प इति चेत्, न, नीलसुखादेरदर्शनेपि तद्विकल्पप्रसङ्गात्, ततस्तद्व्यवस्थापनविरोधात् । निरालम्बनविज्ञानमात्रोपगमेपि सतानान्तरस्वसतानपूर्वापरक्षणाज्ञानेपि तद्विकल्पोत्पत्तौ कुतस्तन्नियमः ? संवेदनाद्वैतोपगमेपि संविदद्वैताभावेपि तद्वासनाबलात्संवित्स्वरूपप्रतिभाससभवात्कथ स्वरूपस्य स्वतो गतिः सिध्येत् ? सत एव संवित्स्वरूपस्य तथावासनामन्तरेण स्वतो गतौ स्वसंतानपूर्वापरक्षणसंतानान्तरबहिरर्थजन्मादिक्रियाविशेषाणा सतामेव दर्शनाद्विकल्पोत्पत्तिर्युक्ता । इति नोत्पत्त्यादीनां क्रियात्वमसिद्धं, यतस्तन्नि-

राधारत्वप्रतिषेधो न सिध्येत् । ततो न प्रागसतोप्युत्पत्तिः संभवति । निरन्वयमविनाशे प्रागमत उत्पत्तिरित्ययमपि पक्षो न क्षेमङ्करः, स्याद्वादाश्रयणप्रसङ्गात्, असत्कार्यवादविरोधात् । तत सूक्तं ' यदेकान्तेन सदसद्वा तन्नोत्पत्तुमर्हति, व्योमवन्ध्यासुतवत् ' इति । न ह्येकान्तेन सद्व्योमोत्पद्यते, नाप्येकान्तेनासन् वन्ध्यासुत इति न साध्यसाधनविकलमुदाहरणम् । कथमिदानीमनुत्पन्नस्य गगनादेः स्थितिरिति चेत्, न, अनभ्युपगमात् सर्वथा गगनाद्यनुत्पादस्य । केवलमिह व्योम्नो द्रव्यनयापेक्षया परप्रसिद्ध्या चोदाहरणं प्रतिपादितम्, ततो न पूर्वापरविरोधः, पूर्वं सर्वथानुत्पत्तिमत स्थितिप्रतिषेधसाधनात्, द्रव्यतोनुत्पद्यमानस्यैव स्थितिघटनात् । ततो यदर्थक्रियाकारि तद्विधिप्रतिषेधकल्पनोपकल्पितसप्तभङ्गीविधौ समारूढ विध्येकान्तादौ चानवस्थित, सदाद्येकान्ते सर्वथार्थक्रियाविरोधादिति सूरिमतम् । नन्वेवं सुनयार्पितस्य विध्यंशस्य निषेधांशस्य चार्थक्रियाकारित्वे तेन व्यभिचारी हेतुः, तस्य सप्तभङ्गीविधावसमारूढत्वादन्यथानवस्थानात्, तस्यानर्थक्रियाकारित्वे सुनयस्यावस्तुविषयत्वप्रसक्तेः, वस्तुनोर्थक्रियाकारित्वादिति कश्चित्, तदयुक्तम्, सुनयार्पितस्यापि विधेरनिराकृतप्रतिषेधस्यार्थक्रियाकारित्वादन्यथा दुर्णयार्पितत्वापत्तेः । न चासौ सप्तभङ्गीविधावसमारूढः, भङ्गान्तराप्रतिक्षेपात् । तथा च नानवस्था नाम, विधावपि विध्यन्तरादिविकल्पनाऽभावात् । केवल विधिभङ्गे नास्तित्वादिभङ्गान्तरगुणीभावाद्विधिप्राधान्यम्, प्रतिषेधभङ्गे चास्तित्वादिभङ्गान्तरगुणीभावात्प्रतिषेधप्रधानतेति प्रमाणार्पितप्रधानरूपाशेषभङ्गात्मकवस्तुवाक्यात्रयवाक्यस्य विशेषः प्ररूपितप्राय एव । यदप्याह 'जीवादिवस्तुनि सत्त्वद्वारेण प्रथमभङ्गात्प्रतिपन्ने द्वितीयादिभङ्गानामानर्थक्यम्, असत्त्वादिधर्माणामपि तदात्मना तत एव प्रतिपत्तेः, अन्यथा तेषा वस्तुनोन्यत्वापत्तेः, विरुद्धधर्माध्यासात्पटपिशाचवत् । तथा च तस्येतिव्यपदेशाभावः, सबन्धाभावात् । सत्त्वादिधर्माणा धर्मिणा सहोपकार्योपकारकभावे धर्मिणोपकारो धर्माणा धर्मैर्वा धर्मिणः स्यात् ?, प्रथमपक्षे किमेकया शक्त्या धर्मी

धर्मांनुपकुरुतेऽनेकया वा ? यद्येकया स्वात्मनोनन्यया धर्मी धर्मानुपकुरुते, तदेकधर्मद्वारेण नानाधर्मोपकारनिमित्तभूतशक्त्यात्मनो धर्मिणः प्रतिपत्तौ तदुपकार्यस्य सकलधर्मकलापस्य प्रतिपत्तेः सकलग्रहः स्यात्, उपकार्याप्रतीतौ तदुपकारकप्रतीत्ययोगात्। एतेनानेकया स्वात्मनोनन्यया शक्त्या धर्मी धर्मानुपकरोतीति पक्षान्तरमपि प्रतिक्षिप्तम्। धर्मी धर्मैरुपक्रियते इत्यस्मिन्नपि पक्षे किमेकोपकार्यशक्त्यात्माऽनेकोपकार्यशक्त्यात्मा वेति पक्षद्वितयमप्यनेनैव निरस्तम्, सकलधर्मकलापस्योपकारकस्याप्रतिपत्तौ तदुपकार्यशक्त्यात्मनो धर्मिणः प्रतिपत्त्यघटनात्, सकलनिश्चयस्याविशेषात्। तदुक्तं "नानोपाध्युपकाराङ्गशक्त्यभिन्नात्मनो ग्रहे। सर्वात्मनोपकार्यस्य को भेदः स्यादनिश्चितः ॥१॥ एकोपकारके ग्राह्ये नोपकारास्ततोऽपरे। दृष्टे यस्मिन्नदृष्टास्ते तद्ग्रहे सकलग्रह ॥२॥" इति। यदि पुनर्धर्माणामुपकारिकाः शक्तय उपकार्याश्च धर्मिणो भिन्ना एव तदा ताभिस्तस्योपकारः कश्चित्तेन वा तासां क्रियते न वेति पक्षद्वयम्। तत्र न तावदुत्तरः पक्षः, तद्व्यपदेशविरोधात्। प्रथमपक्षे तु शक्तिभिः शक्तिमत उपकारेनर्थान्तरभूते स एव कृत स्यात्। तथा च न शक्तिमानसौ, तत्कार्यत्वात्। ततोर्थान्तरभूतेऽनवस्थाप्रसङ्गः, तद्व्यपदेशसिद्ध्यर्थमुपकारान्तरपरिकल्पनात्। शक्तिमता शक्तीनामुपकारे शक्त्यन्तराणां कल्पनेऽनवस्थैव। तदकल्पने प्राच्यशक्तीनामप्यव्यवस्थितिः। इति न शक्तिशक्तिमद्व्यवहारः सिध्येत्। तदप्युक्तं "धर्मोपकारशक्तीनां भेदे तास्तस्य किं यदि ?। नोपकारस्ततस्तासां तथा स्यादनवस्थितिः ॥३॥" इति ॥ २१ ॥ तदपि सर्वमपाकुर्वन्तः सूरयः प्राहुः ॥

अव्यवस्थितानेकान्तात्मकं (२२२–२–७) परोक्तैकान्तव्यवस्थारहितम्, अव्यवस्थितपदस्यैकान्तव्यवस्थाराहित्यार्थत्वे तस्य कथञ्चिदवस्थितत्वाविनाभावित्वादलवणा यवागूरित्यत्रेवेपदर्थेन नञा कथञ्चिदवस्थितार्थपरतयापि व्याख्यानं घटत एवेत्याह तत एवम् (१२) इत्यादिना, एकान्तव्यवस्थायां कुतो नार्थक्रियाकारित्वमिति शङ्कते–सत्त्वाद्यन्यतमे

त्यादिना (२२२-२-१४), सिद्धान्तयति उच्यत इत्यादिना, सौगतः शङ्कते-यदि पुनरित्यादिना (२२३-१-६) स्यादित्यन्तेन, स्याद्वाद्युत्तरयति तन्निरन्वये (६) त्यादिना, तस्य प्रागविद्यमानोत्पन्नस्य निरन्वयनाशाभ्युपगमे आदावन्ते चेत्यादिन्यायात्तस्यैकान्ततोऽभावः स्यात्, कथञ्चिद्विनाशरूपेतरपक्षाभ्युपगमे च कथञ्चिदुत्पाद एवार्थतः सिद्ध्यतीत्यसदेकान्ताभावप्रसङ्गः स्फुट एवेति भावः। भाष्ये तस्याः (७) सामग्र्याः, निरन्वयविनाशे (७) ऽभ्युपगम्यमाने, निष्कारणस्य सतः, (७) तथैवासामग्रीस्थलविधयैव, उत्पत्तिर्न स्यात् (७), न च प्राक्काले कारणाभाव एव कार्याभावप्रयोजको, लाघवव्यवहाराभ्यां यदा कारणाभावस्तदा कार्याभाव इत्येव "क्रियमाणं कृतमिति" नये व्याप्त्यभ्युपगमात्, कारणमिह परिणामि ग्राह्यं, तेन न दण्डादौ व्यभिचारः। न च क्षणैकशेषं "तेणेह कज्जमाण" मित्यादिमहाभाष्यपर्यालोचनया कार्यस्य किञ्चित्कालस्थायिन एव ग्रहणाद्व्यवहारानुगृहीतर्जुसूत्रस्यायं विषय इति दिग्। न हि निराधारेति (७) तथा च यथा स्थितेः पूर्वक्षणव्याप्यस्थितिकत्वं तथोत्पत्तेरपि स्वपूर्वक्षणव्याप्योत्पत्तिकत्वमिति व्याप्तेर्नासदेकान्त इति भावः। न च पूर्वापरीभूतावयवा साध्यमानस्वरूपा क्रियाऽभिधीयते, सा चोत्पत्त्यादिर्न सम्भवति, क्षणिकतादृशक्रियास्वरूपस्य दुरधिगमत्वादित्यपि शङ्कनीयम्। उत्पत्तेर्विपत्तेर्वा स्थितिमद्वस्तुधर्मत्वेनैव क्रियात्वस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात्, "बुद्धिप्रकल्पिताभेदः क्रमिकव्यापारसमूहः क्रिया" इति शाब्दिकाभिधानस्यापि द्रव्यार्थतयाऽभेदसत्त्व एव तत्प्रकल्पनासम्भवसाक्षिण एकान्तक्षणिकपक्षशिरस्येव वज्रदण्डप्रहारदायित्वादित्यभिप्रायवानाह—नैतन्मन्तव्यमित्यादि (८), नैतन्मन्तव्यमित्यस्य ततोऽसिद्धो हेतुरित्यनन्तरमन्वय इति नासङ्गतिः॥ अन्यथा (१०) प्रादुर्भावादेश्चक्षुरादिबुद्धावप्रतिभासमानत्वे, निरालम्बनविज्ञा-

नमात्रोपगमेऽपि (२२३-१-११) योगाचाराभिमतबाह्यार्थनिरपेक्षसाकारज्ञानवादेऽपि, **तद्विकल्पोत्पत्ताविति** (१२), अनन्तरं स्वीक्रियमाणायामिति शेषः। **कुतस्तद्व्यवस्था** (१२) सन्तानान्तरस्वसन्तानपूर्वापरक्षणव्यवस्था, तदनुरोधेन तद्वास्तवत्वाङ्गीकारे चोत्पादादिविशिष्टानुभवव्यवस्थानुरोधेनोत्पादादेरपि वास्तवत्वं बलादेव सिद्ध्यति, **संवेदनाद्वैतोपगमे**ऽपि (१२) **माध्यमिकदृष्ट्या** सन्तानान्तरस्वसन्तानाद्यन्तक्षणरहितमध्यमक्षणमात्रविश्रान्तज्ञानस्वीकारेऽपि, **स्वतो गताविति**, (१३) अभ्युपगम्यमानायामिति गम्यम्, **निरन्वयमविनाश** इति (२२३-२-१) सान्वयविनाशस्वीकार इत्यर्थः। **कथमिदानी** (३) **मिति** न चानुत्पन्नस्य स्थितिविपत्ती इति पूर्वमुक्तत्वादिति भावः। **अन्यथानवस्थाना** (७) **दिति** सुनयार्पितस्यैकस्यैव भङ्गस्य सप्तभङ्गीत्वप्राप्तौ मर्यादालक्षणस्यावस्थानस्याभावादित्यर्थः, यद्वा त्रिधावपि त्रिध्यन्तरादिविकल्पप्राप्तावनवस्थानं बोध्यम्। **न चासौ सप्तभङ्गीविधावसमारूढ** (९) इति। यद्यपि सप्तभङ्गीविधिसमारूढत्वं सुनयार्पितत्वं वा नार्थक्रियाकारितावच्छेदकम्, तद्रूपाज्ञानेऽपि पुरोवर्त्तिनीष्टतावच्छेदकरूपवैशिष्ट्यज्ञानादेव रजतादौ प्रवृत्तिदर्शनात्, नापि सप्तभङ्गीविधिसमारूढत्वनियतं रजतारजतोभयरूपत्वं तथा, " सर्वस्योभयरूपत्वादिष्टानिष्टाव्यवस्थितौ ॥ अप्रवृत्तिनिवृत्तीदं जातं सर्वत्र ही जगत् ॥ १ ॥ इति **मण्डनमिश्रकृतपूत्कारप्रत्युत्तरादानेन** तस्यारण्यरुदितत्वप्रसङ्गात्। स्वरूपपररूपाभ्यामसङ्करोक्त्या तत्पूत्कारनिवारणे च नियतैकरूपस्यैवार्थक्रियाकारितावच्छेदकत्वव्यवस्थितेः, तथापि सर्वस्य ज्ञानस्य प्रवर्त्तकत्वेऽगृहीताप्रामाण्यकत्वस्य तन्त्रत्वात् प्रवर्त्तकज्ञानाप्रामाण्यविघटनाय सप्तभङ्गीविधिसमारूढत्वमुपयुज्यत इति युक्तं पश्यामः। यद्यपि प्रामाण्येऽपि लोकसिद्धे तद्वति तत्प्रकारकत्वमात्रं तन्त्रम्, न तूक्तं सप्तभङ्गीविधिसमारूढत्वम्, तथापि लोको-

त्तरप्रामाण्ये सप्तभङ्गबोधकतापर्याप्त्यधिकरणत्वस्य तन्त्रत्वात् सर्वत्र तदाश्रयणं युक्तमिति तत्र तत्र व्यवस्थापितमस्माभिरिति सर्वमवदातम्। 'नानोपाधीति' (२२४–१–६) नानोपाधीनां सत्त्वादिधर्माणामुपकाराङ्गभूता या शक्तिस्तदभिन्न आत्मा स्वरूपं यस्य तादृशस्य धर्मिणो ग्रहे, **सर्वात्मना** (६) धर्मिणा, **उपकार्यस्य** (६) धर्मकलापस्य, **को भेदोऽनिश्चितः स्यात्** (६) न कश्चिदित्यर्थः। एकस्य सत्त्वादिधर्मस्योपकारके ग्राह्ये तस्मिन् दृष्टे सर्वे उपकारा दृष्टाः। ततोऽपरे उपकारा न सन्ति, ये तस्मिन् दृष्टे न दृष्टा इति, तद्ग्रहे एकोपकारकग्रहे, बलात् सर्वोपकार्यग्रहः स्यात्। 'धर्मोपकारेत्यादि (१०)' धर्माणां या उपकारशक्तयस्तासां भेदेऽङ्गीक्रियमाणे, तास्तस्य धर्मिणः, किं स्युर्न स्युरित्यर्थः। यदि ततो (११) धर्मिणः सकाशात्, तासां धर्मोपकारशक्तीनाम्, उपकारो न, तथोपकारे च स्वीक्रियमाणे, उपकारशक्तिपरम्पराकल्पनेनानवस्थितिः (११) अनवस्था स्यादित्यर्थः ॥ २१ ॥

धर्मे धर्मेन्य एवार्थो धर्मिणोनन्तधर्मणः। अङ्गित्वेन्यतमान्तस्य शेषान्तानां तदङ्गता ॥ २२ ॥

धर्मी तावदनन्तधर्मा जीवादिः, प्रमेयत्वान्यथानुपपत्तेः। ननु च धर्मेण व्यभिचारः, तस्यानन्तधर्मत्वाभावेपि प्रमेयत्वसिद्धेः। तस्याप्यनन्तधर्मत्वे धर्मित्वप्रसङ्गान्न धर्मो नाम। तदभावे न धर्म्युभयापायः। प्रमेयत्वस्य च साधनधर्मस्यानन्तधर्मशून्यत्वे तेनैवानेकान्तः। तस्यानन्तधर्मत्वे धर्मित्वेन पक्षान्तःपातित्वान्न हेतुत्वम्। इत्युपालम्भो न श्रेयान्, धर्मस्यैव सर्वथा कस्यचिदसभवात्तेन व्यभिचाराभावात् साधनस्य। न हि स्वधर्म्यपेक्षया यो धर्म सत्त्वादिः स एव स्वधर्मान्तरापेक्षो धर्मी न स्याद्यतोनन्तधर्मा न भवेत्। न चैवमनवस्थानम्, अनाद्यनन्तत्वाद् धर्मधर्मिस्वभावभेदव्यवहारस्य वलयवदभव्यससारवद्वा। न च धर्मिणो जीवादेरपोद्ध्रियमाणो धर्मः प्रमेय, तस्य नय-

विशेषविषयतया प्रमाणाविषयत्वात्। इति न तेनानेकान्तः। एतेन प्रमेयत्वस्य धर्मस्य नयविषयस्य नेयत्वेनाप्रमेयत्वात्तेन व्यभिचारो निरस्तः। प्रमाणविषयस्य तु प्रमेयत्वस्य हेतोः स्वधर्मापेक्षयानन्तधर्मत्वेन धर्मित्वात्पक्षत्वेपि न हेतुत्वव्याघातः, स्वपरानन्तधर्मत्वे साध्येऽन्यथानुपपत्तिसद्भावात्। ततोनन्तधर्मा धर्मी सिद्ध्यत्येव। तस्य धर्मे धर्मेऽस्तित्वादौ भिन्न एवार्थः प्रयोजन विधानादिः प्रवृत्त्यादिर्वा तदज्ञानविच्छित्तिर्वा, न पुनरेक एव, येन प्रथमभङ्गादेवानन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनः प्रतिपत्तेः शेषधर्माणामानर्थक्यं प्रसज्येत। न च धर्मा धर्मिणोऽनर्थान्तरभूता एव, नाप्यर्थान्तरमेव, येन तत्पक्षभाविदूषणप्रसङ्गः, कथचिद्भेदाभेदात्मकत्वाद्धर्मिधर्माणा तदात्मकवस्तुनो जात्यन्तरत्वाच्चित्राकारैकसवेदनवत्, तत्र विरोधादेरप्यनवकाशात्। केवलमङ्गित्वे प्रधानत्वेऽस्तित्वादिषु धर्मेष्वन्यतमस्यान्तस्य धर्मस्य, शेषान्तानां स्याच्छब्दसूचितान्यधर्माणा तदङ्गता तद्गुणभावः, तथा प्रतिपत्तुर्विवक्षाप्रवृत्तेरर्थित्वविशेषात्। ततो भङ्गान्तरप्रयोगो युक्त एव, प्रतिधर्मं धर्मिणः कथंचित्स्वभावभेदोपपत्तेः। यदि पुनः प्रत्युपाधि परमार्थतः स्वभावभेदो न स्यात्तदा दृष्टेऽभिहिते वा प्रमाणान्तरमुक्त्यन्तरं वा निरर्थकं स्यात्, गृहीतग्रहणात् पुनरुक्तेश्च। तथा हि। साक्षादुपलब्धे शब्दादौ क्षणिकत्वाद्यनुमान स्वार्थं न स्यात्, धर्मिप्रतिपत्तौ कस्यचिदप्रतिपन्नस्वभावस्य साध्यस्याभावात्, सर्वथा स्वभावातिशयाभावात्। परार्थं चानुमानं वचनात्मकं न युज्येत, धर्मिवचनमात्रादेव साध्यनिर्देशसिद्धेः, साधनधर्मोक्तिसिद्धेश्च। तद्वचने पुनरुक्तताप्रसङ्गः, तस्य स्वभावातिशयाभावादेव। तस्माद्दृष्टस्य भावस्य दृष्ट एवाखिलो गुणः। भ्रान्तेर्निश्चीयते नेति साधनं सम्प्रवर्तते ॥१॥ इत्येतदप्यनालोचितवचनमेव, दृष्टस्य स्वभावस्य स्वभावातिशयाभावेऽखिलगुणदर्शनस्य विरोधात्, धर्मिमात्रेप्यभ्रान्तौ साध्ये स्वभावे भ्रान्त्ययोगात् तद्भ्रान्तौ वा शब्दसत्त्वादावपि भ्रान्तिप्रसक्तेः कुतः साधनं संप्रवर्तेत यतोऽर्थनिश्चयः स्यात्? शब्दसत्त्वादौ निश्चये कथमनित्यत्वादावनिश्चयः? स्वभावातिशयप्रसङ्गात्, निश्चितानिश्चितयोरेक-

स्वभावत्वे सर्वथातिप्रसङ्गात् । सदुत्पत्तिकृतकत्वादेः प्रत्यनीकस्वभावविशेषाभावाद् यावन्ति पररूपाणि तावन्त्यस्ततस्ततो व्यावृत्तयः प्रत्येकमित्येपापि कल्पना मा भूत् । न हि किंचिदसदनुत्पत्तिमदऽकृतकादि वा वस्तुभूतमस्ति सौगतप्रसिद्ध पररूपं यतो व्यावृत्तं परमार्थतोऽस्वभावभेदमपि शब्दादिस्वलक्षणं सदुत्पत्तिकृतकत्वादिस्वभावभेदवत्परिकल्प्यते। पराभ्युपगमात्सिद्धमस्तीति चेत्, न, तस्याप्रमाणसिद्धत्वात् । कल्पनारोपितं तदस्तीति चेत्, कुतस्तत्कल्पनाप्रसूतिः ? अनाद्यविद्योदयादिति चेत्, तत एव सत्त्वादिधर्मकल्पनास्तु, किमसत्त्वादिव्यावृत्त्या ? सदेव किंचिद्गुणीभूतविधिस्वभावं निषेधप्राधान्यादसदुच्यते, सदन्तरविविक्तस्य सत एवासत्त्वव्यपदेशात् । तथोत्पत्तिमदन्तरविविक्तमुत्पत्तिमदेव किंचिदनुत्पत्तिमत्, कृतकान्तरविविक्तं कृतकमेवाकृतकम्, वस्त्वन्तरविविक्तं वस्त्वेवावस्तु व्यवहृतिपथमुन्नीयते इति चेत्, न, परमार्थतः सत्त्वादिवस्तुस्वभावभेदप्रसिद्धेः, निरस्वभावभेदवस्तुरूपाभ्युपगमविरोधात्। सतां हि स्वभावानां गुणप्रधानभाव स्यात् पादोत्तमाङ्गवत्, न पुनरसता शशाश्वविषाणादीनामविशेषात् । ततः परिकल्पितव्यावृत्त्या धर्मान्तरव्यवस्थापनं परिफल्गुप्रायम्, वस्तुस्वभावाभावप्रसङ्गात्।शक्यं हि वक्तुम्, न किञ्चिद्वस्तु नामास्ति, तस्यावस्तुव्यावृत्त्या व्यवहरणात् परिकल्पितवस्तुव्यावृत्त्या चावस्तुव्यवहारसिद्धेः। परस्पराश्रयणान्नैवमिति चेत्, तर्हि कल्पितासत्त्वादिव्यावृत्त्या सत्त्वादयस्तद्व्यावृत्त्या चासत्त्वादिधर्मपरिकल्पनमित्यपि मा भूत्, परस्पराश्रयणाविशेषात्। स्ववासनासामर्थ्यात्सत्त्वेतरादिकल्पनयोरुत्पत्तेस्तद्व्यवहारस्यैव परस्परापेक्षत्वान्न परस्पराश्रयणम्, सकलधर्मधर्मिविकल्पशब्दानां स्वलक्षणाविषयत्वात् परिकल्पिततदन्यव्यावृत्तिविषयत्वसिद्धेरिति चेत्, न, तथेन्द्रियबुद्धयोपि स्वलक्षणविषया मा भूवन् । केवलं व्यावृत्ति पश्येयुः, अदृष्टे विकल्पायोगादतिप्रसङ्गाच्च । यथैव हि नीले पीतादीनामदृष्टत्वान्न तद्विकल्पोत्पत्तिर्नीलस्य दृष्टत्वान्नीलविकल्पस्यैवोत्पत्तिस्तथैवासत्त्वादिव्यावृत्तिमपश्यतस्तद्विकल्पोत्पत्तिर्मा भूत्, स्वलक्षणदर्शनात्स्वलक्षणवि-

कल्पोत्पत्तिरेवास्तु, न चैवं, तदन्यव्यावृत्तावेव विकल्पोत्पत्तेः। यदि पुनरसत्त्वादिव्यावृत्तीनामदर्शनेपि तदनादिवासनावशादेव तद्विकल्पोत्पत्तिरुररीक्रियते तदा नीलादिरूपादर्शनेपि तद्वासनासामर्थ्यादेव नीलादिविकल्पोत्पत्तेस्ततो नीलादिरूपव्यवस्था मा भूत्। तद्वत्सुखादिव्यवस्थितिरपि कुतः सभाव्येत? स्वसंवेदनव्यवस्था च तन्निश्चयोत्पत्तेर्दुर्घटैव। तदनुत्पत्तौ सुतरां तदव्यवस्था स्वर्गप्रापणशक्त्यादिवद्वेद्याकारविवेकवद्वा। स्वरूपस्य स्वतो गतिरित्यपि तथा निश्चयानुत्पत्तौ न सिद्ध्येद्ब्रह्माद्वैतादिवत्। ततः कुतश्चिन्निश्चयाद्वस्तुस्वभावभेदव्यवस्थाया सत्त्वादिनिश्चयाद्वस्तुनि परमार्थतः सत्त्वादिधर्मभेदव्यवस्थितिरभ्युपगन्तव्या, अन्यथा कचिदपि व्यवस्थानासिद्धेः।

परमार्थतः सत्त्वादिधर्मव्यवस्थितौ च सत्यां साधीयसी सत्त्वादिसप्तभङ्गी, सुनयार्पितत्वात् ॥ २२ ॥

'धर्मस्यैवेति' (२२५-२-१२) द्रव्याभिन्नपदार्थान्तरीभूतधर्माभ्युपगम एव हि व्यभिचारः स्यात्, स तु नास्माकं विवक्षानुसारित्वाद्धर्मधर्मिभावस्येति नोक्तदोषोपनिपात इति भावः। 'न हीति' (१३) न चैवं सत्त्वादीनां प्रमेयत्वाद्यपेक्षया धर्मित्वे 'निर्गुणा गुणा' इति प्रवादो व्याहन्येतेति वाच्यम्, द्रव्यत्वनियामकसम्बन्धेन गुणे गुणाभावेऽपि सम्बन्धान्तरेण तदुपगमे दोषाभावात्। न चाभेदैक्ये सम्बन्धाविशेषः, घटाभावे घटाभाव इति वत् घटे घट इति प्रतीत्यभावेन यथाप्रतीत्यभेदशक्तीनामपि नानात्वोपगमादिति द्रष्टव्यम्। 'न चैवमिति' (१३) एवं धर्मस्यानन्तधर्मप्रकारैर्द्धर्मित्वे धर्मिणश्चानन्तधर्म्यपेक्षया धर्मत्व इत्यर्थः। 'वलयवदिति' (१४) भ्रमणकाले वलयस्य पूर्वभागो यथा भवत्यपरोऽपरश्च पूर्वस्तद्वदित्यर्थः, अभव्यसंसारवद्वेति (१४) यथाऽभव्यस्य तत्तत्संसारपर्यायैर्गृहीतमुक्तैर्नानवस्थितिस्तद्वदित्यर्थः, अनेन दृष्टान्तद्वयेन धर्मधर्मिभावानवस्थायाः प्रामाणिकत्वाददोषत्वमित्युक्तं भवति, धर्मिणो बुद्ध्या पृथक्कृते धर्मे व्यभिचारमाशंक्य निषेधति–न च धर्मिण (१४)

इति, तत्र नेयत्वेऽपि प्रमेयत्वाभावान्न व्यभिचार इत्यर्थः । अनयैव रीत्या प्रमेयत्वेऽपि न व्यभिचारः, विशिष्टधर्मावच्छि-न्नाधिकरणताकाभावाभ्युपगमान्नेयत्वविशिष्टप्रमेयत्वे प्रमेयत्वाभावाद् व्यभिचारलक्षणे साध्याभावतद्वद्वृत्तित्वयोरेकावच्छेद-प्रवेशेन नानतिप्रसङ्गाच्चयद्दृष्ट्या वैज्ञानिकसम्बन्धगर्भत्वाद्वा तस्येत्यभिप्रायवानाह–एतेनेति' (२२६-१-१) शुद्धप्रमेयत्वस्य तु पक्षान्तर्भूतत्वादेव तत्र न व्यभिचार इत्याह–प्रमाणविषयस्य त्विति (२) इदमापाततः, निष्कृष्टरीत्या शुद्धेऽपि तत्राव्यभिचा-रादिति बोध्यम्। पक्षत्वेऽपि हेतुत्वाव्याहतौ प्रकारमाह–'स्वपरानन्तेत्यादि' (२) साध्यान्यथानुपपन्नत्वमेव हेतुत्वप्रयोजकम्, न तु पक्षबहिर्भूतत्वमपि, पृथिवीत्वस्येव तादात्म्येन पृथिव्याः पृथिवीतरभेदहेतुत्वप्रसिद्धेरिति न कोऽपि दोष इति भावः । विधानादिः (३) अभिलापादिः, मवृत्त्यादिः (३) तत्प्रकारकेच्छाप्रयोज्यप्रयत्नादि', तदज्ञानविच्छित्तिः (४) संस्कार-विशेषाधानम्, तद्गुणभावः (७) सामान्यस्य धर्मित्वे प्रकृतेतरानन्तधर्मात्मकत्वस्य संसर्गतया भानात् संसर्गघटकत्वेनाप्रधा-नत्वम्, स्वेतरानन्तधर्मसंवलितत्वेन प्रकृतधर्मभानाभ्युपगमे तु विशेषणतया तेषामेवापोद्धारेण धर्मित्वविवक्षायां तु प्रकारतया-ऽभासमानत्वेनेति बोध्यम् । स च प्रतिपत्तृविवक्षाधीन इति तत्त्वम् । युक्त एवेति (७) प्रकारभेदेन भङ्गान्तरबोधस्य वैलक्ष-ण्यात् स्वजन्यबोधसमानाकारबोधवैधुर्यलक्षणाया आकाङ्क्षाया अक्षतत्वादिति भावः, तदाह–'प्रतिधर्मोमिति' (७) स्वभाव-भेदोपपत्तेरिति (८) "अर्थेनैव धियां विशेष" इति न्यायात्, तथाप्रकारस्वभावभेदे सत्येव तथाप्रकारस्वभावज्ञानोपपत्तेरि-त्यर्थः। व्यतिरेके बाधकमाह–यदि पुनरित्यादिना (८), भ्रान्तैः (१२) भेदवासनाजनितभ्रमशालिभिः। 'विरोधादिति' (१३) एकधर्मिविषयकज्ञाने अनेकगुणाभेदविषयकत्वस्यैकत्र धर्मिण्यनेकगुणात्मकत्वस्य च विरोधग्रस्तत्वादिति भावः। वस्तुगत्याऽस्ति-

लगुणात्मकस्यैकस्य भावस्य दृष्टावपि तत्त्वेनादर्शनान्न विरोध इत्याशङ्क्याह—'धर्मिमात्रेऽपीत्यादि' (२२६-१-१३) न हि शब्द-दर्शने धर्म्यंशेऽभ्रान्तत्वं क्षणिकत्वाद्यंशे च भ्रान्तत्वमिति तत्साधनाय प्रवृत्तिरिति वक्तुं युक्तम्, निरंशे वस्तुन्यांशिकभ्रमत्वप्रमात्व-योर्दुर्वचत्वादिति भावः। स्वभावातिशयप्रसङ्गा (१४) दिति ज्ञानाकारभेदस्यार्थाकारभेदनियतत्वादिति भावः। यद्यपि पदा-र्थस्य स्वतः स्वभावातिशयो नास्ति तथापि विजातीयभेदात् स्वभावातिशयो भविष्यतीत्याशङ्कायामाह भाष्यकृत्—सदुत्पत्ती-त्यादि (२२६-२-१)॥ तत एवेति (४) असत्त्वादिव्यावृत्त्यपेक्षया लाघवात् सत्त्वादेरेवाविद्याविशेषजन्यत्वकल्पनौचित्यादिति भावः। अत एव त्रिविधं सत्त्वमौपनिषदानामिष्टमिति मन्तव्यम्। यदि च तत्त्वज्ञानदशायामपि सत्त्वाद्यनुभवान्न तस्याऽऽ-विद्यकत्वम्, तदाऽस्तु प्रमाणसिद्ध एवानन्तगुणात्मकस्वभावभेदो धर्मिणः, तत्त्वज्ञानिभिस्तथानुभवादिति बोध्यम्। सदन्तरेति (५) सदन्तरं यद् घटवद्भूतलं ततो विविक्तस्य, केवलस्य भूतलस्य, असत्त्वव्यपदेशात् (५) घटाभावत्वेन व्यवहारादित्यर्थः, तथा च शब्दाद्यात्मनानुत्पत्तिमद् घटादि प्रसिद्धं तद्व्यावृत्त्योत्पत्तिमत्त्वं शब्दे सुवचमिति भावः। एवमग्रेऽप्यतद्व्यावृत्ति-प्रसिद्धिर्विशेषादेशेन वाच्या। निःस्वभावेति (७) निषेधस्य विध्यवच्छिन्नत्वाद्विधिस्वभावभेदाभावे निषेधस्वभावभेदस्य दूरापास्तत्वादिति भावः। 'सतां हीति' (७) गुणप्रधानभावो हि वैवक्षिकः, विवक्षा च सत्येव वस्तुनि नासतीति विधेय-निषेधयोरन्यतरप्रधानगुणभाव उभयस्वभावभेदमेवाक्षिपतीति भाष्यप्रतीकार्थः। 'तद्व्यवहारस्यैवेति' (११) व्यवहारा-न्योन्याश्रयश्चानादित्वाददोषः, यत्प्रतियोगिकत्वं यत्र नोपस्थितं तत्र विश्रामेण ज्ञप्त्यप्रतिबन्धाद्वेति मन्तव्यम्। ततो (२२७-१-२) नीलादिविकल्पोत्पत्तेः, तद्वत् (२) नीलादिरूपव्यवस्थावत्, सुखादिव्यवस्थितिरपि कुतः सम्भाव्येत? (२)।

न कुतश्चित्, असतोऽपि नीलादेः सुखादेश्चासत्त्वादिव्याप्तिवद्वासनावशाद्विकल्पोत्पत्तेः सम्भवादित्यर्थः । दुर्घटैवेति (३) स्वसंवेदनत्वप्रकारकनिश्चयस्याप्यदृष्टासद्विषयकत्वसम्भावनादित्यर्थः । तदनुत्पत्तौ सुतरामिति (३) स्वसंवेदनत्वप्रकारकनिश्चयाभावे तदंशे दर्शनाप्रामाण्यस्य स्फुटत्वादिति भावः । तदाह, स्वर्गप्रापणेत्यादि (३) ॥ २२ ॥

सम्प्रत्येकानेकत्वादिसप्तभङ्गयामपि तामेव प्रक्रियामतिदिशन्तः सूरयः प्राहुः ।—

एकानेकविकल्पादावुत्तरत्रापि योजयेत् । प्रक्रियां भङ्गिनीमेनां नयैर्नयविशारदः ॥ २३ ॥

स्यादेकमेव स्यादनेकमेवेति विकल्प आदिर्यस्य स एकानेकविकल्पादिः, तस्मिन्नुत्तरत्रापि स्याद्वादविशेषविचारेऽपि, प्रक्रियामेनामन्वादिष्टा, भङ्गिनी सप्तभङ्गाश्रया, नयैर्यथोचितस्वरूपैर्योजयेत्–युक्तां प्रतिपादयेत् नयविशारदः स्याद्वादी, ततोऽन्यस्य तद्योजनेऽनधिकारात् । तद्यथा । स्यादेकं सद्द्रव्यनयापेक्षया । न हि सत्पर्यायनयापेक्षया सर्वथा वा सर्वमेकमेवेति युक्तम्, प्रमाणविरोधात् । ननु च सद्द्रव्यनयार्पणादपि जीवादिद्रव्यमेकैकश एवैकं सिध्येत्, न तु नानाद्रव्यम्, प्रतीतिविरोधात्, तत्रैकत्वप्रत्यभिज्ञानाभावात् सर्वत्रैकत्वस्य तन्मात्रसाध्यत्वादन्यथातिप्रसङ्गादिति कश्चित् । तं प्रत्येके समादधते ' सदेव द्रव्यं सद्द्रव्यं, तद्विषयो नयः सङ्ग्रहः परमः । तदपेक्षया सर्वस्यैकत्ववचनाददोष इति ॥१॥ अपरे तु ' सद्द्रव्यमेव नयः, नीयमानत्वाद्धेतोः, तदपेक्षया सर्वमेकं, जीवादीनां षण्णां तद्भेदप्रभेदाना चानन्तानन्तानां तत्पर्यायत्वात् ' एकं द्रव्यमनन्तपर्यायम् ' इति सङ्क्षेपतस्तत्त्वोपदेशात्, तस्य सर्वत्र सर्वदा विच्छेदानुपलक्षणात् प्रतीतिविरोधाभावादेकत्वप्रत्यभिज्ञानस्यापि सदेवेदमित्यबाधितस्य सर्वत्र भावात्, अभावस्यापि तत्पर्यायत्वान्न किञ्चिद्दूषणम् ' इति समाचक्षते । ननु च जीवादयो विशेषाः परस्पर व्यावृत्तविवर्त्ताः कथमेक द्रव्यं विरोधादिति चेत्, न, कथंचिदेकत्वेन विरोधाभावात्

कथंचिद्विशिष्टप्रतिभासात् । यद्यपि ते विशेषाः परस्परव्यावृत्तपरिणामाः कालादिभेदेपि सद्रूपाविशिष्टाश्चित्रज्ञाननीलादिनिर्भासवत् । यथा हि चित्रप्रतिभासाप्येकैव बुद्धिः, बाह्यचित्रविलक्षणत्वात् । शक्यविवेचनं हि बाह्यचित्रमशक्यविवेचनाश्च बुद्धेर्नीलाद्याकारा इति चित्रज्ञानमशक्यविवेचन नीलादिनिर्भासभेदेप्येकमिष्यते, तथा जीवादिविशेषभेदेप्येकं सद्द्रव्यम्, कालभेदेपि सद्रूपादशक्यविवेचनत्वात्, देशभेदेपि वा ततस्तेषा विवेचयितुमशक्तेराकारभेदवत्, ततस्तेषां कदाचित्कचित्कथंचिदपि विवेचने स्वरूपाभावप्रसङ्गात् । सामान्यविशेषसमवायवत्प्रागभावादिवद्वा सद्रूपाद्विवेचनेपि जीवादीनां नाभाव इति चेत्, न, तेषामपि सद्विवर्तत्वात् सद्रूपविवेचनासिद्धेः, अन्यथा प्रमेयत्वायोगादवस्तुत्वप्रसक्तेः, सर्वथा सत्त्वाद्भिन्नस्यासत्त्वनिर्णयात् । ततो जीवादिविशेषाः कालादिभेदेपि स्यादेकं द्रव्यम्, सद्रूपाविशिष्टत्वान्नीलादिनिर्भासभेदेपि ज्ञानरूपाविशिष्टत्वादेकचित्रज्ञानवत् ॥ इति प्रथमो भङ्गः (१) ॥

तथा जीवादिविशेषाः स्यादनेकत्वमास्कन्दन्ति, भेदेन दर्शनात् संख्यासंख्यावदर्थवत् । न हि सख्यासंख्यावतोर्भेदेनादृष्टौ विशेष(षे)णविशे(शि)ष्यविकल्पः कुण्डलिवत् क्षीरोदकवदतद्वेदिनि, यतः सौगतस्तयोरभेदं मन्येत । न च भेदैकान्ते तद्वत्ताऽस्ति, व्यपदेशनिमित्ताभावात् । सख्यावानर्थ इति व्यपदेशनिमित्तं समवाय इति चेत्, न, तस्य कथंचित्तादात्म्यरूपत्वे भेदैकान्तासिद्धेर्वैशेषिकमतविरोधात् । पदार्थान्तरत्वे संख्यासख्यावतोः समवाय इति व्यपदेशनिमित्ताभावः । विशेषणविशेष्यभावो व्यपदेशनिमित्तमिति चेत्, न, तस्यापि ततो भेदे व्यपदेशनिमित्तान्तरापेक्षणात्पर्यनुयोगानिवृत्तेरनवस्थाप्रसङ्गाच्च । तस्मादयं कथंचिदेव संख्यासंख्यावतोः स्वभावभेद पश्यति, तद्विशिष्टविकल्पनात्कचिन्निर्णयेप्यन्यत्र संशयाद्वर्णरसादिवदिति । तदेवं सर्व सिद्धं स्यादनेकम् ॥ इति द्वितीयो भङ्गः (२) ॥

क्रमार्पितद्वयात्स्यादुभयम् (३) ॥ सहावक्तव्य, वक्तुमशक्तेः (४) ॥ स्यादेकावक्तव्यं, स्वलक्षणस्यैकस्य वक्तुमशक्यत्वात्

(५) ॥ स्यादनेकावक्तव्य, तस्यानेकस्यापि वक्तुमशक्तेः (६) ॥ तत एव स्यादुभयावक्तव्यम् (७) ॥ इति सप्तभङ्गीप्रक्रियायोजनमतिदेशवचनसामर्थ्यादवसीयते ॥ तत एव चैकत्वमेकधर्मिणि स्वप्रतिषेध्येनानेकत्वेनाविनाभावि, विशेषणत्वाद्वैधर्म्याविनाभाविसाधर्म्यवद्धेतौ । अनेकत्वं स्वप्रतिषेध्येनैकत्वेनाविनाभावि, विशेषणत्वात् साधर्म्याविनाभाविवैधर्म्यवद्धेतौ । एवं तदुभयादयोऽपि स्वप्रतिषेध्येनाविनाभाविनो विशेषणत्वाद्विशेष्यत्वाच्छब्दगोचरत्वाद्वस्तुत्वाद्वा स्वसाध्येतरापेक्षया हेत्वहेत्वात्मकसाधनधर्मवदित्यपि नययोजनमविरुद्धमवबोद्धव्यम् । विशेषणत्वादेः साधनधर्मस्यापि स्वविशेष्यापेक्षया विशेषणस्य स्वप्रतिषेध्येनाविनाभावित्वसिद्धेर्न तेन विशेषणत्वादिहेतोर्व्यभिचारः । नापि विशेष्यत्वस्य, स्वविशेषणापेक्षया विशेष्यस्यापि स्वप्रतिषेध्येनाविनाभावित्वात् । शब्दगोचरत्वस्य च शब्दान्तरागोचरस्य स्वप्रतिषेध्येनाविनाभावित्वात्, वस्तुत्वधर्मस्य च वस्त्वंशत्वेन वस्तुत्वरूपस्य तत एव व्यभिचारित्वाशङ्कापि न कर्तव्या, अनेकान्तवादिना तथाप्रतीतेर्विरोधाभावात् । एवमेकत्वानेकत्वाभ्यामनवस्थितं सप्तभङ्गयामारूढं जीवादिवस्तु, कार्यकारित्वान्यथानुपपत्तेः । सर्वथैकान्ते क्रमाक्रमाभ्यामर्थक्रियाविरोधादित्याद्यपि योजनीयम् ॥ २३ ॥

प्रज्ञाधीशप्रपूज्योज्ज्वलगुणनिकरोद्भूतसत्कीर्तिसम्प–द्विद्यानन्दोदयायाऽनवरतमखिलक्लेशनिर्णाशनाय।
स्ताद्गौः सामन्तभद्री दिनकररुचिजित्सप्तभङ्गीविधीद्धा, भावाद्येकान्तचेतास्तिमिरनिरसनी वोऽकलङ्कप्रकाशा ॥१॥

इत्याप्तमीमांसालङ्कृतौ प्रथमः परिच्छेदः ॥

परम इति (२२८-२-१०) परैर्ज्ञानिभिर्मीयत इति परमः सर्वशुद्ध इति यावत्। 'तदपेक्षयेति' (१०) तथा च व्यवहारैकत्वस्य प्रत्यभिज्ञामात्रप्रमाणकत्वेऽपि तदभावेऽपि सङ्ग्रहबुद्धिकृतस्य सर्वद्रव्यगतैकत्वस्य न दुष्टत्वमित्युक्तं भवति। अत्र च व्यवहाररूपापेक्षाधीकृतमेकत्वं तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नम्, सङ्ग्रहकृतं च तद्वृत्तिजात्यवच्छिन्नम्, प्रतियोग्यनुयोगिवाचकपदसत्त्वेऽन्यथा च शुद्धं सामान्यधर्मिणि प्रतीयते, सोऽयं तज्जातीयोऽयं सर्वो घट एकः सर्वमेकमित्यादिप्रयोगादिति विवेकः। अथ सङ्ग्रहबुद्धिकृतमेकत्वं कथं सङ्ग्रहबुद्धेर्विषयः स्यादिति चेत्, अनादित्वेनायं दोषः परिहरणीयः। पूर्वपूर्वसङ्ग्रहबुद्धिकृतस्यैकत्वस्योत्तरोत्तरसङ्ग्रहबुद्ध्या विषयीकरणसम्भवात् द्वित्वादिवदऽस्यैकत्वस्यापेक्षाबुद्धिव्यङ्ग्यत्वपक्षे तु नात्राशङ्कापदप्रसरोऽपि, यथा चैकत्वद्वित्वादेः कथञ्चिदपेक्षाबुद्धेर्व्यङ्ग्यत्वं जन्यत्वं च तथा व्यवस्थापितमस्माभिर्नयामृततरङ्गिण्यां महता प्रबन्धेनेति तत एव तदवगन्तव्यम्। 'अपरे त्विति' (११) न परेऽपरे सङ्ग्रहनयमवलम्ब्यातिपरिणामेन प्रवृत्ता वेदान्तिन इत्यर्थः। तन्मत एव सकलभेदप्रपञ्चस्य बाधावधीभूतसद्ब्रह्मोपादानकत्वादिति ध्येयम्। स्याद्वादावष्टम्भे पुनरेतन्मतं न क्षोदक्षमम्, जीवादिभेदानां त्रैलक्षण्यान्वितत्वेन कथञ्चित्कार्यत्वे तदुपादाने सतीष्यमाणे तदन्तर्भावेनापि कार्यत्वस्य सदन्तरोपादानत्वस्य च कल्पनायामनवस्थाप्रसङ्गादूर्ध्वतासामान्यस्यैकस्य खण्डशो भावेऽपि व्याप्त्या तदयोगात्, अन्यथा तस्य जीवाजीवोभयात्मकत्वेन तृतीयराशिप्रसङ्गात्, यदि चेदमेकत्वं न द्रव्यत्वापादकं किन्तु सर्वाधारत्वापादकमिति नोक्तदोष इति विभाव्यते, तदा प्राचीनमतस्यैवायं पुनः प्रसवः, बुद्धिप्रत्यासत्त्या नगरादिवदेकत्वेन विवक्षितस्य सद्द्रव्यस्य जीवादिभेदाधिष्ठानत्वोपपादनात्, एवं सत्यनपेक्षितद्रव्यार्थिकनयाभिमतं वर्त्तनाहेतुः कालाख्यमेन सद्द्रव्यमुपतिष्ठते, युक्तं चैतत्, कालस्वरूपेश्वरवादिनये

सकलभेदोपादानत्वेन कालस्वरूपस्य सद्द्रव्यस्येश्वरत्वोक्तौ सकलनयमये भगवत्प्रवचने दोषाभावात्, विवेचितं चैतत्तत्त्वं तर्कानुसारिण्यां तत्त्वार्थटीकायामस्माभिः ॥ कथञ्चिद्विशिष्टप्रतिभासात् (२२९-१-१) वौद्धैकत्वानुविद्धभेदप्रतिभासादित्यर्थः । विशिष्यत इति विशिष्टं भेदः, उक्तमेव कथञ्चित्प्रतिभासं भाष्येण समर्थयन्नाह–'यद्यपीति' (२२९–१–१) यद्यपीत्युक्तेः कालादिभेदेऽपीत्यत्र तथापीति गम्यम् । बाह्यचित्रविलक्षणत्वात् (२) ग्राह्यनानारूपभिन्नत्वात्, शक्यविवेचनं हीति (२) भिन्नधर्मिकत्वादेकत्रापि च धर्मिणि स्फुटावच्छेदकभेदादित्यर्थः । अशक्यविवेचनाश्चेति (२) अस्फुटावच्छेदकत्वादित्यर्थः । विवेचने (४) सत्त्वात् पृथक्कृत्य विवक्षणे, सामान्येति (४) पराभिमतसामान्यादिवदित्यर्थः । यथा हि पराभिमतः सामान्यादिपदार्थः सत्त्वाभावान्निःस्वरूपस्तथा सत्त्वाद्विविक्तो जीवादिः स्यादिति तत्त्वम् । सद्विवर्त्तत्वात् (५) सद्विशेषत्वात्, विशेषे च सर्वथा सामान्यभेदस्यासम्भवादित्यर्थः । विशे(शि)ष्यविकल्पः (९) इदमेतदिदं चैतदिति विभज्य निश्चयः । व्यपदेशनिमित्ताभावः (११) पदार्थान्तरभूतस्य समवायस्यैकत्वेनाभ्युपगमात् सङ्ख्यावत्येव सङ्ख्यासमवायो नान्यत्रेति नियामकाभावादित्यर्थः । विशेषणविशेष्यभावः (११) आधाराधेयभावः, तथा च समवायस्यैकत्वेऽपि समवायसम्बन्धावच्छिन्नतत्तदाधारताया अतिरिक्तत्वान्नातिप्रसङ्ग इति भावः, तस्या अप्यतिरिक्तत्वे तत्सम्बन्धान्तरगवेषणयाऽनवस्था, अनतिरिक्तत्वे तु तादात्म्यमेव सम्बन्धतयाऽवश्यमाश्रयणीयमित्यभिप्रायवानाह-तस्यापीत्यादि (११)॥ अयं (१२) सौगतौ वैशेषिको वा, वर्णरसादिवदिति (१३) यथैकत्र मातुलिङ्गे वर्णरसयोर्भेदेन सत्त्वमेकस्य निर्णयेऽप्यन्यस्य संशयात्तथा सङ्ख्यासङ्ख्यावतोरित्यर्थः, क्रमार्पितद्वयात् स्यादुभयमित्यादि (१४) भङ्गयोजनं प्राग्वदुपयुज्य विधेयमिति श्रेयः ॥ २३ ॥

विततविधिनिषेधैकत्वनैकत्वमार्ग-प्रसृतनयतरङ्गा सप्तभङ्गी श्रवन्ती ।
इयमुरुगमभङ्गोत्क्षिप्तबाधद्रुमौघा, जयति मुनिमरालैः सर्वतः सेव्यमाना ॥ १ ॥

षट्तर्काम्बुधिसम्प्लवव्यसनितां व्यालोडनं दिक्पट-
ग्रन्थानां सितवाससां च समये निःशङ्कसङ्क्रीडनम् ।
जानन्तु प्रतिवादिनः सहृदयाश्चानन्दिनः सन्त्वितः, ।
सम्भाव्येति कृतो विनोदरसिकैरस्माभिरेषः श्रमः ॥ २ ॥

इति शाहिश्रीअकब्बरप्रदत्तजगद्गुरुबिरुदधारकभट्टारकश्रीहीरविजयसूरीश्वरशिष्यशिरःकोटीरहीर-महोपाध्यायश्रीकल्याणविजयगणिशिष्यावतंसपंडितश्रीलाभविजयगणिशिष्यमुख्यपंडितश्रीजीतविजय-गणिसतीर्थ्यालङ्कारपंडितश्रीनयविजयगणिचरणकमलचञ्चरीकेण पण्डितश्रीपद्मविजयगणिसहोदरेण महो-पाध्यायश्रीयशोविजयगणिना विरचितेऽष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणे प्रथमः परिच्छेदः ॥

॥ अष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणे प्रथमः परिच्छेदः समाप्तः ॥



॥ ॐ ॥

॥ आप्तमीमांसा—तद्भाष्यसंवलिताष्टसहस्रीवृत्तिसमन्विताष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणे—

॥ द्वितीयः परिच्छेदः ॥

श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः । विज्ञायते ययैव स्वसमयपरसमयसद्भावः ॥ १ ॥

अद्वैतैकान्तपक्षेपि दृष्टो भेदो विरुध्यते । कारकाणां क्रियायाश्च नैकं स्वस्मात्प्रजायते ॥ २४ ॥

सदाद्येकान्तेषु दोषोद्भावनमभिहितमाचार्यैः केवलमद्वैतैकान्ताभ्युपगमात्, न तावतानेकान्तसिद्धिरिति चेत्, न, प्रत्यक्षादिविरोधात् । न हि कस्यचिदभ्युपगममात्रं प्रमाणसिद्धं क्रियाकारकभेदं प्रतिरुणद्धि, क्षणिकाभ्युपगमवत् । नन्विदमयुक्तमेव संलक्ष्यते । "अद्वैतं ह्यैकात्म्यं, द्वाभ्यामित द्वीतं, द्वीतमेव द्वैतं, न द्वैतमद्वैतम्" इति व्याख्यानात् । तस्यैकान्तस्तदेवेत्यभिनिवेशः । तस्य पक्षः प्रतिज्ञाभ्युपगममात्रम् । तस्मिन्नपि दृष्टः साक्षात्कृतोऽनुमितश्च कारकाणा कर्त्रादीनां क्रियायाश्च स्थानगमनादिरूपाया निष्परिस्पन्दस्वभावायाः परिस्पन्दरूपायाश्च भेदः प्रत्यक्षेणानुमानेन च विरुध्यते, तदभ्युपगममात्रस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धक्रियाकारकभेदप्रतिरोधित्वासभवात् क्षणिकत्वाभ्युपगमवदिति तात्पर्यव्याख्यानमकलङ्कदेवानाम् ॥ न हि कारकभेदः प्रत्यक्षादिनाऽद्वैतेपि विरुध्यते, पादपस्यैकस्य युगपत्क्रमेण वा कर्त्राद्यनेककारकात्मकत्वप्रतीतेः ? क्रियानानात्वमप्येकस्य तथैव न प्रतिषिध्यते, देशाद्यपेक्षया गमनागमनयोः स्थानशयनयोर्वा सकृदपि निश्च-

यात् । तद्वदेकमपि परब्रह्म सकलक्रियाकारकभेदात्मकतया न विरोधमध्यास्ते, तथा प्रतिभासवैचित्र्येऽप्येकत्वाव्याघातान्चित्रज्ञानवदित्यपर., सोऽप्येव प्रष्टव्यः । क्रियाकारकभेदप्रपञ्चः किमजन्मा जन्मवान्वा ? न तावदजन्मा, कादाचित्कत्वात्, यस्त्वजन्मा स न कादाचित्को यथात्मा, कादाचित्कश्चायं, तस्मान्नाजन्मेति बाधकसद्भावात्। जन्मवाँश्चेत्, कुतो जायते इति वक्तव्यम्? परमपुरुषादेवेति चेत्, कथमद्वैतसिद्धिः? कारणकार्ययोर्द्वैतप्रसिद्धेः। क्रियादिकार्यस्य ब्रह्मणोऽनन्यत्वादद्वैतमेवेति चेत्, कथ स्वस्मादेव तस्य जन्म युज्यते? कथं च कार्यादभिन्नस्य ब्रह्मणोऽकार्यत्वम्? यतो नित्यत्वं स्यात्। परस्माज्जायते इति चेत्, द्वैतसिद्धिः, पुरुषात्परस्य क्रियाकारकभेदहेतोरभ्युपगमात्। परस्यानाद्यविद्यारूपत्वादकिञ्चिद्रूपस्य द्वितीयत्वायोगान्न द्वैतसिद्धिरिति चेत्, कथमकिंचिद्रूपस्य कारणत्वम्? कार्यस्याप्यकिंचिद्रूपत्वाददोष इति चेत्, किमिदानीं खरविषाणादश्वविषाणस्य जन्मास्ति?, नेति चेत्, कथमविद्यात्मनः कारणादविद्यात्मककार्यस्योत्पत्तिः? माहेन्द्रादिषु मायामयादेव पावकादेस्तथाविधधूमादिजन्मदर्शनाददोष इति चेत्, न, तत्रापि पावकधूमाद्योः सर्वथा मायामयत्वासिद्धेः। न हि तत्प्रतिभासयोर्मायारूपत्वम्, स्वसंवेदनसिद्धत्वात्। नापि बहिःसद्द्रव्यादिरूपयोर्मायास्वभावत्वम्, व्यभिचारित्वाभावात्। तद्विशेषाकारयोर्मायारूपत्वमिति चेत्, न, तद्विविक्तवस्तुव्यतिरेकेण मायायाः सभवाभावात्। तथा क्रियाकारकभेदप्रपञ्चाकारविविक्तपरब्रह्मव्यतिरेकेणाविद्यायाः सभवाभावे कथ वेदान्तवादिनामविद्यातः कार्यस्याविद्यात्मनो जनने स्वस्मादेव स्वस्य जन्म न भवेत्? तच्च प्रमाणविरुद्धं न शक्य व्यवस्थापयितुं नैरात्म्यवत्, क्रियाकारकभेदोय न स्वतो जायते परतो वा, अपि तु जायते एवेति सुषुप्तायते, प्रतिपत्त्युपायाभावात्, दृष्टेष्टविरोधप्रसङ्गात्। न हि किंचित्स्वस्मात् परस्माच्चाजायमान जन्मवदेव दृष्टमिष्टं वा, येन तथा प्रतिपत्त्युपायरहित ब्रुवाणः सुषुप्तमिवात्मान नाचरेत्। तस्माद्यद्दृष्टविरुद्धं तन्न समञ्जस यथा नैरात्म्यम्। विरुध्यते च तथैवाद्वैत क्रियाकारक-

भेदप्रत्यक्षादिभिः । एकस्मिन्नपि क्रियाकारकभेदप्रत्यक्षादेः संभवात् स्वप्नसंवेदनवत् कथमद्वैतं विरुद्धमिति चेत्, न, स्वप्नसंवेदनस्याप्येकत्वे तद्विरोधस्य तदवस्थत्वात्। तत्रान्यदेव हि क्रियाविशेषसवेदनं स्ववासनोत्थम्, अन्यदेव च कारकविशेषसवेदनं प्रत्यक्षमनुमानादि वा, न पुनरेकमेव, तद्धेतुवासनाभेदाभावप्रसङ्गात्, जाग्रद्दशायामिव स्वप्नादिदशायामपि पुंसोऽनेकशक्त्यात्मकस्य क्रियाकारकविशेषप्रतिभासवैचित्र्यव्यवस्थितेः । कस्यचिदेकरूपस्यात्मगगनादेरप्यनेकान्तवादिनामनेकक्रियाकारकविशेषप्रतिभाऽऽलम्बनत्वसिद्धेर्विरुद्धमेतत्प्रत्यक्षादिभिरद्वैतम्। न हि करोति कुम्भं कुम्भकारो दण्डादिना, भुङ्क्ते पाणिनौदनमित्यादिप्रत्यक्षं भ्रान्तम्, येनाद्वैतस्य विरोधकं न स्यात्। सर्वत्र क्रियाकारकादिरूपं कथंचिद्भिन्नम्, भिन्नप्रतिभासित्वान्यथानुपपत्तेरित्यनुमानं वा नाना जीवा इत्यादिप्रवचनं वा न विभ्रमाक्रान्तम्, येनाद्वैतं न विरुन्ध्यात्। स्यादाकूत 'विवादापन्नं प्रत्यक्षादि मिथ्यैव, भेदप्रतिभासित्वात् स्वप्नप्रत्यक्षादिवत्' इति, तदसत्। प्रकृतानुमाने पक्षहेतुदृष्टान्तभेदप्रतिभासस्यामिथ्यात्वे तेनैव हेतोर्व्यभिचारात्, तन्मिथ्यात्वे तस्मादनुमानात्साध्याप्रसिद्धेः। पराभ्युपगमात्पक्षादिभेदप्रतिभासस्यामिथ्यात्वे न दोष इति चेत्, न, स्वपराभ्युपगमभेदप्रतिभासेन व्यभिचारात्। तस्यापि पराभ्युपगमान्तरादमिथ्यात्वाद्दोषाभावे स एव तद्भेदप्रतिभासेन व्यभिचार इति न कचिद्व्यवतिष्ठेत। कश्चिदाह 'ब्रह्माद्वैतस्य संविन्मात्रस्य स्वतः सिद्धस्य क्रियाकारकभेदप्रत्यक्षादीनां बाधकस्य भावात्तेषां भ्रान्तत्वम्, ततो न तद्विरोधकत्वम्' इति, तदपि न साधीयः, तथा सति बाध्यबाधकयोर्भेदात् द्वैतसिद्धिप्रसङ्गात्। न च परोपगममात्रात्तयोर्बाध्यबाधकभावः, परमार्थतस्तदभावापत्तेः, प्रतिभासमात्रवत्प्रतिभासमात्रविशेषस्यापि सत्यत्वसिद्धेरनेकान्तव्यवस्थानात्। तदेकान्ततः पुरुषाद्वैतं प्रत्यक्षादिविरुद्धमेव ॥ २४ ॥

यत्तीर्थे विमले क्रियोज्ज्वलगुणैः संसेविते साधुभिः, गच्छः स्वच्छतरस्तपाह्वय इह प्राप्तः प्रसिद्धिं पराम्।

समाचार्यपि चारुतामचकलत्तत्रैव मैत्रीगृहे, तं श्रीवीरजिनेन्द्रमप्रतिहतानन्दाय वन्दामहे ॥ १ ॥
सन्नयोत्प्रेक्षयाऽकम्प्र–सम्प्रदायाश्रयान्मम ॥ व्याख्यातुर्जैनतन्त्राणां विघ्नं हरतु भारती ॥ २ ॥

अद्वैतैकान्तनिरासपूर्वमेकत्वपृथक्त्वसप्तभङ्गीसाधनायोपक्रमते–अद्वैतैकान्तपक्षेऽपीत्यादिना ॥ नन्विदमित्यादिर्भाष्यतात्पर्यार्थो वृत्तिकृतैव प्रकाश्यते, तेन ननुरक्षमार्थो, न तु पूर्वपक्षार्थः, तदुपमर्दाभावादिति मन्तव्यम् । इदमद्वैतैकान्तवाद्युक्तम्, तस्मिन्नपि व्याख्याताद्वैतस्वीकारेऽपि, क्रियाकारकभेदप्रतिभासो बाधितो भविष्यतीत्यत आह–'तदभ्युपगममात्रस्येति' अद्वैताभ्युपगममात्रान्न तद्बाधोऽन्यच्च बाधकं न पश्याम इत्यबाधितक्रियाकारकभेदप्रतिभासादद्वैतपक्षो मिथ्यैवेति भावः । पारमार्थिकेऽद्वैते औपाधिकः क्रियाकारकसम्बन्धभेदो न विरोधमावहतीत्याशङ्कते–न हीत्यादिना, अपरोऽद्वैतवादी, परमार्थतो भेदाभावे प्रपञ्चब्रह्मणोः कार्यकारणभावो दुर्घट इति वक्तुमुपक्रमते–सोऽप्येवं प्रष्टव्य इत्यादिना ॥ कथञ्चेति, न च कार्यं ब्रह्मैव ब्रह्म च कार्यदशायां कार्यमन्यदा चाकार्यमित्येवमभेदेऽपि सुवर्णतद्विकारवत् कार्यकारणभाव इति शङ्कनीयम् । एवं सति भेदाभेदवादप्रसङ्गात्, कार्यदशायामपि तदभिन्नत्वे कूटस्थत्वव्याघाताच्च, तर्हि प्रपञ्चोऽविद्याजन्माऽस्त्वित्याशङ्क्य निषेधति–परस्मादित्यादिना ॥ 'अकिञ्चिद्रूपस्येति' अविद्याया असत्याया द्वितीयायाः कारणभूताया अभ्युपगमेऽपि सदद्वैताव्याकोपादित्यर्थः । माहेन्द्रादिष्विति उड्डीशादिग्रन्थप्रसिद्धेन्द्रजालादिकर्मसु, तद्विशेषाकारयोरिति अतद्देशस्थयोरपि तद्देशत्वेन प्रतीयमानयोरित्यर्थः । 'तद्विविक्तेति' अन्यदेशे तत्सत्त्वान्न सर्वथा मायामयत्वमिति भावः । प्रतिपत्त्युपायाभावादिति, न चाकस्मादेवोत्पत्तेरयमदोषः, तत्पक्षस्य "हेतु-

भूतिनिषेधो न" इत्यादिना पञ्चभिर्विकल्पैरुदयनादिभिर्दूषितत्वात्, न चानुपाख्यादुत्पत्तिपक्षोऽदूष्यः, तादृशादेवाविद्याविलासात् प्रपञ्चोत्पत्त्यभ्युपगमादिति वाच्यम्, अविद्यातत्कार्यस्यानुपाख्यत्वे तन्निवृत्तेरनात्मस्वरूपत्वेनानिर्मोक्षापातात्, अतिरिक्तायास्तस्यास्तत्सम्बन्धस्य चात्मन्यभ्युपगमे तु मुक्तावपि द्वैतप्रसङ्गादिति न किञ्चिदेतत् । एकस्मिन्नपीति यथैकस्मिन् स्वप्नज्ञाने गजतुरगादीनामनेकेषां प्रतिभासनं तथा परब्रह्मण्येकस्मिन् घटपटादिभेदानां भानमद्वैतपक्षेऽप्यविरुद्धमिति भावः। एकत्वे सर्वथैकत्वे, तद्विरोधस्य क्रियाकारकभेदप्रत्यक्षादिविरोधस्य, अनेकशक्त्यात्मकस्येति अन्यथा जाग्रत्स्वप्नविशेषस्य स्वप्नावान्तरविशेषस्य चानुपपत्तेरिति भावः । न च जाग्रत्स्वप्नारम्भकाज्ञानविशेषात् स्वप्नविशेषारम्भकतद्विशेषाच्च तदुपपत्तिर्मूलाज्ञाननिष्ठशक्तिविशेषाद्वेति वाच्यम्, तस्य कर्मतच्छक्त्यतिरिक्तत्वे मानाभावात्, तत्कार्यक्रियाकारकप्रतिभासभेदानामन्तःकरणधर्माणामात्मनि भानाभ्युपगमेऽन्यथाख्यात्यापत्तेः, आत्मनिष्ठानामनिर्वचनीयानां तेषामभ्युपगमेऽन्तःकरणात्माधारभेदेन सत्येतरविवेकस्य विना शपथ दुष्करत्वात्, विविधप्रतिभासादितन्निष्ठानन्तधर्मादिकल्पनायां महागौरवेणात्मनिष्ठानामेव तेषां परिकल्पनौचित्यात्, आत्मनि कौटस्थ्यस्य ब्रह्माद्वैतस्य च विलूनशीर्णत्वादिति दिग् । अथैकस्य निरंशस्यात्माकाशादेरनेककारकाद्यालम्बनत्वं यथा तथा ब्रह्मणोऽपि भविष्यतीत्याशङ्कायामाह–' कस्यचिदित्यादि ' ॥ तथा चानेकान्तावलम्बनं विनात्माकाशादेरप्यनेककारकालम्बनत्वमयुक्तमिति न तद्दृष्टान्तेनाद्वैताविरोध इति सिद्धम् । क्रियाकारकभेदप्रतिभासस्य मिथ्यात्वात्तेन नाद्वैतधीविरोध इत्याशङ्क्य निराकरोति–स्यादाकूतमित्यादिना ॥ पराभ्युपगमादिति एवं हि तत्र प्रातिभासिकममिथ्यात्वं सिद्धं साध्यते च पारमार्थिकं मिथ्यात्वमिति

न व्यभिचार इत्यर्थः ॥ 'स एवेति' विशेषेऽनुगमाभावेन सामान्यत एव मिथ्यात्वस्य साध्यत्वादिति भावः। न च तत्त्वज्ञाननाश्यतावच्छेदको धर्मः परमार्थतो मिथ्यात्वमद्वैतसिद्धेः पूर्वं सिद्ध इति तत्साध्यत्वप्रत्याशापि दत्तपदेति स्मर्त्तव्यम्। अद्वैतधीरेव महावाक्यजनितत्वेन निश्चितप्रामाण्यत्वात् क्रियाकारकभेदप्रतिभासविरोधिनी, न तु स तद्विरोधी, सन्दिग्धप्रामाण्यकत्वेन दुर्बलत्वादिति कस्यचिन्मतमुत्थापयति–कश्चिदाहेत्यादिना ॥ तथापि बाध्यबाधकबलादेव द्वैतसिद्धिः स्यादिति समाधत्ते–तदपि न साधीय इत्यादिना, एतेनात्मविषयकापरोक्षभ्रमनिवर्त्तकत्वेनात्माद्वैतापरोक्षज्ञानमेव बलवत्, तच्च सकलभेदप्रपञ्चनाशकमिति तत्सिद्धौ द्वैतबाध इत्यप्यपास्तम्। आत्मसाक्षात्कारेण देहादावात्माभेदभ्रमनिरासे तद्भेदस्यैव परमार्थतः सिद्धेः। निर्विकल्पकस्य भ्रमाविरोधित्वेन सविकल्पात्मसाक्षात्काराश्रयणे ब्रह्मणो निर्द्धर्मकत्वव्याघाताच्च। किञ्च महावाक्यजन्यापरोक्षवृत्तिविषयतैव ब्रह्मणो दुर्घटा निर्द्धर्मकत्वहानेरिति, कथं तदद्वैतधियो बलवत्त्वम्, एतेन मिथ्याज्ञानवासनानाशकत्वं तत्त्वज्ञानस्य वैजात्येनैव, न तु तत्र समानप्रकारकत्वमपि तत्रमित्युक्तावपि न क्षतिरिति दिग् ॥ २४ ॥

तथास्मिन्नद्वैतैकान्ते दूषणान्तरमुपदर्शयन्तः प्राहुः ॥

कर्मद्वैतं फलद्वैतं लोकद्वैतं च नो भवेत्। विद्याऽविद्याद्वयं न स्याद्बन्धमोक्षद्वयं तथा ॥ २५ ॥

लौकिकं वैदिक च कर्मेति वा कुशलमकुशल च कर्मानुष्ठानमिति वा पुण्यं पापं च कर्मेति वा कर्मद्वैतं न स्यात्। तदभावादिहामुत्र च श्रेयःप्रत्यवायलक्षणं फलद्वैतं न स्यात्, कारणाभावे कार्यस्यानुत्पत्तेः। तत एवेहलोकपरलोकलक्षणं लोकद्वैतं न स्यात्। कर्मादिद्वैतस्यानाद्यविद्योपदर्शितत्वाददोष इति चेत्, न, धर्माधर्मद्वैतस्याभावे विद्याविद्याद्वयस्यासम्भवाद्बन्धमोक्षद्वयवत्। पूर्वाविद्योदयादेव

विद्याविद्याद्वयं बन्धमोक्षद्वयं च, परमार्थतस्तदसम्भवात् "न बन्धोस्ति न वै मोक्ष इत्येषा परमार्थता" इति प्रवचनात् प्रतिभासमात्रस्य परब्रह्मण एव तात्त्विकत्वादिति चेत्, न, नैरात्म्यस्यापि तात्त्विकत्वापत्तेस्तत्कल्पनाया नैष्फल्याविशेषात्। सर्वो हि प्रमाणप्रत्यनीकं स्वमनीषिकाभिरद्वैतमन्यद्वा किंचित्फलमुद्दिश्यारचयेत्, अन्यथा तत्प्रति प्रवर्तनायोगात्प्रेक्षावृत्तेः। तथाहि। पुण्यपापसुखदुःखेहपरलोकविद्येतरबन्धमोक्षविशेषरहितं प्रेक्षापूर्वकारिभिरनाश्रयणीयम्। यथा नैरात्म्यदर्शनम्। तथा च प्रस्तुतम्। तस्मात्प्रेक्षापूर्वकारिभिरनाश्रयणीयम्। इति न तज्जिज्ञासापि श्रेयसी ॥ २५ ॥

'नैरात्म्यस्यापीति' बौद्धदृष्ट्या तत्रापि स्वागमजन्यतत्त्वज्ञानविषयत्वाविशेषात्, नैष्फल्याविशेषादिति व्यवहारबाधदूषणस्य भूषणतायां उभयमतेऽपि सुवचत्वादिति तात्पर्यम्। 'यथा नैरात्म्यदर्शनमिति' न च प्रमाणगवेषणया प्रतिभासस्यावश्योपस्थितत्वात्तद्भेदस्योपाधिभिरेवोपपत्तेस्तस्य प्रागभावध्वंसप्रतियोगित्वकल्पने गौरवान्नित्यचिदात्मसिद्धिरेव नैरात्म्यसिद्धिमुपहन्तुं प्रगल्भत इति मधुसूदनसरस्वत्युक्तमपि क्षोदक्षमम्, प्रामाणिकस्य प्रतिभासस्य ध्वंसप्रागभावाप्रतियोगित्वकल्पनापेक्षया तत्प्रतियोगिताकल्पन एव लाघवात्, अज्ञातासत्त्वस्वीकारे गृहाद्बहिर्निर्गतस्य पुत्राद्यभावशङ्कयोरःशिरस्ताडनादिप्रसङ्गस्य च नैरात्म्यवादे बौद्धस्येव दृष्टिसृष्टिवादे वेदान्तिनोऽपि वज्रलेपत्वात्। वस्तुतः स्वामिकदण्डघटादिकार्यकारणभावतुल्यत्वात् यागस्वर्गादिकार्यकारणभावानां वैदिककर्ममात्रेऽनाश्वासाद्वेदान्तधर्मश्रद्धावतां न कदापि स्वोरस्ताडनाद्विरतिः। अथेदृग्दूषणास्पदं दृष्टिसृष्टिवादं त्यक्त्वा व्यवहारवादं स्वीकुर्वन् वेदान्ती निर्दोषो भविष्यतीति चेत्, मैवम्, अव्यवहारिणस्तस्य केनापि व्यवहारिपङ्क्तावप्रवेशनात्, भाट्टस्तत्र तं प्रवेशयिष्यतीति चेत्, न, कर्मविधिशे-

पत्वाद्वेदान्तानामप्रामाण्यं वदता तेन तस्य दूरत एव वर्जनात् । आश्रयतां वा भाट्टमतं बलाद् व्यवहारवादे वेदान्ती, तथापि स्वर्गनरकादेर्व्यावहारिकपदार्थस्याविद्याजन्यस्योपगमे एकस्याविद्यानाशे स्वर्गनरकाद्युच्छेदान्निर्दुःखसुखं जगत् स्यात्, तत्तदविद्याजन्यतत्तत्स्वर्गनरकाद्यभ्युपगमे चापेक्षिकत्वेन तस्य प्रातिभासिकत्वमागतं, न व्यावहारिकत्वम्, यावत्पदार्थनाशः सर्वमुक्तावेव, तद्विलासजन्यस्त्वन्यदापीत्यदोष इत्यपि न क्षोदक्षमम् । एवं सत्यध्यारोपबाधक्रमेण प्रतिपुरुषं मोक्षोपायनानात्वेन प्रतिपुरुषं जगत्सृष्टिभेदापत्तेरसमाधानात्, कथं चावस्थितव्यावहारिकपदार्थाभ्युपगमे तं पारमार्थिकत्वेन पश्यतां योगिनां नात्यन्तभ्रान्तत्वम्, योगिनः प्रत्यविद्याशक्तिविशेषेण तत्र प्रतिभामसत्त्वमेव जन्यत इति चेत्, न, क्षणिकवादिवैलक्षण्ये तत्र तदेत्यस्य वाच्यत्वात्, तथाऽप्यन्यं प्रति व्यावहारिके उभयप्रतिभासप्रसङ्गाच्च, तस्मादापेक्षिकसत्त्वं ब्रुवाणो ज्ञानमात्रमभ्युपगम्य भेदमात्रमपह्नुवानो वेदान्ती माध्यमिकं नातिशयीतेति सुनिश्चिता नः प्रतीतिः ॥ २५ ॥

स्यान्मतं " न ब्रह्माद्वैतं प्रमाणप्रत्यनीकत्वात् स्वमनीषिकाभिरारचितं, तस्यानुमानादागमाद्वा प्रमाणात्प्रसिद्धेः । तथा हि । यत्प्रतिभाससमानाधिकरणं तत्प्रतिभासान्तःप्रविष्टमेव । यथा प्रतिभासस्वरूपम् । प्रतिभाससमानाधिकरणं च सर्वम् । इति हेतोः परब्रह्मसिद्धिः । न चायमसिद्धः, सुखं प्रतिभासते रूपं प्रतिभासते इति सर्वत्र प्रतिभाससमानाधिकरणत्वस्य प्रतीतेरन्यथा सद्भावासिद्धेः । अप्रतिभासमानस्यापि सद्भावे सर्वस्य मनोरथसिद्धिप्रसङ्गान्न किंचिदसत्स्यात् । अथ प्रतिभासव्यतिरिक्तस्य प्रतिभास्यस्यार्थस्यान्तर्वहिर्वोपचारात्प्रतिभाससमानाधिकरणत्वव्यवस्थितेः प्रतिभासस्वरूपस्य मुख्यतोपपत्तेरसिद्धो हेतुरिति मतम्, तदप्यसम्यक्, प्रतिभास्यप्रतिभासयोस्तद्भावानुपपत्तेः । प्रतिभासस्य हेतुत्वात्प्रतिभास्योर्थ इति चेत्, न, प्रतिभासमात्रस्याहेतुकत्वात्कस्यचित्तद्धेतुत्वायोगात् । तदहेतुकत्वम्,

अकादाचित्कत्वात्, अन्यथा कदाचित्तदभावप्रसङ्गात्। प्रतिभासालम्बनत्वात्प्रतिभास्योर्थो भवतीति चेत्, कुतस्तस्य प्रतिभासालम्बनत्वम्? प्रतिभास्यत्वादिति चेत्, परस्पराश्रयणम्। प्रतिभासालम्बनत्वयोग्यत्वादिति चेत्, तर्हि प्रतिभासस्वरूपमेव प्रतिभास्यं, तस्यैव प्रतिभासालम्बनत्वोपपत्तेः, सर्वत्र प्रतिभासस्य स्वरूपालम्बनत्वात्। तथा च कथं विषयस्योपचरितं प्रतिभाससमानाधिकरणत्वं, यतोऽसिद्धो हेतुः स्यात्। तत एव नानैकान्तिको, विरुद्धो वा, प्रतिभासान्तरऽप्रविष्टस्य कस्यचिदपि प्रतिभाससमानाधिकरणत्वायोगाद्धेतोर्विपक्षवृत्त्यभावात्। नाश्रयासिद्धिरपि हेतोः शङ्कनीया, सर्वस्य धर्मिणः परब्रह्मण एवाश्रयत्वात् 'ब्रह्मेति ब्रह्मशब्देन कृत्स्नं वस्त्वभिधीयते। प्रकृतस्यात्मकात्स्न्र्यस्य वै-शब्दः स्मृतये मतः ॥१॥' इति श्रुतिव्याख्यानात्, ततोऽनवद्याद्धेतोर्भवत्येवाद्वैतसिद्धिः। तथोपनिषद्वचनादपि 'सर्वं वै खल्विद ब्रह्म' इत्यादिश्रुतिसद्भावात्, ततस्तद्भ्रान्तिनिराकरणात्" इति। तदेतत्प्रतिविधित्सवः प्राहुः—

हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेद्द्वैतं स्याद्धेतुसाध्ययोः। हेतुना चेद्विना सिद्धिर्द्वैतं वाङ्मात्रतो न किम् ॥२६॥

ननु च प्रतिभाससमानाधिकरणत्वाद्धेतोः सर्वस्य प्रतिभासान्तःप्रविष्टत्वेन पुरुषाद्वैतसिद्धावपि न हेतुसाध्ययोर्द्वैतं भविष्यति, तादात्म्योपगमात्। न च तादात्म्ये साध्यसाधनयोस्तद्भावविरोधः, सत्त्वानित्यत्वयोरपि तथाभावविरोधानुषङ्गात्। कल्पनाभेदादिह साध्यसाधनधर्मभेदे प्रकृतानुमानेपि कथमविद्योदयोपकल्पितहेतुसाध्ययोस्तद्भावविघात., सर्वथा विशेषाभावादिति चेत्, न, शब्दादौ सत्त्वानित्यत्वयोरपि कथंचित्तादात्म्यात् सर्वथा तादात्म्यासिद्धेः, तत्सिद्धौ साध्यसाधनभावविरोधात्। न चासिद्धमुदाहरण नाम, अतिप्रसङ्गात्। ततो न हेतोरद्वैतसिद्धिः। हेतुना विनैवागममात्रात्तत्सिद्धिरिति चेत्, न, अद्वैततदागमयोर्द्वैतप्रसङ्गात्। यदि पुनरागमोप्यद्वयपुरुषस्वभाव एव न ततो व्यतिरिक्तो येन द्वैतमनुपज्यते इति मतम्, "उर्द्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्। छन्दांसि तस्य

पर्वाणि यस्तं वेत्ति स वेदवित्' इति वचनात्, तदा ब्रह्मवत्तदागमस्याप्यसिद्धत्वं स्यात्, सर्वथाप्यसिद्धस्वभावस्य सिद्धत्वविरोधात् सिद्धासिद्धयोर्भेदप्रसक्तेः। तदेव यदसिद्धं तन्न हितेप्सुभिरहितजिहासुभिर्वा प्रतिपत्तव्यम्, यथा शून्यतैकान्तः, तथा चासिद्धमद्वैतमिति। अत्र नासिद्धो हेतुः, पुरुषाद्वैतस्यानुमानादागमाद्वा सिद्धत्वायोगात्। प्रतिभाससमानाधिकरणत्वानुमानात्तत्सिद्धिरिति चेत्, न, तस्य विरुद्धत्वात्, प्रतिभासतद्विषयाभिमतयोः कथंचिद्भेदे सति समानाधिकरणत्वस्य प्रतीतेः सर्वथा प्रतिभासान्तःप्रविष्टत्वासाधनात् स्वविषयस्य। न हि शुक्लः पट इत्यादावपि सर्वथा गुणद्रव्ययोस्तादात्म्ये सामानाधिकरण्यमस्ति, सर्वथाभेदवत्, प्रतिभासस्वरूपं प्रतिभासते इत्यत्रापि न प्रतिभासतत्स्वरूपयोर्लक्ष्यलक्षणभूतयोः सर्वथा तादात्म्यमस्ति, प्रतिभासस्य साधारणासाधारणधर्माधिकरणस्य स्वरूपादसाधारणधर्मात्कथंचिद्भेदप्रसिद्धेरन्यथा तत्सामानाधिकरण्यायोगात्, सुवर्णं सुवर्णमिति यथा, सह्यविन्ध्यवद्वा, तदेवं यत्प्रतिभाससमानाधिकरणं तत् प्रतिभासात्कथंचिदर्थान्तरं, यथा प्रतिभासस्वरूपं, प्रतिभाससमानाधिकरणं च सुखनीलादि सर्वमिति साध्यविपरीतसाधनाद्धेतोर्नाद्वैतसिद्धिः।'सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म' इत्याद्याम्नायादपि द्वैतसिद्धिरेव स्यात्, सर्वस्य प्रसिद्धस्याप्रसिद्धेन ब्रह्मत्वेन विधानात्, सर्वथा प्रसिद्धस्य विधानायोगादप्रसिद्धवत्।क्वचिदात्मव्यक्तौ प्रसिद्धस्यैकात्म्यरूपस्य ब्रह्मत्वस्य सर्वात्मस्वऽनात्माभिमतेषु च विधानाद् द्वैतप्रपञ्चारोपव्यवच्छेदेपि तदागमाद्व्यवच्छेद्यव्यवच्छेदकसद्भावसिद्धेः कथमद्वैतसिद्धिः? आम्नायस्य परब्रह्मस्वभावत्वेपि न ततस्तदद्वैतसिद्धिः, स्वभावस्वभाववतोस्तादात्म्यैकान्तानुपपत्तेः।स्वसंवेदनमेव पुरुषाद्वैतसाधनमिति चेत्, नैतदपि सारम्, निगदितपक्षदोषोपनिपातात्। तथा हि। तत्सिद्धिर्यदि साधनात्साध्यसाधनयोस्तर्हि द्वैतं स्यात्। अन्यथाऽद्वैतसिद्धिवद्द्वैतसिद्धिः कथं न स्यात्? स्वाभिलापमात्रादर्थसिद्धौ सर्वं सर्वस्य सिध्येत्। न हि स्वसंवेदनमपि साधनमात्मनोऽनन्यदेव, साधनत्वविरोधात्, अनुमानागमवत्साध्यस्यैव

साधनत्वापत्तेः, प्रकृतानुमानागमयोरिव स्वसंवेदनप्रत्यक्षस्यापि साधनस्याभावात्, स्वतः सिद्धं ब्रह्मेत्यभ्युपगमे द्वैतमपि स्वतः सकलसाधनाभावेपि किं न सिध्येत् ? तत्त्वोपप्लवमात्रं वा ? नैरात्म्यं वा ? स्वाभिलापमात्राविशेषात्, सर्वस्य सर्वमनोरथसिद्धिरपि दुर्निवारा स्यात्। एतेनैतदपि प्रत्याख्यातं यदुक्तं वृहदारण्यकवार्तिके "आत्मापि सदिदं ब्रह्म मोहात्पारोक्ष्यदूपितम्। ब्रह्मापि स तथैवात्मा सद्वितीयतयेक्ष्यते ॥ १ ॥ आत्मा ब्रह्मेति पारोक्ष्यसद्वितीयत्वबाधनात्। पुमर्थे निश्चितं शास्त्रमिति सिद्धं समीहितम् ॥ २ ॥" इति, मोहस्याविद्यारूपस्याकिंचिद्रूपत्वे पारोक्ष्यहेतुत्वाघटनात् सद्वितीयत्वदर्शननिबन्धनत्वासभवात्, तस्य वस्तुरूपत्वे द्वैतसिद्धिप्रसक्तेस्तत एव पारोक्ष्यसद्वितीयत्वयोर्बोधनात्, पुमर्थे निश्चितं शास्त्रमित्येतस्यापि द्वैतसाधनत्वात्, शास्त्रपुमर्थयोर्भेदाभावे साध्यसाधनभावासंभवात् ॥ ७६ ॥

तदभावानुपपत्तेः प्रतिभासस्वरूपाभावानुपपत्तेः, 'तर्हीति' प्रतिभासविषयताया अभेदानियतत्वादिति भावः। यदि पुनरागमोऽपीति मृन्मयगजभानेऽपि मृद्धानवत् सर्वत्र ब्रह्मभानेन तद्विषयत्वेनैवागमज्ञानस्यापि सत्यत्वादिति भावः। 'ऊर्ध्वमूलमिति' ऊर्ध्वं शुद्धबुद्धस्वरूपावस्था मूलं यस्य स तथा तम्, अधोऽविद्याजन्यप्रपञ्चविलासावस्था शाखा यस्य स तथा तम्, असिद्धत्वं स्यादिति विशिष्याज्ञानादित्यर्थः, सामान्यज्ञानं तु सन्देहाविरोधि, सर्वं ज्ञानं शब्दब्रह्मविषय वेति सन्देहस्याप्यन्ततः सम्भवादिति स्मर्त्तव्यम्, स्वविषयस्य प्रतिभास्यस्य, सर्वथा भेदवत् सर्वथा भेदपक्ष इव। कथञ्चिद्भेदप्रसिद्धेरिति स्वरूपपदस्य विशेषपरत्वादिति भावः। साध्यस्यैव साधनत्वापत्तेर्ब्रह्मान्तर्भावात्, साधनस्य पृथक्साधनत्वेन विवक्षितस्याभावादित्यन्वयः। किं न सिद्ध्येदिति, श्रुतेरद्वैतविषयिण्या इव द्वैतविषयिण्या अपि बहुश उपलम्भादित्यर्थः। स्वस्वाभ्युपगममात्रेण चान्योऽप्यतिप्रसङ्गो दुर्निवार इत्याह–तत्त्वोपप्लवमात्रं वेत्यादिना, आत्मापीति

(स) तदिदं ब्रह्मापि तत्त्वेन वस्तुतोऽपरोक्षमपि मोहादज्ञानात्, पारोक्ष्यदूषितं दोषप्रयोज्यपारोक्ष्याभिलापाक्रान्तम्, ईक्ष्यत इत्युत्तरक्रियान्वयः। तथैव स प्रसिद्ध आत्मा ब्रह्मापि ब्रह्माभिन्नोऽपि, मोहादज्ञानात्, सद्वितीयतया भेदाक्रान्ततयेक्ष्यते। आत्मा ब्रह्मेति वेदान्तफलीभूततत्त्वज्ञाने सति ब्रह्मण्यध्यस्तयोः पारोक्ष्यसद्वितीयत्वयोर्बाधने सति, शास्त्रं पुमर्थे निश्चितं निश्चितपुरुपार्थं जातम्, इति हेतोः, अज्ञाननिवृत्त्यैव कण्ठगतचामीकरोपलम्भन्यायेनोद्देश्यसिद्धेरित्यर्थः ॥२६॥

अद्वैतं न विना द्वैतादहेतुरिव हेतुना। संज्ञिनः प्रतिषेधो न प्रतिषेध्यादृते क्वचित् ॥ २७ ॥

कथं पुनर्हेतुना विनाऽहेतुरिवाद्वैत द्वैताद्विना न सिद्ध्यतीति निश्चितमिति चेत्, उच्यते, अद्वैतशब्दः स्वाभिधेयप्रत्यनीकपरमार्थापेक्षो नञ्पूर्वाखण्डपदत्वादहेत्वभिधानवदित्यनुमानात्। अनेकान्तशब्देन व्यभिचार इति चेत्, न, तस्यापि सम्यगेकान्तेन विनानुपपद्यमानत्वात्। एवममायादिशब्देनापि न व्यभिचारः, तस्य मायादिनाऽविनाभावित्वात्। तथा नञ्पूर्वग्रहणात् केवलेन शब्देन व्यभिचारो निरस्तः, पदांशेनाखण्डग्रहणात् अखरविपाणादिशब्देन च न। ततो नात्र किंचिदतिप्रसज्यते, तादृशो नञो वस्तुप्रतिषेधनिबन्धनत्वात्। न ह्यखण्डपदविशेषणस्य नञः कचिदवस्तुप्रतिषेधनिबन्धनत्वमुपलब्धं, पदान्तरोपहितपदविशेषणस्यैव तथा प्रतीतेरखरविपाणमित्यादिवत्। अत एव सर्वत्र प्रतिषेध्यादृते सञ्ज्ञिनः प्रतिषेधाभावः प्रत्येतव्यः। न हि खरविपाणं सञ्ज्ञि किंचिदस्ति, येन तस्यापि सत एव कथंचित् प्रतिषेधः प्रसज्यते। ननु पुरुषाद्वैते परमार्थत प्रतिषेधव्यवहारासंभवात् परोपगतस्य द्वैतस्य परप्रसिद्धन्यायादेवानुमानादिरूपादभावः साध्यते, न च स्वपरविभागोपि तात्त्विकः, तस्याविद्याविलासाश्रयत्वात्, ततो न कश्चिद्दोष इति चेत्, न, अविद्याया एव व्यवस्था-

पयितुमशक्तेः । ‘ननु च न वस्तुवृत्तमपेक्ष्याऽविद्या व्यवस्थाप्यते, तस्यामवस्तुभूताया प्रमाणव्यापारायोगात्। परब्रह्मण्यविद्यावति अविद्यारहिते च विद्याया विरोधादानर्थक्याच्च नाविद्याऽस्येत्यप्यविद्यायामेव स्थित्वा प्रकल्पनात्, ब्रह्माधारायास्त्वविद्यायाः कथमप्ययोगात्। यतश्चानुभवादविद्यास्मीति ब्रह्मानुभूतिमत्तत एव प्रमाणोत्थविज्ञानबाधिता सा, तदबाधने तस्या अप्यात्मत्वप्रसङ्गात्। तथा ब्रह्मण्यविज्ञाते तदविद्याव्यवस्थानुपपत्तेर्बाधासद्भावात् विज्ञातेपि सुतरा तदबाधनादव्यवस्थानं, अबाधिताया बुद्धेर्मृषात्वायोगात्। न चाविद्यावान्नरः कथंचिदविद्यां निरूपयितुमीशश्चन्द्रद्वयादिभ्रान्तिमिव जातितैमिरिक. । तदुक्तं “ब्रह्माऽविद्यावदिष्टं चेन्ननु दोषो महानयम् । निरवद्ये च विद्याया आनर्थक्यं प्रसज्यते ॥ १ ॥ नाऽविद्याऽस्येत्यविद्यायामेव स्थित्वा प्रकल्पते । ब्रह्माधारा त्वविद्येयं न कथंचन युज्यते ॥ २ ॥ यतोऽनुभवतोऽविद्या ब्रह्मास्मीत्यनुभूतिमत् । अतो मानोत्थविज्ञानध्वस्ता साप्यन्यथात्मता ॥ ३ ॥ ब्रह्मण्यविदिते बाधान्नाविद्येत्युपपद्यते । नितरां चापि विज्ञाते मृषा धीर्नास्त्यबाधिता ॥ ४ ॥ अविद्यावानविद्यां तां न निरूपयितुं क्षमः । वस्तुवृत्तमतोऽपेक्ष्य नाविद्येति निरूप्यते ॥ ५ ॥ वस्तुनोन्यत्र मानाना व्यापृतिर्न हि युज्यते । अविद्या च न वस्त्विष्टं मानाघाताऽसहिष्णुतः ॥ ६ ॥ अविद्याया अविद्यात्वे इदमेव च लक्षणम् । मानाघातासहिष्णुत्वमसाधारणमिष्यते ॥ ७ ॥ ” न चैवमप्रामाणिकायामविद्याया कल्प्यमानाया कश्चिद्दोषः, तस्याः संसारिणः स्वानुभवाश्रयत्वात्, द्वैतवादिन एव दृष्टादृष्टार्थप्रपञ्चस्य प्रमाणबाधितस्य कल्पनायामनेकविधाया बहुविधदोषानुषङ्गात्। तदप्युक्तं “त्वत्पक्षे बहु कल्प्यं स्यात् सर्वं मानविरोधि च । कल्प्याऽविद्यैव मत्पक्षे सा चानुभवसश्रया ”॥ १ ॥ इति कश्चित्, सोपि न प्रेक्षावान्, सर्वप्रमाणातीतस्वभावायाः स्वयमविद्यायाः स्वीकरणात्। न हि प्रेक्षावान् सकलप्रमाणातिक्रान्तरूपामविद्यां विद्यां वा स्वीकुरुते । न च प्रमाणानामविद्याविषयत्वमयुक्तम्, विद्यावदविद्याया अपि कथंचिद्वस्तुत्वात्। तथा विद्यात्वप्रसङ्ग

इति चेत्, न, किंचिदनिष्टम्, यथा यत्राविसवादस्तथा तत्र प्रमाणतेत्यकलङ्कदेवैरप्युक्तत्वात्। वहिःप्रमेयापेक्षया तु कस्यचित्संवेदनस्याविद्यात्वं बाधकप्रमाणावसेयं कथमप्रमाणविषयः? तद्बाधकं पुनरर्थान्यथात्वसाधकमेव प्रमाणमनुभूयते इति वस्तुवृत्तमपेक्ष्यैवाविद्या निरूपणीया। न च कथंचिद्विद्यावतोप्यात्मनः प्रतिपत्तुरविद्यावत्त्वं विरुध्यते, यतोयं महान् दोषः स्यात्। नाप्यविद्याशून्यत्वे कथंचिद्विद्यानर्थक्यं प्रसज्यते, तत्फलस्य सकलविद्यालक्षणस्य भावात्। न चाविद्यायामेव स्थित्वाऽस्येयमविद्येति कल्प्यते, सर्वस्य विद्यावस्थायामेवाविद्येतरविभागनिश्चयात्, स्वप्नाद्यऽविद्यादशाया तदभावात्। ततश्चात्मद्वारे(रै)वाविद्या युक्तिमती। यस्मादनुभवादविद्यावानहमस्मीत्यनुभववानात्मा तत एव कथंचित् प्रमाणोत्थविज्ञानाऽवाधिता तदविद्यापि सैवेत्यात्मता, विरोधाभावात्। न चात्मनि कथंचिदविदितेप्यविद्येति नोपपद्यते, बाधाऽविरोधात्। कथंचिद्विज्ञातेपि वाऽविद्येति नितरां घटते, विदितात्मन एव तद्बाधकत्वविनिश्चितेः कथंचिद्बाधिताया बुद्धेर्मृषात्वसिद्धेः। न च कथंचिदविद्यावानेव नरस्तामविद्यां निरूपयितुमक्षमः, सकलप्रेक्षावद्व्यवहारविलोपात्। यदपि प्रमाणाघातासहिष्णुत्वमसाधारणलक्षणमविद्यायास्तदपि प्रमाणसामर्थ्यादेव निश्चेतव्यम्। इति न प्रमाणातिक्रान्ता काचिदविद्या नाम यदभ्युपगमे ब्रह्माद्वैतं न विरुध्येत, द्वैतप्रतिषेधो वा द्वैताविनाभावी न भवेत्। तदेतेन शब्दाद्वैतमपि निरस्तम्, विज्ञानाद्यद्वैतवत्तस्यापि निगदितदोषविषयत्वसिद्धेः, प्रक्रियामात्रभेदात् तद्व्यवस्थानुपपत्तेः, स्वपक्षेतरसाधकबाधकप्रमाणाभावाविशेषात् स्वतःसिद्ध्ययोगाद्गत्यन्तराभावाच्च। इत्यलमतिप्रसङ्गिन्या संकथया, सर्वथैवाद्वैतस्य निराकरणात्॥ २७॥

'स्वाभिधेयेति' स्वार्थप्रतियोगिप्रमाधीननिरूपण इत्यर्थः। **केवलेन शब्देन घटादिना, पदांशेनेत्यादि,** अखण्डपदग्रहणाच्च खरविषाणादिशब्दे नागौरनश्व इत्यादावगनश्व इत्यादिपदांशे च न व्यभिचारः, एकत्र विशेषणस्यान्यत्र च

विशेष्यस्याभावादित्यर्थः, ‘ परब्रह्मणीत्यादि ’ अविद्यावति विद्याभावेनैव विद्याया विरोधः, तद्रहिते चाविद्यानिवृत्तिप्रयोजनाभावे विद्याया आनर्थक्यमित्यर्थः, ‘ अविद्यायामेवेति ’ असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते इति वचनादित्यर्थः, ‘ ब्रह्माधारायाश्चेति ’ ब्रह्माश्रयायाश्चेत्यर्थः, नहि स्वतः स्फुरद्रूपं ब्रह्म विद्याया आश्रयो भवितुमर्हति, दीपज्योतिरिव तिमिरस्येति भावः, अस्तु तर्हि ब्रह्मविषया जीवाश्रयाऽविद्येति मतम् , तत्राह–‘ यतश्चेति ’ यदैवाविद्याऽस्तीति जीवब्रह्मानुभूतिमद्भवति तदैव सा नश्यति, प्रमाणबाध्यस्वरूपत्वात्तस्या इत्यप्रामाणिकैवेयम् । अविज्ञात इति विशेषणज्ञानाभावादित्यर्थः, तदबाधनाद्विद्याया अबाधनात् , अव्यवस्थानमविद्याया इत्यर्थः । अबाधिताया बुद्धेर्विद्यायाः, मृषात्वायोगादविद्यात्वस्य वक्तुमशक्यत्वात् । मानाघातासहिष्णुत्वं प्रमाणप्रवृत्त्यस्पर्शित्वम् , स्वानुभवाश्रयत्वादिति, अहं मां न जानामीत्यनुभवस्यैवानिर्वचनीयभावरूपाज्ञानसाक्षित्वादिति भावः । कथञ्चिद्वस्तुत्वादिति पर्युदासाश्रयणस्यान्यथानुपपत्तेरिति भावः । तथा वस्तुत्वेऽविद्याया, यथा यत्रेति, स्वसंवेदनापेक्षया सर्वत्राविद्यायां विद्यात्वमिष्टमेवेत्यर्थः, न च कथञ्चिदिति कालभेदाद्विषयभेदाच्चैकत्राप्यात्मनि विद्यावत्त्वेनाविद्यावत्त्वमविरुद्धमिति भावः । तत्फलस्य मतिज्ञानश्रुतज्ञानादिरूपपूर्वविद्याफलस्य, सकलविद्यालक्षणस्य केवलज्ञानस्वरूपस्य, तन्निष्फलत्वं त्विष्टमेव, ततः परस्य ज्ञानरूपफलस्याभावात् , तदाहुः–श्रीसिद्धसेनदिवाकरपादाः–“ दोषपङ्क्तिर्मतिज्ञानान्न किञ्चिदपि केवलात् ॥ तमःप्रचयनिःशेषविशुद्धिफलमेव तत् ॥ १ ॥ ’ श्रीहरिभद्रसूरयस्त्वस्यापि परममुक्तिरूपफलमधिकृत्य परापरफलत्वं स्वीचक्रुः । तदुक्तं षोडशप्रकरणे–“ एतद्योगफलं तत्परापरं दृश्यते परमनेन ॥ तत्तत्त्वं यद्दृष्ट्वा निवर्त्तते दर्शनाकांक्षा

॥ १ ॥ ” इति कथञ्चित्प्रमाणोत्थेति ज्ञानेन विषयस्याबाधनादित्यर्थः । सैव कथञ्चिद्द्विधैव, स्वसंवेदनांशेऽबाधादित्यर्थः, कथञ्चिद्बहिःप्रमेयापेक्षया, कथञ्चिद्बाधितायाः इति भावप्रमेयापेक्षयाऽबाधिताया अपि बहिःप्रमेयापेक्षया बाधिताया इत्यर्थः । अहं मां न जानामीति प्रतीतिश्च विशेषज्ञानाभावविषया, न भावरूपाज्ञानविषया, अन्यथाहमज्ञः किमपि न जानामीति प्रतीत्या सर्वविषयाज्ञानसिद्धेस्तन्निवृत्तये सर्वविषयकं तत्त्वज्ञानमेष्टव्यम्, तच्च तवानिष्टमिति विपरीतसिद्ध्यापत्तेः, तस्मान्नाज्ञाननिमित्तकप्रपञ्चप्रतिपादकमद्वैतदर्शनं प्रामाणिकं नाम । स्यादेतद्भेदखण्डनादेवाभेदपर्यवसानेऽद्वैतसिद्धिर्भविष्यति, तथा च श्रीहर्षः–कोऽसौ भेदो नाम ? यद्बीरद्वैतविरोधिन्युच्यते, स हि स्वरूपं वा स्यादितरेतराभावो वा धर्मान्तरं वा, नाद्यो भिन्नेऽभिन्नभ्रमानुत्पत्तिप्रसङ्गात्, भ्रान्त्यापि धर्मिस्वरूपावगाहनात्, न चानारब्धावयविषु तरुष्वावयविविभ्रमवदुपपत्तिः, तदुदाहरणानङ्गीकारात्, अतस्मिन् स एवायमिति प्रत्यभिज्ञाभासार्थस्यैवात्र दृष्टान्तत्वेनेष्टत्वात्, अत्रापि धर्मारोपोपगमे तादात्म्याभावस्य संसर्गाभावप्रवेशापत्तेः, स्वरूपभेदग्रहेऽभेदधर्मस्याप्यशक्यारोपत्वाच्च । नापि द्वितीयः, प्रतीतावन्योन्याश्रयप्रसङ्गात्, प्रतियोगिरूपत्वेनाप्रतीतावधिकरणप्रतीतिरधिकरणस्वभावत्वेनास्मृतौ प्रतियोगिस्मृतिश्च तद्ग्रहणकारणमतो नान्योन्याश्रय इति चेत्, न, वस्तुतोऽन्योन्याभावस्य कुम्भपटोभयप्रतियोगिकाश्रयकत्वेन पटे निषिद्ध्यमाने कुम्भस्यापि निषेधापत्तेः । प्रत्येकप्रतियोगिताश्रयतयोर्भिन्नत्वादेकस्य प्रतियोगिताश्रयतान्यतरनिरूपणकालेऽन्यस्य तदपेक्षाभावान्न दोष इति चेत्, न, अन्योन्याभावाधिकरणप्रतियोगितया प्रतीतेरन्योन्याभावग्रहात् पूर्वमयोगाद्विशिष्टप्रतीतौ विशेषणप्रतीतेर्हेतुत्वात्, यस्य कस्यचित् प्रतियोगितयाऽधिकरणतया च प्रतीतेरहेतुत्वात्, यत्र भिन्नेऽभेदभ्रमस्तद्देशान्यदेशे भ्रमविषयस्य स्वाभावप्रतियोगित्वेन तद्देशे

च धर्मिणः सत्त्वाधारतया प्रतीतावप्यन्योन्याभावप्रतीत्यनुत्पत्तेः, प्रतियोगिबुद्धौ स्मृतित्वस्य प्रयोजकत्वेऽपि योऽसौ तत्र नासीत् सोऽयमिति स्मर्यमाणाभावप्रतियोगित्वेऽपि वस्तुगत्या भिन्नस्याभिन्नतया भ्रमेणोल्लिख्यमानस्यान्योन्याभावप्रतीत्यनुदयात्। दोषाभावोऽपि हेतुः स भ्रमोदाहरणे नास्तीति चेत्, न। पूर्वदृष्टस्मृतिमता ततो वस्तुगत्याऽन्यस्यैवानन्तरदृष्टस्य पूर्वदृष्टाद्भिन्नाभिन्नतयाऽनिरूपितस्यापि सम्भवेन तत्रेतरेतराभावबुद्ध्यापत्तेः। बुध्यत एव तत्र स इति चेत्, न, पश्चात्तत्र संशयस्य दर्शनात्, विशेषधीरपि तत्र हेतुरिति चेत्, न, विशेषत्वस्यान्योन्याभावनिरूपणं विना दुर्निरूपत्वात्। एतेन वस्तुगत्या प्रतियोगिनः स्वरूपेण स्मृतिर्वस्तुगत्या चाधिकरणस्य स्वरूपेण प्रतीतिर्हेतुरित्यपि निराकृतम्, भिन्नस्याभिन्नतया वृक्षादेः प्रतीयमानस्यान्योन्याभाववत्तया ग्रहणप्रसङ्गात्। नापि तृतीयः, अभावस्य निर्द्धर्मकतापक्षे तस्य विश्वाभिन्नत्वप्रसक्तौ विश्वस्याभावरूपत्वेन निर्द्धर्मकतयाऽन्योन्यभेदविरहिण ऐकरूप्यापत्तेः। अभावे धर्माभावात् स्वरूपमेव भेद इति चेत्, न। तस्य निष्प्रतियोगिकत्वेन भेदत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात्, निष्प्रतियोगिकेनापि तेन सप्रतियोगिकव्यवहारजननाभ्युपगमे च प्रतियोगिनियमाभावात् स्वस्मादपि भेदव्यवहारोत्पत्तिप्रसङ्गात्। किञ्च धर्मान्तरं भेद इति ब्रुवतः कोऽभिसन्धिः, किं घटत्वादय एव भेदः, उत भेदो नामान्य एवैकः कश्चिद्धर्मः, आद्ये घटत्वादीनां सप्रतियोगिकत्वप्रसङ्गः, भेदस्य सप्रतियोगिकत्वात्, न च घटत्वादयस्तथा, पटाद्यनपेक्ष्य तेषां प्रतीतेः। यदा पटाद्यपेक्षया प्रतीयन्ते तदा भेदव्यवहारं कुर्वन्तीति चेत्, प्रतीतौ कस्य पटाद्यपेक्षेति वाच्यं, किं घटत्वादेरुत तद्धर्मस्य कस्यचित्, आद्ये पटाद्यपेक्षामन्तरेण कदापि घटत्वप्रतीत्यनुत्पत्तिप्रसङ्गो, न हि यदन्तरेण यदुत्पद्यते तत्तत्कारणकं नाम, वह्नाविवावान्तरजातिभेदेन कारणभेदस्य

चरितार्थीकर्तुमशक्यत्वात्, साक्षात्कारत्वादिना सह परापरभावानुपपत्तेः, जात्योः परस्परं संकरमिच्छतामपि मते पञ्चम्याऽवधिभावः प्रतिपाद्यमानः केन समन्वियात्, न तावद् घटत्वेन, तस्यावधिघटितत्वे तथैव पटं प्रतीत्यापत्तेः। तद्धर्मेणेति चेत्, तर्ह्ययं द्वितीयो विकल्पः, तत्र च स एव सापेक्षप्रतिपत्तिर्भेदो ननु घटत्वादिः, घटत्वादेश्च स भेदः स्यात् तद्धर्मः स्यात्, घटादेस्तु भेदपर्यनुयोगे तदभिधानमसङ्गतम्, कथं च भिन्नैरनुगतभेदव्यवहारः स्यात्, तथा सति वा किं न तैरेव सदादिव्यवहारोऽपि स्यात्। नापि द्वितीयोऽनभ्युपगमात्, सप्तपदार्थ्यनन्तर्भावप्रसङ्गात्। ननु घटत्वादय एव भेदो घटत्वादिज्ञानाविशेषेऽपि च प्रतियोगिज्ञानसहकारिवशाद्विचित्रव्यवहारोपपत्तिरिति चेत्, न, व्यवहारसत्यत्वार्थं वास्तवार्थगतविशेषस्यावश्यं स्वीकर्तव्यत्वे तत्रैव पर्यनुयोगानुवृत्तेः, अनन्तभेदपरम्पराभ्युपगमे च तत्क्रमज्ञेयतायां प्रतीत्यपर्यवसानात्, तद्युगपज्ज्ञेयतायामनन्तत्वात् सुसदृशतया कस्यचिदन्यभेदस्यान्यदीयतयाऽपि ग्रहसम्भवादिना सर्वत्र प्रामाण्यानाश्वासप्रसङ्गात्। किञ्च घटत्वादेर्भेदत्वेऽवधिभूतपटत्वादिसापेक्षप्रतिपत्तिकतायां घटत्ववत्पटत्वस्यापि भेदरूपस्य भेदावधिप्रतिपत्तिसापेक्षतयाऽवधेश्च घटत्वादिनो घटत्वादिप्रतीत्यपेक्षायामन्योन्याश्रयप्रसङ्गः। भेदरूपत्वे घटत्वादेरवधिप्रतीत्यपेक्षा, न तु स्वरूपमात्रप्रतिपत्तौ, स्वरूपमात्रेण चावधित्वं तत् कुत एवमिति चेत्, भेदरूपता यदि तस्य स्वात्मैव, तदा स्वरूपमात्रप्रतिपत्तौ नावध्यपेक्षेति शून्यं वचनम्, अथ धर्मान्तरं, तदा स एव भेदोऽस्तु, कृतं तद्वत्तया घटत्वादेर्भेदरूपतेति प्रक्रियाकल्पनया। अस्तु स एव धर्मान्तरं भेद इति चेत्, न, दूषितत्वात्। अथास्तु स्वरूपादित्रयं भेद इति चेत्, न, तद्व्यवहारस्यैकाकारस्य नानानिमित्तत्वे गोत्वाद्यनुगताकारप्रतीतेरपि कथमेकनिमित्तसिद्धौ प्रमाणत्वं, व्यभिचारात्, सामान्य-

विशेषैरेव परसामान्यस्य बुद्धिव्यवहारोपपत्तौ तत्कल्पनानुपपत्तेः। किञ्च भेदे भेदान्तरमस्ति न वा, आद्येऽनवस्था, द्वितीये तदभाव एव स्यात्, तद्धर्मिण्येव तत्प्रवेशात्। भेदस्वभावत्वात् स्वात्मन्यपि स्वयमेव तद्व्यवहारमयं करोति सत्तेव सद्व्यवहारमिति चेत्, न, अस्य भेदस्य स्वात्मप्रतियोगित्वेन स्वाश्रयत्वेन चाङ्गीकारे स्वस्मादपि स्वस्य भेदप्रतीतिव्यवहारयोः प्रामाण्यप्रसङ्गात्। न वयं स्वात्मा स्वाधिकरणं स्वावधिरित्यभ्युपगच्छामः, किन्तु धर्मान्तरे तत्प्रतियोगिके तदाधारके वा स्वीकृतौ यौ बुद्धिव्यवहारावुत्पद्येते तावनवस्थाभयाद्धर्मान्तरमन्तरेणैव स्वभावाद्भेदः करोतीति ब्रूम इति चेत्, तर्ह्यन्यत्र यादृशी प्रतीतिर्धर्मान्तरविषया तादृश्येवात्र विना धर्मान्तरमुत्पद्यत इति भ्रान्ता स्यात्, यस्य च स्वभावस्य वशेनेदृशी सा जायते स दोषः स्यात्, यथा सत्यरजते रजतत्वप्रतीती रजतत्वादुत्पन्ना विनापि धर्मान्तरमन्यत्रोत्पद्यत इति भ्रान्ता भवति, यस्य च सामर्थ्यात्तादृशी जायते स दोष इत्युच्यते। तत्र रजतत्वं नास्ति अत्र धर्मिरूपोऽपि भेद एव समवलम्बनमिति चेत्, मैवम्, भिन्नप्रतीतिर्विशिष्टविषया भेदतदाश्रयरूपोभयवस्तुविषयाऽन्यत्र यादृशी सत्याङ्गीकृता ततो मात्रयाऽप्यन्यूनार्थाया इह जायमानाया यदि द्वयं विषयं नाङ्गीकुरुषे तदा गीर्वाणगुरुणापि दुर्निवारं भ्रान्तत्वम्, अथाङ्गीकुरुषे, तदाऽनवस्थाप्रसङ्गः। अथ तदुभयव्यतिरेकेणैवात्र सा सत्या, अन्यत्र तर्हि ततोऽन्यादृशविषया मिथ्या स्यादित्यलं पल्लवेन॥ अत्रोच्यते—"श्रीहर्षहर्षस्तवखण्डनेऽस्मिन् भेदस्य चेदस्य कटुर्विपाकः। अतद्विदानां भविता वितानैर्ब्रह्मश्रुतौ किं न कृतान्तकोपः॥१॥" किं चैतेन भेदखण्डनेनाभिमतम्, किं भेदज्ञानमेव नास्ति, सदपि वा नित्यम्, अनित्यमपि वा निर्हेतुकम्, सहेतुकमपि वा निर्विषयम्, सविषयमपि वा बाध्यमानविषयम्, तत्र प्रथमः सर्वतो विरोधादनुत्तरः, द्वितीयः सुषुप्त्यवस्थानुरोधादुपेक्षणीयः, तृती-

योऽपि विरोधादेव हेयः, चतुर्थस्तु भेदोल्लेखादेव त्याज्यः। पञ्चमपक्षचिन्तायां तु निरपेक्षस्वरूपादित्रयबाधेऽपि जात्यन्तरात्मकस्य भेदस्य किमेताभिर्व्यधिकरणानुपपत्तिभिर्बाधनीयम्। हन्तैवं धर्म्यभिन्नधर्मान्तरमेव भेद इत्यागतं तथा चानवस्थेति चेत्, तर्ह्यनवस्थाभिया तदधिकप्रवाहस्त्यज्यताम्, तस्य तु कुतस्त्यागः, न ह्यनवस्था प्रतिभासमानमर्थं निवर्तयति, किन्तु प्रवाहं परिहारयति, गन्धे गन्धान्तरवत्, ये त्वत्यन्ताभावात्यन्ताभावः प्रतियोग्येव तदत्यन्ताभावस्तु प्रथमस्तुरीयश्चद्वितीय एवेति नानवस्था, भेदतद्भेदादिस्त्वधिक एव तत्रानवस्थाप्रमाणसिद्धत्वान्न दोष इति वदन्ति, तन्मतेऽप्याकाङ्क्षाक्रमवशात् प्रतीतिपर्यवमानेन न दोषः। स्वरूपभेदपक्षेऽपि भिन्नत्वेन ज्ञानाभावान्नाभेदभ्रमानुपपत्तिः, तत्तत्प्रतियोगिकत्वतत्तदधिकरणकत्वेन भेदज्ञाने च क्षयोपशमविशेषस्यैव हेतुत्वान्नातिप्रसङ्गोऽर्थित्वादिविशेषस्यापि तदाधान एवोपक्षयात्, तुल्ययोगक्षेमं नैतत्तद्विशेषणविशिष्टभावप्रत्यक्षेणापि, न ह्युपस्थितानामेव विशेषणानां भावबुद्धौ वैशिष्ट्यग्रह इति नियमः। अनुपस्थितानामपि पर्यायाणा द्रव्यग्रहकाले ग्रहस्य तुल्यवित्तिवेद्यत्वन्यायसिद्धत्वात् उपस्थितानामप्यनपेक्षितानां विशिष्टबुद्धावनारोहाच्च। किञ्च भेदे प्रतिक्षिप्तेऽभेदः सुतरां प्रतिक्षिप्तः स्यात्, भेदाभावरूपस्याभेदस्य भेदनिरूपणं विना दुर्निरूपत्वात्, इत्थं च भेदेनेवाभेदेनापि ब्रह्मणो दुर्ज्ञेयत्वात्तस्यानिर्वचनीयत्वं शून्यत्वं वा स्यादिति गतं वेदान्तिनां क्लीबानामधिष्ठानसत्तयाऽपि। पार्यन्तिकाभेदभाने विकल्पाभावान्नानुपपत्तिरिति चेत्, पार्यन्तिकभेदभानेऽपि तत एव मा माभूत्, विचारसाध्यनिर्विकल्पकत्वस्योभयत्र साम्यात्। अभेदो न भेदाभावः किन्तु तादात्म्यं प्रमेयमभिधेयमित्याद्यनुरोधादिति चेत्, न, तदपि यदि धर्मिस्वरूपं तदा त्वदुक्तरीत्याऽभिन्ने भेदभ्रमानुपपत्तेः, यदि चातिरिक्तम्, तदा तत्सम्बन्धगवेषणेऽनवस्थानात्, अस्तु तर्हि भेदाभेदोभय-

शून्यं ब्रह्म तत्त्वमिति चेत्, न, तस्य खपुष्पप्रायत्वात्, तद्ग्राहकत्वेनाभिमतस्य ज्ञानस्य सुषुप्तज्ञानतुल्यस्याप्रमाणत्वात्, सुषुप्तज्ञानमप्युत्थानानन्तरसत्यविकल्पदर्शनेन प्रमाणमिति चेत्, तर्हि स्वविषयविकल्पाजननात्ततोऽपि त्वदीयं ब्रह्मज्ञानं हीनतरमस्तु, तदभावे तस्याभेदविषयत्वं भेदविषयत्वं वेत्यत्र संशयानिवृत्तेः, वेदान्तवासनामात्रेण तत्प्रामाण्ये पिटकत्रयादिवासनया क्षणिकादिज्ञानमपि प्रमाणं स्यादिति न किञ्चिदेतत्, "यत्खण्डनं मण्डनहेतुरस्मन्मते रते तद्दशनक्षताभम्। वेदान्तवादेऽथ च शून्यवादे दंशः श्वदन्तस्य विडम्बनं तत् ॥ १ ॥ रतोत्सवः स्यात्परसंकथानां स्याद्वादयूनः किल वल्गनेन। यत्ताः सहन्ते रतियुद्धमेतन्न मल्लयुद्धं परतीर्थिकानाम् ॥ २ ॥" ब्रह्माद्वैतदूषणं शब्दाद्वैतेऽप्यतिदिशति–'तदेतेनेत्यादि' ॥ २७ ॥

इष्टमद्वैतैकान्तापवारणम्, पृथक्त्वैकान्ताङ्गीकरणादिति मावदीधरत्। यस्मात्,—

पृथक्त्वैकान्तपक्षेपि पृथक्त्वादपृथक् तु तौ। पृथक्त्वे न पृथक्त्वं स्यादनेकस्थो ह्यसौ गुणः ॥ २८ ॥

पृथगेव द्रव्यादिपदार्थाः प्रमाणादिपदार्थाश्च, पृथक्प्रत्ययविषयत्वात् सह्यविन्ध्यवदित्येकान्तः पृथक्त्वैकान्तः, सजातीयविजातीयव्यावृत्ता निरन्वयविनश्वरा वहिरन्तश्च परमाणवः इत्यभिनिवेशश्च। तत्र येषा पृथक्त्वगुणयोगात् पृथक् पदार्था इत्याग्रहस्ते एवं तावत्प्रष्टव्याः—किं पृथग्भूतपदार्थेभ्यः पृथक्त्वं गुणः पृथग्भूतोऽपृथग्भूतो वा ?, न तावदुत्तरः पक्षो गुणगुणिनोर्भेदोपगमात्। नापि प्रथमः पृथग्भूतपदार्थेभ्यः पृथक्त्वस्य पृथग्भावे तेषामपृथक्त्वप्रसङ्गात्। पृथक्त्वस्य तद्गुणत्वात् पृथगिति प्रत्ययस्य तदालम्वनत्वान्न तेषामपृथक्त्वप्रसङ्ग इति चेत्, न, तस्य कथंचित्तादात्म्यापत्तेः पृथक्त्वैकान्तविरोधात्। तद्गुणगुणिनोरतादात्म्ये घटपटवद्व्यपदेशोपि मा

भूत्, सवन्धनिवन्धनान्तराभावात्। कथंचित्तादात्म्यमेव हि तयोः सवन्धनिवन्धनम्, न ततोन्यत्सभवति। समवायवृत्ति संभवतीति चेत्, न, समवायस्य कथंचिदविष्वग्भावादपरस्य प्रतिक्षेपात्। पृथक्त्वमन्यद्वा पृथग्भूतमनंशमनेकस्थेषु निष्पर्यायं वर्तते इति दुरवगाहम्। न ह्यनेकदेशस्थेषु हिमवद्विन्ध्यादिपु सकृदेकः परमाणुर्वर्तते इति सभवति। गगनाद्यनंशमपि वर्तते इति चेत्, न, तस्यानन्तप्रदेशादितयानशत्वासिद्धेरनाश्रयतया कचिद्वृत्त्यभावाच्च। सत्तैका युगपदनेकत्र वर्तते इत्यप्यसिद्धम्, तदनन्तपर्यायत्वासाधनात् स्वपर्यायेभ्योत्यन्तभेदासिद्धेश्च समवायवृत्त्यनुपपत्तेः। द्रव्यत्वादिसामान्यमपि नैकमनंशमनेकस्वव्यक्तिवृत्ति सकृत्प्रसिद्धम्, तस्यापि स्वाश्रयात्मकतया कथंचिरसाशत्वानेकत्वप्रतीतेः संयोगविभागपरत्वापरत्वान्यपि नानेकवृत्तीनि युगपदुपपद्यन्ते प्रतियोग्यादिसयोगादि परिणामप्रतीतेः सादृश्योपचारादेकत्वव्यवहारात्। द्वित्वादिरनेकद्रव्यवृत्तिर्युगपदित्यप्यप्रातीतिकम्, प्रतिव्यक्ति सकलसंख्यापरिणामसिद्धेः क्वचिदेकत्र तदसिद्धौ परापेक्षयापि तद्विशेषप्रतीत्ययोगात् खरविषाणवत्। ततो न पृथक्त्वमनेकत्र युगपद्वर्तते गुणत्वाद्रूपादिवत्। न सयोगादिभिरनेकान्तः, तेपामप्यनेकद्रव्यवृत्तीना सकृदनंशानामसिद्धेः। तदनेन पृथक्त्वैकान्तपक्षेपि पृथक्त्ववतोः पृथक्त्वात्पृथक्त्वे तौ नद्धन्तावपृथगेव स्याताम्। तथा च न पृथक्त्व नाम गुणः स्यात्, एकत्र तद्वति तदनभ्युपगमात्। अनेकस्थो ह्यसौ गुण इति कारिकाव्याख्यानं स्थितपक्षदूपणपर प्रकाशितं प्रतिपत्तव्यम् ॥ २८ ॥

पृथक्त्वमन्यद्वेति अन्यद्गुणान्तरं १ अनेकस्थेष्वनेकदेशस्थेपु नानापदार्थेपु। न च पृथक्त्वं रूपादिवत् प्रत्याश्रयं भिन्नमेवेष्यत इत्ययमनभ्युपगतोपालम्भः परं प्रति ग्रन्थकृत इति वाच्यम्। द्वित्वद्विपृथक्त्वादीनां परेण व्यासज्यवृत्तित्वस्योपगमात्, एकपृथक्त्वस्य स्वाश्रये द्विपृथक्त्वादेरन्यत्र चैकपृथक्त्वस्यारम्भकतयोभयत्रारम्भकत्वस्वीकारात् 'प्रतियोग्या-

दीति ' आदिनानुयोगिपरिग्रहः। तथा च घटप्रतियोगिकत्वपटानुयोगिकत्वाभ्यां घटपटसंयोगयोर्भिन्नत्वम्, न त्वेकत्वम्, घटे पटाव्यवधानात्मनः पटे घटाव्यवधानात्मनश्च संयोगस्यैकत्वायोगादित्युक्तं भवति, सादृश्योपचारादिति, तन्निबन्धनीभूता वृत्तिरेव च पर्याप्तिः, अन्यथा प्रत्येकावृत्तेः समुदायवृत्तित्वायोगात्, कथं चान्यतरकर्मजत्ववदन्यतरकर्माभावजत्वमन्यतरकर्मजे उभयकर्मजे च तदतत्कर्मजत्वेन भेदकम्, अन्यथोभयकर्मजन्यतावच्छेदिकाया इव त्रयकर्मादिजन्यतावच्छेदिकाया अपि जातेरभ्युपगमप्रसङ्गात्, नो चेत्, कर्मत्रयस्थले उभयकर्मजसंयोगद्वयापत्तेः, एवमग्रेऽपि नानासंयोगस्वीकारे आदित एव किं न तत्स्वीकारः। यदि च समवायिकारणभेदेऽपि संयोगाद्यैक्यं स्वीक्रियेत, तदा घटादौ यावदवयवरूपमप्येकं स्यादेकत्वप्रतीत्यविशेषात्। यावदाश्रयबुद्धिसापेक्षत्वासापेक्षत्वाभ्यां विशेष इति चेत्, न, रूपादिप्रतीतेरप्याश्रये पर्याप्तत्वापर्याप्तत्वावगाहने न द्विविधरूपत्वादित्याद्यधिकं वादमालायां निरूपितमस्माभिः,। 'द्वित्त्वादिरिति' एकत्वद्वयादिनैव द्वित्त्वादिबुद्धिव्यवहारोपपत्तेरिति भावः। तथा च न पृथक्त्वं नाम गुणः स्यादिति। नन्वत्रेष्टापत्तिः, नैयायिकमूर्द्धाभिषिक्तेन शिरोमणि भट्टाचार्येण पृथक्त्वस्यान्योन्याभावरूपस्यैव स्वीकारात्, तथा च तद्ग्रन्थः। पृथक्त्वमपि न गुणान्तरम्, अन्योन्याभावादेव तद्व्यवहारोपपत्तेः, पृथक्त्वप्रतीतिस्तु न सावधित्वालम्बना, मानाभावात्, घटात्पटः पृथगितरोऽन्यो भिन्नोऽर्थान्तरमित्यादौ तत्तच्छब्दविशेष्ययोगे पञ्चम्यानुशासनिकीति अन्यारादित्यादिसूत्रेऽन्यपदं विशिष्य पृथगादिपरं न त्वन्योन्याभावविशिष्टबोधकपदसामान्यपरमिति पृथक्त्वस्यान्योन्याभावरूपत्वेऽपि घटात्पटः पृथगित्यस्यैव घटान्न पट इत्यस्य नापत्तिरित्येतदर्थं इति चेत्, सत्यम्, पृथक्त्वस्यान्योन्याभावरूपत्वेऽप्यभेदसंवलितत्वेन तदेकान्तायोग इत्यत्र ग्रन्थकृतस्तात्पर्यात्, वस्तुतो मूले वृक्षः कपिसंयोगी-

न शाखायामिति प्रतीत्यनुरोधेनान्योन्याभावाव्याप्यवृत्तित्ववादिनो दीधितिकृतो मते श्यामाद्रक्तो विधर्मा न तु पृथगिति प्रतीत्यनुपपत्तेः पृथक्त्वं नान्योन्याभावः सङ्गच्छते, किन्तु प्रविभक्तप्रदेशत्वम्, इत्थमेव तन्तुभ्यः पटो न पृथगित्यस्योपपत्तेः। न च श्यामाद्रक्तो विधर्मा न तु पृथगित्यत्र पृथक्पदस्य तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नभेदपरत्वादुपपत्तिः सम्भवति, प्रकारान्तरे लक्षणाश्रयणस्यातिजघन्यत्वात्, श्यामाद् घटाद् रक्तो घटे न पृथक्त्वं किन्तु पटादित्यत्र श्यामघटाप्रविभक्तपटप्रविभक्तप्रदेशवृत्त्येकविशेष्यताकबोधस्यस्मदुक्तप्रकारं विनानुपपत्तेश्चेति विचारणीयं सुधीभिः॥ २८॥

साम्प्रतं निरन्वयक्षणिकलक्षणपृथक्त्वपक्षे दूषणमाविर्भावयितुमनसः सूरयः प्राहुः—

संतानः समुदायश्च साधर्म्यं च निरङ्कुशः। प्रेत्यभावश्च तत्सर्वं न स्यादेकत्वनिह्नवे॥ २९॥

जीवादिद्रव्यैकत्वस्य निह्नवे संतानो न स्याद्भिन्नसंतानाभिमतक्षणवत्। यथैकस्कन्धावयवानामेकत्वपरिणामापलापे समुदायो न स्यान्नानास्कन्धावयववत्। तथा सधर्मत्वाभिमतानां सदृशपरिणामैकत्वापह्नवे साधर्म्यं न स्याद्भिन्नार्थवत्। मृत्वा पुनर्भवनं प्रेत्यभावः। सोपि न स्यादुभयभवानुभाव्येकात्माऽपाकरणे नानात्मवत्। चशब्दाद्दत्तग्रहादि सर्वं न स्यात्तद्वत्। न च तदभावः शक्यः प्रतिपादयितुम्, सकलवाचकशून्यत्वेन निरङ्कुशत्वात्। ननु चापरामृष्टभेदाः कार्यकारणक्षणा एव संतानः। स चैकत्वनिह्नवेपि घटते एवेत्यपि ये समाचक्षते तेषामपि कार्यकारणयोः पृथक्त्वैकान्ते कार्यकालमात्मानमनयतः कारणत्वासंभवात्तदनुपपत्तेः कुतः संततिः? ननु कार्यकाले सतोपि कारणत्वे तत्कारणत्वानभिमतस्य कार्यकालमात्मानं नयतः सर्वस्य तत्कारणत्वप्रसङ्गः। कार्याकारेण प्रागसत सद्द्रव्यादिरूपेण प्राक्कार्यकाले च सतस्तत्कार्यस्योत्पत्तौ खरादिमस्तके विषाणादेरुत्पत्तिः किन्न स्यात्? गवादिशिरसीव तत्रापि तस्य

विषाणाद्याकारतया प्रागसत्त्वस्य सद्द्रव्यादिरूपतया सत्त्वस्य चाविशेषात् । तदुत्पत्तिकारणस्य दृष्टस्यादृष्टस्य चाभावात् तत्र न तस्योत्पत्तिरिति वचने परेषामपि प्रागसत्त्वैकान्ताविशेषेपि कार्यस्य पूर्वं सति कारणे जन्म नासतीति न किंचिदतिप्रसज्यते, तदन्वयव्यतिरेकानुविधाननिबन्धनत्वात् तत्कारणत्वस्य । न च निरन्वयक्षणिकत्वेऽपि कार्यस्य कारणान्वयव्यतिरेकानुविधानमसभाव्यम्, स्वकाले सति कारणे कार्यस्योत्पत्तेरसत्यनुत्पत्तेः प्रतीयमानत्वात् स्वदेशापेक्षान्वयव्यतिरेकवत्। तदुक्तम् "अन्वयव्यतिरेकाद्यो यस्य दृष्टोनुवर्तकः। स्वभावस्तस्य तद्धेतुरतो भिन्नान्न सभवः ॥१॥" इति। ततोऽव्यभिचारेण कार्यकारणभूता एवापरामृष्टभेदाः क्षणाः सतानो युक्तः। इति कश्चित् ॥ सोपि न प्रतीत्यनुसारी, तथा बुद्धेतरचित्तानामप्येकसतानत्वप्रसङ्गात् तेपामव्यभिचारेण कार्यकारणभूतत्वाविशेषात् । निरास्रवचित्तोत्पादात्पूर्वं बुद्धचित्तस्यापि सतानान्तरचित्तकारणत्वाभावान्न तेपामव्यभिचारी कार्यकारणभाव इति चेत्, न, यतः प्रभृति तेपां कार्यकारणभावस्तत्प्रभृतितस्तस्याव्याभिचारादन्यथा बुद्धचित्तस्यासर्वज्ञत्वप्रसङ्गात्। नाऽननुकृतान्वयव्यतिरेकं कारणम्, नाकारणं विषय इति वचनात्। स्यान्मतम्, येषामग्राह्यग्राहकत्वे सत्यऽव्यभिचारी कार्यकारणभावस्तेषामेकसतानत्वोपगमान्न दोप इति चेत्, तदप्ययुक्तम्, समनन्तरप्रत्ययेनापि सह बुद्धचित्तस्यैकसतानतापायप्रसक्तेः, तस्य बुद्धचित्तेनाग्राह्यत्वे तस्यासर्ववेदित्वापत्तेः । समनन्तरप्रत्ययस्य समनन्तरत्वादेव बुद्धचित्तेन सहैकसतानत्वमिति चेत्, कुतस्तस्य समनन्तरत्वम्?, तस्याव्यभिचारिकारणत्वादिति चेत्, न, सर्वार्थानां तत्समनन्तरत्वप्रसङ्गात् । एकसतानत्वे सति कारणत्वादिति चेत्, सोयमन्योन्यसश्रयः । सिद्धे समनन्तरप्रत्ययत्वे तस्यैकसतानत्वेन कारणत्वसिद्धिस्ततत्सिद्धौ च समनन्तरप्रत्ययत्वसिद्धिरिति। स्याद्वादिनां कस्तर्ह्येकः सतान इति चेत्, पूर्वापरकालभाविनोरपि हेतुफलव्यपदेशभाजोरतिशयात्मनोरन्वयः सतानः । क्वचित्क्षणान्तरे नीललोहितादिनिर्भासचित्रैकसवेदनवत्कथंचिदेकत्वमेव भवितुमर्हति । न च साध्य-

विकलं चित्रज्ञानमुदाहरणं तस्यैकत्वसिद्धेः तदवयवपृथक्त्वकल्पनाया चित्रनिर्भासो मा भूत् पृथग्वर्णान्तरविषयानेकसतानैकक्षणवत् । तत्र प्रत्यासत्तिविशेषः कथंचिदैक्यात्कोऽपरः स्यात् ? देशप्रत्यासत्तेः शीतातपवातादिभिर्व्यभिचारात्, कालप्रत्यासत्तेरेकसमयवर्त्तिभिरशेषार्थैरनेकान्तात्, भावप्रत्यासत्तेरेकार्थोद्भूतानेकपुरुषज्ञानैरनैकान्तिकत्वाद् द्रव्यप्रत्यासत्तिरेव परिशेषात् सभाव्यते । सा चैकद्रव्यतादात्म्यलक्षणत्वात्प्रत्यासत्तिविशेषः । इति कथंचिदैक्यमेवैकत्वव्यवहारनिबन्धन चित्रज्ञानस्य, अन्यथा वेद्यवेदकाकारयोरपि पृथक्त्वैकान्तप्रसङ्गात् । तयो स्वभावभेदेपि सहोपलम्भनियमात्कथंचिदभेदाभ्युपगमे कथमेकसतानसविदां समनन्तरोपलम्भनियमात्कथंचिदैक्यं न स्यात् ? कालसमनन्तरोपलम्भनियमादेकसतानत्वमेव स्याद्देशसमनन्तरोपलम्भनियमात् समुदायवत्, न पुनरनेकद्रव्यत्वमिति चेत्, न, भवता बुद्धेतरसंविदामेकसतानत्वापत्ते , कालसमनन्तरोपलम्भनियमस्य भावात् पञ्चानामपि च स्कन्धानामेकस्कन्धत्वप्रसङ्गात्, प्रदेशसमनन्तरोपलम्भनियमस्य भावात् । प्रत्यासत्त्यन्तरकल्पनाया तत्र यया प्रत्यासत्त्या संतान समुदायश्च, तयैव कथंचिदैक्यमस्तु । न हि तादृशा साधर्म्यमन्यदन्यत्रात्मसाङ्कर्यात्, येन कालसमनन्तरोपलम्भनियमभाजामेकसतानत्वं व्यवतिष्ठते देशसमनन्तरोपलम्भनियमभृता चैकस्कन्धाख्यं समुदायत्वं युज्यते, तादृशः साधर्म्यस्यैकत्वनिह्नवेऽनुपपत्तेः कथंचिदेकत्वशून्यार्थसाधर्म्यस्य सतानान्तरेषु नानासमुदायेषु च दर्शनात् । एतेनैकसतानत्वात् प्रेत्यभावव्यवहारकल्पनमपास्तं कथंचिदेकत्वापह्नवे तदयोगात् । कथमिह जन्मनो जन्मान्तरेणैकत्वं विरोधादिति चेत्, न, कथंचिदेकत्वे विरोधाभावात् । तथा प्रतिभासादेकज्ञाननिर्भासविशेषवत् । तथा हि । एकज्ञाननिर्भासविशेषाणा मिथः स्वभावभेदेपि यथैकत्वपरिणामः स्वभावतोऽनङ्कुशस्तथा प्रेत्यभावादिषु सतानोन्वयः परमार्थैकत्वमात्मसत्त्वजीवादिव्यपदेशभाजनं स्वभावभेदानाक्रम्य स्वामिवदन्यत्र वर्तयति । न पुनरन्यत्र जीवान्तरे तेषामशक्यविवेचनत्वाद्विरोधवैयधिकरण्यादीना-

मेकज्ञाननिर्भासविशेषैरपाकरणान्निरङ्कुशत्वसिद्धेः ॥ २९ ॥

सन्तानो न स्यादिति मुक्तास्थानीयानां क्षणानां मालास्थानीयस्यानुगमकस्याभावादित्यर्थः । **नानास्कन्धावयवदिति,** न च धान्यराशिवदुपपत्तिः, बुद्धिकृतादेकत्वादवयवबन्धकृतस्यैकत्वस्य विलक्षणत्वात्, **साधर्म्यं न स्यादिति,** तथा च समानपरिणामैकत्वमादाय सोऽयं शब्द इति प्रयोगो न स्यादिष्यते च तद्व्यक्त्यैक्यं समानपरिणामैक्यं चादाय सोऽयमित्येव प्रयोगस्तद्व्यक्त्यभिन्नोऽयं तज्जातीयोऽयमिति विवरणद्वैविध्येऽपि प्रयोगैक्यादिति द्रष्टव्यम् ॥ '**सकलेत्यादि**' तथा च निरङ्कुशत्वं बाधारहितत्वं विशेषणं यथास्थितं विपरिणतं वा सर्वत्र योजनीयम्, तेन न तत् सर्वमित्यनेन सर्वत्र तत्परामर्शानुपपत्तिरिति बोध्यम् ॥ **पूर्वं सतीति** अव्यवहितप्राक्काले सामग्रीसत्त्वं कार्योत्पत्तिप्रयोजकं न तु कार्यस्य प्राक्सत्त्वमसत्त्वं वेति भावः । '**स्वकाले इति**' स्वाव्यवहितप्राक्काल इत्यर्थः, स्वदेशे सति कारणे यथा कार्यमुत्पद्यते तथा स्वकालेऽपीति दैशिककालिकव्याप्तिगर्भमेकं कारणत्वमिति भावः । '**तथा बुद्धेतरेति**' अनुगमकाभावेन देशस्यापि क्षणत्वाद्दैशिककालिकव्याप्त्योरभेदपर्यवसानादित्यर्थः । '**सन्तानान्तरेत्यादि**' सन्तानान्तरचित्तकारणे स्वाकारणे सन्ताने बुद्धचित्तस्यासर्वज्ञत्वप्रसङ्गादित्यर्थः । अतिशयात्मनोः पर्यायस्वरूपयोः, **अन्वयः** द्रव्यात्मनैकत्वम्, **कथञ्चिदैक्यमेवेति** नीलाद्यनेकनिर्भासपर्यायज्ञानात्मना तत्काले तदात्मद्रव्यपरिणामकृतमैक्यमित्यर्थः। **समनन्तरोपलम्भनियमादनुभवस्मरणयोरेकविषयस्पर्शनियमात्, कथञ्चिदैक्यं कथं न स्यादिति** विशिष्टैक्यद्वारकं विशेषणानामैक्यं स्यादेवेत्यर्थः, **कालसमनन्तरोपलम्भनियमात्** सादृश्यप्रत्यासन्नक्षणविषयानुभवनियमात्, **देशसमनन्तरोपलम्भनियमान्नैरन्तर्यप्रत्यासन्नस्वलक्षण-**

विषयानुभवनियमात्, पञ्चानां विज्ञानवेदनासंज्ञासंस्काररूपलक्षणानाम्, तत्रेति पूर्वोत्तरज्ञानक्षणेष्येकदेशवर्तिषु च परमाणुष्वित्यर्थः ॥ तादृशामेकसन्तानभाजां ज्ञानक्षणानां परमाणूनां च, तादृश एकसन्तानत्वनिबन्धनस्य ॥ २९ ॥

पृथक्त्वैकान्तपक्षे दूषणान्तरमुपदर्शयन्तः प्राहु —

सदात्मना च भिन्नं चेज्ज्ञानं ज्ञेयाद् द्विधाप्यसत् । ज्ञानाभावे कथं ज्ञेयं बहिरन्तश्च ते द्विषाम् । ३० ।

सदात्मना सत्सामान्यात्मना भिन्नमेव ज्ञानं ज्ञेयादिति चेद् द्विधाप्यसदेव प्राप्तं ज्ञानस्यासत्त्वे ज्ञेयस्यासत्त्वप्रसङ्गात् । ततो बहिरन्तश्च न किञ्चित्कथंचिदपि ज्ञेयं नाम त्वद्द्विषां प्रतीयेत । ननु सद्विशेषाद् भेदेपि ज्ञानस्य ज्ञेयान्नासत्त्वप्रसक्तिः । सदन्तरत्व तु न स्यात् पटान्तराद्भेदेपि पटस्य पटान्तरत्वाभाववत् । सत्सामान्य पुनः सर्वेषु सद्विशेषेष्वसत्त्वव्यावृत्तिमात्रम् । न च तदात्मना कस्यचित्कुतश्चिद्भेदोऽभेदो वा विचार्यते तस्य वस्तुनिष्ठत्वात् सन्मात्रस्य चावस्तुत्वात् । तदात्मना व्यावृत्तस्य ज्ञानस्य ज्ञेयात्परमार्थसत्त्वाविरोधान्न कश्चिदुपालम्भ इति चेत्, न, सत्सामान्यस्याभावे सावृतत्वे वा सद्विशेषाणामभावप्रसङ्गात् सावृतत्वापत्तेश्च तदसत्त्वव्यावृत्तेरपि वस्तुस्वभावत्वादन्यथा खरविषाणादावपि तदनुषङ्गात् । तथा हि । ज्ञानज्ञेययोरसद्व्यावृत्तिर्वास्तवी सद्विशेषत्वात् । यस्य तु न सा वास्तवी स न सद्विशेषो यथा वन्ध्यासुतः । सद्विशेषौ च ज्ञानज्ञेये । इति केवलव्यतिरेकी हेतुः । तथा यत्रासद्व्यावृत्तिर्वास्तवी तत्र सत्सामान्यं वस्तु, सत्सामान्यरहितेषु वन्ध्यासुतादिष्वसद्व्यावृत्तेरवास्तवत्वात्, इति वास्तवसत्सामान्यात्मना ज्ञानस्य ज्ञेयाद्भेदे सद्विशेषात्मनापि भेदः स्यात् । तथा च ज्ञानमसत् प्राप्तम् । तदनिच्छतां विषयिणो विषयात्कथञ्चित्स्वभावभेदेपि सदाद्यात्मना तादात्म्यं बोधाकारस्येव विषयाकाराद्, विशेषाभावात् । अन्यथा ज्ञानमवस्त्वेव खपुष्पवत् । तदभावे बहिरन्तर्वा ज्ञेयमेव न स्यात्, तदपेक्षत्वात् तस्य ततः

श्रेयानयमुपालम्भः पृथक्त्वैकान्तवाचां ताथागताना वैशेषिकवत् ॥ ३० ॥

समुदायत्वनिबन्धस्य च, **सदन्तरत्वं त्विति**, यद्यप्येकपटापेक्षयाऽन्यपटे पटान्तरत्वव्यवहारवद् ज्ञेयापेक्षया ज्ञाने सदन्तरत्वव्यवहारोऽपि सम्भवी तथापि प्रतिनियतप्रतियोगिसद्वाचकपदसमभिव्याहाराभावादयं निषेधो द्रष्टव्यः। प्रागुद्दिष्टधर्मविशिष्टान्वयितावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदस्यान्वयितावच्छेदकधर्मस्य चान्तरपदार्थत्वात्। **वास्तवसत्सामान्यात्मनेति** सत्सामान्यनिष्ठप्रतियोगित्वाभिन्नज्ञेयनिष्ठप्रतियोगिताके ज्ञानाधिकरणके भेदेऽभ्युपगम्यमान इत्यर्थः। परैरपि हि प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नसत्त्वस्याभावविरोधित्वात् सामान्यरूपेण विशेषाभावो न स्वीक्रियते तथाऽस्माभिरपि सामान्यात्मना विशेषाभाव इति मन्तव्यम्। **तथा चेति** यावद्विशेषभेदस्य सामान्यभेदनियतत्वादिति भावः। तादात्म्यमित्यनन्तरमेष्टव्यमिति शेषः। सामान्यस्यावास्तवत्वे दोषान्तरं समुच्चिचीषुराह ॥ ३० ॥ किञ्च,—

सामान्यार्था गिरोन्येषां विशेषो नाभिलप्यते। सामान्याभावतस्तेषां मृषैव सकला गिरः। ३१।

सामान्यमेवार्थोऽभिधेयो यासा ताः सामान्यार्था गिरो यतस्ताभिर्विशेषो नाभिलप्यते इत्यन्ये, तेषां मृषैव सकलाः स्वयं सत्यत्वेनाभिमता अपि गिरः स्युः, सामान्यस्य वास्तवस्याभावात्। कुतः पुनः सामान्यस्यैवाभिधेयत्वमिति चेत्, विशेषाणामशक्यसमयत्वात्। न ह्यनन्ता विशेषाः शक्याः सकेतयितुं ततो नाभिधीयेरन्, असकेतितानभिधानात्। विशेषदर्शनवत्तद्बुद्धावप्रतिभासनादर्थसन्निधानानपेक्षणाच्च। न हि स्वलक्षणे दर्शने यथा सकेतनिरपेक्षो विशेष. प्रतिभासते तथा शब्दबुद्धावपि, तस्याः स्वलक्षणसन्निधानानपेक्षत्वात्, तदपेक्षत्वेऽतीतानुत्पन्नादिषु शब्दबुद्धेरभावप्रसङ्गात्। यद्येवं स्वलक्षणमनभिधेयं सामान्यमवस्तूच्यते इति वस्तु

नोच्यते इति स्यात्। ततः किं शब्दोच्चारणेन संकेतेर्न वा ? गोशब्दोपि गा नाभिधत्ते यथाश्वशब्दस्य। तथा च वस्तुनोनभिधाने मौनं यत्किंचिद्वा वचनमाचरेत्, विशेषाभावात्। अथास्ति विशेषः। कथ स्वार्थं नाभिदधीत ? मौनाद्यत्किंचनवचनाद्वा यथार्थोभिधानस्य स्वाभिधानं मुक्त्वा विशेषस्यासभवात्। न वै परमार्थैकतानत्वादभिधाननियमः, परमार्थैकतानत्वे शब्दानामनिबन्धना न स्यात् प्रवृत्तिरर्थेषु समयान्तरभेदिष्विति वचनात्। किं तूपादानविशेषादित्यपि वार्तम्, अविकल्पेपि तथैव प्रसङ्गात्। शक्य हि वक्तुम् "अविकल्पकप्रत्यक्षस्य न परमार्थैकतानत्वान्नियमो, द्विचन्द्रादिदर्शनाभावप्रसङ्गात् किन्तूपादानस्य स्ववासनाविशेषस्य भेदात्" इति। तदेवमवधारितात्मकं वस्तु स्वलक्षणमापनीपद्येत, विकल्पेनेवाविकल्पेनाप्यवधारयितुमशक्तेः। निर्विकल्पकस्यार्थसन्निधानानपेक्षत्वाद्वैशद्याच्च परमार्थैकतानत्वमिति चेत्, न, तदनियमात्। तथा हि। नावश्यमिन्द्रियज्ञानमर्थसनिधानमपेक्षते विप्लवाभावप्रसङ्गात्। नापि विशदात्मकमेव, दूरेपि तथाप्रतिभासप्रसङ्गाद्यथाऽऽरात्। न हि आरादेवार्थे निर्विकल्पकमिन्द्रियज्ञानम्, न पुनर्दूरे इति शक्य वक्तुम्, इन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधानाविशेषात्। दूरार्थेपीन्द्रियज्ञानं विशदात्मकमेव, तत्रावैशद्यस्याशूत्पन्नानन्तरविकल्पेन सहैकत्वाध्यारोपादेव प्रतीतेरिति चेत्, न, आसन्नार्थेपि तदवैशद्यप्रतीतिप्रसङ्गात्। न हि तत्राविकल्पानन्तर चिराद्विकल्पस्योत्पत्तिः, पुरोवर्तिन्यर्थेऽक्षज्ञानजविकल्पवैशद्यस्य तल्लघुवृत्तिनिबन्धनत्वाभावप्रसङ्गात् "विमूढो लघुवृत्तेर्वा तयोरैक्य व्यवस्यति" इति वचनविरोधात्। यदि पुनरासन्नार्थे निर्विकल्पकस्य बलीयस्त्वात्तद्वैशद्येनानन्तरविकल्पावैशद्यस्याभिभवाद्वैशद्यप्रतिभासो न पुनर्दूरे विपर्ययादिति मतम्, तदा पुरोवार्तिगोदर्शनवैशद्येनाश्वविकल्पावैशद्यस्याभिभूतिप्रसङ्गात् तत्र वैशद्यप्रतीतिः किन्न स्यात् ? गोदर्शनभिन्नविषयत्वादश्वविकल्पस्य नैवमिति चेत्, न, नीलदर्शनविकल्पयोरपि भिन्नविषयत्वात्तद्वैशद्याप्रतीतिप्रसङ्गात्। न हि तयोरभिन्नविषयत्वम्,

स्वलक्षणसामान्ययोस्तद्विषययोर्भेदात्। तत्र दृश्यविकल्प्ययोरेकत्वाध्यवसायान्नीलविकल्पे वैशद्यप्रतिभास इति चेत्, न, तत एव दूरेऽपि वैशद्यप्रतिभासप्रसङ्गात्। स्यान्मतम्, प्रत्यासन्नेऽर्थे विकल्प्ये दृश्यस्याध्यारोपाद्विकल्पवैशद्य दूरे तु दृश्ये विकल्प्यस्याध्यारोपाद्-र्शनावैशद्य प्रतीयते कुतश्चिद्विभ्रमात्, इति, तदप्यसारम्, चन्द्रार्कादावतिदूरे दृश्ये विकल्प्याध्यारोपादवैशद्यप्रतीतिप्रसङ्गात्, प्रत्या-सन्नतरे च चक्षुषः करतलरेखादौ विकल्प्ये दृश्याध्यारोपाद्वैशद्यप्रसङ्गात्। यदि पुनरदृष्टविशेषवशाद्दृश्यविकल्प्ययोरेकत्वाध्यारोपा-विशेषेपि क्वचिद्वैशद्यमवैशद्यं च यथाप्रतीत्यभिधीयते तदा तत एवेन्द्रियजत्वाविशेषेपि क्वचिद्वैशद्यप्रतिभासोन्यत्रान्यथेति नैकान्तेन दर्शनस्य विशदात्मकत्वमर्थसन्निधानापेक्षत्व वा यतः परमार्थैकतानत्वान्नियमः स्यात्, न पुनः शब्दबुद्धिवदुपादाननियमादिति। न शब्दबुद्धेरवस्तुविषयत्वेप्युपादाननियमाद्विशेषः, परार्थानुमानस्य वक्त्रऽभिप्रेतसमये त्रिरूपहेतुसूचित्वादविसवादादितरवचनाद्विशेष इति चेत्, न, तथापि क्षणभङ्गादिसाधनवचनमन्यद्वा न किंचित् सत्यं स्याद्वक्त्रऽभिप्रेतमात्रसूचित्वात् प्रधानेश्वरादिसाधनवाक्यवत्। न हि वक्त्रभिप्रेतमात्रसूचित्वाविशेषेपि क्षणभङ्गादिसाधनं प्रतिपक्षदूषणं वा सत्यं न पुनः प्रधानेश्वरादिसाधनमिति शक्यव्यवस्थम्, यतस्तदेव सवादि स्यात्, सर्वथा विशेषाभावात्। सदर्थाप्रतिपादनाद्वा न क्षणभङ्गादिसाधनवचनं विपक्षदूषणवचनं वा सत्यम्, प्रसिद्धालीकवचनवत्। ननु च व्याख्यातारः खल्वेवं विवेचयन्ति न व्यवहर्तारः। ते हि दृश्यविकल्प्यावर्थावेकीकृत्य यथेष्टं व्यवह-रन्ति। क्षणभङ्गादिसाधनवचनमन्यद्वा सत्यम्, न प्रधानेश्वरादिसाधनवाक्यम्। परमार्थतस्तु न किंचिद्वचनमवितथम्। इत्यभ्युपगमेपि दृश्यविकल्प्यार्थाकारयोः कथंचिदप्यतादात्म्ये स्वलक्षणं सर्वथानवधारितलक्षणं दानादिचेतोधर्मादिक्षणवत् कथं सशीतिमतिवर्तेत? निर्विकल्पकदर्शनात्तदवधारणासभवात् विकल्पानां चावधास्तुविषयत्वात्। सोयमविकल्पेतरराश्योरर्थेतरविषयत्वमन्यद्वा स्वांशमात्राव-

लम्बिना विकल्पान्तरेण प्रत्येतीति सुपरिबोधप्रज्ञो देवानांप्रियः। न ह्यविकल्पेतरराश्योरर्थानर्थविषयत्वं विशदेतरात्मत्वं वाऽनुपश्यण-वेतररूपत्वं वा येन विकल्पान्तरेण प्रत्येति। तद्वस्तुविषय युक्तम्, तस्य विकल्पराशावनर्थविषयेनुप्रवेशात्। स्वत एव विकल्पसंविदां निर्णये स्वलक्षणविषयोपि विकल्पः स्यात्। परतश्चेदनवस्थानादप्रतिपत्तिः अतोर्थविकल्पोपि मा भूदित्यन्धकल्प जगत् स्यात्, स्वयमनिश्चयात्मनो विकल्पादर्थनिश्चयानुपपत्तेः। न चायं परोक्षबुद्धिवादमतिशेते, सर्वथार्थचिन्तनोच्छेदाविशेषात्। यथैव ह्यप्रत्यक्षो-पलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिध्यति तथा स्वयमनिश्चितात्मोपलम्भस्यापि। स्वयमनिर्णीतेन नामात्मना बुद्धिरर्थं व्यवस्थापयतीति सुव्य-वस्थितं तत्त्वम्। न वै स्वरूप पररूप वा बुद्धिरध्यवस्यति निर्विषयत्वाद्भ्रान्तेः स्वप्नबुद्धिवदिति विभ्रमैकान्तवादिवचनम्। इदमतो भ्रान्ततर, वहिरन्तश्च सद्भावासिद्धेः। स्वप्नादिभ्रान्तज्ञानं हि वहिरर्थासत्त्वादेव, न पुनः स्वरूपासत्त्वात्, इदं तु विभ्रमैकान्तसवेदनं वहिरन्तरप्यर्थासत्त्वादिति कथं न तदतिशेते? न चास्य स्वरूपसत्त्वं, तद्व्यवस्थानस्य विपक्षव्यवच्छेदेन प्रतिपत्तिपथमुपनेतुमशक्तेः। स्वपरस्वभावप्रतिपत्तिशून्येन स्वपरपक्षसाधनदूषणव्यवस्था प्रत्येतीति किमपि महाद्भुतम्। सवृत्त्या प्रत्येतीति चायुक्तम्, कथंचिदपि परमार्थप्रतिपत्त्यभावे सवृतिप्रतिपत्त्ययोगात् परमार्थविपर्ययरूपत्वात्सवृते। अन्यथा परमार्थस्य सवृतिरिति नामकरणमात्रमवाधाकर-मेव परेपामनुपज्येत। सोय सवृत्त्या विभ्रमैकान्तमाधनमविभ्रमदूपण च प्रत्येतीति परमार्थतो न प्रत्येतीति उपेक्षणीयवचन एव। तमन्येऽप्यनुमन्यन्ते इत्यचिन्त्यमनल्पतमतमोनिवन्धनमशक्यपर्यन्तगमनमिहाद्भुतम्॥ ३१॥

किञ्चेत्यादिना, इत्यन्ये इति, अन्ये सौगताः, **स्वयमिति** अन्यगिरामसत्यत्वे इष्टापत्तिवारणाय अभिधेयत्वमि-त्यनन्तरं युक्तिसिद्धमिति शेषो द्रष्टव्यः। '**समयान्तरभेदेष्विति**' तत्तच्छास्त्रप्रसिद्धेषु प्रधानेश्वराद्यर्थेष्वपारमार्थिकेष्वि-

त्यर्थः । उपादानविशेषाद्विलक्षणविकल्पात् । प्रत्यासन्नेऽर्थे इति दर्शनविषयाध्यरोपाधिष्ठानविषयकत्वं विकल्पस्य वैशद्यं विकल्पविषयाध्यारोपाधिष्ठानविषयकत्वं च दर्शनस्यावैशद्यमित्यर्थः, यद्यप्यत्र दर्शनविकल्पयोरन्तराध्यारोपानवकाशः, औत्तरकालिकश्चारोपो धर्मिणं विना धर्मानुत्पत्तेरभित्तिचित्रार्पितः, तथापि सन्निकर्षविप्रकर्षकृतो भेदाग्रह एव वैशद्यावैशद्यव्यवहारहेतुः स्वरूपतो वैशद्यं तु स्वलक्षणविषयत्वेनेत्यत्र तात्पर्यम्, यथाप्रतीत्यभिधीयत इति तथा व्यवहारस्य तथा प्रतीतिसाध्यत्वाद्भेदाग्रहस्य च विशिष्टज्ञानमात्रोच्छेदकत्वेन व्यवहारानङ्गत्वादिति भावः ॥ परमार्थैकतानत्वाद्वस्त्वेकावलम्बनत्वात्, नियमः स्याद्दर्शनेऽर्थप्रकाशकत्वस्येति गम्यम् । उपादाननियमाद्वासनाविशेषव्याप्तेः । भाष्ये प्रसिद्धालीकवचनवदिति नदीतीरे मोदकराशयः सन्तीति विप्रतारकवचनवदित्यर्थः । ननु वक्त्रभिप्रायसूचकत्वं तदवच्छेदकार्थानुमापकत्वं, तथा चैतानि पदानि वक्तृतात्पर्यविषयसंसर्गप्रमाणपूर्वकाणि आकाङ्क्षादिमत्पदकदम्बकत्वाद्गामभ्याज दण्डेनेत्यादिपदवदित्यनुमानविधया शब्दप्रामाण्यं ताथागतानां न दुर्वचं काणादताथागतयोः प्रत्यक्षानुमानप्रमाणद्वयवादित्वात्, एवमपि वक्तृतात्पर्यसम्भावनामात्रहेतुतया शब्दप्रामाण्यप्रतिक्षेपे धूमादपि वह्निसम्भावनयैव प्रवृत्तिसम्भवादनुमानमात्रोच्छेदेन चार्वाकमतप्रवेशापत्तेरिति चेत्, नाननुमितमसाक्षात्कृतं श्रुतमिदं मयाऽऽप्तमुखादिति प्रतीत्या शाब्द्याः प्रमाया अतिरिक्तत्वे तत्करणस्यानुमानातिरिक्तत्वात्, व्युत्पत्तिज्ञानादेः स्वातन्त्र्येण शाब्दबोध एव हेतुत्वाच्च । विलक्षणानुमितावेव तद्धेतुत्वोपगमे च विलक्षणमानस एव तद्धेतुत्वं किं न स्यात् येन शाब्दत्वं मानसत्वव्याप्यं न भवेत्, व्याप्त्याद्यप्रतिसन्धानेऽपि व्युत्पन्नस्य शब्दश्रवणेन शाब्दबोधाच्च नानुमानं शब्द इति दिक् । स्वांशमात्रावलम्बिनेति स्वमेवांशो भागस्तन्मात्रावलम्बिना परमार्थचि-

न्तायां स्वरूपमात्रग्राहिणेत्यर्थः । तदुक्तं 'न्यायविनिश्चयालङ्कारे' "स्वग्राह्यैकस्वभावोऽयं विकल्पस्तन्मते स्थितः । व्याहारादेः कथं तेन बहिरर्थस्य वीक्षणम् ॥ १ ॥" इति । 'स्वत एवेति' स्वत एव स्वग्राह्यार्थस्य विकल्पज्ञानेन तत्तत्प्रकारकत्वेन निर्णये बोधस्वरूपस्वलक्षणांशेऽपि विकल्पः सप्रकारकः स्यात्, न च त्रिपुटीप्रत्यक्षवादे इष्टापत्तिः, बोधांशे निर्विकल्पकत्वेऽपि स्वात्मोभयव्यवहारजनकत्वेनैव स्वात्मविषयत्वव्यवस्थानात्, अन्यथाऽनुव्यवसायाकारपरम्पराभाजनत्वापत्तेरित्यर्थः । **विभ्रमैकान्तवादिवचनमिति** विभ्रमैकान्तवादी माध्यमिको ग्राह्यांशे ग्राहकांशे च तस्य विभ्रमवादित्वात्, वेदान्ती वा, विद्याया अप्यविद्याकार्यत्वेन तेन भ्रान्तत्वोपगमादिति द्रष्टव्यम् ॥ ३१ ॥

एव तर्हि मा भूत् पृथक्त्वैकान्तोऽद्वैतैकान्तवदशक्यव्यवस्थापनत्वात् । तदुभयैकात्म्य तु श्रेय इति मन्यमान वादिनं सर्वथा वाऽवाच्य तत्त्वमातिष्ठमान प्रत्याहुः—

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम् । अवाच्यतैकान्तेप्युक्तिर्न वाच्यमिति युज्यते ॥३२॥

अस्तित्वनास्तित्ववत् पृथक्त्वेतरपरस्परप्रत्यनीकस्वभावद्वयसभवोपि मा भूद्विप्रतिषेधात् । न खलु सर्वात्मना विरुद्धधर्माध्यासोऽस्ति तदन्योन्यविधिप्रतिषेधलक्षणत्वाद्वन्ध्यासुतवत् । यथैव हि वन्ध्याया विधिरेव तत्सुतप्रतिषेधः स एव वा वन्ध्याया विधिरिति वन्ध्यासुतयोरन्योन्यविधिप्रतिषेधलक्षणत्वं तथा पृथक्त्वस्वभावविधिरेव सर्वथैकत्वप्रतिषेधः स एव च तद्विधिः । इति कथमिव स्याद्वादमनिच्छतां विरुद्धधर्माध्यासः सभवेद्यतस्तदुभयैकात्म्यं तत्त्वमेकान्तवादिनः स्वीकुर्युः ? सर्वथानभिलाप्यतत्त्वाधिगमेपि यदेतदनभिलाप्यं तत्त्वमिति तद्व्याहन्यते, पूर्ववत् । इत्यलं प्रपञ्चेन ॥ ३२ ॥

न खल्विति सर्वात्मना विरुद्धयोरैकाधिकरण्यं नास्तीत्यर्थः। तथा च सर्वथा पृथक्त्वैकत्वयोर्न तत् कथञ्चित् पृथक्त्वैकत्वयोस्त्वविरोधात्तत् सम्भवत्येवेति भावः। वन्ध्याया विधिरेव तादात्म्येनेति दृश्यम्। तत्सुतप्रतिषेधः जनकतासम्बन्धेन सुताभाव इत्यर्थः। एवमग्रेऽपि ॥ ३२ ॥

तदेवमेकत्वाद्येकान्तनिराकृतिसामर्थ्यात्तदनेकान्ततत्त्वप्रसिद्धावपि तत्प्रतिपत्तिदार्ढ्यार्थमन्यथाशङ्कापाकरणार्थं च तत्सप्तभङ्गीं समाविर्भावयितुकामास्तन्मूलभङ्गद्वयात्मकत्वं जीवादिवस्तुनः प्राहुः।

अनपेक्षे पृथक्त्वैक्ये ह्यवस्तु द्वयहेतुतः। तदेवैक्यं पृथक्त्वं च स्वभेदैः साधनं यथा ॥ ३३ ॥

हि यस्मादवस्त्वेवानपेक्षे पृथक्त्वैक्ये–ऐक्यपृथक्त्वनिरपेक्षत्वहेतुद्वयात् प्रतिपादिते प्राक्, तस्मात्तदेवैक्यं पृथक्त्वं च जीवादिवस्तु कथंचिदेकत्वपृथक्त्वप्रत्ययहेतुद्वयादवसीयते। यथा साधन सत्त्वादि पक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्वविपक्षासत्त्वलक्षणैर्भेदैर्विशिष्टमेक प्रसिद्धमुभयोः। तत्राप्यन्वयव्यतिरेकयोरनपेक्षयोरवस्तुरूपत्वात् साधनलक्षणत्वायोगात् सापेक्षयोरेव तल्लक्षणत्वेन वस्तुस्वभावत्वसिद्धेः साम्यमुदाहरणस्य प्रतिपत्तव्यम्। किं पुनरनया कारिकया करोत्याचार्यः ? पूर्वेणैवास्यार्थस्य गतत्वादिति चेत्, एकत्वपृथक्त्वे नैकान्ततः स्तः प्रत्यक्षादिविरोधादिति स्पष्टयति, गतार्थस्याप्यनुमानविषयत्वदर्शनात्स्पष्टत्वप्रसिद्धेः, प्रमाणसम्प्लववादिनां गृहीतग्रहणस्यादूषणात। तथा हि। पृथक्त्वैकत्वे तथाभूते न स्ताम्, एकत्वपृथक्त्वरहितत्वाद्व्योमकुसुमादिवत्। तथा हि। सर्वथा पृथक्त्वं नास्त्येव, एकत्वनिरपेक्षत्वाद्व्योमकुसुमवत्। सर्वथैकत्वं नास्ति पृथक्त्वनिरपेक्षत्वात्तद्वदिति। अत्र न हेतुद्वयमसिद्धं तदेकान्तवादिना तथाभ्युपगमात्। नाप्यनैकान्तिकं विरुद्धं वा, विपक्षवृत्त्यभावात्। सापेक्षत्वे हि तदेवैक्यं पृथक्त्वमित्यविरुद्धं कथंचिज्जीवादिवस्तु

प्रत्यक्षादिभिरुपलभ्यते न पुनः सर्वथेति सिद्धान्यथानुपपत्तिः, सपक्षविपक्षयोर्भावाभावाभ्यां साधनवत्। न हि सपक्षे एव भावो विपक्षेऽभावनिरपेक्षो विपक्षेऽभाव एव वा सपक्षे भावानपेक्ष साधनवस्तुनो रूपं परेषा सिद्धं येन साध्यसाधनविधुरमुदाहरणं स्यात्। स्वभेदैर्वा संवेदनवत्। न हि हेतुमनिच्छतः संवेदनाद्वैतं पुरुषाद्वैतं वा स्वीकुर्वतोपि चित्रसंवेदनं नीलादिनिर्भासैरद्वयसंवेदनं वा ग्राह्यग्राहकाकारविवेकसंविदाकारैः परमब्रह्म वा तेजःशब्दज्ञानज्योतिराकारैर्विवर्तैतराकारैर्वा स्वभेदैः परस्परनिरपेक्षैर्विशिष्ट वस्तु सिद्धं येनोदाहरणमनवद्यं न स्यात्। स्वारम्भकावयवैर्वा घटादिवत् औलूक्यानाम्। सत्त्वादिभिः प्रधानवद्वा कापिलानाम्। तादृश हि साधनं स्वार्थक्रियायाः क्षीराद्याहरणादिकाया महदादिसृष्टिरूपाया वा स्वविषयज्ञानजननलक्षणाया वा सिद्धमेव। तदन्तरेणापि पाठान्तरमिदं बहु संगृहीतं भवति, कारिकाया स्वभेदैः साधनं यथेत्यत्र साधनशब्देन साधनसामान्यस्याभिधानात् स्वभेदशब्देन च तत्सामान्यस्य वचनात्। यथायोग विशेषव्याख्यानादिष्टविशेषसिद्धेर्हेतुसंग्रहः ॥ ३३ ॥

कथञ्चिदेकत्वेत्यादि जीवादिवस्तु सापेक्षं सदेकं भवति कथञ्चिदेकत्वेन प्रतीयमानत्वात् सत्त्वादिसाधनवत्, तथा जीवादिवस्तु सापेक्षं पृथग् भवति कथञ्चित् पृथक्त्वेन प्रतीयमानत्वात् तद्वदेवेति हेतुद्वयं बोध्यम्। न च दृष्टान्ते साध्यवैकल्यं, सत्त्वादिहेतौ हेतुलक्षणपर्याप्तिप्रकारकबुद्धिविषयत्वरूपस्याभेदस्यान्वयित्वव्यतिरेकित्वापेक्षया तदविषयकबुद्धिविषयत्वादिरूपभेदस्य च सर्वसम्प्रतिपन्नत्वात्, न चायं भेदोऽकिञ्चित्करो, व्याप्तिलक्षणे ईदृशस्यैव भेदस्यान्यैरपि प्रवेशात्, अन्यथाऽनिर्वाहादिति बोध्यम्। तदेव स्पष्टयति यथा साधनमित्यादिना, सिद्धान्यथानुपपत्तिरिति तथा च वस्तुत्वान्यथानुपपत्त्या कथञ्चिदेकं कथञ्चित् पृथक् च जीवादिवस्तु साधनीयं, विपक्षे बाधकश्च व्यवहारबाध एवेति नाप्रयोजकत्वं, स्वभेदैः साधन यथेति

दृष्टान्तचतुष्टयप्रतिपादनपरे प्रतीके साधनपदं हेतुसंवेदनघटाद्यवयविप्रधानपरतया भेदपदं च हेतुरूपनीलाद्याकारस्वारम्भकावयवसत्त्वादिपरतया व्याचिख्यासुराह भाष्यकृत्–" सपक्षविपक्षयोरित्यादिना परस्परनिरपेक्षरूपविशिष्टे न वस्तुत्वमिति व्यतिरेकं प्रद(र्श्य)र्शयित्वा परस्परसापेक्षरूपविशिष्ट एव तत्त्वमित्यन्वयं प्रदर्शयति–तादृशं हीत्यादिना क्षीराद्याहरणादिकाया इत्युत्तरयोरर्थक्रियाप्रदर्शनं स्वविषयज्ञानेत्याद्ययोः हेतुना स्वविषयज्ञानस्यानुमितिरूपस्य संवेदनेन चानुव्यवसायस्य जननादिति बोध्यम् । स्वप्रकाशत्वात्संवेदनस्य न स्वविषयज्ञानजननलक्षणाऽप्यर्थक्रियेति चेत्, तर्हि व्यवहारजननलक्षणा साऽऽद्रियतां, यथा कथञ्चिदर्थक्रियाकारित्वस्यैव वस्तुत्वव्यवस्थापकत्वादिति तत्त्वम् । भाष्ये तदन्तरेणापीति तत्प्रसिद्धसाधनम्, अन्तरेण विनापि, इदं तुरीयपादलक्षणं पाठान्तरम् एकपाठत्वेऽप्यावृत्त्यपेक्षया नानाप्रयोगरूपं बहूनां सङ्गृहीतं भावे क्तप्रत्ययात् सङ्ग्रहो यत्र तत्तथा, बह्वर्थसङ्ग्राहकं भवतीत्यर्थः । कारिकायामिति, अवयवावयविभावेन वृत्तित्वे सप्तमी ॥३३॥

नतु चैकत्वप्रत्ययात्पृथक्त्वप्रत्ययाच्च कथमेकत्वं पृथक्त्वं च जीवादीनामुपपन्नं तस्य निर्विषयत्वादित्यारेकायां तस्य सविषयत्वमादर्शयितुमनसः स्वामिनः प्राहुः—

सत्सामान्यात्तु सर्वैक्यं पृथग्द्रव्यादिभेदतः । भेदाभेदविवक्षायामसाधारणहेतुवत् ॥ ३४ ॥

तु विशेषणे । तेन सत्सामान्यं विशेषणमाश्रित्य सर्वेषां जीवादीनामैक्यमिति नैकत्वप्रत्ययो निर्विषयः, तस्य सत्सामान्यविषयत्वात् । पृथक् सर्वं जीवादि द्रव्यादिपदार्थभेदमाश्रित्यानुभूयते । ततो न पृथक्त्वप्रत्ययोपि निर्विषयः, तस्य द्रव्यादिभेदविषयत्वादिति निवेदित बोद्धव्यम् । हेतुरत्र ज्ञापकः कारकश्चोच्यते । स चासाधारणो यथास्वं प्रवादिभिर्विशेषेणेष्टत्वात् । स च यथा स्वभेदानां

पक्षधर्मत्वादीना स्वारम्भकावयवादीनां वा विवक्षाया पृथगेव हेतुत्वेन घटावयव्यादित्वेन वा तदभेदविवक्षायामेक एव तथा सर्वं विवादाध्यासितमिति दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकघटनात् । कश्चिदाह, सर्वार्थाना समानपरिणामेपि कथमैक्यं भेदानां स्वभावसाङ्कर्यानुपपत्तेः । न हि भावाः परस्परेणात्मानं मिश्रयन्ति, भेदप्रतीतिविरोधात् । तेपामतत्कार्यकारणव्यावृत्त्या समानव्यवहारभाक्त्वेपि परमार्थतोऽसंकीर्णस्वभावत्वात् । तदुक्तं " सर्वे भावाः स्वभावेन स्वस्वभावव्यवस्थितेः । स्वभावपरभावाभ्या यस्माद्व्यावृत्तिभागिनः ॥ १ ॥ तस्माद्यतो यथार्थानां व्यावृत्तिस्तन्निबन्धनाः । जातिभेदाः प्रकल्प्यन्ते तद्विशेपावगाहिनः ॥ २ ॥ ततो यो येन धर्मेण विशेषः सम्प्रतीयते । न स शक्यस्ततोऽन्येन, तेन भिन्ना व्यवस्थितिः ॥ ३ ॥ " इति । अत्राभिधीयते । जीवादिभेदानामैक्यं, यथैकभेदस्य स्वभावविच्छेदाभावात् । न हि स्वभावविच्छेदाभावादृते नीलस्वलक्षणस्य संवेदनस्य वा कस्यचिदेकस्य स्वयमिष्टस्याप्येकत्वनिबन्धनं किंचिदस्ति । नापि कथंचिद्भिन्नानामपि भावाना सत्सामान्यस्वभावेन विच्छेदोस्ति, तथा विच्छेदाभावस्यानुभवात् । अन्यथैकं सदन्यदसत् स्यात् । ततः समञ्जसं सर्वमेकं सदविशेपादिति, सदात्मना सर्वभावाना परस्परमिश्रणेपि साङ्कर्याप्रसक्तेः चित्रैकज्ञाननीलादिनिर्भासाना संविदात्मनैकत्वेपि साङ्कर्याप्रसक्तिवत् । नहि तेपामनेकत्वे चित्रज्ञानसिद्धिः सर्वथैकत्ववत् । तत एव न किंचिद्भिन्नज्ञानं निरंशसंवेदनाद्वैतोपगमादिति चेत्, न, तत्रापि वेद्याकारविवेकसंविदाकारयोः परोक्षप्रत्यक्षयोरेकसंवेदनत्वेपि साङ्कर्यानिष्टेरन्यथा संविदाकारस्यापि परोक्षत्वप्रसङ्गात् वेद्याकारविवेकवत् । तस्य वा प्रत्यक्षत्वं संविदाकारवत् स्यात् । न चैवं तद्विप्रतिपत्तिविरोधात् समारोपस्यापि सर्वथाप्यविशेपे क्वचिदेवासंभवान्निश्चयवत् । तस्यैव सतो द्रव्यादिभेदात् पृथक्त्वमुदाहरण पूर्ववत् । तथा च बहिरन्तश्च भावाना सदात्मनैकत्वं द्रव्याद्यात्मना पृथक्त्वं च स्वस्वभावः सिद्धो, न पुनरसाधारणं भिन्नं रूपम् । तेन च स्वस्वभावेन व्यवस्थितेः

स्वभावपरभावाभ्यां भावाः स्वभावेनानुवृत्तिव्यावृत्तिभागिनो, न पुनरेकान्ततो व्यावृत्तिभागिनः । तस्माद्यतो यतोऽर्थानां व्यावृत्तिस्तन्निबन्धना भेदविशेषा एव प्रकल्प्यन्ते, न जातिविशेषाः, प्रतीतिविरोधात् । यतो यतस्त्वनुवृत्तिस्ततस्ततो जातयः प्रकल्प्यन्ते, तासामेवानुवृत्तिप्रत्ययलिङ्गत्वात् । ततो यो येन धर्मेण विशेषोऽविशेषश्च संप्रतीयते, न स शक्यस्ततोन्येन । तेन भिन्नाऽभिन्ना च व्यवस्थितिः पदार्थानां, तथा प्रतीतेर्बाधकाभावात् । ततः स्थितमेतत्, सत्सामान्यविवक्षायां सर्वेषामैक्यम्, द्रव्यादिभेदविवक्षायां पृथक्त्वमेव, इतरस्याविवक्षायां गुणभावात् ॥ ३४ ॥

उक्तमेव विवृणोति वृत्तिकृत्–स्वभेदैरित्यादिना, सत्सामान्यात्त्विति सर्वस्य वस्तुनः सत्त्वेनैक्यं द्रव्यादिभेदेन पार्थक्यं यथाऽसाधारणः शृङ्गग्राहिकयाऽभिहितः सत्त्वादिर्हेतुस्तद्धेतुत्वेनाभेदविवक्षयैकः पक्षधर्मत्वाद्यपेक्षया च पृथग्रूप इति । तथा चैकत्वं पृथक्त्वं च वैवक्षिकमेव नतु क्वचन विशिष्यविश्रान्तं द्रव्यार्थिकनयेनैकीकृतस्यैव पर्यायार्थिकनयेन पृथक्करणात्, तेन पृथक्कृतस्यैव चान्येनैकीकरणात्, सम्मतौ द्रव्योपयोगस्यापश्चिमविकल्पनिर्वचनत्वोक्तेः, कार्यकारणभावप्रवाहपतितानां द्रव्यपर्यायाणां तत्र विश्रान्त्या सम्भवेऽपि सामान्यतस्तदविश्रामात्, नीलादिस्वलक्षणज्ञानस्वलक्षणयोरपि रूपरसादिपर्यायैस्तत्तन्निर्भासभेदैश्च पृथक्त्वेन सर्वथैकत्वायोगात्, तत्तदात्मनि तत्तत्परमाणौ च द्रव्यैक्येऽपि पर्यायाविवक्षाप्रयुक्तद्रव्यविवक्षाया एव शरणत्वात्, देशप्रदेशकल्पनाविनिर्मुक्तवस्तुगोचरैवंभूतनयप्रवृत्तेरपि नयान्तराविवक्षाहेतुकत्वात्, द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकोभयप्रवृत्तेरपि सर्वत्र नियमस्य भजनामात्रेण च क्वचन तदपवादस्य शास्त्रसिद्धत्वात्, सर्वेषां नयानां स्वस्ववचनीयसत्यत्वेऽपि च परविचारप्रवृत्तौ मोघत्वादित्यादिरहस्यं सहृदयैः स्वयं बोध्यम् । ज्ञापकः साध्यज्ञानजनकज्ञानविषयः,

कारकोऽनन्यथासिद्धनियतपूर्ववर्त्ती, जातिभेदा अतद्व्यावृत्तिरूपास्तुच्छाः, तद्विशेषावगाहिनस्तद्विशेषाकारज्ञानवि-
पयाः, यथाश्रुतेऽवगाहित्वस्य ज्ञानधर्मस्य जातिभेदविशेषणत्वानुपपत्तेरिति द्रष्टव्यम् । भिन्नं रूपं गुणान्तरं पदार्थान्तरं वा,
इतरस्याविवक्षायां गुणभावादिति गुणभावस्तत्प्रकारकबोधोद्देशेन वचनाप्रवृत्तावप्यभेदसंसर्गप्रवेशमर्यादया भानं, तत्र
मूलं चानन्तधर्मात्मके वस्तुन्येकोऽपि धर्मस्तदितरसकलधर्माभिन्नत्वविशिष्टसंसर्गेण भातीति व्युत्पत्तिः । नन्वेकत्वमभेदः पृथ-
क्त्वं च भेदः साधनमेकं पक्षधर्मत्वादिना न भिद्यते किन्तु भिन्नप्रकारकप्रतीतिविषयो भवतीति दृष्टान्तावष्टम्भेन जीवादि-
वस्तुन्येकत्वपृथक्त्वयोरन्योन्यानुगमसाधनं युक्तिरिक्तमिति चेत्, न, धूमो वह्नौ धूमत्वेनैको हेतुः पक्षधर्मत्वादिरूपैः पृथग्रूपः,
दण्डो घटे दण्डत्वेन हेतुर्द्रव्यत्वेन न हेतुरिति प्रतीत्या हेतावेकत्वपृथक्त्वयोर्भेदाभेदयोश्चान्योन्यानुगमसिद्धान्तदृष्टान्तेन जीवा-
दिवस्तुनि तत्साधनस्य युक्तिपथानतिवर्त्तित्वात् । न च द्रव्यत्वेन न हेतुरित्यत्र द्रव्यत्वानवच्छिन्नहेतुतावानर्थः, मूले वृक्षः
संयोगी न शाखायामित्यत्रापि शाखानवच्छिन्नसंयोगवद्विषयकत्वापत्तेः, दण्डोऽदण्डश्च द्रव्यत्वेन न हेतुरित्यत्रागतेश्च । युक्ति-
सिद्धे च भेदस्याव्याप्यवृत्तित्वे किमेकत्रापेक्षया भेदाभेदोभयावगाहिप्रतीतेरन्यविषयत्वकदर्थनेन, न च द्रव्यत्वावच्छिन्नता-
दात्म्येन हेतुमति द्रव्यत्वेन हेतुभेदोऽप्यसम्भवीति शङ्कनीयम् । तादात्म्येन तत्तद्धेतुतत्तद्भेदयोस्तत्तद्धेतुतावच्छेदकतदनव-
च्छेदकभेदेन सत्त्वस्वीकारात् प्रतियोग्यनवच्छेदकस्याभावावच्छेदकत्वेऽतिप्रसङ्गस्तु कथञ्चित् पक्षेणैव प्रतीत्यबाधया परि-
हरणीय इति दिग् ॥ ३४ ॥

विवक्षाऽविवक्षयोरसद्विषयत्वान्न तद्वशात्तत्त्वव्यवस्था युक्तेति मन्यमानं प्रत्याहुः सूरयः—

विवक्षा चाविवक्षा च विशेष्येऽनन्तधर्मिणि । सतो विशेषणस्यात्र नासतस्तैस्तदर्थिभिः॥३५॥

क्रियते इति विशेषः विशेष्योर्थस्तावदनन्तधर्मा प्रागुक्तः। तत्र कस्यचिद्विशेषणस्यैकत्वस्य सत एव विवक्षा पृथक्त्वस्य च सत एव वा-विवक्षा, न पुनरसतः क्रियते तैः प्रतिपत्तृभिरेकत्वपृथक्त्वाभ्यामर्थिभिः, सर्वथा तत्र कस्यचिदर्थित्वानर्थित्वयोरसंभवात्, तस्य सकलार्थक्रियाशक्तिशून्यत्वात् खरविषाणवत्। न हि कस्यचिद्विवक्षाविषयस्य मनोराज्यादेरसत्त्वे सर्वस्यासत्त्वं युक्तम्, कस्यचित् प्रत्यक्षविषयस्य केशोंडुकादेरसत्त्वे सर्वस्य प्रत्यक्षविषयस्यासत्त्वप्रसङ्गात्। प्रत्यक्षाभासविषयस्यासत्त्वं, न पुनः सत्यप्रत्यक्षविषयस्येति चेत्, तर्ह्यसत्यविवक्षाविषयस्यासत्त्वमस्तु, सत्यविवक्षाविषयस्य तु मा भूत्। न काचिद्विवक्षा सत्या विकल्परूपत्वान्मनोराज्यादिविकल्पवदिति चेत्, न, अस्यानुमानस्य सत्यत्वेऽनेनैव हेतोर्व्यभिचारात् तदसत्यत्वे साध्याप्रसिद्धेः। यतोनुमानविकल्पादर्थं परिच्छिद्य प्रवर्तमानोर्थक्रियायां न विसंवाद्यते, तद्विषयः सन्नेवेति चेत्तर्हि यतो विवक्षाविशेषादर्थं विवक्षित्वा प्रवर्तमानो न विसंवाद्यते तद्विषयः कथमसन् भवेत्? अविवक्षाविषयोऽसन्नेवान्यथा तदनुपपत्तेरिति चेत्, न, सकलवाग्गोचरातीतेनार्थस्वलक्षणेन व्यभिचारात्। सर्वस्य वस्तुनो वाच्यत्वान्नाविवक्षाविषयत्वमिति चेत्, न, नाम्नस्तद्भागाना च नामान्तराभावादन्यथानवस्थानुपङ्गात् तेषामविवाक्षाविषयत्वेपि सत्त्वे कथमन्यदपि विशेषणमविवक्षाविषयत्वे सदेव न सिध्येत्? तदेव विधिप्रतिपेधधर्माणां सतामेव विवक्षेतराभ्या योगस्तदर्थिभिः क्रियेत, अन्यथार्थनिष्पत्तेरभावात् न ह्यर्थक्रियार्थिनिष्पत्तिमनपेक्ष्य विवक्षेतराभ्यां योगः संभवति, येन तदभावेपि स स्यात्। उपचारमात्रं तु स्यात्। न चाग्निर्माणवक इत्युपचारात्, पाकादावुपयुज्यते। ननु चान्यव्यावृत्तय एव विवक्षेतराभ्या युज्यन्ते, न वस्तुस्वभावो, यतस्तयोः सद्विषयत्वमिति चेत्, न, शब्देभ्यो वस्तुनि प्रवृत्तिविरोधात्, व्यावृत्तितद्वतोरेकत्वाध्यारोपात्तद्वति प्रवृत्तिरिति चेत्, न, अध्यारोपस्य विकल्प-

त्वेनार्थाविषयत्वात् स्वाविषयेण व्यावृत्तेरेकत्वारोपणायोगात् । सामान्येनार्थोध्यारोपविकल्पविषय एवेति चेत्तदपि यद्यन्यव्यावृत्तिरूपं तदावृत्त्यैव व्यावृत्तेरेकत्वारोपात्कुतोर्थे प्रवृत्तिः ? तामिच्छता तदेकैकशः परपरव्यावृत्तयोपि परिणामविशेषा एषितव्याः ॥ ३५ ॥

विकल्परूपत्वादिति, न च पक्षावृत्तित्वेनास्यासिद्धत्वं, विवक्षाया मोहाभिव्यक्तचैतन्यरूपत्वेनास्य पक्षवृत्तित्वात्, नाम्नो घटादिनाम्नः, तद्भागानां च घकारटकाराद्यक्षराणाम्, उपचारमात्रं तु स्यादिति मुख्यार्थबाधे तद्योगरूढिप्रयोजनान्यतरसंपत्तेरेव तद्धेतुत्वादिति भावः । न चाग्निरित्यादि, ततः सतामेवार्थानामर्थिविवक्षेतराभ्यां योग इति निर्व्यूढम् ॥ ३५ ॥

योप्याह भेद एव परमार्थसन्नर्थाना नाभेदस्तस्य संवृतिसत्त्वादन्यथा विरोधादिति । अभेद एव तात्त्विको भावानां न भेदस्तस्य कल्पनारोपितत्वादन्यथा विरोधानुपपत्तेरिति चापरः तौ प्रति सूरयः प्राहुः—

प्रमाणगोचरौ सन्तौ भेदाभेदा न संवृती । तावेकत्राविरुद्धौ ते गुणमुख्यविवक्षया ॥ ३६ ॥

अभेदस्तावत्सन्नेव न पुनः सवृतिविषयः प्रमाणगोचरत्वाद्भेदवत् । भेद सन्नेव न पुनः सवृतिः प्रमाणगोचरत्वादभेदवत् । भेदाभेदौ सन्तावेव, न पुनः सवृती, प्रमाणगोचरत्वात्स्वेष्टतत्त्ववदित्यपि पक्षान्तरमाक्षिप्तं लक्ष्यते, तदुभयसंवृतिवादिनोपि सकलधर्मविधुरत्वमनुमन्यमानस्य भावात् । न चात्र साध्यसाधनधर्मविकलमुदाहरणं, भेदाभेदतदुभयानुभयैकान्ताभिधायिना तत्प्रसिद्धे स्याद्वादिवत् । तथैकत्र वस्तुनि भेदाभेदौ परमार्थसन्तौ ते भगवतो न विरुद्धौ प्रमाणगोचरत्वात्स्वेष्टतत्त्ववत् । इति सामर्थ्यात् परस्परनिरपेक्षौ भेदाभेदौ विरुद्धावेव प्रमाणागोचरत्वाद्भेदैकान्तादिवत् इति कारिकायामर्थसङ्ग्रहः । किं पुनः प्रमाणं यद्गोचरत्वमत्र हेतुरिति चेत्

प्रमाणमविसंवादि ज्ञानमनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वादित्यग्रे वक्ष्यति । अधिगमो हि स्वार्थाकारव्यवसायः । स्वार्थाकारौ च कथंचिद्भेदाभेदौ, तदन्यतरापायेऽर्थक्रियानुपपत्तेस्तदेकान्ते सर्वथा तदयोगात् । तदेवं सति भेदमभेदं वा नान्योन्यरहितं विषयीकरोति प्रमाणम् । न हि वहिरन्तर्वा स्वलक्षणं सामान्यलक्षणं वा तथैवोपलभामहे यथैकान्तवादिभिराम्नायते । इति भेदैकान्ताभावेऽभेदैकान्तासत्त्वे च परस्परनिरपेक्षतदुभयैकान्तापाकरणेऽनुभयैकान्तापसारणे च साध्ये स्वभावानुपलब्धिः, स्वयमुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य तस्यानुपलभ्यमानत्वसिद्धेः । न चेयमसिद्धा, सूक्ष्मस्थूलाकाराणां स्थूलसूक्ष्मस्वभावव्यतिरेकेण प्रत्यक्षादावप्रतिभासनात् । न हि प्रत्यक्षे स्वलक्षणं सूक्ष्मं परमाणुलक्षणं प्रतिभासते स्थूलस्य घटाद्यात्मनः प्रतिभासनात् । परमाणुष्वेवात्यासन्नासंसृष्टेषु दृष्टौ प्रतिभासमानेषु कुतश्चिद्विभ्रमनिमित्तादात्मनि परत्र चासन्तमेव स्थूलाकारमादर्शयन्ती संवृतिस्तान् संवृणोति केशादिभ्रान्तिवदिति चेत्, नैवं, बहिरन्तश्च प्रत्यक्षस्याभ्रान्तत्वकल्पनापोढत्वाभावप्रसङ्गात्, संव्यवहारतः परमार्थतो वा प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तमिति लक्षणस्यासंभवदोषानुषङ्गात्, परमाणूनां जातुचिदध्यक्षबुद्धावप्रतिभासनात् । ते इमे परमाणवः प्रत्यक्षबुद्धावात्मानं च न समर्पयन्ति प्रत्यक्षतां च स्वीकर्तुमिच्छन्तीत्यमूल्यदानक्रयिणः, स्वावयवभिन्नैकावयविवत् । न हि सोपि सूक्ष्मस्वावयवव्यतिरिक्तो महत्त्वोपेतः प्रत्यक्षे प्रतिभासते, कुण्डादिव्यतिरिक्तदध्यादिवत् । समवायात्तेभ्योऽनर्थान्तरमिव प्रतिभासते इति चेत्, न, अवयविप्रत्यक्षस्य सर्वत्र भ्रान्तत्वप्रसङ्गात् । तथा चाव्यभिचारित्वं प्रत्यक्षलक्षणमसंभवि स्यात् । न चैतेऽवयवा अयमवयवी समवायश्चायमनयोरिति त्रयाकारं प्रत्यक्षमनुभूयते सकृदपि, यतोऽसावप्यमूल्यदानक्रयी न स्यात्, प्रत्यक्षबुद्धावात्मानर्पणेन प्रत्यक्षतास्वीकरणाविशेषात् । तत एव परस्परभिन्नावयवावयविनामपि प्रत्यक्षे प्रतिभासनादमूल्यदानक्रयिणावुक्तौ, समवायवत् । सर्वं वस्तु क्षणिकपरमाणुरूपं, सत्त्वात्, नित्यस्थूलरूपे

क्रमाक्रमाभ्यामर्थक्रियानुपपत्तेस्तदयोगादित्यनुमानेन स्वलक्षणमध्यवसीयते इति चेत्, न, अत्र हेतोर्विरुद्धत्वात्, सत्त्वस्य कथंचिन्नित्यानित्यात्मकसूक्ष्मस्थूलात्मकत्वेन व्याप्तत्वात्, सर्वथा नित्याद्येकान्तरूपे क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात्सत्त्वानुपपत्तेः समर्थनात्। एतेन स्थूलमेवावयवि द्रव्य सूक्ष्मावयवरहितं प्रतिभासते इति व्युदस्तम्, तदनुमानस्यापि विरुद्धत्वाविशेषात् प्रत्यक्षबाधितविषयत्वाच्च हेतोरतीतकालत्वाव्यवस्थितेः। अत एव नोपमानादावपि तत्प्रतिभासनमिति नासिद्धं सूक्ष्माद्येकान्तस्य प्रत्यक्षबुद्धावप्रतिभासनम्, यतस्तत्प्रतिषेधे साध्ये स्वभावानुपलब्धिर्न सिध्येत्। तत्प्रतिषेधे च सिद्धः सूक्ष्माद्यनेकान्तः। तत्र स्वभावान्तरस्य प्राधान्यविवक्षायामाकारान्तरस्य गुणभावः स्यात्, घटोयं परमाणवो रूपादयो वेति। घटार्थिनो हि घटविवक्षाया घटः प्रधानं परमाणवोऽनुमेयाः, प्रत्यक्षाश्च रूपादयो गुणीभूताः, तदनर्थित्वादविवक्षाप्रसिद्धेः। तदर्थिनां तु तद्विवक्षाया त एव प्रधानं न पुनर्घटोवयवी, तद्विवक्षायाः सभवाभावात्तदर्थित्वानुपपत्तेः। न च तदुभयसत्त्वाविशेषादविशेषेणार्थित्वमनर्थित्वं वा प्रसज्यते, तस्य तत्सत्तामात्रानिबन्धत्वात्, मोहविशेषोदयहेतुकत्वात् तदुदयस्यापि मिथ्यादर्शनादिकालादिनिमित्तकत्वात्॥ तदेवं स्याद्द्वैतं, स्यात् पृथक्त्वमिति मूलभङ्गद्वयं विधिप्रतिषेधकल्पनयैकवस्तुन्यविरोधेन प्रश्नवशादुपदर्शितम्। शेषभङ्गानां तु प्रक्रिया यथोदितनयविशेषवचनभाक् 'एकानेकविकल्पादावुत्तरत्रापि योजयेत्' इत्याद्यतिदेशकारिकानिर्देशसामर्थ्यात्प्रपञ्चतो निश्चेतव्या॥ ३६॥

अद्वैताद्याग्रहोग्रग्रहगहनविपन्निग्रहेऽलङ्घ्यवीर्याः, स्यात्कारामोघमन्त्रप्रणयनविधयः शुद्धसद्ध्यानधीराः॥
धन्यानामादधाना धृतिमधिवसतां मण्डलं जैनमग्र्यं, वाचः सामन्तभद्र्यो विदधतु विविधां सिद्धिमुद्भूतमुद्राः॥१॥

॥ इत्याप्तमीमांसालङ्कृतौ द्वितीयः परिच्छेदः॥ २॥

कारिकायां न संवृती इति, संवृतिपदस्य संवृतिविषये लाक्षणिकत्वान्न सांवृतावित्यर्थः। अविरुद्धावित्यतः पूर्वं वक्तुमिति शेषः। एकत्राविरुद्धतया वचन एव गुणमुख्यविवक्षाया हेतुत्वसम्भवादित्यर्थः। न चेयमसिद्धेति एतेषु साध्येषु इयं स्वभावानुपलब्धिरसिद्धा न॥ सूक्ष्मेत्यादिभाष्यम् सूक्ष्मस्थूलाकाराणामवयवावयविरूपाणां विषयाणां स्थूलसूक्ष्मस्वभावव्यतिरेकेणावयव्यवयवस्वभावानुपरागेण, अत्यासन्नासंसृष्टेष्विति अयोग्यपरमाणुभ्यो योग्यपरमाणूत्पत्त्युपलक्षणमेतत्, तेन वाय्वादेरचाक्षुषत्वमप्युपपादितं भवति, शक्तिविशेषेणैवाणूनां चाक्षुषादिजननयोग्यत्वादिति बोध्यम्। 'संवृणोतीति' तथा च घटादावेकत्वग्रहहेतुरनेकत्वग्रहप्रतिबन्धकश्च दोष एव संवृतिः, संवरणाच्चान्वर्थत्वं संज्ञाया इत्युक्तं भवति, कुण्डादिव्यतिरिक्तदध्यादिवदिति। यथा कुण्डादिव्यतिरिक्तं दधि प्रतिभासते तथा स्वावयवव्यतिरिक्तोऽवयवी न प्रतिभासत इति व्यतिरेकदृष्टान्तोऽयम्। अनर्थान्तरमिवेति तन्तव एव पट इत्यवयवभिन्नोऽप्यवयवी समवाययोगात्तदभिन्नत्वेन भासत इत्यर्थः। 'प्रत्यक्षलक्षणमिति' "इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारिव्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्" इत्यक्षपादसूत्रोक्तप्रत्यक्षलक्षणघटकमित्यर्थः। अत्र हीन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यभिचारिप्रत्यक्षमित्येतदेव लक्षणम्, अव्यपदेश्यं व्यवसायात्मकं चेत्येतावत् निर्विकल्पकत्वसविकल्पकत्वाभ्यां विभागपरमित्यादि व्यवस्थितं न्यायसिद्धान्तमालायाम्। न चेत इति समवायाप्रत्यक्षत्वं च वैशेषिकेणापि स्वीक्रियते, तच्च न सम्बन्धप्रत्यक्षे यावदाश्रयप्रत्यक्षस्य हेतुत्वात् समवायसंयोगान्यतरत्वगर्भं सम्बन्धत्वं परित्यज्य संयोगप्रत्यक्षत्वस्यैव तत्कार्यतावच्छेदकत्वादिति विपर्यासत्त्वादेव तदप्रत्यक्षत्वं स स्वीकारणीयः, तत्सम्बन्धतत्सम्बन्धादिप्रत्यक्षपरम्पराभिग्राह्य (भिया ह्यस्य सुग्राह्यत्वम्, अन्यथा समवायस्य

सत्त्वे तत्प्रत्यक्षमिव तत्सम्बन्धतत्सम्बन्धपरम्पराऽपि प्रत्यक्षा स्यात्) प्रत्यक्षादाविति भाष्यस्थादिशब्दगृहीतानुमानादावपि सूक्ष्मस्थूलाकाराः स्थूलसूक्ष्मस्वभावव्यतिरेकेण न प्रतिभासन्त इति समर्थयितुमनाः प्राह-सर्वं वस्त्वित्यादिना प्रत्यक्षबाधितेति अवयवसहितस्यैवावयविनः प्रत्यक्षे भानादित्यर्थः, गुणीभूता इति, यावत्स्वप्रदेशगुणपर्यायविशिष्टतादात्म्यसंसर्गेणैवेदंतादेर्घटे भानाभ्युपगमादित्यर्थः । तदनर्थित्वादिति रूपाद्युद्देश्यकजिज्ञासाभावादित्यर्थः, तत्सद्भावे तु जायत एवैते रूपादयो घट इति प्रत्यक्षमिति भावः। यद्यपि विवक्षा शाब्दबोध एव प्रयोजिका, न प्रत्यक्षे, नापि जिज्ञासा, घटदिदृक्षयोन्मीलितनयनस्य पुरःस्थितपटप्रत्यक्षानुत्पत्तिप्रसङ्गात्, तथापि प्रधानगुणभावेन तथातथाप्रत्यक्षे तत्तदर्थित्वादिनियन्त्रितक्षयोपशमस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यां विशिष्य हेतुत्वान्नानुपपत्तिरिति सर्वमनवद्यम् । शिष्टं सुगमम् ॥ ३६ ॥

इत्येकत्वपृथक्त्वचिन्तननयौ यौ सप्तभङ्ग्यावहौ, तावुन्मग्नजलानिमग्नजलयोः सादृश्यमन्विच्छतः ॥
उल्लङ्घ्य द्रुयमस्तमोहविषमम्लेच्छो लिखित्वाभिधां, स्याद्वादर्षभकूट एव हि निजां स्याच्चक्रवर्त्ती बुधः ॥१॥

इति श्रीमदकब्बरसुरत्राणप्रदत्तजगद्गुरुबिरुदधारकभट्टारकश्रीहीरविजयसूरीश्वरशिष्यमुख्यमहोपाध्यायश्रीकल्याणविजयगणिशिष्यावतंसपंडितश्रीलाभविजयशिष्याग्रेसरपंडितश्रीजितविजयगणिसतीर्थ्यालंकारपंडितश्रीनयविजयगणिचरणकमलचंचरीकेण पंडितश्रीपद्मविजयगणिसहोदरेण महोपाध्यायश्रीयशोविजयगणिना विरचितेऽष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणे द्वितीयः परिच्छेदः ॥

॥ अष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणे द्वितीयः परिच्छेदः समाप्तः ॥

ॐ 卐 ॐ ॥ अथ तृतीयः परिच्छेदः ॥ ॐ 卐 ॐ

नित्यत्वैकान्तपक्षेपि, विक्रिया नोपपद्यते । प्रागेव कारकाभावः, क्व प्रमाणं क्व तत्फलम् ॥ ३७ ॥

अष्टशती प्रथितार्था, साष्टसहस्री कृतापि संक्षेपात् ॥ विलसदकलङ्कधिषणैः, प्रपञ्चनिचितावबोद्धव्या ॥१॥

सदसदेकत्वपृथक्त्वैकान्तप्रतिषेधानन्तरं नित्यत्वैकान्तप्रतिक्षेपः, प्रक्रम्यतेऽनेनेति तात्पर्यम्। तत्र नित्यत्वैकान्तः कूटस्थत्वाभिनिवेशः। तस्य पक्षः प्रतिज्ञानम् । तस्मिन्नपि विविधा क्रिया परिणामपरिस्पन्दलक्षणा नोपपद्यते। कार्योत्पत्तेः प्रागेव तदुत्पत्तौ वा प्रागेव कारकाभावो नोपपद्यते इति कूटस्थः प्रागेव कारकः स्यादात्मा भोगस्य। अथ प्रागेव कारकाभावस्तदा विक्रियापि नोपपद्यते इति शश्वदकारकः स्यात् तदविशेषात्। सोऽस्त्वकारकोऽविक्रियश्चेति चेत्, क्वैव प्रमाण प्रमितिलक्षण च तत्फलमुपपद्येत ? प्रमातुरभावे तदसंभवात्। न ह्यकारकः प्रमाता नाम, प्रमितिक्रियासाधनस्य कारकविशेषस्य स्वतन्त्रस्य प्रमातृतोपपत्तेः । सकलकार्योत्पत्तिपरिच्छित्तिक्रिययोः सर्वथाप्यसाधनस्य सत्त्वासंभवादवस्तुत्वापत्तेः कथमात्मसिद्धिः परस्य स्यात् ? खरविषाणादिसिद्धिप्रसङ्गात् । ननु चात्मनश्चेतनैवार्थक्रिया, न पुनः स्वव्यतिरिक्तकार्यस्योत्पत्तिर्ज्ञप्तिर्वा, तस्याः प्रधानहेतुत्वात् । न च चेतना पुंसोऽर्थान्तरमेव, तस्य तल्लक्षणत्वात् "चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्" इति वचनात् । न चानित्या चेतना, नित्यपुरुषस्वभावत्वात् साक्षित्वादिवत्, तस्या प्रधानस्वभावत्वे पुरुषकल्पनावैयर्थ्यात् तदनित्यत्वप्रसङ्गाच्च सुखादिवत् । न च नित्यायाश्चेतनायाः परस्यार्थक्रियात्वं विरुद्ध्यते धात्व-

र्थरूपायाः क्रियायाः प्रतिघाताभावात्सत्तावत् । ततोऽर्थक्रियास्वभावत्वादात्मनो वस्तुत्वमेव । न ह्यर्थक्रियाकारणस्यैव वस्तुत्वमर्थक्रियायाः स्वयमवस्तुत्वापत्तेस्तत्रार्थक्रियान्तराभावादन्यथानवस्थाप्रसङ्गात् । स्वतोऽर्थक्रियाया वस्तुस्वभावत्वे पुरुषस्यापि स्वतः शश्वदर्थक्रियास्वभावत्वान्नित्यं वस्तुत्वमस्तु, विक्रियाविरहेऽपि नित्यकारकत्वस्यापि घटनात् । इति कश्चित्, सोपि न परीक्षादक्षधिषणः, प्रमाणविरोधात्. प्रत्यक्षतोऽनुमानादेर्वा नित्यार्थक्रियायाः कदाचिदपरिच्छेदात् । स्वसंवेदनमेव नित्यचेतनार्थक्रिया परिच्छिनत्तीति चेत्, न, तथा तद्बुद्ध्यानध्यवसायात् । न हि बुद्ध्यानध्यवसिता चेतना पुरुषश्चेतयते, बुद्धिपरिकल्पनावैयर्थ्यप्रसङ्गात्, सर्वस्य शब्दादेर्विषयस्य बुद्ध्यनध्यवसितस्यैव पुंसा संवेद्यत्वसिद्धेः । स्यान्मतं 'न चेतना नाम विषयभूतार्थान्तरं पुंसोऽस्ति या बुद्ध्याध्यवसीयते तस्यास्तत्स्वरूपत्वात् स्वतः प्रकाशनाच्च ' इति तदप्ययुक्तं, तदर्थक्रियात्वायोगात् । न ह्यर्थक्रियावतः स्वरूपमेव सदावस्थाय्यर्थक्रिया प्रसिद्धास्ति, तस्याः पूर्वाकारपरित्यागेनोत्तराकारोपादानेन च स्वस्मिन् परत्र वा प्रतीतेः । सोऽयं पूर्वापरस्वभावपरिहारावाप्तिलक्षणामर्थक्रियां कौटस्थ्येपि ब्रुवाणः कथमनुन्मत्तः ? सा ह्यर्थक्रियोत्पत्तिर्ज्ञप्तिर्वा । न च शश्वदवस्थिते सर्वथासौ प्रतीयते, तत्र कारकज्ञापकहेतुव्यापारासंभवात् । न हि पुरुषस्यार्थस्योत्पत्तिश्चेतनाक्रिया येन कारकहेतोरुपादानस्य सहकारिणो वा व्यापारस्तत्र भवेत् । तथोपगमे वा तस्यानित्यत्वानुपङ्गात्कुतः कौटस्थ्यसिद्धिः ? चेतना पुंसो ज्ञप्तिक्रियेत्यपि न युक्तं, यतस्तत्र ज्ञापकहेतोः प्रमातुः प्रमाणस्य च व्यापारः स्यात् । स्यान्मतं ' न पुरुषलक्षणस्यार्थस्य क्रिया चेतनाख्योत्पत्तिर्ज्ञप्तिर्वा । किं तर्हि ? स्वभाव एव, तस्य सर्वदा तत्स्वभावत्वात् ' इति तदप्यसत्, पुंसः परिणामसिद्धिप्रसङ्गात्, परिणामविवर्तधर्मावस्थाविकाराणां स्वभावपर्यायत्वात् । ननु च ' स्थितस्य धर्मिणः पूर्वाकारतिरोभावेनोत्तराकाराविर्भावः परिणामः । स कथं स्वभावपर्यायः ? सदावस्थितस्य स्वरूपस्य स्वभावत्वात् । एतेन विवर्तविकारा-

वस्थाना स्वभावपर्यायत्वं व्युदस्त, विवर्तादीना कादाचित्कत्वात् । तत एव वर्मविशेपस्य न स्वभावपर्यायत्वम् । धर्मसामान्यस्यापि साधारणत्वादसत्त्वमेव, शश्वदनपायिनोऽसाधारणस्य स्वरूपस्य स्वभावत्वात् । ' इति कश्चित्, सोपि न तत्त्ववित्, सततावस्थितत्यैकान्ततः कस्यचित्स्वभावस्यासभवात् । स हि न तावत्सकलप्रमाणेनापरिच्छिद्यमानः प्रतिष्ठामियर्त्ति, अतिप्रसङ्गात् । परिच्छिद्यमानस्तु पूर्वापरिच्छिद्यमानरूपताव्यवच्छेदेन परिणामलक्षणानुसरणात् कथ न स्वभाव॰ परिणाम एव स्याद्यतस्तत्पर्यायो न स्यात् ? एतेन विवर्तादीनां स्वभावपर्यायत्वमुक्तं, तद्वत्स्वभावस्यापि कथंचित्कादाचित्कत्वसिद्धेः । वर्मसामान्यस्य तु यथा साधारणत्वं तथा स्वभावसामान्यस्यापि, परिणामादिसामान्यवत् । ततः परिणामादिविशेपाणां स्वभावविशेषपर्यायत्वं परिणामादिसामान्याना तु स्वभावसामान्यपर्यायता व्यवतिष्ठते । पूर्वोत्तराकारयोस्तिरोभावाविर्भावौ तु नाशोत्पादावेव नामान्तरेणोक्तौ, सर्वथा तदभावे स्वभावस्यासभवात् । तदेतद्विनाशोत्पत्तिनिवारणमबुद्धिपूर्वक प्रत्यक्षादिविरोधात् क्षणिकैकान्तवत् । नेदमसिद्धं साधनं, पुरुपस्योत्पादव्ययध्रौव्यात्मनः स्वसवेदनप्रत्यक्षात् स्मरणात्प्रत्यभिज्ञानादूहादनुमानाच्छ्रुताच्च प्रमाणात् सुनिश्चितासभवद्बाधकप्रमाणात्प्रतिपत्तेः, विनाशोत्पत्तिरहितस्य जातुचिदप्रतीते प्रत्यक्षादिविरोधस्य निश्चयात् । एतेन क्षणिकैकान्तनिदर्शनस्य साधनविकलता निरस्ता, सर्वथा स्थितिरहितस्य चेतसः प्रत्यक्षादावप्रतिभासनात्तद्विरोधस्य सिद्धेः । साध्यशून्यता च न सभवति, स्थितिमात्राभिनिवेशस्येव निरन्वयक्षणिकाभिनिवेशस्यापि मिथ्याबुद्धिपूर्वकत्वात् । एतेनाव्यक्तं नित्यमेवेत्यपास्तं, व्यक्तस्यापि नित्यत्वानुपङ्गात्, नित्यादव्यतिरिक्तस्याप्यनित्यत्वे चैतन्यस्याप्यनित्यत्वापत्तेः । सर्वथा व्यक्तस्यापि नित्यत्वे प्रमाणकारकव्यापारविरोधात्तदप्रमेयमनर्थक्रियाकारि प्रसज्येत ॥ ३७ ॥

रमारमणशङ्करद्रुहिणचन्द्रसूर्यादयः, प्रसादमिव मूर्ध्नि यत्क्रमरजःकणं बिभ्रति ॥

प्रसीदतु स वो विभुर्द्धरणराजपद्मावती-निषेवितपदद्वयः प्रकटपार्श्वपुण्याह्वयः ॥ १ ॥

तृतीयपरिच्छेदे किंचिद् विविच्यते-साक्षित्वादिवदिति, प्रधानात् सकलकार्योत्पत्तावात्मनस्ताटस्थ्ये नावस्थानं साक्षित्वम्, आदिना प्रकृतिभिन्नत्वादिग्रहः, पुरुषकल्पनावैयर्थ्यादिति पुरुषो हि प्रधानकार्यबुद्धितत्त्वनिष्ठचित्प्रतिविम्ब-ग्राहित्वयैव कल्प्यत इति, बुद्ध्याध्यवसितस्यैवेति अन्यथा पुरुषे विषयोपरागप्रसङ्गेन निर्द्धर्मकत्वव्याघातापत्तेः, परम्परा-सम्बन्धेनोपचारस्तु न तद्व्याहन्ति, उपलक्षणस्याविशेषकत्वादिति भावः। तस्या इति वस्तुत्वव्यवहारे तादृश्या एवार्थ-क्रियाया उपयुक्तत्वादिति भावः। किं तर्हि स्वभाव एवेति धात्वर्थरूपक्रियाश्रयणादिति भावः। पुंसोऽर्थस्य चेतनायाः स्वभावक्रियात्वोक्तौ स्वभावपदस्य परिणामपर्यायत्वात्परिणामाभ्युपगमप्रसक्तिरित्याह-पुंस इत्यादिना, स्वभावपदस्य न परिणामपर्यायत्वमित्याशयेन सांख्य आशंकते-ननु चेत्यादिना, असत्त्वमेवास्वभावपर्यायत्वमेव, उक्तसांख्याशयं दूष-यति जैनः सोऽपि न तत्त्वविदित्यादिना, पूर्वापरिच्छिद्यमानतारूपव्यवच्छेदेनेति, न च परिच्छिद्यमानत्वापरि-च्छिद्यमानत्वे न स्वभावं भेत्तुमलमिति शङ्कनीयम्। अतद्व्यावृत्तेरपि स्वभावभेदनिबन्धनत्वस्य बहुधा व्यवस्थापितत्वात्, अन्यथाऽधिकृताचित्स्वभावस्यापि स्वभावान्तरव्यावृत्तिरूपत्वप्रसङ्गादिति द्रष्टव्यम्। सर्वथा तदभाव इति, त्रैलक्षण्यस्यैव स्वभावत्वव्यवस्थितेरित्यर्थः। एतेनोत्पादव्ययध्रौव्यात्मन एव स्वात्मनः प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धत्वेन, एतेनात्मतत्त्वस्यैकान्त-नित्यतानिराकरणेन वक्ष्यमाणकारिकार्थानुसारेण च, इष्टापत्त्याशङ्कायामाह-' सर्वथेत्यादि ' ॥ ३७ ॥

प्रमाणकारकैर्व्यक्तं, व्यक्तं चेदिन्द्रियार्थवत्। ते च नित्ये विकार्यं किं, साधोस्ते शासनाद्बहिः ॥ ३८ ॥

न हि प्रमाणं नित्य नाम, तत्कृताभिव्यक्तेः प्रमितिरूपाया महदहङ्कारादौ व्यक्तात्मनि नित्यत्वप्रसङ्गात्। नापि कारकं नित्यं, तद्विहिताभिव्यक्तेरुत्पत्तिरूपायाः सातत्यप्रसक्तेः। तथा च न व्यक्तं प्रमाणकारकैरभिव्यक्तमिन्द्रियैरर्थवदिति शक्यं वक्तुम्, पूर्वमनभिव्यक्तस्य व्यञ्जकव्यापारादभिव्यक्तिप्रतीतेः। अथ मतम्, प्रमाणकारकाणि व्यवस्थितमेव भाव व्यञ्जयन्ति चक्षुरादिवत् स्वार्थम्। ततो न किञ्चिद्विप्रतिपिद्धमिति, तदप्यसम्यक्, सर्वथा नित्यत्वेन भावस्याव्यवस्थितत्वात् कथंचिदनित्यस्यैव प्रमाणकारकव्यापारविपयत्वविनिश्चयात्। चक्षुरादयो हि स्वार्थं रूपादिकमनभिव्यक्तस्वभावपरिहारेणाभिव्यक्तस्वभावोपपादनेन च व्यञ्जयन्तः स्वयमव्यञ्जकरूपत्यागेन व्यञ्जकत्वस्वीकरणेन च व्यञ्जकव्यपदेशभाजो दृष्टाः। न चैवं प्रमाणं कारकं च परैरिष्टम्, तयोर्नित्यत्वाभ्युपगमात्। तत्कृतस्य च विपयविशेषविज्ञानादेः शाश्वतत्वान्न किञ्चिद्व्यक्त्यर्थं पश्याम., कथञ्चिदपूर्वोत्पत्तौ तदेकान्तविरोधात्। न ह्यनेकान्तवादिनस्तव साधोः शासनाद्बहिर्विपयविशेपविज्ञानाभिलाषप्रवृत्त्यादेरुत्पत्तिः कथञ्चिदपूर्वा युज्यते, यतोऽस्यामभ्युपगम्यमानायां नित्यत्वैकान्तविरोधो न भवेत्, तदभावे विकार्यानुपपत्तेः। न हि कथञ्चिदपूर्वोत्पत्त्यभावे किंचिद्व्यङ्ग्य कार्यं वा विकार्यमुपपद्यते ॥ ३८ ॥ न वै किंचिद्विरुद्धं कार्यकारणभावाभ्युपगमादित्यनालोचितसिद्धान्तम्, कार्यस्य सदसत्त्वविकल्पद्वयानतिक्रमात्। तत्र—

प्रमाणेत्यादिकारिकायां ते च नित्ये इत्यन्तेन, यदि व्यक्तमिन्द्रियैरर्थवत् प्रमाणकारकाभ्यां व्यक्तं स्वीक्रियते ते च प्रमाणकारके नित्ये स्वीक्रियेते तर्हीत्यध्याहारात्तर्हि तदा, **ते तव, साधोः शासनाद्बहिरन्यत्र, विकार्यं किं न किञ्चित्**, प्रमाणकारककृताभिव्यक्तेरपि सदातनत्वादित्यक्षरार्थः। अत्र प्रमाणकारकैरित्यपपाठः बहुवचनान्तक्रान्तस्य ते इति द्विवचनान्ततच्छब्देन परामर्शायोगात्, किन्तु **प्रमाणकारकव्यक्तमिति** समस्तपाठ एव युक्तः, वृत्तौ बहुवचनान्तपाठस्य

तात्पर्यविवरणरूपत्वेनाप्युपपत्तेरिति ध्येयम् । भगवतः साधुत्वेनाभिधानं तच्छासनबहिष्ठानामसाधुत्वेन तदुत्प्रेक्षामात्रकल्पितप्रवचने विचारसम्मर्दासहिष्णुत्वमभिव्यनक्ति । न किञ्चिद्व्यक्त्यर्थं न किञ्चिदभिव्यक्तिप्रयोजनम्, तदेकान्तविरोधान्नित्यत्वैकान्तविरोधात् ॥ ३८ ॥

यदि सत्सर्वथा कार्यं, पुंवन्नोत्पत्तुमर्हति । परिणामप्रक्लृप्तिश्च, नित्यत्वैकान्तबाधिनी ॥ ३९ ॥

न तावत्सतः कार्यत्व चैतन्यवत् । न हि चैतन्यं कार्यं, तत्स्वरूपस्य पुंसोपि कार्यत्वप्रसङ्गात्, यतस्तद्वन्महदादेः सत एव कार्यत्व सिद्ध्येत् । नाप्यसतः, सिद्धान्तविरोधाद्गगनकुसुमादिवत् । "असदकरणादुपादानग्रहणात्सर्वसंभवाभावात् । शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥१॥" इति हि सांख्याना सिद्धान्तः । स चासतः कार्यत्वे विरुध्यते एव । तथा 'यत्सर्वथाप्यसत् तन्नोत्पद्यते । यथा गगनकुसुमम् । सर्वथाप्यसच्च कार्यं कस्यचित् । इत्यनुमानविरोधश्च प्रत्येयः । नापरमेकान्तप्रकारान्तरमस्ति । तत एव न किंचित्कार्यं, केवलं वस्तुविवर्त एवेत्येकान्तोस्तीति चेत्, न, तस्याप्यसंभवात्, विवर्तादेः पूर्वोत्तरस्वभावप्रध्वंसोत्पत्तिलक्षणत्वात्, तथोपगमे परिणामसिद्धेरनेकान्ताश्रयणप्रसङ्गात् । तदेतत् त्रैलोक्यं व्यक्तेरपैति नित्यत्वप्रतिषेधात्, अपेतमप्यस्ति विनाशप्रतिषेधादित्यनेकान्तोक्तिरन्धसर्पबिलप्रवेशन्यायमनुसरति, स्वदर्शनानपेक्षं यथोपलम्भमाश्रयस्वीकरणात् ॥३९॥ तदेवं नित्यत्वैकान्तवादिना,—

सूत्रेऽवतरणिकोक्तद्वितीयविकल्पोत्तरन्यूनतां परिजिहीर्षुराह—भाष्यकृत्—'नाप्यसत इत्यादि' परिणामसिद्धेरिति तथा च सूत्रे प्रक्लृप्तिपदार्थः प्रसिद्धिरित्यर्थः ॥ ३९ ॥

पुण्यपापक्रिया न स्यात्, प्रेत्यभावः फलं कुतः । बन्धमोक्षौ च तेषां न, येषां त्वं नासि नायकः ॥४०॥

पुण्यपापक्रिया कायवाङ्मनःकर्मलक्षणा शुभाऽशुभा । सा प्रधाने तावन्नास्ति, सर्वथा नित्यत्वात्पुरुषवत् । तदभावे पुण्यपापयोः क्रिया उत्पत्तिलक्षणा नास्ति, कारणाभावे कार्यानुदयात् । ततः प्रेत्यभावो जन्मान्तरलक्षणस्तत्फलं च सुखाद्यनुभवलक्षणं कुतः स्यात् ? ततो बन्धमोक्षौ च यथोक्तलक्षणौ न स्तस्तेषां येषां त्वमनेकान्तवादी नायको नासि । इति तात्पर्यार्थः । ततो नित्यत्वैकान्तदर्शनं नैतत् प्रेक्षापूर्वकारिभिराश्रयणीयं, पुण्यपापप्रेत्यभावबन्धमोक्षविकल्परहितत्वान्नैरात्म्यादिवत् । न चैतत् क्वचिदेकान्ते सम्भवति, कुशलाकुशलं कर्मेत्यत्र तदसम्भवस्य समर्थितत्वात् ॥ ४० ॥ सत्यमेतन्नित्यत्वैकान्ते दूषणं क्षणक्षयैकान्तस्यैव प्रातीतिकत्वादिति वदन्तं वादिनं प्रत्याहुः—

क्षणिकैकान्तपक्षेऽपि, प्रेत्यभावाद्यसंभवः । प्रत्यभिज्ञाद्यभावान्न, कार्यारम्भः कुतः फलम् ॥ ४१ ॥

क्षणिकैकान्तपक्षे चेतसः कार्यारम्भो नास्ति, प्रत्यभिज्ञानस्मृतीच्छादेरभावात् सन्तानान्तरचित्तवत् । तदभावश्च प्रत्यभिज्ञातुरेकस्यान्वितस्याभावात् । सन्तान कार्यमारभते इत्यपि मिथ्या, तस्याऽवस्तुत्वविरोधात् कार्यारम्भकस्य वस्तुत्वात् । चित्तक्षणानां चावस्तुतापत्तिरकार्यारम्भकत्वात् । न च तत्कार्यारम्भकत्वाभावे फलं पुण्यपापलक्षणं सम्भवति । तदभावे न प्रेत्यभावो न बन्धो न च मोक्षः स्यात् । इति क्षणक्षयैकान्तदर्शनमहितम्, असंभवत्प्रेत्यभावादित्वादुच्छेदैकान्तवद्ध्रौव्यैकान्ताभ्युपगमवद्वा । न हि सर्वथोच्छेदैकान्ते शून्यतालक्षणे नित्यत्वैकान्ते वा प्रेत्यभावादिः सम्भवति, यतोऽयं दृष्टान्तः साधनधर्मविधुरः स्यात् । नापि प्रेक्षावतां तदाश्रयणं हितत्वेन मतं, येन साध्यविकलः स्यात् । अथ मतमेतत्, क्षणिकत्वेऽपि चित्तक्षणानां वासनावशात्प्रत्यभिज्ञानं तदेवेदं सुखसाधनमिति स्मरणपुरस्सरमुत्पद्यते । ततोऽभिलाषात्तत्साधनाय प्रवृत्तिरिति कार्यारम्भात्पुण्यपापक्रियासिद्धेः प्रेत्यभावादिसम्भवादसंभवत्प्रेत्यभावादित्वादिति

हेतुरसिद्धो न साध्यसाधनायालमिति, तस्मात्, भिन्नकालत्वगतानामसंभवादानन्तर्यात् कार्यकारणत्वम् । पूर्वमेव निवृत्तप्रवृत्तौ सत्ता
तत्कारणत्वादिति चेत्, न, निरन्वयक्षणिकत्वे कारणत्वेनासंभवात् । तथाहि । न विनष्टं कारणमनन्तरमभिमतकालीनम् । समनन्तरकालीनं
कारणमिति चेत्, न, समनन्तरत्वेऽप्यभावाविशेषात् । न च पूर्वस्योत्तरं कार्यं, तस्यैव हि भावाभावानन्तरमपि तदनन्तरता, ततः पूर्वस्य
कारणत्वनिर्णयः स्यात् । तदन्वयव्यतिरेकानुविधानादुत्तरं तत्कार्यमिति चेत्, न, तदसिद्धेः । न हि समर्थेऽस्मिन् सति स्वयमनुत्पित्सोः
पश्चाद्भवतस्तत्कार्यत्वं समनन्तरस्य वा नित्यत्वात्, तद्भावे स्वयमभावादभावे च भावादन्वयव्यतिरेकानुविधानविरोधात् । क्षणिकै-
कान्ते कारणाभावाविशेषेऽपि कार्यस्य नियतसमयनियमावधृतौ कस्यचित्कौटस्थ्येऽपि तत्समर्थस्य सद्भावेऽपि कार्यजन्मनः कालनियमः
किन्न स्यात् ? विशेषाभावात् । यथैव हि स्वदेशस्य काले सति कारणे समर्थं कार्यं जायते, नान्यदेति तदन्वयव्यतिरेकानुविधायीष्यते
तथा स्वकालेऽनागते सति समर्थे नित्ये स्वसमये कार्यमुत्पद्यमानमन्यदानुत्पद्यमानं तदन्वयव्यतिरेकानुविधायि कथं नानुमन्यते ?
सर्वदा समर्थे नित्ये कारणे सति स्वकाले एव कार्यं भवत्कथं तदन्वयव्यतिरेकानुविधायीति चेत्, तर्हि कारणक्षणात्पूर्वं पश्चाच्चानादावनन्ते
तदभावे विशेषशून्येऽपि कस्मिंश्चित् तदभावसमये भवत्कार्यं कथं तदन्वयव्यतिरेकानुविधायि ? इति न कश्चिद्विशेषः । तदेवमन्वयव्यतिरे-
कानुविधानाभावाविशेषेऽपि क्षणिकैकान्ते एव कार्यजन्मेति तन्मतमभिनिवेशमात्रनिबन्धनम् । तथा चाकस्मिकत्वं स्यात्, समर्थं कारण-
मपेक्ष्य स्वयमभिमतसमये भवतः कार्यस्य निर्हेतुकत्वप्रसक्तेर्नित्यकार्यवत् । उभयत्राविशेषेण कथञ्चिदनुपयोगेऽपि कस्मिंश्चिद्देशे कल्पना-
यामन्यत्रापि किं न भवेत् ? क्षणिकस्य कारणस्य सर्वथा कार्यं प्रत्युपयोगाभावेऽपि तस्येदं कार्यमिति नापदिश्यते, न पुनर्नित्यस्य तादृश
इति न किञ्चिन्निबन्धनमन्यत्र महामोहात् । नित्यस्य प्रतिक्षणमनेककार्यकारित्वे क्रमशोऽनेकस्वभावत्वसिद्धेः कथमेकत्वं स्यादिति चेत्,

क्षणिकस्य कथमिति समः पर्यनुयोगः । स हि क्षणस्थितिरेकोऽपि भावोऽनेकस्वभावश्चित्रकार्यत्वान्नानार्थवत् । न हि कारणशक्तिभेद-मन्तरेण कार्यनानात्व युक्त रूपादिज्ञानवत् । यथैव हि कर्कटिकादौ रूपादिज्ञानानि रूपादिस्वभावभेदनिबन्धनानि तथा क्षणस्थिते-रेकस्मादपि भावात् प्रदीपादेर्वर्तिकामुखदाहतैलशोपादिविचित्रकार्याणि शक्तिभेदनिमित्तकानि व्यवतिष्ठन्ते । अन्यथा रूपादेर्नानात्वं न सिध्येत्, चक्षुरादिसामग्रीभेदात्तज्ज्ञाननिर्भासभेदोऽत्रकल्प्येत, कर्कटिकादिद्रव्यं तु रूपादिस्वभावभेदरहितमेकमनंशमिति वदतोपि निवा-रयितुमशक्तेः । चक्षुरादिबुद्धौ रूपादिव्यतिरिक्तस्य द्रव्यस्याप्रतिभासनाद्रूपादयो नानैवेति चेत्, तर्हि वर्तिकामुखदाहादिकार्यानुमानबुद्धिषु विचित्रतच्छक्तिव्यतिरेकेण प्रदीपक्षणस्यैकस्याप्रतिभासनान्नानाशक्तय एव किं न स्युः ? ॥ ननु च 'शक्तिशक्तिमतोरर्थान्तरानर्थान्तर-भावपक्षयोः शक्तीनामघटनान्न ताः परमार्थसत्यः सभाव्यन्ते । ततस्तासामर्थान्तरभावे व्यपदेशानुपपत्तिः सबन्धाभावात् । तेन तासामुपकार्योपकारकभावसबन्धकल्पनाया यदि शक्तिमता शक्त्यन्तरैः शक्तय उपक्रियन्ते तदानवस्था, अपरापरार्थान्तरशक्तिपरि-कल्पनात् । तस्य शक्तिभिरुपकारेऽनेकोपकार्यरूपतापत्तिः । तदुपकार्यरूपाणां ततो भेदे तस्यानुपकारात्तव्यपदेशानुपपत्तिस्तदवस्था । तैस्तस्योपकारकरणेऽनवस्थितिरेव परापरोपकार्यरूपपरिकल्पनात् । शक्तिमतः शक्तीनामनर्थान्तरभावे शक्तिमानेव, न शक्तयो नाम अन्यत्रातद्व्यावृत्तिभ्यः कल्पिताभ्यः' इति चेत्, न, रूपादीनामपि द्रव्यादर्थान्तरानर्थान्तरभावविकल्पयोरघटनात् परमार्थसत्त्वाभावा-नुषङ्गात् प्रकृतदोपोपनिपाताविशेषात्, प्रत्यक्षबुद्धौ प्रतिभासमाना रूपादय परमार्थसन्तो न पुनरनुमानबुद्धौ प्रतिभासमानाः शक्तय इति वक्तुमशक्तेः क्षणक्षयस्वर्गप्रापणशक्त्यादीनामपरमार्थसत्त्वप्रसङ्गात् । क्षणक्षयादीनां प्रत्यक्षे प्रतिभातानामेव विपरीतारोपव्यवच्छेदे-ऽनुमानव्यापाराददोष इति चेत्, तर्हि नानाकार्यजननशक्तीनामपि प्रत्यक्षेऽवभातानामेव समारोपव्यवच्छेदे कार्यानुमानव्यापारात्कश्चि-

स्यात् । ननु च क्षणिकस्य क्षणादूर्ध्वमस्थानं स्वप्रकृतिर्विनश्वरत्वादन्विष्यते । विनाशस्वभावनियतत्वं च विनश्वरत्वं, न पुनः कालान्तरावस्थायिनः कदाचिन्नाशित्वमहेतुकत्वाद्विनाशस्य । तथा हि । यद्यद्भावं प्रत्यनपेक्षं तत् तद्भावनियतम् । यथान्त्यकारणसामग्री स्वकार्योत्पादन प्रत्यनपेक्षा तत्स्वभावनियता, विनाशं प्रत्यनपेक्षश्च भावः । इति स्वभावहेतुः । न तावदयमसिद्धः, कलशादेर्विनाशस्य मुद्गरादिहेतुभिर्व्यतिरिक्तस्याव्यतिरिक्तस्य वा करणासभवात्, तं प्रति तदनपेक्षत्वसिद्धेः । घटादेर्व्यतिरिक्तस्य विनाशस्य करणे तदवस्थत्वप्रसङ्गाद्विनष्ट इति प्रत्ययो न स्यात् । विनाशसवन्धाद्विनष्ट इति प्रत्ययोत्पत्तौ विनाशतद्वतोः कश्चित्संबन्धो वक्तव्यः । स च न तावत्तादात्म्यलक्षणः, तयोर्भेदोपगमात् । नापि तदुत्पत्तिलक्षणो घटादेस्तदकारणत्वात् तस्य मुद्गरादिनिमित्तकत्ववचनात् । तदुभयनिमित्तत्वाददोष इत्यप्यसारम्, मुद्गरादिवद्विनाशोत्तरकालमपि कुम्भादेरुपलम्भप्रसङ्गात् । कुटादेः स्वविनाशं परिणामान्तरं लक्षणं प्रत्युपादानकारणत्वान्न तत्काले दर्शनमित्यपि न युक्तं, परिणामान्तरस्यैव हेत्वपेक्षत्वसिद्धेः, विनाशस्य तद्व्यतिरिक्तहेत्वनपेक्षत्वव्यवस्थितेः सुगतमतसिद्धिप्रसक्तेः । सुगतमतं हि न सर्वथा विनाशस्य निर्हेतुकत्वम् । किं तर्हि? कार्यजनकहेतुव्यतिरिक्तहेत्वनपेक्षत्वमिति वादावसानं स्यात् । विनाशतद्वतोर्विशेषणविशेष्यभावः सवन्ध इत्यपि मिथ्याभिधानं, परस्परमसवद्धयोस्तदनुपलब्धे. । प्रागभावतद्वतोर्विशेषणविशेष्यभावोऽनेनैव निरस्तः । कार्यकारणयोरस्येदं कार्यमिति विशेषणविशेष्यभाव. कथमित्यपि न चोद्यम्, तत्र तद्व्यवहारस्य कार्यकारणभावनिवन्धनत्वात्, तद्व्यतिरेकेण भिन्नयोर्विशेषणविशेष्यभावासभवात् । ततोऽनर्थान्तरं विनाशः कारणैः क्रियत इति पक्षान्तरमपि न सम्यक्, स्वकारणादुत्पन्नस्य कुटात्मनो विनाशस्य कारणान्तराणा वैयर्थ्यात् । अन्यथा परापरकारणानुपरमः स्यात् ।

इति भावानां विनाशस्वभावत्वं साधनं स्थितेरपि निर्निमित्तत्वं साधयेत् । तथा हि यद्यद्भावं प्रत्यनपेक्ष तत्तद्भावनियतम् ।

यथा विनाशं प्रत्यन्यानपेक्षं विनश्वरम् । तथैव स्थितिं प्रत्यनपेक्षं शाश्वतं वस्तु । इति स्याद्वादिनः । न चायमसिद्धः, तदुत्पत्तिस्थितिक-रत्वात् तद्वदनित्यानित्यत्वाद्वत्वात् स्यादिति सर्वं समानम् । न हि वस्तुनो स्थितिरपेक्षा स्थितिमत्तदेतुना क्रियते, तत्स्वभावस्य शाश्वते । स्थितिसंबन्धानन्य शाश्वतेति चेत, न, स्थितितद्वतोः कार्यकारणभावासंभवात् सद्भावासद्भावयोः, सद्भावे स्थिते पूर्वं तद्भावस्य स्थिति-निरपेक्षः, स्थितेरपि स्वकारणादुत्तरकालमनाश्रयत्वानुपपत्तेः । तयोराश्रयाश्रयिभावः सत्त्वात् इति चेत्, अयोगितस्तूपयोः कार्यकारण-भावाभावे तदभावाभ्युपगमात् कुण्डादिवत् । तदन्यनिरपेक्षा स्थितिमद्धेतुना क्रियते तत्रापि पक्षो न घटते, तदेकत्वात् स्थितिस्वभावस्यापि स्थितिकरणे तत्राव्यवस्थानानवस्थाप्रसक्तेः, तदनतिशायिस्वभावस्य स्थितिकरणयोगायोगात्तदनिश्चितस्वभावस्योत्पत्तिकरणा-योगवत् । ततः स्थितिस्वभावनियतोऽर्थः स्यात् तदेव स्थितेर्हेतुत्वात् । तदेव नाशो स्थितिदर्शनात् ध्वंसस्यापि प्रदीपादेरन्त्योऽपि स्थितेरनु-मानं युक्तम् । अन्यथा, अन्ते क्षणदर्शनाभावे तत्प्रतिपत्तिरसमञ्जसैव । नाशः कारणादर्शनेऽपि कार्यादिदुपायानुमानतया न कार्यमन्यान्-स्थितिरप्यनुमीयेत । शब्दविद्युदादेः साक्षादनुपलभ्यमुपादानमनुमीयते स्थितिस्वभावोत्पादप्रसङ्गाभावात् पुनस्तदुत्तरकार्येण स्वतुल्यानुग-मयादिति किमपि महामोहविलसितम् । शब्दादेरुत्तरकार्यकरणेऽपि योगिज्ञानस्य करणात्प्रत्यक्षस्वप्रसक्तिरिति चेत्, न, आत्मासमान-रससमानकालरूपोपादानस्य रूपकरणेऽपि रसमात्रकारित्वप्रसङ्गात्, ततो रसाद्रूपानुमानानुपपत्तेरनिष्टप्रसङ्गात् । तथा स्वहेतोरदृष्टानिष्ट-प्रसङ्ग इति चेत्, किं पुनः शब्दादेः शब्दस्योत्पत्तिरुपलब्धा क्वचित् ? शब्दादिशब्दस्तत्तो मध्याद्यवस्था शब्दादेः शब्दस्योत्पत्ति-दृष्टेति चेत्, कथमुत्तरशब्दोत्पत्तिरदृष्टा ? तथैव तद्दृष्टेरिति शब्दादेर्योगिज्ञानकरणवदुत्तरशब्दादिकरणमनुमीयताम्, रूपोपादानाद्रूपो-त्पत्तिवत् । तस्मात् कथंचन स्थितिमतः प्रतिक्षणं स्थितौऽपि, नान्यथा, गगनकुसुमवत् । यदि पुनः परमार्थतः कार्यकारणभावस्याभावा-

द्विरोध्यविरोधकभावादिवत् प्रतिक्षणं विवर्तोऽपि नेष्यते संविदद्वैताभ्युपगमादिति मतिस्तदा प्रभवादेरयोगात् कुतः प्रेत्यभावादिः ? स्याद्वादिभिरापाद्यस्य प्रेत्यभावपुण्यपापक्रियाबन्धमोक्षतत्फलाभावस्य स्वयमेवाभ्युपगमादतिभीतप्रलापमात्रमेतदालक्ष्यते, संविदद्वैतस्य साधनासंभवात्, संविन्मात्रस्य स्वकार्याकरणेऽनर्थक्रियाकारिणो वस्तुत्वविरोधान्नित्यत्ववत्, तस्य स्वकार्यकरणे कार्यकारणस्वभावसिद्धेः। संविदद्वैतेन भेदभ्रान्तिबाधने बाध्यबाधकभावः। तदबाधने तस्याव्यवस्थितिः प्रतिपक्षव्यवच्छेदाभावात्। संवृत्तिमात्रेण सत्यपि हेतुफलभावेऽकारणकार्यान्तरवत्सन्ततिर्न स्यादतादात्म्याविशेषात्। न हि कार्यकारणक्षणानामकार्यकारणक्षणेभ्यस्तादात्म्याभावैकान्ते कश्चिद्विशेषो नैरन्तर्यादिः संभवति, तस्य भिन्नसंतानकार्यकारणक्षणेष्वपि भावात्। तत्स्वभावविशेषावक्लृप्तौ तादात्म्ये कोऽपरितोषः ? कथंचित्तादात्म्यस्यैवैकसंतानक्षणानां स्वभावविशेषस्य व्यवस्थितेरव्यभिचारिणः कार्यकारणभावस्य सुगतेतरक्षणेषु भिन्नसंतानेष्वपि भावात्, भेदतादात्म्ययोर्हि विरोधस्य सर्वथाप्यपरिहार्यत्वात्, संविदि वेद्यवेदकाकारभेदेऽपि तादात्म्योपगमादन्यथैकज्ञानत्वविरोधात्, संविदाकारवेद्याद्याकारविवेकयोः प्रत्यक्षपरोक्षयोर्भेदेऽपि संविदेकत्वाङ्गीकरणात्, कथंचित्तादात्म्याभावे संताननियमनिबन्धनस्य स्वभावविशेषस्यानुपलब्धेः। तत्संतानापेक्षया प्रेत्यभावादि मा मंस्त, क्षणक्षयैकान्ते संतानस्यैव साधयितुं दुःशक्यत्वात्, ज्ञानज्ञेययोः प्रतिक्षणं विलक्षणत्वात्। स एवाहं तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञानादनुस्मरणादभिलाषादेश्च संताननियमसिद्धिरिति चेत्, न, तस्यैवासंभवात्। सर्वथा वैलक्षण्ये पुंसोऽर्थस्य च न वै प्रत्यभिज्ञानादिः पुरुषान्तरवदर्थान्तरवच्च। ततः कर्मफलसंबन्धोऽपि नानासंतानवदनियमान्न युक्तिमवतरति। तदनादिवासनावशात्तन्नियम इति चेत्, न, कथंचिदप्यतादात्म्ये कार्यकारणक्षणयोस्तदघटनात्तद्वत्। तत्सूक्तं 'क्षणिकपक्षो बुद्धिमद्भिरनादरणीयः सर्वथार्थक्रियाविरोधान्नित्यत्वैकान्तवत्'। न चार्थक्रिया कार्यकारणरूपा सत्येव कारणे स्याद-

नुपयुक्तस्य, 'क्षणिकस्येनि' वक्ष्यमाणरीत्या क्षणिकस्याप्यनेककार्यकारित्वात् कथमेकत्वमिति पर्यनुयोगः सम इत्यर्थः, क्षणिकस्येत्यत्र प्रतिक्षणमित्यादि प्राक्तनं सर्वं योजनीयम् । यत्त्वत्र स्वाभावकाले कार्यजननाविशेषादिति कस्यचिद्धेत्वभिधानं तत् स हीत्यादिसमर्थनग्रन्थसन्दर्भविरुद्धम् । 'नानार्थवत्' सम्प्रतिपन्ननानाप्रयोजनवत्, 'अतद्व्यावृत्तिभ्यो'ऽशक्तिव्यावृत्तिभ्यः, 'कल्पिताभ्यो' वासनाविशेषोत्थविकल्पज्ञानविषयीकृताभ्यः । 'विपरीतारोपव्यवच्छेदे'ऽक्षणिकत्वभ्रान्तिव्यवच्छेदे, 'समारोपव्यवच्छेदे' नानाकार्यजनकशक्त्यभावभ्रमव्यवच्छेदे, नर्त्तक्यादिक्षणे कार्यभेदेऽपि कारणभेदाभावमाशंक्याह–भाष्यकृत् 'युगपदित्यादि,' तत्र दर्शनभेदाभावेष्टापत्तावनुभवबाधमाह वृत्तिकृत्–न चैवमित्यादिना, क्षणिके नानाकार्यजनकस्वभावभेदानभ्युपगमे तत्त्वसाधकमूलयुक्तिबाधः स्यादित्याह भाष्यकृत्–सकृदित्यादिना, 'क्षणक्षयवदिति' धर्मनिर्देशस्य धर्मिपरत्वात् क्षणक्षयवति स्वलक्षण इवेत्यर्थः । तथा च व्याचष्टे वृत्तिकृत् यथैव हीत्यादि, क्रमिकसहकारिभिरेव कार्यस्य कृतत्वात् स्थिरमकिञ्चित्करमित्याशङ्कायामाह भाष्यकृत्–' नहीत्यादि ' 'तद्बुद्धिपूर्वकत्वाभावात्,' अन्यतः कार्यसम्भवेऽहं न कुर्यामिति स्थिरसम्बन्धिबुद्धिपूर्वकत्वाभावात् कार्यस्येत्यर्थः, तथा च सहकारिवत् स्थिरस्य हेतोर्नियतपूर्ववर्तित्वादेव कारणत्वमवर्जनीयम् तदभिमतसामग्रीप्रविष्टहेत्वन्तरवदित्यर्थः । तदाह–'क्षणिकेति' 'न तत्काले दर्शनमिति' उपादेयस्योपादाननाशत्वान्नाशस्य च दर्शनायोग्यरूपत्वान्नश् अदर्शन इति धात्वनुसारादित्यर्थः । ' तद्व्यतिरिक्तेति ' तच्छब्देन परिणामान्तरस्य कपालादेर्हेतुः समनन्तरो घटादिलक्षणो गृह्यते, ततो व्यतिरिक्तो हेतुर्मुद्गरादिस्तदनपेक्षत्वव्यवस्थितेरित्यर्थः । सुगतमते हि घटादेर्नाशकाले मुद्गरादिना न किञ्चिज्जन्यते, तुच्छस्य ध्वंसस्य जनयितुमशक्यत्वात्, कपा-

लादिजनने च तस्याव्यापारात्, केवलं मुद्गरादिसहकृता समनन्तरसामग्री सजातीयकार्यं न जनयतीत्यर्थात् कपालादेरुत्पत्तिरिति भावः। साध्येदिति तच्चानिष्टं सौगतस्येति तं अन्यनिष्टापादनमेतज्जैनेन क्रियत इति बोध्यम्। 'कुण्डबदरवदिति यद्यपि कुण्डबदरयोराश्रयाश्रयिभावे कार्यकारणभावस्य नियामकत्वमप्रातीतिकमनभ्युपगमदोषदुष्टं च, तथापि स्वतोऽवयवावयविभावेन कार्यकारणतया निष्पन्नयोरेव तयोर्यथाश्रयाश्रयिभावस्तथात्र नास्तीत्ययुक्तोऽयं पक्ष इति केचिद् व्याचक्षते, वयं तु जगदवगाहनाहेतुगगनदृष्टान्तेन बदराधारतापर्याये कुण्डस्य हेतुत्वात् कार्यकारणभावाभावे स्थितितद्वतोराश्रयाश्रयिभावानुपपत्तिमुपपादयामः। बदरप्रतियोगिकसंयोगरूपबदराधारतायां कुण्डस्य तादृप्येण हेतुत्वमित्यपरे। 'तादृश' आदौ स्थितिमतः। अनुमीयत इत्याद्यशब्दस्य कार्यत्वेन सोपादानत्ववदन्त्यशब्दस्य कारणत्वेन सोपादेयत्वस्याप्यनुमानाविशेषादिति भावः। 'अवस्तुत्वानुषङ्गभयादिति' शब्दविद्युदादेरुत्तरकार्यानभ्युपगमे हि स्यादेव कार्याविच्छेदरूपसत्त्वाभावादवस्तुत्वापत्तेर्भयमिति भावनीयम्। ननु वस्तुत्वमर्थक्रियाकारित्वमात्रनियतमित्यन्त्यशब्दादेर्योगिज्ञानजनकत्वेनैव तच्चोपपत्तेर्नैकद्रव्यकार्याविच्छेदसिद्धिरित्याशङ्कायामाह—'शब्दादेरित्यादिना,' 'ततो रसादिति' परस्परोपादेयपरस्परसहकारित्वादेव हि तदनुमानं व्यवस्थितं नियतोपादानोपादेयभावविच्छेदे तु व्यभिचारशङ्कया तन्न स्यादित्यर्थः। 'कथञ्चन स्थितिमत' इति' कथंचनेत्यनेनैकद्रव्यतयैव कार्याविच्छेदरूपस्थित्यभ्यनुज्ञानादन्त्यशब्दाद्युत्तरं न सदृशकार्यानुपलम्भानुपपत्तिः, संविदद्वैताभ्युपगमादिति मध्यमक्षणसंविन्मात्रस्वीकारादन्त्यक्षणानां तत्कालाज्ञातानां तत्कालसत्त्वे मानाभावादित्यर्थः। 'प्रभवादेः' कार्यारम्भादेः, 'तत् स्वभावविशेषावक्लृप्ताविति' एकसन्ततिपतितकार्यकारणक्षणेषु तदीयत्वनियामकस्व-

भावविशेषकल्पन इत्यर्थः। कार्यकारणभावमात्रस्यैकसन्ताननियामकत्वेऽतिप्रसङ्गमुपदर्शयति,–'अव्यभिचारिण इत्यनेन,' नन्वेकसन्तानेऽपि क्षणानां भिन्नत्वात् कथं तादात्म्यमुपपत्स्यत इत्यत आह 'भेदेत्यादि' भेदतादात्म्ययोर्विरोधस्यापि हि सर्वथाऽपरिहार्यत्वात् कथञ्चित्पक्षे तु द्रव्यपर्यायविधया परिहार्यत्वादेवेति चूर्णकसहितभाष्यप्रतीकार्थः। उक्तप्रकारमेव समर्थयति वृत्तिकृत्, 'संविदीत्यादिना,' 'तदनादीति' उत्तरचित्तोत्पत्तिकारणीभूतप्राक्तनचित्तक्षणा(त्मक)रमवासनावशात्तस्य प्रत्यभिज्ञानादेर्नियम इत्यर्थः। 'तद्वत्' नानासन्तानवत् 'पक्षान्तरासम्भवाच्चेति' असति कारण इति पक्षान्तरस्य चासम्भवादित्यर्थः। तेन तद् द्वितीयोत्तराभावान्न्यूनत्वं यदि पुनरसत्येव कारण इत्यादिना वृत्तौ तु भाष्योक्तपक्षान्तरस्यैव स्फुटीकारान्न पौनरुक्त्यम् ॥ ४१ ॥

यद्यसत् सर्वथा कार्यं तन्मा जनि खपुष्पवत्। मोपादाननियमो भून्माश्वासः कार्यजन्मनि ॥ ४२ ॥

पर्यायाकारेणेव द्रव्याकारेणापि सर्वथा यद्यसत्कार्यं तदा तन्मा जनिष्ट, खपुष्पमिव। तथा हि यत् सर्वथाप्यसत्तन्न जायमानं दृष्टं, यथा खपुष्पम्। तथा च परस्य कार्यम्। इति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः। कार्यत्वं हि कथंचित्सत्त्वेन व्याप्तम्। तद्विरुद्धं सर्वथाप्यसत्त्वम्। प्रतीतं हि लोके कथंचित्सतः कार्यत्वमुपादानस्योत्तरीभवनात्। सदेव कथमसत् स्याद्विरोधादिति न चोद्यं, (अ) सकृदपि विरुद्धधर्माध्यासनिराकृतेश्चित्रवेदनवदित्युक्तप्रायम्। तथा चान्वयव्यतिरेकप्रतीतेर्भावस्वभावनिबन्धनायाः किं फलमपलापेन? तदन्यतरनिराकृतावुभयनिराकृतिरभेदात्। कथमन्वयव्यतिरेकयोरभेद इति चेत्, कारणस्य भावे भावस्यैव तदभावेऽभावरूपत्वात्। न हि कारणस्याभावेऽभाव एव भावे भावो न प्रतीयते यतस्तदभेदो न स्यात्। कथं भावस्वभावनिबन्धनान्वयव्यतिरेकप्रतीतिस्तस्या भावाभावस्वभावनिबन्ध-

न्यादित्यप्यनाशङ्कनीयं, स्वभावान्तरस्यैवाभावस्य व्यवस्थापकत्वात्। पावकविविक्तप्रदेशविशेषस्यैव पावकाभावस्य धूमनिवर्तकत्वेन धूमाभावस्य प्रतीतिगोचरत्वात्, पावकाभावे धूमाभावस्य च व्यतिरेकलक्षणत्वात् मितं व्यतिरेकप्रतीतेर्भावस्वभावनियतत्वादन्वय-
प्रतीतेरिव। इति निराकृतं, नीरूपस्याभावस्य प्रतिक्षेपात्। न च सर्वथाप्यसतः कार्यत्वेऽन्वयव्यतिरेकप्रतीतिः कार्यकारणभाव-
व्यवस्थाहेतुः, कारणाभावे एव कार्यस्य भावाभावे चाभावात् इति निवेदितप्रायम्। तत्रासत्कार्यं, सर्वथाप्यनुत्पाद्यत्वात् गगनकुसुमव-
दिति व्यवतिष्ठते, कार्यत्वकथंचिदसत्त्वयोरेव व्याप्यव्यापकभावस्य प्रसिद्धेस्तथा प्रतीतेः। तत एव न तत्कारणवत्, सर्वथाऽभूत-
त्वाद्वन्ध्यासुतवत् कथंचिदवस्थितानुत्पन्नत्वादिति योज्यम्। न हि सर्वथाप्यसत्कार्यमभूतं न भाति, ततः कथंचिदवस्थितमनुत्पन्नं च न
स्यात्, कथंचिदसत एव स्थितस्योत्पन्नत्वघटनाद्विनाशघटनवत्, सत उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तत्वलक्षणत्वात्। न चोत्पादादिरहितं
वस्तु समस्ति यतः कारणवत्स्यात्, निरन्वयविनाशे तत्कारणस्य तद्भावायोगात् कार्यस्य तद्भावायोगवत्। सत्यपि प्रभवलक्षणे पूर्व-
पूर्वस्योत्तरीभवनं मृत्पिण्डस्थासकोशकुशूलादिषु सकललोकसाक्षिकं सिद्धम्। तत्र सौगतैस्तादृशापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भादनव-
धारणादकृत्रिमान्वयता सोपादाननियमो भूत् कारणान्तरवत् तदन्वयाभावाविशेषात् सर्वथा वैलक्षण्यात्। न हि मृत्पिण्डस्थासादीनां
तन्तुपटादीनां च सर्वथा वैलक्षण्येनान्वयाभावाविशेषेऽपि मृत्पिण्ड एवोपादानं स्थासस्य, स्थास एव कोशस्य, कोश एव कुशूलस्य,
कुशूल एव घटस्य, न पुनस्तन्त्वादयः स्थासादीनामिति नियमनिबन्धनं किमप्यस्ति, यतः पूर्वपूर्वस्योत्तरीभवनं मृत्पिण्डस्थासादिषु
सकललोकसाक्षिकं न भवेत्। वैलक्षण्यानवधारणं नियमनिबन्धनमिति चेत्तर्हि सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भात्प्रतिपत्तॄणामिष्यते तदा सम-
समयवर्तितिलादीनां सततोत्पद्यमानानां वैलक्षण्यानवधारणं स्यात्। ततश्च परस्परभिन्नसंततीनामप्युपादानत्वं प्रसज्येत विशेषाभा-

वात् । यथैव ह्येकसतानवर्तिनः सदृशस्यापरापरस्योत्पत्तिः साहश्यमभावाव्यवधानं च वाह्य, विप्रलम्भस्त्वनाद्यभेदवासनाहितमभेदज्ञानमन्तरङ्गं वैलक्षण्यानवधारणस्य कारणं तथा भिन्नसततीनामपि तिलादीनामिति न विशेषः । ननु भिन्नदेशानां तेषा सत्यामपि साहश्योत्पत्तौ नाभावेनाव्यवधानमन्तराले परस्परमभावस्य व्यवधायकस्य भावादिति न मन्तव्यं, मृत्पिण्डस्थासादीनामेकसतानवर्तिनामपि भिन्नदेशत्वसभवादभावव्यवधानप्रसङ्गात् । न हि तेषा काल एव भिद्यते न पुनर्देशस्तस्य नित्यत्वप्रसङ्गात् । सर्वस्वलक्षणाना स्वरूपमात्रदेशतया देशाभावाददोष इति चेत्कथमेव भिन्नसततितिलादीना भिन्नदेशता ? । स्वरूपलक्षणदेशभेदादिति चेन्मृत्पिण्डादीनामपि तत एव सास्तु, न चान्यत्रापीत्यविशेष एव । साहश्यविशेषाद्विशेष इत्यपि मिथ्या, साहश्यस्यापि परमार्थतः कचिदभावात्सामान्यवत् । अतत्कार्यकारणव्यावृत्त्या कल्पितस्य तु साहश्यस्य को विशेष इति चिन्त्यम् । वैलक्षण्यानवधारणहेतुत्वमिति चेत् कृष्णतिलादिषु भिन्नसतानेष्वपि समानम् । परस्पराश्रयत्वानुषङ्गश्चैवम् । सति साहश्यविशेषे मृत्पिण्डादिषु वैलक्षण्यानवधारणं तस्मिन् सति साहश्यविशेषनिश्चय इति नैकस्यापि निर्णयः स्यात् । नन्वनिश्चितादेव साहश्यविशेषादभेदाध्यवसायरूपं वैलक्षण्यानवधारण निश्चीयते, ततः साहश्यविशेषानुमानान्नेतरेतराश्रयत्वं तयोरिति चेत्, न, एव यमलकादिष्वपि तदनुमानप्रसङ्गादन्वयस्यापि तद्वत्प्रसक्तेः । ननु च निरन्वयस्यापि तादृशी प्रकृतिरात्मानं कारणान्तरेभ्यो यया विशेषयतीति चेत्, न, अत्यन्तविशेषानुपलब्धेः । तदविशेषादर्शने सर्वथाऽऽन्ध्यं स्यात्, विशेषाविशेषयोरदृष्टौ तद्रहितवस्तुरूपोपलम्भाभावात् । तस्मादियमस्य प्रकृतिर्यया पूर्वोत्तरस्वभावहानोपादानाधिकरणस्थितिं प्रतिक्षण विभर्ति यतोयमुपादाननियमः सिद्धः, पूर्वोत्तरस्वभावहानोपादानमात्रे तदसिद्धेः स्थितिमात्रवत् । अथापि कथंचिदुपादाननियमः कल्प्येत, कार्यजन्मनि कथमाश्वासः ? सवृतिमात्रेणोपकल्पितादुपादाननियमात्कार्योत्पत्तावनाश्वासदर्श-

नात् स्वप्नवत् । तदत्यन्तासतः कार्यस्योत्पत्तेस्तन्तुभ्यः पटादिरेव न पुनः कुटादिरिति निर्हेतुको नियमः स्यात् । पूर्वपूर्वविशेषादुत्तरोत्तरनियमकल्पनायामनुपादानेऽपि स्यात् तन्नियमकल्पना । तथाऽदर्शनमहेतुरत्रैव विचारात् । न हि यत्रैव विवादस्तदेव नियमहेतुरिति युक्तं वक्तुम्, अविचारकत्वप्रसङ्गात् । यथादर्शनं नियमकल्पनाया हेतावपि कथंचिदाहितविशेषतन्तूना पटस्वभावप्रतिलम्भोपलम्भात् तदन्यतरविधिप्रतिषेधनियमनिमित्तात्ययात् प्रतीतेरलमपलापेन । न हि तन्तुतद्विशेषयोरन्यतरस्य विधौ निषेधे च नियमनिमित्तमस्ति । न हि तन्तव एवातानादिविशेषनिरपेक्षाः पटस्वभावं प्रतिलभमानाः समुपलभ्यन्ते, येन तन्तुमात्रस्यैव विधिनियमो विशेषप्रतिषेधनियमो वा स्यात् । नापि तन्तुनिरपेक्षो विशेष एव पटस्वभावं स्वीकुर्वन्नुपलभ्यते यतो विशेषविधिनियमस्तन्तुप्रतिषेधनियमो वाऽवतिष्ठेत । न चोपलब्ध्यनुपलब्धी मुक्त्वान्यन्निमित्तं तद्विधिप्रतिषेधयोर्नियमेऽस्ति येन तदत्ययेपि तदुभयप्रतीतेरपलापः शोभेत । ननु च नास्ति तन्त्वाद्यन्वय उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेरिति स्वभावानुपलब्धिस्तत्प्रतिषेधनियमनिमित्तं, विशेषमात्रस्यैवोपलब्धेस्तद्विधिनियमहेतुत्वादिति चेत्, न, तन्त्वाद्यन्वयवत्तद्विशेषस्यापि निरपेक्षस्योपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेरविशेषात्प्रतिषेधनियमप्रसङ्गात् । तस्मादुपलब्धिलक्षणप्राप्तानुपलब्धिरनन्वयस्यैव न पुनरुभयरूपस्य इत्यल प्रसङ्गेन । सर्वथान्वयविशेषयोरेव प्रतिषेधनियमस्य निमित्ताभावात् तदुभयरूपजात्यन्तरस्यैव विधिनियमस्य निमित्तसद्भावात् तन्निमित्तस्यार्थक्रियाकारित्वस्य सकलप्रमाणोपलम्भस्य च प्रसिद्धेर्विरोधाद्यसंभवाच्च । तदेवं क्षणिकैकान्तपक्षे ॥ ४२ ॥

'उपादानस्योत्तरीभवनात्' मृत्पिण्डादेर्घटादिकार्यत्वेन परिणमनादित्यर्थः। भाष्ये 'सकृदपीति' अपिरेवकारार्थः। 'सकृदेव' विरुद्धधर्माध्यासस्यानिराकरणात्, तथा च वारंवारं तन्निराकरणादित्यर्थः। 'चित्रवेदनवदिति' चित्रवेदने ह्येकत्वा-

नेकत्वयोर्विरोधो वारंवारमेव निराकृतः, सैव रीतिः सत्त्वासत्त्वयोः प्रतीयतामित्यनेनोक्तम्; तत एव कार्यत्वकथञ्चित्सत्त्वयोर्व्याप्तिरेव, भाष्ये न तादृक् सर्वथाऽसत्, कारणवत् कारणापेक्षोत्पत्तिकं, वैलक्षण्यानवधारणं निबन्धनमिति मृत्पिण्डस्थासकोशकुशूलादिनियतोपादानप्रवृत्तिनिबन्धनं नान्वयः, किन्तु वैलक्षण्यस्य भेदस्यानवधारणमिति सौगताशङ्का। तत्राह–इति चेत् तद् यदीत्यादि, सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भात् सदृशापरापरोत्पत्तिदोषसध्रीचीनानादिवासनाप्रसूताभेदज्ञानादित्यर्थः। उपादानत्वं प्रसज्येतेति कार्यागृहीतभेदक्षणस्योपादानत्वादित्यर्थः, अभावाव्यवधानं चेति अन्तराविसदृशक्षणोत्पत्तिव्यवधानाभावश्चेत्यर्थः। अपि न विशेष इति न विशेष इत्यर्थः। अन्तराले सादृश्यप्रतियोगिनां मध्ये, अभावस्य दैशिकाभावस्य, न पुनर्देश इति तथा च स्थासदेशे मृत्पिण्डाभावसत्त्वाद्देशिकाभावेन तत्रापि व्यवधानादुपादानत्वं न स्यादित्यर्थः। अतिरिक्तदेशेन भिन्नदेशत्वाभाव उपादानतानिमित्तमित्याशङ्कते सर्वस्वलक्षणानामिति भिन्नसन्ततिक्षणेष्वतिप्रसङ्गान्न किञ्चिदेतदिति समाधत्ते कथमेवमित्यादि, विशेषः क्षणानामुपादानताऽनुपादानतयोर्भेदः, सति सादृश्यविशेष इति निश्चिते सादृश्यविशेष इत्यर्थः। अन्यथा वक्ष्यमाणाविशेषेण पौनरुक्त्यप्रसङ्गात्, तदनुमानप्रसङ्गादभेदाध्यवसायेनोपादानोपादेयभावनियामकसादृश्यविशेषानुमानप्रसङ्गात्, तद्वत् सम्प्रतिपन्नैकसन्तानवत्, यत उक्तहेतोस्त्रैलक्षण्यात्, अयं प्रत्यक्षसिद्धः, अविचारकत्वप्रसङ्गादिति यदेव पृष्टं तस्यैवोत्तरत्वप्रदानादित्यर्थः। ननु तन्तुभ्यः पटादिरिवेत्यादिनियमः कुतो दृश्यत इति न पृष्टं, येन तत्र तथा दर्शनस्य हेतुत्वोक्तावविचारकत्वम्, किन्तु तन्नियमहेतुप्रश्न एव सः, तत्र चान्वयव्यतिरेकशालित्वमेव तद्धेतुरित्युत्तरं, तत्सिद्धिश्च तथा दर्शनादिति न प्रश्नोत्तरवैयधिकरण्यमित्याशंक्य तदपि

सामान्यविशेषरूपत्वे तन्त्वादेरित्यू(रप्यू)र्ध्वतासामान्येनान्वयान्नात्यन्तासत्त्वं कार्यस्येत्यागतमित्याशयेनाह–यथा दर्शनमित्यादिना शोभेतेत्यन्तेन, एतेन शक्तेर्नियामकत्वमपि व्याख्यातं, द्रव्यार्थतया सत्त्वस्यैव तदर्थत्वात्, विशेषैकान्तवादी सामान्यानुपलब्धिमादाय शङ्कते–ननु चेत्यादिना, सिद्धान्तवादी विशेषानुपलब्धिमादायोत्तरयति नेत्यादि, ह्रदे वह्निर्नेत्यत्रैव तर्कितप्रतियोगिसत्त्वप्रसञ्जितप्रतियोगिकत्वेन योग्यानुपलब्ध्या निरपेक्षान्यतराभावसिद्धेरुभयैकरूपतामुपसंहरति–तस्मादित्यादिना, भाष्यकृत्–'अनन्वयस्यैवेति' न विद्यतेऽन्वयः सामान्यस्य विशेषेण सह यत्रेत्यर्थान्निरपेक्षान्यतरपरिग्रहः ॥ ४२ ॥

न हेतुफलभावादिरन्यभावादनन्वयात् । सन्तानान्तरवन्नैकः सन्तानस्तद्वतः पृथक् ॥ ४३ ॥

क्षणिकैकान्तपक्षेपीऽति विवर्तते । तेन पूर्वोत्तरक्षणानां न हेतुफलभावो वास्यवासकभावः कर्मफलसवन्धः प्रवृत्त्यादिर्वास्ति, सर्वथाऽनन्वये सत्यन्यभावात् सतानान्तरवत् । तेषामेकसतानत्वात्सोस्तीति चेत्, न, एकसतानस्य तद्वतः पृथगसत्त्वात्, सतानिन एवापरामृष्टभेदाः सन्तान इति स्वयमभ्युपगमात् सर्वेषा वैलक्षण्याविशेषात् । सन्तानसकरप्रसङ्गश्चाविशेषेणापरामृष्टभेदत्वस्य सभवात्, एते एवाभेदपरामर्शविषया न पुनरन्ये इति विशेषनिवन्धनस्याभावात् । विलक्षणानामत्यन्तभेदेपि स्वभावतः किलासकीर्णाः सततयः कर्मफलसवन्धादिनिवन्धनं शशविषाणस्येव वर्तुलत्वमाचरितं कश्चेतनः श्रद्दधीत ? प्रत्यक्षेणाप्रतीतेर्थे स्वभावस्याश्रयितुमशक्यत्वात् " प्रत्यक्षेण प्रतीतेऽर्थे यदि पर्यनुयुज्यते । स्वभावैरुत्तर वाच्यं दृष्टे कानुपपन्नता " इति स्वयमभिधानात् । न च परस्पर विलक्षणानामेव क्षणानामत्यन्तमन्वयासत्त्वेप्यन्तर्वहिर्वा सततयोऽसकीर्णा एव प्रत्यक्षतः प्रतीताः, तस्यैकक्षणगोचरतया सतानाविषयत्वात् । नाप्यनुमानतः, स्वभावस्य कार्यस्य वा तल्लिङ्गस्य प्रतिवद्धस्यानवधारणात् । प्रत्यभिज्ञानादि तदनुमाने लिङ्गमिति चेत्, न, तस्य कचि-

दन्वयासिद्धेर्व्यतिरेकानिश्चयाच्च । तत एव नान्यथानुपपत्तिः, प्रत्यभिज्ञानादे सतानाभावेऽसंभवनियमनिश्चयायोगात्, तत्रैकद्रव्यप्रत्यासत्तेरेव ततः प्रसिद्धेर्विरुद्धत्वनिर्णयात् । ततो न संतानोस्ति स्वभावत एवासकीर्णाः सतानान्तरैरिति सूक्तम् । ॥ ४३ ॥ स्यान्मतम्—

कर्मफलसम्बन्धादिनिबन्धनमित्यनन्तरमिति वचनमिति शेषः । आरचितमित्युक्तमित्यर्थः । कः श्रद्दधीतेति एकद्रव्यातिरिक्तासु तासु प्रमाणाप्रसरादित्यर्थः ॥ ४२ ॥

अन्येष्वनन्यशब्दोऽयं संवृतिर्न मृषा कथम् ? । मुख्यार्थः संवृतिर्न स्याद्विना मुख्यान्न संवृतिः ॥४४॥

सतानिभ्योऽनन्यः सतानः, अन्यथात्मनो नामान्तरकरणात्—आत्मा सतान इति, सुखादिपरिणामेभ्यो भिन्नस्य वस्तुनो व्यापकस्यात्मत्वादर्थभेदाभावात् । तथा नामान्तरकरणे च नित्यानित्यविकल्पानुपपत्तेर्नान्य सतानो वास्तव. स्यात् । नित्यविकल्पे तस्य सतानिव्यापकत्वाभावोऽनेकस्वभावेन तद्व्यापकत्वे तस्य नित्यैकरूपत्वविरोधात् एकस्वभावेन तद्व्यापकत्वे संतानिनामेकरूपत्वापत्तेः कुतः सतानः अनेकव्यापिनः क्रमशः सतानत्वात् । तदनित्ये विकल्पेऽपि न सतानः, सतानिवद्भेदादेकप्रत्यवमर्शाविषयत्वात्, अपि तु सवृत्त्याऽन्येष्वनन्यव्यवहारात्, अनन्य इति शब्दविकल्पलक्षणत्वादेकत्वमुपचरितमिति । अन्येष्वनन्यशब्दोयं सवृतिः सौगतैरभिधीयते सतानः । सोपि कथ मृषा न स्यात् ? । अस्तु व्यलीकोऽय व्यवहारस्तथेष्टत्वादिति चेत्तर्हि व्यलीकव्यवहारेपि विशेषानुपपत्तेः सवन्धनियमाभावस्तदवस्थः, सकलसतानिनां साङ्कर्यस्यापरिहृतत्वात्, उपचरितैनैकसतानेन केषाचिदेव स्वेष्टसतानिना व्याप्तेर्नियमयितुमशक्तेः । यदि तु मुख्यार्थ एव संतानः स्यात्तदा न सवृतिः । सवृतिरेव सतानस्तथोपचारादिति चेत्, न, तस्य मुख्यप्रयोजनत्वविरोधात् । मुख्यप्रयोजनश्चायं, प्रत्यभिज्ञानादेर्मुख्यस्य कार्यस्य करणात् । उपचारस्तु नर्ते [न ऋते] मुख्यात् । यथाग्निर्माणवकः । इति

स्खलति हि तत्रानन्यप्रत्ययः, परीक्षाऽक्षमत्वात् । अत एवामुख्यार्थः प्रस्तुतासाधनम् । न ह्यग्निर्माणवक इत्युपचारात्पाकादावादीयते । तथा संतानोप्युपचरितः संतानिनियमहेतुर्न स्यात् । इति तदवस्थं संतानिसाङ्कर्यं, संतानस्यैकस्य सतानिभ्यो भिन्नस्याभिन्नस्योभयरूपस्यानुभयरूपस्य चासभवात् ॥ ४४ ॥ तत एव—

स्यान्मतमित्याशङ्कावचनं, वक्ष्यमाणकारिकापेक्षया तत्रैव तदभिव्यञ्जकस्य चेच्छब्दस्य श्रुतेः, प्रस्तुतकारिकायां तु पराभिमतसन्तानवचनमृषात्वस्य मुख्यस्य द्रव्यार्थस्य चोद्देश्यत्वाद्विप्रतिपत्तिधर्म्यभिधानेन परमस्याः कारिकाया उत्तरकारिकया सहैकवाक्यत्वादिति द्रष्टव्यम् । **सोऽपि कथं मृषा न स्यादिति** संवृतिशब्देनैव मृषात्वस्य स्फुटमभिधानादिति भावः । व्यवहारः सन्तानव्यवहारः, **सम्बन्धनियमाभावः** पूर्वोत्तरक्षणानां नियतकार्यकारणभावसम्बन्धाभावः, स्खलति हि बाधते हि, तत्र पूर्वोत्तरक्षणेषु, अनन्यप्रत्यय एकत्वावसायः, तत एवोक्तासम्भवादेव ॥ ४४ ॥

चतुष्कोटेर्विकल्पस्य सर्वान्तेषूक्त्ययोगतः । तत्त्वान्यत्वमवाच्यं चेत्तयोः संतानतद्वतोः ॥ ४५ ॥

यो यो धर्मस्तत्र तत्र चतुष्कोटेर्विकल्पस्य वचनायोगः । यथा सत्त्वैकत्वादिधर्मेषु । धर्मश्च संतानतद्वतोस्तत्त्वमन्यत्वं च । इति तत्रावाच्यत्वसिद्धिः । प्रसिद्धं हि सत्त्वैकत्वादिषु सर्वधर्मेषु सदसदुभयादिचतुष्कोटेरभिधातुमशक्यत्वात् संतानतद्वतोरपि भेदाभेदोभयानुभयचतुष्कोटेरनभिलाप्यत्वम् । सर्वो हि वस्तुधर्मः सन् वा स्यादसन् वा उभयो वानुभयो वा । सत्त्वे तदुत्पत्तिविरोधादसत्त्वे पुनरुच्छेदपक्षोपक्षिप्तदोषादुभये चोभयदोषप्रसङ्गानुभयपक्षेऽपि विकल्पानुपपत्तेरित्यादि योज्यम् । तथा हि । वस्तुनो धर्मस्यानन्यत्वे वस्तुमात्रप्रसक्तेरन्यत्वे व्यपदेशासिद्धेरसंबन्धात्, उभये चोभयपक्षभाविदोषोऽनुभयपक्षे निरुपाख्यत्वमिति ॥ ४५ ॥ तथानभिधेयत्वं

प्रसिध्यत् सर्वत्र संतानसंतानिनोरपि तत्त्वान्यत्वाभ्यामवाच्यत्वं प्रसाधयति विशेषाभावात् । इति येषामाकूतं तैरपि,—

चतुःकोटेरित्यादिकारिकाप्यग्रिमकारिकया सम्बध्यते साकाङ्क्षत्वात् । सर्वान्तेषु सर्वभेदेषु, तत्त्वान्यत्वमिति समाहारापेक्षयैकवचनं तत्त्वमन्यत्वं चेत्यर्थः, **तयोः प्रकृतयोः,** ॥ ४५ ॥ एवमवाच्यत्वं सर्वथा सन्तानसन्तानिनोः प्रसक्तं तत्कथञ्चिद्भावेन नियमयितुमाह

अवक्तव्यचतुष्कोटिविकल्पोऽपि न कथ्यताम् । असर्वान्तमवस्तु स्यादविशेष्यविशेषणम् ॥ ४६ ॥

न हि सर्वथानभिलाप्यत्वेऽनभिलाप्यचतुष्कोटेरभिधेयत्वं युक्तं, कथंचिदभिलाप्यत्वप्रसङ्गात् । ततो भवद्भिरवक्तव्यचतुष्कोटि-विकल्पोपि न कथनीयः । इति न परप्रत्यायन नाम । अपि चैव सति सर्वविकल्पातीतमवस्त्वेव स्यादन्यत्र वाचोयुक्तेः । जात्यन्तर-मेव ह्यनेकान्तात्मकं सर्वथैकान्तविकल्पातीतत्वात् । सर्वविकल्पातीतमिति वाचोयुक्तावेव वस्तूक्त स्यान्नान्यथा, तस्याविशेषणत्वात् खपुष्पवत् । न हि सर्वथाप्यसदनभिलाप्यमवस्त्विवति वा विशेषणं स्वीकुरुते यतो विशेष्य स्यात् । न चाविशेष्यमविशेषणं च किंचि-दध्यक्षसंविदि प्रतिभासते, स्वसंवेदनस्यापि सत्त्वविशेषणविशिष्टतया विशेष्यस्यैवावभासनात् । तदुत्तरविकल्पबुद्धौ स्वस्य संवेदन-मिति विशेषणविशेष्यभावोऽवभासते, न तु स्वरूपे तस्येति चेत्तर्हि किमविशेष्यविशेषणं संवेदनमिति स्वतः प्रतिभासते ? तथोपगमे सिद्धो विशेषणविशेष्यभावः संविदि, तत्राविशेषणविशेष्यत्वस्यैव विशेषणत्वात्, सर्वथाप्यसतो विशेषणविशेष्यत्वस्य प्रतिषेधा-योगात् । तथा हि ॥ ४६ ॥

'अवक्तव्येत्यादि' न कथ्यतामिति कथ्यते चेत्कथञ्चिदवक्तव्यतैव पर्यवसन्ना, **एवम्, असर्वान्तं सर्वभेद-**

रहितम्, अवस्त्वेव स्यात् यतो न कस्यचिद्विशेष्यं न वा विशेषणं, वाचो युक्तावेव प्रतियोगिविशेषपरतया भङ्ग्यन्तरभाजि वचन एव, अनभिलाप्यमवस्त्विति वेति इतेर्द्विधान्वयादनभिलाप्यमित्यवस्त्विति वा विशेषणं न स्वीकुरुत इत्यर्थः। यतो विशेष्यं स्यादिति एवं च विशेष्यस्य विशेषणसापेक्षत्वाद्विशेषणाभावादविशेष्यं विशेष्याभावाच्चाविशेषणं जातमित्यर्थः। तादृशि च प्रत्यक्षविरोध इत्याह—न चाविशेष्यमित्यादि ॥ ४६ ॥

द्रव्याद्यन्तरभावेन निषेधः संज्ञिनः सतः। असद्भेदो न भावस्तु स्थानं विधिनिषेधयोः ॥ ४७ ॥

द्रव्यक्षेत्रकालभावान्तरैः प्रतिषेधः संज्ञिनः सतः क्रियते स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्न पुनरसतः, तद्विधिप्रतिषेधाविषयत्वात्। द्रव्याद्यन्तरभावेनेव स्वद्रव्यादिभावेनाप्यसत्त्वे कुतो विधिर्नाम? तदभावे न प्रतिषेधस्तस्य कथंचिद्विधिपूर्वकत्वात्। ततः कथंचिदभिलाप्यस्य सतः प्रतिषेधादनभिलाप्यत्व युक्तम्। कथंचिद्विशेषणविशेष्यात्मनश्च सतोऽविशेष्यविशेषणत्वम्। इति नैकान्ततः किंचिदनभिलाप्यमविशेष्यविशेषण वाभ्युपज्ञातव्यम्। न चैतद्विरुद्धं स्वलक्षणमनिर्देश्यमित्यादिवत्। स्वलक्षण हि स्वरूपेणासाधारणेनानिर्देश्यं नानिर्देश्यमिति शब्देन तथा निर्देश्यत्वादन्यथा वचनविरोधात्। तथा प्रत्यक्षं कल्पनापोढमपि स्वरूपेण कल्पनापोढमेव, न कल्पनापोढमिति कल्पनापेक्षया, तस्यान्यथा कल्पनापोढत्वेन कल्पनाविरोधात्, सकलविकल्पवाग्गोचरातीतस्य निरुपाख्यत्वप्रसङ्गात् तद्वत्स्याद्वादिना न किंचिद्विप्रतिषिद्धम्। अभावोऽनभिलाप्य इत्यपि भावाभिधानादेकान्तवृत्तावेव दोषोद्भावाभिधानैरपि कथंचिदभावाभिधानात्। यथैव ह्यभाव इति भावान्तरमभिधीयतेऽनभिलाप्य इति चाभिलाप्यान्तर तथा भावोऽभिलाप्य इत्यपि भावान्तराभिलाप्यान्तराभाव. कथ्यते, तथा प्रतीतेः, अभावशब्दैश्चाभावस्य भावस्य चैकान्ततोऽभिधाने शाब्दव्यवहारविरोधात्, तस्य प्रधानगुणभावेन

विधिनिषेधयोरुपलम्भात् तथैव प्रवृत्तिनिवृत्त्योरविसंवादसिद्धेरन्यथा विसंवादात् । ततः सूक्तमिदम् " असद्भेदो न भावस्तु स्थानं विधिनिषेधयोः ॥" इति कथंचित्सद्विशेषस्यैव पदार्थस्य विधिनिषेधाधिकरणत्वसमर्थनात् ॥४७॥ तथा च पराभ्युपगतमेव तत्त्व सर्वथानभिलाप्यमायातमित्यभिधीयते—

न चैतद्विरुद्धमिति एतदभिलाप्यस्यैवानभिलाप्यत्वं विशेषणविशेष्यरूपस्यैव चाविशेष्यविशेषणत्वम् । ननु भावाभावोभयकरम्बितैकवस्त्वभ्युपगमात्कथञ्चिदनभिलाप्यत्वादेरप्युभयाश्रयत्वादेको द्वाविति यदभावोऽनभिलाप्य इत्यादि कथं न विप्रतिषिद्धमिति चेत्, उभयत्वादेः पर्याप्त्यनवच्छेदकत्वात् पर्याप्त्यन्यसम्बन्धस्य विशेषणसंसर्गत्वाद्वेत्याशयवानाह–भाष्यकृत्-अभावोऽनभिलाप्य इत्यादिना, तदेव विवृणोति वृत्तिकृत् य एव ह्यभाव इतीत्यादिना, असद्भेद इति असदन्तरम् ॥४७॥

अवस्त्वनभिलाप्यं स्यात्सर्वान्तैः परिवर्जितम् । वस्त्वेवावस्तुतां याति प्रक्रियाया विपर्ययात् ॥४८॥

सकलधर्मविधुरमधर्मिस्वभाव तावदवस्त्वेव सकलप्रमाणाविषयत्वात् । तदेवानभिलाप्यं युक्तं, न पुनर्वस्तु प्रमाणपरिनिष्ठितम् । तदपि सर्वान्तै परिवर्जितमवस्तु परपरिकल्पनामात्रादभिधीयते न पुनः प्रमाणसामर्थ्यात्, कस्यचिद्वस्तुन एव स्वद्रव्याद्यपेक्षालक्षणप्रक्रियाया विपर्यासादवस्तुत्वव्यवस्थितेः, स्वरूपसिद्धस्य घटस्य घटान्तररूपेणाघटत्ववत् कस्यचिद्वस्तुनो वस्त्वन्तररूपेणावस्तुत्वप्रतीतेः । ननु परस्परविरुद्धमिदमभिहितं वस्तुत्वेतरयोरन्योन्यपरिहारस्थितिरवादिति चेद्भावव्यतिरेकवाचिभिरपि वाक्यतामापन्नैर्भावाभिधानान्नात्र किंचिद्विरुद्धम् । न ह्यब्राह्मणमानयेत्यादिशब्दैर्वाक्यत्वमुपगतैर्ब्राह्मणादिपदार्थाभाववाचिभिस्तदन्यक्षत्रियादिभावाभिधानमसिद्धं येनावस्त्वनभिलाप्यं स्यादिति शब्देन वाक्यतामुपगतेन वस्तुशून्यत्ववाचिना वस्त्वन्तराभिधानं विरुध्यते । अतः सूक्तं ' यदवस्तु तदनभि-

लाप्यं यथा न किंचित् । यत्पुनरभिलाप्यं तद्वस्त्वेव यथा खपुष्पाभावः ' इति । नात्र साध्यविकलमुदाहरणं खे पुष्पाभावस्य खस्वरूपत्वात् । सुप्रतीतं हि लोके अन्यस्य कैवल्यमितरस्य वैकल्य, स्वभावपरभावाभ्यां भावाभावव्यवस्थितेर्भावस्य । न हि वस्तुन सर्वथा भाव एव, स्वरूपेणेव पररूपेणापि भावप्रसङ्गात् । नाप्यभाव एव, पररूपेणेव स्वरूपेणाप्यभावप्रसङ्गात् । न च स्वरूपेण भाव एव पररूपेणाभावः, परात्मना चाभाव एव स्वात्मना भाव इति वक्तुं युक्त, तदपेक्षणीयनिमित्तभेदात् । स्वात्मानं हि निमित्तमपेक्ष्य भावप्रत्ययमुपजनयति सर्वोर्थः, परात्मान त्वपेक्ष्याभावप्रत्ययम् । इति एकत्वद्वित्वादिसंख्यावदेकत्र वस्तुनि भावाभावयोर्भेदो व्यवतिष्ठते । न ह्येकत्र द्रव्ये द्रव्यान्तरमपेक्ष्य द्वित्वादिसंख्या प्रकाशमाना स्वात्ममात्रापेक्षैकत्वसंख्यातोनन्या प्रतीयते । नापि सोभयी तद्वतो भिन्नैव, तस्यासंख्येयत्वप्रसङ्गात्, संख्यासमवायादपि तथात्वासिद्धेः, समवायस्य तदसम्बन्धात् तस्य स्वसमवायिसंन्वधकल्पनायामप्यनवस्थानुपङ्गात् कथंचित्तादात्म्यमन्तरेण समवायासंभवाच्च । तद्वन्न भावाभावौ वस्तुनोन्यावेव, निस्स्वभावत्वप्रसक्ते । अथ सत्त्वासत्त्वाभ्यामन्यस्यापि वस्तुनो द्रव्यत्वादिस्वभावसद्भावान्न निःस्वभावत्वमिति मतं तदप्यसाधीयो, द्रव्यत्वाद्रव्यत्वाभ्यामपि तस्यान्यत्वात् । ताभ्यामनन्यत्वे कथंचिद्भावाभावाभ्यामप्यनन्यत्वसिद्धेः स्वभावपरभावाभ्या वस्तुनो भावाभावव्यवस्थितिः किं न स्याद्यतः खे पुष्पाभावोभिलाप्यो वस्त्वेव न भवेत् ? इति निरवद्यमुदाहरणम् ॥ ४८ ॥ किं च क्षणिकैकान्तवादिनाम्—

अवस्तुत्वप्रतीतेरिति तथा च वैज्ञानिकसम्बन्धेनावस्तुत्ववति तेन सम्बन्धेन सर्वथानभिलाप्यत्वाद्यभिधानमविरुद्ध मिथ्यारजतमरजतमितिवदिति भावः । **भावाभिधानादिति**, शक्तिलक्षणाभ्यामुभयोपपत्तेरेकपदशक्ययोः परस्परमन्वयो व्युत्पत्तिविशेषादिति नव्यमताश्रयणादिति भावः । **तद्वतो भिन्नैवेति**, तद्वत एकत्वसंख्यावतः, एकत्वविशिष्टाभेदसिद्धौ

च द्वित्वे संख्यात्वेनैकत्वाभेदः सिद्ध एवेति भावः ॥ ४८ ॥

सर्वान्ताश्चेदवक्तव्यास्तेषां किं वचनं पुनः । संवृतिश्चेन्मृषैवैषा परमार्थविपर्ययात् ॥ ४९ ॥

परेषा सर्वे धर्मा यद्यवक्तव्या एव तदा तेषां किं पुनर्वचनं धर्मदेशनारूप परार्थानुमानलक्षणं साधनदूषणवचनं वा ? न किंचित् स्यादिति मौनमेव शरणम् । यदि पुनः सवृतिरूपं वचनमुपगम्यते तदापि मृषैव सवृतिरेपाभ्युपगन्तव्या परमार्थविपर्ययरूपत्वात्तस्याः । इति तत्त्वतः किं वचनं स्यात् ? पुनरप्यवक्तव्यवादिनं पर्यनुयुञ्ज्महे, सर्वे धर्मा यदि वाग्गोचरातीताः कथमिमेऽभिलप्यन्ते ? इति, स्ववचनविरोधानुषङ्गात् सर्वदा मौनव्रतिकोऽहमिति प्रतिपादयत इव परान् । सवृत्या चेत्सर्वे धर्मा इत्यवक्तव्या इति चाभिलप्यन्ते भवद्भिर्न, विकल्पानुपपत्तेः । सवृत्येति हि स्वरूपेण पररूपेणोभयरूपेण वा तत्त्वेन मृषात्वेनेति वा विकल्पेषु नोपपद्यते । तत्र सवृत्या वक्तव्या इति स्वरूपेण चेत्कथमनभिलाप्याः ? स्वरूपेणाभिलाप्यानामनभिलाप्यत्वविरोधात् । पररूपेण चेत्तत्तेषां स्वरूपं स्याद्येनाभिलाप्याः । केवलं वाचः स्खलनं गम्येत गोत्रस्खलनवत् स्वरूपेणेति वक्तव्ये पररूपेणेति वचनात्, विशेषरूपवत् सामान्यरूपस्यापि वक्तव्यतयाङ्गीक्रियमाणस्य स्वरूपत्वात्, तस्यास्वरूपत्वे विशेषरूपस्याप्यस्वरूपत्वापत्तेः स्वयं निःस्वरूपत्वप्रसङ्गात् । उभयपक्षेप्युभयदोषानुषङ्गः । तत्त्वेन चेत्कथमवक्तव्याः ? केवल वचः—स्खलनं गम्येत, तत्त्वेन वक्तव्या इति वचने प्रस्तुते संवृत्या वक्तव्या इति वचनप्रवृत्तेः । मृषात्वेन चेत्कथमुक्ताः ? सर्वथा मृषोक्तानामनुक्तसमत्वात् । तदलमप्रतिष्ठितमिथ्याविकल्पौघैः, सर्वथानभिलाप्याना सर्वधर्माणामनभिलाप्या इति वचनेनाप्यभिलाप्यत्वासंभवात्तथा परप्रत्यायनायोगात् ॥ ४९ ॥ किंचेदं तत्त्वम्—

सर्वदा मौनव्रतिकोऽहमितीति, इत्येतत्प्रकारं, तेन " यावज्जीवमहं मौनी ब्रह्मचारी तु मत्पिता ॥ मम माता च

वन्ध्या च सराभोऽनुपमो महान् ॥ १ ॥ " इति श्लोकः सर्त्तव्यः । 'परानिति' परान् प्रतीतिप्रतिपादयत इवेति योजना कर्त्तव्या । ननु स्वरूपं विशेषरूपमेव पररूपं तु सामान्यरूपं ततश्च सामान्यरूपेणाभिलाप्यत्वे सत्यपि विशेषरूपेणावक्तव्यत्वसद्भावात् कथं वाचः स्खलनं गम्येतेत्याशङ्कायामाह–विशेषरूपवदिति ॥ ४९ ॥

अशक्यत्वादवाच्यं किमभावात्किमबोधतः। आद्यन्तोक्तिद्वयं न स्यात् किं व्याजेनोच्यतां स्फुटम् ॥५०॥

अर्थस्यानभिलाप्यत्वमभावाद्वक्तुरशक्तेरनवबोधाद्वा ? प्रकारान्तरासंभवात् । ननु च मौनव्रतात्प्रयोजनाभावाद्भयाल्लज्जादेर्वाऽनभिलाप्यत्वसिद्धेः कथं प्रकारान्तरासंभव इति चेत्, न, मौनव्रतादीनामशक्यत्वेऽन्तर्भावात् तेषां करणव्यापाराशक्तिनिमित्तत्वाच्च । न चैवमनवबोधस्ततः प्रकारान्तरं न स्यात्, तत्त्वाववोधे सति करणव्यापाराशक्तावप्यन्तर्जल्पसंभवात् । तत्त्वाववोधाभावेपि च करणव्यापारशक्तिसद्भावात् । अनववोधाशक्यत्वयोरिह बुद्धिकरणपाटवापेक्षत्वात् प्रकारान्तरत्वमेव । न च सर्वत्र तदभावो युक्तः, कस्यचित्कचिदववोधसद्भावात् सुगतस्य प्रज्ञापारमितत्वात् क्षमामैत्रीध्यानदानवीर्यशीलप्रज्ञाकरुणोपायप्रमोदलक्षणदशवलत्वोपगमाच्च कस्यचिदेव करणापाटवात् । तदनेनाशक्यत्वानववोधवचनलक्षणस्याद्यन्तोक्तिद्वयस्यासंभवो व्याख्यातः । सामर्थ्यादर्थस्याभावादेवावाच्यत्वमिति किं व्याजेनावक्तव्यं तत्त्वमिति वचनरूपेण ? स्फुटमभिधीयतां सर्वथार्थाभाव इति, तथा वचने वञ्चकत्वायोगादन्यथानाप्तत्वप्रसक्तेः । ततो नैरात्म्यात्र विशेष्येत, मध्यमपक्षावलम्बनात् । को ह्यत्र विशेषोऽर्थस्याभावादवाच्यत्व नैरात्म्यमिति च ? अशक्यसमयत्वादनभिलाप्यमर्थरूपमिति चेत्, न, कथंचिच्छक्यसंकेतत्वाद् । दृश्यविकल्प्यस्वभावत्वात्परमार्थस्य प्रतिभासभेदेऽपीत्युक्तम् । न हि दृश्यस्वभाव एव परमार्थो न पुनर्विकल्प्यस्वभावः सामान्यं, विशेषवत्सामान्यस्यापि वस्तुरूपत्वसाधनादन्यथा

प्रतीत्यभावात् सामान्यविशेषात्मनो जात्यन्तरस्य प्रत्यक्षादौ प्रतिभासनाच्च । न चैवं द्रव्यलक्षणेषु सङ्केतकरणाशक्तावपि विकल्प्ये सामान्ये क्वचिदशक्यसङ्केतत्वं येनाशक्यसमयत्वादनभिलाप्यमर्थरूपं भवेत्, कथंचिच्छक्यसङ्केतत्वसिद्धेः । स्यान्मतं ‘ सङ्केतितार्थस्य शब्दविषयस्य व्यवहारकालेननुगमनाद्विषयिणः शब्दस्य न तद्वाचकत्वमन्यथातिप्रसङ्गात् ’ इति, वदेतद्विषयविषयिणोर्भिन्नकालत्वं प्रत्यक्षेपि समानं, शब्दविकल्पकालवत् प्रत्यक्षप्रतिभासकालेपि विषयस्यासंभवात्, संभवे वा क्षणिकत्वाविरोधाद्वेद्यवेदकयोः समानसमयत्वप्रसङ्गाच्च । अथ भिन्नकालत्वेऽपि विषयात्प्रत्यक्षस्याविपरीतप्रतिपत्तिः, अन्यत्रापि सास्त्येव । नहि शब्दादर्थं परिच्छेद्य प्रवर्तमानो विपरीत प्रतिपद्यते प्रत्यक्षादिव प्रतिपत्ता, येन दर्शने एवाविपरीतप्रतिपत्तिर्भवति न पुनः शाब्देपीऽति बुद्ध्यामहे । क्वचिद्विकल्पे विपरीतप्रतिपत्तिमुपलभ्य सर्वत्र विपरीतप्रतिपत्तिकल्पनाया क्वचिद्दर्शनेऽपि विपरीतप्रतिपत्तिं समीक्ष्य सर्वत्र तत्कल्पनास्तु, विशेषाभावात् । दर्शनविकल्पयोः परमार्थैकतानत्वाभावे न किंचित्सिद्धम् । दृष्टस्यानिर्णयाददृष्टकल्पनाददृष्टनिर्णयस्य प्रधानादिविकल्पाविशेषात् कुतो दर्शनस्य कल्पनापोढस्यापि परमार्थैकतानत्वम् ? । न हि दृष्टे स्वलक्षणे निर्णय. संभवति, तस्य तदविषयत्वात् । अदृष्टे तु सामान्यलक्षणे निर्णयः प्रवर्तमानो न प्रधानादिविकल्पाद्विशिष्यते । इति सकलप्रमाणाभावात्प्रमेयाभावसिद्धेरवक्तव्यतैकान्तवादिनां नैरात्म्यमेवायातं सर्वथाप्यशक्यसमयत्वेनाप्यशक्यत्वपक्षस्यासंभवादनवबोधपक्षवदभावस्यैव निर्व्याजत्वसिद्धेः ततः क्षणक्षयैकान्तपक्षे कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गः । स चोपहासास्पदमेव स्यात् ॥ ६० ॥ तथा हि ।

मौनव्रतादीनामशक्यत्वेऽन्तर्भावादिति वचनजनककरणवीर्याविषयत्वस्यैवाशक्यपदार्थत्वात् सिद्धेर्वक्तुमशक्यत्व-

तदुत्थापकानि प्रकरणादीन्यननुगतत्वात्, तथाऽवचनेऽशक्यत्वमेव नियामकमनुगतत्वान्नतु तदुत्थापकानि मौनव्रतादीन्यननुगतत्वादिति भावः। 'न चैवमिति' एवं मौनव्रतादीनामशक्यत्वेऽन्तर्भावे, अन्तर्जल्पसम्भवादिति बहिः स्पष्टोच्चाराभावेऽप्यन्तर्वचनजनककरणवीर्यसत्त्वादन्यथाऽन्तर्जल्पाप्रत्यक्षापत्तेर्मध्यमावेखर्योर्भेदानापत्तेश्चेति भावः। तत्त्वावबोधाभावेऽपि चेति तथा च तद्भावाभावयोर्भावादनवबोधव्यभिचारित्वमशक्यत्वस्येति न तत्रानवबोधोऽन्तर्भावयितुं शक्य इत्यर्थः। तदभावोऽवबोधाभावः। आद्यन्तोक्तिद्वयस्येति कारिकाक्रमापेक्षया, को ह्यर्थविशेष इति, अर्यत इत्यर्थः इति व्युत्पत्त्या को हि प्रकारभेद इत्यर्थः। अवाच्यत्वं नैरात्म्यमिति अवाच्यत्वं नैरात्म्यं चेति पक्षयोरित्यर्थः। 'अर्थरूपमिति' तथा च भावाभावविपयत्वाद्विशेष इत्यर्थः। समानसमयत्वप्रसङ्गादिति क्षणिकत्वविरोधे हेतुत्वेनान्वेति, प्रत्यक्षकालवृत्तेर्विषयस्य तद्धेतुत्वरक्षार्थं प्राक्कालवृत्तित्वस्याप्यभ्युपगमे क्षणिकत्वविरोधस्य स्पष्टत्वात्। द्वितीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वस्यैव क्षणिकलक्षणत्वादितरस्याविनिगम्यत्वात् ॥ ५० ॥

हिनस्त्यनभिसन्धात् न हिनस्त्याभिसंधिमत्। बध्यते तद्द्वयापेतं चित्तं बद्धं न मुच्यते ॥ ५१ ॥

हिंसाभिसंधिमच्चित्तं न हिनस्त्येव प्राणिनं, तस्य निरन्वयनाशात् संतानस्य वासनायाश्चासंभवात्। अनभिसन्धिमदेवोत्तरं चित्तं हिनस्ति। तत एव हिंसाभिसन्धिर्हिंसाचित्तद्वयादपेत चित्तं बध्यते। यच्च बद्ध तन्न मुच्यते, ततोऽन्यस्य मुक्तेः। इति कोन्यः प्रकाशयेन्निरन्वयात् तस्यैवम्? संतानादेरयोगादिति—कर्तव्यतासु चिकीर्षोर्विनाशात् कर्तुरचिकीर्षुत्वात् तदुभयविनिर्मुक्तस्य बन्धात्तदविनिर्मुक्तेश्च यमनियमादेरविधेयत्व कुर्वतो वा यत्किंचनकारित्व प्रत्येतव्यम्। न चैवमनेकान्तवादिनः, प्रतिक्षणं परिणामान्यत्वेऽपि जीवद्रव्यस्यान्व-

याद् चिकोर्षोरेवेतिकर्तव्यतासु कर्तृत्वात्कर्तुरेव च कर्मबन्धाद्बद्धस्यैव विनिर्मुक्तेः सर्वथा विरोधाभावात्। क्षणिकवादिनामपि संतानस्यै-
यात् चिकोर्षोरेवेतिकर्तव्यतासु कर्तृत्वात्कर्तुरेव च कर्मबन्धाद्बद्धस्यैव विनिर्मुक्तेः सर्वथा विरोधाभावात्। क्षणिकवादिनामपि संतानस्यै-

कत्वात्पूर्वपूर्ववासनोपहितोत्तरोत्तरचित्तविशेषस्योत्पत्तेरनुपालम्भ इति चेत्, न, संतानस्यावास्तवत्वाद्वास्यवासकभावस्याप्यसंभवादव्य-

भिचारकार्यकारणभावस्यापि तन्नियमहेतुत्वायोगात् सुगतेतरचित्तसतानेष्वपि भावादिति निरूपितत्वाच्च क्षणिकैकान्तवादिनाम् ॥ ५१ ॥

'निरन्वयादिति' निरन्वयशब्दो निर्वंशत्वाध्यवसायेनान्वयाभाववादिनं सौगतं लक्षयंस्तस्य निन्द्यतामभिव्यनक्ति इतिकर्त्तव्यतासु क्रमनियतासु क्रियासु, अचिकीर्षत्वादिति न विद्यते चिकीर्षा यस्य क्षणस्य तत्त्वादित्यर्थः। 'तदुभयेति' चिकीर्षाकर्तृक्षणविनिर्मुक्तस्य तृतीयस्य बद्धत्वादित्यर्थः। तदविनिर्मुक्तेर्बद्धक्षणस्यामोक्षात्, अभिधेयत्व-मभिधामात्रेणात्मन आश्वासः, कुर्वतो वा यत्किञ्चनकारित्वम् अबुद्धिपूर्वकप्रयासमात्रम्, पूर्वपूर्वक्षणानामुत्तरत्रानन्वयेन कार्यकारणसामानाधिकरण्याद्यभावादित्यर्थः॥ ५१ ॥

अहेतुकत्वान्नाशस्य हिंसाहेतुर्न हिंसकः। चित्तसंततिनाशश्च मोक्षो नाष्टाङ्गहेतुकः ॥ ५२ ॥

सर्वथाप्यहेतुं विनाशमभ्युपगम्य कस्यचिद्यदि हिसकत्व ब्रूयात् कथमविक्लवः? तथा निर्वाणं सतानसमूलतलप्रहाणलक्षणं सम्यक्त्वसज्ञासंज्ञिवाक्कायकर्मान्तर्व्यायामाऽजीवस्मृतिसमाधिलक्षणाष्टाङ्गहेतुकं यदि ब्रूयात्तदापि कथं स्वस्थः? तयोरहेतुकविनाशाभ्यु-पगमहिंसकत्वयोरष्टाङ्गहेतुकत्वनिर्वाणवचनयोश्चान्योन्य विप्रतिषेधात् सुगतस्य सर्वज्ञत्वेतरवत् ॥ ५२ ॥

'सम्यक्त्वेत्यादि,' सम्यक्त्वं बुद्धधर्मश्रद्धा १, संज्ञा रूपाद्यभिधानं २ संज्ञी रूपादिरेव ३ वाक्कायव्यापार-स्तत्कर्म ४ अन्तर्व्यायामो वायुनिरोधः ५ अजीवो जीवाभावो नैरात्म्यमिति यावत् ६ स्मृतिः पिटकत्रयार्थानुचिन्तनं ७

ध्यानं समाधि ८ रेतान्यौचित्येन प्रवृत्तिनिवृत्तिद्वाराऽष्टौ निर्वाणाङ्गानि सौगतानाम् ॥ ५२ ॥

विरूपकार्यारम्भाय यदि हेतुसमागमः । आश्रयिभ्यामनन्योऽसावविशेषादयुक्तवत् ॥ ५३ ॥

विसदृशरूप विरूपं कार्यम् । तदारम्भाय हिंसाहेतोर्वधकस्य मोक्षहेतोश्चाष्टाङ्गस्य सम्यक्त्वादेः समागमो व्यापारो यदि ताथागतैरिष्यते तदासौ हेतुसमागम एवाश्रयो, नाशोत्पादयोः कारणत्वात् । स चाश्रयिभ्या कार्यरूपाभ्या नाशोत्पादाभ्यामनन्य एव, न पुनर्भिन्नः, तयोरविशेषादयुक्तवत् । यथैव हि शिंशपात्ववृक्षत्वयोश्चित्रज्ञाननीलादिनिर्भासयोर्वा तादात्म्यमापन्नयोरयुक्तयोः कारणसन्निपातो न भिन्नः सभवत्येककारणकलापादेवात्मलाभादन्यथा तादात्म्यविरोधात् । तथैव पूर्वाकारविनाशोत्तराकारोत्पादयोरपि, नीरूपस्य विनाशस्यानिष्टेरुत्तरोत्पादरूपत्वाभ्युपगमात् तयोर्भिन्नकारणत्वे तद्विरोधान्ततान्तरप्रवेशानुषङ्गाच्च । सोयं विसदृशकार्योत्पादहेतुव्यतिरिक्तहेत्वभावात् पूर्वाकारविनाशस्याहेतुकत्वमुपयन्नाशहेतुव्यतिरिक्तहेत्वभावादुत्तरोत्पादस्याहेतुकत्व नानुमन्यते इति कथमनाकुलः ? । विसभागसतानोत्पादनाय हेतुसन्निधिर्न प्रध्वंसाय, पूर्वस्य स्वरसतो निवृत्तेरिति चेत्, स पुनरुत्तरोत्पादः स्वरसतः किन्न स्यात् ? तद्धेतोरप्यकिंचित्करत्वसमर्थनाद्विनाशहेतुवत् । स्वरसोत्पन्नमपि तदनन्तरभावित्वात्तेन व्यपदिश्यते इति चेदितरत्र समानम् । कार्यक्षणवत्पूर्वक्षणप्रध्वसस्यापि हेत्वनन्तरभावित्वाविशेषात्तेन व्यपदेशोस्तु, न वा कार्यस्यापीत्यविशेषः । परमार्थतस्तदहेतुकत्वे प्रतिपत्रभिप्रायाविशेषेपि स्वतःप्रहाणवादी न शक्नोत्यात्मान न्यायमार्गमनुकारयितुं, तथा वदतस्तस्य न्यायातिक्रमात् । न च निरन्वयविनाशवादिनः सभागविसभागविवेकः श्रेयान्, सर्वदा विरूपकार्यत्वात्, कारणस्य कथंचिदन्वयापाये सभागप्रत्ययायोगात् । सभागविसभागावक्लृप्तिं प्रतिपत्रभिप्रायवशात्समनुगच्छन् सहेतुकं विनाशं ततः किं नानुजानीयात् ? न च समनन्तरक्षणयोर्नाशोत्पादौ

पृथग्भूतौ मिथः स्वाश्रयतो वा यौ सम सहेतुकेतरौ स्ता, प्रतिपत्त्यभिधानभेदेपि ग्राह्यग्राहकाकारवत्, स्वभावप्रतिबन्धात्। न हि तयोर्मिथः कार्यकारणभावः प्रतिबन्धः, समसमयत्वात् "नाशोत्पादौ समं यद्वन्नामोन्नामौ तुलान्तयोः" इति वचनात्। नापि स्वाश्रयेण सह कार्यकारणभावः, समनन्तरस्वलक्षणक्षणाभ्यां नाशोत्पादयोरर्थान्तरत्वप्रसङ्गात्। तयोस्तद्धर्मत्वाद्विशेषणविशेष्यभावः सबन्ध इति चेन्न, वैशेषिकमतसिद्धेः। कल्पनारोपितत्वात्तयोर्न तत्सिद्धिरिति चेत्तर्हि पूर्वक्षणविनाशोनन्तरक्षणस्वभावस्तदुत्पादश्चेति सिद्धः स्वभावप्रतिबन्धः। न चैवं प्रतिपत्त्यभिधानभेदो विरुध्यते, सविदि ग्राह्यग्राहकाकारयोरपि तद्विरोधप्रसङ्गात्। ततस्तद्वत्तयोरभेद एव। सञ्ज्ञाच्छन्दमतिस्मृत्यादिवत् सत्यपि भेदे समकालभाविनोः कथं सहकारी पुनरन्यतरस्यैव हेतुरहेतुर्वा स्यात्, कार्यरूपादेरिव कारणम्। संज्ञा हि प्रत्यभिज्ञा, छन्द इच्छा। तेनादिशब्दस्योभयत्र सबन्धान्निदर्शनद्वयं वादिद्वयापेक्षयोच्यते। सञ्ज्ञाछन्दादिवन्मतिस्मृत्यादिवच्च क्रमभाविनोर्नाशोत्पादयोः सत्यपि भेदे समकालभाविनोस्तयोर्घटकपालाश्रययोरिव सहकारी मुद्गरादिः कथं कपालोत्पादस्यैव हेतुर्न पुनर्घटविनाशस्य, तस्यैव वाऽसौ हेतुर्न तु कपालोत्पादस्य स्यात्, कार्यरूपादिस्तवकस्यैकसामग्र्यधीनस्य कारणरूपादिस्तवकवत्। यतश्चैवं तस्मात्कार्यकारणयोरुत्पादविनाशौ न सहेतुकाहेतुकौ सहभावाद्रसादिवत्। न हि कारणरसादिकलापः कार्यस्य रसस्यैव हेतुर्न पुना रूपादेरिति प्रतीतिरस्ति, यतः साध्यशून्यो दृष्टान्तः स्यात्, नाप्यसहभावो रसादीनां, येन साधनविकलः। पुरुषधिषणाभ्यामनेकान्तइति चेन्न, सौगताना पुरुषासिद्धेः। स्याद्वादिनां तु तस्यापि सहेतुकत्वात् पर्यायार्थतो धिषणावत्, द्रव्यार्थतोऽहेतुकत्वाच्च धिषणायाः पुरुषवन्न ताभ्या हेतोर्व्यभिचारिता, कारणानन्तर सहभावात्। इति प्रकरणसामर्थ्यात्सविशेषणस्य सहभावस्य हेतुत्वाद्वा न व्यभिचारः स्यात्। न चैवमसिद्धं साधनम्, मुद्गरादिव्यापारानन्तर कार्योत्पादवत् कारणविनाशस्यापि प्रतीतेः, विनष्टो घट उत्पन्नानि

कपालानीति व्यवहारद्वयसद्भावात् । ततः कार्योत्पादवत्कारणविनाशः सहेतुक एवाभ्युपेयः । ननु हेतोर्न तस्य किंचिद्भवति, न भवत्येव केवलमिति चेत् , तर्हि कारणात्कार्यस्य न किंचिद्भवति, भवत्येव केवलमिति समानं विनाशवदुत्पादस्यापि निर्हेतुकत्वापत्तेः । तस्मादयं विनाशहेतुर्भावमभावीकरोतीति न पुनरकिंचित्करः । कार्योत्पत्तिहेतुर्वा यद्यभावं न भावीकुर्याद् भाव करोतीति कुतस्य करणायोगादकिंचित्करः स्यात्, सर्वथा भाव भावीकुर्वतो व्यापारवैफल्यात् । तदतत्करणादिविकल्पसहतिरुभयत्र सदृशी । यथैव हि विनाशहेतो. कुटस्य तदभिन्नविनाशकरणे तत्करणादकिंचित्करत्वं, तद्भिन्नविनाशकरणे च तदुपलम्भप्रसक्तिः । तथोत्पादहेतोर्भावादभिन्नोत्पादकरणेप्यकिंचित्करता, सतः करणायोगात् । सर्वथाप्यसतो भावादभिन्नस्योत्पादस्य करणेपि न किंचित् कृतं स्यात् खपुष्पसौरभवत् । सतोऽसतो वार्थान्तरस्य जन्मनः करणे तु न सदसद्वा कृत स्यात् । एतेन प्रागसतोनर्थान्तरस्यार्थान्तरस्य चोत्पादस्य हेतुना करणे तस्याकिंचित्करत्वमुपदर्शितं प्रतिपत्तव्यम्, प्रागसतोनन्यस्य सत्त्वायोगात्, ततोन्यस्य सत एव करणे वैफल्यात् । ततो यदि न विनाशार्थो हेतुसमागमस्तदोत्पादार्थोपि मा भूत्, सर्वथा विशेषाभावात् ॥ ५३ ॥

हेतुसमागमः समागतो हेतुः स्वेतरसकलकारणसंभृतमुपादानकारणमिति यावत् ॥ **आश्रयिभ्यामुपादेयत्वेनाधेयाभ्याम्**, अनन्यः प्राप्नोतीति शेषः, **अयुक्तवदपृथक्सिद्धयोर्द्वयोरिव**, ततः **किं नानुजानीयादिति**, ततः प्रतिपत्त्रभिप्रायवशात्, **समनन्तरक्षणयोरव्यवहितपूर्वोत्तरक्षणयोः**, **प्रतिपत्त्यभिधानभेदेऽपीति** अयमुत्पादोऽयं च विनाश इति प्रतिपत्तिभेदः, एतदाकार एव चाभिधानभेदः, "अर्थाभिधानप्रत्ययास्तुल्यनामधेया" इति वचनादिति सर्त्तव्यम् । **संज्ञेत्यादि-**भाष्ये वतिरिवार्थः, तेनायमर्थः संज्ञाछन्दाद्योर्मतिस्मृत्याद्योरिव क्रमभाविनोरुदासीननाशोत्पादयोः सत्यपि भेदे प्रकृतयोः

समकालभाविनोर्घटकपालनाशोत्पादयोः रूपरसादिवत्कथञ्चिदभेदात्कथमुपादानसहकारी मुद्गरादिरन्यतरस्य कपालजातस्य हेतुरेवान्यतरस्य घटनाशस्याहेतुरेव च स्यात्, कारणरूपादिस्तोमाधीनकार्यरूपादिस्तोमवदेकसामग्र्यधीनत्वात्तयोः, नच रूपादौ रूपादेरेव हेतुत्वं रसादेस्तु सहभाविनोऽप्यन्यथासिद्धत्वादेवाहेतुत्वं तद्वदत्रापि कपालोत्पाद एव मुद्गरादेर्हेतुत्वं नतु घटनाशेऽन्यथा सिद्धत्वादित्यपि वक्तुं शक्यम्, रसादौ नियतोपस्थितिकरूपादिनाऽन्यथा सिद्धिसम्भवेऽप्यत्राविनिगमेन तदसम्भवात् ॥ **कारणानन्तरं सहभावादितीति** इतिः प्रयोगाकारोपदर्शनार्थः । अनेन प्रयोगेणेत्यर्थः, सविशेषणस्य कारणानन्तर्यविशेषणविशिष्टस्य, हेतुत्वाद्धेतुत्वेनोपन्यासात्, **कार्योत्पत्तिहेतुर्वेति** यथा कार्योत्पत्तिहेतुरभावं भावीकरोति न पुनरकिञ्चित्करस्तथा विनाशहेतुर्भावमभावीकरोति न पुनरकिञ्चित्कर इत्यर्थः । इदं तु ध्येयम् । भेदाभेदनियतश्चिप्रत्ययार्थः स्याद्वाद एव युज्यते नान्यथेति ॥ ५३ ॥

किं च क्षणिकैकान्तवादिना परमाणवः क्षणा उत्पद्यन्ते स्कन्धसन्ततयो वा ? प्रथमपक्षे स्थाप्यस्थापकविनाश्यविनाशकभाववद्धेतुफलभावविरोधात्कुतः सहेतुकोत्पत्तिरहेतुका वा ? स्थितिविनाशवत् । द्वितीयपक्षे तु ।

स्कन्धसन्ततयश्चैव संवृतित्वादसंस्कृताः । स्थित्युत्पत्तिव्ययास्तेषां न स्युः खरविषाणवत् ॥ ५४ ॥

साध्याभावसभूष्णुताविरहाद्धेतोरन्यथानुपपत्तिरनिश्चितेति न मन्तव्य, साध्याभावे तदभावप्रसिद्धेः सौगतस्य । तथा हि । रूपवेदनाविज्ञानसज्ञासस्कारस्कन्धसततयोऽसस्कृताः सवृतित्वात्, यत्पुनः सस्कृतं तत् परमार्थसत्, यथा स्वलक्षण, न तथा स्कन्धसततयः, इति साध्यव्यावृत्तौ हेतोर्व्यावृत्तिनिश्चयात् । खरविषाणादौ सावृतत्वस्यासस्कृतत्वेन व्याप्तस्य प्रतिपत्तेः सिद्धान्यथानुपपत्तिः ।

ततः स्थित्युत्पत्तिविपत्तिरहिताः प्रतिपाद्यन्ते । तथा हि । स्कन्धसन्ततयः स्थित्युत्पत्तिविपत्तिरहिता एवासंस्कृतत्वात् खरविषाणवत् । क्षणं स्थित्युत्पत्तिविपत्तिमहितस्य स्वलक्षणस्य संस्कृतत्वोपगमादन्यथानुपपत्तिसिद्धिः साधनस्य प्रत्येया । स्याद्वादिनामपि स्थित्युत्पत्तिविपत्तिमतः कथंचित् संस्कृतत्वसिद्धेर्न व्यभिचार । सर्वथा स्थितिमतोऽसंस्कृतस्य च कस्यचिद्वस्तुनोऽनुपपत्तेश्च निरवद्योयं हेतुः । ततो विसभागसंतानोत्पत्तये विनाशहेतुरिति पोप्लूयते, रूपादिस्कन्धसंततेरुत्पत्तिनिषेधात् तद्विनाशस्यापि खरविषाणवदसंभवात् । तथा हि । स्कन्धसंततयो विनाशरहिताः स्थित्युत्पत्तिरहितत्वात् । यत् पुनर्विनाशसहितं तन्न स्थित्युत्पत्तिरहितं, यथा स्वलक्षणम् । न तथा स्कन्धसंततयः । इति स्थित्युत्पत्तिव्ययाः न स्युस्तेषां स्कन्धानां खरविषाणवत् । तदभावे विरूपकार्यारम्भाय हेतुसमागम इति कथन्न सुतरां प्लवते ? ततो न क्षणिकैकान्तः श्रेयान्नित्यैकान्तवत्सर्वथा विचारासहत्वात् ॥ ५४ ॥

स्थाप्यस्थापकेत्यादि यथा परमाणूनां स्थाप्यस्थापकभावादिर्विरुध्यते तथा हेतुफलभावोऽप्यनन्वयेन कल्पनामात्रे विश्रामात्, तत्रेदं पूर्वक्षणः स्थापक उत्तरक्षणः स्थाप्य उत्तरक्षणो विनाशकः पूर्वक्षणो विनाश्य इति, असंस्कृता उत्पत्तिरहिताः, 'रूपेत्यादि' रूपरसगन्धस्पर्शपरमाणवः सजातीय(विजातीय)व्यावृत्ताः परस्परासम्बद्धा रूपस्कन्धाः, सुखदुःखादयो वेदनास्कन्धाः, सविकल्पकनिर्विकल्पकज्ञानादयो विज्ञानस्कन्धाः, वृक्षादिनामानि संज्ञास्कन्धाः, ज्ञानपुण्यपापवासनाः संस्कारस्कन्धाः । स्कन्धसन्ततय इत्यादि, न चेदमनुमानं कारिकाऽसूचितत्वेनाधिकम्, परार्द्धेनास्य प्रसङ्गानुमानतया व्यक्तमुक्तत्वादित्यवधेयम् ॥ ५४ ॥

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम् । अवाच्यतैकान्तेप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥ ५५ ॥

नित्यत्वेतरैकान्तद्वयमप्ययुक्तमङ्गीकर्तुं, विरोधाद्युगपज्जीवितमरणवत् । तादात्म्ये हि नित्यत्वानित्यत्वयोर्नित्यत्वमेव स्यादनित्यत्वमेव वा । तथा च नोभयैकात्म्यं, विप्रतिषेधात् । नित्यत्वानित्यत्वाभ्यामत एवानभिलाप्यमित्ययुक्त, तदेकान्तेऽनभिलाप्योक्तेरनुपपत्तेः, सर्वथानभिलाप्यं तत्त्वमित्यभिलपत एव वचनविरोधात् सदा मौनव्रतिकोहमित्यादिवत् ॥ ५५ ॥

विरोधान्नोभयैकात्म्यमित्यादि प्रागुक्तदिशा व्यक्तार्थम् ॥ ५५ ॥

तदेव नित्यत्वाद्येकान्तानुपपत्तौ सामर्थ्यात्तदनेकान्तसिद्धिप्रतिपादनेपि तत्त्वोपप्लववादिदुराशयविनाशनाय तत्प्रतिपत्तिदार्ढ्याय च स्याद्वादिवादन्यायानुसरणेन नित्यत्वाद्यनेकान्तमुपदर्शयन्ति सूरयः—

नित्यं तत्प्रत्यभिज्ञानान्नाकस्मात्तदविच्छिदा। क्षणिकं कालभेदात्ते बुद्ध्यसंचरदोषतः ॥ ५६ ॥

ते भगवतोऽर्हतः स्याद्वादन्यायनायकस्य सर्वं जीवादितत्त्वं स्यान्नित्यमेव प्रत्यभिज्ञायमानत्वात् । नाकस्मात्तत्प्रत्यभिज्ञानं तस्याविच्छेदेनानुभवात् । निर्विषय हि प्रत्यभिज्ञानमकस्मादिति प्रसिद्धम् । यथा तादृशे तदेवेदमिति, तत्रैव वा तादृशमिदमिति भ्रान्तं प्रत्यभिज्ञानम् । न चैवं जीवादितत्त्वे प्रत्यभिज्ञान, बाधकाभावात्तदविच्छेदात् । प्रत्यक्षं बाधकमिति चेत्, न, तस्य वर्तमानपर्यायात्मकवस्तुविषयत्वात्, पूर्वापरपर्यायव्याप्येकत्वलक्षणे प्रत्यभिज्ञानविषये प्रवृत्त्यभावात् । न च स्वस्याविषये किंचिद्बाधक साधकं वा, श्रोत्रज्ञानविषये चक्षुर्ज्ञानवत् । तत एव नानुमानं, तस्यान्यापोहमात्रगोचरत्वात्तत्रैव साधकबाधकत्वोपपत्ते । प्रमाणान्तर तु नानुमानाद्प्रत्यक्षमिष्यते क्षणिकवादिभिर्यत्प्रत्यभिज्ञानस्य बाधकं स्यात्। इति सत्यप्रत्यभिज्ञानमेव वितथप्रत्यभिज्ञानस्य बाधकम् । सादृश्यप्रत्यभिज्ञान सम्यगेवास्य जीवादावेकत्वप्रत्यभिज्ञानस्यानाद्यविद्योदयापादितस्य भ्रान्तस्य बाधकमिति चेत् , न, अस्य भ्रान्तत्वासिद्धे , सदृशापरापरोत्प-

स्यनिश्चयात् । ननु च यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकमक्षणिके क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात्सत्त्वानुपपत्तेरित्यनुमानान्निरन्वयविनाशित्वसिद्धे-र्जीवादिक्षणानामेकत्वासंभवात् सादृश्यप्रत्यभिज्ञानविषयत्वोपपत्तेर्भ्रान्तमेव तत्रैकत्वप्रत्यभिज्ञानं सिद्धमविसंवादाभावादिति चेत्, न, अस्यानुमानस्य विरुद्धत्वात्। तथा हि। यत्सत् तत्सर्वं कथंचिन्नित्यं, सर्वथा क्षणिके क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात्सत्त्वानुपपत्तेरिति। अत्र न तावद्धेतोरनैकान्तिकत्वं, सर्वथा नित्यत्वे सत्त्वस्याभावात् सर्वथा क्षणिकत्ववत् । तदभावश्च क्रमाक्रमानुपपत्तेः । तदनुपपत्तिश्च पूर्वापरस्वभावत्यागोपादानान्वितरूपाभावात् सकृदनेकशक्त्यात्मकत्वाभावाच्च । न हि कूटस्थेर्थे पूर्वोत्तरस्वभावत्यागोपादाने स्तः, क्षणिके वान्वितं रूपमस्ति, यतः क्रमः कालकृतो देशकृतो वा स्यात् । नापि युगपदनेकस्वभावत्वं, यतो यौगपद्यं, कौटस्थ्यविरोधान्निरन्वय-क्षणिकत्वव्याघाताच्च । सहकारिक्रमाक्रमापेक्षया तत्र क्रमयौगपद्यकल्पनापि न साधीयसी स्वयं तदपेक्षा, क्रमेतरस्वभावत्वाभावे तद-नुपपत्तेः । तत्कार्याणां तदपेक्षा, न पुनर्नित्यस्य क्षणिकस्य वेत्यपि न श्रेयान्, तेषां तदकार्यत्वप्रसङ्गात् । तत्सहितेभ्यः सहकारिभ्यः कार्याणामुत्पत्तेरन्यथानुत्पत्तेस्तत्कार्यत्वनिर्णय इति चेत्, तर्हि येन स्वभावेनैकेन सहकारिणा सहभावस्तेनैव सर्वसहकारिणा यदि तस्य स्यात्तदैककार्यकरणे सर्वकार्यकरणात्क्रमकार्यानुपपत्तिः, सहकार्यन्तराभावेपि च तत्सहभावात्मकत्वदेव सकलकार्योत्पत्तिः प्रसज्येत । स्वभावान्तरैः सह कार्यान्तरसहभावे तस्य क्रमाक्रमवृत्त्यनेकस्वभावत्वसिद्धेः कुतो नित्यमेकस्वभावं क्षणिकं वा वस्तु क्रमयौगपद्ययोर्व्यापकं स्यात् ? कथंचिन्नित्यस्यैव क्रमाक्रमानेकस्वभावस्य तद्व्यापकत्वप्रतीतेः । एतेन विपक्षे हेतोर्बाधकस्य व्यापकानुपलम्भस्य व्यतिरेकनिश्चयः कथंचिन्नित्ये प्रत्यक्षप्रवृत्तेः प्रदर्शितः प्रत्येयः । ततः सत्त्वं कथंचिन्नित्यमेव साधयतीति विरुद्धत्वान्न प्रत्यभिज्ञानविषयस्यैकत्वस्याप-हारकं, येन सादृश्यविषयत्वात्तस्य बाधकं सिद्ध्यद्भ्रान्ततां साधयेत् । ननु चेदं प्रत्यभिज्ञानं नैकं प्रमाणं, तदित्युल्लेखस्य प्रत्ययस्य स्मर-

णत्वादिदमित्युल्लेखस्य च प्रत्यक्षत्वात्। न चैताभ्यां प्रत्ययविशेषाभ्यामतीतवर्तमानविशेषमात्रगोचराभ्यामन्यत् संवेदनमेकत्वपरामर्शि समनुभूयते, यत्प्रत्यभिज्ञानं नाम प्रमाणं स्यान्नित्यत्वस्य साधकम्। अतः स्वरूपासिद्धो हेतुरिति कश्चित्, सोपि प्रतीत्यपलापी, पूर्वोत्तरविवर्तस्मरणदर्शनाभ्यामुपजनितस्य तदेकत्वसंकलनज्ञानस्य प्रत्यभिज्ञानत्वेन संवेद्यमानस्य सुप्रतीतत्वात्। न हि स्मरणमेव पूर्वोत्तरविवर्तयोरेकत्वं संकलयितुमलम्। नापि दर्शनमेव। तदुभयसंस्कारजनितं विकल्पज्ञानं तत् संकलयतीति चेत्, तदेव प्रत्यभिज्ञानं सिद्धम्। न च तदकस्मादेव भवतीति निर्विषयं, बुद्ध्यसंचरदोषात्। न हि प्रत्यभिज्ञानविषयस्याविच्छिन्नस्य नित्यत्वस्याभावे बुद्धेः संचरणं नाम, निरन्वयविनाशाद्बुद्ध्यन्तरजननानुपपत्तेः, यदेवाहमद्राक्षं तदेव स्पृशामीति पूर्वोत्तरपरिणामयोरेकद्रव्यात्मकत्वेन गमनासंभवात्, ततोन्यस्य बुद्धिसंचरणस्येहाप्रस्तुतत्वात्। तथाविधैकत्ववासनावशाद्बुद्धिसंचरणं न पुनः कथंचिन्नित्यत्वादिति चेत्, न, कथंचिन्नित्यत्वाभावे संवेदनयोर्वास्यवासकभावायोगात्कार्यकारणभावविरोधात्। ततो बुद्धिसंचरणान्यथानुपपत्तेर्नाकस्मिकं प्रत्यभिज्ञानं विच्छेदाभावाच्च। इति कथंचिन्नित्यं वस्तु प्रसाधयति। तथा सर्वं जीवादि वस्तु कथंचित् क्षणिकं, प्रत्यभिज्ञानात्। न चैतत् क्षणिकत्वमन्तरेण भवतीत्यकस्मादुपाजयते, तद्विषयस्य कथंचित्क्षणिकस्य विच्छिदऽभावात्। न च तद्विच्छिदसिद्धा, कालभेदात्, कालभेदस्य च पूर्वोत्तरपर्यायप्रवृत्तिहेतोरसिद्धौ बुद्ध्यसंचरणदोषात्। न च तदिदमिति स्मरणदर्शनबुद्ध्योः संचरणापाये प्रत्यभिज्ञानमुदियात्, तस्य पूर्वापरपर्यायबुद्धिसंचरणनिबन्धनत्वात्। ननु च सर्वं नित्यं सत्त्वात् क्षणिके स्वसदसत्समयेर्थक्रियानुपपत्तेः सत्त्वविरोधात्, इत्यनुमानात् क्षणिकत्वस्य निराकृतेर्न प्रत्यभिज्ञानं तत्साधकं, प्रधानलक्षणविषयाविच्छेदसद्भावात् कालभेदासिद्धेर्बुद्ध्यसंचरणदोषानवकाशाद्बुद्धेरेकत्वगमनस्य संचरणस्य सिद्धेरिति चेत्, न, सर्वथा क्षणिकत्वस्यैव बाधनात्, कथंचित्क्षणिकस्य स्वसत्समये स्वासत्समये चार्थक्रियोपलब्धेः।

सुवर्णस्य हि प्रतिविशिष्टस्य सुवर्णद्रव्यतया सत एव, कार्याकारतया चासत एव पूर्वपर्यायाविशिष्टस्योत्तरपरिणामविशेषात्मनोत्पद्यमानस्य प्रतीतिः परीक्षकेतरजनसाक्षिका, स्वसत्समये कार्यकरणं सव्यगोविषाणस्येतरविषाणकरणवन्निरस्यमानं, स्वासत्समये च मृतस्य शिखिनः केकायितकरणवदपाक्रियमाणं स्वयमेव व्यवस्थापयति । इति किं नश्चिन्तया विरोधादिदूषणस्यापि तथैवापसारितत्वात् । सोयमात्मादीना स्वसत्समये एव कर्मादीना च स्वसत्समये एव ज्ञानसयोगादिकारणत्वमनुमन्यमानस्तथा सप्रत्ययादेकस्य स्वसदसत्समये एवैककार्यकरणं विरोधादिभिरभिद्रवतीति कथं सप्रत्ययोपाध्यायः ? सम्यक्प्रतीयमानेपि विरोधमनुरुध्यमानः क पुनरविरोध बुध्येत ? द्रव्यपर्याययोरभेदैकान्तप्रतीतिं स्वसमयानुरागमात्रेणाननुभूयमानामप्यविरुद्धविषयां परिभाषते इति किमन्यत्कारणं महतोभिनिवेशात् ? तदेवं कथंचित् क्षणिकत्वसाधने प्रत्यभिज्ञान नानुमानविरुद्धम् । नापि प्रत्यक्षविरुद्धं, सर्वस्येदानीन्तनतया प्रत्यक्षेणानुभवात्, तेन तस्यातीतानागततयानुभवनेऽनाद्यनन्तपरिणामात्मकस्यानुभवप्रसङ्गाद्योगित्वापत्तेः, साम्प्रतिकतयानुभवस्यैव क्षणिकत्वानुभवरूपत्वात्, क्षणमात्रस्यैव साम्प्रतिकत्वोपपत्तेः, पूर्वोत्तरक्षणयोः साम्प्रतिकत्वेऽनाद्यनन्तक्षणसंततेरपि साम्प्रतिकत्वानुषङ्गादतीतानागतव्यवहारविलोपात् । न चैवं क्षणिकैकान्तस्य प्रत्यक्षतः प्रसिद्धिः कथंचिदक्षणिकत्वविरोधः, पर्यायाकारतयार्थस्येदानीन्तनतयानुभवविच्छेदेपि द्रव्यतया तदविच्छेदात्, तद्विच्छेदे द्रव्यत्वविरोधात् । शश्वदविच्छिन्नेदानीन्तनत्वस्य द्रव्यत्वादनित्यत्वैकान्तस्याव्यवस्थितेर्नित्यत्वैकान्तवत् तदेकान्तद्वयेपि परामर्शप्रत्ययानुपपत्तेरनेकान्तः स्यान्नित्यमेव सर्वं स्यादनित्यमेवेति सिद्धः । स्थित्यभावे हि प्रमातुरन्येन दृष्टं नापरः प्रत्यभिज्ञातुमर्हति । पूर्वोत्तरप्रमातृक्षणयोः कार्यकारणभावलक्षणे सबन्धविशेषेपि पित्रेव दृष्टं पुत्रो न प्रत्यभिज्ञातुमर्हति । तयोरुपादानोपादेयलक्षणः सन्तत्यतिशयः पृथक्त्वं न निराकरोति । पृथक्त्वे च पूर्वापरक्षणयोः प्रत्यवमर्शो न स्यात् ।

यदेव हि पृथक्त्वं तदेवान्यत्रापि प्रत्यवमर्शाभावनिबन्धनं, सर्वत्र तदविशेषात् । यदि पुनरेकसततिपतितेषु प्रत्यवमर्शो न पुनर्नानासततिपतितेषु पृथक्त्वाविशेषेपि वासनाविशेषसद्भावादिति मत, तदा सैवैकसततिः कचिदेव कुतः सिद्धा ? प्रत्यभिज्ञानादिति चेत्, तर्हि एकसंतत्या प्रत्यभिज्ञान प्रत्यभिज्ञानबलाच्चैकसततिरिति व्यक्तमितरेतराश्रयणमेतत् । न च पक्षान्तरे समान, स्थितेरनुभवनात् । न ह्येकद्रव्यसिद्धे प्रत्यभिज्ञानं प्रत्यभिज्ञानाच्चैकद्रव्यसिद्धिः स्याद्वादिभिरिष्यते, येन तत्पक्षेपि परस्पराश्रयणं, भेदज्ञानाद् भेदसिद्धिवदभेदज्ञानात् स्थितेरनुभवाभ्युपगमात् । तद्विभ्रमकल्पनायामुत्पादविनाशयोरनाश्वासः, तथानुभवनिर्णयानुपलब्धेर्यथा स्वलक्षणं परिगीयते । सोयं प्रतिक्षणमुत्पादविनाशौ सर्वथा स्थितिरहितौ सकृदप्यनिश्चिन्वन्नेव स्थित्यनुभवनिर्णयं विभ्रान्तं कल्पयतीति कथं न निरात्मक एव ? तत्रैतत्स्यात् स्वभावाविनिर्भागेपि न संकलनं दर्शनक्षणान्तरवत् । न ह्येकस्मिन्दर्शनविषये क्षणेऽविनिर्भागेपि प्रत्यभिज्ञानमस्तीति । सत्यमेकान्ते एवायं दोषः, सर्वथा नित्ये पौर्वापर्यायोगात् प्रत्यभिज्ञानासंभवात् । ततः क्षणिकं कालभेदात् । न चायमसिद्धः, दर्शनप्रत्यभिज्ञानसमययोरभेदे तदुभयाभावप्रसङ्गात्, दर्शनसमयस्याभेदे तन्निर्णयानुपपत्तेः, प्रत्यभिज्ञानसमयस्याभेदे पूर्वापरपर्यायव्याप्येकद्रव्यप्रत्यवमर्शासंभवात् । ततो दर्शनकालोऽवग्रहेहावायधारणात्मकनिर्णयहेतुर्भिन्न एव, प्रत्यभिज्ञानकालश्च पुनस्तद्दर्शनस्मरणसकलनहेतुरिति प्रतिपत्तव्यम् । किं च पक्षद्वयेपि ज्ञानासंचारानुषङ्गादनेकान्तसिद्धिः । न हि नित्यत्वैकान्तपक्षवत्क्षणिकैकान्तपक्षेपि ज्ञानसंचारोस्ति, तस्यानेकान्ते एव प्रतीतेः । केवलमपोद्धारकल्पनया कथंचिज्जात्यन्तरेपि वस्तुनि प्रत्यभिज्ञानादिनिबन्धने स्थित्यादयो व्यवस्थाप्येरन्, सर्वथा जात्यन्तरे तदपोद्धारकल्पनानुपपत्तेः स्थित्यादिस्वभावभेदव्यवस्थानाघटनात्, सर्वथा तदजात्यन्तरवत् । न च स्वभावभेदोपलम्भेपि नानात्वविरोधसङ्करानवस्थानुषङ्गश्चेतसि ग्राहकाकारवत् । न ह्येकस्य वस्तुनः सकृदनेकस्वभावोपलम्भे नानात्वप्रसङ्गः,

संविद्वेद्यवेदकाकाराणा नानाज्ञानत्वप्रसङ्गात्। तेषामशक्यविवेचनत्वादेकज्ञानत्वे स्थितिजन्मविनाशानामपि क्वचिदेकवस्तुत्वमस्तु, तदविशेषात्। क्वचिदेकत्र रूपरसादीनामप्यशक्यविवेचनानामेकवस्तुत्वापत्तिर्नोनिष्टकारिणी, तेषां नानावस्तुत्वानिष्टेः। न चात्माकाशादीनां देशाभेदेऽप्यशक्यविवेचनत्वं, तेषा परैकद्रव्यतादात्म्याभावात्। सत्तैकद्रव्यतादात्म्ये पुनरेकवस्तुत्वमिष्टमेव स्याद्वादिनाम् "एकं द्रव्यमनन्तपर्यायम्" इति वचनात्। ततो न वैयधिकरण्यम। एतेनोभयदोषप्रसङ्गोपास्तो, वेद्याद्याकारात्मबोधवदुत्पादाद्यात्मवस्तुनो जात्यन्तरत्वात्, अचौरपारदारिकवच्चौरपारदारिकाभ्याम्। न चैवं विरोधप्रसङ्गः, तस्यानुपलम्भसाधनादेकत्रैकदा शीतोष्णस्पर्शवत्, स्थित्यादिपु चोपलम्भसद्भावादेकवस्तुन्येकदानुपलम्भासिद्धे संविदि वेद्याद्याकारवत्। एतेन संशयप्रसङ्ग प्रत्युक्तः, स्थित्याद्युपलम्भस्य चलनाभावात्। तत एव न सङ्करप्रसङ्गः, स्थित्यात्मन्युत्पादविनाशानुपलम्भादुत्पादविनाशयोश्च स्थित्यनुपलब्धेः। एकवस्तुनि युगपत्स्थित्याद्युपलम्भात्सङ्कर इति चेत्, न, परस्परमसङ्करादुत्पादादीनाम्। तद्वति तु सङ्करो वस्तुलक्षणमेव। एतेन व्यतिकरप्रसङ्गो व्युदस्तः, स्थित्यादीना परस्परगमनाभावात् संविदि वेद्याद्याकारवत्। तत एव नानवस्था, स्थित्यात्मनि जन्मविनाशानिष्टेर्जन्मात्मनि स्थितिविनाशानुपगमाद्विनाशे स्थितिजन्मानवकाशात् प्रत्येकं तेषा त्रयात्मकत्वानुपगमात्। न चैवमेकान्ताभ्युपगमादनेकान्ताभावः, सम्यगेकान्तस्यानेकान्तेन विरोधाभावात्, नयार्पणादेकान्तस्य प्रमाणार्पणादनेकान्तस्यैवोपदेशात् तथैव दृष्टेष्टाभ्यामविरुद्धस्य तस्य व्यवस्थितेः॥ ५६॥

नित्यमित्यादि, ते तव मते, तज्जीवाजीवाद्यधिकृतं वस्तु, नित्यं स्यान्नित्यमेव, कस्मात् प्रत्यभिज्ञानात् तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्, न च ध्वंसाप्रतियोगित्वे साध्ये घटादौ व्यभिचारोऽक्षणिकत्वे साध्ये चोद्देश्यासिद्धिरिति वाच्यम्। तदेतत्कालवृत्तिध्वंसाप्रतियोगित्वस्य साध्यत्वे दोषाभावात्, स्यान्नित्यत्वस्य तद्धर्मावच्छिन्नस्यात्रैव पर्यवसानादिति बोध्यम्

तत्प्रत्यभिज्ञानम्, अकस्मान्निर्विषयं, न। कुतः तदविच्छिदा विच्छेदनं विच्छित्, न विच्छिदविच्छित् तया, अभेदरूपाविच्छेदानुभवादित्यर्थः। विपर्यये इत्याध्याहार्यम्। विपर्यये स्यान्नित्यत्वाऽभावे, बुद्ध्यसञ्चरदोषतोऽनुभवपरिणतस्यात्मनः स्मृतिपरिणामरूपैकत्वगमनानापत्तेः, क्षणिकस्य क्रमिकोभयपरिणामानाधारत्वादिति भावः। एवं तत्तेदंतापरिणतबुद्धिविषयैक्यानुपपत्तेर्विपर्यये विपयतोऽपि बुद्ध्यसञ्चरदोपापत्तिर्व्याख्येया। तथा ते तव मते, जीवाजीवादिवस्तु कथञ्चित् क्षणिकं प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्, न च प्रत्यभिज्ञानमाकस्मिकं, तत्तेदंतापरिणामद्वयोपरागेणाविच्छेदानुभवात्, सर्वथैक्यस्य विषयत्वे स स इत्यापत्तेः, स्थूलकालभिन्नाभेदभाने च क्षणभिन्नधर्माभेदभानस्याप्यर्थतः सिद्धत्वात्, भिन्नकालयोर्द्धर्मयोरेकत्र धर्मिणि तादात्म्येन भाने तयोर्मिथोऽपि स्वावच्छेदककालान्यकालवृत्तित्वसम्बन्धेनान्वयादिति भावः। न चात्राप्रयोजकत्वं, कथञ्चित्क्षणिकत्वाभावे दर्शनस्मरणबुद्ध्योः पूर्वोत्तरपर्यायाप्रवृत्त्याऽसञ्चरणदोपापत्तेः। क्षणिकधर्माभिन्नत्वाच्च धर्मिणोऽपि क्षणिकत्वं कथञ्चिदविरुद्धमेव। वस्तुतः क्षणसम्बन्धस्य क्षणे वस्तुनि च लाघवादेकस्यैव कल्पनात् सिद्धमनायासेन सर्वत्र क्षणिकत्वमिति पत्रावलम्बने प्रदर्शयिष्यामः। 'प्रमाणान्तरं नानुमानादप्रत्यक्षमिष्यते क्षणिकवादिभिरिति' अनुमानभिन्नं प्रमाणन्त्वप्रत्यक्षं क्षणिकवादिभिर्नेष्यते इत्यर्थः, यद्यपि प्रमाणान्तरमित्यत एव प्रकृतबुद्धिविपयतावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वसम्बन्धेन प्रमाणप्रतियोगिकभेदवत्प्रमाणमित्युक्तार्थो लभ्यत एव न तदर्थं विशिष्य प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नवाचकपदमपेक्ष्यते, नीलो घटोऽस्ति न घटान्तरमित्यादौ तथा दर्शनात्, तथाऽप्यनुमानादिति स्पष्टार्थमिति मन्तव्यम्। नापि युगपदनेकस्वभावत्वमिति नित्ये क्षणिके चेति गम्यम्। यतो

यौगपद्यमित्यनन्तरं स्यादिति शेषः । 'कौटस्थ्यविरोधादिति,' यद्यपि क्रमभाविपूर्वापरस्वभावत्यागोपादाननियतः कौटस्थ्यविरोधो न युगपदनेकस्वभावत्वे, तथापि युगपदेकस्यानेकस्वभावव्यापित्वाविरोधवत् क्रमेणापि तस्य तत्प्राप्तौ कौटस्थ्यं विरुध्यत एवेति द्रष्टव्यम् । इयमेव दिग् निरन्वयक्षणिकत्वव्याघातेऽपि । तदुभयसंस्कारजनितमिति । न च संस्कारजन्यत्वे प्रत्यभिज्ञानस्य ततस्तत्तोल्लेख एव स्यान्नेदंतोल्लेख इति शङ्कनीयम् । उल्लेखविशेषे विषयताविशेषस्यैव प्रयोजकत्वाद्वह्निपर्वतयोरनुमिनोमि नानुमिनोमीतिवदिति द्रष्टव्यम् । कथं सम्प्रत्ययोपाध्यायः कथं विश्वासगुरुर्न कथञ्चित्, प्रत्येकाविरोधवत् समुदायाविरोधस्यानुभवसाक्षित्वादिति भावः । इदानींतनतयेति, न च क्षणस्यायोग्यतया प्रत्यक्षे भानायोगः, "सम्बद्धं वर्त्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिनेति" वचनादिति वाच्यम् । योग्योपसर्जनतयाऽयोग्यस्यापि वर्त्तमानक्षणस्य क्षयोपशमोपनीतस्य प्रत्यक्षे भानाविरोधात्, संसर्गतया वास्तु स(त)द्भानाविरोध इति दिग् । योगित्वापत्तिः तत्प्रत्यक्षस्य योगिप्रत्यक्षत्वाप(त्तेः)त्तिः, ततः क्षणिकं कालभेदादिति नानाक्षणसम्बन्धभेदादित्यर्थः । अपोद्धारकल्पनयेति अपोद्धारकल्पना तन्निमित्तभेदविवेचनं, कथञ्चिज्जात्यन्तरे सखण्डधर्मतादात्म्यसहिष्णावखण्डपदार्थे, सर्वथा जात्यन्तरे सर्वथा नित्ये सर्वथाऽनित्ये च परस्परानिरपेक्षे । अशक्यविवेचनत्वस्यैकत्वनिबन्धनत्वेऽतिप्रसङ्गमाशङ्कते–न चेत्यादिना, अशक्यविवेचनत्वं तत्रासिद्धम्, आश्रयभेदेन विवेचनशक्तेरित्युत्तरयति–तेषामित्यादिना तत्रैकद्रव्यमित्यन्तेन, सदाद्यात्मनाऽऽकाशादीनां तादात्म्याश्रयणे तु सङ्ग्रहनयार्पणया देशाभेदेनैकद्रव्यत्वमिष्टमेवेत्याह–तादात्म्ये पुनरित्यादिना, इदं तु ध्येयम्, सत्त्वादिनात्माकाशादीनामेकत्वं यद्यप्येकजातीयत्वव्यवहारनिबन्धनं, न त्वेकद्रव्यत्वव्यवहारनिबन्धनं, घटादिपर्याये मृदादौ

सत्त्वादिनैकद्रव्यत्वानिष्टेः, तथाऽपि सत्त्वादिपर्याये द्रव्यत्वेनैवोर्ध्वतासामान्यत्वात्सदात्मनैकद्रव्यत्वं सर्वत्राविरुद्धं, तथा व्यवहारश्च सत्त्वादिपर्यायस्याश्रयतावच्छेदकावच्छेदेनैव, तेन सर्वमेकं द्रव्यं सदविशेषादितिवत् घट एकद्रव्यमित्यादिर्न प्रयोग इति सूक्ष्ममीक्षितव्यम् । उभयदोषप्रसङ्ग एकत्वानेकत्वपक्षयोः सौगताद्वैतवाद्यापादितदोषापत्तिः । 'अचौरेति' चौरात्पारदारिकाच्च यथाऽचौरापारदारिको जात्यन्तरं, तथा केवलादुत्पादादेस्त्रयात्मकं वस्त्वियति भावः। अनुपलम्भसाधन(ना)त्वादिति, एकग्रहप्रतिबन्धकग्रहविषयत्वस्यैवान्यत्र विरोधपदार्थत्वोक्तेरिति भावः । चलनाभावादिति चलितप्रतिपत्तेरेव संशयलक्षणत्वात्, चलितत्वं चैकधर्मिकविरुद्धनानाकोटिकज्ञानत्वमिति विरोधाभावे ज्ञाने तदसिद्धेरिति भावः ॥ ५६ ॥

केन पुनरात्मनाऽनुत्पादविनाशात्मकत्वात्स्थितिमात्रं ? केन चात्मना विनाशोत्पादावेव ? कथं च तत् त्रयात्मकमेव वस्तु सिद्धम् ? इति भगवता पर्यनुयुक्ता इवाचार्याः प्राहुः.—

न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात् । व्येत्युदेति विशेषात्ते सहैकत्रोदयादि सत् ॥ ५७ ॥

पूर्वोत्तरपरिणामयोः साधारणः स्वभावसामान्यात्मा द्रव्यात्मा । तेन सर्वं वस्तु नोत्पद्यते न विनश्यति च व्यक्तमन्वयदर्शनात् । लूनपुनर्जातनखादिष्वन्वयदर्शनेन व्यभिचार इति चेत्, न, व्यक्तमिति विशेषणात्, प्रमाणेन बाध्यमानस्यैकत्वान्वयस्याव्यक्तत्वात्। न चात्रान्वयः प्रमाणविरुद्धः, सत्यप्रत्यभिज्ञानसिद्धत्वात्। ततोन्वितात्मना स्थितिरेव। तथा विनश्यत्युत्पद्यते च सर्वं वस्तु विशेषानुभवात्। भ्रान्तविशेषदर्शनेन शुक्ले शङ्खे पीताद्याकारज्ञानलक्षणेन व्यभिचार इति चेत्, न, व्यक्तमिति विशेषणस्यानुवृत्तेः। न हि भ्रान्तं विशेषदर्शनं व्यक्तं, येन तदपि पूर्वाकारविनाशाजहद्वृत्तोत्तराकाराविनाभावि स्यात् । न च प्रकृते विशेषदर्शनमव्यक्तं, बाधकाभावात् । नित्यै-

कान्तग्राहि प्रमाणं बाधकमिति चेत्, न, तस्य निरस्तत्वात्। न चैव भिन्नप्रत्ययविषयत्वादुत्पादविनाशमात्रं स्थितिमात्रं च पदार्थान्तरतयावतिष्ठते, तस्य वस्त्वेकदेशत्वान्नयप्रत्ययविषयत्वात्, स्थित्यादित्रयस्य समुदितस्य वस्तुत्वव्यवस्थितेः, तस्य प्रमाणप्रत्ययगोचरत्वात्, महैकत्वोदयादि सदिति प्रतिपादनात्, तथैव "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" इति सूत्रकारवचनात्। न चेदं युक्तिरहितं, तथा युक्तिसद्भावात्, चलाचलात्मकं वस्तु कृतकाकृतकात्मकत्वादिति। न चात्र हेतुरसिद्धः, पूर्वरूपत्यागाविनाभाविपररूपोत्पादस्यापेक्षितपरव्यापारत्वेन कृतकत्वसिद्धेः, सदा स्थास्नुस्वभावस्यानपेक्षितपरव्यापारत्वेनाकृतकत्वनिश्चयात्। न हि चेतनस्यान्यस्य वा सर्वथोत्पत्तिः, सदादिसामान्यस्वभावेन सत एवातिशयान्तरोपलम्भाद् घटवत् कथंचिदुत्पादविगमात्मकत्वादित्यादि योज्यम्। नापि विनाश एव, तत एव तद्वत्। न च स्थितिरेव, विशेषाकारेणोत्पादविनाशवत एव सदादिसामान्येन स्थित्युपलम्भाद् द्रव्यघटवत्। इति हि पृथगुपपत्तिर्योज्यते। सदादिसामान्येन सतस्तन्त्वादेर्घटाकारातिशयान्तरोपलम्भप्रसङ्ग इति चेत्, न, स्वभावग्रहणात्। सदादिसामान्यं हि यत्स्वभावभूतं घटस्योपादानद्रव्यमसाधारणं तद्भावेन परिणमदुपलभ्यते। तेनैव सतोतिशयान्तराधानं घटो यथा प्रतिविशिष्टघटयोग्यमृद्द्रव्यादिस्वरूपेण, न पुनः साधारणेन तन्त्वादिगतसामान्येन, नापि साधारणासाधारणेन पार्थिवत्वादिसामान्येनाविशिष्टघटोपादानमृदादिसामान्येन वा प्राक्सतोतिशयान्तरोपलब्धिर्येन तन्त्वादेरपि घटपरिणतिप्रसङ्गः। नापि घटविनाशोत्तरकालमप्यसाधारणमृदादिसामान्यस्वभावेन सत्त्वाविशेषाद्घटोत्पत्तिः प्रसज्यते, तत्प्रागभावात्मकस्य सतस्तद्भावेनोत्पत्तिदर्शनात्, पश्चादभावात्मकस्य सतोपि तददर्शनात्। न चैवं प्रागसत एवोत्पत्तिनियमाद् घटस्य कथंचित्प्रागसत्त्वमयुक्तं, प्रागभावस्य भावस्वभावस्य पूर्वं व्यवस्थापनात्। तस्याभावस्वभावत्वे सव्येतरगोविषाणादीनां सहोत्पत्तिनियमवतामुपादानसङ्करप्रसङ्गः, प्रागभावाविशेषात्। ततो यथा स्वोपादानात्सव्यविषाण-

स्योत्पत्तिस्तथा दक्षिणविषाणोपादानादपि तत्र तस्योत्पत्तेः प्रागभावसिद्धेः, यत्र यदा यस्य प्रागभावस्तत्र तदा तस्योत्पत्तिरिति नियमकल्पनाया अपि तत्र भावात्। स्वोपादानेतरनियमश्च कुतः स्यात्? प्रागभावनियमादिति चेत्, समानसमयजन्मना स एव कुतः? तदुत्पत्तिनियमादिति चेत्, सोपि कुतः? स्वोपादाननियमादिति चेत्, स्वोपादानेतरनियमः कुतः स्यात्? इत्यादि पुनरावर्तते इति चक्रकम्। सव्यविषाणस्योत्पत्तिरिति प्रत्ययविशेषादुत्पत्तिनियमोपि न श्रेयान्, कारकपक्षस्य विचारयितुमारब्धत्वात्। ज्ञापकपक्षे तु प्रागभावनियमोपि तत्प्रत्ययविशेषादेवेति नोत्पत्त्या प्रागभावावगतिः, प्रागभावादप्युत्पत्तिनियमनिश्चयप्रसक्तेरितरेतराश्रयस्य दुर्निवारत्वात्। ततो नोत्पत्तेः प्रागभावः कार्यस्याभावात्मकः, तस्य भावस्वभावस्यैवाबाधितप्रतीतिविषयत्वात् प्रागभावाभावस्य कार्योत्पादरूपत्वात् ॥ ५७ ॥ तथा हि।

भाष्ये चलाचलात्मकमिति उत्पादव्ययात्मना चलात्मकं ध्रौव्यात्मना चाचलात्मकमित्यर्थः। **घटयोग्यमृद्द्रव्यादिस्वरूपेणेति,** तच्च स्वरूपं घटोपादानकारणतावच्छेदको घटसामग्रीनाश्यतावच्छेदकश्च धर्मविशेषः, तदुभयैक्यकल्पनायां लाघवात्, एतेन कपालत्वादिना घटाद्युपादानकारणत्वं नैयायिकाद्यभिमतमपास्तम्। कपालादिनाशे घटादिसामग्र्या अहेतुत्वात्, एकस्मादेव मृत्पिण्डाच्चक्रादिव्यापारेण घटोत्पत्तिदर्शनात्, संघातभेदाभ्यां घटादेव घटान्तरोत्पत्तेश्च, कपालत्वघटत्वादिना हेतुत्वे मानाभावाच्च। न पुनः '**साधारणेनेति**' व्याप्यधर्मावच्छिन्नेन व्यापकधर्मावच्छिन्नस्यान्यथासिद्धिनिरूपणादित्यर्थः। **प्रागभावसिद्धेरिति** तत्तद्व्यक्त्युपादानरूपप्रागभावसिद्धेरित्यर्थः। **तत्र भावादिति** कार्यभेदप्रयोजकभेदप्रतियोग्युपादानात्मकप्रागभावविश्रान्तत्वादिति भावः। प्रतियोगिभेदेनाभावभेदे त्वङ्गीक्रियमाणे एकप्रतियोगिकाभावचतुष्टयस्यैक्यापत्तिस्तत्तत्कालसंसर्गावच्छिन्नप्रतियोगित्वादिनाऽभावाभ्युपगमे तु तत्तदाधेयत्वादिना घटसत्त्वादेरपि भेदापत्तिरित्याद्युक्तं कार्यद्रव्य-

मनादि स्यादित्यादिकारिकाव्याख्याने प्रथमपरिच्छेद एव ॥ ५७ ॥

कार्योत्पादः क्षयो हेतोर्नियमाल्लक्षणात्पृथक् । न तौ जात्याद्यवस्थानादनपेक्षाः खपुष्पवत् ॥ ५८ ॥

उपादानस्य पूर्वाकारेण क्षयः कार्योत्पाद एव हेतोर्नियमात् । यस्तु ततोऽन्यस्तस्य न हेतोर्नियमो दृष्टो यथाऽनुपादानक्षयस्यानुपादेयोत्पादस्य च । नियमश्च हेतोरुपादानक्षयस्योपादेयोत्पादस्य च । तस्मादुपादानक्षय एवोपादेयोत्पादः । न तावदत्रासिद्धो हेतुः, कार्यकारणजन्मविनाशयोरेकहेतुकत्वनियमस्य सुप्रतीतत्वात्, तयोरन्यतरस्यैव सहेतुकत्वाहेतुकत्वनियमवचनस्य निरस्तत्वात् । ननूपादानघटविनाशस्य बलवत्पुरुषप्रेरितमुद्गराद्यभिघातादवयवक्रियोत्पत्तेरवयवविभागात्संयोगविनाशादेव प्रतीतेरुपादेयकपालोत्पादस्य तु स्वारम्भकावयवकर्मसंयोगविशेषादेरेव सम्प्रत्ययात् तयोरेकस्माद्धेतोर्नियमासम्भवादसिद्धमेव साधनमिति चेत्, न, अस्य विनाशोत्पादकारणप्रक्रियोद्घोषणस्याप्रातीतिकत्वाद्बलवत्पुरुषप्रेरितमुद्गरादिव्यापारादेव घटविनाशकपालोत्पादयोरवलोकनात् । ततो घटावयवेषु कपालेषु क्रियैवोत्पद्यते इति चेत्सैवैको हेतुस्तयोरस्तु । क्रियातोऽवयवविभागस्यैवोत्पत्तिरिति चेत्स एवैकं कारणमनयोरस्तु । विभागात्तदवयवसंयोगविनाश एव दृश्यते इति चेत् स एव तयोरेकं निमित्तमस्तु । तदवयवसंयोगविनाशादवयविनो घटस्य विनाश इति चेत्स एव कपालानां तदवयवानां प्रादुर्भावः । इति कथं नैकहेतुनियमः सिध्येत् ? महास्कन्धावयवसंयोगविनाशादपि लघुस्कन्धोत्पत्तिदर्शनात् "भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्ते" इति वचनात् । मिथ्यैवेदं दर्शनं सूत्रकारवचनं च बाधकसद्भावादिति चेत्, किं तद्बाधकम् ? स्वपरिमाणादणुपरिमाणकारणारब्धानि कपालानि कार्यत्वात्पटवदित्यनुमानं बाधकमिति चेत्, न, एतदुदाहरणस्य साध्यविकलत्वात् । तन्तवो हि किमपटाकारपरिणताः पटस्य समवायिनः, पटाकारपरिणता वा ? न तावदाद्यः पक्षः, पटाकारापरिणतेषु तन्तुष्विह पट इति प्रत्ययासम्भवात् ।

द्वितीयपक्षे तु न पटपरिमाणादणुपरिमाणास्तन्तवः पटस्य कारणं, तेषां पटसमानपरिमाणतया प्रतीतेः, समुदितानामेवातानवितानाकाराणा पटपरिणामाश्रयत्वादन्यथातिप्रसङ्गात्। न हि तथाऽपरिणतं तद्भवति "तद्भावः परिणामः" इति वचनात्। न चैवं परिणामपरिणामिनोरभेदः स्यात्, प्रत्ययभेदात्कथंचिद्भेदसिद्धेः, परस्यापि तद्भेदे विवादाभावात्, तन्तुद्रव्यपटपर्याययोरन्वयव्यतिरेकप्रत्ययविषयत्वाच्च। तन्तुद्रव्यं हि प्राच्यापटाकारपरित्यागेन तन्तुत्वापरित्यागेन चापूर्वपटाकारतया परिणमदुपलभ्यते पटाकारस्तु पूर्वाकाराद्व्यतिरिक्त इति सिद्धं, सर्वथा त्यक्तरूपस्यापूर्वरूपवर्तिन एवोपादानत्वायोगादपरित्यक्तात्मपूर्वरूपवर्तिवत् तथाऽप्रतीतेर्द्रव्यभावप्रत्यासत्तिनिबन्धनत्वादुपादानोपादेयभावस्य। भावप्रत्यासत्तिमात्रात्तद्भावे समानाकाराणामखिलार्थाना तत्प्रसङ्गात्, कालप्रत्यासत्तेस्तद्भावे पूर्वोत्तरसमनन्तरक्षणवर्तिनामशेषार्थाना तत्प्रसक्तेः, देशप्रत्यासत्तेस्तद्भावे समानदेशानामशेषतस्तद्भावापत्तेः सद्द्रव्यत्वादिसाधारणद्रव्यप्रत्यासत्तेरपि तद्भावानियमात्। असाधारणद्रव्यप्रत्यासत्तिः पूर्वाकारभावविशेषप्रत्यासत्तिरेव च निबन्धनमुपादानत्वस्य स्वोपादेयं परिणामं प्रति निश्चीयते। तदुक्तं "त्यक्तात्यक्तात्मरूपं यत्पूर्वापूर्वेण वर्तते। कालत्रयेपि तद्द्रव्यमुपादानमिति स्मृतम्। १। यत्स्वरूपं त्यजत्येव यन्न त्यजति सर्वथा। तन्नोपादानमर्थस्य क्षणिक शाश्वत यथा। २। इति। ततो न तन्तुविशेषाकारः पटस्योपादानं येनाल्पपरिमाणादेव कारणान्महापरिमाणस्य पटस्योत्पत्तेरुदाहरणं साध्यशून्य न भवेत्। हेतुश्चानैकान्तिकः, प्रशिथिलावयवमहापरिमाणकार्पासपिण्डादल्पपरिमाणनिविडावयवकार्पासपिण्डोत्पत्तिदर्शनात्। विरुद्धश्चाय हेतुः, पुद्गलादिद्रव्यस्य महापरिमाणस्य यथासंभवं सूक्ष्मरूपेण स्थूलरूपेण वा पर्यायेण वर्तमानस्य स्वकार्यारम्भकत्वदर्शनात्। कार्यत्वस्य महापरिमाणकारणारब्धत्वेन व्याप्तिसिद्धेः स्वपरिमाणादल्पपरिमाणकारणारब्धत्वविपरीतसाधनात्। ततो नेदमनुमानं बाधकं, कपालोत्पादस्य घटविनाशस्य चैकहेतुत्वनियमप्रतीतेरेकस्मादेव मृदाद्यु-

पादानात्तद्भावस्य सिद्धेरेकस्मान्न मुद्गरादिसहकारिकलापात्तत्सप्रत्ययात् । इति मिथ्यत्येव हेतोर्नियमात्कार्योत्पाद एव पूर्वाकारविनाशः । न चैवं सर्वथोत्पादविनाशयोरभेद एव, लक्षणात्पृथक्त्वसिद्धेः । तथा हि कार्यकारणयोरुत्पादविनाशौ कथंचिद्भिन्नौ भिन्नलक्षणसंबन्धित्वात्सुखदुःखवत् । नात्रासिद्धं साधनं, कार्योत्पादस्य स्वरूपलाभलक्षणत्वात्कारणविनाशस्य च स्वभावप्रच्युतिलक्षणत्वात्तयोर्भिन्नलक्षणसंबन्धित्वसिद्धेः । नाप्यनैकान्तिकं विरुद्धं वा, क्वचिदेकद्रव्येपि परिमाणयोः कथंचिद्भेदमन्तरेण भिन्नलक्षणसंबन्धित्वस्यासंभवात् । न च तयोर्भेद एव, कथंचिदभेदग्राहकप्रमाणसद्भावात् । तथा हि । उत्पादविनाशौ प्रकृतौ स्यादभिन्नौ, तदभेदस्थितजातिसंख्याद्यात्मकत्वात्पुरुषवत् । नात्रासिद्धो हेतुः, मृदादिद्रव्यव्यतिरेकेण नाशोत्पादयोरभावात् । पर्यायापेक्षया नाशोत्पादौ भिन्नलक्षणसंबन्धिनौ न तौ, जात्याद्यवस्थानात्, सद्द्रव्यपृथिवीत्वादिजात्यात्मनैकत्वसंख्यात्मना शक्तिविशेषान्वयात्मना च तदभेदात् तथैव प्रत्यभिज्ञानात्, तदेव मृद्द्रव्यममाधारणं घटाकारतया नष्टं कपालाकारतयोत्पन्नमिति प्रतीतेः सकलबाधकरहितत्वात्, य एवाहं सुख्यास स एव च दुःखी सम्प्रतीत्येकपुरुषप्रतीतिवत् । नन्वेवमुत्पादव्ययध्रौव्याणामभेदात् कथं त्रयात्मकवस्तुसिद्धिः ? तत्सिद्धौ वा कथं तत्तादात्म्यम् ? विरोधादिति चेत्, न, सर्वथा तत्तादात्म्यासिद्धेः कथंचिल्लक्षणभेदात् । तथा हि । उत्पादविगमध्रौव्यलक्षणं स्याद्भिन्नमस्खलन्नानाप्रतीतेः रूपादिवत् । सर्वस्य वस्तुनो नित्यत्वसिद्धेरुत्पादविनाशप्रतीतेरस्खलत्वविशेषणमसिद्धमिति चेत्, न, कथंचित्क्षणिकत्वसाधनात् । तत एव ध्रौव्यप्रतीतेरस्खलत्वं सिद्धं, सर्वथा क्षणिकत्वनिराकरणात् । न चोत्पादादीनां कथंचिद्भिन्नलक्षणत्वं विरुद्धं, तदात्मनो वस्तुनो जात्यन्तरत्वेन कथंचिद्भिन्नलक्षणत्वादन्यथा तदवस्तुत्वप्रसङ्गात् । उत्पादादयो हि परस्परमनपेक्षाः खपुष्पवन्न सन्त्येव । तथा हि । उत्पादः केवलो नास्ति स्थितिविगमरहितत्वाद्वियत्कुसुमवत् । तथा स्थितिविनाशौ प्रतिपत्तव्यौ । स्थितिः केवला नास्ति, विनाशोत्पादरहितत्वात्

तद्वत् । विनाशः केवलो नास्ति, स्थित्युत्पत्तिरहितत्वात् तद्वदेव । इति योजनात् सामर्थ्यादुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदिति प्रकाशितं भवति, तदन्यतमापाये सत्त्वानुपपत्तेः । प्रत्येकमुत्पादादीना सत्त्वे त्रयात्मकत्वप्रसङ्गादनवस्थेत्यपि दूरीकृतमनेन, तेपा परस्परमनपेक्षाणामेकशः सत्त्वनिराकरणात् ॥ ५८ ॥ किं च,—

यस्तु ततोऽन्य इति यस्तु तत उपादानक्षयादन्यक्षयस्तस्य नोपादेयोत्पादहेत्वन्वयव्यतिरेकप्रयुक्तान्वयव्यतिरेकप्रतियोगित्वमित्यर्थः । **भेदसङ्घातेभ्य इति** अत्रास्मदीयाः श्लोकाः "संयोगाच्च विभागाच्च द्रव्यमुत्पद्यते द्व्यात् । वैजात्यं वापि वैशिष्ट्यं कार्ये तत्र प्रकल्प्यते ॥१॥ अणुद्व्यणुकसंयोगादणुकोत्पत्तिमिच्छताम् ॥ तद्विभागादणूत्पत्तौ प्रद्वेषः किंनिबन्धनः ॥२॥ केयूरकुण्डलीभावे तत्र स्वर्णवदिष्यताम् ॥ साधारणमुपादानं क्ष्मादि किं चिन्तयाऽत्र नः ॥ ३ ॥ तादात्म्यनियताधाराधेयभावनिबन्धनम् ॥ कारणं प्रत्युपादेयं विभिन्नं परिणामि वा ॥४॥ तावत् संघातभेदा वा हेतुस्तच्छालि वस्तु वा ॥ गच्छत्यविनिगम्यत्वमप्यत्रैतत् सहायताम् ॥ ५ ॥ जात्यन्तरात्मके वस्तुन्येवं किञ्चिन्न दुष्यति ॥ कार्याकार्यभेदाभेद—व्यवसायव्यवस्थितेः ॥ ६ ॥ संयोगवद्विभागेऽपि वैजात्यस्य व्यवस्थितौ ॥ एकस्य हेतुताऽन्यस्य नेति मोहविजृम्भितम् ॥ ७ ॥ संयोगे समवायश्चेद्धेतुताया नियामकः । मृद्द्रव्ये सविभागे स्तादंशांशो वा विभज्यताम् ॥ ८॥ स्वध्वंसत्वेन योगेनो—पादानं हेतुरस्तु वा ॥ तद्द्रव्यव्याप्तिरत्र स्या—न्नभोव्याप्तिर्वा दीर्घिकी ॥ ९ ॥ संयोगजन्यता जन्य—द्रव्ये हि भवतोच्यते ॥ मया तत्र विजातीय इति गौरवभीः कुतः ॥ १० ॥" **तथाऽप्रतीतेरिति** त्यक्तात्यक्तात्मरूपतयाऽप्रतीतेरित्यर्थः । **असाधारणेत्यादि** आतानवितानरूपभावप्रत्यासत्तिमत्तंतुद्रव्यप्रत्यासत्तिः पटोपादानत्वनिबन्धनमित्यर्थः ॥ ५८ ॥

घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् । शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ॥ ५९ ॥
पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोत्ति दधिव्रतः । अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम् ॥ ६० ॥

प्रतीतिभेदमित्थं समर्थयते सकललौकिकजनस्याचार्यः । स हि घटं भङ्क्त्वा मौलिनिर्वर्तने घटमौलिसुवर्णार्थी तन्नाशोत्पादस्थितिषु विषादहर्षौदासीन्यस्थितिमयं जनः प्रतिपद्यते इति, घटार्थिनः शोकस्य घटनाशनिबन्धनत्वात्, मौल्यर्थिनः प्रमोदस्य मौल्युत्पादनिमित्तत्वात्, सुवर्णार्थिनो माध्यस्थ्यस्य सुवर्णस्थितिहेतुकत्वात्, तद्विषादादीनां निर्हेतुकत्वे तदनुपपत्तेः, पूर्वतद्वासनामात्रनिमित्तत्वेपि तन्नियमासंभवात् । तद्वासनायाः प्रबोधकप्रत्ययनियमान्नियतत्वाद्विषादादिनियम इति चेत्, तर्हि नाशोत्पादान्वया एव वासनाप्रबोधकप्रत्यया इति पारम्पर्यात्त एव शोकादिहेतवो बहिरङ्गाः । अन्तरङ्गास्तु मोहनीयप्रकृतिविशेषोदया इति, तेषां वासनेति नाममात्रं भिद्येत, नार्थः, स्याद्वादिभिर्भावमोहविशेषाणां वासनास्वभावतोपगमात् । ततः सिद्धं लौकिकानामुत्पादादित्रयात्मकं वस्तु, तत्प्रतीतेर्भेदसिद्धेः ॥५९॥ किंच—

लोकोत्तरदृष्टान्तेनापि तत्र प्रतीतिनानात्वं विनाशोत्पादस्थितिसाधनं प्रत्याययति, दधिपयोऽगोरसव्रतानां क्षीरदध्युभयवर्जनात् क्षीरात्मना नश्यद्दध्यात्मनोत्पद्यमानं गोरसस्वभावेन तिष्ठतीति, पय एव मयाद्य भोक्तव्यमिति व्रतमभ्युपगच्छतो दध्युत्पादेपि पयसः सत्त्वे दधिवर्जनानुपपत्तेः, दध्येव मयाद्य भोक्तव्यमिति व्रतं स्वीकुर्वतः पयस्यपि दध्नः सत्त्वे पयोवर्जनायोगात्, अगोरसं मयाद्य भोक्तव्यमिति व्रतमङ्गीकुर्वतोनुस्यूतप्रत्ययविषयगोरसे दधिपयसोरभावे तदुभयवर्जनाघटनात् । प्रतीयते च तत्तद्व्रतस्य तत्तद्वर्जनम् । ततस्तत्त्वं त्रयात्मकम् । न चैवमनन्तात्मकत्वं वस्तुनो विरुध्यते, प्रत्येकमुत्पादादीनामनन्तेभ्य उत्पद्यमानविनश्यत्तिष्ठद्भ्यः कालत्रयापेक्षेभ्योर्थेभ्यो भिद्यमानानां विवक्षितवस्तुनि तत्त्वतोनन्तभेदोपपत्तेः, पररूपव्यावृत्तीनामपि वस्तुस्वभावत्वसाधनात्, तदवस्तुस्व-

भावत्वे सकलार्थसाङ्कर्यप्रसङ्गात् । तथा तत्त्वस्य त्रयात्मकत्वसाधनेनेनन्तात्मकत्वसाधने च नित्यानित्योभयात्मकत्वसाधनमपि प्रकृतं न विरुध्यते, स्थित्यात्मकत्वव्यवस्थापनेन कथंचिन्नित्यत्वस्य विनाशोत्पादात्मकत्वप्रतिष्ठापनेन चानित्यत्वस्य साधनात् । ततः सूक्तं सर्वं वस्तु स्यान्नित्यमेव, स्यादनित्यमेवेति । एव स्यादुभयमेव, स्यादवक्तव्यमेव, स्यान्नित्यावक्तव्यमेव, स्यादनित्यावक्तव्यमेव, स्यादुभयावक्तव्यमेवेत्यपि योजनीयम् । यथायोगमेतत्सप्तभङ्गीव्यवस्थापनप्रक्रियामपि योजयेन्नयप्रमाणापेक्षया सदाद्येकत्वादिसप्तभङ्गीप्रक्रियावत् ॥६०॥

नित्याद्येकान्तगर्तप्रपतनविवशान्प्राणिनोऽनर्थसार्था-दुद्धर्तुं नेतुमुच्चैःपदममलमलं मङ्गलानामलङ्घ्यम् ॥
स्याद्वादन्यायवर्त्म प्रथयदवितथार्थं वचः स्वामिनोऽदः, प्रेक्षावत्त्वात्प्रवृत्तं जयतु विघटिताशेषमिथ्याप्रवादम् ॥ १ ॥

इत्याप्तमीमांसालंकृतौ तृतीयः परिच्छेदः । ३ ।



उत्पादादीनां त्रयाणामेकधर्मिण्येककालवृत्तित्वं व्यवस्थापयितुं युक्तिमाह-'घटमौलीत्यादि' 'पयोव्रत' इत्यादिकारिकाद्वयेन, एकस्यैककालीनकार्यत्रयजनकत्वाद्व्रतत्रयव्यवस्थापकत्वाच्च त्रयात्मकत्वमित्येतदुभयसङ्क्षेपार्थः ॥ अत्रास्माभिः स्तम्भतीर्थनगरे गोपालसरस्वत्याद्येकान्तवादिपण्डितचक्रवालं प्रत्यवलम्बितं पत्रं यथा॥ "ऐन्द्री श्रीर्यत्पदाम्भोज-सेवाहेवाकिताफलम् ॥ महतां महनीयं तं, महावीरमुपास्महे ॥ १ ॥ इह हि बहवः प्राणिनः साहजिकाभिसंस्कारिकानेकसङ्कल्पविकल्पकल्लोलाकुलितचेतस उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकं सर्वं वस्त्वनुभवन्तोऽपि सम्यग्दर्शनजीवातुतथा-

विपक्षयोपशमाभावात्तथात्वेन न प्रतिपद्यन्ते, प्रत्युत परिज्ञातप्रमाणोपनिषत्सत्यतात्वेन प्रतिपद्यमानान् प्रति प्रत्यवतिष्ठन्ते, तान् प्रतीदमाचक्ष्महे । सर्वं खल्वाद्दीपमाव्योमपदार्थजातं न सर्वथाऽनित्यं, नापि सर्वथा नित्यं. घटादेरपि सर्वथाऽनित्यत्वे पुद्गलपरमाणुत्वादिनाऽपि ध्वंसप्रसङ्गात् । अवयवावयविभावस्य समवायादिसम्बन्धनिबन्धनत्वे तत्रापि सम्बन्धान्तरान्वेषणेऽनवस्थानात्तादात्म्येनैव तदुपपत्तिस्थितौ परमाणुपर्यन्तमपि कथञ्चिद्ध्रौव्यभेदसिद्धेः, आकाशादेरपि सर्वथा नित्यत्वे संयोगादिस्वभावपरित्यागेन विभागादिस्वभावोपादानानुपपत्तेः, पूर्वरूपपरित्यागस्यैवानित्यत्वलक्षणत्वात्, संयोगविभागादि-क्रमिकनानाकार्यजननैकस्वभावमेवाकाशादिकमिति न स्वभावभेद इति चेत्, अयमेकानेकस्वभावसंवलनवादः, अन्यथा येन स्वभावेन संयोगजनकमाकाशं तेनैव विभागजनकमित्यभ्युपगमे संयोगविभागयोरैकत्वप्रसङ्गः, किं च जनकत्वं शक्तिरेवेति कार्यभेदेन तद्भेदावश्यकत्वे स्वभावभेदो दुष्परिहरः, शक्तिशक्तिमतोरपि तादात्म्यातिरिक्तसम्बन्धाभावात्, तथा च वस्तुनः कथञ्चिन्नित्यानित्यत्वसिद्धौ येन रूपेण नित्यत्वं तेन रूपेण ध्रौव्यं, येन चानित्यत्वं तेनोत्पादव्ययावित्येवं त्रिलक्षणं जगदिति प्राचीनः परिष्कृतः पन्थाः । वस्तुतः क्षणसम्बन्धः क्षणे तादात्म्यरूपः क्षणविशिष्टपदार्थे च परैर्विशेषणताविशेषरूपः कल्पनीय इति गौरवं, मया च सर्वत्र तादात्म्यरूप एव कल्पनीय इति लाघवाच्छुद्धर्जुसूत्रनयादेशेन सर्वस्य क्षणपर्यायात्मकत्वसिद्धिः, अशुद्धर्जुसूत्रनयादेशेऽपि प्रतीतिव्यवहाराद्यनुरोधेन विशिष्टाविशिष्टयोर्भेदध्रौव्ये क्षणविशिष्टपदार्थरूपपर्यायभेदस्तावदावश्यकः, न च विशिष्टभेदेऽनन्तपदार्थकल्पनापत्तिगौरवं, परस्यापि विशिष्टनिरूपिताधिकरणतानन्त्यकल्पनेन तौल्यात्, न च द्रव्यत्वादेरेव गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्ताधारतात्वकल्पनात्परस्य नाधिककल्पनमिति वाच्यम् । तथापि घटत्वाभावविशिष्टसत्ताधार-

तात्वस्य घटत्वादिनानास्वरूपत्वकल्पने गौरवस्य पटत्वाभावस्वरूपत्वकल्पने चातिप्रसङ्गस्य दुरुद्धरत्वात्, न च विशिष्टाविशिष्टभेदे विशिष्टसत्तानिश्चयेऽपि सत्तासंशयः स्यादिति वाच्यम्, तवापि विशिष्टाभावस्यातिरिक्ततया सत्तानिश्चयत्वस्य विशिष्टसत्तासंशयव्यावृत्तत्वाभावात् विशिष्टसत्तानिश्चयत्वेन पृथक्प्रतिबन्धकत्वकल्पनध्रौव्ये मयाऽपि तथात्वस्य व्यावर्त्तकतयैव वा प्रतिबन्धकत्वस्य वाच्यत्वादिति दिग्। एवं शुद्धपर्यायात्मना प्रतिक्षणमुत्पादव्ययौ प्रत्यभिज्ञाद्यनुरोधेन च द्रव्यात्मना ध्रौव्यं ध्रुवमिति सिद्धयति सर्वत्र त्रैलक्षण्यम्, एतेन यदुच्यते परैर्विशिष्टभेदाभ्युपगमे तत्तेदन्ताविशिष्टयोरपि भेदे प्रत्यभिज्ञामात्राप्रामाण्ये स्थैर्योच्छेद इति, तदपास्तं द्रष्टव्यम्, प्रत्यभिज्ञाया भेदाभेदसंसर्गकत्वस्य स्थैर्यस्य चोत्पादव्ययसंवलितस्यैव प्रामाणिकत्वात्, एतेनैव च सोऽयं देवदत्त इति वाक्ये तत्कालविशिष्टैतत्कालविशिष्टयोरभेदस्य विरोधाद्विशेषणविशेष्यभावानुपपत्तेः शुद्धदेवदत्तव्यक्तौ लक्षणा स्वीकर्त्तव्येत्येतद्दृष्टान्तबलेन तत्त्वमसीत्यादिवाक्येऽपि परोक्षत्वविशिष्टचैतन्यस्य तत्पदार्थस्य प्रत्यक्षत्वविशिष्टचैतन्यरूपत्वंपदार्थेन सहाभेदविरोधादखण्डब्रह्मणि जहदजहल्लक्षणा स्वीकर्त्तव्येति तत्त्वंपदार्थशोधनं कुर्वद्भिर्वेदान्तिभिर्यदुच्यते, तदपास्तं द्रष्टव्यम्, सोऽयं देवदत्त इति वाक्ये लक्षणाभ्युपगमे बीजाभावात्तत्तेदंताविशिष्टयोर्भेदाभेदस्य सार्वजनीनत्वेन विरोधाभावात्, नहि प्रत्यक्षसिद्धेऽर्थे विरोधो नाम, न चापरार्थप्रत्यक्षात्मकं वाक्यं न प्रत्यक्षाभं, न च शुद्धब्रह्मणि शक्यसम्बन्धरूपा बोध्यसम्बन्धरूपा वा लक्षणाऽपि सङ्गच्छते, तात्त्विकेऽर्थेऽनिर्वचनीयसंसर्गस्य युक्त्यसहत्वात्, मायिकसंसर्गस्यापि मायिकत्वात्, तत्र युक्त्यसहत्वं भूषणं नतु दूषणमिति चेत्, तर्ह्यधिष्ठानपर्यन्तमपि मायिकत्वमेव युक्तं, "मायोपमं वै सकलं जगत्" इति श्रुत्यवलम्बनस्य सत्त्वादिति माध्यमिकमतमेव स्वीक्रियतां, मुच्यतां वेदान्ताश्रयेणार्द्धज-

रतीयन्याय इति किमतिविस्तरेण, तत्त्वमसीत्यादिवाक्यार्थस्तु केवलज्ञानादिपरिणतिविशिष्टपरमात्मरूपतत्पदार्थेन सह सम्यग्दर्शनादिपरिणतिविशिष्टान्तरात्मत्त्वंपदार्थस्य भेदाभेदतात्पर्येण समाधेयः स्वसमयाविरोधिभिः सम्यग्दृष्टिभिरिति किमप्रकृतेन। किञ्च भावाभावयोः प्रतियोग्यनुयोगिभावस्य विशेषणविशेष्यभावस्य च स्वरूपसम्बन्धतयैव विश्राम इति " सर्वं सर्वात्मकं जगत् " आसत्तिपाटवाभ्यासप्रयोजनादिना च प्रतिनियतपर्यायग्रह इति नातिप्रसङ्गः, अत एवैकज्ञत्वसर्वज्ञत्वयोर्नान्तरीयकत्वं सिद्धान्तसिद्धम्, तथा चानुवृत्तिव्यावृत्तिद्वारा स्वपरपर्यायोत्पादव्ययावच्छिन्नं ध्रौव्यं सर्वत्रानायाससिद्धमिति द्रष्टव्यम्। न च विरोधः, पर्यायत्वावच्छेदेनोत्पादव्यययोर्द्रव्यत्वावच्छेदेन ध्रौव्यस्य चाविरोधात्, अन्यथा गोत्वावच्छेदेन गव्यश्वभेदस्य ब्रह्मत्वावच्छेदेन तदभेदस्य चाविरोध औपनिषदाभिमतोऽपि कथं स्यादित्युपरम्यते।"

स्यान्नित्यमेवेत्यादि, अत्र च नित्यत्वानित्यत्वादिव्यवहारे आकाशघटादौ द्रव्यार्थत्वपर्यायार्थत्वयोस्तुल्यवदाकाशत्वघटत्वादीनां च स्यात्पदद्योतनमर्यादया प्रतिस्वं ग्रहान्नातिप्रसङ्गः, नयवाक्येऽपि यद्धर्मविशिष्टविशेष्यवाचकपदसमभिव्याहारेण नित्यत्वादिविशिष्टवाचकं पदं प्रयुज्यते तद्धर्मावच्छेदेन तत्र नित्यत्वादिबोधन एव तत्साकांक्षमित्याकाशमनित्यं घटो नित्य इत्यादेर्नयवाक्यस्य न प्रयोगः, व्यापकसामानाधिकरण्यरूपव्याप्तिपक्षे धूमो वह्निव्याप्यो न रासभस्तथेत्यादेरित्थमेव न्यायाभियुक्तैरुपपादितत्वादिति शिवम् ॥ ६० ॥

" जगज्जैत्रं पत्रं शुचिनयपवित्रं किल मया। यमालम्ब्य न्यस्तं कुमतशतमस्तं गमयति ॥
असौ नित्यानित्याद्यखिलगमभङ्गप्रणयने। पटिष्ठः स्याद्वादो दिशतु मुदमुज्जागरधियाम् ॥ १ ॥

पवित्रं पत्रं मे विशदशतपत्रं श्रुतसुरी-करक्रीडापात्रं प्रमदमतिमात्रं जनयतु ॥
सुवाल्लभ्याः सभ्या इदमगुरुमाज्ञासिषुरितः प्रकृष्टं कल्पद्रोरपि फलमलभ्यं कृतधियाम् ॥ २ ॥
कृत्वा यत्नमनेकपण्डितवतीमध्यास्य काशीमभूद्-भट्टाचार्यपुरन्दरेभ्य इह यस्तर्केष्वधीती भृशम् ।
तत्स्पर्द्धां वितनोति कोऽपि जटिलो यद्यल्पपाठस्मयी । तत्किं कुम्भकृता भविष्यति कलिः सार्द्धं त्रिलोकीकृतः ॥३॥
अधीतास्तर्काः श्रीनयविजयविज्ञांह्रिभजन-प्रसादाद् ये तेषां परिणतिफलं शासनरुचिः ।
इहांशेनाप्युच्चैरवगमफला या स्फुरति मे । तया धन्यं मन्ये जनुरखिलमन्यत् किमधिकम् ॥ ४ ॥ "

इति श्रीमदकब्बरसुरत्राणप्रदत्तजगद्गुरुबिरुदधारिभट्टारकश्रीहीरविजयसूरीश्वरशिष्यमुख्यमहोपाध्यायश्रीकल्याणविजयगणिशिष्यावतंसपण्डितश्रीलाभविजयगणिशिष्यालङ्कारपण्डितश्रीजीतविजयगणिसतीर्थ्यशेखरपण्डितश्रीनयविजयगणिचरणकमलचञ्चरीकेण पण्डितश्रीपद्मविजयगणिसहोदरेण महोपाध्यायश्रीयशोविजयगणिना विरचितेऽष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणे तृतीयः परिच्छेदः ॥

॥ अष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणे तृतीयः परिच्छेदः समाप्तः ॥

॥ ॐ 卐 ॐ ॥ अथ चतुर्थः परिच्छेदः ॥ ॐ 卐 ॐ ॥

जीयादष्टसहस्री, देवागमसंगतार्थमकलङ्कम्। गमयन्ती सन्नयतः, प्रसन्नगम्भीरपदपदवीं ॥ १ ॥

कार्यकारणनानात्वं गुणगुण्यन्यतापि च। सामान्यतद्वदन्यत्वं चैकान्तेन यदीष्यते ॥ ६१ ॥

कार्यग्रहणात्कर्मणोऽवयविनोऽनित्यस्य गुणस्य प्रध्वंसाभावस्य च ग्रहणं, कारणवचनात् समवायिनस्तद्वतः प्रध्वंसनिमित्तस्य च। गुणशब्दान्नित्यगुणप्रतिपत्तिः, गुणिवचनात्तदाश्रयस्य। सामान्याभिधानात्परापरजातिप्रत्ययः। तद्वद्वचनादर्थप्रत्यय इति। क्रियातद्वतोरवयवावयविनोर्गुणगुणिनोर्विशेषतद्वतोः सामान्यतद्वतोरभावतद्विशेष्ययोश्चान्यतैव, भिन्नप्रतिभासत्वात् सह्यविन्ध्यवदित्युक्तं भवति। न चात्रासिद्धो हेतुः, साध्यधर्मिणि भिन्नप्रतिभासत्वस्य सद्भावनिश्चयात्। तत एव न सन्दिग्धासिद्धोऽज्ञातासिद्धो वा। नाप्यन्यतरासिद्धो, वादिप्रतिवादिनोरविवादात्। भिन्नपुरुषप्रतिभासविषयेणाभिन्नेनार्थेन व्यभिचार इति चेत्, न, एकपुरुषापेक्षया भिन्नप्रतिभासत्वस्य हेतुत्वात्। तथापि क्रमेणैकप्रतिपत्तृभिन्नप्रतिभासविषयेणैकेन वस्तुनानेकान्त इति चेत्, न, भिन्नलक्षणत्वस्य भिन्नप्रतिभासत्वस्य हेतुत्वात्। भिन्नं हि लक्षणं कार्यकारणयोर्गुणगुणिनोः सामान्यतद्वतोश्च प्रतिभासते। न चैकस्य वस्तुनो भिन्नलक्षणत्वेन प्रतिभासोस्ति, येन व्यभिचारः। तत एव न विरुद्धो हेतुः, साकल्येनैकदेशेन वा विपक्षे वृत्यभावात्। नापि कालात्ययापदिष्टः, पक्षस्य प्रत्यक्षागमबाधाऽभावात्। कार्यकारणयोर्गुणगुणिनोः सामान्यतद्वतोस्तादात्म्यमभिन्नदेशत्वात्। ययोरतादात्म्य न तयोरभिन्नदेशत्वम्। यथा

सह्यविन्ध्ययोः । अभिन्नदेशत्वं च प्रकृतयोः । तस्मात्तादात्म्यम् । इत्यनुमानेन पक्षस्य बाधेति चेत्, न, शास्त्रीयदेशाभेदस्यासिद्धत्वात्, कार्यस्य स्वकारणदेशत्वात् । कारणस्यापि स्वान्यकारणदेशत्वात् । एतेन गुणगुणिनोः सामान्यतद्वतोश्च देशभेदस्य प्रतिपादनात्, लौकिकदेशाभेदस्य तु व्योमात्मादिभिर्व्यभिचारादस्यानुमानस्यासमीचीनत्वात् प्रकृतपक्षबाधकत्वासभवात् । कथंचित्तादात्म्यस्य प्रत्यक्षतः प्रतीतेः सर्वथा भेदपक्षस्य बाधेति चेत्, न, तद्विरोधात् । तत एव भेदो मा भूदिति चेत्, न, भेदस्य पूर्वसिद्धत्वात् तादात्म्यस्य पूर्वसिद्धेरसिद्धे । सिद्धौ वा कार्यकारणादिविरोधात् धर्मधार्मित्वाधिकरणाधेयतादिविरोधात् क्रियाव्यपदेशादिभेदविरोधाच्च तयोर्न तादात्म्य, भेदतादात्म्ययोर्वैयधिकरण्याच्च परस्परविरोधाच्छीतोष्णस्पर्शवत् । तयोरेकाधिकरण्ये सकरव्यतिकरापत्तिः । तदनापत्तौ पक्षद्वयोक्तदोषानुषङ्गः । प्रत्येकं तद्द्विरूपत्वोपगमे वाऽनवस्थानादप्रतिपत्तिरभावश्च ॥ ६१ ॥ इति वैशेषिकस्य अवयवगुणसामान्यतद्वता व्यतिरेकैकान्त(त्व)माशङ्क्य प्रतिविधत्ते—

यदीयं नामापि स्मृतिमुपगतं विघ्नपटलीं । महामन्त्रप्रायं प्रशमयति दोषामिव रविः ॥
मुदोऽसंख्याः शङ्खेश्वरविभुरसौ यच्छतु पराः । जरासन्धक्षिप्ताच्युतबलजरातङ्कहरणः ॥ १ ॥

चतुर्थे कार्यकारणादिभेदाभेदस्याद्वादसाधनार्थमुपक्रमः "कार्यकारणेत्यादिकारिकया" ॥ तद्भेदैकान्ताभ्युपगमप्रदर्शनं तद्दूषणमग्रिमकारिकायाम् ॥ गुणशब्दान्नित्यगुणप्रतिपत्तिरिति, अनित्यगुणस्य कार्यपदेन पूर्वमेव ग्रहणादत्र गुणपदस्य विशेषपरत्वादिति भावः । अर्थप्रत्यय इति, अर्थपदस्य वैशेषिकपरिभाषया द्रव्यादित्रयार्थत्वात्तत्त्रयप्रतीतिरित्यर्थः । 'क्रमेणेति' एकत्रैव वस्तुनि देशसन्निकर्षविप्रकर्षाभ्यामेकस्यापि प्रतिपत्तुः कालभेदेन भिन्नप्रतिभाससम्भवादित्यर्थः । भिन्न-

लक्षणत्वस्येति भिन्नलक्षणत्वप्रयुक्तभिन्नप्रतिभासविषयत्वादित्यर्थः । न च भिन्नलक्षणत्वस्यैव गमकत्वे इतरभागवैयर्थ्यं, धूमप्रागभावादिहेताविव यन्निष्ठेत्यादिन्यायेन तद्वैयर्थ्याभावादिति द्रष्टव्यम् । पूर्वसिद्धत्वादिति कार्यकारणादिभेदस्य सर्वैः स्वीकृतत्वेन पूर्वप्रसिद्धत्वादित्यर्थः । 'असिद्धेरिति' तत्प्रत्यक्षस्य विवादापन्नत्वेन तादात्म्ये साध्ये हेतौ सन्दिग्धासिद्धेरित्यर्थः ॥ ६१ ॥

एकस्यानेकवृत्तिर्न भागाभावाद्बहूनि वा । भागित्वाद्वास्य नैकत्वं दोषो वृत्तेरनार्हते ॥ ६२ ॥

कार्यकारणयोर्गुणगुणिनोः सामान्यतद्वतोश्चान्यत्वमेकान्तेन यदीष्यते तदैकस्य कार्यद्रव्यादेरनेकस्मिन् कारणादौ वृत्तिरेपितव्या, तदनिष्टौ कार्यकारणभावादिविरोधादकार्यकारणादिवत् । तद्वृत्तिश्चाभ्युपगम्यमाना प्रत्याश्रयमेकदेशेन सर्वात्मना वा स्यात् ? तत्र एकमनेकत्र वर्तमानं प्रत्यधिकरणं न तावदेकदेशेन, निष्प्रदेशत्वात् । नापि सर्वात्मना, अवयव्यादिबहुत्वप्रसङ्गात् । यावन्तो ह्यवयवास्तावन्तोवयविनः स्युस्तस्य प्रत्येकं सर्वात्मना वृत्तत्वात् । यावन्तश्च संयोग्यादयो गुणिनस्तावन्तः संयोगादयोनेकस्था गुणाः प्रसज्यन्ते । यावन्तः सामान्यवन्तोर्थास्तावन्ति सामान्यानि भवेयुस्तत एव । अथापि कथंचित्प्रदेशवत्त्व मन्येतावयव्यादीना तत्रापि वृत्तिविकल्पोनवस्था च । तथात्रावयव्यादि सर्वं तदेकमेव न स्यादिति वृत्तेर्दोषोऽनार्हते मते दुर्निवारः । नैकदेशेन वर्तते, नापि सर्वात्मना । किं तर्हि ? वर्तते एवेति चायुक्तं, प्रकारान्तराभावात् । ननु च समवाय एव प्रकारान्तर वर्तते, समवैतीति सम्प्रत्ययात्, तद्व्यतिरेकेण वृत्त्यर्थासंभवादिति चेत्, न, तत्रैव विवादात् । एतदेव हि विचार्यते, किमेकदेशेन समवैति प्रत्याश्रय सर्वात्मना वाऽवयवादिष्ववयव्यादिः ? गत्यन्तराभावादिति । तत्र च निगदितो दोषः । तदेव कार्यगुणसामान्याना स्वाश्रयेभ्यो

विवादापन्नेभ्यो नैकान्तेनान्यत्व, तत्र वृत्त्युपलब्धे । यस्य तु यतोन्यत्वैकान्तस्तस्य तत्र न वृत्त्युपलब्धिः । यथा हिमवति विन्ध्यस्य । वृत्त्युपलब्धिश्चावयव्यादेः स्वाश्रयेषु । तस्मान्नैकान्तेनान्यत्वम् । इत्यनुमानेन तन्नानात्वपक्षस्य बाधितत्वात् कालात्ययापदिष्टो भिन्नप्रतिभासत्वादिति हेतुः । नन्विदमनुमानमसम्यक्, स्थाल्यां दध्नाऽनैकान्तिकत्वात् ततोन्यस्यापि दध्नस्तत्र वृत्त्युपलब्धेः । सयोगो हि वृत्तिरर्थान्तरभूतयोरेव प्रतीयते नान्यथेति न मन्तव्य, सयोगिनोः सयोगपरिणामात्मनोः सर्वथान्यत्वासिद्धेरन्यथा तदभावप्रसङ्गात् । ताभ्यां भिन्नस्य सयोगस्योत्पत्तौ हि कथमेकस्यान्यत्र सयोग इति व्यपदेशो यतः स एव वृत्तिः स्यात् ? ताभ्यां तस्य जननात्तथा व्यपदेश इति चेत्, न, कर्मणा कालादिना च तज्जननात्तथा व्यपदेशप्रसङ्गात् । तयोः समवायिकारणत्वात्तस्य तथा व्यपदेश इति चेत्, कुतः समवायिकारणत्व तयोरेव न पुनः कर्मादेरिति नियमः ? इह सयोगिनोः सयोग इति प्रत्ययात्तत्र तस्य समवायसिद्धेरिति चेत्, स तर्हि समवायः पदार्थान्तर कथमत्रैवेहेदमिति प्रत्ययं कुर्यान्न पुनः कर्मादिषु भेदाविशेषेपीति न बुद्ध्यामहे । तैरेव समवायिभिर्विशेषणविशेष्यभावसिद्धेः समवायस्य तत्रैवेहेदमिति प्रत्ययोत्पत्तिर्न तु कर्मादिषु, तदसिद्धेरिति चेत्, स एव कुतः सर्वत्र न स्यात् ? तादृगदृष्टविशेषनियमादिति चेत्, किं विशेषणविशेष्यभावेन समवायेन सयोगेन वा ? तादृगदृष्टविशेषादेव समवायविशिष्टाः समवायिन इति प्रत्ययस्येहेदमिति विज्ञानस्यात्रेद सयुक्तमिति बुद्धेश्च जननप्रसङ्गात् । सर्वस्य वा प्रत्ययविशेषस्यादृष्टविशेषवशवर्तित्वसिद्धेः किं पदार्थभेदप्रभेदपरिकल्पनया ? इति विज्ञानवादप्रवेशः स्यात्, तस्यैवादृष्टविशेषत्वसिद्धेः, चेतना कर्मेति विज्ञानवादिभिरपि प्रतिपादनात् । तेषा वासनाविशेष एव ह्यदृष्टम् । स च पूर्वविज्ञानविशेषः । इति न विज्ञानमात्राददृष्टमन्यत् स्यात् । ननु च नाप्रबुद्धा वासना प्रत्ययविशेष प्रसूते सकृत्सर्वप्रत्ययविशेषप्रसङ्गात्, प्रबुद्धा तु तमुपजनयन्ती

प्रबोधकहेतूनपेक्षते । ते च बहिर्भूता एवार्थाः । इति न विज्ञानमात्रं तत्त्वमनुपपद्यते इति चेत्, न, विज्ञानविशेषादेव वासनाप्रबोधस्य सिद्धेः, तदभावे बहिरर्थस्य सत्तामात्रेण तदहेतुत्वादन्यथातिप्रसङ्गात् । न च नीलादिविज्ञानादेव तद्वासनाप्रबोधस्तत्प्रबोधादेव नीलादिज्ञानमिष्यते, यत परस्पराश्रयः स्यात्, तदधिपतिसमनन्तरादिविज्ञानानामेव नीलादिज्ञानजनकाना तद्वासनाप्रबोधकत्वात् तद्वासनानामपि तत्कारणविज्ञानेभ्यः प्रबोधोपगमात् । इत्यनादिरयं वासनासरित्परिपतितस्तत्प्रबोधप्रत्ययसार्थस्तद्विज्ञानप्रवाहश्च । इति किं बहिरर्थैः ? कल्पयित्वाप्येतान्विज्ञानानि प्रतिपत्तव्यानि, तैर्विना तद्व्यवहाराप्रसिद्धेः । सत्सु च तेषु बहिरर्थाभावेपि स्वप्नादिषु तद्व्यवहारप्रतीतेरलं बाह्यार्थाभिनिवेशेन । ततो बहिरर्थं व्यवस्थापयितुमनसा नादृष्टमात्रनिमित्तो विशेषणविशेष्यत्वप्रत्ययोनुमन्तव्यः, तस्य द्रव्यादिप्रत्ययवद्बहिरर्थविशेषविषयत्वस्यावश्यमाश्रयणीयत्वात् । तथा चानवस्थानात् कुतः सयोगिभ्या सयोगोर्थान्तरभूतः समवायवृत्त्या तयोरिति व्यपदिश्येत ? स एव च स्थाल्यां दध्नो वृत्तिरिति न तेनानैकान्तिको हेतुः स्यात् । तत एव न विरुद्धः, सर्वथार्थान्तरभूतस्य कचिद्वृत्त्युपलब्धेरभावात् । ततो निरवद्यमिदमनुमानं भेदपक्षस्य बाधकम् । इति तत्र प्रवर्तमानो हेतुः कालत्ययापदिष्ट एव, प्रत्यक्षविरुद्धत्वाच्च पक्षस्य, अवयवावयव्यादीना कथचित्तादात्म्यस्यैव साक्षात्करणात् । नन्वेवमपि वृत्तेर्दोषो यथोपवर्णितः स्याद्वादिनां प्रसज्यते इति चेत्, नाय प्रसङ्गोऽनेकान्ते, कथचित्तादात्म्याद्वेद्यवेदकाकारज्ञानवत् । यथैव हि ज्ञानस्य वेद्यवेदकाकाराभ्या तादात्म्यमशक्यविवेचनत्वात् किमेकदेशेन सर्वात्मना वेति विकल्पयोर्न विज्ञानस्य सावयवत्वं बहुत्वं वा प्रसज्यतेनवस्था वा, तथाऽवयव्यादेरप्यवयवादिभ्यस्तादात्म्यमशक्यविवेचनत्वादेव नैकदेशेन प्रत्येक सर्वात्मना वा, यतस्ताथागतः सर्वथा भेदे इवावयवावयव्यादीना कथचित्तादात्म्येपि वृत्तिं दूषयेत् । एतेन वैशेषिकोपि न कथचित्तादात्म्ये वृत्तिविविकल्पादिदूषणमापादयितुमीशः, सामान्यविशेषवत्तत्र

तदनवकाशात्। न ह्यपरसामान्यं व्यावृत्तिबुद्धिहेतुत्वाद्विशेषाख्यामपि लभमानमपह्नोतुं शक्यं, तस्य सामान्यैकरूपत्वेऽपरविशेषाभावप्रसङ्गात्, तदपरविशेषरूपत्वेऽपरसामान्याभावापत्तेः, तदुभयरूपत्वे सामान्यविशेषरूपयोः कथंचित्तादात्म्यस्यैवाभ्युपगमनीयत्वात्, तदेकार्थसमवायस्य कथंचिदेकद्रव्यतादात्म्यादपरस्यासम्भवात्, सामान्यस्यैवानुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययहेतुत्वेन सामान्यविशेषोभयाकारस्येष्टत्वाच्च। न तयोराकारयोरन्यत्रैकार्थे समवायः परस्परं वा शक्यो वक्तुं, यतस्तद्वदवयवावयव्यादीनां कथंचित्तादात्म्यं वृत्तिः प्रकृतदूषणोपद्रुता स्यात्। किं चावयवादिभ्योवयव्यादीनामत्यन्तभेदे देशकालाभ्यामपि भेदः स्यात्॥ ६२ ॥

'एकस्येति' एकस्यावयव्यादेर्भागाभावाद्देशाभावादनेकत्रावयवादौ वृत्तिर्न भवति। भवति चेत्तदा प्रत्येकमनेकावयवादिपर्याप्तवृत्तित्वाद्बहून्यवयव्यादीनि स्युः, देशतो वृत्तिश्च तत्र नावयव्यादीनां, तद्देशानभ्युपगमात्, अभ्युपगमेऽनवस्थाद्यापत्तेः, भागित्वात् कथञ्चिद्देशित्वाद्वाऽस्यावयव्यादेर्नैकत्वं स्यादित्ययं वृत्तेर्दोषो नार्हते मते भवतीति कारिकासङ्क्षेपार्थः। प्रकारान्तराभावादिति संयोगवृत्तौ देशकार्त्स्न्यान्यतरप्रकारस्यैव दर्शनात् प्रकारद्वयविशेषनिषेधे वृत्तिसामान्यनिषेधपर्यवसानादित्यर्थः। 'प्रकारान्तरमिति' देशकार्त्स्न्यविनिर्मुक्तः सम्बन्धप्रकार इत्यर्थः। एतदेव हि विचार्यत इति समवायोऽपि हि घटे घटत्वस्य कार्त्स्न्येन तन्तुषु च पटस्य दशाद्यवच्छेदेनाभावादेशेनाभ्युपगम्यत इति तत्रापि प्रकारद्वयावकाशेन विचारस्य बद्धास्पदत्वादिति भावः। वस्तुत एकत्र तन्तौ न पटः किन्तु यावत्स्विति प्रतीतेः प्रत्येकावृत्तेरित्यादिन्यायाच्च प्रकारद्वयं समवायवृत्तौ प्रसिद्धस्थल एवौपढौकत इति तदविरोधो भेदाभेदाभ्युपगमं विना दुरुपपाद इत्याद्युक्तं वादमालायामस्माभिः। सर्वथाऽन्यत्वासिद्धेरिति, तत्काले तत्परिणामेन तदात्मकत्वेन विरोधादतिप्रसङ्गस्य

च कालघटितसम्बन्धेन निरासादित्यर्थः। तथा चानवस्थानादिति संयोगतत्सम्बन्धतत्सम्बन्धादिचिन्तयाऽनिष्टापत्तेरित्यर्थः। 'कुत इति' निरन्तरोभयद्रव्यनिमित्तादेव संयोगव्यवहारोपपत्तेरनन्तरपरम्परसंयोगभेदस्य चान्यथानुपपत्तेरिति भावः। ननु वृत्तिविकल्पदोषः स्याद्वादेऽपि किं न स्यादित्याशंक्य भेदाभेदशबलैकवस्तुस्वरूपत्वे देशकात्स्न्यैकदेशवृत्तिव्यवहारस्य चित्रज्ञानसामान्यविशेषदृष्टान्तेन यथाविवक्षं सम्मिलितस्यैवोपपत्तेर्न तद्दोषावकाश इति समाधित्सुराह–नन्वेवमपीत्यादिना, तदुभयरूपत्व इति, न च पारिभाषिकमुभयरूपत्वमुभयपदार्थतादात्म्यमापादयितुमनीश्वरमिति शङ्कनीयम्। अनुवृत्तिव्यावृत्तिबुद्धिहेतुतया सिद्धस्य पदार्थद्वयस्यार्थतस्तादात्म्यापादनाविरोधात्, अन्त्यविशेषस्य तु "विशेषोऽपि न पदार्थान्तरं मानाभावाद्विनापि व्यावर्त्तकधर्मं विशेषाणामिव नित्यानामपि द्रव्याणां स्वत एव व्यावृत्तत्वात्, योगिनो विशेषमीक्षन्ते प्रत्यक्ष(त) एवेति चेत्, त एव तर्हि संशयपथं पृच्छयन्तां किमु तेऽतिरिक्तं विशेषमीक्षन्ते नवेति" ग्रन्थेन पदार्थतत्त्वविवेके शिरोमणिभट्टाचार्यैरेव निराकरणात्। अथ समवायित्वे सति समवायियव्यक्तेर्यद्व्यावृत्तं यन्नित्यं तत्परस्परासमवेतसमवेतशून्यधर्मसमवायीति व्याप्तिरात्मत्वमादाय घटपटादिव्यावृत्तात्मादावव्यभिचारिता, अत्र सत्तादिकमादाय सिद्धसाधनवारणाय परस्परासमवेतेति, एकत्वादिकमादाय तद्वारणाय समवेतशून्येति, प्रमेयत्वादिकमादाय तद्वारणाय समवायीति, अभावे व्यभिचारवारणाय हेतौ समवायित्वे सतीति, घटादावभावव्यावृत्तिमत्त्वेनाभावसमवेतत्वाप्रसिद्ध्या तदभावाप्रसिद्धेर्व्याप्यत्वासिद्धिः स्यादिति तद्वारणाय हेतौ समवायित्वं यव्यक्तेर्विशेषणम्, अनुपादेयमेव वा तत्, साध्ये परस्परासमवेतत्वं परित्यज्य तत्स्थाने स्वासमवायितत्त्वेत्यस्य वक्तव्यत्वात्। साध्ये समवायित्वं स्वाश्रयसमवेतत्वादिपरंपरासाधारण, नातः सजातीयघटद्वये

व्यभिचारः, विशेषमादाय तत्रापि साध्यसत्त्वात् समवायित्वे सतीत्यपहाय नित्यद्रव्यत्वे सतीति वा वक्तव्यं, तथा च तादृशव्याप्तिबलात् सजातीयनित्यद्रव्ययोः परस्परासमवेतसमवेतशून्यधर्मसिद्धावर्थादतिरिक्तविशेषसिद्धिरिति चेत्, न, अप्रयोजकत्वेनैतद्व्याप्त्यसिद्धेः, अन्यथा विशेषान्यत्वमपि साध्ये निवेश्य पदार्थान्तरमपि साधयतो मुखमुद्रणस्याशक्यत्वापत्तेः। कथं चैवं नित्यगुणव्यक्तीनां परस्परव्यावृत्तत्वं, तासु विशेषानभ्युपगमात्, आश्रयविशेषात्तद्विशेषाभ्युपगमे तु नित्यगुणाश्रित एव विशेषपदार्थोऽस्तु आश्रितविशेषाच्चाश्रयविशेष इत्येव किं न स्यात्, स्वाश्रयसमवेतत्वेन विशेषस्य व्यावर्त्तकत्वे च परमाण्वादिगतसत्तासामान्यस्यापि स स्वभावं त्याजयेत्। अपि चैवं चित्रज्ञानादावांशिकभेदनिर्वाहार्थमेकव्यक्तावपि विशेषः सिद्ध्येत्, स च सिद्ध्यन् विशेषपदोक्तां पर्यायमर्यादां नातिक्रामतीति द्रव्यपर्यायतया स्वतोऽनुवृत्तिव्यावृत्तिस्वभावं वस्त्वकामेनापि प्रतिपत्तव्यं, नित्यद्रव्यदृष्टान्तेन सर्वत्र स्वतो व्यावृत्तत्वं स्वीकुर्वन् शिरोमणिः पुनरेकदृगेव, अन्यथा विशेषमिव सामान्यमतिरिक्तमपश्यन् स्वतोऽनुवृत्तत्वमपि कथं न स्वीकुर्यादिति सुस्वीकारितमाचार्येण सामान्यविशेषयोः कथञ्चित्तादात्म्यमिति भावनीयम्। भेदः स्यादिति, अवयव्यादयोऽवयवादिभ्यो भिन्नाः स्युर्देशकालाभ्यामत्यन्तभिन्नत्वात्, घटपटवदित्यत्रापादनं बोध्यम् ॥ ६२ ॥

देशकालविशेषेपि स्याद्वृत्तिर्युतसिद्धवत्। समानदेशता न स्यान्मूर्तकारणकार्ययोः ॥ ६३ ॥

नन्वात्माकाशयोरत्यन्तभेदेपि देशकालाभ्यां भेदाभावान्न ततः कार्यकारणादीनां तद्भेदः सिध्यति, यतो युतसिद्धवद्वृत्तिः स्यादिति चेत्, न, तयोरपि सद्द्रव्यत्वादिना भेदाभावादत्यन्तभेदासिद्धेरभिन्नदेशकालत्वाविरोधात्। परस्यापि सर्वमूर्तिमद्द्रव्येषु युगपत्संयोग-

वृत्तेरभ्युपगमात् तयोरत्यन्तभेदानिष्टेर्देशकालाभ्यामभेदाविरोधे तथैवावयवावयव्यादेस्ताभ्यामभेदोस्त्वविरुद्धः। स च कथंचिदभेदसाधनः स्यात्। न चासाविष्यते, अपसिद्धान्तप्रसङ्गात्। तस्मादङ्गाङ्गयादेरत्यन्तभेदात् तद्देशकालविशेषेणापि वृत्तिः प्रसज्येत वटवृक्षवत्। वर्णादिभिरनैकान्तिकत्वमित्ययुक्तं, तद्व्यतिरेकैकान्तानभ्युपगमात्। यथैव हि वर्णरसगन्धस्पर्शानां स्वाश्रयादत्यन्तभेदो नेष्टो दृष्टो वा तथा परस्परतोपीति। नाप्येतैः पक्षैकदेशात्मभिर्व्यभिचारो नामातिप्रसङ्गात्। यदि पुन. कार्यकारणादीनां समानदेशकालत्वमुररीक्रियते तथैव सिद्धान्तावधारणादिति मत, तदाप्यवयवावयविनोः समानदेशे वृत्तिर्न भवेत्, मूर्तिमत्त्वात्खरकरभवत्, मूर्तयोः समानदेशत्वविरोधात्। वातातपयोः समानदेशत्वदर्शनादविरोध इति चेत्, न, तयोः स्वावयवदेशयोरवयविनोरभ्युपगमात्। तन्तुपटयोरपि स्वावयवदेशत्वात्समानदेशत्वाभावो न दोप इति चेत्, न. परमाणुद्व्यणुकयोर्भिन्नदेशत्वाभावात्समानदेशत्वमपि न भवेदिति दोपोद्भावनात्। द्व्यणुकस्य परमाणुदेशत्वात्परमाणोरनशस्याप्याश्रयान्तरस्थत्वात्तयोरसमानदेशतैवेति चेत्, न, तथा लौकिकदेशापेक्षया समानदेशत्वोपगमस्य प्रसङ्गात्। स च मूर्तयोर्न भवेदिति सूक्तमेव दूपणम्। कथमेवमनेकान्तवादिनामेकाकाशप्रदेशेऽसख्येयादिपरमाणूनामवस्थान न विरुध्यते इति चेत्, तथावगाहनविशेपादेकत्वपरिणामादिति ब्रूमहे। नह्येकं मूर्तिमद्द्रव्यमेकत्र देशेऽवतिष्ठमान विरुद्ध नाम, अतिप्रसङ्गात्। सयोगमात्रेण तु स्थितानामेकत्वपरिणामनिरुत्सुकाना नैकाकाशप्रदेशेवस्थानमवगाहनविशेपाभावादनेकाकाशप्रदेशवृत्तित्वसिद्धेः इति स्याद्वादिना न किंचिद्विरुद्धम् ॥ ६३ ॥ स्यान्मतम्,

तथैव युगपत्संयोगवृत्त्यादिनैव, **अभेदसाधनोऽभेदव्यवहारसाधनः**, तथोक्तवदभ्युपगमे, **एकत्वपरिणामनिरुत्सुकानामिति**, यद्यपि द्रव्यत एकत्वपरिणामनिरुत्सुकानामप्यानुपूर्व्यनानुपूर्व्यवक्तव्यद्रव्याणामनन्तानामेकाकाशप्रदेशा-

वस्थितिरिष्यते, तथाप्येकप्रदेशावगाढानां तावतां तेषां क्षेत्रकृतमेकत्वमादायोक्ताविरोधो भावनीयः । युक्तं चैतत् एकप्रदेशावगाढानामेव क्षेत्रतोऽनानुपूर्वीद्रव्यत्वात् तेषां चासङ्ख्येयानामेव सिद्धान्तप्रतिपादनात् सर्वपुद्गलद्रव्याणां चानन्तत्वादित्यालोचनीयं स्वसमयरहस्यविद्भिः ॥ ६३ ॥

आश्रयाश्रयिभावान्न स्वातन्त्र्यं समवायिनाम्। इत्ययुक्तः स संबन्धो न युक्तः समवायिभिः ॥ ६४ ॥

समवायेन कार्यकारणादीना परस्पर प्रतिबन्धात् कुतः स्वातन्त्र्यं यतो देशकालादिभेदेन वृत्तिरिति चेत्, स तर्हि समवायिषु समवायान्तरेण वर्तते स्वतो वा ? समवायस्य समवायान्तरेण वृत्तावनवस्थाप्रसङ्गात्, स्वतो वृत्तौ द्रव्यादेस्तथोपपत्तेः समवायवैयर्थ्यात् कार्यकारणादीना कुतः प्रतिबन्धः ? यदि पुनरनाश्रितत्वात् प्रतिबन्धान्तरानपेक्ष इष्यते, तदाप्यसंबद्धः समवायः कथ द्रव्यादिभिः सह वर्तेत, यतः पृथक्सिद्धिर्न स्यात् ? तस्मादयुक्त सबन्धो न युक्तः समवायिभिः । न ह्यप्रतिबद्ध एव समवायिभिः समवायः सबन्धो युक्तिमान्, कालादेरपि सबन्धत्वप्रसङ्गात् । संबद्ध एव हि स्वसबन्धिभिः सयोगः सबन्धो दृष्टस्तस्य तैः कथंचित्तादात्म्यसंबन्धात् । समवायोपि विशेषणविशेष्यभावसबन्धात्समवायिभिः संबद्ध इति चेत्, न, तस्यापि विशेषणविशेष्यभावान्तरेण स्वसंबन्धिभिः संबन्धेऽनवस्थाप्रसङ्गात्, अन्यथा सबन्धत्वविरोधात् । तस्य संबन्धिभिः कथंचित्तादात्म्ये कार्यकारणादीनामपि तदेवास्तु किं समवायेन पदार्थान्तरभूतेन सत्तासामान्येनेव कल्पितेन ? फलाभावात् । प्रागसतः सत्तासमवायात् कार्यस्योत्पत्तेः सफलमेव तत्परिकल्पनमिति चेत्, न, अनुत्पन्नस्य सत्तासमवायासभवात्, उत्पन्नस्यापि तद्वैयर्थ्यात्, स्वरूपलाभस्यैव स्वरूपसत्तात्मकत्वात्, स्वरूपेणासतः सत्तासबन्धेतिप्रसङ्गात् । यदि पुनरुत्पद्यमानमेव कार्य सत्तासमवायीष्यते, प्रागसतः सत्तासमवाय उत्पाद इति वचनात् ॥ ६४ ॥

'आश्रयेत्यादि' उत्तरार्द्धे इतिस्तथापीत्यर्थे, तथा च तथापि स सम्बन्धः समवायाख्यः समवायिभिरयुक्तोऽसम्बद्ध इति न युक्तो न घटमानक इति, समवायस्यैवाभावाद्दूरे समवायिनां स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्यचर्चेति भावः। एवं च स्यान्मतमिति शङ्काया अनुपमर्दान्नासंलग्नकत्वमिति द्रष्टव्यम्। स्वरूपलाभस्यैव स्वरूपसत्तात्मकत्वादिति, तदिदमाहुः, न हि देशकालयोः सत्त्वं विहायान्यत् सत्त्वम्, अभावेऽपि स्वकालदेशकृतं सत्त्वमभ्युपगम्यत एव, इदानीं भूतले घटाभावोऽस्तीति प्रतीतेः, अभावव्यावृत्तसद्व्यवहारस्तु भावत्वनिबन्धन एवेति, अतिप्रसङ्गादिति परम्परासम्बन्धेन सामान्यादाविवाभावेऽपि सद्व्यवहारप्रसङ्गादित्यर्थः। स्वरूपसत्तयैव सद्व्यवहारोपपत्तौ चालं पदार्थान्तरपरिकल्पनयेति रहस्यम् ॥ ६४ ॥

केवलस्य समवायस्य सत्तासामान्यवन्नित्यत्वादुत्पाद इति ज्ञानाभिधानाहेतुत्वादिति मतं तदा—

सामान्यं समवायश्चाप्येकैकत्र समाप्तितः। अन्तरेणाश्रयं न स्यान्नाशोत्पादिषु को विधिः ॥६५॥

येषां परमार्थत सामान्यस्याश्रितत्वमुपचारात्समवायस्य समवायिषु तत्राप्रतिबद्धत्वादसबद्धत्व, तदुपचारनिमित्तं तु समवायिषु सत्सु तस्येहेदमिति प्रत्ययकारित्वमिति मतं तेषां प्रत्येकं परिसमाप्तेराश्रयाभावे सामान्यसमवाययोरसभवादुत्पत्तिविपत्तिमत्सु कथं वृत्तिः ? क्वचिदेकत्र नित्यात्मन्याश्रये सर्वात्मना वृत्त सामान्यं समवायश्च तावत्। 'उत्पित्सुप्रदेशे प्राग्नासीदनाश्रितत्वप्रसंगात्, नान्यतो याति सर्वात्मना पूर्वाधारापरित्यागादन्यथा तदभावप्रसङ्गात्, नाप्येकदेशेन, सांशत्वाभावात्, स्वयमेव पश्चाद्भवति स्वप्रत्ययकारित्वात्, आश्रयविनाशे च न नश्यति नित्यत्वात्, प्रत्येकं परिसमाप्तं च' इति व्याहतमेतत्। स्यान्मतं 'सत्तासामान्य तावद्द्रव्यादिषु प्रत्येकं परिसमाप्तं, सत्प्रत्ययाविशेषात्। सर्वत्रास्ति च, सत्प्रत्ययाविच्छेदात्। समवायोऽपि सर्वत्र विद्यते, समवायिना शश्वदविच्छे-

दान्नित्याना, जन्मविनाशवता तु केपाचिदुत्पित्सुदेशेपूत्पद्यमानानामेव सत्तासमवायित्वसिद्धेः ‘ निष्ठासवन्धयोरेककालत्वात्’ इति वचनात् । प्रकृतदूपणानवकाशः, सत्तासमवाययोः प्रागसत्त्वाभावात्·तत्रान्यतश्चागमनस्य सर्वात्मनैकदेशेन वानभ्युपगमात् पश्चाद्भवनानिष्टेः शाश्वतिकत्वाच्च ’ इति तदेतदपि व्याहततर, सर्वगतस्य सामान्यस्य समवायस्य चैकस्य स्वाश्रयेपु प्रत्येकं परिसमाप्तेरसभवात् तद्बहुत्वापत्तेराश्रयस्वरूपवत् । न च सर्वत्राविच्छेदात्तदेकत्वं, तदसिद्धेः प्रागभावादिपु सत्तासमवायासंभवाद्विच्छेदोपलम्भात् । प्रागभावादीना सर्वदा भावविशेपणत्वान्न तत्र तद्विच्छेद इति चेन्नेवमभावस्यापि सर्वगतत्वैकत्वप्रसङ्गात्, सर्वत्रासत्प्रत्ययाविशेपादविच्छेदाविशेषाच्च । यथैव हि द्रव्यादिपु सत्प्रत्ययोऽविशिष्टस्तथा पररूपतोऽसत्प्रत्ययश्च । यथा चाभावस्य शश्वद्भावपरतन्त्रत्वं तथा भावस्याभावपरन्त्रत्वमपि तदविच्छेदसाधनं, पररूपेणासत एव भावस्य प्रतीतेरन्यथा सर्वसाङ्कर्यप्रसङ्गाद्भावविशेषव्यवस्थितिविरोधात् । नन्वभावस्यैकत्वे कार्यस्य जन्मनि प्रागभावाभावे प्रध्वंसेतरेतरात्यन्ताभावानामप्यभावप्रसङ्गादनन्तत्वसर्वात्मकत्वात्यन्ताभावापत्तिः । प्रध्वंसस्य चाभावेऽनुत्पन्नस्य कार्यस्य प्रागभावस्याप्यभावादनादित्वप्रसङ्गः प्राक् पश्चादितरेतरात्यन्तविशेपणानुपपत्तिश्च तदभेदात् । इति कश्चित्, तस्यापि कथं सत्त्वैकत्वे समवायैकत्वे च कस्यचित्सत्तासमवाये सर्वस्य स न भवेत्? तथा सति भावस्योत्पत्तेः प्रागपि प्रध्वंससमयेप्यभावान्तरेपि चात्यन्तसत्त्वसिद्धेः कुतः प्रागभावादिभेदस्य व्यवस्था स्यात्? प्रत्ययविशेपात्तद्व्यवस्थायां सत्तासमवायस्य भेदव्यवस्थाऽस्तु तत एव । न हि प्रध्वंसात्प्राक्कार्यस्य सत्तासमवायः प्रागभावात् पश्चादितरस्मादितरत्रेत्यादिप्रत्ययविशेपोऽसिद्धः परीक्षकाणां, यतः सत्तासमवाययोरनेकत्वं न स्यात् । यदि पुनः प्राक्कालादिविशेपणान्येव भिद्यन्ते समवायिनश्च, न पुनः सत्ता समवायश्चेति मत, तदा कथमभावोपि भिद्येत? तद्विशेषणानामेव भेदात् । विरुद्धधर्माध्यासात्तद्भेदे सत्तासमवायभेदोपि तत एव । ततो विश्व-

रूपा सत्ताऽस्तु असत्तावत्। तथा समवायोपि। न चैवमेकत्वविरोधः सत्तायाः सभावनीयो, विशेषतोनेकत्वेपि सामान्यार्पणादेकत्वाविरोधात्, सद्विशेषेष्वेव सत्सामान्यप्रतीतेरसद्विशेषेष्वसत्सामान्यप्रतीतिवत्। समवायविशेषेषु समवायसामान्यप्रतीतिश्च न विरुद्धा, संयोगविशेषेषु तत्सामान्यप्रतीतिवत्। इति सर्वं सामान्यविशेषात्मकं सिद्धम्। न च सामान्यस्य विशेषस्य चैकशः सामान्यविशेषात्मकत्वेऽनवस्थानमन्यथा सर्वं सामान्यविशेषात्मकमिति प्रतिज्ञा हीयते, तयोरन्योन्यात्मकत्वसिद्धेर्द्रव्यार्थार्पणया परस्परतो भेदाच्च पर्यायार्थार्पणया सापेक्षत्वमात्रस्य तयोरिष्टेः। सामान्यस्य हि स्वविशेषादपोद्धृतस्य विशेषान्तरात्मकत्वे विशेषस्य च स्वसामान्यानिर्धारितस्य सामान्यान्तरात्मकत्वेऽनवस्था स्यान्नान्यथा। भिन्नस्य च सामान्यस्य विशेषाद्विशेषस्य च सामान्यादितरनिरपेक्षत्वे प्रतिज्ञाहानिः प्रसज्यते, न पुनरितरथा। इति स्याद्वादिनां सर्वं सुस्थम्। वैशेषिकाणा तु तदुभयप्रकारानभ्युपगमादुक्तदोषानुषङ्ग एव। ॥ ६६ ॥ तेषा हि—

येषामिति येषां वैशेषिकाणां **सामान्यस्य** समवायसम्बन्धेन सम्बद्धत्वात्परमार्थतोऽनुपचारादन्वितत्वं समवायस्य तु समवायान्तराभावादुपचारात्, तथा च **समवायिषु तथा** सामान्यवदप्रतिबद्धत्वादसम्बद्धत्वमिति योजना, **नान्वितो यातीति, अनु पश्चात्,** इतः सकाशान्न यातीत्यर्थः। **भावविशेषणत्वाद्भावविनिर्मुक्तबुद्ध्यविषयत्वात्,** भावपरतन्त्रत्वमुक्तभावविशेषणत्वमेव, एवमग्रेऽभावपरतंत्रत्वमपि व्याख्येयम्। सत्तैकत्वेऽसत्तैकत्वमपि स्यादित्युक्तं तत्रासत्तैकत्वे बाधकमाशङ्कते—**नन्वभावस्यैकत्व** इत्यादिना, एवं वादिनः सत्तैकत्वेऽपि बाधकं तुल्यमित्याह—**तस्यापीत्यादिना,** प्रत्ययविशेषात् प्रागनासीदित्यादिप्रतीतिभेदात्, तद्व्यवस्थायां प्रागभावादिभेदव्यवस्थायां, तत एव प्रत्ययविशेषादेव,

नहीत्यादिना प्रागासीत् पश्चाद्भविष्यतीत्येवं कालभेदात्, इतरस्माद्देशादितरत्रास्तीत्यनेन च देशभेदात् प्रतीतिसाक्षिकः सत्तासमवायभेद उपदर्शितः। यदि च तत्तत्कालदेशरूपविशेषणभेदेऽपि सत्ताया न भेदः, तर्हि तद्वदेवाभावस्यापि स माभूत्, विरुद्धधर्माध्यासेनासत्ताभेदे च सत्ताभेदोऽपि तद्वदेवास्त्विति सिद्धं द्वयोस्तुल्यकक्षतया विश्वरूपत्वं, भावत्वाभावत्वयोरेवैक्यं नतु भावाभावयोरिति तु मन्दं, विशेषणांश इव विशेष्यांशेऽप्यनुगतप्रतीतेस्तौल्याद्विशेषणभेदेन भेदस्य चोभयत्राविशेषात् सामान्यविशेषोपयोगाभ्यां वैश्वरूप्यस्यैव सिद्धेरित्यभिप्रायवानाह—यदि पुनरित्यादिना ॥ ६५ ॥

सर्वथानभिसंबन्धः सामान्यसमवाययोः। ताभ्यामर्थो न संबद्धस्तानि त्रीणि खपुष्पवत् ॥ ६६ ॥

समनुपज्यन्ते इति शेषः। तथा हि। सामान्यसमवाययोः परस्परतः संबन्धासभवात् ताभ्यामर्थोपि न सबद्धः। कुतस्तयोरनभिसवन्ध इति चेत्, सयोगस्य समवायस्य चानभ्युपमगमात्, सामान्यं समवायीति विशेषणविशेष्यभावस्य चासभवादनवस्थाप्रसङ्गाच्च। तथैकार्थसमवायस्य चानवकाशात् समवायस्य कचिदसमवायात् सबन्धान्तरानिष्टेः सर्वथानभिसंबन्धस्तावदसिद्ध एव। ततः परस्परतोऽनसमिवद्धाभ्यां सामान्यसमवायाभ्यामर्थोपि द्रव्यगुणकर्मलक्षणो न सबद्धः शक्यते वक्तुं, यतस्तत्र सत्तासमवायः स्यात्। ततस्त्रीण्यपि नात्मानं विभृयुः कूर्मरोमादिवत्। परस्परमसबद्धानि ह्यर्थसमवायसामान्यानि न सन्त्येव। न चासतां कर्तृत्वम्। नापि कश्चिदात्मा सभवति यस्य कर्मत्वम्। न च कर्तृकर्मत्वाभावे तान्यात्मानं बिभृयुरिति शक्यं वक्तुं, कर्तरि लिङो विधानात्कर्मणि विभक्तिनिर्देशाच्च। स्यान्मतं 'परस्परमसंवद्धानामपि स्वरूपसत्त्वप्रसिद्धेर्नार्थसमवायसामान्यानामसत्त्वम्। कूर्मरोमादीनां स्वरूपसत्त्वाभावाच्च विपमोयमुपन्यासः' इति तदयुक्तं, द्रव्यगुणकर्मणां स्वरूपसत्त्वोपगमे सत्तासमवायस्य वैयर्थ्यात्सामान्यादिवत्, सामान्यादीनां

वा सत्तासंबन्धप्रसङ्गाद्द्रव्यादिवत्, तेषां स्वरूपसत्त्वानुपगमे कूर्मरोमादिभ्यो विशेषाभावात् सम एवोपन्यास इति निरूपणात्। कथं चार्थान्तरभूताया सत्तायां समवायवत्सर्वथानभिसवद्धायां द्रव्यगुणकर्मणा सत्त्वं न पुनः कूर्मरोमादीनाम् ? इति चिन्त्यम्। कथं च सत्तासामान्यं सर्वथा समवायासवद्धं द्रव्यादिषु समवायि न पुनः समवायस्तत्र समवायी समवायान्तरेणासवद्ध इति वुद्ध्यामहे ? समवायसवद्धत्वाभावाविशेषात्, सतापि हि समवायेन सामान्यस्यासवद्धत्वं समवायान्तरेण पुनरसता समवायस्येति तत्सदसत्त्वाभ्यामसवद्धत्वस्य विशेषयितुमशक्तेः। न च कश्चित्सवन्धः स्वसंबन्धिभ्यामसवद्ध एव तौ घटयितुमलं, सयोगस्यापि स्वसंयोगिभ्यामसबद्धस्यैव तयोर्घटकत्वप्रसङ्गात्। न चैवमिष्यते, सिद्धान्तविरोधात्। ततो न कार्यकारणयोर्गुणगुणिनोः सामान्यतद्वतोर्वान्यतैकान्ते तद्भावो युक्तोऽकार्यकारणादिवत्, समवायादर्थान्तरभावनियमाच्च। तद्वत्समवायोपि न तेषां परस्पर घटनकारी सर्वथानभिसवद्धत्वात् तादृगर्थान्तरवत्। ततश्चासन् समवायोनर्थक्रियाकारित्वात् कूर्मरोमादिवत्। सामान्य चासत् तत एव तद्वत्। न हि तदर्थैरसवद्धं स्वविषयज्ञानोत्पादनलक्षणामप्यर्थक्रिया कर्तुं प्रभवति यतोऽसिद्धो हेतु· स्यात्। तथा न सन्ति द्रव्यादीनि सत्तासमवायरहितत्वात्तद्वत्। सामान्यादिभिर्व्यभिचार इति चेत्, न, तेषामपि परमार्थतः सत्त्वानभ्युपगमात्। न चोपचरितसद्भिर्व्यभिचारचोदनोपपत्तिमती, परमार्थसत्त्वाभावसाधनस्यातिप्रसङ्गात्। इति न कार्यकारणादीनामन्यतैकान्तः श्रेयान्, प्रमाणाभावादनन्यतैकान्तवत् ॥६६॥

ततः परस्परत इत्यादि, युक्तं चैतन्नह्यसम्बद्धाभ्यां घटसंयोगाभ्यां कृत्वा भूतलं घटसम्बद्धं भवति, पटसंयोगेन घटवद्भूतलमित्यस्याप्यापत्तेः, न च सामान्यनिरूपितत्वं समवायैक्ये किञ्चिदतिप्रसङ्गवारकं नाम, तन्नानात्वे स्वरूपतः सामान्यनिरूपितत्वं व्यवहारे स्वीक्रियतां, किमन्तर्गडुना समवायेन, तत्र सत्तानिरूपितत्वस्य खपुष्प इवासम्भवादिति। कथं

चेत्यादि अनभिसम्बद्धायामित्यनन्तरमङ्गीक्रियमाणायामिति शेषः । अत्र यत् यत्सम्बन्धाभाववत् तत्तेन सम्बन्धेन तदभाववदिति व्याप्तेरर्थसमवायाभाववत्याः सत्ताया अर्थेऽभावात् कूर्मरोमतुल्यत्वमर्थानां पराभिमतानामिति बोध्यम् । उक्तयुक्तिमेवोत्तेजयति कथं च सत्तासामान्यमित्यादिना, तत्रश्चासत्समवाय इति, ननु समवायो यदि सत्तया सर्वथानभिसम्बद्धः स्यात्तदाऽर्थे सत्तां न संघटयेदिति तर्कः समवायासिद्धावाश्रयासिद्धत्वेन प्रशिथिलमूलस्तन्सिद्धौ च किं तेन उदिते सूर्ये चौरादिशापवत्तस्य व्यर्थत्वात् केवलं ततः समवायस्य स्वभावविशेषं कल्पयेत् प्राज्ञो येन सत्तायामसन्नप्यसौ तामर्थेन संघटयेदित्ययुतसिद्धानामिहेति प्रत्ययहेतुरनुगतः समवायो दुरपह्नव इति चेद्, दुरन्तेयं नैयायिकसमयवासनानुबद्धा लाघवधीर्देवानांप्रियस्य, हन्तैवं जलादौ वह्न्याद्यभावप्रमायाः सम्बन्धनियतत्वात्तत्राप्यनुगतं वैशिष्ट्यसम्बन्धं लाघवप्रियः किं नाभ्युपैषि, स्वरूपसम्बन्धेनैव तत्प्रमोपपत्तेरतिरिक्तवैशिष्ट्येऽपि वैशिष्ट्यान्तरस्वीकारेऽनवस्थापत्तेरिति चेत्, समवायेऽपीदृशी दीयतां दृष्टिः । गुणगुण्यादिस्वरूपद्वये सम्बन्धत्वमतिरिक्तसमवाये वेति विनिगमकाभावादपि समवायसिद्धिः, प्रकृते तु नैवम्, अभावस्यानुगतत्वेन स्वरूपसम्बद्धत्वौचित्यादित्यपि रिक्तं वचः, जातिव्यक्तिस्थले जातेरेवानुगतत्वेन सम्बन्धत्वौचित्यात् समवायोच्छेदापत्तेः, असदृदृष्ट्या सर्वस्यैव कथञ्चिदनुगतत्वाच्च । न च समवायेन संयोगत्वाद्यवच्छिन्ने द्रव्यत्वादिना हेतुत्वात् समवायसिद्धिः, स्वरूपाणामानन्त्येन गौरवात्, कालिकादिस्वरूपेण स्पन्दादेरपि जन्यभाववत्त्वाच्चेत्यपि वाच्यम् । तथापि कालिकविशेषणतादिभिन्नस्य पदार्थमात्राधारतानियामकस्य कस्यचिद्वैशिष्ट्यस्य संयोगादिनिष्ठकार्यतावच्छेदकसम्बन्धत्वेनाविरोधात् । अथ प्रतियोगितया घटादिसमवेतनाशे कालावच्छिन्नस्वप्रतियोगिसमवेतत्वसम्बन्धेन घटादिनाशस्य हेतु-

त्वात्समवायसिद्धिः, जात्यादौ नाशापत्तिवारणाय कालावच्छिन्नेति, स्वप्रतियोगिवृत्तित्वेन हेतुत्वे तु घटादिवृत्तिध्वंसध्वंसापत्तिः, न च घटादिकालीनतद्वृत्तिक्रियासंयोगविभागद्वित्वादिनाशे व्यभिचारात् घटादिनाशक्षणवृत्तितत्समवेतनाशे हेतुत्वोक्तौ क्षणानामानन्त्येन विशिष्य नाश्यनाशकभावविश्रान्तौ गौरवात् कालिकेन घटादिनाशवृत्तिघटादिवृत्तिनाशे तेन घटादिनाशस्य हेतुत्वकल्पनात् प्रतिक्षणं तादृशस्य कस्यचिन्नाशेनानुपपत्त्यभावान्न समवायसिद्धिरिति वाच्यम्, तथापि लाघवात्प्रतियोगितया स्वप्रतियोगिसमवेतत्वस्वाधिकरणत्वोभयसम्बन्धेन नाशवन्नाशत्वावच्छिन्ने स्वप्रतियोगिसमवेतत्वेन नाशत्वावच्छिन्नस्य हेतुत्वेन समवायसिद्धेरप्रतिरोधादिति चेत्, न। परमाणुरूपशब्दकर्मवेगद्वित्वादिनाशधारावारणाय प्रतियोगिनो विशिष्यहेतुत्वाद्ध्वंसध्वंसापत्त्यभावात् कालावच्छिन्नस्वप्रतियोगिसमवेतत्वमपहाय तत्स्थाने सन्निष्ठस्वप्रतियोगिवृत्तित्वस्य स्वप्रतियोगिवृत्तिसत्त्वस्यैव वा सम्बन्धस्याभिषेके लाघवादनतिप्रसङ्गाच्च। एतेनाश्रयनाशजन्ये नाशे प्रतियोगिनो विशिष्याहेतुत्वाद् ध्वंसे तदापत्तिर्दुर्वारेत्याद्यपास्तम्। अपि च रूपाभावान्यमहद्वृत्तिचाक्षुषे चक्षुःसंयुक्तमहदुद्भूतरूपवद्वैशिष्ट्यस्य हेतुत्वाद्वैशिष्ट्यसिद्धिर्जायमाना समवायमपाकुरुते, न चैवमपि महत्त्वाभावरूपाभावयोश्चाक्षुषे कार्यकारणभावद्वयान्तरावश्यकत्वे रूपाभावान्यद्रव्यवृत्त्यभावचाक्षुषे चक्षुःसंयुक्तोद्भूतरूपवद्विशेषणता महत्त्वाभावान्यद्रव्यवृत्त्यभावचाक्षुषे चक्षुःसंयुक्तमहत्त्ववद्विशेषणता द्रव्यसमवेतचाक्षुषे च चक्षुःसंयुक्तमहदुद्भूतरूपवत्समवायो हेतुरित्येव कल्पयितुं युक्तम्, अत एव जातिसाधारणसमवायसिद्धिरिति भट्टाचार्योक्तमपि श्रद्धेयं, द्रव्यसमवेतत्रुटिचाक्षुषे व्यभिचारवारणाय द्रव्यान्यत्वविशेषणदाने रूपाभावमहत्त्वाभावचाक्षुषनिष्ठकार्यतावच्छेदकपर्यालोचने च गौरवात्, वैशिष्ट्यवादिनो रूपाभावान्यमहद्वृत्तिचाक्षुषत्वं महत्त्वाभावान्यरूपवद्वृत्तिचाक्षुषत्वं वा कार्य-

तावच्छेदकमिति विनिगमनाविरहस्फूर्त्तौ तु तेन वस्तुतो रूपाभावान्यमहद्वृत्तिनिष्ठा या विषयता तया चाक्षुषत्वमेव कार्यतावच्छेदकं वाच्यम्, अपि च समवायवादिनः कार्यकारणभावत्रये प्रथमद्वितीयाभ्यामेव कार्यतावच्छेदके चरमाभावत्वाप्रवेशे द्वितीये द्रव्यभेदप्रवेशे च वैशिष्ट्यवादिनो निर्वाहान्नान्त्यस्य हेतुतेतिलाघवं, न चैवं पार्थिवाणुघ्राणमात्रेन्द्रियसन्निकर्षे पृथिवीत्वादिप्रत्यक्षापत्तिः, परस्यापि तन्मात्रसन्निकर्षाज्जलत्वाभावादिप्रत्यक्षतापत्तेस्तद्वारणाय रूपाभावप्रत्यक्षे चक्षुःसंयुक्तमहत्त्ववद्विशेषणता महत्त्वाभावचाक्षुषे चक्षुःसंयुक्तोद्भूतरूपवद्विशेषणता रूपमहत्त्ववद्वृत्ते रूपाभावमहत्त्वाभावभिन्नस्य चाभावस्य चाक्षुषे चक्षुःसंयुक्तमहदुद्भूतरूपवद्विशेषणता हेतुरित्यभावप्रत्यक्ष एव परेण कार्यकारणभावत्रयं वाच्यम्, भावप्रत्यक्षे चान्यत्, तथा च तृतीये कार्यतावच्छेदकेऽभावत्वाप्रवेशाद्भावप्रत्यक्षेऽपि वैशिष्ट्यवादिनस्तत एव निर्वाहः, एवं च चक्षुःसंयुक्तसमवायादेरप्यस्वीकाराल्लाघवम्। न च परेणापि व्यासज्यवृत्तिधर्मप्रत्यक्षानुरोधेन तत्तद्द्रव्यचाक्षुषादौ चक्षुःसंयोगादिहेतुत्वेनैव तत्तद्वृत्तिगुणकर्माभावादिप्रत्यक्षनिर्वाहे चक्षुःसंयुक्तसमवायादिप्रत्यासत्तेरेवास्वीकारान्नोक्तलाघवावतार इति वाच्यम्, यदवच्छेदेन घटपटयोः संयोगस्तद्भिन्नावच्छेदेन चक्षुःसंयोगवशात्तदुभयप्रत्यक्षेऽपि तदुभयसंयोगाप्रत्यक्षात्तत्प्रत्यक्षस्य तदुभयविषयकत्वनियमाभावाद् व्यासज्यवृत्तिधर्मप्रत्यक्षे पृथक्सामग्र्या आवश्यकत्वादुक्तहेतुत्वेन न निर्वाह इत्यादेः प्रथमपरिच्छेद एव विवेचितत्वात्। यत्र च न व्यासज्यवृत्तिधर्मप्रत्यक्षानुरुद्धा हेतुता तत्र घ्राणादिप्रत्यासत्तौ लाघवाद्वैशिष्ट्यसिद्धेर्ब्रह्मणाऽपि दुर्वारत्वाच्च। न च गन्धग्राहकं घ्राणसंयुक्तमहत्त्वोद्भूतगन्धवद्वैशिष्ट्यं गन्धाभावग्राहकं तूद्भूतगन्धाघटितमिति न तयोरैक्यसम्भव इति शङ्कनीयम्, अनुद्भूतगन्धभेदस्य गन्धसाक्षात्कारहेतुतयोद्भूतगन्धस्य सन्निकर्षाघटकत्वादिति परेषामेव नव्यनयप्रासादमारोहतां विचार-

निश्रेणी । अपि च जातिसाधारणसमवायसिद्धौ जातेरर्थवत्त्वापत्तिः, यत्र यत्सम्बन्धवत्त्वं तत्र तद्वत्त्वमिति नियमस्य ग्रन्थकृतैव पूर्वं सूचितत्वात्, तत्र तस्य तद्वृत्तित्वानियामकत्वान्नेयमिति चेत्, तदपि कुतः, तथा विशिष्टबुद्ध्यभावादिति चेद्, व्यक्त इतरेतराश्रयः, तत्र तद्वृत्तितानियामकसम्बन्धाभावे तथा विशिष्टबुद्ध्यभावस्तदभावाच्च स इति, तस्माद् व्यक्तिस्वरूपस्य जातौ वृत्त्यनियामकत्वमित्यसन्मतमेव श्रेय इति । यदपि द्रव्यजात्यन्यचाक्षुपे महदुद्भूतरूपवद्भिन्नसमवेतत्वेन प्रतिबन्धकत्वात् समवायसिद्धिरिति कैश्चिदुच्यते, तदपि तुच्छं, द्रव्यान्यसचाक्षुपत्वावच्छिन्ने महदुद्भूतरूपवद्भिन्नवृत्तित्वेन प्रतिबन्धकत्वकल्पनाया एवौचित्यात्, तदेवं लाघवादेकः समवायो यैः साध्यते तेषामितोऽपि लाघवाद्वैशिष्ट्यमेकं बलादापतेदिति निर्व्यूढम् । यः पुनराह—नेत्याकारकाभावप्रत्यक्षापत्तेरयोग्याभावप्रत्यक्षापत्त्या च प्रतियोगिविशिष्टतत्तदभावप्रत्यक्षे तत्तदभावविशेषणता हेतुरतो नाभावमात्रस्य वैशिष्ट्यसिद्धिरिति, सोऽपि न प्रेक्षापूर्वकारी, भावाभावसाधारण्येन लाघवादेकवैशिष्ट्यसिद्धौ विशिष्यप्रत्यासत्तौ तन्निवेशस्याबाधकत्वात्, अन्यथा समवायैक्येऽप्यगतेः, तस्यापि व्याप्यवृत्त्यव्याप्यवृत्त्यादिगुणप्रत्यक्षानुरोधेन विशिष्यापि प्रत्यासत्तिघटकत्वात्, प्रतियोगिज्ञानादिकारणतयोक्तापत्तिनिरासेनाभावप्रत्यक्षे विशेषणतायाः सामान्यतः प्रत्यासत्तिताया एव युक्तत्वाच्च । वस्तुतः सत्तापि सामान्यत एका विशेषणभेदाच्च भिन्नेत्युक्तं, समवायोऽपि च त्वया लाघवादेको रूपिनीरूपव्यवस्थानुरोधेन च गलेपादिकया नाना स्वीकार्यः, तद्वत् वैशिष्ट्यमप्येकानेकरूपत्वेन वैश्वरूप्यं बिभ्रत् केन प्रत्याख्यातुं शक्यम् । ततश्च—" एकं स्वीकुरु वैशिष्ट्यं, समवायं विमुञ्च वा । क्रीडाकान्दुकतां नेय, इति नैयायिको बुधैः ॥ १ ॥ नाशस्य प्रागभावत्वं, प्रागभावस्य नाशता । घटादौ तस्य सम्बन्धं, वैशिष्ट्याख्यं विना कथम् ॥२॥

अभावाभावरूपत्वात्, सर्वस्य प्रतियोगिनः। तत्सम्बन्धेषु वैशिष्ट्य-रूपत्वं चेत् न मन्यते ॥ ३ ॥ नेति धीस्तत्र तत्र स्यान्नहि सा कालिकादिना। वैशिष्ट्यत्वे तु तेष्विष्टे संसर्गाकारगौरवम् ॥ ४ ॥ धर्मातिरेके तद्धर्मः स्पर्द्धयैवातिरिच्यते। जात्यन्तरात्मके तत्त्वे किमसाध्यं विवक्षया ॥ ५ ॥ विशिष्टे लक्षणाऽन्येषा-मविशिष्टे च कस्यचित्। जात्यन्तरं त्वखण्डं वा, खण्डशो वा प्रतीयताम् ॥ ६ ॥ इतीह वैशिष्ट्यमनेकमेकं, समर्थितं न्यायविशारदेन। स्वरूपविश्रान्तिजुषा च तेन भग्ना परेषां समवायवृत्तिः ॥ ७ ॥" ॥६६॥

अपरः प्राह, मा भूत्कार्यकारणादीनामन्यतैकान्तः परमाणूनां तु नित्यत्वात् सर्वास्ववस्थास्वन्यत्वाभावादनन्यतैकान्त इति तं प्रति सम्प्रत्यभिधीयते।

अनन्यतैकान्तेणूनां संघातेपि विभागवत्। असंहतत्वं स्याद्भूतचतुष्कं भ्रान्तिरेव सा ॥ ६७ ॥

यथैव हि विभागे सति परमाणवोऽसहतात्मानस्तथा संघातकालेपि स्युः, सर्वथान्यत्वाभावादन्यत्वे तेपामनित्यत्वप्रसङ्गात्। सघातकाले कार्यस्योत्पत्तेस्तदसमवायिकारणस्वसयोगस्वभावं संहतत्वं भवत्येवेति चेत्, न, तेपामतिशयानुत्पत्तौ संयोगस्यैवासंभवात् पृथिव्यादिभूतचतुष्कस्यावयवविलक्षणस्य भ्रान्तत्वप्रसङ्गात्। कर्मणोतिशयस्य प्रसूतेः सयोगः परमाणूनामिति चेत्, न, कथंचिदन्यत्वाभावे तदयोगात्। क्षणिकत्वात्परमाणूनामदोष इति चेत्तथापि कार्यकारणादेरभेदैकान्ते धारणाकर्पणादयः परमाणूनां सघातेपि मा भूवन्विभागवत्। विभक्तेभ्यः परमाणुभ्यः सहतपरमाणूनां विशेपस्योत्पत्तेर्धारणाकर्पणादयः सगच्छन्ते एवाधोमुखसोदककमण्डलुधद्धंशरज्ज्वादिवच्चेति चेत्स तर्हि तेपां नाहितोपि विशेपो विभागैकान्तं निराकरोति, तन्निराकरणे परमाणुत्वविरोधादेकत्वपरिणामात्मकस्कन्ध-

स्योत्पत्तेः । प्रविभक्तपरमाणुभ्यः संहतपरमाणूनामविशिष्टत्वलक्षणानन्यत्वासभवात संहतानां धारणाकर्षणादिसामर्थ्यं विशेषो न पुनरपरमाणुत्व, येनाविशेष. कार्यकारणपरमाणूना न भवेदिति चेत्, न, सर्वथा तदविशेषे तत्सामर्थ्यस्यैवायोगात् प्रविभक्तपरमाणूनामपि तत्प्रसङ्गात् । प्रविभक्तत्वादेव न तेषा तत्सामर्थ्यमिति चेत्, तत एवान्यत्रापि तन्नेष्यते, केनचिदपि विशेषान्तरेण तद्विभक्तत्वानिराकरणात् । पृथिव्यादिभूतचतुष्टयस्थितिरेवं विभ्रममात्रं प्राप्नोति, सर्वदा परमाणुत्वाविशेषात् । इष्टत्वाददोष इति चेत्, न, प्रत्यक्षादिविरोधात् । प्रत्यक्षं हि वहिर्वर्णसंस्थानाद्यात्मकं स्थवीयांसमाकारमन्तश्च हर्षाद्यनेकविवर्तात्मकमात्मानं साक्षात्कुर्वद्भ्रान्त चेत्किमन्यदभ्रान्तं यत्प्रत्यक्षलक्षणं विभृयात् ? प्रत्यक्षाभावे च कुतोनुमानं न विरुध्यते ? न च प्रत्यक्षादिविरोधे स्वसंवेदनमात्रमपि सिध्येत्, सर्वदा संवित्परमाणुमात्रस्यासंवेदनात् । न च कार्यस्य भ्रान्तौ परमाणुसिद्धिस्तत्त्वतः स्यादित्युच्यते ॥ ६७ ॥

कार्यभ्रान्तेरणुभ्रान्तिः कार्यलिङ्गं हि कारणम् । उभयाभावतस्तत्स्थं गुणजातीतरच्च न । ६८ ।

प्रत्यक्षतः परमाणूनां प्रसिद्धेर्नाणुभ्रान्तिरिति चेत्, न, तेषामप्रत्यक्षत्वात् । तथा हि । चक्षुरादिबुद्धौ स्थूलैकाकारः प्रतिभासमानः परमाणुभेदैकान्तवादं प्रतिहन्ति तद्विपरीतानुपलब्धिर्वा । तत्रैतस्याभ्रान्तैकत्वादिप्रतिपत्तिरिति तन्न, परमाणूना चक्षुरादिबुद्धौ स्वभावमनर्पयतां कार्यलिङ्गाभावात्तत्स्वभावाभ्युपगमानुपपत्तेः, प्रविरलवकुलतिलकादीनां जातुचित्प्रत्यक्षतोऽप्रतिपत्तावनेकाकारप्रतिभासस्य च भ्रान्तत्वे तत्स्वभावाभ्युपगमानुपपत्तिवत् । कार्यलिङ्गं हि कारणं परमाणुरूपम् । तत्कथं कार्यस्य भ्रान्तौ भ्रान्तं न भवेत् ? परमाणूनां कार्यस्य चानभ्युपगमे तद्द्वयाभावात्तद्वृत्तयो जातिगुणक्रियादयो न स्युर्व्योमकुसुमसौरभवत् । तद्धि गुणजातिरूपादिसत्तादिस्वभावमितरच्च क्रियाविशेषसमवायाख्यं परमाणुवृत्ति वा स्यात् कार्यद्रव्यवृत्ति वा, न च तदुभयासंभवेभ्युपगन्तुं युक्तं, गगनकुसुमस्याभा-

वेपि तद्वृत्तिसौरभाभ्युपगमप्रसङ्गात् । ततस्तदभ्युपगच्छता कार्यद्रव्यमभ्रान्तमभ्युपगन्तव्यम् । तच्च परमाणूनां परमाणुरूपतापरित्यागेनावयविरूपतोपादाने सति संभाव्यते नान्यथा । तत्र तेषामनन्यतैकान्तः, कार्योत्पत्तौ कथंचिदन्यत्वोपपत्तेः । तत. सौगतवन्न वैशेषिकाणां स्वमतसिद्धिः ॥ ६८ ॥ साङ्ख्यानां च कार्यकारणयोः—

'तच्च परमाणूनामिति' ननु कथमेतत्, आरब्धकार्याणामपि परमाणूनामवयविसमवायित्वेऽपि तद्रूपस्वीकारस्य परमाणुरूपतापरित्यागस्य चायुक्तत्वादिति चेत्, न, आरब्धकार्याणामणूनां स्कन्धस्थानामपि प्रदेशत्वस्वीकारे परमाणुत्व परित्यागस्य कथञ्चिदवयवित्वापत्तेश्चावश्यकत्वात्, सर्वथाऽवयवावयविभेदे शतमाषकारब्धेऽवयविनि माषकशताद्गुरुत्वाधिक्यादवनतिविशेषप्रसङ्गात्, न च गुरुतरद्रव्ययोः समयोरुत्तोलने एकत्र संलग्नतृणादिगुरुत्वाधिक्यानवनतिवदुपपत्तिः अवयविन्यत्यन्तापकृष्टगुरुत्वस्वीकारादिति वाच्यम्, एवं सति तत्तदवयवित्वेन तत्तदवयवगुरुत्वात्यन्तापकृष्टगुरुत्वहेतुत्वकल्पने महागौरवात्, स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेनोत्कृष्टगुरुत्वस्य समवायेनात्यन्तापकृष्टगुरुत्वहेतुत्वस्वीकारे चात्यन्तापकृष्टगुरुत्ववदण्वारब्धस्थले व्यभिचारात्, परमाणावत्यन्तापकृष्टगुरुत्वं पाकजमेवापाकजे च तत्रोक्तहेतुत्वान्न दोष इति चेत्, न, अत्यन्तापकृष्टगुरुत्ववदण्वारब्धेऽपि ततोऽत्यन्तापकृष्टगुरुत्वस्वीकारेऽत्यन्तत्वाविवेचनात् । स्वजन्यावनतिविशेषोत्कृष्टावनतिविशेषप्रयोजकरूपाभाव एवात्यन्तत्वं तादृशात्यन्तापकृष्टगुरुत्वे च गुरुत्वमात्रस्यैवोक्तसम्बन्धेन हेतुत्वान्न दोप इति चेत्, न, तथापि परमाणावेवोत्कृष्टगुरुत्वविश्रामापत्तेः । न च तस्यापि युक्तत्वं, पाषाणारम्भकपरमाण्वारब्धतद्रूसमद्रव्ये पाषाणतुल्यगुरुत्वप्रसङ्गात्, स्वैरं परिभ्रमद्भिस्तत्परमाणुभिर्जगदाक्रमणप्रसङ्गाच्च, तस्मादारब्धकार्यैरणुभिः कथञ्चिदसदेवावयवित्ववद्गुरुत्वं स्वी-

क्रियते ततस्तेषु नानन्यतैकान्त इति युक्तम् । एतेनास्तु वा परमाणावेव गुरुत्वं द्व्यणुकादेरधःसंयोगस्तु गुरुत्वसापेक्षपातजन्यावयववेगजवेगाधीनक्रियया, पातव्यवहारस्तु वर्तिस्थदीपपातव्यवहारवद् गौणः, न चैवं महावयविपाते बहुविलम्बप्रसङ्गः, मिथो विष्टब्धावयवानां विष्टम्भाधीनक्रियाजन्यवेगेनान्त्यावयविनि द्रुतवेगसम्भवात् पातव्यवहारवत्परम्परया सम्बन्धविशेषेण वा परमाणुगुरुत्वमेव वा पतननियामकमित्यपास्तम्, अधःसंयोगे गुरुत्वस्य सामानाधिकरण्येनैव हेतुत्वात् परमाणुगतगुरुत्वेन परम्परयाऽवयविनिष्ठकार्योत्पत्तौ तद्गतरूपादिनापि चाक्षुषादिकार्यनिर्वाहेऽवयविरूपादेरप्युच्छेदप्रसङ्गात्, सम्बन्धविशेषस्य च प्रदेशस्कन्धभावाख्यतादात्म्यातिरिक्तस्य दुर्वचत्वात्तत्स्वीकारे चाणूनां कथंचिदवयविरूपतापत्ताव(न)न्यत्वस्यानायासमिद्धत्वात् । यदप्युच्यते भट्टाचार्यैर्गुरुत्व एव वा मानाभावो, वायुतेजसोस्तिर्यगूर्ध्वगमनवत् पाथःपृथिव्योरधोगमनस्यासति प्रतिबन्धकेऽदृष्टवदात्मसंयोगादिनैवोपपत्तेः, पतनप्रकर्षस्त्ववयवाधिक्यात्, अवयविनि गुरुत्वापकर्षत्वादिनापि तथैव गन्यत्वादिति, तदपि चिन्त्यम्, अवयवाधिक्येन पतनप्रकर्षे महाधूमस्यापि तत्प्रसङ्गात्, स्पर्शविशेषवदवयवाधिक्यस्य तत्प्रयोजकत्वे च स्पर्शविशेषस्यैव तत्त्वौचित्याद्, गुरुत्वस्य च तद्गतजातिविशेषस्यैव कल्पयितुं युक्तत्वात्, एवं हि पतनहेतुतावच्छेदकं गुरुत्वं स्यादिति लाघवम्, परमते तु गुरुत्वत्वमिति गौरवमित्यस्मदेकपरिशीलितः पन्थाः । तदेवं गुरुत्वादिमत्कार्यद्रव्यभेदेन कथञ्चिदन्यत्वमणूनां सिद्धम् । एतेन नित्यत्वात् कार्यद्रव्यानारम्भकत्वाच्चाणूनां नान्यत्वं लौकिकविषयतया द्रव्यसाक्षात्कारत्वावच्छिन्ने त्र्यणुकत्वादिघटकसंयोगानां पिशाचत्वादिघटकसंयोगभिन्नानां स्वजात्येन कारणत्वान्न केवलाणुद्व्यणुकप्रत्यक्षापत्तिः, तादृशसंयोगविशिष्टवृत्तित्वादिकं च गुणादिप्रत्यक्षे तन्त्रमिति केवलाणुद्व्यणुकादिगुणाप्रत्यक्षत्वेऽपि न

त्र्यणुकादिगुणाप्रत्यक्षत्वम्, न चैवं तन्तूनामेव पटत्वे तन्तुषु पट इति धीर्न स्यात्, स्याद्वा तन्तुषु तन्तुरित्यादिकमपीति वाच्यम्, फलबलेन विलक्षणसंयोगवत्त्वरूपतन्तुत्वादेरेव विलक्षणसंयोगवत्त्वरूपपटत्वादिविशिष्टाधारतावच्छेदकत्वस्वीकारात्, पट उत्पन्नः पटो नष्ट इत्यादिधीस्तु विशेषणोत्पादनाशविषया, एकः पट इति प्रतीतिश्चैकं वनमित्यादिवत् समूहैकत्व-विषया, पटो महानिति धीरप्यणूनां महत्त्वासम्भवान्महान् धान्यराशिरितिवत् संयोगविशेषरूपं महत्त्वमवगाहत इत्यादि नव्यनास्तिकमतमपास्तम्। विलक्षणसंयोगवत्तावदणुत्वस्य पटत्वरूपत्वे तावत्त्वाप्रत्यये तदप्रत्ययापत्तेः, न च विलक्षणसं-योगत्वादिकमेव पटत्वादिकं तन्तुसंयोगात्पट उत्पन्न इत्यादिव्यवहारायाथार्थ्यापत्तेः, तन्त्वाद्यग्रहे तत्संयोगाग्रहेऽपि पटत्वादि-प्रतीतेश्च। किञ्च विलक्षणसंस्थानावच्छेदेन सन्निकर्षाद् यद्द्रव्यगतघटत्वादिग्रहस्तस्योत्पादविनाशभेदादिप्रत्ययानुपपत्त्या पृथगवयविसिद्धिस्तस्य चैकस्याप्यावृतानावृतत्वरक्तारक्तत्वसकम्पनिष्कम्पत्वादिना भेदाद्देशप्रदेशरूपतासिद्धौ कथं नाणू-नामवयविप्रदेशतयाऽन्यत्वं, तेन कथञ्चिन्नित्यत्वस्याव्याहतेः, सर्वथा नित्यत्वस्य च क्वाप्यनभ्युपगमात्। किञ्च विभाग-जातोत्पत्त्याऽप्यणूनामन्यत्वं साधनीयम्, अन्यथा कपालादीनामपि तदुच्छेदापत्त्या सत्कार्यवादापत्तेरिति दिग्॥ ६८॥

एकत्वेऽन्यतराभावः शेषाभावोऽविनाभुवः। द्वित्वसंख्याविरोधश्च संवृतिश्चेन्मृषैव सा॥ ६९॥

कार्यस्य हि महदादेः कारणस्य च प्रधानस्य परस्परमेकत्वं तादात्म्यम्। तस्मिन्नभ्युपगम्यमानेऽन्यतरस्याभावः स्यात्। ततः शेषस्याप्यविनाभुवोऽभावः। इति सर्वाभाव· प्रसज्यते। यदि पुनः कार्यस्य कारणेऽनुप्रवेशात्पृथगभावेपि कारणमेकमास्ते एव नित्य-त्वादिति मतं, तदा द्वित्वसख्याविरोधोपि, सर्वथैकत्वे तदसभवात् कार्यकारणभावादिवत्। सवृतिरेव द्वित्वसख्या तत्रेति चेत्, तर्हि

मृषैव सा तद्वदेव प्रसक्ता। तथा च कुतः प्रधानस्याधिगतिः ? न तावत्प्रत्यक्षात्, तस्य तदविषयत्वात्। नाप्यनुमानात्, अभ्रान्तस्य लिङ्गस्याभावात्। न चागमात्, शब्दस्यापि भ्रान्तत्वोपगमात्। न च भ्रान्ताल्लिङ्गादेरभ्रान्तसाध्यसिद्धिरतिप्रसङ्गात्। एवं पुरुषचैतन्ययोराश्रयाश्रयिणोरेकत्वे तदन्यतराभावः। पुरुषे चैतन्यानुप्रवेशे पुरुषमात्रस्य, तस्य वा चैतन्यानुप्रवेशे चैतन्यमात्रस्य प्रसक्तेः सिद्धस्तावत्तदन्यतरस्याभावः परेषाम्। ततः शेषाभावस्तत्स्वभावाविनाभावित्वाद्वन्ध्यासुतरूपसंस्थानवत्। यथैव हि वन्ध्यासुतरूपस्याभावे न तस्य संस्थानं संस्थानिस्वभावाविनाभावित्वात्। तथा पुरुषस्याश्रयस्याभावे चैतन्यस्याश्रयिणोऽप्यभावस्तदभावे पुरुषस्याप्यभावः, तत्स्वभावाविनाभावात्। तथा सति द्वित्वसंख्यापि न स्यात्, पुरुषचैतन्ययोरेकत्वमिति। तत्र संवृतिकल्पना शून्यत्वं नातिवर्तते, परमार्थविपर्ययाद्व्यलीकवचनार्थवत्, परमार्थतः संख्यापाये संख्येयाव्यवस्थानात् सकलधर्मशून्यस्य कस्यचिद्वस्तुनोऽसंभवात्। तन्न कार्यकारणादीनामनन्यतैकान्तः संभवत्यन्यतैकान्तवत् ॥ ६९ ॥

एकत्व इति, अस्यां कारिकायामविनाभूपदम् अविनाभाविकार्यकारणद्वयेऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्यं, तच्च षष्ठ्यन्तमेकत्व इत्यनेनान्वेति, ततश्चाविनाभाविकार्यकारणद्वयस्यैकत्वेऽभ्युपगम्यमानेऽन्यतराभावः स्यात्तस्मिंश्चापन्ने शेषस्याभाव आपद्यत इत्यर्थः, तेन शेषस्याप्यविनाभुवोऽभाव इति व्याख्यास्यमानसार्थेन योगेन, नतु सौत्रेण, अभावान्वितस्य शेषपदार्थस्याविनाभूपदार्थेऽन्वयासम्भवादिति बोध्यम् ॥ ६९ ॥

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम्। अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्ति-र्नावाच्यमिति युज्यते ॥७०॥

अवयवेतरादीना व्यतिरेकाव्यतिरेकैकान्तौ न वै यौगपद्येन संभविनौ विरोधात्। तथाऽनभिलाप्यतैकान्ते स्ववचनविरोधस्तद-

भिलाप्यत्वात् । अनभिलाप्यतैकान्तस्याप्यनभिलाप्यत्वे कुतः परप्रतिपादनम् ? तद्वचनाच्चेत्कथमनभिलाप्यतैकान्तः ? परमार्थतो न कश्चिद्वचनात्प्रतिपाद्यते इति चेत्, स्वयमवाच्यताप्रतिपत्तिः कथम् ? वस्तुनि वाच्यतानुपलब्धेश्चेत्, सा यदि दृश्यानुपलब्धिस्तदा सिद्धा कचिद्वाच्यता । नो चेन्नास्ति तदभावनिश्चयोऽतिप्रसङ्गात् । विकल्पप्रतिभासिन्यन्यापोहे प्रतिपन्नाया एव वाच्यतायाः स्वलक्षणे प्रतिषेधाददोष इति चेत्, न, वस्तुवाच्यतायाः प्रतिषेधायोगात्, तदन्यापोहमात्रवाच्यताया एव प्रतिषेधात् । न चान्यापोहवाच्यतैव वस्तुवाच्यता तत्प्रतिषेधाविरोधात् । निरस्तप्रायश्चायमवाच्यतैकान्त इत्यलं प्रसङ्गेन । स्याद्वादाभ्युपगमे तु न दोषः, कथंचित् तथाभावोपलब्धेः । सर्वं हि वस्तु व्यञ्जनपर्यायात्मकतया वाच्यमर्थपर्यायात्मकत्वेनावाच्यमिति स्याद्वादिभिर्व्यवस्थाप्यते, अन्यथा प्रमाणाभावात् ॥ ७० ॥

व्यञ्जनपर्यायात्मकतया वाच्यमिति अभिलाप्यपर्यायात्मना वाच्यमित्यर्थः, अर्थपर्यायात्मकत्वेनावाच्यमिति घटादेरपि षड्गुणहानिवृद्धिरूपागुरुलघुपर्यायात्मनाऽवाच्यत्वव्यवस्थितिरित्यर्थः । एवं गौर्गोत्वेन गोपदशक्यो न पशुत्वेनेत्यादिप्रतीत्यापि वाच्यावाच्यत्वानेकान्तो भावनीयः ॥ ७० ॥ कार्यकारणादीनामनन्यतैकान्तदूषणेन तदनेकान्तस्य प्रक्रान्तत्वात् द्रव्यपर्याययोस्तदुपसंहारे उपक्रमोपसंहारविरोधः स्यादित्यालोच्य व्याचष्टे—

तदेवमवयवावयव्यादीनामन्यत्वाद्येकान्तं निराकृत्याधुना तदनेकान्तं सामर्थ्यसिद्धमपि दुराशङ्कापनोदार्थं दृढतरं निश्चिचीषवः सूरयः प्राहुः ।

द्रव्यपर्याययोरैक्यं तयोरव्यतिरेकतः । परिणामविशेषाच्च शक्तिमच्छक्तिभावतः ॥ ७१ ॥

संज्ञासंख्याविशेषाच्च स्वलक्षणाविशेषतः । प्रयोजनादिभेदाच्च तन्नानात्वं न सर्वथा ॥ ७२ ॥

गुणिसामान्योपादानकारणाना द्रव्यशब्दाद्ग्रहणम् । गुणव्यक्तिकार्यद्रव्याणां पर्यायशब्दात् । तदेवं द्रव्यपर्यायावेकं वस्तु, प्रतिभासभेदेप्यव्यतिरिक्तत्वात् । यत्प्रतिभासभेदेप्यव्यतिरिक्तं तदेकं, यथा वेद्यवेदकज्ञान रूपादिद्रव्यं वा मेचकज्ञानं वा । तथा च द्रव्यपर्यायौ न व्यतिरिच्येते । तस्मादेकं वस्त्विति मन्तव्यम् । पर्यायादवास्तवाद्व्यतिरिक्तमेव द्रव्यं वास्तवमेकेपाम् । द्रव्यादवास्तवाद्व्यतिरिक्त एव पर्यायो वास्तवः परेपाम् । ततोऽसिद्धो हेतुरिति न मन्तव्यं, तदन्यतरापायेऽर्थस्यानुपपत्तेः । तथा हि न द्रव्य केवलमर्थक्रियानिमित्तं क्रमयौगपद्यविरोधात् केवलपर्यायवत् । पर्यायो वा न केवलोऽर्थक्रियाहेतुस्तत एव केवलद्रव्यवत् । क्रमयौगपद्यविरोधस्तत्रासिद्ध इति चेत्, न, द्रव्यस्य पर्यायस्य वा सर्वथैकस्वभावस्य क्रमयौगपद्यादर्शनात्, अनेकपर्यायात्मन एव द्रव्यस्य तदुपलम्भात् । वास्तवत्वेपि द्रव्यपर्याययोरव्यतिरेकोऽसिद्धः, कुटादिद्रव्याद्रूपादिपर्यायाणा ज्ञानप्रतिभासभेदाद् घटपटादिवदिति चेत्, न, तस्यैकत्वाविरोधित्वात् । उपयोगविशेपाद्रूपादिज्ञाननिर्भासभेदः स्वविपयैकत्वं न वै निराकरोति, सामग्रीभेदे युगपदेकार्थोपनिबद्धविशदेतरज्ञानवत् । ततो नासिद्धो हेतुः । नापि विशेपणविरुद्धः, प्रतिभासभेदस्य विशेपणस्याव्यतिरिक्तहेतुना विरोधासिद्धेः । स्यान्मतम् अव्यतिरिक्तमैक्यमेवोच्यते । ततोऽय साध्याविशिष्टो हेतुरनित्यः शब्दो निरोधधर्मकत्वादिति यथा । ततो न गमक इति, तदसत्, कथंचिदप्यशक्यविवेचनत्वस्याव्यतिरिक्तस्य हेतुत्वेन प्रयोगात् । व्यतिरेचन व्यतिरिक्तं विवेचनमिति यावत् । न विद्यते व्यतिरिक्तमनयोरित्यव्यतिरिक्तौ । तयोर्भावोऽव्यतिरिक्तत्वमशक्यविवेचनत्वम् । इति व्युत्पादनात्तयोरैक्यमेव वस्तुत्वमिति साध्यस्येष्टत्वान्न साध्यमेव हेतुर्यतो न गमकः स्यात् । न चेतदसिद्धमशक्यविवेचनत्व, विवक्षितद्रव्यपर्यायाणा द्रव्यान्तर नेतुमशक्यत्वस्य

सुप्रतीतत्वाद्वेद्यवेदकाकारज्ञानवत् तदाकारयोर्ज्ञानान्तरं नेतुमशक्यत्वस्यैव तस्याभिमतत्वात्। तयोरयुतसिद्धत्वादेवमिति चेत, किमिदमयुतसिद्धत्वं नाम ? न तावद्देशाभेदः, पवनातपयोस्तत्प्रसङ्गात्। नापि कालाभेदस्तत एव। स्वभावाभेद इति चेत्, न सर्वथासौ युक्तो विरोधात्। कथंचिच्चेत्तदेवाशक्यविवेचनत्वम्। स एवाविष्वग्भावः समवाय इति परमतसिद्धिः, अन्यथा तस्याघटनात्। पृथगनाश्रयाश्रयित्व पृथग्गतिमत्त्वं चायुतसिद्धत्वमित्यपि नाशक्यविवेचनत्वादन्यत्प्रतिभाति। ततो न साध्यसाधनशून्यमुदाहरणमपि। रूपादिद्रव्यं वेत्यप्युदाहरणमुपपन्न, प्रतीतिसिद्धत्वात्, रूपादिद्रव्ययोः समवायस्याशक्यविवेचनत्वस्यैवाव्यतिरिक्तत्वस्य साधनस्य सद्भावादैक्यस्य चैकवस्तुत्वस्य साध्यस्य निर्णीतेः। धर्मिग्राहकप्रमाणेन बाधनात्कालात्ययापदिष्टो हेतुरित्यपि न सत्यं, तेन धर्मिणोः कथंचिद्भिन्नयोरेव ग्रहणात्, सर्वथा भिन्नयोर्द्रव्यपर्यायत्वासंभवात् सह्यविन्ध्यवत्। ननु द्रव्यपर्याययोर्भिन्नयोः कथमभेदो विरोधादिप्रसङ्गादिति चेत्, न, तथोपलम्भान्मेचकज्ञानवत् सामान्यविशेषवद्वा। न हि तत्र विरोधवैयधिकरण्यसंशयव्यतिकरसंकरानवस्थाऽप्रतिपत्त्यभावाः प्रसज्यन्ते, तेषां तथा प्रतीत्यापसारितत्वात्। न च प्रकृतयोस्तथा प्रतीतिरसत्या, सर्वदाऽन्यथा प्रतीत्यभावात्। तदेवं सति विरोधाद्युपालम्भश्चतुरस्रधियां मनो मनागपि न प्रीणयति, वर्णादेरप्यभावप्रसङ्गात्। द्रव्यमेवैकं, न वर्णादयो, विचारासहत्वाद्वर्णाद्येव वानेकं, न द्रव्यं नाम, तस्य विचार्यमाणस्य सर्वथानुपपत्तेरित्येकत्वानेकत्वैकान्तौ नान्योन्यं विजयेते, दूषणसमाधानयोः समानत्वात्, द्वयोरपि भावस्वभावप्रतिबन्धात्। द्रव्यैकत्वस्य भावस्वभावस्यैकान्तिकस्य प्रत्यक्षादिविरोधात् वर्णादिपर्यायैकान्तस्वभावस्य चाबाधितप्रत्यभिज्ञाननिराकृतत्वात् सिद्धं द्रव्यपर्याययोः कथंचिदैक्यम्॥ भेदः कथं सिद्धः ? इत्युच्यते, यत्परस्परविविक्तस्वभावपरिणामसंज्ञासंख्याप्रयोजनादिकं तद्भिन्नलक्षणं, यथा रूपादि, तथा च द्रव्यपर्यायौ तस्माद्भिन्नलक्षणावित्यनुमानात्, परस्परविविक्तस्वभावपरिणामौ

हि द्रव्यपर्यायौ, द्रव्यस्यानाद्यनन्तैकस्वभाववैश्रसिकपरिणामत्वात् । पर्यायस्य च साद्यन्तानेकस्वभावपरिणामत्वात् । ततो नासिद्धः परिणामविशेषादिति हेतुः । एतेन शक्तिमच्छक्तिभावः सिद्धः कथितः । परस्परविविक्तस्वभावसञ्ज्ञासंख्याविशेषौ च द्रव्यपर्यायौ, द्रव्ये द्रव्यमिति, पर्याये पर्याय इत्यन्वर्थसञ्ज्ञायाः प्रसिद्धेः, एकं द्रव्यमित्येकत्वसंख्यायाः, पर्याया बहव इति बहुत्वसंख्यायाश्चानुपचरितायाः प्रसाधनात् । ततः सञ्ज्ञासंख्याविशेषाच्चेत्यपि नासिद्धं साधनम् । द्रव्यस्यैकत्वान्वयज्ञानादिकार्यत्वात् पर्यायस्यानेकत्वव्यावृत्तिप्रत्ययादिकार्यत्वान्न तयोः परस्परविविक्तस्वभावप्रयोजनत्वमसिद्धम् । द्रव्यस्य त्रिकालगोचरत्वात् पर्यायस्य वर्तमानकालत्वाद्भिन्नकालत्वमपि न तयोरसिद्धं भिन्नप्रतिभासवत् । ततः प्रसिद्धाद्धेतोर्भिन्नलक्षणत्वं तयोः सिध्यत्येव । इति स्वलक्षणविशेषतस्तन्नानात्वं सिद्धम् । स्वमसाधारणं लक्षणं स्वलक्षणम् । तस्य विशेषो लक्ष्याविनाभावित्वं, तत एव तस्य लक्षणत्वोपपत्तेः ॥ नन्वसाधारणं रूपं वस्तुनो लक्षणमित्युच्यमाने सर्वं भिन्नं प्रमेयत्वादित्यनुपसंहार्यस्यापि लक्षणत्वप्रसङ्ग इति चेत्, न, कर्मतया प्रमितिजनकत्वस्य प्रमेयत्वस्यानुपसंहार्यस्यापि लक्षणत्वाविरोधात् सत्त्ववत् । सद्वस्तुलक्षणम्, "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" इति वचनात् । ननु च यन्न सन्न तद्वस्तु, यथा शशविषाणमिति विपक्षस्यासतः सिद्धेर्नानुपसंहार्यं सत्त्वं, सपक्षविपक्षरहितस्य पक्षव्यापिनोऽनुपसंहार्यत्वादिति चेत्, तत एव प्रमेयत्वमप्यनुपसंहार्यं मा भूत्, खरविषाणस्यासतो भिन्नत्वानाश्रयस्य कर्मत्वेन प्रमित्यजनकस्याप्रमेयस्य विपक्षस्य भावात् । सर्वशब्देन सतोऽसतश्च ग्रहणान्न तस्य विपक्षत्वमिति चेत्, तर्हि सद्ग्रहणेन भावस्य भावान्तरस्वभावप्रागभावादेश्च स्वीकरणात् कस्यचित् तद्विपक्षत्वं मा भूत् । पराभ्युपगतस्यानुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तस्य विकल्पबुद्धिप्रतिभासिनो विपक्षत्वे सदसद्वर्गाभावस्य पराभ्युपगतस्याप्रमाणविषयस्य विपक्षत्वमस्तु सर्वथा विशेषाभावात् । इति नानुपसंहार्यस्य संभवो, यतः पक्षव्यापिन एवासाधा-

रणस्य वस्तुलक्षणत्वं न स्यात्, विद्यमानयोरविद्यमानयोर्वा सपक्षविपक्षयोरसतः पक्षव्यापिनोऽसाधारणत्ववचनात्। एतेन पक्षाव्यापकस्यासाधारणत्व प्रत्युक्तं, तस्यासाधारणैकदेशत्वाल्लक्षणत्वायोगादग्नेरुष्णत्ववत्। न हि तत् सकलाग्निव्यक्तिष्वस्ति, प्रदीपप्रभादिष्वनुद्भूतोष्णस्पर्शेष्वभावात्। न चानुद्भूतमपि लक्षणं युक्तमप्रसिद्धत्वात्। यदि पुनरुष्णस्पर्शयोग्यत्वं पावकस्य लक्षणं स्यान्न कश्चिद्दोषः पक्षव्यापिनोऽसाधारणत्वसिद्धेः। एतेनाविद्यमाने विपक्षेऽसतोऽसंभवत्सपक्षस्यासाधारणत्वमुपदर्शितं प्रत्येयम्। विद्यमाने च सपक्षेऽसतोऽसंभवद्विपक्षस्य पक्षव्यापिनोऽसाधारणस्य लक्षणत्वमविरुद्धं शब्दस्यानित्यत्वे श्रावणत्ववत्। न हि तद् घटादावनित्ये सपक्षे विद्यमानेप्यस्ति। नाप्यस्य विपक्षो नित्यैकान्तः सभवति, शब्दत्वस्यापि सदृशपरिणामलक्षणस्य कथंचिदनित्यत्वात्, शब्दाभावस्य च शब्दान्तरस्वभावस्येतरेतराभावप्रध्वसाभावरूपस्यानित्यत्वात् पक्षादन्यत्वानुपपत्तेः। अशब्दात्मनोऽश्रावणत्वात् साधीय एव श्रावणत्वं शब्दस्य लक्षणं, शब्दात्मकत्वाभावेऽनुपपद्यमानत्वात्। इत्यन्यथानुपपद्यमानरूपं पक्षव्यापि लक्षणमनवद्यत्वात्। तत्र द्रव्यस्य लक्षणं गुणपर्ययवत्त्वं, "गुणपर्ययवद्द्रव्यम्" इति वचनात्, क्रमाक्रमभाविविचित्रपरिणामाभावे द्रव्यस्य लक्षयितुमशक्तेः, द्रव्यस्यापाये गुणपर्ययवत्त्वस्यानुपपत्तेः कार्यद्रव्ये घटादिविशेषे गुणवत्त्वस्य भावान्नवपुराणादिपर्याययोगित्वस्य च भावान्नाव्याप्तिर्लक्षणस्य। नाप्यतिव्याप्तिः, स्पर्शादिविशेषेषु क्रमजन्मसु पर्यायेषु स्पर्शादिसामान्येषु सहभाविषु गुणेषु चाभावात्। तथा पर्यायस्य तद्भावो लक्षणं, "तद्भावः परिणाम" इति वचनात्। तेन तेन प्रतिविशिष्टेन रूपेण भवनं हि परिणामः, सहक्रमभाविष्वशेषपर्यायेषु तस्य भावादव्याप्त्यसंभवात्, तदभावे च द्रव्ये तदनुपपत्तेः। इति प्रमाणसिद्धं भिन्नलक्षणत्वं द्रव्यपर्याययोः कथंचिन्नानात्वं साधयति, रूपाद्युदाहरणस्यापि साध्यसाधनवैकल्याभावात्, कथंचिन्नानात्वेन व्याप्तस्य भिन्नलक्षणत्वस्य परस्परविविक्तस्वभावपरिणामादित्वेन साधनात्। रूपादेर्हि

लक्षणं रूपादिबुद्धिप्रतिभासयोग्यत्वं भिन्नं प्रसिद्धं कथंचित्तन्नानात्वं चेति निरवद्यमुदाहरणम्। ननु च भिन्नलक्षणत्वं स्यान्नानात्वं च न स्याद्विरोधाभावात्। ततः सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिको हेतुरिति न शङ्कनीयं, विरुद्धधर्माध्यासास्खलद्बुद्धिप्रतिभासभेदाभ्यां च वस्तुस्वभावभेदसिद्धेः। अन्यथाऽनानैकं जगत्स्यात्, तदभ्युपगमे पक्षान्तरासंभवादिति, विपक्षे बाधकप्रमाणसद्भावान्निश्चितव्यतिरेकत्वात् साधनस्य द्रव्यपर्याययोः सर्वथैकत्वे विरुद्धधर्माध्यासस्यास्खलद्बुद्धिप्रतिभासभेदस्य चायोगाद्भिन्नलक्षणत्वस्यानुपपत्तेः, व्यापकस्य ग्राहकस्य चाभावे व्याप्यस्य विषयस्य चाव्यवस्थितेः। व्यवस्थितौ वा भिन्नलक्षणत्वस्य न किंचिदेकं जगति स्यात्। नापि नाना, विरुद्धधर्माध्यासाद्यभावेपि नानात्वस्य सिद्धौ तस्य तत्साधनत्वायोगात्। न चासाधना कस्यचित्सिद्धिरतिप्रसङ्गात्। न च नानात्वैकत्वाभ्युपगमे प्रकारान्तरमस्ति, यतो जगदनानैकं न स्यात्। न हि विरुद्धधर्माध्यासेतराभ्यामन्यन्नानात्वैकत्वस्वरूपम्। नाप्यस्खलद्बुद्धिप्रतिभासभेदाभेदाभ्यामन्यत्तत्साधन, यत्प्रकारान्तर स्यात्। ततः कारिकाद्वयेन सामान्यविशेषात्मानमर्थं संहृत्य तत्रापेक्षानपेक्षैकान्तप्रतिक्षेपायाह भगवान् वास्तवमेव इति, स्यान्नानात्वमेव स्वलक्षणभेदात्। स्यादेकत्वमेवाशक्यविवेचनत्वात्। स्यादुभयमेव क्रमार्पितद्वयात्। स्यादवक्तव्यमेव सहार्पितद्वयाद्वक्तुमशक्यत्वात्। स्यान्नानात्वावक्तव्यमेव विरुद्धधर्माध्याससहार्पितद्वयात्। स्यादेकत्वावक्तव्यमेव, अशक्यविवेचनसहार्पितद्वयात्। स्यादुभयावक्तव्यमेव क्रमाक्रमार्पितद्वयात्। इति सप्तभङ्गीप्रक्रिया दृष्टेष्टाविरुद्धाऽत्र-बोद्धव्या पूर्ववत्॥ ७१–७२॥

कार्यादेर्भेद एव स्फुटमिह नियतः सर्वथा कारणादे–रित्याद्येकान्तवादोद्धततरमतयः शान्ततामाश्रयन्ति।
प्रायो यस्योपदेशादविघटितनयान्मानमूलादलङ्घ्यात्, स्वामी जीयात् स शश्वत्प्रथिततरयतीशोऽकलङ्कोरुकीर्तिः॥१॥

इत्याप्तमीमांसालंकृतौ चतुर्थः परिच्छेदः ॥ ४ ॥

'गुणीत्यादि' ततो नासिद्धो हेतुरिति, तत उक्तकारणात्, द्रव्यपर्याययोरैक्ये साध्ये प्रतिभासभेदेऽप्यव्यतिरिक्तत्वादिति मूलोक्तो हेतुर्नासिद्ध इत्यर्थः। नित्यनिरोधधर्मकत्वादिति अनित्यधर्मत्वादित्यर्थः। अत्राह साध्यहेत्वोः शब्दभेद एव नत्वर्थभेदस्तद्वत्प्रकृतानुमानेऽपीति साध्याविशेषदोपप्रसङ्गो युक्त इत्यर्थः। प्रतीतिसिद्धत्वादिति, अस्याव्यतिरिक्तत्वस्येत्यनेनान्वयः। धर्मिग्राहकप्रमाणेनेति धर्मिणोर्ग्राहकप्रमाणेनेत्यर्थः। कथञ्चिद्भिन्नयोरेवेति अभेदसंवलितभेदवतोरित्यर्थः। द्रव्यस्यैकत्वान्वयेत्यादि एकत्वान्वयज्ञानादि कार्यं यस्येति बहुव्रीह्युत्तरस्त्वप्रत्ययो द्रष्टव्यः। एवं पर्यायस्यानेकत्वेत्यादावपि, कर्मतयेति लक्ष्यतावच्छेदकसमनियतधर्मवचनत्वस्यैव लक्षणत्वादसंकीर्णव्यवहारस्यैव च तत्प्रयोजनत्वादिति भावः। एतेन पक्षव्यापिन एवासाधारणस्य वस्तुलक्षणत्वप्रतिपादनेन, तस्य पक्षैकदेशवर्त्तिनोऽसाधारणस्य, उपदर्शितं प्रत्येयमिति अग्निमात्रस्योष्णस्पर्शयोगित्वलक्षण इति गम्यम्॥ शब्दस्यानित्यत्वे श्रावणत्वदिति अत्र हि श्रावणत्वं लक्ष्यतावच्छेदकसमनियतत्वेन लक्षणं भवदनुगतानतिप्रसक्तव्यवहार इवानित्यत्वसाधनेऽपि प्रत्यलमिति तत्र सपक्षावृत्तित्वमबाधकमिति भावः। पक्षव्यापि लक्षणमिति उक्ततत्त्वमेतत्, न च वह्न्युष्णस्पर्शौ प्रमेयावित्यत्र वह्निलक्षणवाक्यत्वप्रसङ्गः। तत्र लक्ष्ये लक्ष्यतावच्छेदकसमनियतत्वसंसर्गेण तद्धर्म्मबोधकवचनत्वं तत्र तल्लक्षणवाक्यत्वमित्युक्तौ दोषाभावादिति दिग्। भाष्ये अनानैकं जगत् स्यादिति नानात्वरहितं जगत् स्यादित्यर्थः। तदभ्युपगमे नानात्वाभ्युपगमे, पक्षान्तरासम्भवाद्विरुद्धधर्माध्यासास्खलद्बुद्धिप्रतिभासभेदातिरिक्तप्रकाराभावादित्यर्थः। शिष्टं स्पष्टम् ॥ ७१-७२ ॥

“ कार्योपादानयोर्वा ननु गुणगुणिनोर्व्यक्तिजात्योरनन्या—
न्यत्वैकान्तान्धकारैर्जगदिदमखिलं नीतमान्ध्यं समन्तात् ।
व्यक्तस्याद्वादमार्गाः प्रतिहतकुमतोलूकनेत्रप्रचारा—
स्तत्प्रध्वंसाय सज्जा भुवनगुरुगिरः सूर्यभासो जयन्ति ॥ १ ॥

इति श्रीमदकब्बरसुरत्राणप्रदत्तजगद्गुरुविरुदधारिभट्टारकश्रीहीरविजयसूरीश्वरशिष्यमुख्यमहोपाध्यायश्रीकल्याणविजयगणिशिष्यावतंसपण्डितश्रीलाभविजयगणिशिष्यालङ्कारपण्डितश्रीजीतविजयगणिसतीर्थ्यशेखरपण्डितश्रीनयविजयगणिचरणकमलचञ्चरीकेण पण्डितश्रीपद्मविजयगणिसहोदरेण महोपाध्यायश्रीयशोविजयगणिना विरचितेऽष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणे चतुर्थः परिच्छेदः ॥

॥ अष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणे चतुर्थः परिच्छेदः समाप्तः ॥

ॐ ॥ अथ पञ्चमः परिच्छेदः ॥ ॐ

स्फुटमकलङ्कपदं या प्रकटयति पटिष्ठचेतसामसमम् । दर्शितसमन्तभद्रं साष्टसहस्री सदा जयतु ॥ १ ॥

यद्यापेक्षिकसिद्धिः स्या–न्न द्वयं व्यवतिष्ठते । अनापेक्षिकसिद्धौ च न सामान्यविशेषता ॥ ७३ ॥

धर्मधर्मिणोरापेक्षिकी सिद्धिः, प्रत्यक्षबुद्धौ तदनवभासनाद्दूरेतरादिवत् । न हि प्रत्यक्षबुद्धौ धर्मो धर्मी वा प्रतिभासते, तत्पृष्ठभाविविकल्पोपकल्पितत्वात्, तस्य स्वलक्षणस्यैव तत्र प्रतिभासनात्, शब्दापेक्षया सत्त्वादेर्धर्मत्वेपि ज्ञेयत्वापेक्षायां धर्मित्वव्यवहरणात्, तदपेक्षया ज्ञेयत्वस्य धर्मत्वेप्यभिधेयत्वापेक्षाया धर्मित्वव्यवहारात्, तदपेक्षया चाभिधेयत्वस्य धर्मत्वे प्रमेयत्वापेक्षायां धर्मित्वप्रसिद्धेः । इति न कश्चिद्धर्मो धर्मी वा व्यवतिष्ठते । ततो न तात्त्विकोऽसौ । न हि नीलस्वलक्षणं सवित्स्वलक्षणं वा प्रत्यक्षमवभासमानं किंचिदपेक्ष्यान्यथाभावमनुभवदुपलब्धम् । केवलमपेक्षाबुद्धौ विशेषणविशेष्यत्वं सामान्यविशेषत्वं गुणगुणित्वं क्रियाक्रियावत्त्वं कार्यकारणत्व साध्यसाधनत्वं ग्राह्यग्राहकत्वं वा प्रकल्प्यते, दूरेतरत्वादिवत् । इति यद्यापेक्षिकसिद्धिः स्यात्तदा न द्वयं व्यवतिष्ठते नीलस्वलक्षणं तत्संवेदनं चेति, तयोरप्यापेक्षिकत्वाद्विशेषणविशेष्यत्वादिवत् । तथा हि । ययोः सर्वथा परस्परापेक्षाकृता सिद्धिस्तयोर्न व्यवस्था । यथा परस्पराश्रययोः सरिति प्लवमानयोः । तथा च नीलतद्वेदनयोः सर्वथापेक्षाकृता सिद्धिः । इति तद्द्वयमपि न व्यवतिष्ठते । न हि नीलं नीलवेदनानपेक्षं सिध्यति, तस्यावेद्यत्वप्रसङ्गात् संविन्निष्ठत्वाच्च वस्तुव्यवस्थानस्य । नापि नीलानपेक्षं नीलवेदनं, तस्य तस्मादात्मलाभोपगमादन्यथा निर्विषयत्वापत्तेः । इत्यन्यतराभावे शेषस्याप्यभावाद्द्वयस्याव्यवस्थानं स्यात् ।

एतेन नीलवासनातो नीलवेदनमित्यस्मिन्नपि दर्शने द्वयाव्यवस्थितिरुक्ता, तयोरन्योन्यापेक्षैकान्ते स्वभावतः प्रतिष्ठितस्यैकतरस्याप्यभावेन्यतराभावादुभय न प्रकल्प्येत, नीलवेदनाभावे तद्वासनाविशेषस्याव्यवस्थितेरन्यथातिप्रसक्तेः, तद्वासनाविशेषमन्तरेण नीलवेदनस्याव्यवस्थितेरन्यथा निर्निमित्तत्वापत्तेः । स्यान्मतं, नीलवेदनस्य स्वत प्रकाशनान्नायं दोप इति, तदसत्, परस्परापेक्षैकान्तविरोधात्, दण्डादेर्विशेषणस्य स्वबुद्धौ स्वतः सिद्धेः सामान्यादेरपि स्वग्राहिणि ज्ञानेऽन्यानपेक्षस्य प्रतिभासनाद्विशेष्यविशेषणादेरपि तथा प्रसिद्धेर्द्वयाभावानवकाशात् । तत एव दूरेतरादिदृष्टान्तोपि साध्यसाधनधर्मविकलः स्यात्, दूरासन्नभावयोरपि स्वभावविवर्तविशेषाभावे समानदेशादेरपि प्रसङ्गात् । न च समानदेशकालस्वभावयोरन्योन्यापेक्षयापि दूरासन्नभावव्यवहार., खरविपाणयोरिव तत्स्वभावशून्ययोस्तदयोगात् । तदिमौ स्वभावतः स्तामन्यथेतरेतराश्रयदोपानुषङ्गात् । एतेन स्वाश्रयशब्दाद्यपेक्षया सत्त्वादेर्धर्मत्वेन स्वधर्मापेक्षायां धर्मित्वं नाव्यवस्थाकारित्वेनायुक्तमिति प्रकाशित, तथाविधस्वभावविशेषाभावे परापेक्षयापि धर्मधर्मिभावानुपपत्तेः, अनन्तत्वाच्च धर्माणां तदपेक्षिणामप्यपर्यन्तत्वात्, अन्यथाभिप्रेतधर्मधर्मिणोरप्यव्यवस्थापत्तेः । इति नापेक्षैकान्तः श्रेयान् । योप्याह 'धर्मधर्मिणोः सर्वथा नापेक्षिकी सिद्धिः, प्रतिनियतबुद्धिविषयत्वान्नीलादिस्वरूपवत्, सर्वथानापेक्षिकत्वाभावे प्रतिनियतबुद्धिविषयत्वानुपपत्तेः खपुष्पवत्' इति, तस्यानपेक्षापक्षेपि नान्वयव्यतिरेकौ स्याता, भेदाभेदयोरन्योन्यापेक्षात्मकत्वाद्विशेषेतरभावस्य । अन्वयो हि सामान्य, व्यतिरेको विशेषः । तौ च परस्परापेक्षौ व्यवतिष्ठेते । तयोरनापेक्षिकसिद्धौ च न सामान्यविशेषता । प्रतिनियतबुद्धिविषययोरपि प्रतिनियतपदार्थता स्यान्नीलपीतवत् । न ह्यभेदो भेदनिरपेक्षः प्रतिनियतान्वयबुद्धिविषयोस्ति, नापि भेदो जातुचिदभेदनिरपेक्षः प्रतिनियतव्यतिरेकबुद्धिविषयः सभाव्यते, कचिदेकव्यक्तेरपि प्रथमदर्शनकाले तद्बुद्धिविषयत्वप्रसङ्गात्। तदनेन प्रति-

नियतबुद्धिविषयत्वस्य हेतोर्विरुद्धत्व प्रतिपादित, तस्य कथंचिदापेक्षिकत्वेन व्याप्तत्वात् प्रत्यक्षबुद्धिप्रतिभासित्ववत्। ततो नैतावेकान्तौ घटेते, वस्तुव्यवस्थानाभावानुषङ्गात् ॥७३॥

॥ अथेदं पञ्चमपरिच्छेदतात्पर्यविवरणम् ॥

सहेलं खेलन्तं शिशुषु बहुवेलं धृतजय–स्पृहेलं वेताले तनुविजितताले प्रददतम् ॥
पविप्रायां मुष्टिं जनितजनतुष्टिं स्वहृदये, महावीरं धीरं गुणगणगभीरं प्रणिदधे ॥ १ ॥

अहीन्द्रः पाताले स्वफणतनुसङ्कोचमकरोद्, ययुर्दिग्नागास्ते क्वचन गिरयः पेतुरभितः ॥
यदंह्रेः सङ्घट्टाच्चलति सुरशैले परमिला, स्थिता यन्माहात्म्यात्तमिह जिनवीरं प्रणिदधे ॥ २ ॥

पञ्चमे सापेक्षत्वानपेक्षत्वस्याद्वादसिद्ध्यर्थमुपक्रमः । अपेक्षाबुद्धाविति व्यावर्त्तकव्यावर्त्यत्वाद्यपेक्षाजनितविकल्पबुद्धावित्यर्थः । यद्यापेक्षिकसिद्धिः स्यादिति सर्वत्रेति शेषः । नीलस्वलक्षणं तत्संवेदनं चेति, तयोरपि सर्वकुक्षिप्रविष्टत्वादिति भावः । तयोरप्यापेक्षिकत्वादिति आपेक्षिकत्वप्रसङ्गादित्यर्थः । नहि नीलमित्यादि, यद्यप्येवमेकस्योत्पत्तावन्यस्य च ज्ञप्तावनपेक्षेति नैकरूपेणापेक्षाविषयत्वं द्वयोः, तथापि निश्चयापेक्षया तथात्वं भावनीयं, प्रसङ्गस्य वस्तुस्थित्यनपेक्षत्वात् । परस्परापेक्षैकान्तविरोधादिति, यद्यप्येतद्दूषणं न सौगतं प्रति सङ्गच्छते, सर्वत्र तेन परस्परापेक्षैकान्तानभ्युपगमात्, सङ्कलनात्मकविकल्पज्ञान एव तेन तत्स्वीकारात्, तथापि धर्मधर्मिभावादेः स्वरूपद्वयानतिरिक्तत्वात्तदुभयग्राहिदर्शनेऽपि परस्परापेक्षत्वमापाद्य तं प्रत्येवेदमिति वहवः । सविकल्पग्राह्यमेव सर्वमिति शब्दनयविदं प्रतीति तु सम्मत्यनुसारिणः । भाष्ये तदिमाविति । इमौ दूरासन्नभावौ, इतरेतराश्रयदोषानुषङ्गादिति दूरप्रतिपत्तावासन्नस्य प्रतिपत्तिस्त-

त्प्रतिपत्तौ च तस्येन्येवमित्यर्थः। उत्पत्तिपक्षेऽपि दूरापेक्षाबुद्ध्यासन्नत्वस्यासन्नापेक्षाबुद्ध्या च दूरत्वस्योत्पत्तेरन्योन्याश्रयो भावनीयः। अन्यथा सर्वेषां धर्मधर्मिणां स्वतः सिद्ध्यभावे, अपेक्षैकान्तो धर्मधर्म्यादीनामपेक्षाबुद्धिग्राह्यत्वैकान्तः। तस्य कथञ्चिदिति धर्मधर्मित्वादिना प्रतिनियतबुद्धिविषयत्वस्यापेक्षिकत्वेन व्याप्यत्वादित्यर्थः। प्रत्यक्षबुद्धिप्रतिभासित्ववदिति प्रत्यक्षबुद्धिप्रतिभातदूरत्वासन्नत्ववदित्यर्थः ॥ ७३ ॥

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम्। अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्ति-र्नावाच्यमिति युज्यते ॥७४॥

अनन्तरैकान्तयोर्युगपद्विवक्षा मा भूद्विप्रतिषेधात् सदसदेकान्तवत् स्याद्वादानाश्रयणात्। तथानभिधेयत्वैकान्तेपीति कृतं विस्तरेण, सदसत्त्वाभ्यामनभिधेयत्वैकान्तवत्।७४। इति कथंचिदापेक्षिकत्वेतरानेकान्तं प्रतिपक्षप्रतिक्षेपसामर्थ्यात्सिद्धमपि दुरारेकापाकरणार्थमाचक्षते,—

धर्मधर्म्यविनाभावः सिध्यत्यन्योन्यवीक्षया। न स्वरूपं स्वतो ह्येतत् कारकज्ञापकाङ्गवत् ॥७५॥

धर्मधर्मिणोरविनाभावोन्योन्यापेक्षयैव सिध्यति, न तु स्वरूपं, तस्य पूर्वसिद्धत्वात्। स्वतो ह्येतत्सिद्धं सामान्यविशेषवत्। सामान्यं हि स्वतःसिद्धस्वरूपं भेदापेक्षान्वयप्रत्ययादवगम्यते। विशेषोपि स्वतः सिद्धस्वरूपः सामान्यापेक्षव्यतिरेकप्रत्ययादवसीयते। न केवलं सामान्यविशेषयोः स्वलक्षणमपेक्षितपरस्पराविनाभावलक्षणं स्वतःसिद्धलक्षणमपि तु धर्मधर्मिणोरपि गुणगुण्यादिरूपयोः, कर्तृकर्मबोध्यबोधकवत् [कारकाङ्गकर्तृकर्मवत् ज्ञापकाङ्गबोध्यबोधकवच्च]। न हि कर्तृस्वरूपं कर्मापेक्षं कर्मस्वरूपं वा कर्त्रपेक्षम्, उभयासत्त्वप्रसङ्गात्। नापि कर्तृत्वव्यवहारः कर्मत्वव्यवहारो वा परस्परानपेक्षः, कर्तृत्वस्य कर्मनिश्चयावसेयत्वात्, कर्मत्वस्यापि कर्तृप्रतिपत्तिसमधिगम्यमानत्वात्। एतेन बोध्यबोधकयोः प्रमेयप्रमाणयोः स्वरूपं स्वतःसिद्धं ज्ञाप्यज्ञापकव्यवहारस्तु परस्परापेक्षासिद्ध

इत्यभिहितम् । तद्वत्सकलधर्मधर्मिभूतानामर्थानां ‘ (१) स्यादापेक्षिकी सिद्धिः, तथा व्यवहारात् । (२) स्यादनापेक्षिकी पूर्वप्रसिद्धस्वरूपत्वात् । (३) स्यादुभयी क्रमार्पितद्वयात् । (४) स्यादवक्तव्या, सहार्पितद्वयात् । (५) स्यादापेक्षिकी चावक्तव्या च, तथा निश्चयेन सहार्पितद्वयात् । (६) स्यादनापेक्षिकी चावक्तव्या च, पूर्वसिद्धत्वसहार्पितद्वयात् । (७) स्यादुभयी चावक्तव्या च, क्रमाक्रमार्पितोभयात् । ’ इति सप्तभङ्गीप्रक्रिया योजयेन्नयविशेषवशादविरुद्धां पूर्ववत् ॥ ७६ ॥

अपेक्षैकान्तादिप्रबलगरलोद्रेकदलिनी, प्रवृद्धानेकान्तामृतरसनिषेकानवरतम् ॥
प्रवृत्ता वागेषा सकलविकलादेशवशतः, समन्ताद्भद्रं वो दिशतु मुनिपस्याऽमलमतेः ॥ १ ॥

॥ इत्याप्तमीमांसालङ्कृतौ पञ्चमः परिच्छेदः ॥

‘ धर्मेत्यादि ’ धर्मधर्मिणोर्न विना भावो यस्येति व्युत्पत्त्याऽविनाभावो व्यवहारोऽन्योन्यवीक्षयाऽन्योन्यापेक्षया, सिद्ध्यति । नतु स्वरूपं, हि यतः, एतत् स्वरूपं, कारकज्ञापकाङ्गवत् कर्तृकर्मबोध्यबोधकवत् स्वत एव सिद्धं, तथा च धर्मधर्म्यादेः स्वरूपतोनपेक्षत्वं व्यवहारतश्च सापेक्षत्वमित्यनेकान्त एव विजयत इति कारिकासङ्क्षेपार्थः । ‘तद्वत् सकलेत्यादि’ यद्यपि केचिद्भावाः प्रतिनियतव्यञ्जकव्यङ्ग्याः केचिच्च स्वतः सिद्धा इत्येवं विषयविभागेन—सापेक्षानपेक्षभावोऽन्यत्र शरावकर्पूरगन्धन्यायेन पूर्वाचार्यैर्व्यवस्थापितः, तथापि स प्रातिस्विकरूपापेक्षया, धर्मधर्मिभावादिना तु सर्वत्र तद्व्याप्तिरेव सिद्ध्यतीत्येतत्तात्पर्यम् । अथ व्यवहारस्य सापेक्षत्वेऽर्थस्य कुत आपेक्षिकत्वमिति चेत्, व्यवह्रियमाणस्वरूपेण तस्यापि तदविरोधात्, अत एव अभावो न स प्रतियोगिकः, किन्तु तद्व्यवहार एवेति मीमांसकमतमपास्तम् । अभावव्यवहारे प्रतियोगिज्ञानज-

न्यतयेवाभावे प्रतियोगिज्ञानजन्यज्ञानविषयतया सप्रतियोगिकत्वस्याबाधितत्वात्, स्यादनापेक्षिकी पूर्वप्रसिद्धस्वरूपव(त्वा)वदिति, न च पूर्वप्रसिद्धस्वरूपेऽपि महत्त्वादावबधिज्ञानसापेक्षसिद्धिकत्वाद् दृष्टान्तानुपपत्तिः, महत्त्वव्यवहार एव हि तथा नतु महत्त्वमिति व्यवहारानुप्रवेशेन तस्यापेक्षिकत्वेऽपि स्वरूपतोऽतथात्वेन दोषाभावात्। यत्तु महत्त्वं न सापेक्षं, किन्तु तद्गतजातिविशेष एव, तस्य महत्त्वगतजातिसामान्यग्राहकातिरिक्तापेक्षग्रहविषयत्वेन सापेक्षत्वव्यवस्थितेः, अत एवार्द्धावृतेऽवयविनि महत्त्वग्रहेऽपि तद्गतहस्तवितस्तित्वादिजात्यग्रह आवरणप्रतिबन्धादिति नैयायिकैकदेशिभिरुच्यते, तदसत्, आवरणसंयोगस्य स्वाश्रयसमवेतसमवेतत्वसम्बन्धेन महत्त्वगतजातिविशेषग्रहप्रतिबन्धकत्वे आवृतानावृततुल्यवंशद्वयसन्निकर्षस्थलेऽनावृतवंशेऽपि महत्त्वविशेषाग्रहप्रसङ्गात्, जातिविशेषप्रकारकमहत्त्वग्रहे उक्तप्रतिबन्धकत्वे चावरणस्थले महत्त्वनिर्विकल्पकापत्तेर्दुर्वारत्वाच्चेति व्यवहारानुप्रवेशेनैव महत्त्वे आवरणाभावसापेक्षत्वस्य युक्तत्वादित्यधिकं 'नयामृततरङ्गिण्यां' निरूपितमस्माभिरिति तत एवाधिगन्तव्यम् ॥ ७५ ॥

"इत्यपेक्षानपेक्षाभ्यां भङ्गसप्तकसङ्गतिः। निरूपणीया सर्वत्र स्याद्वादामलबुद्धिभिः ॥१॥ अर्थे नये प्रमाणे च तत्प्रयुक्ते बलाबले। प्रयोजनानुसारेण भावनीये मनीषिभिः ॥२॥ बाह्ये चाभ्यन्तरे हेतौ निश्चयव्यवहारयोः। प्रत्यक्षे च परोक्षे च विशेषो यत्कृतोऽखिलः ॥३॥ अपेक्षायेकान्तप्रशमजसमत्वामृतरसोल्लसच्चेतो वृत्तिर्यदमलगुणं पश्यति यमी। तमीशं स्याद्वादप्रणयनसमुज्जीवितजगज्जनं वन्दे मन्देतरभविकसन्देहदलनम् ॥४॥

इति महोपाध्यायश्री यशोविजयगणिविरचितेऽष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणे पञ्चमः परिच्छेदः सम्पूर्णः ॥

ॐ ॥ अथ षष्ठः परिच्छेदः ॥ ॐ

पुष्यदकलङ्कवृत्तिं समन्तभद्रप्रणीततत्त्वार्थाम् । निर्जितदुर्णयवादामष्टसहस्रीमवैति सद्दृष्टिः ॥ १ ॥

सिद्धं चेद्धेतुतः सर्वं न प्रत्यक्षादितो गतिः । सिद्धं चेदागमात्सर्वं विरुद्धार्थमतान्यपि ॥ ७६ ॥

इह हि सकललौकिकपरीक्षकै. उपेयतत्त्वं व्यवस्थाप्योपायतत्त्वं व्यवस्थाप्यते, कृष्यादिपु प्रवर्तमानाना व्यवस्थितसस्याद्युपेयानामेव तदुपायव्यवस्थापनप्रयत्नोपलम्भात्, 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोपि प्रवर्तते' इति प्रसिद्धेः, मोक्षार्थिनां च प्रेक्षावता व्यस्थितोपेयमोक्षस्वरूपाणामेव तदुपायव्यवस्थापनव्यापारदर्शनात्, अव्यवस्थितमोक्षतत्त्वाना तदुपायव्यवस्थापनपराङ्मुखत्वाच्चार्वाकादिवत् । तत्र हेतुत एव सर्वमुपेयतत्त्वं सिद्धं, न प्रत्यक्षात्, तस्मिन्सत्यपि विप्रतिपत्तिसम्भवात्, युक्त्या यन्न घटामुपैति तदह दृष्ट्वापि न श्रद्धे इत्यादेरेकान्तस्य बहुलं दर्शनात्, अर्थानर्थविवेचनस्यानुमानाश्रयत्वात्तद्विप्रतिपत्तेस्तद्व्यवस्थापनाया हेत्वादिवचनात् । प्रत्यक्षतदाभासयोरपि व्यवस्थितिरनुमानात्, अन्यथा सकरव्यतिकरोपपत्तेरर्थानर्थविवेचनस्य प्रत्यक्षाश्रयत्वासभवात् । इति केचित्तेपां प्रत्यक्षाद्गतिरनुमानादादितोपि न स्यात् । न च धर्मिणः साधनस्योदाहरणस्य च प्रत्यक्षादगतौ कस्यचिदनुमा न प्रवर्तते । अनुमानान्तरात्तद्गतौ तस्यापि धर्म्यादिगतिपूर्वकत्वादनुमानान्तरमपेक्षणीयमित्यनवस्था स्यात् । ततः कथंचित्साक्षात्करणमन्तरेण धर्म्यादीनां न क्वचिदनुमान प्रवर्तेत । किं पुनः शास्त्रोपदेशात् ? इति प्रत्यक्षादपि सिद्धिरभ्यस्तविषयेभ्युपगन्तव्या, अन्यथा शब्दलिङ्गादिप्रतिपत्तेरयोगात्, परार्थानुमानरूपाणामपि शास्त्रोपदेशानामप्रवृत्तेः । ये त्वाहुः—' आगमादेव सर्वं सिद्ध, तमन्तरेण प्रत्यक्षेपि माणिक्यादौ यथार्थनिर्णयानुपपत्तेः, अनुमानप्रति-

पत्रेपि चिकित्सितादावागमापेक्षणात्, आगमबाधितपक्षस्यानुमानस्यागमकत्वाच्च, परब्रह्मणः शास्त्रादेव सिद्धेः, प्रत्यक्षानुमानयोरविद्याविवर्तविषयत्वादागमविषये सन्मात्रात्मनि परमात्मन्येव प्रमाणत्वव्यवहरणात्। अबाधिताश्चैते शास्त्रोपदेशाः 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादयः, प्रत्यक्षानुमानयोस्तदविषयत्वेन तद्बाधकत्वायोगात्' इति, तेषा विरुद्धार्थमतान्यपि शास्त्रोपदेशेभ्यः सिध्यन्तु, विशेषाभावात्। सम्यगुपदेशेभ्यस्तत्त्वसिद्धिरिति चेत्, तर्हि युक्तिरपि तत्त्वसिद्धिनिबन्धनं, तत एव तेषा सम्यक्त्वनिर्णयात्, अदुष्टकारणजन्यत्वबाधवर्जितत्वाभ्यां तदुपगमात्। न चैते युक्तिनिरपेक्षाः, परस्परविरुद्धार्थतत्त्वसिद्धिप्रसङ्गात्, परब्रह्मण एवापौरुषेयादागमात्सिद्धिर्न पुनः कर्मकाण्डस्येश्वरादिप्रवादस्य चेति नियामकाभावात्। कथं च श्रौत्रप्रत्यक्षस्याप्रमाणत्वे वैदिकशब्दस्य प्रतिपत्तिर्यतस्तदर्थनिश्चयः स्यात्? प्रमाणत्वे कुतोनुमानाभावे सवादविसवादाभ्यां प्रमाणेतरसामान्याधिगमो यतः किंचिदेव श्रौत्रं प्रत्यक्षं प्रमाणं नान्यदिति व्यवतिष्ठेत? ततः कुतश्चिदागमात्तत्त्वसिद्धिमनुरुध्यमानेन प्रत्यक्षानुमानाभ्यामपि तत्त्वसिद्धिरनुमन्तव्या, अन्यथा तदसिद्धेः। प्रत्यक्षानुमानाभ्यामेव तत्त्वसिद्धिर्नागमादित्यपरे, तेपि न सत्यवादिनः, ग्रहोपरागादेस्तत्फलविशेषस्य च ज्योतिःशास्त्रादेव सिद्धेः। न च प्रत्यक्षानुमानाभ्यामन्तरेणोपदेशं ज्योतिर्ज्ञानादिप्रतिपत्तिः। सर्वविदः प्रत्यक्षादेव तत्प्रतिपत्तिरनुमानविदा पुनरनुमानादपीति चेत्, न, सर्वविदामपि योगिप्रत्यक्षात्पूर्वमुपदेशाभावे तदुत्पत्त्ययोगादनुमानाभाववत्। ते हि श्रुतमयीं चिन्तामयीं च भावना प्रकर्षपर्यन्तं प्रापयन्तोतीन्द्रियप्रत्यक्षमात्मसात्कुर्वते, नान्यथा। तथानुमानविदामपि नात्यन्तपरोक्षेष्वर्थेषु परोपदेशमन्तरेण साध्याविनाभाविसाधनधर्मप्रतिपत्तिः सभवति, सर्वज्ञत्वप्रसङ्गात् इति चिन्तितमन्यत्र। ततो नैतावप्येकान्तौ युक्तौ ॥ ७६ ॥ (अथ षष्ठप० विवरणम्)

मन्थक्षुब्धार्णवाम्भः सजलजलधरोत्तुङ्गगङ्गाप्रवाहध्वानस्पर्द्धाविधायी प्रसरणरसतो व्याप्नुवन् दिग्विभागान्।

बोधाय ब्राह्मणानाममृतमधरयन् वीरवक्त्राद्विनिर्य-न्नुच्चैः निःखेदवेदध्वनिरुपचिनुताच्छर्म तात्पर्यशुद्धः॥१॥
वेदाः खेदाय ते ये शतपथविहितैः कर्मभिः कर्मनाश्यै-र्हिंसोद्बोधे प्रवृत्ताः शमदमरहितैः सङ्गृहीताश्च जाल्मैः।
ये तूद्धृत्यादिमांगान्मुनिभिरुपरतश्राद्धपाठाय क्लृप्ता-स्ते मन्त्रब्राह्मणाख्याः प्रभुगुणविषयाः सर्व एव प्रमाणम्॥

षष्ठे हेत्वागमैकान्तनिराकरणाय प्रक्रमः, तत्र हेतुवादैकान्तसिद्धये केषाञ्चिद्युक्तिमुपन्यस्यति इह हीत्यादिना, तन्मतं दूषयति तेषामित्यादिना, अनुमानादितोऽप्यनुमानप्राक्कालेऽपि, प्रत्यक्षात्प्रत्यक्षप्रमाणाद्, गतिर्ज्ञानं, पक्षादेर्न स्यादिति योजना। न चेति, तथा च प्रामाण्यसंशयमूलार्थसंशयनिराकरणरूपविवेचनेऽनुमानस्येव तन्मूलव्याप्त्यादिपरिच्छेदे प्रत्यक्षस्याप्युपयोगाद् द्वयोस्तुल्यत्वमित्यर्थः। प्रामाण्यग्रहेऽप्यनभ्यस्तविषयेऽनुमानस्येवाभ्यस्तविषये प्रत्यक्षस्यैवोपयोगस्तत्र स्वतः प्रामाण्यग्रहस्यैवोपपादितत्वात् स्वत इत्यस्य च स्वेनैवेत्यर्थात् स्वांशे च सर्वत्र ज्ञाने प्रत्यक्षत्वेष्टेरित्यभिप्रायवानाह भाष्यकृत् कथमित्यादिना, चित् साक्षात्करणमन्तरेण कथं क्वचिदनुमानं प्रवर्तते न कथञ्चित् क्वापीत्यर्थः। शास्त्रोपदेशात्प्रवर्त्तते इति पुनः किं वाच्यम्। अनुमानसामान्याप्रवृत्तौ परार्थानुमानरूपविशेषप्रवृत्तेरयोगादित्यर्थः। तदेवाह वृत्तिकृत् प्रत्यक्षादपीत्यादिना, आगमैकान्तवादियुक्तिमुपन्यस्यति ये त्वाहुरित्यादिना, 'तमन्तरेणेति' अत्र पद्मरागत्वमुपदेशसहकृतेन्द्रियवेद्यमिति नैयायिकसम्प्रदायविदः। नव्यास्तु भिन्नप्रमाणयोरेकज्ञानाजनकत्वेन न परस्परसहकारित्वमिति पद्मरागत्वप्रत्यक्षे रूपविशेषग्रहणमेव हेतुः, रूपादिविशेषवान् मणिः पद्मराग इत्युपदेशस्तु गोसदृशो गवय इत्यतिदेशवाक्यवत् पद्मरागपदवाच्यत्वोपमितावुपयुज्यत इत्याहुः, तदसत्, रूपविशेषपद्मरागत्वयोर्ग्रहस्य तुल्यसामग्रीकत्वाच्छिक्षातः पूर्वं रूपविशेषग्रहेऽपि पद्म-

रागत्वाग्रहात्, स्वविशेष्यसमवेतत्वसम्बन्धेन तस्य पद्मरागत्वप्रत्यक्षहेतुत्वे सदृशपद्मरागद्वयस्थले तदविशेष्यसन्निकर्षेणापि पद्मरागत्वप्रत्यक्षापत्तेरुक्तोपदेशस्य तत्रानुपयोगे च पद्मरागतदन्यसंशयनिवृत्त्यर्थं तदाश्रयणस्योपदेशात्पद्मरागं साक्षात्करोमि न तूपमिनोमीत्यौत्तरकालिकानुभवाकारस्यानुपपत्तेश्च, तस्मादुक्तोपदेशस्य रूपविशेषे पद्मरागत्वव्याप्तिग्राहकत्वेन रूपविशेषग्रहस्य च समानविशेष्यत्वप्रत्यासत्त्या पद्मरागत्वप्रकारकप्रत्यक्षे हेतुत्वेनोपयोगाद्रूपविशेषवान् पद्मराग इत्यस्यैकोपयोगत्वे निश्चितापायत्वं, भिन्नोपयोगत्वे च सङ्कलनज्ञानात्मकत्वं कररेखाविशेषवान् शतवर्षजीवीत्यतोऽयं शतवर्षजीवीति ज्ञानस्येत्थमेवोपपत्तेरिति परिचितस्याद्वादरत्नाकरोपनिषदो वयं पश्यामः । रूपविशेषरेखाविशेषादिग्रहाणामननुगतत्वात्पद्मरागत्वप्रकारकप्रत्यक्षे स्वजन्यमण्युद्देश्यकपद्मरागत्वविधेयकग्रहोद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्नप्रकारताकग्रहविषयत्वसम्बन्धेनोपदेशत्वेनैव हेतुत्वं युक्तमित्ययमपि साम्प्रदायिकमतनिष्कर्षस्तार्किकचेतसः प्रीतिकर एवेति ध्येयम् । अपरे इति बौद्धादयः, तेऽपि हेतुवादप्रविष्टा इव मन्तव्याः । प्रमाणस्यापि सतः प्रत्यक्षस्य तैरनुमानैकप्राणत्वाभ्युपगमात्, यत्रैव जनयेदित्यादिन्यायेनानुमाननिश्चित एवार्थे तत्प्रामाण्यव्यवस्थितेरिति मन्तव्यम् ॥ ७६ ॥

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम् । अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्ति–र्नावाच्यमिति युज्यते ॥७७॥

युक्तीतरैकान्तद्वयाभ्युपगमोपि मा भूत्, विरुद्धयोरेकत्र सर्वथासभवात्, स्याद्वादन्यायविद्विषा कथंचित्तदनभ्युपगमात् । तदवाच्यत्वेपि पूर्ववत् स्ववचनविरोधप्रसङ्गः ॥७॥ सम्प्रति युक्तीतरानेकान्तमुपदर्शयन्ति ।

वक्तर्यनाप्ते यद्धेतोः साध्यं तद्धेतुसाधितम् । आप्ते वक्तरि तद्वाक्या–त्साध्यमागमसाधितम् ॥७८॥

कः पुनराप्तोऽनाप्तश्च ? यस्मिन् सति वाक्यात्साधितं साध्यमर्थतत्त्वमागमात् साधितं स्याद्धेतोस्तु यत्साध्यं तद्धेतुसाधितमिति विभागः सिध्यतीति चेदुच्यते,— यो यत्राविसंवादकः स तत्राप्तस्ततोऽपरोऽनाप्तः । कः पुनरविसंवादो येनाविसंवादकः स्यात् ? तत्त्वप्रतिपादनमविसंवादः, तदर्थज्ञानात् । तदर्थज्ञानं पुनः प्रस्फुटव्यवसायरूपं साक्षादसाक्षाद्वावसीयते, परमार्थतस्तस्य संशयविपर्यासानध्यवसायव्यवच्छेदफलत्वात् । तत्राविसंवादक एवाप्त इत्यवधार्यते । अनाप्तस्तु कदाचिदपि विसंवादक उच्यते, यथार्थज्ञानादिगुणस्य विसंवादकत्वायोगात् । तेनातीन्द्रिये जैमिनिरन्यो वा श्रुतिमात्रावलम्बी नैवाप्तस्तदर्थापरिज्ञानात्तथागतवत् । नात्र निदर्शनं साधनधर्मविकलं, तथागतस्य श्रुत्यर्थधर्मापरिज्ञानात् 'बुद्धादेर्धर्माद्युपदेशो व्यामोहादेव केवलात्' इति स्वयमभिधानात् । न चासिद्धो हेतुर्जैमिनेर्ब्रह्मादेर्वा श्रुत्यर्थपरिज्ञानस्य सर्वथाप्यसंभवात् । तद्धि प्रत्यक्षं वा श्रौतं वा स्यात् ? न तावत्प्रत्यक्षं, तस्यासर्वज्ञत्वात्, श्रुतिमात्रावलम्बित्वाच्च । न हि तादृशोऽतीन्द्रियार्थज्ञानमस्ति दोषावरणक्षयातिशयाभावात् । न हि प्रतिनियतदोषावरणक्षयमात्रे सत्यपि धर्माधर्मादिसाक्षात्करणं युक्तं, तस्य तत्परिक्षयातिशयहेतुकत्वेन व्यवस्थापितत्वात् । नापि श्रौतं तदर्थपरिज्ञानं, श्रुत्यविसंवादात्पूर्वमसिद्धेः । श्रुतेः परमार्थवित्त्वं, ततः श्रुतेरविसंवादनमित्यन्योन्यसंश्रितम् । न ह्यप्रसिद्धसंवादायाः श्रुतेः परमार्थपरिज्ञानं जैमिन्यादेः संभवति, अतिप्रसङ्गात् । नापि परमार्थवित्त्वमन्तरेण तत्त्वप्रतिपादनलक्षणमविसंवादनं, यतोऽन्योन्याश्रयणं न स्यात् । ननु न श्रुतेरविसंवादात्प्रामाण्यम् । किं तर्हि ? स्वत एव । ततो न दोष इति चेत्, स्वतः श्रुतेर्न वै प्रामाण्यमचेतनत्वाद् घटवत् । सन्निकर्षादिभिरनैकान्तिकत्वमयुक्तं, तत्प्रामाण्यानभ्युपगमान्मुख्यरूपतः । अथापि कथंचित् तत्प्रमाणत्वं स्यादविसंवादकत्वात् । सन्निकर्षादेरविसंवादकज्ञानकारणत्वेन तथोपचारसिद्धिरिति मन्येमहि । तथापि श्रुतेरयुक्तमेव, तदभावात् । तेनोपचारमात्रमपि न स्यात्, तदर्थबुद्धिप्रामाण्यासिद्धेः ।

न हि श्रुतिरविसंवादिज्ञानस्य कारणं येनोपचारतः प्रमाणं स्यादिति निवेदितं प्राग्–भावनादिश्रुतिविषयाविसंवादकत्वनिराकृतिप्रस्तावे । आप्तवचनं तु प्रमाणव्यपदेशभाक्, तत्कारणकार्यत्वात् । प्रमाणकारणकं हि तत्, तदतीन्द्रियार्थदर्शनोत्पत्तेस्तदर्थज्ञानोत्पादनाच्च प्रमाणकार्यकम् । नैतत् श्रुतेः सम्भवति, सर्वथाप्तानुक्तेः पिटकत्रयवत् । वक्तृदोषोपात्तादृशोऽप्रामाण्यं तदभावाच्छ्रुतेः प्रामाण्यमिति चेत्, कुतोऽय विभाग सिध्येत् ? पिटकत्रयादेः पौरुषेयत्वस्य स्वयं सौगतादिभिरभ्युपगमाद्वेदवादिभिश्च श्रुतेरपौरुषेयत्वोपगमादिति चेत्, सोयमभ्युपगमानभ्युपगमाभ्या क्वचित्पौरुषेयत्वमन्यद्वा व्यवस्थापयतीति सुव्यवस्थितं तत्त्वम् । एतेन कर्तृस्मरणाभावादयः प्रत्युक्ताः । स हि श्रुतौ कर्तृस्मरणादिमत्त्वदृष्टकर्तृकसमानत्वाद्यभावमभ्युपगममात्राद्व्यवस्थापयति तद्भावं चेतरत्रानभ्युपगमात् । न च तथा तत्त्वं व्यवतिष्ठते, वेदेतरयोरविशेषात् । इतरत्र बुद्धो वक्तेति चेत्, तत्र कमलोद्भवादिरिति कथं न समानम् ? यथैव हि पिटकत्रये बुद्धो वक्तेति सौगता प्रतिपाद्यन्ते तथा वेदेपि ते अष्टकान् काणादाः, पौराणिकाः कमलोद्भवं, जैनाः कालासुरं वक्तारमनुमन्यन्ते । सुदूरमपि गत्त्वा तदङ्गीकरणेतरमात्रे व्यवतिष्ठेत श्रुतिवादी, प्रमाणबलात्तदवक्तृकत्वस्य साधयितुमशक्तेः । स्यान्मतं “ यद्वेदाध्ययनं सर्वं तदध्ययनपूर्वकम् । वेदाध्ययनवाच्यत्वा–दधुनाध्ययन यथा ॥१॥ इति प्रमाणाद्वेदे वक्तुरभावो, न पुनरभ्युपगममात्रात्” इति तदयुक्तं, पिटकत्रयादावपि तत एव वक्त्रभावप्रसङ्गात् । वेदाध्ययनवदितरस्यापि सर्वदाध्ययनपूर्वाध्ययनत्वप्रक्लृप्तौ न वक्त्र वक्रीभवति, यतो विद्यमानवक्तृकेपि भावादध्ययनवाच्यत्वस्यानैकान्तिकत्वं न स्यात् । वेदविशेषणस्याध्ययनवाच्यत्वस्यान्यत्राभावान्नानैकान्तिकतेति चेत्, तर्हि पिटकत्रयादिविशेषणस्य वेदादावसम्भवादव्यभिचारिता कथं न भवेत् ? तथा च वेदवदवेदस्याप्यपौरुषेयत्व प्रामाण्यनिबन्धनं याज्ञिकाना प्रवर्तकं स्यान्न वा वेदेपि, विशेषाभावात्, दुर्भणनदुःश्रवणादीनामसदाद्युपलभ्याना तदतिशयान्तराणां च शक्यक्रियत्वादितरत्रापि, परोक्षाया

मन्त्रशक्तेरपि दर्शनात्। न ह्याथर्वणानामेव मन्त्राणां शक्तिरुपलभ्यते, न पुनः सौगतादिमन्त्राणामिति शक्यं वक्तुं, प्रमाणबाधनात्। वैदिका एव मन्त्रा परत्रोपयुक्ताः शक्तिमन्त इत्यप्ययुक्तं, प्रावचनिका एव वेदेऽपि प्रयुक्ता इत्युपपत्तेस्तत्र भूयसामुपलम्भात् समुद्राद्याकरेषु रत्नवत्। न हि कियन्त्यपि रत्नानि राजकुलादावुपलभ्यमानानि तत्रत्यान्येव, तेषां रत्नाकरादिभ्य एवानयनात् तद्भवत्वसिद्धेर्भूयसा तत्रोत्पत्तिदर्शनात्। तद्वत्प्रवचनैकदेशविद्यानुवादादेव सकलमन्त्राणा समुद्भूतिविस्तीर्णात्, न पुनर्वेदात्तल्लवमात्रादिति युक्तमुत्पश्यामः। वेदस्यानादित्वादपौरुषेयत्वाच्च तन्मन्त्राणामेवाविसवादकत्व सभवतीति चायुक्तं, तदप्रसिद्धेः। सिद्धेऽपि तदनादित्वे पौरुषेयत्वाभावे वा कथमविसवादकत्व प्रत्येतव्यम्? म्लेच्छव्यवहारादेस्तादृशो बहुलमुपलम्भात् तेन तस्य व्यभिचारात्। एतेन वेदैकदेशेन स्वयमप्रमाणतयोपगतेनानादित्वस्यापौरुषेयत्वस्य चानैकान्तिकत्वमुक्तम्। किं च कारणदोषनिवृत्तेः कार्यदोषाभावकल्पनायां पौरुषेयस्यैव वचनस्य दोषनिवृत्तिः कर्तुर्वीतदोषस्यापि संभवात् 'दोषावरणयोर्हानिः' इत्यादिना ससाधनात्, न पुनरपौरुषेयस्य, तदध्येतृव्याख्यातृश्रोतृणां रागादिमत्त्वाद्वीतरागस्य कस्यचिदनभ्युपगमात्, सर्वथाप्यपौरुषेयस्य तदुपगमेन विरोधात्। नेतरस्य, कथंचित्पौरुषेयस्य तदविरोधात्। इति निश्शङ्कं नश्चेतः, त्रिविप्रकृष्टस्यापि निर्णयोपायप्रतिपादनादिति। वक्तृगुणापेक्षं वचनस्याविसंवादकत्वं चक्षुर्ज्ञानवत्, विसवादस्य तद्दोषानुविधानात्। यथैव हि चक्षुर्ज्ञानस्य ज्ञातृगुणं सम्यग्दर्शनादिकमपेक्ष्याविसवादकत्वं, तद्दोषं मिथ्यादर्शनादिकमपेक्ष्य विसवादकत्व चोपपद्यते, तथा वक्तुर्गुणं यथार्थज्ञानादि दोष च मिथ्याज्ञानादिकमपेक्ष्य संवादकत्वं विसवादकत्वं चेति निश्चितं महाशास्त्रे। ततोऽनाप्तवचनान्नार्थज्ञानमन्धरूपदर्शनवत्। न हि जात्यन्धो रूपं दर्शयितुमीशः परस्मै। तथानाप्तोऽपि नार्थं ज्ञापयितुमतिप्रसङ्गात्। एवमपौरुषेयस्य वचनस्य पौरुषेयस्य च गुणवद्वक्तृकस्य कारणदोषाभावान्निर्दोषत्वं समानमतिशयासभवात्। तत्र यदेव युक्तियुक्तं तदेव प्रति-

पत्तुं प्रतिपादयितुं वा शक्यं कथंचित्पौरुषेयत्वं, न तु सर्वथाऽपौरुषेयत्वं, तस्य युक्तियुक्तत्वाभावात् तद्युक्तीना तदाभासत्वसमर्थनात् । तत्रापौरुषेयत्वेपि वा वेदे यदेव युक्तियुक्तं तदेव प्रतिपत्तुं प्रतिपादयितु वा शक्यं वचनमग्निर्हिमस्य भेषजं द्वादश मासाः संवत्सर इत्यादिवत् । नाग्निहोत्रादिवाक्यसाधनं, तस्य युक्तियुक्तत्वविरोधात् । सिद्धे पुनराप्तवचनत्वे यथा हेतुवादस्तथाज्ञावादोपि प्रमाणं, तदाप्तवचनत्वाविरोधात्। ननु चापौरुषेयत्ववदाप्तशासनमप्यशक्यव्यवस्थ, तस्यैव ज्ञातुमशक्तेः, सरागस्यापि वीतरागवच्चेष्टोपलम्भादयमाप्त इति प्रतिपत्त्युपायासत्त्वात् । तस्य शासनमिति व्यवस्थापयितुमशक्तेरित्यपरे । उक्तमत्र सर्वथैकान्तवादाना स्याद्वादप्रतिहतत्वादिति । युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वाद्विनिर्दोपोयमिति शक्य निर्णेतुं, दोपवानयमिति च, दृष्टेष्टविरोधवचनत्वात् । तत्रानिश्चितवचनविशेषस्य कस्यचिद्वीतरागत्वेतराभ्या संदेहेपि निश्चितवचनविशेपस्य शक्यमाप्तत्वं व्यवस्थापयितुम् । तत्राप्तिः साक्षात्करणादिगुणः 'सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षा' इत्यादिना साधित. । सम्प्रदायाविच्छेदो वा । सर्वज्ञादागमस्तदर्थानुष्ठानात् सर्वज्ञ इति सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वात्सिद्धः प्रवचनार्थस्य, अन्यथान्धपरम्परया प्रतिपत्तेः। न ह्यन्धेनाकृष्यमाणोन्ध स्वेष्ट मार्गमास्कन्दति नाम । न चैवं सम्प्रदायाविच्छेदे परस्पराश्रयण, कारकपक्षे बीजाङ्कुरादिवदनादित्वात्तस्यानवतारात् । ज्ञापकपक्षेपि परस्मात् स्वत·सिद्धात्, पूर्वस्य ज्ञप्तेर्नेतरेतराश्रयण, प्रसिद्धेनाप्रसिद्धस्य साधनात्। तदेवं स्यात्सर्वं हेतुतः सिद्ध करणाप्तवचनानपेक्षणात्, स्यादागमात्सिद्धमक्षलिङ्गानपेक्षणात्। स्यादुभयतः सिद्धं, क्रमार्पितद्वयात् । स्यादवक्तव्यं, सहार्पितद्वयात् । शेषभङ्गत्रयं च पूर्ववत् । इति सप्तभङ्गीप्रक्रिया योजनीया ॥७८॥

नैकान्ताद्धेतुवादः प्रभवति सकलं तत्त्वमुन्नेतुमेक—स्तद्वन्नाहेतुवादः प्रवद(भव)ति विहिताशेपशङ्काकलापः ।
इत्यार्याचार्यवर्या विदधति निपुणं स्वामिनस्तत्त्वसिद्ध्यै स्याद्वादोत्तुङ्गसौधे स्थितिममलधियां प्रस्फुटोपायतत्त्वे ॥ १ ॥

इत्याप्तमीमांसालंकृतौ षष्ठः परिच्छेदः ।

वक्तर्यनाप्त इति, वक्तर्यनाप्ते आप्तत्वेनानिश्चिते, साध्यं तदनाप्तत्वग्रहाभावकालीनतद्वाक्यजन्यबोधविषयः, यद्धेतोः प्रामाण्यनिश्चयहेतोः, सिद्ध्यतीति शेषः, निवृत्तप्रामाण्यसंशयाधीनसंशयकं भवतीत्यर्थः, तद्धेतुसाधितमुच्यते, आप्ते आप्तत्वेन निश्चिते वक्तरि, तद्वाक्यात्तद्वाक्यजन्यज्ञानविषयः, साध्यमुद्देश्यसिद्धिकमर्थजातं, स्वत एव निवृत्तसंशयत्वादागमसाधितमुच्यते, आप्तत्वानाप्तत्वग्रहश्च रागद्वेषमोहादिरूपदोषाभावतत्सद्भावाभ्यामन्येन वा सुपरीक्षितेन लिङ्गेनेति ज्ञेयम् । वस्तुतः सर्वत्र यथार्थवक्तृजातीयत्वमेवाप्तत्वग्राहकम्, अत एव " कप्पाकप्पे परिणिट्ठियस्स ठाणेसु पंचसु ठिअस्स संजमतवड्ढगस्स ऊ अविगप्पेणं तहक्कारोत्ति' निर्युक्तिगाथया कल्प्याकल्प्यपरिनिष्ठितत्वादिगुणकदम्बकवद्वक्तृवचनेऽविकल्पेन तथाकारविधाने तदितरवचने विकल्पप्राप्तावपि संविग्नपाक्षिकवचने एकान्तत एव तथाकारः प्रामाण्याभ्युपगमरूपो विधेयः, तदितरयथोक्तगुणाभाववद्वक्तृवचने तु यथा हेतुवादं भजनयेति व्यवस्थितविकल्पो व्याख्यातस्तान्त्रिकैः, अभ्यधिष्महि चैतत् संवादिसामाचारीप्रकरणे "इयरंमि विगप्पेण सो य विगप्पो ववट्ठिओ एसो। संविग्गे गीयम्मि य तहेव अण्णत्थ जुत्तिपमे ॥१॥ त्ति, शक्यक्रियत्वादितरत्रापीति, पिटकत्रयेऽपि वक्तुं शक्यत्वादित्यर्थः। विद्यानुवादादेव विद्याप्रवादपूर्वोद्धृतशास्त्रादेव, 'एतेनेति' मीमांसकस्य कार्येऽर्थ एव चोदनायाः प्रामाण्यादर्थवादरूपमन्त्रैकदेशेऽविसंवादकत्वायोगादनैकान्तिकत्वं स्फुटमेवेति भावः । न पुनरपौरुषेयस्येति, अपौरुषेयस्य पुनः संसाधनाभावादित्यन्वयो व्युत्पत्तिविशेषात्, ईदृशि स्थले प्रकृत्यर्थान्वितनञर्थविभक्त्यर्थयोरन्वयस्वीकारात्, एवमग्रेऽप्युपयुज्य योज्यम्। अत एव न्यायचतुर्थाध्याये "नानुपमृद्य प्रादुर्भावात्" इति सूत्रेऽनुपमृद्य प्रादु-

भावाभावादित्यर्थः, " तेषां मोहः पापीयान्नामूढस्येतरोत्पत्तेः " इति सूत्रे च तेषां रागद्वेषमोहानां रागमोहयोर्द्वेषमोहयोर्वा मध्ये मोहः पापीयान् बलवद्द्वेषविषयोऽमूढस्य रागद्वेषानुत्पत्तेरित्यर्थौ व्याख्यात इति बोध्यम् । तस्य युक्तियुक्तत्व-विरोधादिति ' न हिंस्यात् सर्वाभूतानीत्यादिसामान्यश्रुत्युपबृंहकतर्कविरोधादित्यर्थः । स्यात् सर्वं हेतुतः सिद्ध-मित्यादि, ननु कथमेतत् कार्त्स्न्येन हेतुसिद्धत्वाद्यभिधानं घटते, हेतुसिद्धागमसिद्धानामर्थानामवान्तरविभागेनैव व्यवस्थित-त्वात्, तदाह सम्मतिकारः–" दुविहो धम्मावाओ अहेउवाओ अ हेउवाओ अ, तत्थ उ अहेउवाओ भविया भविआदओ भावा ॥ १ ॥ " अस्या अर्थः–धर्माणामस्तित्वादीनामासमन्ताद्वादस्तत्प्रतिपादक आगमोऽहेतुवादो हेतुवादश्चेति द्विधा, तत्र प्रमाणान्तरानवगतार्थप्रतिपादक आगमोऽहेतुवादः, तद्विपरीतो हेतुवादो, हेतोर्हेतुपरिच्छिन्नस्य वादो हेतुवाद इति व्युत्पत्तेः, तत्र त्वहेतुवादो भव्याभव्यत्वादयो भावाः, विषयाध्यवसानेन विषय्यभिधानमेतत् भव्याभव्यत्वादिप्रतिपादक आगम इत्यर्थः । नह्ययं भव्योऽभव्यो वेत्यत्रास्मदादीनां प्रमाणं प्रवर्त्तते, न च तद्विभागप्रतिपादकं वचनं यथार्थम् अर्हद्वचन-त्वादित्यनुमानप्रवृत्तेर्व्याघातः, वचनविभागावच्छेदकत्वेन तत्प्रवृत्तावपि स्वातन्त्र्येण तदप्रवृत्तेः, तथा च भव्याभव्यत्वादयोऽ-हेतुवादसिद्धाः, अन्ये च हेतुवादसिद्धा इति, व्याख्या प्रकृतसप्तभङ्गी न युक्तेति चेत्, मैवं, स्याच्छन्दमर्यादयैव सर्वानुपपत्तिनिरा-सात्, अहेतुवादसिद्धस्याप्यर्थस्य तत्तद्धर्म्मिणि तत्प्रतिपादितलिङ्गेन हेतुवादत्वव्यवस्थितेः, तदुक्तं " सम्मतावेव–भविओ सम्मद्दं-सण नाणचरित्तपडिवत्तिसंपुन्नो। णियमा पुक्खंतकडोत्ति लक्खणं हेउवायस्स ॥१॥ " प्रयोगश्चायम् भव्योऽयं सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्रप्रतिपत्तिसम्पूर्णत्वात् सम्प्रतिपन्नपुरुषवदिति, किं बहुना ? अहेतुवादसिद्धेऽप्यर्थे ततोऽनेकान्तात्मकत्वसाधिका निराकाङ्-

तात्पर्यार्थप्रतिपत्तिपर्यन्ताश्च या उपपत्तयस्ता हेतुवादसिद्धत्वमुपपादयन्ति , श्रुतमात्रेण ज्ञातस्याज्ञातप्रायत्वात् , ताश्चोपपत्तयः श्रुतो-
पयोगानन्यत्वान्न श्रुतत्वव्याहन्त्र्य इत्याद्युपपादितं ' ज्ञानबिन्दौ ' वस्माभिः । अत एव पदार्थप्रतिपत्त्यागमान् निश्चितमप्यर्थं
सिसाधयिषाधीनपक्षतयाऽनुमिन्वतेऽनुमानरसिकाः, मननसाध्यश्रद्धाविशेषस्येत्थमेवोपपत्तेः, अत एव नियमतः षट्कायश्रद्धा-
नेऽपि जिनवचनरुचिमत्त्वाद्द्रव्यतः सम्यग्दृष्टित्वं, नतु भावतो, भावसम्यग्दर्शनस्य सकलनयविषयविवेचनसाध्यत्वादेकविधद्विवि-
धादिपर्यायापरिच्छेदे तदनुपपत्तेरिति वदन्ति, तदाह सम्मतौ महावादी–णियमेण सद्दहंतो छक्काए भावओ ण सद्दहइ । हंदी
अपज्जवेसु वि सद्दहणा होइ अविभत्ता ॥ १ ॥ " अस्या अर्थः—नियमेन षडेवेत्यवधारणेन षट्कायान् श्रद्दधदपि भावतो न
श्रद्धत्ते, प्रकृतधर्मघटितसप्तभङ्गपर्याप्तप्रकारताकबोधादिजनितसमूहालम्बनरुचेरेव प्रकृतधर्मभावश्रद्धापदार्थत्वात्, तदाह अपर्या-
येषु भङ्गान्तरसंवलनरहितेषु धर्मेषु, अपेर्भिन्नक्रमत्वात् श्रद्धाऽप्यविभक्ताऽसम्पूर्णा भवति, द्रव्यश्रद्धापर्यवसन्ना भवतीति यावत् ।
अयमस्माकं मनीषोन्मेषः । अन्ये त्वेवमुत्तरार्द्धं व्याचक्षते, हन्दि यतोऽपर्ययेष्वविवक्षितपर्यायेषु पुद्गलेष्वपि श्रद्धाऽविभक्ता एक-
रूपा भवतीति, तथा च पूर्वोत्तरार्द्धाभ्यां जीवपुद्गलयोः सामान्यत एकरूपत्वोपदर्शनात्तदुभयघटितनिकायषट्कैकान्तबाधात्त-
च्छ्रद्धानस्य द्रव्यसम्यक्त्वरूपत्वमेव जिनवचनाभिनिवेशदशायां, स्वाभिनिवेशदशायां तु शुद्धात्मस्वरूपबाधनेन तन्मात्रविश्रान्ता-
न्तरङ्गरत्नत्रयबाधनान्मिथ्यात्वरूपत्वमेवेति तदभिप्रायमप्यविरुद्धमेवाकलयामः । तदेवं विस्ताराज्ञारुचिभेदेन हेतुवादाहेतुवाद-
योर्व्यापकत्वं व्यवस्थितम्, आहरणतद्देशतद्दोषोपन्यासादिहेतुविस्तरस्तु मत्कृतोपदेशामृततरङ्गिणीतो बोध्यः, यथा तद्व्या-
पकत्वे निःशङ्कं चेतः स्यादित्युपरम्यते । व्यवहारतस्तु हेतुबहुलत्वात् प्रायो दृष्टिवादाख्य आगमो हेतुवादः, तदितरश्चाहेतुवाद

उच्यते, तदपेक्षयाऽयं प्रज्ञापकविभागः सम्मतिसिद्धः—"जो हेउवायपक्खम्मि हेउओ आगमे य आगमिओ । सो समयपहावओ सिद्धंतविराहगो अण्णोत्ति ॥१॥" अन्यस्य विराधकत्वं च प्रतिपादकवचस्यनास्थादिदोषोत्पादनादिति बोध्यम् ॥७८॥

"हेत्वागमान्यतरपक्षविपक्षभावाद् यद्ग्रथ्यते निबिडमाशु कुयुक्तिजालम् ॥
तच्छेदनाय पटिमानमसौ बिभर्त्ति स्याद्वादपद्धतिरनेकसुयुक्तिजालम् ॥ १ ॥

इति महोपाध्यायश्रीयशोविजयगणिविरचितेऽष्टसहस्रीविवरणे महातर्के षष्ठःपरिच्छेदः ॥

अथ सप्तमः परिच्छेदः ।

निर्दिष्टो यः शास्त्रे हेत्वागमनिर्णयः प्रपञ्चेन । गमयत्यष्टसहस्री संक्षेपात्तमिह सामर्थ्यात् ॥ १ ॥

अन्तरङ्गार्थतैकान्ते बुद्धिवाक्यं मृषाखिलम् । प्रमाणाभासमेवात–स्तत् प्रमाणादृते कथम् ॥ ७९ ॥

अन्तरङ्गस्यैव स्वसंविदितज्ञानस्यार्थता वस्तुता, न बहिरङ्गस्य जडस्य प्रतिभासानर्हस्येत्येकान्तोऽन्तरङ्गार्थतैकान्तः । तस्मिन्नभ्युपगम्यमानेऽखिलं बुद्धिवाक्यं हेतुवादाहेतुवादनिबन्धनमुपायतत्त्वं मृषैव स्यात् । यतश्च मृषा स्यादत एव प्रमाणाभासमेव, प्रमाणस्य सत्यत्वेन व्याप्तत्वात्, मृषात्वेन प्रमाणाभासस्य व्याप्तेः । तच्च प्रमाणाभासं प्रमाणादृते कथं संभवेत् ? तदसंभवे तद्व्यवहारमवास्तवमेवायं स्वप्नव्यवहारमिव संवृत्यापि कथं प्रतिपद्यते ? तज्जन्मकार्यप्रभवादिवेद्यवेदकलक्षणमनैकान्तिकमादर्श्य संवित्तिरेव खण्डशः

प्रतिभासमाना व्यवहाराय कल्प्यते इत्यभिनिवेशेपि प्रमाण मृग्यम् । न हि प्रमाणाभावे तज्जन्मताद्रूप्यतदध्यवसायान् प्रत्येकं वेद्यवेदकलक्षणं चक्षुपा समानार्थसमनन्तरवेदनेन शुक्तिकायां रजताध्यवसायेन च व्यभिचारयितुमीशः, सह वा समानार्थसमनन्तरज्ञानेन कामलाद्युपहतचक्षुप शुक्ले शङ्खे पीताकारज्ञानसमनन्तरज्ञानेन वा सौत्रान्तिकान्प्रति व्यभिचारि प्रतिदर्शयेत् । कथं वा कार्यनिमित्तकारणत्व तल्लक्षणं यौगान्प्रत्यनैकान्तिक व्यवस्थापयेत् ? कथं च कार्यकारणभावाख्यं प्रभवं काञ्चन प्रति योग्यता वा तल्लक्षणतया व्यभिचारयेत् ? कथ च सवित्तिरेव खण्डशः प्रतिभासमाना वेद्यवेदकादिव्यवहाराय प्रकल्पते इत्यभिनिवेश वा विदधीत ? यतो न प्रमाणं मृगयते । किञ्चास्य विज्ञानवादिनः सविदां क्षणिकत्वमनन्यवेद्यत्वं नानासतानत्वमिति स्वतस्तावन्न सिध्यति, भ्रान्तेः स्वप्रवत् । स्वसवेदनात्स्वतः सिध्यतीति चेत्, न, क्षणिकत्वेनानन्यवेद्यत्वेन नानासतानत्वेन च नित्यत्वेन सर्ववेद्यत्वेनैकत्वेनेव परब्रह्मणः स्वसवेदनाभावात् । तथात्मसवेदनेपि व्यवसायवैकल्ये प्रमाणान्तरापेक्षयानुपलम्भकल्पत्वात्, तस्य प्रमाणान्तरानपेक्षस्यैव व्यवसायात्मनः सवेदनस्योपलम्भत्वव्यवस्थितेः, व्यवसायाभावे तु बुद्धीनामभ्यासादपि तथानुपलम्भात् । न हि तथा बुद्धयः सविद्रते यथा व्यावर्ण्यन्ते, क्षणिकत्वाद्यात्मनान्यथैव तासां प्रतिभासनाभ्याससिद्धेः । नापि परतः क्षणिकत्वादि सिध्यति, संबन्धप्रतिपत्तेरयोगात् । न हि सत्त्वादेर्लिङ्गस्य क्षणिकत्वादिना व्याप्त्या सबन्धप्रतिपत्तिः प्रत्यक्षतो युज्यते, तस्य सन्निहितविपयबलोत्पत्तेरविचारकत्वाच्च । नाप्यनुमानादनवस्थानादिति प्रागेव प्ररूपणात् । स्वांशमात्रावलम्बिना मिथ्याविकल्पेन प्रकृततत्त्वव्यवस्थापने बहिरर्थेष्वप्यविरोधात् क्षणिकत्वादिव्यवस्थापनमस्तु सौत्रान्तिकादीनाम्, अविशेपात् । तथा हि । कथंचिदत्र वेद्यलक्षणं यदि व्यवतिष्ठेत तदा तत्प्रकृत सविदां क्षणिकत्वादिसाधन लैङ्गिकज्ञानेन कृत स्यान्नान्यथा । न चानुक्तदोषं लक्षणमस्ति, वेद्यस्य विज्ञानवादिना तज्जन्मादेरनैकान्तिकत्व-

दोषवचनात् । सवित् क्षणिकत्वादावनुमानवेदनस्य तत्सभवे नान्यत्र वहिरर्थे तदसभवोभिधेयः, सर्वथा विशेषाभावात् । तत्स्वपरपक्षयोः सिद्ध्यसिद्ध्यर्थं किंचित्कथंचित्कुतश्चिदवितथज्ञानमादरणीयमन्यथाऽशेषविभ्रमासिद्धेः । ननु किंचित्सविदद्वैतं कथंचित्सविदात्मना कुतश्चित्स्वतः सत्यप्रतिभासनमाद्रियत एव, स्वरूपस्य स्वतो गतिरिति वचनादिति चेत्, न, स्वरूपेपि वेद्यवेदकलक्षणाभावे तदघटनात् पुरुषाद्वैतवत् । एतेन यद्ग्राह्यग्राहकाकार तत्सर्वं विभ्रान्तं, यथा स्वप्नेन्द्रजालादिज्ञानं तथा च प्रत्यक्षादिकमिति प्रतिविहित वेदितव्यं, भ्रान्तत्वप्रकृतानुमानज्ञानयोर्ग्राह्यग्राहकाकारयोरभ्रान्तत्वे ताभ्यामेव हेतोर्व्यभिचारात्, तद्भ्रान्तत्वे ततः सर्वस्य भ्रान्तत्वप्रसिद्धेः, सर्वभ्रान्तौ साध्यसाधनविज्ञप्तेरसभवात्तद्व्याप्तिविज्ञप्तिवत्, सभवे सर्वविभ्रमासिद्धे ॥ ७९ ॥

सारङ्गारङ्गभाजो हरिषु करियुता भोगिनस्तार्क्ष्यमध्ये नाखुर्मार्जारमुग्रं गणयति न च गौर्व्याघ्रवालं करालम्।
देवा हेवाकभाजोऽसुरततिमिलने यत्प्रभावात्सभायां स श्रीपार्श्वः प्रसन्नो भवतु मयि कृपाकोमलैर्दृग्विलासैः ॥

सप्तमेऽन्तरङ्गबहिरङ्गार्थैकान्तनिरासाय प्रक्रमः । 'तज्जन्मेति' तज्जन्मपक्षेऽर्थो वेद्यः, तज्जन्यं तद्ग्राहकमर्थज्ञानं वेदकं, ताद्रूप्यपक्षे ज्ञानगतो नीलाद्याकारो वेद्यः, नीलाकार ज्ञानं वेदकं, तदध्यवसायपक्षे दृश्यविकल्पैकीकरणादध्यवसेयं वेद्यम्, अध्यवसायो वेदकः, चक्षुषेत्यादिना तज्जन्मादेरेकैकस्य क्रमशो व्यभिचारस्थानत्रयप्रदर्शनम्, प्रमाणाभावाच्च तदनीशत्वापादनं कृतं विज्ञानवादिनः, सह वेत्यनेन च समुदितत्रयस्य व्यभिचारप्रदर्शनपूर्वमुक्तहेतोरेव तदनीशत्वं बोध्यत इति विवेकः । कांश्चन प्रति योग्यतामिति जैनापेक्षया, क्षणिकत्वेनेत्यादि, स्वरूपमात्रसंवेदने स्वसंवेदनसामर्थ्येऽपि क्षणिकत्वादिधर्मप्रकारकप्रतिपत्तावसामर्थ्यादित्यर्थः । नन्वक्षणिकादिव्यावृत्तिरेव क्षणिकत्वादिकं, तच्च धर्मिरूपं स्वत एव

न्तीति हेतोरसिद्धिः, नियमस्यासिद्धेः । किञ्च सहोपलम्भनियमश्च स्याद्भेदश्च स्यात् । किं विप्रतिपिध्येत ? स्वहेतुप्रतिनियमसंभवात् । इति सन्दिग्धव्यतिरेको हेतुर्न विज्ञप्तिमात्रता साधयेत् । तस्मादयं विज्ञानवादी मिथ्यादृष्टिः परप्रत्यायनाय शास्त्रं विदधानः परमार्थतः सविदानो वा वचनं तत्त्वज्ञानं च प्रतिरुणद्धीति न किंचिदेतत्, असाधनाङ्गवचनाददोषोद्भावनाच्च निग्रहार्हत्वात् । न ह्यस्य वचनं किंचित्साधयति दूषयति वा, यतस्तद्वचनं साधनाङ्गं दोषोद्भावनं वा स्यात् । नापि किंचित्संवेदनमस्य सम्यगस्ति, येन मिथ्यादृष्टिर्न भवेत्। सविदद्वैतमस्तीति चेत्, न, तस्य स्वतः परतो वा ब्रह्मवदप्रतिपत्तेर्यथासवेदनं मिथ्यात्वसिद्धेः । तदेवं नान्तरङ्गार्थैकान्ते बुद्धिर्वाक्यं वा सम्यगुपायतत्त्वं संभवतीति स्थितम् ॥ ८० ॥

स्वाभिलाप्य(पा)भावं स्वेन ज्ञानेनैवाभिलाप्यभावम्, **स्ववचनविरोधस्यैवेति** अभिलापेऽभिलाप्यत्वस्यानभिलापे ज्ञानेऽभिलापात्मत्वस्य चोक्तौ विरोधस्य स्पष्टत्वादित्यर्थः । **स्वयमनिष्टेरिति,** अन्यथा साकारत्वप्रसङ्गादित्यर्थः, **विचारात्पूर्वमपीति,** न च विज्ञप्तिवादिनस्तत्त्वज्ञानात्पूर्वमविद्याविलासजनितेन विचारान्तरेण साध्यसाधनभावव्यवस्थितेरनवस्थायाश्चानादित्वेन निरासान्नानुपपत्तिरिति वाच्यम् । असत्ख्यातेरनिर्वचनीयख्यातेश्च निरासेनाविद्याजनितविचारेण व्यवहारव्यवस्थायाः कर्तुमशक्यत्वात्, न च नानाविधविप्रतिपिद्धव्यवहाराणामन्यतरविधिनिषेधयोरविद्या प्रगल्भते, न च सर्वेपामेव तेषां तत्त्वदिक्प्रदर्शकत्वेनादुष्टत्वम् 'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहत इति' वचनादिति वाच्यम्, सर्वपक्षपरिग्रहापत्त्या तत्त्वसङ्करापत्तेः, पिटकत्रयप्रदर्शिता एव विचारा अदुष्टा न वेदान्तादिप्रदर्शिता इत्यत्र च न किञ्चिन्मानमस्तीति विचारितं बहुशः । एतेन भेदाभावसिद्धिनिराकरणेन, **अभेदसाधनं** विधिरूपाभेदसाधन, **सञ्चितालम्बना इति** सञ्चितमा-

दोपवचनात् । सवित् क्षणिकत्वादावनुमानवेदनस्य तत्सभवे नान्यत्र वहिरर्थे तदसभवोभिधेयः, सर्वथा विशेषाभावात् । तत्स्वपरपक्षयोः सिद्ध्यसिद्ध्यर्थं किंचित्कथंचित्कुतश्चिदवितथज्ञानमादरणीयमन्यथाऽशेपविभ्रमासिद्धेः । ननु किंचित्सविदद्वैत कथंचित्सविदात्मना कुतश्चित्स्वतः मत्यप्रतिभासनमाद्रियत एव, स्वरूपस्य स्वतो गतिरिति दचनादिति चेत्, न, स्वरूपेपि वेद्यवेदकलक्षणाभावे तदघटनात् पुरुषाद्वैतवत् । एतेन यद्ग्राह्यग्राहकाकारं तत्सर्वं विभ्रान्तं, यथा स्वप्नेन्द्रजालादिज्ञानं तथा च प्रत्यक्षादिकमिति प्रतिविहित वेदितव्यं, भ्रान्तत्वप्रकृतानुमानज्ञानयोर्ग्राह्यग्राहकाकारयोरभ्रान्तत्वे ताभ्यामेव हेतोर्व्यभिचारात्, तद्भ्रान्तत्वे ततः सर्वस्य भ्रान्तत्वप्रसिद्धेः, सर्वभ्रान्तौ साध्यसाधनविज्ञप्तेरसभवात्तव्याप्तिविज्ञप्तिवत्, सभवे सर्वविभ्रमासिद्धे ॥ ७९ ॥

सारङ्गारङ्गभाजो हरिषु करियुता भोगिनस्तार्क्ष्यमध्ये नाखुर्मार्जारमुग्रं गणयति न च गौर्व्याघ्रबालं करालम्।
देवा हेवाकभाजोऽसुरततिमिलने यत्प्रभावात्सभायां स श्रीपार्श्वः प्रसन्नो भवतु मयि कृपाकोमलैर्दृग्विलासैः॥

सप्तमेऽन्तरङ्गबहिरङ्गार्थैकान्तनिरासाय प्रक्रमः । 'तज्जन्मेति' तज्जन्मपक्षेऽर्थो वेद्यः, तज्जन्यं तद्ग्राहकमर्थज्ञानं वेदकं, ताद्रूप्यपक्षे ज्ञानगतो नीलाद्याकारो वेद्यः, नीलाकार ज्ञानं वेदकं, तदध्यवसायपक्षे दृश्यविकल्पैकीकरणादध्यवसेयं वेद्यम्, अध्यवसायो वेदकः, चक्षुपेत्यादिना तज्जन्मादेरेकैकस्य क्रमशो व्यमिचारस्थानत्रयप्रदर्शनम्, प्रमाणाभावाच्च तदनीशत्वापादनं कृतं विज्ञानवादिनः, सह वेत्यनेन च समुदितत्रयस्य व्यभिचारप्रदर्शनपूर्वमुक्तहेतोरेव तदनीशत्वं बोध्यत इति विवेकः । कांश्चन प्रति योग्यतामिति जैनापेक्षया, क्षणिकत्वेनेत्यादि, स्वरूपमात्रसंवेदने स्वसंवेदनसामर्थ्येऽपि क्षणिकत्वादिधर्मप्रकारकप्रतिपत्तावसामर्थ्यादित्यर्थः । नन्वक्षणिकादिव्यावृत्तिरेव क्षणिकत्वादिकं, तच्च धर्मिरूपं स्वत एव

भोत्स्यते बाधकाभावादित्याशङ्कायामाह–**तथात्मसंवेदनेपीत्यादिना, प्रमाणान्तरापेक्षयेति,** यत्रैव जनयेदेनामित्याद्युक्तेरिति भावः। तस्योपजीव्यस्य, सविकल्पकज्ञानरूपप्रमाणान्तरस्य स्वतोऽव्यवसायस्यापि दर्शनस्याभ्यासादेर्निश्चायकता भविष्यतीत्याशङ्कायामाह–'**व्यवसायाभावे त्विति**' तथा च सविकल्पकज्ञानरूपाभ्याससहकृतदर्शनस्य निश्चायकत्वं सहकृतेत्यादेर्व्यर्थत्वात्, अन्यथा तादृशाकाशादेरपि तथात्वप्रसङ्गादिति भावः। तर्हि मासिधत् क्षणिकत्वादिसंविदां स्वतः, परत एव सेत्स्यतीत्याशङ्कायामाह–**नापि परत इत्यादि, भाष्ये स्वांशेति,** स्वांशो दृश्यविकल्पैकत्वाभिप्रायेण प्रातीतिकसम्बन्धेन प्रकृततत्त्वघटकः सामान्याकारः, **नान्यथेति** दृष्टान्ताभावादिति भावः। **तत्सम्भव इति** वेद्यसम्भव इत्यर्थः। **नान्यत्रेति** सर्वं भ्रान्तं ग्राह्यग्राहकाकारक्रोडीकृतत्वादित्यस्य संवित्क्षणिकत्वानुमानेनैवानैकान्तिकत्वादित्यर्थः ॥ ७९ ॥

साध्यसाधनविज्ञप्तेर्यदि विज्ञप्तिमात्रता। न साध्यं न च हेतुश्च प्रतिज्ञाहेतुदोषतः ॥ ८० ॥

प्रतिज्ञादोषस्तावत्स्ववचनविरोधः साध्यसाधनविज्ञानस्य विज्ञप्तिमात्रमभिलपतः प्रसज्यते। तथा हि। सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोर्द्विचन्द्रदर्शनवदित्यत्रार्थसंविदोः सहदर्शनमुपेत्यैकत्वैकान्तं साधयन् कथमवधेयाभिलापः? स्वोक्तधर्मधर्मिभेदवचनस्य हेतुदृष्टान्तभेदवचनस्य चाद्वैतवचनेन विरोधात्, संविदद्वैतवचनस्य च तद्भेदवचनेन व्याघातात्, तद्वचनज्ञानयोश्च भेदे तदेकत्वसाधनाभिलापविरोधात्, तदभिलापे वा तद्भेदविरोधात्। इति स्ववचनयोर्विरोधाद्बिभ्यत् स्वाभिलापाभावं वा स्ववाचा प्रदर्शयन्कथं स्वस्थः? सदा मौनव्रतिकोहमित्यभिलापवत् स्ववचनविरोधस्यैव स्वीकरणात्। तथा विज्ञानवादिनोऽप्रसिद्धविशेष्यत्वमप्रसिद्धविशेषणत्वं च प्रतिज्ञादोषः स्यात्, नीलतद्धियोर्विशेष्ययोस्तदभेदस्य च विशेषणस्य स्वयमनिष्टेः। पराभ्युपगमेन प्रसङ्गसाधनस्योपन्यासा-

ददोष इति चेत्, न, तस्य परासिद्धेस्तदभ्युपगमाप्रसिद्धेश्च प्रसङ्गसाधनासंभवात् । साधनसाध्यधर्मयोर्व्याप्यव्यापकभावसिद्धौ हि सत्या परस्य व्याप्याभ्युपगमो व्यापकाभ्युपगमनान्तरीयको यत्र प्रदर्श्यते तत्प्रसङ्गसाधनम् । न चैतद्विज्ञप्तिमात्रवादिनः संभवति, विरोधात । ननु 'स्याद्वादिनोपि तद्दोषोद्भावनमयुक्तं विज्ञप्तिमात्रवादिनं प्रति, तस्य तदसिद्धेः, विज्ञप्तिमात्रव्यतिरेकेण दोपस्याप्यभावाद्गुणवत् । स्वाभ्युपगममात्रादेव तत्संभवः, परस्य विज्ञप्तिमात्रसाधनात्पूर्वं यथाप्रतीति वस्तुनो व्यवस्थानादिति समाधाने तत एव सौगतस्यापि तदेव समाधानमस्तु, विचारात्पूर्वं सर्वस्याविचारितरमणीयेन रूपेण यथाप्रतीति साध्यसाधनव्यवहारप्रवृत्तेरन्यथा विचाराप्रवृत्तेः । सिद्धे तु विज्ञप्तिमात्रे न कश्चित्साध्यसाधनव्यवहारं प्रतनोति सौगतो, नापि परेषां तद्दोषोद्भावनेऽवकाशोस्ति' इति केचित्, तेपि न विचारचतुरचेतसः, किंचिन्निर्णीतमाश्रित्यान्यत्रानिर्णीतरूपे तदविनाभाविनि विचारस्य प्रवृत्तेः, सर्वविप्रतिपत्तौ तु कचिद्विचारणानवतरणात् । इति विचारात्पूर्वमपि विचारान्तरेण निर्णीते एव साध्यसाधनव्यवहारस्तद्गुणदोषस्वभावश्च निश्चीयते । न चैवमनवस्था, संसारस्यानादित्वात् कचित्कस्यचित्कदाचिदाकाङ्क्षानिवृत्तेर्विचारान्तरानपेक्षणात् । ततो युक्तमेव स्याद्वादिनः प्रतिज्ञादोषोद्भावनं हेतुदोषोद्भावनं च । तथा हि । अयं पृथगनुपलम्भाद्भेदाभावमात्रं साधयेन्नीलतद्धियोः । तच्चासिद्धं, संबन्धासिद्धेरभावयोः खरशृङ्गवत् । सिद्धे हि धूमपावकयोः कार्यकारणभावे संबन्धे कारणाभावात्कार्यस्याभावः सिध्यति । सति च शिंशपात्ववृक्षत्वयोर्व्याप्यव्यापकभावे व्यापकाभावाद्व्याप्याभावो, नान्यथा । न चैवं भेदपृथगुपलम्भयोः संबन्धः कचित्सिद्धो, विरोधाद्विज्ञप्तिमात्रवादिनो यतः पृथगुपलम्भाभावो भेदाभावं साधयेत् इति न निश्चितो हेतुः । एतेनासहानुपलम्भादभेदसाधनं प्रत्युक्तं भावाभावयोः संबन्धासिद्धेरविशेषात्, तादात्म्यतदुत्पत्त्योरर्थस्वभावनियमात्, तदन्यव्यावृत्तेरर्थास्वभावत्वादेकत्वेन भावस्वभावेन सह तदयोगात् । सिद्धेपि प्रतिषेधैकान्ते

विज्ञप्तिमात्रं न सिध्येत्, तदसाधनात् । तत्सिद्धौ तदाश्रयं दूषणमनुषज्येत ग्राह्यग्राहकभावसिद्धिलक्षणं तद्वद्बहिरर्थसिद्धिप्रसञ्जनं चाविशेषात् । तदेकोपलम्भनियमोप्यसिद्धः, साध्यसाधनयोरविशेषात् । साध्यं हि नीलतद्धियोरेकत्वम् । तदेकोपलम्भोपि तदेव, ज्ञानस्यैकस्योपलम्भादिति हेत्वर्थव्याख्यानात्, सहशब्दस्यैकपर्यायत्वात् सहोदरो भ्रातेत्यादिवत् । तथैकज्ञानग्राह्यत्वं द्रव्यपर्यायपरमाणुभिरनैकान्तिकम् । द्रव्यपर्यायौ हि जैनानामेकमतिज्ञानग्राह्यौ, न च सर्वथैकत्वं प्रतिपद्येते । सौत्रान्तिकस्य च सचिता रूपादिपरमाणवश्चक्षुरादिज्ञानेनैकेन ग्राह्याः, 'सचितालम्बनाः पञ्च विज्ञानकायाः' इति वचनात् । न चैक्यं प्रतिपद्यन्ते । तथा योगाचारस्यापि सकलविज्ञानपरमाणवः सुगतज्ञानेनैकेन ग्राह्याः, न चैकत्वभाजः । इति तैरनैकान्तिकं साधनमनुषज्यते । नीलतद्धियोरैक्यमनन्यवेद्यत्वात् स्वसंवेदनवदित्यत्रापि परेषामनन्यवेद्यत्वमसिद्धं, नीलज्ञानादन्यस्य नीलस्य वेद्यत्वात् । एतेनैकलोलीभावेनोपलम्भः सहोपलम्भश्चित्रज्ञानाकारवदशक्यविवेचनत्वं साधनमसिद्धमुक्तं, नीलतद्वेदनयोरशक्यविवेचनत्वासिद्धेरन्तर्बहिर्देशतया विवेकेन प्रतीतेः । यदि पुनरेकदोपलम्भः सहोपलम्भ इति व्याख्यायते तदा एकक्षणवर्तिसंवित्तीनां साकल्येन सहोपलम्भनियमाद्व्यभिचारी हेतुः, तासां तथोत्पत्तेरेव संवेदनत्वात् संविदितानामेवोत्पत्तेः । द्विचन्द्रदर्शनवदिति दृष्टान्तोपि साध्यसाधनविकलः, तथोपलम्भाभेदयोरर्थे प्रतिनियमाद्भ्रान्तौ तदसंभवात्, संभवे तद्भ्रान्तित्वविरोधात् । ननु चासहानुपलम्भमात्रादभेदमात्रं साधनात्साध्यरूपं भ्रान्तादपि संभवति, अभावेऽभावयोः संभवाविरोधात् । ततो न साध्यसाधनविकलो दृष्टान्त इति न शक्यप्रतिष्ठं, कथंचिदर्थस्वभावानवबोधप्रसङ्गात् सर्वविज्ञानस्वलक्षणक्षणक्षयविविक्तसन्ततिविभ्रमस्वभावानुमितेः साकल्येनैकत्वप्रसङ्गात् तदन्यापोहमात्राद्धेतोरन्यापोहमात्रस्यैव सिद्धेरर्थस्वभावानवबोधात् । किं च सकृदुपलम्भनियमे हेत्वर्थे सति एकार्थसंगतदृष्टयः परचित्तविदो वा नावश्यं तद्बुद्धिं तदर्थं वा संविद्-

न्तीति हेतोरसिद्धिः, नियमस्यासिद्धेः । किञ्च सहोपलम्भनियमश्च स्याद्भेदश्च स्यात् । किं विप्रतिषिध्येत ? स्वहेतुप्रतिनियमसभवात् । इति सन्दिग्धव्यतिरेको हेतुर्न विज्ञप्तिमात्रता साधयेत् । तस्मादयं विज्ञानवादी मिथ्यादृष्टिः परप्रत्यायनाय शास्त्रं विदधानः परमार्थतः सविदानो वा वचनं तत्त्वज्ञानं च प्रतिरुणद्धीति न किंचिदेतत्, असाधनाङ्गवचनाददोषोद्भावनाच्च निग्रहार्हत्वात् । न ह्यस्य वचन किंचित्साधयति दूषयति वा, यतस्तद्वचनं साधनाङ्ग दोषोद्भावनं वा स्यात् । नापि किंचित्संवेदनमस्य सम्यगस्ति, येन मिथ्यादृष्टिर्न भवेत्। सविदद्वैतमस्तीति चेत्, न, तस्य स्वत परतो वा ब्रह्मवदप्रतिपत्तेर्यथासंवेदनं मिथ्यात्वसिद्धेः । तदेवं नान्तरङ्गार्थैकान्ते बुद्धिर्वाक्यं वा सम्यगुपायतत्त्वं संभवतीति स्थितम् ॥ ८० ॥

स्वाभिलाप्य(पा)भावं स्वेन ज्ञानेनैवाभिलाप्यभावम्, **स्ववचनविरोधस्यैवेति** अभिलापेऽभिलाप्यत्वस्यानभिलापे ज्ञानेऽभिलापात्मत्वस्य चोक्तौ विरोधस्य स्पष्टत्वादित्यर्थः । **स्वयमनिष्टेरिति,** अन्यथा साकारत्वप्रसङ्गादित्यर्थः, **विचारात्पूर्वमपीति,** न च विज्ञप्तिवादिनस्तत्त्वज्ञानात्पूर्वमविद्याविलासजनितेन विचारान्तरेण साध्यसाधनभावव्यवस्थितेरनवस्थायाश्चानादित्वेन निरामान्नानुपपत्तिरिति वाच्यम् । असत्ख्यातेरनिर्वचनीयख्यातेश्च निरासेनाविद्याजनितविचारेण व्यवहारव्यवस्थायाः कर्त्तुमशक्यत्वात्, न च नानाविधविप्रतिपिद्धव्यवहाराणामन्यतरविधिनिषेधयोरविद्या प्रगल्भते, न च सर्वेषामेव तेषां तत्त्वदिक्प्रदर्शकत्वेनादुष्टत्वम् 'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहत इति' वचनादिति वाच्यम्, सर्वपक्षपरिग्रहापत्त्या तत्त्वसङ्करापत्तेः, पिटकत्रयप्रदर्शिता एव विचारा अदुष्टा न वेदान्तादिप्रदर्शिता इत्यत्र च न किञ्चिन्मानमस्तीति विचारितं बहुशः । एतेन भेदाभावसिद्धिनिराकरणेन, **अभेदसाधनं** विधिरूपाभेदसाधन, **सञ्चितालम्बना इति** सञ्चितमा-

लम्बनं विषयो येषां ते तथा, **पञ्चविज्ञानकायाः** पञ्चेन्द्रियविज्ञानस्कन्धाः, **परेषां** बाह्यार्थवादिनाम् । नन्वेकक्षणवर्त्तिसंवित्तीनामेकदैवोत्पत्तावपि कथमेकदैवोपलम्भ इत्याशङ्कायामाह– '**तासामिति**' तासामेकक्षणवृत्तिसंवित्तीनाम्, तथोत्पत्तेरेव सहोत्पत्तेरेव, **संवेदनत्वात्** संवेदनस्वरूपत्वात्, तथा च सहोत्पत्तिनियम एव स्वरूपतः सहोपलम्भनियमो न च तासु स्वलक्षणैकत्वमिति व्यभिचारः स्पष्ट इत्यर्थः । **सम्भव** इति एकत्वोपलम्भस्य द्वित्वभ्रमप्रतिबन्धकत्वादिति भावः । **अर्थस्वभावानवबोधादिति** अन्यापोहमात्रैकत्वसिद्धावपि संविदोऽर्थाकारत्वासिद्धेः, तथा चार्थसंशयस्ततो न निवर्त्तेतेत्यायातमान्ध्यं जगत इति भावः । संवृत्त्याऽर्थबोधः स्यादित्याशङ्क्याह–**किञ्चेत्यादिना**, **एकार्थसंगतदृष्टय** इत्यनेनार्थोपलम्भे तद्विषयपरज्ञानोपलम्भस्य, **परचित्तविदो** वेत्यनेन च ज्ञानोपलम्भेऽर्थोपलम्भस्य व्यभिचारप्रदर्शनान्नियमखण्डनं कृतं, दृश्यते ह्ययं व्यवहार एनमर्थं जानामि न त्वेतद्विषयां परबुद्धिं, राज्ञश्चित्तं सन्तुष्टं जानामि न तु तद्विषयं सन्तोषकारणमिति सूक्तमेतत्, अप्रयोजकतयाऽपि त्वदुक्तो हेतुः साध्यासाधक इत्याह–**किञ्चेत्यादिना**, **संविदानो** वेत्यत्र "**वयः शक्तिशील**" इति सूत्रविहितः शानप्रत्ययो द्रष्टव्यः, तेन न सकर्मकस्य संपूर्वकविद्धातोरात्मनेपदप्रत्ययस्यानुपपत्तिदोष उद्भावनीयः ॥ ८० ॥

बहिरङ्गार्थतैकान्ते, प्रमाणाभासनिह्नवात् ॥ सर्वेषां कार्यसिद्धिः स्या–द्विरुद्धार्थाभिधायिनाम् ॥८१॥

यत्किंचिच्चेतस्तत्सर्वं साक्षात्परम्परया वा बहिरर्थप्रतिबद्धम् । यथाग्निप्रत्यक्षेतरवेदनम् । स्वप्नदर्शनमपि चेतः, तथा विषयाकारनिर्भासात् । साध्यदृष्टान्तौ पूर्ववद् । विवादापन्नं विज्ञानं साक्षात्परम्परया वा बहिरर्थप्रतिबद्धं, विषयाकारनिर्भासात् । यथाग्निप्रत्यक्षेतरवेदनम् । तथा स्वप्नदर्शनमपि विषयाकारनिर्भासम् । तत्तथा । इति बहिरङ्गार्थतैकान्तः, सर्ववेदनानां बहिर्विषयत्वाभि-

निवेशात्। अत्रापि लोकसमयप्रतिबद्धानां परस्परविरुद्धशब्दबुद्धीनां स्वार्थसम्बन्धः परमार्थतः प्रसज्येत। न चैवं, तृणाग्रे करिणां शतमित्यादिवचनानां स्वप्नादिबुद्धीनां च स्वार्थे सम्बन्धाभावात् तथा संवादासिद्धेः। स्यान्मतं द्विविधोऽर्थो, लौकिकोऽलौकिकश्च। यत्र लोकस्य परितोषः स लौकिकः सत्यत्वाभिमतज्ञानविषयः। यत्र न लोकस्य परितोषः शास्त्रविदां तु संतोषः सोऽलौकिकोऽर्थः स्वप्नादिबुद्धिविषयः, सर्वथाप्यविद्यमानस्य प्रतिभानवचनासंभवात् खरविषाणानुत्पन्नप्रध्वस्तविषयशब्दज्ञानानामपि लोकागोचरालौकिकार्थविषयत्वात्' इति तदेतदलौकिकमेव, जाग्रत्प्रत्यया निरालम्बना एव प्रत्ययत्वात् स्वप्नप्रत्ययवदिति परार्थानुमानप्रत्ययस्यास्वार्थप्रतिबद्धत्वे तेनैव चेतस्त्वस्य विषयाकारनिर्भासस्य च हेतोर्व्यभिचारात्, स्वार्थप्रतिबद्धत्वे च सर्ववेदनानां सालम्बनत्वविरोधात्। अस्यालौकिकार्थालम्बनत्वान्न लौकिकार्थालम्बनत्वे साध्ये हेतोर्व्यभिचारो विरोधो वेति चेत्, न, लौकिकालौकिकार्थालम्बनशून्यत्वानुमानेन हेतोर्व्यभिचारविरोधयोस्तदवस्थत्वात्। न चैवंविधार्थानां परस्परविरुद्धानां सकृत्संभव इति न बहिरङ्गार्थैकान्तः श्रेयानन्तरङ्गार्थैकान्तवत्॥ ८१ ॥

बहिरङ्गार्थैकान्ता इति, यत्र यो यथा प्रतीयते तत्र स तथाऽस्त्येवेत्येकान्ताभ्युपगमे, प्रमाणाभासस्य तदभाववद्विशेष्यकतत्प्रकारकज्ञानस्य, निह्नवात्, **सर्वेषां** विरुद्धार्थवादिनां प्रकृतीश्वराद्यभ्युपगन्तॄणामुपचरितवादिनां स्वप्नादिद्रष्टॄणां च वाङ्मात्रेण **कार्यसिद्धिः स्यात्** तद्वचनज्ञानयोरर्थाव्यभिचारत्वादिति भावः। **स्यान्मतमित्यादिना** मीमांसकः शङ्कते; **खरविषाणानुत्पन्नेत्यादि**, खरविषाणादीनां दृश्यानामसत्त्वेऽपि विकल्पानां सतां विकल्पबुद्धौ भानादलौकिकत्वमिति भावः, एतन्मतं दूषयति **तदेतदलौकिकमेवेत्यादिना**, **न चैवंविधार्थानामिति** अलौकिकलौकिकालौकिकार्थालम्बनशून्यत्वसिद्धावुभयार्थालम्बनत्वपर्यवसानेन विरोधग्रासान्न कस्यापि सिद्धिरित्यर्थः॥ अपि चैवं शुक्तावलौकिकरजतप्रतिभासे रजतार्थिनां

प्रवृत्तिर्न स्यात्, न चालौकिके लौकिकत्वज्ञानेन प्रवृत्त्युपपत्तिः, तस्यान्यथाख्यातित्वेन घट्टकुटीप्रभातापत्तेः । किञ्चालौकिकस्यापि रजतस्यासत्त्वेऽसत्ख्यात्यापत्तिः, सत्त्वे च नेदं रजतमिति बाधानुत्पत्तिः, न चालौकिके लौकिकत्वनिषेध एव बाधार्थः, नेदं रजतमित्यादौ रजतलौकिकत्वस्य निषेधप्रतियोगित्वेनाभानात्, सर्वत्र विधौ निषेधे च रजतपदस्य लौकिकरजतपरत्वे गौरवात् । किञ्च लौकिकरजतस्य प्रसक्तस्यैव प्रतिषेधाद्विपरीतख्यात्यापत्तिरिति न किञ्चिदेतत् । एतेन मीमांसकवृद्धाभिमताऽलौकिकख्यातिः खण्डिता, एवं ख्यात्यन्तरखण्डनमपि द्रष्टव्यम्, भ्रान्तावन्यथाख्यातिपक्षस्यैव विचारक्षमत्वात्, तत्र तत्र प्राभाकरा विवेकाख्यातिं कल्पयन्ति, तदाहुस्ते, इदं रजतमित्यादिविपरीतप्रत्ययोत्पत्तौ न किमपि कारणं पश्यामः, इन्द्रियस्य शुक्तिशकल एव सन्निकृष्टत्वेन रजतज्ञानाजनकत्वात्, न च दोषवशादसन्निकृष्टस्यापीन्द्रियस्य रजतज्ञानजनकत्वं युक्तं, दुष्टकारणात् स्वकार्यानुत्पत्तावपि विपरीतकार्यानुत्पत्तेः, न हि कमलबीजं तैलकलुपितमपि गोधूमांकुरजननसमर्थं, तस्मादिदं रजतमिति ग्रहणस्मरणरूपं बोधद्वयं सत्यमेव, इदमंशे इन्द्रियसन्निकर्षस्य ग्रहणकारणस्य रजतांशे च साधारणरूपदर्शनोद्बुद्धसंस्कारस्य स्मरणकारणस्य सत्त्वात् । न च तदंशानुल्लेखान्नेदं स्मरणमिति शङ्कनीयं, प्रमुष्टतत्ताकानामपि बहूनां पदपदार्थस्मरणानामुपलम्भात्, अत एव रजतस्य नातीतत्वावभासः । बाधकप्रत्ययश्चेदमन्यद्रजतमन्यदिति विवेकमेव प्रकाशयति, न तु रजतज्ञानस्यासत्यत्वं, स्वप्ने चेदं रजतमित्यादौ स्मरणत्वाग्रह एव विवेकाग्रहः, न त्वनुभवस्मरणयोस्तत्त्वाग्रहः, तदुभयाभावात्, सदृशदर्शनं विनापि तदा स्मृतिः, कारणान्तरात्, आरोपे सतीत्यादिन्यायात्, एवं चन्द्रद्वयवेदने दोषाद् द्विधा कृतया नयनवृत्त्या चन्द्रैकत्वाग्रहणं च, तिक्ता शर्करेत्यादौ च पित्तद्रव्यगततिक्तग्रहणशर्कराग्रहयोर्भेदाग्रहाद्विवेकाख्यातिर्या-

ख्येया, सर्वत्र सम्यगग्रहणस्यैव तदर्थत्वात्, ये तु विवेकाख्यातिद्विषः शुक्तौ रजतप्रतीति स्थापयन्ति, तेषां ज्ञानान्तरेऽपि मिथ्यात्वसम्भावनया सर्वत्रानाश्वासात् प्रवृत्त्यादिव्यवहारोच्छेदप्रसङ्ग इति। अत्र ब्रूमः-यत्तावदुक्तम् इदं रजतमिति विपरीतप्रत्ययोत्पत्तौ न किञ्चित्कारणं पश्याम इति, तत्र "न ह्ययं स्थाणोरपराधो, यदेनमन्धो न पश्यति" इति न्यायावतारो, दुष्टेन्द्रियादेरेव तद्धेतुत्वात्, स्वाकारसंवरणरजतरूपापत्तिपरिणामविशेषवत्याः शुक्तेरेव चालम्बनत्वात्, न च कार्यसिद्धौ कारणाभावाशङ्का युक्तिमती, तथा च प्रामाणिकाः॥ "कार्यं चेदवगम्येत, किं कारणपरीक्षया॥ कार्यं चेन्नावगम्येत, किं कारणपरीक्षया" ॥१॥ इति यदप्युक्तं दुष्टकारणस्य स्वकार्यानुत्पादकत्वं, न तु विपरीतकार्योत्पादकत्वमिति, तत्रापि नियमं न पश्यामो, दवदहनदग्धवेत्रबीजात् कदलीप्रकाण्डोत्पत्तिदर्शनात्, दवदहनस्य वेत्रांकुरोत्पादने दोषता कदलीप्रकाण्डे त्वनुगुणभाव एवेति चेत्, अत्रापि काचकामलादेः सत्यज्ञानोत्पादने दोषता मिथ्याज्ञानोत्पादने त्वनुगुणभाव एवेति तुल्यं, यदप्युक्तं, इदं रजतमिति ग्रहणस्मरणरूपं ज्ञानद्वयं न त्वेकं विशिष्टज्ञानमिति, तदपि तुच्छं, रजतार्थिप्रवृत्तिमात्रे रजतत्वप्रकारकज्ञानस्यैव समानविशेष्यत्वप्रत्यासत्त्या संवादिप्रवृत्तिस्थले हेतुत्वकल्पनाद्विसंवादिप्रवृत्तिहेतोरपि मिथ्याज्ञानस्यैकस्य सिद्धेः, संवादिप्रवृत्तौ विशिष्टज्ञानं हेतुर्विसंवादिप्रवृत्तौ चोपस्थितेष्टभेदाग्रह इति कल्पने गौरवात्, भेदाग्रह इत्यत्र च भेद एव कोऽभिप्रेत आयुष्मतः, किं वस्तुस्वरूपमात्रम्, उत परस्पराभावः, आहोश्विद् व्यावर्त्तकधर्मयोगः, आद्ये ग्रहणस्मरणाभ्यां पुरोवर्त्तिपूर्वानुभूतवस्तुस्वरूपग्राहिभ्यां भेदो गृहीत एवेत्यप्रवृत्तिप्रसङ्गः, द्वितीयपक्षस्तु प्राभाकरैरभावानभ्युपगमादेव निरस्तः, तदभ्युपगमेऽपि स्मृतरजतस्य कथं नाभावज्ञानम्, दोषवशान्नियतदेशतयाऽवगतस्यानियतदेशतया स्मरणान्न तदिति चेत्, आयातान्यथाख्यातिः, देशविनि-

र्मुक्ततत्स्मरणान्न तदिति न, तव मते पूर्वाविगते रजते स्मृते केवलाधिकरणोपलब्धेरेव तदभावोपलम्भत्वात्, दोषस्य शुक्तौ रजतभेदग्रहप्रतिबन्धकत्वकल्पने च तत्तादात्म्यग्रहहेतुत्वकल्पनमेव ज्यायः। नापि तृतीयः, स्मर्यमाणे रजते रजतत्वस्य व्यावर्त्तकधर्मस्य भानाद् गृह्यमाणेऽप्यन्तत इदंत्वस्यैव तादृशस्य भानात्, न च रजतत्वात्यन्ताभावरजतभेदगृहीतव्यावर्त्तकताकतद्धर्मग्रहाणामन्यतरत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽखण्डाभावो रजतार्थिप्रवृत्तिहेतुरित्यपि वक्तुं शक्यम्, उदासीनप्रवेशाप्रवेशाभ्यां विनिगमनाविरहात्, रजतं स्मरतो रजतार्थिनः पाषाणत्वानुपलम्भे पाषाणेऽपि प्रवृत्तिप्रसङ्गाच्च। शुक्तिविषयकप्रवृत्तौ शुक्तिविषयकज्ञानत्वेनापि हेतुत्वाच्च, तत्र समानप्रकारकत्वनिवेशस्यैवौचित्यात्, अन्यथा महागौरवात्, किञ्च रजत एव नेदं रजतमिति ग्रहे प्रवृत्त्यापत्तिः, तत्रान्यथाख्यातिभिया रजतभेदग्रहस्य परेण वक्तुमशक्यत्वात्, न चाभावप्रतियोगित्वेनानुपस्थितं यदुपस्थितं रजतं तद्भेदाग्रहस्य प्रवर्त्तकत्वाददोष इत्यपि शक्यं वक्तुं, घटभिन्नं रजतं नेदमिति ज्ञानादपि प्रवृत्त्यापत्तेः तद्धर्म्यभावप्रतियोगित्वेनानुपस्थितत्वं चान्यथाख्यातिभयाद्रजतेऽपीति न किञ्चिदेतत्। किञ्च प्रवृत्तिरिच्छाद्वारा, सा च समानविषयज्ञानसाध्येति कथं नेच्छावन्मिथ्या, एतेन प्रकृतरजतज्ञानं स्मरणम्, अनाकलितरजतस्य प्रतिपत्तुरनुत्पद्यमानत्वादित्याद्यनुमानमपास्तम्। रजतगोचरेण समीहितसाधनतानुमानेन संस्कारेण रजतशब्दोल्लेखिप्रत्यक्षेण चानैकान्तिकत्वात्, प्रकृतरजतज्ञानं स्मरणं न भवति विशदावभासित्वात् यदित्थं तदित्थं यथा संप्रतिपन्नज्ञानमिति प्रत्यनुमानसद्भावाच्च। किञ्च भवतापि संवित्तिः स्वप्रकाशा स्वीक्रियत एव, तत्रेयं रजतसंवित्तिस्तपस्विनी केन स्वभावेन प्रकाशतामिति विचारणीयं, यदि स्मृतिरूपेणेत्युच्यते, हन्त तर्हि कः प्रमोषशब्दस्यार्थः। अथानुभवरूपेण प्रथते, तर्हि विपरीतख्यातिरेवेयं, स्मृतेरनुभ-

वत्वेन प्रथनात्। अथ संविन्मात्रतयैव रजतसंवित्तिः प्रतिभाति, तदपि न निरवद्यं, रजतमिति विषयोल्लेखस्यानुभूयमानत्वात्, स्मरणानुभवलक्षणविशेषशून्यायाश्चात्र प्रवक्तुके विषयसंवित्तेरनुपपद्यमानत्वात्, यदप्युक्त बाधकप्रत्ययश्चेदमन्यद्रजतमन्यदिति विवेकमेव प्रकाशयतीत्यादि, तदपि मिथ्या, बाधकप्रत्ययेन प्रसक्तरजतत्वाभावस्यैवावगाहनात्, अप्रमक्ताविविक्तत्वप्रतिषेधेन विविक्तत्वानवगाहनात्, यदप्युक्तं स्वप्ने चेदं रजतमित्यादौ स्मरणत्वाग्रह एव विवेकाग्रह इत्यादि, तदपि तुच्छम्, रजतादिस्वप्ने स्मरणत्वेनाग्रहे रूपान्तरेण ग्रहे विपरीतख्यात्यापत्तेः, सर्वात्मनाऽग्रहणस्य च ग्रहणविरुद्धत्वात्, यदप्युक्तमेवं चन्द्रद्वयवेदने दोषाद् द्विधा कृतया नयनवृत्त्या चन्द्रैकत्वाग्रह एवेति, तदप्यविचारितरमणीय, द्विधा कृता हि तिमिरेण नायनी वृत्तिर्यदि नाम कुमुदबन्धोरेकत्व नाववुध्यते, माववूवुधत्, विपरीतस्तु द्वित्वानुभवः कथमिति विचार्यतां, नयनसमाश्रितद्वित्वासंसर्गाग्रह एव चन्द्रे द्वित्वग्रह इत्यस्यापि परोक्षस्य तस्योपस्थित्यभावेनैवानाश्रयणीयत्वात्, एतेन तिक्ता शर्करेत्यादिव्यवहारस्य पित्तद्रव्यगततिक्तत्वशर्कराग्रहभेदाग्रहनिबन्धनत्वमुक्तं प्रत्युक्तम्, अगृह्यमाणतिक्तत्वस्यैव पित्तस्य शरीरगतस्य ज्वरोत्पादकत्ववद्रसनगतस्य विपरीतप्रत्ययोत्पादकत्वात् सर्वानुभूयमानसामानाधिकरण्यानुपपत्तेश्च। अपि चेदं रजतमिति यदि संवेदनद्वयमभ्युपगम्यते, तदा तस्य किं यौगपद्येन पर्यायेण वा प्रादुर्भावः स्यादिति वक्तव्यम्, आद्ये स्वकृतान्तकोपः, द्वितीयेऽपि किं प्रत्यक्षात् पूर्वमुतोत्तरं रजतस्मरणं भवेत्, नाद्य, इदमिति प्रत्यक्षात्पूर्वं संस्कारानुद्बोधेन रजतस्मृत्यनुत्पत्तेः, न द्वितीयो, निमीलितनयनस्यापि तत्प्रसक्तेरिति सकललोकसिद्धं सकृदेव रजतात्मना पुरोवर्त्तिभानं दुरपह्नवमिति मन्तव्यम्। एतेनेदं रजतमिति प्रत्यये न रजतसत्ताऽऽलम्बनम्, अभ्रान्तत्वप्रसक्तेः, नापि तदभावो, रजतविधिपरस्य प्रत्ययस्य

तद्भावानालम्बनत्वात्, नापि शुक्तिखण्डम्, अतदाकारत्वात्, नापि रजताकारेण शुक्तिखण्डम्, अन्यस्यान्याकारेण दुर्ग्रहत्वादित्यख्यातिरेवेयमित्यख्यातिवादोऽपि केषांचिन्निरस्तः। एवं भ्रान्तेर्निरालम्बनत्वे भ्रान्तिसुप्तावस्थयोरविशेषप्रसङ्गात्, न हि भ्रान्तौ प्रतिभासमानार्थव्यतिरेकेण सुप्तावस्थातोऽन्योऽस्ति विशेषः। स्वातिरिक्तबाह्यार्थानुपपत्तौ च तदंशे सत्ख्यातिरेव ज्ञानवाद्याश्रिता स्यान्नाख्यातिरिति यत्किञ्चिदेतत्॥ बौद्धास्त्वसत्ख्यातिमाचक्षते, तथा हीदं रजतमिति भासमानं वस्तु ज्ञानमर्थो वा भवेत्, न तावज्ज्ञानम्, अहं रजतमित्यहंकारसामानाधिकरण्येनाप्रतिभासनात्, नाप्यर्थः, तत्साध्यार्थक्रियाभावात् इत्यसदेव तत्तत्र प्रतिभातमिति, तेऽपि न सूक्ष्मेक्षिणः। तथाहि—असत्ख्यातिरिति कोऽर्थः, किमेकान्तासतोऽर्थस्य प्रथनम्, उत देशान्तरे विद्यमानस्य, द्वितीयपक्षे विपरीतख्यातिरेवेयं, देशान्तरे विद्यमानस्य शुक्तिदेशे प्रतीतिस्वीकारात्, आद्यपक्षे त्वेकान्तासतोऽर्थस्य प्रथने शशविषाणस्यापि प्रतीतिः स्यात्, एतेन रजतं सदेव तत्संसर्गस्त्वलीको भ्रान्तौ मदुपरागेण भासत इति न्यायटीकाकृन्मतमप्यपास्तम्, विषयतायाः सद्वृत्तित्वव्याप्यत्वात्, अन्यथा गवि शशशृङ्गीयत्वविशिष्टसम्बन्धेन शृङ्गभानापत्तेः, अपि चासत् सत्त्वेन प्रतिभातीति विपरीतख्यातिमर्यादाया नातिक्रमः। यदपीदं रजतमिति भासमानं वस्तु ज्ञानमर्थो वा भवेदिति विकल्पद्वयमकारि, तत्राद्योऽनभ्युपगमान्निरस्तो, द्वितीयस्त्विष्यत एव, अर्थविशेषनिबन्धनचरणाभरणाद्यर्थक्रियाभावेऽप्यर्थसामान्यनिबन्धनाभिलापप्रवृत्त्याद्यर्थक्रियायास्तत्राव्याहतत्वात्, बाधकप्रत्ययेन च मिथ्याज्ञानस्य मिथ्यात्वमुपदर्श्यते, न तु तद्विषयस्यार्थत्वं बाध्यत इति नासत्ख्यातिमनोरथस्ताथागतानां श्रेयान्। केचित्तु प्रसिद्धार्थख्यातिमाहुः, विपर्ययेऽपि प्रतीतिप्रसिद्धस्यैवार्थस्य भानात्, न च विचारासहत्वात्तद्विषयस्याविद्यमानत्वं, प्रतितेरेव विचारत्वात् करस्थ-

स्थूलमुक्ताफलेऽपि तथैव विचारसहत्वसिद्धेः, न चोत्तरकाले प्रतिभासाभावाद्भ्रान्तिविषयस्यासत्त्वं, तत्समयप्रतिभासेनापि तोयबुद्बुदादेरिव सत्त्वाव्याघातादिति, तेऽपि न ख्यातिभाजः प्रमाणसिद्धिं विनाऽर्थस्य प्रसिद्धत्वायोगात्, अन्यथा भ्रान्ताभ्रान्तव्यवस्थानुपपत्तेः, यच्च प्रतिभाससमये सत्त्वाद् भ्रान्तिविषयस्य रजतस्य प्रसिद्धत्वमुच्यते, तद् यद्यन्यदेशस्थस्य तस्य दोषमाहात्म्येन शुक्तौ भानात्, तदा प्रसिद्धार्थख्यातिरित्यन्यथाख्यातेर्नामान्तरमायातं, यदि च शुक्तिदेशस्थस्य, तदा तस्य स्थिरत्वादुत्तरकालेऽपि भानापत्तिः, अज्ञानजस्य ज्ञाननाश्यस्य च तस्य स्वीकारे मतान्तरप्रवेशापत्तिरिति यत्किञ्चिदेतत्। परे तु शुक्तिशकले यत्कलधौतं चकास्ति तस्य बाह्यतया प्रतिभानं नोपपत्तिमत्, नेदं रजतमिति बाधकेन तद्बाह्यताया बाध्यमानत्वात्, ततो ज्ञानात्मन एवायमाकारोऽनादिवासनामाहात्म्यात् बहिरिव परिस्फुरतीत्यात्मख्यातिरेवेयमित्याहुः, तेऽपि न प्रेक्षावन्तो, नेदं रजतमिति बाधकेन तद्बाह्यताया अबाधनात्, हट्टादौ बाह्यस्थस्य तस्य परं शुक्तिदेशस्थताया एव बाधनात्। यदपि न्यगादि ज्ञानात्मन एवायमाकारोऽनादिवासनामाहात्म्याद्बहिरिव परिस्फुरतीति, तदप्यसत्यं, वासनाया बहुशो निरस्तत्वात्। किञ्च–ज्ञानाकारस्यैव रजतस्य संवेदनेऽहं रजतमित्यन्तर्मुखतया प्रतीतिः स्यात्, न त्विदं रजतमिति बहिर्मुखतया, ज्ञाननिष्ठोऽपि रजताकारोऽनादिवासनामाहात्म्याच्छुक्तिनिष्ठतया भासत इत्युक्तौ चान्यथाख्यातिरेवाङ्गीकृता स्यात्। अपि च स्वाकार एव रजतादिर्भ्रान्तिभिर्बहीरूपतया प्रकाश्यत इत्यत्र न प्रमाणमस्ति, अनुभवस्य कलधौतज्ञानाकारासाक्षित्वात्, बाधकप्रत्ययस्यापि शुक्तौ रजतनिषेधकत्वेन रजते ज्ञानाकारताया अविधायकत्वात्, न च रजते पुरोवर्तिशुक्त्याकारत्वप्रतिषेधेऽर्थाद्बोधाकारत्वसिद्धिरित्यपि साम्प्रतं, शुक्त्याकारत्वप्रतिषेधेऽर्थाद्देशान्तरसत्त्वस्यैव सिद्धेः, दृष्टातिक्रमेणा-

दृष्टज्ञानाकारत्वकल्पने मानाभावात् । यत्प्रकाशते तद्विज्ञप्तिमात्रं यथा सुखादिकमिति तु प्रत्युक्तं विज्ञानवादनिरासे बहुशः । अपि चैवमान्तरं कलधौतं मया बहीरूपतया ज्ञातमिति प्रत्यभिज्ञानं स्यात्, न त्वियं शुक्ती रजतत्वेन ज्ञातेति, एवमप्रसक्तकलधौतनिषेधोऽपि न स्यात् । यदि च ज्ञानस्य बाह्यार्थविषयत्वं नेष्यते, तर्हि यथा रजताकारोल्लेखेन तत्प्रवर्त्तते, तथा किं न नीलाद्याकारोल्लेखेन, नियामकाभावात्, अनादिवासनाया एव तन्नियामकत्वे देशादिनियमे हेतुर्मृग्यः । अथास्या इदमेव स्वरूपं यदसदपि देशादिनियमेन ज्ञाने प्रदर्शयतीत्यभिधीयते, तदयुक्तम्, असत्ख्यातिप्रसक्तेः, कथं चात्मख्यातिवादिनश्छेदादिप्रतीतिः स्यात्, स्वरूपमात्रसंविदस्तदसम्भवात्, न हि विज्ञानरूपस्य सुखादेः संवित्तौ तत्प्रतीतिर्दृष्टेति बाह्यार्थस्य प्रामाणिकत्वे नात्मख्यातिः ख्यातिमती । वेदान्तिनस्तु शुक्तौ रजतं न सत् प्रतिभासते, भ्रान्त्युच्छेदापत्तेः, नाप्यसत्, शशशृङ्गादिवत् प्रतिभासप्रवृत्त्योरविषयत्वप्रसङ्गात्, नाप्युभयरूपम्, उभयपक्षनिक्षिप्तदोषानुषङ्गादित्यनिर्वचनीयमेवेदं, तस्माद्भ्रान्तिरनिर्वचनीयख्यातिरेवेत्याहुः, तदपि तुच्छतरं, शुक्तौ रजतभ्रमे शुक्तिखण्डस्य विषयस्य स्वरूपपररूपाभ्यां सदसद्रूपस्याव्याहतत्वात्, रजतप्रकारिताकत्वस्य च तत्र विशेषणज्ञानमात्रनियम्यत्वात्, अस्तु वा तत्तादात्विकशुक्तिपरिणामनिमित्तमेव, समूहालम्बनव्यावृत्तस्य तस्यान्यथानुपपत्तेः, “ अर्थेनैव धियां विशेष ” इति न्यायादिति यौक्तिकाः । शुक्तौ विलक्षणरजतोत्पादस्तु कारणाभावादेवायुक्तः, न हि परिणामिकारणादिसामग्रीं विना कार्योत्पादो दृष्टः । अथ शुक्तेरज्ञानमेव तत्र प्रतीयमानस्य कलधौतस्य कारणमिति मतिः, दुर्मतिरेवेयम्, अज्ञानस्य केवलपरिणामिकारणत्वायोगात् । अज्ञानं हि सम्यग्ज्ञानस्य प्रागभावो, मिथ्याज्ञानं वा, द्वयमपि केवलं न परिणामिकारणं, द्रव्यस्यैव तत्तत्पर्यायपरिकरितस्य परिणामिकारणत्वप्रसिद्धेः,

तद्यातमद्रव्यमेव सम्यग्ज्ञानप्रागभावलक्षणपर्यायाविष्टं मिथ्याज्ञानस्वरूपपर्यायाक्रान्तं वा शुक्तिशकलकलधौतस्य कारणं भविष्यतीत्यपि नाशङ्कनीयम्, चेतनस्याचेतनं प्रति जातुचिदपि परिणामिकारणत्वानुपपत्तेः। स्यादाकूतं भवतो, नाज्ञानं सम्यग्ज्ञानप्रागभावो, नापि मिथ्याज्ञानं, किन्तु ताभ्यामर्थान्तरमेव मायाऽविद्यादिशब्दवाच्यं तदनिर्वचनीयरजतहेतुरिति चेत्, न। तादृशाज्ञाने मानाभावात्, न च मूलाज्ञानं तद्धेतुर्युक्तं, तस्य व्यवस्थितजगद्वैचित्र्यहेतुत्वेन त्वयोपगमात्, किन्तु भ्रान्तिव्यवहारनिर्वाहायानन्तानि तूलाज्ञानानि त्वया वाच्यानीति महागौरवम्, किञ्च शुक्त्यज्ञानस्य पाषाणादावपि सत्त्वेन देशनियमाभावान्न रजतहेतुत्वम्, न चेदमंशावच्छेदेन शुक्त्यज्ञानस्येदमंशावच्छेदेन रजतोत्पादकत्वाददोषो, दोषाभावकालेऽपि ततस्तत्प्रसङ्गात्, दोषस्याप्यपेक्षणे चेदमंशावच्छेदेनाज्ञानान्तरस्योदासीनस्य च हेतुत्वं दुर्निवारमिति यत्किञ्चिदेतत्। दोषसहितं शुक्त्यज्ञानं रजतहेतुरिति त्वद्वचनस्य वह्निसहितमाकाशं दाहकमिति वचनतुल्यत्वात्। यत्तु विशेषादर्शनस्य परेषां रजतभ्रमत्वं कार्यतावच्छेदकं मम तु रजतत्वमिति लाघवादनिर्वचनीयरजतसिद्धिरित्यनन्तदेवेनोक्तं, तदसत्, त्वयापि सत्यरजतव्यावृत्तये वैज्ञानिकरजतत्वस्यैव कार्यतावच्छेदकस्य वाच्यत्वात्, अपि च किमिदमनिर्वचनीत्वं, निरुक्तिविरहो वा निरुक्तिनिमित्तविरहो वा, नाद्यः, इदं रजतं नेदं रजतमिति निरुक्तेरनुभूयमानत्वात्, नापि द्वितीयो, यतो निरुक्तिनिमित्तं विषयः किं भावरूपो नास्त्यभावरूपो वा, प्रथमकल्पनायामसत्ख्यात्यभ्युपगमप्रसङ्ग, द्वितीयकल्पनायां तु सत्ख्यातिरेव, उभावपि न स्त इति चेत्, लोकसिद्धयोरुभयोः प्रतिषेधो विलक्षणयोर्वा, नाद्यः, एकत्रोभयविरुद्धविधेरिव तत्प्रतिषेधस्याप्ययोगात्, विरुद्धयोरेकतरविधिनिषेधयोरन्यतरनिषेधविधिनान्तरीयकत्वात्, द्वितीयपक्षे तु न काऽपि क्षतिः, न

ह्यलौकिकविषयसहस्रनिवृत्तावपि लौकिकविषयनिवृत्तिस्तन्निरुक्तिनिवृत्तिर्वा सम्भवतीत्यलं प्रसङ्गेन ॥ ८१ ॥ "यशोविजयनामेत्थं, साधुन्यायविशारदः ॥ स्पष्टं निष्टङ्कयामास, ख्यातीरष्ट गरिष्ठधीः ॥ १ ॥ अन्यथाख्याति १ ख्याति २-र्विवेकाख्यातिरेव च ॥ ३ असत्ख्यातिः ४ प्रसिद्धार्थख्याति ५ रेव च पञ्चमी ॥ २ ॥ आत्मख्यातिस्तथा षष्ठी, ख्यातिः सतस्यलौकिकी ॥ अष्टन्यवाच्यताख्याति ८-रित्यष्टौ नामतः स्मृताः ॥ ३ ॥ साम्राज्यादन्यथाख्याते-रेतास्वन्यनिरासतः ॥ बहिरङ्गार्थतैकान्तं, निरस्यन्ति धियां बुधाः ॥ ४ ॥"

विरोधान्नोभयैकात्म्यं, स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ॥ अवाच्यतैकान्तेप्युक्ति-र्नावाच्यमिति युज्यते ॥८२॥

अन्तर्बहिर्ज्ञेयैकान्तयोः सहाभ्युपगमो विरुद्धः स्याद्वादन्यायविद्विषामेव । तदवाच्यतायामुक्तिविरोधः पूर्ववत् । स्याद्वादाश्रयणे तु न कश्चिद्दोष इत्याहुः ॥ ८२ ॥

भावप्रमेयापेक्षायां, प्रमाणाभासनिह्नवः ॥ बहिः प्रमेयापेक्षायां, प्रमाणं तन्निभं च ते ॥ ८३ ॥

सर्वसंवित्तेः स्वसंवेदनस्य कथंचित् प्रमाणत्वोपपत्तेस्तदपेक्षाया सर्वं प्रत्यक्षं, न कश्चित्प्रमाणाभासः, सौगतानामप्यत्राविवादात्, सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनं प्रत्यक्षमिति वचनात् । तन्निर्विकल्पकमित्ययुक्तं स्वार्थव्यवसायात्मत्वमन्तरेण प्रत्यक्षत्वानुपपत्तेः समर्थनात् । तथानभ्युपगमेन्यत एव बुद्धेरनुमानं स्यात् । तच्चायुक्तं लिङ्गाभावात् । तत्रार्थज्ञानमलिङ्गं, तदविशेषेणासिद्धेः । स्वयमप्रत्यक्षं ज्ञानं ह्यर्थपरिच्छेदादनुमीयते इत्यर्थज्ञानं कर्मरूपमर्थस्य प्राकट्यं तल्लिङ्गमिष्यते स हि बहिर्देशसंबद्धः प्रत्यक्षमनुभूयते, ज्ञाते त्वनुमानादवगच्छति बुद्धिमिति वचनात् । तच्चार्थप्राकट्यमर्थधर्मो ज्ञानधर्मो वा ? प्रथमपक्षेऽर्थपरिच्छेदकज्ञानादविशेषेणेतरस्यासिद्धेर्न तल्लिङ्गम् ।

तद्विशेपस्तु, तस्यास्वसविदितत्वादनुमानापेक्षत्वप्रसङ्गात्। न हि ज्ञाने परिच्छेदकेऽप्रत्यक्षे तत्कृतोर्थपरिच्छेदः प्रत्यक्षः स्यात्, संतानान्तरज्ञानकृतार्थपरिच्छेदवत् बहिरर्थस्य प्रत्यक्षत्वात्तद्धर्मस्य प्रत्यक्षत्वमिति चेत्, न, अर्थस्यापि स्वतः प्रत्यक्षत्वासिद्धेः। स्वज्ञाने प्रतिभासमानस्य प्रत्यक्षत्वे सतानान्तरज्ञानेपि साक्षात्प्रतिभासमाने प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गः, तस्यानुमेयत्वाविशेपात्। बहिरर्थप्राकत्यस्य प्रमातुः स्वसविदितत्वात्तल्लिङ्गमेव ज्ञाने प्रसिद्धमिति चेत्कथमर्थधर्मः स्वसविदितो नाम ? अर्थवत्। सोयं ज्ञानमस्वसविदित प्राकत्यमर्थस्वरूपं स्वसविदितमित्याचक्षाणो विपरीतप्रज्ञः। परिच्छिद्यमानत्वस्य ज्ञानजस्यार्थधर्मस्यार्थज्ञानस्य कुतस्ततो विशेपो येन तल्लिङ्ग सिध्येत् ? पुंसः स्वसविदितत्वेन ततो विशेपो वा तदन्यतरेणार्थपरिसमाप्तेः किं द्वितीयेन ? स्वसविदितार्थपरिच्छेदादेव स्वार्थपरिच्छित्तिसिद्धेरप्रत्यक्षज्ञानस्याकिंचित्करत्वात्। पुंसो वा स्वसविदितार्थत्वेनार्थपरिच्छेदसिद्धे. किमनेन ? तस्य करणत्वान्नाकिंचित्करत्वमात्मनः कर्तृत्वादर्थस्य च कर्मत्वात्करणत्वविरोधात्, करणमन्तरेण क्रियायाः सभवाभावादिति चेत्तर्हि पुंस· स्वसवित्तौ किं करणम् ? स्वात्मैवेति चेत्स एवार्थपरिच्छित्तावपि करणमस्तु, कर्तुरनन्यस्यापि कथंचिदविभक्तकर्तृकस्य करणस्य सिद्धेर्विभक्तकर्तृकवत्। एतेनार्थपरिच्छेदस्यार्थधर्मस्य स्वसवित्तौ स्वात्मनः करणत्वे करणान्तरमकिंचित्करमुक्तम्। तत. पुरुपार्थपरिच्छेदयोरन्यतरेण स्वात्मनैव करणेनार्थपरिसमाप्ते· किं द्वितीयेन करणेन परोक्षज्ञानेन ? यच्चेदमर्थज्ञानं तच्चेदर्थस्वलक्षण स्याद्व्यभिचारादहेतुः, अप्रत्यक्षे ज्ञाने साध्ये तस्यार्थस्वरूपस्य तदभावेपि भावादन्यथार्थाभावप्रसङ्गात्। न च ज्ञानस्याभावेऽर्थस्याभाव· । परिच्छिद्यमानत्वधर्मेण धर्मिणो विशिष्टस्यार्थस्याभाव एवेति चेन्न, तस्य ज्ञानासिद्धौ प्रतिपत्तिविरोधात्, विशेपणाप्रतीतौ तद्विशिष्टत्वस्य क्वचिदप्रतीतेरसिद्धत्वेन हेतुत्वायोगस्याभिधानात्। एतेनार्थमह जानामीति प्रतीतेरात्मनोऽर्थज्ञान स्वसविदि-

तमर्थप्राकट्यं ज्ञानधर्मोऽप्रत्यक्षायां लिङ्गबुद्धौ लिङ्गमित्येतदपास्तं, तस्य बुद्धेरप्रत्यक्षत्वे तथाप्रतीतेरयोगात्। इत्यविशिष्ट एव ज्ञानानपेक्षस्वभावोऽर्थस्तद्धेतुः स्यात्। स च व्यभिचार्येव। एतेनेन्द्रियादिप्रत्यक्षं प्रत्युक्तं, तस्याप्यतीन्द्रियत्वेनाप्रत्यक्षज्ञानादविशेषेणासिद्धेः। विशेषेण वा तयोरन्यतरेण भावेन्द्रियादिना स्वसंविदितेनार्थपरिसमाप्तेः किं द्वितीयेनाप्रत्यक्षज्ञानेन ? तस्यैव ज्ञानत्वात्। व्यभिचारी चेन्द्रियादिहेतुर्ज्ञानाभावे भावात् कारणस्येन्द्रियस्य मनसो वावश्य कार्यवत्त्वानुपपत्तेः। ततः प्रत्यक्षेतरबुद्ध्यवभासस्य स्वसंवेदनात्प्रत्यक्षविरुद्धं ज्ञानस्याप्रत्यक्षत्वमनुमानविरुद्धं च। तथा हि। सुखदुःखादिबुद्धेरप्रत्यक्षत्वे हर्षविषादादयोपि न स्युरात्मान्तरवत्। एतेन प्रतिक्षणं निरंशं संवेदनं प्रत्यक्षं प्रत्युक्तं, यथाप्रतिज्ञमनुभवाभावात्, यथानुभवमनभ्युपगमात्, स्थिरस्यात्मनः सुखदुःखादिबुद्ध्यात्मकस्य प्रत्यक्षमनुभूयमानस्य हर्षविषादादेरनुभवात्। भ्रान्तोऽयमनुभव इति चेत्, न, बाधकाभावात्। सर्वत्र सर्वदा भ्रान्तेरप्रत्यक्षत्वाविशेषात् परोक्षज्ञानवादानुषङ्गः सौगतस्य। कथंचिद्भ्रान्तावेकान्तहानेः स्याद्वादानुप्रवेशः। न केवलं निर्विकल्पकेऽर्थदर्शने परोक्षज्ञानादविशेषः। किं तर्हि ? तद्व्यवस्थाहेतौ विकल्पस्वसंवेदनेपि, विकल्पानिवृत्तेः सर्वथा विकल्पस्य भ्रान्तत्वे बहिरिव स्वरूपेपि भ्रान्तेरप्रत्यक्षत्वाविशेषादभ्रान्तं प्रत्यक्षमिति वचनात्, कथंचिद्भ्रान्तत्वेऽनेकान्तसिद्धेरनिवारणात्। तस्मात्स्वसंवेदनापेक्षया न किंचिज्ज्ञानं सर्वथा प्रमाणम्। बहिरर्थापेक्षया तु प्रमाणतदाभासव्यवस्था, तत्संवादकविसंवादकत्वात् क्वचित्स्वरूपे केशमशकादिज्ञानवत्। नभसि केशादिज्ञानं हि बहिर्विसंवादकत्वादप्रमाणाभासं स्वरूपे संवादकत्वात्प्रमाणम्, नचैवं विरोधः प्रसज्यते, जीवस्यैकस्यावरणविगमविशेषात् सत्येतराभाससंवेदनपरिणामसिद्धेः कालिकादिविगमविशेषात्कनकादिजात्येतरपरिणामवत्॥ ८३॥

सर्वं प्रत्यक्षमिति सर्वं प्रत्यक्षप्रमाणमित्यर्थः, न चैवमनुमितित्वादिना प्रत्यक्षस्य साङ्कर्यं, क्वचित्सङ्कीर्णजातेरप्यदुष्ट-

त्वाभ्युपगमात्, अस्तु वा यद्विषयत्वावच्छेदेन ज्ञानाजन्यत्वं तद्विषयत्वावच्छेदेनौपाधिकमेव प्रत्यक्षत्वम्, अनुमित्यादावात्मा-ज्ञानात् सुखादित्यादावप्यात्मादौ विषयताद्वयाभ्युपगमादिति दिग्। 'ज्ञाते त्विति' ज्ञाते तु प्राकट्ये, अनुमाना-त्तल्लिङ्गकादवगच्छति निश्चिनोति बुद्धिमित्यर्थः। इतरस्य प्राकट्यस्य, अनुमानापेक्षत्वप्रसङ्गादिति, अनुमानापेक्ष-त्वमर्थप्राकट्यस्यार्थपरिच्छेदाविशेषे हेतुः, तत्र चास्वसंविदितत्वमिति बोध्यम्। तस्यानुमेयत्वाविशेषादिति। यथा सन्ता-नान्तरज्ञानप्रतिभातेऽर्थे ज्ञानावच्छेदकत्वेनानुमेयत्वं तथा स्वज्ञानप्रतिभातेऽपीत्यविशेषो भावनीयः। अर्थज्ञानस्येत्यत्र ज्ञानपदे करणव्युत्पत्तिः। तेन न तस्य प्राकट्यविशेषणत्वानुपपत्तिः। कुत इति, ततः परोक्षार्थज्ञानात् कुतः प्राकट्यस्य विशेषो न कुतश्चिदनुमानापेक्षत्वतौल्यादित्यर्थः। पुंस इति, पुंस आत्मनः, स्वसंविदितत्वेनार्थावच्छिन्नप्राकट्यस्य च तत्राध्यस्ततया तथात्वेनेत्यर्थः। भाष्ये तदन्यतरेण परोक्षज्ञानस्वसंविदितपुरुषयोर्मध्ये परोक्षज्ञानस्वसंविदितार्थप्राकट्ययो-र्मध्ये वाऽन्यतरेण, अर्थपरिसमाप्तेरर्थव्यवहारसिद्धेः। किं द्वितीयेन परोक्षज्ञानेनेत्यर्थः। 'अविभक्तकर्तृकस्येति' उपधेयैक्येऽपि कर्तृत्वकरणत्वाद्युपाधिभेदेन व्यवहारभेदसम्भवादित्यर्थः। विभक्तकर्तृकवदिति क्रियायां हि सकरणकत्वं तत्त्वं, न तु कर्तृभिन्नकरणवत्त्वं तदभिन्नकरणवत्त्वं वेत्यत्राप्याग्रहः श्रेयानिति भावः। अर्थपरिच्छेदस्य प्राकट्यस्य, तथाप्रती-तेरयोगादिति, इदं ज्ञानं घटविषयो घटज्ञाततावत्त्वादित्यनुमानस्य हेतोरज्ञानासिद्ध्या कर्तुमशक्यत्वादित्यर्थः। पक्षाज्ञानादा-श्रयासिद्धिरप्यत्र द्रष्टव्या, एतेनाहं घटज्ञानवान् घटज्ञाततावत्त्वादित्यात्मपक्षकमनुमानमप्यपास्तम्, साध्याप्रसिद्धेश्चेति बोध्यम्। न च ज्ञानजन्यस्य समवायेनार्थनिष्ठस्य ज्ञातताख्यधर्मस्य सम्बन्धविशेषेणात्मनिष्ठत्वात्तल्लिङ्गकमात्मपक्षकमर्थपरिच्छेदवत्त्वानु-

मानमदुष्टं, न च हेतोरज्ञानासिद्धिरपि, संयुक्तसमवायादियोग्यसन्निकर्षेण तत्प्रत्यक्षात्, न च तस्याप्यनुमानापेक्षत्वेन साध्याविशेषो, लिङ्गज्ञानत्वेनैवानुमितिहेतुत्वात्, तद् ज्ञानज्ञानत्वेनातच्चादित्यपि वक्तुं साम्प्रतम्, साध्याप्रसिद्ध्योक्तोत्तरत्वात्, अतीतानागतेष्वर्थेषु ज्ञानेन ज्ञातताया जनयितुमशक्यत्वात्, ज्ञानजन्यज्ञाततायां मानाभावाच्च, अन्यथेष्टताकृततादेरपीच्छाकृत्यादिजन्यस्य सिद्ध्यापत्तेरिति दिग्। **आत्मान्तरवदिति**, न च स्वीयसुखदुःखसाक्षात्कारत्वेन हर्षविषादादिहेतुत्वाददोषः, अविदिततत्साक्षात्कारस्य निर्विकल्पकतुल्यत्वेनातथात्वात्, सुखदुःखज्ञानसंवेदनत्वेन हेतुत्वौचित्यात्, **सर्वदा** स्वप्नावस्थावज्जाग्रद्दशायामपि, **आवरणविगतविशेषादिति** विगतमिति भावे क्तः। आवरणविगमविशेषादित्यर्थः। सर्वत्र ज्ञाने स्वरूपे प्रामाण्यमनावृतमेव बहिरर्थे त्वनियतस्तत्क्षयोपशम इति स्वभावकल्पनान्न विरोध इत्यर्थः ॥ ८३ ॥

न च जीवो नास्त्येवेति शक्यं वक्तु तद्ग्राहकप्रमाणस्य भावात्। तथा हि—

जीवशब्दः सबाह्यार्थः, संज्ञात्वाद्धेतुशब्दवत् ॥ मायादिभ्रान्तिसंज्ञाश्च, मायाद्यैः स्वैः प्रमोक्तिवत् ॥८४॥

स्वरूपव्यतिरिक्तेन शरीरेन्द्रियादिकलापेन जीवशब्दोर्थवान्। तेन कृतः प्रकृतः स्यादिति विक्लवोल्लापमात्रं, लोकरूढेः समाश्रयणात्। का पुनरियं लोकरूढिः ? यत्रायं व्यवहारो जीवो गतस्तिष्ठतीति वा। न हि शरीरेऽयं व्यवहारो रूढस्तस्याचेतनत्वाद्भोगाधिष्ठानत्वेन रूढेः। नापीन्द्रियेषु, तेषामुपभोगसाधनत्वेन प्रसिद्धेः। न शब्दादिविषये, तस्य भोग्यत्वेन व्यवहारात्। किं तर्हि ? भोक्तर्येवात्मनि जीव इति रूढिः। शरीरादिकार्यस्य चैतन्यस्य भोक्तृत्वमयुक्तं भोगक्रियावत्। ननु सुखदुःखाद्यनुभवनं भोगक्रिया। सा ह्यत्रान्वयिनि गर्भादिमरणपर्यन्ते चैतन्ये सर्वचेतनाविशेषव्यापिनि भोक्तृत्वं, शरीरादिविलक्षणत्वात्तस्यैवेति चेत्तदेवात्मद्रव्यमस्तु,

जन्मनः पूर्वं मरणादूर्ध्वमपि तस्य सद्भावोपपत्तेरन्यथा पृथिव्यादिसमुदयशरीरेन्द्रियविषयेभ्यो वैलक्षण्यासभवात् । न तत्कार्यं ततोत्यन्तविलक्षणमस्ति, रूपादिसमन्वयात् । चैतन्यस्यापि सत्त्वादिसमन्वयान्नात्यन्तविलक्षणत्वमिति चेन्न, तत्त्वभेदेपि तस्य भावात् । पृथिव्यादितत्त्वभेदानामेकविकारित्वसमन्वयाभावाद्भेद एव, केषांचित् प्रागभावादिभेदवदिति चेत् किमिदानीं चैतन्यभूतयोरेकविकारिसमन्वयोस्ति ? येन तत्त्वान्तरत्वेन भेदो न स्यात्। तस्मादेकविकारिसमन्वयासत्त्वं वैलक्षण्यम् । तदेव च तत्त्वान्तरत्वमित्यनाद्यनन्ततां चैतन्यस्य साधयति। तादृशचैतन्यविशिष्टे काये जीवव्यवहारश्चैतन्यकाययोरभेदोपचारादेव । क्षणिके चित्तसताने जीवव्यहार इत्यसारं, तस्य निराकृतत्वात् । ततः कर्तृत्वभोक्तृत्वलक्षणेनोपयोगस्वभावेन जीवेन जीवशब्दः सबाह्यार्थ इति साध्यनिर्देशे सिद्धसाधनाभावः सञ्ज्ञात्वादिति हेतुर्विरुद्धः सबाह्यार्थत्वविरुद्धाभिप्रेतमात्रसूचकत्वेन तस्य व्याप्तत्वादिति चेन्न, सञ्ज्ञाया वक्त्रऽभिप्रायमात्रसूचकत्वस्य प्रमाणबाधितत्वात् । तथा हि । नात्र सञ्ज्ञाभिप्रेतमात्र सूचयति, ततोर्थक्रियायां नियमायोगात् तदाभासवत् । न च तदयोगः सञ्ज्ञायाः, तयार्थं परिच्छिद्य प्रवर्तमानस्यार्थक्रियानियमस्य दर्शनात्करणप्रतिपत्तिवत्, करणप्रतिपत्तीना तदभावेऽनादरणीयत्वात् । ततः सञ्ज्ञात्व जीवशब्दस्य सबाह्यार्थत्वं साधयति हेतुशब्दवत् । सर्वेण हि हेतुवादिना हेतुशब्दः सबाह्यार्थोभ्युपगम्यते, साधनतदाभासयोरन्यथा विशेषासभवात्, वक्त्रभिप्रायमात्रसूचकत्वादबाह्यार्थत्वाविशेषात् । तद्विशेषमिच्छता परम्परयापि परमार्थैकतानत्व वाचः प्रतिपत्तव्यम् । कचिद्व्यभिचारदर्शनादनाश्वासे चक्षुरादिबुद्धेरपि कथमाश्वासः ? तदाभासोपलब्धेस्तत्राप्यनाश्वासे कुतो धूमादेरग्न्यादिप्रतिपत्ति ? कार्यकारणभावस्य व्यभिचारदर्शनात् । न चेदमसिद्धं काष्ठादिजन्मनोग्नेरिव मणिप्रभृतेरपि भावात् । सुविवेचित कार्यं कारणं न व्यभिचरतीति, तद्विशेषपरीक्षाया सुविवेचित शब्दोर्थं न व्यभिचरतीति प्रसिद्धेरितरत्रापि तद्विशेषपरीक्षास्तु,

विशेषाभावात् । वक्तुरभिसन्धिवैचित्र्यादभिधानव्यभिचारोपलम्भे तदितराध्यक्षानुमानकारणसामग्रीशक्तिवैचित्र्यं पश्यतां कथमाश्वासः स्यात् ? तस्मादयमक्षलिङ्गसञ्ज्ञादोषाविशेषेपि क्वचित्प्रत्यक्षेनुमाने च परितुष्यन्नन्यतमप्रद्वेषेणेश्वरायते, परीक्षाक्लेशलेशासहनात् । ननु चाभावोपादानत्वात्तदन्यतमायां सञ्ज्ञायां प्रद्वेषेण परीक्षक एव, न पुनरीश्वरायते, तस्य परीक्षाऽक्षमत्वादिति चेन्न, तस्याः सर्वथा भावोपादानत्वाभावेऽभावोपादानत्वासिद्धेः । सर्वत्र भावोपादानसभवे हि समाख्यानामितरोपादानप्रक्लृप्तिः, एतेनैतदपि प्रत्युक्तं यदुक्तं सौगतेन 'अनादिवासनोद्भूतविकल्पपरिनिष्ठितः । शब्दार्थस्त्रिविधो धर्मो भावाभावोभयाश्रितः ॥१॥' इति, तत्त्वतो भावाश्रयत्वाभावे वासनोद्भूतभावाश्रयत्वानुपपत्तेः सर्वत्रानुभवपूर्वकत्वाद्वासनायाः परम्परया वस्तुप्रतिबन्धात् । पूर्वपूर्ववासनात एवोत्तरोत्तरवासनायाः समुद्भवादनादित्वादवस्त्वाश्रयत्वमेवेति चेन्न, शब्दवासनाया अप्यनादित्वे परार्थानुमानशब्दवासनायाः साधनस्वलक्षणदर्शननिमित्तकत्वविरोधात् । त्रिरूपहेतुवचनस्य परम्परया धूमादिवद्वस्त्वाश्रयत्वे हेतुशब्दवज्जीवशब्दस्य भावाश्रयत्व युक्तम् । भावश्चात्र हर्षविषादाद्यनेकाकारविवर्तः प्रत्यात्मवेदनीयः प्रतिशरीर भेदात्मकोऽप्रत्याख्यानार्हः प्रतिक्षिपन्तमात्मानं प्रतिबोधयतीति कृतं प्रयासेन । तदनेन हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वं प्रतिक्षिप्तं, पक्षस्य प्रत्यक्षादिभिरबाधितत्वात् । तत्र निरतिशयस्यास्वसंविदितस्य सर्वशरीरेष्वभिन्नस्यैकस्य प्रतिक्षणं भिन्नस्य चात्मनः प्रतिभासाभावात्तस्य प्रत्याख्यानार्हत्वसाधनान्न तेन जीवशब्दः सबाह्यार्थः । ननु च मायादिभ्रान्तिसञ्ज्ञाभिरबाह्यार्थाभिरनैकान्तिक सञ्ज्ञात्वमिति चेन्न, तासामपि मायाद्यैः स्वैरर्थैः, सबाह्यार्थत्वात् प्रमाणवचनवत् । न हि मायादिसमाख्याः स्वार्थरहिता विशिष्टप्रतिपत्तिहेतुत्वात् प्रमाणसमाख्यावत् भ्रान्तिसमाख्यानामबाह्यार्थत्वे ततो भ्रान्तिप्रतिपत्तेरयोगात् प्रमाणत्वप्रतिपत्तिप्रसङ्गान्न विशिष्टप्रतिपत्तिहेतुत्वमसिद्धम् । प्रमाणशब्दस्य स्वार्थविशेषरहितत्वे भ्रान्तिप्रतिपत्त्यनुषङ्गाच्च न तद-

सिद्धं, यतो निदर्शन साधनधर्मविकलं स्यात्। एतेन खरविषाणादिशब्दानामपि स्वार्थरहितत्वमपास्तं, विशिष्टप्रतिपत्तिहेतुत्वाविशेषादन्यथा भावशब्दत्वप्रसङ्गात्। ततो न तैरपि व्यभिचारः ॥ ८४ ॥ किञ्च—

तेन शरीरेन्द्रियादिकलापेन, कृत उत्पादितः, प्रकृतो जीवशब्दार्थः स्यात्। 'जन्मन इति' तथा चानन्तभवव्यापिन एकभवव्यापित्वं न दुर्वचमित्यर्थः। सिद्धसाधनाभाव इति उपचरितचैतन्येन शरीरादिनेति शेषः। साध्यदोषं निराकृत्य हेतुदोषमाशङ्कते संज्ञात्वादितीत्यादिना, परिहरति—नेत्यादिना, अभिप्रेतमात्रमिति पारमार्थिकसम्बन्धशून्यमभिप्रेतमित्यर्थः। तद्वक्त्वाङ्गीकारे त्वर्थोपस्थितिद्वारा शब्दप्रमाजनकताया एव न्याय्यत्वाख्यास्मित्यादिविलम्बेन ततोऽनुमितिरूपसूचाया अयोगादिति बोध्यम्। तदाभासवन्मरीचिकायाञ्जलसंज्ञावत्, करणप्रतिपत्तिवदिन्द्रियव्यापारवत्। यथा ततोऽर्थं परिच्छिद्य प्रवर्त्तमानानामर्थक्रियानियमो दृश्यते तथा संज्ञाया अपीति तद्वत् सञ्ज्ञाप्रमाणमिति भावः। तदितरेति अभिधानकारणसामग्रीतरेत्यर्थः, सर्वथेति शून्योपादानत्वैकान्तनिराकरणादित्यर्थः। संज्ञाया भाषावर्गणारूपं यद्भावलक्षणमुपादानं तदेव पररूपेणाभावरूपमित्येवमभावोपादानत्वं तु नास्मत्पक्षक्षतिकरमित्याह—'सर्वत्रेत्यादि'॥ परिनिष्ठितः प्रतिबिम्बितः, भावाभावोभयाश्रित इति घटादिसंज्ञार्थस्य घटादे खरविषाणाद्यभावव्यावृत्त्या भावरूपत्वाद्भावान्तरव्यावृत्त्या—चाभावरूपत्वादुभयव्यावृत्त्या चोभयरूपत्वादिति भावः। 'तदनेनेति' अनेन संज्ञाया भावाश्रयत्वव्यवस्थापनेन, ननु जीवशब्दः सबाह्यार्थः संज्ञात्वादित्यत्र शरीरेन्द्रियकलापाद्यर्थबाधेऽपि निरतिशयत्वादिस्वभावेन सांख्यादिकल्पितेन प्रतिक्षणभिन्नस्वभावेन च सौगतपरिकल्पितेनात्मना चरितार्थत्वान्न स्याद्वादिन इष्टसिद्धिः स्यादित्याशङ्काया-

माह–' तत्रेत्यादि ' नन्वेवमितरबाधादिमहिम्ना व्यापकतानवच्छेदकरूपेण साध्यानुमित्यभ्युपगमे पर्वतो द्रव्यवान् धूमादित्यतोऽपि वह्नित्वेन वह्न्यनुमितिः स्यादिति चेत्, नेयं विभीषिकोपयोगप्रामाण्यवादिनां नः, तथोपयोगे तथानुमितेरिष्टत्वात्, अत एव परेऽपि मङ्गल सफलं शिष्टाचारविषयत्वादित्यादेर्मङ्गलस्य समाप्तिफलकत्वानुमितिमिच्छन्ति । इयांस्तु विशेषो यत्परेषां तथानुमितावितरबाधादेः परामर्शसहकारित्वमस्माकं त्वन्तर्व्याप्तिग्राहकतर्कोपक्षीणत्वमिति दिग्। विशिष्टप्रतिपत्तिहेतुत्वादसाधारणधर्मप्रकारकधीहेतुत्वात्, भ्रान्तिप्रतिपत्तेरयोगादिति भ्रान्तेरसत्ख्यातित्वनिरासादित्यर्थः । प्रमाणत्वप्रतिपत्तिप्रसङ्गादिति भ्रान्त्यन्यज्ञानस्य प्रमात्वनियमादित्यर्थः ॥ ८४ ॥

बुद्धिशब्दार्थसंज्ञास्तास्तिस्रो बुद्ध्यादिवाचिकाः। तुल्या बुद्ध्यादिबोधाश्च त्रयस्तत्प्रतिबिम्बकाः॥८५॥

येप्याहुः ' अर्थाभिधानप्रत्ययास्तुल्यनामान ' इति–जीवार्थस्य जीव इति संज्ञा, जीव इति शब्दस्य च, जीव इति बुद्धेश्चेति । तत्रार्थपदार्थक एव जीवशब्दः सबाह्यार्थः सिद्धो, न बुद्धिशब्दपदार्थकः । ततोनेन हेतोर्व्यभिचारः, संज्ञात्वस्य सामान्येन हेतुवचनात्' इति, तेपि न सम्यगुक्तयः, सर्वत्र बुद्धिशब्दार्थसंज्ञानां तिसृणामपि स्वव्यतिरिक्तबुद्ध्यादिपदार्थवाचकत्वात् । यस्माद्धि शब्दादुच्चारितादव्यभिचारेण यत्र बोधः प्रजायते स एव तस्यार्थः स्यात्, अन्यथा शब्दव्यवहारविलोपात् । यथा च जीवशब्दादर्थपदार्थकाज्जीवो न हन्तव्य इत्यत्र जीवार्थस्य प्रतिबिम्बको बोधः प्रादुर्भवति तथा बुद्धिपदार्थकाज्जीव इति बुद्ध्यत इत्यादेर्बुद्ध्यर्थस्य प्रतिबिम्बको जीव इत्याहेति शब्दपदार्थकाच्छब्दस्य प्रतिबिम्बकः स्यात् । ततस्त्रयोऽर्थाः तिसृणां संज्ञानामवगम्यन्ते तत्प्रतिबिम्बकबोधानां त्रयाणामेव भावात् । तदनेनाचार्यो हेतुव्यभिचाराशङ्कां प्रत्यस्तमयति, बुद्ध्यादिसंज्ञानां तिसृणामपि स्वव्यतिरिक्तवस्तुसम्बन्धदर्शनात् तद्बुद्धीनां

च तिसृणा तन्निर्भासनात्तद्विषयतोपपत्तेः । सामान्यतो जीवशब्दस्य धर्मित्वात् स्वव्यतिरिक्तार्थस्य च सबाह्यार्थत्वस्य साध्यत्वाद्व्यभिचारविपयस्यासत्त्वादव्यभिचारी हेतु. । ननु च विज्ञानवादिनं प्रति सज्ञात्वादित्यसिद्धो हेतु', सञ्ज्ञाया विज्ञानव्यतिरेकेणासत्त्वात् । दृष्टान्तश्च साधनविकलो, हेतुशब्दस्य तदाभासवेदनादन्यस्याविद्यमानत्वात् ॥ ८५ ॥ सज्ञाभासज्ञानस्य हेतुत्वे शब्दाभासस्वप्नज्ञानेन व्यभिचारी हेतुः, इति कश्चित्, तं प्रत्यभिधीयते—

कारिकायां बुद्ध्यादिबोधा बुद्ध्यादेर्विषयस्य संज्ञाजनिता बोधाः, तत्प्रतिबिम्बकास्त्रिविधविषयाकाराः, तदाऽऽभासवेदनादिति तदाकारज्ञानादित्यर्थः ॥ ८५ ॥

वक्तृश्रोतृप्रमातॄणां, बोधवाक्यप्रमाः पृथक् ॥ भ्रान्तावेव प्रमाभ्रान्तौ, बाह्यार्थौ तादृशेतरौ ॥८६॥

वक्तुरभिधेयबोधाभावे कुतो वाक्य प्रवर्तेत ? तस्याभिधेयबोधनिबन्धनत्वात् । वाक्याभावे च श्रोतुरभिधेयज्ञानासंभवस्तस्य तन्निमित्तकत्वात् । प्रमातुः प्रमित्यभावे च शब्दार्थयो' प्रमेययोरव्यवस्थानादिष्टतत्त्वानुपपत्तेर्वक्त्रादित्रयस्य बोधादित्रयं पृथग्भूतमुपेयम् । तथा सति न हेतोरसिद्धतादिदोषो, दृष्टान्तस्य वा साध्यादिवैकल्यं प्रसज्यते । स्यान्मतं ' बहिरर्थाभावाद्वक्त्रादित्रयं न बुद्धेः पृथग्भूतं, वक्त्राद्याभासाया बुद्धेरेव वक्त्रादित्वव्यवहारात्, वाक्यस्यापि बोधव्यतिरेकेणासत्त्वात्, प्रमाया बोधात्मकत्वात् । ततोऽसिद्धतादिदोषः साधनस्य हेतुदृष्टान्तलक्षणस्य ' इति, तन्न, रूपादेर्ग्राहकस्य तद्व्यतिरिक्तविज्ञानसतानकलापस्य च स्वाशमात्रावलम्बिनः प्रमाणस्य विभ्रमकल्पनायां साकल्येनासिद्धेरन्तर्ज्ञेयाभ्युपगमविरोधात् । न हि रूपादेरभिधेयस्य ग्राहकस्य वक्तुः श्रोतुश्च विभ्रमकल्पनाया व्यतिरिक्तविज्ञानसतानकलापः स्वाशमात्रावलम्बी सिध्यति परस्परमसंचारात्, येनाभिधानाभिधेयज्ञानभेदः स्यात् । तस्यापि

विभ्रमकल्पनाया न प्रमाणसिद्धिरभ्रान्तस्य ज्ञानस्य प्रमाणत्वव्यवस्थितेः । प्रमाणस्यापि विभ्रमकल्पनाया कथमन्तर्ज्ञेयमेव तत्त्वमित्यभ्युपगमो न विरुध्यते ? प्रमाणमन्तरेण तदभ्युपगमे सर्वस्य स्वेष्टाभ्युपगमप्रसङ्गात् । प्रमाणभ्रान्तौ बाह्यार्थयोस्तादृशान्यादृशयोः प्रमेययोरन्तर्ज्ञेयबहिर्ज्ञेययोरिष्टानिष्टयोर्विवेचनस्यापि भ्रान्तत्वप्रसङ्गात् । तौ स्यादन्तर्ज्ञेयैकान्ते ? यतस्तदभ्युपगमो न विरुद्धो भवेत् । यदि पुनः प्रमाणमभ्रान्तमिष्यते तदा बाह्यार्थोऽभ्युपगन्तव्यः, तदभावे प्रमाणतदाभासव्यवस्थित्ययोगात् ॥८६॥ तथा हि,—

'**वक्त्रिति**' वक्तरि वाक्यजनको यो बोधः श्रोतरि च वक्तृवाक्यपाठजनितं यद्वाक्यं प्रमातरि च या तदुभयप्रमाताः पृथगिति वीप्सापरत्वादवभासन्त इति क्रियाध्याहाराच्च पृथक्पृथगवभासन्त इत्यर्थः । **प्रमाभ्रान्तौ** तासां प्रमाणां ज्ञानातिरिक्तविषयत्वेन भ्रान्तित्वे चाङ्गीक्रियमाणे, तादृशेतरौ तथ्यातथ्यौ, बाह्यार्थौ भ्रान्तावेव स्याताम् । तथा च व्यवहारमात्रोच्छेद इति भावः । असञ्चारादविशेषेण स्वरूपसञ्चरणाभावात्, परशब्दकृत्यमाह ॥८६॥

बुद्धिशब्दप्रमाणत्वं, बाह्यार्थे सति नासति ॥ सत्यानृतव्यवस्थैवं, युज्यतेऽर्थाप्त्यनाप्तिषु ॥८७॥

बुद्धेः स्वप्रतिपत्त्यर्थत्वाच्छब्दस्य परप्रतिपादनार्थत्वात् । स्वपरप्रतिपत्त्यर्थं साधनं बुद्धिशब्दात्मकं स्वसंवित्त्यैव परप्रतिपादनायोगात् तस्याः पराप्रत्यक्षत्वात् । तस्य च सति बहिरर्थे प्रमाणत्वमर्थप्राप्तितः सिध्येत्, असति प्रमाणाभासत्वमर्थानाप्तितः । इति सत्यानृतव्यवस्था बुद्धिशब्दयोर्युज्यते, स्वपरपक्षसाधनदूषणात्मनोस्तथा प्रतीतेः । तदेवं परमार्थतः सन्बहिरर्थः, साधनदूषणप्रयोगात् । इत्येकलक्षणो हेतुः प्रवर्तते । न चात्रैकलक्षणमसिद्धं, सत्येव बहिरर्थे परमार्थतो हेतोरुपपत्तेस्तत्रोपपन्नत्वस्य प्रधानलक्षणस्य सद्भावात् । अन्यथा स्वप्नेतराविशेषात्किं केन साधितं दूषितं च ? इति कुतः सतानान्तरमन्यद्वा स्वसन्तानक्षणक्षयवेद्याद्याकारशून्यत्वं साधयेत् ?

बहिरर्थस्य वास्तवस्य ग्राह्यलक्षणस्याभावे हि साधनदूषणप्रयोगस्य हेतोः सम्भवे स्वप्नजाग्रदवस्थाभाविनोक्तप्रयोगयोर्विशेषासिद्धिः।
ततः किंचिज्ज्ञप्तिमात्रं केन सहोपलम्भनियमादिनानुमानेन स्वार्थेन साधितं स्यात्, परार्थेन वा वचनात्मना परं प्रति, किं वा
स्वसंविदद्वैतं स्वतः प्रत्यक्षत एव साधितं स्यात्? तत्साधनस्य स्वप्नवन्निर्विषयत्वात्। किं वा बहिरर्थजातं केन, जडस्य प्रतिभा-
सायोगात् इत्यादिना स्वार्थेन परार्थेन वा दूषणेन दूषितं स्यात्? इति संतानान्तरमपि न केनचित्साधनेन साधितं स्यात्।
तदनभ्युपगमे न केनचिद्दूषणेन दूषितं स्यात्, तथा स्वसंतानक्षणक्षयादिकं च न केनचित् साधितं स्यात्। तदनभ्युपगमेपि न
केनचिद्दूषितम्। इति न कश्चिद्व्यवतिष्ठते। तैमिरिकद्वयद्विचन्द्रदर्शनवद्भ्रान्तः सर्वो व्यवहार इत्यत्रापि तत्त्वज्ञानं शरणं, तत एव
सर्वविभ्रमव्यवस्थितेः। इति व्याहतमेतत् तत्त्वज्ञानात् सर्वस्य भ्रान्तत्वसाधनम्, अन्यथा बहिरर्थवदभिसंहितस्यापि सर्व-
विभ्रमस्य निराकरणापत्तेः, भ्रान्तादेव ज्ञानात् तस्याप्यसिद्धेः। तथा परमाण्वादिदूषणेपि प्रतिपत्तव्यं तत्त्वज्ञानं शरणमतत्त्व-
ज्ञानादभिसंहितस्यापि परमाण्वाद्यसत्त्वस्य निराकरणापत्तेः। अन्यथा तत्कृतमकृतं स्यादिति सर्वत्र योज्यं, सर्वस्य स्वेष्टस्य
स्वयमनिष्टस्य च तत्त्वज्ञानादेव साधनदूषणोपपत्तेः। एतेन साधनदूषणप्रयोगादिति साधनमसिद्धमितीच्छन् प्रतिक्षिप्तस्तदसिद्ध-
त्वस्य स्वयमिष्टस्य तत्सिद्धत्वस्य चानिष्टस्य साधनदूषणप्रयोगादेव व्यवस्थापनादन्यथा तदव्यवस्थितेर्यत्किंचनवादित्वप्रसङ्गात्।
तदिमे विज्ञानसंतानाः सन्ति न सन्तीति तत्त्वाऽप्रतिपत्तेर्दृष्टापह्नुतिरनिबन्धनैव, दृश्येनात्मना कथंचित्स्कन्धाकारेणादृश्यानामपि
परमाणूनां बहिरपि समवस्थाने विप्रतिषेधाभावादन्तर्ज्ञेयवत्। अदृश्या एव हि ज्ञानपरमाणवः संविन्मात्राददृश्यादवस्थाप्यन्ते नान्य-
थेति युक्तमुदाहरणं, बहिः परमाणूनां व्यवस्थापने, तत्र पूर्वादिदिग्भागभेदेन जडरूपाणां षडंशादिकल्पनया वृत्तिविकल्पेन वा परप-

क्षोपालम्भे स्वपक्षाक्षेपात्, तस्योपालम्भाभासत्वसिद्धेः। समानं हि दूषणं बहिःपरमाणुषु, सवित्परमाणुषु च। देशतः सवन्धे षडंशत्वं दिग्भागभेदात्, सर्वात्मना प्रचयस्यैकपरमाणुमात्रत्वम्। प्रचयस्य परमाणुभ्यो भेदे प्रत्येक परिसमाप्त्यैकदेशेन वा वृत्तौ प्रचयवहुत्वं सांशत्वापादनमनवस्था च। न च परमाणुभि ससृष्टैर्व्यवहितैर्वा प्रचयस्योपकारे ससर्गासभवो, व्यवधानेन व्यवधीयमानाभ्या व्यवधायकस्य सजातीयस्य, विजातीयस्य वा व्यवधाने प्रकृतपर्यनुयोगोऽनवस्थाप्रसञ्जनं चेति स्वपक्षघातः स्यात्, सूक्ष्मस्थूलात्मनि बहिर्जात्यन्तरे तस्यानवकाशाच्च हर्षविपादाद्यनेकाकारात्मवत्। तत्रापि विरोधो दूषणमिति चेत्, सर्वथा कथचिद्वा ? न तावदाद्यः पक्षः, सर्वथा क्वचिद्विरोधासिद्धेः शीतोष्णस्पर्शयोरपि सत्त्वाद्यात्मनाऽविरोधात्, स्वेष्टेपि तत्त्वे कथंचिद्विरोधपरिहारस्य पुनरायासतामप्यशक्तेर्न द्वितीयः पक्षः सभवति। तत्साक्षात्परपरया वा, विमत्यधिकरणभावापन्नं ज्ञानं, स्वरूपव्यतिरिक्तार्थालम्बनं, ग्राह्यग्राहकाकारत्वात् सतानान्तरसिद्धिवत्। विप्लवज्ञानग्राह्यग्राहकाकारत्वेन व्यभिचार इति चेत्, न, सतानान्तरसाधनस्यापि व्यभिचारप्रसङ्गात्। न हि व्यापारव्याहारनिर्भासोपि विप्लुतो नास्ति, येनाव्यभिचारी हेतुः स्यात्। तदन्यत्रापि वासनाभेदो गम्येत न सतानान्तरम्। यथैव हि जाग्रद्दशाया बहिरर्थवासनाया दृढतमत्वात्तदाकारस्य ज्ञानस्य सत्यत्वाभिमानः, स्वप्नादिदशायां तु तद्वासनाया दृढत्वाभावात् तद्वेदनस्यासत्यत्वाभिमानो लोकस्य, न परमार्थतो बहिरर्थः सिध्यतीति वासनाभेदोभ्युपगम्यते, तथानुपप्लवदशायां सन्तानान्तरज्ञानस्य वासनाया दृढतमत्वात्सत्यताभिमानोन्यत्र तददार्ढ्यादसत्यताव्यवहार इति वासनाभेदो गम्यतां, नतु सतानान्तरम्। तदनभ्युपगमे स्वसंतानक्षणक्षयादिसिद्धिः कथमभ्युपगम्यते ? ततः सुदूरमपि गत्वा किंचिद्वेदनं स्वेष्टतत्त्वावलम्बनमेषितव्यम्। तदेव वेद्यवेदकाकारं बहिरर्थवेदनस्य स्वरूपव्यतिरिक्तालम्बनत्वं साधयति। ततो बहिरर्थस्य सिद्धेः सिद्धं वक्त्रादित्रयं, तस्य च बोधादित्रयम्।

इति जीवशब्दस्य सबाह्यार्थत्वसाधने संज्ञात्वस्य साधनस्यासिद्धतानैकान्तिकता वा, दृष्टान्तस्य वा साधनधर्मादिवैधुर्यं, यतो न जीवसिद्धिः स्यात् । तत्सिद्धौ च तस्यार्थं परिच्छिद्य प्रवर्तमानस्य सवादविसंवादसिद्धि सिध्यत्येव । स्यात् सर्वमभ्रान्तमेव ज्ञानं भावप्रमेये संवादापेक्षणात् । स्याद्भ्रान्तं बहिरर्थे विसवादापेक्षणात् । स्यादुभयं, क्रमार्पिततद्द्वयात् । स्यादभ्रान्तावक्तव्यं संवादसहार्पिततद्द्वयात् । स्याद्भ्रान्तावक्तव्यं विसंवादसहार्पिततद्द्वयात् । स्यादुभयावक्तव्यमेव क्रमाक्रमार्पिततद्द्वयात् । इति पूर्ववत् सप्तभङ्गीप्रक्रिया योजयितव्या, तथैवातिदेशसामर्थ्यात् तद्विचारस्य सिद्धेः, प्रमाणनयादेशादपि प्रतिपत्तव्या ॥ ८७ ॥

ज्ञानैकान्तादिपक्षे गगनफलमिव ज्ञापकोपायतत्त्वं, संभाव्यं नैव मानात् कथमपि निपुणं भावयद्भिर्महद्भिः ॥
स्याद्वादे तत्प्रसिद्धं विविधनयबलात्तत्त्वतः शुद्धबुद्धे—रित्याज्ञातं प्रपञ्चाद्विचरतु सुचिरं स्वामिनः सद्वचःसु ॥ १ ॥

॥ इत्याप्तमीमांसालङ्कृतौ सप्तमः परिच्छेदः ॥

'स्वसंवित्त्यैवेति' तस्य चेति उक्तस्वरूपस्य साधनस्य चेत्यर्थः । एकलक्षणोऽन्यथानुपपत्त्येकलक्षणः, तेन परेष्टत्रिलक्षणपञ्चलक्षणादिनिरासः । 'व्याहतमेतदिति' बाह्यग्राह्याभावेन भ्रान्तिभ्रान्तिज्ञसाङ्कर्यापत्तेरिति भावः । अदृश्या एव हीति सन्तानान्तरवर्त्तिनो भवान्तरवर्त्तिनश्चेत्यर्थः । पूर्वादीति पूर्वादिदिशां भिन्नभिन्नावच्छेदेनैव परमाणौ संयोगसम्भवादित्यर्थः । वृत्तिविकल्पेन वेति परमाणौ स्कन्धः कार्त्स्न्येन वर्त्तेत तदेकदेशेन वा, आद्ये परमाणुमात्रः स्कन्धः स्यात्, अन्त्ये च परमाणोः सांशत्वापत्तिरित्यर्थः । तस्योपालम्भाभासत्वसिद्धेरिति यत्रोभयोः समो दोष इत्याद्युक्तेरिति भावः । स्वपक्षाक्षेपमेव विवृणोति समानं हि दूषणमित्यादिना, संसर्गासम्भव इति वृत्तिविकल्पग्रासादित्यर्थः ॥

प्रकृतपर्यनुयोग इति क्षणभङ्गुरव्यवधीयमानसंबन्धः कथमिति प्रश्नस्तदवस्थः स्यादित्यर्थः। अनवस्थाप्रसञ्जनं चेति व्यवहितपरमाणूनामवस्थानाभावादित्यर्थः। तस्य परोक्तोपालम्भस्य, तत्रापि अन्तर्बहिर्वा जात्यन्तरेऽपि, वेद्यवेदकाकारमिति वेद्यवेदकाकारवत्त्वं साधनमित्यर्थः। स्यात् सर्वमभ्रान्तमेव ज्ञानमित्यत्र सर्वपदमहिम्ना ज्ञानत्वावच्छेदेनाभ्रान्तत्वसाधनान्नांशतः सिद्धसाधनादिदोषः १, द्वितीयभङ्गे सर्वपदानुपादानात् ज्ञानत्वसामानाधिकरण्येन भ्रान्तत्वस्य विधेयत्वान्नांशतो बाधः, प्रयोजनं तु प्राभाकरमतभङ्गः। एवमग्रेतना अपि भङ्गाः स्वपरसमयाविरोधेन भावनीयाः ॥ ८७ ॥

अन्तर्बहिर्विषयताघटितप्रमात्व-भ्रान्तत्वकोटिकृतविप्रतिपत्तिभेदी ॥
स श्रेयसीं प्रणयितां प्रथयन् मुनीनां, रत्नत्रयस्य जयताज्जिनवाक्यराशिः ॥ १ ॥

॥ इति महोपाध्यायश्रीयशोविजयगणिविरचितेऽष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणे सप्तमः परिच्छेदः ॥ ७ ॥



॥ ॐ ॥ ॥ अथाष्टमः परिच्छेदः ॥ ॥ ॐ ॥

ज्ञापकमुपायतत्त्वं, समन्तभद्राकलङ्कनिर्णीतम् ॥ सकलैकान्तासंभव-मष्टसहस्री निवेदयति ॥ १ ॥

दैवादेवार्थसिद्धिश्चे-द्दैवं पौरुषतः कथम् ॥ दैवतश्चेदनिर्मोक्षः, पौरुषं निष्फलं भवेत् ॥ ८८ ॥

कारकलक्षणमुपायतत्त्वमिदानीं परीक्ष्यते । तद्धि, केचिद्दैवमेव दृष्टादृष्टकार्यस्य साधनमित्याचक्षते, पौरुषमेवेत्यपरे । किंचिद्दैवादेव किंचित्पौरुषादेवेत्यन्ये, तदुभयसाधनत्वेनावक्तव्यमेवेति चेतरे । तत्र दैवादेव यदि सर्वस्यार्थस्य सिद्धिरुच्यते तदा दैवमपि कथं पुरुषव्यापारात् कुशलाकुशलसमाचरणलक्षणादुपपद्येत, प्रतिज्ञाहानेः । दैवान्तरादेव दैवं, न पौरुषादित्यभ्युपगमेऽनिर्मोक्षो मोक्षाभावः, पूर्वपूर्वदैवादुत्तरोत्तरदैवप्रवृत्तेरनुपरमात् । ततः पौरुषं निष्फलं भवेत् । पौरुषाद्दैवस्य परिक्षयान्मोक्षप्रसिद्धेर्न तन्निष्फलमिति चेत्, सैव प्रतिज्ञाहानिः । मोक्षकारणपौरुषस्यापि दैवकृतत्वात् परपरया मोक्षस्यापि दैवकृतत्वोपपत्तेर्न प्रतिज्ञाहानिरिति चेत्, तर्हि पौरुषादेव तादृशं दैवमिति न दैवैकान्तः । एतेन धर्मादेवाभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिरित्येकान्तः प्रतिक्षिप्तो, महेश्वरसिसृक्षानर्थक्यप्रसङ्गाच्च ।

कुतस्तर्हि समीहितार्थसिद्धिरित्युच्यते । योग्यता कर्म पूर्वं वा दैवमुभयमदृष्टं, पौरुषं पुनरिह चेष्टितं दृष्टम् । ताभ्यामर्थसिद्धिः, तदन्यतरापायेऽघटनात् पौरुषमात्रेऽर्थादर्शनाद्, दैवमात्रे वा समीहानर्थक्यप्रसङ्गात् । स्वयमप्रयतमानस्य सर्वमिष्टानिष्टमदृष्टमात्रादेव, प्रयतमानस्य तु प्रयत्नाख्यात् पौरुषाद् दृष्टादिति वदन्नपि न प्रेक्षावान्, कृष्यादिषु समं प्रयतमानानां कस्यचिदेवार्थप्राप्त्यनर्थोपरमदर्शनादपरस्यानर्थप्राप्त्यर्थोपरमप्रतीतेः, धर्माधर्मयोरपि तन्निमित्तत्वसिद्धेः । स्वयमप्रयतमानानामर्थप्राप्त्यनर्थोपरमयोरनर्थप्राप्त्यर्थोपरमयोश्च सद्भावेपि प्रयत्नाभावेनुपभोग्यत्वप्रसङ्गात् पौरुषस्यापि तदनुभवकारणत्वनिश्चयात् सर्वत्र दृष्टादृष्टयोर्निमित्तत्वसिद्धिस्तयोरन्यतरस्याप्यपाये तस्यानुपपद्यमानत्वात्, मोक्षस्यापि परमपुण्यातिशयचारित्रविशेषात्मकपौरुषाभ्यामेव संभवात् । ततो न पाक्षिकोपि दैवैकान्तः श्रेयान् ॥ ८८ ॥

आरुह्यैन्द्रं रथं द्राग् धृतशरधनुषा मातलिख्याततत्तद्–वीर्योत्कर्षेण कष्टं प्रतिहरिकटके नेमिना नीयमाने ॥

अस्तेऽपि न्यस्तहस्ते धनुषि घनजराजर्जरे कृष्णसैन्ये, यद्गात्रस्नात्रनीरादजनि शुभमसौ पातु शङ्खेश्वरो माम् ॥१॥

अष्टमे दैवपुरुषकारैकान्तनिरासः, स च ग्रन्थः सुगमप्रायः, इदं तु चिन्त्यम् ॥ ८८ ॥

पौरुषादेव सिद्धिश्चेत्, पौरुषं दैवतः कथम् ? ॥ पौरुषाच्चेदमोघं स्यात्, सर्वप्राणिषु पौरुषम् ॥८९॥

पौरुषादेवार्थस्य सिद्धिरिति वदतोपि कथं पौरुषं दैवतः स्यात् ? प्रतिज्ञाहानिप्रसङ्गात् । तद्धि पौरुषं विना दैवसंपदा न स्यात्, 'तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायश्च तादृशः । सहायास्तादृशाः सन्ति यादृशी भवितव्यता ॥१॥' इति प्रसिद्धेः । तत्सर्वं बुद्धिव्यवसायादि पौरुषं पौरुषापादितमिति चेत्तर्ह्यमोघमेव सर्वप्राणिषु पौरुषं भवेत् । तथैवेति चेत्, तद्व्यभिचारदर्शिनो न वै श्रद्दधीरन् । स्यान्मतमेतत्——पौरुषं द्विविधं, सम्यग्ज्ञानपूर्वकं मिथ्याज्ञानपूर्वकं च । तत्र मिथ्याज्ञानपूर्वकस्य पौरुषस्य व्यभिचारदर्शनेपि सम्यगवबोधनिबन्धनस्य न व्यभिचारः । ततः सफलमेव पौरुषमिति । तदसत्, दृष्टकारणसामग्रीसम्यगवबोधनिबन्धनस्यापि पौरुषस्य व्यभिचारदर्शनात् कस्यचिदुपेयाप्राप्तेरदृष्टकारणकलापसम्यगवबोधस्य तु साक्षादसकलविदामसंभवात् तन्निबन्धनपौरुषाभावात् । प्रमाणान्तरात्तदवबोधस्य संभवेपि किमसावदृश्यः कारणकलापः कारणशक्तिविशेषः, पुण्यपापविशेषो वा ?, प्रथमपक्षे तत्सम्यगवगमनिमित्तकस्यापि पौरुषस्य व्यभिचारदर्शनान्नामोघत्वसिद्धिः । द्वितीयपक्षे तु दैवसहायादेव पौरुषात् फलसिद्धिः दैवसदवगमनिबन्धनादेव पौरुषादुपेयप्राप्तिव्यवस्थितेः । तदपरिज्ञानपूर्वकादपि कदाचित्फलोपलब्धेश्च न सम्यगवबोधनिबन्धनः पौरुषैकान्तः । इत्यसौ परित्याज्य एव दैवैकान्तवत् ॥ ८९ ॥

विरोधान्नोभयैकात्म्यं, स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ॥ अवाच्यतैकान्तेप्युक्ति–र्नावाच्यमिति युज्यते ॥९०॥

दैवेतरयोः सहैकान्ताभ्युपगमे व्याघातादवाच्यतायां च स्ववचनविरोधात् स्याद्वादनीतिः श्रेयसी तद्विपां प्रमाणविरुद्धाभिधायित्वात् ॥९०॥ कीदृशी स्याद्वादनीतिरत्रेत्याहुः—

अबुद्धिपूर्वापेक्षाया–मिष्टानिष्टं स्वदैवतः ॥ बुद्धिपूर्वव्यपेक्षाया–मिष्टानिष्टं स्वपौरुषात् ॥ ९१ ॥

ततोऽतर्कितोपस्थितमनुकूलं प्रतिकूल वा दैवकृतं, बुद्धिपूर्वापेक्षापायात् तत्र पुरुषकारस्याप्रधानत्वात् दैवस्य प्राधान्यात्। तद्विपरीत पौरुषापादितं बुद्धिपूर्वव्यपेक्षानपायात, तत्र दैवस्य गुणभावात् पौरुषस्य प्रधानभावात्, न पुनरन्यतरस्याभावात् अपेक्षाकृतत्वात्तद्व्यवस्थाया.। तथापेक्षानपाये परस्पर सहायत्वेनैव दैवपौरुषाभ्यामर्थसिद्धिः। इति स्यात्सर्वं दैवकृतमबुद्धिपूर्वापेक्षातः। स्यात् पौरुषकृतं बुद्धिपूर्वापेक्षातः। स्यादुभयकृतं क्रमार्पिततद्द्वयात्। स्यादवक्तव्यं सहार्पिततद्द्वयात्। स्याद्दैवकृतावक्तव्यमबुद्धिपूर्वापेक्षया सहार्पिततद्द्वयात्। स्यात्पौरुषकृतावक्तव्यं बुद्धिपूर्वापेक्षया सहार्पिततद्द्वयात्। स्यात्तदुभयावक्तव्यमेव क्रमेतरार्पिततद्द्वयात्। इति सप्तभङ्गीप्रक्रिया पूर्ववत् ॥ ९१ ॥

दैवैकान्तादिपांशुप्रसरनिरसनोद्भूतसामर्थ्यवृत्तिः, सन्मार्गव्यापिनीयं पवनततिरिवाज्ञानखेदं हरन्ती ॥
बन्धं प्रध्वंसमद्धा सकलमपि बलादानयन्ती नितान्तं, नीतिः स्याद्वादिनीद्धा दृगवगमभृतां निर्वृतिं वः प्रदेयात्॥१॥

॥ इत्याप्तमीमांसालङ्कृतावष्टमः परिच्छेदः ॥८॥

अबुद्धिपूर्वापेक्षायामित्यादिव्यवस्थापनेऽपि पाक्षिकदैवपुरुषकारैकान्तप्रसङ्गादनेकान्तव्याप्तिभङ्गः, बुद्धिपूर्वके कृष्यादौ दैवजन्यत्वस्याबुद्धिपूर्वकेवाऽत्रविकारादौ यत्नजन्यत्वस्य व्यभिचारात्। पूर्वं गौणप्रधानभावेन सर्वत्रोभयजन्यत्वं साधयित्वा पश्चादयमेकतरहेतुप्राधान्यापेक्षया पाक्षिको विभाग इति चेत्, तर्हि स्यात् सर्वं दैवकृतमित्यादौ सर्वपदोपादानानुपपत्तिः, सामान्यहेतुत्वापेक्षया ते भङ्गा इति चेत्, तर्हि तेषु बुद्धिपूर्वापेक्षादिहेत्वभिधानानुपपत्तिः, अव्यापकत्वात्, सर्वत्र यथा कथञ्चिद्दैवपुरुषकारोभयकृतत्वस्य प्रामाणिकत्वे च घटे दण्डचक्रोभयजन्यत्ववदेक एव भङ्गः स्यात्, युगपदुभयजन्यत्वादेरेकवाक्यतया वक्तुं शक्यत्वात्, न्यूनाधिकव्यापारवत्त्वस्यापि साधारण्येनोभयत्राविशेषात्, विविक्तस्य च तस्य पाक्षिकभङ्गसाक्षित्वात्, तस्मात् ' पुव्वकयं कम्मं चिय, चित्तविवागमिह भन्नई दिव्वं। कालाइएहिं उप्पा–यणं तु तह पुरिसगारुत्ति ॥ १ ॥ ''
इति श्रीहरिभद्रार्योक्तरीत्या कालादिकृतकर्मविपाकपरिणामरूपस्य पुरुषकारस्य तत्त्वतो दैवव्यापारत्वसिद्धेर्व्यापारेण व्यापारिणोऽन्यथासिद्धत्वानन्यथासिद्धत्वयोर्व्यवहारनिश्चयाधीनत्वात्तद्विवक्षा कृता स्यात्, सर्वं दैवकृतमित्यादयः सप्तभङ्गा द्रष्टव्याः। मोक्षे ज्ञानजन्यत्वक्रियाजन्यत्वसप्तभङ्गीकरणेऽस्या एवोपायत्वात्, अत एव परमार्थतः सर्वत्र नियतानियतेऽपि वस्तुन्याजीविकसमयप्रसिद्धं नियतिजन्यत्वमुपमृद्य पुरुषकारजन्यत्वं भगवद्वचोऽनुसारिभिर्व्यवस्थाप्यते, मतान्तरहेतोर्नयस्य नयान्तरेण खण्डनस्यापि शास्त्रार्थत्वात्, नियतानियतसप्तभङ्गीप्रवृत्तौ तु नियतिजन्यताग्राहकोऽपि नय आश्रीयते एव, दाहकोऽपि वन्हिरिव पाकादाविति तत्र तत्र व्यवस्थितं, अथवा दैवशब्देन कालादिचतुष्टयं गृह्यते, पौरुषशब्देन चात्मप्रयत्नः, तत्कृतत्वं च तदव्यवहितोत्तरक्षणोत्पत्तिकत्वं तच्छब्दार्थश्च सामग्रीप्रविष्टो वाच्य इति, तत्त्वाविनिर्गमात्

स्याद्दैवकृतं सर्वमित्यादिसप्तभङ्गीप्रवृत्तिरविरुद्धा, ईदृशविवक्षामहिम्ना स्याद्दण्डजन्यो घटः स्याच्चक्रजन्य इत्यादि सप्तभङ्गीप्रवृत्तेरपि सम्भवादेकस्वभावेनोभयजन्यत्वविवक्षायामवक्तव्यत्वतद्घटितभङ्गानामपि सावकाशत्वादिति सुक्तमुत्पश्यामः। यच्च नियतिद्वात्रिंशिकायां॥ "ज्ञानमव्यभिचारं चे-ज्जिनानां मा श्रमं कृथाः॥ अथ तत्राप्यनेकान्तो, जिताः स्मः किन्तु को भवान्॥१॥" इति भगवज्ज्ञानरूपनियत्येकान्तदृढीकरणम्, तदज्ञानज्ञेयपरिणामयोः समनियमप्रतिपादके "जं जहा जं भगवया दिट्ठं, तं तहा तं विपरिणाम (णमइ)" इति परमर्षिवाक्ये कार्यकारणभावग्राहकत्वाध्यारोपेण नयवचने आहार्यारोपस्यापि निमित्तत्वादित्याद्युप(नयोप)देशामृततरङ्गिण्यां प्रपञ्चितमस्माभिः॥ ९१॥

दैवं बलीय इति केचन पौरुषं च, केचिद् वदन्ति न तु तुल्यवदाद्रियन्ते॥
तत्पक्षपातविषमाचलपक्षपात-वज्राभिघातसमताभियमेति युक्तिः॥१॥

इति महोपाध्यायश्रीयशोविजयगणिविरचितेऽष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणेऽष्टमः परिच्छेदः॥ ८॥

ॐ ॥ अथ नवमः परिच्छेदः॥ ॐ

सम्यगवबोधपूर्वं, पौरुषमपसारिताखिलानर्थम्॥ दैवोपेतमभीष्टं, सर्वं संपादयत्याशु॥ १॥
पापं ध्रुवं परे दुःखात्, पुण्यं च सुखतो यदि॥ अचेतनाकषायौ च, वध्येयातां निमित्ततः॥९२॥

द्विविधं हि दैवं, पुण्यं पाप च प्राणिनामिष्टानिष्टसाधनमुक्त. 'सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम्, इतरत् पापम्,' इति वचनात्। तदास्रवनिमित्तविप्रतिपत्तिप्रतिपत्त्यर्थमिदमुक्तम्। तत्र परसताने दुःखहेतुः पुरुषः पापमात्मन्यास्रवयति सुखहेतुः पुण्यमिति परत्र सुख-दुःखोत्पादनात् पुण्यपापबन्धैकान्ते कथमचेतनाः क्षीराद्यः कण्टकादयो वा न बध्येरन्? परस्मिन् सुखदुःखयोरुत्पादनात्। चेतना एव बन्धार्हा इति चेत्, तर्हि वीतरागाः कथं न बध्येरन्? तन्निमित्तत्वाद्बन्धस्य। तेपामभिसन्धेरभावान्न बन्ध इति चेत्, तर्हि न परत्र सुखदुःखोत्पादन पुण्यपापबन्धहेतुरित्येकान्तः सभवति ॥ ९२ ॥

पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुःखा-त्पापं च सुखतो यदि ॥ वीतरागो मुनिर्विद्वां-स्ताभ्यां युञ्ज्यान्निमित्ततः ॥९३॥

स्वस्मिन् दुःखोत्पादनात् पुण्यं सुखोत्पादनात्तु पापमिति यदीष्यते तदा वीतरागो विद्वांश्च मुनिस्ताभ्या पुण्यपापाभ्यामात्मानं युञ्ज्यान्निमित्तसद्भावात्, वीतरागस्य कायक्लेशादिरूपदुःखोत्पत्तेर्विदुपस्तत्त्वज्ञानसतोपलक्षणसुखोत्पत्तेस्तन्निमित्तत्वात्।

स्यान्मतं–' स्वस्मिन् दुःखस्य चोत्पत्तावपि वीतरागस्य तत्त्वज्ञानवतस्तदभिसधेरभावान्न पुण्यपापाभ्या योगस्तस्य तदभिसधि-निबन्धनत्वात्' इति तर्ह्यनेकान्तसिद्धिरेवायाता। आत्मसुखदुःखाभ्यां पापेतरैकान्तकृतान्ते पुनरकषायस्यापि ध्रुवमेव बन्धः स्यात्। ततो न कश्चिन्मोक्तुमर्हति, तदुभयाभावासभवात्। न हि पुण्यपापोभयबन्धाभावासभवे मुक्तिर्नाम, ससृतेरभावप्रसङ्गात्। ततो नैतावेकान्तौ सभाव्येते दृष्टेष्टविरुद्धत्वात् गदाद्येकान्तवत् ॥ ९३ ॥

मत्तव्यालकरालकालफणिराडुत्फालसिंहार्णव–ज्वालाजालजटालपावकरणप्रौढव्यथाबन्धजाः ॥
यान्त्यष्टापि भियः क्षयं भवभृतां यन्नाममन्त्रस्मृते–स्तं श्रीमत्फलवर्द्धिमण्डनमहं ध्यायामि पार्श्वप्रभुम् ॥१॥

नवमे दैवभेदपुण्यपापाश्रवविचारः, पापं ध्रुवमिति, परे स्वभिन्नात्मनि, निमित्तत इति परगतसुखदुःखनिमित्तभावादित्यर्थः ॥९२॥ तदभिसन्धिनिबन्धनत्वादिति वक्ष्यमाणविशुद्धिमङ्क्लेशरूपपुण्यपापाशयकारणकत्वादित्यर्थः, तेन तत्त्वज्ञानिनो जीवन्मुक्तस्य विहितनिषिद्धाचरणेऽपि मिथ्याज्ञानवासनाभावान्नादृष्टमिति नैयायिकादिमतमपास्तम् । रागद्वेषाभावादेव तस्य बन्धासिद्धेः, अन्यथा तत्त्वज्ञानस्यापि विहितत्वेन विनश्यदवस्थ—मिथ्याज्ञानवासनासहकृततज्जन्यशुभादृष्टस्यानन्तत्वादनिर्मोक्षापत्तेः, निषिद्धाचरणस्य च तस्यानुचितप्रवृत्तिजनकमोहाभावेनैव दूरापास्तत्वात् । एतेनेश्वरार्पणबुद्ध्या फलानुद्देशेन प्रतिपदोक्तफलत्यागेन विविदिषार्थतया वा कृतात्कर्मणोऽदृष्टानुत्पत्तिरिति वेदान्तिमतमप्यपास्तम्, ईदृशब्रह्महत्यादेरपि पापानुत्पत्त्यापत्तेः । श्येनादिनाऽतिप्रसङ्गेन वेदोक्तत्वस्याप्यविनिगम्यत्वादिति दिग् ॥ ९३ ॥

विरोधान्नोभयैकात्म्यं, स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ॥ अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्ति-र्नावाच्यमिति युज्यते ॥९४॥

प्रस्तुतैकान्तद्वयसिद्धान्ते व्याहतेरनभिधेयतायामनभिधेयाभिधानविरोधात् । कथंचिदेवेति युक्तम् । नहि स्वस्मिन्नन्यस्मिन्वा सुखाद् दुःखाच्च पुण्यमेव पापमेव वा तदुभयमेव वेति वदतामव्याहतिः सम्भवति, नापि तथाऽवाच्यतैकान्तेऽवाच्यमित्यभिधानमविरुद्धं, यतः स्याद्वादो न युक्तः स्यात् ॥ ९४ ॥ कथ स्याद्वादे पुण्यपापास्रवः स्यादित्याहुः—

विशुद्धिसंक्लेशाङ्गं चेत्, स्वपरस्थं सुखासुखम् ॥ पुण्यपापास्रवो युक्तो, न चेद् व्यर्थस्तवार्हतः ॥९५॥

आत्मनः परस्य वा सुखदुःखयोर्विशुद्धिसङ्क्लेशाङ्गयोरेव पुण्यपापास्रवहेतुत्वं, न चान्यथाऽतिप्रसङ्गात्', विशुद्धिकारणस्य विशुद्धि-

कार्यस्य विशुद्धिस्वभावस्य वा विशुद्ध्यङ्गस्य, सङ्क्लेशकारणस्य सङ्क्लेशकार्यस्य सङ्क्लेशस्वभावस्य वा सङ्क्लेशाङ्गस्य च, सुखस्य दुःखस्य वा तदुभयस्य वा स्वपरोभयस्थस्य पुण्यास्रवहेतुत्वं पापास्रवहेतुत्वं च यथाक्रम प्रतिपत्तव्यम् । न चान्यथा, यथोदित-प्रकारेणातिप्रसङ्गस्येष्टविपरीतेपि पुण्यपापवन्धप्रसङ्गस्य दुर्निवारत्वात् । क पुनः सङ्क्लेशः का वा विशुद्धिरिति चेदुच्यते,–आर्तरौद्र-ध्यानपरिणामः सङ्क्लेशस्तदभावो विशुद्धिरात्मनः स्वात्मन्यवस्थानम् । तत्रार्तध्यान चतुर्विधं, 'आर्तममनोज्ञस्य सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारो, विपरीतं मनोज्ञस्य, वेदनायाश्च, निदानं चेति सूत्रचतुष्टयेन तथाप्रतिपादनात् । रौद्रध्यान चतुर्विध, हिंसादिनि-मित्तभेदात् 'हिंसानृतस्तेयविषयसरक्षणेभ्यो रौद्रमित्यत्र सूत्रे प्रकाशनात् । 'मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः' त एव सङ्क्लेशपरिणामा इति न विरुध्येते तेषामार्तरौद्रध्यानपरिणामकारणत्वेन सङ्क्लेशाङ्गत्ववचनात्, तत्कार्यहिंसादिक्रियावत् । 'कायवाङ्मनःकर्म योगः' 'स आस्रवः,' 'शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य' त्यपि न विरुद्धं, कायादियोगस्यापि तत्कारणकार्यत्वेन सङ्क्लेशत्वव्यवस्थितेः । एतेन तदभावे विशुद्धिः सम्यग्दर्शनादिहेतुः धर्म्यशुक्लध्यानस्वभावा तत्कार्यविशुद्धिपरिणामात्मिका च व्याख्याता, तस्यामेवात्मन्यवस्थानसंभवात् । तदेवं विवादाध्यासिताः कायादिक्रियाः स्वपरसुखदुःखहेतवः सङ्क्लेशकारणकार्यस्वभावाः प्राणिना-मशुभफलपुद्गलसंबन्धहेतवः सङ्क्लेशाङ्गत्वाद्विषभक्षणादिकायादिक्रियावत् । तथा विवादापन्नाः कायादिक्रियाः स्वपरसुखदुःखहेतवो विशुद्धिकारणकार्यस्वरूपाः प्राणिनां शुभफलपुद्गलसंबन्धहेतवो, विशुद्ध्यङ्गत्वात् पथ्याहारादिकायादिक्रियावत् । ये शुभाशुभफलपुद्गलास्ते पुण्यं पाप च कर्मानेकविधम् । इति संक्षेपात्सकलशुभाशुभकर्मास्रवबन्धकारण सूचितं भवति, विस्तरतस्तस्यास्रवबन्धाध्याये सुनिरूपित-त्वात् । ततः स्यात् स्वपरस्थ सुखदुःखं पुण्यास्रवहेतुर्विशुद्ध्यङ्गत्वात् । स्यात् पापास्रवहेतुः, सङ्क्लेशाङ्गत्वात् । स्यादुभयं, क्रमार्पिततद्-

द्वयात् । स्यादवक्तव्य, सहार्पिततद्द्वयात् । स्यात् पुण्यहेतुरवक्तव्य च, स्यात्पापहेतुरवक्तव्यं च, स्यादुभयं चावक्तव्य च, स्वहेतुविप-
यात् । इति सप्तभङ्गीप्रक्रिया पूर्ववद्योजनीया ॥ ९५ ॥

विशुद्धिसङ्क्लेशाङ्गं चेदिति, अत्राङ्गशब्दार्थं त्रिधा व्याचष्टे विशुद्धिकारणस्येत्यादिना, विशुद्धिस्वभावत्वमका-
रणाकार्यत्वे सति तन्नियतत्वम्, एवं सङ्क्लेशस्वभावत्वमपि व्याख्येयम् । अत्र निश्चयतो विशुद्धिसंक्लेशयोरेव पुण्यपापहे-
तुत्वं, व्यवहारतस्तु तदुत्कर्षकत्वेन तद्द्वारा तदङ्गनानाविधबाह्यहेतूनामिति नयविभागो द्रष्टव्यः, तथा च पारमर्षम् " अणु-
मित्तो वि ण कस्सइ, बंधो परवत्थुपच्चया भणिओ ॥ तह वि खलु जयंति जइणो, परिणामविसोहिमिच्छंता ॥१॥ " इत्यादि ।
नन्वागमे मिथ्यादर्शनादीनां बन्धहेतुत्वमुक्तम्, अत्र तु सङ्क्लेशाङ्गस्येति कथं न विरोध इति चेत्, न, आगमे उपादानहेतू-
नामेव परिसङ्ख्यानादत्र च तेषामन्येषां च सङ्क्लेशाङ्गपदोपादानेनैव सङ्ग्रहादविरोधादित्याशयवानाह–मिथ्यादर्शनावि-
रतीत्यादि, कायेत्यादि, सङ्क्लेशाङ्गव्याख्यानस्य या दिक् सैव विशुद्ध्यङ्गव्याख्यानस्येत्यतिदिशति–' एतेनेत्यादि '
एवं व्यवस्थिते बाह्यक्रियाणां कर्मपुद्गलसम्बन्धहेतुत्वं साधयितुमनुमानप्रयोगमाह–तदेवं विवादाध्यासिता इत्यादिना,
स्यादवक्तव्यं सहार्पितद्वयादिति प्रशस्ताप्रशस्तभेदेनाध्यवसायस्थानानां द्विविधानामेव व्यवस्थितत्वात्तत्तृतीयराश्य-
भावेनैकदाविशुद्धिसङ्क्लेशाङ्गोभयरूपस्य कस्यापि व्यापारस्य वक्तुमशक्यत्वादित्यर्थः । यत्तु अविधिना दानादिव्यापारस्य
शुभाशुभयोगत्वमुच्यते, तद्व्यवहारत एव, न तु निश्चयतः, तत्राविधिदानपरिणामयोर्यदंशे उत्कटत्वं तदंशस्यैव फलवत्त्वं,
नान्यस्य, अन्यथा ततो मिश्रकर्मबन्धप्रसङ्गात्; न च मिश्रं कर्म किञ्चिदस्ति बन्धतः, केवलं सङ्क्रमत एव मिश्रमोहनीयमेक-

मस्तीत्याद्यर्थस्य महाभाष्ये व्यवस्थितत्वात्। यदपि कुशलाकुशलं कर्म तत्त्वार्थभाष्ये परिगणितं तदपि न वन्धतः, किन्त्वनुबन्धत इति विस्तरेण व्यवस्थापितं तर्कभाष्यानुसारिण्यां तत्त्वार्थटीकायामस्माभिरिति तत एव तदवधार्यं सुधीभिः॥९५॥

न किंचित्पापाय प्रभवति न वा पुण्यततये, प्रवृद्धेद्धां शुद्धिं समधिवसतो ध्वंसविधुराम् ।
भवेत् पुण्यायैवाखिलमपि विशुद्ध्यङ्गमपरं, मतं पापायैवेत्युदितमवताद्वो मुनिपतेः ॥ १ ॥

॥ इत्याप्तमीमांसालङ्कृतौ नवमः परिच्छेदः ॥

'न किञ्चित्पापायेत्यादि नवमसमाप्तिपद्यं विद्यानन्दस्य। अत्रेदं मनाग् मीमांसामहे। यद्येवं शुद्धोपयोगभूमिकामारूढस्य मुनेश्चिचमत्कारमात्रविश्रान्तसतत्त्वस्य वाह्यहेतोरकिञ्चित्करत्वं, तदा प्रतिक्रमणक्रियाऽपि तं व्यभिचरेत्, व्यभिचरेदेव प्रतिक्रमणप्रतिचरणाविज्ञानधारणावुद्धीहामतिविकल्पाष्टकस्य प्राग् दशायाममृतकुम्भत्वस्योत्तरदशायां च विषकुम्भत्वस्य समयप्राभृतेऽभिधानादिति चेत्, इदमेव तर्हि विचारणीयं प्राग्दशायाममृतकुम्भत्वं किं तस्य शुभोपयोगहेतुत्वादुताारूढपातित्यपरिहारार्थत्वात् किं वा स्वातन्त्र्येण निर्जरार्थत्वादुताहो स्वभावसमवस्थानालम्बनत्वात् अथवा विहितक्रियोपदेशप्रणेतृस्मरणद्वाराभगवत्समापत्तिहेतुत्वात् किंवा स्वगुणस्थानोचितत्वादथवा नानाक्रियासमूहालम्बनसामायिकपरिणामान्तःपातित्वादुत योगसाधनत्वादित्यष्टौ विकल्पा उपतिष्ठन्ते, नाद्यः पक्षः क्षेमङ्करः, शुभोपयोगहेतुमुनेः प्राक्क्रियाया आश्रयणी-

यत्वेऽनुकम्पादानादेरपि तथात्वापत्तेः। न द्वितीयः, प्रागदशायामारुरुक्षुतयारूढत्वस्याप्रसङ्गेनैतत्पातित्यपरिहारार्थताया दूरापास्तत्वात्। न तृतीयः, स्वातन्त्र्येण निर्जरार्थताया उत्तरदशायामप्यव्याहतत्वेन तदा विषकुम्भत्ववचनस्यैव विषकुम्भत्वापत्तेः। अत एव न चतुर्थादयः, सिद्धयोगस्य योगसाधनानपेक्षणात्, पूर्वं तु तदपेक्षावश्यकत्वात्॥ अष्टमोऽवशिष्यते, सोऽपि, "यान्येव साधनान्यादौ, गृण्हीयाद् योगसत्त्वकः (साधकः)॥ सिद्धयोगस्य तान्येव, लक्षणानि विदुर्बुधाः॥ १॥" इत्युक्तरीत्या निर्लोठनीयः। शमदमादीनामिव प्रतिक्रमणादिक्रियाया उत्तरदशायां योगिनो लक्षणत्वेन विषकुम्भत्वायोगात्, प्रत्युत स्थिरामृतकुम्भत्वस्यैव सिद्धेः, न चाव्यभिचारिलक्षणत्वाभावान्नैवं, स्वकालेऽव्यभिचारित्वात्, पर्यन्ते तु शुद्धधर्मसन्न्यासोत्पत्तौ क्षायोपशमिकानां शमदमादीनामपि नाशोपगमात्, तस्मात् पूर्वोत्तरभूमिकयोर्वचनासङ्गानुष्ठानतयैव क्रियाभेदो यथाऽस्मत्साम्प्रदायिकैर्लक्षितस्तथा श्रेयान्, न तु परोक्तामृतविषकुम्भदृष्टान्तेन, परायां दृष्टौ समाधिकाले आरूढारोहणाभावन्यायेन क्रियाया अनुपयोगाभिधानं तु शमादेरिवाभिनवग्रहणापेक्षया, न तु विषकुम्भत्वदृष्ट्या, प्रतिपन्ननिर्वाहस्यान्ततो लोकशिक्षार्थं परमयोगिनोऽप्यभिधानात्, शुभोपयोगकालेऽपि साधोः क्रियातो धर्मप्राप्तिश्च पुष्टिशुद्धिमच्चित्तान्वयेन लक्षणीया, तस्यैवोभयोपयोगसाधारणत्वेन धर्मलक्षणत्वात्, उभयसंवलनेऽपि शुद्ध्याधिक्येन साधोर्धर्माधिकारित्वाव्याहतेः, अधिकारद्वयफलद्वयकल्पनायां गौरवाच्चारित्रधर्मप्रवृत्तावशुभोपयोगराहित्यस्यैकाधिकारस्यैव कल्पने लाघवात्, गुप्तिमत एवाधिकारित्वे तु गुप्तित्वमेकं प्रवीचाराप्रवीचारसाधारणमधिकारतावच्छेदकमेकं कल्पनीयम्, किं बहुना धर्मार्थिक्रियायामनुषङ्गतः पुष्टेः प्राधान्यतश्च शुद्धेराप्तिरिति न काचन क्षतिः। एवं च स्थिरादिदृष्टिमतां सूत्रोक्ता प्रतिक्रमणादिक्रिया रत्नशिक्षानियोजनदृष्टिवद्भिन्नाभिन्नैव

शुद्धिनिबन्धनं, नतूत्तरोत्तरं तद्विलोप एवेति प्रतिपत्तव्यम्। यथा च युक्ताहारविहारक्रियाप्रवचनसाराद्युक्तक्रमेण चारित्रोपयोगिनी तथा युक्तोपकरणधारणादिक्रियापि किं न स्यात् "जं पि वत्थं व पायं वा" इत्यादिविधिशतानां तत्रोपलम्भात्, बाह्यपुद्गलप्रवृत्तेर्मूर्च्छानिमित्तत्वे आहारादावप्यप्रवृत्त्यापत्तेः, आहारादिक्रिया ध्यानदीपे तैलप्रचारतुल्यत्वेनाश्रयणीयत्वे युक्तोपकरणधारणस्यापि निर्वातदेशस्थापनतुल्यत्वेनाश्रयणीयत्वाविशेषात्, नान्यस्य चारित्रासाधारणकारणत्वेन मूलगुणत्वे वस्त्रस्य च तत्प्रतिबन्धकत्वेऽभ्युपगम्यमाने न किञ्चित्पापायेत्यादिस्वप्रतिज्ञाया एव दुरुत्प्रेक्षितत्वापत्तेः, तस्मात्॥ "मूर्च्छाच्छन्नधियां हन्त, जगदेव परिग्रहः ॥ मूर्छया रहितानां तु, जगदेवापरिग्रहः ॥१॥" इत्याद्यस्मदुक्तं विमृश्य धर्मलक्षणं च पुष्टिशुद्धिमच्चित्तरूपमेवादृत्य यथासूत्रं प्रवृत्त्यैव शुद्धाध्यवसायनिर्वाहः कार्य इत्यस्माकं हितोपदेशः ॥ १५ ॥"

वक्तव्यमेव किल यत्तदशेषमुक्त-मेतावतैव यदि चेतयते न कोऽपि ॥
व्यामोहजालमतिदुस्तरमेव नूनं, निश्चेतनस्य वचसामतिविस्तरेऽपि ॥ १ ॥
विशुद्धिसंक्लेशजपुण्यपापे, प्रतिक्रिया यत्र नियम्यते नो ॥
ज्ञानेऽन्यहेतुश्च निज(जिन)प्रसादा-द्विना जिनाज्ञा मम सा प्रमाणम् ॥ २ ॥

इति महोपाध्यायश्रीयशोविजयगणिविरचितेऽष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणे नवमः परिच्छेदः ॥

ॐ ॥ अथ दशमः परिच्छेदः ॥ ॐ

श्रीमदकलङ्कविवृतां, समन्तभद्रोक्तिमत्र संक्षेपात्। परमागमार्थविषया-मष्टसहस्री प्रकाशयति ॥

अज्ञानाच्चेद्ध्रुवो बन्धो, ज्ञेयानन्त्यान्न केवली ॥ ज्ञानस्तोकाद्विमोक्षश्चे-दज्ञानाद्बहुतोन्यथा ॥९६॥

प्रसज्यप्रतिषेधे ज्ञानस्याभावोऽज्ञानं, पर्युदासे ततोऽन्यन्मिथ्याज्ञानमज्ञानम्। तत्र यदि ज्ञानाभावाद् ध्रुवोऽवश्यंभावी बन्धः स्यात्तदा केवली न कश्चित्स्यात्। सकलविपर्ययरहितं तत्त्वज्ञानमसहायं केवलम्, "एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्। अविपर्ययाद् विशुद्धं, केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥१॥" इति वचनात्। तद्योगात्केवलीत्युच्यते। स कथं न स्यादिति चेन्न, तदुत्पत्तेः पूर्वमशेषज्ञानाभावात्, करणजविज्ञानस्यातीन्द्रियार्थाविषयत्वादनुमानस्य चात्यन्तपरोक्षार्थागोचरत्वादागमस्यापि सामान्यतोऽविशेषार्थविषयत्वाद्योगिनामशेषविशेषविषयज्ञानविरोधात्। न चाक्षलिङ्गशब्दज्ञानपरिच्छेद्य एवार्थस्ततोऽपरो नास्तीति शक्यं वक्तुं, ज्ञेयस्यानन्त्यात्, प्रकृतिविवर्तविशेषाणां पुरुषाणां चानन्ततोपगमात्। स्यान्मतं,–'प्रकृतिपुरुषविवेकज्ञानादेवागमबलभाविनः स्तोकादपि तत्त्वाभ्यासस्वात्मभावात् केवलज्ञानमुद्भवेत्। स एव च तस्य विमोक्षः पुनः संसाराभावादनागतबन्धनिरोधात्' इति, तदप्ययुक्तं, स्तोकज्ञानापेक्षया बहोरज्ञानाद्बन्धस्य प्रसङ्गाद्दैव्यद्बन्धरोधासंभवाद् विमोक्षानुपपत्तेः। अथ तत्त्वज्ञानेन स्तोकेनापि बहोरज्ञानस्य प्रतिहतशक्तिकत्वान्न तन्निबन्धनो बन्धः संभवतीति मतं, तदप्यसत्, प्रतिज्ञातविरोधात्। यत् खलु प्रतिज्ञातमज्ञानाद् ध्रुवो बन्ध इति तद्विरुध्यते। अथाखिलज्ञानाभावादज्ञानादवश्यभावी बन्धो न ज्ञानस्तोकमिश्रणादिति मतं, तदप्यसम्यक्, सर्वदा बन्धाभावप्रसङ्गात्, सर्वस्य

प्राणिनः किंचिज्ज्ञानसभवान्मुक्तौ वन्धप्रसक्तेश्च, तत्र सकलज्ञानाभावस्य वन्धहेतोः संभवात्, असप्रज्ञातयोगावस्थायां च "तदा द्रष्टुःस्वरूपेऽवस्थानम्" इति वचनात्। स्वरूप च पुंसश्चैतन्यमात्रं सकलज्ञानरहितम्। इति मोक्षहेतुरेव वन्धहेतुः स्यात्। यदि पुनस्तत्त्वज्ञानस्य प्रागभावाद्वन्धो न प्रध्वसाभावादिति मतं, तदा समाविर्भूततत्त्वज्ञानस्य कस्यचित् कुतश्चिद्विपर्ययज्ञानकारणादन्तरङ्गाद्वहिरङ्गाद्वा विपर्ययज्ञानोत्पत्तौ तत्त्वज्ञानप्रध्वंसाद्वन्धः कथं युज्येत?, स्यान्मत,—सकलतत्त्वज्ञानोत्पत्तौ निःशेषमिथ्याज्ञाननिवृत्तेरसप्रज्ञातयोगोत्पत्तौ तु तत्त्वज्ञानस्यापि नाशादशेषज्ञानाभावाख्यादज्ञानान्मोक्ष एव, ततोन्यस्मात् सम्यग्ज्ञानप्रागभावप्रध्वंसरूपाद्वन्ध एवेति, तदप्यसाधीयः, कैवल्यभावप्रसङ्गस्याभिधानात्। स्तोकतत्त्वज्ञानाप्रतिवद्धात्तथाविधादज्ञानाद्वन्ध इत्यपि विरुद्ध, प्रवर्तकधर्महेतोः स्तोकतत्त्वज्ञानात्प्रतिहताशेषाज्ञानशक्तिकात् पुण्यवन्धाभावानुषङ्गात्। ततो ज्ञानाभावलक्षणादज्ञानान्नावश्यंभावी वन्ध इति पक्षः क्षेमंकरः स्तोकतत्त्वज्ञानान्मोक्ष इति पक्षवत्। अथ मिथ्याज्ञानलक्षणादज्ञानाद् ध्रुवो बन्धः स्यात्, "धर्मेण गमनमूर्ध्वं, गमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेण॥ ज्ञानेन चापवर्गो, विपर्ययादिष्यते बन्धः॥१॥" इति वचनात्। विपर्ययो मिथ्याज्ञान सहजमाहार्यं चानेकविधमित्यभिमत, तदप्यसत्यं, कैवल्यभावप्रसक्तेः, समयान्तरश्रवणजनितानेकविधाहार्यविपर्ययस्य सांख्यागमभावनावलोद्भूततत्त्वज्ञानाद्विनाशेपि सहजस्य विपर्ययस्यानिवृत्तेः। केवलज्ञानात् प्राग् बन्धस्यावश्यभावात्तन्निबन्धनमिथ्याज्ञानान्तरोद्भूतेः केवलोद्भूतिविरोधात्। न चागमबलात्सकलतत्त्वज्ञानाविर्भूतिरुपपद्यते, ज्ञेयस्य विशेषतोनन्तत्वादागमाविषयत्वादनुमानाद्यविषयत्ववत्, यतः कृत्स्नमिथ्याज्ञाननिवृत्तेः केवलाविर्भावः सभाव्यते। स्तोकतत्त्वज्ञानान्मोक्ष इत्यप्यनेन निराकृतं, वहुतो मिथ्याज्ञानाद्वन्धस्य प्रसक्तेः। स्तोकतत्त्वज्ञानप्रतिहताद्वहुतो मिथ्याज्ञानान्न वन्ध इति चेत्, कथमेवं मिथ्याज्ञानाद् ध्रुवो बन्धः स्यात्? कथं वा स्तोकतत्त्वज्ञानात् प्रवर्तकधर्मनिवन्धनात्पुण्यवन्धः? इति दुरवबोधम्।

एतेनान्यमिथ्याज्ञानान्न वन्ध इत्येतदप्यपास्तं, प्रतिज्ञातविरोधाविशेषात् । रागादिदोषसहितान्मिथ्याज्ञानाद्वन्धो निर्दोषान्न वन्ध इत्यपि प्रतिज्ञातविरोधि कापिलाना, वैराग्यसहितात्तत्त्वज्ञानान्मोक्षवचनवत् । एतेनैतदपि प्रत्याख्यातं, यदुक्तं परेण 'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावान्निःश्रेयस' इति, मिथ्याज्ञानादवश्यं दोषोद्भूतौ दोषाच्च प्रवृत्तेर्धर्माधर्मसंज्ञिकायाः प्रादुर्भावे, ततोपि जन्मनः प्रसूतौ, ततोपि दुःखस्यैकविंशतिप्रकारस्य प्रसवे, केवलिनः साक्षादशेषतत्त्वज्ञानवतोऽसत्त्वप्रसङ्गात्, अस्मदादिप्रत्यक्षानुमानोपमानागमैः प्रमाणैः सकलतत्त्वज्ञानासंभवान्निःशेषमिथ्याज्ञाननिवृत्त्ययोगात् सकलज्ञेयविशेषाणामानन्त्यात्, सोयं प्रमाणार्थोऽपरिसंख्येयः प्रमाणभृद्भेदस्यापरिसंख्येयत्वादिति स्वयमभिधानात् । न च मिथ्याज्ञानस्य कार्त्स्न्येनानिवृत्तौ सकलदोषनिवृत्तिः । तदनिवृत्तौ च न प्रवृत्तिनिवृत्तिः । तदनपाये च न जन्मनोऽपायः । ततो नाशेषदुःखापायश्च । इति गता निःश्रेयसकथा । यदि पुनरात्माद्यपवर्गपर्यन्तप्रमेयतत्त्वज्ञानादपरनिःश्रेयसप्राप्तिरिष्यते न पुनः प्रमाणादिषोडशपदार्थविशेषतत्त्वज्ञानाद् येन ज्ञानस्तोकादेव विमोक्षसिद्धेः केवली न स्यादिति मतं, तदा वहोर्मिथ्याज्ञानाद्वन्धः किं न भवेत् ? तत्त्वज्ञानेन तस्य प्रतिहतत्वादिति चेत्, कथमेवं मिथ्याज्ञानाद् ध्रुवो वन्धः स्यादित्युक्तम् ? दोषसहितान्मिथ्याज्ञानाद्वन्ध इति चानेन निराकृतं, योगिज्ञानात् प्राग्दोषानिवृत्तेस्तत्कारणमिथ्याज्ञानसंततेः संभवात् । एतेन वैशेषिकमतमपास्तम् 'इच्छाद्वेषाभ्यां वन्ध' इति, कैवल्यभावाविशेषात् । अविद्यातृष्णाभ्यां वन्धोवश्यभावी । "दुःखे विपर्याससमतिस्तृष्णा वा वन्धकारणम् ॥ जन्मिनो यस्य ते न स्तो, न स जन्माधिगच्छति ॥१॥" इति ताथागतमतमपि न सम्यक्, योगिज्ञानाभावप्रसङ्गात् । अयोगिनः प्रत्यक्षानुमानाभ्यामखिलतत्त्वज्ञानरूपाया विद्याया एवायोगात् तद्विशेष(षय)ज्ञेयस्यानन्त्यात् । स्वय 'मनन्ता लोकधातव' इति वचनात् । न चाविद्यानुच्छेदे तृष्णा निवर्तते यत सुगत स्यात् । अथ ज्ञानस्तोका-

द्विमोक्ष इष्यते; हेयोपादेयतत्त्वस्य साभ्युपायस्य वेदकः सुगत इति वचनात् । तर्हि बहुतो मिथ्याज्ञानाद्बन्धः सिध्यतु, तन्निबन्धनतृष्णाया अपि संभवात् । कथमन्यथा मिथ्यावबोधतृष्णाभ्यामवश्यंभावी बन्ध इति प्रतिज्ञा न विरुध्यते ? एतेनैतदपि प्रत्याख्यातं यदुक्तं वृद्धबौद्धैः 'अविद्याप्रत्ययाः संस्काराः संस्कारप्रत्ययं विज्ञानं विज्ञानप्रत्ययं नामरूपं नामरूपप्रत्ययं षडायतनं षडायतनप्रत्ययः स्पर्शः स्पर्शप्रत्यया वेदना वेदनाप्रत्यया तृष्णा तृष्णाप्रत्ययमुपादानमुपादानप्रत्ययो भवो भवप्रत्यया जातिर्जातिप्रत्ययं जरामरणम्' इति द्वादशाङ्गं प्रतीत्य समुत्पादस्य संभवात्, क्षणिकनिरात्मकाशुचिदुःखेषु तद्विपरीतज्ञानलक्षणाविद्योदये कचिदपि ज्ञेये तत्प्रत्ययसंस्काराणां पुण्यापुण्यानेज्य(क)प्रकाराणां शुभाशुभानुभयविषयाणामवश्यंभावात्, तद्भावे च वस्तुप्रतिविज्ञप्तिलक्षणविज्ञानस्य विकल्पात्मनः संभवात्, तत्संभवे च विज्ञानसमुद्भूतरूपवेदनासंज्ञासंस्कारज्ञानलक्षणनामपृथिव्यादिभूतचतुष्टयात्मकरूपसमुदायलक्षणस्य नामरूपस्य सिद्धेः, तत्सिद्धौ च चक्षुरादिषडायतनस्यात्मकृत्यक्रियाप्रवृत्तिहेतोः प्रसूतेः, तत्प्रसूतौ च तद्धेतूनां षण्णां स्पर्शकायानां रूपं चक्षुषा पश्यामीत्यादिविषयेन्द्रियविज्ञानसमूहलक्षणानां प्रादुर्भावात् तत्प्रादुर्भावे स्पर्शानुभवलक्षणाया वेदनायाः सद्भावात्, तत्सद्भावे च विषयाध्यवसानलक्षणतृष्णायाः समुत्पादात्, तत्समुत्पादे तृष्णावैपुल्यलक्षणस्योपादानस्योदयात्, तदुदये च पुनर्भवजनककर्मलक्षणभवस्य भावात्, तद्भावे चापूर्वस्कन्धप्रादुर्भावलक्षणाया जातेरुत्पादात्, तदुत्पत्तौ च स्कन्धपरिपाकप्रध्वंसलक्षणजरामरणसद्भावात् केवलिनः कस्यचित्सुगतस्यासंभवप्रसङ्गात्, अन्यथा प्रतिज्ञातविरोधात् । ततः सूक्तं, यदि बन्धोयमज्ञानान्नेदानीं कश्चिन्मुच्यते, सर्वस्यैव कचिदज्ञानोपपत्तेर्ज्ञेयानन्त्यादिति केवलिनः प्राक् सर्वज्ञासंभवात् । यदि पुनर्ज्ञाननिर्ह्रासाद्ब्रह्मप्राप्तिरज्ञानात् सुतरां प्रसज्येत, दुःखनिवृत्तेरिव सुखप्राप्तिः । न ह्यल्पदुःखनिवृत्तेः सुखप्राप्तौ बहुतरदुःखनिवृत्तौ सुतरां सुखप्राप्तिरसिद्धा, येन ज्ञानहानेरल्पायाः परब्रह्मप्राप्तौ सकला-

ज्ञानात्तत्प्राप्तिः सुतरा न स्यात् । ततो नायमेकान्तः श्रेयानाभासते ज्ञानस्तोकान्मोक्ष इति, अज्ञानाद् ध्रुवो बन्ध इत्येकान्तवत् ॥९६॥

इन्द्रः सन्देहजातं द्विजहृदयगतं बाल्यकालेऽप्यपृच्छ-द्यस्त्वोच्चैरासने यं शुचिनयविधिना यश्च तं द्रागभाङ्क्षीत्॥
ऐन्द्रं यस्माच्च जातं तदवयवपदैर्निश्चितं शब्दशास्त्रं, शब्दब्रह्मैकसिन्धुः स जयतु चरमस्तीर्थकृद्विश्वबन्धुः ॥१॥
क्रियाः प्रिया यत्स्मरणेन सर्वाः, शास्त्राणि यत्साधनतत्पराणि ॥
चिदात्मना व्यापकतां श्रितो यो, ध्यायामि सिद्धं तमनादिशुद्धम् ॥ २ ॥

दशमे किञ्चिद् व्याख्यायते–प्रतिज्ञातविरोधाविशेषादिति अन्त्यमिथ्याज्ञानान्न बन्ध इत्युक्तौ मिथ्याज्ञानमात्रात् बन्ध इति मूलप्रतिज्ञासंन्यासादेवेत्यर्थः । वस्तुतोऽन्त्यव्यतिरिक्तं मिथ्याज्ञानं बन्धहेतुरन्त्यतत्त्वज्ञानं च मोक्षहेतुरित्ययुक्तं, तत्र बन्धमोक्षजनकतावच्छेदकव्यवस्थितजात्योर्मानाभावात्, मिथ्याज्ञानवासनाद्वारानुत्पत्तितद्ध्वंसद्वारोत्पत्तिभ्यामुपान्त्या-दिव्यावृत्तत्वतदनुवृत्तत्वयोर्विनिगमनाविरहात्, मिथ्याज्ञानवासनाया एव बन्धहेतुत्वोपगमे च मतान्तरप्रवेशप्रसङ्गात्, तस्या अपि स्मृत्येकनाश्यत्वौचित्ये तत्त्वज्ञानात् पूर्वं मिथ्यास्मृतिकल्पने स्मरणस्य स्मरणजनकत्वपक्षेऽपि तत्त्वज्ञानोच्छेदाच्च । किं चागमजन्यतत्त्वज्ञानापेक्षयाऽनादिवासनादोषजन्यमिथ्याज्ञानस्य बलवत्त्वात् तत्सत्त्वे कथं तत्त्वज्ञानम् । दोषजन्यमिथ्याज्ञाना-पेक्षया दोषाभावसहकृतागमजन्यतत्त्वज्ञानस्यैव बलवत्त्वमिति चेत्, तर्हि सम्यग्दर्शनरूपतत्त्वज्ञानस्य मिथ्याज्ञानविरोधित्वमेव, बन्धहेतुत्वं तु कषायोदयसहकृताज्ञानमात्रस्यैवेति समर्थयिष्यमाणं प्रवचनवचनमेव विजयते, एतेन " आत्मानं चेद्विजानी-या–दहमस्मीति पूरुषः ॥ किमिच्छन् कस्य कामाय, शरीरमनुसंज्वरेत् ॥१॥" इत्यखण्डानन्दस्वरूपात्मज्ञानादेव मोक्षः,

सार्वज्ञ्यं तु तत्र नोपयुज्यते, तस्य तपोजन्यातिशयविशेषरूपस्यासार्वत्रिकत्वादित्यादिना वेदान्तिभिः समर्थितः स्तोकज्ञानपक्षोऽपि निरस्तः । आत्मज्ञानस्यापि केवलस्य बन्धहेतुत्वे तत्त्वज्ञानोत्पत्त्यनवकाशात्, दोषापेक्षायां चास्मन्मतप्रवेशात्, निर्विकल्पकात्मज्ञानस्य मिथ्याज्ञानवासनानाशकत्वे मानाभावाच्चेति दिग्। मिथ्याज्ञानादवश्यं दोषोत्पत्ताविति मिथ्याज्ञानस्य बन्धहेतुत्वात्तस्य च दोषहेतुत्वात्ततस्तदुत्पत्तेरवर्जनीयत्वादिति भावः । न च दोषस्य बन्धहेतुकत्वमप्रामाणिकं, समेऽपीष्टानिष्टादिसन्निधाने मोहबन्धोपनततद्विपाकोत्कर्षापकर्षाभ्यां तदुत्कर्षापकर्षदर्शनात्तस्य तद्धेतुकत्वसिद्धेरिति ध्येयम् । तदा बह्वोरिति न च तत्त्वज्ञानमिथ्याज्ञानयोः स्तोकत्वं बहुत्वं वाऽप्रयोजकं, किन्तु "प्रमाणादीनां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगम" इति सूत्रात्तर्कपरिशुद्धिजनितप्रमाणादिषोडशपदार्थसमूहालम्बनज्ञानविशेष एव मोक्षहेतुः, तदभाव एव च बन्धहेतुरित्यस्माकमभ्युपगम इति वाच्यम् । तस्य श्रद्धामात्रशरणत्वात्, सर्वैः स्वस्वाभ्युपगतपदार्थतत्त्वज्ञानस्यैव मोक्षहेतुत्वोक्तेः । अथ प्रमाणादिपदार्थपरिशोधनमप्यात्मसाक्षात्कारायैवोपयुज्यते स एव श्रवणमनननिदिध्यासनजनितो मोक्षहेतुरिष्यते, "आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्य" इत्यादिश्रुतावार्थक्रमस्य बलवत्त्वादात्मश्रवणादिना तद्दर्शनं भावयेदित्यर्थादित्यात्मज्ञानस्यैव मोक्षहेतुत्वाद्बहुस्तोकादिपक्षाश्रयणमनतिप्रयोजनमिति चेत्, न, आत्मसाक्षात्कारस्यापि यावत् स्वेतरभिन्नत्वप्रकारकस्याश्रयणे सार्वज्ञ्यपक्षानतिक्रमात्, अन्यथा तत्त्वज्ञानजनकमननोपयोगितया प्रमाणादिपदार्थपरिशोधनानापत्तेः । किञ्च शरीरादिभिन्नत्वांशे लौकिकस्य तस्य कथमपरोक्षशरीराद्यभेदभ्रमनिवर्त्तकत्वमिति सर्वांशस्पष्टतार्थं सर्वविषयकत्वमेव युक्तमिति दिग् । एतेनैतदपीत्यादिना वृद्धबौद्धप्रक्रियाप्रदर्शनपूर्वं तन्मतखण्डनं कृतं, तत्त्वज्ञानात् पूर्वमविद्याया अनाशे तन्मूलसंस्काराद्यनुवृत्तौ तत्त्व-

ज्ञानोत्पत्त्ययोगेन सुगतस्य केवलिन एवासिद्धेः। यदि च यथा कण्टक एव कण्टकं हरति, पित्तादिदोषोत्पादनेनैव चौषधं वातादिदोषं तथा शमदमाद्यविद्याविलास एव संसारमूलाविलासमिति मतं, तदा केवलादज्ञानाद्बन्ध इति स्वप्रक्रियाव्याघात एव, कषायैकार्थसमवेताज्ञानस्यैव बन्धहेतुत्वप्रसक्त्याऽस्मन्मतसाम्राज्यात्, अपकृष्टाज्ञानस्य तत्त्वज्ञानाप्रतिबन्धकत्वोक्तावप्युत्कृष्टाज्ञानत्वेन तत्प्रतिबन्धकत्वव्यवस्थितावुत्कर्षस्य कषायसामानाधिकरण्यातिरिक्तत्वे मानाभावात्, अन्यव्यावृत्त्यादिविशेषस्य तत्र तत्र बहुशो निर्लोठितत्वादितिदिग्। ज्ञाननिर्ह्रासात् अल्पज्ञानहानेः ॥९६॥

विरोधान्नोभयैकात्म्यं, स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ॥ अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्ति-र्नावाच्यमिति युज्यते ॥९७॥

न हि सर्वात्मनैकस्यैकदा ज्ञानस्तोकान्मोक्षो बहुतश्चाज्ञानाद्बन्ध इत्येकान्तयोरविरोधः स्याद्वादन्यायविद्विषां सिध्यति, येन तदुभयैकात्म्यं स्यात्। तथाऽवाच्यतैकान्ते स्ववचनविरोधः पूर्ववत् ॥९७॥

कुतस्तर्हि पुण्यपापबन्धः प्राणिना येनाबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवत स्यात्? कुतो वा मोक्षो मुनेर्यतः पौरुषादिष्टसिद्धिर्बुद्धिपूर्वा स्यात्? चार्वाकमतमेव वा '(बन्धमोक्षाभाव एव परलोकाभावा'दिति न भवेत्? इत्यारेका निराचिकीर्षव प्राहुः—

अज्ञानान्मोहिनो बन्धो, न ज्ञानाद् वीतमोहतः ॥ ज्ञानस्तोकाच्च मोक्षः स्याद्-मोहान्मोहिनोऽन्यथा ॥९८॥

मोहनीयकर्मप्रकृतिलक्षणादज्ञानाद्युक्तः कर्मबन्धः स्थित्यनुभागाख्यः स्वफलदानसमर्थः, क्रोधादिकषायैकार्थसमवायिनो मिथ्याज्ञानस्य च अज्ञानस्य च मोहनीयकर्मप्रकृतिं लक्षयतः पुंसो बन्धनिबन्धनत्वोपपत्तेः 'सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते

स वन्ध ' इति वचनात्, ततोन्यतोपि बन्धाभ्युपगमेतिप्रसङ्गात्, क्षीणोपशान्तकषायस्याप्यज्ञानाद्बन्धप्रसक्तेः। प्रकृतिप्रदेशबन्धस्तस्याप्यस्तीति चेत्, न, तस्याभिमतेतरफलदानासमर्थत्वात् सयोगकेवलिन्यपि संभवादविवादापन्नत्वात्। न चात्रागममात्र, युक्तेरपि सद्भावात्। तथा हि, विवादापन्नः प्राणिनामिष्टानिष्टफलदानसमर्थपुद्गलविशेषसंवन्धः कषायैकार्थसमवेताज्ञाननिवन्धनस्तथात्वात्पथ्येतराहारादिसवन्धवत्। नात्र प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वादसिद्धो हेतुर्धर्मिणानेकान्तात्, तस्य प्रतिज्ञार्थधर्मिधर्मसमूहैकदेशत्वेपि प्रसिद्धत्ववचनात्, अनित्यः शब्दः शब्दत्वादित्यत्रापि हेतोरसिद्धत्वविरोधात्। न चात्र विशेषं धर्मिणं कृत्वा सामान्यं हेतु ब्रुवतः कश्चिद्दोषः, प्रयत्नानान्तरीयकः शब्दो विनश्वरः, प्रयत्नानान्तरीयकत्वाद् घटवदिति यथा। ननु शब्दस्य धर्मित्वे पक्षाव्यापको हेतुः स्यात्, समुद्रघोषादेः प्रयत्नानान्तरीयकत्वाभावात्। ततोत्र प्रयत्नानान्तरीयकः शब्दो विशिष्टो धर्मीति चेत्, तर्हि प्राणिना पुद्गलविशेषसवन्धस्य धर्मित्वे तथात्वस्य च हेतुत्वे दृष्टान्तासिद्धिप्रसक्तेः प्रकृतिप्रदेशबन्धाभ्यामनैकान्तिकत्वप्रसङ्गाच्च विवादापन्नत्वविशेषणमिष्टानिष्टफलदानसमर्थत्वविशेषणं च युक्तम्, इष्टानिष्टफलदानसमर्थपुद्गलविशेषसंवन्धत्वस्य हेतोः कषायैकार्थसमवेताज्ञाननिवन्धनत्वेन व्याप्तस्य पथ्येतराहारादिषु पुद्गलविशेषसवन्धे सुप्रसिद्धत्वादुदाहरणस्य साध्यसाधनधर्मवैकल्याभावात्, हेतोश्चानन्वयत्वासभवात्, विवादापन्नो धूमोग्निजन्मा धूमत्वान्महानसधूमवदित्यादिवत्। न चेष्टानिष्टफलदानसमर्थः कर्मबन्ध. पुद्गलविशेषसवन्धो न भवति, पुद्गलसवन्धेन विपच्यमानत्वाद्व्रीह्यादिवत्। जीवविपाकिषु कर्मसु तदभावात्पक्षाव्यापको हेतुरिति चेत्, न, तेषामपि सकर्मजीवसबन्धेन विपच्यमानत्वात् पुद्गलसवन्धेन विपच्यमानत्वस्य प्रसिद्धेः पुद्गलक्षेत्रभवविपाकिकर्मवत् पक्षव्यापकत्वसिद्धेः। पूर्वानुभूतविषयस्मरणेन सुखदुःखदायिषु कर्मसु तदभावात् पक्षाव्यापकत्वमस्य हेतोरित्यप्यनेन निराकृतं, परम्परया पुद्गलसवन्धेनैव तेषां विपच्यमानत्वाच्च। न किंचित्कर्म साक्षा-

त्परम्परया वात्मनः पुद्गलसम्बन्धमन्तरेण विपच्यमानमस्ति येन पौद्गलिकं न स्यात्। ततो न कर्मबन्धस्य पुद्गलविशेषसम्बन्धित्वम-सिद्धम्। नापीष्टानिष्टफलदानसमर्थत्वं, दृष्टकारणव्यभिचारे शुभेतरफलानुभवनस्य स्वसंविदितत्वाददृष्टहेतुत्वसिद्धेः, कषायिज्ञानस्य चक्षुराद्यदृश्यहेतुवत्। नन्वेवमज्ञानहेतुकत्वे बन्धस्य मिथ्यादर्शनादिहेतुत्वं कथं सूत्रकारोदितं न विरुध्यते इति चेत्, मिथ्यादर्शना-विरतिप्रमादकषाययोगानां कषायैकार्थसमवाय्यज्ञानाविनाभाविनामेवेष्टानिष्टफलदानसमर्थकर्मबन्धहेतुत्वसमर्थनात् मिथ्यादर्शनादीना-मपि संग्रहात् संक्षेपत इति बुध्यामहे। ततो मोहिन एवाज्ञानाद्विशिष्टः कर्मबन्धो न वीतमोहादिति सूक्तम्। तथैव बुद्धेरपकर्षान्मो-हनीयपरिक्षयलक्षणान्मोक्ष्यति विपर्यये विपर्यासादित्यधिगन्तव्यं, प्रकृष्टश्रुतज्ञानादेः क्षायोपशमिकात् केवलापेक्षया स्तोकादपि छद्मस्थ-वीतरागचरमक्षणभाविनः साक्षादार्हन्त्यलक्षणमोक्षस्य सिद्धेः। तद्विपरीतात्तु मोहवतः स्तोकज्ञानात् सूक्ष्मसम्परायान्तानां मिथ्या-दृष्ट्यादीनां कर्मसम्बन्ध एव। इति चिन्तितमन्यत्र ॥९८॥

'**मोहनीयेति**' मोहनीयकर्मप्रकृतिरत्र कषायाख्या ग्राह्या, तल्लक्षणात्तद्विशिष्टात्, मिथ्याज्ञानस्याज्ञानस्य चेति प्रसज्यपर्युदासाभ्यामज्ञानपदस्योभयार्थत्वादिति भावः। '**क्षीणोपशान्तेति**' न चैवं कषायत्वेनैव सामान्यतो बन्धहेतुता, किं कषायविशिष्टाज्ञानत्वेन गुरुतरकार्यकारणभावेनेति वाच्यम्। अन्वयव्यतिरेकग्रहस्यैव तत्र साक्षित्वात्, तयोश्च पश्येतराहा-रादिसम्बन्धदृष्टान्तेन कर्मपुद्गलसम्बन्धं प्रत्यज्ञानत्वेनैव प्रसिद्धेः, तत्रातिप्रसङ्गभङ्गार्थं पुनः कषायैकसमवेतत्वविशेषणनिवे-शात्, पटादौ तन्तुत्वादिना कारणत्वेऽप्यन्वयव्यतिरेकानुविधानस्यैव प्रयोजकत्वात्, अन्यथा शक्तिविशेषाभावविशेषादेरेव हेतुत्वप्रसङ्गाद्विशेषणविशेष्यभावेन विनिगमनाविरहस्याप्यत एव निरासादिति दिग्। न चात्रेति पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन

साध्यसिद्धेरुद्देश्यत्वाच्चात्र न ध्वनिरूपशब्दे सिद्धसाधनम्, असाधारण्यं त्वनुकूलतर्कसाचिव्यान्न दोष इति भावः। तर्हीति तथा च पक्षतावच्छेदकमात्रस्याहेतुत्वान्न काऽपि दोषाशङ्केति भावः। आश्रयासिद्धिमाशंक्य परिहरति न चेष्टानिष्टेत्यादिना, उक्त-हेतौ भागासिद्धिमाशङ्क्य परिहरति जीवविपाकिष्वित्यादिना, एवं विशिष्टाज्ञानैकहेतुकत्वे कर्मबन्धस्य च स्थिते सूत्रवि-रोधमाशङ्क्य परिहरति नन्वेवमित्यादिना, संग्रहात् संक्षेपत इति मिथ्यादर्शनादीनां कर्मबन्धविशेषहेतुत्वेऽपि कर्मबन्ध-सामान्ये द्वादशगुणस्थानसम्भव्यज्ञानस्यैव हेतुत्वकल्पनात्तत्रैव तदन्तर्भावादित्यर्थः। वीतमोहान्मोहरहितात्, भाष्ये बुद्धे-रपकर्षात् अपकृष्टबोधात्, मोहनीयपरिक्षयलक्षणात्कषायमोहोदयाभावविशिष्टात्, मोक्षः कैवल्यात्मा जीवन्मोक्षः, विप-र्यये मोहक्षयाभावे बुद्धेरपकर्षे, विपर्ययाद् बन्धसम्भवादित्यर्थः। तथा च मोहक्षयविशिष्टज्ञानत्वेन कैवल्यहेतुतैवेत्यर्थः, ॥९८॥

नन्वस्तु मोहप्रकृतिभिः कामादिदोषात्मिकाभिः सहचरितादज्ञानात् पुण्यपापकर्मणोः शुभाशुभफलानुभवननिमित्तयोः प्राणिना बन्धः। स तु कामादिप्रभवो महेश्वरनिमित्त एवेत्याशङ्कामपाकर्तुमिदमाहुः—

कामादिप्रभवश्चित्रः, कर्मबन्धानुरूपतः ॥ तच्च कर्म स्वहेतुभ्यो, जीवास्ते शुद्ध्यशुद्धितः ॥ ९९ ॥

कामादिप्रभवो भावससारोयं नैकस्वभावेश्वरकृतस्तत्कार्यसुखदुःखादिवैचित्र्यात्। यस्य यस्य कार्यवैचित्र्यं तत्तन्नैकस्वभावकारण-कृतं, यथानेकशाल्यङ्कुरादिविचित्रकार्यं शालिबीजादिकं, सुखदुःखादिकार्यवैचित्र्यं च ससारस्य तस्मान्नायमेकस्वभावेश्वरकृतः। न तावदयं हेतुरनिश्चितव्यतिरेकत्वादगमकः, साध्याभावेनुपपन्नत्वग्राहकप्रमाणसद्भावात्। न हि कारणस्यैकरूपत्वे कार्यनानात्वं युक्तं, शालिबीजाङ्कुरवत्। प्रसिद्धस्तावदेकस्वरूपाच्छालिबीजादनेकाङ्कुरकार्यायोगः, स एव दृष्टान्तः स्यात्। ततः साध्विदं विपक्षे बाधकं

प्रमाणमेकस्वभावकारणकृतत्वप्रतिषेधस्य साध्यस्याभावे नियमेनैकस्वभावकारणकृतत्वेऽनेककार्यत्वस्य साधनस्य व्यावृत्तिनिश्चयजननात्, विचित्रकार्यं च स्यादेकस्वरूपकारणकृत च स्यादिति सभावनाशङ्काव्यवच्छेदात्। कालादिना व्यभिचारी हेतुरिति चेत्, न, तस्यैकस्वभावत्वैकान्तासिद्धेः। अपरिणामिनः सर्वथार्थक्रियाऽसभवात् तल्लक्षणत्वाद्वस्तुनः सद्भावमेव तावन्न सभावयामः। सत्त्वस्यार्थक्रियया व्याप्तिरसिद्धेति न मन्तव्यं, तद्रहितस्य खपुष्पादेरसत्त्वनिश्चयात्। नन्वसतोप्यसदितिप्रत्ययलक्षणार्थक्रियाकारित्वान्न तया सत्त्वस्य व्याप्तिरिति न शङ्कितव्यं, व्यापकस्य तदतन्निष्ठतया व्याप्याभावेपि भावाविरोधात् तद्व्याप्तेरखण्डनात्। क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाव्याप्तिरसिद्धेति चेत्, न, प्रकारान्तरेणार्थक्रियायाः सभवाभावात् एकस्यैकामेवार्थक्रिया सपादयतो न क्रमो नापि यौगपद्य, तस्यानेककार्यविषयत्वादिति चेत्, न, तादृशस्य वस्तुनोसभवात्। सर्वस्य वाह्यामर्थक्रियां कुर्वतोऽन्तरङ्गस्वज्ञानलक्षणार्थक्रियाकारणस्यावश्यभावित्वादन्यथा योगिनोऽसर्वज्ञत्वप्रसङ्गात् पदार्थस्यानेकक्षणस्थायिनः क्रमेणाक्रमेण वानेककार्यकारित्वसिद्धेरेकक्षणस्थायिनोनभ्युपगमात् तथाप्रतीत्यभावाच्च। क्रमयौगपद्ययोः परिणामित्वेन व्याप्तिरसिद्धेति चेत्, न, अपरिणामिनः क्षणिकस्येव नित्यस्यापि क्रमयौगपद्यविरोधात्। ततः कस्यचित्परिणामित्वाभावे क्रमयौगपद्याभावादर्थक्रियापायात् सत्त्वानुपपत्तेर्वस्तुत्वसभावनाभाव एवेति निश्चितम्। तत्र कालदेशावस्थास्वभावभिन्नानां तनुकरणभुवनादीना किलाय कर्तेति महच्चित्रं, प्रकृतप्रमाणवाधनात्। एतेनेश्वरेच्छा प्रत्युक्ता, तस्या अपि नित्यैकस्वभावायाः कार्यवैचित्र्यानुपपत्तेर्वस्तुत्वसभावनानुपपत्तेश्चाविशेषात्। न चैतेनास्याः सवन्धस्तत्कृतोपकारानपेक्षणात्। न हि नित्यादेकस्वभावादीश्वरात् कश्चिदुपकारः सिसृक्षायास्तथाविधायाः सभवत्यनर्थान्तरभूतो, नित्यत्वविरोधात्। नाप्यर्थान्तरभूतः। सवन्धासभवादनुपकारात्, उपकारान्तरेनवस्थाप्रसङ्गात्। ततो व्यपदेशोपि मा भूत् ईश्वरस्य सिसृक्षेति।

न, तस्यापि बुद्धीच्छाप्रयत्नरहितत्वोपगमादन्यथा स्वमतविरोधात्। परेषा तु तस्य सशरीरस्यैव बुद्ध्यादिमत्त्वाभ्युपगमान्न तेनानेकान्तः। ननु चेश्वरस्य धर्मित्वे तदप्रतिपत्तावाश्रयासिद्धो हेतुरिति चेत्, न, प्रसङ्गसाधनेवश्यमाश्रयस्यानन्वेषणीयत्वात् तत्प्रतिपत्तिसद्भावाच्च। ननु यतः प्रमाणादीश्वरस्यास्मद्विलक्षणस्य धर्मिणः प्रतिपत्तिस्तेनैव हेतुर्बाध्यते इति चेत्, न, आत्मान्तरस्य सामान्येनेश्वराभिधानस्य धर्मित्वात् सकलकारकप्रयोक्तृत्वेन बुद्ध्यादिमत्त्वेन च तस्य विवादापन्नत्वात्। अथ ' तन्वादिकारकाणि विवादापन्नानि चेतनाधिष्ठितानि, विरम्यप्रवृत्त्यादिभ्यो वास्यादिवदित्यनुमानात् समस्तकारकप्रयोक्तृत्व बुद्ध्यादिसपन्नत्वं चेश्वरस्य साध्यते। ततोऽशरीरेन्द्रियत्वम्, अनाद्यनन्ततन्वादिकार्यसंतानिमित्तकारणस्यानाद्यनन्तत्वसिद्धेरनाद्यनन्तस्य शरीरत्वविरोधात्। अशरीरत्वमपि तस्यानाद्यनन्तमस्तु बुद्धीच्छाप्रयत्नवत्। इति मतं, तदयुक्तं, प्रमाणबाधनात्। तथा हि, नेश्वरेऽशरीरत्वमनाद्यनन्तमशरीरत्वात्, परप्रसिद्ध्या कायकरणोत्पत्तेः पूर्वमस्मदाद्यशरीरत्ववत्। नेश्वरबुद्ध्यादयो नित्या बुद्ध्यादित्वादस्मदादिबुद्ध्यादिवदिति। एतेनागमात् ' अपाणिपाद ' इत्यादेरीश्वरस्याशरीरत्वसाधनं प्रत्यास्यातं, तस्य युक्तिबाधितत्वात्। तत एव सशरीरो महेश्वरोस्त्विति चेत्, न, तच्छरीरस्यापि बुद्धिमत्कारणापूर्वकत्वे तेनैव कार्यत्वादिहेतूनां व्यभिचारात्। तस्य बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वे वाऽपरापरशरीरकल्पनायामनवस्थाप्रसङ्गात् पूर्वपूर्वस्वशरीरेणोत्तरोत्तरस्वशरीरोत्पत्तौ भवस्य निमित्तकारणत्वे सर्वससारिणां तथाप्रसिद्धेरीश्वरकल्पनावैयर्थ्यात्, स्वोपभोग्यभवनाद्युत्पत्तावपि निमित्तकारणत्वोपपत्तेः इति न कार्यत्वाचेतनोपादानत्वसन्निवेशविशिष्टत्वहेतवो गमका' स्युः। स्थित्वाप्रवर्तनार्थक्रियादि चेतनाधिष्ठानादिति नियमे पुनरीश्वरादेरपि मा भूत्। अन्यथेश्वरदिक्कालाकाशाश्चेतनाधिष्ठिताः स्यु, सर्वकार्येषु क्रमजन्मसु स्थित्वा प्रवर्तनादर्थक्रियाकारित्वाद्वा(च्च वा)स्यादिवदिति न्यायात्। तथा चेश्वरोपीश्वरान्त-

प्रमाणमेकस्वभावकारणकृतत्वप्रतिषेधस्य साध्यस्याभावे नियमेनैकस्वभावकारणकृतत्वेऽनेककार्यत्वस्य साधनस्य व्यावृत्तिनिश्चयजननात्, विचित्रकार्यं च स्यादेकस्वरूपकारणकृत च स्यादिति सभावनाशङ्काव्यवच्छेदात् । कालादिना व्यभिचारी हेतुरिति चेत्, न, तस्यैकस्वभावत्वैकान्तासिद्धेः । अपरिणामिनः सर्वथार्थक्रियाऽसभवात् तल्लक्षणत्वाद्वस्तुनः सद्भावमेव तावन्न सभावयामः । सत्त्वस्यार्थक्रियया व्याप्तिरसिद्धेति न मन्तव्यं, तद्रहितस्य खपुष्पादेरसत्त्वनिश्चयात् । नन्वसतोप्यसदितिप्रत्ययलक्षणार्थक्रियाकारित्वान्न तया सत्त्वस्य व्याप्तिरिति न शङ्कितव्यं, व्यापकस्य तदतन्निष्ठतया व्याप्याभावेपि भावाविरोधात् तद्व्याप्तेरखण्डनात् । क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाव्याप्तिरसिद्धेति चेत्, न, प्रकारान्तरेणार्थक्रियायाः सभवाभावात् एकस्यैकामेवार्थक्रिया सपादयतो न क्रमो नापि यौगपद्यं, तस्यानेककार्यविषयत्वादिति चेत्, न, तादृशस्य वस्तुनोसभवात् । सर्वस्य वाह्यामर्थक्रियां कुर्वतोऽन्तरङ्गस्वज्ञानलक्षणार्थक्रियाकारणस्यावश्यभावित्वादन्यथा योगिनोऽसर्वज्ञत्वप्रसङ्गात् पदार्थस्यानेकक्षणस्थायिनः क्रमेणाक्रमेण वानेककार्यकारित्वसिद्धेरेकक्षणस्थायिनोनभ्युपगमात् तथाप्रतीत्यभावाच्च । क्रमयौगपद्ययोः परिणामित्वेन व्याप्तिरसिद्धेति चेत्, न, अपरिणामिनः क्षणिकस्येव नित्यस्यापि क्रमयौगपद्यविरोधात् । ततः कस्यचित्परिणामित्वाभावे क्रमयौगपद्याभावादर्थक्रियापायात् सत्त्वानुपपत्तेर्वस्तुत्वसभावनाभाव एवेति निश्चितम् । तत्र कालदेशावस्थास्वभावभिन्नानां तनुकरणभुवनादीना किलाय कर्तेति महच्चित्रं, प्रकृतप्रमाणवाधनात् । एतेनेश्वरेच्छा प्रत्युक्ता, तस्या अपि नित्यैकस्वभावायाः कार्यवैचित्र्यानुपपत्तेर्वस्तुत्वसभावनानुपपत्तेश्चाविशेषात् । न चैतेनास्याः सवन्धस्तत्कृतोपकारानपेक्षणात् । न हि नित्यादेकस्वभावादीश्वरात् कश्चिदुपकारः सिसृक्षायास्तथाविधायाः सभवत्यनर्थान्तरभूतो, नित्यत्वविरोधात् । नाप्यर्थान्तरभूतः । सवन्धासभवादनुपकारात्, उपकारान्तरेनवस्थाप्रसङ्गात् । ततो व्यपदेशोपि मा भूत् ईश्वरस्य सिसृक्षेति ।

तत्र समवायात्तथाव्यपदेश इति चेत्, न, सर्वथैकस्वभावस्य समवायित्वनिमित्तकारणत्वादिनानास्वभावविरोधात्। महेश्वरस्याभिसन्धेरनित्यत्वेपि समानप्रसङ्गः, पदार्थान्तरभूतस्याभिसन्धेस्तेन सबन्धाभावस्य तत्कृतोपकारानपेक्षस्य व्यपदेशासभवस्य (चा)विशेषात्, सकलकार्याणामुत्पत्तिविनाशयोः स्थितौ च महेश्वराभिसधेरेकत्वे सकृदुत्पत्त्यादिप्रसङ्गाद्विचित्रत्वानुपपत्तेरिति । तदनेकत्वेप्यक्रमत्वेऽस्यैव दोपस्योपनिपातात्, क्रमवत्त्वे केषाचित्कार्याणा सकृदुत्पत्त्यादिदर्शनविरोधात् कथमनित्योभिसधिरीशस्य स्यात्? सन्नप्यसौ यदीश्वरसिसृक्षानपेक्षजन्मा तदा तन्वादयोपि तथा भवेयुरिति न कार्यत्वादिहेतवः प्रयोजकाः स्युः । सिसृक्षान्तरापेक्षजन्मा चेत्, अनवस्था । बुद्धिपूर्वकत्वादिच्छाया न दोप इति चेत्, सा तर्हि बुद्धिरीश्वरस्य यदि नित्यैकस्वभावा तदा कथमनेकसिसृक्षाजननहेतुः क्रमतो युज्येत युगपद्वा? पूर्वपूर्वसिसृक्षावशादुत्तरोत्तरसिसृक्षोत्पत्तिर्नित्यैकस्वभावबोधस्यापि महेश्वरस्य न विरुद्धा तत्समानसमयानेकतन्वादिकार्योत्पत्तिश्च, पूर्वसिसृक्षात उत्तरसिसृक्षायास्तत्समानकालतन्वादिकार्याणा च भावादनादित्वात् कार्यकारणप्रवाहस्येति चेत्, न, एकस्वभावस्येश्वरबोधस्यैकस्य पूर्वपूर्वसिसृक्षापेक्षाविरोधात्, तदपेक्षायां स्वभावभेदादनित्यतापत्तेः'। अथ सिसृक्षातन्वादिकार्योत्पत्तौ नेश्वरबोधः सिसृक्षान्तरमपेक्षते, तत्कार्याणामेव तदपेक्षत्वादिति मतं, तदप्यसत्, नित्येश्वरबोधस्य तदनिमित्तत्वप्रसङ्गात्। तदभावेऽभावात्तस्य तन्निमित्तत्वे सकलात्मनां तन्निमित्तता स्याद्, व्यतिरेकाभावाविशेपात्। अथासर्वगतस्येश्वरबोधस्य नित्यत्वात्कालव्यतिरेकाभावेपि न देशव्यतिरेकासिद्धिः। सकलात्मना तु नित्यसर्वगतत्वात्कालदेशव्यतिरेकासिद्धिरिति मतं, र्यीहि दिक्कालाकाशाना तत एव सर्वोत्पत्तिमन्निमित्तकारणता मा भूत्। एतेनैवेश्वरस्य तन्निमित्तकारणत्व प्रतिक्षित्, नित्येश्वरबोधस्यापि तन्निमित्तत्वे सकृत् सर्वत्रोत्पित्सुकार्याणामुत्पत्तिर्न स्यात्, तस्य सर्वत्राभावात् शरीरप्रदेशवर्तिनोपि सर्वत्र

बहिर्निमित्तकारणत्वे देशव्यतिरेकस्याप्यभावात् कथमन्वयमात्रेण तत्कारणत्वं युक्तम् ? नित्येश्वरज्ञानस्य सर्वगतत्वेप्ययमेव दोषः । तस्यानित्यासर्वगतत्वात् कालदेशव्यतिरेकसिद्धेस्तन्वादौ निमित्तकारणत्वसिद्धिरिति चेत्, न, ईश्वरस्य कदाचित्कचिद्बोधवैधुर्ये सकलवेदित्वविरोधात् । यदि पुनरपरापरसर्वार्थज्ञानस्याविच्छेदात् सदाशेषवेदित्वमविरुद्धं तदा कुतो व्यतिरेकस्तस्य सिध्येत् ? कथं चानित्यस्य बोधस्येश्वरबोधान्तरानपेक्षस्योत्पत्तिर्न पुनः सिसृक्षातन्वादिकार्याणामिति विशेषहेतोर्विना प्रतिपद्येमहि ? तस्य बोधान्तरापेक्षायामनवस्थानं तदवस्थम् । स्यान्मतं,—पूर्वपूर्वबोधसिसृक्षावशादुत्तरोत्तरबोधसिसृक्षातन्वादिकार्याणामुत्पत्तेरनादित्वात्कार्यकारणभावस्य बीजाङ्कुरादिवदयमदोष इति, नैतत्सारम्, ईश्वरकल्पनानार्थक्यप्रसङ्गात् । तद्भावे भावाद्बोधादिकार्याणां तत्कारणत्वसिद्धेर्नानर्थक्यमिति चेत्, न, व्यतिरेकासिद्धेः, अन्वयमात्रेण कारणत्वे तदकारणत्वाभिमतानामपि तत्प्रसङ्गात् । न चैकस्वभावाद्बोधात्कामादिकार्यवैचित्र्यं क्रमतोपि युज्यते महेश्वरसिसृक्षाभ्यामिति, किमनया चिन्तया ? तयोरेकस्वभावत्वेपि कर्मवैचित्र्यात्कामादिप्रभववैचित्र्यमिति चेत्, युक्तमेतत् किंतु नेश्वरेच्छाभ्यां किंचित्, तावतार्थपरिसमाप्तेः, सति कर्मवैचित्र्ये कामादिप्रभववैचित्र्यस्य भावादसत्यभावात् " कामादिप्रभवश्चित्रः कर्मबन्धानुरूपतः " इत्यस्यैव दर्शनस्य प्रमाणसिद्धत्वात्, अनिश्चितान्वयव्यतिरेकयोरीश्वरेच्छयोः कारणत्वपरिकल्पनायामतिप्रसङ्गात् । एतेन विरम्यप्रवृत्तिसन्निवेशविशेषादिभ्यः पृथिव्यादेर्बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वसाधनेनेश्वरप्रापणं प्रत्युक्तं, धर्माधर्माभ्यामेवात्मनः शरीरेन्द्रियबुद्धीच्छादिकार्यजननस्य सिद्धेः, बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वमन्तरेणापि विरम्यप्रवृत्तिसन्निवेशविशेषकार्यत्वाचेतनोपादानत्वार्थक्रियाकारित्वादीनां साधनानामुपपत्तेस्ततः पृथिव्यादेर्बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वासिद्धेः । ननु प्राक्कायकरणोत्पत्तेरात्मनो धर्माधर्मयोश्च स्वयमचेतनत्वाद्विचित्रोपभोगयोग्यतनुकरणादिसंपादनकौशलासंभ-

वात् तन्निमित्तमात्मान्तर, मृत्पिण्डकुलालवदिति चेत्, न, एवमपि प्रकृतसाधनव्यतिरेकानिश्चयात् । तथा हि, तनुकरणभुवनादिकं विवादापन्नं बुद्धिमत्कारणपूर्वक, विरम्यप्रवृत्तेः सन्निवेशविशिष्टत्वादचेतनोपादानत्वादर्थक्रियाकारित्वात्कार्यत्वाद्वा घटवदिति साधन-मुच्यते, तस्यात्मान्तरमीश्वराख्यं बुद्धिमत्कारणमन्तरेणाचेतनस्यात्मनोऽनीशस्य धर्माधर्मयोश्चाचेतनयोर्विचित्रोपभोगयोग्यतनुकरणभुवना-दिनिर्मापणकौशलासभवात्तन्निमित्तकारणमात्मान्तर बुद्धिमत्कारणमेषितव्यमित्यनेन व्यतिरेकः समर्थ्यते । कुलालमन्तरेण मृत्पिण्ड-दण्डादेः स्वयमचेतनस्य घटादिनिष्पादनकौशलासभववदिति वैधर्म्यदृष्टान्तप्रदर्शनम् । सत्येव कुलाले मृत्पिण्डादेर्घटादिसंपादनसाम-र्थ्यदर्शनादिति चान्वयसमर्थनमभिधीयते । न चैतदभिधातुं शक्यमन्यथानुपपत्तेरभावात् । बुद्धिमता कारणेन विना विरम्यप्रवृत्त्या-देरसभवादन्यथानुपपत्तिरस्त्येवेति चेत्, न, तस्यापि वितनुकरणस्य तत्कृतेरसभवात् कालादिवत् तादृशोपि निमित्तभावे कर्मणामचेतन-त्वेपि तन्निमित्तत्वमप्रतिषिद्ध, सर्वथा दृष्टान्तव्यतिक्रमात् । यथैव हि कुलालादिः सतनुकरणः कुम्भादेः प्रयोजको दृष्टान्तस्तनुकरणभुव-नादीनामशरीरेन्द्रियेश्वरप्रयोजकत्वकल्पनया व्यतिक्रम्यते, तथा कर्मणामचेतनानामपि तन्निमित्तत्वकल्पनया बुद्धिमानपि दृष्टान्तो व्यतिक्रम्यतां, विशेषाभावात् । स्यान्मतं—'सशरीरस्यापि बुद्धीच्छाप्रयत्नवत एव कुलालादेः कारकप्रयोक्तृत्वं दृष्टं, कुटादिकार्यं कर्तु-मबुद्ध्यमानस्य तददर्शनाद्, तद्बुद्धिमतोपीच्छापाये तदनुपलब्धेस्तदिच्छावतोपि प्रयत्नाभावे तदनुपलम्भात् । तद्वद्वितनुकरणस्यापि बुद्धिमत' स्रष्टुमिच्छतः प्रयत्नवतः शश्वदीश्वरस्य समस्तकारकप्रयोक्तृत्वोपपत्तेर्न दृष्टान्तव्यतिक्रमः, सशरीरत्वेतरयोः कारकप्रयुक्ति प्रत्यनङ्गत्वात् । न हि सर्वथा दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः साम्यमस्ति तद्विशेषविरोधादिति, तदयुक्तं, वितनुकरणस्य बुद्धीच्छा-प्रयत्नानुपपत्तेर्मुक्तात्मवत्, शरीराद्बहिः संसार्यात्मवत्, कालादिवद्वेति । शरीरेन्द्रियाद्युत्पत्तेः पूर्वमात्मना व्यभिचार इति चेत्,

न, तस्यापि बुद्धीच्छाप्रयत्नरहितत्वोपगमादन्यथा स्वमतविरोधात्। परेषां तु तस्य सशरीरस्यैव बुद्ध्यादिमत्त्वाभ्युपगमान्न तेनानेकान्तः। ननु चेश्वरस्य धर्मित्वे तदप्रतिपत्तावाश्रयासिद्धो हेतुरिति चेत्, न, प्रसङ्गसाधनेवश्यमाश्रयस्यानन्वेषणीयत्वात् तत्प्रतिपत्तिसद्भावाच्च। ननु यतः प्रमाणादीश्वरस्यास्मद्विलक्षणस्य धर्मिणः प्रतिपत्तिस्तेनैव हेतुर्बाध्यते इति चेत्, न, आत्मान्तरस्य सामान्येनेश्वराभिधानस्य धर्मित्वात् सकलकारकप्रयोक्तृत्वेन बुद्ध्यादिमत्त्वेन च तस्य विवादापन्नत्वात्। अथ 'तन्वादिकारकाणि विवादापन्नानि चेतनाधिष्ठितानि, विरम्यप्रवृत्त्यादिभ्यो वास्यादिवदित्यनुमानात् समस्तकारकप्रयोक्तृत्व बुद्ध्यादिसपन्नत्व चेश्वरस्य साध्यते। ततोऽशरीरेन्द्रियत्वम्, अनाद्यनन्ततन्वादिकार्यसंताननिमित्तकारणस्यानाद्यनन्तत्वसिद्धेरनाद्यनन्तस्य शरीरत्वविरोधात्। अशरीरत्वमपि तस्यानाद्यनन्तमस्तु बुद्धीच्छाप्रयत्नवत्। इति मतं, तदयुक्तं, प्रमाणबाधनात्। तथा हि, नेश्वरेऽशरीरत्वमनाद्यनन्तमशरीरत्वात्, परप्रसिद्ध्या कायकरणोत्पत्तेः पूर्वमस्मदाद्यशरीरत्ववत्। नेश्वरबुद्ध्यादयो नित्या बुद्ध्यादित्वादस्मदादिबुद्ध्यादिवदिति। एतेनागमात् 'अपाणिपाद' इत्यादेरीश्वरस्याशरीरत्वसाधनं प्रत्याख्यातं, तस्य युक्तिबाधितत्वात्। तत एव सशरीरो महेश्वरोस्त्विति चेत्, न, तच्छरीरस्यापि बुद्धिमत्कारणापूर्वकत्वे तेनैव कार्यत्वादिहेतूनां व्यभिचारात्। तस्य बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वे वाऽपरापरशरीरकल्पनायामनवस्थाप्रसङ्गात् पूर्वपूर्वस्वशरीरेणोत्तरोत्तरस्वशरीरोत्पत्तौ भवस्य निमित्तकारणत्वे सर्वससारिणां तथाप्रसिद्धेरीश्वरकल्पनावैयर्थ्यात्, स्वोपभोग्यभवनाद्युत्पत्तावपि निमित्तकारणत्वोपपत्तेः इति न कार्यत्वाचेतनोपादानत्वसन्निवेशविशिष्टत्वहेतवो गमका स्यु। स्थित्वाप्रवर्तनार्थक्रियादि चेतनाधिष्ठानादिति नियमे पुनरीश्वरादेरपि मा भूत्। अन्यथेश्वरदिक्कालाकाशाश्चेतनाधिष्ठिताः स्यु, सर्वकार्येषु क्रमजन्मसु स्थित्वा प्रवर्तनादर्थक्रियाकारित्वाद्वा(च वा)स्यादिवदिति न्यायात्। तथा चेश्वरोपीश्वरान्त-

रेणाधिष्ठित इत्यनवस्था स्यात्, अन्यथा स्यात्तेनैवास्य हेतोर्व्यभिचारः। नायं प्रसङ्गो, बुद्धिमत्त्वादिति चेत्, तत एव तर्हि प्रहीणतनुकरणादयः प्राणिनो मा भूवन्। यथैव हि बुद्धिमानीश्वरो नाधिष्ठात्रन्तर चेतनमपेक्षते तथा प्रहीणान् कुब्जादिशरीरकरणादीनपि मास्म करोत्, सातिशयं तद्विदः प्रहीणस्वकार्याकरणदर्शनात्। प्रहीणतनुकरणादयः प्राणिनां कर्मणो वैचित्र्यादिति चेत्, तर्हि कर्मणामपि तेषामीश्वरज्ञाननिमित्तत्वे समानप्रसङ्गः, तान्यपि प्रहीणतनुकरणादिकारणानि मा भूवन्निति। तदनिमित्तत्वे तनुकरणादेपि तन्निमित्तत्वं मा भूद्विशेषाभावात्। एव चार्थक्रियादेरपि ताभ्यामेकान्तिकत्व कर्मणः स्थाणोश्चार्थक्रियाकारित्व—स्थित्वाप्रवर्तनयोश्चेतनाधिष्ठानाभावेपि भावात्। ततः कर्मबन्धविशेषवशाच्चित्राः कामादयस्तत कर्मवैचित्र्यमिति स्थितम्। न हि भावस्वभावोपालम्भः करणीयोन्यत्रापि तथैव तत्प्रसङ्गानिवृत्तेः। यथैव हि कथमचेतनः कर्मबन्धः कामादिवैचित्र्य कुर्यात् कामादिर्वा चेतनस्वभावः कथमचेतनं कर्मवैचित्र्यमिति तत्स्वभावस्योपालम्भः प्रवर्त्यते कथमचेतनमुन्मत्तकादिभोजनमुन्मादादिवैचित्र्यं विदधीत प्राणिनामुन्मादादिर्वा चेतनः कथमचेतनं मृदादि रूपवैचित्र्यमित्यपि तत्स्वरूपोपालम्भः किमिति प्रसज्यमानो निवर्त्यते? तथादृष्टत्वादिति चेत्, तत एव प्रकृतस्वभावोपालम्भोपि निवर्त्यतां, तथानुमितत्वात्। न चैवमीश्वरस्याप्यनुमितत्वादुपालम्भप्रसङ्गनिवृत्तिः स्यादिति शङ्कनीयं, तदनुमानस्यानेकदोषदुष्टत्वात्। तथा हि, तनुकरणभुवनादेः कार्यत्वादिसाधनं किमेकबुद्धिमत्कारणत्वं साधयेदनेकबुद्धिमत्कारणत्वं वा?, प्रथमपक्षे प्रासादादिनानेकसूत्रधारयजमानादिहेतुना तदनैकान्तिकम्। द्वितीयपक्षे सिद्धसाधनं, नानाप्राणिनिमित्तत्वात्तदुपभोग्यतन्वादीना, तेषां तददृष्टकृतत्वात्। एतेन बुद्धिमत्कारणसामान्यसाधने सिद्धसाधनमुक्तं, तदभिमतविशेषस्याधिकरणसिद्धान्तन्यायेनाप्यसिद्धेः। सामान्यविशेषस्य साध्यत्वाददोष इति चेत्, न, दृष्टादृष्टविशेषाश्रयसामान्यविकल्पद्वयानतिवृत्तेः, दृष्टविशेषाश्रयस्य सामान्य

स्य साध्यत्वे स्वेष्टविघातात्, अदृष्टविशेषाश्रयस्य सामान्यस्य साध्यत्वे साध्यशून्यत्वप्रसङ्गान्निदर्शनस्य। दृष्टेतरविशेषाश्रयसामान्यसाधनेपि स्वाभिमतविशेषसिद्धिः कुतः स्यात्?, अधिकरणसिद्धान्तन्यायादिति चेत्, कोयमधिकरणसिद्धान्तो नाम?, यस्मिन्नावन्यप्रकरणसिद्धिः सोधिकरणसिद्धान्तः। ततो दृष्टादृष्टविशेषाश्रयसामान्यमात्रस्य बुद्धिमन्निमित्तस्य जगत्सु प्रसिद्धौ प्रकरणाज्जगन्निर्माणसमर्थः समस्तकारकाणां प्रयोक्ता सर्वविदलुप्तशक्तिर्विभुरशरीरत्वादिविशेषाश्रय एव सिध्यतीति चेन्, स्यादेवं, यदि सकलजगन्निर्माणसमर्थेनैकेन समस्तकारकाणां प्रयोक्तृत्वसर्वज्ञत्वादिविशेषोपेतेनाविनाभावि दृष्टेतरविशेषाधिकरणबुद्धिमत्कारणसामान्यं कुतश्चित् सिध्येत्। न च सिध्यति, अनेकबुद्धिमत्कारणेनैव स्वोपभोग्यतन्वादिनिमित्तकारणविशेषेण तस्य व्याप्तत्वसिद्धेः समर्थनात्। तथा सर्वज्ञवीतरागकर्तृकत्वे साध्ये घटादिनानैकान्तिकं साधनं, साध्यविकलं च निदर्शनम्। सरागासर्वज्ञकर्तृकत्वे साध्येपसिद्धान्तः। सर्वथा कार्यत्वं च साधनं तन्वादावसिद्धं, तस्य कथंचित्कारणत्वात्। कथंचित्कार्यत्वं तु विरुद्धं, सर्वथा बुद्धिमन्निमित्तत्वासाध्याद्विपरीतस्य कथंचिद्बुद्धिमन्निमित्तत्वस्य साधनात्। तथा पक्षोप्यनुमानबाधितः स्यात्, 'अकृत्रिमं जगत्, दृष्टकर्तृकविलक्षणत्वात् खादिवत्' इत्यनुमानस्य तद्बाधकस्यान्यत्र समर्थितत्वात्। इति सूक्तं, नेश्वरकृतः संसार इति। ननु यदि कर्मबन्धानुरूपतः संसारः स्यान्न तर्हि केषाचिन्मुक्तिरितरेषां संसारश्च, कर्मबन्धनिमित्ताविशेषादिति चेत्, न, तेषां शुद्ध्यशुद्धितः प्रति मुक्तीतरसंभवादात्मनाम्। न हि जीवाः शश्वदशुद्धित एव व्यवस्थिताः स्याद्वादिना याज्ञिकानामिव, कामादिस्वभावत्वनिराकरणात्, तत्स्वभावत्वे कदाचिदौदासीन्योपलम्भविरोधात्। नापि शुद्धित एवावस्थिताः कापिलानामिव, प्रकृतिसंसर्गेपि तत्र कामाद्युपलम्भविरोधात्, प्रकृतावेव कामाद्युपलम्भे पुरुषकल्पनावैयर्थ्यात्, तदुपभोगस्यापि तत्रैव संभवात्। न ह्यन्यः कामयतेऽन्यः काममनुभवतीति वक्तुं युक्तम्। नापि सर्वे संभवद्विशुद्धय एव जीवाः

प्रमाणतः प्रत्येतुं शक्याः, ससारिशून्यत्वप्रसङ्गात् । किं तर्हि ? शुद्ध्यशुद्धिभ्यां व्यवतिष्ठन्ते, 'जीवास्ते शुद्ध्यशुद्धितः' इति वचनात्। ततः शुद्धिभाजामात्मना प्रति मुक्तिरशुद्धिभाजां ससारः । केषाचित् प्रति मुक्तिः स्वकाललब्धौ स्यादिति प्रतिपत्तव्यम् ॥ ९९ ॥

के पुन. शुद्ध्यशद्धी जीवानामित्याहुः—

यस्य यस्येति यस्य यस्य कारणस्य यद् यत्कार्यवैचित्र्य तस्य तस्य तत्तन्नैकस्वभावकारणकृतमिति योजनीयम् । शालिबीजाङ्कुरवदिति शालिबीजादेकरूपाच्छाल्यङ्कुरस्यैवोत्पत्तिर्न त्वन्यस्येति दर्शनादिति भावः। ततोऽसाध्विदं विपक्षे बाधकं प्रमाणमिति व्यावृत्तिनिश्चयजननादित्यग्रेतनमत्र सम्बध्यते, तत्र च पञ्चमी ल्यब्लोपे व्यावृत्तिनिश्चयजननमभिप्रेत्य यदिदं विपक्षे बाधकं प्रमाणमुक्तं तदसाध्विति योगः, शङ्काव्यवच्छेदादित्यत्र चाकारप्रश्लेषः कार्यः। कालादिनेत्यनन्तर च चकारोऽध्याहार्यः, सद्भावमेवेत्यतः पूर्वमेकान्तनित्यस्य क्षणिकस्य वेति शेषः । व्यापकस्यार्थक्रियालक्षणस्य, तदनिष्ठतया (तदतन्निष्ठतया) व्याप्यत्वाभिमतवस्तुत्वाव्याप्यतया, एतेनैकस्वभावेश्वरखण्डनेन, 'अभिसन्धेरिति' अभिसन्धिरीश्वरे सिसृक्षासम्बन्धः, एतेन कर्मवैचित्र्यादेव कामादिप्रभववैचित्र्यसमर्थनेन, भाष्ये तस्यापि बुद्धिमतः कारणस्यापि, वितनुकरणस्य तनुकरणरहितस्य, तत्कृतेः करणभुवनादिकृतेः, कालादिवदिति टीकाकृतोक्तो दृष्टान्तस्तादृशोऽपीत्यग्रेतनभाष्यफक्किकयाऽन्वेति, तद्वद्धितनुकरणस्यापीति प्रयोगश्चात्र कार्यं सकर्तृकं कार्यत्वात् घटवदित्याकार एव, पक्षतावच्छेदकं च प्रागभावप्रतियोगित्वं न तु कृतिसाध्यत्वादिकमिति न सिद्धसाधनं, पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन साध्यसिद्धेरुद्देश्यत्वाच्च न घटादिरूपकार्यस्य सकर्तृकत्वसिद्ध्यंशतोऽपि तत् , न चात्रशरीरजन्यत्वमुपाधिरङ्कुरादौ साध्यव्यापकत्वसन्देहेऽपि सन्दि-

ग्धोपाधित्वस्य दुर्वारत्वेन तदाहितव्यभिचारसंशयसत्त्वेनानुमानानवताराल्लाघवाद् व्यभिचारज्ञानत्वेनैव विरोधित्वात् पक्षतत्समयोरपि व्यभिचारसंशयस्य तथात्वादिति वाच्यम्, प्रकृते कार्यत्वावच्छिन्नं प्रति कर्तृत्वेन कारणत्वनिश्चयाल्लाघवतर्कावतारे व्यभिचारसंशयस्याविरोधित्वात्, अनुकूलतर्कानवतार एव व्यभिचारसंशयाधायकस्य सन्दिग्धोपाधेर्दोषत्वादित्याहुः। 'वितनुकरणस्येति' ईश्वरः बुद्धीच्छाप्रयत्नवान्न भवति, वितनुकरणत्वान्मुक्तात्मवदिति प्रयोगः। परेषां तु जैनानां तु, तस्य शरीरेन्द्रियाद्युत्पत्तिप्राक्कालवर्तिन आत्मनः, सशरीरस्यैवेति अत्र तैजसकार्मणाभ्यामिति शेषः। तत्प्रतिपत्तिसद्भावाच्चेति तथा च विकल्पसिद्धधर्म्युपगमान्नाश्रयासिद्धिरिति भावः। नेश्वर इति यद्यप्यशरीरत्वं शरीरपरिग्रहात्यन्ताभावोऽनाद्यनंतत्वेन व्याप्त इति हेतोर्विरुद्धत्वं, तथाप्यात्मनिष्ठस्य शरीरपरिग्रहाभावस्य ध्वंसपर्यवसितस्य ग्रहान्न दोष इति बोध्यम्। 'एतेनेति' ईश्वरेऽशरीरत्वस्य कादाचित्कत्वानुमानप्रदर्शनेनेत्यर्थः। कथं वाऽपाणिपादत्वप्रतिपादक एवागमः प्रदेशान्तरे ईश्वरस्य वेदादिप्रणिनीषया ब्रह्मादिशरीरपरिग्रहं प्रतिपादयन् स्वाङ्गैरेव न विरुन्ध्यात्। भूतावेशन्यायेन तस्य ब्रह्मादिशरीरपरिग्रहोपपत्तिरिति चेद्, दूराद् भ्रान्तोऽसि, भूतावेशस्यापि स्वीयवैक्रियशरीरेणात्मान्तरशरीरे भूतप्रवेशरूपस्य तददृष्टहेतुकत्वात्, अन्यथात्मविभुत्वपक्षे सर्वत्र सर्वावेशापत्तेः, तस्माददृष्टहेतुकयोरावेशपरिग्रहयोर्मध्येनैकतरस्यापीश्वरे सम्भव इति सुष्ठूक्तं श्रीहेमसूरिभिः॥ "धर्माधर्मौ विना नाङ्गं, विनाङ्गेन मुखं कुतः॥ मुखाद्विना न वक्तृत्वं, तच्छास्तारः परे कथम्॥१॥" इत्यादि, अथावेशे आविशतोऽदृष्टं न हेतुः किं त्वावेशाधिकरणस्य ततस्तद्गतयोरेव सुखदुःखयोरुत्पादनात् तत्परादृष्टेनेश्वरस्य ब्रह्मादिशरीरग्रहोपपत्तिरिति चेत्, न, आवेशे आविशतोऽप्यदृष्टस्य तद्गतबन्धोदयनिर्जरादिनिर्वाहकस्य हेतुत्वेनोभयादृष्टजन्यत्वव्य-

वस्थितेः, अन्यथा मुक्तस्यापि क्वचिदावेशापत्तेः, किं चाविशत ईश्वरस्यावेशाधिकरणब्रह्माद्यात्मभिन्नत्वे ब्रह्मविष्णुशिवैक्यप्रतिपादकश्रुतिविरोधोऽपि, न च शवावेशवद्ब्रह्मादिशरीरे वेदादिहेतावीश्वरावेशोपपत्तिः, तच्छन्दे (वे) तच्छरीरस्यैव तददृष्टस्यापि हेतुत्वात्, दृष्टमर्यादातिक्रमे च विनैव शरीरावेशं वेदाद्युच्चारेण व्यवहारं निर्वाहयेदिति न किञ्चिदेतत्, सर्वावेशवासनां चानुपदमेव निराकरिष्यामः। ईश्वरादेरपि माभूदित्यत्र स्थित्वा प्रवर्त्तनार्थक्रियादीति योगः। 'अन्यथेति' न च स्ववृत्तिज्ञानविशेष्यत्वं स्वजन्यव्यापारभागित्वं वा चेतनाधिष्ठितमीश्वरादावप्यविरुद्धमितीष्टापत्तिरत्रेति शङ्कनीयम्। कर्तृसाक्षिव्यवस्थया ज्ञानमात्रेणाधिष्ठितत्वासिद्धेराद्यस्य व्यापारेऽपि व्यापारान्तरापेक्षायामनवस्थापत्तेश्च द्वितीयस्य निरासादिति भावः। उन्मत्तकादियो(भो)जनं धत्तूरचूर्णादिप्रयोगः, मृदादिस्तू(रू)पवैचित्र्यं सुवर्णाभिप्रायेण विचित्रां मृदादिप्रचयस्वनामित्यर्थः। तेषां तददृष्टकृतत्वादिति तथा च तनुकरणभुवनादिकं सकर्तृकं बुद्धिमत्कर्तृकं वेत्यादावदृष्टद्वाराऽस्मदादिना सिद्धसाधनमर्थान्तरं वेति भावः। 'तदभिमतेति' एककर्तृसिद्धौ तद्गतसार्वज्ञ्यादिसिद्धेरेवाधिकरणसिद्धान्ताधीनत्वाभ्युपगमादित्यर्थः। स्वेष्टविघातादिति कतिपयकारकप्रयोक्तृत्वासर्ववेदित्वप्रतिहतशक्तिकत्वाविभुत्वसशरीत्वादिसिद्धिप्रसङ्गादित्यर्थः। न च सिद्ध्यतीति लाघवावतारेऽपि व्यापकतानवच्छेदकरूपेणानुमितेरनभ्युपगमादित्यर्थः। इतिसूक्तं नेश्वरकृतः संसार इति, एवं च तन्वादिकार्यस्य कर्तृजन्यत्वे साध्ये ज्ञानादेरेव जनकत्वेन कर्तुरजनकत्वाद् बाध इति प्रत्यक्षजन्यत्वमिच्छाजन्यत्वं कृतिजन्यत्वं च पृथक् पृथक् साध्यत इति तदाश्रयतयेश्वरसिद्धावदोषः, निखिलोपादानगोचरप्रत्यक्षाश्रयस्यान्यस्यासम्भवात्, न हि द्व्यणुकाद्युपादानगोचरप्रत्यक्षमस्मदादेः सम्भवतीति दक्षंमन्योक्तमप्यकिञ्चित्करं द्रष्टव्यम्, तत्तत्पु-

रूपीयघटाद्यर्थिप्रवृत्तिं प्रत्येव तत्तत्पुरुषीयघटादिमत्त्वप्रकारकोपादानप्रत्यक्षत्वेन हेतुत्वात्कार्यत्वावच्छिन्ने प्रत्यक्षत्वेन हेतुत्वे मानाभावात्, चिकीर्षाया अपि प्रवृत्तावेव हेतुत्वेनेच्छात्वेन कृतेरपि विलक्षणकृतित्वेन घटादावेव हेतुत्वेन कृतित्वेनापि कार्यत्वावच्छिन्नं प्रत्यहेतुत्वात्, न च प्रवृत्ताविव घटादावपि प्रत्यक्षेच्छयोरन्वयव्यतिरेकाभ्यां हेतुत्वे सिद्धे तत्कार्यतावच्छेदकं लाघवात् कार्यत्वमेव कल्प्यते, घटत्वपटत्वादीनामानन्त्यात् शरीरलाघवमपेक्ष्य मञ्जाहकन्वलाघवस्य बलवत्त्वात्, कृतेरपि यद्विशेषयोरिति न्यायेन सामान्यतो हेतुत्वसिद्धिरिति वाच्यम् । एवं सति शरीरत्वेन चेष्टात्वेन च हेतुत्वान्नित्यशरीरचेष्टयोरपि सिद्ध्यापत्तेः । न च परमाणव एव प्रयत्नवदीश्वरात्मसंयोगजन्यचेष्टावन्त ईश्वरस्य नित्यानि शरीराणि टीकाप्रथमश्लोकव्याख्याने उदयनाचार्यैस्तथा स्वीकृतत्वात्, चेष्टाया नित्यत्वे तु मानाभावोऽनित्यचेष्टाया अपि सर्गादौ सम्भवात्, ईश्वरप्रयत्नाधीनचेष्टावतां सर्वेषामेव वेश्वरशरीरत्वम्, अत एव सर्वावेशपरा सर्वाभेदश्रुतिरिति वाच्यम्, परमाणूनां नित्येश्वरशरीरत्वे तद्गतक्रियाया अपि नित्यायाश्चेष्टायाः कल्पनापत्तेः, सर्वावेशे च सर्वत्र क्रियामात्रस्य चेष्टात्वपर्यवसाने विलक्षणचेष्टात्वजात्युच्छेदापत्तेः, सर्वशरीरावच्छिन्नविलक्षणमनःसंयोगजनकप्रयत्नवदात्मसंयोगरूपसर्वावेशस्वीकारे च प्रत्यात्मनियतमनोभिन्नमनःप्रवेशनेन सर्वेषामुन्मादजनकताया ईश्वरस्यापत्तेः, अन्यथावेशपदार्थाघटनात्, उपमामात्रस्य सर्वात्मसाधारणत्वात् सर्वात्मगुणसाधारणकारणत्वेन पुनरावेशकारणत्वं नेश्वरस्य युक्तिमत् कालादिवदिति दिग् । किं च गुणस्य साश्रयत्वव्याप्तौ मानाभावादुपादानप्रत्यक्षस्य निराश्रयस्यैव सिद्धौ वेदान्तिमतसाम्राज्ये कथं नैयायिकाभिमतेश्वरसिद्धिः । किञ्चोपादानप्रत्यक्षं लौकिकमेव जनकमिति कथं तादृशप्रत्यक्षाश्रयतयेश्वरः सिद्ध्येत्, सन्निकर्षदोषविशेषादिनियम्यलौकिकविषयतायास्तज्ज्ञानेऽ-

भावात्, यदि च प्रणिधानाद्यर्थं मनोवहनाड्यादौ प्रवृत्तिस्वीकारादनुमित्यादिसाधारणं यद्धर्म्मावच्छिन्ने यदर्थिप्रवृत्तिस्तद्धर्मावच्छिन्ने तत्प्रकारकज्ञान हेतुरिति मतं, तदेश्वरे ज्ञानमात्रसिद्धावपि कथं प्रत्यक्षसिद्धिः, प्रत्यक्षत्वमेव चेन्द्रियजन्यतावच्छेदकं लाघवान्न तु जन्यप्रत्यक्षत्वं गौरवादिति का प्रत्याशा नित्यप्रत्यक्षाश्रयस्येश्वरस्य। यत्तु दीधितिकृतोक्तं घटत्वाद्यवच्छिन्ने कृतित्वेन हेतुत्वेऽपि खण्डघटाद्युत्पत्तिकाले कुलालादिकृतेरसत्त्वादीश्वरकृतिसिद्धिरिति, तदसत्, घटत्वाद्यवच्छिन्ने विजातीयकृतित्वेनैव हेतुत्वात् कृतित्वेन व्यापकधर्मेणान्यथासिद्धेरतत्त्वात्। केचित्तु कुलालादिकृतेः स्वप्रयोज्यविजातीयसंयोगसम्बन्धेन खण्डघटोत्पत्तिकालेऽपि सत्त्वान्नेश्वरकृतिसिद्धिः, न च वैशेषिकनये श्यामघटादिनाशोत्तरं रक्तघटाद्युत्पत्तिकाले प्राक्तनपरमाणुद्वयसंयोगद्व्यणुकादेर्नाशान्नैवं सम्भवतीति वाच्यम्। पूर्वसंयोगादिध्वंसपूर्वद्व्यणुकादिध्वंसानामुत्तरसंयोगद्व्यणुकादावन्ततः कालोपाधितयाऽपि जनकत्वात्तत्कालेऽपि कुलालादिकृतेः स्वप्रयोज्यविजातीयसंयोगेन सत्त्वात्, अन्यथा घटत्वाद्यवच्छिन्ने दण्डादिहेतुताया अपि भङ्गापत्तेः, न च दण्डादेः स्वप्रयोज्यविजातीयसंयोगेन हेतुत्वेऽपि कृतेर्लाघवाद्विशेष्यतयैव तत्त्वमुचितं, न च कुलालकृतिस्तदा तयाऽस्तीति वाच्यम्। विजातीयसंयोगत्वेनापि सम्बन्धत्वे गौरवाभावात्, निश्चिताव्यभिचारकत्वाच्च स्वप्रयोज्यत्वस्य तु सम्बद्धसम्बन्धत्वादित्यादि। यत्तु भट्टाचार्यैरुक्तं तत्तत्कार्याणां देशकालादिनियम ईश्वरेच्छात एवेति तत्सिद्धिः, वदन्ति हि पामरा अपीश्वरेच्छैव नियामिकेति. तदपि हृदयदरीदृढरूढगूढश्रद्धालतोल्लासमात्रं, पामरसंवादस्य नियतिनियामकत्वेऽपि भूम्ना दर्शनात्, सा च तत्त्वान्तर वा केवलज्ञानं वेत्यन्यदेतत्, तथाभवितव्यतैव सर्वत्र नियामिकेति तु प्रामाणिकः प्रवादः, तस्याः सकलकारणाक्षेपकत्वेन सर्वसंवादात्। यदपि तेषां पद्यं ॥

समालोच्य क्षुद्रेष्वपि भवननाथस्य भुवने, नियोगाद्भूतानां मितस्रमिनिदेशस्थितिलयम् ॥
अये ! केयं भ्रान्तिः सततमपि मीमांसनजुषां, व्यवस्थातः कार्यं जगति जगदीशापरिचयः ॥१॥ इति ॥
तदुपरि मदीयानि पद्यानि ॥

अनित्ये नित्ये वा नियतिनियमाद्वस्तुनि जनि-व्यवस्थां धर्माणां स्थितिमपि समालोच्य विशदाम् ॥
अये ! केयं भ्रान्तिः सततमपि तर्कव्यसनिनां, वृथा यद्व्यापारो जगति जगदीशस्य गदितः ॥ १ ॥

प्रवाहेणानादिः स च परिविशुद्धोऽपि गदितो, मलात्यन्ताभावान्ननु भवति शुद्धिर्गगनवत् ॥
तमेकं मन्यन्तां सदृशगतिभेदाग्रहवशा-न्निराशानां सर्वं सफलमफलं कुग्रहजुषाम् ॥ २ ॥

यदेवैतद्रूपं प्रथममथ सालम्बनपदे, तदेव ध्यानस्थं घटयति निरालम्बनसुखम् ॥
रमागौरीगङ्गावलयशरकुन्ताऽसिकलितं, कथं लीलारूपं स्फुटयतु निराकारपदवीम् ॥ ३ ॥

अतर्क्या लीलैशीत्यपि कपिकुलाधीतचपल-स्वभावोद्भ्रान्तत्वं विदधति परीक्षां हि सुधियः ।
न यद्ध्यानस्याङ्गं तदिह भगवद्रूपमपि किं, जगल्लीलाहेतुर्बहुविधमदृष्टं विजयते ॥ ४ ॥

ततो यो योगाङ्गैर्बहुभिरिह गाङ्गैरिव जलै-र्विशुद्धैः शुद्धात्माऽलभत विरजाः सिद्धपदवीम् ॥
निषेव्यो ध्येयोऽसौ निरुपधिविशुद्धिर्भगवतो, ह्युपास्यत्वे तन्त्रं न तु विमतकर्त्रैकविभुता ॥ ५ ॥ ”

कामादीति जीव(जीवात्म)त्वावच्छेदेनायं निषेधः, तेन नांशतो बाधः, सम्भवद्विशुद्धयो विशुद्धिप्रागभाववन्तः,

संसारिशून्यत्वप्रसङ्गादिति प्रागभावस्य प्रतियोगिजनकत्वनियमादित्यर्थः ॥ ९९ ॥

शुद्ध्यशुद्धी पुनः शक्ती, ते पाक्यापाक्यशक्तिवत्॥ साद्यनादी तयोर्व्यक्ती, स्वभावोऽतर्कगोचरः ॥१००॥

शुद्धिस्तावज्जीवाना भव्यत्वं केषाचित्सम्यग्दर्शनादियोगान्निश्चीयते । अशुद्धिरभव्यत्वं तद्वैपरीत्यात् सर्वदा प्रवर्तनादवगम्यते छद्मस्थैः, प्रत्यक्षतश्चातीन्द्रियार्थदर्शिभिः । इति भव्येतरस्वभावौ शुद्ध्यशुद्धी जीवानां तेषा सामर्थ्यासामर्थ्ये शक्त्यशक्ती इति यावत्। ते माषादिपाक्यापरशक्तिवत् सभाव्येते सुनिश्चितासभवद्बाधकप्रमाणत्वात्। तत्र शुद्धेर्व्यक्तिः सादिस्तदभिव्यञ्जकसम्यग्दर्शनादीनां सादित्वात् । एतेनानादिः सदाशिवस्य शुद्धिरिति प्रत्युक्तं प्रमाणाभावाद् दृष्टातिक्रमादिष्टविरोधाच्च । अशुद्धेः पुनरभव्यत्वलक्षणाया व्यक्तिरनादिस्तदभिव्यञ्जकमिथ्यादर्शनादिसततेरनादित्वात् । पर्यायापेक्षयापि शक्तेरनादित्वमिति चेत्, न, द्रव्यापेक्षयैवानादित्वसिद्धेः। इति शक्तेः प्रादुर्भावापेक्षया सादित्वम् । ततः शक्तिर्व्यक्तिश्च स्यात्सादि, स्यादनादिरित्यनेकान्तसिद्धि"। यदि वा जीवानामभिसन्धिनानात्वं शुद्ध्यशुद्धी । स्वनिमित्तवशात् सम्यग्दर्शनादिपरिणामात्मकोऽभिसधि शुद्धिः, मिथ्यादर्शनादिपरिणामात्मकोऽशुद्धिर्दोषावरणहानीतरलक्षणत्वात्तेषा शुद्ध्यशुद्धिशक्त्योरिति भेदमाचार्यः प्राह, ततोन्यत्रापि भव्याभव्याभ्यां भव्येष्वेव, साद्यनादी प्रकृतशक्त्योर्व्यक्ती सम्यग्दर्शनाद्युत्पत्तेः पूर्वमशुद्ध्यभिव्यक्तेर्मिथ्यादर्शनादिसततिरूपायाः कथचिदनादित्वात्, सम्यग्दर्शनाद्युत्पत्तिरूपायाः पुन शक्त्यभिव्यक्तेः सादित्वात् । कुतः शक्तिप्रतिनियम इति चेत्, तथास्वभावादिति ब्रूमः । न हि भावस्वभावाः पर्यनुयोक्तव्याः, तेषामतर्कगोचरत्वात् । ननु प्रत्यक्षेण प्रतीतेर्थे स्वभावैरुत्तरं वाच्यं, सति पर्यनुयोगे न पुनरप्रत्यक्षे, अतिप्रसङ्गादिति चेत्, न, अनुमानादिभिरपि प्रतीते वस्तुनि भावस्वभावैरुत्तरस्याविरोधात् प्रत्यक्षवदनुमानादेरपि प्रमाणत्वनिश्चयात् । ततः परमागमात्सिद्धप्रामाण्यात् । प्रकृतजी-

वस्वभावाः प्रतीतिमनुमरन्तो न तर्कगोचरा यतः पर्यनुयुज्यन्ते, तर्कगोचराणामप्यागमगोचरत्वेन पर्यनुयोगप्रसङ्गात्। तद्वत्प्रत्यक्षावि-पयाणामपि। इति न प्रत्यक्षागमयोः स्वातन्त्र्यमुपपद्येत तर्कवत्। तदनुपपत्तौ च नानुमानस्योदयः स्यात्, धर्मिप्रत्यक्षादेः प्रतिज्ञाय-मानागमार्थस्य च प्रमाणान्तरापेक्षत्वादित्यनवस्थानात्। ततः सूक्तं कर्मबन्धानुरूपत्वेपि कामादिप्रभवस्य भावसंसारस्य द्रव्यादिसमार-हेतोः प्रतिमुक्तीतरसिद्धिर्जीवानां शुद्ध्यशुद्धिवैचित्र्यादिति ॥१००॥ ननु चोपेयतत्त्वस्य सर्वज्ञत्वादेरुपायतत्त्वस्य ज्ञापककारकविकल्पस्य हेतुवादेहैवादेः प्रमाणनयैरेव कार्त्स्न्यैकदेशतोधिगमः कर्तव्यो नान्यथा तदधिगमोपायान्तराणामत्रैवान्तर्भावात्, "प्रमाणनयैरधिगम" इति वचनात्। तत्र प्रमाणमेव तावद्वक्तव्यं, तत्स्वरूपादिविप्रतिपत्तिसद्भावात् तन्निराकरणमन्तरेण तदध्यवसायानुपपत्तेः इति भगवता पृष्टा इवाचार्याः प्राहुः—

तयोर्व्यक्ती इति, गुणनिमित्तसाहजिकक्षयोपशमाधीनकार्यप्रादुर्भावपर्यायावित्यर्थः। ननु निक्षेपरूपमुपेयोपायतत्त्व-ग्राहकमुपायान्तरमस्तीति प्रमाणनयैरेवेत्यवधारणं कुत इत्याशङ्कायामाह—**अन्यथेति** अन्यप्रकारेण यानि तदधिगमोपाया-न्तराणि निक्षेपनिर्देशस्वामित्वादीनि तेषामत्रैव प्रमाणनययोरेवान्तर्भावादभिमतानभिमतोपादानत्यागफलोपदेशरूपत्वेन तेषां तद्रूपत्वादिति भावः ॥ १०० ॥

तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते, युगपत्सर्वभासनम् ॥ क्रमभावि च यज्ज्ञानं, स्याद्वादनयसंस्कृतम् ॥ १०१ ॥

प्रमाणलक्षणसंख्याविषयविप्रतिपत्तिरनेन व्यवच्छिद्यते। तत्त्वज्ञानं प्रमाणमिति वचनादज्ञानस्य निराकारदर्शनस्य सन्निकर्षादेश्चाप्रमा-णत्वमुक्तं, तस्य स्वार्थाकारप्रमितिं प्रति साधकतमत्वानुपपत्तेः, ज्ञानस्यैव स्वार्थाकारव्यवसायात्मनस्तत्र साधकतमत्वात्। न हि स्वार्थो-

कारव्यवसायशून्यं निर्विशेषवस्तुमात्रग्रहणं दर्शनमिन्द्रियादिसन्निकर्षमात्रं श्रोत्रादिवृत्तिमात्रं वा यथोक्तपरिच्छिर्त्ति प्रति साधकतमं, तद्भावाभावयोस्तस्यास्तद्वत्तापायात् । यद्भावे हि प्रमितेर्भाववत्ता यदभावे चाभाववत्ता तत्तत्र साधकतमं युक्तं, भावाभावयोर्द्वयोस्तद्वत्ता साधकतमत्वमिति वचनात् । न चैतद्दर्शनादिषु सभवति, तद्भावेपि स्वार्थप्रमितेः क्वचिदभावात्, सशयादेरन्यथानुपपद्यमानत्वात्, तदभावेपि च विशेषणज्ञानाद्विशेष्यप्रमितेः सद्भावोपगमात् । ननु ज्ञानस्याप्येवं साधकतमत्वं मा भूत् सशयादिज्ञाने सत्यपि यथार्थप्रमितेरभावात् तदभावेऽपि च भावादिति चेत्, न, तत्त्वग्रहणात् । तत्त्वज्ञानं प्रमाणमिति हि निगद्यमाने मिथ्याज्ञानं सशयादि मत्याद्याभास व्यवच्छिद्यते । ततोऽस्य साधकतमत्वं यथोक्तमुपपद्यते एव । नन्वेवमपि तत्त्वज्ञानान्तरस्य प्रमेयस्य प्रमातुश्चात्मनः स्वार्थप्रमितिं प्रति साधकतमत्वात् प्रमाणत्व कुतो न भवेदिति चेत्, न, तस्य कर्मत्वेन कर्तृत्वेन च साधकतमत्वासिद्धेस्तत्सिद्धौ करणत्वप्रसङ्गात् । करणस्य तत्त्वज्ञानात्मनः प्रमाणत्वे को विरोधः ? तदेवं सकलप्रमाणव्यक्तिव्यापि साकल्येनाप्रमाणव्यक्तिभ्यो व्यावृत्तं प्रतीतिसिद्धं तत्त्वज्ञानं प्रमाणलक्षणं, तस्य सुनिश्चितासभवद्बाधकत्वात्, सम्भवद्बाधकस्य सशयितासभवद्बाधकस्य कदाचित्क्वचित्कस्यचिन्निश्चितासभवद्बाधकस्य च प्रमाणत्वायोगात्, प्रवृत्तिसामर्थ्यस्यार्थवत्क्रियाप्राप्तेरदुष्टकारणजन्यत्वस्य लोकसमतत्वस्य च प्रमाणलक्षणस्य तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके प्रपञ्चतोऽपास्तत्वात् । ननु च तत्त्वज्ञानस्य सर्वथा प्रमाणत्वसिद्धेरनेकान्तविरोध इति न मन्तव्यं, बुद्धेरनेकान्तात्, येनाकारेण तत्त्वपरिच्छेदस्तदपेक्षया प्रामाण्यमिति निरूपणात् । तेन प्रत्यक्षतदाभासयोरपि प्रायशः संकीर्णप्रामाण्येतरस्थितिरुन्नेतव्या, प्रसिद्धानुपहतेन्द्रियदृष्टेरपि चन्द्रार्कादिषु देशप्रत्यासत्त्याद्यभूताकारावभासनात्, तथोपहताक्षादेरपि संख्यादिविसवादेपि चन्द्रार्कादिषु देशप्रत्यासत्त्याद्यभूताकारावभासनात्, तथोपहताक्षादेरपि सख्यादिविसवादेपि चन्द्रादिस्वभावतत्त्वोपलम्भात् । कथमेवं क्वचित्प्रमाणव्यपदेश एव क्वचिदप्रमाण-

व्यपदेश एवेति नियता लोकव्यवस्थितिरिति ? उच्यते, तत्प्रकर्षापेक्षया व्यपदेशव्यवस्था गन्धद्रव्यादिवत् । यथा च प्रत्यक्षस्य संवाद-प्रकर्षात्प्रमाणव्यपदेशव्यवस्था प्रत्यक्षाभासस्य च विसंवादप्रकर्षादप्रमाणत्वव्यपदेशव्यवस्थिति गन्धादिगुणप्रकर्षात्कस्तूरिकादेर्गन्धद्रव्या-दिव्यपदेशव्यवस्था तद्व्यवहारिभिरभिधीयते, तथानुमानादेरपि कथंचिन्मिथ्याप्रतिभासेपि तत्त्वप्रतिपत्त्यैव प्रामाण्यमन्यथा चाप्रामाण्य-मित्यनेकान्तसिद्धिः एकान्तकल्पनाया तु नान्तर्बहिस्तत्त्वसंवेदनं व्यवतिष्ठेत ताथागतमते स्वयमद्वयादेर्द्वयादिप्रतिभासनाद्रूपादिस्वलक्ष-णाना च तथैवादर्शनाद्यथा व्यावर्ण्यन्ते । स्वसंवेदनस्य संविन्मात्रे प्रमाणत्वेपि तदद्वयक्षणिकपरमाणुरूपे विपर्ययप्रतिभासादप्रमाणत्व-कल्पनायां कथमेकान्तहानिर्न स्यात् यत्प्रमाणं तत् प्रमाणमेवेति ? रूपादिदर्शनस्य च रूपादिमात्रे प्रमाणत्वेपि स्थूलस्थिरसाधारणाकार-प्रतिभासस्य भ्रान्तत्वादप्रमाणतायां कथमेकान्तसिद्धिः ? "तस्माद्दृष्टस्य भावस्य, दृष्ट एवाखिलो गुण" इति तदविशेषोपलम्भाभ्युपगमेपि "भ्रान्तेर्निश्चीयते नेति, साधनं संप्रवर्तते" इति वचनात् तद्व्यवसायवैकल्य मिद्धमेव। तत्र च तद्व्यवसायवैकल्ये वा दानहिंसादिचित्ते कचिद्धर्माधर्मसंवेदनवत् परोक्षत्वोपपत्तेस्तत्त्रिरूपलिङ्गबलभाविनामपि विकल्पानामतत्त्वविषयत्वात् कुतस्तत्त्वप्रतिपत्तिः ? " मणिप्रदी-पप्रभयो–र्मणिबुद्ध्याभिधावतः ॥ मिथ्याज्ञानाविशेषेपि, विशेषोर्थक्रियां प्रति ॥१॥ यथा, तथाऽयथार्थत्वे–प्यनुमानावभासयोः ॥ अर्थ-क्रियानुरोधेन, प्रमाणत्वं व्यवस्थितम् ॥ २ ॥ " इति, मणिप्रदीपप्रभादृष्टान्तोपि स्वपक्षघाती, मणिप्रदीपप्रभादर्शनस्यापि संवादकत्वेन प्रामाण्यप्राप्त्या प्रमाणान्तर्भावविघटनात् कथं प्रमाणे एवेत्यवधारणं घटते ? न हि तत्प्रत्यक्षं स्वविषये विसंवादनात् शुक्तिकादर्शनवद्र-जतभ्रान्तौ । तत्राप्रतिपन्नव्यभिचारस्य यदेव मया दृष्टं तदेव मया प्राप्तमित्येकत्वाध्यवसायाद्विसंवादनाभावान्मणिप्रभायां मणिदर्शनस्य प्रत्यक्षत्वे तिमिराशुभ्रमणनौयानसंक्षोभाद्याहितविभ्रमस्यापि धावदवादितरुदर्शनस्य प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गादभ्रान्तमिति विशेषणमध्यक्षस्य न

स्यात् । धावतां दर्शनादवस्थितानामगाना प्राप्तेर्विसंवादात् भ्रान्तत्वसिद्धेस्तस्याप्रत्यक्षत्वे कुञ्जिकाविवरे मणिप्रभाया मणेर्दर्शनादपवरकाभ्यन्तरेऽपरिप्राप्तेः कथमिव तस्याभ्रान्तता युज्येत ? इति न प्रत्यक्ष तत्स्यात् । नापि लैङ्गिकं लिङ्गलिङ्गिसबन्धाप्रतिपत्तेरन्यथा दृष्टान्तेतरयोरेकत्वात् कि केन कृतं स्यात् ? तदेतेन प्रतिपन्नव्यभिचारस्य, "य इत्थ प्रतिभासः स्यात्, स न सस्थानवर्जितः ॥ एवमन्यत्र दृष्टत्वादनुमानं तथा सति ॥१॥" इति प्रज्ञाकरमतमप्यपास्तं, स्वयमसिद्धेन दृष्टान्तेन साध्यसिद्धेरकरणात् कदाचित् सवादात् प्रत्यक्षत्वेनैव मणिप्रभाया मणिदर्शनस्य दृष्टान्तत्वमयुक्त, कादाचित्कार्थप्राप्तेरारेकादेरपि सभवात् प्रत्यक्षत्वप्रसक्तेः । सर्वदा सवादात्तस्य प्रत्यक्षत्वमुदाहरणत्व चेत्यप्यसार, तदसिद्धेः । न हि मिथ्याज्ञानस्य सवादनैकान्तः सभवति, विरोधात् । नन्वनुमानस्य सभवत्येवावस्तुविपयत्वेन मिथ्याज्ञानस्यापि सर्वदा सवादनं लिङ्गज्ञानवत् पारम्पर्येण वस्तुनि प्रतिबन्धात् । तदुक्त—"लिङ्गलिङ्गिधियोरेवं, पारम्पर्येण वस्तुनि ॥ प्रतिबन्धात्तदाभास, शून्ययोरप्यवञ्चनम् ॥१॥" इति कश्चित् सोऽप्यनालोचिताभिधायी, सर्वदा सवादिनः प्रत्यक्षवन्मिथ्याज्ञानत्वविरोधात । तथा न लैङ्गिकं सर्वथैवाविसवादकत्वात् । न हि तदालम्बन भ्रान्तं, प्राप्येपि वस्तुनि भ्रान्तत्वप्रसङ्गात् । प्राप्ये तस्याविसवादकत्वे स्वालम्बनेप्यविसवादकत्वम् । इति कथ न सर्वथैवाविसवादकत्वमनुमानस्य ? सामान्यविशेषात्मकवस्तुविपयत्वप्रसिद्धेः प्रत्यक्षवत्, अन्यथा प्रमाणत्वायोगात् । तस्मात् सूक्तं, तत्त्वज्ञानमेव प्रमाणं कारणसामग्रीभेदात् प्रतिभासभेदेपीति । न ह्यनुमानस्य वस्तुविपयत्वाद्विशदप्रतिभासनमापादयितुं शक्यं, विदूरस्थपादपादिदर्शनेनाविशदप्रतिभासेन व्यभिचारात् । पृथग्जनप्रत्यक्षस्यापि योगिप्रत्यक्षवदसभवात् सकलसमारोपत्वप्रसङ्गात् स्वलक्षणविपयत्वाविशेपात् । तदविशेपेपि योगीतरप्रत्यक्षयोः कारणसामग्रीविशेपाद्विशेषपरिकल्पनाया, तत एव प्रत्यक्षानुमानयोरपि प्रतिभासविशेपोस्तु, सर्वथा वाधकाभावात् । प्रमाणमेव वा तत्त्वज्ञानं नामेत्यवधारणमनुमन्तव्यं, फलज्ञानस्यापि स्वाव्यव-

हितफलापेक्षया प्रमाणत्वोपयोगात् । ततः स्वलक्षणदर्शनानन्तरभाविनस्तत्त्वव्यवसायस्य प्रमाणत्वोपपत्तेः प्रत्यक्षमनुमानमिति प्रमाण एवेत्याद्यवधारणं प्रत्याचष्टे सौगताना, तस्य प्रत्यक्षानुमानाभ्यां प्रमाणान्तरत्वात् । न हीन्द्रियव्यवसायोऽप्रमाणमविसंवादकत्वात् । अनधिगतार्थाधिगमाभावात्तदप्रमाणत्वे लैङ्गिकस्यापि मा भून् प्रमाणत्व, विशेषाभावात् । अनधिगतत्वस्वलक्षणाध्यवसायादनुमितेरतिशयकल्पनाया प्रकृतस्यापि न वै प्रमाणत्व प्रतिषेध्यमनिर्णीतनिर्णयात्मकत्वात् क्षणभङ्गानुमानवत् । क्षणिकत्वानुमानस्य ह्यनिश्चिताध्यवसाय एवानधिगतस्वलक्षणाध्यवसायः । स च ध्वनिदर्शनानन्तरभाविनो व्यवसायस्यापीति युक्त प्रमाणत्वम् । ध्वनेरखण्डशः श्रवणादधिगमोपि प्राथमकल्पिकस्तत्त्वनिर्णीतिरेव, तद्वशात् तत्त्वव्यवस्थानान्निर्णीतिरेव मुख्यप्रमाणत्वोपपत्तेः, तदत्यये दृष्टेरपि विसंवादकत्वेन प्रामाण्यानुपपत्तेरदर्शनानतिशायनात्तद्दर्शनाभावेपि तत्त्वनिश्चये तदन्यसमारोपव्यवच्छेदलक्षणे प्रमाणलक्षणाङ्गीकरणात् । ननु निश्चितार्थमात्रस्मृतेरप्येव प्रमाणत्वापत्तेरतिप्रसङ्ग इति चेत्, न, प्रमितिविशेषाभावेतरपक्षानतिक्रमात् । प्रथमपक्षे क्वचित्कुतश्चिद्धूमकेतुलैङ्गिकवन्निर्णीतार्थमात्रस्मृतेरधिगतार्थाधिगमात प्रामाण्य मा भूत्, प्रमितिविशेषाभावात् । द्वितीयपक्षे पुनरिष्ट प्रामाण्यमनुस्मृतेः, प्रमितिविशेषसद्भावात् । प्रकृतनिर्णयस्य प्रामाण्ये हि न किंचिदतिप्रसज्यते, दृष्टस्याप्यनिश्चितस्य निश्चयात्, प्रत्यक्षतो निश्चिते धूमकेतौ ज्वालादिविशेषाद्धूमकेतुलैङ्गिकस्मृतौ तु विशेषपरिच्छित्तेरभावादप्रामाण्यनिदर्शनात् । परिच्छित्तिविशेषसद्भावेपि साकल्येन स्मृतेरप्रामाण्यकल्पनायामनुमानोत्थानायोगः, सबन्धस्मृतेरप्रमाणत्वात, तस्या अपि लैङ्गिकत्वेन प्रामाण्ये परापरसबन्धस्मृतीनामनुमानत्वकल्पनादनवस्थानात् सबन्धस्मृतिमन्तरेणानुमानानुदयात् । सुदूरमपि गत्वा सबन्धस्मृतेरननुमानत्वे प्रमाणत्वे च सिद्ध, स्मृतेरुपयोगविशेषात् प्रमाणत्वमविसंवादादनुमानवत् । तच्च यथा प्रत्यक्षमनुमानमिति प्रमाणे एवेत्यवधारणं प्रत्याचष्टे,

तथा त्रीण्येव प्रमाणानि चत्वार्येव पञ्चैव षडेवेत्यवधारणमपि, स्मृतेरागमोपमानार्थापत्त्यभावेष्वनन्तर्भावात्, तदन्तर्भावेनुमानान्तर्भाववदनवस्थानानुषङ्गादागमाद्युदयविरोधात्, शब्दादिस्मृतिमन्तरेण तदनुपपत्तेः। यदि पुनरागमाद्युत्थापकसामग्रीत्वाच्छब्दादिस्मृतेरागमादिप्रमाणत्वमप्युररीक्रियते तदा शब्दादिप्रत्यक्षस्यापि तत्सामग्रीत्वादागमादित्वप्रसङ्गः। तथा च स्मृतिवन्न प्रत्यक्ष प्रमाणान्तरं स्यात्। प्रमाणान्तरत्वे वा स्मृतेरपि प्रमाणान्तरत्व, दर्शनानन्तराध्यवसायवन्निर्णीतेपि कथचिदतिशायनादनुमानवत्। एवं प्रत्यभिज्ञानं प्रमाणं, व्यवसायातिशयोपपत्तेः प्रत्यक्षादिवत्, तत्सामर्थ्याधीनत्वात्प्रमाणत्वस्थितेः, अविसंवादस्यापि स्वार्थव्यवसायात्मकत्वात्। अन्यथा हि विसवादः स्यात्सशयादिवत्। न चेदं प्रत्यभिज्ञानमव्यवसायात्मकं तदेवेदं तत्सदृशमेवेदमित्येकत्वसादृश्यविषयस्य द्विविधप्रत्यभिज्ञानस्याबाधितस्यारेकादिव्यवच्छेदेनावगमात्, बाध्यमानस्याप्रमाणत्वोपपत्तेस्तदाभासत्वात्। न च सर्वं प्रत्यभिज्ञानं बाध्यमानमेव, प्रत्यक्षस्य तद्विषये प्रवृत्त्यसभवादबाधकत्वादनुमानस्यापि तद्विषयविपरीतसर्वथाक्षणिकविसदृशवस्तुव्यवस्थापकस्य निरस्तत्वात्तद्बाधकत्वायोगात्। ततः प्रत्यभिज्ञान तत्त्वज्ञानत्वात्प्रमाण प्रत्यक्षवत्। एवं लिङ्गलिङ्गिसबन्धज्ञानं प्रमाणमनिश्चितनिश्चयादनुमानवद्। सत्त्वक्षणिकत्वयोर्धूमतत्कारणयोर्वा साकल्येन व्याप्तिप्रतिपत्तौ न प्रत्यक्षमुत्सहते, सन्निहितार्थाकारानुकारित्वात् इन्द्रियजमानसस्वसवेदनप्रत्यक्षस्य वा योगिप्रत्यक्षस्य अपरीक्षाक्षमत्वाच्च। नानुमानमनवस्थानुषङ्गात् सुदूरमपि गत्वा तदुभयव्यतिरिक्तं व्यवस्थानिमित्तमभ्युपगन्तव्यम्। तदस्माकमूहाख्य प्रमाणमविसवादकत्वात् समारोपव्यवच्छेदकत्वादनुमानवत्। न चोहः सबन्धज्ञानजन्मा, यतोऽनवस्थान स्यादपरापरोहानुसरणात्, तस्य प्रत्यक्षानुपलम्भजन्मत्वात् प्रत्यक्षवत्, स्वयोग्यतयैव स्वविषये प्रवृत्तेः। सबन्धज्ञानमप्रमाणमेव, प्रत्यक्षानुपलम्भपृष्ठभाविविकल्पत्वाद् गृहीतग्रहणात्, सबन्धप्रतिपत्तौ प्रत्यक्षानुपलम्भयोरेव भूयः प्रवर्तमानयोः प्रमाणत्वा-

दित्येके, तेप्यसमीक्षितवाचः, कथंचिदपूर्वार्थविपयत्वादूहाख्यविकल्पस्य प्रमाणत्वोपपत्तेः प्रत्यक्षानुपलम्भयोः सन्निहितविपयबलोत्पत्तेरविचारकत्वाच्च व्याप्तौ प्रवृत्त्यसंभवात्। यदि पुनरप्रमाणमेव व्याप्तिज्ञानं सबन्धं वा व्यवस्थापयेत्तदा प्रत्यक्षमनुमान चाप्रमाणमेव स्वविपय व्यवस्थापयेत् कि तत्प्रमाणत्वसाधनायासेन ?॥ लिङ्गलिङ्गिसबन्धप्रतिपत्तिरर्थापत्तेरित्यन्ये। तेपामपि सबन्धज्ञानपूर्वकत्वेऽर्थापत्तेरर्थापत्त्यन्तरानुसरणादनवस्था। तदपूर्वकत्वे स्वयमनिश्चितानन्यथाभवनस्यार्थापत्त्युदयत्वप्रसङ्ग, परस्पराश्रयण च, सत्यनुमानज्ञाने तदन्यथानुपपत्त्या सबन्धज्ञानं, सति च संबन्धज्ञानेऽनुमानज्ञानमिति नैकस्याप्युदयः स्यात्। न चान्यत्संबन्धार्थापत्त्युत्थापकमस्त्यनुमानज्ञानाद् येन परस्पराश्रयणं न स्यात्। एतेनोपमानादेः संबन्धप्रतिपत्तिः प्रत्युक्ता। तस्मादुपमानादिक प्रमाणान्तरमिन्छता तत्त्वनिर्णयप्रत्यवमर्शप्रतिबन्धाधिगमप्रमाणत्वप्रतिपेधः प्रायशो वक्तुर्जडिमानमाविष्करोति। इति प्रत्यक्षं परोक्षमित्येतद्द्वितय प्रमाणमभ्युपगन्तव्यम्, अर्थापत्त्यादेरनुमानव्यतिरेकेपि, परोक्षेन्तर्भावात्। तदुक्तं, "प्रत्यक्षं विशदं ज्ञान, त्रिधाश्रितमविप्लवम्॥ परोक्ष प्रत्यभिज्ञादि, प्रमाणे इति सग्रहः॥१॥" ततः सूक्तमिदमवधारणं प्रमाणमेव तत्त्वज्ञानमिति, प्रत्यक्षपरोक्षतत्त्वज्ञानव्यक्तीना साकल्येन प्रमाणत्वोपपत्तेः। तत्र सकलज्ञानावरणपरिक्षयविजृम्भितं केवलज्ञानं युगपत्सर्वार्थविपयम्। करणक्रमव्यवधानातिवर्तित्वात् युगपत्सर्वभासनम्। तत्त्वज्ञानत्वात्प्रमाणम्। तथोक्तं, 'सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य' इति सूत्रकारैः। केवलज्ञानदर्शनयोः क्रमवृत्तित्वात् चक्षुरादिज्ञानदर्शनवद्युगपत्सर्वभासनमयुक्तमिति चेत्, न, तयोर्यौगपद्यात्, तदावरणक्षयस्य युगपद्भावात्, 'मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्' इति, अत्र प्रथम मोहक्षयस्ततो ज्ञानावरणादित्रयक्षयः सकृदिति व्याख्यानात्। तज्ज्ञानदर्शनयोः क्रमवृत्तौ हि सर्वज्ञत्व कादाचित्कं स्याद्, दर्शनकाले ज्ञानाभावात्तत्काले च दर्शनाभावात्। सतत च भगवतः केवलिनः सर्वज्ञत्व सर्व-

दर्शित्वं च ' साद्यपर्यवसिते केवलज्ञानदर्शने ' इति वचनात् । कुतस्तत्सिद्धिरिति चेत्, निर्लोठितमेतत् सर्वज्ञसिद्धिप्रस्तावे, न पुनरिहोच्यते । केवलज्ञानदर्शनयोर्युगपद्भावः कुत· सिद्ध इति चेत्, सामान्यविशेषविषययोर्विगतावरणयोरयुगपत्प्रतिभासायोगात् प्रतिवन्धकान्तराभावात् । सामान्यप्रतिभासो हि दर्शनं, विशेषप्रतिभासो ज्ञानम् । तत्प्रतिवन्धक ज्ञानावरणं दर्शनावरणं च । यदुदयादसदादेः केवलज्ञानदर्शनानाविर्भावः '। तयोश्च युगपदात्मविशुद्धिप्रकर्षविशेषात् परिक्षयसिद्धेः कथमिवायुगपत्प्रतिभासनं सामान्यविशेषयोः स्यात् ? प्रक्षीणाशेपमोहान्तरायस्य प्रतिवन्धान्तर च कथमिव सभाव्येत, येन युगपत्तद्द्वितयं न स्यात् ? अस्तु नाम केवलं तत्त्वज्ञान युगपत्सर्वभासनं, मतिश्रुतावधिमनःपर्ययज्ञानं तु कथमित्युच्यते, शेषं सर्वं क्रमवृत्ति, प्रकारान्तरासभवात् । तेन क्रमभावि च यन्मत्यादितत्त्वज्ञान तदपि प्रमाणमिति व्याख्यात भवति, ' मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानं, तत्प्रमाणे ' इति सूत्रकारवचनात् । ननु च मत्यादिज्ञानचतुष्टयमपि युगपदिष्यते, ' तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्ना चतुर्भ्यः ' इति सूत्रसद्भावादिति न शङ्कनीय, मत्यादिज्ञानानामनुपयुक्तानामेव यौगपद्यवचनात् ' सह द्वौ न स्त, उपयोगादि ' त्यार्षवचनात् । छद्मस्थज्ञानदर्शनोपयोगापेक्षया तद्वचनमिति चेत्, नैवं, विशेपानभिधानात् । सामान्यचोदनाश्च विशेषेष्ववतिष्ठन्ते इति न्यायात् तद्विशेषगतिरिति चेत्, न, अन्यथापि विशेषगतिसभवात्—तन्नैवेति, प्रमाणाभावात् । कचिदात्मनि मत्यादिज्ञानानि सोपयोगानि युगपत्संभवन्ति सकृत्सन्निहितस्वविषयत्वात् दीर्घशष्कुलीभक्षणादौ चक्षुरादिज्ञानपञ्चकवदित्यनुमानादिष्टविशेषगतिरस्तु । न चेदमुदाहरणं साध्यविकलं चक्षुरादिज्ञानानां क्रमवृत्तौ परस्परव्यवधानाद्विच्छेदोपलक्षणप्रसङ्गात् प्रसिद्धक्रमभाविरूपादिज्ञानवदिति न मन्तव्यं, चक्षुरादिज्ञानपञ्चकस्यापि परस्परव्यवधानेपि विच्छेदानुपलक्षणं, क्षणक्षयवत तथागतस्य, स्यात । तेपा यौगपद्ये हि सतानभेदात् परस्परपरामर्शाभावः सन्तानान्तरवत् । यौगपद्येपि सतान-

भेदाभावेऽक्षमनोध्यक्षयोरपि यौगपद्यमस्तु विशेषाभावात् । मानसप्रत्यक्षेपि चक्षुरादिज्ञानानन्तरप्रत्ययोद्भवेन कश्चिद्विशेषः क्रमवृत्तौ चक्षुरादिज्ञानवद् व्यवधानप्रतिभासविकल्पप्रतिपत्तेरसंभवात् । न च चक्षुरादिज्ञानपञ्चकात्सहभाविनः क्रमभुवा तदनन्तरजन्मना मानसप्रत्यक्षाणां व्यवधानेन प्रतिभासभेदप्रतिपत्तिरस्ति । तेषां लघुवृत्तेः क्रमभावित्वेपि न व्यवधानेन प्रतिभासविकल्पानां प्रतिपत्तिरिति चेत्, तत एव चक्षुरादिज्ञानानामपि विच्छेदोपलक्षण मा भूत्, क्रमभावेपि विशेषाभावात्। यौगपद्ये हि स्पर्शादिप्रत्यवमर्शविरोधः पुरुषान्तरवत् । जैनानामपि क्रमभावश्चक्षुरादिवेदनानामुपपन्न एव । तद्वन्मत्यादिज्ञानानामपि सोपयोगानां क्रमभावो निरुपयोगानां तु यौगपद्यमविरुद्धं, विषयस्यानेकान्तात्मकत्वात् । ततः सोपयोगमतिज्ञानादि क्रमभावि स्याद्वादनयलक्षितं प्रतिपत्तव्यं, तस्य नयोपलक्षितत्वात् केवलज्ञानवत् स्याद्वादोपलक्षितत्वाच्च । कुत एतदिति चेत्, विकलसकलविषयत्वात् तयोः, 'तत्त्वज्ञानं वा स्याद्वादनयसंस्कृत प्रतिपत्तव्यं क्रमाक्रमभावित्वे कथम् ? तत्त्वज्ञानं स्यादक्रम, सकलविषयत्वात् । स्यात् क्रमभावि, विकलविषयत्वात् । स्यादुभयं, तदुभयविषयत्वात् । स्यादवक्तव्यं, युगपद्वक्तुमशक्तेः । ' इत्यादि, सप्तभङ्ग्याः प्रमाणनयवशादुपपत्तेः । अथवा प्रतिपर्यायं स्याद्वादनयसंस्कृत प्रतिपत्तव्यं, स्यात्प्रमाण स्वार्थप्रमिति प्रति साधकतमत्वात्, स्यादप्रमाणं प्रमाणान्तरेण प्रमेयत्वात् स्वतो वा । अथवा स्यात्सत्, स्वरूपादिचतुष्टयात्, स्यादसत्, पररूपादिचतुष्टयात् इत्यादि योजनीयम् ॥ १०१ ॥

तस्य तत्त्वज्ञानान्तरस्यात्मनश्च, तदेवमित्यादिसकलेत्यादिविशेषणत्रयेण क्रमेणाव्याप्त्यतिव्याप्त्यसम्भवदोषपरिहारः । भाष्ये बुद्धेरनेकान्तादिति बुद्धेः प्रामाण्यं प्रत्यनेकान्तादित्यर्थः । तदेव स्पष्टयति येनाकारेणेति, प्रसिद्धेत्यादि तथा च प्रमाणेऽपि क्वचिदभूतभासमानपर्यायावच्छेदेनाप्रमाजनकत्वरूपाप्रामाण्यस्याप्रमाणेऽपीदन्ताद्यवच्छेदेन धारावाहिफलम-

पेक्ष्य प्रामाण्यस्योभयत्र च स्वसंवेदनांशे समुच्चयेऽशावलम्बित्वांशे च प्रमात्वाप्रमात्वोभयसाम्राज्यादनेकान्तव्यवस्था सुघटेति सिद्धम् । कथञ्चिन्मिथ्याप्रतिभासेऽपीति वासनाविशेषाद्वह्निमत्त्वादिसंसर्गांशे मिथ्याप्रतिपत्तावपि, संवादोत्कर्षात्तत्र प्रामाण्यव्यवस्थितिरन्यथा नेत्यर्थः । लौकिकव्यवहारमपेक्ष्य चेदमुच्यते लोकोत्तरन्तु प्रामाण्यमनेकान्तवासनोपनीतानन्तधर्मात्मकवस्त्वगाहित्वेन संशयादावपि सम्यग्दृष्टेरिति महाभाष्यप्रसिद्धं विवेचितमध्यात्मसारादावस्माभिः ॥ दृष्ट एवाखिलो गुण इति अर्थानां निरंशत्वसिद्धेरित्यर्थः । सिद्धमेवेति प्रत्यक्षस्य निर्विकल्पकत्वादित्यर्थः ॥ तत्र च रूपादिदर्शने च, परोक्षत्वोपपत्तेरिति विकल्पलिङ्गानुमेयत्वादित्यर्थः । अतत्त्वविषयत्वात्तुच्छसामान्यगोचरत्वात्, मणिप्रदीपप्रभयोरिति मणिप्रभायां प्रदीपप्रभायां चेत्यर्थः । मणिप्रभादर्शनस्य प्रामाण्यप्राप्तावपि प्रत्यक्षेऽनुमाने चान्तर्भावसम्भवान्न प्रमाणद्वयविभागव्याघातो भविष्यतीत्याशङ्कायामाह भाष्ये, न हि तत्प्रत्यक्षमित्यादि, स्वविषय इति दीपप्रभांश इत्यर्थः । यदंशे संवादस्तदंशे प्रामाण्यमबाधमिति मत्वाऽऽह वृत्तिकृत्, तत्रेत्यादि, यत्प्रकारेण विसंवादस्तत्प्रकारेण भ्रमत्वे त्वभ्युपगम्यमाने प्रकृतेऽपि तत्तुल्यमित्याह, धावतामित्यादि, कुञ्चिकाविवरे द्वारप्रवेशविवरे, माभून्मणिप्रभायां मणिज्ञानं प्रत्यक्षम्, आनुमानिकं तद्भविष्यतीत्याशङ्कायामाह नापि लैङ्गिकमित्यादि, किं केन कृतं स्यादिति न केनचित् किञ्चिदित्यर्थः । प्रतिपन्नव्यभिचारस्येति मण्युत्पत्तिप्रदेश इत्यर्थः । य इत्थमिति, अत्र प्रयोगश्चायं, ममायं प्रतिभासो मणिसंस्थानवान् एवंप्रतिभासत्वात् संप्रतिपन्नप्रतिभासवदिति । स्वयमसिद्धेनेति अन्यत्रापि मणिप्रभाप्रतिभासे मणिसंस्थानविषयत्वस्यासिद्धेः पर्वतो वह्निरित्यस्येव मणिप्रभायामयं मणिरित्यस्य लैङ्गिकज्ञानस्यापि भ्रमरूपतायाः सर्वसिद्धत्वाच्च ।

एतेन कुञ्चिकापवरकसाधारणस्थूलदेशपक्षकमप्यनुमानमपास्तम्, अभेदानुमितेरेव विचार्यत्वात् । **प्रत्यक्षत्वप्रसक्तेः** प्रत्यक्षप्रमाणत्वप्रसक्तेः, **सम्भवत्येवेत्यत्र** संवादनैकान्त इति योगः । **लिङ्गज्ञानवत्** धूमदर्शनानन्तरधूमज्ञानवत्, **पारम्पर्येणेति** अग्निस्वलक्षणाद्धूमस्वलक्षणं ततो धूमनिर्विकल्पं ततो धूमविकल्प उत्पद्यत इत्येवमुत्पत्तिपारम्पर्यं बोध्यम् । अर्थप्रापकत्वं च लिङ्गज्ञानस्य स्वविषयप्राप्तिद्वारा तत्प्रतिबद्धसाध्यप्राप्तिपरम्परयेति बोध्यम् । **तदाभासशून्ययोरपि** अवस्तुसामान्यगोचरयोरपि, **तथा मिथ्या,** यावदप्राप्तं तावद्विधेयमित्यनूद्य विधेयभावे कामचारमभिप्रेत्याह **भाष्यकृत्, प्रमाणमेव** वेत्यादि, **फलज्ञानस्यापि** फलीभूतज्ञानस्यापि, **प्रमाणत्वोपगमादिति** धारावाहिकप्रामाण्यव्यवस्थितेरित्यर्थः । **अनिर्णीतनिर्णयात्मकत्वात्** निर्विकल्पकानिश्चितनीपादिनिश्चयात्मकत्वात्, **अधिगमोऽपि** निर्विकल्पकानन्तरसमुद्भूतो व्यवसायोऽपि, **प्राथमिककल्पिको** मुख्यवृत्त्या प्रमाणभूतः, **धूमकेतुलैङ्गिकवदिति** प्रत्यक्षानिश्चितेऽग्नौ तदनुमितिवदित्यर्थः । **ज्वालादिविशेषादिति** ज्वालादिविशेषस्य धूमकेतुसम्बन्धित्वेन ग्रहादेकसम्बन्धिज्ञानेऽपरसम्बन्धिस्मरणस्यौत्सर्गिकत्वादिति भावः । **स्मृतेरुपयोगविशेषात् प्रमाणमिति** सम्बन्धस्मरणादेर्व्याप्तिप्रत्यभिज्ञानादिफलोपयोगे प्रामाण्यमित्यर्थः । फलीभूतस्मृतेरपि याथार्थ्यं तु विषयाबाधादेव दुर्निवारं, तस्याः प्रमात्वस्यानुभवप्रमात्वपारतन्त्र्येऽपि व्याप्तिज्ञानप्रमात्वपरतन्त्रानुमितिप्रमात्ववदविरोधात्, तद्वदेव 'याचितकमण्डन' न्यायेनायथार्थत्वाव्यवस्थितेरित्यादिकमुपपादितमन्यत्र । 'तस्येति' तस्य सर्वोपसंहारेण व्याप्तिज्ञानादिरूपोहस्य, प्रत्यक्षानुपलम्भजन्यत्वाद्विशेषान्वयव्यतिरेकग्रहसामान्यव्यभिचारनिर्णयजन्यत्वात्, **अविचारकत्वाच्चेति** उहोपयोगे तु लाघवादिविचारस्यापि प्रवेशान्न दोष इति भावः ।

अनुमानव्यतिरेकेऽपीति, अपिरस्वरसद्योतकः, तेन तत्त्वतोऽर्थापत्त्यादेरनुमानादावेवान्तर्भाव इत्युक्तं भवति, 'त्रिधेति' इन्द्रियनोइन्द्रियस्वसंवेदनभेदात्, श्रितमविप्लवमिति अभ्रान्तत्वं श्रितमित्यर्थः। 'सततं चेति,' अत्र वदन्ति श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणानुयायिनः क्रमिकज्ञानदर्शनोपयोगद्वयाभ्युपगमेऽपि केवलिनः सर्वज्ञत्वसर्वदर्शित्वयोः सातत्यस्य साद्यपर्यवसितत्वस्य च लब्ध्यपेक्षया न विरोधो, मतिज्ञानश्रुतज्ञानयोरपि षट्षष्टिसागरोपमस्थितिकत्वस्येत्थमेवोपपादनात्, उपयोगस्थितेरुत्कर्षतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तपरिमाणत्वादेव सामग्रीद्वयसमाजेऽप्येकदा केवलज्ञानदर्शनद्वयानुत्पादे मतिश्रुतयोरेव दृष्टान्तत्वात्, "सह द्वौ न स्त उपयोगौ" इत्यार्षवचनादेव च केवलज्ञानोपयोगकाले केवलदर्शनोपयोगात्, तस्य छद्मस्थोपयोगविषयत्वेन सङ्कोचकरणे बीजाभावात्, स्वभावहेतोरुभयत्राविशेषादादौ केवलज्ञानोपयोगोत्पादे च "सर्वा लब्धयः साकारोपयोगोपयुक्तस्यैव भवन्ति" इति वचनस्यैव विनिगमकत्वात्, तदनन्तरं केवलदर्शनोपयोगोत्पादस्य चार्थसिद्धत्वात्, तदनन्तर क्रमिकोपयोगद्वयधारायाश्च स्वरसत एव प्रवृत्तेः, क्षणद्वयोत्पन्नज्ञानदर्शनोपयोगानुवृत्त्यभ्युपगमस्य च विरोधेनैव निरस्तत्वात् उत्पत्तौ विरोधो न तु स्थितावित्यस्य च वक्तुमशक्यत्वात्, वस्तुतः केवलदर्शने केवलज्ञानोपयोगसहकृततदर्शनावरणक्षयस्य केवलज्ञाने च केवलज्ञानान्योपयोगसहकृतकेवलज्ञानावरणक्षयस्य हेतुत्वान्नाशे चर्जुसूत्रनयावलम्बनेन प्रतियोगिन एव तथात्वात् केवलिनः क्षणिकोपयोगद्वयधारायां न काप्यनुपपत्तिः, व्यवहारनयावलम्बनेन नाशहेत्वनभ्युपगमेऽपि क्रमिकाद्योपयोगद्वयमुक्तहेतुसमाजादुर्निवारमेव, अन्यथा समूहालम्बनैकोपयोगापत्तेरिति भावनीयम्, स्फुटं च सूत्रे तत्र तत्र केवलिनः सिद्धस्य चैकदैकतरोपयोग एव प्रतिपादित इति किं विपरीतयुक्तिभिरिति। अत्र च केवलिनो युगपदुपयोगद्वयमिति

श्रीसिद्धसेनाचार्याणां मतं, क्रमेणेति पूज्यश्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणानां, वृत्तिविशेषात् केवलज्ञान एव दर्शनत्वं परिभाष्यते, न तु मतिज्ञानादिवद्दर्शनोपयोगोऽपि ज्ञानात् पृथक्कश्चित् सम्भवति केवलिनः। तदुक्तं, "चक्षुर्यद्विषयाख्याति–स्वधिज्ञानकेवले ॥ शेषवृत्तिविशेषात्तु, ते मते ज्ञानदर्शने ॥१॥" इति, तस्मात् केवलज्ञानाख्य एव एकोपयोगः केवलिन इति निष्कृष्टं सिद्धसेनाचार्याणामेव मतं, मल्लवादिप्रभृतीनां वा, एतच्च त्रयमपि ऋजुसूत्र-व्यवहार-सङ्ग्रहनयभेदादविरोधेन व्यवस्थापितमस्माभिर्ज्ञानबिन्दौ महता प्रबन्धेनेति व्युत्पत्त्यर्थिनाऽत्रार्थे स एव ग्रन्थोऽनुसन्धेयः। ये तु बालिशा नयभेदेन प्रवृत्तेऽप्याचार्यमतभेदे शङ्काव्याकुलितचेतसः शासनमेव निन्दन्ति, तेऽभव्या दूरभव्या वा, अचारित्रिण एव चारित्रप्रतिपत्तिश्चारित्रिण एव वेत्यादिनयभेदेनाप्येवंजातशासनसंशयसन्निपातस्य भगवद्भिषग्वरेणाप्यप्रतीकार्यत्वापत्तेरिति दिग्। तद्विशेषगतिः उपयोगपदस्य छद्मस्थज्ञानदर्शनोपयोगपरता, अन्यथाऽपि छद्मस्थोपयोगमात्रविषयत्वेनापि, क्वचिदित्यादिर्न मन्तव्यमित्यन्तं पूर्वपक्षग्रन्थः, चक्षुरादीत्यादि भाष्यमुत्तरग्रन्थः। सन्तानभेदाद्रूपज्ञानस्य ज्ञानसन्तानादिभेदात्, परस्परपरामर्शाभावः य एवाहमद्राक्षं स एव स्पृशामीत्यादिप्रत्यभिज्ञाभावः, स्यादिति शेषः। अक्षमनोध्यक्षयोः चक्षुरादिज्ञानमानसज्ञानयोः, विषयस्य ग्राह्यस्य, अनेकान्तात्मकत्वादिति क्रमयुगपद्भावेनेति शेषः। स्याद्वादनयलक्षितं प्रतिपत्तव्यमिति तथा च संस्कृतपदमुपलक्षितपरमित्यर्थः। तयोः नयस्याद्वादयोः, वस्तुतः संस्कृतपदमाहितातिशयार्थमेव, तथा च प्रतिनियतैकार्थावधारणात्मकं यन्मतिज्ञानादि तन्नयसंस्कृतं, यच्चानन्तधर्मात्मकत्वेन विषयपरिच्छेदि तत्स्याद्वादसंस्कृतं, आद्यं लौकिकं प्रमाणं, परमलौकिकं, नयस्याद्वादार्थप्रतिसन्धानजनितसंस्कारोपनयादेव तयोर्विषयताविशे-

षरूपातिशयाधानोपपत्तेरिति युक्तमाभाति । तत्त्वज्ञानं वेति तथा च धर्मितावच्छेदकसामानाधिकरण्येनात्र क्रमाक्रमविषयस्याद्वादनयप्रवृत्तिर्युक्तैवेति भावः । स्यादक्रममिति केवलज्ञानापेक्षया, स्यात् क्रमभावीति मत्यादिज्ञानापेक्षया ॥१०१॥

अथ प्रमाणफलविप्रतिपत्तिनिवृत्त्यर्थमाहु —

उपेक्षाफलमाद्यस्य, शेषस्यादानहानधीः ॥ पूर्वा वाऽज्ञाननाशो वा, सर्वस्यास्य स्वगोचरे ॥१०२॥

कारिकापाठापेक्षया युगपत्सर्वभासन केवलमाद्य, तस्य व्यवहितं फलमुपेक्षा । कुत इति चेदुच्यते, सिद्धप्रयोजनत्वात्केवलिनां सर्वत्रोपेक्षा । हेयस्य ससारतत्कारणस्य हानात्, उपादेयस्य मोक्षतत्कारणस्योपात्तत्वात् सिद्धप्रयोजनत्वं नासिद्धं भगवताम् । ननु करुणावतः परदुःखजिहासोः कथमुपेक्षा ?, तदभावे कथं चाप्तिः ?, इति चेत्, न, तेषां मोहविशेषात्मिकायाः करुणायाः सभवाभावात् स्वदुःखनिवर्तनवदकरुणयापि वृत्तेरन्यदुःखनिराचिकीर्षायाम् । नन्वस्मदादिवद्दयालोरेवात्मदुःखनिवर्तन युक्तम् । तथा हि, यो यः स्वात्मनि दुःखं निवर्तयति स स स्वात्मनि करुणावान्, यथास्मदादिः । तथा च योगी स्वात्मनि ससारदुःख निवर्तयतीति युक्तिः । न चात्र हेतुर्विरुद्धोऽनैकान्तिको वा, विपक्षे सर्वथाप्यभावात् बाधकप्रमाणसामर्थ्यात्, स्वसाध्याविनाभावसिद्धेः । तथा हि, यः स्वात्मन्यकरुणावान्न स स्वदुःखं निवर्तयति, यथा द्वेषादेर्विषभक्षक इति, साध्यव्यावृत्तौ साधनव्यावृत्तिनिश्चयात् । भयलोभादिनात्मदुःखनिवर्तकैर्व्यभिचारी हेतुरिति चेत्, न, तेषामपि करुणोत्पत्तेः । न ह्यात्मन्यकरुणावतः परतो भय लोभो मानो वा सभवति, तस्यात्मकरुणाप्रयुक्तत्वात् । इति परम्परया करुणावानेवात्मदुःखमनशनादिनिमित्त निवर्तयति । भयादिहेतुका वा कस्यचिदात्मनि करुणोत्पद्यते । सोत्पन्ना सती स्वदुःखं निवर्तयति । इति साक्षात्करुणयात्मदुःखनिवर्तने प्रवर्तते ततो न व्यभिचारः । एतेनादृष्टवि-

शेषवशादात्मनि दुःखनिवर्तनपरैर्व्यभिचारचोदना निरस्ता, ततः करुणोत्पत्तेरेव तन्निवर्तनात्। तत्राकरुणस्यात्मदु खनिवर्तनं दृष्टम्। अतोऽयमसमाधिरिति चेत्, न, स्वभावतोपि स्वपरदुःखनिवर्तननिबन्धनत्वोपपत्तेः प्रदीपवत्। न वै प्रदीपः कृपालुतयात्मानं परं वा तमसो दुःखहेतोर्निवर्तयतीति। किं तर्हि ? तथास्वभावात्। कल्पयित्वापि कृपालुतां तत्करणस्वभावसामर्थ्यं मृग्यम्। एवं हि परम्परापरिश्रमं परिहरेत्। ततो निःशेषान्तरायक्षयादभयदान स्वरूपमेवात्मनः प्रक्षीणावरणस्य परमा दया। सैव च मोहाभावाद्राग-द्वेषयोरप्रणिधानादुपेक्षा। तीर्थकरत्वनामोदयात्तु हितोपदेशप्रवर्तनात् परदुःखनिराकरणसिद्धिः। इति न बुद्धवत्करुणयास्य प्रवृत्तिर्भगवतो, येनोपेक्षा केवलस्य फलं न स्यात्। अव्यवहितं तु फलमाद्यस्याज्ञाननिवृत्तिरेव, स्वविषये मत्यादिवत्। तथा हि, मत्यादेः साक्षात् फलं स्वार्थव्यामोहविच्छेदस्तदभावे दर्शनस्यापि सन्निकर्षाविशेषात् क्षणपरिणामोपलम्भवदविसंवादकत्वासंभवात्। तदनेन प्रमाणाद्भिन्नमेव फलमिति व्युदस्तम्, तथा परम्परया हानोपादानसंवित्तिः फलमुपेक्षा वा मत्यादेः। एतेनाभिन्नमेव प्रमाणात्फलमिति निरस्तम्। तथा हि, करणस्य क्रियायाश्च कथंचिदेकत्वं प्रदीपतमोविगमवत्, नानात्वं च परश्वादिवत्। ननु च 'यथा देवदत्त काष्ठं परशुना छिनत्तीति करणस्य क्रियायाश्च नानात्वं सिद्धं, छिदेः काष्ठस्थत्वात्परशोर्देवदत्तस्थत्वात्, तथा प्रदीपस्तमो नाशयत्युद्द्योतेनेत्यत्रापि करणस्योद्द्योतस्य क्रियायाश्च तमोविनाशात्मिकाया नानात्वमेव प्रतीयते। तद्वत्करणस्य प्रमाणस्य क्रियायाश्च फलज्ञानरूपाया नानात्वेनैव भवितव्यं, तदनानात्वे दृष्टान्ताभावात्' इति केचित्, तेपि न प्रतीत्यनुसारिणः, प्रदीपः स्वात्मनात्मानं प्रकाशयतीति प्रतीतेः, प्रदीपात्मनः कर्तुरनन्यस्य कथंचित्करणस्य, प्रकाशनक्रियायाश्च प्रदीपात्मिकायाः कथंचिदभेदसिद्धेः। तद्वत्प्रमाणफलयोः कथंचिदव्यवहितत्वसिद्धिरुदाहरणसद्भावात्। सर्वथा तादात्म्ये तु प्रमाणफलयोर्न व्यवस्था, तद्भावविरोधात्। न हि सारूप्यमस्य प्रमाणमधिगतिः

फलमिति सर्वथा तादात्म्ये सिध्यति । दर्शनस्यासारूप्यव्यावृत्तिः सारूप्यमनधिगतिव्यावृत्तिरधिगतिरिति व्यावृत्तिभेदादेकस्यापि प्रमाणफलव्यवस्थेति चेत्, न, स्वभावभेदमन्तरेणान्यव्यावृत्तिभेदानुपपत्तेः । तस्माद्ग्राह्यसविदाकारयोः प्रमाणफलव्यवस्थायामपि व्यामोहविच्छेदाभावे विसंवादानिराकरणे तदङ्गस्यैव विषयदृष्टिः प्रमाणत्वं न प्रतिपत्तुमर्हति । तावतैव प्रमाणत्वे क्षणिकत्वाद्यनुमानमधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वान्न वै प्रमाणमिति निरूपितप्रायम् ॥ १०२ ॥

सर्वत्रोपेक्षा स्वविषयमात्रे जिहासोपादित्सारहितः सिद्धयोगपरिमाण इति यावत् । **मोहविशेषात्मिकाया इति**, मोहासुखसंवेगान्यहितैर्युतत्वेन चतुर्विधाया अपि करुणाया मोहविलासरूपत्वान्निष्पन्नयोगस्य च मैत्र्यादिवर्जितसद्बोधमात्रचित्तश्रुतेरिति भावः । **सैव चेति** उपेक्षा वा परमा दया वाऽभयदानं वा सिद्धयोगो वेत्यनर्थान्तरं, तत्परिपाकश्चाशैलेश्यन्त्यक्षणं केवलज्ञानादित्युपेक्षायास्तत्फलत्वं, व्यवहितत्वं च तस्याः शैलेश्यन्त्यक्षणे परिपाकादिति बोध्यम् । **अव्यवहितं त्विति** ज्ञानाज्ञानध्वंसयोः सहभावेऽप्यभेदे हेतुफलभावः प्रदीपप्रकाशयोरिवेति द्रष्टव्यम् । भिन्नफलापेक्षया तु न किञ्चिदपि केवलादित्यनेन निष्फलत्वमेवोच्यते, प्रमाऽयोगव्यवच्छेदाभिप्रायेण च परेषामीश्वरज्ञान इव न प्रमाणलक्षणायोग इति युक्तं पश्यामः । मत्यादेर्भिन्नाभिन्नं फलमुपदर्शयितुमाह भाष्यकृत्, **मत्यादेरित्यादिना**, **परम्परया हानोपादानसंवित्तिरिति** व्यवधानेन जिहासाजनिकोपादित्साजनिका वा बुद्धिर्मत्यादेः फलमित्यर्थः । तद्द्वारा च हेयोपादान(देय)हानोपादानात्मिका विरतिरपि फलं सङ्गच्छते ॥ तदुवाच वाचकचक्रवर्ती "ज्ञानस्य फलं विरतिरिति" उक्तद्वारद्वारिभावं 'सवणे नाणे य विन्नाणे' इत्यादि पारमर्षसङ्ग्रहगाथयाऽन्वगच्छामः । अत एवोपेक्षामपि बहिष्प्रवृत्तिनिवृत्तिविषयान्तरसञ्चारशून्यनिभृतज्ञानरूपां मत्यादिफलत्वे

नोपेक्षा वेत्यनेन समुच्चिनोति स्म वृत्तिकारः। विषयप्रतिभासात्मपरिणामवत्तत्त्वसंवेदनानां यथोत्तरशुद्धत्वात्तृतीयस्य च विरतिक्रोडीकृतत्वात् स्मृत्यजनकज्ञानरूपोपेक्षायास्तु न कथमपि मत्यादिप्रमाणफलत्वम्, अवग्रहादिधारणापर्यन्तत्वान्मत्युपयोगस्येति विभावनीयं सुधीभिः। अभेद एव प्रमाणफलभाव इति बौद्धैकान्तं निरस्यति–सर्वथा तादात्म्ये त्विति, न हीति, अस्य दर्शनस्य, सारूप्यं स्वलक्षणविषयत्वेन सादृश्यं, प्रमाणं प्रामाण्यभागः, अधिगतिः फलं फलभाग इति योजना, प्रमाणफलव्यवस्थायामपीति ग्राह्यसंविदाकारयोः प्रमाणफलव्यवस्था पूर्वं न हि सारूप्यमित्यादिना निराकृतैव, इदानीं तामङ्गीकृत्यापि दूषणान्तरं समुच्चीयत इत्यपिः सूचयति, तदज्ञस्येव नीलाद्यविषयज्ञानस्येव, विषयदृष्टिः विषयघटितप्रामाण्यदर्शी लौकिकपरीक्षकः॥ १०२॥

ननु च स्याद्वादनयसंस्कृत तत्त्वज्ञानमित्युक्तं तद्वत् फलमपीति स एव तावत् स्याच्छब्दोभिधीयतामित्याहुः—

वाक्येष्वनेकान्तद्योती, गम्यं प्रति विशेषणम्॥ स्यान्निपातोर्थयोगित्वा–त्तव केवलिनामपि ॥१०३॥

किं पुनर्वाक्यं नामेत्युच्यता, तत्र विप्रतिपत्तेः। तदुक्तम्॥ (१) आख्यातशब्दः (२) संघातो, (३) जातिः संघातवर्तिनी॥ (४) एकोनवयवः शब्दः, (५) क्रमो (६—७) बुद्ध्यनुसंहृती॥ १॥ (८) पदमाद्यं (९) पदं चान्त्यं, (१०) पदं सापेक्षमित्यपि॥ वाक्यं प्रति मतिर्भिन्ना, बहुधा न्यायवेदिनाम्॥ २॥ इति। अत्रोच्यते, पदानां परस्परापेक्षाणां निरपेक्षः समुदायो वाक्यं, (१) न पुनराख्यातशब्दः, तस्य पदान्तरनिरपेक्षस्य पदत्वादन्यथाऽऽख्यातपदाभावप्रसङ्गात्। पदान्तरसापेक्षस्यापि कचिन्निरपेक्षत्वाभावे वाक्यत्वविरोधात्, प्रकृतार्थापरिसमाप्तेः, निराकाङ्क्षस्य तु वाक्यलक्षणयोगादुपपन्नं वाक्यत्वम्, (२) संघातो वाक्य-

मित्यत्रापि परस्परापेक्षाणा पदानामनपेक्षाणां वा ? प्रथमपक्षे निराकाङ्क्षत्वेस्मत्पक्षसिद्धि., साकाङ्क्षत्वे वाक्यत्वविरोधः । द्वितीयविकल्पेतिप्रसङ्गः । (३) जातिः सघातवर्तिनी वाक्यमित्यप्यनेन विचारित, निराकाङ्क्षपरस्परापेक्षपदसघातवर्तिन्याः सदृशपरिणामलक्षणाया जातेर्वाक्यत्वघटनादन्यथा तद्विरोधात् । (४) एकोऽनवयवः शब्दो वाक्यमित्याप्ययुक्तं, तस्याप्रमाणकत्वात्, श्रोत्रबुद्धौ तदप्रतिभासनात् तत्प्रतिवद्धलिङ्गाभावात् । अर्थप्रतिपत्तिर्लिङ्गमिति चेत्, न, अन्यथापि तद्भावात्, वाक्यस्फोटस्य क्रियास्फोटवत् तत्त्वार्थालङ्कारे निरस्तत्वात् । (५) क्रमो वाक्यमित्यपि न विचारक्षमं, वर्णमात्रक्रमस्य वाक्यत्वप्रसङ्गात् । पदरूपतामापन्नानां वर्णविशेषाणां क्रमो वाक्यमिति चेत्, स यदि परस्परापेक्षाणां निराकाङ्क्षस्तदा समुदाय एव, क्रमभुवां कालप्रत्यासत्तेरेव समुदायत्वात् सहभुवामेव देशप्रत्यासत्तेः समुदायत्वव्यवस्थितेः । अथ साकाङ्क्षस्तदा न वाक्यमर्धवाक्यवत् परस्परनिरपेक्षाणा तु क्रमस्य वाक्यत्वेतिप्रसङ्ग एव । (६) बुद्धिर्वाक्यमित्यत्रापि भाववाक्यं द्रव्यवाक्य वा ? प्रथमकल्पनायामिष्टमेव । द्वितीयकल्पनाया प्रतीतिविरोधः । (७) अनुसहृतिर्वाक्यमित्यपि नानिष्टं, भाववाक्यस्य यथोक्तपदानुसहृतिरूपस्य चेतसि परिस्फुरतोभीष्टत्वात् । (८–९–१०) आद्यं पदमन्त्यं वान्यद्वा पदान्तरापेक्षं वाक्यमित्यपि नाकलङ्कोक्तवाक्याद्भिद्यते, तथा परस्परापेक्षपदसमुदायस्य निराकाङ्क्षस्य वाक्यत्वसिद्धेः, तदभावे पदसिद्धेरप्यभावप्रसङ्गात् । ननु यदि निराकाङ्क्षः परस्परापेक्षपदसमुदायो वाक्यं न तर्हि तदानीमिद भवति, यथा यत्सत्तत् सर्वं परिणामि, यथा घटः, सश्च शब्द इति साधनवाक्यं तस्मात्परिणामीत्याकाङ्क्षणात्, साकाङ्क्षस्य वाक्यत्वानिष्टेरिति न शङ्कनीयं, कस्यचित्प्रतिपत्तुस्तदनाकाङ्क्षत्वोपपत्तेः । निराकाङ्क्षत्वं हि नाम प्रतिपत्तुर्धर्मोयं वाक्येष्वध्यारोप्यते, न पुनः शब्दस्य धर्मस्तस्याचेतनत्वात् । स चेत् प्रतिपत्ता तावतार्थं प्रत्येति, किमिति शेषमाकाङ्क्षति ? पक्षधर्मोपसंहारपर्यन्तसाधनवाक्यादर्थप्रतिपत्तावपि निगमनवचनापेक्षायां निग-

मनान्तपञ्चावयववाक्यादप्यर्थप्रतिपत्तौ साधनावयवान्तरवचनापेक्षाप्रसङ्गात्। इति न कचिन्निराकाङ्क्षत्वसिद्धिः। तथा च वाक्याभावान्न वाक्यार्थप्रतिपत्तिः कस्यचित्स्यात्। ततो यस्य प्रतिपत्तुर्यावत्सु परस्परापेक्षपदेषु समुदितेषु निराकाङ्क्षत्वं तस्य तावत्सु वाक्यत्वसिद्धिरिति सर्वं सुस्थम्। प्रकरणादिना वाक्यकल्पनेनाप्यर्थप्रतिपत्तौ न वा प्राथमकल्पिकवाक्यलक्षणपरिहारः, प्रकरणादिगम्यपदान्तरसापेक्षश्रूयमाणपदसमुदायस्य निराकाङ्क्षस्य सत्यभामादिपदवद् वाक्यत्वसिद्धेः। तदेवं लक्षणेषु वाक्येषु स्यादिति शब्दोनेकान्तद्योती प्रतिपत्तव्यो, न पुनर्विधिविचारप्रश्नादिद्योती,तथाविवक्षापायात्। कः पुनरनेकान्त इति चेत्, इमे ब्रूमहे। सदसन्नित्यानित्यादिसर्वथैकान्तप्रतिक्षेपलक्षणोनेकान्तः, स च दृष्टेष्टाविरुद्ध इत्युक्तं प्राक्। तत्र कचित्प्रयुज्यमानः स्याच्छब्दस्तद्विशेषणतया प्रकृतार्थतत्त्वमवयवेन सूचयति, प्रायशो निपातानां तत्स्वभावत्वादेवकारादिवत्। द्योतकाश्च भवन्ति निपाता इति वचनात् स्याच्छब्दस्यानेकान्तद्योतकत्वेपि न कश्चिद्दोषः, सामान्योपक्रमे विशेषाभिधानमिति न्यायाज्जीवादिपदोपादानस्याप्यविरोधात् स्याच्छब्दमात्रयोगादनेकान्तसामान्यप्रतिपत्तेरेव संभवात्। सूचकत्वपक्षे तु (ऽपि) गम्यमर्थरूपं प्रति विशेषणं स्याच्छब्दस्तस्य विशेषकत्वात्। न हि केवलज्ञानवदखिलमक्रममवगाहते किंचिद्वाक्यं, येन तदभिधेयविशेषरूपसूचकः स्यादिति न प्रयुज्यते, वाचः क्रमवृत्तित्वात्, तद्बुद्धेरपि तथाभावात्। ततस्तव भगवतः केवलिनामपि स्यान्निपातोभिमत एवार्थयोगित्वादन्यथानेकान्तार्थप्रतिपत्तेरयोगात् ॥१०३॥

पदानामिति, अत्र **निरपेक्ष इति** विशेषणं चैत्रः स्थाल्यां पचतीत्यादौ कर्मादिपदन्यूनेऽतिव्याप्तिवारणाय, एवं सति स्फटिकाकृतिनिर्मलः प्रकाममित्यादावाकृत्यादिपदे नाधिकेऽप्यतिव्याप्तिवारणार्थं विशेषणान्तरदानध्रौव्ये तत्तद्दोषाभावकूटविशिष्टपदसमुदायत्वं वाक्यलक्षणं स्यात्तच्चाननुगमदोषादनिष्टम्, यदि च न्यूनाधिकादावव्यवस्थितवाक्यार्थबोधः प्राथमकल्पिको

निराबाध एव, न्यूनत्वादिदोषस्फूर्त्तिश्चौत्तरकालिकी वक्तृवैगुण्यमेवावेदयति, रसभङ्गं वा जनयतीति विभाव्य तदाकाङ्क्षायोग्यतासत्तिमतां पदानां समूहो वाक्यमित्येतावदेव लक्षणं सम्यगिति न्यायविदः । अथ का नामाकाङ्क्षा, न तावदविनाभावः, घटमानयेत्यादावभावात्, घटः कर्मत्वमित्यादावपि व्यक्त्योस्तत्सत्त्वाच, नापि समभिव्याहृतपदस्मारितपदार्थजिज्ञासा, घटमित्युक्ते आनय नय वेतिजिज्ञासोदयात् घटः कर्मत्वमित्यादौ तदभावादिति वाच्यम् । अजिज्ञासोरप्यन्वयबोधात्, जिज्ञासायाः स्वरूपसत्या एव हेतुत्वादाकाङ्क्षाभ्रमाच्छाब्दबोधानुपपत्तेश्च । उच्यते, अभिधानापर्यवसानमाकाङ्क्षा, अभिधानं पदं तस्यापर्यवसानमन्वयाननुभावकत्वं, तथा च यस्य पदस्य समभिव्याहृतयत्पदव्यतिरेकप्रयुक्तं यादृशान्वयाननुभावकत्वं तादृशान्वयाननुभवे समभिव्याहृततत्पदस्य तेन तादृशान्वयाननुभावकत्वं तयोराकाङ्क्षेति फलितम्, अस्ति च द्वितीयादिपदस्य घटादिविशिष्टकर्मत्वाद्यन्वयाननुभावकत्वं घटादिपदव्यतिरेकप्रयुक्तं, ननु कर्मत्वादिपदस्य, घटादिपदसत्त्वेऽपि स्वत एव तस्याननुभावकत्वादिति घटमित्यादावाकाङ्क्षा, नतु घटः कर्मत्वमित्यादौ, यदि च मौनिश्लोके पदाभावान्नेदं युक्तमिति विभाव्यते, तदा यादृशपदज्ञानस्य यादृशपदसमभिव्याहारज्ञानाभावप्रयुक्तं यादृशान्वयाननुभावकत्वमित्यादि वाच्यम्, इयमाकाङ्क्षा घटमित्यादावुभयपदज्ञाननिष्ठा, लाक्षणिकस्याननुभावकत्वे गङ्गायामित्यादौ (लाक्षणिकस्याननुभावकत्वे) त्वेकपदज्ञाननिष्ठैव, वक्ष्यमाणप्रयुक्तत्वस्य लाक्षणिकेऽपि सम्भवे तूभयतस्तथैव, तत्प्रयुक्तत्वं च यद्यपि न तज्जन्यत्वम्, असम्भवात्, नापि तद्व्यापकत्वं, पदज्ञाननिष्ठाननुभावकत्वस्य पदान्तरसमभिव्याहारज्ञानाभावाव्यापकत्वात्, नापि तद्व्याप्यत्वं, योग्यताज्ञानाद्यभावेन तादृशान्वयानुपधायके घटमित्यादिवाक्ये व्यभिचारात्, तथापि यादृशपदसमभिव्याहारज्ञानातिरिक्त-

याद्दशान्वयबोधकमकलसहकारिसमवहितयाद्दशपदज्ञाननिष्ठयाद्दशान्वयानुभवानुपधायकत्वं याद्दशपदसमभिव्याहारज्ञानाभावव्याप्यं ताद्दशपदस्य ताद्दशपदसमभिव्याहारविशिष्टं ताद्दशपदज्ञानस्य ताद्दशान्वयानुभवाभाववैशिष्ट्यमाकाङ्क्षा, भवति च ताद्दशसहकारिसमवहितकर्मत्वोपस्थापकविभक्तिज्ञाननिष्ठं कर्मत्वोद्देश्यकघटान्वयबोधाभाववैशिष्ट्यं घटोपस्थापकपदसमभिव्याहारज्ञानाभावव्याप्यं, न तु कर्मत्वोपस्थापकनामपदज्ञाननिष्ठं, सत्यपि घटोपस्थापकपदसमभिव्याहारज्ञाने ताद्दशसकलसहकारिसमवहिते घटः कर्मत्वमित्यादिवाक्यगते कर्मत्वपदे ताद्दशान्वयबोधाभाववैशिष्ट्यसत्त्वेन व्यभिचारात् । न च कर्मत्वोपस्थापकविभक्तिज्ञाननिष्ठताद्दशबोधाभाववैशिष्ट्यमपि न तदभावव्याप्यं, सत्यपि योग्यतादिज्ञाने घटमित्यादितोऽपि विपरीतव्युत्पन्नीयबोधाभावादिति वाच्यम् । व्याकरणसंस्कृतपुरुषीयत्वेन निरुक्तान्वयबोधविशेषणात्, विपरीतव्युत्पन्नस्य तु निरुक्ताकाङ्क्षाभ्रमादेव शाब्दबोधः। अत एव निरुक्तव्याप्यत्वरूपप्रयुक्तत्वघटिताकाङ्क्षाया ज्ञानमेव कारणम्, इत्थं च सद्व्युत्पन्नस्य घटमित्यादित एव, विपरीतव्युत्पन्नस्य तु घटः कर्मत्वमित्यादित एव बोधः । यत्तु यत्पदं यत्पदेन सह याद्दशान्वयानुभवजनकं तत्पदस्य तत्पदसमभिव्याहार आकाङ्क्षा, तज् ज्ञानं कारणं, प्रकृतान्वयबोधसमानाकारस्वजन्यान्वयबोधविरहरूपा तु सा स्वरूपसती कारणं, सद्व्युत्पन्नीयशाब्दबोधे घटादिनामबोधे घटादिनामपदसमभिव्याहृतविभक्तिज्ञानं, विपरीतव्युत्पन्नीयबोधे च तत्समभिव्याहृतकर्मत्वादिपदज्ञानं कारणमिति नातिप्रसङ्ग इति मञ्जरीकारादिमतं, तन्न, द्वयोरपि द्विविधज्ञानाच्छाब्दबोधापत्तेः । अथ व्युत्पत्तिरपि तत्तज्ज्ञानसहकारिणी, तथा च तत्तदानुपूर्वीज्ञानं तत्तदानुपूर्वीज्ञाने व्याकरणसंस्कृतपुरुषीयशाब्दबोधजनकत्वज्ञानं च तत्तदानुपूर्वीज्ञानजन्यशाब्दबोधहेतुरिति फलितमिति चेत्, न, निरुक्तप्रयुक्तत्वघटिता-

कांक्षाज्ञानत्वेन कारणत्वे लाघवात्, अनन्यथासिद्धत्वादिघटितजनकत्वज्ञानत्वस्य गुरुत्वात्, कारणाभावप्रयुक्तः कार्याभाव इति धीसाक्षिकः स्वरूपसम्बन्धविशेषः प्रयुक्तत्वमिति मते सुतरां लाघवम्, अत्र घत्वाद्यवच्छिन्नप्रकारतानिरूपितटत्वाद्यवच्छिन्नप्रकारतानिरूपितामुत्वाद्यवच्छिन्नप्रकारताकज्ञानत्वेन घटमित्याद्यानुपूर्वीज्ञानस्य घटादिपदव्यतिरेकप्रयुक्तान्वयाननुभावकममादिपदमितिज्ञानसहितस्य तादृशानुपूर्वीज्ञानविशिष्टघटादिविधेयककर्मत्वादिबोधे हेतुत्वं, लक्षणे च यादृशेति घविशिष्टत्वाद्यवच्छिन्नपर, सामान्यतो वृत्त्या घटोपस्थापकनामपदसमभिव्याहृतकर्मत्वोपस्थापकविभक्तिज्ञानं तादृशाननुभावकत्वज्ञानसहितं तथेति तु न युक्तं, वृत्त्या घटोपस्थापकत्वस्याव्यावर्त्तकत्वात्, तत्तत्काले तत्तत्पुरुषस्येत्युक्तौ च तत्तद्व्यक्तित्वे पर्यवसानादिति मन्तव्यम् । अथायमेति पुत्रो राज्ञः पुरुषोऽपसार्यतामित्यादौ राज्ञ इत्यस्य पुरुषान्वयाननुभावकत्वं पुरुषपद समभिव्याहारेऽप्यस्तीति राज्ञ इत्यादिवाक्येऽपि पुरुषान्वयानुभावकत्वं न स्यादिति चेत्, न, अत्र पूर्वोत्तरभावरूपसमभिव्याहारसत्त्वेऽप्येकवाक्यताभिप्रायविषयत्वरूपसमभिव्याहाराभावात् सविभक्तिकपदयोस्तात्पर्यस्यापि तस्यैव वा समभिव्याहाराभावात् सविभक्तिकपदयोस्तात्पर्यस्यापि तस्यैव वा समभिव्याहारत्वाद्राजपदनिष्ठाकाङ्क्षायाः ससम्बन्धिकपुत्रादिपदेन सह झटिति तेन तात्पर्यग्रहसमवहितत्वमुत्थितत्वं विपर्ययात्तदितरपदेनोत्थाप्यत्वमिति विशेषः । ननु राज्ञ इत्यस्य तात्पर्यभ्रमेण पुरुषेणान्वयबोधे पुत्रेण तात्पर्यग्रहेऽपि तेनान्वयबोधो न स्यादिति चेत्, न, तादृशान्वयाननुभावकत्वस्य सत्त्वाद्राज्ञः पुत्र इति बोधे जननीये तादृशबोधाभावस्यैव तत्त्वात्, न चैव पुत्रेणान्वयबोधे पुरुषेणाप्याकांक्षा स्यात् तात्पर्यस्याकाङ्क्षाघटकत्वे तस्याभावात्, तदघटकत्वे इष्टत्वात्, तात्पर्यज्ञानाभावाच्च न तथाबोध इति । न चैवं तात्पर्येण गतार्थत्वं, घटः कर्मत्वमित्यादौ

तद्ग्रहेऽपि शाब्दबोधाभावात्, राजपदमपरपदार्थान्वितराजप्रतीतिपरमित्यर्थतात्पर्यग्रहसत्त्वेऽप्येकवाक्यताभिप्रायविषयत्वज्ञानानुसरणमावश्यकं, राजपदं पुरुषपदेन पुत्रपदेन वा सहान्वयबोधक(जनक)मिति संशये शाब्दबोधाभावात्, तथा च यत्पदोपस्थितेरेकवाक्यताभिप्राययत्पदोपस्थितिव्यतिरेकेण यादृशान्वयाननुभावकत्वमित्यादि वाच्यम्। इत्थं च सैन्धवमानयेत्यादावेकवाक्यताभिप्रायज्ञानेऽपि सैन्धवपदमितरपदार्थान्वितलवणपरं तथाविधाश्वपरं वेति संशये शाब्दबोधानुदयादर्थतात्पर्यनिश्चयोऽपि कारणम्, एकवाक्यताभिप्रायस्याकाङ्क्षाघटकत्वमयमेति पुत्रो राज्ञ इत्यादौ तादृशाभिप्रायशालिपुत्रादिपदेनैव साकाङ्क्षत्वव्यवहारायेति मिश्राद्यनुसारी पन्थाः। अत्रान्वयाननुभावकत्वं तात्पर्यविषयतावच्छेदकावच्छिन्नान्वयानुभवाभावमाश्रित्य, तेनान्वयबोधद्वयं जायतामित्यादीच्छायामन्वयबोधद्वयादिकमपि युज्यते, अत एव च घटमानयेत्यादाववान्तरवाक्यार्थबोधोत्तरं महावाक्यार्थबोधो नानुपपन्नः, तत्पदार्थोद्देश्यकतत्पदार्थविधेयकबोधे तत्पदयोराकाङ्क्षादिज्ञानं हेतुः, महावाक्यार्थबोधे च नावान्तरवाक्यार्थांशे उद्देश्यविधेयभावः, इत्थं च घटविशिष्टकर्मत्वादिविधेयकानयनादिबोधे घटमित्यादिपदानामानयनादिपदेनैवाकाङ्क्षाज्ञानस्य हेतुत्वे तु नात्रानुपपत्तिलेशोऽपि, तादृशबोधानुपधायकत्वरूपाकाङ्क्षासत्त्वात्, न चार्थतात्पर्यस्याप्याकाङ्क्षाघटकत्वे तात्पर्यज्ञानस्य पृथक्सहकारित्ववैफल्यम्, एतद्वाक्याद् बोधद्वय जायतामित्यादितात्पर्यसाधारणेन विषयाविशेषितरूपेणेह तात्पर्यनिवेशात् विषयविशेषितरूपेण तु तज्ज्ञानहेतुताया आवश्यकत्वात्, न चैवमेतद्वाक्याद्बोधसहस्रं जायतामितीच्छया बोधसहस्रापत्तिः, आद्यवाक्यार्थबोधाद्द्वितीयवद्द्वितीयादेस्तृतीयादिबोधस्यापि सम्भवादिति वाच्यम्, एतादृशेच्छाया अनिवेश्यत्वात्, सैन्धवपदं लवणं बोधयित्वाऽश्वं बोधयत्विति तात्पर्यज्ञानजन्याश्वबोधे तद्वाक्यजन्यलवणबोधस्य हेतुत्वात् क्रमनिर्वाहः। आकाङ्क्षाया अंशत्रयमेक

वाक्यताभिप्रायः, समभिव्याहारोऽननुभावकत्वं च, तत्राद्ययोर्ज्ञानं हेतुरन्त्यस्य तु प्रतिबन्धकाभावतया स्वरूपसत उपयोगः, अत्र शाब्दद्वयं जायतामितीच्छोत्तेजिका, तत्तदानुपूर्वीज्ञाने सदसद्व्युत्पन्नपुरुषीयशाब्दबोधाजनकत्वज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वान्न सद्व्युत्पन्नविपरीतव्युत्पन्नयोर्घटः कर्मत्वं घटमित्याभ्यामन्वयबोधः, इत्थं च प्रयुक्तत्वादिबोधविधुराणामपि न शाब्दबोधवैधुर्यमिति तु नव्याः। राजपदं पुत्रपदार्थान्वितराजबोधं जनयत्वित्याकारकार्थतात्पर्यग्रहहेतुत्वेनानतिप्रसङ्गेऽलं पदतात्पर्यग्रहहेतुत्वेनेति तु चिन्त्यम्, न चैवं मतद्वयेऽपि विशेषणान्तरविशिष्टविशेष्येण पुनरन्वयबोधसम्भवात्प्राथमिकबोधस्यैव द्वितीयबोधजनकत्वेनावृत्तिदोषस्याप्यभावात् समाप्तपुनरात्तदोषोच्छेदापत्तिः, तत्रानपेक्षितविशेषणेन शाब्दबोधसम्भवेऽपि तच्छाब्दबोधेन रसोद्बोधविलम्बस्यैव दोषप्रयोजकताया अलङ्कारशास्त्रे व्यवस्थितत्वात्, नामविभक्तिधात्वाख्यातक्रियाकारकपदानां परस्परं विना परस्परानन्नुभावकत्वात्तेषां मिथः साकाङ्क्षत्वं, घटो नील इत्यादौ तु विशेषणविभक्तिरभेदार्थिका, नामार्थप्रकारकान्वयबोधमात्रं प्रति विशेष्यतया प्रत्ययजन्योपस्थितेर्हेतुत्वात्, यद्वा वह्निना सिंचति घटः पचतीत्यादेरपि सेककरणत्वकृत्योः कालिकसम्बन्धेन वह्निघटनिष्ठत्वात् योग्यत्वापत्तिवारणाय तत्तन्नामतत्तद्धातुसमभिव्याहृततत्तद्विभक्तेस्तत्तत्सम्बन्धेन तत्तन्नामार्थतत्तद्विभक्त्यर्थप्रकारकबोधहेतुत्वस्याननुगतस्य वाच्यत्वात् घटो नील इत्यादावभेदेनान्वयबोधो नानुपपन्नः। कथमत्र कस्यचिदभेदसम्बन्धेन कस्यचिदभेदप्रकारेण बोध इति चेत्, आद्यः सद्व्युत्पन्नस्य अन्त्यस्त्वन्यस्येति निश्चीयते, विशेषणविभक्तेरभेदार्थकत्वकल्पने गौरवादिति। मीमांसकास्तु घटो नील इत्यादौ नीलं घटमानयेत्यादौ च नीलोऽस्ति घटोऽस्ति नीलमानय घटमानयेत्यन्वयबोधो, न तु नामार्थानां कारकाणां च परस्परमन्वयः, विशेषणान्वितविभक्त्यर्थानयनानुभवादिति न

विशिष्टवैशिष्ट्येनान्वयः। न चैवं नीलत्वेन घटत्वेन च घटयोरपि बोधः स्यादिति वाच्यम्, व्युत्पत्तिवचनानां सन्निहितविशेषपरत्वनियमेन नीलत्वेन घटत्वेन चैकस्यैव बोधात्, अरुणयैकहायन्या पिङ्गाक्ष्या गवा सोमं क्रीणातीत्यादावरुणया क्रीणाति एकहायन्या क्रीणातीत्यादिबोधेऽपि यथारुण्येन गुणेन क्रयासाधनेन प्राप्तक्रयसाधनताकगोरूपद्रव्यपरिच्छेदकत्वमेव क्रयसाधनत्वं प्रतीयत इत्याहुः, तदसत्, विशिष्टवैशिष्ट्यबोधान्वयस्यैवात्र युक्तत्वात्, अन्यथा वाक्यभेदापत्तेः, नीलघटमानयति न वेति संशयापत्तेः, नीलं घटं नानयतीत्यभावविशेषबोधान्यथानुपपत्तेश्च। यत्तु आकाङ्क्षायाः संशये शाब्दबोधानुदयात्तन्निश्चयत्वेन हेतुत्वं वाच्यम्, तथा च लाघवादनाकाङ्क्षत्वज्ञानमेव प्रतिबन्धकमस्तु, न च ज्ञानत्वेन प्रतिबन्धकत्वेऽप्रामाण्यनिश्चयानास्कन्दितत्वप्रवेशे गौरवं, तत्राप्याकाङ्क्षानिश्चयविशेषणाभावप्रतियोग्यप्रामाण्यज्ञाने तदप्रामाण्यनिश्चयानास्कन्दितत्वप्रवेशे गौरवात्। अनाकाङ्क्षत्वज्ञानवत्यपि घटाद्यवच्छेदेन समवायेन तदभावसत्त्वादवच्छेदकतासम्बन्धेन प्रतिबन्धकत्वस्य च भूतावेशस्थले एकशरीरावच्छेदेनात्मद्वये ज्ञानस्वीकारादसम्भवात्, एकावच्छेदेनैकात्मवृत्तित्वप्रत्यासत्त्युक्तौ गौरवं त्वाकाङ्क्षानिश्चयहेतुत्वेऽपि तुल्यम्, अन्यथा कायव्यूहादिस्थलेऽसम्भवादिति, तदसत्, निराकाङ्क्षत्वतद्व्याप्यादिमत्ताग्रहप्रतिबन्धकत्वकल्पने गौरवात्, यदपि साकाङ्क्षपदज्ञानजन्यपदार्थोपस्थितिरेव तत्त्वेन हेतुः, न त्वाकाङ्क्षाज्ञानं तत्त्वेन, घटमित्याद्यानुपूर्वीज्ञानस्य कुम्भमित्याद्यानुपूर्वीज्ञानस्य घटः कर्मत्वमित्यादिज्ञानजन्योपस्थितिसहकारेण बोधकत्ववारणायोक्तरूपेण हेतुत्वस्यावश्यकत्वादिति, तदपि न, घटमित्याद्यानुपूर्वीज्ञानस्य स्वघटकादेशादिस्मारितान्यतरपदज्ञानजन्यघटकर्मत्वाद्युपस्थितिसम्बन्धेन घटीयं कर्मत्वमित्यादिशाब्दबोधहेतुत्वेनोक्तदोषाभावात्, घटमित्यादिवाक्यजन्याद्यान्तरवाक्यार्थबोधादिरूपपदार्थोपस्थिति-

कालेऽस्मादिपदे घटादिपदोत्तरत्वसन्देहे शाब्दबोधानुत्पादात् साक्षादप्यानुपूर्वीज्ञानं हेतुरित्यपरे। का नाम योग्यता, न तावत् सजातीयेऽन्वयदर्शनं, यथाकथञ्चित् साजात्यस्याव्यावर्त्तकत्वात्, पदार्थतावच्छेदकेन तस्यायं पयः पिबतीत्यादावसम्भवात्, वाक्यार्थस्यापूर्वत्वाच्च, नापि समभिव्याहृतपदार्थसंसर्गव्याप्यधर्मवत्त्वं, वाक्यार्थस्यानुमेयतापत्तेः। नापि बाधकप्रमाविरहः, स्वपरसाधारणबाधकप्रमाविरहस्य दुर्ज्ञेयत्वात्, स्वरूपसतोऽस्य हेतुत्वेऽयोग्ये योग्यताभ्रमाच्छाब्दभ्रमानुपपत्तेः। स्वीयबाधकप्रमाविरहस्य हेतुत्वे त्वयोग्यताभ्रमदशायां शाब्दबोधापत्तेः। न च तदा विशिष्टज्ञानसामान्यहेतोर्बाधबुद्ध्यभावस्य विरहान्न तदापत्तिः, तर्हि तद्धेतुत्वेनैव निर्वाहे योग्यताधीहेतुत्वे मानाभावात्, अस्त्वेवं लौकिकसन्निकर्षाजन्यदोषविशेषाजन्यतद्ज्ञानमात्रे तदभावनिश्चयस्य प्रतिबन्धकत्वाच्छाब्दप्रतिबन्धकत्वस्यापि तत एव सिद्धेः, योग्यताज्ञानविलम्बाच्च शाब्दबोधविलम्बस्यासिद्धत्वेन नव्यमतसाम्राज्यादिति चेत्, न, लौकिकसन्निकर्षदोषविशेषादेरुत्तेजकत्वपक्षे बाधबुद्ध्यभावस्य प्रत्यक्षत्वादेरेव कार्यतावच्छेदकत्वाच्छाब्दत्वावच्छिन्ने योग्यताधीहेतुत्वौचित्येनोक्तमतासाम्राज्यात्, न च तत्पक्षेऽप्यस्तु शुद्धबाधबुद्ध्यभावस्य परोक्षत्वावच्छिन्नहेतुत्वं, परोक्षत्वस्य प्रत्यक्षान्यज्ञानरूपत्वे विशेष्यविशेषणभावभेदेन गौरवात्, न च जातिरूपं तत्, इच्छाघटितस्मृत्यादिसामग्रीप्रतिबध्यतावच्छेदकताघटकजात्या सङ्करात्, सम्बन्धगौरवेण स्वाश्रयान्यत्वसम्बन्धेन स्मृतित्वस्यातत्त्वात्। किञ्च मुखं न चन्द्र इत्ययोग्यतानिश्चयेऽप्याहार्ययोग्यताज्ञानेन शाब्दबोधात्तदेव शाब्दधीहेतुः, न चैवं वह्निना सिञ्चतीत्यादावपि तथापत्तिः, आहार्ययोग्यताज्ञाने इष्टत्वात्, तदसत्त्वे शाब्दबोधाभावेन तद्धेतुत्वकल्पनात्। अत एव गालिप्रदानादितोऽपि शाब्दबोधसम्भवः। न चैवं लौकिकान्यबाधधीसत्त्वेऽपि लौकिकयोग्यताज्ञानाच्छाब्दापत्तिः,

इष्टत्वात्, विरोधिविनिश्चयस्यैव चाहार्यत्वप्रयोजकत्वेन तच्छाब्दस्याहार्यत्वानापत्तेः, बाधबुद्धौ भ्रमत्वज्ञानाङ्गीकाराद्वा। किञ्च यत्र स्थलविशेषे बाधधीकाले योग्यताज्ञानं तत्र तस्य हेतुत्वध्रौव्ये विशेष्यतावच्छेदकतया तत्पुरुषीयशाब्दत्वावच्छिन्ने तया तत्पुरुषीययोग्यताज्ञानत्वेन हेतुत्वसिद्धिः, यत्र चालौकिकयोग्यताधीकाले लौकिकबाधधीस्तत्र तस्याः प्रतिबन्धकत्वस्वीकारान्न दोषः। किञ्च स्थूलजलपरस्य पयसा सिञ्चतीत्यादेरयोग्यत्वाय विशेष्यतया योग्यताज्ञानहेतुत्वसिद्धिः, बाधबुद्ध्यभावस्य धर्मितावच्छेदकान्तर्भावेनैव नव्यनये हेतुत्वादित्यन्यत्र विस्तरः, तस्माच्छाब्दज्ञानहेतुर्योग्यता निर्वक्तव्येति चेत्, अत्रोच्यते, एकपदार्थेऽपरपदार्थसंसर्गवत्त्वं तेन संसर्गेणापरपदार्थवत्त्वं वा योग्यता, न च वाक्यार्थस्यापूर्वत्वात्तद्दुर्ज्ञेयता, प्रत्यक्षादिना संशयसाधारणतज्ज्ञानहेतुत्वस्वीकारेणादोषात्, गन्धप्रागभावकालावच्छिन्नो घटो गन्धवानित्यादौ तद्गन्धप्रागभावकालाद्यवच्छिन्नगन्धसमवायस्य तद्घटेऽभावादयोग्यत्वं, न चैवमेकविध्यर्थयोः कृतीष्टसाधनत्वयोः परस्परमन्वयो न स्यादुक्तयोग्यताविरहादिति वाच्यम्, एकपदार्थ इत्यादेरेकवृत्तिविषयेऽपरवृत्तिविषयसंसर्गवत्त्वमित्यर्थात्, एवमेवकारादिस्थलेऽपि विचारणीयम्। आसत्तिरव्यवधानेनान्वयप्रतियोग्युपस्थितिः, एकपदार्थोपस्थित्यव्यवधानेनापरपदार्थोपस्थितिरिति यावत्, अव्यवधानं व्यवधानाभावः, तेन युगपन्नानापदार्थोपस्थितावपि न क्षतिः, तच्चार्थसिद्धं तत्तत्पदार्थशाब्दबुद्धौ तत्तत्पदार्थोपस्थितेर्हेतुतया विनाऽव्यवहितोपस्थितिं शाब्दबोधासम्भवात्, अस्याः स्वरूपसत्या एव हेतुत्वादासत्तिनिश्चयहेतुत्वं कुत इति चेत्, न कुतश्चित्, वृत्त्या पदजन्यपदार्थोपस्थितेः स्वरूपसत्या एव हेतुत्वात्, न चानुपदोक्तानुपूर्वीज्ञानस्य निरुक्तोपस्थितिसम्बन्धेन हेतुत्वात्किमनयेति वाच्यम्, व्याप्तिज्ञानदण्डादेः स्वजन्यपरामर्शचक्रभ्रम्यादिसम्बन्धेन हेतुत्वेऽपि परामर्शचक्र-

भ्रम्यादिहेतुत्ववदासत्तेरपि तत्त्वात्, व्यापारस्य व्यापारिणाऽन्यथासिद्ध्यभावात्, आसत्तिनिश्चयहेतुत्वोक्तिस्तु प्राचां मतेनेति नव्याः। मिश्रास्तु ननु एकपदार्थोपस्थित्यव्यवधानविशिष्टापरपदार्थोपस्थितिर्नासत्तिः, गिरिर्भुक्तमग्निमान् देवदत्तेनेत्यत्राग्निमत्पदार्थोपस्थितौ सत्यां तदव्यवहितोत्तरक्षणे तस्यां गिर्युपस्थित्यव्यवधानभ्रमस्वीकारे भ्रमस्यैव निरुक्ताव्यवधानविशिष्टोपस्थितिरूपासत्तितया तद्भ्रमहेतुत्वे सिद्धान्तभङ्गप्रसङ्गात्, नाप्युपस्थापकपदाव्यवहितपदोपस्थितिः सा, व्यवहिते पदेऽपरपदाव्यवहितोत्तरत्वभ्रमस्यैवासत्तितया तद्दोषतादवस्थ्यात्, न चोपस्थापकपदाव्यवधानं सा, इत्थं च व्यवहितोक्तपदेऽव्यवहितत्वभ्रमसम्भवान्नानुपपत्तिरिति वाच्यम्, मौनिश्लोकादौ पदाभावेनासत्त्यभावापत्तेः, अत एवोच्चारणाव्यवधानं सेति परास्तं, न चोपस्थापकस्य पदस्य तदर्थस्य वाऽव्यवहितोपस्थित्यनुकूलव्यापारः, सा च क्वचिदव्यवहितोच्चारणं क्वचिल्लिप्यादिकं च, इत्थं च व्यवहितोच्चरितादावप्यव्यवहितोच्चरितत्वादिभ्रमः सम्भवतीति वाच्यम्। तर्हि योजनादिनापि श्लोकादावन्वयबोधाभावापत्तेः। वक्त्रा व्यवहितोच्चरितमिति विशेषदर्शनेऽव्यवहितोच्चरितमिति भ्रमासम्भवात्, एकपदार्थोपस्थित्यव्यवधानेनापरपदार्थोपस्थित्यनुकूलव्यापारस्येति वाच्यतयैकपदार्थयोः परस्परमनन्वयापत्तेश्चेति चेत्, सत्यम्, एकत्वापरत्वयोर्न पदविशेषणत्वं, किन्त्वर्थविशेषणत्वमेवेत्यनुपदोक्तदोषाभावात्, वस्तुत एकपदार्थत्वमेकवृत्तिविषयत्वम्, अपरपदार्थत्वमपरवृत्तिविषयत्वं, तेन घटभेदो न घट इत्यादौ पदार्थाभेदेऽपि न क्षतिः। मेयाभिधेयादिबोधकतदादिपदार्थयोरेकवृत्तिविषयत्वे त्वेकापरवृत्तिविषयतावच्छेदकावच्छिन्नत्वमेकापरपदार्थत्वं वाच्यम्। व्यवहितोच्चरिते च पदतात्पर्यमेव तथाव्यापारः, तदेव योजनया ज्ञाप्यते, शुकादिवाक्ये तु शिक्षयितुरेव तथाव्यापारः, ईश्वरस्यैव वा, न च यत्र तात्पर्यं व्यवधानेनो-

च्चारणमव्यवधानेन तत्र का गतिरिति वाच्यम् । तत्रोच्चारस्य सतोऽप्यकिञ्चित्करत्वात्, अन्वयबोधानुकूलोपस्थितेर्विवक्षितत्वात्, स्वविरोधिव्यवधानाभिप्रायापूर्वकोच्चारणाव्यवधानप्रयोज्योपस्थितेरेव शाब्दबोधोपधायकत्वस्वीकारात्, तथा च व्यवधानाभिप्रायापूर्वकाव्यवहितोपस्थित्यनुकूलव्यापार आसत्तिरिति फलितं, वस्तुत एतत्पदानन्तरं तत्पदं प्रतिसन्दधात्विति तात्पर्यमेवासत्तिः, इदं शुकस्यापि सम्भवि, ईश्वरीयं वा तत् सुलभं, न चैवमासत्तिभ्रमस्थलासम्भवो, वक्त्रन्तर्भावेन तत्सम्भवादित्याहुः, तच्चिन्त्यम् । एकवाक्यताया अर्थतात्पर्यस्य निश्चये यथोक्तासत्तिनिश्चयं विना शाब्दबोधविलम्बाभावात्, न चैकवाक्यतैवानेनोपालक्षि, सम्भूयोच्चारणस्य चिन्तामणौ पृथगुपन्यासात्, तस्माद् व्यवधानेन वृत्त्या पदजन्यपदार्थोपस्थितिरासत्तिरिति प्रागुक्तमेव युक्तम् ॥ तदेवं परस्परापेक्षाणामित्यस्याकाङ्क्षादिमतामित्यर्थात् आकाङ्क्षादिमतां पदानां समूहो वाक्यमिति न्यायनये स्थितं, निरपेक्षपदं त्वनतिप्रयोजनं, यदि च तस्य सप्रयोजनत्वे निर्बन्धः, तदा प्रकृतवाक्यस्य लक्ष्यस्य वाक्यान्तरैकवाक्यस्य महावाक्याद्व्यावर्त्तनेन प्रकृतान्वये प्रकृतवाक्यस्य महावाक्यस्थपदान्तरनिरपेक्षत्वात् ॥ इदं तु ध्येयम् ॥ साकाङ्क्षत्वमनाकाङ्क्षत्वं च स्याद्वादेनैव व्यवस्थापनीयम् । तत्पदव्यतिरेकप्रयुक्तान्वयाननुभावकत्वरूपाकाङ्क्षापक्षे व्याकरणसंस्कृतपुरुषीयत्वेन निरुक्तान्वयबोधविशेषणे समभिव्याहाररूपाकाङ्क्षापक्षे च तत्तदानुपूर्वीज्ञाने व्याकरणसंस्कृतपुरुषीयशाब्दबोधजनकत्वज्ञानहेतुत्वोक्त्या घटः कर्मत्वमित्यादेः सद्व्युत्पन्नं प्रति साकाङ्क्षत्ववारणेऽपि देवदत्तः पचतीत्यतो नैयायिकस्य नामार्थविशेष्यक एव बोधः, शाब्दिकस्य तु धात्वर्थविशेष्यक इति तत्तदन्वयबोधे तद्वाक्यस्यान्यतरं प्रति निराकाङ्क्षत्वावारणात्, न च तत्तन्नयव्युत्पन्नीयतद्वाक्यजतादृशबोधे तादृशव्युत्पत्तेर्हेतुत्वान्नयाकाङ्क्षैकान्ताविरोधः, व्यभिचारेण भिन्न-

भिन्नव्युत्पत्तेरेवासिद्धेः, तत्तद्व्युत्पत्तिवैशिष्ट्यस्य विपरीतव्युत्पन्नीयबोधसाधारण्येनातिप्रसञ्जकत्वादुभयव्युत्पन्नयोरुभयोरुक्तवाक्यान्नियमत उभयबोधापत्तेश्च । न चैकनयाभिमतव्युत्पत्तौ तदितरनयाभिमतशाब्दबोधजनकत्वाभावज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वाददोषः, उभयव्युत्पत्तिसमाजे परस्परप्रतिबन्धेन कस्यापि बोधस्यानापत्तेः । कथं चैवं नैयायिकः शिष्येषु व्याकरणव्युत्पत्तिमादधानो देवदत्तः पचति एकदेवदत्ताभिन्नाश्रयकपाकानुकूला भावनेति विवृणुयात्, आहार्याकाङ्क्षाज्ञानेन तथा बुद्ध्वा परं तथा बोधयितुं नानौचितीति चेत्, सत्यम्, आहार्यत्वस्यापि परस्परमविनिगमेन तथा तथा साकाङ्क्षनिराकाङ्क्षत्वाव्यवस्थितेः । एतेनैकनययुक्त्याऽपरनयाप्रामाण्यग्रहोऽपि व्याख्यातः, अनेनैवाभिप्रायेण " णिययवयणिज्जसच्चा " इत्यादिना सम्मतौ नयवाक्यानां कात्स्न्र्येन साकाङ्क्षत्वानाकाङ्क्षत्वभजना समर्थिता । एवं योग्यत्वमयोग्यत्वमासन्नत्वमनासन्नत्वं च देशकालादिभेदेन तात्पर्यादिभेदेन च भजनीयं, वस्तुतः समभिव्याहाररूपाकाङ्क्षा वाक्यशक्त्यवच्छेदकतयैवोपयुज्यते न पृथक्, घत्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितटत्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितामुत्वावच्छिन्नविशेष्यताकघटविधेयककर्मत्वविशेष्यकशाब्दबोधजनकत्वप्रकारताकज्ञानत्वादिना तादृशशाब्दबोधहेतुत्वाकल्पनादाद्यवृद्धव्यवहारेण वाक्य एव शक्तिसिद्धेरनन्तरमावापोद्वापक्रमेण पदशक्तिग्रहस्य च तत्रैवोपकाराच्छक्तेश्च जनकताविशेषरूपत्वाद्विशेषपदेनैव शक्तिलक्षणाभेदानुच्छेदात्, अन्यथेश्वरेच्छारूपशक्तिवादेऽप्यगतेः, केवलपदस्याननुभावकतापक्ष एव हि " पदमभ्यधिकाभावात् स्मारकान्न विशिष्यते " इत्युक्तं युज्यत इत्युक्तं प्राक्, न चैवं द्रव्यनिक्षेपप्रयुक्तघटपदघटितवाक्याद्भावनिक्षेपविषयशाब्दबोधापत्तिः, स्वप्रयोजकनिक्षेपप्रयुक्तवाक्यशक्तिग्रहद्वारैव पदशक्तिग्रहस्य हेतुत्वाद्, द्वारद्वारिभावेन चान्यथासिद्धेरयोगात्, पदार्थोपस्थितिद्वारा पद-

ज्ञानहेतुत्वे तु तद्द्वारा वारणाय शाब्दसामग्र्याः क्वचित्पदार्थस्मृतिघटितायाः क्वचिच्च शाब्दतदुपस्थितिघटितायाः स्मृतिप्रतिबन्धकत्वकल्पने महागौरवम्, एकवाक्यताभिप्रायश्चार्थतात्पर्यविधयैवोपयुज्यत इत्यननुभावकत्वांशोऽवशिष्यते, तत्र च स्वरूपसति प्रतिबन्धके परेषां शाब्दबोधद्वयेच्छादिवदस्माकं वाक्यार्थबोधेच्छादेरुत्तेजकत्वं, वाक्यार्थबोधादयश्चाभिप्रायिकपदसंवलने श्रुतरूपास्तदसङ्कलने मतिरूपा वा, प्रथमादिबोधद्वारा द्वितीयादिबोधे श्रुतहेतुत्वाच्च श्रुताभ्यन्तरीभूतत्वं क्रमनिर्वाहश्चेति, प्राणिनो न हन्तव्या इत्यादेराज्ञाप्रामाण्यात् "प्रमादमूलं प्राणिहननमनर्थसाधनम्" इति तात्पर्यार्थपर्यन्तः सम्पूर्णो बोध इत्युपदेशपदाद्यनुसारी पन्थाः। क्वचिच्च प्राथमिकाद्वाक्यार्थविषयश्रुतज्ञानोत्तरं संशयं विनैव महावाक्यार्थजानुपपत्तिज्ञानरूपचिन्ताज्ञानादैदंपर्यविषयं भावनाज्ञानं जायत इति त्रिविधमेव शाब्दं ज्ञानमिष्यते, सामानाधिकरण्येनावच्छेदकावच्छेदेन च शाब्दद्वयेच्छायां द्विविधमपि तद् युज्यते, अर्थाविच्छिन्नपदज्ञानोत्तरं तात्पर्यगर्भाकाङ्क्षाज्ञानाद् व्युत्पत्तिविशेषाद्वा पटिष्टक्षयोपशमवतः प्रागेव तात्पर्यार्थज्ञानं सम्भवतीत्येकविधमेव तदिति तु नव्याः। मुखं चन्द्र इत्यादिरूपकस्थले आहार्ययोग्यताज्ञानस्य हेतुत्वानुरोधेन शाब्दमात्रे योग्यताज्ञानहेतुत्वमपि न युक्तिमत्, बाधज्ञाने सति तादृशस्थले आहार्यशाब्दस्यैव स्वीकारात्, इष्टव्यङ्ग्यप्रतीतिसाधनत्वज्ञानेन मुखे चन्द्राभेदशाब्द एव तत्रेच्छोदयौचित्यात्, अत एवाहार्यारोपो रूपकमिति प्राचामुक्तिः, तादृशभाषायाश्च द्रव्यतोऽसत्यत्वेऽपि भावतः सत्यत्वात्, उपमापदस्यालंकारान्तरोपलक्षकत्वादुपमासत्यायां परिगणनं, न चैवं मृषान्तरस्यापि क्वचिद्भावतः सत्यत्वाद्द्रव्यभावभाषायां सत्याभेदत्वप्रसक्तिरिति वाच्यम्। क्वाचित्कत्वसार्वत्रिकत्वाभ्यामेव विशेषात्, भावविशेषजन्यजनकतानवच्छेदकतया जातिभेदस्वीकाराच्च, क्वचिच्च शशशृङ्गं नास्तीत्यादौ वाक्यशक्त्या शशीयत्वेन

शृङ्गाभावशाब्दबोधे पदार्थयोः संसर्गाभावनिश्चयोऽनुगुण एव, अन्यथा विशिष्टनिषेधप्रतीतावंशतो भ्रमत्वापत्तेः, गालिप्रदानादितोऽपि शाब्दबोधश्चेत्, आहार्य एव, नो चेद्, दुष्टवक्त्रभिप्रायसूचकत्वेनैव तस्य क्रोधजनकत्वम्, सत्यादित्वं वाचां जनपदसत्याद्यन्यतरत्वेनैव, द्रव्यभावभाषात्वं च तासां चतुर्विधद्रव्यपरिणतिमाश्रित्य, श्रुतभावभाषात्वं च तिसृणां फलीभूतश्रुतोपयोगापेक्षया मिश्रोपयोगाभावेन तृतीयस्या अत्रानधिकारात्, चारित्रभावभाषात्वं च प्रथमान्तिमयोरेव यत्याचारविहितत्वेन चारित्रोत्कर्षकत्वादित्यादिविस्तरो भाषारहस्ये इति कृतं प्रसङ्गेन। प्रकृतं प्रस्तुमः—न पुनराख्यातशब्द इत्यादि, शेषपक्षनिराकरणं प्रायः सुगमम्। क्रियास्फोटवदिति पूर्वापरीभूतावयवास्वाश्रितक्रमासु क्रियास्वेकः क्रियास्फोटो यथा नास्ति तथा क्रमवत्पदसमुदाये वाक्यस्फोटोऽपि, एकत्वप्रतीतेर्द्रव्यप्रत्यासत्त्यैवोपपत्तेरिति। यथोक्तपदानुसंहृतिरूपस्येति परस्परापेक्षनिरपेक्षपदानुस्मरणरूपस्येत्यर्थः। बुद्धिर्मानस्युत्प्रेक्षानुसंहृतिः स्मरणमित्यनयोः पक्षयोर्भेदः। तावतोदाहरणोपनयमात्रेण, अर्थं प्रत्येति प्रकृतसाध्यं निश्चिनोति, किमितीति शेषं निगमनं, किमित्याकाङ्क्षति-साधनमात्रेणार्थसिद्धौ तत्रेष्टसाधनताज्ञानाभावेनाकाङ्क्षाभावात् यस्य च फलीभूतशाब्दबोधेच्छया निगमनशब्द एवाकाङ्क्षा तस्य तच्छब्दाध्याहारेणैव शाब्दबोध इति भावः। सत्यभामादिपदवदिति यथा भामापदेन सत्यभामापदं स्मर्यते तथा प्रकरणादिना पदान्तरमिति तत्सापेक्षश्रूयमाणपदसमुदायस्य न निराकाङ्क्षत्वव्याघात इति भावः। यत्र च प्रकरणादिनाऽखिल एव वाक्यार्थो ज्ञायते चेष्टादिना वा, तत्र तादृशवाक्यकल्पनयैव शाब्दव्यवहारः सङ्गतिमङ्गति, अत एव न चेष्टादेः प्रमाणान्तरत्वम्, अवश्यकल्प्यशब्दमुखनिरीक्षकत्वादिति दिग्। इत्युक्तः (क्तं) प्रागिति "त्वन्मतामृतबाह्यानाम्" इत्यादिकारिकाव्याख्यानावसरे

न हि किञ्चिद्रूपान्तरविकलमित्यादिना, तत्र क्वचित्प्रयुज्यमान इत्यादि, क्वचिच्च जीवादिपदसमीपे प्रयुज्यमानः स्याच्छब्दस्ताद्विशेषणतया जीवादिपदसमभिव्याहृततया, प्रकृतार्थतत्त्वं सर्वथैकान्तप्रतिपक्षजीवादिपदार्थम्, अवयवेन जीवादिपदद्वारेण, सूचयति लक्षयति, तथा च जीवादिसामान्यविशेषशक्तस्य जीवादिपदस्य नित्यानित्याद्यनेकान्तात्मकजीवादिविशेषे लक्षणा तात्पर्यग्राहकत्वमेव स्याच्छब्दस्य द्योतकत्वमिति भावः। एवकारादिवदिति शङ्खः पाण्डुर एवेत्यादौ पाण्डुरादिपदस्य पाण्डुराद्यन्यत्वव्यवच्छिन्ने लाक्षणिकताया एवकारस्य च तत्र तात्पर्यग्राहकतायाः सम्प्रदायसिद्धत्वादिति भावः। न कश्चिद्दोष इति सम्भूयोच्चारणेन स्यात्पदजीवादिपदाभ्यां मिलित्वाऽनेकान्तात्मकजीवादितत्त्वबोधनोपपत्तेरिति भावः। तथा च गम्यं प्रति विशेषणमित्यस्य समुदायशक्तिजन्यबोधे जीवादिपदस्य तुल्यकक्षतया सहकारीत्यर्थः। विशेषणमित्यनन्तरं च वाकारोऽध्याहृत्य योजनीयः, तेन पक्षद्वयाभिव्यक्तिर्भवति, यद्वाऽनेकान्तद्योतीत्यस्यानेकान्तं पदसामान्यशक्तिविषयं द्योतयत्यनुभावयतीत्येकोऽर्थः, स चापरेषां घटादिपदस्य सामान्यव्युत्पत्त्यनुरोधेन कार्यत्वान्वितघटादौ शक्तिग्रहेऽपि ततः कार्यत्वान्वितघटाद्यनुभवे कार्यतावाचकपदसमभिव्याहारापेक्षा, आनुभाविकायाः शक्तेस्तदपेक्षत्वात्, स्मारिका च जाताविति तदभावे घटत्वादिमात्रस्मरणमेवेति कुब्जशक्तिवादः, तथाऽस्माकं नित्यानित्याद्यनेकान्तक्रोडीकरणं विना व्यवहारमात्रस्यायोगाच्छब्दत्वावच्छेदेन नित्यानित्याद्यनेकान्तात्मक एव शक्तिग्रहादाद्यव्युत्पत्त्यनुरोधेन जीवादिपदस्यापि नित्यानित्याद्यनेकान्तात्मकजीवाद्यर्थ एव शक्तिर्गृह्यत इत्यानुभाविका शक्तिः, तथाऽनुभवजननेऽनेकान्तवाचकपदमपेक्षते स्मारिका तु नेति केवलजीवादिपदाज्जीवाद्यर्थोपस्थितिमात्रम्, अनेकान्तात्मकजीवाद्यर्थानुभवस्तु स्यात्पदसंयोगादित्येतत्पक्षपरिष्कारः।

न चैवं मीमांसकमतानुप्रवेशः, सर्वनयात्मके भगवत्प्रवचने क्वचिन्मीमांसकमतोपग्रहस्याप्यदुष्टत्वात्, सिद्धार्थप्रामाण्यस्वीकारेणैव [स्याच्छब्दो लिङाद्यर्थव्यतिरिक्तार्थप्रतिपादकजीवादिपदसमभिव्याहृतस्यात्पदम]नेकान्तं द्योतयति औपसन्दानिक्या शक्त्या बोधयति यः स तथेति द्वितीयोऽर्थः, तथा च स्याच्छब्दोत्तरजी [वादिपदप्रतिपाद्या]नेकान्तात्मकजीवाद्यर्थे विशिष्य शक्तिस्वीकारादौपसन्दानिकी शक्तिरेवात्र द्योतनमिति भावः। उभयत्रापि गम्यं प्रति विशेषणमित्यस्य पदान्तरबोध्यबोधने सहकारीत्यर्थः, तदाह, सूचकत्वपक्षेऽपीति, अपिर्वाचकत्वपक्षं समुच्चिनोति, तद्बुद्धेरपि तथाभावादिति तेन तदादिवत् स्याच्छब्दस्य स्वातंत्र्येण बुद्धिविषयतावच्छेदकावच्छिन्नेऽपि शक्तिः, तद्बोधकताया वैचित्र्यादिति स्यादस्तीत्यादावस्तित्वाद्यवच्छेदकस्वद्रव्यक्षेत्रकालभावादीनामपि ततो नासाङ्कर्येणानुपस्थितिरिति ध्येयम्। धर्मिवाचकपदसमभिव्याहृतं स्यात्पदमनेकान्तात्मकत्वद्योतकं धर्मवाचकपदसमभिव्याहृतं तु तत्तत्स्वद्रव्यक्षेत्रकालाद्यवच्छेदकस्फोरकं सकलादेशमहिम्ना तु प्रकृतधर्मे स्वेतरानन्तधर्माभिन्नत्वस्य प्रकारतया प्रकृतधर्मस्य स्वस्वेतरानन्तधर्मात्मकत्वसम्बन्धेन धर्मिण्यन्वयाभ्युपगमाद्वा न काचिदनुपपत्तिरिति श्रद्धेयं स्वसमयव्युत्पत्तिशालिभिः॥ १०३ ॥

ननु च कथंचिदित्यादिशब्दादपि भवत्येवानेकान्तार्थप्रतिपत्ति. ?, सत्यं, भवति, तस्य स्याद्वचनपर्यायत्वात्। तथा हि,—

स्याद्वादः सर्वथैकान्त–त्यागात् किंवृत्तचिद्विधिः ॥ सप्तभङ्गनयापेक्षो, हेयादेयविशेषकः ॥१०४॥

किमो वृत्तः किंवृत्तः। स चासौ चिद्विधिश्चेति कथंचिदित्यादिः किवृत्तचिद्विधिः स्याद्वादपर्यायः। सोयमनेकान्तमभिप्रेत्य सप्तभङ्गनयापेक्षः स्वभावपरभावाभ्या सदसदादिव्यवस्थां प्रतिपादयति। के पुनः सप्तभङ्गाः के वा नयाः ? सप्तभङ्गी प्रोक्ता पूर्वमेव।

द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकप्रविभागवशान्नैगमादयः शब्दार्थनया बहुविकल्पा मूलनयद्वयशुद्ध्यशुद्धिभ्या, शास्त्रान्तरे प्रोक्ता इति संबन्धः । द्रव्यार्थिकप्रविभागाद्धि नैगमसंग्रहव्यवहाराः, पर्यायार्थिकप्रविभागादृजुसूत्रादयः । तत्र ऋजुसूत्रपर्यन्ताश्चत्वारोर्थनयाः, तेषामर्थप्रधानत्वात् शेषास्त्रयः शब्दनया शब्दप्रधानत्वात् । तत्र मूलनयस्य द्रव्यार्थिकस्य शुद्ध्या संग्रहः, सकलोपाधिरहितत्वेन शुद्धस्य सन्मात्रस्य विषयीकरणात् सम्यगेकत्वेन सर्वस्य संग्रहणात् । तस्यैवाशुद्ध्या व्यवहारः, संग्रहगृहीतानामर्थानां विधिपूर्वकत्वव्यवहरणात्, द्रव्यत्वादिविशेषणतया स्वतोऽशुद्धस्य स्वीकरणात्, यत्सत्तद्द्रव्यं गुणो वेत्यादिवत् । एवं नैगमोप्यशुद्ध्या प्रवर्तते, सोपाधिवस्तुविषयत्वात् । स हि त्रेधा प्रवर्तते, द्रव्ययोः पर्याययोर्द्रव्यपर्याययोर्वा गुणप्रधानभावेन विवक्षायां नैगमत्वात्, नैकगमो नैगम इति निर्वचनात् । तत्र द्रव्यनैगमो द्वेधा–शुद्धद्रव्यनैगमोऽशुद्धद्रव्यनैगमश्चेति । पर्यायनैगमस्त्रेधा–अर्थपर्याययोर्व्यञ्जनपर्याययोरर्थव्यञ्जनपर्याययोश्च नैगम इति । अर्थपर्यायनैगमस्त्रेधा ज्ञानार्थपर्याययोर्ज्ञेयार्थपर्याययोर्ज्ञानज्ञेयार्थपर्याययोश्चेति । व्यञ्जनपर्यायनैगमः षोढा–शब्दव्यञ्जनपर्याययोः समभिरूढव्यञ्जनपर्याययोरेवंभूतव्यञ्जनपर्याययोः शब्दसमभिरूढव्यञ्जनपर्याययोः शब्दैवंभूतव्यञ्जनपर्याययोः समभिरूढैवंभूतव्यञ्जनपर्याययोश्चेति । अर्थव्यञ्जनपर्यायनैगमस्त्रेधा ऋजुसूत्रशब्दयोः, ऋजुसूत्रसमभिरूढयोः ऋजुसूत्रैवंभूतयोश्चेति । द्रव्यपर्यायनैगमोऽष्टधा, शुद्धद्रव्यर्जुसूत्रयोः शुद्धद्रव्यशब्दयोः शुद्धद्रव्यसमभिरूढयोः शुद्धद्रव्यैवंभूतयोश्च, एवमशुद्धद्रव्यर्जुसूत्रयोरशुद्धद्रव्यशब्दयोरशुद्धद्रव्यसमभिरूढयोरशुद्धद्रव्यैवंभूतयोश्चेति । लोकसमयाविरोधेनोदाहार्यम् । तथा पर्यायार्थिकस्य मूलनयस्याशुद्ध्या तावदृजुसूत्र, तस्य कालकारकलिङ्गभेदेनाप्यभेदात् । शुध्या शब्दस्तस्य कालादिभेदेन भेदात् । शुद्धितरया समभिरूढस्तस्य पर्यायभेदेनापि भेदात् । शुद्धितमयैवभूतस्तस्य क्रियाभेदेनापि भेदात् ॥ इति मूलनयद्वयशुद्ध्यशुद्धिभ्या बहुविकल्पा नया नयचक्रतः प्रतिपत्तव्याः । पूर्वपूर्वा महाविषया

उत्तरोत्तरा अल्पविषयाः शब्दविकल्पपरिमाणाश्च । तदेवं व्याख्यातः सप्तभङ्गनयापेक्षः स्याद्वादो हेयादेयविशेषकः प्रसिद्धस्तमन्तरेण हेयस्योपादेयस्य च विशेषेण व्यवस्थानुपपत्तेः । सर्वतत्त्वप्रकाशकश्च केवलज्ञानवत् ॥ १०४ ॥ एतदेव दर्शयति,—

अर्थप्रधानत्वात् शब्दतद्धर्मभेदेनार्थभेदास्वीकर्तृत्वात्, शब्दप्रधानत्वाच्छब्दतद्धर्म्मभेदेनार्थभेदस्वीकर्तृत्वात्, एवं नैगमोऽप्यशुद्ध्या प्रवर्त्तत इति अशुद्धिरत्र भेदपरता, द्रव्यार्थिकेऽभेदभेदयोरेव शुद्ध्यशुद्धिपदार्थत्वादिति यथास्थानं भावनीयम् । द्रव्ययोरित्यादि अभिलापश्चात्रात्मा पुद्गली मनुष्यपर्यायो देवपर्यायोत्तरः द्रव्यमनन्तपर्यायवदित्यादिः । शुद्धद्रव्यनैगमो यथाऽऽकाशद्रव्यं धर्मद्रव्यसंयुक्तमिति । अशुद्धद्रव्यनैगमो यथा घटद्रव्यं पटद्रव्यसंयुक्तमिति । अर्थपर्याययोर्नैगमस्त्रिविधो यथा मतिज्ञानं श्रुतज्ञानसहचरितमिति ज्ञानरूपार्थपर्याययोः, मतिविषयपर्यायः श्रुतविषयपर्यायसदृश इति ज्ञेयार्थपर्याययोः, ग्राहकाकारो ग्राह्याकारानुगत इति ज्ञानज्ञेयार्थपर्याययोः । व्यञ्जनपर्याययोः षोढा नैगमो यथा-तट इति शब्दवाच्यस्तटीतिशब्दवाच्यसदृश इति, शब्दव्यञ्जनपर्याययोः १ घटशब्दवाच्यः पर्यायः कुम्भशब्दवाच्यसदृश इति, समभिरूढव्यञ्जनपर्याययोः २ राजपदव्युत्पत्तिनिमित्तक्रिया सुपपदव्युत्पत्तिनिमित्तक्रियासदृशीति, एवम्भूतव्यञ्जनपर्याययोः ३ भिन्नलिङ्गतटादिशब्दवाच्यपर्यायो भिन्नशब्दवाच्यसदृश इति, शब्दसमभिरूढव्यञ्जनपर्याययोः ४ संभिन्नक्रिया शब्दवाच्यसदृश इति, शब्दै* [वंभूतव्यञ्जनपर्याययोः ५ संभिन्नवर्तमानक्रिया शब्दवाच्यसदृश इति, समभिरूढैवंभूतव्यञ्जनपर्याययोः ६ व्युत्पत्तिनिमित्तक्रिया वर्तमानक्रियासदृश इति।एवं ऋजुसूत्रशब्दयोः १ ऋजुसूत्रसमभिरूढयोः २ ऋजुसूत्रैवंभूतयो ३ रिति त्रिविधोऽप्यर्थव्यञ्जनपर्यायनैगमः, अष्टधा च द्रव्यपर्यायनैगमः इत्यादि स्वधिया विभाव्योदाहार्यम्]॥१०४॥

* इतोऽग्रेतन विवरण त्रुटित लक्ष्यते, स्याच्चेत्कस्यचिन्महोदयस्य सविधे निवेद्यमनुग्रहधिया प्रकाशकस्य ॥

स्याद्वादकेवलज्ञाने, सर्वतत्त्वप्रकाशने ॥ भेदः साक्षादसाक्षाच्च, ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ॥ १०५ ॥

साक्षादसाक्षात्प्रतिभासिज्ञानाभ्यामन्यस्याप्रतीतेरवस्तुत्वप्रसिद्धेरित्यर्थः । स्याद्वादकेवलज्ञाने इति निर्देशात् तयोरभ्यर्हितत्वानियमं दर्शयति, परस्परहेतुकत्वात् । न चैवमन्योन्याश्रयः पूर्वसर्वज्ञद्योतितादागमादुत्तरसर्वज्ञस्य केवलोत्पत्तेः ततोप्युत्तरकालमागमद्योतनात् सर्वज्ञागमसन्तानस्यानादित्वात् । केवलज्ञानस्याभ्यर्हितत्वे वा पूर्वनिपाते व्यभिचार सूचयति, शिष्योपाध्यायादिवत् । ततोऽनवद्यो निर्देशः स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने इति । कथं पुनः स्याद्वादः सर्वतत्त्वप्रकाशनः ? यावता 'मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु' इति श्रुतस्यासर्वपर्यायविपयत्वव्यवस्थानमिष्यते, तथैवं विरुध्यते, इति सूत्रविरोधं मन्यते, तदयुक्तं, पर्यायापेक्षया तदनभिधानात् । एवं हि भगवतामभिप्रायोऽत्र 'जीवादयः सप्त पदार्थास्तत्त्वं, 'जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वमि'ति वचनात् । तत्प्रतिपादनाविशेषात् स्याद्वादकेवलज्ञानयोः सर्वतत्त्वप्रकाशनत्वम्' इति न विरोधः । यथैव ह्यागम. परस्मै जीवादितत्त्वमशेषं प्रतिपादयति तथा केवल्यपीति न विशेषः, साक्षादसाक्षाच्च तत्त्वपरिच्छित्तिनिबन्धनत्वात् तद्भेदस्य । तदाह भेदः साक्षादसाक्षाच्चेति । साक्षात्कृतेरेव सर्वद्रव्यपर्यायान् परिच्छिनत्ति नान्यत इति यावत् । न हि वचनात्तान्प्रकाशयति, समुत्पन्नकेवलोपि भगवान्, तेषां वचनागोचरत्वात् । तदेवं स्याद्वादनयसंस्कृतं तत्त्वज्ञानं प्रमाणनयसंस्कृतमिति व्याख्याने, स्याद्वादः प्रमाणं, सप्तभङ्गीवचनविधिर्नैगमादयो बहुविकल्पा नया इति संक्षेपतः प्रतिपादितं, विस्तरतोन्यत्र तत्प्ररूपणात् ॥ १०५ ॥

सम्प्रत्यहेतुवादागमः स्याद्वादो, हेतुवादो नयस्ताभ्यां संस्कृतमलंकृतं तत्त्वज्ञानं प्रमाणं युक्तिशास्त्राविरुद्धं सुनिश्चितासंभवद्बाधकमिति व्याख्यानान्तरमभिप्रायवन्तो भगवन्तो हि हेतुलक्षणमेव प्रकाशयन्ति, स्याद्वादस्य प्रकाशितत्वात् ।

सधर्मणैव साध्यस्य, साधर्म्यादविरोधतः ॥ स्याद्वादप्रविभक्तार्थ–विशेषव्यञ्जको नयः ॥ १०६ ॥

नीयते साध्यते गम्यार्थोऽनेनेति नयो–हेतुः । स च हेतुः सधर्मणैव दृष्टान्तधर्मिणा साधर्म्यात्साध्यस्य साध्यधर्माधिकरणस्य धर्मिणः परमागमप्रविभक्तस्यार्थविशेषस्य शक्यस्याभिप्रेतस्याप्रसिद्धस्य विवादगोचरत्वेन, व्यञ्जको, न पुनर्विपक्षेण साधर्म्यात्, तेन वैधर्म्यादेवाविरोधेन हेतोः साध्यप्रकाशनत्वोपपत्तेः । अत्र ‘ सपक्षेणैव साध्यस्य साधर्म्यादि ’ त्यनेन हेतोस्त्रैलक्षण्य ‘ मविरोधादि ’ त्यन्यथानुपपत्तिं च दर्शयता, केवलस्य त्रिलक्षणस्यासाधनत्वमुक्तं, तत्पुत्रत्वादिवत् । एकलक्षणस्य तु गमकत्व, ‘ नित्यत्वैकान्तपक्षेपि विक्रिया नोपपद्यते’ इति बहुलमन्यथानुपपत्तेरेव समाश्रयणात् । नन्वत्र संक्षेपात् तथाभिधानेपि त्रैलक्षण्यं शक्यमुपदर्शयितुं पञ्चावयववत् । सत्यमेतत्, केवलं, यत्रार्थक्रिया न संभवति तत्र वस्तुतत्त्वं यथा विनाशैकान्त. । तथा च नित्यत्वेपि क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रिया न संभवति, नापरं प्रकारान्तरमिति, त्रिलक्षणयोगेपि प्रधानमेकलक्षणं, तत्रैव साधनसामर्थ्यपरिनिष्ठितेः । तदेव च प्रतिबन्धः पूर्ववद्वीतसंयोग्यादिसकलहेतुप्रतिष्ठापकं, न पुनस्तादात्म्यतदुत्पत्ती प्रतिबन्धः संयोगादिवत, तदभावेपि हेतोः साध्याभावासंभवनियमनिर्णयलक्षणस्य भावे गमकत्वसिद्धेः, शीताचले विद्युत्पातः, केदारे कलकलायितत्वादित्यादिवत्, सत्यपि च तदुत्पत्त्यादिप्रतिबन्धेऽन्यथानुपपन्नत्वाभावे गमकत्वासंभवात्, स श्यामस्तत्पुत्रत्वादितरतत्पुत्रवदित्यादिवत्, अस्त्यत्र धूमोऽग्नेर्महानसवदित्यादिवच्च । सकलविपक्षव्यावृत्तिनिश्चयाभावादस्यागमकत्वेऽन्यथानुपपन्नत्वनिश्चयाभावादेवागमकत्वमुक्तं स्यात् इति तस्यैव लक्षणत्वमस्तु, सकलसम्यग्घेतुभेदेषु कार्यस्वभावानुपलम्भेष्विव पूर्ववत्–शेषवत्–सामान्यतो दृष्टेपु वीतावीततदुभयेषु सयोगिसमवायैकार्थसमवायिविरोधिषु भूतादिषु प्रवर्तमानस्य पक्षव्यापिनः सर्वस्माच्च विपक्षादसिद्धादिहेत्वाभासप्रपञ्चाद् व्यावर्तमानस्यान्यथानुपपन्नत्वस्य हेतुलक्षणत्वोपपत्तेः ।

तथाविधस्यापि तद्लक्षणत्वे हि न किंचित्कस्यचिल्लक्षण स्यादिति लक्ष्यलक्षणभाव एवोच्छिद्येत । सति चान्यथानुपपन्नत्वे प्रतिपाद्याशयवशात् प्रयोगपरिपाटी पञ्चावयवादिरपि न निवार्यते इति तत्त्वार्थालङ्कारे विद्यानन्दमहोदये च प्रपञ्चतः प्ररूपितम् । तत स्याद्वादेत्यादिनानुमितमनेकान्तात्मकमर्थतत्त्वमादर्शयति । तदेव हि स्याद्वादप्रविभक्तोर्थः, प्राधान्यात्—सर्वाङ्गव्यापित्वात् । तस्य विशेषो नित्यत्वादिः पृथक्‌ पृथक् । तस्य प्रतिपादको नयः । इति नयसामान्यलक्षणमप्यनेन दर्शितमिति व्याख्यायते । तथा चोक्तम्—'अर्थस्यानेकरूपस्य, धीः प्रमाणं, तदंशधी' ॥ नयो धर्मान्तरापेक्षी, दुर्णयस्तन्निराकृतिः' ॥१॥ इति । तदनेकान्तप्रतिपत्तिः प्रमाणमेकधर्मप्रतिपत्तिर्नयस्तत्प्रत्यनीकप्रतिक्षेपो दुर्णयः, केवलविपक्षविरोधदर्शनेन स्वपक्षाभिनिवेशात् । ॥ १०६ ॥ किं पुनर्वस्तु स्यादित्याहुः—

नयोपनयैकान्तानां, त्रिकालानां समुच्चयः ॥ अविभ्राड्भावसम्बन्धो, द्रव्यमेकमनेकधा ॥ १०७ ॥

उक्तलक्षणो द्रव्यपर्यायस्थानः सम्ग्रहादिर्नयः, तच्छाखाप्रशाखात्मोपनयः । तदेकान्तानां विपक्षोपेक्षालक्षणानां त्रिकालविषयाणां समितिर्द्रव्यं वस्तु, 'गुणपर्यायवद्द्रव्यम्' इति वचनात् । कः पुनस्तेषां समुच्चयो नामेति चेत्, कथंचिदविभ्राड्भावसबन्ध इत्याचक्षते, ततोन्यस्य समुच्चयस्य सयोगादेरसभवात् द्रव्यपर्यायविशेषाणाम् । न चैवमेकमेव द्रव्यं नयोपनयैकान्तपर्यायाणा तत्तादात्म्यादित्यारेकितव्यं, ततस्तेषां कथंचिद्भेदादनेकत्वमिति वचनात् । तर्ह्यनेकमेवास्तु तादात्म्यविरोधादनेकस्थस्येत्यपि न शङ्कितव्यं, कथंचित्तादात्म्यस्याशक्यविवेचनत्वलक्षणस्याविरोधात्तथाप्रतीते । केवल ततस्तेषामपोद्धाराद्गुणगुण्यादिवत् तदनेकधा । तत' सूक्तं, त्रिकालवर्तिनयोपनयविषयपर्यायविशेषसमूहो द्रव्यमेकानेकात्मकं जात्यन्तरं वस्त्विति ॥१०७॥ अत्र परारेकामुपदर्श्य परिहरन्तः सूरयः प्राहुः—

मिथ्यासमूहो मिथ्या चे-न्न मिथ्यैकान्ततास्ति नः॥ निरपेक्षा नया मिथ्या, सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत् ॥१०८।

सुनयदुर्णययोर्यथास्माभिर्लक्षणं व्याख्यातं तथा न चोद्य न परिहारः, निरपेक्षाणामेव नयानां मिथ्यात्वात् तद्विषयसमूहस्य मिथ्यात्वोपगमात्, सापेक्षाणां तु सुनयत्वात्तद्विषयाणामर्थक्रियाकारित्वात्, तत्समूहस्य वस्तुत्वोपपत्तेः। तथा हि, निरपेक्षत्वं प्रत्यनीकधर्मस्य निराकृतिः, सापेक्षत्वमुपेक्षा, अन्यथा प्रमाणनयाऽविशेषप्रसङ्गात्, धर्मान्तरादानोपेक्षाहानिलक्षणत्वात् प्रमाणनयदुर्णयाना प्रकारान्तरासंभवाच्च, प्रमाणात्तदतत्स्वभावप्रतिपत्तेर्नयात्तत्प्रतिपत्तेर्दुर्णयादन्यनिराकृतेश्च । इति विश्वोपसंहृतिः, व्यतिरिक्तप्रतिपत्तिप्रकाराणामसंभवात् ॥१०८॥

नन्वेवमनेकान्तात्मार्थः कथ वाक्येन नियम्यते यतः प्रतिनियते विषये प्रवृत्तिर्लोकस्य स्यादित्यारेकायामिदमभिदधते—

नियम्यतेऽर्थो वाक्येन, विधिना वारणेन वा ॥ तथान्यथा च सोवश्य–मविशेष्यत्वमन्यथा ॥१०९॥

यत्सत्तत्सर्वमनेकान्तात्मकमर्थक्रियाकारित्वात् स्वविषयाकारसंवित्तिवत् । यद्विवादाध्यासितं वस्तु तत्सर्वं धर्मि प्रत्येयम्, अप्रसिद्धं साध्यमिति वचनात्, तस्यानेकान्तात्मकत्वेन विवादाध्यासितत्वात् साध्यत्वोपपत्तेः । अर्थक्रियाकारित्वादिति हेतुरसिद्धत्वादिदोषानाश्रयत्वात् प्रधानैकलक्षणयोगाच्च । स्वविषयाकारसंवित्तिवदित्युदाहरणं, तथा वादिप्रतिवादिसिद्धत्वात्। सौगतस्य चित्राकारैकसंवेदनोपगमात्, यौगानामीश्वरज्ञानस्य स्वार्थसंवेदिनो मेचकज्ञानत्वोपगमात्, कापिलानामपि स्वरूपबुद्ध्यध्यवसितार्थसंवेदिनः स्वसंवेदनस्येष्टेः, श्रोत्रियाणामपि फलज्ञानस्य स्वसंवेदिनोर्थपरिच्छित्तिरूपस्य प्रसिद्धेः, चार्वाकस्यापि प्रत्यक्षस्य वेदनस्य स्वार्थपरिच्छेदिनोभ्युपगमनीयत्वात् सम्यगिदं साधनवाक्यम् । तथा न किंचिदेकान्तं वस्तुतत्त्वं सर्वथा तदर्थक्रियाऽसंभवाद् गगनकुसुमादिवदिति । अत्रापि विवादापन्नं वस्तुतत्त्वं धर्मि पराध्यारोपितैकान्तत्वेन प्रतिषेध्यं, क्वचित् सत इवारोपितस्यापि प्रतिषेध्यत्वसिद्धेरन्यथा

कस्यचित्परमतप्रतिषेधायोगात् सत एव सञ्ज्ञिनः प्रतिषेधो नासतः इत्यस्याप्यविरोधात्, सम्यगेकान्ते प्रसिद्धस्य रूपस्य सापेक्षस्य निरपेक्षत्वेनारोपितस्य क्वचित्प्रतिषेधात्, 'सर्वथा तदर्थक्रियाभावात्' इति हेतुर्व्यापकानुपलब्धिरूपत्वात्। गगनकुसुमादिवदित्युदाहरणं साध्यसाधनावैकल्याद्गगनकुसुमादेरत्यन्ताभावस्य परैरेकान्तवस्तुरूपत्वसर्वथार्थक्रियाकारित्वयोरनिष्टेः। इतीदमपि श्रेयः साधनवाक्यम्। विशेषेण पुनर्नास्ति सदेकान्तः सर्वव्यापारविरोधप्रसङ्गादसदेकान्तवत्। एतेन विशेषतोऽनेकान्तात्मकः परिणाम्यात्मार्थक्रियाकारित्वात् प्रधानवदित्याद्युपदर्शितम्। इति विधिना प्रतिषेधेन वा वस्तुतत्त्वं नियम्येत तथान्यथा च तस्यावश्यंभावसमर्थनात्। अन्यथा तद्विशिष्टमर्थतत्त्वं विशेष्यमेव न स्याद्विधेः प्रतिषेधरहितस्य प्रतिषेधस्य च विधिरहितस्य विशेषणत्वनिराकरणात् तदुभयरहितस्य च विशेष्यत्वविरोधात् खपुष्पवत्। इत्यनेन विधिप्रतिषेधयोर्गुणप्रधानभावेन सदसदादिवाक्येषु वृत्तिरिति लक्षयति। ततो न तेषां पौनरुक्त्य, येन सप्तभङ्गीविधिरनवद्यो न स्यात् ॥१०९॥ विधिनैव वस्तुतत्त्व वाक्यं नियमयति सर्वथेत्येकान्ते दूपणमुपदर्शयन्ति—

तदतद्वस्तुवागेषा, तदेवेत्यनुशासती ॥ न सत्या स्यान्मृषावाक्यैः, कथं तत्त्वार्थदेशना ॥ ११० ॥

प्रत्यक्षादिप्रमाणविषयभूत विरुद्धधर्माध्यासलक्षणमविरुद्ध वस्तु समायातं, स्वशिरस्ताडं पूत्कुर्वतोपि तदतद्रूपतयैव प्रतीतेः। तदुक्त—'विरुद्धमपि ससिद्धं, तदतद्रूपवेदनम्। यदीदं स्वयमर्थेभ्यो, रोचते तत्र के वयम् ॥ १ ॥' इति। तत्र तदेवेत्येकान्तेन प्रतिपादयन्ती मिथ्यैव भारती, विध्येकान्ते प्रतिषेधैकान्ताभावस्येष्टस्यानभिधानात्, तदभिधाने वा विध्येकान्तप्रतिपादनविरोधात्। न च मृषावाक्यैस्तत्त्वार्थदेशना युक्तिमती। इति कथमनयार्थदेशनम्। इत्येकान्ते वाक्यार्थानुपपत्तिरालक्ष्यते ॥ ११० ॥

प्रतिषेधमुखेनैवार्थं वाक्यं नियमयतीत्येकान्तोपि न श्रेयानिति प्रतिपादयन्ति—

वाक्स्वभावोन्यवागर्थ–प्रतिषेधनिरङ्कुशः ॥ आह च स्वार्थसामान्यं, तादृग् वाच्यं खपुष्पवत् ॥१११॥

वाचः स्वभावोयं येन स्वार्थसामान्य प्रतिपादयन्ती तदपर निराकरोति, न पुनस्तदप्रतिपादयन्ती, स्वार्थसामान्यप्रतिपादनतदन्यनिराकरणयोरन्यतरापायेनुक्तानतिशायनात् । इदंतया नेदंतया वा न प्रतीयेत तदर्थः कूर्मरोमादिवत् । न खलु सामान्य विशेषपरिहारेण विशेषो वा सामान्यपरिहारेण क्वचिदुपलभामहे । अनुपलभमानाश्च कथं स्वं पर वा तथाभिनिवेशेन विप्रलभामहे, विध्येकान्तवदन्यापोहैकान्तस्य प्रागेव व्यासेन निरस्तत्वात् ॥ १११ ॥ भूयोप्यन्यापोहवादिनमाशङ्क्य निराकुर्वते—

सामान्यवाग् विशेषे चे–न्न शब्दार्थो मृषा हि सा ॥ अभिप्रेतविशेषाप्तेः, स्यात्कारः सत्यलाञ्छनः ॥११२॥

अस्तीति सत्सामान्यवाग् केवलमभावविच्छेदाद् विशेषमपोहमाहेति चेत्, कः पुनरपोहः ? किमन्यव्यावृत्तिरुत तथा विकल्पः ? परतो व्यावृत्तिरभावोन्यापोह इष्यते इति चेत्, कथमेव सत्यभाव प्रतिपादयति ? भावं न प्रतिपादयतीत्यनुक्तसमं न स्यात् ? तद्विकल्पोन्यापोहोस्तु मिथ्याभिनिवेशादिति चेत्, न चैतत्तस्य प्रतिपादक मिथ्याविकल्पहेतुत्वाद्व्यलीकवचनवत् । ततो नान्यापोहः शब्दार्थः सिद्ध्यति, येन तत्र प्रवर्तमानास्तीत्यादिसामान्यवाग् मृषैव न स्यात् । ततः स्यात्कारः सत्यलाञ्छनो मन्तव्यः स्वाभिप्रेतार्थविशेषप्राप्तेः । सर्वो हि प्रवर्तमानः कुतश्चिद्वचनात् क्वचित्स्वरूपादिना सन्तमभिप्रेतमर्थं प्राप्नोति, न पररूपादिनानभिप्रेतं, प्रवृत्तिवैयर्थ्यात्, स्वरूपेणेव पररूपेणापि सत्त्वे सर्वस्याभिप्रेतत्वप्रसङ्गात्, परात्मनेव स्वात्मनाप्यसत्त्वे सर्वस्याभिप्रेतत्वाभावात् स्वयमभिप्रेतस्याप्यनभिप्रेतत्वप्रसक्तेश्च ॥ ११२ ॥ नतः स्याद्वाद एव सत्यलाञ्छनो न वादान्तरमित्यतिशाययति भगवान् समन्तभद्रस्वामी ।

विधेयमीप्सितार्थाङ्गं, प्रतिषेध्याविरोधि यत् ॥ तथैवादेयहेयत्व–मिति स्याद्वादसंस्थितिः ॥ ११३ ॥

अस्तीत्यादिविधेयमभिप्रेत्य विधानात्, सर्वत्रैतावन्मात्रलक्षणत्वात विधेयत्वस्य । न हि परिवृढभयादेरनभिप्रेतस्यापि विधाने विधेयत्वं युक्त, वीतरागस्यापि तत्कृतवन्धप्रसङ्गाज्जनापवादानुषङ्गाच्च । नाप्यभिप्रेतस्याप्यविधानेऽविधेयत्वं, तद्योग्यतामात्रसिद्धेरन्यथा विधानानर्थक्यात् । तत एवाभिप्रायशून्यानां किंचिदप्यकुर्वता न किंचिद्विधेयं नापि हेयमभिप्रेत्यहानाभावादुपेक्षामात्रसिद्धेः । तद्विपरीताना तु किंचिद्विधेय, तच्च नास्तित्वादिभिरविरुद्धं, प्रतिपेध्यैरीप्सितार्थाङ्गत्वात्, तस्य तद्विरोधे स्वयमीप्सितार्थहेतुत्वासभवात्, विधिप्रतिपेधयोरन्योन्याविनाभावलक्षणत्वात् स्वार्थज्ञानवत् । न हि स्वार्थज्ञानयोरन्योन्याविनाभावोऽसिद्धः, स्वज्ञानमन्तरेणार्थज्ञानानुपपत्तेः कुटवत् स्वज्ञाने एवार्थज्ञानघटनात् सर्वज्ञज्ञानवत् । न हीश्वरस्यापि स्वज्ञानाभावः, सर्वज्ञत्वविरोधात् स्वसविदितज्ञानाभ्युपगमस्यावश्यभावात् नापि विषयाकारज्ञानमन्तरेण स्वज्ञानं, स्वाकारस्यार्थस्य परिच्छेद्यत्वविरोधात् स्वज्ञानाभावप्रसङ्गात् । तदनवद्यमुदाहरणं प्रकृतं साधयति यथैव च विधेय प्रतिपेध्याविरोधि सिद्धमीप्सितार्थाङ्गं तथैवादेयहेयत्व वस्तुनो, नान्यथा, विधेयैकान्ते कस्यचिद्धेयत्वविरोधात् प्रतिपेध्यैकान्ते कस्यचिदादेयत्वविरोधात् । न हि सर्वथा विधेयमेव सर्वथा प्रतिपेध्यं स्याद्वादिनोभिप्रेतं, येनोभयात्मकत्वे एवादेयहेयत्वं न स्यात्, कथंचिद्विधिप्रतिपेधयोस्तादात्म्योपगमात् । तद्विधेयप्रतिपेध्यात्मविशेपात् स्याद्वादः प्रक्रियते सप्तभङ्गीसमाश्रयात् । यथैव हि विधेयोऽस्तित्वादिविशेषः, स्वात्मना विधेयो न प्रतिपेध्यात्मनेति स्याद्विधेयः सिद्धः । प्रतिपेध्यात्मविशेपश्च विधेयात्मना प्रतिपेध्यो न प्रतिपेध्यात्मना इति स्यात्प्रतिपेध्यः स्यादप्रतिपेध्योन्यथा व्याघातात् । तथैव जीवाद्यर्थः स्याद्विधेयः स्यात्प्रतिपेध्यः । इति सप्तभङ्गीसमाश्रयात् स्याद्वादस्य प्रक्रियमाणस्य सम्यक् स्थितिः, सर्वत्र युक्तिशास्त्राविरोधात्, भावैकान्तादिष्वेव तद्विरोधसमर्थनात् । ततो भगवन्ननवद्यमध्यवसितमस्माभिः, "स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वात्," इति ॥ ११३ ॥ तदेवं प्रारब्धनिर्वहणमात्मनस्तत्फलं

च सूरयः प्रकाशयन्ति—

इतीयमाप्तमीमांसा, विहिता हितमिच्छताम् ॥ सम्यग्मिथ्योपदेशार्थ–विशेषप्रतिपत्तये ॥ ११४ ॥

॥ इति श्रीसमन्तभद्राचार्यविनिर्मितेयमाप्तमीमांसा ॥

इति देवागमाख्ये स्वोक्तपरिच्छेदे शास्त्रे (स्वेनोक्ताः परिच्छेदा दश यस्मिंस्तत् स्वोक्तपरिच्छेदमिति ग्राह्यं, तत्र) विहितेयमाप्तमीमासा सर्वज्ञविशेषपरीक्षा हितमिच्छता निःश्रेयसकामिना, मुख्यतो निःश्रेयसस्यैव हितत्वात् तत्कारणत्वेन रत्नत्रयस्य च हितत्वघटनात्, तदिच्छतामेव न पुनस्तदनिच्छतामभव्यानां, तदनुपयोगात् । तत्त्वेतरपरीक्षां प्रति भव्यानामेव नियताधिकृतिः, तथा मोक्षकारणानुष्ठानात् मोक्षप्राप्त्युपपत्तेः । सम्यग्मिथ्योपदेशार्थविशेषप्रतिपत्तये युक्ताप्तमीमांसा भगवतामाचार्याणां परहितसपादनप्रवणहृदयत्वात्, दर्शनविशुद्धिप्रवचनवात्सल्यमार्गप्रभावनापरत्वाच्च । ततः परमार्हन्त्यलक्ष्मीपरिसमाप्तेः स्वार्थसपत्तिसिद्धिः । सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग इति सम्यगुपदेश', तदन्यतमापाये मोक्षस्यानुपपत्तेः समर्थनात् । ' ज्ञानेन चापवर्गः ' इत्यादिमिथ्योपदेशः, तस्य दृष्टेष्टविरुद्धत्वसाधनात् । तयोरर्थविशेषः सत्येतरविषयभेदः सम्यग्दर्शनादिमिथ्यादर्शनादिप्रयोजनभेदो वा तद्भावनाविशेषो वा मोक्षबन्धप्रसिद्धिभेदो वा । तस्य प्रतिपत्तिरुपादेयत्वेन हेयत्वेन च श्रद्धानमध्यवसायः समाचरण चोच्यते । तस्यै सम्यग्मिथ्योपदेशार्थविशेषप्रतिपत्तये । शास्त्रारम्भेभिष्टुतस्याप्तस्य मोक्षमार्गप्रणेतृतया कर्मभूभृद्भेत्तृतया विश्वतत्त्वानां ज्ञातृतया च भगवदर्हत्सर्वज्ञस्यैवान्ययोगव्यवच्छेदेन व्यवस्थापनपरा परीक्षेयं विहिता । इति स्वाभिप्रेतार्थनिवेदनमाचार्याणामार्यैर्विचार्य प्रतिपत्तव्यम् ॥ ११४ ॥

अत्र शास्त्रपरिसमाप्तौ केचिदिदं मङ्गलवचनमनुमन्यन्ते,—

जयति जगति क्लेशावेशप्रपञ्चहिमांशुमान्, विहतविषमैकान्तध्वान्तप्रमाणनयांशुमान् ॥
यतिपतिरजो यस्याधृष्यान्मताम्बुनिधेर्लवान्, स्वमतमतयस्तीर्थ्या नाना परे समुपासते ॥११५॥

श्रीमदकलङ्कदेवाः पुनरिद वदन्ति— (स्वभाष्यपरिसमाप्तिमङ्गलं)

श्रीवर्धमानमकलङ्कमनिन्द्यवन्द्य—पादारविन्दयुगलं प्रणिपत्य मूर्ध्ना ॥
भव्यैकलोकनयनं परिपालयन्तं, स्याद्वादवर्त्म परिणौमि समन्तभद्रम् ॥ १ ॥ इति ॥

॥ इत्याप्तमीमांसालंकृतौ दशमः परिच्छेदः ॥

परापरगुरुप्रवाहगुणगणसंस्तवस्य मङ्गलस्य प्रसिद्धेर्वय तु स्वभक्तिवशादेवं निवेदयामः—

येनाशेषकुनीतिवृत्तिसरितः प्रेक्षावतां शोषिताः, यद्वाचोप्यकलङ्कनीतिरुचिरास्तत्त्वार्थसार्थद्युतः ॥
स श्रीस्वामिसमन्तभद्रयतिभृद् भूयाद्विभुर्भानुमान्, विद्यानन्दनघनप्रदोऽनघधियां स्याद्वादमार्गाग्रणीः॥१॥
श्रीमदकलङ्कशशधर–कुलविद्यानन्दसंभवा भूयात्। गुरुमीमांसालंकृति–रष्टसहस्री सतामृद्ध्यै ॥२॥
वीरसेनाख्यमोक्षगे, चारुगुणानर्घ्यरत्नसिन्धुगिरिसततम् ॥
सारतरात्मध्यानगे, मारमदाम्भोदपवनगिरिगह्वराथि तु ॥ ३ ॥
अष्टसहस्री सिद्धा, साष्टसहस्रीयमत्र मे पुष्यात्॥ शश्वदभीष्टसहस्रीं, कुमारसेनोक्तिवर्धमानार्था ॥ ४ ॥

॥ इति श्रीमदकलङ्कदेवप्रणीत–भाष्योपबृंहिता श्रीविद्यानन्दसूरिसन्दृब्धेयमष्टसहस्रीवृत्तिः ॥

[स्याद्वादकेवलज्ञान इत्यादि ॥ १०५ ॥ सधर्मणैव साध्यस्येत्यादि ॥ १०६ ॥ नयोपनयैकान्तानामित्यादि ॥ १०७ ॥ मिथ्यासमूहो मिथ्या चेदित्यादि ॥ १०८ ॥ नियम्यतेऽर्थो वाक्येनेत्यादि ॥ १०९ ॥ तदतद्वस्तुवागेषेत्यादि ॥ ११० ॥ वाक्स्वभावोऽन्यवागर्थेत्यादि ॥ १११ ॥ सामान्यवाग्विशेषे चेदित्यादि ॥ ११२ ॥ विधेयमीप्सितार्थाङ्गमित्यादि ॥ ११३ ॥ सर्वं निगदसिद्धम् ॥]

वक्तव्यमेव किल यत्तदशेषमुक्त–मेतावतैव यदि चेतयते न कोऽपि ॥
व्यामोहजालमतिदुस्तरमेव नूनं, निश्चेतनस्य वचसामतिविस्तरेऽपि ॥ १ ॥
विशुद्धिसङ्क्लेशजपुण्यपापे, प्रतिक्रिया यत्र नियम्यते नो ॥
ज्ञानेऽन्यहेतुश्च जिनप्रसादा–द्विना जिनाज्ञा मम सा प्रमाणम् ॥ २ ॥

॥ इति श्रीमदकब्बरसुरत्राणप्रदत्तजगद्गुरुविरुदधारकभट्टारकश्रीहीरविजयसूरीश्वरशिष्यमुख्यमहोपाध्यायश्रीकल्याणविजयगणिशिष्यावतंस-पंडितश्रीलाभविजयशिष्याग्रेसरपंडितश्रीजीतविजयगणि सतीर्थ्यालङ्कारपंडितश्रीनयविजयगणिचरणकमलचञ्चरीकेण पंडितश्रीपद्मविजयगणिसहोदरेण महोपाध्यायश्रीयशोविजयगणिना विरचिते अष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणे दशमः परिच्छेदः ॥

नामपि चारित्रं भवत्येव परं तन्मते सिद्धो नो चरित्री नो अचरित्री चारित्रालब्धिकानां मनःपर्यायवर्जानि चत्वारि ज्ञानानि भजनयेत्यादिसिद्धान्तवचनानुपष्टम्भ इत्येतन्महता प्रबन्धेनोपपादितमस्माभिरध्यात्ममतपरीक्षायामिति तत एवावगन्तव्यम् । तथा वचनं (१०४-२-६) कथञ्चिद्विशेषगुणनिवृत्त्यनिवृत्तिवचनम्, कथमेवमिति, अनन्तसुखस्य कण्ठतोऽनभिधानादयं प्रश्नः । 'सिद्धत्ववचनादिति' तथा च सिद्धत्वेनाक्षेपात्तल्लाभ इति भावः । 'सैव चेति' (१०४-२-६) आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिरेव चेत्यर्थः अभावस्य भावान्तरस्वरूपत्वादिति भावः । यद्यप्येवं दुःखनिवृत्त्युत्तरपरिणाममात्रेतिप्रसङ्गः तथाप्युपस्थितदुःखकारणनिवृत्त्यादेः सुखहेतुत्वस्य लोकशास्त्रसिद्धत्वात्तदत्यन्तनिवृत्त्यादिजन्यमनन्तसुखं मोक्षे सिद्ध्यतीत्यत्र तात्पर्यम् । तदाहुः श्रीहरिभद्राचार्याः ॥ " ❀जं सवसत्तु तह सवत्राहि सवत्थसवमिच्छाणं । खयविगमजोगपत्तीहिं होइ तत्तो अणंतगु(मि)णं ॥१॥ ति, वाचकचक्रवर्त्तिनोऽप्याहुः ॥ " देहमनोवृत्तिभ्यां भवतः शारीरमानसे दुःखे । तदभावात्तदभावे, सिद्धं सिद्धस्य सिद्धिसुखम् ॥१॥ इति । अथान्यत्र शत्रुक्षयादिज्ञानादेव सुखोत्पाददर्शनात् स्वरूपसत्या अत्यन्तदुःखनिवृत्तेरनन्तसुखहेतुत्वमयुक्त

❀ सिद्धसुखविंशिकायाम् ॥ रागाइया सत्तू कम्मुदया वाहिणो इहं नेया । लद्धीओ परमत्था इच्छाणिच्छेच्छमो य तहा ॥२॥ अणुहवसिद्धं एयं नारुग्गसुहं व रोगिणो नवर । गम्मइ इयरेण तहा सम्ममिणं चिंतियव्वं तु ॥३॥ एते अपि तत्रैव । ण य सव्वण्णू वि इम, उवमाभावा चएति परिकहिउ । ण य तिहुयणे वि सरिस, सिद्धसुहस्सावरं अत्थि ॥ १ ॥ इति धर्मसग्रहणौ ॥ जह नाम कोइ मिच्छो नगरगुणे वहुगुणे वियाणंतो । न चएइ परिकहेउं उवमाए तहिं असतीए ॥ १ ॥ जह सव्वकामगुणियं पुरिसोभोत्तूण भोयणं कोइ । तण्हाछुहाविमुक्को अच्छिज्ज जहा अमियतित्तो ॥ २ ॥ इत्याद्यप्यन्यत्र ॥

मिति चेत्, न। मूर्च्छाद्यवस्थाव्यावृत्तज्ञायमानदुःखनिवृत्तेरेव सुखहेतुत्वात्तस्याश्च मुक्तावप्यव्याहतत्वात्, तथापि सिद्धत्वमष्टकर्मक्षयजनितः साद्यनन्तः पारिणामिको भावः, सिद्धिसुखं च वेदनीयकर्मक्षयजनितम्, इति केयं वाचो युक्तिः सिद्धत्वमेवानन्तसुखमिति. समनियतत्वेन चैक्याश्रयणे सिद्धगुणाष्टकोपदर्शकव्याघात इति सिद्धत्वग्रहणेऽप्यनन्तसुखाग्रहणान्न्यूनत्वदोषः सूत्रस्यापरिहृत एवेति चेन्मैवम्, सिद्धत्वेनानन्तं सुखमुपलक्ष्यत इति न न्यूनत्वमित्यत्र तात्पर्यात्, अन्यत्रोपलक्षणत्वेनाविवक्षायां च सूत्रकर्त्तुः स्वतन्त्रेच्छत्वस्यैव शरणत्वात्, अत एवोचुः कंठरवेण विहितसहृदयाल्हादाः क्षमाश्रमणपादाः, "तस्सोदइआईआ भवत्तं च विणिवत्तए समयं। सम्मत्तनाणदंसणसुहसिद्धत्ताइ मोत्तूणं ॥१॥" इति, इत्यपर इति (१०४–२–७) तौतातित इत्यर्थः। तदाहुरुदयनाचार्याः "नित्यनिरतिशयसुखाभिव्यक्तिर्मुक्तिः" इति तौतातितेना इति, सोऽपीति, युक्त्यागमबाधश्च तौतातिततस्य, सुखमात्रस्यादृष्टादजन्यत्वेन नित्यसुखे मानाभावादात्मरूपस्यैव सुखस्योपगमे तन्नित्यतया सुखनित्यत्वे संसारदशायामप्यात्माभिन्नतदभिव्यक्तौ मुक्तिप्रसंगाद्दुःखात्यन्तनिवृत्तेरेव नित्यसुखत्वप्रकारकाभिव्यक्तिहेतुत्वे विशेषणासिद्ध्या तस्याश्रमजनकत्वापत्तेरस्यार्थस्य निष्कर्षे नित्यस्य सुखस्याभिव्यक्तिर्नित्या वा सुखाभिव्यक्तिर्मोक्ष इत्यनुच्छिद्यमानसुखज्ञानधारात्मकमोक्षवादिदीधितिकृन्मतस्यैव पर्यायार्थादेशपेशलमतिप्रपञ्चितस्य साम्राज्यापत्तेः, द्रव्यार्थादेशे तु साद्यनन्तं सुखं तादृशी तदभिव्यक्तिश्चेत्युभयमपि मुक्तौ प्रामाणिकम्, तदाह, 'तदनन्तं सुखमित्यादि' (१०४–२–७) सातसंवेदनस्येति (१०४–२–९) सुखमात्रस्य स्वसंवेदनव्याप्यसत्ताकत्वनियमेनासंवेद्यमानस्य सुखत्वविरोधादित्यर्थः। ते वेदान्तिनः, परमात्मन इति (१०४–२–९) तस्यैव सच्चिदानन्दरूपत्वेन श्रुत्युक्तत्वादित्यर्थः। एवं सम्प्रधार्यम् (१०४–२–१०) एवं विचार-

णीयम्। 'अन्यथा द्वैतप्रसङ्गादिति' (१०४–२–१२) सुखं ब्रह्म चेत्युभयस्य जागरूकत्वादित्यर्थः। अथासुखव्यावृत्तिरेव सुखं ब्रह्मेति न द्वैतप्रसङ्ग इति यदि विभाव्यते, तदाऽतद्व्यावृत्त्याऽनन्तगुणात्मस्वभावावस्थितिरूपमुक्तिवादेऽपि न द्वैतप्रसङ्गो भविष्यतीति सन्तोष्टव्यम्, मन्यतामिति (१०४–२–१४) योगधर्ममहिम्ना जातस्य सर्वविषयकज्ञानस्य नाशकाभावेनाकालमनुवृत्तेरित्यर्थः। न च तपोविशेषफलं सार्वज्ञ्यं शापानुग्रहादिसामर्थ्यवत् कस्यचिदेव, मुक्तिस्तु सर्वस्य नित्यसत्यचिदानन्दस्वरूपैवेत्यपि वक्तुं युक्तम्। सार्वज्ञस्यात्मस्वभावताया व्यवस्थापितत्वात्तत्प्रतिबंधककर्मक्षयस्य सर्वमुक्तसाधारणत्वात्तपोविशेषस्यापि ब्रह्मप्राप्त्यर्थिना सार्वज्ञ्यसिद्धये क्रियमाणत्वाच्चेति दिक्। सौगतमतमुपन्यस्य दूषयति चेऽपीत्यादिना (१०४–२–१४) 'प्रदीपेत्यादि' (१०५–१–१) प्रदीपनिर्वाणोपमं शान्तस्य निर्वाणमित्येतन्मतं यथा युक्त्याभ्युपायेन च बाध्यते पूर्वावस्थात उत्कृष्टजात्यप्राप्तेस्तदर्थिप्रवृत्त्यौपयिकयुक्तिबाधान्नाशस्य निर्हेतुकत्वाभ्युपगमेन कारणबाधाच्च तथा "निराश्रवचित्तसन्तानोत्पत्तिर्मुक्तिः" इति मतमपि आश्रवानाश्रवचित्तानां बन्धमोक्षसामानाधिकरण्यानुरोधार्थमेकद्रव्यान्वयाश्रयणावश्यकत्वे केवलपर्यायोद्देश्यकप्रवृत्त्यनुकूलयुक्तिबाधादाश्रवचित्तध्वंसरूपायास्तस्या निर्हेतुकत्वेनाभ्युपायबाधाच्च, तथा च मोक्षः पुरुषार्थो न स्यात् अनाश्रवचित्तक्षणेष्वेकां जातिमङ्गीकृत्य तदवच्छिन्ने चरमाश्रवचित्तक्षणस्य हेतुत्वे त्वेकैकक्षणस्य कार्यकारणकोटिमध्यप्रवेशे विनिगमकाभावस्तत्तत्क्षणस्य कुर्वद्रूपत्वानिश्चये प्रवृत्त्यभावश्च तात्त्विकोऽयं कार्यकारणभावो व्यावहारिकस्त्वन्य एवेति न मोक्षार्थं मायासूनवीयशास्त्रसिद्धदीक्षादिग्रहणानुपपत्तिरिति चेत्, न। चित्तात्मनः परिणामित्वमविद्यादिशब्दवाच्यमर्थान्तरं योगसामर्थ्यनाश्यं तन्मुक्तियोग्यतां च व्यवहारतो मोक्षार्थिप्रवृत्तेः कथमप्यघटनात्तन्नितयोपगमे च स्याद्वादिमतस्यैव साम्रा-

ज्यादित्यधिकं समर्थितमनेकान्तव्यवस्थायामस्माभिः । '**शरीरेणेति**' (१०५-१-३) शरीरनिवृत्तिरूपे मोक्षे शरीरसहावस्थिततत्त्वज्ञानस्य हेतुत्वायोगादित्यर्थः । **साक्षादिति** (१०५-१-४) साक्षात्काररूपम् अपरोक्षमिथ्याज्ञानेऽपरोक्षतत्त्वज्ञानस्यैव नाशकत्वाद्दिग्मोहादौ तथा दर्शनादिति भावः । **शरीराभावे** (१०५-१-५) इति साक्षात्तत्त्वज्ञानस्य शरीरनिवृत्तिरूपमोक्षहेतुत्वे तदुत्पत्त्यनन्तरं तदभावस्य बलादापत्तेरिति भावः । ननु तत्त्वज्ञानस्य मिथ्याज्ञानादिनिवृत्तिद्वाराशरीरान्तरानुत्पत्तौ कारणता । तथा च न्यायसूत्रं द्वितीयं "दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः" इति । एवं चोत्पन्नतत्त्वज्ञानस्य यावच्छरीरस्थिति नोपदेशविरोध इत्याशङ्क्य दूषयितुमाह, **यदि पुनरित्यादिना** (१०५-१-६) **उपात्तशरीरस्यापीति** (१०५-१-९) एकविंशतिभेदभिन्नदुःखनिवृत्तेरेव नैयायिकसाम्प्रदायिकैर्मोक्षत्वाभिधानादुक्तसूत्रस्य चार्थसिद्धक्रमाभिधानपरत्वादिति भावः । वस्तुतो "मुख्यदुःखध्वंसविशेषो मुक्तिः, इत्यर्वाक्तनमतमप्ययुक्तम्, उत्पन्नानुत्पन्नदुःखविकल्पग्रासेन तस्या अपुरुषार्थत्वादुत्पन्नस्य स्वत एव नाशादनुत्पन्नस्य च नाशयितुमशक्यत्वात्, न च चरमदुःखमुत्पाद्यतत्त्वज्ञानं तन्नाशयतीति न मुक्तेरपुरुषार्थत्वमित्यपि युक्तम्, दुःखे प्रवृत्तेः कथमपि कस्याप्ययोगाच्चरमत्वस्यार्थसमाजसिद्धत्वेन कार्यतानवच्छेदकत्वात् सुखान्तमुक्तेरसम्भवप्रसङ्गाच्चेति दिक् । **तथा चारित्रसहितमिति** (१०५-२-३) ननु केवलज्ञानस्यैव यथाख्यातचारित्रस्य परनिःश्रेयसरूपफलजनने विलम्बस्तुल्य एव परमशुक्लध्यानरूपसमाधेरविलम्बेन तदुत्पत्त्युपगमे च तस्यैव परनिःश्रेयसहेतुत्वमुच्यतां किं ज्ञानचारित्रयोस्तत्कल्पनयेति चेत् न, अन्वयव्यतिरेकाभ्यामागमाच्च ज्ञानचारित्रयोः परनिःश्रेयसहेतुत्वसिद्धावुक्तसमाधेर्द्वारत्वकल्पनेनाविरोधात्, न च मिथ्याज्ञानवासनायाः संसार-

हेतुत्वात्तद्विरोधितत्त्वज्ञानस्यैवोक्तसमाधिद्वारामुक्तिहेतुत्वमिति वाच्यम् । उक्तसमाधिरपि मुक्तिवत्कालान्तरभावित्वेन तत्रापि कर्मनिर्जराद्वारा ज्ञानस्य हेतुत्वे कल्पनीये मुक्तावेव ज्ञानकर्मणोस्तुल्यवत् समुच्चयबोधकागमेन ज्ञानवत्तथा चारित्रस्यापि हेतुताया अवर्जनीयत्वात् । न च "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन" इति वचनात् सञ्चितकर्मनाशे ज्ञानमेव कारणं प्रारब्धनाशस्तु भोगादेव, क्रियमाणं तु योगिकर्ममिथ्याज्ञानवासनाभावान्नादृष्टोत्पादकमिति न क्वापि चारित्रोपयोग इति शङ्कनीयम्, ज्ञानाग्निरित्यादेर्ज्ञानस्तुतिमात्रपरत्वात्, सङ्कोचावश्यकत्वे ज्ञानचारित्रयोः स्वस्वजन्यकर्मनाशे पृथग्घेतुत्वावश्यकत्वाद्विना चारित्रव्यापारमौपक्रमिकफलोपभोगस्य कथमप्यनुपपत्तेः, सम्मतश्चायमर्थः, "तण्डुलस्य यथा चर्म यथा ताम्रस्य कालिका। नश्यति क्रियया पुंसः पुरुषस्य तथा मलम्" ॥१॥ इत्यादि वाशिष्ठग्रन्थादिनापि, नयवादास्तु तपःसंयमज्ञानानां मुक्तिहेतुत्वे भिन्नरुचिरूपतयैव व्यवतिष्ठन्ते, तथा च पारमर्षम् । "तवसंजमो अणुमओ णिग्गंथं पवयणं च ववहारे । सद्दुज्जुसुआणं पुण णिव्वाणं संजमो चेवत्ति" ॥१॥ अलमतिविस्तरेण, **गुणानां** (१०५–२–७) महदादिपरिणामानाम्, **संसारोपपत्तेः** (१०५–२–७) संसारसम्भवदर्शनात्, **परेषां** (१०५–२–८) सांख्यानाम् **संवृत्या** (१०५–२–८) उपचारमात्रेण, **तत्कारणः** (१०५–२–८) तन्मात्रकारणकः, तेन नोपक्रमोपसंहारविरोधः, कारणं चात्रोपादानरूपं ग्राह्यं तेन न वक्ष्यमाणव्याप्त्यनुपपत्तिः, सिद्धान्ते मिथ्याज्ञानाविरत्यादिनानासंसारोपादानाभ्युपगमेऽपि तद्विशिष्टात्मनः कारणस्यैकत्वान्न काप्याशङ्का, पर्यायार्थतया नानोपादानत्वस्य द्रव्यार्थतयैकोपादानत्वस्य चाविरोधादिति द्रष्टव्यम् । **भाष्ये कैमर्थक्येति** (१०६–१–२) मत्वर्थीयाचा किमर्थेत्यर्थः । विशेषेष्टैर्विशेषणमेतद्द्रष्टव्यम् । तत्र सुगतादौ, **साङ्कर्यम्** (१०६–१–४) अन्यत्र परिदृष्टजातीयत्वम्, **विचित्राभिसन्धितानु-**

पपत्तेरिति (१०६–१–२) तथा च विचित्राभिसन्धित्वाभावाद् व्यापारादिसांकर्याभावस्तद्विशेषाच्चातिशयः सर्वज्ञे सिद्ध्यत्येवेति भावः। नन्वसिद्धमेतद्विपरीतव्याप्तेरत आह, ‘ कुतश्चायमिति ’ (१०६–१–३) तत्र (१०६–१–५) सुगतेऽस्य शरीरित्वादेः, सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वात् (१०६–१–५) अप्रयोजकत्वाहितव्यभिचारसंशयास्कन्दितत्वादित्यर्थः। अप्रयोजकत्व-बीजविपक्षबाधकतर्काभावप्रचिकटयिषयाऽऽह, विज्ञानप्रकर्ष इति (१०६–१–५) प्रतिबन्द्या समाधत्ते, ‘ तत एवेत्यादि ’ (१०६–१–६) तत एवाप्रयोजकत्वाहितव्यभिचारसंशयादेव, दुर्बलबलवदनुमानयोरविशेषापन्नं प्रतिवादिनमाक्षिपति– ‘ सोऽयमित्यादि ’ (१०६–१–७) कथमनुन्मत्त इति (१०६–१–८) उन्मत्त एवेत्यर्थः। आक्षेपान्तरमाह, कैम-र्थक्याच्चेत्यादि ’ कैमर्थक्याच्च किमर्थाच्च, सन्तानान्तरे (१०६–१–८) स्वभिन्नयज्ञदत्तादिसन्ताने, तथा स्वस-न्ताने क्षणक्षयस्य स्वर्गप्रापणशक्त्यादेश्च दानादिक्षणभिन्नतया, विशेषस्येष्टिः प्रतिज्ञा, सर्वज्ञत्वाद्यतिशय इव तत्र विप्रकृष्टस्वभाववत्त्वस्याविशेषात्, तत्रापि संशयसम्भवात् तत एव चित्रज्ञानस्य ज्ञानाद्वैतस्य वा विशेष्यस्य कथमिष्टिः कथं वा प्रमाणभूतत्वादिना सुगतगतस्य विशेषस्येति स्वाभ्युपगमविरुद्धमेतदखिलमिति भावः, प्रमाणभूतस्येत्यादिना (१०६–१–९) ‘ प्रमाणभूताय जगद्धितैषिणे प्रणम्य शास्त्रे सुगताय तायिने ’ इति सुगतस्तोत्रप्रतीकोत्कीर्त्तनं कृतं वृत्तिकृता, क्वचित् सामान्ये विशेषव्यभिचारदर्शनात् विशेषहेतावपि तद् दृष्टान्तोपष्टम्भेन व्यभिचारसंशयोद्भावनेऽनुमानमात्रोच्छेदप्रसङ्ग इत्याह, ‘ न चैवं वादिन इति ’ (१०६–१–१०) निरभिसन्धीनामित्यनन्तरम् अनुमानानामिति विपरिणतस्यानुषङ्गः, निर्गतोऽ-भिसन्धिर्विशेषाभिप्रायो येभ्यस्तेषामनुमानानां वह्निचूतत्वादीनां ज्ञायमानलिङ्गानामपि, बहुलं भूम्ना, कार्यस्व भावानियमस्य

(१०६–१–१०) कार्यस्व नावप्रतिबद्धव्याप्यभावस्योपलम्भादन्यत्र तादृगनुमानसहस्रेऽप्यनाश्वासप्रसङ्गादित्यर्थः । दुर्लभविनियमतायां विशिष्टनिश्चयदौर्लभ्येऽकाष्टजातीयादपि वह्निजातीयदर्शनादित्यर्थः, कथमिव निर्णीयेतेति (१०६–१–१२) अवह्निजातीयादपि धूमजातीयसम्भावनादित्यर्थः, वृक्षः शिंशपात्वादिति इत्यपि कथमिव निर्णयेतेति योजनीयम् । लतेति (१०६–१–१३) चूतादेर्वृक्षत्वव्यभिचारित्वेन तज्जातीयतया शिंशपायामपि वृक्षत्वव्यभिचारसंशयसम्भवादित्यर्थः 'अदृष्टेति' अदृष्टे वस्तुन्येकान्ततः संशयत्रादिनां सौगतानामित्यर्थः । सोऽपि प्रतितेरपलापकः (१०६–२–२) सोऽपि सौगतः प्रतीयमानापह्नवकारी, कार्यस्येति कार्यस्य वह्न्यादेः, तादृशतया वह्नित्वादिनैकजातीयतया, प्रतीयमानस्यापि ज्ञायमानस्यापि, कारणविशेषस्य काष्ठादेः, अतिवृत्तेरतिक्रमस्य, दर्शनात्, ननु काष्ठादिजन्यतावच्छेदकतया वह्नौ वैजात्यं कल्पयिष्यते तदवच्छिन्नादेव कारणविशेषोऽनुमास्यत इत्येवं न प्रतीत्यपलापो विशेषापरिज्ञानं तु पुरुषदोषो न तु वस्तुदोष इति नानुपपत्तिरिति मनसि कृत्याह भाष्यकृत् यत्नत इत्यादि, यत्नतः परीक्षितं (१०६–२–३) सूक्ष्मेक्षिकया विशेषे पर्यवसायितम्, कार्यं कारणं नातिवर्त्तते (१०६–२–३) कारणव्यभिचारशङ्कास्पदं न भवतीत्यर्थः । स्तुतं प्रस्तुतमिति (१०६–२–३) अस्माभिः प्रकृतं त्वयाऽभीष्टत्वेन स्तुतिविषयीकृतमित्यर्थः । अनतिवृत्तिरव्यभिचारः, (१०६–२–४) उपचर्यत इति (१०६–२–११) अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनिमहिम्नेत्यर्थः । अनिर्वचनीयप्रभावास्पदत्वं व्यङ्ग्यम्, क्वचिदविप्रतिषेधादिति सुषुप्त्यादौ निराकृतवाचोऽविगानेनोपलम्भादित्यर्थः । पुनः स्मर्येतेति (१०७–१–२) इच्छानुभवस्येच्छास्मृतौ हेतुत्वादित्यर्थः । न च स्मर्यते सुप्तोत्थितेन तस्मात्सुषुप्तावनाकृतवचनहेतुः प्रतिसंविदिताकारेच्छा नास्तीति भावः । तर्ह्यज्ञातनष्टा सा तदा भविष्यतीत्याशङ्कते–

'अप्रतिसंविदिताकारेत्यादि' (१०७-१-३) इच्छायाः स्वसमानाधिकरणज्ञानविषयत्वनियमेनाज्ञाततदसम्भव इत्यर्थः। तदनियम एवेति (१०७-१-१३) वागादिप्रवृत्तेरिच्छापूर्वकत्वानियम एवेत्यर्थः। ननु वचनमात्रे विवक्षाया हेतुत्वात्तन्नियमो भविष्यतीत्यत आह, 'ततश्चैतन्येत्यादि' (१०७-१-१३) चैतन्यकरणपाटवे तावद्वचनं प्रतिनियतो हेतुः, विवक्षा तु कण्ठाद्यभिघातजनकप्रवृत्तिजनकेच्छाजनकेष्टसाधनताज्ञानविषयस्येष्टतासम्पादनार्थं क्वचिदुपयुज्यमाना न नियतहेतुर्वचनहेतोः कण्ठाद्यभिघातस्य विनापीच्छां गोत्रसङ्कलनादावदृष्टविशेषादुपपत्तेस्तद्वदेव वीतरागस्याप्यनाकूतवाचस्तीर्थकरनामकर्मोदयसामर्थ्यादुपपत्तेरिति निगर्वः। ननु सुपुप्तावनाकूतवाचो दोषमहिम्नैव दर्शनाद्दोषजातेर्वाग्घेतुत्वं स्यात्तथा च न निर्दोषस्य सर्वस्य तदुपपत्तिरित्याशङ्क्याह भाष्यकृत्, 'नचेत्यादि' (१०७-२-४) वाक्प्रकर्षापकर्षयोर्दोषजातिप्रकर्षापकर्षाननुविधायित्वान्न तस्यास्तद्धेतुत्वमिति भावः। वाञ्छन्तो वेति (१०७-२-८) वा शब्दोऽप्यर्थः, वक्तुमित्यध्याहार्यम्। तथा च वक्तुं वाञ्छन्तोऽपि मन्दबुद्धयः शास्त्राणां वक्तारो न भवन्तीति विवक्षावचनेन नियतहेतुरिति निर्व्यूढं भाष्ये, बाधनमिति (१०७-२-१०) करणे नट् बाधकमित्यर्थः। परमतापेक्षमिति (१०७-२-१०) परमतत्वस्य वस्तुतः प्रसिद्धत्वाभावादित्यर्थः। परमतप्रसिद्धैनैकान्तनित्यत्वादिना त्वदिष्टमनेकान्ततत्त्वं न बाध्यते तत्प्रसिद्धेरप्रामाण्यशङ्काकलङ्कितत्वात्, त्वदिष्टतत्त्वे च विपर्यये व्याघातदण्डभयेनैव विरोधिशङ्कानुत्थानादिति निर्गलितोऽर्थः, 'तद्व्यवच्छेदनार्थमपीति' (१०७-२-१४) अध्यक्षं हि स्वलक्षणविषयत्वेन प्रमाणम्, अनुमानं तु समारोपव्यवच्छेदकत्वेन च योगिप्रत्यक्षस्यानुमानमूलव्याप्तिग्राहकत्वाभ्युपगमे तत एव समारोपनिवृत्तौ क्वचिदनुमानप्रमाणप्रवर्त्तेतेत्यपेरर्थः, पूर्वापरेति (१०८-१-१) पूर्वं कारणमपरं कार्यं तयोः परामर्शस्तद्ज्ञान-

पूर्वकान्वयव्यतिरेकादिज्ञानं तच्छून्यत्वात्तदेकोपयोगापरिणतत्वात्, अभिलापसंसर्गरहितत्वाच्छब्दाविषयत्वात्, विचारस्य च प्रातिस्विकजात्यपरिचये शब्दावच्छेदेनैव पर्यवसानादिति भावः। प्रत्यक्षानुपलम्भसहकारिण (१०८–१–५) इति प्रत्यक्षं यत्र धूमस्तत्राग्निरित्यन्वयसहचारज्ञानम्, अनुपलम्भो यत्राग्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्तीति व्यतिरेकसहचारज्ञानं तौ सहकारिणौ यस्य स तथा तस्येत्यर्थः। 'यतस्तत्रेति' (१०८–१–९) तत्प्रकारकज्ञानस्यैव तदभावप्रकारकज्ञानविरोधित्वेन निर्विकल्पकस्य च तथात्वेन समारोपाविरोधित्वादित्यर्थः। सन्निधानाभेदात् (१०८–१–१०) सन्निधानतुल्यत्वात्, भावाभावयोरिति (१०८–१–१४) यद्भावे यद्भावः यदभावे च यदभावस्तं प्रति तस्य साधकतमत्वमित्यर्थः ॥६॥ संवेदनाद्वैतवाद्याह–

त्वन्मतामृतबाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम्। आप्ताभिमानदग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते ॥७॥

त्वन्मतमनेकान्तात्मकं वस्तु तज्ज्ञानं च। तदेवामृतम्, अमृतस्य मोक्षस्य कारणत्वात् सर्वथा निर्बाधत्वेन परितोषकारित्वाच्च। ततो बाह्याः सर्वथैकान्तास्तदभिनिवेशिनश्च वादिनः। ते चाप्ताभिमानदग्धा एव विसंवादकत्वेन तत्त्वतोऽनाप्तत्वाद्वयमाप्ता इत्यभिमानेन स्वरूपात्प्रच्यावितत्वाद्दग्धा इव दग्धा इति समाधिवचनत्वात्, तेषां स्वेष्टस्य सदाद्येकान्तस्य दृष्टबाधनात्। अनेकान्तात्मकवस्तुसाक्षात्करणं बहिरन्तश्च सकलजगत्साक्षीभूत विपक्षे प्रत्यक्षविरोधलक्षणमनेन दक्षयति। सदाद्येकान्तविरोधस्यानेकान्तात्मकवस्तुसाक्षात्करणलक्षणत्वाद्, बहिरिवान्तरपि तत्त्वस्यानेकान्तात्मकतया सकलदेशकालवर्तिप्राणिभिरनुभवनात् सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वसिद्धेः। न हि किञ्चिद्रूपान्तरविकलं सदसन्नित्यानित्याद्येकान्तरूपं संवेदनमन्यद्वा सपश्यामो यथात्र प्रतिज्ञायते, चित्रज्ञानवत्कथञ्चिदसङ्कीर्णविशेषैकात्मनः सुखादिचैतन्यस्य वर्णसंस्थानाद्यात्मनः स्कन्धस्य च प्रेपणात्। स्यान्मतं "सुखादिचैतन्यमसंकीर्णविशेषात्मक-

मेव न पुनरेकात्मकं, सुखचैतन्यादाह्लादनाकारान्मेयबोधनाकारस्य विज्ञानस्यान्यत्वाद्, विरुद्धधर्माध्यासस्यान्यत्वसाधनत्वाद्, अन्यथा विश्वस्यैकत्वप्रसङ्गात्" इति तदसत्, चित्रज्ञानस्याप्येकात्मकत्वाभावप्रसङ्गात् पीताकारसंवेदनस्य नीलाद्याकारसंवेदनादन्यत्वात्, तद्वद्विरुद्धधर्माध्यासात्। यदि पुनरशक्यविवेचनत्वात्पीताद्याकारसंवेदनमेकात्मकमुररीक्रियते तदा सुखादिसंवेदनेन कोऽपराधः कृतः? तस्याप्यशक्यविवेचनत्वादेवैकात्मकत्वोपपत्तेः, पीताद्याकाराणामिव सुखाद्याकाराणां चैतन्यान्तरं नेतुमशक्यविवेचनत्वसद्भावात्। तर्ह्येकात्मकमेव सुखादिचैतन्यं न पुनरसंकीर्णविशेषात्मकमित्यपि न मन्तव्यं, चित्रज्ञानस्याप्यसंकीर्णविशेषात्मकत्वाभावप्रसङ्गात्। तथा च सति न तच्चित्रमेकज्ञानवत्। चित्रज्ञाने पीताद्याकारप्रतिभासस्याविद्योपकल्पितत्वादेकात्मकत्वमेव वास्तवमिति चेत्, कथमेकानेकाकारयोः प्रतिभासाविशेषेपि वास्तवेतरत्वप्रविवेकः? एकाकारस्यानेकाकारेण विरोधात्तस्यावास्तवत्वे कथमेकाकारस्यैवावास्तवत्वं न स्यात्? स्वप्नज्ञानेऽनेकाकारस्यावास्तवस्य प्रसिद्धेश्चित्रज्ञानेपि तस्यावास्तवत्वं युक्तं कल्पयितुमिति चेत्, केशादावेकाकारस्याप्यवास्तवत्वसिद्धेस्तत्रावास्तवत्वं कथमयुक्तम्? पीताद्याकारस्य संवेदनादभेदेनैकत्वविरोधाद्भेदे प्रतिभासासम्भवात्, प्रतिभासे वा संवेदनान्तरत्वापत्तेरवास्तवत्वमेवेति चेत्, तत एवैकाकारस्यावास्तवत्वमस्तु, तस्यापि पीताद्याकारप्रतिभासेभ्योनर्थान्तरतायामेकत्वविरोधादर्थान्तरतायां संवित्त्यभावात्, संवित्तौ वा ज्ञानान्तरत्वप्रसक्तेर्विशेषाभावात्। ततो न चित्रज्ञानेऽनेकाकारप्रतिभासस्यैव प्रेक्षावद्भिरवास्तवत्वं शक्यं कल्पयितुम्, येनेदमेवाभिधीयमानं शोभेत "किं स्यात्सा चित्रतैकस्या न स्यात्तस्यां मतावपि। यदीदं स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम्" ॥१॥ इति। पुनरिदमपि, "किं नु स्यादेकता न स्यात्तस्यां चित्रमतावपि। यदीदं रोचते बुद्ध्यै चित्रायै तत्र के वयम्" ॥२॥ इति। ननु चैकस्या मतौ चित्रतापायेपि संवेदनमात्रस्य भावान्न स्वरूपस्य स्वतो गतिर्विरुध्यते। संवेदनमात्रस्य त्वपाये सा विरुध्येतेति चेत्, न,

तदभावेपि नानापीतादिप्रतिभाससद्भावात्तदविरोधात् । नन्वेवं 'नीलवेदनस्यापि प्रतिपरमाणु भेदान्नीलाणुसवेदनैः परस्परं भिन्नैर्भवितव्यम् । तत्रैकनीलपरमाणुसवेदनस्याप्येवं वेद्यवेदकसंविदाकारभेदात्त्रितयेन भवितव्यम् । वेद्याकारादिसंवेदनत्रयस्यापि प्रत्येकमपरस्ववेद्याकारादिसवेदनत्रयेण इति परापरवेदनत्रयकल्पनादनवस्थानान्न क्वचिदेकवेदनसिद्धिः सविदद्वैतविद्विषाम् । क्वचिदप्येकात्मकत्वानभ्युपगमे च कुतो नानात्मव्यवस्था ? वस्तुन्येकत्रापरैकवस्त्वपेक्षयानेकत्वव्यवस्थोपपत्तेः । क्वचिदैक्योपगमे वा कथं चित्रमतौ नैक्यमविरुद्धं ? चित्राकारापायेपि तस्य सम्भवात् ।' इति कश्चित्, सोऽप्यप्रेक्षापूर्ववादी, तथा सति चित्रज्ञाने संविदाकारवदेकस्य पीताकारस्य नीलाकारस्य च सद्भावसिद्धौ परस्परापेक्षयानेकत्वसिद्धेरनेकचैतन्यव्याप्तस्यानेकाकारस्य चित्रज्ञानस्यान्तरेकानेकात्मकत्वसाधने निदर्शनत्वोपपत्तेः । स्यान्मतं, सुखादीनां चैतन्यं व्यापकं भवत् किमेकेन स्वभावेन भवत्यनेकेन स्वभावेन वा ? यद्येकेन तदा तेषामेकस्वरूपत्वापत्तिः । अथानेकेन तदा सोऽप्यनेकस्वभावः परेणानेकेन स्वभावेन व्यापनीय इत्यनवस्था । अथैकादशेन स्वभावेन सुखादयश्चैतन्येन व्याप्यन्ते तदानेकेन स्वभावेन सजातीयेनेत्युक्तं स्यात् । तत्र च सैवानवस्था । न च गत्यन्तरमस्ति येन सुखादिव्याप्यैक चैतन्यं सिद्ध्येदिति । तदेतच्चित्रज्ञानेपि समानम् । तस्य पीताद्याकारव्यापिनः स्वयं संवेदनान्न दोष इति चेत्, सुखादिव्यापिनश्चैतन्यस्य सह क्रमेण च स्वयं सवेदनात्कथमुपालम्भः स्यात् ? न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम । न च सुखादीना चैतन्यव्याप्तत्वसवेदनं भ्रान्तम्, अचेतनत्वग्राहिप्रमाणाभावात् । अचेतनाः सुखादयः, उत्पत्तिमत्त्वाद्, घटादिवदित्यनुमानं सुखाद्यचेतनत्वग्राहीति चेत्, न, तस्य प्रत्यक्षबाधितविषयत्वात्, चित्समन्वितानामेव सुखादीनां स्वसवेदनप्रत्यक्षे सर्वदाप्रतिभासनात् । अनुमानविरुद्धश्च पक्षः । तथा हि । चेतना सुखादयः, स्वसवेद्यत्वात् पुरुषवत् । पुरुषससर्गात्तेषा स्वसंवेद्यत्वात्स्वतः सवेद्यत्वमसिद्धमिति चेत्, न,

जातुचिदस्वसंवेद्यत्वाऽप्रतीतेस्तथा वक्तुमशक्तेः, अन्यथा पुरुषस्य स्वसवेद्यसुखादिसंबन्धात्स्वसंवेद्यत्वं, न स्वत इति वदतो निवारयितुमशक्यत्वात्, चैतन्यविशेषेण हेतोर्व्यभिचारप्रतिपादनाच्च, न ततोऽचेतनत्वसिद्धिः, सुखादीनाम् । न चैषां चेतनत्वसाधनेऽपसिद्धान्तः स्याद्वादिनां प्रसज्येत, चैतन्यजीवद्रव्यार्थादेशाच्चेतनत्वप्रसिद्धेः, सकलौपशमिकादिभावानां सुखज्ञानादिप्रतिनियतपर्यायार्थादेशादेव सुखादीनां ज्ञानदर्शनाभ्यामन्यत्ववचनात् । तथापि ज्ञानात्मकाः सुखादयो, ज्ञानाभिन्नहेतुजत्वाद्विज्ञानान्तरवदिति चेत्, न, सर्वथा विज्ञानाभिन्नहेतुजत्वासिद्धत्वात्, सुखादीनां सद्वेद्योदयादिनिमित्तत्वाद्विज्ञानस्य ज्ञानावरणान्तरायक्षयोपशमादिनिबन्धनत्वात् । कथञ्चिद्विज्ञानाभिन्नहेतुजत्व तु रूपालोकादिनानैकान्तिकं, यथैव हि ततो विज्ञानस्योत्पत्तिस्तथा रूपालोकादिक्षणान्तरोत्पत्तिरपीति परैः स्वयमभिधानात् । तदेतेन यदभ्यधायि "तदतद्रूपिणो भावास्तदतद्रूपहेतुजाः । तत्सुखादिकिमज्ञानं विज्ञानाभिन्नहेतुजम्" ॥१॥ इति तदपास्तं, सुखादीना विज्ञानरूपत्वासिद्धेः । " सुखमाह्लादनाकारं विज्ञानं मेयबोधनम् । शक्तिः क्रियानुमेया स्याद्यूनः कान्तासमागमे" ॥१॥ इति वचनादतद्रूपाः सुखादय इति । अतद्रूपाणां तद्रूपोपादानत्वे सर्वस्य सर्वोपादानत्वप्रसक्तिः । न च सुखादयो विज्ञानाभिन्नोपादानाः स्युः । विज्ञानाभिन्नसहकारित्वं तु यथा सुखादीनां तथा रूपादीनामपि । इति ततस्तेषां विज्ञानात्मकत्वसाधने रूपादीनामपि तथात्वसाधनं स्यात् । तदुक्तं "तदतद्रूपिणो भावास्तदतद्रूपहेतुजाः । तद्रूपादि किमज्ञानं विज्ञानाभिन्नहेतुजम्" ॥१॥ इति । यदि पुनरिन्द्रियहेतुजत्वं विज्ञानाभिन्नहेतुजत्वमित्यभिधीयते, तदपि न सुखादीनां ज्ञानत्वं साधयति, द्रव्येन्द्रियानिन्द्रियैर्व्यभिचारात् । इति नैकान्ततो ज्ञानात्मकाः सुखादयो, द्रव्यार्थत एव तेषां चेतनत्वोपपत्तेः, चेतनद्रव्यादात्मनोऽनर्थान्तरभूतानामचेतनत्वविरोधात् । एतेन ज्ञानादर्थान्तरभूतत्वात्सुखादीनामचेतनत्वमेवेति वदन्तोऽपाकृताः प्रत्येतव्याः, चेतनादात्मनोऽनर्थान्तरत्वेन कथञ्चिचेतनत्वसिद्धेः । आत्मनश्चेतनत्वम-

सिद्धमिति चेत्, न, तस्य प्रत्यक्षप्रसिद्धत्वात्। तथात्मा चेतनः, प्रमातृत्वाद्, यस्त्वचेतनः स न प्रमाता, यथा घटादिः, प्रमाता चात्मा, तस्माच्चेतन इत्यनुमानाच्च तत्सिद्धम्। प्रमितिस्वभावचेतनासमवायादात्मनि चेतनत्वसाधने सिद्धसाध्यतेति चेत्, न, स्वयं सामान्यतश्चेतनत्वसाधनात्, तदभावे चेतनाविशेषप्रमितिसमवायायोगात्पटादिवत्, कथञ्चित्तादात्म्यस्यैव समवायस्य साधनात्। चेतनादप्यात्मनः कथमभिन्नाः सुखादयो, भिन्नप्रतिभासविरोधादिति चेत्, न, तत्र सर्वथा भिन्नप्रतिभासस्यासिद्धत्वात्, कथञ्चिद्भिन्नप्रतिभासस्य कथञ्चिदभेदाविरोधात्, चित्रज्ञानवदेव सुखाद्यात्मनः पुरुषस्यैकस्य घटनात्, सर्वेषामेकानेकात्मनश्चित्रज्ञानस्येष्टत्वात्। तत्सिद्धं चित्रज्ञानवत्कथञ्चिदसङ्कीर्णविशेषैकात्मनः सुखादिचैतन्यस्य प्रेक्षणं तथा वर्णसंस्थानाद्यात्मन. स्कन्धस्य च। न हि वर्णादीनामेव प्रेक्षणं प्रत्यक्षबुद्धौ, न पुनः स्कन्धस्यैकस्येति कल्पनमुपपन्न, सर्वाग्रहणप्रसङ्गात्, स्कन्धव्यतिरेकेण वर्णादीनामनुपलम्भात् स्कन्धस्यैवासत्त्वात्। अथ 'प्रत्यासन्नासंसृष्टा रूपादिपरमाणवः प्रत्यक्षाः, तेषां स्वकारणसामग्रीवशात्प्रत्यक्षसंविज्जननसमर्थानामेवोत्पत्ते., स्कन्धस्यापि तत एव परेषां प्रत्यक्षतोपपत्तेरन्यथा सर्वस्कन्धाना प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्, स्कन्धत्वाविशेषात्। तदविशेषेपि केषाञ्चित्प्रत्यक्षत्वे परेषामप्रत्यक्षस्वभावत्वे पिशाचशरीरादीना तथा स्वकारणादुत्पत्तेः परमाणूनामपि केषाञ्चित्प्रत्यक्षत्वमन्येषामप्रत्यक्षत्वं तत एवास्तु, किमवयविपरिकल्पनया? तस्याऽमूल्यदानक्रयित्वात्। स हि प्रत्यक्षे स्वात्मानं न समर्पयति प्रत्यक्षता च स्वीकर्तुमिच्छतीत्यमूल्यदानक्रयी, विकल्पबुद्धावेव तस्य प्रतिभासनाद्विचार्यमाणस्य सर्वथानुपपन्नत्वात्' इति मतं तदप्यसंगतमेव, प्रत्यासन्नासंसृष्टपरमाणूनां तथात्वेन कस्यचित्कदाचिन्निश्चयासत्त्वात् प्रत्यक्षतानुपपत्तेः, स्कन्धस्यैव स्फुटमध्यक्षेऽवभासनात् तथा निश्चयनाच्च प्रत्यक्षत्वघटनात्। न च परमाणुवत्सर्वे स्कन्धाः समपरिमाणा एव, येन केषाचित्प्रत्यक्षत्वे सर्वेषा प्रत्यक्षस्वभावता स्यात्, अणुमहत्त्वादिपरिमाणभेदेन तेषामदृश्येतरस्वभावभेदाद्भेदसिद्धेः। न

चायममूल्यदानक्रयी, प्रत्यक्षे स्वसमर्पणेन प्रत्यक्षतास्वीकरणात्, सर्वथा विचार्यमाणस्यापि घटनात् । विचारयिष्यते चैतत्पुरस्तात् ।

अपरः प्राह, स्कन्ध एव, न वर्णादयस्ततोऽन्ये सन्ति, तस्यैव चक्षुरादिकरणभेदाद्वर्णादिभेदप्रतिभासनात्, किञ्चिदङ्गुलिपिहितनयनभेदाद्दीपकलिकाभेदप्रतिभासनवदिति, तदप्यसम्यक्, सत्ताद्यद्वैतप्रसङ्गात्। शक्यं हि वक्तुं सत्तैवैका, न द्रव्यादयस्ततोऽर्थान्तरभूताः सन्ति, कल्पनाभेदात्तद्भेदप्रतिभासनादिति । न चैतद्युक्तमिति निवेदयिष्यते । ततश्चित्रज्ञानवन्न केवलं सुखाद्यात्मनश्चैतन्यस्य प्रेक्षणं सिद्धम् । कि तर्हि ? वर्णसंस्थानाद्यात्मनः स्कन्धस्यापि । ततः सूक्तं न हि किञ्चिद्रूपान्तरविकलं सदेकान्तरूपमसदेकान्तरूपं वा, नित्यैकान्तरूपमनित्यैकान्तरूपं वा, अद्वैतैकान्तरूपं द्वैताद्येकान्तरूपं वा, संवेदनमन्तस्तत्त्वमन्यद्वहिस्तत्त्वं संपश्यामो, यथा प्रतिज्ञायते सर्वथैकान्तवादिभिरिति । सामान्यविशेषैकात्मनः संवित्तिरेकान्तस्यानुपलब्धिर्वा सर्वतः सिद्धा चक्षुरादिमतामनार्हतकल्पनामस्तङ्गमयतीति किं नः प्रमाणान्तरेण । न तावत्सामान्यैकान्तस्योपलब्धिर्विशेषस्याप्युपलब्धेः । नापि विशेषैकान्तस्य, सामान्यस्यापीक्षणात् । न सामान्यविशेषैकान्तयोरेव परस्परनिरपेक्षयोः, एकात्मनोप्युपलक्षणात्। न चैकात्मन एव सामान्यविशेषैकात्मनः, ततो जात्यन्तरस्य संवित्तेः। सर्वं हि वस्तु सामान्यं विशेषापेक्षया विशेषः सामान्यापेक्षया वाऽपोद्धारकल्पनायां, स्वरूपेण तु सामान्यविशेषात्मकमेकम्। तस्य संवित्तिश्चक्षुरादिमतामनार्हतकल्पनामस्तङ्गमयति, चक्षुरादिविकलानामेव तत्संभवात् । एकान्तस्यानुपलब्धिर्वा तामस्तङ्गमयतितत एव । तथा हि । नास्ति सर्वथैकान्तः, सर्वदानेकान्तोपलब्धेरिति स्वभावविरुद्धोपलब्धिः, नास्ति सर्वथैकान्तोऽनुपलब्धेरिति स्वभावानुपलब्धिर्वा सर्वतश्चक्षुरादेः संवेदनात्सिद्धाऽध्यवसीयते । ननु च ‘ सर्वथैकान्तस्य क्वचित्कदाचिदुपलब्धौ न सर्वत्र सर्वदा प्रतिषेधः सिद्ध्येत्। तस्यानुपलब्धौ नानेकान्तेन विरोधः, सत एव कथञ्चित्केनचिद्विरोधप्रतीतेः । प्रतिषेधश्च न स्यात्, तत एव । ’ इति कश्चि

तदसत्, सर्वथैकान्तस्याध्यारोप्यमाणस्य प्रतिषेधसाधनात् तद्विरुद्धोपलब्धिसिद्धेस्तत्स्वभावानुपलब्धिसिद्धेश्च, स्वयमन्यथा कस्यचिदनिष्टतत्त्वप्रतिषेधायोगादिष्टतत्त्वनियमानुपपत्तेः अथवा प्रत्यक्षमेव सामान्यविशेषात्मकमेकं वस्तु विदधत्सर्वथैकान्तप्रतीतिं प्रतिषेधयतीति किं नः प्रमाणान्तरेणानुमानेनानुपलब्धिलिङ्गेन समर्थनापेक्षेण ? प्रयासमन्तरेणेष्टानिष्टतत्त्वविधिप्रतिषेधसिद्धेः। न हि दृष्टाज्ज्येष्ठं गरिष्ठमिष्टं, तदभावे प्रमाणान्तराप्रवृत्तेः समारोपविच्छेदविशेषाच्च। ननु च दृष्टं प्रत्यक्षमिष्टं पुनरनुमानादि प्रमाणम्। तत्र यथा दृष्टं ज्येष्ठम्, अनुमानादेरग्रेसरत्वात्, तथानुमानाद्यपि प्रत्यक्षात्, तस्यापि तदग्रेसरत्वात्, क्वचिदनुमानाद्युत्तरकालं प्रत्यक्षस्य प्रवृत्त्युपलक्षणत्वात्। यथा च "दृष्टमविसंवादकत्वाद्गरिष्ठमिष्टात् तथेष्टमपि दृष्टात्," तदविशेषात्। ततः कथं दृष्टमिष्टाज्ज्येष्ठं गरिष्ठं च व्यवतिष्ठते, न पुनरिष्टं दृष्टादिति न चोद्यमनवद्यं, दृष्टस्य लिङ्गादिविषयस्याभावेऽनुमानादे. प्रमाणान्तरस्याप्रवृत्तेः, अनुमानान्तराल्लिङ्गादिप्रतिपत्तावनवस्थाप्रसङ्गात् प्रत्यक्षस्यैव नियतसकलप्रमाणपुरस्सरत्वप्रसिद्धेर्ज्येष्ठत्वोपपत्तेः प्रत्यक्षस्यानुमानादिना विनैव प्रवृत्तेरनुमानादेर्दृष्टात्पुरस्सरत्वाभावात्, ततो ज्येष्ठत्वायोगाद्, दृष्टस्यैव चेष्टाद्गरिष्ठत्वात् समारोपविच्छेदविशेषात्। न हि यादृशो दृष्टात्समारोपविच्छेदो विशेषविषये प्रतिनिवृत्ताकाङ्क्षोऽक्षूणतया लक्ष्यते तादृशोनुमानादेः, तेन सामान्यतः समारोपस्य व्यवच्छेदनात्, दृष्टस्यान्वयव्यतिरेकयोः स्वभावभेदप्रदर्शनार्थत्वाच्च गरिष्ठत्वसिद्धेः। प्रत्यक्षमेव हि स्वविषये सामान्यविशेषात्मकत्वान्वयस्य विधिलक्षणस्य सर्वथैकान्तव्यतिरेकस्य च प्रतिषेधलक्षणस्य स्वभावभेदप्रदर्शनप्रयोजनमुपलक्ष्यते साक्षात्, न पुनरनुमानादि तस्य सामान्यतस्तत्प्रदर्शनप्रयोजकत्वात्। किमर्थं पुनरार्हतस्येष्टस्य प्रसिद्धेनाबाधनं भगवतोर्हतः परमात्मकत्वं चाभिधाय सर्वथैकान्तस्य दृष्टेन बाधनं स्वयमसम्मतस्य, कपिलादीनां परमात्मत्वाभावं च सामर्थ्यलभ्यमपि ब्रवीति ग्रन्थकार इति चेत्, अनेकान्तैकान्तयोरुपलम्भानुपलम्भयोरेकत्वप्रदर्शनार्थं तावदुभयमाह मतान्तरप्रतिक्षेपार्थं वा,

यदाह धर्मकीर्तिः, साधर्म्यवैधर्म्ययोरन्यतरेणार्थगतावुभयप्रतिपादनं पक्षादिवचनं वा निग्रहस्थानमिति । न तद्युक्तम् । कुत इति चेत्, साधनसामर्थ्येन विपक्षव्यावृत्तिलक्षणेन पक्षं प्रसाधयतः केवल वचनाधिक्योपालम्भच्छलेन पराजयाधिकरणप्राप्तिः स्वयं निराकृतपक्षेण प्रतिपक्षिणा लक्षणीयेति वचनात् । यथोक्तेन हि साधनसामर्थ्येन स्वपक्षं साधयतः सद्वादिनः सभ्यसमक्षं जय एवेति युक्तं, न केवलं वचनाधिक्योपालम्भव्याजेन पराजयाधिकरणप्राप्तिः साधीयसी, स्वसाध्यं प्रसाध्य नृत्यतोऽपि दोषाभावाल्लोकवत् । सा च स्वयं निराकृतपक्षेण प्रतिवादिना लक्षणीयेत्यपि न युक्तं, परेण निराकृतपक्षस्यैव पराजयप्राप्तियोग्यत्वनिश्चयाल्लोकवदेव । यदि पुनः स्वपक्षमसाधयतो वादिनो वचनाधिक्येन प्रतिवादी पराजयप्राप्तिं लक्षयेत् तदा स्वपक्षं साधयन्नसाधयन्वा ?, प्रथमपक्षे स्वपक्षसिद्ध्यैव परस्य पराजितत्वाद्वचनाधिक्योद्भावनमनर्थकं, तस्मिन् सत्यपि पक्षसिद्धिमन्तरेण जयायोगात् । द्वितीयपक्षे तु युगपद्वादिप्रतिवादिनोः पराजयप्रसङ्गो जयप्रसङ्गो वा, स्वपक्षसिद्धेरभावाविशेषात् । स्यान्मतं ' न स्वपक्षसिद्ध्यसिद्धिनिबन्धनौ जयपराजयौ, तयोर्ज्ञानाज्ञाननिबन्धनत्वात् । तत्र साधर्म्यवचने वैधर्म्यवचनेपि वार्थस्य प्रतिपत्तौ तदुभयवचनात्साधनवचनसामर्थ्याज्ञानं वादिनः स्यादेव । प्रतिवादिनस्तु तदुद्भावयतस्तज्ज्ञानम् । अतस्तद्धेतुकौ तयोर्जयपराजयौ कथमयुक्तौ स्याताम् ? ' इति, तदपि न परीक्षाक्षमं वादिप्रतिवादिनोः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहवैयर्थ्यप्रसङ्गात् कचिदेकत्रापि पक्षे ज्ञानाज्ञानयोः सम्भवात् । न हि शब्दादौ नित्यत्वस्यानित्यत्वस्य वा ज्ञानाज्ञानपरीक्षायामेकस्य तद्विज्ञानमपरस्य तदविज्ञानं जयस्य पराजयस्य वा निबन्धनं न सम्भवति साधनसामर्थ्यज्ञानाज्ञानवत् । युगपत्साधनसामर्थ्यज्ञाने च वादिप्रतिवादिनोः कस्य जयः पराजयो वा स्यात् ? तदविशेषात् । न कस्यचिदिति चेत्, तर्हि साधनवादिनो वचनाधिक्यकारिणो यथा साधनसामर्थ्याज्ञानं तथा प्रतिवादिनोपि वचनाधिक्यदोषोद्भावनात् तस्य तद्दोषमात्रे ज्ञानसिद्धे. । न हि यो यद्दोषं

वेत्ति स तद्गुणमपि, कुतश्चिन्मारणशक्तौ विदितायामपि विपद्रव्यस्य कुष्टापनयनादिशक्तौ वेदनानुदयात्। ततो न जयः पराजयो वा स्यात्। स्यान्मतं 'साधनवादिना साधु साधनं वक्तव्यं दूषणवादिना च तद्दूषणम्। तत्र वादिनः प्रतिवादिना सभायामसाधनाङ्गवचनस्योद्भावने साधु साधनाभिधानाज्ञानसिद्धेः पराजयः प्रतिवादिनस्तु तद्दूषणज्ञाननिर्णयाज्जयः स्यात्' इति, तदप्यपेशलं, विकल्पानुपपत्तेः। स हि प्रतिवादी निर्दोषसाधनवादिनो वचनाधिक्यमुद्भावयेत्साधनाभासवादिनो वा ? प्रथमविकल्पे वादिनः कथं साधनस्वरूपाज्ञानम् ? तद्वचने इयत्ताज्ञानस्यैवाभावात्। द्वितीयविकल्पे तु न प्रतिवादिनो दूषणज्ञानमवतिष्ठते, साधनाभासस्यानुद्भावनात्तद्विज्ञानासिद्धेः। तद्वचनाधिक्यदोषस्य ज्ञानाद्दूषणज्ञोऽसाविति चेत्, साधनाभासाज्ञानाददूषणज्ञोपीति नैकान्ततो वादिन जयेत्, तद्दोषोद्भावनलक्षणस्य पराजयस्यापि निवारयितुमशक्तेः। अथ वचनाधिक्यदोषोद्भावनादेव प्रतिवादिनो जयसिद्धौ साधनाभासोद्भावनमनर्थकमिति मन्यसे, नन्वेवं साधनाभासानुद्भावनात्तस्य पराजयसिद्धौ वचनाधिक्योद्भावनं कथं जयाय प्रकल्प्येत ? यदि पुनः साधनाभासं वचनाधिक्यं चोद्भावयन्प्रतिवादी जयतीति मतं तदास्य महती द्विष्टकामिता, साधर्म्यवचनादेवार्थगतौ वैधर्म्यवचनमनर्थकत्वाद्विष्टा साधनाभासोद्भावनादेव परस्य न्यक्कारसिद्धौ तद्वचनाधिक्योद्भावनस्यानर्थकस्यापि कामितत्वात्। अथ न वचनाधिक्यमात्रं द्विष्यते, अर्थादापन्नस्य स्वशब्देनाभिधानस्य द्विष्टत्वादिति मतं तदपि न सङ्गतं, निगमनवचनदोषस्य प्रतिज्ञावचनदोषोद्भावनाद्गतस्यानुद्भावनप्रसङ्गात्। प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं हि निगमनम्। तच्च प्रतिज्ञावचनस्य दुष्टत्वप्रतिपत्तौ दुष्टं सामर्थ्यात्प्रतीयते एव। अथार्थादापन्नस्यापि निगमनवचनदुष्टत्वस्योद्भावनमदोषोद्भावनभयादभिमन्यते तर्हि साधर्म्यवचनाद्वैधर्म्यस्यार्थायातस्याप्यसाधनाङ्गवचनभयादभिधानं मन्यतां, विशेषाभावात्। न हि साधर्म्यमेव वा साधनस्याङ्गं, पक्षधर्मत्ववत्तदुभयस्यापि साधनाङ्गत्वात, साधनस्य त्रिरूपत्वप्रतिज्ञानात्।

ततो न ज्ञानाज्ञानमात्रनिवन्धनौ जयपराजयौ शक्यव्यवस्थौ, यथोदितदोपोपनिपातात् । स्वपक्षसिद्ध्यसिद्धिनिवन्धनौ तु तौ निरवद्यौ, पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहवैयर्थ्याभावात् कस्यचित्कुतश्चित्स्वपक्षसिद्धौ सुस्थितायां परस्य पक्षसिद्धेरसंभवात् सकृत्तज्जयपराजययोरप्रसक्तेः । न हि वादिना साध्याविनाभावनियमलक्षणेन हेतुना स्वपक्षसिद्धौ विधातुं शक्यायामपि प्रतिज्ञोदाहरणादिवचनमनर्थकमपजयाय प्रकल्प्यते, तद्विघाताहेतुत्वात्ततः प्रतिपक्षासिद्धेः, प्रतिपाद्याशयानुरोधस्तत्प्रयोगात्तत्प्रतिपत्तिविशेपस्य प्रयोजनस्य सद्भावात् । नापि हेतोर्विरुद्धतोद्भावनादेव प्रतिवादिनः स्वपक्षसिद्धौ सत्यामपि दोपान्तरानुद्भावनं तस्य पराजयाय प्रकल्प्यते, तत एव । एतेन स्वपक्षसिद्धौ कृतायामपि परपक्षनिराकरणं, तस्मिन्वा स्वपक्षसाधनाभिधानं न वादिप्रतिवादिनोर्जयप्राप्तिप्रतिवन्धकमिति प्रतिपादितं बोद्धव्यम् । तदेवं साधर्म्यवैधर्म्ययोरन्यतरेणार्थगतौ तदुभयवचनं वादिनो निग्रहाधिकरणमित्ययुक्तं च व्यवस्थितम् । प्रतिज्ञादिवचनं निग्रहस्थानमित्येतत्कथमयुक्तमिति चेत्, उच्यते । प्रतिज्ञानुपयोगे शास्त्रादिष्वपि नाभिधीयेत, विशेषाभावात् । न हि शास्त्रे प्रतिज्ञा नाभिधीयते एव अनियतकथायां वा, अग्निरत्र धूमात्, वृक्षोयं शिंशपात्वादित्यादिवचनानां शास्त्रे दर्शनात्, विरुद्धोऽयं हेतुरसिद्धोऽयमित्यादिप्रतिज्ञावचनानामनियतकथायां प्रयोगात् । परानुग्रहप्रवृत्तानां शास्त्रकाराणां प्रतिपाद्यावबोधनाधीनधियां शास्त्रादौ प्रतिज्ञाप्रयोगो युक्तिमानेव, उपयोगित्वात्तस्येति चेत्, वादेपि सोस्तु, तत्रापि तेपां तादृशत्वात्, वादेऽपि विजिगीषुप्रतिपादनायाचार्याणां प्रवृत्तेः । नियतकथाया प्रतिज्ञाया न प्रयोगो युक्तः, तद्विपयस्यार्थाद्गम्यमानत्वान्निगमनादिवदिति चेत्, तत एव शास्त्रादिष्वपि । न हि तत्र जिगीपवो न प्रतिपाद्याः प्रतिज्ञादिविषयो वा सामर्थ्यान्न गम्यते । शास्त्रादावजिगीषूणामपि प्रतिपाद्यत्वात् प्रतिज्ञादेरप्रयोगे केपाञ्चिन्मन्दधिया प्रकृतार्थाप्रतिपत्तेर्गम्यमानस्य वि पयस्यापि प्रयोग., तत्प्रतिपत्त्यर्थत्वादिति चेत्, जिगीषवः किमु मन्दमतयो न सन्ति ? येन तथा तेपामप्रतिपद्यमानाना प्रतिपत्तये

प्रतिज्ञादिप्रयोगो न स्यात् इति विशेषाभावादेव साम्यात् यदि न प्रतिज्ञादेर्निगमनस्याभिधानं साध्युपगमव्यवस्थानविशेषेणैव । ननु च प्रतिज्ञायाः प्रयोगेऽपि हेत्वादिवचनमन्तरेण साध्याप्रसिद्धेर्व्यर्था प्रतिज्ञा हेत्वादिवचनादेव च साध्यप्रसिद्धेर्निगमनादिकमकिञ्चित्कर-मेवेति कश्चित्, सोऽपि यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकं, यथा घटः, सञ्च शब्द इति विस्तरेण हेतुमभिधाय यदि समर्थयते, कथमिव सन्तानमिदोते ?, स्वहेतुसमर्थनमन्तरेण तदभिधानेऽपि तदर्थाप्रतिपत्तेः । तावतार्थप्रतिपत्तौ समर्थनं वा निगमनादिकं कथमतिशयीत ?, अकिञ्चित्करत्वा-विशेषात्, यतः पराजयो न भवेत्, तथागतस्य हेत्वाद्यभिधाने तत्समर्थनाभिधाने वा । हेत्वाद्यनभिधाने कस्य समर्थनमिति चेत्, तथा सन्धाया अप्यनभिधाने क्व हेत्वादि प्रवर्तताम् ? गम्यमाने प्रतिज्ञाविषये एवेति चेत्, गम्यमानस्य हेत्वादेः समर्थनमस्तु । गम्यमानस्यापि हेत्वादेर्मन्दप्रतिपत्त्यर्थं वचनमिति चेत्, तथा सन्धावचने कोऽपरितोषः ?, स्यान्मतं, समर्थनं नाम हेतोः साध्येन व्याप्तिं प्रसाध्य धर्मिणि भावसाधनम् । यथा यत्सत् कृतकं वा तत्सर्वमनित्यं यथा घटादिः, सन् कृतको वा शब्द इति । सन् कृतको वा शब्दः, य एवं स सर्वो नश्वरो यथा घटादिरिति वा, प्रयोगक्रमनियमाभावादिष्टार्थसिद्धेरुभयत्राविशेषात्, प्राक् सत्त्वं धर्मिणि प्रसाध्य साध-नस्य पश्चादपि साध्येन व्याप्तिप्रसाधनस्याविरोधात् । व्याप्तिप्रसाधनं पुनर्विपर्यये बाधकप्रमाणोपदर्शनम् । यदि पुनः सर्वं सत्कृतकं वा प्रतिक्षणविनाशि न स्यान्नित्ये क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात् । अर्थक्रियासामर्थ्यं सत्त्वलक्षणमतो व्यावृत्तमित्यसदेव तत्स्यात् । सर्वसामर्थ्योपाख्याविरहलक्षणं हि निरुपाख्यमिति । एवं साधनस्य साध्यविपर्यये बाधकप्रमाणानुपदर्शने विरोधाभावादस्य विपक्षे नित्ये वृत्तेरदर्शनेऽपि सन् कृतको वा स्यान्नित्यश्चेत्यनिवृत्तिरेव शङ्कायाः । ततो व्यतिरेकस्य सन्देहादनैकान्तिको हेत्वाभासः स्यात् । न ह्यदर्श-नमात्राद् व्यावृत्तिः, विप्रकृष्टेष्वर्थेष्वसर्वदर्शिनोऽदर्शनस्याभावासाधनात्, अर्वाग्दर्शनेन सतामपि केषाञ्चिदर्थानामदर्शनात् । बाधकं पुनः

प्रमाणम् । यस्य क्रमयौगपद्याभ्यां न योगो, न तस्य कचित्सामर्थ्यम् । अस्ति चाक्षणिके सः । इति प्रवर्तमानमसामर्थ्यमसल्लक्षणमाकर्षति । तेन यत्सत्कृतकं वा तदनित्यमेवेति सिध्यति । तावता च साधनधर्ममात्रान्वयः साध्यधर्मस्य स्वभावहेतुलक्षणं सिद्धं भवति । अत्राप्यदर्शनमप्रमाणं यतः क्रमयौगपद्याऽयोगस्यैवासामर्थ्येन व्याप्त्यसिद्धेः पूर्वस्यापि हेतोः सत्त्वादेर्न व्याप्तिसिद्धिः । पुनरिहापि साधनोपगमेऽनवस्थाप्रसङ्ग इति न चोद्यम्, इष्टस्याभावसाधनस्यादर्शनस्य प्रमाणत्वाप्रतिषेधात् । यददर्शनं विपर्ययं साधयति हेतोः साध्यविपर्यये तदपि विरुद्धप्रत्युपस्थानाद्बाधकं प्रमाणमुच्यते । एवं हि स हेतुः साध्याभावेऽसन् सिध्येद्यदि तत्र प्रमाणवता स्वविरुद्धेन बाध्येत । अन्यथा तत्रास्य बाधकासिद्धौ संशयो दुर्निवारः । न च सर्वानुपलब्धिर्भावस्य बाधिका, दृश्यानुपलब्धेरेव तद्बाधकत्वात् । तत्र सामर्थ्यं क्रमाक्रमयोगेन व्याप्तं सिद्ध, प्रकारान्तरासंभवात् । तेन व्यापकधर्मानुपलब्धिरक्षणिके सामर्थ्यं बाधत इति क्रमयौगपद्यायोगस्य सामर्थ्याभावेन व्याप्तिसिद्धेर्नानवस्थाप्रसङ्ग इति स्वभावहेतोः समर्थनम् । कार्यहेतोरपि, यत्कार्यं लिङ्गं कारणसाधनायोपादीयते तस्य तेन कार्यकारणभावप्रदर्शनं प्रमाणाभ्याम् । यथेदमस्मिन् सति भवति सत्स्वपि तदन्येषु समर्थेषु तद्धेतुषु, तदभावे न भवतीति । एवं ह्यस्यासन्दिग्धं तत्कार्यत्वं समर्थितं भवति । अन्यथा केवलं तदभावे न भवतीत्युपदर्शनेऽन्यस्यापि तत्राभावे सन्दिग्धमस्य सामर्थ्यं स्यात्, अन्यत्तत्र समर्थं, तदभावे तन्न भूतमिति शङ्कायाः प्रतिनिवृत्त्यभावात् । एतन्निवृत्तौ पुनर्निवृत्तौ यदृच्छासंवादो मातृविवाहोचितदेशजन्मनः पिण्डखर्जूरस्य देशान्तरेषु मातृविवाहाभावेऽभाववत् एवं समर्थितं तस्य कार्यं सिद्ध्यति । सिद्धं स्वसंभवेन तत्संभवं साधयति, कार्यस्य कारणाव्यभिचारात् । अव्यभिचारे च स्वकारणैः सर्वकार्याणां सदृशो न्याय इति । अनुपलब्धेरपि समर्थनं, प्रतिपत्तुरुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धिसाधनं, तादृशस्यैवानुपलब्धेरसद्व्यवहारसिद्धेः, अनुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य प्रतिपत्तुः प्रत्यक्षोप-

लब्धिनिवृत्तावप्यभावासिद्धेः। तत्रोपलब्धिलक्षणप्राप्तिः स्वभावविशेषः कारणान्तरसाकल्यं च स्वभावविशेषः। यस्त्र त्रिविधेन विप्रकर्षेण विप्रकृष्टं यदनात्मरूपप्रतिभासविवेकेन प्रतिपत्तृप्रत्यक्षप्रतिभासिरूपं न तादृशः सत्स्वन्येषूपलम्भकारणेषु तथानुपलब्धोऽसद्व्यवहारविषयः। ततोन्यथा सति लिङ्गे संशयः। अत्रापि सर्वमेवंविधमसद्व्यवहारविषयः। इति व्याप्तिः, कस्यचित्तत्तोऽभ्युपगमेऽन्यस्य तल्लक्षणाविशेषात्। न ह्येवंविधस्यासत्त्वानभ्युपगमेऽन्यत्र तस्य योगः। न ह्येवंविधस्य सतः सत्स्वन्येषूपलम्भकारणेष्वनुपलब्धिः। अनुपलभ्यमानं त्वीदृशं नास्तीत्येतावन्मात्रनिमित्तोऽयमसद्व्यवहारः, अन्यस्य तन्निमित्तस्याभावादिति। तथैवं त्रिविधस्य हेतोः समर्थनं न रूपान्तरं, विपक्षव्यावृत्तिरूपत्वात्, तृतीयस्यैव रूपस्यासपक्षासत्त्वलक्षणस्यैवं प्रतिपादनात्। तद्वचने साधनाङ्गस्य त्रिरूपलिङ्गस्यावचनादसाधनाङ्गवचनं निग्रहाधिकरणं प्रसज्येत। निगमनादेस्तु हेतुरूपातिरिक्तत्वादभिधानमनर्थकं, त्रिरूपहेतुना साध्यार्थप्रतिपत्तेर्निहितत्वात्। ततो निगमनादीनतिशेते एव समर्थनमिति। तदेतदपि स्वदर्शनानुरागमात्रं सौगतस्य निगमनादेरपि साधनावयवत्वात्, प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवा इति परैरभिधानात्, निगमनस्योपनयस्य वा समस्तस्यैवावचने न्यूनाख्यस्य निग्रहस्थानस्य प्रसक्तेः, हीनमन्यतमेनापि न्यूनमिति वचनात्। यदि पुनः साधनावयवत्वेपि निगमनादेर्वचनमयुक्तं, हेत्वादिनैवार्थप्रत्यायनादिति मतं तदा समर्थनस्य हेतुरूपत्वेऽपि निर्दोषहेतुप्रयोगादेव साध्यप्रसिद्धेस्तदभिधानमनर्थकं कथं न भवेत्? यतः समर्थनं निगमनादीनतिशयीत। हेतोर्विपक्षव्यावृत्तिसाधनलक्षणस्य समर्थनस्यावचने रूपान्तरसत्त्वेऽपि गमकत्वासम्भवान्निगमनाद्यवचनेऽपि गमकत्वोपपत्तेः समर्थनं निगमनादीनतिशयीतेति चेत्, हन्त हतोसि, पक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्वयोर्हेतुरूपत्वापायापत्तेः, अन्यथानुपपन्नत्वस्यैव तथाहेतुलक्षणत्वसिद्धेः, तस्यैव समर्थनरूपत्वात्, तद्भावे एव हेतोः प्रयोजकत्वदर्शनात्, पक्षधर्मत्वादिप्रयोगे वादिनोऽसाधनाङ्गवचनस्य निग्रहस्थान-

त्वप्रसक्तेः। प्रतिपाद्यानुरोधतः पक्षधर्मत्वादिवचनान्न निग्रहप्राप्तिरिति चेत्, तथा निगमनादिवचनादपि सा मा भूत्, सर्वथातिशयासत्त्वात्। यदि पुनरयं निर्बन्धः प्रतिपाद्यानुरोधतोप्यतिरिक्तवचनमसाधनाङ्गवचनं निग्रहस्थानमिति तदा सत्त्वमात्रेण नश्वरत्वसिद्धावुत्पत्तिमत्त्वकृतकत्वादिवचनमतिरिक्तविशेषणोपादानात् कृतकत्वप्रयत्नानन्तरीयकत्वादिषु च कप्रत्ययातिरेकादसाधनाङ्गवचनं पराजयाय प्रभवेत्। क्वचित्पक्षधर्मत्वप्रदर्शनं, संश्च शब्द इत्यविगानात्। यस्य निरुपाधि सत्त्वं प्रसिद्धं तं प्रति शुद्धः स्वभावहेतुः प्रयुज्यते, नश्वरः शब्दः सत्त्वादिति। यस्य त्वनर्थान्तरभूतविशेषणं सत्त्वं प्रसिद्धं तं प्रति सोऽनर्थान्तरभूतविशेषण एवोत्पत्तिमत्त्वादिति। यस्य पुनरर्थान्तरभूतविशेषणं सत्त्वं संप्रसिद्धं तं प्रत्यर्थान्तरभूतविशेषण एव कृतकत्वादिति, "अपेक्षितपरव्यापारो हि भावः कृतक" इति वचनात्। तथा कृतकत्वात्प्रयत्नानन्तरीयकत्वादित्यादिषु च स्वार्थिकस्य कप्रत्ययस्याभिधानमपि तादृशशब्दप्रसिद्ध्यनुसारिणं प्रति नातिरिक्तमुच्यते, अन्यथाप्रयोगे तदपरितोपात्। तथा च यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकं यथा घट इतीयता शब्देऽप्यविगानेन सत्त्वप्रतिपत्तावपि संश्च शब्द इति पक्षधर्मप्रदर्शनं नातिरिक्तवचनं, तदन्तरेण तत्प्रतिपत्तुमशक्तं प्रति तथावचनाच्छक्तं प्रति तदवचनात्, "विदुषां वाच्यो हेतुरेव हि केवलः" इति वचनान्न पराजयाय कस्यचित्प्रभवेत्, इति वदन्तः सौगताः प्रतिपाद्यानुरोधतः साधर्म्यवचनेपि वैधर्म्यवचनं तद्वचनेपि च साधर्म्यवचनं पक्षादिवचनं वा नेच्छन्तीति किमपि महाद्भुतम्। तथा तदिष्टौ वा तद्वचनं निग्रहाधिकरणमित्ययुक्तमेव व्यवतिष्ठते। किञ्च क्वचित्पक्षधर्मत्वप्रदर्शनं संश्च शब्द इत्यविगानात्, त्रिलक्षणवचनसमर्थनं च असाधनाङ्गवचनमपजयप्राप्तिरिति व्याहतं, संश्च शब्द इति वचनमन्तरेणापि शब्दे सत्त्वप्रतीतेस्तस्य निग्रहस्थानत्वप्रसङ्गात्। प्रतिज्ञावचनवदसाधनाङ्गत्वात्तस्यानिग्रहस्थानत्वे वा सगरवचनादेरप्यपजयप्राप्तिविरोधात्पक्षधर्मप्रदर्शनमसाधनाङ्गवचनादपजयप्राप्त्या व्याहतमेव। त्रिलक्षणवचनस-

मर्थनं च, तदन्तरेणापि त्रिलक्षणवचनस्य साधनाङ्गत्वसिद्धौ प्रतिज्ञादिवचनस्य साधनाङ्गत्वसिद्धेरन्यथा तस्य प्रतिज्ञादिवचनवदपजयप्राप्तिनिबन्धनत्वप्रसक्तेः । ततस्तद्व्याहर्तिं परिजिहीर्पता गम्यमानस्यापि वचनं नासाधनाङ्गवचनं वादिनो निग्रहाधिकरणमिति प्रतिपत्तव्यम्। नन्वेवमप्रस्तुतस्यापि नाटकादिघोषणस्य द्वादशलक्षणप्ररूपणस्य वा निग्रहाधिकरणत्वं न स्यादिति चेत्, एवमेतत्। तथान्यस्यापि प्रस्तुतेतरस्य वादिनोक्ताचितरस्य स्वपक्षमसाधयतो विजयासभवान्निग्रहस्थानमयुक्तम् । स्वपक्षं साधयतस्तु तत्सिद्ध्यैव विजयसंभवादितरस्य पराजयप्राप्तेर्नाप्रस्तुतादिवचनं निग्रहस्थानम् । साधनाङ्गस्यावचनं वादिनो निग्रहस्थानं, स्वेष्टसाधनवचनमभ्युपगम्याऽप्रतिभयातूर्णींभावादित्यप्यनेन प्रत्युक्तम् । प्रतिवादिनोप्यदोषोद्भावनं दोपस्यानुद्भासन वानेन प्रत्युक्तम्, न्यायस्य समानत्वात् । किमेवं वादिना कर्तव्यमिति चेत्, विजिगीपुणोभय कर्तव्यं स्वपरपक्षसाधनदूपणम् । ततः किमिति चेत्, अतोन्यतरेणासिद्धानैकान्तिकवचनेऽपि जल्पापरिसमाप्तिः, कस्यचित्स्वपक्षसिद्धेरभावात् । कथ तर्हि वादपरिसमाप्तिर्वादिप्रतिवादिनोरिति चेत्, निराकृतावस्थापितविपक्षस्वपक्षयोरेव जयेतरव्यवस्था, नान्यथा । तदुक्तम् । " स्वपक्षसिद्धिरेकस्य निग्रहोऽन्यस्य वादिन । नासाधनाङ्गवचनं नादोषोद्भावन द्वयोः ॥ १ ॥ " इति । तथा तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकेऽप्युक्तम् " स्वपक्षसिद्धिपर्यन्ता शास्त्रीयार्थविचारणा । वस्त्वाश्रयत्वतो यद्वल्लौकिकार्थविचारणा ॥ १ ॥ " इति । इति दर्शयन्नुभयमाह ग्रन्थकारः श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्यः । " स त्वमेवासि निर्दोपः " इति, " त्वन्मतामृतबाह्यानाम् ", इत्यादि च, गम्यमानस्यापि वचने दोपाभावात् ॥ ७ ॥ ननु च सर्वथैकान्तवादिनामपि कुशलाकुशलस्य कर्मणः परलोकस्य च प्रसिद्धेराप्तत्वोपपत्तेर्महत्त्वं किं नः स्तुतमित्याशङ्कायामिदमाहुः—

चित्रज्ञान इत्यादि (११७-१-६) किं स्यादिति (११७-१-१२) साऽनुभूयमाना चित्रता नीलपीताद्याकार-

भेदेनैकस्यां व्यक्तौ किं स्यात् । फलितमाह, न स्यात् तस्यां मतावपि (११७-१-१२) किं पुनरर्थ इत्यपेरर्थः । यदीदं नानाकारभ्रमजनकत्वं स्वयमनाद्यविद्योपकल्पितेभ्योऽर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयं विचारका भवामः । न केचनाविद्याविलासनिवृत्तो विचारस्याक्षमत्वादिति भावः । 'किञ्चिति' तस्यां चित्रमतावपि (११७-१-१३) नु इति वितर्के एकता किं स्यात्, फलितमाह, न स्यादनेकाकारविरोधादिति भावः । यदीदमनेकाकारविरुद्धैकत्वभ्रमजनकत्वं चित्रायै बुद्ध्यै रोचते तत्र के वयं विचारका न केचन पर्यायार्थविरोधिद्रव्यार्थादेशैकान्तस्य संवृत्युपकल्पितस्य विचारापरावर्त्तनीयत्वादिति भावः । क्वचिदेकवेदनेति (११७-२-३) नानैकत्वविषयकापेक्षाबुद्ध्यैवानेकत्वस्योत्पत्तेरभिव्यक्तेर्वा एतत्पक्षद्वयविचारोऽस्मत्कृतनयामृततरङ्गिणीतोऽवसेयः । 'तथा सतीति' (११७-२-५) अनेकत्वप्रयोजकापेक्षाबुद्धिहेतुत्वे नैकत्वसाधने संविदाकारवत् पीताद्याकारे प्रत्येकमेकत्वसिद्धौ तत्समूहाश्रयानेकचैतन्यदृष्टान्तेनैकत्राप्यनेकाकारसिद्धेरित्यर्थः । अन्तरिति (११७-२-६) पञ्चम्यन्तमव्ययं अन्तस्तत्त्वस्येत्यर्थः । नन्वनेकचैतन्यव्यासानेकाकारस्य चित्रज्ञानस्य दृष्टान्तत्वोक्तिरसङ्गतानेकाकाराणां स्वाश्रयाश्रितत्वरूपसंवलना(लिता)या एव चित्रत्वव्यवहारप्रयोजकत्वादिति चेत्, न, अत्र व्यवहारस्यासाध्यत्वात्कथञ्चिदेकानेकात्मकत्वस्यैव तत्त्वात्, हेतोश्च तत्र तथाबुद्धेरेवोपन्यासात्, सा च ययापेक्षया तया साध्यमपीत्यदोषात्, नानाश्रयेषु नानाकारकृतश्चित्रत्वव्यवहारोऽपि सामान्यविवक्षयोपपद्यत एवेत्थमेव पृथिव्यादौ नानारूपवत्त्वस्य धान्यराशौ च नानाधान्यत्वस्य व्यवहारो नानुपपन्न इति दिग् । चित्राद्वैतवादी संवेदनाद्वैतवादिनं प्रत्याह–'स्यान्मतमिति' (११७–२–७) 'तदानेकेनेति'(११७–२–९) एकदेशवचनादेवानेकसजातीयत्वस्य च सिद्धेरित्यर्थः । चित्रज्ञानप्रतिबन्ध्यैवैतत् समाधत्ते, तदेतदित्यादि (११७-२-१०) अव-

च्छिन्नपीताद्यनेकाकारस्वभावमिवानवच्छिन्नसुखाकारस्वभावं ज्ञानमनुभूयमानं तत्तदाकाराणां व्याप्यवृत्तित्वमव्याप्यवृत्तित्वं च गृह्णन्न केनापि निषेद्धुं शक्यमिति भावः। अस्वसंवेद्यत्वाप्रतीतेरिति (११८-१-१) सुखादीनामिति सम्बन्धः। 'चैतन्यविशेषेणेति' (११८-१-२) अनुभवेनेत्यर्थः। तस्योत्पत्तिमत्त्वाच्चैतन्यलक्षणत्वाच्च, चैतन्यजीवद्रव्यार्थादेशा-दिति (११८-१-३) चैतन्याभिन्नजीवद्रव्याभिन्नत्वेनार्पणादित्यर्थः। न चैवं ज्ञानमात्मैवात्मा तु ज्ञानद्वारा ज्ञानमन्यद्वारा त्वन्य दिति वचनात्, ज्ञानभिन्नसुखाद्यभिन्नजीवद्रव्याभिन्नत्वेनार्पणाद् ज्ञानमप्यज्ञानं स्यादिति शङ्कनीयम्। ज्ञानभिन्नत्वेनार्पितस्य परम्परयापि ज्ञानेऽभेदार्पणानौचित्यात् परमभावग्राहकनयेन ज्ञानाभिन्नत्वस्यैवात्मनि प्रसिद्धेश्च, अतद्रूपाणा-(११८-१-९) मित्याद्यभिधानं सुखादीनां विज्ञानाभिन्नहेतुजत्वं यदुच्यते सौगतेन तत्किमुपादानापेक्षयोत सहकार्यपेक्षयेति विकल्पद्वयं मनसि कृत्येति मन्तव्यम्। पूर्वं सर्वथा कथञ्चित्पक्षाभ्यां यद्दूषणमभ्यधायि तस्यैवेदं विवरणमिति न पौनरुक्त्यम्, व्यभिचारादिति (११८-१-१२) द्रव्येन्द्रियानिन्द्रियोपादेयपरिणाम एवेत्यर्थः। प्रत्येतव्या इति (११८-१-१४) नैयायिकादय इति शेषः। अनुमानं च तेषां सुखादयोऽचेतना ज्ञानभिन्नत्वात् घटवदिति द्रष्टव्यम्। अत्राचेतनत्वं यदि ज्ञानभिन्नत्वं तदा हेतुसाध्ययोर-विशेषः। यदि च चैतन्यात् प्रविभक्तप्रदेशत्वरूपं तदा कालात्ययापदिष्टो हेतुरिति सुखस्य ज्ञानादन्यत्वरूपो भेदः प्रविभक्तप्रदेश-त्वरूपभेदाभावश्चेत्यनेकान्त एव श्रेयान्। अथ सुखस्य ज्ञानविशेषत्व एव चन्दनादिविषयकत्वं युक्तं सुखोत्पत्त्यनन्तरं चन्द-नादिज्ञानं कल्पयित्वा तदुपनीतभानात्मकसुखानुभवाभ्युपगमस्य मानससामग्रीविच्छेदेन निर्युक्तिकत्वात्। न च चन्दनसुख मनुभवामीत्यत्र चन्दनादिजन्यतावच्छेदको जातिविशेष एव सुखस्योपरि भासते। न तु चन्दनमिति वाच्यम्। तस्य घुसृणा-

दिजन्यतावच्छेदकया तदुभयजन्ये साङ्कर्यादुभयजन्यतावच्छेदकजात्यन्तराभ्युपगमे च तदवच्छिन्नोत्पत्तिकाले प्रत्येकजन्यकार्यप्रसङ्गात् तत्कार्ये तदितरसन्निधानस्य प्रतिबन्धकत्वादिकल्पने च महागौरवादिति चेत्, न, एवं सति सुखस्य सविषयकत्वसिद्धावपीच्छाद्वेषयोरिव ज्ञानाभिन्नत्वे मानाभावात्, न च सुखस्य सविषयकत्वे विषयता द्विविधा प्रतिपत्त्यनुबन्धिनी व्यापारानुबन्धिनी च, प्रतिपत्तित्वनिरूपकत्वं प्रतिपत्त्यनुबन्धिनीत्वम्, स्वजन्यप्रतिपत्तिनिरूपितत्वं व्यापारानुबन्धिनीत्वम्, आद्या ज्ञाने द्वितीया च शब्दादाविति विभागव्याघातप्रसङ्ग इति वाच्यम्, प्राचीनैरेवेत्थं निर्युक्तिकविभागस्याभ्युपगमान्नवीनैरिच्छाद्वेषादेरपि सविषयकत्वस्वीकारेण तथानभ्युपगमात्, युक्तं चैतत् विशिष्टबुद्धौ विषयितया विशेषणवत्त्वेन विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धौ च विशेषणतावच्छेदकाभावाप्रकारकत्वे सति प्रकारितया विशेषणतावच्छेदकवत्त्वेन हेतुत्वौचित्यात्, न चैवं संशयेऽप्यनुद्बुद्धसंस्काराद्विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्ध्यापत्तिः संस्कारजन्यतत्तद्विशिष्टवैशिष्ट्यप्रत्यक्षे उद्बोधकस्य हेतुत्वात्, न चैवमपि सामान्यकार्यापत्तिः संस्काराजन्यतत्तद्विशिष्टवैशिष्ट्यबोधेऽपि तत्तद्विशेषणज्ञानादीनां विशिष्यहेतुत्वात्, न चैवं सामान्यहेतुत्वं विफलम्, यत्रात्मनि शरीरे वा तादृशानुद्बुद्धसंस्कारस्तत्र तत्साफल्यात्, एतेन दण्डो रक्तो नवेति संशयाद्दण्डो रक्तो भवत्वितीच्छास्वीकारे रक्तदण्डवान् चैत्र इत्यादेरापत्तिरित्यप्यपास्तम् । क्वचिद्विशिष्यकारणतायाः कल्पनात् सामान्यहेतुतायाश्चोक्तरीत्यैव साफल्यात् एवं च चन्दनादिविषयकसुखादेव तद्ज्ञाने चन्दनादिभानं सुघटम्, वैषयिकं च सुखं विषयावच्छिन्नाल्हादनत्वाख्यविषयताकं विषयातीतं च निरवच्छिन्नाल्हादनत्वाख्यविषयताकमित्यनयोः परिमितापरिमितत्वाभ्यां भेदः । अथ सुखस्य भिन्नज्ञानग्राह्यत्वकल्पने गौरवात् स्वप्रकाशत्वमेव युक्तम्, तथा च ज्ञानत्वमेवापन्नमिति चेत्, न । स्वप्रकाशत्वं विनापि तस्य

साक्षिभास्यतयैव यावत्सत्त्वं प्रकाशोपपत्तेः, तत्त्वं च वेदान्तिनां साक्षिण्यध्यस्तत्वम् अस्माकं च चेतनद्रव्याभिन्नत्वम्। न चैवमात्मवृत्त्ययोग्यधर्मेऽपि प्रत्यक्षत्वापत्तिः, द्रव्यार्थतयेष्टत्वात्पर्यायार्थतया त्वात्मविषयकमानसे तत्तदात्मविषयकमानसे वा विजातीयात्ममनःसंयोगस्य तत्तदात्ममनःसंयोगस्य वा विषयतया सुखादिप्रत्यक्षे च तादात्म्येन सुखादीनां हेतुत्वाददोष इति दिग्। असंकीर्णविशेषैकात्मनः (११८-२-६) प्रतिस्वभिन्नसुखदुःखहर्षविषादाद्यनेकगुणाभिन्नैकद्रव्यस्य स्कन्धस्य चेति, अत्र प्रेक्षणं सिद्धिमित्यनेन सम्बध्येत, तत एव (८) स्वसामग्रीवशात् प्रत्यक्षसंविज्जननसमर्थस्योत्पत्तेरेव, परेषां (९) स्याद्वादिनां, तस्या (११) अवयविनः, तथात्वेन (१२) परमाणुत्वेन, अणुमहत्त्वादीति, (१४) तथा च महत्त्वमेव स्कन्धस्य योग्यता तदभावादेव परमाणूनामयोग्यतेति भावः। अतिशयिताणूत्पत्त्यैव योग्यत्वस्वीकारे तु परमाण्ववच्छेदेनेन्द्रियसन्निकर्षेऽपि घटादिप्रत्यक्षापत्तिरिति बोध्यम्। संयोगविशेषेणावयव्यन्यथासिद्धिं च पुरस्तान्निर्लोठयिष्यामः। अस्तु नाम स्कन्धानामणुमहत्त्वादिना दृश्येतरस्वभानता तथापि तेषां विकल्पबुद्धावभासनादवस्तुत्वमित्याशङ्कायामाह. 'न चायमिति, प्रत्यक्षतास्वीकरणादिति' (११९-१-१) "यत्रैव जनयेदेनां तत्रैवास्य प्रमाणतेति" वचनान्नीलाद्यंश इव स्कन्धांशेऽपि विकल्पधीजननात्तत्र दर्शनप्रामाण्यस्य प्रसह्य स्वीकारणादिति भावः। 'चक्षुरादीति' (२) चक्षुरादिजन्यग्रहविषयत्वादिनैव रूपादिभेदव्यवहारसम्भवादिति भावः। 'सत्तादीति' (३) सत्ताद्वैतवद्द्रव्याद्वैतमप्रामाणिकमनुभूयमानपर्यायापलापे सर्वशून्यतापत्तेरिति भावः। 'न तावदिति' (८) द्वावाद्यौ निषेधौ पदार्थत्वावच्छेदेन तृतीयः पदार्थत्वसामानाधिकरण्येन, चतुर्थः पदार्थत्वावच्छेदेन, जात्यन्तरस्येति (९) जात्यन्तरत्वं च नृसिंहन्यायेन गुडशुंठीन्यायेन

वोभयात्मकतयोभयदोषापहारितया वा भावनीयम् । तत्त्वमत्रत्यमस्मत्कृतनयरहस्ये, अध्यारोप्यमाणस्येति; (११९-२-१) नन्वप्रसिद्धस्याध्यारोपोऽप्ययुक्तः क्वचित् प्रसिद्धस्यैव क्वचिदारोपादिति चेत्, न । सर्वथात्वेनैकान्तस्य प्रसिद्धस्यैवारोपात्तथा निषेधस्य युक्तिसिद्धत्वात्, व्युत्पादयिष्यते च व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकादिरभाव उपरिष्टादिति मा त्वरिष्ठाः, अतिरिक्ताभावमनङ्गीकृत्याह, अथवेति (२) प्रयासमन्तरेणेति (३) अनेकान्तविधिनैव प्रत्यक्षसिद्धेन सर्वथैकान्तनिषेधव्यवहारसिद्धेर्नाप्रसिद्धनिषेधोपपादनार्थं कश्चिदस्माकं प्रयास इति भावः । एवं चोक्तविधिनिषेधव्यवहारजनकत्वेन वस्तुन एव भावाभावोभयरूपत्वादभावव्यवहारस्यैव सप्रतियोगिकत्वादभावप्रतियोगित्वस्याप्रसिद्धस्थले वक्तुमशक्यत्वेऽपि न कोऽपि दोष इति मन्तव्यम् । ननु प्रत्यक्षादनुमानादेर्बलवत्त्वात्तदपेक्षा भविष्यतीत्यत आह भाष्यकृत्, 'नहीति' (११९-२-३) इष्टमनुमानादिप्रमाणम्, दृष्टात् प्रत्यक्षात्, ज्येष्ठमुपजीव्यत्वेनोत्तमं, गरिष्टं च समारोपविशेषव्यवच्छेदकत्वेन बलवत्, तदभावे (४) प्रत्यक्षाभावे, प्रमाणान्तरस्यानुमानादेरवृत्तेरप्रवृत्तेः, समारोपविच्छेदस्य च विशेषादपुनरुत्थानरूपविशेषदर्शनात् । क्वचिदनुमानाद्युत्तरकालमिति (११९-२-५) पर्वतो वह्निमानित्यनुमित्यनन्तरं पर्वतवह्न्योश्चक्षुःसन्निधाने तथा प्रत्यक्षस्याप्युत्पत्तेस्तत्र च विशेषणज्ञानतयोक्तानुमितेरुपयोगादिति भावः । 'प्रत्यक्षस्येत्यादि' (८) तथा चानुमानत्वाद्यवच्छेदेन प्रत्यक्षोपजीवकत्वादनुमानादेः सकाशात् प्रत्यक्षस्य ज्येष्ठत्वम्, प्रत्यक्षत्वावच्छेदेन चानुमानाद्यनुपजीवकत्वादनुमानादेः प्रत्यक्षात् कनिष्ठत्वमिति भावः । नन्वनुमानत्वाद्यवच्छेदेनापि न प्रत्यक्षोपजीवकत्वमस्ति स्मरणानुमानादिना व्याप्तिस्मृतिलिङ्गज्ञानादौ प्रत्यक्षव्यापारादर्शनादिति चेत्, न, । तत्रापि परम्परयाऽनुभवपदज्ञानाद्यपेक्षायां प्रत्यक्षानुसरणावश्यकत्वात्, ज्ञानकरणकप्रत्य-

क्षमात्रे स्वांशप्रत्यक्षोपजीवकत्वाव्यभिचाराच्च, न चादृष्टार्थप्रवृत्तिजनकानुमानस्यादृष्टद्वारा प्रत्यक्षमात्रे हेतुत्वादविशेषोऽदृष्टाद्वारकत्वविशेषणनिवेशेनैव तद्दोषनिरासादिति बोध्यम् । 'नहि यादृश इति' (११९–२–९) अनुमानादेः सामान्यविषयत्वात्ततः सामान्यविषयकसमारोपनिवृत्तावपि पुनस्ताणातार्णादिविशेषविषयः स भवन्न निरोद्धुं शक्यते, प्रत्यक्षस्य तु विशेषविषयत्वान्न ततस्तादृशोऽपि संशय इत्येवं समारोपविच्छेदविशेष्यहेतुत्वेन प्रत्यक्षस्येतरप्रमाणेभ्यो गरिष्ठत्वं भावनीयम् । स्वरूपतः समारोपविच्छेदविशेषेण दृष्टस्य गरिष्ठत्वं भावयित्वा व्यवहारतस्तेन तद्दर्शयितुमाह, 'दृष्टस्येत्यादि' (११९-२-१०) तद्विवृणोति, प्रत्यक्षमेव हीत्यादि (११), 'स्वभावेति' (१२) स्वभावभेदप्रदर्शनमेव प्रयोजनं यस्य तत्तथा, न चानेकान्तावगाहिनः प्रत्यक्षस्यैव प्रतिनियतविधिनिषेधव्यवहारजनकत्वे तत्र सर्ववादिनामविप्रतिपत्तेर्विचारानुपपत्तिस्तथा च हेतुवादेन तत्साधनमार्हतानां नोपपद्येतेत्यपि कुचोद्यमाशङ्कनीयम्, अनेकान्तविषयप्रत्यक्षप्रामाण्य एव विप्रतिपन्नान् प्रति हेतुवादरसिकान् प्रत्येव वा हेतुवादेन तत्साधनस्य तत्र तत्रोपपादितत्वादिति दिग्, 'दोषाभावादिति (१२०–१–४) न चैवमधिकोच्छेद एव स्यादिति शङ्कनीयम्, स्वसाध्यसिद्धिप्रतिकूलस्वसाध्यसाधकातिरिक्तवचनस्यैवाधिकलक्षणत्वात्, 'परेणेति' (५) प्रतिवादिकृतस्वपक्षनिराकरणस्य परपराजयाप्रयोजकत्वात्परपक्षमात्रनिराकरणे चाधिक्यस्यापक्षपातित्वादुभयपक्षनिराकरणे च तुल्यवदुभयोः पराजयप्रसङ्गादित्यर्थः । एतदेवाह–' यदि पुनरित्यादिना (६) । साधनवचनसामर्थ्याज्ञानमिति (९) अन्यतरवचनसामर्थ्यज्ञाने उभयप्रयोगानुसरणासम्भवादर्थान्तरज्ञानसिद्धेरित्यर्थः । तदुद्भावयतो वादिनः (१०) साधनवचनासामर्थ्यज्ञानं प्रकटयतः, तज्ज्ञानं (१०) वादिनिष्ठाज्ञानावच्छेदकोक्तसामर्थ्यज्ञानम्,

एकस्येति (१२०–१–१२) तथा च साध्यविषयविशिष्टज्ञानाज्ञानाभ्यामेव जयपराजयसिद्धेः किं साधनसामर्थ्यज्ञानाज्ञानाभ्याम्, नह्ययं समीचीनसाध्यज्ञानवानयं चासम्यग्ज्ञानवानित्येतावत्सभ्योद्घोषणेन शृङ्गग्राहिकया जयपराजयव्यक्तिर्न भवतीति, न च क्वचित्तत् क्वचिदेतज्जयपराजयप्रयोजकम्, अननुगतस्याहेतुत्वात्, पक्षसिद्ध्यसिद्ध्योरनुगतयोरेव तत्त्वौचित्यादिति भावः। तद्दोषमात्रे ज्ञानसिद्धेरिति (१४) जयः पराजयो वा स्यादित्यनेन योगः, वादिनः पक्षसिद्ध्या जयो वचनाधिक्यप्रयुक्तसाधनसामर्थ्याज्ञानात्पराजयः, प्रतिवादिनश्च दोषज्ञानाज्जयो गुणाज्ञानाच्च पराजयः स्यादित्यर्थः। न जयः पराजयो वा स्यादिति (१२०–२–१) परस्परविप्रतिषेधादित्यर्थः। समयबन्धविघटकत्वादधिकं पराजयाधिकरणमित्याशङ्कते स्यान्मतमित्यादिना (२), समयबन्धेऽपि साधनतद्दूषणाभिधाने एवोपक्रान्ते न त्वधिकानधिकोद्भावने इति नायं पन्थाः प्रामाणिक इत्याशयवान् समाधत्ते तदप्यपेशलमित्यादिना (३), साधयेदिति साधनस्वरूपाज्ञानमिति (च) शेषः। तद्वचन (५) इति, वचनाधिक्यं वचनेयत्ताव्याप्यमिति तज्ज्ञानात्सैव सिद्ध्यतु न तु साधनस्वरूपाज्ञानं तस्य तद्व्याप्यत्वादिति भावः। द्विष्टमित्यनन्तरं यतस्त्वयाभ्युपगतं तत इति शेषः। अनर्थकस्यापीति (१०) अनिष्टसाधकत्वेन द्वेषविषयस्यापीत्यर्थः, वचनाधिक्यमात्रमिति (१०) मात्रपदेनोद्भावननिरासः, द्विष्यत इति (१०) तथा च द्विष्टोद्भावनेन पराजयः साध्यत इत्यर्थः। अदोषोद्भावनमिति (१३) एकसाधनस्य साधनान्तरादूषकत्वादिति भावः। भवान् सौगतः, पक्षधर्मवदिति (१४) भावप्रधाननिर्देशात्पक्षधर्मत्ववदित्यर्थः। तदुभयस्यापीति (१४), सपक्षसत्त्वविपक्षव्यावृत्तिरूपसाधर्म्यवैधर्म्योभयस्यापीत्यर्थः। त्रिरूपत्वप्रतिज्ञानादिति (१४) अबाधितविषयत्वासत्प्रतिपक्षत्वयोः प्रामाण्यमात्रसाधारणत्वेन हेतुरूपत्वा-

नभ्युपगमादित्यर्थः । 'सुस्थिताविति' (१२१-१-२) बहुव्रीहिणा सुस्थितायामित्यर्थः । प्रसक्तेरिति (२) वाद्युक्तहेतौ विरुद्धत्वाद्युद्भावन एव कृतार्थत्वाभिमाने ततो जयः स्वपरिगृहीतपक्षासिद्ध्या च पराजय इत्येवमुभयं स्यादित्यर्थः । प्रतिपत्तिविशेषप्रयोजनभेदात् पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहावैयर्थ्यं व्यतिरेकेण द्रढयितुमाह 'नहीत्यादि(३)' तद्विघाताहेतुत्वात् (४) स्वपक्षसिद्धिप्रतिपक्षसिद्ध्यननुकूलत्वात् 'प्रतिपाद्येत्यादि' (४) न्याय्यभिधानमात्राद् यस्य न साध्यसिद्धिस्तं प्रति प्रतिज्ञादिवचनमप्यदुष्टं पुरुषविशेषं प्रत्यसिद्धस्यैव ततः सिद्धेरित्थमेव प्रतिपाद्याशयानुरुद्धप्रतिपत्तिविशेषसिद्धये पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहः कथायामदुष्ट इति भावः । अत एव पञ्चावयवप्रयोगेऽपि यस्य न कण्टकोद्धारं विना साध्यप्रतिपत्तिस्तं प्रति दशावयवप्रयोगोऽपि जीर्णनैयायिकैः स्वीक्रियत इति मन्तव्यम् । तत्रापि (११) वादेऽपि, तेषां शास्त्रकाराणाम्, तादृशत्वात् प्रतिपाद्यविबोधनार्थव्यापृतत्वात्, तत्र (१२) शास्त्रादौ, जिगीषवो न हि न प्रतिपाद्या (१२) न बोधनीयाः किन्तु प्रतिपाद्या एव, चालनारूपव्याख्यानभेदे तत्र शिष्याणां विजिगीषुताया अपि सम्भवात्, यथा यथा वामं वामेन वर्त्ते तथा तथा सूत्रमर्थं तदुभयं वा लभे इत्यादेः केशिप्रदेशिसम्बन्धे प्रसिद्धत्वादिति भावः । जिगीषुमात्रप्रतिपाद्यत्वे प्रतिज्ञाया अप्रयोगः स्यादित्यत्राह, 'शास्त्रादावित्यादि' (१३) न स्यादिति (१२१-२-१) इत्यनन्तरं विभाव्यते तदेतिशेषः, कथमिवेति (३) किंवृत्तौ, इवशब्दप्रयोगः शब्दालङ्करणहेतुर्यथा "आवर्जिता किञ्चिदिव स्तनाभ्याम्" इत्यत्र, कथं सन्धामतिशेते (३), न युक्तमेतदित्यर्थः । तावतार्थप्रतिपत्तावित्यादि(४), यथाऽस्माकं प्रतिज्ञानिगमनादिवचनमधिकवचनत्वान्निग्रहस्थानं त्वया प्रतिपाद्यते तथा तवापि हेतोः समर्थनमधिकवचनत्वान्निग्रहस्थानमायाति, साध्यसिद्धेर्विपक्षव्यावृत्तिलक्षणहेतोरेव भावादित्यर्थः । गम्यमान

इति (६) हेत्वन्वयित्वेन तात्पर्यविषयो गम्यमानः प्रतिज्ञार्थ एव हेत्वर्थेनान्वयीभविष्यतीति किं प्रतिज्ञाशब्दोपन्यासेनेत्यर्थः। तथासन्धावचन इति (७) शाब्दी हीतिन्यायादित्यर्थः। '**समर्थनं नामेत्यादि** (७)' ततो **निगमनादीनतिशेत** एव समर्थनमिति दूरेणान्वयः। '**साध्येनेत्यादि**(७)' साध्येन सह व्याप्तिमत्तया प्रदर्शितस्यहेतोः, **धर्मिणी भावसा-धनं** (८) धर्मिणि साधितस्य हेतोः साध्येन सह व्याप्तिमत्ताप्रदर्शनमित्यत्र विना पौर्वापर्यं न कश्चिद्विशेषः, **सः** (९) **क्रमयौग-पद्याभावः, तावता** (१२२–१–२) विपर्यये बाधकप्रमाणोपदर्शनेन, **साधनधर्ममात्रान्वयः** (२) यावत्साधनाश्रयाश्रितत्वं, **अदर्शनमप्रमाणम्** (३), अदर्शनमात्रं क्षणिकत्वाभावस्य न साधकमित्यर्थः। **अस्यैवायोगस्यैव, तेनेति** (७) **तेन कार** णेन, अर्थस्य क्रमयौगपद्यलक्षणव्यापकधर्मानुपलम्भो नित्ये सत्त्वं बाधत इति सत्त्वाभावेन क्रमयौगपद्याभावस्य व्याप्तिः सिद्ध्यति बाधकप्रमाणेन च स्वाभ्युपगमबाधादिना न विपर्ययशङ्केति नानुमानान्तरापेक्षयानवस्थेति भावः। **प्रमाणाभ्यां** (९) प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्याम्, तद्धेतुष्विति (९)। ननु प्रकृतहेतुत्वग्रहे स्वहेतुत्वग्राहकापेक्षायामात्माश्रयोऽन्यहेतुत्वग्राहकापेक्षायाम-न्योन्याश्रयादिकमिति। तद्धेतुष्वित्ययुक्तमभिधानमिति चेत्, न। समूहान्वयव्यतिरेकाभ्यां समूहे कारणत्वग्रहे तदितरगृहीत-तत्कार्यकारणताकसमूहसत्त्वे यद्व्यतिरेकेऽवश्यं कार्यव्यतिरेकस्तावत्समूहसत्त्वे तत्सत्त्वे चावश्यं तत्कार्यसत्त्वमित्यन्वयव्य-तिरेकयोर्ग्रहस्य विशिष्य तत्कारणत्वग्राहकत्वे दोषाभावात्। यत्तु, स्वस्वव्याप्याभिन्नासु यावतीषु व्यक्तिषु सतीषु सव्यापार-यदवच्छिन्नाधिकरणक्षणोत्तरक्षणे यदवच्छिन्नाधिकरणत्वं तावतीषु व्यक्तिषु सतीष्वेव सव्यापारयदवच्छिन्नानधिकरणक्षणोत्तर-क्षणे यदवच्छिन्नानधिकरणत्वं तदवच्छिन्नं प्रति तदेव जनकत्वम्, आकाशाभावकाले रासभादेर्घटादावुभयसत्त्वात् सतीष्वेवेत्य-

न्तम्, इत्थं च यावतां सत्त्वे रासभाधिकरणक्षणोत्तरक्षणे घटमत्त्वं तावतां सत्त्वे तं विना घटासत्त्वं नास्तीति नातिप्रसङ्गः, घटसत्त्वकालीनयावद्व्यक्तिनिविष्टदण्डादिसत्त्वकालेऽसत्त्वस्यासम्भवाद् भिन्नास्त्वित्यन्तम्, यत्तु मङ्गलाभावरूपविघ्नहेतुमतिमङ्गलतद्व्याप्येतरयावद्विघ्नहेतुसमवधानकाले मङ्गलसत्त्वस्यासम्भवात् स्वाभावभिन्नास्त्वित्यपि विशेषणीयमिति, तन्न, स्वस्वव्याप्येतरयावद्व्यक्तिसत्त्वे मङ्गलसत्त्वे विघ्नप्रागभावस्तावत्सत्त्वे मङ्गलासत्त्वे विघ्नप्रागभावाभावस्य सत्त्वेन तद्विशेषणानौचित्यात्, न ह्यत्र स्वस्वव्याप्येतरयावद्विघ्नहेतुत्वेन निवेश इति, तन्न, यावतां सत्त्वे दण्डसत्त्वे घटसत्त्वं तावतां सत्त्वे दण्डासत्त्वे घटासत्त्वस्यासम्भवात्, घटप्राक्कालोत्पत्तिकानामुदासीनानन्तसंयोगविभागतत्तदङ्कुरादीनामन्यदाभावात्, यावत्पदस्येच्छोपगृहीतयावत्परत्वे रासभाद्यतिप्रसङ्गात्, चक्रादियावत्सत्त्वे रासभसत्त्वे दण्डसमवधाने घटसत्त्वात्तदसमवधाने घटासत्त्वाच्च, तस्माद् यादृशसमूहसत्त्वे सव्यापारयत्सत्त्वेऽग्रिमक्षणेऽवश्यं कार्यं तादृशसमूहसत्त्वे सव्यापारयद्व्यतिरेके चावश्यं कार्यव्यतिरेकस्तत्तस्य साधनमित्येवं योगक्षेमसाधारण्याः कारणताया लक्षणं वाच्यम्, भवति हि चक्रादिसमूहसत्त्वे सव्यापारदण्डसत्त्वेऽग्रिमक्षणे घटसत्त्वं सव्यापारदण्डव्यतिरेके घटव्यतिरेकस्तथा मङ्गलाभावेतरविघ्नहेतुसमूहसत्त्वे मङ्गलसत्त्वे विघ्नप्रागभावस्तदभावे तदभावः। तत्पापवृत्तिलाभयोग्यसमयादिसमूहसत्त्वे सव्यापारप्रायश्चित्तसत्त्वेऽग्रिमक्षणे दुःखप्रागभावसत्त्वं सव्यापारप्रायश्चित्ताभावे दुःखप्रागभावाभाव इति, इत्थं च समूहान्वयव्यतिरेकग्रहानन्तरं प्रत्येकान्वयव्यतिरेकग्रहस्य प्रत्येककारणताग्राहकत्वं नाप्रामाणिकमिति निर्व्यूढम्। एतन्निवृत्तौ (११) प्रकृतकारणनिवृत्तौ, यदृच्छासंवादः साहचर्यमात्रं न तु नियमः, कारणतालक्षणे च नियमः प्रविष्ट इति नातिप्रसङ्ग इति भावः। त्रिविधेनेति (१२२-२-१) देशकालस्वभावभेदभिन्नेनेत्यर्थः। अनात्मरूपप्रतिभास-

विवेकेनेति(१२२-२-२)नास्त्यात्मरूपं प्रतिभासो यत्र तद्विवेकेनेति व्युत्पत्त्याऽयोग्यभेदेनेत्यर्थः। तेन प्रतियोगिप्रतियोगिव्याप्येतरयावत्प्रतियोग्युपलम्भकसमवधानरूपकारणान्तरसाकल्यरूपायां योग्यतायां प्राचीनाभिमतायामपरितुष्यन्नवीनसौगतः प्रतियोगिनः स्वरूपयोग्यतामविसंगृह्णन् योग्यताया अननुगतत्वमाह, चकारस्यापि व्यवस्थार्थत्वसम्भवात्, तथा चात्र विचारयन्ति नैयायिकाः। केयं योग्यानुपलब्धिरिन्द्रियसम्बद्धविशेषणताया अभावग्रहे सहकारिणी, न तावद् योग्यस्य प्रतियोगिनोऽनुपलब्धिर्जलपरमाणौ पृथिवीत्वाभावग्रहापत्तेः स्तम्भे पिशाचभेदग्रहानापत्तेश्च, नापि योग्येऽधिकरणे प्रतियोगिनोऽनुपलब्धिः सा, भूतले पिशाचात्यन्ताभावग्रहापत्तेः, परमाणौ महत्त्वाभावग्रहानापत्तेश्च, न चात्यन्ताभावग्रहे योग्यप्रतियोग्यनुपलब्धिरन्योन्याभावग्रहे च योग्येऽधिकरणे प्रतियोगितादात्म्यानुपलब्धिः सहकारिणीत्यपि साम्प्रतम्, जलपरमाणौ पृथिवीत्वात्यन्ताभावग्रहापत्तेः, परमाणौ महत्त्ववद्भेदग्रहस्य वायावुद्भूतरूपवद्भेदग्रहस्यानापत्तेश्चेष्टापत्तेश्चानुभवविरोधेन कर्त्तुमशक्यत्वादिति चेत्, योग्यसहकारिसम्पन्नानुपलब्धिः कारणम्, अत एवान्धकारे न घटाभावग्रहश्चक्षुषः तत्रालोकाधिकरणसन्निकर्षस्य हेतुत्वात्, न वा जलपरमाणौ पृथिवीत्वाभावग्रहः योग्यसन्निकर्षाभावात्, इन्द्रियसन्निकृष्टमहत्त्वोद्भूतरूपवद्विशेषणताया एव पृथिवीत्वाभावग्रहे योग्यसन्निकर्षत्वात्, उद्भूतरूपाभावग्रहे त्विन्द्रियसन्निकृष्टमहत्त्ववद्विशेषणता योग्यः सन्निकर्षोऽतो मनसि न तद्ग्रहो भवति, भवति च महति वायौ, एवमन्यत्रापि सन्निकर्षयोग्यता कार्यवशादुन्नेया, पिशाचात्यन्ताभावस्त्वयोग्यत्वादेव न गृह्यते, का पुनरत्यन्ताभावस्य योग्यता योग्यमात्रप्रतियोगिके योग्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वम्, एवं च घटत्वाभावो न घटत्वत्वेन न वा जातित्वादीना प्रत्यक्षो घटत्वत्वजातित्वादेरतीन्द्रियघटितत्वादिति सर्वथैवाप्रत्यक्ष इति दीधितिकृतः। तत्तद्व्यक्तित्वेन घटत्वाद्य-

भावो नाप्रत्यक्षस्तच्चातिरिक्तं घटत्वादितादात्म्यरूपं वेत्यन्ये, ब्राह्मण्याद्यभावप्रत्यक्षे तु विशुद्धमातापितृजन्यत्वाभावनिश्चयोऽपि हेतुरित्याद्यूह्यम्। एवमनया दिशा सौगतेनापि विचित्रा योग्यताऽवश्यमाश्रणीयेत्यभिप्रायः। ततोऽन्यथेति (३) उक्तान्यप्रकारेण योग्यताभावे लिङ्गे(३)ऽनुपलब्धिलक्षणे सति संशयोऽसद्व्यवहारविषयत्वस्य भवति। अभावप्रत्यक्षजनकत्वेनाभिमताया योग्यानुपलब्धेरेवासद्व्यवहारविषयत्वनिश्चायकत्वादिति भावः। एवंविधस्य (४) उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य, सतोऽनुपलभ्यमानस्य, अन्यत्र (४) उक्तातिरिक्तस्थले, तस्य (४) असद्व्यवहारविषयत्वस्य, असपक्षासत्त्वलक्षणस्य (६) विपक्षव्यावृत्तिलक्षणस्य, तदवचने (६) समर्थनावचने, सङ्गरस्येव (९) प्रतिज्ञाया इव, हेतुरूपत्वापायापत्तेरिति (१३) यद्व्यतिरेकेऽनुमितिजनकतावच्छेदकावच्छिन्नहेतुज्ञानव्यतिरेकस्तस्यैव हेतुरूपत्वेन विपक्षव्यावृत्ततया हेत्वभिधानरूपसमर्थनस्यैव हेतुरूपत्वासिद्धेरित्यर्थः। तदाह, अन्यथानुपपन्नत्वस्यैवेत्यादि(१३)प्रतिपाद्यानुरोधत इति (१२३-१-१)प्रतिपाद्याशयाननुरोध्यसाधनाङ्गवचनस्यैवाधिकनिग्रहस्थानत्वेन गणनादित्याशयः। प्रतिपाद्यानुरोधतोऽपीति (२) गौरवेणोक्तविशेषणदानमनिच्छन्त इति भावः। किमपि महाद्भुतमिति (११)शब्दप्रसिद्धिपरितोषप्रतिपाद्याशयानुरोधादिप्रयोजनवशात् कृतकत्वादित्यादौ कप्रत्ययोच्चारे सत्त्वमात्रेण नश्वरत्वसिद्धावप्युत्पत्तिमत्त्वकृतकत्वादिहेत्वादरे चाधिकनिग्रहस्थानममन्यमानाः अन्यतरेण सिद्धौ दृष्टान्तान्तरपक्षादिवचने च, तदिच्छन्तो भवन्त्येव हि परीक्षकाणामाश्चर्यकल्पतरव इति भावः। एतेन पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वादिति हेतुप्रयोगो न विधेयः। किन्तु धूमादित्येवेति नव्यचातुर्यमपास्तम्। यथाशब्दपरितोषमुभयोपपत्तेर्भावप्रत्ययार्थसम्बन्धपक्षे हेत्वन्तरभावाच्च, न च हेत्वन्तरयोगेऽर्थाधिक्यमपीत्युपपादितमधस्तात्, नापि नीलधूमादित्यत्र व्यर्थविशेषणत्ववद्धूमादित्यस्य स्थाने धूमप्रागभावादिति

प्रयोगे व्यर्थविशेष्यत्वमपि दूषणमभ्युपयन्ति तान्त्रिका इति दिग्। तदिष्टौ (११) समर्थनाभ्युपगमे, तद्वचनं निगमनादि वचनम्, एवं (१२३-२-३) असाधनाङ्गवचनस्य निग्रहाधिकरणत्वाभावे, द्वादशलक्षणप्ररूपणस्य (३) इन्द्रियपञ्चकविषयपञ्चकमानसधर्मायतनरूपद्वादशायतनोपन्यासस्य, तत्सिद्ध्यैव (४) स्वपक्षसिद्ध्यैव, अनेन स्वपक्षसिद्ध्यसिद्ध्योरेव जयपराजयप्रयोजकत्वस्थापनेन, साधनासाधनाङ्गोक्त्यनुक्त्योः स्वातन्त्र्येण निग्रहस्थानत्वासिद्धेरित्यर्थः। स्वपक्षपरपक्षसाधनदूषणामिति (७) स्वपक्षसाधनं परपक्षदूषणं चेत्यर्थः। अन्यतरेण (७) वादिना प्रतिवादिना वा, कस्यचिदिति (८) यस्यैव न पक्षसिद्धिस्तं प्रत्येव जल्पव्यापारानुपरमादित्यर्थः ॥ ७ ॥

कुशलाकुशलं कर्म परलोकश्च न क्वचित्। एकान्तग्रहरक्तेषु नाथ स्वपरवैरिषु ॥ ८ ॥

कायवाङ्मनःक्रिया कर्म, त्रिविधो योग आस्रवः। तद् द्विविधं कुशलाकुशलभेदात्, "कायवाङ्मनःकर्म योगः," "स आस्रवः," "शुभः पुण्यस्याऽशुभः पापस्य" (तत्त्वार्थ अ० ६) इति वचनात्। प्रेत्यभावः परलोकः। तद्धेतुर्वा धर्मोऽधर्मश्च, कारणे कार्योपचारात्। चशब्दान्नि:श्रेयसादिपरिग्रहः। एतत्सर्वमेकान्तग्रहरक्तेष्वनित्यैकान्ताद्यभिनिवेशपरवशीकृतेषु मध्ये न क्वचित्सम्भवति, तेषां स्ववैरित्वात् तत्त्वोपप्लववादिवत्। स्ववैरिणस्ते, परवैरित्वात्तद्वत्। किं पुनः स्वं को वा परः? पुण्यं पापं च कर्म तत्फलं कुशलमकुशलं च स्वम् तत्सम्बन्धः परलोकादिश्च, तस्य स्वयमेकान्तवादिभिरिष्टत्वात्। परः पुनरनेकान्तः, तस्य तैरनिष्टत्वात्। तद्वैरित्वं तु तेषाम्। तत्प्रतिषेधाभिधानात्। तत्स्ववैरित्वं साधयति, यस्मात् कर्मफलसंबन्धपरलोकादिकमेकान्तवादिनां प्रायेणेष्ट तदनेकान्तप्रतिषेधेन बाध्यते। ननु च शून्यवादिभिरद्वैतावलम्बिभिश्च तस्यानिष्टत्वात्कथं सर्वेषामेकान्तवादिनां तदिष्टमिति चेत्, न. तैरपि संवृत्या प्रायेणेष्टत्वात्। कथं पुनरनेकान्तप्रति-

पेधेन तद्बाध्यते इति चेत्, क्रमाक्रमयोः प्रतिषेधात्, तयोरनेकान्तेन व्याप्तत्वात् तत्प्रतिषेधेन तत्प्रतिषेधसिद्धेः। क्रमाक्रमप्रतिषेधे चार्थक्रियाप्रतिषेधः, तस्यास्ताभ्यां व्याप्तत्वात् अर्थक्रियाप्रतिषेधे च कर्मादिकं विरुध्यते, तस्य तया व्याप्तत्वात् यदि वानेकान्तप्रतिषेधेन क्षणिकाद्येकान्तविरोधः, तदेकान्तस्यानेकान्ताविनाभावित्वात् । तस्यापि स्वरूपेण सत्त्वेऽनेकान्तरूपेण चासत्त्वव्यवस्थायामनेकान्तस्य दुर्निवारत्वात्तदविनाभावित्वं सिद्धमेव, अन्यथा तद्व्यवस्थानुपपत्ते । इति परवैरित्वात्स्ववैरित्वम् । तथा च कथं कर्मादिकमनाश्रयं न विरुध्यते ? ततोनुष्ठानमभिमतव्याघातकृत्, सदसन्नित्यानित्याद्येकान्तेषु कस्यचित्कुतश्चित्कदाचित्क्वचित्प्रादुर्भावासंभवात्। ननु च 'कस्यचित्कर्मणः पुण्यपापाख्यस्य कुतश्चिदनुष्ठानात्कायादिव्यापारलक्षणात्क्वचिदात्मनि कदाचित्संसारिदशाया जन्म मा भूत् सर्वथा सतस्तदघटनात्, कर्मफलस्य वा शुभाशुभपरलोकलक्षणस्य कर्मविशेषात् तत्त्वज्ञानादेर्वा निश्श्रेयसस्य सर्वथा सद्भावाविशेषात् । तस्यासतस्तु, ततो जन्मास्तु, प्रागसतः पश्चात्प्रादुर्भावदर्शनात्, इति चेत्, न, उभयत्र तद्विरोधाविशेषात् । न हि सर्वात्मना सर्वस्य भूतावेव जन्म विरुद्धमपि तु सर्वथाऽभावेपि, व्यलीकप्रतिभासानामनुपरमप्रसङ्गात् । ननु च शून्यवादिनः स्वप्नदशायामिवान्यदापि व्यलीकप्रतिभासाना कर्मादीना कथमनुपरमप्रसङ्गो यत संवृत्या कर्मादिजन्माविरुद्ध न भवेदिति चेत्, न, साध्यसमत्वादुदाहरणस्य। यथैव ह्यस्वप्नदशाया व्यलीकप्रतिभासानामहेतुकत्वादनुपरमप्रसङ्गः शून्यवादिना तथा स्वप्नावस्थायामपि, तदविशेषात् । तेषामविद्यावासनाहेतुकत्वादहेतुकत्वमसिद्धमिति चेत्, न, अनाद्यऽविद्यावासनाया अप्यसत्त्वे वितथप्रतिभासहेतुत्वविरोधात् खपुष्पवत्, सत्त्वे वा सर्वथा शून्यवादानवतारात्। संवृतिसत्त्वात्तस्याः शून्यवादावतार इति चेत्, तर्हि परमार्थतोऽसत्यऽविद्या कथं वितथप्रतिभासहेतुः स्यात् ? स्वरूपेण सदेव हि किञ्चिद्वितथप्रतिभासानपि जनयद्दृष्टं, यथा चक्षुपि तिमिरादिकं, न

पुनरसत्खरविषाणम् । इति सर्वशून्यवादिनो व्यलीकप्रतिभासानुपरमप्रसङ्ग एव, अहेतुकत्वात्। ततो नाभावैकान्ते कस्यचित्कुतश्चित्कदाचित्कचिज्जन्म संभवति, सदसदनेकान्तप्रतिषेधाद्भावैकान्तवत् । न केवलं स्वभावनैरात्म्ये एवायं दोषः, किं त्वन्तरुभयत्र वा निरन्वयसत्त्वेपि कार्यस्य निर्हेतुकत्वविशेषाज्जन्मविरोधसिद्धेः, जन्मनि वा तस्यानुपरतिप्रसङ्गात्। नन्वन्तस्तत्त्ववादिनो योगाचारस्य पूर्वविज्ञानादुत्तरविज्ञानस्योत्पत्तेः, सौत्रान्तिकस्य चान्तर्बहिस्तत्त्वोभयवादिनः पूर्वार्थक्षणादुत्तरार्थक्षणस्य प्रादुर्भावात्कुतो निष्कारणत्वं कार्यस्येति चेत्, न, कार्यकालमप्राप्नुवत कारणत्वानुपपत्तेश्चिरतरातीतवत् कार्यकालं प्राप्नुवतोऽपि कारणत्वादर्शनादन्यथा सर्वस्य समानक्षणवर्तिनस्तत्कारणत्वप्रसङ्गात्। यस्य भावाभावयोः कार्यस्य भावाभावौ तदेव कारणमिति कल्पनाया, सत्यऽभवतः स्वयमेव नियमेन पश्चाद्भवतस्तत्कार्यत्व विरुद्धम्, तत्र तदकारणत्वसाधनादन्यकार्यवत्, तस्य वा तदकार्यत्वसिद्धेस्तद्वत् । कार्यमेव तदनन्तर सम्भवतीति चेत्, कालान्तरेऽपि किं न स्यात् ? तदभावाविशेषात् समनन्तरवत् कालान्तरेपि किञ्चिद्भवत्येव मूपिकाऽलर्कविपविकारवद्भाविराज्यादिनिमित्तकरतलरेखादिवच्चेति चेत्, समर्थे सत्यऽभवतः पुनः कालान्तरे भाविनस्तत्प्रभवाभ्युपगमे कथमक्षणिकेऽर्थक्रियानुपपत्तिः, तत्सत्त्वासत्त्वयोरविशेषात् । स्वसत्ताक्षणात्पूर्वं पश्चाच्चासति समर्थे कारणे स्वकालनियताऽर्थक्रियोपपद्यते, न पुनः शश्वत्सतीति कुतो नियमः ? कारणसामर्थ्यापेक्षिण. फलस्य कालनियमकल्पनायामचलपक्षेपि समानः परिहारः । यथैव हि, क्षणिकं कारणं यद्यदा यत्र यथोत्पित्सु कार्यं तत्तदा तत्र तथोत्पादयति, तस्यैवंविधसामर्थ्यसद्भावात् तत्सामर्थ्यापेक्षिणः कार्यस्य स्वकालनियमः सिध्यतीति कल्प्यते तथा नित्यमपि कारणं यद्यदा यत्र यथा फलमुत्पित्सु तत्तदा तत्र तथोपजनयति, तस्य तादृशसामर्थ्ययोगात् तत्सामर्थ्यापेक्षिणः फलस्य कालनियमः किन्न कल्पयितुं शक्यः ? शाश्वतिकस्य प्रतिकार्यं सामर्थ्यभेदादनित्यत्वप्रसंग इति चेत्, न, क्षणिकस्याप्येकस्य युगपदनेककार्यकारिणः प्रतिकार्यं

सामर्थ्यभेदादनेकत्वप्रसङ्गात् । क्षणवर्तिन एकस्मात्कारणस्वभावमभेदयता विचित्रकर्मणामुत्पत्तौ कूटस्थेपि किं न स्यात् क्रमशः कार्योत्पत्तिः ? तस्यापि तथाविवेकस्वभावत्वात् । कथमत्रोत्पत्तिर्नाम ? तत्र समानः पर्यनुयोगः, सदमतोनुत्पत्तेर्निष्पन्नखपुष्पवत् । नित्यं कथमुत्पद्यते सत्त्वान्निष्पन्नवदिति पर्यनुयुज्यते, न पुनः क्षणिकं कथं प्रादुर्भवेत् ? असत्त्वात्खपुष्पवदिति पर्यनुयोगार्हमिति पक्षपातमात्रम् । सतः पुनर्गुणान्तराधानमनेकं क्रमशोप्यनुभवतः किं विरुध्येत, ? । नन्वेकत्वं विरुध्यते । न हि गुणान्तराधानमनेकं क्रमशोनुभवन् यद्येकेन स्वभावेनानुभवेत्तदा तस्यैकस्वभावतापत्तिः, अन्यथा निर्हेतुकत्वप्रसङ्गात्, तदनुभवनस्य नियमायोगात् । अथानेकेन स्वभावेन तदनुभवेत्तदा कथमेकस्वभावता तस्य । अनेकस्वभावस्य ततो भेदात्तस्यैकरूपत्वे कुतोयमस्यानेकस्वभावः ? संबन्धात्तस्य स इति कल्पनायां स सबन्धः स्वस्वभावैर्गुणान्तराधानानुभवनहेतुः किमेकेन स्वभावेन स्यादनेकेन वेति स एव पर्यनुयोगोऽनवस्था च । इति कश्चित् । सोपि दूषणाभासवादी, स्वयमिष्टस्यैकस्य ज्ञानस्य ग्राह्यग्राहकाकारवैश्वरूप्यविरोधप्रसङ्गात्, प्रकृतपर्यनुयोगस्याविशेषात् । क्षणस्थायिनः कस्यचिदेव ग्राह्यग्राहकाकारवैश्वरूप्याभ्युपगमेपि संविदितज्ञानस्य ग्राह्यग्राहकाकारविवेकं परोक्षविश्राणस्य सामर्थ्यप्राप्तेः, संवेदनस्यैकस्य प्रत्यक्षपरोक्षाकारतया वैश्वरूप्यसिद्धेः । संविद्रूपतया संवेदनस्य प्रत्यक्षतैव ग्राह्यग्राहकाकारविविक्ततयापि प्रत्यक्षता, न पुनः परोक्षता यतो वैश्वरूप्यं प्रकृतपर्यनुयोगयोग्यं भवेदिति चेत्, न, तथा सकृदप्यप्रतिभासनाद्ब्रह्माद्वैतवत्, ग्राह्यग्राहकाकाराक्रान्तस्यैव सर्वदा वेदनस्यानुभवात् । ततः संवेदनमेकमनेकं प्रत्यक्षपरोक्षाकारौ विभ्राणं सामर्थ्यप्राप्तमेव, अन्यथा शून्यसंविदोर्विप्रतिपेधात् । ग्राह्यग्राहकाकारशून्यतया हि शून्यम् । संवेदनमात्रमुप(वर्ण)यतस्तत्संविदुपपद्यते, न पुनः संविन्मात्रमप्यसदुपवर्णयतो, विप्रतिपेधात्स्वेष्टासिद्धेः प्रलापमात्रप्रसक्तेः । तदयं योगाचारः सौत्रान्तिको वा सर्वथा शून्यं संविदद्वैतं वानिच्छन्, क्षण-

स्थायि कारणं स्वसत्ताया कार्यं कुर्वदभ्युपगच्छन् क्रमोत्पत्तिमुपरुणद्धि सकलजगदेकक्षणवृत्तिप्रसङ्गात् । कालान्तरे कार्यं कुर्वत्कारणं क्षणिकमभ्युपगच्छतां नाय दोष इति चेत्, न, तेषामपि कारणस्य कार्यकालप्राप्तौ क्षणभङ्गभङ्गानुषङ्गात्, तदप्राप्तुवतस्तत्कृतौ व्यलीककल्पनाविशेषेण कूटस्थानतिशायनात् । यथैव हि कूटस्थमपरिणामित्वात् क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियासमर्थमपि व्यलीककल्पनया क्रमाक्रमसमाक्रान्तकार्यपरम्परां कुर्वदभ्युपगम्यते नित्यैकान्तवादिभिः साङ्ख्यादिभिस्तथा क्षणिकमपि स्वसत्ताक्षणात्पूर्वं पश्चाच्चात्यन्तमसत्सर्वथार्थक्रियायामसामर्थ्यं प्रथयदपि संवृत्या क्रमाक्रमवृत्तिकार्यमाला निर्वर्त्तयदुररीक्रियते क्षणिकवादिभिः इति कूटस्थादनतिशायनं क्षणिकस्य सिद्धमेव । ततः सुभाषित समन्तभद्रस्वामिभिः कुशलाद्यसंभूतिरेकान्तग्रहरक्तेष्विति, परस्परनिरपेक्षसदसदुभयैकान्तनित्यानित्योभयैकान्तवादिनोपि तदसभवादद्वैतैकान्तादिवादिवत् । तदेवं सर्वथैकान्तवादिना दृष्टेष्टविरुद्धभाषित्वादज्ञानादिदोषाश्रयत्वसिद्धेराप्तत्वानुपपत्तेस्त्वमेव भगवन्नर्हन् सर्वज्ञो वीतरागश्च युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वेन निर्दोषतया निश्चितो महामुनिभिस्तत्त्वार्थशासनारम्भेभिष्टुतः, तत्सिद्धिनिबन्धनत्वादिति तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालङ्कारे व्यासतः समर्थितं प्रतिपत्तव्यम् ॥८॥ ननु च भाव एव पदार्थानामिति निश्चये दृष्टेष्टविरोधाभावात्तद्वादिनो निर्दोषत्वसिद्धेराप्तत्वोपपत्तेः स्तुत्यताऽस्त्विति भगवत्पर्यनुयोगे सतीवाहुः—

'संवृत्येति' (१३०-१-१४) अविद्ययेत्यर्थः । सा च व्यवहारवादिनां वेदान्तिनां मतेऽनिर्वचनीयं कर्मोपपादयति, सौगतानां तु वैज्ञानिकमेव, दृष्टिसृष्टिवादे तु वेदान्तिनां माध्यमिकानां च न कश्चिद्विशेषो दण्डघटादेर्यागस्वर्गादेश्च कार्यकारणभावस्य स्वाप्निककार्यकारणभावतुल्यत्वात् केवलमेके वाङ्मात्रेण वेदप्रामाण्यं स्वीकुर्वते भ्रमाधिष्ठानसत्यत्वं च, अन्ये तु न तदपीत्येतावानेव विशेष इति बोध्यं सुधीभिः । युक्त्या बाधं दर्शयित्वाऽनुभवेन बाधं प्रदर्शयति, यदि चेत्यादि, (१३०-२-२)

तस्यापि स्वरूपेणेति (३) स्वरूपेण सत्त्वे पररूपेण चाऽसत्त्वेऽनुभव एव साक्षीति भावः। न च प्रसिद्धेन पररूपेणासत्त्वमनुभूयतां न तु शशशृङ्गादिवदप्रसिद्धेनेति न क्षणिकाद्येकान्तस्य स्वरूपेण सत्त्वे पररूपेणानेकान्तेनासत्त्वानुरोधादनेकान्ताभ्युपगमापत्तिरिति शङ्कनीयम्। स्थिरपक्षे स एवायमित्यादौ क्षणिकपक्षेऽपि चित्रज्ञानादौ भेदाभेदाद्यनेकान्तस्यानुभवसिद्धत्वेनासत्त्वारोपविषयतयाऽपि तद्दुर्निवारतेत्यत्र तात्पर्यात्, एतेनासत्ख्यातिसिद्धेनानेकान्तरूपेण व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिकत्वादिना वाऽसत्त्वेऽपि न वस्तुसिद्धिरित्यपास्तम्। अनाश्रयं (५) एकान्ताश्रयनिरासात्, तत (५) एकान्तनिरासात्, अनुष्ठानं तपश्चरणादि, एकान्तवादिनामिति शेषः। अभिमतव्याघातकृत् स्वर्गापवर्गफलनिराकरिष्णुः स्यात्, सदेकान्ते दोषं दर्शयन्नसदेकान्तस्य न्याय्यतामाशङ्कते पूर्वपक्षी ननु चेत्यादिना(६), कर्मण इत्यादि षष्ठ्यन्तत्रयस्य माभूत् (७) इत्यनेनान्वयः, सर्वथा सतस्तदघटनादिति (७) हेतुः। तदघटना जन्माघटनात्, सर्वथासत्त्वं ह्याकाशादावुत्पत्त्यभावव्याप्यत्वेन दृष्टम्, ततस्तथात्वे उत्पत्तिर्न घटत इति भावः, कर्मविशेषात् (७) अयत्याश्रमविहिततपश्चरणादिकर्मणः, तत्त्वज्ञानादेः (७) आत्मसाक्षात्कारादेः, आदिनामिथ्याज्ञानध्वंसपरिग्रहः, तत्त्वज्ञानमेवादिः कारणं तस्मादिति वा, चाकारो मतद्वयाभिव्यक्त्यर्थः, केचित् खलु कर्मण एव मुक्तिमिच्छन्ति, अपरे च तत्त्वज्ञानादेवेति। तस्य (८) कर्मादेः, ततः (८) कायादिव्यापारादेः, प्रागसत (८) इति, कारणसामग्र्याः कार्योत्पत्तिव्याप्यत्वादुत्पत्तेराद्यक्षणसम्बन्धरूपत्वादसदेकान्ते कार्यजन्माविरोधादिति भावः, समाधत्ते–'उभयत्रे-त्यादि (८)। उभयत्र सदसत्कार्यपक्षयोः। व्यलीकप्रतिभासानुपरमप्रसङ्गादिति, (९), असतो निरवधित्वेन यथास्वभावं सततोत्पत्त्यनुत्पत्त्यन्यतरध्रौव्यादिति भावः। तेषां (१२) व्यलीकप्रतिभासानाम्, अभावैकान्ते (१३१-१-१) माध्यमिकमते

दत्तं दूषणं योगाचारसौत्रान्तिकमतयोरप्यतिदिशति भाष्यकृत्—न केवलमित्यादि । न केवलं स्वभावनैरात्म्ये तत्त्वोपप्लववादिमाध्यमिकमते (२) स्वभावशून्यत्व एवायमनन्तरोक्तो दोषः । किन्त्वन्तस्तत्त्ववादिनो योगाचारस्यान्तर्वहिस्तत्त्ववादिनः सौत्रान्तिकस्य च मते, निरन्वयसत्त्वेऽपि क्षणस्थितिमात्रनिरन्वयसत्त्वाङ्गीकारेऽप्ययं दोषस्तदवस्थ एवेत्यक्षरार्थः । 'कार्यकालस्मिति' (५) कारणस्य कार्यसहभावव्याप्यतायाः सामग्र्याश्च स्वकाले कार्योत्पत्तिव्याप्यतायाः न्याय्यत्वाद् व्यवहितोत्तरक्षणप्रवेशे गौरवादिति भावः । प्रसङ्गादिति (६) न चेष्टापत्तिः, सव्येतरगोविषाणयोः कार्यकारणभावस्य सर्वैरनभ्युपगमादिति भावः । तदकारणत्वसाधनात्तत्र (७) कार्येऽकारणत्वसाधनात्, अन्यकार्यवदन्यकार्य इव, तस्य वा प्रकृतकार्यस्य, तदकार्यत्वसिद्धेः प्रकृतकारणाकार्यत्वसिद्धेः। तद्वत्( ) अन्यकार्यस्येव, तदनन्तरं सामग्रीप्रविष्टतदव्यवहितोत्तरक्षणे, सम्भवति समीचीनतया घटते, एककारणस्य कार्योत्पत्त्यव्याप्यत्वादितिद्रष्टव्यम् । अत्राप्यव्यवहितत्वमनतिप्रयोजनमित्यभिप्रेत्याह भाष्यकृत्, 'कालान्तरेऽपीति' (८) त्यज्यतां तर्ह्यव्यवहितत्वभागः पूर्वभावित्वपश्चाद्भावित्वे तु कारणकार्यशरीरघटकेऽवश्यं वाच्ये, अन्यथा समानक्षणवर्त्तिनां सर्वेषां कार्यकारणत्वप्रसङ्गादित्याशयवानाह, 'कालान्तरेऽपीति (८),' इदमुपलक्षणं स्वप्नज्ञानस्यापि कालान्तरीयजाग्रद्ज्ञाने हेतुतायाः प्रज्ञाकरेणाभ्युपगमादितिद्रष्टव्यम्। एवमभ्युपगमे क्षणिकत्वसाधकयुक्तिर्विरुध्यत इति दूषणमाह, समर्थे सत्यभवत इत्यादि (९),कालनियमकल्पनायाम्मिति(११)यत्काले यज्जननसमर्थं यत्तत्काले ततस्तदुत्पत्तिरिति स्वभावकल्पनायां बौद्धेन क्रियमाणायामित्यर्थः । समानः परिहार इति (११) स्थिरपक्षेऽपि कारणान्तरसाहित्येनैव कार्योपधायकत्वस्वभावस्य कारणे कल्पनेन समर्थासमर्थत्वाभ्यां भेदाभावादित्यर्थः । न

च कारणान्तरसाहित्यगर्भकार्योपधायकत्वस्वभावस्य कल्पने सदा गलेपादिकया कारणं कारणान्तरमप्युपनयेदिति परेण वक्तुं शक्यम्। कालान्तरे कार्यजनकत्वस्वभावाभ्युपगमे गलेपादिकया कालान्तरमप्युपनयेदित्यस्याचलत्वादिभिरपि वक्तुं शक्यत्वान्मूषिकालर्कविषविकारादेः कालान्तरे कार्योत्पादकत्वेष्टिव्याघातात् तत्तद्घटकस्य स्वभावपरिचायकत्वोक्तेरप्युभयत्र तौल्यादिति द्रष्टव्यम्। एतदेवाह वृत्तिकृत्, यथैव हीत्यादि(११), तस्यापि तथाविधैकस्वभावत्वादिति(१३१–२–२)यथा क्षणिकस्याक्रमिकनानाकार्यकरणैकस्वभावत्वं तथा शाश्वतिकस्यापि क्रमिकनानाकार्यकरणैकस्वभावत्वमविरुद्धमिति भावः। अत्र नित्ये, कथमुत्पत्तिर्वेति सोऽयं पर्यनुयोगः, तत्र क्षणिकपक्षे, समानः एकान्तग्रहे दोषस्यानेकान्तग्रहे च परिहारस्योभयत्राविशेषात्, सदेकान्ते कथञ्चित् कार्योत्पत्तिसम्भवमाह भाष्यकृत्, अत्रैकत्वविरोधमुद्भाव्य संवेदनप्रतिबन्द्या प्रघट्टेन परिहरति वृत्तिकृत् नन्वेकत्वं विरुध्यत इत्यादिना (४) प्रकृतपर्यनुयोगस्याविशेषादिति दूषणं सांख्यं प्रति सौगतेन दत्तं तत्सौगतस्याप्यायाति यतस्तन्मते संवेदनं ग्राह्यग्राहकाकारवैश्वरूप्यमनुभवेदेकेन स्वभावेनानुभवेदनेकेन वा, आद्ये ग्राह्यग्राहकाकारयोरेकत्वापत्तिः, अन्त्येऽनेकस्वभाववतः कथमेकस्वभावत्वं संवेदनादाकारद्वयभिन्नतोपगमे चास्य तदिति व्यपदेशः कुतः, सम्बन्धाच्चेत्, स सम्बन्धस्तद्धेतुरेकेन स्वभावेनानेकेन वा, अत्राप्युत्तरं पूर्ववदिति दुरुत्तरानवस्थातरङ्गिणीति शून्यसंवित्पक्षेऽप्येकत्वस्यानेकत्वेनाविरोधबलादापादयति भाष्यकृत्, क्षणस्थायिन इत्यादि (९) कस्यचित् शून्यसंविन्मात्रस्य, अनभ्युपगमेऽपीत्यनन्तरं तत्त्वत इति शेषः। विवेकम् (९) अभावम्, परोक्षम् अनुमानविषयम्, बिभ्राणस्य(१०)स्वरूपसम्बन्धेन क्रोडीकुर्वतः, सामर्थ्यप्राप्तेर्युक्तिसिद्धत्वात्, संवेदनैकस्य क्षणिकज्ञानाद्वैतस्य, ननु ग्राह्यग्राहकाकारविविक्ततयापि संवेद-

नस्य प्रत्यक्षतैवाभावस्याधिकरणरूपत्वादित्याशङ्कते **संविद्रूपतयेति**(१०),उत्तरयति 'तथेत्यादि'(११), तथा ग्राह्यग्राहकाकारविविक्तक्षणिकज्ञानत्वेन, सकृदप्येकवारमपि, अप्रतिभासनात् ब्रह्माद्वैतवत् वेदान्त्यभिमतसकलप्रपञ्चविनिर्मुक्तपरब्रह्मवत्, तेऽपि हि प्रपञ्चरहितब्रह्मविषयं विचारसाध्यं महावाक्यजन्यं प्रत्यक्षं स्वीकुर्वत एव तद्वद्बौद्धबुद्धिपरमकाष्ठाप्राप्तं शून्यप्रत्यक्षमिति भावः। ब्रह्माद्वैतप्रत्यक्षं मिथ्या क्षणिकज्ञानाद्वैतप्रत्यक्षं सत्यमिति तु स्ववासनामात्रम्, कूटस्थानतिशायित्वमिति(१३२-१-३) य एव नित्यैकान्तपक्षे दोषास्त एव क्षणिकपक्षेऽपीति भावः। किञ्च करणाकरणयोस्तज्जातीयस्य सतः सहकारिलाभालाभौ तन्त्रमित्यभ्युपगमे क्षणिकत्वं सिध्येत्, स चैकव्यक्तावप्यविरुद्धस्ततश्च तावनादृत्य कारणगतवैजात्यकल्पनमप्रामाणिकमन्यथा कारणवत्कार्येऽपि किञ्चिद्वैजात्यं स्यात्, यद्वतः कारणापेक्षा स्यान्नतु दृष्टजातीयस्येति शङ्कया न नियतप्रवृत्तिसिद्धिरेवं चावह्नेरपि धूमसम्भावनया गतं कार्यलिङ्गकेन सङ्कीर्यते च कारणगता कुर्वद्रूपत्वाख्या विधिरूपा व्यावृत्तिरूपा वा जातिर्दण्डत्वादिना परस्परपरिहारवत्योश्च समावेशे गोत्वाश्वत्वयोरपि तथाभावप्रसङ्ग इति गतमनुपलब्धिलिङ्गकेनापि क्वचिदपि विरोधासिद्धेस्ततो विपक्षे बाधकाभावात् स्वभावहेतुरप्यपास्तः। अथास्ति तत्तथा हि वृक्षजनकपत्रकाण्डाद्यन्तर्भूता शिंशपासामग्री सा वृक्षत्वमतिपत्य भवन्ती स्वकारणमेवातिपतेदिति चेत्, तर्हि शिंशपासामग्र्यन्तर्भूता चलदलादिसामग्री तामतिपत्य चलरूपता भवन्ती स्वकारणमेवातिपतेदिति तुल्यम्, नोदनाद्यागन्तुकनिबन्धनं चलत्वं न तद्विशेषमात्राधीनमिति चेत्, यदि नोदनादयः स्वभावभूतास्तदा तद्विशेषा एव, अथास्वभावभूतास्ततः सहकारिण एव, तथा च तास्तानासाद्य निर्विशेषैव शिंशपाचलस्वभावत्वमारभत इति कुतः क्षणिकत्वसिद्धिः, स्वभावभूता एवागन्तुकसहकार्यनुप्रवेशाद्भवन्तीति चेत्, तर्हि वृक्षसामग्र्यामागन्तुकसह-

कार्यानुप्रवेशादेव शिंशपापि जायत इति न कश्चिद्विशेषः । एवमेतत्, किन्तु शिंशपाजनकास्तरुसामग्रीमुपाद्ययैव चलनजनकास्तु न तामेव किन्तु मूर्त्तमात्रं तथादर्शनादिति चेत्, तर्हि शिंशपाया वृक्षविशेषत्वाविशेषे कौतस्कुतोयं फलं प्रत्येकान्तानेकान्तविशेषः । तत्तत्सहकारिभावाभावकृतः स इति चेत्, तत्रासादितसहकारिणोऽसदृशरूपा अपि केचिदुपकारिणाऽनीदृशास्तु न तथेति तद्वा तादृग्वेति न कश्चिद्विशेष इति स्यादिति कुतः क्षणिकत्वं वैजात्याभ्युपगमे च कुतोऽनुमानवार्त्ता माभूदनुमानमिति चेत्, तर्हि तेन विना कुतस्तत्सिद्ध्येत्, न हि क्षणिकत्वे प्रत्यक्षमस्ति तथानिश्चयाभावात्, गृहीतनिश्चित एवार्थे तस्य प्रामाण्यात्, अन्यथातिप्रसङ्गादिति हता बौद्धबुद्धिस्तदाहुरुदयनाचार्याः—" न वैजात्यं विना तत्स्यान्न तस्मिन्ननुमा भवेत् ॥ न विना तेन तत्सिद्धिर्नाध्यक्षं निश्चयं विनेति ॥ १ ॥ " ॥ ८ ॥

भावैकान्ते पदार्थानामभावानामपह्नवात् । सर्वात्मकमनाद्यन्तमस्वरूपमतावकम् ॥ ९ ॥

पदार्थाः प्रकृत्यादीनि पञ्चविंशतितत्त्वानि । "मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त । षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥१॥" इति वचनात् । तेषामस्तित्वमेवेति निश्चयो भावैकान्तः । तस्मिन्नभ्युपगम्यमाने सर्वेषामितरेतराभावादीनामभावानामपह्नवः स्यात् । ततः सर्वात्मकत्वादिप्रसङ्गः । तत्र व्यक्ताव्यक्तयोस्तावदितरेतराभावस्यापह्नवे व्यक्तस्याव्यक्तात्मकत्वे सर्वात्मकत्वम् । तथा च । "हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् । सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥१॥" इति व्यक्ताव्यक्तलक्षणभेदकथनविरोधः । प्रकृतिपुरुषयोरत्यन्ताभावनिह्नवे प्रकृतेः पुरुषात्मकत्वे सर्वात्मकत्वमेव । तथा च "त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि । व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥१॥" इति तल्लक्षणभेदकथनव्याघातः । प्रागभावस्यापह्नवे महदहङ्कारादे-

विकारस्यानादित्वप्रसङ्गः। तथा च "प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः। तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ॥१॥" इति सृष्टिक्रमकथनं विप्रतिषिध्यते। प्रध्वंसाभावस्यापह्नवे तस्यानन्तत्वप्रसङ्गात्, पृथिव्यादीनि पञ्च महाभूतानि पञ्चसु तन्मात्रेषु लीयन्ते—पृथिव्या गन्धरूपरसस्पर्शशब्दतन्मात्रेषु प्रवेशात्, सलिलस्य रसादिषु, तेजसो रूपादिषु, वायो. स्पर्शशब्दतन्मात्रयोः, आकाशस्य शब्दतन्मात्रेऽनुप्रवेशात्, तन्मात्राणा च पञ्चाना बुद्धीन्द्रियाणां कर्मेन्द्रियाणां च मनसा सह षोडशकस्य गणस्याहङ्कारेऽन्तर्भावस्तस्य च महति महतः प्रकृताविति संहारनिवेदनमतिव्याकुल स्यात्। ततः सर्वमस्वरूप, स्वेनासाधारणेन रूपेण कस्यचित्तत्त्वस्य व्यवस्थानाघटनात्। तच्च "सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनिराकृतेः। चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति ॥१॥" इति दूषणास्पदमतावकं मतम्, न तव भगवतोऽर्हतः, कथञ्चिदभावापह्नवाभावात्। ननु च व्यक्ताव्यक्तयोरितरेतराभावस्य तत्स्वभावस्य प्रकृतिपुरुषयोरत्यन्ताभावस्य च तद्रूपस्य महदहङ्कारादीना प्रागभावस्य च स्वकारणस्वभावस्य महाभूतादीना प्रध्वंसाभावस्य च स्वान्तर्भावाश्रयस्वरूपस्य सांख्यैरभ्युपगमादभावापह्नवासिद्धेः कथं सर्वात्मकत्वादिर्दोष इति चेत्, न, तथा भावैकान्तविरोधात् सर्वस्य भावाभावात्मकत्वप्रसक्तेः। न हि वयमपि भावादर्थान्तरमेवाभावं संगिरामहे, तस्य नीरूपत्वप्रसङ्गात्, नास्तीतिप्रत्ययजनकत्वरूपसद्भावादभावस्य नीरूपत्वाभावोपगमे तस्य भावस्वभावत्वसिद्धेः प्रत्ययाभिधानविषयस्यार्थक्रियाकारिणः पदार्थस्य भावस्वभावत्वप्रतिज्ञानात्, नास्तित्वस्य वस्तुधर्मत्वादस्तित्ववत्। वस्तुनोऽस्तीतिप्रत्ययविषयो हि पर्यायोऽस्तित्वं, नास्तीतिप्रत्ययविषयस्तु नास्तित्वम्। निष्पर्यायद्रव्यैकान्तपक्षे सर्वात्मकत्वादिदोषानुषङ्गः कथं परिहर्तुं शक्यः ?, सर्वविवर्तात्मकस्यैकस्यानाद्यनन्तस्य प्रधानस्येष्टत्वात् तद्व्यतिरेकेण सकलविशेषाणां तत्त्वतोऽसम्भवात्सिद्धसाधनमिति चेत्, न, प्रकृतिपुरुषयोरपि विशेषाभावानुषङ्गात्, सत्ताव्यतिरेकेण तयोरप्रतिभासनात्सत्ताद्वैतप्रसङ्गात्। तदेवास्तु, चेतनेतरविशेषाणाम-

विद्योपकल्पितत्वादिति चेत्, कुत पुनर्विशेषानपह्नुवीत ? न तावत्प्रत्यक्षात्, तस्य विधायकत्वनियमात्, विशेषप्रतिषेधे प्रवृत्त्ययोगात्। नाप्यनुमानादागमाद्वा, तस्यापि प्रतिषेधकत्वानिष्टेः, अन्यथा प्रत्यक्षस्यापि प्रतिषेधकत्वप्रसङ्गात् स्वयं न कुतश्चित्प्रमाणादयं विशेषानपह्नुते। किं तर्हि ? तत्साधनव्यभिचारात्। वस्तुविशेषसाधनवादिना हि न कारणभेदस्तत्साधनं प्रयोक्तव्यम्, तस्याभेदवादिनं प्रत्यसिद्धत्वात्। नापि विरुद्धधर्माध्यासः, तत एव। किं तर्हि ? सविन्निर्भासभेदाद्भावस्वभावभेदः प्रकल्प्येत। स पुनरभेदेप्यात्मनः खण्डशः प्रतिभासनात् व्यभिचारी। ननु ज्ञानात्मनः खण्डशः प्रतिभासनस्य विभ्रान्तत्वात्तत्त्वतस्तस्यैकत्वान्न तेन व्यभिचारः। तदुक्तम्, "अविभागोपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः। ग्राह्यग्राहकसवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते॥१॥" इति चेत्, तदन्यत्रापि विभ्रमाभावे कोशपानं विधेयम्। शक्यं हि वक्तुम्, संविन्निर्भासभेदः कुतश्चित्प्रतिपत्तुर्विभ्रम एव, तत्त्वतः संविन्मात्रस्याद्वयस्य व्यवस्थितेः। "यथा विशुद्धमाकाश तिमिरोपप्लुतो नरः। सङ्कीर्णमिव मात्राभिर्भिन्नाभिरभिमन्यते॥१॥ तथेदममल ब्रह्म निर्विकल्पमविद्यया। कलुषत्वमिवापन्न भेदरूपं प्रपश्यति॥२॥" इति वचनात्। तथा चासिद्धं विशेषसाधनं न साध्यसाधनायालम्। तदेकं चक्षुरादिज्ञानप्रतिभासभेदवशाद्रूपादिव्यपदेशभाग् ग्राह्यग्राहकसवित्तिवत्। चक्षुरादिज्ञानप्रतिभासभेदोऽप्यसिद्ध एवाभेदवादिन इति चेत्, ग्राह्यग्राहकसंवित्तिप्रतिभासभेदोपि भेदवादिन. किमेकत्र ज्ञानात्मनि सिद्धः ?, संवृत्या सिद्ध इति चेत्, समः समाधिः। योपीतरेतराभावप्रत्ययाद्भावस्वभावभेदं साधयेत्तस्य इतरेतराभावविकल्पोपि कथमयथार्थो न स्याद्वर्णादिविकल्पवत्। वर्णादिप्रत्ययो भावस्वभावभेद स्वसाध्यमर्थमन्तरेणैव भावाद् व्यभिचारित्वादयथार्थो, न पुनरितरेतराभावप्रत्यय इत्यशक्यव्यवस्थम्, तस्य भावाभावयोरभेदे भेदेपीतरेतराभावप्रत्ययेन व्यभिचारात्। न हि वस्तुव्यतिरिक्तमसन्नाम, प्रमाणस्यार्थविषयत्वात्। प्रत्यक्षमभावविषयं भवत्येव, तस्येन्द्रियैः सयुक्तविशेषणसंबन्धसद्भावाद्, घटाभावविशिष्टं भूतलं

गृह्णामीति प्रत्ययादिति चेत्, न, तस्य भूतलादिभावविषयत्वात्। अभावदृष्टौ हि तदवसानकारणाभावाद्भावदर्शनमनवसरं प्राप्नोति, क्रमतोऽनन्तपररूपाभावप्रतिपत्तावेवोपक्षीणशक्तिकत्वप्रसङ्गात्। प्रत्यक्षस्य क्वचित्प्रतिपक्षा स्मर्यमाणस्य घटस्याभावप्रतिपत्तौ तदपररूपस्यानन्तस्यास्मर्यमाणत्वं भावदर्शनावसरकारणमिति चेत्, न, प्रत्यक्षस्य स्मरणानपेक्षत्वात्, तस्य स्मृत्यपेक्षायामपूर्वार्थसाक्षात्कारित्वविरोधात्। भावप्रत्यक्षं किञ्चित्तु स्मरणनिरपेक्षं योगिप्रत्यक्षवत्। किञ्चित्तु स्मरणापेक्षं सुखादिसाधनार्थव्यवसायवत्। क्वचिद्भावप्रत्यक्षं स्मरणनिरपेक्षं, योगिनोऽभावप्रत्यक्षं यथा। क्वचिद्भावप्रत्यक्षं पुनः प्रतिषेध्यस्मरणापेक्षमेव, तथाप्रतीतेः इति चेत्, न, स्मरणापेक्षस्य विकल्पज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वविरोधादनुमानादिवत्। प्रत्यक्षस्य सकलकल्पनाविषयत्वात्स्मृत्यपेक्षायामनवस्थाप्रसङ्गात्, स्मृतेः पूर्वानुभवापेक्षत्वात्पूर्वानुभवस्याप्यपरस्मृत्यपेक्षत्वात्, सुदूरमपि गत्वा कस्यचिदनुभवस्य स्मृतिनिरपेक्षत्वे प्रकृतानुभवस्यापि स्मृतिसापेक्षत्वकल्पनावैयर्थ्यात्। न च स्मृतिः पूर्वानुभूतार्थविषया कथञ्चिदप्यपूर्वार्थे ज्ञानमुपजनयितुमलम्, तस्यास्तत्प्रत्यभिज्ञानमात्रजननसामर्थ्यप्रतीतेर्दृष्टे सजातीयार्थेपि स्मृतेः सादृश्यप्रत्यभिज्ञानजनकत्वसिद्धेः। पूर्वानुभूते घटे स्मृतिस्ततो विजातीयेऽर्थान्तरे तदभावे विज्ञानमुपजनयतीति शिलाप्लवं क श्रद्दधीतान्यत्र जडात्मनः। ततः स्मृतिनिरपेक्षमेव सर्वं प्रत्यक्षम्। तच्च यद्यभावविषयं स्यात्तदा भावदर्शनमनवसरमेव, तत्करणाभावात्। "प्रतिपत्तुर्भावदिदृक्षा भावदर्शनकारणम्" इत्यपि न सम्यक्, पुरुषेच्छानपेक्षत्वात्प्रत्यक्षस्य, सत्यामपि घटदिदृक्षायां तद्विकले प्रदेशे दर्शनाभावादसत्यामपि सति घटे दर्शनसद्भावात्। इति न प्रत्यक्षमभावं प्रत्येति, तस्य सन्मात्रविषयत्वात्तत्रैव प्रमाणत्वोपपत्तेरव्यभिचारात्। सकलशक्तिविरहलक्षणस्य निरुपाख्यस्य स्वभावकार्यादेरभावात्कुतस्तत्प्रमितिः स्यादानुमानिकी ? न हि निरुपाख्यस्य स्वभावः कश्चित्संभवति, भावस्वभावत्वप्रसङ्गात्। नापि कार्यं, तत एव। इति कुतः स्वभावात्कार्याद्वा हेतोस्तत्प्रमितिः ? अनुप-

लब्धि. पुनस्तस्यासिद्धिमेव व्यवस्थापयेत्, इति ततोपि न तत्प्रमितिः। भावानामनुपलब्धेस्तत्प्रमितिरित्यपि न सम्यक्, ततो भावान्तरस्वभावस्यैवाभावस्यावभासनात्। एतेन विरोधिलिङ्गान्निरुपाख्यस्याभावस्य प्रमितिरपास्ता। सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकनिवृत्तेस्तत्प्रमितिरित्यपि मिथ्या, तस्या अपि निरुपाख्यत्वे क्वचित्प्रमितिजननासंभवात्, आत्मनः सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकरूपत्वेनापरिणामस्य प्रसज्यप्रतिषेधरूपस्य प्रमाणत्वविरोधात्। यदि पुनरन्यवस्तुविज्ञानरूपा तन्निवृत्तिस्तदा न ततो निरुपाख्यस्य प्रमितिः, वस्त्वन्तररूपस्यैवाभावस्य सिद्धेः। न च प्रकारान्तरमस्ति किञ्चित्। इति कुतस्तत्प्रमितिः ?, मा भून्निरुपाख्यस्याभावस्य प्रत्यक्षतोऽन्यतो वा प्रमाणात्प्रतिपत्तिस्तथापि न सत्ताद्वैतस्य सिद्धिः, वस्तुनानात्वस्यैव ततः परिच्छित्तेरित्यपरतः तस्यापि वस्तुनो नानात्व बुद्ध्यादिकार्यनानात्वात्प्रतीयेत, नान्यथा, अतिप्रसङ्गात्। तदपि व्यभिचार्येव, विपक्षेपि भावात्। तथा हि स्वभावाभेदेपि विविधकर्मता दृष्टा युगपदेकार्थोपनिबद्धदृष्टिविषयक्षणवत्। न ह्येकत्र नर्तक्यादिक्षणे युगपदुपनिबद्धदृष्टीनां प्रेक्षकजनानां विविधं कर्म बुद्धिव्यपदेशसुखादिकार्यमसिद्धम्, येन तस्य स्वभावाभेदेपि विविधकर्मता न भवेत्। शक्तिनानात्वं प्रसवविशेषात्। स चेद् व्यभिचारी, कुतस्तद्गतिः ? तस्यापि शक्तिनानात्वोपगमान्न बुद्ध्यादिः प्रसवविशेषो व्यभिचारीति चेत्, न, अनवस्थाप्रसङ्गात्, नर्तक्यादिक्षणैकशक्तावपि बुद्ध्यादिकार्यनानात्वाच्छक्तिनानात्वप्रसङ्गात् तथा तच्छक्तावपि। इति सुदूरमपि गत्वा बुद्ध्यादिप्रसवविशेषसद्भावेपि शक्तिनानात्वाभावे कथं नासौ व्यभिचारी स्यात् ? इति कुतो वस्तुनानात्वगतिः ? केवलमविद्या स्वभावदेशकालावस्थाभेदानाऽऽत्मनि परत्र वा सत' स्वयमसती मिथ्याव्यवहारपदवीमुपनयति, यतः क्षणभङ्गिनो भिन्नसततयः स्कन्धा विकल्पैरन्यथा वा इति सत्ताद्वैतवादी विशेषानपह्नुवीत तद्रूपादिस्कन्धानां द्रव्यादिपदार्थाना वा निरुपाख्याभावानामिव, परमार्थतः क्षणिकत्वाक्षणिकत्वतदुभयानुभयरूपत्वादिविशेषसाधनेपि

साधनव्यभिचारात्, सोपि प्रतिभासकार्याद्यभेदेपि कस्यचिदेकत्वं साधयतीति साध्यसाधनयोरभेदे किं केन कृतं स्यात् ?, पक्षविपक्षादेरभावात्। कस्यचिद्धि सन्मात्रदेहस्य परब्रह्मणस्तद्वादी एकत्वं प्रतिभासनात्तत्कार्यात्तत्स्वभावाद्वा साधयेदन्यतो वा ?, तच्च साधन साध्यादभिन्नमेव, अन्यथा द्वैतप्रसङ्गात्। साध्यसाधनयोरभेदे च किमेकत्व केन प्रतिभासकादिना निर्णीतं स्यात्, पक्षस्य विपक्षस्य सपक्षस्य चाभावात्। साध्यधर्माधारतया हि प्रसिद्धो धर्मी पक्षः। स च सर्वेपामर्थानां धर्मिणामप्रसिद्धौ ततोन्यत्वेन साध्यधर्मस्य चैकत्वस्यासभवे कथ प्रसिध्येन्नाम ? विपक्षश्च तद्विरुद्धस्ततोन्यो वा नाद्वैतवादिनोऽस्ति। तथा सपक्षश्च साध्यधर्माविनाभूतसाधनप्रदर्शनफलस्तस्य दूरोत्सारित एव। तत्सिद्धौ वा भेदवादप्रसिद्धिः। पराभ्युपगमात्पक्षादिसिद्धेरदोप इति चेत्, न, स्वपरविभागासिद्धौ पराभ्युपगमस्याप्यसिद्धेः। एतेन यदुक्त, सर्वेऽर्था प्रतिभासान्त'प्रविष्टाः प्रतिभाससमानाधिकरणतयाऽवभासमानत्वात् प्रतिभासस्वात्मवदिति ब्रह्माद्वैतस्य साधनं तदपि प्रत्याख्यातम्। आम्नायात्तत्सिद्धिरित्यप्यसम्भाव्यम्, तस्यापि साध्यादभेदे साधनत्वायोगात्। ततः साध्यसाधनयोरभेदे किं सत्ताद्वैतं केनानुमानेनागमेन प्रत्यक्षेण वा प्रमाणेन साधितं स्यात्, पक्षसपक्षविपक्षाणामाम्नायस्येन्द्रियादेश्चानुमानागमप्रत्यक्षज्ञानात्मकप्रमाणकारणस्याभावान्नैवं तत्कृतं स्यात्। न क्वचिदसाधना साध्यसिद्धिः, अतिप्रसङ्गात्। साधनं हि प्रमाणं साध्यते निश्चीयतेऽनेनेति। तद्रहिता न साध्यस्य प्रमेयस्य सिद्धिः, शून्यतादिसिद्धिप्रसङ्गात्। स्वरूपस्य स्वतो गतिरिति तु संविदद्वैतवादिनोपि समानम्। कि वहुना, सर्वस्य स्वेष्टतत्त्व प्रत्यक्षादिप्रमाणाभावेपि व्यवतिष्ठेत, स्वरूपस्य स्वतो गतेः। इत्यतिप्रसङ्ग एव, पुरुपाद्वैतवदनेकान्तवादस्यापि सिद्धेः, संविदद्वैतवदनेकसंवेदनस्यापि सिद्धेः। इति न सत्ताद्वैतं निष्पर्यायं शक्यमभ्युपगन्तुम्। विचारयिष्यते चैतत् प्रपञ्चतोऽग्रे। तदलमतिप्रसङ्गेन। ततो भावा एव नानात्मादय इति भावैकान्तोऽभ्युपगम्यताम्। तत्र

च सर्वात्मकत्वादिदोषानुषङ्गः परिहर्त्तुमशक्यः ॥ ९ ॥

भावैकान्त इति' (१३४–२–९) भावैकान्तेऽस्तित्वमेवेत्यभ्युपगमे, अभावानाम्, (१०) अन्योन्याभावात्यन्ताभावप्रागभावप्रध्वंसाभावानाम्, प्रकृतेः पुरुषात्मकत्व इति (१२) प्रकृतौ पुरुषत्वात्यन्ताभावानभ्युपगमे पुरुषत्वस्य बलादापातादित्यर्थः। तथा भावैकान्तविरोधात् (१३५–१–९) तथाभ्युपगमे भावैकान्तप्रतिज्ञाया विरोधापत्तेरित्यर्थः। नीरूपत्वप्रसङ्गात् (१०) निःस्वभावत्वप्रसङ्गात्, नास्तित्वस्य च वस्तुधर्मत्वादिति (११) धर्मश्च धर्म्यभिन्न एवेति नाभावोऽतिरिक्त इति भावः। भेदाभेदवादाचाभेदाश्रयणे तत्त्वेन भेदाश्रयणे च तद्वृत्तित्वेन प्रतीतेरविरोधोऽन्यथा भावधर्मोऽप्यतिरिच्येत, एतेन भूतलस्य घटाभावत्वे भूतले घटाभाव इति प्रतीतिर्न स्यात्, स्याद्वा भूतले भूतलमिति धीरित्यपास्तम्। अभेदेऽपि घटाभावत्वेनाधेयताया भूतलत्वेन चाधारताया एव यथाप्रतीतिस्वीकारात्, न चाभावस्याधिकरणात्मकत्वे दुःखध्वंसस्यात्मरूपत्वेनासाध्यतापत्तिरित्यपि दूषणमस्मान् प्रतिशोभते आत्मनोऽपि परिणामित्वेन कथञ्चित् साध्यताया इष्टत्वादिति दिग्, सर्वविवर्तात्मकस्य (१३) निखिलसांवृतभावाधिष्ठानस्य, तत्त्वत इति (१३) संवृत्या परं तत्त्वं न निषिध्यत इति भावः। 'अन्यथेति' (१३५–२–२) अनुमानमागमप्रमाणं वा न प्रतिषेधकं प्रमाणत्वान्निर्विकल्पकप्रत्यक्षवदित्यनुमानादिति भावः। तस्य (३) कारणभेदस्य, असिद्धत्वात् (४) स्वप्नज्ञानवदिति भावः। तत एव (४) अभेदवादिनं प्रत्यसिद्धत्वादेव, स संविन्निर्भासभेदः, खण्डशः प्रतिभासनात् (४) इत्यत्राविद्या तज्जनितान्तःकरणादिभेदो हेतुर्द्रष्टव्यः संवेदनाद्वैतवादी शङ्कते, नन्विति (५) तद्द्वैतवाद्याह, तदन्यत्रापीति (६) तर्हि, अन्यत्रापि ब्रह्माद्वैतेऽपि, विभ्रमाभावे (६) विभ्रमो नास्तीत्यभ्युपगमे, विशेषसा-

धनं (९) संविन्निर्भासभेदरूपं, साधनाय भेदसाधनाय, तदेकं ब्रह्माऽज्ञानसत्तायां प्रमाणभावाच्चक्षुरादिज्ञानप्रतिभासस्य यो भेदस्तद्वशात्तद्धेतोः, रूपादिव्यपदेशभाग् भवति, यथा भेदवादिन एकमेव ज्ञानं ग्राह्यग्राहकारंभनियामकश्चात्र तत्तत्कालादिसध्रीचीनोऽविद्याविलास इत्यर्थः। 'योऽपीत्यादि' (११) एकमेव ब्रह्माऽभ्युपगच्छतोऽद्वैतवादिनो यथा वर्णादिविकल्पोऽसत्यस्तथेतरेतराभावप्रत्ययोऽपीति न ततो भावस्वभावभेदसिद्धिरित्यर्थः। अभेदेऽपि (१२) अभेदस्य प्रामाणिकत्वेऽपि, भूतलादिभावविषयत्वाच्छुद्धभूतलादिभावविपयत्वादित्यर्थः। कीदृशं शुद्धं भूतलमिति चेत्, यादृशं तव घटाभावाधिकरणम्, उभयमपि पृच्छाम इति चेत्, पृच्छन्तु तावदेतत्तत्त्वमनुभवं भवन्तः। भूतलस्वरूपत्वे घटाभावस्य घटागमनकालेऽपि तदपरावृत्ते स्तदुपलम्भप्रसङ्ग इति चेत्, न। तदा तव कालघटितस्येव मम देशघटितस्याभावसम्बन्धस्यापगमकल्पने दोषाभावात्, एवं सति कालविशेषघटितसम्बन्धेन मृदादेरेव घटादिव्यवहारोपपत्तौ गतं घटादिनाऽपीति चेत्, मैवं द्रव्यार्थे इष्टत्वात्, पर्यायार्थनये च घटादेरभावादेश्चातिरेकाभ्युपगमस्य दोषानावहत्वादिति। क्रमतोऽनन्तरूपाभावप्रतिपत्तावेवेति (१३६–१–१) क्रमेणानन्तसंख्यघटपटाद्यभावग्रहण एवेत्यर्थः। यद्यप्यनन्तानामभावानां प्रत्यासत्त्यविशेषादेकदैव ग्रहणोपपत्तेः क्रमत इत्ययुक्तम्, तथाऽप्यभावग्रहसामग्र्यविच्छेदाद्धारावाहिकतद्ग्रहसौलभ्यापेक्षयेत्थमुक्तिरिति सर्त्तव्यम्। ननु केवलाभावप्रत्यक्षाभ्युपगमे स्यादयं दोषः सावकाशः, स एव चास्माकं नास्ति, अभावज्ञाने प्रतियोगिज्ञानस्य हेतुत्वस्वीकारात्तत्कादाचित्कत्वे न चाभावग्रहकादाचित्कत्वमिति, यदैव न प्रतियोगिज्ञानं तदाऽभावग्रहान्तर्भावग्रहस्यालब्धावसरत्वमित्याशंक्याभावग्रहे प्रतियोगिग्रहहेतुतां खण्डयन्नाह क्वचित्प्रतिपक्षेत्यादिना (२), ततः स्मृतिनिरपेक्षमेव सर्वं प्रत्यक्षमिति, (१३६–१–१०)

न च स्मृतित्वेन स्मृतिजन्यत्वस्य प्रत्यक्षत्वाभावव्याप्यत्वेऽपि विशेषणज्ञानत्वेन तज्जन्यतया अतथात्वान्नायं दोष इति शङ्कनीयम्। विशिष्टज्ञानत्वावच्छिन्नं प्रति विशिष्टप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रति वा विशेषणज्ञानत्वेन हेतुत्वे मानाभावात्तद्विशेषणेन्द्रियसन्निकर्षतदसंसर्गाग्रहादिनैव तद्विशिष्टप्रत्यक्षोपपत्तेः सुरभिचन्दनमित्यादेश्चाकरे प्रत्यभिज्ञानतयैवोपपादितत्वादितिदिग्। तच्च यत्र भावविषयं स्यादिति (१०) घटत्वाद्यवच्छिन्नप्रकारतानिरूपिताभावविषयताकप्रत्यक्षे घटादिज्ञानस्य प्रतियोगिज्ञानविधया विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञानविधया वा हेतुत्वेऽपि शुद्धाभावदर्शनस्य सदा सम्भृतसामग्रीकत्वादिति भावः। न चाभावदर्शनस्याप्यधिकरणादिभावविषयकत्वात्कथमभावदर्शने सति भावदर्शनस्यानवसरप्राप्तत्वमिति वाच्यम्। अधिकरणमिश्रिताभावज्ञानस्य सङ्कलनात्मकत्वेन प्रथममभावावग्रहादिघटिताभावोपयोगेनाभावग्रहस्यैवाविच्युतौ सत्यां भावसंयोजनानुपपत्तिरित्यत्र तात्पर्यात्, "अभावबुद्धौ प्रतियोगिबुद्धेः, प्राञ्चोऽत्र यत्कारणतां वदन्ति॥ तन्नव्यसिद्धान्तविमर्दपूर्वं स्वतंत्रयुक्त्या परिभावयामः ॥१॥ न्यायाम्बुधिर्दीधितिकारयुक्ति–कल्लोलकोलाहलदुर्विगाहः॥ तस्यापि पातुं न पयः समर्थः। किंनाम धीमत्प्रतिभाम्बुवाहः ॥२॥" अत्र प्रतियोगिज्ञानशून्यकालेनेत्याद्याकारकप्रतियोग्यमिश्रिताभावप्रत्यक्षनारणाय तत्र प्रतियोगिज्ञानस्य हेतुत्वमङ्गीकुर्वन्ति जीर्णाः; तन्मतेनाभावज्ञानत्वं तत्प्रत्यक्षत्वं वा प्रतियोगिज्ञानकार्यतावच्छेदकम्, प्रमेयत्वादिनाऽभावग्रहेऽभावत्वसामान्यलक्षणाधीनाभावप्रत्यक्षे च व्यभिचारात्, नापि सामान्यतोऽभावलौकिकप्रत्यक्षत्वं प्रतियोगिज्ञानकार्यतावच्छेदकम्, घटज्ञानकाले पटाभावादिलौकिकप्रत्यक्षोत्पत्तिप्रसङ्गात्, नापि घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावादिलौकिकप्रत्यक्षत्वं घटज्ञानादिकार्यतावच्छेदकम्, द्रव्यत्वादिना घटादिज्ञानोत्तरमपि तादृशाऽभावलौ-

किकप्रत्यक्षापत्तेर्दुर्वारत्वात्, न च घटत्वविषयकघटज्ञानत्वेन तादृशहेतुत्वान्नानुपपत्तिः, घटपटत्वनिर्विकल्पकोत्तरं तत्समूहालम्बनोत्तरं च तथाविधाभावलौकिकप्रत्यक्षापत्तेर्दुर्वारत्वात्, किन्तु घटत्वावच्छिन्नविषयताशालिज्ञानत्वं कारणतावच्छेदकम्, घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावलौकिकप्रत्यक्षत्वं कार्यतावच्छेदकमिति बोध्यम्। नन्वेवमपि घटत्वेन पटभ्रमदशायां घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावलौकिकप्रत्यक्षापत्तिर्दुर्वारा, न चेष्टापत्तिः, तथाविधाभावप्रत्यक्षस्य प्रतियोग्यंशे घटत्ववैशिष्ट्यभ्रमजनकीभूतदोषस्य तदाऽसत्त्वेन घटत्वेन पटाविषयकतया घटत्वेन घटज्ञानासत्त्वेन तद्विषयकतया च नेत्याकारकप्रत्यक्षपर्यवसन्नत्वेनेष्टापत्तेरसम्भवात्। न च तथाविधप्रत्यक्षं प्रति घटत्वावच्छिन्नघटविषयताशालिज्ञानत्वेन हेतुत्वान्नोक्तापत्तिः, तथाविधदोषदशायां घटत्वेन पटज्ञानसत्त्वे तादृशाभावांशे घटत्वेन पटावगाहिनो भ्रमात्मकप्रत्यक्षस्यानुपपत्तेः, न च तादृशफलोपपत्तये घटत्वेन पटज्ञानस्यापि पृथग्घेतुत्वं कल्पनीयम्, तादृशज्ञानेन फलजनने तथाविधदोषस्य सहकारित्वकल्पनाच्च न पूर्वप्रदर्शितापत्तिरिति वाच्यम्, अनन्तकार्यकारणभावकल्पनापत्तिदोषानुद्धारादिति चेत्, न। प्रामाणिकगौरवस्यादोषत्वात्। यत्तु घटत्वेन पटादिज्ञानकाले घटाभावांशे घटत्वेन पटभानजनकीभूतदोषस्य तत्तत्क्षणसम्बन्धरूपस्य नियमतः सत्त्वान्न तादृशज्ञानदशायां नेत्याकारकप्रत्यक्षापत्तिरिति तन्नानन्ततत्तत्क्षणसम्बन्धादीनां दोषत्वे प्रमाणाभावात्तत्कल्पने गौरवाच्च, अथ तथापि तद्धर्म्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावलौकिकप्रत्यक्षं प्रति तद्धर्मावच्छिन्नविषयताशालिज्ञानत्वेन न हेतुहेतुमद्भावः, समनियतसंख्यापरिमाणाद्यभावानामैक्येन संख्यादिज्ञानोत्तरोत्पन्नसंख्यात्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावलौकिकप्रत्यक्षस्य परिमाणत्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावविषयतया परिमाणत्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावलौकिकप्रत्यक्षे परिमाणत्वाद्यवच्छिन्नवि-

पयताशालिज्ञानहेतुतायां व्यभिचारात्, परिमाणत्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगितासम्बन्धावच्छिन्नपरिमाणनिष्ठविषयतानिरूपिताभावविषयताकलौकिकप्रत्यक्ष एव तद्धेतुत्वकल्पने तु दीधितिकृदुक्तरीत्याऽभावबुद्धेर्विशिष्टवैशिष्ट्यमर्यादयैव गतार्थत्वेन प्रतियोगिज्ञानस्य स्वातंत्र्येण हेतुत्वभङ्गप्रसङ्गादिति चेत्, न। समनियताभावानां भिन्नत्वाभ्युपगमे दोषाभावात्परिमाणत्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगितावच्छेदकयत्किञ्चिदवच्छिन्नज्ञानत्वेन हेतुत्वान्न दोषः, अत एव प्राचां घटात्यन्ताभावादेर्घटादितत्प्रागभावतत्प्रध्वंसप्रतियोगिकत्वेऽप्येकग्रहे प्रत्यक्षत्वमित्यपरे, वस्तुतो घटत्वेन पटवटज्ञानयोर्दोषान्तर्भावानन्तर्भावाभ्यां पृथक्कारणत्वस्य प्रागुक्तत्वात्कार्यतावच्छेदककोटावव्यवहितोत्तरत्वदानावश्यकत्वात्समनियताभावप्रत्यक्षस्थले न व्यभिचारः। इत्थमेव लघुधर्मेऽभावस्य प्रतियोगितावच्छेदकत्वसम्भवे गुरौ तदभावेन कम्बुग्रीवादिमत्त्वावच्छिन्नविषयताशालिज्ञानोत्तरं घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगितासम्बन्धेन कम्बुग्रीवादिमत्त्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपिताभावविषयताशालिनः कम्बुग्रीवादिमान्नास्तीत्याकारकस्य प्रत्यक्षस्योपपत्तिः, घटत्वावच्छिन्नाभावप्रत्यक्षे घटत्वावच्छिन्नविषयताशालिन इव कम्बुग्रीवादिमत्त्वावच्छिन्नविषयताशालिनोऽपि ज्ञानस्य हेतुत्वात्कार्ये स्वाव्यवहितोत्तरत्वस्यैव च व्यभिचारवारकत्वात्, कम्बुग्रीवादिमन्निष्ठकम्बुग्रीवादिमत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगितावगाहनेन च तत्र प्रामाण्याप्रामाण्योभयव्यवस्था श्रद्धेया, अन्ये तु कम्बुग्रीवादिमत्त्वावच्छिन्नविषयताशालिज्ञानकाले कम्बुत्वावच्छिन्नविषयताशालिज्ञानस्यावश्यकतया तदुत्तरं कम्बुत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावलौकिकप्रत्यक्षाभ्युपगमेन तदभावांशेन तेन सम्बन्धेन कम्बुग्रीवादिमदवगाहत्वात् कम्बुग्रीवादिमान्नास्तीति भ्रमस्वीकारान्नानुपपत्तिरित्याहुः। न च तथापि तेजस्त्वप्रकारकज्ञानं विना जायमाने इदन्त्वादिना तेजःसामान्याभावरूपतमःप्रत्यक्षे तथाविधाभावलौकिकप्रत्यक्षं प्रति तेज-

स्त्वावच्छिन्नप्रकारताशालिज्ञानहेतुतायां व्यभिचार इति वाच्यम्, तेजस्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावनिष्ठाभावत्वावच्छिन्नलौकिकविषयताशालिप्रत्यक्षत्वस्य तेजस्त्वप्रकारकज्ञानकार्यतावच्छेदकत्वोपगमात्, अथायं कार्यकारणभावप्रपञ्चः प्रतियोगिज्ञानशून्यकाले नेत्याकारकप्रतियोग्यमिश्रिताभावप्रत्यक्षापत्तिवारणाय, सैव च कुतस्तादृशाभावप्रत्यक्षाप्रसिद्ध्या तदापत्तेरयोगादिति चेत्, न, इन्द्रियसम्बद्धविशेषणताबलात्प्रतियोगिज्ञानशून्यकाले घटाभावादावभावलौकिकप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नापत्तौ क्रियमाणायां फलतः प्रतियोग्यमिश्रितनेत्याकारकाभावलौकिकप्रत्यक्षापत्तिसम्भवात्। अथ तद्धर्म्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावलौकिकप्रत्यक्षे तादृशज्ञानत्वेन प्रतियोगिज्ञानहेतुत्वकल्पनेऽपि प्रतियोगितासम्बन्धेनाभावो न घटीय इत्याकारकबाधबुद्धिदशायां घटज्ञानकाले घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावलौकिकप्रत्यक्षत्वावच्छिन्ने आपाद्यमाने फलतो नेत्याकारकापत्तिसम्भवः, तदा प्रतियोगितासंसर्गेण घटभानप्रतिबन्धकस्य तथाविधबाधज्ञानस्य सत्त्वेनाभावांशे तत्संसर्गकघटादिविषयकप्रत्यक्षोत्पत्त्यसम्भवादिति, तन्न, तदानीमप्येकत्र द्वयमिति रीत्या घटाभावत्वोभयमभावांशे विषयीकुर्वाणस्य घटो नास्तीति प्रत्यक्षस्य सम्भवेन प्रतियोग्यमिश्रिताभावप्रत्यक्षापत्त्यसम्भवात्। यदि चावृत्तित्वज्ञानकाले निर्धर्मितावच्छेदकज्ञानस्याप्यनुत्पत्त्या प्रतियोगितासम्बन्धेन घटो नाभाववृत्तिरित्यवृत्तित्वज्ञानकाले घटादिरूपप्रतियोगिज्ञानबलात्तत्कार्यतावच्छेदकावच्छिन्नस्यापत्तौ क्रियमाणायां फलतो नेत्याकारकापत्तिः सम्भवतीति मन्यते, तदा दोषबलात् घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगितया वृत्त्यनिरूपकसम्बन्धेन घटविशिष्टाभावप्रत्यक्षाभ्युपगमान्नानुपपत्तिः। यत्त्वभावो न घटीय इति बाधबुद्धेरेवासम्भवोऽस्याभावे प्रतियोगितया घटवैशिष्ट्यावगाहित्वेन प्रतिबध्यतावच्छेदकाक्रान्तत्वादिति, तन्न, प्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नाधारतासंसर्गकबुद्धेरेव प्रतिबध्य-

त्वात् प्रतियोगितया घटवद्बुद्धेः साम्राज्यात्, न हि संयोगसम्बन्धावच्छिन्नाधारतया गगनाद्यभाववत्तानिर्णयेऽपि संयोगमात्रेण गगनादिमत्ताबुद्ध्यनुदय इति। यदपि एके धर्मधर्मितावच्छेदकीकृत्य विरुद्धभावोभयप्रकारकनिर्णयानभ्युपगमात् शुद्धप्रतियोगितासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकघटाभाववत्तारूपबाधस्यैव प्रकृते शरणीकरणीयत्वेन संयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगितासम्बन्धावच्छिन्नतत्प्रतियोगिनिष्ठप्रतियोगिताकाभावनिर्णयेऽपि शुद्धप्रतियोगितासम्बन्धेनाभावांशे घटविषयकस्य घटो नास्तीत्याकारकस्याभावप्रत्यक्षस्योत्पत्तौ बाधकाभावेन प्रतियोग्यमिश्रिताभावलौकिकप्रत्यक्षापत्त्यसम्भवः, तदुक्तं—'पदार्थमालायां' तद्दशायामपि सामान्यतः प्रतियोगिवैशिष्ट्यधीसम्भवादिति, सामान्यत इत्यस्य शुद्धप्रतियोगितासम्बन्धेनेत्यर्थ इति, तदपि न क्षोदक्षमम्, तादृशनिर्णयासम्भवेऽपि प्रतियोगितासम्बन्धेन घटोऽवृत्तिरिति ज्ञानस्य प्रतिबन्धकस्य जागरूकतया तथाविधज्ञानकाले नेत्याकारकघटाभावलौकिकप्रत्यक्षापत्तेर्विनोपदर्शितप्रकारं ब्रह्मणोऽपि दुर्वारत्वादिति ध्येयम्। अथ भूतलादौ संयोगसंसर्गकघटप्रकारकनिर्द्धर्मितावच्छेदकज्ञानदशायां तत्र संयोगसमवायादियावत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकघटाभावलौकिकप्रत्यक्षापत्तिवारणाय समानविशेष्यतया तत्सम्बन्धावच्छिन्नतदभावलौकिकप्रत्यक्षं प्रति तेन सम्बन्धेन प्रतियोग्यारोपस्य हेतुत्व कल्प्यत इति तत एव प्रतियोग्यमिश्रिताभावलौकिकप्रत्यक्षवारणात् किं तत्र प्रतियोगिज्ञानहेतुनेति चेत्, न, तत्सम्बन्धेन तदारोपनियामकादेवाभावबुद्धौ सम्बन्धनियमोपपत्तावारोपहेतुतायां मानाभावात्, अस्तु वा तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावप्रत्यक्षे तत्सम्बन्धवत्ताज्ञानं हेतुः, न तु तेन सम्बन्धेन तदारोपोऽपि, गौरवात्, तथा च प्रतियोग्यमिश्रिताभावलौकिकप्रत्यक्षापत्तिवारणाय प्रतियोगिज्ञानहेतुताऽऽवश्यकीति। अस्तु वाऽभावप्रत्यक्षे प्रतियोग्यारोपहेतुता, तथापि तत्र

कारणतावच्छेदककोटौ प्रतियोगितावच्छेदकविषयतानिवेशे मानाभावाद्द्रव्यत्वेन घटस्य संयोगेनारोपस्थले घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावांशे द्रव्यत्वेन घटप्रतियोगिकत्वभ्रमजनकदोषाभावे नेत्याकारकप्रत्यक्षापत्तिवारणाय प्रतियोगितावच्छेदकप्रकारकज्ञानस्य पृथग्घेतुत्वमावश्यकम्, प्रतियोग्यारोपजनकतावच्छेदककोटौ प्रतियोगितावच्छेदकविषयतानिवेशे सम्बन्धभेदेनानन्तकारणतावच्छेदकगौरवप्रसंगात्, दीधितिकृतस्तु प्रतियोग्यंशे विशिष्टवैशिष्ट्यविषयताशून्यस्य विशेष्ये विशेषणं तत्र च विशेषणान्तरमिति विषयताशालिनोऽभावप्रत्ययस्यानभ्युपगमेनेन्द्रियसम्बन्धविशेषणतायाः फलजनने घटत्वादिविशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धिं प्रति हेतुत्वेन क्लृप्तस्य घटत्वादिप्रकारकज्ञानस्य सहकारित्वस्वीकारेणैव नेत्याकारकप्रत्यक्षवारणस्य शक्यतयाऽभावबुद्धिं प्रति प्रतियोगिज्ञानस्य हेतुत्वकल्पनं निरर्थकमेवेत्याहुः ॥ तत्रेदं चिन्त्यते ॥ अभावप्रत्यक्षे जननीये इन्द्रियसम्बद्धविशेषणताया घटत्वप्रकारकज्ञानस्येव पटत्वप्रकारकज्ञानस्यापि सहकारित्वं स्वीकरणीयम्, अन्यथेन्द्रियसम्बद्धविशेषणताबलात्पटत्वावच्छिन्नाभावप्रत्यक्षस्य पटत्वप्रकारकज्ञानशून्यकालेऽप्युत्पत्त्यापत्तेः, तथा च पटत्वप्रकारज्ञानसत्त्वे इन्द्रियसम्बद्धविशेषणतारूपकारणबलाद् घटाभावप्रत्यक्षापत्तिः, न चेष्टापत्तिः, तदा घटाभावांशे पटभ्रमजनकदोषाभावेन पटस्य घटज्ञानासत्त्वे च घटस्याभावेन नेत्याकारकप्रत्यक्षपर्यवसानात्, न च घटाभावादिनिष्ठेन्द्रियसम्बद्धविशेषणताया घटत्वाद्यवच्छिन्नविषयतानिरूपिताऽभावनिष्ठलौकिकविषयतासम्बन्धेन प्रत्यक्षहेतुत्वे तस्यां घटत्वप्रकारकज्ञानस्य सहकारित्वान्नोपदर्शितापत्तिः, न च पटत्वप्रकारकपटज्ञानकाले घटाभावांशे तज्ज्ञानजनकीभूतदोषसत्त्वे घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावप्रत्यक्षानुपपत्तिर्घटाभावनिष्ठविशेषणतायाः फलजनने पटत्वप्रकारकज्ञानतथाविधदोषादीनामपि सहकारित्वादिति वाच्यम्, विषयभेदेनेन्द्रियसम्बद्धविशेष-

णतायाः कारणताधिक्यप्रसङ्गात् । न च प्रतियोगिज्ञानहेतुतामतेऽपि विषयभेदेनेन्द्रियसम्बद्धविशेषणतायाः कारणताबाहुल्यं विना न निस्तारः, पूर्वोपदर्शितापत्तेस्तन्मतेऽपि सम्भवादिति वाच्यम् । तन्मते लौकिकविषयतासम्बन्धेनाभावप्रत्यक्षं प्रति स्वप्रकारीभूतधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वसम्बन्धेन ज्ञानत्वेन हेतुत्वकल्पनेनानुपपत्तेरभावात् उक्तसम्बन्धघटितसामानाधिकरण्येन ज्ञानविशिष्टाया एकस्या अपरस्याश्च तत्तद्दोषविशिष्टाया इन्द्रियसम्बद्धविशेषणताया अभावलौकिकप्रत्यक्षनियामकत्वे घटत्वप्रकारकज्ञानसत्त्वे घटाभावसन्निकर्षे आद्यायाः । पटत्वप्रकारकज्ञानसत्त्वे घटाभावांशे पटभ्रमजनकदोषसत्त्वे च द्वितीयायाः सम्पत्त्या अभावलौकिकप्रत्यक्षोत्पत्तेस्तदसत्त्वे च तदनुत्पत्तेरिति । स्यादेतत्, नव्यमतेऽपि विषयभेदेनेन्द्रियसम्बद्धविशेषणताया न कारणताधिक्यं तद्धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावसन्निकर्षे तदन्यधर्मप्रकारकज्ञानस्यैव तदभावांशे तत्प्रकारकभ्रमजनकदोषत्वाभ्युपगमेन घटत्वप्रकारकज्ञानकाले इन्द्रियसम्बद्धविशेषणतारूपकारणबलादभावप्रत्यक्षस्य घटाभावे आपत्तेरिष्टापत्तिपरिहरणीयत्वात्, तदा दोषध्रौव्येण घटाभावांशे पटभ्रमात्मकस्यैव तस्य स्वीकारादिति, मैवम्, तथापि नव्यैरिन्द्रियसम्बद्धविशेषणतायाः सहकारिताघटत्वप्रकारकज्ञानत्वादिना नानाविधा स्वीकार्या, प्राचीनैस्तूपदर्शितसम्बन्धेन ज्ञानत्वेनैवेति प्राचीनमत एव लाघवात्, एवं चाभावलौकिकप्रत्यक्षजनकसामग्रीव्याप्ताविन्द्रियसम्बद्धविशेषणतायामेककालीनत्वोपदर्शितसम्बन्धघटितस्वसामानाधिकरण्योभयसम्बन्धेन ज्ञानत्वेनैव घटत्वप्रकारकज्ञानादीनां निवेशः कर्त्तव्यो न तु प्रातिस्विकरूपेणेत्यपि प्राचीनमते लाघवं द्रष्टव्यम् । यत्तु नव्यमते विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञानस्यात्मनिष्ठसमवायप्रत्यासत्त्येन्द्रियसम्बद्धविशेषणतायाश्च विषयनिष्ठप्रतियोगितासम्बन्धेन हेतुत्वं कल्प्यत इति तयोः कारणतावच्छेदकसम्बन्धयोर्वैयधिकरण्येनैकपुरुषस्य घटत्वप्रकारकज्ञानकाले

पुरुषान्तरीयेन्द्रियसम्बद्धविशेषणतासत्त्वे पुरुषान्तरीयाभावलौकिकप्रत्यक्षापत्तिरिति, तन्न, एतदात्मसमवेतज्ञानादिव्यक्तेरात्मान्तरे आपत्तिवारणाय तदात्मसमवेतत्वावच्छिन्नं प्रति तदात्मत्वेन तादात्म्येन हेतुत्वकल्पनात्तादात्म्यसमवायघटितसामानाधिकरण्येन एतदात्मविशिष्टं यद् घटत्वप्रकारकज्ञानम्, एककालीनत्वसम्बन्धेन तद्विशिष्टा यैतत्पुरुषीयेन्द्रियसम्बद्धविशेषणता सैवैतत्पुरुषीयाभावलौकिकप्रत्यक्षनियामिकेति सामग्रीव्याप्त्यभ्युपगमे दोषाभावात्। इदन्तु स्यात्, नव्यमते घटत्वप्रकारकज्ञानकाले पटाभावेन्द्रियसम्बद्धविशेषणतासत्त्वे भिन्नविषयकानुमितिसामग्रीविरहबलादात्मनि घटत्वावच्छिन्नविषयतानिरूपिताभावविषयताशालिप्रत्यक्षापत्तिर्दुर्वारा घटाभावलौकिकसन्निकर्षशून्यकाले तथाविधसामग्र्यभावरूपकारणबलात्तादृशप्रत्यक्षोत्पत्तिवारणाय तादृशसामग्र्यभावेन फले जननीये तथाविधसन्निकर्षस्य सहकारित्वकल्पनात्तदानीमेककालीनत्वसम्बन्धेन तादृशसन्निकर्षादिविशिष्टविरोधिसामग्र्यभावरूपायाः सामग्र्या अक्षतत्वात्, तथा च घटाभाववृत्तिविषयतासम्बन्धेन प्रत्यक्षं प्रति तादात्म्येन घटाभावहेतुतामनायत्या कल्पयित्वा तादात्म्यप्रतियोगिताघटितसामानाधिकरण्यसम्बन्धेन घटाभावविशिष्टा येन्द्रियसम्बद्धविशेषणता तद्विशिष्टतथाविधविरोधिसामग्र्यभावरूपायाः सामग्र्या एवात्मनि घटाभावप्रत्यक्षोत्पत्तौ नियामकत्वमभ्युपगन्तव्यमिति महागौरवम्। प्रतियोगिज्ञानहेतुतामते तु लौकिकविषयतयाऽभावप्रत्यक्षे स्वप्रकारीभूतधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वसम्बन्धेन ज्ञानत्वेनैव हेतुत्वादुक्तसम्बन्धप्रतियोगिताघटितसामानाधिकरण्येन ज्ञानविशिष्टेन्द्रियसम्बद्धविशेषणताभावादेवोक्तस्थले नाभावप्रत्यक्षं पटाभावे, तथा च विषयतासम्बन्धेनाभावप्रत्यक्षोत्पादकसामग्रीसहकारेणैव समवायेन तदुत्पादकसामग्र्याः कार्योत्पत्तिव्याप्यत्वान्नोक्तापत्तिरिति घटाभावादिप्रत्यक्षोत्पादकसामग्र्यामिन्द्रियसम्बद्धविशेषणतायां विशिष्यानन्त-

विषयवैशिष्ट्यानिवेशाल्लाघवमिति । अत्र ब्रूमः । एवं सति घटत्वेन पटज्ञानात्पटाभावसन्निकर्षे घटत्वेन पटाभावज्ञानं न स्यादिति घटत्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपिताभावविषयताशालिप्रत्यक्षमेव घटज्ञानकार्यतावच्छेदकं वाच्यमिति तदज्ञानात्केवलाभावप्रत्यक्षापत्तिर्दुर्निवारैव, न च घटत्वाद्यवच्छिन्नप्रकारत्वान्यप्रकारत्वानिरूपिताभावविषयताकप्रत्यक्षे घटादिधियो हेतुत्वान्नाभावांशे निर्विकल्पकमभाव इत्याकारकप्रत्यक्षं च जायते निखिलप्रतियोगिज्ञानकार्यतावच्छेदकाक्रान्तस्येदृशप्रत्यक्षस्य यत्किञ्चित्प्रतियोगिज्ञानेऽसम्भवात्, यावत्प्रतियोगिज्ञानस्य चासम्भवादभावत्वांशे निर्विकल्पकं त्वभावांशे यत्किञ्चित्प्रतियोगिवैशिष्ट्यविषयकत्वात् यत्किञ्चित्प्रतियोगिधीसाध्यमेवेति नानुपपत्तिः, इदंत्वेन तमः प्रत्यक्षं त्वनुपपन्नमभावांशे निर्विकल्पकवद् यावत्प्रतियोगिधीकार्यतावच्छेदकाक्रान्तत्वादिति वाच्यम् । केवलाभावत्वनिर्विकल्पकापत्तेर्लाघवादभावांशेऽपि निर्विकल्पकस्याभाव इत्याकारकप्रत्यक्षस्य चोच्छेदापत्तेः, निखिलविशेषणज्ञानकार्यतावच्छेदकाक्रान्तस्य यत्किञ्चिद्विशेषणज्ञानेऽसम्भवात् । किञ्चैवं घटपटोभयाभावप्रत्यक्षे गतिरिति लाघवाद् घटादिधियो घटत्वाद्यवच्छिन्नप्रकारत्वनिरूपिताभावविषयत्वस्यैव कार्यतावच्छेदकत्वात्केवलस्य भावप्रत्यक्षस्येवाभावप्रत्यक्षस्य नानुपपत्तिः । एतेनाभावलौकिकप्रत्यक्षस्य घटत्वाद्यन्यतमविशिष्टविषयकत्वनियमाद्विशेषसामग्री विना सामान्यसामग्रीमात्रात्कार्यानुत्पत्तेर्नाभावनिर्विकल्पकं नेत्याकारकप्रत्यक्षं वेत्यप्यपास्तम् । भावलौकिकप्रत्यक्षेऽपि तथा नियमापत्तेः, केवलभावप्रत्ययानुभवाद्भावप्रत्यक्षे तथा नियमानाश्रयणे च केवलाभावप्रत्ययानुभवादभावप्रत्यक्षेऽपि तथा नियमो न श्रद्धेयः । सत्त्वासत्त्वयोः केवलसप्रतियोगिकं नियमानुरोधेन सविकल्पकनिर्विकल्पकवेद्यत्वानेकान्तस्य व्यापकत्वं तु व्युत्पादितमधस्तादिति नैकतरपक्षपातो युक्तः ॥ यत्त्वभावलौकिकप्रत्यक्षं प्रति प्रतियो-

गिज्ञानस्य हेतुत्वाकल्पने इन्द्रियसम्बद्धविशेषणतया फले जननीये घटत्वप्रकारकज्ञानस्य सहकारित्वमसम्भवि, ययोः कार्यतावच्छेदकयोः परस्परं व्याप्यव्यापकभावस्तयोरेव परस्परं सहकारित्वस्वीकारात्, अभावलौकिकप्रत्यक्षं प्रति प्रतियोगिज्ञानस्य हेतुत्वकल्पनपक्षे तु घटादिनिष्ठप्रतियोगितासम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपिताभावनिष्ठाभावत्वावच्छिन्नविषयताशालिप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रति घटमात्रनिष्ठधर्मावच्छिन्नप्रकारताशालिज्ञानत्वेन हेतुत्वं कल्प्यते तथा च घटत्वादिप्रकारकज्ञानेन्द्रियसम्बद्धविशेषणतयोः कार्यतावच्छेदकयोः परस्परव्याप्यव्यापकभावेन ताभ्यां फले जननीये परस्परसहकारित्वस्य यौक्तिकत्वादिति, तदसत्, ययोः कार्यतावच्छेदकयोः परस्परं व्याप्यव्यापकभावस्तयोरेकेन फलेन जननीयेऽन्यस्य सहकारित्वं कल्प्यत इत्यत्र मानाभावात्, ययोः कार्यतावच्छेदकयोः सामानाधिकरण्यं तयोरेकेन फले जननीयेऽन्यस्य सहकारित्वमित्यस्यैव स्वीकारादुक्तयुक्त्या प्रतियोगिज्ञानहेतुत्वासिद्धेः, सत्ताया असत्तायाश्च केवलाया धर्मिभासकसामग्र्यैव भावात्, घटाद्युपरक्ततद्व्यवहार एव घटादिज्ञानस्य हेतुत्वेन व्यवहारस्यैव सप्रतियोगिकत्वसिद्धिरिति दिग्। "**प्रदर्शितोऽयं प्रतियोग्यभावधीहेतुकार्यत्वविचारभूमा॥ अस्मिन्ननेकान्तमतिप्रवेशात् क्लेशावहः क्वापि न पक्षपातः ॥१॥** अथ प्रकृतम्, अभावं भावभिन्नमनुपारमम्। अनुपलब्धेः (१३६-१-१४) अभावानुपलब्धेः, व्यवस्थापयेत् (१३६-२-१) प्रतिपत्तेति शेषः। अवभासनादिति (२) शुद्धं भूतलमेव घटाभाव इत्येवं सार्वजनीनानुभवाद्धर्मिकल्पनात इत्यादिन्यायाचेति भावः। 'वस्त्वन्तररूपस्यैवेति' (४) अन्यवस्तुविज्ञानस्यान्यवस्तुविषयत्वादिति भावः। नन्वेवं घटवदन्यभूतलं घटाभाव इति प्राप्तं तथा चान्यत्वान्योन्याभावस्य चिन्तायामतिरिक्ताभावसिद्धिरिति चेत्, न, कालभेदेन वस्तुतो घटवदन्यस्य भूतलस्य तत्कालावच्छिन्नतादा-

त्म्यसम्बन्धेन घटाभावव्यवहारहेतुत्वाभ्युपगमे तदसिद्धेः, अस्तु वा भावत्ववदभावत्वमखण्डोपाधिर्घटादिनिरूपिताभावत्वेन भूतलादेर्ज्ञाने च योग्यानुपलब्धिसहकृतचक्षुरादिप्रतियोगिज्ञानादि च हेतुः, तथाज्ञानाच्च तथाव्यवहारः, इत्थं च विशेषणतादिप्रत्यासत्त्यकल्पनाल्लाघवमपीत्यस्मदेकपरिशीलितः पन्थाः। ततः (१३७-२-६) प्रत्यक्षतोऽन्यतो वा प्रमाणात्, अपरः (७) सत्ताद्वैतवादी, व्यभिचार्येव (७) सन्दिग्धव्यभिचार्येव, विपक्षेऽपि (७) वस्तुनः एकत्वेऽपि, भावाद्बुद्ध्यादिकार्यनानात्वस्येति योगः। विविधकर्मतेति (८) बहुव्रीह्युत्तरस्तल्, विविधकार्यकारितेत्यर्थः। भाष्ये शक्तिनानात्वं (९) एकस्यापि नर्त्तक्यादिक्षणस्य शक्तिभेदोऽस्ति, कुतः, प्रसवविशेषात् (१०) नानाबुद्ध्यादिकार्यदर्शनात्, तत्र सत्ताद्वैतवाद्याह—स (१०) प्रसवविशेषो वस्तुनानात्वेन व्यभिचारी चेत् (१०), कुतस्तद्गतिः (१०) शक्तिनानात्वसिद्धिस्ततो यत्किञ्चिदेतदित्यर्थः। वृत्तौ, तस्यापि (११) एकनर्त्तकीक्षणस्यापि, प्रसवविशेषो (१०) बुद्ध्यादिकार्यविशेषोऽव्यभिचारीत्यकारप्रश्लेषेण व्याख्येयम्। 'नर्त्तक्यादीति' (११) कार्यभेदनियतकारणताभेदस्य शक्तिभेदप्रयुक्तत्वाभ्युपगमे समनियतशक्तीनां प्रत्येकमपि बुद्ध्यादिनानाकार्यकारित्वस्य बलादापातादेकैकशक्तावपि शक्त्यन्तरापत्तौ तत्रापि तत्स्वीकारे दुस्तरानवस्थानदीति भावः। वस्तुनानात्वाभावे कुतस्तद्व्यवहार इत्यत्राहसत्ताद्वैतवादी 'केवलमिति' (१२) सत्ताद्वैतवादेऽप्यविद्याकल्पितैर्देशादिभेदैर्वस्तुनानात्वं व्यवह्रियताम्, न तु वास्तवं तत्, अत एव सौगतसाङ्ख्यादिकल्पितस्कन्धपञ्चकपञ्चविंशतितत्त्वादिविकल्पा अपि तत्तत्प्रवचनवासनाजनकाविद्यामूला नाद्वैततत्त्वं बाधन्त इति हृदयम्। साधनव्यभिचाराद् (१३७-१-१) बुद्धिविशेषादेर्वस्तुनः कूटस्थत्वेऽप्यविद्यामहिम्ना सम्भवात् सर्वविशेषसाधनानां सन्दिग्धव्यभिचारित्वादिति भावः। सत्ताद्वैत-

वादिनं दूषयति भाष्यकृत्–'सोऽपि हीत्यादि' (१३७–१–१) एतद्विवृणोति वृत्तिकृत् कस्यचिद्धीत्यादि, (२) अद्वैते साध्यसाधनयोरविशेषान्न कुतश्चित् किञ्चित् सिध्येद् व्यवहाराद्भेदमुपगम्य खण्डप्रतिभासनादिना ब्रह्मैकत्वसाधने च व्यावहारिकमेवैकत्वं सिद्ध्येत्, न तु तात्त्विकं तत्प्रतिबद्धलिङ्गाभावात्, अपेक्षाकल्पितत्वस्य च भेदवदभेदेऽपि व्यावहारिकत्वपर्यवसायकत्वादिति तात्पर्यार्थः। एतेन यदुच्यते ब्रह्मेन्द्रेणानुभूयमानस्य प्रतिभासस्य प्रागभावप्रध्वंसनानात्वादिकल्पने गौरवाल्लाघवान्नित्यसत्यैकब्रह्मसिद्धिरिति तन्निरस्तम्। प्रमाणं विना लाघवमात्रेणार्थासिद्धेः अन्यथा सच्चिदानन्दब्रह्मणोऽपि कल्पने गौरवाच्छून्यज्ञानकल्पने लाघवदृष्टिं ददन् माध्यमिक एव विजयेत, अनुभवश्च प्रतिभासस्य वैलक्षण्य एव साक्षी चित्रज्ञानदृष्टान्तेन नानात्वे चेति नानैकान्तं विहायाद्वैतपक्षः श्रेयान्। नन्वेकत्वे तत्त्वमसीत्यादिवेदवाक्यस्य प्रमाणराजस्य सत्त्वात्तत्र लाघवतर्कः सहायो भविष्यतीत्याशङ्कायामाह–' आम्नायादित्यादि '(८) आम्नायात् वेदात्, नैवं तत्कृतं स्यात् (१०) ब्रह्मण एकत्वं निर्णीतं न स्यात्। प्रत्यक्षादिप्रमाणबाधिते ब्रह्मैकत्वे वेदोऽपि न पदमाधत्ते इत्यर्थवादरूपतां कक्षीकुर्वन्नलघौ माध्यस्थमेवालम्बत इत्यर्थः। एतेन तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्योऽनुभवः शुद्धमखण्डं ब्रह्माऽहमस्मीति प्रत्यक्षस्य क्षणिकत्वेऽपि प्रमाणतापत्तेरितिदिग्। तदेवं वेदान्तिनोऽद्वैतपक्षदूषणेन नानाभावैकान्तं स्वीकारयित्वा तत्रोक्तं दूषणगणमुपसंहरति, ततो भावा एवेत्यादि ' (१३७–१–१४) ॥ ९ ॥

सम्प्रति घटादेः शब्दादेश्च प्रागभावप्रध्वंसाभावनिह्नववादिनं प्रति दूषणमुपदर्शयन्तः कारिकामाहुः।—

कार्यद्रव्यमनादि स्यात् प्रागभावस्य निह्नवे। प्रध्वंसस्य च धर्मस्य प्रच्यवेऽनन्ततां व्रजेत् ॥ १० ॥

कार्यस्यात्मलाभात्प्रागऽभवनं प्रागभावः । स च तस्य प्रागनन्तरपरिणाम एवेत्येके तेषां तत्पूर्वानादिपरिणामसन्ततौ कार्यसद्भावप्रसङ्गः । तत्रेतरेतराभावरूपस्य तदभावस्योपगमान्नायं दोष इति चेत्, तदनन्तरपरिणामेपि तत एव कार्यस्याभावसिद्धेः किमर्थः प्रागभावः परिकल्प्यते ?, कार्यस्य प्रागभावाभावस्वभावत्वसिद्ध्यर्थमिति चेत्, कथमेवं कार्यात्पूर्वपर्यायेण रहितेषु तत्पूर्वोत्तराखिलपरिणामेषु कार्यस्वभावत्व न प्रसज्येत ? प्रागभावाभावस्वभावत्वाविशेषेपि कश्चिदेवेष्टः पर्यायः कार्यं, न पुनरितरे परिणामा इत्यभिनिवेशमात्रम् । स्यादाकूतं 'कार्यात्प्रागनन्तरपर्यायस्तस्य प्रागभावः । तस्यैव प्रध्वंसः कार्यं घटादि । न पुनरितरेतराभावो, येन तत्पूर्वोत्तरसकलपर्यायाणा घटत्वं प्रसज्येत । न च तेषा प्रागभावप्रध्वंसरूपतास्ति, तदितरेतराभावरूपतोपगमात्' इति, तदेतदपि सुगतमतानुसरणम् स्याद्वादवादिनामायातम्, स्वमतविरोधात् । प्रागभावो ह्यनादिरिति तन्मतम् । तच्च घटस्य पूर्वानन्तरपर्यायमात्रप्रागभावस्योपगमे विरुध्यते । द्रव्यार्थादेशादनादिः प्रागभावोभिमत इति चेत्, किमिदानी मृदादिद्रव्यं प्रागभावः ?, तथोपगमे कथं प्रागभावाभावस्वभावता घटस्य घटेत ?, द्रव्यस्याभावासभवात् । तत एव न जातुचिद् घटस्योत्पत्तिः स्यात् । यदि पुन पूर्वपर्यायाः सर्वेप्यनादिसन्ततयो घटस्य प्रागभावोऽनादिरिति मतम्, तदापि प्रागनन्तरपर्यायनिवृत्ताविव तत्पूर्वपर्यायनिवृत्तावपि घटस्योत्पत्तिप्रसङ्गः । तथा सति घटस्यानादित्वं पूर्वपर्यायनिवृत्तिसन्ततेरप्यनादित्वात् । ननु च न प्रागनन्तरपर्यायः प्रागभावो घटस्य, नापि मृदादिद्रव्यमात्रम्, न च तत्पूर्वसकलपर्यायसन्ततिः । किं तर्हि ? द्रव्यपर्यायात्मा प्रागभावः । स च स्यादनादिः स्यात्सादिरिति स्याद्वादिदर्शनं निराकुलमेवेति चेत्, न, एवमप्युभयपक्षोपक्षिप्तदोपानुषङ्गात् । द्रव्यरूपतया तावदनादित्वे प्रागभावस्यानन्तत्वप्रसक्तेः सर्वदा कार्यानुत्पत्तिः स्यात् । पर्यायरूपतया च सादित्वे प्रागभावात्पूर्वमप्युत्पत्तिः पश्चादिव कथं निवार्येत ?, न च गत्यन्तरमस्ति । ततो न भावस्वभावः प्रागभावः, तस्य

भावविलक्षणत्वात्पदार्थविशेषणत्वसिद्धेः' इत्यन्ये। तेपि न समीचीनवाचः, सर्वथा भावविलक्षणस्याभावस्य ग्राहकप्रमाणाभावात्। 'स्वोत्पत्तेः प्राग्नासीद् घट इति प्रत्ययोऽसद्विषयः, सत्प्रत्ययविलक्षणत्वात्। यस्तु सद्विषयः, स न सत्प्रत्ययविलक्षणो, यथा सद्द्रव्यमित्यादिप्रत्ययः, सत्प्रत्ययविलक्षणश्चायं, तस्मादसद्विषयः' इत्यनुमानं प्रागभावस्य ग्राहकमिति चेत्, न, प्रागभावादौ नास्ति प्रध्वंसाभावादिरितिप्रत्ययेन व्यभिचारात्। तस्याप्यसद्विषयत्वान्न दोष इति चेत्, न, अभावानवस्थाप्रसङ्गात्। स्यान्मतम्, भावे भूभागादौ नास्ति कुम्भादिरिति प्रत्ययो मुख्याभावविषयः, प्रागभावादौ नास्ति प्रध्वंसादिरित्युपचरिताभावविषयः। ततो नाभावानवस्थेति, तदप्ययुक्तम्, परमार्थत. प्रागभावादीना साङ्कर्यप्रसङ्गात्। न ह्युपचरितेनाभावेन परस्परमभावानां व्यतिरेकः सिध्येत्, सर्वत्र मुख्याभावपरिकल्पनानर्थक्यप्रसङ्गात्। यदप्युक्तम्, न भावस्वभावः प्रागभावादिः, सर्वदा भावविशेषणत्वादिति, तदपि न सम्यगनुमानम्, हेतोः पक्षाव्यापकत्वात्, न प्रागभावः प्रध्वंसादावित्यादेरभावविशेषणस्याप्यभावस्य प्रसिद्धेः, गुणादिना व्यभिचाराच्च, तस्य सर्वदा भावविशेषणत्वेपि भावस्वभावत्वात्। रूपं पश्यामीत्यादिव्यवहारेण गुणस्य स्वतन्त्रस्यापि प्रतीतेर्न सर्वदा भावविशेषणत्वमस्येति चेत्, तर्ह्यभावस्तत्त्वमित्यभावस्यापि स्वतन्त्रत्वप्रतीतेः शश्वद्भावविशेषणत्वं मा सिधत्। सामर्थ्यात्तद्विशेष्यस्य द्रव्यादे संप्रत्ययात्सदा भावविशेषणमेवाभाव इति चेत्, तथैव गुणादिः सन्ततं भावविशेषणमस्तु, तद्विशेष्यस्य द्रव्यस्य सामर्थ्याद्गम्यमानत्वात्। किञ्च प्रागभावः सादिः सान्तः परिकल्प्यते सादिरनन्तो वानादिरनन्तो वाऽनादिः सान्तो वा ?, प्रथमे विकल्पे प्रागभावात्पूर्वं घटस्योपलब्धिप्रसङ्गः, तद्विरोधिनः प्रागभावस्याभावात्। द्वितीये प्रागभावकाले घटस्यानुपलब्धिप्रसक्तिः, तस्यानन्तत्वात्। तृतीये तु सदानुपलब्धिः। चतुर्थे पुनर्घटोत्पत्तौ प्रागभावस्याभावे घटोपलब्धिवदशेषकार्योपलब्धिः स्यात्, सर्वकार्याणामुत्पत्स्यमानानां प्रागभावस्यैकत्वात्। यावन्ति कार्याणि तावन्तस्तत्प्रागभावाः। तत्रैकस्य प्राग-

भावस्य विनाशेपि शेषोत्पत्स्यमानकार्यप्रागभावानामविनाशान्न घटोपलब्धौ सर्वकार्योपलब्धिरिति चेत्, तर्ह्यनन्ताः प्रागभावास्ते स्वतन्त्रा भावतन्त्रा वा ?, स्वतन्त्राश्चेत्कथं न भावस्वभावाः कालादिवत्, भावतन्त्राश्चेत्किमुत्पन्नभावतन्त्रा उत्पत्स्यमानभावतन्त्रा वा ?, न तावदादिविकल्पः, समुत्पन्नभावकाले तत्प्रागभावविनाशात्। द्वितीयविकल्पोपि न श्रेयान्, प्रागभावकाले स्वयमसतामुत्पत्स्यमानभावानां तदाश्रयत्वायोगात्, अन्यथा प्रध्वंसाभावस्यापि प्रध्वस्तपदार्थाश्रयत्वापत्तेः। न चानुत्पन्नः प्रध्वस्तो वार्थः कस्यचिदाश्रयो नाम, अतिप्रसङ्गात्। यदि पुनरेक एव प्रागभावो विशेषणभेदाद्भिन्न उपचर्यते घटस्य प्रागभावः पटादेर्वेति। तथोत्पन्नपदार्थविशेषणतया तस्य विनाशेप्युत्पत्स्यमानार्थविशेषणत्वेनाविनाशान्नित्यत्वमपीति मतम्, तदा प्रागभावादिचतुष्टयकल्पनापि मा भूत्, सर्वत्रैकस्यैवाभावस्य विशेषणभेदात्तथाभेदव्यवहारोपपत्तेः। कार्यस्यैव पूर्वेण कालेन विशिष्टोर्थे प्रागभावः, परेण विशिष्टः प्रध्वंसाभावः, नानार्थविशिष्टः स एव चेतरेतराभावः, कालत्रयेप्यत्यन्तनानास्वभावभावविशेषणोत्यन्ताभावः स्यात्, प्रत्ययभेदस्यापि तथोपपत्तेः। सत्तैकत्वेपि द्रव्यादिविशेषणभेदाद्भेदव्यवहारवत्। यथैव हि सत्प्रत्ययाविशेषाद्विशेषलिङ्गाभावादेकत्वं सत्तायामिष्टं भवद्भिस्तथैवासत्प्रत्ययाविशेषाद्विशेषलिङ्गाभावादसत्तायामप्येकत्वमस्तु। अथ प्रागासीदित्यादिप्रत्ययविशेषादसत्ता चतुर्भेदेष्यते, तर्हि प्रागासीत्पश्चाद्भविष्यति सम्प्रत्यस्तीति कालभेदेन, पाटलीपुत्रेस्ति चित्रकूटेऽस्तीति देशभेदेन, घटोस्ति पटोस्तीति द्रव्यभेदेन, रूपमस्ति रसोस्तीति गुणभेदेन, प्रसारणमस्ति गमनमस्तीति कर्मभेदेन च प्रत्ययविशेषसद्भावात् प्राक्सत्तादयः सत्ताभेदाः किमु नेष्यन्ते ?। अथ प्रत्ययविशेषात्तद्विशेषणान्येव भिद्यन्ते, तस्य तन्निमित्तकत्वात्, न तु सत्ता। ततः सैकैवेति मतम्, तर्हि तत एवाभावभेदोपि मा भूत्, सर्वथा विशेषाभावात्। न चैकोप्यभाव. क्षित्यादिविवर्तघटशब्दादिव्यतिरेकेण प्रत्यक्षतः प्रतिभासते। केवलं गतानुगतिकतया लोकः पृथिव्यादिभूतचतुष्टयविषयमेव प्रागभावा-

दिविकल्पमात्रवशात्प्रागभावादिव्यवहारं प्रवर्तयति द्रव्यादिविकल्पमात्राद् द्रव्यादिव्यवहारवत्, प्रमाणादिप्रकृत्यादिरूपस्कन्धादिविकल्पमात्राद्व्यवहारवच्च । ततो न प्रागभावः कश्चिदिह प्रतीयते प्रध्वंसाभावादिवत् । इति प्रागभावादिनिह्नवं कृत्वा पृथिव्यादिकार्यद्रव्यमभ्युपगच्छँश्चार्वाकोऽनेनोपालभ्यते, न पुनः सांख्योन्यो वा, तस्य कार्यद्रव्यानभ्युपगमात्, तिरोभावाविर्भाववत्परिणामोपगमेपि भावस्वभावप्रागभावाद्यभ्युपगमस्यापि सद्भावात् । तत्र प्रागभावस्य प्रसिद्धस्याप्यपलपनं निह्नवः । तस्मिन्क्रियमाणे कार्यद्रव्यं पृथिव्यादिकमनादि स्यात् । प्रध्वंसस्य च धर्मस्य स्वभावस्य प्रच्यवोऽपलापः । तस्मिन्विधीयमाने तदनन्ततां व्रजेत् । न चानाद्यनन्तं पृथिव्यादिकं प्रागभावाद्यपह्नववादिनाभ्युपगन्तुं शक्यते, स्वमतविरोधाल्लौकायतिकत्वहानिप्रसङ्गात् । कथं पुनः प्रागभावः प्रसिद्धः, तस्योक्तदूषणविषयतया व्यवस्थित्यभावादिति चेत्, न, स्याद्वादिभिरभीष्टे प्रागभावे यथोक्तदूषणानवकाशात्, नैयायिकादिभिरभिमतस्य तु तस्य तैरपि निराकरणात् । ऋजुसूत्रनयार्पणाद्धि प्रागभावस्तावत्कार्यस्योपादानपरिणाम एव पूर्वोनन्तरात्मा । न च तस्मिन् पूर्वानादिपरिणामसन्ततौ कार्यसद्भावप्रसङ्गः, प्रागभावविनाशस्य कार्यरूपत्वोपगमात्, "कार्योत्पादः क्षयो हेतोः" इति वक्ष्यमाणत्वात् । प्रागभावतत्प्रागभावादेस्तु पूर्वपूर्वपरिणामस्य सन्तत्यानादेर्विवक्षितकार्यरूपत्वाभावात् । न च तत्रास्येतरेतराभावः परिकल्प्यते, येन तत्पक्षोपक्षिप्तदूषणावतारः स्यात् । नाप्येवं प्रागभावस्यानादित्वविरोधः, प्रागभावतत्प्रागभावादेः प्रागभावसन्तानस्यानादित्वोपगमात् । न चात्र सन्तानिभ्यस्तत्त्वान्यत्वपक्षयोः सन्तानो दूषणार्हः, पूर्वपूर्वप्रागभावात्मकभावक्षणानामेवापरामृष्टभेदानां सन्तानत्वाभिप्रायात् । सन्तानिक्षणापेक्षया तु प्रागभावस्यानादित्वाभावेपि न दोषः, तथा ऋजुसूत्रनयस्येष्टत्वात् । तथास्मिन्पक्षे पूर्वपर्यायाः सर्वेप्यनादिसततयो घटस्य प्रागभाव इति वचनेपि न प्रागनन्तरपर्यायनिवृत्ताविव तत्पूर्वपर्यायनिवृत्तावपि घटस्योत्पत्तिप्रसङ्गः, येन तस्यानादित्वं पूर्वपर्यायनिवृत्तिसततेरप्यनादित्वादापाद्यते, घटात्पू-

र्वेक्षणानामशेषाणामपि तत्प्रागभावरूपाणामभावे घटोत्पत्त्यभ्युपगमात्, प्रागनन्तरक्षणानिवृत्तौ तदन्यतमक्षणानिवृत्ताविव सकलतत्प्रागभावनिवृत्त्यसिद्धेर्घटोत्पत्तिप्रसङ्गासंभवात्। व्यवहारनयार्पणात्तु मृदादिद्रव्यं घटादेः प्रागभाव इति वचनेपि प्रागभावाभावस्वभावता घटस्य न दुर्घटा, यतो द्रव्यस्याभावासंभवान्न जातुचिदुत्पत्तिर्घटस्य स्यात्, कार्यरहितस्य पूर्वकालविशिष्टस्य मृदादिद्रव्यस्य घटादिप्रागभावरूपतोपगमात्, तस्य च कार्योत्पत्तौ विनाशसिद्धेः, कार्यरहितताविनाशमन्तरेण कार्यसहिततयोत्पत्त्ययोगात्, कार्योत्पत्तेरेवोपादानात्मकप्रागभावक्षयस्य वक्ष्यमाणत्वात्। तथा प्रमाणार्पणाद्द्रव्यपर्यायात्मा प्रागभाव इत्यभिधानेपि नोभयपक्षोपक्षिप्तदोषानुषङ्गः, प्रागभावस्य द्रव्यरूपतयेव पर्यायरूपतयाप्यनादित्वनिरूपणात्। न चानादेरनन्ततैकान्तः सिध्यति, भव्यजीवसंसारस्यानादित्वेपि सान्तत्वप्रसिद्धेः, अन्यथा कस्यचिन्मुक्त्ययोगात्। नापि सान्तस्य सादित्वैकान्तः, कस्यचित्संसारस्य सान्तत्वेप्यनादित्वप्रसिद्धेः। ततो न सर्वदा कार्यानुत्पत्तिः पूर्वमप्युत्पत्तिर्वा घटस्य दुर्निवारा स्यात्। ततो भावस्वभाव एव प्रागभावः। स चैकानेकस्वभावो भाववदेवेति न तदेकत्वानेकत्वैकान्तपक्षभावी दोषोऽवकाशं लभते। न च भावस्वभावे प्रागभावे प्रागासीत्कार्यमिति नास्तित्वप्रत्ययो विरुध्यते, तदभावस्य भावान्तररूपत्वात् तत्र च नास्तित्वप्रत्ययाविरोधात्, घटविविक्तभूभागे घटनास्तित्वप्रत्ययवत्। तदेवं प्रसिद्धस्यैव प्रागभावस्यापलपनं निह्नवः। परस्य प्रध्वंसाभावः कथं प्रसिद्ध इति चेत्, नयप्रमाणार्पणादिति ब्रूमः। तत्र ऋजुसूत्रनयार्पणात्तावदुपादेयक्षण एवोपादानस्य प्रध्वंसः। न चैवं तदुत्तरक्षणेषु प्रध्वंसस्याभावात्पुनरुज्जीवनं घटादेः प्रसज्येत, कारणस्य कार्योपमर्दनात्मकत्वाभावात्, उपादानोपमर्दनस्यैव कार्योत्पत्त्यात्मकत्वात्, प्रागभावप्रध्वंसयोरुपादानोपादेयरूपतोपगमात्प्रागभावोपमर्दनेन प्रध्वंसस्यात्मलाभात्। कथमभावयोरुपादानोपादेयभाव इति चेत्, भावयोः कथम्?, यद्भावे एव यस्यात्मलाभस्तदुपादानमितरदुपादेयमिति चेत्, तर्हि प्रागभावे कार-

णात्मनि पूर्वक्षणवर्तिनि सति प्रध्वंसस्य कार्यात्मनः स्वरूपलाभोपपत्तेस्तयोरुपादानोपादेयभावोस्तु, तुच्छयोरेवाभावयोस्तद्भावविरोधात् । तथा व्यवहारनयादेशान्मृदादिद्रव्यं घटोत्तरकालवर्त्ति घटाकारविकलं घटप्रध्वंसः । स चानन्तः समवतिष्ठते । तेन घटात् पूर्वकालवर्ति मृदादिद्रव्य घटस्य प्रागभाव एव, न पुनः प्रध्वसः, तथा घटाकारमपि तत्तस्य प्रध्वंसो मा भूत्, घटाकारविकलमिति विशेषणात्। नन्वेवं घटोत्तरकालवर्त्तिघटाकारविकलसन्तानान्तरमृदादिकमपि तद्धटप्रध्वंस. स्यादिति चेत्, न, द्रव्यग्रहणात् । वर्त्तमानपर्यायाश्रयरूपमेव हि मृदादिकं तद्द्रव्यमन्वयीष्यते, न पुनः सन्तानान्तर, तस्य स्वपर्यायमेवातीतमनागतं वा प्रत्यन्वयिनस्तद्द्रव्यत्वविरहात्। तदेवं प्रसिद्धः प्रध्वंसो वस्तुधर्मः । तस्य प्रच्यवोऽपह्नव एव चार्वाकस्य। तस्मिंश्च कार्यद्रव्यं पृथिव्यादिकमनन्ततां व्रजेदिति समन्तभद्रस्वामिनामभिप्रायः। वृत्तिकारास्त्वकलङ्कदेवा एवमाचक्षते, कपिलमतानुसारिणा प्रागभावानभ्युपगमे घटादेरनादित्वप्रसङ्गात् पुरुषव्यापारानर्थक्यं स्यात्। न च पुरुषव्यापारमन्तरेण घटादि भवदुपलभ्यते जातुचित्, इति कार्यद्रव्यं तदापादनीयम् । तच्च प्रागभावस्य निह्नवेऽनादि स्यादिति सूक्तं दूषणम्, आपाद्यस्याप्युद्भाव्यवद्दूषणत्वोपपत्तेः। एतेन मीमांसकानां शब्दस्य प्रागभावानभ्युपगमेऽनादित्वप्रसङ्गात् पुरुषव्यापारानर्थक्यं स्यादित्युक्तं प्रतिपत्तव्यम्। शब्दस्याभिव्यक्तौ पुरुषव्यापारस्योपयोगान्नानर्थक्यमिति चेत्, न, तत प्राक् तदावेदकमाणाभावादभिव्यक्तिकल्पनानुपपत्तेः। कलशादेर्हि समन्धकारावृततनोः प्रदीपव्यापारात्पूर्वं सद्भावावेदकप्रमाणस्य स्पर्शनप्रत्यक्षादेः सभवादुपपन्ना प्रदीपेनाभिव्यक्तिकल्पना, न पुनः शब्दस्य, तदभावात्। प्रत्यभिज्ञानादेस्तद्भावावेदकस्य प्रमाणस्य भावाददोप इति चेत्, न, तस्य विरुद्धत्वात्, शब्दस्याभिव्यक्तेः पूर्वं सर्वथा सत्त्वात्साध्याद्विपरीतेन कथञ्चित्सत्त्वेन व्याप्तत्वादन्यथा प्रत्यभिज्ञायमानत्वाद्यनुपपत्तेः । ततोभिव्यङ्ग्यविलक्षणत्वान्न शब्दस्याभिव्यक्तिकल्पना युक्ता। एतेन कुम्भकारादिव्यापाराद् घटाद्यभिव्यक्तिकल्पना प्रत्युक्ता। कल्पयित्वापि तदभिव्यक्तिं तस्याः प्रागभावोङ्गी

कर्तव्यः । तथा हि । सतः शब्दस्य ताल्वादिभिरभिव्यक्तिः प्रागसती क्रियते, न पुनः शब्द एवेति स्वरुचिविरचितदर्शनप्रदर्शनमात्रम् । ननु च मीमांसकैः शब्दस्यापौरुषेयत्वप्रदर्शनान्नासौ प्रागसन् क्रियते । तदभिव्यक्तिस्तु पौरुषेयी । सा प्रागसती क्रियते इति कथं स्वरुचिविरचितस्य दर्शनस्य प्रदर्शनमात्रम्, प्रमाणशक्तिविरचितस्य तथादर्शनस्य प्रदर्शनादिति चेत्, न, शब्दादभिन्नायास्तदभिव्यक्तेरप्यपौरुषेयत्वात् । तस्याः पौरुषेयत्वात्प्रागसत्त्वे तदभिन्नस्य शब्दस्यापि तत एव प्रागसत्त्वमनुमन्यताम्, विशेषाभावात् । शब्दाद्भिन्नैवाभिव्यक्तिरिति चेत्, सा यदि श्रवणज्ञानोत्पत्तिः, सैव कथं प्राक्सती यत्नतः कर्तव्या ? तस्याः प्रागसत्त्वे शब्दस्याश्रावणत्वापत्तेर्नित्यत्वविरोधः, प्रागश्रावणत्वस्वभावत्यागेनोत्तरश्रावणत्वस्वभावोत्पत्तेः कथञ्चिदनित्यत्वमन्तरेणानुपपत्तेः । अथ श्रवणज्ञानोत्पत्तेरभावेपि पूर्वं शब्दस्य श्रावणत्वमेवेष्टम्, किमनया श्रवणज्ञानोत्पत्त्याभिव्यक्त्या ?, स्यान्मतम्, न शब्दधर्मः श्रवणज्ञानोत्पत्तिः, तस्याः कर्मस्थक्रियात्वाभावात् । किं तर्हि ? पुरुषस्वभावः, कर्तृस्थक्रियात्वादिति, तदप्ययुक्तम्, कर्तृवत्तस्याः प्राक्सत्त्वापत्तेरविशेषात्तद्व्यापारानर्थक्यात् । श्रवणज्ञानोत्पत्तियोग्यता शब्दस्याभिव्यक्तिरिति चेत्, तर्हि योग्यतायाः समानश्चर्चः । योग्यतापि हि यदि शब्दधर्मत्वाच्छब्दादभिन्ना, तदा कथं तद्वत्सती पुरुषप्रयत्नेन क्रियेत ? अथ शब्दाद्भिन्ना, श्रोत्रस्वभावत्वात्तस्या इति मतिः, तथापि न सा प्रागसती श्रोत्रस्य नभोदेशलक्षणस्य सर्वदा सत्त्वात् तत्स्वभावभूताया योग्यतायाः प्रागपि सत्त्वात् । एतेनात्मधर्मो योग्यता शब्दाद्भिन्नेति निरस्तम्, नित्यत्वादात्मनः प्रागसत्त्वासम्भवात् । अथ भिन्नाभिन्ना श्रवणज्ञानोत्पत्तिस्तद्योग्यता चाभिव्यक्तिः शब्दादिति मतम्, तदप्यसत्यम्, पक्षद्वयोक्तदोषानुषङ्गात्, सर्वथा तस्याः प्रागभावायोगात्, तद्योगे वा शब्दवदेव श्रोत्रप्रमात्रोरपि प्रागसतोः प्रयत्नेन करणप्रसङ्गात्, अन्यथा स्वरुचिविरचितदर्शनप्रदर्शनमात्रप्रसक्तेः । आवरणविगमोभिव्यक्तिरिति चेत्, तदावरणविगमः प्राक्किमभूत् ?, भूतो वा किं यत्नेन ?, विशेषस्याधानमभिव्यक्तिरिति चेत्, ननु विशेषाधानमपि तादृगेव, कर्मक-

तृकरणानां प्रागभावाभावात्। आवरणविगमविशेपाधानयोर्हि शब्दपुरुपश्रोत्राणां स्वरूपत्वे तेषां याज्ञिकैरपि नित्यत्वोपगमात्कथं प्रागभावः सभवेत् ?, सभवे वा प्रयत्नकार्यत्वप्रसङ्गः अभिव्यक्तिवत्। पुरुपप्रयत्नेन अभिव्यक्तिः प्रागसती क्रियते, न पुनस्तत्स्वरूपः शब्दः पुरुषः श्रोत्रं चेति स्वरुचिविरचितदर्शनप्रदर्शनमात्रम् । एवं हि कपिलमतानुसारिणां घटादेरभिव्यक्तिः प्रागसती चक्रदण्डादिभिः क्रियते न पुनर्घटादिरित्यपि शक्य प्रदर्शयितुम्। यतोत्र न कश्चिद्विशेषहेतुस्ताल्वादयो व्यञ्जकाः, न पुनश्चक्रादयोपीति, ते वा घटादेः कारकाः, न पुनः शब्दस्य ताल्वादयोपीति। न हि व्यञ्जकव्यापृतिर्नियमेन व्यङ्ग्य सन्निधापयति। सन्निधापयति च ताल्वादिव्यापृतिर्नियमेन शब्दम्। ततो नासौ ताल्वादीनां व्यङ्ग्यश्चक्रादीनां घटादिवत्। नायं दोपः, सर्वगतत्वाद्वर्णानाम्, इत्यपि वार्तम्, प्रमाणवलायातत्वाभावात्, अन्यत्रापि तथाभावानुपङ्गात्। शक्य हि वक्तुम्, वटादीनां सर्वगतत्वाच्चक्रादिव्यापारान्नियमेनोपलब्धिरिति। इष्टत्वाददोषोयं कापिलानामिति चेत्, न, कारणव्यापारेष्वपि चोद्यानिवृत्तेः, चक्रादीन्यपि कारणानि स्वव्यापाराणां नियमेन सन्निधापकान्यभिव्यञ्जकानि भवन्तु, तेपा सर्वगतत्वादेवेति चोद्यस्य निवर्तयितुमशक्यत्वात्। एतेनावस्था प्रत्युक्ता। स्वव्यापारोत्पादने हि कारणानां व्यापारान्तराणि कल्पनीयानि तथा तदुत्पादनेपीत्यनवस्था स्यात्, न पुन. स्वव्यापाराभिव्यक्तौ, तत्सन्निधिमात्रादेव तत्सिद्धेः अन्यथा व्यञ्जककारकयोरविशेपप्रसङ्गात्। कारणव्यापाराणां च कारणेभ्यो भेदैकान्तो वा स्यादभेदैकान्तो वा ?, तद्भेदैकान्ते तद्वतोनुपयोगः, तावतेतिकर्तव्यतास्थानात्। व्यवहारिणामभिमतकार्यसपादनमेव हीतिकर्तव्यता। तस्याः स्थानं यदि व्यापारेभ्य एवैकान्ततो भिन्नेभ्यो भावाद्भवेत्तदा किं व्यापारवतान्यत्साध्यम्, यतस्तस्योपयोगः कश्चिदुपपद्यते ?, तद्वतो व्यापाराणामभेदैकान्तेभिव्यक्तिवत्प्रसङ्गस्तद्वत इव व्यापाराणां सर्वदा सद्भावः। तेषां प्रागभावे वा व्यापाराः प्रागसन्तः क्रियन्ते, न पुनस्तदव्यतिरेकिणोपि तद्वन्त इति स्वरुचि-

विरचितदर्शनप्रदर्शनमात्रम् । एतेनावस्था प्रत्युक्ता । तद्विशेषैकान्ते तद्वतोनुपयोगः, तावतेतिकर्तव्यतास्थानात् । अभेदैकान्ते पूर्वत्रप्रसङ्गः । परिणामेप्येष पर्यनुयोगः । परिणामिनो बहुधानकस्य परिणामा घटादयोत्यन्तभिन्ना वा स्युरभिन्ना वा ?, कथञ्चिद्भेदाश्रयणे स्याद्वादानुसरणप्रसङ्गात् । तत्र परिणामाना तदभिन्नानां क्रमशो वृत्तिर्मा भूत्, परिणामिनोऽक्रमत्वात् । ततो भिन्नानां व्यपदेशोपि मा भूत्, प्रधानस्यैते परिणामा इति सम्बन्धासिद्धेरनुपकारकत्वात् । न हि नित्यं प्रधानं परिणामानामुपकारकम्, तस्य क्रमयौगपद्याभ्यामुपकारकत्वायोगात् । नापि परिणामेभ्यस्तस्योपकारः, तस्य तत्कार्यत्वेनानित्यत्वापत्तेः । तैस्तस्योपकारेपि सर्वं समानमनवस्था च । यावन्तो हि परिणामास्तावन्तस्तस्योपकारास्तत्कृतास्ततो यदि भिन्नास्तदा तस्येति व्यपदेशोपि मा भूत्, सम्बन्धासिद्धेरनुपकारकत्वात् । तद्वतस्तैरुपकारैरुपकारान्तरेपि स एव पर्यनुयोग इत्यनवस्था । ततस्ते यद्यभिन्नास्तदा तावद्धा प्रधानं भिद्येत, ते वा प्रधानैकरूपतां प्रतिपद्येरन् । इति प्रधानस्योपकाराणा चावस्थानासंभवादनवस्था । तस्या भोग्याभावे पुंसो भोक्तृत्वाभावादभावः स्यात्, तस्य तल्लक्षणत्वात् । ततः प्रकृतिपुरुषतत्त्वयोरवस्थानाभावादनवस्था । इति न कपिलमतानुसरणेनापि प्रधानात्मनामशेषतो घटादीनामपि शब्दवदभिव्यङ्ग्यत्वं युक्तं कल्पयितुम्, सर्वदा प्रागभावापह्नवे तदभिव्यक्तेरप्यनादित्वप्रसङ्गात्कार्यद्रव्यवत्। ननु कार्यद्रव्यमसिद्धं कापिलानाम्, कथमनादि ग्रन्थकारेणापाद्यते इति चेत्, प्रमाणबलात्कार्यत्वं द्रव्यस्यापाद्य तथाभिधानाददोषः। कथं कार्यत्वमापाद्यते प्रागभावानभ्युपगमवादिनं प्रतीति चेत्, कार्यं घटादिकम्, अपेक्षितपरव्यापारत्वात्, यत्तु न कार्यं तन्न तथा दृष्टम्, यथा गगनम्, तथा च घटादिकम्, तस्मात्कार्यमित्यनुमानात्। नात्रासिद्धं साधनम्, कादाचित्कत्वात्, तस्यानपेक्षितपरव्यापारत्वे कादाचित्कत्वविरोधादाकाशवत् । तदाविर्भावस्य कादाचित्कत्वादपेक्षितपरव्यापारत्वं, न तु घटादेरिति चेत्, कोयमाविर्भावो नाम ? प्रागनुपलब्धस्य व्यञ्जक-

व्यापारादुपलम्भ इति चेत्, स तर्हि प्रागसन् कारणैः क्रियते, न पुनर्घटादिरिति स्वरुचिवचनमात्रम् । अथ तस्यापि प्राक्तिरोहितस्य सत एव कारणैराविर्भावान्तरमिष्यते, तर्हि तस्याप्यन्यत्तस्याप्यन्यदाविर्भावनमित्यनवस्थानान्न कदाचिद् घटादेराविर्भावः स्यात् । अथाविर्भावस्योपलम्भरूपस्य तद्रूपाविर्भावान्तरानपेक्षत्वात् प्रकाशस्य प्रकाशान्तरानपेक्षत्ववन्नानवस्थेति चेत्, तर्हि तस्य कारणादात्मलाभोऽभ्युपगन्तव्यः, ततः कार्यमाविर्भाव इति । तद्वद्घटादिकमपि, अपेक्षितपरव्यापारत्वाविशेषादात्मलाभे । न ह्यलब्धात्मलाभस्योपलम्भः शक्यः कर्तुम्, सर्वथातिप्रसङ्गात् । तदेवं प्रधानपरिणामतयापीष्टं घटादिकं कार्यद्रव्यमापाद्यते । तस्य च प्रागभावापह्नवेऽनादित्वप्रसङ्गात्कारणव्यापारानर्थक्यं स्यादिति सूक्त दूषणम् । प्राक्तिरोभावस्योपगमे वा स एव प्रागभावः सिद्धः, तस्य तिरोभाव इति नामान्तरकरणे दोषाभावादुत्पादस्याविर्भाव इति नामान्तरकरणवत् । ततो न मीमांसकस्य सांख्यमतानुसरणं युक्तम्, सर्वथा शब्दस्य प्रागभावानभ्युपगमेऽनादित्वप्रसङ्गात् पुरुषव्यापारानर्थक्यस्य समर्थनात् । तथा विनाशानभ्युपगमे तस्य किंकृतमश्रवणम् ? स्वावरणकृतमिति चेत्, नैतत्सारम्, तदात्मानमखण्डयतः कस्यचिदावरणत्वायोगात् । तिरोधायकस्य कस्यचिद्वायुविशेषस्य शब्दात्मानं खण्डयत एवावरणत्वे स्वभावभेदप्रसङ्गः, आवृतानावृतस्वभावयोरभेदानुपपत्तेः । तयोरभेदे वा शब्दस्य श्रुतिरश्रुतिर्वेत्येकान्तः प्रसज्येत, पुरुषव्यापारात्पूर्वमश्रुतिस्तदनन्तर श्रुतिरितिविभागानुपपत्तेः । स्यान्मतम्, यथा घटादेरात्मानखण्डयत्तमस्तस्यावरणं तथा शब्दस्यापीति, तदसत्, तस्यापि तेनात्मखण्डनोपगमात्, दृश्यस्वभावस्य खण्डनात्तमसस्तदावरणत्वसिद्धेः, सर्वस्य परिणामित्वसाधनात् । तमसापि घटादेरखण्डने पूर्ववदुपलब्धिः किन्न भवितुमर्हति, तस्य तेनोपलभ्यतयाप्यखण्डनात् । ननु च पुरुषव्यापारात्प्राक् पश्चाच्च शब्दस्याखण्डितस्वभावत्वेपि नैकान्ततः श्रुति , सहकारिकारणापेक्षत्वात्, स्वविज्ञानोत्पादने तदश्रुतेरपि तद्वैकल्ये सभवादिति चेत्, तर्हि किमयं शब्दः स्वविषयसवि-

त्तिकरणे समर्थोऽसमर्थो वा ?, स्वसंवित्युत्पत्तौ कारणान्तरापेक्षा मा भूत् तत्करणसमर्थत्व। अन्यथा स्वकरणसमर्थत्व सहकारीन्द्रियमनोभिव्यञ्जकव्यापारलक्षणं किमन्यासामर्थ्यं खण्डयत्याहोस्वित्रेति पक्षद्वितयम् । तदसामर्थ्यमखण्डयदकिञ्चित्कर किं सहकारिकारणं स्यात् ? तत्खण्डने वा स्वभावहानिरव्यतिरेकात् व्यतिरेके व्यपदेशानुपपत्तिः । इति पूर्ववत्सर्वम्, शब्दासामर्थ्ययोः परस्परमनुपकारकत्वाविशेषात । शब्दस्य हि तदसामर्थ्येनोपकारः क्रियमाणस्तस्मादभिन्नश्चेत्, स एव कृतः स्यादिति तन्निरस्त्वहानिः । भिन्नश्चेत्सम्बन्धासिद्धिः, अनुपकारात् । तदुपकारान्तरे वा स एव पर्यनुयोग इत्यनवस्था प्रधानतत्परिणामव्यतिरेकपक्षवत् । किञ्च वर्णाः सर्वे नित्यसर्वगतास्तद्विपरीता वा ?, न तावद्द्वितीयः पक्षः, अनभ्युपगमात् । प्रथमपक्षे तु वर्णानां व्यापित्वान्नित्यत्वाच्च क्रमश्रुतिरनुपपन्नैव, देशकालकृतक्रमासंभवात् । तदभिव्यक्तिप्रतिनियमात्तेषां क्रमश्रुतिरिति चेत्, न, अस्मिन्नपि पक्षे समानकरणानां तादृशामभिव्यक्तिनियमायोगात् सर्वत्र सर्वदा सर्वेषां सकुला श्रुतिः स्यात् । समानं हि करणं वर्णानां श्रुतौ श्रोत्रं, नीलपीतादीनां रूपविशेषाणां दृष्टौ चक्षुर्वत् । ततस्तेषामेकव्यञ्जकव्यापारेऽपि समानदेशकालानां कथमभिव्यक्तिनियमो नीलादिवत् ? क्वचिदेकत्रैकदापि च सर्ववर्णाभिव्यक्तौ सर्वत्र सर्वदाभिव्यक्तिस्तेषां स्वरूपेणाभिव्यक्तत्वात् तत्स्वरूपस्य च व्यापिनित्यत्वात् । खण्डशस्तदभिव्यक्तौ वर्णानां व्यक्तेतराकारभेदाद्भेदप्रसक्तेः प्रत्येकमनेकत्वापत्तिरेकानेकात्मकत्वप्रसङ्गो वा । सर्वात्मनाभिव्यक्तौ सर्वदेशकालवर्तिप्राणिनः प्रति तेषामभिव्यक्तत्वात् कथं सर्वत्र सर्वदा सर्वेषां सङ्कुला श्रुतिर्न स्यात्ततः कलकलमात्रं न भवेत् । ननु समानोपादानकारणानामभिन्नदेशकालानां समानकारणानामुत्पत्तावपि तद्देशकालवर्तिसकलपुरुषाणामविकलसहकारिणां कथं न सकुला श्रुतिः स्यात्, क्रमश्रुतिर्वा न विरुध्येत ? इति चेत्, अत्रोच्यते, वक्तृश्रोतृविज्ञानयोस्तत्कारणकार्ययोः क्रमवृत्तिमपेक्ष्य परिणामिनां क्रमोत्पत्तिप्रतिपत्त्योर्न किञ्चिद्विरुद्धं पश्यामः । समानेऽपि हि

शब्दानामारम्भकपुद्गले तद्देशकालवर्तिन्युपादाने सहकारिणि च बहिरङ्गे ताल्वादिकरणे वक्तृविज्ञानस्य वर्णोत्पत्तौ सहकारिकारणस्याऽऽन्तरस्य क्रममपेक्ष्य क्रमोत्पत्तौ परिणामिना न किञ्चिद्विरुद्धं पश्यामः, कारणक्रमानुविधायित्वात्सर्वत्र कार्यक्रमस्य, शश्वदपरिणामिनामेव तथाविरोधदर्शनात् । नापि श्रोतृविज्ञानस्य शब्दकार्यस्य क्रममपेक्ष्य वर्णक्रमप्रतिपत्तौ किञ्चिद्विरुद्धं पश्यामः, प्रमाणक्रमानुविधायित्वात्तत्फलभूतप्रमितिक्रमस्य सततमपरिणामिनामेवात्मना तद्विरोधनिर्णयात् । तत्र सकुला श्रुतिः स्याद्वादिनां प्रसज्येत । सर्वगतानामेष क्रमो दुष्करः स्यात् । ततः क्रमोत्पत्तिप्रतिपत्त्योरन्यथानुपपत्त्या न सर्वगता वर्णाः, नापि नित्याः प्रत्येतव्याः । ननु च नित्या वर्णाः, प्रत्यभिज्ञानादात्मादिवदिति चेत्, क्षणिकेष्वेव करणाङ्गहारादिषु प्रत्यभिज्ञानाद्विरुद्धो हेतुः । एतेन बुद्धिभिर्व्यभिचारी च हेतुरुक्तः, बुद्धिकर्मभ्यां व्यभिचार इत्यभिधानात् । ननु बुद्धिकर्मणोरपि नित्यत्वोपगमान्नायं दोषः, ते अपि नित्ये इति वचनात्, तथोपगमे विरोधाभावादिति चेत्, तत्क्रियैकत्वेपि किमिदानीमनेकं स्यात् ? तथा बुद्ध्येकत्वेपि न किञ्चिदनेकं स्यादित्यपि प्रतिपत्तव्यम्, सर्ववर्णैकत्वप्रसङ्गात् । शक्यं हि वक्तुम्, अभिव्यञ्जकभेदाद्वैश्वरूप्यं जलचन्द्रवत्, क्वचित्प्रत्यक्षविरोधे तदन्यत्राप्यविरोधः कुतः ?, यथैव हि नानादेशजलप्रतिबिम्बितस्य चन्द्रस्यानेकत्वप्रतीतावपि परमार्थतश्चन्द्रैकत्वं तथैव नानादेशव्यञ्जकभेदादकारादिवर्णनानात्वप्रतीतावपि वर्णैकत्वमिति वदतः कः प्रतिघातः ? प्रत्यक्षविरोधो वर्णैकत्ववचने स्यान्न पुनः क्रियाद्येकत्ववचने याज्ञिकस्येति कुतो विभागः सिध्येत् ?, ततो वर्णाद्वैतमनिच्छता न करणाङ्गहारादिक्रियैका वक्तव्या, येन शब्दस्य नित्यत्वसाधने प्रत्यभिज्ञानं विरुद्धं न स्यात् । तदयं ताल्वादिव्यापारजनितश्रावणस्वभावं परित्यज्य विपरीतस्वभावमासादयन्नपि नित्यश्चेत्, न किञ्चिदनित्यम् । तदेवमकारादिवर्णस्त्रिजगत्यामेक एवेत्यपि निरस्तम्, युगपद्भिन्नदेशस्वभावोपलब्धेर्घटादिवत् । भानुनानेकान्त इति चेत्, न, तस्य सकृद्भिन्नदेशतयोप-

लब्धावपि भिन्नस्वभावतयोपलम्भाभावात् प्रत्यासन्नेतरदेशप्रतिपत्तृजनानां स्पष्टेतराभिभिन्नस्वभावतयोपलभ्यमानेनैकशब्देन व्यभिचार इति चेत्, न, तस्य भिन्नदेशतयानुपलब्धेः। नयनावरणविशेषवशाद्भिन्नदेशस्वभावतयोपलभ्यमानेन चन्द्रद्वयेन व्यभिचार इति चेत्, न, भ्रान्तोपलम्भेनाभ्रान्तोपलम्भस्य व्यभिचारयोगादन्यथा सर्वहेतूनामव्यभिचारानुषङ्गात्। न च शब्दस्यापि नानादेशस्वभावतयो-पलम्भो भ्रान्तः, सर्वदा बाधकाभावात्। युगपत्प्रतिनियतदेशमन्द्रतारश्रुतेः कल्पनिर्मूलत्वे न कश्चिदर्थकल्पनसिद्धिः। स एवायमकार इति प्रत्यवमर्शादकारादेरेकत्वेऽकारादिक्रियाविशेषस्याप्येकत्वमस्तु स एवायमकारादिरिति प्रत्यवमर्शात्। तथा सर्वेन्द्रार्थविशेषस्यापि। न हि कथञ्चित्प्रत्यवमर्शो न स्याद्दर्शनात्। तद्देशविशेषबुद्धेरभिन्नाकहेतुत्वप्रसक्तौ सर्वं समञ्जसं प्रेक्षामहे, सर्वस्याकारादेरपि देशादिविशेषबुद्धेरभिव्यञ्जकहेतुत्वप्रसक्तेः कर्तुं सुशकत्वात्। तद्देशेन पुद्गलानां करणसन्निपातोपनिपाते श्रावणस्वभावः शब्दः पूर्वापरको-ट्योरसन् प्रयत्नानन्तरीयको घटादिवदिति प्रतिपत्तव्यम्, न पुनः प्राक् पश्चाच्च सतोऽपौरुषेय इति। तस्य प्रागभावप्रध्वंसस्यापि न प्रच्यवः श्रेयान्। ननु शब्दस्य पुद्गलपर्यायत्वे चक्षुरुपलम्भप्रसङ्गः, "स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः" इति वचनात्, अन्यथा सिद्धान्तविरोधादिति चेत्, न, गन्धपरमाणुभिर्व्यभिचारात्। पुद्गलपर्यायत्वस्य गन्धपरमाणूनामदृश्यत्वान्न दर्शनमिति चेत्, शब्दपुद्गला-

भिरपि घ्राणपूरणप्रसङ्गात् स्कन्धपरिणामाविशेषात्, नन्वेकश्रोत्रप्रवेशाद्योग्यदेशस्थितैरपि श्रोत्रऽन्तरैः शब्दस्याश्रवणप्रसङ्ग इति चेत्, न, एकघ्राणप्रवेशात्प्रतिपत्रन्तराणां योग्यदेशस्थानामपि गन्धस्याप्यघ्राणप्रसङ्गात्। गन्धपरमाणूनां सदृशपरिणामभाजां समन्ततः प्रसर्पणाददोष इति चेत्, तर्हि शब्दपरमाणूनामपि समानपरिणामभृतां नानादिक्तया विसर्पणात्स दोपो मा भूत्। शब्दस्यागमनादीनामदृष्टानामपि कल्पना-प्रसङ्ग इतिचेत्, गन्धपरमाणूनामपि। अथैषां प्रतिपत्तिविशेषान्यथानुपपत्त्या निश्चयनान्नागमनादीनामदृष्टपरिकल्पनेतिचेत्, शब्दपुद्गलानामपि यथा यत्र यदा यावतां प्रतिपत्तॄणामुपलब्धिस्तथा तत्र तदा तावतामुपलब्धियोग्यपरिणामविशेषोपगमात्। तदेवं शब्दस्य पुद्गलस्वभावत्वे दर्शनविस्तारविक्षेपप्रतिघातकर्णपूरणैकश्रोत्रप्रवेशाद्युपालम्भो गन्धपरमाणुकृतप्रतिविधानतयोपेक्षामर्हति। ननु च न पुद्गलस्वभावः शब्दः, अस्पर्शत्वात्, सुखादिवत्, इति बाधकसद्भावान्न पुद्गलस्वभावत्वं शब्दस्येति चेत्, न, हेतोरसिद्धत्वात्, यतः कर्णशष्कुल्यां कटकटायमानस्य प्रायशः प्रतिघातहेतोर्भवनाद्युपघातिनः शब्दस्य प्रसिद्धिरस्पर्शत्वकल्पनामस्तङ्गमयति। ननु च न पुद्गलस्वभावः शब्दः, निश्छिद्रभव-नाभ्यन्तरतो निर्गमनात्, तत्र बाह्यतः प्रवेशाद्व्यवधायकावेदनादेश्च दर्शनात्, यस्तु पुद्गलस्वभावो, न तस्यैवंदर्शनं, यथा लोष्ठादेः, तथादर्शनं च शब्दस्य, ततो न पुद्गलस्वभावत्वमिति चेत्, न, पुद्गलस्वभावत्वेपि तदविरोधात्। तस्य हि निश्छिद्रनिर्गमनादयः सूक्ष्मस्वभावत्वात् स्नेहादिस्पर्शादिवन्न विरुध्येरन्। कथमन्यथा पिहितताम्रकलशाभ्यन्तरात्तैलजलादेर्बहिर्निर्गमनं स्निग्धतादिविशेषदर्श-नादनुमीयेत ? कथं वा पिहितनिश्छिद्रमृद्घटादेः सलिलाभ्यन्तरनिहितस्यान्तःशीतस्पर्शोपलम्भात्सलिलप्रवेशोनुमीयेत ? तदभेदनादिकं वा तस्य निश्छिद्रतयेक्षणात्कथमुत्प्रेक्षेत ?, ततो निश्छिद्रनिर्गमनादिः स्नेहादिस्पर्शादिभिर्व्यभिचारी, न सम्यग्घेतुर्यतः शब्दस्य पुद्गलस्व-भावत्वं प्रतिक्षिपेत्, तस्य पुद्गलस्वभावत्वनिर्णयात्सर्वथाप्यविरोधात्। अतो यत्नजनितवर्णाद्यात्मा श्रावणमध्यस्वभावः प्राक् पश्चादपि

पुद्गलानां नास्तीति तावानेव ध्वनिपरिणामः सर्वैरभ्युपगन्तव्यः, तस्य सकलकालकलाव्यापित्वे मध्यवत्प्राक् पश्चाच्च श्रावणस्वभावत्वप्रसङ्गात् प्रयत्नजनितवर्णपदवाक्यात्मकत्वायोगात् । तत्प्राक्प्रध्वंसाभावप्रतिक्षेपे कौटस्थ्य क्रमयौगपद्याभ्यां स्वाकारज्ञानाद्यर्थक्रिया व्यावर्तयतीति निरुपाख्यमित्यभिप्राय' "श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्याणाम्" प्राक्प्रध्वंसाभावप्रतिक्षेपस्य कौटस्थ्येन व्याप्तत्वात्, तस्य च क्रमयौगपद्याभावेन, तत्र तद्विरोधात् । तस्यापि स्वाकारज्ञानाद्यर्थक्रियाव्यावर्तनेन, तस्य च निरुपाख्यत्वेन, सर्वथानर्थक्रियाकारिण सकलवाग्विकल्पेभ्यो निष्क्रान्तत्वात् । स्यादाकूतम्, वर्णानामानुपूर्व्यपौरुषेयीष्यते, तस्या एव प्राक्प्रध्वंसाभावानभ्युपगमात् । ततो नोपालम्भः श्रेयानिति, तदप्ययुक्तं, वर्णव्यतिरेकानुपूर्व्यसंभवात् । कथञ्चित्क्रियमाणामपि तदानुपूर्वीकल्पना विस्तरेण प्रतिक्षेप्स्यामः, " वक्तर्यऽनाप्ते " इत्यत्र तत्प्रतिक्षेपविस्तारवचनात् । तदिह पर्याप्तम्, तत्प्रवन्धेन सर्वथा प्राक्प्रध्वंसाभावनिह्नवे यथानिगदितदूषणगणप्रसङ्गस्य परिहरणासभवात् ॥ १० ॥

कार्यसद्भावप्रसङ्ग इति (१४४–२–१) कार्यध्वंसतत्प्रागभावानाधारकालस्य कार्यवत्त्वव्याप्यत्वादिति भावः । **तत्र** (२) **अनन्तरपूर्वक्षणेषु, इतरेतराभावरूपस्य** (२) **कार्यभेदरूपस्य, नायं दोष इति**(२)इदानीमेतत्क्षण इतिप्रतीत्या तत्तत्क्षणस्यैव तदभिन्नकार्याणां **सौगतनये** तादात्म्येनैव कालवृत्तित्वोपगमात् कार्यभिन्नक्षणे कार्यत्वस्यापादयितुमशक्यत्वादिति भावः । **किमर्थमि[इ]ति** (२) अभावव्यवहारस्य भेदत एव सिद्धेरिति भावः । **कार्यादिति** (३) कार्याव्यवहितपूर्वक्षणभिन्नेष्वित्यर्थः । कार्यप्रागभावाभावत्वमात्रं न कार्यस्वभावत्वव्याप्यं किन्तु प्रागभावध्वंसत्वं ध्वंसोऽपि चाव्यवहितोत्तरक्षण एवाग्रिमक्षणेषु घटादिव्यवहारश्च सदृशकार्योत्पत्तिदोषादिति न कोऽपि दोष इत्याशयवान् शङ्कते, '**स्यादाकूतमिति**' (५)

अस्मिन्नभ्युपगमे जैन्याः प्रक्रियाया विरोधः स्यादिति दूषणमाह, 'तदेतदपीत्यादि' (६) 'द्रव्यार्थादेशादिति' (८) सौगतैश्च पर्यायार्थमात्रादेशः स्वीक्रियत इति न तत्प्रक्रियानुसरणेनोभयनयवादिनो जैनस्य सिद्धान्तव्याकोप इति भावः। प्रागभावाभावस्वभावता (८) घटप्रागभावध्वंसरूपता, तद्द्रव्यस्य (९) मृद्द्रव्यस्य, अभावासम्भवात् (९) घटोत्पत्तिकाले ध्वंसासम्भवात्, तत एव (९) घटस्य मृद्द्रव्यरूपघटप्रागभावध्वंसत्वाभावादेव, न जातुचिदिति (९) घटोत्पत्तेर्घटप्रागभावध्वंसोत्पत्तिनियतत्वादिति भावः। यदि पुनरिति (९) क्लृप्तेषु पूर्वपर्यायेषु घटप्रागभावत्वमात्रकल्पने लाघवात्तद्व्यक्तित्वादिना तेषां सादित्वेऽपि घटप्रागभावत्वेनानादित्वेऽपि विरोधाभावाच्चेति भावः। 'तदापीति' (१०) न च घटप्रागभावत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकध्वंसस्य घटोत्पत्तिव्याप्यत्वान्नायं दोष इति शङ्कनीयम्। ध्वंसस्य सामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वे मानाभावात्, एकघटवति घटान्तरप्रागभावसत्त्वेन तदसम्भवाच्च, एतेन यावद्घटप्रागभावध्वंसवत्त्वं घटोत्पत्तिव्याप्यमित्यपि निरस्तम्, असम्भवात्। न च यावत्तद्घटप्रागभावध्वंसवत्त्वं तद्घटोत्पत्तिव्याप्यमित्यपि वक्तुं युक्तम्, गौरवात्, क्षणविशेषे व्याप्तिविश्रामाच्च॥ द्रव्यपर्यायात्मेति (१२) प्राक्तनपर्यायेषु मृद्द्रव्ये च घटप्रागभावत्वं व्यासज्यवृत्तीत्यर्थः, प्रत्येकावृत्तेः समुदायावृत्तित्वनियमात् प्रागभावत्वस्य प्रत्येकवृत्तित्वध्रौव्ये तदादाय दूषणमाह 'नैवमप्युभयेत्यादि' (१३)॥ न च पर्याप्तिसम्बन्धावच्छिन्नावच्छेदकताकतद्घटप्रागभावत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकतद्घटप्रागभावाभावस्य तद्घटोत्पत्तिव्याप्यत्वान्नायं दोष इति वाच्यम्। एवं सति घटप्रागभावत्ववत् घटत्वघटध्वंसत्वादेरपि द्रव्यपर्यायोभयपर्याप्तत्वापत्तेरतीन्द्रियवृत्तित्वेनाप्रत्यक्षत्वापत्तेश्च, एतेन विशिष्टद्रव्यप्रागभाववादोऽपि निरस्तः।

विशेषणाननुगमेनानुगतव्यवहारासम्भवाच्च। तदिदमाह न च गत्यन्तरमस्तीति (१४) ॥ उपसंहरति 'ततो नेति' (१४) ततो द्रव्यपर्यायात्मत्वाभावान्न भावस्वभावः प्रागभावः (१४) ॥ ' हेत्वन्तरमाह–भावविलक्षणत्वादिति भाववैधर्म्यादित्यर्थः, तत्र हेतुमाह–भाव(पदार्थ)विशेषणत्वसिद्धेरिति नियमतो भावविशेषणतया प्रतीयमानत्वादित्यर्थः। अन्ये नैयायिका एवं ब्रुवते, तान् दूषयति–तेऽपीति ' (१४५–१–१) प्राग् नासीद् घट इति (२) प्रागभावप्रतियोगित्वप्रकारकघटविशेष्यकप्रत्यक्षमित्यर्थः। एतेन प्रागभावप्रतियोगिनोऽनागतस्य भानार्थं सामान्यलक्षणप्रत्यासत्तिकल्पनं प्राचां नैयायिकानामपास्तम्। घटविशेष्यकप्रागभावप्रतियोगिकत्वप्रकारकप्रत्यक्षोपगमे दोषाभावात्, विद्युदादाविवात्र विनश्यदवस्थविषयकप्रत्यक्षस्य सविकल्पकस्य निर्विकल्पकक्रमेण सामग्रीविशेषादेवमेव वा स्वीकर्तुं शक्यत्वात्। प्रतियोगित्वस्यापि प्रतियोगिस्वरूपस्य योग्यत्वादुत्पत्तिक्षणस्य तथाभिव्यञ्जकत्वेनानतिप्रसङ्गाच्च, यैरपि चरमकारणसामग्रीव्यङ्ग्यत्वं प्रागभावस्य प्रतिपाद्यते, तैरपि यादृशकारणकलापानन्तरं कार्योत्पादो दृष्टस्तादृशबुद्धेरेव व्यञ्जकत्वमुपेयमुक्तसामग्र्याः स्वरूपसत्याः स्वरूपेण ज्ञाताया वा व्यञ्जकत्वेऽतिप्रसङ्गाद्, व्याप्यत्वेन ज्ञातायास्तत्त्वोक्तौ प्रागभावानुमितेरेवोपपत्तेः, तत्प्रत्यक्षानवकाशात्, तद्वरमुत्पत्तिक्षणस्यैव प्रागभावप्रतियोगित्वेन घटप्रत्यक्षजनकत्वं कल्पनीयमिति, विषयसन्निकर्षादेः कार्यसहभावेन हेतुत्वे चरमसामग्रीकाल एव प्रागभावप्रत्यक्षोपगमे तु प्राग् नासीद् घट इति कथमप्युपपादयितुमशक्यम्। तदा घटप्रागभाव आसीदित्यर्थस्याप्यनुपपत्तेः, तदा भविष्यतीत्याकारप्रत्यक्षं च शिरोमणिनैव दूषितम्, "भविष्यत्वं हि न वर्त्तमानप्रागभावप्रतियोगित्वम्, श्वो भाविन्यद्य भविष्यतीतिप्रत्ययप्रसङ्गात्। किन्तूत्पत्स्यते भविष्यतीत्यादेः समानार्थकत्वात् वर्त्तमानप्रागभावप्रतियो-

ग्युत्पत्तिकत्वं वर्त्तमानकालोत्तरकालोत्पत्तिकत्वं वा,न चेदमध्यक्षमुत्पत्तेरतीन्द्रियत्वादित्यादिना,"इत्यनुमानमिति।(३) यद्यपि प्रागभावग्राहकं प्राग् नासीद् घट इति प्रत्यक्षमेव पक्षीकृतमुपपद्यते तथापि तस्य भावाभावविषयत्वसंशये उक्तानुमानाश्रयणमिति तात्पर्यम्। चरमसामग्र्या हेतुना प्रागभावोऽनुमीयत एवेति केचित्, तदसत्, अनुयोगिताविशेषरूपप्रागभावत्वादेः क्वचिदप्रतीतौ ताद्रूप्येणानुमानासम्भवादिति दीधितिकारः, प्राग् नासीदिति प्रत्यक्षमुत्पद्यमानघटाकारपरिणतमृद्द्रव्यविषयमेव, प्रागभावादेरभावस्याधिकरणस्वरूपस्यैव स्वीकारान्नास्तीतिप्रत्ययबलेनातिरिक्ताभावस्वीकारेऽभावेऽप्यभावान्तरापत्तावनिष्टप्रसङ्गादित्याशयवानाहेति चेत्, नेत्यादि। उपचरिताभावविषय (५) इत्यभावप्रतियोगिकाभावाधिकरणकाभावस्याधिकरणानतिरेकादित्यर्थः। नह्युपचरितेनाभावेनेत्यादि (६) त्वन्मत इति शेषः। अस्मन्मते त्वधिकरणात्मकाभावेनैव सर्वत्रोपपत्तेर्नानाधिकरणस्वरूपत्वेऽपि गौरवाभावादतिरिक्ताभावकल्पनानर्थक्यमिष्टमेव, त्वया नानाधिकरणेष्वभावस्य तादात्म्यातिरिक्तः सम्बन्धः कल्पनीयः, मया तु तादात्म्यमिति तवैव गौरवात्। हेत्वन्तरबीजमुपन्यस्य दूषयति–यदप्युक्तमित्यादिना (६)॥ सामर्थ्यादिति (१०) अभिलापाभावेऽपि विशिष्टज्ञानसामग्रीबललभ्यत्वादित्यर्थः। एतद् गुणादावपि तुल्यमित्याह–'तद्विशेष्यस्येति' (१०) सविकल्पकनिर्विकल्पकत्वानेकान्तस्तु भावित एव प्राक्। अतिरिक्तोऽपि प्रागभावो लाघवादेक एव कल्पनीयः प्रतियोगिभेदेनाभावभेदे मानाभावादिति पक्षं परिगृह्य तस्यानादिसान्तत्वं दूषयितुमुपक्रमते–किञ्च प्रागभाव (११) इत्यादिना, अनन्ताः प्रागभावा इति पक्षमुपन्यस्य दूषयति–'यावन्तीत्यादि'(१४) स्वतन्त्रा (१४५–२–१) अन्यानाश्रिताः, भावतन्त्रा (२) भावाश्रिताः, कालादिवदिति कालाकाशदिगादीनां हि स्वतन्त्राणां भावत्वं

तद्वत् स्वतन्त्रत्वे प्रागभावस्य भावत्वं स्यादिति भावः । न चानुत्पन्न इत्यादि (४) ॥ अत्रेदं चिन्त्यम्, अनुत्पन्नः प्रध्वस्तो वा प्रागभावस्य ध्वंसस्य च नाश्रयोऽभ्युपगम्यते, किन्तु प्रतियोग्येवेत्यनभ्युपगतोपालम्भोऽयम्, प्रतियोगित्वं च तयोः स्वरूपसम्बन्धविशेषरूपं ज्ञानविषयतावदेवोपपद्यत इति । 'यदि पुनरेक एवेति' (५) देशकालयोर्विशेष्यहेतुत्वेनानतिप्रसङ्गात् तत्कार्यनियमाय तत्तत्प्रागभावो न कल्पनीयः, किन्तु व्यवहारार्थम्, स चैकत्वेऽपि विशेषणभेदाद्भिन्नत्वोपचारेण निर्वहतीत्यर्थः । कार्यस्यैवेति (७) पूर्वकालावच्छिन्नप्रतियोगितया घटविशिष्टोऽभावो घटप्रागभावः १ । उत्तरकालावच्छिन्नप्रतियोगितया तादृशः स घटध्वंसः २ । तादात्म्यावच्छिन्नप्रतियोगितया तादृशः स इतरेतराभावः ३ । तादात्म्येतरसंसर्गावच्छिन्नप्रतियोगितया तादृशः सोऽत्यन्ताभाव इत्यर्थः ४ । प्रत्ययभेदस्यापि तथोपपत्तेरिति (८) न चैवं स्नेहप्रतियोगिकाभावस्यैव गन्धप्रतियोगिकत्वात् पृथिव्यां न स्नेह इति वत्र गन्ध इति व्यवहारापत्तिरिति वाच्यम् । विशिष्टाधारताभेदस्वीकारेणोपपत्तेः, तत्र स्नेहप्रतियोगिकत्वविशिष्टाभावत्वावच्छिन्नाधारतासत्त्वेऽपि गन्धप्रतियोगिकत्वविशिष्टाभावत्वावच्छिन्नाधारताभावात्, समवायैकत्ववादेऽपि रूपवन्नीरूपत्वादिविविक्तव्यवहारस्येत्थमेवोपपत्तेः, सत्तैकत्वप्रतिबन्द्याऽभावैकत्वं सिद्ध्यतीति दृष्टान्तद्वारेणाह-सत्तैकत्वेऽपीत्यादिना (८) ॥ न तु सत्तेति (१२) विशेषणभेदेन विशिष्टसत्ताभेदात्तदाधारताभेदाद्वा प्रतिनियतभेद व्यवहारोपपत्तेरित्यर्थः । इयमेव रीतिरभावेऽप्यनुसर्त्तव्येत्याह तर्हि तत एवेति (१२) अस्त्वेवमेक एवाभावस्तत्राह- न चैकोप्यभाव इत्यादि(१२) ॥ द्रव्यादीत्यादि (१४६–१–१) यथा वैशेषिको लोको द्रव्यादिषट्पदार्थविकल्पमात्राद्रव्यादिव्यवहार प्रवर्त्तयति, यथा वा प्रमाणादिषोडशपदार्थवादी नैयायिकः, प्रकृतिमहदादिपञ्चविंशतिपदार्थवादी साङ्ख्यः,

रूपादिस्कन्धपञ्चकवादी सौगतश्च तत्तद्विकल्पात्तत्तद्व्यवहारं प्रवर्त्तयति–तथा गतानुगतिको लोको विषयनिरपेक्षमेव विकल्पमात्रात् प्रागभावादिव्यवहारमित्यर्थः। ततो नेत्यादि (१४६–१–२) प्रमाणेन न प्रतीयत इत्यर्थः। असत्ख्यात्या प्रतीयमानस्त्वयं शशविषाणवान्ध्येयसौभ्रात्रपात्रतामनुभवतीति हृदयम्। न पुनः साङ्ख्योऽन्यो वेति (३) साङ्ख्यः कापिलो, यौगादिरन्यः, साङ्ख्यस्यानुपालम्भपात्रत्वे हेतुमाह–तस्येति, उपचरितकार्यद्रव्याभ्युपगममधिकृत्याह–'तिरोभावेत्यादि (३) भावस्वभावेत्यादि' (३) तथा च न, साङ्ख्यस्य सर्वथा प्रागभावापह्नवोऽसत्ख्यातिविषयतोपगमस्यैव तदर्थत्वादिति भावः। अन्यस्य यौगादेरनुपालम्भपात्रत्वे तु व्यक्त्या प्रागभावस्वीकार एव हेतुर्द्रष्टव्यः, तैरपीति (७) स्याद्वादिभिरपीत्यर्थः। अपिना नैयायिकैकदेशिभिरपि तन्निराकरणं सूच्यते, तथा च दीधितिकृन्मतानुसारिणः, ननु प्रागभावे किं मानं? न तावत् प्रत्यक्षम्, असिद्धेः। घटो भविष्यतीत्यादिप्रत्ययस्य वर्त्तमानकालानन्तरकालोत्पत्तिकत्वविषयत्वात्, नाप्यनुमानम्, अप्रयोजकत्वात्, न च घटादिकार्यधारावारणाय प्रागभावसिद्धिः, कार्यद्रव्यत्वावच्छिन्ने समवायेन द्रव्यत्वावच्छिन्नाभावस्य हेतुत्वेनैव तद्वारणात्, न चाव्याप्यवृत्तेः कार्यस्य द्वितीयक्षणे उत्पत्त्यापत्तिः, समानावच्छेदकतया तत्र भावस्य हेतुत्वात्, न च संयोगादेः प्रदेशनियमः स्वभावाधीनात्तत्प्रागभावप्रादेशिकत्वादिति प्रागभावसिद्धिः, तत्तद्देशादिहेतुत्वेनैव तन्नियमात्, न च तथापि निर्विकल्पकस्य चतुर्थक्षणे उत्पत्तिवारणाय तत्रोत्तरज्ञानाभावस्य कारणत्वं वक्तव्यम्, तथा च लाघवात्प्रागभावस्य तत्त्वमुचितमिति वाच्यम्, तन्निर्विकल्पककालोत्पत्तिकध्वंसव्यक्त्यादेरेव तत्र प्रतिबन्धकत्वादखण्डतदभावस्य च तद्धेतुत्वाद्वस्तुतो निर्विकल्पकत्वस्य कार्यतानवच्छेदकत्वात्तादृशप्रत्यक्षसामग्रीसत्त्वे तादृशप्रत्यक्षोत्पादनियमान्निर्विकल्पकापत्तिरेव

दुर्घटा, सामग्र्याः कार्यतावच्छेदकावच्छिन्नव्याप्यताया एव स्वीकारात् । अथ तथापि शततन्तुषु भाविनः पटस्य द्विचतुरादितन्तुषु संयुक्तेषूत्पत्तिः स्यात्, सामग्रीसत्त्वात्, न च प्रागभावस्यापि सत्त्वात्तत्रापि तदनुत्पत्तिर्दुर्घटा, तत्प्रागभावव्याप्ययावत्संयोगत्वेन हेतुत्वादिति चेत्, न, कतिपयसंयोगेष्वतीतेष्वनागतेषु वा तत्पटानुत्पत्तिप्रसङ्गाच्चतत्पटव्याप्ययावत्संयोगत्वेनैव हेतुत्वसम्भवाच्च, वस्तुतः सामग्र्याः कार्यतावच्छेदकावच्छिन्नोत्पत्तिव्याप्यताया एवोपगमात्तदा द्विचतुरादितन्तुकपटस्यैवोत्पत्तेः शततन्तुकपटस्यापादकाभावो व्यक्तिस्थानीयापत्तिविरहात्, तर्हि तत्पटत्वावच्छिन्ने किं नियामकम्, सामान्यतः क्लृप्तकारणताकतत्तत्तन्तुतत्तत्संयोगादितादृशनियामकत्वमेव हेतुत्वमिति चेत्, तर्हि प्रागभावस्वीकारेऽपि तत्त्वं दुर्वारम्, तद्रूपेण तदान्यथासिद्धत्वमिति चेत्, तदेति विफलम्, तर्हि जन्यसत्त्वेन सत्त्वेन हेतुहेतुमद्भावेनैव निर्वाहोऽस्त्विति चेत्, न । तन्तुत्वादिना कारणत्वबुद्धिव्यपदेशयोरप्रामाण्यापत्तेश्च, किमाकस्मिकत्वं तदवच्छिन्नसामग्र्यनिश्चये एतावत्सत्त्वेऽवश्यं पटोत्पत्तिरित्यनिश्चयः, इत्थं च प्रवृत्तिरपि दुर्घटा । तादृशनिश्चय एव कृतिसाध्यताधीसम्भवात्, तत्पटत्वावच्छिन्नस्याकस्मिकत्वं त्विष्टम्, तद्धर्मावच्छिन्नसामग्रीसत्त्वेऽपि तथानिश्चयायोगात् तद्धर्मावच्छिन्ने प्रवृत्त्यभावाच्च, किञ्च विशेषान्वयव्यतिरेकाभ्यां सामान्यव्यभिचारानिर्णयानुगतागुरुविशेषान्तरानुपस्थितिलाघवादिप्रतिसन्धानवशात् सामान्यत एव हेतुहेतुमद्भावग्रहात् ग्राहकाभावादेव न विशेषकार्यकारणभावसिद्धिः । व्यक्तिस्थानीयापत्तिसत्त्वेऽपि च तदा शततन्तुकानुत्पत्तिर्विशिष्टचरमसंयोगहेतुत्वादेवोपपद्यते । अथास्तु कालनियमश्चरमसंयोगहेतुत्वात्तथापि देशनियमाय प्रागभावसिद्धिः, शतस्य तन्तूनां तत्तत्संयोगानां च विशिष्य तद्धेतुत्वे गौरवाद् व्यभिचाराच्च तत्प्रागभावस्यैव लाघवात्तत्पटहेतुत्वात्, किञ्च यत्र शत-

तन्तुकपटस्य मध्येऽवयवसंयोगनाशात्पश्चाशत्तन्तुकपटद्वयोत्पत्तिस्तत्र तयोः कालनियमस्य शततन्तुकनाशहेतुत्वेनैव सिद्धौ देशनियमाय प्रागभावसिद्धिरिति चेत्, न। तत्र चरमसंयोगशततन्तुकनाशयोः स्वसमानाधिकरणान्यतमत्वविशेषसंसर्गेण हेतुत्वादेव देशनियमस्यापि सम्भवात्। न च यत्र युगपदुत्पन्नैः शततन्तुसंयोगैः पट आरभ्यते तत्र चरमसंयोगानामपि तत्त्वतत्त्वेन हेतुत्वे गौरवात् प्रागभावसिद्धिः, तत्रापि तावत्संयोगमात्रवृत्तिजात्या द्रव्यारम्भकतावच्छेदकजात्यैव वा तत्कालावच्छिन्नान्यतमत्वसंसर्गेण हेतुत्वात् । न च बुद्धिविशेषेण विनिगमकाभावः, तस्य प्रत्यक्षशब्दादिरूपतया निर्णयाभावान्निश्चिताव्यभिचारकस्य संयोगस्यैव हेतुत्वात् । स्यादेतद्, व्यक्तिस्थानीयापत्तिसत्त्वे बहूनां तन्तूनां युगपदुत्पन्नानन्तसंयोगादुत्पन्नपटस्य नानासंयोगनाशान्नश्यतः पुनस्तेषामेव तन्तूनां संयोगान्तरात्पटान्तरोत्पत्तिकाले उत्पत्तिवारणाय प्रागभावसिद्धिः, उत्तरपटस्तु प्राग् नोत्पद्यते पूर्वपटध्वंसस्यापि तद्धेतुत्वात् । न च प्राक्तनपटे बहुत्वविशेषस्य हेतुत्वान्न दोषो नव्यनये तद्बहुत्वस्याग्रेऽपि सत्त्वादीदृशानन्तप्राक्तनपटोत्पत्तिवारणाय कार्यत्वावच्छिन्ने प्रागभावत्वेन हेतुत्वस्यैकस्यैवोचितत्वात्, आकाशाद्युदासीनमादाय बहुत्वस्य हेतुतापत्तेश्चेति चेत्, न, ईश्वरीयोपादानप्रत्यक्षादेस्तत्कालावच्छिन्नतद्घटावच्छिन्नविशेष्यतया हेतुत्वेऽनुपपत्त्यभावात् ॥ वस्तुतस्तत्कालावच्छिन्नतत्तत्पटहेतुतत्तत्संयोगाभावकूटात्यन्ताभाव एक एव कालदेशनियामक इति नूतनः पन्था इति दिग् ॥ अत्र तत्कालावच्छिन्नतद्देशस्वरूपायास्तथाभव्यताया एव तत्कार्यदेशकालनियामकत्वम्, न च विनिगमकाभावः, सामानाधिकरण्यप्रत्यासत्तेर्विनिगमकत्वादित्यस्मदीयाः ॥ प्रागभावतत्प्रागभावादेस्त्वित्ति (९) घटस्य प्रागभावः कुशूलं तस्य कोशस्तस्य स्थासस्तस्यापि मृत्पिण्ड एवं परमाणौ विश्रान्तिः, तत्परम्परानाधारघटप्रध्वंसप-

रम्परानाधारकालत्वस्य घटव्याप्यत्वाच्च, न घटरहितकाले घटवत्त्वम्, घटप्रागभावध्वंसवत्त्वमेव घटवत्त्वमिति तु विसभागसन्तत्यनुगतत्वान्नाद्रियत इति ऋजुसूत्रोपजीवीव्यवहारानुसृतः पन्थाः ॥ तत्र (१०) पूर्वपूर्वपरिणामसन्ततौ, **अस्य** (१०) प्रागभावस्य, **दूषणावतारः** (१०) पूर्वोत्तरपर्यायाणां घटात्मकत्वप्रसङ्गरूपः, **सन्तानत्वाभिप्रायादिति** (१२) अगृहीतभेदपूर्वपूर्वक्षणैरेवैकत्वानादित्वादिव्यवहारोपपत्तेरित्यर्थः । नन्वेवं सन्तानस्य साम्वृतत्वात् साम्वृतमेव प्रागभावैकत्वानादित्वादि स्यादित्यत्रेष्टापत्तिमाह—**सन्तानिक्षणापेक्षया त्विति** (१२) पूर्वपूर्वक्षणानां घटप्रागभावत्वेऽपि यावत्तन्निवृत्तेर्घटोत्पत्तिव्याप्यत्वान्न दोष इत्याह—**तथाऽस्मिन् पक्ष** (१३) इत्यादि, **पूर्वकालविशिष्टस्येति** न च पूर्वपदार्थस्य प्रागभावगर्भत्वे आत्माश्रयः, घटतद्ध्वंसानाधारार्थत्वे च ध्वंसलक्षणेऽप्युत्तरकालपदार्थस्य प्रागभावगर्भत्वेऽन्योन्याश्रय इति वाच्यम् । कालविशेषावच्छिन्नस्वरूपसम्बन्धेन मृद्द्रव्यादेव प्रागभावव्यवहारोपपत्तेः, सम्बन्धस्य च प्रागनुपस्थितस्यैव संसर्गतया सर्वैरुपगमात्, हन्तैवं कालविशेषघटितसम्बन्धेन मृदादिद्रव्यादेव घटादिव्यवहारोपपत्तौ घटादिद्रव्यमपि नातिरिच्येत, न चेत्थमिष्टापत्तिः कर्तुं युज्यते, व्यवहारनयवादिनोऽतिसूक्ष्मेक्षिकायां परमाणुविश्रान्तौ तस्यापि सत्यासत्यत्वचिन्तायां सदद्वैतसिद्धौ सङ्ग्रहनयसाम्राज्यापत्तेरिति चेत्, न, मृदादिद्रव्याद् घटादिद्रव्यस्य प्रत्यभिज्ञानादिना किञ्चित्कालस्थायित्वेन सिद्धस्य पृथगनुभूयमानत्वेन तन्मात्रत्वाकल्पनात्, प्रागभावादेस्तु तथा पृथगननुभूयमानत्वेनाधारमात्रस्वरूपत्वकल्पनात्, इत्थमेव व्यवहारनयप्रवृत्तेः, घटादिद्रव्ये आधारभिन्नत्वमुद्भूतमभावपर्याये तु तदभिन्नत्वं तथेति विवेकः ॥ **'तस्य चेति'** (१४६–२–४) कालविशेषविशिष्टमृदादिद्रव्यरूपत्वे घटादिप्रागभावस्य कार्योत्पत्तौ विशिष्टध्वंसो द्रष्टव्यः । कालविशेषघटितसम्बन्धेन मृदा-

दिद्रव्यरूपत्वे च सम्बन्धविशेषावच्छिन्नप्रतियोगिताकः स इति तत्त्वम् । **पर्यायरूपतयापीति** (६) नानाक्षणानुगतस्य प्रागभावपर्यायस्यैकस्यापि कल्पनादित्यर्थः । यद्यप्यनुगतगुणपर्यायाधारतया प्रत्यभिज्ञानविषयतया च न तदेकत्वं सिद्ध्यति, तथापि घटादौ घटप्रागभावादेरेकस्यैव हेतुत्वे लाघवात्तस्यैकत्वसिद्धिरिति परमार्थः । अनेकत्वेऽपि कथञ्चिदेकत्वं स्याद्वादद्दष्टावविरुद्धमेव शरीरादिदृष्टान्तेन तद्वक्ष्यति, **स चैकानेकस्वभाव इत्यादि** (८) ॥ **कारणस्येति** (१२) नहि कपालमालारूपघटकार्यनाशे घटकारणं जायते, विपरीतव्याप्तेरभावात्, न च तदभावे घटोत्पत्तिरापादयितुं शक्यत इत्यर्थः । **मृदादिद्रव्यमिति** (१४७-१-२) घटप्रध्वंसे व्यवहारहेतुता तु न घटोत्तरकालवृत्तिघटाकारविकलघटद्रव्यत्वेन, उत्तरत्वस्य ध्वंसगर्भतयात्माश्रयादिदोषापत्तेः, किन्तु स्वोत्तरकालवृत्तित्वस्वाकारविकलत्वस्वद्रव्यत्वैतत्त्रितयसम्बन्धेन घटविशिष्टत्वेन स्वोत्तरकालावच्छिन्नत्वपरिचायितस्वद्रव्यत्वसम्बन्धेन तद्घटविशिष्टमृदादित्वेन वेति बोध्यम् । प्रमाणार्पणया तु प्रध्वंसो द्रव्यपर्यायात्मैकानेकस्वभावश्चेति प्राग्वदेव द्रष्टव्यम् । **कार्यद्रव्यं तदापादनीयमिति** (८) पुरुषव्यापारनान्तरीयकत्वेन घटादेः कार्यद्रव्यत्वं साधनीयमित्यर्थः । ततश्च प्रागभावाप्रतियोगित्वेन तस्यानादित्वमापादनीयम् । घटादिकार्यद्रव्यं यदि प्रागभावाप्रतियोगि स्यादनादि स्यादित्येवमिति बोध्यम् । तदाह–' **तच्चेत्यादि** ' कार्यत्वानादित्वयोरुभयोरापादने तु प्रागभावनिह्नवस्य न कथमपि सामर्थ्यमित्येवं व्याख्यातम् । ' **आपाद्यस्यापीति** ' (९) स्वतन्त्रानुमानवत् प्रसङ्गापादनस्यापि प्रतिवादिदूषकत्वसामर्थ्यादिति बोध्यम् । **अतिदिशति एतेनेति** (९) ॥ **तस्य विरुद्धत्वादिति** (१२) शब्दोऽभिव्यक्तेः प्राक् सन् स एवायमिति प्रत्यभिज्ञायमानत्वादित्यत्र सर्वथा प्राक् सत्ताया एव साध्यत्वा-

तद्विपरीतेन कथञ्चित् सत्त्वेन च हेतोर्व्याप्तत्वात् सर्वथाऽसतोऽपरिणामित्वे पूर्वोत्तरकालकोटिपर्यायस्पर्शासम्भवादित्यर्थः । सांख्यमतेऽप्येतदतिदिशति । 'एतेनेति' (१४) अभिव्यक्तिप्रागभावाङ्गीकारे शब्दप्रागभावस्त्यागानर्ह इत्याह–' कल्पयित्वाऽपीति (१४)' ऐतिह्यकृतविशेषमाह–'ननु चेत्यादि' (१४७–२–१) अभिव्यक्तेः शब्दपुरुषश्रोत्रभेदाभेदविकल्पासहत्वात्तं दूषयति शब्दादभिन्नाया इत्यादिना (२) स्वरुचिविरचितदर्शनमात्रमित्यन्तेन (१४८–१–३) ग्रन्थेन ॥ इच्छामात्रेण कार्यस्यापिशब्दस्याभिव्यङ्ग्यत्वाभ्युपगमे घटादावपि तत्प्रसक्त्या सांख्य एव विजयेतेत्याह एवं हीति (३) नन्वस्तु सर्वत्र व्यङ्ग्यत्वपक्ष एव साङ्ख्यानां शब्दे च मीमांसकानां, न च व्यङ्ग्यत्वपक्षे घटप्रत्यक्षत्वं कप्रत्यक्षत्वं च दण्डादेर्विजातीयनिमित्तपवनसंयोगादेश्च जन्यतावच्छेदकं वाच्यम्, कार्यत्वपक्षे च घटत्वं कत्वं चेति तत्र लाघवमिति वाच्यम् । व्यङ्ग्यत्वपक्षेऽपि घटत्वकत्वादेर्लौकिकविषयितया जन्यतावच्छेदकत्वे लाघवानपायात् । न च द्रव्यत्वशब्दत्वादिप्रकारकप्रत्यक्षे व्यभिचारः । स्वाश्रयविषयितायाः कार्यतावच्छेदकतावच्छेदकसम्बन्धत्वे दोषाभावादित्याशङ्कायामाह भाष्यकृत्–न हि व्यञ्जकव्यापृतिर्नियमेन व्यङ्ग्यं सन्निधापयतीति (५) तथा च ताल्वादिव्यापारान्नियमेन शब्दसन्निधानान्न स तद्व्यङ्ग्यः, किन्तु तत्कार्य इत्यर्थः । व्यङ्ग्यत्वेऽपि ताल्वादिव्यापारेण सन्निधानं शब्दस्य सर्वगतत्वाद्भविष्यतीति मीमांसक आशङ्कते–नायं दोष इत्यादि (६) ॥ घटादावतिप्रसङ्गेन तद्दूषयति अन्यत्रापीति (७) कपिलमते इष्टापत्तौ कारणव्यापारसन्निधानेन सदा कार्याविर्भावप्रसङ्गदूषणमाह–इष्टत्वादित्यादिना (७) व्यापारस्य व्यापारिणो भेदाभेदयोर्यो दोषस्तमवस्थाया अप्यवस्थावतस्तयोरतिदिशति । एतेनावस्था प्रत्युक्तेत्यादि, (१४८–२–१) परिणामेऽप्येनमतिदेशमाह–परि-

णामेऽप्येष पर्यनुयोगस्तुल्य इति (१४८–२–२) अवस्था कालकृतो विशेषः, परिणामस्तु सत एव प्रदेशपरिणामादिनान्यथाभाव इति विशेषः। तस्य (५) प्रधानस्य, तत्कार्यत्वेन (५) उपकारकार्यत्वेन, उपकार्यत्वस्य कार्यत्वविशेषत्वादित्यर्थः। भाष्ये 'सर्वसमानमिति' (५) परिणामभेदाभेदपक्षदूषणमित्यर्थः, तदाह वृत्तिकृत्। 'यावन्तो हीत्यादि' (६)॥ तस्यामिति ( ) तस्यां (८) प्रधानस्योपकाराणां वाऽनवस्थायाम्, भोग्यस्य प्रकृतिमहदादेरभावे, पुंसो भोक्तृत्वाभावादभावः स्यात् (८)। तस्य (९) भोक्तृत्वस्य, तल्लक्षणत्वात् (९) भोग्यसद्भावनियतत्वात्, अवस्थानाभावात् (९) स्वरूपासिद्धेः। तर्हि तस्य कारणादात्मलाभोऽभ्युपगन्तव्य इति (१४९–१–३), तस्याविर्भावस्य, न चेदेवं तदाविर्भावस्य नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा स्यादित्यर्थः। आत्मलाभे (४) उत्पत्तौ, तदेवं सांख्यमतस्यायुक्तत्वात् शब्दव्यङ्ग्यत्वसमर्थनाय तदनुसरणं मीमांसकस्य न न्याय्यमित्युपसंहरति 'ततो नेत्यादि' (७)॥ किं कृतमश्रवणमिति (८) शब्दत त्सन्निकर्षादेः श्रावणकारणस्याखण्डस्य सत्त्वादित्यर्थः। 'तिरोधायकस्येत्यादि (९)' प्रौढिवादोऽयम्॥ वस्तुतः शब्दश्रावणप्रतिबन्धकवायुविशेषकल्पनागौरवमेव दूषणं बोध्यम्। किञ्चैवं कत्वखत्वादिप्रकारकप्रत्यक्षप्रतिबन्धकतावच्छेदिका अपि जातयो वायुसंयोगेषु कल्पनीयास्ताश्च परस्परं कोलाहलस्थलीयवायुसंयोगे संकीर्यन्ते, तदा कत्वाद्येकतरप्रकारकप्रत्यक्षस्याप्यभावादिति जातिरूपो विशेषो दुर्वचः, तत्तद्वायूनामन्यतमत्वादिना प्रतिबन्धकत्वे चोदासीनप्रवेशाप्रवेशाभ्यां विनिगमनाविरह इति न किञ्चिदेतत्। ननु कोलाहले कत्वादिग्रहवारणाय दोषाभावानां कत्वादिप्रत्यक्षे हेतुत्वमपेक्ष्य विजातीयनिमित्तपवनसंयोगहेतुत्वमेव ज्यायः। तथा च विनाशानभ्युपगमेऽपि शब्दस्य विजातीयनिमित्तपवनसंयोगाभावकृतमश्रवणं भविष्यतीति नानुपपत्तिः, प्रत्युत शब्दप्रागभावध्वं-

साकल्पनलाघवेनोपपत्तिरेवेत्याशंक्याह–'ननु चेत्यादि' (१३) तदश्रुतिरपीत्यत्र नैकान्तत इति योजनीयम्। तद्विकले सम्भवादिति ( ) सहकारिकारणविकलेऽश्रुतेः सम्भवादित्यर्थः। तर्हि किमयमित्यादि (१४)॥ योग्यशब्दसत्त्वे इन्द्रियमनोव्यापारसाद्गुण्ये तत् प्रत्यक्षं स्यादेव निमित्तपवनसंयोगस्य घ्राणसन्निधानमात्रेण गन्ध इव शब्दे कर्णसन्निधानमात्रेणोपकारित्वात् विशिष्य शब्दप्रत्यक्षहेतुत्वे मानाभावादित्यर्थः। अत एवात्र नैयायिको मीमांसकं पर्यनुयुङ्क्ते, त्वया चैत्रादेः स्वीयमैत्रशुकादिककारादेः प्रत्यक्षे चैत्रादिकर्णावच्छिन्नानां विजातीयसंयोगानां कारणत्वं वाच्यमित्यतिगौरवं मम त्ववच्छेदकतया चैत्रादिककारादौ विजातीयवायुसंयोगो हेतुस्तत्पुरुषीयनिखिलशब्दप्रत्यक्षे च तत्पुरुषीयकर्णावच्छिन्नसमवाय इति कथं न लाघवमिति, अस्मन्मते तु बाह्यो वायुः प्रापको नतु कारको व्यञ्जको वेति तदुपनीतशब्दस्य श्रोत्रेण संयोगप्रत्यासत्त्यैव ग्रहणाच्छब्दविषयकश्रावणे श्रोत्रसंयोगत्वेनैकहेतुतयैव सकलोपपत्तावतिलाघवमिति श्रद्धेयम्। असामर्थ्यखण्डनेऽसामर्थ्यस्य व्यतिरेकाव्यतिरेकचर्चस्तु परिणामचर्चवत्प्राग्वदेव प्राचीनप्रणयानुरोधिभिरनुसन्धेयः। वर्णानां नित्यत्वसर्वगतत्वाभ्युपगमे सङ्कुला श्रुतिः स्यात् क्रमश्रुतिश्च विरुद्ध्येत। कार्यत्वे तुवक्तृश्रोतृविज्ञानयोः क्रमवृत्त्यपेक्षया क्रमोत्पत्तिप्रतिपत्त्योरविरोध इत्याह–किञ्च वर्णा इत्यादिना (१४९–२–५)ततः क्रमोत्पत्तिप्रतिपत्त्योरन्यथानुपपत्त्या न सर्वगता वर्णा नापि नित्या इत्यन्तेन॥ (१५०–१–५) ननु चैत्रादिककारादिप्रत्यक्षे विजातीयनिमित्तपवनसंयोगहेतुत्वान्नानुपपत्तिरिति चेत्, न, उक्तोत्तरत्वात्, किञ्च शब्दस्याकार्यत्वपक्षे तत्र चैत्रीयत्वादेरेवासिद्धिः, चैत्रजन्यत्वमेव हि चैत्रीयत्वं स्वाश्रयजन्यताविशेषसम्बन्धेन चैत्रत्वमेव वा, एवं च शब्दविशेषाद्वक्तृविशेषानुमानोच्छेदप्रसङ्गः। न च चैत्रवृत्त्यभिव्यक्तिविषयत्वमेव चैत्रीयत्वं,

मैत्रशब्दस्यापि चैत्रकर्णगतस्य चैत्रेणाभिव्यक्तेः। न च चैत्रीयताल्वादिव्यापारजन्याभिव्यक्तिविषयत्वं तत्, शब्दत्वादावतिप्रसङ्गात्, नापि शब्दत्वे सतीतिविशेषणादनतिप्रसङ्गः, एतावदप्रतिसन्धानेऽपि चैत्रीयोऽयं शब्द इत्यनुभवात्, न चैवं चैत्रीयत्वं जातिरेव न तु चैत्रजन्यत्वादिकमपीति तद्विषयोऽनुभवो न शब्दकार्यत्वपक्षपातीति वाच्यम्। तादृशजातेरपि चैत्रजन्यतावच्छेदकतयैव सिद्धौ तस्य तथात्वादिति दिग्। नन्वनुमानाद्वर्णनित्यत्वं सेत्स्यतीत्याशङ्कते 'ननु चेत्यादि' (५) तद्दूषयति भाष्यकृत् 'क्षणिकेष्वेवेति (६)' नर्त्तक्याः कर्णाङ्गहारादिषु क्षणभङ्गुरेष्वेव तदेवेदं करणं स एवायमङ्गहार इति प्रत्यभिज्ञानदर्शनान्नित्यत्वविरुद्धक्षणिकत्वेन व्याप्तं प्रत्यभिज्ञानं नित्यत्वे साध्ये विरुद्धं सादृश्यदोषादनेकत्रैवैकत्वविषयकत्वेन तत् प्रवृत्तिनियमादित्यर्थः। ऋजुसूत्रनयमाश्रित्य चेदं मीमांसकं प्रति दूषणमिति स्याद्वादिनो नापसिद्धान्तो, नानानयमये भगवत्प्रवचने क्वचित् कस्यचिदाश्रयणे दोषाभावादिति मन्तव्यम्। दोषस्थलान्तरमाह-'एतेनेति' (६) क्षणिकाभिबुद्धिभिर्हेतोर्व्यभिचार इत्यर्थः, इत्यभिधानादिति (७) शास्त्रान्तर इति शेषः। विरुद्धत्वेऽपि व्यभिचाराभिधानं च दोषसाङ्कर्यसम्भवादविरुद्धम्, बुद्धिकर्मणोरप्येकत्वान्न विरुद्धत्वमित्याशङ्कते–'नन्विति' (७)॥ अतिप्रसङ्गान्नेदमुक्तं युक्तमिति परिहरति क्रियैकत्वेऽपीत्यादि (८)॥ शब्दानित्यत्वमुपसंहरति, तदयमिति (१३)॥ सर्ववर्णैकत्वनिरासादकारादिवर्णस्यैकत्वमपि नास्तीत्याह–'तदेवमिति (१३)॥' देशभेदः शुकसारिकाद्याश्रयभेदात्, स्वभावभेदश्च तारमन्दादिभेदाद्द्रष्टव्यः। 'युगपत्प्रतिनियतेति' (१५०–२–४) ननु तारत्वादयो वायुगता एवाकारादावारोप्यन्त इति न तेऽकारादिभेदकाः स्युरिति चेन्मैवं, एवं सत्यत्वादेरपि वायुधर्मत्वापत्तौ शब्दस्यैक्यप्रसङ्गात्तद्वदेव शब्दस्यापि वायुधर्मत्वापत्तौ शब्दमात्रस्य दत्तजलाञ्जलित्वप्रस-

ङ्गाच। अस्तु तर्हि तारमन्दशुकसारिकाचैत्रादिप्रभवभेदेनैव शब्दनानात्वं तारादिस्त्वकार एक एवेति चेत्तत्राह–स एवाय- मकार इतीत्यादि, (४)॥ 'नहीति' (६) नहि कथञ्चित्केनचित्माद्दश्येन क्वचित्पर्याये प्रत्यवमर्शे एकत्वप्रत्ययो न स्यात्, किन्तु स्यादेव, तथा च सर्वस्यैकत्वं स्याद्वर्णवदित्यर्थः। वर्णैकत्वे विशेपबुद्धेः प्रकारः कः स्यात्तत्राह–'तच्छेपेत्यादि' (६) तच्छेपविशेपा वर्णसम्बन्धिनोऽप्रधाना विशेपाः कल्पिता अकारादयस्तद्बुद्धेस्तद्वासनायाः, तदिदमङ्गहाराद्येकत्वेऽपि तुल्यमित्याह–'सर्वस्याङ्गहारादेरपीत्यादि' (६)॥ प्रयत्नानन्तरीयको प्रयत्नजन्यः, शब्दस्य कार्यत्वे पुद्गलपर्यायत्वे- नानिष्टापत्तिमाशङ्कते 'ननु शब्दस्येत्यादि' (९) ॥ आपाद्यापादकयोर्व्याप्यभावान्नेयमित्युत्तरयति नेत्यादिना (१०) उभयत्र दर्शनाभावप्रयोजकतौल्यमुपदर्शयति–गन्धपरमाणूनामित्यादिना (१०)॥ जात्याऽदृश्यत्वमनियतमिति पुनराश- ङ्क्य प्रतिबन्द्योत्तरयितुमाह–अथ मतमेतदित्यादिना (११) ॥ प्रतिबन्दिरनुत्तरमिति। महत्त्वसमानाधिकरणोद्भूतरूपा- भावमदृश्यत्वप्रयोजकमुभयत्र तुल्यवदुपदर्शयति–अथ तस्येत्यादिना, ( ) प्रसङ्गान्तरमपि गन्धद्रव्यदृष्टान्तेनैव निराक- रोति–शब्दपरमाणूनामित्यादिना (१५१–१–३), शब्दपरमाणुप्रतिघातोऽपीति (१४), कुड्यादिनास्त्येवेति पूर्वेण योजनीयम् । 'गन्धपरमाणूनामपीति' (१३) अत्राप्यागमनादीनामदृष्टानां परिकल्पनाप्रसङ्ग इति सम्बन्धनीयम्। शब्दपुद्गलानामपि (४) इत्यत्रापि प्रतिपत्तिविशेपान्यथानुपपत्त्येत्यादि प्राक्तनं योजनीयम्। नन्वेवं पुद्गलपर्यायत्वेन पौरु- पेयत्वेन च वर्णस्य नित्यत्वं माभूत्तदानुपूर्वी त्वपौरुपेयी नित्या भविष्यतीत्याद्याशङ्कते–'स्यादाकूतमिति' (१५१–२–४)॥ आनुपूर्व्या वर्णाव्यतिरिक्तत्वात्तस्या अपि न नित्यत्वमित्यभिप्रायवानाह–तदप्ययुक्तमिति (६)॥ एतेन वैयाकर-

णानां नित्यस्फोटवादोऽपि निरस्तः । आनुपूर्वीनिरासेन निष्कृष्टतद्रूपवाक्यस्फोटस्यापि निरासात्, अन्येषां तदभियुक्तैरप्यनादृतत्वात्, तथाहि—"स्फोटवादमपवादवर्जितं, सत्वरं प्रकटयिष्यता मया । शाब्दिकप्रणयकर्मकार्मणं, प्रक्रिया पटुधिया प्रदर्श्यते ॥१॥ वर्ण १ पद २ वाक्य ३ स्फोटाः, पदवाक्यगावखण्डौ ५ तौ । जातिस्फोटत्रयमित्यष्टौ स्फोटाः ८ स्मृतास्तदज्ञैः ॥ २॥ तत्र १ वर्णस्फोटः, पचति राम इत्यादि प्रयुज्यमाने साधुशब्देऽन्तर्गतानां तिव्विसर्गादीनां वाचकत्वादिना सिद्ध्यति, ये त्वाहुः प्रयोगान्तर्गतास्तिवादयो न वाचकास्तेषां बहुत्वेन शक्त्यानन्त्यापत्तेः, एधांचक्रे ब्रह्मेत्यादावादेशभूतलुगादेरभावरूपस्य बोधकत्वासम्भवाच्च । किन्तु तैः स्मृता लकारादयः स्वादयश्च वाचकाः, लत्वस्य जातिरूपतया शक्यतावच्छेदकत्वौचित्यादव्यभिचाराच्च, आदेशानां तु भिन्नतया परस्परव्यभिचारित्वात्, लः कर्मणीत्याद्यनुशासनानुगुण्याच्च, न ह्यादेशेष्वर्थबोधकमनुशासनमुपलभामह इति, तान् प्रत्युच्यते व्यवस्थातः प्रयोगान्तर्गता वाचका न तु स्मृताः, पचतीत्यादौ लकारमविदुषां बोधात्, न च तेषां तिङ्विषये शक्तिभ्रमाद्बोधः, तस्य भ्रमत्वे मानाभावात्, आदेशिनामपि तत्तद्वैयाकरणैः स्वेच्छानुरोधेन भिन्नभिन्नानामभ्युपगमात्, कः शक्तः को नेति व्यवस्थानापत्तेश्च, सर्वेषां शक्तत्वे गौरवव्यभिचारौ दुरुद्धरौ । आदेशानां प्रयोगान्तर्गततया नियतत्वात् युक्तं तेषां शक्तत्वं तथा चादेशिस्मरणकल्पना नेति लाघवं, व्यवहृतेरपि, व्यवहारस्तावच्छक्तिग्राहकेषु मुख्यः । स च श्रूयमाणतिङादिष्वेवेति त एव वाचका इत्यर्थः । तद्धेतुन्यायतोऽपि लकारस्य बोधकत्वे भूल इत्यतोऽपि बोधः स्यात्, तादृशबोधे पचतीति समभिव्याहारोऽपि कारणमिति चेत्, तर्ह्यावश्यकत्वादस्तु तादृशसमभिव्याहारस्यैव वाचकत्वशक्तिः, अन्यथा लकारस्य वाचकत्वं समभिव्याहारस्य

कारणत्वं चेत्युभयं कल्प्यमिति गौरवं स्यात् । तथा च तादृशवर्णसमभिव्याहारस्तादृशसमभिव्याहृता वर्णा वेत्यत्र विनिगमकाभावात् प्रयोगान्तर्गता वर्णा वाचकाः सिद्ध्यन्ति, कृत्तिङोः कर्तृभावनावाचकत्वव्यवस्थातोऽपि तेषां तत्त्वसिद्धिः, आदेशानां वाचकत्व एव हि तिङ्त्वेन भावनायामानत्वादिना कर्त्तरि शक्तिरित्युपपद्यते विभागः, न च शानजादौ कृतिर्लकारार्थः, आश्रयः शानजर्थ इत्यस्तु " कर्त्तरि कृत् " इत्यनुशासनादिति शङ्क्यम् । स्थान्यर्थेन निराकांक्षतया शानजादौ कर्त्तरीत्यस्याप्रवृत्तेः, अन्यथा घञादावपि तत्प्रवर्त्तेत, न च देवदत्तः पचमान इति सामानाधिकरण्यानुरोधाच्छानचः कर्त्ता वाच्यः स्यादिति वाच्यम्, पचतितरां मैत्रः पचतिकल्पं मैत्र इत्यादिष्वपि तद्दर्शनादिति दिग् १ ॥ एवं वर्णस्फोटे सिद्धे पदस्फोटोऽपि २ सिद्ध एव, समभिव्याहृतवर्णानां वाचकत्वे सिद्धे तादृशवर्णसमभिव्याहाररूपपदस्य वाचकतायाः सिद्धिध्रौव्यात्, प्रतिवर्णमर्थस्मरणस्यानुभवविरुद्धत्वात्, प्रत्येकवर्णानामर्थवत्त्वेन प्रातिपदिकत्वापत्तौ " नलोपः प्रातिपदिकांतस्य " इत्यादिभिर्द्धनं वनमित्यादौ नलोपापत्तेश्च, एतच्चरमवर्ण एव वाचकत्वं शक्तिकल्पनौचित्यात्, तस्या व्यासज्यवृत्तित्वे मानाभावात्, पूर्वपूर्ववर्णानुभवजन्यसंस्काराश्चरमेणार्थधीजनने सहकारिण इति न तन्मात्रोच्चारणादर्थधीः, " सुप्तिङन्तं पदम् " इति पक्षेऽपि घटेनेत्यादौ प्रकृतिप्रत्ययविभागस्य वस्नसादिसमुदायादेश इव दुर्ज्ञानत्वात्पदस्फोटः स्वीकार्यः २ ॥ एवं हरेव विष्णो वेत्यादौ प्रत्येकपदज्ञानेऽपि समुदायशक्तिज्ञानाच्छाब्दबोधोदयाद्वाक्यस्फोटोऽपि ३ सिद्ध एव । वस्तुतः पदैः पदार्थावबोधो वाक्येन वाक्यार्थावबोध इति पदार्थशक्तिः पदेष्विव वाक्यार्थशक्तिर्वाक्येऽभ्युपेयेति पदस्फोटवाक्यस्फोटौ व्यवस्थितौ । अन्यथा घटः कर्मत्वमानयनं कृतिरित्यादौ विपरीतव्युत्पत्तिरहितस्यापि बोधप्रसङ्गात्, तत्रैव घटकर्मकमानयनमिति बोधे घटार्थकप्रातिपदिकोत्तरकर्मत्ववाचकविभ-

क्तेस्तत आनयनार्थकधातोस्तत आख्यातस्य समभिव्याहारः कारणमिति कार्यकारणभावज्ञानमपि हेतुरिति चेत्, तर्हि सिद्धो वाक्यस्फोटः ३, घटादिपदार्थबोधे बोधकतारूपपदशक्तिज्ञानस्येव विशिष्टवाक्यार्थबोधे पदसमभिव्याहाररूपवाक्यनिष्ठबोधकतारूपवाक्यशक्तिज्ञानस्यापि हेतुत्वकल्पनात्, अर्थोपस्थापकज्ञानविषयशब्दवृत्तिज्ञानकारणत्वस्यैव शक्तित्वात्। वाक्यार्थस्यापूर्वत्वात् कथं तत्र शक्तिग्रह इति चेत्, अन्विताभिधानवादे पदेऽपि कथम्, अन्वयस्यापूर्वत्वात्। यदि च पदशक्तिः पदार्थांशे ज्ञाताऽन्वयांशे चाज्ञातोपयुज्यत इति कुब्जशक्तिवादः, तदा ममापि वाक्यशक्तिरज्ञातैवोपयुज्यत इति वादाभ्युपगमस्तुल्यः, अन्विते पदशक्तिग्रहो वृद्धव्यवहारदर्शनसहकृतेन मनसा चेत्, वाक्येऽपि तुल्यमेतत्, अत एव सर्वत्र वाक्यार्थो लक्ष्य इति भाव्यः। वस्तुतः समुदितार्थे विशिष्टवाक्यस्यैव प्रथमं शक्तिग्रहस्तदनन्तरामवापोद्वापाभ्यां प्रत्येकं तद्ग्रह इत्युपजीव्यत्वाद्वाक्यस्फोट आश्रयणीयः। न च पदत्वं वाक्यत्वं वा दुर्ग्रहम्, चरमवर्णप्रत्यक्षसमयेऽव्यवहितोत्तरत्वसम्बन्धेनोपस्थितपूर्ववर्णवत्त्वरूपस्य तस्य सुग्रहत्वात्, वाक्यं पदं चाखण्डमेव, न तु वर्णसमूहोऽनन्तवर्णकल्पने मानाभावात्तत्तद्वर्णोत्पादकत्वाभिमतवायुसंयोगनिष्ठं वैजात्यमादायैव ककारो गकार इत्यादिप्रतीतिवैलक्षण्यसम्भवात्, उक्तं हि देवताधिकरणे भामत्यां, तारत्वादि वायुनिष्ठं वर्णेष्वारोप्यत इति। न चैवं वाचकोऽपि वायुसंयोग एव स्यात्, प्रत्यक्षोपलभ्यककारादेरेव तत्त्वस्यानुभविकत्वात्। तथा च तदेवेदं पदं तदेवेदं वाक्यमित्यादिधियाऽखण्डस्फोटः सिद्ध्यति। एतेन गौरित्यादौ गकारौकारविसर्गादिव्यतिरेकेण स्फोटाननुभवात् श्रूयमाणवर्णानामेव वाचकत्वमित्यपास्तम्। तेषां स्फोटातिरिक्तत्वाभावात्, उक्तवायुसंयोगानां मध्ये केषांचिद् गत्वेन केषांचिदौत्वेन केषांचिद्विसर्गत्वेनाभिव्यञ्जकत्वान्नानुपपत्तिः, अव्यवहितोत्तरत्वसम्बन्धेन घवत्त्वस्य टकारे ग्रहादेतादृशपदज्ञानकारणताया

अविवादात्, परं त्वव्यवहितोत्तरत्वं स्वज्ञानाधिकरणक्षणोत्पत्तिकज्ञानविषयत्वं वाच्यम्, अत एव वज्ञानानन्तरज्ञानविषयत्वरूपा टस्यानुपूर्वीत्यादिर्नैयायिकवृद्धानां प्रवादः, एतेन पर्यायस्थलेष्वेक एव स्फोटो नाना वा ? नाद्यो घटपदे गृहीतशक्तिकस्य कलशपदाद् बोधप्रसङ्गात्, न च तत्पर्यायाभिव्यक्तशक्तिग्रहस्तत्पर्यायश्रवणेऽर्थधीहेतुरिति वाच्यम्। एवं प्रतिपर्यायं शक्तिग्रहध्रौव्येण तत्तत्पर्यायशक्तिग्रहहेतुताया उचितत्वात् तथा सति शक्तिग्रहत्वेनैव हेतुत्वे लाघवात्। अन्यथा तत्पर्यायाभिव्यक्तशक्तिग्रहत्वेन हेतुत्वे गौरवात्। न द्वितीयोऽनन्तपदार्थानां तेषां शक्तिं चापेक्ष्य क्लृप्तवर्णेष्वेव शक्तिकल्पनाया लघुत्वादिति परिमलोक्तमपास्तम्। पर्यायेष्वनेकशक्तिस्वीकारस्य सर्वसिद्धत्वात् तदवच्छेदकानुपूर्व्याश्चोपपादितत्वात्, शब्दकौस्तुभे तु वर्णमालायां पदमिति प्रतीतेर्वर्णातिरिक्त एव स्फोटोऽन्यथा कपालातिरिक्तघटासिद्धिप्रसङ्गादिस्युक्तम्, नन्वेवं पदस्याखण्डत्वे शास्त्राप्रामाण्यप्रसङ्गस्तस्य प्रकृतिप्रत्ययाभ्यां पदव्युत्पादनमात्रार्थत्वादिति चेत्, न। वास्तवब्रह्मबोधनाय वेदान्ते कोशपञ्चकव्युत्पादनवद्वास्तवस्फोटबोधनाय व्याकरणे प्रकृतिप्रत्ययादिव्युत्पादनोपपत्तेः। न च प्रत्यक्षस्य स्फोटस्य ग्रहे किं शास्त्रोपायापेक्षयापीति वाच्यम्। उपायस्योपायान्तरादूषकत्वात्, तथा च व्याकरणाभ्यासजन्यज्ञाने वैजात्यं कल्प्यते, मन्त्रजन्यमिवार्थस्मरणे, वेदान्तजन्यमिव ब्रह्मज्ञाने, तस्य च ज्ञानस्य यज्ञादीनामन्तःकरणशुद्धाविव शरीरादिशुद्धावुपयोगः, साक्षात्परम्परया वा स्वर्गमोक्षादिहेतुत्वं च। तदुक्तं वाक्यपदीये—"तद् द्वारमपवर्गस्य, वाङ्मलानां चिकित्सितं। पवित्रं सर्वविद्याना—मधिविद्यं प्रकाशते ॥ १ ॥ इदमाद्यं पदस्थानं, सिद्धिसोपानपर्वणाम्। इयमामोक्षमाणाना—मजिह्मा राजपद्धतिः ॥२॥" इति। न चालीकया प्रकृतिप्रत्ययकल्पनया कथं वास्तवस्फोटबोध इति वाच्यं, रेखागवयन्यायाश्रयणात्। अथ स्फोटस्य वर्णानां च नित्यतया ककारोत्पत्त्यादिप्रत्ययः कथमिति चेत्,

उदात्तत्वादेरिव कत्वादेरुपाधेः कल्पितस्याश्रयणात्, वस्तुतः स एवायमिति प्रत्यभिज्ञाने गादेर्नित्यत्वात्, न च गत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदाभावस्तद्विषयो, व्यक्त्यंशाभेदस्यापि भासमानस्य विना बाधकं त्यागायोगात्। न चोत्पत्तिप्रतीतिर्बाधिका, प्रागसत्त्वे सति सत्त्वरूपाया उत्पत्तेर्वर्णेष्वनुभवविरुद्धत्वात्, अत एव वर्णमुच्चारयतीति प्रत्ययो, न तूत्पादयतीति, उच्चरितत्वं च ताल्वोष्ठसंयोगादिजन्याभिव्यक्तिविशिष्टत्वम्, किञ्च व्यञ्जकध्वनिनिष्ठोत्पत्त्यादेः परम्परया वर्णनिष्ठत्वविषयत्वेनाप्युपपत्तेर्न साऽतिरिक्तवर्णसाधिका, न च वर्णस्थले नियमतो ध्वनिसत्त्वे मानाभावस्तदुत्पादकशंखाद्यभावेन तदसम्भवश्चेति वाच्यम्। ककाराद्युच्चारणस्थले तत्तत्स्थानस्य जिह्वयेपदन्तरपाते वर्णानुत्पत्तेर्ध्वन्युत्पत्तेश्च दर्शनात्, जिह्वाभिघातजवायुकण्ठसंयोगादेर्ध्वनिजनकत्वकल्पनात्तस्य च वर्णोत्पत्तिस्थलेऽपि सत्त्वात्तत्रैवाप्रामाणिकप्रतिवध्यप्रतिबन्धकभावकल्पने गौरवादिति सिद्धावखण्डपदवाक्यस्फोटौ ४–६। जातिस्फोटा यथा–वर्णास्तावदावश्यकाः, तदनादरेण स्फोटाभ्युपगमे सोऽयं गकारो यः पूर्वं श्रुतइत्यपि स्यात्, न स्याच्च गकारोऽयं न हकार इति, स्फोटस्यैकत्वात्। किञ्च स्फोटे गत्वाद्यभ्युपेयं न वा? आद्ये तदेव गकारोऽस्तु, वर्णनित्यतावादिभिरितिरिक्तगत्वानङ्गीकारात्, तथाचातिरिक्तस्फोटकल्पन एव गौरवम्। अन्त्ये गकारादिप्रतीतिविरोधः, गत्वारोपे मानाभावादिति कृतं स्फोटेन, तस्मात् सन्त्येव वर्णाः। परन्तु न वाचकाः, आकृत्यधिकरणन्यायेन जातेरेव वाच्यत्ववद्वाचकत्वस्यापि युक्तत्वाच्च। इदं हरिपदमित्यनुगतप्रतीत्या हर्युपस्थितित्वावच्छिन्ने हरिपदज्ञानत्वेन हेतुत्वात्तदवच्छेदकतया च जातिविशेषस्यावश्यकल्प्यत्वात्। न च वर्णानुपूर्व्यैव प्रतीत्यवच्छेदकत्वयोर्निर्वाहः, घटत्वादेरपि संयोगविशेषविशिष्टमृदाकारादिभिश्चान्यथासिद्ध्यापत्तेः, तस्मात् सा जातिरेव वाचिका, तादात्म्येन तदवच्छेदिका च, न च जातेः प्रत्येकं

वर्णेष्वपि सत्त्वात् प्रत्येकतोऽर्थबोधापत्तिः। अनेकव्यक्त्यभिव्यङ्ग्यजातेरेव स्फोटत्वेनाभिधानात्, वर्णस्फोटपक्षे कथितदोषसत्त्वेऽपि पदवाक्यपक्षयोर्नायम्, तस्या व्यासज्यवृत्तित्वस्य धर्मिग्राहकमानसिद्धत्वादिति निष्कर्षः। ननु का सा जातिरिति चेत्, अत्राहुः—" सत्यासत्यौ तु यौ भागौ प्रतिभावं व्यवस्थितौ ॥ सत्यं यत्तत्र सा जातिरसत्या व्यक्तयो मताः ॥ १ ॥ " इति। अत्र ब्रूमः॥ अष्टसु स्फोटेषु तावन्निष्कृष्टो जातिरूपवाक्यस्फोट एव ज्यायस्तया वैयाकरणैरिष्यते, स चानेकव्यक्त्यभिव्यङ्ग्या जातिः, तत्त्वं चानेकव्यक्तिज्ञानजन्यज्ञानविषयत्वम्, तथा चानेकव्यक्तिज्ञानैरेवार्थबुद्ध्युपपत्तौ किमन्तर्गडुना जातिस्फोटेन, किञ्च यथाकथञ्चिदनुगमार्थं जातिकल्पनेऽखण्डोपाध्यादेरुच्छेदापत्तिरिति वर्णानुपूर्व्येव प्रतीत्यवच्छेदकत्वयोर्निर्वाह उचितः। तथैवान्वयव्यतिरेकदर्शनात्। सा च वर्णानतिरिक्तेति को वातिरिक्तः स्फोटः। न च वर्णात्मनापि नित्यत्वं युक्तम्, तदुत्पत्त्यादिप्रतीतेः सार्वजनीनत्वात्, वर्णमुच्चारयति न तूत्पादयतीति च पटं वयति न तूत्पादयतीत्यनेन तुल्यम्, अभिव्यक्तिविषयत्वमप्युत्पत्तेर्द्रव्यार्थनयेन सर्वत्रातिप्रसञ्जकम्, पर्यायार्थिकनये चाभिव्यक्त्यंशस्य गौरवेण त्यागाच्छुद्धोत्पत्तिग्रहोऽपि सर्वत्र तुल्यः, ज्ञायमानस्य हेतोर्लाघवेनैकस्य स्फोटत्वे च धूमपरामर्शादिस्थलेऽप्येकः स्फोटः स्यादिति न किञ्चिदेतत्। वर्णमालायां पदमिति प्रतीत्या वर्णातिरिक्तस्फोटं साधयन् दीक्षितस्त्वशिक्षितालापकृदेव, एवं सत्यधिष्ठानस्य सत्यतया वर्णमालायाः सत्यत्वस्य तत्राध्यस्तस्य स्फोटस्य घटवदेवासत्त्वस्य चापत्तेः। न च वर्णाश्रितत्वेऽपि स्फोटस्य गोत्वादिवज्जातिरूपत्वेन नित्यत्वात् सत्यत्वमिति वाच्यम्। ब्रह्मदर्शने गोत्वादिजातेरप्यसत्त्वादनित्यत्वम्, आत्मैवेदं सर्वमिति श्रुतिवचनादिति कैयटग्रन्थपर्यालोचनतया गोत्वादिवज्जातिरूपस्यापि स्फोटस्याश्रितत्वेनानित्यत्वादसत्यत्वापत्तेः, तत्तद्व्यक्तिविशिष्टं ब्रह्मैव जातिस्फोट

इति स्वीकारे च घटादावपि सत्यभागस्य जातेः स्फोट इति नाम कुतो न स्वीक्रियते, उपाधिरूपविशेषणाभावे सर्वत्र शुद्धब्रह्मपर्यवसानाविशेषात्, पर्यायार्थनयव्युत्क्रान्तार्थग्राहिणो द्रव्यार्थिकस्यापश्चिमविकल्पनिर्वचनत्वेन तत्र शब्दब्रह्मत्वमर्थब्रह्मत्वं वेति पक्षपातस्य निर्मूलत्वात् सप्तभङ्गीनये कथञ्चिदनिर्वाच्यत्वस्य विचारजन्यनिर्विकल्पकज्ञानमादायैवाविरोधात्, एतेन "इत्थं निष्कृष्यमाणं यत्, शब्दतत्त्वं निरञ्जनम्। ब्रह्मैवेत्यक्षरं प्राहु–स्तस्मै पूर्णात्मने नमः ॥१॥" इति व्याख्यातम्, अर्थविनिर्मुक्तस्य ज्ञानस्येवाक्षरस्याप्यभावात्, अनन्तधर्मकत्वेऽप्यक्षरत्वस्याद्वयत्वस्य चातद्व्यावृत्त्या नयविशेषेणोपपत्तेः। प्रमाणतयाश्रयणेऽपि मनोमयत्ववच्छब्दमयत्वस्य ब्रह्मण्यसिद्धेः, आत्मभावसमवस्थानरूपस्य परब्रह्मण एवानेकान्तसिद्धान्तनीत्या सकलकलङ्करहितस्य विपश्चिताश्रयणीयत्वादिति शिवम्। "**त्रयो व्यक्तिस्फोटा अविचलितपर्यायविषया, अखण्डौ द्वौ स्फोटौ तदनुगतसद्द्रव्यविषयौ ॥ न तिर्यक्सामान्यात्त्रयमिह विभिन्नं च तदयं, नयानां कल्लोलः कलयति चमत्कारमभितः ॥ १ ॥ अमूदृग्भङ्गानां निबिडतरजालं नयकृतं, प्रयाति च्छित्त्वैव प्रथितभजनास्त्रेण सुकृती। पतत्युच्चैर्वैयाकरणहरिणस्तत्र विवशो, न सिद्धिः स्याद्वादादिति य इह सूत्रं विमृशति ॥ २ ॥" स्फोटवादः सम्पूर्णः ॥ १० ॥** अन्यत्रेति [इत्यत्रेति] (१५१–२–७) विवृणोति।

अथेतरेतराभावात्यन्ताभावानभ्युपगमवादिनां दूषणमुद्भावयिषवः प्राहुराचार्याः।—

सर्वात्मकं तदेकं स्यादन्यापोहव्यतिक्रमे। अन्यत्र समवाये न व्यपदिश्येत सर्वथा ॥ ११ ॥

तदित्यनेन सर्वप्रवादिनामिष्टं तत्त्वं परामृश्यते। तदेकं सर्वात्मकं स्यात्, अनिष्टात्मनापि भावादन्यापोहस्य व्यतिक्रमे। स्व-

समवायिनः समवाय्यन्तरे समवायोऽन्यत्र समवायः, अत्यन्ताभावव्यतिक्रमः । तस्मिन् सर्वस्येष्टं तत्त्वं सर्वथा न व्यपदिश्येत, स्वेष्टात्मना व्यपदेशेऽनिष्टात्मनोपि व्यपदेशप्रसङ्गात्, तेनाव्यपदेशे स्वेष्टात्मनाप्यव्यपदेशापत्तेः स्वयमिष्टानिष्टात्मनोः कालत्रयेपि विशेषानुपगमात् । कः पुनरन्यापोहो नाम ? स्वभावान्तरात्स्वभावव्यावृत्तिरन्यापोहः । स्वभावान्तरादिति वचनान्न स्वस्वभावाद्व्यावृत्तिरन्यापोहः, तस्याः स्वापोहत्वप्रसङ्गात् । अथापि प्रागभावप्रध्वंसाभावयोरन्यापोहत्वप्रसक्तिरिति चेत्, न, कार्यद्रव्यात्पूर्वोत्तरपरिणामयोः स्वभावान्तरत्वेपि तस्य तद्व्यावृत्तेर्विशिष्टत्वात् । यदभावे हि नियमतः कार्यस्योत्पत्तिः स प्रागभावः, यद्भावे च कार्यस्य नियता विपत्तिः स प्रध्वंसः । न चेतरेतराभावस्याभावे भावे च कार्यस्योत्पत्तिर्विपत्तिर्वा, जलस्याभावेप्यनलस्यानुत्पत्तेः क्वचित्तद्भावे च तस्याऽविपत्तेः । क्वचिदन्धकारस्याभावे रूपज्ञानोत्पत्तेः स प्रागभावस्तस्य स्यादिति न मन्तव्यम्, नियमग्रहणात् केषाञ्चिदन्धकारेपि रूपज्ञानोत्पत्तेः । तत एव नान्धकार रूपज्ञानस्य प्रध्वंसः, तद्भावे नियमतस्तद्विपत्त्यप्रतीतेः । ततः सूक्तमन्यापोहलक्षणं स्वभावान्तरात्स्वभावव्यावृत्तिरन्यापोह इति, तस्य कालत्रयापेक्षेऽत्यन्ताभावेप्यभावादतिव्याप्त्ययोगात् । न हि घटपटयोरितरेतराभावः कालत्रयापेक्षः, कदाचित्पटस्यापि घटत्वपरिणामसंभवात्, तथा परिणामकारणसाकल्ये तदविरोधात्, पुद्गलपरिणामानियमदर्शनात् । न चैवं चेतनाचेतनयोः कदाचित्तादात्म्यपरिणामः, तत्त्वविरोधात् । नन्वितरेतराभावस्य व्यतिक्रमे चार्वाकस्य पृथिवीतत्त्वं सकलजलाद्यात्मकमनुपज्यता, साख्यस्य च महदादिपरिणामात्मकमशेपतस्तदस्तु । सौगताना तु विज्ञानमात्रमुपयता किं किमात्मकं स्यादिति कश्चित्सोपि न विपश्चित् । सौगतानामपि हि सविदो ग्राह्याकारात्कथञ्चिद्व्यावृत्तावनेकान्तसिद्धिरन्यथा सवन्धासिद्धिः, सर्वथा व्यावृत्तौ सविद्ग्राह्याकारयोरुपकार्योपकारकभावानभ्युपगमात्सवन्धान्तराभावात् । अव्यावृत्तावन्यतरस्वभावहानेर्न किञ्चित्स्यात् । सविदो ग्राह्या-

कारेऽनुप्रवेशे ग्राह्याकार एव स्यान्न संविदाकारः । तथा च तस्याप्यभाव, सविदभावे ग्राह्याकारायोगात् । ग्राह्याकारस्य वा सविद्यऽनुप्रवेशे सविदेव, न ग्राह्याकारः स्यात्, कस्यचित्सवेदनमात्रस्य विपयाकारविकलस्यानुपलब्धे । ननु च ' नान्योनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति तस्या नानुभवोऽपरः। ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात्स्वयं सैव प्रकाशते ॥१॥ ' इति चेन्, न, एवमपि संवित्तेः स्वलक्षणप्रत्यक्षवृत्तावपि संवेद्याकारविवेकस्वभावान्तरानुपलब्धेः स्वभावव्यावृत्तिः स्वभावान्तरात्सिद्धेति कथं तल्लक्षणान्यापोहव्यतिक्रमः सौगतस्य शक्यः कर्तुम् ? चित्रैकज्ञानवादिन. पुनः शवलविषयनिर्भासेपि लोहितादीनां परस्परव्यावृत्तिरभ्युपगमनीया, अन्यथा चित्रप्रतिभासासभवात्तदन्यतमवत्, तदालम्बनस्यापि नीलादेरभेदस्वभावत्वापत्तेर्नीलाद्यन्यतमवत् । प्रतिभासभेदाभावेपि नीलादेर्भेदव्यवस्थितौ न किञ्चिदभिन्नमेकं स्यात्, निरंशस्वलक्षणस्याप्यनेकत्वप्रसक्तेः । ततः पीतादिविषयस्वरूपभेदमन्विच्छता तत्प्रतिभासभेदोऽनेकविज्ञानवदेकचित्रज्ञानेप्येष्टव्यः । तदिष्टौ च स्वभावान्तरात्स्वभावव्यावृत्तिः पारमार्थिकी सिध्यतीति सिद्धस्तल्लक्षणोन्यापोहः। तथा चित्रज्ञानस्य स्वनिर्भासेभ्यो लोहितादिभ्यो विषयस्य च चित्रपटादेः स्वाकारेभ्यो नीलादिभ्यो व्यावृत्तिः सिद्धा । कुतः प्रमाणादिति चेत्, तद्वतस्तेभ्यो व्यावृत्तिः, एकानेकस्वभावत्वाद् घटरूपादिवदित्यनुमानात् । न हि लोहितादिनिर्भासा एव नीलाद्याकारा एव वानेकस्वभावा, न पुनरेकस्वभावं तद्वद्वेदनं वहिर्द्रव्यं चेति शक्यं वक्तुं, यतोऽसिद्धो हेतुः स्यात्, तस्याप्यवाधितप्रतीतिसिद्धत्वात् । अन्यथा द्रव्यमेव स्यान्न रूपादयः। एतेन चित्रज्ञानमेव स्यान्न तल्लोहितादिनिर्भासा इत्युपदर्शितम् । शक्यं हि वक्तुं, स्वभावैकत्वेपि निर्भासवैलक्षण्यं करणसामग्रीभेदमनुविदध्याद्, दूरासन्नेकार्थोपनिवद्धनानादर्शननिर्भासवत् । यथैव हि चित्रपटादिद्रव्यमेकस्वभावमपि चक्षुरादिकरणसामग्रीभेदाद्रूपादिविलक्षणाकारं, तदनुविधानात्, तथा चित्रज्ञानमपि नानान्तःकरणवासनासामग्रीभेदाद्विलक्षणलोहितादिनिर्भासम्। तथानभ्युपगमे प्रतिपुरुषं विषयस्वभावभेदो

वा सामग्रीसंबन्धभेदात् । कचिदेकत्रार्थे दूरस्थपुरुषस्यान्यो हि दूरे देशसामग्रीसम्बन्धोऽन्यश्चासन्नदेशसामग्रीसंबन्धः । इति दूरासन्ना-नामेकत्र वस्तुन्युपनिबद्धनानादर्शनानां पुरुषाणां निर्भासभेदात्तद्विषयस्य वस्तुनोऽपि स्वभावभेदोऽस्तु, विशेषाभावात्, करणसामग्रीभेदव-दूरादिदेशसामग्रीसंबन्धभेदस्यापि विषयस्वभावभेदमन्तरेणानुपपत्तेः । ततोऽन्तर्नेकिश्च स्वभावभेदैकान्तसिद्धेर्न कचिदेकत्वव्यवस्था । अन्यथा निर्भासभेदेऽपि कस्यचिदेकरूपतोपगमे न केवलं रूपादेरभेदः, किं तर्हि ? कस्यचित्क्रमशः सम्बन्ध्यन्तरोपनिपातोऽपि स्वभावं न भेदयेत्, ततः क्रमवन्त्यपि कार्याणि तत्स्वभावभेदं नानुमापयेयुः, क्रमशः सुखादिकार्यभेदस्य साधनधर्मस्य कचिदेकत्र समानसम्ब-न्धोपनीतनिर्भासभेदेन व्यभिचारात् । न चैवं शक्यमभ्युपगन्तुम् । ततो यावन्ति सम्बन्ध्यन्तराणि तावन्तः प्रत्येकं भावस्वभावभेदाः परस्परव्यावृत्ताः सह क्रमेण च प्रतिपत्तव्याः । ननु च सर्वथा सम्बन्धासंभवाद्भावानां पारतन्त्र्यानुपपत्तेः " पारतन्त्र्यं हि सम्बन्धः सिद्धे का परतन्त्रता । तस्मात् सर्वस्य भावस्य संबन्धो नास्ति तत्त्वतः ॥१॥ " इत्यादिवचनान्न कस्यचित्संबन्ध्यन्तराणि स्वभावभेदनिबन्ध-नानि सन्तीति चेत्, न, द्रव्यक्षेत्रकालभावप्रत्यासत्तिलक्षणस्य संबन्धस्य निराकर्तुमशक्तेः । न हि कस्यचित्केनचित्साक्षात्परम्परया वा संबन्धो नास्तीति, निरुपाख्यत्वप्रसङ्गात् । गुणगुणिनोः पर्यायतद्वतोश्च साक्षादविष्वग्भावाख्यसमवायासत्त्वे स्वतन्त्रस्य गुणस्य पर्या-यस्य वाऽसत्त्वप्रसङ्गात् सकलगुणपर्यायरहितस्य द्रव्यस्याप्यसत्त्वापत्तिरिति तयोर्निरुपाख्यत्वम् । गुणानां पर्यायाणां च परस्परं स्वाश्रयैकद्रव्यसमवायसंबन्धाभावेऽप्यनेन निरुपाख्यत्वं प्रतिपादितम् । चक्षूरूपयोः परम्परया क्षेत्रप्रत्यासत्तेरसत्त्वे योग्यदेशेऽप्य-योग्यदेशवद्रूपे चक्षुर्ज्ञानं न जनयेत् । ततस्तद्ग्राह्यानुमानासत्त्वादसत्त्वप्रसङ्गो, रूपस्यापि चेन्द्रियप्रत्यक्षासत्त्वप्रसक्तिः । इत्युभयो-र्निरुपाख्यत्वम् । तथा कारणकार्यपरिणामयोः कालप्रत्यासत्तेरसत्त्वेऽनभिमतकालयोरिवाभिमतकालयोरपि कार्यकारणभावासत्त्वाद्-

भयोर्निरुपाख्यतापत्तिः । तथा व्याप्तिव्यवहारकालवर्तिनोर्धूमादिलिङ्गाग्न्यादिलिङ्गिनोर्भावप्रत्यासत्त्यसत्त्वे कचित्पावकादिलिङ्गिनि ततोनुमानायोगादनुमानानुमेययोरसत्त्वप्रसङ्गान्निरुपाख्यत्वप्रसङ्गः । किं बहुना, संवेदनस्य कस्यचित्केनचिद्वेद्याद्याकारेण प्रत्यासत्तेरसत्त्वे तदुभयोरसत्त्वान्निरुपाख्यत्वम् । तत्प्रत्यासत्तिसद्भावे वा सिद्धश्चतुर्धापि संबन्धः, सवित्तदाकारयोर्द्रव्यादिप्रत्यासत्तिचतुष्टयस्यापि भावात्परस्परं पारतन्त्र्यसिद्धेः । सिद्धस्य संविदाकारस्य संवित्परतन्त्रतानिष्टौ संविदभावेपि भावप्रसङ्गात्, संविदो वा स्वाकारपरतन्त्रतानुपगमे निराकारसंविदनुपङ्गात्, तथोपगमेपि संविदो वेद्याकारविवेकपरतन्त्रतानभिमनने वेद्याकारात्मताप्रसङ्गात्, सर्वथा संबन्धाभावस्य च भावपरतन्त्रत्वानङ्गीकरणे स्वतन्त्रस्याभावरूपत्वविरोधात् कुतस्तद्व्यवस्था ? तदयं कस्यचित्सिद्धस्यासिद्धस्य वा परतन्त्रतामुपलभ्य सर्वत्र सिद्धेऽसिद्धे वा का परतन्त्रतेति ब्रुवाणः कथं न परतन्त्रः ? कस्यचिदसिद्धस्यापि कार्यात्मनः कारणपरतन्त्रतोपपत्तेरन्यथा कारणाभावेपि कार्योत्पत्तेर्निवारणायोगात्, कुतश्चित्कस्यचिदनुत्पत्तौ शश्वत्सत्त्वप्रसङ्गात्, "सदकारणवन्नित्यम्" इति वचनात्, संवृत्या पारतन्त्र्योपगमेपि तद्दोपानतिवृत्तेः संवृतेर्मृषारूपत्वात् । तत्त्वतोपि कचित्पारतन्त्र्येष्टौ सिद्धस्तात्त्विकः संबन्धः । इति न तत्प्रतिक्षेपः श्रेयान्, यतः संबन्ध्यन्तरापेक्षया सकृदसकृच्च सन्तानान्तरभावस्वभावभेदाः परस्परं व्यावृत्ता न भवेयु' । तदेवं प्रतिक्षणमनन्तपर्यायाः प्रत्येकमर्थसार्थाः, न पुनरेकस्वभावा एव भावाः क्षणमात्रस्थितयः, अन्वयस्यानारतमविच्छेदात् । क्रमशोपि विच्छेदेऽर्थक्रियानुपपत्तेः स्वयमसतस्तत्त्वतः कचिदुपकारितानुपपत्तेः कुतः कस्यात्मलाभः स्यात् ? कथञ्चिदविच्छेदे पुनः स सुघट एव कारणस्य स्वकार्यात्मना भवतः प्रतिक्षेपायोगात् स्वभावान्तरानपेक्षणवत्, स्वयमुत्पित्सोरपि स्वभावान्तरापेक्षणे विनश्वरस्यापि तदपेक्षणप्रसङ्गात्, एतेन स्थास्नोः स्वभावान्तरानपेक्षणमुक्तं, विश्रसापरिणामिनः कारणान्तरानपेक्षोत्पादादि-

नयव्यवस्थानात्तद्विशेष एव हेतुव्यापारोपगमात् । यतश्चैव पर्यायार्थिकनयादेशात्प्रतिक्षणमनन्तपर्यायः क्रमेणाविच्छिन्नान्वयसंततिरर्थः प्रतीयते तस्मादयमुत्पित्सुरेव विनश्यति जीवादिः, पूर्वेन्दु ग्वादिपर्यायविनाशाऽजहद्वृत्तित्वात्तदुत्तरसुग्वादिपर्यायोत्पादस्य । नश्वर एव तिष्ठति, कथञ्चिदवस्थान्नोर्नाशानुपपत्तेरश्वविषाणवत् । सद्द्रव्यचेतनत्वादिना स्थास्नुरेवोत्पद्यते, सर्वथाप्यस्थास्नोः कदाचिदुत्पादायोगात्तद्वत् । ततः प्रतिक्षणं त्रिलक्षणं सर्वम् "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" इति वचनात् । नन्वेवं स्थित्यादयो जीवादेर्वस्तुनो यद्यभिन्नास्तदा स्थितिरेवोत्पत्तिविनाशौ, विनाश एव स्थित्युत्पत्ती, उत्पत्तिरेव विनाशावस्थाने इति प्राप्तम्, एकस्मादभिन्नानां स्थित्यादीनां भेदविरोधात् । तथा च कथं त्रिलक्षणता स्यात् ? अथ भिन्नास्तर्हि प्रत्येकं स्थित्यादीनां त्रिलक्षणत्वप्रसङ्गः, सत्त्वात्, अन्यथा तदसत्त्वापत्तेः । तथा चानवस्थानान्न समीहितसिद्धिरिति कश्चित्, सोऽप्यनालोचितपदार्थस्वभावः, पक्षद्वयस्यापि कथञ्चिदिष्टत्वात् । तत्र तद्वतः कथञ्चिदभेदोपगमे स्थित्यादीनां स्थितिरेवोत्पद्यते सामर्थ्याद्विनश्यति च, विनाश एव तिष्ठति सामर्थ्यादुत्पद्यते च, उत्पत्तिरेव नश्यति सामर्थ्यात्तिष्ठतीति च ज्ञायते, त्रिलक्षणाज्जीवादिपदार्थादभिन्नानां स्थित्यादीनां त्रिलक्षणत्वसिद्धेः । एतेनैव ततस्तेषां भेदोपगमेऽपि प्रत्येकं त्रिलक्षणत्वसिद्धिरुक्ता । न चैवमनवस्था, सर्वथा भेदपक्षे तत्प्रसक्तेः, स्याद्वादपक्षे तु तदसंभवात् । येन हि स्वभावेन त्रिलक्षणात्तत्त्वादभिन्नाः स्थित्यादयस्तेन प्रत्येकं त्रिलक्षणाः, पर्यायार्पणात्परस्परं तद्वतश्च भिन्ना अपीष्यन्ते, तथा प्रतीतेर्बाधकासंभवात् । ततो निरवद्यमिदं प्रतिक्षणं त्रिलक्षणं सर्वमिति । एतेन कालत्रयापेक्षयापि त्रिलक्षणमुपदर्शितं, तस्यान्वितेन रूपेण कालत्रयव्यापित्वादन्यथा क्षुद्रदेकान्ते सर्वथार्थक्रियाविरोधात् कूटस्थैकान्तवत् । ततो द्रव्यपर्यायात्मकं जीवादि वस्तु, क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियान्यथानुपपत्तेरिति प्रमाणोपपन्नम् । तथा च स्थितिरेव स्थास्यत्युत्पत्स्यते विनङ्क्ष्यति सामर्थ्यात्स्थितोत्पन्ना विनष्टेति गम्यते । विनाश एव स्थास्यत्युत्पत्स्यते विनङ्क्ष्यति स्थित

उत्पन्नो विनष्ट इति च गम्यते । उत्पत्तिरेवोत्पत्स्यते विनङ्क्ष्यति स्थास्यतीति न कुतश्चिदुपरमति । सोत्पन्ना विनष्टा स्थितेति गम्यते। स्थित्याद्याश्रयस्य वस्तुनोऽनाद्यनन्तत्वादनुपरमसिद्धेः स्थित्यादिपर्यायाणां कालत्रयापेक्षिणामनुपरमसिद्धिः, अन्यथा तस्यातल्लक्षणत्वप्रसङ्गात्सत्त्वविरोधात् । एतेन जीवादि वस्तु तिष्ठति स्थितं स्थास्यति, विनश्यति विनष्टं विनङ्क्ष्यति, उत्पद्यते उत्पन्नमुत्पत्स्यते चेति प्रदर्शितं, कथञ्चित्तदभिन्नस्थित्यादीनामन्यथा स्थास्यत्यादिव्यवस्थानुपपत्तेः । तथा चैतेषां नवानामपि विकल्पानां प्रत्येकं नवविकल्पतोपपत्तेरेकाशीतिविकल्पं वस्तूह्यं, तदभिन्नस्थित्यादिपर्यायाणामपि तावद्धाविकल्पादनुपरमसिद्धेः। यथा जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशकालविकल्पमशुद्धद्रव्यमनन्तपर्यायं सह क्रमाच्च चिन्तित तथा सन्मात्रं शुद्धद्रव्यमपि प्रतिपत्तव्यं, तस्यैव द्रव्यत्वविशेषणस्य द्रव्यव्यवहारविषयत्वसिद्धेः । तथा हि । भाव एव द्रवति द्रोष्यत्यदुद्रुवदिति द्रव्यं, तथा क्षीयन्ते क्षेष्यन्ते क्षिताश्चास्मिन् पदार्था इति क्षेत्रं, कल्यन्ते कलयिष्यन्ते कलिताश्चास्मादिति कालः, भवति भविष्यत्यभूदिति भावः पर्याय इति सत्तैव विशेष्यते द्रव्यक्षेत्रकालभावात्मना, तस्या एव तथा व्यवहारविषयत्वघटनात् । ततः परस्परव्यावृत्तस्वभावानऽनन्तगुणपर्यायान्प्रतिक्षणमासादयन्ती सत्तैव तिष्ठतीत्यादि योज्यं, तस्या अप्येकाशीतिविकल्पत्वोपपत्तेः । तथा भेदानेव सद्रवन्तीत्यादि प्रतिपत्तव्य क्षितान् कुर्वन्ती कलयन्ती भवन्ती च सत्तैव तिष्ठतीत्यादियोजनायाः सभवात् । तथा चोक्त "सत्ता सकलपदार्था सविश्वरूपा त्वनन्तपर्याया। स्थितिभङ्गोत्पादार्था सप्रतिपक्षा भवत्येका"॥ १ ॥ इति । तदेव पर्यायार्थिकनयप्राधान्याद्द्रव्यार्थिकनयगुणभावात्सर्वस्य स्वभावान्तरव्यावृत्तिः प्रसिद्धाऽन्यापोहव्यतिक्रममपाकरोतीति किं न प्रयासेन । तथा केषाञ्चित्तत्त्वतोत्यन्ताभावापाकृतौ न कचित्किञ्चित्कथञ्चिन्न वर्तेत । वर्ततामिति चेत्, तथा सर्व सर्वत्र सर्वथोपलभ्येत । न च ज्ञानादिकं घटादावुपलभ्यते, नापि रूपादिकमात्मादौ । न च किञ्चित्स्वात्मनेव परात्मनाप्युपलभ्येत, ततः

किञ्चित्स्वेष्टं तत्त्व कचिदनिष्टेर्थे सत्यात्मनानुपलभ्यमानः तात्त्वेपि तत्र तथा नास्तीति प्रतिपद्यते सोपि विरोधान्नाभावः । कथं पुनरभावप्रतिपत्तिः ? कथं च न स्यात् ? सर्वथा भावविलक्षणस्याभावस्य प्रत्यक्षस्य प्रत्यक्षप्रमाणाभावात्, प्रत्यक्षस्य रूपादिस्वलक्षण-विषयत्वादभावे प्रवृत्त्ययोगात् तस्य तत्कारणत्वविरोधात्, तत्कारणत्वे स्वलक्षणतापत्तेः, अकारणस्याविषयत्वव्यवस्थितेः, प्रमाणान्त-रस्यापि स्वकारणविषयत्वात् । तस्य कार्यानुमानत्वे तावदभावस्य कारणत्वप्रसक्तिः । न चासौ युक्तिमती । स्वभावानुमानत्वेपि भावस्वभावा-पत्तिः, अभावस्य स्वभावासंभवात् । अथानोपलब्धेः पर्युदासवृत्त्या वस्तुनि निरतात् सर्वथाप्यभावाधिगमसिद्धिः । तद्विरोधि भावान्तर-भाव एवाभावः । कस्यचिदेकस्य कैवल्यमितरस्य वैकल्यमिति ब्रुवन्नपि वैनाशिको दुर्निरूप्यो नावगच्छति, भावाभावप्रतिपत्तेरपार-भावाभ्युपगमात् । सोयं स्वयम् "अनादिवासनोद्भूतविकल्पपरिनिष्ठितः । शब्दार्थस्त्रिविधो धर्मो भावाभावोभयाश्रितः ॥१॥" इति पर-मार्थतो भावस्याभावस्योभयस्य च प्रतिपत्तेरभावं प्रतिपद्यमानः कथमभावप्रतिपत्तौ प्रकारान्तरानुयोगं कुर्वीत ? न चैकान्तस्य, परमार्थतः, स्वपररूपादिभावाभावलक्षणत्वात्सर्वस्य निःश्रेणीपर्वन्यायाभ्यामिव भावाभावस्वभावाभ्यां प्रतिपत्त्यात्, स्वरूपादिभिरिव पररूपादिभिरपी-ष्टस्य सविदद्वयस्य भावे भेदरूपत्वप्रसङ्गात् पररूपादिभिरिव स्वरूपादिभिरपि तस्याभावे स्वयं प्रकाशनविरोधात् । न किञ्चित्प्रमाणं सर्वात्मना भावमभावं वा ग्रहीतुमर्हति, अनियमप्रसङ्गात् । नाथागताना हि भाव एव प्रमाणविषय इति भावप्रमेयैकान्तवादिनाम-भावप्रतिपत्तिरयुक्तिः । अतो न भावनियमप्रतिपत्तिः, कस्यचित्कचित्कथञ्चिदसत्त्वासिद्धेः स्वसंभावव्यवस्थितेरयोगात् । तेन तत्प्रमेयतो-पसङ्ख्यानं प्रमाणद्वयनियमं विघटयति । भावनैरात्म्यस्य प्रमाणाकारणत्वात्प्रतिबन्धनियमो मा भूत्, प्रमाणनैरात्म्ययोस्तादात्म्यानिष्टे-स्तदुत्पत्तिप्रतिबन्धस्य विरोधात्, नैरात्म्यात्प्रमाणस्योत्पत्तौ तस्य भावस्वभावताप्रसक्तेः, तयोः प्रतिबन्धान्तरोपगमे लिङ्गस्य त्रिविध-

त्वविरोधात्। तदप्रतिबन्धे प्रमाणान्तरसिद्धेः कथ प्रमाणद्वयनियमविघटनं न घटेत, तदुत्पत्त्यभावे प्रत्यक्षस्यानुमानस्य चानुदयात्, 'अर्थस्यासभवेऽभावात् प्रत्यक्षेपि प्रमाणता। प्रतिबद्धस्वभावस्य तद्धेतुत्वे सम द्वयम् ॥१॥' इति वचनात्। मानसस्य तु नास्तिताज्ञानस्य स्वकारणसामग्रीवशादुत्पन्नस्याभावपरिच्छेदकत्वे तदेवं प्रमाणान्तर, प्रतिबन्धनियमाभावात्। इति यथोदितदोषं परिजिहीर्षुणा वस्तुधर्मस्यैवाभावस्य प्रतिपत्तिरभ्युपगन्तव्या, तस्याः प्रतिक्षेपापायात्। ततो न भावैकान्ते समीहितसिद्धिः ॥ ११ ॥

स्वसमवायिन (१६२–१–१४) इति स्वमात्मा समवायि यस्येति विग्रहात् स्वसमवायिन आत्मसमवेतज्ञानादेः, **समवाय्यन्तरे** (२–१) व्योमादौ, समवायोऽन्यत्र समवाय उच्यते, अत्यन्ताभावव्यतिक्रमः स एव, तस्मिन्निति तस्मिन्नभ्युपगम्यमाने, सर्वस्य प्रवादिनः, इष्टं तत्त्वं सर्वथा तस्यैवेत्याकारेण, न व्यपदिश्येत। **तस्य** (५) कार्यस्य, तद्व्यावृत्तेः पूर्वोत्तरपरिणामरूपव्यावृत्तेः, विशिष्टत्वाद्विलक्षणत्वाद्, ध्वंसत्वप्रागभावत्वाभ्यामिति शेषः। तथा चोपधेयसांकर्येऽप्युपाधीनामसांकर्यान्न दोषस्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नभेदेऽपि तद्द्रव्यत्वावच्छिन्नभेदाभावाश्रयणाद्धेति बोध्यम्। उपाध्यसाङ्कर्यमेव प्रदर्शयति–'**यदभावे हीत्यादि**' (५) ॥ **नियमग्रहणादिति** (७), न चैवं सिद्ध्यभावे नियमतोऽनुमित्युत्पत्तेः सिद्धेरनुमितिप्रागभावत्व प्रसङ्ग इति वाच्यम्। पूर्वपरिणामान्तर्भावेनेष्टत्वात्, अनुमितेरपि सिद्धित्वेन सिद्ध्यभावत्वेनानुमितिनिरूपितस्य कालिकव्याप्तिघटितनियमस्याभावाच्च। **न हि घटपटयो** (९) रित्यादि, नन्वेवं जीवेऽजीवभेदे कालत्रयापेक्षेऽत्यन्ताभावलक्षणातिव्याप्तिः, न च सोऽत्यन्ताभाव एव, प्रतीतिवैलक्षण्यात्, नञाऽत्यन्ताभावबोधनेऽनुयोगिवाचकपदे सप्तम्या अन्योन्याभावबोधने च प्रतियोग्यनुयोगिवाचकपदयोः समानविभक्तिकत्वस्य तन्त्रत्वाच्चात्यन्ताभावत्वादिना बोधने तथाव्युत्पत्तेराश्र-

यणेऽपि तथालक्षणस्यावश्यमृग्यत्वाच्चेति चेत्, सत्यम्, "त्रैकालिकी तादात्म्यपरिणामनिवृत्तिरत्यन्ताभाव" इत्यत्र परिणामपदमहिम्ना धर्मत्वनियामकसम्बन्धबोधात्तृतीयातत्पुरुषाश्रयणाच्च संसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वमत्यन्ताभावत्वमिति तात्पर्यात्। इत्थं चान्योन्याभावलक्षणस्य तादात्म्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वस्यैव लाभान्न दोषः। तत्त्वं क्लृप्ताधिकरणेऽतिरिक्तपदार्थे चेति पुनरन्यदेतत्, संयोगितादात्म्यस्यैव संयोगत्वे च "तादात्म्यत्वावच्छिन्नावच्छेदकताकप्रतियोगिताकाभावत्वमन्योन्याभावत्वम्," "तदितराभावत्वं संसर्गाभावत्वम्" इति वदन्ति। तादात्म्यत्वस्यातिरिक्तस्य कल्पनायां गौरवाद्भेदत्वात्यन्ताभावत्वाद्यखण्डोपाधिरिति तु नव्याः। युक्तमेतत्, तत्तत्स्वरूपे तत्तद्भेदत्वादेर्यथा प्रतीतिकल्पनाद् भावसंकरस्येवाभावसंकरस्याप्यदुष्टत्वात्, अभिलापभेदस्य च विवक्षावैचित्र्याद्यधीनत्वादिति दिग्॥ अन्यापोहव्यतिक्रमे भेदवादिनां दोषः स्यान्नाभेदवादिनः सौगतस्येत्याशङ्कते नन्वित्यादिना (१६२-२-११)॥ उत्तरयति-सौगतानामपि हीत्यादिना (१३), क्षणिकत्वेन व्यक्तिभेदे तेषामविवाद एव, ग्राह्यग्राहकत्वाभ्यामांशिकस्वरूपभेदकथनार्थं पुनरयमुपक्रमः, ग्राह्यग्राहकाकारविवेकान्यथानुपपत्त्या ज्ञानमात्रमपि कथञ्चिद्भेदशालि स्वीकार्यमेवेति निष्कर्षः। ननु मतापरिज्ञानविजृम्भितमेतत् ज्ञानमात्रस्य माध्यमिकेनाभ्युपगमात्, तन्मते च ग्राह्याकारस्यालीकत्वादलीकभेदस्य च वास्तवान्यापोहव्यतिक्रमाविरोधित्वादित्याशङ्कते 'ननु चेत्यादिना' (१६३-१-२)। एवमपि स्वलक्षणप्रत्यक्षे संवेद्याकारमिथ्यात्वावगाहिज्ञानवैलक्षण्यध्रौव्यात्तान्यापोहव्यतिक्रमः सौगतस्य युक्त इत्याशयेन समाधत्ते नैवमपीत्यादिना (३)। तादृशज्ञानस्यालीकत्वे च दत्तो माध्यमिकमताय जलाञ्जलिः। विचारजन्यं शून्यज्ञानमेव प्रमाणं नान्यत् स्वलक्षणप्रत्यक्षमप्यप्रामाण्यशङ्काकलङ्कितत्वादिति चेत्, तर्हि तत्रापि मिथ्या

संस्कारविरोधितावच्छेदकं वैजात्यं वक्तव्यमिति ध्रुवोऽन्यापोहः, विचारस्य सत्यत्वे नियमभङ्गोऽसत्यत्वे च सत्यज्ञानजनकशक्तिविरहात् सत्यज्ञानोच्छेद इति यत्किञ्चिदेतत्। चित्राद्वैतवादेऽपि योगाचारस्य चित्रज्ञाने नीलादिमात्रविषयकज्ञानत्वावच्छिन्नभेदरूपो नीलाद्याकारभेदरूपश्चान्यापोहोऽवश्यमादरणीय इत्याह **चित्रैकज्ञानवादिनः पुनरित्यादिना** (१६३-१-४)॥ तद्वतइति (९) तद्वतो लोहितादिनिर्भासवतश्चित्रज्ञानस्य, तेभ्यो लोहितादिनिर्भासेभ्यो व्यावृत्तिरस्तीति साध्यम्। एकानेकस्वभावत्वादिति हेतुः, यथा घटस्य रूपरसादिभ्य इति दृष्टान्तः, एकमिदमनुमानम्, द्वितीयं च तद्वतो नीलाद्याकारवतश्चित्रपटादेस्तेभ्यो नीलाद्याकारेभ्य इत्यभिलापेन द्रष्टव्यम्। **'न पुनरिति'** (१०) अनेकस्वभावमिति विपरिणतानुषङ्गेनान्वयः, तद्वल्लोहितादिनिर्भासवन्नीलाद्याकारवच्च। हेतुः (११) एकानेकस्वभावत्वरूपः, यदि च रूपादय एव लोकप्रतीतत्वात् सन्ति न द्रव्यमिति परेणोच्यते तदाह **भाष्यकृत्**, मम सामान्याभिप्रायेण द्रव्यमेवास्ति न (वस्यान्न) रूपादय इति, तुल्यः पक्ष इत्यर्थः। ज्ञानमधिकृत्याह **वृत्तिकृत्, एतेनेति**, चित्रज्ञानैकत्वे निर्भासभेदप्रकारमुपदर्शयति **शक्यं हि वक्तुमित्यादिना** (१२), प्रसङ्गापादनमात्रमेतदिति, विपर्ययपर्यवसानमाह **तथानभ्युपगम इत्यादि** (१४)॥ **भाष्ये वाकारो** (२-१) व्यवस्थार्थः। निर्भासभेदेऽप्येकत्वोपगमे बाधकमाह **भाष्यकृत् अन्यथेति** (४), **क्रमश** (५) इति। एवं हि क्रमिकनानाकार्यकरणैकस्वभावोऽनुगृहीतो भवति वस्तुन एवं नानैकस्वभावशबलतैव सिद्ध्यति, अन्यथैकस्वभाववपुषि नानाकार्यकरणानुप्रवेशे एककार्यकारणवेलायाङ्क्लेपादिकया नानाकायपनयनप्रसङ्गादित्यालोच्याह **न चैवं शक्यमभ्युपगन्तुमित्यादिना** (६)। **बौद्धः शङ्कते–'ननु चेति'** (७) भावानां पारतन्त्र्यानुपपत्तेः क्षणिकत्वेन परापेक्षाया अघटनात् सर्वथाऽसम्ब-

न्धेन स्वभावभेदस्यासम्भवान्न कस्यचित्सम्बन्ध्यन्तराणि स्वभावभेदनिबन्धनानि सन्ति, अतः स्वभावभेदस्य कर्तुमशक्यत्वादित्यन्वयः। प्रामाणिकत्वाद्द्रव्यादिकृतसम्बन्धः पराकर्तुमशक्य इत्याशङ्क्य समाधत्ते न द्रव्येत्यादिना (१६३-२-९) स्वयंप्रमाणेन सम्बन्धसिद्धिमङ्गीकृत्य परमुखेन तमभ्युपगमयति 'किं बहुनेति (१६४-१-२)' तथा च साकारज्ञानवादे विषयविषयिभावसम्बन्धस्य निराकारज्ञानवादेऽपि तन्निराकरणाकारसम्बन्धस्यावश्याभ्युपगम्यत्वे सिद्धमन्यत्रापि द्रव्यादिसम्बन्धेनेति भावः। सर्वथा सम्बन्धाभावस्य चेति (६) तथा च परमाणूनां निरन्तरोत्पत्तिरेव द्रव्यादिप्रत्यासत्तिर्ज्ञानस्य चानीलाद्याकारव्यावृत्ततयोत्पत्तिरिति निरस्तम्, पारतन्त्र्यभिया सम्बन्धं निराकुर्वतोऽसम्बन्धाभावमाद्रियमाणस्याभावस्य भावपरतन्त्रतया तदनिवृत्तेर्वक्रकल्पनादोषस्य परमावश्यत्वात्, तदयं कस्यचिदिति (६) क्वचित्परतन्त्रतानुपलम्भे सर्वत्र परतन्त्रतानिषेधस्य कर्तुमशक्यत्वादभावज्ञाने प्रतियोगिज्ञानस्य हेतुत्वादिति भावः। परतन्त्रः (७) परवशः, कस्यचिदसिद्धस्यापीति (७) तथा च यथा कार्यस्य कारणपरतन्त्रत्वं, तथा सर्वस्य वस्तुनः सम्बन्धमुखेन सम्बन्ध्यन्तरपरतन्त्रत्वमविरुद्धमिति भावः। ननु कार्यं न कारणपारतन्त्र्यं, तस्य स्वरसत एवोत्पत्तिशीलत्वात्, किन्तु कार्यत्वव्यवहार इति सांवृतमेव तदित्याशङ्कायामाह— 'संवृत्येति' (९) तद्दोषानतिवृत्तेर्वस्तुनः कारणानपेक्षत्वे कार्यस्य नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वेति प्रसङ्गस्य दुर्वारत्वादिति भावः। 'तत्त्वतोऽपीति' (९) एकत्र मृषा रूपस्यान्यत्र सत्यत्वनियमादित्यर्थः, वस्तुतोऽबाधितया नियततररूपं कारणपारतन्त्र्यं कार्ये सर्वमिद्धमेवाकस्माद्भावनिरासस्येत्थमेवोपपादनात्, स्वभाववादे पूर्वोत्तरक्षणानामेव हेतुहेतुमद्भावेन कारणान्तरनिरासेऽपि तेषां मिथोऽवध्यवधिमद्भावेन नैयत्याक्षतेस्तुच्छदेकान्ते स्वभावशब्दार्थस्यैवानुपपत्तिरिति पुनरन्यदेतत्। सन्तानान्तरभाव-

स्वभावभेदा इति (१०) सन्तानान्तरभावस्य घटपटादिरूपस्य स्वभावभेदाः, क्षणिकनित्यापेक्षया नित्यानित्यादिरूपाः, स सुघट एवेति (१६४-१-१३) सुवर्णं कुण्डलीभूतं मृद् घटीभूतेत्यादिप्रत्ययादविच्छिन्नद्रव्यस्यैव कार्यीभावसिद्धेः, अन्यथा च्विप्रत्ययार्थस्यैवाघटनादिति भावः। ननु कारणस्य प्राक्कालवृत्तितयैवापेक्षणात् कथमविच्छिन्नस्य कार्यीभाव इत्याशङ्कायां दृष्टान्तमाह-स्वभावान्तरानपेक्षणवदिति (१२),येन नयेन स्वभावान्तरानपेक्षणं तेन नयेनाविच्छिन्नस्य कारणस्य कार्यतां स्वीकुर्वतः परित्यागायोग इत्यर्थः। स को वा नय इति चेत्, इमे ब्रूमहे, नाशस्येवोत्पादस्य निर्हेतुकत्ववादी शुद्धपर्यायार्थिक एव, तदाह-उत्पित्सोरपीति (१३) हेतुं विनेव वस्तुनो विनाशशीलत्वे हेतुं विनैवोत्पादशीलत्वं न्याय्यम्, तत्र सौगतानामर्द्धजरतीयाश्रयणस्यायुक्तत्वादिति भावः। स्थितावप्येनं न्यायमतिदिशति-'एतेनेति' (१४) वस्तुन उत्पादविनाशयोः कारणानपेक्षत्वे व्यवस्थिते स्थितेरपि तत्त्वेन स्वाभाविकत्वं युक्तम्,क्वाचित्कत्वस्येव कादाचित्कत्वस्य स्वभावनियतत्वादिति भावः। नन्वेवमुत्पादादित्रयस्य कारणानपेक्षत्वे घटोत्पादाद्यर्थं दण्डग्रहणादौ प्रवृत्तिर्न स्यादित्याशङ्कायामाह-'तद्विशेष एवेति' (१६४-२-१) इत्थं चोत्पादस्य प्रायोगिकवैश्रसिकभेदेन द्विविधत्वाद् द्वितीये हेत्वनपेक्षायामपि प्रथमे तदपेक्षाध्रौव्यान्न प्रवृत्त्युच्छेद इति भावः। एतच्चोत्पादद्वैविध्यं 'उप्पाओ दुविअप्पो पओगजणिओ अ वीससा च' इत्यादिग्रन्थेन भगवता सम्मतिकारेणापि भणितमिति नास्मत्सम्प्रदायप्रतिकूलेयं कल्पनेति बोध्यम्, एवं सति कालादिहेतुपञ्चकसामग्र्याः कार्योत्पत्तिमात्रनियतत्वभङ्गनापसिद्धान्तभीस्तु गौणमुख्यभावेन तदभङ्गाद्धारणीयोक्तद्वैविध्यस्य प्रयोगविश्रसाप्राधान्येनैव व्यवस्थितेरिति दिग्। तत्र (७) तयोः पक्षयोर्मध्ये,तद्वतः स्थित्यादिमतः सकाशात्,सामर्थ्यात् (८)उत्पद्यमानादिद्रव्याभेदसामर्थ्यात्,त्रैलक्षण्यादिति

(९) स्थित्यादौ स्वाभिन्नद्रव्यगतोत्पत्त्यादेरव्यभिचारे दोषाभावादित्यर्थः। एतेनैव (९) स्थित्यादौ द्रव्यार्थतयोत्पत्त्यादिव्युत्पादनेनैव, स्याद्वादपक्षे तु तत्र भेदेऽप्यभेदाविरोधादित्यर्थः, 'येन हीति' (१०) द्रव्यार्थतयाऽभिन्नाः स्थित्यादयस्त्रैलक्षण्यं स्वीकुर्वन्त्येव,पर्यायार्थतया तु लक्षणमात्रेण भिद्यत एवेति भावः। 'प्रतिक्षणमिति' (११) एकत्रापि क्षणे एकत्र वस्तुनि रूपभेदेन त्रयाविरोधाद्वैश्रसिकानां चोत्पादादीनां प्रतिक्षणमनुपरमादिति भावः। कालभेदेन तु शुद्धैकपर्यायावच्छेदेनापि तदुपपद्यत इत्याह एतेनेति, 'तस्यान्वितेनेति' (१२) तस्य जीवादेरन्वितेन रूपेण किञ्चित्कालानुगतपर्यायेण, अन्यथा क्षणिकपक्षे, त्रुट्यदेकान्ते (१२) विगच्छत एकान्ते, न कुतश्चिदुपरमतीति (१६५–१–१) न कुतोऽपि भङ्गान्निवर्त्तत इत्यर्थः। तिष्ठति स्थितमित्यादि (३) स्थित्यादित्रयस्य सहवर्तिनः कालत्रयस्पर्शिद्रव्याभेदोपचारेण नव भङ्गाः प्रत्येकं स्थूलकालकृतवर्त्तमानत्वादिशालिस्थित्यादौ सूक्ष्मकालकृतावस्थाभेदेन नवेत्येकाशीतिर्भङ्गा भावनीयाः, यच्चाद्यक्रियाप्रागभावं चरमक्रियाध्वंसं चादाय भविष्यत्वमतीतत्वं च वाच्यमिति न वर्त्तमानक्रियाकाले कालत्रयवाचिप्रत्ययप्रयोगसम्भव इति नैयायिकादीनां मतम्, तत्स्थूलव्यवहारैकान्ताभिनिवेशविजृम्भितम्, नयविशेषेणैकदा त्रैकाल्यस्पर्शस्य सर्वसम्मतत्वात्, अन्यथोत्पत्तिकाले उत्पन्नत्वप्रत्ययस्य भ्रान्तत्वापत्तेः, सामुदयिकोत्पादे स्थूलकालभाविनि ऐकत्विकोत्पादानां सूक्ष्मकालस्पर्शिनां त्रैकाल्यस्पर्शे तु न काचिदनुपपत्तिः। न चोत्पत्तिकाले उत्पन्नत्वमस्ति प्राक्काले च पक्वत्वं नास्तीत्यत्र विशेषकारणं पश्यामः। प्रत्युतैवं किञ्चित्पक्वं किञ्चित्पच्यत इति निर्द्धारणानुपपत्तिः, सिद्धासिद्धसाधारणक्रमाश्रयणपरित्यागेन क्रियाविवेकस्य क्रियावत्त्रैकाल्यस्पर्शपक्षपातित्वात्, तस्माद्वर्त्तमानक्रियाकाले कालस्य स्थूलत्वसूक्ष्मत्वाभ्यां त्रैकाल्यं नयविशेषेण यौक्तिकमेवेति

सिद्धा यथोक्तभङ्गाः । सैद्धान्तिकास्तु क्रियाकालनिष्ठाकालयोरभेदात्सभागसन्ततिपतिततया निष्ठाभविष्यत्तयोः समावेशाच्चैकक्षणेऽपि कालत्रयवाचिप्रत्ययार्थाविरोधमादिशन्ति ॥ जीवादिपदार्थेपूक्तभङ्गान् सत्तायामपि योजयति, तथा सन्मात्रमित्यादिना (१६५–१–६) ॥ तस्यैवेति (६), सत्तायाः स्वरूपेण स्थाष्णुत्वे द्रव्यत्वादिविशेषितत्वेनोत्पत्त्यादिशालित्वात्तदाश्रिताः सर्वेऽपि भङ्गा अविरुद्धा इति भावः । न च विशेषणभेदेन पदार्थभेदे मानाभावादेतदनुपपत्तिः, विशिष्टाधारताभेदकल्पनापेक्षया विशिष्टभेदकल्पनस्यैव युक्तत्वात्, भेदाभेदवादे चानन्तपदार्थकल्पनागौरवाद्यनवकाशात् ॥ 'सत्तेति' (११) सत्ता महासामान्यरूपा, सकलपदार्था सकलाः पदार्था विद्यन्ते आश्रयत्वेन यस्याः सा तथा, विश्वरूपैर्नानाप्रकारैः सहिता, तुर्विशेषणे, किं विशिनष्टीत्याकाङ्क्षायामाह, अनन्तपर्याया (११) द्रव्यत्वाद्यनन्तविशेषणविशिष्टानन्तपर्यायैर्विशेषणभूतैर्विश्वरूपत्वं विशेष्यत इत्यर्थः । अत एव स्थितिभङ्गोत्पादार्था (११) स्थितिभङ्गोत्पादा अर्था लक्षणानि यस्याः सा तथा, स्वरूपेणैका सप्रतिपक्षा (११) च पररूपेण नास्तित्वसमावेशाद्भवतीति संवादकारिकार्थः । केवलाभावप्रतिपत्तौ बौद्धोक्तामनुपपत्तिमुपन्यस्य जात्यन्तरे वस्तुनि तदेकांशत्वान्नेयमिति तं प्रत्यनुशासितुमाह कथं पुनरित्यादिना (१६५–२–१) ॥ तस्य अभावस्य, तत्कारणत्वविरोधात् प्रवृत्तिकारणत्वविरोधात्, तत्कारणत्वे स्वलक्षणतापत्तेरिति अर्थक्रियाकारित्वस्यैव स्वलक्षणलक्षणत्वादिति भावः । प्रमाणान्तरस्यापि (३) कार्यानुमानस्यापि, अस्तु तर्हि स्वभावलिङ्गकानुमानविषयत्वमनुपलब्धिलिङ्गकानुमानविषयत्वं वाऽभावस्येत्यत्राह–'स्वभावानुमानत्वेऽपीत्यादि' (४) स्वभावासम्भवादिति, (५) तथा च स्वभावहेतोरभावप्रतिवन्धासम्भवान्न तस्य तद्विषयत्वमिति भावः । 'पर्युदासवृत्त्येति' (५) अनुप-

लब्धेर्वस्त्वन्तरोपलब्धिरूपत्वान्न तल्लिङ्गकानुमानविषयत्वमप्यभावस्येत्यर्थः । 'सर्वथाऽपीत्यादि' (५)॥ तद्विषयोऽपि (५) प्रमाणविषयोऽपि, भावस्वभावो (६) धिकरणात्माऽभावः, कस्यचिदेकस्य (६) भूतलादेः, कैवल्यमितरस्य घटादेः, वैकल्यमिति स्याद्वादिमतं नावधारयतीति, इतेरावृत्त्योभयत्र सम्बन्धादन्वयः । सर्वथाऽप्यभावस्य प्रमाणविषयत्वसिद्धिरिति ब्रुवन्नपि देवानांप्रियो दुर्विदग्धबौद्धः, (६) । अस्य वादिनः स्वप्रतिज्ञाविरोधं दोषमाह–सोऽयमित्यादिना (७) ॥ वस्तुस्थितिमाह–'परमार्थत इति (७) ॥' 'निःश्रेणीपदबन्धाभ्यामिवेति (९)' निःश्रेणीस्थानीयो भावस्वभाव आश्रयत्वात्, पदबन्धस्थानीयश्चाभावस्वभाव आश्रितत्वादिति भावः । आरोहाधिकरणत्वतत्कारणत्वाभ्यां तौल्यं भावनीयम् । भावधर्मभूताभावानभ्युपगमे भावा एव प्रमेयमित्यवधारणं न स्यात्, एवकारार्थानिरुक्तेः अवस्तुभूतस्याप्यभावस्य ग्रहार्थं प्रमाणान्तरापत्तेर्द्वे एव प्रमाणे इत्यस्य व्याघातश्चेत्याह–ताथागतानां हीत्यादि (११) ॥ अर्थस्येति (१६६–१–२) अर्थस्य विषयस्य, असम्भवेऽभावात् प्रत्यक्षेऽपि प्रमाणता (२) सिद्धा, प्रतिबद्धस्वभावस्य धूमादिव्याप्तिनिरूपकस्वभावस्य वह्न्यादेः, तद्धेतुत्वे (२) अनुमानज्ञानहेतुत्वे, समं तुल्यम्, द्वयं प्रमाणद्वयम्, विषयनास्तिताज्ञानं तु तथा भवत्केन वार्यते इत्यत्राह–'मानसस्य त्विति (२)' प्रतिबन्धनियमाभावादिति (३) अयमनुमानभिन्नत्वे हेतुः, अक्षानपेक्षत्वाच्च प्रत्यक्षभिन्नत्वं ध्रुवमिति तृतीयप्रमाणापत्तिरिति भावः । तस्माद्वस्तुधर्मत्वेनाभावस्य विषयत्वमेष्टव्यमित्युपसंहरति इति यथोदितदोषमित्यादिना (१६६–१–३) ॥ ११ ॥

अभावैकान्तपक्षेपि भावापह्नववादिनाम् । बोधवाक्यं प्रमाणं न केन साधनदूषणम् ॥ १२ ॥

"भावा येन निरूप्यन्ते तद्रूपं नास्ति तत्त्वतः । यस्मादेकमनेकं च रूपं तेषां न विद्यते ॥१॥" इति सर्वनैरात्म्यप्रतिज्ञानमभावैकान्तपक्षः । तस्मिन्नपि बोधस्य स्वार्थसाधनदूषणरूपस्य, वाक्यस्य च परार्थसाधनदूषणात्मनोऽसंभवात्तत्, न प्रमाणम् । ततः केन साधनं नैरात्म्यस्य, स्वार्थं परार्थं वा ? केन दूषणं बहिरन्तश्च भावस्वभावानाम् ? इति सविस्मयं वचनम् । स्वपरपक्षसाधनदूषणोपगमे तु सत्सिद्धिरविप्रतिषिद्धा । तथा हि । बहिरन्तश्च परमार्थसत्, तदन्यतरापायेपि साधनदूषणप्रयोगानुपपत्तेः । इति प्रकृतार्थपरिसमाप्तौ किं त्रिलक्षणपरिकल्पनया ? सपक्षसत्त्वाभावेपि साध्याभावासंभूष्णुतानियमनिर्णयैकलक्षणमात्रादेव साधनस्य साध्यसिद्धौ समर्थनत्वोपपत्तेः, सपक्षसत्त्वस्याभावेपि सर्वानित्यत्वे साध्ये सत्त्वादेः साधनस्योपगमात्, स्वयमसिद्धधर्मिधर्मस्यापक्षधर्मत्वेपि प्रमाणास्तित्वे चेष्टसाधनस्य हेतोः समर्थनात्, क्वचित्तदभावेपि चान्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयवैकल्ये हेतुत्वाघटनात् । स्यादाकूतं ते—' न परमार्थतः साधनदूषणप्रयोगो नैरात्म्यवादिनः सिद्धो यतो बहिरन्तश्च परमार्थतः सद्वस्तु साध्यते । न चासिद्धाद्धेतोः साध्यसिद्धिः, अतिप्रसङ्गात्' इति तदपि प्रलापमात्रं, तत्त्वतो नैरात्म्यस्य साध्यत्वायोगादनैरात्म्यस्य दूष्यत्वायोगवत् । न हि संवृत्त्या साध्यसाधनव्यवस्था युक्तिमती, परमार्थतोपगमे नैरात्म्यस्य तत्सिद्धेरपि सांवृतत्वप्रसङ्गात्, सांवृतात्साधनाद्वास्तवसिद्ध्यसंभवात् । शून्यसिद्धेरपरमार्थत्वे पुनरनिराकृतसद्भावस्य सर्वस्याशून्यतानुषङ्गात् तत्साधनं विरुद्ध(ता)मापद्येत । स्वरूपस्य वेद्यवेदकभावादिशून्यस्य स्वतोगतेः साधनोपन्यासेन तत्र समारोपव्यवच्छेदेपि समानं, कुतश्चित्तत्त्वतः समारोपव्यवच्छेदे संवृत्त्या साध्यसाधनव्यवस्थितेरयोगात्, तत्समारोपव्यवच्छेदस्याप्यपरमार्थत्वे पुनरव्यवच्छिन्नसमारोपस्य बाध्यबाधकभावादिशून्यस्य संविन्मात्रस्य स्वतोपि गत्यनुपपत्तेस्तदशून्यत्वप्रसङ्गात् ।

ततो हेयोपादेयोपायरहितमयमह्रीकः केवलं विक्रोशति तत्त्वोपप्लववादिवत् । अथ संवृत्त्या हेयस्य सद्वादस्योपादेयस्य च शून्यस्य तन्निषेधविधानोपायस्य चाभ्युपगमान्न शून्यवादिनो निर्लज्जता नापि विक्रोशमात्रमिति मतिः, तर्हि यदि संवृत्त्यास्तीति स्वरूपेणेत्ययमर्थस्तदा कृतमनुकूलं, केवलं वक्तात्मनो वैयात्य सूचयति, न्यायबलान्न्यकृतस्यापि स्वार्थसिद्धिविकलं प्रलपतो वार्ष्ट्यमात्रप्रसिद्धेः, स्वरूपेणास्तित्वस्य संवेदनवत्सर्वभावाना स्याद्वादिभिरभीष्टत्वात् तेन तदनुकूलकरणात्संप्रतिपत्तेः । अथ पररूपेण नास्ति इत्ययमर्थस्तथैव स्याद्वादिना, नाम्नि विवादात् एतदपि तादृगेव, पररूपेण ग्राह्यग्राहकाभावादिविकलसंवेदनवत्सर्वपदार्थानां नास्तित्वे विवादाभावात् । तदेतेनोभयानुभयविकल्पः प्रत्युक्तः । यदि हि सवृत्त्यास्तीति स्वपररूपाभ्यामस्ति नास्ति चेत्ययमर्थस्तदा न कश्चिद्विवादः । अथानुभयरूपेणानुभयमित्यर्थस्तदापि न कश्चिद्विवादः, तथाग्रे समर्थयिष्यमाणत्वात् । अथ तदस्ति मृपात्मनेति समानश्चर्चः, मृपात्मनास्तित्वस्य स्वपरोभयानुभयरूपास्तित्वविकल्पचतुष्टयेऽयुक्तदोषानुपङ्गात् । सवृतिर्विचारानुपपत्तिरित्ययुक्तं, तदभावात् । न हि विचारस्याभावे कस्यचिद्विचारेणानुपपत्तिः शक्या वक्तुम् । नापि शून्यवादिनः किञ्चिन्निर्णीतमस्ति, यदाश्रित्य कचिदन्यत्रानिर्णीतेर्थे विचारः प्रवर्तते, तस्य सर्वत्र विप्रतिपत्तेः । तथा चोक्तं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके " किञ्चिन्निर्णीतमाश्रित्य विचारोन्यत्र वर्तते । सर्वविप्रतिपत्तौ तु कचिन्नास्ति विचारणा ॥ १ । " इति । सोयं सौगतस्तदभावात्तत्परप्रतिपादनार्थं शास्त्रमुपदेष्टार वा वर्णयन् सर्वं प्रतिक्षिपतीति कथमनुन्मत्तः ? स्वयमुपदिष्ट विचारप्रतिपादनार्थं शास्त्रादिक प्रतिक्षिपन्नुन्मत्त एव स्यात् । अथ मायोपमाः स्वप्नोपमाश्च सर्वे भावा इति सुगतदेशनासद्भावान्न सर्वं प्रतिक्षिपन्नुन्मत्तः स्यादिति मत, तर्हि शौद्धोदनेरेव तावत्प्रज्ञापराधोयं लोकातिक्रान्तः कथं बभूवेत्यतिविस्मयमास्महे । तन्मन्ये पुनरद्यापि कीर्त्तयन्तीति किं वत परमन्यत्र मोहनीयप्रकृतेः ? स्वप्नादिविभ्रमवत्सर्वस्य विभ्रमाददोष इति चेत्, तर्हि

विभ्रमे किमविभ्रमो विभ्रमो वा ? तत्राविभ्रमे कथं सर्वविभ्रमः ? विभ्रमेपि कुतोसौ ? विभ्रमेपि विभ्रमे सर्वत्राविभ्रमप्रसङ्गात्। विभ्रमविभ्रमेपि विभ्रमोपगमे स एव पर्यनुयोगोनवस्था चेति दुरन्तं तमः। तदुक्तं न्यायविनिश्चये "तत्र शौद्धोदनेरेव कथं प्रज्ञापराधिनी। बभूवेति वयं तावद्बहु विस्मयमास्महे ॥ १ ॥ तत्राद्यापि जडासक्तास्तमसो नापरं परम्। विभ्रमे विभ्रमे तेषां विभ्रमोपि न सिद्ध्यति ॥ २ ॥" इति। ततो नाभावैकान्तः श्रेयान्, स्वेष्टस्य दृष्टबाधनाद्भावैकान्तवत् ॥ १२ ॥

बोधवाक्यमिति (१७०-१-१) [मूले] समाहाराश्रयणाद्बोधो वाक्यं च न प्रमाणम्, तर्हि केन साधनं दूषणं च स्यादिति, साधनदूषणप्रयोगान्यथानुपपत्त्याऽभावैकान्तो निरसनीय इति कारिकोत्तरार्द्धार्थः। **भावा येनेत्यादि** (२) कारिका धर्मकीर्त्तेः, **किं त्रिलक्षणकल्पनयेति** (६) एकलक्षणादेवोक्तानुमानादर्थसिद्धेरित्यर्थः। एकलक्षणस्यैव प्रयोगस्य समर्थनत्वं परदृष्ट्या साधयति **सपक्षसत्त्वाभावेऽपीत्यादिना** (६) ॥ सर्वं क्षणिकं सत्त्वादित्यत्र दृष्टान्ताभावेन सपक्षसत्त्वाभावः, प्रमाणास्तित्वमस्ति, इष्टसाधनादित्यत्र पक्षधर्मत्वाभावः परैरपीष्यत इति विपक्षव्यावृत्तिरेकमेव लक्षणं हेतोरवशिष्टं, तत्रैवास्माकमन्यथानुपपत्तिशब्देनाग्रह इति तत्त्वम्। अत्र हेत्वसिद्ध्युद्भावने—नैरात्म्यमपि तत्त्वतो माध्यमिकस्य न सिद्ध्येदित्याह—**स्यादाकूतं ते इत्यादिना** (८) **तत्साधनं विरुद्धतामापद्येतेत्यन्तेन**, (१२) ॥ स्वसंवेदनज्ञानमहिम्नैव नैरात्म्यं सेत्स्यति समारोपव्यवच्छेदार्थं पुनः साधनादर इत्यत्राह भाष्यकृत्, **तत्र समारोपव्यवच्छेदेऽपि समानमिति** (१३) समानं साधनविरोधदूषणं प्रागुक्तमिति बोध्यम्। उक्तमेव विवृणोति वृत्तिकृत् **'कुतश्चिदिति'** (१७०-१-१३) समारोपव्यवच्छेदः परमार्थतः कल्पनया वा, आद्ये प्रमाणान्तरेण तत्सिद्धौ काल्पनिकसाधनप्रयोगो धीविडम्बनामात्रम्, अन्त्ये तत्त्वतः समारोपाव्यवच्छेदाद-

शून्यतेति भावः । संवृतेः स्वरूपपररूपाभ्यामस्तित्वनास्तित्वपर्यवसानेन स्वसमयार्थसिद्धिमुद्घोषयति यदीत्यादिना (१७०–२–२) प्रत्येकपक्षपर्यवसितमुभयानुभयपक्षयोरपि पर्यवस्यतीत्याशयवानाह भाष्यकृत् 'तदेतेनेति' (५)॥ न कश्चिद्विवाद इति (६) क्रमार्पितोभयविषयस्य तृतीयभङ्गस्यास्मदभिमतत्वादेवेत्यर्थः, 'तथाग्र इति' (७) प्रत्येकरूपेणोभयभिन्नभेदस्योभयत्रैव पर्यवसानादिति भावस्याग्रे स्फुटीकरिष्यमाणत्वादित्यर्थः, तदस्तीति (७) तदस्ति नास्ति उभयमनुभयं चेत्यर्थः । उक्तदोषानुपङ्गादिति (८) मृषैकान्तस्याप्यघटमानत्वेनानेकान्तसत्यत्वे पर्यवसानादित्यर्थः । नहि विचारस्येत्यादि (८)॥ विप्रतिपत्तिनिरासानुकूलो विमर्शो विचारः शून्यवादिनश्च क्वचिदप्यनिर्णयेन विचाराभावे तदनुरूपा संवृतिर्दूरोत्सारितैव, विशेषणाभावे विशिष्टाभावादिति भावः । किं वत परमन्यत्र मोहनीयप्रकृतेरिति (१४) महामोहदोषान्न किञ्चिदधिकं विभ्रमकारणं येन वहुवादिसम्मतमपि पदार्थसद्भावं निरस्य नैरात्म्यं शिक्षयति भिक्षून् शौद्धोदनिरित्यर्थः ॥१२॥

परस्परनिरपेक्षभावाभावैकान्तपक्षोपि न क्षेमङ्करः, तत एवेत्यावेदयन्ति स्वामिनः ॥

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ।

भावाभावयोरेकतरप्रतिक्षेपैकान्तपक्षोपक्षिप्तदोषपरिजिहीर्षया सदसदात्मकं सर्वमभ्युपगच्छतोपि वाणी विप्रतिषिध्येत, तयोः परस्परपरिहारस्थितिलक्षणत्वात् । न हि सर्वात्मना कञ्चिदर्थं सन्त तथैवासन्तमाचक्षाणः स्वस्थः, स्वाभ्युपेतेतरनिरासविधानकरणाच्छून्यावबोधवत् । यथैव हि सर्वथा शून्यमवबुध्यमान स्वसवेदनादन्यतो वा स्वाभ्युपेत शून्यतैकान्तं निरस्यति, अनभ्युपेतं प्रमाणादिसद्भाव विधत्ते, तथैव भावाभावयोस्तादात्म्यैकान्तं ब्रुवन् स्वाभ्युपेतं सदसदात्मकं निरस्यति, स्वयमनभ्युपगत तु भावैकान्तम-

भावैकान्तं वा विधत्ते, अभावस्य भावेऽनुप्रवेशाद्भावस्य वा सर्वथाऽभावे, अन्यथा भावाभावयोर्भेदप्रसङ्गात्। ततो नोभयोरैकात्म्यं श्रयः स्याद्वाद विद्विषां, सदसतोः परस्परपरिहारस्थितिलक्षणविरोधात् जात्यन्तरस्यैव दर्शनेन सर्वथोभयैकात्म्यस्य बाधनात्तद्वत्। तथा साङ्ख्यस्यैवमुभयैकात्म्यं ब्रुवतस्त्रैलोक्यं व्यक्तेरपैति, नित्यत्वप्रतिषेधात्, अपेतमप्यस्ति विनाशप्रतिषेधादिति वा, तदन्यथापेतमन्यथास्तीति स्याद्वादावलम्बनमन्धसर्पविलप्रवेशन्यायमनुसरति, त्रैलोक्यस्य व्यक्तात्मनाऽपेतत्वसिद्धेः अव्यक्तात्मनास्तित्वव्यवस्थितेः "हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्। सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥१॥" इति वचनात्। परमार्थतो व्यक्ताव्यक्तयोरेकत्वान्न स्याद्वादावलम्बनं कापिलस्येति चेत्, न, तथा विरोधस्य तदवस्थानात्। प्रधानाद्वैतोपगमे तु नोभयैकात्म्यमभ्युपगतं स्यात्। तथा स्वयमनभ्युपगच्छतोपि कथञ्चिदुभयात्मकतत्त्ववादप्रवेशे कथमन्धसर्पविलप्रवेशन्यायानुसरणं न स्यात्? यदृच्छया तदवलम्बनात्। ततो नैवमप्युभयैकान्तः सिध्यति, विरोधात् ॥

'जात्यन्तरस्यैवेति' (१७२-१-२) प्रत्येकद्वयरूपोभयाभ्युपगमकृतदोषस्य जात्यन्तरवादेनैव गुडशुण्ठीन्यायेन निरासमुकरत्वादिति भावः। तदाहुः श्रीहेमसूरिपादाः॥ "गुडोऽपि कफहेतुः स्यान्नागरं पित्तकारणम्। द्वयात्मनि न दोषोऽस्ति गुडनागरभेषजे ॥१॥" इति, तत्त्वं चावच्छेदकभेदेनोभयवृत्त्याऽवच्छेदकभेदगर्भितोभयात्मकैकस्वभावेन वा, आद्येऽवच्छेदकद्वयोरपि प्रतीतिबलेन व्याप्यवृत्तित्वादुभयोर्व्याप्यवृत्तित्वम्, अन्त्ये च स्यात्पदोपसन्दानेन भावाभावपदयोर्विशेषपरतेति निरूपितं नयरहस्येऽस्माभिः। तद्वत् (२) शून्यावबोधवत्। एवं (३) उपाधिभेदराहित्येन परस्परनिरपेक्षतया, त्रैलोक्यं(२) प्रधानं, व्यक्तेः (३) महदादेः, नित्यत्वप्रतिषेधादपैति नश्यति। अपेतं ध्वस्तम्, अप्यस्ति प्रकृतेर्विनाशप्रतिषेधात् तत् त्रै-

लोक्यम्, अन्यथा (१७२-१-३) महदादिरूपेणापेतम्, अन्यथा (४) प्रकृतिरूपेणास्तीत्यकामेनापि साङ्ख्येन स्याद्वादे प्रवेष्टव्यमित्यर्थः ॥

अवाच्यतैकान्तेप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥ १३ ॥

योपि पक्षत्रयोपक्षिप्तदोपजिहासया सर्वथाऽवक्तव्यं तत्त्वमवलम्बेत, सोपि कथमवक्तव्य ब्रूयात्, येनावाच्यतैकान्तेप्यवाच्यमित्युक्तिर्युज्यते । तदयुक्तौ कथं परमवबोधयेत् ? स्वसंविदा परावबोधनायोगात्। तदनवबोधने कथ परीक्षितास्य स्यात् ? तस्यापरीक्षकत्वे च कुतोन्यस्माद्विशेपः सिध्येत् ? अपरीक्षिततत्त्वाभ्युपगमस्य सर्वेपा निरङ्कुशत्वात् । नैप दोषः स्वलक्षणमनिर्देश्यं प्रत्यक्ष कल्पनापोढमित्यादिवत्सर्वमवाच्य तत्त्वमिति वचनेपि विरोधाभावात् परप्रतिपादनस्यान्यथानुपपत्तेः, इति कस्यचिद्वचन, तदप्यसत्, यदसतः समुदाहृतम् । सिद्धसाध्यव्यवस्था हि कथामार्गः । न च स्वलक्षणस्य सर्वथाप्यनिर्देश्यत्वोपगमे ' स्वलक्षणमनिर्देश्यम् ' इति वचनेन तस्य निर्देश्यत्वमविरुद्धम् । अथ स्वलक्षणं नैतद्वचनेनापि निर्देश्यं स्वलक्षणसामान्यस्यैव तेन निर्देश्यत्वात् स्वलक्षणे निर्देशासभवात्, न ह्यर्थे शब्दाः सन्ति तदात्मानो वा येन तस्मिन् प्रतिभासमाने तेपि प्रतिभासेरन्निति वचनात् । कल्पनारोपित तु स्वलक्षणं तद्धर्मो वा निर्देश्यत्वशब्देन निर्दिश्यते, विरोधाभावादिति मतं, तर्हि स्वलक्षणमज्ञेयमपि स्यात् । यथैवाक्षविषयेऽभिधानं नास्ति तथाक्षज्ञाने विपयोपि नैवास्ति । ततस्तत्र प्रतिभासमानेपि न प्रतिभासेत । शक्यं हि वक्तुं ' यो यत्राधेयतया नास्ति तदात्मा वा न भवति स तस्मिन् प्रतिभासमानेपि न प्रतिभासते यथाक्षविपये स्वलक्षणे शब्दः । नास्ति चाक्षज्ञाने तथाक्षविपयस्तदात्मा वा न भवति, इति । यदि पुनर्विपयसामर्थ्यादक्षज्ञानस्योत्पादात्तत्र प्रतिभासमाने स प्रतिभासत एवेति मतं, तदप्यसम्यक्, करणशक्तेरपि प्रतिभासप्रसङ्गात् ।

तथा हि । न केवल विषयबलाद्दृष्टेरुत्पत्तिः, अपि तु चक्षुरादिशक्तेश्च । विषयाकारानुकरणाद्दर्शनस्य तत्र विषयः प्रतिभासते. न पुनः करण, तदाकाराननुकरणादिति चेत्, तर्हि तदर्थवत्करणमनुकर्त्तुमर्हति, न चार्थं, विशेषाभावात् । दर्शनस्य कारणान्तरसद्भावेपि विषयाकारानुकारित्वमेव सुतस्येव पित्राकारानुकरणमित्यपि वार्त, स्वोपादानमात्रानुकरणप्रसङ्गात् । विषयस्यालम्बनप्रत्ययतया स्वोपादानस्य च समनन्तरप्रत्ययतया प्रत्यासत्तिविशेषाद्दर्शनस्य उभयाकारानुकरणेप्यनुज्ञायमाने रूपादिवदुपादानस्यापि विषयतापत्तिः, अतिशयाभावात्, वर्णादेर्वा तद्वदविषयत्वप्रसङ्गात् । दर्शनस्य तज्जन्मरूपाविशेषेपि तदध्यवसायनियमाद्बहिरर्थविषयत्वमित्यसारं, वर्णादाविवोपादानेप्यध्यवसायप्रसङ्गात्, अन्यथोभयत्राध्यवसायायोगात् । न हि रूपादावध्यवसायः संभवति, तस्य दर्शनविषयत्वोपगमात्, दर्शनस्यानध्यवसायात्मकत्वात्, तस्याध्यवसायात्मकत्वे स्वलक्षणविषयत्वविरोधात् । अदोषोऽयं, प्रत्यक्षस्याध्यवसायहेतुत्वादित्यनिरूपिताभिधान सौगतस्य, तत्राभिलापाभावात् । यथैव हि वर्णादावभिलापाभावस्तथा प्रत्यक्षेपि तस्याभिलापकल्पनातोऽपोढत्वादनभिलापात्मकार्थसामर्थ्येनोत्पत्तेः । प्रत्यक्षस्य तदभावेऽप्यध्यवसायकल्पनायां प्रत्यक्षं किं नाध्यवस्येत् ? स्वलक्षणं, स्वयमभिलापशून्यमपि प्रत्यक्षमध्यवसायस्य हेतुर्न पुना रूपादिरिति कथं सुनिरूपिताभिधानम् ? यदि पुनरविकल्पकादपि प्रत्यक्षाद्विकल्पात्मनोऽध्यवसायस्योत्पत्तिः, प्रदीपादेः कज्जलादिवद्विजातीयादपि कारणात्कार्यस्योत्पत्तिदर्शनादिति मतं, तदा तादृशोऽर्थाद्विकल्पात्मनः प्रत्यक्षस्योत्पत्तिरस्तु, तत एव तद्वत् । जातिद्रव्यगुणक्रियापरिभाषाकल्पनारहितादर्थात्कथं जात्यादिकल्पनात्मक प्रत्यक्षं स्यादिति चेत्, प्रत्यक्षात्तद्रहिताद्विकल्पः कथ जात्यादिकल्पनात्मकः स्यादिति समान पर्यनुयोगः । विकल्पस्य जात्यादिविषयत्वाददोष इति चेत्, न, प्रत्यक्षवत्तस्य जात्यादिविषयत्वविरोधात् । यथैव हि प्रत्यक्षस्याभिलापससर्गयोग्यता नास्ति तथा तत्समन्तरभाविनोपि विकल्पस्य, तस्याप्यभिलपनेनाभिलप्यमानेन

च जात्यादिना ससर्गासंभवात्, स्वोपादानसजातीयत्वात्। कथमिदानीं विकल्पो जात्याद्यध्यवसायीति चेत्, न कथमपि। तथा हि। किञ्चित्केनचिद्विशिष्टं गृह्यमाणं कचिद्विशेषणविशेष्यतत्सम्बन्धव्यवस्थाग्रहणमपेक्षते दण्डिवत्, "विशेषणं विशेष्यं च सम्बन्धं लौकिकीं स्थितिम्। गृहीत्वा सकलय्यैतत्तथा प्रत्येति नान्यथा ॥१॥" इति वचनात्। न चायमियतो व्यापारान् कर्तुं समर्थः, प्रत्यक्षवलोत्पत्तेरविचारकत्वात् प्रत्यक्षवत्। कश्चिदाह 'नैतदेवं दूषणं, प्रत्यक्षादेवाध्यवसायोत्पत्त्यनभ्युपगमात्, शब्दार्थविकल्पवासनाप्रभवत्वान्मनोविकल्पस्य, तद्वासनाविकल्पस्यापि पूर्वतद्वासनाप्रभवत्वादित्यनादित्वाद्वासनाविकल्पसन्तानस्य प्रत्यक्षसंतानादन्यत्वात्, विजातीयाद्विजातीयस्योदयानिष्टेः, तदिष्टौ यथोदितदूषणप्रसङ्गात्' इति, तस्याप्येवंवादिनः शब्दार्थविकल्पवासनाप्रभवात्ततस्तर्हि कथमक्षबुद्धेः रूपादिविषयत्वनियमः सिद्ध्येत्? मनोराज्यादिविकल्पादपि तत्सिद्धिप्रसङ्गात्। अथाक्षबुद्धिसहकारिणो वासनाविशेषादुत्पन्नाद्रूपादिविकल्पादक्षबुद्धे रूपादिविषयत्वनियमः कथ्यते। तत एवाक्षबुद्धिविषयत्वनियमोप्यभिधीयताम्। अन्यथा रूपादिविषयत्वनियमोपि मा भूदविशेषात्। रूपाद्युल्लेखित्वाद्विकल्पस्य तद्बलात् तदभ्युपगमे वा प्रत्यक्षबुद्धेरभिलापससर्गोपि तद्वदनुमीयेत, तद्विकल्पस्याभिलापेनाभिलप्यमानजात्याद्युल्लेखितयोत्पत्त्यन्यथानुपपत्तेः, तदनुमिताच्चाक्षबुद्ध्यभिलापससर्गाद्रूपाद्यभिलापससर्गोनुमीयेत॥ इति शब्दाद्वैतवादिमतसिद्धिः॥ न च सौगतो दर्शनस्याभिलापससर्गमुपैति। तस्मादयं किञ्चित्पश्यन् तत्सदृशं पूर्वं दृष्टं न स्मर्तुमर्हति तन्नामविशेषास्मरणात्। तदस्मरन्नैव तदभिधानं प्रतिपद्यते। तदप्रतिपत्तौ तेन तत्र योजयति। तदयोजयन्नाध्यवस्यतीति न क्वचिद्विकल्पः शब्दो चेत्यविकल्पाभिधानं जगत्स्यात्। ननु च नामसश्रयस्य विकल्पस्य प्रत्यात्मवेद्यत्वात् सर्वेषामभिधानस्य च श्रोत्रबुद्धौ प्रतिभासनात्कथमविकल्पाभिधानं जगदापद्येतेति चेत्, न, तत्राप्यध्यवसायासंभवात्, न च स्वसंवेदनेनेन्द्रियप्रत्यक्षेण वा निर्विकल्पकेन विकल्पोभिधानं वा गृहीतं नाम,

अतिप्रसङ्गात् । तथा हि । वहिरन्तर्वा गृहीतमप्यगृहीतकल्पं क्षणक्षयस्वलक्षणसवेदनादिवत् । तथा चायातमचेतनत्वं जगतः । ननु च नास्मन्मते कश्चित्किञ्चिन्नीलादिक सुखादिकं वा संविदन्पूर्वसविदितं तत्सदृशं तन्नामविशेषं च क्रमशः स्मरति, पूर्वसविदितसवेद्यमाननामविशेषयोः सहैव स्मरणात्, तत्संस्कारयोर्दृश्यदर्शनादेव सहप्रबोधात् । ततोयं किञ्चित्पश्यन्नेव तत्सदृशं पूर्वदृष्टं स्मर्तुमर्हति, तदैव तन्नामविशेषस्मरणात्, ततस्तस्येदं नामेत्यभिधानप्रतिपत्तेः, ततस्तस्य दृश्यस्याभिधानेन योजनाद्व्यवसायघटनान्न किञ्चिद्दूषणमित्यपरः, तस्यापि दृश्यमाननाम्नः पूर्वदृष्टस्य च तत्सदृशस्य सहस्मृतिरयुक्तैव, स्वमतविरोधात्, सकृत्स्मृतिद्वयानभ्युपगमात् कल्पनयोर्बाध्यबाधकभावात् । कथमन्यथाऽश्वं विकल्पयतोपि गोदर्शने कल्पनाविरहसिद्धिः । नाममात्रेपि सहस्मृतिरयुक्तैव, तन्नामाक्षरमात्राणामपि क्रमशोध्यवसानात्, अध्यवसानाभावे स्मृतेरयोगात् क्षणक्षयादिवत् । न च युगपत्तदध्यवसायः संभवति, विरोधात् । अन्यथा संकुला प्रतिपत्तिः स्यात्, नीलमिति नाम्नि नकारादीनां परस्परविविक्तानामप्रतिपत्तेः । किञ्चाभिलापस्य पदलक्षणस्य तदंशानां च वर्णाना नामविशेषस्य स्मृतावसत्या व्यवसायः स्यात् सत्यां वा ? नाम्नो नामान्तरेण विनापि स्मृतौ केवलार्थव्यवसायः किं न स्यात् ? स्वाभिधानविशेषापेक्षा एवार्था निश्चयैर्व्यवसीयन्ते इत्येकान्तस्य त्यागात्, नाम्नः स्वलक्षणस्यापि स्वाभिधानविशेषानपेक्षस्यैव व्यवसायवचनात् । तदवचने वा न क्वचिद्व्यवसायः स्यात्, नामतदंशानामव्यवसाये नामार्थव्यवसायायोगात् । दर्शनेनाव्यवसायात्मना दृष्टस्याप्यदृष्टकल्पत्वात् सकलप्रमाणाभावः, प्रत्यक्षस्याभावेऽनुमानोत्थानाभावात् । तत एव सकलप्रमेयापायः, प्रमाणापाये प्रमेयव्यवस्थानुपपत्तेः । इत्यप्रमाणप्रमेयत्वमशेषस्यावश्यमनुपज्येत । तदुक्तं न्यायविनिश्चये " अभिलापतदंशानामभिलापविवेकतः । अप्रमाणप्रमेयत्वमवश्यमनुपज्यते ॥ १ ॥ " इति, अभिलापविवेकत इत्यभिलापरहितत्वादिति व्याख्यानात् । प्रथमपक्षोपक्षिप्तदोषपरि-

जिहीर्षया तन्नामान्तरपरिकल्पनायामनवस्था । नामतदंशानामपि नामान्तरस्मृतौ हि व्यवसाये नामान्तरतदंशानामपि व्यवसायः स्वनामान्तरस्मृतौ सत्यामित्यनवस्था स्यात् । तथा च तदेवाप्रमाणप्रमेयत्वमवश्यमनुपज्येत । अत्रापीयमेव कारिका योज्या, 'अभिलापविवेकतः' इत्यभिलापनिश्चयत इति व्याख्यानात् । प्रतिपादितदोषभयात्तद्वयमशब्दं सामान्यं व्यवस्यन् स्वलक्षणमपि व्यवस्येत्, सामान्यलक्षणस्वलक्षणयोर्हि भेदाभावात् । नन्वर्थक्रियाकारिणः परमार्थसतः स्वलक्षणत्वात्, ततोन्यस्यानर्थक्रियाकारिणः संवृतिसतः सामान्यलक्षणत्वात्तयोः कथमभेदः स्यात् ? "यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसत् । अन्यत्संवृतिसत् प्रोक्ते ते स्वसामान्यलक्षणे ॥१॥" इति वचनात्, तयोरभेदे सांवृतेतरस्वभावविरोधात् । इति कश्चित्, सोपि स्वदर्शनानुरागी न परीक्षक, स्वेनासाधारणेन रूपेण लक्ष्यमाणस्य सामान्यस्यापि स्वलक्षणत्वघटनाद्विशेषवत् । यथैव हि विशेष स्वेनासाधारणेन रूपेण सामान्यासंभविना विसदृशपरिमाणात्मना लक्ष्यते तथा सामान्यमपि स्वेनासाधारणेन रूपेण सदृशपरिणामात्मना विशेषासंभविना लक्ष्यते इति कथं स्वलक्षणत्वेन विशेषाद्भिद्यते ? यथा च विशेष. स्वामर्थक्रिया कुर्वन् व्यावृत्तिज्ञानलक्षणामर्थक्रियाकारी तथा सामान्यमपि स्वामर्थक्रियामन्वयज्ञानलक्षणा कुर्वत् कथमर्थक्रियाकारि न स्यात् ? तद्बाह्या पुनर्वाहदोहाद्यर्थक्रिया यथा न सामान्य कर्तुमुत्सहते तथा विशेषोपि केवलः, सामान्यविशेषात्मनो वस्तुनो गवादेस्तत्रोपयोगात् । इत्यर्थक्रियाकारित्वेनापि तयोरभेद. सिद्धः । एकस्माद्द्रव्यात्कथञ्चिदभिन्नत्वसाधनाच्च सामान्यविशेषपरिणामयोरभेदोभ्युपगन्तव्यः । तथा च सामान्य व्यवस्यन्नपि कथञ्चित्तदभिन्नस्वलक्षणं न व्यवस्यतीति कथमुपपत्तिमत् ? अथ न द्रव्य नापि तत्परिणामः सामान्य विशेषो वा स्वलक्षणम् । किं तर्हि ? ततोन्यदेव किञ्चित् सर्वथा निर्देष्टुमशक्यं प्रत्यक्षबुद्धौ प्रतिभासमानं तदनुमन्यते । एवमपि जात्यन्तर सामान्यविशेषात्मकं वस्तु स्वलक्षणमित्यायात, तस्यैव परस्परनि-

रपेक्षमामान्यविशेषतद्वद्द्रव्येभ्योन्यस्य प्रत्यक्षसविदि प्रतिभासनात्, निरन्वयक्षणक्षयिनिरंशपरमाणुलक्षणस्य सुष्ठुप्रत्यक्षेणालक्षणात्। तत्र च व्यवसायोक्षजन्मा स्वाभिधानविशेषनिरपेक्ष' किन्न स्यात् ? यतोयं स्वलक्षणमशब्दं न व्यवस्येत्। ततः सामान्यवत्स्वलक्षणमध्यवस्यन्नाभिलापेन योजयेत्। ततो न किञ्चित्प्रमेयमनभिलाप्यं नाम श्रुतज्ञानपरिच्छेद्यं, शब्दयोजितस्य श्रुतविषयत्वोपपत्तेः। प्रत्यक्षस्यानभिलाप्यत्वे स्मार्तं शब्दानुयोजनं दृष्टसामान्यव्यवसायो यद्यपेक्षेत सोर्थो व्यवहितो भवेत् तदिन्द्रियज्ञानात्सामान्यव्यवसायो न स्यात्। यथैव हि शब्दसंसृष्टार्थग्राहिसविकल्पकप्रत्यक्षवादिनामर्थोपयोगे सत्यपि स्मार्त्तशब्दानुयोजनापेक्षेऽक्षज्ञाने तदर्थो व्यवहितः स्यात् स्मार्तेन शब्दानुयोजनेन इति तदर्थादक्षज्ञानं सविकल्पकं न स्यात्, तदभावेपि भावात्तद्भावेपि चाभावादिति दूषणम्॥ 'अर्थोपयोगेपि पुनः स्मार्त्तं शब्दानुयोजनम्। अक्षधीर्यद्यपेक्षेत सोर्थो व्यवहितो भवेत्॥१॥' इति वचनात् समुद्भाव्यते, तथैव शब्दानुयोजनासहितार्थग्राहिविकल्पवादिनामपि सौगतानामिन्द्रियज्ञानमुपयोगे सत्यपि विकल्पोत्पत्तौ स्मार्तं शब्दानुयोजनं विकल्पो यद्यपेक्षेत तदा तदिन्द्रियज्ञानं स्वविषयनामविशेषस्मरणेन तद्योजनेन च व्यवहितं स्यात्। तथा च नेन्द्रियज्ञानाद्व्यवसायः स्यात् तदभावे भावात्तद्भावेपि चाभावादिति दूषणमुद्भावनीयं, 'ज्ञानोपयोगेपि पुनः स्मार्त्तं शब्दानुयोजनं। विकल्पो यद्यपेक्षेताध्यक्षं व्यवहित भवेत्' ॥१॥ इति वक्तुं शक्यत्वात्, अर्थशब्देन प्रत्यक्षस्याभिधानाद्वा, क्वचिद्विषयेण विषयिणो वचनाद्धर्मकीर्तिकारिकाया एव तन्मतदूषणपरत्वेन व्याख्यातु शक्यत्वात्। यथा च प्रागजनको योर्थोभिलापसंसृष्टार्थेन्द्रियबुद्धेः स पश्चादपि स्मार्तशब्दानुयोजनेपि तस्योपयोगाविशेषादजनक एव तेनार्थापायेपि नेत्रधीः शब्दाद्वैतवादिनः स्यादिति धर्मकीर्तिदूषणम्, 'यः प्रागजनको बुद्धेरुपयोगाविशेषतः। स पश्चादपि तेन स्यादर्थापायेपि नेत्रधी' ॥१॥' इति वचनात्। तथा यदिन्द्रियज्ञानं स्मार्तशब्दयोजनात्प्रागजनकं सामान्यव्यवसा-

यस्य तत् पश्चादप्युपयोगाविशेषात्, तेनेन्द्रियज्ञानव्यपायेपि सामान्यव्यवसायः स्यात्, तस्य प्रागिवाजनकत्वात्, तदन्तरेणापि दर्शनमयं गौरिति निर्णय स्यात्, 'यः प्रागजनको बुद्धेरुपयोगाविशेषतः। स पश्चादपि तेनाक्षज्ञोपायेपि कल्पना ॥१॥ इति प्रतिपादनात्। तदेवं न दर्शनादध्यवसायः सभवति येन दर्शनस्य स्वालम्बनसमनन्तरप्रत्ययजन्मतत्सारूप्याविशेषेपि स्वविषयप्रतिनियम सिध्येत्। किञ्च सौगतानामनभिलाप्यस्य विशेषस्यानुभवे कथमभिलाप्यस्य स्मृतिः ? अत्यन्तभेदात् स्वलक्षणात्सामान्यस्य, सह्यविन्ध्यवत्। न हि सह्यस्यानुभवे विन्ध्यस्य स्मृतिर्युक्ता। विशेषसामान्ययोरेकत्वाध्यवसायाद्विशेषस्यानुभवे सामान्ये स्मृतिर्युक्तैवेति चेत्, कुतस्तयोरेकत्वाध्यवसायः ? न तावत्प्रत्यक्षात्, तस्य सामान्याविषयत्वात्, नापि तत्पृष्ठभाविनो विकल्पादनुमानाद्वा, तस्य विशेषाविषयत्वात्, तदुभयविषयस्य च कस्यचित्प्रमाणस्यानभ्युपगमात। तदन्यतरविषयेण तयोरेकत्वाध्यवसायेऽतिप्रसङ्गात्, त्रिविप्रकृष्टेतरयोरप्येकत्वाध्यवसायोक्षज्ञानात्प्रसज्येत। किं च शब्दार्थयोः सवन्धस्यास्वाभाविकत्वे कथमर्थमात्रं पश्यन् शब्दमनुस्मरेत् शब्दं श्रृण्वन् तदर्थं वा ? यतोयं व्यवसायः सौगतस्य सिध्येत। न हि सह्यमात्र पश्यन विन्ध्यस्य स्मरेत्। स्यान्मत शब्दस्य विकल्पेन तदुत्पत्तिलक्षणसवन्धोपगमात् तस्य च दृश्येनैकत्वाध्यवसायाद्विशेषस्यानुभवेपि शब्दं तदर्थं वा विकल्पं स्मर्तुमीष्टे व्यवहारी, प्रवृत्तिदर्शनात्, इति, तदप्यसम्यक्, कुतश्चिदपि दृश्यविकल्पयोरेकत्वाध्यवसायासभवस्योक्तत्वात्। ततः स्वत एव व्यवसायात्मकत्वमभ्युपगन्तव्य प्रत्यक्षस्य, न पुनरभिधानजात्यादियोजनापेक्षया। चक्षुरादिज्ञानस्य कथञ्चिद्व्यवसायात्मकत्वाभावे दृष्टसजातीयस्मृतिर्न स्यात्, दानहिंसाविरतिचेतसः स्वर्गादिफलजननसामर्थ्यसवेदनवत् क्षणक्षयानुभवनवद्वा। व्यवसायात्मनो मानसप्रत्यक्षाद्दृष्टसजातीयस्मृतिरिति चेत्, न, अव्यवसायात्मनोऽक्षज्ञानात् समनन्तरप्रत्ययाद्व्यवसायात्मनो मनोविज्ञानस्योत्पत्तिविरोधाद्विकल्पवत्, निर्विकल्पात्म-

कत्वान्मानसप्रत्यक्षस्याभिलापससर्गयोग्यताप्रतिभासाभावात्। अव्यवसायात्मनोऽप्यक्षज्ञानाददृष्टविशेषसहकारिणः स्यादुत्पत्तिरिति चेत्, किमेवमक्षज्ञानस्य स्वयं व्यवसायात्मन एवादृष्टविशेषादुत्पत्तिर्नेष्यते ? तेन नीलादेर्व्यवसाये तत्क्षणक्षयस्वर्गप्रापणशक्त्यादेरपि व्यवसायप्रसङ्गान्नाक्षज्ञान व्यवसायात्मकमिष्टमिति चेत्, तत एव मानसप्रत्यक्षमपि व्यवसायात्मकं मा भूत्। तस्य क्षणक्षयाद्यविषयत्वान्न तद्व्यवसायित्वमिति चेत्, तत एवाक्षज्ञानस्यापि तन्माभूत्। तथा सति नीलादेः क्षणक्षयादिरन्यः स्यात्, तद्व्यवसायेऽप्यव्यवसायात् कूटात्पिशाचादिवदिति चेत्, तर्हि मानसप्रत्यक्षेणापि नीलादिव्यवसायेपि क्षणक्षयादेरव्यवसायात्ततो भेदोस्तु तद्वदेव, सर्वथा विशेषाभावात्। कथञ्चिदक्षज्ञानस्य व्यवसायात्मकत्वे तु मानसप्रत्यक्षकल्पनापि न स्यात्, प्रयोजनाभावात्, तत्प्रयोजनस्याक्षज्ञानादेव सिद्धेः। एतेनाव्यवसायात्मकमपि मानसप्रत्यक्षं कल्पयन् प्रतिक्षिप्तः। ननु 'निर्विकल्पकादप्यक्षज्ञानादभ्यासप्रकरणबुद्धिपाटवार्थित्ववशाद्दृष्टसजातीये स्मृतिर्युक्ता, सविकल्पकप्रत्यक्षादपि तदभावे तदनुपपत्तेः, प्रतिवाद्याद्युपन्यस्तसकलवर्णपदादिवत् स्वोच्छ्वासादिसख्यावद्वा। न हि सविकल्पकप्रत्यक्षेण तद्व्यवसायेपि कस्यचिदभ्यासाद्यभावे पुनस्तत्स्मृतिर्नियमतः सिद्धा, यतः सविकल्पकत्वप्रकल्पनं प्रत्यक्षस्य फलवत्।' इति कश्चित्, सोऽप्यप्रज्ञाकर एव, सर्वथैकस्वभावस्य प्रत्यक्षस्य क्वचिदभ्यासादीनामितरेषां च सकृदयोगात्। तदन्यव्यावृत्त्या तत्र तद्योग इति चेत्, न, स्वयमतत्स्वभावस्य तदन्यव्यावृत्तिसभवे पावकस्याशीतत्वादिव्यावृत्तिप्रसङ्गात्, तत्स्वभावस्य तदन्यव्यावृत्तिकल्पने फलाभावात्, प्रतिनियततत्स्वभावस्यैवान्यव्यावृत्तिरूपत्वात्। सविकल्पकप्रत्यक्षज्ञानवादिना त्वेषामवग्रहेहावायज्ञानादनभ्यासात्मकादन्यदेवाभ्यासात्मकं धारणाज्ञान प्रत्यक्षम्। तेषा तदभावे परोपन्यस्तसकलवर्णपदादिष्ववग्रहादित्रयसद्भावेपि न स्मृतिः। तत्सद्भावे तु स्यादेव, सर्वत्र यथासंस्कारं स्मृत्यभ्युपगमात् क्वचिदभिलापसंस्कारादभिलापस्मृतिवत्।

प्रत्यक्षेऽभिलापसंस्कारविच्छेदे कुतस्तद्विकल्याभिलापसंयोजनं यतः सामान्यमभिलाप्यं स्यात् । प्रत्यक्षगृहीतमेव हि स्वलक्षणमन्यव्यावृत्तं साधारणाकारतया प्रतिभासमानं सामान्यं विकल्पाभिलापयोजनेनाभिलाप्यमिष्यते । न च ग्राहकप्रत्यक्षस्मृतिप्रतिभासभेदाद्विषयस्वभावाभेदाभावः, सकृदेकार्थोपनिबद्धदर्शनप्रत्यासन्नेतरपुरुषज्ञानविषयवत् । यथा हि सकृदेकस्मिन्नर्थे पादपादावुपनिबद्धदर्शनयोः प्रत्यासन्नविप्रकृष्टपुरुषयोर्ज्ञानाभ्यां विषयीकृते स्पष्टास्पष्टप्रतिभासभेदान्न स्वभावभेदः पादपस्य, तस्यैकत्वाव्यतिक्रमात्, तथैव ग्राहकयोः प्रत्यक्षस्मृतिप्रतिभासयोर्भेदेऽपि स्पष्टमन्दतया न तद्विषयस्य भेदः, स्वलक्षणस्यैकस्वभावत्वाभ्युपगमात् । तथा च मन्दप्रतिभासिनि स्वलक्षणे घटादौ शब्दविकल्पविषये तत्संकेतव्यवहारनियमकल्पनायामपि कथञ्चिदभिधेयत्वं वस्तुनः सिद्धम् । इत्यलं प्रसङ्गेन, रूपादिस्वलक्षणे शब्दाभावादवाच्यमेव तदिति ब्रुवाणस्य प्रत्यक्षेऽर्थस्याभावात्तस्याज्ञेयत्वप्रसक्तेः समर्थनात्, रूपाद्यर्थस्य कथञ्चिज्ज्ञेयत्वेऽभिलाप्यत्वस्यापि साधनात् प्रकृतार्थपरिसमाप्तौ प्रसङ्गस्य निष्प्रयोजनत्वात् पर्याप्तं प्रसङ्गेन । तस्मादवाच्यतैकान्ते यदवाच्यमित्यभिधानं तदसमञ्जसं, स्वलक्षणमनिर्देश्यमित्यादिवत्स्ववचनविरोधात् तदप्यसद्, यदसतः समुदाहृतमिति प्रतिपादनात् । यथैव हि स्वलक्षणमनिर्देश्यमित्यवाच्यतैकान्ते वक्तुमशक्यं तथा प्रत्यक्षं कल्पनापोढमित्यपि, प्रत्यक्षेऽभिलापसंसर्गाभावे विकल्पानुत्पत्तिप्रसङ्गस्य निवेदितत्वात्, तत्सद्भावे सविकल्पकत्वसिद्धेः ।

अवाच्यतैकान्तं दूषयति–अवाच्यतैकान्त इत्यादिना (१७२–२–३) [मूले], अवाच्यशब्देनाप्यवाच्यतापत्तेः सर्वथाऽवाच्यत्वं नास्तीत्यर्थः । स्वलक्षणानिर्देश्यत्वादिप्रतिपादकवचनवत् सर्वमवाच्यं तत्त्वमित्यस्य नानुपपत्तिरित्याशङ्कते–स्वलक्षणमित्यादिना (६) ॥ एवमसिद्धेनासिद्धं साधयतो महातार्किकत्वापत्तिरित्याह भाष्यकृत्–तदप्यसदित्यादिना, (७)

यदसतः (१७२–२–७) अप्रसिद्धस्य, समुदाहृतं (८) भावे क्तप्रत्ययात् समुदाहरणं निदर्शनमिति यावत्, तदप्यसद् अयुक्तम्, सिद्धेन साध्यव्यवस्थापनस्यैवोदाहरणप्रयोजनत्वादिति भावः। तदाह वृत्तिकृत् 'सिद्धेत्यादि' (८) अनिर्देश्य-शब्देनापि कल्पितं सामान्यरूपं स्वलक्षणं निर्दिश्यते, न तु तात्त्विकम्, अर्थस्य शब्दाविषयत्वात्, सामान्य एव तत्संकेत-प्रवृत्तेरित्यादि शङ्कते–अथेत्यादि, (९) एवमर्थस्यावाच्यत्वेऽज्ञेयत्वमपि स्यादित्याह 'तर्हीति' (११) ॥ यदि पुनरिति (१४) स्वलक्षणरूपविषयसामर्थ्यादुत्पन्नत्वान्निर्विकल्पकदर्शने प्रतिभासमाने स्वलक्षणरूपोऽर्थः प्रतिभासत इति युक्तं मत-मित्यर्थः। नैवम्, ज्ञानजनकत्वेन ज्ञानभास्यत्वनियमे मानाभावादित्याह तदप्यसम्यगित्यादिना (१४) ॥ करणशक्ते-रपि (१४) इन्द्रियनिष्ठज्ञानजननशक्तेरपि, ज्ञाने तज्जन्यत्वं न तद्भासकत्वनियतं किन्तु तदाकारानुकारित्वमित्याशङ्कते 'विष-याकारेत्यादि' (१७३–१–१) तत्रापि तज्जन्यत्वमेव नियामकमित्यतिप्रसङ्ग एवेत्याह भाष्ये 'तर्हीति' (२) तज्ज-न्यताविशेषस्तदाकारानुकरणनियामकोऽस्त्वित्यत्र शङ्कते 'तद्दर्शनस्येति' (२) एवं सति तदुपादेयतारूप एव विशेष आश्रीयतां स्वविषयविषयकत्वरूपसंवादार्थसमनन्तरप्रत्ययजन्यताया एवाभ्यर्हितत्वात्, तथा चार्थविषयतोच्छेद इत्यभि-प्रायवानाह 'स्वोपादानेति' (३) विषयोपादानोभयप्रत्ययत्वेऽप्याकारानुकरणस्य ज्ञाने नियमत उपादानविषयत्वापत्ति-रित्याह–'विषयस्येत्यादि' (३) ॥ वर्णादेः (५) रूपादेः, तद्वदुपादानवत्, प्रत्यक्षस्य (७) नीलादिदर्शनस्य, अध्य-वसायहेतुत्वात् (७) नामजातियोजनात्मकप्रत्यक्षहेतुत्वात्, यद्यप्येवं नीलाध्यवसायहेतुत्वेन दर्शनस्य नीलविषयत्वं तत्त्वेन च नीलाध्यवसायहेतुत्वमित्यन्योन्याश्रयः स्फुट एवोपढौकते, तथाप्यभिलापशून्यत्वेन नाध्यवसायहेतुता रूपादिवदिति स्फुटतरं

दूषणमाह–तत्राभिलापाभावादित्यादिना (८)॥ विकल्पजननशक्तेरविकल्पकेऽपि दर्शने स्वीकारात्तयैव तद्धेतुत्वे दोषाभाव इत्यभिप्रायवानाह–यदि पुनरिति (१०) तस्याः शक्ते रूपाद्यर्थसाधारण्यादविकल्पकोच्छेदापत्तिरत्र दूषणमित्याह–'तदेत्यादि' (११) तादृशो विकल्परहितात्, नद्धत्प्रदीपादेः कज्जलोत्पत्तिवत्, विकल्पस्येति(१२) नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नामेत्यर्थः। दृष्टेऽपि कारणबाधाद्बाधः स्यादित्याह-प्रत्यक्षवदित्यादि (१३) प्रत्यक्षवद्दर्शनवत्, नस्य सविकल्पकस्य, स्वोपादानसजातीयत्वादिति (१७३-२-१) प्रत्यक्षलक्षणस्वकीयोपादानसदृशत्वाद्विकल्पस्येत्यर्थः। सुहृद्भावेन पृच्छति–कथमिदानीमिति(१)॥ सुहृद्भावेनैवोत्तरयति-'न कथमपीति' क्षणिकवादिदर्शने जात्यादियोजनं विकल्पे न कथमप्युपपद्यते दीर्घकालिकत्वात्तदुपयोगस्येत्यर्थः। एतदेव प्रपञ्चयति–तथाहीत्यादिना (१)॥ ततो (६) विकल्पात्, मनोराज्यादीति (७) वासनाविशेषप्रभवविकल्पसमानविषयत्वे निर्विकल्पस्याभ्युपगम्यमाने मनोराज्यादिविकल्पसमानविषयस्यापि दर्शनस्य प्रसङ्गादित्यर्थः, तत एव (८) तदुत्पन्नत्वहेतोरेव, 'अभिधीयतामिति' रूपादिविषय(यो)त्वोत्पन्नत्वेन रूपादिशब्दविषयत्ववद्विकल्पस्य समनन्तरप्रत्ययोत्पन्नत्वेन तद्विषयत्वस्य न्यायप्राप्तत्वादिति भावः। व्यतिरेके प्रतिबन्दिमाह अन्यथेति (८), तद्बलात् (९) विकल्पबलात्, प्रत्यक्षबुद्धेः(९) निर्विकल्पकदर्शनस्यापि, अभिलापसंसर्गोऽपि नामविषयकत्वमपि, तद्वद्रूपादिविकल्पवत्, तद्विकल्पस्य (९) निर्विकल्पकत्वाभिमतज्ञानस्थलीयशब्दार्थविकल्पस्य, 'अनुमीयेतेति (१०)' रूपादिकमभिलापसंसर्गवत् शब्दाविषयकज्ञानाविषयत्वादक्षबुद्धिविकल्पादिवदिति प्रयोगस्य सुकरत्वादिति भावः। किञ्चाविकल्पाध्यक्षाभ्युपगमे स्मरणानुपपत्तिरपि सौगतस्येत्याह-न च सौगत इत्यादि (११)॥ तत्सदृशमिति सदृशार्थदर्शनेन संस्कारोद्बोधसौलभ्यार्थमुक्तम्, तन्नामविशे-

षास्मरणात् (११) पूर्वप्रतिपन्ननामास्मरणात्, न च नामविनिर्मुक्तमेव स्मरणं भविष्यतीति शङ्कनीयम्, तस्याप्रसिद्धेरित्यर्थः, 'नैवेति' (१७३–२–११) इदमस्य नामेति न प्रतिपद्यत इत्यर्थः। तदप्रतिपत्तौ तेन नाम्ना न तद्वाच्यं योजयति इदमेतत्पदवाच्यमिति, ततो नाध्यवस्यति (१२) तदेतदिति शब्देन नाभिलापं शक्नोतीत्यर्थः, तदादिबुद्धिस्थत्वादिनाऽनुगतस्य तद्घटत्वादेरिव तद्घटादिनाम्नोऽपि शक्यतावच्छेदकत्वात्, एवं च न क्वचिद्विकल्पः शाब्दज्ञानं वाच्यतासम्बन्धेन नामविषयमध्यक्षपृष्ठभाविज्ञानं वा शब्दो वा तज्जन्यजनकान्यतमः सम्भवेदित्यविकल्पाभिधानस्य जगत आपत्तिः। ननु नामग्रहणं तावत् पटुकरणस्य श्रोत्रेन्द्रियादेव सम्पद्यते, ततोऽर्थज्ञानं च व्युत्पन्नस्य वक्त्रभिप्रायावच्छेदकत्वेनानुमितिरूपमेवेति नोक्तापत्तिरित्याशङ्कते–'ननु चेति' नामसंश्रयस्येत्यत्र (१३) नाम संश्रयः कारणमस्येति बहुव्रीहिः, दूषयति–तत्रापीत्यादिना (१४)॥ तत्रापि विकल्पश्रोत्रबुद्ध्योरपि, अध्यवसायासम्भवात् (१४) तत्त्वेन निश्चयासम्भवादित्यर्थः। तदेतन्नाम्नोः सह स्मृतिपक्षे योजनासम्भवमाशङ्कते–ननु चेत्यादिना, (१७४–१–१) दूषयति–'तस्यापीति'॥ नन्वश्वविकल्पकाले गोविकल्प इदन्त्वावच्छिन्ने तादात्म्येनाश्वज्ञानस्य तादात्म्येन गोज्ञानप्रतिबन्धकत्वादेव माभूत्, दृश्यमानदृष्टनाम्नोः स्मृतिस्तु समूहालम्बनरूपा बाधाभावाद्भवन्ती केन वार्यतामित्यस्वरसादाह–'नाममात्रेऽपीत्यादि' (६) नकारादीनां नकारैकारलकारानुस्वाराणामानुपूर्वीग्रहोपायश्च निर्विकल्पकक्षणिकज्ञानपक्षे न शोभते, तत्पृष्ठभाविसविकल्पकज्ञानं च नामयोजनापेक्षमिति नामग्रहे तदपेक्षायामन्योन्याश्रयादिदोषा दुर्निवारा इति द्रष्टव्यम्। सविकल्पकनिश्चयमात्रस्य नामयोजनापेक्षत्वे दोषान्तरमाह किञ्चेत्यादिना, (८)॥ तदयमशब्दमिति, (१७४–२–३) अशब्दं शब्दयोजनारहितं, व्यवस्यन्निश्चिन्वन्, व्यवस्येन्निश्चिनुयात्,

सामान्येऽपि स्वलक्षणशब्दप्रवृत्त्यविरोधमुपपादयति–‘ स्वेनेत्यादि ’ (६) सामान्यविशेषात्मन (११) इति केवलस्य विशेषस्य गवादित्वेनानुपलक्षणात्तत्र प्रवृत्त्ययोगादिति भावः । तदुक्तं वाक्यपदीये “गौः स्वरूपेण न गौर्नाप्यगौर्गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गौरिति,” गोत्वसामान्यक्रोडीकृता व्यक्तिर्गोव्यवहारहेतुरित्येतदर्थः, सामान्यविशेषशबलाकारस्य गोः स्वरूपेण तथात्वमिति तु ज्यायः, अभेदस्तुल्यत्वम्, (१२)॥ एकस्मादित्यादिना (११) चापृथक्त्वमभिहितमिति विशेषः, तदभिन्नं (१२) सामान्याभिन्नम्, इतीत्यनन्तरं सौगतवचनमिति शेषः, कथमुपपत्तिमत् (१३) कथं प्रमाणोपपन्नम्, जात्यन्तरं (१४) पानकरमन्यायेन सङ्कलनात्मकं, न व्यवस्येत् (१७५–१–२) नार्थविग्रहरूपतया गृह्णीयात्, नाभिलापेन योजयेत् (३) ईहिताभिलापवैशिष्ट्येन नावयात्, श्रुतज्ञानेति (३) श्रुतज्ञानजनितसंस्कारमात्रोपनीतशब्दप्रकारकग्रहविषयस्य श्रुतनिश्रितमतिज्ञानविषयत्वोपपत्तेरित्यर्थः । “अर्थाभिधानप्रत्ययास्तुल्यनामधेया” इति नयाश्रयणाद् घटत्वेनैव घटतन्नाम्नोर्मतिज्ञानेऽभेदभानं नाम्नः सविकल्पकसामग्रीग्राह्यतया प्रातिस्विकरूपेण वा तद्व्यक्तौ तद्व्यक्तिस्वरूपतत्ताया इव नामतदवयवेष्वपि नामतदवयवानामेव स्वरूपतः तत्र प्रकारत्वसम्भवात्, घटोऽयमित्यपायधारणोत्तर घटनामकत्वेन घटपदवाच्यत्वेन श्रुतज्ञानोदयध्रौव्यमते तु यथाश्रुत एवार्थः, एतत् स्वसमयरहस्यमस्मत्कृतज्ञानबिन्द्वादितोऽवसेयम् । स्मार्त्तशब्दानुयोजनापेक्षत्वे शब्दाद्वैतवादिनं प्रति यत्सौगतेन दूषणं दत्तं, तत्तं प्रत्यावर्त्तेतेति वक्तुमुपक्रमते–‘प्रत्यक्ष(ज्ञान)स्येत्यादि’ (४) स (४) प्रत्यक्षज्ञानगृहीतोऽर्थः, व्यवहितो भवेत् (४) स्मार्त्तेन शब्दानुयोजनेनान्तरितः स्यात्, तथा च स्मृतिसामग्र्या बलवत्त्वात्तत्सामान्यप्रत्यक्षं न स्यादेव, तदाह–‘तदिन्द्रियेति’ (४) कारिकाया अपरावृत्तावप्यर्थशब्दस्य प्रत्यक्षपरत्वे नानुपपत्तिरि-

त्याह–'अर्थशब्देनेति' (११) यदपि प्रागजनकस्यार्थस्य स्मार्त्तशब्दानुयोजनानन्तरं साभिलापबुद्धावप्यजनकत्वमेवेत्यादि दूषणान्तरं शब्दाद्वैतवादिनं प्रति धर्मकीर्त्तिना दत्तं तदपि तं प्रत्यावर्त्तत एवेत्याह–यथा चैत्यादिना (१७५–१–१२)॥ अध्यवसायः सम्भवति, (१७५–२–३) निश्चयकार्यं सिद्ध्यति, स्वालम्बनेत्यादि (३) अध्यक्षमूलकाध्यक्षे योजनीयम् । स्वविषयप्रतिनियमः सिद्ध्येत्, (३) न तु विकल्पवद्भिन्नविषयत्वं स्यादित्यर्थः। अपि च विशेषसामान्ययोर्दर्शन स्मृतिविषयत्वनियमे स्मृत्यनुभवयोः समानविषयत्वनियमभङ्गप्रसङ्गः स्यादित्याह 'किञ्चेत्यादिना' (४)॥ विशेषसामान्ययोरिति' (५) तथा च घटत्वेन सह गृहीताभेदघटविषयकज्ञानत्वेन घटत्वप्रकारकघटविशेष्यकस्मृतौ हेतुत्वान्न दोष इति भावः। त्रिविप्रकृष्टेतरयोरिति (७) स्वभावदेशकालान्यतरविप्रकृष्टतदविप्रकृष्टयोरित्यर्थः। अस्वाभाविकत्व (८) इति, शशविषाणवत्तुच्छत्व इत्यर्थः। 'कथमिति' (८) अपरसम्बन्धिस्मारकैकसम्बन्धिज्ञानासिद्धेरित्यर्थः, 'विकल्प्येनेति' (९) विकल्पोत्पत्तौ तदुपहितस्याप्युत्पत्तिरिति मते सिद्धो विकल्प्येन सामान्यादिना शब्दस्य सम्बन्ध इति भावः। अभिधानजात्यादियोजनापेक्षया (१२) अभिधानजात्याद्युपस्थितिकल्पनामपेक्ष्य, कथञ्चिद् व्यवसायात्मकत्वाभावेऽपायधारणात्मना घटत्वादिप्रकारकपरिणामाभावे, 'दानेति' (१३) निश्चयत्वेन स्मृत्यहेतुत्वे दानाद्यनुभवे वस्तुतस्तदात्मकस्वर्गप्रापणशक्तिक्षणक्षयानुभवात्तत्स्मृतिः स्यात्, सा च न जायते ततो निर्विकल्पकघटादिदर्शनस्वीकारे तज्जातीयस्मृतिर्न स्यादिति भाष्याक्षरार्थः। 'उत्पत्तिविरोधादिति' (१४) अव्यवसायस्य व्यवसायोपादानत्वायोगादित्यर्थः, कारणबाधामुक्त्वा स्वरूपबाधामाह–'निर्विकल्प(ल्पात्मक)कत्वादिति' (१४) मानसप्रत्यक्षेणापि हि निर्विकल्पकेनैव भाव्यम्, अन्यत्र प्रत्यक्षयोग्य-

ताभावात्तत्र चाभिलापसंसर्गयोग्यतायाः शब्दवाच्यतायाः प्रतिभासाभावात्कथं निश्चयत्वं नाम जात्यादियोजनात्मकस्यैव तच्चादिति भावः । सहकारिशक्तिविशेषेणैव प्रतिनियमो भविष्यतीत्याशङ्कते–अव्यवसायात्मनोऽपीत्यादि, (१७६–१–१) एवं सति सङ्ग्राहकत्वलाघवात् सप्रकारकप्रत्यक्षत्वमेवादृष्टविशेषजन्यतावच्छेदकमस्तु अनन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनो दर्शनेऽपि तदनन्तरापाये क्वचित्कश्चिदेव प्रकार इति नियमार्थं तत्तत्प्रकारकप्रत्यक्षत्वं तत्तददृष्टजन्यतावच्छेदकमित्येव वा कल्प्यताम्, इत्थं हि सप्रकारकमानसत्वस्यैवादृष्टविशेषजन्यतावच्छेदकत्वपक्षे घटादिचाक्षुषाद् घटादिव्यवहारेऽन्तरा नियमतो घटत्वादिप्रकारकमानसकल्पनाप्रयुक्तं यद् गौरवं तत्परिहृतं भवति । न च यत्र स्थाने त्वया सविकल्पकं चाक्षुषादि कल्पनीयम्, तत्र मया मानसमेवेति क्व गौरवम्, प्रत्युत सविकल्पके चाक्षुषत्वाद्यकल्पनाल्लाघवमेवेति वाच्यम्, तथापि घटत्वादिना घटं पश्यामीत्यादौ चाक्षुषत्वादिना मानसावगाहित्वांशे भ्रमकल्पनायां गौरवात् सविकल्पके चाक्षुषत्वाद्यभावकल्पनापेक्षया चाक्षुषत्वादिकल्पनाया एव युक्तत्वादित्यभिप्रायवान् शङ्कितारमाक्षिपति–'किमेवमिति' (१७६–१–२) ॥ तेनेति (२) तेन स्वयं व्यवसायात्मलक्षणेनाक्षज्ञानेन, नीलादेर्व्यवसाये (२) निश्चये, 'तत्क्षणक्षयेति' (२) तत्र यः क्षणक्षयस्वर्गप्रापणशक्त्यादिर्धर्मस्तस्य । निर्विकल्पकादपि दृष्टसजातीयस्मृत्युत्पत्तौ प्रकारान्तरमाशङ्कते–ननु निर्विकल्पकादपीत्यादि, (७)॥ तदभावे (८) अभ्यासाद्यभावे, तदनु(पप)त्पत्तेः (८) सजातीयस्मृत्यनुत्पत्तेः, प्रतिवा(व्या)द्युपन्यस्तेत्यादि, आद्येऽनभ्यासोऽस्मृतौ हेतुः, द्वितीयेऽर्थित्वाभावादिरिति बोध्यम्, सोऽप्यप्रज्ञाकर एवेति, (१०) उक्तवादिनः प्रज्ञाकरस्योपहासोयम्, सर्वथैकस्वभावस्य (१०) क्षणिकदर्शनैकस्वभावस्य, इतरेषां च (१०) प्रकरणादीनाम्, सकृदयोगात् (११) एकदाऽसम्भ-

वात्, क्रमिकावग्रहादिचतुष्टयपरिणामवदेकोपयोगवादे त्ववग्रहादिदशायामनभ्यस्तत्वादिनाऽस्मारकत्वं धारणादशायां त्वभ्यस्तत्वप्रकरणप्राप्तत्वपटुत्वेष्टत्वयोगात् स्मारकत्वमुपपद्यत इत्यर्थाल्लभ्यते, भूयस्त्वेनाभ्यासत्वं त्वप्रयोजकम्, शतमप्यन्धानां न पश्यतीति न्यायेन भूयसोऽपि दर्शनस्य निश्चयकार्यकारित्वायोगादिति द्रष्टव्यम्, तदन्यव्यावृत्त्या (१७६-१-११) अनभ्यासादिव्यावृत्त्या, तत्र (११) प्रकृते, तद्योगोऽभ्यासादिसम्बन्धः, 'स्वयमिति' अतत्स्वभावस्य तदन्यव्यावृत्तिकल्पने पावकस्य (११) शीतस्वभावरहितस्याशीतव्यावृत्तिः स्यान्न चैवमस्ति ततस्तदन्यव्यावृत्त्यवच्छेदकस्तत्स्वभावोऽवश्यमभ्युपगन्तव्य इति किन्तुच्छान्यव्यावृत्तिकल्पनेनेति भावः। सविकल्पकेत्यादि, (१२) ये धारणाज्ञानमभ्यासात्मकमवग्रहादिभ्यः पृथगिच्छन्ति तेषां जैनानां धारणाभावादेव प्रतिवाद्युपन्यस्तवर्णादावस्मृत्युपपत्तिरिति भावः। यथा संस्कारमिति (१४) न हि यावद्धारितं तावत्स्मर्यते, ननु कथमेतदुपपद्यते, धारणाजन्यतावद्विषयकसंस्कारसत्त्वे यथाधारणामेव स्मृत्युत्पत्तेः सम्भवात्, न च यावदंशे उद्बोधकसम्पत्तिस्तावदंश एव संस्कारेण स्मृतिजननादुक्तोपपत्तिः, उद्बोधकस्य सामान्यत एव हेतुत्वाद्विशिष्य तस्य स्मृतिहेतुत्वे तत एवानतिप्रसङ्गादनुभवादेरपि स्मृतिहेतुत्वानापत्तेरिति चेत्, सत्यम्, परिणामवादे आंशिकोद्बोधकसमवधानतदभावाभ्यामखण्डसंस्कारध्वंसे खण्डसंस्कारोत्पत्तावनुगतसंस्कारसामान्यसत्त्वे चानुपपत्तेरभावात्, तत्रापि संस्कारसामान्यस्यानुभवव्यापारस्यावश्यकत्वात्, इत्थमेव 'चउदसपुव्वी मणुओ देवत्ते तं न संभरइ सव्वं। देसंमि होइ भयणा' इत्यादि प्रवचनोक्तं सङ्गच्छते, देवजन्मप्रत्ययकर्मणा द्वादशाङ्गार्थविषयसमूहालम्बनसंस्कारस्य देशे सङ्कुचितस्यैवोत्पादनादित्यादिकं प्रतिपादितमात्मख्यातावस्माभिः। इत्थमेव रोगकालादिनाप्यांशिकसंस्कारनाशोपपत्तिः, तत्र खण्डसंस्कारो-

त्पादस्यैवाखण्डसंस्कारनाशत्वेन तस्यार्थसिद्धत्वात्, एतच्च संस्कारसविषयकत्वपक्ष एव युज्यते, तत्तद्रोगादीनां तत्तत्पुरुषीयसंस्कारन्यूनविषयसंस्कारहेतुत्वेनैव तद्व्यवस्थापनात् । न च तत्र भूयः संस्कारमध्ये कतिपयनाशोपगमादुपपत्तिः, पदवाक्यशास्त्रतदर्थज्ञानस्थले पदतदंशादिनानासंस्कारकल्पने गौरवात्, विशकलितसंस्कारेभ्यो विशिष्टस्मृत्यनुपपत्तेश्च, यत्तु संस्कारस्य निर्विषयकत्वे घटांशे उपेक्षात्मकाद्भूतलं घटवत्पटवच्चेतिनिश्चयाद्घटांशेऽपि स्मृतिप्रसङ्गः, स्वजन्यभावनायाः पटांशस्मृत्यनुरोधेन स्वीकारात्, सर्वांशापेक्षाजन्यानन्तसंस्कारकल्पनाभयेनोपेक्षान्यत्वेन संस्कारत्वावच्छिन्न एव हेतुत्वादिति, तदसत्, आंशिकोपेक्षाभेदानां स्मृतिहेतुतावच्छेदके सर्वांशोपेक्षाभेदानां च भावनाहेतुतावच्छेदके प्रवेशेनैव सामञ्जस्यात्, न चास्मिन् मते द्विधोपेक्षाभेदप्रवेशे गौरवम् । यतो भावनात्वावच्छिन्ने सर्वांशे उपेक्षामात्रभेदविशिष्टप्रकारकज्ञानत्वेन स्मृतित्वावच्छिन्नं प्रति च भावनात्वेनैक एव हेतुहेतुमद्भावः, तदंशे आंशिकोपेक्षाभेदविशिष्टतद्विशेष्यकतत्प्रकारकनिश्चयत्वेन तादृशस्मृतित्वेन स्मृतावेव चान्ये हेतुहेतुमद्भावाः, अन्यमते त्वनुभवसंस्कारयोः स्मृतिसंस्कारयोश्च नानाहेतुहेतुमद्भावाः कल्पनीया इति तत्रैव गौरवात्, घटत्वादिप्रकारतानिरूपितघटादिविशेष्यतास्थानाभिषिक्तघटाद्याकारतायाः "सागारे नाणे हवइ" इत्याद्यागमस्वारस्येनाखण्डायाः स्वीकारे आकारतासम्बन्धेन स्मृतित्वावच्छिन्ने संस्कारत्वावच्छिन्ने चैकैक एव धारणात्वेन हेतुहेतुमद्भावोंऽशे चोपेक्षारूपं धारणाज्ञानं न स्वीक्रियत एवासमासोपयोगस्यैवोपेक्षात्वात्, संशयेऽपि न धारणात्वम्, धारयामीत्यनुभवेन संशयव्यावृत्तस्यैव तस्य सिद्धत्वादित्युपेक्षान्यत्वसंशयान्यत्वयोः कारणतावच्छेदके प्रवेशप्रयुक्तं तयोर्विशेषणविशेष्यभावे विनिगमनाविरहादनन्तकार्यकारणभावकल्पनाप्रयुक्तं च गौरवं परिहृतं भवति, अनुमित्यादिस्थले च मानस्यैव

धारणया स्मृतिस्तज्जनकतावच्छेदकस्य धारणात्वस्य चक्षुराद्यवगृहीते त्वगादिना धारिते पूर्वदृष्टत्वाद्युपलक्षितविलक्षणतत्ताविषयकस्मृत्यनुत्पत्तये चाक्षुषत्वादिना साङ्कर्यवारणाय चाक्षुषत्वादिव्याप्यषड्विधजातिरूपस्य प्रत्यक्षतुरीयभेदवृत्तिताया एवाभियुक्तैरुक्तत्वात्, यदि चाक्षुषाद्युपयोगस्थलेऽपि समनन्तरोत्पदिष्णुमानसोपयोगगतधारणयैव स्मृतिरिष्यते, तदाऽस्तु सर्वत्र मानसत्वव्याप्यमेकमेव धारणात्वम्, अवग्रहत्वादिवद्विषयताविशेषरूपत्वे तु तस्याक्षजन्यधारणाया एव प्रत्यक्षतुरीयभेदत्वाश्रयणादनुमित्यादिवृत्तित्वमपि तस्य न दोषावहमित्यस्मदेकपरिशीलितः पन्थाः। केचित्तु समानाकारफलस्य भावनानाशकत्वाद्भावनायाः सविषयकत्वसिद्धिः, न च फलं स्वस्य वाच्यम्, तथा च तत्तद्व्यक्तित्वेन भावनानाशकत्वं युक्तमिति तद्भावनाजन्यचरमफलस्यैव तद्भावनानाशकत्वमस्त्विति वाच्यम्, जनकतया तद्विशेष्यकतत्प्रकारकस्मृतेः प्रतियोगितया तादृशभावनानाशे हेतुत्वस्यानुगतत्वात्, न च तत्पुरुषीयभावनासामान्यनाशं प्रत्येव तत्पुरुषीयचरमस्मृतिव्यक्तेस्तत्त्वेन चरमस्मृतिमात्रस्य वैजात्येन हेतुत्वमस्त्विति वाच्यम्। एवं सति जनितोपेक्षात्मकचरमस्मृतिकानामपि भावनानां सत्त्वोपगमे तेभ्यः स्मृत्युत्पत्तेः प्रसङ्गादित्याहुः। यत्तु तत्तद्विषयकोपेक्षाज्ञानस्य तत्तत्संशयस्य च तत्तद्विषयकभावनाप्रतिबन्धकत्वाद्भावनायाः सविषयकत्वमिति भट्टाचार्यैरुक्तं तच्चिन्त्यम्, उपेक्षात्मकचाक्षुषज्ञानोत्तरानुपेक्षात्मकस्पार्शनज्ञानस्थले संशयकालीनसाध्यानुमितिस्थले च संस्कारानुत्पत्तिप्रसङ्गात्, तत्रानुपेक्षात्मकतादृशज्ञानस्योत्तेजकत्वकल्पने च गौरवात्, नैयायिकैकदेशिनस्तु विशिष्टवैशिष्ट्यविषयित्वावच्छिन्नं प्रति विशेषणतावच्छेदकप्रकारकत्वेनैव हेतुत्वाद्विशिष्टवैशिष्ट्यस्मृत्यर्थं विशेषणतावच्छेदकप्रकारकभावनासिद्धिः, न च तादृशप्रत्यक्षं प्रति तथाहेतुता, प्रत्यक्षत्वस्य नित्यवृत्तित्वाज्जन्यप्रत्यक्षत्वनिवेशे गौरवात्, रक्ते-

तरदण्डाभाववान् पुरुष इति ज्ञानसचिवाद्दण्डव्याप्यवान् पुरुष इति परामर्शाद्दण्डो रक्तो न वेति संशयकालेऽपि रक्तदण्डवान् पुरुष इत्यनुमित्यापत्तेश्च, तत्तदुद्बोधकाभावविशिष्टभावनात्वाभावविशेषणनिवेशाच्च न दण्डो रक्त इत्यनुद्बुद्धभावनातो निरुक्तानुमित्युपनीतभानाद्यापत्तिः, न चैवं गौरवम्, इयतैव भावनायाः स्मृतिहेतुत्वनिर्वाहात्, उद्बोधकानां विशिष्य स्मृतिहेतुत्वाकल्पनेन चातिलाघवात्, तत्तदुद्बोधकाभावविशिष्टभावनात्वाभावविशिष्टीयस्वरूपसम्बन्धेन घटत्वप्रकारकत्वस्य कारणतावच्छेदकत्वे तु न गौरवदूषणवार्त्ताऽपि, सम्बन्धगौरवस्यादोषत्वादित्याहुः। अविच्युतिस्मृतिवासनासाधारणधारणात्वावच्छिन्ने समानविषयकत्वेनापायहेतुत्वात् संस्कारसमविषयकत्वसिद्धिरित्यादिकमपि ज्ञानबिन्द्वादौ विवेचितमस्माभिरिति विस्तरार्थिना तत्तत एवावधार्यम्। क्वचिदिति (१७६-१-१४) गृहीतशक्तिकेन शब्देनोद्बोधितार्थसंस्कारेणार्थस्मृतिवत्तादृशार्थग्रहोद्बुद्धाभिलापसंस्कारस्थलेऽभिलापस्मृतेरपि सम्भवादित्यर्थः, कुत इति (१७६-२-१) प्रत्यक्षादभिलापसंस्कारानुद्बोधे स्मृतिरूपतद्योजनानुपपत्तेः सामान्यमभिलाप्यं न स्यादेवेत्यर्थः, विशेषात् सामान्यस्य नात्यन्तमतिरिक्तत्वं, किन्तु तत्प्रतिभासात् तत्प्रतिभासस्येति स्पष्टप्रतिभासवेलायां स्वलक्षणस्य शाब्दात्मकमन्दप्रतिभासाविषयकत्वेऽपि तद्योग्यतया कथञ्चिदभिधेयत्वं तस्याबाधितमेवेति, निष्कृष्टार्थमाह–तत्र [न च] ग्राहकेत्यादि (२) व्याख्यानग्रन्थेन॥ तस्मादवाच्यतैकान्त इति (८) वेदान्त्यभिमतप्रपञ्चावाच्यत्वपक्षखण्डनमिदम्, स्वलक्षणानिर्देश्यत्ववचनादिविरोधोपदर्शनं तु दृष्टान्तपरम्, बौद्धैः सदेकान्तस्यैव स्वलक्षणेऽभ्युपगमात्, अनिर्वाच्यत्ववचनमात्रेण परेषां ब्रह्मणीव तेषां तत्र सदेकान्तपक्षानिवृत्तेः। अथ वेदान्तिमते प्रपञ्चानिर्वाच्यत्वैकान्तः कथं वारणीयोऽवाच्यैकान्तेऽवाच्यशब्देनापि वाच्यत्वं न स्यादिति दूषणस्य यौगिकपक्ष एव लब्धावसर-

त्वम्, ब्रह्मशशविषाणरूपसदसद्विलक्षणरूढानिर्वाच्यपदार्थोपगमे त्वस्यादूषणत्वात्, रज्जुसर्पादावनिर्वचनीयसत्त्वस्येवानिर्वचनीयावाच्यत्वस्याप्यन्ततः प्रपञ्चे वक्तुं शक्यत्वादिति चेत्, न, अवाच्यत्वेऽनिर्वचनीयत्वस्वीकारे तन्मिथ्यात्वेन वाच्यत्वस्यैव सत्यस्य प्रसङ्गात्, तस्य च कथञ्चिद्भावे कथञ्चिद्वाच्यत्वानुप्रवेशेनानैकान्तस्यैव साम्राज्यात्, निरुक्त्यसहत्वस्यापि कथञ्चिदेव भावेन सर्वथा सत्यत्वविरोधित्वाभावात्, अन्यथा "यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्यमनसा सहेति" श्रुत्या ब्रह्मणोऽप्यवाच्यत्वामननीयत्वाभ्यामसत्यत्वप्रसङ्गात्, वाग्मनोजन्यवृत्तिव्याप्यत्वेऽपि तत्प्रयुक्तफलाव्याप्यत्वाद् ब्रह्मणो वाच्यत्वावाच्यत्वे मननीयत्वामननीयत्वे चोपपत्स्येते, 'तदेवेदं मनसानुद्रष्टव्यम् यन्मनसा न मनुते' इत्यादिश्रुतिस्वारस्यादिति चेत्, आयातोऽसि मार्गेण। एवं हि कथञ्चिदवाच्यत्वामननीयत्वयोरेव ब्रह्मणि सिद्धेः। तद्वदेव ताभ्यां प्रपञ्चेऽपि सर्वथा सत्यत्वप्रतिक्षेपस्य कर्त्तुमशक्यत्वात्। अथ प्रमाणराज एव प्रपञ्चस्य सर्वथाऽनिर्वचनीयत्वं ब्रह्मणश्च सर्वथा सत्यत्वमाज्ञपयतीति न वयं तदाज्ञातिक्रमे प्रभविष्णव इति चेत्, न। तस्य स्वानुपयुक्तसत्ताप्रतिक्षेपिशुद्धर्जुसूत्रानुगृहीतशुद्धात्मद्रव्यसत्ताग्राहिसङ्ग्रहनयस्वरूपत्वात्तत्तात्पर्यावबोधे दोषलवस्याप्यभावात्, ईदृशतात्पर्यमपुरस्कृत्य प्रवृत्तो वेदान्तदुर्णयो वसन्तराज एव न प्रमाणराज इति वयं जानीमः ॥१३॥

तदेव स्वामिसमन्तभद्रभानवः स्फुटतरविलसदकलङ्कन्यायगभस्तिभिरपहस्तितसमस्तभावैकान्तादिपरमतध्वान्तसन्ततयोपि परात्मपक्षनिराकरणसमर्थनायत्तं जयमादिशता भगवताप्तेन किं पुनर्मे शासनं प्रसिद्धेन न बाध्यते इति स्पष्टं पृष्टा इवाहुः।—

कथञ्चित्ते सदेवेष्टं कथञ्चिदसदेव तत्। तथोभयमवाच्यं च नययोगान्न सर्वथा ॥ १४ ॥

चशब्दात्सदवाच्यमेव कथञ्चिदसदवाच्यमेव तदुभयावाच्यमेवेष्ट ते शासनमिति समुच्चीयते, 'प्रश्नवशादेकत्र वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभङ्गी,' इति वचनात्। नययोगादिति वचनान्नयवाक्यानि सप्तैवेति दर्शयन्ति, ततोन्यस्य भङ्गस्यासंभवात्। तत्संयोगजभङ्गस्यापि कस्यचित्तत्रैवान्तर्भावात्, कस्यचित्तु पुनरुक्तत्वात्। विधिकल्पनाया एव सत्यत्वात् तथैकमेव वाक्यमिति न मन्तव्य, प्रतिषेधकल्पनायाः सत्यत्वव्यवस्थापनात्। विध्येकान्तस्य निराकरणात्। प्रतिषेधकल्पनेव सत्येत्यपि न सम्यक्, अभावैकान्तस्य निराकरणात्। तदपेक्षयापि नैकमेव वाक्यं युक्तम्। सदर्थप्रतिपादनाय विधिवाक्यमसदर्थकथनार्थं तु प्रतिषेधवाक्यमिति वाक्यद्वयमेव, सदसद्वर्गस्तत्त्वमिति वचनात्, प्रमेयान्तरस्य शब्दविषयस्यासंभवादिति च न चेतसि विधेय, प्रधानभावार्पितसदसदात्मनो वस्तुनः प्रधानभूतैकैकधर्मात्मकादर्थादर्थान्तरत्वसिद्धेः, सत्त्ववचनेनैवासत्त्ववचनेनैव वा सदसत्त्वयो क्रमार्पितयो प्रतिपादयितुमशक्तेः। सदसदुभयविषयं वाक्यत्रयमेवेति चायुक्तं, सहोभयवाक्यस्यावक्तव्यत्वविषयस्य व्यवस्थितेः। तथापि वाक्यचतुष्टयमेवेति चायुक्त, सदसदुभयावक्तव्यत्वविषयस्य वाक्यान्तरत्रयस्यापि भावात्—विधिकल्पना (१). प्रतिषेधकल्पना (२), क्रमतो विधिप्रतिषेधकल्पना (३), सहविधिप्रतिषेधकल्पना च (४), विधिकल्पना सहविधिप्रतिषेधकल्पना च (५), प्रतिषेधकल्पना सहविधिप्रतिषेधकल्पना च (६), क्रमाक्रमाभ्यां विधिप्रतिषेधकल्पना (७) च सप्तभङ्गीति व्याख्यानात्। न चैवं प्रत्यक्षादिविरुद्धविधिप्रतिषेधकल्पनापि सप्तभङ्गी स्यादिति शक्य वक्तुम्, अविरोधेनेति वचनात्। नानावस्त्वाश्रयविधिप्रतिषेधकल्पनासप्तभङ्ग्यपि प्रसज्यते इति च न चिन्त्यम्, एकत्र वस्तुनीति वचनात्। नन्वेकत्रापि जीवादिवस्तुनि विधीयमाननिषिध्यमानानन्तधर्मसद्भावात्तत्कल्पनानन्तभङ्गी स्यादिति चेत्, न, अनन्तानामपि सप्तभङ्गीनामिष्टत्वात्, तत्रैकत्वानेकत्वादिकल्पनयापि सप्तानामेव भङ्गानामुपपत्तेः, प्रतिपाद्यप्रश्नाना

तावतामेव संभवात्, प्रश्नवशादेव सप्तभङ्गीति नियमवचनात् । सप्तविध एव तत्र प्रश्नः कुत इति चेत्, सप्तविधजिज्ञासाघटनात् । सापि सप्तविधा कुत इति चेत्, सप्तधा संशयोत्पत्तेः । सप्तधैव संशयः कथमिति चेत्, तद्विषयवस्तुधर्मसप्तविधत्वात् । तत्र सत्त्वं वस्तुधर्मः, तदनुपगमे वस्तुनो वस्तुत्वायोगात् खरविषाणादिवत् । तथा कथञ्चिदसत्त्वं, स्वरूपादिभिरिव पररूपादिभिरपि वस्तुनोऽसत्त्वानिष्टौ प्रतिनियतस्वरूपाभावाद्वस्तुप्रतिनियमविरोधात् । एतेन क्रमार्पितोभयत्वादीनां वस्तुधर्मत्वं प्रतिपादितं, तदभावे क्रमेण सदसत्त्वविकल्पशब्दव्यवहारस्य विरोधात्, सहावक्तव्यतदुत्तरधर्मत्रयविकल्पशब्दव्यवहारस्य चासत्त्वप्रसङ्गात् । न चामी व्यवहारा निर्विषया एव, वस्तुप्रतिपत्तिप्रवृत्तिप्राप्तिनिश्चयात् तथाविधरूपादिव्यवहारवत् । तस्यापि निर्विषयत्वे सकलप्रत्यक्षादिव्यवहारापह्नवान्न कस्यचिदिष्टतत्त्वव्यवस्था स्यात् । ननु च प्रथमद्वितीयधर्मवत् प्रथमतृतीयादिधर्माणां क्रमेतरार्पितानां धर्मान्तरत्वसिद्धेर्न सप्तविधधर्मनियमः सिध्येदिति चेत्, न, क्रमार्पितयोः प्रथमतृतीयधर्मयोर्धर्मान्तरत्वेनाप्रतीतेः, सत्त्वद्वयस्यासंभवात्, विवक्षितस्वरूपादिना सत्त्वस्यैकत्वात् । तदन्यस्वरूपादिना सत्त्वस्य द्वितीयस्य संभवेपि विशेषादेशात्तत्प्रतिपक्षभूतासत्त्वस्यापि परस्य भावादपरधर्मसप्तकसिद्धेः सप्तभङ्ग्यन्तरसिद्धेः कथमुपालम्भः ? एतेन द्वितीयतृतीयधर्मयोः क्रमार्पितयोर्धर्मान्तरत्वमप्रातीतिकं व्याख्यातम् । प्रथमचतुर्थयोर्द्वितीयचतुर्थयोस्तृतीयचतुर्थयोश्च सहितयोः कथं धर्मान्तरत्वमेव स्यादिति चेत्, चतुर्थेऽवक्तव्यत्वधर्मे सत्त्वासत्त्वयोरपरामर्शात् । न हि सहार्पितयोस्तयोरवक्तव्यशब्देनाभिधानम् । किं तर्हि ? तथार्पितयोस्तयोः सर्वथा वक्तुमशक्तेरवक्तव्यत्वस्य धर्मान्तरस्य तेन प्रतिपादनमिष्यते । न च तेन सहितस्य सत्त्वस्यासत्त्वस्योभयस्य वाऽप्रतीतिर्धर्मान्तरत्वासिद्धिर्वा, प्रथमे भङ्गे सत्त्वस्य प्रधानभावेन प्रतीतेः, द्वितीये पुनरसत्त्वस्य, तृतीये क्रमार्पितयोः सत्त्वासत्त्वयोः, चतुर्थेऽवक्तव्यत्वस्य, पञ्चमे सत्त्वसहितस्य, षष्ठे पुनरसत्त्वोपेतस्य, सप्तमे क्रमवत्तदुभययुक्त-

स्य, तत्र शेषधर्मगुणभावाध्यवसायात्। स्यान्मतम् ' अवक्तव्यत्वस्य धर्मान्तरत्वे वस्तुनि वक्तव्यत्वस्यापि धर्मान्तरस्य भावादष्टमस्य कथं सप्तविध एव धर्मः सप्तभङ्गीविषयः स्यात् ' इति, तदप्ययुक्तं, सत्त्वादिभिरभिधीयमानस्य वक्तव्यत्वस्य प्रसिद्धेः, सामान्येन वक्तव्यत्वस्यापि विशेषेण वक्तव्यतायामनवस्थानात्। भवतु वा वक्तव्यत्वावक्तव्यत्वयोर्भिन्नो सिद्धिः। तथापि ताभ्यां विधिप्रतिषेधकल्पनाविषयाभ्यां सत्त्वासत्त्वाभ्यामिव सप्तभङ्ग्यन्तरस्य प्रवृत्तेर्न तद्विषयसप्तविधधर्मनियमविघातोस्ति, यतस्तद्विषयसंशयः सप्तधैव न स्यात्तद्धेतुर्जिज्ञासा वा तन्निमित्तः प्रश्नो वा वस्तुन्येकत्र सप्तविधवाक्यनियमहेतुः। इति सूक्ता सत्त्वादिधर्मविषया गौः सप्तभङ्गी। सात स्याद्वादामृतगर्भिणी, स्याद्वचनार्थस्य कथञ्चिच्छब्देन प्रतिपादनात्, तेनानेकान्तस्य द्योतकेन वाचकेन वा तस्याः प्रतिहतैकान्तान्धकारोदयत्वात्। न चैवं स्याच्छब्दवत्कथञ्चिच्छब्देनैवानेकान्तस्य प्रतिपादनात्सदादिवचनमनर्थकमाशङ्कनीयं, ततः सामान्यतोनेकान्तस्य प्रतिपत्तावपि विशेषार्थिना विशेषस्यानुप्रयोगात्, सामान्यतो(न्येनो)पक्रमेपि विशेषार्थिना विशेषोनुप्रयोक्तव्यो, वृक्षो न्यग्रोध इति यथेति वचनात्। द्योतकपक्षे तु न्यायप्राप्तं सदादिवचनं, तेनोक्तस्य कथञ्चिच्छब्देन द्योतनात्, तेनानुद्द्योतने सर्वथैकान्तशङ्काव्यवच्छेदेनाऽनेकान्तप्रतिपत्तेरयोगात्, एवकारावचने विवक्षितार्थाप्रतिपत्तिवत्। नन्वनुक्तोपि कथञ्चिच्छब्दः सामर्थ्यात्प्रतीयते, सर्वत्रैवकारवदिति चेत्, न, प्रयोजकस्य स्याद्वादन्यायाकौशले प्रतिपाद्याना तदप्रतीतेस्तद्वचनस्य क्वचिदवश्यं भावात्। तत्कौशले वा तदप्रयोगोभीष्ट एव, सर्वस्यानेकान्तात्मनो वस्तुनः प्रमाणात् साधने सर्वं सदित्यादिवचनेपि स्यात्सर्वं सदेवेत्यादिसंप्रत्ययोत्पत्तेः। इति प्रपञ्चतोन्यत्र प्ररूपितमवगन्तव्यम्। ननु च जीवादिद्रव्यं सदेव कथञ्चिदित्यसिद्धं, दर्शनावग्रहादिविशेषव्यतिरेकेण तस्यानुपलम्भात्, अश्वविषाणवदिति चेत्, न, अवग्रहेहादेरन्योन्यं स्वलक्षणविवेकैकान्ते जीवान्तरवत्स्वात्मन्यपि सन्तानभेदप्रसङ्गात्। तथा च यदेव मया विषयविषयिसन्निपातदशायां

किञ्चिदित्यालोकितं तदेव वर्णसस्थानादिसामान्याकारेणावगृहीतं पुनः प्रतिनियतविशेषाकारेणेहितं तदेवाकाङ्क्षितविशेषाकारेणावेतं, पुनः कालान्तरस्मृतिहेतुतयावधारितं, तदेव कालान्तरे तदित्याकारेण स्मृत, पुनस्तदेवेदमित्याकारेण प्रत्यभिज्ञात, ततो यदित्थ कार्यकृत्तदित्थ सर्वत्र सर्वदेति तर्कितं, ततस्तत्कार्यावबोधनादभिनिबुद्धं, तदेव च शब्दयोजनया विकल्पनिरूपणया वा परार्थं स्वार्थं वा श्रुतमित्यनुसन्धानप्रत्ययवदहमेक एव दृष्टाऽवगृहीतेहितेत्याद्यनुसन्धानबुद्धिरपि न क्वचिदास्पदं बध्नीयात्। तथाविधवासनाप्रबोधादनुसधानावबोधप्रसिद्धिरिति चेत्, साऽनुसधानवासना यद्यनुसन्धीयमानदर्शनादिभ्यो भिन्ना, तदा सतानान्तरे दर्शनावग्रहादिष्विव स्वसतानेपि नानुसंधानबोधमुपजनयेत्, अविशेषात्। तदभिन्ना चेत्, तावद्धा भिद्येत, न हि भिन्नादभिन्नमभिन्न नामेति स्वयमभिधानात्। तथा च तत्प्रबोधात्कथं दर्शनावग्रहादिष्वेकमनुसन्धानज्ञानमुत्पद्येत ? यदि पुनस्तेभ्यः कथञ्चिदभिन्ना वासनानुमन्यते तद्धेतुस्तदा अहमहमिकयात्मा विवर्ताननुभवन्ननादिनिधनः स्वलक्षणप्रत्यक्षः सर्वलोकाना क्वचिच्चित्रवित्तिक्षणे नीलादिविशेषनिर्भासवदात्मभूतान् परस्परतो विविक्तान्सहक्रमभाविनो गुणपर्यायानात्मसात्कुर्वन् सन्नेव सिद्धः, तस्यैव वासनेति नामान्तरकरणात्। तदेकत्वाभावे नीलादिविशेषनियतदर्शननानासतानसवेदनक्षणवच्चित्रसवेदनं न स्यात्। क्रमवृत्तिसुखादीनामिव दर्शनावग्रहादीनामेकसतानिपतितत्वादनुसधानमनननिबन्धनत्वमनुमतमिति चेत्, तर्हि सततिरात्मैव। तथा क्रमवृत्तीना सुखादीनां मतिश्रुतादीनां वा तादात्म्यविगमैकान्ते सततिरनेकपुरुषवन्न स्यात्। सुखादिमत्यादीना नैरन्तर्यादव्यभिचारिकार्यकारणभावाद्वास्यवासकभावाच्चापरामृष्टभेदानामेका सतति', न पुनरनेकपुरुषे, तदभावादिति चेत्, तर्हि नैरन्तर्यादेरविशेषात्सतानव्यतिकरोपि किन्न स्यात् ? न हि नियामकः कश्चिद्विशेष', अन्यत्राभेदपरिणामात्। सतानिनां भेदपरिणाम एव नाभेदपरिणामः, सकरप्रसङ्गादिति चेत्, न, येनात्मना तेषामभेदस्तेन सङ्कव्यचेतनत्वा-

दिना संकरस्येष्टत्वात्, तेनाप्यसंकरे हर्षविषादादिचित्रप्रतिपत्तेरयोगात्। अस्ति च सैकत्रापि विषये यत्र मे हर्षः प्रागभूत्तत्रैव विषादो द्वेषो भयादिर्वा वर्तते, अहमेव च हर्षवानास, सम्प्रति विषादादिमान् वर्ते नान्य इति क्रमतश्चित्रप्रतिपत्तिरबाधा। ततो जीवः मन्त्रेव। एवं च यथैकत्र समनन्तरावग्रहादिसदादिस्वभावसंकरपरिणामस्तथैव सर्वत्र चेतनाचेतनेषु, संप्रत्यतीतानागतेषु, तत्स्वभावाविच्छित्तेः। अतः कथञ्चित्सदेवेष्टं जीवादि तत्त्वं, सकलबाधकाभावात्। तर्हि सदेव सर्वं जीवादिवस्तु, न पुनरसदिति चेत्, न, सर्वपदार्थानां परस्परसंकरप्रतिपत्तेरसत्त्वस्यापि सिद्धेः, जीवाजीवप्रभेदानां स्वस्वभावव्यवस्थितेरन्यथानुपपत्तेः। न केवलं जीवाजीवप्रभेदाः सजातीयविजातीयव्यावृत्तिलक्षणाः, किंतु बुद्धिक्षणेपि क्वचिद्ग्राह्यग्राहकयोः सितादिनिर्भासांशपरमाणुसंवित्तयोपि, परस्परपरिहारस्थितिलक्षणत्वादन्यथा स्थूलशबलावलोकनाभावात्तदेकांशवत् सर्वथा परस्परमव्यावृत्तानां ग्राह्यग्राहकसितादिनिर्भासावयवपरमाणुसंवित्तीनामेकपरमाणुस्वरूपतापत्तेः। न चैकपरमाणुः स्थूलतया शबलतया वावलोकयितुं शक्यः, भ्रमप्रसङ्गात्। तथा च सकलचेतनेतरक्षणपरिणामलवविशेषाः परस्परविविक्तात्मानः सिद्धाः, स्वस्वभावस्य स्वभावान्तरेण मिश्रणाभावात्। तदन्योन्याभावमात्रं जगत्। अन्यथा सर्वथैकत्वप्रसङ्गात्, तत्रान्वयस्य विशेषापेक्षणादभावो वा, स्वतन्त्रस्य तस्य जातुचिदप्रतिभासनात्। तदिष्टमसदेव कथञ्चित्। सर्वथा भावाऽभावोभयात्मकमेव जगदस्तु, तत्र भावस्याभावस्य च प्रमाणसिद्धत्वात् प्रतिक्षेप्तुमशक्यत्वादित्यपरः, सोपि न तत्त्ववित्, सुयुक्त्यतिलङ्घनात्। न हि भावाभावैकान्तयोर्निष्पर्यायमङ्गीकरणं युक्तं, यथैवास्ति तथैव नास्तीति विप्रतिषेधात्। ततः कथञ्चित्सदसदात्मकं द्रव्यपर्यायनयापेक्षया। द्रव्यनयापेक्षयैव सर्वं सत् पर्यायनयापेक्षयैव च सर्वमसदात्मकं, विपर्यये तथैवासंभवात्। न हि द्रव्यनयापेक्षया सर्वमसत् संभवति, नापि पर्यायनयापेक्षया सर्वं सत्, प्रतीतिविरोधात्। भावाभावस्वभावरहितं

तद्विलक्षणमेव वस्तु युक्तमित्यपि न सार, सर्वथा जात्यन्तरकल्पनायां वा तदंशनिबन्धनविशेषप्रतिपत्तेरत्यन्ताभावप्रसङ्गात्। न चासावस्ति, सदसदुभयात्मके वस्तुनि स्वरूपादिभिः सत्त्वस्य पररूपादिभिरसत्त्वस्य च तदंशस्य विशेषप्रतिपत्तिनिबन्धनस्य सुनयप्रतीतिनिश्चितस्य प्रसिद्धेः, दधिगुडचातुर्जातकादिद्रव्योद्भवे पानके तदशदध्यादिविशेषप्रतिपत्तिवत्। न चैवं जात्यन्तरमेवोभयात्मकमिति युक्तं वक्तु, सर्वथोभयरूपत्वे वा जात्यन्तरप्रतिपत्तेरयोगात् पानकवदेव। न हि तत्र दध्यादय एव न पुनर्जात्यन्तर पानकमित्यभिधातुमुचितं, पानकमिद सुस्वादु सुरभीति सम्प्रत्ययात्। तद्वद्वस्तुनि न सदाद्यंश एव प्रतीतिविषय., तदंशिनो जात्यन्तरस्य प्रतीत्यभावापत्तेः। तथा चानवस्थादिदोषानुषङ्गः। येनात्मना सत्त्वं तेनासत्त्वस्याभ्युपगमे येन चासत्त्वं तेन कथञ्चित्सत्त्वानुमनने पुनः प्रत्येकमुभयरूपोपगमादनवस्था स्यात्। तथानभ्युपगमे नोभयस्वभावमशेषमिति ते प्रतिज्ञाविरोधः। येनात्मना सत्त्वं तेनैवासत्त्वे विरोधो वैयधिकरण्यं वा शीतोष्णस्पर्शविशेषवत्। संकरव्यतिकरौ च, युगपदेकत्र सत्त्वासत्त्वयोः प्रसक्तेः। परस्परविषयगमनाच्च सशयश्च, कथं सत्त्वं कथं चासत्त्वं वस्तुनीति निश्चयानुत्पत्तेः। अत एवाप्रतिप्रत्तिरभावश्चानुपज्यते। ततः प्रतिपादितदोषान् परिजिहीर्षुभिः सर्वं वस्तु तदिष्टं स्यादुभय, न पुनः सर्वथा, स्यात्कारेण जात्यन्तरत्वस्यापि स्वीकरणात्। तद्ध्यस्तीति न भणामि, नास्तीति च न भणामि, यदपि च भणामि तदपि न भणामीति दर्शनमस्त्विति कश्चित्, सोपि पापीयान्। तथाहि। सद्भावेतराभ्यामनभिलाप्ये वस्तुनः, केवल मूकत्वं जगतः स्यात्, विधिप्रतिषेधव्यवहारायोगात्। न हि सर्वात्मनानभिलाप्यस्वभाव बुद्धिरध्यवस्यति। न चानध्यवसेय प्रमितं नाम, गृहीतस्यापि तादृशस्यागृहीतकल्पत्वात्। मूर्च्छाचैतन्यवदिति। न हि निर्विकल्पकदर्शनप्रतिभासि वस्तु व्यवतिष्ठेत येनानभिलपन्नपि तत् पश्येत्। "न सोस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते। अनुविद्ध-

मिवाभाति सर्वं शब्दे प्रतिष्ठितम् ॥ १ ॥ वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती । न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी ॥ २ ॥" इति दर्शनान्तरमप्यनालोचिततत्त्वं, सर्वात्मनाभिधेयत्वेपि प्रत्यक्षेतराविशेषप्रसङ्गात् । चक्षुरादिशब्दादिसामग्रीभेदात्प्रत्यक्षेतरयोर्विशेष इति चेत्, न, प्रत्यक्षादिव शब्दादेरपि वस्तुविशेषप्रतिपत्तेरविशेषसिद्धेः, प्रत्यक्षगोचरविषयस्य शब्दागोचरत्वेऽनभिधेयत्वापत्तेः । प्रत्यक्षात्मकशब्दगोचरत्वात्तस्याप्यभिधेयत्वमेवेति चेत्, तथैवानुमानागमज्ञानात्मकशब्दविषयत्वमस्तु । ततश्च प्रत्यक्षेतरयोः स्पष्टविशेष-प्रतिभासित्वसिद्धेरविशेषप्रसङ्गः । तयोर्विशेषे तदात्मकशब्दयोर्भेदप्रसङ्गात्कुतः शब्दाद्वैतसिद्धिः ? स्यान्मतम् "अद्वय एव शब्दः, केवलं प्रत्यक्षोपाधिः स्पष्टविशेषप्रतिभासात्मकः, शब्दानुपाधिः पुनरस्पष्टसामान्यावभासात्मकः, पीतेतरोपाधेः स्फटिकस्य पीतेतर-प्रतिभासित्ववत्" इति तदसत्, प्रत्यक्षेतरोपाधीनामपि शब्दात्मकत्वे भेदासिद्धेः, तदनात्मकत्वे शब्दाद्वैतव्याघातात्, तेषामवस्तुत्वे स्पष्टेतरप्रतिभासभेदनिबन्धनत्वविरोधात् । तत्प्रतिभासस्याप्यभेदे, स एव प्रत्यक्षेतराविशेषप्रसङ्गः । तथानभिधेयत्वेपि सत्येतरयोरभेदः स्यात् यत्सत्तत्सर्वमक्षणिकं, क्षणिके क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधादित्यादेरिव वाक्यस्य यत्सत्तत् क्षणिकमेव, नित्ये क्रमाक्रमा-भ्यामर्थक्रियानुपपत्तेरित्यादेरपि वाक्यस्यासत्यत्वप्रसङ्गाद्विपर्ययानुषङ्गाद्वा, सर्वथार्थासंस्पर्शित्वाविशेषात्, कस्यचिदनुमानवाक्यस्य कथञ्चिदर्थसंस्पर्शित्वे सर्वथानभिधेयत्वविरोधात् । सोयं सौगतः स्वपक्षविपक्षयोस्तत्त्वातत्त्वप्रदर्शनाय यत्किंचित्प्रणयन् वस्तु सर्वथा-नभिधेयं प्रतिजानातीति किमप्येतन्महाद्भुतं, सर्वथाभिधेयरहितेनानुमानवाक्येन सत्यत्वासत्यत्वप्रदर्शनस्य प्रणेतुमशक्तेः "साध्या-भिधानात्पक्षोक्तिः पारम्पर्येण नाप्यलम् । शक्तस्य सूचकं हेतुवचोऽशक्तमपि स्वयम् ॥१॥" इति वचनात् । स्वयं तत्कृता वस्तुसिद्धिमुप-जीवति, न तद्वाच्यता चेति स्वदृष्टिरागमात्रमनवस्थानुषङ्गात्, वस्तुनोनुमानवाक्यवाच्यतानुपजीवने तत्कृतायाः सिद्धेरुपजीवनासंभ-

वात्, अनभिमतप्रतिवादिवचनादपि तत्सिद्धिप्रसङ्गात्, स्वाभिधेयरहितादपि स्ववचनात्तत्त्वसिद्धिरुपजीव्यते, न पुनः परवचनादिति कथमप्यवस्थानासंभवात्। मद्वचन वस्तुदर्शनवंशप्रभव, न पुन परवचनमिति स्वदर्शनानुरागमात्रं, न तु परीक्षाप्रधान 'सर्वस्य वचसो विवक्षाविषयत्वाविशेषात्। ततो न सर्वथाभिधेय वस्तुतत्त्वं, नाप्यनभिधेय, वाचकसद्भावात्। किं तर्हि ? कथञ्चिदवाच्यमेव तवेष्टं, कथञ्चित्सदेव, कथञ्चिदसदेव, कथञ्चिदुभयमेवेति। तथा च शब्दात्कथञ्चित्सदवाच्यमेव, सर्वथाप्यसतोनभिधेयत्वधर्माव्यवस्थितेः कथञ्चिदसदवाच्यमेव, सर्वथापि सतोनभिलाप्यत्वस्वभावासंभवात् तदभिलाप्यत्वस्यापि सद्भावात्, कथञ्चित्सदसदवाच्यमेव, स्वरूपपररूपाभ्यां सदसदात्मन एवावाच्यत्वधर्मप्रसिद्धेरित्यपि भङ्गत्रयं समुच्चितमाचार्यैः, 'अवक्तव्योत्तराः शेषास्त्रयो भङ्गाः स्वहेतुत' इत्यग्रे स्वयं समर्थनात्, इह तत्प्रतिज्ञातस्य सिद्धेरप्रतिज्ञातस्य समर्थनाघटनात् कस्यचित्प्रतिज्ञातस्य सामर्थ्याद्गम्यमानस्यापि प्रतिज्ञातत्वोपपत्तेः। इति साधीयसी सप्तभङ्गीप्रतिज्ञा, तथा नैगमादिनययोगात् ॥ १४ ॥ तत्रप्रथमद्वितीयभङ्गयोस्तावन्नययोगमुपदर्शयन्ति स्वामिनः।

इत्येतैर्नयदूषणैर्मतभिदामत्तेभघण्टारण-त्कारैस्त्रस्तसमस्तवादितुरगैः किं कर्णकोलाहलैः॥ यत्तु प्रस्तुतवस्तुबोधनविधौ धत्ते निराकाङ्क्षतां, ब्रूमो मानमनन्तबोधगदितं तत्सप्तभङ्ग्यात्मकम् ॥१॥ 'प्रश्नवशादिति' (१८२-२-१) एकत्र वस्तुनि सत्त्वासत्त्वादिसप्तधर्मप्रकारकशाब्दबोधजनकतापर्याप्त्यधिकरणं वाक्यं सप्तभङ्गीति लक्षणतात्पर्यम्, विरोधस्फूर्तौ वाक्यस्याबोधकत्वेनैवाविरोधेनेत्यस्य गतार्थत्वात्, प्रश्नस्य च क्वाचित्कत्वाच्छिष्यजिज्ञासयेव क्वचिद्गुरोर्जिज्ञापयिषयैव सप्तभङ्गीप्रयोगसङ्गतेः प्रश्नवशादित्यस्यापि लक्षणेऽप्रवेशात्, नानावस्तुनि सत्त्वासत्त्वादिबोधकवाक्येऽतिप्रसङ्गवारणायैकत्र वस्तुनीति, एकत्र रूपरसादिधर्मसप्तकबोधकेऽतिप्रसङ्गवारणाय सत्त्वासत्त्वादीति, खण्डवाक्ये तद्वारणाय पर्याप्तिः, प्रमाण-

सप्तभङ्गीवन्नयसप्तभङ्ग्या अपि लक्ष्यत्वान्न तत्रातिव्याप्तिः, नययोगादिति (१८२-२-२) सूत्रकृद्वचनात् प्रमाणनयसप्तभङ्ग्योः पृथक् पृथक् लक्ष्यत्वे तु सकलादेशत्वविकलादेशत्वे विशेषणे देये, एकत्र वस्तुन्येकपर्यायनिरूपितविधिनिषेधकल्पनामूलसप्तधर्मप्रकारकोद्देश्यशाब्दबोधजनकतापर्याप्त्यधिकरणं वाक्यं सप्तभङ्गी, धर्मिणो देशसर्वभेदेनैकद्विबहुवचनान्ततया चरमपदोन्नीत्या बहुभेदसम्भवेऽपि फलीभूतबोधे सप्तधर्मप्रकारकोद्देश्यताया अक्षतत्वान्नाव्याप्तिरित्यपि केचित्। 'एतेनेत्यादि' (१८३-१-४) एतेन सत्त्वासत्त्वयोर्वस्तुधर्मत्वप्रतिपादनेन, क्रमार्पितोभयत्वादीनां (४) क्रमार्पितसदसदुभयत्वसहार्पितावक्तव्यत्वयोस्तदुत्तरधर्मत्रयस्य चेत्यर्थः। अथ सदसत्पदाभ्यां, सत्त्वासत्त्वयोश्चकाराच्चोभयस्योपस्थितेः सदसदुभयत्वं तृतीयभङ्गविषयः केवलसत्त्वासत्त्वयोरतिरिक्तं प्रातीतिकमस्तु, न ह्येकविशिष्टापरत्वमेवोभयत्वम्, अविशिष्टयोरपि गोत्वाश्वत्वयोरुभयत्वप्रत्ययात्, उभयत्वभेदे च कथञ्चिदुभयभेदोऽप्यपरिवर्जनीय एवेति, क्रमार्पितत्वं त्वत्र क्वोपयुज्यते, क्रमिकशाब्दबोधद्वयेच्छाविषयविषयत्वरूपस्य तस्य पदादनुपस्थितेर्वस्तुधर्माघटकत्वाच्चेति चेत्, न, एकत्वेन गृहीते उभयत्वप्रत्ययस्य भाक्तोभयत्वावगाहित्वात्। तत्र च क्रमार्पितत्वस्यावच्छेदकत्वात्तत्प्रत्ययस्य च द्योतकेन वाचकेन वा स्यात्पदेन सम्भवादनुपपत्त्यभावात्, अनुभूयते च स्यात् सन् स्यादसंश्च घटइति शब्दात् क्रमार्पितसत्त्वासत्त्वोभयधर्मवन्तममुं घटं जानामीति। एतेन सहावक्तव्यत्वादयोऽपि व्याख्याताः। तद्व्यवहारविषयतया सिद्धानां तेषां धर्माणां दुरपह्नवत्वात्, न च सहार्पितत्वं नावक्तव्यत्वावच्छेदकमेकदैकपदादुभयबोधो जायतामित्याकारकेच्छाविषयत्वरूपस्य तस्य बाधिते इच्छानुदयेनाप्रसिद्धत्वादिति वाच्यम्। पुत्रनाशेऽपि पुत्रादिदृक्षाया आनुभविकत्वेन क्वचिद्बाधितेऽपीच्छोदयात्, न चैवं भ्रमविषयस्यापि सिद्ध्यापत्तिः, तन्निष्ठरजताकारप्रति-

योगित्वेन कथञ्चित्तद्विषयभेदस्येष्टत्वात्, संवृतस्वाकारसमुपात्तरजताकारायाः शुक्तेरेव भ्रमालम्बनत्वस्याकरसिद्धत्वात्, भ्रम-
बाधस्य च दुष्टकारणप्रभवत्वादिनैव सिद्धेः, सदुपरागेणासद्भानस्य च भ्रमे न्यायटीकाकृतोऽप्यभिमतत्वात्, तावन्मात्रेणा-
सत्ख्यातेरभावादित्यादिकं व्युत्पादितं लतायामस्माभिः ॥ वस्तुतो जिज्ञासा भङ्गप्रयोजिका, न तु क्वचिदपि भङ्गे विषयाव-
च्छेदिका, स्वद्रव्यादीनामेव तत्त्वस्याभियुक्तैरुक्तत्वात्, तथा च चालनीयन्यायेन स्वद्रव्यपरद्रव्यचतुष्टयाभ्यां तृतीयः, समु-
दितन्यायेन च ताभ्यां तुरीयः, विरुद्धघटत्वपटत्वाभ्यां किमपि न वाच्यमिति वत्, इत्थमेव घटत्वपटत्वाभ्यां घटपटौ स्त
इति वाक्यस्य तात्पर्यभेदेन प्रामाण्यमप्रामाण्यं च सङ्गच्छते । शेषा भङ्गास्तूक्तयोजनात्मका एवेति न किञ्चिदनुपपन्नम् ।
वस्त्विति (१८३-१-६) वस्तुनः क्रमार्पितोभयादेः प्रतिपत्तिदर्शनं. प्रवृत्तिरभिलापादिव्यवहारः, प्राप्तिरुपलम्भोपहिता
क्रिया, तासां निश्चयादनिसंवादात्. द्वितीयस्येति (९) न हि द्रव्यादिसत्त्वादतिरिक्तं सत्त्वमेकं नाम नैयायिकादिमत-
सिद्धं सामान्यमस्मत्सिद्धान्तेऽस्ति. लोकैर्वा प्रतीयते. तस्य चानर्पितस्यैकत्वेऽपि विशिष्यार्पितस्य द्वितीयस्याप्यविरोध एवेति
भावः. तत्र च प्रतिपक्षासत्त्वेन सप्तभङ्ग्यन्तरारम्भकत्वाच्च प्रकृतसप्तभङ्ग्यामागन्तुकीयसंयोगेन भङ्गान्तरापत्तिरिति विशदयति-
‘ विशेषादेशादिति ’ (९) ॥ प्रथमचतुर्थयोरिति (१०) तत्रापि सत्त्वादिप्रत्यप्रतीतेरित्यर्थः. सहार्पिताभ्यां सत्त्वासत्त्वा-
श्यामरक्तान्यतरस्य धर्मान्तरस्यैवारम्भकत्वेन सह सत्त्वादिसंयोगेऽपि नानुपपत्तिः संयोगजविपर्यासङ्करादित्याह-‘ चतुर्थं ’
(११) इत्यादि ॥ विशेषेणेति (१८३-२-२) धर्मान्तरस्य धर्मगतभेदेन निरूप्य निर्भान्तत्वाच्छब्दानुगममात्रस्या-
प्रयोजकत्वात्. सत्त्वादिना धर्मान्तरस्य तत्तद्विशेषविषयत्वेन निरूप्य भङ्गान्तरानारम्भकत्वात्. अन्यथाऽसद्भि-

त्वादिनापि भङ्गान्तरापत्तेरिति भावः । ननु स्याच्छब्दलाञ्छितैर्नयैः सप्तभङ्गीप्रयोगो युक्त इति तत्र तत्र श्रूयते स च सूत्रे नोक्त इति कथं न न्यूनत्वमत आह–'सा चेति' (१८३–२–५) सा चोक्तसप्तभङ्गी, स्याद्वाद एव यदमृतं तद्गर्भिणी, अमृतपदेन निःशेषसंशयविपर्यासनिरासकत्वं, गर्भिणीत्यत्र गर्भपदेन च स्याच्छब्दस्य गम्यागम्यसाधारणत्वमभिव्यज्यते–'स्याच्छब्दस्येति' [स्याद्वचनार्थस्येति] (६) तथा च सूत्रे कथञ्चिच्छब्देनैव स्याच्छब्दस्य गतार्थत्वान्न न्यूनत्वमिति भावः। 'न चैवमित्यादि' (६) एवं कथञ्चिच्छब्दस्यानेकान्तवाचकत्वे, अनेकान्तस्य (७) नित्यानित्याद्यनेकधर्मशबलवस्तुनः, अनर्थकमिति (७) सत्त्वासत्त्वादिधर्मसप्तकशबलत्वस्याप्यनेकान्तशब्दार्थकुक्षिप्रविष्टत्वादनेकान्तपदादेव तद्बोधोपपत्तेरिति भावः । ततः सामान्यतोऽनेकान्तस्येत्यादि (७) स्यात्पदादनेकान्तपदाद्वा एकान्तबुद्धिविलक्षणबुद्धिविशेषविषयतावच्छेदकत्वेनैवानन्तधर्मघटितसप्तभङ्गीबोधेऽपि प्रातिस्विकरूपेण तद्बोधनार्थं विशेषप्रयोगोऽवश्यमाश्रयणीयो, यथा वृक्ष इत्युक्ते वृक्षत्वेन न्यग्रोधबोधेऽपि न्यग्रोधत्वेन तद्बोधार्थं विशेषप्रयोग आश्रीयत इति । तेनोक्तस्य (९) सदादिशब्देनोक्तस्य, स्वरूपचतुष्टयादिना सत्त्वादिविशिष्टवस्तुनः । कथञ्चिच्छब्देन द्योतनात् (९) तात्पर्यस्फोरणात् । तेन कथञ्चिच्छब्देनानुद्योतने विशिष्टविषयत्वे तात्पर्यास्फोरणे सर्वथैकान्तशङ्काया अवच्छेदकास्फुरणादव्यवच्छेदेनानेकान्तप्रतिपत्तेरधिकृताया अयोगात्, एवकारावचने विवक्षितार्थस्य सदाद्ययोगव्यवच्छेदादिरूपस्याप्रतिपत्तिवत् । अथ स्याच्छब्दो द्योतको वाचको वेत्यत्र कः पक्षः श्रेयानिति चेत्, अत्र वैयाकरणाः, प्रादयो द्योतकाश्चादयो वाचका इति नैयायिकमतमयुक्तम्, वैषम्ये बीजाभावात्, येन हेतुना प्रादीनां द्योतकत्वं तेनैव निपातानामपि तत्त्वसिद्धेः, तथाहि अनुभवतीत्यादावनुभवनादि प्रतीयमानो न धात्वर्थः,

भवतीत्यत्रापि तदवगमापत्तेः, नोपसर्गार्थः, तथा सत्यप्रकृत्यर्थतया तत्राख्यातार्थानन्वयप्रसङ्गात्, प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वव्युत्पत्तेः, अनुगच्छतीत्यादावनुभवादिप्रतीत्यापत्तेश्च, नापि विशिष्टाऽर्थो, गौरवादिति, धातोरेव विद्यमानत्वादिवाचकस्यास्त्वनुभवनादौ लक्षणोपसर्गस्य च तत्र तात्पर्यग्राहकत्वं, तदेव हि द्योतकत्वमुच्यते, तच्चादिष्वपि तुल्यम्, चैत्रमिव पश्यतीत्यादौ (चैत्र) सादृश्यविशिष्टं चैत्रपदलक्ष्यम्, इवशब्दस्तात्पर्यग्राहक इत्यस्य सुवचत्वात्, किञ्चोपास्येते हरिहरावित्यत्रोपासनाया उपसर्गार्थत्वे आस्धातोरुपासनारूपफलवाचकत्वाभावात् स्वार्थफलव्यधिकरणव्यापारवाचकत्वरूपं सकर्मकत्वं न स्यादिति ततः कर्मलकारानापत्तिः, विशिष्टार्थत्वे तु गौरवमिति धात्वर्थत्वपर्यवसाने तत्तात्पर्यग्राहकत्वेन यथोपसर्गस्य द्योतकत्वं सिद्धं तथा साक्षात्क्रियतेऽलङ्क्रियते उरीक्रियते शिव इत्यादावपि धातोस्तत्तदर्थे कर्मणि लकारसिद्ध्यर्थं तत्तदर्थवाचकत्वं वाच्यमिति तत्तात्पर्यग्राहकतया निपातानां सिद्धं प्रादितुल्यतया द्योतकत्वम्। अथ साक्षात्कारादिर्निपातार्थोऽस्तु, "साक्षात्प्रत्यक्षतुल्ययोः" इति कोशस्वरसात्, तदनुकूलो व्यापार एव धात्वर्थोऽस्तु, सकर्मकत्वमपि स्वस्वयुक्तनिपातान्यतरार्थफलव्यधिकरणव्यापारवाचित्वमिति नैकं साधकमस्तीति चेत्, न। नामार्थधात्वर्थयोर्भेदेन साक्षादन्वयासम्भवान्निपातार्थधात्वर्थयोरन्वयस्यैवायोगात्, अन्यथा तण्डुलः पचतीत्यत्रापि कर्मतया तण्डुलानां धात्वर्थेऽन्वयापत्तेरिति बोध्यम्। किञ्च प्रादीनां वाचकत्वे भूयान् प्रकर्षः कीदृशो निश्चय इति वद् भूयान् प्र कीदृशो निरिति स्यादिति यथापाद्यते तथा निपातानां वाचकत्वेऽपि शोभनः समुच्चयो द्रष्टव्य इति वत् शोभनश्च द्रष्टव्य इति स्यादित्युभयेषां द्योतकत्वे युक्तिस्तुल्या, किञ्च "निपातानां वाचकत्वे काव्यादावन्वयो न स्यात्। "शरैरुस्रैरिवोदीच्यानुद्धरिष्यन् रसानिव ॥१॥" इत्यत्र हि उस्रसदृशैः शरैः रससदृशानुदीच्या-

नुद्धरिष्यन्नित्यर्थः। स चोस्रादिशब्दानां तत्सदृशपरत्वे इवशब्दस्य च द्योतकत्वे सङ्गच्छते, अन्यथा प्रत्ययानामप्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वविरोधे इवशब्दस्य चासत्त्वार्थकतया तदुत्तरं तृतीयाया असम्भवात्, सम्भवे वा श्रवणप्रसङ्गादुत्तपदोत्तरतृतीयानन्वयप्रसङ्गाच्च। एवं "वागर्थाविव सम्पृक्तौ पार्वतीपरमेश्वरौ वन्दे" इत्यत्र वागर्थयोर्वेदिकर्मत्वाभावात्तदुत्तरद्वितीयानन्वयप्रसङ्गः, इवार्थे कर्मत्वबोधकायोगश्च। अथ निपातस्यावाचकत्वेऽब्राह्मण इत्यादौ पूर्वपदस्यानर्थकत्वेन तत्पुरुषलक्षणोत्तरपदार्थप्राधान्यानापत्तिरिति चेत्, न। तत्र द्योत्यमर्थमादायैवार्थवत्त्वेन निपातस्य प्रातिपदिकत्वात्, अस्तु वा निपातस्यानर्थकस्येति वार्त्तिकात्तत्र तत्त्वं कृत्तद्धितसमासाश्चेत्यनुक्तसमुच्चयार्थकचकारेण निपातसङ्ग्रहाद्वेति युक्तं निपातानां द्योतकत्वम्, "उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते। प्रहाराहारसंहारविहारपरिहारवत्" ॥१॥ इति वृद्धोक्तावुपसर्गपदं निपातस्य धातुपदं च पदान्तरस्योपलक्षणमिति बोध्यम्। यद्वा बोधकतारूपशक्तेरबाधान्निपातानां तत्तदर्थवाचकत्वमेवास्तु। अन्यथा पचतीत्यादौ धातोरेव कर्तृविशिष्टभावनायां लक्षणास्वीकारे तत्तात्पर्यग्राहकतया तिङादेरपि द्योतकत्वोपगमापत्तेः, एवं च धात्वर्थप्रातिपदिकार्थयोर्भेदेनान्वयबोधोऽव्युत्पन्न इति समानाधिकरणप्रातिपदिकार्थयोरभेदेनान्वयबोध इत्यपि च निपातातिरिक्तविषयं कल्पनीयम्। न तु नैयायिकोक्तरीत्या प्रादिचादिवैषम्यम्, निपातस्यानर्थकस्येति विधिवैयर्थ्योद्धाराय केषांचिद् द्योतकत्वे केषाञ्चिद्वाचकत्वे स्वीकार्ये, चादयो द्योतकाः प्रादयो वाचका इति वक्तुरपि वदनस्य पिधातुमशक्यत्वात्, सर्वथानर्थकानां पादपूरणमात्रार्थमुपात्तानां सङ्ग्रहाय वार्त्तिकारम्भस्य कैयटादौ स्पष्टत्वाच्च। किञ्च केवलवृक्षशब्दात् समुच्चयाबोधाच्चकारश्रवणे च तद्बोधाच्चकार एव समुच्चयस्य वाचको न द्योतकः, अपि च द्योतकत्वे पदान्तराणां

तत्र २ शक्तिः कल्प्या, चकारादेश्च द्योतकत्व इत्यतिगौरवं स्यादिति समुच्चयाधिकरणे स्थितम्, तदयमकस्मात् पीतामृतानामिव निपातानां द्योतकत्ववाचकत्वयोरनेकान्तोद्गारः। अस्माकं तु सदापीतानेकान्तामृतानाम् "अनेकमेकात्मकमेव वाच्यं द्वयात्मकं वाचकमप्यवश्यम्" इत्यादिवादिनां पदमात्रमेव वाक्यार्थे द्योतकं वाक्यमेव च वाचकमिति निपाते क इव विशेषोऽन्यत्र संज्ञाकरणात्। न च वाक्यार्थस्यैव प्रवृत्त्यङ्गत्वे वाक्यस्यैव च बोधकत्वे पदशक्तिग्रहानुपयोगः, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां वाक्यशक्तिग्रह एव तदुपयोगात्, पदसमुदायात्मकस्य वाक्यस्य बोधकताविधया तु पदानां तत्त्वमयत्नसिद्धमेव, स्वातन्त्र्येण तु नेति सङ्गिरामहे। यत्तु पदानि स्वार्थप्रतिपादनमात्रेण निवृत्तव्यापाराणि न वाक्यार्थबोधक्षमाणि, आकाङ्क्षासन्निधियोग्यतावच्छिन्नानां पदार्थानामन्वयव्यतिरेकाभ्यां वाक्यार्थवेदकत्वप्रतिपत्तेः, तथाहि श्वेतरूपं पश्यतो हेषाशब्दं खुरशब्दं च शृण्वतः श्वेतोऽश्वो धावतीति बुद्धिर्भवति, इयं च नाध्यक्षानुमित्यादिरूपेति शाब्दयेव, करणं च तत्र तत्तत्पदार्थस्मरणमेव, तदुक्तं "पश्यतः श्वेतमारूपं हेषाशब्दं च शृण्वतः॥ खुरविक्षेपशब्दं च श्वेतोऽश्वो धावतीति धीः ॥१॥" इति, सिद्धं पदार्थानां शब्दप्रमाणान्तर्गतत्वम्, तदुक्तं "प्रत्यक्षादिपरिच्छिन्नपदार्थप्रत्ययोद्भवः॥ वाक्यार्थप्रत्ययः सोऽपि, शब्दान्नैव विभिद्यते ॥ १ ॥" इति। अपि च कविकाव्यमूलज्ञानं न मानसं, मनसो बहिरस्वातन्त्र्यात्, नाप्यनुमितिः, व्याप्त्याद्यप्रतिसन्धानं विना जायमानत्वात्। किन्तु शाब्दबुद्धिः, तत्र कारणं च न पदज्ञानम्, असत्त्वात्, किन्तु चिन्तोद्बुद्धसंस्कारजन्यं तत्तत्स्मरणमिति, सिद्धं (द्धः) पदार्थः प्रमाणतया, यत्र चापचारान्मानसाच्छृण्वन्नपि पदानि पदार्थान्नावधारयति, तत्र न भवति वाक्यार्थप्रत्यय इति व्यतिरेकबलादपि पदार्था एव वाक्यार्थवेदका इति निर्व्यूढमिति भाट्टैकदेशिमतम्, तदसत्,

प्रथमव्यवहाराद्वाक्याभिन्नानां पदानामेव शक्तिकल्पनात्, पदार्थे पृथक्शक्तिकल्पने मानाभावात्, काव्यमूलज्ञानस्य च चन्द्रमुखसादृश्यादिस्मृत्युपनीतस्य मानसत्वात्, ईदृशि स्थले मनसो बहिःस्वातन्त्र्यस्याप्यभ्युपगमात्. श्वेतोऽश्वो धावतीतिधियश्च दृश्यमानः श्वेतोऽयं धावदश्वः हेषाखुरविक्षेपकर्तृत्वादित्यनुमितिरुपायाः संशयोत्तरप्रत्यक्षरूपाया वा सम्भवात्, अतीतत्वादिना पदार्थानां स्मृतौ शाब्दबुद्धौ वाऽहेतुत्वात् पदार्थस्मृतेश्चाव्यापारत्वान्न प्रमाणत्वमिति नैयायिकः, यत्तु पदार्थस्मृतिमात्रस्य शाब्दबुद्धिहेतुत्वे घटः कर्मत्वमानयनं कृतिरित्यादिपदजन्यपदार्थोपस्थितावतिप्रसङ्गः, निराकाङ्क्षपदाजन्यस्मृतेस्तथात्वे तु गौरवमिति साकाङ्क्षपदज्ञानमेव करणं पदार्थस्मृतिस्तु व्यापार इति नैयायिकैरुक्तम्, तदयुक्तम्, साकाङ्क्षपदार्थस्मृतेरेव फलायोगव्यवच्छिन्नत्वेन करणत्वौचित्यात्, यत्र चापचारादित्यादि च यदुक्तम्, तद्विचारासहम्, सानसादपचारात्पदार्थानवगमेन वाक्यार्थप्रतीत्यभावासिद्धेरुपहतमनसो विशिष्टपदसमुदायरूपवाक्यस्यैवानवगमान्निश्चयरूपस्य तदवगमस्यान्त्यपदप्रतिपत्तिकाले स्वार्थविशिष्टपूर्वपूर्वपदपरामर्शस्याविलम्बेन वाक्यार्थप्रतिपत्तिजनकत्वात्, इतरथोपेक्षारूपस्य तादृशपदार्थोपस्थितिवदनादरणीयत्वात्, तदुक्तं—'सम्मतिवृत्तौ' पूर्वपदानुविद्धं चान्त्यपदं यदा वाक्यं पूर्वपदानि च स्वाभिधेयविशिष्टतयाऽन्त्यपदप्रतिपत्तिकाले परामृश्यमानानि वाक्यार्थप्रतिपत्तिजनकानि, तदा पदार्थानवगमे वाक्यस्यैव स्वार्थाभिसम्बद्धतयाऽनवगमात् कथं ततो वाक्यार्थप्रतीतिर्भवेदिति, अयमिह निष्कृष्टार्थः, यावती व्युत्पत्तिः शाब्दबोधे हेतुस्तावद्व्युत्पत्तिसम्बन्धेन स्वार्थविशिष्टवाक्यज्ञानं धारणारूपमेकोपयोगप्रविष्टपदकदम्बविषयं तत्त्वादेवानुपूर्वीपर्यायेण सर्वत्र प्रत्यक्षं तात्पर्यवशाद्विशेष्ये विशेषणमिति रीत्या विशिष्टे वैशिष्ट्यमिति रीत्या वा कथञ्चिदेकानेकात्मकवाक्यार्थधियं जनयति, पदार्थोपस्थितिद्वारत्वे

कथमप्यनुपपत्तेः, घटमानयतीत्यादौ घटादिपदज्ञानाधीनघटादिस्मृतेरमादिपदज्ञानाधीनकर्मत्वादिस्मृतिकाले नाशात् । घटादिस्मृतेरेवामादिपदविषयत्वे त्वव्यवधानेन कर्मत्वादिस्मृतेः घटीयं कर्मत्वमिति बोधसम्भवेऽपि तत्काले घटादिस्मृतिनाशादानयनादिबोधासम्भवात्, सर्वेषां पदानां समूहालम्बनस्मृतौ तथैवार्थस्मृत्या खले कपोतन्यायेन सर्वत्र विशेष्ये विशेषणमिति रीत्यैव शाब्दबोध इत्युपाध्यायमतस्य तु मिश्रैरेव दूषितत्वात्, यत्र विशेषाणां न परस्परमन्वयसम्भवस्तत्रैव चैत्रः स्थाल्यां गेहे काष्ठेनौदनं पचति गच्छति जानाति चेष्टते चेत्यादौ समूहालम्बनस्मृत्यपेक्षाऽन्यत्र त्ववान्तरवाक्यार्थबोधपूर्वक एव महावाक्यार्थबोधः, यथा वाक्यार्थकर्मके कुलकादौ, नहि कुलकादावित्युवाचेत्यादावित्यादिपदोपस्थाप्यवाक्यार्थानुपस्थितावन्वयबोधः, न च तदुपस्थितिरवान्तरवाक्यार्थबोधं विना, न चेदेवं कथं पञ्चाध्याय्यात्मकमहावाक्यार्थबोधस्याप्युपपत्तिः, न ह्यध्ययनेन तावदेकदा ज्ञायते, किन्तु दिने दिने किञ्चित्, अत एव सम्यगवधानासमर्थः स्वल्पं स्वल्पमुच्चार्य योजनया बोध्यते, घटमानयेत्यादौ त्वनियमः सामग्रीद्वयस्यापि पृथक् पृथक् क्लृप्तत्वादिति मिश्रमतस्याप्यनिर्द्धारणेनैव हतत्वात्, अवान्तरवाक्यार्थबोधासाधारण्येन पदजन्यपदार्थोपस्थितित्वेन नियतद्वारत्वाभावात्, अनियतोपस्थितेस्तु पदार्थज्ञानोद्बुद्धसंस्कारप्रभवपदोपस्थितावतिप्रसक्तत्वात्, यथातात्पर्यं गृहीतव्युत्पत्तिकवाक्यज्ञानादेव नियतैकानेकात्मकवाक्यार्थप्रतीतेः सार्वजनीनायाः स्वीकर्त्तुमुचितत्वात्, " वाक्यार्थे द्योतकं ह्येवं पदमात्रं व्यवस्थितम् ॥ निपाते स्फुटता तस्य केवलस्याप्रयोगतः ॥१॥" इति भावनीयं सुधीभिः । वाचकत्वद्योतकत्वयोरनेकान्तस्तु सर्वत्र 'सिद्धिः स्याद्वादात्' इति हैमसूत्रसिद्ध एव, प्रकृते च " स वाचको विशेषाणां स च तद्द्योतकोऽथवा " इति वाक्यपदीयमपि साक्षीति किमतिविस्तरेण ।

प्रपञ्चतोऽन्यत्रेति, (१८३–२–१२) एवकारप्रयोगे घटो नील एवेत्यत्र सर्वावयवावच्छिन्ननीलवत् सन्नेवेत्यतः सर्वधर्मावच्छिन्नसत्त्वप्रतीतौ तदपवादाय नियतावच्छेदकस्फोरणार्थं स्यात्पदप्रयोगध्रौव्ये सावधारणः प्रयोगो युक्तोऽन्यथा तु घटः सन्निति निरवधारणप्रयोगोपि व्युत्पन्नस्य स्वद्रव्यादिचतुष्टयावच्छिन्नस्वरूपसत्त्वप्रकारकबोधान्नानुपपत्तिरित्यत्राप्यनेकान्त एव श्रेयानित्यादिकमित्यर्थः। निरूपितं चैतत्तत्त्वमनेकान्तप्रवेशेऽस्माभिरिति तत एवावगन्तव्यम्। **अभिनिबुद्धम्**, (१८४-१-३) अनुमितम्, शब्दयोजनया (३) परार्थशब्दप्रयोगेण, विकल्पनिरूपणया (३) स्ववृत्तिशब्दवृत्तिजन्योपस्थित्या, वाकारो वक्तृश्रोतृस्थश्रुतानुसन्धानभेदाभिप्रायेण, **इत्यनुसन्धानप्रत्ययभेदवदिति** (४) यथोक्तानुसन्धानविषय एकोऽर्थस्तथाऽहमेक एव द्रष्टेत्याद्यनुसन्धानविषय आत्मापि, अन्यथोपदर्शितप्रत्ययनिर्विषयत्वापत्तेरित्यर्थः, **'तावद्धेति'** (६) तावत्प्रकारैः। **तदेकत्वाभावे** (९) चित्रवृत्तिक्षणेऽप्यनुभूयमानैकत्वापलापे, **'नीलादीति'** (१०) नीलादिविशेषेषु **नियमतो** निश्चयतो **दर्शनं** स्वप्रकाशो येषां ते तथा, नानासंवेदनचित्तक्षणाः नीलादिमात्रविषयकनानाज्ञानानीति यावत्, **तद्वत्** तेष्विव, **चित्रसंवेदनं** चित्रत्वज्ञानं नानारूपसमुदायज्ञाने न स्यात्, विषयितासम्बन्धेन स्वाश्रये तेन वृत्तित्वरूपसामानाधिकरण्येन नीलेतरविशिष्टनीलवत्त्वादिनैव ज्ञाने चित्रत्वव्यवहारादित्यर्थः। **अनुसन्धानमननिबन्धनत्वमिति** (११) अनुसन्धानमेकत्वप्रत्यय एव, मननं ज्ञानं तन्निबन्धनत्वं तत्कारणत्वमित्यर्थः। **तादात्म्यविगमैकान्ते** (११) भेदैकान्ते, **अपरामृष्टभेदानाम्** (१२) अगृहीतभेदानाम्, **सन्तानव्यतिरेकोऽपि** (१३) भिन्नसन्तानवर्तित्वमपि, **चित्रप्रतिपत्तेरयोगादिति** (१८४-२-१) भेदसंलुलिताभेदस्यैव तद्विषयत्वादित्यर्थः। व्याप्यवृत्तिव्यावृत्तिस्वभावं दर्शयित्वाऽव्याप्यवृत्तिं तं दर्शयति **'किन्त्विति** (६) सिता-

दीति ' (१८४-२-६) सितादयो ये निर्भासा ज्ञानाकारास्तथांशपरमाणूनामवयवाणूनां संवित्तयस्ता अपि परस्परव्यावृत्तिलक्षणा इति व्याख्येयम्। परस्परविविक्ता[त्मा]त्मन इति (९) अध्याहृतस्य वस्तुनो विशेषणमिदम्, तत्र(१०) जगति, अन्वयस्य (१०) सर्वथैकत्वस्य, विशेषापेक्ष(णा)त्वा (१०) तत्त्वतो व्यावृत्तिनिरूपणाधीननिश्चयविषयत्वात्, निष्पर्यायम् (१२) अवच्छेदकभेदरहितम्, 'तदंशेति' (१८५-१-१) तदंशौ सत्त्वासत्त्वे, चातुर्जातकम् (३) एलालवंगनागकेसरतमालपत्राणि, पानकवज्जात्यन्तरत्वमेव सर्वथोभयरूपत्वादिकमुदस्यतीत्याह ' सर्वथेत्यादि ' (४) प्रत्येकमिति (७) सत्त्वोपाधावपि केनचिद्धर्मेणोभयात्मकतायास्तत्रापि धर्मान्तरेण तत्तायाः स्वीकारेऽनवस्थेत्यर्थः। तथाऽनभ्युपगमे (७) धर्मान्तरे उभयरूपताननुसरणे, तत्रैव व्यभिचारात्, नोभयस्वभावमशेषं सिद्धमिति ते (७) उभयस्वभावमेवाशेषमिति प्रतिज्ञाया विरोध इत्यर्थः। स्यात्कारेणेति ' (१०) स्यादुभयमित्यत्र स्यात्कारेण सत्त्वासत्त्वावच्छेदकधर्मयोरेव परामर्शाज्जात्यन्तरत्वस्यार्थसिद्धत्वादिति भावः। अर्थसिद्धत्वं च तस्यौत्तरकालिकमानसबोधात् द्योत्यतावच्छेदककुक्षिप्रविष्टत्वाद्वेत्यन्यदेतत्। अनध्यवसेयम् (१३) अभिलापोपरक्तनिश्चयाविषयः, मूर्च्छाचैतन्यवदिति (१३) मूर्च्छाचैतन्यगृहितवदित्यर्थः। यथा मूर्च्छाचैतन्यगृहीतमप्यगृहीतकल्पं तथाऽभिलापानुपरागेण गृहीतमप्यगृहीतकल्पमित्यर्थः। न सोऽस्तीत्यादिनोक्तं (१४) वक्तव्यैकान्तमपि प्रतिक्षिपति ' सर्वात्मनेत्यादि ' (१८५-२-२) सामान्यरूपेणेव विशेषरूपेणापीति सर्वात्मनेतयस्यार्थः। शब्दागोचरत्वेऽनभिधेयत्वापत्तेरिति (३) शब्दगोचरत्वेऽभ्युपगम्यमाने बाधापत्तेस्तदभ्युपगमस्यायुक्तत्वादित्यर्थः, बाधश्चाध्यक्षविषयो न शब्दविषय इति स्फुट एव, प्रत्यक्षविषये प्रत्यक्षशब्दवाच्यत्वमादायाबाधमाशङ्कते 'प्रत्यक्षात्मके-

त्यादि' (४) तथा सत्यनुमानादिशब्दवाच्यत्वात्तत्र स्पष्टत्वास्पष्टत्वसङ्करे ज्ञानसङ्करः स्यादित्याह 'तथैवेत्यादि' (४) विषयविशेषकृतो न प्रत्यक्षेतरविशेषः, किन्तु स्वकारणभेदकृत इत्यत्राह 'तयोरिति' (५) तयोः प्रत्यक्षेतरयोः, विशेषे कुतश्चित्कारणाद्भेदे, तदात्मकयोः (५) प्रत्यक्षेतरशब्दयोर्भेदात्, शब्दाद्वैतसिद्धिः कुतो (५) न कुतश्चिदिति प्रतिज्ञाहानिर्वादिनः। उपाधिभेदान्नायं दोष इत्याशङ्कते स्यान्मतमित्यादिना, (५) एतद् दूषयति–तदसदित्यादिना, (७) प्रत्यक्षेतरोपाधीनामित्यत्र प्रत्यक्षं चेतरच्चोपाधिश्चेति द्वन्द्वः कार्यः, तेन बहुवचनोपपत्तिरिति द्रष्टव्यम्। वक्तव्यैकान्तपक्षोक्तं दूषणमवक्तव्यैकान्तपक्षेऽपि सममित्युपदर्शयति तथानभिधेयत्वेऽपीत्यादिना, (८) 'साध्याभिधानादित्यादि' (१२) साध्याभिधानात्, पक्षोक्तिः, (१३) साध्यविशिष्टधर्मिण उक्तिः, पारम्पर्येणापि नालं (१३) नानुमितिजननसमर्था, पक्षज्ञानमात्रस्य तदहेतुत्वात्, हेतुवचस्तु स्वयमनुमितिजननेऽशक्तमपि शक्तस्यानुमितिजननसमर्थस्य हेतोः सूचकम्, इत्थं च पारम्पर्येण हेतुवचनस्यानुमापकत्वमनुज्ञातम्, अत्र हि सूचकता ज्ञानजनकता, ज्ञानं च बाधाभावात् प्रमारूपमित्यनिच्छताऽपि शब्दस्य प्रमापकत्वं तन्निर्वाहाय वाचकत्वं च बौद्धेनाश्रयणीयमित्युक्तं भवति, सूचकत्वं तु ज्ञानावच्छेदकार्थानुमापकत्वविधया स्वातन्त्र्येण वेत्यन्यदेतत्, अवाचकशब्दव्यावृत्त्यर्थं प्रामाण्यपरीक्षायां वाचकत्वस्यावश्यंभावाद्वक्त्रभिप्रायसम्भावनाजनकत्वमेव शब्दस्यार्थसूचकं (कत्वं) सैव च बहुशो व्यवहारकरीत्याश्रयणे च प्रसिद्धानुमानकार्यस्यापि सम्भावनयैवोपपत्तेः प्रत्यक्षातिरिक्तप्रमाणमात्रप्रत्याख्यानाचार्वाकमतप्रवेशो महापापावहः स्यादिति द्रष्टव्यम् ॥१४॥

तत्र प्रथमद्वितीयभङ्गयोस्तावन्नययोगमुपदर्शयन्ति स्वामिनः।—

सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात् । असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥ १५ ॥

सर्वं चेतनमचेतनं वा द्रव्यं पर्यायादि वा भ्रान्तमभ्रान्तं वा स्वयमिष्टमनिष्टं वा, सदेव स्वरूपादिचतुष्टयात् को नेच्छेत् ? असदेव पररूपादिचतुष्टयात् तद्विपर्ययात्को नेच्छेत् ? अपि तु लौकिकः परीक्षको वा स्याद्वादी सर्वथैकान्तवादी वा सचेतनस्तथेच्छेदेव, प्रतीतेरपह्नोतुमशक्तेः । अथ स्वयमेवं प्रतीयन्नपि कश्चित्कुनयविपर्यासितमतिर्नेच्छेत् स न कचिदिष्टे तत्त्वे व्यवतिष्ठेत, स्वपररूपोपादानापोहनव्यवस्थापाद्यत्वाद्वस्तुनि वस्तुत्वस्य, स्वरूपादिव पररूपादपि सत्त्वे चेतनादेरचेतनादित्वप्रसङ्गात् तत्स्वात्मवत्, पररूपादिव स्वरूपादप्यसत्त्वे सर्वथा शून्यतापत्तेः, स्वद्रव्यादिव परद्रव्यादपि सत्त्वे द्रव्यप्रतिनियमविरोधात् । सयोगविभागादेरनेकद्रव्याश्रयत्वेपि तद्द्रव्यप्रतिनियमो न विरुध्यते एवेति चेत्, न, तस्यानेकद्रव्यगुणत्वेनानेकद्रव्यस्यैव स्वद्रव्यत्वात्, स्वानाश्रयद्रव्यान्तरस्य परद्रव्यत्वात्ततोपि सत्त्वे स्वाश्रयद्रव्यप्रतिनियमव्याघातस्य तदवस्थत्वात् । तथा परद्रव्यादिव स्वद्रव्यादपि कस्यचिदसत्त्वे सकलद्रव्यानाश्रयत्वप्रसङ्गादिष्टद्रव्याश्रयत्वविरोधात् । तथा स्वक्षेत्रादिव परक्षेत्रादपि सत्त्वे कस्यचित्प्रतिनियतक्षेत्रत्वाव्यवस्थितेः । परक्षेत्रादिव स्वक्षेत्रादपि चासत्त्वे निःक्षेत्रतापत्तेः । तथा स्वकालादिव परकालादपि सत्त्वे प्रतिनियतकालत्वाव्यवस्थानात् । परकालादिव स्वकालादप्यसत्त्वे सकलकालासंभवित्वप्रसङ्गात् क किं व्यवतिष्ठेत ? यतः स्वेष्टानिष्टतत्त्वव्यवस्था । नन्वेव स्वरूपादीनां स्वरूपाद्यन्तरस्याभावात्कथं व्यवस्था स्यात्, भावे वानवस्थाप्रसङ्गात् । सुदूरमपि गत्वा स्वरूपाद्यन्तराभावेपि कस्यचिद्व्यवस्थायां किमनया प्रक्रियया स्वगृहमान्यया यथाप्रतीति वस्तुव्यवस्थोपपत्तेरिति कश्चित्, सोपि वस्तुस्वरूपपरीक्षानभिमुखो, वस्तुप्रतीतेरेव तथा प्ररूपयितुमुपक्रान्तत्वात् । अन्यथा नानानिरङ्कुशविप्रतिपत्तीनां निवारयितुमशक्यत्वात् । वस्तुनो हि यथैवाबाधिता प्रतीतिस्तथैव स्वरूपं, न च तत्ततोन्यदेव

प्रतीयते येन स्वरूपान्तरमपेक्षेत । तथा प्रतीतौ वा तदुपगमेपि नानवस्था, यत्राप्रतिपत्तिस्तत्र व्यवस्थोपपत्तेः । तत्र जीवस्य तावत्सामान्येनोपयोगः स्वरूपं, तस्य तल्लक्षणत्वात्, "उपयोगो लक्षणम्," इति वचनात् । ततोन्योऽनुपयोगः पररूपम् । ताभ्यां सदसत्त्वे प्रतीयेते । तदुपयोगस्यापि विशेषतो ज्ञानस्य स्वार्थाकारव्यवसायः स्वरूपम् । दर्शनस्यानाकारग्रहण स्वरूपम् । ज्ञानस्यापि परोक्षस्यावैशद्य स्वरूपम् । प्रत्यक्षस्य वैशद्य स्वरूपम् । दर्शनस्यापि चक्षुरचक्षुर्निमित्तस्य चक्षुराद्यालोचनं स्वरूपम् । अवधिदर्शनस्यावध्यालोचन स्वरूपम् । परोक्षस्यापि मतिज्ञानस्येन्द्रियानिन्द्रियनिमित्त स्वार्थाकारग्रहणं स्वरूपम् । अनिन्द्रियमात्रनिमित्तं श्रुतस्य स्वरूपम् । प्रत्यक्षस्यापि विकलस्यावधिमनःपर्ययलक्षणस्य मनोक्षानपेक्षं स्पष्टात्मार्थग्रहणं स्वरूपम् । सकलप्रत्यक्षस्य सर्वद्रव्यपर्यायसाक्षात्करणं स्वरूपम् । ततोन्यत् सर्वं तु पररूपम् । ताभ्यां सदसत्त्वे प्रतिपत्तव्ये । एवमुत्तरोत्तरविशेषाणामपि स्वपररूपे तद्विद्भिरभ्यूह्ये, तद्विशेषप्रतिविशेषाणामनन्तत्वात् । द्रव्यक्षेत्रकालभावविशेषाणामनेनैव प्रतिद्रव्यपर्यायं स्वपररूपे प्रतिपादिते । ननु च जीवादिद्रव्याणा पण्णामपि किं स्वद्रव्यं किं वा परद्रव्यम् ? यतः सदसत्त्वे व्यवतिष्ठेते, द्रव्यान्तरस्यासंभवादिति चेन्न, तेषामपि शुद्धं सद्द्रव्यमपेक्ष्य सत्त्वस्य तत्प्रतिपक्षमसद्भावमपेक्ष्यासत्त्वस्य च प्रतिष्ठोपपत्तेः । शुद्धद्रव्यस्य स्वपरद्रव्यव्यवस्था कथम् ? तस्य सकलद्रव्यक्षेत्रकालभावात्मकत्वात्, तद्व्यतिरेकेणान्यद्रव्याद्यभावादिति चेन्न, सकलद्रव्यक्षेत्रकालभावानपेक्ष्य सत्त्वस्य, तदभावमपेक्ष्यासत्त्वस्य च व्यवस्थितेः 'सत्ता सप्रतिपक्षा' इति वचनात् । एतेन सकलक्षेत्रस्य नभसोनाद्यनन्ताखिलकालस्य च सकलक्षेत्रकालात्मनः प्रतिनियतक्षेत्रकालात्मनश्च स्वपररूपत्वं निश्चितम् । अतः सदसत्त्वव्यवस्था । स्वरूपादिचतुष्टयादिति "ल्यखे कर्मण्युपसख्यानात्" का० । स्वरूपादिचतुष्टयमपेक्ष्य को नेच्छेत्सदेव सर्वमित्यर्थः । एतेन विपर्यासादिति व्याख्यातम् । ननु स्वस्वसत्त्वस्यैव परासत्त्वस्य प्रतीतेर्न वस्तुनि

स्वपररूपादिसत्त्वासत्त्वयोर्भेदो, यतः प्रथमद्वितीयभङ्गौ घटेते, तदन्यतरेण गतार्थत्वात्, तदघटने च तृतीयादिभङ्गाभावात्कुतः सप्तभङ्गीति चेत्, न, स्वपररूपादिचतुष्टयापेक्षया स्वरूपभेदात्सत्त्वासत्त्वयोरेकवस्तुनि भेदोपपत्तेः, तयोरभेदे स्वरूपादिचतुष्टयापेक्षयेव पररूपादिचतुष्टयापेक्षयापि सत्त्वप्रसङ्गात्, तदपेक्षयेव स्वरूपाद्यपेक्षयापि वाऽसत्त्वप्रसक्तेः । न चापेक्षाभेदात् क्वचिद्धर्मभेदप्रतीतिर्बाध्यते, बदरापेक्षया बिल्वे स्थूलत्वस्य मातुलिङ्गापेक्षया सूक्ष्मत्वस्य च प्रतीतेर्बाधकाभावात्। सर्वस्यापेक्षिकस्यावास्तवत्वे नीलनीलतरादेः सुखसुखतरादेश्चावास्तवत्वापत्तेर्विशदविशदतरादिप्रत्यक्षस्यापि कुतस्तात्त्विकत्वं यतो न संविदद्वैतप्रवेशः ? स चायुक्त एव, तद्व्यवस्थापकाभावात् ।

ततः स्यात्सदसदात्मकाः पदार्थाः, सर्वस्य सर्वाकरणात्। न हि पटादयो घटादिवत्क्षीराद्याहरणलक्षणामर्थक्रिया कुर्वन्ति घटादिज्ञानं वा । तदुभयात्मनि दृष्टान्तः सुलभः । सर्वप्रवादिनां स्वेष्टतत्त्वस्य स्वरूपेण सत्त्वेऽनिष्टरूपेणासत्त्वे च विवादाभावात् तस्यैव च दृष्टान्ततोपपत्तेः । ननु चैकत्र वस्तुनि सत्त्वमसत्त्व च युक्तिविरुद्धम्, परस्परविरुद्धयोर्धर्मयोरेकाधिकरणत्वायोगात्, शीतोष्णस्पर्शवद्भिन्नाधिकरणत्वप्रतीतेरिति चेत्, न, तयोः कथञ्चिदर्पितयोर्विरुद्धत्वासिद्धेस्तथा प्रतिपत्तिसद्भावाच्च। शाब्देतरप्रत्यययोरेकवस्तुविषययोरेकात्मसमवेतयोः कारणविशेषवशात्परिवृत्तात्मनोः स्वभावभेदेपि कथञ्चिदेकत्वमस्त्येव, विच्छेदानुपलब्धेः । न हि शाब्दप्रत्यक्षवेदनयोरस्पष्टेतरप्रतिभासनस्वभावभेदोऽसिद्धः, प्रतीत्यपह्नवप्रसङ्गात्। नापि तयोरेकवस्तुविषयत्वमेकद्रव्याश्रयत्वं चाऽसिद्धम्, तत्रानुसन्धानप्रत्ययसद्भावात्, यदेव मया श्रुतं तदेव दृश्यते, य एवाहमश्रौषं स एव पश्यामीति प्रतीतेर्बाधकाभावात् । तयोर्द्रव्यात्मनैकत्वमस्त्येव, विच्छेदस्यानुपलक्षणात् । ननूपादानोपादेयक्षणयोस्तद्भावादेवानुसधानसिद्धेर्विच्छेदानुपलम्भेपि नैकत्वसिद्धिः, एकसन्तानत्वस्यैव सिद्धेः, आत्मद्रव्यस्याभावादिति चेत, न, तदभावे तयोरुपादानोपादेयतानुपपत्तेः । उपादानस्य कार्यकालमात्मान कथंचिदनयतश्चिरतरनिवृत्ताविवाविशे-

पात्कार्योत्पत्तावपि व्यपदेशानुपपत्तेस्तादृशां स्वरूपैकत्वमस्त्येव। न च सव्येतरविषाणवत्सर्वथा समानकालतोपादानोपादेययोर्यतस्तद्भावो विरुद्ध्येत, द्रव्यसामान्यापेक्षया तयोरेकत्वमिति मननात्। विशेषापेक्षया तु नास्त्येव तादृशामेकत्वम्। न हि पौरस्त्य पाश्चात्यः स्वभावः, पाश्चात्यो वा पौरस्त्यः। नन्वेवमेकत्वं मा भूत् पूर्वापरपरिणामानाम्, क्रमस्यैवावस्थानादक्रमस्य तद्विरुद्धत्वादिति न मन्तव्यम्, यस्मान्निरपेक्षस्तत्र क्रमोपि प्रतिभासविशेषवशात्प्रकल्प्येत तदेकत्वादक्रमः किन्न स्यात्? प्रतिभासैकत्वेपि तदक्रमानुपगमे प्रतिभासविशेषवशात्क्रमः कथमभ्युपगमार्हः स्यात्? सर्वस्य यथाप्रतिभास वस्तुनः प्रतिष्ठानात्, प्रतिभासमानयोः क्रमाक्रमयोर्विरोधानवतरणाद्विरोधस्य सहा(स्या)नुपलम्भलक्षणत्वात्। न च स्वरूपादिना वस्तुनः सत्त्वे तदैव पररूपादिभिरसत्त्वस्यानुपलम्भोस्ति, येन सहानवस्थानलक्षणो विरोधः शीतोष्णस्पर्शविशेषवत्स्यात्, परस्परपरिहारस्थितिलक्षणस्तु विरोधः सहैकत्राम्रफलादौ रूपरसयोरिव सभवतोरेव सदसत्त्वयोः स्यात्, न पुनरसभवतोः, सभवदसभवतोर्वा। एतेन वध्यघातकभावोपि विरोध फणिनकुलयोरिव बलवदबलवतोः प्रतीत सत्त्वासत्त्वयोरशङ्कनीयः कथितः, तयोः समानबलत्वादित्येतदग्रे प्रपञ्चयिष्यते। तदेकानेकाकारमक्रमक्रमात्मकमन्वयव्यतिरेकरूपं सामान्यविशेषात्मक सदसत्परिणामं स्थित्युत्पत्तिविनाशात्मकं स्वप्रदेशनियतं स्वशरीरव्यापिन त्रिकालगोचरमात्मानं परं वा कथञ्चित्साक्षात्करोति, परोक्षयति वा, केशादिविवेकव्यामुग्धबुद्धिवत्, तादृशेकचैतन्यं सुखादिभेदं वस्तु स्वतोऽन्यतः सजातीयविजातीयाद्विविक्तलक्षणं बिभर्ति। अन्यथानवस्थानात् कचित्कथचिदनियमः स्यात्। सर्वो हि लौकिकः परीक्षकश्च तावदेकमक्रमात्मकमन्वयरूप सामान्यात्मक सत्परिणामं स्थित्यात्मकमात्मान पर वा बहिरर्थसतानान्तराख्य द्रव्यापेक्षया साक्षात्करोति, लिङ्गशब्दादिना परोक्षयति वा, भावापेक्षया पुनरनेकाकारं क्रमात्मकं व्यतिरेकरूपं विशेषात्मकमसत्परिणाममुत्पत्तिविनाशात्मकं,

क्षेत्रापेक्षया स्वप्रदेशनियतं निश्चयनयतः, स्वशरीरव्यापिनं व्यवहारनयतः, कालापेक्षया त्रिकालगोचरम् । कथं पुनरीदृशमात्मानं पर वा साक्षात्करोति कथं वा परोक्षयति द्रव्याद्यपेक्षयेति चेत्, उच्यते । साक्षात्करणयोग्यद्रव्याद्यात्मना मुख्यतो व्यवहारतो वा विशदज्ञानेन साक्षात्करोति, परोक्षज्ञानयोग्यद्रव्याद्यात्मना अनुमानादिप्रमाणेनाविशदेन परोक्षयति, 'प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं मुख्यसव्यवहारतः । परोक्ष शेपविज्ञानं प्रमाणे इति सग्रहः' ॥१॥ इति सक्षेपतः प्रत्यक्षपरोक्षयोरेव वस्तुपरिच्छित्तौ व्यापारवचनात् । कथं तर्हि केशादिविवेकव्यामुग्धबुद्धिः पुरुपो दृष्टान्तः समः स्यादिति चेत्, केशमशकमक्षिकादिप्रतिभासात्मना सत्त्वपरिणामं साक्षात्कुर्वन् विवेकाद्यात्मना च कुतश्चिदनुमिन्वन्नुपशृण्वन्वा परोक्षयन्, अविवेकादिव्यामोहप्रतिभासात्मना चासत्त्वपरिणामं कथञ्चित्तु साक्षात्कुर्वन् परोक्षयँश्च सम एव स दृष्टान्तः, तथा वैपम्याभावात् । ननु च तद्वस्तु चैतन्यमेवैकमक्रमादिरूप विभर्ति, न पुनः सुखादिभेदमनेकाकारं क्रमाद्यात्मकं, सजातीयाचेतनवस्तुनो विजातीयाच्चाचेतनवस्तुनो विविक्तस्वरूपम्, तमेव वा विभर्ति तादृशं, न पुनश्चैतन्यं तत्त्वतः, इत्यभ्युपगमयोरेकतरानवस्थानेऽन्यतरस्याप्यनवस्थानादुभयानवस्थितिप्रसङ्गात्, क्वचिदभ्युपगते रूपे कथंचित्प्रत्यक्षादिप्रकारेण स्वाभ्युपगमादिप्रकारेण च नियमासभवात् । सूक्तम् "ईदृशं न चेत्, स व्यवतिष्ठते" इति । ॥ १५ ॥

अथ स्वयमेवं प्रतीयन्नपीति (१९२–१–४) सत्त्वासत्त्वोभयधर्मशबलैकवस्त्विति शेपः । अत्र स्वरूपं स्वभावः पररूपं परभाव इति, शिष्टमादिपदग्राह्यं द्रव्यादित्रयमेव स्थितमिति तदाश्रित्याह 'स्वद्रव्यादिवेत्यादि' (६) ॥ तदवस्थत्वादिति (८) संयोगस्य स्वद्रव्यापेक्षास्तित्वाभावेऽयं संयोगोऽनयोरेव द्रव्ययोर्नान्ययोरिति प्रतिनियमो व्याहन्यत एवेति दोपस्य प्रागुक्तानतिशायित्वादित्यर्थः, इयोस्तु विशेपोऽव्यासज्यवृत्तिधर्माणामस्तित्वे स्वसमवायिद्रव्यमात्रापेक्षा, व्यासज्यवृत्ति-

धर्माणां तु स्वपर्याप्तिमद्द्रव्यापेक्षेति । अत एव तत्प्रमात्वमपि स्वपर्याप्तिमद्विशेष्यकत्वघटितमिति नैको द्वावित्यादेः प्रमात्वम्, तादृशबुद्धिकाले धर्मद्वयावच्छेदेन द्वित्वबुद्धेः प्रमात्वं तु स्याद्वादापेक्षया लोकोत्तरमिति न दोषः, लौकिकप्रमाप्रकारस्यैव प्राग् लक्षितत्वादिति दिग् । स्वरूपादौ स्वरूपाद्यन्तराभावात्कथं सत्त्वं, तद्भावे वा कथं नानवस्थेति नैयायिकादिः शङ्कते '**नन्वेवमित्यादिना**' (१९२–१–११) ॥ स्वरूपादीनां धर्मिसत्त्वादिनियामकानां स्वसत्त्वादिनियामकत्वस्य धर्मिग्राहकमानेन स्वत एव सिद्धत्वान्नयविशेषेण स्वरूपान्तरादिग्रहस्यापि जिज्ञासाधीनत्वाद् यत्रैव न सा तत्रैव विश्रान्तेर्नानवस्थेति समाधत्ते– **सोऽपीत्यादिना** (१३) ॥ **वस्तुनो हीति**' (१४) तथा च स्वरूपादिघटितमूर्त्तेरेव सत्त्वादेः प्रतीतेर्भेदनयेऽपि च यथा जिज्ञासं व्यवस्थानान्नानवस्थेति फलितम्, एतेन सत्त्वं नावच्छिन्नम्, अनवच्छिन्नस्यैव सत्तामहासामान्यस्य सर्वैः प्रतीयमानत्वात्, तत्र स्वरूपादेरवच्छेदकस्य कल्पने च तस्यापि सप्तभङ्गीनयेनानवस्थिततद्व्यवस्थार्थमप्यवच्छेदकान्तरमपेक्षणीयम् तत्राप्यन्यदित्येवं ज्ञप्तिप्रतिपन्थिन्यनवस्था दुरुद्धरेति न कथमपि सप्तभङ्गीक्रमेण शाब्दबोधोपपत्तिरिति पशुपालप्रलपितमपास्तम् । अनर्पितदृष्ट्याऽनवच्छिन्नेऽप्यर्पितदृष्ट्याऽवच्छिन्नत्वप्रतीतेः सार्वजनीनत्वात्, केनचिन्नयेन स्वरूपादेः स्वरूपतोऽवच्छेदकत्वं निर्णीयैवास्तित्वादिप्रवृत्तेरनवस्थाया अभावात्, अन्यथा शाखावच्छेदेन कपिसंयोगप्रत्ययोऽपि दुरुपपादः स्यात्, सम्पूर्णा परमाण्वाद्यवच्छिन्ना वा शाखाऽनवच्छेदिकेति ग्रहे शाखात्वावच्छेदेनावच्छेदकत्वग्रहासम्भवात्, प्रतिनियतावयवावच्छिन्नशाखात्वेन तदवच्छेकत्वस्य च दुर्ग्रहत्वादित्यादिकमुपपादितं गोपालमतप्रमाथिन्यामनेकान्तव्यवस्थायामस्माभिरिति तत एवावधार्यम् । स्वद्रव्यपरद्रव्यादेः सर्वत्र सदसत्त्वव्यवस्थापकत्वनियमभङ्गमाशङ्कते–**ननु चेत्यादिना** (१९२–२–८) ॥ षण्णा-

मपि (१९२-२-९) इति द्रव्यत्वमुद्देश्यतावच्छेदकमाह-द्रव्यत्वावच्छेदेन सत्त्वासत्त्वादिसप्तभङ्गीसाधने किं स्वद्रव्यं किं वा परम्, तदवच्छिन्नभेदाप्रसिद्ध्या परत्वस्य तदभावे स्वत्वस्य दुर्वचत्वान्न किञ्चिदित्यर्थः, तत्रापि शुद्धं द्रव्यं स्वं सत्त्वावच्छेदकम्, अशुद्धं च परमसत्त्वावच्छेदकम्, अशुद्धशुद्धत्वे च भेदाभेदप्रधानव्यवहारनिश्चयनयसाक्षिकावखण्डोपाधिविशेषौ, प्रतिभासविशेषादपि तत्सिद्धेस्तत्तेदंतादौ दर्शनादिति नानुपपत्तिरित्यभिप्रायवानाह-'न, तेषामपीत्यादि' (९)॥ तथापि शुद्धद्रव्यत्वावच्छिन्नधर्मिताकसप्तभङ्गीस्थले का गतिरित्याशङ्कते शुद्धद्रव्यस्येत्यादि (११)॥ तत्रापि स्वद्रव्यपरद्रव्यशब्दाभ्यां व्यापकत्वाव्यापकत्वोपलक्षणात्तदवच्छिन्नास्तित्वनास्तित्वादिघटितायाः सप्तभङ्ग्या नानुपपत्तिरित्याह-'सकलेत्यादि' (११)॥ उक्तप्रकारं शुद्धक्षेत्रकालयोरतिदिशति-'एतेनेति' (१२)॥ शुद्धभावस्तु शुद्धद्रव्येण गतार्थ एव, स्वरूपादिचतुष्टयादित्यत्र "ल्यब्लोपे पञ्चमी" इत्यभिप्रायमाविष्करोति-'स्वरूपादीत्यादि' (१३)॥ व्याख्यातमिति (१४)॥ विपर्यासादित्यत्रापि विपर्यासमपेक्ष्येत्येवार्थ इति भावः। आपेक्षिकस्य तुच्छत्वे बाधकमाह-'सर्वस्येत्यादि' (१९३-१-४)॥ तथा च भावानां परस्परमुत्कर्षापकर्षाभ्यामन्ततः षड्गुणहानिवृद्धिशालित्वेन भावाभावयोश्च परस्परवैलक्षण्येनापेक्षिकतया तुच्छत्वात्तत्त्वोपप्लवे मध्यमसंविन्मात्रे विश्रान्तिः स्यात्, सा च बहुधा दूषितेति व्यवहारतः केचिदर्था निरपेक्षाः केचिच्च सापेक्षा अनुभवबलेनैव श्रद्धेयाः, तथैव पदार्थवैचित्र्यस्य व्यवस्थितत्वात्, तदवदाम भाषारहस्यप्रकरणे "ते[1] होंति परावेक्खा वंजयमुहदंसिणोत्ति ण य तुच्छा। दिट्ठमिणं वेचित्तं सरावकप्पूरगंधाणं ॥१॥" इति, तत्त्वतस्तु सामान्यदृष्ट्या सर्वे निरपेक्षा विशेषदृष्ट्या च सर्वे सापेक्षा

१ ते भवन्ति परापेक्षा व्यञ्जकमुखदर्शिन इति न च तुच्छाः। दृष्टमिदं वैचित्र्यं शरावकर्पूरगन्धयोः ॥ १ ॥

इति व्यापकोऽनेकान्त एव विजयते, व्यञ्जनपर्यायैः सदृशानामप्यर्थपर्यायैर्विसदृश्यस्य शास्त्रसिद्धत्वात्, तदाह–प्रवचनोपनिपद्वेदी महावादी सिद्धसेनः—"परपज्जवेहिं असरिसगमेहिं णियमेण णिच्चमवि णत्थि। सरिसेहिं पि वंजणओ अत्थि ण पुणत्थं-पज्जाए॥१॥" इति, कथञ्चिदर्पितयोः (१९३-१-९) स्वपररूपाभ्यां विवक्षितयोः, तथाप्रतिपत्तिसद्भावाच्च (९) तादृशयोस्तयोरेकाधिकरणत्वधीसद्भावाच्च, न च दृष्टेऽनुपपन्नं नाम, भिन्नस्वभावयोरप्येकत्वं दृष्टान्तेन प्रसिद्धेनोपदर्शयति—शाब्देतरेत्यादि (१०) स्पष्टास्पष्टविषयतया भिन्नस्वभावत्वेन सिद्धयोः प्रत्यक्षशाब्दबोधयोर्यथैकविषयत्वमेकद्रव्याश्रयत्वं चाविरुद्धं तथा सत्त्वासत्त्वयोरेकाश्रयत्वमपीति तात्पर्यार्थः। न चाध्यक्षशाब्दविषयत्वविरोधः कालभेदेन परिहरणीयः, एककालेऽपि चित्रसंवित्तौ नीलतदितरविषयत्वविरोधपरिहारस्य प्रतीत्येकशरणत्वादिति प्रतिपत्तव्यम्। भावाभावयोर्विरोधस्यापि तत्तत्प्रतियोगिगर्भत्वेन विशिष्य विश्रान्तत्वाज्जात्यन्तरे वस्तुनि तदेकदेशयोः सत्त्वासत्त्वयोरविरोधकल्पन एव लाघवमिति पुनरस्मदीयो मनीषोन्मेषो नयरहस्यादौ। विच्छेदानुपलम्भेऽपीति (१९३-१३) अत्र सादृश्यदोषादिति हेतुरूह्यः। तदभावे (१४) आत्मद्रव्याभावे, तयोः (१४) शाब्देतरप्रत्यययोः, कथञ्चिदुपादानोपादेयानुगतधर्मेण, तेन दध्युत्पत्तिकाले दुग्धत्वरूपेण दुग्धानन्वयात्तयोर्नोपादानोपादेयभावानुपपत्तिः। यद्द्रव्यं यद्द्रव्यध्वंसजन्यं तत्तदुपादानोपादेयमित्यपेक्षया च तत्तदुपादेयमिति व्याप्तिरेव लघीयसी। इयान् परं विशेषः, परेषां समवायसम्बन्धावच्छिन्नकार्यतानिरूपिततादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नकारणताशालित्वमुपादानकारणत्वम्, अस्माकं च तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नकार्यतानिरूपितस्वध्वंसत्वसम्बन्धावच्छिन्नकारणताशालित्वं तदिति॥ व्यपदे-

१ परपर्यवैरसदृशगमैर्नियमेन नित्यमपि नास्ति। सदृशैरपि व्यञ्जनतः अस्ति न पुनरर्थपर्यायैः॥ १॥

शानुपपत्तेः (१९३-२-१) अस्येदमिति परिणामपरिणामिभावसम्बन्धव्यवहारानुपपत्तेरित्यर्थः। तादृशाम्, (१) उपादानोपादेयभूतानाम्, स्वरूपैकत्वम्, (१) एकद्रव्यतयाऽभेदः। अभेदे उपादानोपादेयभावविरोधमाशङ्क्य परिहरति—न चे (१) त्यादिना मननात्, (१९३-२-२) इत्यन्तेन, तदेव द्रढयति—भाष्ये विशेषापेक्षया तु (२) इत्यादिना, विरोधस्य सहानुपलम्भलक्षणत्वादिति (६) एकज्ञानप्रतिबन्धकज्ञानविषयत्वमपरस्य विरोधो, न च क्रमाक्रमयोरयमस्ति, एकत्र पर्यायरूपेण क्रमज्ञानकाल एव द्रव्यरूपेणाक्रमस्य ज्ञायमानत्वादित्यर्थः। इत्थमेव सत्त्वासत्त्वयोरपि न विरोध इत्याह—न चेत्यादिना (६)॥ सम्भवतोरेवेति (७) नियमागर्भभिन्नाधिकरणत्वं परस्परपरिहारस्थितिपदार्थ इत्यभिप्रायेणेदम्, भावाभावरूपत्वमेव परस्परपरिहारत्वमित्यर्थे तु तद्विरोधस्य विशिष्य विश्रान्तत्वादवच्छेदकभेदाश्रयणाद्वा परिहारः कार्य इति भावनीयम्। ननु तैस्तैः पर्यायैरात्मद्रव्यस्य साक्षात्करणे परोक्षीकरणे वा केशादिविवेकव्यामुग्धबुद्धिः पुरुषो दृष्टान्ततया भाष्यकृतोक्तः कथं सङ्गच्छते, भ्रमज्ञाने साध्य एव व्यामुग्धबुद्धेर्दृष्टान्तत्वसम्भवादित्याशङ्कते—कथं तर्हीति, (१९४-१-४) केशमशकाद्यनुगतसामान्येन सत्त्वं साक्षात्कुर्वन् भेदरूपविवेकात्मना च परोक्षयन् तद्भिन्नरूपेण चासत्त्वं साक्षात्कुर्वन् परोक्षयन् वा पुरुषो दृष्टान्ततयोक्त इति न वैषम्यमित्याशयवान् समाधत्ते—केशेत्यादि (५)॥ तथा च केशादौ विवेके चार्थात्तदीये व्यामुग्धा परावर्त्तमाना सामान्य विशेषाकारतया विविच्यानिष्ठिता बुद्धिर्यस्य तद्वदित्यक्षरार्थो वाच्यः। ननु चेति (७) निश्चये, न तु पूर्वपक्षे, तद्वस्त्वित्यादिना (७) वस्तुस्थितेरेव वक्ष्यमाणत्वात्, क्रमाक्रमोभयनियमसाधनान्यतरनियमखण्डनाभ्यां वस्तुव्यवस्थयैव। न चेत्, न, व्यवतिष्ठत (१९४-१-१०) इत्यस्य सूक्ततायाः समर्थयिष्यमाणत्वादिति बोध्यम्॥ १५॥

तदेवं प्रथमद्वितीयभङ्गौ निर्दिश्य तृतीयादिभङ्गान्निर्दिशन्ति भगवन्तः ॥

क्रमार्पितद्वयाद् द्वैतं, सहावाच्यमशक्तितः । अवक्तव्योत्तराः शेषास्त्रयो भङ्गाः स्वहेतुतः ॥ १६ ॥

क्रमार्पितात्स्वपररूपादिचतुष्टयद्वयात्कथंचिदुभयमिति द्वैतं वस्तु, द्वाभ्या सदसत्त्वाभ्यामितस्यैव द्वैतत्वात्, स्वार्थिकस्याणो विधानाद्द्वैतशब्दस्य सिद्धेः । स्वपररूपादिचतुष्टयापेक्षया सह वक्तुमशक्तेरवाच्यं, तथाविधस्य पदस्य वाक्यस्य वा कस्यचिदभिधायकस्यासभवात् । सदसदुभयभङ्गास्त्ववक्तव्योत्तराः शेषाः पञ्चमषष्ठसप्तमाः, चतुर्भ्योऽन्यत्वात् । ते च स्वहेतुवशान्निर्देष्टव्याः। तद्यथा कथञ्चित्सदवक्तव्यमेव, स्वरूपादिचतुष्टयापेक्षत्वे सति सहवक्तुमशक्तेः । कथंचिदसदवक्तव्यमेव, पररूपादिचतुष्टयापेक्षत्वे सति सह वक्तुमशक्तेः । कथंचित्सदसदवक्तव्यमेव, स्वपररूपादिचतुष्टयापेक्षत्वे सति सह वक्तुमशक्तेः, सदसदुभयत्वधर्मेष्वन्यतमापाये वस्तुन्यवक्तव्यत्वधर्मानुपपत्तेः । तेषां तत्र सतामग्यविवक्षाया केवलस्यावक्तव्यत्वस्य भङ्गस्य वचनाद्विरोधानवकाशः। ननु च क्रमार्पितद्वयात्तावद्द्वैतं वस्तु, तत्तु स्वरूपादित एव सत्, पररूपादित एवासत्, न पुनस्तद्विपर्ययादिति कुतोऽवसितमिति चेत्, उच्यते, स्वपररूपाद्यपेक्षं सदसदात्मक वस्तु, न विपर्यासेन, तथादर्शनात्। सकलजनसाक्षिक हि स्वरूपादिचतुष्टयापेक्षया सत्त्वस्य पररूपादिचतुष्टयापेक्षया चासत्त्वस्य दर्शनं,तद्विपरीतप्रकारेण चादर्शन वस्तुनीति तत्प्रमाणयता तथैव वस्तु प्रतिपत्तव्यम्,अन्यथा प्रमाणप्रमेयव्यवस्थानुपपत्तेः। कल्पयित्वापि तज्जन्मरूपाध्यवसायान् स्वानुपलम्भव्यावृत्तिलक्षण दर्शन प्रमाणयितव्यम् । तथा हि । बुद्धिरियं यया प्रत्यासत्त्या कस्यचिदेवाकारमनुकरोति तया तमेवार्थं नियमेनोपलभेत, नान्यथा, पारम्पर्यपरिश्रम परिहरेत्। ननु तज्जन्मतद्रूपतदध्यवसायेषु सत्सु नीलादौ दर्शनं प्रमाणमुपलभते, तदन्यतमापाये तस्य प्रमाणत्वाप्रतीतेरिति चेत्, न, तदभावेपि स्वानुपलम्भव्यावृत्तिसद्भावादेव प्रमाणत्वप्रसिद्धेः, तज्जन्मनश्च-

क्षुरादिभिर्व्यभिचारात्, तद्रूपस्य सन्तानान्तरसमानार्थविज्ञानेनानेकान्तात्, तद्द्वयलक्षणस्य समानार्थसमनन्तरप्रत्ययेनानैकान्तिकत्वात्, त्रिलक्षणस्यापि विभ्रमहेतुफलविज्ञानैर्व्यभिचारात्, कामलाद्युपहतचक्षुषः शुक्ले शङ्खे पीताकारज्ञानादुत्पन्नस्य तद्रूपस्य तदाकाराध्यवसायिनोपि ज्ञानस्य स्वसमनन्तरप्रत्यये प्रमाणत्वभावात्। तदनभ्युपगमे स्वाभ्युपगमासिद्धेः किंसाधनः परमुपालभेत, यतोऽवश्य दर्शनं नियतस्वविपयानुपलम्भव्यावृत्तिलक्षणं पर विषयानुपलम्भात्मकं न प्रमाणयेत्। न हि स्वयं प्रमाणानभ्युपगमे स्वार्थप्रतिपत्तिः। न चाप्रतिपन्नमर्थं परस्मै प्रतिपादयितुमीशः, परमुपालब्धु वा, पराभ्युपगतस्यापि प्रमाणस्य प्रतिपत्तेरयोगात्, पराभ्युपगमान्तरात्तत्प्रतिपत्तावनवस्थाप्रसङ्गात्। तदेकोपलम्भनियमः स्वपरलक्षणाभ्यां भावाभावात्मानं प्रसाधयति, तदभावे न प्रवर्तेत, नापि निवर्तेत, प्रमाणान्तरवत्। स्वस्यार्थस्य चैकस्यैवोपलम्भो हीतरस्यानुपलम्भ, तस्य विधायक एवान्यस्य निषेधकः, तत्र प्रवर्तक एव वा परत्र निवर्तकः, इति तदेकोपलम्भनियमात्कस्यचित् प्रवृत्तिनिवृत्ती सिध्यतः। तदभावे सन्तानान्तरप्रमाणादिवत् प्रवर्तकान्न कश्चित्प्रवर्तेत, निवर्तकाच्च न निवर्तेत, अप्रमाणात्प्रवृत्तौ निवृत्तौ वा प्रमाणान्वेपणस्य वैयर्थ्यादतिप्रसङ्गाच्च। तत' प्रमाणं प्रत्यक्षमन्यद्वा स्वार्थोपलम्भात्मना परार्थानुपलम्भात्मना च क्रमार्पितेन सदसदात्मकं सिद्धम्। तद्वत्प्रमेयमपि। इति सर्वं वस्तु क्रमार्पितद्वयाद्वैतं को नेच्छेत्? सर्वस्य विप्रतिपत्तुमशक्तेरनिच्छतोपि तथा संप्रत्ययात्। कथमवक्तव्य सर्वमिति चेत्, उच्यते, निष्पर्यायं भावाभावावभिधानं नाञ्जसैव विपयीकरोति, शब्दशक्तिस्वाभाव्यात्, सर्वस्य पदस्यैकपदार्थविपयत्वप्रसिद्धेः, सदिति पदस्यासदविपयत्वात्, असदिति पदस्य च सदविपयत्वात्, अन्यथा तदन्यतरपदप्रयोगसशयात्, गौरिति पदस्यापि दिगाद्यनेकार्थविपयतया प्रसिद्धस्य तत्त्वतोऽनेकत्वात्सादृश्योपचारादेव तस्यैकत्वेन व्यवहरणात्, अन्यथा सर्वस्यैकशब्दवाच्यत्वापत्तेः, प्रत्येकमप्यनेकशब्दप्रयोग-

वैफल्यात्। यथैव हि शब्दभेदाद्ध्रुवोऽर्थभेदस्तथार्थभेदादपि शब्दभेदः सिद्ध एव, अन्यथा वाच्यवाचकनियमव्यवहारविलोपात्। एतेनैकस्य वाक्यस्य युगपदनेकार्थविषयत्वं प्रत्याख्यातम्, स्यात्सदसदेव सर्वं स्वपररूपादिचतुष्टयाभ्यामिति वाक्यस्यापि क्रमार्पितोभयधर्मविषयतयोररीकृतस्योपचारादेवैकत्वाभिधानात्। तत्रोभयप्राधान्यस्य क्रमशो विवक्षितस्य सदसच्छब्दाभ्यां द्वन्द्ववृत्तौ तद्वाक्ये वा स्वपदार्थप्रधानाभ्यामभिधानाद्वा न दोषः, सर्वस्य वाक्यस्यैकक्रियाप्रधानतयैकार्थविषयत्वप्रसिद्धेः। सिद्धमेकार्थनिवेदनशक्तिस्वभावत्वं शब्दस्य, वचनसूचनसामर्थ्यविशेषानतिलङ्घनात्। सदिति शब्दस्य हि सत्त्वमात्रवचने सामर्थ्यविशेषो, नासत्त्वाद्यनेकधर्मवचने, स्यादिति शब्दस्य च वाचकस्यानेकान्तमात्रवचने सामर्थ्यविशेषो, न पुनरेकान्तवचने, तस्यैव द्योतकस्याविवक्षिताशेषधर्मसूचने सामर्थ्यविशेषो, न पुनर्विवक्षितार्थवचने, तद्वाचकशब्दप्रयोगवैयर्थ्यप्रसक्तेः। न चैवं विधिवचनसूचनसामर्थ्यविशेषमतिक्रम्य प्रवर्तमानः शब्द प्रसिद्धवृद्धव्यवहारेपूपलभ्यते, यतो निष्पर्यायं भावाभावावभिदधीत। स्यान्मत 'यथासङ्केतं शब्दस्य प्रवृत्तिदर्शनात्सह सदसत्त्वधर्मयोः सकेतितः शब्दस्तद्वाचको न विरुध्यते सज्ञाशब्दवत्, इति, तदयुक्तं, सङ्केतानुविधानेपि कर्तृकर्मणोः शक्त्यशक्त्योरन्यतरव्यपदेशार्हत्वादयोदारुवज्रलेखनवत्। न हि यथायसो दारुलेखने कर्तुः शक्तिस्तथा वज्रलेखनेऽस्ति, यथा वज्रलेखने तस्याशक्तिस्तथा दारुलेखनेपीति शक्य वक्तुम्। नापि यथा दारुण' कर्मणोऽयसा लेख्यत्वे शक्तिस्तथा वज्रस्यास्ति, यथा वा वज्रस्य तत्राशक्तिस्तथा दारुणोपीति निश्चयः, कचित्कस्यचित्कर्तृकर्मणोः शक्त्योरशक्त्योश्च प्रतिनियततया व्यवस्थितत्वात्। तथा शब्दस्यापि सकृदेकस्मिन्नेवार्थे प्रतिपादनशक्तिर्न पुनरनेकस्मिन्, सङ्केतस्य तच्छक्तिव्यपेक्षया तत्र प्रवृत्तेः। सेनावनादिशब्दस्यापि नानेकत्रार्थे प्रवृत्तिः, करितुरगरथपदातिप्रत्यासत्तिविशेषस्यैकस्य सेनाशब्देनाभिधानात्, वनयूथपङ्क्तिमालापानकग्रामादिशब्दानामप्येतेनैवानेका-

र्थप्रतिपादनपरत्व प्रत्याख्यातम्। कथमेवं वृक्षाविति पद द्व्यर्थं वृक्षा इति च बह्वर्थमुपपद्यते इति चेत्, केषाञ्चिदेकशेषारम्भात्, परेषां स्वाभाविकत्वादभिधानस्येति सगिरामहे। तत्रैकशेषपक्षे द्वाभ्यामेव वृक्षशब्दाभ्या वृक्षद्वयस्य, बहुभिरेव च वृक्षशब्दैर्बहूना वृक्षाणामभिधानान्नैकस्य शब्दस्य सकृदनेकार्थविषयत्वम्, शिष्टलुप्तशब्दयोः सारूप्यादभिधेयसाम्याच्चेकत्वोपचारादेकशब्दप्रयोगोपपत्तेः। स्वाभाविकत्वे त्वभिधानस्य, वृक्षशब्दो द्विबहुवचनान्तः स्वभावत एव स्वाभिधेयमर्थं द्वित्वबहुत्वविशिष्टमाचष्टे, तथा सामर्थ्यात्, अन्यथा शब्दव्यवहारानुपपत्ते। ननु च वृक्षा इति प्रत्ययवती प्रकृतिः पदम्, तस्य वाच्यमनेकमेकं च स्याद्वादिभिरिष्यते, न पुनरेकमेव। तथा चोक्तम् "अनेकमेकं च पदस्य वाच्य वृक्षा इति प्रत्ययवत्प्रकृत्या" इति कश्चित्, सोप्येवं प्रष्टव्यः, किमेकमनेकं च सकृत्प्रधानभावेन पदस्य वाच्यमाहोस्विद्गुणप्रधानभावेन ? इति। न तावत्प्रथमः पक्षः। तथा प्रतीत्यभावात्। वृक्षद्रव्यं हि वृक्षत्वजातिद्वारेण वृक्षशब्दः प्रकाशयति, ततो लिङ्गं सख्यां चेति शाब्दी प्रतीतिः क्रमत एव। तदुक्तं "स्वार्थमभिधाय शब्दो निरपेक्षो द्रव्यमाह समवेतम्। समवेतस्य तु वचने लिङ्गं सख्यां विभक्तीश्च॥१॥" इति। प्रधानभावेन च वृक्षार्थः प्रतीयते, बहुत्वसंख्या तु गुणभावेनेति न कस्यचिद्विरोधः, प्रधानगुणभावपक्षस्यैवाभिमतत्वात्, स्यादिति निपातेनानेकस्य धर्मस्याकाङ्क्षणेनैकस्यैव प्रधानस्य गुणानपेक्षस्यापवदनात्,—सर्वस्य वाचकतत्त्वस्य गुणप्रधानार्थत्वात्, वाच्यतत्त्वस्य च तथाभूतत्वात्। तदुक्तम् "आकाङ्क्षिणः स्यादिति वै निपातो गुणानपेक्षे नियमेऽपवादः। गुणप्रधानार्थमिदं हि वाक्य जिनस्य ते तद्द्विषतामपथ्यम्॥ १॥" इति। नन्वेवं प्रधानभावेनाशेषधर्मात्मकस्य वस्तुन. प्रकाशकं प्रमाणवाक्यं कथमुपपद्येत, येन सकलादेशः प्रमाणाधीनः स्यादिति चेत्, कालादिभिरभेदेनाभेदोपचारेण च द्रव्यपर्यायनयार्पितेन सकलस्य वस्तुनः कथनादिति ब्रूमः। द्रव्यार्थिकनयात्तावदेकस्यैव द्रव्यस्यानन्तपर्यायात्मकस्यादेशः प्रमाणवाक्यं नानेकार्थम्, पर्यायनयाच्च सकल-

पर्यायाणा कालादिभिरभिन्नानामभेदोपचारादुपचरितमेकमेव वस्तु प्रमाणवाक्यस्प विपय इति न किंचिद्वाक्यं पदवदनेकार्थं सकृत् प्रधानभावेन विभाव्यते, सकेतसहस्रेणापि वाचकवाच्ययोः कर्तृकर्मणोः शक्त्यशक्त्योरनतिलङ्घनार्हत्वात्कारणकार्यवदित्यनवद्यम् । अन्यथाऽचाक्षुपत्वादयः शब्दादिधर्मा न भवेयुः । शक्यं हि वक्तुं, रूपवच्चक्षुर्ज्ञानजननशक्तियुक्तः शब्दश्चाक्षुष एव, रसवच्च रसनज्ञानजननसमर्थो रासनो, गन्धादिवच्च घ्राणादिज्ञानजननपटुर्घ्राणीयादि' इति न तस्याचाक्षुपत्वारासनत्वाघ्राणीयत्वादयो धर्मा' स्युः, अश्रावणत्वादयश्च रसादिधर्मा न भवेयुः । अतो यावन्ति पररूपाणि तावन्त्येव प्रत्यात्म स्वभावान्तराणि, तथा परिणामात्, शब्दादीनामन्यथा स्वरूपायोगात् । यदि पुनश्चक्षुरादिविज्ञानोत्पादनाऽशक्त्यतिक्रमस्य सर्वदाप्यसभवादचाक्षुषत्वादयः शब्दादिधर्मा एव, श्रावणादिज्ञानजननशक्त्यनतिक्रमाच्छ्रावणत्वादिवदिति मतं, तदा सदादिपदस्य सत्त्वाद्येकधर्मप्रतिपादनशक्त्यनतिक्रमात् प्रधानभावार्पितानेकधर्माभिधानाशक्त्यनतिलङ्घनाच्च नानेकोर्थः सकृत्सभवतीत्यनुमन्यताम् । स्यादवक्तव्यमेव सर्वं, युगपद्वक्तुमशक्तेरिति भङ्गचतुष्टयमुपपन्नम् । द्रव्यपर्यायौ व्यस्तसमस्तौ समाश्रित्य चरमभङ्गत्रयव्यवस्थानम् । व्यस्त द्रव्य द्रव्यपर्यायौ समस्तौ सहार्पितौ समाश्रित्य स्यात्सदवक्तव्यमेव सर्वमिति वाक्यस्य प्रवृत्तिः, द्रव्याश्रयणे सदंशस्य सहद्रव्यपर्यायाश्रयणे वक्तुमशक्तेरवक्तव्यत्वस्य विवक्षितत्वात् । तथा व्यस्तं पर्याय ममस्तौ द्रव्यपर्यायौ चाश्रित्य स्यादसदवक्तव्यमेव सर्वमिति वचनव्यवहारः । व्यस्तौ क्रमार्पितौ समस्तौ सहार्पितौ द्रव्यपर्यायौ समाश्रित्य स्यात्सदसदवक्तव्यमेव सर्वमिति शब्दप्रवृत्तिः, स्याद्वादाश्रयणव्याख्यानादेवमेव चरमभङ्गत्रयस्य व्यवस्थानात् । परमतापेक्षया तु सत्सामान्यमन्वयि द्रव्यमाश्रित्य सदवक्तव्यमेव, स्वलक्षणलक्षण विशेषं पर्यायमाश्रित्यान्यापोहसामान्यमसदवक्तव्यमेव, सामान्यविशेषौ परस्परमत्यन्तभिन्नौ द्रव्यपर्यायौ समुदितौ समाश्रित्य सदसदवक्तव्यमेवेति व्याख्यानमक-

लङ्कदेवैर्व्यधायि। तत्र वस्तु सत्सामान्य कथं सदप्यवक्तव्यमिति चेत्, तस्य पराभ्युपगमात् सतोपि वचनानुपपत्तेः। न खलु सर्वात्मना सामान्य वाच्यं, तत्प्रतिपत्तेरर्थक्रियां प्रत्यनुपयोगात्। न हि गोत्व वाहदोहादावुपयुज्यते, स्वविषयज्ञानमात्रेपि तस्याऽसामर्थ्यात्। व्यक्तिसहितस्य सामान्यस्य तत्र सामर्थ्येपि न प्रतिपन्नसकलव्यक्तिसहितस्य सामर्थ्यम, असर्वज्ञस्य सकलव्यक्तिप्रतिपत्तेः सकृदसभवात्। अप्रतिपन्नाखिलव्यक्तिभिः सहितस्य सामर्थ्ये पुनरेकव्यक्तेरप्यग्रहणे सामान्यज्ञानप्रसङ्गः। कतिपयव्यक्तिसहितस्य सामर्थ्ये तस्य ताभिरुपकारानुपकारविकल्पद्वयानतिक्रमः। प्रथमविकल्पे सामान्यस्य व्यक्तिकार्यत्वप्रसङ्गः, तदभिन्नस्योपकारस्य करणात्। ततो भिन्नस्य करणे व्यपदेशासिद्धिः। तत्कृतोपकारेणापि तस्योपकारान्तरकरणेऽनवस्थानम्। द्वितीयविकल्पे व्यक्तिसहभाववैयर्थ्यम्, अकिञ्चित्करसहकारिविरहात्। सामान्येन सहैकज्ञाने व्यापाराद्व्यक्तीनां तत्सहकारित्वेपि किमालम्बनभावेन तत्र तासां व्यापारोऽधिपतित्वेन वा ? प्राच्यकल्पनायामेकानेकाकारं सामान्यविशेषज्ञानं स्यान्न पुनरेकसामान्यज्ञानं, स्वालम्बनानुरूपत्वात्सकलविज्ञानस्य। द्वितीयकल्पनायां तु व्यक्तीनामनधिगमेपि सामान्यज्ञानप्रसङ्गः। न हि रूपज्ञाने चक्षुषोधिगतस्याधिपतित्वेन व्यापारोस्त्यपूर्वस्य वा। सर्वथा नित्यस्य सामान्यस्य क्रमाक्रमाभ्यामर्थक्रियाविरोधाच्च न तस्य कस्याञ्चिदर्थक्रियायामुपयोगो, यतस्तत्प्रतिपादनाय शब्दप्रयोगः स्यात्। ततो नार्थे कस्यचित्प्रवृत्तिरुपपद्येत। लक्षितलक्षणया वृत्तिः कथंचिदतादात्म्ये न भवेत्, सबन्धान्तरासिद्धेः, कार्मुकादिवत्। न हि यथा कार्मुकपुरुषयोः संयोगः सबन्धः सिद्धस्तथा सामान्यविशेषयोरपि। न च समवायः पदार्थान्तरभूतः, तत्प्रतीत्यभावात्। प्रतीयमानस्तु समवाय. कथंचित्तादात्म्यमेव, अविष्वग्भावलक्षणत्वात्तस्य। इति शब्देन लक्षितं सामान्यं विशेषान् लक्षयति। ततस्तत्रार्थक्रियार्थिनः प्रवृत्तिरसबन्धान्नोपपद्येत, संयोगसमवायव्यतिरिक्तस्य सबन्धान्त-

रस्यासिद्धेः। विशेषणविशेष्यभावः संबन्धान्तरमिति चेत्, न, तस्यापि स्वसंबन्धिव्यतिरेकैकान्ते संबन्धान्तरापेक्षणस्यावश्यंभावादनवस्थाप्रसङ्गात्, तस्य कथंचित्स्वसंबन्धितादात्म्ये स्वसिद्धान्तविरोधात्। एतेनाविनाभावः संबन्धस्तयोः प्रत्युक्तः। सामान्यविशेषयोः सामान्यविशेषभाव एव संबन्ध इत्यपि मिथ्या, कथञ्चिदतादात्म्ये तदनुपपत्तेः, सह्यविन्ध्यवत्। तत्र नित्यसर्वगतामूर्तैकरूपं सामान्यं सर्वथा व्यक्तिभ्यो भिन्नमन्यद्वा वाच्यम्, अर्थक्रियायां साक्षात्परम्परया वानुपयोगात्। तादृशोनुपलम्भात्संकेतोपि न सिध्येत्। न चासंकेतितमपि सामान्यं वाच्यं नाम, अतिप्रसङ्गात्। सतापि तादृशान्यव्यावृत्त्यात्मना भवितव्यम्। अन्यथा विशेषवत्स्वभावहानिप्रसङ्गात्, विशेषाणा वा तद्वत्ततो व्यावृत्तेः, परापरसामान्ययोः परस्परं स्वाश्रयाच्च कथंचिदव्यावृत्तौ स्वरूपसंकरात्प्रतिनियतस्वभावहानेरवश्यभावाद्विशेषवत्, तद्वतोर्थस्याप्यभाव इति सर्वाभावः प्रसज्येत। सामान्यवादिनां तदभ्युपगममात्रात्सदप्यवक्तव्यमेव सामान्यम्। तथा स्वलक्षणैकान्तवादिनां न स्वलक्षणं वाच्यं, तस्यानन्त्यात्संकेताविषयत्वादनन्वयाच्छब्दव्यवहारायोग्यत्वात्। न चान्यापोहः सर्वथार्थः शब्दस्य विकल्पस्य वा, स्वविषयविधिनिरपेक्षस्य गुणभावेनाप्यन्यापोहस्य शब्देन वक्तुमशक्तेर्विकल्पेन च निश्चयनायोगात्। साधनवचनमेव त्रिरूपलिङ्गप्रकाशकं, न ततोन्यद्वचनं, तस्य विवक्षामात्रेपि संभावनाया एवोपगमादिति चेत्, न, तस्याप्यन्यापोहमात्रार्थत्वात् 'अपोह शब्दलिङ्गाभ्यां न वस्तु विधिनोच्यते' इति वचनात्, सत्यपि च साधनवचनेन नित्यत्वसमारोपव्यवच्छेदे स्वलक्षणस्यानित्यत्वासिद्धौ साधनवचनानर्थक्यात्। न शब्दस्य परार्थानुमानरूपस्य विकल्पस्य वा स्वार्थानुमानज्ञानरूपस्य सर्वथान्यापोहोऽर्थः श्रेयान्। यत्सत्तत्सर्वमनित्यं नित्ये क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधादिति साधनवचनेन नित्यत्वसमारोपव्यवच्छेद एव स्वलक्षणस्यानित्यत्वसिद्धिः, अतो न तस्यानर्थक्यमिति चेत्, कथमित्थं सर्वथान्यापोहोर्थः समर्थ्यते, स्वलक्षणक्षण-

क्षयस्य विधानात्। दृश्यविकल्प्ययोः स्वलक्षणसामान्ययोरेकत्वाध्यवसायात् तत्क्षणक्षयस्य विधिः, न पुनर्वस्तुनः, सर्वथा विकल्पाभिधानयोर्वस्तुसस्पर्शाभावादिति चेत्, न, स्वलक्षणसामान्ययोरेकत्वाध्यवसायिना विकल्पेन स्वलक्षणस्याग्रहणात्, अगृहीतेन सह सामान्यस्यैकत्वाध्यवसायासभवात्, अन्यथातिप्रसङ्गात्। प्रत्यक्षतः प्रमितेन स्वलक्षणेन तस्यैकत्वाध्यवसानमिति चेत्, नन्वेव विकल्पाभिधानयोर्वस्तुसस्पर्शाभावे स्वलक्षणदर्शनस्याकृतनिर्णयस्य वस्तुसन्निधेरविशेषात्किं केन प्रमितं स्यात्? न हि मिथ्याध्यवसायेन तत्त्वव्यवस्थापनम्, सशयविपर्यासकारिणापि दर्शनेन स्वलक्षणस्य प्रमितत्वप्रसङ्गात्। वस्तुसस्पर्शाभावाविशेषेपि निर्णयस्य जनकं दर्शनं स्वलक्षणस्य प्रमाण, न पुनः सशयादेरिति वदन्नात्मनोऽनात्मज्ञतामावेदयति। ननु च निर्णयेन दर्शनविषयसमारोपस्य व्यवच्छेदात्तज्जनकं दर्शनं प्रमाणं, न तु सशयादेर्जनकं, तेन तदव्यवच्छेदात्, असमारोपितांशे दर्शनस्य प्रामाण्यात् "क्वचिद्दृष्टेपि यज्ज्ञानं सामान्यार्थं विकल्पकम्। असमारोपितान्यांशे तन्मात्रापोहगोचरम् ॥१॥" इति वचनान्नोक्तोपालम्भ इति चेत्, न, समारोपव्यवच्छेदविकल्पस्य स्वसंवेदनव्यवस्थानेपि विकल्पान्तरापेक्षत्वप्रसङ्गान्नीलादिस्वलक्षणदर्शनवन्निर्विकल्पकत्वाविशेषात्। वस्तुदर्शनसमारोपव्यवच्छेदयोरन्यतरस्यापि स्वतस्तत्त्वापरिनिष्ठिताविततरेतराश्रयदोषः। समारोपो हि येन व्यवच्छिद्यते स निश्चयः स्वरूपमनिश्चिन्वन्नपि यदि स्वतः परिनिष्ठापयेत्तदा वस्तुदर्शनमपि, विशेषाभावात्। तथा च किं निश्चयापेक्षया? वस्तुदर्शनस्य निश्चयापेक्षायां वा निश्चयस्वरूपसंवेदनस्यापि निश्चयान्तरापेक्षणादनवस्था स्यात्। निश्चयाद्वस्तुदर्शनस्य परिनिष्ठितौ वस्तुदर्शनाच्च निश्चयस्वरूपस्य परस्पराश्रयदोषः स्यात्। ततो न विकल्पवच्छब्दस्य सर्वथान्यापोहोर्थः। एतेनातत्कार्यकारणव्यावृत्तिरेकप्रत्यवमर्शादिज्ञानादेकार्थसाधने हेतुरत्यन्तभेदेपीन्द्रियादिवत्समुदितेतरगुडूच्यादिवच्च ज्वरोपशमनादाविति वदन्निराकृतः, सर्वथा ततो वस्तुनि प्रवृत्त्ययोगात्। समयादर्शिनोपि क्वचिदन्वयबुद्ध्यभिधान-

व्यवहारोऽतत्कार्यकारणव्यतिरेकव्यवस्थाया गुडूच्याद्युदाहरणप्रक्लृप्तिं विपर्यासयति, तस्य वस्तुभूतार्थसादृश्यपरिणामसाधनत्वात्। न हि गुडूच्यादयो ज्वरोपशमनशक्तिसमानपरिणामाभावे ज्वरोपशमहेतवो न पुनर्दधित्रपुपादयोपीति शक्यव्यवस्थम्, चक्षुरादयो वा रूपज्ञानहेतवस्तज्जननशक्तिसमानपरिणामविरहिणोपि न पुना रसा(सना)दय इति निर्निबन्धना व्यवस्थिति । अतत्कार्यकारणव्यावृत्तिर्निबन्धना सेति चेत्, कथं तत्कारणकार्यजन्यजनकशक्तिसमानपरिणामाभावेपि केपाञ्चिदतत्कारणकार्यव्यावृत्तिः सिध्येदिति प्रकृतमुदाहरण कर्कादिव्यक्तीनामश्वत्वादिप्रत्ययं तथासमानपरिणामहेतुकं साधयति ? इति विपर्याससाधनमन्यापोहवादिनाम् । ततोमीपामन्यापोहसामान्यमसदवक्तव्यमेव । एतेन स्वलक्षणान्यापोहद्वयं सदसदवक्तव्यमेव सौगतानामापादितमुन्नेयम्, स्वलक्षणस्य सतोप्यन्यापोहस्यासतोपि वक्तुमशक्यत्वात् । इति परमतापेक्षया चरमभङ्गत्रयमुदाहृतम् ॥ १६ ॥

भाष्ये 'त्रिलक्षणस्यापीति' (१९६-२-१३) तदुत्पत्तितदाकारतदवधारणत्वरूपलक्षणत्रयस्यापीत्यर्थः । विभ्रमहेतुफलज्ञानैरिति विभ्रमा हेतवो येषां तादृशानि यानि फलीभूतानि विज्ञानानि तैरित्यर्थः । वृत्तौ स्वसमनन्तरप्रत्यय इति, (१४) शंखे पीताकारज्ञान इत्यर्थः । यद्यपि तत्र तस्य ज्ञानाकारांशे प्रमाणत्वमव्याहतमेव, इतरांशे तु तज्जन्माभावादेवाप्रामाण्यम्, तथापि तज्जन्मतद्रूपतदध्यवसायानां प्रामाण्यप्रयोजकत्वे गौरवात्तदध्यवसायित्वस्यैव लाघवात् प्रामाण्यप्रयोजकत्वं युक्तम्, इत्थं च दर्शनमात्रं न प्रमाणम्, किन्तु स्वपररूपानुगमव्यावृत्त्यध्यवसायि ज्ञानमेवेति तदनुरोधेन वस्तूभयात्मकं स्वीकर्त्तव्यमित्यत्र तात्पर्यम् । तदनभ्युपगमे (१४) समनन्तरप्रत्ययप्रामाण्यानभ्युपगमे, किं साधनः किंप्रमाणकः । तदेकोपलम्भनियमः (१९७-१-३) तस्य दर्शनस्यैकोपलम्भे स्वलक्षणपरिच्छेदे संसर्गतया प्रकारतया वा

परलक्षणव्यावृत्तिर्ध्रौव्यम् । अवक्तव्यत्वभङ्गमुपदर्शयितुमुपक्रमते–कथमवक्तव्यमित्यादिना (८), भाष्ये–निष्पर्यायं (१९७–१–८) क्रमरहितम्, अभिधानं वचनं, भावाभावौ, अञ्जसैव परमार्थेनैव, न विषयीकरोति (९) शब्दशक्तिस्वाभाव्यात् (९) एकं पदमेकया वृत्त्यैकमेवार्थं बोधयतीति स्वभावकल्पनादिति योजनार्थः, तदाह वृत्तिकृत्–सर्वस्येत्यादि (९)॥ पदस्वभावं वाक्येऽप्यतिदिशति–'एतेनेति' (१२)॥उपचारादेवैकत्वाभि(धाना)मननादिति(१४)क्रमार्पितोभयविषयत्वं तत्र पदद्वयस्यैकत्वं तु सामूहिकबुद्धिविषयतयेति न पदस्वभावभङ्ग इत्यर्थः। नन्वेवं तृतीयभङ्गो विलुप्येत, द्वाभ्यामेव तदर्थसिद्धेः, न च द्वयोर्भङ्गयोर्नैकवाक्यत्वं तृतीयस्य तु तदस्तीति विशेषः, अर्थैकत्वं विनैकवाक्यत्वस्यैवाभावात्। "अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकाङ्क्षं चेद्विभागे स्यात्" इत्यनादिमीमांसाप्रसिद्धेः, न च वाक्यस्य तदर्थस्य वोपचारादेवैकत्वाभिमननादत्र विशेषो वक्तुं शक्यः, उपचारबीजस्यैव विचारणीयत्वादित्यस्वरसादाह–'तदु(त्रो)भयप्राधान्यस्येति' द्वन्द्ववृत्तौ (१४) तद्वाक्याद्वे (क्ये वे)ति (१४) वाशब्दस्येवार्थत्वाद्द्वन्द्ववृत्ताविव तृतीयभङ्गवाक्यादित्यर्थः, इत्थं च द्वन्द्ववृत्तौ यथा पदानां प्रधानैकस्वार्थबोधकत्वं पदविधया वृत्तिविधया तु साहित्यसमाहारादिरूपैकोभयपदार्थप्राधान्यबोधकत्वं तथात्रापि पदवाक्यविधया नैकार्थत्वभङ्ग इति प्रत्येकद्वयातिरिक्तोभयप्राधान्यरूपार्थभेदात्तृतीयभङ्गोऽतिरिच्यत एवेति सिद्धम्, उभयप्राधान्यं चोभयकर्तृकैकक्रियाप्राधान्यादित्याह–'सर्वस्येति' (१९७-२-१) अत्र च न हि क्रियारहितं वाक्यमस्ति, "क्रियाप्रधानमाख्यातम्" इति वैयाकरणनये स्यात् सत्स्यादसदेव च सर्वमस्तीत्यतोऽस्तित्वानुकूला भावना कथञ्चित् सदसदुभयसर्वाश्रयकाऽभिन्नेति धात्वर्थविशेष्यकः शाब्दो बोधो, न्यायनयेन च नामार्थविशेष्यक एव, क्रियारहितस्यापि वाक्यस्याश्रयणादिति विशेषः। इदं तु ध्येयम्। सम्भूयोच्चारणं

तावच्छाब्दबोधकारणं मणिकृदादिभिरपीष्यत एव, तच्च पदानां परस्परसहकारेणैकमुख्यविशेष्यताकान्वयबोधतात्पर्यज्ञानमेकमुख्यविशेष्यताकान्वयबोधजनकत्वज्ञानं वा, एतज्ज्ञानस्य हेतुत्वेऽन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वस्यैव मानत्वात्, गङ्गायां घोष इत्यादौ सम्भूयैकार्थबोधकत्वज्ञानानुरोधादेव लक्षणास्वीकारात्, अन्यथा गङ्गायां जलं तीरे घोष इति पदद्वयाध्याहारादेवोपपत्तौ लक्षणाया अनतिप्रयोजनत्वापत्तेः, अत एव च दण्डी चैत्रो द्रव्यं नीलं घटमानयेत्यादौ चैत्रो न दण्डी घटो न नील इत्यादिबाधधीकाले चैत्रो द्रव्यं घटमानयेत्यादिशाब्दबोधानुदयः, सम्भूयोच्चारितत्वेन गृहीतानामेकं विनाऽन्यस्याबोधकत्वात्, तत्तदानुपूर्वीज्ञानस्य तादृशतादृशविषयकशाब्दत्वावच्छिन्नं प्रत्येव जनकत्वात्, तथा च तत्तत्पदार्थसंसर्गविशिष्टभावनाया एकत्वादेकक्रियाप्रधानार्थत्वं कर्तृद्वयस्य तुल्यवदेकक्रियान्वयित्वाच्च तदुभयप्राधान्यस्य क्रमशो विवक्षितस्याभिधानं शाब्दिकनयाश्रयिणामस्माकं मते सङ्गच्छते, क्रमशो विवक्षितत्वं ह्युभयपदोपस्थाप्योभयकर्तृकभावनान्वयबोधेच्छाविषयत्वम्, न तु क्रमिकशाब्दबोधद्वयेच्छाविषयत्वमिति बोधविशेषोद्देशात्तृतीयभङ्गस्य सार्थक्यमिति। वचनसूचनेति (१९७-२-२) वचनं वाचकत्वम्, सूचनं द्योतकत्वम्। ननु सङ्केताधीनं शाब्दज्ञानमिति सह सदसत्त्वयोः कस्यचिच्छब्दस्य सङ्केतकरणात् कुतो न ततस्तद्बोधसम्भवाद्वक्तव्यत्वं स्यादित्याशङ्कते–**स्यान्मतमित्यादिना** (५)॥ **संज्ञाशब्दवदिति** (६) यथा जैनेन्द्रव्याकरणे सदिति संज्ञाशब्दः सङ्केतविशेषवशात् शतृशानचयोस्तथा कश्चित्सह सदसत्त्वयोः कथं प्रतिपादको न स्यादित्यर्थः। तत्रापि प्रत्ययद्वयोत्पत्तेः क्रमेणैव सम्भवाद् बोधकतारूपशक्तेर्बोध्यबोधकभेदेन भिन्नत्वान्नानार्थशब्दस्थल इव बोध्यभेदे शब्दभेदकल्पनादुपचारेण तदेकत्वाभिमानान्न प्रागुक्तसिद्धिरित्याह–**तदयुक्तमित्यादि** (६)॥ **अन्यतरव्यपदेशार्हत्वादिति** (७) उपचारादुभयशक्तत्वाभ्युपगमेऽपि

तत्त्वजिज्ञासायामेकतरशक्तत्वस्यैव तत्र वक्तुमुचितत्वादित्यर्थः, 'सङ्केतस्येति' (१९७-२-१०) सङ्केतस्य तत्रार्थप्रतिपादने तच्छक्तिव्यपेक्षायास्तच्छक्तिसमाश्रयणाद्धेतोः प्रवृत्तेस्तस्याश्चैकार्थनियतत्त्वात् स्वातन्त्र्येण सङ्केतस्याहेतुत्वान्नैकदैकस्मादुभयप्रतिपत्तिरित्यर्थः। सेनावनादिस्थले व्यभिचारमाशङ्क्य निराकरोति–सेनेत्यादिना (१०), अत्र यद्यपि प्रत्यासत्तिविशेषस्य सेनादिपदार्थत्वे तदाश्रयालाभः, आक्षेपात् तल्लाभोपगमे जातिशक्तिवादापत्तिः, सेनादिपदेन प्रत्यासत्त्याऽऽश्रयस्यापि बोधोपगमे च एकं पदमेकमेवार्थं बोधयतीति नियमभङ्गात् सकृदुच्चरितमित्यादिन्यायाप्रामाण्यापत्तिः, तथापि सेनादिपदानां प्रत्यासत्तिविशेषस्य शक्यतावच्छेदकत्वात् सकृदुच्चरितमित्यत्र सकृद्विवरणस्यैकमेवेत्यस्यैकधर्मावच्छिन्नमेवेत्यर्थान्न कश्चिद्दोष इति भावनीयम्। अपरे तु सकृदुच्चरितमित्यत्र सकृदित्यस्यैकं वृत्तिविषयमेवेत्यर्थः। सेनादिपदार्थोऽपि प्रत्यासत्तिविशेषाश्रय एक एव सेनादिपदेन बोध्यते, तदन्यबोधने त्वावृत्तिरेवाश्रयणीया, अत एव नानार्थे श्लिष्टेऽनेककारकान्वितैकक्रियापदे घटं पटं वाऽऽनयेत्यादौ मुख्यलक्ष्योभयपरे च गङ्गायां घोषमत्स्यौ स्त इत्यादौ गङ्गादिपदे सकृदुच्चरिते एकदाऽनेकार्थतात्पर्यग्रहेऽपि नैकदोभयोर्बोधः, किं त्वावृत्त्यैवेति तत्र वाक्यभेदव्यवहारः, एकानुसन्धानादेवोभयार्थबोधे तद्विरोधस्य सर्वैकवाक्यतासिद्धत्वा दित्याहुः।। एतन्मते नराः पचन्तीत्यादावुभयत्रैव सरूपैणैकशेषः। ततश्च पृथगुच्चरितनानापदानामनुसन्धानान्नानार्थबोधः, अक्षेणाक्षं पश्यतीत्यादौ तु पदभेदान्न दोष इति मन्तव्यम्। चिन्तामणिकृतस्तु नात्रावृत्तिः, किं त्वेकदैवार्थबोधः, एकपदस्यैकानुसन्धाने उभयार्थतात्पर्यग्रहस्य यौगपद्येन वा तद्ग्रहस्यावृत्त्या निर्वाहासम्भवात्, सामान्यत उभयतात्पर्यग्रहे प्रथममस्यैव बोधो नान्यस्येति नियन्तुमशक्यत्वाच्च, गङ्गां पश्येत्यादावपि गङ्गापदस्य लक्ष्ये तात्पर्यग्रहे तस्यैव धीरित्यस्य निर्वाहाय नानार्थोपस्थितिकालीनैकार्थबोधे

तदितरार्थतात्पर्यज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वकल्पनायां तु तदर्थतात्पर्यज्ञानस्योत्तेजकत्वं वाच्यम् । न चैवं गौरवम्, प्रामाणिकस्य तस्यादोषत्वात्, वाक्यभेदस्त्वर्थभेदात्, तदुक्तम्, "अर्थैक्यादेकं वाक्यम्" इति, न चैकानुसन्धाने यौगपद्यान्तर्भावेन वा न वक्तुस्तात्पर्यम्, सकृदुच्चरित इत्यादिनियमेन बाधावतारादिति वाच्यम् । बाधितेऽपि क्वचिदिच्छोदयाद्विशेषदर्शनस्यासार्वत्रिकत्वात् सकृदित्यस्य क्रियाविशेषणत्वेन विशेषदर्शनस्यैवायोगाच्चेत्याहुः, एतन्मते तु प्रधानैकार्थमादायैवोक्तपदवाक्यस्वभावः समर्थनीयः । निष्कृष्टनयमनालोच्यापाततः शङ्कते—कथमेवमिति (१९७-२-१२) निष्कृष्टनये तु वृक्षपदार्थे वृक्षत्वावच्छिन्ने द्विवचनाद् द्वित्वस्य बहुवचनाच्च बहुत्वस्यान्वयादनुपपत्तिरेव नास्तीति मन्तव्यम् । केषांचिदिति (१२) यैरेकशेषः स्वीक्रियते तन्मत इत्यर्थः, स चैकशेषः केषांचिद् द्वन्द्वापवादः, न च द्वन्द्वः क्वचित् पदार्थभेदे क्वचिच्च पदार्थतावच्छेदकभेद इत्यत्र तद्विपयासम्भवो, न च प्रतिपाद्यभेद एवानुगतो द्वन्द्वनियामकः, एकघटाभिप्रायकघटपदद्वयेऽपि द्वन्द्वापत्तेः, प्रतिपाद्यघटघटत्वयोर्भेदादिति शङ्कनीयम् । एकपदप्रतिपाद्यत्वसामानाधिकरण्येनापरपदप्रतिपाद्यत्वावच्छिन्नभेदे एकपदजन्यप्रतिपत्तिविषयितात्वसामानाधिकरण्येनापरपदजन्यप्रतिपत्तिविषयितात्वावच्छिन्नभेदे वा द्वन्द्वप्रवृत्तेर्नियतत्वात्, घटावित्यादावेकपदप्रतिपाद्येऽपरपदप्रतिपाद्यत्वावच्छिन्नभेदाद्विशेष्यताभेदेन विषयिताभेदाद्वा तदुपपत्तेः, पदार्थतावच्छेदकाभेदेऽपि विषयिताभेदादेव समवायेन गुणत्ववतो विषयितया गुणत्ववतश्च बोधकयोर्मेयवदभिधेयवद्बोधकयोश्च तदादिपदयोर्द्वन्द्वो निरपवादः । गगनाकाशादिपदयोश्च शब्दरूपपदार्थतावच्छेदकस्याननुगतत्वात्तद्भेदेऽपि न द्वन्द्वो विषयित्वाभेदादिति मन्तव्यम् । अन्येषां तु मते तद्धितादिवद्वृत्त्यन्तरमेव सः, न तु द्वन्द्वभेदः, समासान्तरं वा, करौ पन्थानावित्यत्र नपुंसकत्वस्यादन्ततायाश्चापत्तेरिति

बोध्यम् । **परेषामिति** (१२) ये नैकशेषमिच्छन्ति तन्मतेनेत्यर्थः, तदनिष्टिश्च द्वन्द्वनियामकनिर्वचने विषयितास्थाने प्रकारिताया एव निवेशादेकार्थे तदसम्भवात्, वृक्षावित्यादौ प्रत्ययार्थद्वित्वान्वयस्य वृक्षपदार्थे एकत्वानवच्छेदेनैव सम्भवात्, सरूपैकशेषस्वीकारे तु तत्रैकत्वावच्छिन्ने द्वित्वबुद्धेः प्रमात्वायोगाद् वृक्षत्वादेर्द्वित्वानवच्छेदकत्वे त्वेकत्रापि वृक्षत्वेन द्वित्वधियः प्रमात्वापत्तेः, अत एवेदृशसमभिव्याहारस्येदृशशाब्दबोधजनकत्वे स्वभावशरणानुधावनम् । इत्थमेव हरी इत्यादावगृहीतभेदपदद्वयादेवार्थद्वयबोधाच्छाब्देन द्वित्वेन निर्वाह इति बोध्यम् । अनेकनयमये भगवत्प्रवचने न्यायनयोपग्रहस्यापि क्वचिददुष्टत्वे तु **मणिकृन्मतमेवात्रादेयम्**, तत्र च नापातत एकार्थत्वे निर्भरः, किन्तु प्रधानैकार्थत्व इति सर्वं समञ्जसम् । एवं व्याख्याने ग्रन्थकारः स्याद्वादिसमयविरोधमाशङ्कते—**ननु च वृक्षा इतीत्यादिना** (१९८-१-२) एकानेकात्मकस्य प्रत्ययवत्प्रकृतिरूपपदवाच्यत्वेऽपि सकृदुच्चरितमित्यत्र बोधयतीत्यस्य प्रधानभावेन बोधयतीत्यर्थान्नानुपपत्तिरित्याशयेन समाधत्ते **सोऽप्येवं प्रष्टव्य इत्यादिना** (३) ॥ **स्वार्थमभिधायेति** (५) **शब्दो** वृक्षादिशब्दः, **स्वार्थं** वृक्षत्वादिकम्, **अभिधाय निरपेक्षो** विभक्त्यपेक्षारहितः, **समवेतं** समवायेन सम्बद्धम्, **द्रव्यं** वृक्षादिकम्, **आह** आक्षिपति, निराश्रयस्य वृक्षत्वस्यानुपपत्तेरित्यर्थः । **समवेतस्य तु** (६) **द्रव्यस्य वचने** (६) समवेतद्रव्यकथनानन्तरमित्यर्थः, **विभक्तीर्लिङ्गं सङ्ख्यां चाह**—अयमर्थोपस्थितिक्रमः पदोपस्थितिक्रमानुरोधी, स्वमते तु दीर्घकालिकशाब्दवाक्यार्थोपयोगघटक एवायं बोध्यः । क्रमिकावग्रहाद्यात्मनः प्रत्यक्षोपयोगस्येव क्रमिकसाकाङ्क्षपदार्थज्ञानात्मन एव शाब्दस्य वाक्यार्थोपयोगस्यैकस्याभ्युपगमात्, तदुक्तं **सम्मतिवृत्तौ**—गौर्गच्छतीति वाक्यप्रयोगे गोशब्दात् सामान्यविशेषात्मकं गवार्थं गच्छत्याद्यन्यतमक्रियासापेक्षं प्राक् प्रतिपाद्यते, गच्छतीत्येतस्माच्च तं

प्रतिनियतगमिक्रियावच्छिन्नमवगच्छति–ततः क्रियाद्यवच्छिन्नः सामान्यविशेषात्मको वाक्यार्थो व्यवतिष्ठते, पदसमुदायात्मकाद्वाक्यात्पदार्थात्मकस्यैव तस्य प्रतीतेरिति, तदिह वृक्षौ वृक्षा इत्यतः प्रत्ययवत्या प्रकृत्या वृक्षत्वतदाश्रयलिङ्गसङ्ख्यादिविषयक्रमिकोपस्थितिपरिणत एवाकाङ्क्षादिसाचिव्येन लिङ्गसङ्ख्यादिप्रकारको वृक्षविशेष्यकः शाब्दबोधो जन्य इति तत्र विशेष्यतया वृक्षस्य प्राधान्यं द्वित्वबहुत्वादिसङ्ख्यायास्तु विशेषणतया गौणत्वमिति प्राधान्येनैकार्थवाचकत्वमेवैकपदस्य निर्व्यूढमित्याह–'**प्रधानभावेन चेत्यादि**' (१९८-१-६) प्रधानगुणभावस्यैवाभिमतत्वादित्यनन्तरं द्वितीयपक्षस्त्विष्ट एवेति पूरणीयम्, नन्वेवं सर्वशब्दस्य प्रधानैकार्थत्वे विशेषणवाचकशब्दोच्छेदापत्तिरित्याशङ्कायामवयवधीदशायामापततो विशेषणविशेष्यकामचारादिष्टप्राधान्यमविरुद्धम्, वस्तुतः स्याच्छब्दोत्थापिताकाङ्क्षगुणापेक्षत्वमेवैकप्रधानार्थत्वम्, तच्च स्वाभिन्नानन्तधर्मात्मकत्वसंसर्गेण स्वाश्रयविशेष्यकैकधर्मप्रकारकबोधतात्पर्यकत्वं पदे वाक्ये चाविरुद्धमिति व्युत्पादयन्नाह–**स्यादिति निपातेनेत्यादिना** (७)॥ **गुणानपेक्षस्य** (७) सदेवेत्यादिना गुणाकाङ्क्षारहितस्य, **अपवदनान्निराकरणात्**, **तथाभूतत्वाद्** (८) **गुणप्रधानभूतत्वात्**, उक्तेऽर्थेऽभियुक्तसम्मतिमाह **तदुक्तमित्यादिना** (८) **गुणानपेक्षे नियमे** सन्नेव घट इत्यादिप्रयोगे, **स्यादिति निपातो वै** (८) निश्चितम्, **अपवादः** (९) **नयरूपस्योत्सर्गस्य स्याद्वादेन बाधनात्**, नयात् प्रकृतैकधर्मात्मकत्वस्यैव वस्तुनः सिद्धेः, स्याद्वादात्तु प्रकृतेतरयावद्धर्मात्मकत्वद्योतकस्याच्छब्दमहिम्नाऽनन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनः सिद्धिसौधाध्यारोहात्, तदाह–**इदं हि** (९) **प्रकृतं**, **जिनस्य** रागादिशत्रुजेतुः, **ते** तव, **वाक्यं गुणप्रधानार्थं** प्रधानभावेन प्रकृतधर्मात्मकताया गुणभावेन च तदितरसकलधर्मात्मकताया बोधपरम्, तत एव रागादिरोगग्रस्तानामेकान्ताभिनिवेशसन्निपातेन यथा तथा प्रला-

पकारिणां तव द्विषतां (९) परतीर्थिकानाम्, अपथ्यम् (९) अरुचिविपयत्वादिति स्तुतिवृत्तार्थः। ननु गुणप्रधानार्थमेव सर्वं वाक्यमित्यभ्युपगमे प्रधानभावेनाशेषधर्मात्मकवस्तुप्रतिपादकसकलादेश उच्छिद्येतेत्याशङ्कते–'नन्वेवमिति (१९८-१-९)' प्रमाणवाक्यानां सर्वैः पदैर्मिलित्वा प्राधान्येनानन्तधर्मात्मकवस्तुबोधन एव तात्पर्यम्, वेदान्तवाक्यानामिवाखण्डब्रह्मबोधने, तथा च स्यादस्त्येव द्रव्यमित्यतः स्वेतरसकलधर्मात्मकत्वसम्बन्धेनास्तित्ववदेव द्रव्यमिति प्राथमिकबोधानन्तरं तस्मादनन्तधर्मात्मकमेव सर्वं वस्त्वित्यौपादानिकबोधः सकलादेशजन्यः स्वीक्रियते, स च द्रव्यार्थिकार्पणयाऽनुपचरितैकविशेष्यताकः पर्यायार्थिकार्पणया चोपचरितैकविशेष्यताक इति तात्पर्यार्थमादाय तत्र न प्रधानैकार्थत्वव्याघातः, सकलादेशान्यार्थ एव गुणप्रधानभावेन बोधकत्वनियमस्य चरितार्थत्वात्, अत एव सकलादेशेऽनन्तत्वान्यधर्मानवच्छिन्नानन्तधर्मप्रकारतानिरूपितसकलवस्तुविपयताशालित्वेन केवलज्ञानतुल्यत्वोक्तिः सङ्गच्छत इत्याशयवान् समाधत्ते–कालादिभिरित्यादि (१०)॥ अनुमन्यतामिति, (१९८-२-५) ननु कथमेतदनुमन्तव्यम्, "एकं द्विकं त्रिकं वापि चतुष्कं पञ्चकं तथा॥ नामार्थ इति सर्वेऽमी पक्षाः शास्त्रे निरूपिताः॥ १॥" इत्यादिनाऽनेकार्थवाचकतायाः पदानां शास्त्रसिद्धत्वात्, अत्रैकं जातिर्व्यक्तिर्विशिष्टं वा, द्विकं जातिव्यक्ती, त्रिकं लिङ्गसहिते ते, लिङ्गस्य शब्दधर्मस्यापि व्युत्पत्तिविशेषादुपचारेणार्थेऽन्वयः, चतुष्कं संख्यासहितानि तानि, पञ्चकं कारकसहितानि तानि, न चान्वयव्यतिरेकाभ्यां लिङ्गादेः प्रत्ययवाच्यत्वमेव युक्तम्, तत एव तदुपस्थितौ प्रकृतिवाच्यत्वे मानाभावादिति शङ्कनीयम्। प्रत्ययवर्जिते दधि पश्येत्यादौ प्रत्ययमजानतोऽपि लिङ्गादिबोधात् प्रकृतेरेव तद्वाचकत्वकल्पनात्, तथा लिङ्गानुशासनदर्शनाच्चेति चेत्, मैवम्, अव्यवस्थितत्वेनैतेषु पक्षेषु निर्बन्धस्य कर्त्तुमशक्यत्वात्, लिङ्गादेः

प्रत्ययवाच्यत्वस्यापि शास्त्रसिद्धत्वात्, इत्थमेव "द्योतिका वाचिका वा स्युर्द्वित्वादीनां विभक्तयः" इति पक्षद्वयव्युत्पादकवाक्यपदीयोपपत्तेः, इत्थं चैतदर्थपञ्चकमध्ये प्राधान्यमेकदैकस्यैवेति पदानां प्रधानैकार्थतानियमाव्याहतेरिति दिग्। ननु तथापि यथा पुष्पदन्तपदेन चन्द्रसूर्ययोः प्राधान्येनोपस्थितिस्तथा केनचित्पदेन सदसतोरपि स्यादित्यवक्तव्यत्वं नानुमंस्यत इति चेत्, मैवम्, "पुष्पदन्तौ पुष्पवन्तावेकोक्त्या शशिभास्करौ" इति कोशस्वरसादेकोच्चारणान्तर्भावेन गृहीतनानार्थशक्तिकपुष्पदन्तादिपदे व्युत्पत्तिवैचित्र्यात्, अत्र पुष्पदन्तादिपदं चन्द्रे सूर्ये च शक्तमित्याकारकः शक्तिग्रहः, तत्कार्यतावच्छेदकं च चन्द्रत्वप्रकारकत्वे सति सूर्यत्वप्रकारकस्मृतित्वम्, तादृशशाब्दत्वं च, चन्द्रसूर्योभयनिष्ठाया एकस्याः शक्तेश्चन्द्रत्वसूर्यत्वयोर्व्यासज्यवृत्त्यवच्छेदकतास्वीकारात्, अत एवैकत्रायोग्यताज्ञाने शक्त्या न बोधः, किन्तु लक्षणयेति नैयायिकसम्प्रदायः। वस्तुतः पुष्पदन्तादिपदज्ञानाधीननानार्थानुभवे एकमात्रानुभवे वा तत्पदज्ञाने नानार्थानुभवजननियमनिश्चयः कारणं प्रतिबन्धकं वा, अत एव तादृशनिश्चयविरहिणः कदाचिच्छक्त्याप्येकमात्रबोधः, उभयधर्मावच्छेदेन शक्तिग्रहेऽप्युद्बोधकवशादेकधर्मावच्छिन्नमात्रस्मृतिसम्भवात् उभयधर्मावच्छिन्नस्मृतावपि योग्यतादिवशादेकधर्मावच्छिन्नस्य शाब्दबोधसम्भवाच्चेति, न चायुक्तं चैतत्, इत्थं शक्यतावच्छेदकताया व्यासज्यवृत्तित्वानुपगमात्, तदुपगमे शक्तेरपि तत्त्वापत्तेः, न वा शक्त्यैक्यम्, सैन्धवादिपदेऽपि तदापत्तेः, सैन्धवादिपदमश्वे लवणे च शक्तमित्याकारशक्तिग्रहस्याविशेषात्, अश्वत्वेनाश्वः शक्यो न लवणमित्यस्यापि चन्द्रत्वेन चन्द्रः शक्यो न सूर्य इत्यनेन तुल्यत्वात्, एकत्रैकतरधर्मावच्छिन्नस्यापि बोधोऽन्यत्र युगपदुभयधर्मावच्छिन्नस्यैवेत्यस्य चोक्तरीत्यैवोपपत्तेरधिककल्पनायां मानाभावादित्येके। चन्द्रसूर्यौ पुष्पवन्तपदजन्यैकबोधविषयौ भव-

तामित्याकारिकैव शक्तिः "एकयोक्त्या पुष्पवन्तौ" इत्यादिकोशाल्लाघवाच्च, अत एव न चन्द्रसूर्यपर्यायता, नानार्थे गणनं वा, शक्तितदवच्छेदकतयोर्व्यासज्यवृत्तितया च चन्द्रत्वेन चन्द्रः शक्यः सूर्यत्वेन च सूर्य इत्यादिर्न धीः, किन्तु चन्द्रत्वेन सूर्यत्वेन च चन्द्रसूर्यौ शक्यावित्येवेति सम्प्रदायमतमेव युक्तमित्यपरे। एकोच्चारणान्तर्भावेन नानार्थशक्तिस्थलेऽपि न सर्वत्र व्यासज्यवृत्तिधर्मावच्छिन्नप्रकारताक एव बोधः, पुष्पदन्तादिपदात्तथा बोधेऽपि तृतीयादेः करणत्वैकत्वादेः प्रातिस्विकरूपावच्छिन्नस्यैव नानार्थस्य बोधात्, तदुक्तं मिश्रैः, पुष्पदन्तादिपदे करणत्वैकत्वादिशक्ततृतीयादिपदे चैकोच्चारणेन तु नानार्थानुभवजननव्युत्पत्तिनिश्चयादेकदैव नानार्थानुभवो नावृत्तिरिति, युक्तं चैतत्, तृतीयायास्तृतीयात्वेन करणत्वे एकवचनत्वेन चैकत्वे शक्तेः सारकशक्त्यैक्यसम्भवादिति वदन्ति। अतिरिक्तशक्तिपक्षे शक्यशक्ततावच्छेदकभेदात्तृतीयादौ शक्तिः, पुष्पदन्तादिपदे तु व्यासज्यवृत्तिरेकैवेति युक्तम्। तदिह पुष्पदन्ततृतीयादिपदवत् सहार्पितसत्त्वासत्त्वोभयाश्रयबोधकं न किञ्चित्पदं व्युत्पादितमस्ति, प्रत्युत तथाजिज्ञासाया बाधितत्वज्ञाने तथाज्ञानस्य विपरीतव्युत्पत्त्या जायमानस्याप्यनिष्टत्वप्रतिसन्धानान्न तदर्थं कश्चित् प्रामाणिकः पदप्रयोग इति तदाऽवक्तव्यत्वेन ज्ञानस्यैवेष्टत्वात्, तदर्थं तुरीयभङ्गाभिधानं साधु सङ्गच्छते। अत एवैकक्षणे बोधद्वयं जायतामित्यादिस्थलेऽप्यवक्तव्यत्वाभिधानसाम्राज्यम्, बाधितेच्छाविषयत्वावच्छेदेनावक्तव्यत्वव्यवस्थापनात्, न चैवं तुरीयभङ्गेऽनुगतावच्छेदकानुपलम्भः, अननुगतानामपि तेषामुपलम्भे स्यात्कारस्यैव कल्पवृक्षत्वात्, वस्तुत एकत्वावच्छिन्ने सहार्पितधर्मद्वयद्वारकद्वित्वान्वयस्य निराकाङ्क्षत्वादेवावक्तव्यत्वप्रयोगसङ्गतिः "नाणदंसणट्ठयाए दुवे अहं" इत्यादिवत्, सत्त्वासत्त्वादिनोपचरितं द्वित्वमादाय प्रवृत्तायां सप्तभङ्ग्यामपि निरवच्छिन्ने सत्त्वासत्त्वे एव तदवच्छेदके, न तु

सहार्पितत्वविशिष्टे इति, प्रकृते तादृशतदवच्छेदेनान्तर्निगीर्णद्वित्वाश्रयबोधनाशक्तेः स्यादवक्तव्यत्वपक्षसाम्राज्यात्। एतेनैक-पदजन्यसत्त्वासत्त्वोभयप्रकारकशाब्दबोधविषयत्वं न स्यादवक्तव्यत्वशब्दार्थः, प्रतियोग्यप्रसिद्ध्या तदभावाप्रसिद्धेरित्यपास्तम्, सहार्पितसत्त्वासत्त्वोभयावच्छेदेन तृतीयभङ्गजन्यशाब्दबोधविषयत्वाभावस्यैव स्यादवक्तव्यपदार्थत्वात्, तदादिपदेन पुष्पदन्ता-दिपदप्रतिपाद्यस्येव सहार्पितसत्त्वासत्त्वोभयाश्रयस्य बुद्धिविषयतावच्छेदकावच्छिन्ने गृहीतशक्तिकेनापि तत्तद्धर्मांशे तदुद्बुद्धसं-स्कारमहिम्नोपस्थितौ शाब्दबोधविषयत्वात्, अव्याप्तिवारणाय शाब्दबोधे तृतीयभङ्गजन्यत्वोक्तिः। प्रातिस्विकधर्मावच्छिन्न-प्रकारताद्वयनिरूपितमुख्यविशेष्यताशालित्वं तदर्थः, विपरीतसङ्केतजन्यशाब्दभ्रमे तूक्तोभयधर्मपर्याप्तावच्छेदकताकैकप्रकारता-निरूपितविशेष्यताशालित्वेन दोषाभावादिति नव्यतर्कपरिष्कृतः पन्थाः। एतेनैव गङ्गायां मत्स्यघोषावित्यत्रेव क्वचिदेकदा वृत्तिद्वयस्याप्यविरोधात् सदादिपदेनैव शक्त्या सत्त्वादेर्लक्षणया वा सत्त्वादेरुपस्थितिसम्भवात् सहार्पितसत्त्वासत्त्वोभयप्रका-रकशाब्दबोधसम्भवे गतमवक्तव्यत्वेनेति निरस्तम्। तृतीयभङ्गजन्यपदमहिम्नैव शक्त्येत्यस्याप्याक्षेपादिति दिग्। शेषं भङ्गत्रयं व्यस्तसमस्तद्रव्यपर्यायार्पणाहेतुकं सुबोधम्। 'स्याद्वादाश्रयणे' (१९८–२–९) उक्तार्पणाभेदस्य स्याद्वादतात्पर्येणं प्रत्येव सम्भवादित्यर्थः। परमतापेक्षया त्विति (१०) पक्षत्रयमत्र नैयायिकसौगतमताश्रितं व्याख्येयम्। पर्यन्तकेवलं सदुच्यते यच्चासत् यच्च सदसत् तत्सर्वमवक्तव्यमित्युद्देश्यविधेयभावे तात्पर्यम्, भङ्गत्रयेप्युद्देश्यस्य प्रसिद्धिः परमतात्, विधेयस्य जैना-गमात्, योगादिभिः सदादिव्यवहारविषयीकृतमस्माभिरवक्तव्यत्वव्यवहारसौधमध्यास्यत इत्यकलङ्कदेवाशयः। भाष्ये 'न खलु सर्वात्मनेति' (१२) अत्र सर्वात्मनेत्यस्य व्यक्त्यनवच्छेदकत्वरूपस्वातन्त्र्येणेत्यर्थः। किमालम्बनभावेनेति

(१९९-१-६) किंविषयविधयेत्यर्थः। अयं च वितर्को यतो व्यक्तिसामान्योभयविषयजनितेन ज्ञानेन नियमत उभयविषयतया भाव्यम्, ततः सामान्यज्ञाने विषयतयाव्यक्तीनामपि हेतुत्वौचित्यमित्याशयात्, तत्र (१९९-१-६) सामान्येन सहैकज्ञाने, तासां व्यक्तीनाम्, व्यापारः (७) कार्यजननाभिमुख्यम्, अधिपतित्वेन वेति आलम्बनभिन्नकारणत्वेन वेत्यर्थः। अनधिगमेऽपीति (८) न चेष्टापत्तिः, महत्त्वोद्भूतयोरप्रवेशलाघवेन द्रव्यान्यद्रव्यसमवेतचाक्षुषे चक्षुःसंयुक्तचाक्षुषसमवायत्वेन परेषां हेतुत्वेन जातिचाक्षुषपूर्वं नियमतो व्यक्तिचाक्षुषकल्पनेन तस्याः कर्त्तुमशक्यत्वात्, नहि रूपज्ञान इति, (८) यद्यप्यालम्बनत्वेन हेतुतापि नाधिगतत्वं प्रयोजयति, किन्तु सह ज्ञेयत्वमेव, तथापि ज्ञायमानं ज्ञातमिति नयाश्रयणाददोषः। भाष्ये तल्लक्षण (लक्षितलक्षण) येति (१०) तेन सामान्येन लक्षणाऽऽक्षेपोऽर्थाद्विशेषस्य, तया वृत्तिः प्रवृत्तिर्विशेषे, कथंचित्तादात्म्येन कृत्वा भवेत्, कार्मुकादिवत् (११) कार्मुकादेरिवेति व्यतिरेके दृष्टान्तः, सम्बन्धान्तरा(रस्या)सिद्धेः (१३) तादात्म्यातिरिक्तसम्बन्धासिद्धेरित्यक्षरार्थः। वृत्तौ कथञ्चित्ता(दता)दात्म्ये तदनुपपत्तेरिति (१९९-२-२) यद्यपि कार्यकारणभावदैशिककालिकाधाराधेयभावादीनामतादात्म्येऽपि तत्तत्सम्बद्धव्यवहारकारित्वं दृश्यते, तथापि तत्रापि तत्तद्व्यवहारप्रयोजकशक्त्यात्मना कथञ्चित्तादात्म्याभ्युपगमाददोषः, केवलं सामान्यविशेषादिसम्बन्धविचारे बहुलमभेदव्यवहारात्तेषामुद्भूतं तादात्म्यमनुद्भूतो भेदः, पृथक्सम्बन्धिस्थले तु वैपरीत्यमिति विशेषो बोध्यः। तादृशसर्वथाव्यक्तिव्यतिरिक्तत्वेनाभ्युपगतस्य सामान्यस्य, सतापीत्यादि, (४) तादृशा व्यक्तिव्यतिरिक्तेन पराभ्युपगतेन सामान्येन, सतापि परदृष्ट्या विद्यमानेनापि, अन्यव्यावृत्त्यात्मना (४) स्वातिरिक्तसामान्यव्यावृत्तेन, भावि-

तव्यं (४) भाष्यम्, अन्यथेत्थमनभ्युपगमे, विशेषवत् (५) अन्त्यविशेषस्येव सामान्यस्य, स्वभावहानिप्रसङ्गात् (१९९-२-५) यथा विशेषो विशेषान्तराद्व्यावर्त्तमानः स्वभावं जह्यात् तथा सामान्यमपि सामान्यान्तरादित्यर्थः। विशेषाणां वा तद्वत् सामान्यवत्, ततः सामान्याद्व्यावृत्तेः (५) प्रसङ्गादिति योजनीयम्, भाष्यप्रतीके वृत्तौ 'परापरेत्यादि' (६) सामान्ययोर्मिथोऽव्यावृत्तौ तत् सङ्करादसंकीर्णसामान्यवतो विशेषस्येव तद्वतोऽर्थमात्रस्याभावात् सर्वाभावोऽतिरिक्तसामान्यवादिनां स्यादित्यर्थः। कल्प्यतां तर्हि सामान्यं सामान्यान्तराद् व्यावृत्तं विशेष इव विशेषान्तरात् स्वभावत एवेति चेत्, तर्हि द्रव्यत्वादेः स्वाश्रयं प्रत्येव स्वं प्रत्यनुगमकव्यावर्त्तकतया सामान्यविशेषता स्यात्, तथा च किमपराद्धं वस्तुना, येनातिरिक्तपदार्थद्वयानपेक्षतया तस्यैव तत्ता नेष्यते, द्रव्यत्वादिकमपि हि जातित्वादिनानुगतं स्वरूपेण च व्यावृत्तमिष्यते, तद्वदाश्रय एव किं तथा न स्यात्। जातिषु जातिस्वीकारे कल्प्यमानान्तर्भावेन तास्वाश्रयीभूतास्वन्यान्यजातिस्वीकारेऽनवस्थापत्तेस्तासु जातित्वमुपाधिरेवानुगमको वाच्यः, द्रव्यादित्रये तु बाधाभावेन सामान्यपदार्थ एव तथेत्यनुभवादेवोपलभामह इति चेत्, तर्ह्यनुभवं पृच्छन्तु भवन्तो जात्यादयोऽभावान्ता अनन्ताः पदार्थाः स्वभावादनुगच्छन्ति द्रव्यादयस्तु कतिपयेऽतिरिक्तसामान्येनेत्यर्द्धजरतीयं त्वयाऽकस्मादेव कथमुपलब्धम्, अनवस्थायाश्च मूलमतिरिक्तजातिकल्पनैव, तदुपर्येवान्यान्यजातिकल्पनावतारादुक्ताश्रयस्वभावकल्पनाकुठारेण च तदेव कुतो नोच्छिद्यते येनानवस्थावल्ली न वर्द्धेतेति दिग्। तस्यानन्त्यादित्यादि, (७) अत्र यथोत्तर हेतुहेतुमद्भावः, आनन्त्यात् सङ्केतकरणाशक्तेः सङ्केताविषयत्वम्, ततः सर्वोपसंहारेण शक्तिग्रहायोगादनन्वयः; ततश्च शाब्दबोधादिरूपशब्दव्यवहारायोग इति। स्वविषयविधिनिर-

पेक्षस्येति (८) स्वस्य शब्दस्य विषयो यो विधिर्गोत्वादिस्तन्निरपेक्षस्य तदसंसर्गीभूतस्येत्यर्थः, तत्सापेक्षो ह्यन्यापोहस्तद्विशिष्टबुद्धौ संसर्गतया भासमानो गुणीभावमवलम्बेतापि, नीलमिदमिति प्रतीतावनीलव्यावृत्तेस्तथानुभवात्, प्राधान्येन तु प्रतियोगिनां दुर्ज्ञानत्वात्तद्ग्रहायोग इति भावः; तदाह—विकल्पेन चेति, (१९९-२-९) न च संसर्गांशे गुणतयाऽपि निश्चयो दुर्घटः, प्रकारांश इव संसर्गांशे विपरीतसमारोपव्यवच्छेदकस्य निश्चयत्वव्यवस्थितेरिति बोध्यम्। साधनवचनमेवाभिधायकम्, तच्च विधिरूपं लिङ्गमेवाभिधत्ते, स्वपरत्वेन बुद्धिप्रतिबिम्बपरत्वेन वा तथोपपत्तेः, अन्यच्च वचनं सम्भावनामात्रकरमेवेत्यन्यापोहशक्त्या न कुतोऽपि शब्दान्निर्णय इति शङ्कते—साधनेत्यादिना (९) एवं सति तवापसिद्धान्तः स्यादित्याह न तस्यापीत्यादिना, (१०) एवं च स्वसिद्धान्तादेव परस्यान्यापोहार्थत्वं ध्रुवमित्युक्तं भवति, वस्तुतोऽसौ परसिद्धान्त एवायुक्तः, एवं सति शब्दाद्विपरीतसमारोपव्यवच्छेदसिद्धावप्युद्देश्यविधिरूपार्थासिद्धेस्तदानर्थक्यादर्थतस्तत्सिद्धौ चैकमात्रार्थताव्याघातादित्याह—सत्यपि चेत्यादिना, (१४) दृश्यविकल्प्यैकत्वग्रहाधीन एव विधिप्रत्यय इति न तस्य शब्दवाच्यत्वमित्याशङ्क्य तदेकत्वग्राहकमेव खण्डयितुमुपक्रमते—दृश्यविकल्प्ययोरित्यादिना (१४)। किं केन प्रमितमिति (२००-१-३) विकल्पाभिधानयोर्वस्त्वविषयत्वादेव तदप्रमापकत्वाद्दर्शनस्य चानिश्चयरूपत्वेन तत्त्वादिति भावः। नन्वेकसन्तत्यवच्छिन्नस्वाव्यवहितपूर्ववर्त्तित्वसम्बन्धेन घटत्वावगाहिनिश्चयविशिष्टघटदर्शनत्वेन प्रामाण्यमङ्गीकरिष्यते तत्राह—न हीति (३) घटत्वावगाहित्वमात्रेण निश्चयो न समनन्तरघटदर्शनप्रामाण्याङ्गम्, संशयविपर्ययसाधारण्यादित्यर्थः, वस्तुतोऽर्थक्रियाकारित्वरूपं न तथा, अर्थक्रियाऽव्यवहितप्राक्काले दर्शनस्य प्रागूनष्टस्याभावाद्विकल्पविशिष्टदर्शनत्वेन दर्शनविशिष्टविकल्पत्वेन वार्थक्रियाहेतुत्वमित्यत्र विनि-

गमकाभावात्सूक्ष्मेक्षिकायां सन्निहितत्वस्य विकल्पहेतुताया एव विनिगमकत्वात्। वस्तुतो रजतार्थिप्रवृत्तौ रजतविशेष्यकज्ञानस्य समानप्रकारकत्वेन हेतुत्वम्, न तु रजतत्वज्ञानविशिष्टरजतज्ञानत्वेन, रजतागृहीतासंसर्गकरजतत्वज्ञानत्वादिना वा गौरवादित्यन्यथाख्यातिसाधने मीमांसकं प्रति या युक्तिरुच्यते सात्राप्यनुसर्तव्या इति रजतविशेष्यकरजतत्वप्रकारकविकल्पस्यैव प्रामाण्यादलं तज्जनकदर्शनप्रामाण्यप्रत्याशयेति भावनीयम्। वस्तुसंस्पर्शाभावे(ऽविशेषे) (२००-१-४)ऽपीति, एतदुत्तरं निर्णयसंशययोरिति शेषः। ननु निर्णयस्य वस्तुस्पर्शित्वात्तद्विषयविषयकत्वरूपं प्रामाण्यं दर्शनस्य मा सेत्सीत् तस्य दर्शनविषयसमारोपव्यवच्छेदकत्वे तु न विवाद इति तद्व्यवच्छिन्नसमारोपप्रतियोगिविषयकत्वेन दर्शनस्य प्रामाण्यं सेत्स्यतीत्याशङ्कते ' ननु चेति ' (५) अर्थग्रह इव समारोपव्यवच्छेदेऽपि ज्ञानस्य न स्वातिरिक्तविकल्पापेक्षा, अन्यथा स्वविषयकत्वेऽपि तत्प्रसङ्गात्तथा चानवस्थादिदोषसहस्रोपनिपातस्य दुर्निवारत्वादित्याशयवान् समाधत्ते-समारोपेत्यादिना (७) ' एतेन (१२) वस्तुदर्शनस्य स्वतः स्वरूपपरिनिष्ठितत्वव्यवस्थापनेन, अतत्कार्यकारणव्यावृत्तिः (१२) अगोव्यावृत्तिः, एकप्रत्यवमर्शादिज्ञानात् गौर्गौरित्याद्यनुगतानुसन्धानात्, एकार्थसाधने (१२) एकव्यवहारसम्पादने, अत्यन्तभेदेऽपीति तस्याः कल्पितत्वेनार्थाद्भेदासहिष्णुभेदेऽपीत्यर्थः। इन्द्रियादिवत् (१२) रूपादिज्ञाने चक्षुरादिवत्, ज्वरोपशमनादौ (१३) समुदिता इतरे शुण्ठ्यादय औषधविशेषा यत्र तादृशा ये गुडूच्यादयस्तद्वदिति योजनीयम्। अन्वयव्यतिरेकानुविधानं हि हेतुहेतुमद्भावे प्रयोजकं न त्वभेदोऽपीति भावः। समयादर्शिनोऽपि (१३) अतत्कार्यकरणव्यावृत्तौ सङ्केतादर्शिनोऽपि, दर्शनपदं ज्ञानमात्रोपलक्षणम्, अन्वयबुद्ध्यभिधानव्यवहारः (१४) अयं गौरयं

गौरित्याद्यभिलापात्मा व्यवहारः, **अतत्कार्यकारणव्यतिरेकव्यवस्थायाम्** (१४) अतत्कार्यकरणव्यावृत्तेरेकार्थसाधनहेतुत्वनियमे, **विपर्यासयति** (१४) वैधर्म्यापादनेन विघटयतीति भाष्याक्षरार्थः। **वृत्तौ तस्येति,** (१४) तथा च गुडूच्यादेर्ज्वरोपशमनादौ वस्तुभूतशक्तिसमानपरिणामेन हेतुत्वम्, अन्यापोहस्य तु कल्पनामात्रनिर्वृत्तत्वेन तदभावान्न तथेति व्यक्तो विपर्यास इत्युक्तं भवति, **कर्कादिव्यक्तीनां** (२००–२–४) कर्कादिविशेषाणाम्, **अश्वादिप्रत्ययम्** अश्वाद्यनुगतप्रत्ययम्, **तथा समानपरिणामहेतुकं** (४) प्रतिनियतसमानपरिणामजन्यम्, **साधयति** (४) तथाविधव्याप्त्युपस्थापनात्। कर्कादिष्वश्वाद्यनुगतप्रत्ययः प्रतिनियतसमानपरिणामहेतुकः अनुगतकार्यत्वात् गुडूच्यादिप्रयुक्तज्वरनाशवदिति प्रयोगसम्भवादिति भावः। **'विपर्याससाधनमिति'** (४) अतद्व्यावृत्तिहेतुकत्वसाधनायोपन्यस्तेन प्रकृतोदाहरणेन तद्विपरीतसमानपरिणामहेतुकत्वसाधनादिति भावः। ननु गुडूच्यादिषु शक्तिरूपः समानपरिणामः कारणतावच्छेदक इष्यते प्रकृते त्वनुगतप्रत्ययहेतुत्वं समानपरिणामे साध्यमित्यस्ति तत्रापि साधनवैषम्यमिति चेत्, न। शक्तिशक्तिमतोरभेदनये शक्तिमतो हेतुत्वे शक्तेरपि तथात्वेन तदभावात्, यद्वा कारणतत्त्वावच्छेदकसाधारणं प्रयोजकत्वमादाय समानपरिणामप्रयोज्यत्वे साध्ये न कोऽपि दोष इति भावनीयम्। **अमीषामन्यापोहवादिनां** (४) बौद्धानाम्, **अन्यापोहसामान्यमसत्** (५), अभावत्वेनाभिमतम्, अवक्तव्यमेव विचाराक्षमत्वात्, एवं प्रत्येकमवक्तव्यत्वघटिते भङ्गद्वये समर्थिते क्रमार्पिताभ्यां तृतीयभङ्गः सुघट एवेत्याह–'एतेनेत्यादि' (५)। **सौगतानामिति** (५) तन्मते स्वलक्षणान्यापोहयोः सदसत्त्वेनाभिमतयोर्विवाददशायामवक्तव्यस्यापादयितुं शक्यत्वादित्यर्थः। तदाह–स्वलक्षणस्येत्यादि, अत्रेदं चिन्त्यम्। एवं पराभिमतं सत्त्वमसत्त्वं तदुभयं चोद्देश्यतावच्छेदकीकृत्यावक्तव्यत्वविधा-

नेन चरमभङ्गत्रयमसमर्थने वेदान्त्यभिमतमवक्तव्यत्वमुद्देश्यतावच्छेदकीकृत्य तद्विचारासहत्वविवक्षयाऽष्टमोऽपि भङ्गः कुतो न भवेत्, शब्दसाम्येऽप्यर्थभेदेन भङ्गान्तरस्य दुर्वारत्वात्, धर्मवक्तव्यत्ववदवक्तव्यावक्तव्यत्वं न भेदकमिति चेत्, न। परमतस्वमताभ्यामुद्देश्यविधेयभावस्यैव भेदकत्वात्, अन्यथा सदवक्तव्यत्वादिकमपि केवलावक्तव्यत्वभङ्गकुक्षौ प्रविश्य न भङ्गान्तरमुत्थापयेत्, किं चैनमाद्यभङ्गचतुष्टयं शुद्धघटत्वावच्छिन्नोद्देश्यताकमन्त्यभङ्गत्रयं च कल्पितसत्त्वाद्यवच्छिन्नघटनिष्ठोद्देश्यताकमिति प्रकृतसप्तभङ्ग्येकवाक्यताभङ्गप्रसङ्ग, प्रकारभेदेन तद्भेदस्याभियुक्तैरुक्तत्वात्, प्रकारश्च विधेयधर्मो वोद्देश्यतावच्छेदकधर्मो वेति न कश्चिद्विशेषः, इत्थमेव शुद्धघटादिधर्मिकसप्तभङ्गीतो नीलघटादिधर्मिकायास्तस्या अविगानेन भेद इति, यदि च सत्त्वमसत्त्वं तदुभयं च मतकल्पितमुद्दिश्य पृथगेवावक्तव्यत्वं चरमभङ्गत्रयेणाभिधीयत इति मतं तदा तादृशं नित्यत्वानित्यत्वतदुभयादिकमादाय बहवोऽपि भङ्गाः प्रकृतपर्यायविधिनिषेधकल्पनामूलत्वाभावेनैकवाक्यत्वाभावश्च स्फुट एवेति परमतापेक्षया चरमभङ्गत्रयं व्यवतिष्ठत इत्यकलङ्कदेवोक्तिर्वार्त्तामात्रम्, किं त्वाद्यभङ्गद्वयघटकनिजपररूपयोः शृङ्गग्राहिकया व्यवस्थापन एव नयभेदो मतभेदो वोपयुज्यते, तृतीयभङ्गस्त्ववक्तव्यत्वलक्षणस्ताभ्यां युगपदादिष्टाभ्यां तद्भेदादनेकभेद इत्येते त्रयो निरवयवद्रव्यविषयत्वात् सकलादेशरूपाः, सदसत्त्वमदवक्तव्यत्वादयश्चत्वारस्तु चरमाः सावयवद्रव्यविषयत्वाद्विकलादेशरूपाः, देशभेदं विनैकत्र तु क्रमेणापि सदसत्त्वविवक्षा सम्प्रदायविरुद्धत्वान्नोदेतीति न निरवयवद्रव्यविषयत्वमेषामित्यस्मदभिमतोक्तमेव युक्तमिति मन्तव्यम्। तदेतद्रहस्यं स्वसमयव्युत्पत्तिरसिकमनोविनोदाय सम्मतिगाथाभिरेव व्युत्पादयामः—"अत्थंतरभूएहिं णियएहि य दोहिं समयमाईहिं। वयणविसेसाईयं दव्वमवत्तव्वयं पडइ ॥ १ ॥ अर्थान्तरभूतः

पटादिर्निजो घटादिः, ताभ्यां द्वाभ्यां सदसत्त्वं घटवस्तुनः प्रथमद्वितीयभङ्गनिमित्तं प्रधानगुणभावेन भवतीति सोपस्कारं व्याख्येयम् । ” समयमाईहिं इत्यनन्तरं तुर्गम्यः, द्वाभ्यामिति चानुवर्त्तते, समकमादिरादानं ययोस्ताभ्यां सहार्पिताभ्यां तु द्वाभ्यामित्यर्थः। वचनविशेषातीतं वचनस्य विशेषः शक्तिस्तमतीतमतिक्रान्तं सत् तथाविधवाचकाविषयीभूतमिति यावत्, द्रव्यं घटादि, अवक्तव्यम्, पतति अशक्तिभाराद्वक्तव्यताशिखरे स्थातुं न शक्नोतीत्यर्थः। अवक्तव्यतां वा पततीति व्याख्येयम्, तथाहि द्वयोर्धर्मयोः प्राधान्येन गुणभावेन वा प्रतिपादने न किञ्चिद्वचः समर्थं, वृत्तौ द्वन्द्वस्यैवोभयपदप्रधानत्वात्, तस्य च द्रव्यवृत्तेः प्रकृतेऽनुक्तिसम्भवाद्, गुणवृत्तेरपि गुणानां परार्थत्वेन प्राधान्याघटनात्, प्रत्येकभङ्गस्थले एकधर्मस्यैकधर्म्युपचारेण प्राधान्यसम्भवेऽपि विरुद्धत्वेन प्रतीयमानयोर्धर्मयोरेकधर्म्युपचारायोगात्, वाक्यस्यापि वृत्त्यभिन्नार्थत्वेन तदनतिशायित्वात्, न च केवलं पदं वाक्यं वा लोकप्रसिद्धं तथा, तस्यापि परस्परापेक्षद्रव्यादिविषयतया तथाभूतार्थप्रतिपादकत्वायोगात्, न च तौ सदिति शतृशानचोरिव सङ्केतितैकशब्दवाच्यत्वम्, विकल्पप्रभवशब्दवाच्यत्वप्रसङ्गात्, विकल्पानां च युगपद्प्रवृत्तेर्नैकदा तयोस्तद्वाच्यतासम्भव इति। एतेन तदादिपदप्रतिबन्ध्यपि निरस्ता। तत्रापि तत्तद्विकल्पप्रभवेन तच्छब्देन क्रमेणैवानेकार्थाभिधानात्, एकवचनान्तस्याप्येकशेषस्य “जहा एगो पुरिसो तहा बहवे पुरिसा” इत्याद्यागमसिद्धत्वात्, न च निजार्थान्तरैकताभ्युपगमेऽप्यर्थस्य वाच्यता, तथाभूतस्यात्यन्तासत्त्वेनावाच्यत्वात्, न च घटत्वे घटशब्दप्रवृत्तिनिमित्ते सिद्धेऽसम्बद्ध एव तत्र पटाद्यर्थप्रतिषेध इति द्वितीयभङ्गानवकाशात् तृतीयोऽपि दूरापास्त इति शङ्कनीयम्। पटादेस्तत्राभावाभावे घटशब्दप्रवृत्तिनिमित्तस्य घटत्वस्यैवासिद्धेः, प्रथमभङ्गोत्थापिताकाङ्क्षया द्वितीयभङ्गस्यावश्यप्रयोज्यत्वात्, तदुभयविषयसहार्प-

णया तृतीयस्याप्यवर्जनीयत्वात्, अथवा सर्वं सर्वात्मकमिति सांख्यमतव्यवच्छेदार्थं तत्प्रतिषेधो विधीयते. तत्र तस्य प्रतीत्यभावात् ॥१॥ यद्वा नाम-स्थापना-द्रव्य-भावभिन्नेषु विधित्सिताविधित्सितप्रकारेण प्रथमद्वितीयौ. ताभ्यां युगपदवाच्यम्, तथाभिधेयपरिणामाभावाद्, व्यतिरेके प्रतिनियतव्यवहारोच्छेदो बाधकस्तर्कः, एवमग्रेऽपि. ॥२॥ अथवा स्वीकृतप्रतिनियतप्रकारे तत्रैव नामादिके यः संस्थानादिस्तत्स्वरूपेण घटः, इतरेण चाघट इति प्रथमद्वितीयौ, ताभ्यां युगपदभिधातुमशक्तेरवाच्यः ॥ ३ ॥ यद्वा स्वीकृतप्रतिनियतसंस्थानादौ मध्यावस्था निजं रूपं कुशूलकपालादिलक्षणे पूर्वोत्तरावस्थे अर्थान्तररूपं ताभ्यां सत्त्वासत्त्वयोराद्यद्वितीयौ, युगपत्ताभ्यामभिधातुमसामर्थ्यादवाच्यत्वलक्षणस्तृतीयः ॥४॥ अथवा तस्मिन्नेव मध्यावस्थारूपे वर्त्तमानावर्त्तमानक्षणरूपतया सत्त्वासत्त्वाभ्यां प्रथमद्वितीयौ, ताभ्यां युगपदनभिधेयत्वादवक्तव्यत्वाख्यस्तृतीयः ॥५॥ यद्वा क्षणपरिणतिरूपे लोचनजप्रतिपत्तिविषयत्वाविषयत्वाभ्यां निजार्थान्तरभूताभ्यां सत्त्वासत्त्वाभ्यामाद्यद्वितीयौ, ताभ्यां युगपदादिष्टोऽवाच्यः ॥६॥ अथवा लोचनजप्रतिपत्तिविषये तस्मिन्नेव घटे घटशब्दवाच्यता निजं रूपं कुटशब्दाभिधेयत्वमर्थान्तररूपं ताभ्यामाद्यद्वितीयौ, सहार्पणया तृतीयः ॥७॥ अथवा घटशब्दाभिधेये तत्रैव घटे हेयोपादेयान्तरङ्गबहिरङ्गोपयोगानुपयोगरूपतया सदसत्त्वादाद्यद्वितीयौ, ताभ्यां युगपदादिष्टोऽवाच्यः ॥८॥ अथवा तत्रैवोपयोगेऽभिमतार्थावबोधकत्वानभिमतार्थानवबोधकत्वतः सत्त्वासत्त्वाभ्यामाद्यद्वितीयौ, सहार्पणयाऽवाच्यः ॥९॥ अथवा सत्त्वमसत्त्वं चार्थान्तरभूतम्, निजं घटत्वम्, ताभ्यामाद्यद्वितीयौ, अभेदेन ताभ्यां निर्दिष्टो घटोऽवक्तव्यो भवति, सत्त्वमनूद्य घटत्वविधाने सत्त्वस्य घटत्वेन व्याप्ततया घटस्य सर्वगतत्वापत्त्या तथाभ्युपगमे प्रतिभासव्यवहारविलोपात्, असत्त्वमनूद्य घटत्वविधानेऽप्यभावमात्रस्य घटत्वप्रसङ्गो, घटत्वमनूद्य सदसत्त्ववि-

धानेऽपि घटमात्रस्य सदसत्त्वे, पटादीनां प्रागभावादीनां चाभावप्रसक्तिरिति विशेषणविशेष्यभावलोपात् सन्नसन्नित्येवं घटोऽवाच्य एव, अनेकान्तपक्षे तु कथञ्चिदवाच्यत्वान्न दोषः। न चानया रीत्या नीलोत्पलमित्यादावपि विशेषणविशेष्यभावखण्डनादवाच्यत्वप्रसङ्ग इति दूषणं देयम्। तत्रापि स्यात्पदमध्याहृत्यैव तत्कृतप्रतिनियमेन विशेषणविशेष्यभावव्यवस्थितेः, एकान्तपक्षे त्ववाच्यत्वस्वीकारादेव न च नीलोत्पलमित्यादेः सम्भवाभिप्रायेणैव प्रयोगाददोषः, तथापि नियमाभिप्रायेण स्यादवाच्यत्वाक्षतेः सम्भवनियमाभ्यां प्रथमद्वितीययोरेव भङ्गयोरारम्भे तूभाभ्यामवाच्यत्वाक्षतेरिति दिग् ॥१०॥ यद्वा व्यञ्जनपर्यायोऽर्थान्तरभूतस्तदतद्विषयत्वात्तस्य, घटार्थपर्यायस्त्वन्यव्यावृत्तेर्निजः, ताभ्यामाद्यद्वितीयौ, अभेदेन ताभ्यां निर्देशेऽवक्तव्यः, अन्यतरमनूद्यान्यतरविधाने व्यवस्थितरूपविपर्यासेन व्यवहारविलोपप्रसङ्गात्, अनेकान्तपक्षे तु युगपदभिधातुमशक्यत्वात् कथञ्चिदवक्तव्यः ॥११॥ यद्वा सत्त्वमर्थान्तरभूतम्, अन्त्यविशेषो निजः, तदुभयं प्रवृत्तिनिवृत्त्यविषयत्वादनन्वयाच्चावाच्यम्, प्रत्येकावक्तव्याभ्यां ताभ्यामादिष्टो घटोऽवक्तव्यः, अनेकान्तपक्षे तु कथञ्चिदवक्तव्यः ॥१२॥ अथवा संद्भुतरूपाः सत्त्वादयो घट इत्यत्र दर्शनेऽर्थान्तरभूता रूपादयः, निजं सन्द्भुतरूपम्, ताभ्यामादिष्टो घटोऽवक्तव्यः, अरूपादिव्यावृत्त्या रूपादिव्यवस्थायामरूपाद्यात्मकघटताया रूपादीनामवाच्यत्वात्, अरूपादिरूपत्वे च रूपादीनां तत्स्वरूपस्यैवाभावे के सन्द्भुतरूपतया विशेष्या ये घटरूपतामास्कन्देयुरित्येवमप्यवाच्यः। अनेकान्तवादे च कथञ्चिदवाच्यः ॥१३॥ इयमेव रीतिरसन्द्भुतरूपा रूपादयो घट इति पक्षेऽपि भावनीया। तत्र रूपादीनामर्थान्तरभूतत्वादसन्द्भुतरूपत्वस्य च निजत्वात्ताभ्यामादिष्टस्यावक्तव्यतायाश्च प्राग्वद्विशेष्यलोपादेव सिद्धेः। कथञ्चित्पक्षस्य च जैनानां सर्वत्राप्यदुष्टत्वात्। पूर्वपक्षे रूपादिषु घटत्वं पर्याप्तमत्र

तु रूपादिप्रत्येकवृत्ति नाना तत्, कथञ्चित्सौ (स) सादृश्याच्चैकत्वव्यवहार इत्येतावान् विशेष इति सम्भावयामः ॥१४॥ यदि वा रूपादयोऽर्थान्तरभूता मतुवर्थौ निजस्ताभ्यामादिष्टो घटोऽवक्तव्यः, विना कल्पनाशिल्पं भिन्नप्रतीतिविपये विशेषण-विशेष्यभावाभावात्, अनेकान्ते तु कथञ्चिद्वाच्यः ॥१५॥ अथवा बाह्योऽर्थान्तरभूत उपयोगस्तु निजस्ताभ्यामादिष्टोऽवक्तव्यः । य उपयोगः स घट इत्युक्तौ उपयोगमात्रस्य घटत्वप्रसक्तेः, यो घटः स उपयोग इत्युक्तावुपयोगस्यार्थत्वप्रसक्तेर्घटस्यावाच्यत्वात्, अनेकान्ते तु कथञ्चिद्वाच्यत्वे दोषाभावादिति दिग् ॥ १६ ॥ "भङ्गाः षोडश योगतर्कवदिमे भूयो विचारक्षमाः, साकल्येन च तैर्नियम्यत इदं भङ्गत्रयं वस्तुनि ॥ तेनैतान् सुधियो वदन्ति सकलादेशान् विवक्षावशा–देशस्थांश्चतुरः परांस्तु विकलादेशान्निदेशाद् गुरोः ॥ १ ॥ एतदन्यतरेणैव सप्तभङ्गैक्यमिष्यते ॥ शब्दसाम्येन नैकत्वं तत्त्वतः षोडशैव ताः ॥ २ ॥ इहार्थे कोटिशो भङ्गा निर्दिष्टा मल्लवादिना ॥ मूलसम्मतिटीकायामिदं दिग्मात्रदर्शनम् ॥ ३ ॥" एत एव सप्तभङ्गाः स्यात्पदलाञ्छनविरहिणोऽवधारणैकस्वभावा विषयाभावाद्दुर्नया भवन्ति । धर्मान्तरोपादानप्रतिषेधाकरणात्, स्वार्थमात्रप्रतिपादनपराः स्यात्पदमहिम्ना विवक्षितैकधर्मावधारणपरा वा सुनया इति विभागः । एवं निरवयववाक्यात्मकं भङ्गत्रयं प्रतिपाद्य सावयववाक्यरूपं चतुर्थं भङ्गं प्रतिपादयितुमाह—" अह देसो सब्भावे देसोऽसब्भावपज्जवे णियउ । तं दवियमत्थिणत्थिय आएसविसेसियं जह्मा ॥२॥" अथेति यदा देशो वस्तुनोऽवयवो धर्मो वा, सद्भावेऽस्तित्वे, नियतो विवक्षितः, देशश्चापरोऽसद्भावे नास्तित्वे, तदा तद्द्रव्यमस्ति च नास्ति चेति देशाभेदद्वारेण वाच्यम् । अक्षिपाणिगतकाणकुंटत्वयोगात् काणकुंट इव देवदत्तः, तदाह—यस्माद्द्रव्यमादेशविशेषितम्

उभयप्रधानावयवाभेदेनार्पितं स्वाश्रयसमवायित्वरूपपरम्परासम्बन्धावच्छिन्नधर्मद्वयप्रकारतानिरूपितैकविशेष्यताकौपादानिकबोधेच्छाविषयीकृतमिति यावत्, यथाश्रुते घटपदस्य देशपरस्यावृत्त्या प्रकारताद्वयनिरूपितविशेष्यताद्वयशालिन एव बोधस्य जननादौपादानिकबोधपर्यन्तमनुधावनम्, एवमग्रेऽपि बोध्यम् ॥ उक्तन्यायेन पंचमभङ्गप्रदर्शनायाह–'सब्भावे आइट्ठो देसो, देसो य उभयहा जस्स। तं अत्थि अवत्तवं च होइ दवियं विअप्पवसा ॥३॥" सद्भावेऽस्तित्वे यस्य घटादेर्द्धर्मिणो देश आदिष्टो देशश्चापर उभयथाऽस्तित्वनास्तित्वप्रकाराभ्यामेकदैव विवक्षितः तद्द्रव्यमस्ति चावक्तव्यं च भवति, विकल्पवशादुक्तोभयधर्माक्रान्तदेशद्वारेण धर्मिणो विवक्षावशात्, तेन प्रथमतृतीयभङ्गसंयोगेनान्यथासिद्धिव्युदासः, केवलधर्मविवक्षाया देशाविशेषितद्रव्य एव सम्भवात्, देशद्वारा द्रव्ये उभयधर्मविवक्षाया एव युक्तत्वादिति बोध्यम् ॥ षष्ठं भङ्गं दर्शयितुमाह–'आइट्ठोसब्भावे देसो, देसो य उभयहा जस्स। तं णत्थि अवत्तवं च होइ दवियं विअप्पवसा ॥४॥' यस्य वस्तुनो देश एकोऽसत्त्वे नियतोऽपरश्च सत्त्वासत्त्वाभ्यां युगपदादिष्टस्तद्द्रव्यं तथा विकल्पवशान्नास्ति चावक्तव्यं च भवति, केवलद्वितीयतृतीयभङ्गव्युदासः प्राग्वद्भाव्यः॥ सप्तमं प्रदर्शयति–"सब्भावासब्भावे देसो, देसो य उभयहा जस्स। तं अत्थि णत्थि अवत्तव्वं च दवियं विअप्पवसा ॥ ५ ॥' यस्य देश एकः सद्भावेऽपरोऽसद्भावेऽन्यश्चोभयथा नियतस्तद्द्रव्यं तथा विकल्पवशादस्ति नास्त्यवक्तव्यं च भवति, विशिष्टविवक्षया केवलभङ्गत्रयव्युदासः ॥ न चात्राष्टमवचनविकल्पपरिकल्पनापि सम्भवदवतारा, तन्निमित्ताभावात्, सावयवात्मकस्य निरवयवात्मकस्य तन्निमित्तस्य चतुर्थादिषु प्रथमादिषु चान्तर्भावात्, गत्यन्तरस्य चासत्त्वात्, न चावक्तव्यत्ववद्वक्तव्यत्वेनाष्टमेन भवितव्यम्, सम्प्रति पक्षमौलभङ्गजिज्ञासामूलजिज्ञासाविषयत्वेनावक्तव्यत्वाश्रयणेऽपि तद्विपर्ययेण वक्तव्यत्वाना-

श्रयणात्, अत एवावक्तव्यत्वसप्तभङ्ग्यामपि मौलभङ्गद्वयोत्थापिताकाङ्क्षाविषयस्यावक्तव्यत्वस्यान्यस्यैव तृतीयभङ्गे प्रवेशान्न न्यूनत्वमिति वदन्ति, तेन व्यवस्थितः सप्तविधो वचनमार्गः॥ अत्र नयविभागप्रदर्शनार्थमाह–' एवं सत्तविअप्पो वयणपहो होइ अत्थपज्जाए। वंजणपज्जाए पुण सविअप्पो णिव्विअप्पो य ॥६॥' एवमुक्तप्रकारेण सप्तविकल्पः सप्तभेदो वचनपथः अर्थपर्यायेऽर्थनये सङ्ग्रहव्यवहारर्जुसूत्रलक्षणे भवति, तत्र प्रथमः सङ्ग्रहे सामान्यग्राहिणि, द्वितीयो व्यवहारे विशेषग्राहिणि, तृतीयपक्ष ऋजुसूत्रे सूक्ष्मवर्तमानक्षणग्राहिणि, एकदोभयार्पणाया वर्त्तमानक्षणनियतत्वात्, चतुर्थः सङ्ग्रहव्यवहारयोः, पञ्चमः सङ्ग्रहर्जुसूत्रयोः, षष्ठो व्यवहारर्जुसूत्रयोः, सप्तमः सङ्ग्रहव्यवहारर्जुसूत्रेषु ॥ व्यञ्जनपर्याये विषयिलक्षणया शब्दनये सविकल्पः साम्प्रताख्यभेदे, पर्यायशब्दवाच्यताविकल्पसद्भावात्, निर्विकल्पः समभिरूढैवंभूतयोः, तयोः पर्यायक्रियाभेदभिन्नार्थत्वात्, तथा च स्यादस्ति स्यान्नास्तीत्यत्र घटपदेन यावद्घटवाचकपदवाच्यत्वावच्छिन्नो धर्म्युपादेयः, तस्य फलतः प्रथमशब्दभेदे सत्त्वम्, द्वितीयतृतीययोश्चासत्त्वमिति भेदद्वयं सिद्ध्यति ' सविअप्पणिव्वियप्पं ' इत्यादि सिद्धसविकल्पकत्वनिर्विकल्पकत्वभङ्गद्वयोपादाने प्रकृतसप्तभङ्गीमुपक्रम्य धर्मान्तरसप्तभङ्गीसाधनेऽर्थान्तररूपनिग्रहस्थानप्रसङ्गादित्यस्माकमनेकान्तव्यवस्थादौ मनीषोन्मेषः। न च यथोक्तव्याख्यानेऽपि धर्मितावच्छेदकभेदात् सप्तभङ्गीभेदप्रसङ्ग आवश्यकः, एकत्र धर्मिणीत्यस्यैकधर्मितावच्छेदकावच्छिन्न इत्येवार्थादिति शङ्कनीयम्, तद्धर्मितावच्छेदकसमनियतधर्मावच्छिन्नविशेष्यतास्थले सप्तभङ्गीभेदाभावात्, अन्यथा कम्बुग्रीवादिमान् स्यादस्तीत्यादावपि घटविशेष्यकसप्तभङ्गीभेदापत्तेरिति विभावनीयं सूरिभिः। साम्प्रतसमभिरूढैवंभूतान्यतमविषययोर्युगपत् जिज्ञासायां तृतीयः, प्रथमद्वितीयसंयोगे चतुर्थः, प्रथमद्वितीय-

चतुर्थेष्वनभिधेयसंयोजनया पञ्चमषष्ठसप्तमाः । यद्वा अस्या गाथाया भिन्नस्तात्पर्यार्थो वृत्तिकृद्भिरुद्भावितः, तथाहि—अर्थनय एव सप्तभङ्गाः, शब्दादिषु तु त्रिषु नयेषु प्रथमद्वितीयावेव भङ्गौ, वक्त्रभिप्रायो हि सङ्ग्रहादिरर्थप्रधानोऽर्थनयः, परार्थशब्दश्रवणोद्गतः शब्दादिश्रोत्रभिप्रायश्च शब्दप्रधानार्थोपसर्जनत्वात् शब्दनयः। तत्र शब्दसमभिरूढापेक्षया सविकल्पको वचनपथः, संज्ञाक्रियाभेदेनाभिन्नार्थप्रतिपादकत्वेऽपि भेदजिज्ञासारूपविकल्पसाहित्यात्, एवंभूतस्तु क्रियाभेदाद्भिन्नमेवार्थं तत्क्षणे स्थापयतीति निर्विकल्पकः, तदुत्तरं भेदजिज्ञासारूपविकल्पविरहादिति भङ्गद्वयमेवावतिष्ठते, अवक्तव्यत्वभङ्गस्तु व्यञ्जननये न सम्भवत्येव, तस्यार्थप्रतिपत्तुः शब्दश्रवणोद्गताभिप्रायविशेषत्वात्, अवक्तव्यत्वस्य तु शब्दाभावविषयत्वादिति। अत्र यद्यपि शब्दानुपलब्धिगम्यस्याप्यवक्तव्यत्वस्यानुमानादिगम्यार्थस्येव प्रमाणसम्प्लववादिनां शब्दप्रमाणविषयत्वं नायुक्तिमत्, व्यञ्जनपर्याये सप्तभङ्ग्यभावे च तस्या व्यापकत्वप्रवादस्याप्रामाणिकत्वापत्तिः, तथापि वक्तव्यत्वरूपे व्यञ्जनपर्याये प्रतिपक्षेणावक्तव्यत्वेन सह भङ्गद्वयमेव भवति, अवक्तव्यत्वोपाधीनां बुद्धिविशेषानुगतानां यावतामेव स्यात्पदेनोपस्थितिसम्भवे तृतीयभङ्गस्यानतिप्रयोजनत्वात्, सप्तभङ्ग्या व्यापकत्वप्रवादस्यार्थपर्यायमादायैवोपपत्तेः, एवमवक्तव्यत्वसप्तभङ्ग्यामपि तृतीयभङ्गस्य प्रथमभङ्गे प्रवेशाद् भङ्गद्वयपरिशेषो व्याख्येयः, तस्यापि व्यञ्जनपर्यायत्वात्, व्यञ्जनपर्यायशब्देन व्यञ्जनपर्यायनिष्ठप्रतियोग्यनुयोगिभावसम्बन्धाश्रयस्यैव ग्रहणात्, न च भङ्गद्वये स्याद्वादहानिः, सप्तभङ्ग्या एव स्याद्वादत्वादिति शङ्कनीयम्, को जीव इत्यादिप्रश्ने स्यादौपशमिकादिभावयुक्तो जीव इत्याद्येकभङ्गोत्तरेऽपि स्यात्कारलाञ्छनतया स्याद्वादत्वस्य मलयगिरिप्रभृतिभिरभियुक्तैः समर्थितत्वात्, उत्थाप्याकाङ्क्षया यथाकथञ्चित्सप्तभङ्ग्यवतारस्य सुलभतायाश्चस्माभिर्नयोपदेशादौ प्रद-

र्शितत्वादिति युक्तं पश्यामः। एतेन—"इच्छइ विसेसियतरं पच्चुप्पण्णं णओ सद्दो" इतिनिर्युक्तिप्रतीके ऋजुसूत्राद्विशेपिततरत्वं शब्दस्य सप्तभङ्ग्याक्रान्ततया यन्महाभाष्यादावुपदर्शितं तदविरुद्धमित्युक्तं भवति, वक्तव्यत्वातिरिक्तस्थले तत्सावकाशताया न्याय्यत्वाच्छब्दावच्छिन्नार्थग्राहित्वेन च शब्दनयस्यार्थनयत्वानापत्तेरिति भावनीयम् ॥१॥ यद्वा व्यञ्जनपर्याये व्यञ्जनपर्यायग्राहिणि शुद्धशब्दनये एवंभूताख्ये देशप्रदेशकल्पनारहिताखण्डवस्त्वभ्युपगमपरे देशाश्रितोत्तरभङ्गचतुष्टयायोगादाद्येषु त्रिष्ववस्थितेषु एकसम्बन्धिज्ञानेऽपरसम्बन्धिसरणमिति न्यायेन पदज्ञानोपस्थितानामर्थानामिवार्थज्ञानोपस्थितानां पदानामपि शाब्दबोधप्रवेशध्रौव्येऽवक्तव्यत्वभङ्गस्य मूलत एव लोपात् सविकल्पो व्यतिरेकसहितो निर्विकल्पश्च तद्रहितो वचनमार्ग इत्येवमाद्यभङ्गद्वयमेवावशिष्यत इति व्याख्येयम् ॥२॥ यद्वा व्यञ्जनपर्याये विशेपापेक्षया स्थूलव्यञ्जनपर्यायग्राहिणि व्यवहारकृतभेदसङ्कोचपरे सङ्ग्रहनये सविकल्पो निर्विकल्पश्चेत्याद्यभङ्गद्वयात्मक एव वचनमार्गः, यैरुपाधिभिरवक्तव्यं तैरसत्त्वस्यैवाश्रयणात्, इत्थमेव विरुद्धघटत्वपटत्वाभ्यामभावस्य केवलान्वयित्वप्रवादोपपत्तेः, तथा जिज्ञापयिपया गुरोरपि शिष्यं प्रति तृतीयभङ्गस्थाने द्वितीयभङ्गस्यैव प्रयोगार्हत्वात्, आद्यभङ्गे सामान्यबुबोधयिपारूपतया भङ्गद्वय एव वाक्यपर्याप्तौ च संजिघृक्षारूपतया वक्त्रभिप्रायात्मकसङ्ग्रहव्यापारद्वैविध्योपपत्तेर्महावाक्यावान्तरवाक्यरूपनिमित्तभेदात्, देशाश्रिता भङ्गा अपि चात्र देशिनिष्ठतया संग्राह्याः, अन्यथैकवचनबहुवचनादिनाऽऽधिक्यापत्तेरिति सर्वमनवद्यम् ॥ ३ ॥ "मतद्वयेऽपि व्याख्यातां, सप्तभङ्गीमिमां मया। बुधाः! सुधावदास्वाद्य, सन्तु सौहित्यशालिनः ॥ १ ॥ अमुष्मिन्नेतावत्यखिलनयसम्मर्दगहने, महातर्के कस्य प्रभवति परिच्छेदधिषणा ॥ तथाप्यन्तः श्रीमन्नयविजयविज्ञांह्रिभजने, न भग्ना

भक्तिश्चेत्कथय किमसाध्यं मम सखे ! ॥ २ ॥”   ॥ सप्तभङ्गीविमर्शः पूर्णः ॥

नन्वस्तित्वमेव वस्तुनः स्वरूप, न पुनर्नास्तित्वं, तस्य पररूपाश्रयत्वादन्यथातिप्रसङ्गादिति वदन्तं वादिन प्रत्याहुराचार्याः ।

अस्तित्वं प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि । विशेषणत्वात्साधर्म्यं यथा भेदविवक्षया ॥ १७ ॥

एको धर्मी जीवादिः । तत्रास्तित्वं नास्तित्वेन प्रतिषेध्येनाविनाभावि, न पुनर्भिन्नाधिकरणम्, विशेषणत्वात् । यथा हेतौ साधर्म्यं वैधर्म्येण भेदविवक्षया सर्वेषां हेतुवादिनां कचिदनुमानप्रयोगे प्रसिद्धम् । सर्वस्य नित्यत्वानित्यत्वादिसाधने हेतौ साधर्म्यस्य व्यतिरेकाविनाभाविनोऽसंभवादयुक्तमुदाहरणमिति चेत्, न, तत्रापि तदुभयसद्भावात् । तथा हि । सर्वमित्थमनित्थं वेति प्रतिज्ञायाऽभिप्रेत्य वा प्रमेयत्वादिहेतूपादानेपि व्यतिरेकोस्त्येव, प्रमेयत्वस्य वस्तुधर्मत्वात् । परिणामी जीवः शब्दादिर्वा नापरिणामीति वा, सर्वं चेतनमचेतनं वा, विवादापन्नमित्थमनित्थं वा प्रतिज्ञाप्रयोगवादी प्रतिपाद्यनुरोधतः प्रतिज्ञाय, सौगतप्रतिपाद्याशयतोभिप्रेत्य वा प्रमेयत्वात् सत्त्वाद्वस्तुत्वादर्थक्रियाकारित्वादित्यादिहेतूनामुपादानेपि वादिप्रतिवादिप्रसिद्धेऽर्थेऽन्वयवत्खपुष्पादौ साध्यधर्मनिवृत्तौ साधनधर्मनिवृत्तिलक्षणो व्यतिरेकोस्त्येव । खपुष्पादयोपि तत्र व्यवहारमिच्छता प्रमेयाः प्रतिपत्तव्या इति न किञ्चित्प्रमाणम्, प्रमेयाभावस्यापि तथाभावानुषङ्गेणाव्यवस्थाप्रसङ्गात् । न चैतद्विरुद्धम्, स्वलक्षणमनिर्देश्यमित्यादिवत् । न हि स्वलक्षणस्यानिर्देश्यस्याप्यनिर्देश्यशब्देन निर्देशे विरोधोस्ति । नापि प्रत्यक्षं कल्पनापोढमपि कल्पनापोढत्वेन कल्पयतः किञ्चिद्विरुध्यते, सर्वथा व्यवहारविलोपप्रसङ्गात् । तथैव खपुष्पादयोऽप्रमेया इति व्यवहरतोपि न तेषां प्रमेयत्वं विरुध्यते, तत्रापि प्रमाणाभावात्प्रमेयाभाववत् । तदभावेपि खपुष्पादीनां प्रमेयत्वे प्रमेयाभावस्यापि प्रमेयत्वप्रसङ्गः । तथा च प्रमेयाप्रमेयव्यवस्था कथमास्थीयेत ? एतेन खपुष्पादयः प्रमेयाः शब्दविकल्पविषयत्वा-

द्वटादिवदित्यनुमानं प्रत्युक्तम्, हेतोः प्रमेयाभावेन व्यभिचारात् । प्रत्यक्षानुमानाभ्यां प्रमीयमाणत्वात्प्रमेयाः खपुष्पादय इति चेत्, न, असिद्धत्वात्साधनस्य । तथा हि । ते न प्रत्यक्षेण प्रमीयमाणाः, तत्र स्वाकारानर्पकत्वात् । नाप्यनुमानेन, स्वभावकार्यप्रतिबन्धाभावात् । स्वभावेन केनचित्तेषां प्रतिबन्धे निस्स्वभावत्वविरोधात्, कार्येण च प्रतिबन्धेऽनर्थक्रियाकारित्वव्याघातात् सन्तः खपुष्पादयो व्यवह्रि- येरन् । दर्शने स्वाकारमनर्पयता स्वभावकार्यप्रतिबन्धाभावे प्रमेयत्व प्रमाणान्तरमवश्यमाकर्षति । ततो विप्रतिपिद्धमेतत् खपुष्पादीनां प्रमेयत्वम्, प्रमाणद्वयनियमविरोधात् । न च प्रमाणान्तरेणापि प्रमीयमाणास्ते, प्रमाणविपयत्वधर्मस्यानाश्रयत्वात् । अन्यथा वस्तुत्वापत्तेः सदसद्व्यवस्थानुपपत्तेस्तद्व्यवहाराभावः । न च स्वलक्षणमेवान्यापोहः, सर्वथा विधिनियमयोरेकतानत्वासभवात् । पुष्परहितं खमेव खे पुष्पाभावः, शशादय एव च विपाणरहिताः शशादिपु विपाणाभाव इत्येकविषयौ खशशादितत्पुष्पविषाणविधिनियमौ सभवत एवेति चेत्, न, गगनशशादीना भावाभावस्वभावभेदाद्विधिनियमोपलब्धेश्च, अन्यथानुभवाभावात् । शब्दविकल्पविशेषात्सकेतविशेषापेक्षादेकत्र विपये विधिनियमयोः संभव इति चेत्, न, सकेतविशेपस्य वस्तुस्वभावविशेपनिबन्धनत्वात् । तत्स्वभावभेदाभावे च संकेतविशेषानुप- पत्तेरभिधानप्रत्ययविशेपोपि मा भूत्तदन्यतरवत् । नन्वनिन्द्रभावेपि पदार्थे व्यवहर्तृसकेतविशेपादिन्द्राभिधानप्रत्ययविशेषदर्शनान्न वस्तु- स्वभावभेदनिबन्धनः सकेतविशेपः सिद्धो, यतो वस्तुस्वभावभेदाभावे सकेतविशेपानुपपत्तिः, ततोभिधानप्रत्ययविशेपश्च न स्यात्, रमस्ति, तत्पुष्पं नास्तीति, तस्यानादिवासनोद्भूतविकल्पपरिनिष्ठितत्वात्, इति कश्चित्, सोप्यननुभूतवस्तुस्वभावः, शब्दस्य सर्वार्थप्रति- पादनशक्तिवैचित्र्यसिद्धे, पदार्थस्य च सर्वस्य सर्वशब्दवाच्यत्वशक्तिनानात्वात् प्रधानगुणभावादभिधानव्यवहारप्रसिद्धेः । क्वचित्पदा- र्थेऽनिन्द्रस्वभावेपीन्द्रशब्दवाच्यत्वशक्तिसद्भावाद्व्यवहर्तृसकेतविशेपादिन्द्राभिधानप्रत्ययविशेपसिद्धेर्वस्तुस्वभावभेदनिबन्धन एव सकेत-

विशेष इति न तद्भावे भवितुमुत्सहते, यतः प्रत्ययविशेषः स्यात् । कथमन्यथा खपुष्पवत्खेपि नास्तीति प्रत्ययो न भवेत् ? खवद्वा खपुष्पेप्यस्तीति प्रत्यय॰ कुतो न स्यात् ? तयोरन्यतरत्रोभावपि प्रत्ययौ कुतो न स्याताम् ? सकेतविशेपस्य सर्वथा वस्तुस्वभावभेदानपेक्षस्य सभवात् । प्रतिनियतश्च विधिनियमप्रत्ययविशेपः सकलबाधकविकलः सलक्ष्यते । ततो यावन्ति पररूपाणि प्रत्येकं तावन्तस्ततः परावृत्तिलक्षणाः स्वभावभेदाः प्रतिक्षणं प्रत्येतव्याः, स्वलक्षणमेवान्यापोह इति व्यवस्थापयितुमशक्तेः, तस्य सबन्ध्यन्तरापेक्षत्वात् । न च संबन्ध्यन्तराणि स्वलक्षणस्य स्वरूपभूतान्येव, तेपा पररूपत्वात्, अन्यथा तत परावृत्तेरनुपपत्तेः । पररूपाण्यपि यदि सबन्ध्यन्तराणि भावस्वभावभेदकानि न स्युस्तदा नित्यत्वेपि कस्यचित्सबन्ध्यन्तरेपु कादाचित्केपु क्रमशोर्थक्रिया न वै विप्रतिपिध्येत । शक्यं हि वक्तुम्, क्रमवर्तीनि कारणानि तत्तन्निर्वर्तनात्मकानीति नित्यं स्वभावं न वै जहाति क्षणिकसामग्रीसन्निपतितैकतमवत् । तदेतत्तदा तत्तत्कर्तुं समर्थमेक स्वभावमविचलित विभ्राण सहकारिकारणानि स्वभावस्याभेदकानि नानाकार्यनिबन्धनानि कादाचित्कानि प्रतीक्षन्ते इति । न चैवंवचने विपममुदाहरणम्, क्षित्युदकवीजातपादिसामग्र्यामन्त्यक्षणप्राप्ताया सन्निपतितस्यैकतमस्य कारणस्य शेपेषु कारणेपु यवाङ्कुरादिकार्यनिर्वर्तनात्मकेषु सत्स्वपि स्वभावभेदस्य क्षणिकवादिनः सिद्धत्वात् । तदिमेऽर्थो विधिप्रतिपेधाभ्यां सप्रतिबद्धा न प्रतिबन्धमतिवर्तन्ते वस्तुत एव । ततो न सवृतिस्तद्व्यवहाराय भेदमावृत्त्य तिष्ठतीति युक्तम्, विधिप्रतिपेधसबन्धशून्यस्य भेदस्य स्वलक्षणलक्षणस्य साक्षादध्यक्षतोनुपलक्षणात्, तथानुमानादप्यप्रतिपत्तेर्विधेः प्रतिपेधस्य चापह्नवे व्यवहाराघटनात्, सवृतेस्तमावृत्त्य स्थितिविरोधात्, परमार्थत एव भावस्यानेकस्वभावस्य प्रतीतेः । तदनेकस्वभावाभावे विनिर्भासा(स)संभवादात्मनि परत्र चासंभविनमाकारमादर्शयतीति मुग्धायते सर्वत्रासहायरूपानुपलब्धेः । जातुचिन्निरंशरूपोपलब्धौ हि नानारूपोपलब्धिः सवृतिरात्मनि

परस्मिंश्चाविद्यमानमाकारं दर्शयतीति युक्तं वक्तुम्, नान्यथा, अतिप्रसङ्गात्। यदि पुनरनाद्यविद्योदयादखिलजनस्यासहायरूपानुपलब्धिजाततैमिरिकस्यैकचन्द्रानुपलब्धिवदिति मतम्, तदा "गुणानां सुमहद्रूपं न दृष्टिपथमृच्छति। यत्तु (च) दृष्टिपथप्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम् ॥१॥ सर्वं पुरुष एवेद नेह नानास्ति किञ्चन। आरामं तस्य पश्यन्ति न तं कश्चन पश्यति ॥ २ ॥" इत्यपि किन्न स्यात् ? सर्वथाप्यविशेषात्। तदियं सवृतिः सामान्यसामानाधिकरण्यविशेषणविशेष्यभावादिव्यवहारनिर्भासान्विभ्रती स्वयमनेकरूपतां प्रतिक्षिपन्तं व्यवस्थापयति, तामन्तरेण सामान्यादिव्यवहारनिर्भाससंवृत्यनुपपत्ते, तद्वद्भावान्तराणामनेकान्तात्मकत्वे वास्तवी साधर्म्यवैधर्म्यादिस्थितिरविशेषेण विकल्पबुद्धेर्मिथ्यात्वं प्रतिजानन्तं प्रतिक्षिपत्येव, सवृतेः स्वरूपेऽनेकान्तात्मकत्वं, न तु ततोन्येषां भावानामिति विभावयितुमशक्तेः। ततो न स्वलक्षणमेवान्यापोहः संभवति येन खपुष्पादयः प्रमेयाः स्यु। यत्पुनरेतदन्यतो व्यावृत्तिरनात्मिकैवेति, तन्न, चक्षुरादिज्ञानस्य निर्व्यवसायात्मकस्य स्वयमभूताविशेषात्, निर्णयस्य भावस्वभावासस्पर्शिनः सर्वथा वस्तुतत्त्वापरिच्छेदादिदमित्थमेवेति स्वयमेकान्तानुपपत्तेः। सोयं चक्षुरादिज्ञानाद्वस्तुतत्त्वमध्यवस्यन्सकलविकल्पाध्यवसेयामन्यव्यावृत्तिं सर्वथानात्मिकामाचक्षाणः कथमिदमेव वस्तुतत्त्वमित्थमेवेति वा स्वयं प्रतिपद्येतान्यं वा प्रतिपादयेदिति सविस्मयं नश्चेत.। अतोय भावः स्वभावभेदान्विधिप्रतिषेधविपयान्बिभ्राणः प्रत्यक्षेतरप्रमाणसमधिगतलक्षणः प्रतीयेत प्रमेयः, खपुष्पादयस्त्वप्रमेया इति प्रमेयत्वादिहेतावपि व्यतिरेको विद्यते एव। सर्वस्य परिणामित्वादौ साध्ये सपक्षेऽन्वयो न सभवत्येवेति चेत्, न, अन्तर्व्याप्तिलक्षणस्य तथोपपत्तिरूपस्यान्वयस्य सद्भावादन्यथानुपपत्तिरूपव्यतिरेकवत्। न हि दृष्टान्तधर्मिण्येव साधर्म्यं वैधर्म्यं वा हेतोः प्रतिपत्तव्यमिति नियमो युक्तः, सर्वस्य क्षणिकत्वादिसाधने सत्त्वादेरहेतुत्वप्रसङ्गात्। यतश्चैव सर्वत्र हेतौ साधर्म्यं वैधर्म्येणाविनाभावि प्रसिद्धमुदाहरणं तस्माद्यद्विशेषणं तत्प्रतिषेध्याविनाभावि

क्वचिद्धर्मिणि, यथा साधर्म्यं भेदविवक्षया कृतकत्वादौ, विशेषणं चास्तित्वं, ततः प्रतिषेध्यधर्मप्रतिबन्धि इत्यनुमानमनवद्यमवतिष्ठते, हेतोरसिद्धताद्यनुपपत्तेः, साध्यसाधनधर्मवैकल्याभावाच्च निदर्शनस्य, प्रत्यक्षादिविरोधाभावाच्च पक्षस्येति प्रतिपत्तव्यम् ॥ १७ ॥

अथ प्रकृतं–'अस्तित्वमिति' (२१३-१-३) अस्तित्वं प्रतिषेध्येन नास्तित्वेन, एकधर्मिण्यविनाभावीति साध्यम्, एककालेऽविनाभावेन सिद्धसाधनवारणार्थमेकधर्मिणीति, विशेषणत्वादिति (३) हेतुः। अस्तित्वनास्तित्वोभयघटितधर्मिविशेषणत्वादित्यर्थः। अन्यथा नीलादावुत्पलादिविशेषणे चैतन्ये च जीवविशेषणेऽनीलाचैतन्याविनाभावस्य धर्मिण्यप्रसिद्ध्या लोकदृष्ट्या व्यभिचारस्य स्पष्टत्वात्पररूपेण तदविनाभावस्य च साध्यसमत्वादिति द्रष्टव्यम्। यत् स्वस्वेतरयदुभयघटितयद्धर्मिविशेषणं तत्तत्र तेनाविनाभावि, यथान्वयव्यतिरेकव्याप्तिद्वयघटितव्याप्यविशेषणमन्वयव्याप्तिरूपं साधर्म्यं व्यतिरेकव्याप्तिरूपवैधर्म्येणाविनाभावीति, दृष्टान्तप्रदर्शनम्, भेदविवक्षयेति साधर्म्योपन्यासनियमार्थम्, बहिर्व्याप्तिरूपभेदविवक्षया हि साधर्म्यमुपन्यस्यते, अन्तर्व्याप्तिरूपाभेदविवक्षया तु वैधर्म्यमिति, भाष्ये व्यतिरेकोऽस्त्येवेति (२१३–१–७) तथा चैतन्नये केवलान्वयी नास्त्येवेति भावः। 'तथैवेति' (१२) अप्रमेयत्वव्यवहारस्य प्रमाणजन्यज्ञानविषयत्वरूपप्रमेयत्वासाधकत्वादेवेत्यर्थः, न च व्यवहारेण ज्ञेयत्वसिद्धौ प्रमेयत्वसिद्धिध्रौव्यम्, एतन्नये ज्ञेयत्वस्य प्रमेयत्वाव्याप्यत्वात्। अनादिविपरीतवासनाजन्यविकल्पविषये व्यभिचारादिति, सन्तः खपुष्पादयो व्यवह्रियेरन्निति (२१३–२–३) खपुष्पादिषु सत्त्वव्यवहारः प्रसज्येतेति भावः। विप्रतिषिद्धमेतदिति (४) भाष्यप्रतीके किमित्याकाङ्क्षायामाह वृत्तिकृत् खपुष्पादीनां प्रमेयत्वमिति(४) खपुष्पं प्रमेयं चेति वचनं परस्परविरुद्धमित्यर्थः। कस्मादित्याह–प्रमाणद्वयनियमविरोधादिति (५) तर्हि प्रमाणान्तरेण तेषु प्रमेयत्वं

सेत्स्यतीत्याशङ्कायामाह–'न चेत्यादि' (५) न चात्यन्तासत्यपीत्यादिश्रीहर्षोक्तरीत्या खपुष्पादावसत्त्वादिना शाब्दप्रमाविषयत्वाविरोधः, अवस्तुनि तत्सम्बन्धायोगात्, खपुष्पममदित्यादेर्वाक्याद्वैज्ञानिकसम्बन्धेन कथञ्चिद्विशिष्टे वैशिष्ट्यमिति रीत्या बोधोपपत्तावपि तस्याश्रयाश्रयिभावसम्बन्धेन भ्रमत्वध्रौव्यात्, भ्रमस्य च वस्त्वसाधकत्वात्, वस्तुतः खवृत्तित्वाभाववत् पुष्पमित्येव तत्तात्पर्यादिति भावः। आकाशाद्यात्मकस्वलक्षणं खपुष्पाद्यभाव इति न प्रतियोगिनः प्रमेयत्वव्याघात इति सौगतमतमाशङ्कते–'न च स्वलक्षणमेवेत्यादि' (२१३–२–६)॥ एकतानत्वासम्भवादेकाश्रयत्वासम्भवात्, तथा चास्य विकल्पस्य पारम्पर्येणापि स्वलक्षणाविषयत्वान्न प्रामाण्यं भ्रमाञ्च न वस्तुसिद्धिरित्युक्तं भवति, विधिनियमौ भावाभावौ, खमस्ति तत्पुष्पं च नास्तीति (१२) निषेध्यप्रत्ययविशेषाकारप्रदर्शनम् 'तस्यानादीत्यादि' (१२) अनेन वस्तुस्वभावभेदनिबन्धनत्वनिषेधो दृढीकृतः। प्रधानगुणभावादिति (२१३–२–३) इन्द्रशब्दस्येन्द्रे प्रधानभावेन प्रवृत्तिरनिन्द्रे च गुणभावेनेत्यर्थः। न चैवं सर्वत्र नानार्थत्वापत्तिः, इष्टत्वाद्, व्यवहारविशेषस्य च कोशादिनियन्त्रितत्वेनानतिप्रसङ्गात्, अत एव न लक्षणोच्छेदः, कोशादिनियन्त्रितशक्त्यभावे तदवकाशस्याविरुद्धत्वादिति द्रष्टव्यम्॥ पररूपाणीति (२१४–१–३) परत्वापादकानीत्यर्थः। तेन पररूपावच्छिन्नाभाववद्व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावा अपि सङ्गृहीता भवन्ति। स्वभावभेदा (४) इति भाववदभावस्य स्वभावत्वात्तस्य च प्रतियोगितावच्छेदकरूपसम्बन्धादिभेदेन भिन्नत्वादित्यर्थः, यत्तु पररूपावच्छिन्नाभावो व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नाभावेनैव गतार्थ इति भवदेवमतम्, तद्गतार्थमेव, विनिगमकाभावात्प्रतीतिशरणप्रथमकल्पनाया उभयत्र तौल्यात्, भूतले घटत्वेन पटो नास्ति न तु घट इत्यस्यायोग्यतापत्तेश्च, घटवत्यपि घटत्वसम्बन्धेन तदभावाक्षतेरि-

त्यधिकं लतायाम् । अधिकरणस्वरूपाभावैकान्तवादं सौगतस्य निरस्यति–'स्वलक्षणमेवेत्यादि' (४) तस्यान्यापोहस्य, सम्बन्ध्यन्तरापेक्षत्वात् (४) सम्बन्ध्यन्तरनिरूपणाधीननिरूपणत्वात्, तथा च सापेक्षनिरपेक्षत्वाभ्यां भेद आवश्यक इति भावः । सम्बन्ध्यन्तराणां वस्तुस्वभावाभेदकत्वे क्षणिकत्वसाधकमूलयुक्तिविरोध इत्याह–यदीत्यादिना (५) कारणानि (७) सहकारिकारणानि, तत्तन्निवर्त्तनात्मकानि (७) तत्तत्कार्योत्पादनस्वभावानि, इष्टापत्तिमाशङ्क्याह–'न चैवमिति' (९) अविषममित्यकारप्रश्लेषेण व्याख्येयम् 'स्वभावभेदस्येति' (१०) कुशूलनिहितबीजादंकुरोन्मुखबीजस्य क्षणिकत्वादिना भेदाभ्युपगमादित्यर्थः। प्रतिबन्धमविनाभावं, वस्तुतः (११) परमार्थतः, भेदं (११) स्वलक्षणं निरंशम्, तं (२१४-१-१३) स्वलक्षणाख्यं भेदम्, तदनेकस्वभावाभावे (१३) तस्य वस्तुनोऽनेकस्वभावानभ्युपगमे, विनिर्भाससम्भवात् (१३) सम्भवद्विनिर्भासबलात्, आत्मनि परत्र च (१३) विधौ प्रतिषेधे च, आदर्शयति (१४) संवृतिरिति शेषः। मुग्धायते (१४) इन्द्रजालायते, 'गुणानामिति' (२१४-२-२) गुणानां सत्त्वरजस्तमसाम्, सुमहद्व्यापकं साम्यावस्थाख्यम्, रूपं न दृष्टिपथमृच्छति, (२) न दर्शनकर्मी भवति, तद्व्याप्तचक्षुर्वृत्त्ययोगात्, यच्च दृष्टिपथप्राप्तं (२) ग्रामारामादि, तद्विकारित्वान्मायेवेन्द्रजालमिव, सुतुच्छकं बाढं मिथ्येति सांख्यमते व्याख्यानम्, वेदान्तिमते तु गुणानां नामरूपाख्यानाम्, सुमहत् सर्वाधिष्ठानत्वेन महत्तरम्, रूपमस्तित्वभासमानत्वप्रियत्वोपलक्षितमखण्डं ब्रह्म, न दृश्यतामायाति, वृत्तिव्याप्यत्वेऽपि तस्य फलाव्याप्यत्वादिति व्याख्येयं पूर्वार्द्धम्, उत्तरार्द्धं प्राग्वत् । आरामं (२१४–२–३) भेदप्रपञ्चम्, तम् (३) अखण्डं पुरुषम्, व्यवहारनिर्भासान् (४) व्यवहारनियामकान् भेदान्, व्यवस्थापयति (५) विरुद्धत्वेनावस्थापयति निराकरोतीत्यर्थः,

तामन्तरेण (५) अनेकरूपतां विना, सामान्यादिव्यवहारनिर्भासभूतः **संवृतेरनुपपत्तेरिति** योजनीयम्। संवृतेश्चानेकात्मकत्वेऽभ्युपगते तद्दृष्टान्तेन भावानां तदनिवारितमेवेत्याह–**तद्वदिति** (५)॥ **अशक्तेरिति,** (७) अर्थक्रियाकारित्वे संवृतेर्मिथ्यात्वेनानेकस्वभावापर्यनुयोज्यताया दुर्वचत्वादिति भावः। **प्रमेयाः स्युः** (७) इत्यनन्तरमभावत्वेनेति शेषः। **एतदन्यतः** (७) एतस्मादन्यतः, **निर्व्यवसायात्मकस्येति** (८) अतद्व्यावृत्त्यनवगाहितयाऽव्यवसायात्मन इत्यर्थः। **निर्णयस्य** (८) दर्शनोत्तरभाविनो विकल्पस्य ॥१७॥

भवतु तावदस्तित्वं जीवादौ नास्तित्वेनाविनाभावि। नास्तित्व तु कथमस्तित्वाविनाभावि, खपुष्पादौ कथंचिदप्यस्तित्वासंभवादिति मन्यमानान्प्रत्याहुः।

नास्तित्वं प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि। विशेषणत्वाद्वैधर्म्यं यथाऽभेदाविवक्षया ॥ १८ ॥

कृतकत्वादौ हेतौ शब्दानित्यत्वादौ साधने सधर्मणा साधर्म्येणाविनाभाविविशेषणं निपक्षे वैधर्म्यमुदाहरणं प्रसिद्धं तावत्तज्जीवादावेकधर्मिणि पररूपादिभिर्नास्तित्वं स्वरूपादिभिरस्तित्वेनाविनाभावि साधयत्येव, विशेषणत्वसाधनस्यानवद्यत्वात्, पक्षीकृते नास्तित्वे विशेषणत्वस्य भावादस्तित्ववत्, विपक्षे च स्वप्रतिषेध्याविनाभावरहिते क्वचिदप्यभावात्, तथा तस्य विशेषणत्वानुपपत्तेरित्यसिद्धविरुद्धानैकान्तिकत्वदोषाभावात्, दृष्टान्तस्य च साध्यसाधनवैकल्यादिदोषासंभवात्, साधर्म्यस्येव हेतौ भेदविवक्षया, वैधर्म्यस्याभेदविवक्षयाऽविनाभावित्वनिश्चयात्, तत्र भेदविवक्षावदभेदविवक्षायाः परमार्थसद्वस्तुनिबन्धनत्वात्। भेदाभेदविवक्षयोरवस्तुनिबन्धनत्वे विपर्यासोपि किं न स्यात्? शब्दानित्यत्वसाधने कृतकत्वादिहेतौ घटादिभिर्भेदविवक्षा गगनादिभिरभेदविवक्षा हि विपर्यासः। स च

परैर्नेष्यते एव । तदिष्टौ शब्दनित्यत्वसाधनाद्धेतोर्विपर्यासः स्यात्, विरुद्धत्वोपपत्तेः । सोय कृतकत्वादेः साधनस्याविरुद्धत्वमुपयँस्तत्र भेदाभेदविवक्षयोर्विपक्षेतरापेक्षयोर्वस्तुनिबन्धनत्वमुपगन्तुमर्हति । ततः समञ्जसमेतत्, यत्किञ्चिद्विशेषण तत्सर्वमेकत्र प्रतिपक्षधर्माविनाभावि, यथा वैधर्म्यमभेदविवक्षया हेतौ, तथा च नास्तित्वं विशेषणमित्यनुमानम्, साध्यसद्भावे एव साधनस्य सद्भावनिश्चयात्, अन्यथा व्यवहारसकरप्रसङ्गात्, करभत्वस्य करभवद्दधन्यपि सद्भावानुषङ्गात्, दधित्वस्य च दध्नीव करभेपि प्रसक्तेः । दधि खादेति चोदितः करभमभिधावेत्, करभवद्वा दध्न्यपि नाभिधावेत्, अदधित्वस्याकरभत्वस्य च क्वचिदप्यभावात्। इति प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणो व्यवहारः सकीर्येत, सर्वस्य सर्वथा सद्भावात्। यदि पुनर्दधनि स्वरूपेण दधित्व, न करभरूपेण, करभे च स्वरूपेण करभत्वं, न दधिरूपेण, यतः प्रवृत्त्यादिव्यवहारसकरः प्रसज्येतेति मतम्, तदा सिद्धं दधित्वमदधित्वेन प्रतिषेध्येनाविनाभावि, करभत्वं चाकरभत्वाविनाभावि, तद्वत्तत्सर्वं विशेषणं स्वप्रतिषेध्येनाविनाभावि इति सिद्धान्यथानुपपत्तिः, विपक्षे बाधकसद्भावात्। न हि स्वेच्छाप्रकल्पतधर्मधर्मिव्यवस्थायां परमार्थावतारः स्यात्, यतः सर्व एवायमनुमानानुमेयव्यवहारो बुद्ध्यारूढेन धर्मधर्मिन्यायेन बहि. सदसत्त्वमपेक्षते इति युक्तं भवेत् । तदसमीक्षिततत्त्वार्थैर्लोकप्रतीतिवशाद्भेदाभेदव्यवस्थितिस्तत्त्वप्रतिपत्तये समाश्रीयते इति बालाभिलापकल्पम्, भावस्वभावोपरोधात्सर्वत्र भेदाभेदव्यवस्थितेः, अन्यथा ततस्तत्त्वप्रतिपत्तेरयोगात्।

नास्तित्वमित्यादिकारिका (२१६-२-८) प्राग्वद्व्याख्येया, **अभेदविवक्षया** (८) अन्वयविवक्षया, व्यतिरेकव्याप्तिर्यथैकत्रान्वयव्याप्त्यविनाभाविनी तथा नास्तित्वमस्तित्वेनेत्यर्थः। **विपक्षेतरापेक्षयो** (२१७-१-२) र्वस्तुसद्भेदाभेदापेक्षयोरित्यर्थः। **हेताविति** (३) साधर्म्येणाविनाभावीति शेषः । तथा च नास्तित्वं विशेषणमित्यस्तित्वेनाविनाभावीत्यर्थः, स्वरूपेणास्ति-

त्वस्य पररूपेण नास्तित्वाविनाभावव्यतिरेके बाधकमाह अन्यथेत्यादि (२१७-१-३) 'तदा सिद्धमिति' (७) ननु कथमेतत्, यावता प्रवृत्तिविषयेऽनिष्टतावच्छेदकरूपवैशिष्ट्यज्ञानस्य प्रवृत्तिप्रतिबन्धकत्वात्करभत्वाभावो दध्नि प्रवृत्त्यङ्गतयोपयुज्यताम्, न तु करभरूपेण दधित्वाभाव इति चेत्, न, अनिष्टतावच्छेदकरूपसांकर्यज्ञानस्यापि प्रवृत्तिप्रतिबन्धकत्वेन करभरूपेणादधित्वस्यापि दध्नि प्रवृत्त्यङ्गताया न्यायप्राप्तत्वात्, ननु च हेतोरन्यथानुपपत्तिसिद्धावपि धर्मधर्मिव्यवस्थायाः कल्पितत्वादनुमानस्यापि कल्पितत्वेन कथं सामञ्जस्यं स्यादित्याशङ्कायामाह 'स्याद्वादसिद्धान्तीभाष्ये, न हि स्वेच्छेत्यादि' (८) तथा च सर्वसिद्धत्वाद्धर्मधर्मिभावो नाप्रामाणिक इति भावः। तदाह—यत इत्यादि (९), बुद्ध्यारूढेन (९) कल्पितेन, बहिः सदसत्त्वं (९) स्वलक्षणान्यव्यावृत्तिरूपम्, तदेवं परेषां भेदाभेदादितिरस्करणं बालोक्तितुल्यमित्याह भाष्यकृत् तदसमीक्षितेत्यादि (१०)॥ १८ ॥

ननु चास्तित्व नास्तित्वं च विशेषणमेव, न तु विशेष्यम्। ततो न साध्यसाधनधर्मयोः परमार्थसतोरधिकरणम्, येन प्रकृतमनुमानद्वितयं वास्तवं धर्मधर्मिन्यायेन स्यादित्येके। न तत्सर्वथाभिलाप्यम्, वस्तुरूपस्यानभिलाप्यत्वादिति चान्ये। जीवादेर्वस्तुनोत्यन्तमर्थान्तरमेव तत्, प्रतिभासभेदाद्घटपटवत्। न पुनरस्तित्वनास्तित्वात्मकं वस्तु, धर्मधर्मिसंकरप्रसङ्गादिति चापरे। तान्प्रत्याचार्याः प्राहुः।

विधेयप्रतिषेध्यात्मा विशेष्यः शब्दगोचरः। साध्यधर्मो यथा हेतुरहेतुश्चाप्यपेक्षया ॥ १९ ॥

विधेयमस्तित्वम्। प्रतिषेध्यं नास्तित्वम्। विधेयं च प्रतिषेध्यं च विधेयप्रतिषेध्ये। ते आत्मानौ स्वभावौ यस्य स विधेयप्रतिषेध्यात्मा, अर्थः सर्वो जीवादिरिति पक्षः। विशेष्यत्वादिति हेतुः, विशेष्य इति हेतुनिर्देशात्, गुरवो राजमाषा न भक्षणीया इति यथा।

साध्यो धर्मी, साध्यधर्माधारतया तस्य साध्यव्यपदेशात्, तथोपचारस्य दृष्टान्तधर्मिव्यवच्छेदार्थत्वात्। तस्य धर्मो विवर्त उत्पत्तिमत्त्वादिः। स यथा हेतुरनित्यत्वसाध्यापेक्षया, नित्यत्वसाध्यापेक्षयाऽहेतुश्च, गमकत्वागमकत्वयोगात्, तथा साध्याविनाभावेतरसद्भावादिति दृष्टान्तः। इत्यनुमानात्सत्त्वेतरात्मकः कथञ्चिज्जीवाद्यर्थः सिद्ध्यत्येव। हेतोर्विशेष्यत्वस्यासिद्धिरिति चेत् न, विशेष्योसौ, शब्दगोचरत्वात् तद्वदित्यनुमानात्तस्य विशेष्यत्वहेतोः साधनात्। शब्दगोचरत्वमसिद्धमर्थस्येति चेत्, न, शब्दगोचरो जीवादि., विशेष्यत्वात्तद्वदित्यनुमानात्तस्य साधनात्। न चैवमितरेतराश्रयदोषः, सर्वथानभिलाप्यवस्तुवादिनः प्रति शब्दगोचरत्वे साध्ये विशेष्यत्वस्य हेतुत्ववचनात्, सर्वथा वाऽविशेष्यत्ववादिनः प्रति शब्दगोचरत्वस्य साधनत्वाभिधानात्, तदुभयासत्त्ववादिनस्तु प्रति वस्तुत्वस्योभयप्रसिद्धस्य हेतोः सामर्थ्यतः प्रयोगात्। विधेयप्रतिषेध्यात्मकत्वस्यापि तान्प्रति तत एव सिद्धिः। इति समासतः कारिकार्थः समवतिष्ठते। ननु च प्रत्यक्षबुद्धौ वस्तु स्वलक्षणमेव प्रतिभाति, न पुनरस्तित्वादिविशेषणम्, तस्य सकलविकल्पविकलत्वात्, विकल्पबुद्धौ तद्व्यवहारप्रसिद्धेरिति चेत्, न, वस्तुनोस्तित्वाद्यनेकविकल्पात्मकस्य सांशस्यैव प्रतीतेः। किञ्चित्केनचिद्विशिष्टं गृह्यमाणं विशेषणविशेष्यतत्सम्बन्धलोकस्थितिसकलनेन गृह्येत नान्यथेत्यभिनिवेशेपि वस्तुनो विधिप्रतिषेधस्वभावयोः प्रत्येकं दर्शनमवश्यंभावि, वस्तुन एव दर्शनं, न तद्विधिप्रतिषेधस्वभावयोर्विशेषणयोरिति वक्तुमशक्तेः, सदसत्त्वभावशून्यस्य स्वलक्षणस्य दर्शने तत्पृष्ठभाविविकल्पेनापि सदसत्त्वयोरध्यवसायायोगात्, पीतदर्शनपृष्ठभाविना विकल्पेन नीलत्वाध्यवसायायोगवत्। ततो विधिप्रतिषेधावात्मानौ विशेषस्य सविकल्पकत्वं साधयतः, सर्वथा तस्य भेदाभावे सदिदमसदिदमिति प्रत्येकं दर्शनाभावानुषङ्गात्, इदमुपलभे नेदमिति विकल्पोत्पत्तिविरोधात्। ततः सामान्यविशेषात्मकं वस्तु स्वलक्षणं, न पुनः सकलविकल्पातीतं विशेषमात्रं सामान्यमात्रं वा परस्परनिरपेक्षं, तदुभयं वा स्वलक्षणं,

तस्य तेन रूपेणाऽव्यवस्थितत्वात्, सामान्यविशेषात्मन एव जात्यन्तरस्य वस्तुस्वरूपत्वात्, तेनैव लक्ष्यमाणस्य स्वलक्षणत्वप्रसिद्धे, सकलबाधकवैधुर्यात्। कः पुनर्विधेयप्रतिषेध्ययोर्धर्मी स्यादाश्रयभूत, कश्च तयोस्तेन संबन्धो, येन विशेषणविशेष्यभावः स्यादिति चेत्, उच्यते। अस्तित्वनास्तित्वयोर्धर्मि सामान्यम्। तत्र तादात्म्यलक्षणः सबन्धः, सबन्धान्तरकल्पनायामनवस्थाप्रसङ्गात्। तन्नैतत्सार, जात्यादिमतामेतन्न संभवत्येवेति, तदभावे एवासंभवात् विशेषणविशिष्टवस्तुग्रहणस्य, विशेषणं सत्त्वादिसामान्य पूर्वं गृहीत्वा तदनन्तर विशेष्यं गृह्णाति, ततस्तत्सबन्धं समवायं लोकस्थितिं च विशेषणविशेष्यव्यवहारनिबन्धनां, ततस्तत्सकलनेन सदिद वस्तु इति प्रतीतिक्रमस्यैव दुर्घटत्वात्, विशेषणविशेष्यात्मकस्य सामान्यविशेषरूपस्य वस्तुनो जात्यन्तरस्य यथाक्षयोपशमं प्रत्यक्षे परोक्षे च विज्ञाने निर्बाधमनुभवात्तद्विपरीतस्य जातुचिदप्रतीतेः। तथा सति नैकान्तेन दर्शनविकल्पाभिधानाना विषयभेदोस्ति कथचित्प्रतिभासभेदेपि प्रत्यासन्नेतरपुरुषदर्शनवत्, प्रतिभासभेदाद्विषयभेदे योगीतरप्रत्यक्षयोरेकविषययोरपि विभिन्नविषयत्वप्रसङ्गात्। एतेन धूमादिकृतकत्वादिसाध्यधर्मिधर्मस्य साध्येतरापेक्षया हेतुत्वाहेतुत्वविशेषणात्मकस्य निदर्शनतयोपन्यस्तस्य प्रत्यक्षविषयत्व निवेदितम्। तथा हि। धूमादयः कृतकत्वाद्यो वा क्वचिदग्निसलिलयोर्विनाशेतरयोर्वा साधनेतरस्वभावाभ्या साक्षात्क्रियेरन्, इतरथा विशेष्यप्रतिपत्तेरयोगात्। न हि धूमादीनामग्न्यादौ साध्ये साधनत्वं सलिलादावसाधनत्वं च विशेषणमप्रतिपद्यमानो विशेष्यान्धूमादीन् प्रतिपद्यते नाम, नापि कृतकत्वादीनां विनश्वरत्वे साध्ये साधनत्वमविनश्वरत्वे चासाधनत्वं विशेषणमप्रतीयन् कृतकत्वादिहेतून्विशेष्यान्प्रत्येतुमीशो यतोग्न्यादिविनश्वरशब्दादीन् साध्यानपि विशेष्यान्प्रतिपद्येत, प्रत्येति च तान्, ततोवश्यं साक्षात्कुर्वीत तद्धेतून्, साध्येतरापेक्षाया सत्या साधनेतरस्वभावाभ्या तत्साक्षात्करणे विरोधाभावात्। अनपेक्षायां तु विरोधः, क्वचिदेकत्र साध्ये हेतूनां

साधनत्वेतरयोरनुपलम्भात् । यतश्चैवं प्रसिद्धमुदाहरणं, वादिप्रतिवादिनोर्बुद्धिसाम्यात्, तस्माद्यदभिधेयं तद्विशेष्यम्, यथोत्पत्त्यादिरपेक्षया हेतुरहेतुश्च साध्येतरयोः, तथा च विमत्यधिकरण सत्त्वाभिधेयत्वादि, तस्मात्साध्यसाधनधर्मविशेषणापेक्षया विशेष्यम् । इत्यनुमानादेकस्य विशेषणविशेष्यात्मकत्वविरोधनिरासः । यद्वा विशेष्य तदभिलाप्यं, यथोत्पत्त्यादि, विशेष्यं चास्तित्वादिवस्तुरूप, तस्मादभिलाप्यम्, इति वस्तुस्वरूपस्यानभिलाप्यत्वव्युदासः । यद्वा वस्तु तत्सर्वं विधेयप्रतिपेध्यात्मकं, यथोत्पत्त्यादिरपेक्षया हेतुरहेतुश्च साध्येतरयोः, तथा च विमत्यधिकरण सत्त्वाभिधेयत्वादि । इत्यन्तदीपकं सर्वत्र योज्यं साधन, वस्तु च जीवादि, तस्माद्विधेयप्रतिषेध्यात्मकम । इति क्रमार्पितसदसत्त्वोभयात्मकत्वसाधनम् ॥ १९ ॥

साध्यसाधनधर्मयोः (२१७-२-९) प्रतिषेध्याविनाभावित्वविशेषणत्वयोः, **प्रकृतं** (९) पूर्वकारिकाद्वयप्रोक्तम्, **द्वितीये तत्** (१०) **विशेष्यं, तृतीये तत्** (११) **अस्तित्वं नास्तित्वं च । हेतुनिर्देशादिति**, (१४) हेतुगर्भविशेषणनिर्देशादित्यर्थः । तत्र दृष्टान्तमाह–**गुरव** (१४) **इत्यादि**, तत्रापि हि गुरव इति हेतुगर्भविशेषणमहिम्नैव गुरुत्वाद्राजमाषा न भक्षणीया इति लभ्यते, तद्वत्प्रकृते **विशेष्य इति** हेतुगर्भो विशेषणनिर्देशो द्रष्टव्य इत्यर्थः । साध्यस्याग्न्यादेर्धर्मत्वं हेतोर्धूमादेर्दुर्घटमिति प्रसिद्धार्थबाधाद्विशेषपरतया व्याचष्टे **साध्यो धर्मीत्यादिना**, (२१८-१-१) धर्मी पक्षः पर्वतादिर्जीवादिर्वा । **गमकत्वागमकत्वयोगादिति**, (२) यथाऽनित्यत्वसाध्यापेक्षयोत्पत्तिमत्त्वं गमकत्वाद्धेतुर्नित्यत्वसाध्यापेक्षया चागमकत्वादहेतुस्तथा जीवादेर्दृष्टान्तीभूतस्यापेक्षया सत्त्वेतरात्मकत्वं सिद्ध्यतीति समुदायार्थः । अथ किमगमकत्वमहेतोः, न पक्षे साध्यप्रत्ययाजनकत्वम्, अहेतुनापि हेतुत्वेन ज्ञानदशायां पक्षे साध्यभ्रमजननात्, अव्याप्यापक्षधर्मादिना व्याप्यपक्षधर्मत्वादिना ज्ञातेन वस्तुतः साध्यवत्पक्षावगाहितया क्वचित्

साध्यप्रमाया अपि जननाच्च, कदाचित्तद्जनकत्वस्य सद्धेतावपि सत्त्वात्, न चैतत्काले साध्यविशिष्टपक्षज्ञानाजनकत्वं तत्, न हि दूषणत्वज्ञानकाले पक्षे भ्रमरूपाप्यनुमितिरिति वाच्यम्, सत्प्रतिपक्षत्वज्ञानकाले पक्षे साध्यविशिष्टप्रत्ययाजनकत्वमस्तीत्यनन्तरमसत्प्रतिपक्षतादशायामपि हेतोरगमकत्वप्रसङ्गात्, दूषणत्वस्यागमकत्वतुल्ययोगक्षेमत्वाच्च, नाप्येतत्कालीनैतत्पक्षीयत्वावच्छिन्नप्रतियोगिकैतत्साध्यप्रमाकरणत्वाभावस्तत्, एतत्कालीनत्वैतत्पक्षीयत्वयोर्व्यधिकरणयोरेव प्रतियोगितावच्छेदकत्वाच्च न विशिष्टप्रतियोग्यप्रसिद्धिरिति वाच्यम्, सद्धेतोरेव कदाचित्तादृशप्रमाकरणत्वाभावेनागमकत्वापत्तेः, नाप्यनुमितिहेतुभूताभावप्रतियोगिज्ञानविषयत्वं तत्, सद्धेतावपि कदाचिद् व्यभिचारित्वादिज्ञानस्यानुमितिप्रतिबन्धकस्य सद्भावात्, नाप्यनुमितिप्रतिबन्धकप्रमाविषयत्वं तत्, सद्धेतौ च व्यभिचारादिभ्रमस्य प्रतिबन्धकत्वान्नातिव्याप्तिरिति वाच्यम्, सत्प्रतिपक्षयोर्विरुद्धयोर्वास्तवतुल्यबलवत्त्वाभावेन तद् भ्रमस्याप्रतिबन्धकत्वात्, नापि समीचीनसाध्यपक्षविषयानुमित्यजनकत्वं तत्, बाधविरुद्धासिद्धेषु साध्यानधिकरणे पक्षे सत्यसाध्यप्रतीत्यसिद्धेः, वह्निमति बाष्पे धूमभ्रमाद्वह्न्यनुमितेः सत्यत्वाच्च, न चान्य एव वह्निस्तत्र भासते, मानाभावात्, तद्वह्नेरेव प्रत्यभिज्ञानात्, एकव्यक्तिके तदभावाच्च, न च साऽनुमितिर्लिङ्गविषयत्वेन भ्रमः, अनुमितौ नियमतो लिङ्गभाने मानाभावात्, अथ यथा कूटलिङ्गे वह्निव्याप्याभेदः प्रतीयते तथा वह्नौ कूटलिङ्गव्यापकाभेदोऽपीति सानुमितिरसत्येति चेत्, न, कूटलिङ्गस्यानुमितौ साध्याप्रकारकत्वेन तदभेदस्यासंसर्गत्वात्, वह्निव्याप्यालोके धूमारोपाद्यत्रानुमितिस्तत्रासिद्धभेदेऽसत्यत्वाभावापत्तेश्च, आलोकव्यापके धूमव्यापकाभेदसाम्राज्यात्, एतेन परामृश्यमानलिङ्गव्यापकाभिन्नीयत्वविशिष्टसंसर्गेण साध्यस्यानुमितौ भानाभ्युपगमेऽपि न क्षतिः। लिङ्गोपहितलैङ्गिकभानवादेऽपि च दैवात्तत्र धूमसत्त्वे कथं तदंशेऽप्यसत्यता, अत एवार्द्रेन्धन-

प्रभववह्नेरेव धूमव्यापकत्वात्तद्रूपेण वह्नेरनुमितौ भानाभ्युपगमेऽपि न कूटलिङ्गजानुमितेरसत्यत्वम्, दैवाचत्र धूमसत्त्वेन सत्यत्वादिति चेत्, अत्र वदन्ति, स्वज्ञानदशायां पक्षे साध्यप्रत्ययाजनकत्वमगमकत्वम्, भवति हि विरुद्धत्वादिज्ञानकालीनं लिङ्गं पक्षे साध्यप्रत्ययाजनकम्, विरुद्धत्वादीति पक्षविशेषणमहिम्ना तद्दशायां पक्षे साध्यप्रत्ययाजनकत्वसिद्धिः, साध्यप्रत्ययाजनकत्वं साध्यप्रत्ययजनकतावच्छेदकरूपविरहः, स च कदाचित् सत्प्रतिपक्षोत्तीर्णेऽपीति स्वज्ञानकालीनत्वं विशेषणम्, स च न तादृशोऽन्यदा तज्ज्ञानरूपविशेषणाभावेन विशिष्टाभावात्, स्वज्ञानकालस्य पक्षतावच्छेदकत्वेन साध्यमध्येऽप्रवेशाद्विरुद्धत्वादेः स्वज्ञानविरहकाले विशिष्टाभावान्न व्यभिचारित्वम्, न च कदाचिदजनकत्वादेः केवलान्वयित्वमादाय व्यर्थविशेषणता, विवक्षितसाध्यस्यासार्वत्रिकत्वात्, न च सर्वो वह्निव्याप्यवान् वह्निमान् तत्त्वादित्यनुमानेन स तदभाववान् मेयत्वादित्यादिना सत्प्रतिपक्षेण सर्वस्यैव सत्प्रतिपक्षितत्वात्तस्य सार्वत्रिकत्वमेवेति वाच्यम्। सर्वत्र सर्वस्यैवमवताराभावात्। यद्वाऽनुमितिप्रतिबन्धकतावच्छेदकरूपवत्त्वं तत्, तद्वत्त्वं च तद्वर्त्तमानत्वमतो न सत्प्रतिपक्षोत्तीर्णेऽतिप्रसङ्गः, तस्यासार्वत्रिकत्वाच्च न विरुद्धत्वादौ व्यर्थविशेषणता, तच्च रूपं ज्ञाने विषयतयाऽनैकान्तिकत्वादिकमेवेत्यनुमितिप्रतिबन्धकज्ञानविषयतावच्छेदकरूपवत्त्वमगमकत्वमिति पर्यवसितोऽर्थः, न च साध्याप्रसिद्धावव्यापकमिदमिति शङ्कनीयम्, स्वज्ञानदशायामिति वचनादेव तदसंग्राह्यत्वलाभात्, तस्याः शुद्धापार्थकमध्ये परिगणनेन हेत्वाभासेभ्यः पृथक्करणात्, नायं पन्थाः, एवं सति हेत्वाभासत्वमेवागमकत्वमित्यस्य प्राप्तेः, सोपाधिकत्वादिना ज्ञातेऽगमकत्वव्यवहारानापत्तेः, किन्तु सर्वानुगतमखण्डमेव तत्, तच्चानैकान्तिकत्वादिनानुमीयते, सत्प्रतिपक्षविषये तदुत्तीर्णे च गमकागमकत्वस्वभावभेदाविरोधः स्याद्वादाश्रयणादेत्र निरसनीयः, अस्तु वा सत्प्रतिप-

क्षोत्तीर्णेऽगमकत्वस्य कालविशेषघटितस्वरूपसम्बन्धाभाव एव, घटानयनदशायां भूतले घटाभावस्यैवेति युक्तम् ॥ अत्र चाहेतोरगमकतागमकत्वेन सदुत्तरत्वं, जात्यादीनां च स्वासाधकतासाधारण्येन परामाधकतासाधकतया स्वव्याघातकत्वादसदुत्तरत्वमिति विभागं वदन्ति तार्किकाः । न च विरुद्धत्वादिज्ञानादेव स्वानुमितेरिव परानुमितेरपि प्रतिबन्धे किमसाधकतानुमानेन, यद्वचसि वाद्युक्तदूषणावगतिः स निगृहीत इति समयबन्धेन कथाप्रवृत्तौ हि दूषणमात्रमुद्भाव्यं, न त्वन्यत् साधनीयमर्थान्तरापत्तेरिति वाच्यम्, परेण यामनुमितिमुद्दिश्य प्रयोगः कृतस्तत्प्रतिबन्धेन स्थापनायामसाधकतासाधनेन च द्विधा दूषणत्वव्यवस्थितेः, आद्यस्य दूषणमात्रज्ञानादुपपत्तावपि द्वितीयस्यालिङ्गत्वज्ञापनं विनाऽसम्भवात्, यद्यप्यसाधकतानुमितिरनावश्यकी, तदभावेऽपि स्वपक्षसिद्धेस्तद्व्याघातकतया च परानुमितेः प्रतिबन्धकोपन्यास एवावश्यकः, तथापि दूषणत्वप्रकारान्तरापेक्षायां काचित्कस्तदुपन्यासः सामयिक इति निगर्वः । अथागमकतासाधने नियमतः पञ्चावयवप्रयोगापेक्षा स्यात्, अन्यथा न्यूनत्वापत्तिरिति चेत्, न । दूषणस्यासाधकताव्याप्यत्वमङ्गीकृत्य कथेति तत्पक्षधर्मतामात्रस्यैवोद्भाव्यत्वात्, अन्यथाऽऽकांक्षिताधिकाभिधानेनार्थान्तरापत्तेः । अथासाधकत्वव्याप्तिप्रतिसन्धानमगमकत्वेन तन्त्रम्, अनुमितिप्रतिबन्धकतावच्छेदकत्वरूपदूषणत्वविषयस्यैव तत्र तन्त्रत्वात्, न चानुमितिप्रतिबन्धकतावच्छेदकमनुमित्यभावनियतं यज्ज्ञानं तद्वत्त्वम्, तथा च यत्र विरुद्धत्वादिज्ञानं तत्रानुमित्यभाव इति व्याप्तिज्ञानध्रौव्यमिति वाच्यम्, अनुमित्यभावस्यासाधकतारूपत्वाभावात्, अनुमित्यभावप्रयोजकज्ञानविषयतावच्छेदकरूपस्यैव तत्त्वात्तद्व्याप्तेश्चाप्रतिसंहितत्वादिति चेत्, न । तद्रूपस्य विरुद्धत्वादिना सहचारधीध्रौव्येण व्याप्तिग्रहावश्यकत्वमित्यत्र तात्पर्यात् । अत एव साध्यनिश्चये सत्यनुमित्साधीनया पक्षतया तदनुमितिरिति ग्रान्थिकाः ।

हन्तैवं कृतकत्वेनानित्यत्वानुमानेऽपि व्याप्तिर्नाभिधेया, तस्या उभयसिद्धत्वादिति चेत्, न। कथादशायां समयविषयतया दूषणेष्वगमकताव्याप्त्युपस्थितिध्रौव्यात्, कृतकत्वेनानित्यत्वानुमाने तु तथानियमाभावात्तद्व्याप्तिमनङ्गीकृत्यापि कथासम्भवात्। यस्तु कथारम्भे बाधकस्यासाधकत्वव्याप्तिं नाङ्गीकरोति, तं प्रति तद्दूषणत्वं प्रसाध्य पञ्चावयवप्रयोगः कर्त्तव्य एव। तद्व्याप्त्युपगमनियतसमयबन्धे तु न पञ्चावयवप्रयोगश्चारुतामञ्चतीति। वयं तु ब्रूमः, साधकत्वेऽसाधकत्वेऽन्यत्र वाङ्मयेऽवयवप्रयोगः प्रतिपाद्यानुसारेणैव विधेयः, अत एवैकावयवाद्या दशावयवान्ता जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदभिन्ना कथा प्रसिद्धा, तथा चास्माकसाकरग्रन्थः। "लिङ्गं केवलमेव यत्र कथयन्त्येषा जघन्या कथा, द्व्यादीन् यत्र निवेदयन्त्यवयवानेषा भवेन्मध्यमा॥ उत्कृष्टा दशभिर्भवेदवयवैः सा जल्पितैवेत्यमी, जैनैरेव चिलोकिताः कृतधियां वादे त्रयः सत्पथाः॥ १॥" इति। यदा हि प्रतिपाद्यः क्षयोपशमविशेषान्निर्णीतपक्षो गृहीतव्याप्तिकश्च भवति, तदा तं प्रति हेतुप्रतिपादनमेव कार्यं, धूमोऽत्र दृश्यत इति, यदा त्वस्य नाद्यापि पक्षनिर्णयस्तदा तं प्रति पक्षोऽपि प्रयुज्यतेऽग्निरत्र धूमान्यथानुपपत्तेरिति, यः प्रतिबन्धग्राहिप्रमाणस्य न स्मरति तं प्रति दृष्टान्तोऽप्युपदिश्यतेऽग्निरत्र धूमाद्, यत्र धूमस्तत्राग्निर्यथा महानस इति, दार्ष्टान्तिके हेतुं योजयितुमजानानं प्रत्युपनयः, एवमपि साकाङ्क्षं प्रति निगमनं, पक्षादिस्वरूपविप्रतिपन्नं प्रति पक्षशुद्ध्यादयश्चेति, तत्केयं प्रक्रियाऽसाधकतानुमाने यथा विप्रतिपत्त्यवयवप्रयोगोऽन्यत्र तु पञ्चावयवप्रयोग एवेति, प्रतिपाद्यानुरोधेनैकादिप्रयोगस्यापि सम्भवात्, अवयवान्तरैकवाक्यत्वादेस्तत्रार्थिकस्यैव सम्भवात्, पञ्चावयवैकवाक्यताया अपि यथाकथञ्चिदेव दीधित्यादावुक्तत्वात्, अवयवप्रयोगे स्याद्वादस्यैवाश्रयणीयत्वात्, तदिदमाहुः–'अन्यथानुपपत्त्येक–लक्षणं लिङ्ग-

मिष्यते। प्रयोगपरिपाटी तु, प्रतिपाद्यानुसारतः ॥ १ ॥" इति, समयबन्धोऽपि प्रसिद्ध्यप्रसिद्धी एवानुरुणद्धीति शिवम् ॥ तदेवमपेक्षया गमकागमकस्यैकस्य हेतुत्वाहेतुत्ववज्जीवादेरपेक्षया सत्त्वेतरात्मकत्वं निर्व्यूढम्। प्रकृतं प्रस्तुमः—तद्वदिति (२१८–१–५) हेतुवदित्यर्थः, वस्तुत्वस्योभयप्रसिद्धस्येति (६) विशेषणविशेष्यभावविपर्यासादुभयप्रसिद्धस्य वस्तुत्वस्य हेतोरित्यर्थः। **सामर्थ्यतः** (७) पक्षदृष्टान्तवचनप्रयुक्ताक्षेपात्, **तान् प्रति** (७) तदुभयासत्त्ववादिनः प्रति, **तत एव** (७) जीवाद्यर्थो विधेयप्रतिषेध्यात्मा वस्तुत्वादित्यनुमानादेवेत्यर्थः। **विकल्पबुद्धौ** (८) सविकल्पकज्ञाने, **तद्व्यवहारप्रसिद्धेः** (८) व्यवहारौपयिकतदाकारोपलम्भात्, **सांशस्य** (९) विधिनिषेधविशेषणविशिष्टस्य, **सविकल्पकत्वं साधयत इति** (१२) ज्ञानमात्रस्य विधिनिषेधान्यतमविशिष्टविषयकत्वनियमादित्यर्थः, **तस्य** (१३) स्वलक्षणस्य, **भेदाभावे** (१३) विशेषणोपरागाभावे, **सामान्यम्** (२१८-२-३) ऊर्ध्वतासामान्यं विशेषादेशे घटादिद्रव्यम्, **एतत्** (४) प्रत्यक्षेण ग्रहणम्, **असम्भवादित्यस्य** (४) ग्रहणस्येत्यनेनान्वयः। **इति प्रतीतिक्रमस्यैवेति** (६) सौगताद्युक्तस्येति गम्यम्, **निर्बाधम्** (७) इत्यनन्तरमादित एवेति शेषः। **तद्विपरीतस्य** (७) विशेषणविशेष्यभावादिशून्यस्य, **जातुचिदप्रतीतेरिति** (७) निर्विकल्पकस्य निरासादित्यर्थः, येन च तत् स्वीक्रियते तस्य सविकल्पकोत्पत्तिकाले तदापत्तिर्दुर्निवारा, न च निर्विकल्पकत्वस्य कार्यतानवच्छेदकत्वान्नैवम्, तथाऽप्यर्थवशात् तदापत्तेः, निर्विकल्पके घटत्ववद् द्रव्यत्वपृथिवीत्वसत्त्वादीनामपि सम्भृतसामग्रीकतया भानाभ्युपगमे घटसविकल्पके नियमात्तावद्धर्मभानापत्तेश्च, तत्तन्नियतप्रकारकप्रत्यक्ष एव क्षयोपशमविशेषहेतुताकल्पने तु विशेषहेत्वभावादेव न निर्विकल्पकमिति दिग्। **प्रत्यासन्नेतरपुरुषदर्शनवदिति,** (८) अत्रैकपादप इति शेषः। **एतेन** (८) सामान्यविशेषात्मकवस्तुनः प्रत्यक्षत्व-

प्रतिपादनेन, साध्यधर्मिधर्मस्य (२१८–२–९) पक्षस्य, तस्मादिति (२१९–१–१) यदभिधेयं तद्विशेष्यमित्यनया व्याप्त्या यथा जीवादेर्द्धर्मित्वं तथाऽस्तित्वादिविशेषणस्यापि तदापादितं बोध्यम् । अन्तदीपकं (५) अन्तस्थं सर्वत्रान्वयं प्रकाशयतीति हेतोः, सर्वत्र योज्यं साधनमिति (५) धर्मिणं विविच्येत्यर्थः, तथाहि-यदभिधेयं तद्विशेष्यमित्यत्रास्तित्वं धर्मि, यद्वा विशेष्यं तदभिलाप्यमित्यत्राभिधेयं धर्मि, यद्वा वस्तु तत्सर्वं विधेयप्रतिषेध्यात्मकमित्यत्र त्रिमत्याधिकरणसत्त्वाभिधेयत्वादिशब्देन लब्धं जीवादीति, तेषु धर्मिष्वभिधेयत्वविशेष्यत्ववस्तुत्वहेतवो योजनीयाः । निगमयति वस्तु चेति (५) ॥ १९ ॥

शेषभङ्गाः कथ नेतव्याः सूरिभिरित्याहुः ।—

शेषभङ्गाश्च नेतव्या यथोक्तनययोगतः । न च कश्चिद्विरोधोस्ति मुनीन्द्र ! तव शासने ॥ २० ॥

स्यादस्ति स्यान्नास्तीति भङ्गद्वयमुपयुक्तम् । तदपेक्षया शेषत्वं भङ्गत्रयापेक्षं वा । विधेयप्रतिषेध्यात्मेत्यनेन तृतीयभङ्गस्य स्वप्रतिषेध्येनाविनाभाविनोऽसाधने साधने चापेक्ष्यमाणे इत्यर्थः । यथोक्तनययोगत इति विशेषणत्वादीनाक्षिपति । तदनभिलाप्यादयोपि कचिद्धर्मिणि प्रत्यनीकस्वभावाविनाभाविनः प्रतीयन्ते, विशेषणत्वादिभ्यः । पूर्वोक्तमुदाहरणम् । यथैव हि वस्तुनोस्तित्वं नास्तित्वं तदुभयं च प्रतिषेध्येन स्वप्रत्यनीकेनाविनाभावि विशेषणत्वाद्विशेष्यत्वाच्छब्दगोचरत्वाद्वस्तुत्वाच्च साधर्म्यवद्वैधर्म्यवत्कचिद्धेतौ हेतुत्वेतरत्ववच्च साध्यते, तथैव चाऽवक्तव्यत्वं वक्तव्यत्वेन प्राच्यभङ्गत्रयरूपेण, सदवक्तव्यत्वमसदवक्तव्यत्वेनासदवक्तव्यत्वमपि सदवक्तव्यत्वेन, सदसदवक्तव्यत्वमपि पञ्चमषष्ठभङ्गात्मनानुभयावक्तव्यत्वेनाविनाभावि साधनीयम्, यथोक्तानां हेतूदाहरणरूपनयानां घटनात् । न चैवं सति किञ्चिद्विप्रतिषिद्धम्, अन्यथैव विरोधात् । अवक्तव्यत्वादेः स्वप्रत्यनीकस्वभावाविनाभावाभावप्रकारेणैव हि प्रत्यक्षादिविरोध. समनुभू-

यते, तथा सकृदप्यनुपलम्भात् । तदनेन "न च कश्चिद्विरोधोस्ति मुनीन्द्र तव शासने," अन्यशासनेष्वेव विरोधसाधनादिति व्याख्यात प्रतिपत्तव्यम् ॥२०॥

असाधने साधने चापेक्ष्यमाण इत्यर्थ इति (२२२-१-९) विधेयप्रतिषेध्यात्मकत्वसाधनानपेक्षायां तृतीयादिभङ्ग-स्तोमस्य तदपेक्षायां च तुर्यादिभङ्गस्तोमस्य शेषत्वं विवक्षणीयमित्यर्थः । **पूर्वोक्तमुदाहरणमिति** (१०) साधर्म्यं यथा वैधर्म्येण वैधर्म्यं च साधर्म्येणाविनाभावीत्यर्थः, **अनुभयावक्तव्यत्वेनेति** (१३) उभयावक्तव्यत्वरूपसप्तमभङ्गार्थपर्युदास-शालिनेत्यर्थः । **हेतूदाहरणरूपनयानां** (१३) हेतूदाहरणस्वरूपविमर्शिनाम् ॥ २० ॥

साम्प्रतमव्यवस्थितानेकान्तात्मकं वस्तु सप्तभङ्गीविधिभागऽर्थक्रियाकारि, न पुनरन्यथेति स्वपरपक्षसाधनदूषणवचनमुपसहरन्तः प्राहुः ।—

एवं विधिनिषेधाभ्यामनवस्थितमर्थकृत् । नेति चेन्न यथा कार्यं बहिरन्तरुपाधिभिः ॥ २१ ॥

एव प्रतिपादितनीत्या सप्तभङ्गीविधौ विधिनिषेधाभ्यामनवस्थितं जीवादि वस्तु सदेवासदेव वेत्य(व्य)वस्थितमर्थकृत् कार्यकारि प्रतिपत्तव्यम् । नेति चेदेवं वस्तु परैरभ्युपगम्यते तर्हि "यथाभ्युपगतं कार्यं बहिरन्तरुपाधिभिः" सहकार्युपादानकारणैर्निर्वर्त्त्यं तथा न स्यात्, भावाद्येकान्ते सर्वथा कार्यप्रतिक्षेपात् । तत एवैवव्याख्यानान्तरमुपलक्ष्यते । एवं प्रतिपक्षप्रतिक्षेपप्रकारेण विधिनिषेधाभ्यामनवस्थितं कथंचिद्विधिप्रतिषेधावस्थितमेवार्थकृत् नेति चेन्न, यथा कार्यं (च) बहिरन्तः स्याद्युपाधिभिरनन्तविशेषणैर्विशिष्टम्, सर्वथा निरंशवस्तुनि सकलविशेषणाव्यवस्थितेः । सत्त्वाद्यन्यतममात्रे एव भङ्गे समवस्थित कुतो नार्थकृदिति चेत्, उच्यते, सप्तभङ्गीविधौ स्याद्वादे

विधिप्रतिषेधाभ्यां समारूढं वस्तु सदसदात्मकमर्थक्रियाकारि, कथंचित्सत एव सामग्रीसन्निपातिनः स्वभावातिशयोत्पत्तेः, सुवर्णस्येव केयूरादिसंस्थानम् । सुवर्णं हि सुवर्णत्वादिद्रव्यार्थादेशात् सदेव केयूरादिसंस्थानपर्यायार्थादेशाच्चासदिति तथापरिणमनशक्तिलक्षणायाः प्रतिविशिष्टान्तःसामग्र्याः सुवर्णकारकव्यापारादिलक्षणायाश्च बहिःसामग्र्याः सन्निपाते केयूरादिसंस्थानात्मनोत्पद्यते ततः सदसदात्मकमेवार्थकृत् । तद्वज्जीवादिवस्तु प्रत्येयम् । नेति चेदित्यादिनैकान्तेऽर्थक्रियां प्रतिक्षिपति । न तावत्सतः पुनरुत्पत्तिरस्ति, तत्कारणापेक्षानुपरमप्रसङ्गात् । न चानुत्पन्नस्य स्थितिविपत्ती, सर्वथाप्यसत्त्वात्खपुष्पवत् । नाप्यसतः सर्वथोत्पत्त्यादयस्तद्वत् । तस्मान्न सदेकान्तेऽसदेकान्ते चार्थक्रिया संभवति । यदि पुनः सामग्र्याः प्रागविद्यमानस्य जन्म स्यात् को दोषः स्यात् ? तन्निरन्वयविनाशेतरपक्षयोस्तदैकान्ताभावः प्रसज्येत । तस्या निरन्वयविनाशे निष्कारणस्य तथैवोत्पत्तिर्न स्यात् । न हि निराधारोत्पत्तिर्विपत्तिर्वा, क्रियारूपत्वात्स्थितिवत् । नैतन्मन्तव्यं ' नोत्पत्त्यादिः क्रिया, क्षणिकस्य तदसंभवात् । ततोऽसिद्धो हेतुः ' इति, प्रत्यक्षादिविरोधात् । प्रत्यक्षादिविरोधस्तावत् प्रादुर्भावादिमतश्चक्षुरादिबुद्धौ प्रतिभासनात् तद्रूपा प्रादुर्भावविनाशावस्थानक्रियारहितसत्तामात्रोपगमस्य बाधनात् । अन्यथा तद्विशिष्टविकल्पोपि मा भूत् । न हि दण्डपुरुषसंबन्धादर्शने दण्डीति विकल्पः स्यात् । तथाविधपूर्वतद्वासनावशात्प्रादुर्भावाद्यदर्शनेपि तद्विशिष्टविकल्प इति चेत्, न, नीलसुखादेरदर्शनेपि तद्विकल्पपरामर्शः, ततस्तद्व्यवस्थापनविरोधात् । निरालम्बनविज्ञानमात्रोपगमेपि सतानान्तरस्वसंतानपूर्वापरक्षणाज्ञानेपि तद्विकल्पोत्पत्तौ कुतस्तद्व्यवस्था ? संवेदनाद्वैतोपगमेपि संविदद्वैताभावेपि तद्वासनाबलात्संवित्स्वरूपप्रतिभाससंभवात्कथं स्वरूपस्य स्वतो गतिः सिध्येत् ? तत एव संवित्स्वरूपस्य तथावासनामन्तरेण स्वतो गतौ स्वसंतानपूर्वापरक्षणसंतानान्तरबहिरर्थजन्मादिक्रियाविशेषाणां सतामेव दर्शनात्तद्विकल्पोत्पत्तिर्युक्ता । इति नोत्पत्त्यादीनां क्रियात्वमसिद्धं, यतस्तन्नि-

राधारत्वप्रतिषेधो न सिध्येत् । ततो न प्रागसतोप्युत्पत्तिः संभवति । निरन्वयमविनाशे प्रागमत उत्पत्तिरित्ययमपि पक्षो न क्षेमङ्करः, स्याद्वादाश्रयणप्रसङ्गात्, असत्कार्यवादविरोधात् । ततः सूक्तं ' यदेकान्तेन सदसद्वा तन्नोत्पत्तुमर्हति, व्योमवन्ध्यासुतवत् ' इति । न ह्येकान्तेन सद्व्योमोत्पद्यते, नाप्येकान्तेनासन् वन्ध्यासुत इति न साध्यसाधनविकलमुदाहरणम् । कथमिदानीमनुत्पन्नस्य गगनादेः स्थितिरिति चेत्, न, अनभ्युपगमात् सर्वथा गगनाद्यनुत्पादस्य । केवलमिह व्योम्नो द्रव्यनयापेक्षया परप्रसिद्ध्या चोदाहरणं प्रतिपादितम्, ततो न पूर्वापरविरोधः, पूर्वं सर्वथानुत्पत्तिमत स्थितिप्रतिषेधसाधनात्, द्रव्यतोनुत्पद्यमानस्यैव स्थितिघटनात् । ततो यदर्थक्रियाकारि तद्विधिप्रतिषेधकल्पनोपकल्पितसप्तभङ्गीविधौ समारूढं विध्येकान्तादौ चानवस्थितं, सदाद्येकान्ते सर्वथार्थक्रियाविरोधादिति सूरिमतम् । नन्वेवं सुनयार्पितस्य विध्यंशस्य निषेधांशस्य चार्थक्रियाकारित्वे तेन व्यभिचारी हेतुः, तस्य सप्तभङ्गीविधावसमारूढत्वादन्यथानवस्थानात्, तस्यानर्थक्रियाकारित्वे सुनयस्यावस्तुविषयत्वप्रसक्तेः, वस्तुनोर्थक्रियाकारित्वादिति कश्चित्, तदयुक्तम्, सुनयार्पितस्यापि विधेरनिराकृतप्रतिषेधस्यार्थक्रियाकारित्वादन्यथा दुर्णयार्पितत्वापत्तेः । न चासौ सप्तभङ्गीविधावसमारूढः, भङ्गान्तराप्रतिक्षेपात् । तथा च नानवस्था नाम, विधावपि विध्यन्तरादिविकल्पनाऽभावात् । केवल विधिभङ्गे नास्तित्वादिभङ्गान्तरगुणीभावाद्विधिप्राधान्यम्, प्रतिषेधभङ्गे चास्तित्वादिभङ्गान्तरगुणीभावात्प्रतिषेधप्रधानतेति प्रमाणार्पितप्रधानरूपाशेषभङ्गात्मकवस्तुवाक्यात्रयवाक्यस्य विशेषः प्ररूपितप्राय एव । यदप्याह 'जीवादिवस्तुनि सत्त्वद्वारेण प्रथमभङ्गात्प्रतिपन्ने द्वितीयादिभङ्गानामानर्थक्यम्, असत्त्वादिधर्माणामपि तदात्मना तत एव प्रतिपत्तेः, अन्यथा तेषां वस्तुनोन्यत्वापत्तेः, विरुद्धधर्माध्यासात्पटपिशाचवत् । तथा च तस्येतिव्यपदेशाभावः, सम्बन्धाभावात् । सत्त्वादिधर्माणां धर्मिणा सहोपकार्योपकारकभावे धर्मिणोपकारो धर्माणां धर्मैर्वा धर्मिणः स्यात् ?, प्रथमपक्षे किमेकया शक्त्या धर्मी

धर्मानुपकुरुतेऽनेकया वा ? यद्येकया स्वात्मनोनन्यया धर्मी धर्मानुपकुरुते, तदेकधर्मद्वारेण नानाधर्मोपकारनिमित्तभूतशक्त्यात्मनो धर्मिणः प्रतिपत्तौ तदुपकार्यस्य सकलधर्मकलापस्य प्रतिपत्तेः सकलग्रहः स्यात्, उपकार्याप्रतीतौ तदुपकारकप्रतीत्ययोगात्। एतेनानेकया स्वात्मनोनन्यया शक्त्या धर्मी धर्मानुपकरोतीति पक्षान्तरमपि प्रतिक्षिप्तम्। धर्मी धर्मैरुपक्रियते इत्यस्मिन्नपि पक्षे किमेकोपकार्यशक्त्यात्माऽनेकोपकार्यशक्त्यात्मा वेति पक्षद्वितयमप्यनेनैव निरस्तम्, सकलधर्मकलापस्योपकारकस्याप्रतिपत्तौ तदुपकार्यशक्त्यात्मनो धर्मिणः प्रतिपत्त्यघटनात्, सकलनिश्चयस्याविशेषात्। तदुक्तं "नानोपाध्युपकाराङ्गशक्त्यभिन्नात्मनो ग्रहे। सर्वात्मनोपकार्यस्य को भेदः स्यादनिश्चितः ॥१॥ एकोपकारके ग्राह्ये नोपकारास्ततोऽपरे। दृष्टे यस्मिन्नदृष्टास्ते तद्ग्रहे सकलग्रह ॥२॥" इति। यदि पुनर्धर्माणामुपकारिकाः शक्तय उपकार्याश्च धर्मिणो भिन्ना एव तदा ताभिस्तस्योपकारः कश्चित्तेन वा तासां क्रियते न वेति पक्षद्वयम्। तत्र न तावदुत्तरः पक्षः, तद्व्यपदेशविरोधात्। प्रथमपक्षे तु शक्तिभिः शक्तिमत उपकारेनर्थान्तरभूते स एव कृत स्यात्। तथा च न शक्तिमानसौ, तत्कार्यत्वात्। ततोर्थान्तरभूतेऽनवस्थाप्रसङ्गः, तद्व्यपदेशसिद्ध्यर्थमुपकारान्तरपरिकल्पनात्। शक्तिमता शक्तीनामुपकारे शक्त्यन्तराणां कल्पनेऽनवस्थैव। तदकल्पने प्राच्यशक्तीनामप्यव्यवस्थितिः। इति न शक्तिशक्तिमद्व्यवहारः सिध्येत्। तदप्युक्तं "धर्मोपकारशक्तीनां भेदे तास्तस्य किं यदि ?। नोपकारस्ततस्तासां तथा स्यादनवस्थितिः ॥३॥" इति ॥ २१ ॥ तदपि सर्वमपाकुर्वन्तः सूरयः प्राहुः ॥

अव्यवस्थितानेकान्तात्मकं (२२२-२-७) परोक्तैकान्तव्यवस्थारहितम्, अव्यवस्थितपदस्यैकान्तव्यवस्थाराहित्यार्थत्वे तस्य कथञ्चिदवस्थितत्वाविनाभावित्वादलवणा यवागूरित्यत्रेवेपदर्थेन नञा कथञ्चिदवस्थितार्थपरतयापि व्याख्यानं घटत एवेत्याह तत एवम् (१२) इत्यादिना, एकान्तव्यवस्थायां कुतो नार्थक्रियाकारित्वमिति शङ्कते-सत्त्वाद्यन्यतमे

त्यादिना (२२२-२-१४), सिद्धान्तयति उच्यत इत्यादिना, सौगतः शङ्कते-यदि पुनरित्यादिना (२२३-१-६) स्यादित्यन्तेन, स्याद्वाद्युत्तरयति तन्निरन्वये (६) त्यादिना, तस्य प्रागविद्यमानोत्पन्नस्य निरन्वयनाशाभ्युपगमे आदावन्ते चेत्यादिन्यायात्तस्यैकान्ततोऽभावः स्यात्, कथञ्चिद्विनाशरूपेतरपक्षाभ्युपगमे च कथञ्चिदुत्पाद एवार्थतः सिद्ध्यतीत्यसदेकान्ताभावप्रसङ्गः स्फुट एवेति भावः। भाष्ये तस्याः (७) सामग्र्याः, निरन्वयविनाशे (७) ऽभ्युपगम्यमाने, निष्कारणस्य सतः, (७) तथैवासामग्रीस्थलविधयैव, उत्पत्तिर्न स्यात् (७), न च प्राक्काले कारणाभाव एव कार्याभावप्रयोजको, लाघवव्यवहाराभ्यां यदा कारणाभावस्तदा कार्याभाव इत्येव "क्रियमाणं कृतमिति" नये व्याप्त्यभ्युपगमात्, कारणमिह परिणामि ग्राह्यं, तेन न दण्डादौ व्यभिचारः। न च क्षणैकशेषं "तेणेह कज्जमाण" मित्यादिमहाभाष्यपर्यालोचनया कार्यस्य किञ्चित्कालस्थायिन एव ग्रहणाद्व्यवहारानुगृहीतर्जुसूत्रस्यायं विषय इति दिग्। न हि निराधारेति (७) तथा च यथा स्थितेः पूर्वक्षणव्याप्यस्थितिकत्वं तथोत्पत्तेरपि स्वपूर्वक्षणव्याप्योत्पत्तिकत्वमिति व्याप्तेर्नासदेकान्त इति भावः। न च पूर्वापरीभूतावयवा साध्यमानस्वरूपा क्रियाऽभिधीयते, सा चोत्पत्त्यादिर्न सम्भवति, क्षणिकताद्दशक्रियास्वरूपस्य दुरधिगमत्वादित्यपि शङ्कनीयम्। उत्पत्तेर्विपत्तेर्वा स्थितिमद्वस्तुधर्मत्वेनैव क्रियात्वस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात्, "बुद्धिप्रकल्पिताभेदः क्रमिकव्यापारसमूहः क्रिया" इति शाब्दिकाभिधानस्यापि द्रव्यार्थतयाऽभेदसत्त्व एव तत्प्रकल्पनासम्भवसाक्षिण एकान्तक्षणिकपक्षशिरस्येव वज्रदण्डप्रहारदायित्वादित्यभिप्रायवानाह-नैतन्मन्तव्यमित्यादि (८), नैतन्मन्तव्यमित्यस्य ततोऽसिद्धो हेतुरित्यनन्तरमन्वय इति नासङ्गतिः॥ अन्यथा (१०) प्रादुर्भावादेश्चक्षुरादिबुद्धावप्रतिभासमानत्वे, निरालम्बनविज्ञा-

नमात्रोपगमेऽपि (२२३-१-११) योगाचाराभिमतबाह्यार्थनिरपेक्षसाकारज्ञानवादेऽपि, **तद्विकल्पोत्पत्ताविति** (१२), अनन्तरं स्वीक्रियमाणायामिति शेषः। **कुतस्तद्व्यवस्था** (१२) सन्तानान्तरस्वसन्तानपूर्वापरक्षणव्यवस्था, तदनुरोधेन तद्वास्तवत्वाङ्गीकारे चोत्पादादिविशिष्टानुभवव्यवस्थानुरोधेनोत्पादादेरपि वास्तवत्वं बलादेव सिद्ध्यति, **संवेदनाद्वैतोपगमे**ऽपि (१२) **माध्यमिकदृष्ट्या** सन्तानान्तरस्वसन्तानाद्यन्तक्षणरहितमध्यमक्षणमात्रविश्रान्तज्ञानस्वीकारेऽपि, **स्वतो गताविति**, (१३) अभ्युपगम्यमानायामिति गम्यम्, **निरन्वयमविनाश** इति (२२३-२-१) सान्वयविनाशस्वीकार इत्यर्थः। **कथमिदानी** (३) **मिति न चानुत्पन्नस्य स्थितिविपत्ती इति** पूर्वमुक्तत्वादिति भावः। **अन्यथानवस्थाना** (७) **दिति** सुनयार्पितस्यैकस्यैव भङ्गस्य सप्तभङ्गीत्वप्राप्तौ मर्यादालक्षणस्यावस्थानस्याभावादित्यर्थः, यद्वा त्रिधावपि त्रिध्यन्तरादिविकल्पप्राप्तावनवस्थानं बोध्यम्। **न चासौ सप्तभङ्गीविधावसमारूढ** (९) इति। यद्यपि सप्तभङ्गीविधिसमारूढत्वं सुनयार्पितत्वं वा नार्थक्रियाकारितावच्छेदकम्, तद्रूपाज्ञानेऽपि पुरोवर्त्तिनीष्टतावच्छेदकरूपवैशिष्ट्यज्ञानादेव रजतादौ प्रवृत्तिदर्शनात्, नापि सप्तभङ्गीविधिसमारूढत्वनियतं रजतारजतोभयरूपत्वं तथा, " सर्वस्योभयरूपत्वादिष्टानिष्टाव्यवस्थितौ ॥ अप्रवृत्तिनिवृत्तीदं जातं सर्वत्र ही जगत् ॥ १ ॥ इति **मण्डनमिश्रकृतपूत्कारप्रत्युत्तरादानेन** तस्यारण्यरुदितत्वप्रसङ्गात्। स्वरूपपररूपाभ्यामसङ्करोक्त्या तत्पूत्कारनिवारणे च नियतैकरूपस्यैवार्थक्रियाकारितावच्छेदकत्वव्यवस्थितेः, तथापि सर्वस्य ज्ञानस्य प्रवर्त्तकत्वेऽगृहीताप्रामाण्यकत्वस्य तन्त्रत्वात् प्रवर्त्तकज्ञानाप्रामाण्यविघटनाय सप्तभङ्गीविधिसमारूढत्वमुपयुज्यत इति युक्तं पश्यामः। यद्यपि प्रामाण्येऽपि लोकसिद्धे तद्वति तत्प्रकारकत्वमात्रं तन्त्रम्, न तूक्तं सप्तभङ्गीविधिसमारूढत्वम्, तथापि लोको-

त्तरप्रामाण्ये सप्तभङ्गबोधकतापर्याप्त्यधिकरणत्वस्य तन्त्रत्वात् सर्वत्र तदाश्रयणं युक्तमिति तत्र तत्र व्यवस्थापितमस्माभिरिति सर्वमवदातम्। 'नानोपाधीति' (२२४–१–६) नानोपाधीनां सत्त्वादिधर्माणामुपकाराङ्गभूता या शक्तिस्तदभिन्न आत्मा स्वरूपं यस्य तादृशस्य धर्मिणो ग्रहे, सर्वात्मना (६) धर्मिणा, उपकार्यस्य (६) धर्मकलापस्य, को भेदोऽनिश्चितः स्यात् (६) न कश्चिदित्यर्थः। एकस्य सत्त्वादिधर्मस्योपकारके ग्राह्ये तस्मिन् दृष्टे सर्वे उपकारा दृष्टाः। ततोऽपरे उपकारा न सन्ति, ये तस्मिन् दृष्टे न दृष्टा इति, तद्ग्रहे एकोपकारकग्रहे, बलात् सर्वोपकार्यग्रहः स्यात्। 'धर्मोपकारेत्यादि (१०)' धर्माणां या उपकारशक्तयस्तासां भेदेऽङ्गीक्रियमाणे, तास्तस्य धर्मिणः, किं स्युर्न स्युरित्यर्थः। यदि ततो (११) धर्मिणः सकाशात्, तासां धर्मोपकारशक्तीनाम्, उपकारो न, तथोपकारे च स्वीक्रियमाणे, उपकारशक्तिपरम्पराकल्पनेनानवस्थितिः (११) अनवस्था स्यादित्यर्थः ॥ २१ ॥

धर्मे धर्मेन्य एवार्थो धर्मिणोनन्तधर्मणः। अङ्गित्वेन्यतमान्तस्य शेषान्तानां तदङ्गता ॥ २२ ॥

धर्मी तावदनन्तधर्मा जीवादिः, प्रमेयत्वान्यथानुपपत्तेः। ननु च धर्मेण व्यभिचारः, तस्यानन्तधर्मत्वाभावेपि प्रमेयत्वसिद्धेः। तस्याप्यनन्तधर्मत्वे धर्मित्वप्रसङ्गान्न धर्मो नाम। तदभावे न धर्मीत्युभयापायः। प्रमेयत्वस्य च साधनधर्मस्यानन्तधर्मशून्यत्वे तेनैवानेकान्तः। तस्यानन्तधर्मत्वे धर्मित्वेन पक्षान्तःपातित्वान्न हेतुत्वम्। इत्युपालम्भो न श्रेयान्, धर्मस्यैव सर्वथा कस्यचिदसभवात्तेन व्यभिचाराभावात् साधनस्य। न हि स्वधर्म्यपेक्षया यो धर्म सत्त्वादिः स एव स्वधर्मान्तरापेक्षो धर्मी न स्याद्यतोनन्तधर्मा न भवेत्। न चैवमनवस्थानम्, अनाद्यनन्तत्वाद् धर्मधर्मिस्वभावभेदव्यवहारस्य वलयवदभव्यससारवद्वा। न च धर्मिणो जीवादेरपोद्ध्रियमाणो धर्मः प्रमेय, तस्य नय-

विशेषविषयतया प्रमाणाविषयत्वात्। इति न तेनानेकान्तः। एतेन प्रमेयत्वस्य धर्मस्य नयविषयस्य नेयत्वेनाप्रमेयत्वात्तेन व्यभिचारो निरस्तः। प्रमाणविषयस्य तु प्रमेयत्वस्य हेतोः स्वधर्मापेक्षयानन्तधर्मत्वेन धर्मित्वात्पक्षत्वेपि न हेतुत्वव्याघातः, स्वपरानन्तधर्मत्वे साध्येऽन्यथानुपपत्तिसद्भावात्। ततोनन्तधर्मा धर्मी सिद्ध्यत्येव। तस्य धर्मे धर्मेऽस्तित्वादौ भिन्न एवार्थः प्रयोजन विधानादिः प्रवृत्त्यादिर्वा तदज्ञानविच्छित्तिर्वा, न पुनरेक एव, येन प्रथमभङ्गादेवानन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनः प्रतिपत्तेः शेषधर्माणामानर्थक्यं प्रसज्येत। न च धर्मा धर्मिणोऽनर्थान्तरभूता एव, नाप्यर्थान्तरमेव, येन तत्पक्षभाविदूषणप्रसङ्गः, कथंचिद्भेदाभेदात्मकत्वाद्धर्मिधर्माणा तदात्मकवस्तुनो जात्यन्तरत्वाच्चित्राकारैकसवेदनवत्, तत्र विरोधादेरप्यनवकाशात्। केवलभङ्गित्वे प्रधानत्वेऽस्तित्वादिषु धर्मेष्वन्यतमस्यान्तस्य धर्मस्य, शेषान्तानां स्याच्छब्दसूचितान्यधर्माणा तदङ्गता तद्गुणभावः, तथा प्रतिपत्तुर्विवक्षाप्रवृत्तेरर्थित्वविशेषात्। ततो भङ्गान्तरप्रयोगो युक्त एव, प्रतिधर्मं धर्मिणः कथंचित्स्वभावभेदोपपत्तेः। यदि पुनः प्रत्युपाधि परमार्थतः स्वभावभेदो न स्यात्तदा दृष्टेऽभिहिते वा प्रमाणान्तरमुक्त्यन्तरं वा निरर्थकं स्यात्, गृहीतग्रहणात् पुनरुक्तेश्च। तथा हि। साक्षादुपलब्धे शब्दादौ क्षणिकत्वाद्यनुमान स्वार्थ न स्यात्, धर्मिप्रतिपत्तौ कस्यचिदप्रतिपन्नस्वभावस्य साध्यस्याभावात्, सर्वथा स्वभावातिशयाभावात्। परार्थं चानुमानं वचनात्मकं न युज्येत, धर्मिवचनमात्रादेव साध्यनिर्देशसिद्धेः, साधनधर्मोक्तिसिद्धेश्च। तद्वचने पुनरुक्तताप्रसङ्गः, तस्य स्वभावातिशयाभावादेव। तस्माद्दृष्टस्य भावस्य दृष्ट एवाखिलो गुणः। भ्रान्तेर्निश्चीयते नेति साधनं सम्प्रवर्तते॥१॥ इत्येतदप्यनालोचितवचनमेव, दृष्टस्य स्वभावस्य स्वभावातिशयाभावेऽखिलगुणदर्शनस्य विरोधात्, धर्मिमात्रेप्यभ्रान्तौ साध्ये स्वभावे भ्रान्त्ययोगात् तद्भ्रान्तौ वा शब्दसत्त्वादावपि भ्रान्तिप्रसक्तेः कुतः साधनं संप्रवर्तेत यतोऽर्थनिश्चयः स्यात्? शब्दसत्त्वादौ निश्चये कथमनित्यत्वादावनिश्चयः? स्वभावातिशयप्रसङ्गात्, निश्चितानिश्चितयोरेक-

स्वभावत्वे सर्वथातिप्रसङ्गात् । सदुत्पत्तिकृतकत्वादेः प्रत्यनीकस्वभावविशेषाभावाद् यावन्ति पररूपाणि तावन्त्यस्ततस्ततो व्यावृत्तयः प्रत्येकमित्येपापि कल्पना मा भूत् । न हि किंचिदसदनुत्पत्तिमदऽकृतकादि वा वस्तुभूतमस्ति सौगतप्रसिद्ध पररूपं यतो व्यावृत्तं परमार्थतोऽस्वभावभेदमपि शब्दादिस्वलक्षणं सदुत्पत्तिकृतकत्वादिस्वभावभेदवत्परिकल्प्यते। पराभ्युपगमात्सिद्धमस्तीति चेत्, न, तस्याप्रमाणसिद्धत्वात् । कल्पनारोपितं तदस्तीति चेत्, कुतस्तत्कल्पनाप्रसूतिः ? अनाद्यविद्योदयादिति चेत्, तत एव सत्त्वादिधर्मकल्पनास्तु, किमसत्त्वादिव्यावृत्त्या ? सदेव किंचिद्गुणीभूतविधिस्वभावं निषेधप्राधान्यादसदुच्यते, तथोत्पत्तिमदन्तरविविक्तमुत्पत्तिमदेव किंचिदनुत्पत्तिमत्, कृतकान्तरविविक्तं कृतकमेवाकृतकम्, वस्त्वन्तरविविक्तं वस्त्वेवावस्तु व्यवहृतिपथमुन्नीयते इति चेत्, न, परमार्थतः सत्त्वादिवस्तुस्वभावभेदप्रसिद्धेः, निरस्वभावभेदवस्तुरूपाभ्युपगमविरोधात्। सतां हि स्वभावानां गुणप्रधानभाव स्यात् पादोत्तमाङ्गवत्, न पुनरसता शशाश्वविषाणादीनामविशेपात् । ततः परिकल्पितव्यावृत्त्या धर्मान्तरव्यवस्थापनं परिफल्गुप्रायम्, वस्तुस्वभावाभावप्रसङ्गात्। शक्यं हि वक्तुम्, न किञ्चिद्वस्तु नामास्ति, तस्यावस्तुव्यावृत्त्या व्यवहरणात् परिकल्पितवस्तुव्यावृत्त्या चावस्तुव्यवहारसिद्धेः। परस्पराश्रयणान्नैवमिति चेत्, तर्हि कल्पितासत्त्वादिव्यावृत्त्या सत्त्वादयस्तद्व्यावृत्त्या चासत्त्वादिधर्मपरिकल्पनमित्यपि मा भूत्, परस्पराश्रयणाविशेपात्। स्ववासनासामर्थ्यात्सत्त्वेतरादिकल्पनयोरुत्पत्तेस्तद्व्यवहारस्यैव परस्परापेक्षत्वान्न परस्पराश्रयणम्, सकलधर्मधर्मिविकल्पशब्दानां स्वलक्षणाविषयत्वात् परिकल्पिततदन्यव्यावृत्तिविषयत्वसिद्धेरिति चेत्, न, तथेन्द्रियबुद्धयोपि स्वलक्षणविषया मा भूवन् । केवलं व्यावृत्ति पश्येयुः, अदृष्टे विकल्पायोगादतिप्रसङ्गाच्च । यथैव हि नीले पीतादीनामदृष्टत्वान्न तद्विकल्पोत्पत्तिर्नीलस्य दृष्टत्वान्नीलविकल्पस्यैवोत्पत्तिस्तथैवासत्त्वादिव्यावृत्तिमपश्यतस्तद्विकल्पोत्पत्तिर्मा भूत्, स्वलक्षणदर्शनात्स्वलक्षणवि-

कल्पोत्पत्तिरेवास्तु, न चैवं, तदन्यव्यावृत्तावेव विकल्पोत्पत्तेः। यदि पुनरसत्त्वादिव्यावृत्तीनामदर्शनेपि तदनादिवासनावशादेव तद्विकल्पोत्पत्तिरुररीक्रियते तदा नीलादिरूपादर्शनेपि तद्वासनासामर्थ्यादेव नीलादिविकल्पोत्पत्तेस्ततो नीलादिरूपव्यवस्था मा भूत्। तद्वत्सुखादिव्यवस्थितिरपि कुतः सभाव्येत? स्वसवेदनव्यवस्था च तन्निश्चयोत्पत्तेर्दुर्घटैव। तदनुत्पत्तौ सुतरां तदव्यवस्था स्वर्गप्रापणशक्त्यादिवद्वेद्याकारविवेकवद्वा। स्वरूपस्य स्वतो गतिरित्यपि तथा निश्चयानुत्पत्तौ न सिद्ध्येद्ब्रह्माद्वैतादिवत्। ततः कुतश्चिन्निश्चयाद्वस्तुस्वभावभेदव्यवस्थाया सत्त्वादिनिश्चयाद्वस्तुनि परमार्थतः सत्त्वादिधर्मभेदव्यवस्थितिरभ्युपगन्तव्या, अन्यथा क्वचिदपि व्यवस्थानासिद्धेः। परमार्थतः सत्त्वादिधर्मव्यवस्थितौ च सत्यां साधीयसी सत्त्वादिसप्तभङ्गी, सुनयार्पितत्वात् ॥ २२ ॥

'धर्मस्यैवेति' (२२५-२-१२) द्रव्यभिन्नपदार्थान्तरीभूतधर्माभ्युपगम एव हि व्यभिचारः स्यात्, स तु नास्माकं विवक्षानुसारित्वाद्धर्मधर्मिभावस्येति नोक्तदोषोपनिपात इति भावः। 'न हीति' (१३) न चैवं सत्त्वादीनां प्रमेयत्वाद्यपेक्षया धर्मित्वे 'निर्गुणा गुणा' इति प्रवादो व्याहन्येतेति वाच्यम्, द्रव्यत्वनियामकसम्बन्धेन गुणे गुणाभावेऽपि सम्बन्धान्तरेण तदुपगमे दोषाभावात्। न चाभेदैक्ये सम्बन्धाविशेषः, घटाभावे घटाभाव इति वत् घटे घट इति प्रतीत्यभावेन यथाप्रतीत्यभेदशक्तीनामपि नानात्वोपगमादिति द्रष्टव्यम्। 'न चैवमिति' (१३) एवं धर्मस्यानन्तधर्मप्रकारैर्द्धर्मित्वे धर्मिणश्चानन्तधर्म्यपेक्षया धर्मत्व इत्यर्थः। 'वलयवदिति' (१४) भ्रमणकाले वलयस्य पूर्वभागो यथा भवत्यपरोऽपरश्च पूर्वस्तद्वदित्यर्थः, अभव्यसंसारवद्वेति (१४) यथाऽभव्यस्य तत्तत्संसारपर्यायैर्गृहीतमुक्तैर्नानवस्थितिस्तद्वदित्यर्थः, अनेन दृष्टान्तद्वयेन धर्मधर्मिभावानवस्थायाः प्रामाणिकत्वाददोषत्वमित्युक्तं भवति, धर्मिणो बुद्ध्या पृथक्कृते धर्मे व्यभिचारमाशंक्य निषेधति—न च धर्मिण (१४)

इति, तत्र नेयत्वेऽपि प्रमेयत्वाभावान्न व्यभिचार इत्यर्थः । अनयैव रीत्या प्रमेयत्वेऽपि न व्यभिचारः, विशिष्टधर्मावच्छि-
न्नाधिकरणताकाभावाभ्युपगमान्नेयत्वविशिष्टप्रमेयत्वे प्रमेयत्वाभावाद् व्यभिचारलक्षणे साध्याभावतद्वद्वृत्तित्वयोरेकावच्छेद-
प्रवेशेन नानतिप्रसङ्गाच्चयद्वया वैज्ञानिकसम्बन्धगर्भत्वाद्वा तस्येत्यभिप्रायवानाह–'एतेनेति' (२२६-१-१) शुद्धप्रमेयत्वस्य तु
पक्षान्तर्भूतत्वादेव तत्र न व्यभिचार इत्याह–प्रमाणविषयस्य त्विति (२) इदमापाततः, निष्कृष्टरीत्या शुद्धेऽपि तत्राव्यभिचा-
रादिति बोध्यम्। पक्षत्वेऽपि हेतुत्वाव्याहतौ प्रकारमाह–'स्वपरानन्तेत्यादि' (२) साध्यान्यथानुपपन्नत्वमेव हेतुत्वप्रयोजकम्,
न तु पक्षबहिर्भूतत्वमपि, पृथिवीत्वस्यैव तादात्म्येन पृथिव्याः पृथिवीतरभेदहेतुत्वप्रसिद्धेरिति न कोऽपि दोष इति भावः ।
विधानादिः (३) अभिलापादिः, प्रवृत्त्यादिः (३) तत्प्रकारकेच्छाप्रयोज्यप्रयत्नादि', तदज्ञानविच्छित्तिः (४) संस्कार-
विशेषाधानम्, तद्गुणभावः (७) सामान्यस्य धर्मित्वे प्रकृतेतरानन्तधर्मात्मकत्वस्य संसर्गतया भानात् संसर्गघटकत्वेनाप्रधा-
नत्वम्, स्वेतरानन्तधर्मसंवलितत्वेन प्रकृतधर्मभानाभ्युपगमे तु विशेषणतया तेषामेवापोद्धारेण धर्मित्वविवक्षायां तु प्रकारतया-
ऽभासमानत्वेनेति बोध्यम् । स च प्रतिपत्तृविवक्षाधीन इति तत्त्वम् । युक्त एवेति (७) प्रकारभेदेन भङ्गान्तरबोधस्य वैलक्ष-
ण्यात् स्वजन्यबोधसमानाकारबोधवैधुर्यलक्षणाया आकाङ्क्षाया अक्षतत्वादिति भावः, तदाह–'प्रतिधर्मामिति' (७) स्वभाव-
भेदोपपत्तेरिति (८) "अर्थेनैव धियां विशेष" इति न्यायात्, तथाप्रकारस्वभावभेदे सत्येव तथाप्रकारस्वभावज्ञानोपपत्तेरि-
त्यर्थः। व्यतिरेके बाधकमाह–यदि पुनरित्यादिना (८), भ्रान्तैः (१२) भेदवासनाजनितभ्रमशालिभिः। 'विरोधादिति' (१३)
एकधर्मिविषयकज्ञाने अनेकगुणाभेदविषयकत्वस्यैकत्र धर्मिण्यनेकगुणात्मकत्वस्य च विरोधग्रस्तत्वादिति भावः। वस्तुगत्याऽरसि-

लगुणात्मकस्यैकस्य भावस्य दृष्टावपि तत्त्वेनादर्शनान्न विरोध इत्याशङ्क्याह—'धर्मिमात्रेऽपीत्यादि' (२२६-१-१३) न हि शब्द-दर्शने धर्म्यंशेऽभ्रान्तत्वं क्षणिकत्वाद्यंशे च भ्रान्तत्वमिति तत्साधनाय प्रवृत्तिरिति वक्तुं युक्तम्, निरंशे वस्तुन्यांशिकभ्रमत्वप्रमात्व-योर्दुर्वचत्वादिति भावः। स्वभावातिशयप्रसङ्गा (१४) दिति ज्ञानाकारभेदस्यार्थाकारभेदनियतत्वादिति भावः। यद्यपि पदा-र्थस्य स्वतः स्वभावातिशयो नास्ति तथापि विजातीयभेदात् स्वभावातिशयो भविष्यतीत्याशङ्कायामाह भाष्यकृत्—सदुत्पत्ती-त्यादि (२२६-२-१)॥ तत एवेति (४) असत्त्वादिव्यावृत्त्यपेक्षया लाघवात् सत्त्वादेरेवाविद्याविशेषजन्यत्वकल्पनौचित्यादिति भावः। अत एव त्रिविधं सत्त्वमौपनिषदानामिष्टमिति मन्तव्यम्। यदि च तत्त्वज्ञानदशायामपि सत्त्वाद्यनुभवान्न तस्याऽऽ-विद्यकत्वम्, तदाऽस्तु प्रमाणसिद्ध एवानन्तगुणात्मकस्वभावभेदो धर्मिणः, तत्त्वज्ञानिभिस्तथानुभवादिति बोध्यम्। सदन्तरेति (५) सदन्तरं यद् घटवद्भूतलं ततो विविक्तस्य, केवलस्य भूतलस्य, असत्त्वव्यपदेशात् (५) घटाभावत्वेन व्यवहारादित्यर्थः, तथा च शब्दाद्यात्मनानुत्पत्तिमद् घटादि प्रसिद्धं तद्व्यावृत्त्योत्पत्तिमत्त्वं शब्दे सुवचमिति भावः। एवमग्रेऽप्यतद्व्यावृत्ति-प्रसिद्धिर्विशेषादेशेन वाच्या। निःस्वभावेति (७) निषेधस्य विध्यवच्छिन्नत्वाद्विधिस्वभावभेदाभावे निषेधस्वभावभेदस्य दूरापास्तत्वादिति भावः। 'सतां हीति' (७) गुणप्रधानभावो हि वैवक्षिकः, विवक्षा च सत्येव वस्तुनि नासतीति विधेय-निषेधयोरन्यतरप्रधानगुणभाव उभयस्वभावभेदमेवाक्षिपतीति भाष्यप्रतीकार्थः। 'तद्व्यवहारस्यैवेति' (११) व्यवहारा-न्योन्याश्रयश्चानादित्वाददोषः, यत्प्रतियोगिकत्वं यत्र नोपस्थितं तत्र विश्रामेण ज्ञप्तिप्रतिबन्धादेति मन्तव्यम्। ततो (२२७-१-२) नीलादिविकल्पोत्पत्तेः, तद्वत् (२) नीलादिरूपव्यवस्थावत्, सुखादिव्यवस्थितिरपि कुतः सम्भाव्येत? (२)।

न कुतश्चित्, असतोऽपि नीलादेः सुखादेश्चासत्त्वादिव्याप्तिवद्वासनावशाद्विकल्पोत्पत्तेः सम्भवादित्यर्थः । दुर्घटैवेति (३) स्वसंवेदनत्वप्रकारकनिश्चयस्याप्यदृष्टासद्विषयकत्वसम्भावनादित्यर्थः । तदनुत्पत्तौ सुतरामिति (३) स्वसंवेदनत्वप्रकारकनिश्चयाभावे तदंशे दर्शनाप्रामाण्यस्य स्फुटत्वादिति भावः । तदाह, स्वर्गप्रापणेत्यादि (३) ॥ २२ ॥

सम्प्रत्येकानेकत्वादिसप्तभङ्ग्यामपि तामेव प्रक्रियामतिदिशन्तः सूरयः प्राहुः ।—

एकानेकविकल्पादावुत्तरत्रापि योजयेत् । प्रक्रियां भङ्गिनीमेनां नयैर्नयविशारदः ॥ २३ ॥

स्यादेकमेव स्यादनेकमेवेति विकल्प आदिर्यस्य स एकानेकविकल्पादिः, तस्मिन्नुत्तरत्रापि स्याद्वादविशेषविचारेपि, प्रक्रियामेनामन्वादिष्टां, भङ्गिनी सप्तभङ्गाश्रया, नयैर्यथोचितस्वरूपैर्योजयेत्—युक्तां प्रतिपादयेत् नयविशारदः स्याद्वादी, ततोन्यस्य तद्योजनेऽनधिकारात् । तद्यथा । स्यादेकं सद्द्रव्यनयापेक्षया । न हि सत्पर्यायनयापेक्षया सर्वथा वा सर्वमेकमेवेति युक्तम्, प्रमाणविरोधात् । ननु च सद्द्रव्यनयार्पणादपि जीवादिद्रव्यमेकैकश एवैकं सिध्येत्, न तु नानाद्रव्यम्, प्रतीतिविरोधात्, तत्रैकत्वप्रत्यभिज्ञानाभावात् सर्वत्रैकत्वस्य तन्मात्रसाध्यत्वादन्यथातिप्रसङ्गादिति कश्चित् । तं प्रत्येके समादधते 'सदेव द्रव्यं सद्द्रव्यं, तद्विषयो नयः सङ्ग्रहः परमः । तदपेक्षया सर्वस्यैकत्ववचनाददोष इति ॥१॥ अपरे तु ' सद्द्रव्यमेव नयः, नीयमानत्वाद्धेतोः, तदपेक्षया सर्वमेकं, जीवादीनां षण्णां तद्भेदप्रभेदाना चानन्तानन्तानां तत्पर्यायत्वात् ' एकं द्रव्यमनन्तपर्यायम् ' इति सक्षेपतस्तत्त्वोपदेशात्, तस्य सर्वत्र सर्वदा विच्छेदानुपलक्षणात् प्रतीतिविरोधाभावादेकत्वप्रत्यभिज्ञानस्यापि सदेवेदमित्यबाधितस्य सर्वत्र भावात्, अभावस्यापि तत्पर्यायत्वान्न किञ्चिद्दूषणम् ' इति समाचक्षते । ननु च जीवादयो विशेषाः परस्पर व्यावृत्तविवर्त्ताः कथमेक द्रव्यं विरोधादिति चेत्, न, कथंचिदेकत्वेन विरोधाभावात्

कथंचिद्विशिष्टप्रतिभासात् । यद्यपि ते विशेषाः परस्परव्यावृत्तपरिणामाः कालादिभेदेपि सद्रूपाविशिष्टाश्चित्रज्ञाननीलादिनिर्भासवत् । यथा हि चित्रप्रतिभासाप्येकैव बुद्धिः, बाह्यचित्रविलक्षणत्वात् । शक्यविवेचनं हि बाह्यचित्रमशक्यविवेचनाश्च बुद्धेर्नीलाद्याकारा इति चित्रज्ञानमशक्यविवेचन नीलादिनिर्भासभेदेप्येकमिष्यते, तथा जीवादिविशेषभेदेप्येकं सद्द्रव्यम्, कालभेदेपि सद्रूपादशक्यविवेचनत्वात्, देशभेदेपि वा ततस्तेषा विवेचयितुमशक्तेराकारभेदवत्, ततस्तेषां कदाचित्कचित्कथंचिदपि विवेचने स्वरूपाभावप्रसङ्गात् । सामान्य-विशेषसमवायवत्प्रागभावादिवद्वा सद्रूपाद्विवेचनेपि जीवादीनां नाभाव इति चेत्, न, तेषामपि सद्विवर्तत्वात् सद्रूपविवेचनासिद्धेः, अन्यथा प्रमेयत्वायोगादवस्तुत्वप्रसक्तेः, सर्वथा सत्त्वाद्भिन्नस्यासत्त्वनिर्णयात् । ततो जीवादिविशेषाः कालादिभेदेपि स्यादेकं द्रव्यम्, सद्रूपाविशिष्टत्वान्नीलादिनिर्भासभेदेपि ज्ञानरूपाविशिष्टत्वादेकचित्रज्ञानवत् ॥ इति प्रथमो भङ्गः (१) ॥

तथा जीवादिविशेषाः स्यादनेकत्वसास्कन्दन्ति, भेदेन दर्शनात् संख्यासंख्यावदर्थवत् । न हि सख्यासंख्यावतोर्भेदेनादृष्टौ विशेष(षे)-णविशे(शि)ष्यविकल्पः कुण्डलिवत् क्षीरोदकवदतद्भेदिनि, यतः सौगतस्तयोरभेदं मन्येत । न च भेदैकान्ते तद्वत्ताऽस्ति, व्यपदेशनिमित्ता-भावात् । सख्यावानर्थ इति व्यपदेशनिमित्तं समवाय इति चेत्, न, तस्य कथंचित्तादात्म्यरूपत्वे भेदैकान्तासिद्धेर्वैशेषिकमतविरोधात् । पदार्थान्तरत्वे संख्यासख्यावतोः समवाय इति व्यपदेशनिमित्ताभावः । विशेषणविशेष्यभावो व्यपदेशनिमित्तमिति चेत्, न, तस्यापि ततो भेदे व्यपदेशनिमित्तान्तरापेक्षणात्पर्यनुयोगानिवृत्तेरनवस्थाप्रसङ्गाच्च । तस्मादयं कथंचिदेव संख्यासंख्यावतोः स्वभावभेद पश्यति, तद्विशिष्टविकल्पनात्कचिन्निर्णयेप्यन्यत्र संशयाद्वर्णरसादिवदिति । तदेवं सर्व सिद्धं स्यादनेकम् ॥ इति द्वितीयो भङ्गः (२) ॥

क्रमार्पितद्वयात्स्यादुभयम् (३) ॥ सहावक्तव्य, वक्तुमशक्तेः (४) ॥ स्यादेकावक्तव्यं, स्वलक्षणस्यैकस्य वक्तुमशक्यत्वात्

(५) ॥ स्यादनेकावक्तव्य, तस्यानेकस्यापि वक्तुमशक्तेः (६) ॥ तत एव स्यादुभयावक्तव्यम् (७) ॥ इति सप्तभङ्गीप्रक्रियायोजनमतिदेशवचनसामर्थ्यादवसीयते ॥ तत एव चैकत्वमेकधर्मिणि स्वप्रतिषेध्येनानेकत्वेनाविनाभावि, विशेषणत्वाद्वैधर्म्याविनाभाविसाधर्म्यवद्धेतौ । अनेकत्वं स्वप्रतिषेध्येनैकत्वेनाविनाभावि, विशेषणत्वात् साधर्म्याविनाभाविवैधर्म्यवद्धेतौ । एवं तदुभयादयोपि स्वप्रतिषेध्येनाविनाभाविनो विशेषणत्वाद्विशेष्यत्वाच्छब्दगोचरत्वाद्वस्तुत्वाद्वा स्वसाध्येतरापेक्षया हेत्वहेत्वात्मकसाधनधर्मवदित्यपि नययोजनमविरुद्धमवबोद्धव्यम् । विशेषणत्वादेः साधनधर्मस्यापि स्वविशेष्यापेक्षया विशेषणस्य स्वप्रतिषेध्येनाविनाभावित्वसिद्धेर्न तेन विशेषणत्वादिहेतोर्व्यभिचारः । नापि विशेष्यत्वस्य, स्वविशेषणापेक्षया विशेष्यस्यापि स्वप्रतिषेध्येनाविनाभावित्वात् । शब्दगोचरत्वस्य च शब्दान्तरागोचरस्य स्वप्रतिषेध्येनाविनाभावित्वात्, वस्तुत्वधर्मस्य च वस्त्वंशत्वेन वस्तुत्वरूपस्य तत एव व्यभिचारित्वाशङ्कापि न कर्तव्या, अनेकान्तवादिना तथाप्रतीतेर्विरोधाभावात् । एवमेकत्वानेकत्वाभ्यामनवस्थितं सप्तभङ्गयामारूढं जीवादिवस्तु, कार्यकारित्वान्यथानुपपत्तेः । सर्वथैकान्ते क्रमाक्रमाभ्यामर्थक्रियाविरोधादित्याद्यपि योजनीयम् ॥ २३ ॥

प्रज्ञाधीशप्रपूज्योज्ज्वलगुणनिकरोद्भूतसत्कीर्तिसम्प-द्विद्यानन्दोदयायाऽनवरतमखिलक्लेशनिर्णाशनाय।
स्ताद्गौः सामन्तभद्री दिनकररुचिजित्सप्तभङ्गीविधीद्धा, भावाद्येकान्तचेतस्तिमिरनिरसनी वोऽकलङ्कप्रकाशा ॥१॥

इत्याप्तमीमांसालङ्कृतौ प्रथमः परिच्छेदः ॥

परम इति (२२८-२-१०) परैर्ज्ञानिभिर्मीयत इति परमः सर्वशुद्ध इति यावत्। 'तदपेक्षयेति' (१०) तथा च व्यवहारैकत्वस्य प्रत्यभिज्ञामात्रप्रमाणकत्वेऽपि तदभावेऽपि सङ्ग्रहबुद्धिकृतस्य सर्वद्रव्यगतैकत्वस्य न दुष्टत्वमित्युक्तं भवति। अत्र च व्यवहाररूपापेक्षाधीकृतमेकत्वं तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नम्, सङ्ग्रहकृतं च तद्वृत्तिजात्यवच्छिन्नम्, प्रतियोग्यनुयोगिवाचकपदसत्त्वेऽन्यथा च शुद्धं सामान्यधर्मिणि प्रतीयते, सोऽयं तज्जातीयोऽयं सर्वो घट एकः सर्वमेकमित्यादिप्रयोगादिति विवेकः। अथ सङ्ग्रहबुद्धिकृतमेकत्वं कथं सङ्ग्रहबुद्धेर्विषयः स्यादिति चेत्, अनादित्वेनायं दोषः परिहरणीयः। पूर्वपूर्वसङ्ग्रहबुद्धिकृतस्यैकत्वस्योत्तरोत्तरसङ्ग्रहबुद्ध्या विषयीकरणसम्भवात् द्वित्वादिवदऽस्यैकत्वस्यापेक्षाबुद्धिव्यङ्ग्यत्वपक्षे तु नात्राशङ्कापदप्रसरोऽपि, यथा चैकत्वद्वित्वादेः कथञ्चिदपेक्षाबुद्धेर्व्यङ्ग्यत्वं जन्यत्वं च तथा व्यवस्थापितमस्माभिर्नयामृततरङ्गिण्यां महता प्रबन्धेनेति तत एव तदवगन्तव्यम्। 'अपरे त्विति' (११) न परेऽपरे सङ्ग्रहनयमवलम्ब्यातिपरिणामेन प्रवृत्ता वेदान्तिन इत्यर्थः। तन्मत एव सकलभेदप्रपञ्चस्य बाधावधीभूतसद्ब्रह्मोपादानकत्वादिति ध्येयम्। स्याद्वादावष्टम्भे पुनरेतन्मतं न क्षोदक्षमम्, जीवादिभेदानां त्रैलक्षण्यान्वितत्वेन कथञ्चित्कार्यत्वे तदुपादाने सतीष्यमाणे तदन्तर्भावेनापि कार्यत्वस्य सदन्तरोपादानत्वस्य च कल्पनायामनवस्थाप्रसङ्गादूर्ध्वतासामान्यस्यैकस्य खण्डशो भावेऽपि व्याप्त्या तदयोगात्, अन्यथा तस्य जीवाजीवोभयात्मकत्वेन तृतीयराशिप्रसङ्गात्, यदि चेदमेकत्वं न द्रव्यत्वापादकं किन्तु सर्वाधारत्वापादकमिति नोक्तदोष इति विभाव्यते, तदा प्राचीनमतस्यैवायं पुनः प्रसवः, बुद्धिप्रत्यासत्त्या नगरादिवदेकत्वेन विवक्षितस्य सद्द्रव्यस्य जीवादिभेदाधिष्ठानत्वोपपादनात्, एवं सत्यनपेक्षितद्रव्यार्थिकनयाभिमतं वर्त्तनाहेतुः कालाख्यमेन सद्द्रव्यमुपतिष्ठते, युक्तं चैतत्, कालस्वरूपेश्वरवादिनये

सकलभेदोपादानत्वेन कालस्वरूपस्य सद्द्रव्यस्येश्वरत्वोक्तौ सकलनयमये भगवत्प्रवचने दोषाभावात्, विवेचितं चैतत्तत्त्वं तर्कानुसारिण्यां तत्त्वार्थटीकायामस्माभिः ॥ **कथञ्चिद्विशिष्टप्रतिभासात्** (२२९-१-१) बौद्धैकत्वानुविद्धभेदप्रतिभासादित्यर्थः। विशिष्यत इति विशिष्टं भेदः, उक्तमेव कथञ्चित्प्रतिभासं भाष्येण समर्थयन्नाह–'**यद्यपीति**' (२२९–१–१) यद्यपीत्युक्तेः कालादिभेदेऽपीत्यत्र तथापीति गम्यम्। **बाह्यचित्रविलक्षणत्वात्** (२) ग्राह्यनानारूपभिन्नत्वात्, **शक्यविवेचनं हीति** (२) भिन्नधर्मिकत्वादेकत्रापि च धर्मिणि स्फुटावच्छेदकभेदादित्यर्थः। **अशक्यविवेचनाश्चेति** (२) अस्फुटावच्छेदकत्वादित्यर्थः। **विवेचने** (४) सत्त्वात् पृथक्कृत्य विवक्षणे, **सामान्येति** (४) पराभिमतसामान्यादिवदित्यर्थः। यथा हि पराभिमतः सामान्यादिपदार्थः सत्त्वाभावान्निःस्वरूपस्तथा सत्त्वाद्विविक्तो जीवादिः स्यादिति तत्त्वम्। **सद्विवर्त्तत्वात्** (५) सद्विशेषत्वात्, विशेषे च सर्वथा सामान्यभेदस्यासम्भवादित्यर्थः। **विशे(शि)ष्यविकल्पः** (९) इदमेतदिदं चैतदिति विभज्य निश्चयः। **व्यपदेशनिमित्ताभावः** (११) पदार्थान्तरभूतस्य समवायस्यैकत्वेनाभ्युपगमात् सङ्ख्यावत्येव सङ्ख्यासमवायो नान्यत्रेति नियामकाभावादित्यर्थः। **विशेषणविशेष्यभावः** (११) आधाराधेयभावः, तथा च समवायस्यैकत्वेऽपि समवायसम्बन्धावच्छिन्नतत्तदाधारताया अतिरिक्तत्वान्नातिप्रसङ्ग इति भावः, तस्या अप्यतिरिक्तत्वे तत्सम्बन्धान्तरगवेषणयाऽनवस्था, अनतिरिक्तत्वे तु तादात्म्यमेव सम्बन्धतयाऽवश्यमाश्रयणीयमित्यभिप्रायवानाह-**तस्यापीत्यादि** (११)॥ **अयं** (१२) **सौगतो वैशेषिको वा**, **वर्णरसादिवदिति** (१३) यथैकत्र मातुलिङ्गे वर्णरसयोर्भेदेन सत्त्वमेकस्य निर्णयेऽप्यन्यस्य संशयात्तथा सङ्ख्यासङ्ख्यावतोरित्यर्थः, **क्रमार्पितद्वयात् स्यादुभयमित्यादि** (१४) भङ्गयोजनं प्राग्वदुपयुज्य विधेयमिति श्रेयः ॥ २३ ॥

विततविधिनिषेधैकत्वनैकत्वमार्ग–प्रसृतनयतरङ्गा सप्तभङ्गी श्रवन्ती ।
इयमुरुगमभङ्गोत्क्षिप्तबाधद्रुमौघा, जयति मुनिमरालैः सर्वतः सेव्यमाना ॥ १ ॥

षट्तर्काम्बुधिसम्प्लवव्यसनितां व्यालोडनं दिक्पट–
ग्रन्थानां सितवाससां च समये निःशङ्कसङ्क्रीडनम् ।
जानन्तु प्रतिवादिनः सहृदयाश्चानन्दिनः सन्त्वितः, ।
सम्भाव्येति कृतो विनोदरसिकैरस्माभिरेष: श्रमः ॥ २ ॥

इति शाहिश्रीअकब्बरप्रदत्तजगद्गुरुबिरुदधारकभट्टारकश्रीहीरविजयसूरीश्वरशिष्यशिरःकोटीरहीर-महोपाध्यायश्रीकल्याणविजयगणिशिष्यावतंसपंडितश्रीलाभविजयगणिशिष्यमुख्यपंडितश्रीजीतविजय-गणिसतीर्थ्यालङ्कारपंडितश्रीनयविजयगणिचरणकमलचञ्चरीकेण पण्डितश्रीपद्मविजयगणिसहोदरेण महो-पाध्यायश्रीयशोविजयगणिना विरचितेऽष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणे प्रथमः परिच्छेदः ॥

॥ अष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणे प्रथमः परिच्छेदः समाप्तः ॥



॥ ॐ ॥

॥ आप्तमीमांसा—तद्भाष्यसंवलिताष्टसहस्रीवृत्तिसमन्वितोष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणे—

॥ द्वितीयः परिच्छेदः ॥

श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः। विज्ञायते ययैव स्वसमयपरसमयसद्भावः ॥ १ ॥

अद्वैतैकान्तपक्षेऽपि दृष्टो भेदो विरुध्यते। कारकाणां क्रियायाश्च नैकं स्वस्मात्प्रजायते ॥ २४ ॥

सदाद्येकान्तेषु दोषोद्भावनमभिहितमाचार्यैः केवलमद्वैतैकान्ताभ्युपगमात्, न तावतानेकान्तसिद्धिरिति चेत्, न, प्रत्यक्षादिविरोधात्। न हि कस्यचिदभ्युपगममात्रं प्रमाणसिद्धं क्रियाकारकभेदं प्रतिरुणद्धि, क्षणिकाभ्युपगमवत्। नन्विदमयुक्तमेव संलक्ष्यते। "अद्वैतं ह्यैकात्म्यं, द्वाभ्यामित द्वीतं, द्वीतमेव द्वैतं, न द्वैतमद्वैतम्" इति व्याख्यानात्। तस्यैकान्तस्तदेवेत्यभिनिवेशः। तस्य पक्षः प्रतिज्ञाभ्युपगममात्रम्। तस्मिन्नपि दृष्टः साक्षात्कृतोऽनुमितश्च कारकाणा कर्त्रादीनां क्रियायाश्च स्थानगमनादिरूपाया निष्परिस्पन्दस्वभावायाः परिस्पन्दरूपायाश्च भेदः प्रत्यक्षेणानुमानेन च विरुध्यते, तदभ्युपगममात्रस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धक्रियाकारकभेदप्रतिरोधित्वासभवात् क्षणिकत्वाभ्युपगमवदिति तात्पर्यव्याख्यानमकलङ्कदेवानाम् ॥ न हि कारकभेदः प्रत्यक्षादिनाऽद्वैतेऽपि विरुध्यते, पादपस्यैकस्य युगपत्क्रमेण वा कर्त्राद्यनेककारकात्मकत्वप्रतीतेः ? क्रियानानात्वमप्येकस्य तथैव न प्रतिषिध्यते, देशाद्यपेक्षया गमनागमनयोः स्थानशयनयोर्वा सकृदपि निश्च-

यात् । तद्वदेकमपि परब्रह्म सकलक्रियाकारकभेदात्मकतया न विरोधमध्यास्ते, तथा प्रतिभासवैचित्र्येऽप्येकत्वाव्याघातान्चित्रज्ञानवदित्य-पर., सोऽप्येव प्रष्टव्यः । क्रियाकारकभेदप्रपञ्चः किमजन्मा जन्मवान्वा ? न तावदजन्मा, कादाचित्कत्वात्, यस्त्वजन्मा स न कादाचित्को यथात्मा, कादाचित्कश्चायं, तस्मान्नाजन्मेति बाधकसद्भावात्। जन्मवाँश्चेत्, कुतो जायते इति वक्तव्यम्? परमपुरुषादेवेति चेत्, कथमद्वैतसिद्धिः ? कारणकार्ययोर्द्वैतप्रसिद्धेः। क्रियादिकार्यस्य ब्रह्मणोऽनन्यत्वादद्वैतमेवेति चेत्, कथ स्वस्मादेव तस्य जन्म युज्यते ? कथं च कार्यादभिन्नस्य ब्रह्मणोऽकार्यत्वम्? यतो नित्यत्वं स्यात्। परस्माज्जायते इति चेत्, द्वैतसिद्धिः, पुरुषात्परस्य क्रियाकारकभेदहेतोरभ्युपगमात्। परस्यानाद्यविद्यारूपत्वादकिञ्चिद्रूपस्य द्वितीयत्वायोगान्न द्वैतसिद्धिरिति चेत्, कथमकिंचिद्रूपस्य कारणत्वम् ? कार्यस्याप्यकिंचिद्रूपत्वाददोष इति चेत्, किमिदानीं खरविषाणादश्वविषाणस्य जन्मास्ति ?, नेति चेत्, कथमविद्यात्मनः कारणादविद्यात्मककार्यस्योत्पत्तिः ? माहेन्द्रादिषु मायामयादेव पावकादेस्तथाविधधूमादिजन्मदर्शनाददोष इति चेत्, न, तत्रापि पावकधूमाद्योः सर्वथा मायामयत्वासिद्धेः। न हि तत्प्रतिभासयोर्मायारूपत्वम्, स्वसंवेदनसिद्धत्वात् । नापि बहिःसद्द्रव्यादिरूपयोर्मायास्वभावत्वम्, व्यभिचारित्वाभावात् । तद्विशेषाकारयोर्मायारूपत्वमिति चेत्, न, तद्विविक्तवस्तुव्यतिरेकेण मायायाः सम्भवाभावात्।तथा क्रियाकारकभेदप्रपञ्चाकारविविक्तपरब्रह्म-व्यतिरेकेणाविद्यायाः सम्भवाभावे कथ वेदान्तवादिनामविद्यातः कार्यस्याविद्यात्मनो जनने स्वस्मादेव स्वस्य जन्म न भवेत् ? तच्च प्रमाणविरुद्धं न शक्य व्यवस्थापयितुं नैरात्म्यवत्, क्रियाकारकभेदोय न स्वतो जायते परतो वा, अपि तु जायते एवेति सुषुप्सायते, प्रतिपत्त्युपायाभावात्, दृष्टेष्टविरोधप्रसङ्गात् । न हि किंचित्स्वस्मात् परस्माच्चाजायमान जन्मवदेव दृष्टमिष्टं वा, येन तथा प्रतिपत्त्युपायरहित ब्रुवाणः सुषुप्तमिवात्मान नाचरेत् । तस्माद्यद्दृष्टविरुद्धं तन्न समञ्जस यथा नैरात्म्यम् । विरुध्यते च तथैवाद्वैत क्रियाकारक-

भेदप्रत्यक्षादिभिः । एकस्मिन्नपि क्रियाकारकभेदप्रत्यक्षादेः संभवात् स्वप्नसंवेदनवत् कथमद्वैतं विरुद्धमिति चेत्, न, स्वप्नसंवेदनस्याप्येकत्वे तद्विरोधस्य तदवस्थत्वात् । तत्रान्यदेव हि क्रियाविशेषसवेदनं स्ववासनोत्थम्, अन्यदेव च कारकविशेषसवेदनं प्रत्यक्षमनुमानादि वा, न पुनरेकमेव, तद्धेतुवासनाभेदाभावप्रसङ्गात्, जाग्रद्दशायामिव स्वप्नादिदशायामपि पुंसोऽनेकशक्त्यात्मकस्य क्रियाकारकविशेषप्रतिभासवैचित्र्यव्यवस्थितेः । कस्यचिदेकरूपस्यात्मगगनादेरप्यनेकान्तवादिनामनेकक्रियाकारकविशेषप्रतिभासालम्बनत्वसिद्धेर्विरुद्धमेतत्प्रत्यक्षादिभिरद्वैतम् । न हि करोति कुम्भं कुम्भकारो दण्डादिना, भुङ्क्ते पाणिनौदनमित्यादिप्रत्यक्षं भ्रान्तम्, येनाद्वैतस्य विरोधकं न स्यात् । सर्वत्र क्रियाकारकादिरूपं कथंचिद्भिन्नम्, भिन्नप्रतिभासित्वान्यथानुपपत्तेरित्यनुमानं वा नाना जीवा इत्यादिप्रवचनं वा न विभ्रमाक्रान्तम्, येनाद्वैतं न विरुन्ध्यात् । स्यादाकूत 'विवादापन्नं प्रत्यक्षादि मिथ्यैव, भेदप्रतिभासित्वात् स्वप्नप्रत्यक्षादिवत्' इति, तदसत् । प्रकृतानुमाने पक्षहेतुदृष्टान्तभेदप्रतिभासस्यामिथ्यात्वे तेनैव हेतोर्व्यभिचारात्, तन्मिथ्यात्वे तस्मादनुमानात्साध्याप्रसिद्धेः । पराभ्युपगमात्पक्षादिभेदप्रतिभासस्यामिथ्यात्वे न दोष इति चेत्, न, स्वपराभ्युपगमभेदप्रतिभासेन व्यभिचारात् । तस्यापि पराभ्युपगमान्तरादमिथ्यात्वाद्दोषाभावे स एव तद्भेदप्रतिभासेन व्यभिचार इति न कचिद्व्यवतिष्ठेत । कश्चिदाह 'ब्रह्माद्वैतस्य संविन्मात्रस्य स्वतः सिद्धस्य क्रियाकारकभेदप्रत्यक्षादीनां बाधकस्य भावात्तेषां भ्रान्तत्वम्, ततो न तद्विरोधकत्वम्' इति, तदपि न साधीयः, तथा सति बाध्यबाधकयोर्भेदात् द्वैतसिद्धिप्रसङ्गात् । न च परोपगममात्रात्तयोर्बाध्यबाधकभावः, परमार्थतस्तदभावापत्तेः, प्रतिभासमात्रवत्प्रतिभासमात्रविशेषस्यापि सत्यत्वसिद्धेरनेकान्तव्यवस्थानात् । तदेकान्ततः पुरुषाद्वैतं प्रत्यक्षादिविरुद्धमेव ॥ २४ ॥

यत्तीर्थे विमले क्रियोज्ज्वलगुणैः संसेविते साधुभिः, गच्छः स्वच्छतरस्तपाह्वय इह प्राप्तः प्रसिद्धिं पराम् ।

समाचार्यपि चारुतामचकलत्तत्रैव मैत्रीगृहे, तं श्रीवीरजिनेन्द्रमप्रतिहतानन्दाय वन्दामहे ॥ १ ॥
सन्नयोत्प्रेक्षयाऽकम्प्र–सम्प्रदायाश्रयान्मम ॥ व्याख्यातुर्जैनतन्त्राणां विघ्नं हरतु भारती ॥ २ ॥

अद्वैतैकान्तनिरासपूर्वमेकत्वपृथक्त्वसप्तभङ्गीसाधनायोपक्रमते–अद्वैतैकान्तपक्षेऽपीत्यादिना ॥ नन्विदमित्यादिर्भाष्यतात्पर्यार्थो वृत्तिकृतैव प्रकाश्यते, तेन ननुरक्षमार्थो, न तु पूर्वपक्षार्थः, तदुपमर्दाभावादिति मन्तव्यम् । इदमद्वैतैकान्तवाद्युक्तम्, तस्मिन्नपि व्याख्याताद्वैतस्वीकारेऽपि, क्रियाकारकभेदप्रतिभासो बाधितो भविष्यतीत्यत आह–'तदभ्युपगममात्रस्येति' अद्वैताभ्युपगममात्रान्न तद्बाधोऽन्यच्च बाधकं न पश्याम इत्यबाधितक्रियाकारकभेदप्रतिभासादद्वैतपक्षो मिथ्यैवेति भावः । पारमार्थिकेऽद्वैते औपाधिकः क्रियाकारकसम्बन्धभेदो न विरोधमावहतीत्याशङ्कते–न हीत्यादिना, अपरोऽद्वैतवादी, परमार्थतो भेदाभावे प्रपञ्चब्रह्मणोः कार्यकारणभावो दुर्घट इति वक्तुमुपक्रमते–सोऽप्येवं प्रष्टव्य इत्यादिना ॥ कथञ्चेति, न च कार्यं ब्रह्मैव ब्रह्म च कार्यदशायां कार्यमन्यदा चाकार्यमित्येवमभेदेऽपि सुवर्णतद्विकारवत् कार्यकारणभाव इति शङ्कनीयम् । एवं सति भेदाभेदवादप्रसङ्गात्, कार्यदशायामपि तदभिन्नत्वे कूटस्थत्वव्याघाताच्च, तर्हि प्रपञ्चोऽविद्याजन्मास्त्वित्याशङ्क्य निषेधति–परस्मादित्यादिना ॥ 'अकिञ्चिद्रूपस्येति' अविद्याया असत्याया द्वितीयायाः कारणभूताया अभ्युपगमेऽपि सदद्वैताव्याकोपादित्यर्थः । माहेन्द्रादिष्विति उड्डीशादिग्रन्थप्रसिद्धेन्द्रजालादिकर्मसु, तद्विशेषाकारयोरिति अतद्देशस्थयोरपि तद्देशत्वेन प्रतीयमानयोरित्यर्थः । 'तद्विविक्तेति' अन्यदेशे तत्सत्त्वान्न सर्वथा मायामयत्वमिति भावः । प्रतिपत्त्युपायाभावादिति, न चाकस्मादेवोत्पत्तेरयमदोषः, तत्पक्षस्य "हेतु-

भूतिनिषेधो न " इत्यादिना पञ्चभिर्विकल्पैरुदयनादिभिर्दूषितत्वात्, न चानुपाख्यादुत्पत्तिपक्षोऽदूष्यः, तादृशादेवाविद्याविलासात् प्रपञ्चोत्पत्त्यभ्युपगमादिति वाच्यम्, अविद्यातत्कार्यस्यानुपाख्यत्वे तन्निवृत्तेरनात्मस्वरूपत्वेनानिर्मोक्षापातात्, अतिरिक्तायास्तस्यास्तत्सम्बन्धस्य चात्मन्यभ्युपगमे तु मुक्तावपि द्वैतप्रसङ्गादिति न किञ्चिदेतत् । एकस्मिन्नपीति यथैकस्मिन् स्वप्नज्ञाने गजतुरगादीनामनेकेषां प्रतिभासनं तथा परब्रह्मण्येकस्मिन् घटपटादिभेदानां भानमद्वैतपक्षेऽप्यविरुद्धमिति भावः। एकत्वे सर्वथैकत्वे, तद्विरोधस्य क्रियाकारकभेदप्रत्यक्षादिविरोधस्य, अनेकशक्त्यात्मकस्येति अन्यथा जाग्रत्स्वप्नविशेषस्य स्वप्नावान्तरविशेषस्य चानुपपत्तेरिति भावः । न च जाग्रत्स्वप्नारम्भकाज्ञानविशेषात् स्वप्नविशेषारम्भकतद्विशेषाच्च तदुपपत्तिर्मूलाज्ञाननिष्ठशक्तिविशेषाद्वेति वाच्यम्, तस्य कर्मतच्छक्त्यतिरिक्तत्वे मानाभावात्, तत्कार्यक्रियाकारकप्रतिभासभेदानामन्तःकरणधर्माणामात्मनि भानाभ्युपगमेऽन्यथाख्यात्यापत्तेः, आत्मनिष्ठानामनिर्वचनीयानां तेषामभ्युपगमेऽन्तःकरणात्माधारभेदेन सत्येतरविवेकस्य विना शपथ दुष्करत्वात्, विविधप्रतिभासादितन्निष्ठानन्तधर्मादिकल्पनायां महागौरवेणात्मनिष्ठानामेव तेषां परिकल्पनौचित्यात्, आत्मनि कौटस्थ्यस्य ब्रह्माद्वैतस्य च विलूनशीर्णत्वादिति दिग् । अथैकस्य निरंशस्यात्माकाशादेरनेककारकाद्यालम्बनत्वं यथा तथा ब्रह्मणोऽपि भविष्यतीत्याशङ्कायामाह–' कस्यचिदित्यादि ' ॥ तथा चानेकान्तावलम्बनं विनात्माकाशादेरप्यनेककारकालम्बनत्वमयुक्तमिति न तद्दृष्टान्तेनाद्वैताविरोध इति सिद्धम् । क्रियाकारकभेदप्रतिभासस्य मिथ्यात्वात्तेन नाद्वैतधीविरोध इत्याशङ्क्य निराकरोति–स्यादाकूतमित्यादिना ॥ पराभ्युपगमादिति एवं हि तत्र प्रातिभासिकममिथ्यात्वं सिद्धं साध्यते च पारमार्थिकं मिथ्यात्वमिति

न व्यभिचार इत्यर्थः ॥ 'स एवेति' विशेषेऽनुगमाभावेन सामान्यत एव मिथ्यात्वस्य साध्यत्वादिति भावः। न च तत्त्वज्ञाननाश्यतावच्छेदको धर्मः परमार्थतो मिथ्यात्वमद्वैतसिद्धेः पूर्वं सिद्ध इति तत्साध्यत्वप्रत्याशापि दत्तपदेति स्मर्त्तव्यम्। अद्वैतधीरेव महावाक्यजनितत्वेन निश्चितप्रामाण्यत्वात् क्रियाकारकभेदप्रतिभासविरोधिनी, न तु स तद्विरोधी, सन्दिग्धप्रामाण्यकत्वेन दुर्बलत्वादिति कस्यचिन्मतमुत्थापयति–कश्चिदाहेत्यादिना ॥ तथापि बाध्यबाधकबलादेव द्वैतसिद्धिः स्यादिति समाधत्ते–तदपि न साधीय इत्यादिना, एतेनात्मविषयकापरोक्षभ्रमनिवर्त्तकत्वेनात्माद्वैतापरोक्षज्ञानमेव बलवत्, तच्च सकलभेदप्रपञ्चनाशकमिति तत्सिद्धौ द्वैतबाध इत्यप्यपास्तम्। आत्मसाक्षात्कारेण देहादावात्माभेदभ्रमनिरासे तद्भेदस्यैव परमार्थतः सिद्धेः। निर्विकल्पकस्य भ्रमाविरोधित्वेन सविकल्पात्मसाक्षात्काराश्रयणे ब्रह्मणो निर्द्धर्मकत्वव्याघाताच्च। किञ्च महावाक्यजन्यापरोक्षवृत्तिविषयतैव ब्रह्मणो दुर्घटा निर्द्धर्मकत्वहानेरिति, कथं तदद्वैतधियो बलवत्त्वम्, एतेन मिथ्याज्ञानवासनानाशकत्वं तत्त्वज्ञानस्य वैजात्येनैव, न तु तत्र समानप्रकारकत्वमपि तत्रमित्युक्तावपि न क्षतिरिति दिग् ॥ २४ ॥

तथास्मिन्नद्वैतैकान्ते दूषणान्तरमुपदर्शयन्तः प्राहुः ॥

कर्मद्वैतं फलद्वैतं लोकद्वैतं च नो भवेत्। विद्याऽविद्याद्वयं न स्याद्बन्धमोक्षद्वयं तथा ॥ २५ ॥

लौकिकं वैदिक च कर्मेति वा कुशलमकुशल च कर्मानुष्ठानमिति वा पुण्यं पापं च कर्मेति वा कर्मद्वैतं न स्यात्। तदभावादिहामुत्र च श्रेयःप्रत्यवायलक्षणं फलद्वैतं न स्यात्, कारणाभावे कार्यस्यानुत्पत्तेः। तत एवेहलोकपरलोकलक्षणं लोकद्वैतं न स्यात्। कर्मादिद्वैतस्यानाद्यविद्योपदर्शितत्वाददोष इति चेत्, न, धर्माधर्मद्वैतस्याभावे विद्याविद्याद्वयस्यासंभवाद्बन्धमोक्षद्वयवत्। पूर्वाविद्योदयादेव

विद्याविद्याद्वयं बन्धमोक्षद्वयं च, परमार्थतस्तदसम्भवात् " न बन्धोस्ति न वै मोक्ष इत्येषा परमार्थता " इति प्रवचनात् प्रतिभासमात्रस्य परब्रह्मण एव तात्त्विकत्वादिति चेत्, न, नैरात्म्यस्यापि तात्त्विकत्वापत्तेस्तत्कल्पनाया नैष्फल्याविशेषात्। सर्वो हि प्रमाणप्रत्यनीकं स्वमनीषिकाभिरद्वैतमन्यद्वा किंचित्फलमुद्दिश्यारचयेत्, अन्यथा तत्प्रति प्रवर्तनायोगात्प्रेक्षावृत्तेः। तथाहि। पुण्यपापसुखदुःखेहपरलोकविद्येतरबन्धमोक्षविशेषरहितं प्रेक्षापूर्वकारिभिरनाश्रयणीयम्। यथा नैरात्म्यदर्शनम्। तथा च प्रस्तुतम्। तस्मात्प्रेक्षापूर्वकारिभिरनाश्रयणीयम्। इति न तज्जिज्ञासापि श्रेयसी॥ २५॥

'नैरात्म्यस्यापीति' बौद्धदृष्ट्या तत्रापि स्वागमजन्यतत्त्वज्ञानविषयत्वाविशेषात्, नैष्फल्याविशेषादिति व्यवहारबाधदूषणस्य भूषणतायां उभयमतेऽपि सुवचत्वादिति तात्पर्यम्। 'यथा नैरात्म्यदर्शनमिति' न च प्रमाणगवेषणया प्रतिभासस्यावश्योपस्थितत्वात्तद्भेदस्योपाधिभिरेवोपपत्तेस्तस्य प्रागभावध्वंसप्रतियोगित्वकल्पने गौरवान्नित्यचिदात्मसिद्धिरेव नैरात्म्यसिद्धिमुपहन्तुं प्रगल्भत इति मधुसूदनसरस्वत्युक्तमपि क्षोदक्षमम्, प्रामाणिकस्य प्रतिभासस्य ध्वंसप्रागभावाप्रतियोगित्वकल्पनापेक्षया तत्प्रतियोगिताकल्पन एव लाघवात्, अज्ञातासत्त्वस्वीकारे गृहाद्बहिर्निर्गतस्य पुत्राद्यभावशङ्कयोरःशिरस्ताडनादिप्रसङ्गस्य च नैरात्म्यवादे बौद्धस्येव दृष्टिसृष्टिवादे वेदान्तिनोऽपि वज्रलेपत्वात्। वस्तुतः स्वामिकदण्डघटादिकार्यकारणभावतुल्यत्वात् यागस्वर्गादिकार्यकारणभावानां वैदिककर्ममात्रेऽनाश्वासाद्वेदान्तधर्मश्रद्धावतां न कदापि स्वोरस्ताडनाद्विरतिः। अथेदृग्दूषणास्पदं दृष्टिसृष्टिवादं त्यक्त्वा व्यवहारवादं स्वीकुर्वन् वेदान्ती निर्दोषो भविष्यतीति चेत्, मैवम्, अव्यवहारिणस्तस्य केनापि व्यवहारिपङ्क्तावप्रवेशनात्, भाट्टस्तत्र तं प्रवेशयिष्यतीति चेत्, न, कर्मविधिशे-

पत्वाद्वेदान्तानामप्रामाण्यं वदता तेन तस्य दूरत एव वर्जनात्। आश्रयतां वा भाट्टमतं बलाद् व्यवहारवादे वेदान्ती, तथापि स्वर्गनरकादेर्व्यावहारिकपदार्थस्याविद्याजन्यस्योपगमे एकस्याविद्यानाशे स्वर्गनरकाद्युच्छेदान्निर्दुःखसुखं जगत् स्यात्, तत्तदविद्याजन्यतत्तत्स्वर्गनरकाद्यभ्युपगमे चापेक्षिकत्वेन तस्य प्रातिभासिकत्वमागतं, न व्यावहारिकत्वम्, यावत्पदार्थनाशः सर्वमुक्तावेव, तद्विलासजन्यस्त्वन्यदापीत्यदोष इत्यपि न क्षोदक्षमम्। एवं सत्यध्यारोपबाधक्रमेण प्रतिपुरुषं मोक्षोपायनानात्वेन प्रतिपुरुषं जगत्सृष्टिभेदापत्तेरसमाधानात्, कथं चावस्थितव्यावहारिकपदार्थाभ्युपगमे तं पारमार्थिकत्वेन पश्यतां योगिनां नात्यन्तभ्रान्तत्वम्, योगिनः प्रत्यविद्याशक्तिविशेषेण तत्र प्रतिभामसत्त्वमेव जन्यत इति चेत्, न, क्षणिकवादिवैलक्षण्ये तत्र तदेत्यस्य वाच्यत्वात्, तथाऽप्यन्यं प्रति व्यावहारिके उभयप्रतिभासप्रसङ्गाच्च, तस्मादापेक्षिकसत्त्वं ब्रुवाणो ज्ञानमात्रमभ्युपगम्य भेदमात्रमपह्नुवानो वेदान्ती माध्यमिकं नातिशयीतेति सुनिश्चिता नः प्रतीतिः ॥ २५ ॥

स्यान्मतं " न ब्रह्माद्वैतं प्रमाणप्रत्यनीकत्वात् स्वमनीषिकाभिरारचितं, तस्यानुमानादागमाद्वा प्रमाणात्प्रसिद्धेः। तथा हि। यत्प्रतिभाससमानाधिकरणं तत्प्रतिभासान्तःप्रविष्टमेव। यथा प्रतिभासस्वरूपम्। प्रतिभाससमानाधिकरणं च सर्वम्। इति हेतोः परब्रह्मसिद्धिः। न चायमसिद्धः, सुखं प्रतिभासते रूपं प्रतिभासते इति सर्वत्र प्रतिभाससमानाधिकरणत्वस्य प्रतीतेरन्यथा सद्भावासिद्धेः। अप्रतिभासमानस्यापि सद्भावे सर्वस्य मनोरथसिद्धिप्रसङ्गान्न किंचिदसत्स्यात्। अथ प्रतिभासव्यतिरिक्तस्य प्रतिभास्यस्यार्थस्यान्तर्वहिर्वोपचारात्प्रतिभाससमानाधिकरणत्वव्यवस्थितेः प्रतिभासस्वरूपस्य मुख्यतोपपत्तेरसिद्धो हेतुरिति मतम्, तदप्यसम्यक्, प्रतिभास्यप्रतिभासयोस्तद्भावानुपपत्तेः। प्रतिभासस्य हेतुत्वात्प्रतिभास्योर्थ इति चेत्, न, प्रतिभासमात्रस्याहेतुकत्वात्कस्यचित्तद्धेतुत्वायोगात्। तदहेतुकत्वम्,

अकादाचित्कत्वात्, अन्यथा कदाचित्तदभावप्रसङ्गात्। प्रतिभासालम्बनत्वात्प्रतिभास्योर्थो भवतीति चेत्, कुतस्तस्य प्रतिभासालम्बनत्वम्? प्रतिभास्यत्वादिति चेत्, परस्पराश्रयणम्। प्रतिभासालम्बनत्वयोग्यत्वादिति चेत्, तर्हि प्रतिभासस्वरूपमेव प्रतिभास्यं, तस्यैव प्रतिभासालम्बनत्वोपपत्तेः, सर्वत्र प्रतिभासस्य स्वरूपालम्बनत्वात्। तथा च कथं विषयस्योपचरितं प्रतिभाससमानाधिकरणत्वं, यतोऽसिद्धो हेतुः स्यात्। तत एव नानैकान्तिको, विरुद्धो वा, प्रतिभासान्तरऽप्रविष्टस्य कस्यचिदपि प्रतिभाससमानाधिकरणत्वायोगाद्धेतोर्विपक्षवृत्त्यभावात्। नाश्रयासिद्धिरपि हेतोः शङ्कनीया, सर्वस्य धर्मिणः परब्रह्मण एवाश्रयत्वात् 'ब्रह्मेति ब्रह्मशब्देन कृत्स्नं वस्त्वभिधीयते। प्रकृतस्यात्मकार्त्स्न्यस्य वै-शब्दः स्मृतये मतः ॥१॥' इति श्रुतिव्याख्यानात्, ततोऽनवद्याद्धेतोर्भवत्येवाद्वैतसिद्धिः। तथोपनिषद्वचनादपि 'सर्वं वै खल्विद ब्रह्म' इत्यादिश्रुतिसद्भावात्, ततस्तद्भ्रान्तिनिराकरणात्" इति। तदेतत्प्रतिविधित्सवः प्राहुः—

हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेद्द्वैतं स्याद्धेतुसाध्ययोः। हेतुना चेद्विना सिद्धिर्द्वैतं वाङ्मात्रतो न किम् ॥२६॥

ननु च प्रतिभाससमानाधिकरणत्वाद्धेतोः सर्वस्य प्रतिभासान्तःप्रविष्टत्वेन पुरुषाद्वैतसिद्धावपि न हेतुसाध्ययोर्द्वैतं भविष्यति, तादात्म्योपगमात्। न च तादात्म्ये साध्यसाधनयोस्तद्भावविरोधः, सत्त्वानित्यत्वयोरपि तथाभावविरोधानुषङ्गात्। कल्पनाभेदादिह साध्यसाधनधर्मभेदे प्रकृतानुमानेपि कथमविद्योदयोपकल्पितहेतुसाध्ययोस्तद्भावविघात., सर्वथा विशेषाभावादिति चेत्, न, शब्दादौ सत्त्वानित्यत्वयोरपि कथंचित्तादात्म्यात् सर्वथा तादात्म्यासिद्धेः, तत्सिद्धौ साध्यसाधनभावविरोधात्। न चासिद्धमुदाहरण नाम, अतिप्रसङ्गात्। ततो न हेतोरद्वैतसिद्धिः। हेतुना विनैवागममात्रात्तत्सिद्धिरिति चेत्, न, अद्वैततदागमयोर्द्वैतप्रसङ्गात्। यदि पुनरागमोप्यद्वयपुरुषस्वभाव एव न ततो व्यतिरिक्तो येन द्वैतमनुपज्यते इति मतम्, "उर्द्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्। छन्दांसि तस्य

पर्वाणि यस्तं वेत्ति स वेदवित्' इति वचनात्, तदा ब्रह्मवत्तदागमस्याप्यसिद्धत्वं स्यात्, सर्वथाप्यसिद्धस्वभावस्य सिद्धत्वविरोधात् सिद्धासिद्धयोर्भेदप्रसक्तेः। तदेव यदसिद्धं तन्न हितेप्सुभिरहितजिहासुभिर्वा प्रतिपत्तव्यम्, यथा शून्यतैकान्तः, तथा चासिद्धमद्वैतमिति। अत्र नासिद्धो हेतुः, पुरुषाद्वैतस्यानुमानादागमाद्वा सिद्धत्वायोगात्। प्रतिभाससमानाधिकरणत्वानुमानात्तत्सिद्धिरिति चेत्, न, तस्य विरुद्धत्वात्, प्रतिभासतद्विषयाभिमतयोः कथंचिद्भेदे सति समानाधिकरणत्वस्य प्रतीतेः सर्वथा प्रतिभासान्तःप्रविष्टत्वासाधनात् स्वविषयस्य। न हि शुक्लः पट इत्यादावपि सर्वथा गुणद्रव्ययोस्तादात्म्ये सामानाधिकरण्यमस्ति, सर्वथाभेदवत्, प्रतिभासस्वरूपं प्रतिभासते इत्यत्रापि न प्रतिभासतत्स्वरूपयोर्लक्ष्यलक्षणभूतयोः सर्वथा तादात्म्यमस्ति, प्रतिभासस्य साधारणासाधारणधर्माधिकरणस्य स्वरूपादसाधारणधर्मात्कथंचिद्भेदप्रसिद्धेरन्यथा तत्सामानाधिकरण्यायोगात्, सुवर्णं सुवर्णमिति यथा, सह्यविन्ध्यवद्वा, तदेवं यत्प्रतिभाससमानाधिकरणं तत् प्रतिभासात्कथंचिदर्थान्तरं, यथा प्रतिभासस्वरूपं, प्रतिभाससमानाधिकरणं च सुखनीलादि सर्वमिति साध्यविपरीतसाधनाद्धेतोर्नाद्वैतसिद्धिः। 'सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म' इत्याद्याम्नायादपि द्वैतसिद्धिरेव स्यात्, सर्वस्य प्रसिद्धस्याप्रसिद्धेन ब्रह्मत्वेन विधानात्, सर्वथा प्रसिद्धस्य विधानायोगादप्रसिद्धवत्। क्वचिदात्मव्यक्तौ प्रसिद्धस्यैकात्म्यरूपस्य ब्रह्मत्वस्य सर्वात्मस्वऽनात्माभिमतेषु च विधानाद् द्वैतप्रपञ्चारोपव्यवच्छेदेपि तदागमाद्व्यवच्छेद्यव्यवच्छेदकसद्भावसिद्धेः कथमद्वैतसिद्धिः? आम्नायस्य परब्रह्मस्वभावत्वेपि न ततस्तदद्वैतसिद्धिः, स्वभावस्वभाववतोस्तादात्म्यैकान्तानुपपत्तेः। स्वसंवेदनमेव पुरुषाद्वैतसाधनमिति चेत्, नैतदपि सारम्, निगदितपक्षदोषोपनिपातात्। तथा हि। तत्सिद्धिर्यदि साधनात्साध्यसाधनयोस्तर्हि द्वैतं स्यात्। अन्यथाऽद्वैतसिद्धिवद्द्वैतसिद्धिः कथं न स्यात्? स्वाभिलापमात्रादर्थसिद्धौ सर्वं सर्वस्य सिध्येत्। न हि स्वसंवेदनमपि साधनमात्मनोऽनन्यदेव, साधनत्वविरोधात्, अनुमानागमवत्साध्यस्यैव

साधनत्वापत्तेः, प्रकृतानुमानागमयोरिव स्वसंवेदनप्रत्यक्षस्यापि साधनस्याभावात्, स्वतः सिद्धं ब्रह्मेत्यभ्युपगमे द्वैतमपि स्वतः सकलसाधनाभावेपि किं न सिध्येत् ? तत्त्वोपप्लवमात्रं वा ? नैरात्म्यं वा ? स्वाभिलापमात्राविशेषात्, सर्वस्य सर्वमनोरथसिद्धिरपि दुर्निवारा स्यात्। एतेनैतदपि प्रत्याख्यातं यदुक्तं बृहदारण्यकवार्तिके "आत्मापि सदिदं ब्रह्म मोहात्पारोक्ष्यदूषितम्। ब्रह्मापि स तथैवात्मा सद्वितीयतयेक्ष्यते ॥ १ ॥ आत्मा ब्रह्मेति पारोक्ष्यसद्वितीयत्वबाधनात्। पुमर्थे निश्चितं शास्त्रमिति सिद्धं समीहितम् ॥ २ ॥" इति, मोहस्याविद्यारूपस्याकिंचिद्रूपत्वे पारोक्ष्यहेतुत्वाघटनात् सद्वितीयत्वदर्शननिबन्धनत्वासभवात्, तस्य वस्तुरूपत्वे द्वैतसिद्धिप्रसक्तेस्तत एव पारोक्ष्यसद्वितीयत्वयोर्बोधनात्, पुमर्थे निश्चितं शास्त्रमित्येतस्यापि द्वैतसाधनत्वात्, शास्त्रपुमर्थयोर्भेदाभावे साध्यसाधनभावासंभवात् ॥ २६ ॥

तदभावानुपपत्तेः प्रतिभासस्वरूपाभावानुपपत्तेः, '**तर्हीति**' प्रतिभासविषयताया अभेदनियतत्वादिति भावः। **यदि पुनरागमोऽपीति** मृन्मयगजभानेऽपि मृद्भानवत् सर्वत्र ब्रह्मभानेन तद्विषयत्वेनैवागमज्ञानस्यापि सत्यत्वादिति भावः। '**ऊर्ध्वमूलमिति**' ऊर्ध्वं शुद्धबुद्धस्वरूपावस्था मूलं यस्य स तथा तम्, अधोऽविद्याजन्यप्रपञ्चविलासावस्था शाखा यस्य स तथा तम्, **असिद्धत्वं स्यादिति** विशिष्याज्ञानादित्यर्थः, सामान्यज्ञानं तु सन्देहाविरोधि, सर्वं ज्ञानं शब्दब्रह्मविषय वेति सन्देहस्याप्यन्ततः सम्भवादिति स्मर्त्तव्यम्, स्वविषयस्य प्रतिभास्यस्य, **सर्वथा भेदवत्** सर्वथा भेदपक्ष इव। **कथञ्चिद्भेदप्रसिद्धेरिति** स्वरूपपदस्य विशेषपरत्वादिति भावः। **साध्यस्यैव साधनत्वापत्ते**र्ब्रह्मान्तर्भावात्, **साधनस्य** पृथक्साधनत्वेन विवक्षितस्याभावादित्यन्वयः। **किं न सिद्ध्येदिति**, श्रुतेरद्वैतविषयिण्या इव द्वैतविषयिण्या अपि बहुश उपलम्भादित्यर्थः। स्वस्वाभ्युपगममात्रेण चान्योऽप्यतिप्रसङ्गो दुर्निवार इत्याह–**तत्त्वोपप्लवमात्रं वेत्यादिना, आत्मापीति**

(स) तदिदं ब्रह्मापि तत्त्वेन वस्तुतोऽपरोक्षमपि मोहादज्ञानात्, पारोक्ष्यदूषितं दोषप्रयोज्यपारोक्ष्याभिलापाक्रान्तम्, ईक्ष्यत इत्युत्तरक्रियान्वयः। तथैव स प्रसिद्ध आत्मा ब्रह्मापि ब्रह्माभिन्नोऽपि, मोहादज्ञानात्, सद्वितीयतया भेदाक्रान्ततयेक्ष्यते। आत्मा ब्रह्मेति वेदान्तफलीभूततत्त्वज्ञाने सति ब्रह्मण्यध्यस्तयोः पारोक्ष्यसद्वितीयत्वयोर्बाधने सति, शास्त्रं पुमर्थे निश्चितं निश्चितपुरुषार्थं जातम्, इति हेतोः, अज्ञाननिवृत्त्यैव कण्ठगतचामीकरोपलम्भन्यायेनोद्देश्यसिद्धेरित्यर्थः ॥२६॥

अद्वैतं न विना द्वैतादहेतुरिव हेतुना। संज्ञिनः प्रतिषेधो न प्रतिषेध्यादृते क्वचित् ॥ २७ ॥

कथं पुनर्हेतुना विनाऽहेतुरिवाद्वैत द्वैताद्विना न सिद्ध्यतीति निश्चितमिति चेत्, उच्यते, अद्वैतशब्दः स्वाभिधेयप्रत्यनीकपरमार्थापेक्षो नञ्पूर्वाखण्डपदत्वादहेत्वभिधानवदित्यनुमानात्। अनेकान्तशब्देन व्यभिचार इति चेत्, न, तस्यापि सम्यगेकान्तेन विनानुपपद्यमानत्वात्। एवममायादिशब्देनापि न व्यभिचारः, तस्य मायादिनाऽविनाभावित्वात्। तथा नञ्पूर्वग्रहणात् केवलेन शब्देन व्यभिचारो निरस्तः, पदांशेनाखण्डग्रहणात् अखरविषाणादिशब्देन च न। ततो नात्र किंचिदतिप्रसज्यते, तादृशो नञो वस्तुप्रतिषेधनिबन्धनत्वात्। न ह्यखण्डपदविशेषणस्य नञः क्वचिदवस्तुप्रतिषेधनिबन्धनत्वमुपलब्धं, पदान्तरोपहितपदविशेषणस्यैव तथा प्रतीतेरखरविषाणमित्यादिवत्। अत एव सर्वत्र प्रतिषेध्यादृते सञ्ज्ञिनः प्रतिषेधाभावः प्रत्येतव्यः। न हि खरविषाणं सञ्ज्ञि किंचिदस्ति, येन तस्यापि सत एव कथंचित् प्रतिषेधः प्रसज्यते। ननु पुरुषाद्वैते परमार्थत प्रतिषेधव्यवहारासभवात् परोपगतस्य द्वैतस्य परप्रसिद्धन्यायादेवानुमानादिरूपादभावः साध्यते, न च स्वपरविभागोपि तात्त्विकः, तस्याविद्याविलासाश्रयत्वात्, ततो न कश्चिद्दोष इति चेत्, न, अविद्याया एव व्यवस्था-

पयितुमशक्तेः । ‘ननु च न वस्तुवृत्तमपेक्ष्याऽविद्या व्यवस्थाप्यते, तस्यामवस्तुभूताया प्रमाणव्यापारायोगात्। परब्रह्मण्यविद्यावति अविद्यारहिते च विद्याया विरोधादानर्थक्याच्च नाविद्याऽस्येत्यप्यविद्यायामेव स्थित्वा प्रकल्पनात्, ब्रह्माधारायास्त्वविद्यायाः कथमप्ययोगात्। यतश्चानुभवादविद्यास्मीति ब्रह्मानुभूतिमत्तत एव प्रमाणोत्थविज्ञानबाधिता सा, तदबाधने तस्या अप्यात्मत्वप्रसङ्गात्। तथा ब्रह्मण्यविज्ञाते तदविद्याव्यवस्थानुपपत्तेर्बाधासद्भावात् विज्ञातेपि सुतरा तदबाधनादव्यवस्थानं, अबाधिताया बुद्धेर्मृपात्वायोगात्। न चाविद्यावान्नरः कथंचिदविद्यां निरूपयितुमीशश्चन्द्रद्वयादिभ्रान्तिमिव जातितैमिरिक. । तदुक्तं “ब्रह्माऽविद्यावदिष्टं चेन्ननु दोपो महानयम्। निरवद्ये च विद्याया आनर्थक्यं प्रसज्यते ॥ १ ॥ नाऽविद्याऽस्येत्यविद्यायामेव स्थित्वा प्रकल्पते। ब्रह्माधारा त्वविद्येयं न कथंचन युज्यते ॥ २ ॥ यतोऽनुभवतोऽविद्या ब्रह्मास्मीत्यनुभूतिमत्। अतो मानोत्थविज्ञानध्वस्ता साप्यन्यथात्मता ॥ ३ ॥ ब्रह्मण्यविदिते बाधान्नाविद्येत्युपपद्यते। नितरां चापि विज्ञाते मृषा धीर्नास्त्यबाधिता ॥ ४ ॥ अविद्यावानविद्यां तां न निरूपयितुं क्षमः। वस्तुवृत्तमतोऽपेक्ष्य नाविद्येति निरूप्यते ॥ ५ ॥ वस्तुनोन्यत्र मानाना व्यापृतिर्न हि युज्यते। अविद्या च न वस्त्विष्टं मानाघाताऽसहिष्णुतः ॥ ६ ॥ अविद्याया अविद्यात्वे इदमेव च लक्षणम्। मानाघातासहिष्णुत्वमसाधारणमिष्यते ॥ ७ ॥” न चैवमप्रामाणिकायामविद्याया कल्प्यमानाया कश्चिद्दोपः, तस्याः संसारिणः स्वानुभवाश्रयत्वात्, द्वैतवादिन एव दृष्टादृष्टार्थप्रपञ्चस्य प्रमाणबाधितस्य कल्पनायामनेकविधाया बहुविधदोषानुषङ्गात्। तदप्युक्तं “त्वत्पक्षे बहु कल्प्यं स्यात् सर्वं मानविरोधि च। कल्प्याऽविद्यैव मत्पक्षे सा चानुभवसंश्रया” ॥ १ ॥ इति कश्चित्, सोपि न प्रेक्षावान्, सर्वप्रमाणातीतस्वभावायाः स्वयमविद्यायाः स्वीकरणात्। न हि प्रेक्षावान् सकलप्रमाणातिक्रान्तरूपामविद्यां विद्यां वा स्वीकुरुते। न च प्रमाणानामविद्याविपयत्वमयुक्तम्, विद्यावदविद्याया अपि कथंचिद्वस्तुत्वात्। तथा विद्यात्वप्रसङ्ग

इति चेत्, न, किंचिदनिष्टम्, यथा यत्राविसंवादस्तथा तत्र प्रमाणतेत्यकलङ्कदेवैरप्युक्तत्वात्। बहिःप्रमेयापेक्षया तु कस्यचित्संवेदनस्याविद्यात्वं बाधकप्रमाणावसेयं कथमप्रमाणविषयः ? तद्बाधकं पुनरर्थान्यथात्वसाधकमेव प्रमाणमनुभूयते इति वस्तुवृत्तमपेक्ष्यैवाविद्या निरूपणीया। न च कथंचिद्विद्यावतोप्यात्मनः प्रतिपत्तुरविद्यावत्त्वं विरुध्यते, यतोयं महान् दोषः स्यात्। नाप्यविद्याशून्यत्वे कथंचिद्विद्यानर्थक्यं प्रसज्यते, तत्फलस्य सकलविद्यालक्षणस्य भावात्। न चाविद्यायामेव स्थित्वाऽस्येयमविद्येति कल्प्यते, सर्वस्य विद्यावस्थायामेवाविद्येतरविभागनिश्चयात्, स्वप्नाद्यविद्यादशाया तदभावात्। ततश्चात्मद्वारे(रै)वाविद्या युक्तिमती। यस्मादनुभवादविद्यावानहमस्मीत्यनुभववानात्मा तत एव कथंचित् प्रमाणोत्थविज्ञानाऽबाधिता तदविद्यापि सैवेत्यात्मता, विरोधाभावात्। न चात्मनि कथंचिदविदितेप्यविद्येति नोपपद्यते, बाधाऽविरोधात्। कथंचिद्विज्ञातेपि वाऽविद्येति नितरां घटते, विदितात्मन एव तद्बाधकत्वविनिश्चितेः कथंचिद्बाधिताया बुद्धेर्मृषात्वसिद्धेः। न च कथंचिदविद्यावानेव नरस्तामविद्यां निरूपयितुमक्षमः, सकलप्रेक्षावद्व्यवहारविलोपात्। यदपि प्रमाणाघातासहिष्णुत्वमसाधारणलक्षणमविद्यायास्तदपि प्रमाणसामर्थ्यादेव निश्चेतव्यम्। इति न प्रमाणातिक्रान्ता काचिदविद्या नाम यदभ्युपगमे ब्रह्माद्वैतं न विरुध्येत, द्वैतप्रतिषेधो वा द्वैताविनाभावी न भवेत्। तदेतेन शब्दाद्वैतमपि निरस्तम्, विज्ञानाद्यद्वैतवत्तस्यापि निगदितदोषविषयत्वसिद्धेः, प्रक्रियामात्रभेदात् तद्व्यवस्थानुपपत्तेः, स्वपक्षेतरसाधकबाधकप्रमाणाभावाविशेषात् स्वतःसिद्ध्ययोगाद्गत्यन्तराभावाच्च। इत्यलमतिप्रसङ्गिन्या संकथया, सर्वथैवाद्वैतस्य निराकरणात्॥ २७॥

'स्वाभिधेयेति' स्वार्थप्रतियोगिप्रमाधीननिरूपण इत्यर्थः। **केवलेन शब्देन घटादिना, पदांशेनेत्यादि,** अखण्डपदग्रहणाच्च खरविषाणादिशब्दे नागौरनश्व इत्यादावगनश्व इत्यादिपदांशे च न व्यभिचारः, एकत्र विशेषणस्यान्यत्र च

विशेष्यस्याभावादित्यर्थः, 'परब्रह्मणीत्यादि' अविद्यावति विद्याभावेनैव विद्याया विरोधः, तद्रहिते चाविद्यानिवृत्तिप्रयोजनाभावे विद्याया आनर्थक्यमित्यर्थः, 'अविद्यायामेवेति' असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते इति वचनादित्यर्थः, 'ब्रह्माधारायाश्चेति' ब्रह्माश्रयायाश्चेत्यर्थः, नहि स्वतः स्फुरद्रूपं ब्रह्म विद्याया आश्रयो भवितुमर्हति, दीपज्योतिरिव तिमिरस्येति भावः, अस्तु तर्हि ब्रह्मविषया जीवाश्रयाऽविद्येति मतम्, तत्राह–'यतश्चेति' यदैवाविद्याऽस्तीति जीवब्रह्मानुभूतिमद्भवति तदैव सा नश्यति, प्रमाणबाध्यस्वरूपत्वात्तस्या इत्यप्रामाणिकैवेयम्। अविज्ञात इति विशेषणज्ञानाभावादित्यर्थः, तदबाधनाद्विद्याया अबाधनात्, अव्यवस्थानमविद्याया इत्यर्थः। अबाधिताया बुद्धेर्विद्यायाः, मृषात्वायोगादविद्यात्वस्य वक्तुमशक्यत्वात्। मानाघातासहिष्णुत्वं प्रमाणप्रवृत्त्यस्पर्शित्वम्, स्वानुभवाश्रयत्वादिति, अहं मां न जानामीत्यनुभवस्यैवानिर्वचनीयभावरूपाज्ञानसाक्षित्वादिति भावः। कथञ्चिद्वस्तुत्वादिति पर्युदासाश्रयणस्यान्यथानुपपत्तेरिति भावः। तथा वस्तुत्वेऽविद्याया, यथा यत्रेति, स्वसंवेदनापेक्षया सर्वत्राविद्यायां विद्यात्वमिष्टमेवेत्यर्थः, न च कथञ्चिदिति कालभेदाद्विषयभेदाच्चैकत्राप्यात्मनि विद्यावत्त्वेनाविद्यावत्त्वमविरुद्धमिति भावः। तत्फलस्य मतिज्ञानश्रुतज्ञानादिरूपपूर्वविद्याफलस्य, सकलविद्यालक्षणस्य केवलज्ञानस्वरूपस्य, तन्निष्फलत्वं त्विष्टमेव, ततः परस्य ज्ञानरूपफलस्याभावात्, तदाहुः–श्रीसिद्धसेनदिवाकरपादाः–"दोषपक्तिर्मतिज्ञानान्न किञ्चिदपि केवलात्॥ तमःप्रचयनिःशेषविशुद्धिफलमेव तत् ॥ १ ॥' श्रीहरिभद्रसूरयस्त्वस्यापि परममुक्तिरूपफलमधिकृत्य परापरफलत्वं स्वीचक्रुः। तदुक्तं षोडशप्रकरणे–"एतद्योगफलं तत्परापरं दृश्यते परमनेन॥ तत्तत्त्वं यद्दृष्ट्वा निवर्त्तते दर्शनाकांक्षा

॥ १ ॥" इति कथञ्चित्प्रमाणोत्थेति ज्ञानेन विषयस्याबाधनादित्यर्थः । सैव कथञ्चिद्द्विधैव, स्वसंवेदनांशेऽबाधादित्यर्थः, कथञ्चिद्बहिःप्रमेयापेक्षया, कथञ्चिद्बाधिताया इति भावप्रमेयापेक्षयाऽबाधिताया अपि बहिःप्रमेयापेक्षया बाधिताया इत्यर्थः । अहं मां न जानामीति प्रतीतिश्च विशेषज्ञानाभावविषया, न भावरूपाज्ञानविषया, अन्यथाहमज्ञः किमपि न जानामीति प्रतीत्या सर्वविषयाज्ञानसिद्धेस्तन्निवृत्तये सर्वविषयकं तत्त्वज्ञानमेष्टव्यम्, तच्च तवानिष्टमिति विपरीतसिद्ध्यापत्तेः, तस्मान्नाज्ञाननिमित्तकप्रपञ्चप्रतिपादकमद्वैतदर्शनं प्रामाणिकं नाम । स्यादेतद्भेदखण्डनादेवाभेदपर्यवसानेऽद्वैतसिद्धिर्भविष्यति, तथा च श्रीहर्षः–कोऽसौ भेदो नाम? यद्बीरद्वैतविरोधिन्युच्यते, स हि स्वरूपं वा स्यादितरेतराभावो वा धर्मान्तरं वा, नाद्यो भिन्नेऽभिन्नभ्रमानुत्पत्तिप्रसङ्गात्, भ्रान्त्यापि धर्मिस्वरूपावगाहनात्, न चानारब्धावयविषु तरुष्ववयविविभ्रमवदुपपत्तिः, तदुदाहरणानङ्गीकारात्, अतस्मिन् स एवायमिति प्रत्यभिज्ञाभासार्थस्यैवात्र दृष्टान्तत्वेनेष्टत्वात्, अत्रापि धर्मारोपोपगमे तादात्म्याभावस्य संसर्गाभावप्रवेशापत्तेः, स्वरूपभेदग्रहेऽभेदधर्मस्याप्यशक्यारोपत्वाच्च । नापि द्वितीयः, प्रतीतावन्योन्याश्रयप्रसङ्गात्, प्रतियोगिरूपत्वेनाप्रतीतावधिकरणप्रतीतिरधिकरणस्वभावत्वेनास्मृतौ प्रतियोगिस्मृतिश्च तद्ग्रहणकारणमतो नान्योन्याश्रय इति चेत्, न, वस्तुतोऽन्योन्याभावस्य कुम्भपटोभयप्रतियोगिकाश्रयकत्वेन पटे निषिध्यमाने कुम्भस्यापि निषेधापत्तेः । प्रत्येकप्रतियोगिताश्रयतयोर्भिन्नत्वादेकस्य प्रतियोगिताश्रयतान्यतरनिरूपणकालेऽन्यस्य तदपेक्षाभावान्न दोष इति चेत्, न, अन्योन्याभावाधिकरणप्रतियोगितया प्रतीतेरन्योन्याभावग्रहात् पूर्वमयोगाद्विशिष्टप्रतीतौ विशेषणप्रतीतेर्हेतुत्वात्, यस्य कस्यचित् प्रतियोगितयाऽधिकरणतया च प्रतीतेरहेतुत्वात्, यत्र भिन्नेऽभेदभ्रमस्तद्देशान्यदेशे भ्रमविषयस्य स्वाभावप्रतियोगित्वेन तद्देशे

च धर्मिणः सत्त्वाधारतया प्रतीतावप्यन्योन्याभावप्रतीत्यनुत्पत्तेः, प्रतियोगिबुद्धौ स्मृतित्वस्य प्रयोजकत्वेऽपि योऽसौ तत्र नासीत् सोऽयमिति स्मर्यमाणाभावप्रतियोगित्वेऽपि वस्तुगत्या भिन्नस्याभिन्नतया भ्रमेणोल्लिख्यमानस्यान्योन्याभावप्रतीत्यनुदयात्। दोषाभावोऽपि हेतुः स भ्रमोदाहरणे नास्तीति चेत्, न। पूर्वदृष्टस्मृतिमता ततो वस्तुगत्याऽन्यस्यैवानन्तरदृष्टस्य पूर्वदृष्टाद्भिन्नाभिन्नतयाऽनिरूपितस्यापि सम्भवेन तत्रेतरेतराभावबुद्ध्यापत्तेः। बुध्यत एव तत्र स इति चेत्, न, पश्चात्तत्र संशयस्य दर्शनात्, विशेषधीरपि तत्र हेतुरिति चेत्, न, विशेषत्वस्यान्योन्याभावनिरूपणं विना दुर्निरूपत्वात्। एतेन वस्तुगत्या प्रतियोगिनः स्वरूपेण स्मृतिर्वस्तुगत्या चाधिकरणस्य स्वरूपेण प्रतीतिर्हेतुरित्यपि निराकृतम्, भिन्नस्याभिन्नतया वृक्षादेः प्रतीयमानस्यान्योन्याभाववत्तया ग्रहणप्रसङ्गात्। नापि तृतीयः, अभावस्य निर्द्धर्मकतापक्षे तस्य विश्वाभिन्नत्वप्रसक्तौ विश्वस्याभावरूपत्वेन निर्द्धर्मकतयाऽन्योन्यभेदविरहिण ऐकरूप्यापत्तेः। अभावे धर्माभावात् स्वरूपमेव भेद इति चेत्, न। तस्य निष्प्रतियोगिकत्वेन भेदत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात्, निष्प्रतियोगिकेनापि तेन सप्रतियोगिकव्यवहारजननाभ्युपगमे च प्रतियोगिनियमाभावात् स्वस्मादपि भेदव्यवहारोत्पत्तिप्रसङ्गात्। किञ्च धर्मान्तरं भेद इति ब्रुवतः कोऽभिसन्धिः, किं घटत्वादय एव भेदः, उत भेदो नामान्य एवैकः कश्चिद्धर्मः, आद्ये घटत्वादीनां सप्रतियोगिकत्वप्रसङ्गः, भेदस्य सप्रतियोगिकत्वात्, न च घटत्वादयस्तथा, पटाद्यनपेक्ष्य तेषां प्रतीतेः। यदा पटाद्यपेक्षया प्रतीयन्ते तदा भेदव्यवहारं कुर्वन्तीति चेत्, प्रतीतौ कस्य पटाद्यपेक्षेति वाच्यं, किं घटत्वादेरुत तद्धर्मस्य कस्यचित्, आद्ये पटाद्यपेक्षामन्तरेण कदापि घटत्वप्रतीत्यनुत्पत्तिप्रसङ्गो, न हि यदन्तरेण यदुत्पद्यते तत्तत्कारणकं नाम, वह्न्याविद्यावान्तरजातिभेदेन कारणभेदस्य

चरितार्थीकर्त्तुमशक्यत्वात्, साक्षात्कारत्वादिना सह परापरभावानुपपत्तेः, जात्योः परस्परं संकरमिच्छतामपि मते पञ्चभ्याऽवधिभावः प्रतिपाद्यमानः केन समन्वियात्, न तावद् घटत्वेन, तस्यावधिघटितत्वे तथैव पटं प्रतीत्यापत्तेः। तद्धर्मेणेति चेत्, तर्ह्ययं द्वितीयो विकल्पः, तत्र च स एव सापेक्षप्रतिपत्तिर्भेदो ननु घटत्वादिः, घटत्वादेश्च स भेदः स्यात् तद्धर्मः स्यात्, घटादेस्तु भेदपर्यनुयोगे तदभिधानमसङ्गतम्, कथं च भिन्नैरनुगतभेदव्यवहारः स्यात्, तथा सति वा किं न तैरेव सदादिव्यवहारोऽपि स्यात्। नापि द्वितीयोऽनभ्युपगमात्, सप्तपदार्थ्यनन्तर्भावप्रसङ्गात्। ननु घटत्वादय एव भेदो घटत्वादिज्ञानाविशेषेऽपि च प्रतियोगिज्ञानसहकारिवशाद्विचित्रव्यवहारोपपत्तिरिति चेत्, न, व्यवहारसत्यत्वार्थं वास्तवार्थगतविशेषस्यावश्यं स्वीकर्त्तव्यत्वे तत्रैव पर्यनुयोगानुवृत्तेः, अनन्तभेदपरम्पराभ्युपगमे च तत्क्रमज्ञेयतायां प्रतीत्यपर्यवसानात्, तद्युगपद्ज्ञेयतायामनन्तत्वात् सुसदृशतया कस्यचिदन्यभेदस्यान्यदीयतयाऽपि ग्रहसम्भवादिना सर्वत्र प्रामाण्यानाश्वासप्रसङ्गात्। किञ्च घटत्वादेर्भेदत्वेऽवधिभूतपटत्वादिसापेक्षप्रतिपत्तिकतायां घटत्ववत्पटत्वस्यापि भेदरूपस्य भेदावधिप्रतिपत्तिसापेक्षतयाऽवधेश्च घटत्वादिनो घटत्वादिप्रतीत्यपेक्षायामन्योन्याश्रयप्रसङ्गः। भेदरूपत्वे घटत्वादेरवधिप्रतीत्यपेक्षा, न तु स्वरूपमात्रप्रतिपत्तौ, स्वरूपमात्रेण चावधित्वं तत् कुत एवमिति चेत्, भेदरूपता यदि तस्य स्वात्मैव, तदा स्वरूपमात्रप्रतिपत्तौ नावध्यपेक्षेति शून्यं वचनम्, अथ धर्मान्तरं, तदा स एव भेदोऽस्तु, कृतं तद्वत्तया घटत्वादेर्भेदरूपतेति प्रक्रियाकल्पनया। अस्तु स एव धर्मान्तरं भेद इति चेत्, न, दूषितत्वात्। अथास्तु स्वरूपादित्रयं भेद इति चेत्, न, तद्व्यवहारस्यैकाकारस्य नानानिमित्तत्वे गोत्वाद्यनुगताकारप्रतीतेरपि कथमेकनिमित्तसिद्धौ प्रमाणत्वं, व्यभिचारात्, सामान्य-

विशेषैरेव परसामान्यस्य बुद्धिव्यवहारोपपत्तौ तत्कल्पनानुपपत्तेः। किञ्च भेदे भेदान्तरमस्ति न वा, आद्येऽनवस्था, द्वितीये तदभाव एव स्यात्, तद्धर्मिण्येव तत्प्रवेशात्। भेदस्वभावत्वात् स्वात्मन्यपि स्वयमेव तद्व्यवहारमयं करोति सत्तेव सद्व्यवहारमिति चेत्, न, अस्य भेदस्य स्वात्मप्रतियोगित्वेन स्वाश्रयत्वेन चाङ्गीकारे स्वस्मादपि स्वस्य भेदप्रतीतिव्यवहारयोः प्रामाण्यप्रसङ्गात्। न वयं स्वात्मा स्वाधिकरणं स्वावधिरित्यभ्युपगच्छामः, किन्तु धर्मान्तरे तत्प्रतियोगिके तदाधारके वा स्वीकृतौ यौ बुद्धिव्यवहारावुत्पद्येते तावनवस्थाभयाद्धर्मान्तरमन्तरेणैव स्वभावाद्भेदः करोतीति ब्रूम इति चेत्, तर्ह्यन्यत्र यादृशी प्रतीतिर्द्धर्मान्तरविषया तादृश्येवात्र विना धर्मान्तरमुत्पद्यत इति भ्रान्ता स्यात्, यस्य च स्वभावस्य वशेनेदृशी सा जायते स दोषः स्यात्, यथा सत्यरजते रजतत्वप्रतीती रजतत्वादुत्पन्ना विनापि धर्मान्तरमन्यत्रोत्पद्यत इति भ्रान्ता भवति, यस्य च सामर्थ्यात्तादृशी जायते स दोष इत्युच्यते। तत्र रजतत्वं नास्ति अत्र धर्मिरूपोऽपि भेद एव समवलम्बनमिति चेत्, मैवम्, भिन्नप्रतीतिर्विशिष्टविषया भेदतदाश्रयरूपोभयवस्तुविषयाऽन्यत्र यादृशी सत्याङ्गीकृता ततो मात्रयाऽप्यन्यूनार्थाया इह जायमानाया यदि द्वयं विषयं नाङ्गीकुरुषे तदा गीर्वाणगुरुणापि दुर्निवारं भ्रान्तत्वम्, अथाङ्गीकुरुषे, तदाऽनवस्थाप्रसङ्गः। अथ तदुभयव्यतिरेकेणैवात्र सा सत्या, अन्यत्र तर्हि ततोऽन्यादृशविषया मिथ्या स्यादित्यलं पल्लवेन॥ अत्रोच्यते—"श्रीहर्षहर्षस्तवखण्डनेऽस्मिन् भेदस्य चेदस्य कटुर्विपाकः। अतद्विदानां भविता वितानैर्ब्रह्मश्रुतौ किं न कृतान्तकोपः॥१॥" किं चैतेन भेदखण्डनेनाभिमतम्, किं भेदज्ञानमेव नास्ति, सदपि वा नित्यम्, अनित्यमपि वा निर्हेतुकम्, सहेतुकमपि वा निर्विषयम्, सविषयमपि वा बाध्यमानविषयम्, तत्र प्रथमः सर्वतो विरोधादनुत्तरः, द्वितीयः सुषुप्त्यवस्थानुरोधादुपेक्षणीयः, तृती-

योऽपि विरोधादेव हेयः, चतुर्थस्तु भेदोल्लेखादेव त्याज्यः। पञ्चमपक्षचिन्तायां तु निरपेक्षस्वरूपादित्रयबाधेऽपि जात्यन्तरात्मकस्य भेदस्य किमेताभिर्व्यधिकरणानुपपत्तिभिर्बाधनीयम्। हन्तैवं धर्म्यभिन्नधर्मान्तरमेव भेद इत्यागतं तथा चानवस्थेति चेत्, तर्ह्यनवस्थाभिया तदधिकप्रवाहस्त्यज्यताम्, तस्य तु कुतस्त्यागः, न ह्यनवस्था प्रतिभासमानमर्थं निवर्तयति, किन्तु प्रवाहं परिहारयति, गन्धे गन्धान्तरवत्, ये त्वत्यन्ताभावात्यन्ताभावः प्रतियोग्येव तदत्यन्ताभावस्तु प्रथमस्तुरीयश्चद्वितीय एवेति नानवस्था, भेदतद्भेदादिस्त्वधिक एव तत्रानवस्थाप्रमाणसिद्धत्वान्न दोष इति वदन्ति, तन्मतेऽप्याकाङ्क्षाक्रमवशात् प्रतीतिपर्यवमानेन न दोषः। स्वरूपभेदपक्षेऽपि भिन्नत्वेन ज्ञानाभावान्नाभेदभ्रमानुपपत्तिः, तत्तत्प्रतियोगिकत्वतत्तदधिकरणकत्वेन भेदज्ञाने च क्षयोपशमविशेषस्यैव हेतुत्वान्नातिप्रसङ्गोऽर्थित्वादिविशेषस्यापि तदाधान एवोपक्षयात्, तुल्ययोगक्षेमं नैतत्तद्विशेषणविशिष्टभावप्रत्यक्षेणापि, न ह्युपस्थितानामेव विशेषणानां भावबुद्धौ वैशिष्ट्यग्रह इति नियमः। अनुपस्थितानामपि पर्यायाणा द्रव्यग्रहकाले ग्रहस्य तुल्यवित्तिवेद्यत्वन्यायसिद्धत्वात् उपस्थितानामप्यनपेक्षितानां विशिष्टबुद्धावनारोहाच्च। किञ्च भेदे प्रतिक्षिप्तेऽभेदः सुतरां प्रतिक्षिप्तः स्यात्, भेदाभावरूपस्याभेदस्य भेदनिरूपणं विना दुर्निरूपत्वात्, इत्थं च भेदेनेवाभेदेनापि ब्रह्मणो दुर्ज्ञेयत्वात्तस्यानिर्वचनीयत्वं शून्यत्वं वा स्यादिति गतं वेदान्तिनां क्लीबानामधिष्ठानसत्तयाऽपि। पार्यन्तिकाभेदभाने विकल्पाभावान्नानुपपत्तिरिति चेत्, पार्यन्तिकभेदभानेऽपि तत एव मा माभूत्, विचारसाम्यनिर्विकल्पकत्वस्योभयत्र साम्यात्। अभेदो न भेदाभावः किन्तु तादात्म्यं प्रमेयमभिधेयमित्याद्यनुरोधादिति चेत्, न, तदपि यदि धर्मिस्वरूपं तदा त्वदुक्तरीत्याऽभिन्ने भेदभ्रमानुपपत्तेः, यदि चातिरिक्तम्, तदा तत्सम्बन्धगवेषणेऽनवस्थानात्, अस्तु तर्हि भेदाभेदोभय-

शून्यं ब्रह्म तत्त्वमिति चेत्, न, तस्य खपुष्पप्रायत्वात्, तद्ग्राहकत्वेनाभिमतस्य ज्ञानस्य सुषुप्तज्ञानतुल्यस्याप्रमाणत्वात्, सुषुप्तज्ञानमप्युत्थानानन्तरसत्यविकल्पदर्शनेन प्रमाणमिति चेत्, तर्हि स्वविषयविकल्पाजननात्ततोऽपि त्वदीयं ब्रह्मज्ञानं हीनतरमस्तु, तदभावे तस्याभेदविषयत्वं भेदविषयत्वं वेत्यत्र संशयानिवृत्तेः, वेदान्तवासनामात्रेण तत्प्रामाण्ये पिटकत्रयादिवासनया क्षणिकादिज्ञानमपि प्रमाणं स्यादिति न किञ्चिदेतत्, "यत्खण्डनं मण्डनहेतुरस्मन्मते रते तदशनक्षताभम् । वेदान्तवादेऽथ च शून्यवादे दंशः श्वदन्तस्य विडम्बनं तत् ॥ १ ॥ रतोत्सवः स्यात्परसंकथानां स्याद्वादयूनः किल वल्गनेन । यत्ताः सहन्ते रतियुद्धमेतन्न मल्लयुद्धं परतीर्थिकानाम् ॥ २ ॥" ब्रह्माद्वैतदूषणं शब्दाद्वैतेऽप्यतिदिशति–'तदेतेनेत्यादि' ॥ २७ ॥

इष्टमद्वैतैकान्तापवारणम्, पृथक्त्वैकान्ताङ्गीकरणादिति मावदीधरत् । यस्मात्,—

पृथक्त्वैकान्तपक्षेऽपि पृथक्त्वादपृथक् तु तौ । पृथक्त्वे न पृथक्त्वं स्यादनेकस्थो ह्यसौ गुणः ॥ २८ ॥

पृथगेव द्रव्यादिपदार्थाः प्रमाणादिपदार्थाश्च, पृथक्प्रत्ययविषयत्वात् सह्यविन्ध्यवदित्येकान्तः पृथक्त्वैकान्तः, सजातीयविजातीयव्यावृत्ता निरन्वयविनश्वरा वहिरन्तश्च परमाणवः इत्यभिनिवेशश्च । तत्र येषां पृथक्त्वगुणयोगात् पृथक् पदार्था इत्याग्रहस्ते एवं तावत्प्रष्टव्याः—किं पृथग्भूतपदार्थेभ्यः पृथक्त्वं गुणः पृथग्भूतोऽपृथग्भूतो वा ?, न तावदुत्तरः पक्षो गुणगुणिनोर्भेदोपगमात् । नापि प्रथमः पृथग्भूतपदार्थेभ्यः पृथक्त्वस्य पृथग्भावे तेषामपृथक्त्वप्रसङ्गात् । पृथक्त्वस्य तद्गुणत्वात् पृथगिति प्रत्ययस्य तदालम्बनत्वान्न तेषामपृथक्त्वप्रसङ्ग इति चेत्, न, तस्य कथंचित्तादात्म्यापत्तेः पृथक्त्वैकान्तविरोधात् । तद्गुणगुणिनोरतादात्म्ये घटपटवद्व्यपदेशोऽपि मा

भूत्, सवन्धनिवन्धनान्तराभावात्। कथंचित्तादात्म्यमेव हि तयोः सवन्धनिवन्धनम्, न ततोन्यत्सभवति। समवायवृत्ति संभवतीति चेत्, न, समवायस्य कथंचिदविष्वग्भावादपरस्य प्रतिक्षेपात्। पृथक्त्वमन्यद्वा पृथग्भूतमनंशमनेकस्थेषु निष्पर्यायं वर्तते इति दुरवगाहम्। न ह्यनेकदेशस्थेषु हिमवद्विन्ध्यादिषु सकृदेकः परमाणुर्वर्तते इति सभवति। गगनाद्यनंशमपि वर्तते इति चेत्, न, तस्यानन्तप्रदेशादितयानशत्वासिद्धेरनाश्रयतया क्वचिद्वृत्त्यभावाच्च। सत्तैका युगपदनेकत्र वर्तते इत्यप्यसिद्धम्, तदनन्तपर्यायत्वासाधनात् स्वपर्यायेभ्योत्यन्तभेदासिद्धेश्च समवायवृत्त्यनुपपत्तेः। द्रव्यत्वादिमामान्यमपि नैकमनंशमनेकस्वव्यक्तिवृत्ति सकृत्प्रसिद्धम्, तस्यापि स्वाश्रयात्मकतया कथंचित्साशत्वानेकत्वप्रतीतेः संयोगविभागपरत्वापरत्वान्यपि नानेकवृत्तीनि युगपदुपपद्यन्ते प्रतियोग्यादिसयोगादि परिणामप्रतीतेः सादृश्योपचारादेकत्वव्यवहारात्। द्वित्वादिरनेकद्रव्यवृत्तिर्युगपदित्यप्यप्रातीतिकम्, प्रतिव्यक्ति सकलसख्यापरिणामसिद्धेः क्वचिदेकत्र तदसिद्धौ परापेक्षयापि तद्विशेषप्रतीत्ययोगात् खरविषाणवत्। ततो न पृथक्त्वमनेकत्र युगपद्वर्तते गुणत्वाद्रूपादिवत्। न सयोगादिभिरनेकान्तः, तेषामप्यनेकद्रव्यवृत्तीना सकृदनंशानामसिद्धेः। तदनेन पृथक्त्वैकान्तपक्षेपि पृथक्त्ववतोः पृथक्त्वात्पृथक्त्वे तौ तद्वन्तावपृथगेव स्याताम्। तथा च न पृथक्त्व नाम गुणः स्यात्, एकत्र तद्वति तदनभ्युपगमात्। अनेकस्थो ह्यसौ गुण इति कारिकाव्याख्यानं स्थितपक्षदूपणपर प्रकाशितं प्रतिपत्तव्यम् ॥ २८ ॥

पृथक्त्वमन्यद्वेति अन्यद्गुणान्तरं १ अनेकस्थेष्वनेकदेशस्थेषु नानापदार्थेषु। न च पृथक्त्वं रूपादिवत् प्रत्याश्रयं भिन्नमेवेष्यत इत्ययमनभ्युपगतोपालम्भः परं प्रति ग्रन्थकृत इति वाच्यम्। द्वित्वद्विपृथक्त्वादीनां परेण व्यासज्यवृत्तित्वस्योपगमात्, एकपृथक्त्वस्य स्वाश्रये द्विपृथक्त्वादेरन्यत्र चैकपृथक्त्वस्यारम्भकतयोभयत्रारम्भकत्वस्वीकारात् 'प्रतियोग्या-

दीति ' आदिनानुयोगिपरिग्रहः। तथा च घटप्रतियोगिकत्वपटानुयोगिकत्वाभ्यां घटपटसंयोगयोर्भिन्नत्वम्, न त्वेकत्वम्, घटे पटाव्यवधानात्मनः पटे घटाव्यवधानात्मनश्च संयोगस्यैकत्वायोगादित्युक्तं भवति, साहश्योपचारादिति, तन्निबन्धनीभूता वृत्तिरेव च पर्याप्तिः, अन्यथा प्रत्येकावृत्तेः समुदायवृत्तित्वायोगात्, कथं चान्यतरकर्मजत्ववदन्यतरकर्माभावजत्वमन्यतरकर्मजे उभयकर्मजे च तदतत्कर्मजत्वेन भेदकम्, अन्यथोभयकर्मजन्यतावच्छेदिकाया इव त्रयकर्मादिजन्यतावच्छेदिकाया अपि जातेरभ्युपगमप्रसङ्गात्, नो चेत्, कर्मत्रयस्थले उभयकर्मजसंयोगद्वयापत्तेः, एवमग्रेऽपि नानासंयोगस्वीकारे आदित एव किं न तत्स्वीकारः। यदि च समवायिकारणभेदेऽपि संयोगाद्यैक्यं स्वीक्रियेत, तदा घटादौ यावदवयवरूपमप्येकं स्यादेकत्वप्रतीत्यविशेषात्। यावदाश्रयबुद्धिसापेक्षत्वासापेक्षत्वाभ्यां विशेष इति चेत्, न, रूपादिप्रतीतेरप्याश्रये पर्याप्तत्वापर्याप्तत्वावगाहने न द्विविधरूपत्वादित्याद्यधिकं वादमालायां निरूपितमस्माभिः,। 'द्वित्त्वादिरिति' एकत्वद्वयादिनैव द्वित्वादिबुद्धिव्यवहारोपपत्तेरिति भावः। तथा च न पृथक्त्वं नाम गुणः स्यादिति। नन्वत्रेष्टापत्तिः, नैयायिकमूर्द्धाभिषिक्तेन शिरोमणि भट्टाचार्येण पृथक्त्वस्यान्योन्याभावरूपस्यैव स्वीकारात्, तथा च तद्ग्रन्थः। पृथक्त्वमपि न गुणान्तरम्, अन्योन्याभावादेव तद्व्यवहारोपपत्तेः, पृथक्त्वप्रतीतिस्तु न सावधित्वालम्बना, मानाभावात्, घटात्पटः पृथगितरोऽन्यो भिन्नोऽर्थान्तरमित्यादौ तत्तच्छब्दविशेष्ययोगे पञ्चम्यानुशासनिकीति अन्यारादित्यादिसूत्रेऽन्यपदं विशिष्य पृथगादिपरं न त्वन्योन्याभावविशिष्टबोधकपदसामान्यपरमिति पृथक्त्वस्यान्योन्याभावरूपत्वेऽपि घटात्पटः पृथगित्यस्यैव घटान्न पट इत्यस्य नापत्तिरित्येतदर्थं इति चेत्, सत्यम्, पृथक्त्वस्यान्योन्याभावरूपत्वेऽप्यभेदसंवलितत्वेन तदेकान्तायोग इत्यत्र ग्रन्थकृतस्तात्पर्यात्, वस्तुतो मूले वृक्षः कपिसंयोगी-

न शाखायामिति प्रतीत्यनुरोधेनान्योन्याभावाव्याप्यवृत्तित्ववादिनो दीधितिकृतो मते श्यामाद्रक्तो विधर्मा न तु पृथगिति प्रतीत्यनुपपत्तेः पृथक्त्वं नान्योन्याभावः सङ्गच्छते, किन्तु प्रविभक्तप्रदेशत्वम्, इत्थमेव तन्तुभ्यः पटो न पृथगित्यस्योपपत्तेः। न च श्यामाद्रक्तो विधर्मा न तु पृथगित्यत्र पृथक्पदस्य तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नभेदपरत्वादुपपत्तिः सम्भवति, प्रकारान्तरे लक्षणाश्रयणस्यातिजघन्यत्वात्, श्यामाद् घटाद् रक्तो घटे न पृथक्त्वं किन्तु पटादित्यत्र श्यामघटाप्रविभक्तपटप्रविभक्तप्रदेशवृत्त्येकविशेष्यताकबोधस्यस्मदुक्तप्रकारं विनानुपपत्तेश्चेति विचारणीयं सुधीभिः॥ २८॥

साम्प्रतं निरन्वयक्षणिकलक्षणपृथक्त्वपक्षे दूषणमाविर्भावयितुमनसः सूरयः प्राहुः—

संतानः समुदायश्च साधर्म्यं च निरङ्कुशः। प्रेत्यभावश्च तत्सर्वं न स्यादेकत्वनिह्नवे॥ २९॥

जीवादिद्रव्यैकत्वस्य निह्नवे संतानो न स्याद्भिन्नसंतानाभिमतक्षणवत्। यथैकस्कन्धावयवानामेकत्वपरिणामापलापे समुदायो न स्यान्नानास्कन्धावयववत्। तथा सधर्मत्वाभिमतानां सदृशपरिणामैकत्वापह्नवे साधर्म्यं न स्याद्भिन्नदृशार्थवत्। मृत्वा पुनर्भवनं प्रेत्यभावः। सोपि न स्यादुभयभवानुभाव्येकात्माऽपाकरणे नानात्मवत्। चशब्दाद्दत्तग्रहादि सर्वं न स्यात्तद्वत्। न च तदभावः शक्यः प्रतिपादयितुम्, सकलवाक्यशून्यत्वेन निरङ्कुशत्वात्। ननु चापरामृष्टभेदाः कार्यकारणक्षणा एव संतानः। स चैकत्वनिह्नवेपि घटत एवेत्यपि ये समाचक्षते तेषामपि कार्यकारणयोः पृथक्त्वैकान्ते कार्यकालमात्मानमनयतः कारणत्वासम्भवात्तदनुपपत्तेः कुतः संततिः? ननु कार्यकाले सतोपि कारणत्वे तत्कारणत्वानभिमतस्य कार्यकालमात्मानं नयतः सर्वस्य तत्कारणत्वप्रसङ्गः। कार्याकारेण प्रागसतः सद्द्रव्यादिरूपेण प्राक्कार्यकाले च सतस्तत्कार्यस्योत्पत्तौ खरादिमस्तके विषाणादेरुत्पत्तिः किन्न स्यात्? गवादिशिरसीव तत्रापि तस्य

विषाणाद्याकारतया प्रागसत्त्वस्य सद्द्रव्यादिरूपतया सत्त्वस्य चाविशेषात् । तदुत्पत्तिकारणस्य दृष्टस्यादृष्टस्य चाभावात् तत्र न तस्योत्पत्तिरिति वचने परेषामपि प्रागसत्त्वैकान्ताविशेषेपि कार्यस्य पूर्वं सति कारणे जन्म नासतीति न किंचिदतिप्रसज्यते, तदन्वयव्यतिरेकानुविधाननिबन्धनत्वात् तत्कारणत्वस्य । न च निरन्वयक्षणिकत्वेऽपि कार्यस्य कारणान्वयव्यतिरेकानुविधानमसभाव्यम्, स्वकाले सति कारणे कार्यस्योत्पत्तेरसत्यनुत्पत्तेः प्रतीयमानत्वात् स्वदेशापेक्षान्वयव्यतिरेकवत् । तदुक्तम् "अन्वयव्यतिरेकाद्यो यस्य दृष्टोनुवर्तकः । स्वभावस्तस्य तद्धेतुरतो भिन्नान्न सभवः ॥१॥" इति । ततोऽव्यभिचारेण कार्यकारणभूता एवापरामृष्टभेदाः क्षणाः सतानो युक्तः । इति कश्चित् ॥ सोपि न प्रतीत्यनुसारी, तथा बुद्धेतरचित्तानामप्येकसतानत्वप्रसङ्गात् तेषामव्यभिचारेण कार्यकारणभूतत्वाविशेषात् । निरास्रवचित्तोत्पादात्पूर्वं बुद्धचित्तस्यापि सतानान्तरचित्तकारणत्वाभावान्न तेषामव्यभिचारी कार्यकारणभाव इति चेत्, न, यतः प्रभृति तेषां कार्यकारणभावस्तत्प्रभृतितस्तस्याव्याभिचारादन्यथा बुद्धचित्तस्यासर्वज्ञत्वप्रसङ्गात् । नाऽननुकृतान्वयव्यतिरेकं कारणम्, नाकारणं विषय इति वचनात् । स्यान्मतम्, येषामग्राह्यग्राहकत्वे सत्यऽव्यभिचारी कार्यकारणभावस्तेषामेकसतानत्वोपगमान्न दोष इति चेत्, तदप्ययुक्तम्, समनन्तरप्रत्ययेनापि सह बुद्धचित्तस्यैकसतानतापायप्रसक्तेः, तस्य बुद्धचित्तेनाग्राह्यत्वे तस्यासर्ववेदित्वापत्तेः । समनन्तरप्रत्ययस्य समनन्तरत्वादेव बुद्धचित्तेन सहैकसतानत्वमिति चेत्, कुतस्तस्य समनन्तरत्वम्?, तस्याव्यभिचारिकारणत्वादिति चेत्, न, सर्वार्थानां तत्समनन्तरत्वप्रसङ्गात् । एकसतानत्वे सति कारणत्वादिति चेत्, सोयमन्योन्यसश्रयः । सिद्धे समनन्तरप्रत्ययत्वे तस्यैकसतानत्वेन कारणत्वसिद्धिस्तत्सिद्धौ च समनन्तरप्रत्ययत्वसिद्धिरिति । स्याद्वादिनां कस्तर्ह्येकः सतान इति चेत्, पूर्वापरकालभाविनोरपि हेतुफलव्यपदेशभाजोरतिशयात्मनोरन्वयः सतानः । क्वचित्क्षणान्तरे नीललोहितादिनिर्भासचित्रैकसवेदनवत्कथंचिदेकत्वमेव भवितुमर्हति । न च साध्य-

विकलं चित्रज्ञानमुदाहरणं तस्यैकत्वसिद्धेः तदवयवपृथक्त्वकल्पनाया चित्रनिर्भासो मा भूत् पृथग्वर्णान्तरविषयानेकसंतानैकक्षणवत् । तत्र प्रत्यासत्तिविशेषः कथंचिदैक्यात्कोऽपरः स्यात् ? देशप्रत्यासत्तेः शीतातपवातादिभिर्व्यभिचारात्, कालप्रत्यासत्तेरेकसमयवर्त्तिभिरशेपार्थैरनेकान्तात्, भावप्रत्यासत्तेरेकार्थोद्भूतानेकपुरुषज्ञानैरनैकान्तिकत्वाद् द्रव्यप्रत्यासत्तिरेव परिशेषात् सभाव्यते। सा चैकद्रव्यतादात्म्यलक्षणत्वात्प्रत्यासत्तिविशेषः । इति कथंचिदैक्यमेवैकत्वव्यवहारनिबन्धन चित्रज्ञानस्य, अन्यथा वेद्यवेदकाकारयोरपि पृथक्त्वैकान्तप्रसङ्गात् । तयो स्वभावभेदेपि सहोपलम्भनियमात्कथंचिदभेदाभ्युपगमे कथमेकसंतानसंविदां समनन्तरोपलम्भनियमात्कथंचिदैक्यं न स्यात् ? कालसमनन्तरोपलम्भनियमादेकसंतानत्वमेव स्याद्देशसमनन्तरोपलम्भनियमात् समुदायवत्, न पुनरनेकद्रव्यत्वमिति चेत्, न, भवता बुद्धेतरसंविदामेकसंतानत्वापत्ते, कालसमनन्तरोपलम्भनियमस्य भावात् पञ्चानामपि च स्कन्धानामेकस्कन्धत्वप्रसङ्गात्, प्रदेशसमनन्तरोपलम्भनियमस्य भावात् । प्रत्यासत्त्यन्तरकल्पनाया तत्र यया प्रत्यासत्त्या संतान समुदायश्च, तयैव कथंचिदैक्यमस्तु। न हि तादृशा साधर्म्यमन्यदन्यत्रात्मसाङ्कर्यात्, येन कालसमनन्तरोपलम्भनियमभाजामेकसंतानत्वं व्यवतिष्ठते देशसमनन्तरोपलम्भनियमभृता चैकस्कन्धाख्यं समुदायत्वं युज्यते, तादृशः साधर्म्यस्यैकत्वनिह्नवेऽनुपपत्तेः कथंचिदेकत्वशून्यार्थसाधर्म्यस्य संतानान्तरेषु नानासमुदायेषु च दर्शनात् । एतेनैकसंतानत्वात् प्रेत्यभावव्यवहारकल्पनमपास्तं कथंचिदेकत्वापह्नवे तदयोगात् । कथमिह जन्मनो जन्मान्तरेणैकत्वं विरोधादिति चेत्, न, कथंचिदेकत्वे विरोधाभावात् । तथा प्रतिभासादेकज्ञाननिर्भासविशेषवत् । तथा हि । एकज्ञाननिर्भासविशेषाणा मिथः स्वभावभेदेपि यथैकत्वपरिणामः स्वभावतोऽनङ्कुशस्तथा प्रेत्यभावादिषु संतानोन्वयः परमार्थैकत्वमात्मसत्त्वजीवादिव्यपदेशभाजनं स्वभावभेदानाक्रम्य स्वामिवदन्यत्र वर्तयति। न पुनरन्यत्र जीवान्तरे तेषामशक्यविवेचनत्वाद्विरोधवैयधिकरण्यादीना-

मेकज्ञाननिर्भासविशेषैरपाकरणान्निरङ्कुशत्वसिद्धेः ॥ २९ ॥

सन्तानो न स्यादिति मुक्तास्थानीयानां क्षणानां मालास्थानीयस्यानुगमकस्याभावादित्यर्थः । **नानास्कन्धावयववदिति,** न च धान्यराशिवदुपपत्तिः, बुद्धिकृतादेकत्वादवयवबन्धकृतस्यैकत्वस्य विलक्षणत्वात्, **साधर्म्यं न स्यादिति,** तथा च समानपरिणामैकत्वमादाय सोऽयं शब्द इति प्रयोगो न स्यादिष्यते च तद्व्यक्त्यैक्यं समानपरिणामैक्यं चादाय सोऽयमित्येव प्रयोगस्तद्व्यक्त्यभिन्नोऽयं तज्जातीयोऽयमिति विवरणद्वैविध्येऽपि प्रयोगैक्यादिति द्रष्टव्यम् ॥ **'सकलेत्यादि'** तथा च निरङ्कुशत्वं बाधारहितत्वं विशेषणं यथास्थितं विपरिणतं वा सर्वत्र योजनीयम्, तेन न तत् सर्वमित्यनेन सर्वत्र तत्परामर्शानुपपत्तिरिति बोध्यम् ॥ **पूर्वं सतीति** अव्यवहितप्राक्काले सामग्रीसत्त्वं कार्योत्पत्तिप्रयोजकं न तु कार्यस्य प्राक्सत्त्वमसत्त्वं वेति भावः । **'स्वकाले इति'** स्वाव्यवहितप्राक्काल इत्यर्थः, स्वदेशे सति कारणे यथा कार्यमुत्पद्यते तथा स्वकालेऽपीति दैशिककालिकव्याप्तिगर्भमेकं कारणत्वमिति भावः । **'तथा बुद्धेतरेति'** अनुगमकाभावेन देशस्यापि क्षणत्वाद्दैशिककालिकव्याप्त्योरभेदपर्यवासानादित्यर्थः । **'सन्तानान्तरेत्यादि'** सन्तानान्तरचित्तकारणे स्वाकारणे सन्ताने बुद्धचित्तस्यासर्वज्ञत्वप्रसङ्गादित्यर्थः । अतिशयात्मनोः पर्यायस्वरूपयोः, **अन्वयः** द्रव्यात्मनैकत्वम्, **कथञ्चिदैक्यमेवेति** नीलाद्यनेकनिर्भासपर्यायज्ञानात्मना तत्काले तदात्मद्रव्यपरिणामकृतमैक्यमित्यर्थः । **समनन्तरोपलम्भनियमादनुभवस्मरणयोरेकविषयस्पर्शनियमात्, कथञ्चिदैक्यं कथं न स्यादिति** विशिष्टैक्यद्वारकं विशेषणानामैक्यं स्यादेवेत्यर्थः, **कालसमनन्तरोपलम्भनियमात्** सादृश्यप्रत्यासन्नक्षणविषयानुभवनियमात्, **देशसमनन्तरोपलम्भनियमान्नैरन्तर्यप्रत्यासन्नस्वलक्षण-**

विषयानुभवनियमात्, पञ्चानां विज्ञानवेदनासंज्ञासंस्काररूपलक्षणानाम्, तत्रेति पूर्वोत्तरज्ञानक्षणेष्वेकदेशवर्तिषु च परमाणुष्वित्यर्थः ॥ तादृशामेकसन्तानभाजां ज्ञानक्षणानां परमाणूनां च, तादृश एकसन्तानत्वनिबन्धनस्य ॥ २९ ॥

पृथक्त्वैकान्तपक्षे दूषणान्तरमुपदर्शयन्तः प्राहु —

सदात्मना च भिन्नं चेज्ज्ञानं ज्ञेयाद् द्विधाप्यसत् । ज्ञानाभावे कथं ज्ञेयं बहिरन्तश्च ते द्विषाम् । ३० ।

सदात्मना सत्सामान्यात्मना भिन्नमेव ज्ञानं ज्ञेयादिति चेद् द्विधाप्यसदेव प्राप्तं ज्ञानस्यासत्त्वे ज्ञेयस्यासत्त्वप्रसङ्गात् । ततो बहिरन्तश्च न किञ्चित्कथंचिदपि ज्ञेयं नाम त्वद्द्विषां प्रतीयेत । ननु सद्विशेषाद् भेदेपि ज्ञानस्य ज्ञेयान्नासत्त्वप्रसक्तिः । सदन्तरत्व तु न स्यात् पटान्तराद्भेदेपि पटस्य पटान्तरत्वाभाववत् । सत्सामान्य पुनः सर्वेषु सद्विशेषेष्वसत्त्वव्यावृत्तिमात्रम् । न च तदात्मना कस्यचित्कुतश्चिद्भेदोऽभेदो वा विचार्यते तस्य वस्तुनिष्ठत्वात् सन्मात्रस्य चावस्तुत्वात् । तदात्मना व्यावृत्तस्य ज्ञानस्य ज्ञेयात्परमार्थसत्त्वाविरोधान्न कश्चिदुपालम्भ इति चेत्, न, सत्सामान्यस्याभावे सावृतत्वे वा सद्विशेषाणामभावप्रसङ्गात् सावृतत्वापत्तेश्च तदसत्त्वव्यावृत्तेरपि वस्तुस्वभावत्वादन्यथा खरविषाणादावपि तदनुषङ्गात् । तथा हि । ज्ञानज्ञेययोरसद्व्यावृत्तिर्वास्तवी सद्विशेषत्वात् । यस्य तु न सा वास्तवी स न सद्विशेषो यथा वन्ध्यासुतः । सद्विशेषौ च ज्ञानज्ञेये । इति केवलव्यतिरेकी हेतुः । तथा यत्रासद्व्यावृत्तिर्वास्तवी तत्र सत्सामान्यं वस्तु, सत्सामान्यरहितेषु वन्ध्यासुतादिष्वसद्व्यावृत्तेरवास्तवत्वात्, इति वास्तवसत्सामान्यात्मना ज्ञानस्य ज्ञेयाद्भेदे सद्विशेषात्मनापि भेदः स्यात् । तथा च ज्ञानमसत् प्राप्तम् । तदनिच्छतां विषयिणो विषयात्कथञ्चित्स्वभावभेदेपि सदाद्यात्मना तादात्म्यं बोधाकारस्येव विषयाकाराद्, विशेषाभावात् । अन्यथा ज्ञानमवस्त्वेव खपुष्पवत् । तदभावे बहिरन्तर्वा ज्ञेयमेव न स्यात्, तदपेक्षत्वात् तस्य ततः

श्रेयानयमुपालम्भः पृथक्त्वैकान्तवाचां ताथागताना वैशेपिकवत् ॥ ३० ॥

समुदायत्वनिबन्धस्य च, **सदन्तरत्वं त्विति**, यद्यप्येकपटापेक्षयाऽन्यपटे पटान्तरत्वव्यवहारवद् ज्ञेयापेक्षया ज्ञाने सदन्तरत्वव्यवहारोऽपि सम्भवी तथापि प्रतिनियतप्रतियोगिसद्वाचकपदसमभिव्याहाराभावादयं निषेधो द्रष्टव्यः। प्रागुद्दिष्ट-धर्मविशिष्टान्वयितावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदस्यान्वयितावच्छेदकधर्मस्य चान्तरपदार्थत्वात्। **वास्तवसत्सामान्यात्मनेति** सत्सामान्यनिष्ठप्रतियोगित्वाभिन्नज्ञेयनिष्ठप्रतियोगिताके ज्ञानाधिकरणके भेदेऽभ्युपगम्यमान इत्यर्थः। परैरपि हि प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नसत्त्वस्याभावविरोधित्वात् सामान्यरूपेण विशेषाभावो न स्वीक्रियते तथाऽस्माभिरपि सामान्यात्मना विशेषाभाव इति मन्तव्यम्। **तथा चेति** यावद्विशेषभेदस्य सामान्यभेदनियतत्वादिति भावः। तादात्म्यमित्यनन्तरमेष्टव्यमिति शेषः। सामान्यस्यावास्तवत्वे दोषान्तरं समुच्चिचीपुराह ॥ ३० ॥ किञ्च,—

सामान्यार्था गिरोन्येषां विशेषो नाभिलप्यते। सामान्याभावतस्तेषां मृषैव सकला गिरः। ३१।

सामान्यमेवार्थोभिधेयो यासा ताः सामान्यार्था गिरो यतस्ताभिर्विशेषो नाभिलप्यते इत्यन्ये, तेषां मृषैव सकलाः स्वयं सत्यत्वेनाभिमता अपि गिरः स्युः, सामान्यस्य वास्तवस्याभावात्। कुतः पुनः सामान्यस्यैवाभिधेयत्वमिति चेत्, विशेषाणामशक्यसमयत्वात्। न ह्यनन्ता विशेषाः शक्याः सकेतयितुं ततो नाभिधीयेरन्, असकेतितानभिधानात्। विशेपदर्शनवत्तद्बुद्धावप्रतिभासनादर्थ-सन्निधानानपेक्षणाच्च। न हि स्वलक्षणे दर्शने यथा सकेतनिरपेक्षो विशेप. प्रतिभासते तथा शब्दबुद्धावपि, तस्याः स्वलक्षणसन्निधानानपेक्षत्वात्, तदपेक्षत्वेऽतीतानुत्पन्नादिषु शब्दबुद्धेरभावप्रसङ्गात्। यद्येवं स्वलक्षणमनभिधेयं सामान्यमवस्तूच्यते इति वस्तु

नोच्यते इति स्यात्। ततः किं शब्दोच्चारणेन संकेतेन वा ? गोशब्दोपि गा नाभिधत्ते यथाश्वशब्दस्य। तथा च वस्तुनोनभिधाने मौनं यत्किंचिद्वा वचनमाचरेत्, विशेषाभावात्। अथास्ति विशेषः। कथ स्वार्थं नाभिदधीत ? मौनाद्यत्किंचनवचनाद्वा यथार्थाभिधानस्य स्वाभिधानं मुक्त्वा विशेषस्यासभवात्। न वै परमार्थैकतानत्वादभिधाननियमः, परमार्थैकतानत्वे शब्दानामनिबन्धना न स्यात् प्रवृत्तिरर्थेषु समयान्तरभेदिष्विति वचनात्। किं तूपादानविशेषादित्यपि वार्तम्, अविकल्पेपि तथैव प्रसङ्गात्। शक्य हि वक्तुम् "अविकल्पकप्रत्यक्षस्य न परमार्थैकतानत्वान्नियमो, द्विचन्द्रादिदर्शनाभावप्रसङ्गात् किन्तूपादानस्य स्ववासनाविशेषस्य भेदात्" इति। तदेवमवधारितात्मकं वस्तु स्वलक्षणमापनीपद्येत, विकल्पेनेवाविकल्पेनाप्यवधारयितुमशक्तेः। निर्विकल्पकस्यार्थसन्निधानानपेक्षत्वाद्वैशद्याच्च परमार्थैकतानत्वमिति चेत्, न, तदनियमात्। तथा हि। नावश्यमिन्द्रियज्ञानमर्थसनिधानमपेक्षते विप्लवाभावप्रसङ्गात्। नापि विशदात्मकमेव, दूरेपि तथाप्रतिभासप्रसङ्गाद्यथाऽऽरात्। न हि आरादेवार्थे निर्विकल्पकमिन्द्रियज्ञानम्, न पुनर्दूरे इति शक्य वक्तुम्, इन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधानाविशेषात्। दूरार्थेपीन्द्रियज्ञानं विशदात्मकमेव, तत्रावैशद्यस्याशूत्पन्नानन्तरविकल्पेन सहैकत्वाध्यारोपादेव प्रतीतेरिति चेत्, न, आसन्नार्थेपि तदवैशद्यप्रतीतिप्रसङ्गात्। न हि तत्राविकल्पानन्तर चिराद्विकल्पस्योत्पत्तिः, पुरोवर्तिन्यर्थेऽक्षज्ञानजविकल्पवैशद्यस्य तल्लघुवृत्तिनिबन्धनत्वाभावप्रसङ्गात् "विमूढो लघुवृत्तेर्वा तयोरैक्यं व्यवस्यति" इति वचनविरोधात्। यदि पुनरासन्नार्थे निर्विकल्पकस्य बलीयस्त्वात्तद्वैशद्येनानन्तरविकल्पावैशद्यस्याभिभवाद्वैशद्यप्रतिभासो न पुनर्दूरे विपर्ययादिति मतम्, तदा पुरोवार्तिगोदर्शनवैशद्येनाश्वविकल्पावैशद्यस्याभिभूतिप्रसङ्गात् तत्र वैशद्यप्रतीतिः किन्न स्यात् ? गोदर्शनभिन्नविषयत्वादश्वविकल्पस्य नैवमिति चेत्, न, नीलदर्शनविकल्पयोरपि भिन्नविषयत्वात्तद्वैशद्याप्रतीतिप्रसङ्गात्। न हि तयोरभिन्नविषयत्वम्,

स्वलक्षणसामान्ययोस्तद्विषययोर्भेदात्। तत्र दृश्यविकल्प्ययोरेकत्वाध्यवसायान्नीलविकल्पे वैशद्यप्रतिभास इति चेत्, न, तत एव दूरेऽपि वैशद्यप्रतिभासप्रसङ्गात्। स्यान्मतम्, प्रत्यासन्नेऽर्थे विकल्प्ये दृश्यस्याध्यारोपाद्विकल्पवैशद्य दूरे तु दृश्ये विकल्प्यस्याध्यारोपाद्दर्शनावैशद्य प्रतीयते कुतश्चिद्विभ्रमात्, इति, तदप्यसारम्, चन्द्रार्कादावतिदूरे दृश्ये विकल्प्याध्यारोपादवैशद्यप्रतीतिप्रसङ्गात्, प्रत्यासन्नतरे च चक्षुषः करतलरेखादौ विकल्प्ये दृश्याध्यारोपाद्वैशद्यप्रसङ्गात्। यदि पुनरदृष्टविशेषवशादृश्यविकल्प्ययोरेकत्वाध्यारोपाविशेषेपि क्वचिद्वैशद्यमवैशद्यं च यथाप्रतीत्यभिधीयते तदा तत एवेन्द्रियजत्वाविशेषेपि क्वचिद्वैशद्यप्रतिभासोन्यत्रान्यथेति नैकान्तेन दर्शनस्य विशदात्मकत्वमर्थसन्निधानापेक्षत्व वा यतः परमार्थैकतानत्वान्नियमः स्यात्, न पुनः शब्दबुद्धिवदुपादाननियमादिति। न शब्दबुद्धेरवस्तुविषयत्वेप्युपादाननियमाद्विशेषः, परार्थानुमानस्य वक्त्रऽभिप्रेतसमये त्रिरूपहेतुसूचित्वादविसवादादितरवचनाद्विशेष इति चेत्, न, तथापि क्षणभङ्गादिसाधनवचनमन्यद्वा न किंचित् सत्यं स्याद्वक्त्रऽभिप्रेतमात्रसूचित्वात् प्रधानेश्वरादिसाधनवाक्यवत्। न हि वक्त्रभिप्रेतमात्रसूचित्वाविशेषेपि क्षणभङ्गादिसाधनं प्रतिपक्षदूषणं वा सत्यं न पुनः प्रधानेश्वरादिसाधनमिति शक्यव्यवस्थम्, यतस्तदेव सवादि स्यात्, सर्वथा विशेषाभावात्। सदर्थाप्रतिपादनाद्वा न क्षणभङ्गादिसाधनवचनं विपक्षदूषणवचनं वा सत्यम्, प्रसिद्धालीकवचनवत्। ननु च व्याख्यातारः खल्वेवं विवेचयन्ति न व्यवहर्तारः। ते हि दृश्यविकल्प्यावर्थावेकीकृत्य यथेष्टं व्यवहरन्ति। क्षणभङ्गादिसाधनवचनमन्यद्वा सत्यम्, न प्रधानेश्वरादिसाधनवाक्यम्। परमार्थतस्तु न किंचिद्वचनमवितथम्। इत्यभ्युपगमेपि दृश्यविकल्प्यार्थाकारयोः कथंचिदप्यतादात्म्ये स्वलक्षणं सर्वथानवधारितलक्षणं दानादिचेतोधर्मादिक्षणवत् कथं सशीतिमतिवर्तेत? निर्विकल्पकदर्शनात्तदवधारणासभवात् विकल्पानां चावधास्तुविषयत्वात्। सोयमविकल्पेतरराश्योरर्थेतरविषयत्वमन्यद्वा स्वांशमात्राव-

लम्बिना विकल्पान्तरेण प्रत्येतीति सुपरिबोधप्रज्ञो देवानांप्रियः। न ह्यविकल्पेतरराश्योरर्थानर्थविषयत्वं विशदेतरात्मत्वं वाऽनुपश्यन्निर्णये स्वलक्षणविषयोपि विकल्पः स्यात्। परतश्चेदनवस्थानादप्रतिपत्तिः अतोर्थविकल्पोपि मा भूदित्यन्धकल्पं जगत् स्यात्, स्वयमनिश्चयात्मनो विकल्पादर्थनिश्चयानुपपत्तेः। न चायं परोक्षबुद्धिवादमतिशेते, सर्वथार्थचिन्तनोच्छेदाविशेपात्। यथैव ह्यप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिध्यति तथा स्वयमनिश्चितात्मोपलम्भस्यापि। स्वयमनिर्णीतेन नामात्मना बुद्धिरर्थं व्यवस्थापयतीति सुव्यवस्थितं तत्त्वम्। न वै स्वरूपं पररूपं वा बुद्धिरध्यवस्यति निर्विषयत्वाद्भ्रान्तेः स्वप्नबुद्धिवदिति विभ्रमैकान्तवादिवचनम्। इदमतो भ्रान्ततरं, वहिरन्तश्च सद्भावासिद्धेः। स्वप्नादिभ्रान्तज्ञानं हि वहिरर्थासत्त्वादेव, न पुनः स्वरूपासत्त्वात्, इदं तु विभ्रमैकान्तसवेदनं वहिरन्तरप्यर्थासत्त्वादिति कथं न तदतिशेते? न चास्य स्वरूपसत्त्वं, तद्व्यवस्थानस्य विपक्षव्यवच्छेदेन प्रतिपत्तिपथमुपनेतुमशक्तेः। स्वपरस्वभावप्रतिपत्तिशून्येन स्वपरपक्षसाधनदूषणव्यवस्था प्रत्येतीति किमपि महाद्भुतम्। संवृत्त्या प्रत्येतीति चायुक्तम्, कथंचिदपि परमार्थप्रतिपत्त्यभावे संवृतिप्रतिपत्त्ययोगात् परमार्थविपर्ययरूपत्वात्संवृतेः। अन्यथा परमार्थस्य संवृतिरिति नामकरणमात्रमबाधाकरमेव परेपामनुपज्येत। सोयं संवृत्त्या विभ्रमैकान्तसाधनमविभ्रमदूषणं च प्रत्येतीति परमार्थतो न प्रत्येतीति उपेक्षणीयवचन एव। तमन्येऽप्यनुमन्यन्ते इत्यचिन्त्यमनल्पतमतमोनिवन्धनमशक्यपर्यन्तगमनमिहाद्भुतम् ॥ ३१ ॥

किञ्चेत्यादिना, इत्यन्ये इति, अन्ये सौगताः, **स्वयमिति** अन्यगिरामसत्यत्वे इष्टापत्तिवारणाय अभिधेयत्वमित्यनन्तरं युक्तिसिद्धमिति शेषो द्रष्टव्यः। '**समयान्तरभेदेष्विति**' तत्तच्छास्त्रप्रसिद्धेषु प्रधानेश्वराद्यर्थेष्वपारमार्थिकेष्वि-

त्यर्थः। उपादानविशेषाद्विलक्षणविकल्पात्। प्रत्यासन्नेऽर्थे इति दर्शनविषयाध्यरोपाधिष्ठानविषयकत्वं विकल्पस्य वैशद्यं विकल्पविषयाध्यारोपाधिष्ठानविषयकत्वं च दर्शनस्यावैशद्यमित्यर्थः, यद्यप्यत्र दर्शनविकल्पयोरन्तराध्यारोपानवकाशः, औत्तरकालिकश्चारोपो धर्मिणं विना धर्मानुत्पत्तेरभित्तिचित्रार्पितः, तथापि सन्निकर्षविप्रकर्षकृतो भेदाग्रह एव वैशद्यावैशद्यव्यवहारहेतुः स्वरूपतो वैशद्यं तु स्वलक्षणविषयत्वेनेत्यत्र तात्पर्यम्, यथाप्रतीत्यभिधीयत इति तथा व्यवहारस्य तथा प्रतीतिसाध्यत्वाद्भेदाग्रहस्य च विशिष्टज्ञानमात्रोच्छेदकत्वेन व्यवहारानङ्गत्वादिति भावः ॥ परमार्थैकतानत्वाद्वस्त्वेकावलम्बनत्वात्, नियमः स्याद्दर्शनेऽर्थप्रकाशकत्वस्येति गम्यम्। उपादाननियमाद्वासनाविशेषव्याप्तेः। भाष्ये प्रसिद्धालीकवचनवदिति नदीतीरे मोदकराशयः सन्तीति विप्रतारकवचनवदित्यर्थः। ननु वक्त्रभिप्रायसूचकत्वं तदवच्छेदकार्थानुमापकत्वं, तथा चैतानि पदानि वक्तृतात्पर्यविषयसंसर्गप्रमाणपूर्वकाणि आकाङ्क्षादिमत्पदकदम्बकत्वाद्गामभ्याज दण्डेनेत्यादिपदवदित्यनुमानविधया शब्दप्रामाण्यं ताथागतानां न दुर्वचं काणादताथागतयोः प्रत्यक्षानुमानप्रमाणद्वयवादित्वात्, एवमपि वक्तृतात्पर्यसम्भावनामात्रहेतुतया शब्दप्रामाण्यप्रतिक्षेपे धूमादपि वह्निसम्भावनयैव प्रवृत्तिसम्भवादनुमानमात्रोच्छेदेन चार्वाकमतप्रवेशापत्तेरिति चेत्, नाननुमितमसाक्षात्कृतं श्रुतमिदं मयाऽऽप्तमुखादिति प्रतीत्या शाब्द्याः प्रमाया अतिरिक्तत्वे तत्करणस्यानुमानातिरिक्तत्वात्, व्युत्पत्तिज्ञानादेः स्वातन्त्र्येण शाब्दबोध एव हेतुत्वाच्च। विलक्षणानुमितावेव तद्धेतुत्वोपगमे च विलक्षणमानस एव तद्धेतुत्वं किं न स्यात् येन शाब्दत्वं मानसत्वव्याप्यं न भवेत्, व्याप्त्याद्यप्रतिसन्धानेऽपि व्युत्पन्नस्य शब्दश्रवणेन शाब्दबोधाच्च नानुमानं शब्द इति दिक्। स्वांशमात्रावलम्बिनेति स्वमेवांशो भागस्तन्मात्रावलम्बिना परमार्थचि-

न्तायां स्वरूपमात्रग्राहिणेत्यर्थः । तदुक्तं 'न्यायविनिश्चयालङ्कारे' "स्वग्राह्यैकस्वभावोऽयं विकल्पस्तन्मते स्थितः । व्याहारादेः कथं तेन बहिरर्थस्य वीक्षणम् ॥ १ ॥" इति । 'स्वत एवेति' स्वत एव स्वग्राह्यार्थस्य विकल्पज्ञानेन तत्तत्प्रकारकत्वेन निर्णये बोधस्वरूपस्वलक्षणांशेऽपि विकल्पः सप्रकारकः स्यात्, न च त्रिपुटीप्रत्यक्षवादे इष्टापत्तिः, बोधांशे निर्विकल्पकत्वेऽपि स्वात्मोभयव्यवहारजनकत्वेनैव स्वात्मविषयत्वव्यवस्थानात्, अन्यथाऽनुव्यवसायाकारपरम्पराभाजनत्वापत्तेरित्यर्थः । **विभ्रमैकान्तवादिवचनमिति** विभ्रमैकान्तवादी माध्यमिको ग्राह्यांशे ग्राहकांशे च तस्य विभ्रमवादित्वात्, वेदान्ती वा, विद्याया अप्यविद्याकार्यत्वेन तेन भ्रान्तत्वोपगमादिति द्रष्टव्यम् ॥ ३१ ॥

एव तर्हि मा भूत् पृथक्त्वैकान्तोऽद्वैतैकान्तवदशक्यव्यवस्थापनत्वात् । तदुभयैकात्म्य तु श्रेय इति मन्यमान वादिनं सर्वथा वाऽवाच्य तत्त्वमातिष्ठमान प्रत्याहुः—

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम् । अवाच्यतैकान्तेप्युक्तिर्न वाच्यमिति युज्यते ॥३२॥

अस्तित्वनास्तित्ववत् पृथक्त्वेतरपरस्परप्रत्यनीकस्वभावद्वयसभवोपि मा भूद्विप्रतिपेधात् । न खलु सर्वात्मना विरुद्धधर्माध्यासोऽस्ति तदन्योन्यविधिप्रतिपेधलक्षणत्वाद्वन्ध्यासुतवत् । यथैव हि वन्ध्याया विधिरेव तत्सुतप्रतिपेधः स एव वा वन्ध्याया विधिरिति वन्ध्यासुतयोरन्योन्यविधिप्रतिपेधलक्षणत्वं तथा पृथक्त्वस्वभावविधिरेव सर्वथैकत्वप्रतिपेधः स एव च तद्विधिः । इति कथमिव स्याद्वादमनिच्छतां विरुद्धधर्माध्यासः सभवेद्यतस्तदुभयैकात्म्यं तत्त्वमेकान्तवादिनः स्वीकुर्युः ? सर्वथानभिलाप्यतत्त्वाधिगमेपि यदेतदनभिलाप्यं तत्त्वमिति तद्व्याहन्यते, पूर्ववत् । इत्यलं प्रपञ्चेन ॥ ३२ ॥

न खल्विति सर्वात्मना विरुद्धयोरैकाधिकरण्यं नास्तीत्यर्थः। तथा च सर्वथा पृथक्त्वैकत्वयोर्न तत् कथञ्चित् पृथक्त्वैकत्वयोस्त्वविरोधात्तत् सम्भवत्येवेति भावः। वन्ध्याया विधिरेव तादात्म्येनेति दृश्यम्। तत्सुतप्रतिषेधः जनकतासम्बन्धेन सुताभाव इत्यर्थः। एवमग्रेऽपि ॥ ३२ ॥

तदेवमेकत्वाद्येकान्तनिराकृतिसामर्थ्यात्तदनेकान्ततत्त्वप्रसिद्धावपि तत्प्रतिपत्तिदार्ढ्यार्थमन्यथाशङ्कापाकरणार्थं च तत्सप्तभङ्गीं समाविर्भावयितुकामास्तन्मूलभङ्गद्वयात्मकत्वं जीवादिवस्तुनः प्राहुः।

अनपेक्षे पृथक्त्वैक्ये ह्यवस्तु द्वयहेतुतः। तदेवैक्यं पृथक्त्वं च स्वभेदैः साधनं यथा ॥ ३३ ॥

हि यस्मादवस्त्वेवानपेक्षे पृथक्त्वैक्ये—ऐक्यपृथक्त्वनिरपेक्षत्वहेतुद्वयात् प्रतिपादिते प्राक्, तस्मात्तदेवैक्यं पृथक्त्वं च जीवादिवस्तु कथंचिदेकत्वपृथक्त्वप्रत्ययहेतुद्वयादवसीयते। यथा साधन सत्त्वादि पक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्वविपक्षासत्त्वलक्षणैर्भेदैर्विशिष्टमेक प्रसिद्धमुभयोः। तत्राप्यन्वयव्यतिरेकयोरनपेक्षयोरवस्तुरूपत्वात् साधनलक्षणत्वायोगात् सापेक्षयोरेव तल्लक्षणत्वेन वस्तुस्वभावत्वसिद्धेः साम्यमुदाहरणस्य प्रतिपत्तव्यम्। किं पुनरनया कारिकया करोत्याचार्यः ? पूर्वेणैवास्यार्थस्य गतत्वादिति चेत्, एकत्वपृथक्त्वे नैकान्ततः स्तः प्रत्यक्षादिविरोधादिति स्पष्टयति, गतार्थस्याप्यनुमानविषयत्वदर्शनात्स्पष्टत्वप्रसिद्धेः, प्रमाणसम्प्लववादिनां गृहीतग्रहणस्यादूपणात। तथा हि। पृथक्त्वैकत्वे तथाभूते न स्ताम्, एकत्वपृथक्त्वरहितत्वाद्व्योमकुसुमादिवत्। तथा हि। सर्वथा पृथक्त्वं नास्त्येव, एकत्वनिरपेक्षत्वाद्व्योमकुसुमवत्। सर्वथैकत्वं नास्ति पृथक्त्वनिरपेक्षत्वात्तद्वदिति। अत्र न हेतुद्वयमसिद्धं तदेकान्तवादिना तथाभ्युपगमात्। नाप्यनैकान्तिकं विरुद्धं वा, विपक्षवृत्त्यभावात्। सापेक्षत्वे हि तदेवैक्यं पृथक्त्वमित्यविरुद्धं कथंचिज्जीवादिवस्तु

प्रत्यक्षादिभिरुपलभ्यते न पुनः सर्वथेति सिद्धान्यथानुपपत्तिः, सपक्षविपक्षयोर्भावाभावाभ्यां साधनवत्। न हि सपक्षे एव भावो विपक्षेऽभावनिरपेक्षो विपक्षेऽभाव एव वा सपक्षे भावानपेक्षः साधनवस्तुनो रूपं परेषां सिद्धं येन साध्यसाधनविधुरमुदाहरणं स्यात्। स्वभेदैर्वा संवेदनवत्। न हि हेतुमनिच्छतः संवेदनाद्वैतं पुरुषाद्वैतं वा स्वीकुर्वतोपि चित्रसंवेदनं नीलादिनिर्भासैरद्वयसंवेदनं वा ग्राह्यग्राहकाकारविवेकसंविदाकारैः परमब्रह्म वा तेजःशब्दज्ञानज्योतिराकारैर्विगेतराकारैर्वा स्वभेदैः परस्परनिरपेक्षैर्विशिष्टं वस्तु सिद्धं येनोदाहरणमनवद्यं न स्यात्। स्वारम्भकावयवैर्वा घटादिवत् औलूक्यानाम्। सत्त्वादिभिः प्रधानवद्वा कापिलानाम्। तादृशं हि साधनं स्वार्थक्रियायाः क्षीराद्याहरणादिकाया महदादिसृष्टिरूपाया वा स्वविषयज्ञानजननलक्षणाया वा सिद्धमेव। तदन्तरेणापि पाठान्तरमिदं बहु संगृहीतं भवति, कारिकाया स्वभेदैः साधनं यथेत्यत्र साधनशब्देन साधनसामान्यस्याभिधानात् स्वभेदशब्देन च तत्सामान्यस्य वचनात्। यथायोगं विशेषव्याख्यानादिष्टविशेषसिद्धेर्हेतुसंग्रहः ॥ ३३ ॥

कथञ्चिदेकत्वेत्यादि जीवादिवस्तु सापेक्षं सदेकं भवति कथञ्चिदेकत्वेन प्रतीयमानत्वात् सत्त्वादिसाधनवत्, तथा जीवादिवस्तु सापेक्षं पृथग् भवति कथञ्चित् पृथक्त्वेन प्रतीयमानत्वात् तद्वदेवेति हेतुद्वयं बोध्यम्। न च दृष्टान्ते साध्यवैकल्यं, सत्त्वादिहेतौ हेतुलक्षणपर्याप्तिप्रकारकबुद्धिविषयत्वरूपस्याभेदस्यान्वयित्वव्यतिरेकित्वापेक्षया तदविषयकबुद्धिविषयत्वादिरूपभेदस्य च सर्वसम्प्रतिपन्नत्वात्, न चायं भेदोऽकिञ्चित्करो, व्याप्तिलक्षणे ईदृशस्यैव भेदस्यान्यैरपि प्रवेशात्, अन्यथाऽनिर्वाहादिति बोध्यम्। तदेव स्पष्टयति यथा साधनमित्यादिना, सिद्धान्यथानुपपत्तिरिति तथा च वस्तुत्वान्यथानुपपत्त्या कथञ्चिदेकं कथञ्चित् पृथक् च जीवादिवस्तु साधनीयं, विपक्षे बाधकश्च व्यवहारबाध एवेति नाप्रयोजकत्वं, स्वभेदैः साधनं यथेति

दृष्टान्तचतुष्टयप्रतिपादनपरे प्रतीके साधनपदं हेतुसंवेदनघटाद्यवयविप्रधानपरतया भेदपदं च हेतुरूपनीलाद्याकारस्वारम्भकावयवसत्त्वादिपरतया व्याचिख्यासुराह भाष्यकृत्–" **सपक्षविपक्षयोरित्यादिना** परस्परनिरपेक्षरूपविशिष्टे न वस्तुत्वमिति व्यतिरेकं प्रद(र्श्य)र्शयित्वा परस्परसापेक्षरूपविशिष्ट एव तत्त्वमित्यन्वयं प्रदर्शयति–**तादृशं हीत्यादिना** क्षीराद्याहरणादिकाया इत्युत्तरयोरर्थक्रियाप्रदर्शनं स्वविषयज्ञानेत्याद्ययोः हेतुना स्वविषयज्ञानस्यानुमितिरूपस्य संवेदनेन चानुव्यवसायस्य जननादिति बोध्यम् । स्वप्रकाशत्वात्संवेदनस्य न स्वविषयज्ञानजननलक्षणाऽप्यर्थक्रियेति चेत्, तर्हि व्यवहारजननलक्षणा साऽऽद्रियतां, यथा कथञ्चिदर्थक्रियाकारित्वस्यैव वस्तुत्वव्यवस्थापकत्वादिति तत्त्वम् । **भाष्ये तदन्तरेणापीति** तत्प्रसिद्धसाधनम्, **अन्तरेण** विनापि, इदं तुरीयपादलक्षणं पाठान्तरम् एकपाठत्वेऽप्यावृत्त्यपेक्षया नानाप्रयोगरूपं बहूनां सङ्गृहीतं भावे क्तप्रत्ययात् सङ्ग्रहो यत्र तत्तथा, बह्वर्थसङ्ग्राहकं भवतीत्यर्थः। **कारिकायामिति**, अवयवावयविभावेन वृत्तित्वे सप्तमी ॥३३॥

नतु चैकत्वप्रत्ययात्पृथक्त्वप्रत्ययाच्च कथमेकत्वं पृथक्त्वं च जीवादीनामुपपन्नं तस्य निर्विषयत्वादित्याशङ्कायां तस्य सविषयत्वमादर्शयितुमनसः स्वामिनः प्राहुः—

सत्सामान्यात्तु सर्वैक्यं पृथग्द्रव्यादिभेदतः। भेदाभेदविवक्षायामसाधारणहेतुवत् ॥ ३४ ॥

तु विशेषणे। तेन सत्सामान्यं विशेषणमाश्रित्य सर्वेषां जीवादीनामैक्यमिति नैकत्वप्रत्ययो निर्विषयः, तस्य सत्सामान्यविषयत्वात्। पृथक् सर्वं जीवादि द्रव्यादिपदार्थभेदमाश्रित्यानुभूयते। ततो न पृथक्त्वप्रत्ययोपि निर्विषयः, तस्य द्रव्यादिभेदविषयत्वादिति निवेदित बोद्धव्यम्। हेतुरत्र ज्ञापकः कारकश्चोच्यते। स चासाधारणो यथास्वं प्रवादिभिर्विशेषेणेष्टत्वात्। स च यथा स्वभेदानां

पक्षधर्मत्वादीना स्वारम्भकावयववादीनां वा विवक्षाया पृथगेव हेतुत्वेन घटावयव्यादित्वेन वा तदभेदविवक्षायामेक एव तथा सर्वं विवादाध्यासितमिति दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकघटनात्। कश्चिदाह, सर्वार्थाना समानपरिणामेपि कथमैक्यं भेदानां स्वभावसाङ्कर्यानुपपत्तेः। न हि भावाः परस्परेणात्मानं मिश्रयन्ति, भेदप्रतीतिविरोधात्। तेषामतत्कार्यकारणव्यावृत्त्या समानव्यवहारभाक्त्वेपि परमार्थतोऽसंकीर्णस्वभावत्वात्। तदुक्तं "सर्वे भावाः स्वभावेन स्वस्वभावव्यवस्थितेः। स्वभावपरभावाभ्या यस्माद्व्यावृत्तिभागिनः ॥ १ ॥ तस्माद्यतो यथार्थानां व्यावृत्तिस्तन्निबन्धनाः। जातिभेदाः प्रकल्प्यन्ते तद्विशेषावगाहिनः ॥ २ ॥ ततो यो येन धर्मेण विशेषः सम्प्रतीयते। न स शक्यस्ततोऽन्येन, तेन भिन्ना व्यवस्थितिः ॥ ३ ॥" इति। अत्राभिधीयते। जीवादिभेदानामैक्यं, यथैकभेदस्य स्वभावविच्छेदाभावात्। न हि स्वभावविच्छेदाभावादृते नीलस्वलक्षणस्य सवेदनस्य वा कस्यचिदेकस्य स्वयमिष्टस्याप्येकत्वनिबन्धनं किंचिदस्ति। नापि कथंचिद्भिन्नानामपि भावाना सत्सामान्यस्वभावेन विच्छेदोस्ति, तथा विच्छेदाभावस्यानुभवात्। अन्यथैकं सदन्यदसत् स्यात्। ततः समञ्जस सर्वमेकं सदविशेषादिति, सदात्मना सर्वभावाना परस्परमिश्रणेपि साङ्कर्याप्रसक्तेः चित्रैकज्ञाननीलादिनिर्भासाना सविदात्मनैकत्वेपि साङ्कर्याप्रसक्तिवत्। नहि तेषामनेकत्वे चित्रज्ञानसिद्धिः सर्वथैकत्ववत्। तत एव न किंचिद्भिन्नज्ञानं निरंशसवेदनाद्वैतोपगमादिति चेत्, न, तत्रापि वेद्याकारविवेकसविदाकारयोः परोक्षप्रत्यक्षयोरेकसवेदनत्वेपि साङ्कर्यानिष्टेरन्यथा सविदाकारस्यापि परोक्षत्वप्रसङ्गात् वेद्याकारविवेकवत्। तस्य वा प्रत्यक्षत्वं सविदाकारवत् स्यात्। न चैवं तद्विप्रतिपत्तिविरोधात् समारोपस्यापि सर्वथाप्यविशेषे क्वचिदेवासभवान्निश्चयवत्। तस्यैव सतो द्रव्यादिभेदात् पृथक्त्वमुदाहरण पूर्ववत्। तथा च बहिरन्तश्च भावाना सदात्मनैकत्वं द्रव्याद्यात्मना पृथक्त्वं च स्वस्वभावः सिद्धो, न पुनरसाधारणं भिन्नं रूपम्। तेन च स्वस्वभावेन व्यवस्थितेः

स्वभावपरभावाभ्यां भावाः स्वभावेनानुवृत्तिव्यावृत्तिभागिनो, न पुनरेकान्ततो व्यावृत्तिभागिनः । तस्माद्यतो यतोऽर्थानां व्यावृत्तिस्तन्निबन्धना भेदविशेषा एव प्रकल्प्यन्ते, न जातिविशेषाः, प्रतीतिविरोधात् । यतो यतस्त्वनुवृत्तिस्ततस्ततो जातयः प्रकल्प्यन्ते, तासामेवानुवृत्तिप्रत्ययलिङ्गत्वात् । ततो यो येन धर्मेण विशेषोऽविशेषश्च संप्रतीयते, न स शक्यस्ततोन्येन । तेन भिन्नाऽभिन्ना च व्यवस्थितिः पदार्थानां, तथा प्रतीतेर्बाधकाभावात् । ततः स्थितमेतत्, सत्सामान्यविवक्षायां सर्वेषामैक्यम्, द्रव्यादिभेदविवक्षायां पृथक्त्वमेव, इतरस्याविवक्षायां गुणभावात् ॥ ३४ ॥

उक्तमेव विवृणोति वृत्तिकृत्–**स्वभेदैरित्यादिना**, **सत्सामान्यात्त्विति** सर्वस्य वस्तुनः सत्त्वेनैक्यं द्रव्यादिभेदेन पार्थक्यं यथाऽसाधारणः शृङ्गग्राहिकयाऽभिहितः सत्त्वादिर्हेतुस्तद्धेतुत्वेनाभेदविवक्षयैकः पक्षधर्मत्वाद्यपेक्षया च पृथग्रूप इति । तथा चैकत्वं पृथक्त्वं च वैवक्षिकमेव नतु क्वचन विशिष्यविश्रान्तं द्रव्यार्थिकनयेनैकीकृतस्यैव पर्यायार्थिकनयेन पृथक्करणात्, तेन पृथक्कृतस्यैव चान्येनैकीकरणात्, **सम्मतौ** द्रव्योपयोगस्यापश्चिमविकल्पनिर्वचनत्वोक्तेः, कार्यकारणभावप्रवाहपतितानां द्रव्यपर्यायाणां तत्र विश्रान्त्या सम्भवेऽपि सामान्यतस्तदविश्रामात्, नीलादिस्वलक्षणज्ञानस्वलक्षणयोरपि रूपरसादिपर्यायैस्तत्तन्निर्भासभेदैश्च पृथक्त्वेन सर्वथैकत्वायोगात्, तत्तदात्मनि तत्तत्परमाणौ च द्रव्यैक्येऽपि पर्यायाविवक्षाप्रयुक्तद्रव्यविवक्षाया एव शरणत्वात्, देशप्रदेशकल्पनाविनिर्मुक्तवस्तुगोचरैवंभूतनयप्रवृत्तेरपि नयान्तराविवक्षाहेतुकत्वात्, द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकोभयप्रवृत्तेरपि सर्वत्र नियमस्य भजनामात्रेण च क्वचन तदपवादस्य शास्त्रसिद्धत्वात्, सर्वेषां नयानां स्वस्ववचनीयसत्यत्वेऽपि च परविचारप्रवृत्तौ मोघत्वादित्यादिरहस्यं सहृदयैः स्वयं बोध्यम् । ज्ञापकः साध्यज्ञानजनकज्ञानविषयः,

कारकोऽनन्यथासिद्धनियतपूर्ववर्त्ती, जातिभेदा अतद्व्यावृत्तिरूपास्तुच्छाः, तद्विशेषावगाहिनस्तद्विशेषाकारज्ञानविपयाः, यथाश्रुतेऽवगाहित्वस्य ज्ञानधर्मस्य जातिभेदविशेषणत्वानुपपत्तेरिति द्रष्टव्यम् । भिन्नं रूपं गुणान्तरं पदार्थान्तरं वा, इतरस्याविवक्षायां गुणभावादिति गुणभावस्तत्प्रकारकबोधोद्देशेन वचनाप्रवृत्तावप्यभेदसंसर्गप्रवेशमर्यादया भानं, तत्र मूलं चानन्तधर्मात्मके वस्तुन्येकोऽपि धर्मस्तदितरसकलधर्माभिन्नत्वविशिष्टसंसर्गेण भातीति व्युत्पत्तिः । नन्वेकत्वमभेदः पृथक्त्वं च भेदः साधनमेकं पक्षधर्मत्वादिना न भिद्यते किन्तु भिन्नप्रकारकप्रतीतिविषयो भवतीति दृष्टान्तावष्टम्भेन जीवादिवस्तुन्येकत्वपृथक्त्वयोरन्योन्यानुगमसाधनं युक्तिरिक्तमिति चेत्, न, धूमो वह्नौ धूमत्वेनैको हेतुः पक्षधर्मत्वादिरूपैः पृथग्रूपः, दण्डो घटे दण्डत्वेन हेतुर्द्रव्यत्वेन न हेतुरिति प्रतीत्या हेतावेकत्वपृथक्त्वयोर्भेदाभेदयोश्चान्योन्यानुगमसिद्धान्तदृष्टान्तेन जीवादिवस्तुनि तत्साधनस्य युक्तिपथानतिवर्त्तित्वात् । न च द्रव्यत्वेन न हेतुरित्यत्र द्रव्यत्वानवच्छिन्नहेतुतावानर्थः, मूले वृक्षः संयोगी न शाखायामित्यत्रापि शाखानवच्छिन्नसंयोगवद्विपयकत्वापत्तेः, दण्डोऽदण्डश्च द्रव्यत्वेन न हेतुरित्यत्रागतेश्च । युक्तिसिद्धे च भेदस्याव्याप्यवृत्तित्वे किमेकत्रापेक्षया भेदाभेदोभयावगाहिप्रतीतेरन्यविपयत्वकदर्थनेन, न च द्रव्यत्वावच्छिन्नतादात्म्येन हेतुमति द्रव्यत्वेन हेतुभेदोऽप्यसम्भवीति शङ्कनीयम् । तादात्म्येन तत्तद्धेतुतत्तद्भेदयोस्तत्तद्धेतुतावच्छेदकतदनवच्छेदकभेदेन सत्त्वस्वीकारात् प्रतियोग्यनवच्छेदकस्याभावावच्छेदकत्वेऽतिप्रसङ्गस्तु कथञ्चित् पक्षेणैव प्रतीत्यबाधया परिहरणीय इति दिग् ॥ ३४ ॥

विवक्षाऽविवक्षयोरसद्विपयत्वान्न तद्वशात्तत्त्वव्यवस्था युक्तेति मन्यमानं प्रत्याहुः सूरयः—

विवक्षा चाविवक्षा च विशेष्येऽनन्तधर्मिणि । सतो विशेषणस्यात्र नासतस्तैस्तदर्थिभिः॥३५॥

क्रियते इति विशेषः विशेष्योर्थस्तावदनन्तधर्मा प्रागुक्तः । तत्र कस्यचिद्विशेषणस्यैकत्वस्य सत एव विवक्षा पृथक्त्वस्य च सत एव वा-विवक्षा, न पुनरसतः क्रियते तैः प्रतिपत्तृभिरेकत्वपृथक्त्वाभ्यामर्थिभिः, सर्वथा तत्र कस्यचिदर्थित्वानर्थित्वयोरसंभवात्, तस्य सकलार्थक्रियाशक्तिशून्यत्वात् खरविषाणवत्। न हि कस्यचिद्विवक्षाविषयस्य मनोराज्यादेरसत्त्वे सर्वस्यासत्त्वं युक्तम्, कस्यचित् प्रत्यक्षविषयस्य केशोंडुकादेरसत्त्वे सर्वस्य प्रत्यक्षविषयस्यासत्त्वप्रसङ्गात्। प्रत्यक्षाभासविषयस्यासत्त्वं, न पुनः सत्यप्रत्यक्षविषयस्येति चेत्, तर्ह्यसत्यविवक्षाविषयस्यासत्त्वमस्तु, सत्यविवक्षाविषयस्य तु मा भूत्। न काचिद्विवक्षा सत्या विकल्परूपत्वान्मनोराज्यादिविकल्पवदिति चेत्, न, अस्यानुमानस्य सत्यत्वेऽनेनैव हेतोर्व्यभिचारात् तदसत्यत्वे साध्याप्रसिद्धेः । यतोनुमानविकल्पादर्थं परिच्छिद्य प्रवर्तमानोर्थक्रियायां न विसंवाद्यते, तद्विषयः सन्नेवेति चेत्तर्हि यतो विवक्षाविशेषादर्थं विवक्षित्वा प्रवर्तमानो न विसंवाद्यते तद्विषयः कथमसन् भवेत् ? अविवक्षाविषयोऽसन्नेवान्यथा तदनुपपत्तेरिति चेत्, न, सकलवाग्गोचरातीतेनार्थस्वलक्षणेन व्यभिचारात्। सर्वस्य वस्तुनो वाच्यत्वान्नाविवक्षाविषयत्वमिति चेत्, न, नाम्नस्तद्भागाना च नामान्तराभावादन्यथानवस्थानुपङ्गात् तेपामविवाक्षाविषयत्वेपि सत्त्वे कथमन्यदपि विशेषणमविवक्षाविषयत्वे सदेव न सिध्येत् ? तदेव विधिप्रतिषेधधर्माणां सतामेव विवक्षेतराभ्या योगस्तदर्थिभिः क्रियेत, अन्यथार्थनिष्पत्तेरभावात् न ह्यर्थक्रियार्थिनिष्पत्तिमनपेक्ष्य विवक्षेतराभ्यां योगः संभवति, येन तदभावेपि स स्यात्। उपचारमात्रं तु स्यात्। न चाग्निर्माणवक इत्युपचारात्, पाकादावुपयुज्यते। ननु चान्यव्यावृत्तय एव विवक्षेतराभ्या युज्यन्ते, न वस्तुस्वभावो, यतस्तयोः सद्विषयत्वमिति चेत्, न, शब्देभ्यो वस्तुनि प्रवृत्तिविरोधात्, व्यावृत्तितद्वतोरेकत्वाध्यारोपात्तद्वति प्रवृत्तिरिति चेत्, न, अध्यारोपस्य विकल्प-

त्वेनार्थाविषयत्वात् स्वाविषयेण व्यावृत्तेरेकत्वारोपणायोगात् । सामान्येनार्थोध्यारोपविकल्पविषय एवेति चेत्तदपि यद्यन्यव्यावृत्तिरूपं तदावृत्त्यैव व्यावृत्तेरेकत्वारोपात्कुतोर्थे प्रवृत्तिः ? तामिच्छता तदेकैकशः परपरव्यावृत्तयोपि परिणामविशेषा एषितव्याः ॥ ३५ ॥

विकल्परूपत्वादिति, न च पक्षावृत्तित्वेनास्यासिद्धत्वं, विवक्षाया मोहाभिव्यक्तचैतन्यरूपत्वेनास्य पक्षवृत्तित्वात्, नाम्नो घटादिनाम्नः, तद्भागानां च घकारटकाराद्यक्षराणाम्, उपचारमात्रं तु स्यादिति मुख्यार्थबाधे तद्योगरूढिप्रयोजनान्यतरसंपत्तेरेव तद्धेतुत्वादिति भावः । न चाग्निरित्यादि, ततः सतामेवार्थानामर्थिविवक्षेतराभ्यां योग इति निर्व्यूढम् ॥ ३५ ॥

योप्याह भेद एव परमार्थसन्नर्थाना नाभेदस्तस्य संवृतिसत्त्वादन्यथा विरोधादिति । अभेद एव तात्त्विको भावानां न भेदस्तस्य कल्पनारोपितत्वादन्यथा विरोधानुपपत्तेरिति चापरः तौ प्रति सूरयः प्राहुः—

प्रमाणगोचरौ सन्तौ भेदाभेदा न संवृती । तावेकत्राविरुद्धौ ते गुणमुख्यविवक्षया ॥ ३६ ॥

अभेदस्तावत्सन्नेव न पुनः सवृतिविषयः प्रमाणगोचरत्वाद्भेदवत् । भेद सन्नेव न पुनः सवृतिः प्रमाणगोचरत्वादभेदवत् । भेदाभेदौ सन्तावेव, न पुनः सवृती, प्रमाणगोचरत्वात्स्वेष्टतत्त्ववदित्यपि पक्षान्तरमाक्षिप्तं लक्ष्यते, तदुभयसंवृतिवादिनोपि सकलधर्मविधुरत्वमनुमन्यमानस्य भावात् । न चात्र साध्यसाधनधर्मविकलमुदाहरणं, भेदाभेदतदुभयानुभयैकान्ताभिधायिना तत्प्रसिद्धे स्याद्वादिवत् । तथैकत्र वस्तुनि भेदाभेदौ परमार्थसन्तौ ते भगवतो न विरुद्धौ प्रमाणगोचरत्वात्स्वेष्टतत्त्ववत् । इति सामर्थ्यात् परस्परनिरपेक्षौ भेदाभेदौ विरुद्धावेव प्रमाणागोचरत्वाद्भेदैकान्तादिवत् इति कारिकायामर्थसङ्ग्रहः । किं पुनः प्रमाणं यद्गोचरत्वमत्र हेतुरिति चेत्

प्रमाणमविसंवादि ज्ञानमनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वादित्यग्रे वक्ष्यति । अधिगमो हि स्वार्थाकारव्यवसायः । स्वार्थाकारौ च कथंचिद्भेदाभेदौ, तदन्यतरापायेऽर्थक्रियानुपपत्तेस्तदेकान्ते सर्वथा तदयोगात् । तदेवं सति भेदमभेदं वा नान्योन्यरहितं विषयीकरोति प्रमाणम् । न हि बहिरन्तर्वा स्वलक्षणं सामान्यलक्षणं वा तथैवोपलभामहे यथैकान्तवादिभिराम्नायते । इति भेदैकान्ताभावेऽभेदैकान्तासत्त्वे च परस्परनिरपेक्षतदुभयैकान्तापाकरणेऽनुभयैकान्तापसारणे च साध्ये स्वभावानुपलब्धिः, स्वयमुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य तस्यानुपलभ्यमानत्वसिद्धेः । न चेयमसिद्धा, सूक्ष्मस्थूलाकाराणां स्थूलसूक्ष्मस्वभावव्यतिरेकेण प्रत्यक्षादावप्रतिभासनात् । न हि प्रत्यक्षे स्वलक्षणं सूक्ष्मं परमाणुलक्षणं प्रतिभासते स्थूलस्य घटाद्यात्मनः प्रतिभासनात् । परमाणुष्वेवात्यासन्नासंसृष्टेषु दृष्टौ प्रतिभासमानेषु कुतश्चिद्विभ्रमनिमित्तादात्मनि परत्र चासन्तमेव स्थूलाकारमादर्शयन्ती संवृतिस्तान् संवृणोति केशादिभ्रान्तिवदिति चेत्, नैवं, बहिरन्तश्च प्रत्यक्षस्याभ्रान्तत्वकल्पनापोढत्वाभावप्रसङ्गात्, संव्यवहारतः परमार्थतो वा प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तमिति लक्षणस्यासंभवदोषानुषङ्गात्, परमाणूनां जातुचिदध्यक्षबुद्धावप्रतिभासनात् । ते इमे परमाणवः प्रत्यक्षबुद्धावात्मानं च न समर्पयन्ति प्रत्यक्षतां च स्वीकर्तुमिच्छन्तीत्यमूल्यदानक्रयिणः, स्वावयवभिन्नैकावयविवत् । न हि सोपि सूक्ष्मस्वावयवव्यतिरिक्तो महत्त्वोपेतः प्रत्यक्षे प्रतिभासते, कुण्डादिव्यतिरिक्तदध्यादिवत् । समवायात्तेभ्योऽनर्थान्तरमिव प्रतिभासते इति चेत्, न, अवयविप्रत्यक्षस्य सर्वत्र भ्रान्तत्वप्रसङ्गात् । तथा चाव्यभिचारित्वं प्रत्यक्षलक्षणमसंभवि स्यात् । न चैतेऽवयवा अयमवयवी समवायश्चायमनयोरिति त्रयाकारं प्रत्यक्षमनुभूयते सकृदपि, यतोऽसावप्यमूल्यदानक्रयी न स्यात्, प्रत्यक्षबुद्धावात्मानर्पणेन प्रत्यक्षतास्वीकरणाविशेषात् । तत एव परस्परभिन्नावयवावयविनामपि प्रत्यक्षे प्रतिभासनादमूल्यदानक्रयिणावुक्तौ, समवायवत् । सर्वं वस्तु क्षणिकपरमाणुरूपं, सत्त्वात्, नित्यस्थूलरूपे

क्रमाक्रमाभ्यामर्थक्रियानुपपत्तेस्तदयोगादित्यनुमानेन स्वलक्षणमध्यवसीयते इति चेत्, न, अत्र हेतोर्विरुद्धत्वात्, सत्त्वस्य कथंचिन्नित्यानित्यात्मकसूक्ष्मस्थूलात्मकत्वेन व्याप्तत्वात्, सर्वथा नित्याद्येकान्तरूपे क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात्सत्त्वानुपपत्तेः समर्थनात्। एतेन स्थूलमेवावयवि द्रव्यं सूक्ष्मावयवरहितं प्रतिभासते इति व्युदस्तम्, तदनुमानस्यापि विरुद्धत्वाविशेषात् प्रत्यक्षबाधितविषयत्वाच्च हेतोरतीतकालत्वाव्यवस्थितेः। अत एव नोपमानादावपि तत्प्रतिभासनमिति नासिद्धं सूक्ष्माद्येकान्तस्य प्रत्यक्षबुद्धावप्रतिभासनम्, यतस्तत्प्रतिषेधे साध्ये स्वभावानुपलब्धिर्न सिध्येत्। तत्प्रतिषेधे च सिद्धः सूक्ष्माद्यनेकान्तः। तत्र स्वभावान्तरस्य प्राधान्यविवक्षायामाकारान्तरस्य गुणभावः स्यात्, घटोयं परमाणवो रूपादयो वेति। घटार्थिनो हि घटविवक्षाया घटः प्रधानं परमाणवोऽनुमेयाः, प्रत्यक्षाश्च रूपादयो गुणीभूताः, तदनर्थित्वादविवक्षाप्रसिद्धेः। तदर्थिनां तु तद्विवक्षाया त एव प्रधानं न पुनर्घटोवयवी, तद्विवक्षायाः सम्भवाभावात्तदर्थित्वानुपपत्तेः। न च तदुभयसत्त्वाविशेषादविशेषेणार्थित्वमनर्थित्वं वा प्रसज्यते, तस्य तत्सत्तामात्रानिबन्धत्वात्, मोहविशेषोदयहेतुकत्वात् तदुदयस्यापि मिथ्यादर्शनादिकालादिनिमित्तकत्वात्॥ तदेवं स्याद्द्वैतं, स्यात् पृथक्त्वमिति मूलभङ्गद्वयं विधिप्रतिषेधकल्पनयैकवस्तुन्यविरोधेन प्रश्नवशादुपदर्शितम्। शेषभङ्गानां तु प्रक्रिया यथोदितनयविशेषवचनभाक् 'एकानेकविकल्पादावुत्तरत्रापि योजयेत्' इत्याद्यतिदेशकारिकानिर्देशसामर्थ्यात्प्रपञ्चतो निश्चेतव्या ॥ ३६ ॥

अद्वैताद्याग्रहोग्रग्रहगहनविपन्निग्रहेऽलङ्घ्यवीर्याः, स्यात्कारामोघमन्त्रप्रणयनविधयः शुद्धसद्ध्यानधीराः ॥
धन्यानामादधाना धृतिमधिवसतां मण्डलं जैनमग्र्यं, वाचः सामन्तभद्र्यो विदधतु विविधां सिद्धिमुद्भूतमुद्राः ॥१ ॥

॥ इत्याप्तमीमांसालङ्कृतौ द्वितीयः परिच्छेदः ॥ २ ॥

कारिकायां न संवृती इति, संवृतिपदस्य संवृतिविषये लाक्षणिकत्वान्न सांवृतावित्यर्थः। अविरुद्धावित्यतः पूर्वं वक्तुमिति शेषः। एकत्राविरुद्धतया वचन एव गुणमुख्यविवक्षाया हेतुत्वसम्भवादित्यर्थः। न चेयमसिद्धेति एतेषु साध्येषु इयं स्वभावानुपलब्धिरसिद्धा न॥ सूक्ष्मेत्यादिभाष्यम् सूक्ष्मस्थूलाकाराणामवयवावयविरूपाणां विषयाणां स्थूलसूक्ष्मस्वभावव्यतिरेकेणावयव्यवयवस्वभावानुपरागेण, अत्यासन्नासंसृष्टेष्विति अयोग्यपरमाणुभ्यो योग्यपरमाणूत्पत्त्युपलक्षणमेतत्, तेन वाय्वादेरचाक्षुषत्वमप्युपपादितं भवति, शक्तिविशेषेणैवाणूनां चाक्षुषादिजननयोग्यत्वादिति बोध्यम्। 'संवृणोतीति' तथा च घटादावेकत्वग्रहहेतुरनेकत्वग्रहप्रतिबन्धकश्च दोष एव संवृतिः, संवरणाच्चान्वर्थत्वं संज्ञाया इत्युक्तं भवति, कुण्डादिव्यतिरिक्तदध्यादिवदिति। यथा कुण्डादिव्यतिरिक्तं दधि प्रतिभासते तथा स्वावयवव्यतिरिक्तोऽवयवी न प्रतिभासत इति व्यतिरेकदृष्टान्तोऽयम्। अनर्थान्तरमिवेति तन्तव एव पट इत्यवयवभिन्नोऽप्यवयवी समवाययोगात्तदभिन्नत्वेन भासत इत्यर्थः। 'प्रत्यक्षलक्षणमिति' "इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारिव्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्" इत्यक्षपादसूत्रोक्तप्रत्यक्षलक्षणघटकमित्यर्थः। अत्र हीन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यभिचारिप्रत्यक्षमित्येतदेव लक्षणम्, अव्यपदेश्यं व्यवसायात्मकं चेत्येतावत् निर्विकल्पकत्वसविकल्पकत्वाभ्यां विभागपरमित्यादि व्यवस्थितं न्यायसिद्धान्तमालायाम्। न चेत इति समवायाप्रत्यक्षत्वं च वैशेषिकेणापि स्वीक्रियते, तच्च न सम्बन्धप्रत्यक्षे यावदाश्रयप्रत्यक्षस्य हेतुत्वात् समवायसंयोगान्यतरत्वगर्भं सम्बन्धत्वं परित्यज्य संयोगप्रत्यक्षत्वस्यैव तत्कार्यतावच्छेदकत्वादिति विपयासत्त्वादेव तदप्रत्यक्षत्वं स स्वीकारणीयः, तत्सम्बन्धतत्सम्बन्धादिप्रत्यक्षपरम्पराभिग्राह्य (भिया ह्यस्य सुग्राह्यत्वम्, अन्यथा समवायस्य

सत्त्वे तत्प्रत्यक्षमिव तत्सम्बन्धतत्सम्बन्धपरम्पराऽपि प्रत्यक्षा स्यात्) प्रत्यक्षादाविति भाष्यस्थादिशब्दगृहीतानुमानादावपि सूक्ष्मस्थूलाकाराः स्थूलसूक्ष्मस्वभावव्यतिरेकेण न प्रतिभासन्त इति समर्थयितुमनाः प्राह-सर्वं वस्त्वित्यादिना प्रत्यक्षबाधितेति अवयवसहितस्यैवावयविनः प्रत्यक्षे भानादित्यर्थः, गुणीभूता इति, यावत्स्वप्रदेशगुणपर्यायविशिष्टतादात्म्यसंसर्गेणैवेदंतादेर्घटे भानाभ्युपगमादित्यर्थः । तदनर्थित्वादिति रूपाद्युद्देश्यकजिज्ञासाभावादित्यर्थः, तत्सद्भावे तु जायत एवैते रूपादयो घट इति प्रत्यक्षमिति भावः । यद्यपि विवक्षा शाब्दबोध एव प्रयोजिका, न प्रत्यक्षे, नापि जिज्ञासा, घटदिदृक्षयोन्मीलितनयनस्य पुरःस्थितपटप्रत्यक्षानुत्पत्तिप्रसङ्गात्, तथापि प्रधानगुणभावेन तथातथाप्रत्यक्षे तत्तदर्थित्वादिनियन्त्रितक्षयोपशमस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यां विशिष्य हेतुत्वान्नानुपपत्तिरिति सर्वमनवद्यम् । शिष्टं सुगमम् ॥ ३६ ॥

इत्येकत्वपृथक्त्वचिन्तननयौ यौ सप्तभङ्ग्यावहौ, तावुन्मग्नजलानिमग्नजलयोः सादृश्यमन्विच्छतः ॥
उल्लङ्घ्य द्रुमस्तमोहविषमम्लेच्छो लिखित्वाभिधां, स्याद्वादर्षभकूट एव हि निजां स्याच्चक्रवर्त्ती बुधः ॥१॥

इति श्रीमदकब्बरसुरत्राणप्रदत्तजगद्गुरुबिरुदधारकभट्टारकश्रीहीरविजयसूरीश्वरशिष्यमुख्यमहोपाध्यायश्रीकल्याणविजयगणिशिष्यावतंसपंडितश्रीलाभविजयशिष्याग्रेसरपंडितश्रीजितविजयगणिसतीर्थ्यालंकारपंडितश्रीनयविजयगणिचरणकमलचंचरीकेण पंडितश्रीपद्मविजयगणिसहोदरेण महोपाध्यायश्रीयशोविजयगणिना विरचितेऽष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणे द्वितीयः परिच्छेदः ॥

॥ अष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणे द्वितीयः परिच्छेदः समाप्तः ॥

ॐ 卐 ॐ ॥ अथ तृतीयः परिच्छेदः ॥ ॐ 卐 ॐ

नित्यत्वैकान्तपक्षेपि, विक्रिया नोपपद्यते । प्रागेव कारकाभावः, क्व प्रमाणं क्व तत्फलम् ॥ ३७ ॥

अष्टशती प्रथितार्था, साष्टसहस्री कृतापि संक्षेपात् ॥ विलसदकलङ्कधिषणैः, प्रपञ्चनिचितावबोद्धव्या ॥१॥

सदसदेकत्वपृथक्त्वैकान्तप्रतिषेधानन्तरं नित्यत्वैकान्तप्रतिक्षेपः, प्रक्रम्यतेऽनेनेति तात्पर्यम् । तत्र नित्यत्वैकान्तः कूटस्थत्वाभिनिवेशः । तस्य पक्षः प्रतिज्ञानम् । तस्मिन्नपि विविधा क्रिया परिणामपरिस्पन्दलक्षणा नोपपद्यते । कार्योत्पत्तेः प्रागेव तदुत्पत्तौ वा प्रागेव कारकाभावो नोपपद्यते इति कूटस्थः प्रागेव कारकः स्यादात्मा भोगस्य । अथ प्रागेव कारकाभावस्तदा विक्रियापि नोपपद्यते इति शश्वदकारकः स्यात् तदविशेषात् । सोऽस्त्वकारकोऽविक्रियश्चेति चेत्, क्वैव प्रमाणं प्रमितिलक्षणं च तत्फलमुपपद्येत ? प्रमातुरभावे तदसंभवात् । न ह्यकारकः प्रमाता नाम, प्रमितिक्रियासाधनस्य कारकविशेषस्य स्वतन्त्रस्य प्रमातृतोपपत्तेः । सकलकार्योत्पत्ति-परिच्छित्तिक्रिययोः सर्वथाप्यसाधनस्य सत्त्वासंभवादवस्तुत्वापत्तेः कथमात्मसिद्धिः परस्य स्यात् ? खरविषाणादिसिद्धिप्रसङ्गात् । ननु चात्मनश्चेतनैवार्थक्रिया, न पुनः स्वव्यतिरिक्तकार्यस्योत्पत्तिर्ज्ञप्तिर्वा, तस्याः प्रधानहेतुत्वात् । न च चेतना पुंसोऽर्थान्तरमेव, तस्य तल्लक्षणत्वात् "चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्" इति वचनात् । न चानित्या चेतना, नित्यपुरुषस्वभावत्वात् साक्षित्वादिवत्, तस्या प्रधानस्वभावत्वे पुरुषकल्पनावैयर्थ्यात् तदनित्यत्वप्रसङ्गाच्च सुखादिवत् । न च नित्यायाश्चेतनायाः परस्यार्थक्रियात्वं विरुद्ध्यते धात्व-

र्थरूपायाः क्रियायाः प्रतिघाताभावात्सत्तावत् । ततोऽर्थक्रियास्वभावत्वादात्मनो वस्तुत्वमेव । न ह्यर्थक्रियाकारणस्यैव वस्तुत्वमर्थक्रियायाः स्वयमवस्तुत्वापत्तेस्तत्रार्थक्रियान्तराभावादन्यथानवस्थाप्रसङ्गात् । स्वतोऽर्थक्रियाया वस्तुस्वभावत्वे पुरुषस्यापि स्वतः शश्वदर्थक्रियास्वभावत्वान्नित्यं वस्तुत्वमस्तु, विक्रियाविरहेऽपि नित्यकारकत्वस्यापि घटनात् । इति कश्चित्, सोपि न परीक्षादक्षधिषणः, प्रमाणविरोधात्. प्रत्यक्षतोऽनुमानादेर्वा नित्यार्थक्रियायाः कदाचिदपरिच्छेदात् । स्वसंवेदनमेव नित्यचेतनार्थक्रिया परिच्छिनत्तीति चेत्, न, तथा तद्बुद्ध्यानध्यवसायात् । न हि बुद्ध्यानध्यवसिता चेतना पुरुषश्चेतयते, बुद्धिपरिकल्पनावैयर्थ्यप्रसङ्गात्, सर्वस्य शब्दादेर्विषयस्य बुद्ध्यनध्यवसितस्यैव पुंसा संवेद्यत्वसिद्धेः । स्यान्मतं न चेतना नाम विषयभूतार्थान्तरं पुंसोऽस्ति या बुद्ध्याध्यवसीयते तस्यास्तत्स्वरूपत्वात् स्वतः प्रकाशनाच्च ' इति तदप्ययुक्तं, तदर्थक्रियात्वायोगात् । न ह्यर्थक्रियावतः स्वरूपमेव सदावस्थाय्यर्थक्रिया प्रसिद्धास्ति, तस्याः पूर्वाकारपरित्यागेनोत्तराकारोपादानेन च स्वस्मिन् परत्र वा प्रतीतेः । सोऽयं पूर्वापरस्वभावपरिहारावाप्तिलक्षणामर्थक्रियां कौटस्थ्येपि ब्रुवाणः कथमनुन्मत्तः ? सा ह्यर्थक्रियोत्पत्तिर्ज्ञप्तिर्वा । न च शश्वदवस्थिते सर्वथासौ प्रतीयते, तत्र कारकज्ञापकहेतुव्यापारासंभवात् । न हि पुरुषस्यार्थस्योत्पत्तिश्चेतनाक्रिया येन कारकहेतोरुपादानस्य सहकारिणो वा व्यापारस्तत्र भवेत् । तथोपगमे वा तस्यानित्यत्वानुषङ्गात्कुतः कौटस्थ्यसिद्धिः ? चेतना पुंसो ज्ञप्तिक्रियेत्यपि न युक्तं, यतस्तत्र ज्ञापकहेतोः प्रमातुः प्रमाणस्य च व्यापारः स्यात् । स्यान्मत ' न पुरुषलक्षणस्यार्थस्य क्रिया चेतनाख्योत्पत्तिर्ज्ञप्तिर्वा । किं तर्हि ? स्वभाव एव, तस्य सर्वदा तत्स्वभावत्वात् ' इति तदप्यसत्, पुंसः परिणामसिद्धिप्रसङ्गात्, परिणामविवर्तधर्मावस्थाविकाराणां स्वभावपर्यायत्वात् । ननु च ' स्थितस्य धर्मिणः पूर्वाकारतिरोभावेनोत्तराकाराविर्भावः परिणामः । स कथं स्वभावपर्यायः ? सदावस्थितस्य स्वरूपस्य स्वभावत्वात् । एतेन विवर्तविकारा-

वस्थाना स्वभावपर्यायत्वं व्युदस्त, विवर्तादीना कादाचित्कत्वात् । तत एव धर्मविशेपस्य न स्वभावपर्यायत्वम् । धर्मसामान्यस्यापि साधारणत्वादसत्त्वमेव, शश्वदनपायिनोऽसाधारणस्य स्वरूपस्य स्वभावत्वात् । ' इति कश्चित्, सोपि न तत्त्ववित्, सततावस्थितस्यैकान्ततः कस्यचित्स्वभावस्यासभवात् । स हि न तावत्सकलप्रमाणेनापरिच्छिद्यमानः प्रतिष्ठामियर्त्ति, अतिप्रसङ्गात् । परिच्छिद्यमानस्तु पूर्वापरिच्छिद्यमानरूपताव्यवच्छेदेन परिणामलक्षणानुसरणात् कथ न स्वभाव· परिणाम एव स्याद्यतस्तत्पर्यायो न स्यात् ? एतेन विवर्तादीनां स्वभावपर्यायत्वमुक्तं, तद्वत्स्वभावस्यापि कथंचित्कादाचित्कत्वसिद्धेः । धर्मसामान्यस्य तु यथा साधारणत्वं तथा स्वभावसामान्यस्यापि, परिणामादिसामान्यवत् । ततः परिणामादिविशेपाणां स्वभावविशेषपर्यायत्वं परिणामादिसामान्याना तु स्वभावसामान्यपर्यायता व्यवतिष्ठते । पूर्वोत्तराकारयोस्तिरोभावाविर्भावौ तु नाशोत्पादावेव नामान्तरेणोक्तौ, सर्वथा तदभावे स्वभावस्यासभवात् । तदेतद्विनाशोत्पत्तिनिवारणमबुद्धिपूर्वक प्रत्यक्षादिविरोधात् क्षणिकैकान्तवत् । नेदमसिद्धं साधनं, पुरुपस्योत्पादव्ययध्रौव्यात्मनः स्वसवेदनप्रत्यक्षात् स्मरणात्प्रत्यभिज्ञानादूहादनुमानाच्छ्रुताच्च प्रमाणात् सुनिश्चितासभवद्बाधकप्रमाणात्प्रतिपत्तेः, विनाशोत्पत्तिरहितस्य जातुचिदप्रतीते प्रत्यक्षादिविरोधस्य निश्चयात् । एतेन क्षणिकैकान्तनिदर्शनस्य साधनविकलता निरस्ता, सर्वथा स्थितिरहितस्य चेतसः प्रत्यक्षादावप्रतिभासनात्तद्विरोधस्य सिद्धेः । साध्यशून्यता च न सभवति, स्थितिमात्राभिनिवेशस्येव निरन्वयक्षणिकाभिनिवेशस्यापि मिथ्याबुद्धिपूर्वकत्वात् । एतेनाव्यक्तं नित्यमेवेत्यपास्तं, व्यक्तस्यापि नित्यत्वानुपङ्गात्, नित्यादव्यतिरिक्तस्याप्यनित्यत्वे चैतन्यस्याप्यनित्यत्वापत्तेः । सर्वथा व्यक्तस्यापि नित्यत्वे प्रमाणकारकव्यापारविरोधात्तदप्रमेयमनर्थक्रियाकारि प्रसज्येत ॥ ३७ ॥

रमारमणशङ्करद्रुहिणचन्द्रसूर्यादयः, प्रसादमिव मूर्ध्नि यत्क्रमरजःकणं बिभ्रति ॥

प्रसीदतु स वो विशुद्धंरणराजपद्मावती–निषेवितपदद्वयः प्रकटपार्श्वपुण्याह्वयः ॥ १ ॥

तृतीयपरिच्छेदे किंचिद् विविच्यते–साक्षित्वादिवदिति, प्रधानात् सकलकार्योत्पत्तावात्मनस्ताटस्थ्ये नावस्थानं साक्षित्वम्, आदिना प्रकृतिभिन्नत्वादिग्रहः, पुरुषकल्पनावैयर्थ्यादिति पुरुषो हि प्रधानकार्यबुद्धितत्त्वनिष्ठचित्प्रतिविम्ब-ग्राहित्वयैव कल्प्यत इति, बुद्ध्याध्यवसितस्यैवेति अन्यथा पुरुषे विषयोपरागप्रसङ्गेन निर्द्धर्मकत्वव्याघातापत्तेः, परम्परा-सम्बन्धेनोपचारस्तु न तद्व्याहन्ति, उपलक्षणस्याविशेषकत्वादिति भावः । तस्या इति वस्तुत्वव्यवहारे तादृश्या एवार्थ-क्रियाया उपयुक्तत्वादिति भावः । किं तर्हि स्वभाव एवेति धात्वर्थरूपक्रियाश्रयणादिति भावः । पुंसोऽर्थस्य चेतनायाः स्वभावक्रियात्वोक्तौ स्वभावपदस्य परिणामपर्यायत्वात्परिणामाभ्युपगमप्रसक्तिरित्याह–पुंस इत्यादिना, स्वभावपदस्य न परिणामपर्यायत्वमित्याशयेन सांख्य आशंकते–ननु चेत्यादिना, असत्त्वमेवास्वभावपर्यायत्वमेव, उक्तसांख्याशयं दूष-यति जैनः सोऽपि न तत्त्वविदित्यादिना, पूर्वापरिच्छिद्यमानतारूपत्वव्यवच्छेदेनेति, न च परिच्छिद्यमानत्वापरि-च्छिद्यमानत्वे न स्वभावं भेत्तुमलमिति शङ्कनीयम् । अतद्व्यावृत्तेरपि स्वभावभेदनिवन्धनत्वस्य बहुधा व्यवस्थापितत्वात्, अन्यथाऽधिकृतचित्स्वभावस्यापि स्वभावान्तरव्यावृत्तिरूपत्वप्रसङ्गादिति द्रष्टव्यम् । सर्वथा तदभाव इति, त्रैलक्षण्यस्यैव स्वभावत्वव्यवस्थितेरित्यर्थः । एतेनोत्पादव्ययध्रौव्यात्मन एव स्वात्मनः प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धत्वेन, एतेनात्मतत्त्वस्यैकान्त-नित्यतानिराकरणेन वक्ष्यमाणकारिकार्थानुसारेण च, इष्टापत्त्याशङ्कायामाह–' सर्वथेत्यादि ' ॥ ३७ ॥

प्रमाणकारकैर्व्यक्तं, व्यक्तं चेदिन्द्रियार्थवत् । ते च नित्ये विकार्यं किं, साधोस्ते शासनाद्बहिः ॥ ३८ ॥

न हि प्रमाणं नित्य नाम, तत्कृताभिव्यक्तेः प्रमितिरूपाया महदहङ्कारादौ व्यक्तात्मनि नित्यत्वप्रसङ्गात् । नापि कारकं नित्यं, तद्विहिताभिव्यक्तेरुत्पत्तिरूपायाः सातत्यप्रसक्तेः । तथा च न व्यक्तं प्रमाणकारकैरभिव्यक्तमिन्द्रियैरर्थवदिति शक्यं वक्तुम्, पूर्वमनभिव्यक्तस्य व्यञ्जकव्यापारादभिव्यक्तिप्रतीतेः । अथ मतम्, प्रमाणकारकाणि व्यवस्थितमेव भाव व्यञ्जयन्ति चक्षुरादिवत् स्वार्थम् । ततो न किञ्चिद्विप्रतिपिद्धमिति, तदप्यसम्यक्, सर्वथा नित्यत्वेन भावस्याव्यवस्थितत्वात् कथंचिदनित्यस्यैव प्रमाणकारकव्यापारविपयत्वविनिश्चयात् । चक्षुरादयो हि स्वार्थं रूपादिकमनभिव्यक्तस्वभावपरिहारेणाभिव्यक्तस्वभावोपपादनेन च व्यञ्जयन्तः स्वयमव्यञ्जकरूपत्यागेन व्यञ्जकत्वस्वीकरणेन च व्यञ्जकव्यपदेशभाजो दृष्टाः । न चैवं प्रमाणं कारकं च परैरिष्टम्, तयोर्नित्यत्वाभ्युपगमात् । तत्कृतस्य च विपयविशेषविज्ञानादेः शाश्वतत्वान्न किञ्चिद्व्यक्त्यर्थं पश्याम., कथञ्चिदपूर्वोत्पत्तौ तदेकान्तविरोधात् । न ह्यनेकान्तवादिनस्तव साधोः शासनाद्बहिर्विपयविशेपविज्ञानाभिलाषप्रवृत्त्यादेरुत्पत्तिः कथञ्चिदपूर्वा युज्यते, यतोऽस्यामभ्युपगम्यमानायां नित्यत्वैकान्तविरोधो न भवेत्, तदभावे विकार्यानुपपत्तेः । न हि कथञ्चिदपूर्वोत्पत्त्यभावे किंचिद्व्यङ्ग्य कार्यं वा विकार्यमुपपद्यते ॥ ३८ ॥ न वै किंचिद्विरुद्धं कार्यकारणभावाभ्युपगमादित्यनालोचितसिद्धान्तम्, कार्यस्य सदसत्त्वविकल्पद्वयानतिक्रमात् । तत्र—

प्रमाणेत्यादिकारिकायां ते च नित्ये इत्यन्तेन, यदि व्यक्तमिन्द्रियैरर्थवत् प्रमाणकारकाभ्यां व्यक्तं स्वीक्रियते ते च प्रमाणकारके नित्ये स्वीक्रियेते तर्हीत्यध्याहारात्तर्हि तदा, **ते** तव, **साधोः शासनाद्बहिरन्यत्र, विकार्यं किं न किञ्चित्**, प्रमाणकारककृताभिव्यक्तेरपि सदातनत्वादित्यक्षरार्थः । अत्र प्रमाणकारकैरित्यपपाठः बहुवचनान्तक्रान्तस्य ते इति द्विवचनान्ततच्छब्देन परामर्शायोगात्, किन्तु **प्रमाणकारकव्यक्तमिति** समस्तपाठ एव युक्तः, वृत्तौ बहुवचनान्तपाठस्य

तात्पर्यविवरणरूपत्वेनाप्युपपत्तेरिति ध्येयम् । भगवतः साधुत्वेनाभिधानं तच्छासनबहिष्ठानामसाधुत्वेन तदुत्प्रेक्षामात्रकल्पितप्रवचने विचारसम्मर्दासहिष्णुत्वमभिव्यनक्ति । न किञ्चिद्व्यक्त्यर्थं न किञ्चिदभिव्यक्तिप्रयोजनम्, तदेकान्तविरोधान्नित्यत्वैकान्तविरोधात् ॥ ३८ ॥

यदि सत्सर्वथा कार्यं, पुंवन्नोत्पत्तुमर्हति । परिणामप्रकॢप्तिश्च, नित्यत्वैकान्तबाधिनी ॥ ३९ ॥

न तावत्सतः कार्यत्वं चैतन्यवत् । न हि चैतन्यं कार्यं, तत्स्वरूपस्य पुंसोपि कार्यत्वप्रसङ्गात्, यतस्तद्वन्महदादेः सत एव कार्यत्व सिद्ध्येत् । नाप्यसतः, सिद्धान्तविरोधाद्गगनकुसुमादिवत् । "असदकरणादुपादानग्रहणात्सर्वसंभवाभावात् । शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥१॥" इति हि सांख्याना सिद्धान्तः । स चासतः कार्यत्वे विरुध्यते एव । तथा 'यत्सर्वथाप्यसत् तन्नोत्पद्यते । यथा गगनकुसुमम् । सर्वथाप्यसच्च कार्यं कस्यचित् । इत्यनुमानविरोधश्च प्रत्येयः । नापरमेकान्तप्रकारान्तरमस्ति । तत एव न किंचित्कार्यं, केवलं वस्तुविवर्त एवेत्येकान्तोस्तीति चेत्, न, तस्याप्यसंभवात्, विवर्तादेः पूर्वोत्तरस्वभावप्रध्वंसोत्पत्तिलक्षणत्वात्, तथोपगमे परिणामसिद्धेरनेकान्ताश्रयणप्रसङ्गात् । तदेतत् त्रैलोक्यं व्यक्तेरपैति नित्यत्वप्रतिषेधात्, अपेतमप्यस्ति विनाशप्रतिषेधादित्यनेकान्तोक्तिरन्धसर्पविलप्रवेशन्यायमनुसरति, स्वदर्शनानपेक्षं यथोपलम्भमाश्रयस्वीकरणात् ॥३९॥ तदेवं नित्यत्वैकान्तवादिना,—

सूत्रेऽवतरणिकोक्तद्वितीयविकल्पोत्तरन्यूनतां परिजिहीर्षुराह–भाष्यकृत्–'नाप्यसत इत्यादि' परिणामसिद्धेरिति तथा च सूत्रे प्रकॢप्तिपदार्थः प्रसिद्धिरित्यर्थः ॥ ३९ ॥

पुण्यपापक्रिया न स्यात्, प्रेत्यभावः फलं कुतः । बन्धमोक्षौ च तेषां न, येषां त्वं नासि नायकः ॥४०॥

पुण्यपापक्रिया कायवाङ्मनःकर्मलक्षणा शुभाऽशुभा । सा प्रधाने तावन्नास्ति, सर्वथा नित्यत्वात्पुरुषवत् । तदभावे पुण्यपापयोः क्रिया उत्पत्तिलक्षणा नास्ति, कारणाभावे कार्यानुदयात् । ततः प्रेत्यभावो जन्मान्तरलक्षणस्तत्फलं च सुखाद्यनुभवलक्षणं कुत स्यात् ? ततो बन्धमोक्षौ च यथोक्तलक्षणौ न स्तस्तेषा येषा त्वमनेकान्तवादी नायको नासि । इति तात्पर्यार्थः । ततो नित्यत्वैकान्तदर्शनं नैतत् प्रेक्षापूर्वकारिभिराश्रयणीयं, पुण्यपापप्रेत्यभावबन्धमोक्षविकल्परहितत्वान्नैरात्म्यादिवत् । न चैतत् क्वचिदेकान्ते सभवति, कुशलाकुशलं कर्मेत्यत्र तदसभवस्य समर्थितत्वात् ॥ ४० ॥ सत्यमेतन्नित्यत्वैकान्ते दूषणं क्षणक्षयैकान्तस्यैव प्रातीतिकत्वादिति वदन्तं वादिनं प्रत्याहुः—

क्षणिकैकान्तपक्षेपि, प्रेत्यभावाद्यसंभवः । प्रत्यभिज्ञाद्यभावान्न, कार्यारम्भः कुतः फलम् ॥ ४१ ॥

क्षणिकैकान्तपक्षे चेतसः कार्यारम्भो नास्ति, प्रत्यभिज्ञानस्मृतीच्छादेरभावात् सन्तानान्तरचित्तवत् । तदभावश्च प्रत्यभिज्ञातुरेकस्यान्वितस्याभावात् । सन्तान कार्यमारभते इत्यपि मिथ्या, तस्याऽवस्तुत्वविरोधात् कार्यारम्भकस्य वस्तुत्वात् । चित्तक्षणानां चावस्तुतापत्तिरकार्यारम्भकत्वात् । न च तत्कार्यारम्भकत्वाभावे फलं पुण्यपापलक्षणं सभवति । तदभावे न प्रेत्यभावो न बन्धो न च मोक्षः स्यात् । इति क्षणक्षयैकान्तदर्शनमहितम्, असंभवत्प्रेत्यभावादित्वादुच्छेदैकान्तवद्ध्रौव्यैकान्ताभ्युपगमवद्वा । न हि सर्वथोच्छेदैकान्ते शून्यतालक्षणे नित्यत्वैकान्ते वा प्रेत्यभावादिः सभवति, यतोऽयं दृष्टान्त. साधनधर्मविधुरः स्यात् । नापि प्रेक्षावतां तदाश्रयणं हितत्वेन मतं, येन साध्यविकलः स्यात् । अथ मतमेतत्, क्षणिकत्वेऽपि चित्तक्षणानां वासनावशात्प्रत्यभिज्ञानं तदेवेदं सुखसाधनमिति स्मरणपुरस्सरमुत्पद्यते । ततोऽभिलाषात्तत्साधनाय प्रवृत्तिरिति कार्यारम्भात्पुण्यपापक्रियासिद्धेः प्रेत्यभावादिसभवादसंभवत्प्रेत्यभावादित्वादिति

हेतुरसिद्धो न साध्यसाधनायालमिति, तस्मात्, क्षणिकान्तवादिनामसंभवादानन्तर्यात् कार्यकारणत्वम्। पूर्वस्य नियमेनोत्तरोत्पत्तौ सामर्थ्यात् तत्कारणत्वादिति चेन्न, निरन्वयक्षणिकत्वे कारणस्यैवासंभवात्। तथाहि। न विनष्टं समनन्तराभिमतवस्तुवत्। समनन्तरातीतं कारणमिति चेन्न, समनन्तरेऽप्यभावाविशेषात्। न च पूर्वोत्तरभावे, तस्मान्नैव हि भावाऽऽनन्तर्यमिति तदन्वयाद्या, ततः पूर्वस्य कारणत्वनिर्णयः स्यात्। तदन्वयव्यतिरेकानुविधानादुत्तरं तत्कार्यमिति चेन्न, तदसिद्धेः। न हि समर्थेऽस्मिन् सति स्वयमनुत्पित्सोः पश्चाद्भवतस्तत्कार्यत्वं समनन्तरस्य वा नित्यस्य, तद्भावे भवतस्तदभावे च भवतस्तद्व्यतिरेकानुविधानविशेषात्। क्षणिकैकान्ते कारणाभावाविशेषेऽपि कार्यस्य स्वसमयनियमात् कुतो कस्यचित्कौटस्थ्येऽपि तदन्वयसमर्थनात् तद्भावेऽपि कार्यजन्मनः कालनियमः किन्न स्यात्? विशेषाभावात्। यथैव हि स्वदेशस्य काले सति कारणे समर्थे कार्यं जायते, नासतीति तदन्वयव्यतिरेकानुविधायीष्यते तथा स्वकालेऽनागते सति समर्थे नित्ये ह्यनन्तरे कार्यमुत्पाद्यमानमन्वयानुकारमानं तदन्वयव्यतिरेकानुविधायि कथं नानुमन्यते? सर्वदा समर्थे नित्ये कारणे सति स्वकाल एव कार्यं भवत्कथं तदन्वयव्यतिरेकानुविधायीति चेत्, तर्हि कारणस्यानादौ प्रध्वंसानागतान्तो तदभावे विशेषशून्येऽपि कस्मिंश्चित् तदभावसमये भवत्कार्यं कथं तदन्वयव्यतिरेकानुविधायि? इति न कश्चिद्विशेषः। ततोऽन्वयव्यतिरेकानुविधानाभावाविशेषेऽपि क्षणिकैकान्ते एव कार्यजन्मेति स्वमनोभिनिवेशमात्रनिबन्धनम्। तथा चाकस्मिकत्वं स्यात्, समर्थं कारणमनपेक्ष्य स्वयमभिमतसमये भवतः कार्यस्य निर्हेतुकत्वप्रसक्तेर्नित्यकार्यवत्। उभयाविशेषेण कस्यचित्सद्भावेऽपि कस्यचिद्देशकल्पनायामन्यत्रापि किं न भवेत्? क्षणिकस्य कारणस्य सर्वथा कार्यं प्रत्युपयोगाभावेऽपि तस्येदं कार्यमिति नापदिश्यते, न पुनर्नित्यस्य नाश इति न किञ्चिन्निबन्धनमन्यत्र महामोहात्। नित्यस्य प्रतिक्षणमनेककार्यकारित्वे क्रमशोऽनेकस्वभावत्वसिद्धेः कथमेकत्वं स्यादिति चेत्,

क्षणिकस्य कथमिति समः पर्यनुयोगः । स हि क्षणस्थितिरेकोऽपि भावोऽनेकस्वभावश्चित्रकार्यत्वान्नानार्थवत् । न हि कारणशक्तिभेदमन्तरेण कार्यनानात्व युक्त रूपादिज्ञानवत् । यथैव हि कर्कटिकादौ रूपादिज्ञानानि रूपादिस्वभावभेदनिबन्धनानि तथा क्षणस्थितेरेकस्मादपि भावात् प्रदीपादेर्वर्तिकामुखदाहतैलशोषादिविचित्रकार्याणि शक्तिभेदनिमित्तकानि व्यवतिष्ठन्ते । अन्यथा रूपादेर्नानात्वं न सिध्येत्, चक्षुरादिसामग्रीभेदात्तज्ज्ञाननिर्भासभेदोऽत्रकल्प्येत, कर्कटिकादिद्रव्यं तु रूपादिस्वभावभेदरहितमेकमनंशमिति वदतोपि निवारयितुमशक्तेः । चक्षुरादिबुद्धौ रूपादिव्यतिरिक्तस्य द्रव्यस्याप्रतिभासनाद्रूपादयो नानैवेति चेत्, तर्हि वर्तिकामुखदाहादिकार्यानुमानबुद्धिषु विचित्रतच्छक्तिव्यतिरेकेण प्रदीपक्षणस्यैकस्याप्रतिभासनान्नानाशक्तय एव किं न स्युः ? ॥ ननु च 'शक्तिशक्तिमतोरर्थान्तरानर्थान्तरभावपक्षयोः शक्तीनामघटनान्न ताः परमार्थसत्यः सभाव्यन्ते । ततस्तासामर्थान्तरभावे व्यपदेशानुपपत्तिः सबन्धाभावात् । तेन तासामुपकार्योपकारकभावसबन्धकल्पनाया यदि शक्तिमता शक्त्यन्तरैः शक्तय उपक्रियन्ते तदानवस्था, अपरापरार्थान्तरशक्तिपरिकल्पनात् । तस्य शक्तिभिरुपकारेऽनेकोपकार्यरूपतापत्तिः । तदुपकार्यरूपाणां ततो भेदे तस्यानुपकारात्तव्यपदेशानुपपत्तिस्तदवस्था । तैस्तस्योपकारकरणेऽनवस्थितिरेव परापरोपकार्यरूपपरिकल्पनात् । शक्तिमतः शक्तीनामनर्थान्तरभावे शक्तिमानेव, न शक्तयो नाम अन्यत्रातद्व्यावृत्तिभ्यः कल्पिताभ्यः' इति चेत्, न, रूपादीनामपि द्रव्यादर्थान्तरानर्थान्तरभावविकल्पयोरघटनात् परमार्थसत्त्वाभावानुषङ्गात् प्रकृतदोषोपनिपाताविशेषात्, प्रत्यक्षबुद्धौ प्रतिभासमाना रूपादय॰ परमार्थसन्तो न पुनरनुमानबुद्धौ प्रतिभासमानाः शक्तय इति वक्तुमशक्तेः क्षणक्षयस्वर्गप्रापणशक्त्यादीनामपरमार्थसत्त्वप्रसङ्गात् । क्षणक्षयादीनां प्रत्यक्षे प्रतिभातानामेव विपरीतारोपव्यवच्छेदेऽनुमानव्यापाराददोष इति चेत्, तर्हि नानाकार्यजननशक्तीनामपि प्रत्यक्षेऽवभातानामेव समारोपव्यवच्छेदे कार्यानुमानव्यापारात्कश्चि-

स्यात् । ननु च क्षणिकस्य क्षणादूर्ध्वमस्थानं स्वप्रकृतिर्विनश्वरत्वादन्विष्यते । विनाशस्वभावनियतत्वं च विनश्वरत्वं, न पुनः कालान्तरावस्थायिनः कदाचिन्नाशित्वमहेतुकत्वाद्विनाशस्य । तथा हि । यद्यद्भावं प्रत्यनपेक्षं तत् तद्भावनियतम् । यथान्त्यकारणसामग्री स्वकार्योत्पादन प्रत्यनपेक्षा तत्स्वभावनियता, विनाशं प्रत्यनपेक्षश्च भावः । इति स्वभावहेतुः । न तावदयमसिद्धः. कलशादेर्विनाशस्य मुद्गरादिहेतुभिर्व्यतिरिक्तस्याव्यतिरिक्तस्य वा करणासभवात्, तं प्रति तदनपेक्षत्वसिद्धेः । घटादेर्व्यतिरिक्तस्य विनाशस्य करणे तदवस्थत्वप्रसङ्गाद्विनष्ट इति प्रत्ययो न स्यात् । विनाशसवन्धाद्विनष्ट इति प्रत्ययोत्पत्तौ विनाशतद्वतोः कश्चित्संबन्धो वक्तव्यः । स च न तावत्तादात्म्यलक्षणः, तयोर्भेदोपगमात् । नापि तदुत्पत्तिलक्षणो घटादेस्तदकारणत्वात् तस्य मुद्गरादिनिमित्तकत्ववचनात् । तदुभयनिमित्तत्वाददोष इत्यप्यसारम्, मुद्गरादिवद्विनाशोत्तरकालमपि कुम्भादेरुपलम्भप्रसङ्गात् । कुटादेः स्वविनाशं परिणामान्तरं लक्षणं प्रत्युपादानकारणत्वान्न तत्काले दर्शनमित्यपि न युक्तं, परिणामान्तरस्यैव हेत्वपेक्षत्वसिद्धेः, विनाशस्य तद्व्यतिरिक्तहेत्वनपेक्षत्वव्यवस्थितेः सुगतमतसिद्धिप्रसक्तेः । सुगतमतं हि न सर्वथा विनाशस्य निर्हेतुकत्वम् । किं तर्हि ? कार्यजनकहेतुव्यतिरिक्तहेत्वनपेक्षत्वमिति वादावसानं स्यात् । विनाशतद्वतोर्विशेषणविशेष्यभावः सवन्ध इत्यपि मिथ्याभिधानं, परस्परमसवद्धयोस्तदनुपलब्धे. । प्रागभावतद्वतोर्विशेषणविशेष्यभावोऽनेनैव निरस्तः । कार्यकारणयोरस्येदं कार्यमिति विशेपणविशेष्यभाव. कथमित्यपि न चोद्यम्, तत्र तद्व्यवहारस्य कार्यकारणभावनिवन्धनत्वात्, तद्व्यतिरेकेण भिन्नयोर्विशेषणविशेष्यभावासभवात् । ततोऽनर्थान्तरं विनाशः कारणैः क्रियत इति पक्षान्तरमपि न सम्यक्, स्वकारणादुत्पन्नस्य कुटात्मनो विनाशस्य कारणान्तराणा वैयर्थ्यात् । अन्यथा परापरकारणानुपरमः स्यात् ।

इति भावानां विनाशस्वभावत्वं साधनं स्थितेरपि निर्निमित्तत्वं साधयेत् । तथा हि यद्यद्भावं प्रत्यनपेक्ष तत्तद्भावनियतम् ।

यथा विनाशं प्रत्यन्यानपेक्षं विनश्वरम्। तथैव स्थितिं प्रत्यनपेक्षं शाश्वतं वस्तु। इति स्थिरवादिनः। न चायमसिद्धः, तदंगोऽस्ति तद्विनाश-त्वात् तद्विनिर्हेतुकविनाशकरणात् क्वापि सर्वं समानम्। न हि वस्तुनो स्वभावस्थिति स्थितिमद्धेतुना क्रियते, तस्याशाश्वतत्वापत्तेः। स्थितिसंतत्यास्तस्य शाश्वतेति चेत्, न, स्थितिवतोः कार्यकारणभावाभावात् सद्भावानयोः, तत्सद्भावे स्थितेः पूर्वं स्वकारणस्थिति-निरपेक्ष्य, स्थितेरपि स्वकारणादुत्तरकालस्थानाभ्युपगमानुषक्तेः। तयोरन्यतरविभावः सतत इति चेत्, ... कार्यकारण-भावाभावे तदभावाभ्युपगमात् कुण्डबदरवत्। तस्मान्निरपेक्षा स्थितिमद्धेतुना क्रियते तत्कथमपि कृतो न ... तथैव ... स्थितिस्वभावस्यापि स्थितिकरणे तत्कारणानामनुपरमप्रसङ्गात्, स्वयमस्थितिस्वभावस्य स्थितिकरणायोगात्स्वयमस्थितिस्वभावस्योत्पत्तिकरणा-योगवत्। ततः स्थितिस्वभावनियतोऽर्थः स्यात् तथैव स्थितेरहेतुकत्वात्। तद्विनाशे स्थितिदर्शनात् क्वचित्प्रदीपादेरन्येऽपि स्थितेरनु-मानं युक्तम्। अन्यथा, अन्ते क्षयदर्शनाच्छब्दे तत्प्रतिपत्तिरस्त्वन्यत्रैव। तादृश कारणादर्शनेऽपि कार्यस्य स्वभावानुमानं न कार्यान्तरात् स्थितिरत्राप्यनुमीयेत। शब्दविद्युदादेः स्थाय्यनुपलभ्यमुपादानमनुमीयते स्थितिस्वभावोपादानत्वाभावात् पुनस्तदुपरकार्यस्य स्तुत्यानुग-तत्वात् इति किमपि महामोहविलसितम्। शब्दादेरुत्तरकार्यकरणेऽपि योगिज्ञानस्य करणमात्रमनुपपन्नमिति चेत्, न, आत्मसमान-रससमानकालरूपोपादानस्य रूपाकरणेऽपि रसमहकारित्वप्रसङ्गात्, ततो रसाद्रूपानुमानानुपपत्तेरनिष्टप्रसङ्गात्। तथा शब्दस्यैकत्वनिष्ठ-प्रसङ्ग इति चेत्, किं पुनः शब्दादेः शब्दस्योत्पत्तिरुपलब्धा क्वचित्? शब्दादिशब्दस्ततो नष्टात्पाठात् शब्दादेव शब्दस्योत्पत्ति-र्दृष्टेति चेत्, कथमुत्तरशब्दोत्पत्तिरन्यथा? तथैव तदुद्भूतेरिति शब्दादेर्योगिज्ञानकरणस्तुल्यशब्दादिकरणमनुमीयताम्, रूपोपादानाद्रूपो-त्पत्तिवत्। तस्मात् कथंचन स्थितिमतः प्रतिक्षणं स्थितौऽपि, नान्यथा, गगनकुसुमवत्। यदि पुनः परमार्थतः कार्यकारणभावस्याभावा-

द्विरोध्यविरोधकभावादिवत् प्रतिक्षणं विवर्तोपि नेष्यते संविदद्वैताभ्युपगमादिति मतिस्तदा प्रभवादेरयोगात् कुतः प्रेत्यभावादिः ? स्याद्वादिभिरापाद्यस्य प्रेत्यभावपुण्यपापक्रियाबन्धमोक्षतत्फलाभावस्य स्वयमेवाभ्युपगमादतिभीतप्रलापमात्रमेतदालक्ष्यते, संविदद्वैतस्य साधनासंभवात्, सविन्मात्रस्य स्वकार्याकरणेऽनर्थक्रियाकारिणो वस्तुत्वविरोधान्नित्यत्ववत्, तस्य स्वकार्यकरणे कार्यकारणस्वभावसिद्धेः। सविदद्वैतेन भेदभ्रान्तिबाधने बाध्यबाधकभावः। तदबाधने तस्याव्यवस्थितिः प्रतिपक्षव्यवच्छेदाभावात्। सवृत्तिमात्रेण सत्यपि हेतुफलभावेऽकारणकार्यान्तरवत्सन्ततिर्न स्यादतादात्म्याविशेषात्। न हि कार्यकारणक्षणानामकार्यकारणक्षणेभ्यस्तादात्म्याभावैकान्ते कश्चिद्विशेषो नैरन्तर्यादिः संभवति, तस्य भिन्नसतानकार्यकारणक्षणेष्वपि भावात्। तत्स्वभावविशेषावक्लृप्तौ तादात्म्ये कोऽपरितोषः ? कथंचित्तादात्म्यस्यैवैकसतानक्षणाना स्वभावविशेषस्य व्यवस्थितेरव्यभिचारिणः कार्यकारणभावस्य सुगतेतरक्षणेषु भिन्नसतानेष्वपि भावात्, भेदतादात्म्ययोर्हि विरोधस्य सर्वथाप्यपरिहार्यत्वात्, सविदि वेद्यवेदकाकारभेदेऽपि तादात्म्योपगमादन्यथैकज्ञानत्वविरोधात्, सविदाकारवेद्याद्याकारविवेकयोः प्रत्यक्षपरोक्षयोर्भेदेपि सविदेकत्वाङ्गीकरणात्, कथंचित्तादात्म्याभावे सतानानियमनिबन्धनस्य स्वभावविशेषस्यानुपलब्धेः। तत्संतानापेक्षया प्रेत्यभावादि मा मंस्त, क्षणक्षयैकान्ते सतानस्यैव साधयितुं दुःशक्यत्वात्, ज्ञानज्ञेययोः प्रतिक्षणं विलक्षणत्वात्। स एवाह तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञानादनुस्मरणादभिलाषादेश्च सताननियमसिद्धिरिति चेत्, न, तस्यैवासंभवात्। सर्वथा वैलक्षण्ये पुंसोऽर्थस्य च न वै प्रत्यभिज्ञानादिः पुरुषान्तरवदर्थान्तरवच्च। ततः कर्मफलसम्बन्धोपि नानासतानवदनियमान्न युक्तिमवतरति। तदनादिवासनावशात्तन्नियम इति चेत्, न, कथचिदप्यतादात्म्ये कार्यकारणक्षणयोस्तदघटनात्तद्वत्। तत्सूक्तं 'क्षणिकपक्षो बुद्धिमद्भिरनादरणीयः सर्वथार्थक्रियाविरोधान्नित्यत्वैकान्तवत्'। न चार्थक्रिया कार्यकारणरूपा सत्येव कारणे स्याद-

नुपयुक्तस्य, 'क्षणिकस्येनि' वक्ष्यमाणरीत्या क्षणिकस्याप्यनेककार्यकारित्वात् कथमेकत्वमिति पर्यनुयोगः सम इत्यर्थः, क्षणिकस्येत्यत्र प्रतिक्षणमित्यादि प्राक्तनं सर्वं योजनीयम् । यत्त्वत्र स्वाभावकाले कार्यजननाविशेषादिति कस्यचिद्धेत्वभिधानं तत् स हीत्यादिसमर्थनग्रन्थसन्दर्भविरुद्धम् । 'नानार्थवत्' सम्प्रतिपन्ननानाप्रयोजनवत्, 'अतद्व्यावृत्तिभ्यो'ऽशक्तिव्यावृत्तिभ्यः, 'कल्पिताभ्यो' वासनाविशेषोत्थविकल्पज्ञानविषयीकृताभ्यः । 'विपरीतारोपव्यवच्छेदे'ऽक्षणिकत्वभ्रान्तिव्यवच्छेदे, 'समारोपव्यवच्छेदे' नानाकार्यजनकशक्त्यभावभ्रमव्यवच्छेदे, नर्त्तक्यादिक्षणे कार्यभेदेऽपि कारणभेदाभावमाशंक्याह–भाष्यकृत् 'युगपदित्यादि,' तत्र दर्शनभेदाभावेष्टापत्तावनुभवबाधमाह वृत्तिकृत्–न चैवमित्यादिना, क्षणिके नानाकार्यजनकस्वभावभेदानभ्युपगमे तत्त्वसाधकमूलयुक्तिबाधः स्यादित्याह भाष्यकृत्–सकृदित्यादिना, 'क्षणक्षयवदिति' धर्मनिर्देशस्य धर्मिपरत्वात् क्षणक्षयवति स्वलक्षण इवेत्यर्थः । तथा च व्याचष्टे वृत्तिकृत् यथैव हीत्यादि, क्रमिकसहकारिभिरेव कार्यस्य कृतत्वात् स्थिरमकिञ्चित्करमित्याशङ्कायामाह भाष्यकृत्–' नहीत्यादि ' 'तद्बुद्धिपूर्वकत्वाभावात्,' अन्यतः कार्यसम्भवेऽहं न कुर्यामिति स्थिरसम्बन्धिबुद्धिपूर्वकत्वाभावात् कार्यस्येत्यर्थः, तथा च सहकारिवत् स्थिरस्य हेतोर्नियतपूर्ववर्तित्वादेव कारणत्वमवर्जनीयम् तदभिमतसामग्रीप्रविष्टहेत्वन्तरवदित्यर्थः । तदाह–'क्षणिकेति' 'न तत्काले दर्शनमिति' उपादेयस्योपादाननाशत्वान्नाशस्य च दर्शनायोग्यरूपत्वान्नश् अदर्शन इति धात्वनुसारादित्यर्थः । ' तद्व्यतिरिक्तेति ' तच्छब्देन परिणामान्तरस्य कपालादेर्हेतुः समनन्तरो घटादिलक्षणो गृह्यते, ततो व्यतिरिक्तो हेतुर्मुद्गरादिस्तदनपेक्षत्वव्यवस्थितेरित्यर्थः । सुगतमते हि घटादेर्नाशकाले मुद्गरादिना न किञ्चिज्जन्यते, तुच्छस्य ध्वंसस्य जनयितुमशक्यत्वात्, कपा-

लादिजनने च तस्याव्यापारात्, केवलं मुद्गरादिसहकृता समनन्तरसामग्री सजातीयकार्यं न जनयतीत्यर्थात् कपालादेरुत्पत्तिरिति भावः। साध्येयेदिति तच्चानिष्टं सौगतस्येति तं प्रत्यनिष्टापादनमेतज्जैनेन क्रियत इति बोध्यम्। 'कुण्डबदरवदिति यद्यपि कुण्डबदरयोराश्रयाश्रयिभावे कार्यकारणभावस्य नियामकत्वमप्रातीतिकमनभ्युपगमदोषदुष्टं च, तथापि स्वतोऽवयवावयविभावेन कार्यकारणतया निष्पन्नयोरेव तयोर्यथाश्रयाश्रयिभावस्तथात्र नास्तीत्ययुक्तोऽयं पक्ष इति केचिद् व्याचक्षते, वयं तु जगदवगाहनाहेतुगगनदृष्टान्तेन बदराधारतापर्याये कुण्डस्य हेतुत्वात् कार्यकारणभावाभावे स्थितितद्वतोराश्रयाश्रयिभावानुपपत्तिमुपपादयामः। बदरप्रतियोगिकसंयोगरूपबदराधारतायां कुण्डस्य तादृूप्येण हेतुत्वमित्यपरे। 'तादृश' आदौ स्थितिमतः। अनुमीयत इत्याद्यशब्दस्य कार्यत्वेन सोपादानत्ववदन्त्यशब्दस्य कारणत्वेन सोपादेयत्वस्यानुमानाविशेपादिति भावः। 'अवस्तुत्वानुषङ्गभयादिति' शब्दविद्युदादेरुत्तरकार्यानभ्युपगमे हि स्यादेव कार्याविच्छेदरूपसत्त्वाभावादवस्तुत्वापत्तेर्भयमिति भावनीयम्। ननु वस्तुत्वमर्थक्रियाकारित्वमात्रनियतमित्यन्त्यशब्दादेर्योगिज्ञानजनकत्वेनैव तच्चोपपत्तेर्नैकद्रव्यकार्याविच्छेदसिद्धिरित्याशङ्कायामाह–'शब्दादेरित्यादिना,' 'ततो रसादिति' परस्परोपादेयपरस्परसहकारित्वादेव हि तदनुमानं व्यवस्थितं नियतोपादानोपादेयभावविच्छेदे तु व्यभिचारशङ्कया तन्न स्यादित्यर्थः। 'कथञ्चन स्थितिमत' इति' कथंचनेत्यनेनैकद्रव्यतयैव कार्याविच्छेदरूपस्थित्यभ्यनुज्ञानादन्त्यशब्दाद्युत्तरं न सदृशकार्यानुपलम्भानुपपत्तिः, संविदद्वैताभ्युपगमादिति मध्यमक्षणसंविन्मात्रस्वीकारादन्त्यक्षणानां तत्कालाज्ज्ञातानां तत्कालसत्त्वे मानाभावादित्यर्थः। 'प्रभवादेः' कार्यारम्भादेः, 'तत् स्वभावविशेषावक्लृप्ताविति' एकसन्ततिपतितकार्यकारणक्षणेषु तदीयत्वनियामकस्व-

भावविशेषकल्पन इत्यर्थः । कार्यकारणभावमात्रस्यैकसन्ताननियामकत्वेऽतिप्रसङ्गमुपदर्शयति,–'अव्यभिचारिण इत्यनेन,' नन्वेकसन्तानेऽपि क्षणानां भिन्नत्वात् कथं तादात्म्यमुपपत्स्यत इत्यत आह 'भेदेत्यादि' भेदतादात्म्ययोर्विरोधस्यापि हि सर्वथाऽपरिहार्यत्वात् कथञ्चित्पक्षे तु द्रव्यपर्यायविधया परिहार्यत्वादेवेति चूर्णकसहितभाष्यप्रतीकार्थः । उक्तप्रकारमेव समर्थयति वृत्तिकृत्, 'संविदीत्यादिना,' 'तदनादीति' उत्तरचित्तोत्पत्तिकारणीभूतप्राक्तनचित्तक्षणा(त्मक)रमवासनावशात्तस्य प्रत्यभिज्ञानादेर्नियम इत्यर्थः । 'तद्वत्' नानासन्तानवत् 'पक्षान्तरासम्भवाचेति' असति कारण इति पक्षान्तरस्य चासम्भवादित्यर्थः। तेन तद् द्वितीयोत्तराभावान्न्यूनत्वं यदि पुनरसत्येव कारण इत्यादिना वृत्तौ तु भाष्योक्तपक्षान्तरस्यैव स्फुटीकारान्न पौनरुक्त्यम् ॥ ४१ ॥

यद्यसत् सर्वथा कार्यं तन्मा जनि खपुष्पवत् । मोपादाननियमो भून्माश्वासः कार्यजन्मनि ॥ ४२ ॥

पर्यायाकारेणेव द्रव्याकारेणापि सर्वथा यद्यसत्कार्यं तदा तन्मा जनिष्ट, खपुष्पमिव । तथा हि यत् सर्वथाप्यसत्तन्न जायमानं दृष्टं, यथा खपुष्पम् । तथा च परस्य कार्यम् । इति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः । कार्यत्वं हि कथंचित्सत्त्वेन व्याप्तम् । तद्विरुद्धं सर्वथाप्यसत्त्वम् । प्रतीतं हि लोके कथंचित्सतः कार्यत्वमुपादानस्योत्तरीभवनात् । सदेव कथमसत् स्याद्विरोधादिति न चोद्यं, (अ) सकृदपि विरुद्धधर्माध्यासनिराकृतेश्चित्रवेदनवदित्युक्तप्रायम् । तथा चान्वयव्यतिरेकप्रतीतेर्भावस्वभावनिबन्धनायाः किं फलमपलापेन ? तदन्यतरनिराकृतावुभयनिराकृतिरभेदात् । कथमन्वयव्यतिरेकयोरभेद इति चेत्, कारणस्य भावे भावस्यैव तदभावेऽभावरूपत्वात् । न हि कारणस्याभावेऽभाव एव भावे भावो न प्रतीयते यतस्तदभेदो न स्यात् । कथं भावस्वभावनिबन्धनान्वयव्यतिरेकप्रतीतिस्तस्या भावाभावस्वभावनिबन्ध-

न्यादित्यप्यनाशङ्कनीयं, स्वभावान्तरस्यैवाभावव्यवहारार्हत्वात् । पावकविविक्तप्रदेशविशेषस्यैव पावकाभावस्य धूमविविक्तदेशस्य न धूमाभावस्य प्रतीतिगोचरत्वात्, पावकाभावे धूमाभावस्य च व्यतिरेकलक्षणस्य भिन्नं व्यतिरेकप्रतीतेर्भावस्वभावनियतत्वनन्यस्व-यप्रतीतेरिव । इति निरारेकं, नीरूपस्याभावस्य प्रतिक्षेपात् । न च सर्वथाप्यसतः कार्यस्यान्वयव्यतिरेकप्रतीतिः कार्यकारणभाव-व्यवस्थाहेतुः, कारणाभावे एव कार्यस्य भावात्, भावे चाभावात् इति निवेदितप्रायम् । तत्रासत्कार्यं, सर्वथाप्यनुपादानत्वात् गगनकुसुमव-दिति व्यवतिष्ठते, कार्यत्वकथंचिन्मत्त्वयोरेव व्याप्यव्यापकभावस्य प्रसिद्धेस्तथा प्रतीतेः । तत एव न तत्कारणवत्, सर्वथाऽभूत-त्वाद्गगनकुसुमवत् कथंचिदस्थितानुत्पन्नत्वादिति योज्यम् । न हि सर्वथाप्यसत्कार्यमभूतं न भाति, ततः कथंचिदप्यस्थितमनुत्पन्नं च न स्यात्, कथंचित्सत एव स्थितस्योत्पन्नत्वघटनाद्विनाशघटनवत्, सत उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तत्वलक्षणत्वात् । न चोत्पादादित्रयरहितं वस्तु समस्ति यतः कारणवत्स्यात्, निरन्वयविनाशे तत्कारणस्य तद्भावायोगात् कार्यस्य तद्भावायोगवत् । सत्यपि प्रभवलक्षणे पूर्व-पूर्वस्योत्तरीभवनं मृत्पिण्डस्थासकोशकुशूलादिषु सकललोकसाक्षिकं सिद्धम् । तत्र शास्त्रनीतिप्रकाशिभिः सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भानव-धारणावकॢप्तिमारचयता सोपादाननियमो भूत् कारणान्तरवत् तदन्वयाभावाविशेषात् सर्वथा वैलक्षण्यात् । न हि मृत्पिण्डस्थासादीनां तन्तुपटादीनां च सर्वथा वैलक्षण्येनान्वयाभावाविशेषेपि मृत्पिण्ड एवोपादानं स्थासस्य, स्थास एव कोशस्य, कोश एव कुशूलस्य, कुशूल एव घटस्य, न पुनस्तन्त्वादयः स्थासादीनामिति नियमनिबन्धनं किमप्यस्ति, यतः पूर्वपूर्वस्योत्तरीभवनं मृत्पिण्डस्थासादिषु सकललोकसाक्षिकं न भवेत् । वैलक्षण्यानवधारणं नियमनिबन्धनमिति चेत्तर्हि सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भात्प्रतिपत्तॄणामिष्यते तदा सम-समयवर्तितिलादीनां सततोत्पद्यमानानां वैलक्षण्यानवधारणं स्यात् । ततश्च परस्परभिन्नसततीनामप्युपादानत्वं प्रसज्येत विशेषाभा-

वात् । यथैव ह्येकसतानवर्तिनः सदृशस्यापरापरस्योत्पत्तिः सादृश्यमभावाव्यवधानं च वाह्य, विप्रलम्भस्त्वनाद्यभेदवासनाहितमभेदज्ञानमन्तरङ्गं वैलक्षण्यानवधारणस्य कारणं तथा भिन्नसततीनामपि तिलादीनामिति न विशेषः । ननु भिन्नदेशानां तेषा सत्यामपि सादृश्योत्पत्तौ नाभावेनाव्यवधानमन्तराले परस्परमभावस्य व्यवधायकस्य भावादिति न मन्तव्यं, मृत्पिण्डस्थासादीनामेकसतानवर्तिनामपि भिन्नदेशत्वसभवादभावव्यवधानप्रसङ्गात् । न हि तेषा काल एव भिद्यते न पुनर्देशस्तस्य नित्यत्वप्रसङ्गात् । सर्वस्वलक्षणाना स्वरूपमात्रदेशतया देशाभावाददोष इति चेत्कथमेव भिन्नसततितिलादीना भिन्नदेशता ? । स्वरूपलक्षणदेशभेदादिति चेन्मृत्पिण्डादीनामपि तत एव सास्तु, न चान्यत्रापीत्यविशेष एव । सादृश्यविशेषाद्विशेष इत्यपि मिथ्या, सादृश्यस्यापि परमार्थतः कचिदभावात्सामान्यवत् । अतत्कार्यकारणव्यावृत्त्या कल्पितस्य तु सादृश्यस्य को विशेष इति चिन्त्यम् । वैलक्षण्यानवधारणहेतुत्वमिति चेत् कृष्णतिलादिपु भिन्नसतानेष्वपि समानम् । परस्पराश्रयत्वानुषङ्गश्चैवम् । सति सादृश्यविशेषे मृत्पिण्डादिपु वैलक्षण्यानवधारणं तस्मिन् सति सादृश्यविशेषनिश्चय इति नैकस्यापि निर्णयः स्यात् । नन्वनिश्चितादेव सादृश्यविशेषादभेदाध्यवसायरूपं वैलक्षण्यानवधारण निश्चीयते, ततः सादृश्यविशेषानुमानान्नेतरेतराश्रयत्वं तयोरिति चेत्, न, एव यमलकादिष्वपि तदनुमानप्रसङ्गादन्वयस्यापि तद्वत्प्रसक्तेः । ननु च निरन्वयस्यापि तादृशी प्रकृतिरात्मानं कारणान्तरेभ्यो यया विशेषयतीति चेत्, न, अत्यन्तविशेषानुपलब्धेः । तदविशेषादर्शने सर्वथाऽऽन्ध्यं स्यात्, विशेषाविशेषयोरदृष्टौ तद्रहितवस्तुरूपोपलम्भाभावात् । तस्मादियमस्य प्रकृतिर्यया पूर्वोत्तरस्वभावहानोपादानाधिकरणस्थितिं प्रतिक्षण विभर्ति यतोयमुपादाननियमः सिद्धः, पूर्वोत्तरस्वभावहानोपादानमात्रे तदसिद्धेः स्थितिमात्रवत् । अथापि कथंचिदुपादाननियमः कल्प्येत, कार्यजन्मनि कथमाश्वासः ? सवृतिमात्रेणोपकल्पितादुपादाननियमात्कार्योत्पत्तावनाश्वासदर्श-

नात् स्वप्नवत् । तदत्यन्तासतः कार्यस्योत्पत्तेस्तन्तुभ्यः पटादिरेव न पुनः कुटादिरिति निर्हेतुको नियमः स्यात् । पूर्वपूर्वविशेषादुत्तरोत्तरनियमकल्पनायामनुपादानेऽपि स्यात् तन्नियमकल्पना । तथाऽदर्शनमहेतुरत्रैव विचारात् । न हि यत्रैव विवादस्तदेव नियमहेतुरिति युक्तं वक्तुम्, अविचारकत्वप्रसङ्गात् । यथादर्शनं नियमकल्पनाया हेतावपि कथंचिदाहितविशेषतन्तूना पटस्वभावप्रतिलम्भोपलम्भात् तदन्यतरविधिप्रतिषेधनियमनिमित्तात्ययात् प्रतीतेरलमपलापेन । न हि तन्तुतद्विशेषयोरन्यतरस्य विधौ निषेधे च नियमनिमित्तमस्ति । न हि तन्तव एवातानादिविशेषनिरपेक्षाः पटस्वभावं प्रतिलभमानाः समुपलभ्यन्ते, येन तन्तुमात्रस्यैव विधिनियमो विशेषप्रतिषेधनियमो वा स्यात् । नापि तन्तुनिरपेक्षो विशेष एव पटस्वभावं स्वीकुर्वन्नुपलभ्यते यतो विशेषविधिनियमस्तन्तुप्रतिषेधनियमो वाऽवतिष्ठेत । न चोपलब्ध्यनुपलब्धी मुक्त्वान्यन्निमित्तं तद्विधिप्रतिषेधयोर्नियमेऽस्ति येन तदत्ययेपि तदुभयप्रतीतेरपलापः शोभेत । ननु च नास्ति तन्त्वाद्यन्वय उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेरिति स्वभावानुपलब्धिस्तत्प्रतिषेधनियमनिमित्तं, विशेषमात्रस्यैवोपलब्धेस्तद्विधिनियमहेतुत्वादिति चेत्, न, तन्त्वाद्यन्वयवत्तद्विशेषस्यापि निरपेक्षस्योपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेरविशेषात्प्रतिषेधनियमप्रसङ्गात् । तस्मादुपलब्धिलक्षणप्राप्तानुपलब्धिरनन्वयस्यैव न पुनरुभयरूपस्य इत्यलं प्रसङ्गेन । सर्वथान्वयविशेषयोरेव प्रतिषेधनियमस्य निमित्ताभावात् तदुभयरूपजात्यन्तरस्यैव विधिनियमस्य निमित्तसद्भावात् तन्निमित्तस्यार्थक्रियाकारित्वस्य सकलप्रमाणोपलम्भस्य च प्रसिद्धेर्विरोधाद्यसम्भवाच्च । तदेवं क्षणिकैकान्तपक्षे ॥ ४२ ॥

'उपादानस्योत्तरीभवनात्' मृत्पिण्डादेर्घटादिकार्यत्वेन परिणमनादित्यर्थः । भाष्ये **'सकृदपीति'** अपिरेवकारार्थः । **'सकृदेव'** विरुद्धधर्माध्यासस्यानिराकरणात्, तथा च वारंवारं तन्निराकरणादित्यर्थः । **'चित्रवेदनवदिति'** चित्रवेदने ह्येकत्वा-

नेकत्वयोर्विरोधो वारंवारमेव निराकृतः, सैव रीतिः सत्त्वासत्त्वयोः प्रतीयतामित्यनेनोक्तम्; तत एव कार्यत्वकथञ्चित्सत्त्वयोर्व्याप्तिरेव, भाष्ये न तादृक् सर्वथाऽसत्, कारणवत् कारणापेक्षोत्पत्तिकं, वैलक्षण्यानवधारणं निबन्धनमिति मृत्पिण्डस्थासकोशकुशूलादिनियतोपादानप्रवृत्तिनिबन्धनं नान्वयः, किन्तु वैलक्षण्यस्य भेदस्यानवधारणमिति सौगताशङ्का। तत्राह–इति चेत् तद् यदीत्यादि, सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भात् सदृशापरापरोत्पत्तिदोषसध्रीचीनानादिवासनाप्रसूताभेदज्ञानादित्यर्थः। उपादानत्वं प्रसज्येतेति कार्यागृहीतभेदक्षणस्योपादानत्वादित्यर्थः, अभावान्यवधानं चेति अन्तराविसदृशक्षणोत्पत्तिव्यवधानाभावश्चेत्यर्थः। अपि न विशेष इति न विशेष इत्यर्थः। अन्तराले सादृश्यप्रतियोगिनां मध्ये, अभावस्य दैशिकाभावस्य, न पुनर्देश इति तथा च स्थासदेशे मृत्पिण्डाभावसत्त्वाद्देशिकाभावेन तत्रापि व्यवधानादुपादानत्वं न स्यादित्यर्थः। अतिरिक्तदेशेन भिन्नदेशत्वाभाव उपादानतानिमित्तमित्याशङ्कते सर्वस्वलक्षणानामिति भिन्नसन्ततिक्षणेष्वतिप्रसङ्गान्न किञ्चिदेतदिति समाधत्ते कथमेवमित्यादि, विशेषः क्षणानामुपादानताऽनुपादानतयोर्भेदः, सति सादृश्यविशेष इति निश्चिते सादृश्यविशेष इत्यर्थः। अन्यथा वक्ष्यमाणाविशेषेण पौनरुक्त्यप्रसङ्गात्, तदनुमानप्रसङ्गादभेदाध्यवसायेनोपादानोपादेयभावनियामकसादृश्यविशेषानुमानप्रसङ्गात्, तद्वत् सम्प्रतिपन्नैकसन्तानवत्, यत उक्तहेतोस्तैलक्षण्यात्, अयं प्रत्यक्षसिद्धः, अविचारकत्वप्रसङ्गादिति यदेव पृष्टं तस्यैवोत्तरत्वप्रदानादित्यर्थः। ननु तन्तुभ्यः पटादिरिवेत्यादिनियमः कुतो दृश्यत इति न पृष्टं, येन तत्र तथा दर्शनस्य हेतुत्वोक्तावविचारकत्वम्, किन्तु तन्नियमहेतुप्रश्न एव सः, तत्र चान्वयव्यतिरेकशालित्वमेव तद्धेतुरित्युत्तरं, तत्सिद्धिश्च तथा दर्शनादिति न प्रश्नोत्तरवैयधिकरण्यमित्याशंक्य तदपि

सामान्यविशेषरूपत्वे तन्त्वादेरित्यू(रप्यू)र्ध्वतासामान्येनान्वयान्नात्यन्तासत्त्वं कार्यस्येत्यागतमित्याशयेनाह–यथा दर्शनमित्यादिना शोभेतेत्यन्तेन, एतेन शक्तेर्नियामकत्वमपि व्याख्यातं, द्रव्यार्थतया सत्त्वस्यैव तदर्थत्वात्, विशेषैकान्तवादी सामान्यानुपलब्धिमादाय शङ्कते–ननु चेत्यादिना, सिद्धान्तवादी विशेषानुपलब्धिमादायोत्तरयति नेत्यादि, ह्रदे वह्निर्नेत्यत्रैव तर्कितप्रतियोगिसत्त्वप्रसञ्जितप्रतियोगिकत्वेन योग्यानुपलब्ध्या निरपेक्षान्यतराभावसिद्धेरुभयैकरूपतामुपसंहरति–तस्मादित्यादिना, भाष्यकृत्–'अनन्वयस्यैवेति' न विद्यतेऽन्वयः सामान्यस्य विशेषेण सह यत्रेत्यर्थान्निरपेक्षान्यतरपरिग्रहः ॥ ४२ ॥

न हेतुफलभावादिरन्यभावादनन्वयात् । सन्तानान्तरवन्नैकः सन्तानस्तद्वतः पृथक् ॥ ४३ ॥

क्षणिकैकान्तपक्षेपीऽति विवर्तते । तेन पूर्वोत्तरक्षणानां न हेतुफलभावो वास्यवासकभावः कर्मफलसबन्धः प्रवृत्त्यादिर्वास्ति, सर्वथाऽनन्वये सत्यन्यभावात् सतानान्तरवत् । तेपामेकसतानत्वात्सोस्तीति चेत्, न, एकसतानस्य तद्वतः पृथगसत्त्वात्, सतानिन एवापरामृष्टभेदाः सन्तान इति स्वयमभ्युपगमात् सर्वेपा वैलक्षण्याविशेपात् । सन्तानसकरप्रसङ्गश्चाविशेषेणापरामृष्टभेदत्वस्य सभवात्, एते एवाभेदपरामर्शविपया न पुनरन्ये इति विशेपनिवन्धनस्याभावात् । विलक्षणानामत्यन्तभेदेपि स्वभावतः किलासकीर्णाः सततयः कर्मफलसवन्धादिनिवन्धनं शशविपाणस्येव वर्तुलत्वमाचरितं कश्चेतनः श्रद्धीत ? प्रत्यक्षेणाप्रतीतेर्थे स्वभावस्याश्रयितुमशक्यत्वात् " प्रत्यक्षेण प्रतीतेऽर्थे यदि पर्यनुयुज्यते । स्वभावैरुत्तर वाच्यं दृष्टे कानुपपन्नता " इति स्वयमभिधानात् । न च परस्पर विलक्षणानामेव क्षणानामत्यन्तमन्वयासत्त्वेप्यन्तर्बहिर्वा सततयोऽसकीर्णा एव प्रत्यक्षतः प्रतीताः, तस्यैकक्षणगोचरतया सतानाविपयत्वात् । नाप्यनुमानतः, स्वभावस्य कार्यस्य वा तल्लिङ्गस्य प्रतिवद्धस्यानवधारणात् । प्रत्यभिज्ञानादि तदनुमाने लिङ्गमिति चेत्, न, तस्य कचि-

दन्वयासिद्धेर्व्यतिरेकानिश्चयाच्च । तत एव नान्यथानुपपत्तिः, प्रत्यभिज्ञानादे सतानाभावेऽसंभवनियमनिश्चयायोगात्, तत्रैकद्रव्यप्रत्यासत्तेरेव ततः प्रसिद्धेर्विरुद्धत्वनिर्णयात् । ततो न संतानोस्ति स्वभावत एवासकीर्णाः सतानान्तरैरिति सूक्तम् । ॥ ४३ ॥ स्यान्मतम्—

कर्मफलसम्बन्धादिनिबन्धनमित्यनन्तरमिति वचनमिति शेषः । आरचितमित्युक्तमित्यर्थः । कः श्रद्दधीतेति

एकद्रव्यातिरिक्तासु तासु प्रमाणाप्रसरादित्यर्थः ॥ ४२ ॥

अन्येष्वनन्यशब्दोऽयं संवृतिर्न मृषा कथम् ? । मुख्यार्थः संवृतिर्न स्याद्विना मुख्यान्न संवृतिः ॥४४॥

सतानिभ्योऽनन्यः सतानः, अन्यथात्मनो नामान्तरकरणात्—आत्मा सतान इति, सुखादिपरिणामेभ्यो भिन्नस्य वस्तुनो व्यापकस्यात्मत्वादर्थभेदाभावात् । तथा नामान्तरकरणे च नित्यानित्यविकल्पानुपपत्तेर्नान्य सतानो वास्तव. स्यात् । नित्यविकल्पे तस्य सतानिव्यापकत्वाभावोऽनेकस्वभावेन तद्व्यापकत्वे तस्य नित्यैकरूपत्वविरोधात् एकस्वभावेन तद्व्यापकत्वे संतानिनामेकरूपत्वापत्तेः कुतः सतानः अनेकव्यापिनः क्रमशः सतानत्वात् । तदनित्ये विकल्पेऽपि न सतानः, सतानिवद्भेदादेकप्रत्यवमर्शाविपयत्वात्, अपि तु सवृत्त्याऽन्येष्वनन्यव्यवहारात्, अनन्य इति शब्दविकल्पलक्षणत्वादेकत्वमुपचरितमिति । अन्येष्वनन्यशब्दोयं सवृतिः सौगतैरभिधीयते सतानः । सोपि कथ मृषा न स्यात् ? । अस्तु व्यलीकोऽय व्यवहारस्तथेष्टत्वादिति चेत्तर्हि व्यलीकव्यवहारेपि विशेषानुपपत्तेः सवन्धनियमाभावस्तदवस्थः, सकलसतानिनां साङ्कर्यस्यापरिहृतत्वात्, उपचरितेनैकसतानेन केषाचिदेव स्वेष्टसतानिना व्याप्तेर्नियमयितुमशक्तेः । यदि तु मुख्यार्थ एव संतानः स्यात्तदा न सवृतिः । सवृतिरेव सतानस्तथोपचारादिति चेत्, न, तस्य मुख्यप्रयोजनत्वविरोधात् । मुख्यप्रयोजनश्चायं, प्रत्यभिज्ञानादेर्मुख्यस्य कार्यस्य करणात् । उपचारस्तु नर्ते [न ऋते] मुख्यात् । यथाग्निर्माणवकः । इति

स्खलति हि तत्रानन्यप्रत्ययः, परीक्षाऽक्षमत्वात् । अत एवामुख्यार्थः प्रस्तुतासाधनम् । न ह्यग्निर्माणवक इत्युपचारात्पाकादावादीयते । तथा संतानोप्युपचरितः संतानिनियमहेतुर्न स्यात् । इति तदवस्थं संतानिसाङ्कर्यं, संतानस्यैकस्य सतानिभ्यो भिन्नस्याभिन्नस्योभयरूपस्यानुभयरूपस्य चासभवात् ॥ ४४ ॥ तत एव—

स्यान्मतमित्याशङ्कावचनं, वक्ष्यमाणकारिकापेक्षया तत्रैव तदभिव्यञ्जकस्य चेच्छब्दस्य श्रुतेः, प्रस्तुतकारिकायां तु पराभिमतसन्तानवचनमृषात्वस्य मुख्यस्य द्रव्यार्थस्य चोद्देश्यत्वाद्विप्रतिपत्तिधर्म्यभिधानेन परमस्याः कारिकाया उत्तरकारिकया सहैकवाक्यत्वादिति द्रष्टव्यम् । **सोऽपि कथं मृषा न स्यादिति** संवृतिशब्देनैव मृषात्वस्य स्फुटमभिधानादिति भावः । व्यवहारः सन्तानव्यवहारः, **सम्बन्धनियमाभावः** पूर्वोत्तरक्षणानां नियतकार्यकारणभावसम्बन्धाभावः, स्खलति हि बाधते हि, तत्र पूर्वोत्तरक्षणेषु, **अनन्यप्रत्यय** एकत्वावसायः, **तत एवो**क्तासम्भवादेव ॥ ४४ ॥

चतुष्कोटेर्विकल्पस्य सर्वान्तेषूक्त्ययोगतः । तत्त्वान्यत्वमवाच्यं चेत्तयोः संतानतद्वतोः ॥ ४५ ॥

यो यो धर्मस्तत्र तत्र चतुष्कोटेर्विकल्पस्य वचनायोगः । यथा सत्त्वैकत्वादिधर्मेषु । धर्मश्च संतानतद्वतोस्तत्त्वमन्यत्वं च । इति तत्रावाच्यत्वसिद्धिः । प्रसिद्धं हि सत्त्वैकत्वादिषु सर्वधर्मेषु सदसदुभयादिचतुष्कोटेरभिधातुमशक्यत्वात् संतानतद्वतोरपि भेदाभेदोभयानुभयचतुष्कोटेरनभिलाप्यत्वम् । सर्वो हि वस्तुधर्मः सन् वा स्यादसन् वा उभयो वानुभयो वा । सत्त्वे तदुत्पत्तिविरोधादसत्त्वे पुनरुच्छेदपक्षोपक्षिप्तदोषादुभये चोभयदोषप्रसङ्गानुभयपक्षेऽपि विकल्पानुपपत्तेरित्यादि योज्यम् । तथा हि । वस्तुनो धर्मस्यानन्यत्वे वस्तुमात्रप्रसक्तेरन्यत्वे व्यपदेशासिद्धेरसंबन्धात्, उभये चोभयपक्षभाविदोषोऽनुभयपक्षे निरुपाख्यत्वमिति ॥ ४५ ॥ तथानभिधेयत्वं

प्रसिध्यत् सर्वत्र संतानसंतानिनोरपि तत्त्वान्यत्वाभ्यामवाच्यत्वं प्रसाधयति विशेषाभावात् । इति येपामाकूतं तैरपि,—

चतुःकोटेरित्यादिकारिकाप्यग्रिमकारिकया सम्बध्यते साकाङ्क्षत्वात् । **सर्वान्तेषु** सर्वभेदेषु, **तत्त्वान्यत्वमिति** समाहारापेक्षयैकवचनं तत्त्वमन्यत्वं चेत्यर्थः, **तयोः** प्रकृतयोः, ॥ ४५ ॥ एवमवाच्यत्वं सर्वथा सन्तानसन्तानिनोः प्रसक्तं तत्कथञ्चिद्भावेन नियमयितुमाह

अवक्तव्यचतुष्कोटिविकल्पोऽपि न कथ्यताम् । असर्वान्तमवस्तु स्यादविशेष्यविशेषणम् ॥ ४६ ॥

न हि सर्वथानभिलाप्यत्वेऽनभिलाप्यचतुष्कोटेरभिधेयत्वं युक्तं, कथंचिदभिलाप्यत्वप्रसङ्गात् । ततो भवद्भिरवक्तव्यचतुष्कोटिविकल्पोपि न कथनीयः । इति न परप्रत्यायन नाम । अपि चैव सति सर्वविकल्पातीतमवस्त्वेव स्यादन्यत्र वाचोयुक्तेः । जात्यन्तरमेव ह्यनेकान्तात्मकं सर्वथैकान्तविकल्पातीतत्वात् । सर्वविकल्पातीतमिति वाचोयुक्तावेव वस्तूक्त स्यान्नान्यथा, तस्याविशेषणत्वात् खपुष्पवत् । न हि सर्वथाप्यसदनभिलाप्यमवस्त्विति वा विशेषणं स्वीकुरुते यतो विशेष्य स्यात् । न चाविशेष्यमविशेषणं च किंचिदध्यक्षसंविदि प्रतिभासते, स्वसवेदनस्यापि सत्त्वविशेषणविशिष्टतया विशेष्यस्यैवावभासनात् । तदुत्तरविकल्पबुद्धौ स्वस्य सवेदनमिति विशेषणविशेष्यभावोऽवभासते, न तु स्वरूपे तस्येति चेत्तर्हि किमविशेष्यविशेषणं संवेदनमिति स्वतः प्रतिभासते ? तथोपगमे सिद्धो विशेषणविशेष्यभावः संविदि, तत्राविशेषणविशेष्यत्वस्यैव विशेषणत्वात्, सर्वथाप्यसतो विशेषणविशेष्यत्वस्य प्रतिषेधायोगात् । तथा हि ॥ ४६ ॥

'**अवक्तव्येत्यादि**' **न कथ्यतामिति** कथ्यते चेत्कथञ्चिदवक्तव्यतैव पर्यवसन्ना, **एवम्**, **असर्वान्तं** सर्वभेद-

रहितम्, अवस्त्वेव स्यात् यतो न कस्यचिद्विशेष्यं न वा विशेषणं, वाचो युक्तावेव प्रतियोगिविशेषपरतया भङ्ग्यन्तरभाजि वचन एव, अनभिलाप्यमवस्त्विति चेति इतेर्द्विधान्वयादनभिलाप्यमित्यवस्त्विति वा विशेषणं न स्वीकुरुत इत्यर्थः। यतो विशेष्यं स्यादिति एवं च विशेष्यस्य विशेषणसापेक्षत्वाद्विशेषणाभावादविशेष्यं विशेष्याभावाच्चाविशेषणं जातमित्यर्थः। तादृशि च प्रत्यक्षविरोध इत्याह—न चाविशेष्यमित्यादि ॥ ४६ ॥

द्रव्याद्यन्तरभावेन निषेधः संज्ञिनः सतः। असद्भेदो न भावस्तु स्थानं विधिनिषेधयोः ॥ ४७ ॥

द्रव्यक्षेत्रकालभावान्तरैः प्रतिषेधः संज्ञिनः सतः क्रियते स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्न पुनरसतः, तद्विधिप्रतिषेधाविषयत्वात्। द्रव्याद्यन्तरभावेनेव स्वद्रव्यादिभावेनाप्यसत्त्वे कुतो विधिर्नाम ? तदभावे न प्रतिषेधस्तस्य कथंचिद्विधिपूर्वकत्वात्। ततः कथंचिदभिलाप्यस्य सतः प्रतिषेधादनभिलाप्यत्व युक्तम्। कथंचिद्विशेषणविशेष्यात्मनश्च सतोऽविशेष्यविशेषणत्वम्। इति नैकान्ततः किंचिदनभिलाप्यमविशेष्यविशेषण वाभ्युपगन्तव्यम्। न चैतद्विरुद्धं स्वलक्षणमनिर्देश्यमित्यादिवत्। स्वलक्षण हि स्वरूपेणासाधारणेनानिर्देश्यं नानिर्देश्यमिति शब्देन तथा निर्देश्यत्वादन्यथा वचनविरोधात्। तथा प्रत्यक्षं कल्पनापोढमपि स्वरूपेण कल्पनापोढमेव, न कल्पनापोढमिति कल्पनापेक्षया, तस्यान्यथा कल्पनापोढत्वेन कल्पनाविरोधात्, सकलविकल्पवाग्गोचरातीतस्य निरुपाख्यत्वप्रसङ्गात् तद्वत्स्याद्वादिना न किंचिद्विप्रतिषिद्धम्। अभावोनभिलाप्य इत्यपि भावाभिधानादेकान्तवृत्तावेव दोषोद्भावाभिधानैरपि कथंचिदभावाभिधानात्। यथैव ह्यभाव इति भावान्तरमभिधीयतेऽनभिलाप्य इति चाभिलाप्यान्तर तथा भावोभिलाप्य इत्यपि भावान्तराभिलाप्यान्तराभाव. कथ्यते, तथा प्रतीतेः, अभावशब्दैश्चाभावस्य भावस्य चैकान्ततोभिधाने शाब्दव्यवहारविरोधात्, तस्य प्रधानगुणभावेन

विधिनिषेधयोरुपलम्भात् तथैव प्रवृत्तिनिवृत्त्योरविसंवादसिद्धेरन्यथा विसंवादात् । ततः सूक्तमिदम् "असद्भेदो न भावस्तु स्थानं विधिनिषेधयोः ॥" इति कथंचित्सद्विशेषस्यैव पदार्थस्य विधिनिषेधाधिकरणत्वसमर्थनात् ॥४७॥ तथा च पराभ्युपगतमेव तत्त्व सर्वथानभिलाप्यमायातमित्यभिधीयते——

न चैतद्विरुद्धमिति एतदभिलाप्यस्यैवानभिलाप्यत्वं विशेषणविशेष्यरूपस्यैव चाविशेष्यविशेषणत्वम् । ननु भावाभावोभयकरम्बितैकवस्त्वभ्युपगमात्कथञ्चिदनभिलाप्यत्वादेरप्युभयाश्रयत्वादेको द्वाविति वदभावोऽनभिलाप्य इत्यादि कथं न विप्रतिपिद्धमिति चेत्, उभयत्वादेः पर्याप्त्यनवच्छेदकत्वात् पर्याप्त्यन्यसम्बन्धस्य विशेषणसंसर्गत्वाद्वेत्याशयवानाह—भाष्यकृत् अभावोऽनभिलाप्य इत्यादिना, तदेव विवृणोति वृत्तिकृत् यश्चैव ह्यभाव इतीत्यादिना, असद्भेद इति असदन्तरम् ॥४७॥

अवस्त्वनभिलाप्यं स्यात्सर्वान्तैः परिवर्जितम् । वस्त्वेवावस्तुतां याति प्रक्रियाया विपर्ययात् ॥४८॥

सकलधर्मविधुरमधर्मिस्वभाव तावदवस्त्वेव सकलप्रमाणाविषयत्वात् । तदेवानभिलाप्यं युक्तं, न पुनर्वस्तु प्रमाणपरिनिष्ठितम् । तदपि सर्वान्तै परिवर्जितमवस्तु परपरिकल्पनामात्रादभिधीयते न पुनः प्रमाणसामर्थ्यात्, कस्यचिद्वस्तुन एव स्वद्रव्याद्यपेक्षालक्षणप्रक्रियाया विपर्यासादवस्तुत्वव्यवस्थिते, स्वरूपसिद्धस्य घटस्य घटान्तररूपेणाघटत्ववत् कस्यचिद्वस्तुनो वस्त्वन्तररूपेणावस्तुत्वप्रतीतेः । ननु परस्परविरुद्धमिदमभिहितं वस्तुत्वेतरयोरन्योन्यपरिहारस्थितित्वादिति चेद्भावव्यतिरेकवाचिभिरपि वाक्यतामापन्नैर्भावाभिधानान्नात्र किंचिद्विरुद्धम् । न ह्यब्राह्मणमानयेत्यादिशब्दैर्वाक्यत्वमुपगतैर्ब्राह्मणादिपदार्थाभाववाचिभिस्तदन्यक्षत्रियादिभावाभिधानमसिद्धं येनावस्त्वनभिलाप्यं स्यादिति शब्देन वाक्यतामुपगतेन वस्तुशून्यत्ववाचिना वस्त्वन्तराभिधानं विरुध्यते । अतः सूक्तं 'यदवस्तु तदनभि-

लाप्यं यथा न किंचित्। यत्पुनरभिलाप्यं तद्वस्त्वेव यथा खपुष्पाभावः' इति। नात्र साध्यविकलमुदाहरणं खे पुष्पाभावस्य खस्वरूपत्वात्। सुप्रतीतं हि लोके अन्यस्य कैवल्यमितरस्य वैकल्य, स्वभावपरभावाभ्यां भावाभावव्यवस्थितेर्भावस्य। न हि वस्तुन सर्वथा भाव एव, स्वरूपेणेव पररूपेणापि भावप्रसङ्गात्। नाप्यभाव एव, पररूपेणेव स्वरूपेणाप्यभावप्रसङ्गात्। न च स्वरूपेण भाव एव पररूपेणाभावः, परात्मना चाभाव एव स्वात्मना भाव इति वक्तुं युक्त, तदपेक्षणीयनिमित्तभेदात्। स्वात्मानं हि निमित्तमपेक्ष्य भावप्रत्ययमुपजनयति सर्वोर्थः, परात्मान त्वपेक्ष्याभावप्रत्ययम्। इति एकत्वद्वित्वादिसंख्यावदेकत्र वस्तुनि भावाभावयोर्भेदो व्यवतिष्ठते। न ह्येकत्र द्रव्ये द्रव्यान्तरमपेक्ष्य द्वित्वादिसंख्या प्रकाशमाना स्वात्ममात्रापेक्षैकत्वसंख्यातोनन्या प्रतीयते। नापि सोभयी तद्वतो भिन्नैव, तस्यासंख्येयत्वप्रसङ्गात्, संख्यासमवायादपि तथात्वासिद्धेः, समवायस्य तदसंबन्धात् तस्य स्वसमवायिसंन्वधकल्पनायामप्यनवस्थानुषङ्गात् कथंचित्तादात्म्यमन्तरेण समवायासंभवाच्च। तद्वन्न भावाभावौ वस्तुनोन्यावेव, निस्स्वभावत्वप्रसक्तेः। अथ सत्त्वासत्त्वाभ्यामन्यस्यापि वस्तुनो द्रव्यत्वादिस्वभावसद्भावान्न निःस्वभावत्वमिति मतं तदप्यसाधीयो, द्रव्यत्वाद्रव्यत्वाभ्यामपि तस्यान्यत्वात्। ताभ्यामनन्यत्वे कथंचिद्भावाभावाभ्यामप्यनन्यत्वसिद्धेः स्वभावपरभावाभ्या वस्तुनो भावाभावव्यवस्थितिः किं न स्याद्यतः खे पुष्पाभावोभिलाप्यो वस्त्वेव न भवेत्? इति निरवद्यमुदाहरणम् ॥ ४८ ॥ किं च क्षणिकैकान्तवादिनाम्—

अवस्तुत्वप्रतीतेरिति तथा च वैज्ञानिकसम्बन्धेनावस्तुत्ववति तेन सम्बन्धेन सर्वथानभिलाप्यत्वाद्यभिधानमविरुद्ध मिथ्यारजतमरजतमितिवदिति भावः। **भावाभिधानादिति**, शक्तिलक्षणाभ्यामुभयोपपत्तेरेकपदशक्ययोः परस्परमन्वयो व्युत्पत्तिविशेषादिति नव्यमताश्रयणादिति भावः। **तद्वतो भिन्नैवेति**, तद्वत एकत्वसंख्यावतः, एकत्वविशिष्टाभेदसिद्धौ

च द्वित्वे संख्यात्वेनैकत्वाभेदः सिद्ध एवेति भावः ॥ ४८ ॥

सर्वान्ताश्चेदवक्तव्यास्तेषां किं वचनं पुनः । संवृतिश्चेन्मृषैवैषा परमार्थविपर्ययात् ॥ ४९ ॥

परेषा सर्वे धर्मा यद्यवक्तव्या एव तदा तेषां किं पुनर्वचनं धर्मदेशनारूप परार्थानुमानलक्षणं साधनदूषणवचनं वा ? न किंचित् स्यादिति मौनमेव शरणम् । यदि पुनः सवृतिरूपं वचनमुपगम्यते तदापि मृषैव सवृतिरेपाभ्युपगन्तव्या परमार्थविपर्ययरूपत्वात्तस्याः । इति तत्त्वतः किं वचनं स्यात् ? पुनरप्यवक्तव्यवादिनं पर्यनुयुञ्ज्महे, सर्वे धर्मा यदि वाग्गोचरातीताः कथमिमेऽभिलप्यन्ते ? इति, स्ववचनविरोधानुषङ्गात् सर्वदा मौनव्रतिकोऽहमिति प्रतिपादयत इव परान् । सवृत्या चेत्सर्वे धर्मा इत्यवक्तव्या इति चाभिलप्यन्ते भवद्भिर्न, विकल्पानुपपत्तेः । सवृत्येति हि स्वरूपेण पररूपेणोभयरूपेण वा तत्त्वेन मृषात्वेनेति वा विकल्पेषु नोपपद्यते । तत्र सवृत्या वक्तव्या इति स्वरूपेण चेत्कथमनभिलाप्याः ? स्वरूपेणाभिलाप्यानामनभिलाप्यत्वविरोधात् । पररूपेण चेत्तत्तेषां स्वरूपं स्याद्येनाभिलाप्याः । केवलं वाचः स्खलनं गम्येत गोत्रस्खलनवत् स्वरूपेणेति वक्तव्ये पररूपेणेति वचनात्, विशेपरूपवत् सामान्यरूपस्यापि वक्तव्यतयाङ्गीक्रियमाणस्य स्वरूपत्वात्, तस्यास्वरूपत्वे विशेषरूपस्याप्यस्वरूपत्वापत्तेः स्वयं निःस्वरूपत्वप्रसङ्गात् । उभयपक्षेऽप्युभयदोषानुषङ्गः । तत्त्वेन चेत्कथमवक्तव्याः ? केवल वचः—स्खलनं गम्येत, तत्त्वेन वक्तव्या इति वचने प्रस्तुते संवृत्या वक्तव्या इति वचनप्रवृत्तेः । मृषात्वेन चेत्कथमुक्ताः ? सर्वथा मृषोक्तानामनुक्तसमत्वात् । तदलमप्रतिष्ठितमिथ्याविकल्पौघैः, सर्वथानभिलाप्याना सर्वधर्माणामनभिलाप्या इति वचनेनाप्यभिलाप्यत्वासंभवात्तथा परप्रत्यायनायोगात् ॥ ४९ ॥ किंचेदं तत्त्वम्—

सर्वदा मौनव्रतिकोऽहमितीति, इत्येतत्प्रकारं, तेन " यावज्जीवमहं मौनी ब्रह्मचारी तु मत्पिता ॥ मम माता च

वन्ध्या च सराभोऽनुपमो महान् ॥ १ ॥ ” इति श्लोकः सर्त्तव्यः । ‘ परानिति ’ परान् प्रतीतिप्रतिपादयत इवेति योजना कर्त्तव्या । ननु स्वरूपं विशेषरूपमेव पररूपं तु सामान्यरूपं ततश्च सामान्यरूपेणाभिलाप्यत्वे सत्यपि विशेषरूपेणावक्तव्यत्वसद्भावात् कथं वाचः स्खलनं गम्येतेत्याशङ्कायामाह–विशेषरूपवदिति ॥ ४९ ॥

अशक्यत्वादवाच्यं किमभावात्किमबोधतः। आद्यन्तोक्तिद्वयं न स्यात् किं व्याजेनोच्यतां स्फुटम् ॥५०॥

अर्थस्यानभिलाप्यत्वमभावाद्वक्तुरशक्तेरनवबोधाद्वा ? प्रकारान्तरासंभवात् । ननु च मौनव्रतात्प्रयोजनाभावाद्भयाल्लज्जादेर्वाऽनभिलाप्यत्वसिद्धेः कथं प्रकारान्तरासंभव इति चेत्, न, मौनव्रतादीनामशक्यत्वेऽन्तर्भावात् तेषां करणव्यापाराशक्तिनिमित्तत्वाच्च । न चैवमनवबोधस्ततः प्रकारान्तरं न स्यात्, तत्त्वाववोधे सति करणव्यापाराशक्तावप्यन्तर्जल्पसंभवात् । तत्त्वाववोधाभावेपि च करणव्यापारशक्तिसद्भावात् । अनवबोधाशक्यत्वयोरिह बुद्धिकरणपाटवापेक्षत्वात् प्रकारान्तरत्वमेव । न च सर्वत्र तदभावो युक्तः, कस्यचित्कचिदवबोधसद्भावात् सुगतस्य प्रज्ञापारमितत्वात् क्षमामैत्रीध्यानदानवीर्यशीलप्रज्ञाकरुणोपायप्रमोदलक्षणदशबलत्वोपगमाच्च कस्यचिदेव करणापाटवात् । तदनेनाशक्यत्वानवबोधवचनलक्षणस्याद्यन्तोक्तिद्वयस्यासंभवो व्याख्यातः । सामर्थ्यादर्थस्याभावादेवावाच्यत्वमिति किं व्याजेनावक्तव्यं तत्त्वमिति वचनरूपेण ? स्फुटमभिधीयतां सर्वथार्थाभाव इति, तथा वचने वञ्चकत्वायोगादन्यथानाप्तत्वप्रसक्तेः । ततो नैरात्म्यात्र विशेष्येत, मध्यमपक्षावलम्बनात् । को ह्यत्र विशेषोऽर्थस्याभावादवाच्यत्व नैरात्म्यमिति च ? अशक्यसमयत्वादनभिलाप्यमर्थरूपमिति चेत्, न, कथंचिच्छक्यसंकेतत्वात् । दृश्यविकल्प्यस्वभावत्वात्परमार्थस्य प्रतिभासभेदेऽपीत्युक्तम् । न हि दृश्यस्वभाव एव परमार्थो न पुनर्विकल्प्यस्वभावः सामान्यं, विशेषवत्सामान्यस्यापि वस्तुरूपत्वसाधनादन्यथा

प्रतीत्यभावात् सामान्यविशेषात्मनो जात्यन्तरस्य प्रत्यक्षादौ प्रतिभासनाच्च । न चैवं द्वयलक्षणेषु सङ्केतकरणाशक्तावपि विकल्प्ये सामान्ये कचिदशक्यसङ्केतत्वं येनाशक्यसमयत्वादनभिलाप्यमर्थरूपं भवेत्, कथंचिच्छक्यसङ्केतत्वसिद्धेः । स्यान्मतं ' सङ्केतितार्थस्य शब्दविषयस्य व्यवहारकालेननुगमनाद्विषयिणः शब्दस्य न तद्वाचकत्वमन्यथातिप्रसङ्गात् ' इति, तदेतद्विषयविषयिणोर्भिन्नकालत्वं प्रत्यक्षेपि समानं, शब्दविकल्पकालवत् प्रत्यक्षप्रतिभासकालेपि विषयस्यासंभवात्, संभवे वा क्षणिकत्वाविरोधाद्वेद्यवेदकयोः समानसमयत्वप्रसङ्गाच्च । अथ भिन्नकालत्वेऽपि विषयात्प्रत्यक्षस्याविपरीतप्रतिपत्तिः, अन्यत्रापि सास्त्येव । नहि शब्दादर्थं परिच्छेद्य प्रवर्तमानो विपरीत प्रतिपद्यते प्रत्यक्षादिव प्रतिपत्ता, येन दर्शने एवाविपरीतप्रतिपत्तिर्भवति न पुनः शाब्देपीऽति बुद्ध्यामहे । कचिद्विकल्पे विपरीतप्रतिपत्तिमुपलभ्य सर्वत्र विपरीतप्रतिपत्तिकल्पनाया कचिद्दर्शनेऽपि विपरीतप्रतिपत्तिं समीक्ष्य सर्वत्र तत्कल्पनास्तु, विशेषाभावात् । दर्शनविकल्पयोः परमार्थैकतानत्वाभावे न किंचित्सिद्धम् । दृष्टस्यानिर्णयाददृष्टकल्पनाददृष्टनिर्णयस्य प्रधानादिविकल्पाविशेषात् कुतो दर्शनस्य कल्पनापोढस्यापि परमार्थैकतानत्वम् ? । न हि दृष्टे स्वलक्षणे निर्णय. संभवति, तस्य तदविषयत्वात् । अदृष्टे तु सामान्यलक्षणे निर्णयः प्रवर्तमानो न प्रधानादिविकल्पाद्विशिष्यते । इति सकलप्रमाणाभावात्प्रमेयाभावसिद्धेरवक्तव्यतैकान्तवादिनां नैरात्म्यमेवायातं सर्वथाप्यशक्यसमयत्वेनाप्यशक्यत्वपक्षस्यासंभवादनवबोधपक्षवदभावस्यैव निर्व्याजत्वसिद्धेः ततः क्षणक्षयैकान्तपक्षे कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गः । स चोपहासास्पदमेव स्यात् ॥ ६० ॥ तथा हि ।

मौनव्रतादीनामशक्यत्वेऽन्तर्भावादिति वचनजनककरणवीर्याविषयत्वस्यैवाशक्यपदार्थत्वात् सिद्धैर्वक्तुमशक्यत्व-

तदुत्थापकानि प्रकरणादीन्यननुगतत्वात्, तथाऽवचनेऽशक्यत्वमेव नियामकमनुगतत्वान्नतु तदुत्थापकानि मौनव्रतादीन्यननुगतत्वादिति भावः। 'न चैवमिति' एवं मौनव्रतादीनामशक्यत्वेऽन्तर्भावे, अन्तर्जल्पसम्भवादिति बहिः स्पष्टोच्चाराभावेऽप्यन्तर्वचनजनककरणवीर्यसत्त्वादन्यथाऽन्तर्जल्पाप्रत्यक्षापत्तेर्मध्यमावैखर्योर्भेदानापत्तेश्चेति भावः। तत्त्वावबोधाभावेऽपि चेति तथा च तद्भावाभावयोर्भावादनवबोधव्यभिचारित्वमशक्यत्वस्येति न तत्रानवबोधोऽन्तर्भावयितुं शक्य इत्यर्थः। तदभावोऽवबोधाभावः। आद्यन्तोक्तिद्वयस्येति कारिकाक्रमापेक्षया, को ह्यर्थविशेष इति, अर्यत इत्यर्थः इति व्युत्पत्त्या को हि प्रकारभेद इत्यर्थः। अवाच्यत्वं नैरात्म्यमिति अवाच्यत्वं नैरात्म्यं चेति पक्षयोरित्यर्थः। 'अर्थरूपमिति' तथा च भावाभावविषयत्वाद्विशेष इत्यर्थः। समानसमयत्वप्रसङ्गादिति क्षणिकत्वविरोधे हेतुत्वेनान्वेति, प्रत्यक्षकालवृत्तेर्विषयस्य तद्धेतुत्वरक्षार्थं प्राक्कालवृत्तित्वस्याप्यभ्युपगमे क्षणिकत्वविरोधस्य स्पष्टत्वात्। द्वितीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वस्यैव क्षणिकलक्षणत्वादितरस्याविनिगम्यत्वात् ॥ ५० ॥

हिनस्त्यनभिसन्धातृ न हिनस्त्याभिसंधिमत्। बध्यते तद्द्वयापेतं चित्तं बद्धं न मुच्यते ॥ ५१ ॥

हिंसाभिसंधिमच्चित्तं न हिनस्त्येव प्राणिनं, तस्य निरन्वयनाशात् संतानस्य वासनायाश्चासंभवात्। अनभिसन्धिमदेवोत्तरं चित्तं हिनस्ति। तत एव हिंसाभिसन्धिर्हिंसाचित्तद्वयादपेतं चित्तं बध्यते। यच्च बद्धं तन्न मुच्यते, ततोऽन्यस्य मुक्तेः। इति कोन्यः प्रकाशयेन्निरन्वयात् तस्यैवम्? संतानादेरयोगादिति—कर्तव्यतासु चिकीर्षोर्विनाशात् कर्तुरचिकीर्षुत्वात् तदुभयविनिर्मुक्तस्य बन्धात्तदविनिर्मुक्तेश्च यमनियमादेरविधेयत्वं कुर्वतो वा यत्किंचनकारित्वं प्रत्येतव्यम्। न चैवमनेकान्तवादिनः, प्रतिक्षणं परिणामान्यत्वेऽपि जीवद्रव्यस्यान्व-

यात् चिकीर्षोरेवेतिकर्तव्यतासु कर्तृत्वात्कर्तुरेव च कर्मबन्धाद्बद्धस्यैव विनिर्मुक्तेः सर्वथा विरोधाभावात् । क्षणिकवादिनामपि संतानस्यै-

कत्वात्पूर्वपूर्ववासनोपहितोत्तरोत्तरचित्तविशेपस्योत्पत्तेरनुपालम्भ इति चेत्, न, संतानस्यावास्तवत्वाद्वास्यवासकभावस्याप्यसंभवादव्य-

भिचारकार्यकारणभावस्यापि तन्नियमहेतुत्वायोगात् सुगतेतरचित्तसतानेष्वपि भावादिति निरूपितत्वाच्च क्षणिकैकान्तवादिनाम् ॥ ५१ ॥

'निरन्वयादिति' निरन्वयशब्दो निर्वंशत्वाध्यवसायेनान्वयाभाववादिनं सौगतं लक्षयंस्तस्य निन्द्यतामभिव्यनक्ति

इतिकर्त्तव्यतासु क्रमनियतासु क्रियासु, अचिकीर्षत्वादिति न विद्यते चिकीर्षा यस्य क्षणस्य तत्त्वादित्यर्थः ।

'तदुभयेति' चिकीर्षाकर्तृक्षणविनिर्मुक्तस्य तृतीयस्य बद्धत्वादित्यर्थः । तदविनिर्मुक्तेर्बद्धक्षणस्यामोक्षात्, अभिधेयत्व-

मभिधामात्रेणात्मन आश्वासः, कुर्वतो वा यत्किञ्चनकारित्वम् अबुद्धिपूर्वकप्रयासमात्रम्, पूर्वपूर्वक्षणानामुत्तरत्रानन्वयेन

कार्यकारणसामानाधिकरण्याद्यभावादित्यर्थः ॥ ५१ ॥

अहेतुकत्वान्नाशस्य हिंसाहेतुर्न हिंसकः । चित्तसंततिनाशश्च मोक्षो नाष्टाङ्गहेतुकः ॥ ५२ ॥

सर्वथाप्यहेतुं विनाशमभ्युपगम्य कस्यचिद्यदि हिसकत्व ब्रूयात् कथमविक्लवः ? तथा निर्वाणं सतानसमूलतलप्रहाणलक्षणं

सम्यक्त्वसज्ञासंज्ञिवाक्कायकर्मान्तर्व्यायामाऽजीवस्मृतिसमाधिलक्षणाष्टाङ्गहेतुकं यदि ब्रूयात्तदापि कथं स्वस्थः ? तयोरहेतुकविनाशाभ्यु-

पगमहिंसकत्वयोरष्टाङ्गहेतुकत्वनिर्वाणवचनयोश्चान्योन्य विप्रतिषेधात् सुगतस्य सर्वज्ञत्वेतरवत् ॥ ५२ ॥

'सम्यक्त्वेत्यादि,' सम्यक्त्वं बुद्धधर्मश्रद्धा १, संज्ञा स्तूपाद्यभिधानं २ संज्ञी स्तूपादिरेव ३ वाक्कायव्यापार-

स्तत्कर्म ४ अन्तर्व्यायामो वायुनिरोधः ५ अजीवो जीवाभावो नैरात्म्यमिति यावत् ६ स्मृतिः पिटकत्रयार्थानुचिन्तनं ७

ध्यानं समाधि ८ रेतान्यौचित्येन प्रवृत्तिनिवृत्तिद्वाराऽष्टौ निर्वाणाङ्गानि सौगतानाम् ॥ ५२ ॥

विरूपकार्यारम्भाय यदि हेतुसमागमः । आश्रयिभ्यामनन्योऽसावविशेषादयुक्तवत् ॥ ५३ ॥

विसदृशरूप विरूपं कार्यम् । तदारम्भाय हिंसाहेतोर्वधकस्य मोक्षहेतोश्चाष्टाङ्गस्य सम्यक्त्वादेः समागमो व्यापारो यदि ताथागतैरिष्यते तदासौ हेतुसमागम एवाश्रयो, नाशोत्पादयोः कारणत्वात् । स चाश्रयिभ्या कार्यरूपाभ्या नाशोत्पादाभ्यामनन्य एव, न पुनर्भिन्नः, तयोरविशेपादयुक्तवत् । यथैव हि शिंशपात्ववृक्षत्वयोश्चित्रज्ञाननीलादिनिर्भासयोर्वा तादात्म्यमापन्नयोरयुक्तयोः कारणसन्निपातो न भिन्नः सभवत्येककारणकलापादेवात्मलाभादन्यथा तादात्म्यविरोधात् । तथैव पूर्वाकारविनाशोत्तराकारोत्पादयोरपि, नीरूपस्य विनाशस्यानिष्टेरुत्तरोत्पादरूपत्वाभ्युपगमात् तयोर्भिन्नकारणत्वे तद्विरोधान्ततान्तरप्रवेशानुषङ्गाच्च । सोयं विसदृशकार्योत्पादहेतुव्यतिरिक्तहेत्वभावात् पूर्वाकारविनाशस्याहेतुकत्वमुपयन्नाशहेतुव्यतिरिक्तहेत्वभावादुत्तरोत्पादस्याहेतुकत्व नानुमन्यते इति कथमनाकुलः ? । विसभागसतानोत्पादनाय हेतुसन्निधिर्न प्रध्वंसाय, पूर्वस्य स्वरसतो निवृत्तेरिति चेत्, स पुनरुत्तरोत्पादः स्वरसतः किन्न स्यात् ? तद्धेतोरप्यकिंचित्करत्वसमर्थनाद्विनाशहेतुवत् । स्वरसोत्पन्नमपि तदनन्तरभावित्वात्तेन व्यपदिश्यते इति चेदितरत्र समानम् । कार्यक्षणवत्पूर्वक्षणप्रध्वसस्यापि हेत्वनन्तरभावित्वाविशेपात्तेन व्यपदेशोस्तु, न वा कार्यस्यापीत्यविशेपः । परमार्थतस्तदहेतुकत्वे प्रतिपत्रभिप्रायाविशेपेपि स्वतःप्रहाणवादी न शक्नोत्यात्मान न्यायमार्गमनुकारयितुं, तथा वदतस्तस्य न्यायातिक्रमात् । न च निरन्वयविनाशवादिनः सभागविसभागविवेकः श्रेयान्, सर्वदा विरूपकार्यत्वात्, कारणस्य कथंचिदन्वयापाये सभागप्रत्ययायोगात् । सभागविसभागावक्लृप्ति प्रतिपत्रभिप्रायवशात्समनुगच्छन् सहेतुकं विनाशं ततः किं नानुजानीयात् ? न च समनन्तरक्षणयोर्नाशोत्पादौ

पृथग्भूतौ मिथः स्वाश्रयतो वा यौ सम सहेतुकेतरौ स्ता, प्रतिपत्त्यभिधानभेदेपि ग्राह्यग्राहकाकारवत्, स्वभावप्रतिबन्धात्। न हि तयोर्मिथः कार्यकारणभावः प्रतिबन्धः, समसमयत्वात् "नाशोत्पादौ समं यद्वन्नामोन्नामौ तुलान्तयोः" इति वचनात्। नापि स्वाश्रयेण सह कार्यकारणभावः, समनन्तरस्वलक्षणक्षणाभ्यां नाशोत्पादयोरर्थान्तरत्वप्रसङ्गात्। तयोस्तद्धर्मत्वाद्विशेषणविशेष्यभावः सबन्ध इति चेन्न, वैशेषिकमतसिद्धेः। कल्पनारोपितत्वात्तयोर्न तत्सिद्धिरिति चेत्तर्हि पूर्वक्षणविनाशोनन्तरक्षणस्वभावस्तदुत्पादश्चेति सिद्धः स्वभावप्रतिबन्धः। न चैवं प्रतिपत्त्यभिधानभेदो विरुध्यते, सविदि ग्राह्यग्राहकाकारयोरपि तद्विरोधप्रसङ्गात्। ततस्तद्वत्तयोरभेद एव। सञ्ज्ञाच्छन्दमतिस्मृत्यादिवत् सत्यपि भेदे समकालभाविनोः कथं सहकारी पुनरन्यतरस्यैव हेतुरहेतुर्वा स्यात्, कार्यरूपादेरिव कारणम्। संज्ञा हि प्रत्यभिज्ञा, छन्द इच्छा। तेनादिशब्दस्योभयत्र सबन्धान्निदर्शनद्वयं वादिद्वयापेक्षयोच्यते। सज्ञाछन्दादिवन्मतिस्मृत्यादिवच्च क्रमभाविनोर्नाशोत्पादयोः सत्यपि भेदे समकालभाविनोस्तयोर्घटकपालाश्रययोरिव सहकारी मुद्गरादिः कथं कपालोत्पादस्यैव हेतुर्न पुनर्घटविनाशस्य, तस्यैव वाऽसौ हेतुर्न तु कपालोत्पादस्य स्यात्, कार्यरूपादिस्तवकस्यैकसामग्र्यधीनस्य कारणरूपादिस्तवकवत्। यतश्चैवं तस्मात्कार्यकारणयोरुत्पादविनाशौ न सहेतुकाहेतुकौ सहभावाद्रसादिवत्। न हि कारणरसादिकलापः कार्यस्य रसस्यैव हेतुर्न पुना रूपादेरिति प्रतीतिरस्ति, यतः साध्यशून्यो दृष्टान्तः स्यात्, नाप्यसहभावो रसादीनां, येन साधनविकलः। पुरुषधिषणाभ्यामनेकान्तइति चेन्न, सौगताना पुरुषासिद्धेः। स्याद्वादिनां तु तस्यापि सहेतुकत्वात् पर्यायार्थतो धिषणावत्, द्रव्यार्थतोऽहेतुकत्वाच्च धिषणायाः पुरुषवन्न ताभ्या हेतोर्व्यभिचारिता, कारणानन्तर सहभावात्। इति प्रकरणसामर्थ्यात्सविशेषणस्य सहभावस्य हेतुत्वाद्वा न व्यभिचारः स्यात्। न चैवमसिद्धं साधनम्, मुद्गरादिव्यापारानन्तर कार्योत्पादवत् कारणविनाशस्यापि प्रतीतेः, विनष्टो घट उत्पन्नानि

कपालानीति व्यवहारद्वयसद्भावात् । ततः कार्योत्पादवत्कारणविनाशः सहेतुक एवाभ्युपेयः । ननु हेतोर्न तस्य किंचिद्भवति, न भवत्येव केवलमिति चेत् , तर्हि कारणात्कार्यस्य न किंचिद्भवति, भवत्येव केवलमिति समानं विनाशवदुत्पादस्यापि निर्हेतुकत्वापत्तेः । तस्मादयं विनाशहेतुर्भावमभावीकरोतीति न पुनरकिंचित्करः । कार्योत्पत्तिहेतुर्वा यद्यभावं न भावीकुर्याद् भाव करोतीति कुतस्य करणायोगादकिंचित्करः स्यात्, सर्वथा भाव भावीकुर्वतो व्यापारवैफल्यात् । तदतत्करणादिविकल्पसहतिरुभयत्र सदृशी । यथैव हि विनाशहेतो. कुटस्य तदभिन्नविनाशकरणे तत्करणादकिंचित्करत्वं, तद्भिन्नविनाशकरणे च तदुपलम्भप्रसक्तिः । तथोत्पादहेतोर्भावादभिन्नोत्पादकरणेप्यकिंचित्करता, सतः करणायोगात् । सर्वथाप्यसतो भावादभिन्नस्योत्पादस्य करणेपि न किंचित् कृतं स्यात् खपुष्पसौरभवत् । सतोऽसतो वार्थान्तरस्य जन्मनः करणे तु न सदसद्वा कृत स्यात् । एतेन प्रागसतोनर्थान्तरस्यार्थान्तरस्य चोत्पादस्य हेतुना करणे तस्याकिंचित्करत्वमुपदर्शितं प्रतिपत्तव्यम्, प्रागसतोनन्यस्य सत्त्वायोगात्, ततोन्यस्य सत एव करणे वैफल्यात् । ततो यदि न विनाशार्थो हेतुसमागमस्तदोत्पादार्थोपि मा भूत्, सर्वथा विशेषाभावात् ॥ ५३ ॥

हेतुसमागमः समागतो हेतुः स्वेतरसकलकारणसंभृतमुपादानकारणमिति यावत् ॥ **आश्रयिभ्यामुपादेयत्वेनाधेयाभ्याम्**, अनन्यः प्राप्नोतीति शेषः, **अयुक्तवदपृथक्सिद्धयोर्द्वयोरिव**, ततः **किं नानुजानीयादिति**, ततः प्रतिपत्त्रभिप्रायवशात्, **समनन्तरक्षणयोर**व्यवहितपूर्वोत्तरक्षणयोः, **प्रतिपत्त्यभिधानभेदे**ऽपीति अयमुत्पादोऽयं च विनाश इति प्रतिपत्तिभेदः, एतदाकार एव चाभिधानभेदः, "अर्थाभिधानप्रत्ययास्तुल्यनामधेया" इति वचनादिति सर्त्तव्यम् । **संज्ञेत्यादि**भाष्ये वतिरिवार्थः, तेनायमर्थः संज्ञाछन्दाद्योर्मतिस्मृत्याद्योरिव क्रमभाविनोरुदासीननाशोत्पादयोः सत्यपि भेदे प्रकृतयोः

समकालभाविनोर्घटकपालनाशोत्पादयोः रूपरसादिवत्कथञ्चिदभेदात्कथमुपादानसहकारी मुद्गरादिरन्यतरस्य कपालजातस्य हेतुरेवान्यतरस्य घटनाशस्याहेतुरेव च स्यात्, कारणरूपादिस्तोमाधीनकार्यरूपादिस्तोमवदेकसामग्र्यधीनत्वात्तयोः, नच रूपादौ रूपादेरेव हेतुत्वं रसादेस्तु सहभाविनोऽप्यन्यथासिद्धत्वादेवाहेतुत्वं तद्वदत्रापि कपालोत्पाद एव मुद्गरादेर्हेतुत्वं नतु घटनाशेऽन्यथा सिद्धत्वादित्यपि वक्तुं शक्यम्, रसादौ नियतोपस्थितिकरूपादिनाऽन्यथा सिद्धिसम्भवेऽप्यत्राविनिगमेन तदसम्भवात् ॥ **कारणानन्तरं सहभावादितीति** इतिः प्रयोगाकारोपदर्शनार्थः। अनेन प्रयोगेणेत्यर्थः, सविशेषणस्य कारणानन्तर्यविशेषणविशिष्टस्य, हेतुत्वाद्धेतुत्वेनोपन्यासात्, **कार्योत्पत्तिहेतुर्वेति** यथा कार्योत्पत्तिहेतुरभावं भावीकरोति न पुनरकिञ्चित्करस्तथा विनाशहेतुर्भावमभावीकरोति न पुनरकिञ्चित्कर इत्यर्थः। इदं तु ध्येयम्। भेदाभेदनियतश्चिवप्रत्यार्थः स्याद्वाद एव युज्यते नान्यथेति ॥ ५३ ॥

किं च क्षणिकैकान्तवादिना परमाणवः क्षणा उत्पद्यन्ते स्कन्धसन्ततयो वा ? प्रथमपक्षे स्थाप्यस्थापकविनाश्यविनाशकभाववद्धेतुफलभावविरोधात्कुतः सहेतुकोत्पत्तिरहेतुका वा ? स्थितिविनाशवत्। द्वितीयपक्षे तु।

स्कन्धसन्ततयश्चैव संवृतित्वादसंस्कृताः। स्थित्युत्पत्तिव्ययास्तेषां न स्युः खरविषाणवत् ॥ ५४ ॥

साध्याभावसभूष्णुताविरहाद्धेतोरन्यथानुपपत्तिरनिश्चितेति न मन्तव्य, साध्याभावे तदभावप्रसिद्धेः सौगतस्य। तथा हि। रूपवेदनाविज्ञानसञ्ज्ञासंस्कारस्कन्धसततयोऽसंस्कृताः संवृतित्वात्, यत्पुनः संस्कृतं तत् परमार्थसत्, यथा स्वलक्षण, न तथा स्कन्धसततयः, इति साध्यव्यावृत्तौ हेतोर्व्यावृत्तिनिश्चयात्। खरविषाणादौ सावृतत्वस्यासंस्कृतत्वेन व्याप्तस्य प्रतिपत्तेः सिद्धान्यथानुपपत्तिः।

ततः स्थित्युत्पत्तिविपत्तिरहिताः प्रतिपाद्यन्ते । तथा हि । स्कन्धसन्ततयः स्थित्युत्पत्तिविपत्तिरहिता एवासंस्कृतत्वात् खरविषाणवत् । क्षणं स्थित्युत्पत्तिविपत्तिमहितस्य स्वलक्षणस्य संस्कृतत्वोपगमादन्यथानुपपत्तिसिद्धिः साधनस्य प्रत्येया । स्याद्वादिनामपि स्थित्युत्पत्तिविपत्तिमतः कथंचित् संस्कृतत्वसिद्धेर्न व्यभिचार । सर्वथा स्थितिमतोऽसंस्कृतस्य च कस्यचिद्वस्तुनोऽनुपपत्तेश्च निरवद्योयं हेतुः । ततो विसभागसंतानोत्पत्तये विनाशहेतुरिति पोप्लूयते, रूपादिस्कन्धसंततेरुत्पत्तिनिषेधात् तद्विनाशस्यापि खरविषाणवदसंभवात् । तथा हि । स्कन्धसंततयो विनाशरहिताः स्थित्युत्पत्तिरहितत्वात् । यत् पुनर्विनाशसहितं तन्न स्थित्युत्पत्तिरहितं, यथा स्वलक्षणम् । न तथा स्कन्धसंततयः । इति स्थित्युत्पत्तिव्ययाः न स्युस्तेषां स्कन्धानां खरविषाणवत् । तदभावे विरूपकार्यारम्भाय हेतुसमागम इति कथन्न सुतरां प्लवते ? ततो न क्षणिकैकान्तः श्रेयान्नित्यैकान्तवत्सर्वथा विचारासहत्वात् ॥ ५४ ॥

स्थाप्यस्थापकेत्यादि यथा परमाणूनां स्थाप्यस्थापकभावादिर्विरुध्यते तथा हेतुफलभावोऽप्यनन्वयेन कल्पनामात्रे विश्रामात्, तच्चेदं पूर्वक्षणः स्थापक उत्तरक्षणः स्थाप्य उत्तरक्षणो विनाशकः पूर्वक्षणो विनाश्य इति, असंस्कृता उत्पत्तिरहिताः, 'रूपेत्यादि' रूपरसगन्धस्पर्शपरमाणवः सजातीय(विजातीय)व्यावृत्ताः परस्परासम्बद्धा रूपस्कन्धाः, सुखदुःखादयो वेदनास्कन्धाः, सविकल्पकनिर्विकल्पकज्ञानादयो विज्ञानस्कन्धाः, वृक्षादिनामानि संज्ञास्कन्धाः, ज्ञानपुण्यपापवासनाः संस्कारस्कन्धाः । स्कन्धसन्ततय इत्यादि, न चेदमनुमानं कारिकाऽसूचितत्वेनाधिकम्, परार्द्धेनास्य प्रसङ्गानुमानतया व्यक्तमुक्तत्वादित्यवधेयम् ॥ ५४ ॥

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम् । अवाच्यतैकान्तेप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥ ५५ ॥

नित्यत्वेतरैकान्तद्वयमप्ययुक्तमङ्गीकर्तुं, विरोधाद्युगपज्जीवितमरणवत् । तादात्म्ये हि नित्यत्वानित्यत्वयोर्नित्यत्वमेव स्यादनित्यत्वमेव वा । तथा च नोभयैकात्म्यं, विप्रतिषेधात् । नित्यत्वानित्यत्वाभ्यामत एवानभिलाप्यमित्ययुक्त, तदेकान्तेऽनभिलाप्योक्तेरनुपपत्तेः, सर्वथानभिलाप्यं तत्त्वमित्यभिलपत एव वचनविरोधात् सदा मौनव्रतिकोहमित्यादिवत् ॥ ५५ ॥

विरोधान्नोभयैकात्म्यमित्यादि प्रागुक्तदिशा व्यक्तार्थम् ॥ ५५ ॥

तदेव नित्यत्वाद्येकान्तानुपपत्तौ सामर्थ्यात्तदनेकान्तसिद्धिप्रतिपादनेपि तत्त्वोपप्लववादिदुराशयविनाशनाय तत्प्रतिपत्तिदार्ढ्याय च स्याद्वादिवादन्यायानुसरणेन नित्यत्वाद्यनेकान्तमुपदर्शयन्ति सूरयः—

नित्यं तत्प्रत्यभिज्ञानान्नाकस्मात्तदविच्छिदा। क्षणिकं कालभेदात्ते बुद्ध्यसंचरदोषतः ॥ ५६ ॥

ते भगवतोऽर्हतः स्याद्वादन्यायनायकस्य सर्वं जीवादितत्त्वं स्यान्नित्यमेव प्रत्यभिज्ञायमानत्वात् । नाकस्मात्तत्प्रत्यभिज्ञानं तस्याविच्छेदेनानुभवात् । निर्विषय हि प्रत्यभिज्ञानमकस्मादिति प्रसिद्धम् । यथा तादृशे तदेवेदमिति, तत्रैव वा तादृशमिदमिति भ्रान्तं प्रत्यभिज्ञानम् । न चैवं जीवादितत्त्वे प्रत्यभिज्ञान, बाधकाभावात्तदविच्छेदात् । प्रत्यक्षं बाधकमिति चेत्, न, तस्य वर्तमानपर्यायात्मकवस्तुविषयत्वात्, पूर्वापरपर्यायव्याप्येकत्वलक्षणे प्रत्यभिज्ञानविषये प्रवृत्त्यभावात् । न च स्वस्याविषये किंचिद्बाधक साधकं वा, श्रोत्रज्ञानविषये चक्षुर्ज्ञानवत् । तत एव नानुमानं, तस्यान्यापोहमात्रगोचरत्वात्तत्रैव साधकबाधकत्वोपपत्ते । प्रमाणान्तर तु नानुमानादप्रत्यक्षमिष्यते क्षणिकवादिभिर्यत्प्रत्यभिज्ञानस्य बाधकं स्यात्। इति सत्यप्रत्यभिज्ञानमेव वितथप्रत्यभिज्ञानस्य बाधकम् । सादृश्यप्रत्यभिज्ञान सम्यगेवास्य जीवादावेकत्वप्रत्यभिज्ञानस्यानाद्यविद्योदयापादितस्य भ्रान्तस्य बाधकमिति चेत् , न, अस्य भ्रान्तत्वासिद्धे , सदृशापरापरोत्प-

स्यनिश्चयात् । ननु च यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकमक्षणिके क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात्सत्त्वानुपपत्तेरित्यनुमानान्निरन्वयविनाशित्वसिद्धे-र्जीवादिक्षणानामेकत्वासंभवात् सादृश्यप्रत्यभिज्ञानविषयत्वोपपत्तेर्भ्रान्तमेव तत्रैकत्वप्रत्यभिज्ञानं सिद्धमविसंवादाभावादिति चेत्, न, अस्यानुमानस्य विरुद्धत्वात्। तथा हि। यत्सत् तत्सर्वं कथंचिन्नित्यं, सर्वथा क्षणिके क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात्सत्त्वानुपपत्तेरिति । अत्र न तावद्धेतोरनैकान्तिकत्वं, सर्वथा नित्यत्वे सत्त्वस्याभावात् सर्वथा क्षणिकत्ववत् । तदभावश्च क्रमाक्रमानुपपत्तेः । तदनुपपत्तिश्च पूर्वापरस्वभावत्यागोपादानान्वितरूपाभावात् सकृदनेकशक्त्यात्मकत्वाभावाच्च । न हि कूटस्थेर्थे पूर्वोत्तरस्वभावत्यागोपादाने स्तः, क्षणिके वान्वितं रूपमस्ति, यतः क्रमः कालकृतो देशकृतो वा स्यात् । नापि युगपदनेकस्वभावत्वं, यतो यौगपद्यं, कौटस्थ्यविरोधान्निरन्वय-क्षणिकत्वव्याघाताच्च । सहकारिक्रमाक्रमापेक्षया तत्र क्रमयौगपद्यकल्पनापि न साधीयसी स्वयं तदपेक्षा, क्रमेतरस्वभावत्वाभावे तद-नुपपत्तेः । तत्कार्याणां तदपेक्षा, न पुनर्नित्यस्य क्षणिकस्य वेत्यपि न श्रेयान्, तेषां तदकार्यत्वप्रसङ्गात् । तत्सहितेभ्यः सहकारिभ्यः कार्याणामुत्पत्तेरन्यथानुत्पत्तेस्तत्कार्यत्वनिर्णय इति चेत्, तर्हि येन स्वभावेनैकेन सहकारिणा सहभावस्तेनैव सर्वसहकारिणा यदि तस्य स्यात्तदैककार्यकरणे सर्वकार्यकरणात्क्रमकार्यानुपपत्तिः, सहकार्यन्तराभावेपि च तत्सहभावात्सकृदेव सकलकार्योत्पत्तिः प्रसज्येत । स्वभावान्तरैः सह कार्यान्तरसहभावे तस्य क्रमाक्रमवृत्त्यनेकस्वभावत्वसिद्धेः कुतो नित्यमेकस्वभावं क्षणिकं वा वस्तु क्रमयौगपद्ययोर्व्यापकं स्यात् ? कथंचिन्नित्यस्यैव क्रमाक्रमानेकस्वभावस्य तद्व्यापकत्वप्रतीतेः । एतेन विपक्षे हेतोर्बाधकस्य व्यापकानुपलम्भस्य व्यतिरेकनिश्चयः कथंचिन्नित्ये प्रत्यक्षप्रवृत्तेः प्रदर्शितः प्रत्येयः । ततः सत्त्वं कथंचिन्नित्यमेव साधयतीति विरुद्धत्वान्न प्रत्यभिज्ञानविषयस्यैकत्वस्याप-हारकं, येन सादृश्यविषयत्वात्तस्य बाधकं सिद्ध्यद्भ्रान्ततां साधयेत् । ननु चेदं प्रत्यभिज्ञानं नैकं प्रमाणं, तदित्युल्लेखस्य प्रत्ययस्य स्मर-

णत्वादिदमित्युल्लेखस्य च प्रत्यक्षत्वात्। न चैताभ्यां प्रत्ययविशेषाभ्यामतीतवर्तमानविशेषमात्रगोचराभ्यामन्यत् सवेदनमेकत्वपरामर्शि समनुभूयते, यत्प्रत्यभिज्ञानं नाम प्रमाण स्यान्नित्यत्वस्य साधकम्। अतः स्वरूपासिद्धो हेतुरिति कश्चित्, सोपि प्रतीत्यपलापी, पूर्वोत्तरविवर्तस्मरणदर्शनाभ्यामुपजनितस्य तदेकत्वसकलनज्ञानस्य प्रत्यभिज्ञानत्वेन सवेद्यमानस्य सुप्रतीतत्वात्। न हि स्मरणमेव पूर्वोत्तरविवर्तयोरेकत्वं सकलयितुमलम्। नापि दर्शनमेव। तदुभयसस्कारजनितं विकल्पज्ञान तत् सकलयतीति चेत्, तदेव प्रत्यभिज्ञानं सिद्धम्। न च तदकस्मादेव भवतीति निर्विषयं, बुद्ध्यसचरदोपात्। न हि प्रत्यभिज्ञानविषयस्याविच्छिन्नस्य नित्यत्वस्याभावे बुद्धे सचरणं नाम, निरन्वयविनाशाद्बुद्ध्यन्तरजननानुपपत्तेः, यदेवाहमद्राक्षं तदेव स्पृशामीति पूर्वोत्तरपरिणामयोरेकद्रव्यात्मकत्वेन गमनासभवात्, ततोन्यस्य बुद्धिसचरणस्येहाप्रस्तुतत्वात्। तथाविधैकत्ववासनावशाद्बुद्धिसचरण न पुनः कथंचिन्नित्यत्वादिति चेत्, न, कथंचिन्नित्यत्वाभावे सवेदनयोर्वास्यवासकभावायोगात्कार्यकारणभावविरोधात्। ततो बुद्धिसचरणान्यथानुपपत्तेर्नाकस्मिकं प्रत्यभिज्ञानं विच्छेदाभावाच्च। इति कथंचिन्नित्य वस्तु प्रसाधयति। तथा सर्वं जीवादि वस्तु कथंचित् क्षणिकं, प्रत्यभिज्ञानात्। न चैतत् क्षणिकत्वमन्तरेण भवतीत्यकस्मादुपाजयते, तद्विपयस्य कथंचित्क्षणिकस्य विच्छिदऽभावात्। न च तदविच्छिदसिद्धा, कालभेदात्, कालभेदस्य च पूर्वोत्तरपर्यायप्रवृत्तिहेतोरसिद्धौ बुद्ध्यसचरणदोपात्। न च तदिदमिति स्मरणदर्शनबुद्ध्योः सचरणापाये प्रत्यभिज्ञानमुदियात्, तस्य पूर्वापरपर्यायबुद्धिसचरणनिबन्धनत्वात्। ननु च सर्वं नित्यं सत्त्वात् क्षणिके स्वसदसत्समयेर्थक्रियानुपपत्तेः सत्त्वविरोधात्, इत्यनुमानात् क्षणिकत्वस्य निराकृतेर्न प्रत्यभिज्ञानं तत्साधकं, प्रधानलक्षणविषयाविच्छेदसद्भावात् कालभेदासिद्धेर्बुद्ध्यसचरणदोषानवकाशाद्बुद्धेरेकत्वगमनस्य सचरणस्य सिद्धेरिति चेत्, न, सर्वथा क्षणिकत्वस्यैव बाधनात्, कथंचित्क्षणिकस्य स्वसत्समये स्वासत्समये चार्थक्रियोपलब्धेः।

सुवर्णस्य हि प्रतिविशिष्टस्य सुवर्णद्रव्यतया सत एव, कार्याकारतया चासत एव पूर्वपर्यायाविशिष्टस्योत्तरपरिणामविशेषात्मनोत्पद्यमानस्य प्रतीतिः परीक्षकेतरजनसाक्षिका, स्वसत्समये कार्यकरणं सव्यगोविषाणस्येतरविषाणकरणवन्निरस्यमानं, स्वासत्समये च मृतस्य शिखिनः केकायितकरणवदपाक्रियमाणं स्वयमेव व्यवस्थापयति । इति किं नश्चिन्तया विरोधादिदूषणस्यापि तयैवापसारितत्वात् । सोयमात्मादीना स्वसत्समये एव कर्मादीना च स्वसत्समये एव ज्ञानसयोगादिकारणत्वमनुमन्यमानस्तथा सप्रत्ययादेकस्य स्वसदसत्समये एवैककार्यकरणं विरोधादिभिरभिद्रवतीति कथं सप्रत्ययोपाध्यायः ? सम्यक्प्रतीयमानेपि विरोधमनुरुध्यमानः क पुनरविरोधमुध्येत ? द्रव्यपर्याययोरभेदैकान्तप्रतीतिं स्वसमयानुरागमात्रेणाननुभूयमानामप्यविरुद्धविषयां परिभाषते इति किमन्यत्कारणं महतोभिनिवेशात् ? तदेवं कथंचित् क्षणिकत्वसाधने प्रत्यभिज्ञान नानुमानविरुद्धम् । नापि प्रत्यक्षविरुद्धं, सर्वस्येदानीन्तनतया प्रत्यक्षेणानुभवात्, तेन तस्यातीतानागततयानुभवनेऽनाद्यनन्तपरिणामात्मकस्यानुभवप्रसङ्गाद्योगित्वापत्तेः, साम्प्रतिकतयानुभवस्यैव क्षणिकत्वानुभवरूपत्वात्, क्षणमात्रस्यैव साम्प्रतिकत्वोपपत्तेः, पूर्वोत्तरक्षणयोः साम्प्रतिकत्वेऽनाद्यनन्तक्षणसंततेरपि साम्प्रतिकत्वानुपङ्गादतीतानागतव्यवहारविलोपात् । न चैवं क्षणिकैकान्तस्य प्रत्यक्षतः प्रसिद्धेः कथंचिदक्षणिकत्वविरोधः, पर्यायाकारतयार्थस्येदानीन्तनतयानुभवविच्छेदेपि द्रव्यतया तदविच्छेदात्, तद्विच्छेदे द्रव्यत्वविरोधात् । शश्वदविच्छिन्नेदानीन्तनत्वस्य द्रव्यत्वादनित्यत्वैकान्तस्याव्यवस्थितेर्नित्यत्वैकान्तवत् तदेकान्तद्वयेपि परामर्शप्रत्ययानुपपत्तेरनेकान्तः स्यान्नित्यमेव सर्वं स्यादनित्यमेवेति सिद्धः । स्थित्यभावे हि प्रमातुरन्येन दृष्टं नापरः प्रत्यभिज्ञातुमर्हति । पूर्वोत्तरप्रमातृक्षणयोः कार्यकारणभावलक्षणे सबन्धविशेषेपि पित्रेव दृष्टं पुत्रो न प्रत्यभिज्ञातुमर्हति । तयोरुपादानोपादेयलक्षणः सन्नप्यतिशयः पृथक्त्वं न निराकरोति । पृथक्त्वे च पूर्वापरक्षणयोः प्रत्यवमर्शो न स्यात् ।

यदेव हि पृथक्त्वं तदेवान्यत्रापि प्रत्यवमर्शाभावनिबन्धनं, सर्वत्र तदविशेषात् । यदि पुनरेकसततिपतितेषु प्रत्यवमर्शो न पुनर्नानासततिपतितेषु पृथक्त्वाविशेषेपि वासनाविशेषसद्भावादिति मत, तदा सैवैकसततिः कचिदेव कुतः सिद्धा ? प्रत्यभिज्ञानादिति चेत्, तर्हि एकसंतत्या प्रत्यभिज्ञान प्रत्यभिज्ञानबलाच्चैकसततिरिति व्यक्तमितरेतराश्रयणमेतत् । न च पक्षान्तरे समान, स्थितेरनुभवनात् । न ह्येकद्रव्यसिद्धे प्रत्यभिज्ञानं प्रत्यभिज्ञानाच्चैकद्रव्यसिद्धिः स्याद्वादिभिरिष्यते, येन तत्पक्षेपि परस्पराश्रयणं, भेदज्ञानाद् भेदसिद्धिवदभेदज्ञानात् स्थितेरनुभवाभ्युपगमात् । तद्विभ्रमकल्पनायामुत्पादविनाशयोरनाश्वासः, तथानुभवनिर्णयानुपलब्धेर्यथा स्वलक्षणं परिगीयते । सोयं प्रतिक्षणमुत्पादविनाशौ सर्वथा स्थितिरहितौ सकृदप्यनिश्चिन्वन्नेव स्थित्यनुभवनिर्णयं विभ्रान्तं कल्पयतीति कथं न निरात्मक एव ? तत्रैतत्स्यात् स्वभावाविनिर्भागेपि न संकलनं दर्शनक्षणान्तरवत् । न ह्येकस्मिन्दर्शनविषये क्षणेऽविनिर्भागेपि प्रत्यभिज्ञानमस्तीति । सत्यमेकान्ते एवायं दोषः, सर्वथा नित्ये पौर्वापर्यायोगात् प्रत्यभिज्ञानासंभवात् । ततः क्षणिकं कालभेदात् । न चायमसिद्धः, दर्शनप्रत्यभिज्ञानसमययोरभेदे तदुभयाभावप्रसङ्गात्, दर्शनसमयस्याभेदे तन्निर्णयानुपपत्तेः, प्रत्यभिज्ञानसमयस्याभेदे पूर्वापरपर्यायव्याप्येकद्रव्यप्रत्यवमर्शासंभवात् । ततो दर्शनकालोऽवग्रहेहावायधारणात्मकनिर्णयहेतुर्भिन्न एव, प्रत्यभिज्ञानकालश्च पुनस्तद्दर्शनस्मरणसकलनहेतुरिति प्रतिपत्तव्यम् । किं च पक्षद्वयेपि ज्ञानासंचारानुषङ्गादनेकान्तसिद्धिः । न हि नित्यत्वैकान्तपक्षवत्क्षणिकैकान्तपक्षेपि ज्ञानसंचारोस्ति, तस्यानेकान्ते एव प्रतीतेः । केवलमपोद्धारकल्पनया कथंचिज्जात्यन्तरेपि वस्तुनि प्रत्यभिज्ञानादिनिबन्धने स्थित्यादयो व्यवस्थाप्येरन्, सर्वथा जात्यन्तरे तदपोद्धारकल्पनानुपपत्तेः स्थित्यादिस्वभावभेदव्यवस्थानाघटनात्, सर्वथा तदजात्यन्तरवत् । न च स्वभावभेदोपलम्भेपि नानात्वविरोधसङ्करानवस्थानुषङ्गश्चेतसि ग्राहकाकारवत् । न ह्येकस्य वस्तुनः सकृदनेकस्वभावोपलम्भे नानात्वप्रसङ्गः,

सविद्वेद्यवेदकाकाराणा नानाज्ञानत्वप्रसङ्गात् । तेषामशक्यविवेचनत्वादेकज्ञानत्वे स्थितिजन्मविनाशानामपि क्वचिदेकवस्तुत्वमस्तु, तदविशेषात् । क्वचिदेकत्र रूपरसादीनामप्यशक्यविवेचनानामेकवस्तुत्वापत्तिर्नानिष्टकारिणी, तेषां नानावस्तुत्वानिष्टेः । न चात्माकाशादीनां देशाभेदेऽप्यशक्यविवेचनत्वं, तेषा परैकद्रव्यतादात्म्याभावात् । सत्त्वैकद्रव्यतादात्म्ये पुनरेकवस्तुत्वमिष्टमेव स्याद्वादिनाम् "एकं द्रव्यमनन्तपर्यायम्" इति वचनात् । ततो न वैयधिकरण्यम । एतेनोभयदोषप्रसङ्गोपास्तो, वेद्याद्याकारात्मबोधवदुत्पादाद्यात्मवस्तुनो जात्यन्तरत्वात्, अचौरपारदारिकवच्चौरपारदारिकाभ्याम् । न चैवं विरोधप्रसङ्गः, तस्यानुपलम्भसाधनादेकत्रैकदा शीतोष्णस्पर्शवत्, स्थित्यादिषु चोपलम्भसद्भावादेकवस्तुन्येकदानुपलम्भासिद्धे सविदि वेद्याद्याकारवत् । एतेन सशयप्रसङ्ग प्रत्युक्तः, स्थित्याद्युपलम्भस्य चलनाभावात् । तत एव न सकरप्रसङ्गः, स्थित्यात्मन्युत्पादविनाशानुपलम्भादुत्पादविनाशयोश्च स्थित्यनुपलब्धेः । एकवस्तुनि युगपत्स्थित्याद्युपलम्भात्सङ्कर इति चेत्, न, परस्परमसङ्करादुत्पादादीनाम् । तद्वति तु सङ्करो वस्तुलक्षणमेव । एतेन व्यतिकरप्रसङ्गो व्युदस्तः, स्थित्यादीना परस्परगमनाभावात् सविदि वेद्याद्याकारवत् । तत एव नानवस्था, स्थित्यात्मनि जन्मविनाशानिष्टेर्जन्मात्मनि स्थितिविनाशानुपगमाद्विनाशे स्थितिजन्मानवकाशात् प्रत्येकं तेषा त्रयात्मकत्वानुपगमात् । न चैवमेकान्ताभ्युपगमादनेकान्ताभावः, सम्यगेकान्तस्यानेकान्तेन विरोधाभावात्, नयार्पणादेकान्तस्य प्रमाणार्पणादनेकान्तस्यैवोपदेशात् तथैव दृष्टेष्टाभ्यामविरुद्धस्य तस्य व्यवस्थितेः ॥ ५६ ॥

नित्यमित्यादि, ते तव मते, तज्जीवाजीवाद्यधिकृतं वस्तु, नित्यं स्यान्नित्यमेव, कस्मात् प्रत्यभिज्ञानात् तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्, न च ध्वंसाप्रतियोगित्वे साध्ये घटादौ व्यभिचारोऽक्षणिकत्वे साध्ये चोद्देश्यासिद्धिरिति वाच्यम् । तदेतत्कालवृत्तिधर्माप्रतियोगित्वस्य साध्यत्वे दोषाभावात्, स्यान्नित्यत्वस्य तद्धर्मावच्छिन्नस्यात्रैव पर्यवसानादिति बोध्यम्

तत्प्रत्यभिज्ञानम्, अकस्मान्निर्विषयं, न। कुतः तदविच्छिदा विच्छेदनं विच्छित्, न विच्छिदविच्छित् तया, अभेदरूपाविच्छेदानुभवादित्यर्थः। विपर्यये इत्याध्याहार्यम्। विपर्यये स्यान्नित्यत्वाऽभावे, बुद्ध्यसञ्चरदोषतोऽनुभवपरिणतस्यात्मनः स्मृतिपरिणामरूपैकत्वगमनानापत्तेः, क्षणिकस्य क्रमिकोभयपरिणामानाधारत्वादिति भावः। एवं तत्तेदंतापरिणतबुद्धिविषयैक्यानुपपत्तेर्विपर्यये विषयतोऽपि बुद्ध्यसञ्चरदोषापत्तिर्व्याख्येया। तथा ते तव मते, जीवाजीवादिवस्तु कथञ्चित् क्षणिकं प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्, न च प्रत्यभिज्ञानमाकस्मिकं, तत्तेदंतापरिणामद्वयोपरागेणाविच्छेदानुभवात्, सर्वथैक्यस्य विषयत्वे स स इत्यापत्तेः, स्थूलकालभिन्नाभेदभाने च क्षणभिन्नधर्माभेदभानस्याप्यर्थतः सिद्धत्वात्, भिन्नकालयोर्द्धर्मयोरेकत्र धर्मिणि तादात्म्येन भाने तयोर्मिथोऽपि स्वावच्छेदककालान्यकालवृत्तित्वसम्बन्धेनान्वयादिति भावः। न चात्राप्रयोजकत्वं, कथञ्चित्क्षणिकत्वाभावे दर्शनस्मरणबुद्ध्योः पूर्वोत्तरपर्यायाप्रवृत्त्याऽसञ्चरणदोषापत्तेः। क्षणिकधर्माभिन्नत्वाच्च धर्मिणोऽपि क्षणिकत्वं कथञ्चिदविरुद्धमेव। वस्तुतः क्षणसम्बन्धस्य क्षणे वस्तुनि च लाघवादेकस्यैव कल्पनात् सिद्धमनायासेन सर्वत्र क्षणिकत्वमिति पत्रावलम्बने प्रदर्शयिष्यामः। 'प्रमाणान्तरं नानुमानादप्रत्यक्षमिष्यते क्षणिकवादिभिरिति' अनुमानभिन्नं प्रमाणन्त्वप्रत्यक्षं क्षणिकवादिभिर्नेष्यते इत्यर्थः, यद्यपि प्रमाणान्तरमित्यत एव प्रकृतबुद्धिविषयतावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वसम्बन्धेन प्रमाणप्रतियोगिकभेदवत्प्रमाणमित्युक्तार्थो लभ्यत एव न तदर्थं विशिष्य प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नवाचकपदमपेक्ष्यते, नीलो घटोऽस्ति न घटान्तरमित्यादौ तथा दर्शनात्, तथाऽप्यनुमानादिति स्पष्टार्थमिति मन्तव्यम्। नापि युगपदनेकस्वभावत्वमिति नित्ये क्षणिके चेति गम्यम्। यतो

यौगपद्यमित्यनन्तरं स्यादिति शेषः । ' कौटस्थ्यविरोधादिति, ' यद्यपि क्रमभाविपूर्वापरस्वभावत्यागोपादाननियतः कौटस्थ्यविरोधो न युगपदनेकस्वभावत्वे, तथापि युगपदेकस्यानेकस्वभावव्यापित्वाविरोधवत् क्रमेणापि तस्य तत्प्राप्तौ कौटस्थ्यं विरुध्यत एवेति द्रष्टव्यम् । इयमेव दिग् निरन्वयक्षणिकत्वव्याघातेऽपि । तदुभयसंस्कारजनितमिति । न च संस्कारजन्यत्वे प्रत्यभिज्ञानस्य ततस्तत्तोल्लेख एव स्यान्नेदंतोल्लेख इति शङ्कनीयम् । उल्लेखविशेषे विषयताविशेषस्यैव प्रयोजकत्वाद्वह्निपर्वतयोरनुमिनोमि नानुमिनोमीतिवदिति द्रष्टव्यम् । कथं सम्प्रत्ययोपाध्यायः कथं विश्वासगुरुर्न कथञ्चित्, प्रत्येकाविरोधवत् समुदायाविरोधस्यानुभवसाक्षित्वादिति भावः । इदानींतनतयेति, न च क्षणस्यायोग्यतया प्रत्यक्षे भानायोगः, " सम्बद्धं वर्त्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिनेति " वचनादिति वाच्यम् । योग्योपसर्जनतयाऽयोग्यस्यापि वर्त्तमानक्षणस्य क्षयोपशमोपनीतस्य प्रत्यक्षे भानाविरोधात्, संसर्गतया वास्तु स(त)द्भानाविरोध इति दिग् । योगित्वापत्तिः तत्प्रत्यक्षस्य योगिप्रत्यक्षत्वाप(त्तेः)त्तिः, ततः क्षणिकं कालभेदादिति नानाक्षणसम्बन्धभेदादित्यर्थः । अपोद्धारकल्पनयेति अपोद्धारकल्पना तन्निमित्तभेदविवेचनं, कथञ्चिज्जात्यन्तरे सखण्डधर्मतादात्म्यसहिष्णावखण्डपदार्थे, सर्वथा जात्यन्तरे सर्वथा नित्ये सर्वथाऽनित्ये च परस्परानिरपेक्षे । अशक्यविवेचनत्वस्यैकत्वनिबन्धनत्वेऽतिप्रसङ्गमाशङ्कते–न चेत्यादिना, अशक्यविवेचनत्वं तत्रासिद्धम्, आश्रयभेदेन विवेचनशक्तेरित्युत्तरयति–तेषामित्यादिना तत्रैकद्रव्यमित्यन्तेन, सदाद्यात्मनाऽऽकाशादीनां तादात्म्याश्रयणे तु सङ्ग्रहनयार्पणया देशाभेदेनैकद्रव्यत्वमिष्टमेवेत्याह–तादात्म्ये पुनरित्यादिना, इदं तु ध्येयम्, सत्त्वादिनात्माकाशादीनामेकत्वं यद्यप्येकजातीयत्वव्यवहारनिबन्धनं, न त्वेकद्रव्यत्वव्यवहारनिबन्धनं, घटादिपर्याये मृदादौ

सत्त्वादिनैकद्रव्यत्वानिष्टेः, तथाऽपि सत्त्वादिपर्याये द्रव्यत्वेनैवोर्ध्वतासामान्यत्वात्सदात्मनैकद्रव्यत्वं सर्वत्राविरुद्धं, तथा व्यवहारश्च सत्त्वादिपर्यायस्याश्रयतावच्छेदकावच्छेदेनैव, तेन सर्वमेकं द्रव्यं सदविशेषादितिवत् घट एकद्रव्यमित्यादिर्न प्रयोग इति सूक्ष्ममीक्षितव्यम् । उभयदोषप्रसङ्ग एकत्वानेकत्वपक्षयोः सौगताद्वैतवाद्यापादितदोषापत्तिः । 'अचौरेति' चौरात्पारदारिकाच्च यथाऽचौरापारदारिको जात्यन्तरं, तथा केवलादुत्पादादेस्त्रयात्मकं वस्त्वित्यति भावः । अनुपलम्भसाधन(ना)त्वादिति, एकग्रहप्रतिबन्धकग्रहविषयत्वस्यैवान्यत्र विरोधपदार्थत्वोक्तेरिति भावः । चलनाभावादिति चलितप्रतिपत्तेरेव संशयलक्षणत्वात्, चलितत्वं चैकधर्मिकविरुद्धनानाकोटिकज्ञानत्वमिति विरोधाभावे ज्ञाने तदसिद्धेरिति भावः ॥ ५६ ॥

केन पुनरात्मनाऽनुत्पादविनाशात्मकत्वात्स्थितिमात्रं ? केन चात्मना विनाशोत्पादावेव ? कथं च तत् त्रयात्मकमेव वस्तु सिद्धम् ? इति भगवता पर्यनुयुक्ता इवाचार्याः प्राहुः.—

न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात् । व्येत्युदेति विशेषात्ते सहैकत्रोदयादि सत् ॥ ५७ ॥

पूर्वोत्तरपरिणामयोः साधारणः स्वभावसामान्यात्मा द्रव्यात्मा । तेन सर्वं वस्तु नोत्पद्यते न विनश्यति च व्यक्तमन्वयदर्शनात् । लूनपुनर्जातनखादिष्वन्वयदर्शनेन व्यभिचार इति चेत्, न, व्यक्तमिति विशेषणात्, प्रमाणेन बाध्यमानस्यैकत्वान्वयस्याव्यक्तत्वात् । न चात्रान्वयः प्रमाणविरुद्धः, सत्यप्रत्यभिज्ञानसिद्धत्वात् । ततोन्वितात्मना स्थितिरेव । तथा विनश्यत्युत्पद्यते च सर्वं वस्तु विशेषानुभवात् । भ्रान्तविशेषदर्शनेन शुक्ले शङ्खे पीताद्याकारज्ञानलक्षणेन व्यभिचार इति चेत्, न, व्यक्तमिति विशेषणस्यानुवृत्तेः । न हि भ्रान्तं विशेषदर्शनं व्यक्तं, येन तदपि पूर्वाकारविनाशाजहद्वृत्तोत्तराकाराविनाभावि स्यात् । न च प्रकृते विशेषदर्शनमव्यक्तं, बाधकाभावात् । नित्यै-

कान्तग्राहि प्रमाणं बाधकमिति चेत्, न, तस्य निरस्तत्वात्। न चैव भिन्नप्रत्ययविषयत्वादुत्पादविनाशमात्रं स्थितिमात्रं च पदार्थान्तरतयावतिष्ठते, तस्य वस्त्वेकदेशत्वान्नयप्रत्ययविषयत्वात्, स्थित्यादित्रयस्य समुदितस्य वस्तुत्वव्यवस्थितेः, तस्य प्रमाणप्रत्ययगोचरत्वात्, महेकत्रोदयादि सदिति प्रतिपादनात्, तथैव "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" इति सूत्रकारवचनात्। न चेदं युक्तिरहित, तथा युक्तिसद्भावात्, चलाचलात्मकं वस्तु कृतकाकृतकात्मकत्वादिति। न चात्र हेतुरसिद्धः, पूर्वरूपत्यागाविनाभाविपररूपोत्पादस्यापेक्षितपरव्यापारत्वेन कृतकत्वसिद्धेः, सदा स्थास्नुस्वभावस्यानपेक्षितपरव्यापारत्वेनाकृतकत्वनिश्चयात्। न हि चेतनस्यान्यस्य वा सर्वथोत्पत्तिः, सदादिसामान्यस्वभावेन सत एवातिशयान्तरोपलम्भाद् घटवत् कथंचिदुत्पादविगमात्मकत्वादित्यादि योज्यम्। नापि विनाश एव, तत एव तद्वत्। न च स्थितिरेव, विशेषाकारेणोत्पादविनाशवत एव सदादिसामान्येन स्थित्युपलम्भाद् द्रव्यघटवत्। इति हि पृथगुपपत्तिर्योज्यते। सदादिसामान्येन सतस्तन्त्वादेर्घटाकारातिशयान्तरोपलम्भप्रसङ्ग इति चेत्, न, स्वभावग्रहणात्। सदादिसामान्यं हि यत्स्वभावभूतं घटस्योपादानद्रव्यमसाधारण तद्भावेन परिणमदुपलभ्यते। तेनैव सतोतिशयान्तराधान घटो यथा प्रतिविशिष्टघटयोग्यमृद्द्रव्यादिस्वरूपेण, न पुनः साधारणेन तन्त्वादिगतसामान्येन, नापि साधारणासाधारणेन पार्थिवत्वादिसामान्येनाविशिष्टघटोपादानमृदादिसामान्येन वा प्राक्सतोतिशयान्तरोपलब्धिर्येन तन्त्वादेरपि घटपरिणतिप्रसङ्गः। नापि घटविनाशोत्तरकालमप्यसाधारणमृदादिसामान्यस्वभावेन सत्त्वाविशेषाद्घटोत्पत्तिः प्रसज्यते, तत्प्रागभावात्मकस्य सतस्तद्भावेनोत्पत्तिदर्शनात्, पश्चादभावात्मकस्य सतोपि तददर्शनात्। न चैव प्रागसत एवोत्पत्तिनियमाद् घटस्य कथंचित्प्रागसत्त्वमयुक्तं, प्रागभावस्य भावस्वभावस्य पूर्वं व्यवस्थापनात्। तस्याभावस्वभावत्वे सव्येतरगोविषाणादीना सहोत्पत्तिनियमवतामुपादानसङ्करप्रसङ्गः, प्रागभावाविशेषात्। ततो यथा स्वोपादानात्सव्यविषाण-

स्योत्पत्तिस्तथा दक्षिणविषाणोपादानादपि तत्र तस्योत्पत्तेः प्रागभावसिद्धेः, यत्र यदा यस्य प्रागभावस्तत्र तदा तस्योत्पत्तिरिति नियमकल्पनाया अपि तत्र भावात्। स्वोपादानेतरनियमश्च कुतः स्यात्? प्रागभावनियमादिति चेत्, समानसमयजन्मना स एव कुतः? तदुत्पत्तिनियमादिति चेत्, सोपि कुतः? स्वोपादाननियमादिति चेत्, स्वोपादानेतरनियमः कुतः स्यात्? इत्यादि पुनरावर्तते इति चक्रकम्। सव्यविषाणस्योत्पत्तिरिति प्रत्ययविशेषादुत्पत्तिनियमोपि न श्रेयान्, कारकपक्षस्य विचारयितुमारब्धत्वात्। ज्ञापकपक्षे तु प्रागभावनियमोपि तत्प्रत्ययविशेषादेवेति नोत्पत्त्या प्रागभावावगतिः, प्रागभावादप्युत्पत्तिनियमनिश्चयप्रसक्तेरितरेतराश्रयस्य दुर्निवारत्वात्। ततो नोत्पत्तेः प्रागभावः कार्यस्याभावात्मकः, तस्य भावस्वभावस्यैवाबाधितप्रतीतिविषयत्वात् प्रागभावाभावस्य कार्योत्पादरूपत्वात् ॥ ५७ ॥ तथा हि।

भाष्ये चलाचलात्मकमिति उत्पादव्ययात्मना चलात्मकं ध्रौव्यात्मना चाचलात्मकमित्यर्थः। घटयोग्यमृद्द्रव्यादिस्वरूपेणेति, तच्च स्वरूपं घटोपादानकारणतावच्छेदको घटसामग्रीनाश्यतावच्छेदकश्च धर्मविशेषः, तदुभयैक्यकल्पनायां लाघवात्, एतेन कपालत्वादिना घटाद्युपादानकारणत्वं नैयायिकाद्यभिमतमपास्तम्। कपालादिनाशे घटादिसामग्र्या अहेतुत्वात्, एकस्मादेव मृत्पिण्डाच्चक्रादिव्यापारेण घटोत्पत्तिदर्शनात्, संघातभेदाभ्यां घटादेव घटान्तरोत्पत्तेश्च, कपालत्वघटत्वादिना हेतुत्वे मानाभावाच्च। न पुनः 'साधारणेनेति' व्याप्यधर्मावच्छिन्नेन व्यापकधर्मावच्छिन्नस्यान्यथासिद्धिनिरूपणादित्यर्थः। प्रागभावसिद्धेरिति तत्तद्व्यक्त्युपादानरूपप्रागभावसिद्धेरित्यर्थः। तत्र भावादिति कार्यभेदप्रयोजकभेदप्रतियोग्युपादानात्मकप्रागभावविश्रान्तत्वादिति भावः। प्रतियोगिभेदेनाभावभेदे त्वङ्गीक्रियमाणे एकप्रतियोगिकाभावचतुष्टयस्यैक्यापत्तिस्तत्तत्कालसंसर्गावच्छिन्नप्रतियोगित्वादिनाऽभावाभ्युपगमे तु तत्तदाधेयत्वादिना घटसत्त्वादेरपि भेदापत्तिरित्याद्युक्तं कार्यद्रव्य-

मनादि स्यादित्यादिकारिकाव्याख्याने प्रथमपरिच्छेद एव ॥ ५७ ॥

कार्योत्पादः क्षयो हेतोर्नियमाल्लक्षणात्पृथक् । न तौ जात्याद्यवस्थानादनपेक्षाः खपुष्पवत् ॥ ५८ ॥

उपादानस्य पूर्वाकारेण क्षयः कार्योत्पाद एव हेतोर्नियमात् । यस्तु ततोऽन्यस्तस्य न हेतोर्नियमो दृष्टो यथाऽनुपादानक्षयस्यानुपादेयोत्पादस्य च । नियमश्च हेतोरुपादानक्षयस्योपादेयोत्पादस्य च । तस्मादुपादानक्षय एवोपादेयोत्पादः । न तावदत्रासिद्धो हेतुः, कार्यकारणजन्मविनाशयोरेकहेतुकत्वनियमस्य सुप्रतीतत्वात्, तयोरन्यतरस्यैव सहेतुकत्वाहेतुकत्वनियमवचनस्य निरस्तत्वात् । ननूपादानघटविनाशस्य बलवत्पुरुषप्रेरितमुद्गराद्यभिघातादवयवक्रियोत्पत्तेरवयवविभागात्संयोगविनाशादेव प्रतीतेरुपादेयकपालोत्पादस्य तु स्वारम्भकावयवकर्मसंयोगविशेषादेरेव सम्प्रत्ययात् तयोरेकस्माद्धेतोर्नियमासम्भवादसिद्धमेव साधनमिति चेत्, न, अस्य विनाशोत्पादकारणप्रक्रियोद्घोषणस्याप्रातीतिकत्वाद्बलवत्पुरुषप्रेरितमुद्गरादिव्यापारादेव घटविनाशकपालोत्पादयोरवलोकनात् । ततो घटावयवेषु कपालेषु क्रियैवोत्पद्यते इति चेत्सैवैको हेतुस्तयोरस्तु । क्रियातोऽवयवविभागस्यैवोत्पत्तिरिति चेत्स एवैकं कारणमनयोरस्तु । विभागात्तदवयवसंयोगविनाश एव दृश्यते इति चेत् स एव तयोरेकं निमित्तमस्तु । तदवयवसंयोगविनाशादवयविनो घटस्य विनाश इति चेत्स एव कपालानां तदवयविनां प्रादुर्भावः । इति कथं नैकहेतुनियमः सिध्येत् ? महास्कन्धावयवसंयोगविनाशादपि लघुस्कन्धोत्पत्तिदर्शनात् "भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्ते" इति वचनात् । मिथ्यैवेदं दर्शनं सूत्रकारवचनं च बाधकसद्भावादिति चेत्, किं तद्बाधकम् ? स्वपरिमाणादणुपरिमाणकारणारब्धानि कपालानि कार्यत्वात्पटवदित्यनुमानं बाधकमिति चेत्, न, एतदुदाहरणस्य साध्यविकलत्वात् । तन्तवो हि किमपटाकारपरिणताः पटस्य समवायिनः, पटाकारपरिणता वा ? न तावदाद्यः पक्षः, पटाकारापरिणतेषु तन्तुष्विह पट इति प्रत्ययासम्भवात् ।

द्वितीयपक्षे तु न पटपरिमाणादणुपरिमाणास्तन्तवः पटस्य कारणं, तेषां पटसमानपरिमाणतया प्रतीतेः, समुदितानामेवातानवितानाकाराणां पटपरिणामाश्रयत्वादन्यथातिप्रसङ्गात्। न हि तथाऽपरिणतं तद्भवति " तद्भावः परिणामः " इति वचनात्। न चैवं परिणामपरिणामिनोरभेदः स्यात्, प्रत्ययभेदात्कथंचिद्भेदसिद्धेः, परस्यापि तद्भेदे विवादाभावात्, तन्तुद्रव्यपटपर्याययोरन्वयव्यतिरेकप्रत्ययविषयत्वाच्च। तन्तुद्रव्यं हि प्राच्यापटाकारपरित्यागेन तन्तुत्वापरित्यागेन चापूर्वपटाकारतया परिणमदुपलभ्यते पटाकारस्तु पूर्वाकाराद्व्यतिरिक्त इति सिद्धं, सर्वथा त्यक्तरूपस्यापूर्वरूपवर्त्तिन एवोपादानत्वायोगादपरित्यक्तात्मपूर्वरूपवर्तिवत् तथाऽप्रतीतेर्द्रव्यभावप्रत्यासत्तिनिबन्धनत्वादुपादानोपादेयभावस्य। भावप्रत्यासत्तिमात्रात्तद्भावे समानाकाराणामखिलार्थानां तत्प्रसङ्गात्, कालप्रत्यासत्तेस्तद्भावे पूर्वोत्तरसमनन्तरक्षणवर्तिनामशेषार्थानां तत्प्रसक्तेः, देशप्रत्यासत्तेस्तद्भावे समानदेशानामशेषतस्तद्भावापत्तेः सद्द्रव्यत्वादिसाधारणद्रव्यप्रत्यासत्तेरपि तद्भावानियमात्। असाधारणद्रव्यप्रत्यासत्तिः पूर्वाकारभावविशेषप्रत्यासत्तिरेव च निबन्धनमुपादानत्वस्य स्वोपादेयं परिणामं प्रति निश्चीयते। तदुक्तं " त्यक्तात्यक्तात्मरूपं यत्पूर्वापूर्वेण वर्तते। कालत्रयेपि तद्द्रव्यमुपादानमिति स्मृतम्। १। यत्स्वरूपं त्यजत्येव यन्न त्यजति सर्वथा। तन्नोपादानमर्थस्य क्षणिकं शाश्वतं यथा। २। इति। ततो न तन्तुविशेषाकारः पटस्योपादानं येनाल्पपरिमाणादेव कारणान्महापरिमाणस्य पटस्योत्पत्तेरुदाहरणं साध्यशून्यं न भवेत्। हेतुश्चानैकान्तिकः, प्रशिथिलावयवमहापरिमाणकार्पासपिण्डादल्पपरिमाणनिविडावयवकार्पासपिण्डोत्पत्तिदर्शनात्। विरुद्धश्चायं हेतुः, पुद्गलादिद्रव्यस्य महापरिमाणस्य यथासंभवं सूक्ष्मरूपेण स्थूलरूपेण वा पर्यायेण वर्तमानस्य स्वकार्यारम्भकत्वदर्शनात्। कार्यत्वस्य महापरिमाणकारणारब्धत्वेन व्याप्तिसिद्धेः स्वपरिमाणादल्पपरिमाणकारणारब्धत्वविपरीतसाधनात्। ततो नेदमनुमानं बाधकं, कपालोत्पादस्य घटविनाशस्य चैकहेतुत्वनियमप्रतीतेरेकस्मादेव मृदाद्यु-

पादानात्तद्भावस्य सिद्धेरेकस्मान्न मुद्गरादिसहकारिकलापात्तत्सप्रत्ययात् । इति मिथ्यत्येव हेतोर्नियमात्कार्योत्पाद एव पूर्वाकारविनाशः । न चैवं सर्वथोत्पादविनाशयोरभेद एव, लक्षणात्पृथक्त्वसिद्धेः । तथा हि कार्यकारणयोरुत्पादविनाशौ कथंचिद्भिन्नौ भिन्नलक्षणसंबन्धित्वात्सुखदुःखवत् । नात्रासिद्धं साधन, कार्योत्पादस्य स्वरूपलाभलक्षणत्वात्कारणविनाशस्य च स्वभावप्रच्युतिलक्षणत्वात्तयोर्भिन्नलक्षणसबन्धित्वसिद्धेः । नाप्यनैकान्तिकं विरुद्ध वा, क्वचिदेकद्रव्येपि परिमाणयोः कथंचिद्भेदमन्तरेण भिन्नलक्षणसबन्धित्वस्यासभवात् । न च तयोर्भेद एव, कथंचिदभेदग्राहकप्रमाणसद्भावात् । तथा हि । उत्पादविनाशौ प्रकृतौ स्यादभिन्नौ, तदभेदस्थितजातिसख्याद्यात्मकत्वात्पुरुषवत् । नात्रासिद्धो हेतु', मृदादिद्रव्यव्यतिरेकेण नाशोत्पादयोरभावात् । पर्यायापेक्षया नाशोत्पादौ भिन्नलक्षणसबन्धिनौ न तौ, जात्याद्यवस्थानात्, सद्द्रव्यपृथिवीत्वादिजात्यात्मनैकत्वसख्यात्मना शक्तिविशेषान्वयात्मना च तदभेदात् तथैव प्रत्यभिज्ञानात्, तदेव मृद्द्रव्यमसाधारणं घटाकारतया नष्ट कपालाकारतयोत्पन्नमिति प्रतीते' सकलबाधकरहितत्वात्, य एवाहं सुख्यास स एव च दुःखी सम्प्रतीत्येकपुरुषप्रतीतिवत् । नन्वेवमुत्पादव्ययध्रौव्याणामभेदात् कथं त्रयात्मकवस्तुसिद्धिः ? तत्सिद्धौ वा कथं तत्तादात्म्यम् ? विरोधादिति चेत्, न, सर्वथा तत्तादात्म्यासिद्धे' कथंचिल्लक्षणभेदात् । तथा हि । उत्पादविगमध्रौव्यलक्षणं स्याद्भिन्नमस्खलन्नानाप्रतीतेः रूपादिवत् । सर्वस्य वस्तुनो नित्यत्वसिद्धेरुत्पादविनाशप्रतीतेरस्खलत्वविशेषणमसिद्धमिति चेत्, न, कथंचित्क्षणिकत्वसाधनात् । तत एव ध्रौव्यप्रतीतेरस्खलत्वं सिद्धं, सर्वथा क्षणिकत्वनिराकरणात् । न चोत्पादादीना कथंचिद्भिन्नलक्षणत्वं विरुद्ध, तदात्मनो वस्तुनो जात्यन्तरत्वेन कथंचिद्भिन्नलक्षणत्वादन्यथा तदवस्तुत्वप्रसङ्गात् । उत्पादादयो हि परस्परमनपेक्षाः खपुष्पवन्न सन्त्येव । तथा हि । उत्पादः केवलो नास्ति स्थितिविगमरहितत्वाद्वियत्कुसुमवत् । तथा स्थितिविनाशौ प्रतिपत्तव्यौ । स्थितिः केवला नास्ति, विनाशोत्पादरहितत्वात्

तद्वत् । विनाशः केवलो नास्ति, स्थित्युत्पत्तिरहितत्वात् तद्वदेव । इति योजनात् सामर्थ्यादुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदिति प्रकाशितं भवति, तदन्यतमापाये सत्त्वानुपपत्तेः । प्रत्येकमुत्पादादीना सत्त्वे त्रयात्मकत्वप्रसङ्गादनवस्थेत्यपि दूरीकृतमनेन, तेपा परस्परमनपेक्षाणामेकशः सत्त्वनिराकरणात् ॥ ५८ ॥ किं च,—

यस्तु ततोऽन्य इति यस्तु तत उपादानक्षयादन्यक्षयस्तस्य नोपादेयोत्पादहेत्वन्वयव्यतिरेकप्रयुक्तान्वयव्यतिरेकप्रतियोगित्वमित्यर्थः । भेदसङ्घातेभ्य इति अत्रास्मदीयाः श्लोकाः "संयोगाच्च विभागाच्च द्रव्यमुत्पद्यते द्वयात् । वैजात्यं वापि वैशिष्ट्यं कार्ये तत्र प्रकल्प्यते ॥१॥ अणुद्व्यणुकसंयोगादणुकोत्पत्तिमिच्छताम् ॥ तद्विभागादणूत्पत्तौ प्रद्वेपः किंनिबन्धनः ॥२॥ केयूरकुण्डलीभावे तत्र स्वर्णवदिष्यताम् ॥ साधारणमुपादानं क्ष्मादि किं चिन्तयाऽत्र नः ॥ ३ ॥ तादात्म्यानियताधाराधेयभावनिबन्धनम् ॥ कारणं प्रत्युपादेयं विभिन्नं परिणामि वा ॥४॥ तावत् संघातभेदा वा हेतुस्तच्छालि वस्तु वा ॥ गच्छत्यविनिगम्यत्वमप्यत्रैतत् सहायताम् ॥ ५ ॥ जात्यन्तरात्मके वस्तुन्येवं किञ्चिन्न दुष्यति ॥ कार्याकार्यभेदाभेद–व्यवसायव्यवस्थितेः ॥ ६ ॥ संयोगवद्विभागेऽपि वैजात्यस्य व्यवस्थितौ ॥ एकस्य हेतुताऽन्यस्य नेति मोहविजृम्भितम् ॥ ७ ॥ संयोगे समवायश्चेद्धेतुताया नियामकः । मृद्द्रव्ये सविभागे स्तादंशांशो वा विभज्यताम् ॥ ८ ॥ स्वध्वंसत्वेन योगेनो–पादानं हेतुरस्तु वा ॥ तद्द्रव्यव्याप्तिरत्र स्या–न्नभोव्याप्तिर्वा दीर्घिकी ॥ ९ ॥ संयोगजन्यता जन्य–द्रव्ये हि भवतोच्यते ॥ मया तत्र विजातीय इति गौरवभीः कुतः ॥ १० ॥" तथाऽप्रतीतेरिति त्यक्तात्यक्तात्मरूपतयाऽप्रतीतेरित्यर्थः । असाधारणेत्यादि आतानवितानरूपभावप्रत्यासत्तिमत्तंतुद्रव्यप्रत्यासत्तिः पटोपादानत्वनिबन्धनमित्यर्थः ॥ ५८ ॥

घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् । शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ॥ ५९ ॥
पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोत्ति दधिव्रतः । अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम् ॥ ६० ॥

प्रतीतिभेदमित्थं समर्थयते सकललौकिकजनस्याचार्यः। स हि घटं भङ्क्त्वा मौलिनिर्वर्तने घटमौलिसुवर्णार्थी तत्रनाशोत्पादस्थितिषु विषादहर्षौदासीन्यस्थितिमयं जनः प्रतिपद्यते इति, घटार्थिनः शोकस्य घटनाशनिबन्धनत्वात्, मौल्यर्थिनः प्रमोदस्य मौल्युत्पादनिमित्तत्वात्, सुवर्णार्थिनो माध्यस्थ्यस्य सुवर्णस्थितिहेतुकत्वात्, तद्विषादादीनां निर्हेतुकत्वे तदनुपपत्तेः, पूर्वतद्वासनामात्रनिमित्तत्वेपि तन्नियमासंभवात्। तद्वासनायाः प्रबोधकप्रत्ययनियमान्नियतत्वाद्विषादादिनियम इति चेत्, तर्हि नाशोत्पादान्वया एव वासनाप्रबोधकप्रत्यया इति पारम्पर्यात्त एव शोकादिहेतवो बहिरङ्गाः। अन्तरङ्गास्तु मोहनीयप्रकृतिविशेषोदया इति, तेषां वासनेति नाममात्रं भिद्येत, नार्थः, स्याद्वादिभिर्भावमोहविशेषाणां वासनास्वभावतोपगमात्। ततः सिद्धं लौकिकानामुत्पादादित्रयात्मकं वस्तु,तत्प्रतीतेर्भेदसिद्धेः ॥५९॥ किंच—

लोकोत्तरदृष्टान्तेनापि तत्र प्रतीतिनानात्वं विनाशोत्पादस्थितिसाधनं प्रत्याययति, दधिपयोऽगोरसव्रतानां क्षीरदध्युभयवर्जनात् क्षीरात्मना नश्यद्दध्यात्मनोत्पद्यमानं गोरसस्वभावेन तिष्ठतीति, पय एव मयाद्य भोक्तव्यमिति व्रतमभ्युपगच्छतो दध्युत्पादेपि पयसः सत्त्वे दधिवर्जनानुपपत्तेः, दध्येव मयाद्य भोक्तव्यमिति व्रतं स्वीकुर्वतः पयस्यपि दध्नः सत्त्वे पयोवर्जनायोगात्, अगोरसं मयाद्य भोक्तव्यमिति व्रतमङ्गीकुर्वतोनुस्यूतप्रत्ययविषयगोरसे दधिपयसोरभावे तदुभयवर्जनाघटनात्। प्रतीयते च तत्तद्व्रतस्य तत्तद्वर्जनम्। ततस्तत्त्वं त्रयात्मकम्। न चैवमनन्तात्मकत्वं वस्तुनो विरुध्यते, प्रत्येकमुत्पादादीनामनन्तेभ्य उत्पद्यमानविनश्यत्तिष्ठद्भ्यः कालत्रयापेक्षेभ्योर्थेभ्यो भिद्यमानानां विवक्षितवस्तुनि तत्त्वतोनन्तभेदोपपत्तेः, पररूपव्यावृत्तीनामपि वस्तुस्वभावत्वसाधनात्, तदवस्तुस्व-

भावत्वे सकलार्थसाङ्कर्यप्रसङ्गात्। तथा तत्त्वस्य त्रयात्मकत्वसाधनेनानन्तात्मकत्वसाधने च नित्यानित्योभयात्मकत्वसाधनमपि प्रक्रान्तं न विरुध्यते, स्थित्यात्मकत्वव्यवस्थापनेन कथंचिन्नित्यत्वस्य विनाशोत्पादात्मकत्वप्रतिष्ठापनेन चानित्यत्वस्य साधनात्। ततः सूक्तं सर्वं वस्तु स्यान्नित्यमेव, स्यादनित्यमेवेति। एवं स्यादुभयमेव, स्यादवक्तव्यमेव, स्यान्नित्यावक्तव्यमेव, स्यादनित्यावक्तव्यमेव, स्यादुभयावक्तव्यमेवेत्यपि योजनीयम्। यथायोगमेतत्सप्तभङ्गीव्यवस्थापनप्रक्रियामपि योजयेन्नयप्रमाणापेक्षया सदाद्येकत्वादिसप्तभङ्गीप्रक्रियावत् ॥६०॥

नित्याद्येकान्तगर्तप्रपतनविवशान्प्राणिनोऽनर्थसार्था–दुद्धर्तुं नेतुमुच्चैःपदममलमलं मङ्गलानामलङ्घ्यम् ॥
स्याद्वादन्यायवर्त्म प्रथयदवितथार्थं वचः स्वामिनोऽदः, प्रेक्षावत्त्वात्प्रवृत्तं जयतु विघटिताशेषमिथ्याप्रवादम् ॥ १ ॥

इत्याप्तमीमांसालंकृतौ तृतीयः परिच्छेदः ।३।



उत्पादादीनां त्रयाणामेकधर्मिण्येककालवृत्तित्वं व्यवस्थापयितुं युक्तिमाह–'घटमौलीत्यादि' 'पयोव्रत' इत्यादिकारिकाद्वयेन, एकस्यैककालीनकार्यत्रयजनकत्वाद्व्रतत्रयव्यवस्थापकत्वाच्च त्रयात्मकत्वमित्येतदुभयसङ्क्षेपार्थः ॥ अत्रास्माभिः स्तम्भतीर्थनगरे गोपालसरस्वत्याद्येकान्तवादिपण्डितचक्रवालं प्रत्यवलम्बितं पत्रं यथा॥ "ऐन्द्री श्रीर्यत्पदाम्भोज–सेवाहेवाकिताफलम् ॥ महतां महनीयं तं, महावीरमुपास्महे ॥ १ ॥ इह हि बहवः प्राणिनः साहजिकाभिसंस्कारिकानेकसङ्कल्पविकल्पकल्लोलाकुलितचेतस उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकं सर्वं वस्त्वनुभवन्तोऽपि सम्यग्दर्शनजीवातुतथा-

विषयक्षयोपशमाभावात्तथात्वेन न प्रतिपद्यन्ते, प्रत्युत परिज्ञातप्रवचनोपनिषद्भावात्तथात्वेन प्रतिपद्यमानान् प्रति प्रत्यवतिष्ठन्ते, तान् प्रतीदमाचक्ष्महे । सर्वं खल्वादीपमाव्योमपदार्थजातं न सर्वथाऽनित्यं, नापि सर्वथा नित्यं, प्रदीपादेरपि सर्वथाऽनित्यत्वे पुद्गलपरमाणुत्वादिनाऽपि ध्वंसप्रसङ्गात् । अवयवावयविभावस्य समवायादिसम्बन्धानिबन्धनत्वे तत्रापि सम्बन्धान्तरान्वेषणेऽनवस्थानात्तादात्म्येनैव तदवस्थितौ परमाणुपर्यन्तमपि कथञ्चिदन्वयव्यभेदसिद्धेः, आकाशादेरपि सर्वथा नित्यत्वे संयोगादिस्वभावपरित्यागेन विभागादिस्वभावोपादानानुपपत्तेः, पूर्वरूपपरित्यागस्यैवानित्यत्वलक्षणत्वात्, संयोगविभागादिक्रमिकनानाकार्यजननैकस्वभावमेवाकाशादिकमिति न स्वभावभेद इति चेत्, अयमेकानेकस्वभावसंवलनवादः, अन्यथा येन स्वभावेन संयोगजनकमाकाशं तेनैव विभागजनकमित्यभ्युपगमे संयोगविभागयोरैकत्वप्रसङ्गः, किं च जनकत्वं शक्तिरेवेति कार्यभेदेन तद्भेदावश्यकत्वे स्वभावभेदो दुष्परिहरः, शक्तिशक्तिमतोरपि तादात्म्यातिरिक्तसम्बन्धाभावात्, तथा च वस्तुनः कथञ्चिन्नित्यानित्यत्वसिद्धौ येन रूपेण नित्यत्वं तेन रूपेण ध्रौव्यं, येन चानित्यत्वं तेनोत्पादव्ययानित्येवं त्रिलक्षणं जगदिति प्राचीनः परिष्कृतः पन्थाः । वस्तुतः क्षणसम्बन्धः क्षणे तादात्म्यरूपः क्षणविशिष्टपदार्थे च परैर्विशेषणताविशेषरूपः कल्पनीय इति गौरवं, मया च सर्वत्र तादात्म्यरूप एव कल्पनीय इति लाघवाच्छुद्धर्जुसूत्रनयादेशेन सर्वस्य क्षणपर्यायात्मकत्वसिद्धिः, अशुद्धर्जुसूत्रनयादेशेऽपि प्रतीतिव्यवहाराद्यनुरोधेन विशिष्टाविशिष्टयोर्भेदध्रौव्ये क्षणविशिष्टपदार्थरूपपर्यायभेदस्तावदावश्यकः, न च विशिष्टभेदेऽनन्तपदार्थकल्पनापत्तिगौरवं, परस्यापि विशिष्टनिरूपिताधिकरणतानन्त्यकल्पनेन तौल्यात्, न च द्रव्यत्वादेरेव गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्ताधारतात्वकल्पनात्परस्य नाधिककल्पनमिति वाच्यम् । तथापि पटत्वाभावविशिष्टसत्ताधार-

तात्वस्य घटत्वादिनानास्वरूपत्वकल्पने गौरवस्य पटत्वाभावस्वरूपत्वकल्पने चातिप्रसङ्गस्य दुरुद्धरत्वात्, न च विशिष्टाविशिष्टभेदे विशिष्टसत्तानिश्चयेऽपि सत्तासंशयः स्यादिति वाच्यम्, तत्रापि विशिष्टाभावस्यातिरिक्ततया सत्तानिश्चयत्वस्य विशिष्टसत्तासंशयव्यावृत्तत्वाभावात् विशिष्टसत्तानिश्चयत्वेन पृथक्प्रतिबन्धकत्वकल्पनध्रौव्ये मयाऽपि तथात्वस्य व्यावर्त्तकतयैव वा प्रतिबन्धकत्वस्य वाच्यत्वादिति दिग्। एवं शुद्धपर्यायात्मना प्रतिक्षणमुत्पादव्ययौ प्रत्यभिज्ञाद्यनुरोधेन च द्रव्यात्मना ध्रौव्यं ध्रुवमिति सिद्ध्यति सर्वत्र त्रैलक्षण्यम्, एतेन यदुच्यते परैर्विशिष्टभेदाभ्युपगमे तत्तेदन्ताविशिष्टयोरपि भेदे प्रत्यभिज्ञामात्राप्रामाण्ये स्थैर्योच्छेद इति, तदपास्तं द्रष्टव्यम्, प्रत्यभिज्ञाया भेदाभेदसंसर्गकत्वस्य स्थैर्यस्य चोत्पादव्ययसंवलितस्यैव प्रामाणिकत्वात्, एतेनैव च सोऽयं देवदत्त इति वाक्ये तत्कालविशिष्टैतत्कालविशिष्टयोरभेदस्य विरोधाद्विशेषणविशेष्यभावानुपपत्तेः शुद्धदेवदत्तव्यक्तौ लक्षणा स्वीकर्त्तव्येत्येतद्दृष्टान्तबलेन तत्त्वमसीत्यादिवाक्येऽपि परोक्षत्वविशिष्टचैतन्यस्य तत्पदार्थस्य प्रत्यक्षत्वविशिष्टचैतन्यरूपत्वंपदार्थेन सहाभेदविरोधादखण्डब्रह्मणि जहदजहल्लक्षणा स्वीकर्त्तव्येति तत्त्वंपदार्थशोधनं कुर्वद्भिर्वेदान्तिभिर्यदुच्यते, तदपास्तं द्रष्टव्यम्, सोऽयं देवदत्त इति वाक्ये लक्षणाभ्युपगमे बीजाभावात्तत्तेदंताविशिष्टयोर्भेदाभेदस्य सार्वजनीनत्वेन विरोधाभावात्, नहि प्रत्यक्षसिद्धेऽर्थे विरोधो नाम, न चापरार्थप्रत्यक्षात्मकं वाक्यं न प्रत्यक्षाभं, न च शुद्धब्रह्मणि शक्यसम्बन्धरूपा बोध्यसम्बन्धरूपा वा लक्षणाऽपि सङ्गच्छते, तात्त्विकेऽर्थेऽनिर्वचनीयसंसर्गस्य युक्त्यसहत्वात्, मायिकसंसर्गस्यापि मायिकत्वात्, तत्र युक्त्यसहत्वं भूषणं नतु दूषणमिति चेत्, तर्ह्यधिष्ठानपर्यन्तमपि मायिकत्वमेव युक्तं, "मायोपमं वै सकलं जगत्" इति श्रुत्यवलम्बनस्य सत्त्वादिति माध्यमिकमतमेव स्वीक्रियतां, मुच्यतां वेदान्ताश्रयेणार्द्धज-

रतीयन्याय इति किमतिविस्तरेण, तत्त्वमसीत्यादिवाक्यार्थस्तु केवलज्ञानादिपरिणतिविशिष्टपरमात्मरूपतत्पदार्थेन सह सम्य-ग्दर्शनादिपरिणतिविशिष्टान्तरात्मत्त्वंपदार्थस्य भेदाभेदतात्पर्येण समाधेयः स्वसमयाविरोधिभिः सम्यग्दृष्टिभिरिति किम-प्रकृतेन। किञ्च भावाभावयोः प्रतियोग्यनुयोगिभावस्य विशेषणविशेष्यभावस्य च स्वरूपसम्बन्धतयैव विश्राम इति " सर्वं सर्वात्मकं जगत् " आसत्तिपाटवाभ्यासप्रयोजनादिना च प्रतिनियतपर्यायग्रह इति नातिप्रसङ्गः, अत एवैकज्ञत्वसर्वज्ञत्वयोर्ना-न्तरीयकत्वं सिद्धान्तसिद्धम्, तथा चानुवृत्तिव्यावृत्तिद्वारा स्वपरपर्यायोत्पादव्ययावच्छिन्नं ध्रौव्यं सर्वत्रानायाससिद्धमिति द्रष्टव्यम्। न च विरोधः, पर्यायत्वावच्छेदेनोत्पादव्यययोर्द्रव्यत्वावच्छेदेन ध्रौव्यस्य चाविरोधात्, अन्यथा गोत्वावच्छेदेन गव्यश्वभेदस्य ब्रह्मत्वावच्छेदेन तद्भेदस्य चाविरोध औपनिषदाभिमतोऽपि कथं स्यादित्युपरम्यते। "

स्यान्नित्यमेवेत्यादि, अत्र च नित्यत्वानित्यत्वादिव्यवहारे आकाशघटादौ द्रव्यार्थत्वपर्यायार्थत्वयोस्तुल्यवदाकाशत्वघ-टत्वादीनां च स्यात्पदद्योतनमर्यादया प्रतिस्वं ग्रहान्नातिप्रसङ्गः, नयवाक्येऽपि यद्धर्मविशिष्टविशेष्यवाचकपदसमभिव्याहारेण नित्यत्वादिविशिष्टवाचकं पदं प्रयुज्यते तद्धर्मावच्छेदेन तत्र नित्यत्वादिबोधन एव तत्साकांक्षमित्याकाशमनित्यं घटो नित्य-इत्यादेर्नयवाक्यस्य न प्रयोगः, व्यापकसामानाधिकरण्यरूपव्याप्तिपक्षे धूमो वह्निव्याप्यो न रासभस्तथेत्यादेरित्थमेव न्या-याभियुक्तैरुपपादितत्वादिति शिवम्॥ ६०॥

" जगज्जैत्रं पत्रं शुचिनयपवित्रं किल मया। यमालम्ब्य न्यस्तं कुमतशतमस्तं गमयति॥
असौ नित्यानित्याद्यखिलगमभङ्गप्रणयने। पटिष्ठः स्याद्वादो दिशतु मुदमुज्जागरधियाम्॥ १॥

पवित्रं पत्रं मे विशदशतपत्रं श्रुतसुरी–करक्रीडापात्रं प्रमदमतिमात्रं जनयतु ॥

सुवाल्लभ्याः सभ्या इदमगुरुमाज्ञासिषुरितः प्रकृष्टं कल्पद्रोरपि फलमलभ्यं कृतधियाम् ॥ २ ॥

कृत्वा यत्नमनेकपण्डितवतीमध्यास्य काशीमभूद्–भट्टाचार्यपुरन्दरेभ्य इह यस्तर्केष्वधीती भृशम् ।
तत्स्पर्द्धां वितनोति कोऽपि जटिलो यद्यल्पपाठस्मयी । तत्किं कुम्भकृता भविष्यति कलिः सार्द्धं त्रिलोकीकृतः ॥ ३ ॥

अधीतास्तर्काः श्रीनयविजयविज्ञांह्रिभजन–प्रसादाद् ये तेषां परिणतिफलं शासनरुचिः ।

इहांशेनाप्युच्चैरवगमफला या स्फुरति मे । तया धन्यं मन्ये जनुरखिलमन्यत् किमधिकम् ॥ ४ ॥ ”

इति श्रीमदकब्बरसुरत्राणप्रदत्तजगद्गुरुबिरुदधारिभट्टारकश्रीहीरविजयसूरीश्वरशिष्यमुख्यमहोपाध्यायश्रीकल्याणविजयगणिशिष्यावतंसपण्डितश्रीलाभविजयगणिशिष्यालङ्कारपण्डितश्रीजीतविजयगणिसतीर्थ्यशेखरपण्डितश्रीनयविजयगणिचरणकमलचञ्चरीकेण पण्डितश्रीपद्मविजयगणिसहोदरेण महोपाध्यायश्रीयशोविजयगणिना विरचितेऽष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणे तृतीयः परिच्छेदः ॥

॥ अष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणे तृतीयः परिच्छेदः समाप्तः ॥

॥ ॐ 卐 ॐ ॥ अथ चतुर्थः परिच्छेदः ॥ ॐ 卐 ॐ ॥

जीयादष्टसहस्री, देवागमसंगतार्थमकलङ्कम् । गमयन्ती सन्नयतः, प्रसन्नगम्भीरपदपदवीं ॥ १ ॥

कार्यकारणनानात्वं गुणगुण्यन्यतापि च । सामान्यतद्वदन्यत्वं चैकान्तेन यदीष्यते ॥ ६१ ॥

कार्यग्रहणात्कर्मणोऽवयविनोऽनित्यस्य गुणस्य प्रध्वंसाभावस्य च ग्रहणं, कारणवचनात् समवायिनस्तद्वतः प्रध्वंसनिमित्तस्य च । गुणशब्दान्नित्यगुणप्रतिपत्तिः, गुणिवचनात्तदाश्रयस्य । सामान्याभिधानात्परापरजातिप्रत्ययः । तद्वद्वचनादर्थप्रत्यय इति । क्रियातद्वतो-रवयवावयविनोर्गुणगुणिनोर्विशेषतद्वतोः सामान्यतद्वतोरभावतद्विशेष्ययोश्चान्यतैव, भिन्नप्रतिभासत्वात् सह्यविन्ध्यवदित्युक्तं भवति । न चात्रासिद्धो हेतुः, साध्यधर्मिणि भिन्नप्रतिभासत्वस्य सद्भावनिश्चयात् । तत एव न सन्दिग्धासिद्धोऽज्ञातासिद्धो वा । नाप्यन्यतरा-सिद्धो, वादिप्रतिवादिनोरविवादात् । भिन्नपुरुषप्रतिभासविपयेणाभिन्नेनार्थेन व्यभिचार इति चेत्, न, एकपुरुषापेक्षया भिन्नप्रतिभासत्वस्य हेतुत्वात् । तथापि क्रमेणैकप्रतिपत्तृभिन्नप्रतिभासविपयेणैकेन वस्तुनानेकान्त इति चेत्, न, भिन्नलक्षणत्वस्य भिन्नप्रतिभासत्वस्य हेतु-त्वात् । भिन्नं हि लक्षणं कार्यकारणयोर्गुणगुणिनोः सामान्यतद्वतोश्च प्रतिभासते । न चैकस्य वस्तुनो भिन्नलक्षणत्वेन प्रतिभासोस्ति, येन व्यभिचारः । तत एव न विरुद्धो हेतुः, साकल्येनैकदेशेन वा विपक्षे वृत्यभावात् । नापि कालात्ययापदिष्टः, पक्षस्य प्रत्यक्षा-गमवाधाऽभावात् । कार्यकारणयोर्गुणगुणिनोः सामान्यतद्वतोस्तादात्म्यमभिन्नदेशत्वात् । ययोरतादात्म्य न तयोरभिन्नदेशत्वम् । यथा

सह्यविन्ध्ययोः। अभिन्नदेशत्वं च प्रकृतयोः। तस्मात्तादात्म्यम्। इत्यनुमानेन पक्षस्य बाधेति चेत्, न, शास्त्रीयदेशाभेदस्यासिद्धत्वात्, कार्यस्य स्वकारणदेशत्वात्। कारणस्यापि स्वान्यकारणदेशत्वात्। एतेन गुणगुणिनोः सामान्यतद्वतोश्च देशभेदस्य प्रतिपादनात्, लौकिकदेशाभेदस्य तु व्योमात्मादिभिर्व्यभिचारादस्यानुमानस्यासमीचीनत्वात् प्रकृतपक्षबाधकत्वासंभवात्। कथंचित्तादात्म्यस्य प्रत्यक्षतः प्रतीतेः सर्वथा भेदपक्षस्य बाधेति चेत्, न, तद्विरोधात्। तत एव भेदो मा भूदिति चेत्, न, भेदस्य पूर्वसिद्धत्वात् तादात्म्यस्य पूर्वसिद्धेरसिद्धे। सिद्धौ वा कार्यकारणादिविरोधात् धर्मधर्मित्वाधिकरणाधेयतादिविरोधात् क्रियाव्यपदेशादिभेदविरोधाच्च तयोर्न तादात्म्य, भेदतादात्म्ययोर्वैयधिकरण्याच्च परस्परविरोधाच्छीतोष्णस्पर्शवत्। तयोरेकाधिकरण्ये सकरव्यतिकरापत्तिः। तदनापत्तौ पक्षद्वयोक्तदोषानुषङ्गः। प्रत्येकं तद्द्विरूपत्वोपगमे वाऽनवस्थानादप्रतिपत्तिरभावश्च ॥ ६१ ॥ इति वैशेषिकस्य अवयवगुणसामान्यतद्वता व्यतिरेकैकान्त(त्व)माशङ्क्य प्रतिविधत्ते—

यदीयं नामापि स्मृतिमुपगतं विघ्नपटलीं। महामन्त्रप्रायं प्रशमयति दोषामिव रविः॥
मुदोऽसंख्याः शङ्खेश्वरविभुरसौ यच्छतु पराः। जरासन्धक्षिप्ताच्युतबलजरातङ्कहरणः॥ १॥

चतुर्थे कार्यकारणादिभेदाभेदस्याद्वादसाधनार्थमुपक्रमः "कार्यकारणेत्यादिकारिकया"॥ तद्भेदैकान्ताभ्युपगमप्रदर्शनं तद्दूषणमग्रिमकारिकायाम्॥ गुणशब्दान्नित्यगुणप्रतिपत्तिरिति, अनित्यगुणस्य कार्यपदेन पूर्वमेव ग्रहणादत्र गुणपदस्य विशेषपरत्वादिति भावः। अर्थप्रत्यय इति, अर्थपदस्य वैशेषिकपरिभाषया द्रव्यादित्रयार्थत्वात्तत्त्रयप्रतीतिरित्यर्थः। 'क्रमेणेति' एकत्रैव वस्तुनि देशसन्निकर्षविप्रकर्षाभ्यामेकस्यापि प्रतिपत्तुः कालभेदेन भिन्नप्रतिभाससम्भवादित्यर्थः। भिन्न-

लक्षणत्वस्येति भिन्नलक्षणत्वप्रयुक्तभिन्नप्रतिभासविषयत्वादित्यर्थः । न च भिन्नलक्षणत्वस्यैव गमकत्वे इतरभागवैयर्थ्यं, धूमप्रागभावादिहेताविव यन्निष्ठेत्यादिन्यायेन तद्वैयर्थ्याभावादिति द्रष्टव्यम् । पूर्वसिद्धत्वादिति कार्यकारणादिभेदस्य सर्वैः स्वीकृतत्वेन पूर्वप्रसिद्धत्वादित्यर्थः । 'असिद्धेरिति' तत्प्रत्यक्षस्य विवादापन्नत्वेन तादात्म्ये साध्ये हेतौ सन्दिग्धासिद्धेरित्यर्थः ॥ ६१ ॥

एकस्यानेकवृत्तिर्न भागाभावाद्बहूनि वा । भागित्वाद्वास्य नैकत्वं दोषो वृत्तेरनार्हते ॥ ६२ ॥

कार्यकारणयोर्गुणगुणिनोः सामान्यतद्वतोश्चान्यत्वमेकान्तेन यदीष्यते तदैकस्य कार्यद्रव्यादेरनेकस्मिन् कारणादौ वृत्तिरेषितव्या, तदनिष्टौ कार्यकारणभावादिविरोधादकार्यकारणादिवत् । तद्वृत्तिश्चाभ्युपगम्यमाना प्रत्याश्रयमेकदेशेन सर्वात्मना वा स्यात् ? तत्र एकमनेकत्र वर्तमानं प्रत्यधिकरणं न तावदेकदेशेन, निष्प्रदेशत्वात् । नापि सर्वात्मना, अवयव्यादिबहुत्वप्रसङ्गात् । यावन्तो ह्यवयवास्तावन्तोवयविनः स्युस्तस्य प्रत्येकं सर्वात्मना वृत्तत्वात् । यावन्तश्च संयोग्यादयो गुणिनस्तावन्तः संयोगादयोनेकस्था गुणाः प्रसज्यन्ते । यावन्तः सामान्यवन्तोर्थास्तावन्ति सामान्यानि भवेयुस्तत एव । अथापि कथंचित्प्रदेशवत्त्व मन्येतावयव्यादीना तत्रापि वृत्तिविकल्पोनवस्था च । तथात्रावयव्यादि सर्वं तदेकमेव न स्यादिति वृत्तेर्दोषोऽनार्हते मते दुर्निवारः । नैकदेशेन वर्तते, नापि सर्वात्मना । किं तर्हि ? वर्तते एवेति चायुक्तं, प्रकारान्तराभावात् । ननु च समवाय एव प्रकारान्तरं वर्तते, समवैतीति सम्प्रत्ययात्, तद्व्यतिरेकेण वृत्त्यर्थासंभवादिति चेत्, न, तत्रैव विवादात् । एतदेव हि विचार्यते, किमेकदेशेन समवैति प्रत्याश्रय सर्वात्मना वाऽवयवादिष्ववयव्यादिः ? गत्यन्तराभावादिति । तत्र च निगदितो दोषः । तदेव कार्यगुणसामान्याना स्वाश्रयेभ्यो

विवादापन्नेभ्यो नैकान्तेनान्यत्व, तत्र वृत्त्युपलब्धे । यस्य तु यतोन्यत्वैकान्तस्तस्य तत्र न वृत्त्युपलब्धिः। यथा हिमवति विन्ध्यस्य । वृत्त्युपलब्धिश्चावयव्यादेः स्वाश्रयेषु । तस्मान्नैकान्तेनान्यत्वम् । इत्यनुमानेन तन्नानात्वपक्षस्य वाधितत्वात् कालात्ययापदिष्टो भिन्नप्रतिभासत्वादिति हेतुः। नन्विदमनुमानमसम्यक्, स्थाल्यां दध्नाऽनैकान्तिकत्वात् ततोन्यस्यापि दध्नस्तत्र वृत्त्युपलब्धेः। सयोगो हि वृत्तिरर्थान्तरभूतयोरेव प्रतीयते नान्यथेति न मन्तव्य, सयोगिनोः सयोगपरिणामात्मनोः सर्वथान्यत्वासिद्धेरन्यथा तदभावप्रसङ्गात् । ताभ्यां भिन्नस्य सयोगस्योत्पत्तौ हि कथमेकस्यान्यत्र सयोग इति व्यपदेशो यतः स एव वृत्तिः स्यात् ? ताभ्यां तस्य जननात्तथा व्यपदेश इति चेत्, न, कर्मणा कालादिना च तज्जननात्तथा व्यपदेशप्रसङ्गात् । तयोः समवायिकारणत्वात्तस्य तथा व्यपदेश इति चेत्, कुतः समवायिकारणत्व तयोरेव न पुनः कर्मादेरिति नियमः ? इह सयोगिनोः सयोग इति प्रत्ययात्तत्र तस्य समवायसिद्धेरिति चेत्, स तर्हि समवायः पदार्थान्तर कथमत्रैवेहेदमिति प्रत्ययं कुर्यान्न पुनः कर्मादिषु भेदाविशेषेपीति न बुद्ध्यामहे । तैरेव समवायिभिर्विशेषणविशेष्यभावसिद्धेः समवायस्य तत्रैवेहेदमिति प्रत्ययोत्पत्तिर्न तु कर्मादिषु, तदसिद्धेरिति चेत्, स एव कुतः सर्वत्र न स्यात् ? तादृगदृष्टविशेषनियमादिति चेत्, किं विशेषणविशेष्यभावेन समवायेन सयोगेन वा ? तादृगदृष्टविशेषादेव समवायविशिष्टाः समवायिन इति प्रत्ययस्येहेदमिति विज्ञानस्यात्रेद सयुक्तमिति बुद्धेश्च जननप्रसङ्गात् । सर्वस्य वा प्रत्ययविशेषस्यादृष्टविशेषवशवर्तित्वसिद्धेः किं पदार्थभेदप्रभेदपरिकल्पनया ? इति विज्ञानवादप्रवेशः स्यात्, तस्यैवादृष्टविशेषत्वसिद्धेः, चेतना कर्मेति विज्ञानवादिभिरपि प्रतिपादनात् । तेषा वासनाविशेष एव ह्यदृष्टम् । स च पूर्वविज्ञानविशेषः । इति न विज्ञानमात्राददृष्टमन्यत् स्यात् । ननु च नाप्रबुद्धा वासना प्रत्ययविशेष प्रसूते सकृत्सर्वप्रत्ययविशेषप्रसङ्गात्, प्रबुद्धा तु तमुपजनयन्ती

प्रबोधकहेतूनपेक्षते । ते च बहिर्भूता एवार्थाः । इति न विज्ञानमात्रं तत्त्वमनुपद्यते इति चेत्, न, विज्ञानविशेषादेव वासनाप्रबोधस्य सिद्धेः, तदभावे बहिरर्थस्य सत्तामात्रेण तदहेतुत्वादन्यथातिप्रसङ्गात् । न च नीलादिविज्ञानादेव तद्वासनाप्रबोधस्तत्प्रबोधादेव नीलादिज्ञानमिष्यते, यत परस्पराश्रयः स्यात्, तदधिपतिसमनन्तरादिविज्ञानानामेव नीलादिज्ञानजनकाना तद्वासनाप्रबोधकत्वात् तद्वासनानामपि तत्कारणविज्ञानेभ्यः प्रबोधोपगमात् । इत्यनादिरयं वासनासरित्परिपतितस्तत्प्रबोधप्रत्ययसार्थस्तद्विज्ञानप्रवाहश्च । इति किं बहिरर्थैः ? कल्पयित्वाप्येतान्विज्ञानानि प्रतिपत्तव्यानि, तैर्विना तद्व्यवहाराप्रसिद्धेः । सत्सु च तेषु बहिरर्थाभावेपि स्वप्नादिषु तद्व्यवहारप्रतीतेरलं बाह्यार्थाभिनिवेशेन । ततो बहिरर्थं व्यवस्थापयितुमनसा नादृष्टमात्रनिमित्तो विशेषणविशेष्यत्वप्रत्ययोनुमन्तव्यः, तस्य द्रव्यादिप्रत्ययवद्बहिरर्थविशेषविषयत्वस्यावश्यमाश्रयणीयत्वात् । तथा चानवस्थानात् कुतः सयोगिभ्या सयोगोर्थान्तरभूतः समवायवृत्त्या तयोरिति व्यपदिश्येत ? स एव च स्थाल्यां दध्नो वृत्तिरिति न तेनानैकान्तिको हेतुः स्यात् । तत एव न विरुद्धः, सर्वथार्थान्तरभूतस्य कचिद्वृत्त्युपलब्धेरभावात् । ततो निरवद्यमिदमनुमानं भेदपक्षस्य बाधकम् । इति तत्र प्रवर्तमानो हेतुः कालत्ययापदिष्ट एव, प्रत्यक्षविरुद्धत्वाच्च पक्षस्य, अवयवावयव्यादीना कथचित्तादात्म्यस्यैव साक्षात्करणात् । नन्वेवमपि वृत्तेर्दोषो यथोपवर्णितः स्याद्वादिनां प्रसज्यते इति चेत्, नाय प्रसङ्गोऽनेकान्ते, कथचित्तादात्म्याद्वेद्यवेदकाकारज्ञानवत् । यथैव हि ज्ञानस्य वेद्यवेदकाकाराभ्या तादात्म्यमशक्यविवेचनत्वात् किमेकदेशेन सर्वात्मना वेति विकल्पयोर्न विज्ञानस्य सावयवत्वं बहुत्वं वा प्रसज्यतेनवस्था वा, तथाऽवयव्यादेरव्ययवादिभ्यस्तादात्म्यमशक्यविवेचनत्वादेव नैकदेशेन प्रत्येक सर्वात्मना वा, यतस्ताथागतः सर्वथा भेदे इवावयवावयव्यादीना कथचित्तादात्म्येपि वृत्तिं दूषयेत् । एतेन वैशेषिकोपि न कथचित्तादात्म्ये वृत्तिविविकल्पादिदूषणमापादयितुमीशः, सामान्यविशेषवत्तत्र

तदनवकाशात् । न ह्यपरसामान्यं व्यावृत्तिबुद्धिहेतुत्वाद्विशेषाख्यामपि लभमानमपह्नोतुं शक्यं, तस्य सामान्यैकरूपत्वेऽपरविशेषाभावप्रसङ्गात्, तदपरविशेषरूपत्वेऽपरसामान्याभावापत्तेः, तदुभयरूपत्वे सामान्यविशेषरूपयोः कथंचित्तादात्म्यस्यैवाभ्युपगमनीयत्वात्, तदेकार्थसमवायस्य कथंचिदेकद्रव्यतादात्म्यादपरस्यासंभवात्, सामान्यस्यैवानुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययहेतुत्वेन सामान्यविशेषोभयाकारस्येष्टत्वाच्च । न तयोराकारयोरन्यत्रैकार्थे समवायः परस्पर वा शक्यो वक्तुं, यतस्तद्वदवयवावयव्यादीनां कथंचित्तादात्म्य वृत्तिः प्रकृतदूषणोपद्रुता स्यात् । किं चावयवादिभ्योवयव्यादीनामत्यन्तभेदे देशकालाभ्यामपि भेदः स्यात् ॥ ६२ ॥

'एकस्येति' एकस्यावयव्यादेर्भागाभावाद्देशाभावादनेकत्रावयवादौ वृत्तिर्न भवति । भवति चेत्तदा प्रत्येकमनेकावयवादिपर्याप्तवृत्तित्वाद्बहून्यवयव्यादीनि स्युः, देशतो वृत्तिश्च तत्र नावयव्यादीनां, तद्देशानभ्युपगमात्, अभ्युपगमेऽनवस्थाद्यापत्तेः, भागित्वात् कथञ्चिद्देशित्वाद्वाऽस्यावयव्यादेर्नैकत्वं स्यादित्ययं वृत्तेर्दोषो नार्हते मते भवतीति कारिकासङ्क्षेपार्थः । प्रकारान्तराभावादिति संयोगवृत्तौ देशकार्त्स्न्यान्यतरप्रकारस्यैव दर्शनात् प्रकारद्वयविशेषनिषेधे वृत्तिसामान्यनिषेधपर्यवसानादित्यर्थः । 'प्रकारान्तरमिति' देशकार्त्स्न्यविनिर्मुक्तः सम्बन्धप्रकार इत्यर्थः । एतदेव हि विचार्यत इति समवायोऽपि हि घटे घटत्वस्य कार्त्स्न्येन तन्तुषु च पटस्य दशाद्यवच्छेदेनाभावाद्देशेनाभ्युपगम्यत इति तत्रापि प्रकारद्वयावकाशेन विचारस्य बद्धास्पदत्वादिति भावः । वस्तुत एकत्र तन्तौ न पटः किन्तु यावत्स्विति प्रतीतेः प्रत्येकावृत्तेरित्यादिन्यायाच्च प्रकारद्वयं समवायवृत्तौ प्रसिद्धस्थल एवोपढौकत इति तदविरोधो भेदाभेदाभ्युपगमं विना दुरुपपाद इत्याद्युक्तं वादमालायामस्माभिः । सर्वथाऽन्यत्वासिद्धेरिति, तत्काले तत्परिणामेन तदात्मकत्वेन विरोधादतिप्रसङ्गस्य

च कालघटितसम्बन्धेन निरासादित्यर्थः। **तथा चानवस्थानादिति** संयोगतत्सम्बन्धतत्सम्बन्धादिचिन्तयाऽनिष्टापत्तेरित्यर्थः। '**कुत इति**' निरन्तरोभयद्रव्यनिमित्तादेव संयोगव्यवहारोपपत्तेरनन्तरपरम्परसंयोगभेदस्य चान्यथानुपपत्तेरिति भावः। ननु वृत्तिविकल्पदोषः स्याद्वादेऽपि किं न स्यादित्याशंक्य भेदाभेदशबलैकवस्तुस्वरूपत्वे देशकात्स्न्र्यवृत्तिव्यवहारस्य चित्रज्ञानसामान्यविशेषदृष्टान्तेन यथाविवक्षं सम्मिलितस्यैवोपपत्तेर्न तद्दोषावकाश इति समाधित्सुराह–**नन्वेवमपीत्यादिना,** तदुभयरूपत्व इति, न च पारिभाषिकमुभयरूपत्वमुभयपदार्थतादात्म्यमापादयितुमनीश्वरमिति शङ्कनीयम्। अनुवृत्तिव्यावृत्तिबुद्धिहेतुतया सिद्धस्य पदार्थद्वयस्यार्थतस्तादात्म्यापादनाविरोधात्, अन्त्यविशेषस्य तु "विशेषोऽपि न पदार्थान्तरं मानाभावाद्विनापि व्यावर्त्तकधर्मं विशेषाणामिव नित्यानामपि द्रव्याणां स्वत एव व्यावृत्तत्वात्, योगिनो विशेषमीक्षन्ते प्रत्यक्ष(त) एवेति चेत्, त एव तर्हि संशयपथं पृच्छयन्तां किमु तेऽतिरिक्तं विशेषमीक्षन्ते नवेति" ग्रन्थेन पदार्थतत्त्वविवेके शिरोमणिभट्टाचार्यैरेव निराकरणात्। अथ समवायित्वे सति समवायियव्यक्तेर्यद्व्यावृत्तं यन्नित्यं तत्परस्परासमवेतसमवेतशून्यधर्मसमवायीति व्याप्तिरात्मत्वमादाय घटपटादिव्यावृत्तात्मादाववधारिता, अत्र सत्तादिकमादाय सिद्धसाधनवारणाय परस्परासमवेतेति, एकत्वादिकमादाय तद्वारणाय समवेतशून्येति, प्रमेयत्वादिकमादाय तद्वारणाय समवायीति, अभावे व्यभिचारवारणाय हेतौ समवायित्वे सतीति, घटादावभावव्यावृत्तिसत्त्वेनाभावसमवेतत्वाप्रसिद्ध्या तदभावाप्रसिद्धेर्व्याप्यत्वासिद्धिः स्यादिति तद्वारणाय हेतौ समवायित्वं यद्व्यक्तेर्विशेषणम्, अनुपादेयमेव वा तत्, साध्ये परस्परासमवेतत्वं परित्यज्य तत्स्थाने स्वासमवायितत्त्वेत्यस्य वक्तव्यत्वात्। साध्ये समवायित्वं स्वाश्रयसमवेतत्वादिपरंपरासाधारण, नातः सजातीयघटद्वये

व्यभिचारः, विशेषमादाय तत्रापि साध्यसत्त्वात् समवायित्वे सतीत्यपहाय नित्यद्रव्यत्वे सतीति वा वक्तव्यं, तथा च तादृशव्याप्तिबलात् सजातीयनित्यद्रव्ययोः परस्परासमवेतसमवेतशून्यधर्मसिद्धावर्थादतिरिक्तविशेषसिद्धिरिति चेत्, न, अप्रयोजकत्वेनैतद्व्याप्त्यसिद्धेः, अन्यथा विशेषान्यत्वमपि साध्ये निवेश्य पदार्थान्तरमपि साधयतो मुखमुद्रणस्याशक्यत्वापत्तेः। कथं चैवं नित्यगुणव्यक्तीनां परस्परव्यावृत्तत्वं, तासु विशेषानभ्युपगमात्, आश्रयविशेषात्तद्विशेषाभ्युपगमे तु नित्यगुणाश्रित एव विशेषपदार्थोऽस्तु आश्रितविशेषाच्चाश्रयविशेष इत्येव किं न स्यात्, स्वाश्रयसमवेतत्वेन विशेषस्य व्यावर्त्तकत्वे च परमाण्वादिगतसत्तासामान्यस्यापि स स्वभावं त्याजयेत्। अपि चैवं चित्रज्ञानादावांशिकभेदनिर्वाहार्थमेकव्यक्तावपि विशेषः सिद्ध्येत्, स च सिद्ध्यन् विशेषपदोक्तां पर्यायमर्यादां नातिक्रामतीति द्रव्यपर्यायतया स्वतोऽनुवृत्तिव्यावृत्तिस्वभावं वस्त्वकामेनापि प्रतिपत्तव्यं, नित्यद्रव्यदृष्टान्तेन सर्वत्र स्वतो व्यावृत्तत्वं स्वीकुर्वन् शिरोमणिः पुनरेकदृगेव, अन्यथा विशेषमिव सामान्यमतिरिक्तमपश्यन् स्वतोऽनुवृत्तत्वमपि कथं न स्वीकुर्यादिति सुस्वीकारितमाचार्येण सामान्यविशेषयोः कथञ्चित्तादात्म्यमिति भावनीयम्। भेदः स्यादिति, अवयव्यादयोऽवयवादिभ्यो भिन्नाः स्युर्देशकालाभ्यामत्यन्तभिन्नत्वात्, घटपटवदित्यत्रापादनं बोध्यम् ॥ ६२ ॥

देशकालविशेषेपि स्याद्वृत्तिर्युतसिद्धवत्। समानदेशता न स्यान्मूर्तकारणकार्ययोः ॥ ६३ ॥

नन्वात्माकाशयोरत्यन्तभेदेपि देशकालाभ्यां भेदाभावान्न ततः कार्यकारणादीनां तद्भेदः सिध्यति, यतो युतसिद्धवद्वृत्तिः स्यादिति चेत्, न, तयोरपि सद्द्रव्यत्वादिना भेदाभावादत्यन्तभेदासिद्धेरभिन्नदेशकालत्वाविरोधात्। परस्यापि सर्वमूर्तिमद्द्रव्येषु युगपत्संयोग-

वृत्तेरभ्युपगमात् तयोरत्यन्तभेदानिष्टेर्देशकालाभ्यामभेदाविरोधे तथैवावयवावयव्यादेस्ताभ्यामभेदोस्त्वविरुद्धः। स च कथंचिदभेदसाधनः स्यात्। न चासाविष्यते, अपसिद्धान्तप्रसङ्गात्। तस्मादङ्गाङ्गयादेरत्यन्तभेदात् तद्देशकालविशेषेणापि वृत्तिः प्रसज्येत वटवृक्षवत्। वर्णादिभिरनैकान्तिकत्वमित्ययुक्तं, तद्व्यतिरेकैकान्तानभ्युपगमात्। यथैव हि वर्णरसगन्धस्पर्शानां स्वाश्रयादत्यन्तभेदो नेष्टो दृष्टो वा तथा परस्परतोपीति। नाप्येतैः पक्षैकदेशात्मभिर्व्यभिचारो नामातिप्रसङ्गात्। यदि पुन. कार्यकारणादीनां समानदेशकालत्वमुररीक्रियते तथैव सिद्धान्तावधारणादिति मत, तदाप्यवयवावयविनोः समानदेशे वृत्तिर्न भवेत्, मूर्तिमत्त्वात्खरकरभवत्, मूर्तयोः समानदेशत्वविरोधात्। वातातपयोः समानदेशत्वदर्शनादविरोध इति चेत्, न, तयोः स्वावयवदेशयोरवयविनोरभ्युपगमात्। तन्तुपटयोरपि स्वावयवदेशत्वात्समानदेशत्वाभावो न दोष इति चेत्, न. परमाणुद्व्यणुकयोर्भिन्नदेशत्वाभावात्समानदेशत्वमपि न भवेदिति दोषोद्भावनात्। द्व्यणुकस्य परमाणुदेशत्वात्परमाणोरनशस्याप्याश्रयान्तरस्थत्वात्तयोरसमानदेशतैवेति चेत्, न, तथा लौकिकदेशापेक्षया समानदेशत्वोपगमस्य प्रसङ्गात्। स च मूर्तयोर्न भवेदिति सूक्तमेव दूषणम्। कथमेवमनेकान्तवादिनामेकाकाशप्रदेशेऽसख्येयादिपरमाणूनामवस्थान न विरुध्यते इति चेत्, तथावगाहनविशेषादेकत्वपरिणामादिति ब्रूमहे। नह्येकं मूर्तिमद्द्रव्यमेकत्र देशेऽवतिष्ठमान विरुद्ध नाम, अतिप्रसङ्गात्। सयोगमात्रेण तु स्थितानामेकत्वपरिणामनिरुत्सुकाना नैकाकाशप्रदेशेवस्थानमवगाहनविशेषाभावादनेकाकाशप्रदेशवृत्तित्वसिद्धेः इति स्याद्वादिना न किंचिद्विरुद्धम्॥ ६३ ॥ स्यान्मतम्,

तथैव युगपत्संयोगवृत्त्यादिनैव, **अभेदसाधनोऽभेदव्यवहारसाधनः**, तथोक्तवदभ्युपगमे, **एकत्वपरिणामनिरुत्सुकानामिति**, यद्यपि द्रव्यत एकत्वपरिणामनिरुत्सुकानामप्यानुपूर्व्येनानुपूर्व्यवक्तव्यद्रव्याणामनन्तानामेकाकाशप्रदेशा-

वस्थितिरिष्यते, तथाप्येकप्रदेशावगाढानां तावतां तेषां क्षेत्रकृतमेकत्वमादायोक्ताविरोधो भावनीयः । युक्तं चैतत् एकप्रदेशावगाढानामेव क्षेत्रतोऽनानुपूर्वीद्रव्यत्वात् तेषां चासङ्ख्येयानामेव सिद्धान्तप्रतिपादनात् सर्वपुद्गलद्रव्याणां चानन्तत्वादित्यालोचनीयं स्वसमयरहस्यविद्भिः ॥ ६३ ॥

आश्रयाश्रयिभावान्न स्वातन्त्र्यं समवायिनाम्। इत्ययुक्तः स संबन्धो न युक्तः समवायिभिः ॥ ६४ ॥

समवायेन कार्यकारणादीना परस्पर प्रतिबन्धात् कुतः स्वातन्त्र्यं यतो देशकालादिभेदेन वृत्तिरिति चेत्, स तर्हि समवायिषु समवायान्तरेण वर्तते स्वतो वा ? समवायस्य समवायान्तरेण वृत्तावनवस्थाप्रसङ्गात्, स्वतो वृत्तौ द्रव्यादेस्तथोपपत्तेः समवायवैयर्थ्यात् कार्यकारणादीना कुतः प्रतिवन्धः ? यदि पुनरनाश्रितत्वात् प्रतिबन्धान्तरानपेक्ष इष्यते, तदाप्यसवद्धः समवायः कथ द्रव्यादिभिः सह वर्तेत, यतः पृथक्सिद्धिर्न स्यात् ? तस्मादयुक्त सवन्धो न युक्तः समवायिभिः । न ह्यप्रतिबद्ध एव समवायिभिः समवायः सवन्धो युक्तिमान्, कालादेरपि सवन्धत्वप्रसङ्गात् । संवद्ध एव हि स्वसवन्धिभिः सयोगः सवन्धो दृष्टस्तस्य तैः कथंचित्तादात्म्यसंबन्धात् । समवायोपि विशेषणविशेष्यभावसवन्धात्समवायिभिः संवद्ध इति चेत्, न, तस्यापि विशेषणविशेष्यभावान्तरेण स्वसंबन्धिभिः संवन्धेऽनवस्थाप्रसङ्गात्, अन्यथा सवन्धत्वविरोधात् । तस्य संवन्धिभिः कथंचित्तादात्म्ये कार्यकारणादीनामपि तदेवास्तु किं समवायेन पदार्थान्तरभूतेन सत्तासामान्येनेव कल्पितेन ? फलाभावात् । प्रागसतः सत्तासमवायात् कार्यस्योत्पत्तेः सफलमेव तत्परिकल्पनमिति चेत्, न, अनुत्पन्नस्य सत्तासमवायासभवात्, उत्पन्नस्यापि तद्वैयर्थ्यात्, स्वरूपलाभस्यैव स्वरूपसत्तात्मकत्वात्, स्वरूपेणासतः सत्तासबन्धेतिप्रसङ्गात् । यदि पुनरुत्पद्यमानमेव कार्य सत्तासमवायीष्यते, प्रागसतः सत्तासमवाय उत्पाद इति वचनात् ॥ ६४ ॥

'आश्रयेत्यादि' उत्तरार्द्धे इतिस्तथापीत्यर्थे, तथा च तथापि स सम्बन्धः समवायाख्यः समवायिभिरयुक्तोऽसम्बद्ध इति न युक्तो न घटमानक इति, समवायस्यैवाभावाद्दूरे समवायिनां स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्यचर्चेति भावः। एवं च स्यान्मतमिति शङ्काया अनुपमर्दान्नासंलग्नकत्वमिति द्रष्टव्यम्। स्वरूपलाभस्यैव स्वरूपसत्तात्मकत्वादिति, तदिदमाहुः, न हि देशकालयोः सत्त्वं विहायान्यत् सत्त्वम्, अभावेऽपि स्वकालदेशकृतं सत्त्वमभ्युपगम्यत एव, इदानीं भूतले घटाभावोऽस्तीति प्रतीतेः, अभावव्यावृत्तसद्व्यवहारस्तु भावत्वनिबन्धन एवेति, अतिप्रसङ्गादिति परम्परासम्बन्धेन सामान्यादाविवाभावेऽपि सद्व्यवहारप्रसङ्गादित्यर्थः। स्वरूपसत्तयैव सद्व्यवहारोपपत्तौ चालं पदार्थान्तरपरिकल्पनयेति रहस्यम् ॥ ६४ ॥

केवलस्य समवायस्य सत्तासामान्यवन्नित्यत्वादुत्पाद इति ज्ञानाभिधानाहेतुत्वादिति मतं तदा—

सामान्यं समवायश्चाप्येकैकत्र समाप्तितः। अन्तरेणाश्रयं न स्यान्नाशोत्पादिषु को विधिः ॥६५॥

येषां परमार्थत सामान्यस्याश्रितत्वमुपचारात्समवायस्य समवायिषु तत्राप्रतिबद्धत्वादसबद्धत्व, तदुपचारनिमित्तं तु समवायिषु सत्सु तस्येहेदमिति प्रत्ययकारित्वमिति मतं तेषा प्रत्येकं परिसमाप्तेराश्रयाभावे सामान्यसमवाययोरसभवादुत्पत्तिविपत्तिमत्सु कथं वृत्तिः? क्वचिदेकत्र नित्यात्मन्याश्रये सर्वात्मना वृत्त सामान्यं समवायश्च तावत्। 'उत्पित्सुप्रदेशे प्राग्नासीदनाश्रितत्वप्रसंगात्, नान्यतो याति सर्वात्मना पूर्वाधारापरित्यागादन्यथा तदभावप्रसङ्गात्, नाप्येकदेशेन, सांशत्वाभावात्, स्वयमेव पश्चाद्भवति स्वप्रत्ययकारित्वात्, आश्रयविनाशे च न नश्यति नित्यत्वात्, प्रत्येकं परिसमाप्तं च' इति व्याहतमेतत्। स्यान्मतं 'सत्तासामान्य तावद्द्रव्यादिषु प्रत्येकं परिसमाप्तं, सत्प्रत्ययाविशेषात्। सर्वत्रास्ति च, सत्प्रत्ययाविच्छेदात्। समवायोऽपि सर्वत्र विद्यते, समवायिना शश्वदविच्छे-

दान्नित्याना, जन्मविनाशवता तु केपाचिदुत्पित्सुदेशेपूत्पद्यमानानामेव सत्तासमवायित्वसिद्धेः 'निष्ठासवन्धयोरेककालत्वात्' इति वचनात्। प्रकृतदूपणानवकाशः, सत्तासमवाययोः प्रागसत्त्वाभावात्·तत्रान्यतश्चागमनस्य सर्वात्मनैकदेशेन वानभ्युपगमात् पश्चाद्भवनानिष्टेः शाश्वतिकत्वाच्च' इति तदेतदपि व्याहततर, सर्वगतस्य सामान्यस्य समवायस्य चैकस्य स्वाश्रयेपु प्रत्येकं परिसमाप्तेरसभवात् तद्बहुत्वापत्तेराश्रयस्वरूपवत्। न च सर्वत्राविच्छेदात्तदेकत्वं, तदसिद्धेः प्रागभावादिपु सत्तासमवायासंभवाद्विच्छेदोपलम्भात्। प्रागभावादीना सर्वदा भावविशेपणत्वान्न तत्र तद्विच्छेद इति चेन्नेवमभावस्यापि सर्वगतत्वैकत्वप्रसङ्गात्, सर्वत्रासत्प्रत्ययाविशेपादविच्छेदाविशेषाच्च। यथैव हि द्रव्यादिपु सत्प्रत्ययोऽविशिष्टस्तथा पररूपतोऽसत्प्रत्ययश्च। यथा चाभावस्य शश्वद्भावपरतन्त्रत्वं तथा भावस्याभावपरन्त्रत्वमपि तदविच्छेदसाधनं, पररूपेणासत एव भावस्य प्रतीतेरन्यथा सर्वसाङ्कर्यप्रसङ्गाद्भावविशेषव्यवस्थितिविरोधात्। नन्वभावस्यैकत्वे कार्यस्य जन्मनि प्रागभावाभावे प्रध्वंसेतरेतरात्यन्ताभावानामप्यभावप्रसङ्गादनन्तत्वसर्वात्मकत्वात्यन्ताभावापत्तिः। प्रध्वंसस्य चाभावेऽनुत्पन्नस्य कार्यस्य प्रागभावस्याप्यभावादनादित्वप्रसङ्गः प्राक् पश्चादितरेतरात्यन्तविशेपणानुपपत्तिश्च तदभेदात्। इति कश्चित्, तस्यापि कथं सत्त्वैकत्वे समवायैकत्वे च कस्यचित्सत्तासमवाये सर्वस्य स न भवेत्? तथा सति भावस्योत्पत्तेः प्रागपि प्रध्वंससमयेप्यभावान्तरेपि चात्यन्तसत्त्वसिद्धेः कुतः प्रागभावादिभेदस्य व्यवस्था स्यात्? प्रत्ययविशेपात्तद्व्यवस्थायां सत्तासमवायस्य भेदव्यवस्थाऽस्तु तत एव। न हि प्रध्वंसात्प्राक्कार्यस्य सत्तासमवायः प्रागभावात् पश्चादितरस्मादितरत्रेत्यादिप्रत्ययविशेपोऽसिद्धः परीक्षकाणां, यतः सत्तासमवाययोरनेकत्वं न स्यात्। यदि पुनः प्राक्कालादिविशेपणान्येव भिद्यन्ते समवायिनश्च, न पुनः सत्ता समवायश्चेति मत, तदा कथमभावोपि भिद्येत? तद्विशेषणानामेव भेदात्। विरुद्धधर्माध्यासात्तद्भेदे सत्तासमवायभेदोपि तत एव। ततो विश्व-

रूपा सत्ताऽस्तु असत्तावत् । तथा समवायोपि । न चैवमेकत्वविरोधः सत्तायाः सभावनीयो, विशेषतोनेकत्वेपि सामान्यार्पणादेकत्वाविरोधात्, सद्विशेषेष्वेव सत्सामान्यप्रतीतेरसद्विशेषेष्वसत्सामान्यप्रतीतिवत् । समवायविशेषेषु समवायसामान्यप्रतीतिश्च न विरुद्धा, संयोगविशेषेषु तत्सामान्यप्रतीतिवत् । इति सर्वं सामान्यविशेषात्मकं सिद्धम् । न च सामान्यस्य विशेषस्य चैकशः सामान्यविशेषात्मकत्वेऽनवस्थानमन्यथा सर्वं सामान्यविशेषात्मकमिति प्रतिज्ञा हीयते, तयोरन्योन्यात्मकत्वसिद्धेर्द्रव्यार्थार्पणया परस्परतो भेदाच्च पर्यायार्थार्पणया सापेक्षत्वमात्रस्य तयोरिष्टेः । सामान्यस्य हि स्वविशेषादपोद्धृतस्य विशेषान्तरात्मकत्वे विशेषस्य च स्वसामान्यान्निर्धारितस्य सामान्यान्तरात्मकत्वेऽनवस्था स्यान्नान्यथा । भिन्नस्य च सामान्यस्य विशेषाद्विशेषस्य च सामान्यादितरनिरपेक्षत्वे प्रतिज्ञाहानिः प्रसज्यते, न पुनरितरथा । इति स्याद्वादिनां सर्वं सुस्थम् । वैशेषिकाणा तु तदुभयप्रकारानभ्युपगमादुक्तदोषानुषङ्ग एव । ॥ ६६ ॥ तेषा हि—

येषामिति येषां वैशेषिकाणां सामान्यस्य समवायसम्बन्धेन सम्बद्धत्वात्परमार्थतोऽनुपचारादन्वितत्वं **समवायस्य तु** समवायान्तराभावादुपचारात्, तथा च **समवायिषु तथा** सामान्यवदप्रतिबद्धत्वादसम्बद्धत्वमिति योजना, **नान्वितो यातीति, अनु** पश्चात्, इतः सकाशान्न यातीत्यर्थः। **भावविशेषणत्वा**द्भावविनिर्मुक्तबुद्ध्यविषयत्वात्, भावपरतन्त्रत्वमुक्तभावविशेषणत्वमेव, एवमग्रेऽभावपरतंत्रत्वमपि व्याख्येयम् । सत्तैकत्वेऽसत्तैकत्वमपि स्यादित्युक्तं तत्रासत्तैकत्वे बाधकमाशङ्कते—**नन्वभावस्यैकत्व** इत्यादिना, एवं वादिनः सत्तैकत्वेऽपि बाधकं तुल्यमित्याह—**तस्यापीत्यादिना, प्रत्ययविशेषात्** प्रागनासीदित्यादिप्रतीतिभेदात्, **तद्व्यवस्थायां** प्रागभावादिभेदव्यवस्थायां, **तत एव प्रत्ययविशेषादेव,**

नहीत्यादिना प्रागासीत् पश्चाद्भविष्यतीत्येवं कालभेदात्, इतरस्माद्देशादितरत्रास्तीत्यनेन च देशभेदात् प्रतीतिसाक्षिकः सत्तासमवायभेद उपदर्शितः। यदि च तत्तत्कालदेशरूपविशेषणभेदेऽपि सत्ताया न भेदः, तर्हि तद्वदेवाभावस्यापि स माभूत्, विरुद्धधर्माध्यासेनासत्ताभेदे च सत्ताभेदोऽपि तद्वदेवास्त्विति सिद्धं द्वयोस्तुल्यकक्षतया विश्वरूपत्वं, भावत्वाभावत्वयोरेवैक्यं नतु भावाभावयोरिति तु मन्दं, विशेषणांश इव विशेष्यांशेऽप्यनुगतप्रतीतेस्तौल्याद्विशेषणभेदेन भेदस्य चोभयत्राविशेषात् सामान्यविशेषोपयोगाभ्यां वैश्वरूप्यस्यैव सिद्धेरित्यभिप्रायवानाह—यदि पुनरित्यादिना ॥ ६५ ॥

सर्वथानभिसंबन्धः सामान्यसमवाययोः। ताभ्यामर्थो न संबद्धस्तानि त्रीणि खपुष्पवत् ॥ ६६ ॥

समनुपज्यन्ते इति शेषः। तथा हि। सामान्यसमवाययोः परस्परतः संबन्धासभवात् ताभ्यामर्थोपि न सबद्धः। कुतस्तयोरनभिसबन्ध इति चेत्, सयोगस्य समवायस्य चानभ्युपमगमात्, सामान्यं समवायीति विशेषणविशेष्यभावस्य चासभवादनवस्थाप्रसङ्गाच्च। तथैकार्थसमवायस्य चानवकाशात् समवायस्य कचिदसमवायात् सबन्धान्तरानिष्टेः सर्वथानभिसंबन्धस्तावदसिद्ध एव। ततः परस्परतोऽनसमिबद्धाभ्यां सामान्यसमवायाभ्यामर्थोपि द्रव्यगुणकर्मलक्षणो न सबद्धः शक्यते वक्तुं, यतस्तत्र सत्तासमवायः स्यात्। ततस्त्रीण्यपि नात्मानं विभृयुः कूर्मरोमादिवत्। परस्परमसबद्धानि ह्यर्थसमवायसामान्यानि न सन्त्येव। न चासतां कर्तृत्वम्। नापि कश्चिदात्मा सभवति यस्य कर्मत्वम्। न च कर्तृकर्मत्वाभावे तान्यात्मानं बिभृयुरिति शक्यं वक्तुं, कर्तरि लिङो विधानात्कर्मणि विभक्तिनिर्देशाच्च। स्यान्मतं 'परस्परमसंबद्धानामपि स्वरूपसत्त्वप्रसिद्धेर्नार्थसमवायसामान्यानामसत्त्वम्। कूर्मरोमादीनां स्वरूपसत्त्वाभावाच्च विपमोयमुपन्यासः' इति तदयुक्तं, द्रव्यगुणकर्मणां स्वरूपसत्त्वोपगमे सत्तासमवायस्य वैयर्थ्यात्सामान्यादिवत्, सामान्यादीनां

वा सत्तासंबन्धप्रसङ्गाद्द्रव्यादिवत्, तेषां स्वरूपसत्त्वानुपगमे कूर्मरोमादिभ्यो विशेषाभावात् सम एवोपन्यास इति निरूपणात्। कथं चार्थान्तरभूताया सत्तायां समवायवत्सर्वथानभिसम्बद्धायां द्रव्यगुणकर्मणा सत्त्वं न पुनः कूर्मरोमादीनाम् ? इति चिन्त्यम्। कथं च सत्तासामान्यं सर्वथा समवायासम्बद्धं द्रव्यादिषु समवायि न पुनः समवायस्तत्र समवायी समवायान्तरेणासम्बद्ध इति बुध्यामहे ? समवायसम्बद्धत्वाभावाविशेषात्, सतापि हि समवायेन सामान्यस्यासम्बद्धत्वं समवायान्तरेण पुनरसता समवायस्येति तत्सदसत्त्वाभ्यामसम्बद्धत्वस्य विशेषयितुमशक्तेः। न च कश्चित्सम्बन्धः स्वसंबन्धिभ्यामसम्बद्ध एव तौ घटयितुमलं, सयोगस्यापि स्वसंयोगिभ्यामसम्बद्धस्यैव तयोर्घटकत्वप्रसङ्गात्। न चैवमिष्यते, सिद्धान्तविरोधात्। ततो न कार्यकारणयोर्गुणगुणिनोः सामान्यतद्वतोर्वान्यतैकान्ते तद्भावो युक्तोऽकार्यकारणादिवत्, समवायादर्थान्तरभावनियमाच्च। तद्वत्समवायोपि न तेषां परस्पर घटनकारी सर्वथानभिसम्बद्धत्वात् तादृगर्थान्तरवत्। ततश्चासन् समवायोनर्थक्रियाकारित्वात् कूर्मरोमादिवत्। सामान्य चासत् तत एव तद्वत्। न हि तदर्थैरसम्बद्धं स्वविषयज्ञानोत्पादनलक्षणामप्यर्थक्रिया कर्तुं प्रभवति यतोऽसिद्धो हेतु' स्यात्। तथा न सन्ति द्रव्यादीनि सत्तासमवायरहितत्वात्तद्वत्। सामान्यादिभिर्व्यभिचार इति चेत्, न, तेषामपि परमार्थतः सत्त्वानभ्युपगमात्। न चोपचरितसद्भिर्व्यभिचारचोदनोपपत्तिमती, परमार्थसत्त्वाभावसाधनस्यातिप्रसङ्गात्। इति न कार्यकारणादीनामन्यतैकान्तः श्रेयान्, प्रमाणाभावादनन्यतैकान्तवत् ॥६६॥

ततः परस्परत इत्यादि, युक्तं चैतन्नह्यसम्बद्धाभ्यां घटसंयोगाभ्यां कृत्वा भूतलं घटसम्बद्धं भवति, पटसंयोगेन घटवद्भूतलमित्यस्याप्यापत्तेः, न च सामान्यनिरूपितत्वं समवायैक्ये किञ्चिदतिप्रसङ्गवारकं नाम, तन्नानात्वे स्वरूपतः सामान्यनिरूपितत्वं व्यवहारे स्वीक्रियतां, किमन्तर्गडुना समवायेन, तत्र सत्तानिरूपितत्वस्य खपुष्प इवासम्भवादिति। कथं

चेत्यादि अनभिसम्बद्धायामित्यनन्तरमङ्गीक्रियमाणायामिति शेषः । अत्र यत् यत्सम्बन्धाभाववत् तत्तेन सम्बन्धेन तदभाववदिति व्याप्तेरर्थसमवायाभाववत्याः सत्ताया अर्थेऽभावात् कूर्मरोमतुल्यत्वमर्थानां पराभिमतानामिति बोध्यम् । उक्तयुक्तिमेवोत्तेजयति कथं च सत्तासामान्यमित्यादिना, तलश्चासत्समवाय इति, ननु समवायो यदि सत्तया सर्वथानभिसम्बद्धः स्यात्तदाऽर्थे सत्तां न संघटयेदिति तर्कः समवायासिद्धावाश्रयासिद्धत्वेन प्रशिथिलमूलस्तन्सिद्धौ च किं तेन उदिते सूर्ये चौरादिशापवत्तस्य व्यर्थत्वात् केवलं ततः समवायस्य स्वभावविशेषं कल्पयेत् प्राज्ञो येन सत्तायामसन्नप्यसौ तामर्थेन संघटयेदित्ययुतसिद्धानामिहेति प्रत्ययहेतुरनुगतः समवायो दुरपह्नव इति चेद्, दुरन्तेयं नैयायिकसमयवासनानुबद्धा लाघवधीर्देवानांप्रियस्य, हन्तैवं जलादौ वह्न्याद्यभावप्रमायाः सम्बन्धनियतत्वात्तत्राप्यनुगतं वैशिष्ट्यसम्बन्धं लाघवप्रियः किं नाभ्युपैषि, स्वरूपसम्बन्धेनैव तत्प्रमोपपत्तेरतिरिक्तवैशिष्ट्येऽपि वैशिष्ट्यान्तरस्वीकारेऽनवस्थापत्तेरिति चेत्, समवायेऽपीदृशी दीयतां दृष्टिः । गुणगुण्यादिस्वरूपद्वये सम्बन्धत्वमतिरिक्तसमवाये वेति विनिगमकाभावादपि समवायसिद्धिः, प्रकृते तु नैवम्, अभावस्यानुगतत्वेन स्वरूपसम्बद्धत्वौचित्यादित्यपि रिक्तं वचः, जातिव्यक्तिस्थले जातेरेवानुगतत्वेन सम्बन्धत्वौचित्यात् समवायोच्छेदापत्तेः, असदृद्दृष्ट्या सर्वस्यैव कथञ्चिदनुगतत्वाच्च । न च समवायेन संयोगत्वाद्यवच्छिन्ने द्रव्यत्वादिना हेतुत्वात् समवायसिद्धिः, स्वरूपाणामानन्त्येन गौरवात्, कालिकादिस्वरूपेण स्पन्दादेरपि जन्यभाववत्त्वाच्चेत्यपि वाच्यम् । तथापि कालिकविशेषणतादिभिन्नस्य पदार्थमात्राधारतानियामकस्य कस्यचिद्वैशिष्ट्यस्य संयोगादिनिष्ठकार्यतावच्छेदकसम्बन्धत्वेनाविरोधात् । अथ प्रतियोगितया घटादिसमवेतनाशे कालावच्छिन्नस्वप्रतियोगिसमवेतत्वसम्बन्धेन घटादिनाशस्य हेतु-

त्वात्समवायसिद्धिः, जात्यादौ नाशापत्तिवारणाय कालावच्छिन्नेति, स्वप्रतियोगिवृत्तित्वेन हेतुत्वे तु घटादिवृत्तिध्वंसध्वंसापत्तिः, न च घटादिकालीनतद्वृत्तिक्रियासंयोगविभागद्वित्वादिनाशे व्यभिचारात् घटादिनाशक्षणवृत्तितत्समवेतनाशे हेतुत्वोक्तौ क्षणानामानन्त्येन विशिष्य नाश्यनाशकभावविश्रान्तौ गौरवात् कालिकेन घटादिनाशवृत्तिघटादिवृत्तिनाशे तेन घटादिनाशस्य हेतुत्वकल्पनात् प्रतिक्षणं तादृशस्य कस्यचिन्नाशेनानुपपत्त्यभावान्न समवायसिद्धिरिति वाच्यम्, तथापि लाघवात्प्रतियोगितया स्वप्रतियोगिसमवेतत्वस्वाधिकरणत्वोभयसम्बन्धेन नाशवन्नाशत्वावच्छिन्ने स्वप्रतियोगिसमवेतत्वेन नाशत्वावच्छिन्नस्य हेतुत्वेन समवायसिद्धेरप्रतिरोधादिति चेत्, न। परमाणुरूपशब्दकर्मवेगद्वित्वादिनाशधारावारणाय प्रतियोगिनो विशिष्यहेतुत्वाद्ध्वंसध्वंसापत्त्यभावात् कालावच्छिन्नस्वप्रतियोगिसमवेतत्वमपहाय तत्स्थाने सन्निष्ठस्वप्रतियोगिवृत्तित्वस्य स्वप्रतियोगिवृत्तिसत्त्वस्यैव वा सम्बन्धस्याभिषेके लाघवादनतिप्रसङ्गाच्च। एतेनाश्रयनाशजन्ये नाशे प्रतियोगिनो विशिष्याहेतुत्वाद् ध्वंसे तदापत्तिर्दुर्वारेत्याद्यपास्तम्। अपि च रूपाभावान्यमहद्वृत्तिचाक्षुषे चक्षुःसंयुक्तमहदुद्भूतरूपवद्वैशिष्ट्यस्य हेतुत्वाद्वैशिष्ट्यसिद्धिर्जायमाना समवायमपाकुरुते, न चैवमपि महत्त्वाभावरूपाभावयोश्चाक्षुषे कार्यकारणभावद्वयान्तरावश्यकत्वे रूपाभावान्यद्रव्यवृत्त्यभावचाक्षुषे चक्षुःसंयुक्तोद्भूतरूपवद्विशेषणता महत्त्वाभावान्यद्रव्यवृत्त्यभावचाक्षुषे चक्षुःसंयुक्तमहत्त्ववद्विशेषणता द्रव्यसमवेतचाक्षुषे च चक्षुःसंयुक्तमहदुद्भूतरूपवत्समवायो हेतुरित्येव कल्पयितुं युक्तम्, अत एव जातिसाधारणसमवायसिद्धिरिति भट्टाचार्योक्तमपि श्रद्धेयं, द्रव्यसमवेतत्रुटिचाक्षुषे व्यभिचारवारणाय द्रव्यान्यत्वविशेषणदाने रूपाभावमहत्त्वाभाव चाक्षुषनिष्ठकार्यतावच्छेदकपर्यालोचने च गौरवात्, वैशिष्ट्यवादिनो रूपाभावान्यमहद्वृत्तिचाक्षुषत्वं महत्त्वाभावान्यरूपवद्वृत्तिचाक्षुषत्वं वा कार्य-

तावच्छेदकमिति विनिगमनाविरहस्फूर्त्तौ तु तेन वस्तुतो रूपाभावान्यमहद्वृत्तिनिष्ठा या विषयता तया चाक्षुषत्वमेव कार्यतावच्छेदकं वाच्यम्, अपि च समवायवादिनः कार्यकारणभावत्रये प्रथमद्वितीयाभ्यामेव कार्यतावच्छेदके चरमाभावत्वाप्रवेशे द्वितीये द्रव्यभेदप्रवेशे च वैशिष्ट्यवादिनो निर्वाहान्नान्त्यस्य हेतुतेतिलाघवं, न चैवं पार्थिवाणुघ्राणमात्रेन्द्रियसन्निकर्षे पृथिवीत्वादिप्रत्यक्षापत्तिः, परस्यापि तन्मात्रसन्निकर्षाज्जलत्वाभावादिप्रत्यक्षतापत्तेस्तद्वारणाय रूपाभावप्रत्यक्षे चक्षुःसंयुक्तमहत्त्ववद्विशेषणता महत्त्वाभावचाक्षुषे चक्षुःसंयुक्तोद्भूतरूपवद्विशेषणता रूपमहत्त्ववद्वृत्ते रूपाभावमहत्त्वाभावभिन्नस्य चाभावस्य चाक्षुषे चक्षुःसंयुक्तमहदुद्भूतरूपवद्विशेषणता हेतुरित्यभावप्रत्यक्ष एव परेण कार्यकारणभावत्रयं वाच्यम्, भावप्रत्यक्षे चान्यत्, तथा च तृतीये कार्यतावच्छेदकेऽभावत्वाप्रवेशाद्भावप्रत्यक्षेऽपि वैशिष्ट्यवादिनस्तत एव निर्वाहः, एवं च चक्षुःसंयुक्तसमवायादेरप्यस्वीकाराल्लाघवम्। न च परेणापि व्यासज्यवृत्तिधर्मप्रत्यक्षानुरोधेन तत्तद्द्रव्यचाक्षुषादौ चक्षुःसंयोगादिहेतुत्वेनैव तत्तद्वृत्तिगुणकर्माभावादिप्रत्यक्षनिर्वाहे चक्षुःसंयुक्तसमवायादिप्रत्यासत्तेरेवास्वीकारान्नोक्तलाघवावतार इति वाच्यम्, यदवच्छेदेन घटपटयोः संयोगस्तद्भिन्नावच्छेदेन चक्षुःसंयोगवशात्तदुभयप्रत्यक्षेऽपि तदुभयसंयोगाप्रत्यक्षात्तत्प्रत्यक्षस्य तदुभयविषयकत्वनियमाभावाद् व्यासज्यवृत्तिधर्मप्रत्यक्षे पृथक्सामग्र्या आवश्यकत्वादुक्तहेतुत्वेन न निर्वाह इत्यादेः प्रथमपरिच्छेद एव विवेचितत्वात्। यत्र च न व्यासज्यवृत्तिधर्मप्रत्यक्षानुरुद्धा हेतुता तत्र घ्राणादिप्रत्यासत्तौ लाघवाद्वैशिष्ट्यसिद्धेर्ब्रह्मणाऽपि दुर्वारत्वाच्च। न च गन्धग्राहकं घ्राणसंयुक्तमहत्त्वोद्भूतगन्धवद्वैशिष्ट्यं गन्धाभावग्राहकं तूद्भूतगन्धाघटितमिति न तयोरैक्यसम्भव इति शङ्कनीयम्, अनुद्भूतगन्धभेदस्य गन्धसाक्षात्कारहेतुतयोद्भूतगन्धस्य सन्निकर्षाघटकत्वादिति परेषामेव नव्यनयप्रासादमारोहतां विचार-

निश्रेणी। अपि च जातिसाधारणसमवायसिद्धौ जातेरर्थवत्त्वापत्तिः, यत्र यत्सम्बन्धवत्त्वं तत्र तद्वत्त्वमिति नियमस्य ग्रन्थकृतैव पूर्वं सूचितत्वात्, तत्र तस्य तद्वृत्तित्वानियामकत्वान्नेयमिति चेत्, तदपि कुतः, तथा विशिष्टबुद्ध्यभावादिति चेद्, व्यक्त इतरेतराश्रयः, तत्र तद्वृत्तितानियामकसम्बन्धाभावे तथा विशिष्टबुद्ध्यभावस्तदभावाच्च स इति, तस्माद् व्यक्तिस्वरूपस्य जातौ वृत्त्यनियामकत्वमित्यसन्मतमेव श्रेय इति। यदपि द्रव्यजात्यन्यचाक्षुषे महदुद्भूतरूपवद्भिन्नसमवेतत्वेन प्रतिबन्धकत्वात् समवायसिद्धिरिति कैश्चिदुच्यते, तदपि तुच्छं, द्रव्यान्यसच्चाक्षुषत्वावच्छिन्ने महदुद्भूतरूपवद्भिन्नवृत्तित्वेन प्रतिबन्धकत्वकल्पनाया एवौचित्यात्, तदेवं लाघवादेकः समवायो यैः साध्यते तेषामितोऽपि लाघवाद्वैशिष्ट्यमेकं बलादापतेदिति निर्व्यूढम्। यः पुनराह–नेत्याकारकाभावप्रत्यक्षापत्तेरयोग्याभावप्रत्यक्षापत्त्या च प्रतियोगिविशिष्टतत्तदभावप्रत्यक्षे तत्तदभावविशेषणता हेतुरतो नाभावमात्रस्य वैशिष्ट्यसिद्धिरिति, सोऽपि न प्रेक्षापूर्वकारी, भावाभावसाधारण्येन लाघवादेकवैशिष्ट्यसिद्धौ विशिष्यप्रत्यासत्तौ तन्निवेशस्याबाधकत्वात्, अन्यथा समवायैक्येऽप्यगतेः, तस्यापि व्याप्यवृत्त्यव्याप्यवृत्त्यादिगुणप्रत्यक्षानुरोधेन विशिष्यापि प्रत्यासत्तिघटकत्वात्, प्रतियोगिज्ञानादिकारणतयोक्तापत्तिनिरासेनाभावप्रत्यक्षे विशेषणतायाः सामान्यतः प्रत्यासत्तितायाः एव युक्तत्वाच्च। वस्तुतः सत्तापि सामान्यत एका विशेषणभेदाच्च भिन्नेत्युक्तं, समवायोऽपि च त्वया लाघवादेको रूपिनीरूपव्यवस्थानुरोधेन च गलेपादिकया नाना स्वीकार्यः, तद्वत् वैशिष्ट्यमप्येकानेकरूपत्वेन वैश्वरूप्यं बिभ्रत् केन प्रत्याख्यातुं शक्यम्। ततश्च–" एकं स्वीकुरु वैशिष्ट्यं, समवायं विमुञ्च वा। क्रीडाकान्दुकतां नेय, इति नैयायिको बुधैः ॥ १ ॥ नाशस्य प्रागभावत्वं, प्रागभावस्य नाशता। घटादौ तस्य सम्बन्धं, वैशिष्ट्याख्यं विना कथम् ॥२॥

अभावाभावरूपत्वात्, सर्वस्य प्रतियोगिनः। तत्सम्बन्धेषु वैशिष्ट्य–रूपत्वं चेत् न मन्यते ॥ ३ ॥ नेति धीस्तत्र तत्र स्यान्नहि सा कालिकादिना। वैशिष्ट्यत्वे तु तेष्विष्टे संसर्गाकारगौरवम् ॥ ४ ॥ धर्मातिरेके तद्धर्मः स्पर्द्धयैवातिरिच्यते। जात्यन्तरात्मके तत्त्वे किमसाध्यं विवक्षया ॥ ५ ॥ विशिष्टे लक्षणाऽन्येषा–मविशिष्टे च कस्यचित्। जात्यन्तरं त्वखण्डं वा, खण्डशो वा प्रतीयताम् ॥ ६ ॥ इतीह वैशिष्ट्यमनेकमेकं, समर्थितं न्यायविशारदेन। स्वरूपविश्रान्तिजुषा च तेन भग्ना परेषां समवायवृत्तिः ॥ ७ ॥" ॥ ६६ ॥

अपरः प्राह, मा भूत्कार्यकारणादीनामन्यतैकान्तः परमाणूनां तु नित्यत्वात् सर्वास्ववस्थास्वन्यत्वाभावादनन्यतैकान्त इति तं प्रति सम्प्रत्यभिधीयते।

अनन्यतैकान्तेणूनां संघातेपि विभागवत्। असंहतत्वं स्याद्भूतचतुष्कं भ्रान्तिरेव सा ॥ ६७ ॥

यथैव हि विभागे सति परमाणवोऽसंहतात्मानस्तथा संघातकालेपि स्युः, सर्वथान्यत्वाभावादन्यत्वे तेषामनित्यत्वप्रसङ्गात्। संघातकाले कार्यस्योत्पत्तेस्तदसमवायिकारणस्वसंयोगस्वभावं संहतत्वं भवत्येवेति चेत्, न, तेषामतिशयानुत्पत्तौ संयोगस्यैवासंभवात् पृथिव्यादिभूतचतुष्कस्यावयविलक्षणस्य भ्रान्तत्वप्रसङ्गात्। कर्मणोतिशयस्य प्रसूतेः संयोगः परमाणूनामिति चेत्, न, कथंचिदन्यत्वाभावे तदयोगात्। क्षणिकत्वात्परमाणूनामदोष इति चेत्तथापि कार्यकारणादेरभेदैकान्ते धारणाकर्षणादयः परमाणूनां संघातेपि मा भूवन्विभागवत्। विभक्तेभ्यः परमाणुभ्यः संहतपरमाणूनां विशेषस्योत्पत्तेर्धारणाकर्षणादयः संगच्छन्ते एवाधोमुखसोदककमण्डलुघटवंशरज्ज्वादिवन्नेति चेत्स तर्हि तेषां नाहितोपि विशेषो विभागैकान्तं निराकरोति, तन्निराकरणे परमाणुत्वविरोधादेकत्वपरिणामात्मकस्कन्ध-

स्योत्पत्तेः । प्रविभक्तपरमाणुभ्यः संहतपरमाणूनामविशिष्टत्वलक्षणानन्यत्वासभवात संहतानां धारणाकर्पणादिसामर्थ्यं विशेषो न पुनरपरमाणुत्व, येनाविशेष. कार्यकारणपरमाणूना न भवेदिति चेत्, न, सर्वथा तदविशेषे तत्सामर्थ्यस्यैवायोगात् प्रविभक्तपरमाणूनामपि तत्प्रसङ्गात् । प्रविभक्तत्वादेव न तेषा तत्सामर्थ्यमिति चेत्, तत एवान्यत्रापि तन्नेष्यते, केनचिदपि विशेषान्तरेण तद्विभक्तत्वानिराकरणात् । पृथिव्यादिभूतचतुष्टयस्थितिरेवं विभ्रममात्रं प्राप्नोति, सर्वदा परमाणुत्वाविशेषात् । इष्टत्वाददोष इति चेत्, न, प्रत्यक्षादिविरोधात् । प्रत्यक्षं हि बहिर्वर्णसंस्थानाद्यात्मकं स्ववीयांसमाकारमन्तश्च हर्षाद्यनेकविवर्तात्मकमात्मानं साक्षात्कुर्वद्भ्रान्त चेत्किमन्यदभ्रान्तं यत्प्रत्यक्षलक्षणं बिभृयात् ? प्रत्यक्षाभावे च कुतोनुमानं न विरुध्यते ? न च प्रत्यक्षादिविरोधे स्वसंवेदनमात्रमपि सिध्येत्, सर्वदा सवित्परमाणुमात्रस्यासंवेदनात् । न च कार्यस्य भ्रान्तौ परमाणुसिद्धिस्तत्त्वतः स्यादित्युच्यते ॥ ६७ ॥

कार्यभ्रान्तेरणुभ्रान्तिः कार्यलिङ्गं हि कारणम् । उभयाभावतस्तत्स्थं गुणजातीतरच्च न । ६८ ।

प्रत्यक्षतः परमाणूनां प्रसिद्धेर्नाणुभ्रान्तिरिति चेत्, न, तेषामप्रत्यक्षत्वात् । तथा हि । चक्षुरादिबुद्धौ स्थूलैकाकारः प्रतिभासमानः परमाणुभेदैकान्तवादं प्रतिहन्ति तद्विपरीतानुपलब्धिर्वा । तत्रैतस्याभ्रान्तैकत्वादिप्रतिपत्तिरिति तन्न, परमाणूना चक्षुरादिबुद्धौ स्वभावमनर्पयतां कार्यलिङ्गाभावात्तत्स्वभावाभ्युपगमानुपपत्तेः, प्रविरलवकुलतिलकादीनां जातुचित्प्रत्यक्षतोऽप्रतिपत्तावनेकाकारप्रतिभासस्य च भ्रान्तत्वे तत्स्वभावाभ्युपगमानुपपत्तिवत् । कार्यलिङ्गं हि कारणं परमाणुरूपम् । तत्कथं कार्यस्य भ्रान्तौ भ्रान्तं न भवेत् ? परमाणूनां कार्यस्य चानभ्युपगमे तद्द्वयाभावात्तद्वृत्तयो जातिगुणक्रियादयो न स्युर्व्योमकुसुमसौरभवत् । तद्धि गुणजातिरूपादिसत्तादिस्वभावमितरच्च क्रियाविशेषसमवायाख्यं परमाणुवृत्ति वा स्यात् कार्यद्रव्यवृत्ति वा, न च तदुभयासंभवेभ्युपगन्तुं युक्तं, गगनकुसुमस्याभा-

वेपि तद्वृत्तिसौरभाभ्युपगमप्रसङ्गात् । ततस्तदभ्युपगच्छता कार्यद्रव्यमभ्रान्तमभ्युपगन्तव्यम् । तच्च परमाणूनां परमाणुरूपतापरित्यागेनावयविरूपतोपादाने सति संभाव्यते नान्यथा । तन्न तेषामनन्यतैकान्तः, कार्योत्पत्तौ कथंचिदन्यत्वोपपत्तेः । तत. सौगतवन्न वैशेषिकाणां स्वमतसिद्धिः ॥ ६८ ॥ साङ्ख्यानां च कार्यकारणयोः—

'तच्च परमाणूनामिति' ननु कथमेतत्, आरब्धकार्याणामपि परमाणूनामवयविसमवायित्वेऽपि तद्रूपस्वीकारस्य परमाणुरूपतापरित्यागस्य चायुक्तत्वादिति चेत्, न, आरब्धकार्याणामणूनां स्कन्धस्थानामपि प्रदेशत्वस्वीकारे परमाणुत्व परित्यागस्य कथञ्चिदवयवित्वापत्तेश्चावश्यकत्वात्, सर्वथाऽवयवावयविभेदे शतमाषकारब्धेऽवयविनि माषकशताद्गुरुत्वाधिक्यादवनतिविशेषप्रसङ्गात्, न च गुरुतरद्रव्ययोः समयोरुत्तोलने एकत्र संलग्नतृणादिगुरुत्वाधिक्यानवनतिवदुपपत्तिः अवयविन्यत्यन्तापकृष्टगुरुत्वस्वीकारादिति वाच्यम्, एवं सति तत्तदवयवित्वेन तत्तदवयवगुरुत्वात्यन्तापकृष्टगुरुत्वहेतुत्वकल्पने महागौरवात्, स्वाश्रयसमवेतत्वसम्बन्धेनोत्कृष्टगुरुत्वस्य समवायेनात्यन्तापकृष्टगुरुत्वहेतुत्वस्वीकारे चात्यन्तापकृष्टगुरुत्ववदण्वारब्धस्थले व्यभिचारात्, परमाणावत्यन्तापकृष्टगुरुत्वं पाकजमेवापाकजे च तत्रोक्तहेतुत्वान्न दोष इति चेत्, न, अत्यन्तापकृष्टगुरुत्ववदण्वारब्धेऽपि ततोऽत्यन्तापकृष्टगुरुत्वस्वीकारेऽत्यन्तत्वाविवेचनात् । स्वजन्यावनतिविशेषोत्कृष्टावनतिविशेषप्रयोजकरूपाभाव एवात्यन्तत्वं तादृशात्यन्तापकृष्टगुरुत्वे च गुरुत्वमात्रस्यैवोक्तसम्बन्धेन हेतुत्वान्न दोप इति चेत्, न, तथापि परमाणावेवोत्कृष्टगुरुत्वविश्रामापत्तेः । न च तस्यापि युक्तत्वं, पाषाणारम्भकपरमाण्वारब्धतद्धस्मद्रव्ये पाषाणतुल्यगुरुत्वप्रसङ्गात्, स्वैरं परिभ्रमद्भिस्तत्परमाणुभिर्जगदाक्रमणप्रसङ्गाच्च, तस्मादारब्धकार्यैरणुभिः कथञ्चिदसदेवावयवित्ववद्गुरुत्वं स्वी-

क्रियते ततस्तेषु नानन्यत्वैकान्त इति युक्तम् । एतेनास्तु वा परमाणावेव गुरुत्वं द्व्यणुकादेरधःसंयोगस्तु गुरुत्वसापेक्षपातजन्यावयववेगजवेगाधीनक्रियया, पातव्यवहारस्तु वर्त्तिस्थदीपपातव्यवहारवद् गौणः, न चैवं महावयविपाते बहुविलम्बप्रसङ्गः, मिथो विष्टब्धावयवानां विष्टम्भाधीनक्रियाजन्यवेगेनान्त्यावयविनि द्रुतवेगसम्भवात् पातव्यवहारवत्परम्परया सम्बन्धविशेषेण वा परमाणुगुरुत्वमेव वा पतननियामकमित्यपास्तम्, अधःसंयोगे गुरुत्वस्य सामानाधिकरण्येनैव हेतुत्वात् परमाणुगतगुरुत्वेन परम्परयाऽवयविनिष्ठकार्योत्पत्तौ तद्गतरूपादिनापि चाक्षुषादिकार्यनिर्वाहेऽवयविरूपादेरप्युच्छेदप्रसङ्गात्, सम्बन्धविशेषस्य च प्रदेशस्कन्धभावाख्यतादात्म्यातिरिक्तस्य दुर्वचत्वात्तत्स्वीकारे चाणूनां कथंचिदवयविरूपतापत्ताव(न)न्यत्वस्यानायाससिद्धत्वात् । यदप्युच्यते भट्टाचार्यैर्गुरुत्व एव वा मानाभावो, वायुतेजसोस्तिर्यगूर्ध्वगमनवत् पाथःपृथिव्योरधोगमनस्यासति प्रतिबन्धकेऽदृष्टवदात्मसंयोगादिनैवोपपत्तेः, पतनप्रकर्षस्त्ववयवाधिक्यात्, अवयविनि गुरुत्वापकर्षवादिनापि तथैव वाच्यत्वादिति, तदपि चिन्त्यम्, अवयवाधिक्येन पतनप्रकर्षे महाधूमस्यापि तत्प्रसङ्गात्, स्पर्शविशेषवदवयवाधिक्यस्य तत्प्रयोजकत्वे च स्पर्शविशेषस्यैव तत्त्वौचित्याद्, गुरुत्वस्य च तद्गतजातिविशेषस्यैव कल्पयितुं युक्तत्वात्, एवं हि पतनहेतुतावच्छेदकं गुरुत्वं स्यादिति लाघवम्, परमते तु गुरुत्वत्वमिति गौरवमित्यस्मदेकपरिशीलितः पन्थाः । तदेवं गुरुत्वादिमत्कार्यद्रव्यभेदेन कथञ्चिदन्यत्वमणूनां सिद्धम् । एतेन नित्यत्वात् कार्यद्रव्यानारम्भकत्वाच्चाणूनां नान्यत्वं लौकिकविषयतया द्रव्यसाक्षात्कारत्वावच्छिन्ने त्र्यणुकत्वादिघटकसंयोगानां पिशाचत्वादिघटकसंयोगभिन्नानां स्वजात्येन कारणत्वान्न केवलाणुद्व्यणुकप्रत्यक्षापत्तिः, तादृशसंयोगविशिष्टवृत्तित्वादिकं च गुणादिप्रत्यक्षे तन्त्रमिति केवलाणुद्व्यणुकादिगुणाप्रत्यक्षत्वेऽपि न

त्र्यणुकादिगुणाप्रत्यक्षत्वम्, न चैवं तन्तूनामेव पटत्वे तन्तुषु पट इति धीर्न स्यात्, स्याद्वा तन्तुषु तन्तुरित्यादिकमपीति वाच्यम्, फलबलेन विलक्षणसंयोगवत्त्वरूपतन्तुत्वादेरेव विलक्षणसंयोगवत्त्वरूपपटत्वादिविशिष्टाधारतावच्छेदकत्वस्वीकारात्, पट उत्पन्नः पटो नष्ट इत्यादिधीस्तु विशेषणोत्पादनाशविषया, एकः पट इति प्रतीतिश्चैकं वनमित्यादिवत् समूहैकत्वविषया, पटो महानिति धीरप्यणूनां महत्त्वासम्भवान्महान् धान्यराशिरितिवत् संयोगविशेषरूपं महत्त्वमवगाहत इत्यादि नव्यनास्तिकमतमपास्तम्। विलक्षणसंयोगवत्तावदणुत्वस्य पटत्वरूपत्वे तावत्त्वाप्रत्यये तदप्रत्ययापत्तेः, न च विलक्षणसंयोगत्वादिकमेव पटत्वादिकं तन्तुसंयोगात्पट उत्पन्न इत्यादिव्यवहारायाथार्थ्यापत्तेः, तन्त्वाद्यग्रहे तत्संयोगाग्रहेऽपि पटत्वादिप्रतीतेश्च । किञ्च विलक्षणसंस्थानावच्छेदेन सन्निकर्षाद् यद्द्रव्यगतघटत्वादिग्रहस्तस्योत्पादविनाशभेदादिप्रत्ययानुपपत्त्या पृथगवयविसिद्धिस्तस्य चैकस्याप्यावृतानावृतत्वरक्तारक्तत्वसकम्पनिष्कम्पत्वादिना भेदाद्देशप्रदेशरूपतासिद्धौ कथं नाणूनामवयविप्रदेशतयाऽन्यत्वं, तेन कथञ्चिन्नित्यत्वस्याव्याहतेः, सर्वथा नित्यत्वस्य च क्वाप्यनभ्युपगमात्। किञ्च विभागजातोत्पत्त्याऽप्यणूनामन्यत्वं साधनीयम्, अन्यथा कपालादीनामपि तदुच्छेदापत्त्या सत्कार्यवादापत्तेरिति दिग्॥ ६८ ॥

एकत्वेऽन्यतराभावः शेषाभावोऽविनाभुवः। द्वित्वसंख्याविरोधश्च संवृतिश्चेन्मृषैव सा ॥ ६९ ॥

कार्यस्य हि महदादेः कारणस्य च प्रधानस्य परस्परमेकत्वं तादात्म्यम् । तस्मिन्नभ्युपगम्यमानेऽन्यतरस्याभावः स्यात्। ततः शेषस्याप्यविनाभुवोऽभावः। इति सर्वाभाव प्रसज्यते। यदि पुनः कार्यस्य कारणेऽनुप्रवेशात्पृथगभावेपि कारणमेकमास्ते एव नित्यत्वादिति मतं, तदा द्वित्वसंख्याविरोधोपि, सर्वथैकत्वे तदसंभवात् कार्यकारणभावादिवत्। संवृतिरेव द्वित्वसंख्या तत्रेति चेत्, तर्हि

मृषैव सा तद्वदेव प्रसक्ता । तथा च कुतः प्रधानस्याधिगतिः ? न तावत्प्रत्यक्षात्, तस्य तदविषयत्वात् । नाप्यनुमानात्, अभ्रान्तस्य लिङ्गस्याभावात् । न चागमात्, शब्दस्यापि भ्रान्तत्वोपगमात् । न च भ्रान्ताल्लिङ्गादेरभ्रान्तसाध्यसिद्धिरतिप्रसङ्गात् । एवं पुरुषचैतन्ययोराश्रयाश्रयिणोरेकत्वे तदन्यतराभावः । पुरुषे चैतन्यानुप्रवेशे पुरुषमात्रस्य, तस्य वा चैतन्यानुप्रवेशे चैतन्यमात्रस्य प्रसक्तेः सिद्धस्तावत्तदन्यतरस्याभावः परेषाम् । ततः शेषाभावस्तत्स्वभावाविनाभावित्वाद्वन्ध्यासुतरूपसंस्थानवत् । यथैव हि वन्ध्यासुतरूपस्याभावे न तस्य संस्थानं संस्थानिस्वभावाविनाभावित्वात् । तथा पुरुषस्याश्रयस्याभावे चैतन्यस्याश्रयिणोऽप्यभावस्तदभावे पुरुषस्याप्यभावः, तत्स्वभावाविनाभावात् । तथा सति द्वित्वसंख्यापि न स्यात्, पुरुषचैतन्ययोरेकत्वमिति । तत्र संवृतिकल्पना शून्यत्वं नातिवर्तते, परमार्थविपर्ययाद्व्यलीकवचनार्थवत्, परमार्थतः संख्यापाये संख्येयाव्यवस्थानात् सकलधर्मशून्यस्य कस्यचिद्वस्तुनोऽसंभवात् । तन्न कार्यकारणादीनामनन्यतैकान्तः संभवत्यन्यतैकान्तवत् ॥ ६९ ॥

एकत्व इति, अस्यां कारिकायामविनाभूपदम् अविनाभाविकार्यकारणद्वयेऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्यं, तच्च षष्ठ्यन्तमेकत्व इत्यनेनान्वेति, ततश्चाविनाभाविकार्यकारणद्वयस्यैकत्वेऽभ्युपगम्यमानेऽन्यतराभावः स्यात्तस्मिंश्चापन्ने शेषस्याभाव आपद्यत इत्यर्थः, तेन शेषस्याप्यविनाभुवोऽभाव इति व्याख्यास्यमानमार्थेन योगेन, नतु सौत्रेण, अभावान्वितस्य शेषपदार्थस्याविनाभूपदार्थेऽन्वयासम्भवादिति बोध्यम् ॥ ६९ ॥

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम् । अवाच्यतैकान्तेप्युक्ति–र्नावाच्यमिति युज्यते ॥७०॥

अवयवेतरादीनां व्यतिरेकाव्यतिरेकैकान्तौ न वै यौगपद्येन संभविनौ विरोधात् । तथाऽनभिलाप्यतैकान्ते स्ववचनविरोधस्तद-

भिलाप्यत्वात् । अनभिलाप्यतैकान्तस्याप्यनभिलाप्यत्वे कुतः परप्रतिपादनम्? तद्वचनाच्चेत्कथमनभिलाप्यतैकान्तः? परमार्थतो न कश्चिद्वचनात्प्रतिपाद्यते इति चेत्, स्वयमवाच्यताप्रतिपत्तिः कथम्? वस्तुनि वाच्यतानुपलब्धेश्चेत्, सा यदि दृश्यानुपलब्धिस्तदा सिद्धा कचिद्वाच्यता । नो चेन्नास्ति तदभावनिश्चयोऽतिप्रसङ्गात् । विकल्पप्रतिभासिन्यन्यापोहे प्रतिपन्नाया एव वाच्यतायाः स्वलक्षणे प्रतिषेधाददोष इति चेत्, न, वस्तुवाच्यतायाः प्रतिषेधायोगात्, तदन्यापोहमात्रवाच्यताया एव प्रतिषेधात् । न चान्यापोहवाच्यतैव वस्तुवाच्यता तत्प्रतिषेधाविरोधात् । निरस्तप्रायश्चायमवाच्यतैकान्त इत्यलं प्रसङ्गेन । स्याद्वादाभ्युपगमे तु न दोषः, कथंचित् तथाभावोपलब्धेः । सर्वं हि वस्तु व्यञ्जनपर्यायात्मकतया वाच्यमर्थपर्यायात्मकत्वेनावाच्यमिति स्याद्वादिभिर्व्यवस्थाप्यते, अन्यथा प्रमाणाभावात् ॥ ७० ॥

व्यञ्जनपर्यायात्मकतया वाच्यमिति अभिलाप्यपर्यायात्मना वाच्यमित्यर्थः, अर्थपर्यायात्मकत्वेनावाच्यमिति घटादेरपि षड्गुणहानिवृद्धिरूपागुरुलघुपर्यायात्मनाऽवाच्यत्वव्यवस्थितिरित्यर्थः । एवं गौर्गोत्वेन गोपदशक्यो न पशुत्वेनेत्यादिप्रतीत्यापि वाच्यावाच्यत्वानेकान्तो भावनीयः ॥ ७० ॥ कार्यकारणादीनामनन्यतैकान्तदूषणेन तदनेकान्तस्य प्रक्रान्तत्वात् द्रव्यपर्याययोस्तदुपसंहारे उपक्रमोपसंहारविरोधः स्यादित्यालोच्य व्याचष्टे—

तदेवमवयवावयव्यादीनामन्यत्वाद्येकान्त निराकृत्याधुना तदनेकान्तं सामर्थ्यसिद्धमपि दुराशङ्कापनोदार्थं दृढतरं निश्चिचीषवः सूरयः प्राहुः ।

द्रव्यपर्याययोरैक्यं तयोरव्यतिरेकतः । परिणामविशेषाच्च शक्तिमच्छक्तिभावतः ॥ ७१ ॥

संज्ञासंख्याविशेषाच्च स्वलक्षणाविशेषतः । प्रयोजनादिभेदाच्च तन्नानात्वं न सर्वथा ॥ ७२ ॥

गुणिसामान्योपादानकारणाना द्रव्यशब्दाद्ग्रहणम् । गुणव्यक्तिकार्यद्रव्याणां पर्यायशब्दात् । तदेवं द्रव्यपर्यायावेकं वस्तु, प्रतिभासभेदेप्यव्यतिरिक्तत्वात् । यत्प्रतिभासभेदेप्यव्यतिरिक्तं तदेकं, यथा वेद्यवेदकज्ञान रूपादिद्रव्यं वा मेचकज्ञानं वा । तथा च द्रव्यपर्यायौ न व्यतिरिच्येते । तस्मादेकं वस्त्विति मन्तव्यम् । पर्यायादवास्तवाद्व्यतिरिक्तमेव द्रव्यं वास्तवमेकेषाम् । द्रव्यादवास्तवाद्व्यतिरिक्त एव पर्यायो वास्तवः परेषाम् । ततोऽसिद्धो हेतुरिति न मन्तव्यं, तदन्यतरापायेऽर्थस्यानुपपत्तेः । तथा हि न द्रव्य केवलमर्थक्रियानिमित्तं क्रमयौगपद्यविरोधात् केवलपर्यायवत् । पर्यायो वा न केवलोऽर्थक्रियाहेतुस्तत एव केवलद्रव्यवत् । क्रमयौगपद्यविरोधस्तत्रासिद्ध इति चेत्, न, द्रव्यस्य पर्यायस्य वा सर्वथैकस्वभावस्य क्रमयौगपद्यादर्शनात्, अनेकपर्यायात्मन एव द्रव्यस्य तदुपलम्भात् । वास्तवत्वेपि द्रव्यपर्याययोरव्यतिरेकोऽसिद्धः, कुटादिद्रव्याद्रूपादिपर्यायाणा ज्ञानप्रतिभासभेदाद् घटपटादिवदिति चेत्, न, तस्यैकत्वाविरोधित्वात् । उपयोगविशेषाद्रूपादिज्ञाननिर्भासभेदः स्वविषयैकत्वं न वै निराकरोति, सामग्रीभेदे युगपदेकार्थोपनिबद्धविशदेतरज्ञानवत् । ततो नासिद्धो हेतुः । नापि विशेषणविरुद्धः, प्रतिभासभेदस्य विशेषणस्याव्यतिरिक्तहेतुना विरोधासिद्धेः । स्यान्मतम् अव्यतिरिक्तमैक्यमेवोच्यते । ततोऽय साध्याविशिष्टो हेतुरनित्यः शब्दो निरोधधर्मकत्वादिति यथा । ततो न गमक इति, तदसत्, कथंचिदप्यशक्यविवेचनत्वस्याव्यतिरिक्तस्य हेतुत्वेन प्रयोगात् । व्यतिरेचन व्यतिरिक्तं विवेचनमिति यावत् । न विद्यते व्यतिरिक्तमनयोरित्यव्यतिरिक्तौ । तयोर्भावोऽव्यतिरिक्तत्वमशक्यविवेचनत्वम् । इति व्युत्पादनात्तयोरैक्यमेव वस्तुत्वमिति साध्यस्येष्टत्वान्न साध्यमेव हेतुर्यतो न गमकः स्यात् । न चेतदसिद्धमशक्यविवेचनत्व, विवक्षितद्रव्यपर्यायाणा द्रव्यान्तर नेतुमशक्यत्वस्य

सुप्रतीतत्वाद्वेद्यवेदकाकारज्ञानवत् तदाकारयोर्ज्ञानान्तरं नेतुमशक्यत्वस्यैव तस्याभिमतत्वात्। तयोरयुतसिद्धत्वादेवमिति चेत, किमिदमयुतसिद्धत्वं नाम ? न तावद्देशाभेदः, पवनातपयोस्तत्प्रसङ्गात्। नापि कालाभेदस्तत एव। स्वभावाभेद इति चेत्, न सर्वथासौ युक्तो विरोधात्। कथंचिच्चेत्तदेवाशक्यविवेचनत्वम्। स एवाविष्वग्भावः समवाय इति परमतसिद्धिः, अन्यथा तस्याघटनात्। पृथगनाश्रयाश्रयित्व पृथगगतिमत्त्वं चायुतसिद्धत्वमित्यपि नाशक्यविवेचनत्वादन्यत्प्रतिभाति। ततो न साध्यसाधनशून्यमुदाहरणमपि। रूपादिद्रव्यं वेत्यप्युदाहरणमुपपन्न, प्रतीतिसिद्धत्वात्, रूपादिद्रव्ययोः समवायस्याशक्यविवेचनत्वस्यैवाव्यतिरिक्तत्वस्य साधनस्य सद्भावादैक्यस्य चैकवस्तुत्वस्य साध्यस्य निर्णीतेः। धर्मिग्राहकप्रमाणेन बाधनात्कालात्ययापदिष्टो हेतुरित्यपि न सत्यं, तेन धर्मिणोः कथंचिद्भिन्नयोरेव ग्रहणात्, सर्वथा भिन्नयोर्द्रव्यपर्यायत्वासंभवात् सह्यविन्ध्यवत्। ननु द्रव्यपर्याययोर्भिन्नयोः कथमभेदो विरोधादिप्रसङ्गादिति चेत्, न, तथोपलम्भान्मेचकज्ञानवत् सामान्यविशेषवद्वा। न हि तत्र विरोधवैयधिकरण्यसंशयव्यतिकरसंकरानवस्थाऽप्रतिपत्त्यभावाः प्रसज्यन्ते, तेषा तथा प्रतीत्यापसारितत्वात्। न च प्रकृतयोस्तथा प्रतीतिरसत्या, सर्वदाऽन्यथा प्रतीत्यभावात्। तदेवं सति विरोधाद्युपालम्भश्चतुरस्रधियां मनो मनागपि न प्रीणयति, वर्णादेरप्यभावप्रसङ्गात्। द्रव्यमेवैक, न वर्णादयो, विचारासहत्वाद्वर्णाद्येव वानेक, न द्रव्यं नाम, तस्य विचार्यमाणस्य सर्वथानुपपत्तेरित्येकत्वानेकत्वैकान्तौ नान्योन्यं विजयेते, दूषणसमाधानयोः समानत्वात्, द्वयोरपि भावस्वभावप्रतिबन्धात्। द्रव्यैकत्वस्य भावस्वभावस्यैकान्तिकस्य प्रत्यक्षादिविरोधात् वर्णादिपर्यायैकान्तस्वभावस्य चाबाधितप्रत्यभिज्ञाननिराकृतत्वात् सिद्धं द्रव्यपर्याययोः कथंचिदैक्यम्॥ भेदः कथ सिद्धः ? इत्युच्यते, यत्परस्परविविक्तस्वभावपरिणामसंज्ञासंख्याप्रयोजनादिकं तद्भिन्नलक्षणं, यथा रूपादि, तथा च द्रव्यपर्यायौ तस्माद्भिन्नलक्षणावित्यनुमानात्, परस्परविविक्तस्वभावपरिणामौ

हि द्रव्यपर्यायौ, द्रव्यस्यानाद्यनन्तैकस्वभाववैश्रसिकपरिणामत्वात्। पर्यायस्य च साद्यन्तानेकस्वभावपरिणामत्वात्। ततो नासिद्धः परिणामविशेषादिति हेतुः। एतेन शक्तिमच्छक्तिभावः सिद्धः कथितः। परस्परविविक्तस्वभावसञ्ज्ञासंख्याविशेषौ च द्रव्यपर्यायौ, द्रव्ये द्रव्यमिति, पर्याये पर्याय इत्यन्वर्थसञ्ज्ञायाः प्रसिद्धेः, एकं द्रव्यमित्येकत्वसंख्यायाः, पर्याया बहव इति बहुत्वसंख्यायाश्चानुपचरितायाः प्रसाधनात्। ततः सञ्ज्ञासंख्याविशेषाच्चेत्यपि नासिद्धं साधनम्। द्रव्यस्यैकत्वान्वयज्ञानादिकार्यत्वात् पर्यायस्यानेकत्वव्यावृत्तिप्रत्ययादिकार्यत्वान्न तयोः परस्परविविक्तस्वभावप्रयोजनत्वमसिद्धम्। द्रव्यस्य त्रिकालगोचरत्वात् पर्यायस्य वर्तमानकालत्वाद्भिन्नकालत्वमपि न तयोरसिद्धं भिन्नप्रतिभासवत्। ततः प्रसिद्धाद्धेतोर्भिन्नलक्षणत्वं तयोः सिध्यत्येव। इति स्वलक्षणविशेषतस्तन्नानात्वं सिद्धम्। स्वमसाधारणं लक्षणं स्वलक्षणम्। तस्य विशेषो लक्ष्याविनाभावित्वं, तत एव तस्य लक्षणत्वोपपत्तेः॥ नन्वसाधारणं रूपं वस्तुनो लक्षणमित्युच्यमाने सर्वं भिन्नं प्रमेयत्वादित्यनुपसंहार्यस्यापि लक्षणत्वप्रसङ्ग इति चेत्, न, कर्मतया प्रमितिजनकत्वस्य प्रमेयत्वस्यानुपसंहार्यस्यापि लक्षणत्वाविरोधात् सत्त्ववत्। सद्वस्तुलक्षणम्, "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" इति वचनात्। ननु च यन्न सन्न तद्वस्तु, यथा शशविषाणमिति विपक्षस्यासतः सिद्धेर्नानुपसंहार्यं सत्त्वं, सपक्षविपक्षरहितस्य पक्षव्यापिनोऽनुपसंहार्यत्वादिति चेत्, तत एव प्रमेयत्वमप्यनुपसंहार्यं मा भूत्, खरविषाणस्यासतो भिन्नत्वानाश्रयस्य कर्मत्वेन प्रमित्यजनकस्याप्रमेयस्य विपक्षस्य भावात्। सर्वशब्देन सतोऽसतश्च ग्रहणान्न तस्य विपक्षत्वमिति चेत्, तर्हि सद्ग्रहणेन भावस्य भावान्तरस्वभावप्रागभावादेश्च स्वीकरणात् कस्यचित् तद्विपक्षत्वं मा भूत्। पराभ्युपगतस्यानुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तस्य विकल्पबुद्धिप्रतिभासिनो विपक्षत्वे सदसद्वर्गाभावस्य पराभ्युगतस्याप्रमाणविषयस्य विपक्षत्वमस्तु सर्वथा विशेषाभावात्। इति नानुपसंहार्यस्य संभवो, यतः पक्षव्यापिन एवासाधा-

रणस्य वस्तुलक्षणत्वं न स्यात्, विद्यमानयोरविद्यमानयोर्वा सपक्षविपक्षयोरसतः पक्षव्यापिनोऽसाधारणत्ववचनात्। एतेन पक्षाव्यापकस्यासाधारणत्व प्रत्युक्तं, तस्यासाधारणैकदेशत्वाल्लक्षणत्वायोगादग्नेरुष्णत्ववत्। न हि तत् सकलाग्निव्यक्तिष्वस्ति, प्रदीपप्रभादिष्वनुद्भूतोष्णस्पर्शेष्वभावात्। न चानुद्भूतमपि लक्षणं युक्तमप्रसिद्धत्वात्। यदि पुनरुष्णस्पर्शयोग्यत्वं पावकस्य लक्षणं स्यान्न कश्चिद्दोषः पक्षव्यापिनोऽसाधारणत्वसिद्धेः। एतेनाविद्यमाने विपक्षेऽसतोऽसंभवत्सपक्षस्यासाधारणत्वमुपदर्शितं प्रत्येयम्। विद्यमाने च सपक्षेऽसतोऽसंभवद्विपक्षस्य पक्षव्यापिनोऽसाधारणस्य लक्षणत्वमविरुद्धं शब्दस्यानित्यत्वे श्रावणत्ववत्। न हि तद् घटादावनित्ये सपक्षे विद्यमानेप्यस्ति। नाप्यस्य विपक्षो नित्यैकान्तः सभवति, शब्दत्वस्यापि सदृशपरिणामलक्षणस्य कथंचिदनित्यत्वात्, शब्दाभावस्य च शब्दान्तरस्वभावस्येतरेतराभावप्रध्वंसाभावरूपस्यानित्यत्वात् पक्षादन्यत्वानुपपत्तेः। अशब्दात्मनोऽश्रावणत्वात् साधीय एव श्रावणत्वं शब्दस्य लक्षणं, शब्दात्मकत्वाभावेऽनुपपद्यमानत्वात्। इत्यन्यथानुपपद्यमानरूपं पक्षव्यापि लक्षणमनवद्यत्वात्। तत्र द्रव्यस्य लक्षणं गुणपर्ययवत्त्वं, "गुणपर्ययवद्द्रव्यम्" इति वचनात्, क्रमाक्रमभाविविचित्रपरिणामाभावे द्रव्यस्य लक्षयितुमशक्तेः, द्रव्यस्यापाये गुणपर्ययवत्त्वस्यानुपपत्तेः कार्यद्रव्ये घटादिविशेषे गुणवत्त्वस्य भावान्नवपुराणादिपर्याययोगित्वस्य च भावान्नाव्याप्तिर्लक्षणस्य। नाप्यतिव्याप्तिः, स्पर्शादिविशेषेषु क्रमजन्मसु पर्यायेषु स्पर्शादिसामान्येषु सहभाविषु गुणेषु चाभावात्। तथा पर्यायस्य तद्भावो लक्षणं, "तद्भावः परिणाम" इति वचनात्। तेन तेन प्रतिविशिष्टेन रूपेण भवनं हि परिणामः, सहक्रमभाविष्वशेषपर्यायेषु तस्य भावादव्याप्त्यसंभवात्, तदभावे च द्रव्ये तदनुपपत्तेः। इति प्रमाणसिद्धं भिन्नलक्षणत्वं द्रव्यपर्याययोः कथंचिन्नानात्वं साधयति, रूपाद्युदाहरणस्यापि साध्यसाधनवैकल्याभावात्, कथंचिन्नानात्वेन व्याप्तस्य भिन्नलक्षणत्वस्य परस्परविविक्तस्वभावपरिणामादित्वेन साधनात्। रूपादेर्हि

लक्षणं रूपादिबुद्धिप्रतिभासयोग्यत्वं भिन्नं प्रसिद्धं कथंचित्तन्नानात्वं चेति निरवद्यमुदाहरणम्। ननु च भिन्नलक्षणत्वं स्यान्नानात्वं च न स्याद्विरोधाभावात्। ततः सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिको हेतुरिति न शङ्कनीयं, विरुद्धधर्माध्यासास्खलद्बुद्धिप्रतिभासभेदाभ्यां च वस्तुस्वभावभेदसिद्धेः। अन्यथाऽनानैकं जगत्स्यात्, तदभ्युपगमे पक्षान्तरासम्भवादिति, विपक्षे बाधकप्रमाणसद्भावान्निश्चितव्यतिरेकत्वात् साधनस्य द्रव्यपर्याययोः सर्वथैकत्वे विरुद्धधर्माध्यासस्यास्खलद्बुद्धिप्रतिभासभेदस्य चायोगाद्भिन्नलक्षणत्वस्यानुपपत्तेः, व्यापकस्य ग्राहकस्य चाभावे व्याप्यस्य विषयस्य चाव्यवस्थितेः। व्यवस्थितौ वा भिन्नलक्षणत्वस्य न किंचिदेकं जगति स्यात्। नापि नाना, विरुद्धधर्माध्यासाद्यभावेपि नानात्वस्य सिद्धौ तस्य तत्साधनत्वायोगात्। न चासाधना कस्यचित्सिद्धिरतिप्रसङ्गात्। न च नानात्वैकत्वाभ्युपगमे प्रकारान्तरमस्ति, यतो जगदनानैकं न स्यात्। न हि विरुद्धधर्माध्यासेतराभ्यामन्यन्नानात्वैकत्वस्वरूपम्। नाप्यस्खलद्बुद्धिप्रतिभासभेदाभेदाभ्यामन्यत्तत्साधन, यत्प्रकारान्तर स्यात्। ततः कारिकाद्वयेन सामान्यविशेषात्मानमर्थं संहृत्य तत्रापेक्षानपेक्षैकान्तप्रतिक्षेपायाह भगवान् वास्तवमेव इति, स्यान्नानात्वमेव स्वलक्षणभेदात्। स्यादेकत्वमेवाशक्यविवेचनत्वात्। स्यादुभयमेव क्रमार्पितद्वयात्। स्यादवक्तव्यमेव सहार्पितद्वयाद्वक्तुमशक्यत्वात्। स्यान्नानात्वावक्तव्यमेव विरुद्धधर्माध्याससहार्पितद्वयात्। स्यादेकत्वावक्तव्यमेव, अशक्यविवेचनसहार्पितद्वयात्। स्यादुभयावक्तव्यमेव क्रमाक्रमार्पितद्वयात्। इति सप्तभङ्गीप्रक्रिया दृष्टेष्टाविरुद्धाऽत्रबोद्धव्या पूर्ववत्॥ ७१–७२॥

कार्यादेर्भेद एव स्फुटमिह नियतः सर्वथा कारणादे–रित्याद्येकान्तवादोद्धततरमतयः शान्ततामाश्रयन्ति।
प्रायो यस्योपदेशादविघटितनयान्मानमूलादलङ्घ्यात्, स्वामी जीयात् स शश्वत्प्रथिततरयतीशोऽकलङ्कोरुकीर्तिः॥१॥

इत्याप्तमीमांसालंकृतौ चतुर्थः परिच्छेदः ॥ ४ ॥

'गुणीत्यादि' ततो नासिद्धो हेतुरिति, तत उक्तकारणात्, द्रव्यपर्याययोरैक्ये साध्ये प्रतिभासभेदेऽप्यव्यतिरिक्तत्वादिति मूलोक्तो हेतुर्नासिद्ध इत्यर्थः। नित्यनिरोधधर्मकत्वादिति अनित्यधर्मत्वादित्यर्थः। अत्राह साध्यहेत्वोः शब्दभेद एव नत्वर्थभेदस्तद्वत्प्रकृतानुमानेऽपीति साध्याविशेषदोपप्रसङ्गो युक्त इत्यर्थः। प्रतीतिसिद्धत्वादिति, अस्याव्यतिरिक्तत्वस्येत्यनेनान्वयः। धर्मिग्राहकप्रमाणेनेति धर्मिणोर्ग्राहकप्रमाणेनेत्यर्थः। कथञ्चिद्भिन्नयोरेवेति अभेदसंवलितभेदवतोरित्यर्थः। द्रव्यस्यैकत्वान्वयेत्यादि एकत्वान्वयज्ञानादि कार्यं यस्येति बहुव्रीह्युत्तरस्त्वप्रत्ययो द्रष्टव्यः। एवं पर्यायस्यानेकत्वेत्यादावपि, कर्मतयेति लक्ष्यतावच्छेदकसमनियतधर्मवचनत्वस्यैव लक्षणत्वादसंकीर्णव्यवहारस्यैव च तत्प्रयोजनत्वादिति भावः। एतेन पक्षव्यापिन एवासाधारणस्य वस्तुलक्षणत्वप्रतिपादनेन, तस्य पक्षैकदेशवर्त्तिनोऽसाधारणस्य, उपदर्शितं प्रत्येयमिति अग्निमात्रस्योष्णस्पर्शयोगित्वलक्षण इति गम्यम् ॥ शब्दस्यानित्यत्वे श्रावणत्वदिति अत्र हि श्रावणत्वं लक्ष्यतावच्छेदकसमनियतत्वेन लक्षणं भवदनुगतानतिप्रसक्तव्यवहार इवानित्यत्वसाधनेऽपि प्रत्यलमिति तत्र सपक्षावृत्तित्वमबाधकमिति भावः। पक्षव्यापि लक्षणमिति उक्ततत्त्वमेतत्, न च वह्न्युष्णस्पर्शौ प्रमेयावित्यत्र वह्निलक्षणवाक्यत्वप्रसङ्गः। तत्र लक्ष्ये लक्ष्यतावच्छेदकसमनियतत्वसंसर्गेण तद्धर्म्मबोधकवचनत्वं तत्र तल्लक्षणवाक्यत्वमित्युक्तौ दोपाभावादिति दिग्। भाष्ये अनानैकं जगत् स्यादिति नानात्वरहितं जगत् स्यादित्यर्थः। तदभ्युपगमे नानात्वाभ्युपगमे, पक्षान्तरासम्भवाद्विरुद्धधर्माध्यासास्खलद्बुद्धिप्रतिभासभेदातिरिक्तप्रकाराभावादित्यर्थः। शिष्टं स्पष्टम् ॥ ७१-७२ ॥

“ कार्योपादानयोर्वा ननु गुणगुणिनोर्व्यक्तिजात्योरनन्या—
न्यत्वैकान्तान्धकारैर्जगदिदमखिलं नीतमान्ध्यं समन्तात् ।
व्यक्तस्याद्वादमार्गाः प्रतिहतकुमतोलूकनेत्रप्रचारा—
स्तत्प्रध्वंसाय सज्जा भुवनगुरुगिरः सूर्यभासो जयन्ति ॥ १ ॥

इति श्रीमदकब्बरसुरत्राणप्रदत्तजगद्गुरुविरुदधारिभट्टारकश्रीहीरविजयसूरीश्वरशिष्यमुख्यमहोपाध्यायश्रीकल्याणविजयगणिशिष्यावतंसपण्डितश्रीलाभविजयगणिशिष्यालङ्कारपण्डितश्रीजीतविजयगणिसतीर्थ्यशेखरपण्डितश्रीनयविजयगणिचरणकमलचञ्चरीकेण पण्डितश्रीपद्मविजयगणिसहोदरेण महोपाध्यायश्रीयशोविजयगणिना विरचितेऽष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणे चतुर्थः परिच्छेदः ॥

॥ अष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणे चतुर्थः परिच्छेदः समाप्तः ॥

ॐ ॥ अथ पञ्चमः परिच्छेदः ॥ ॐ

स्फुटमकलङ्कपदं या प्रकटयति परिष्टचेतसामसमम् । दर्शितसमन्तभद्रं साष्टसहस्री सदा जयतु ॥ १ ॥

यद्यापेक्षिकसिद्धिः स्या–न्न द्वयं व्यवतिष्ठते । अनापेक्षिकसिद्धौ च न सामान्यविशेषता ॥ ७३ ॥

धर्मधर्मिणोरापेक्षिकी सिद्धिः, प्रत्यक्षबुद्धौ तदनवभासनाद्दूरेतरादिवत् । न हि प्रत्यक्षबुद्धौ धर्मो धर्मी वा प्रतिभासते, तत्पृष्ठभाविविकल्पोपकल्पितत्वात्, तस्य स्वलक्षणस्यैव तत्र प्रतिभासनात्, शब्दापेक्षया सत्त्वादेर्धर्मत्वेपि ज्ञेयत्वापेक्षायां धर्मित्वव्यवहरणात्, तदपेक्षया ज्ञेयत्वस्य धर्मत्वेप्यभिधेयत्वापेक्षाया धर्मित्वव्यवहारात्, तदपेक्षया चाभिधेयत्वस्य धर्मत्वे प्रमेयत्वापेक्षायां धर्मित्वप्रसिद्धेः । इति न कचिद्धर्मो धर्मी वा व्यवतिष्ठते । ततो न तात्त्विकोऽसौ । न हि नीलस्वलक्षणं सवित्स्वलक्षणं वा प्रत्यक्षमवभासमानं किंचिदपेक्ष्यान्यथाभावमनुभवदुपलब्धम् । केवलमपेक्षाबुद्धौ विशेषणविशेष्यत्वं सामान्यविशेषत्वं गुणगुणित्वं क्रियाक्रियावत्त्वं कार्यकारणत्व साध्यसाधनत्वं ग्राह्यग्राहकत्वं वा प्रकल्प्यते, दूरेतरत्वादिवत् । इति यद्यापेक्षिकसिद्धिः स्यात्तदा न द्वयं व्यवतिष्ठते नीलस्वलक्षणं तत्संवेदनं चेति, तयोरप्यापेक्षिकत्वाद्विशेषणविशेष्यत्वादिवत् । तथा हि । ययोः सर्वथा परस्परापेक्षाकृता सिद्धिस्तयोर्न व्यवस्था । यथा परस्पराश्रययोः सरिति प्लवमानयोः । तथा च नीलतद्वेदनयोः सर्वथापेक्षाकृता सिद्धिः । इति तद्द्वयमपि न व्यवतिष्ठते । न हि नीलं नीलवेदनानपेक्षं सिध्यति, तस्यावेद्यत्वप्रसङ्गात् सविन्निष्ठत्वाच्च वस्तुव्यवस्थानस्य । नापि नीलानपेक्षं नीलवेदनं, तस्य तस्मादात्मलाभोपगमादन्यथा निर्विषयत्वापत्तेः । इत्यन्यतराभावे शेषस्याप्यभावाद्द्वयस्याव्यवस्थानं स्यात् ।

एतेन नीलवासनातो नीलवेदनमित्यस्मिन्नपि दर्शने द्वयाव्यवस्थितिरुक्ता, तयोरन्योन्यापेक्षैकान्ते स्वभावतः प्रतिष्ठितस्यैकतरस्याप्यभावेन्यतराभावादुभय न प्रकल्प्येत, नीलवेदनाभावे तद्वासनाविशेपस्याव्यवस्थितेरन्यथातिप्रसक्तेः, तद्वासनाविशेपमन्तरेण नीलवेदनस्याव्यवस्थितेरन्यथा निर्निमित्तत्वापत्तेः । स्यान्मतं, नीलवेदनस्य स्वत प्रकाशनान्नायं दोप इति, तदसत्, परस्परापेक्षैकान्तविरोधात्, दण्डादेर्विशेपणस्य स्वबुद्धौ स्वतः सिद्धेः सामान्यादेरपि स्वग्राहिणि ज्ञानेऽन्यानपेक्षस्य प्रतिभासनाद्विशेष्यविशेपणादेरपि तथा प्रसिद्धेर्द्वयाभावानवकाशात् । तत एव दूरेतरादिदृष्टान्तोपि साध्यसाधनधर्मविकलः स्यात्, दूरासन्नभावयोरपि स्वभावविवर्तविशेपाभावे समानदेशादेरपि प्रसङ्गात् । न च समानदेशकालस्वभावयोरन्योन्यापेक्षयापि दूरासन्नभावव्यवहार., खरविपाणयोरिव तत्स्वभावशून्ययोस्तदयोगात् । तदिमौ स्वभावतः स्तामन्यथेतरेतराश्रयदोपानुपङ्गात् । एतेन स्वाश्रयशब्दाद्यपेक्षया सत्त्वादेर्धर्मत्वेन स्वधर्मापेक्षायां धर्मित्वं नाव्यवस्थाकारित्वेनायुक्तमिति प्रकाशित, तथाविधस्वभावविशेपाभावे परापेक्षयापि धर्मधर्मिभावानुपपत्तेः, अनन्तत्वाच्च धर्माणां तदपेक्षिणामप्यपर्यन्तत्वात्, अन्यथाभिप्रेतधर्मधर्मिणोरप्यव्यवस्थापत्तेः । इति नापेक्षैकान्तः श्रेयान् । योप्याह 'धर्मधर्मिणोः सर्वथा नापेक्षिकी सिद्धिः, प्रतिनियतबुद्धिविपयत्वान्नीलादिस्वरूपवत्, सर्वथानापेक्षिकत्वाभावे प्रतिनियतबुद्धिविपयत्वानुपपत्तेः खपुष्पवत्' इति, तस्यानपेक्षापक्षेपि नान्वयव्यतिरेकौ स्याता, भेदाभेदयोरन्योन्यापेक्षात्मकत्वाद्विशेपेतरभावस्य । अन्वयो हि सामान्य, व्यतिरेको विशेपः । तौ च परस्परापेक्षौ व्यवतिष्ठेते । तयोरनापेक्षिकसिद्धौ च न सामान्यविशेपता । प्रतिनियतबुद्धिविपययोरपि प्रतिनियतपदार्थता स्यान्नीलपीतवत् । न ह्यभेदो भेदनिरपेक्षः प्रतिनियतान्वयबुद्धिविपयोस्ति, नापि भेदो जातुचिदभेदनिरपेक्षः प्रतिनियतव्यतिरेकबुद्धिविपयः सभाव्यते, कचिदेकव्यक्तेरपि प्रथमदर्शनकाले तद्बुद्धिविपयत्वप्रसङ्गात्। तदनेन प्रति-

नियतबुद्धिविषयत्वस्य हेतोर्विरुद्धत्व प्रतिपादित, तस्य कथंचिदापेक्षिकत्वेन व्याप्तत्वात् प्रत्यक्षबुद्धिप्रतिभासित्ववत्। ततो नैतावेकान्तौ घटेते, वस्तुव्यवस्थानाभावानुषङ्गात् ॥७३॥

॥ अथेदं पञ्चमपरिच्छेदतात्पर्यविवरणम् ॥

सहेलं खेलन्तं शिशुषु बहुवेलं धृतजय-स्पृहेलं वेताले तनुविजितताले प्रददतम् ॥
पविप्रायां मुष्टिं जनितजनतुष्टिं स्वहृदये, महावीरं धीरं गुणगणगभीरं प्रणिदधे ॥ १ ॥
अहीन्द्रः पाताले स्वफणतनुसङ्कोचमकरोद्, ययुर्दिग्नागास्ते क्वचन गिरयः पेतुरभितः ॥
यदंह्रेः सङ्घट्टाच्चलति सुरशैले परमिला, स्थिता यन्माहात्म्यात्तमिह जिनवीरं प्रणिदधे ॥ २ ॥

पञ्चमे सापेक्षत्वानपेक्षत्वस्याद्वादसिद्ध्यर्थमुपक्रमः । **अपेक्षाबुद्धाविति** व्यावर्त्तकव्यावर्त्यत्वाद्यपेक्षाजनितविकल्पबुद्धावित्यर्थः । **यद्यापेक्षिकसिद्धिः स्यादिति** सर्वत्रेति शेषः । **नीलस्वलक्षणं तत्संवेदनं चेति**, तयोरपि सर्वकुक्षिप्रविष्टत्वादिति भावः । **तयोरप्यापेक्षिकत्वादिति** आपेक्षिकत्वप्रसङ्गादित्यर्थः । **नहि नीलमित्यादि**, यद्यप्येवमेकस्योत्पत्तावन्यस्य च ज्ञप्तावनपेक्षेति नैकरूपेणापेक्षाविषयत्वं द्वयोः, तथापि निश्चयापेक्षया तथात्वं भावनीयं, प्रसङ्गस्य वस्तुस्थित्यनपेक्षत्वात् । **परस्परापेक्षैकान्तविरोधादिति**, यद्यप्येतद्दूषणं न सौगतं प्रति सङ्गच्छते, सर्वत्र तेन परस्परापेक्षैकान्तानभ्युपगमात्, सङ्कलनात्मकविकल्पज्ञान एव तेन तत्स्वीकारात्, तथापि धर्मधर्मिभावादेः स्वरूपद्वयानतिरिक्तत्वात्तदुभयग्राहिदर्शनेऽपि परस्परापेक्षत्वमापाद्य तं प्रत्येवेदमिति बहवः । सविकल्पग्राह्यमेव सर्वमिति शब्दनयविदं प्रतीति तु सम्मत्यनुसारिणः । भाष्ये **तदिमाविति** । **इमौ दूरासन्नभावौ**, इतरेतराश्रयदोषानुषङ्गादिति दूरप्रतिपत्तावासन्नस्य प्रतिपत्तिस्त-

त्प्रतिपत्तौ च तस्येत्येवमित्यर्थः। उत्पत्तिपक्षेऽपि दूरापेक्षाबुद्ध्यासन्नत्वस्यासन्नापेक्षाबुद्धया च दूरत्वस्योत्पत्तेरन्योन्याश्रयो भावनीयः। अन्यथा सर्वेषां धर्मधर्मिणां स्वतः सिद्धयभावे, अपेक्षैकान्तो धर्मधर्म्यादीनामपेक्षाबुद्धिग्राह्यत्वैकान्तः। तस्य कथञ्चिदिति धर्मधर्मित्वादिना प्रतिनियतबुद्धिविषयत्वस्यापेक्षिकत्वेन व्याप्यत्वादित्यर्थः। प्रत्यक्षबुद्धिप्रतिभासित्ववदिति प्रत्यक्षबुद्धिप्रतिभातदूरत्वासन्नत्ववदित्यर्थः ॥ ७३ ॥

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम्। अवाच्यतैकान्तेप्युक्ति–र्नावाच्यमिति युज्यते ॥७४॥

अनन्तरैकान्तयोर्युगपद्विवक्षा मा भूद्विप्रतिषेधात् सदसदेकान्तवत् स्याद्वादानाश्रयणात्। तथानभिधेयत्वैकान्तेपीति कृतं विस्तरेण, सदसत्त्वाभ्यामनभिधेयत्वैकान्तवत्।७४। इति कथंचिदापेक्षिकत्वेतरानेकान्तं प्रतिपक्षप्रतिक्षेपसामर्थ्यात्सिद्धमपि दुरारेकापाकरणार्थमाचक्षते,–

धर्मधर्म्यविनाभावः सिध्यत्यन्योन्यवीक्षया। न स्वरूपं स्वतो ह्येतत् कारकज्ञापकाङ्गवत् ॥७५॥

धर्मधर्मिणोरविनाभावोन्योन्यापेक्षयैव सिध्यति, न तु स्वरूपं, तस्य पूर्वसिद्धत्वात्। स्वतो ह्येतत्सिद्धं सामान्यविशेषवत्। सामान्यं हि स्वतःसिद्धस्वरूपं भेदापेक्षान्वयप्रत्ययादवगम्यते। विशेषोपि स्वतः सिद्धस्वरूपः सामान्यापेक्षव्यतिरेकप्रत्ययादवसीयते। न केवलं सामान्यविशेषयोः स्वलक्षणमपेक्षितपरस्पराविनाभावलक्षण स्वतःसिद्धलक्षणमपि तु धर्मधर्मिणोरपि गुणगुण्यादिरूपयोः, कर्तृकर्मबोध्यबोधकवत् [कारकाङ्गकर्तृकर्मवत् ज्ञापकाङ्गबोध्यबोधकवच्च]। न हि कर्तृस्वरूपं कर्मापेक्षं कर्मस्वरूपं वा कर्त्रपेक्षम्, उभयासत्त्वप्रसङ्गात्। नापि कर्तृत्वव्यवहारः कर्मत्वव्यवहारो वा परस्परानपेक्षः, कर्तृत्वस्य कर्मनिश्चयावसेयत्वात्, कर्मत्वस्यापि कर्तृप्रतिपत्तिसमधिगम्यमानत्वात्। एतेन बोध्यबोधकयोः प्रमेयप्रमाणयोः स्वरूपं स्वतःसिद्धं ज्ञाप्यज्ञापकव्यवहारस्तु परस्परापेक्षासिद्ध

इत्यभिहितम्। तद्वत्सकलधर्मधर्मिभूतानामर्थानां ‘ (१) स्यादापेक्षिकी सिद्धिः, तथा व्यवहारात्। (२) स्यादनापेक्षिकी पूर्वप्रसिद्धस्वरूपत्वात्। (३) स्यादुभयी क्रमार्पितद्वयात्। (४) स्यादवक्तव्या, सहार्पितद्वयात्। (५) स्यादापेक्षिकी चावक्तव्या च, तथा निश्चयेन सहार्पितद्वयात्। (६) स्यादनापेक्षिकी चावक्तव्या च, पूर्वसिद्धत्वसहार्पितद्वयात्। (७) स्यादुभयी चावक्तव्या च, क्रमाक्रमार्पितोभयात्। ’ इति सप्तभङ्गीप्रक्रिया योजयेन्नयविशेषवशादविरुद्धां पूर्ववत् ॥ ७६ ॥

अपेक्षैकान्तादिप्रबलगरलोद्रेकदलिनी, प्रवृद्धानेकान्तामृतरसनिषेकानवरतम् ॥
प्रवृत्ता वागेषा सकलविकलादेशवशतः, समन्ताद्भद्रं वो दिशतु मुनिपस्याऽमलमतेः ॥ १ ॥

॥ इत्याप्तमीमांसालङ्कृतौ पञ्चमः परिच्छेदः ॥

‘ धर्मेत्यादि ’ धर्मधर्मिणोर्न विना भावो यस्येति व्युत्पत्त्याऽविनाभावो व्यवहारोऽन्योन्यवीक्षयाऽन्योन्यापेक्षया, सिद्ध्यति। नतु स्वरूपं, हि यतः, एतत् स्वरूपं, कारकज्ञापकाङ्गवत् कर्तृकर्मबोध्यबोधकवत् स्वत एव सिद्धं, तथा च धर्मधर्म्यादेः स्वरूपतोनपेक्षत्वं व्यवहारतश्च सापेक्षत्वमित्यनेकान्त एव विजयत इति कारिकासङ्क्षेपार्थः। ‘तद्वत् सकलेत्यादि’ यद्यपि केचिद्भावाः प्रतिनियतव्यञ्जकव्यङ्ग्याः केचिच्च स्वतः सिद्धा इत्येवं विषयविभागेन–सापेक्षानपेक्षभावोऽन्यत्र शरावकर्पूरगन्धन्यायेन पूर्वाचार्यैर्व्यवस्थापितः, तथापि स प्रातिस्विकरूपापेक्षया, धर्मधर्मिभावादिना तु सर्वत्र तद्व्याप्तिरेव सिद्ध्यतीत्येतत्तात्पर्यम्। अथ व्यवहारस्य सापेक्षत्वेऽर्थस्य कुत आपेक्षिकत्वमिति चेत्, व्यवह्रियमाणस्वरूपेण तस्यापि तदविरोधात्, अत एव अभावो न स प्रतियोगिकः, किन्तु तद्व्यवहार एवेति मीमांसकमतमपास्तम्। अभावव्यवहारे प्रतियोगिज्ञानज-

न्यतयेवाभावे प्रतियोगिज्ञानजन्यज्ञानविषयतया सप्रतियोगिकत्वस्याबाधितत्वात्, स्यादनापेक्षिकी पूर्वप्रसिद्धस्वरूपव-(त्वा)वदिति, न च पूर्वप्रसिद्धस्वरूपेऽपि महत्त्वादाववधिज्ञानसापेक्षसिद्धिकत्वाद् दृष्टान्तानुपपत्तिः, महत्त्वव्यवहार एव हि तथा नतु महत्त्वमिति व्यवहारानुप्रवेशेन तस्यापेक्षिकत्वेऽपि स्वरूपतोऽतथात्वेन दोषाभावात्। यत्तु महत्त्वं न सापेक्षं, किन्तु तद्गतजातिविशेष एव, तस्य महत्त्वगतजातिसामान्यग्राहकातिरिक्तापेक्षग्रहविषयत्वेन सापेक्षत्वव्यवस्थितेः, अत एवार्द्धावृतेऽवयविनि महत्त्वग्रहेऽपि तद्गतहस्तवितस्तित्वादिजात्यग्रह आवरणप्रतिबन्धादिति नैयायिकैकदेशिभिरुच्यते, तदसत्, आवरणसंयोगस्य स्वाश्रयसमवेतसमवेतत्वसम्बन्धेन महत्त्वगतजातिविशेषग्रहप्रतिबन्धकत्वे आवृतानावृततुल्यवंशद्वयसन्निकर्षस्थलेऽनावृतवंशेऽपि महत्त्वविशेषाग्रहप्रसङ्गात्, जातिविशेषप्रकारकमहत्त्वग्रहे उक्तप्रतिबन्धकत्वे चावरणस्थले महत्त्वनिर्विकल्पकापत्तेर्दुर्वारत्वाच्चेति व्यवहारानुप्रवेशेनैव महत्त्वे आवरणाभावसापेक्षत्वस्य युक्तत्वादित्यधिकं 'नयामृततरङ्गिण्यां' निरूपितमस्माभिरिति तत एवाधिगन्तव्यम् ॥ ७५ ॥

"इत्यपेक्षानपेक्षाभ्यां भङ्गसप्तकसङ्गतिः। निरूपणीया सर्वत्र स्याद्वादामलबुद्धिभिः ॥१॥ अर्थे नये प्रमाणे च तत्प्रयुक्ते बलाबले। प्रयोजनानुसारेण भावनीये मनीषिभिः ॥२॥ बाह्ये चाभ्यन्तरे हेतौ निश्चयव्यवहारयोः। प्रत्यक्षे च परोक्षे च विशेषो यत्कृतोऽखिलः ॥३॥ अपेक्षाद्येकान्तप्रशमजसमत्वामृतरसो-ल्लसच्चेतो वृत्तिर्यदमलगुणं पश्यति यमी। तमीशं स्याद्वादप्रणयनसमुज्जीवितजग-ज्जनं वन्दे मन्देतरभविकसन्देहदलनम् ॥४॥

इति महोपाध्यायश्री यशोविजयगणिविरचितेऽष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणे पञ्चमः परिच्छेदः सम्पूर्णः ॥

ॐ ॥ अथ षष्ठः परिच्छेदः ॥ ॐ

पुष्यदकलङ्कवृत्तिं समन्तभद्रप्रणीततत्त्वार्थाम् । निर्जितदुर्णयवादामष्टसहस्रीमवैति सद्दृष्टिः ॥ १ ॥

सिद्धं चेद्धेतुतः सर्वं न प्रत्यक्षादितो गतिः । सिद्धं चेदागमात्सर्वं विरुद्धार्थमतान्यपि ॥ ७६ ॥

इह हि सकललौकिकपरीक्षकैः उपेयतत्त्वं व्यवस्थाप्योपायतत्त्वं व्यवस्थाप्यते, कृष्यादिषु प्रवर्तमानाना व्यवस्थितसस्याद्युपेयानामेव तदुपायव्यवस्थापनप्रयत्नोपलम्भात्, 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोपि प्रवर्तते' इति प्रसिद्धेः, मोक्षार्थिनां च प्रेक्षावता व्यवस्थितोपेयमोक्षस्वरूपाणामेव तदुपायव्यवस्थापनव्यापारदर्शनात्, अव्यवस्थितमोक्षतत्त्वाना तदुपायव्यवस्थापनपराङ्मुखत्वाच्चार्वाकादिवत् । तत्र हेतुत एव सर्वमुपेयतत्त्वं सिद्धं, न प्रत्यक्षात्, तस्मिन्सत्यपि विप्रतिपत्तिसम्भवात्, युक्त्या यन्न घटामुपैति तदहं दृष्ट्वापि न श्रद्दधे इत्यादेरेकान्तस्य बहुलं दर्शनात्, अर्थानर्थविवेचनस्यानुमानाश्रयत्वात्तद्विप्रतिपत्तेस्तद्व्यवस्थापनाया हेत्वादिवचनात् । प्रत्यक्षतदाभासयोरपि व्यवस्थितिरनुमानात्, अन्यथा सकरव्यतिकरोपपत्तेरर्थानर्थविवेचनस्य प्रत्यक्षाश्रयत्वासभवात् । इति केचित्तेषां प्रत्यक्षाद्गतिरनुमानादादितोपि न स्यात् । न च धर्मिणः साधनस्योदाहरणस्य च प्रत्यक्षादगतौ कस्यचिदनुमा न प्रवर्तते । अनुमानान्तरात्तद्गतौ तस्यापि धर्म्यादिगतिपूर्वकत्वादनुमानान्तरमपेक्षणीयमित्यनवस्था स्यात् । ततः कथंचित्साक्षात्करणमन्तरेण धर्म्यादीनां न क्वचिदनुमान प्रवर्तेत । किं पुनः शास्त्रोपदेशात् ? इति प्रत्यक्षादपि सिद्धिरभ्यस्तविषयेभ्युपगन्तव्या, अन्यथा शब्दलिङ्गादिप्रतिपत्तेरयोगात्, परार्थानुमानरूपाणामपि शास्त्रोपदेशानामप्रवृत्तेः । ये त्वाहुः—'आगमादेव सर्वं सिद्धं, तमन्तरेण प्रत्यक्षेपि माणिक्यादौ यथार्थनिर्णयानुपपत्तेः, अनुमानप्रति-

पक्षेऽपि चिकित्सितादावागमापेक्षणात्, आगमबाधितपक्षस्यानुमानस्यागमकत्वाच्च, परब्रह्मणः शास्त्रादेव सिद्धेः, प्रत्यक्षानुमानयोरविद्या-विवर्तविषयत्वादागमविषये सन्मात्रात्मनि परमात्मन्येव प्रमाणत्वव्यवहरणात् । अबाधिताश्चैते शास्त्रोपदेशाः 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादयः, प्रत्यक्षानुमानयोस्तदविषयत्वेन तद्बाधकत्वायोगात्' इति, तेषां विरुद्धार्थमतान्यपि शास्त्रोपदेशेभ्यः सिध्यन्तु, विशेषाभावात् । सम्यगुपदेशेभ्यस्तत्त्वसिद्धिरिति चेत्, तर्हि युक्तिरपि तत्त्वसिद्धिनिबन्धनं, तत एव तेषां सम्यक्त्वनिर्णयात्, अदुष्टकारणजन्यत्व-बाधवर्जितत्वाभ्यां तदुपगमात् । न चैते युक्तिनिरपेक्षाः, परस्परविरुद्धार्थतत्त्वसिद्धिप्रसङ्गात्, परब्रह्मण एवापौरुषेयादागमात्सिद्धिर्न पुनः कर्मकाण्डस्येश्वरादिप्रवादस्य चेति नियामकाभावात् । कथं च श्रौत्रप्रत्यक्षस्याप्रमाणत्वे वैदिकशब्दस्य प्रतिपत्तिर्यतस्तदर्थनिश्चयः स्यात्? प्रमाणत्वे कुतोऽनुमानाभावे संवादविसंवादाभ्यां प्रमाणेतरसामान्याधिगमो यतः किंचिदेव श्रौत्रं प्रत्यक्षं प्रमाणं नान्यदिति व्यवतिष्ठेत? ततः कुतश्चिदागमात्तत्त्वसिद्धिमनुरुध्यमानेन प्रत्यक्षानुमानाभ्यामपि तत्त्वसिद्धिरनुमन्तव्या, अन्यथा तदसिद्धेः । प्रत्यक्षानुमानाभ्यामेव तत्त्वसिद्धिर्नागमादित्यपरे, तेऽपि न सत्यवादिनः, ग्रहोपरागादेस्तत्फलविशेषस्य च ज्योतिःशास्त्रादेव सिद्धेः । न च प्रत्यक्षानुमानाभ्यामन्तरेणोपदेशं ज्योतिर्ज्ञानादिप्रतिपत्तिः । सर्वविदः प्रत्यक्षादेव तत्प्रतिपत्तिरनुमानविदां पुनरनुमानादपीति चेत्, न, सर्वविदामपि योगिप्रत्यक्षात्पूर्वमुपदेशाभावे तदुत्पत्त्ययोगादनुमानाभाववत् । ते हि श्रुतमयीं चिन्तामयीं च भावनां प्रकर्षपर्यन्तं प्रापयन्तोऽतीन्द्रियप्रत्यक्षमात्मसात्कुर्वते, नान्यथा । तथानुमानविदामपि नात्यन्तपरोक्षेष्वर्थेषु परोपदेशमन्तरेण साध्याविनाभाविसाधनधर्मप्रतिपत्तिः संभवति, सर्वज्ञत्वप्रसङ्गात् इति चिन्तितमन्यत्र । ततो नैतावप्येकान्तौ युक्तौ ॥ ७६ ॥ (अथ षष्ठप० विवरणम्)

मन्थक्षुब्धार्णवाम्भः सजलजलधरोत्तुङ्गगङ्गाप्रवाहध्वानस्पर्द्धाविधायी प्रसरणरसतो व्याप्नुवन् दिग्विभागान्।

बोधाय ब्राह्मणानाममृतमधरयन् वीरवक्त्राद्विनिर्य–न्नुच्चैः निःखेदवेदध्वनिरुपचिनुताच्छर्म तात्पर्यशुद्धः॥१॥
वेदाः खेदाय ते ये शतपथविहितैः कर्मभिः कर्मनाट्यै–र्हिंसोद्बोधे प्रवृत्ताः शमदमरहितैः सङ्गृहीताश्च जाल्मैः।
ये तूद्धृत्त्यादिमांगान्मुनिभिरुपरतश्राद्धपाठाय क्लृप्ता-स्ते मन्त्रब्राह्मणाख्याः प्रभुगुणविषयाः सर्व एव प्रमाणम्॥

षष्ठे हेत्वागमैकान्तनिराकरणाय प्रक्रमः, तत्र हेतुवादैकान्तसिद्धये केषाञ्चिद्युक्तिमुपन्यस्यति इह हीत्यादिना, तन्मतं दूषयति तेषामित्यादिना, अनुमानादितोऽप्यनुमानप्राकालेऽपि, प्रत्यक्षात्प्रत्यक्षप्रमाणाद्, गतिर्ज्ञानं, पक्षादेर्न स्यादिति योजना। न चेति, तथा च प्रामाण्यसंशयमूलार्थसंशयनिराकरणरूपविवेचनेऽनुमानस्यैव तन्मूलव्याप्त्यादिपरिच्छेदे प्रत्यक्षस्याप्युपयोगाद् द्वयोस्तुल्यत्वमित्यर्थः। प्रामाण्यग्रहेऽप्यनभ्यस्तविषयेऽनुमानस्यैवाभ्यस्तविषये प्रत्यक्षस्यैवोपयोगस्तत्र स्वतः प्रामाण्यग्रहस्यैवोपपादितत्वात् स्वत इत्यस्य च स्वेनैवेत्यर्थात् स्वांशे च सर्वत्र ज्ञाने प्रत्यक्षत्वेष्टेरित्यभिप्रायवानाह भाष्यकृत् कथमित्यादिना, चित् साक्षात्करणमन्तरेण कथं क्वचिदनुमानं प्रवर्तते न कथञ्चित् क्वापीत्यर्थः। शास्त्रोपदेशात्प्रवर्त्तते इति पुनः किं वाच्यम्। अनुमानसामान्याप्रवृत्तौ परार्थानुमानरूपविशेषप्रवृत्तेरयोगादित्यर्थः। तदेवाह वृत्तिकृत् प्रत्यक्षादपीत्यादिना, आगमैकान्तवादियुक्तिमुपन्यस्यति ये त्वाहुरित्यादिना, 'तमन्तरेणेति' अत्र पद्मरागत्वमुपदेशसहकृतेन्द्रियवेद्यमिति नैयायिकसम्प्रदायविदः। नव्यास्तु भिन्नप्रमाणयोरेकज्ञानाजनकत्वेन न परस्परसहकारित्वमिति पद्मरागत्वप्रत्यक्षे रूपविशेषग्रहणमेव हेतुः, रूपादिविशेषवान् मणिः पद्मराग इत्युपदेशस्तु गोसदृशो गवय इत्यतिदेशवाक्यवत् पद्मरागपदवाच्यत्वोपमितावुपयुज्यत इत्याहुः, तदसत्, रूपविशेषपद्मरागत्वयोर्ग्रहस्य तुल्यसामग्रीकत्वाच्छिक्षातः पूर्वं रूपविशेषग्रहेऽपि पद्म-

रागत्वाग्रहात्, स्वविशेष्यसमवेतत्वसम्बन्धेन तस्य पद्मरागत्वप्रत्यक्षहेतुत्वे सदृशपद्मरागद्वयस्थले तदविशेष्यसन्निकर्षेणापि पद्मरागत्वप्रत्यक्षापत्तेरुक्तोपदेशस्य तत्रानुपयोगे च पद्मरागतदन्यसंशयनिवृत्त्यर्थं तदाश्रयणस्योपदेशात्पद्मरागं साक्षात्करोमि न तूपमिनोमीत्यौत्तरकालिकानुभवाकारस्यानुपपत्तेश्च, तस्मादुक्तोपदेशस्य रूपविशेषे पद्मरागत्वव्याप्तिग्राहकत्वेन रूपविशेषग्रहस्य च समानविशेष्यत्वप्रत्यासत्त्या पद्मरागत्वप्रकारकप्रत्यक्षे हेतुत्वेनोपयोगाद्रूपविशेषवान् पद्मराग इत्यस्यैकोपयोगत्वे निश्चितापायत्वं, भिन्नोपयोगत्वे च सङ्कलनज्ञानात्मकत्वं कररेखाविशेषवान् शतवर्षजीवीत्यतोऽयं शतवर्षजीवीति ज्ञानस्येत्थमेवोपपत्तेरिति परिचितस्याद्वादरत्नाकरोपनिषदो वयं पश्यामः । रूपविशेषरेखाविशेषादिग्रहाणामननुगतत्वात्पद्मरागत्वप्रकारकप्रत्यक्षे स्वजन्यमण्युद्देश्यकपद्मरागत्वविधेयकग्रहोद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्नप्रकारताकग्रहविषयत्वसम्बन्धेनोपदेशत्वेनैव हेतुत्वं युक्तमित्ययमपि साम्प्रदायिकमतनिष्कर्षस्तार्किकचेतसः प्रीतिकर एवेति ध्येयम् । अपरे इति बौद्धादयः, तेऽपि हेतुवादप्रविष्टा इव मन्तव्याः । प्रमाणस्यापि सतः प्रत्यक्षस्य तैरनुमानैकप्राणत्वाभ्युपगमात्, यत्रैव जनयेदित्यादिन्यायेनानुमाननिश्चित एवार्थे तत्प्रामाण्यव्यवस्थितेरिति मन्तव्यम् ॥ ७६ ॥

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम् । अवाच्यतैकान्तेप्युक्ति-र्नावाच्यमिति युज्यते ॥७७॥

युक्तीतरैकान्तद्वयाभ्युपगमोपि मा भूत्, विरुद्धयोरेकत्र सर्वथासभवात्, स्याद्वादन्यायविद्विषा कथंचित्तदनभ्युपगमात् । तदवाच्यत्वेपि पूर्ववत् स्ववचनविरोधप्रसङ्गः ॥७॥ सम्प्रति युक्तीतरानेकान्तमुपदर्शयन्ति ।

वक्तर्यनाप्ते यद्धेतोः साध्यं तद्धेतुसाधितम् । आप्ते वक्तरि तद्वाक्या-त्साध्यमागमसाधितम् ॥७८॥

कः पुनराप्तोऽनाप्तश्च ? यस्मिन् सति वाक्यात्साधितं साध्यमर्थतत्त्वमागमात् साधितं स्याद्धेतोस्तु यत्साध्यं तद्धेतुसाधितमिति विभागः सिध्यतीति चेदुच्यते,—यो यत्राविसंवादकः स तत्राप्तस्ततोऽपरोऽनाप्तः। कः पुनरविसंवादो येनाविसंवादकः स्यात्? तत्त्वप्रतिपादनमविसंवादः, तदर्थज्ञानात्। तदर्थज्ञानं पुनः प्रस्फुटव्यवसायरूपं साक्षादसाक्षाद्वावसीयते, परमार्थतस्तस्य संशयविपर्यासानध्यवसायव्यवच्छेदफलत्वात्। तत्राविसंवादक एवाप्त इत्यवधार्यते। अनाप्तस्तु कदाचिदपि विसंवादक उच्यते, यथार्थज्ञानादिगुणस्य विसंवादकत्वायोगात्। तेनातीन्द्रिये जैमिनिरन्यो वा श्रुतिमात्रावलम्बी नैवाप्तस्तदर्थापरिज्ञानात्तथागतवत्। नात्र निदर्शनं साधनधर्मविकलं, तथागतस्य श्रुत्यर्थधर्मापरिज्ञानात् 'बुद्धादेर्धर्माद्युपदेशो व्यामोहादेव केवलात्' इति स्वयमभिधानात्। न चासिद्धो हेतुर्जैमिनेर्ब्रह्मादेर्वा श्रुत्यर्थपरिज्ञानस्य सर्वथाप्यसंभवात्। तद्धि प्रत्यक्षं वा श्रौतं वा स्यात्? न तावत्प्रत्यक्षं, तस्यासर्वज्ञत्वात्, श्रुतिमात्रावलम्बितत्वाच्च। न हि तादृशोऽतीन्द्रियार्थज्ञानमस्ति दोषावरणक्षयातिशयाभावात्। न हि प्रतिनियतदोषावरणक्षयमात्रे सत्यपि धर्माधर्मादिसाक्षात्करणं युक्तं, तस्य तत्परिक्षयातिशयहेतुकत्वेन व्यवस्थापितत्वात्। नापि श्रौतं तदर्थपरिज्ञानं, श्रुत्यविसंवादात्पूर्वमसिद्धेः। श्रुतेः परमार्थवित्त्वं, ततः श्रुतेरविसंवादनमित्यन्योन्यसंश्रितम्। न ह्यप्रसिद्धसंवादायाः श्रुतेः परमार्थपरिज्ञानं जैमिन्यादेः संभवति, अतिप्रसङ्गात्। नापि परमार्थवित्त्वमन्तरेण तत्त्वप्रतिपादनलक्षणमविसंवादनं, यतोऽन्योन्याश्रयणं न स्यात्। ननु न श्रुतेरविसंवादात्प्रामाण्यम्। किं तर्हि? स्वत एव। ततो न दोष इति चेत्, स्वतः श्रुतेर्न वै प्रामाण्यमचेतनत्वाद् घटवत्। सन्निकर्षादिभिरनैकान्तिकत्वमयुक्तं, तत्प्रामाण्यानभ्युपगमान्मुख्यरूपतः। अथापि कथंचित् तत्प्रमाणत्वं स्यादविसंवादकत्वात्। सन्निकर्षादेरविसंवादकज्ञानकारणत्वेन तथोपचारसिद्धिरिति मन्येमहि। तथापि श्रुतेरयुक्तमेव, तदभावात्। तेनोपचारमात्रमपि न स्यात्, तदर्थबुद्धिप्रामाण्यासिद्धेः।

न हि श्रुतिरविसंवादिज्ञानस्य कारणं येनोपचारतः प्रमाणं स्यादिति निवेदितं प्राग्—भावनादिश्रुतिविषयाविसंवादकत्वनिराकृतिप्रस्तावे। आप्तवचनं तु प्रमाणव्यपदेशभाक्, तत्कारणकार्यत्वात्। प्रमाणकारणकं हि तत्, तदतीन्द्रियार्थदर्शनोत्पत्तेस्तदर्थज्ञानोत्पादनाच्च प्रमाणकार्यकम्। नैतत् श्रुतेः सम्भवति, सर्वथाप्तानुक्तेः पिटकत्रयवत्। वक्तृदोषात्तादृशोऽप्रामाण्यं तदभावाच्छ्रुतेः प्रामाण्यमिति चेत्, कुतोऽय विभाग' सिध्येत्? पिटकत्रयादेः पौरुषेयत्वस्य स्वयं सौगतादिभिरभ्युपगमाद्वेदवादिभिश्च श्रुतेरपौरुषेयत्वोपगमादिति चेत्, सोयमभ्युपगमानभ्युपगमाभ्या क्वचित्पौरुषेयत्वमन्यद्वा व्यवस्थापयतीति सुव्यवस्थितं तत्त्वम्। एतेन कर्तृस्मरणाभावादयः प्रत्युक्ताः। स हि श्रुतौ कर्तृस्मरणादिमत्त्वदृष्टकर्तृकसमानत्वाद्यभावमभ्युपगममात्राद्व्यवस्थापयति तद्भावं चेतरत्रानभ्युपगमात्। न च तथा तत्त्वं व्यवतिष्ठते, वेदेतरयोरविशेषात्। इतरत्र बुद्धो वक्तेति चेत्, तत्र कमलोद्भवादिरिति कथं न समानम्? यथैव हि पिटकत्रये बुद्धो वक्तेति सौगता' प्रतिपाद्यन्ते तथा वेदेपि ते अष्टकान् काणादाः, पौराणिकाः कमलोद्भवं, जैनाः कालासुरं वक्तारमनुमन्यन्ते। सुदूरमपि गत्वा तदङ्गीकरणेतरमात्रे व्यवतिष्ठेत श्रुतिवादी, प्रमाणबलात्तदवक्तृकत्वस्य साधयितुमशक्तेः। स्यान्मतं "यद्वेदाध्ययनं सर्वं तदध्ययनपूर्वकम्। वेदाध्ययनवाच्यत्वा—दधुनाध्ययन यथा ॥१॥ इति प्रमाणाद्वेदे वक्तुरभावो, न पुनरभ्युपगममात्रात्" इति तदयुक्तं, पिटकत्रयादावपि तत एव वक्त्रभावप्रसङ्गात्। वेदाध्ययनवदितरस्यापि सर्वदाध्ययनपूर्वाध्ययनत्वप्रक्लृप्तौ न वक्त्र वक्रीभवति, यतो विद्यमानवक्तृकेपि भावादध्ययनवाच्यत्वस्यानैकान्तिकत्वं न स्यात्। वेदविशेषणस्याध्ययनवाच्यत्वस्यान्यत्राभावान्नानैकान्तिकतेति चेत्, तर्हि पिटकत्रयादिविशेषणस्य वेदादावसम्भवादव्यभिचारिता कथं न भवेत्? तथा च वेदवदवेदस्याप्यपौरुषेयत्व प्रामाण्यनिबन्धनं याज्ञिकाना प्रवर्तकं स्यान्न वा वेदेपि, विशेषाभावात्, दुर्भणनदुःश्रवणादीनामसदाद्युपलभ्याना तदतिशयान्तराणां च शक्यक्रियत्वादितरत्रापि, परोक्षाया

मन्त्रशक्तेरपि दर्शनात्। न ह्याथर्वणानामेव मन्त्राणां शक्तिरुपलभ्यते, न पुनः सौगतादिमन्त्राणामिति शक्यं वक्तुं, प्रमाणबाधनात्। वैदिका एव मन्त्रा परत्रोपयुक्ताः शक्तिमन्त इत्यप्ययुक्तं, प्रावचनिका एव वेदेपि प्रयुक्ता इत्युपपत्तेस्तत्र भूयसामुपलम्भात् समुद्राद्याकरेषु रत्नवत्। न हि कियन्त्यपि रत्नानि राजकुलादावुपलभ्यमानानि तत्रत्यान्येव, तेषां रत्नाकरादिभ्य एवानयनात् तद्भवत्वसिद्धेर्भूयसा तत्रोत्पत्तिदर्शनात्। तद्वत्प्रवचनैकदेशविद्यानुवादादेव सकलमन्त्राणा समुद्भूतिविस्तीर्णात्, न पुनर्वेदात्तल्लवमात्रादिति युक्तमुत्पश्यामः। वेदस्यानादित्वादपौरुषेयत्वाच्च तन्मन्त्राणामेवाविसवादकत्व सभवतीति चायुक्तं, तदप्रसिद्धेः। सिद्धेपि तदनादित्वे पौरुषेयत्वाभावे वा कथमविसवादकत्व प्रत्येतव्यम्? म्लेच्छव्यवहारादेस्तादृशो बहुलमुपलम्भात् तेन तस्य व्यभिचारात्। एतेन वेदैकदेशेन स्वयमप्रमाणतयोपगतेनानादित्वस्यापौरुषेयत्वस्य चानैकान्तिकत्वमुक्तम्। किं च कारणदोषनिवृत्तेः कार्यदोषाभावकल्पनायां पौरुषेयस्यैव वचनस्य दोषनिवृत्तिः कर्तुर्वीतदोषस्यापि संभवात् 'दोषावरणयोर्हानिः' इत्यादिना ससाधनात्, न पुनरपौरुषेयस्य, तदध्येतृव्याख्यातृश्रोतृणां रागादिमत्त्वाद्वीतरागस्य कस्यचिदनभ्युपगमात्, सर्वथाप्यपौरुषेयस्य तदुपगमेन विरोधात्। नेतरस्य, कथचित्पौरुषेयस्य तदविरोधात्। इति निश्शङ्कं नश्चेतः, त्रिविप्रकृष्टस्यापि निर्णयोपायप्रतिपादनादिति। वक्तृगुणापेक्षं वचनस्याविसंवादकत्वं चक्षुर्ज्ञानवत्, विसवादस्य तद्दोषानुविधानात्। यथैव हि चक्षुर्ज्ञानस्य ज्ञातृगुणं सम्यग्दर्शनादिकमपेक्ष्याविसवादकत्वं, तद्दोषं मिथ्यादर्शनादिकमपेक्ष्य विसवादकत्व चोपपद्यते, तथा वक्तुर्गुणं यथार्थज्ञानादि दोष च मिथ्याज्ञानादिकमपेक्ष्य संवादकत्वं विसवादकत्वं चेति निश्चितं महाशास्त्रे। ततोऽनाप्तवचनान्नार्थज्ञानमन्धरूपदर्शनवत्। न हि जात्यन्धो रूपं दर्शयितुमीशः परस्मै। तथानाप्तोपि नार्थं ज्ञापयितुमतिप्रसङ्गात्। एवमपौरुषेयस्य वचनस्य पौरुषेस्य च गुणवद्वक्तृकस्य कारणदोषाभावान्निर्दोषत्वं समानमतिशयासभवात्। तत्र यदेव युक्तियुक्तं तदेव प्रति-

पत्तुं प्रतिपादयितुं वा शक्यं कथंचित्पौरुषेयत्वं, न तु सर्वथाऽपौरुषेयत्वं, तस्य युक्तियुक्तत्वाभावात् तद्युक्तीना तदाभासत्वसमर्थनात् । तत्रापौरुषेयत्वेपि वा वेदे यदेव युक्तियुक्तं तदेव प्रतिपत्तुं प्रतिपादयितु वा शक्यं वचनमग्निर्हिमस्य भेषजं द्वादश मासाः संवत्सर इत्यादिवत् । नाग्निहोत्रादिवाक्यसाधनं, तस्य युक्तियुक्तत्वविरोधात् । सिद्धे पुनराप्तवचनत्वे यथा हेतुवादस्तथाज्ञावादोपि प्रमाणं, तदाप्तवचनत्वाविरोधात्। ननु चापौरुषेयत्ववदाप्तशासनमप्यशक्यव्यवस्थ, तस्यैव ज्ञातुमशक्तेः, सरागस्यापि वीतरागवच्चेष्टोपलम्भादयमाप्त इति प्रतिपत्त्युपायासत्त्वात् । तस्य शासनमिति व्यवस्थापयितुमशक्तेरित्यपरे । उक्तमत्र सर्वथैकान्तवादाना स्याद्वादप्रतिहतत्वादिति । युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वाद्विनिर्दोषोयमिति शक्य निर्णेतुं, दोषवानयमिति च, दृष्टेष्टविरोधवचनत्वात् । तत्रानिश्चितवचनविशेषस्य कस्यचिद्वीतरागत्वेतराभ्या संदेहेपि निश्चितवचनविशेषस्य शक्यमाप्तत्वं व्यवस्थापयितुम् । तत्राप्तिः साक्षात्करणादिगुणः 'सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षा' इत्यादिना साधित. । सम्प्रदायाविच्छेदो वा । सर्वज्ञादागमस्तदर्थानुष्ठानात् सर्वज्ञ इति सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वात्सिद्धः प्रवचनार्थस्य, अन्यथान्धपरम्परया प्रतिपत्तेः। न ह्यन्धेनाकृष्यमाणोन्ध स्वेष्ट मार्गमाक्रन्दति नाम । न चैवं सम्प्रदायाविच्छेदे परस्पराश्रयण, कारकपक्षे बीजाङ्कुरादिवदनादित्वात्तस्यानवतारात् । ज्ञापकपक्षेपि परस्मात् स्वत सिद्धात्, पूर्वस्य ज्ञप्तेर्नेतरेतराश्रयण, प्रसिद्धेनाप्रसिद्धस्य साधनात्। तदेवं स्यात्सर्वं हेतुतः सिद्ध करणाप्तवचनानपेक्षणात्, स्यादागमात्सिद्धमक्षलिङ्गानपेक्षणात्। स्यादुभयतः सिद्धं, क्रमार्पितद्वयात् । स्यादवक्तव्यं, सहार्पितद्वयात् । शेषभङ्गत्रयं च पूर्ववत् । इति सप्तभङ्गीप्रक्रिया योजनीया ॥७८॥

नैकान्ताद्धेतुवादः प्रभवति सकलं तत्त्वमुन्नेतुमेक—स्तद्वन्नाहेतुवादः प्रवद(भव)ति विहिताशेषशङ्काकलापः ।
इत्यार्याचार्यवर्या विदधति निपुणं स्वामिनस्तत्त्वसिद्ध्यै स्याद्वादोत्तुङ्गसौधे स्थितिममलधियां प्रस्फुटोपायतत्त्वे ॥ १ ॥

इत्याप्तमीमांसालंकृतौ षष्ठः परिच्छेदः ।

वक्तर्यनाप्त इति, वक्तर्यनाप्ते आप्तत्वेनानिश्चिते, साध्यं तदनाप्तत्वग्रहाभावकालीनतद्वाक्यजन्यबोधविषयः, यद्धेतोः प्रामाण्यनिश्चयहेतोः, सिद्ध्यतीति शेषः, निवृत्तप्रामाण्यसंशयाधीनसंशयकं भवतीत्यर्थः, तद्धेतुसाधितमुच्यते, आप्ते आप्तत्वेन निश्चिते वक्तरि, तद्वाक्यात्तद्वाक्यजन्यज्ञानविषयः, साध्यमुद्देश्यसिद्धिकमर्थजातं, स्वत एव निवृत्तसंशयत्वादागमसाधितमुच्यते, आप्तत्वानाप्तत्वग्रहश्च रागद्वेषमोहादिरूपदोषाभावतत्सद्भावाभ्यामन्येन वा सुपरीक्षितेन लिङ्गेनेति ज्ञेयम् । वस्तुतः सर्वत्र यथार्थवक्तृजातीयत्वमेवाप्तत्वग्राहकम्, अत एव "कप्पाकप्पे परिणिट्ठियस्स ठाणेसु पंचसु ठिअस्स संजमतवड्ढगस्स ऊ अविगप्पेणं तहक्कारोत्ति' निर्युक्तिगाथया कल्प्याकल्प्यपरिनिष्ठितत्वादिगुणकदम्बकवद्वक्तृवचनेऽविकल्पेन तथाकारविधाने तदितरवचने विकल्पप्राप्तावपि संविग्नपाक्षिकवचने एकान्तत एव तथाकारः प्रामाण्याभ्युपगमरूपो विधेयः, तदितरयथोक्तगुणाभाववद्वक्तृवचने तु यथा हेतुवादं भजनयेति व्यवस्थितविकल्पो व्याख्यातस्तान्त्रिकैः, अभ्यधिष्महि चैतत् संवादिसामाचारीप्रकरणे "इयरंमि विगप्पेण सो य विगप्पो ववट्ठिओ एसो। संविग्गे गीयम्मि य तहेव अण्णत्थ जुत्तिपमे ॥१॥ त्ति, शक्यक्रियत्वादितरत्रापीति, पिटकत्रयेऽपि वक्तुं शक्यत्वादित्यर्थः। विद्यानुवादादेव विद्याप्रवादपूर्वोद्धृतशास्त्रादेव, 'एतेनेति' मीमांसकस्य कार्येऽर्थ एव चोदनायाः प्रामाण्यादर्थवादरूपमन्त्रैकदेशेऽविसंवादकत्वायोगादनैकान्तिकत्वं स्फुटमेवेति भावः । न पुनरपौरुषेयस्येति, अपौरुषेयस्य पुनः संसाधनाभावादित्यन्वयो व्युत्पत्तिविशेषात्, ईदृशि स्थले प्रकृत्यर्थान्वितनञर्थविभक्त्यर्थयोरन्वयस्वीकारात्, एवमग्रेऽप्युपयुज्य योज्यम्। अत एव न्यायचतुर्थाध्याये "नानुपमृद्य प्रादुर्भावात्" इति सूत्रेऽनुपमृद्य प्रादु-

र्भावाभावादित्यर्थः, " तेषां मोहः पापीयान्नामूढस्येतरोत्पत्तेः " इति सूत्रे च तेषां रागद्वेषमोहानां रागमोहयोर्द्वेषमोहयोर्वा मध्ये मोहः पापीयान् बलवद्द्वेषविषयोऽमूढस्य रागद्वेषानुत्पत्तेरित्यर्थो व्याख्यात इति बोध्यम् । तस्य युक्तियुक्तत्वविरोधादिति ' न हिंस्यात् सर्वाभूतानीत्यादिसामान्यश्रुत्युपबृंहकतर्कविरोधादित्यर्थः । स्यात् सर्वं हेतुतः सिद्धमित्यादि, ननु कथमेतत् कार्त्स्न्येन हेतुसिद्धत्वाद्यभिधानं घटते, हेतुसिद्धागमसिद्धानामर्थानामवान्तरविभागेनैव व्यवस्थितत्वात्, तदाह सम्मतिकारः–" दुविहो धम्मावाओ अहेउवाओ अ हेउवाओ अ, तत्थ उ अहेउवाओ भविया भविआदओ भावा ॥ १ ॥ " अस्या अर्थः–धर्माणामस्तित्वादीनामासमन्ताद्वादस्तत्प्रतिपादक आगमोऽहेतुवादो हेतुवादश्चेति द्विधा, तत्र प्रमाणान्तरानवगतार्थप्रतिपादक आगमोऽहेतुवादः, तद्विपरीतो हेतुवादो, हेतोर्हेतुपरिच्छिन्नस्य वादो हेतुवाद इति व्युत्पत्तेः, तत्र त्वहेतुवादो भव्याभव्यत्वादयो भावाः, विषयाध्यवसानेन विषय्यभिधानमेतत् भव्याभव्यत्वादिप्रतिपादक आगम इत्यर्थः । नह्ययं भव्योऽभव्यो वेत्यत्रास्मदादीनां प्रमाणं प्रवर्त्तते, न च तद्विभागप्रतिपादकं वचनं यथार्थम् अर्हद्वचनत्वादित्यनुमानप्रवृत्तेर्व्याघातः, वचनविभागावच्छेदकत्वेन तत्प्रवृत्तावपि स्वातन्त्र्येण तदप्रवृत्तेः, तथा च भव्याभव्यत्वादयोऽहेतुवादसिद्धाः, अन्ये च हेतुवादसिद्धा इति, व्यास्या प्रकृतसप्तभङ्गी न युक्तेति चेत्, मैवं, स्याच्छब्दमर्यादयैव सर्वानुपपत्तिनिरासात्, अहेतुवादसिद्धस्याप्यर्थस्य तत्तद्धर्म्मिणि तत्प्रतिपादितलिङ्गेन हेतुवादत्वव्यवस्थितेः, तदुक्तं " सम्मतावेव–भविओ सम्मदंसण नाणचरित्तपडिवत्तिसंपुन्नो । णियमा पुक्खंतकडोत्ति लक्खणं हेउवायस्स ॥१॥ " प्रयोगश्चायम् भव्योऽयं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रप्रतिपत्तिसम्पूर्णत्वात् सम्प्रतिपन्नपुरुषवदिति, किं बहुना ? अहेतुवादसिद्धेऽप्यर्थे ततोऽनेकान्तात्मकत्वसाधिका निराकाङ्-

तात्पर्यार्थप्रतिपत्तिपर्यन्ताश्च या उपपत्तयस्ता हेतुवादसिद्धत्वमुपपादयन्ति, श्रुतमात्रेण ज्ञातस्याज्ञातप्रायत्वात्, ताश्चोपपत्तयः श्रुतो-
पयोगानन्यत्वान्न श्रुतत्वव्याहन्त्र्य इत्याद्युपपादितं 'ज्ञानबिन्दा' वस्माभिः। अत एव पदार्थप्रतिपत्त्यागमान् निश्चितमप्यर्थं
सिसाधयिषाधीनपक्षतयाऽनुमिन्वतेऽनुमानरसिकाः, मननसाध्यश्रद्धाविशेषस्येत्थमेवोपपत्तेः, अत एव नियमतः षट्कायश्रद्धा-
नेऽपि जिनवचनरुचिमत्त्वाद्द्रव्यतः सम्यग्दृष्टित्वं, नतु भावतो, भावसम्यग्दर्शनस्य सकलनयविषयविवेचनसाध्यत्वादेकविधद्विवि-
धादिपर्यायापरिच्छेदे तदनुपपत्तेरिति वदन्ति, तदाह सम्मतौ महावादी–णियमेण सद्दहंतो छक्काए भावओ ण सद्दहइ। हंदी
अपज्जवेसु वि सद्दहणा होइ अविभत्ता ॥ १ ॥" अस्या अर्थः—नियमेन षडेवेत्यवधारणेन षट्कायान् श्रद्दधदपि भावतो न
श्रद्धत्ते, प्रकृतधर्मघटितसप्तभङ्गपर्याप्तप्रकारताकबोधादिजनितसमूहालम्बनरुचेरेव प्रकृतधर्मभावश्रद्धापदार्थत्वात्, तदाह अपर्या-
येषु भङ्गान्तरसंवलनरहितेषु धर्मेषु, अपेर्भिन्नक्रमत्वात् श्रद्धाऽप्यविभक्ताऽसम्पूर्णा भवति, द्रव्यश्रद्धापर्यवसन्ना भवतीति यावत्।
अयमस्माकं मनीषोन्मेषः। अन्ये त्वेवमुत्तरार्द्धं व्याचक्षते, हन्दि यतोऽपर्ययेष्वविवक्षितपर्यायेषु पुद्गलेष्वपि श्रद्धाऽविभक्ता एक-
रूपा भवतीति, तथा च पूर्वोत्तरार्द्धाभ्यां जीवपुद्गलयोः सामान्यत एकरूपत्वोपदर्शनात्तदुभयघटितनिकायषट्कैकान्तबाधात्त-
च्छ्रद्धानस्य द्रव्यसम्यक्त्वरूपत्वमेव जिनवचनाभिनिवेशदशायां, स्वाभिनिवेशदशायां तु शुद्धात्मस्वरूपबाधनेन तन्मात्रविश्रान्ता-
न्तरङ्गरत्नत्रयबाधनान्मिथ्यात्वरूपत्वमेवेति तदभिप्रायमप्यविरुद्धमेवाकलयामः। तदेवं विस्ताराज्ञारुचिभेदेन हेतुवादाहेतुवाद-
योर्व्यापकत्वं व्यवस्थितम्, आहरणतद्देशतद्दोषोपन्यासादिहेतुविस्तरस्तु मत्कृतोपदेशामृततरङ्गिणीतो बोध्यः, यथा तद्व्या-
पकत्वे निःशङ्कं चेतः स्यादित्युपरम्यते। व्यवहारतस्तु हेतुबहुलत्वात् प्रायो दृष्टिवादाख्य आगमो हेतुवादः, तदितरश्चाहेतुवाद

उच्यते, तदपेक्षयाऽयं प्रज्ञापकविभागः सम्मतिसिद्धः—"जो हेउवायपक्खम्मि हेउओ आगमे य आगमिओ । सो समयपहावओ सिद्धंतविराहगो अण्णोत्ति ॥१॥" अन्यस्य विराधकत्वं च प्रतिपादकवचस्यनास्थादिदोषोत्पादनादिति बोध्यम् ॥७८॥

"हेत्वागमान्यतरपक्षविपक्षभावाद् यद्ग्रथ्यते निविडमाशु कुयुक्तिजालम् ॥
तच्छेदनाय पटिमानमसौ बिभर्त्ति स्याद्वादपद्धतिरनेकसुयुक्तिजालम् ॥ १ ॥

इति महोपाध्यायश्रीयशोविजयगणिविरचितेऽष्टसहस्रीविवरणे महातर्के षष्ठःपरिच्छेदः ॥

अथ सप्तमः परिच्छेदः ।

निर्दिष्टो यः शास्त्रे हेत्वागमनिर्णयः प्रपञ्चेन । गमयत्यष्टसहस्री संक्षेपात्तमिह सामर्थ्यात् ॥ १ ॥

अन्तरङ्गार्थतैकान्ते बुद्धिवाक्यं मृषाखिलम् । प्रमाणाभासमेवात–स्तत् प्रमाणादृते कथम् ॥ ७९ ॥

अन्तरङ्गस्यैव स्वसंविदितज्ञानस्यार्थता वस्तुता, न वहिरङ्गस्य जडस्य प्रतिभासानर्हस्येत्येकान्तोऽन्तरङ्गार्थतैकान्तः । तस्मिन्नभ्युपगम्यमानेऽखिलं बुद्धिवाक्यं हेतुवादाहेतुवादनिबन्धनमुपायतत्त्वं मृषैव स्यात् । यतश्च मृषा स्यादत एव प्रमाणाभासमेव, प्रमाणस्य सत्यत्वेन व्याप्तत्वात्, मृषात्वेन प्रमाणाभासस्य व्याप्तेः । तच्च प्रमाणाभासं प्रमाणादृते कथं संभवेत् ? तदसंभवे तद्व्यवहारमवास्तवमेवायं स्वप्नव्यवहारमिव सवृत्यापि कथं प्रतिपद्यते ? तज्जन्मकार्यप्रभवादिवेद्यवेदकलक्षणमनैकान्तिकमादर्श्यं संवित्तिरेव खण्डशः

प्रतिभासमाना व्यवहाराय कल्प्यते इत्यभिनिवेशेपि प्रमाण मृग्यम् । न हि प्रमाणाभावे तज्जन्मताद्रूप्यतदध्यवसायान् प्रत्येकं वेद्यवेदकलक्षणं चक्षुपा समानार्थसमनन्तरवेदनेन शुक्तिकायां रजताध्यवसायेन च व्यभिचारयितुमीशः, सह वा समानार्थसमनन्तरज्ञानेन कामलाद्युपहतचक्षुप शुक्ले शङ्खे पीताकारज्ञानसमनन्तरज्ञानेन वा सौत्रान्तिकान्प्रति व्यभिचारि प्रतिदर्शयेत् । कथं वा कार्यनिमित्तकारणत्व तल्लक्षणं यौगान्प्रत्यनैकान्तिक व्यवस्थापयेत् ? कथं च कार्यकारणभावाख्यं प्रभवं काञ्चन प्रति योग्यता वा तल्लक्षणतया व्यभिचारयेत् ? कथ च सवित्तिरेव खण्डशः प्रतिभासमाना वेद्यवेदकादिव्यवहाराय प्रकल्पते इत्यभिनिवेश वा विदधीत ? यतो न प्रमाणं मृगयते । किञ्चास्य विज्ञानवादिनः सविदां क्षणिकत्वमनन्यवेद्यत्वं नानासतानत्वमिति स्वतस्तावन्न सिध्यति, भ्रान्तेः स्वप्नवत् । स्वसवेदनात्स्वतः सिध्यतीति चेत्, न, क्षणिकत्वेनानन्यवेद्यत्वेन नानासतानत्वेन च नित्यत्वेन सर्ववेद्यत्वेनैकत्वेनेव परब्रह्मणः स्वसवेदनाभावात् । तथात्मसवेदनेपि व्यवसायवैकल्ये प्रमाणान्तरापेक्षयानुपलम्भकल्पत्वात्, तस्य प्रमाणान्तरानपेक्षस्यैव व्यवसायात्मनः सवेदनस्योपलम्भत्वव्यवस्थितेः, व्यवसायाभावे तु बुद्धीनामभ्यासादपि तथानुपलम्भात् । न हि तथा बुद्धयः सविद्रते यथा व्यावर्ण्यन्ते, क्षणिकत्वाद्यात्मनान्यथैव तासां प्रतिभासनाभ्याससिद्धेः । नापि परतः क्षणिकत्वादि सिध्यति, संबन्धप्रतिपत्तेरयोगात् । न हि सत्त्वादेर्लिङ्गस्य क्षणिकत्वादिना व्याप्त्या सबन्धप्रतिपत्तिः प्रत्यक्षतो युज्यते, तस्य सन्निहितविपयबलोत्पत्तेरविचारकत्वाच्च । नाप्यनुमानादनवस्थानादिति प्रागेव प्ररूपणात् । स्वांशमात्रावलम्बिना मिथ्याविकल्पेन प्रकृततत्त्वव्यवस्थापने बहिरर्थेष्वप्यविरोधात् क्षणिकत्वादिव्यवस्थापनमस्तु सौत्रान्तिकादीनाम्, अविशेपात् । तथा हि । कथंचिदत्र वेद्यलक्षणं यदि व्यवतिष्ठेत तदा तत्प्रकृत सविदां क्षणिकत्वादिसाधन लैङ्गिकज्ञानेन कृत स्यान्नान्यथा । न चानुक्तदोपं लक्षणमस्ति, वेद्यस्य विज्ञानवादिना तज्जन्मादेरनैकान्तिकत्व-

दोषवचनात् । सवित् क्षणिकत्वादावनुमानवेदनस्य तत्सभवे नान्यत्र वहिरर्थे तदसभवोभिधेयः, सर्वथा विशेपाभावात् । तत्स्वपरपक्षयोः सिद्ध्यसिद्ध्यर्थं किंचित्कथंचित्कुतश्चिदवितथज्ञानमादरणीयमन्यथाऽशेपविभ्रमासिद्धेः । ननु किंचित्सविदद्वैतं कथंचित्सविदात्मना कुतश्चित्स्वतः सत्यप्रतिभासनमाद्रियत एव, स्वरूपस्य स्वतो गतिरिति दचनादिति चेत्, न, स्वरूपेपि वेद्यवेदकलक्षणाभावे तदघटनात् पुरुषाद्वैतवत् । एतेन यद्ग्राह्यग्राहकाकार तत्सर्वं विभ्रान्तं, यथा स्वप्नेन्द्रजालादिज्ञानं तथा च प्रत्यक्षादिकमिति प्रतिविहित वेदितव्यं, भ्रान्तत्वप्रकृतानुमानज्ञानयोर्ग्राह्यग्राहकाकारयोरभ्रान्तत्वे ताभ्यामेव हेतोर्व्यभिचारात्, तद्भ्रान्तत्वे ततः सर्वस्य भ्रान्तत्वप्रसिद्धेः, सर्वभ्रान्तौ साध्यसाधनविज्ञप्तेरसभवात्तद्व्याप्तिविज्ञप्तिवत्, सभवे सर्वविभ्रमासिद्धे ॥ ७९ ॥

सारङ्गारङ्गभाजो हरिषु करियुता भोगिनस्तार्क्ष्यमध्ये नाखुर्मार्जारमुग्रं गणयति न च गौर्व्याघ्रवालं करालम्।
देवा हेवाकभाजोऽसुरततिमिलने यत्प्रभावात्सभायां स श्रीपार्श्वः प्रसन्नो भवतु मयि कृपाकोमलैर्दृग्विलासैः॥

सप्तमेऽन्तरङ्गबहिरङ्गार्थैकान्तनिरासाय प्रक्रमः । 'तज्जन्मेति' तज्जन्मपक्षेऽर्थो वेद्यः, तज्जन्यं तद्ग्राहकमर्थज्ञानं वेदकं, ताद्रूप्यपक्षे ज्ञानगतो नीलाद्याकारो वेद्यः, नीलाकार ज्ञानं वेदकं, तदध्यवसायपक्षे दृश्यविकल्पैकीकरणादध्यवसेयं वेद्यम्, अध्यवसायो वेदकः, चक्षुषेत्यादिना तज्जन्मादेरेकैकस्य क्रमशो व्यमिचारस्थानत्रयप्रदर्शनम्, प्रमाणाभावाच्च तदनीशत्वापादनं कृतं विज्ञानवादिनः, सह वेत्यनेन च समुदितत्रयस्य व्यभिचारप्रदर्शनपूर्वमुक्तहेतोरेव तदनीशत्वं बोध्यत इति विवेकः । कांश्चन प्रति योग्यतामिति जैनापेक्षया, क्षणिकत्वेनेत्यादि, स्वरूपमात्रसंवेदने स्वसंवेदनसामर्थ्येऽपि क्षणिकत्वादिधर्मप्रकारकप्रतिपत्तावसामर्थ्यादित्यर्थः । नन्वक्षणिकादिव्यावृत्तिरेव क्षणिकत्वादिकं, तच्च धर्मिरूपं स्वत एव

न्तीति हेतोरसिद्धिः, नियमस्यासिद्धेः । किञ्च सहोपलम्भनियमश्च स्याद्भेदश्च स्यात् । किं विप्रतिपिध्येत ? स्वहेतुप्रतिनियमसंभवात् । इति सन्दिग्धव्यतिरेको हेतुर्न विज्ञप्तिमात्रतां साधयेत् । तस्मादयं विज्ञानवादी मिथ्यादृष्टिः परप्रत्यायनाय शास्त्रं विदधानः परमार्थतः संविदानो वा वचनं तत्त्वज्ञानं च प्रतिरुणद्धीति न किंचिदेतत्, असाधनाङ्गवचनाददोषोद्भावनाच्च निग्रहार्हत्वात् । न ह्यस्य वचनं किंचित्साधयति दूषयति वा, यतस्तद्वचनं साधनाङ्गं दोषोद्भावनं वा स्यात् । नापि किंचित्संवेदनमस्य सम्यगस्ति, येन मिथ्यादृष्टिर्न भवेत् । संविदद्वैतमस्तीति चेत्, न, तस्य स्वतः परतो वा ब्रह्मवदप्रतिपत्तेर्यथासंवेदनं मिथ्यात्वसिद्धेः । तदेवं नान्तरङ्गार्थैकान्ते बुद्धिर्वाक्यं वा सम्यगुपायतत्त्वं संभवतीति स्थितम् ॥ ८० ॥

स्वाभिलाप्य(पा)भावं स्वेन ज्ञानेनैवाभिलाप्यभावम्, **स्ववचनविरोधस्यैवेति** अभिलापेऽभिलाप्यत्वस्यानभिलापे ज्ञानेऽभिलापात्मत्वस्य चोक्तौ विरोधस्य स्पष्टत्वादित्यर्थः । **स्वयमनिष्टेरिति**, अन्यथा साकारत्वप्रसङ्गादित्यर्थः, **विचारात्पूर्वमपीति**, न च विज्ञप्तिवादिनस्तत्त्वज्ञानात्पूर्वमविद्याविलासजनितेन विचारान्तरेण साध्यसाधनभावव्यवस्थितेरनवस्थायाश्चानादित्वेन निरासान्नानुपपत्तिरिति वाच्यम् । असत्ख्यातेरनिर्वचनीयख्यातेश्च निरासेनाविद्याजनितविचारेण व्यवहारव्यवस्थायाः कर्तुमशक्यत्वात्, न च नानाविधविप्रतिपिद्धव्यवहाराणामन्यतरविधिनिषेधयोरविद्या प्रगल्भते, न च सर्वेषामेव तेषां तत्त्वदिक्प्रदर्शकत्वेनादुष्टत्वम् 'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहत इति' वचनादिति वाच्यम्, सर्वपक्षपरिग्रहापत्त्या तत्त्वसङ्करापत्तेः, पिटकत्रयप्रदर्शिता एव विचारा अदुष्टा न वेदान्तादिप्रदर्शिता इत्यत्र च न किञ्चिन्मानमस्तीति विचारितं बहुशः । एतेन भेदाभावसिद्धिनिराकरणेन, **अभेदसाधनं** विधिरूपाभेदसाधन, **सञ्चितालम्बना इति** सञ्चितमा-

दोपवचनात् । सवित् क्षणिकत्वादावनुमानवेदनस्य तत्सभवे नान्यत्र वहिर्र्थे तदसभवोभिधेयः, सर्वथा विशेषाभावात् । तत्स्वपरपक्षयोः सिद्ध्यसिद्ध्यर्थं किंचित्कथंचित्कुतश्चिदवितथज्ञानमादरणीयमन्यथाऽशेषविभ्रमासिद्धेः । ननु किंचित्सविदद्वैत कथंचित्सविदात्मना कुतश्चित्स्वतः मत्यप्रतिभासनमाद्रियत एव, स्वरूपस्य स्वतो गतिरिति वचनादिति चेत्, न, स्वरूपेपि वेद्यवेदकलक्षणाभावे तदघटनात् पुरुषाद्वैतवत् । एतेन यद्ग्राह्यग्राहकाकारं तत्सर्वं विभ्रान्तं, यथा स्वप्नेन्द्रजालादिज्ञानं तथा च प्रत्यक्षादिकमिति प्रतिविहित वेदितव्यं, भ्रान्तत्वप्रकृतानुमानज्ञानयोर्ग्राह्यग्राहकाकारयोरभ्रान्तत्वे ताभ्यामेव हेतोर्व्यभिचारात्, तद्भ्रान्तत्वे ततः सर्वस्य भ्रान्तत्वप्रसिद्धेः, सर्वभ्रान्तौ साध्यसाधनविज्ञप्तेरसभवात्तद्व्याप्तिविज्ञप्तिवत्, सभवे सर्वविभ्रमासिद्धे ॥ ७९ ॥

सारङ्गारङ्गभाजो हरिषु करियुता भोगिनस्तार्क्ष्यमध्ये नाखुर्मार्जारमुग्रं गणयति न च गौर्व्याघ्रबालं करालम्।
देवा हेवाकभाजोऽसुरततिमिलने यत्प्रभावात्सभायां स श्रीपार्श्वः प्रसन्नो भवतु मयि कृपाकोमलैर्दृग्विलासैः ॥

सप्तमेऽन्तरङ्गबहिरङ्गार्थैकान्तनिरासाय प्रक्रमः । ' तज्जन्मेति ' तज्जन्मपक्षेऽर्थो वेद्यः, तज्जन्यं तद्ग्राहकमर्थज्ञानं वेदकं, ताद्रूप्यपक्षे ज्ञानगतो नीलाद्याकारो वेद्यः, नीलाकार ज्ञानं वेदकं, तदध्यवसायपक्षे दृश्यविकल्पैकीकरणादध्यवसेयं वेद्यम्, अध्यवसायो वेदकः, चक्षुपेत्यादिना तज्जन्मादेरेकैकस्य क्रमशो व्यभिचारस्थानत्रयप्रदर्शनम्, प्रमाणाभावाच्च तदनीशत्वापादनं कृतं विज्ञानवादिनः, सह वेत्यनेन च समुदितत्रयस्य व्यभिचारप्रदर्शनपूर्वमुक्तहेतोरेव तदनीशत्वं बोध्यत इति विवेकः । कांश्चन प्रति योग्यतामिति जैनापेक्षया, क्षणिकत्वेनेत्यादि, स्वरूपमात्रसंवेदने स्वसंवेदनसामर्थ्येऽपि क्षणिकत्वादिधर्मप्रकारकप्रतिपत्तावसामर्थ्यादित्यर्थः । नन्वक्षणिकादिव्यावृत्तिरेव क्षणिकत्वादिकं, तच्च धर्मिरूपं स्वत एव

भोत्स्यते बाधकाभावादित्याशङ्कायामाह–तथात्मसंवेदनेपीत्यादिना, प्रमाणान्तरापेक्षयेति, यत्रैव जनयेदेनामित्याद्युक्तेरिति भावः । तस्योपजीव्यस्य, सविकल्पकज्ञानरूपप्रमाणान्तरस्य स्वतोऽव्यवसायस्यापि दर्शनस्याभ्यासादेर्निश्चायकता भविष्यतीत्याशङ्कायामाह–'व्यवसायाभावे त्विति' तथा च सविकल्पकज्ञानरूपाभ्याससहकृतदर्शनस्य निश्चायकत्वं सहकृतेत्यादेर्व्यर्थत्वात्, अन्यथा तादृशाकाशादेरपि तथात्वप्रसङ्गादिति भावः । तर्हि मासिधत् क्षणिकत्वादिसंविदां स्वतः, परत एव सेत्स्यतीत्याशङ्कायामाह–नापि परत इत्यादि, भाष्ये स्वांशेति, स्वांशो दृश्यविकल्पैकत्वाभिप्रायेण प्रातीतिकसम्बन्धेन प्रकृततत्त्वघटकः सामान्याकारः, नान्यथेति दृष्टान्ताभावादिति भावः । तत्सम्भव इति वेद्यसम्भव इत्यर्थः । नान्यत्रेति सर्वं भ्रान्तं ग्राह्यग्राहकाकारक्रोडीकृतत्वादित्यस्य संवित्क्षणिकत्वानुमानेनैवानैकान्तिकत्वादित्यर्थः ॥ ७९ ॥

साध्यसाधनविज्ञप्ते–र्यदि विज्ञप्तिमात्रता । न साध्यं न च हेतुश्च प्रतिज्ञाहेतुदोषतः ॥ ८० ॥

प्रतिज्ञादोषस्तावत्स्ववचनविरोधः साध्यसाधनविज्ञानस्य विज्ञप्तिमात्रमभिलपतः प्रसज्यते । तथा हि । सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोर्द्विचन्द्रदर्शनवदित्यत्रार्थसंविदोः सहदर्शनमुपेत्यैकत्वैकान्तं साधयन् कथमवधेयाभिलापः ? स्वोक्तधर्मधर्मिभेदवचनस्य हेतुदृष्टान्तभेदवचनस्य चाद्वैतवचनेन विरोधात्, संविदद्वैतवचनस्य च तद्भेदवचनेन व्याघातात्, तद्वचनज्ञानयोश्च भेदे तदेकत्वसाधनाभिलापविरोधात्, तदभिलापे वा तद्भेदविरोधात् । इति स्ववचनयोर्विरोधाद्बिभ्यत् स्वाभिलापाभावं वा स्ववाचा प्रदर्शयन्कथं स्वस्थः ? सदा मौनव्रतिकोहमित्यभिलापवत् स्ववचनविरोधस्यैव स्वीकरणात् । तथा विज्ञानवादिनोऽप्रसिद्धविशेष्यत्वमप्रसिद्धविशेषणत्वं च प्रतिज्ञादोषः स्यात्, नीलतद्धियोर्विशेष्ययोस्तदभेदस्य च विशेषणस्य स्वयमनिष्टेः । पराभ्युपगमेन प्रसङ्गसाधनस्योपन्यासा-

ददोष इति चेत्, न, तस्य परासिद्धेस्तदभ्युपगमाप्रसिद्धेश्च प्रसङ्गसाधनासभवात्। साधनसाध्यधर्मयोर्व्याप्यव्यापकभावसिद्धौ हि सत्या परस्य व्याप्याभ्युपगमो व्यापकाभ्युपगमनान्तरीयको यत्र प्रदर्श्यते तत्प्रसङ्गसाधनम्। न चैतद्विज्ञप्तिमात्रवादिनः सभवति, विरोधात। ननु 'स्याद्वादिनोपि तद्दोषोद्भावनमयुक्तं विज्ञप्तिमात्रवादिन प्रति, तस्य तदसिद्धेः, विज्ञप्तिमात्रव्यतिरेकेण दोपस्याप्यभावाद्गुणवत्। स्वाभ्युपगममात्रादेव तत्सभवः, परस्य विज्ञप्तिमात्रसाधनात्पूर्वं यथाप्रतीति वस्तुनो व्यवस्थानादिति समाधाने तत एव सौगतस्यापि तदेव समाधानमस्तु, विचारात्पूर्वं सर्वस्याविचारितरमणीयेन रूपेण यथाप्रतीति साध्यसाधनव्यवहारप्रवृत्तेरन्यथा विचाराप्रवृत्तेः। सिद्धे तु विज्ञप्तिमात्रे न कश्चित्साध्यसाधनव्यवहार प्रतनोति सौगतो, नापि परेषा तद्दोषोद्भावनेऽवकाशोस्ति' इति केचित्, तेपि न विचारचतुरचेतसः, किंचिन्निर्णीतमाश्रित्यान्यत्रानिर्णीतरूपे तदविनाभाविनि विचारस्य प्रवृत्तेः, सर्वविप्रतिपत्तौ तु कचिद्विचारणानवतरणात्। इति विचारात्पूर्वमपि विचारान्तरेण निर्णीते एव साध्यसाधनव्यवहारस्तद्गुणदोपस्वभावश्च निश्चीयते। न चैवमनवस्था, ससारस्यानादित्वात् कचित्कस्यचित्कदाचिदाकाङ्क्षानिवृत्तेर्विचारान्तरानपेक्षणात्। ततो युक्तमेव स्याद्वादिनः प्रतिज्ञादोपोद्भावन हेतुदोपोद्भावन च। तथा हि। अयं पृथगनुपलम्भाद्भेदाभावमात्रं साधयेन्नीलतद्धियोः। तच्चासिद्ध, सवन्धासिद्धेरभावयोः खरशृङ्गवत्। सिद्धे हि धूमपावकयोः कार्यकारणभावे सबन्धे कारणाभावात्कार्यस्याभावः सिध्यति। सति च शिंशपात्ववृक्षत्वयोर्व्याप्यव्यापकभावे व्यापकाभावाद्व्याप्याभावो, नान्यथा। न चैव भेदपृथगुपलम्भयोः सबन्धः कचित्सिद्धो, विरोधाद्विज्ञप्तिमात्रवादिनो यत पृथगुपलम्भाभावो भेदाभावं साधयेत् इति न निश्चितो हेतुः। एतेनासहानुपलम्भादभेदसाधनं प्रत्युक्तं भावाभावयोः सबन्धासिद्धेरविशेपात्, तादात्म्यतदुत्पत्त्योरर्थस्वभावनियमात्, तदन्यव्यावृत्तेरर्थास्वभावत्वादेकत्वेन भावस्वभावेन सह तदयोगात्। सिद्धेपि प्रतिपेधैकान्ते

विज्ञप्तिमात्रं न सिध्येत्, तदसाधनात् । तत्सिद्धौ तदाश्रयं दूषणमनुपज्येत ग्राह्यग्राहकभावसिद्धिलक्षणं तद्वद्बहिरर्थसिद्धिप्रसञ्जनं चाविशेषात् । तदेकोपलम्भनियमोप्यसिद्धः, साध्यसाधनयोरविशेषात् । साध्यं हि नीलतद्धियोरेकत्वम् । तदेकोपलम्भोपि तदेव, ज्ञानस्यैकस्योपलम्भादिति हेत्वर्थव्याख्यानात्, सहशब्दस्यैकपर्यायत्वात् सहोदरो भ्रातेत्यादिवत् । तथैकज्ञानग्राह्यत्वं द्रव्यपर्यायपरमाणुभिरनैकान्तिकम् । द्रव्यपर्यायौ हि जैनानामेकमतिज्ञानग्राह्यौ, न च सर्वथैकत्वं प्रतिपद्येते । सौत्रान्तिकस्य च सचिता रूपादिपरमाणवश्चक्षुरादिज्ञानेनैकेन ग्राह्याः, 'सचितालम्बनाः पञ्च विज्ञानकायाः' इति वचनात् । न चैक्यं प्रतिपद्यन्ते । तथा योगाचारस्यापि सकलविज्ञानपरमाणवः सुगतज्ञानेनैकेन ग्राह्याः, न चैकत्वभाजः । इति तैरनैकान्तिकं साधनमनुषज्यते । नीलतद्धियोरैक्यमनन्यवेद्यत्वात् स्वसंवेदनवदित्यत्रापि परेषामनन्यवेद्यत्वमसिद्धं, नीलज्ञानादन्यस्य नीलस्य वेद्यत्वात् । एतेनैकलोलीभावेनोपलम्भः सहोपलम्भश्चित्रज्ञानाकारवदशक्यविवेचनत्वं साधनमसिद्धमुक्तं, नीलतद्वेदनयोरशक्यविवेचनत्वासिद्धेरन्तर्बहिर्देशतया विवेकेन प्रतीतेः । यदि पुनरेकदोपलम्भः सहोपलम्भ इति व्याख्यायते तदा एकक्षणवर्तिसंवित्तीनां साकल्येन सहोपलम्भनियमाद्व्यभिचारी हेतुः, तासां तथोत्पत्तेरेव संवेदनत्वात् संविदितानामेवोत्पत्तेः । द्विचन्द्रदर्शनवदिति दृष्टान्तोपि साध्यसाधनविकलः, तथोपलम्भाभेदयोरर्थे प्रतिनियमाद्भ्रान्तौ तदसंभवात्, संभवे तद्भ्रान्तित्वविरोधात् । ननु चासहानुपलम्भमात्रादभेदमात्रं साधनात्माध्यरूपं भ्रान्तादपि संभवति, अभावेऽभावयोः संभवाविरोधात् । ततो न साध्यसाधनविकलो दृष्टान्त इति न शक्यप्रतिष्ठं, कथंचिदर्थस्वभावानवबोधप्रसङ्गात् सर्वविज्ञानस्वलक्षणक्षणक्षयविविक्तसन्ततिविभ्रमस्वभावानुमितेः साकल्येनैकत्वप्रसङ्गात् तदन्यापोहमात्राद्धेतोरन्यापोहमात्रस्यैव सिद्धेरर्थस्वभावानवबोधात् । किं च सकृदुपलम्भनियमे हेत्वर्थे सति एकार्थसंगतदृष्टयः परचित्तविदो वा नावश्यं तद्बुद्धिं तदर्थं वा संविद्-

न्तीति हेतोरसिद्धिः, नियमस्यासिद्धेः । किञ्च सहोपलम्भनियमश्च स्याद्भेदश्च स्यात् । किं विप्रतिषिध्येत ? स्वहेतुप्रतिनियमसभवात् । इति सन्दिग्धव्यतिरेको हेतुर्न विज्ञप्तिमात्रता साधयेत् । तस्मादयं विज्ञानवादी मिथ्यादृष्टिः परप्रत्यायनाय शास्त्रं विदधानः परमार्थतः संविदानो वा वचनं तत्त्वज्ञानं च प्रतिरुणद्धीति न किंचिदेतत्, असाधनाङ्गवचनाददोषोद्भावनाच्च निग्रहार्हत्वात् । न ह्यस्य वचन किंचित्साधयति दूषयति वा, यतस्तद्वचनं साधनाङ्ग दोषोद्भावनं वा स्यात् । नापि किंचित्संवेदनमस्य सम्यगस्ति, येन मिथ्यादृष्टिर्न भवेत्। संविदद्वैतमस्तीति चेत्, न, तस्य स्वत परतो वा ब्रह्मवदप्रतिपत्तेर्यथासंवेदनं मिथ्यात्वसिद्धेः । तदेवं नान्तरङ्गार्थतैकान्ते बुद्धिर्वाक्यं वा सम्यगुपायतत्त्वं संभवतीति स्थितम् ॥ ८० ॥

स्वाभिलाप्य(पा)भावं स्वेन ज्ञानेनैवाभिलाप्यभावम्, **स्ववचनविरोधस्यैवेति** अभिलापेऽभिलाप्यत्वस्यानभिलापे ज्ञानेऽभिलापात्मत्वस्य चोक्तौ विरोधस्य स्पष्टत्वादित्यर्थः । **स्वयमनिष्टेरिति**, अन्यथा साकारत्वप्रसङ्गादित्यर्थः, **विचारात्पूर्वमपीति**, न च विज्ञप्तिवादिनस्तत्त्वज्ञानात्पूर्वमविद्याविलासजनितेन विचारान्तरेण साध्यसाधनभावव्यवस्थितेरनवस्थायाश्चानादित्वेन निरामान्नानुपपत्तिरिति वाच्यम् । असत्ख्यातेरनिर्वचनीयख्यातेश्च निरासेनाविद्याजनितविचारेण व्यवहारव्यवस्थायाः कर्त्तुमशक्यत्वात्, न च नानाविधविप्रतिषिद्धव्यवहाराणामन्यतरविधिनिषेधयोरविद्या प्रगल्भते, न च सर्वेषामेव तेषां तत्त्वदिक्प्रदर्शकत्वेनादुष्टत्वम् 'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहत इति' वचनादिति वाच्यम्, सर्वपक्षपरिग्रहापत्त्या तत्त्वसङ्करापत्तेः, पिटकत्रयप्रदर्शिता एव विचारा अदुष्टा न वेदान्तादिप्रदर्शिता इत्यत्र च न किञ्चिन्मानमस्तीति विचारितं बहुशः । एतेन भेदाभावसिद्धिनिराकरणेन, **अभेदसाधनं** विधिरूपाभेदसाधन, **सञ्चितालम्बना इति** सञ्चितमा-

लम्बनं विषयो येषां ते तथा, पञ्चविज्ञानकायाः पञ्चेन्द्रियविज्ञानस्कन्धाः, **परेषां** बाह्यार्थवादिनाम् । नन्वेकक्षणवर्त्तिसंवित्तीनामेकदैवोत्पत्तावपि कथमेकदैवोपलम्भ इत्याशङ्कायामाह–'**तासामिति**' तासामेकक्षणवृत्तिसंवित्तीनाम्, तथोत्पत्तेरेव सहोत्पत्तेरेव, **संवेदनत्वात्** संवेदनस्वरूपत्वात्, तथा च सहोत्पत्तिनियम एव स्वरूपतः सहोपलम्भनियमो न च तासु स्वलक्षणैकत्वमिति व्यभिचारः स्पष्ट इत्यर्थः । **सम्भव** इति एकत्वोपलम्भस्य द्वित्वभ्रमप्रतिबन्धकत्वादिति भावः । अर्थस्वभावानवबोधादिति अन्यापोहमात्रैकत्वसिद्धावपि संविदोऽर्थाकारत्वासिद्धेः, तथा चार्थसंशयस्ततो न निवर्त्तेतेत्यायातमान्ध्यं जगत इति भावः । संवृत्त्याऽर्थबोधः स्यादित्याशङ्क्याह–**किञ्चेत्यादिना**, एकार्थसंगतदृष्टय इत्यनेनार्थोपलम्भे तद्विषयपरज्ञानोपलम्भस्य, **परचित्तविदो** वेत्यनेन च ज्ञानोपलम्भेऽर्थोपलम्भस्य व्यभिचारप्रदर्शनान्नियमखण्डनं कृतं, दृश्यते ह्ययं व्यवहार एनमर्थं जानामि न त्वेतद्विषयां परबुद्धिं, राज्ञश्चित्तं सन्तुष्टं जानामि न तु तद्विषयं सन्तोषकारणमिति सूक्तमेतत्, अप्रयोजकतयाऽपि त्वदुक्तो हेतुः साध्यासाधक इत्याह–**किञ्चेत्यादिना**, **संविदानो** वेत्यत्र "**वयः शक्तिशील**" इति सूत्रविहितः शानप्रत्ययो द्रष्टव्यः, तेन न सकर्मकस्य संपूर्वकविद्धातोरात्मनेपदप्रत्ययस्यानुपपत्तिदोष उद्भावनीयः ॥ ८० ॥

बहिरङ्गार्थतैकान्ते, प्रमाणाभासनिह्नवात् ॥ सर्वेषां कार्यसिद्धिः स्या–द्विरुद्धार्थाभिधायिनाम् ॥८१॥

यत्किंचिच्चेतस्तत्सर्वं साक्षात्परम्परया वा बहिरर्थप्रतिबद्धम् । यथाग्निप्रत्यक्षेतरवेदनम् । स्वप्नदर्शनमपि चेतः, तथा विषयाकारनिर्भासात् । साध्यदृष्टान्तौ पूर्ववद् । विवादापन्नं विज्ञानं साक्षात्परम्परया वा बहिरर्थप्रतिबद्धं, विषयाकारनिर्भासात् । यथाग्निप्रत्यक्षेतरवेदनम् । तथा स्वप्नदर्शनमपि विषयाकारनिर्भासम् । तत्तथा । इति बहिरङ्गार्थतैकान्तः, सर्ववेदनानां बहिर्विषयत्वाभि-

निवेशात्। अत्रापि लोकसमयप्रतिबद्धानां परस्परविरुद्धशब्दबुद्धीनां स्वार्थसम्बन्धः परमार्थतः प्रसज्येत। न चैवं, तृणाग्रे करिणां शतमित्यादिवचनानां स्वप्नादिबुद्धीनां च स्वार्थे सम्बन्धाभावात् तथा संवादासिद्धेः। स्यान्मतं द्विविधोऽर्थो, लौकिकोऽलौकिकश्च। यत्र लोकस्य परितोषः स लौकिकः सत्यत्वाभिमतज्ञानविषयः। यत्र न लोकस्य परितोषः शास्त्रविदां तु संतोषः सोऽलौकिकोऽर्थः स्वप्नादिबुद्धिविषयः, सर्वथाप्यविद्यमानस्य प्रतिभानवचनासंभवात् खरविषाणानुत्पन्नप्रध्वस्तविषयशब्दज्ञानानामपि लोकागोचरालौकिकार्थविषयत्वात्' इति तदेतदलौकिकमेव, जाग्रत्प्रत्यया निरालम्बना एव प्रत्ययत्वात् स्वप्नप्रत्ययवदिति परार्थानुमानप्रत्ययस्यास्वार्थप्रतिबद्धत्वे तेनैव चेतस्त्वस्य विषयाकारनिर्भासस्य च हेतोर्व्यभिचारात्, स्वार्थप्रतिबद्धत्वे च सर्ववेदनानां सालम्बनत्वविरोधात्। अस्यालौकिकार्थालम्बनत्वान्न लौकिकार्थालम्बनत्वे साध्ये हेतोर्व्यभिचारो विरोधो वेति चेत्, न, लौकिकालौकिकार्थालम्बनशून्यत्वानुमानेन हेतोर्व्यभिचारविरोधयोस्तदवस्थत्वात्। न चैवंविधार्थानां परस्परविरुद्धानां सकृत्संभव इति न बहिरङ्गार्थैकान्तः श्रेयानन्तरङ्गार्थैकान्तवत्॥ ८१ ॥

बहिरङ्गार्थैकान्ता इति, यत्र यो यथा प्रतीयते तत्र स तथाऽस्त्येवेत्येकान्ताभ्युपगमे, प्रमाणाभासस्य तदभाववद्विशेष्यकतत्प्रकारकज्ञानस्य, **निह्नवात्**, **सर्वेषां** विरुद्धार्थवादिनां प्रकृतीश्वराद्यभ्युपगन्तॄणामुपचरितवादिनां स्वप्नादिद्रष्टॄणां च **वाङ्मात्रेण कार्यसिद्धिः स्यात्** तद्वचनज्ञानयोरर्थाव्यभिचारित्वादिति भावः। **स्यान्मतमित्यादिना** मीमांसकः शङ्कते; **खरविषाणानुत्पन्नेत्यादि**, खरविषाणादीनां दृश्यानामसत्त्वेऽपि विकल्पानां सतां विकल्पबुद्धौ भानादलौकिकत्वमिति भावः, एतन्मतं दूषयति **तदेतदलौकिकमेवेत्यादिना**, **न चैवंविधार्थानामिति** अलौकिकलौकिकालौकिकार्थालम्बनशून्यत्वसिद्धावुभयार्थालम्बनत्वपर्यवसानेन विरोधग्रासान्न कस्यापि सिद्धिरित्यर्थः ॥ अपि चैवं शुक्तावलौकिकरजतप्रतिभासे रजतार्थिनां

प्रवृत्तिर्न स्यात्, न चालौकिके लौकिकत्वज्ञानेन प्रवृत्त्युपपत्तिः, तस्यान्यथाख्यातित्वेन घट्टकुटीप्रभातापत्तेः । किञ्चालौकिकस्यापि रजतस्यासत्त्वेऽसत्ख्यात्यापत्तिः, सत्त्वे च नेदं रजतमिति बाधानुत्पत्तिः, न चालौकिके लौकिकत्वनिषेध एव बाधार्थः, नेदं रजतमित्यादौ रजतलौकिकत्वस्य निषेधप्रतियोगित्वेनाभानात्, सर्वत्र विधौ निषेधे च रजतपदस्य लौकिकरजतपरत्वे गौरवात् । किञ्च लौकिकरजतस्य प्रसक्तस्यैव प्रतिषेधाद्विपरीतख्यात्यापत्तिरिति न किञ्चिदेतत् । एतेन मीमांसकवृद्धाभिमताऽलौकिकख्यातिः खण्डिता, एवं ख्यात्यन्तरखण्डनमपि द्रष्टव्यम्, भ्रान्तावन्यथाख्यातिपक्षस्यैव विचारक्षमत्वात्, तत्र तत्र प्राभाकरा विवेकाख्यातिं कल्पयन्ति, तदाहुस्ते, इदं रजतमित्यादिविपरीतप्रत्ययोत्पत्तौ न किमपि कारणं पश्यामः, इन्द्रियस्य शुक्तिशकल एव सन्निकृष्टत्वेन रजतज्ञानाजनकत्वात्, न च दोषवशादसन्निकृष्टस्यापीन्द्रियस्य रजतज्ञानजनकत्वं युक्तं, दुष्टकारणात् स्वकार्यानुत्पत्तावपि विपरीतकार्यानुत्पत्तेः, न हि कमलबीजं तैलकलुषितमपि गोधूमांकुरजननसमर्थं, तस्मादिदं रजतमिति ग्रहणस्मरणरूपं बोधद्वयं सत्यमेव, इदमंशे इन्द्रियसन्निकर्षस्य ग्रहणकारणस्य रजतांशे च साधारणरूपदर्शनोद्बुद्धसंस्कारस्य स्मरणकारणस्य सत्त्वात् । न च तदंशानुल्लेखान्नेदं स्मरणमिति शङ्कनीयं, प्रमुष्टतत्ताकानामपि बहूनां पदपदार्थस्मरणानामुपलम्भात्, अत एव रजतस्य नातीतत्वावभासः । बाधकप्रत्ययश्चेदमन्यद्रजतमन्यदिति विवेकमेव प्रकाशयति, न तु रजतज्ञानस्यासत्यत्वं, स्वप्ने चेदं रजतमित्यादौ स्मरणत्वाग्रह एव विवेकाग्रहः, न त्वनुभवस्मरणयोस्तत्त्वाग्रहः, तदुभयाभावात्, सदृशदर्शनं विनापि तदा स्मृतिः, कारणान्तरात्, आरोपे सतीत्यादिन्यायात्, एवं चन्द्रद्वयवेदने दोषाद् द्विधा कृतया नयनवृत्त्या चन्द्रैकत्वाग्रहणं च, तिक्ता शर्करेत्यादौ च पित्तद्रव्यगततिक्तग्रहशर्कराग्रहयोर्भेदाग्रहाद्विवेकाख्यातिर्या-

ख्येया, सर्वत्र सम्यग्ग्रहणस्यैव तदर्थत्वात्, ये तु विवेकाख्यातिद्विषः शुक्तौ रजतप्रतीति स्थापयन्ति, तेषां ज्ञानान्तरेऽपि मिथ्यात्वसम्भावनया सर्वत्रानाश्वासात् प्रवृत्त्यादिव्यवहारोच्छेदप्रसङ्ग इति । अत्र ब्रूमः–यत्तावदुक्तम् इदं रजतमिति विपरीतप्रत्ययोत्पत्तौ न किञ्चित्कारणं पश्याम इति, तत्र "न ह्ययं स्थाणोरपराधो, यदेनमन्धो न पश्यति" इति न्यायावतारो, दुष्टेन्द्रियादेरेव तद्धेतुत्वात्, स्वाकारसंवरणरजतरूपापत्तिपरिणामविशेषवत्याः शुक्तेरेव चालम्बनत्वात्, न च कार्यसिद्धौ कारणाभावाशङ्का युक्तिमती, तथा च प्रामाणिकाः॥ "कार्यं चेदवगम्येत, किं कारणपरीक्षया ॥ कार्यं चेन्नावगम्येत, किं कारणपरीक्षया" ॥१॥ इति यदप्युक्तं दुष्टकारणस्य स्वकार्यानुत्पादकत्वं, न तु विपरीतकार्योत्पादकत्वमिति, तत्रापि नियमं न पश्यामो, दवदहनदग्धवेत्रबीजात् कदलीप्रकाण्डोत्पत्तिदर्शनात्, दवदहनस्य वेत्रांकुरोत्पादने दोषता कदलीप्रकाण्डे त्वनुगुणभाव एवेति चेत्, अत्रापि काचकामलादेः सत्यज्ञानोत्पादने दोषता मिथ्याज्ञानोत्पादने त्वनुगुणभाव एवेति तुल्यं, यदप्युक्तं, इदं रजतमिति ग्रहणस्मरणरूपं ज्ञानद्वयं न त्वेकं विशिष्टज्ञानमिति, तदपि तुच्छं, रजतार्थिप्रवृत्तिमात्रे रजतत्वप्रकारकज्ञानस्यैव समानविशेष्यत्वप्रत्यासत्त्या संवादिप्रवृत्तिस्थले हेतुत्वकल्पनाद्विसंवादिप्रवृत्तिहेतोरपि मिथ्याज्ञानस्यैकस्य सिद्धेः, संवादिप्रवृत्तौ विशिष्टज्ञानं हेतुर्विसंवादिप्रवृत्तौ चोपस्थितेष्टभेदाग्रह इति कल्पने गौरवात्, भेदाग्रह इत्यत्र च भेद एव कोऽभिप्रेत आयुष्मतः, किं वस्तुस्वरूपमात्रम्, उत परस्पराभावः, आहोश्विद् व्यावर्त्तकधर्मयोगः, आद्ये ग्रहणस्मरणाभ्यां पुरोवर्त्तिपूर्वानुभूतवस्तुस्वरूपग्राहिभ्यां भेदो गृहीत एवेत्यप्रवृत्तिप्रसङ्गः, द्वितीयपक्षस्तु प्राभाकरैरभावानभ्युपगमादेव निरस्तः, तदभ्युपगमेऽपि स्मृतरजतस्य कथं नाभावज्ञानम्, दोषवशान्नियतदेशतयाऽवगतस्यानियतदेशतया स्मरणान्न तदिति चेत्, आयातान्यथाख्यातिः, देशविनि-

र्मुक्ततत्स्मरणान्न तदिति न, तव मते पूर्वविगते रजते स्मृते केवलाधिकरणोपलब्धेरेव तदभावोपलम्भत्वात्, दोषस्य शुक्तौ रजतभेदग्रहप्रतिबन्धकत्वकल्पने च तत्तादात्म्यग्रहहेतुत्वकल्पनमेव ज्यायः। नापि तृतीयः, स्मर्यमाणे रजते रजतत्वस्य व्यावर्त्तकधर्मस्य भानाद् गृह्यमाणेऽप्यन्तत इदंत्वस्यैव तादृशस्य भानात्, न च रजतत्वात्यन्ताभावरजतभेदगृहीतव्यावर्त्तकताकतद्धर्मग्रहाणामन्यतरत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽखण्डाभावो रजतार्थिप्रवृत्तिहेतुरित्यपि वक्तुं शक्यम्, उदासीनप्रवेशाप्रवेशाभ्यां विनिगमनाविरहात्, रजतं स्मरतो रजतार्थिनः पाषाणत्वानुपलम्भे पाषाणेऽपि प्रवृत्तिप्रसङ्गाच्च। शुक्तिविषयकप्रवृत्तौ शुक्तिविषयकज्ञानत्वेनापि हेतुत्वाच्च, तत्र समानप्रकारकत्वनिवेशस्यैवौचित्यात्, अन्यथा महागौरवात्, किञ्च रजत एव नेदं रजतमिति ग्रहे प्रवृत्त्यापत्तिः, तत्रान्यथाख्यातिभिया रजतभेदग्रहस्य परेण वक्तुमशक्यत्वात्, न चाभावप्रतियोगित्वेनानुपस्थितं यदुपस्थितं रजतं तद्भेदाग्रहस्य प्रवर्त्तकत्वाददोष इत्यपि शक्यं वक्तुं, घटभिन्नं रजतं नेदमिति ज्ञानादपि प्रवृत्त्यापत्तेः तद्द्वयभावप्रतियोगित्वेनानुपस्थितत्वं चान्यथाख्यातिभयाद्रजतेऽपीति न किञ्चिदेतत्। किञ्च प्रवृत्तिरिच्छाद्वारा, सा च समानविषयज्ञानसाध्येति कथं नेच्छावन्मिथ्या, एतेन प्रकृतरजतज्ञानं स्मरणम्, अनाकलितरजतस्य प्रतिपत्तुरनुत्पद्यमानत्वादित्याद्यनुमानमपास्तम्। रजतगोचरेण समीहितसाधनतानुमानेन संस्कारेण रजतशब्दोल्लेखिप्रत्यक्षेण चानैकान्तिकत्वात्, प्रकृतरजतज्ञानं स्मरणं न भवति विशदावभासित्वात् यदित्थं तदित्थं यथा संप्रतिपन्नज्ञानमिति प्रत्यनुमानसद्भावाच्च। किञ्च भवतापि संवित्तिः स्वप्रकाशा स्वीक्रियत एव, तत्रेयं रजतसंवित्तिस्तपस्विनी केन स्वभावेन प्रकाशतामिति विचारणीयं, यदि स्मृतिरूपेणेत्युच्यते, हन्त तर्हि कः प्रमोषशब्दस्यार्थः। अथानुभवरूपेण प्रथते, तर्हि विपरीतख्यातिरेवेयं, स्मृतेरनुभ-

वत्वेन प्रथनात् । अथ संविन्मात्रतयैव रजतसंवित्तिः प्रतिभाति, तदपि न निरवद्यं, रजतमिति विषयोल्लेखस्यानुभूयमानत्वात्, स्मरणानुभवलक्षणविशेषशून्यायाश्चात्र प्रपञ्चके विषयसंवित्तेरनुपपद्यमानत्वात्, यदप्युक्तं बाधकप्रत्ययश्चेदमन्यद्रजतमन्यदिति विवेकमेव प्रकाशयतीत्यादि, तदपि मिथ्या, बाधकप्रत्ययेन प्रसक्तरजतत्वाभावस्यैवावगाहनात्, अप्रसक्ताविविक्तत्वप्रतिषेधेन विविक्तत्वानवगाहनात्, यदप्युक्तं स्वप्ने चेदं रजतमित्यादौ स्मरणत्वाग्रह एव विवेकाग्रह इत्यादि, तदपि तुच्छम्, रजतादिस्वप्ने स्मरणत्वेनाग्रहे रूपान्तरेण ग्रहे विपरीतख्यात्यापत्तेः, सर्वात्मनाऽग्रहणस्य च ग्रहणविरुद्धत्वात्, यदप्युक्तमेवं चन्द्रद्वयवेदने दोषाद् द्विधा कृतया नयनवृत्त्या चन्द्रैकत्वाग्रह एवेति, तदप्यविचारितरमणीय, द्विधा कृता हि तिमिरेण नायनी वृत्तिर्यदि नाम कुमुदबन्धोरेकत्व नाववुध्यते, मावबूबुधत्, विपरीतस्तु द्वित्वानुभवः कथमिति विचार्यतां, नयनसमाश्रितद्वित्वासंसर्गाग्रह एव चन्द्रे द्वित्वग्रह इत्यस्यापि परोक्षस्य तस्योपस्थित्यभावेनैवानाश्रयणीयत्वात्, एतेन तिक्ता शर्करेत्यादिव्यवहारस्य पित्तद्रव्यगततिक्तत्वशर्कराग्रहभेदाग्रहनिबन्धनत्वमुक्तं प्रत्युक्तम्, अगृह्यमाणतिक्तत्वस्यैव पित्तस्य शरीरगतस्य ज्वरोत्पादकत्ववद्रसनगतस्य विपरीतप्रत्ययोत्पादकत्वात् सर्वानुभूयमानसामानाधिकरण्यानुपपत्तेश्च । अपि चेदं रजतमिति यदि संवेदनद्वयमभ्युपगम्यते, तदा तस्य किं यौगपद्येन पर्यायेण वा प्रादुर्भावः स्यादिति वक्तव्यम्, आद्ये स्वकृतान्तकोपः, द्वितीयेऽपि किं प्रत्यक्षात् पूर्वमुतोत्तरं रजतस्मरणं भवेत्, नाद्यः, इदमिति प्रत्यक्षात्पूर्वं संस्कारानुद्बोधेन रजतस्मृत्यनुत्पत्तेः, न द्वितीयो, निमीलितनयनस्यापि तत्प्रसक्तेरिति सकललोकसिद्धं सकृदेव रजतात्मना पुरोवर्त्तिभानं दुरपह्नवमिति मन्तव्यम् । एतेनेदं रजतमिति प्रत्यये न रजतसत्ताऽऽलम्बनम्, अभ्रान्तत्वप्रसक्तेः, नापि तदभावो, रजतविधिपरस्य प्रत्ययस्य

तदभावानालम्बनत्वात्, नापि शुक्तिखण्डम्, अतदाकारत्वात्, नापि रजताकारेण शुक्तिखण्डम्, अन्यस्यान्याकारेण दुर्ग्रहत्वादित्यख्यातिरेवेयमित्यख्यातिवादोऽपि केषांचिन्निरस्तः। एवं भ्रान्तेर्निरालम्बनत्वे भ्रान्तिसुप्तावस्थयोरविशेषप्रसङ्गात्, न हि भ्रान्तौ प्रतिभासमानार्थव्यतिरेकेण सुप्तावस्थातोऽन्योऽस्ति विशेषः। स्वातिरिक्तबाह्यार्थानुपपत्तौ च तदंशे सत्ख्यातिरेव ज्ञानवाद्याश्रिता स्यान्नाख्यातिरिति यत्किञ्चिदेतत्॥ बौद्धास्त्वसत्ख्यातिमाचक्षते, तथा हीदं रजतमिति भासमानं वस्तु ज्ञानमर्थो वा भवेत्, न तावज्ज्ञानम्, अहं रजतमित्यहंकारसामानाधिकरण्येनाप्रतिभासनात्, नाप्यर्थः, तत्साध्यार्थक्रियाभावात् इत्यसदेव तत्तत्र प्रतिभातमिति, तेऽपि न सूक्ष्मेक्षिणः। तथाहि—असत्ख्यातिरिति कोऽर्थः, किमेकान्तासतोऽर्थस्य प्रथनम्, उत देशान्तरे विद्यमानस्य, द्वितीयपक्षे विपरीतख्यातिरेवेयं, देशान्तरे विद्यमानस्य शुक्तिदेशे प्रतीतिस्वीकारात्, आद्यपक्षे त्वेकान्तासतोऽर्थस्य प्रथने शशविषाणस्यापि प्रतीतिः स्यात्, एतेन रजतं सदेव तत्संसर्गस्त्वलीको भ्रान्तौ मदुपरागेण भासत इति न्यायटीकाकृन्मतमप्यपास्तम्, विषयतायाः सद्वृत्तित्वव्याप्यत्वात्, अन्यथा गवि शशशृङ्गीयत्वविशिष्टसम्बन्धेन शृङ्गभानापत्तेः, अपि चासत् सत्त्वेन प्रतिभातीति विपरीतख्यातिमर्यादाया नातिक्रमः। यदपीदं रजतमिति भासमानं वस्तु ज्ञानमर्थो वा भवेदिति विकल्पद्वयमकारि, तत्राद्योऽनभ्युपगमान्निरस्तो, द्वितीयस्त्विष्यत एव, अर्थविशेषनिबन्धनचरणाभरणाद्यर्थक्रियाभावेऽप्यर्थसामान्यनिबन्धनाभिलापप्रवृत्त्याद्यर्थक्रियायास्तत्राव्याहतत्वात्, बाधकप्रत्ययेन च मिथ्याज्ञानस्य मिथ्यात्वमुपदर्श्यते, न तु तद्विषयस्यार्थत्वं बाध्यत इति नासत्ख्यातिमनोरथस्ताथागतानां श्रेयान्। केचित्तु प्रसिद्धार्थख्यातिमाहुः, विपर्ययेऽपि प्रतीतिप्रसिद्धस्यैवार्थस्य भानात्, न च विचारासहत्वात्तद्विषयस्याविद्यमानत्वं, प्रतितेरेव विचारत्वात् करस्थ-

स्थूलमुक्ताफलेऽपि तथैव विचारसहत्वसिद्धेः, न चोत्तरकाले प्रतिभासाभावाद्भ्रान्तिविषयस्यासत्त्वं, तत्समयप्रतिभासेनापि तोयबुद्बुदादेरिव सत्त्वाव्याघातादिति, तेऽपि न ख्यातिभाजः प्रमाणसिद्धिं विनाऽर्थस्य प्रसिद्धत्वायोगात्, अन्यथा भ्रान्ताभ्रान्तव्यवस्थानुपपत्तेः, यच्च प्रतिभाससमये सत्त्वाद् भ्रान्तिविषयस्य रजतस्य प्रसिद्धत्वमुच्यते, तद् यद्यन्यदेशस्थस्य तस्य दोषमाहात्म्येन शुक्तौ भानात्, तदा प्रसिद्धार्थख्यातिरित्यन्यथाख्यातेर्नामान्तरमायातं, यदि च शुक्तिदेशस्थस्य, तदा तस्य स्थिरत्वादुत्तरकालेऽपि भानापत्तिः, अज्ञानजस्य ज्ञाननाश्यस्य च तस्य स्वीकारे मतान्तरप्रवेशापत्तिरिति यत्किञ्चिदेतत्। परे तु शुक्तिशकले यत्कलधौतं चकास्ति तस्य बाह्यतया प्रतिभानं नोपपत्तिमत्, नेदं रजतमिति बाधकेन तद्बाह्यताया बाध्यमानत्वात्, ततो ज्ञानात्मन एवायमाकारोऽनादिवासनामाहात्म्यात् बहिरिव परिस्फुरतीत्यात्मख्यातिरेवेयमित्याहुः, तेऽपि न प्रेक्षावन्तो, नेदं रजतमिति बाधकेन तद्बाह्यताया अबाधनात्, हट्टादौ बाह्यस्थस्य तस्य परं शुक्तिदेशस्थताया एव बाधनात्। यदपि न्यगादि ज्ञानात्मन एवायमाकारोऽनादिवासनामाहात्म्याद्बहिरिव परिस्फुरतीति, तदप्यसत्यं, वासनाया बहुशो निरस्तत्वात्। किञ्च–ज्ञानाकारस्यैव रजतस्य संवेदनेऽहं रजतमित्यन्तर्मुखतया प्रतीतिः स्यात्, न त्विदं रजतमिति बहिर्मुखतया, ज्ञाननिष्ठोऽपि रजताकारोऽनादिवासनामाहात्म्याच्छुक्तिनिष्ठतया भासत इत्युक्तौ चान्यथाख्यातिरेवाङ्गीकृता स्यात्। अपि च स्वाकार एव रजतादिर्भ्रान्तिभिर्बहीरूपतया प्रकाश्यत इत्यत्र न प्रमाणमस्ति, अनुभवस्य कलधौतज्ञानाकारासाक्षित्वात्, बाधकप्रत्ययस्यापि शुक्तौ रजतनिषेधकत्वेन रजते ज्ञानाकारताया अविधायकत्वात्, न च रजते पुरोवर्तिशुक्त्याकारत्वप्रतिषेधेऽर्थाद्बोधाकारत्वसिद्धिरित्यपि साम्प्रतं, शुक्त्याकारत्वप्रतिषेधेऽर्थादेशान्तरसत्त्वस्यैव सिद्धेः, दृष्टातिक्रमेणा-

दृष्टज्ञानाकारत्वकल्पने मानाभावात्। यत्प्रकाशते तद्विज्ञप्तिमात्रं यथा सुखादिकमिति तु प्रत्युक्तं विज्ञानवादनिरासे बहुशः। अपि चैवमान्तर कलधौतं मया बहीरूपतया ज्ञातमिति प्रत्यभिज्ञानं स्यात्, न त्वियं शुक्ती रजतत्वेन ज्ञातेति, एवमप्रसक्तकलधौतनिषेधोऽपि न स्यात्। यदि च ज्ञानस्य बाह्यार्थविषयत्वं नेष्यते, तर्हि यथा रजताकारोल्लेखेन तत्प्रवर्त्तते, तथा किं न नीलाद्याकारोल्लेखेन, नियामकाभावात्, अनादिवासनाया एव तन्नियामकत्वे देशादिनियमे हेतुर्मृग्यः। अथास्या इदमेव स्वरूपं यदसदपि देशादिनियमेन ज्ञाने प्रदर्शयतीत्यभिधीयते, तदयुक्तम्, असत्ख्यातिप्रसक्तेः, कथं चात्मख्यातिवादिनश्छेदादिप्रतीतिः स्यात्, स्वरूपमात्रसंविदस्तदसम्भवात्, न हि विज्ञानरूपस्य सुखादेः संवित्तौ तत्प्रतीतिर्दृष्टेति बाह्यार्थस्य प्रामाणिकत्वे नात्मख्यातिः ख्यातिमती। वेदान्तिनस्तु शुक्तौ रजतं न सत् प्रतिभासते, भ्रान्त्युच्छेदापत्तेः, नाप्यसत्, शशशृङ्गादिवत् प्रतिभासप्रवृत्त्योरविषयत्वप्रसङ्गात्, नाप्युभयरूपम्, उभयपक्षनिक्षिप्तदोषानुषङ्गादित्यनिर्वचनीयमेवेदं, तस्माद्भ्रान्तिरनिर्वचनीयख्यातिरेवेत्याहुः, तदपि तुच्छतरं, शुक्तौ रजतभ्रमे शुक्तिखण्डस्य विषयस्य स्वरूपपररूपाभ्यां सदसद्रूपस्याव्याहतत्वात्, रजतप्रकारिताकत्वस्य च तत्र विशेषणज्ञानमात्रनियम्यत्वात्, अस्तु वा तत्तादात्विकशुक्तिपरिणामनिमित्तमेव, समूहालम्बनव्यावृत्तस्य तस्यान्यथानुपपत्तेः, " अर्थेनैव धियां विशेष " इति न्यायादिति यौक्तिकाः। शुक्तौ विलक्षणरजतोत्पादस्तु कारणाभावादेवायुक्तः, न हि परिणामिकारणादिसामग्रीं विना कार्योत्पादो दृष्टः। अथ शुक्तेरज्ञानमेव तत्र प्रतीयमानस्य कलधौतस्य कारणमिति मतिः, दुर्मतिरेवेयम्, अज्ञानस्य केवलपरिणामिकारणत्वायोगात्। अज्ञानं हि सम्यग्ज्ञानस्य प्रागभावो, मिथ्याज्ञानं वा, द्वयमपि केवलं न परिणामिकारणं, द्रव्यस्यैव तत्तत्पर्यायपरिकरितस्य परिणामिकारणत्वप्रसिद्धेः,

तद्यात्मद्रव्यमेव सम्यग्ज्ञानप्रागभावलक्षणपर्यायाविष्टं मिथ्याज्ञानस्वरूपपर्यायाक्रान्तं वा शुक्तिशकलकलधौतस्य कारणं भविष्यतीत्यपि नाशङ्कनीयम्, चेतनस्याचेतनं प्रति जातुचिदपि परिणामिकारणत्वानुपपत्तेः। स्यादाकूतं भवतो, नाज्ञानं सम्यग्ज्ञानप्रागभावो, नापि मिथ्याज्ञानं, किन्तु ताभ्यामर्थान्तरमेव मायाऽविद्यादिशब्दवाच्यं तदनिर्वचनीयरजतहेतुरिति चेत्, न। तादृशाज्ञाने मानाभावात्, न च मूलाज्ञानं तद्धेतुर्युक्तं, तस्य व्यवस्थितजगद्वैचित्र्यहेतुत्वेन त्वयोपगमात्, किन्तु भ्रान्तिव्यवहारनिर्वाहायानन्तानि तूलाज्ञानानि त्वया वाच्यानीति महागौरवम्, किञ्च शुक्त्यज्ञानस्य पाषाणादावपि सत्त्वेन देशनियमाभावान्न रजतहेतुत्वम्, न चेदमंशावच्छेदेन शुक्त्यज्ञानस्येदमंशावच्छेदेन रजतोत्पादकत्वाददोषो, दोषाभावकालेऽपि ततस्तत्प्रसङ्गात्, दोषस्याप्यपेक्षणे चेदमंशावच्छेदेनाज्ञानान्तरस्योदासीनस्य च हेतुत्वं दुर्निवारमिति यत्किञ्चिदेतत्। दोषसहितं शुक्त्यज्ञानं रजतहेतुरिति त्वद्वचनस्य वह्निसहितमाकाशं दाहकमिति वचनतुल्यत्वात्। यत्तु विशेषादर्शनस्य परेषां रजतभ्रमत्वं कार्यतावच्छेदकं मम तु रजतत्वमिति लाघवादनिर्वचनीयरजतसिद्धिरित्यनन्तदेवेनोक्तं, तदसत्, त्वयापि सत्यरजतव्यावृत्तये वैज्ञानिकरजतत्वस्यैव कार्यतावच्छेदकस्य वाच्यत्वात्, अपि च किमिदमनिर्वचनीयत्वं, निरुक्तिविरहो वा निरुक्तिनिमित्तविरहो वा, नाद्यः, इदं रजतं नेदं रजतमिति निरुक्तेरनुभूयमानत्वात्, नापि द्वितीयो, यतो निरुक्तिनिमित्तं विषयः किं भावरूपो नास्त्यभावरूपो वा, प्रथमकल्पनायामसत्ख्यात्यभ्युपगमप्रसङ्ग, द्वितीयकल्पनायां तु सत्ख्यातिरेव, उभावपि न स्त इति चेत्, लोकसिद्धयोरुभयोः प्रतिषेधो विलक्षणयोर्वा, नाद्यः, एकत्रोभयविरुद्धविधेरिव तत्प्रतिषेधस्याप्ययोगात्, विरुद्धयोरेकतरविधिनिषेधयोरन्यतरनिषेधविधिनान्तरीयकत्वात्, द्वितीयपक्षे तु न काऽपि क्षतिः, न

ह्यलौकिकविषयसहस्रनिवृत्तावपि लौकिकविषयनिवृत्तिस्तन्निरुक्तिनिवृत्तिर्वा सम्भवतीत्यलं प्रसङ्गेन ॥ ८१ ॥ " यशोविजयनामेत्थं, साधुन्यायविशारदः ॥ स्पष्टं निष्टङ्कयामास, ख्यातीरष्ट गरिष्ठधीः ॥ १ ॥ अन्यथाख्याति १ ख्याति २-र्विवेकाख्यातिरेव च ॥ ३ असत्ख्यातिः ४ प्रसिद्धार्थख्याति ५ रेव च पञ्चमी ॥ २ ॥ आत्मख्यातिस्तथा षष्ठी, ख्यातिः सप्तम्यलौकिकी ॥ अष्टम्यवाच्यताख्याति ८-रित्यष्टौ नामतः स्मृताः ॥ ३ ॥ साम्राज्यादन्यथाख्याते-रेतास्वन्यनिरासतः ॥ वहिरङ्गार्थतैकान्तं, निरस्यन्ति धियां बुधाः ॥ ४ ॥"

विरोधान्नोभयैकात्म्यं, स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ॥ अवाच्यतैकान्तेप्युक्ति-र्नावाच्यमिति युज्यते ॥८२॥

अन्तर्बहिर्ज्ञेयैकान्तयोः सहाभ्युपगमो विरुद्धः स्याद्वादन्यायविद्विषामेव । तदवाच्यतायामुक्तिविरोधः पूर्ववत् । स्याद्वादाश्रयणे तु न कश्चिद्दोष इत्याहुः ॥ ८२ ॥

भावप्रमेयापेक्षायां, प्रमाणाभासनिह्नवः ॥ बहिः प्रमेयापेक्षायां, प्रमाणं तन्निभं च ते ॥ ८३ ॥

सर्वसंवित्तेः स्वसंवेदनस्य कथंचित् प्रमाणत्वोपपत्तेस्तदपेक्षाया सर्वं प्रत्यक्षं, न कश्चित्प्रमाणाभासः, सौगतानामप्यत्राविवादात्, सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदन प्रत्यक्षमिति वचनात् । तन्निर्विकल्पकमित्ययुक्तं स्वार्थव्यवसायात्मत्वमन्तरेण प्रत्यक्षत्वानुपपत्तेः समर्थनात् । तथानभ्युपगमेन्यत एव बुद्धेरनुमानं स्यात् । तच्चायुक्तं लिङ्गाभावात् । तत्रार्थज्ञानमलिङ्गं, तदविशेषेणासिद्धेः । स्वयमप्रत्यक्षं ज्ञान ह्यर्थपरिच्छेदादनुमीयते इत्यर्थज्ञानं कर्मरूपमर्थस्य प्राकट्यं तल्लिङ्गमिष्यते स हि बहिर्देशसंबद्धः प्रत्यक्षमनुभूयते, ज्ञाते त्वनुमानादवगच्छति बुद्धिमिति वचनात् । तच्चार्थप्राकट्यमर्थधर्मो ज्ञानधर्मो वा ? प्रथमपक्षेऽर्थपरिच्छेदकज्ञानादविशेषेणेतरस्यासिद्धेर्न तल्लिङ्गम् ।

तद्विशेपस्तु, तस्यास्वसविदितत्वादनुमानापेक्षत्वप्रसङ्गात्। न हि ज्ञाने परिच्छेदकेऽप्रत्यक्षे तत्कृतोर्थपरिच्छेदः प्रत्यक्षः स्यात्, संतानान्तरज्ञानकृतार्थपरिच्छेदवत्। बहिरर्थस्य प्रत्यक्षत्वात्तद्धर्मस्य प्रत्यक्षत्वमिति चेत्, न, अर्थस्यापि स्वतः प्रत्यक्षत्वासिद्धेः। स्वज्ञाने प्रतिभासमानस्य प्रत्यक्षत्वे सतानान्तरज्ञानेपि साक्षात्प्रतिभासमाने प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गः, तस्यानुमेयत्वाविशेपात्। बहिरर्थप्राकट्यस्य प्रमातुः स्वसविदितत्वात्तल्लिङ्गमेव ज्ञाने प्रसिद्धमिति चेत्कथमर्थधर्मः स्वसविदितो नाम? अर्थवत्। सोयं ज्ञानमस्वसविदित प्राकट्यमर्थस्वरूपं स्वसविदितमित्याचक्षाणो विपरीतप्रज्ञः। परिच्छिद्यमानत्वस्य ज्ञानजस्यार्थधर्मस्यार्थज्ञानस्य कुतस्ततो विशेपो येन तल्लिङ्ग सिध्येत्? पुंसः स्वसविदितत्वेन ततो विशेपो वा तदन्यतरेणार्थपरिसमाप्तेः किं द्वितीयेन? स्वसविदितार्थपरिच्छेदादेव स्वार्थपरिच्छित्तिसिद्धेरप्रत्यक्षज्ञानस्याकिंचित्करत्वात्। पुंसो वा स्वसविदितार्थत्वेनार्थपरिच्छेदसिद्धे. किमनेन? तस्य करणत्वान्नाकिंचित्करत्वमात्मनः कर्तृत्वादर्थस्य च कर्मत्वात्करणत्वविरोधात्, करणमन्तरेण क्रियायाः सभवाभावादिति चेत्तर्हि पुंस· स्वसवित्तौ किं करणम्? स्वात्मैवेति चेत्स एवार्थपरिच्छित्तावपि करणमस्तु, कर्तुरनन्यस्यापि कथंचिदविभक्तकर्तृकस्य करणस्य सिद्धेर्विभक्तकर्तृकवत्। एतेनार्थपरिच्छेदस्यार्थधर्मस्य स्वसवित्तौ स्वात्मनः करणत्वे करणान्तरमकिंचित्करमुक्तम्। तत. पुरुपार्थपरिच्छेदयोरन्यतरेण स्वात्मनैव करणेनार्थपरिसमाप्ते· किं द्वितीयेन करणेन परोक्षज्ञानेन? यच्चेदमर्थज्ञानं तच्चेदर्थस्वलक्षण स्याद्व्यभिचाराद्हेतुः, अप्रत्यक्षे ज्ञाने साध्ये तस्यार्थस्वरूपस्य तदभावेपि भावादन्यथार्थाभावप्रसङ्गात्। न च ज्ञानस्याभावेऽर्थस्याभाव·। परिच्छिद्यमानत्वधर्मेण धर्मिणो विशिष्टस्यार्थस्याभाव एवेति चेन्न, तस्य ज्ञानासिद्धौ प्रतिपत्तिविरोधात्, विशेपणाप्रतीतौ तद्विशिष्टस्य क्वचिदप्रतीतेरसिद्धत्वेन हेतुत्वायोगस्याभिधानात्। एतेनार्थमह जानामीति प्रतीतेरात्मनोऽर्थज्ञान स्वसविदि-

तमर्थप्राकट्यं ज्ञानधर्मोऽप्रत्यक्षायां लिङ्गबुद्धौ लिङ्गमित्येतदपास्तं, तस्य बुद्धेरप्रत्यक्षत्वे तथाप्रतीतेरयोगात् । इत्यविशिष्ट एव ज्ञानानपेक्षस्वभावोर्थस्तद्धेतुः स्यात् । स च व्यभिचार्येव । एतेनेन्द्रियादिप्रत्यक्षं प्रत्युक्तं, तस्याप्यतीन्द्रियत्वेनाप्रत्यक्षज्ञानादविशेषेणासिद्धेः । विशेषेण वा तयोरन्यतरेण भावेन्द्रियादिना स्वसंविदितेनार्थपरिसमाप्तेः किं द्वितीयेनाप्रत्यक्षज्ञानेन ? तस्यैव ज्ञानत्वात् । व्यभिचारी चेन्द्रियादिहेतुर्ज्ञानाभावे भावात् कारणस्येन्द्रियस्य मनसो वावश्य कार्यवत्त्वानुपपत्तेः । ततः प्रत्यक्षेतरबुद्ध्यवभासस्य स्वसंवेदनाऽप्रत्यक्षविरुद्ध ज्ञानस्याप्रत्यक्षत्वमनुमानविरुद्ध च । तथा हि । सुखदुःखादिबुद्धेरप्रत्यक्षत्वे हर्षविषादादयोपि न स्युरात्मान्तरवत् । एतेन प्रतिक्षणं निरंश संवेदनं प्रत्यक्षं प्रत्युक्तं, यथाप्रतिज्ञमनुभवाभावात्, यथानुभवमनभ्युपगमात्, स्थिरस्यात्मनः सुखदुःखादिबुद्ध्यात्मकस्य प्रत्यक्षमनुभूयमानस्य हर्षविषादादेरनुभवात्। भ्रान्तोऽयमनुभव इति चेत्, न, बाधकाभावात्। सर्वत्र सर्वदा भ्रान्तेरप्रत्यक्षत्वाविशेषात् परोक्षज्ञानवादानुषङ्गः सौगतस्य । कथंचिद्भ्रान्तावेकान्तहानेः स्याद्वादानुप्रवेशः । न केवलं निर्विकल्पकेऽर्थदर्शने परोक्षज्ञानादविशेष· । किं तर्हि ? तद्व्यवस्थाहेतौ विकल्पस्वसंवेदनेपि, विकल्पानिवृत्ते सर्वथा विकल्पस्य भ्रान्तत्वे बहिरिव स्वरूपेपि भ्रान्तेरप्रत्यक्षत्वाविशेषादभ्रान्तं प्रत्यक्षमिति वचनात्, कथंचिद्भ्रान्तत्वेऽनेकान्तसिद्धेरनिवारणात् । तस्मात्स्वसंवेदनापेक्षया न किंचिज्ज्ञानं सर्वथा प्रमाणम् । बहिरर्थापेक्षया तु प्रमाणतदाभासव्यवस्था, तत्संवादकविसंवादकत्वात् क्वचित्स्वरूपे केशमशकादिज्ञानवत् । नभसि केशादिज्ञान हि बहिर्विसंवादकत्वात्प्रमाणाभास स्वरूपे संवादकत्वात्प्रमाणम्, नचैवं विरोधः प्रसज्यते, जीवस्यैकस्यावरणविगमविशेषात् सत्येतराभाससंवेदनपरिणामसिद्धेः कालिकादिविगमविशेषात्कनकादिजात्येतरपरिणामवत् ॥ ८३ ॥

सर्वं प्रत्यक्षमिति सर्वं प्रत्यक्षप्रमाणमित्यर्थः, न चैवमनुमितित्वादिना प्रत्यक्षस्य साङ्कर्यं, क्वचित्सङ्कीर्णजातेरप्यदुष्ट-

त्वाभ्युपगमात्, अस्तु वा यद्विषयत्वावच्छेदेन ज्ञानाजन्यत्वं तद्विषयत्वावच्छेदेनौपाधिकमेव प्रत्यक्षत्वम्, अनुमित्यादावात्मज्ञानात् सुखादित्यादावप्यात्मादौ विषयताद्वयाभ्युपगमादिति दिग्। 'ज्ञाते त्विति' ज्ञाते तु प्राकट्ये, अनुमानात्तल्लिङ्गकादवगच्छति निश्चिनोति बुद्धिमित्यर्थः। इतरस्य प्राकट्यस्य, अनुमानापेक्षत्वप्रसङ्गादिति, अनुमानात्वमर्थप्राकट्यस्यार्थपरिच्छेदाविशेषे हेतुः, तत्र चास्वसंविदितत्वमिति बोध्यम्। तस्यानुमेयत्वाविशेषादिति। यथा सन्तानान्तरज्ञानप्रतिभातेऽर्थे ज्ञानावच्छेदकत्वेनानुमेयत्वं तथा स्वज्ञानप्रतिभातेऽपीत्यविशेषो भावनीयः। अर्थज्ञानस्येत्यत्र ज्ञानपदे करणव्युत्पत्तिः। तेन न तस्य प्राकट्यविशेषणत्वानुपपत्तिः। कुत इति, ततः परोक्षार्थज्ञानात् कुतः प्राकट्यस्य विशेषो न कुतश्चिदनुमानापेक्षत्वतौल्यादित्यर्थः। पुंस इति, पुंस आत्मनः, स्वसंविदितत्वेनार्थावच्छिन्नप्राकट्यस्य च तत्राध्यस्ततया तथात्वेनेत्यर्थः। भाष्ये तदन्यतरेण परोक्षज्ञानस्वसंविदितपुरुषयोर्मध्ये परोक्षज्ञानस्वसंविदितार्थप्राकट्ययोर्मध्ये वाऽन्यतरेण, अर्थपरिसमाप्तेरर्थव्यवहारसिद्धेः। किं द्वितीयेन परोक्षज्ञानेनेत्यर्थः। 'अविभक्तकर्तृकस्येति' उपधेयैक्येऽपि कर्तृत्वकरणत्वाद्युपाधिभेदेन व्यवहारभेदसम्भवादित्यर्थः। विभक्तकर्तृकवदिति क्रियायां हि सकरणकत्वं तन्त्रं, न तु कर्तृभिन्नकरणवत्त्वं तदभिन्नकरणवत्त्वं वेत्यत्राप्याग्रहः श्रेयानिति भावः। अर्थपरिच्छेदस्य प्राकट्यस्य, तथाप्रतीतेरयोगादिति, इदं ज्ञानं घटविषयो घटज्ञाततावत्त्वादित्यनुमानस्य हेतोरज्ञानासिद्ध्या कर्तुमशक्यत्वादित्यर्थः। पक्षाज्ञानादाश्रयासिद्धिरप्यत्र द्रष्टव्या, एतेनाहं घटज्ञानवान् घटज्ञाततावत्त्वादित्यात्मपक्षकमनुमानमप्यपास्तम्, साध्याप्रसिद्धेश्चेति बोध्यम्। न च ज्ञानजन्यस्य समवायेनार्थनिष्ठस्य ज्ञातताख्यधर्मस्य सम्बन्धविशेषेणात्मनिष्ठत्वात्तल्लिङ्गकमात्मपक्षकमर्थपरिच्छेदवत्त्वानु-

मानमदुष्टं, न च हेतोरज्ञानासिद्धिरपि, संयुक्तसमवायादियोग्यसन्निकर्षेण तत्प्रत्यक्षात्, न च तस्याप्यनुमानापेक्षत्वेन साध्याविशेषो, लिङ्गज्ञानत्वेनैवानुमितिहेतुत्वात्, तद् ज्ञानज्ञानत्वेनातच्चादित्यपि वक्तुं साम्प्रतम्, साध्याप्रसिद्ध्योक्तोत्तरत्वात्, अतीतानागतेष्वर्थेषु ज्ञानेन ज्ञातताया जनयितुमशक्यत्वात्, ज्ञानजन्यज्ञाततायां मानाभावाच्च, अन्यथेष्टताकृततादेरपीच्छाकृत्यादिजन्यस्य सिद्ध्यापत्तेरिति दिग् । आत्मान्तरवदिति, न च स्वीयसुखदुःखसाक्षात्कारत्वेन हर्षविषादादिहेतुत्वाददोषः, अविदिततत्साक्षात्कारस्य निर्विकल्पकतुल्यत्वेनातथात्वात्, सुखदुःखज्ञानसंवेदनत्वेन हेतुत्वौचित्यात्, सर्वदा स्वप्नावस्थावज्जाग्रद्दशायामपि, आवरणविगतविशेषादिति विगतमिति भावे क्तः । आवरणविगमविशेषादित्यर्थः । सर्वत्र ज्ञाने स्वरूपे प्रामाण्यमनावृतमेव बहिरर्थे त्वनियतस्तत्क्षयोपशम इति स्वभावकल्पनान्न विरोध इत्यर्थः ॥ ८३ ॥

न च जीवो नास्त्येवेति शक्यं वक्तु तद्ग्राहकप्रमाणस्य भावात् । तथा हि—

जीवशब्दः सबाह्यार्थः, संज्ञात्वाद्धेतुशब्दवत् ॥ मायादिभ्रान्तिसंज्ञाश्च, मायाद्यैः स्वैः प्रमोक्तिवत् ॥८४॥

स्वरूपव्यतिरिक्तेन शरीरेन्द्रियादिकलापेन जीवशब्दोर्थवान् । तेन कृतः प्रकृतः स्यादिति विक्लवोल्लापमात्रं, लोकरूढेः समाश्रयणात् । का पुनरिय लोकरूढिः ? यत्रायं व्यवहारो जीवो गतस्तिष्ठतीति वा । न हि शरीरेऽयं व्यवहारो रूढस्तस्याचेतनत्वाद्भोगाधिष्ठानत्वेन रूढेः । नापीन्द्रियेषु, तेषामुपभोगसाधनत्वेन प्रसिद्धेः । न शब्दादिविषये, तस्य भोग्यत्वेन व्यवहारात् । किं तर्हि ? भोक्तर्येवात्मनि जीव इति रूढिः । शरीरादिकार्यस्य चैतन्यस्य भोक्तृत्वमयुक्त भोगक्रियावत् । ननु सुखदुःखाद्यनुभवनं भोगक्रिया । सा ह्यत्रान्वयिनि गर्भादिमरणपर्यन्ते चैतन्ये सर्वचेतनाविशेषव्यापिनि भोक्तृत्वं, शरीरादिविलक्षणत्वात्तस्येति चेत्तदेवात्मद्रव्यमस्तु,

जन्मनः पूर्वं मरणादूर्ध्वमपि तस्य सद्भावोपपत्तेरन्यथा पृथिव्यादिसमुदयशरीरेन्द्रियविषयेभ्यो वैलक्षण्यासम्भवात्। न तत्कार्यं ततोत्यन्तविलक्षणमस्ति, रूपादिसमन्वयात्। चैतन्यस्यापि सत्त्वादिसमन्वयान्नात्यन्तविलक्षणत्वमिति चेन्न, तत्त्वभेदेपि तस्य भावात्। पृथिव्यादितत्त्वभेदानामेकविकारित्वसमन्वयाभावाद्भेद एव, केषांचित् प्रागभावादिभेदवदिति चेत् किमिदानीं चैतन्यभूतयोरेकविकारिसमन्वयोस्ति ? येन तत्त्वान्तरत्वेन भेदो न स्यात्। तस्मादेकविकारिसमन्वयासत्त्वं वैलक्षण्यम्। तदेव च तत्त्वान्तरत्वमित्यनाद्यनन्ततां चैतन्यस्य साधयति। तादृशचैतन्यविशिष्टे काये जीवव्यवहारश्चैतन्यकाययोरभेदोपचारादेव। क्षणिके चित्तसताने जीवव्यहार इत्यसारं, तस्य निराकृतत्वात्। ततः कर्तृत्वभोक्तृत्वलक्षणेनोपयोगस्वभावेन जीवेन जीवशब्दः सबाह्यार्थ इति साध्यनिर्देशे सिद्धसाधनाभावः सञ्ज्ञात्वादिति हेतुर्विरुद्धः सबाह्यार्थत्वविरुद्धाभिप्रेतमात्रसूचकत्वेन तस्य व्याप्तत्वादिति चेन्न, सञ्ज्ञाया वक्त्रऽभिप्रायमात्रसूचकत्वस्य प्रमाणबाधितत्वात्। तथा हि। नात्र सञ्ज्ञाभिप्रेतमात्र सूचयति, ततोर्थक्रियायां नियमायोगात् तदाभासवत्। न च तदयोगः सञ्ज्ञायाः, तयार्थं परिच्छिद्य प्रवर्तमानस्यार्थक्रियानियमस्य दर्शनात्करणप्रतिपत्तिवत्, करणप्रतिपत्तीना तदभावेऽनादरणीयत्वात्। ततः सञ्ज्ञात्व जीवशब्दस्य सबाह्यार्थत्वं साधयति हेतुशब्दवत्। सर्वेण हि हेतुवादिना हेतुशब्दः सबाह्यार्थोभ्युपगम्यते, साधनतदाभासयोरन्यथा विशेषासभवात्, वक्त्रभिप्रायमात्रसूचकत्वादबाह्यार्थत्वाविशेषात्। तद्विशेषमिच्छता परम्परयापि परमार्थैकतानत्व वाचः प्रतिपत्तव्यम्। कचिद्व्यभिचारदर्शनादनाश्वासे चक्षुरादिबुद्धेरपि कथमाश्वासः ? तदाभासोपलब्धेस्तत्राप्यनाश्वासे कुतो धूमादेरग्न्यादिप्रतिपत्ति ? कार्यकारणभावस्य व्यभिचारदर्शनात्। न चेदमसिद्धं काष्ठादिजन्मनोग्नेरिव मणिप्रभृतेरपि भावात्। सुविवेचित कार्यं कारणं न व्यभिचरतीति, तद्विशेषपरीक्षाया सुविवेचित शब्दोर्थं न व्यभिचरतीति प्रसिद्धेरितरत्रापि तद्विशेषपरीक्षास्तु,

विशेषाभावात्। वक्तुरभिसन्धिवैचित्र्यादभिधानव्यभिचारोपलम्भे तदितराध्यक्षानुमानकारणसामग्रीशक्तिवैचित्र्यं पश्यतां कथमाश्वासः स्यात्? तस्मादयमक्षलिङ्गसञ्ज्ञादोषाविशेषेपि क्वचित्प्रत्यक्षेनुमाने च परितुष्यन्नन्यतमप्रद्वेषेणेश्वरायते, परीक्षाक्लेशलेशासहनात्। ननु चाभावोपादानत्वात्तदन्यतमायां सञ्ज्ञायां प्रद्वेषेण परीक्षक एव, न पुनरीश्वरायते, तस्य परीक्षाऽक्षमत्वादिति चेन्न, तस्याः सर्वथा भावोपादानत्वाभावेऽभावोपादानत्वासिद्धेः। सर्वत्र भावोपादानसभवे हि समाख्यानामितरोपादानप्रक्लृप्तिः, एतेनैतदपि प्रत्युक्तं यदुक्तं सौगतेन 'अनादिवासनोद्भूतविकल्पपरिनिष्ठितः। शब्दार्थस्त्रिविधो धर्मो भावाभावोभयाश्रितः॥१॥' इति, तत्त्वतो भावाश्रयत्वाभावे वासनोद्भूतभावाश्रयत्वानुपपत्तेः सर्वत्रानुभवपूर्वकत्वाद्वासनायाः परम्परया वस्तुप्रतिबन्धात्। पूर्वपूर्ववासनात एवोत्तरोत्तरवासनायाः समुद्भवादनादित्वादवस्त्वाश्रयत्वमेवेति चेन्न, शब्दवासनाया अप्यनादित्वे परार्थानुमानशब्दवासनायाः साधनस्वलक्षणदर्शननिमित्तकत्वविरोधात्। त्रिरूपहेतुवचनस्य परम्परया धूमादिवद्वस्त्वाश्रयत्वे हेतुशब्दवज्जीवशब्दस्य भावाश्रयत्व युक्तम्। भावश्चात्र हर्षविषादाद्यनेकाकारविवर्तः प्रत्यात्मवेदनीयः प्रतिशरीर भेदात्मकोऽप्रत्याख्यानार्हः प्रतिक्षिपन्तमात्मानं प्रतिबोधयतीति कृतं प्रयासेन। तदनेन हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वं प्रतिक्षिप्तं, पक्षस्य प्रत्यक्षादिभिरबाधितत्वात्। तत्र निरतिशयस्यास्वसंविदितस्य सर्वशरीरेष्वभिन्नस्यैकस्य प्रतिक्षणं भिन्नस्य चात्मनः प्रतिभासाभावात्तस्य प्रत्याख्यानार्हत्वसाधनान्न तेन जीवशब्दः सबाह्यार्थः। ननु च मायादिभ्रान्तिसञ्ज्ञाभिरबाह्यार्थाभिरनैकान्तिक सञ्ज्ञात्वमिति चेन्न, तासामपि मायाद्यैः स्वैरर्थैः, सबाह्यार्थत्वात् प्रमाणवचनवत्। न हि मायादिसमाख्याः स्वार्थरहिता विशिष्टप्रतिपत्तिहेतुत्वात् प्रमाणसमाख्यावत् भ्रान्तिसमाख्यानामबाह्यार्थत्वे ततो भ्रान्तिप्रतिपत्तेरयोगात् प्रमाणत्वप्रतिपत्तिप्रसङ्गान्न विशिष्टप्रतिपत्तिहेतुत्वमसिद्धम्। प्रमाणशब्दस्य स्वार्थविशेषरहितत्वे भ्रान्तिप्रतिपत्त्यनुषङ्गाच्च न तद-

सिद्धं, यतो निदर्शनं साधनधर्मविकलं स्यात्। एतेन खरविषाणादिशब्दानामपि स्वार्थरहितत्वमपास्तं, निशिष्टप्रतिपत्तिहेतुत्वाविशेषादन्यथा भावशब्दत्वप्रसङ्गात्। ततो न तैरपि व्यभिचारः ॥ ८४ ॥ किञ्च—

तेन शरीरेन्द्रियादिकलापेन, कृत उत्पादितः, प्रकृतो जीवशब्दार्थः स्यात्। 'जन्मन इति' तथा चानन्तभवव्यापिन एकभवव्यापित्वं न दुर्वचमित्यर्थः। सिद्धसाधनाभाव इति उपचरितचैतन्येन शरीरादिनेति शेषः। साध्यदोषं निराकृत्य हेतुदोषमाशङ्कते संज्ञात्वादितीत्यादिना, परिहरति—नेत्यादिना, अभिप्रेतमात्रमिति पारमार्थिकसम्बन्धशून्यमभिप्रेतमित्यर्थः। तद्वत्त्वाङ्गीकारे त्वर्थोपस्थितिद्वारा शब्दप्रमाजनकताया एव न्याय्यत्वाक्ष्यातिस्मृत्यादिविलम्बेन ततोऽनुमितिरूपस्वाया अयोगादिति बोध्यम्। तदाभासवन्मरीचिकायाञ्जलसंज्ञावत्, करणप्रतिपत्तिवदिन्द्रियव्यापारवत्। यथा ततोऽर्थं परिच्छिद्य प्रवर्त्तमानानामर्थक्रियानियमो दृश्यते तथा संज्ञाया अपीति तद्वत् सज्ञाप्रमाणमिति भावः। भाष्ये तदितरेति अभिधानकारणसामग्रीतरेत्यर्थः, सर्वथेति शून्योपादानत्वैकान्तनिराकरणादित्यर्थः। संज्ञाया भाषावर्गणारूपं यद्भावलक्षणमुपादानं तदेव पररूपेणाभावरूपमित्येवमभावोपादानत्वं तु नास्मत्पक्षक्षतिकरमित्याह—'सर्वत्रेत्यादि'॥ परिनिष्ठितः प्रतिबिम्बितः, भावाभावोभयाश्रित इति घटादिसंज्ञार्थस्य घटादे खरविषाणाद्यभावव्यावृत्त्या भावरूपत्वाद्भावान्तरव्यावृत्त्या—चाभावरूपत्वादुभयव्यावृत्त्या चोभयरूपत्वादिति भावः। 'तदनेनेति' अनेन संज्ञाया भावाश्रयत्वव्यवस्थापनेन, ननु जीवशब्दः सबाह्यार्थः संज्ञात्वादित्यत्र शरीरेन्द्रियकलापाद्यर्थबाधेऽपि निरतिशयत्वादिस्वभावेन सांख्यादिकल्पितेन प्रतिक्षणभिन्नस्वभावेन च सौगतपरिकल्पितेनात्मना चरितार्थत्वान्न स्याद्वादिन इष्टसिद्धिः स्यादित्याशङ्काया-

माह–' तत्रेत्यादि ' नन्वेवमितरबाधादिमहिम्ना व्यापकतानवच्छेदकरूपेण साध्यानुमित्यभ्युपगमे पर्वतो द्रव्यवान् धूमादित्यतोऽपि वह्नित्वेन वह्न्यनुमितिः स्यादिति चेत्, नेयं विभीषिकोपयोगप्रामाण्यवादिनां नः, तथोपयोगे तथानुमितेरिष्टत्वात्, अत एव परेऽपि मङ्गल सफलं शिष्टाचारविषयत्वादित्यादेर्मङ्गलस्य समाप्तिफलकत्वानुमितिमिच्छन्ति । इयांस्तु विशेषो यत्परेषां तथानुमितावितरबाधादेः परामर्शसहकारित्वमस्माकं त्वन्तर्व्याप्तिग्राहकतर्कोपक्षीणत्वमिति दिग्। विशिष्टप्रतिपत्तिहेतुत्वादसाधारणधर्मप्रकारकधीहेतुत्वात्, भ्रान्तिप्रतिपत्तेरयोगादिति भ्रान्तेरसत्ख्यातित्वनिरासादित्यर्थः। प्रमाणत्वप्रतिपत्तिप्रसङ्गादिति भ्रान्त्यन्यज्ञानस्य प्रमात्वनियमादित्यर्थः ॥ ८४ ॥

बुद्धिशब्दार्थसंज्ञास्तास्तिस्रो बुद्ध्यादिवाचिकाः। तुल्या बुद्ध्यादिबोधाश्च त्रयस्तत्प्रतिबिम्बकाः॥८५॥

येप्याहुः ' अर्थाभिधानप्रत्ययास्तुल्यनामान ' इति–जीवार्थस्य जीव इति सज्ञा, जीव इति शब्दस्य च, जीव इति बुद्धेश्चेति । तत्रार्थपदार्थक एव जीवशब्दः सबाह्यार्थः सिद्धो, न बुद्धिशब्दपदार्थकः। ततोनेन हेतोर्व्यभिचारः, संज्ञात्वस्य सामान्येन हेतुवचनात्' इति, तेपि न सम्यगुक्तयः, सर्वत्र बुद्धिशब्दार्थसज्ञानां तिसृणामपि स्वव्यतिरिक्तबुद्ध्यादिपदार्थवाचकत्वात्। यस्माद्धि शब्दादुच्चारितादव्यभिचारेण यत्र बोधः प्रजायते स एव तस्यार्थः स्यात्, अन्यथा शब्दव्यवहारविलोपात्। यथा च जीवशब्दादर्थपदार्थकाज्जीवो न हन्तव्य इत्यत्र जीवार्थस्य प्रतिबिम्बको बोधः प्रादुर्भवति तथा बुद्धिपदार्थकाज्जीव इति बुद्ध्यत इत्यादेर्बुद्ध्यर्थस्य प्रतिबिम्बको जीव इत्याहेति शब्दपदार्थकाच्छब्दस्य प्रतिबिम्बकः स्यात्। ततस्त्रयोऽर्थाः तिसृणा सज्ञानामवगम्यन्ते तत्प्रतिबिम्बकबोधानां त्रयाणामेव भावात्। तदनेनाचार्यो हेतुव्यभिचाराशङ्कां प्रत्यस्तमयति, बुद्ध्यादिसज्ञानां तिसृणामपि स्वव्यतिरिक्तवस्तुसबन्धदर्शनात् तद्बुद्धीनां

च तिसृणा तन्निर्भासनात्तद्विषयतोपपत्तेः । सामान्यतो जीवशब्दस्य धर्मित्वात् स्वव्यतिरिक्तार्थस्य च सबाह्यार्थत्वस्य साध्यत्वाद्व्यभिचारविषयस्यासत्त्वादव्यभिचारी हेतु. । ननु च विज्ञानवादिनं प्रति सञ्ज्ञात्वादित्यसिद्धो हेतु', सञ्ज्ञाया विज्ञानव्यतिरेकेणासत्त्वात् । दृष्टान्तश्च साधनविकलो, हेतुशब्दस्य तदाभासवेदनादन्यस्याविद्यमानत्वात् ॥ ८५ ॥ सञ्ज्ञाभासज्ञानस्य हेतुत्वे शब्दाभासस्वप्नज्ञानेन व्यभिचारी हेतुः, इति कश्चित्, तं प्रत्यभिधीयते—

कारिकायां बुद्ध्यादिबोधा बुद्ध्यादेर्विषयस्य संज्ञाजनिता बोधाः, तत्प्रतिबिम्बकास्त्रिविधविषयाकाराः, तदाऽऽभासवेदनादिति तदाकारज्ञानादित्यर्थः ॥ ८५ ॥

वक्तृश्रोतृप्रमातॄणां, बोधवाक्यप्रमाः पृथक् ॥ भ्रान्तावेव प्रमाभ्रान्तौ, बाह्यार्थौ तादृशेतरौ ॥८६॥

वक्तुरभिधेयबोधाभावे कुतो वाक्य प्रवर्तेत ? तस्याभिधेयबोधनिबन्धनत्वात् । वाक्याभावे च श्रोतुरभिधेयज्ञानासभवस्तस्य तन्निमित्तकत्वात् । प्रमातुः प्रमित्यभावे च शब्दार्थयो' प्रमेययोरव्यवस्थानादिष्टतत्त्वानुपपत्तेर्वक्त्रादित्रयस्य बोधादित्रयं पृथग्भूतमुपेयम् । तथा सति न हेतोरसिद्धतादिदोषो, दृष्टान्तस्य वा साध्यादिवैकल्यं प्रसज्यते । स्यान्मतं ' बहिरर्थाभावाद्वक्त्रादित्रयं न बुद्धेः पृथग्भूतं, वक्त्राद्याभासाया बुद्धेरेव वक्त्रादित्वव्यवहारात्, वाक्यस्यापि बोधव्यतिरेकेणासत्त्वात्, प्रमाया बोधात्मकत्वात् । ततोऽसिद्धतादिदोषः साधनस्य हेतुदृष्टान्तलक्षणस्य ' इति, तन्न, रूपादेर्ग्राहकस्य तद्व्यतिरिक्तविज्ञानसतानकलापस्य च स्वाशमात्रावलम्बिनः प्रमाणस्य विभ्रमकल्पनायां साकल्येनासिद्धेरन्तर्ज्ञेयाभ्युपगमविरोधात् । न हि रूपादेरभिधेयस्य ग्राहकस्य वक्तुः श्रोतुश्च विभ्रमकल्पनाया व्यतिरिक्तविज्ञानसतानकलापः स्वाशमात्रावलम्बी सिध्यति परस्परमसंचारात्, येनाभिधानाभिधेयज्ञानभेदः स्यात् । तस्यापि

विभ्रमकल्पनाया न प्रमाणसिद्धिरभ्रान्तस्य ज्ञानस्य प्रमाणत्वव्यवस्थितेः। प्रमाणस्यापि विभ्रमकल्पनाया कथमन्तर्ज्ञेयमेव तत्त्वमित्यभ्युपगमो न विरुध्यते? प्रमाणमन्तरेण तदभ्युपगमे सर्वस्य स्वेष्टाभ्युपगमप्रसङ्गात्। प्रमाणभ्रान्तौ बाह्यार्थयोस्तादृशान्यादृशयोः प्रमेययोरन्तर्ज्ञेयबहिर्ज्ञेययोरिष्टानिष्टयोर्विवेचनस्यापि भ्रान्तत्वप्रसङ्गात्। तौ स्यादन्तर्ज्ञेयैकान्ते? यतस्तदभ्युपगमो न विरुद्धो भवेत्। यदि पुनः प्रमाणमभ्रान्तमिष्यते तदा बाह्यार्थोऽभ्युपगन्तव्यः, तदभावे प्रमाणतदाभासव्यवस्थित्ययोगात् ॥८६॥ तथा हि,—

'वक्त्रिति' वक्तरि वाक्यजनको यो बोधः श्रोतरि च वक्तृवाक्यपाठजनितं यद्वाक्यं प्रमातरि च या तदुभयप्रमाताः पृथगिति वीप्सापरत्वादवभासन्त इति क्रियाध्याहाराच्च पृथक्पृथगवभासन्त इत्यर्थः। प्रमाभ्रान्तौ तासां प्रमाणां ज्ञानातिरिक्तविषयत्वेन भ्रान्तित्वे चाङ्गीक्रियमाणे, तादृशेतरौ तथ्यातथ्यौ, बाह्यार्थौ भ्रान्तावेव स्याताम्। तथा च व्यवहारमात्रोच्छेद इति भावः। असञ्चारादविशेषेण स्वरूपसञ्चरणाभावात्, परशब्दकृत्यमाह ॥८६॥

बुद्धिशब्दप्रमाणत्वं, बाह्यार्थे सति नासति ॥ सत्यानृतव्यवस्थैवं, युज्यतेऽर्थाप्त्यनाप्तिषु ॥८७॥

बुद्धेः स्वप्रतिपत्त्यर्थत्वाच्छब्दस्य परप्रतिपादनार्थत्वात्। स्वपरप्रतिपत्त्यर्थं साधनं बुद्धिशब्दात्मकं स्वसंवित्त्यैव परप्रतिपादनायोगात् तस्याः पराप्रत्यक्षत्वात्। तस्य च सति बहिरर्थे प्रमाणत्वमर्थप्राप्तितः सिध्येत्, असति प्रमाणाभासत्वमर्थानाप्तितः। इति सत्यानृतव्यवस्था बुद्धिशब्दयोर्युज्यते, स्वपरपक्षसाधनदूषणात्मनोस्तथा प्रतीतेः। तदेवं परमार्थतः सन्बहिरर्थः, साधनदूषणप्रयोगात्। इत्येकलक्षणो हेतुः प्रवर्तते। न चात्रैकलक्षणमसिद्धं, सत्येव बहिरर्थे परमार्थतो हेतोरुपपत्तेस्तत्रोपपन्नत्वस्य प्रधानलक्षणस्य सद्भावात्। अन्यथा स्वप्रेतराविशेषात्किं केन साधितं दूषितं च? इति कुतः सतानान्तरमन्यद्वा स्वसन्तानक्षणक्षयवेद्याद्याकारशून्यत्वं साधयेत्?

बहिरर्थस्य वास्तवस्य ग्राह्यलक्षणस्याभावे हि साधनदूषणप्रयोगस्य हेतोः सम्भवे स्वप्नजाग्रदवस्थाभाविनोक्तप्रयोगयोर्विशेषासिद्धिः। ततः किंचिज्ज्ञप्तिमात्रं केन सहोपलम्भनियमादिनानुमानेन स्वार्थेन साधितं स्यात्, परार्थेन वा वचनात्मना परं प्रति, किं वा स्वसंविदद्वैतं स्वतः प्रत्यक्षत एव साधितं स्यात्? तत्साधनस्य स्वप्नवन्निर्विषयत्वात्। किं वा बहिरर्थजातं केन, जडस्य प्रतिभासायोगात् इत्यादिना स्वार्थेन परार्थेन वा दूषणेन दूषितं स्यात्? इति संतानान्तरमपि न केनचित्साधनेन साधितं स्यात्। तदनभ्युपगमे न केनचिद्दूषणेन दूषितं स्यात्, तथा स्वसंतानक्षणक्षयादिकं च न केनचित् साधितं स्यात्। तदनभ्युपगमेऽपि न केनचिद्दूषितम्। इति न कश्चिद्व्यवतिष्ठते। तैमिरिकद्वयद्विचन्द्रदर्शनवद्भ्रान्तः सर्वो व्यवहार इत्यत्रापि तत्त्वज्ञानं शरणं, तत एव सर्वविभ्रमव्यवस्थितेः। इति व्याहतमेतत् तत्त्वज्ञानात् सर्वस्य भ्रान्तत्वसाधनम्, अन्यथा बहिरर्थवदभिसंहितस्यापि सर्वविभ्रमस्य निराकरणापत्तेः, भ्रान्तादेव ज्ञानात् तस्याप्यसिद्धेः। तथा परमाण्वादिदूषणेऽपि प्रतिपत्तव्यं तत्त्वज्ञानं शरणमतत्त्वज्ञानादभिसंहितस्यापि परमाण्वाद्यसत्त्वस्य निराकरणापत्तेः। अन्यथा तत्कृतमकृतं स्यादिति सर्वत्र योज्यं, सर्वस्य स्वेष्टस्य स्वयमनिष्टस्य च तत्त्वज्ञानादेव साधनदूषणोपपत्तेः। एतेन साधनदूषणप्रयोगादिति साधनमसिद्धमितीच्छन् प्रतिक्षिप्तस्तदसिद्धत्वस्य स्वयमिष्टस्य तत्सिद्धत्वस्य चानिष्टस्य साधनदूषणप्रयोगादेव व्यवस्थापनादन्यथा तदव्यवस्थितेर्यत्किंचनवादित्वप्रसङ्गात्। तदिमे विज्ञानसंतानाः सन्ति न सन्तीति तत्त्वाऽप्रतिपत्तेर्दृष्टापह्नुतिरनिबन्धनैव, दृश्येनात्मना कथंचित्स्कन्धाकारेणादृश्यानामपि परमाणूनां बहिरपि समवस्थाने विप्रतिषेधाभावादन्तर्ज्ञेयवत्। अदृश्या एव हि ज्ञानपरमाणवः संविन्मात्रादृश्याद्व्यवस्थाप्यन्ते नान्यथेति युक्तमुदाहरणं, बहिः परमाणूनां व्यवस्थापने, तत्र पूर्वादिदिग्भागभेदेन जडरूपाणां षडंशादिकल्पनया वृत्तिविकल्पेन वा परप-

क्षोपालम्भे स्वपक्षाक्षेपात्, तस्योपालम्भाभासत्वसिद्धेः। समानं हि दूषणं बहिःपरमाणुषु, संवित्परमाणुषु च। देशतः सबन्धे षडंशत्वं दिग्भागभेदात्, सर्वात्मना प्रचयस्यैकपरमाणुमात्रत्वम्। प्रचयस्य परमाणुभ्यो भेदे प्रत्येक परिसमाप्त्यैकदेशेन वा वृत्तौ प्रचयबहुत्वं सांशत्वापादनमनवस्था च। न च परमाणुभि संसृष्टैर्व्यवहितैर्वा प्रचयस्योपकारे संसर्गासंभवो, व्यवधानेन व्यवधीयमानाभ्या व्यवधायकस्य सजातीयस्य, विजातीयस्य वा व्यवधाने प्रकृतपर्यनुयोगोऽनवस्थाप्रसञ्जनं चेति स्वपक्षघातः स्यात्, सूक्ष्मस्थूलात्मनि बहिर्जात्यन्तरे तस्यानवकाशाच्च हर्षविषादाद्यनेकाकारात्मवत्। तत्रापि विरोधो दूषणमिति चेत्, सर्वथा कथंचिद्वा ? न तावदाद्यः पक्षः, सर्वथा क्वचिद्विरोधासिद्धेः शीतोष्णस्पर्शयोरपि सत्त्वाद्यात्मनाऽविरोधात्, स्वेष्टेपि तत्त्वे कथंचिद्विरोधपरिहारस्य पुनरायासतामप्यशक्तेर्न द्वितीयः पक्षः संभवति। तत्साक्षात्परंपरया वा, विमत्यधिकरणभावापन्नं ज्ञानं, स्वरूपव्यतिरिक्तार्थालम्बनं, ग्राह्यग्राहकाकारत्वात् संतानान्तरसिद्धिवत्। विप्लवज्ञानग्राह्यग्राहकाकारत्वेन व्यभिचार इति चेत्, न, संतानान्तरसाधनस्यापि व्यभिचारप्रसङ्गात्। न हि व्यापारव्याहारनिर्भासोपि विप्लुतो नास्ति, येनाव्यभिचारी हेतुः स्यात्। तदन्यत्रापि वासनाभेदो गम्येत न संतानान्तरम्। यथैव हि जाग्रद्दशाया बहिरर्थवासनाया दृढतमत्वात्तदाकारस्य ज्ञानस्य सत्यत्वाभिमानः, स्वप्नादिदशायां तु तद्वासनाया दृढत्वाभावात् तद्वेदनस्यासत्यत्वाभिमानो लोकस्य, न परमार्थतो बहिरर्थः सिध्यतीति वासनाभेदोऽभ्युपगम्यते, तथानुपप्लवदशायां सन्तानान्तरज्ञानस्य वासनाया दृढतमत्वात्सत्यताभिमानोन्यत्र तददार्ढ्यादसत्यताव्यवहार इति वासनाभेदो गम्यतां, नतु संतानान्तरम्। तदनभ्युपगमे स्वसंतानक्षणक्षयादिसिद्धिः कथमभ्युपगम्यते ? ततः सुदूरमपि गत्वा किंचिद्वेदनं स्वेष्टतत्त्वावलम्बनमेषितव्यम्। तदेव वेद्यवेदकाकारं बहिरर्थवेदनस्य स्वरूपव्यतिरिक्तालम्बनत्वं साधयति। ततो बहिरर्थस्य सिद्धेः सिद्धं वक्त्रादित्रयं, तस्य च बोधादित्रयम्।

इति जीवशब्दस्य सबाह्यार्थत्वसाधने संज्ञात्वस्य साधनस्यासिद्धतानैकान्तिकता वा, दृष्टान्तस्य वा साधनधर्मादिवैधुर्यं, यतो न जीवसिद्धिः स्यात् । तत्सिद्धौ च तस्यार्थं परिच्छिद्य प्रवर्तमानस्य सवादविसंवादसिद्धिः सिध्यत्येव । स्यात् सर्वमभ्रान्तमेव ज्ञानं भावप्रमेये संवादापेक्षणात् । स्याद्भ्रान्तं बहिरर्थे विसंवादापेक्षणात् । स्यादुभयं, क्रमार्पिततद्द्वयात् । स्यादभ्रान्तावक्तव्यं संवादसहार्पिततद्द्वयात् । स्याद्भ्रान्तावक्तव्यं विसंवादसहार्पिततद्द्वयात् । स्यादुभयावक्तव्यमेव क्रमाक्रमार्पिततद्द्वयात् । इति पूर्ववत् सप्तभङ्गीप्रक्रिया योजयितव्या, तथैवातिदेशसामर्थ्यात् तद्विचारस्य सिद्धेः, प्रमाणनयादेशादपि प्रतिपत्तव्या ॥ ८७ ॥

ज्ञानैकान्तादिपक्षे गगनफलमिव ज्ञापकोपायतत्त्वं, संभाव्यं नैव मानात् कथमपि निपुणं भावयद्भिर्महद्भिः ॥
स्याद्वादे तत्प्रसिद्धं विविधनयबलात्तत्त्वतः शुद्धबुद्धे—रित्याज्ञातं प्रपञ्चाद्विचरतु सुचिरं स्वामिनः सद्वचःसु ॥ १ ॥

॥ इत्याप्तमीमांसालङ्कृतौ सप्तमः परिच्छेदः ॥

'स्वसंवित्त्यैवेति' तस्य चेति उक्तस्वरूपस्य साधनस्य चेत्यर्थः । एकलक्षणोऽन्यथानुपपत्त्येकलक्षणः, तेन परेष्टत्रिलक्षणपञ्चलक्षणादिनिरासः । 'व्याहतमेतदिति' बाह्यग्राह्याभावेन भ्रान्तिभ्रान्तिज्ञसाङ्कर्यापत्तेरिति भावः । अदृश्या एव हीति सन्तानान्तरवर्त्तिनो भवान्तरवर्त्तिनश्चेत्यर्थः । पूर्वादीति पूर्वादिदिशां भिन्नभिन्नावच्छेदेनैव परमाणौ संयोगसम्भवादित्यर्थः । वृत्तिविकल्पेन वेति परमाणौ स्कन्धः कार्त्स्न्येन वर्त्तेत तदेकदेशेन वा, आद्ये परमाणुमात्रः स्कन्धः स्यात्, अन्त्ये च परमाणोः सांशत्वापत्तिरित्यर्थः । तस्योपालम्भाभासत्वसिद्धेरिति यत्रोभयोः समो दोष इत्याद्युक्तेरिति भावः । स्वपक्षाक्षेपमेव विवृणोति समानं हि दूषणमित्यादिना, संसर्गासम्भव इति वृत्तिविकल्पग्रासादित्यर्थः ॥

प्रकृतपर्यनुयोग इति क्षणभङ्गुरव्यवधीयमानसंबन्धः कथमिति प्रश्नस्तदवस्थः स्यादित्यर्थः । अनवस्थाप्रसञ्जनं चेति व्यवहितपरमाणूनामवस्थानाभावादित्यर्थः । तस्य परोक्तोपालम्भस्य, तत्रापि अन्तर्बहिर्वा जात्यन्तरेऽपि, वेद्यवेदकाकारमिति वेद्यवेदकाकारवत्त्वं साधनमित्यर्थः । स्यात् सर्वमभ्रान्तमेव ज्ञानमित्यत्र सर्वपदमहिम्ना ज्ञानत्वावच्छेदेनाभ्रान्तत्वसाधनान्नांशतः सिद्धसाधनादिदोषः १, द्वितीयभङ्गे सर्वपदानुपादानात् ज्ञानत्वसामानाधिकरण्येन भ्रान्तत्वस्य विधेयत्वान्नांशतो बाधः, प्रयोजनं तु प्राभाकरमतभङ्गः । एवमग्रेतना अपि भङ्गाः स्वपरसमयाविरोधेन भावनीयाः ॥ ८७ ॥

अन्तर्बहिर्विषयताघटितप्रमात्व-भ्रान्तत्वकोटिकृतविप्रतिपत्तिभेदी ॥
स श्रेयसीं प्रणयितां प्रथयन् मुनीनां, रत्नत्रयस्य जयताज्जिनवाक्यराशिः ॥ १ ॥

॥ इति महोपाध्यायश्रीयशोविजयगणिविरचितेऽष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणे सप्तमः परिच्छेदः ॥ ७ ॥

॥ ॐ ॥ ॥ अथाष्टमः परिच्छेदः ॥ ॥ ॐ ॥



ज्ञापकमुपायतत्त्वं, समन्तभद्राकलङ्कनिर्णीतम् ॥ सकलैकान्तासंभव-मष्टसहस्री निवेदयति ॥ १ ॥

दैवादेवार्थसिद्धिश्चे–द्दैवं पौरुषतः कथम् ॥ दैवतश्चेदनिर्मोक्षः, पौरुषं निष्फलं भवेत् ॥ ८८ ॥

कारकलक्षणमुपायतत्त्वमिदानीं परीक्ष्यते । तद्धि, केचिद्दैवमेव दृष्टादृष्टकार्यस्य साधनमित्याचक्षते, पौरुषमेवेत्यपरे । किंचिद्दैवादेव किंचित्पौरुषादेवेत्यन्ये, तदुभयसाधनत्वेनावक्तव्यमेवेति चेतरे । तत्र दैवादेव यदि सर्वस्यार्थस्य सिद्धिरुच्यते तदा दैवमपि कथं पुरुषव्यापारात् कुशलाकुशलसमाचरणलक्षणादुपपद्येत, प्रतिज्ञाहानेः । दैवान्तरादेव दैवं, न पौरुषादित्यभ्युपगमेऽनिर्मोक्षो मोक्षाभावः, पूर्वपूर्वदैवादुत्तरोत्तरदैवप्रवृत्तेरनुपरमात् । ततः पौरुषं निष्फलं भवेत् । पौरुषाद्दैवस्य परिक्षयान्मोक्षप्रसिद्धेर्न तन्निष्फलमिति चेत्, सैव प्रतिज्ञाहानिः । मोक्षकारणपौरुषस्यापि दैवकृतत्वात् परपरया मोक्षस्यापि दैवकृतत्वोपपत्तेर्न प्रतिज्ञाहानिरिति चेत्, तर्हि पौरुषादेव तादृशं दैवमिति न दैवैकान्तः । एतेन धर्मादेवाभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिरित्येकान्तः प्रतिक्षिप्तो, महेश्वरसिसृक्षानर्थक्यप्रसङ्गाच्च ।

कुतस्तर्हि समीहितार्थसिद्धिरित्युच्यते । योग्यता कर्म पूर्वं वा दैवमुभयमदृष्टं, पौरुषं पुनरिह चेष्टितं दृष्टम् । ताभ्यामर्थसिद्धिः, तदन्यतरापायेऽघटनात् पौरुषमात्रेऽर्थादर्शनाद्, दैवमात्रे वा समीहानर्थक्यप्रसङ्गात् । स्वयमप्रयतमानस्य सर्वमिष्टानिष्टमदृष्टमात्रादेव, प्रयतमानस्य तु प्रयत्नाख्यात् पौरुषाद् दृष्टादिति वदन्नपि न प्रेक्षावान्, कृष्यादिषु समं प्रयतमानाना कस्यचिदेवार्थप्राप्त्यनर्थोपरमदर्शनादपरस्यानर्थप्राप्त्यर्थोपरमप्रतीतेः, धर्माधर्मयोरपि तन्निमित्तत्वसिद्धेः । स्वयमप्रयतमानानामर्थप्राप्त्यनर्थोपरमयोरनर्थप्राप्त्यर्थोपरमयोश्च सद्भावेपि प्रयत्नाभावेनुपभोग्यत्वप्रसङ्गात् पौरुषस्यापि तदनुभवकारणत्वनिश्चयात् सर्वत्र दृष्टादृष्टयोर्निमित्तत्वसिद्धिस्तयोरन्यतरस्याप्यपाये तस्यानुपपद्यमानत्वात्, मोक्षस्यापि परमपुण्यातिशयचारित्रविशेषात्मकपौरुषाभ्यामेव सभवात् । ततो न पाक्षिकोपि दैवैकान्तः श्रेयान् ॥ ८८ ॥

आरुह्यैन्द्रं रथं द्राग् धृतशरधनुषा मातलिख्याततत्तद्-वीर्योत्कर्षेण कष्टं प्रतिहरिकटके नेमिना नीयमाने ॥

त्रस्तेऽपि न्यस्तहस्ते धनुषि घनजराजर्जरे कृष्णसैन्ये, यद्गात्रस्नात्रनीरादजनि शुभमसौ पातु शङ्खेश्वरो माम् ॥१॥

अष्टमे दैवपुरुषकारैकान्तनिरासः, स च ग्रन्थः सुगमप्रायः, इदं तु चिन्त्यम् ॥ ८८ ॥

पौरुषादेव सिद्धिश्चेत्, पौरुषं दैवतः कथम् ? ॥ पौरुषाच्चेदमोघं स्यात्, सर्वप्राणिषु पौरुषम् ॥८९॥

पौरुषादेवार्थस्य सिद्धिरिति वदतोपि कथं पौरुषं दैवतः स्यात् ? प्रतिज्ञाहानिप्रसङ्गात् । तद्धि पौरुषं विना दैवसंपदा न स्यात्, 'तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायश्च तादृशः । सहायास्तादृशाः सन्ति यादृशी भवितव्यता ॥१॥' इति प्रसिद्धेः । तत्सर्वं बुद्धिव्यवसायादि पौरुष पौरुषापादितमिति चेत्तर्ह्यमोघमेव सर्वप्राणिषु पौरुष भवेत् । तथैवेति चेत्, तद्व्यभिचारदर्शिनो न वै श्रद्दधीरन् । स्यान्मतमेतत्—पौरुष द्विविधं, सम्यग्ज्ञानपूर्वकं मिथ्याज्ञानपूर्वक च । तत्र मिथ्याज्ञानपूर्वकस्य पौरुषस्य व्यभिचारदर्शनेपि सम्यगवबोधनिबन्धनस्य न व्यभिचारः । तत सफलमेव पौरुषमिति । तदसत्, दृष्टकारणसामग्रीसम्यगवबोधनिबन्धनस्यापि पौरुषस्य व्यभिचारदर्शनात् कस्यचिदुपेयाप्राप्तेरदृष्टकारणकलापसम्यगवबोधस्य तु साक्षादसकलविदामसंभवात् तन्निबन्धनपौरुषाभावात् । प्रमाणान्तरात्तदवबोधस्य संभवेपि किमसावदृश्यः कारणकलापः कारणशक्तिविशेषः, पुण्यपापविशेषो वा ?, प्रथमपक्षे तत्सम्यगवगमनिमित्तकस्यापि पौरुषस्य व्यभिचारदर्शनान्नामोघत्वसिद्धिः । द्वितीयपक्षे तु दैवसहायादेव पौरुषात् फलसिद्धिः दैवसदवगमनिबन्धनादेव पौरुषादुपेयप्राप्तिव्यवस्थितेः । तदपरिज्ञानपूर्वकादपि कदाचित्फलोपलब्धेश्च न सम्यगवबोधनिबन्धनः पौरुषैकान्तः । इत्यसौ परित्याज्य एव दैवैकान्तवत् ॥ ८९ ॥

विरोधान्नोभयैकात्म्यं, स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ॥ अवाच्यतैकान्तेप्युक्ति–र्नावाच्यमिति युज्यते ॥९०॥

दैवेतरयोः सहैकान्ताभ्युपगमे व्याघातादवाच्यतायां च स्ववचनविरोधात् स्याद्वादनीतिः श्रेयसी तद्विपां प्रमाणविरुद्धाभिधायित्वात् ॥९०॥ कीदृशी स्याद्वादनीतिरत्रेत्याहुः—

अबुद्धिपूर्वापेक्षाया–मिष्टानिष्टं स्वदैवतः ॥ बुद्धिपूर्वव्यपेक्षाया–मिष्टानिष्टं स्वपौरुषात् ॥ ९१ ॥

ततोऽतर्कितोपस्थितमनुकूलं प्रतिकूल वा दैवकृतं, बुद्धिपूर्वापेक्षापायात् तत्र पुरुषकारस्याप्रधानत्वात् दैवस्य प्राधान्यात्। तद्विपरीत पौरुषापादितं बुद्धिपूर्वव्यपेक्षानपायात, तत्र दैवस्य गुणभावात् पौरुषस्य प्रधानभावात्, न पुनरन्यतरस्याभावात् अपेक्षाकृतत्वात्तद्व्यवस्थाया.। तथापेक्षानपाये परस्पर सहायत्वेनैव दैवपौरुषाभ्यामर्थसिद्धिः। इति स्यात्सर्वं दैवकृतमबुद्धिपूर्वापेक्षातः। स्यात् पौरुषकृतं बुद्धिपूर्वापेक्षातः। स्यादुभयकृतं क्रमार्पिततद्द्वयात्। स्यादवक्तव्यं सहार्पिततद्द्वयात्। स्याद्दैवकृतावक्तव्यमबुद्धिपूर्वापेक्षया सहार्पिततद्द्वयात्। स्यात्पौरुषकृतावक्तव्यं बुद्धिपूर्वापेक्षया सहार्पिततद्द्वयात्। स्यात्तदुभयावक्तव्यमेव क्रमेतरार्पिततद्द्वयात्। इति सप्तभङ्गीप्रक्रिया पूर्ववत् ॥ ९१ ॥

दैवैकान्तादिपांशुप्रसरनिरसनोद्भूतसामर्थ्यवृत्तिः, सन्मार्गव्यापिनीयं पवनततिरिवाज्ञानखेदं हरन्ती ॥
बन्धं प्रध्वंसमद्धा सकलमपि बलादानयन्ती नितान्तं, नीतिः स्याद्वादिनीद्धा दृगवगमभृतां निर्वृतिं वः प्रदेयात्॥१॥

॥ इत्याप्तमीमांसालङ्कृतावष्टमः परिच्छेदः ॥८॥

अबुद्धिपूर्वापेक्षायामित्यादिव्यवस्थापनेऽपि पाक्षिकदैवपुरुषकारैकान्तप्रसङ्गादनेकान्तव्याप्तिभङ्गः, बुद्धिपूर्वके कृष्यादौ दैवजन्यत्वस्याबुद्धिपूर्वकेवाऽश्रविकारादौ यत्नजन्यत्वस्य व्यभिचारात् । पूर्वं गौणप्रधानभावेन सर्वत्रोभयजन्यत्वं साधयित्वा पश्चादयमेकतरहेतुप्राधान्यापेक्षया पाक्षिको विभाग इति चेत्, तर्हि स्यात् सर्वं दैवकृतमित्यादौ सर्वपदोपादानानुपपत्तिः, सामान्यहेतुत्वापेक्षया ते भङ्गा इति चेत्, तर्हि तेषु बुद्धिपूर्वापेक्षादिहेत्वभिधानानुपपत्तिः, अव्यापकत्वात्, सर्वत्र यथा कथञ्चिद्दैवपुरुषकारोभयकृतत्वस्य प्रामाणिकत्वे च घटे दण्डचक्रोभयजन्यत्ववदेक एव भङ्गः स्यात्, युगपदुभयजन्यत्वादेरेकवाक्यतया वक्तुं शक्यत्वात्, न्यूनाधिकव्यापारवत्त्वस्यापि साधारण्येनोभयत्राविशेषात्, विविक्तस्य च तस्य पाक्षिकभङ्गसाक्षित्वात्, तस्मात् ' पुव्वकयं कम्मं चिय, चित्तविवागमिह भन्नई दिव्वं । कालाइएहिं उप्पा–यणं तु तह पुरिसगारुत्ति ॥ १ ॥ " इति श्रीहरिभद्रार्योक्तरीत्या कालादिकृतकर्मविपाकपरिणामरूपस्य पुरुषकारस्य तत्त्वतो दैवव्यापारत्वसिद्धेर्व्यापारेण व्यापारिणोऽन्यथासिद्धत्वानन्यथासिद्धत्वयोर्व्यवहारनिश्चयाधीनत्वात्तद्विवक्षा कृता स्यात्, सर्वं दैवकृतमित्यादयः सप्तभङ्गा द्रष्टव्याः। मोक्षे ज्ञानजन्यत्वक्रियाजन्यत्वसप्तभङ्गीकरणेऽस्या एवोपायत्वात्, अत एव परमार्थतः सर्वत्र नियतानियतेऽपि वस्तुन्याजीविकसमयप्रसिद्धं नियतिजन्यत्वमुपमृद्य पुरुषकारजन्यत्वं भगवद्वचोऽनुसारिभिर्व्यवस्थाप्यते, मतान्तरहेतोर्नयस्य नयान्तरेण खण्डनस्यापि शास्त्रार्थत्वात्, नियतानियतसप्तभङ्गीप्रवृत्तौ तु नियतिजन्यताग्राहकोऽपि नय आश्रीयते एव, दाहकोऽपि वन्हिरिव पाकादाविति तत्र तत्र व्यवस्थितं, अथवा दैवशब्देन कालादिचतुष्टयं गृह्यते, पौरुषशब्देन चात्मप्रयत्नः, तत्कृतत्वं च तदव्यवहितोत्तरक्षणोत्पत्तिकत्वं तच्छब्दार्थश्च सामग्रीप्रविष्टो वाच्य इति, तत्त्वाविनिर्गमात्

स्याद्दैवकृतं सर्वमित्यादिसप्तभङ्गीप्रवृत्तिरविरुद्धा, ईदृशविवक्षामहिम्ना स्याद्दण्डजन्यो घटः स्याच्चक्रजन्य इत्यादि सप्तभङ्गीप्रवृत्तेरपि सम्भवादेकस्वभावेनोभयजन्यत्वविवक्षायामवक्तव्यत्वतद्घटितभङ्गानामपि मावकाशत्वादिति शुक्तमुत्पश्यामः। यच्च नियतिद्वात्रिंशिकायां॥ "ज्ञानमङ्गभिचारं चे-ज्जिनानां मा श्रमं कृथाः॥ अथ तत्राप्यनेकान्तो, जिताः स्मः किन्तु को भवान्॥१॥" इति भगवद्ज्ञानरूपनियत्येकान्तदृढीकरणम्, तदज्ञानज्ञेयपरिणामयोः समनियमप्रतिपादके "जं जहा जं भगवया दिठ्ठं, तं तहा तं विपरिणाम (णमइ)" इति परमर्षिवाक्ये कार्यकारणभावग्राहकत्वाध्यारोपेण नयवचने आहार्यारोपस्यापि निमित्तत्वादित्याद्युप(नयोप)देशामृततरङ्गिण्यां प्रपञ्चितमस्माभिः॥९१॥

दैवं बलीय इति केचन पौरुषं च, केचिद् वदन्ति न तु तुल्यवदाद्रियन्ते॥
तत्पक्षपातविपमाचलपक्षपात-वज्राभिघातसमताभियमेति युक्तिः॥१॥

इति महोपाध्यायश्रीयशोविजयगणिविरचितेऽष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणेऽष्टमः परिच्छेदः॥८॥

ॐ ॥ अथ नवमः परिच्छेदः॥ ॐ

सम्यगवबोधपूर्वं, पौरुषमपसारिताखिलानर्थम्॥ दैवोपेतमभीष्टं, सर्वं संपादयत्याशु॥१॥
पापं ध्रुवं परे दुःखात्, पुण्यं च सुखतो यदि॥ अचेतनाकषायौ च, बध्येयातां निमित्ततः॥९२॥

द्विविधं हि दैवं, पुण्यं पाप च प्राणिनामिष्टानिष्टसाधनमुक्त. ‘सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम्, इतरत् पापम्,’ इति वचनात्। तदास्रवनिमित्तविप्रतिपत्तिप्रतिपत्त्यर्थमिदमुक्तम्। तत्र परसताने दुःखहेतुः पुरुषः पापमात्मन्यास्रवयति सुखहेतुः पुण्यमिति परत्र सुखदुःखोत्पादनात् पुण्यपापबन्धैकान्ते कथमचेतनाः क्षीराद्यः कण्टकादयो वा न बध्येरन्? परस्मिन् सुखदुःखयोरुत्पादनात्। चेतना एव बन्धार्हा इति चेत्, तर्हि वीतरागाः कथं न बध्येरन्? तन्निमित्तत्वाद्बन्धस्य। तेषामभिसन्धेरभावान्न बन्ध इति चेत्, तर्हि न परत्र सुखदुःखोत्पादन पुण्यपापबन्धहेतुरित्येकान्तः सभवति ॥ ९२ ॥

पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुःखा-त्पापं च सुखतो यदि ॥ वीतरागो मुनिर्विद्वां-स्ताभ्यां युञ्ज्यान्निमित्ततः ॥९३॥

स्वस्मिन् दुःखोत्पादनात् पुण्यं सुखोत्पादनात्तु पापमिति यदीष्यते तदा वीतरागो विद्वांश्च मुनिस्ताभ्या पुण्यपापाभ्यामात्मानं युञ्ज्यान्निमित्तसद्भावात्, वीतरागस्य कायक्लेशादिरूपदुःखोत्पत्तेर्विदुषस्तत्त्वज्ञानसतोपलक्षणसुखोत्पत्तेस्तन्निमित्तत्वात्।

स्यान्मतं–‘ स्वस्मिन् दुःखस्य चोत्पत्तावपि वीतरागस्य तत्त्वज्ञानवतस्तदभिसधेरभावान्न पुण्यपापाभ्या योगस्तस्य तदभिसधिनिबन्धनत्वात्’ इति तर्ह्यनेकान्तसिद्धिरेवायाता। आत्मसुखदुःखाभ्यां पापेतरैकान्तकृतान्ते पुनरकषायस्यापि ध्रुवमेव बन्धः स्यात्। ततो न कश्चिन्मोक्तुमर्हति, तदुभयाभावासभवात्। न हि पुण्यपापोभयबन्धाभावासभवे मुक्तिर्नाम, ससृतेरभावप्रसङ्गात्। ततो नैतावेकान्तौ सभाव्येते दृष्टेष्टविरुद्धत्वात् गदाद्येकान्तवत् ॥ ९३ ॥

मत्तव्यालकरालकालफणिराडुत्फालसिंहार्णव–ज्वालाजालजटालपावकरणप्रौढव्यथाबन्धजाः ॥
यान्त्यष्टापि भियः क्षयं भवभृतां यन्नाममन्त्रस्मृते–स्तं श्रीमत्फलवर्द्धिमण्डनमहं ध्यायामि पार्श्वप्रभुम् ॥१॥

नवमे दैवभेदपुण्यपापाश्रवविचारः, पापं ध्रुवमिति, परे स्वभिन्नात्मनि, निमित्तत इति परगतसुखदुःखनिमित्तभावादित्यर्थः ॥९२॥ तदभिसन्धिनिबन्धनत्वादिति वक्ष्यमाणविशुद्धिमङ्क्लेशरूपपुण्यपापाशयकारणकत्वादित्यर्थः, तेन तत्त्वज्ञानिनो जीवन्मुक्तस्य विहितनिषिद्धाचरणेऽपि मिथ्याज्ञानवासनाभावान्नादृष्टमिति नैयायिकादिमतमपास्तम्। रागद्वेषाभावादेव तस्य बन्धासिद्धेः, अन्यथा तत्त्वज्ञानस्यापि विहितत्वेन विनश्यदवस्थ--मिथ्याज्ञानवासनासहकृततज्जन्यशुभादृष्टस्यानन्तत्वादनिर्मोक्षापत्तेः, निषिद्धाचरणस्य च तस्यानुचितप्रवृत्तिजनकमोहाभावेनैव दूरापास्तत्वात्। एतेनेश्वरार्पणबुद्ध्या फलानुद्देशेन प्रतिपदोक्तफलत्यागेन विविदिषार्थतया वा कृतात्कर्मणोऽदृष्टानुत्पत्तिरिति वेदान्तिमतमप्यपास्तम्, ईदृशब्रह्महत्यादेरपि पापानुत्पत्त्यापत्तेः। श्येनादिनाऽतिप्रसङ्गेन वेदोक्तत्वस्याप्यविनिगम्यत्वादिति दिग् ॥ ९३ ॥

विरोधान्नोभयैकात्म्यं, स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ॥ अवाच्यतैकान्तेप्युक्ति-र्नावाच्यमिति युज्यते ॥९४॥

प्रस्तुतैकान्तद्वयसिद्धान्ते व्याहतेरनभिधेयतायामनभिधेयाभिधानविरोधात्। कथंचिदेवेति युक्तम्। नहि स्वस्मिन्नन्यस्मिन्वा सुखात् दुःखाच्च पुण्यमेव पापमेव वा तदुभयमेव वेति वदतामव्याहतिः सभवति, नापि तथाऽवाच्यतैकान्तेऽवाच्यमित्यभिधानमविरुद्धं, यतः स्याद्वादो न युक्तः स्यात् ॥ ९४ ॥ कथ स्याद्वादे पुण्यपापास्रवः स्यादित्याहुः—

विशुद्धिसंक्लेशाङ्गं चेत्, स्वपरस्थं सुखासुखम् ॥ पुण्यपापास्रवो युक्तो, न चेद् व्यर्थस्तवार्हतः ॥९५॥

आत्मनः परस्य वा सुखदुःखयोर्विशुद्धिसङ्क्लेशाङ्गयोरेव पुण्यपापास्रवहेतुत्वं, न चान्यथातिप्रसङ्गात्', विशुद्धिकारणस्य विशुद्धि-

कार्यस्य विशुद्धिस्वभावस्य वा विशुद्ध्यङ्गस्य, सङ्क्लेशकारणस्य सङ्क्लेशकार्यस्य सङ्क्लेशस्वभावस्य वा सङ्क्लेशाङ्गस्य च, सुखस्य दुःखस्य वा तदुभयस्य वा स्वपरोभयस्थस्य पुण्यास्रवहेतुत्वं पापास्रवहेतुत्वं च यथाक्रम प्रतिपत्तव्यम् । न चान्यथा, यथोदित-प्रकारेणातिप्रसङ्गस्येष्टविपरीतेपि पुण्यपापवन्धप्रसङ्गस्य दुर्निवारत्वात् । क पुनः सङ्क्लेशः का वा विशुद्धिरिति चेदुच्यते,—आर्तरौद्र-ध्यानपरिणामः सङ्क्लेशस्तदभावो विशुद्धिरात्मनः स्वात्मन्यवस्थानम् । तत्रार्तध्यान चतुर्विधं, 'आर्तममनोज्ञस्य सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारो, विपरीतं मनोज्ञस्य, वेदनायाश्च, निदानं चेति सूत्रचतुष्टयेन तथाप्रतिपादनात् । रौद्रध्यान चतुर्विधं, हिंसादिनि-मित्तभेदात् 'हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमित्यत्र सूत्रे प्रकाशनात् । 'मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः' त एव सङ्क्लेशपरिणामा इति न विरुध्येते तेषामार्तरौद्रध्यानपरिणामकारणत्वेन सङ्क्लेशाङ्गत्ववचनात्, तत्कार्यहिंसादिक्रियावत् । 'कायवाङ्मनःकर्म योगः' 'स आस्रवः,' 'शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्ये' त्यपि न विरुद्धं, कायादियोगस्यापि तत्कारणकार्यत्वेन सङ्क्लेशत्वव्यवस्थितेः । एतेन तदभावे विशुद्धिः सम्यग्दर्शनादिहेतुः धर्म्यशुक्लध्यानस्वभावा तत्कार्यविशुद्धिपरिणामात्मिका च व्याख्याता, तस्यामेवात्मन्यवस्थानसंभवात् । तदेवं विवादाध्यासिताः कायादिक्रियाः स्वपरसुखदुःखहेतवः सङ्क्लेशकारणकार्यस्वभावाः प्राणिना-मशुभफलपुद्गलसंबन्धहेतवः सङ्क्लेशाङ्गत्वाद्विषभक्षणादिकायादिक्रियावत् । तथा विवादापन्नाः कायादिक्रियाः स्वपरसुखदुःखहेतवो विशुद्धिकारणकार्यस्वरूपाः प्राणिनां शुभफलपुद्गलसंबन्धहेतवो, विशुद्ध्यङ्गत्वात् पथ्याहारादिकायादिक्रियावत् । ये शुभाशुभफलपुद्गलास्ते पुण्यं पाप च कर्मानेकविधम् । इति सङ्क्षेपात्सकलशुभाशुभकर्मास्रवबन्धकारण सूचितं भवति, विस्तरतस्तस्यास्रवबन्धाध्याये सुनिरूपित-त्वात् । ततः स्यात् स्वपरस्थं सुखदुःखं पुण्यास्रवहेतुर्विशुद्ध्यङ्गत्वात् । स्यात् पापास्रवहेतुः, सङ्क्लेशाङ्गत्वात् । स्यादुभयं, क्रमार्पिततद्-

द्वयात् । स्यादवक्तव्य, सहार्पिततद्द्वयात् । स्यात् पुण्यहेतुरवक्तव्य च, स्यात्पापहेतुरवक्तव्यं च, स्यादुभयं चावक्तव्य च, स्वहेतुविपर्यात् । इति सप्तभङ्गीप्रक्रिया पूर्ववद्योजनीया ॥ ९५ ॥

विशुद्धिसङ्क्लेशाङ्गं चेदिति, अत्राङ्गशब्दार्थं त्रिधा व्याचष्टे विशुद्धिकारणस्येत्यादिना, विशुद्धिस्वभावत्वमकारणाकार्यत्वे सति तन्नियतत्वम्, एवं सङ्क्लेशस्वभावत्वमपि व्याख्येयम् । अत्र निश्चयतो विशुद्धिसंक्लेशयोरेव पुण्यपापहेतुत्वं, व्यवहारतस्तु तदुत्कर्षकत्वेन तद्द्वारा तदङ्गनानाविधबाह्यहेतूनामिति नयविभागो द्रष्टव्यः, तथा च पारमर्षम् "अणुमित्तो वि ण कस्सइ, बंधो परवत्थुपच्चया भणिओ ॥ तह वि खलु जयंति जइणो, परिणामविसोहिमिच्छंता ॥१॥" इत्यादि । नन्वागमे मिथ्यादर्शनादीनां बन्धहेतुत्वमुक्तम्, अत्र तु सङ्क्लेशाङ्गस्येति कथं न विरोध इति चेत्, न, आगमे उपादानहेतूनामेव परिसङ्ख्यानादत्र च तेषामन्येषां च सङ्क्लेशाङ्गपदोपादानेनैव सङ्ग्रहादविरोधादित्याशयवानाह–मिथ्यादर्शनाविरतीत्यादि, कायेत्यादि, सङ्क्लेशाङ्गव्याख्यानस्य या दिक् सैव विशुद्ध्यङ्गव्याख्यानस्येत्यतिदिशति–'एतेनेत्यादि' एवं व्यवस्थिते बाह्यक्रियाणां कर्मपुद्गलसम्बन्धहेतुत्वं साधयितुमनुमानप्रयोगमाह–तदेवं विवादाध्यासिता इत्यादिना, स्यादवक्तव्यं सहार्पितद्वयादिति प्रशस्ताप्रशस्तभेदेनाध्यवसायस्थानानां द्विविधानामेव व्यवस्थितत्वात्तृतीयराश्यभावेनैकदाविशुद्धिसङ्क्लेशाङ्गोभयरूपस्य कस्यापि व्यापारस्य वक्तुमशक्यत्वादित्यर्थः । यत्तु अविधिना दानादिव्यापारस्य शुभाशुभयोगत्वमुच्यते, तद्व्यवहारत एव, न तु निश्चयतः, तत्राविधिदानपरिणामयोर्यदंशे उत्कटत्वं तदंशस्यैव फलवत्त्वं, नान्यस्य, अन्यथा ततो मिश्रकर्मबन्धप्रसङ्गात्; न च मिश्रं कर्म किञ्चिदस्ति बन्धतः, केवलं सङ्क्रमत एव मिश्रमोहनीयमेक-

मस्तीत्याद्यर्थस्य महाभाष्ये व्यवस्थितत्वात्। यदपि कुशलाकुशलं कर्म तत्त्वार्थभाष्ये परिगणितं तदपि न बन्धतः, किन्त्वनुबन्धत इति विस्तरेण व्यवस्थापितं तर्कभाष्यानुसारिण्यां तत्त्वार्थटीकायामस्माभिरिति तत एव तदवधार्यं सुधीभिः॥९५॥

न किंचित्पापाय प्रभवति न वा पुण्यततये, प्रवृद्धेद्धां शुद्धिं समधिवसतो ध्वंसविधुराम्।
भवेत् पुण्यायैवाखिलमपि विशुद्ध्यङ्गमपरं, मतं पापायैवेत्युदितमवताद्वो मुनिपतेः॥ १ ॥

॥ इत्याप्तमीमांसालङ्कृतौ नवमः परिच्छेदः॥

'न किञ्चित्पापायेत्यादि नवमसमाप्तिपद्यं विद्यानन्दस्य। अत्रेदं मनाग् मीमांसामहे। यद्येवं शुद्धोपयोगभूमिकामारूढस्य मुनेश्चिच्चमत्कारमात्रविश्रान्तसतत्त्वस्य बाह्यहेतोरकिञ्चित्करत्वं, तदा प्रतिक्रमणक्रियाऽपि तं व्यभिचरेत्, व्यभिचरेदेव प्रतिक्रमणप्रतिचरणाविज्ञानधारणाबुद्धीहामतिविकल्पाष्टकस्य प्राग् दशायाममृतकुम्भत्वस्योत्तरदशायां च विषकुम्भत्वस्य समयप्राभृतेऽभिधानादिति चेत्, इदमेव तर्हि विचारणीयं प्रागदशायाममृतकुम्भत्वं किं तस्य शुभोपयोगहेतुत्वादुतारूढपातित्यपरिहारार्थत्वात् किं वा स्वातन्त्र्येण निर्जरार्थत्वादुताहो स्वभावसमवस्थानालम्बनत्वात् अथवा विहितक्रियोपदेशप्रणेतृस्मरणद्वाराभगवत्समापत्तिहेतुत्वात् किंवा स्वगुणस्थानोचितत्वादथवा नानाक्रियासमूहालम्बनसामायिकपरिणामान्तःपातित्वादुत योगसाधनत्वादित्यष्टौ विकल्पा उपतिष्ठन्ते, नाद्यः पक्षः क्षेमङ्करः, शुभोपयोगहेतुमुनेः प्राक्क्रियाया आश्रयणी-

यत्वेऽनुकम्पादानादेरपि तथात्वापत्तेः। न द्वितीयः, प्रागदशायामारुरुक्षुतयारूढत्वस्याप्रसङ्गेनैतत्पातित्यपरिहारार्थताया दूरापास्तत्वात्। न तृतीयः, स्वातन्त्र्येण निर्जरार्थताया उत्तरदशायामप्यव्याहतत्वेन तदा विषकुम्भत्ववचनस्यैव विषकुम्भत्वापत्तेः। अत एव न चतुर्थादयः, सिद्धयोगस्य योगसाधनानपेक्षणात्, पूर्वं तु तदपेक्षावश्यकत्वात्॥ अष्टमोऽवशिष्यते, सोऽपि, "यान्येव साधनान्यादौ, गृण्हीयाद् योगसत्त्वकः (साधकः)॥ सिद्धयोगस्य तान्येव, लक्षणानि विदुर्बुधाः॥१॥" इत्युक्तरीत्या निर्लोठनीयः। शमदमादीनामिव प्रतिक्रमणादिक्रियाया उत्तरदशायां योगिनो लक्षणत्वेन विषकुम्भत्वायोगात्, प्रत्युत स्थिरामृतकुम्भत्वस्यैव सिद्धेः, न चाव्यभिचारिलक्षणत्वाभावान्नैवं, स्वकालेऽव्यभिचारित्वात्, पर्यन्ते तु शुद्धधर्मसन्न्यासोत्पत्तौ क्षायोपशमिकानां शमदमादीनामपि नाशोपगमात्, तस्मात् पूर्वोत्तरभूमिकयोर्वचनासङ्गानुष्ठानतयैव क्रियाभेदो यथाऽस्मत्साम्प्रदायिकैर्लक्षितस्तथा श्रेयान्, न तु परोक्तामृतविषकुम्भदृष्टान्तेन, परायां दृष्टौ समाधिकाले आरूढारोहणाभावन्यायेन क्रियाया अनुपयोगाभिधानं तु शमादेरिवाभिनवग्रहणापेक्षया, न तु विषकुम्भत्वदृष्ट्या, प्रतिपन्ननिर्वाहस्यान्ततो लोकशिक्षार्थं परमयोगिनोऽप्यभिधानात्, शुभोपयोगकालेऽपि साधोः क्रियातो धर्मप्राप्तिश्च पुष्टिशुद्धिमच्चित्तान्वयेन लक्षणीया, तस्यैवोभयोपयोगसाधारणत्वेन धर्मलक्षणत्वात्, उभयसंवलनेऽपि शुद्ध्याधिक्येन साधोर्धर्माधिकारित्वाव्याहते', अधिकारद्वयफलद्वयकल्पनायां गौरवाच्चारित्रधर्मप्रवृत्तावशुभोपयोगराहित्यस्यैकाधिकारस्यैव कल्पने लाघवात्, गुप्तिमत एवाधिकारित्वे तु गुप्तित्वमेकं प्रवीचाराप्रवीचारसाधारणमधिकारतावच्छेदकमेकं कल्पनीयम्, किं बहुना धर्मार्थिक्रियायामनुषङ्गत· पुष्टेः प्राधान्यतश्च शुद्धेराप्तिरिति न काचन क्षतिः। एवं च स्थिरादिदृष्टिमतां सूत्रोक्ता प्रतिक्रमणादिक्रिया रत्नशिक्षानियोजनदृष्टिवद्भिन्नभिन्नैव

शुद्धिनिबन्धनं, नतूत्तरोत्तरं तद्विलोप एवेति प्रतिपत्तव्यम्। यथा च युक्ताहारविहारक्रियाप्रवचनसाराद्युक्तक्रमेण चारित्रोपयोगिनी तथा युक्तोपकरणधारणादिक्रियापि किं न स्यात् "जं पि वत्थं व पायं वा" इत्यादिविधिशतानां तत्रोपलम्भात्, बाह्यपुद्गलप्रवृत्तेर्मूर्च्छानिमित्तत्वे आहारादावप्यप्रवृत्त्यापत्तेः, आहारादिक्रिया ध्यानदीपे तैलप्रचारतुल्यत्वेनाश्रयणीयत्वे युक्तोपकरणधारणस्यापि निर्वातदेशस्थापनतुल्यत्वेनाश्रयणीयत्वाविशेषात्, नान्यस्य चारित्रासाधारणकारणत्वेन मूलगुणत्वे वस्त्रस्य च तत्प्रतिबन्धकत्वेऽभ्युपगम्यमाने न किञ्चित्पापायेत्यादिस्वप्रतिज्ञाया एव दुरुत्प्रेक्षितत्वापत्तेः, तस्मात्॥ "मूर्च्छाच्छन्नधियां हन्त, जगदेव परिग्रहः ॥ मूर्च्छया रहितानां तु, जगदेवापरिग्रहः ॥१॥ " इत्याद्यस्मदुक्तं विमृश्य धर्मलक्षणं च पुष्टिशुद्धिमच्चित्तरूपमेवादृत्य यथासूत्रं प्रवृत्त्यैव शुद्धाध्यवसायनिर्वाहः कार्य इत्यस्माकं हितोपदेशः ॥ १५ ॥ "

वक्तव्यमेव किल यत्तदशेषमुक्त-मेतावतैव यदि चेतयते न कोऽपि ॥
व्यामोहजालमतिदुस्तरमेव नूनं, निश्चेतनस्य वचसामतिविस्तरेऽपि ॥ १ ॥
विशुद्धिसंक्लेशजपुण्यपापे, प्रतिक्रिया यत्र नियम्यते नो ॥
ज्ञानेऽन्यहेतुश्च निज(जिन)प्रसादा-द्विना जिनाज्ञा मम सा प्रमाणम् ॥ २ ॥

इति महोपाध्यायश्रीयशोविजयगणिविरचितेऽष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणे नवमः परिच्छेदः ॥

ॐ ॥ अथ दशमः परिच्छेदः ॥ ॐ

श्रीमदकलङ्कविवृतां, समन्तभद्रोक्तिमत्र संक्षेपात्। परमागमार्थविषया-मष्टसहस्री प्रकाशयति ॥

अज्ञानाच्चेद्ध्रुवो बन्धो, ज्ञेयानन्त्यान्न केवली ॥ ज्ञानस्तोकाद्विमोक्षश्चे–दज्ञानाद्बहुतोन्यथा ॥९६॥

प्रसज्यप्रतिषेधे ज्ञानस्याभावोऽज्ञानं, पर्युदासे ततोऽन्यन्मिथ्याज्ञानमज्ञानम्। तत्र यदि ज्ञानाभावाद् ध्रुवोऽवश्यंभावी बन्धः स्यात्तदा केवली न कश्चित्स्यात्। सकलविपर्ययरहितं तत्त्वज्ञानमसहाय केवलम्, "एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्। अविपर्ययाद् विशुद्धं, केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥१॥" इति वचनात्। तद्योगात्केवलीत्युच्यते। स कथं न स्यादिति चेन्न, तदुत्पत्तेः पूर्वमशेषज्ञानाभावात्, करणजविज्ञानस्यातीन्द्रियार्थाविषयत्वादनुमानस्य चात्यन्त परोक्षार्थागोचरत्वादागमस्यापि सामान्यतोऽविशेषार्थविषयत्वादयोगिनामशेषविशेषविषयज्ञानविरोधात्। न चाक्षलिङ्गशब्दज्ञानपरिच्छेद्य एवार्थस्ततोऽपरो नास्तीति शक्यं वक्तुं, ज्ञेयस्यानन्त्यात्, प्रकृतिविवर्तविशेषाणां पुरुषाणां चानन्ततोपगमात्। स्यान्मतं,–'प्रकृतिपुरुषविवेकज्ञानादेवागमबलभाविनः स्तोकादपि तत्त्वाभ्यासात्मभावात् केवलज्ञानमुद्भवेत्। स एव च तस्य विमोक्षः पुनः संसाराभावादनागतबन्धनिरोधात्' इति, तदप्ययुक्तं, स्तोकज्ञानापेक्षया बहोरज्ञानाद्बन्धस्य प्रसङ्गादेष्यद्बन्धरोधासंभवाद् विमोक्षानुपपत्तेः। अथ तत्त्वज्ञानेन स्तोकेनापि बहोरज्ञानस्य प्रतिहतशक्तिकत्वान्न तन्निबन्धनो बन्धः सम्भवतीति मतं, तदप्यसत्, प्रतिज्ञातविरोधात्। यत् खलु प्रतिज्ञातमज्ञानाद् ध्रुवो बन्ध इति तद्विरुध्यते। अथाखिलज्ञानाभावादज्ञानादवश्यभावी बन्धो न ज्ञानस्तोकमिश्रणादिति मतं, तदप्यसम्यक्, सर्वदा बन्धाभावप्रसङ्गात्, सर्वस्य

प्राणिनः किंचिज्ज्ञानसभवान्मुक्तौ वन्धप्रसक्तेश्च, तत्र सकलज्ञानाभावस्य वन्धहेतोः संभवात्, असप्रज्ञातयोगावस्थायां च " तदा द्रष्टुःस्वरूपेऽवस्थानम्" इति वचनात्। स्वरूप च पुंसश्चैतन्यमात्रं सकलज्ञानरहितम्। इति मोक्षहेतुरेव वन्धहेतुः स्यात्। यदि पुनस्तत्त्वज्ञानस्य प्रागभावाद्वन्धो न प्रध्वसाभावादिति मतं, तदा समाविर्भूततत्त्वज्ञानस्य कस्यचित् कुतश्चिद्विपर्ययज्ञानकारणादन्तरङ्गाद्बहिरङ्गाद्वा विपर्ययज्ञानोत्पत्तौ तत्त्वज्ञानप्रध्वंसाद्वन्धः कथं युज्येत ?, स्यान्मत,—सकलतत्त्वज्ञानोत्पत्तौ निःशेषमिथ्याज्ञाननिवृत्तेरसप्रज्ञातयोगोत्पत्तौ तु तत्त्वज्ञानस्यापि नाशादशेषज्ञानाभावाख्यादज्ञानान्मोक्ष एव, ततोन्यस्मात् सम्यग्ज्ञानप्रागभावप्रध्वंसरूपाद्वन्ध एवेति, तदप्यसाधीयः, कैवल्यभावप्रसङ्गस्याभिधानात्। स्तोकतत्त्वज्ञानाप्रतिवद्धात्तथाविधादज्ञानाद्वन्ध इत्यपि विरुद्ध, प्रवर्तकधर्महेतोः स्तोकतत्त्वज्ञानात्प्रतिहताशेषाज्ञानशक्तिकात् पुण्यवन्धाभावानुषङ्गात्। ततो ज्ञानाभावलक्षणादज्ञानान्नावश्यंभावी बन्ध इति पक्षः क्षेमंकरः स्तोकतत्त्वज्ञानान्मोक्ष इति पक्षवत्। अथ मिथ्याज्ञानलक्षणादज्ञानाद् ध्रुवो बन्धः स्यात्, " धर्मेण गमनमूर्ध्वं, गमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेण ॥ ज्ञानेन चापवर्गो, विपर्ययादिष्यते बन्धः ॥१॥ " इति वचनात्। विपर्ययो मिथ्याज्ञान सहजमाहार्यं चानेकविधमित्यभिमत, तदप्यसत्यं, कैवल्यभावप्रसक्तेः, समयान्तरश्रवणजनितानेकविधाहार्यविपर्ययस्य सांख्यागमभावनाबलोद्भूततत्त्वज्ञानाद्विनाशेपि सहजस्य विपर्ययस्यानिवृत्तेः। केवलज्ञानात् प्राग् बन्धस्यावश्यभावात्तन्निबन्धनमिथ्याज्ञानान्तरोद्भूतेः केवलोद्भूतिविरोधात्। न चागमबलात्सकलतत्त्वज्ञानाविर्भूतिरुपपद्यते, ज्ञेयस्य विशेषतोनन्तत्वादागमाविषयत्वादनुमानाद्यविषयत्ववत्, यतः कृत्स्नमिथ्याज्ञाननिवृत्तेः केवलाविर्भावः सभाव्यते। स्तोकतत्त्वज्ञानान्मोक्ष इत्यप्यनेन निराकृतं, वहुतो मिथ्याज्ञानाद्वन्धस्य प्रसक्तेः। स्तोकतत्त्वज्ञानप्रतिहताद्बहुतो मिथ्याज्ञानान्न वन्ध इति चेत्, कथमेवं मिथ्याज्ञानाद् ध्रुवो बन्धः स्यात् ? कथं वा स्तोकतत्त्वज्ञानात् प्रवर्तकधर्मनिवन्धनात्पुण्यवन्धः ? इति दुरवबोधम्।

एतेनान्यमिथ्याज्ञानान्न वन्ध इत्येतदप्यपास्तं, प्रतिज्ञातविरोधाविशेषात् । रागादिदोषसहितान्मिथ्याज्ञानाद्बन्धो निर्दोषान्न वन्ध इत्यपि प्रतिज्ञातविरोधि कापिलाना, वैराग्यसहितात्तत्त्वज्ञानान्मोक्षवचनवत् । एतेनैतदपि प्रत्याख्यातं, यदुक्त परेण ' दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावान्निःश्रेयस ' इति, मिथ्याज्ञानादवश्यं दोषोद्भूतौ दोषाच्च प्रवृत्तेर्धर्माधर्मसंज्ञिकायाः प्रादुर्भावे, ततोपि जन्मनः प्रसूतौ, ततोपि दुःखस्यैकविंशतिप्रकारस्य प्रसवे, केवलिनः साक्षादशेषतत्त्वज्ञानवतोऽसत्त्वप्रसङ्गात्, अस्मदादिप्रत्यक्षानुमानोपमानागमैः प्रमाणैः सकलतत्त्वज्ञानासंभवान्निःशेषमिथ्याज्ञाननिवृत्त्ययोगात् सकलज्ञेयविशेषाणामानन्त्यात्, सोयं प्रमाणार्थोऽपरिसंख्येयः प्रमाणभृद्भेदस्यापरिसंख्येयत्वादिति स्वयमभिधानात् । न च मिथ्याज्ञानस्य कार्त्स्न्येनानिवृत्तौ सकलदोषनिवृत्तिः । तदनिवृत्तौ च न प्रवृत्तिनिवृत्तिः । तदनपाये च न जन्मनोऽपायः । ततो नाशेषदुःखापायश्च । इति गता निःश्रेयसकथा । यदि पुनरात्माद्यपवर्गपर्यन्तप्रमेयतत्त्वज्ञानादपरनिःश्रेयसप्राप्तिरिष्यते न पुनः प्रमाणादिषोडशपदार्थविशेषतत्त्वज्ञानाद् येन ज्ञानस्तोकादेव विमोक्षसिद्धेः केवली न स्यादिति मतं, तदा वहोर्मिथ्याज्ञानाद्बन्धः किं न भवेत् ? तत्त्वज्ञानेन तस्य प्रतिहतत्वादिति चेत्, कथमेवं मिथ्याज्ञानाद् ध्रुवो वन्धः स्यादित्युक्तम् ? दोषसहितान्मिथ्याज्ञानाद्बन्ध इति चानेन निराकृतं, योगिज्ञानात् प्राग्दोषानिवृत्तेस्तत्कारणमिथ्याज्ञानसंततेः संभवात् । एतेन वैशेषिकमतमपास्तम् ' इच्छाद्वेषाभ्यां वन्ध ' इति, केवल्यभावाविशेषात् । अविद्यातृष्णाभ्यां वन्धोवश्यभावी । " दुःखे विपर्यासमतिस्तृष्णा वा वन्धकारणम् ॥ जन्मिनो यस्य ते न स्तो, न स जन्माधिगच्छति ॥१॥ " इति ताथागतमतमपि न सम्यक्, योगिज्ञानाभावप्रसङ्गात् । अयोगिनः प्रत्यक्षानुमानाभ्यामखिलतत्त्वज्ञानरूपाया विद्याया एवायोगात् तद्विशेष(षय)ज्ञेयस्यानन्त्यात् । स्वय ' मनन्ता लोकधातव ' इति वचनात् । न चाविद्यानुच्छेदे तृष्णा निवर्तते यत सुगत स्यात् । अथ ज्ञानस्तोका-

द्विमोक्ष इष्यते; हेयोपादेयतत्त्वस्य साभ्युपायस्य वेदकः सुगत इति वचनात् । तर्हि बहुतो मिथ्याज्ञानाद्बन्धः सिध्यतु, तन्निबन्धनतृष्णाया अपि संभवात् । कथमन्यथा मिथ्यावबोधतृष्णाभ्यामवश्यंभावी बन्ध इति प्रतिज्ञा न विरुध्यते ? एतेनैतदपि प्रत्याख्यातं यदुक्त वृद्धबौद्धैः 'अविद्याप्रत्ययाः संस्काराः सस्कारप्रत्ययं विज्ञान विज्ञानप्रत्ययं नामरूपं नामरूपप्रत्ययं षडायतन षडायतनप्रत्ययः स्पर्शः स्पर्शप्रत्यया वेदना वेदनाप्रत्यया तृष्णा तृष्णाप्रत्ययमुपादानमुपादानप्रत्ययो भवो भवप्रत्यया जातिर्जातिप्रत्यय जरामरणम्' इति द्वादशाङ्गं प्रतीत्य समुत्पादस्य सभवात्, क्षणिकनिरात्मकाशुचिदुःखेषु तद्विपरीतज्ञानलक्षणाविद्योदये कचिदपि ज्ञेये तत्प्रत्ययसस्काराणां पुण्यापुण्यानेञ्ज्य(क)प्रकाराणा शुभाशुभानुभयविषयाणामवश्यंभावात्, तद्भावे च वस्तुप्रतिविज्ञप्तिलक्षणविज्ञानस्य विकल्पात्मनः सभवात्, तत्संभवे च विज्ञानसमुद्भूतरूपवेदनासज्ञासस्कारज्ञानलक्षणनामपृथिव्यादिभूतचतुष्टयात्मकरूपसमुदायलक्षणस्य नामरूपस्य सिद्धेः, तत्सिद्धौ च चक्षुरादिषडायतनस्यात्मकृत्यक्रियाप्रवृत्तिहेतोः प्रसूतेः, तत्प्रसूतौ च तद्धेतूनां षण्णा स्पर्शकायानां रूपं चक्षुषा पश्यामीत्यादिविषयेन्द्रियविज्ञानसमूहलक्षणाना प्रादुर्भावात् तत्प्रादुर्भावे स्पर्शानुभवलक्षणाया वेदनायाः सद्भावात्, तत्सद्भावे च विषयाध्यवसानलक्षणतृष्णायाः समुत्पादात्, तत्समुत्पादे तृष्णावैपुल्यलक्षणस्योपादानस्योदयात्, तदुदये च पुनर्भवजनककर्मलक्षणभवस्य भावात्, तद्भावे चापूर्वस्कन्धप्रादुर्भावलक्षणाया जातेरुत्पादात्, तदुत्पत्तौ च स्कन्धपरिपाकप्रध्वंसलक्षणजरामरणसद्भावात् केवलिनः कस्यचित्सुगतस्यासभवप्रसङ्गात्, अन्यथा प्रतिज्ञातविरोधात् । ततः सूक्तं, यदि बन्धोयमज्ञानान्नेदानीं कश्चिन्मुच्यते, सर्वस्यैव कचिदज्ञानोपपत्तेर्ज्ञेयानन्त्यादिति केवलिनः प्राक् सर्वज्ञासभवात् । यदि पुनर्ज्ञाननिर्ह्रासाद्ब्रह्मप्राप्तिरज्ञानात् सुतरां प्रसज्येत, दुःखनिवृत्तेरिव सुखप्राप्तिः । न ह्यल्पदुःखनिवृत्तेः सुखप्राप्तौ बहुतरदुःखनिवृत्तौ सुतरां सुखप्राप्तिरसिद्धा, येन ज्ञानहानेरल्पायाः परब्रह्मप्राप्तौ सकला-

ज्ञानात्तत्प्राप्तिः सुतरा न स्यात्। ततो नायमेकान्तः श्रेयानाभासते ज्ञानस्तोकान्मोक्ष इति, अज्ञानाद् ध्रुवो बन्ध इत्येकान्तवत् ॥९६॥

इन्द्रः सन्देहजातं द्विजहृदयगतं बाल्यकालेऽप्यपृच्छ-द्यस्योच्चैरासने यं शुचिनयविधिना यश्च तं द्रागभाङ्क्षीत्॥
ऐन्द्रं यस्माच्च जातं तदवयवपदैर्निश्चितं शब्दशास्त्रं, शब्दब्रह्मैकसिन्धुः स जयतु चरमस्तीर्थकृद्विश्वबन्धुः ॥१॥
क्रियाः प्रिया यत्स्मरणेन सर्वाः, शास्त्राणि यत्साधनतत्पराणि ॥
चिदात्मना व्यापकतां श्रितो यो, ध्यायामि सिद्धं तमनादिशुद्धम् ॥ २ ॥

दशमे किञ्चिद् व्याख्यायते–प्रतिज्ञातविरोधाविशेषादिति अन्त्यमिथ्याज्ञानान्न बन्ध इत्युक्तौ मिथ्याज्ञानमात्रात् बन्ध इति मूलप्रतिज्ञासंन्यासादेवेत्यर्थः। वस्तुतोऽन्त्यव्यतिरिक्तं मिथ्याज्ञानं बन्धहेतुरन्त्यतत्त्वज्ञानं च मोक्षहेतुरित्ययुक्तं, तत्र बन्धमोक्षजनकतावच्छेदकव्यवस्थितजात्योर्मानाभावात्, मिथ्याज्ञानवासनाद्वारानुत्पत्तितद्ध्वंसद्वारोत्पत्तिभ्यामुपान्त्या-दिव्यावृत्तत्वतदनुवृत्तत्वयोर्विनिगमनाविरहात्, मिथ्याज्ञानवासनाया एव बन्धहेतुत्वोपगमे च मतान्तरप्रवेशप्रसङ्गात्, तस्या अपि स्मृत्येकनाश्यत्वौचित्ये तत्त्वज्ञानात् पूर्वं मिथ्यास्मृतिकल्पने स्मरणस्य स्मरणजनकत्वपक्षेऽपि तत्त्वज्ञानोच्छेदाच्च। किं चागमजन्यतत्त्वज्ञानापेक्षयाऽनादिवासनादोषजन्यमिथ्याज्ञानस्य बलवत्त्वात् तत्सत्त्वे कथं तत्त्वज्ञानम्। दोषजन्यमिथ्याज्ञाना-पेक्षया दोषाभावसहकृतागमजन्यतत्त्वज्ञानस्यैव बलवत्त्वमिति चेत्, तर्हि सम्यग्दर्शनरूपतत्त्वज्ञानस्य मिथ्याज्ञानविरोधित्वमेव, बन्धहेतुत्वं तु कषायोदयसहकृताज्ञानमात्रस्यैवेति समर्थयिष्यमाणं प्रवचनवचनमेव विजयते, एतेन "आत्मानं चेद्विजानी-या–दहमस्मीति पूरुषः॥ किमिच्छन् कस्य कामाय, शरीरमनुसंज्वरेत् ॥१॥" इत्यखण्डानन्दस्वरूपात्मज्ञानादेव मोक्षः,

सार्वज्ञ्यं तु तत्र नोपयुज्यते, तस्य तपोजन्यातिशयविशेषरूपस्यासार्वत्रिकत्वादित्यादिना वेदान्तिभिः समर्थितः स्तोकज्ञानपक्षोऽपि निरस्तः । आत्मज्ञानस्यापि केवलस्य बन्धहेतुत्वे तत्त्वज्ञानोत्पत्त्यनवकाशात्, दोषापेक्षायां चास्मन्मतप्रवेशात्, निर्विकल्पकात्मज्ञानस्य मिथ्याज्ञानवासनानाशकत्वे मानाभावाच्चेति दिग् । मिथ्याज्ञानादवश्यं दोषोत्पत्ताविति मिथ्याज्ञानस्य बन्धहेतुत्वात्तस्य च दोषहेतुत्वात्ततस्तदुत्पत्तेरवर्जनीयत्वादिति भावः । न च दोषस्य बन्धहेतुकत्वमप्रामाणिकं, समेऽपीष्टानिष्टादिसन्निधाने मोहवन्धोपनततद्विपाकोत्कर्षापकर्षाभ्यां तदुत्कर्षापकर्षदर्शनात्तस्य तद्धेतुकत्वसिद्धेरिति ध्येयम् । तदा बह्वोरिति न च तत्त्वज्ञानमिथ्याज्ञानयोः स्तोकत्वं बहुत्वं वाऽप्रयोजकं, किन्तु "प्रमाणादीनां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगम" इति सूत्रात्तर्कपरिशुद्धिजनितप्रमाणादिषोडशपदार्थसमूहालम्बनज्ञानविशेष एव मोक्षहेतुः, तदभाव एव च बन्धहेतुरित्यसाकमभ्युपगम इति वाच्यम् । तस्य श्रद्धामात्रशरणत्वात्, सर्वैः स्वस्वाभ्युपगतपदार्थतत्त्वज्ञानस्यैव मोक्षहेतुत्वोक्तेः । अथ प्रमाणादिपदार्थपरिशोधनमप्यात्मसाक्षात्कारायैवोपयुज्यते स एव श्रवणमनननिदिध्यासनजनितो मोक्षहेतुरिष्यते, "आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्य" इत्यादिश्रुतावार्थक्रमस्य बलवत्त्वादात्मश्रवणादिना तद्दर्शनं भावयेदित्यर्थादित्यात्मज्ञानस्यैव मोक्षहेतुत्वाद्बहुस्तोकादिपक्षाश्रयणमनतिप्रयोजनमिति चेत्, न, आत्मसाक्षात्कारस्यापि यावत् स्वेतरभिन्नत्वप्रकारकस्याश्रयणे सार्वज्ञ्यपक्षानतिक्रमात्, अन्यथा तत्त्वज्ञानजनकमनननोपयोगितया प्रमाणादिपदार्थपरिशोधनानापत्तेः । किञ्च शरीरादिभिन्नत्वांशे लौकिकस्य तस्य कथमपरोक्षशरीराद्यभेदभ्रमनिवर्त्तकत्वमिति सर्वांशस्पष्टतार्थं सर्वविषयकत्वमेव युक्तमिति दिग् । एतेनैतदपीत्यादिना वृद्धबौद्धप्रक्रियाप्रदर्शनपूर्वं तन्मतखण्डनं कृतं, तत्त्वज्ञानात् पूर्वमविद्याया अनाशे तन्मूलसंस्काराद्यनुवृत्तौ तत्त्व-

ज्ञानोत्पत्त्ययोगेन सुगतस्य केवलिन एवासिद्धेः। यदि च यथा कण्टक एव कण्टकं हरति, पित्तादिदोषोत्पादनेनैव चौषधं वातादिदोषं तथा शमदमाद्यविद्याविलास एव संसारमूलाविलासमिति मतं, तदा केवलादज्ञानाद्बन्ध इति स्वप्रक्रियाव्याघात एव, कषायैकार्थसमवेताज्ञानस्यैव बन्धहेतुत्वप्रसक्त्याऽस्मन्मतसाम्राज्यात्, अपकृष्टाज्ञानस्य तत्त्वज्ञानाप्रतिबन्धकत्वोक्तावप्युत्कृष्टाज्ञानत्वेन तत्प्रतिबन्धकत्वव्यवस्थितावुत्कर्षस्य कषायसामानाधिकरण्यातिरिक्तत्वे मानाभावात्, अन्यव्यावृत्त्यादिविशेषस्य तत्र तत्र बहुशो निर्लोठितत्वादितिदिग्। ज्ञाननिर्ह्रासात् अल्पज्ञानहानेः ॥९६॥

विरोधान्नोभयैकात्म्यं, स्याद्वादन्यायविद्विषाम्॥ अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्ति-र्नावाच्यमिति युज्यते ॥९७॥

न हि सर्वात्मनैकस्यैकदा ज्ञानस्तोकान्मोक्षो बहुतश्चाज्ञानाद्बन्ध इत्येकान्तयोरविरोधः स्याद्वादन्यायविद्विषां सिध्यति, येन तदुभयैकात्म्यं स्यात्। तथाऽवाच्यतैकान्ते स्ववचनविरोधः पूर्ववत् ॥९७॥

कुतस्तर्हि पुण्यपापबन्धः प्राणिना येनाबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवत स्यात्? कुतो वा मोक्षो मुनेर्यतः पौरुषादिष्टसिद्धिर्बुद्धिपूर्वा स्यात्? चार्वाकमतमेव वा '(बन्धमोक्षाभाव एव परलोकाभावा'दिति न भवेत्? इत्यारेका निराचिकीर्षव प्राहुः—

अज्ञानान्मोहिनो बन्धो, न ज्ञानाद् वीतमोहतः॥ ज्ञानस्तोकाच्च मोक्षः स्याद-मोहान्मोहिनोन्यथा ॥९८॥

मोहनीयकर्मप्रकृतिलक्षणादज्ञानाद्युक्तः कर्मबन्धः स्थित्यनुभागाख्यः स्वफलदानसमर्थः, क्रोधादिकषायैकार्थसमवायिनो मिथ्याज्ञानस्य च अज्ञानस्य च मोहनीयकर्मप्रकृतिं लक्षयतः पुंसो बन्धनिबन्धनत्वोपपत्तेः 'सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते

स बन्ध ' इति वचनात्, ततोन्यतोपि बन्धाभ्युपगमेतिप्रसङ्गात्, क्षीणोपशान्तकषायस्याप्यज्ञानाद्बन्धप्रसक्तेः। प्रकृतिप्रदेशबन्धस्तस्याप्यस्तीति चेत्, न, तस्याभिमतेतरफलदानासमर्थत्वात् सयोगकेवलिन्यपि संभवादविवादापन्नत्वात्। न चात्रागममात्र, युक्तेरपि सद्भावात्। तथा हि, विवादापन्नः प्राणिनामिष्टानिष्टफलदानसमर्थपुद्गलविशेषसंबन्धः कषायैकार्थसमवेताज्ञाननिबन्धनस्तथात्वात्पथ्येतराहारादिसबन्धवत्। नात्र प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वादसिद्धो हेतुर्धर्मिणानेकान्तात्, तस्य प्रतिज्ञार्थधर्मिधर्मसमूहैकदेशत्वेपि प्रसिद्धत्ववचनात्, अनित्यः शब्दः शब्दत्वादित्यत्रापि हेतोरसिद्धत्वविरोधात्। न चात्र विशेषं धर्मिणं कृत्वा सामान्यं हेतु ब्रुवतः कश्चिद्दोषः, प्रयत्नानान्तरीयकः शब्दो विनश्वरः, प्रयत्नानान्तरीयकत्वाद् घटवदिति यथा। ननु शब्दस्य धर्मित्वे पक्षाव्यापको हेतुः स्यात्, समुद्रघोषादेः प्रयत्नानान्तरीयकत्वाभावात्। ततोत्र प्रयत्नानान्तरीयकः शब्दो विशिष्टो धर्मीति चेत्, तर्हि प्राणिना पुद्गलविशेषसबन्धस्य धर्मित्वे तथात्वस्य च हेतुत्वे दृष्टान्तासिद्धिप्रसक्तेः प्रकृतिप्रदेशबन्धाभ्यामनैकान्तिकत्वप्रसङ्गाच्च विवादापन्नत्वविशेषणमिष्टानिष्टफलदानसमर्थत्वविशेषणं च युक्तम्, इष्टानिष्टफलदानसमर्थपुद्गलविशेषसंबन्धत्वस्य हेतोः कषायैकार्थसमवेताज्ञाननिबन्धनत्वेन व्याप्तस्य पथ्येतराहारादिषु पुद्गलविशेषसबन्धे सुप्रसिद्धत्वादुदाहरणस्य साध्यसाधनधर्मवैकल्याभावात्, हेतोश्चानन्वयत्वासभवात्, विवादापन्नो धूमोग्निजन्मा धूमत्वान्महानसधूमवदित्यादिवत्। न चेष्टानिष्टफलदानसमर्थः कर्मबन्ध. पुद्गलविशेषसबन्धो न भवति, पुद्गलसबन्धेन विपच्यमानत्वाद्व्रीह्यादिवत्। जीवविपाकिषु कर्मसु तदभावात्पक्षाव्यापको हेतुरिति चेत्, न, तेषामपि सकर्मजीवसबन्धेन विपच्यमानत्वात् पुद्गलसबन्धेन विपच्यमानत्वस्य प्रसिद्धेः पुद्गलक्षेत्रभवविपाकिकर्मवत् पक्षव्यापकत्वसिद्धेः। पूर्वानुभूतविषयस्मरणेन सुखदुःखदायिषु कर्मसु तदभावात् पक्षाव्यापकत्वमस्य हेतोरित्यप्यनेन निराकृतं, परम्परया पुद्गलसबन्धेनैव तेषां विपच्यमानत्वाच्च। न किंचित्कर्म साक्षा-

त्परम्परया वात्मनः पुद्गलसबन्धमन्तरेण विपच्यमानमस्ति येन पौद्गलिकं न स्यात् । ततो न कर्मबन्धस्य पुद्गलविशेषसम्बन्धित्वम-सिद्धम् । नापीष्टानिष्टफलजननसमर्थत्वं, दृष्टकारणव्यभिचारे शुभेतरफलानुभवनस्य स्वसंविदितत्वाददृष्टहेतुत्वसिद्धेः, स्वपाटिकादिवत् चक्षुराद्यदृश्यहेतुवत् । नन्वेवमज्ञानहेतुकत्वे बन्धस्य मिथ्यादर्शनादिहेतुत्वं कथं सूत्रकारोदितं न विरुध्यते इति चेत्, मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगानां कषायैकार्थसमवाय्यज्ञानाविनाभाविनामेवेष्टानिष्टफलजननसमर्थकर्मबन्धहेतुत्वसमर्थनात् मिथ्यादर्शनादीना-मपि सङ्ग्रहात् सङ्क्षेपत इति बुध्यामहे । ततो मोहिन एवाज्ञानादिशिष्टः कर्मबन्धो न वीतमोहादिति सूक्तम् । तथैव बुद्धेरपकर्षान्मो-हनीयपरिक्षयलक्षणान्मोक्ष्यति विपर्यये विपर्यासादित्यधिगन्तव्य, प्रकृष्टश्रुतज्ञानादेः क्षायोपशमिकात् केवल्यपेक्षया स्तोकादपि छद्मस्थ-वीतरागचरमक्षणभाविनः साक्षादर्हन्त्यलक्षणमोक्षस्य सिद्धेः । तद्विपरीतात्तु मोहवतः स्तोकज्ञानात् सूक्ष्मसम्परायान्तानां मिथ्या-दृष्ट्यादीनां कर्मसबन्ध एव । इति चिन्तितमन्यत्र ॥९८॥

'मोहनीयेति' मोहनीयकर्मप्रकृतिरत्र कषायाख्या ग्राह्या, तल्लक्षणात्तद्विशिष्टात्, मिथ्याज्ञानस्याज्ञानस्य चेति प्रसज्यपर्युदासाभ्यामज्ञानपदस्योभयार्थत्वादिति भावः। 'क्षीणोपशान्तेति' न चैवं कषायत्वेनैव सामान्यतो बन्धहेतुता, किं कषायविशिष्टाज्ञानत्वेन गुरुतरकार्यकारणभावेनेति वाच्यम्। अन्वयव्यतिरेकग्रहस्यैव तत्र साक्षित्वात्, तयोश्च पश्येतराहा-रादिसम्बन्धदृष्टान्तेन कर्मपुद्गलसम्बन्धं प्रत्यज्ञानत्वेनैव प्रसिद्धेः, तत्रातिप्रसङ्गभङ्गार्थं पुनः कषायैकसमवेतत्वविशेषणनिवे-शात्, पटादौ तन्तुत्वादिना कारणत्वेऽप्यन्वयव्यतिरेकानुविधानस्यैव प्रयोजकत्वात्, अन्यथा शक्तिविशेषाभावविशेषादेरेव हेतुत्वप्रसङ्गाद्विशेषणविशेष्यभावेन विनिगमनाविरहस्याप्यत एव निरासादिति दिग् । न चात्रेति पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन

साध्यसिद्धेरुद्देश्यत्वाच्चात्र न ध्वनिरूपशब्दे सिद्धसाधनम्, असाधारण्यं त्वनुकूलतर्कसाचिव्यान्न दोष इति भावः। तर्हीति तथा च पक्षतावच्छेदकमात्रस्याहेतुत्वान्न काऽपि दोषाशङ्केति भावः। आश्रयासिद्धिमाशंक्य परिहरति न चेष्टानिष्टेत्यादिना, उक्त-हेतौ भागासिद्धिमाशङ्क्य परिहरति जीवविपाकिष्वित्यादिना, एवं विशिष्टाज्ञानैकहेतुकत्वे कर्मबन्धस्य च स्थिते सूत्रवि-रोधमाशङ्क्य परिहरति नन्वेवमित्यादिना, संग्रहात् संक्षेपत इति मिथ्यादर्शनादीनां कर्मबन्धविशेषहेतुत्वेऽपि कर्मबन्ध-सामान्ये द्वादशगुणस्थानसम्भव्यज्ञानस्यैव हेतुत्वकल्पनात्तत्रैव तदन्तर्भावादित्यर्थः। वीतमोहान्मोहरहितात्, भाष्ये बुद्धे-रपकर्षात् अपकृष्टबोधात्, मोहनीयपरिक्षयलक्षणात्कषायमोहोदयाभावविशिष्टात्, मोक्षः कैवल्यात्मा जीवन्मोक्षः, विप-र्यये मोहक्षयाभावे बुद्धेरपकर्षे, विपर्ययाद् बन्धसम्भवादित्यर्थः। तथा च मोहक्षयविशिष्टज्ञानत्वेन कैवल्यहेतुतैवेत्यर्थः, ॥९८॥

नन्वस्तु मोहप्रकृतिभिः कामादिदोषात्मिकाभिः सहचरितादज्ञानात् पुण्यपापकर्मणोः शुभाशुभफलानुभवननिमित्तयोः प्राणिना बन्धः। स तु कामादिप्रभवो महेश्वरनिमित्त एवेत्याशङ्कामपाकर्तुमिदमाहुः—

कामादिप्रभवश्चित्रः, कर्मबन्धानुरूपतः॥ तच्च कर्म स्वहेतुभ्यो, जीवास्ते शुद्ध्यशुद्धितः॥९९॥

कामादिप्रभवो भावससारोयं नैकस्वभावेश्वरकृतस्तत्कार्यसुखदुःखादिवैचित्र्यात्। यस्य यस्य कार्यवैचित्र्यं तत्तन्नैकस्वभावकारण-कृतं, यथानेकशाल्यङ्कुरादिविचित्रकार्यं शालिबीजादिकं, सुखदुःखादिकार्यवैचित्र्यं च ससारस्य तस्मान्नायमेकस्वभावेश्वरकृतः। न तावदयं हेतुरनिश्चितव्यतिरेकत्वादगमकः, साध्याभावेनुपपन्नत्वग्राहकप्रमाणसद्भावात्। न हि कारणस्यैकरूपत्वे कार्यनानात्वं युक्तं, शालिबीजाङ्कुरवत्। प्रसिद्धस्तावदेकस्वरूपाच्छालिबीजादनेकाङ्कुरकार्यायोगः, स एव दृष्टान्तः स्यात्। ततः साध्विदं विपक्षे बाधकं

प्रमाणमेकस्वभावकारणकृतत्वप्रतिषेधस्य साध्यस्याभावे नियमेनैकस्वभावकारणकृतत्वेऽनेककार्यत्वस्य साधनस्य व्यावृत्तिनिश्चयजननात्, विचित्रकार्यं च स्यादेकस्वरूपकारणकृत च स्यादिति सभावनाशङ्काव्यवच्छेदात्। कालादिना व्यभिचारी हेतुरिति चेत्, न, तस्यैकस्वभावत्वैकान्तासिद्धेः। अपरिणामिनः सर्वथार्थक्रियाऽसभवात् तल्लक्षणत्वाद्वस्तुनः सद्भावमेव तावन्न सभावयामः। सत्त्वस्यार्थक्रियया व्याप्तिरसिद्धेति न मन्तव्यं, तद्रहितस्य खपुष्पादेरसत्त्वनिश्चयात्। नन्वसतोप्यसदितिप्रत्ययलक्षणार्थक्रियाकारित्वान्न तया सत्त्वस्य व्याप्तिरिति न शङ्कितव्यं, व्यापकस्य तदतन्निष्ठतया व्याप्याभावेपि भावाविरोधात् तद्व्याप्तेरखण्डनात्। क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाव्याप्तिरसिद्धेति चेत्, न, प्रकारान्तरेणार्थक्रियायाः सभवाभावात् एकस्यैकामेवार्थक्रिया सपादयतो न क्रमो नापि यौगपद्य, तस्यानेककार्यविषयत्वादिति चेत्, न, तादृशस्य वस्तुनोसभवात्। सर्वस्य बाह्यामर्थक्रियां कुर्वतोऽन्तरङ्गस्वज्ञानलक्षणार्थक्रियाकारणस्यावश्यभावित्वादन्यथा योगिनोऽसर्वज्ञत्वप्रसङ्गात् पदार्थस्यानेकक्षणस्थायिनः क्रमेणाक्रमेण वानेककार्यकारित्वसिद्धेरेकक्षणस्थायिनोनभ्युपगमात् तथाप्रतीत्यभावाच्च। क्रमयौगपद्ययोः परिणामित्वेन व्याप्तिरसिद्धेति चेत्, न, अपरिणामिनः क्षणिकस्येव नित्यस्यापि क्रमयौगपद्यविरोधात्। ततः कस्यचित्परिणामित्वाभावे क्रमयौगपद्याभावादर्थक्रियापायात् सत्त्वानुपपत्तेर्वस्तुत्वसभावनाभाव एवेति निश्चितम्। तत्र कालदेशावस्थास्वभावभिन्नानां तनुकरणभुवनादीना किलाय कर्तेति महच्चित्रं, प्रकृतप्रमाणबाधनात्। एतेनेश्वरेच्छा प्रत्युक्ता, तस्या अपि नित्यैकस्वभावायाः कार्यवैचित्र्यानुपपत्तेर्वस्तुत्वसभावनानुपपत्तेश्चाविशेषात्। न चैतेनास्याः सबन्धस्तत्कृतोपकारानपेक्षणात्। न हि नित्यादेकस्वभावादीश्वरात् कश्चिदुपकारः सिसृक्षायास्तथाविधायाः सभवत्यनर्थान्तरभूतो, नित्यत्वविरोधात्। नाप्यर्थान्तरभूतः। सबन्धासभवादनुपकारात्, उपकारान्तरेनवस्थाप्रसङ्गात्। ततो व्यपदेशोपि मा भूत् ईश्वरस्य सिसृक्षेति।

न, तस्यापि बुद्धीच्छाप्रयत्नरहितत्वोपगमादन्यथा स्वमतविरोधात्। परेषां तु तस्य सशरीरस्यैव बुद्ध्यादिमत्त्वाभ्युपगमान्न तेनानेकान्तः। ननु चेश्वरस्य धर्मित्वे तदप्रतिपत्तावाश्रयासिद्धो हेतुरिति चेत्, न, प्रसङ्गसाधनेवश्यमाश्रयस्यानन्वेषणीयत्वात् तत्प्रतिपत्तिसद्भावाच्च। ननु यतः प्रमाणादीश्वरस्यास्मद्विलक्षणस्य धर्मिणः प्रतिपत्तिस्तेनैव हेतुर्बाध्यते इति चेत्, न, आत्मान्तरस्य सामान्येनेश्वराभिधानस्य धर्मित्वात् सकलकारकप्रयोक्तृत्वेन बुद्ध्यादिमत्त्वेन च तस्य विवादापन्नत्वात्। अथ ' तन्वादिकारकाणि विवादापन्नानि चेतनाधिष्ठितानि, विरम्यप्रवृत्त्यादिभ्यो वास्यादिवदित्यनुमानात् समस्तकारकप्रयोक्तृत्व बुद्ध्यादिसपन्नत्वं चेश्वरस्य साध्यते। ततोऽशरीरेन्द्रियत्वम्, अनाद्यनन्ततन्वादिकार्यसंतानिमित्तकारणस्यानाद्यनन्तत्वसिद्धेरनाद्यनन्तस्य शरीरत्वविरोधात्। अशरीरत्वमपि तस्यानाद्यनन्तमस्तु बुद्धीच्छाप्रयत्नवत्। इति मतं, तदयुक्तं, प्रमाणबाधनात्। तथा हि, नेश्वरेऽशरीरत्वमनाद्यनन्तमशरीरत्वात्, परप्रसिद्ध्या कायकरणोत्पत्तेः पूर्वमस्मदाद्यशरीरत्ववत्। नेश्वरबुद्ध्यादयो नित्या बुद्ध्यादित्वादस्मदादिबुद्ध्यादिवदिति। एतेनागमात् ' अपाणिपाद ' इत्यादेरीश्वरस्याशरीरत्वसाधनं प्रत्याख्यातं, तस्य युक्तिबाधितत्वात्। तत एव सशरीरो महेश्वरोस्त्विवति चेत्, न, तच्छरीरस्यापि बुद्धिमत्कारणापूर्वकत्वे तेनैव कार्यत्वादिहेतूनां व्यभिचारात्। तस्य बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वे वाऽपरापरशरीरकल्पनायामनवस्थाप्रसङ्गात् पूर्वपूर्वस्वशरीरेणोत्तरोत्तरस्वशरीरोत्पत्तौ भवस्य निमित्तकारणत्वे सर्वससारिणां तथाप्रसिद्धेरीश्वरकल्पनावैयर्थ्यात्, स्वोपभोग्यभवनाद्युत्पत्तावपि निमित्तकारणत्वोपपत्तेः इति न कार्यत्वाचेतनोपादानत्वसन्निवेशविशिष्टत्वहेतवो गमका' स्युः। स्थित्वाप्रवर्तनार्थक्रियादि चेतनाधिष्ठानादिति नियमे पुनरीश्वरादेरपि मा भूत्। अन्यथेश्वरदिक्कालाकाशाश्चेतनाधिष्ठिताः स्यु , सर्वकार्येषु क्रमजन्मसु स्थित्वा प्रवर्तनादर्थक्रियाकारित्वाद्वा(च वा)स्यादिवदिति न्यायात्। तथा चेश्वरोपीश्वरान्त-

प्रमाणमेकस्वभावकारणकृतत्वप्रतिपेधस्य साध्यस्याभावे नियमेनैकस्वभावकारणकृतत्वेऽनेककार्यत्वस्य साधनस्य व्यावृत्तिनिश्चयजननात्, विचित्रकार्यं च स्यादेकस्वरूपकारणकृत च स्यादिति सभावनाशङ्काव्यवच्छेदात्। कालादिना व्यभिचारी हेतुरिति चेत्, न, तस्यैकस्वभावत्वैकान्तासिद्धेः। अपरिणामिनः सर्वथार्थक्रियाऽसभवात् तल्लक्षणत्वाद्वस्तुनः सद्भावमेव तावन्न सभावयामः। सत्त्वस्यार्थक्रियया व्याप्तिरसिद्धेति न मन्तव्यं, तद्रहितस्य खपुष्पादेरसत्त्वनिश्चयात्। नन्वसतोप्यसदितिप्रत्ययलक्षणार्थक्रियाकारित्वान्न तया सत्त्वस्य व्याप्तिरिति न शङ्कितव्यं, व्यापकस्य तदतन्निष्ठतया व्याप्याभावेपि भावाविरोधात् तद्व्याप्तेरखण्डनात्। क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाव्याप्तिरसिद्धेति चेत्, न, प्रकारान्तरेणार्थक्रियायाः सभवाभावात् एकस्यैकामेवार्थक्रिया सपादयतो न क्रमो नापि यौगपद्यं, तस्यानेककार्यविपयत्वादिति चेत्, न, तादृशस्य वस्तुनोसभवात्। सर्वस्य वाह्यामर्थक्रियां कुर्वतोऽन्तरङ्गस्वज्ञानलक्षणार्थक्रियाकारणस्यावश्यभावित्वादन्यथा योगिनोऽसर्वज्ञत्वप्रसङ्गात् पदार्थस्यानेकक्षणस्थायिनः क्रमेणाक्रमेण वानेककार्यकारित्वसिद्धेरेकक्षणस्थायिनोनभ्युपगमात् तथाप्रतीत्यभावाच्च। क्रमयौगपद्ययोः परिणामित्वेन व्याप्तिरसिद्धेति चेत्, न, अपरिणामिनः क्षणिकस्येव नित्यस्यापि क्रमयौगपद्यविरोधात्। ततः कस्यचित्परिणामित्वाभावे क्रमयौगपद्याभावादर्थक्रियापायात् सत्त्वानुपपत्तेर्वस्तुत्वसभावनाभाव एवेति निश्चितम्। तत्र कालदेशावस्थास्वभावभिन्नानां तनुकरणभुवनादीना किलाय कर्तेति महच्चित्रं, प्रकृतप्रमाणवाधनात्। एतेनेश्वरेच्छा प्रत्युक्ता, तस्या अपि नित्यैकस्वभावायाः कार्यवैचित्र्यानुपपत्तेर्वस्तुत्वसभावनानुपपत्तेश्चाविशेपात्। न चैतेनास्याः सबन्धस्तत्कृतोपकारानपेक्षणात्। न हि नित्यादेकस्वभावादीश्वरात् कश्चिदुपकारः सिसृक्षायास्तथाविधायाः सभवत्यनर्थान्तरभूतो, नित्यत्वविरोधात्। नाप्यर्थान्तरभूतः। सबन्धासभवादनुपकारात्, उपकारान्तरेनवस्थाप्रसङ्गात्। ततो व्यपदेशोपि मा भूत् ईश्वरस्य सिसृक्षेति।

तत्र समवायात्तथाव्यपदेश इति चेत्, न, सर्वथैकस्वभावस्य समवायित्वनिमित्तकारणत्वादिनानास्वभावविरोधात्। महेश्वरस्याभिसन्धेरनित्यत्वेपि समानप्रसङ्गः, पदार्थान्तरभूतस्याभिसन्धेस्तेन सबन्धाभावस्य तत्कृतोपकारानपेक्षस्य व्यपदेशासभवस्य (चा)विशेषात्, सकलकार्याणामुत्पत्तिविनाशयोः स्थितौ च महेश्वराभिसधेरेकत्वे सकृदुत्पत्त्यादिप्रसङ्गाद्विचित्रत्वानुपपत्तेरिति । तदनेकत्वेप्यक्रमत्वेऽस्यैव दोपस्योपनिपातात्, क्रमवत्त्वे केषाचित्कार्याणा सकृदुत्पत्त्यादिदर्शनविरोधात् कथमनित्योभिसधिरीशस्य स्यात्? सन्नप्यसौ यदीश्वरसिसृक्षानपेक्षजन्मा तदा तन्वादयोपि तथा भवेयुरिति न कार्यत्वादिहेतवः प्रयोजकाः स्युः । सिसृक्षान्तरापेक्षजन्मा चेत्, अनवस्था । बुद्धिपूर्वकत्वादिच्छाया न दोप इति चेत्, सा तर्हि बुद्धिरीश्वरस्य यदि नित्यैकस्वभावा तदा कथमनेकसिसृक्षाजननहेतुः क्रमतो युज्येत युगपद्वा? पूर्वपूर्वसिसृक्षावशादुत्तरोत्तरसिसृक्षोत्पत्तिर्नित्यैकस्वभावबोधस्यापि महेश्वरस्य न विरुद्धा तत्समानसमयानेकतन्वादिकार्योत्पत्तिश्च, पूर्वसिसृक्षात उत्तरसिसृक्षायास्तत्समानकालतन्वादिकार्याणा च भावादनादित्वात् कार्यकारणप्रवाहस्येति चेत्, न, एकस्वभावस्येश्वरबोधस्यैकस्य पूर्वपूर्वसिसृक्षापेक्षाविरोधात्, तदपेक्षायां स्वभावभेदादनित्यतापत्तेः'। अथ सिसृक्षातन्वादिकार्योत्पत्तौ नेश्वरबोधः सिसृक्षान्तरमपेक्षते, तत्कार्याणामेव तदपेक्षत्वादिति मतं, तदप्यसत्, नित्येश्वरबोधस्य तदनिमित्तत्वप्रसङ्गात्। तदभावेऽभावात्तस्य तन्निमित्तत्वे सकलात्मनां तन्निमित्तता स्याद्, व्यतिरेकाभावाविशेषात्। अथासर्वगतस्येश्वरबोधस्य नित्यत्वात्कालव्यतिरेकाभावेपि न देशव्यतिरेकासिद्धिः। सकलात्मना तु नित्यसर्वगतत्वात्कालदेशव्यतिरेकासिद्धिरिति मतं, यर्हि दिक्कालाकाशाना तत एव सर्वोत्पत्तिमन्निमित्तकारणता मा भूत्। एतेनैवेश्वरस्य तन्निमित्तकारणत्व प्रतिक्षिप्त, नित्येश्वरबोधस्यापि तन्निमित्तत्वे सकृत् सर्वत्रोत्पित्सुकार्याणामुत्पत्तिर्न स्यात्, तस्य सर्वत्राभावात् शरीरप्रदेशवर्तिनोपि सर्वत्र

बहिर्निमित्तकारणत्वे देशव्यतिरेकस्याप्यभावात् कथमन्वयमात्रेण तत्कारणत्वं युक्तम् ? नित्येश्वरज्ञानस्य सर्वगतत्वेप्ययमेव दोषः । तस्यानित्यासर्वगतत्वात् कालदेशव्यतिरेकसिद्धेस्तन्वादौ निमित्तकारणत्वसिद्धिरिति चेत्, न, ईश्वरस्य कदाचित्कचिद्बोधवैधुर्ये सकलवेदित्वविरोधात् । यदि पुनरपरापरसर्वार्थज्ञानस्याविच्छेदात् सदाशेषवेदित्वमविरुद्धं तदा कुतो व्यतिरेकस्तस्य सिध्येत् ? कथं चानित्यस्य बोधस्येश्वरबोधान्तरानपेक्षस्योत्पत्तिर्न पुनः सिसृक्षातन्वादिकार्याणामिति विशेषहेतोर्विना प्रतिपद्येमहि ? तस्य बोधान्तरापेक्षायामनवस्थानं तदवस्थम् । स्यान्मतं,—पूर्वपूर्वबोधसिसृक्षावशादुत्तरोत्तरबोधसिसृक्षातन्वादिकार्याणामुत्पत्तेरनादित्वात्कार्यकारणभावस्य बीजाङ्कुरादिवदयमदोष इति, नैतत्सारम्, ईश्वरकल्पनानार्थक्यप्रसङ्गात् । तद्भावे भावाद्बोधादिकार्याणां तत्कारणत्वसिद्धेर्नानर्थक्यमिति चेत्, न, व्यतिरेकासिद्धेः, अन्वयमात्रेण कारणत्वे तदकारणत्वाभिमतानामपि तत्प्रसङ्गात् । न चैकस्वभावाद्बोधात्कामादिकार्यवैचित्र्यं क्रमतोपि युज्यते महेश्वरसिसृक्षाभ्यामिति, किमनया चिन्तया ? तयोरेकस्वभावत्वेपि कर्मवैचित्र्यात्कामादिप्रभववैचित्र्यमिति चेत्, युक्तमेतत् किंतु नेश्वरेच्छाभ्यां किंचित्, तावतार्थपरिसमाप्तेः, सति कर्मवैचित्र्ये कामादिप्रभववैचित्र्यस्य भावादसत्यभावात् “कामादिप्रभवश्चित्रः कर्मबन्धानुरूपतः” इत्यस्यैव दर्शनस्य प्रमाणसिद्धत्वात्, अनिश्चितान्वयव्यतिरेकयोरीश्वरेच्छयोः कारणत्वपरिकल्पनायामतिप्रसङ्गात् । एतेन विरम्यप्रवृत्तिसन्निवेशविशेषादिभ्यः पृथिव्यादेर्बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वसाधनेनेश्वरप्रापणं प्रत्युक्तं, धर्माधर्माभ्यामेवात्मनः शरीरेन्द्रियबुद्धीच्छादिकार्यजननस्य सिद्धेः, बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वमन्तरेणापि विरम्यप्रवृत्तिसन्निवेशविशेषकार्यत्वाचेतनोपादानत्वार्थक्रियाकारित्वादीनां साधनानामुपपत्तेस्ततः पृथिव्यादेर्बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वासिद्धेः । ननु प्राक्कायकरणोत्पत्तेरात्मनो धर्माधर्मयोश्च स्वयमचेतनत्वाद्विचित्रोपभोगयोग्यतनुकरणादिसंपादनकौशलासभ-

वात् तन्निमित्तमात्मान्तर, मृत्पिण्डकुलालवदिति चेत्, न, एवमपि प्रकृतसाधनव्यतिरेकानिश्चयात् । तथा हि, तनुकरणभुवनादिकं विवादापन्नं बुद्धिमत्कारणपूर्वक, विरम्यप्रवृत्तेः सन्निवेशविशिष्टत्वादचेतनोपादानत्वादर्थक्रियाकारित्वात्कार्यत्वाद्वा घटवदिति साधन-मुच्यते, तस्यात्मान्तरमीश्वराख्यं बुद्धिमत्कारणमन्तरेणाचेतनस्यात्मनोऽनीशस्य धर्माधर्मयोश्चाचेतनयोर्विचित्रोपभोगयोग्यतनुकरणभुवना-दिनिर्मापणकौशलासभवात्तन्निमित्तकारणमात्मान्तर बुद्धिमत्कारणमेषितव्यमित्यनेन व्यतिरेकः समर्थ्यते । कुलालमन्तरेण मृत्पिण्ड-दण्डादेः स्वयमचेतनस्य घटादिनिष्पादनकौशलासभववदिति वैधर्म्यदृष्टान्तप्रदर्शनम् । सत्येव कुलाले मृत्पिण्डादेर्घटादिसपादनसाम-र्थ्यदर्शनादिति चान्वयसमर्थनमभिधीयते । न चैतदभिधातुं शक्यमन्यथानुपपत्तेरभावात् । बुद्धिमता कारणेन विना विरम्यप्रवृत्त्या-देरसभवादन्यथानुपपत्तिरस्त्येवेति चेत्, न, तस्यापि वितनुकरणस्य तत्कृतेरसभवात् कालादिवत् तादृशोपि निमित्तभावे कर्मणामचेतन-त्वेपि तन्निमित्तत्वमप्रतिषिद्ध, सर्वथा दृष्टान्तव्यतिक्रमात् । यथैव हि कुलालादिः सतनुकरणः कुम्भादेः प्रयोजको दृष्टान्तस्तनुकरणभुव-नादीनामशरीरेन्द्रियेश्वरप्रयोजकत्वकल्पनया व्यतिक्रम्यते, तथा कर्मणामचेतनानामपि तन्निमित्तत्वकल्पनया बुद्धिमानपि दृष्टान्तो व्यतिक्रम्यतां, विशेषाभावात् । स्यान्मतं—'सशरीरस्यापि बुद्धीच्छाप्रयत्नवत एव कुलालादेः कारकप्रयोक्तृत्वं दृष्टं, कुटादिकार्यं कर्तु-मबुद्ध्यमानस्य तददर्शनाद्, तद्बुद्धिमतोपीच्छापाये तदनुपलब्धेस्तदिच्छावतोपि प्रयत्नाभावे तदनुपलम्भात् । तद्वद्वितनुकरणस्यापि बुद्धिमत स्रष्टुमिच्छतः प्रयत्नवतः शश्वदीश्वरस्य समस्तकारकप्रयोक्तृत्वोपपत्तेर्न दृष्टान्तव्यतिक्रमः, सशरीरत्वेतरयोः कारकप्रयुक्ति प्रत्यनङ्गत्वात् । न हि सर्वथा दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः साम्यमस्ति तद्विशेषविरोधादिति, तदयुक्तं, वितनुकरणस्य बुद्धीच्छा-प्रयत्नानुपपत्तेर्मुक्तात्मवत्, शरीराद्बहिः ससार्यात्मवत्, कालादिवद्वेति । शरीरेन्द्रियाद्युत्पत्तेः पूर्वमात्मना व्यभिचार इति चेत्,

न, तस्यापि बुद्धीच्छाप्रयत्नरहितत्वोपगमादन्यथा स्वमतविरोधात्। परेषां तु तस्य सशरीरस्यैव बुद्ध्यादिमत्त्वाभ्युपगमान्न तेनानेकान्तः। ननु चेश्वरस्य धर्मित्वे तदप्रतिपत्तावाश्रयासिद्धो हेतुरिति चेत्, न, प्रसङ्गसाधनेवश्यमाश्रयस्यानन्वेषणीयत्वात् तत्प्रतिपत्तिसद्भावाच्च। ननु यतः प्रमाणादीश्वरस्यास्मद्विलक्षणस्य धर्मिणः प्रतिपत्तिस्तेनैव हेतुर्बाध्यते इति चेत्, न, आत्मान्तरस्य सामान्येनेश्वराभिधानस्य धर्मित्वात् सकलकारकप्रयोक्तृत्वेन बुद्ध्यादिमत्त्वेन च तस्य विवादापन्नत्वात्। अथ 'तन्वादिकारकाणि विवादापन्नानि चेतनाधिष्ठितानि, विरम्यप्रवृत्त्यादिभ्यो वास्यादिवदित्यनुमानात् समस्तकारकप्रयोक्तृत्व बुद्ध्यादिसपन्नत्व चेश्वरस्य साध्यते। ततोऽशरीरेन्द्रियत्वम्, अनाद्यनन्ततन्वादिकार्यसंतानतिमित्तकारणस्यानाद्यनन्तत्वसिद्धेरनाद्यनन्तस्य शरीरत्वविरोधात्। अशरीरत्वमपि तस्यानाद्यनन्तमस्तु बुद्धीच्छाप्रयत्नवत्। इति मतं, तदयुक्तं, प्रमाणबाधनात्। तथा हि, नेश्वरेऽशरीरत्वमनाद्यनन्तमशरीरत्वात्, परप्रसिद्ध्या कायकरणोत्पत्तेः पूर्वमस्मदाद्यशरीरत्ववत्। नेश्वरबुद्ध्यादयो नित्या बुद्ध्यादित्वादस्मदादिबुद्ध्यादिवदिति। एतेनागमात् 'अपाणिपाद' इत्यादेरीश्वरस्याशरीरत्वसाधनं प्रत्याख्यातं, तस्य युक्तिबाधितत्वात्। तत एव सशरीरो महेश्वरोस्त्विति चेत्, न, तच्छरीरस्यापि बुद्धिमत्कारणापूर्वकत्वे तेनैव कार्यत्वादिहेतूनां व्यभिचारात्। तस्य बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वे वाऽपरापरशरीरकल्पनायामनवस्थाप्रसङ्गात् पूर्वपूर्वस्वशरीरेणोत्तरोत्तरस्वशरीरोत्पत्तौ भवस्य निमित्तकारणत्वे सर्वससारिणां तथाप्रसिद्धेरीश्वरकल्पनावैयर्थ्यात्, स्वोपभोग्यभवनाद्युत्पत्तावपि निमित्तकारणत्वोपपत्तेः इति न कार्यत्वाचेतनोपादानत्वसन्निवेशविशिष्टत्वहेतवो गमका स्यु। स्थित्वाप्रवर्तनार्थक्रियादि चेतनाधिष्ठानादिति नियमे पुनरीश्वरादेरपि मा भूत्। अन्यथेश्वरदिकालाकाशाश्चेतनाधिष्ठिताः स्यु, सर्वकार्येषु क्रमजन्मसु स्थित्वा प्रवर्तनादर्थक्रियाकारित्वाद्वा(च वा)स्यादिवदिति न्यायात्। तथा चेश्वरोपीश्वरान्त-

रेणाधिष्ठित इत्यनवस्था स्यात्, अन्यथा स्यात्तेनैवास्य हेतोर्व्यभिचारः। नायं प्रसङ्गो, बुद्धिमत्त्वादिति चेत्, तत एव तर्हि प्रहीणतनुककरणादयः प्राणिनो मा भूवन्। यथैव हि बुद्धिमानीश्वरो नाधिष्ठात्रन्तर चेतनमपेक्षते तथा प्रहीणान् कुब्जादिशरीरकरणादीनपि मास्म करोत्, सातिशयं तद्विदः प्रहीणस्वकार्याकरणदर्शनात्। प्रहीणतनुकरणादयः प्राणिनां कर्मणो वैचित्र्यादिति चेत्, तर्हि कर्मणामपि तेषामीश्वरज्ञाननिमित्तत्वे समानप्रसङ्गः, तान्यपि प्रहीणतनुकरणादिकारणानि मा भूवन्निति। तदनिमित्तत्वे तनुकरणादेपि तन्निमित्तत्त्वं मा भूद्विशेषाभावात्। एव चार्थक्रियादेरपि ताभ्यामेकान्तिकत्व कर्मणः स्थाणोश्चार्थक्रियाकारित्व—स्थित्वाप्रवर्तनयोश्चेतनाधिष्ठानाभावेपि भावात्। ततः कर्मबन्धविशेषवशाच्चित्राः कामादयस्तत कर्मवैचित्र्यमिति स्थितम्। न हि भावस्वभावोपालम्भः करणीयोन्यत्रापि तथैव तत्प्रसङ्गानिवृत्तेः। यथैव हि कथमचेतनः कर्मबन्धः कामादिवैचित्र्य कुर्यात् कामादिर्वा चेतनस्वभावः कथमचेतनं कर्मवैचित्र्यमिति तत्स्वभावस्योपालम्भः प्रवर्त्यते कथमचेतनमुन्मत्तकादिभोजनमुन्मादादिवैचित्र्यं विदधीत प्राणिनामुन्मादादिर्वा चेतनः कथमचेतनं मृदादि रूपवैचित्र्यमित्यपि तत्स्वरूपोपालम्भः किमिति प्रसज्यमानो निवर्त्यते? तथादृष्टत्वादिति चेत्, तत एव प्रकृतस्वभावोपालम्भोपि निवर्त्यतां, तथानुमितत्वात्। न चैवमीश्वरस्याप्यनुमितत्वादुपालम्भप्रसङ्गनिवृत्तिः स्यादिति शङ्कनीयं, तदनुमानस्यानेकदोषदुष्टत्वात्। तथा हि, तनुकरणभुवनादेः कार्यत्वादिसाधनं किमेकबुद्धिमत्कारणत्वं साधयेदनेकबुद्धिमत्कारणत्वं वा?, प्रथमपक्षे प्रासादादिनानेकसूत्रधारयजमानादिहेतुना तदनैकान्तिकम्। द्वितीयपक्षे सिद्धसाधनं, नानाप्राणिनिमित्तत्वात्तदुपभोग्यतन्वादीना, तेषां तददृष्टकृतत्वात्। एतेन बुद्धिमत्कारणसामान्यसाधने सिद्धसाधनमुक्तं, तदभिमतविशेषस्याधिकरणसिद्धान्तन्यायेनाप्यसिद्धेः। सामान्यविशेषस्य साध्यत्वाददोष इति चेत्, न, दृष्टादृष्टविशेषाश्रयसामान्यविकल्पद्वयानतिवृत्तेः, दृष्टविशेषाश्रयस्य सामान्य

स्य साध्यत्वे स्वेष्टविघातात्, अदृष्टविशेषाश्रयस्य सामान्यस्य साध्यत्वे साध्यशून्यत्वप्रसङ्गान्निदर्शनस्य। दृष्टेतरविशेषाश्रयसामान्यसाधनेपि स्वाभिमतविशेषसिद्धिः कुतः स्यात् ?, अधिकरणसिद्धान्तन्यायादिति चेत्, कोयमधिकरणसिद्धान्तो नाम ?, यस्मिन्नावन्यप्रकरणसिद्धिः सोधिकरणसिद्धान्तः। ततो दृष्टादृष्टविशेषाश्रयसामान्यमात्रस्य बुद्धिमन्निमित्तस्य जगत्सु प्रसिद्धौ प्रकरणाज्जगन्निर्माणसमर्थसमस्तकारकाणां प्रयोक्ता सर्वविदलुप्तशक्तिर्विभुरशरीरत्वादिविशेषाश्रय एव सिध्यतीति चेन्, स्यादेवं, यदि सकलजगन्निर्माणसमर्थेनैकेनसमस्तकारकाणा प्रयोक्तृत्वसर्वज्ञत्वादिविशेषोपेतेनाविनाभावि दृष्टेतरविशेषाधिकरणबुद्धिमत्कारणसामान्यं कुतश्चित् सिध्येत्। न च सिध्यति, अनेकबुद्धिमत्कारणेनैव स्वोपभोग्यतन्वादिनिमित्तकारणविशेषेण तस्य व्याप्तत्वसिद्धे समर्थनात्। तथा सर्वज्ञवीतरागकर्तृकत्वे साध्ये घटादिनानैकान्तिकं साधनं, साध्यविकलं च निदर्शनम्। सरागासर्वज्ञकर्तृकत्वे साध्येपसिद्धान्तः। सर्वथा कार्यत्वं च साधन तन्वादावसिद्ध, तस्य कथंचित्कारणत्वात्। कथंचित्कार्यत्व तु विरुद्ध, सर्वथा बुद्धिमन्निमित्तत्वासाध्याद्विपरीतस्य कथंचिद्बुद्धिमन्निमित्तत्वस्य साधनात्। तथा पक्षोप्यनुमानबाधितः स्यात्, 'अकृत्रिमं जगत्, दृष्टकर्तृकविलक्षणत्वात् खादिवत्' इत्यनुमानस्य तद्बाधकस्यान्यत्र समर्थितत्वात्। इति सूक्तं, नेश्वरकृतः ससार इति। ननु यदि कर्मबन्धानुरूपतः ससारः स्यान्न तर्हि केपाचिन्मुक्तिरितरेपा ससारश्च, कर्मबन्धनिमित्ताविशेपादिति चेत्, न, तेपा शुद्ध्यशुद्धितः प्रति मुक्तीतरसभवादात्मनाम्। न हि जीवाः शश्वदशुद्धित एव व्यस्थिता. स्याद्वादिना याज्ञिकानामिव, कामादिस्वभावत्वनिराकरणात्, तत्स्वभावत्वे कदाचिदौदासीन्योपलम्भविरोधात्। नापि शुद्धित एवावस्थिताः कापिलानामिव, प्रकृतिससर्गेपि तत्र कामाद्युपलम्भविरोधात्, प्रकृतावेव कामाद्युपलम्भे पुरुषकल्पनावैयर्थ्यात्, तदुपभोगस्यापि तत्रैव सभवात्। न ह्यन्यः कामयतेऽन्यः काममनुभवतीति वक्तुं युक्तम्। नापि सर्वे संभवद्विशुद्धय एव जीवाः

प्रमाणतः प्रत्येतुं शक्याः, संसारिशून्यत्वप्रसङ्गात् । किं तर्हि ? शुद्ध्यशुद्धिभ्यां व्यवतिष्ठन्ते, 'जीवास्ते शुद्ध्यशुद्धितः' इति वचनात्। ततः शुद्धिभाजामात्मना प्रति मुक्तिरशुद्धिभाजां संसारः । केषाचित् प्रति मुक्तिः स्वकाललब्धौ स्यादिति प्रतिपत्तव्यम् ॥ ९९ ॥

के पुन. शुद्ध्यशद्धी जीवानामित्याहुः—

यस्य यस्येति यस्य यस्य कारणस्य यद् यत्कार्यवैचित्र्यं तस्य तस्य तत्तन्नैकस्वभावकारणकृतमिति योजनीयम् । शालिबीजाङ्कुरवदिति शालिबीजादेकरूपाच्छाल्यङ्कुरस्यैवोत्पत्तिर्न त्वन्यस्येति दर्शनादिति भावः। ततोऽसाध्विदं विपक्षे बाधकं प्रमाणमिति व्यावृत्तिनिश्चयजननादित्यग्रेतनमत्र सम्बध्यते, तत्र च पञ्चमी ल्यब्लोपे व्यावृत्तिनिश्चयजननमभिप्रेत्य यदिदं विपक्षे बाधक प्रमाणमुक्तं तदसाध्विति योगः, शङ्काव्यवच्छेदादित्यत्र चाकारप्रश्लेषः कार्यः। कालादिनेत्यनन्तरं च चकारोऽध्याहार्यः, सद्भावमेवेत्यतः पूर्वमेकान्तनित्यस्य क्षणिकस्य वेति शेषः। व्यापकस्यार्थक्रियालक्षणस्य, तदनिष्ठतया (तदतन्निष्ठतया) व्याप्यत्वाभिमतवस्तुत्वाव्याप्यतया, एतेनैकस्वभावेश्वरखण्डनेन, 'अभिसन्धेरिति' अभिसन्धिरीश्वरे सिसृक्षासम्बन्धः, एतेन कर्मवैचित्र्यादेव कामादिप्रभववैचित्र्यसमर्थनेन, भाष्ये तस्यापि बुद्धिमतः कारणस्यापि, वितनुकरणस्य तनुकरणरहितस्य, तत्कृतेः करणभुवनादिकृतेः, कालादिवदिति टीकाकृतोक्तो दृष्टान्तस्तादृशोऽपीत्यग्रेतनभाष्यफक्किकयाऽन्वेति, तद्वद्धितनुकरणस्यापीति प्रयोगश्चात्र कार्यं सकर्तृकं कार्यत्वात् घटवदित्याकार एव, पक्षतावच्छेदकं च प्रागभावप्रतियोगित्वं न तु कृतिसाध्यत्वादिकमिति न सिद्धसाधनं, पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन साध्यसिद्धेरुद्देश्यत्वाच्च न घटादिरूपकार्यस्य सकर्तृकत्वसिद्ध्यंशतोऽपि तत्, न चात्रशरीरजन्यत्वमुपाधिरङ्कुरादौ साध्यव्यापकत्वसन्देहेऽपि सन्दि-

ग्धोपाधित्वस्य दुर्वारत्वेन तदाहितव्यभिचारसंशयसत्त्वेनानुमानानवताराल्लाघवाद् व्यभिचारज्ञानत्वेनैव विरोधित्वात् पक्षतत्समयोरपि व्यभिचारसंशयस्य तथात्वादिति वाच्यम्, प्रकृते कार्यत्वावच्छिन्नं प्रति कर्तृत्वेन कारणत्वनिश्चयाल्लाघवतर्कावतारे व्यभिचारसंशयस्याविरोधित्वात्, अनुकूलतर्कानवतार एव व्यभिचारसंशयाधायकस्य सन्दिग्धोपाधेर्दोषत्वादित्याहुः। 'वितनुकरणस्येति' ईश्वरः बुद्धीच्छाप्रयत्नवान्न भवति, वितनुकरणत्वान्मुक्तात्मवदिति प्रयोगः। परेषां तु जैनानां तु, तस्य शरीरेन्द्रियाद्युत्पत्तिप्राक्कालवर्तिन आत्मनः, सशरीरस्यैवेति अत्र तैजसकार्मणाभ्यामिति शेषः। तत्प्रतिपत्तिसद्भावाच्चेति तथा च विकल्पसिद्धधर्म्युपगमान्नाश्रयासिद्धिरिति भावः। नेश्वर इति यद्यप्यशरीरत्वं शरीरपरिग्रहात्यन्ताभावोऽनाद्यनंतत्वेन व्याप्त इति हेतोर्विरुद्धत्वं, तथाप्यात्मनिष्ठस्य शरीरपरिग्रहाभावस्य ध्वंसपर्यवसितस्य ग्रहान्न दोष इति बोध्यम्। 'एतेनेति' ईश्वरेऽशरीरत्वस्य कादाचित्कत्वानुमानप्रदर्शनेनेत्यर्थः। कथं वाऽपाणिपादत्वप्रतिपादक एवागमः प्रदेशान्तरे ईश्वरस्य वेदादिप्रणिनीषया ब्रह्मादिशरीरपरिग्रहं प्रतिपादयन् स्वाङ्गैरेव न विरुन्ध्यात्। भूतावेशन्यायेन तस्य ब्रह्मादिशरीरपरिग्रहोपपत्तिरिति चेद्, दूराद् भ्रान्तोऽसि, भूतावेशस्यापि स्वीयवैक्रियशरीरेणात्मान्तरशरीरे भूतप्रवेशरूपस्य तददृष्टहेतुकत्वात्, अन्यथात्मविभुत्वपक्षे सर्वत्र सर्वावेशापत्तेः, तस्माददृष्टहेतुकयोरावेशपरिग्रहयोर्मध्यैनैकतरस्यापीश्वरे सम्भव इति सुष्ठूक्तं श्रीहेमसूरिभिः॥ "धर्माधर्मौ विना नाङ्गं, विनाङ्गेन मुखं कुतः॥ मुखाद्विना न वक्तृत्वं, तच्छास्तारः परे कथम्॥१॥" इत्यादि, अथावेशे आविशतोऽदृष्टं न हेतुः किं त्वावेशाधिकरणस्य ततस्तद्गतयोरेव सुखदुःखयोरुत्पादनात् तत्परादृष्टेनेश्वरस्य ब्रह्मादिशरीरग्रहोपपत्तिरिति चेत्, न, आवेशे आविशतोऽप्यदृष्टस्य तद्गतबन्धोदयनिर्जरादिनिर्वाहकस्य हेतुत्वेनोभयादृष्टजन्यत्वव्य-

वस्थितेः, अन्यथा मुक्तस्यापि क्वचिदावेशापत्तेः, किं चाविशत ईश्वरस्यावेशाधिकरणब्रह्माद्यात्मभिन्नत्वे ब्रह्मविष्णुशिवैक्यप्रतिपादकश्रुतिविरोधोऽपि, न च शबावेशवद्ब्रह्मादिशरीरे वेदादिहेतावीश्वरावेशोपपत्तिः, तच्छब्दे (वे) तच्छरीरस्येव तददृष्टस्यापि हेतुत्वात्, दृष्टमर्यादातिक्रमे च विनैव शरीरावेशं वेदाद्युच्चारेण व्यवहारं निर्वाहयेदिति न किञ्चिदेतत्, सर्वावेशवासनां चानुपदमेव निराकरिष्यामः। ईश्वरादेरपि माभूदित्यत्र स्थित्वा प्रवर्त्तनार्थक्रियादीति योगः। 'अन्यथेति' न च स्ववृत्तिज्ञानविशेष्यत्वं स्वजन्यव्यापारभागित्वं वा चेतनाधिष्ठितमीश्वरादावप्यविरुद्धमितीष्टापत्तिरत्रेति शङ्कनीयम्। कर्तृसाक्षिव्यवस्थया ज्ञानमात्रेणाधिष्ठितत्वासिद्धेराद्यस्य व्यापारेऽपि व्यापारान्तरापेक्षायामनवस्थापत्तेश्च द्वितीयस्य निरासादिति भावः। उन्मत्तकादियो(भो)जनं धत्तूरचूर्णादिप्रयोगः, मृदादिस्तू(रू)पवैचित्र्यं सुवर्णाभिप्रायेण विचित्रां मृदादिप्रचयस्वनामित्यर्थः। तेषां तददृष्टकृतत्वादिति तथा च तनुकरणभुवनादिकं सकर्तृकं बुद्धिमत्कर्तृकं वेत्यादावदृष्टद्वाराऽस्मदादिना सिद्धसाधनमर्थान्तरं वेति भावः। 'तदभिमतेति' एककर्तृसिद्धौ तद्गतसार्वज्ञ्यादिसिद्धेरेवाधिकरणसिद्धान्ताधीनत्वाभ्युपगमादित्यर्थः। स्वेष्टविघातादिति कतिपयकारकप्रयोक्तृत्वासर्ववेदित्वप्रतिहतशक्तिकत्वाविभुत्वसशरीरत्वादिसिद्धिप्रसङ्गादित्यर्थः। न च सिद्ध्यतीति लाघवावतारेऽपि व्यापकतानवच्छेदकरूपेणानुमितेरनभ्युपगमादित्यर्थः। इतिसूक्तं नेश्वरकृतः संसार इति, एवं च तन्वादिकार्यस्य कर्तृजन्यत्वे साध्ये ज्ञानादेरेव जनकत्वेन कर्तुरजनकत्वाद् बाध इति प्रत्यक्षजन्यत्वमिच्छाजन्यत्वं कृतिजन्यत्वं च पृथक् पृथक् साध्यत इति तदाश्रयतयेश्वरसिद्धावदोषः, निखिलोपादानगोचरप्रत्यक्षाश्रयस्यान्यस्यासम्भवात्, न हि द्व्यणुकाद्युपादानगोचरप्रत्यक्षमस्मदादेः सम्भवतीति दक्षंमन्योक्तमप्यकिञ्चित्करं द्रष्टव्यम्, तत्तत्पु-

रूपीयघटाद्यर्थिप्रवृत्तिं प्रत्येव तत्तत्पुरुषीयघटादिमत्त्वप्रकारकोपादानप्रत्यक्षत्वेन हेतुत्वात्कार्यत्वावच्छिन्ने प्रत्यक्षत्वेन हेतुत्वे मानाभावात्, चिकीर्षाया अपि प्रवृत्तावेव हेतुत्वेनेच्छात्वेन कृतेरपि विलक्षणकृतित्वेन घटादावेव हेतुत्वेन कृतित्वेनापि कार्यत्वावच्छिन्नं प्रत्यहेतुत्वात्, न च प्रवृत्ताविव घटादावपि प्रत्यक्षेच्छयोरन्वयव्यतिरेकाभ्यां हेतुत्वे सिद्धे तत्कार्यतावच्छेदकं लाघवात् कार्यत्वमेव कल्प्यते, घटत्वपटत्वादीनामानन्त्यात् शरीरलाघवमपेक्ष्य मङ्गाहकन्वलाघवस्य बलवत्त्वात्, कृतेरपि यद्विशेषयोरिति न्यायेन सामान्यतो हेतुत्वसिद्धिरिति वाच्यम्। एवं सति शरीरत्वेन चेष्टात्वेन च हेतुत्वान्नित्यशरीरचेष्टयोरपि सिद्ध्यापत्तेः। न च परमाणव एव प्रयत्नवदीश्वरात्मसंयोगजन्यचेष्टावन्त ईश्वरस्य नित्यानि शरीराणि टीकाप्रथमश्लोकव्याख्याने उदयनाचार्यैस्तथा स्वीकृतत्वात्, चेष्टाया नित्यत्वे तु मानाभावोऽनित्यचेष्टाया अपि सर्गादौ सम्भवात्, ईश्वरप्रयत्नाधीनचेष्टावतां सर्वेषामेव वेश्वरशरीरत्वम्, अत एव सर्वावेशपरा सर्वाभेदश्रुतिरिति वाच्यम्, परमाणूनां नित्येश्वरशरीरत्वे तद्गतक्रियाया अपि नित्यायाश्चेष्टायाः कल्पनापत्तेः, सर्वावेशे च सर्वत्र क्रियामात्रस्य चेष्टात्वपर्यवसाने विलक्षणचेष्टात्वजात्युच्छेदापत्तेः, सर्वशरीरावच्छिन्नविलक्षणमनःसंयोगजनकप्रयत्नवदात्मसंयोगरूपसर्वावेशस्वीकारे च प्रत्यात्मनियतमनोभिन्नमनःप्रवेशनेन सर्वेषामुन्मादजनकताया ईश्वरस्यापत्तेः, अन्यथावेशपदार्थाघटनात्, उपमामात्रस्य सर्वात्मसाधारणत्वात् सर्वात्मगुणसाधारणकारणत्वेन पुनरावेशकारणत्वं नेश्वरस्य युक्तिमत् कालादिवदिति दिग्। किं च गुणस्य साश्रयत्वव्याप्तौ मानाभावादुपादानप्रत्यक्षस्य निराश्रयस्यैव सिद्धौ वेदान्तिमतसाम्राज्ये कथं नैयायिकाभिमतेश्वरसिद्धिः। किञ्चोपादानप्रत्यक्षं लौकिकमेव जनकमिति कथं तादृशप्रत्यक्षाश्रयतयेश्वरः सिद्ध्येत्, सन्निकर्षदोषविशेषादिनियम्यलौकिकविषयतायास्तज्ज्ञानेऽ-

भावात्, यदि च प्रणिधानाद्यर्थं मनोवहनाड्यादौ प्रवृत्तिस्वीकारादनुमित्यादिसाधारणं यद्धर्म्मावच्छिन्ने यदार्थप्रवृत्तिस्तद्धर्मावच्छिन्ने तत्प्रकारकज्ञान हेतुरिति मतं, तदेश्वरे ज्ञानमात्रसिद्धावपि कथं प्रत्यक्षसिद्धिः, प्रत्यक्षत्वमेव चेन्द्रियजन्यतावच्छेदकं लाघवान्न तु जन्यप्रत्यक्षत्वं गौरवादिति का प्रत्याशा नित्यप्रत्यक्षाश्रयस्येश्वरस्य। यत्तु दीधितिकृतोक्तं घटत्वाद्यवच्छिन्ने कृतित्वेन हेतुत्वेऽपि खण्डघटाद्युत्पत्तिकाले कुलालादिकृतेरसत्त्वादीश्वरकृतिसिद्धिरिति, तदसत्, घटत्वाद्यवच्छिन्ने विजातीयकृतित्वेनैव हेतुत्वात् कृतित्वेन व्यापकधर्मेणान्यथासिद्धेरतत्त्वात्। केचित्तु कुलालादिकृतेः स्वप्रयोज्यविजातीयसंयोगसम्बन्धेन खण्डघटोत्पत्तिकालेऽपि सत्त्वान्नेश्वरकृतिसिद्धिः, न च वैशेषिकनये श्यामघटादिनाशोत्तरं रक्तघटाद्युत्पत्तिकाले प्राक्तनपरमाणुद्वयसंयोगद्व्यणुकादेर्नाशान्नैवं सम्भवतीति वाच्यम्। पूर्वसंयोगादिध्वंसपूर्वद्व्यणुकादिध्वंसानामुत्तरसंयोगद्व्यणुकादावन्ततः कालोपाधितयाऽपि जनकत्वात्तत्कालेऽपि कुलालादिकृतेः स्वप्रयोज्यविजातीयसंयोगेन सत्त्वात्, अन्यथा घटत्वाद्यवच्छिन्ने दण्डादिहेतुताया अपि भङ्गापत्तेः, न च दण्डादेः स्वप्रयोज्यविजातीयसंयोगेन हेतुत्वेऽपि कृतेर्लाघवाद्विशेष्यतयैव तत्त्वमुचितं, न च कुलालकृतिस्तदा तयाऽस्तीति वाच्यम्। विजातीयसंयोगत्वेनापि सम्बन्धत्वे गौरवाभावात्, निश्चिताव्यभिचारकत्वाच्च स्वप्रयोज्यत्वस्य तु सम्बद्धसम्बन्धत्वादित्यादि। यत्तु भट्टाचार्यैरुक्तं तत्तत्कार्याणां देशकालादिनियम ईश्वरेच्छात एवेति तत्सिद्धिः, वदन्ति हि पामरा अपीश्वरेच्छैव नियामिकेति. तदपि हृदयदरीदृढरूढगूढश्रद्धालतोल्लासमात्रं, पामरसंवादस्य नियतिनियामकत्वेऽपि भूम्ना दर्शनात्, सा च तत्त्वान्तर वा केवलज्ञानं वेत्यन्यदेतत्, तथाभवितव्यतैव सर्वत्र नियामिकेति तु प्रामाणिकः प्रवादः, तस्याः सकलकारणाक्षेपकत्वेन सर्वसंवादात्। यदपि तेषां पद्यं ॥

समालोच्य क्षुद्रेष्वपि भवननाथस्य भुवने, नियोगाद्भूतानां मितस्रमिनिदेशस्थितिलयम् ॥
अये ! केयं भ्रान्तिः सततमपि मीमांसनजुषां, व्यवस्थातः कार्यं जगति जगदीशापरिचयः ॥१॥ इति ॥
तदुपरि मदीयानि पद्यानि ॥

अनित्ये नित्ये वा नियतिनियमाद्वस्तुनि जनि-व्यवस्थां धर्माणां स्थितिमपि समालोच्य विशदाम् ॥
अये ! केयं भ्रान्तिः सततमपि तर्कव्यसनिनां, वृथा यद्व्यापारो जगति जगदीशस्य गदितः ॥ १ ॥

प्रवाहेणानादिः स च परिविशुद्धोऽपि गदितो, मलात्यन्ताभावान्ननु भवति शुद्धिर्गगनवत् ॥
तमेकं मन्यन्तां सदृशगतिभेदाग्रहवशा-न्निराशानां सर्वं सफलमफलं कुग्रहजुषाम् ॥ २ ॥

यदेवैतद्रूपं प्रथममथ सालम्बनपदे, तदेव ध्यानस्थं घटयति निरालम्बनसुखम् ॥
रमागौरीगङ्गावलयशरकुन्ताऽसिकलितं, कथं लीलारूपं स्फुटयतु निराकारपदवीम् ॥ ३ ॥

अतर्क्या लीलैशीत्यपि कपिकुलाधीतचपल-स्वभावोद्भ्रान्तत्वं विदधति परीक्षां हि सुधियः ।
न यद्ध्यानस्याङ्गं तदिह भगवद्रूपमपि किं, जगल्लीलाहेतुर्बहुविधमदृष्टं विजयते ॥ ४ ॥

ततो यो योगाङ्गैर्बहुभिरिह गाङ्गैरिव जलै-र्विशुद्धैः शुद्धात्माऽलभत विरजाः सिद्धपदवीम् ॥
निषेव्यो ध्येयोऽसौ निरुपधिविशुद्धिर्भगवतो, ह्युपास्यत्वे तन्त्रं न तु विमतकर्त्रैकविभुता ॥ ५ ॥ "
कामादीति जीव(जीवात्म)त्वावच्छेदेनायं निषेधः, तेन नांशतो बाधः, सम्भवद्विशुद्धयो विशुद्धिप्रागभाववन्तः,

संसारिशून्यत्वप्रसङ्गादिति प्रागभावस्य प्रतियोगिजनकत्वनियमादित्यर्थः ॥ ९९ ॥

शुद्ध्यशुद्धी पुनः शक्ती, ते पाक्यापाक्यशक्तिवत् ॥ साद्यनादी तयोर्व्यक्ती, स्वभावोऽतर्कगोचरः ॥१००॥

शुद्धिस्तावज्जीवाना भव्यत्वं केषाचित्सम्यग्दर्शनादियोगान्निश्चीयते । अशुद्धिरभव्यत्वं तद्वैपरीत्यात् सर्वदा प्रवर्तनादवगम्यते छद्मस्थैः, प्रत्यक्षतश्चातीन्द्रियार्थदर्शिभिः । इति भव्येतरस्वभावौ शुद्ध्यशुद्धी जीवानां तेपा सामर्थ्यासामर्थ्ये शक्त्यशक्ती इति यावत् । ते मापादिपाक्यापरशक्तिवत् सभाव्येते सुनिश्चितासभवद्बाधकप्रमाणत्वात् । तत्र शुद्धेर्व्यक्तिः सादिस्तदभिव्यञ्जकसम्यग्दर्शनादीनां सादित्वात् । एतेनानादिः सदाशिवस्य शुद्धिरिति प्रत्युक्तं प्रमाणाभावाद् दृष्टातिक्रमादिष्टविरोधाच्च । अशुद्धेः पुनरभव्यत्वलक्षणाया व्यक्तिरनादिस्तदभिव्यञ्जकमिथ्यादर्शनादिसततेरनादित्वात् । पर्यायापेक्षयापि शक्तेरनादित्वमिति चेत्, न, द्रव्यापेक्षयैवानादित्वसिद्धेः । इति शक्तेः प्रादुर्भावापेक्षया सादित्वम् । ततः शक्तिर्व्यक्तिश्च स्यात्सादि , स्यादनादिरित्यनेकान्तसिद्धि" । यदि वा जीवानामभिसन्धिनानात्वं शुद्ध्यशुद्धी । स्वनिमित्तवशात् सम्यग्दर्शनादिपरिणामात्मकोऽभिसधि शुद्धिः. मिथ्यादर्शनादिपरिणामात्मकोऽशुद्धिर्दोषावरणहानीतरलक्षणत्वात्तेषा शुद्ध्यशुद्धिशक्त्योरिति भेदमाचार्यः प्राह, ततोन्यत्रापि भव्याभव्याभ्यां भव्येष्वेव, साद्यनादी प्रकृतशक्त्योर्व्यक्ती सम्यग्दर्शनाद्युत्पत्तेः पूर्वमशुद्ध्यभिव्यक्तेर्मिथ्यादर्शनादिसततिरूपायाः कथचिदनादित्वात्, सम्यग्दर्शनाद्युत्पत्तिरूपायाः पुन शक्त्यभिव्यक्तेः सादित्वात् । कुतः शक्तिप्रतिनियम इति चेत्, तथास्वभावादिति ब्रूमः । न हि भावस्वभावाः पर्यनुयोक्तव्याः, तेपामतर्कगोचरत्वात् । ननु प्रत्यक्षेण प्रतीतेर्थे स्वभावैरुत्तरं वाच्यं, सति पर्यनुयोगे न पुनरप्रत्यक्षे, अतिप्रसङ्गादिति चेत्, न, अनुमानादिभिरपि प्रतीते वस्तुनि भावस्वभावैरुत्तरस्याविरोधात् प्रत्यक्षवदनुमानादेरपि प्रमाणत्वनिश्चयात् । ततः परमागमात्सिद्धप्रामाण्यात् । प्रकृतर्जी-

वस्वभावाः प्रतीतिमनुसरन्तो न तर्कगोचरा यतः पर्यनुयुज्यन्ते, तर्कगोचराणामप्यागमगोचरत्वेन पर्यनुयोगप्रसङ्गात्। तद्वत्प्रत्यक्षावि- पयाणामपि। इति न प्रत्यक्षागमयोः स्वातन्त्र्यमुपपद्येत तर्कवत्। तदनुपपत्तौ च नानुमानस्योदयः स्यात्, धर्मिप्रत्यक्षादेः प्रतिज्ञाय- मानागमार्थस्य च प्रमाणान्तरापेक्षत्वादित्यनवस्थानात्। ततः सूक्तं कर्मबन्धानुरूपत्वेपि कामादिप्रभवस्य भावसंसारस्य द्रव्यादिसमार- हेतोः प्रतिमुक्तीतरसिद्धिर्जीवानां शुद्ध्यशुद्धिवैचित्र्यादिति ॥१००॥ ननु चोपेयतत्त्वस्य सर्वज्ञत्वादेरुपायतत्त्वस्य ज्ञापककारकविकल्पस्य हेतुवादाहेतुवादैः प्रमाणनयैरेव कार्त्स्न्यैकदेशतोधिगमः कर्तव्यो नान्यथा तदधिगमोपायान्तराणामत्रैवान्तर्भावात्, "प्रमाणनयैरधिगम" इति वचनात्। तत्र प्रमाणमेव तावद्वक्तव्यं, तत्स्वरूपादिविप्रतिपत्तिसद्भावात् तन्निराकरणमन्तरेण तदध्यवसायानुपपत्तेः इति भगवता पृष्टा इवाचार्याः प्राहुः—

तयोर्व्यक्ती इति, गुणनिमित्तसाहजिकक्षयोपशमाधीनकार्यप्रादुर्भावपर्यायावित्यर्थः। ननु निक्षेपरूपमुपेयोपायतत्त्व- ग्राहकमुपायान्तरमस्तीति प्रमाणनयैरेवेत्यवधारणं कुत इत्याशङ्कायामाह—**अन्यथेति** अन्यप्रकारेण यानि तदधिगमोपाया- न्तराणि निक्षेपनिर्देशस्वामित्वादीनि तेषामत्रैव प्रमाणनययोरेवान्तर्भावादभिमतानभिमतोपादानत्यागफलोपदेशरूपत्वेन तेषां तद्रूपत्वादिति भावः ॥ १०० ॥

तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते, युगपत्सर्वभासनम् ॥ क्रमभावि च यज्ज्ञानं, स्याद्वादनयसंस्कृतम् ॥ १०१ ॥

प्रमाणलक्षणसंख्याविषयविप्रतिपत्तिरनेन व्यवच्छिद्यते। तत्त्वज्ञानं प्रमाणमिति वचनादज्ञानस्य निराकारदर्शनस्य सन्निकर्षादेश्चाप्रमा- णत्वमुक्तं, तस्य स्वार्थाकारप्रमितिं प्रति साधकतमत्वानुपपत्तेः, ज्ञानस्यैव स्वार्थाकारव्यवसायात्मनस्तत्र साधकतमत्वात्। न हि स्वार्था-

कारव्यवसायशून्यं निर्विशेषवस्तुमात्रग्रहणं दर्शनमिन्द्रियादिसन्निकर्षमात्रं श्रोत्रादिवृत्तिमात्र वा यथोक्तपरिच्छित्तिं प्रति साधकतमं, तद्भावाभावयोस्तस्यास्तद्वत्तापायात्। यद्भावे हि प्रमितेर्भाववत्ता यदभावे चाभाववत्ता तत्तत्र साधकतमं युक्तं, भावाभावयोर्द्वयोस्तद्वत्ता साधकतमत्वमिति वचनात्। न चैतद्दर्शनादिषु सम्भवति, तद्भावेपि स्वार्थप्रमितेः क्वचिदभावात्, संशयादेरन्यथानुपपद्यमानत्वात्, तदभावेपि च विशेषणज्ञानाद्विशेष्यप्रमितेः सद्भावोपगमात्। ननु ज्ञानस्याप्येवं साधकतमत्वं मा भूत् संशयादिज्ञाने सत्यपि यथार्थप्रमितेरभावात् तदभावेऽपि च भावादिति चेत्, न, तत्त्वग्रहणात्। तत्त्वज्ञानं प्रमाणमिति हि निगद्यमाने मिथ्याज्ञानं संशयादि मत्याद्याभास व्यवच्छिद्यते। ततोऽस्य साधकतमत्वं यथोक्तमुपपद्यते एव। नन्वेवमपि तत्त्वज्ञानान्तरस्य प्रमेयस्य प्रमातुश्चात्मनः स्वार्थप्रमितिं प्रति साधकतमत्वात् प्रमाणत्व कुतो न भवेदिति चेत्, न, तस्य कर्मत्वेन कर्तृत्वेन च साधकतमत्वासिद्धेस्तत्सिद्धौ करणत्वप्रसङ्गात्। करणस्य तत्त्वज्ञानात्मनः प्रमाणत्वे को विरोधः? तदेवं सकलप्रमाणव्यक्तिव्यापि साकल्येनाप्रमाणव्यक्तिभ्यो व्यावृत्तं प्रतीतिसिद्धं तत्त्वज्ञानं प्रमाणलक्षणं, तस्य सुनिश्चितासम्भवद्बाधकत्वात्, सम्भवद्बाधकस्य संशयितासम्भवद्बाधकस्य कदाचित्क्वचित्कस्यचिन्निश्चितासम्भवद्बाधकस्य च प्रमाणत्वायोगात्, प्रवृत्तिसामर्थ्यस्यार्थवत्क्रियाप्राप्तेरदुष्टकारणजन्यत्वस्य लोकसमतत्वस्य च प्रमाणलक्षणस्य तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके प्रपञ्चतोऽपास्तत्वात्। ननु च तत्त्वज्ञानस्य सर्वथा प्रमाणत्वसिद्धेरनेकान्तविरोध इति न मन्तव्यं, बुद्धेरनेकान्तात्, येनाकारेण तत्त्वपरिच्छेदस्तदपेक्षया प्रामाण्यमिति निरूपणात्। तेन प्रत्यक्षतदाभासयोरपि प्रायशः संकीर्णप्रामाण्येतरस्थितिरुन्नेतव्या, प्रसिद्धानुपहतेन्द्रियदृष्टेरपि चन्द्रार्कादिषु देशप्रत्यासत्त्याद्यभूताकारावभासनात्, तथोपहताक्षादेरपि संख्यादिविसंवादेपि चन्द्रार्कादिषु देशप्रत्यासत्त्याद्यभूताकारावभासनात्, तथोपहताक्षादेरपि संख्यादिविसंवादेपि चन्द्रादिस्वभावतत्त्वोपलम्भात्। कथमेवं क्वचित्प्रमाणव्यपदेश एव क्वचिदप्रमाण-

व्यपदेश एवेति नियता लोकव्यवस्थितिरिति ? उच्यते, तत्प्रकर्षापेक्षया व्यपदेशव्यवस्था गन्धद्रव्यादिवत् । यथा च प्रत्यक्षस्य संवाद-
प्रकर्षात्प्रमाणव्यपदेशव्यवस्था प्रत्यक्षाभासस्य च विसंवादप्रकर्षादप्रमाणत्वव्यपदेशव्यवस्थिति गन्धादिगुणप्रकर्षात्कस्तूरिकादेर्गन्धद्रव्या-
दिव्यपदेशव्यवस्था तद्व्यवहारिभिरभिधीयते, तथानुमानादेरपि कथंचिन्मिथ्याप्रतिभासेपि तत्त्वप्रतिपत्त्यैव प्रामाण्यमन्यथा चाप्रामाण्य-
मित्यनेकान्तसिद्धिः एकान्तकल्पनाया तु नान्तर्बहिस्तत्त्वसंवेदनं व्यवतिष्ठेत ताथागतमते स्वयमद्वयादेर्द्वैयादिप्रतिभासनाद्रूपादिस्वलक्ष-
णाना च तथैवादर्शनाद्यथा व्यावर्ण्यन्ते । स्वसंवेदनस्य संविन्मात्रे प्रमाणत्वेपि तदद्वयक्षणिकपरमाणुरूपे विपर्ययप्रतिभासादप्रमाणत्व-
कल्पनायां कथमेकान्तहानिर्न स्यात् यत्प्रमाणं तत् प्रमाणमेवेति ? रूपादिदर्शनस्य च रूपादिमात्रे प्रमाणत्वेपि स्थूलस्थिरसाधारणाकार-
प्रतिभासस्य भ्रान्तत्वादप्रमाणतायां कथमेकान्तसिद्धिः ? "तस्माद्दृष्टस्य भावस्य, दृष्ट एवाखिलो गुण" इति तदविशेषोपलम्भाभ्युपगमेपि
"भ्रान्तेर्निश्चीयते नेति, साधनं सम्प्रवर्तते" इति वचनात् तद्व्यवसायवैकल्य सिद्धमेव। तत्र च तद्व्यवसायवैकल्ये वा दानहिंसादिचित्ते
कचिद्धर्माधर्मसंवेदनवत् परोक्षत्वोपपत्तेस्तत्त्रिरूपलिङ्गबलभाविनामपि विकल्पानामतत्त्वविषयत्वात् कुतस्तत्त्वप्रतिपत्तिः ? " मणिप्रदी-
पप्रभयो–र्मणिबुद्ध्याभिधावतः ॥ मिथ्याज्ञानाविशेषेपि, विशेषोर्थक्रियां प्रति ॥१॥ यथा, तथाऽयथार्थत्वे–प्यनुमानावभासयोः ॥ अर्थ-
क्रियानुरोधेन, प्रमाणत्वं व्यवस्थितम् ॥ २ ॥ " इति, मणिप्रदीपप्रभादृष्टान्तोपि स्वपक्षघाती, मणिप्रदीपप्रभादर्शनस्यापि संवादकत्वेन
प्रामाण्यप्राप्त्या प्रमाणान्तर्भावविघटनात् कथ प्रमाणे एवेत्यवधारणं घटते ? न हि तत्प्रत्यक्षं स्वविषये विसंवादनात् शुक्तिकादर्शनवद्र-
जतभ्रान्तौ । तत्राप्रतिपन्नव्यभिचारस्य यदेव मया दृष्टं तदेव मया प्राप्तमित्येकत्वाध्यवसायाद्विसंवादनाभावान्मणिप्रभायां मणिदर्शनस्य
प्रत्यक्षत्वे तिमिराशुभ्रमणनौयानसंक्षोभाद्याहितविभ्रमस्यापि धावद्वादितरुदर्शनस्य प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गादभ्रान्तमिति विशेषणमध्यक्षस्य न

स्यात् । धावतां दर्शनादवस्थितानामगाना प्राप्तेर्विसंवादात् भ्रान्तत्वसिद्धेस्तस्याप्रत्यक्षत्वे कुञ्चिकाविवरे मणिप्रभाया मणेर्दर्शनादपवरकाभ्यन्तरेऽपरिप्राप्तेः कथमिव तस्याभ्रान्तता युज्येत ? इति न प्रत्यक्ष तत्स्यात् । नापि लैङ्गिकं लिङ्गलिङ्गिसंबन्धाप्रतिपत्तेरन्यथा दृष्टान्तेतरयोरेकत्वात् किं केन कृतं स्यात् ? तदेतेन प्रतिपन्नव्यभिचारस्य, "य इत्थं प्रतिभासः स्यात्, स न संस्थानवर्जितः ॥ एवमन्यत्र दृष्टत्वादनुमानं तथा सति ॥१॥" इति प्रज्ञाकरमतमप्यपास्तं, स्वयमसिद्धेन दृष्टान्तेन साध्यसिद्धेरकरणात् कदाचित् संवादात् प्रत्यक्षत्वेनैव मणिप्रभाया मणिदर्शनस्य दृष्टान्तत्वमयुक्त, कादाचित्कार्थप्राप्तेरारेकादेरपि संभवात् प्रत्यक्षत्वप्रसक्तेः । सर्वदा संवादात्तस्य प्रत्यक्षत्वमुदाहरणत्व चेत्यप्यसार, तदसिद्धेः । न हि मिथ्याज्ञानस्य संवादनैकान्तः संभवति, विरोधात् । नन्वनुमानस्य संभवत्येवावस्तुविषयत्वेन मिथ्याज्ञानस्यापि सर्वदा संवादनं लिङ्गज्ञानवत् पारम्पर्येण वस्तुनि प्रतिबन्धात् । तदुक्त—"लिङ्गलिङ्गिधियोरेवं, पारम्पर्येण वस्तुनि ॥ प्रतिबन्धात्तदाभास, शून्ययोरप्यवञ्चनम् ॥१॥" इति कश्चित् सोऽप्यनालोचिताभिधायी, सर्वदा संवादिनः प्रत्यक्षवन्मिथ्याज्ञानत्वविरोधात । तथा न लैङ्गिकं सर्वथैवाविसंवादकत्वात् । न हि तदालम्बन भ्रान्तं, प्राप्येपि वस्तुनि भ्रान्तत्वप्रसङ्गात् । प्राप्ये तस्याविसंवादकत्वे स्वालम्बनेप्यविसंवादकत्वम् । इति कथं न सर्वथैवाविसंवादकत्वमनुमानस्य ? सामान्यविशेषात्मकवस्तुविषयत्वप्रसिद्धेः प्रत्यक्षवत्, अन्यथा प्रमाणत्वायोगात् । तस्मात् सूक्तं, तत्त्वज्ञानमेव प्रमाणं कारणसामग्रीभेदात् प्रतिभासभेदेपीति । न ह्यनुमानस्य वस्तुविषयत्वाद्विशदप्रतिभासनमापादयितुं शक्यं, विदूरस्थपादपादिदर्शनेनाविशदप्रतिभासेन व्यभिचारात् । पृथग्जनप्रत्यक्षस्यापि योगिप्रत्यक्षवदसंभवात् सकलसमारोपत्वप्रसङ्गात् स्वलक्षणविषयत्वाविशेषात् । तदविशेषेपि योगीतरप्रत्यक्षयोः कारणसामग्रीविशेषाद्विशेषपरिकल्पनाया, तत एव प्रत्यक्षानुमानयोरपि प्रतिभासविशेषोस्तु, सर्वथा बाधकाभावात् । प्रमाणमेव वा तत्त्वज्ञानं नामेत्यवधारणमनुमन्तव्यं, फलज्ञानस्यापि स्वाव्यव-

हितफलापेक्षया प्रमाणत्वोपयोगात्। ततः स्वलक्षणदर्शनानन्तरभाविनस्तत्त्वव्यवसायस्य प्रमाणत्वोपपत्तेः प्रत्यक्षमनुमानमिति प्रमाण एवेत्याद्यवधारणं प्रत्याचष्टे सौगताना, तस्य प्रत्यक्षानुमानाभ्यां प्रमाणान्तरत्वात्। न हीन्द्रियव्यवसायोऽप्रमाणमविसंवादकत्वात्। अनधिगतार्थाधिगमाभावात्तदप्रमाणत्वे लैङ्गिकस्यापि मा भून् प्रमाणत्व, विशेषाभावात्। अनधिगतत्वस्वलक्षणाध्यवसायादनुमितेरतिशयकल्पनाया प्रकृतस्यापि न वै प्रमाणत्व प्रतिषेध्यमनिर्णीतनिर्णयात्मकत्वात् क्षणभङ्गानुमानवत्। क्षणिकत्वानुमानस्य ह्यनिश्चिताध्यवसाय एवानधिगतस्वलक्षणाध्यवसायः। स च ध्वनिदर्शनानन्तरभाविनो व्यवसायस्यापीति युक्त प्रमाणत्वम्। ध्वनेरखण्डशः श्रवणादधिगमोपि प्राथमकल्पिकस्तत्त्वनिर्णीतिरेव, तद्वशात् तत्त्वव्यवस्थानान्निर्णीतिरेव मुख्यप्रमाणत्वोपपत्तेः, तदत्यये दृष्टेरपि विसंवादकत्वेन प्रामाण्यानुपपत्तेरदर्शनानतिशायनात्तद्दर्शनाभावेपि तत्त्वनिश्चये तदन्यसमारोपव्यवच्छेदलक्षणे प्रमाणलक्षणाङ्गीकरणात्। ननु निश्चितार्थमात्रस्मृतेरप्येव प्रमाणत्वापत्तेरतिप्रसङ्ग इति चेत्, न, प्रमितिविशेषाभावेतरपक्षानतिक्रमात्। प्रथमपक्षे कचित्कुतश्चिद्धूमकेतुलैङ्गिकवन्निर्णीतार्थमात्रस्मृतेरधिगतार्थाधिगमात् प्रामाण्य मा भूत्, प्रमितिविशेषाभावात्। द्वितीयपक्षे पुनरिष्ट प्रामाण्यमनुस्मृतेः, प्रमितिविशेषसद्भावात्। प्रकृतनिर्णयस्य प्रामाण्ये हि न किंचिदतिप्रसज्यते, दृष्टस्याप्यनिश्चितस्य निश्चयात्, प्रत्यक्षतो निश्चिते धूमकेतौ ज्वालादिविशेषाद्धूमकेतुलैङ्गिकस्मृतौ तु विशेषपरिच्छित्तेरभावादप्रामाण्यनिदर्शनात्। परिच्छित्तिविशेषसद्भावेपि साकल्येन स्मृतेरप्रामाण्यकल्पनायामनुमानोत्थानायोगः, सम्बन्धस्मृतेरप्रमाणत्वात, तस्या अपि लैङ्गिकत्वेन प्रामाण्ये परापरसम्बन्धस्मृतीनामनुमानत्वकल्पनादनवस्थानात् सम्बन्धस्मृतिमन्तरेणानुमानानुदयात्। सुदूरमपि गत्वा सम्बन्धस्मृतेरननुमानत्वे प्रमाणत्वे च सिद्ध, स्मृतेरुपयोगविशेषात् प्रमाणत्वमविसंवादादनुमानवत्। तच्च यथा प्रत्यक्षमनुमानमिति प्रमाणे एवेत्यवधारणं प्रत्याचष्टे,

तथा त्रीण्येव प्रमाणानि चत्वार्येव पञ्चैव षडेवेत्यवधारणमपि, स्मृतेरागमोपमानार्थापत्त्यभावेष्वनन्तर्भावात्, तदन्तर्भावेनुमानान्तर्भाववदनवस्थानानुपङ्गादागमाद्युदयविरोधात्, शब्दादिस्मृतिमन्तरेण तदनुपपत्तेः। यदि पुनरागमाद्युत्थापकसामग्रीत्वाच्छब्दादिस्मृतेरागमादिप्रमाणत्वमप्युररीक्रियते तदा शब्दादिप्रत्यक्षस्यापि तत्सामग्रीत्वादागमादित्वप्रसङ्गः। तथा च स्मृतिवन्न प्रत्यक्ष प्रमाणान्तर स्यात्। प्रमाणान्तरत्वे वा स्मृतेरपि प्रमाणान्तरत्व, दर्शनानन्तराध्यवसायवन्निर्णीतेपि कथचिदतिशायनादनुमानवत्। एवं प्रत्यभिज्ञानं प्रमाणं, व्यवसायातिशयोपपत्तेः प्रत्यक्षादिवत्, तत्सामर्थ्याधीनत्वात्प्रमाणत्वस्थितेः, अविसवादस्यापि स्वार्थव्यवसायात्मकत्वात्। अन्यथा हि विसवादः स्यात्सशयादिवत्। न चेदं प्रत्यभिज्ञानमव्यवसायात्मकं तदेवेदं तत्सदृशमेवेदमित्येकत्वसादृश्यविपयस्य द्विविधप्रत्यभिज्ञानस्याबाधितस्यारेकादिव्यवच्छेदेनावगमात्, बाध्यमानस्याप्रमाणत्वोपपत्तेस्तदाभासत्वात्। न च सर्वं प्रत्यभिज्ञानं बाध्यमानमेव, प्रत्यक्षस्य तद्विषये प्रवृत्त्यसभवादबाधकत्वादनुमानस्यापि तद्विपयविपरीतसर्वथाक्षणिकविसदृशवस्तुव्यवस्थापकस्य निरस्तत्वात्तद्बाधकत्वायोगात्। ततः प्रत्यभिज्ञान तत्त्वज्ञानत्वात्प्रमाण प्रत्यक्षवत्। एवं लिङ्गलिङ्गिसबन्धज्ञानं प्रमाणमनिश्चितनिश्चयादनुमानवद्। सत्त्वक्षणिकत्वयोर्धूमतत्कारणयोर्वा साकल्येन व्याप्तिप्रतिपत्तौ न प्रत्यक्षमुत्सहते, सन्निहितार्थाकारानुकारित्वात इन्द्रियजमानसस्वसवेदनप्रत्यक्षस्य वा योगिप्रत्यक्षस्य अपरीक्षाक्षमत्वाच्च। नानुमानमनवस्थानुपङ्गात् सुदूरमपि गत्वा तदुभयव्यतिरिक्तं व्यवस्थानिमित्तमभ्युपगन्तव्यम्। तदस्माकमूहाख्य प्रमाणमविसवादकत्वात् समारोपव्यवच्छेदकत्वादनुमानवत्। न चोहः सबन्धज्ञानजन्मा, यतोऽनवस्थान स्यादपरापरोहानुसरणात्, तस्य प्रत्यक्षानुपलम्भजन्मत्वात् प्रत्यक्षवत्, स्वयोग्यतयैव स्वविपये प्रवृत्तेः। सबन्धज्ञानमप्रमाणमेव, प्रत्यक्षानुपलम्भपृष्ठभाविविकल्पत्वाद् गृहीतग्रहणात्, सबन्धप्रतिपत्तौ प्रत्यक्षानुपलम्भयोरेव भूयः प्रवर्तमानयोः प्रमाणत्वा-

दिप्येके, तेप्यसमीक्षितवाचः, कथंचिदपूर्वार्थविपयत्वादूहाख्यविकल्पस्य प्रमाणत्वोपपत्तेः प्रत्यक्षानुपलम्भयोः सन्निहितविपयबलोत्पत्तेर-विचारकत्वाच्च व्याप्तौ प्रवृत्त्यसभवात्। यदि पुनरप्रमाणमेव व्याप्तिज्ञानं सबन्धं वा व्यवस्थापयेत्तदा प्रत्यक्षमनुमान चाप्रमाणमेव स्वविपय व्यवस्थापयेत् कि तत्प्रमाणत्वसाधनायासेन ? ॥ लिङ्गलिङ्गिसबन्धप्रतिपत्तिरर्थापत्तेरित्यन्ये । तेपामपि सबन्धज्ञानपूर्वकत्वेऽर्थापत्तेरर्थापत्त्यन्तरानुसरणादनवस्था । तदपूर्वकत्वे स्वयमनिश्चितानन्यथाभवनस्यार्थापत्त्युदयत्वप्रसङ्ग , परस्पराश्रयण च, सत्यनुमानज्ञाने तदन्यथानुपपत्त्या सबन्धज्ञानं, सति च संबन्धज्ञानेऽनुमानज्ञानमिति नैकस्याप्युदयः स्यात्। न चान्यत्संबन्धार्थापत्त्युत्थापकमस्त्यनुमानज्ञानाद् येन परस्पराश्रयणं न स्यात्। एतेनोपमानादेः संबन्धप्रतिपत्तिः प्रत्युक्ता । तस्मादुपमानादिक प्रमाणान्तर-मिन्छता तत्त्वनिर्णयप्रत्यवमर्शप्रतिबन्धाधिगमप्रमाणत्वप्रतिपेधः प्रायशो वक्तुर्जडिमानमाविष्करोति । इति प्रत्यक्षं परोक्षमित्येतद्द्वितय प्रमाणमभ्युपगन्तव्यम्, अर्थापत्त्यादेरनुमानव्यतिरेकेपि, परोक्षेन्तर्भावात् । तदुक्तं, " प्रत्यक्षं विशदं ज्ञान, त्रिधाश्रितमविप्लवम् ॥ परोक्ष प्रत्यभिज्ञादि, प्रमाणे इति सग्रहः ॥१॥ " ततः सूक्तमिदमवधारणं प्रमाणमेव तत्त्वज्ञानमिति, प्रत्यक्षपरोक्षतत्त्वज्ञानव्यक्तीना साकल्येन प्रमाणत्वोपपत्तेः। तत्र सकलज्ञानावरणपरिक्षयविजृम्भितं केवलज्ञानं युगपत्सर्वार्थविपयम । करणक्रमव्यवधानातिवर्तित्वात् युगपत्सर्वभासनम् । तत्त्वज्ञानत्वात्प्रमाणम् । तथोक्तं, ' सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ' इति सूत्रकारैः । केवलज्ञानदर्शनयोः क्रमवृत्तित्वात् चक्षुरादिज्ञानदर्शनवद्युगपत्सर्वभासनमयुक्तमिति चेत्, न, तयोर्यौगपद्यात्, तदावरणक्षयस्य युगपद्भावात्, 'मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ' इति, अत्र प्रथम मोहक्षयस्ततो ज्ञानावरणादित्रयक्षयः सकृदिति व्याख्यानात् । तज्ज्ञानदर्शनयोः क्रमवृत्तौ हि सर्वज्ञत्व कादाचित्कं स्याद्, दर्शनकाले ज्ञानाभावात्तत्काले च दर्शनाभावात्। सतत च भगवतः केवलिनः सर्वज्ञत्व सर्व-

दर्शित्वं च ‘ साद्यपर्यवसिते केवलज्ञानदर्शने ’ इति वचनात् । कुतस्तत्सिद्धिरिति चेत्, निर्लोठितमेतत् सर्वज्ञसिद्धिप्रस्तावे, न पुनरिहोच्यते । केवलज्ञानदर्शनयोर्युगपद्भावः कुत सिद्ध इति चेत्, सामान्यविशेषविषययोर्विगतावरणयोरयुगपत्प्रतिभासायोगात् प्रतिबन्धकान्तराभावात् । सामान्यप्रतिभासो हि दर्शनं, विशेषप्रतिभासो ज्ञानम् । तत्प्रतिबन्धक ज्ञानावरणं दर्शनावरणं च । यदुदयादसदादेः केवलज्ञानदर्शनानाविर्भावः । तयोश्च युगपदात्मविशुद्धिप्रकर्षविशेषात् परिक्षयसिद्धेः कथमिवायुगपत्प्रतिभासनं सामान्यविशेषयोः स्यात् ? प्रक्षीणाशेपमोहान्तरायस्य प्रतिबन्धान्तर च कथमिव सभाव्येत, येन युगपत्तद्द्वितयं न स्यात् ? अस्तु नाम केवलं तत्त्वज्ञान युगपत्सर्वभासनं, मतिश्रुतावधिमनःपर्ययज्ञानं तु कथमित्युच्यते, शेषं सर्वं क्रमवृत्ति, प्रकारान्तरासभवात् । तेन क्रमभावि च यन्मत्यादितत्त्वज्ञान तदपि प्रमाणमिति व्याख्यात भवति, ‘ मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानं, तत्प्रमाणे ’ इति सूत्रकारवचनात् । ननु च मत्यादिज्ञानचतुष्टयमपि युगपदिष्यते, ‘ तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्ना चतुर्भ्यः ’ इति सूत्रसद्भावादिति न शङ्कनीय, मत्यादिज्ञानानामनुपयुक्तानामेव यौगपद्यवचनात् ‘ सह द्वौ न स्त, उपयोगादि’ त्यार्षवचनात् । छद्मस्थज्ञानदर्शनोपयोगापेक्षया तद्वचनमिति चेत्, नैवं, विशेपानभिधानात् । सामान्यचोदनाश्च विशेपेष्ववतिष्ठन्ते इति न्यायात् तद्विशेषगतिरिति चेत्, न, अन्यथापि विशेषगतिसभवात्—तन्नैवेति, प्रमाणाभावात् । क्वचिदात्मनि मत्यादिज्ञानानि सोपयोगानि युगपत्संभवन्ति सकृत्सन्निहितस्वविषयत्वात् दीर्घशष्कुलीभक्षणादौ चक्षुरादिज्ञानपञ्चकवदित्यनुमानादिष्टविशेषगतिरस्तु । न चेदमुदाहरणं साध्यविकलं चक्षुरादिज्ञानानां क्रमवृत्तौ परस्परव्यवधानाद्विच्छेदोपलक्षणप्रसङ्गात् प्रसिद्धक्रमभाविरूपादिज्ञानवदिति न मन्तव्यं, चक्षुरादिज्ञानपञ्चकस्यापि परस्परव्यवधानेपि विच्छेदानुपलक्षणं, क्षणक्षयवत् तथागतस्य, स्यात । तेपा यौगपद्ये हि सतानभेदात् परस्परपरामर्शाभावः सन्तानान्तरवत् । यौगपद्येपि सतान-

भेदाभावेऽक्षमनोध्यक्षयोरपि यौगपद्यमस्तु विशेषाभावात् । मानसप्रत्यक्षेपि चक्षुरादिज्ञानानन्तरप्रत्ययोद्भवेन कश्चिद्विशेषः क्रमवृत्तौ चक्षुरादिज्ञानवद् व्यवधानप्रतिभासविकल्पप्रतिपत्तेरसंभवात् । न च चक्षुरादिज्ञानपञ्चकात्सहभाविनः क्रमभुवा तदनन्तरजन्मना मानसप्रत्यक्षाणां व्यवधानेन प्रतिभासभेदप्रतिपत्तिरस्ति । तेषां लघुवृत्तेः क्रमभावित्वेपि न व्यवधानेन प्रतिभासविकल्पानां प्रतिपत्तिरिति चेत्, तत एव चक्षुरादिज्ञानानामपि विच्छेदोपलक्षणं मा भूत्, क्रमभावेपि विशेषाभावात्। यौगपद्ये हि स्पर्शादिप्रत्यवमर्शविरोधः पुरुषान्तरवत् । जैनानामपि क्रमभावश्चक्षुरादिवेदनानामुपपन्न एव । तद्वन्मत्यादिज्ञानानामपि सोपयोगानां क्रमभावो निरुपयोगानां तु यौगपद्यमविरुद्धं, विषयस्यानेकान्तात्मकत्वात् । ततः सोपयोगमतिज्ञानादि क्रमभावि स्याद्वादनयलक्षितं प्रतिपत्तव्यं, तस्य नयोपलक्षितत्वात् केवलज्ञानवत् स्याद्वादोपलक्षितत्वाच्च । कुत एतदिति चेत्, विकलसकलविषयत्वात् तयोः, 'तत्त्वज्ञानं वा स्याद्वादनयसंस्कृत प्रतिपत्तव्यं क्रमाक्रमभावित्वे कथम् ? तत्त्वज्ञानं स्यादक्रम, सकलविषयत्वात् । स्यात् क्रमभावि, विकलविषयत्वात् । स्यादुभयं, तदुभयविषयत्वात् । स्यादवक्तव्यं, युगपद्वक्तुमशक्तेः ।' इत्यादि, सप्तभङ्ग्याः प्रमाणनयवशादुपपत्तेः । अथवा प्रतिपर्यायं स्याद्वादनयसंस्कृत प्रतिपत्तव्यं, स्यात्प्रमाणं स्वार्थप्रमितिं प्रति साधकतमत्वात्, स्यादप्रमाणं प्रमाणान्तरेण प्रमेयत्वात् स्वतो वा । अथवा स्यात्सत्, स्वरूपादिचतुष्टयात्, स्यादसत्, पररूपादिचतुष्टयात् इत्यादि योजनीयम् ॥ १०१ ॥

तस्य तत्त्वज्ञानान्तरस्यात्मनश्च, तदेवमित्यादिसकलेत्यादिविशेषणत्रयेण क्रमेणाव्याप्त्यतिव्याप्त्यसम्भवदोषपरिहार. । भाष्ये बुद्धेरनेकान्तादिति बुद्धेः प्रामाण्यं प्रत्यनेकान्तादित्यर्थः । तदेव स्पष्टयति येनाकारेणेति, प्रसिद्धेत्यादि तथा च प्रमाणेऽपि क्वचिदभूतभासमानपर्यायावच्छेदेनाप्रमाजनकत्वरूपाप्रामाण्यस्याप्रमाणेऽपीदन्ताद्यवच्छेदेन धारावाहिफलम-

पेक्ष्य प्रामाण्यस्योभयत्र च स्वसंवेदनांशे समुच्चयेऽशावलम्बित्वांशे च प्रमात्वाप्रमात्वोभयसाम्राज्यादनेकान्तव्यवस्था सुघटेति सिद्धम् । कथञ्चिन्मिथ्याप्रतिभासेऽपीति वासनाविशेषाद्वह्निमत्त्वादिसंसर्गांशे मिथ्याप्रतिपत्तावपि, संवादोत्कर्षात्तत्र प्रामाण्यव्यवस्थितिरन्यथा नेत्यर्थः । लौकिकव्यवहारमपेक्ष्य चेदमुच्यते लोकोत्तरन्तु प्रामाण्यमनेकान्तवासनोपनीतानन्तधर्मात्मकवस्त्ववगाहित्वेन संशयादावपि सम्यग्दृष्टेरिति महाभाष्यप्रसिद्धं विवेचितमध्यात्मसारादावस्माभिः ॥ दृष्ट एवाखिलो गुण इति अर्थानां निरंशत्वसिद्धेरित्यर्थः । सिद्धमेवेति प्रत्यक्षस्य निर्विकल्पकत्वादित्यर्थः ॥ तत्र च रूपादिदर्शने च, परोक्षत्वोपपत्तेरिति विकल्पलिङ्गानुमेयत्वादित्यर्थः । अतत्त्वविषयत्वात्तुच्छसामान्यगोचरत्वात्, मणिप्रदीपप्रभयोरिति मणिप्रभायां प्रदीपप्रभायां चेत्यर्थः । मणिप्रभादर्शनस्य प्रामाण्यप्राप्तावपि प्रत्यक्षेऽनुमाने चान्तर्भावसम्भवान्न प्रमाणद्वयविभागव्याघातो भविष्यतीत्याशङ्कायामाह भाष्ये, न हि तत्प्रत्यक्षमित्यादि, स्वविषय इति दीपप्रभांश इत्यर्थः । यदंशे संवादस्तदंशे प्रामाण्यमबाधमिति मत्वाऽऽह वृत्तिकृत्, तत्रेत्यादि, यत्प्रकारेण विसंवादस्तत्प्रकारेण भ्रमत्वे त्वभ्युपगम्यमाने प्रकृतेऽपि तत्तुल्यमित्याह, धावतामित्यादि, कुञ्चिकाविवरे द्वारप्रवेशविवरे, माभून्मणिप्रभायां मणिज्ञानं प्रत्यक्षम्, आनुमानिकं तद्भविष्यतीत्याशङ्कायामाह नापि लैङ्गिकमित्यादि, किं केन कृतं स्यादिति न केनचित् किञ्चिदित्यर्थः । प्रतिपन्नव्यभिचारस्येति मण्युत्पत्तिप्रदेश इत्यर्थः । य इत्थमिति, अत्र प्रयोगश्चायं, ममायं प्रतिभासो मणिसंस्थानवान् एवंप्रतिभासत्वात् संप्रतिपन्नप्रतिभासवदिति । स्वयमसिद्धेनेति अन्यत्रापि मणिप्रभाप्रतिभासे मणिसंस्थानविषयत्वस्यासिद्धेः पर्वतो वह्निरित्यस्येव मणिप्रभायामयं मणिरित्यस्य लैङ्गिकज्ञानस्यापि भ्रमरूपतायाः सर्वसिद्धत्वाच्च ।

एतेन कुञ्चिकापवरकसाधारणस्थूलदेशपक्षकमप्यनुमानमपास्तम्, अभेदानुमितेरेव विचार्यत्वात् । प्रत्यक्षत्वप्रसक्तेः प्रत्यक्षप्रमाणत्वप्रसक्तेः, सम्भवत्येवेत्यत्र संवादनैकान्त इति योगः । लिङ्गज्ञानवत् धूमदर्शनानन्तरधूमज्ञानवत्, पारम्पर्येणेति अग्निस्वलक्षणाद्धूमस्वलक्षणं ततो धूमनिर्विकल्पं ततो धूमविकल्प उत्पद्यत इत्येवमुत्पत्तिपारम्पर्यं बोध्यम् । अर्थप्रापकत्वं च लिङ्गज्ञानस्य स्वविषयप्राप्तिद्वारा तत्प्रतिबद्धसाध्यप्राप्तिपरम्परयेति बोध्यम् । तदाभासशून्ययोरपि अवस्तु-सामान्यगोचरयोरपि, तथा मिथ्या, यावदप्राप्तं तावद्विधेयमित्यनूद्य विधेयभावे कामचारमभिप्रेत्याह भाष्यकृत्, प्रमाणमेव वेत्यादि, फलज्ञानस्यापि फलीभूतज्ञानस्यापि, प्रमाणत्वोपगमादिति धारावाहिकप्रामाण्यव्यवस्थितेरित्यर्थः । अनिर्णीतनिर्णयात्मकत्वात् निर्विकल्पकानिश्चितनीपादिनिश्चयात्मकत्वात्, अधिगमोऽपि निर्विकल्पकानन्तरसमुद्भूतो व्यवसायोऽपि, प्राथमिककल्पिको मुख्यवृत्त्या प्रमाणभूतः, धूमकेतुलैङ्गिकवदिति प्रत्यक्षानिश्चितेऽग्नौ तदनुमितिवदित्यर्थः । ज्वालादिविशेषादिति ज्वालादिविशेषस्य धूमकेतुसम्बन्धित्वेन ग्रहादेकसम्बन्धिज्ञानेऽपरसम्बन्धिस्मरणस्यौत्सर्गिकत्वादिति भावः । स्मृतेरुपयोगविशेषात् प्रमाणमिति सम्बन्धस्मरणादेर्व्याप्तिप्रत्यभिज्ञानादिफलोपयोगे प्रामाण्यमित्यर्थः । फलीभूतस्मृतेरपि याथार्थ्यं तु विषयाबाधादेव दुर्निवारं, तस्याः प्रमात्वस्यानुभवप्रमात्वपारतन्त्र्येऽपि व्याप्तिज्ञानप्रमात्वपरतन्त्रानुमितिप्रमात्ववदविरोधात्, तद्वदेव 'याचितकमण्डन' न्यायेनायथार्थत्वाव्यवस्थितेरित्यादिकमुपपादितमन्यत्र । 'तस्येति' तस्य सर्वोपसंहारेण व्याप्तिज्ञानादिरूपोहस्य, प्रत्यक्षानुपलम्भजन्यत्वाद्विशेषान्वयव्यतिरेकग्रहसामान्यव्यभिचारनिर्णयजन्यत्वात्, अविचारकत्वाच्चेति उहोपयोगे तु लाघवादिविचारस्यापि प्रवेशान्न दोष इति भावः ।

अनुमानव्यतिरेकेऽपीति, अपिरस्वरसद्योतकः, तेन तत्त्वतोऽर्थापत्त्यादेरनुमानादावेवान्तर्भाव इत्युक्तं भवति, 'त्रिधेति' इन्द्रियनोइन्द्रियस्वसंवेदनभेदात्, श्रितमविप्लवमिति अभ्रान्तत्वं श्रितमित्यर्थः। 'सततं चेति,' अत्र वदन्ति श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणानुयायिनः क्रमिकज्ञानदर्शनोपयोगद्वयाभ्युपगमेऽपि केवलिनः सर्वज्ञत्वसर्वदर्शित्वयोः सातत्यस्य साद्यपर्यवसितत्वस्य च लब्ध्यपेक्षया न विरोधो, मतिज्ञानश्रुतज्ञानयोरपि षट्षष्टिसागरोपमस्थितिकत्वस्येत्थमेवोपपादनात्, उपयोगस्थितेरुत्कर्षतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तपरिमाणत्वादेव सामग्रीद्वयसमाजेऽप्येकदा केवलज्ञानदर्शनद्वयानुत्पादे मतिश्रुतयोरेव दृष्टान्तत्वात्, "सह द्वौ न स्त उपयोगौ" इत्यार्षवचनादेव च केवलज्ञानोपयोगकाले केवलदर्शनोपयोगात्, तस्य छद्मस्थोपयोगविषयत्वेन सङ्कोचकरणे बीजाभावात्, स्वभावहेतोरुभयत्राविशेषादादौ केवलज्ञानोपयोगोत्पादे च "सर्वा लब्धयः साकारोपयोगोपयुक्तस्यैव भवन्ति" इति वचनस्यैव विनिगमकत्वात्, तदनन्तरं केवलदर्शनोपयोगोत्पादस्य चार्थसिद्धत्वात्, तदनन्तर क्रमिकोपयोगद्वयधारायाश्च स्वरसत एव प्रवृत्तेः, क्षणद्वयोत्पन्नज्ञानदर्शनोपयोगानुवृत्त्यभ्युपगमस्य च विरोधेनैव निरस्तत्वात् उत्पत्तौ विरोधो न तु स्थितावित्यस्य च वक्तुमशक्यत्वात्, वस्तुतः केवलदर्शने केवलज्ञानोपयोगसहकृततदर्शनावरणक्षयस्य केवलज्ञाने च केवलज्ञानान्योपयोगसहकृतकेवलज्ञानावरणक्षयस्य हेतुत्वान्नाशे चर्जुसूत्रनयावलम्बनेन प्रतियोगिन एव तथात्वात् केवलिनः क्षणिकोपयोगद्वयधारायां न काप्यनुपपत्तिः, व्यवहारनयावलम्बनेन नाशहेत्वनभ्युपगमेऽपि क्रमिकाद्योपयोगद्वययुक्तहेतुसमाजाद्दुर्निवारमेव, अन्यथा समूहालम्बनैकोपयोगापत्तेरिति भावनीयम्, स्फुटं च सूत्रे तत्र तत्र केवलिनः सिद्धस्य चैकदैकतरोपयोग एव प्रतिपादित इति किं विपरीतयुक्तिभिरिति। अत्र च केवलिनो युगपदुपयोगद्वयमिति

श्रीसिद्धसेनाचार्याणां मतं, क्रमेणेति पूज्यश्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणानां, वृत्तिविशेषात् केवलज्ञान एव दर्शनत्वं परिभाष्यते, न तु मतिज्ञानादिवद्दर्शनोपयोगोऽपि ज्ञानात् पृथक्कश्चित् सम्भवति केवलिनः । तदुक्तं, "चक्षुर्नेद्विषयाख्याति-रवधिज्ञानकेवले ॥ शेषवृत्तिविशेषात्तु, ते मते ज्ञानदर्शने ॥१॥" इति, तस्मात् केवलज्ञानाख्य एव एकोपयोगः केवलिन इति निष्कृष्टं सिद्धसेनाचार्याणामेव मतं, मल्लवादिप्रभृतीनां वा, एतच्च त्रयमपि ऋजुसूत्र-व्यवहार-सङ्ग्रहनयभेदादविरोधेन व्यवस्थापितमस्माभिर्ज्ञानबिन्दौ महता प्रबन्धेनेति व्युत्पत्त्यर्थिनाऽत्रार्थे स एव ग्रन्थोऽनुसन्धेयः । ये तु बालिशा नयभेदेन प्रवृत्तेऽप्याचार्यमतभेदे शङ्काव्याकुलितचेतसः शासनमेव निन्दन्ति, तेऽभव्या दूरभव्या वा, अचारित्रिण एव चारित्रप्रतिपत्तिश्चारित्रिण एव वेत्यादिनयभेदेनाप्येवंजातशासनसंशयसन्निपातस्य भगवद्भिषग्वरेणाप्यप्रतीकार्यत्वापत्तेरिति दिग् । तद्विशेषगतिः उपयोगपदस्य छद्मस्थज्ञानदर्शनोपयोगपरता, अन्यथाऽपि छद्मस्थोपयोगमात्रविषयत्वेनापि, क्वचिदित्यादिर्नमन्तव्यमित्यन्तं पूर्वपक्षग्रन्थः, चक्षुरादीत्यादि भाष्यमुत्तरग्रन्थः । सन्तानभेदाद्रूपज्ञानस्य ज्ञानसन्तानादिभेदात्, परस्परपरामर्शाभावः य एवाहमद्राक्षं स एव स्पृशामीत्यादिप्रत्यभिज्ञाभावः, स्यादिति शेषः । अक्षमनोऽध्यक्षयोः चक्षुरादिज्ञानमानसज्ञानयोः, विषयस्य ग्राह्यस्य, अनेकान्तात्मकत्वादिति क्रमयुगपद्भावेनेति शेषः । स्याद्वादनयलक्षितं प्रतिपत्तव्यमिति तथा च संस्कृतपदमुपलक्षितपरमित्यर्थः । तयोः नयस्याद्वादयोः, वस्तुतः संस्कृतपदमाहितातिशयार्थमेव, तथा च प्रतिनियतैकार्थावधारणात्मकं यन्मतिज्ञानादि तन्नयसंस्कृतं, यच्चानन्तधर्मात्मकत्वेन विषयपरिच्छेदि तत्स्याद्वादसंस्कृतं, आद्यं लौकिकं प्रमाणं, परमलौकिकं, नयस्याद्वादार्थप्रतिसन्धानजनितसंस्कारोपनयादेव तयोर्विषयताविशे-

षरूपातिशयाधानोपपत्तेरिति युक्तमाभाति । तत्त्वज्ञानं वेति तथा च धर्मितावच्छेदकसामानाधिकरण्येनात्र क्रमाक्रमविषयस्याद्वादनयप्रवृत्तिर्युक्तैवेति भावः । स्यादक्रममिति केवलज्ञानापेक्षया, स्यात् क्रमभावीति मत्यादिज्ञानापेक्षया ॥१०१॥

अथ प्रमाणफलविप्रतिपत्तिनिवृत्त्यर्थमाहु —

उपेक्षाफलमाद्यस्य, शेषस्यादानहानधीः ॥ पूर्वा वाऽज्ञाननाशो वा, सर्वस्यास्य स्वगोचरे ॥१०२॥

कारिकापाठापेक्षया युगपत्सर्वभासन केवलमाद्य, तस्य व्यवहितं फलमुपेक्षा । कुत इति चेदुच्यते, सिद्धप्रयोजनत्वात्केवलिनां सर्वत्रोपेक्षा । हेयस्य ससारतत्कारणस्य हानात्, उपादेयस्य मोक्षतत्कारणस्योपात्तत्वात् सिद्धप्रयोजनत्वं नासिद्धं भगवताम् । ननु करुणावतः परदुःखजिहासोः कथमुपेक्षा ?, तदभावे कथं चाप्तिः ?, इति चेत्, न, तेषां मोहविशेषात्मिकायाः करुणायाः सभवाभावात् स्वदुःखनिवर्तनवदकरुणयापि वृत्तेरन्यदुःखनिराचिकीर्षायाम् । नन्वस्मदादिवद्दयालोरेवात्मदुःखनिवर्तन युक्तम् । तथा हि, यो यः स्वात्मनि दुःखं निवर्तयति स स स्वात्मनि करुणावान्, यथास्मदादिः । तथा च योगी स्वात्मनि ससारदुःख निवर्तयतीति युक्तिः । न चात्र हेतुर्विरुद्धोऽनैकान्तिको वा, विपक्षे सर्वथाप्यभावात् बाधकप्रमाणसामर्थ्यात्, स्वसाध्याविनाभावसिद्धेः । तथा हि, यः स्वात्मन्यकरुणावान्न स स्वदुःखं निवर्तयति, यथा द्वेषादेर्विषभक्षक इति, साध्यव्यावृत्तौ साधनव्यावृत्तिनिश्चयात् । भयलोभादिनात्मदुःखनिवर्तकैर्व्यभिचारी हेतुरिति चेत्, न, तेषामपि करुणोत्पत्तेः । न ह्यात्मन्यकरुणावतः परतो भय लोभो मानो वा सभवति, तस्यात्मकरुणाप्रयुक्तत्वात् । इति परम्परया करुणावानेवात्मदुःखमनशनादिनिमित्त निवर्तयति । भयादिहेतुका वा कस्यचिदात्मनि करुणोत्पद्यते । सोत्पन्ना सती स्वदुःखं निवर्तयति । इति साक्षात्करुणयात्मदुःखनिवर्तने प्रवर्तते ततो न व्यभिचारः । एतेनादृष्टवि-

शेषवशादात्मनि दुःखनिवर्तनपरैर्व्यभिचारचोदना निरस्ता, ततः करुणोत्पत्तेरेव तन्निवर्तनात्। तत्राकरुणस्यात्मदुःखनिवर्तनं दृष्टम्। अतोऽयमसमाधिरिति चेत्, न, स्वभावतोपि स्वपरदुःखनिवर्तननिबन्धनत्वोपपत्तेः प्रदीपवत्। न वै प्रदीपः कृपालुतयात्मानं परं वा तमसो दुःखहेतोर्निवर्तयतीति। किं तर्हि? तथास्वभावात्। कल्पयित्वापि कृपालुतां तत्करणस्वभावसामर्थ्यं मृग्यम्। एवं हि परम्परापरिश्रमं परिहरेत्। ततो निःशेषान्तरायक्षयादभयदान स्वरूपमेवात्मनः प्रक्षीणावरणस्य परमा दया। सैव च मोहाभावाद्राग-द्वेषयोरप्रणिधानादुपेक्षा। तीर्थंकरत्वनामोदयात्तु हितोपदेशप्रवर्तनात् परदुःखनिराकरणसिद्धिः। इति न बुद्धवत्करुणयास्य प्रवृत्तिर्भगवतो, येनोपेक्षा केवलस्य फलं न स्यात्। अव्यवहितं तु फलमाद्यस्याज्ञाननिवृत्तिरेव, स्वविषये मत्यादिवत्। तथा हि, मत्यादेः साक्षात् फलं स्वार्थव्यामोहविच्छेदस्तदभावे दर्शनस्यापि सन्निकर्षाविशेषात् क्षणपरिणामोपलम्भवदविसंवादकत्वासंभवात्। तदनेन प्रमाणाद्भिन्नमेव फलमिति व्युदस्तम्, तथा परम्परया हानोपादानसंवित्तिः फलमुपेक्षा वा मत्यादेः। एतेनाभिन्नमेव प्रमाणात्फलमिति निरस्तम्। तथा हि, करणस्य क्रियायाश्च कथंचिदेकत्वं प्रदीपतमोविगमवत्, नानात्वं च परश्वादिवत्। ननु च 'यथा देवदत्त काष्ठं परशुना छिनत्तीति करणस्य क्रियायाश्च नानात्वं सिद्धं, छिदेः काष्ठस्थत्वात्परशोर्देवदत्तस्थत्वात्, तथा प्रदीपस्तमो नाशयत्युद्द्योतेनेत्यत्रापि करणस्योद्द्योतस्य क्रियायाश्च तमोविनाशात्मिकाया नानात्वमेव प्रतीयते। तद्वत्करणस्य प्रमाणस्य क्रियायाश्च फलज्ञानरूपाया नानात्वेनैव भवितव्यं, तदनानात्वे दृष्टान्ताभावात्' इति केचित्, तेपि न प्रतीत्यनुसारिणः, प्रदीपः स्वात्मनात्मानं प्रकाशयतीति प्रतीतेः, प्रदीपात्मनः कर्तुरनन्यस्य कथंचित्करणस्य, प्रकाशनक्रियायाश्च प्रदीपात्मिकायाः कथंचिदभेदप्रसिद्धेः। तद्वत्प्रमाणफलयोः कथंचिदव्यवहितत्वसिद्धिरुदाहरणसद्भावात्। सर्वथा तादात्म्ये तु प्रमाणफलयोर्न व्यवस्था, तद्भावविरोधात्। न हि सारूप्यमस्य प्रमाणमधिगतिः

फलमिति सर्वथा तादात्म्ये सिध्यति । दर्शनस्यासारूप्यव्यावृत्तिः सारूप्यमनधिगतिव्यावृत्तिरधिगतिरिति व्यावृत्तिभेदादेकस्यापि प्रमाणफलव्यवस्थेति चेत्, न, स्वभावभेदमन्तरेणान्यव्यावृत्तिभेदानुपपत्तेः । तस्माद्ग्राह्यसंविदाकारयोः प्रमाणफलव्यवस्थायामपि व्यामोह-विच्छेदाभावे विसंवादानिराकरणे तदज्ञस्येव विषयदृष्टिः प्रमाणत्वं न प्रतिपत्तुमर्हति । तावतैव प्रमाणत्वे क्षणिकत्वाद्यनुमानमधिगतार्था-धिगमलक्षणत्वान्न वै प्रमाणमिति निरूपितप्रायम् ॥ १०२ ॥

सर्वत्रोपेक्षा स्वविषयमात्रे जिहासोपादित्सारहितः सिद्धयोगपरिमाण इति यावत् । **मोहविशेषात्मिकाया** इति, मोहा-सुखसंवेगान्यहितैयुतत्वेन चतुर्विधाया अपि करुणाया मोहविलासरूपत्वान्निष्पन्नयोगस्य च मैत्र्यादिवर्जितसद्बोधमात्रचित्त-श्रुतेरिति भावः । **सैव चेति** उपेक्षा वा परमा दया वाऽभयदानं वा सिद्धयोगो वेत्यनर्थान्तरं, तत्परिपाकश्चाशैलेश्यन्त्यक्षणं केवलज्ञानादित्युपेक्षायास्तत्फलत्वं, व्यवहितत्वं च तस्याः शैलेश्यन्त्यक्षणे परिपाकादिति बोध्यम् । अव्यवहितं त्विति ज्ञानाज्ञानध्वंसयोः सहभावेऽप्यभेदे हेतुफलभावः प्रदीपप्रकाशयोरिवेति द्रष्टव्यम् । भिन्नफलापेक्षया तु न किञ्चिदपि केवलादि-त्यनेन निष्फलत्वमेवोच्यते, प्रमाऽयोगव्यवच्छेदाभिप्रायेण च परेषामीश्वरज्ञान इव न प्रमाणलक्षणायोग इति युक्तं पश्यामः । मत्यादेर्भिन्नाभिन्नं फलमुपदर्शयितुमाह भाष्यकृत्, **मत्यादेरित्यादिना**, परम्परया हानोपादानसंवित्तिरिति व्यवधानेन जिहासाजनिकोपादित्साजनिका वा बुद्धिर्मत्यादेः फलमित्यर्थः । तद्द्वारा च हेयोपादान(देय)हानोपादानात्मिका विरतिरपि फलं सङ्गच्छते ॥ तदुवाच वाचकचक्रवर्ती "ज्ञानस्य फलं विरतिरिति" उक्तद्वारद्वारिभावं 'सवणे नाणे य विन्नाणे' इत्यादि पार-मर्षसङ्ग्रहगाथयाऽन्वगच्छामः । अत एवोपेक्षामपि बहिष्प्रवृत्तिनिवृत्तिविषयान्तरसञ्चारशून्यनिभृतज्ञानरूपां मत्यादिफलत्वे

नोपेक्षा वेत्यनेन समुच्चिनोति स्म वृत्तिकारः। विषयप्रतिभासात्मपरिणामवत्तत्त्वसंवेदनानां यथोत्तरशुद्धत्वात्तृतीयस्य च विरतिक्रोडीकृतत्वात् स्मृत्यजनकज्ञानरूपोपेक्षायास्तु न कथमपि मत्यादिप्रमाणफलत्वम्, अवग्रहादिधारणापर्यन्तत्वान्मत्युपयोगस्येति विभावनीयं सुधीभिः। अभेद एव प्रमाणफलभाव इति बौद्धैकान्तं निरस्यति–सर्वथा तादात्म्ये त्विति, न हीति, अस्य दर्शनस्य, सारूप्यं स्वलक्षणविषयत्वेन सादृश्यं, प्रमाणं प्रामाण्यभागः, अधिगतिः फलं फलभाग इति योजना, प्रमाणफलव्यवस्थायामपीति ग्राह्यसंविदाकारयोः प्रमाणफलव्यवस्था पूर्वं न हि सारूप्यमित्यादिना निराकृतैव, इदानीं तामङ्गीकृत्यापि दूषणान्तरं समुच्चीयत इत्यपिः सूचयति, तदज्ञस्येव नीलाद्यविषयज्ञानस्येव, विषयदृष्टिः विषयघटितप्रामाण्यदर्शी लौकिकपरीक्षकः ॥ १०२ ॥

ननु च स्याद्वादनयसंस्कृतं तत्त्वज्ञानमित्युक्तं तद्वत् फलमपीति स एव तावत् स्याच्छब्दोभिधीयतामित्याहुः—

वाक्येष्वनेकान्तद्योती, गम्यं प्रति विशेषणम् ॥ स्यान्निपातोर्थयोगित्वा–त्तव केवलिनामपि ॥१०३॥

किं पुनर्वाक्यं नामेत्युच्यतां, तत्र विप्रतिपत्तेः। तदुक्तम्॥ (१) आख्यातशब्दः (२) संघातो, (३) जातिः संघातवर्तिनी ॥ (४) एकोनवयवः शब्दः, (५) क्रमो (६—७) बुद्ध्यनुसंहृती ॥ १ ॥ (८) पदमाद्यं (९) पदं चान्त्यं, (१०) पदं सापेक्षमित्यपि ॥ वाक्यं प्रति मतिर्भिन्ना, बहुधा न्यायवेदिनाम् ॥ २ ॥ इति । अत्रोच्यते, पदानां परस्परापेक्षाणां निरपेक्षः समुदायो वाक्यं, (१) न पुनराख्यातशब्दः, तस्य पदान्तरनिरपेक्षस्य पदत्वादन्यथाऽऽख्यातपदाभावप्रसङ्गात् । पदान्तरसापेक्षस्यापि कश्चिन्निरपेक्षत्वाभावे वाक्यत्वविरोधात्, प्रकृतार्थापरिसमाप्तेः, निराकाङ्क्षस्य तु वाक्यलक्षणयोगादुपपन्नं वाक्यत्वम्, (२) संघातो वाक्य-

मित्यत्रापि परस्परापेक्षाणा पदानामनपेक्षाणां वा ? प्रथमपक्षे निराकाङ्क्षत्वेस्मत्पक्षसिद्धि., साकाङ्क्षत्वे वाक्यत्वविरोधः। द्वितीयविकल्पेतिप्रसङ्गः। (३) जातिः सघातवर्तिनी वाक्यमित्यप्यनेन विचारित, निराकाङ्क्षपरस्परापेक्षपदसघातवर्तिन्याः सदृशपरिणामलक्षणाया जातेर्वाक्यत्वघटनादन्यथा तद्विरोधात्। (४) एकोऽनवयवः शब्दो वाक्यमित्याप्ययुक्तं, तस्याप्रमाणकत्वात्, श्रोत्रबुद्धौ तदप्रतिभासनात् तत्प्रतिबद्धलिङ्गाभावात्। अर्थप्रतिपत्तिर्लिङ्गमिति चेत्, न, अन्यथापि तद्भावात्, वाक्यस्फोटस्य क्रियास्फोटवत् तत्त्वार्थालङ्कारे निरस्तत्वात्। (५) क्रमो वाक्यमित्यपि न विचारक्षमं, वर्णमात्रक्रमस्य वाक्यत्वप्रसङ्गात्। पदरूपतामापन्नानां वर्णविशेषाणां क्रमो वाक्यमिति चेत्, स यदि परस्परापेक्षाणां निराकाङ्क्षस्तदा समुदाय एव, क्रमभुवां कालप्रत्यासत्तेरेव समुदायत्वात् सहभुवामेव देशप्रत्यासत्तेः समुदायत्वव्यवस्थितेः। अथ साकाङ्क्षस्तदा न वाक्यमर्धवाक्यवत् परस्परनिरपेक्षाणा तु क्रमस्य वाक्यत्वेतिप्रसङ्ग एव। (६) बुद्धिर्वाक्यमित्यत्रापि भाववाक्यं द्रव्यवाक्य वा ? प्रथमकल्पनायामिष्टमेव। द्वितीयकल्पनाया प्रतीतिविरोधः। (७) अनुसंहृतिर्वाक्यमित्यपि नानिष्टं, भाववाक्यस्य यथोक्तपदानुसंहृतिरूपस्य चेतसि परिस्फुरतोभीष्टत्वात्। (८–९–१०) आद्यं पदमन्त्यं वान्यद्वा पदान्तरापेक्षं वाक्यमित्यपि नाकलङ्कोक्तवाक्याद्भिद्यते, तथा परस्परापेक्षपदसमुदायस्य निराकाङ्क्षस्य वाक्यत्वसिद्धेः, तदभावे पदसिद्धेरप्यभावप्रसङ्गात्। ननु यदि निराकाङ्क्षः परस्परापेक्षपदसमुदायो वाक्यं न तर्हि तदानीमिद भवति, यथा यत्सत्तत् सर्वं परिणामि, यथा घटः, सश्च शब्द इति साधनवाक्यं तस्मात्परिणामीत्याकाङ्क्षणात्, साकाङ्क्षस्य वाक्यत्वानिष्टेरिति न शङ्कनीयं, कस्यचित्प्रतिपत्तुस्तदनाकाङ्क्षत्वोपपत्तेः। निराकाङ्क्षत्वं हि नाम प्रतिपत्तुर्धर्मोयं वाक्येष्वध्यारोप्यते, न पुनः शब्दस्य धर्मस्तस्याचेतनत्वात्। स चेत् प्रतिपत्ता तावतार्थं प्रत्येति, किमिति शेषमाकाङ्क्षति ? पक्षधर्मोपसंहारपर्यन्तसाधनवाक्यादर्थप्रतिपत्तावपि निगमनवचनापेक्षायां निग-

मनान्तपञ्चावयववाक्यादप्यर्थप्रतिपत्तौ साधनावयवान्तरवचनापेक्षाप्रसङ्गात्। इति न कचिन्निराकाङ्क्षत्वसिद्धिः। तथा च वाक्याभावान्न वाक्यार्थप्रतिपत्तिः कस्यचित्स्यात्। ततो यस्य प्रतिपत्तुर्यावत्सु परस्परापेक्षपदेषु समुदितेषु निराकाङ्क्षत्वं तस्य तावत्सु वाक्यत्वसिद्धिरिति सर्वं सुस्थम्। प्रकरणादिना वाक्यकल्पनेनाप्यर्थप्रतिपत्तौ न वा प्राथमकल्पिकवाक्यलक्षणपरिहारः, प्रकरणादिगम्यपदान्तरसापेक्षश्रूयमाणपदसमुदायस्य निराकाङ्क्षस्य सत्यभामादिपदवद् वाक्यत्वसिद्धेः। तदेवं लक्षणेषु वाक्येषु स्यादिति शब्दोनेकान्तद्योती प्रतिपत्तव्यो, न पुनर्विधिविचारप्रश्नादिद्योती,तथाविवक्षापायात्। कः पुनरनेकान्त इति चेत्, इमे ब्रूमहे। सदसन्नित्यानित्यादिसर्वथैकान्तप्रतिक्षेपलक्षणोनेकान्तः, स च दृष्टेष्टाविरुद्ध इत्युक्तं प्राक्। तत्र कचित्प्रयुज्यमानः स्याच्छब्दस्तद्विशेषणतया प्रकृतार्थतत्त्वमवयवेन सूचयति, प्रायशो निपातानां तत्स्वभावत्वादेवकारादिवत्। द्योतकाश्च भवन्ति निपाता इति वचनात् स्याच्छब्दस्यानेकान्तद्योतकत्वेपि न कश्चिद्दोषः, सामान्योपक्रमे विशेषाभिधानमिति न्यायाज्जीवादिपदोपादानस्याप्यविरोधात् स्याच्छब्दमात्रयोगादनेकान्तसामान्यप्रतिपत्तेरेव संभवात्। सूचकत्वपक्षे तु (ऽपि) गम्यमर्थरूपं प्रति विशेषणं स्याच्छब्दस्तस्य विशेषकत्वात्। न हि केवलज्ञानवदखिलमक्रममवगाहते किंचिद्वाक्यं, येन तदभिधेयविशेषरूपसूचकः स्यादिति न प्रयुज्यते, वाचः क्रमवृत्तित्वात्, तद्बुद्धेरपि तथाभावात्। ततस्तव भगवतः केवलिनामपि स्यान्निपातोभिमत एवार्थयोगित्वादन्यथानेकान्तार्थप्रतिपत्तेरयोगात् ॥१०३॥

पदानामिति, अत्र निरपेक्ष इति विशेषणं चैत्रः स्थाल्यां पचतीत्यादौ कर्मादिपदन्यूनेऽतिव्याप्तिवारणाय, एवं सति स्फटिकाकृतिनिर्मलः प्रकाममित्यादावाकृत्यादिपदे नाधिकेऽप्यतिव्याप्तिवारणार्थं विशेषणान्तरदानध्रौव्ये तत्तद्दोषाभावकूटविशिष्टपदसमुदायत्वं वाक्यलक्षणं स्यात्तच्चाननुगमदोषादनिष्टम्, यदि च न्यूनाधिकादावव्यवस्थितवाक्यार्थबोधः प्राथमकल्पिको

निराबाध एव, न्यूनत्वादिदोषस्फूर्त्तिश्चौत्तरकालिकी वक्तृवैगुण्यमेवावेदयति, रसभङ्गं वा जनयतीति विभाव्य तदाकाङ्क्षायोग्यतासत्तिमतां पदानां समूहो वाक्यमित्येतावदेव लक्षणं सम्यगिति न्यायविदः। अथ का नामाकाङ्क्षा, न तावदविनाभावः, घटमानयेत्यादावभावात्, घटः कर्मत्वमित्यादावपि व्यक्त्योस्तत्सत्त्वाच्च, नापि समभिव्याहृतपदस्मारितपदार्थजिज्ञासा, घटमित्युक्ते आनय नय वेतिजिज्ञासोदयात् घटः कर्मत्वमित्यादौ तदभावादिति वाच्यम्। अजिज्ञासोरप्यन्वयबोधात्, जिज्ञासायाः स्वरूपसत्या एव हेतुत्वादाकाङ्क्षाभ्रमाच्छाब्दबोधानुपपत्तेश्च। उच्यते, अभिधानापर्यवसानमाकाङ्क्षा, अभिधानं पदं तस्यापर्यवसानमन्वयाननुभावकत्वं, तथा च यस्य पदस्य समभिव्याहृतयत्पदव्यतिरेकप्रयुक्तं यादृशान्वयाननुभावकत्वं तादृशान्वयाननुभवे समभिव्याहृततत्पदस्य तेन तादृशान्वयाननुभावकत्वं तयोराकाङ्क्षेति फलितम्, अस्ति च द्वितीयादिपदस्य घटादिविशिष्टकर्मत्वाद्यन्वयाननुभावकत्वं घटादिपदव्यतिरेकप्रयुक्तं, ननु कर्मत्वादिपदस्य, घटादिपदसत्त्वेऽपि स्वत एव तस्याननुभावकत्वादिति घटमित्यादावाकाङ्क्षा, नतु घटः कर्मत्वमित्यादौ, यदि च मौनिश्लोके पदाभावान्नेदं युक्तमिति विभाव्यते, तदा यादृशपदज्ञानस्य यादृशपदसमभिव्याहारज्ञानाभावप्रयुक्तं यादृशान्वयाननुभावकत्वमित्यादि वाच्यम्, इयमाकाङ्क्षा घटमित्यादावुभयपदज्ञाननिष्ठा, लाक्षणिकस्याननुभावकत्वे गङ्गायामित्यादौ (लाक्षणिकस्याननुभावकत्वे) त्वेकपदज्ञाननिष्ठैव, वक्ष्यमाणप्रयुक्तत्वस्य लाक्षणिकेऽपि सम्भवे तूभयतस्तथैव, तत्प्रयुक्तत्वं च यद्यपि न तज्जन्यत्वम्, असम्भवात्, नापि तद्व्यापकत्वं, पदज्ञाननिष्ठाननुभावकत्वस्य पदान्तरसमभिव्याहारज्ञानाभावाव्यापकत्वात्, नापि तद्व्याप्यत्वं, योग्यताज्ञानाद्यभावेन तादृशान्वयानुपधायके घटमित्यादिवाक्ये व्यभिचारात्, तथापि यादृशपदसमभिव्याहारज्ञानातिरिक्त-

यादृशान्वयबोधकमकलसहकारिसमवहितयादृशपदज्ञाननिष्ठयादृशान्वयानुभवानुपधायकत्वं यादृशपदसमभिव्याहारज्ञानाभावव्याप्यं तादृशपदस्य तादृशपदसमभिव्याहारविशिष्टं तादृशपदज्ञानस्य तादृशान्वयानुभवाभाववैशिष्ट्यमाकाङ्क्षा, भवति च तादृशसहकारिसमवहितकर्मत्वोपस्थापकविभक्तिज्ञाननिष्ठं कर्मत्वोद्देश्यकघटान्वयबोधाभाववैशिष्ट्यं घटोपस्थापकपदसमभिव्याहारज्ञानाभावव्याप्यं, न तु कर्मत्वोपस्थापकनामपदज्ञाननिष्ठं, सत्यपि घटोपस्थापकपदसमभिव्याहारज्ञाने तादृशसकलसहकारिसमवहिते घटः कर्मत्वमित्यादिवाक्यगते कर्मत्वपदे तादृशान्वयबोधाभाववैशिष्ट्यसत्त्वेन व्यभिचारात्। न च कर्मत्वोपस्थापकविभक्तिज्ञाननिष्ठतादृशबोधाभाववैशिष्ट्यमपि न तदभावव्याप्यं, सत्यपि योग्यतादिज्ञाने घटमित्यादितोऽपि विपरीतव्युत्पन्नीयबोधाभावादिति वाच्यम्। व्याकरणसंस्कृतपुरुषीयत्वेन निरुक्तान्वयबोधविशेषणात्, विपरीतव्युत्पन्नस्य तु निरुक्ताकाङ्क्षाभ्रमादेव शाब्दबोधः। अत एव निरुक्तव्याप्यत्वरूपप्रयुक्तत्वघटिताकाङ्क्षाया ज्ञानमेव कारणम्, इत्थं च सद्व्युत्पन्नस्य घटमित्यादित एव, विपरीतव्युत्पन्नस्य तु घटः कर्मत्वमित्यादित एव बोधः। यत्तु यत्पदं यत्पदेन सह यादृशान्वयानुभवजनकं तत्पदस्य तत्पदसमभिव्याहार आकाङ्क्षा, तज्ज्ञानं कारणं, प्रकृतान्वयबोधसमानाकारस्वजन्यान्वयबोधविरहरूपा तु सा स्वरूपसती कारणं, सद्व्युत्पन्नीयशाब्दबोधे घटादिनामबोधे घटादिनामपदसमभिव्याहृतविभक्तिज्ञानं, विपरीतव्युत्पन्नीयबोधे च तत्समभिव्याहृतकर्मत्वादिपदज्ञानं कारणमिति नातिप्रसङ्ग इति मञ्जरीकारादिमतं, तन्न, द्वयोरपि द्विविधज्ञानाच्छाब्दबोधापत्तेः। अथ व्युत्पत्तिरपि तत्तज्ज्ञानसहकारिणी, तथा च तत्तदानुपूर्वीज्ञानं तत्तदानुपूर्वीज्ञाने व्याकरणसंस्कृतपुरुषीयशाब्दबोधजनकत्वज्ञानं च तत्तदानुपूर्वीज्ञानजन्यशाब्दबोधहेतुरिति फलितमिति चेत्, न, निरुक्तप्रयुक्तत्वघटिता-

कांक्षाज्ञानत्वेन कारणत्वे लाघवात्, अनन्यथासिद्धत्वादिघटितजनकत्वज्ञानत्वस्य गुरुत्वात्, कारणाभावप्रयुक्तः कार्याभाव इति धीसाक्षिकः स्वरूपसम्बन्धविशेषः प्रयुक्तत्वमिति मते सुतरां लाघवम्, अत्र घत्वाद्यवच्छिन्नप्रकारतानिरूपितटत्वाद्यवच्छिन्नप्रकारतानिरूपितामुत्वाद्यवच्छिन्नप्रकारताकज्ञानत्वेन घटमित्याद्यानुपूर्वीज्ञानस्य घटादिपदव्यतिरेकप्रयुक्तान्वयाननुभावकममादिपदमितिज्ञानसहितस्य तादृशानुपूर्वीज्ञानविशिष्टघटादिविधेयककर्मत्वादिबोधे हेतुत्वं, लक्षणे च यादृशेति घविशिष्टटत्वाद्यवच्छिन्नपर, सामान्यतो वृत्त्या घटोपस्थापकनामपदसमभिव्याहृतकर्मत्वोपस्थापकविभक्तिज्ञानं तादृशाननुभावकत्वज्ञानसहितं तथेति तु न युक्तं, वृत्त्या घटोपस्थापकत्वस्याव्यावर्त्तकत्वात्, तत्तत्काले तत्तत्पुरुषस्येत्युक्तौ च तत्तद्व्यक्तित्वे पर्यवसानादिति मन्तव्यम्। अथायमेति पुत्रो राज्ञः पुरुषोऽपसार्यतामित्यादौ राज्ञ इत्यस्य पुरुषान्वयाननुभावकत्वं पुरुषपद समभिव्याहारेऽप्यस्तीति राज्ञ इत्यादिवाक्येऽपि पुरुषान्वयानुभावकत्वं न स्यादिति चेत्, न, अत्र पूर्वोत्तरभावरूपसमभिव्याहारसत्त्वेऽप्येकवाक्यताभिप्रायविषयत्वरूपसमभिव्याहाराभावात् सविभक्तिकपदयोस्तात्पर्यस्यापि तस्यैव वा समभिव्याहाराभावात् सविभक्तिकपदयोस्तात्पर्यस्यापि तस्यैव वा समभिव्याहारत्वाद्राजपदनिष्ठाकाङ्क्षायाः ससम्बन्धिकपुत्रादिपदेन सह झटिति तेन तात्पर्यग्रहसमवहितत्वमुत्थितत्वं विपर्ययाच्चदितरपदेनोत्थाप्यत्वमिति विशेषः। ननु राज्ञ इत्यस्य तात्पर्यभ्रमेण पुरुषेणान्वयबोधे पुत्रेण तात्पर्यग्रहेऽपि तेनान्वयबोधो न स्यादिति चेत्, न, तादृशान्वयाननुभावकत्वस्य सत्त्वाद्राज्ञः पुत्र इति बोधे जननीये तादृशबोधाभावस्यैव तत्त्वात्, न चैव पुत्रेणान्वयबोधे पुरुषेणाप्याकांक्षा स्यात् तात्पर्यस्याकाङ्क्षाघटकत्वे तस्याभावात्, तदघटकत्वे इष्टत्वात्, तात्पर्यज्ञानाभावाच्च न तथाबोध इति। न चैवं तात्पर्येण गतार्थत्वं, घटः कर्मत्वमित्यादौ

तद्ग्रहेऽपि शाब्दबोधाभावात्, राजपदमपरपदार्थान्वितराजप्रतीतिपरमित्यर्थतात्पर्यग्रहसत्त्वेऽप्येकवाक्यताभिप्रायविषयत्वज्ञानानुसरणमावश्यकं, राजपदं पुरुषपदेन पुत्रपदेन वा सहान्वयबोधक(जनक)मिति संशये शाब्दबोधाभावात्, तथा च यत्पदोपस्थितेरेकवाक्यताभिप्राययत्पदोपस्थितिव्यतिरेकेण यादृशान्वयाननुभावकत्वमित्यादि वाच्यम्। इत्थं च सैन्धवमानयेत्यादावेकवाक्यताभिप्रायज्ञानेऽपि सैन्धवपदमितरपदार्थान्वितलवणपरं तथाविधाश्वपरं वेति संशये शाब्दबोधानुदयादर्थतात्पर्यनिश्चयोऽपि कारणम्, एकवाक्यताभिप्रायस्याकाङ्क्षाघटकत्वमयमेति पुत्रो राज्ञ इत्यादौ तादृशाभिप्रायशालिपुत्रादिपदेनैव साकाङ्क्षत्वव्यवहारायेति मिश्राद्यनुसारी पन्थाः। अत्रान्वयाननुभावकत्वं तात्पर्यविषयतावच्छेदकावच्छिन्नान्वयानुभवाभावमाश्रित्य, तेनान्वयबोधद्वयं जायतामित्यादीच्छायामन्वयबोधद्वयादिकमपि युज्यते, अत एव च घटमानयेत्यादाववान्तरवाक्यार्थबोधोत्तरं महावाक्यार्थबोधो नानुपपन्नः, तत्पदार्थोद्देश्यकतत्पदार्थविधेयकबोधे तत्पदयोराकाङ्क्षादिज्ञानं हेतुः, महावाक्यार्थबोधे च नावान्तरवाक्यार्थांशे उद्देश्यविधेयभावः, इत्थं च घटविशिष्टकर्मत्वादिविधेयकानयनादिबोधे घटमित्यादिपदानामानयनादिपदेनैवाकाङ्क्षाज्ञानस्य हेतुत्वे तु नात्रानुपपत्तिलेशोऽपि, तादृशबोधानुपधायकत्वरूपाकाङ्क्षासत्त्वात्, न चार्थतात्पर्यस्याप्याकाङ्क्षाघटकत्वे तात्पर्यज्ञानस्य पृथक्सहकारित्ववैफल्यम्, एतद्वाक्याद् बोधद्वय जायतामित्यादितात्पर्यसाधारणेन विषयाविशेषितरूपेणेह तात्पर्यनिवेशात् विषयविशेषितरूपेण तु तज्ज्ञानहेतुताया आवश्यकत्वात्, न चैवमेतद्वाक्याद्बोधसहस्रं जायतामितीच्छया बोधसहस्रापत्तिः, आद्यवाक्यार्थबोधाद्द्वितीयवद्द्वितीयादेस्तृतीयादिबोधस्यापि सम्भवादिति वाच्यम्, एतादृशेच्छाया अनिवेश्यत्वात्, सैन्धवपदं लवणं बोधयित्वाऽश्वं बोधयत्विति तात्पर्यज्ञानजन्याश्वबोधे तद्वाक्यजन्यलवणबोधस्य हेतुत्वात् क्रमनिर्वाहः। आकाङ्क्षाया अंशत्रयमेक

वाक्यताभिप्रायः, समभिव्याहारोऽननुभावकत्वं च, तत्राद्ययोर्ज्ञानं हेतुरन्त्यस्य तु प्रतिबन्धकाभावतया स्वरूपसत उपयोगः, अत्र शाब्दद्वयं जायतामितीच्छोत्तेजिका, तत्तदानुपूर्वीज्ञाने सदसद्व्युत्पन्नपुरुषीयशाब्दबोधाजनकत्वज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वान्न सद्व्युत्पन्नविपरीतव्युत्पन्नयोर्घटः कर्मत्वं घटमित्याभ्यामन्वयबोधः, इत्थं च प्रयुक्तत्वादिबोधविधुराणामपि न शाब्दबोधवैधुर्यमिति तु नव्याः। राजपदं पुत्रपदार्थान्वितराजबोधं जनयत्वित्याकारकार्थतात्पर्यग्रहहेतुत्वेनानतिप्रसङ्गेऽलं पदतात्पर्यग्रहहेतुत्वेनेति तु चिन्त्यम्, न चैवं मतद्वयेऽपि विशेषणान्तरविशिष्टविशेष्येण पुनरन्वयबोधसम्भवात्प्राथमिकबोधस्यैव द्वितीयबोधजनकत्वेनावृत्तिदोषस्याप्यभावात् समाप्तपुनरात्तदोषोच्छेदापत्तिः, तत्रानपेक्षितविशेषणेन शाब्दबोधसम्भवेऽपि तच्छाब्दबोधेन रसोद्बोधविलम्बस्यैव दोषप्रयोजकताया अलङ्कारशास्त्रे व्यवस्थितत्वात्, नामविभक्तिधात्वाख्यातक्रियाकारकपदानां परस्परं विना परस्परानुभावकत्वात्तेषां मिथः साकाङ्क्षत्वं, घटो नील इत्यादौ तु विशेषणविभक्तिरभेदार्थिका, नामार्थप्रकारकान्वयबोधमात्रं प्रति विशेष्यतया प्रत्ययजन्योपस्थितेर्हेतुत्वात्, यद्वा वह्निना सिंचति घटः पचतीत्यादेरपि सेककरणत्वकृत्योः कालिकसम्बन्धेन वह्निघटनिष्ठत्वात् योग्यत्वापत्तिवारणाय तत्तन्नामतत्तद्धातुसमभिव्याहृततत्तद्विभक्तेस्तत्तत्सम्बन्धेन तत्तन्नामार्थतत्तद्विभक्त्यर्थप्रकारकबोधहेतुत्वस्याननुगतस्य वाच्यत्वात् घटो नील इत्यादावभेदेनान्वयबोधो नानुपपन्नः। कथमत्र कस्यचिदभेदसम्बन्धेन कस्यचिदभेदप्रकारेण बोध इति चेत्, आद्यः सद्व्युत्पन्नस्य अन्त्यस्त्वन्यस्येति निश्चीयते, विशेषणविभक्तेरभेदार्थकत्वकल्पने गौरवादिति। मीमांसकास्तु घटो नील इत्यादौ नीलं घटमानयेत्यादौ च नीलोऽस्ति घटोऽस्ति नीलमानय घटमानयेत्यन्वयबोधो, न तु नामार्थानां कारकाणां च परस्परमन्वयः, विशेषणान्वितविभक्त्यर्थानयनानुभवादिति न

विशिष्टवैशिष्ट्येनान्वयः । न चैवं नीलत्वेन घटत्वेन च घटयोरपि बोधः स्यादिति वाच्यम्, व्युत्पत्तिवचनानां सन्निहितविशेषपरत्वनियमेन नीलत्वेन घटत्वेन चैकस्यैव बोधात्, अरुणयैकहायन्या पिङ्गाक्ष्या गवा सोमं क्रीणातीत्यादावरुणया क्रीणाति एकहायन्या क्रीणातीत्यादिबोधेऽपि यथारुण्येन गुणेन क्रयासाधनेन प्राप्तक्रयसाधनताकगोरूपद्रव्यपरिच्छेदकतयैव क्रयसाधनत्वं प्रतीयत इत्याहुः, तदसत्, विशिष्टवैशिष्ट्यबोधान्वयस्यैवात्र युक्तत्वात्, अन्यथा वाक्यभेदापत्तेः, नीलघटमानयति न वेति संशयापत्तेः, नीलं घटं नानयतीत्यभावविशेषबोधान्यथानुपपत्तेश्च । यत्तु आकाङ्क्षायाः संशये शाब्दबोधानुदयात्तन्निश्चयत्वेन हेतुत्वं वाच्यम्, तथा च लाघवादनाकाङ्क्षत्वज्ञानमेव प्रतिबन्धकमस्तु, न च ज्ञानत्वेन प्रतिबन्धकत्वेऽप्रामाण्यनिश्चयानास्कन्दितत्वप्रवेशे गौरवं, तत्राप्याकाङ्क्षानिश्चयविशेषणाभावप्रतियोग्यप्रामाण्यज्ञाने तदप्रामाण्यनिश्चयानास्कन्दितत्वप्रवेशे गौरवात् । अनाकाङ्क्षत्वज्ञानवत्यपि घटाद्यवच्छेदेन समवायेन तदभावसत्त्वादवच्छेदकतासम्बन्धेन प्रतिबन्धकत्वस्य च भूतावेशस्थले एकशरीरावच्छेदेनात्मद्वये ज्ञानस्वीकारादसम्भवात्, एकावच्छेदेनैकात्मवृत्तित्वप्रत्यासत्त्युक्तौ गौरवं त्वाकाङ्क्षानिश्चयहेतुत्वेऽपि तुल्यम्, अन्यथा कायव्यूहादिस्थलेऽसम्भवादिति, तदसत्, निराकाङ्क्षत्वतद्व्याप्यादिमत्ताग्रहप्रतिबन्धकत्वकल्पने गौरवात्, यदपि साकाङ्क्षपदज्ञानजन्यपदार्थोपस्थितिरेव तत्त्वेन हेतुः, न त्वाकाङ्क्षाज्ञानं तत्त्वेन, घटमित्याद्यानुपूर्वीज्ञानस्य कुम्भमित्याद्यानुपूर्वीज्ञानस्य घटः कर्मत्वमित्यादिज्ञानजन्योपस्थितिसहकारेण बोधकत्ववारणायोक्तरूपेण हेतुत्वस्यावश्यकत्वादिति, तदपि न, घटमित्याद्यानुपूर्वीज्ञानस्य स्वघटकादेशादिस्मारितान्यतरपदज्ञानजन्यघटकर्मत्वाद्युपस्थितिसम्बन्धेन घटीयं कर्मत्वमित्यादिशाब्दबोधहेतुत्वेनोक्तदोषाभावात्, घटमित्यादिवाक्यजन्यावान्तरवाक्यार्थबोधादिरूपपदार्थोपस्थिति-

कालेऽमादिपदे घटादिपदोत्तरत्वसन्देहे शाब्दबोधानुत्पादात् साक्षादप्यानुपूर्वीज्ञानं हेतुरित्यपरे। का नाम योग्यता, न तावत् सजातीयेऽन्वयदर्शनं, यथाकथञ्चित् साजात्यस्याव्यावर्त्तकत्वात्, पदार्थतावच्छेदकेन तस्यायं पयः पिबतीत्यादावसम्भवात्, वाक्यार्थस्यापूर्वत्वाच्च, नापि समभिव्याहृतपदार्थसंसर्गव्याप्यधर्मवत्त्वं, वाक्यार्थस्यानुमेयतापत्तेः। नापि बाधकप्रमाविरहः, स्वपरसाधारणबाधकप्रमाविरहस्य दुर्ज्ञेयत्वात्, स्वरूपसतोऽस्य हेतुत्वेऽयोग्ये योग्यताभ्रमाच्छाब्दभ्रमानुपपत्तेः। स्वीयबाधकप्रमाविरहस्य हेतुत्वे त्वयोग्यताभ्रमदशायां शाब्दबोधापत्तेः। न च तदा विशिष्टज्ञानसामान्यहेतोर्बाधबुद्ध्यभावस्य विरहान्न तदापत्तिः, तर्हि तद्धेतुत्वेनैव निर्वाहे योग्यताधीहेतुत्वे मानाभावात्, अस्त्वेवं लौकिकसन्निकर्षाजन्यदोषविशेषाजन्यतद्ज्ञानमात्रे तदभावनिश्चयस्य प्रतिबन्धकत्वाच्छाब्दप्रतिबन्धकत्वस्यापि तत एव सिद्धेः, योग्यताज्ञानविलम्बाच्च शाब्दबोधविलम्बस्यासिद्धत्वेन नव्यमतसाम्राज्यादिति चेत्, न, लौकिकसन्निकर्षदोषविशेषादेरुत्तेजकत्वपक्षे बाधबुद्ध्यभावस्य प्रत्यक्षत्वादेरेव कार्यतावच्छेदकत्वाच्छाब्दत्वावच्छिन्ने योग्यताधीहेतुत्वौचित्येनोक्तमतासाम्राज्यात्, न च तत्पक्षेऽप्यस्तु शुद्धबाधबुद्ध्यभावस्य परोक्षत्वावच्छिन्नहेतुत्वं, परोक्षत्वस्य प्रत्यक्षान्यज्ञानरूपत्वे विशेष्यविशेषणभावभेदेन गौरवात्, न च जातिरूपं तत्, इच्छाघटितस्मृत्यादिसामग्रीप्रतिबध्यतावच्छेदकताघटकजात्या सङ्करात्, सम्बन्धगौरवेण स्वाश्रयान्यत्वसम्बन्धेन स्मृतित्वस्यातत्त्वात्। किञ्च मुखं न चन्द्र इत्ययोग्यतानिश्चयेऽप्याहार्ययोग्यताज्ञानेन शाब्दबोधात्तदेव शाब्दधीहेतुः, न चैवं वह्निना सिञ्चतीत्यादावपि तथापत्तिः, आहार्ययोग्यताज्ञाने इष्टत्वात्, तदसत्त्वे शाब्दबोधाभावेन तद्धेतुत्वकल्पनात्। अत एव गालिप्रदानादितोऽपि शाब्दबोधसम्भवः। न चैवं लौकिकान्यबाधधीसत्त्वेऽपि लौकिकयोग्यताज्ञानाच्छाब्दापत्तिः,

इष्टत्वात्, विरोधिनिश्चयस्यैव चाहार्यत्वप्रयोजकत्वेन तच्छाब्दस्याहार्यत्वानापत्तेः, बाधबुद्धौ भ्रमत्वज्ञानाङ्गीकाराद्वा। किञ्च यत्र स्थलविशेषे बाधधीकाले योग्यताज्ञानं तत्र तस्य हेतुत्वध्रौव्ये विशेष्यतावच्छेदकतया तत्पुरुषीयशाब्दत्वावच्छिन्ने तया तत्पुरुषीययोग्यताज्ञानत्वेन हेतुत्वसिद्धिः, यत्र चालौकिकयोग्यताधीकाले लौकिकबाधधीस्तत्र तस्याः प्रतिबन्धकत्वस्वीकारान्न दोषः। किञ्च स्थूलजलपरस्य पयसा सिञ्चतीत्यादेरयोग्यत्वाय विशेष्यतया योग्यताज्ञानहेतुत्वसिद्धिः, बाधबुद्ध्यभावस्य धर्मितावच्छेदकान्तर्भावेनैव नव्यनये हेतुत्वादित्यन्यत्र विस्तरः, तस्माच्छाब्दज्ञानहेतुर्योग्यता निर्वक्तव्येति चेत्, अत्रोच्यते, एकपदार्थेऽपरपदार्थसंसर्गवत्त्वं तेन संसर्गेणापरपदार्थवत्त्वं वा योग्यता, न च वाक्यार्थस्यापूर्वत्वात्तद्दुर्ज्ञेयता, प्रत्यक्षादिना संशयसाधारणतज्ज्ञानहेतुत्वस्वीकारेणादोषात्, गन्धप्रागभावकालावच्छिन्नो घटो गन्धवानित्यादौ तद्गन्धप्रागभावकालाद्यवच्छिन्नगन्धसमवायस्य तद्घटेऽभावादयोग्यत्वं, न चैवमेकविध्यर्थयोः कृतीष्टसाधनत्वयोः परस्परमन्वयो न स्यादुक्तयोग्यताविरहादिति वाच्यम्, एकपदार्थ इत्यादेरेकवृत्तिविषयेऽपरवृत्तिविषयसंसर्गवत्त्वमित्यर्थात्, एवमेवकारादिस्थलेऽपि विचारणीयम्। आसत्तिरव्यवधानेनान्वयप्रतियोग्युपस्थितिः, एकपदार्थोपस्थित्यव्यवधानेनापरपदार्थोपस्थितिरिति यावत्, अव्यवधानं व्यवधानाभावः, तेन युगपन्नानापदार्थोपस्थितावपि न क्षतिः, तच्चार्थसिद्धं तत्तत्पदार्थशाब्दबुद्धौ तत्तत्पदार्थोपस्थितेर्हेतुतया विनाऽव्यवहितोपस्थितिं शाब्दबोधासम्भवात्, अस्याः स्वरूपसत्या एव हेतुत्वादासत्तिनिश्चयहेतुत्वं कुत इतिचेत्, न कुतश्चित्, वृत्त्या पदजन्यपदार्थोपस्थितेः स्वरूपसत्या एव हेतुत्वात्, न चानुपदोक्तानुपूर्वीज्ञानस्य निरुक्तोपस्थितिसम्बन्धेन हेतुत्वात्किमनयेति वाच्यम्, व्याप्तिज्ञानदण्डादेः स्वजन्यपरामर्शचक्रभ्रम्यादिसम्बन्धेन हेतुत्वेऽपि परामर्शचक्र-

भ्रम्यादिहेतुत्ववदासत्तेरपि तत्त्वात्, व्यापारस्य व्यापारिणाऽन्यथासिद्ध्यभावात्, आसत्तिनिश्चयहेतुत्वोक्तिस्तु प्राचां मतेनेति नव्याः। मिश्रास्तु ननु एकपदार्थोपस्थित्यव्यवधानविशिष्टापरपदार्थोपस्थितिर्नासत्तिः, गिरिर्भुक्तमग्निमान् देवदत्तेनेत्यत्राग्निमत्पदार्थोपस्थितौ सत्यां तदव्यवहितोत्तरक्षणे तस्यां गिर्युपस्थित्यव्यवधानभ्रमस्वीकारे भ्रमस्यैव निरुक्ताव्यवधानविशिष्टोपस्थितिरूपासत्तितया तद्भ्रमहेतुत्वे सिद्धान्तभङ्गप्रसङ्गात्, नाप्युपस्थापकपदाव्यवहितपदोपस्थितिः सा, व्यवहिते पदेऽपरपदाव्यवहितोत्तरत्वभ्रमस्यैवासत्तितया तद्दोषतादवस्थ्यात्, न चोपस्थापकपदाव्यवधानं सा, इत्थं च व्यवहितोक्तपदेऽव्यवहितत्वभ्रमसम्भवान्नानुपपत्तिरिति वाच्यम्, मौनिश्लोकादौ पदाभावेनासत्त्यभावापत्तेः, अत एवोच्चारणाव्यवधानं सेति परास्तं, न चोपस्थापकस्य पदस्य तदर्थस्य वाऽव्यवहितोपस्थित्यनुकूलव्यापारः, सा च क्वचिदव्यवहितोच्चारणं क्वचिल्लिप्यादिकं च, इत्थं च व्यवहितोच्चरितादावप्यव्यवहितोच्चरितत्वादिभ्रमः सम्भवतीति वाच्यम्। तर्हि योजनादिनापि श्लोकादावन्वयबोधाभावापत्तेः। वक्त्रा व्यवहितोच्चरितमिति विशेषदर्शनेऽव्यवहितोच्चरितमिति भ्रमासम्भवात्, एकपदार्थोपस्थित्यव्यवधानेनापरपदार्थोपस्थित्यनुकूलव्यापारस्येति वाच्यतयैकपदार्थयोः परस्परमनन्वयापत्तेश्चेति चेत्, सत्यम्, एकत्वापरत्वयोर्न पदविशेषणत्वं, किन्त्वर्थविशेषणत्वमेवेत्यनुपदोक्तदोषाभावात्, वस्तुत एकपदार्थत्वमेकवृत्तिविषयत्वम्, अपरपदार्थत्वमपरवृत्तिविषयत्वं, तेन घटभेदो न घट इत्यादौ पदार्थाभेदेऽपि न क्षतिः। मेयाभिधेयादिबोधकतदादिपदार्थयोरेकवृत्तिविषयत्वे त्वेकापरवृत्तिविषयतावच्छेदकावच्छिन्नत्वमेकापरपदार्थत्वं वाच्यम्। व्यवहितोच्चरिते च पदतात्पर्यमेव तथाव्यापारः, तदेव योजनया ज्ञाप्यते, शुकादिवाक्ये तु शिक्षयितुरेव तथाव्यापारः, ईश्वरस्यैव वा, न च यत्र तात्पर्यं व्यवधानेनो-

च्चारणमव्यवधानेन तत्र का गतिरिति वाच्यम् । तत्रोच्चारस्य सतोऽप्यकिञ्चित्करत्वात्, अन्वयबोधानुकूलोपस्थितेर्विवक्षितत्वात्, स्वविरोधिव्यवधानाभिप्रायापूर्वकोच्चारणाव्यवधानप्रयोज्योपस्थितेरेव शाब्दबोधोपधायकत्वस्वीकारात्, तथा च व्यवधानाभिप्रायापूर्वकाव्यवहितोपस्थित्यनुकूलव्यापार आसत्तिरिति फलितं, वस्तुत एतत्पदानन्तरं तत्पदं प्रतिसन्दधात्विति तात्पर्यमेवासत्तिः, इदं शुकस्यापि सम्भवि, ईश्वरीयं वा तत् सुलभं, न चैवमासत्तिभ्रमस्थलासम्भवो, वक्त्रन्तर्भावेन तत्सम्भवादित्याहुः, तच्चिन्त्यम् । एकवाक्यताया अर्थतात्पर्यस्य निश्चये यथोक्तासत्तिनिश्चयं विना शाब्दबोधविलम्बाभावात्, न चैकवाक्यतैवानेनोपालक्षि, सम्भूयोच्चारणस्य चिन्तामणौ पृथगुपन्यासात्, तस्माद् व्यवधानेन वृत्त्या पदजन्यपदार्थोपस्थितिरासत्तिरिति प्रागुक्तमेव युक्तम् ॥ तदेवं परस्परापेक्षाणामित्यस्याकाङ्क्षादिमतामित्यर्थात् आकाङ्क्षादिमतां पदानां समूहो वाक्यमिति न्यायनये स्थितं, निरपेक्षपदं त्वनतिप्रयोजनं, यदि च तस्य सप्रयोजनत्वे निर्बन्धः, तदा प्रकृतवाक्यस्य लक्ष्यस्य वाक्यान्तरैकवाक्यस्य महावाक्याद्व्यावर्त्तनेन प्रकृतान्वये प्रकृतवाक्यस्य महावाक्यस्थपदान्तरनिरपेक्षत्वात् ॥ इदं तु ध्येयम् ॥ साकाङ्क्षत्वमनाकाङ्क्षत्वं च स्याद्वादेनैव व्यवस्थापनीयम् । तत्पदव्यतिरेकप्रयुक्तान्वयाननुभावकत्वरूपाकाङ्क्षापक्षे व्याकरणसंस्कृतपुरुषीयत्वेन निरुक्तान्वयबोधविशेषणे समभिव्याहाररूपाकाङ्क्षापक्षे च तत्तदानुपूर्वीज्ञाने व्याकरणसंस्कृतपुरुषीयशाब्दबोधजनकत्वज्ञानहेतुत्वोक्त्या घटः कर्मत्वमित्यादेः सद्व्युत्पन्नं प्रति साकाङ्क्षत्ववारणेऽपि देवदत्तः पचतीत्यतो नैयायिकस्य नामार्थविशेष्यक एव बोधः, शाब्दिकस्य तु धात्वर्थविशेष्यक इति तत्तदन्वयबोधे तद्वाक्यस्यान्यतरं प्रति निराकाङ्क्षत्वावारणात्, न च तत्तन्नयव्युत्पन्नीयतद्वाक्यजताद‍ृशबोधे ताद‍ृशव्युत्पत्तेर्हेतुत्वान्नयाकाङ्क्षैकान्ताविरोधः, व्यभिचारेण भिन्न-

भिन्नव्युत्पत्तेरेवासिद्धेः, तत्तद्व्युत्पत्तिवैशिष्ट्यस्य विपरीतव्युत्पन्नीयबोधसाधारण्येनातिप्रसञ्जकत्वादुभयव्युत्पन्नयोरुभयोरुक्तवाक्यान्नियमत उभयबोधापत्तेश्च । न चैकनयाभिमतव्युत्पत्तौ तदितरनयाभिमतशाब्दबोधजनकत्वाभावज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वाददोषः, उभयव्युत्पत्तिसमाजे परस्परप्रतिबन्धेन कस्यापि बोधस्यानापत्तेः । कथं चैवं नैयायिकः शिष्येषु व्याकरणव्युत्पत्तिमादधानो देवदत्तः पचति एकदेवदत्ताभिन्नाश्रयकपाकानुकूला भावनेति विवृणुयात्, आहार्याकाङ्क्षाज्ञानेन तथा बुद्ध्वा परं तथा बोधयितुं नानौचितीति चेत्, सत्यम्, आहार्यत्वस्यापि परस्परमविनिगमेन तथा तथा साकाङ्क्षनिराकाङ्क्षत्वाव्यवस्थितेः । एतेनैकनययुक्त्याऽपरनयाप्रामाण्यग्रहोऽपि व्याख्यातः, अनेनैवाभिप्रायेण “ णियवयणिज्जसच्चा ” इत्यादिना सम्मतौ नयवाक्यानां कात्स्न्येन साकाङ्क्षत्वानाकाङ्क्षत्वभजना समर्थिता । एवं योग्यत्वमयोग्यत्वमासन्नत्वमनासन्नत्वं च देशकालादिभेदेन तात्पर्यादिभेदेन च भजनीयं, वस्तुतः समभिव्याहाररूपाकाङ्क्षा वाक्यशक्त्यवच्छेदकतयैवोपयुज्यते न पृथक्, घत्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितटत्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितामुत्वावच्छिन्नविशेष्यताकघटविधेयककर्मत्वविशेष्यकशाब्दबोधजनकत्वप्रकारताकज्ञानत्वादिना तादृशशाब्दबोधहेतुत्वाकल्पनादाद्यवृद्धव्यवहारेण वाक्य एव शक्तिसिद्धेरनन्तरमावापोद्वापक्रमेण पदशक्तिग्रहस्य च तत्रैवोपकाराच्छक्तेश्च जनकताविशेषरूपत्वाद्विशेषपदेनैव शक्तिलक्षणाभेदानुच्छेदात्, अन्यथेश्वरेच्छारूपशक्तिवादेऽप्यगतेः, केवलपदस्याननुभावकतापक्ष एव हि “ पदमभ्यधिकाभावात् स्मारकान्न विशिष्यते ” इत्युक्तं युज्यत इत्युक्तं प्राक्, न चैवं द्रव्यनिक्षेपप्रयुक्तघटपदघटितवाक्याद्भावनिक्षेपविषयशाब्दबोधापत्तिः, स्वप्रयोजकनिक्षेपप्रयुक्तवाक्यशक्तिग्रहद्वारैव पदशक्तिग्रहस्य हेतुत्वाद्, द्वारद्वारिभावेन चान्यथासिद्धेरयोगात्, पदार्थोपस्थितिद्वारा पद-

ज्ञानहेतुत्वे तु तद्द्वारा वारणाय शाब्दसामग्र्याः क्वचित्पदार्थस्मृतिघटितायाः क्वचिच्च शाब्दतदुपस्थितिघटितायाः स्मृतिप्रतिबन्धकत्वकल्पने महागौरवम्, एकवाक्यताभिप्रायश्चार्थतात्पर्यविषयैवोपयुज्यत इत्यननुभावकत्वांशोऽवशिष्यते, तत्र च स्वरूपसति प्रतिबन्धके परेषां शाब्दबोधद्वयेच्छादिवदस्माकं वाक्यार्थबोधेच्छादेरुत्तेजकत्वं, वाक्यार्थबोधादयश्चाभिप्रायिकपदसंवलने श्रुतरूपास्तदसङ्कलने मतिरूपा वा, प्रथमादिबोधद्वारा द्वितीयादिबोधे श्रुतहेतुत्वाच्च श्रुताभ्यन्तरीभूतत्वं क्रमनिर्वाहश्चेति, प्राणिनो न हन्तव्या इत्यादेराज्ञाप्रामाण्यात् "प्रमादमूलं प्राणिहननमनर्थसाधनम्" इति तात्पर्यार्थपर्यन्तः सम्पूर्णो बोध इत्युपदेशपदाद्यनुसारी पन्थाः। क्वचिच्च प्राथमिकाद्वाक्यार्थविषयश्रुतज्ञानोत्तरं संशयं विनैव महावाक्यार्थजानुपपत्तिज्ञानरूपचिन्ताज्ञानादैदंपर्यविषयं भावनाज्ञानं जायत इति त्रिविधमेव शाब्दं ज्ञानमिष्यते, सामानाधिकरण्येनावच्छेदकावच्छेदेन च शाब्दद्वयेच्छायां द्विविधमपि तद् युज्यते, अर्थाविच्छिन्नपदज्ञानोत्तरं तात्पर्यगर्भाकाङ्क्षाज्ञानाद् व्युत्पत्तिविशेषाद्वा पटिष्ठक्षयोपशमवतः प्रागेव तात्पर्यार्थज्ञानं सम्भवतीत्येकविधमेव तदिति तु नव्याः। मुखं चन्द्र इत्यादिरूपकस्थले आहार्ययोग्यताज्ञानस्य हेतुत्वानुरोधेन शाब्दमात्रे योग्यताज्ञानहेतुत्वमपि न युक्तिमत्, बाधज्ञाने सति तादृशस्थले आहार्यशाब्दस्यैव स्वीकारात्, इष्टव्यङ्ग्यप्रतीतिसाधनत्वज्ञानेन मुखे चन्द्राभेदशाब्द एव तत्रेच्छोदयौचित्यात्, अत एवाहार्यारोपो रूपकमिति प्राचामुक्तिः, तादृशभाषायाश्च द्रव्यतोऽसत्यत्वेऽपि भावतः सत्यत्वात्, उपमापदस्यालंकारान्तरोपलक्षकत्वादुपमासत्यायां परिगणनं, न चैवं मृषान्तरस्यापि क्वचिद्भावतः सत्यत्वाद्द्रव्यभावभाषायां सत्याभेदत्वप्रसक्तिरिति वाच्यम्। क्वाचित्कत्वसार्वत्रिकत्वाभ्यामेव विशेषात्, भावविशेषजन्यजनकतानवच्छेदकतया जातिभेदस्वीकाराच्च, क्वचिच्च शशशृङ्गं नास्तीत्यादौ वाक्यशक्त्या शशीयत्वेन

शृङ्गाभावशाब्दबोधे पदार्थयोः संसर्गाभावनिश्चयोऽनुगुण एव, अन्यथा विशिष्टनिषेधप्रतीतावंशतो भ्रमत्वापत्तेः, गालिप्रदानादितोऽपि शाब्दबोधश्चेत्, आहार्य एव, नो चेद्, दुष्टवक्त्रभिप्रायसूचकत्वेनैव तस्य क्रोधजनकत्वम्, सत्यादित्वं वाचां जनपदसत्याद्यन्यतरत्वेनैव, द्रव्यभावभाषात्वं च तासां चतुर्विधद्रव्यपरिणतिमाश्रित्य, श्रुतभावभाषात्वं च तिसृणां फलीभूतश्रुतोपयोगापेक्षया मिश्रोपयोगाभावेन तृतीयस्या अत्रानधिकारात्, चारित्रभावभाषात्वं च प्रथमान्तिमयोरेव यत्याचारविहितत्वेन चारित्रोत्कर्षकत्वादित्यादिविस्तरो भाषारहस्ये इति कृतं प्रसङ्गेन। प्रकृतं प्रस्तुमः—न पुनराख्यातशब्द इत्यादि, शेषपक्षनिराकरणं प्रायः सुगमम्। क्रियास्फोटवदिति पूर्वापरीभूतावयवास्वाश्रितक्रमासु क्रियास्वेकः क्रियास्फोटो यथा नास्ति तथा क्रमवत्पदसमुदाये वाक्यस्फोटोऽपि, एकत्वप्रतीतेर्द्रव्यप्रत्यासत्त्यैवोपपत्तेरिति। यथोक्तपदानुसंहृतिरूपस्येति परस्परापेक्षनिरपेक्षपदानुस्मरणरूपस्येत्यर्थः। बुद्धिर्मानस्युत्प्रेक्षानुसंहृतिः स्मरणमित्यनयोः पक्षयोर्भेदः। तावतोदाहरणोपनयमात्रेण, अर्थं प्रत्येति प्रकृतसाध्यं निश्चिनोति, किमितीति शेषं निगमनं, किमित्याकाङ्क्षति–साधनमात्रेणार्थसिद्धौ तत्रेष्टसाधनताज्ञानाभावेनाकाङ्क्षाभावात् यस्य च फलीभूतशाब्दबोधेच्छया निगमनशब्द एवाकाङ्क्षा तस्य तच्छब्दाध्याहारेणैव शाब्दबोध इति भावः। सत्यभामादिपदवदिति यथा भामापदेन सत्यभामापदं स्मर्यते तथा प्रकरणादिना पदान्तरमिति तत्सापेक्षश्रूयमाणपदसमुदायस्य न निराकाङ्क्षत्वव्याघात इति भावः। यत्र च प्रकरणादिनाऽखिल एव वाक्यार्थो ज्ञायते चेष्टादिना वा, तत्र तादृशवाक्यकल्पनयैव शाब्दव्यवहारः सङ्गतिमङ्गति, अत एव न चेष्टादेः प्रमाणान्तरत्वम्, अवश्यकल्प्यशब्दमुखनिरीक्षकत्वादिति दिग्। इत्युक्तः (क्तं) प्रागिति "त्वन्मतामृतबाह्यानाम्" इत्यादिकारिकाव्याख्यानावसरे

न हि किञ्चिद्रूपान्तरविकलमित्यादिना, तत्र क्वचित्प्रयुज्यमान इत्यादि, क्वचिच्च जीवादिपदसमीपे प्रयुज्यमानः स्याच्छब्दस्ताद्विशेषणतया जीवादिपदसमभिव्याहृततया, प्रकृतार्थतत्त्वं सर्वथैकान्तप्रतिपक्षजीवादिपदार्थम्, अवयवेन जीवादिपदद्वारेण, सूचयति लक्षयति, तथा च जीवादिसामान्यविशेषशक्तस्य जीवादिपदस्य नित्यानित्याद्यनेकान्तात्मकजीवादिविशेषे लक्षणा तात्पर्यग्राहकत्वमेव स्याच्छब्दस्य द्योतकत्वमिति भावः। एवकारादिवदिति शङ्कः पाण्डुर एवेत्यादौ पाण्डुरादिपदस्य पाण्डुराद्यन्यत्वव्यवच्छिन्ने लाक्षणिकताया एवकारस्य च तत्र तात्पर्यग्राहकतायाः सम्प्रदायसिद्धत्वादिति भावः। न कश्चिद्दोष इति सम्भूयोच्चारणेन स्यात्पदजीवादिपदाभ्यां मिलित्वाऽनेकान्तात्मकजीवादितत्त्वबोधनोपपत्तेरिति भावः। तथा च गम्यं प्रति विशेषणमित्यस्य समुदायशक्तिजन्यबोधे जीवादिपदस्य तुल्यकक्षतया सहकारीत्यर्थः। विशेषणमित्यनन्तरं च वाकारोऽध्याहृत्य योजनीयः, तेन पक्षद्वयाभिव्यक्तिर्भवति, यद्वाऽनेकान्तद्योतीत्यस्यानेकान्तं पदसामान्यशक्तिविषयं द्योतयत्यनुभावयतीत्येकोऽर्थः, स चापरेषां घटादिपदस्य सामान्यव्युत्पत्त्यनुरोधेन कार्यत्वान्वितघटादौ शक्तिग्रहेऽपि ततः कार्यत्वान्वितघटाद्यनुभवे कार्यतावाचकपदसमभिव्याहारापेक्षा, आनुभाविकायाः शक्तेस्तदपेक्षत्वात्, स्मारिका च जाताविति तदभावे घटत्वादिमात्रस्मरणमेवेति कुब्जशक्तिवादः, तथाऽस्माकं नित्यानित्याद्यनेकान्तक्रोडीकरणं विना व्यवहारमात्रस्यायोगाच्छब्दत्वावच्छेदेन नित्यानित्याद्यनेकान्तात्मक एव शक्तिग्रहादाद्यव्युत्पत्त्यनुरोधेन जीवादिपदस्यापि नित्यानित्याद्यनेकान्तात्मकजीवाद्यर्थ एव शक्तिर्गृह्यत इत्यानुभाविका शक्तिः, तथाऽनुभवजननेऽनेकान्तवाचकपदमपेक्षते स्मारिका तु नेति केवलजीवादिपदाज्जीवाद्यर्थोपस्थितिमात्रम्, अनेकान्तात्मकजीवाद्यर्थानुभवस्तु स्यात्पदसंयोगादित्येतत्पक्षपरिष्कारः।

न चैवं मीमांसकमतानुप्रवेशः, सर्वनयात्मके भगवत्प्रवचने क्वचिन्मीमांसकमतोपग्रहस्याप्यदुष्टत्वात्, सिद्धार्थप्रामाण्यस्वीकारेणैव [स्याच्छब्दो लिङाद्यर्थव्यतिरिक्तार्थप्रतिपादकजीवादिपदसमभिव्याहृतस्यात्पदम]नेकान्तं द्योतयति औपसन्दानिक्या शक्त्या बोधयति यः स तथेति द्वितीयोऽर्थः, तथा च स्याच्छब्दोत्तरजी [वादिपदप्रतिपाद्या]नेकान्तात्मकजीवाद्यर्थे विशिष्य शक्तिस्वीकारादौपसन्दानिकी शक्तिरेवात्र द्योतनमिति भावः। उभयत्रापि गम्यं प्रति विशेषणमित्यस्य पदान्तरबोध्यबोधने सहकारीत्यर्थः, तदाह, सूचकत्वपक्षेऽपीति, अपिर्वाचकत्वपक्षं समुच्चिनोति, तद्बुद्धेरपि तथाभावादिति तेन तदादिवत् स्याच्छब्दस्य स्वातंत्र्येण बुद्धिविषयतावच्छेदकावच्छिन्नेऽपि शक्तिः, तद्बोधकताया वैचित्र्यादिति स्यादस्तीत्यादावस्तित्वाद्यवच्छेदकस्वद्रव्यक्षेत्रकालभावादीनामपि ततो नासाङ्कर्येणानुपस्थितिरिति ध्येयम्। धर्मिवाचकपदसमभिव्याहृतं स्यात्पदमनेकान्तात्मकत्वद्योतकं धर्मवाचकपदसमभिव्याहृतं तु तत्तत्स्वद्रव्यक्षेत्रकालाद्यवच्छेदकस्फोरकं सकलादेशमहिम्ना तु प्रकृतधर्मे स्वेतरानन्तधर्माभिन्नत्वस्य प्रकारतया प्रकृतधर्मस्य स्वस्वेतरानन्तधर्मात्मकत्वसम्बन्धेन धर्मिण्यन्वयाभ्युपगमाद्वा न काचिदनुपपत्तिरिति श्रद्धेयं स्वसमयव्युत्पत्तिशालिभिः॥ १०३॥

ननु च कथंचिदित्यादिशब्दादपि भवत्येवानेकान्तार्थप्रतिपत्ति. ?, सत्यं, भवति, तस्य स्याद्वचनपर्यायत्वात्। तथा हि,—

स्याद्वादः सर्वथैकान्त–त्यागात् किंवृत्तचिद्विधिः॥ सप्तभङ्गनयापेक्षो, हेयादेयविशेषकः॥१०४॥

किमो वृत्तः किंवृत्तः। स चासौ चिद्विधिश्चेति कथंचिदित्यादिः किंवृत्तचिद्विधिः स्याद्वादपर्यायः। सोयमनेकान्तमभिप्रेत्य सप्तभङ्गनयापेक्षः स्वभावपरभावाभ्या सदसदादिव्यवस्थां प्रतिपादयति। के पुनः सप्तभङ्गाः के वा नयाः ? सप्तभङ्गी प्रोक्ता पूर्वमेव।

द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकप्रविभागवशान्नैगमादयः शब्दार्थनया बहुविकल्पा मूलनयद्वयशुद्ध्यशुद्धिभ्या, शास्त्रान्तरे प्रोक्ता इति संबन्धः। द्रव्यार्थिकप्रविभागाद्धि नैगमसंग्रहव्यवहाराः, पर्यायार्थिकप्रविभागादृजुसूत्रादयः। तत्र ऋजुसूत्रपर्यन्ताश्चत्वारोर्थनयाः, तेषामर्थप्रधानत्वात् शेषास्त्रयः शब्दनया शब्दप्रधानत्वात्। तत्र मूलनयस्य द्रव्यार्थिकस्य शुद्ध्या संग्रहः, सकलोपाधिरहितत्वेन शुद्धस्य सन्मात्रस्य विषयीकरणात् सम्यगेकत्वेन सर्वस्य संग्रहणात्। तस्यैवाशुद्ध्या व्यवहारः, संग्रहगृहीतानामर्थानां विधिपूर्वकत्वव्यवहरणात्, द्रव्यत्वादिविशेषणतया स्वतोऽशुद्धस्य स्वीकरणात्, यत्सत्तद्द्रव्यं गुणो वेत्यादिवत्। एवं नैगमोप्यशुद्ध्या प्रवर्तते, सोपाधिवस्तुविषयत्वात्। स हि त्रेधा प्रवर्तते, द्रव्ययोः पर्याययोर्द्रव्यपर्याययोर्वा गुणप्रधानभावेन विवक्षायां नैगमत्वात्, नैकगमो नैगम इति निर्वचनात्। तत्र द्रव्यनैगमो द्वेधा–शुद्धद्रव्यनैगमोऽशुद्धद्रव्यनैगमश्चेति। पर्यायनैगमस्त्रेधा–अर्थपर्याययोर्व्यञ्जनपर्याययोरर्थव्यञ्जनपर्याययोश्च नैगम इति। अर्थपर्यायनैगमस्त्रेधा ज्ञानार्थपर्याययोर्ज्ञेयार्थपर्याययोर्ज्ञानज्ञेयार्थपर्याययोश्चेति। व्यञ्जनपर्यायनैगमः षोढा–शब्दव्यञ्जनपर्याययोः समभिरूढव्यञ्जनपर्याययोरेवंभूतव्यञ्जनपर्याययोः शब्दसमभिरूढव्यञ्जनपर्याययोः शब्दैवंभूतव्यञ्जनपर्याययोः समभिरूढैवंभूतव्यञ्जनपर्याययोश्चेति। अर्थव्यञ्जनपर्यायनैगमस्त्रेधा ऋजुसूत्रशब्दयोः, ऋजुसूत्रसमभिरूढयोः ऋजुसूत्रैवंभूतयोश्चेति। द्रव्यपर्यायनैगमोऽष्टधा, शुद्धद्रव्यर्जुसूत्रयोः शुद्धद्रव्यशब्दयोः शुद्धद्रव्यसमभिरूढयोः शुद्धद्रव्यैवंभूतयोश्च, एवमशुद्धद्रव्यर्जुसूत्रयोरशुद्धद्रव्यशब्दयोरशुद्धद्रव्यसमभिरूढयोरशुद्धद्रव्यैवंभूतयोश्चेति। लोकसमयाविरोधेनोदाहार्यम्। तथा पर्यायार्थिकस्य मूलनयस्याशुद्ध्या तावदृजुसूत्र, तस्य कालकारकलिङ्गभेदेनाप्यभेदात्। शुध्या शब्दस्तस्य कालादिभेदेन भेदात्। शुद्धितरया समभिरूढस्तस्य पर्यायभेदेनापि भेदात्। शुद्धितमयैवभूतस्तस्य क्रियाभेदेनापि भेदात्॥ इति मूलनयद्वयशुद्ध्यशुद्धिभ्या बहुविकल्पा नया नयचक्रतः प्रतिपत्तव्याः। पूर्वपूर्वा महाविषया

उत्तरोत्तरा अल्पविषयाः शब्दविकल्पपरिमाणाश्च । तदेवं व्याख्यातः सप्तभङ्गनयापेक्षः स्याद्वादो हेयादेयविशेषकः प्रसिद्धस्तमन्तरेण हेयस्योपादेयस्य च विशेषेण व्यवस्थानुपपत्तेः । सर्वतत्त्वप्रकाशकश्च केवलज्ञानवत् ॥ १०४ ॥ एतदेव दर्शयति,—

अर्थप्रधानत्वात् शब्दतद्धर्मभेदेनार्थभेदास्वीकर्तृत्वात्, शब्दप्रधानत्वाच्छब्दतद्धर्म्मभेदेनार्थभेदस्वीकर्तृत्वात्, एवं नैगमोऽप्यशुद्ध्या प्रवर्त्तत इति अशुद्धिरत्र भेदपरता, द्रव्यार्थिकेऽभेदभेदयोरेव शुद्ध्यशुद्धिपदार्थत्वादिति यथास्थानं भावनीयम् । द्रव्ययोरित्यादि अभिलापश्चात्रात्मा पुद्गली मनुष्यपर्यायो देवपर्यायोत्तरः द्रव्यमनन्तपर्यायवदित्यादिः । शुद्धद्रव्यनैगमो यथाऽऽकाशद्रव्यं धर्मद्रव्यसंयुक्तमिति । अशुद्धद्रव्यनैगमो यथा घटद्रव्यं पटद्रव्यसंयुक्तमिति । अर्थपर्याययोर्नैगमस्त्रिविधो यथा मतिज्ञानं श्रुतज्ञानसहचरितमिति ज्ञानरूपार्थपर्याययोः, मतिविषयपर्यायः श्रुतविषयपर्यायसदृश इति ज्ञेयार्थपर्याययोः, ग्राहकाकारो ग्राह्याकारानुगत इति ज्ञानज्ञेयार्थपर्याययोः । व्यञ्जनपर्याययोः षोढा नैगमो यथा-तट इति शब्दवाच्यस्तटीतिशब्दवाच्यसदृश इति, शब्दव्यञ्जनपर्याययोः १ घटशब्दवाच्यः पर्यायः कुम्भशब्दवाच्यसदृश इति, समभिरूढव्यञ्जनपर्याययोः २ राजपदव्युत्पत्तिनिमित्तक्रिया सुपपदव्युत्पत्तिनिमित्तक्रियासदृशीति, एवम्भूतव्यञ्जनपर्याययोः ३ भिन्नलिङ्गतटादिशब्दवाच्यपर्यायो भिन्नशब्दवाच्यसदृश इति, शब्दसमभिरूढव्यञ्जनपर्याययोः ४ संभिन्नक्रिया शब्दवाच्यसदृश इति, शब्दै* [वंभूतव्यञ्जनपर्याययोः ५ संभिन्नवर्तमानक्रिया शब्दवाच्यसदृश इति, समभिरूढैवंभूतव्यञ्जनपर्याययोः ६ व्युत्पत्तिनिमित्तक्रिया वर्तमानक्रियासदृश इति।एवं ऋजुसूत्रशब्दयोः १ ऋजुसूत्रसमभिरूढयोः २ ऋजुसूत्रैवंभूतयो ३ रिति त्रिविधोऽप्यर्थव्यञ्जनपर्यायनैगमः, अष्टधा च द्रव्यपर्यायनैगमः इत्यादि स्वधिया विभाव्योदाहार्यम्]॥१०४॥

* इतोऽग्रेतन विवरण त्रुटित लक्ष्यते, स्याच्चेत्कस्यचिन्महोदयस्य सविधे निवेद्यमनुग्रहधिया प्रकाशकस्य ॥

स्याद्वादकेवलज्ञाने, सर्वतत्त्वप्रकाशने ॥ भेदः साक्षादसाक्षाच्च, ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ॥ १०५ ॥

साक्षादसाक्षात्प्रतिभासिज्ञानाभ्यामन्यस्याप्रतीतेरवस्तुत्वप्रसिद्धेरित्यर्थः । स्याद्वादकेवलज्ञाने इति निर्देशात् तयोरभ्यर्हितत्वानियमं दर्शयति, परस्परहेतुकत्वात् । न चैवमन्योन्याश्रयः पूर्वसर्वज्ञद्योतितादागमादुत्तरसर्वज्ञस्य केवलोत्पत्तेः ततोप्युत्तरकालमागमद्योतनात् सर्वज्ञागमसन्तानस्यानादित्वात् । केवलज्ञानस्याभ्यर्हितत्वे वा पूर्वनिपाते व्यभिचार सूचयति, शिष्योपाध्यायादिवत् । ततोऽनवद्यो निर्देशः स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने इति । कथं पुनः स्याद्वादः सर्वतत्त्वप्रकाशनः ? यावता 'मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु' इति श्रुतस्यासर्वपर्यायविषयत्वव्यवस्थानमिष्यते, तथैवं विरुध्यते, इति सूत्रविरोधं मन्यते, तदयुक्तं, पर्यायापेक्षया तदनभिधानात् । एवं हि भगवतामभिप्रायोऽत्र 'जीवादयः सप्त पदार्थास्तत्त्वं, 'जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वमि'ति वचनात् । तत्प्रतिपादनाविशेषात् स्याद्वादकेवलज्ञानयोः सर्वतत्त्वप्रकाशनत्वम्' इति न विरोधः । यथैव ह्यागम. परस्मै जीवादितत्त्वमशेषं प्रतिपादयति तथा केवल्यपीति न विशेपः, साक्षादसाक्षाच्च तत्त्वपरिच्छित्तिनिबन्धनत्वात् तद्भेदस्य । तदाह भेदः साक्षादसाक्षाच्चेति । साक्षात्कृतेरेव सर्वद्रव्यपर्यायान् परिच्छिनत्ति नान्यत इति यावत् । न हि वचनात्तान्प्रकाशयति, समुत्पन्नकेवलोपि भगवान्, तेषां वचनागोचरत्वात् । तदेवं स्याद्वादनयसंस्कृतं तत्त्वज्ञानं प्रमाणनयसंस्कृतमिति व्याख्याने, स्याद्वादः प्रमाणं, सप्तभङ्गीवचनविधिर्नैगमादयो बहुविकल्पा नया इति सङ्क्षेपतः प्रतिपादितं, विस्तरतोन्यत्र तत्प्ररूपणात् ॥ १०५ ॥

सम्प्रत्यहेतुवादागमः स्याद्वादो, हेतुवादो नयस्ताभ्यां संस्कृतमलंकृतं तत्त्वज्ञानं प्रमाणं युक्तिशास्त्राविरुद्धं सुनिश्चितासंभवद्बाधकमिति व्याख्यानान्तरमभिप्रायवन्तो भगवन्तो हि हेतुलक्षणमेव प्रकाशयन्ति, स्याद्वादस्य प्रकाशितत्वात् ।

सधर्मणैव साध्यस्य, साधर्म्यादविरोधतः ॥ स्याद्वादप्रविभक्तार्थ-विशेषव्यञ्जको नयः ॥ १०६ ॥

नीयते साध्यते गम्यार्थोनेनेति नयो-हेतुः । स च हेतुः सधर्मणैव दृष्टान्तधर्मिणा साधर्म्यात्साध्यस्य साध्यधर्माधिकरणस्य धर्मिणः परमागमप्रविभक्तस्यार्थविशेपस्य शक्यस्याभिप्रेतस्याप्रसिद्धस्य विवादगोचरत्वेन, व्यञ्जको, न पुनर्विपक्षेण साधर्म्यात्, तेन वैधर्म्यादेवाविरोधेन हेतोः साध्यप्रकाशनत्वोपपत्तेः । अत्र ' सपक्षेणैव साध्यस्य साधर्म्यादि ' त्यनेन हेतोस्त्रैलक्षण्य ' मविरोधादि ' त्यन्यथानुपपत्ति च दर्शयता, केवलस्य त्रिलक्षणस्यासाधनत्वमुक्तं, तत्पुत्रत्वादिवत् । एकलक्षणस्य तु गमकत्व, ' नित्यत्वैकान्तपक्षेपि विक्रिया नोपपद्यते' इति बहुलमन्यथानुपपत्तेरेव समाश्रयणात् । नन्वत्र संक्षेपात् तथाभिधानेपि त्रैलक्षण्यं शक्यमुपदर्शयितुं पञ्चावयववत् । सत्यमेतत्, केवलं, यत्रार्थक्रिया न संभवति तत्र वस्तुतत्त्वं यथा विनाशैकान्त. । तथा च नित्यत्वेपि क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रिया न संभवति, नापरं प्रकारान्तरमिति, त्रिलक्षणयोगेपि प्रधानमेकलक्षणं, तत्रैव साधनसामर्थ्यपरिनिष्ठितेः । तदेव च प्रतिवन्धः पूर्ववद्वीतसंयोग्यादिसकलहेतुप्रतिष्ठापकं, न पुनस्तादात्म्यतदुत्पत्ती प्रतिवन्धः संयोगादिवत, तदभावेपि हेतोः साध्याभावासंभवनियमनिर्णयलक्षणस्य भावे गमकत्वसिद्धेः, शीताचले विद्युत्पातः, केदारे कलकलायितत्वादित्यादिवत्, सत्यपि च तदुत्पत्त्यादिप्रतिवन्धेऽन्यथानुपपन्नत्वाभावे गमकत्वासंभवात्, स श्यामस्तत्पुत्रत्वादितरतत्पुत्रवदित्यादिवत्, अस्त्यत्र धूमोग्नेर्महानसवदित्यादिवच्च । सकलविपक्षव्यावृत्तिनिश्चयाभावादस्यागमकत्वेऽन्यथानुपपन्नत्वनिश्चयाभावादेवागमकत्वमुक्तं स्यात् इति तस्यैव लक्षणत्वमस्तु, सकलसम्यग्घेतुभेदेषु कार्यस्वभावानुपलम्भेष्विव पूर्ववत्-शेषवत्-सामान्यतो दृष्टेपु वीतावीततदुभयेषु सयोगिसमवायैकार्थसमवायिविरोधिषु भूतादिषु प्रवर्तमानस्य पक्षव्यापिनः सर्वस्माच्च विपक्षादसिद्धादिहेत्वाभासप्रपञ्चाद् व्यावर्तमानस्यान्यथानुपपन्नत्वस्य हेतुलक्षणत्वोपपत्तेः ।

तथाविधस्यापि तदलक्षणत्वे हि न किंचित्कस्यचिल्लक्षण स्यादिति लक्ष्यलक्षणभाव एवोच्छिद्येत । सति चान्यथानुपपन्नत्वे प्रतिपाद्याशयवशात् प्रयोगपरिपाटी पञ्चावयवादिरपि न निवार्यते इति तत्त्वार्थालङ्कारे विद्यानन्दमहोदये च प्रपञ्चतः प्ररूपितम् । तत स्याद्वादेत्यादिनानुमितमनेकान्तात्मकमर्थतत्त्वमादर्शयति । तदेव हि स्याद्वादप्रविभक्तोर्थः, प्राधान्यात्—सर्वाङ्गव्यापित्वात् । तस्य विशेषो नित्यत्वादिः पृथक्पृथक् । तस्य प्रतिपादको नयः । इति नयसामान्यलक्षणमप्यनेन दर्शितमिति व्याख्यायते । तथा चोक्तम्—'अर्थस्यानेकरूपस्य, धीः प्रमाणं, तदंशधी' ॥ नयो धर्मान्तरापेक्षी, दुर्णयस्तन्निराकृतिः' ॥१॥ इति । तदनेकान्तप्रतिपत्तिः प्रमाणमेकधर्मप्रतिपत्तिर्नयस्तत्प्रत्यनीकप्रतिक्षेपो दुर्णयः, केवलविपक्षविरोधदर्शनेन स्वपक्षाभिनिवेशात् । ॥ १०६ ॥ किं पुनर्वस्तु स्यादित्याहुः—

नयोपनयैकान्तानां, त्रिकालानां समुच्चयः ॥ अविभ्राड्भावसम्बन्धो, द्रव्यमेकमनेकधा ॥ १०७ ॥

उक्तलक्षणो द्रव्यपर्यायस्थानः सम्रहादिर्नयः, तच्छाखाप्रशाखात्मोपनयः । तदेकान्तानां विपक्षोपेक्षालक्षणानां त्रिकालविषयाणां समितिर्द्रव्यं वस्तु, 'गुणपर्यायवद्द्रव्यम्' इति वचनात् । कः पुनस्तेषां समुच्चयो नामेति चेत्, कथंचिदविभ्राड्भावसबन्ध इत्याचक्षते, ततोन्यस्य समुच्चयस्य सयोगादेरसभवात् द्रव्यपर्यायविशेषाणाम् । न चैवमेकमेव द्रव्यं नयोपनयैकान्तपर्यायाणा तत्तादात्म्यादित्यारेकितव्यं, ततस्तेषां कथंचिद्भेदादनेकत्वमिति वचनात् । तर्ह्यनेकमेवास्तु तादात्म्यविरोधादनेकस्थस्येत्यपि न शङ्कितव्यं, कथंचित्तादात्म्यस्याशक्यविवेचनत्वलक्षणस्याविरोधात्तथाप्रतीते । केवल ततस्तेषामपोद्धाराद्गुणगुण्यादिवत् तदनेकधा । तत सूक्तं, त्रिकालवर्तिनयोपनयविषयपर्यायविशेषसमूहो द्रव्यमेकानेकात्मकं जात्यन्तरं वस्त्विति ॥१०७॥ अत्र परारेकामुपदर्श्य परिहरन्तः सूरयः प्राहुः—

मिथ्यासमूहो मिथ्या चे-न्न मिथ्यैकान्ततास्ति नः॥ निरपेक्षा नया मिथ्या, सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत् ॥१०८।

सुनयदुर्णययोर्यथास्माभिर्लक्षणं व्याख्यातं तथा न चोद्य न परिहारः, निरपेक्षाणामेव नयानां मिथ्यात्वात् तद्विषयसमूहस्य मिथ्यात्वोपगमात्, सापेक्षाणां तु सुनयत्वात्तद्विषयाणामर्थक्रियाकारित्वात्, तत्समूहस्य वस्तुत्वोपपत्तेः । तथा हि, निरपेक्षत्वं प्रत्यनीकधर्मस्य निराकृतिः, सापेक्षत्वमुपेक्षा, अन्यथा प्रमाणनयाऽविशेषप्रसङ्गात्, धर्मान्तरादानोपेक्षाहानिलक्षणत्वात् प्रमाणनयदुर्णयाना प्रकारान्तरासंभवाच्च, प्रमाणात्तदतत्स्वभावप्रतिपत्तेर्नयात्तत्प्रतिपत्तेर्दुर्णयादन्यनिराकृतेश्च । इति विश्वोपसंहृतिः, व्यतिरिक्तप्रतिपत्तिप्रकाराणामसंभवात् ॥१०८॥

नन्वेवमनेकान्तात्मार्थः कथ वाक्येन नियम्यते यतः प्रतिनियते विपये प्रवृत्तिर्लोकस्य स्यादित्यारेकायामिदमभिदधते—

नियम्यतेऽर्थो वाक्येन, विधिना वारणेन वा ॥ तथान्यथा च सोवश्य–मविशेष्यत्वमन्यथा ॥१०९॥

यत्सत्तत्सर्वमनेकान्तात्मकमर्थक्रियाकारित्वात् स्वविपयाकारसंवित्तिवत् । यद्विवादाध्यासितं वस्तु तत्सर्वं धर्मि प्रत्येयम्, अप्रसिद्ध साध्यमिति वचनात्, तस्यानेकान्तात्मकत्वेन विवादाध्यासितत्वात् साध्यत्वोपपत्तेः । अर्थक्रियाकारित्वादिति हेतुरसिद्धत्वादिदोषानाश्रयत्वात् प्रधानैकलक्षणयोगाच्च । स्वविषयाकारसंवित्तिवदित्युदाहरणं, तथा वादिप्रतिवादिसिद्धत्वात् । सौगतस्य चित्राकारैकसंवेदनोपगमात्, यौगानामीश्वरज्ञानस्य स्वार्थसंवेदिनो मेचकज्ञानत्वोपगमात्, कापिलानामपि स्वरूपबुद्ध्यध्यवसितार्थसंवेदिनः स्वसंवेदनस्येष्टेः, श्रोत्रियाणामपि फलज्ञानस्य स्वसंवेदिनोर्थपरिच्छित्तिरूपस्य प्रसिद्धेः, चार्वाकस्यापि प्रत्यक्षस्य वेदनस्य स्वार्थपरिच्छेदिनोभ्युपगमनीयत्वात् सम्यगिदं साधनवाक्यम् । तथा न किंचिदेकान्तं वस्तुतत्त्वं सर्वथा तदर्थक्रियाऽसंभवाद् गगनकुसुमादिवदिति । अत्रापि विवादापन्नं वस्तुतत्त्वं धर्मि पराध्यारोपितैकान्तत्वेन प्रतिपेध्यं, क्वचित् सत इवारोपितस्यापि प्रतिषेध्यत्वसिद्धेरन्यथा

कस्यचित्परमतप्रतिषेधायोगात् सत एव सञ्ज्ञिनः प्रतिषेधो नासतः इत्यस्याप्यविरोधात्, सम्यगेकान्ते प्रसिद्धस्य रूपस्य सापेक्षस्य निरपेक्षत्वेनारोपितस्य क्वचित्प्रतिषेधात्, 'सर्वथा तदर्थक्रियाभावात्' इति हेतुर्व्यापकानुपलब्धिरूपत्वात्। गगनकुसुमादिवदित्युदाहरणं साध्यसाधनावैकल्याद्गगनकुसुमादेरत्यन्ताभावस्य परैरेकान्तवस्तुरूपत्वसर्वथार्थक्रियाकारित्वयोरनिष्टेः। इतीदमपि श्रेयः साधनवाक्यम्। विशेषेण पुनर्नास्ति सदेकान्तः सर्वव्यापारविरोधप्रसङ्गादसदेकान्तवत्। एतेन विशेषतोऽनेकान्तात्मकः परिणाम्यात्मार्थक्रियाकारित्वात् प्रधानवदित्याद्युपदर्शितम्। इति विधिना प्रतिषेधेन वा वस्तुतत्त्वं नियम्येत तथान्यथा च तस्यावश्यंभावसमर्थनात्। अन्यथा तद्विशिष्टमर्थतत्त्वं विशेष्यमेव न स्याद्विधेः प्रतिषेधरहितस्य प्रतिषेधस्य च विधिरहितस्य विशेषणत्वनिराकरणात् तदुभयरहितस्य च विशेष्यत्वविरोधात् खपुष्पवत्। इत्यनेन विधिप्रतिषेधयोर्गुणप्रधानभावेन सदसदादिवाक्येषु वृत्तिरिति लक्षयति। ततो न तेषां पौनरुक्त्य, येन सप्तभङ्गीविधिरनवद्यो न स्यात् ॥१०९॥ विधिनैव वस्तुतत्त्व वाक्यं नियमयति सर्वथेत्येकान्ते दूषणमुपदर्शयन्ति—

तदतद्वस्तुवागेषा, तदेवेत्यनुशासती ॥ न सत्या स्यान्मृषावाक्यैः, कथं तत्त्वार्थदेशना ॥ ११० ॥

प्रत्यक्षादिप्रमाणविषयभूत विरुद्धधर्माध्यासलक्षणमविरुद्ध वस्तु समायातं, स्वशिरस्ताडं पूत्कुर्वतोपि तदतद्रूपतयैव प्रतीतेः। तदुक्त—'विरुद्धमपि ससिद्धं, तदतद्रूपवेदनम्। यदीदं स्वयमर्थेभ्यो, रोचते तत्र के वयम् ॥ १ ॥' इति। तत्र तदेवेत्येकान्तेन प्रतिपादयन्ती मिथ्यैव भारती, विध्येकान्ते प्रतिषेधैकान्ताभावस्येष्टस्यानभिधानात्, तदभिधाने वा विध्येकान्तप्रतिपादनविरोधात्। न च मृषावाक्यैस्तत्त्वार्थदेशना युक्तिमती। इति कथमनयार्थदेशनम्। इत्येकान्ते वाक्यार्थानुपपत्तिरालक्ष्यते ॥ ११० ॥

प्रतिषेधमुखेनैवार्थं वाक्यं नियमयतीत्येकान्तोपि न श्रेयानिति प्रतिपादयन्ति—

वाक्स्वभावोन्यवागर्थ-प्रतिषेधनिरङ्कुशः ॥ आह च स्वार्थसामान्यं, तादृग् वाच्यं खपुष्पवत् ॥१११॥

वाचः स्वभावोयं येन स्वार्थसामान्य प्रतिपादयन्ती तदपर निराकरोति, न पुनस्तदप्रतिपादयन्ती, स्वार्थसामान्यप्रतिपादनतदन्यनिराकरणयोरन्यतरापायेनुक्तानतिशायनात् । इदंतया नेदंतया वा न प्रतीयेत तदर्थः कूर्मरोमादिवत् । न खलु सामान्य विशेषपरिहारेण विशेषो वा सामान्यपरिहारेण क्वचिदुपलभामहे । अनुपलभमानाश्च कथं स्वं पर वा तथाभिनिवेशेन विप्रलभामहे, विध्येकान्तवदन्यापोहैकान्तस्य प्रागेव व्यासेन निरस्तत्वात् ॥ १११ ॥ भूयोप्यन्यापोहवादिनमाशङ्क्य निराकुर्वते—

सामान्यवाग् विशेषे चे-न्न शब्दार्थो मृषा हि सा ॥ अभिप्रेतविशेषाप्तेः, स्यात्कारः सत्यलाञ्छनः ॥११२॥

अस्तीति सत्सामान्यवाग् केवलमभावविच्छेदाद् विशेषमपोहमाहेति चेत्, कः पुनरपोहः ? किमन्यव्यावृत्तिरुत तथा विकल्पः ? परतो व्यावृत्तिरभावोन्यापोह इष्यते इति चेत्, कथमेव सत्यभाव प्रतिपादयति ? भावं न प्रतिपादयतीत्यनुक्तसमं न स्यात् ? तद्विकल्पोन्यापोहोस्तु मिथ्याभिनिवेशादिति चेत्, न चैतत्तस्य प्रतिपादक मिथ्याविकल्पहेतुत्वाद्व्यलीकवचनवत् । ततो नान्यापोहः शब्दार्थः सिद्ध्यति, येन तत्र प्रवर्तमानास्तीत्यादिसामान्यवाग् मृषैव न स्यात् । ततः स्यात्कारः सत्यलाञ्छनो मन्तव्यः स्वाभिप्रेतार्थविशेषप्राप्तेः । सर्वो हि प्रवर्तमानः कुतश्चिद्वचनात् कचित्स्वरूपादिना सन्तमभिप्रेतमर्थं प्राप्नोति, न पररूपादिनानभिप्रेतं, प्रवृत्तिवैयर्थ्यात्, स्वरूपेणेव पररूपेणापि सत्त्वे सर्वस्याभिप्रेतत्वप्रसङ्गात्, परात्मनेव स्वात्मनाप्यसत्त्वे सर्वस्याभिप्रेतत्वाभावात् स्वयमभिप्रेतस्याप्यनभिप्रेतत्वप्रसक्तेश्च ॥ ११२ ॥ नतः स्याद्वाद एव सत्यलाञ्छनो न वादान्तरमित्यतिशाययति भगवान् समन्तभद्रस्वामी ।

विधेयमीप्सितार्थाङ्गं, प्रतिषेध्याविरोधि यत् ॥ तथैवादेयहेयत्व-मिति स्याद्वादसंस्थितिः ॥ ११३ ॥

अस्तीत्यादिविधेयमभिप्रेत्य विधानात्, सर्वत्रैतावन्मात्रलक्षणत्वात विधेयत्वस्य। न हि परिवृढभयादेरनभिप्रेतस्यापि विधाने विधेयत्वं युक्त, वीतरागस्यापि तत्कृतबन्धप्रसङ्गाज्जनापवादानुषङ्गाच्च। नाप्यभिप्रेतस्याप्यविधानेऽविधेयत्वं, तद्योग्यतामात्रसिद्धेरन्यथा विधानानर्थक्यात्। तत एवाभिप्रायशून्यानां किंचिदप्यकुर्वता न किंचिद्विधेयं नापि हेयमभिप्रेत्यहानाभावादुपेक्षामात्रसिद्धेः। तद्विपरीताना तु किंचिद्विधेय, तच्च नास्तित्वादिभिरविरुद्धं, प्रतिपेध्यैरीप्सितार्थाङ्गत्वात्, तस्य तद्विरोधे स्वयमीप्सितार्थहेतुत्वासभवात्, विधिप्रतिषेधयोरन्योन्याविनाभावलक्षणत्वात् स्वार्थज्ञानवत्। न हि स्वार्थज्ञानयोरन्योन्याविनाभावोऽसिद्धः, स्वज्ञानमन्तरेणार्थज्ञानानुपपत्तेः कुटवत् स्वज्ञाने एवार्थज्ञानघटनात् सर्वज्ञज्ञानवत्। न हीश्वरस्यापि स्वज्ञानाभावः, सर्वज्ञत्वविरोधात् स्वसंविदितज्ञानाभ्युपगमस्यावश्यभावात् नापि विषयाकारज्ञानमन्तरेण स्वज्ञानं, स्वाकारस्यार्थस्य परिच्छेद्यत्वविरोधात् स्वज्ञानाभावप्रसङ्गात्। तदनवद्यमुदाहरणं प्रकृतं साधयति यथैव च विधेय प्रतिपेध्याविरोधि सिद्धमीप्सितार्थाङ्गं तथैवादेयहेयत्व वस्तुनो, नान्यथा, विधेयैकान्ते कस्यचिद्धेयत्वविरोधात् प्रतिपेध्यैकान्ते कस्यचिदादेयत्वविरोधात्। न हि सर्वथा विधेयमेव सर्वथा प्रतिपेध्यं स्याद्वादिनोभिप्रेतं, येनोभयात्मकत्वे एवादेयहेयत्वं न स्यात्, कथंचिद्विधिप्रतिपेधयोस्तादात्म्योपगमात्। तद्विधेयप्रतिपेध्यात्मविशेपात् स्याद्वादः प्रक्रियते सप्तभङ्गीसमाश्रयात्। यथैव हि विधेयोऽस्तित्वादिविशेषः, स्वात्मना विधेयो न प्रतिपेध्यात्मनेति स्याद्विधेयः सिद्धः। प्रतिपेध्यात्मविशेपश्च विधेयात्मना प्रतिपेध्यो न प्रतिपेध्यात्मना इति स्यात्प्रतिपेध्यः स्यादप्रतिपेध्योन्यथा व्याघातात्। तथैव जीवाद्यर्थः स्याद्विधेयः स्यात्प्रतिपेध्यः। इति सप्तभङ्गीसमाश्रयात् स्याद्वादस्य प्रक्रियमाणस्य सम्यक् स्थितिः, सर्वत्र युक्तिशास्त्राविरोधात्, भावैकान्तादिष्वेव तद्विरोधसमर्थनात्। ततो भगवन्ननवद्यमध्यवसितमस्माभिः, "स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वात्," इति ॥ ११३ ॥ तदेवं प्रारब्धनिर्वहणमात्मनस्तत्फलं

च सूरयः प्रकाशयन्ति—

इतीयमाप्तमीमांसा, विहिता हितमिच्छताम् ॥ सम्यग्मिथ्योपदेशार्थ—विशेषप्रतिपत्तये ॥ ११४ ॥

॥ इति श्रीसमन्तभद्राचार्यविनिर्मितेयमाप्तमीमांसा ॥

इति देवागमाख्ये स्वोक्तपरिच्छेदे शास्त्रे (स्वेनोक्ताः परिच्छेदा दश यस्मिंस्तत् स्वोक्तपरिच्छेदमिति ग्राह्यं, तत्र) विहितेयमाप्तमीमांसा सर्वज्ञविशेषपरीक्षा हितमिच्छता निःश्रेयसकामिना, मुख्यतो निःश्रेयसस्यैव हितत्वात् तत्कारणत्वेन रत्नत्रयस्य च हितत्वघटनात्, तदिच्छतामेव न पुनस्तदनिच्छतामभव्यानां, तदनुपयोगात् । तत्त्वेतरपरीक्षां प्रति भव्यानामेव नियताधिकृतिः, तथा मोक्षकारणानुष्ठानात् मोक्षप्राप्त्युपपत्तेः । सम्यग्मिथ्योपदेशार्थविशेषप्रतिपत्तये युक्ताप्तमीमांसा भगवतामाचार्याणां परहितसंपादनप्रवणहृदयत्वात्, दर्शनविशुद्धिप्रवचनवात्सल्यमार्गप्रभावनापरत्वाच्च । ततः परमार्हन्त्यलक्ष्मीपरिसमाप्तेः स्वार्थसंपत्तिसिद्धिः । सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग इति सम्यगुपदेशः, तदन्यतमापाये मोक्षस्यानुपपत्तेः समर्थनात् । ' ज्ञानेन चापवर्गः ' इत्यादिमिथ्योपदेशः, तस्य दृष्टेष्टविरुद्धत्वसाधनात् । तयोरर्थविशेषः सत्येतरविषयभेदः सम्यग्दर्शनादिमिथ्यादर्शनादिप्रयोजनभेदो वा तद्भावनाविशेषो वा मोक्षबन्धप्रसिद्धिभेदो वा । तस्य प्रतिपत्तिरुपादेयत्वेन हेयत्वेन च श्रद्धानमध्यवसायः समाचरणं चोच्यते । तस्यै सम्यग्मिथ्योपदेशार्थविशेषप्रतिपत्तये । शास्त्रारम्भेभिष्टुतस्याप्तस्य मोक्षमार्गप्रणेतृतया कर्मभूभृद्भेत्तृतया विश्वतत्त्वानां ज्ञातृतया च भगवदर्हत्सर्वज्ञस्यैवान्ययोगव्यवच्छेदेन व्यवस्थापनपरा परीक्षेयं विहिता । इति स्वाभिप्रेतार्थनिवेदनमाचार्याणामार्यैर्विचार्य प्रतिपत्तव्यम् ॥ ११४ ॥

अत्र शास्त्रपरिसमाप्तौ केचिदिदं मङ्गलवचनमनुमन्यन्ते,—

जयति जगति क्लेशावेशप्रपञ्चहिमांशुमान्, विहतविषमैकान्तध्वान्तप्रमाणनयांशुमान् ॥
यतिपतिरजो यस्याधृष्यान्मताम्बुनिधेर्लवान्, स्वमतमतयस्तीर्थ्या नाना परे समुपासते ॥११५॥

श्रीमदकलङ्कदेवाः पुनरिद वदन्ति— (स्वभाष्यपरिसमाप्तिमङ्गलं)

श्रीवर्धमानमकलङ्कमनिन्द्यवन्द्य—पादारविन्दयुगलं प्रणिपत्य मूर्ध्ना ॥
भव्यैकलोकनयनं परिपालयन्तं, स्याद्वादवर्त्म परिणौमि समन्तभद्रम् ॥ १ ॥ इति ॥

॥ इत्याप्तमीमांसालंकृतौ दशमः परिच्छेदः ॥

परापरगुरुप्रवाहगुणगणसंस्तवस्य मङ्गलस्य प्रसिद्धेर्वैय तु स्वभक्तिवशादेवं निवेदयामः—

येनाशेषकुनीतिवृत्तिसरितः प्रेक्षावतां शोपिताः, यद्वाचोप्यकलङ्कनीतिरुचिरास्तत्त्वार्थसार्थद्युतः ॥
स श्रीस्वामिसमन्तभद्रयतिभृद् भूयाद्विभुर्भानुमान्, विद्यानन्दनघनप्रदोऽनघधियां स्याद्वादमार्गाग्रणीः ॥१॥
श्रीमदकलङ्कशशधर–कुलविद्यानन्दसंभवा भूयात् । गुरुमीमांसालंकृति–रष्टसहस्री सतामृद्ध्यै ॥२॥
वीरसेनाख्यमोक्षगे, चारुगुणानर्घ्यरत्नसिन्धुगिरिसततम् ॥
सारतरात्मध्यानगे, मारमदाम्भोदपवनगिरिगह्वरायि तु ॥ ३ ॥
अष्टसहस्री सिद्धा, साष्टसहस्रीयमत्र मे पुष्यात् ॥ शश्वदभीष्टसहस्रीं, कुमारसेनोक्तिवर्धमानार्था ॥ ४ ॥

॥ इति श्रीमदकलङ्कदेवप्रणीत–भाष्योपबृंहिता श्रीविद्यानन्दसूरिसन्दृब्धेयमष्टसहस्रीवृत्तिः ॥

[स्याद्वादकेवलज्ञान इत्यादि ॥ १०५ ॥ सधर्मणैव साध्यस्येत्यादि ॥ १०६ ॥ नयोपनयैकान्तानामित्यादि ॥ १०७ ॥ मिथ्यासमूहो मिथ्या चेदित्यादि ॥ १०८ ॥ नियम्यतेऽर्थो वाक्येनेत्यादि ॥ १०९ ॥ तदतद्वस्तुवागेषेत्यादि ॥ ११० ॥ वाक्स्वभावोऽन्यवागर्थेत्यादि ॥ १११ ॥ सामान्यवाग्विशेषे चेदित्यादि ॥ ११२ ॥ विधेयमीप्सीतार्थाङ्गमित्यादि ॥ ११३ ॥ सर्वं निगदसिद्धम् ॥]

वक्तव्यमेव किल यत्तदशेषमुक्त–मेतावतैव यदि चेतयते न कोऽपि ॥
व्यामोहजालमतिदुस्तरमेव नूनं, निश्चेतनस्य वचसामतिविस्तरेऽपि ॥ १ ॥
विशुद्धिसङ्क्लेशजपुण्यपापे, प्रतिक्रिया यत्र नियम्यते नो ॥
ज्ञानेऽन्यहेतुश्च जिनप्रसादा–द्विना जिनाज्ञा मम सा प्रमाणम् ॥ २ ॥

॥ इति श्रीमदकब्बरसुरत्राणप्रदत्तजगद्गुरुबिरुदधारकभट्टारकश्रीहीरविजयसूरीश्वरशिष्यमुख्यमहोपाध्यायश्रीकल्याणविजयगणिशिष्यावतंस-पंडितश्रीलाभविजयशिष्याग्रेसरपंडितश्रीजीतविजयगणि सतीर्थ्यालङ्कारपंडितश्रीनयविजयगणिचरणकमलचञ्चरीकेण पंडितश्रीपद्मविजयगणिसहोदरेण महोपाध्यायश्रीयशोविजयगणिना विरचिते अष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणे दशमः परिच्छेदः॥

श्रीमदकब्बरसुरत्राणप्रदत्तजगद्गुरुविरुद्धारकभट्टारकश्रीहीरविजयसूरीश्वरशिष्यमुख्य-महोपाध्यायश्रीकल्याणविजयगणिशिष्यावतंस-पंडितश्रीलाभविजयगणिशिष्याग्रेसर-पंडितश्रीजीतविजयगणिसतीर्थ्यालंकार-पंडितश्रीनयविजयगणिचरणकमलचञ्चरीकेण पंडितश्रीपद्मविजयगणिसहोदरेण गङ्गोपकण्ठकाशीस्थविद्वन्मंडलीप्रदत्तन्यायविशारद-परःशतग्रन्थग्रथनार्जितन्यायाचार्योपपदोपशोभितेन भव्यसत्त्वोपकृतिप्रणीतरहस्यपदोत्तराष्टाग्रशतसंख्यशास्त्राद्यनेकलक्षप्रमाणसंस्कृतप्राकृतभाषावबद्धगद्यपद्यमयग्रन्थकुसुममालामालाकारेण महोपाध्यायश्रीयशोविजयगणिना सन्दृब्धमिदम्—

॥ श्रीअष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणं सम्पूर्णम् ॥